हिंदी विश्वकोश

हिंदी विश्वकोश

खंड ६

'भारतीय जमींदारी प्रथा' से 'योहन' तक

नागरीप्रचारिणी सभा,
वाराणसी।

निदेशक

संपूर्णानंद

प्रधान संपादक

रामप्रसाद त्रिपाठी

संपादक

फूलदेवसहाय वर्मा

मुकुंदीलाल श्रीवास्तव

संपादन सहायक तथा सहकारी

भगवानदास वर्मा	(विज्ञान)	चंद्रचूड़ मणि	(मानवतादि)
अजितनारायण मेहरोत्रा	(विज्ञान)	डा० श्याम तिवारी	(मानवतादि)
माधवाचार्य	(विज्ञान)	चारुचंद्र त्रिपाठी	(मानवतादि)
रमेशचंद्र दुबे	(विज्ञान)	जंगीर सिंह	(मानवतादि)

तैजनाथ वर्मा (चित्रकार)

हिंदी विश्वकोश के संपादन एवं प्रकाशन का संपूर्ण व्यय भारत सरकार के शिक्षामंत्रालय ने वहन किया तथा इसकी बिक्री की समस्त आय भारत सरकार को 'सभा' प्रदान कर देती है।

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८८९ सं० २०२४ वि० १९६७ ई०

नागरी मुद्रण, वाराणसी

में मुद्रित

परामर्शमंडल के सदस्य

डा० संपूर्णानंद, कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी (अध्यक्ष)।

माननीय श्री भक्तदर्शन, उपमंत्री, परिवहन और जहाजरानी, भारत सरकार, नई दिल्ली।

श्री वेद प्रकाश, उपसलाहकार (भाषा), शिक्षामंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

सुश्री डा० कौमुदी उपवित्त सलाहकार, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली।

प्रो० ए० चंद्रहासन, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दरियागंज, दिल्ली।

डा० नंदलाल सिंह, अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', साहित्य मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

पं० कमलापति त्रिपाठी, सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

माननीय श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', एम० एल० ए०, बिहार, पटना।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी (संयुक्त मंत्री)।

श्री करुणापति त्रिपाठी, प्रकाशनमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री मोहकमचंद मेहरा, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री सुधाकर पांडेय, प्रधानमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी। (मंत्री तथा संयोजक)।

संपादक समिति

डा० संपूर्णानंद, कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी (अध्यक्ष)।

माननीय श्री भक्तदर्शन, उपमंत्री, परिवहन और जहाजरानी, भारत सरकार, नई दिल्ली।

श्री वेद प्रकाश, उपसलाहकार (भाषा), शिक्षामंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा, संपादक (विज्ञान), हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री मोहकमचंद मेहरा, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', साहित्य मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

पं० कमलापति त्रिपाठी, सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री मुकुंदीलाल श्रीवास्तव, संपादक, मानवनादि, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री करुणापति त्रिपाठी, प्रकाशनमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श्री सुधाकर पांडेय, प्रधानमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी। (मंत्री तथा संयोजक)।

प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का यह नवाँ खंड, निर्धारित योजना के अनुसार, लगभग छह महीने की अवधि में प्रकाशित हो रहा है। इस खंड में ५०२ + ६ पृष्ठ हैं, जिनमें ६५१ लेखों के अंतर्गत विशिष्ट विद्वानों की रचनाओं का समावेश किया गया है। पाँच रंगीन तथा कितने ही सादे चित्रफलक, रेखाचित्र और एक रंगीन तथा अनेक सादे मानचित्र भी इस खंड में दिए गए हैं।

हमें अपने संपादन और प्रकाशन कार्य में जिन लेखकों, संस्थाओं, कलाकारों तथा दूतावासों, आदि का सहयोग मिला है उनके प्रति तथा विश्वकोश कार्यालय के अपने सहयोगियों के प्रति हम आभारी हैं। नागरीप्रचारिणी सभा और केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधिकारीगण विशेष रूप से हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं, जिन्होंने पहले की भाँति इस खंड के भी प्रणयन और प्रकाशन में पूर्ण उत्साह एवं सहयोग प्रदान किया है।

फूलदेव सहाय वर्मा

संपादक

नवम खंड के लेखक

अं० प्र० स०, अं० प्र० — अंबिकाप्रसाद सक्सेना, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राचार्य एवं अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गवर्नमेंट सायंस कालेज, ग्वालियर।

अ० गो० झिं० — अनंत गोपाल झिंगरन, प्रोफेसर, भौमिकी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

अ० ना० अ० — अमरनारायण अग्रवाल, डीन, फैकल्टी ऑव कामर्स, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अ० ना० मे० — अजितनारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, बी० एस-सी०, बी० एड०, साहित्यरत्न, संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

अ० ला० — अनंतलाल, एम० एस-सी०, शोध छात्र, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० सि० — अभय सिन्हा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, ए० आर० आई० सी० (लंदन), टेक्नॉलोजिस्ट, प्लानिंग ऐंड डेवलपमेंट डिविजन, फर्टिलाइजर कारपोरेशन ऑव इंडिया, सिंदरी, धनबाद।

आ० बे० — (फादर) आस्कर बेरेकुहसे, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर्स, सेंट अलबर्टस सेमिनरी, राँची।

आ० स्व० जौ० — आनंदस्वरूप जौहरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

आ० स्व० श्री० — आनंदस्वरूप श्रीवास्तव, कीट विशेषज्ञ एवं पदाधिकारी, कृषि रक्षा सेवा, उत्तरप्रदेश सरकार, कानपुर।

उ० ना० पां०, — उदयनारायण पांडेय, एम० ए०, रजिस्ट्रार, लद्दाखी बौद्ध विहार, बेला रोड, दिल्ली।

उ० शं० प्र० — उमाशंकर प्रसाद, ए० एम० सी० (आर०), एम० बी० बी० एस०, डी० एम० आर० डी० (इंग्लैंड), डी० एम० आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

उ० शं० शु० — उमाशंकर शुक्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

उ० सि० — उजागर सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), रीडर भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ए० चं० — ए० चंद्रहासन, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दरियागंज, दिल्ली।

एच० के० एस० — एच० के० शेरवानी, राहतफिजा, हिमायतनगर, हैदराबाद २९।

एन० सी० च० — एन० सी० चतुर्वेदी, आर्मी हेडक्वार्टर्स, जनरल स्टाफ ब्रांच, सेंट्रल आर्डनेंस डिपो, छिउकी, उत्तर प्रदेश।

एम० ए० ए० — एम० अतहर अली, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

एम० एम० एस० — एम० एम० सिन्हा, एम० ए०, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, मनोविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ओं० ना० श० — ओंकार नाथ शर्मा, भूतपूर्व वरिष्ठ लोको फोरमैन, बी० बी० ऐंड सी० आई० रेलवे, नियुक्त प्रधानाध्यापक, यंत्रशास्त्र, प्राविधिक प्रशिक्षण केंद्र, पूर्वोत्तर रेलवे, गुलाबबाड़ी, अजमेर।

ओ० स्मे० — ओडोलेन स्मेकल, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष हिंदी विभाग, चार्ल्स विश्वविद्यालय, प्राग, चेकोस्लोवाकिया।

क० प० त्रि० — करुणापति त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्याचार्य, अध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० ना० सिं, — काशीनाथ सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० बु० — कामिल बुल्के, एस० जे०, एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष हिंदी विभाग, सेंट जैवियर्स कालेज, राँची।

कि० चं० च० — किरणचंद्र चक्रवर्ती, एम० एस-सी०, भूतपूर्व रीडर, भूभौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कु० ना० झ० — कुलदीपनारायण झड़प, पोस्ट आफिस लिलकर, जिला बलिया

कृ० कु० कौ० — कृष्णकुमार कौल, प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, काशीविद्यापीठ, वाराणसी।

कृ० कु० ला० — कृष्णकुमार लाल, एम० ए०, शोध छात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कृ० गो० — कृष्णकांति गोपाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, इतिहास विभाग, कालेज फॉर वीमेन, वाराणसी।

कृ० चं० श्री० — दे० कृ० प्र० श्री०

कृ० दे० उ० — कृष्णदेव उपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर, वाराणसी।

कृ० प्र० श्री० — कृष्णप्रसाद श्रीवास्तव, पी० एच-डी०, प्राध्यापक.

प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कृ० स्व० श्री० — कृष्णस्वरूप श्रीवास्तव, एम० ए०, डी० फिल्; ६३।६७, बनिया बाग, वाराणसी।

के० रा० सु०, — एन० वी० रामसुब्रह्मण्यम, एम० ए०, ८।६४५२,

एन० वी० रा० — देवनगर, दिल्ली ५।

कै० च० मि० — कैलाशचंद्र मिश्र, एम० एस-सी०, बी० टी०, पी-एच० डी०, सहायक प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कै० ना० सिं० — कैलाशनाथ सिंह, बी० एस-सी०, एम० ए०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कौ० — (कु०) कौमुदी, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), डिपुटी सेक्रेटरी, वित्तमंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

गं० श० शु० — गंगाशरण शुक्ल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर, प्राणिविज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

गं० सिं० — गंडा सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, लोअर माल, पटियाला—३।

गि० प्र० गु० — गिरिराजप्रसाद गुप्त, एम० कॉम०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ई० एस० (लंदन), अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, माधव कालेज, उज्जैन।

गि० शं० मि० — गिरिजाशंकर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ।

गु० कु० — दे० न० वृ०।

गु० कृ० स० — गुमारकृष्ण सरदाही, एम० एस-सी०, सहायक निदेशक, मत्स्य (विकास); पशुपालन विभाग, बादशाह बाग, लखनऊ, उत्तरप्रदेश।

गु० त्रि० — गुरुदेव त्रिपाठी, एम० ए०, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, बिड़ला इंस्टिट्यूट ऑव आर्ट्स ऐंड सायंसेज, पिलानी (राजस्थान)।

गो० चा० — गोविंद चातक, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, राजधानी कालेज, कीर्तिनगर, दिल्ली १५।

गो० दा० — सेठ गोविंददास, संसद सदस्य, ३३ फीरोज शाह रोड, नई दिल्ली।

गो० दा० अ० — गोपालदास अग्रवाल, एम० बी० बी० एस०, विशारद, के० २५।३०, कुंजानाला, वाराणसी।

गो० म० मा० — गोपालदास [illegible] माखनिया, एम० आर्च (युनिवर्सिटी आव इलिनाय, यू० एस० ए०), एफ० आई० ए० (लंदन), एफ० आर० आई० ए० (भारत), एम० ए० एम० पी० ओ० (यू० एस० ए०) एम० ए० आई० एच (लंदन) इत्यादि, अध्यक्ष आर्किटेक्चर विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

घ० सिं० — घनश्याम सिंहल, एम० बी० बी० एस०, एम० एस० (सर्जरी), एफ० आर० सी० एस० (एडिन०), फेलो रायल सोसायटी ऑव मेडिसिन (लंदन), सर्जन, सर सुंदरलाल अस्पताल, तथा प्राध्यापक, शल्यविज्ञान विभाग, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चं० त्रि०, — चंद्रबली त्रिपाठी, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील

चं० ब० त्रि० — एवं ग्रंथकार, भूतपूर्व वैयक्तिक सचिव, महामना मदनमोहन मालवीय, मदनमोहन मालवीय मार्ग, बस्ती।

चं० दी० — चंद्रोदय दीक्षित, दीक्षित ब्रदर्स बिल्डिंग, नादान महल रोड, लखनऊ

चं० प्र० शु० — चंडिकाप्रसाद शुक्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

चं० भा० त्रि० — चंद्रभाल त्रिपाठी, उपायुक्त, अनुसूचित जातियाँ तथा अनुसूचित आदिम जातियाँ (पंजाब, हरयाणा) १५८५, सेक्टर, १८ डी०, चंडीगढ १८।

चं० भा० पां० — चंद्रभान पांडेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, कालेज ऑव इंडालॅजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चं० भू० त्रि० — चंद्रभूषण त्रिपाठी, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० फिल०, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

च० ला० गु० — चमनलाल गुप्त, प्राध्यापक, एक्सटेंशन एडुकेशन, इंस्टिट्यूट, नीलखेड़ी।

ज० गु० — जगदीश गुप्त, एम० ए०, डी० फिल्०, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ज० चं० जै० — जगदीशचंद्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, रामनारायण रुइया कालेज, बंबई—१९।

ज० का० मि० — जयकांत मिश्र, एम० ए०, डी० फिल०, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ज० म० — जहीरुद्दीन मलिक, इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

ज० मि० त्रे० — जगदीश मित्र त्रेहुन, एडीशनल कंसल्टिंग इंजीनियर, रोड्स विंग, ट्रैंसपोर्ट ऐंड कॉमुनिकेशन मिनिस्ट्री, ट्रांसपोर्ट भवन, पार्लमेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली।

जा० यू० हु० वा० — जान (रान) यून हुा, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक चीनी साहित्य, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन, (प० बंग)।

जि० अ० — जिआउद्दीन अहमद, समाजशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

जि० ना० वा० — जितेंद्रनाथ वाजपेयी, एम० ए०, पी-एच० डी०,

इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जी० बा० तं० जी० बालमोहन तपी, एम० ए०, डिपार्टमेंट ऑव लैंग्वेजेज, का० हि० विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जे० एम० म० जगदीश नारायण मलिक, एम० ए० पी-एच० डी०, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, राजेंद्र कॉलेज, छपरा।

झ० ला० श० (स्व०) झम्मनलाल शर्मा, डी० एस-सी०, भूतपूर्व प्रधानाचार्य, राजकीय डिग्री कालेज, नैनीताल।

टी० एन० बा० टी० एन० बालुजकर, समाजशास्त्र विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर।

ता० चु० तान चुङ्, एम० ए०, लेक्चरर, चीनी भाषा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—७।

ता० शं० ताराशंकर 'नाशाद', एम० ए०, प्रिंसिपल, सेकसरिया इंटरमीडिएट कालेज, बस्ती।

त्रि० ना० श० त्रिलोकीनाथ शर्मा, पॉटरी डेवलपमेंट आफिसर, खुरजा, उत्तर प्रदेश।

त्रि० पं० त्रिलोचन पंत, एम० ए०, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

द० दु० दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद।

द० रं० जा० द० रं० जातोरकर, मंत्री महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, पूना।

द० सिं० दलजीत सिंह, आयुर्वेद बृहस्पति, हकीम, श्री चुनार आयुर्वेदीय यूनानी औषधालय, चुनार।

दि० कौ० दिनकर कौशिक, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज ऑव फाइन आर्ट्स, लखनऊ।

दी० चं० (स्व०) दीवानचंद एम० ए० डी० लिट०, (भूतपूर्व उपकुलपति, आगरा विश्वविद्यालय), ६३ छावनी, कानपुर।

दी० ना० ब० दीपेंद्रनाथ बनर्जी, एम० ए०, शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दे० र० भ० देवीदास रघुनाथराव भवालकर, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

ध० कि० गु० धनवंत किशोर गुप्त, डी० एस-सी०, डिप्टी डाइरेक्टर फिजिक्स सेल, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ध० प्र० स० धर्मप्रकाश सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

धी० कि० च० धीरेंद्रकिशोर चक्रवर्ती, रीडर, भौमिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

धी० चं० गां० धीरेंद्रचंद्र गांगुली, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, ढाका विश्वविद्यालय; सेक्रेटरी विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता १६।

न० नगेंद्र, एम० ए०, डी० लिट०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ७।

न० अ० अ० नजीर अहमद अब्बासी एम० ए०, पी० एच-डी०, इंस्टिट्यूट ऑव इस्लामिक स्टडीज मुसलिम विश्वविद्यालय अलीगढ़।

न० क० नवरत्न कपूर, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, महेंद्र डिग्री कालेज, पटियाला (पंजाब)।

न० कु० नगेंद्र कुमार, बार ऐट-लॉ, पटना।

न० प्र० नर्मदेश्वर प्रसाद, एम० ए०, प्राध्यापक भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ना० रा० पां० नाथूराम पांडेय, भूतपूर्व होज़री इंस्ट्रक्टर, गवर्नमेंट सेंट्रल टेक्सटाइल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

नि० कौ० निर्मला कौशिक, प्राध्यापिका, भूगोल विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

नी० दे० नीरा देसाई, पी-एच० डी०, रीडर समाजशास्त्र विभाग, एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, बंबई।

प० च० परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल एल० बी०, वकील, बलिया।

प० ला० गु० परमेश्वरीलाल गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, क्यूरेटर, पटना पुरातत्व संग्रहालय, पटना।

पी० एम० जो० पी० एम० जोशी, स्नातकोत्तर शोध संस्थान, डेक्कन कालेज, पूना।

पु० क० पुष्पा कपूर, एम० ए०, प्राध्यापिका, भूगोल विभाग, महिला महाविद्यालय काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्र० कु० पा० प्रफुल्ल कुमार पारिख, एम० एस-सी०, सबडिविज़नल ऑफिसर (जिऑलॉजी), एमरजेन्सी वाटर सप्लाई, पब्लिक हेल्थ इंजीनियरिंग, जमुई, बिहार।

प्र० चं० गु० प्रकाशचंद्र गुप्त, एम० ए०, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्र० मा० प्रभाकर माचवे, एम० ए०, पी एच० डी०, सहायक मंत्री; साहित्य अकादमी, रवींद्र भवन, ३५, फिरोज शाह मार्ग, नई दिल्ली—१।

प्रि० कु० चौ० प्रियकुमार चौबे, बी० ए०, ए० बी० एम० एस०, डी० पी० पी०, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

प्रे० ति० प्रेमवती तिवारी, प्राध्यापक, पी० जी० आई० एम०, कालेज ऑव मेडिकल साइंसेज काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

प्रे० शं० ति० प्रेमशंकर तिवारी, एम० ए०, शोध छात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

फू० स० व० फूलदेव सहाय वर्मा, एम० एस-सी०, ए० आइ० आइ० एस-सी०, भूतपूर्व प्रोफ़ेसर, औद्योगिक

रसायन एवं प्रधानाचार्य, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, संप्रति संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ब० प्र० मि० बलभद्रप्रसाद मिश्र, ४७ १२, कबीर मार्ग, लखनऊ।

ब० प्र० स० बनारसीप्रसाद सक्सेना, अध्यक्ष इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)।

ब० रा० दा० दे० ब्र० र० दा०

ब० श्री० बलराम श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०, भारती विद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० सि० बसंत सिंह, एम० ए०, पी-एच डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

बृ० मो० पां० बृज मोहन पांडेय, एम० ए०, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, जनपथ, नई दिल्ली।

बे० दु० बेचन दुबे, एम० ए०, भूतपूर्व प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बै० ना० प्र० बैजनाथ प्रसाद, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बै० पु० बैजनाथ पुरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर इतिहास, नेशनल एकेडेमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।

ब्र० कु० भ० ब्रजेंद्रकुमार भगत, बो बेसिन, मॉरिशस।

ब्र० प्र० ब्रह्मप्रकाश, एम० ए०, एल-एल० बी०, एडवोकेट, सी. १०।३६ जियापुरा, वाराणसी।

ब्र० मो० ला० दे० ब्र० ला० सा०।

ब्र० र० दा० (स्व०) ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०, (भूतपूर्व प्रधानमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा), सुड़िया, वाराणसी।

ब्र० ला० सा० ब्रजमोहन लाल साहनी, एम० ए०, भू० पू० रीडर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भ०आ० कौ० भदंत आनंद कौसल्यायन, विद्यालंकार परिवेण विश्वविद्यालय, केलानिया, श्रीलंका।

भ० दा० व० भगवानदास वर्मा, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रानिकल, संप्रति विज्ञान तथा साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० दी० मि० भगवानदीन मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, एम० बी० डिग्री कालेज, हल्द्वानी (नैनीताल)।

भ० प्र० पां० भगवती प्रसाद पांथरी, एम० ए०, आचार्य, शास्त्रज्ञान विद्यालय, काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२।

भ० मि० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

भ० शं० या० भवानीशंकर याज्ञिक, प्राध्यापक, मेडिकल कालेज लखनऊ तथा सहायक निदेशक, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार; ८, शाहनजफ रोड, हजरतगंज, लखनऊ।

भ० श० सि० भगवतीशरण सिंह, आई० ए० एस०, विकास आयुक्त, हिमाचल प्रदेश, शिमला।

भा० शं० मे० भानुशंकर मेहता, एम० बी० बी० एस०, पैथॉलजिस्ट, बुलानाला, वाराणसी।

भा० स० भाऊ समर्थ, गोएनका उद्यान, सोनेगाँव, नागपुर-५।

भा० सि० गौ० भारतसिंह गौतम, एम० ए०, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

भि० ध० भिक्षु धर्मकीर्ति, भारतीय महाबोधि सभा, सारनाथ।

भी० ला० आ० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट०, पद्मभूषण, आत्रेय निवास, लंका, वाराणसी।

भू० ना० त्रि० भूपनारायण त्रिपाठी, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, श्यामसुंदर अग्रवाल पोस्ट ग्रैजुएट कालेज, सिहोरा रोड, मध्य प्रदेश।

भृ० ना० प्र० भृगुनाथ प्रसाद, पी-एच० डी०, रीडर, प्राणिविज्ञान विभाग, सायंस कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भो० शं० व्या० भोलाशंकर व्यास, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर हिंदी विभाग, का० हि० विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० गु० मन्मथनाथ गुप्त, संपादक 'आजकल', पब्लिकेशंस डिविजन, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली।

म० ना० नि० महेश नारायण निगम, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

म० ना० मे० महाराजनारायण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, एफ० जी० एम० एस०, प्राध्यापक भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० ला० श० (स्वर्गीय) मथुरालाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट०, प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मि० चं० पां० मिथिलेशचंद्र पांड्या, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अमरोहा (मुरादाबाद)।

मि० च० मिल्टन चरण, अध्यक्ष भारतीय मसीही सुधार समाज, एस १७।३८, राजाबाजार, वाराणसी।

मी० व० उ० मीर वलीउद्दीन, एम० ए०, पी-एच० डी०, बार-ऐट-ला, संमानित प्राध्यापक, उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

मु० उ० मुहम्मद उमर, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, रूरल इंस्टिट्यूट, जामिया मिलिया, नई दिल्ली।

मु० चं० जो० मुनीशचंद्र जोशी, एम० ए०, सहायक अधीक्षक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, जनपथ, नई दिल्ली।

मु० या० मुहम्मद यासीन, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मु० रा० मुद्रा राक्षस, दुगावाँ, लखनऊ।

मु० ला० श० मुरारीलाल शर्मा, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, विद्यावारिधि, प्राध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मु० श्री० का० मुकुंद श्री० कानडे, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, मराठी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना-७।

मु० स्व० व० मुकुंदस्वरूप वर्मा, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल ऑफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मो० उ० फा० मोहम्मद उमर फारूक, एम० एस-सी० पी-एच० डी० (लंदन एवं अलीगढ़), भूतपूर्व प्रोफेसर, रसायनशास्त्र, तथा डीन, फैकल्टी ऑव सायंस, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

यो० ना० च० योगेंद्रनाथ चतुर्वेदी, एम० ए० प्राध्यापक, इतिहास विभाग, क्वीस इंटरमीडिएट कालेज, वाराणसी।

र० उ० रत्नाकर उपाध्याय, एम० ए०, प्राध्यापक इतिहास विभाग, गवर्नमेंट इंटर कालेज, शाहाबाद, रामपुर।

र० चं० क० रमेशचंद्र कपूर, डी० एस-सी०. डी० फिल०, प्रोफेसर रसायन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

र० च० दु० रमेश चंद्र दुबे, एम० ए०, (संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश), ग्राम एवं डाकघर-ऊँचा बहादुरपुर, जिला इटावा।

र० ज० या रजिया सज्जाद ज़हीर, एम० ए०, भू० पू०, लेक्चरर
र० स० ज० उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय; 'वज़ीर मंजिल', वज़ीर हसन रोड, लखनऊ।

र० जै० रवींद्र जैन, द्वारा लक्ष्मीचंद्र जैन, १४६ जी ब्लॉक, न्यू अलीपुर, कलकत्ता।

र० ना० सिं० रवींद्रनारायण सिन्हा, एम० बी० बी० एस० (पटना), एफ० आर० सी० एस० (ग्लास०), एफ० आर० सी० एस० (एडी०), अध्यक्ष, प्लास्टिक सर्जरी विभाग, प्रिंस ऑव वेल्स मेडिकल कालेज, पटना।

र० श० श० डा० रघुराजशरण शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, गवर्मेंट पेडागागिकल इंस्टिटयूट, इलाहाबाद।

र० स० रमातोष सरकार, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, बिड़ला प्लेनेटेरियम, ९६ चौरंगी रोड, कलकत्ता-१६।

र० सिं० रघुबीर सिंह, एम० ए०, डी० लिट०, 'रघुबीर निवास', सीतामऊ (म० प्र०)।

रा० अ० राजेंद्र अवस्थी, राजनीति विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

रा० अ० द्वि० रामअवध द्विवेदी, एम० ए०, डी० लिट०, एमेरिटस प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

रा० कु० रामकुमार, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर गणित तथा अध्यक्ष अनुप्रयुक्त गणित विभाग, मोतीलाल नेहरू इंजीनियरिंग कालेज, इलाहाबाद।

रा० कु० मि० राजेंद्रकुमार मिश्र, मनोविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० कृ० मा० रामकृष्ण मान, एम० ए०, पी-एच० डी०, भू० पू० उपशिक्षा सलाहकार, भारत सरकार, नई दिल्ली; प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, मोती बाग, नई दिल्ली।

रा० चं० नि० रामचंद्र निगम, एम० ए०, एल-एल० एम०, पी-एच० डी०, सहा० प्राध्यापक, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

रा० चं० पां० रामचंद्र पांडेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, व्याकरणाचार्य, बौद्ध दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० चं० शु० रामचंद्र शुक्ल, एम० डी०, प्रोफेसर, फ़िज़ियालोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

रा० च० स० रामचंद्र सक्सेना, भूतपूर्व प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० चं० सि० रामचंद्र सिन्हा, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जिआलोजी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

रा० द० सिं० रामदयाल सिंह, असिस्टेंट इकोनॉमिक बॉटनिस्ट, नगीना, बिजनौर

रा० द्वि० रामज्ञा द्विवेदी, लेबर कालोनी, ऐशबाग, लखनऊ।

रा० ना० राजेंद्र नागर, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० ना० मा० राधिकानारायण माथुर, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० नि० रा० रामनिवास राय, एम०एस-सी०, डी० फिल०, प्रिंसिपल, सनातन धर्म कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।

रा० ना० सिं० दे० र० ना० सिं०

रा० प्र० पां० रामप्रसाद पांडे एम० ए० द्वारा केशवचंद्र पांडे०, आई० ए० एस०, जनरल मैनेजर, फाइनैंशल कारपोरेशन, दिल्ली।

रा० प्रवेश० सिं० रामप्रवेश सिंह, एम० ए०, प्रोफेसर, भूगोल विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

रा० प्र० सिं० राजेंद्रप्रसाद सिंह, एम० ए०, शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० फे० त्रि० रामफेर त्रिपाठी, एम० ए०, शोधछात्र, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० ब० पां० रामबली पांडेय, एम० ए०, हिंदी विभाग, डी० ए० वी० डिग्री कालेज, वाराणसी।

रा० मू० लूं० रामभूर्ति लूंबा, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक मनोविज्ञान एवं दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० शं० टं० रामशंकर टंडन, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० एच० एस०, प्राध्यापक, प्राणिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० शं० भ० रामशंकर भट्टाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, अनुसंधान 'सहायक', वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० श्या० अं० राधेश्याम अंबष्ट एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० बी० एस०, प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० स० ख० रामसहाय खरे, एम० ए०, अध्यापक, रामकृष्ण मिशन हाई स्कूल, सिद्धगिरि बाग, वाराणसी।

रा० सि० नौ० रामस्वरूप सिंह नौलखा, एम० ए०, एम० टी०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर।

रा० ह० स० रामचंद्र हरि सहस्त्रबुद्धे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०, अध्यक्ष, रसायन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर।

रु० म० (स्व०) रुस्तम पेस्तन जी मसानी, एम० ए०, डी-लिट०, भूतपूर्व म्युनिसिपल कमिश्नर, बंबई, ४६ मेयरवेदर रोड, बंबई।

रे० मि० रेखा मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापिका, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ल० गो० लल्लन जी गोपाल, एम० ए०, डी० फिल०, पी-एच० डी० (लंदन), रीडर, भारती विद्यालय, का० हि० विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ल० ना० ट० लक्ष्मीनारायण टंडन, विधिविभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

ल० ना० मा० लक्ष्मीनारायण माथुर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

ल० वि० गु० लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु, एम० ए०, ए० एम० एस०, रीडर, पी० जी० आइ० एम०, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ल० शं० व्या० लक्ष्मीशंकर व्यास, एम० ए०, सहायक संपादक, 'आज' दैनिक, वाराणसी।

ला० त्रि० प्र०, ला० ध० त्रि० लालधर त्रिपाठी, 'प्रवासी', नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ला० रा० शु० लालजी राम शुक्ल, एम० ए०, प्राध्यापक, काशी-विद्यापीठ, वाराणसी।

ला० शु० लालजी शुक्ल एम० ए०, डी० फिल, हिंदी विभाग धनमेजर गवर्मेंट डिग्री कालेज, इंफाल, मणीपुर।

ला० सि० लालजी सिंह, एम० ए०, आकाशवाणी, लखनऊ।

ले० रा० ना० लेखराज नागपाल, प्रधानाचार्य, उत्तर प्रदेश मुद्रण औद्योगिक शिक्षालय, तेलियरगंज, इलाहाबाद।

वा० श० अ० (स्व०) वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी०, लिट० भूतपूर्व अध्यक्ष, ललित कला विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० त्रि० या वि० ना० त्रि० विश्वनाथ त्रिपाठी, साहित्याचार्य, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

वि० द० विश्वेश्वर दयाल, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० च० च० विद्याधर चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, एडवोकेट, सिविल लाइंस, मैरिस रोड, अलीगढ़।

वि० पां० विवेकानंद पांडेय, ए० बी० एम० एस०, डी० ए० आइ० एम०, क्लिनिकल रजिस्ट्रार, पी० जी० आइ० एम०, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० प्र० विनोदप्रसाद, एम० बी० बी० एस०, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी,

वि० प्र० गु० विश्वंभरप्रसाद गुप्त, ए० एम० आइ० ई०, कार्यपालक इंजीनियर, सी० पी० डब्ल्यू० डी०, ७६, लूकरगंज, इलाहाबाद।

वि० रा० विक्रमादित्य राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० रा० सि० विजयराम सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० शा० विश्वनाथ शास्त्री, महाबोधि सोसायटी, ४ बंकिम चंद्र स्ट्रीट कलकत्ता।

वि० सा० दु० विद्यासागर दुबे, एम० एस सी०, पी-एच० डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, जिआलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, कंसल्टिंग जिआलोजिस्ट ऐंड माइंस ओनर, वसुंधरा, रवींद्रपुरी, वाराणसी।

वी० चं० दे० दी० चं०

शं० ग० तु० शं० ग० तुड़पुड़े; एम० ए० पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मराठी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, गणेश खिंड, पूना-७।

शं० ना० वा० शंभुनाथ वाजपेयी, सहायक मंत्री, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श० गु० } श० रा० गु० } शचीरानी गुर्टू, एम० ए०, फैज बाजार, दरियागंज, दिल्ली।

श० स० शकुंतला सक्सेना, एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी०, प्रधानाचार्य, मॉडेल माटेसरी स्कूल, लखनऊ।

शां० प्र० शांतिप्रकाश रोहतगी, एम० ए०, लेक्चरर गाइड कुतुब, मेहरौली, दिल्ली।

शां० ला० का० शांतिलाल कायस्थ, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० ओ० शिगेयी ओजावा, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर इंडिया डिपार्टमेंट ऑव फारेन स्टडीज, किताकू, तोक्यो, (जापान)।

शि० गो० मि० शिवगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, डी० फिल्०, साहित्यरत्न, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

शि० ना० प्र० शिवनाथ प्रसाद, सेंट्रल राइस रिसर्च इंस्टिट्यूट, कटक, उड़ीसा।

शि० श० शिवानंद शर्मा, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सेंट एंड्रूज कालेज, गोरखपुर।

शि० श० रा० शिवशंकर राम एम० ए०, डी० फिल० दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

शु० तै० शुभदा तैलंग, प्रिंसिपल, बसंत कालेज फॉर विमेन, राजघाट, वाराणसी।

श्या० ति० श्याम तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०, संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा वाराणसी।

श्र० कु० श्रद्धाकुमारी, विधिविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

श्री० चं० पां० श्रीशचंद्र पांडेय, एम० ए०, अहरौरा, मिरजापुर।

श्री० दा० सा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डी० लिट्०, महामहोपाध्याय, अध्यक्ष, स्वाध्याय मंडल, पारडी, जिला सूरत। (देखिए . मरुद्गण)।

श्री० अ० श्रीकृष्ण अग्रवाल, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

श्री० रा० गो० श्रीराम गोयल, एम० ए०, लेक्चरर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

श्री० स० श्रीकृष्ण सक्सेना, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

सं० डा० संपूर्णानंद, कुलपति, काशी विद्यापीठ वाराणसी।

सं० ब० सिं० संतबहादुर सिंह, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (कैंटब.) सेवानिवृत्त कृषिनिदेशक, भूतपूर्व ऐग्रिकल्चरल कमिश्नर, गवर्नमेंट ऑव इंडिया तथा एग्रिकल्चरल ऐडवाइजर टू यू० पी० गवर्नमेंट, पो० सोहना, कृषि फार्म, जिला बस्ती।

सं० सिं० संतसिंह, रीडर, कृषि महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

स० चं० सतीश चंद्र, इतिहास विभाग, जयपुर विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)।

स० च० सरोजिनी चतुर्वेदी, एम० ए०, द्वारा श्री सुभाषचंद्र चतुर्वेदी, पी० सी० एस०, एटा।

स० ना० प्र० सत्यनारायण प्रसाद, अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

स० पा० गु० सत्यपाल गुप्त, एम० बी० बी० एस०, एफ० आर० सी० एस० (एडिन०), डी० ओ० एम० एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, नेत्र विज्ञान विभाग, चीफ आइ सर्जन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० व० सत्येंद्र वर्मा, पी-एच० डी० (लंदन), डिप्टी सुपरिंटेंडेंट, डिपार्टमेंट ऑव प्लैनिंग ऐंड डेवलपमेंट, फर्टिलाइजर कारपोरेशन, सिंद्री, धनबाद।

स० वि० (स्व०) सत्यदेव विद्यालंकार, पत्रकार, ४० ए, हनुमान लेन, नई दिल्ली।

सत्य० प्र० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०, एफ० ए० एस-सी०, भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सा० जा० सावित्री जायसवाल, एम० एस-सी० प्राध्यापक, विज्ञान वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सा० प० सत्येंद्र पांडेय, प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

सी० च० सीताराम चतुर्वेदी, प्रिंसिपल, टाउन डिग्री कालेज, बलिया।

सु० कु० अ० सुरेंद्रकुमार अग्रवाल, ७८ बादशाह बाग, लखनऊ।

सु० चं० श० सुरेशचंद्र शर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, महारानी लाल कुअँरि डिग्री कालेज, बलरामपुर, गोंडा।

सु० ना० शा० सुरेंद्रनाथ शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, 'श्याम निवास', ज्ञानपुर, वाराणसी।

सु० पां० सुधाकर पांडेय, एम० काम०, साहित्यरत्न, प्रधानमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

सु० वै० सुशीला वैद्य, द्वारा डा० कुमारी के० वैद्य, लेडी एल्गिन हास्पिटल कम्पाउंड, जबलपुर (म० प्र०)

सु० शा० सुब्रह्मण्य शास्त्री, अध्यक्ष, मीमांसा दर्शन विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सु० सिं० सुरेशसिंह, कुँअर, एम० एस० सी०, कालाकाँकर, प्रतापगढ़, उत्तरप्रदेश।

सै० अ० अ० रि० सैयद अतहर अब्बास रिजवी, एम० ए०, पी-एच०

डी०, डी० लिट्०, आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी, स्कूल ऑव जनरल स्टडीज, बॉक्स १९७, पो० प्र० कैनबेरा सिटी, ए० सी० टी० ।

ह० चं० गु० हरिश्चंद्र गुप्त, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (आगरा, मैनचेस्टर) रीडर, गणितीय सांख्यिकी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

ह० ला० उ० हरमंदर लाल उप्पल, असिस्टैंट डाइरेक्टर (सॉयल्स), सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली ।

ही० कु० र० हीरेंद्रकुमार रक्षित, सहायक आयुक्त, अनुसूचित जातियाँ, नागपुर ।

ही० ला० गु० हीरालाल गुप्त, एम० ए०, डी० फिल्०, अध्यक्ष इतिहास विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ।

ही० ला० जै० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट०, अध्यक्ष, संस्कृत, पालि और प्राकृत विभाग, इंस्टिट्यूट ऑव लैंग्वेजेज ऐंड रिसर्च, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर ।

हु० सिं० रा० हुकुमसिंह राठोर, एम० एस-सी० (फ़िज़िक्स तथा गणित), पी-एच० डी० (शिकागो), अध्यक्ष, भू-भौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

हृ० ना० मि० हृदयनारायण मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, दर्शन विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर ।

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश; अथर्ववेद; अध्याय
अ० का०	अरण्यकांड (रामायण)
अथर्व०	अथर्ववेद
अधि०	अधिकरण
अनु०	अनुवादक, अनुशासनपर्व,
अयो०	अयोध्याकांड (रामायण)
आं० प्र०	आंध्र प्रदेश
आ० घ० या आपे० घ०	आपेक्षिक घनत्व
आई० ए० एस०	इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस
आई० सी० एस०	इंडियन सिविल सर्विस
आदि०; आ० प०	आदिपर्व (महाभारत)
आ० श्रौ० सू०	आपस्तंब श्रौतसूत्र
आय०	आयतन
आर्कि० स० रि०	रिपोर्ट ऑव दि आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया
आश्व०	आश्वलायन
इंट्रो०	इंट्रोडक्शन
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उदा०	उदाहरण
उत्तर०	उत्तरकांड
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश
उद्यो०; उद्योग०	उद्योगपर्व (महाभारत)
ऋ०	ऋग्वेद
ए० आई० आर०	आल इंडिया रिपोर्टर
ए० ई०; एपि० इं०	एपिग्राफ़िया इंडिका
एक०	एकवचन
एँ०	एँग्स्ट्रॉम
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० प०; कर्ण०	कर्णपर्व (महाभारत)
का०	कारिका
काम०	कामदकीय नीतिसार; कामशास्त्र
काव्या०	काव्यालंकार
कि० ग्राम	किलोग्राम
कि० मी० या किमी०	किलोमीटर
कु० सं०	कुमारसंभव
क्र० सं०	क्रमसंख्या
क०	कथनाक
गा०	गाथा
ग्रा०	ग्राम
छांदो०	छांदोग्य उपनिषद्
ज०, ज० सं०	जन्म; जन्म संवत्
जि०	जिला, जिल्द
जे० पी० टी० एस०	जर्नल ऑव दि पालि टेक्स्ट सोसायटी
डॉ०	डॉक्टर
तांड्य ब्रा०	तांड्य ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति०	तैत्तिरीय
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द०	दक्षिण
दी० नि०	दीघनिकाय
दी०	दीपवंश
दे०	देखिए; देशांतर
द्रो० प०, द्रोण०	द्रोणपर्व
ध०	धम्मपद
ना० प्र० प०	नागरीप्रचारिणी पत्रिका
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
नि०	निरुक्त
पं०	पंजाबी; पंडित
प०	पट्ठाण; पर्व; पश्चिम; पश्चिमी
पद्म०	पद्मपुराण
पु०	पुराण
पू०	पूर्व
पृ०	पृष्ठ
प्र०	प्रकाशक
प्रक०	प्रकरण
प्रो०	प्रोफेसर
फा०	फारेनहाइट
बा०	बालकांड (रामायण)
वाज० सं०	वाजसनेयी संहिता
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रा०	ब्राह्मण
भाग०	श्रीमद्भागवत
भा० ज्यो०	भारतीय ज्योतिष
भी० प०	भीष्मपर्व
मनु०	मनुस्मृति
मत्स्य०	मत्स्यपुराण
म० भा०; महा०	महाभारत; महावंश
म० म०	महामहोपाध्याय
म० मी०	महाभारत मीमांसा
महा० प्रा०	महाराष्ट्री प्राकृत
मिता० टी०	मिताक्षरा टीका

मिग्रा०	मिलिग्राम
मी०	मील, मोटर
मिमी०	मिलीमीटर
मे० सा०	मेगासाइकिल
म्यू०	माइक्रोन
याज्ञ०; याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
रघु०	रघुवंश
र० का० सं०	रचनाकाल संवत्
राज०, रा० त०	राजतरंगिणी
ल०, लग०	लगभग
ला०	लाला
ली०	लीटर
वन०; व० प०	वनपर्व (महाभारत)
वा० रा०	वाल्मीकीय रामायण
वायु०	वायुपुराण
वि०, वि० सं०	विक्रमी संवत्
विनय०	विनयपत्रिका
वि० पु०	विष्णु पुराण
वै० इ०	वैदिक इंडेक्स
श०, शत०, श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श०	शती
शल्य०	शल्यपर्व
शांति०	शांतिपर्व
शौ० प्रा०	शौरसेनी प्राकृत
श्रीमद्भा०	श्रीमद्भागवत
श्लो०	श्लोक
सं०,	संख्या, संपादक, संवत्, संस्करण, संस्कृत, संहिता
सं० ग्रं०	संदर्भ ग्रंथ
संस्क०	संस्करण
से० ग्रा० से०	सेंटीग्रेड, ग्राम, सेकंड पद्धति
स० प०; सभा०	सभापर्व (महाभारत)
सुंदर०	सुंदरकांड
सें०	सेंटीग्रेड
साइकॉ०	साइकॉलोजी
सेंमी०	सेंटीमीटर
से०	सेकंड
स्कंद	स्कंदपुराण
स्व०	स्वर्गीय
ह०	हनुमानबाहुक, हरिवंशपुराण
हि०	हिजरी
हिं०	हिंदी
हिं० वि० को०	हिंदी विश्वकोश
हि०	हिजरी; हिमांक
हिस्टॉ०	हिस्टॉरिकल

फलक सूची

तत्वों की संकेतसूची

संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम	संकेत		तत्व का नाम
अ	Am	अमरीकियम	ट$_{\text{क}}$	Tc	टेकनिशियम	मो	Mo	मोलिब्डेनम
आ$_{\text{इ}}$	En	आइंस्टियम	टे$_{\text{ल}}$	Te	टेल्यूरियम	य	Zn	यशद
औ	O	ऑक्सीजन	टै	Ta	टैंटेलम	यू	U	यूरेनियम
आ	I	आयोडीन	डि	Dy	डिस्प्रोशियम	यू$_{\text{र}}$	Eu	यूरोपियम
आ$_{\text{ग}}$	A	आर्गन	ता	Cu	ताम्र	र	Ag	रजत
आ$_{\text{र}}$	As	आर्सेनिक	थू	Tm	थूलियम	रु$_{\text{थ}}$	Ru	रुथेनियम
आ$_{\text{स}}$	Os	ऑस्मियम	थै	Tl	थैलियम	रु$_{\text{ब}}$	Rb	रुबिडियम
इं$_{\text{ड}}$	In	इंडियम	थो	Th	थोरियम	रे$_{\text{ड}}$	Rn	रेडॉन
इ$_{\text{ब}}$	Yb	इटर्बियम	ना	N	नाइट्रोजन	रे	Ra	रेडियम
इ$_{\text{ट}}$	Y	इट्रियम	नि$_{\text{य}}$	Nb	नियोबियम	रे$_{\text{न}}$	Re	रेनियम
इ	Ir	इरीडियम	नि	Ni	निकल	रो	Rh	रोडियम
ए$_{\text{र}}$	Eb	एर्बियम	नी	Ne	नीऑन	लि	Li	लिथियम
ऐं$_{\text{ट}}$	Sb	ऐंटिमनी	ने$_{\text{प}}$	Np	नेप्च्यूनियम	लैं	La	लैंथेनम
ऐ$_{\text{क}}$	Ac	ऐक्टिनियम	न्यो	Nd	न्योडियम	लो	Fe	लोह
ऐ	Al	ऐलुमिनियम	पा	Hg	पारद	ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम
ऐ$_{\text{स}}$	At	ऐस्टैटीन	पै	Pd	पैलेडियम	वं	Sn	वंग
का	C	कार्बन	पो	K	पोटैशियम	वै	V	वैनेडियम
कै$_{\text{ड}}$	Cd	कैडमियम	पो$_{\text{ल}}$	Po	पोलोनियम	स	Sm	समेरियम
कै$_{\text{ल}}$	Cf	कैलिफोर्नियम	प्रे	Pr	प्रेजिओडिमियम	सि	Si	सिलिकन
कै	Ca	कैल्सियम	प्रो$_{\text{ट}}$	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	सि$_{\text{ल}}$	Se	सिलीनियम
को	Co	कोबाल्ट	प्रो$_{\text{म}}$	Pm	प्रोमीथियम	सी$_{\text{ज}}$	Cs	सीज़ियम
क्यू	Cm	क्यूरियम	प्लू	Pu	प्लूटोनियम	सी$_{\text{र}}$	Ce	सीरियम
क्रि	Kr	क्रिप्टॉन	प्लै	Pt	प्लैटिनम	सी	Pb	सीस
क्रो	Cr	क्रोमियम	फा	P	फॉस्फोरस	सें	Ct	सेंटियम
क्लो	Cl	क्लोरीन	फ्रा	Fr	फ्रामियम	सो	Na	सोडियम
गं	S	गंधक	फ्लो	F	फ्लोरीन	स्कैं	Sc	स्कैंडियम
गै$_{\text{ड}}$	Gd	गैडोलिनियम	ब	Bk	बर्कीलियम	स्ट्रों	Sr	स्ट्रोंशियम
गै	Ga	गैलियम	बि	Bi	बिस्मथ	स्व	Au	स्वर्ण
ज$_{\text{क}}$	Zr	जर्कोनियम	बे	Ba	बेरियम	हा	H	हाइड्रोजन
ज$_{\text{म}}$	Ge	जर्मेनियम	बे$_{\text{र}}$	Be	बेरीलियम	ही	He	हीलियम
ज़ी	Xe	ज़ीनान	बो	B	बोरन			
टं	W	टंग्स्टन	ब्रो	Br	ब्रोमीन			
			मू	R	मूलक (रैडिकल)			
ट$_{\text{र}}$	Tb	टर्बियम	मैं	Mn	मैंगनीज	है	Hf	हैफ़्नियम
टा$_{\text{इ}}$	Ti	टाइटेनियम	मै$_{\text{ग}}$	Mg	मैग्नीशियम	हो	Ho	होल्मियम

हिंदी विश्वकोश

खंड ६

भारतीय जमींदारी प्रथा भारत की प्राचीन विचारधारा के अनुसार भूमि सार्वजनिक संपत्ति थी, इसलिये यह व्यक्ति की संपत्ति नहीं हो सकती थी। भूमि भी वायु, जल एवं प्रकाश की तरह प्रकृतिदत्त उपहार मानी जाती थी। महर्षि जैमिनि के मतानुसार 'राजा भूमि का समर्पण नहीं कर सकता था क्योंकि यह उसकी संपत्ति नहीं वरन् मानव समाज की संमिलित संपत्ति है। इसलिये इसपर सबका समान रूप से अधिकार है'। मनु का भी स्पष्ट कथन है कि 'ऋषियों के मतानुसार भूमिस्वामित्व का प्रथम अधिकार उसे है जिसने जंगल काटकर उसे साफ किया तथा जोता' (मनुस्मृति, ८, २३७ २३९)। अतएव प्राचीन भारत के काफी बड़े भाग में भूमि पर ग्रामसमुदाय का संयुक्त अधिकार था। भूमि का प्रबंध ग्राम का प्रधान श्रेष्ठ पुरुषों की परिषद् अथवा पंचायत की सहायता से करता था। ग्राम के प्रधान का निर्वाचन ग्रामसमुदाय करता था तथा उसकी नियुक्ति राज्य की संमति से होती थी। राज्य उसे भूमिकर न देने पर हटा सकता था, यद्यपि यह पद वंशानुगत था तथा इसकी प्राप्ति के लिये जनमत तथा राज्यस्वीकृति आवश्यक थी। अतएव वर्तमान समय के जमींदारों से, जो निर्वाचित नहीं होते वे भिन्न थे।

भूमि का संपत्ति के रूप में क्रयविक्रय प्राचीन भारत में संभव नहीं था। इस तथ्य की पुष्टि पाश्चात्य विद्वान् बेडेन पावेल तथा सर जार्ज कैंपबेल ने भी की है। कैंपबेल का कथन है कि भूमि जोतने का अधिकार एक अधिकार मात्र ही था और हिंदू व्यवस्था के अनुसार भूमि को कभी भी क्रयविक्रय की जानेवाली अन्य वस्तुओं के अर्थ में संपत्ति नहीं माना गया था। आधुनिक अनुसंधानों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि प्राचीन भारत में सामंत, उपरिक, भोगिक, प्रतिहर तथा दंडनायक विद्यमान थे। ये लोग न्यूनाधिक सामंतप्रथा के अनुकूल थे। किंतु हमें इनके अधिकारों तथा कर्तव्यों का पता निश्चय रूप से नहीं हो सका है, सिवाय इसके कि ये लोग अपने स्वामियों को आवश्यकता पड़ने पर सैनिक भेजते थे। इन अधिकारियों को पारिश्रमिक के रूप में भूमि प्रदान की जाती थी। भूमिव्यवस्था के संबंध में याज्ञवल्क्य के मतानुसार चार वर्ग, महीपति, क्षेत्रस्वामी, कृषक और शिकमी थे (याज्ञवल्क्य २.१५८)। आचार्य बृहस्पति ने क्षेत्रस्वामी के स्थान में केवल स्वामी शब्द का ही प्रयोग किया है परंतु इसका स्पष्टीकरण कर दिया है कि स्वामी, राजा और खेतिहर के मध्य का वर्ग था। उपर्युक्त वर्णन केवल भूधृति के वर्गीकरण को इंगित करता है, न कि कृषक को एक अगल दास के स्तर पर पहुँचा देता है।

मुख्य प्रश्न तो यह है कि भूमि पर स्वत्व अधिकार किसको था—राज्य को, कृषक को अथवा किसी मध्यवर्ती वर्ग को? विद्वानों के मतानुसार प्राचीन भारत में यह अधिकार केवल कृषक को ही था और राज्य को केवल सीमित अधिकार (Servitus) ही था जो स्वत्व अधिकार नहीं कहा जा सकता।

यवन शासनकाल में हम इस प्राचीन भूमिव्यवस्था में कोई रूपांतर नहीं पाते और न भूमि-स्वत्व-अधिकारों के मूल सिद्धांतों में परिवर्तन ही। यवन शासक भूमिकर गाँव के मुखिया द्वारा ही वसूल करते थे और कभी कभी स्थानीय सरदारों वा राजाओं द्वारा, जो अपना स्तर गाँव के मुखिया से ऊँचा होने का दावा करते थे। इन राजाओं के दावे में राज्य और कृषक के बीच में एक मध्यवर्ती वर्ग का जन्म प्रतीत होता है। परंतु सामंतवाद पर अवरोध स्थायी रखा गया था क्योंकि राज्य सर्वदा इन राजाओं को कर्मचारी ही मानते थे। यद्यपि ये राजा वंशानुगत होने लगे थे तथापि राज्य को इनके पद को देने तथा वापस लेने का अधिकार सदैव प्राप्त था। एक राजा के उत्तराधिकारी को राजा की सनद प्राप्त करने के लिये प्रार्थनापत्र देना पड़ता था और सनद की प्राप्ति के पश्चात् ही वह राजा होता था। आईनेअकबरी में कृषक तथा राज्य के बीच में किसी मध्यवर्ती वर्ग को मान्यता नहीं दी गई है। तथाकथित राजा और जमींदार सैद्धांतिक और वास्तविक रूप में केवल कर वसूल करनेवाले कर्मचारी ही थे।

यह उल्लेखनीय है कि यवन शासकों ने भूमि-स्वामित्व-अधिकार का कभी दावा नहीं किया था। यह बात इन ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है कि सम्राट् औरंगजेब ने हुंडी, पालम तथा अन्य स्थानों पर कृषकों से भूमि खरीदी थी, जैसा अकबर ने अकबराबाद और इलाहाबाद में किले बनाने के लिये किया था। ऐसा ही शाहजहाँ ने भी किया उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यवन शासक केवल कर वसूल करने में ही संपत्ति अधिकार मानते थे, न कि भूमि में। उनके शासनकाल में कृषक के अधिकारों को उच्चतम मान्यता दी गई थी। कृषक अपना कर राजा तथा गाँव के मुखिया द्वारा ही देता था और राजा तथा मुखिया को राज्य द्वारा इस कार्य का पारिश्रमिक मिलता था।

सन् १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् कृषकों के अधिकारों का लोप धीरे धीरे आरंभ हुआ जब कि केंद्रीय सत्ता शिथिल पड़ने लगी। इस अराजकता के समय में अर्धसामंतवादी स्वार्थों की मनोभावना का प्रादुर्भाव हुआ। जब राज्य की सत्ता शिथिल पड़ने

लगी, राज्य के कर्मचारी प्रजा के जानमाल की रक्षा करने मे असमर्थ होने लगे। फलस्वरूप ग्रामनिवासी रक्षा के लिये शक्तिशाली कर्मचारी एवं राजा या मुखिया लोगो का सहारा लेने लगे। इन लोगो ने स्वभावत. शरणार्थी कृषको के भूम्यधिकारो पर आक्रमण किया। इन परिस्थितियो मे जमीदारी प्रथा के अकुर पाए जाते हैं। परतु इस सकटकाल मे भी कृषको के भूम्यधिकारो का पूर्ण समर्पण नही हुआ था।

भारत मे अग्रेजो के आगमनकाल से ही जमीदारी प्रथा का उदय होने लगा। अग्रेज शासको का विश्वास था कि वे भूमि के स्वामी हैं और कृषक उनकी प्रजा हैं। इसलिये उन्होने स्थायी तथा अस्थायी बदोबस्त बडे कृषको तथा राजाओं और जमीदारो से किए। यद्यपि वारेन हेस्टिंग्ज को इन जमीदारों के कुकर्मों का पूर्ण ज्ञान था, तथापि राजनीतिक औचित्य से प्रभावित होकर उसने एक एक परगना कर वसूल करनेवाले इजारेदार को पाँच वर्ष के लिये पट्टे पर दे दिया। इस प्रकार जमीदारी प्रथा को अग्रेजों ने मान्यता प्रदान की यद्यपि आरभ मे उनका विचार कृषकों को उनके अधिकारों से वंचित करने का नही था। सन् १७८६ ई० मे लार्ड कार्नवालिस, वारेन हेस्टिग्ज के बाद, गवर्नर-जनरल हुआ। लार्ड कार्नवालिस भी जमीदारी प्रथा के पक्ष मे था। उसने सन् १७९१ ई० मे बगाल, बिहार तथा उडीसा मे दस वर्षीय बदोबस्त की आज्ञा दी। दो वर्ष पश्चात् बोर्ड ग्राफ डाइरेक्टर्स ने इस दस वर्षीय योजना को स्थायी बंदोबस्त (permanent settlement) बना देने की अनुमति दे दी।

मद्रास में जमीदारी प्रथा का उदय अग्रेज शासकों की नीलाम नीति द्वारा हुआ। गाँवो की भूमि का विभाजन कर उन्हे नीलाम कर दिया जाता था और अधिकतम मूल्य देनेवाले को विक्रय कर दिया जाता था। प्रारभ मे अवध मे बदोबस्त कृषक से ही किया गया था परन्तु तदनतर राजनीतिक कारणो से यह बदोबस्त जमीदारो से किया गया। महान् इतिहासकार सर विसेंट ए० स्मिथ, अलीगढ की बदोबस्त रिपोर्ट मे, यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि प्रचलित भूम्यधिकारो की उपेक्षा करते हुए केवल उपयोगिता को लक्ष्य मे रखकर बदोबस्त इजारदारो (revenue farmers) से किए गए। अन्यायपूर्ण कर राशि इकट्ठा करने का यह सबसे सरल उपाय है तथा यह राजनीतिक दृष्टिकोण से भी उपयोगी है क्योकि इसके फलस्वरूप सरकार को एक शक्तिशाली तथा धनी वर्ग की सहायता मिलती रहेगी।

इस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास मे सर्वप्रथम इन बदोबस्तो द्वारा राज्य और कृषको के बीच मे जमीदारो का वर्ग अग्रेजो की नीति द्वारा स्थापित हुआ जिसके फल स्वरूप कृषको के भू-संपत्ति अधिकार, जो अनादि काल से चले आ रहे थे, छिन गए। यह मध्यवर्ती वर्ग दिन प्रति दिन धनी होता गया क्योकि अग्रेज शासक अपनी कर राशि मे से अधिक से अधिक हिस्सा उन्हे प्रलोभन के रूप मे देते रहे।

इन बदोबस्तो मे कृषको के हितो की ओर कोई ध्यान नही दिया गया था जिसके परिणामस्वरूप उनका दुःख, अपमान एव दारिद्रय दिन प्रतिदिन बढता गया। कई बार अग्रेज शासको ने भी इस ओर ध्यान दिलाया कि कृषको की भूधृति की रक्षा की जाय एव उनका लगान बंदोबस्त के समय तक निर्धारित कर दिया जाय। फिर भी कुछ नही किया गया। इसका कारण यह था कि अग्रेज शासकों की धारणा थी कि जमीदारों के साथ व्यवहार मे उदारता दिखाने पर जब वे संपन्न एवं सतुष्ट रहेंगे तो वे अपने आसामियो को नहीं सताएँगे जिसके फलस्वरूप वे भी खुशहाल रहेंगे। परंतु यह उनकी महान् भूल थी क्योकि जमीदारो ने हमेशा ही अपने कर्तव्य के साथ विश्वासघात किया। अत. अग्रेज शासक यह महसूस करने लगे कि इस भूल का सुधार किया जाय। फलस्वरूप उन्होंने कृषको की दशा सुधारने के लिये भूमि सबधी विधानो की व्यवस्था की। यह कदम जमीदारी प्रथा के अन्त की दिशा मे प्रथम चरण कहा जा सकता है।

इस प्रथम चरण मे, जो सन् १८५९ ई० से १९२९ ई० तक रहा, जो कानून बने उनसे जमीदारो के लगान बढाने के अधिकारो पर कुछ प्रतिबध लगाए गए और उच्च श्रेणी के कृषकों को लाभ भी हुए। किंतु इन कानूनो का मुख्य उद्देश्य जमीदारो को लगान वसूल करने मे सहूलियत देने का था जिससे वे राज्य को राजस्व ठीक समय पर दे सकें। सन् १८५९ ई० मे भूमि सबधी पहला अधिनियम पास हुआ। यह अधिनियम समस्त ब्रिटिश भारत के लिये एक आदर्श भूमि-अधिनियम था जिसके अनुरूप अधिनियम भारत के सभी भागो मे पास हुए और समय समय पर उनमे सशोधन भी किए गए ताकि असतुष्ट कृषको को शात किया जा सके। किंतु जमीदार फिर भी कृषको को अपने न्यायपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण करो को वसूलने के लिये निचोड़ते रहे जिससे किसानो मे घोर असतोष तथा बेचैनी फैलने लगी।

जमींदारी प्रथा के अन्त के क्रम मे दूसरा चरण सन् १९३० ई० से १९४७ ई० तक रहा। इस समय मे सारे देश मे किसान आदोलन होने लगे। इन आदोलनो का बीज एक किसान सभा ने बोया था जो अखिल भारतीय काग्रेस की इलाहाबाद बैठक मे तारीख ११ फरवरी, सन् १९१८ ई० को हुई थी। तत्पश्चात् काग्रेस किसानो के हितो की आग बढाने लगी। परिणाम स्वरूप ग्रामीण जनता मे काफी जाग्रति पैदा हो गई। प० जवाहरलाल नेहरू ने यू० पी० काग्रेस कमेटी मे तारीख २७ अक्टूबर, १९२८ को घोषणा की कि राजनीतिक स्वतत्रता निरर्थक है जब तक किसानो को शोषण से मुक्ति न प्राप्त हो। शनै शनै किसानो की जागरूकता बढी और साथ ही साथ उनकी व्याकुलता भी। किसान वर्ग अब अधिक मुखर हो गया और भूधृति की स्थिरता एव लगान मे कमी की माँग करने लगा। किसान आदोलनो से प्रभावित होकर रैय्यतवारी क्षेत्रो मे नए अधिनियम बनाए गए जिनमे कृषको के हितो की रक्षा हो सके। मलाबार टेनेसी ऐक्ट (१९३० ई०) इस सबध मे सीमाचिह्न है। इसके बाद भोपाल लैंड रेवेन्यू ऐक्ट, १९३५ तथा आसाम टेनेंसी ऐक्ट १९३५ पास हुए। गवर्नमेंट ऑव इडिया ऐक्ट, १९३५, के अतर्गत जब 'प्राविंशल आटोनोमी' का उद्घाटन हुआ तो प्रातीय सरकारों ने भूमिसुधार अधिनियमो की व्यवस्था की जिनमे कृषको को और अधिकार प्रदान किए गए तथा जमीदारो के अधिकारो की कटौती की गई। यू० पी० टेनेंसी ऐक्ट, १९३९, तथा बबई टेनेंसी ऐक्ट, १९३९ विशिष्ट उदाहरण ऐसे व्यापक अधिनियमो के हैं जिनके द्वारा

कृषकों को मौरूसी अधिकार दिए गए एवं कृषकों के हित में जमींदारो के कतिपय अधिकार छीन लिए गए।

इन भूमि सुधार अधिनियमो के बनने पर भी जमींदारी प्रथा की बुराइयाँ विद्यमान रहीं, यद्यपि काफी हद तक जमींदारो को पगु बना दिया गया था। इन जमींदारो को नेहरू जी 'ब्रिटिश सरकार की अतिलालित संतान (Spoilt child)' कहा करते थे। वे भूतकालीन सामतवादी प्रथा के प्रतीक थे जो कि आधुनिक परिस्थितियों के बिल्कुल प्रतिकूल हो गई थी। इसलिये इडियन नेशनल कांग्रेस ने कई बार इस बात की घोषणा की कि जमींदारी उन्मूलन को कांग्रेस के कार्यक्रम मे प्रमुख स्थान देना चाहिए। एक किसान कांफ्रेंस तारीख २७,२८ अप्रैल, सन् १९३५ ई० को सरदार पटेल के सभापतित्व मे इलाहाबाद मे हुई थी। उसने जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव पास करके इस ओर एक प्रमुख कदम उठाया। इस प्रस्ताव मे यह घोषणा की गई थी कि 'ग्रामकल्याण के दृष्टिकोण से वर्तमान जमींदारी प्रथा बिल्कुल विपरीत है। यह प्रथा ब्रिटिश शासन के आगमन मे लाई गई और इससे ग्रामीण जीवन पूर्णतया तहस नहस हो गया है'। परतु सन् १९३९ ई० मे द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हो जाने के कारण भूमि सुधार का सारा कार्यक्रम रुक गया।

युद्ध की समाप्ति के बाद जमींदारी प्रथा के अत का अतिम चरण आरभ हुआ जो सन् १९४५ से १९५५ तक चला। युद्ध समाप्त होते ही ब्रिटिश सरकार ने १९४५ ई० मे गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट १९३५ ई० के अतर्गत प्रातीय सदनो के चुनाव करने का फैसला किया। कांग्रेस ने चुनाव मे भाग लेने का निश्चय किया और दिसबर १९४५ मे चुनाव घोषणापत्र निकाला। इस घोषणापत्र मे जमींदारी उन्मूलन के विषय मे स्पष्टतया कहा गया कि 'भूमि व्यवस्था का सुधार, जिसकी भारत मे अति आवश्यकता है, कृषको तथा राज्य के बीच मध्यवर्ती वर्ग को हटाने से सबंधित है। इसलिये इस मध्यवर्ती वर्ग के अधिकारो को उचित प्रतिकर देकर प्राप्त कर लिया जाना चाहिए'। इस घोषणापत्र से अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ तथा पत्रकार सभी सहमत थे। जमींदारी प्रथा भारतीय आर्थिक विकास में रुकावट डालती थी क्योकि बड़े जमींदार हमेशा प्रतिक्रियावाद के समर्थक थे। 'लदन इकोनोमिस्ट' ने इनके विषय में लिखा था कि 'इनमे से अधिकतर 'थैकरसे' के पात्र 'लार्ड स्टीन' की तरह दुश्चरित्र, 'जेन आस्टीन' के 'मिस्टर बेनेट' की तरह आलसी, 'सुर्तीजग्ववायर' की तरह शराबी थे (Indian land problem, G D Patel से उद्धृत)। बंगाल लैंड कमीशन (सन् १९४० ई०) भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'सन् १७९३ ई० का स्थायी बदोबस्त उस समय जिन भी कारणो से उचित समझा गया हो, आज की परिस्थिति मे अनुपयुक्त है और जमींदारी प्रथा मे इतनी बुराइयाँ उपज चुकी हैं कि यह अब राष्ट्र के हित मे किसी भी प्रकार उपयोगी नही रह गई है।' भारतीय तथा पाश्चात्य अर्थवेत्ताओं की राय मे जमींदारी उन्मूलन अधिक कृषि उत्पादन के लिये अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त यह प्रथा संसार के हर भाग मे समयानुकूल न होने के कारण समाप्त हो चुकी है। पुनश्च, यह प्रथा राज्य के लिये अधिक खर्चीली है। सर्वोपरि, यह प्रथा इस समय ऐसी स्थिति पर पहुँच चुकी थी कि यदि इसका उन्मूलन न किया गया होता तो इसके कारण न केवल राष्ट्रीय आर्थिक समस्या पर ही वरन् समाज सुरक्षा पर भी विपत्ति आ पड़ती।

अत सन् १९४६ ई० मे चुनाव मे सफलता के फलस्वरूप जब हर प्रात मे कांग्रेस मत्रिमंडल बने तो चुनाव प्रतिज्ञा के अनुसार जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के लिये विधेयक प्रस्तुत किए गए। ये विधेयक सन् १९५० ई० से १९५५ ई० तक अधिनियम बनकर चालू हो गए जिनके परिणामस्वरूप जमींदारी प्रथा का भारत मे उन्मूलन हो गया और कृषको एवं राज्य के बीच पुन. सीधा संबध स्थापित हो गया। भूमि के स्वत्वाधिकार अब कृषको को वापस मिल गए जिनका उपयोग वे अनादि परंपरागत काल से करते चले आए थे।

इस प्रकार जिस जमींदारी प्रथा का उदय हमारे देश मे अंग्रेजो के आगमन से हुआ था उसका अत भी उनके शासन के समाप्त होते ही हो गया। इस प्रथा की समाप्ति पर किसी ने तनिक भी शोक प्रकट नही किया, क्योकि इसका विनाश होते ही पुराने सिद्धात की, जिसके अनुसार भूमि का स्वामी कृषक होता था, पुनरावृत्ति हुई।

[रा० च० नि०]

भारतीय देवीदेवता हिंदू देववाद पर वैदिक, पौराणिक, तांत्रिक और लोकधर्म का प्रभाव है। वैदिक धर्म मे देवताओं के मूर्त रूप की कल्पना मिलती है। वैदिक मान्यता के अनुसार देवता के रूप मे मूलशक्ति सृष्टि के विविध उपादानो मे संपृक्त रहती है। एक ही चेतना सभी उपादानों मे है। यही चेतना या अग्नि अनेक स्फुलिंगों की तरह (नाना देवो के रूप मे) एक ही परमात्मा की विभूतियाँ हैं। (एको देव सर्वभूतेषु गूढः)।

वैदिक देवताओ का वर्गीकरण तीन कोटियो मे किया गया है पृथ्वीस्थानीय, अतरिक्ष स्थानीय, और द्यु स्थानीय। अग्नि, वायु, और सूर्य क्रमश इन तीन कोटियो का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्ही त्रिदेवो के आधार पर पहले ३३ और बाद को ३३ कोटि देवताओं की परिकल्पना की गई है। ३३ देवताओ के नाम और रूप मे प्रथभेद से बड़ा अतर है। 'शतपथ ब्राह्मण' (४५७२) मे ३३ देवताओं की सूची अपेक्षाकृत भिन्न है जिसमे ८ वसुओ, ११ रुद्रो, १२ आदित्यो के सिवा आकाश और पृथ्वी गिनाए गए है। ३३ से अधिक देवताओ की कल्पना भी अति प्राचीन है। ऋग्वेद के दो मन्त्रो मे (३ ९ ९, १०. ५२ ६) ३३३९ देवताओ का उल्लेख है। इस प्रकार यद्यपि मूलरूप मे वैदिक देववाद एकेश्वरवाद पर आधारित है, किंतु बाद को विशेष गुणवाचक संज्ञाओ द्वारा इनका इस रूप मे विभेदीकरण हो गया कि उन्होने धीरे धीरे स्वतत्र चारित्रिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। उनका स्वरूप चरित्र मे शुद्ध प्राकृतिक उपादानात्मक न रहकर धीरे धीरे लोक आस्था, मान्यता और परपरा का आधार लेकर मानवी अथवा अतिमानवी हो गया।

वेदोत्तर काल मे पौराणिक तांत्रिक साहित्य और धर्म तथा लोकधर्म का वैदिक देववाद पर इतना प्रभाव पड़ा कि वैदिक देवता परवर्ती काल मे अपना स्वरूप और गुण छोड़कर लोकमानस मे सर्वथा भिन्न रूप मे ही प्रतिष्ठापित हुए। परवर्ती काल मे बहुत से वैदिक देवता गौण पद को प्राप्त हुए तथा नए देवस्वरूपो की कल्पनाएँ भी

हुई। इस परिस्थिति से भारतीय देववाद का स्वरूप और महत्व अपेक्षाकृत अधिक व्यापक हो गया।

हिंदू धर्म में कोई भी उपासक अपनी रुचि के अनुसार अपने देवता के चुनाव के लिये स्वतंत्र था। तथापि शास्त्रो मे इस बात की व्यवस्था भी बताई गई है कि कार्य और उद्देश्य के अनुसार भी देवता की उपासना की जा सकती है।

इस प्रकार नृपों के देवता विष्णु और इंद्र, ब्राह्मणो के देवता अग्नि, सूर्य, ब्रह्मा, शिव निर्धारित किए गए हैं। एक अन्य व्यवस्था के अनुसार विष्णु देवताओं के, रुद्र ब्राह्मणों के, चंद्रमा अथवा सोम यक्षो और गंधर्वों के, सरस्वती विद्याधरो के, हरि साध्य संप्रदायवालों के, पार्वती किन्नरो के, ब्रह्मा और महादेव ऋषियों के, सूर्य, विष्णु और उमा मनुओं के, ब्रह्मा ब्रह्मचारियो के, अंबिका वैखानसों के, शिव यतियों के, गणपति या गणेश कूष्मांडों या गणों के विशेष देवता निर्धारित किए गए हैं। किंतु सामान्य गृहस्थों के लिये इस प्रकार का भेदभाव नहीं लक्षित है। उनके लिये सभी देवता पूजनीय हैं। (गृहस्थानाञ्च सर्वेस्यु :)

हिंदू देवपरिवार का उद्भव ब्रह्मा से माना जाता है। त्रिदेव मे ब्रह्मा प्रथम हैं। भारतीय धारणा के अनुसार ब्रह्मा ही स्रष्टा हैं और वे ही प्रजापति है।

वे एक हैं और उनकी इच्छा कि मैं बहुत हो जाऊँ (एकोऽहं बहु स्याम्) ही विश्व की समृद्धि का कारण है। मुंडक उपनिषद् मे ब्रह्मा को देवताओं मे प्रथम, विश्व का कर्ता और संरक्षक कहा गया है। कर्ता के रूप मे वैदिक साहित्य में ब्रह्मा का परिचय विभिन्न नामों से दिया गया है, यथा विश्वकर्मन्, ब्रह्मणस्पति, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, ब्रह्म और ब्रह्मा। पुराणों मे इन नामों के अतिरिक्त धाता, विधाता, पितामह आदि भी प्रचलित हुए। वैदिक साहित्य की अपेक्षा पौराणिक साहित्य मे ब्रह्मा का महत्व गौण है। उपासना की दृष्टि से जो महत्ता विष्णु, शिव, यहाँ तक कि गणपति और सूर्य को प्राप्त है, वह भी ब्रह्मा को नही मिली, किंतु वैदिक देवताओ मे प्रजापति के रूप मे ब्रह्मा सर्वमान्य हैं, और इस रूप मे वे आकाश और पृथ्वी को स्थापित करनेवाले तथा अंतरिक्ष मे व्याप्त रहते हैं। ये समस्त विश्व और समस्त प्राणियों को अपनी भुजाओ मे आबद्ध किए रहते है। इस प्रकार ऋग्वेद मे ब्रह्मा का अमूर्त रूप ही अथर्व मान्य है। मानवी रूप मे इनकी कल्पना भी बड़ी प्राचीन है। अथर्व और वाजसनेयी संहिता मे भी वे सर्वोपरि देवता के रूप मे स्वीकार किए गए हैं। शतपथ ब्राह्मण (११।१।६।१४) मे उन्हें देवों के पिता तथा इसी ग्रंथ में अन्यत्र (२।२।४।१) कहा गया है कि सृष्टि के आदि मे भी ब्रह्मा का अस्तित्व था। मैत्रायणी संहिता मे (४।२।१२) प्रजापति के अपनी पुत्री उषस् पर आसक्त होने की कथा मिलती है जो परवर्ती साहित्य मे विस्तृत रूप से दुहराई गई है। इस कथा के प्रति नैतिक दृष्टिकोण के कारण परवर्ती समाज मे ब्रह्मा की मान्यता घटती गई। ब्रह्मा का स्वभाव भी उनकी लोकप्रियता मे बाधक हुआ। सप्रदाय देवता के रूप मे वे विष्णु और शिव की तरह लोकप्रिय न हुए तथा तपस् और यज्ञ के विशेष हिमायती होने के कारण भक्ति के विशेष पात्र न हो सके। साथ ही विष्णु और शिव का विरोध करनेवाले असुर और देवों पर भी वे सहज ही अनुकंपा करते थे अतएव दोनों ही संप्रदायवालों ने इनकी उपेक्षा की है। ब्रह्मा धीरे धीरे हिंदू पुराकथा में इतना महत्वहीन हो जाते हैं कि, जैसा मधुकैटभ की कथा से पता चलता है, वे अपनी ही सुरक्षा मे असमर्थ सिद्ध होते हैं तथा विष्णु की कृपा की अपेक्षा करते हैं। वैष्णव और शैव दोनों ही संप्रदायवाले अपने आराध्य देव विष्णु और शिव को ब्रह्मा का आराध्य देव मानते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रभाव भारतीय धर्म पर यह पड़ा कि उस देवता के आधार पर भारत मे न तो कोई धार्मिक संप्रदाय खड़ा हो सका और न उपास्य देव के रूप में ब्रह्मा की पृथक् मूर्तियाँ ही प्रचुरता से स्थापित हुई। ब्रह्मा के मंदिर बहुत ही कम मिलते हैं। शास्त्रविधान के अनुसार उपास्य देव के रूप मे ब्रह्मा की पूजा केवल वैदिक ब्राह्मणों को ही करनी चाहिए।

पुराणों तथा शिल्पशास्त्रो के अनुसार ब्रह्मा चतुर्मुख हैं। इनके चार हाथो मे अक्षमाला, स्रुवा, पुस्तक और कमडलु प्रदर्शित कराने का विधान है। ग्रथभेद से ब्रह्मा के आयुधभेद भी हैं। युगभेद के अनुसार इन्हे कलि मे कमलासन, द्वापर मे विरचि, त्रेता में पितामह और सतयुग मे ब्रह्मा के नाम से कहा गया है। इनकी सावित्री और सरस्वती दो शक्तियाँ है। सावित्री का स्वरूप विधान ब्रह्मा के अनुरूप ही निश्चित किया गया है। ब्रह्मा के अष्ट प्रतिहारों को सत्य, धर्म, प्रियोद्भव, यज्ञ, विजय, यज्ञभद्रक, भव और विभव के नाम से जाना जाता है।

पौराणिक मान्यताओ के अनुसार सृष्टि की स्थिति में विष्णु की 'इच्छा' ही प्रधान है। सृष्टि का परिपालन विष्णु अपनी शक्ति लक्ष्मी के सहयोग से करते है। विष्णु 'इच्छा' के प्रतीक हैं, लक्ष्मी 'भूति' और 'क्रिया' की। इस प्रकार इच्छा, 'भूति' और 'क्रिया' से षड्गुणो की उत्पत्ति होती है। षड्गुण ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस् है। ये ही सृष्टि के उपादान है। इन्ही मे से दो दो गुणो से तीन मूर्त रूप बनते हैं जो लोक मे सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। वासुदेव मे सभी गुण हैं। आदि वासुदेव के आधार पर गुप्तयुग मे चतुर्विंशति विष्णुओं की कल्पना की गई। इनके नाम क्रमश वासुदेव, केशव, नारायण, माधव, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, सकर्षण, गोविंद, विष्णु, मधुसूदन, अच्युत, उपेंद्र प्रद्युम्न, त्रिविक्रम, नरसिंह, जनार्दन, वामन, श्रीधर, अनिरुद्ध, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, हरि और कृष्ण हैं।

विष्णु के अवतार भारतीय धर्म और आस्था पर विशेष प्रभाव रखते है। अवतारवाद की भावना वैदिक है। 'शतपथ' और 'ऐतरेय' ब्राह्मणो मे विष्णु के मत्स्य, कूर्म और वाराह अवतारों की चर्चा है। ग्रंथभेद से विष्णु के अवतारो और उनके क्रम आदि में बड़ा अंतर है किंतु सामान्यतया अवतारो की सख्या दस मानी जाती है। मूर्तिविधान की दृष्टि से दशावतार का विवेचन करते हुए शिल्पशास्त्रों ने मत्स्य और कूर्म को यथाकृति बनाने का निर्देश किया है। नरसिंह का मुख सिंह की तरह और भयंकर दातो तथा भौंहों से युक्त बनाना चाहिए। वाराह वाराहमुख है और उनके आयुध गदा और कमल हैं। नरसिंह के भी यही आयुध हैं। वाराह के दंष्ट्राग्र पर पृथ्वी स्थित है। गुप्त युग मे वाराह के इस स्वरूप का अत्यत कलात्मक

प्रदर्शन उदयगिरि गुहा (भिलसा) में किया गया है। वामन को शिखा सहित और श्याम वर्णवाला कहा गया है। उनके एक हाथ में दंड और दूसरे में जलपात्र प्रदर्शित किया जाता है। वे छत्र भी धारण करते हैं। तक्षशिला से प्राप्त वामन विष्णु की एक प्रतिमा चतुर्भुज है जिनमे पद्म, शंख, चक्र और गदा धारण किया है। परशुराम को जटाधारी तथा बाण और परशु सहित प्रदर्शित करना चाहिए। दाशरथि राम श्याम वर्ण के हैं और धनुष बाण धारण करते है। बलराम का आयुध मूसल है। बुद्ध हिंदू शिल्पशास्त्रों के अनुसार पद्मासनस्थ हैं, काषायवस्त्र धारण करते हैं, रक्त वर्ण के तथा द्विभुज हैं और त्यक्त आभूषण हैं। कल्कि को शास्त्रों ने अश्वारूढ़ और खड्गधारी कहा है।

विष्णु के कुछ विशिष्ट स्वरूप भी हैं। जलशायी विष्णु का स्वरूप गुप्तयुग मे भी विशेष मान्यताप्राप्त था। देवगढ़ के मंदिर मे जलशायी विष्णु की बड़ी सुंदर प्रतिमा अंकित है। जलशायी विष्णु को सुप्तप्रदर्शित किया जाता है। वे दाएँ करवट लेटे दिखाए जाते हैं और बाएँ हाथ मे पुष्प लिए रहते है। नाभि से एक कमल निकला होता है जिस पर ब्रह्मा आसीन होते है। पॉयताने उनकी शक्तियाँ श्री और 'भूमि' प्रदर्शित की जाती हैं तथा पार्श्व मे मधुकैटभ भी प्रदर्शित किया जाता है।

चतुर्मुख प्रकार की कुछ विष्णुमूर्तियाँ, वैकुंठ, अनंत, त्रैलोक्य मोहन और विश्वमुख के नाम से जानी जाती हैं। वैकुंठ अष्ठभुज, अनत द्वादशभुज, त्रैलोक्य मोहन षोडशभुज और विश्वमुख विंशति भुज होते है। वैकुंठ, त्रैलोक्य मोहन, अनत और विश्वमुख के चार मुख क्रमशः नर, नारसिंह, स्त्रीमुख और वराहमुख होते हैं। त्रैलोक्य मोहन की प्रतिमा मे वराह आनन की जगह कभी कभी कपिलानन बनाया जाता है।

विष्णु का वाहन गरुड़ है और उनके अष्ट प्रतिहारों के नाम चंड, प्रचंड, जय, विजय, धाता, विधाता, भद्र और समुद्र हैं।

मूर्तिशास्त्र की दृष्टि से विष्णु और सूर्य के मूल स्वरूप मे बड़ी समानता है। किंतु पचदेवों मे इनका विष्णु से पृथक् स्थान है। वैदिक काल से ही सूर्य का महत्व हिंदू देववाद में स्वीकार किया गया। ई० पू० प्रथम शती से सूर्योपासना के प्रति निष्ठा साप्रदायिक रूप ले बैठी। गुप्तयुग मे भी सूर्य की पूजा के प्रति लोकरुचि उग्रतर होती गई। मध्यकाल मे, विशेषकर बगाल मे सूर्य का विष्णु के समान ही महत्व माना गया। बौद्ध और जैन धर्म मे सूर्य के प्रति उपासना का भाव व्यापक हुआ। भाजा बौद्ध गुफा मे तथा अनत (उड़ीसा) की जैन गुफा मे सूर्य की प्राचीन मूर्तियाँ अंकित हैं।

प्रतिमाविधान की दृष्टि से सूर्य के स्वरूप मे कई भेद हैं। कमलासन मूर्तियाँ प्रायः द्विभुज होती हैं, जिनमे श्वेत कमल होता है तथा वे सप्ताश्वरथ में प्रदर्शित की जाती हैं। पुराणों मे उदीच्यवेशी सूर्य की प्रतिमा का विशेष वर्णन मिलता है, जिनमे सूर्य ईरानी देवताओं की तरह लंबा कोट और बूट भी धारण करते हैं। ऐसी उदीच्यवेशी सूर्यप्रतिमाएँ रथारूढ़ भी प्रदर्शित होती हैं। मथुरा कला मे सूर्य का यह स्वरूप विशेष लोकप्रिय हुआ। दाक्षिणात्य परंपरा में सूर्य लंबा कोट और बूट नही धारण करते। सूर्य के साथ उनकी पत्नियाँ निक्षुभा (या छाया) तथा राज्ञी (अथवा प्रभा वा वर्चसा) भी प्रदर्शित की जाती हैं। सूर्य के सात घोड़े सूर्य की सात रश्मियों के प्रतीक हैं।

सूर्य का नवग्रह में प्रथम स्थान है। शेष आठ ग्रह, सोम, कुज, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु हैं। सभी ग्रह किरीट और रत्नकुंडल धारण करते हैं। उनके वर्ण और वाहन भिन्न भिन्न हैं।

शिव का त्रिदेव में विशिष्ट स्थान है। वैदिक रुद्र का पौराणिक शिव से प्रत्यक्ष मेल तो नहीं बैठता किंतु इसके आधार पर शिवोपासना वेदोत्तर भी नही मानी जा सकती। सिंधुघाटी की सभ्यता में ध्यानयोगी और पशुपति शिव का आकलन हुआ है। शिव संहार के प्रतीक हैं, किंतु सांप्रदायिक भावुकता की अतिरेकता में इन्हे सृष्टि की स्थिति और स्थायित्व का भी कारण समझा जाता है। शिव के दो रूप हैं — एक सौम्य और दूसरा उग्र। सौम्य रूप में शिव गुणातीत हैं और 'शिव' है। उनका वाहन नंदी 'धर्म' का प्रतीक है। उग्र रूप में शिव भैरव हैं और संहार के प्रतीक हैं। दे० 'महादेव'।

शिव परिवार मे गणेश और कार्तिकेय आते हैं। किंतु इनकी पूजा प्रधान देवों के रूप में भी होती है। दे० 'गणेश' तथा 'कार्तिकेय'।

लोकदेवता के रूप में अष्ट लोकपालो की विशेष मान्यता है। इनमें अधिकांश वैदिक देवता हैं जो पौराणिक युग मे अपना पूर्वमहत्व खोकर अष्टदिक्पालो की कोटि में आ गए। फिर भी इनका महत्व निरंतर बना रहा। ये बौद्ध तथा जैन देवपरिवार में भी मान्यताप्राप्त हुए। इनके नाम, आयुध और वाहन निम्नतालिका से स्पष्ट किए जाते है :

नाम	आयुध और मुद्रा	वाहन
इंद्र	वरद, वज्र, अंकुश, कुंडी	गज
अग्नि	वरद, शक्ति, कमल, कमंडलु	मेष
यम	लेखनी, पुस्तक, कुक्कुट, दंड	महिष
नैर्ऋत	खड्ग, खेटक, कर्तिका, मस्तक	श्वान
वरुण	वर, पाश, उत्पल, कुंडी	नक्र
पवन	वर, ध्वज, पताका, कमंडलु	गज अथवा नर
ईशान	वर, त्रिशूल, नाग, बीजपूरक	वृष

भारतीय देवताओं की तरह देवियों की भी संख्या असंख्य है। प्रायः सभी देवताओं की शक्तियाँ उनकी पत्नियो के रूप में प्रसिद्ध हैं। बहुत सी देवियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता है और उनके आधार पर संप्रदाय भी संचालित हुए। किंतु मत्स्यपुराण मे लोकदेवियों के रूप में लगभग दो सौ देवियो की सूची है। इसी प्रकार काश्यप संहिता, रेवती कल्प में भी देवियों की सूची है। मूर्तिशास्त्र की दृष्टि से देवपत्नी के रूप मे देवियों का स्वरूप प्रायः उनके देवता के ही अनुरूप होता है अथवा वे अपने देवता के ही आयुध, मुद्रा और प्रतीक स्वीकार करती हैं। किंतु देवियो के कुछ विशिष्ट स्वरूप भी लोकप्रिय हैं। वैष्णवों मे लक्ष्मी और सरस्वती की पूजा अधिक प्रचलित है। ये क्रमश. श्री और विद्या की अधिष्ठात्री हैं। लक्ष्मी के दो स्वरूप श्री और वैष्णवी शिल्पशास्त्र में वर्णित है। वैष्णवी के रूप मे वे चतुर्भुज हैं और अपने हाथो मे विष्णु के आयुध शंख, ध्वज गदा और पद्म धारण करती हैं। महालक्ष्मी के रूप में देवी के चार हाथों में एक वरद मुद्रा मे और शेष तीन में त्रिशूल, खेटक और पानपात्र बनाने का विधान है। महालक्ष्मी के रूप में देवी स्वयं

स्वतंत्र सत्ता हैं, शक्ति के रूप मे किसी अन्य की सहायिका नहीं। श्री के रूप में लक्ष्मी कमलासना हैं और सुखसमृद्धि की प्रतीक हैं। श्रीदेवी प्राय. द्विभुज है और अपने हाथो मे सनाल कमल धारण करती हैं। कभी कभी एक हाथ मे कमल और दूसरे मे बिल्व फल धारण करती हैं। श्री लक्ष्मी को दो हाथी स्नान भी कराते रहते हैं। श्री देवी की मूर्तियाँ बौद्ध कला मे भी लोकप्रिय थी। साँची की कला मे श्री की कतिपय विशिष्ट मूर्तियाँ है।

सरस्वती का पूजन विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे होता है। इनकी प्रतिमा ब्रह्मा के साथ पत्नी रूप मे भी बनती है और पृथक् रूप मे भी। सरस्वती चतुर्भुजी हैं और उनके आयुध पुस्तक, अक्षमाला, वीणा या कमडलु हैं। एक हाथ प्रायः वरद मुद्रा मे रहता है। कमडलु का विधान ब्रह्मा की पत्नी के रूप मे है किंतु पृथक् प्रतिमा मे सरस्वती के हाथ मे वीणा ही रहती है और कभी कभी कमल रहता है। इनका वाहन हंस है। महाविद्या सरस्वती के रूप मे देवी के आयुध अक्षा, अब्ज, वीणा और पुस्तक हैं। मध्यकालीन ध्यान और मूर्तिविधान में एक सरस्वती के आधार पर दश या द्वादश सरस्वतियों की कल्पना महाविद्या, महावाणी, भारती, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, महाधेनु, वेदगर्भा, ईश्वरी, महालक्ष्मी, महाकाली और महासरस्वती के नाम से भी की गई।

शिव की पत्नी गौरी मूर्तिशास्त्र मे अनेक नाम और आयुधो से जानी जाती हैं। द्वादश गौरी की सूची मे उमा, पार्वती, गौरी, ललिता, श्रियोत्तमा, कृष्णा, हेमवती, रभा, सावित्री, श्रीखडा, तोतला, और त्रिपुरा के नाम प्रसिद्ध हैं।

देवियो मे आदि शक्ति के रूप मे कात्यायनी की बड़ी महिमा है। इन्हें चडी, अबिका, दुर्गा, महिषासुरमर्दिनी आदि नामो से भी जाना जाता है। सामान्यतया कात्यायनी देवी दशभुजी हैं और इनके दाहिने हाथो में त्रिशूल, खड्ग, चक्र, वाण और शक्ति तथा बाएँ हाथो में खेटक, चाप, पाश, अकुश और घटा हैं। ग्रंथभेद से कात्यायनी के आयुधभेद भी कहे गए है। महिषासुर मर्दिनी के रूप में कात्यायनी का स्वरूप उनके सामान्य स्वरूप से थोडा भिन्न हो जाता है; अर्थात् सिंहारूढ देवी त्रिभंगमुद्रा में दैत्य का सहार करती है, एक पैर से उसे पादाक्रात करती हैं और दो हाथो से शूल पकड़े हुए उसे दैत्य की छाती में चुभोती हैं। इनके आठ प्रतिहार है जिनके नाम बेताल, कोटर, पिंगाक्ष, भृकुटि, धूम्रक, कंकट, रक्ताक्ष और सुलोचन अथवा त्रिलोचन हैं। चामुडा, कात्यायनी की भृकुटि से उत्पन्न है और इन्हे काली भी कहते हैं। चामुडा या काली क्रोध की प्रतिमूर्ति हैं। इनका रूप क्रूर है, शरीर मे मास नहीं है और मुख विकृत है। आँखें लाल और केश पीले हैं। इनका वाहन शव और वर्ण काला है। भुजग भूषण है और वे कपाल की माला धारण करती हैं। किंतु चामुडा के रूप मे देवी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह कृशोदरी हैं। मूर्तिशास्त्रीय परंपरा के अनुसार ये षोडशभुजी है तथा इनके आयुध —त्रिशूल, खेटक, खड्ग, धनुष, पाश, अकुश, शर, कुठार, दर्पण, घटा, शख, वस्त्र, गदा वज्र, दड, और मुद्गर हैं। चामुडा के रूप में देवी का स्वरूप, जैसा उपलब्ध मूर्तियो से पता चलता है, द्विभुज और चतुर्भुज भी है।

मातृकाएँ भारतीय मूर्तिविधान और उपासना परपरा में विशेष मान्यता रखती है। इनकी संख्या ग्रंथभेद से सात, आठ और सोलह तक गिनाई गई है। सामान्यतया सप्तमातृकाएँ ही विशेष मान्यता प्राप्त हैं और इनमें ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इद्राणी और चामुडा की गणना होती है। सप्तमातृका पट्ट से आरभ में गणेश और अत में वीरेश्वर या वीरभद्र भी स्थान पाते हैं। विकल्प से कभी कभी चामुडा की जगह नारसिंही स्थान पाती है। किंतु अष्टमातृका पट्ट मे चामुडा और नारसिंही दोनों का ही अकन होता है।

बौद्ध — बौद्धो ने अपने देवपरिवार का विभाजन वैज्ञानिक आधार पर किया है। उनके देववाद का विकास ध्यानी बुद्धो के आधार पर हुआ है। ध्यानी बुद्धो की सख्या पाँच है, जिनके नाम क्रमशः वैरोचन, अक्षोभ, रत्नसभव, अमिताभ और अमोघसिद्धि हैं। कुछ ग्रथो मे एक छठे ध्यानी बुद्ध वज्रसत्व की भी गणना की गई है। ध्यानी बुद्धो का उद्गम आदिबुद्ध के पाँच स्कंध हैं। साधनमाला के अनुसार इन ध्यानी बुद्धो का स्वरूप समान है, इनमे परस्पर अतर इनके विभिन्न वर्णों और मुद्राओ के आधार पर माना जाता है। पूजाविधान मे वैरोचन को छोड शेष चारो स्तूप के चतुर्दिक् स्थित कर पूजे जाते है। वैरोचन की स्थिति मध्य मे रहती है। कभी कभी इनकी उपासना पृथक् पृथक् रूप से होती थी।

इन ध्यानी बुद्धो की पाच सहचरिया (बुद्ध शक्तियाँ) भी होती है, जिन्हे क्रमशः वज्रधात्वेश्वरी, लोचना, मामकी, पाडरा और आर्य तारा कहते हैं। छठे ध्यानी बुद्ध की पत्नी वज्रसत्वात्मिका मानी गई हैं। ये सभी बुद्धशक्तिया अपने अपने ध्यानी बुद्धो के रूप, गुण, आयुध वाहनादि को धारण करती है। इनकी प्रतिमाएं कमलासन मे बनाने का विधान है और सामान्यतया ये चतुर्भुजी होती हैं, और दो हाथो मे अवश्य ही कमल धारण करती है, तथा किरीट मे अपने ध्यानी बुद्ध को अकित करती है। ध्यानी बुद्धो के ही आधार पर बोधिसत्वो की भी कल्पना की गई है जिनके नाम क्रमशः सामतभद्र, वज्रपाणि, रत्नपाणि, पद्मपाणि, अथवा अवलोकितेश्वर विश्वपाणि और घटापाणि हैं। बोधिसत्व एसे बुद्धो को कहते हैं, जिन्होंने बुद्धत्व नही प्राप्त किया है, इसके लिये केवल प्रयत्नरत है। ध्यानी बुद्धो का मानुषी बुद्धो से क्या सबध है, ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। मानुषी बुद्धो की सख्या भी सप्रदायभेद से भिन्न भिन्न है। किंतु अतिम सात मानुषी बुद्ध बौद्ध देवपरिवार मे विशेष महत्व रखते है। इनके साथ इनकी बुद्धशक्तिया और बोधिसत्व है, जिनकी सख्या निम्नलिखित है :

मानुषी बुद्ध	मानुषी बुद्धशक्ति	मानुषी बोधिसत्व
विपश्यी	विपश्यती	महामति
शिखी	शिखिमालिनी	रत्नधर
विश्वभू	विश्वधरा	आकाश
ककुच्छद	ककुद्वती	सकमगल
कनकमुनि	कटमालिनी	कनकराज
काश्यप	महिधरा	धर्मधर
शाक्यसिंह	यशोधरा	आनद

उपर्युक्त मानुषी बुद्धों, शक्तियों और बोधिसत्वों में केवल शाक्यसिंह और उनकी शक्ति यशोधरा तथा उनके बोधिसत्व आनंद की ही ऐतिहासिकता सिद्ध है। बौद्धों ने भावी बुद्ध मैत्रेय की भी कल्पना की है। ये तुषित स्वर्ग में बुद्धत्व की प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील हैं, ऐसी बौद्धों की मान्यता है।

बौद्ध देवपरिवार में मंजुश्री का विशेष महत्व है। इनका ध्यानी बुद्ध से ठीक ठीक संबंध नहीं ज्ञात है। महायानियों की धारणा में ये सर्वश्रेष्ठ बोधिसत्व थे। स्वयंभू पुराण में मंजुश्री की विशेष विवेचना है। इनके १४ नाम और प्रकार साधनमालाओं से ज्ञात हुए हैं, जो क्रमश: वागीश्वर मंजुवर, मंजुघोष, अरपचन, सिद्धैकवीर, वाक, मंजुकुमार, वज्रराग, वादिराट्, नामसंगति, धर्मधातु, वागीश्वर, स्थिरचक्र, मंजुनाथ और मंजुवज्र है। मंजुश्री का विशेष प्रतीक खड्ग और पुस्तक है। बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर अथवा पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का विशेष मान है। वर्तमान कल्प (भद्रकल्प) में बौद्धों की धारणा के अनुसार अवलोकितेश्वर ही लोकसंचालन करते हैं। जब से मानुषीबुद्ध (शाक्यसिंह) का निर्वाण हुआ है, और जबतक मैत्रेय बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं कर लेते हैं, यही अवलोकितेश्वर ही लोकसंरक्षक हैं। अवलोकितेश्वरों की संख्या अनेक है जिनमें १५ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके नाम क्रमश: षडाक्षरी लोकेश्वर, सिंहनाद, खसर्पण, लोकनाथ, हालाहल, पद्मनर्तेश्वर, हरिहरिवाहनोद्भव, त्रैलोक्यवशंकर, रक्तलोकेश्वर, मायाजालकर्म अवलोकितेश्वर, नीलकंठ, सुगतिसंदर्शन लोकेश्वर, प्रेतसंतर्पित लोकेश्वर, सुखावती लोकेश्वर, और वज्रधर्म लोकेश्वर हैं। इन दो विशिष्ट देवो के अतिरिक्त पाँचों ध्यानी बुद्धों से अनेक देवी देवताओं का उद्भव हुआ है।

इन के अतिरिक्त अनेक अन्य भी ताराओं की पूजा बौद्धोपासना में प्रचलित थी जिनमें कुछ प्रसिद्ध नाम जंभला, महाकाला, वज्रतारा, प्रज्ञापारमिता आदि हैं। कुछ हिंदू देवी देवता भी बौद्धदेवपरिवार में शामिल कर लिए गए थे जिनमें गणेश, सरस्वती आदि उल्लेखनीय हैं। बौद्धों के वज्रयानी संप्रदाय में विघ्नातक, वज्रहुंकार, भूतडामर, नामसंगीति, अपराजिता, वज्रयोगिनी, ग्रहमातृका, गणपतिहृदया, वज्रविदारिणी आदि देवी देवता भी बड़े लोकप्रिय थे।

जैन—जैनियों के देववाद में तीर्थंकर प्रमुख हैं। इनकी संख्या चौबीस है। मूर्तिविधान की दृष्टि से इनमें परस्पर भेद नहीं होता। जैन तीर्थंकरों को सामान्यतया आजानबाहु, शांत, निर्वस्त्र और श्रीवत्स चिह्न से अंकित दिखाया गया है। जैन तीर्थंकरों में परस्पर भेद उनके ध्वज, वर्ण, शासन, देवता, देवी, यक्ष यक्षिणी, केवल वृक्ष तथा चामरधारी या चामरधारिणी के आधार पर प्रदर्शित किया जाता है। सभी जिन प्रतिमाएँ अशोकद्रुम सहित प्रदर्शित होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त जैन मूर्तियों के अन्य आवश्यक तत्व, तीन छत्र, तोरणयुक्त तीन रथिकाएँ, देवदुंदुभि, अष्ट परिवार, सुरगज सिंह आदि से विभूषित सिंहासन, गो, सिंह आदि से अलंकृत वाहिका, तोरण और रथिकाओं पर ब्रह्मा, विष्णु, चंडिका, गौरी, गणेश आदि की प्रतिमाएँ हैं। कभी कभी मुख्य तीर्थंकर के साथ अन्य तेईस तीर्थंकर भी गौण रूप में प्रदर्शित किए जाते हैं।

संप्रदायभेद से तीर्थंकरों के लांछन आदि में कुछ भेद भी बताया गया है। जिनों के अष्ट प्रतिहारों के नाम इंद्र, इंद्रजय, माहेंद्र, विजय, धरणेंद्र, पद्मक, सुनाभ और सुरदुंदुभि हैं। कुछ गौण देवताओं का वर्गीकरण ज्योतिषी, भुवनवासी, व्यंतरवासी और विमानवासी के अंतर्गत किया गया है। इनमें ईशान, ब्रह्मा आदि विमानवासी, यक्ष व्यंतरवासी, दिक्पाल भुवनवासी और नक्षत्रादि ज्योतिष कोटि के देवता हैं।

सं० ग्रं० : जितेंद्रनाथ बनर्जी : द डवलपमेंट आफ हिंदू आइक्नोग्राफी; विनयतोष : बुद्धिष्ट आइक्नोग्राफी; वृंदावनचंद्र महाचार्य : जैन आइक्नोग्राफी; बलराम श्रीवास्तव : रूपमंडन। [ब० श्री०]

भारतीय पशु और पक्षी भारत विशाल देश है। इसमें पशु पक्षी भी नाना प्रकार, रंग रूप तथा गुणों के पाए जाते हैं। कुछ बृहदाकार हैं तो कुछ सूक्ष्माकार। भारत के प्राचीन ग्रंथों में पशुपक्षियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। उस समय उनका अधिक महत्व उनके मांस के कारण था। अत: आयुर्वेदिक ग्रंथों में उनका विशेष उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रंथों में उन्हें दो प्रमुख वर्गों, १. जांगल और २. आनूप, में विभक्त किया गया है। जंगल में रहनेवाले पशुपक्षियों को 'जांगल' और जल के समीप रहनेवालों को 'आनूप' कहते थे। जांगल पशुपक्षियों के फिर आठ भेद और आनूप पशुपक्षियों के पाँच भेद थे। जांगल पशुपक्षियों के आठ भेद थे : १. जंघाल (जांघ के बल चलनेवाले), २. बिलस्थ (बिल में रहनेवाले), ३. गुहाशय (गुफा में सोनेवाले), ४. परामृग (वृक्षों पर चढ़नेवाले), ५. विष्किर (कुरेदकर खानेवाले), ६. प्रतुद (चोंच से पदार्थ नोचकर खानेवाले), ७. प्रसह (जबरदस्ती छीन कर खानेवाले), ८. ग्राम्य (गाँव में रहनेवाले)। आनूप पशुपक्षियों के पाँच भेद थे : १. कुलेचर (नदी आदि के कुल पर चलनेवाले), २. प्लव (जल पर तैरनेवाले), ३. कोशस्थ (ढक्कन के मध्य रहनेवाले), ४. पादी (पाँववाले जलजंतु) तथा ५. मत्स्य (मछली आदि)।

निम्नलिखित पशुपक्षियों का वर्णन हिंदी विश्वकोश में यथास्थान हुआ है। अजगर, उष्ट्र, ऊद, कछुआ, कपोत, कपोतक (पडुक), कस्तूरी, कस्तूरीमृग, कलविंकक, कुत्ता, कोकिल, खंजन, गवल, गिद्ध, गिलहरी, गेंडा, गौर, गौरैया, गोह, घड़ियाल, चकोर, चक्रवाक, चमरी, चमगादड, चातक, चित्रगर्दभ, चींटी, चीता, चील, छिपकली, जलकाक, जलपरी, टिड्डी, तेंदुआ, तोता, त्रिखंड, दीमक, धनेश, नाग, नागराज, नीलगाय, बाघ, बिच्छू, बिल्ली, बुलबुल, भालू, भेड़, भैंसा, महाश्येन, मैना, मोर, बानर, शशक, श्येन, सिंह, सूअर और हाथी।

अन्य कुछ पशुपक्षियों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जा रहा है। ये हैं विभिन्न प्रकार के पक्षी और कुछ स्तनधारी जीव। इनमें अधिक महत्व के हैं : कौआ, चर्खी या सातभाई (Seven sisters), शामा (Shama), भुजगा (King crow), दर्जिन चिड़िया (Tailor bird), बया, मुनिया, लालतूती (Rose finch), अबाबील (Swallow), भरुत (Skylark), चंडुल, शकरखोरा, कठफोड़वा, नीलकंठ, बसंता, महोखा या कुकुम, पतरिंगा (Bee eater), हुदहुद, हरियल, मटतीतर, बटेर, चित्रतितिर, श्वेत उलूक, शशोलूक। जलचर पक्षियों में हंस, महाहंस, बनहंसक तथा अन्य

हंसक, बंजुल और मंजुक, क्रौंच, सारस, खरक्रोंच, गंगाकुररी (Indian river tern), सामान्य कुररी, कुररिका (Common tern), बलाक (Flamingo), लघु बलाक और सर्पपक्षी प्रमुख हैं। भारत के स्तनधारी पशुओं में कुछ महत्व के हैं : शर्मीलीबिल्ली (Slow loris), उड़न लोमड़ी (Flying fox), छछूंदर मोल, काँटेदार चूहा (Hedgehog), पंडा (Panda), बिज्जू, बघेरा और तेंदुआ, लिंक्स (Lynx), लकड़बग्घा (Hyaena), भेड़िया (Wolf), गीदड़, लोमड़ी (Fox), नेवला, ह्वेल, सूंस, डॉल्फिन, ड्यूगांग (Dugong), साही (Porcupine), गिनीपिग, गधा, खच्चर बनमहिष, वज्रदेही (Pangolin)। [भृ० ना० प्र०]

कौआ — शाखाशायी पक्षियो के कार्विडी (Corvidae) कुल की कॉर्वस जाति का प्रसिद्ध पक्षी है। वैसे तो इसकी कई जातियाँ हैं, किंतु उनकी आदतों मे परस्पर अधिक भेद नही होता। कौए संसार के प्राय: सभी भागों मे पाए जाते हैं।

कौआ लगभग २० इंच लंबा, गहरे काले रंग का पक्षी है, जिसके नर और मादा एक ही जैसे होते हैं। ये सर्वभक्षी पक्षी हैं, जिनसे खाने की कोई भी चीज नही बचने पाती। चालाकी और मक्कारी मे कौआ सब पक्षियों के कान काटता है और चोरी में तो कोई भी चिड़िया इससे होड़ नही कर सकती। इसकी बोली बहुत कर्कश होती है, किंतु सिखाए जाने पर यह आदमी की बोली की नकल भी कर लेता है।

हमारे देश में तो छोटा घरेलू कौआ (house crow), जंगली (jungle crow) और काला कौआ (raven), ये ही तीन कौए अधिकतर दिखाई पड़ते हैं, किंतु विदेशों मे इनकी और भी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। यूरोप मे कैरियन क्रो (Carrion crow) तथा हुडेड क्रो (Corvus cornix) और अमरीका मे अमरीकन क्रो (Corvus branchyrhynchos) तथा फिश क्रो (Corvus ossifragus) उसी तरह प्रसिद्ध हैं, जैसे हमारे यहाँ के काले और जंगली कौए।

काक कुल मे कौओं के अतिरिक्त सब तरह की मुटरियाँ (tree pies) और बनसरे (jays) भी आते हैं, जो रंगरूप में कौओं से भिन्न होकर भी उसी परिवार के पक्षी हैं।

ये सब बड़े ढीठ और चोर पक्षी हैं, जो सूखी और पतली टहनियों का भद्दा सा घोंसला किसी ऊँची डाल पर बनाते हैं। समय आने पर मादा उसमे चार छह अडे देती है, जिन्हें नर और मादा पारी पारी से सेते रहते हैं। [सु० सिं०]

चर्खी या सात भाई — यह मटमैली भूरे रंग की चिड़िया है, जो ६-१२ की झुंड मे रहती है। इसीसे इसका नाम सात भाई पड़ा है। यह पहाड़ी में ५,००० फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह फुदक फुदक कर चलती है और गिरे सूखे पत्तो को हटा हटा कर, कीड़े खोज कर खाती है। चर्खी गिरोह मे बराबर ची ची की आवाज करती रहती है तथा गाँव और घरो के इर्द गिर्द रहती है।

शामा — यह गानेवाली चिड़िया है। इसकी आवाज बड़ी मधुर और सुरीली होती है। इसका मुख्य भोजन कीड़े मकोड़े हैं। अप्रैल से जून तक यह घोंसले बनाती है।

भुजंगा — यह पतली, फुर्तीली और चमकीली काली चिड़िया है। इसकी दुम लंबी और अंतिम सिरे पर दो भागों में बँटी होती है। यह नगर के समीप खुले मैदानो में रहती है। यह सारे भारत में पाई जाती है। इसकी चार उपजातियाँ हैं। यह कीड़े मकोड़े पर जीवन निर्वाह करती है। प्राय: टेलीग्राफ के तारों पर बैठी दिखाई भी पड़ती है या मवेशियो की पीठ पर बैठकर कीड़े आदि का शिकार करती है।

खंजन चिड़िया या फुदकी — यह निरंतर फुदकती रहनेवाली छोटी चिड़िया है, जो झाड़ियों मे निवास करती है। यह छोटे छोटे कीड़े मकोड़े, उनके अंडे और लार्वों पर जीवनयापन करती है। फुदकी अप्रैल से सितंबर के बीच तीन फुट से कम की ऊँचाई पर छोटा प्यालानुमा घोसला बनाती है। यह तीन या चार अंडे देती है, जो ललछौंह या नीले-सफेद और भूरे-लाल धब्बेदार होते हैं।

बया — बया या बाय गौरैया के आकार की होती है। बया के नर और मादा, संगम ऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में, मादा घरेलू गौरैया के रंग रूप के होते हैं, किंतु बया की चोंच अधिक स्थूल होती है तथा दुम कुछ छोटी होती है।

दो दर्जन, या दो सौ तक भी, बया एक स्थान पर उपनिवेश के रूप मे अपने सुदर लटकते घोसलों का निर्माण करती है। घोंसले बाँस के किसी कुंज, या ताड के झुंड, या अन्य उपयुक्त वृक्षों से लटके रहते हैं।

बया का भोजन धान, ज्वार या अन्य अन्नों के दाने हैं। ये गौरैया की भाँति चिट चिट कर कलरव करते रहते हैं। संगम ऋतु में इनकी ध्वनि ची-ई-ई की तरह लंबी तथा आनंदायक होती है।

मुनिया — मुनिया का आकार गौरैया से कुछ छोटा होता है। यह छोटे छोटे झुंडो में घास के बीज खाने निकलती है। खेतों में भूमि पर गिरे बीजों को खाती है। मद मंद कलरव करती है। यह छोटी झाड़ियों या वृक्षों मे ५-१० फुट की ऊँचाई पर घोसला बनाती है।

इसकी चार पाँच उपजातियाँ हैं : श्वेतपृष्ठ मुनिया, श्वेतकंठ मुनिया, कृष्णसिर मुनिया, बिंदुकित (spotted) मुनिया तथा लाल मुनिया।

लाल तूती — लाल तूती का आकार साधारण गौरैया से कुछ छोटा होता है। हिमालय मे १०,००० फुट की ऊँचाई तक, कुमायूँ, गढ़वाल और नेपाल से लेकर पूर्वी तिब्बत तक तथा उससे आगे युनान, शान राज्यों और पश्चिमी तथा मध्य चीन की पर्वतमालाओ तक यह पाई जाती है। यह शरत् ऋतु मे सारे भारत मे फैल जाती है।

अबाबील (Swallow) — इसका आकार घरेलू गौरैया के बराबर होता है। यह जल के निकटवाले स्थानो में झुंडों में रहती है। यूरोप तथा भारत मे समान रूप से ही यह मिट्टी के लोदों से अपना घोंसला बनाती है तथा उसमे परो का नरम स्तर भली भाँति देती है। यह किसी सुविधाजनक, आगे निकले हुए चट्टानी खड, बरामदों के बाहर निकले भाग, या मकानों के अदर ही अपने घोंसले बना लेती है। इसका घोंसला छिछले प्याले की तरह ऊपर से खुले मुख का होता है। यह शीत ऋतु में मैदानी भागो में श्रीलंका तक फैल जाती है। इसका रंग काला तथा गरदन के नीचे सफेद रहता है। यह प्राय: गोलाई में, तेजी से मँडराया करती है।

सामान्य मांडीक (अबाबील), भारतीय रज्जुपुच्छ मांडीक, चीनी रेखित मांडीक तथा भारतीय रेखित मांडीक, इसकी उपजातियाँ हैं।

भरत — ये प्रायः जाड़े के दिनों में झुंड बाँधकर आती हैं। तथा संपूर्ण भारत में मिलती हैं। ये जमीन पर गिरे दाने और कीड़ों का चारा चुगती हैं। जमीन से भरत आकाश की ओर बिल्कुल सीधी उड़ती है, और उड़ती जाती है, और अंत में एक धब्बे जैसा दिखाई पड़ने लगती है। वहाँ यह अपने पंखों को बड़ी तेजी से फड़फड़ाती एक बिंदु पर स्थित मालूम होती है और प्रायः १० मिनट से भी अधिक मधुर गीत गाती है। तत्पश्चात् यह नीचे उतरती है और पुनः ऊपर उड़ती है। फरवरी से जुलाई के मध्य नीड़निर्माण करती हैं और दो से चार तक अंडे देती हैं।

चंडूल (Crested lark) तथा भरत (Small Indian sky lark) — यह नगर के बाहरी मैदानों में पाई जाती है। इसकी आवाज मधुर और प्रिय होती है।

शकरखोरा — थोड़ी हरियालीवाले मैदान मे इस पक्षी के जोड़े पाए जाते हैं। इस वंश के पक्षियों के दोनों चंचुओं के अगले आधे या तिहाई भाग के किनारे बारीक दाँतेदार होते है। ऐसी चोंचवाले अन्य पक्षी बिरले ही होते हैं। शकरखोरा वंश की १७ जातियाँ भारत में पाई जाती हैं। यह बहुत ऊँचाई पर रहनेवाला पक्षी है। प्राय. २,००० फुट ऊँचाई पर प्रजनन करता है। यह जंगल का पक्षी है, किंतु शीत ऋतु मे वाटिकाओं मे भी आ जाता है।

कठफोडवा — यह छोटी दुमवाली चिड़िया है। इसकी चोंच भारी और नुकीली होती है। यह अकेले या जोड़े में पेड़ के तनों पर, या बाग बगीचो मे रहती है।

स्वर्णपृष्ठ, काष्ठकूट या कठफोडवा भारत का बारहमासी पक्षी है। यह बाग बगीचों का पक्षी है। पेड़ के नीचे तक उतरकर फिर धीरे धीरे तने के ऊपर सीधे, या परिक्रमा सा करते, बढ़ता है और बीच बीच मे कीड़ों का लार्वा, या वृक्ष की छाल मे छेद कर रहनेवाले कीटों, को ढूँढकर खाता है। यह पेड़ के किसी सूखे भाग में कोटर बनाकर अंडे देता है।

नीलकंठ — इसका आकार मैना के बराबर होता है। इसकी चोंच भारी होती है, वक्षस्थल लाल भूरा, उदर तथा पुच्छ का अधोतल नीला होता है। पक्ष पर गहरे और धूमिल नीले रंग के भाग उड़ान के समय चमकीली पट्टियों के रूप में दिखाई पडते हैं। त्रावणकोर के दक्षिण भाग को छोड़कर शेष भारत मे यह पक्षी पाया जाता है। इसकी दूसरी जाति कश्मीरी चाष है। यह पवित्र पक्षी माना जाता है। दशहरा पर लोग इसका दर्शन करने के लिये बहुत लालायित रहते हैं। इसलिये यह अन्योक्ति कही गई है :

> कालि दशहरा बीतिहै, धरि मूरख हिय लाज।
> दुरे फिरत कत द्रुमन में, नीलकंठ बिन काज॥

बसंता — इसका आकार, गौरैया से थोड़ा बड़ा होता है। इसका रंग घास सा हरा होता है। यह सारे भारत के मैदानी भागों तथा हिमालय मे २,५०० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह पक्षी ठठेरे की तरह ठुक ठुक का शब्द दिन भर करता रहता है।

महोखा या कुक्कुम — इसका आकार काले कौए (वनकाक) के बराबर होता है और रंग चमकीला काला होता है। यह पक्षी सारे भारत में पाया जाता है। हिमालय में भी यह ६,००० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। यह खुले भाग के मैदान तथा पहाडी भागों का पक्षी है और 'ऊक' शब्द थोडे थोडे समय पर उच्चारित करता है। यह एक दूसरा शब्द कूप-कूप-कूप आदि जल्दी जल्दी उच्चारित करता है, जो प्रति सेकंड दो या तीन कूप के हिसाब से ६ से २० बार तक सुनाई पड़ता है। इसका आहार टिड्डे, भुजंगे, लार्वा, जंगली चूहे, बिच्छू, गिरगिट, साँप आदि हैं।

पतरिंगा — इसका आकार गौरैया के बराबर होता है। यह चटक हरे रंग का दुर्बलकाय पक्षी है। इसका मुख्य आहार कीट है। यह आकाश मे मँडराते रहकर, या किसी वृक्ष की डाल से तीव्र गति से सीधे उडकर, कीटों को पकड़ता है। इसकी बोली मीठी होती है, जो उड़ान के समय सतत उच्चारित होती है। यह वनों, बागों, बस्तियों तथा ऊजड़ मैदानो मे भी पाया जाता है।

हुदहुद (या भारत पुत्र प्रिय) — इसका आकार मैना के बराबर होता है। यह अकेले या जोड़े में, घिरे वृक्षों के मैदान मे प्रायः भूमि पर दिखाई पड़ता है। हुदहुद की पाँच उपजातियाँ होती हैं :

१. पाश्चात्य या यूरोपीय, २ मोर, ३. भारत, ४. सिंह तथा ५. ब्राह्म। हुदहुद मैदानो तथा ५,००० फुट ऊँचाई तक के पहाड़ों का पक्षी है। चोच से मिट्टी, सड़ी गली पत्ती आदि हटाकर चारा प्राप्त करता है। हू-पो-पो, हू-पो-पो के समान ध्वनि उत्पन्न करता है।

हरियल — इसका आकार कबूतर के बराबर होता है। इसका शरीर पुष्ट, पीले, हलके भूरे, भस्मीय धूसर रंग का होता है तथा स्कंध पर ऊधिया धब्बा होता है। इसके कलछौंह पंख पर पीले रंग की खड़े रूप की प्रमुख पट्टियाँ होती हैं। यह बाग बगीचों में झुंड में रहता है। और विशेषतया पीपल तथा बरगद के गोदे (फल) खाता है।

भटतीतर — यह पीलापन युक्त बालू के रग का कबूतर समान पक्षी है। इसके छोटे पैर पतत्र (पर) युक्त होते हैं। अर्द्ध मरुभूमि तथा पूर्ण मरुभूमि मे भी रहता है। यह प्रायः सूर्योदय के दो घंटे पश्चात् तथा सध्या को सूर्यास्त के पहले जल पीता है। इसका आहार दाने, बीज, अंकुर आदि हैं।

बटेर — यह पडुक के बराबर होता है और स्थूलकाय, धूमिल भूरे रग का पक्षी है। तीतर के समान इसका रूप होता है। खेतों या घास के मैदान मे जोड़े या झुंड के रूप मे तथा भारत मे पश्चिमी सीमा से मनीपुर तक उत्तरी तथा मध्यवर्ती प्रदेश में मिलता है।

चित्र तितिर — चित्र तितिर का आकार गौर तितिर सदृश अर्द्धविकसित मुर्गी के बच्चे के बराबर, लगभग १३ इंच होता है। तितिर की दो उपजातियाँ हैं : दक्षिणी चित्र तितिर तथा उत्तरी चित्र तितिर।

श्वेत उलूक — श्वेत उलूक अपने क्षेत्र में स्थायी निवास करनेवाला पक्षी है। यह केवल क्षेत्र मे ही घूमता है। इसकी निवासभूमि सारी पृथ्वी है। दीवार या वृक्षों के कोटर में अंडे देता है, किंतु

निर्जन भवनों को यह अधिक पसंद करता है। यह निशाजीवी पक्षी है। और रात को उड़कर शिकार ढूंढ़ता है। चूहे, चुहियों, मछलियों, मेढकों तथा कीड़े मकोड़ों या कुछ स्तनधारी जंतुओं का भी शिकार कर लेता है। उलूक की अन्य कुछ किस्मे भी हैं, जैसे शशउलूक, लघुकर्ण उलूक, हिम उलूक।

शर्मीली बिल्ली या लजार बदा (Slow loris) — बिल्ली के आधे आकार का एक छोटा जानवर है। इसके कान और दुम छोटे होते हैं तथा आँखों के चारों ओर एक भूरा वलय (ring) जैसा होता है। यह निशिचर तथा सर्वभक्षी है और घने जगलों में निवास करता है। इसकी चाल मंद होती है, किंतु पेड़ों पर बड़ी तेजी से चढ जाता है। यह बगाल से बोर्नियो तक पाया जाता है। लोरिस की दूसरी जाति छोटी होती है। वह दक्षिणी भारत और लंका के जगलो में पाई जाती है। इसकी आँखें बड़ी सुंदर होती हैं।

उड़न लोमड़ी — यह एक प्रकार का दुम विहीन बहुत बड़ा चमगादड़ है, जिसका सिर लोमड़ी जैसा प्रतीत होता है। डैनों का फैलाव लगभग एक या सवा मीटर होता है और शरीर की लबाई २०–२५ सेंमी० है तथा बाल काले होते हैं। यह लगभग सारे भारत मे पाया जाता है।

छछूंदर — यह कीटभक्षी वर्ग का प्राणी है। देखने मे चूहे की तरह, और दुर्गंध देनेवाला जंतु है। इसकी आँख और कान बहुत ही छोटे होते हैं। सिर और धड़ की लबाई लगभग १५ सेंमी० और दुम लगभग १० सेंमी० होती है। इसका थूथन लंबा होता है। इसकी दृष्टि कमजोर होती है, अतएव घ्राण से ही भोजन की तलाश करता है। यह दिन मे अपने बिल मे छिपा रहता है और रात मे भोजन की खोज मे निकलता है। रात मे छछूंदर नालियो से होकर घरों मे घुसता है। यह तनिक भी भय होने पर चों चों, चिट चिट की आवाज कर भाग निकलता है।

मोल — यह एक प्रकार का छछूंदर है, जो पूर्वी हिमालय और असम में मिलता है।

काँटेदार चूहा — यह भी कीटभक्षी वर्ग का प्राणी है जो निशिचर होता है। यह मैदानो मे रहता है। इसके आँख और कान छोटे होते हैं। पूँछ बहुत ही छोटी होती है, जो अस्पष्ट होती है। शरीर पर छोटे छोटे घने काँटे होते हैं। यह दिन मे बिलो मे छिपा रहता है और रात में आहार की तलाश मे निकलता है। यह जंतु साँप को खूब खाता है। किसी दुश्मन का भय होने पर अपने को लपेटकर गेंद की भाँति हो जाता है। भारत मे इसकी पाँच जातियाँ मिलती है।

पंडा — यह मासाहारी वर्ग का प्राणी है। बड़ा पंडा काले भालू के आकार का और भालू सदृश होता है, किंतु मुँह चौड़ा होता है। सिर का रंग सित धूसर और शेष शरीर काला होता है। दाँत बिलकुल सूअर की तरह और पैर बिल्ली जैसे होते हैं। शरीर के रंग के कारण इसे चितकबरा भालू कहा जा सकता है। बृहद पडा (Giant Panda) का वजन ६७ किलो से अधिक, लबाई ४ फुट और ऊँचाई २८ इंच होती है। समूर लबे और घने होते हैं, जिनसे इसका रंग सुंदर और आकर्षक होता है। पैर, कंधे तथा कान काले होते हैं और आँखों के पास काले छल्ले होते हैं। शेष शरीर सित धूसर और पूँछ छोटी होती है। इसके स्वभाव के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं है, किंतु इतना पता है कि यह शाकाहारी है और बाँस की जड़ और पत्तियों पर अपना निर्वाह करता है।

बिज्जू — भारत मे बिज्जू सर्वत्र मिलता है। उत्तरी भारत के तालाबो और नदियों की कगारो मे २५-३० फुट लबी माँद बनाकर रहता है। इसके शरीर का ऊपरी भाग भूरा, बगल और पेट काला तथा माथे पर चौड़ी सफेद धारी होती है। पैर मे पाँच पाँच मजबूत नख होते है जो माँद खोदने के काम आते है। यह अगले पैर से माँद खोदता जाता है और पिछले पैरो से मिट्टी दूर फेंकता जाता है। यह अपने पुष्ट नखो से कब्र खोदकर मुर्दा खा लेता है। बिज्जू आलसी होता है और मंद गति से चलता है। यह सर्वभक्षी है। फल मूल से लेकर कीट पतंग तक इसके भक्ष्य हैं।

बघेरा — यह बाघ से छोटा होता है और भारत और अफ्रीका में पाया जाता है। भिकनाठोरी (चपारन) तथा हजारीबाग के जगलों मे बघेरो की सख्या अधिक है। वहा के लोग इन्हे भी बाघ कहते हैं।

लिंक्स — लिंक्स ढाई फुट लंबा और डेढ़ फुट ऊँचा तथा क्रूर स्वभाव का, बहुधा अकेले रहनेवाला प्राणी है। यह खरगोश तथा अन्य छोटे छोटे पशुओं के शिकार पर जीवननिर्वाह करता है। पेड़ पर भी यह बड़ी सरलता से चढ़कर, उसपर के जीवो को चुपके से पकड़ लेता है। हमारे देश मे लिंक्स गुजरात, कच्छ, और खानदेश मे निवास करते हैं।

लकड़बग्घा (Hyaena) — यह कुत्ते की तरह ही दीखता है। मृत जानवर और सड़ा हुआ मास यह बड़े प्रेम से खाता है। लकड़बग्घो का जबड़ा बड़ा मजबूत होता है। जिस हड्डी को सिंह, बाघ, जैसे जंतु छोड़ देते हैं, उसे ये बड़े प्रेम से चबा जाते हैं। ये बड़े भीरु होते हैं। लकड़बग्घे की बोली आदमी के हँसने जैसी होती है।

भेड़िया — यह कुत्ता वंश का सबसे बड़ा जंतु है। यह बड़े बड़े घास के मैदानो मे माँद खोदकर, या झाड़ियो मे, रहता है। यह स्वभाव का बड़ा नीच, भीरु और कायर, किंतु चालाक, होता है और बहुधा रात में ही निकलता है। निर्बल जतु के सामने यह भयानक बन जाता है, पर बलवान् के सामने दुम दबाकर भागता है। मनुष्यभक्षी हो जाने पर, यह रात मे सोते हुए बच्चो को उठाकर ले जाता है।

गीदड़ या सियार — इस जानवर को प्राय अनेक लोगों ने देखा होगा, पर इसकी बोली से परिचित होनेवालो की सख्या देखनेवालो से अधिक होगी। शीत ऋतु मे प्रतिदिन अँधेरा होते ही इसकी बोली सुनाई देती है। आरभ मे एक दो गीदड़ 'हुआ हुआ' बोलते हैं, फिर अन्य सब उसे दुहराते है और अंत मे चिल्लाना चीखने में बदल जाता है।

गीदड़ की लंबाई दो ढाई फुट और ऊँचाई सवा फुट के लगभग, पूँछ झबरी, थूथन लबा और रग भूरा होता है। यह सर्वभक्षी है तथा सड़े गले मास के अतिरिक्त छोटे मोटे जीवो का शिकार करता है। यह गन्ना, ईख, कंदमूल, भुट्टा आदि खाकर कृषकों को क्षति पहुँचाता है।

गीदड़ झुंडों में रहते हैं। ये दिन में झाड़ियो और काँटों में छिपे

रहते हैं और संध्या होते ही आहार की खोज में निकल पड़ते हैं। कभी कभी दिन में भी दिखाई पड़ते है।

कभी कभी गीदड़ अकेला रहने लगता है। इस समय वह गाँव के पास छिपकर रहता है और अवसर पाते ही गाँव के पालतू कुत्ते, बकरी, भेड़ के बच्चे, मुर्गियों और कभी कभी आदमी के बच्चे को भी उठा ले जाता है। यह कायर और मक्कार, किंतु चालाक जानवर है। मादा एक बार में तीन से पाँच बच्चे जनती है।

लोमड़ी — श्वान वंश में लोमड़ी सबसे छोटी होती है। लोमड़ी माँद में रहती है, पर यह माँद खोदने का कष्ट कभी नहीं उठाती। यह प्राय. बिज्जू या खरगोश की माँद छीनकर रहने लगती है।

छल, कपट, चतुराई, धूर्तता, जितने भी दूसरों को उल्लू बनाने के गुण है, सब लोमड़ी में यथेष्ट मात्रा में पाए जाते हैं। फरवरी या मार्च में लोमड़ी प्रसव करती है। बच्चों की संख्या पाँच से आठ तक होती है।

विभिन्न देशों की लोमड़ियों में वहाँ की जलवायु के अनुसार रंग, आकृति और स्वभाव में अंतर होता है। संसार में लोमड़ी की चौबीस उपजातियाँ पाई जाती है। ऑस्ट्रेलिया को छोड़कर पृथ्वी पर यह सर्वत्र पाई जाती है।

मांसभक्षी श्रेणी के अन्य जीवों की तरह लोमड़ी के बच्चे भी अंधे उत्पन्न होते है। बाद में आँखें खुलती है। लोमड़ी छोटे मोटे पक्षियों पर निर्वाह करती है। कीड़े मकोड़े और गिरगिट भी चट कर जाती है। बस्तियों में घुसकर मुर्गा, मुर्गी पकड़ने की चेष्टा करती है। हमारे देश में कई जगह लोमड़ी को खिखिर भी कहते हैं।

नेवला — यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है। प्राचीन काल से ही यह पाला भी जाता है। पालतू नेवला पालक से प्रेम करता है। नेवला जंगली भी होता है। यह साहसी जंतु है। इसकी प्रकृति भीषण और खूँखार होती है। यदि संयोग से यह मुर्गी और कबूतर के घर में घुस जाता है, तो एक दो को मारकर ही संतुष्ट नहीं होता, वरन् सबको मार डालता है। शिकार का मांस नहीं खाता। नेवला साँप का कट्टर शत्रु है। साँप और नेवले की लड़ाई देखने लायक होती है। नेवले के बच्चे अप्रैल, मई के महीनों में पैदा होते है। नेवले का रंग भूरा होता है। इसकी दुम लंबी होती है। इसके शरीर में एक ग्रंथि होती है, जिससे एक प्रकार का सुगंधित पदार्थ निकलता है। इसकी गंध कस्तूरी से मिलती है।

ह्वेल — यह नियततापी (warm blooded) जंतु है। जल के अंदर शरीर के रक्त की उष्णता बनाए रखने के लिये, इसकी त्वचा के नीचे वसा (चर्बी) की एक मोटी तह होती है। इसकी लंबाई कभी कभी १०० फुट से भी अधिक पहुँच जाती है तथा इसका भार डेढ़ सौ टन (चार हजार मन) तक ज्ञात हो सका है। इसे आज का सबसे विशाल शरीरधारी जीव ही नहीं कह सकते, बल्कि इसे विश्व भर में उत्पन्न हुए आज तक के समस्त जीवों से अधिकतम दीर्घाकार जंतु माना जा सकता है। इतना बड़ा आकार होने पर भी यह क्षुद्र मत्स्यों तथा झींगा के समान जलजंतुओं का ही आहार कर सकता है। इसके उपगण ह्वेलबोन ह्वेल में दाँत का पूर्ण अभाव होता है और मुख के भीतर गले का छिद्र केवल कुछ इंचों के व्यास का होता है। नीलवर्णी महातिमि अपना मुख खुला रखकर ही पानी के अंदर चलता है। पानी वेग से भीतर पहुँच कर क्षुद्र जंतुओं को उदरस्थ करने का अवसर देता है।

दंतधारी ह्वेल में स्पर्मह्वेल सबसे अधिक वृहदाकार है। यह जापान, चिली तथा नेटाल के तटवर्ती जलखंडों में उपलब्ध होता है। दंतधारी नर ह्वेल ६० फुट तक लंबा होता है, परंतु मादा कुछ छोटे ही आकार की होती है। स्पर्मह्वेल चर्बी के असीम भंडार के लिये बड़ा वांछनीय जीव रहा है। यह आठ या नौ वर्षों तक जीवित रहता है। मादा ह्वेल शिशु को दूध पिलाने के लिये जलतल पर करवट तैरने लगती है।

सूँस — गंगा या उत्तर भारत की अन्य नदियों में एक जंतु को उलटते हुए लोग देखते हैं। इसे सूँस कहते हैं। ये जंतु जल में लुढ़कते फिरते है। जहाँ छोटी छोटी मछलियाँ पाई जाती हैं, वहाँ सूँस भी देखने में आते हैं। सूँस की लंबाई सात फुट होती है। इसका रंग काला अथवा स्लेट जैसा होता है। वृद्ध सूँस के शरीर पर चित्तियाँ पैदा हो जाती हैं। इसकी आँखें प्रकाश में बिलकुल काम नहीं करतीं, इसे कीचड़ में लोटना विशेष प्रिय है। सूँस का जबड़ा भी डेढ़ फुट लंबा होता है और उसमें नुकीले दाँत होते हैं। सूँस की मादा आकार में नर से बड़ी होती है।

डॉलफिन — ये सभी समुद्रों में मिलते हैं। इनकी लंबाई ८ फुट होती है, दोनों जबड़े चोंच की तरह निकले होते हैं और उनमें नुकीले दाँत होते हैं। छोटी मछलियाँ और घोंघे खाकर ये अपना पेट पालते है।

ड्यूगांग (Dugong) — यह साइरेनिया (Sirenia) वर्ग के मैनेटिडी (Manatidae) परिवार का जानवर है। यह हिंद महासागर के उष्ण भाग में तथा लाल सागर से लेकर ऑस्ट्रेलिया तक पाया जाता है।

यह भारी, भद्दा, आलसी और मंदगामी जानवर है तथा दो तीन मीटर लंबा और स्लेटी रंग का होता है। इसका शरीर मछली के समान आगे से पीछे की ओर पतला होता गया है। थूथन गोलाकार और ठूँठ की तरह होता है। नासाछिद्र आँख और थूथन के बीच स्थित होते हैं। इसकी पिछली टाँगें नहीं होतीं। मादा अगले पैरों से अपनी संतान को गोद में दाबकर स्तनपान कराती है। यह शाकाहारी जंतु है। नर मादा एक दूसरे को खूब चाहते हैं और माँ बाप बच्चों को बहुत प्यार करते है। कुछ लोग ड्यूगांग को समुद्री गाय कहते हैं। इसकी तीन उपजातियाँ हैं - लाल सागर के ड्यूगांग, ऑस्ट्रेलिया के ड्यूगांग और हिंद महासागर के ड्यूगांग।

साही — साहियों के शरीर के पिछले भाग में बड़े बड़े काँटे होते हैं। दूसरों के आक्रमण के समय यह अपने काँटों को खड़ा कर लेता है। फिर किसी जंतु को इस पर आक्रमण करने का साहस नहीं होता।

साही नदियों या तालाबों के किनारे माँद खोदकर रहता है। यह दिनभर माँद में छिपा रहता है और रात को बाहर आता है। यह खरहे की तरह पूर्णतः शाकाहारी होता है। इसका मांस स्वादिष्ठ होता है और मांस के लिये इसका शिकार होता है। इसके काँटे से कलम बनाकर बच्चे लिखते हैं।

गिनीपिग — इसका मुँह ठीक खरगोश जैसा होता है, लेकिन उससे कुछ पतला। इसका आकार खरगोश से थोड़ा ही छोटा होता

है। गिनीपिग विभिन्न आकार के होते हैं। कुछ बहुत ही छोटे होते हैं। इतने छोटे जितनी घर की चुहिया, लेकिन देखने में सब से सुंदर होते हैं। समूचा शरीर सुंदर रोओं से ढँका होता है। रंग सफेद, काला, भूरा और नारंगी होता है, पर चितकबरे गिनीपिग देखने में ज्यादा अच्छे लगते हैं। इनकी पूँछ नहीं होती। यह पूर्णतया शाकाहारी है। और हरी हरी दूब आँखें मूदकर, बड़े प्रेम से खाता है। भीगा चना, मोकना, गोभी और पालक के पत्ते भी इसे प्रिय हैं। मादा को एक बार में दो बच्चे होते हैं और वह एक वर्ष में चार बार प्रसव करती है।

गधा — घोड़े का ही वंशज गधा है, पर ऐसे बुद्धिमान, सुंदर और स्वामिभक्त पशु के वंश में जन्म लेकर भी गधा पूरा गधा है। मूर्खता और नीचता का प्रतीक हमारे देश में गधे को ही माना जाता है। गधा उपयोगी पशु है। हमारे देश में तो इसका काम मुख्यत धोबियों को ही पड़ता है। गधे की एक नस्ल गोरखर नाम से प्रसिद्ध है। यह गुजरात, कच्छ, जैसलमेर और बीकानेर में पाई जाती है। गधे की दूसरी नस्ल क्याग तिब्बत के पहाड़ों में पाई जाती है। नर गधा और घोड़ी के संयोग से खच्चर नाम की नस्ल पैदा हुई है। खच्चर निर्भीक, साहसी और सहनशील होता है। उसमें माँ बाप दोनों के गुण आ जाते हैं।

वन्य महिष या अर्ना — अर्ना या वन्य महिष का शरीर कंधे के निकट ५॥ फुट ऊँचा होता है, किंतु ६॥ फुट ऊँचा भी हो सकता है। शरीर का भार २५ मन या उससे भी अधिक होता है। सींग की लंबाई लगभग ७८ इंच तक भी देखी गई है। यह पालतू भैंसे के रूप रंग से भिन्न होता है। रंग स्लेटी काला होता है। गुल्फ या घुटने तक का रंग मलीन श्वेत होता है। इसका प्रमाग्क्षेत्र नेपाल की तराई के घास के जंगल, गंगा के मैदान तथा असम में ब्रह्मपुत्र के मैदान हैं। यह जलपंक का प्रेमी तथा यूथचारी है।

वज्रदेही पगोलिन — पैंगोलिन को वज्रदेही या शल्कीय कीट भक्षक कहा जाता है। इस जंतु का शरीर छिछड़े या शल्क समान छोटे छोटे शृंगीय खंडों द्वारा आच्छादित रहता है। ये शल्क चपटे और कठोर होते हैं। खपरैल की भाँति ये एक दूसरे के ऊपर छोर की ओर पड़े होते हैं। चींटियों, दीमकों आदि को खाने के कारण कीटभक्षक कहलाते हैं। पूँछ लंबी और मजबूत होती है। शरीर का रंग भूरा या पीलापन युक्त भूरा होता है। मुख दंतहीन होता है। जीभ धागे के समान तथा कोई वस्तु अपनी लपेट से पकड़ सकने योग्य (ग्रहणशील) होती है। ये जंगलों या मैदानों में रहते हैं।

लंबपुच्छ पैंगोलिन, चीनी पैंगोलिन, मलाया पैंगोलिन, दीर्घ पैंगोलिन और भारतीय पैंगोलिन आदि इनकी कई जातियाँ होती हैं।

भारतीय शल्कीय कीटभक्षक, या पैंगोलिन, को मानो प्रजाति का कहा जाता है। ये विचित्र स्तनधारी जंतु अन्य स्तनधारी जंतुओं से भिन्न रूप रखते हैं। इनकी बाहरी आकृति सरीसृप सी मालूम होती है। ये प्राय. कर्णहीन होते हैं। पूँछ लंबी होती है, जो आधार-स्थान पर बहुत मोटी होती है। सभी पैरों में पाँच अंगुलियाँ होती हैं। किसी शत्रु के आक्रमण करने पर पैंगोलिन अपने शरीर को मोड़कर गेंद का रूप दे देता है। यह निशिचर जंतु है। इसके शरीर तथा धड़ की लंबाई दो फुट तथा पूँछ की लंबाई डेढ़ फुट होती है। इसके शरीर के चारों ओर शल्कों की प्रायः एक दर्जन पंक्तियाँ होती हैं।

भारतीय पैंगोलिन भूमि में १२ फुट गहराई तक बिल बनाता है। एक बार में एक या दो शिशु उत्पन्न होते हैं। यह पालतू भी बनाया जा सकता है।

सं॰ ग्रं॰ — जगपति चतुर्वेदी : १. शिकारी पक्षी, २. वन उपवन के पक्षी, ३. जलचर पक्षी ४. उथले जल के पक्षी, खुरवाले जानवर, जंतु बिल कैसे बनाते हैं; किताबमहल, इलाहाबाद; सलीमअली : दि बुक ऑव इंडियन बर्ड्स, बॉम्बे नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी; सुरेश सिंह : जीव जगत्, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ। [भृ॰ ना॰ प्र॰]

भारतीय पादप तथा वृक्ष भारत में पादप अध्ययन प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है। आयुर्वेद विज्ञान के अंतर्गत सहस्रों पौधों के आकार, प्राभिख्यान तथा उनके गुणों के बारे में कई हजार वर्ष पूर्व किए गए उल्लेख मिलते हैं। भारत का लगभग १९ प्रति शत भूभाग वनों से ढका है। उत्तम कोटि के पादप, जैसे अनावृतबीजी तथा आवृतबीजी की लगभग ३०,००० जातियाँ इस देश में पाई जाती हैं। वनस्पति विज्ञान की आधुनिक रीति से क्लार्क (१८९८ ई॰), हूकर (१८५५ तथा १९०७ ई॰), हथी, हेस, काजीलाल, डी॰ चटर्जी, जी॰ एस॰ पुरी इत्यादि ने भारतीय पौधों तथा वृक्षों का विशेष अध्ययन किया है। भारत के पौधों का विशेष अध्ययन बहुत से विद्वानों ने किया है, जैसे 'वन' के बारे में चैंपियन तथा ग्रिफिथ और जी॰ एस॰ पुरी, 'घास' तथा 'चरागाह' के बारे में रंगनाथन्, ह्वाइट तथा एन॰ एल॰ बोर, ने है। ओषधि में प्रयुक्त होनेवाले पौधे तथा जहरीले पौधों के अध्ययन के लिये चोपड़ा, कीर्तिकर तथा बसु उल्लेखनीय हैं।

वनस्पति के विस्तार तथा प्रकार के विचार से भारत को कई वानस्पतिक क्षेत्रों में विभाजित किया गया है, जो मुख्यत. (१) पश्चिमी हिमालय, (२) पूर्वी हिमालय, (३) सिंध का मैदान, (४) गंगा का मैदान, (५) असम क्षेत्र, (६) मध्य भारत तथा दकन और (७) मलाबार हैं। इनके अतिरिक्त अंदमान द्वीपसमूह भी एक अलग वनस्पति क्षेत्र है।

हिमालय पर्वत पर पौधों के प्रकार ऊँचाई के हिसाब से बदलते जाते हैं, जैसे ३,५०० फुट के नीचे के भागों में, जो गरम और नम हैं, सदाबहार के जंगल उगते हैं। इससे अधिक ऊँचे स्थानों पर नुकीली पत्तीवाले चीड़, देवदार, पोडोकार्पस (Podocarpus) तथा चौड़ी पत्तीवाले बाँज, भूर्ज, सैलिक्स, चिनार (poplar) इत्यादि पाए जाते हैं। यहाँ के एकवर्षीय छोटे पौधे भारत के अन्य भागों के पौधों से काफी भिन्न हैं। गुलाब, रसभरी (Rubus idaeus), सेब, बादाम, अनार, बारबेरी इत्यादि अनेक प्रकार के पादप पाए जाते हैं। इस खंड को शीतोष्ण कटिबंध (Temperate zone) कहते हैं और यह १३,००० फुट की ऊँचाई तक विस्तृत है। इसके ऊपर ऐल्पीय क्षेत्र (Alpine region) है, जहाँ बड़े वृक्ष नहीं उगते। घास, छोटी झाड़ी या अन्य छोटे पौधे उगते हैं। यहाँ के झाड़ीवाले चिमूल या रोडोडेंड्रॉन (Rhododendron) अपनी सुंदरता के लिये विश्वविख्यात हैं। इनके अतिरिक्त कुछ जंगली

भारतीय पादप और वृक्ष (देखें पृष्ठ १२.)

अमलतास

टीक

महुआ

खसखस

मदार

कटहल

भारतीय पादप और वृक्ष (देखे पृष्ठ १२)

जामुन

कदंब

इमली

झाऊ

रेंड़

शीशम
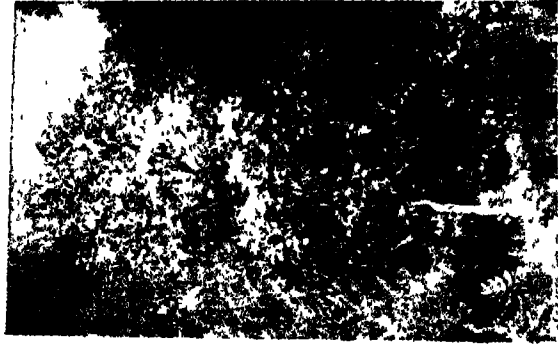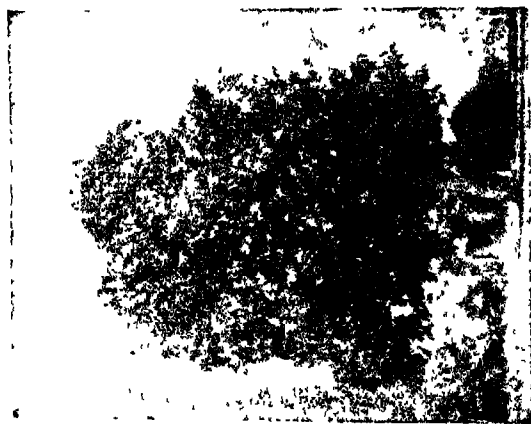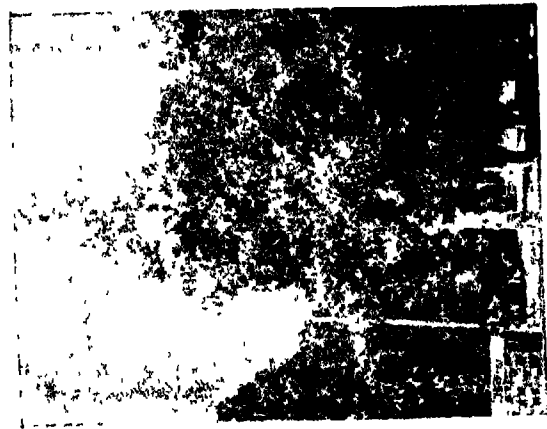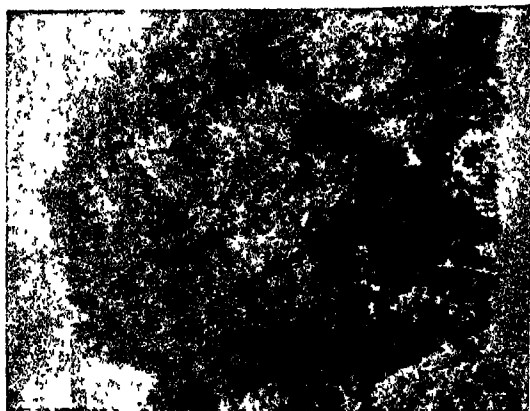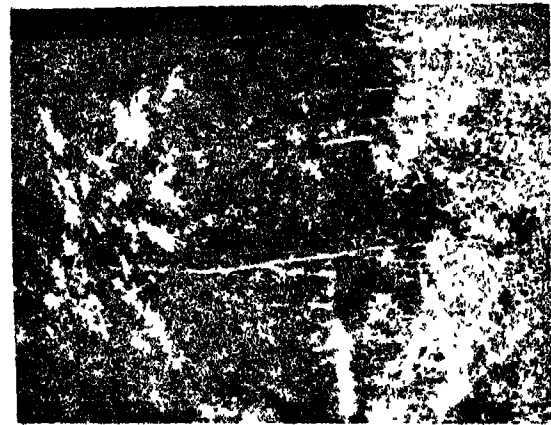
गुलाब, गुलदाऊदी, पोटेंटिला (Potentilla), प्रिमुला (Primula), रतनजोग (Anemone) इत्यादि सुंदर पौधे उगते हैं। १७,००० से १८,००० फुट की ऊँचाई के ऊपर बारहों महीने बर्फ जमी रहती है, किंतु फिर भी कुछ पौधे, जैसे सीडम हिमालेंसी (Sedum himalency), पोटेंटिला माइक्रोफिला (Potentilla microphila) आदि एस्टर की जातियाँ, उगते हैं। पूर्वी हिमालय विषुवत् रेखा के समीप होने से अधिक गरम और नम है, जिससे यहाँ पौधों की सघनता तथा उनके प्रकार पश्चिमी हिमालय से अधिक हैं। पाइनस खासिया (Pinus khasya), रोडोडेंड्रॉन की कुछ विशेष जातियाँ, रूबिएसिई (Rubiaceae) तथा प्रिमुलेसिई (Primulaceae) कुलों के अनेक पौधे, बाँस के जंगल इत्यादि, केवल पूर्वी भाग में हैं। पश्चिम हिमालय में भी पादपों की कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो पूर्वी भाग में नहीं पाई जाती, जैसे पाइनस लॉन्जिफोलिया (Pinus longifolia), पाइनस जिरारडियाना, क्यूप्रेसस टारुलोसा (Cupressus torulosa), देवदार तथा क्वरकस (Quercus) की जातियाँ, बाँज जैसे क्व० इनकाना (Q incana) या क्व० सेमीकार्पीफोलिया, (Q semio rpifolia) इत्यादि।

सिंध के मैदानी वनस्पति क्षेत्र में वर्षा कम और गरमी अधिक होने से अधिक भाग बलुआ मरुस्थल है। मिट्टी में लवण की अधिकता के कारण उपज कम है। यहाँ निम्नलिखित पादप मिलते हैं: सैल्वाडॉरा (Salvadora), जंद या प्रोसोपिस (Prosopis), पेरू या ऐकेशिया ल्यूकोफ्लिया (Acacia leaucophloea), ऐ० अरेबिका (A arabica), टैमरिक्स आर्टिकुलेटा (Tamrix articulata), कैपैरिस (Capparis), सुएडा (Suaeda), सलूनक, बूटी बरगद (Zizyphus jujuba), एफिड्रा, लेप्टाडीनिया, नागफनी, शीशम, मदार, कैलगोनम इत्यादि, और कुछ घास, जैसे काँस, मूँज, स्पोरोबोलस इत्यादि।

गंगा के मैदान का उत्तर प्रदेशवाला भाग कम वर्षा का क्षेत्र, बिहारवाला भाग मध्यम वर्षा का क्षेत्र तथा पश्चिमी बंगाल वाला भाग अधिक वर्षा का क्षेत्र है। अधिकांश भूमि खेती के लिये उत्तम है और इसलिये अधिकांश प्राकृतिक जंगल नष्ट कर दिए गए हैं। मुख्य पादप, जिनकी खेती की जाती है, निम्नलिखित हैं: गेहूँ, चना, मटर, मक्का, जौ, बाजरा, अरहर, मूँग, मसूर, उरद, ईख, कपास, सन या सनई, जूट इत्यादि। बाग वाटिकाओं में फल के वृक्ष जैसे आम, इमली, अमरूद लगाए जाते हैं। वनों में ऊँचे, बड़े वृक्ष स्वतः उगते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं: आँवला, बन सागौन या लेगरस्ट्रीमिया (Lagerstroemia), बबूल, बहेड़ा या टर्मिनेलिया बेलेरिका (Terminalia belerica), हड़ या टर्मिनेलिया चेबुला (Terminalia chebula) सिरिस या ऐलबिजिया प्रोसेरा (Albizzia procera) तथा सिरिन या एलबिजिया लेबेक, भुरकुल या हाइमिनोडिक्टयान एक्सेलसम (Hymenodictyan excelsum), विजैसाल या टीरोकारपस मारसूपियम (Pterocarpus marsupiam), चिलबिल या हॉलॉप्टीलिया इंटेग्रीफोलिया (Holoptelia integrifolia), गोंदनी या ब्रिडेलिया स्प० (Bridelia sp.), इमली, झिंगना या लैनिया कोरोमैंडेलिका (Lannea coromandelica), खैर या ऐकेशिया कैटेचु (Acacia catechu), बीड़ी पत्ता या तेंदू या डाइऑसपिरॉस मेलेनोक्साइलान (Diospyros melanoxylon), सलई या बॉजवेलिया सरेटा (Boswellia serrota), पियार या चिरौंजी, लिसोड़ा या कॉर्डिया मिक्सा (Cordiamyxa) इत्यादि वृक्ष हैं। बिहार राज्य के राजमहल, पारसनाथ तथा छोटा नागपुर के वनों में ऊँचे ऊँचे साल या साखू के जंगल हैं। पारसनाथ की पहाड़ियाँ सीताफल या शरीफे के छोटे वृक्षों से भरी हैं। बंगाल की खाड़ी की तरफ दलदली भूमि में सुंदरवन है, जहाँ के पादप विशेष प्रकार के हैं, जिन्हें मैंग्रोव (mangrove) पादप कहते हैं। इसके उदाहरण हैं: नारियल या कोकॉस न्यूसीफेरा (Cocas nucifera), बेत या कैलेमस टेनुइस (Calamus tenuis), ब्रूगेरा (Bruguiera), ऐविसेनिया (Avicennia), ऐकैंथस इलिसिफोलियस (Acanthus ilicifolius), सीरिऑप्स (Cerilops), हिरिटिईरा (Heritiera) इत्यादि हैं। असम की पर्वतमाला संसार में सबसे अधिक वर्षावाला स्थान है। यहाँ सदाबहार प्रकार के जंगल में विविध प्रकार के ऊँचे घने वृक्ष उगते हैं। रबर की एक जाति आर्टोकारपस चैपलाशा (Artocarpus chaplasha), बहुत ऊँचे वृक्ष डिप्टेरोकारपस (Dipterocarpus), सेमल या सलमालिया (Salmalia), भूर्ज, बाँज (oak), बलूत (Abies), साखू या शोरिया रोबस्टा (Shorea robusta), शीशम या डैलबर्जिया सिसू (Dalbergia sissoo), जंगली बादाम या स्टरकूलिया (Sterculia) इत्यादि हैं। नम दलदली जगहों में एरिएंथस (Erianthus), नरई (Arundo), फ्रैगमाइटीज (Phragmites), तथा अनेक प्रकार के सेज (sedge) पाए जाते हैं। जल में एजोला, मारसिलिया (Marsilea), सैलविनिया (Salvinia), कमल, लिली, कुमुदनी, इत्यादि हैं। कुछ रोचक पौधे भी इस क्षेत्र में पाए जाते हैं, जैसे घटपर्णी, निपेनथीज खासियाना (Nepenthes khasiana), जिसकी पत्ती सुराही के आकार की होती है। इसमें कीड़े मकोड़े फँस जाते हैं, जिन्हें यह पौधा हजम कर जाता है। इसी प्रकार का एक और पौधा ड्रॉसेरा (Drosera) भी पाया जाता है।

भारत के मध्य तथा दक्षिण क्षेत्रों में सागौन या टेक्टोना ग्रैनडिस (Tectona grandis) और साखू के जंगल पाए जाते हैं। मैसूर के जंगल में भारत का विश्वविख्यात वृक्ष चंदन उगता है। मालाबार के भाग में जहाँ अधिक वर्षा होती है, घने जंगल पाए जाते हैं। यहाँ रबर की खेती होती है। मलाबार के समुद्रतट पर नारियल के पौधे बहुत उगते हैं, जिनसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

भारतीय पादप तथा वृक्षों के विस्तार की साधारण रूपरेखा के पश्चात् निम्नलिखित पादपों और वृक्षों का वर्णन, जो भारत में पाए जाते हैं, विश्वकोश के विभिन्न खंडों में हुआ है:

अंगूर, अंजीर, अखरोट, अडूसा, अजवायन, अनन्नास, अनार, अमरूद, अमलतास, अरहर (देखें दाल), आँवला आम, आलू, आलूबुखारा, इंद्रायण, इमली, ईख, एरंड, कमल, कपास, करंज, करमकल्ला, करेला, कालीमिर्च केला, केसर, कुचला, कुमारी, खैर (देखें कत्था), खस, खीरा, गांजा, गाजर, गेहूँ, गोखरू, चंदन, चंपा, चाय, चीड़, जावित्री, जौ, टमाटर, तंबाकू, ताड़, तुलसी, दालचीनी, देवदार, नारियल, धान (देखें चावल), नासपाती, नीबू, नीम, पपीता, पालक पोल, बरगद, बाँज, बादाम, बैंगन, मक्का, मेहंदी, लीची, शकरकंद, सलजम, शहतूत, संतरा, साखू तथा हल्दी।

अगस्त या सेस्बैनिया ग्रैंडिफ्लोरा (Sesbania grandiflora) — यह लेग्यूमिनोसी कुल का मध्यम ऊँचाई का वृक्ष है, जिसे बगीचों में लगाया जाता है। इसके फूल बैंगनी या पीले, सफेद होते हैं। यह भारत के अधिकांश भाग मे उगता है और मलाया तथा उत्तर आस्ट्रेलिया मे भी होता है।

अमड़ा या स्पॉनडिएस मैंगीफेरा (Spondias mangifera)— ऐनाकार्डीएसिई (Anacardiaceae) कुल का एक ऊँचा वृक्ष है, जिसमें वर्ष के एक तिहाई भाग मे पत्तियाँ नही रहती। यह छोटा, हरा, खट्टा फल पैदा करता है, जो आम जैसा ही होता है। इसका अचार बनता है। जगल मे इसे हरिण तथा अन्य जानवर चाव से खाते हैं।

आकाशनीम या मिलिंगटोनिया हॉर्टेंसिस (Millingtonia hortensis) — बिगनोनिएसिई (Bignoniaceae) कुल का बहुत ऊँचा वृक्ष है। इसमे सफेद, सुगंधित पुष्प लगते हैं। इस वृक्ष की लकड़ी हलकी तथा मुलायम होने के कारण यह प्राय आँधियो मे गिर जाता है। यह असम, बर्मा और मलाया मे अधिक सुगमता से होता है।

कटहल या आर्टोकार्पस इंटेग्रिफोलिया (Artocarpus integrifolia) — यह बड़ा वृक्ष अर्टिकेसिई (Urticaceae) कुल का सदस्य है। यह भारत के हर एक भाग मे होता है। इसके कच्चे फल की तरकारी बनाकर खाई जाती है और अचार बनता है। पक्के फल का कोआ खाया जाता है। पश्चिमी तट के जंगलों में यह स्वत. उगता है।

कंदा या शकरकंद (Ipomoea batatas) — पृथ्वी के नीचे जड के फूलने से बनता है। (देखे शकरकंद)।

कदंब या ऐंथोसिफलस कदंबा (Anthocephalous cadamb) — यह एक अत्यत सुंदर, ऊँचा वृक्ष है, जो भारत के कई भागो मे उगता है। यह कपोजिटी कुल का सुंदर पौधा है। इसमे गेंद जैसे पीले सुदर पुष्पगुच्छ होत है, जो बढकर सयुक्त फल बनाते है।

कैथ या फिरोनिआ एलिफेंटम (Feronia elephantum) — यह रूटेसिई कुल का ऊँचा तथा कटीला वृक्ष होता है, जो उत्तर भारत मे बहुत विस्तृत रूप से पाया जाता है। वृक्ष की छाल काली होती है, फल हरा, सफेद और कडा होता है, जिसे हाथी का सेब (Elephant apple) कहते है। इसके गूदे की चटनी बनती है और दवा के काम आता है।

काजू या ऐनाकार्डियम ऑक्सिडेंटेली (Anacardium occidentale) — दक्षिण भारत म यह स्वत उगता है तथा बाग मे लगाया जाता है। इसका वृक्ष मध्यम आकार का है। इसका फल बडा होता है, जिसके सिरे पर एक कर्नेल होता है। उसके अदर खानेवाला भाग होता है, जो बाजार मे बिकता है। यह वृक्ष ऐनाकारडिएसिई कुल का सदस्य है।

खिरनी या माइमोसॉप्स हेक्जेंड्रा (Mimosops hexandra)— यह ४०-५० फुट ऊँचा घना वृक्ष है, जो उत्तरी भारत मे स्वत. उगता है, अथवा उगाया जाता है। इसमे पीले छोटे फल लगते है, जो खाने मे काफी मीठे और स्वादिष्ठ होते हैं। वृक्ष की छाल औषधि के कार्य मे आती है। बीज से तेल निकाला जाता है।

चिरौंजी या पियाल या बुकनानिया लैंजान (Buchanania lanzan) — यह ऐनाकारडिएसिई कुल का जंगली वृक्ष है। और उत्तर भारत के मिर्जापुर के जंगलों मे स्वतः उगता है। इसका फल, जिसे जंगली लोग पियाल कहते हैं, खाया जाता है। बीज को तोड़कर चिरौजी निकाली जाती है। यह बीज बहुत पौष्टिक होता है।

जामुन या यूजिनिया जांबोलाना (Eugenia jombo'ana)— यह ३० से ४० फुट ऊँचा वृक्ष भारत के अनेक भागों में उगता है। इसमे चौड़ी, मोटी पत्ती, सफेद पर काली चिप्पड़ जैसी छाल तथा पका हुआ काला या लाल फल होता है। इसकी अनेक जंगली जातियाँ पाई जाती हैं, जिनका फल छोटा, कसैला तथा लाल होता है, परंतु बाग मे लगाए जानेवाले वृक्ष मे काले, बड़े रसभरे फल लगते हैं। फल से सिरका भी बनाया जाता है, अधिकाश फल ताजा खाया जाता है। फल गरमी के अंत तथा बरसात के शुरू मे पकता है।

झाऊ — दो प्रकार के पौधो को कहा जाता है, जो देखने मे कुछ मिलते जुलते होते हैं। एक प्रकार है, जिसे टैमरिक्स गैलिका (Tamarix gallica) कहते हैं, जो झाड़ी है और २५-३५ फुट तक ऊँचा होता है। यह नदी के किनारे अधिक उगता है, जिसमे पतली पत्ती जैसी टहनियाँ गुच्छे मे निकलती हैं। दूसरा वृक्ष बहुत ऊँचा लगभग ५०-७० फुट या अधिक ऊँचा होता है। इसका नाम भी झाऊ या कैजुआरिना इक्वीजीटीफोलिया (Casuarina equisetifolia) है। यह उत्तर भारत मे काफी लगाया जाता है। बढते हुए बालू के परिमाण को रोकने के लिये तथा मरुस्थल का बढ़ना रोकने के लिये, इसे भारत मे बहुत से स्थानों पर लगाया गया है।

तेंदू या बीड़ी पत्ता — इसका वानस्पतिक नाम डाइऑस्पिरॉस मेलैनोज़ाइलान (Diospyros mel noxylon) है, जो ऐबिनेसिई कुल का सदस्य है। यह मध्यम श्रेणी का वृक्ष है, जिसका तना टेढा मेढा ऐंठा सा होता है। उत्तर भारत के जगलो मे यह वृक्ष स्वतः बहुत उगता है। इसकी पत्ती को तोड़कर सुखा लिया जाता है और तबाकू की पत्ती के टुकड़ो को इसमे लपेटकर बीड़ी बनाई जाती है।

पलास या ढाक — इसका वानस्पतिक नाम ब्यूटिया मॉनोस्पर्मा (Butea monosperma) है। लेग्यूमिनोसिई कुल का यह लघु वृक्ष भारत मे मैदानी जंगलो मे उगता है। इसका पुष्प अत्यंत चमकीला लाल होता है और जब जगल के जगल फूल से भर जाते हैं तो दूर से बडा ही सुहावना लगता है। पुष्प से पीला रग बनाया जाता है, छाल से लाल गोंद निकलती है और पत्ते दोने तथा पत्तल बनाने के काम आते हैं।

बेल — इसका वानस्पतिक नाम इगिलमेरमिलॉस (Aegle marmelos) है। रूटेसिईकुल का यह वृक्ष है, जो ३० से ४० फुट ऊँचा होता है, पत्ती तीन तीन के गुच्छों मे होती है, फल बड़ा, गोल तथा कड़ा होता है, अंदर गूदा मीठा तथा पौष्टिक होता है। पेड़ पर काँटे लगे होते हैं। यह भारत मे अनेक स्थानों पर लगाया जाता है और हिंदू इसे धार्मिक दृष्टि से पवित्र समझते हैं।

बबूल — इसका वानस्पतिक नाम ऐकेशिया अरेबिका (Acacia arabica) है। यह मध्यम वर्ग का काँटेदार वृक्ष बलुई जमीन में

नदी के किनारे अधिक उगता है। इसकी छाल से निकला गोंद बहुत अच्छा होता है। लकड़ी मजबूत होती है और बैलगाड़ी बनाने के काम आती है।

महुआ — इसका वानस्पतिक नाम बैसिया लैटीफालिया या मधुका इंडिका (Bassia latifolia or Madhuca indica) है। यह उत्तर भारत मे हर जगह उगता है। सैपोटेसिई कुल का यह पौधा ३०–४० फुट ऊँचा होता है। इसकी लकड़ी जलाने के काम आती है तथा पत्तों से दोना पत्तल बनाए जाते हैं। इसका फूल गरमी के शुरू में झड़ता है, जो इकट्ठा कर खाया जाता है। इससे बहुत बड़े पैमाने पर शराब भी बनाई जाती है।

मदार — इसका वानस्पतिक नाम कैलोट्रॉपिस (Callotropis) है। इसकी कई जातियाँ भारत मे पाई जाती हैं। यह एस्क्लीपीडिएसिई कुल का १०–१५ फुट ऊँचा वृक्ष पश्चिमी भारत में अधिक होता है। फल से ओषधि बनती तथा रूई निकाली जाती है।

रेंड़ी — इसका वानस्पतिक नाम रिसिनस कम्यूनिस (Ricinus communis) है। यह यूफॉरबिएसिई कुल का छोटा झाड़ीदार वृक्ष है, जिसका बीज सुखाकर तेल निकालने के लिये पैदा किया जाता है। यह ओषधि के भी काम आता है।

शीशम — इसका वानस्पतिक नाम डैलबरजिया सिसू (Dalbergia sissoo) है। भारत में प्रथम श्रेणी की इमारती लकड़ी वाला यह वृक्ष लेग्यूमिनोसी कुल मे रखा जाता है। गरमी के पहले इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। इसकी लाल रंग की लकड़ी बहुत भारी और मजबूत होती है, जिससे अच्छे किस्म के टिकाऊ सामान बनाए जाते हैं।

सलई — इसका वानस्पतिक नाम बॉजवेलिया सेरेटा (Boswellia serrata) है। यह बरसरेसिई (Burseraceae) कुल का काफी फैला हुआ, मध्यम वर्ग का वृक्ष उत्तर तथा मध्य भारत मे काफी उगता है। इस जंगली वृक्ष की हलकी लकड़ी दियासलाई, कागज तथा पैकिंग केस बनाने के काम आती है।

सेमल — इसका वानस्पतिक नाम सालमालिया (Salmalia) है। यह बाबकेसी कुल का विशाल वृक्ष उत्तर भारत के जंगलों मे पाया जाता है। इसका तना सफेद तथा लकड़ी हलकी होती है। पत्ती चौड़ी होती है और सहज ही झड़ जाती है। जब पूरा वृक्ष लाल भड़कीले पुष्पों से भर जाता है तब अत्यंत मनोहर लगता है। यह १००–१५० फुट तक आसानी से बढ़ता है। फल से रेशम जैसा सेमल निकलता है, जिसे तकिये में भरा जाता है।

सागौन — इसको सागवान या टीक (teak) कहते हैं। इसका वानस्पतिक नाम टेक्टोना ग्रैंडिस (Tectona grandis) है। यह वर्बिनेसिई (Verbeneceae) कुल का ऊँचा वृक्ष भारत के कई जंगलों का प्रमुख वृक्ष है। वन विभाग की तरफ से इसके वन लगाए गए हैं। इस वृक्ष के पत्ते बड़े बड़े और खुरदरे होते हैं, जिनमे प्राय: बड़े छेद हो जाते हैं। लकड़ी बहुत ही अच्छी होती है। इमारती काम के लिये इस वृक्ष की लकड़ी प्रथम श्रेणी की मानी गई है। [रा० श्या० सं०]

भारतीय पुष्प भारत में लगभग ५०,००० जाति के पुष्पधारी पौधे पाए जाते हैं। इनकी विभिन्न जातियाँ जलीय, मरुस्थलीय, नम, पर्वतीय तथा शीत वातावरण मे वितरित हैं। इनमें से कुछ पौधे मौसमी हैं, जो किसी विशेष मौसम में ही फूलते हैं, परंतु कुछ ऐसे भी हैं जो प्राय: साल भर फूलते हुए पाए जाते हैं (देखें फूल)।

निम्नलिखित फूलों का वर्णन यथास्थान किया गया है : अड़ूसा, कचनार, कमल, केवड़ा, खजूर, गुलमेंहदी, गुलदाउदी, गुलाबी, गेंदा, चंपक, चंपा, चमेली, नागफनी, नीम, मेंहदी तथा सूर्यमुखी। वातावरण के अनुसार पुष्पों का वर्णन निम्नलिखित है :

जलीय वातावरणवाले कुछ पुष्प

वुल्फिया एराइज़ा (Wolffia arrhiza) — यह एक बीजपत्री वर्ग का बहुत छोटा पुष्पधारी पौधा है, जो तालाबों मे हरी काई बनाता है। इसके पुष्प बालू के कण के बराबर होते हैं। नर पुष्प में केवल एक पुंकेसर और पुष्प मे केवल एक अंडप (carpel) होता है। पंखुड़ियाँ नहीं पाई जाती हैं, अत. पुष्प नग्न और एकलिंगी होता है। इन पुष्पों में मादा पुष्प नर से पहले पूर्ण विकसित हो जाते हैं।

नील कुमुद या निंफीया स्टेलेटा (Nymphaea stellata) — यह द्विबीजपत्री वर्ग का पौधा है। इसकी कई जातियाँ भारत में पाई जाती हैं। यह बारहो महीने फूलता है, पर इसमें वर्षाऋतु मे अधिक फूल लगते हैं। इसका पुष्प भी कमल ही की भाँति दिखाई देता है, पर बनावट में भिन्न प्रकार का होता है। प्राय: फूल सफेद, पीला, बैंगनी अथवा गुलाबी होता है।

नैस्टर्शियम ऑफिसिनैल (Nasturtium officinale) — यह क्रूसिफेरिई (cruciferae) कुल का पौधा है। इसका फूल सफेद रंग का होता है।

काठसोला या एस्किनॉमिनी इंडिका (Aeschynomene indica) — यह लेग्यूमिनोसी कुल का पौधा है और तालाब के किनारों पर पाया जाता है। फूल पीले रंग के होते हैं और पंखुड़ियों पर लाल धारी होती है। फूल बारहों महीने लगता है।

जसिया रिपेंस (Jussiae repens) — यह ऑनाग्रेसिई (Onagr ceae) कुल का पौधा है। पानी मे पाया जाता है। फूल सफेद या पीले रंग के होते हैं और अक्टूबर से जून तक फलता फूलता है।

सिंघाड़ा या ट्रेपा बाइस्पाइनोसा (Trapa bispinosa) — यह ट्रापेसिई (Trapaceae) कुल का पौधा है। इसे तालाबों मे फल के लिये लगाया जाता है, जो खाने के काम आता है। इसके फूल सफेद रंग के होते हैं और दोपहर के बाद खिलते हैं। परागण के बाद फूल का डंठल मुड़ जाता है और फल पानी के अंदर बनता है। यह पौधा वर्षाऋतु मे फूलता है और फल जाड़े तक तैयार हो जाते हैं।

निंफाइडीज़ इंडिकम (Nymphoides indicum) — यह जेंशिआनेसिई (Gentianaceae) कुल का पौधा है। फूल सफेद तथा पंखुड़ियों का भीतरी भाग पीला होता है। जाड़े मे फूल लगता है।

नारी का साग या आइपोमीया ऐक्वैटिका (Ipomoea aquatica) — यह कॉन्वॉल्वुलेसिई (Convolvulaceae) कुल का पौधा है। तालाब के किनारे पर, अथवा पानी के ऊपर तैरता हुआ,

पाया जाता है। फूल सफेद तथा बैंगनी रंग के होते हैं और वर्षा तथा शीतकाल में पाए जाते हैं।

लिम्नोफिला इंडिका (Limnophila indica) — यह स्क्रॉफुलेरिएसिई (Scrophulariaceae) कुल का पौधा है। यह पौदा तालाब के किनारे से लेकर छिछले पानी तक तथा धान के खेतों मे भी पाया जाता है। फूल सफेद तथा गुलाबी रंग के होते हैं और वर्षा तथा जाड़े मे फूलते हैं।

युट्रिकुलेरिया फ्लेक्सुग्रोसा (Utricularia flexuosa) — यह कीटभक्षी जलीय पौधा है। इसकी पत्तियों में छोटे छोटे थैले होते हैं, जिनमें कीड़े फँस जाते हैं। फूल पानी के ऊपर डंठल मे लगता है और पीले रंग का होता है। शीतकाल मे यह फूलता है।

नीलकाँटा या हाइग्रोफिला स्पाइनोसा (Hygrophila spinosa) — यह ऐकैथेसिई कुल का पौधा है। तालाब के किनारे अथवा धान के खेतों मे पाया जाता है। फूल नीले रग के होते है तथा शीतकाल मे खिलते हैं।

सलिल कुंतल या वेलिसनेरिया स्पाइरेलिस (Vallisneria spiralis) — यह हाइड्रोकेरिटेसिई (Hydrocharitaceae) कुल का पौधा है और पानी के अदर, किनारे पर पाया जाता है। इसकी पत्ती लंबे फीते की भाँति होती है और उसमे केवल पाँच शिराएँ (veins) होती है। नर तथा मादा पुष्प अलग अलग होते हैं। यह अक्टूबर से मार्च तक फूलता है। इन फूलो मे परागण की क्रिया विचित्र है, जिसमे नर पुष्प टूटकर पौधे से अलग हो जाता है और पानी की सतह पर बहता हुआ मादा पुष्प के पास आ जाता है। मादा पुष्प एक बडे डंठल मे पौधों मे लगा रहता है। अतः पानी की सतह पर परागण की प्रक्रिया सपन्न होती है, जिसमे नर पुष्प का पुंकेसर मादा के वर्तिकाग्र से होकर अंडाशय तक पहुँचता है।

ओटेलिया एलिसमायडिस (Ottelia alismoides) — यह धीमे बहते हुए पानी में अथवा तालाबों मे पाया जाता है। इसमे बारहो महीने सफेद रंग के फूल लगते हैं।

लडकिया या मॉनोकोरिया हेस्टाटा (Monochoria hastata) — यह पॉण्टिडेरिएसिई (Pontederiaceae) कुल का पौधा है और तालाब, बहते हुए पानी तथा धान के खेतों मे मिलता है। इसमे हलके बैंगनी रंग के फूल बरसात के मौसम मे फूलते हैं।

जलकुभी या आइकहॉर्निया क्रैसिप्स (Eichhornia crassips) — यह पौधा तालाब मे तथा धान के खेतो मे पानी पर तैरता हुआ पाया जाता है। इसकी पत्तियो का डठल फूला होता है, जिसमे हवा भरी होने के कारण पौधा पानी पर तैरता रहता है। फूल सफेद अथवा नीले रंग के होते हैं और एक डंठल पर लगे रहते है, जो कुछ समय बाद टेढ़ा होकर पानी के अदर मुड जाता है और इसी अवस्था मे इसपर फल लगते हैं।

मरुस्थलीय वातावरणवाले कुछ पुष्प

बबूल या अकेशा अरैबिका (Acacia arabica) — यह द्विदलीय वर्ग का पौधा है और शुष्क स्थानो मे पाया जाता है। इसके पुष्प छोटे होते है और एक गेंदाकार पुष्पगुच्छ मे पाए जाते हैं। फूल का रग पीला होता है और यह गर्मी तथा जाडे के मौसम मे फूलता है।

यूफॉर्बिया स्प्लेंडेंस (Euphorbiasplendens) — यह एक काँटेदार झाडी है। इसकी पत्तियाँ शीघ्र ही झड़ जाती हैं। पुष्प एकलिंगी तथा साइएथियम (cyathium) पुष्प गुच्छ में पाए जाते हैं, जिसके सहपत्र (bracts) लाल रंग के होते हैं।

यका ऐलॉइफोलिया (Yucca aloifolia) — यह लीलिएसिई (Liliaceae) कुल का पौधा है। इसकी पत्तियाँ रेशेदार तथा मोटी होती है और उनके किनारे काँटेदार होते हैं। पेड़ में एक ही बार फूल लगते हैं। फूल सफेद रंग के होते हैं और उनमे छह सफेद पखुड़ियाँ पाई जाती हैं।

सीरस पेरुविऐनस (Cereus Peruvianus) — यह कैक्टेसिई (Cactaceae) कुल का पौधा है। इसका तना पाँच धारीवाला काँटेदार होता है और फूल बड़े तथा सफेद रंग के होते हैं।

झरबेला या जिज़िफस नमुलेरिया (Zizyphus nummularia)— यह रैमनेसिई (Rhamnaceae) कुल का पौधा है। इसके अनुपर्ण (stipule) काँटेदार होते हैं। फूल छोटे, सफेद तथा शीत ऋतु के प्रारंभ मे सितबर अक्टूबर तक पाए जाते हैं।

आक, मदार या कैलोट्रापिस प्रोसेरा (Calotropis procera) — यह पौधा एक, दो मीटर ऊँचा झाड़ीनुमा होता है। पत्तियो की निचली सतह छोटे छोटे मुलायम बालो से ढंकी रहती है। फूल गरमी मे तथा जाडो मे होता है और सफेद अथवा हलके बैंगनी रंग का होता है।

कांडियाली या सोलेनम जैंथोकार्पम (Solanum xanthocarpum) — यह एक काँटेदार पौधा है। सूखे स्थानों में अथवा कंकड़ीली पथरीली जमीन पर पाया जाता है। सफेद अथवा बैंगनी रग के फूल गरमी तथा बरसात के मौसम मे होते हैं। इसका फल पकने पर पीले रग का गोलाकार होता है।

गोरख इमली या ऐडैनसोनिया डिजिटेटा (Adansonia digitata) — यह मैलवेसिई (Malvaceae) कुल का पौधा है। इसमे फूल वर्षा ऋतु में लगता है। फूल एक बड़े डंठल से लटकता रहता है और उसमे सफेद पखुड़ियाँ होती हैं। यह आधी रात के समय फूलता है तथा दूसरे दिन तक मुरझा जाता है।

अमलतास या कैसिया फिस्चुला (Cassia fistula) — यह लेग्यूमिनोसी (Leguminoseae) कुल के सीजैल्पिनियाडिई (Caesalpinioideae) उपकुल का पौधा है। इसमे पीले पीले फूल मार्च या अप्रैल माह मे लगते हैं (देखें फलक)।

पलास या ब्यूटिया फ्रॉण्डोसा (Butea frondosa) — यह लेग्यूमिनोसी कुल का पौधा है। इसके पत्ते बडे तथा गोलाकार होते हैं। फूल लाल रंग के तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारभ (मार्च महीने) में फूलते हैं (देखें फलक)।

नम वातावरणवाले कुछ पुष्प

निर्विषी या डलफीनियम अजासिस (Dulphinium ajacis) — यह रानंकुलेसिई (Ranunculaceae) कुल का मौसमी पौधा है। इसके फूल शीतकाल मे खिलते हैं तथा हलके नीले रंग के होते हैं। यह बगीचों मे सुंदरता के लिये लगाया जाता है।

आइपोमीया रूब्रो सीरूलिया (Ipomoea rubro caerulea) — यह कॉनवॉलवुलेसिई (Convolvulaceae) कुल की लता है। इसकी पंखड़ियाँ कली की अवस्था में लाल होती हैं, पर जब फूल खिल जाता है तो वे नीली हो जाती हैं। यह सितंबर-नवंबर मास मे फूलता है (देखें फलक)।

सैल्विया ऑफिसिनेलिस (Salvia officinalis) — यह लेबिएटी (Labiatae) कुल का मौसमी पौधा है और शीतकाल में बगीचों मे लगाया जाता है। फूल सुंदर लाल रंग का होता है।

टिकोमा ग्रैंडीफ्लोरा (Tecoma grandiflora) — यह बिगनोनिएसिई (Bignoniaceae) कुल की लता है। इसके फूल गरमी तथा वर्षाकाल में पाए जाते हैं और लाल रंग के होते हैं।

इक्सोरा काक्सीनिया (Ixora coccinea) — यह रुबिएसिई (Rubiaceae) कुल का पौधा है। इसके फूल लाल रंग के होते हैं। यह प्रायः साल भर फूलता है।

रंगून क्रीपर, या माधुरी लता, या **क्विसक्वैलिस इंडिका** (Quisqualis indica) — यह कॉम्ब्रीटेसिई (Combretaceae) कुल का पौधा है। इसमे फूल बारहो महीने लगता है। शाम के समय सफेद फूल खिलता है और दिन में फूल लाल हो जाता है। इसमे अच्छी सुगंध होती है।

बोगनविलास या बूगिनविलिया ग्लैब्रा (Bougainvillea glabra) — यह निक्टाजिनेसिई (Nyctaginaceae) कुल की लता है और फूल बारहों महीने फूलता है। इसमे कई रंग के फूल पाए जाते हैं, जैसे सफेद, पीला, लाल, गुलाबी, बैंगनी इत्यादि।

अगस्त या सेस्बानिया ग्रैंडिफ्लोरा (Sesbania grandiflora)— यह पापिलिओनेसिई (Papilionaceae) कुल का छोटा पेड है। इसमे सफेद अथवा गुलाबी रंग के फूल शीत ऋतु में लगते हैं।

पांगारा या एरिथ्राइना इंडिका (Erythrina indica) — यह भी पापिलिओनेसिई कुल का पेड है। इसमे फरवरी और अप्रैल मास मे लाल रंग का फूल लगता है।

पर्वतीय तथा शीत वातावरणवाले पुष्प

रतनजोग या अनेमोनि ऑब्टूसिलोबा (Anemone obtusiloba) — यह रानंकुलेसिई कुल की झाडी है। यह हिमालय पर्वत पर २,५०० से ४,००० मीटर तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। फूल सफेद अथवा हलके बैंगनी रंग के होते हैं।

कॉरनस कैपिटाटा या बेंथेमिडिया कैपिटाटा (Cornus Capitata or Benth midia Capitata) — यह कॉरनेसिई (Cornaceae) कुल का पौधा है। हिमालय पर १०००–२००० मीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है। फूल सफेद रंग के होते हैं और पेड़ ऊँचे नहीं होते।

एपिलोबियम लैटिफोलियम (Epilobium latifolium) — यह ऑनाग्रेसिई (Onagraceae) कुल का पौधा है। यह हिमालय पर ३,००० मीटर से ऊपर ऊँचाई पर पाया जाता है। फूल लाल रंग के वृत्ताकार २ से ३ सेंमी० व्यास तक के होते हैं।

लाल जाहरी या जिरेनियम वालिचिएनम (Geranium wallichianum) — यह जिरेनिएसिई कुल का पौधा है। हिमालय पर २,००० से ३,००० मीटर तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। फूल लाल रंग के ४ से ५ सेंमी० व्यास के होते हैं।

दुली चंपा या मैग्नोलिया ग्रैंडिफ्लोरा (Magnolia grandiflora) — यह मैग्नोलिएसि (Magnoliaceae) कुल का पौधा है। इसका फूल सफेद और ४ से १० सेंमी० व्यास तक का होता है।

ममीरी या कैल्था पॉलस्ट्रिस (Caltha palustris) — यह रानंकुलेसिई कुल का पौधा है। यह हिमालय पर २,००० से ३,००० मीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है। फूल पीला होता है। कुछ नम स्थानो में मिलता है।

सलाप या ऑरकिस लैटिफोलिया (Orchis latifolia) — यह ऑरकिडेसिई (Orchidaceae) कुल का पौधा है। २,५०० से ४,००० मीटर तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। फूल लाल होते हैं।

हिंद स्ट्राबेरी या फ्रागेरिया इंडिका (Fragaria indica) — यह रोजेसिई (Rosaceae) कुल का पौधा है। पहाड़ों पर २,००० से ३,०००० मीटर तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। फूल पीले रंग के होते हैं। स्ट्राबेरी या फ्रजेरिया वेस्का मे फूल सफेद होते हैं। यह भी पहाड़ या शीत वातावरण में पाया जाता है।

बिमूल या रोडोडेंड्रॉन आरबोरियम (Rhododendron arboreum) — यह एरिकेसिई (Ericaceae) कुल का पौधा है। फूल लाल रंग के मार्च से अप्रैल तक फूलते हैं। [कै० चं० मि०]

उपर्युक्त पुष्पों के अतिरिक्त निम्नलिखित भारतीय पुष्प महत्व के हैं। इन पुष्पों का भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में अपूर्व स्थान है :

अड़हुल (Hibiscus rosa-sinensis Linn.) — यह सदाबहारी झाडी है, किंतु अनुकूल वातावरण मे छोटे वृक्ष का रूप धारण कर लेती है। इसके पुष्प साल भर खिलते हैं, किंतु अप्रैल से सितंबर तक अधिक संख्या में खिलते हैं। पुष्प चमकीले लाल रंग के होते हैं।

अर्जुन (Terminalia arjuna Bedd.) — यह सदाहरित वृक्ष है। इसके फूल प्याले के आकार के हलके पीले होते हैं। फूल मार्च से जून तक खिलते हैं।

अशोक (Saraca indica Linn) — यह लिग्यूमिनोसी कुल का वृक्ष है। इसके पुष्प बडे, सुगठित तथा नारंगी लाल रंग के होते हैं। फूल फरवरी मार्च में खिलते हैं। इसकी पत्तियाँ छह इंच से लेकर लगभग एक फुट लंबी होती हैं।

कदंब (Anthocephalus cadamba Miq) — यह रूबिएसिई कुल का वृक्ष है। यह लगभग ३० फुट ऊँचा होता है। इसके पुष्प गेंद की आकृति के तथा पीले रंग के होते हैं। कंदब के फूल गंधयुक्त होते हैं।

कनेर — इस वृक्ष की तीन जातियाँ होती हैं, जिनमें क्रमशः लाल, पीले और नीले पुष्प लगते हैं। इन पुष्पों में गंध नहीं होती।

जूही (Jasminum auriculatum Vahl) — यह झाड़ी अपने सुगंधवाले फूलों के कारण बगीचों मे लगाई जाती है। जूही के फूल

छोटे तथा सफेद रंग के होते हैं और चमेली से मिलते जुलते हैं। फूल वर्षा ऋतु में फूलते हैं।

परजाता या हरसिंगार — इस वृक्ष के पुष्प सफेद, तथा सुगंध वाले होते हैं। फूलो के पुष्पवृंत नारगी रंग के होते हैं। फूल शरद ऋतु में फूलते हैं।

बेला (Jasminum arborescens Roxb. syn) — यह झाडी अपने सुगधवाले फूलो के लिये प्रसिद्ध है। इसकी एक और जाति है, जिसको मोगरा या मोतिया (Jasminum Sambac Ait) कहते हैं। बेला के फूल सफेद रग के होते हैं। मोतिया के फूल मोती के समान गोल होते हैं।

मौलसिरी या बकुल (Mimusops Elengi linn) — इस वृक्ष के पीले हरे रग के सुगंधदार फूल होते हैं। फूल मार्च मे फूलते हैं। यह वृक्ष ४० से ५० फुट तक ऊँचा होता है।

इसके अतिरिक्त कामिनी, केतकी, गंधराज, माधवी लता, रुक्मिनी, रात की रानी, आदि भारतीय पुष्प हैं, जो अपनी सुगंध के कारण पसंद किए जाते हैं।

भारतीय बोलियाँ भारत में 'भारतीय जनगणना १९६१' (संकेत-चिह्न = जन०) के अनुसार १६५२ मातृभाषाएँ (बोलियाँ) चार भाषा परिवारो मे वर्गीकृत की गई है। नीचे बोलियो के विवरण में आधार डॉ० ग्रियर्सन का 'भारत भाषा सर्वेक्षण' (संकेत चिन्ह = ग्रि०) है, किंतु नवीनतम शोध अध्ययन सर्वोपरि माने गए हैं। तुलना के लिये जन० का उल्लेख किया गया है। बोलियों के मिलन-स्थलों पर मतभेद असंभव नही है। कोष्ठकों मे बोलियो के स्थान वर्णित हैं।

आस्ट्रिक भाषा परिवार की मॉन ख्मेर शाखा में सात तथा मुंडा शाखा मे ५८, कुल मिलाकर ६५ मातृभाषाएँ जन० में वर्णित हैं। खासी भाषा की जयंतिया तथा प्नार बोलियाँ खासी तथा जयंतिया पहाड़ियो मे बोली जाती हैं। खेरवारी भाषा के अतर्गत सथाली (बगाल, बिहार उडीसा की सीमाएँ), मुडारी, हो, कुरुख, कोर्कू (कूर्कू) (सतपुडा पहाड, महादेव पहाडियाँ), भूमिज (सिहभूमि, मानभूमि), गदाबा (मद्रास की उत्तरी पूर्वी पहाड़ियाँ) बोलियाँ गिनाई गई हैं। वस्तुत: इन्हें भाषाएँ कहना, जैसा जन० मे है, अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि बोधगम्यता के सिद्धात के आधार पर उनमे अत्यधिक दूरी आ गई है। मुडा शाखा की शेष बोलियाँ हैं—मकारी, (महाराष्ट्र म० प्र०), कोडा (कोरा) से संबधित मिरधा (पं० बंगाल), बद्दरी, लोढ़ा, जो खरिया से संबंधित हैं, (प० बंगाल), निकोबारी (अंडमान निकोबार), तथा कोल भाषाएँ।

तिब्बत चीनी परिवार की भाषाएँ लद्दाख से लेकर असम के पूर्व तक उत्तुग हिमानी शिखरो, बीहड जंगलों, घाटियों मे दूर तक फैली हुई हैं। जन० मे २२६ मातृभाषाएँ (बोलियाँ) गिनाई गई हैं। (१) तिब्बत भोटिया वर्ग मे ३३ मातृ बोलियाँ हैं जिनमें भोटिया, बाल्ती, भूटानी, लाहुली, स्पीती, कागेनी प्रमुख हैं। कई एक का नामकरण स्थानविशेष के आधार पर हुआ है। (२) हिमालय वर्ग की २४ मातृ बोलियों मे मनानी प्रमुख बोलीयुत कसी, कनौरी (५ बोलियाँ) राई टामंग, लोवा प्रमुख भाषा (बोलियाँ) हिमाचल प्रदेश में बोली जाती हैं। असम शाखा के नेफा वर्ग में २४ मातृभाषाएँ (बोलियाँ) हैं जिनमे आका, हासो, दपका (दो बोलियाँ), अबोर (मियोंग प्रमुख बोली सहित कुल १४), मीरी, (प्रमुख बोली मीशियांग) तथा मिश्मी प्रमुख मातृभाषाएँ (बोलियाँ) हैं। असम बर्मी शाखा के (१) बोडो वर्ग मे ४० मातृभाषाएँ (बोलियाँ) हैं, जिनमें बोडो सहित चार बोलियाँ कचारी, दिमासा, गारो (अचिक दालू, प्रमुख), त्रिपुरी (जमतिया प्रमुख बोली) मिकीर, राभा (रंगदनियाँ प्रमुख बोली), उल्लेखनीय हैं और जो असम मे बिखरी हुई हैं। (२) नागा वर्ग की कुल ४७ मातृभाषाओ (बोलियो) में कोन्याक (तीन बोलियाँ), आओ (मोक्सेन प्रमुख), अंगामी (चक्रू प्रमुख), सेमा, टॉगखुल आदि नागालैंड तथा नेफा मे बोली जाती हैं। (३) कूकी चिनवर्ग की ६१ मातृभाषाओं (बोलियो) में प्रमुख भाषा मनीपुरी (मेथेई) की विशुनपुरिया बोली त्रिपुरा तथा कछार मे बोली जाती है। इसके अतिरिक्त बैते, खोंगजई, हालम, कूकी अनिश्चित भाषाएँ (बोलियाँ) असम तथा नागा पहाडियो मे हैं। (४) बर्मा वर्ग की अर्कनीज भाषा की मोघ प्रमुख बोली त्रिपुरा मे बोली जाती है।

भारत मे सख्या की दृष्टि से दूसरे भाषापरिवार द्रविड में जन० मे १६१ मातृभाषाएँ गिनाई गई हैं जिनमे १०४ को संविधानगत तमिल, तेलुगू, कन्नड, मलयालम चार भाषाओ के संदर्भ मे विवेचित किया जा सकता है। तमिल की २२ बोलियो मे येरुकुल आध्र मे, कैकादी महाराष्ट्र मे (ग्रि० के अनुसार दक्षिण मे) कोरवा पहले मद्रास मे किंतु अब मैसूर में, इरुला (इरुलिया) नीलगिरि पर्वत मद्रास में, पट्टापु भाषा आध्र मे प्रमुख बोलियों के रूप मे बोली जाती हैं। तेलुगू की ३६ बोलियो मे बडरी महाराष्ट्र, मैसूर मे मिली है। गोलरी (गोलर) होलिया ग्रि० के अनुसार म० प्र० में गोलर जाति की बोली है। टोमरा आध्र मे, बडगा मद्रास मे बोली जाती है। ग्रि० के अनुसार सालेवारी (चाँदा), बेराडी (बेलग्राम) भी प्रधान बोलियाँ है। कन्नड की ३२ मातृ बोलियो मे प्रमुखतम बडगा (नीलगिरि, मैसूर) है। होलिया प्रमुखत: महाराष्ट्र मे, गोलर कन्नड म० प्र० मे, मोटाडेंत्यी मद्रास मे पाई गई हैं। कोरचा बोली कोरवा की पर्याय नही है, जैसा ग्रि० में वर्णित है, अपितु यह मैसूर मे बोली जानेवाली, कन्नड की प्रमुख बोली है। मलयालम की १४ बोलियो में येरव जाति की येरव बोली मैसूर मे, पनिया मद्रास तथा केरल मे बोली जाती हैं। नागरी मलयालम त्रिचूर जिले के संस्कृतज्ञ ब्राह्मणो की मलयालम है। शेष बोलियाँ गौण हैं। तुलू कोर्गी (कोडगू) (कुर्ग), टोडा, कोटा, (मद्रास) चार भाषाओं की भी कई बोलियाँ है। कोर्गा तुलू की प्रधान बोली है। ये मद्रास, मैसूर, महाराष्ट्र मे बिखरी है।

इसके अतिरिक्त उत्तर द्रविड़ समूह की कुरुख (ओरॉव) भाषा में धांगरी नागेसियाँ (अंतिम दोनों बंगाल में) तथा माल्टी भाषा की सौरिया (म० प्र०) प्रमुख हैं। नई शोधों के आधार पर कहा जा सकता है कि गोडी, कुई (उड़ीसा मे कोरापत), खोंड़ (कोंध), (उडीसा), कोया (आंध्र), पार्जी (म० प्र०), कोलामी (आंध्र०) कोंडा भाषाएँ सिद्ध हुई हैं। ग्रि० मे ये बोलियों के रूप मे वर्णित हैं। गोंडी की डोटली, भरिया (म०, प्र० बिहार, उडीसा की सीमाएँ) कुई की पेंगु (उड़ीसा), कोलामी की माने (आंध्र में अदीलाबाद) एवं नइकी (दवरा हुवेली) बोलियाँ उल्लेख्य हैं।

संसार के भाषापरिवारों में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण भारोपीय भाषापरिवार की दरद शाखा के दरद वर्ग की शिना भाषा की बोली गिलगिती (गिलगित) और कश्मीरी भाषा की किश्टवारी (किश्टवार क्षेत्र), पोगुली (जम्मू), भुम्रवाली (दोड़ा जिला), सिराजी (जम्मू कश्मीर) विशेषत. उल्लेख्य हैं।

यद्यपि मूल लहँदा तथा सिंधी क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया है, फिर भी विस्थापितों के रूप में लहँदा की १४ बोलियों मे मुल्तानी तथा पुञ्छी (जम्मू) एवं सिंधी की सात बोलियों मे कच्छी (कच्छ) प्रमुखत: पाई गई। जन० में मराठी की ६५ बोलियाँ हैं। दक्षिण महाराष्ट्र, मैसूर, केरल मे (उत्तर) बोली जानेवाली कोंकणी वस्तुत: स्वतंत्र भाषा है, मराठी की बोली, जैसा ग्रियर्सन ने कहा था, नही है। कोंकणी की १६ बोलियो में चेट्टि भाषा कोंकणी (केरल) गोम्रनीज (गोम्रा) एवं कुदुबी प्रमुख हैं। मराठी के अतर्गत हल्बी (बस्तर), कामारी (रायपुर), कटिया (छिंदवाड़ा, बेतूल). कटकारी (कोलाबा) कोष्ठी-मराठी (कोष्टी जाति द्वारा आंध्र, म० प्र० प्रमुखत. नागपुर एवं भंडारा मे प्रयुक्त), क्षत्रिय मराठी (केवल मैसूर राज्य), छिंदवाड़ा, शिम्रोनी ठाकरी (कोलाबा) बोलियाँ जन० मे उल्लिखित हैं। शेष करहुंडी, मिरगानी, भंडारी प्रभृति उल्लेख्य हैं।

उड़ीसा की २४ बोलियों मे भमी (प्रमुखत. बस्तर), भुइया (सुदरगढ, धेनकनाल, केम्रोंझर), रेल्ली (आंध्र) पहड़ी (आंध्र) प्रमुख हैं। कटक की कटकी, आंध्र सीमा पर गंजामी, संभलपुर मे सभलपुरी भी उल्लेख्य हैं।

बंगाली के अनर्गत जन० मे उल्लिखित १५ बोलियो मे चकमा (मीजो पहाड़ियाँ, त्रिपुरा, असम,) किसनगँजिया (बिहार), राजवशी (जलपाइगुडी) प्रमुख हैं। ग्रियर्सन ने सराकी, खड़ियाठार, कोच आदि भी गिनाई हैं। जन० मे असम की कोई बोली नही वर्णित है, किंतु ग्रियर्सन ने कछार के हिंदुओं की विशुनपुरिया का उल्लेख किया था।

हिंदी क्षेत्र में बिहारी वर्ग मे ३५ मातृ बोलियाँ है जिनमे (१) भोजपुरी (पूर्वी फैजाबाद, दक्षिणी पूर्वी मिर्जापुर, वाराणसी, पूर्वी जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, बस्ती का पूर्वी भाग, गोरखपुर, देवरिया, सारन. शाहाबाद) (२) मैथिली (तिरहुतिया) मिथिला प्रदेश (चपारन, मुजफ्फरपुर, मुगेर, भागलपुर. दरभगा, पूर्निया, सहरसा, माल्दा, तथा दिनाजपुर) (३) मगही (गया, पटना, तथा संथाल परगना मे अंशत:) प्रमुख बोलियाँ ह। मैथिली की उपबोली सिराजपुरी पूर्निया मे बोली जाती है। पूर्वी हिंदी की अवधी एवं छत्तीसगढ़ी प्रमुख बोलियाँ हैं। अवधी लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर, बहराइच, बाराबकी, रायबरेली, गोंडा, फैजाबाद, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, जौनपुर, मिर्जापुर जिलों की बोली है। इसमे बांदा भी गिना जा सकता है। बघेली रीवा, सतना, शहडोल के अतिरिक्त ग्रि० के अनुसार दमोह, जबलपुर, मांडला, बालाघाट, तक फैली है। अवधी की मरारी पोवारी तथा परदेशी महाराष्ट्र भी बोलियाँ हैं। छत्तीसगढ़ी छत्तीसगढ़, रायपुर, रायगढ़, दुर्ग, बिलासपुर, सरगुजा, बस्तर मे, (डा० उदयनारायण के अनुसार) कांकेर, कवर्धा, चांदा उत्तर पूर्व मे भी बोली जाती है। सरगुजिया सरगुजा मे ग्रियर्सन के अनुसार कोरिया, उदयपुर में भी, ग्वारो उपबोली असम में, तथा लरिया उड़ीसा में बोली जाती हैं।

पश्चिमी हिंदी की, कौरवी खड़ी बोली (रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून-मैदानी भाग, अंबाला, कलसिया, आदि), (२) बागरू (द० पंजाब मे करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला का कुछ भाग, नाभा, जीद), (३) ब्रजभाषा (ग्रियर्सन के अनुसार मथुरा, अलीगढ़, आगरा, एटा, बुलंदशहर, मैनपुरी, बदायूं, बरेली, गुडगांव जिला पूर्वी पट्टी, भरतपुर, धौलपुर, करौली, जयपुर पूर्व,), डॉ० धीरेंद्र वर्मा के अनुसार (४) कन्नौजी बोली ब्रजभाषा के अतर्गत है, अत: पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर भी ब्रजभाषा मे गिने जा सकते हैं। नवीनतम शोध के अनुसार (५) बुंदेली झाँसी हमीरपुर, जालौन, छतरपुर, टीकमगढ़, दतिया, भिंड, ग्वालियर, मुरैना, शिवपुरी, गुना, सागर, पन्ना, दमोह, सिवनी, छिंदवाड़ा, नरसिंहपुर, रायसेन, विदिशा, होशंगाबाद, तथा बेतूल जिलों मे बोली जाती है।

पूरे राजस्थान में राजस्थानी बोली ७१ मातृ बोलियों सहित फैली है। जन० के अनुसार इनमे बागरी राजस्थानी (गगानगर, सीकर), बंजारी (महाराष्ट्र, मैसूर), ढुंढारी (जयपुर, सीकर, सवाई माधोपुर, टोंक), लमनी (लबडी) (आंध्र), गोजरी (जम्मू कश्मीर), हाड़ौती (बूंदी, कोटा, झालावार), खैराड़ी (बूंदी भीलवारा), मालवी (मालवा मे — मंदसौर, उज्जैन, इंदौर, देवास, शाजपुर, रतलाम, चित्तौड़गढ़), मारवाड़ी (मारवाड़ मे — गंगानगर, बीकानेर, चुरु, झुंझुनु, सीकर, अजमेर, जैसलमेर, जोधपुर, नागौर, पाली, बाड़मेर, जालार, सिरोही), मेवाड़ी (मेवाड़, भीलवारा, उदयपुर, चित्तोड़गढ़), शेखावाटी (झुंझुनू) प्रमुख बोलियाँ है। निमाड़ी धार तथा निमाड की बोली है। ग्रि० मे भीली तथा खानदेशी मिश्रित बोलियाँ भाषा के रूप मे पृथक् वर्णित है। जन० के अनुसार भीली की ३६ उपबोलियो मे बारेल (छोटा उदयपुर स्टेट), (भिलाली भीली, भिलाड़ी) (बरार, खानदेश, म० प्र० एव महाराष्ट्र का कुछ भाग), गमती गवित (गुजरात), कोकना (कुकना) (बड़ौदा, सूरत, नासिक), बागड़ी (मेवाड़ के आसपास), पावरी (ग्रि० — खानदेश) प्रमुख हैं। खानदेशी की अहीरनी खानदेश मे प्रयुक्त है। ८६ बोलियों के समूह-वाले पहाड़ी वर्ग की पश्चिमी पहाड़ी के अतगत भद्रावही (जम्मू-कश्मीर) सिरमौरी, भरमौर, मडेआली, चमेआली, चुरही (पाँचो हिमाचल प्रदेश) जानसारी (जानसार बावर), कुलुई (कुल्लू) उपबोलियाँ है। पूर्वी पहाड़ी मे नैपाली तथा मध्य पहाड़ी मे कुमाउनी (अल्मोड़ा, नैनीताल), गढ़वाली (गढ़वाल, मसूरी) प्रमुख हैं। वस्तुत: इनमे प्राकृतिक दूरी है। जन० मे गुजराती की २७ बोलियो मे घिसादी (आंध्र, महाराष्ट्र मे लोहारो द्वारा प्रयुक्त), कोल्ची (सूरत में कोल्चा जाति द्वारा प्रयुक्त), पारसी (महाराष्ट्र, सौराष्ट्र (मद्रास), सौराष्ट्री (गुजरात) प्रमुख वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त गामड़िया, चरोतरी, काठियावाड़ी भी उल्लेख्य हैं।

पंजाबी की २६ बोलियो मे जन० के अनुसार बिलासपुरी (कल्हूरी) (बिलासपुर, मगल, होशियारपुर), डोगरी (जम्मू

एवं पंजाब का कुछ भाग), कांगरी (कांगड़ा) राठी, जालंधरी, फिरोजपुरी, पट्टियानी (बीकानेर, फिरोजपुर) माँझी (अमृतसर के आसपास) प्रमुख बोलियाँ हैं। [भ० दी० मि०]

भारतीय शस्य भारत की कुछ प्रमुख फसलों, जैसे गेहूँ, धान, मक्का, जौ इत्यादि का विश्वकोश में यथास्थान वर्णन हुआ है, पर यहाँ इतनी फसलों की खेती होती है कि सबका वर्णन तो अलग एक बड़ी पुस्तक में ही संभव है। फिर भी भारत की कुछ प्रधान फसलें हैं, जिनके विषय में इस कोश में अन्यत्र कुछ नहीं लिखा गया है। संक्षेप में उनका वर्णन निम्नलिखित है :

जुआर (Sorghum vulgare) — यह फसल लगभग सवा चार करोड़ एकड़ भूमि में भारत में बोई जाती है। यह चारे तथा दाने दोनों के लिये बोई जाती है। यह खरीफ की मुख्य फसलों में है। सिंचाई करके वर्षा से पहले एवं वर्षा प्रारंभ होते ही इसकी बोवाई की जाती है। यदि बरसात से पहले सिंचाई करके यह बो दी जाय, तो फसल और जल्दी तैयार हो जाती है, परंतु बरसात जब अच्छी तरह हो जाय तभी इसका चारा पशुओं को खिलाना चाहिए। गरमी में इसकी फसल में कुछ विष पैदा हो जाता है, इसलिये बरसात से पहले खिलाने से पशुओं पर विष का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ सकता है। यह विष बरसात में नहीं रह जाता है। चारे के लिये अधिक बीज लगभग १२ से १५ सेर प्रति एकड़ बोया जाता है। इसे घना बोने से हरा चारा पतला एवं नरम रहता है और उसे काटकर गाय तथा बैलों को खिलाया जाता है। जो फसल दाने के लिये बोई जाती है, उसमें केवल आठ सेर बीज प्रति एकड़ डाला जाता है। दाना अक्टूबर के अंत तक पक जाता है। भुट्टे लगने के बाद एक महीने तक इसकी चिड़ियों से बड़ी रखवाली करनी पड़ती है। जब दाने पक जाते हैं तब भुट्टे अलग काटकर दाने निकाल लिए जाते हैं। इसकी औसत पैदावार छह से आठ मन प्रति एकड़ हो जाती है। अच्छी फसल में १५ से २० मन प्रति एकड़ दाने की पैदावार देती है। दाना निकाल लेने के बाद लगभग १०० मन प्रति एकड़ सूखा पौष्टिक चारा भी पैदा होता है, जो बारीक काटकर जानवरों को खिलाया जाता है। सूखे चारों में गेहूँ के भूसे के बाद ज्वार का डंठल तथा पत्ते ही सबसे उत्तम चारा माना जाता है।

बाजरा (Pennisetum typhoideum) — यह भी भारत की मुख्य फसलों में है। यह फसल लगभग दो करोड़ ८० लाख एकड़ भूमि में बोई जाती है। जुलाई के तीसरे सप्ताह से लेकर इस महीने के अंत तक इसकी बोवाई होती है। बाजरा हलकी, दूमट बलुई तथा भूंड़ जमीनों में पैदा होता है। चारे के लिये इसका बीज १० सेर प्रति एकड़ तथा दाने के लिये केवल तीन सेर प्रति एकड़ डाला जाता है। इसमें मूँग, लोबिया, उरद इत्यादि दलहन मिलाकर भी बोते हैं। जब पौधे दो से ढाई फुट के हो जाते हैं तब देशी हल से दूर दूर जोताई कर दी जाती है। ऐसा करने से पौधों की जड़ों तक हवा पहुँच जाती है तथा फसल अच्छी बढ़ती है। इसका चारा ज्वार से उत्कृष्ट कोटि का माना जाता है। इसकी फसल को क्वार के महीने में चिड़ियों से बचाना पड़ता है। पक जाने पर बालियाँ काटकर दाने निकाल लिए जाते हैं। इसकी पैदावार ५ से १० मन प्रति एकड़ होती है। यह बिना सींच वाली बलुई तथा ऊँची नीची जमीनों की फसल है। यह नदी के समीप के बलुआ खेतों में अधिक बोई जाती है। ऐसी जमीनों से पाँच से १० मन प्रति एकड़ की पैदावार ही संतोषजनक मानी जाती है।

चना (Cicer Arietinum) — भारत में लगभग ढाई करोड़ एकड़ भूमि में चना बोया जाता है। दलहन की फसलों में इसका क्षेत्रफल सबसे अधिक है। चना उगने के बाद ही, साग सब्जी के रूप में खाया जाता है, फिर हरा चना कच्चा, अथवा पकाकर दाल व तरकारी के रूप में खाया जाता है। पशुओं के दाने के लिये भी चने का उपयोग होता है। चने को भूनकर तथा इसकी चाट बनाकर भी खाया जाता है। जितने रूप में चने का उपयोग होता है, संभवतः उतने प्रकार से और किसी अन्न का उपयोग नहीं होता।

यह रबी की दालदार फसल है। यह दूमट से लेकर मटियार भूमि तक में पैदा होता है। यह खरीफ की फसल, धान, मक्का, ज्वार आदि के बाद, अक्टूबर के आरंभ में, बोया जाता है। चने का बीज लगभग ३० सेर प्रति एकड़ बोया जाता है। इसके बोने से खेत की उर्वरा शक्ति बढ़ती है और चने को खाद की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इसकी जड़ों में हवा से नाइट्रोजन इकट्ठा करनेवाले जीवाणु होते हैं। इसकी बोवाई के लिये खेत को चार या पाँच बार जोतना काफी है। यदि खेत में ढेले रहे, तो फसल अच्छी होती है। चने को सिंचाई की भी अधिक आवश्यकता नहीं होती। यदि जाड़ों में पानी न बरसे तो एक सिंचाई कर दी जाती है। इसका हरा दाना माघ, फागुन में खाने लायक तैयार हो जाता है। फसल के पकने पर १० से १५ मन प्रति एकड़ दाना प्राप्त होता है। इसकी सफेद बड़ी जाति को काबुली चना कहते हैं। यह बहुत महँगा बिकता है। शहरों में काबुली चना तरकारी में तथा चाट में अधिक खाया जाता है।

अरहर (Cajanus indicus) — यह पूर्व उत्तरी भारत के दलहन की मुख्य फसल है। पूर्वी उत्तरप्रदेश में तो दाल माने अरहर की दाल। यह केवल उत्तर प्रदेश में ३० लाख एकड़ से अधिक रकबे में बोई जाती है। इसके लिये नीची तथा मटियार भूमि को छोड़कर सभी जमीनें उपयुक्त हैं। ऊँची दूमट भूमि में, जहाँ पानी नहीं भरता, यह फसल विशेष रूप से अच्छी होती है। यह बहुधा वर्षा ऋतु के प्रारंभ में और खरीफ की फसलों के साथ मिलाकर बोई जाती है। अरहर के साथ कोदो, बगरी-धान, ज्वार, बाजरा, मूँगफली, तिल आदि मिलाकर बोते हैं। वर्षा के अंत में ये फसलें पक जाती हैं और काट ली जाती हैं। इसके बाद जाड़े में अरहर बढ़कर खेत को पूर्णतया भर लेती है तथा रबी की फसलों के साथ मार्च के महीने में तैयार हो जाती है। पकने पर इसकी फसल काटकर दाने झाड़ लिए जाते हैं। और फसलों के साथ मिलाकर इसका बीज केवल दो सेर प्रति एकड़ के हिसाब से डाला जाता है। अरहर को वर्षा के पहले दो महीनों में यदि निकाई व गोड़ाई दो तीन बार मिल जाय, तो इसका पौधा बहुत बढ़ता है और पैदावार भी लगभग दूनी हो जाती है। चने की तरह इसकी जड़ों में भी हवा से खाद नाइट्रोजन इकट्ठा करने की क्षमता होती है। अरहर बोने से खेतों की उर्वरा शक्ति बढ़ती है और इसे स्वयं खाद की आवश्यकता नहीं होती। इसको पानी की भी

अधिक आवश्यकता नहीं होती। जब धान इत्यादि पानी की कमी से मर तथा मुर्झा जाते हैं तब भी अरहर खेत मे हरी खड़ी रहती है। कमजोर अरहर की फसल पर पाले का असर कभी कभी हो जाता है, परंतु अच्छी फसल पर, जो बरसात में गोड़ाई के कारण मोटी हो गई है, पाले का भी असर बहुत कम, या नही, होता।

सरसों (Brassica campestris) — भारत के तेलहन की फसलों मे सरसों का स्थान बहुत ऊंचा है। मूंगफली के बाद सबसे अधिक क्षेत्रफल मे सरसो की खेती होती है। लगभग ६२ लाख एकड़ भूमि मे यह फसल बोई जाती है। सरसों जाड़े मे पैदा होती है। रबी की फसलों के साथ सरसो बोई जाती है। लाही अक्टूबर के पहले सप्ताह मे ही बोई जाती है। सरसो बहुधा गेहूँ मे मिलाकर बोई जाती है, परतु लाही अकेले बोई जाती है। लाही हिमालय की तराई के इलाके मे अच्छी होती है तथा सरसो पूरे उत्तर भारत मे बोई जाती है।

इस फसल का सबसे बड़ा शत्रु एक नन्हा सा हरे रंग का कीड़ा है, जिसे माहू कहते हैं। यह तनो पर चिपका रहता है और सरसो का रस चूस लेता है। इन कीड़ो से फसल को बचाने के लिये निकोटीन सल्फेट को ५०० गुना पानी और तीन गुना साबुन मे घुलाकर पौधो पर छिड़कना चाहिए। सरसो तथा लाही की पैदावार साधारण खेत मे पाँच या छह मन प्रति एकड़ होती है और अच्छे खेतो में १० से १२ मन प्रति एकड़ होती है। सरसो से लगभग एक तिहाई तेल निकलता है, जो अधिकाश खान एव लगाने के काम मे आता है।

[सं० ब० सि०]

भारतीय शिक्षा मंत्रालय भारत मे शिक्षा मत्रालय का वर्तमान स्वरूप भारतीय सविधान के उपबधों के अनुरूप है। इस स्वरूप-निर्माण मे राष्ट्रीय योजना के फलस्वरूप कालातर में हुए शैक्षिक विकास का भी विशेष योगदान है। भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची के अनुसार शिक्षा एव विश्वविद्यालय राज्य सूची से सबद्ध विषय है। किंतु अधोलिखित विषय इसके अपवाद हैं :

१—केंद्रीय विश्वविद्यालय वाराणसी, अलीगढ़ तथा दिल्ली, विधि अनुमोदित राष्ट्रीय महत्व के संस्थान, सघ अधिकरण एवं व्यावसायिक अथवा प्राविधिक शिक्षण अथवा अनुसंधान की प्रगति से सबद्ध संस्थान।

उच्चतर शिक्षा अथवा अनुसधान एवं वैज्ञानिक तथा प्राविधिक संस्थानो का समन्वय एव निर्धारण, श्रमिकों के प्राविधिक शिक्षण का समन्वय।

इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य शैक्षिक कार्यक्रम भी भारत सरकार के अधीन हैं। जो इस प्रकार है :

राष्ट्रीय योजना, अन्य राष्ट्रो के साथ शैक्षिक तथा सांस्कृतिक सबध, संयुक्त राष्ट्रसघ और विशेषत: इसके विशिष्ट अभिकरण संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक एव सास्कृतिक सस्था (यूनेस्को) के कार्यक्रम मे सम्मिलित होना। विचार एवं सूचना, संचय एव प्रचार सबंधी आयोजन; केंद्रशासित प्रदेशों की शिक्षा, हिंदी भाषा का प्रचार, विकास तथा संवृद्धि; राष्ट्रीय सस्कृति एव कला संरक्षण तथा संवर्धन और विशेषत: अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक अभिरुचियों तथा अपेक्षाकृत पिछड़े हुए जनसमूह यथा अनुसूचित एवं परिगणित जातियों के संरक्षण का उत्तरदायित्व। समुचित कार्यक्रमों तथा विशेषत: विश्वविद्यालय स्तर पर छात्रवृत्तियों के द्वारा राष्ट्रीय भावात्मक एकता की संवृद्धि का उत्तरदायित्व।

शिक्षा मत्रालय का कार्यसंचालन मन्त्रिमडलीय स्तर के शिक्षा मत्री तथा उसके सहायक शिक्षा उपमत्रियों द्वारा होता है जो निम्नलिखित विविध कार्यालयों तथा निदेशालयो के माध्यम से अपना कार्य करते हैं :

१—वैज्ञानिक अनुसंधान

२—उच्चतर शिक्षा (विश्वविद्यालय तथा प्राविधिक)

३—स्कूली शिक्षा

४—शारीरिक शिक्षा, मनोरजन, सांस्कृतिक एवं परराष्ट्र संबध।

५—छात्रवृत्तियाँ, भाषा तथा आनुषगिक शैक्षिक गोष्ठियाँ।

सितंबर, १९६१ मे राष्ट्रीय शैक्षिक, अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् का निर्माण एक स्वायत्त संस्था के रूप मे किया गया। यह परिषद् अनुसधान, प्रशिक्षण तथा शिक्षाक्षेत्र के विस्तार के विकास कार्यों और शैक्षिक अनुसंधान की प्रगति, सहायता एव समन्वय में प्रवृत्त है। परिषद् सेवापूर्व तथा सेवाकाल मे प्रशिक्षण एव कार्य-विस्तार का सुप्रबंध करती है एव शिक्षाविषयक आधुनिकतम विधियों एव प्रयोगो की सूचनाओ का प्रसार करती है। यह राष्ट्रीय महत्व के सर्वेक्षणों की व्यवस्था अथवा आयोजन करती है और अन्यविहित भारतीय शैक्षिक समस्याओं के अनुसधान कार्यों पर विशेष बल देती है।

परिषद् के उद्देश्यो की पूर्ति इन सस्थानों या विभागो द्वारा की जाती है :

१. केंद्रीय शिक्षा सस्थान, २ केंद्रीय विज्ञान कर्मशाला; ३. वयस्क शिक्षा विभाग, ४. श्रव्य-दृश्य-शिक्षा विभाग, ५. बुनियादी शिक्षा, ६. पाठ्यक्रम, विधि तथा पाठ्य पुस्तक विभाग, ७. शैक्षिक प्रशासन विभाग, ८. क्षेत्रीय सेवा विभाग, ९. शिक्षा स्थापना विभाग, १०. मनोवैज्ञानिक स्थापना विभाग, ११ विज्ञान शिक्षा विभाग, १२ शिक्षक शिक्षा विभाग, १३. शैक्षिक सर्वेक्षण इकाई, १४. परीक्षा एवं मूल्याकन इकाई।

इन विभागो के अतिरिक्त शिक्षा के चार क्षेत्रीय कालेज, उच्चतर पाठशालाओ के शिक्षकों के शिक्षण के लिये खोले गए हैं।

शिक्षा मंत्रालय द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसधान परिषद् भी इस प्रसग मे उल्लेखनीय हैं : इन स्वायत्त सस्थाओ से विविध राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय प्रयोगशालाएँ संबद्ध है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्रुत गति से शिक्षाप्रसार की बढ़ती हुई माँगो, शिक्षा के स्तर में सुधार तथा तत्सबंधी प्रभविष्णु राष्ट्रीय नीति को कार्यान्वित करने मे सवैधानिक दृष्टि से शिक्षा मत्रालय का कार्य क्षेत्र सीमित है। भारत सरकार को अनेक बार यह सुझाव दिया जा चुका है कि उसे शिक्षा के क्षेत्र मे अधिक कारगर ढग से कार्य करना चाहिए और शिक्षा को सविधान की सातवी अनुसूची में, संवर्ती सूची के अतर्गत रखना चाहिए।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने शिक्षापद्धति मे परिवर्तन का प्रयत्न केवल पचवर्षीय योजना के अतर्गत अनुदान की प्रक्रिया द्वारा

किया है। उदाहरणार्थ सन् १९५२ के माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन का कार्य राज्य सरकारों को केंद्र द्वारा दिए गए अनुदान से संभव हो सका है।

शिक्षा मंत्रालय, केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के माध्यम से भी मुख्य शैक्षिक नीतियों एवं कार्यक्रमों पर विचार विनिमय करता है। इस बोर्ड में राज्यों के शिक्षामंत्री राज्य प्रतिनिधि के रूप में संमिलित होते हैं। इसी प्रकार प्राविधिक शिक्षा में प्राविधिक शिक्षा केंद्रीय बोर्ड' द्वारा समन्वय स्थापित किया जाता है।

सन् १९६४-६५ में राष्ट्रीय प्रगति तथा शिक्षा पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के निमित्त, जो शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया था, उसने सुझाव दिया है कि शिक्षामंत्रालय को संवैधानिक सीमाओं के अंतर्गत अन्य उत्तरदायित्व भी लेना चाहिए। आयोग का यह मत है कि वर्तमान संविधान के अंतर्गत ऐसी पर्याप्त संभावनाएँ हैं, जिनके द्वारा केंद्र तथा राज्य मिलकर कार्य कर सकते हैं किंतु इनका अभीतक पूर्णरूपेण सदुपयोग नहीं किया जा सका है। इस प्रकार शिक्षा आयोग ने यह सिफारिश की है कि संविधान में निहित ऐसे उपबंधों का शिक्षा के विकास तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रसार के लिये यथाशक्ति अधिकाधिक उपयोग किया जाना चाहिए।

[रा० कु० भा०]

भारतीय शैक्षिक प्रशासन किसी भी देश का शैक्षिक प्रशासन बहुधा उसके राष्ट्रीय हितों के अनुरूप सुनिर्देशित प्रयोजनों से संबद्ध होता है। ब्रिटिश शासनकाल में भारत की शैक्षिक नीति एवं प्रशासन विदेशी सत्ता द्वारा संचालित होने के कारण राष्ट्रीय परंपराओं, संस्कृति तथा देशवासियों की आवश्यकताओं के अनुकूल न था।

भारत सरकार का शैक्षिक प्रशासन १९१९ के अधिनियम से पूर्व पूर्णतः केंद्रीकृत था। इस अधिनियम से आंशिक प्रादेशिक स्वायत्तता प्रदान की गई और तदुपरांत शिक्षा प्रादेशिक मंत्रालयों के अधीन एक अंतरित विषय बन गई। समुचित समन्वय के अभाव में वित्तीय कठिनाइयों के साथ ही इससे प्रादेशिकता की भावना जाग्रत हुई। महत्वपूर्ण विषयों पर सलाह देने के लिये एक केंद्रीय शिक्षा सलाहकार मंडल की स्थापना १९२१ में की गई, पर दो वर्ष उपरांत इसे भंग कर दिया गया। किंतु १९३५ में इसकी पुन. स्थापना हुई। भारतीय शैक्षिक सेवा में भर्ती १८९६ में प्रारंभ की गई थी किंतु १९२४ में इसे स्थगित कर दिया गया। भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम ने राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्रदान की और इसके फलस्वरूप भारतीय शिक्षामंत्री अधिक अधिकारसंपन्न हो गए। १९४५ से भारत सरकार में शिक्षा के लिये पृथक् विभाग की स्थापना की गई और १९४७ में स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत स्वर्गीय मौलाना अबुल कलाम आजाद के मंत्रित्व में केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय की स्थापना हुई। भारतीय संविधान के निर्माण के समय सन् १९४४ से शिक्षा तथा विश्वविद्यालय राज्य सूची के अंतर्गत रखे गए। केंद्र की गतिविधियों को केंद्रीय विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय महत्व की वैज्ञानिक एवं प्राविधिक शिक्षण संस्थाओं अथवा केंद्र द्वारा स्थापित संस्थाओं के परस्पर समन्वय तथा उच्च शिक्षा अथवा अनुसंधान एवं वैज्ञानिक और प्राविधिक संस्थाओं के मानकों के संकल्प तक सीमित कर दिया गया। व्यावसायिक तथा श्रमिकों का प्राविधिक शिक्षण केंद्र तथा राज्यों की समवर्ती सूची में रखा गया।

यह अनुभव किया जाता है कि इस नवीन प्रजातंत्र में शैक्षिक प्रशासन का मुख्य कार्य शिक्षा को मानवीय रूप देना एवं जनता को प्रजातांत्रिक विधियों एवं स्थितियों में प्रशिक्षित करना है। नए शिक्षकों तथा निरीक्षण अधिकारियों को ऐसी विशिष्ट दृष्टि से संपन्न करना है, जिससे कि वे सत्ता की धाक जमाए बिना ही शिक्षार्थियों को प्रेरित कर सकें। स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत देश की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल शैक्षिक प्रशासन के सुधार की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जा सका।

वर्तमान काल में राज्यों में शिक्षा की व्यवस्था राज्य के शिक्षा निदेशक की अध्यक्षता में की जाती है, जिसके अधीन अनेक उपनिदेशक एवं सहायक होते हैं। राज्य अनेक मंडलों अथवा अंचलों में विभक्त होता है। प्रत्येक मंडल के अंतर्गत अनेक जिले होते हैं। प्रत्येक मंडल एक निरीक्षक के अधीन तथा हर जिला स्कूल निरीक्षक के अधीन होता है।

इससे निम्न स्तर पर नागरिक तथा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रायः प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था स्थानीय निकायों द्वारा की जाती है। पंचायती राज्य के प्रादुर्भाव तथा प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण के कारण इन निकायों का विशेष महत्व है।

विविध स्तरों पर शिक्षण संस्थाओं के नियंत्रण तथा प्रशासन में प्रवृत्त स्वैच्छिक अभिकरण भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। सरकारी प्रशासन इन अभिकरणों को मान्यता प्रदान कर अथवा वित्तीय सहायता देकर इनपर नियंत्रण रखता है।

केंद्रीय शिक्षामंत्री राज्यों के शैक्षिक प्रशासन पर परोक्ष रूप से नियंत्रण रखता है। वह समन्वय स्थापना तथा स्तरों में सुधार के अतिरिक्त अन्य विषयों से संबंधित निदेश नहीं देता। किंतु केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड तथा भारतीय प्राविधिक शिक्षा परिषद् तथा अन्य समानांतर निकायों के अध्यक्ष के नाते वह इन निकायों के राज्य-प्रतिनिधि शिक्षा मंत्रियों को राष्ट्रीय शिक्षानीति में एकरूपता की स्थापना के लिये अवश्य प्रभावित करता है।

हाल में ही सरकार ने राज्यों से परामर्श कर अखिल भारतीय शिक्षा सेवा की स्थापना के लिये महत्वपूर्ण पग उठाया है। इसके फलस्वरूप केंद्र तथा अन्य स्वायत्त संस्थाओं के क्षेत्र में प्रशासकीय अधिकार तत्संबंधी उच्चतम निकाय में निहित रहते हैं। विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की नियुक्ति अब कार्यकारी शक्ति के आदेश पर नहीं की जाती वरन् सरकार तथा विश्वविद्यालय का स्वीकार्य प्रक्रिया के अनुसार की जाती है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इन संस्थाओं की वित्तव्यवस्था के लिये उत्तरदायी है और इनपर परोक्ष रीति से प्रशासकीय नियंत्रण रखता है।

अब तक केंद्र तथा राज्यों में शिक्षानीति को कार्यान्वित करने में सहज सहयोग रहा है। कतिपय राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के निर्माण तथा केंद्र में कांग्रेस दल की सत्ता के कारण यह सहज सहयोग भविष्य में भी पूर्ववत् बना रहेगा, यह चिंतन का विषय है। शिक्षा को संविधान में समवर्ती सूची का विषय बनाने की माँग शिक्षा आयोग ने अस्वीकार कर दी है। किंतु राज्यों में शिक्षा के प्रसार एवं सुधार संबंधी बढ़ती हुई आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शैक्षिक प्रशासन में केंद्र तथा राज्यों का परस्पर सहयोग अवश्यंभावी है।

[रा० कु० भा०]

भारामल, राजा पृथ्वीराज कछवाहा के पुत्र। इतिहासकार 'टॉड' ने बिहारीमल नाम दिया है। ये अजमेर के पास आमेर के शासक थे। अकबर की अधीनता स्वीकार करनेवाले राजपूत राजाओं में ये सर्वप्रथम थे। इन्होंने हाजी खाँ विद्रोही के विरुद्ध मजनूँ खाँ की सहायता की थी, इसलिये मजनूँ खाँ ने मुगल सम्राट् अकबर से इन्हे दरबार मे बुलवाने की प्रार्थना की। पहली भेंट मे ही इनका बादशाह पर अच्छा प्रभाव पड़ा और इन्हें अकबर की सेवा का अवसर मिला। बाद मे इनका भाई रूपसी भी मुगल सम्राट् की सेवा मे उपस्थित हुआ। इन्होंने अपनी पुत्री का विवाह सम्राट् अकबर से कर दिया। इनके पुत्र भगवान्दास और पौत्र कुँवर मानसिंह भी बाद में अकबर के दरबार मे पहुँच गए। सन् १५६९ के लगभग भारामल की मृत्यु हुई।

भालू या रीछ (Bear) अर्सिडी (Ursidae) कुल का मांसाहारी, स्तनी, झबरे बालोंवाला बडा जानवर है। यह अधिकतर उपोष्ण कटिबंध से लेकर ध्रुवीय जलवायु के देश, उत्तरी अमरीका तथा एशिया, यूरोप आदि के बड़े भूभाग मे पाया जाता है। बालों की लंबाई तथा खाल की ढिलाई के कारण कुछ भालू अपेक्षाकृत अधिक बड़े लगते हैं। इनमे से कुछ भालू १० फुट से अधिक लंबे तथा १,७०० पाउंड तक भारवाले होते हैं। इनके पैर छोटे तथा मजबूत होते हैं। पंजे लंबे तथा भारी भरकम होते हैं, जिनमे पाँच बड़े बड़े नाखून होते है। ये अपने नाखूनों का उपयोग नोचने, जमीन खोदने और पहाड़ियो तथा पेडो पर चढने के लिये करते हैं। जमीन पर भालू कुत्तो तथा बिल्लियो की तरह पदांगुलियों पर नही चलता। अत कुत्ते तथा बिल्ली की भाँति यह सुगमता से नहीं चल सकता। फिर भी यह चिकनी तथा खुरदरी दोनो प्रकार की जमीन पर तेजी से दौड़ सकता है। कुछ प्रकार के भालू तो पेडों पर भी तेजी तथा कुशलता मे चढ सकते हैं। सर्दियों मे ये अधिकतर सुप्तावस्था मे रहते हैं।

मांसाहारी होते हुए भी ये कई प्रकार का भोजन कर सकते हैं, क्योंकि इनके दाँतो की विशेष बनावट से इनको चबाने तथा पीसने मे कोई कष्ट नही होता। वैसे इनका मुख्य भोजन मछलियाँ, कीटडिंभ, फल, चिड़ियो के अडे, मेमने, सूअरों के बच्चे, बेर, काष्ठफल, पौधों की जड़ें तथा पत्तियाँ हैं। इनको शहद बहुत ही अधिक पसंद है। मक्खियाँ बड़े बड़े बालो के कारण इन्हें काट नहीं पाती हैं। अपनी छोटी छोटी आँखो से ये देख कम पाते हैं, किंतु इनकी सुनने एवं सूँघने की शक्ति तेज होती है। सर्दियों के अंत मे मादा भालू एक या दो बच्चे देती है।

उपजातियाँ — रंग, वजन, बाल आदि के आधार पर इन्हे कई उपजातियो में बाँटा गया है :

१. काला भालू (Ursus americanus) — यह सबसे प्रमुख भालू है तथा सीधा सादा होता है। जीवशालाओं मे इसे देखा जा सकता है। सिखाने पर यह कई प्रकार के खेल कर सकता है, जिनसे लोगों का मनोरंजन होता है। यह उत्तरी अमरीका के अन्य सभी भालुओ में से छोटा होता है। इसका औसत भार २०० से ३५० पाउंड तक होता है। अधिकांश भालू काले होते हैं, किंतु इस जाति के कुछ भालुओं की नाक के ऊपर तथा कुछ की छाती पर सफेद दाग होता है। कुछ भालुओं के बाल भूरे भी होते हैं। अपने वजन एवं आकार के कारण आवश्यकता पड़ने पर, ये तेजी से दौड़ तथा पेड़ों पर चढ़ सकते हैं। इनमें से कुछ भालू खतरनाक भी होते हैं, यद्यपि देखने मे शरमीले मालूम पड़ते हैं। ये चिढ़ाने या घायल होने पर ही मनुष्यों पर हमला करते हैं। काले भालू सर्दियों का अधिकांश समय जमीन मे खोदे गए गड्ढों, गुफाओं या खोखले पेडों में सोकर ही बिताते हैं। सर्दियों के मध्य मे मादा बच्चे देती है। ये बच्चे सात से नौ इंच लंबे तथा लगभग आधा पाउंड भारवाले होते हैं। बच्चों के शरीर पर बाल कम होते हैं तथा आँखें एक मास तक बद रहती हैं। लगभग दो मास के बाद ही ये अपनी माँद से बाहर निकलते हैं। काले भालू की आयु १५ से २५ वर्ष तक होती है।

२. श्वेत भालू (Ursus horribilis) — यह उत्तरी अमरीका के सभी जंगली जानवरों से अधिक खतरनाक होता है। इसका भार १,००० पाउंड तक पाया जाता है। ये भूरे-पीले-धूमवर्ण के भी होते हैं। इनके पंजे बड़े होते हैं, किंतु नाखून पैने न होने के कारण ये पेडों पर कम चढ पाते हैं। ये मेक्सिको से उत्तरी अलैस्का तक तथा अन्य भागों मे भी पाए जाते हैं। ये हरिण, भैंसा, घोड़ा तथा अन्य पशुओं पर भी आक्रमण कर देते हैं। अब इनकी संख्या शिकार के कारण काफी कम हो गई है और ये केवल घने जंगलो मे ही मिलते हैं। यह सर्दियों में सुप्तावस्था में न रहकर, सभी मौसमों मे दिन रात अपने शिकार की खोज मे घूमा करते हैं।

३. ध्रुवीय भालू (Thalarctos maritimus) — ये अमरीका तथा एशिया के आर्कटिक भागों मे पाए जाते हैं। सील, वॉलरस, मछलियाँ तथा अन्य मरे जानवर इनका मुख्य आहार हैं। ये कुशल तैराक भी होते हैं। ये भालू केवल ध्रुवो तक ही सीमित रहते हैं।

४. भूरे रग के भालू (Ursus arctos) — ये यूरोप तथा एशिया मे मिलते हैं। इन्हें बाँधकर पालतू भी बनाया जा सकता है। इन्हीं भालुओं से इंग्लैंड मे सैकडों वर्षों तक एक प्रकार का खेल (युद्ध) कराया जाता रहा है, जिसमे कई कुत्तों को एक ही बार में भालू के ऊपर छोडा जाता है। भारत मे इस जाति के भालू हिमालय में पाए जाते हैं। इसकी लंबाई सात फुट होती है।

५. स्लोथ या भालुक (Melursus labiatus) - यह भारत तथा श्रीलंका मे अधिक पाया जाता है। इसके बाल काले तथा लंबे होते हैं। पजा भी लंबा होता है। यह शहद तथा छोटे छोटे कीडो मकोडो को खाता है। यह भालू मलाया, बोर्नियो तथा सुमात्रा में भी पाया जाता है।

भूरे भालू तथा भालुक के अतिरिक्त भारत मे माम या बालूची (Urustorquatus) हिमालय मे, मलाया भालू (Ursus) गारो पहाड मे तथा पंडा (Aelurus fulgens) दक्षिण-पूर्वी हिमालय में मिलते हैं।

भालू का गोश्त कड़ा, तीव्र गंधयुक्त होते हुए भी खाने में स्वादिष्ठ होता है। काले भालू का गोश्त खाने से कभी कभी ट्रिचिनोसिस (Trichinosis) नामक बीमारी हो जाती है। सर्दियो में इसके बाल घने होते हैं, अत: इस समय मे मारे गए भालू की खाल कीमती होती है। खाल से कंबल, कोट, टोप आदि बनाए जाते हैं।

[र० चं० दु०]

भावनगर १. जिला, स्थिति : २०° २२' उ० अ० से २२° १८' उ० अ० तथा ७१° १५' से ७२° १८' पू० दे०। यह भारत के गुजरात राज्य का एक जिला है। इसके पूर्व एवं दक्षिण में अरब सागर, पश्चिम में अमरेली, उत्तर-पश्चिम में राजकोट एवं उत्तर में अहमदाबाद तथा सुरेंद्रनगर जिले हैं। इसका क्षेत्रफल ४,६५२ वर्ग मील तथा जनसंख्या ११,१६,४३५ (१९६१) है। मिट्टी की दृष्टि से यहाँ पर कहीं कहीं नमक की परत फैली है तथा कुछ स्थानों पर उत्तम काली मिट्टी मिलती है। कुछ पहाड़ियों की शृंखलाएँ भी यहाँ तक फैली हैं। पश्चिमी सीमा पर गिरि श्रेणी १,००० फुट तक ऊँची है। सभी चोटियाँ ज्वालामुखी पर्वत की हैं। यहाँ की प्रमुख नदियाँ शतरुंजी, बगद तथा मालन हैं। भावनगर के पास ही गड्ढेची नदी के बाँध से निर्मित कृत्रिम पाँच मील घेरेवाली एक झील भी है। सागर-तट पर जलवायु उत्तम है पर आंतरिक भाग में जलवायु शुष्क एवं गरम हो जाती है। वार्षिक वर्षा का औसत २५ इंच तक रहता है। लगभग आधे भाग में काली मिट्टी फैली होने के कारण कृषि अच्छी होती है। कपास की कृषि सर्वप्रमुख है। इसके अतिरिक्त अनाज तथा बगीचों से फल भी उत्पन्न किए जाते हैं। नमक, तेल, गरी, पीतल के बरतन, कपड़ा आदि से संबंधित उद्योग हैं। अच्छी कपास से उत्तम कपड़ा बनता है।

२ नगर, स्थिति २१° ४५' उ० अ० तथा ७२° १२' पू० दे०। भावनगर जिले में, समुद्र के किनारे स्थित नगर है। इसका नाम भाऊसिंह जी के नाम पर पड़ा है, जो इसकी स्थापना करनेवाले थे। यहाँ पर बहुत ही उत्तम तथा सुरक्षित बंदरगाह है। सूत की कताई तथा सूती कपड़े की बुनाई की जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ कपड़ा, मिस्री, लोहे एवं पीतल के बक्स, पगड़ी आदि बनते हैं। छह लाख रुपए से निर्मित गौरीशंकर झील या गंगा का तालाब है जो नगर के पानी की समस्या को हल करता है। यहाँ कई मंदिर, मस्जिद आदि हैं। यहाँ की जनसंख्या १,७६,४७३ (१९६१) है।

भाषाविज्ञान प्राचीन एवं मध्यकाल—भारत की तुलना में यूरोप में भाषाविषयक अध्ययन बहुत देर से प्रारंभ हुआ और उसमें वह पूर्णता और गंभीरता न थी जो हमारे शिक्षाग्रंथों, प्रातिशाख्यों और पाणिनीय व्याकरण में थी। पश्चिमी दुनिया के लिये भाषाविषयक प्राचीनतम उल्लेख ओल्ड टेस्टामेंट में बुक आँव जेनिसिस (Book of Genesis) के दूसरे अध्याय में पशुओं के नामकरण के संबंध में मिलता है।

यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०) ने मिस्र के राजा समेतिकॉस (Psammetichos) द्वारा संसार की भाषा ज्ञात करने के लिये दो नवजात शिशुओं पर प्रयोग करने का उल्लेख किया है। यूनान में प्राचीनतम भाषावैज्ञानिक विवेचन प्लेटो (४२५–३४८।४७ ई० पू०) के संवाद में मिलता है और यह मुख्यतया ऊहापोहात्मक है। अरस्तू (३८४-३२२।२१ ई० पू०) पाश्चात्य भाषाविज्ञान के पिता कहे जाते हैं। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति और प्रकृति के संबंध में अपने गुरु प्लेटो से कुछ विरोधी विचार व्यक्त किए। उनके अनुसार भाषा समझौते (thesis) और परंपरा (synthesis) का परिणाम है। अर्थात् उन्होंने भाषा को यादृच्छिक कहा है। अरस्तू का यह मत आज भी सर्वमान्य है। गाय को 'गाय' इसलिये नहीं कहा जाता है कि इस शब्द से इस विशेष चौपाए जानवर का बोध होना अनिवार्य है, किंतु इसलिये कहा जाता है कि कभी उक्त पशु का बोध कराने के लिये इस शब्द का यादृच्छिक प्रयोग कर लिया गया था, जिसे मान्यता मिल गई और जो परंपरा से चला आ रहा है उन्होंने 'संज्ञा', 'क्रिया', 'निपात' ये शब्दभेद किए।

यूनान में भाषा का अध्ययन केवल दार्शनिकों तक ही सीमित रहा। यूनानियों की दूसरी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषाओं में कोई रुचि नहीं दिखाई। यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि सिकंदर की सेनाओं ने यूनान से लेकर भारत की उत्तरी सीमा तक के विस्तृत प्रदेश को पदाक्रांत किया, किंतु उनके विवरणों में उन प्रदेशों की बोलियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। यूनान में कुछ भाषाविषयक कार्य भी हुए—अरिस्तार्कस (Aristarchus) ने होमर की कविता की भाषा का विश्लेषण किया। अपोलोनिअस डिस्कोलस (Appollonios Dyskolos) ने ग्रीक वाक्यप्रक्रिया पर प्रकाश डाला। डिओनिसिओस थ्रैक्स (Dionysios Thrax) ने एक प्रभावशाली व्याकरण लिखा। कुछ शब्दकोश ऐसे भी मिलते हैं जिनमें ग्रीक और लैटिन के अतिरिक्त एशिया माइनर में बोली जानेवाली भाषाओं के अनेक शब्दों का समावेश किया गया है। संक्षेप में यूनानियों ने भाषा को तत्वमीमांसा की दृष्टि से परखा। उनके द्वारा प्रस्तुत भाषाविश्लेषण को दार्शनिक व्याकरण की संज्ञा दी गई है।

रोमवालों ने यूनानियों के अनुकरण पर व्याकरण और कोश बनाए। वारो (११६-२७ ई० पू०) ने २६ खंडों में लैटिन व्याकरण रचा। प्रिस्किअन (५१२–६०) का २० खंडोंवाला लैटिन व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है।

मध्ययुग में ईसाई मिशनरियों को औरों की भाषाएँ सीखनी पड़ीं। जनता को जनता की भाषा में उपदेश देना प्रचार के लिये अनिवार्य था। फलस्वरूप परभाषा सीखने की व्यावहारिक पद्धतियाँ निकलीं। मिशनरियों ने अनेक भाषाओं के व्याकरण तथा कोश बनाए। पर ग्रीक लैटिन व्याकरण के ढाँचों में रचे जाने के कारण ये अपूर्ण तथा अनुपयुक्त थे। उसी युग में वणिकों और उपनिवेशों में शासकीय वर्ग के लोगों ने स्थानीय भाषाओं का विश्लेषण शुरू किया। साथ ही व्यापार विस्तार के कारण अनेकानेक भाषाओं से यूरोपीयों का परिचय बढ़ा। १७वीं शताब्दी में (१६४७ में) फ्रैंसिस लोडविक (Francis Lodwick) तथा रेवरेंड केव डेक (Rev. Cave Deck) जैसे विद्वानों ने 'ए कॉमन राइटिंग' तथा 'युनिवर्सल कैरेक्टर' जैसे ग्रंथ लिखे थे, जिनसे उनके स्वनविज्ञान के ज्ञान का परिचय मिलता है। लोडविक ने एक आशुलिपि का आविष्कार किया था, जो अंग्रेजी और डच दोनों के लिये १६५० ई० के लगभग व्यवहृत की गई थी। मध्यकाल में सभी ज्ञात भाषाओं के सर्वेक्षण का प्रयत्न हुआ। अतएव अनेक बहुभाषी कोश तथा बहुभाषी संग्रह निकले। १८वीं शताब्दी में पल्लास (P. S. Pallas) की विश्वभाषाओं की तुलनात्मक शब्दावली में २८५ शब्द ऐसे हैं जो २७२ भाषाओं में मिलते हैं। एडेलुंग (Adelung) की माइथ्रेडेटीज (Mithridates) में ५०० भाषाओं में 'ईश प्रार्थना' है।

इस प्रकार १८वीं शती के पूर्व भाषाविषयक प्रचुर सामग्री एकत्र हो चुकी थी। किंतु विश्लेषण तथा प्रस्तुतीकरण की पद्धतियाँ वही पुरानी थीं। इनमे सर्वप्रथम जर्मन विद्वान् लाइबनित्स (Leibnitz) ने परिष्कार किया। इन्होंने ही संभवतः सर्वप्रथम यह बताया कि 'यूरेशियाई' भाषाओं का एक ही प्रागैतिहासिक उत्स है। इस प्रकार १८वीं शती में तुलनात्मक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की भूमिका बनी, जो १६वीं शती में जाकर विकसित हुई।

संक्षेप में, १६वीं शताब्दी से पूर्व यूरोपीय भाषाओं का जो अध्ययन किया गया, वह भाषावैज्ञानिक की अपेक्षा तार्किक अधिक, रूपात्मक (Formal) की अपेक्षा संकल्पनात्मक अधिक और वर्णनात्मक की अपेक्षा विध्यात्मक (Prescriptive) अधिक था।

१६वीं शती (ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान) — उन्नीसवीं शती ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान का युग था। इसके प्रारंभ का श्रेय संस्कृत भाषा से पाश्चात्यों के परिचय को है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान का सूत्रपात एक प्रकार से उस समय हुआ जब २ फरवरी, १७८६ को सर विलियम जोंस ने कलकत्ते में यह घोषणा की कि संस्कृत भाषा की संरचना अद्भुत है, वह ग्रीक से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध और दोनों से ही अधिक परिष्कृत है। फिर भी इसका दोनों से घनिष्ठ संबंध है। उन्होंने देखा कि संस्कृत की एक ओर ग्रीक और लैटिन तथा दूसरी ओर गॉथिक, केल्टी से इतनी अधिक समानता है कि निश्चय ही इन सब का एक ही स्रोत रहा होगा। यह पारिवारिक धारणा इस नए विज्ञान के मूल मे है।

इस दिशा मे पहला सुव्यवस्थित कार्य डेनमार्क वासी रास्क (१७८७-१८३२) का है। रास्क ने भाषाओं की समग्र संरचना की तुलना पर अधिक बल दिया और केवल शब्दावली साम्य को अत्यधिक विश्वसनीय नही माना, क्योंकि शब्दावली साम्य आगत शब्दों के कारण भी हो सकता है। इन्होंने स्वनों के साम्य को भी पारिवारिक संबंध निर्धारण का महत्वपूर्ण अंग माना। इस धारणा को सुव्यवस्थित पुष्टि दी याकोब ग्रिम (१७८५-१८६३) ने, जिनके स्वन नियम भाषा विज्ञान मे प्रसिद्ध हैं। इन स्वन नियमों मे भारत-यूरोपीय से प्राग्जर्मनीय मे, तदनंतर उच्चजर्मनीय मे होनेवाले व्यवस्थित व्यंजन स्वन परिवर्तनों की व्याख्या है। इसी बीच संस्कृत के अधिकाधिक परिचय से पारिवारिक तुलना का क्रम अधिकाधिक गहरा होता गया। बॉप (१७६१-१८६७) ने संस्कृत, अवेस्ता ग्रीक, लैटिन, लिथुएनी, गॉथिक, जर्मन, प्राचीन स्लाव, केल्टी और अल्बानी भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित किया। रास्क और ग्रिम ने स्वन परिवर्तनों पर प्रकाश डाला, बॉप ने मुख्यतः रूपप्रक्रिया का आधार ग्रहण किया।

रास्क, ग्रिम और बॉप के पश्चात् मैक्समूलर (१८२३-१६००) और श्लाइखर (१८२३-६८) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैक्समूलर की महत्वपूर्ण कृति 'लेक्चर्स इन दि सायंस ऑव लैंग्वेज' (१८६१) है। श्लाइखर ने भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का एक सुव्यवस्थित सर्वांगीण तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया। श्लाइखर ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान के सैद्धांतिक पक्ष पर भी विशेष कार्य किया। इनके अनुसार यदि दो भाषाओं मे समान परिवर्तन पाए जाते हैं, तो ये दोनों भाषाएँ किसी काल मे एक साथ रही होंगी। इस प्रकार उन्होंने तुलनात्मक आधार पर आदिभाषा (Ursprache) की पुनर्रचना (Reconstruction) के लिये मार्ग प्रशस्त किया। पुनर्रचना के अतिरिक्त भाषाविज्ञान को इनकी एक और मुख्य देन भाषाओं का रूपसूचक वर्गीकरण है। इन दिनो भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आनेवाले अमेरिकी विद्वानों मे ह्विटनी (१८२७-१८६४) अग्रणी हैं। इन्होंने भाषा के विकास और भाषा के अध्ययन पर पुस्तकें लिखी। १८७६ मे प्रकाशित इनका संस्कृत व्याकरण अपने क्षेत्र का अद्वितीय ग्रंथ है। श्लाइखर के तुरत बाद फिक (१८३३-१६१६) ने १८६८ में सर्वप्रथम भारत-यूरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक शब्दकोश प्रकाशित किया, जिसमे आदि भाषा के पुनर्रचित रूप भी दिए गए थे।

कुछ समय बाद विद्वानों का ध्यान ग्रिम नियम की कुछ असंगतियों पर गया। डेनमार्क वासी वार्नर ने १८७५ में एक ऐसी असंगति को नियमबद्ध अपवाद के रूप मे स्थापित किया। यह असंगति थी भारत-यूरोपीय प्, त्, क् का जर्मनीय में सघोष बन जाना। वार्नर ने ग्रीक और संस्कृत की तुलना से इसका अपवाद ढूंढ निकाला जो वार्नर नियम के नाम से प्रचलित है। ऐसे अपवादों की स्थापना से विद्वानों के एक संप्रदाय को उनके अपने विश्वासो मे पुष्टि मिली। ये नव्य वैयाकरण (Jung grammatiker) कहलाते हैं। इनके मत से स्वन नियमों का कोई अपवाद नही होता। स्वन परिवर्तन आकस्मिक और अव्यवस्थित नही हैं, प्रत्युत नियत और सुव्यवस्थित हैं। असंगति इस कारण मिलती है कि हम उनकी प्रक्रिया को पूरी तरह समझ नही पाए हैं, क्योंकि भाषा के नमूनों की कमी है। कुछ असंगतियों के मूल में सादृश्य है, जिसकी पूर्वाचार्यों ने उपेक्षा की थी। इस प्रकार ये नव्य वैयाकरण बड़े व्यवस्थावादी थे।

ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर २०वी सदी मे भी कार्य हुआ है। भारत यूरोपीय परिवार पर ब्रुगमैन और डेलब्रुक एवं हर्मन हर्ट (Hermann Hirt) के तुलनात्मक व्याकरण महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। मेइए (Meillet) का भारत-यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका नामक ग्रंथ सनातन महत्व का कहा जा सकता है। हिटाइट नामक प्राचीन भाषा का पता लगने के बाद भारत-यूरोपीय भाषा विज्ञान पर नए सिरे से कार्य प्रारंभ हुआ। भारत यूरोपीयेतर परिवारों पर ऐतिहासिक तुलनात्मक कार्य हो रहा है। ग्रीनबर्ग का अफ्रीकी भाषाओं का वर्गीकरण अनुकरणीय है। इसकी अधुनातन शाखा भाषा कालक्रम विज्ञान (Glotto chronology या Lexico statistics) है, जिसके अंतर्गत तुलनात्मक पद्धति से उस समय के निरूपण का प्रयास किया जाता है जब किसी भाषापरिवार के दो सदस्य पृथक् पृथक् हुए थे। अमरीकी मानव विज्ञानी मॉरिस स्वेडिश इस प्रक्रिया के जन्मदाता हैं। यह पद्धति रेडियो रसायन द्वारा ली गई है।

बीसवी शती — (वर्णनात्मक भाषाविज्ञान) बीसवी शती का भाषाविज्ञान मुख्यतः वर्णनात्मक अथवा संरचनात्मक भाषाविज्ञान कहा जा सकता है। इसे आधुनिक रूप देनेवालों मे प्रमुख बोदें (Baud-

ouin de courtenay), हेनरी स्वीट और सोसुर (Saussure) हैं। स्विस भाषावैज्ञानिक सोसुर (१८५७-१९१३) द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों से भी पूर्व हंबोल्ट (Humboldt) ने प्रतिपादित किया था कि भाषाविशेष का अध्ययन किसी अन्य भाषा से तुलना किए बिना उसी भाषा के आंतरिक अवयवों के आधार पर होना चाहिए। सोसुर ने सर्वप्रथम भाषा की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए संकेतित (Signified) और संकेतक (Signifier) के संबंध को वस्तु न मानकर 'प्रकार्य' (function) माना और उसे भाषाई चिह्न (Linguistic Sign) से अभिहित किया। चिह्न यादृच्छिक है अर्थात् 'संकेतित' का 'संकेतक' से कोई तर्कसंगत संबंध नहीं है। वृक्ष के लिये 'पेड़' कहने में कोई तर्क नहीं है; 'प', 'ए', 'ड़' स्वनों में कुछ ऐसा नहीं है कि वह वृक्ष का ही संकेतक हो, यह केवल परंपरा के कारण है। इसके अतिरिक्त 'चिह्न' का 'मूल्य' भाषा में प्रयुक्त पूरी शब्दावली (अन्य सभी 'चिह्नों') के परिप्रेक्ष्य में होता है, अर्थात् उनके 'विरोध' (Opposition) से होता है। भाषा का इन्हीं विरोधों की प्रकार्यता पर निर्भर रहना वर्णनात्मक भाषा विज्ञान का आधारस्तंभ है। 'इम' (स्वनिम, रूपिम, अर्थिम आदि) की सत्ता विरोध के सिद्धांत पर ही आश्रित है।

सोसुर ने भाषा के दो प्रयोगों 'पैरोल' (वाक्) और 'लांग' (भाषा) में भी भेद किया। प्रथम भाषा का जीवित रूप है, हमारा भाषणउच्चार यह सब 'पैरोल' है। किंतु द्वितीय भावानयन (Abstraction) की प्रक्रिया से उद्भूत एक अमूर्त भावना हैं। आपकी हिंदी, हमारी हिंदी, सभी की हिंदी व्यक्तिगत स्तर पर उच्चारण, शब्दप्रयोगादि भेद से भिन्न है; फिर भी 'हिंदी भाषा' जैसी अमूर्त धारणा 'लांग' है, जो भावानयन प्रक्रिया का परिणाम है और जो इन अनेक वैयक्तिक भेदों से परे और सामान्यीकृत हैं। यह सामाजिक घटना है, सामाजिक संस्था में ही इसकी सत्ता है। यह साकालिक (Synchronic) है।

सोसुर का महत्व संरचनात्मक भाषाविज्ञान में क्रांतिकारी माना जा सकता है। परकालीन यूरोप के अनेक स्कूल कोपेनहेगेन, प्राहा (प्राग) लंदन तथा अमेरिका के भाषावैज्ञानिक संप्रदाय इनके कुछ मूल सिद्धांतों को लेकर विकसित हुए हैं।

प्राहा स्कूल — यूरोप में सोसुर की प्रेरणा से विकसित एक संप्रदाय 'प्राह् स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक रूसी विद्वान् त्रबेजकोय (Trubetzkoy, १८९०-१९३८), थे। इस समय इसके मुख्य प्रचारक रोमन यांकोब्सन हैं। इस स्कूल की सिद्धांत प्रदर्शिका पुस्तक त्रबेजकोय लिखित (Grundzüge der Phonologie), १९३९ स्वनप्रक्रिया के सिद्धांत है। इस स्कूल में स्वनप्रक्रिया (Phonology) पर विशेष बल दिया जाता है। इनके यहाँ यह शब्द एक विशेष विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता हैं। इसके अंतर्गत भाषण स्वनों के 'प्रकार्य' का सर्वांगीण अध्ययन आ जाता है, और इसी कारण ये लोग 'प्रकार्यवादी' (Functionalists) कहलाते हैं। इस संप्रदाय की महत्ता भाषासंरचना की निर्धारक पद्धति में है जिसमें विचार किया जाता है कि स्वन इकाइयाँ विशिष्ट भाषा संबंधी व्यवस्थाओं में किस प्रकार संघटित होती हैं। यह पद्धति 'विरोध' पर आश्रित है। स्वनात्मक अंतर जब अर्थात्मक अंतर को भी प्रकट करते हैं, विरोधात्मक अर्थात् स्वनिमात्मक (Phonematic) माने जाते हैं। उदाहरण के लिये हिंदी 'काल' और 'गाल' शब्दों को लें। इनमें स्वनात्मक अंतर के साथ साथ अर्थात्मक अंतर भी है। यह स्वनात्मक अंतर स्वनिमात्मक है। परिणामस्वरूप 'क्' और 'ग्' दो पृथक् पृथक् स्वनिम हैं। यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि 'क' और 'ग' स्वत: स्वनिम नहीं हैं, ये स्वनिम केवल इस कारण हैं कि अर्थ के अनुसार ये विरोधात्मक हैं। स्वन स्वत: स्वनिम को निर्धारित नहीं करते. स्वनिमत्व की निर्धारक है इन स्वनों की विरोधात्मक प्रकार्यता। इस प्रकार, स्वनिम 'क, ग' [क, ग] स्वनों के समान वास्तविक नहीं है। ये केवल अमूर्त भाव या विरोधात्मक प्रकार्यों के योग हैं।

यह विरोध इस संप्रदाय में बड़े विस्तार के साथ वर्णित हुआ है। इसके अनेक प्रतिरूप युग्म, जैसे द्विपार्श्विक, बहुपार्श्विक, आनुपातिक, विलगित आदि परिभाषित किए गए हैं। निर्वैषम्यीकरण (Neutralization), आर्कीस्वनिम (Archiphoneme), सहसंबंध (Correlation) आदि टेकनिकल शब्द इसी स्कूल के हैं। फ्रांस के आंद्रे मार्तिन (Andres Martinet) ने इस विरोध की महत्ता का ऐतिहासिक स्वनविकास में भी प्रयोग किया और कालक्रमिक स्वनप्रक्रिया की नींव डाली। कालक्रम से उत्पन्न अनेक स्वनपरिवर्तन भाषा की स्वनसंघटना में भी अंतर उपस्थित करते हैं। ये प्रकार्यात्मक परिवर्तन कहलाते हैं। ये प्रकार्यात्मक परिवर्तन भी व्यवस्था से आते हैं और सामंजस्य (harmony) अथवा लाघव (economy) की दिशा में होते हैं। इस प्रकार प्राहा स्कूल ऐतिहासिक विकासों की भी तर्कसंगत व्याख्या में सफल हुआ है।

कोपेनहेगेन स्कूल — इन्हीं दिनों यूरोप में एक अन्य संप्रदाय चल निकला। यह 'कोपेनहेगेन स्कूल', 'डेनिश स्कूल' अथवा 'ग्लासेमेटिक्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इस के प्रवर्तक ह्यालम्स्लेव (Hajelmslev) (सन् १८९९) हैं और इनकी सिद्धांत-दर्शिका है Omkring Sprogteoriens Grundloeggelse, १९४३ अंग्रेजी अनुवाद ह्विटफील्ड द्वारा : Prolegomena to a Theory of Language, १९५३)। यह संप्रदाय अधिकतर सिद्धांतों के विवेचन में सीमित रहा। पर अभी इन सिद्धांतों का भाषाविशेषों पर प्रयोग अत्यल्प मात्रा में हुआ है। इस संप्रदाय की महत्ता इस में है कि यह शुद्ध रूपवादी है। भाषा को यह भी सोसुर की भाँति मूल्यों की व्यवस्था मानता है, किंतु भाषाविश्लेषण में यह भाषेतर तत्वों का तथा भाषाविज्ञानेतर विज्ञानों का, जैसे, भौतिकी शरीरप्रक्रियाविज्ञान, समाजशास्त्र आदि का आश्रय नहीं लेना चाहता। विश्लेषण पद्धति शुद्ध भाषापरक होनी चाहिए, स्वयं में समर्थ और स्वयं में पूर्ण। इस संप्रदाय में अभिव्यक्ति (expression) और आशय (content), प्रत्येक के, दो दो भेद किए गए रूप (form) और सार (substance) भाषेतर तत्व हैं। रूप शुद्ध भाषापरक तत्व है जो सार तत्वों की संघटना व्यवस्था के रूप में है। इस प्रकार अभिव्यक्ति के सार में भाषेतर स्थूल स्वन हैं, जिनसे भाषा की अभिव्यक्ति बनती है, और अभिव्यक्ति के रूप में संरचना-व्यवस्था, जैसे, स्वनिम, रूपिम आदि हैं। इसी प्रकार आशय के सार के अंतर्गत शब्दार्थ हैं और रूप में अर्थसंघटना है।

लंदन स्कूल : हेनरी स्वीट इसके आधारस्तंभ कहे जा सकते हैं।

इसका विशेष परिवर्धन लंदन विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान तथा स्वनविज्ञान के विद्वान् प्रोफेसर फ़र्थ द्वारा हुआ है। यह स्कूल अर्थ को भी मान्यता देता है। इसके अनुसार भाषा एक सार्थक क्रिया है और अर्थ प्रसंग (context) में प्रकार्य है। अतएव यहाँ सार और रूप के अतिरिक्त प्रसंग के महत्व को भी स्वीकार किया गया है। इस स्कूल मे ध्वन्यात्मक विवेचन के साथ ही साथ रंगात्मक (prosodic) तत्वों की चर्चा होती है। रंगात्मक विश्लेषण अमेरिकी स्वनिम वैज्ञानिक विश्लेषण से भिन्न है और इसका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। रंगात्मक विश्लेषण बहुव्यवस्थाजनित है, जब कि स्वनिम विज्ञान एकव्यवस्थाजनित है। फ़र्थ ने जिस रंगात्मक स्वनप्रक्रिया का प्रवर्तन किया उसे आगे बढ़ानेवालों में मुख्य हैं रॉबिंस, लायंस (Lyons), हेलिडे और डिक्सन। जहाँ तक स्वनविज्ञान का संबंध है, लंदन स्कूल के अंतर्गत स्वीट के बाद डेनियल जोन्स का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अमरीकी स्कूल : यद्यपि 'प्राहास्कूल' और 'कोपेनहेगन स्कूल' जैसे शब्दो के वजन पर 'अमरीकी स्कूल' नामकरण उचित नही होगा, क्योकि यहाँ केवल एक ही पद्धति पर काम नही हुआ; फिर भी सुविधा के लिये इसे 'अमेरिकी स्कूल' कहा गया है।

अमरीका मे संरचनात्मक भाषाविज्ञान के प्रवर्तकों मे बोआज (१८५८-१९४२), सैपीर (१८८४-१९३९) तथा ब्लूमफ़ील्ड (१८८७-१९४९) के नाम आते हैं। इनमें पहले दो मूलत. मानवविज्ञानी थे तथा भाषाविश्लेषण उनके लिये व्यावहारिक आवश्यकता थी। इन्होने अमरीकी जंगली जातियो की भाषाओं के वर्णन का प्रयास किया है। ब्लूमफ़ील्ड निस्संदेह ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अच्छे ज्ञाता थे और जर्मनीय भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार था। ब्लूमफ़ील्ड अमरीकी भाषाविज्ञान के प्रेरणास्रोत रहे हैं और आप की पुस्तक 'भाषा' (लैंग्वेज) बड़े आदर के साथ पढ़ी-पढ़ाई जाती है।

ब्लूमफ़ील्ड की महत्ता इसमे है कि इन्होने भाषाविज्ञान को विज्ञान की कोटि मे स्थापित किया और व्याकरण तथा भाषाई विवेचन को सही अर्थों मे विज्ञान का रूप दिया। इनका आग्रह रहा है कि भाषा का विश्लेषण, वर्गीकरण तथा प्रस्तुतीकरण वैज्ञानिक रीति से होना चाहिए। अर्थ का भाषाविश्लेषण से कोई प्रत्यक्ष संबंध नही है। मनोविज्ञान, दर्शन आदि का आश्रय नही लेना चाहिए, न अटकलें लगानी चाहिए और न शिथिल अस्पष्ट शब्दावली मे तथ्यों को प्रकट करना चाहिए। स्वन नियमों की अटूटता में इनका विश्वास था।

किंतु ब्लूमफ़ील्ड ने विश्लेषण पद्धति पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला। यह कमी उनकी अगली पीढ़ी के विद्वानो ने पूरी की। पाइक ने 'स्वनिमविज्ञान' मे और नाइडा ने 'रूपप्रक्रिया' (Morphology) में विश्लेषण पद्धति का विस्तार से विवेचन किया है। पाइक ने टैग्मेमिक पद्धति निकाली जो कि रूपक्रिया और वाक्यप्रक्रिया दोनों मे एक समान प्रयुक्त होने से स्पृहणीय हो गई है। इस पद्धति पर अनेकानेक भाषाओं के विश्लेषण और विवरण प्रस्तुत किए गए हैं और सर्वत्र यह सफल रही है। इन्ही के समकालीन जैलिक हैरिस (Zellig Harris) ने भी संरचनात्मक पद्धति पर अपनी पुस्तक लिखी। इसी समय वेल्स ने अव्यवहित अवयव (Ic. Immediate constituent) की पद्धति से वाक्यों का विश्लेषण करना शुरू किया, जिसे अनेक भाषाविदों ने अपनाया। फिर हैरिस के शिष्य चॉम्स्की (Chomsky) ने एक नितांत गणितीय एवं तर्कसंगत पद्धति निकाली। यह है रूपांतरण जनन (ट्रांसफॉर्मेशन जैनरेटिव) पद्धति। यह अधुनातन पद्धति है और भाषावैज्ञानिकों को सर्वाधिक प्रिय हो चली है। अब हैरिस ने अव्यवहित अवयव पद्धति और रूपांतरण विश्लेषण पद्धति की कमियों को देखते हुए सूत्र अवयव (S. C-String constituent) विश्लेषण पद्धति पर कार्य आरंभ कर दिया है। यह सूत्र अवयव विश्लेषण पद्धति और रूपातरण पद्धति के बीच का रास्ता है। यह प्रत्येक वाक्य में से एक 'मौलिक वाक्य' (elementary sentence) पृथक् कर देती है। अव्यवहित अवयव विश्लेषण पद्धति में इस तरह 'मौलिक वाक्य' का पृथक्करण नही होता जब कि रूपातरण विश्लेषण पद्धति में पूरे वाक्य को अलग अलग 'मौलिक वाक्यो' और उनके 'अनुलग्नक शब्दों' (Adjuncts) में पृथक् कर दिया जाता है।

स्वनिमिक, रूपमिक और वाक्य स्तर पर भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण कार्य जितना पुस्तकें लिखकर किया गया है, उससे कही अधिक भाषाविज्ञान से संबधित अमरीकी पत्रपत्रिकाओं मे प्रकाशित लेखों से हुआ है। इनके लेखको मे से कुछ हैं : ब्लॉक, हैरिस, हॉकेट, स्मिथ, ट्रेगर, वेल्स आदि।

भौगोलिक भाषाविज्ञान (Geographical Linguistics) इस विषय के अंतर्गत भाषा भूगोल और भाषिका (बोली) विज्ञान का अध्ययन आता है।

किसी एक उल्लिखित क्षेत्र मे पाई जानेवाली भाषा संबंधी विशेषताओं का व्यवस्थित अध्ययन भाषा भूगोल या बोली भूगोल (dialect geography) के अंतर्गत आता है। ये विशेषताएँ उच्चारणगत, शब्दावलीगत या व्याकरणगत हो सकती हैं। सामग्री एकत्र करने के लिये भाषाविज्ञानी आवश्यकतानुसार सूचक (Informant) चुनता है और टेपरिकार्डर पर या विशिष्ट स्वनात्मक लिपि (Phonetic Script) मे नोटबुक पर सामग्री एकत्र करता है। इस सामग्री के संकलन और संपादन के बाद वह उन्हे अलग अलग मान चित्रों पर अंकित करता है। इस प्रकार तुलनात्मक आधार पर वह समभाषांश रेखाओं (Isoglosses) द्वारा क्षेत्रीय अंतर स्पष्ट कर भाषागत या बोलीगत भौगोलिक सीमाएँ स्पष्ट कर देता है। इस प्रकार बोलियों का निर्धारण हो जाने पर प्रत्येक का वर्णनात्मक एवं तुलनात्मक सर्वेक्षण किया जाता है। उनके व्याकरण तथा कोश बनाए जाते हैं। बोलियों के इसी सर्वांगीण वर्णनात्मक तुलनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन को भाषिका (बोली) विज्ञान (Dialectology) कहते हैं।

भाषा भूगोल का अध्ययन १९वी शताब्दी मे शुरू हुआ। इस क्षेत्र में प्रथम उल्लेखनीय नाम श्मेलर का है, जिन्होंने बवेरियन बोली का अध्ययन प्रस्तुत किया। १९वीं शताब्दी के अंत मे पश्चिमी यूरोप में भाषा भूगोल का कार्य व्यापक रूप से हुआ। इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं—जर्मनी का (Sprachatlas des deutschen Reichs) और फ्रांस का (Atlas lingustique de la France) जर्मनी में वार्ड बैंकर और रीड का कार्य तथा फ्रांस मे जिलेरो और एडमट का

कार्य महत्वपूर्ण है। लगभग इसी समय 'इंग्लिश डायलेक्ट सोसायटी ने भी कार्य शुरू किया जिसके प्रणेता स्वीट थे। सन् १८८६ से अमेरिका में बोली कोश या भाषा एटलस के लिये सामग्री एकत्र करने के लिये अमेरिकन डायलेक्ट सोसायटी की स्थापना हुई। व्यवस्थित कार्य मिशिगन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ॰ हंस कुरेथ के नेतृत्व मे सन् १९२८ मे शुरू हुआ। अमेरिका के ब्राउन विश्वविद्यालय और अमेरिकन कौंसिल ऑव लर्नेड सोसायटीज़ ने उनके 'लिंग्विस्टिक एटलस ऑव न्यू इग्लैंड' को छह जिल्दो मे प्रकाशित किया है (१९३९-४३)। उन्ही के निदेशन मे एटलस ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स ऐंड कैनाडा' जैसा बृहत् कार्य भी अब शीघ्र ही पूरा होनेवाला है।

मानव विज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान (Anthropological Linguistics) जब से मानव वैज्ञानिक अध्ययन मे भाषाविज्ञान और भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण मे मानवविज्ञान की सहायता ली जाने लगी है मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान को एक विशिष्ट कोटि का अध्ययन माना जाने लगा है। इसमे ऐसी भाषाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका अपना कोई लिखित रूप न हो और न उनपर पहले विद्वानो ने कार्य ही किया हो। अर्थात् ज्ञात संस्कृति से अछूती आदिम जातियों की भाषाओं का वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन इस कोटि के अंतर्गत आता है। इसका एक रूप मानवजाति भाषा विज्ञान (Ethno-linguistics) कहलाता है। अलबर्ट गलेशन (Albert Gallation १७६१-१८४०) ने भाषा आधार पर अमरीकी वर्गों का विभाजन किया। जे॰ डब्ल्यू पावेल (१८३४-१९०२) और डी॰ जी॰ ब्रिटन (१८३७-१८९०) ने अमरीकी इडियनो की भाषा का अध्ययन किया। हबोल्ट (१७६७-१८३५) के अध्ययन के बाद १९वी शताब्दी के मध्य मे मानव जाति-विज्ञान और भाषाविज्ञान मे घनिष्ठ सबध स्थापित हुआ और तदनतर इस क्षेत्र मे अधिकाधिक कार्य होने लगा। सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य सपीर का है जो (Time perspective in Aboriginal American Culture) (1916) के नाम से सामने आया। वूर्फ (whorf) होपी ने बोली पर कार्य किया है। ब्लूमफील्ड ने केंद्रीय एल्गोकियन, सी॰ मीनॉफ ने (बाटू और प्रो॰ डैम्पोल्फ (O Dempwalti) ने मलाया पोलेनीशियम क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण कार्य किया। ली (Lee) का विंटो पर और हैरी (Harry Hoijer) का नाहोवो (Nahovo) पर किया गया कार्य भाषा और संस्कृति के पारस्परिक सबध पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस प्रकार अमेरिकी स्कूल के भाषावैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र मे बड़ा कार्य किया है। अमेरिका से ही (Anthropological Linguistics) नामक पत्रिका निकलती है जिसमे इस क्षेत्र मे होनेवाला अनुसंधानकार्य प्रकाशित होता रहता है।

भाषाविज्ञान का प्रयोगात्मक पक्ष — विज्ञान की अन्य शाखाओं के समान भाषाविज्ञान के भी प्रयोगात्मक पक्ष है, जिनके लिये प्रयोग की प्रणालियों और प्रयोगशाला की अपेक्षा होती है। भिन्न भिन्न यांत्रिक प्रयोगों के द्वारा उच्चारणात्मक स्वनविज्ञान (articulatory phonetics), भौतिक स्वनविज्ञान (acoustic phonetics) और श्रवणात्मक स्वनविज्ञान (auditory phonetics) का अध्ययन किया जाता है। इसे प्रायोगिक स्वनविज्ञान, यांत्रिक स्वनविज्ञान या प्रयोगशाला स्वनविज्ञान भी कहते हैं। इसमें दर्पण जैसे सामान्य उपकरण से लेकर जटिलतम वैद्युत उपकरणों का प्रयोग हो रहा है। परिणामस्वरूप भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे गणितज्ञों, भौतिक शास्त्रियों और इंजीनियरों का पूर्ण सहयोग अपेक्षित हो गया है। कृत्रिम तालु और कृत्रिम तालु प्रोजेक्टर की सहायता से व्यक्तिविशेष के द्वारा उच्चारित स्वनो के उच्चारण स्थान की परीक्षा की जाती हैं। कायमोग्राफ स्पोनों का घोषणत्व और प्राणत्व निर्धारण करने, अनुनासिकता और कालमात्रा जानने के लिये उपयोगी है। लैरिंगोस्कोप से स्वरयत्र (काकल) की स्थिति का अध्ययन किया जाता है। एंडोस्कोप लैरिंगोस्कोप का ही सुधरा रूप है। ऑसिलोग्राफ की तरंगें स्वनो के भौतिक स्वरूप को पर्दे पर या फिल्म पर अत्यंत स्पष्टता से अंकित कर देती हैं। यही काम स्पेक्टोग्राफ या सोनोग्राफ द्वारा अधिक सफलता से किया जाता है। स्पेक्टोग्राफ जो चित्र प्रस्तुत करता है उन्हे पैटर्न प्लेबैक द्वारा फिर से सुना जा सकता है। स्पीचस्ट्रेचर की सहायता से रिकार्ड की हुई सामग्री को धीमी गति से सुना जा सकता है। इनके अतिरिक्त और भी छोटे बड़े यंत्र हैं, जिनसे भाषावैज्ञानिक अध्ययन मे पर्याप्त सहायता ली जा रही है।

फ्रांसीसी भाषावैज्ञानिकों मे रूइयो ने स्वनविज्ञान के प्रयोगों के विषय मे (Principes phonetique experiment, Paris, 1924) ग्रथ लिखा था। लदन मे प्रो॰ फर्थ ने विशेष तालुयत्र का विकास किया। स्वरो के मापन के लिये जैसे स्वरत्रिकोण या चतुष्कोण की रेखाएँ निर्धारित की गई हैं, वैसे ही इन्होने व्यजनो के मापन के लिये आधार रेखाओं का निरूपण किया, जिनके द्वारा उच्चारण स्थानो का ठीक ठीक वर्णन किया जा सकता है। डेनियल जोस और इडा वार्ड ने भी अंग्रेजी स्वनविज्ञान पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। फ्रांसीसी, जर्मन और रूसी भाषाओं के स्वनविज्ञान पर काम करने वालो मे क्रमश आमंस्ट्रांग, बिथेल और बोयानस मुख्य हैं। सैद्धांतिक और प्रायोगिक स्वनविज्ञान पर समान रूप से काम करनेवाले व्यक्तियों मे निम्नलिखित मुख्य है · स्टेटसन (मोटर फोनेटिक्स, १९२८), नेगस (द मैकेनिज्म ऑव दि लैरिंग्स, १९१९), पॉटर, ग्रीन और कॉप (विज़िबुल स्पीच), मार्टिन जूस (अकूस्टिक फ़ोनेटिक्स, १९४८), हेफनर (जनरल फ़ोनेटिक्स १९४८), मौल (फंडामेंटल्स ऑव फोनेटिक्स, १९६३) आदि।

इधर एक नया यांत्रिक प्रयास आरंभ हुआ है जिसका संबंध शब्दावली, अर्थतत्व तथा व्याकरणिक रूपो से है। यांत्रिक अनुवाद के लिए वैद्युत कम्प्यूटरों का उपयोग वैज्ञानिक युग की एक विशेष देन है। यह अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान का अत्यत रोचक और उपादेय विषय है।

अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान (Applied Linguistics) — जिस प्रकार सामान्य विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष अनुप्रयुक्त विज्ञान है, उसी प्रकार भाषाविज्ञान का व्यावहारिक पक्ष अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान है। भाषासंबंधी मौलिक नियमों के विचार की नींव पर ही अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की इमारत खड़ी होती है। सक्षेप मे, इसका संबध व्यावहारिक क्षेत्रों मे भाषाविज्ञान के अध्ययन के उपयोग से है। इंगलैंड में अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान के केंद्र लंदन विश्वविद्यालय और एडिनबरा विश्वविद्यालय है।

भाषाविज्ञान का सर्वाधिक उपयोग भाषाशिक्षण के क्षेत्र में किया जा रहा है। भाषा देशी हो या विदेशी, स्वयं सीखनी हो या दूसरों को सिखानी हो, सभी कार्यों के लिये भाषाविज्ञान का ज्ञान उपयोगी होता है। इस भाषाशिक्षण के अंतर्गत वास्तविक शिक्षण पद्धति और पाठ्य पुस्तकों की रचना, दोनों ही संमिलित हैं। इस कार्य के लिये तुलनात्मक वर्णनात्मक-भाषाविज्ञान और शब्दावली-अध्ययन से भरपूर सहायता मिल सकती है। विदेशी छात्रों को अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी आदि भाषाओं की शिक्षा देने के लिए इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस और रूस आदि देशों में व्यापक अनुसंधानकार्य हो रहा है।

आशु लिपि की व्यवस्थित पद्धति के निर्माण में शब्दावली अध्ययन की बड़ी उपादेयता है। टाइपराइटर के कीबोर्ड की क्रम-व्यवस्था में भी भाषाविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।

आज के युग में भाषाविज्ञान का महत्व इसलिये भी बढ़ रहा है कि उसका उपयोग भाषाशिक्षण के अतिरिक्त स्वचालित या यांत्रिक अनुवाद (automatic or machine translation) के क्षेत्र में भी बहुत ही लाभदायक सिद्ध हो रहा है। एक भाषा के सूचनापरक तथा वैज्ञानिक साहित्य का दूसरी भाषा में मानव मस्तिष्क के अनुरूप ही इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटरों (परिकलन यंत्रों) की सहायता से अनुवाद कर देना दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक संभव होता जा रहा है। इस क्षेत्र में व्यापक अनुसंधान अमरीका और रूस में हो रहा है, जो भाषावैज्ञानिकों और वैद्युत इंजीनियरों के परस्पर सहयोग का फल है।

यांत्रिक अनुवाद का मूल विचार सन् १९४६ में वारेन वीवर और ए० डी० बूथ के बीच स्वचालित अंक परिकलन यंत्र automatic digital computers के विषय में परिचर्चा के समय उठा। बूथ और डी० एच० वी० ब्रिटन ने १९४७ में इंस्टिट्यूट फॉर एडवांस्ड स्टडी, प्रिंस्टन में स्वचालित कंप्यूटर से कोश का अनुवाद करने के लिए, एक विस्तृत 'कोड' तैयार किया। १९४८ में आर० एच० रिचन्स् R.H Richens) ने कोरे शब्दानुवाद के साथ साथ व्याकरणिक रूपों का यांत्रिक अनुवाद कर सकने की संभावना प्रकट की। अमेरिका में यांत्रिक अनुवाद पर महत्वपूर्ण कार्य जुलाई सन् १९४९ में वारेन वीवर के 'अनुवाद नामक ज्ञापन के प्रकाशित होने पर शुरू हुआ। अनेक विश्व विद्यालयों और टेक्नॉलोजी संस्थानों ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। १९५० में रेफलर (Reifler) ने Studies in Mechanical Translation' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें अनुवाद पर पूर्व संपादन और अनुवादोत्तर संपादन का प्रस्ताव रखा। फिर यांत्रिक अनुवाद पर अंतरराष्ट्रीय समेलन होने लगे, पत्रपत्रिकाएँ निकलीं और रूसी से अंग्रेजी में अनुवाद होने लगे। इस विषय पर इंगलैंड, अमरीका, जर्मनी और रूस में शोधकार्य चल रहा है। [वि० प्र०]

भास संस्कृत नाटककारों में भास का नाम बड़े संमान का विषय रहा है। कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती, और लोकप्रिय नाटककारों की चर्चा करते हुए सबसे पहले भास और बाद में सोमिल (सौमिल्ल) एवं कविपुत्र के नाम लिए हैं और उन्हें यशस्वी नाटककार कहा है। बाणभट्ट, वाक्पतिराज और जयदेव ने भी उनकी प्रशंसा की है। वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' और अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती', राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' से भास के नाटकों का अस्तित्व सूचित है। 'अवंतिसुंदरी कथा' में भी उनका नाम आया है। अतः निश्चित है कि संभवतः अश्वघोष के परवर्ती और कालिदास से पूर्ववर्ती नाटककार के रूप में भास अत्यंत लोकविश्रुत कलाकार थे। परंतु उनके नाटक अप्राप्त थे। सन् १९०७ ई० में म० म० टी० गणपति शास्त्री को मलयालम लिपि में लिखित संस्कृत के दस नाटक प्राप्त हुए। खोज करने पर तीन और नाटक मिले। १९१२ ई० में गणपति शास्त्री द्वारा अनंतशयन संस्कृत ग्रंथावली में भास के नाम से वे प्रकाशित किए गए। इन नाटकों की अनेक प्रतियाँ अन्य स्थानों से प्राप्त हुई।

उक्त १३ नाटकों को पूर्णतः या अंशतः भासकृत मानने न माननेवालों के पक्ष तर्कसमर्पित होकर भी आजतक निर्णायक नहीं हो सके। इस विवाद के उठने के अनेक कारण हैं। नाटकों की स्थापना (प्रस्तावना) और पुष्पिका में---कहीं भी नाटककार भास का नाम नहीं मिलता। संस्कृत ग्रंथों में भास के जो अंश उद्धृत हैं उनमें अधिकांश अक्षरशः इन नाटकों में अनुपलब्ध है। इसी प्रकार अनेक कारण हैं जो उन तेरह नाटकों की भासरचना विषयक प्रामाणिकता को संदिग्ध बनाते हैं। इस प्रसंग के प्रमुख मतपक्षों को चार वर्गों में रखा जा सकता है (क) कुछ विद्वान् इन नाटकों को भासकृत मानते हैं—जैसे डॉ० कीथ, पुसलकर, अय्यर आदि; (ख) कुछ लोग प्रचलित नाटकों को केरल के चाक्यार नटों की कृति मानते हैं या परवर्ती किसी सामान्य नाटककार की रचना समझते हैं; (ग) दूसरे पंडितों का कथन है कि 'प्रतिज्ञायौगंधरायणम्' 'स्वप्नवासवदत्तम्' आदि कुछ नाटक भासकृत हैं क्योंकि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में उनका संकेत है तथा अन्य भासकृत नहीं हैं; (घ) अन्य कुछ विद्वानों के मत से मूलतः वे नाटक भासकृत थे; पर उनका वर्तमान रूप नटों या अन्य द्वारा नाट्यप्रयोगानुकूल परिवर्तित या संक्षिप्त होकर सामने आया है। यह भी कभी कभी कहा जाता है कि भास के उपलब्ध नाटक अधूरे थे जिसे अन्य या अन्यजनों ने पूरा करके उन्हें वर्तमान रूप दिया। जो हो, यह निश्चित है कि ये नाटक जाली नहीं हैं। केरल के चाक्यार नटों की परंपरागत नाट्यनिधि के वे अंश हैं। संस्कृत के विख्यात नाटककारों की अन्य रचनाओं की भाँति इन्हें भी चाक्यार परंपरा ने समान रूप से सुरक्षित रखा है। परंपरागत प्रसिद्धि के अनुसार उनकी संख्या २३ या ३० कही गई है। त्रिवेंद्रम् संस्करण के १३ नाटकों में कुछ ऐसी समानताएँ और विशेषताएँ हैं जिनके कारण वर्तमान संस्करण की नाट्यलेखन और नाट्यशिल्प के कलाकार की एकता सूचित होती है। 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से इनका आरंभ, प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग, नाटककार के नाम का अभाव, भरतवाक्य में प्रायः साम्य, भरत के नाट्यशास्त्रीय कुछ विधानों का अपालन, संस्कृत में कतिपय अपाणिनीय रूपों का प्रयोग, अनेक नाटकों में कुछ पात्रों के नाम का साम्य, विचार और आदर्श की समानता, प्राकृत भाषा की कुछ विलक्षणता आदि ऐसी बातें हैं जिनके कारण इन सब के एककर्तृत्व का संकेत भी मिलता है। पर वह भास थे या चाक्यार नटों के नाट्यरूपांतरकार, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी वर्तमान काल में त्रिवेंद्रम् से १९१२ में प्रकाशित १३ नाटक भासकृत मानकर प्रकाशित हुए और होते चल रहे हैं। उनके नाम हैं—(१) स्वप्नवासवदत्ता, (२) प्रतिज्ञा यौगंधरायण, (३) दरिद्र चारु

दत्त, (४) अविमारक, (५) प्रतिमा, (६) अभिषेक, (७), बालचरित, (८) पंचरात्र (९) मध्यमव्यायोग, (१०) दूतवाक्य, (११) दूतघटोत्कच, (१२) कर्णभार और (१३) उरुभग। इनमे प्रथम आठ नाटक अनेकांकी (तीन से सात अकवाले) हैं और अतिम पाँच एकांकी हैं। प्रथम दो नाटक उदयनकथाश्रित हैं, ३,४ संख्यक नाटक कल्पित कथाश्रित हैं (तृतीय की लगभग वही कथा है जो शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में है), ५, ६ संख्यक रामकथाश्रित हैं, सप्तम नाटक कृष्णकथाश्रित है तथा अष्टम से तेरहवें तक के नाटको का आधार महाभारत है। इनकी कथावस्तुओं मे नाटककार ने कल्पनाजन्य घटनाओ, पात्रो आदि का भी नाटकीयता के लिये पर्याप्त उपयोग किया है।

नाटकों का रचनाकाल — भास और उनके नाटको का आविर्भाव निश्चय ही कालिदास से पूर्व और समवत: अश्वघोष के बाद हुआ था। उनसे पूर्ववर्ती नाटककारो के रूप मे केवल अश्वघोष का नाम, कदाचित्, लिया जा सकता है। गणपति शास्त्री, पुसलकर आदि ने उपर्युक्त नाटकों का रचनाकाल कौटिल्य अर्थशास्त्र से पूर्व पचम-चतुर्थ शताब्दी ई० पू० माना है। डॉ० कीथ, स्टेन कोनो आदि ने द्वितीय तृतीय शताब्दी ई० (कालीदास से पूर्व) माना है। बार्नेट, रामावतार शर्मा, सुकथंकर विंटरनित्स आदि शोधकों ने ७वीं शती ई० से ११वीं शती तक के काल को इन नाटकों का रचनाकाल माना है। इसी प्रकार १६ शताब्दियो की लबी कालावधि मे विभिन्न कालो में नाना पंडितों के मत से रचना हुई। अधिकाश विद्वान् इनका समय द्वितीय-तृतीय शती ई० मानने लगे हैं।

साहित्यिक मूल्यांकन — इन नाटको के कथासूत्रो का आकलन और सयोजन विविध स्रोतो और कलात्मक शिल्प के साथ हुआ है। यद्यपि 'अभिषेक' और 'प्रतिमा' आदि मे वस्तुयोजना कुछ शिथिल है, तथापि अन्यत्र उसमें नाटकीय गतिमत्ता भी पर्याप्त है। 'उदयन'—नाटको की वस्तुयोजना गतिशील, नाटकीय, कलात्मक और शक्तिशाली है। महाभारताश्रित नाटको की कथावस्तु भी पर्याप्त शक्तिशाली है। कभी कभी शिथिल वस्तु की कमी को ओजस्वी संवादो ने ऊर्जस्वित कर दिया है। उदयन नाटको मे नाट्यकौशल और नाटकीय शिल्प के संयोजन ने उनको उत्तम कोटि के नाटक स्तर पर पहुँचा दिया है। स्वप्न वासवदत्तं मे कथावस्तु की शिथिलता के बावजूद कार्यसंकलन की कुशलता ने उसमे अपूर्व गतिमत्ता प्रस्फुटित की है। वर्ण्य कथा को नाटकीय रूप देकर सयोजना मे इन नाटको को अच्छी सफलता मिली है। उनमे नाटकीय व्यग्य है गतिशीलता है, अप्रत्याशित एव मौलिक परिस्थितियो के उद्भावन की दक्षता है और अलौकिक, आधिदैविक, अतिक्रमित प्राकृतिक पात्रो-घटनाओ का प्रयोग होने पर भी चरित्रों और परोक्ष चित्रण द्वारा यथार्थता या वास्तविकता का आभास देने मे इन नाटको को सफल कहा जा सकता है।

[क० प० त्रि०]

भास्कराचार्य शाडिल्यवंशी भास्कराचार्य प्राचीन भारत के सुयोग्य एवं अपने समय के सुप्रसिद्ध गणितज्ञ थे। ये उज्जैन की वेधशाला के अध्यक्ष थे। इनका जन्म १११४ ई० मे, विज्जडविड नामक गाँव में, जो आधुनिक पाटन के समीप था, हुआ था। ११५० ई० मे इन्होंने 'सिद्धांत शिरोमणि' नामक पुस्तक, संस्कृत श्लोकों में, चार भागों में लिखी है, जो क्रम से इस प्रकार हैं : (१) पाटी गणिताध्याय या लीलावती (Arithmetic),(२) बीजगणिताध्याय (Algebra), (३) ग्रह गणिताध्याय (Astronomy) तथा (४) गोलाध्याय। इनमे से प्रथम दो स्वतत्र ग्रथ हैं और अतिम दो 'सिद्धात शिरोमणि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा 'करणकुतूहल और वासना' भाष्य तथा 'भास्कर व्यवहार' और 'भास्कर विवाह पटल' नामक दो छोटे ज्योतिष ग्रथ इन्ही के लिखे हुए हैं।

इनके 'सिद्धांत शिरोमणि' से ही भारतीय ज्योतिष शास्त्र का सम्यक् तत्व जाना जा सकता है। सर्वप्रथम इन्होंने ही अंकगणितीय क्रियाओं का अपरिमेय राशियो मे प्रयोग किया। गणित को इनकी सर्वोत्तम देन चक्रीय विधि द्वारा आविष्कृत, अनिश्चित एकघातीय और वर्गसमीकरण के व्यापक हल हैं। भास्कराचार्य के ग्रंथ की अन्यान्य नवीनताओ मे त्रिप्रश्नाधिकार की नई रीतियाँ, उदयातर काल का स्पष्ट विवेचन आदि, है। भास्कराचार्य को अनत तथा चलन-फलन के कुछ सूत्रो का भी ज्ञान था। इनके अतिरिक्त इन्होने किसी फलन के अवकल को 'तात्कालिक गति' का नाम दिया और सिद्ध किया कि ज्याθ = कोटिज्या θ. dθ। न्यूटन के जन्म के आठ सौ वर्ष पूर्व ही इन्होंने अपने गोलाध्याय नामक ग्रथ मे माध्यकर्षणतत्व (Law of Gravitation) के नाम से गुरुत्वाकर्षण के नियमों की विवेचना की है। ये प्रथम व्यक्ति है, जिन्होने दशमलव प्रणाली की क्रमिक रूप से व्याख्या की है। इनके ग्रथो की कई टीकाएँ हो चुकी हैं तथा देशी और विदेशी बहुत सी भाषाओ मे इनके अनुवाद हो चुके हैं।

[रा० कु०]

भिंड १. जिला, स्थिति : २३° ३३' से २६° ४८' उ० अ० तथा ७८° ३३' से ७९° ८' पू० दे०। भारत के मध्य प्रदेश राज्य मे स्थित जिला है। इसके उत्तर एव पूर्व मे उत्तर प्रदेश राज्य, दक्षिण मे ग्वालियर तथा पश्चिम मे मुरैना जिला स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल १,७२३ वर्ग मील एव जनसख्या ६,४१,१६६ (१९६१) है। जिले के उत्तर तथा उत्तर-पूर्व मे चंबल, पूर्व मे पहूज नदी बहती है। यह भिंड, गोहद, लहार एवं महगाँव तहसीलो मे बँटा है। यहाँ की मिट्टी उपजाऊ है किंतु चबल तथा काली सिंधु आदि नदियो ने भूक्षरण अधिक किया है।

२. नगर, स्थिति : २६° ३३' उ० अ० तथा ७८° ४८' पू० दे०। भिंड जिले में रेलवे लाइन के किनारे स्थित नगर है। आरभ मे भदौरिया राजपूतो की बस्ती होने के कारण इसका स्थानीय नाम भिंड भदावर भी है। उत्तर प्रदेश की सीमा पर होने के कारण यह प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। यह अनाज एवं फलो की मडी है। अब यहाँ कई कारखाने भी खुल गये हैं। गौरी ताल के किनारे वेंकटेश्वर मदिर है। राजकीय महाविद्यालय तथा अन्य शैक्षिक सस्थाएँ भी है। इसकी जनसंख्या २८,२०८ (१९६१) है। [सु० च० श०]

भिखारीदास 'दास' उपनाम और पूरा नाम 'भिखारीदास' का जन्म सं० १७६० वि० वैसाख सुदी तेरस को प्रतापगढ के अरवर इलाके के ट्योंगा (टेउँगा) गाँव मे हुआ, जहाँ प्रतिवर्ष अब भी उक्त तिथि को भिखारी मेला लगता है। अनुमान से यह माना गया है कि दास की मृत्यु उनकी अतिम कृति 'शृंगारनिर्णय' की रचना (सं० १८०७ वि०) के कतिपय वर्षों बाद भभुआ, जिला आरा (बिहार)

में हुई। आरा में वहाँ इनके नाम का एक मंदिर भी है। ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। दास के आश्रयदाता थे स्थानीय अरबर के राजा पृथ्वीसिंह के भाई हिंदूपति सिंह, जिन्होंने दास को सं० १७९१ वि० के पश्चात् अपने यहाँ बुला लिया था और सं० १८०७ तक वे वहीं रहे थे। दास का रचना काल सं० १७८५ वि० से १८०७ तक माना जाता है। दास की विविध कृतियों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्राकृत, संस्कृत तथा उस समय तक के सभी प्रसिद्ध हिंदी आचार्य कवियो के ग्रंथों का अच्छा अध्ययन किया था।

दास के कुछ निजी साहित्यादर्श थे। उनके अनुसार किसी कवि में तीन बातें होनी चाहिए (१) जन्मजात काव्यप्रतिभा, (२) सुकवियो द्वारा काव्यरीति का ज्ञान और (३) व्यापक लोकव्यवहारानुभव। काव्य मे रस एवं ध्वनि की प्रतिष्ठा स्वीकार करते हुए उनका कहना था कि वास्तविक काव्यानंद की अनुभूति का साधन 'कांता संमित' कविता है। वे ब्रज भाषा में संस्कृत और फारसी की मिलावट के हिमायती थे पर इन भाषाओं के वे ही शब्द लिए जा सकते थे जो अधिकाधिक लोकप्रचलित और लोकग्राह्य हों। इसीलिये वे तुलसी और गंग को सुकवियों का 'सरदार' (अग्रगण्य, श्रेष्ठ) मानते हैं क्योंकि उनकी कविताओं में विविध प्रकार की भाषाओं का मेल है। ब्रज भाषा मे काव्यरचना के लिये, उनके अनुसार, ब्रजवास करना अनिवार्य नही था।

दास की प्रामाणिक और उपलब्ध कृतियाँ सात हैं (१) 'रससाराश' (रचनाकाल सं० १७९१ वि०), (२) 'काव्यनिर्णय' (सं० १८०३ वि०), (३) 'शृंगारनिर्णय' (स० १८०७ वि०), (४) छदोर्णव पिंगल (सं० १७९९ वि०), (५) 'अमरकोश' या 'शब्द नाम प्रकाश' (सं० १७९५ वि०), (६) विष्णुपुराण भाषा (अनुमान मे सं० १७८५-८७ वि० के बीच) और (७) शतरंजशतिका।

१. 'रससाराश' : रस से संबंधित काव्यागों का अपेक्षत. अपरिपक्व किंतु विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। काव्य को इसमे उत्तम, मध्यम और अवर कोटि मे विभक्त करने के साथ ही 'देव' की भाँति अनेक जाति की स्त्रियो को आलंबन रूप मे वर्णित न कर दूती के रूप मे रखा गया है। इसी में परंपराप्राप्त दस हावों के अतिरिक्त दास ने दस हाव और माने हैं। 'रससारांश' का एक संक्षिप्त संस्करण भी ग्रंथकर्ता ने 'तेरिज रससाराश' नाम से प्रस्तुत किया है। जहाँ 'रससाराश' मे लक्षण उदाहरण को मिलाकर कुल ५८६ पद्य हैं वहाँ 'संक्षिप्त संस्करण' 'तेरिज रससारांश' में केवल लक्षणों के १५८ पद्य ही हैं।

२. 'काव्यनिर्णय' : काव्य-विविधाग-निरूपक ग्रंथ है जो ग्रंथकर्ता के सर्वश्रेष्ठ तथा विशिष्ट कृतित्व, ख्याति का आधार और हिंदी काव्यशास्त्र के उत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है। यद्यपि इसके निर्माण में दास ने संस्कृताचार्यों में मंमट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जयदेव तथा अपने से पूर्ववर्ती हिंदी आचार्य कवियों में केशव, चिंतामणि, सूरति आदि के ग्रंथों से भी सामग्री संकलित की है तथापि विषयविवेचन-क्रम या विषयव्यवस्था सर्वथा नवीन है, ग्रंथ के २५ उल्लास के कुल १२१० पद्यों में काव्यप्रयोजन, काव्यपरिभाषा, भाषा, पदार्थनिर्णय, अलंकार, रसांग (स्थायीभाव, विभाव, और अनुभावादि) के साथ रसों, भावोदय, भावशबलता, भावशांति, भावाभास, रसाभास, अपरांग, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुण, तुक, चित्रालंकार और दोष जैसे काव्यांगों का लक्षण-उदाहरणबद्ध विवेचन बड़े प्रौढ़, स्पष्ट, सुलझे रूप मे तथा प्रांजल भाषा मे किया गया है।

३. शृंगारनिर्णय : इसमे शृंगार रस के अंतर्गत नायक नायिका भेद तथा संयोग वियोगादि का वर्णन किया गया है।

४. छंदोर्णव पिंगल : १५ तरंगों में पिंगलशास्त्र के आधार पर छंदों का विशद् एवं उत्कृष्ट विवेचन करने वाला महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

५. शब्द नाम प्रकाश : संस्कृत के प्रसिद्ध 'अमरकोश' का तीन खंडो मे विभक्त पद्यानुवाद है जिसे दासकृत 'अमरप्रकाश' या 'अमरतिलक' आदि नामों से भी जाना जाता है।

६. विष्णुपुराण भाषा . इसमे अनेक अध्यायो मे विष्णुपुराण की कथाओं का भाषानुवाद किया गया है।

७. शतरजशतिका : शतरंज के खेलों का वर्णन है।

आचार्य रामचद्र शुक्ल ने दास की रचना को कलापक्ष में 'संयत' और भावपक्ष मे 'रंजनकारिणी' बताकर उन्हें कवि ही माना है, आचार्य नही। अन्य हिंदी आचार्यों की तुलना में दास ने वर्गीकरण पद्धति के माध्यम से अलंकार, गुण (वामनसंमत दस गुणों को चार वर्गों मे बाँटा — अक्षरगुण, वाक्यगुण अर्थगुण और दोषाभावगुण), नायिकाभेद (स्वाधीनपतिका के आठ भेदों को दो वर्गों मे बाँटा) और छद की जो विवेचना की वह उनकी मौलिकता का पुष्ट प्रमाण है। जहाँ मंमट ने माधुर्य गुण मे शात रस की स्थिति मानी थी वहाँ 'दास' ने उसकी जगह पर हास्य और ओजगुण के अंतर्गत भयानक रस को माना है। अर्थालंकारान्तर्गत परिगणित मुद्रालंकार को दास ने शब्दालंकार माना है। छायादर्शन और मायादर्शन 'नाम से' चित्र दर्शन के दो नए भेद भी उन्होने किए।

सं० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल . हिंदी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, वाराणमी; हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, सं० डॉ० नगेंद्र, ना० प्र० सभा, वाराणसी; डॉ० नारायणदास खन्ना : आचार्य भिखारीदास। [रा० फे० त्रि०]

भिन्न (Fraction) दो पूर्ण सख्याओ का भागफल है, जैसे यदि ३ और ५ दो पूर्णांकों को ले तो $\frac{३}{५}$ एक भिन्न है, या व्यापक रूप मे यदि क और ख (≠०) दो पूर्णांक हो तो क/ख एक भिन्न है, जिसका अर्थ है क को ख से भाग देने पर भागफल। यदि क < ख तो भिन्न उचित भिन्न कहलाता है और यदि क > ख, तो भिन्न अनुचित भिन्न कहलाता है। इसको साधारण भाषा मे दो प्रकार से समझा सकते हैं : (१) यदि किसी राशि को ख बराबर भागों म बाँटे और उनमे से क भाग ले लें, तो इन क भागों को पूरी राशि का क/ख भाग कहते हैं, या (२) इस प्रकार की यदि क राशियाँ लें और उनके ख बराबर भाग करें, तो प्रत्येक को एक राशि का क/ख भाग कहते हैं। दो संख्याओं क और ख के अनुपात को भी क/ख भिन्न से व्यक्त किया जाता है। यदि भिन्न क/ख म क या ख को किमी भिन्न से बदल दें तो इस प्रकार बनी भिन्न को मिश्र भिन्न कहते है, जबकि मूल भिन्न को सरल भिन्न कहते हैं, जैसे $\frac{३}{५}$ सरल भिन्न है, परंतु $\frac{३}{५/७}$, $\frac{४/५}{६/७}$ मिश्र भिन्न के उदाहरण हैं। मिश्र भिन्न को और भी व्यापक बनाया

जा सकता है। अंश और हर में बजाय एक भिन्न के बहुत से भिन्नों का योग, अंतर, गुणनफल, भागफल हो सकता है। जब भिन्न का हर भिन्न हो, जिसका हर फिर भिन्न हो तथा इसी तरह चलता रहे, तो ऐसी भिन्न को वितत भिन्न कहते है, जैसे

$$\text{क} + \cfrac{\text{ख}}{\text{ग} + \cfrac{\text{घ}}{\text{च} + \cfrac{\text{छ}}{\text{झ} + \dots}}}$$

जो इस प्रकार भी लिखा जाता है :

$$\text{क} + \frac{\text{ख}}{\text{ग} +}\ \frac{\text{घ}}{\text{च} +}\ \frac{\text{छ}}{\text{झ} +} \cdots$$

भिन्नों के नियम निम्नलिखित हैं :

$$\frac{\text{क}}{\text{ख}} + \frac{\text{ग}}{\text{घ}} = \frac{\text{कघ} + \text{गख}}{\text{खघ}}$$

$$\frac{\text{क}}{\text{ख}} - \frac{\text{ग}}{\text{घ}} = \frac{\text{कघ} - \text{गख}}{\text{खघ}}$$

$$\frac{\text{क}}{\text{ख}} \times \frac{\text{ग}}{\text{घ}} = \frac{\text{कग}}{\text{खघ}}$$

$$\frac{\text{क}}{\text{ख}} \div \frac{\text{ग}}{\text{घ}} = \frac{\text{कघ}}{\text{खग}}$$

$$\left(\frac{\text{क}}{\text{ख}}\right)^{\text{न}} = \frac{\text{क}^{\text{न}}}{\text{ख}^{\text{न}}}$$

$$\sqrt[\text{न}]{\frac{\text{क}}{\text{ख}}} = \frac{\sqrt[\text{न}]{\text{क}}}{\sqrt[\text{न}]{\text{ख}}}$$

साथ ही यदि अंश और हर को एक ही संख्या से गुणा या भाग दें तो भिन्न के मान मे कोई अंतर नही पडता, अर्थात्

$$\frac{\text{क}}{\text{ख}} = \frac{\text{कम}}{\text{खम}} \quad \text{और} \quad \frac{\text{क}}{\text{ख}} = \frac{\text{क} \div \text{म}}{\text{ख} \div \text{म}}$$

जब क, ख मे कोई समापवर्तक न हो, तो भिन्न अपने सरलतम रूप मे होता है।

जब एक भिन्न कई भिन्नों का जोड हो, तो इन भिन्नो को योग भिन्न के आंशिक भिन्न कहते हैं, जैसे

$$\frac{१}{\text{क}^२ - \text{ख}^२} = \frac{१}{२\text{क}}\left(\frac{१}{\text{क} - \text{ख}} + \frac{१}{\text{क} + \text{ख}}\right)$$

मे दाई ओर के भिन्न बाईं ओर के भिन्नों के आंशिक भिन्न हैं। इनके प्रयोग की महत्ता का अनुभव कलन मे होता है।

अलग अलग देशो मे भिन्नो को लिखने के अलग अलग ढंग थे। भिन्न लिखने का आधुनिक ढंग भारत की देन है। ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) और भास्कर (११५० ई०) ने भिन्न को $\begin{smallmatrix}३\\४\end{smallmatrix}$ के रूप मे लिखा। अरब के लोगो ने दोनों संख्याओं के बीच मे एक रेखा और लगा दी जिससे $\frac{३}{४}$ लिखा जाने लगा।

दशमलव अंकन पद्धति मे भिन्न लिखने का दूसरा ढंग है, जो बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। वर्गमूल निकालते समय इसका प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से बहुत पहले (ईसा से लगभग १,५०० वर्ष पूर्व) होता रहा है, जैसे ५ का वर्गमूल निकालने के लिये ५०,००० का वर्गमूल निकालकर फल को १०० से भाग देते हैं। इस पद्धति में इकाई के दसवें, सौवें, हजारवें... भागों को एक बिंदु के दाईं ओर लिखकर प्रकट करते हैं। इस बिंदु को दशमलव बिंदु और भिन्न को दशमलव भिन्न कहते हैं, जैसे

$$५.६७८\cdots = ५ + \frac{६}{१०} + \frac{७}{१००} + \frac{८}{१०००} + \cdots$$

दशमलव भिन्न को जोड़ने या घटाने के नियम वे ही हैं जो साधारण संख्याओं के लिये हैं। गुणा का नियम यह है कि संख्या को साधारण संख्याओं की तरह गुणा कर गुणनफल में दशमलव बिंदु उतने अंकों के पहले लगाते है जो गुणक और गुण्य के दशमलव के बाद के स्थानों का जोड़ होता है, जैसे

$$४.५६७ \times ३.००२४ = १३.७११६६०८$$

पहले ४,५६७ और ३०,०२४ का गुणा करें और दाईं ओर से ३+४ स्थान गिनकर दशमलव लगाएँ। दशमलव भिन्न को भाग देने के नियम किसी भी अंकगणित की पुस्तक मे देखे जा सकते हैं।

आजकल छोटी और अत्यधिक बडी संख्याओं का प्रयोग होता है। इनको सरलता से घात पद्धति से व्यक्त करते हैं तथा इन्हे इस प्रकार लिखते हैं :

$$.००००००३ = ३ \times १०^{-६}$$

या

$$३,४०,००० = ३.४ \times १०^{५}$$

इस प्रकार लिखने से बड़ी बडी संख्याएँ सूक्ष्म रूप मे लिखी जा सकती हैं और मस्तिष्क मे संख्या के सनिकट परिमाण का आभास तुरत हो जाता है। [भ० ला० श०]

भिलाई स्थिति : २१° १५' उ० अ० तथा ८१° २७' पू० दे०। भारत के मध्यप्रदेश राज्य का प्रसिद्ध नगर है, जिसके वर्तमान रूप का अभ्युदय द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत हुआ, जब कि रूसी सरकार की सहायता से यहाँ पर लौह इस्पात के कारखाने की स्थापना की गई। यह बंबई-कलकत्ता मुख्य रेल मार्ग पर, बंबई से २६५ किमी० तथा रायपुर से २१ किमी० दूर स्थित है। भिलाई का इस्पात कारखाना काफी प्रगति कर रहा है। तृतीय पंचवर्षीय योजना मे इसकी उत्पादन क्षमता का लक्ष्य २५ लाख टन रखा गया था। सन् १९६४ का उत्पादन १२.७ लाख टन कच्चा लोहा तथा ११.३ लाख टन इस्पात रहा। यहाँ पर लोहा ८३ किमी० दूर स्थित दुर्ग जिले से, कोयला झरिया तथा कोरबा से तथा चूना रायपुर, दुर्ग एव बिलासपुर से आता है। यहाँ पर कोलतार, अमोनियम सल्फेट, बेंजोल, टोलूइन आदि के उत्पादन की व्यवस्था भी की जा रही है। नगर की जनसंख्या ८६,११६ (१९६१) है। [सु० चं० श०]

भीतर गाँव उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले मे स्थित है। यहाँ गुप्तकालीन एक मंदिर के अवशेष उपलब्ध हैं जो गुप्तकालीन वास्तुकला के सुंदर नमूनों में से एक है। ईंटों का बना यह मंदिर अपनी सुरक्षित तथा उत्तम साँचे मे ढली ईंटों के कारण विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसकी एक एक ईंट सुंदर एवं आकर्षक आलेखनों से सज्जित थी। इसके दो दो फुट लंबे चौड़े खानें अनेक सजीव एवं सुंदर उभरी हुई मूर्तियों से भरे

थे। इसकी छत शिखरमयी है तथा बाहर की दीवारों के ताखों में मृण्मयी मूर्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इस मंदिर की सहस्त्रों उत्खचित ईंटें लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। [र० उ०]

भीतरी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में सैदपुर से उत्तर पूर्व की ओर लगभग पाँच मील की दूरी पर स्थित ग्राम है। ग्राम से बाहर चुनार के लाल पत्थर से निर्मित एक स्तंभ खड़ा है जिसपर गुप्त शासकों की यशस्वी परंपरा के गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त का अभिलेख उत्कीर्ण है। यद्यपि लेख क्षतुघृष्ट है, पत्थर यत्र तत्र टूट गया है तथा बाईं ओर ऊपर से नीचे तक एक दरार सी है तथापि संपूर्ण लेख मूल स्तंभ पर पूर्णतया स्पष्ट है तथा उसका ऐतिहासिक स्वरूप सुरक्षित सा है।

लेख की भाषा संस्कृत है। छठी पंक्ति के मध्य तक गद्य मे है, शेष पद्य मे। लेख पर कोई तिथि अंकित नहीं है। इसका उद्देश्य शार्ङ्गिन विष्णु की प्रतिमा की स्थापना का अभिलेखन तथा उस ग्राम को, जिसमे स्तंभ खड़ा है, विष्णु को समर्पित करना है। लेख में इस ग्राम के नाम का उल्लेख नहीं है।

भीतरी का स्तंभलेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण है। उसमे गुप्त साम्राज्य पर पुष्यमित्रों तथा हूणो के बर्बर आक्रमण का संकेत है। लेख के अनुसार पुष्यमित्रो ने अपना कोश और अपनी सेना बहुत बढ़ा ली थी और सम्राट् कुमारगुप्त की मरणासन्नावस्था मे उन्होने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया। युवराज स्कंदगुप्त ने सेना का सफल नतृत्व किया। उसने युद्धक्षेत्र मे पृथ्वीतल पर शयन कर साधारण सैनिकों का सा जीवन बिताकर गुप्तवंश को स्थिर किया। पुष्यमित्रों को परास्त कर पिता कुमारगुप्त की मृत्यु के अनंतर स्कंदगुप्त ने अपनी विजय का संदेश साश्रुनेत्रा माता को उसी प्रकार सुनाया जिस प्रकार कृष्ण ने शत्रुओ को मारकर देवकी को सुनाया था।

हूणों की जिस बर्बरता ने रोमन साम्राज्य को चूर चूर कर दिया था वह एक बार यशस्वी स्कंदगुप्त की चोट से थम गई। स्कंदगुप्त की 'भुजाओं के हूणो के साथ समर मे टकरा जाने से भयंकर आवर्त बन गया, धरा काँप गई।' स्कंदगुप्त ने उन्हें पराजित किया। परंतु अनवरत हूण आक्रमणो मे गुप्त साम्राज्य के जोड़ जोड़ हिल उठे और अंत में साम्राज्य की विशाल अट्टालिका अपनी ही विशालता के खंडहरों मे खो गई। [र० उ०]

भीम इस नाम के अनेक पौराणिक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। इनमें नल तथा दमयंती के पिता भीम वैदर्भ और भीमसेन पांडव सबसे प्रसिद्ध है। ये दूसरे ही वृकोदर भीम है जो वायु द्वारा कुंती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और महान् पराक्रमी योद्धा तथा शारीरिक शक्ति के प्रतीक थे।

बाल्यकाल से पांडवो के अगुआ रूप मे इन्होने कौरवो को अनेक बार प्रताड़ित किया था जिससे दुर्योधनादि इनसे डाह करते थे। वनवास के समय दुर्योधन ने पुरोचन द्वारा पांडवो के घर में आग लगानी चाही तो इन्होंने पुरोचन को ही जीवित जला दिया। इसी प्रकार हिडिंब राक्षस को मारकर उसकी बहिन हिडिंबा से ब्याह और जरासंध, कीचक, दुःशासन, दुर्योधन आदि का वध किया। वायुपुत्र होने के कारण इन्हे हनुमान का भाई माना जाता है। पांडवों के द्वितीय वनवास अथवा अज्ञातवास में भीम विराट के यहाँ भोजन बनाने का काम करते थे पर वहाँ भी एक हाथ में तलवार बराबर लिए रहते थे। इनकी दूसरी पत्नी बलधरा काशी की राजकुमारी थी जिनसे सर्वंग अथवा सर्वत्रम नामक एक पुत्र था।

[रा० द्वि०]

भीमराव अंबेडकर भारत के प्रसिद्ध समाजसेवी, पिछड़ी तथा दलित जातियो के उद्धारक और गरीब किसानो के हितचिंतक, डॉ० अंबेडकर का जन्म १४ अप्रैल, सन् १८९१ को मध्य प्रदेश मे महू (इंदौर) गाँव में हुआ। उनके पिता का नाम रामजी मालाजी अंबेडकर और माता का भीमा बाई था। इनके वे चौदहवें पुत्ररत्न थे। बड़ौदा के शिक्षाप्रेमी महाराज सयाजीराव गायकवाड़ के छात्रवृत्ति देने पर १९१३ मे उन्होंने अमरीका के कोलंबिया विश्वविद्यालय मे राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी होकर प्रवेश किया। १९१६ मे 'भारत में जाति भेद' नामक प्रबंध लिखकर प्रो० गोल्डेन के सामने पढ़ा और उसी वर्ष भारत की अर्थव्यवस्था पर एक प्रबंध लिखा जिस पर कोलंबिया विश्वविद्यालय ने उनको पी-एच० डी० की डिग्री प्रदान की। १९२४ ई० में यह प्रबंध पी० एस०, किंग ऐंड संस (लंडन) ने 'ब्रिटिश भारत मे प्रांतीय अर्थव्यवस्था का विकास' नाम से प्रकाशित किया। विद्वान् प्रोफेसरो ने इसकी प्रशंसा की और भारत का बुकर टी वाशिंगटन कहकर उन्हे संमानित किया।

सन् १९१७ मे लंदन जाकर उन्होंने अर्थशास्त्र के लिये लंडन स्कूल ऑव इकॉनामिक्स ऐंड पोलिटिकल सायंस' में और कानून के लिये ग्रेज इन मे अपना नाम दाखिल कराया।

मुंबई वापस आने पर वे बड़ौदा मे सयाजीराव महाराज से मिले, महाराजा ने उन्हें मिलिटरी सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त किया।

बंबई मे डॉ० अंबेडकर ने 'दि स्माल होल्डिंग्स इन इंडिया ऐंड देअर रेमिडीज' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की। उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र ध्येय हिंदू समाज के अन्याय तथा अत्याचार का प्रतिकार करके अस्पृश्योद्धार करना निश्चित किया। जुलाई, १९१८ मतदान हक के विषय को लेकर साउथ बरो कमिशन के पास निवेदन पेश किया।

नवंबर, १९१८ में डॉ० अंबेडकर सिडेनहम कालेज ऑव कॉमर्स ऐंड इकॉनामिक्स, बंबई में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। जून, १९२१ मे लंदन यूनिवर्सिटी ने आपके लिखे हुए, 'प्रॉविंशियल डिसेंट्रलाइजेशन ऑव इंपीरियल फायनान्स इन ब्रिटिश इंडिया' नामक प्रबंध एम० एस-सी० (अर्थशास्त्र) की पदवी देने के लिये स्वीकार किया।

मार्च, १९२३ मे 'दि प्रॉब्लेम ऑव दि रुपी : इट्स ऑरिजिन ऐंड इट्स साल्यूशंस' नामक प्रबंध लिखने पर उन्हे डॉक्टर ऑव सायंस की डिग्री प्रदान की गई। यह प्रबंध लंडन के पी० एस० किंग ऐंड कंपनी ने दिसंबर १९२३ मे प्रकाशित किया। इसे थैकर ऐंड कंपनी ने १९४७ मे 'हिस्ट्री ऑव इंडियन करेंसी ऐंड बैंकिंग वाल्यूम' नाम से प्रकाशित किया।

जून, १९२३ में आपने बंबई हाईकोर्ट जूडिकेचर में बैरिस्टरी करना प्रारंभ किया। अपने अछूतोद्धार आंदोलन का श्रीगणेश आपने २० जुलाई, १९२४ को बंबई में बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना से किया। अछूत वर्ग में शिक्षा का प्रसार करने के लिये छात्रालय की स्थापना करना, सांस्कृतिक विकास, वाचनालय तथा अभ्यास केंद्र चलाना, औद्योगिक तथा कृषि स्कूल खोलना, अस्पृश्यता निवारण के आंदोलन को आगे बढाना, इस प्रकार का उनका कार्यक्रम था।

१९२८ में इंडियन स्टेच्यूटरी कमिशन (सायमन कमिशन) के सामने निवेदन तथा साक्ष्य पेश किए, जून में बंबई के गवर्नमेंट ला कालेज में प्रोफेसर हुए और अगस्त में दलित जाति शिक्षण समिति की स्थापना की।

२ मार्च, १९३० को ही डॉ० अंबेडकर ने नासिक के कालाराम मंदिर मे अछूतो के प्रवेश के लिये सत्याग्रह शुरू किया। दिसंबर मे राउंड टेबुल कांफरेंस (गोल मेज परिषद्) के प्रतिनिधि नियुक्त हुए।

रैम्जे मैकडॉनल्ड की अध्यक्षता में गोलमेज परिषद् प्रारंभ हुई। डॉ० अंबेडकर ने हिंदुस्तान के दलित लोगो की ओर से कहा, 'हमारी जनसंख्या हिंदुस्तान की जनसंख्या का पाँचवा भाग है, और इंग्लैंड या फ्रांस की जनसंख्या के बराबर है। परंतु हमारे इन अछूत भाइयो की स्थिति गुलामों से भी बदतर है।' डॉ० अंबेडकर ने दलित जाति के राजनीतिक संरक्षण की योजना का स्मारक पत्र तैयार करके अल्पमत उपसमिति को पेश किया। इसमें पृथक् निर्वाचन संघ तथा सुरक्षित सीटो की माँग की गई थी, जो आगे चलकर महात्मा गाँधी-अंबेडकर-संघर्ष का कारण हुआ।

१५ अगस्त, १९३१ को महात्मा गाधी तथा डॉ० अंबेडकर के बीच अछूतोद्धार की चर्चा हुई, लेकिन कोई फैसला नही हुआ और झगडा बना रहा। ७ सितंबर, १९३१ को दूसरी गोलमेज परिषद् में भी पार्टी के नेताओ न अपने अपने विचार रखे लेकिन किसी का भी समाधान नही हुआ और महात्मा गाधी तथा डॉ० अंबेडकर मे मतभेद बना रहा। १ दिसंबर, १९३१ को दूसरी गोलमेज परिषद् समाप्त हुई। साम्प्रदायिक निर्णय करने का अधिकार ब्रिटिश प्रधान मंत्री को दिया गया।

ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने जब साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की तो उसमे दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार मिला और साथ ही आम निर्वाचन में भी मत देने तथा उम्मीदवारी करने का अधिकार उनको दिया गया। यरवडा जेल मे डॉ० अंबेडकर से महात्मा गाधी की बात हुई। काफी वैचारिक संघर्ष और जयकर, सप्रू, राजगोपालाचार्य आदि नेताओ की चर्चा के बाद २४ सितंबर को यरवडा करार अर्थात् पूना पैक्ट स्वीकार किया गया और २६ सितंबर को गाधी जी ने उपवास समाप्त किया।

१९३२-३४ ज्वाइंट पार्लिमेंटरी कमिटी ऑन इंडियन कांस्टिट्यूशनल रिफॉर्म के सभासद तथा जून १९३५ में गवर्नमेंट ला कालेज के आचार्य तथा जूरिसप्रूडेंस के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

डॉ० अंबेडकर की धर्मांतर की घोषणा से भारत के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में सनसनी सी फैल गई। महात्मा गाधी, कांग्रेस के अध्यक्ष डॉ० राजेंद्रप्रसाद और अन्य नेताओ ने दुःख प्रकट किया। मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध धर्म के प्रतिनिधियों ने उन्हें अपने अपने धर्म मे आने का आग्रहपूर्वक निमंत्रण दिया।

दिसंबर, १९४० मे 'थॉट्स ऑव पाकिस्तान' ग्रंथ प्रकाशित किया। अप्रैल, १९४२ को नागपुर में आल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन की स्थापना की और जुलाई, १९४२ में वायसराय की एक्जिक्यूटिव कौंसिल में श्रम मंत्री के पद पर पहुँचे।

जून मे 'ह्वाट कांग्रेस ऐंड गांधी डिड टु दि अनटचेबुल्स' (कांग्रेस और महात्मा गाधी ने अछूतों के लिये क्या किया) ग्रंथ का प्रकाशन किया।

९ दिसंबर, १९४६ को डॉ० सच्चिदानंद सिनहा की अध्यक्षता मे संयुक्त विधान परिषद् का अधिवेशन प्रारंभ हुआ। ११ दिसंबर, १९४६ को सर्वसंमति से डॉ० राजेंद्र प्रसाद विधान परिषद के अध्यक्ष चुने गए। डॉ० अंबेडकर ने विधान परिषद् के सामने अपना वैधानिक दृष्टिकोण पेश करने के लिये एक स्मरणपत्र तैयार किया जो स्टेट ऐंड माइनॉरिटी, अर्थात् राज्य और अल्पसंख्यकों को सुरक्षित स्थान दिलवाने के विषय मे है।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। विधान परिषद् ने विधान का मसविदा बनाने के लिये एक समिति नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष विधान शास्त्र के प्रकांड पंडित डॉ० अंबेडकर ही बनाए गए। उन्होंने ४ नवंबर, १९४८ को विधान का मसविदा, जिसमें ८ सूचियाँ और ३१५ धाराएँ थी, विधान सभा मे पेश किया। अधिकांश सदस्यो ने डॉ० अंबेडकर के परिश्रम तथा विद्वत्ता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। १९५० तक विधान तैयार करके भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद को समर्पित किया। कोलंबिया युनिवर्सिटी ने ५ जून, १९५२ को विधानशास्त्रज्ञ डॉ० अंबेडकर को एल-एल० डी० की डिग्री देकर सम्मानित किया।

डॉ० अंबेडकर ने दि अनटचेबुल्स नामक प्रबंध (अस्पृश्यों के संबंधी प्रश्न) और महाराष्ट्र भाषावार प्रांतरचना नाम की पुस्तक 'धार कमीशन को सादर समर्पित' की।

दिसंबर, १९५० मे कोलंबो विश्व बौद्ध परिषद् के अध्यक्ष हुए। जुलाई, १९५१ मे भारतीय बौद्ध जनसंघ की स्थापना की। डॉ० अंबेडकर ने सितंबर, १९५१ मे मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया।

डॉ० अंबेडकर ने १४ अक्टूबर, १९५६ को नागपुर में धर्मांतर की प्रतिज्ञा पूर्ण की।

बर्मा के ८० वर्षीय वृद्ध बौद्ध भिक्षु भदंत चंद्रमणि महास्थविर न उन्हे बौद्ध धर्म के अनुसार त्रिशरण पंचशील का उच्चारण करवा कर धर्म की दीक्षा दी।

६ दिसंबर, १९५६ को दिल्ली में अपने निवासस्थान पर डॉ० अंबेडकर ने देहत्याग किया। [भि० ध०]

भीमस्वामी छठी शताब्दी ई० के अंतिम चरण मे इनकी स्थिति मानी जाती है। इनका 'रावणार्जुनीय काव्य' प्रसिद्ध है। २७ सर्गोंवाले इस काव्य मे कार्तवीर्य अर्जुन तथा रावण के युद्ध का वर्णन है। भट्टि काव्य की तरह इस काव्य मे भी काव्य के बहाने संस्कृत व्याकरण के नियमों के उदाहरण उपस्थित किए गए हैं जिससे काव्यपक्ष कमजोर हो गया है। [रा० चं० पां०]

भालू (देखें पृष्ठ २३)

("अमरीकन म्यूज़ियम ऑव नेचुरल हिस्ट्री" के सौजन्य से प्राप्त)

← उत्तरी अमरीका के ग्रिज़ली (Grizzly) भालू

भारतीय साधारण भालू →

← ऐलास्का के भूरे भालुओं का दल

भीतरी (देखें पृष्ठ ३३)

[फ़ोटो : पुरातत्व सर्वेक्षण भारत सरकार, नई दिल्ली]

भीमराव अंबेडकर (देखें पृष्ठ ३३–३४)

[फ़ोटो : प्रेस इन्फ़ार्मेशन ब्यूरो, नई दिल्ली]

भीलवाड़ा १. जिला, स्थिति : २५° ३' से २५° ५७' उ० अ० तथा ७४° ४' से ७५° ३०' पू० दे०। यह भारत के राजस्थान राज्य का जिला है। इसके उत्तर में अजमेर, पूर्व में बूँदी, दक्षिण में चित्तौड गढ़ एव पश्चिम में उदयपुर जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल ४,०३४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,६५७९७ (१९६१) है।

२. नगर, स्थिति : २५° २१' उ० अ० तथा ७४° ३९ पू० दे०। भीलवाडा जिले में, उदयपुर से ८० मील उत्तर-पूर्व स्थित जिले का प्रधान केंद्र है। यहाँ टीन के बरतन विशेष रूप से बनाए जाते हैं। सूती कपडा भी बनाया जाता है। पहले यहाँ एक टकसाल थी जिसमें भिलारी (Bhilari) नामक सिक्का ढलता था जिसका प्रचलन मारवाड तथा सिरोही रियासत में बहुत दिनों तक रहा। इसकी जनसंख्या ४३,४९९ (१९६१) है। [सु० चं० श०]

भीष्म आठवें वसु के अंश से उत्पन्न राजा शांतनु के पुत्र जिनकी माता गंगा थी। इनके दूसरे नाम गांगेय, शांतनव, नदीज, तालकेतु आदि हैं। बुढापे में जब शांतनु ने सत्यवती से विवाह किया तो भीष्म की ही विकट प्रतिज्ञा के कारण ऐसा संभव हो सका था। भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने और गद्दी न लेने का वचन दिया और सत्यवती के दोनो पुत्रो को राज्य देकर उनकी बराबर रक्षा करते रहे। दोनों के निःसंतान रहने पर उनकी विधवाओं की रक्षा भीष्म ने की, परशुराम से युद्ध किया, उग्रायुद्ध का वध किया। फिर सत्यवती के पूर्वपुत्र कृष्ण द्वैपायन द्वारा उन दोनों की पत्नियो से पाडु एव धृतराष्ट्र का जन्म कराया। इनके बचपन में भीष्म ने हस्तिनापुर का राज्य संभाला और आगे चलकर कौरवो तथा पाडवों की शिक्षा का प्रबंध किया। महाभारत छिड़ने पर उन्होने दोनों दलो को बहुत समझाया और अंत में कौरवो के सेनापति बने। युद्ध के अनेक नियम बनाने के अतिरिक्त इन्होंने अर्जुन से न लडने की भी शर्त रखी थी, पर महाभारत के दसवें दिन इन्हे अर्जुन पर बाण चलाना पडा। शिखंडी को सामने कर अर्जुन ने बाणो से इनका शरीर छेद डाला। बाणो की शय्या पर ५८ दिन तक पड़े पड़े इन्होने अनेक उपदेश दिए। अपनी तपस्या और त्याग के ही कारण ये अबतक भीष्म पितामह कहलाते हैं। इन्हें ही सबसे पहले तर्पण तथा जलदान दिया जाता है। [रा० द्वि०]

भीष्मक (रोमा) विदर्भ भोजवंशी शासक थे जो रुक्मिणी के पिता और कृष्ण के श्वसुर थे। इनकी राजधानी कुंडिनपुर नगरी मे थी। ये शिशुपाल तथा मगधराज जरासंध के प्रति भक्ति रखते थे। अपने अस्त्रकौशल के बल पर इन्होंने समूचे पांडव तथा वैशिक देशो पर आधिपत्य कर लिया था। पाडव सहदेव ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर दो दिनों तक युद्ध करके इन्हे पराजित किया था।

[चं० भा० पा०]

भुक्ति शासन की सुविधा के लिये गुप्त वंश के शासकों ने साम्राज्य को अनेक भुक्तियों में विभाजित किया था। ये भुक्तियाँ वर्तमान कमिश्नरी की भाँति थीं जिनमें कई विषय या जिले होते थे। भुक्तियों का शासन 'उपरिक' नाम के अधिकारियों के हाथ में था जो अधिक शक्तिशाली हो जाने पर उपरिक महाराज कहलाते थे।

गुप्तोत्तर काल में शासन की इकाई के रूप मे भुक्ति के उल्लेख अधिक नहीं मिलते। प्रतिहार साम्राज्य में ऐसे कुछ उल्लेख हैं किंतु उनकी सख्या अधिक नही है। परमार, गहडवाल, चदेल और चौलुक्यों के साम्राज्य मे, जो अधिक विस्तृत नही थे, भुक्ति का उल्लेख नहीं मिलता। बंगाल में पालों के बड़े साम्राज्य के कारण भुक्ति के उल्लेख हैं। असम में भी भुक्ति का उपयोग संभवतः पालो के साथ दीर्घकालीन संबध के कारण था। गुप्तोत्तर काल मे साम्राज्य का बहुत बड़ा भाग सामंतों के अधिकार में होने के कारण केंद्र द्वारा शासित प्रदेश इतना बड़ा नही था कि उसे भुक्ति जैसी बड़ी इकाइयो मे बाँटा जा सके।

राष्ट्रकूट वंश, जो गंगा के मैदान के संपर्क मे रहा, अपने कुछ अभिलेखो मे कुछ भुक्तियों के नाम देता है, किंतु वहाँ यह विषय का विभाजन था जो वर्तमान तालुक या तहसील जैसा छोटा था और उसमे प्रायः केवल ५० से ७० तक गाँव होते थे।

कुछ स्थलो पर भुक्ति का शासन के विभाजन के विशिष्ट अर्थ में उपयोग नही मिलता, यथा इर्दा अभिलेख में वर्धमान भुक्ति के अतर्गत दंडभुक्ति एक मंडल था। इसी प्रकार तीरभुक्ति नगर के नाम के रूप मे भी प्रयुक्त हुआ है।

गुप्तोत्तर काल मे भुक्ति का उपयोग सामंतों की जागीर के अर्थ में भी मिलता है। यह उपयोग भुक्ति के शाब्दिक अर्थ पर आधारित था। कई चाहमान अभिलेखो, कीर्तिकौमुदी और उपमिति भवप्रपच कथा मे भुक्ति का उपयोग इस अर्थ मे है।

धर्मशास्त्रों मे भुक्ति अथवा भोग का इसके शाब्दिक अर्थ के आधार पर एक विशिष्ट उपयोग मिलता है। किसी संपत्ति पर स्वामित्व के लिये आवश्यक हैं—भुक्ति और आगम (स्वत्व का अधिकार)। इसी कारण भुक्ति दो प्रकार की मानी गई है — सागमा और अनागमा। आगम और भुक्ति एक दूसरे पर अवलंबित और संबंधित हैं। बिना आगम के सपत्ति का भोग करनेवाला चोर के तुल्य कहा गया है किंतु स्वामित्व सिद्ध करने के लिये भुक्ति को अधिक महत्व दिया जाता था। संपत्ति का स्थानातर लिखित और साक्षीयुक्त होने पर यदि भुक्ति रहित है तो संशयात्मक रहेगा। धर्मशास्त्रों मे भुक्ति और आगम के तुलनात्मक महत्व और दीर्घकालीन भुक्ति की अवधि के सबध मे, जिससे स्वामित्व की प्राप्ति होती है, बडा मतभेद रहा है। उत्तरकालीन टीकाओं ने इन विरोधों को मिटाने का प्रयत्न किया है। पूर्वकालीन स्मृतियों ने २० वर्षों तक अनागम भुक्ति को स्वामित्व के लिये पर्याप्त माना है, किंतु उत्तरकालीन स्मृतियो ने इसका समय ६० वर्ष बतलाया है। प्राय. तीन पीढ़ियो तक के अनधिकारी भोग (त्रिपुरुष भोग) का स्वामित्व उत्पन्न करने मे समर्थ कहा गया है। एक विवेचन मिलता है कि मानव-स्मरण-काल के भीतर ही भुक्ति को आगम की अपेक्षा होती है, स्मार्तकाल के बाहर तीन पीढियो तक का भोग पर्याप्त है। कुछ स्मृतिकारो ने चल संपत्ति के सबध मे स्वामित्व स्थापित करनेवाले भोग की अवधि ४, ५ या ९ वर्ष की कही है जो वास्तव मे भुक्ति के महत्व की स्वीकृति मात्र है। [कृ० गो०, ल० गो०]

भुगतान शेष (Balance of payments) अतर्राष्ट्रीय स्तर पर सामान्यतः सभी देश एक दूसरे के साथ माल का आयात निर्यात करते हैं, सेवाओं का आदान प्रदान करते है और राशि का लेन देन

भी करते हैं। इस प्रकार एक निश्चित अवधि के पश्चात् इन सभी मदों पर लेन देन का यदि हिसाब निकाला जाय तो किसी एक देश को दूसरे से भुगतान लेना शेष होता है और दूसरे देश का किसी तीसरे देश का भुगतान चुकाना शेष रहता है। विभिन्न देशों के बीच इस प्रकार के पारस्परिक लेन देन के शेष को भुगतान शेष (B lance of payments) कहते हैं। यों कहना चाहिए कि किसी निश्चित तिथि को एक देश द्वारा अन्य देशों को चुकाई जानेवाली सकल राशि तथा अन्य देशों से उसे प्राप्त होनेवाली सकल राशि के अंतर को उस देश का 'भुगतान शेष' कहते हैं।

किसी एक देश को दूसरे देशों से भुगतान प्राप्त करने का अधिकार तथा अवसर तब आता है जब वह देश उन देशों को माल निर्यात करे, अथवा अपने जहाजों, बैंकों, इंश्योरेंस कपनियों तथा कुशल विशेषज्ञों द्वारा अपनी सेवाएँ प्रदान करे अथवा उन देशों के उद्योग व्यापार में अपनी पूँजी लगाकर लाभांश तथा ब्याज प्राप्त करे। ऐसा भी हो सकता है कि उस देश के द्वारा अन्य देशों को दिए गए ऋणों की मूलराशि का उसे भुगतान प्राप्त होता हो या अन्य देशों से ही उसे ऋण स्वरूप राशि मिलती हो। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि अन्य देशों के देशाटक पर्यटक उस देश में आकर माल खरीदें या सेवाओं का उपभोग करें। इन सभी परिस्थितियों में उस देश को अन्य देशों से भुगतान प्राप्त करने का अवसर होगा। इसके विपरीत, सभव है, इन्हीं मदों पर उस देश को अन्य देशों का कुछ भुगतान चुकाना भी हो। इस प्रकार किसी एक तिथि को इन सभी मदों पर एक देश की सकल लेनदारी और सकल देनदारी का अतर निकालने से उस देश का भुगतान शेष ज्ञात हो जायगा।

वैसे तो देश देश के बीच इस प्रकार का लेन देन किसी न किसी मद पर निरतर चलता रहता है, पर यदि किसी निश्चित तिथि को एक देश का विभिन्न मदों पर लेन देन का अतर निकाला जाय तो अवश्य निम्न परिस्थितियों में से कोई एक परिस्थिति सामने आती है :

(१) यदि किसी देश को अन्य देशों से प्राप्त होने वाली राशि उस देश द्वारा अन्य सभी देशों को चुकाई जाने वाली राशि से अधिक हो तो भुगतान शेष उस देश के 'अनुकूल' अथवा 'पक्ष में' कहा जायगा। (२) यदि किसी देश की अन्य देशों से लेनदारी से कम हो तो भुगतान शेष उस देश के 'प्रतिकूल' अथवा 'विपक्ष में' कहा जायगा। (३) यदि किसी देश की अन्य देशों के साथ सकल लेनदारी और देनदारी दोनों बराबर हों तो भुगतान शेष 'सतुलित' अथवा 'बराबर' कहा जायगा।

इस प्रकार भुगतान शेष 'अनुकूल', 'प्रतिकूल' व 'सतुलित' या 'पक्ष' में, 'विपक्ष' में और 'बराबर' कहा जाता है। पर इसका संबंध किसी देश विशेष के साथ सापेक्ष अर्थ में व्यक्त करना चाहिए। यह कहना सार्थक नहीं कि भुगतान शेष अनुकूल, प्रतिकूल व सतुलित है, वरन् यह कहना होगा कि अमुक तिथि को या अमुक अवधि में अमुक देश का भुगतान शेष उसके अनुकूल है, प्रतिकूल है अथवा सतुलित है।

भुगतान शेष निकालने में न केवल माल के आयात निर्यात का आधिक्य, जिसे व्यापार शेष कहते हैं, ज्ञात किया जाता है वरन् उक्त वर्णित सभी मदों से सकल लेनदारी और सकल देनदारी का अतर भी ज्ञात किया जाता है। लेन देन के निरंतर क्रम में भुगतान शेष अनिवार्यत सतुलित हो जाता है पर किसी तिथिविशेष को किसी देश का भुगतान शेष उसके अनुकूल या प्रतिकूल ही पाया जाता है।

किसी देश का अनुकूल तथा प्रतिकूल भुगतान शेष उस देश की आतरिक आर्थिक स्थिति का परिचायक माना जाता है। यदि भुगतान शेष अनुकूल रहा तो इसका अर्थ होगा उस देश द्वारा निर्यात का बाहुल्य, उत्पादन की प्रचुरता, उद्योग व्यापार की सबलता, विदेशी मुद्रा की कमाई और राष्ट्र के स्वर्णकोश में वृद्धि। इसके विपरीत प्रतिकूल भुगतान शेष का अर्थ होगा आयात का बाहुल्य, व्यापार उद्योग की शिथिलता, उत्पादन में गिरावट, विनियोग का अभाव, विदेशी मुद्रा व राष्ट्र के स्वर्णकोश में कमी। आयोजन व विकास के वर्तमान युग में विकसित देशों से पूँजीगत माल एवं कुशल विशेषज्ञों की आवश्यक मात्रा आयात करने के हेतु यह अनिवार्य हो गया है कि भुगतान शेष देश के पक्ष में अर्थात् अनुकूल बना रहे। आज प्रत्येक देश इसी उद्देश्य के लिये सतत प्रयत्नशील है। [गि० प्र० गु०]

भुज स्थिति : २३° १५' उ० अ० तथा ६९° ४८' पू० दे०। भारत में गुजरात राज्य के कच्छ जिले में स्थित एक तालुका, प्राचीन कच्छ राज्य की राजधानी एवं नगर है। इसका नाम प्राचीन सर्प देवता भुजग के नाम पर रखा गया है। यहाँ के भवनों की वास्तुकला अच्छी है। यहाँ के अधिकांश भवन १६वीं शती के बने हैं। यहाँ की एक मस्जिद तथा एक मीर का मकबरा प्रसिद्ध है। चाँदी के काम के लिये इसका नाम प्रसिद्ध है। इसकी जनसख्या ४०,१८० (१९६१) है।

भुवनेश्वर स्थिति : २०° १६' उ० अ० तथा ८५° ५०' पू० दे०। यह नगर भारत के उड़ीसा राज्य की नवीन राजधानी है। रेल द्वारा यह कलकत्ता और मद्रास से मिला हुआ है। राजधानी हो जाने के बाद बननेवाली इमारतें बड़ी सुंदर तथा सुव्यवस्थित ढंग से बनी हैं। राजधानी होने से इसका प्रशासकीय महत्व बहुत बढ़ गया है। भुवनेश्वर प्राचीन मंदिरों के लिये प्रसिद्ध है। इनमें से कुछ मंदिर तो १२वीं शती के बने हैं तथा कुछ बाद के बने हैं। अधिकांश मंदिरों में शिवलिंग प्रतिष्ठित है। ऐसे मंदिरों में लिंगराज मंदिर, अनंत वासुदेव मंदिर, भुवनेश्वर मंदिर, ब्रह्मेश्वर मंदिर, भास्करेश्वर मंदिर, परशुरामेश्वर मंदिर, तथा राजरानी मंदिर अधिक महत्व के हैं। इनमें लिंगराज मंदिर सबसे अधिक विशाल है। लिंगराज मंदिर के प्रांगण में ही भगवती का मंदिर है। इस मंदिर के चार प्रमुख भाग देवल, मोहन, भाग मडप और नाट्य मंदिर हैं। उपर्युक्त मंदिरों में से प्रथम दोनों तो एक साथ निर्मित समझे जाते हैं तथा अन्य भागों का निर्माण बाद में हुआ समझा जाता है। यहाँ का विशाल शिवलिंग, ग्रेनाइट पत्थर का, लगभग ८ फुट व्यास का और ८ फुट ऊँचा है। भास्करेश्वर मंदिर का लिंग और भी विशाल है। यह धरती से मंदिर की ऊपरी मंजिल (Upper story) तक पहुँच जाता है। नगर में तीन पवित्र कुंड हैं : एक बिंदुसागर, दूसरा सहस्रलिंग और तीसरा पापनाशिनी, जिसमें बिंदुसागर या गोसागर १,४०० फुट लंबा और ११०० फुट चौड़ा, एवं सबसे बड़ा है। नगर की जनसख्या ३८,२११ (१९६१) है।

भुवनेश्वर (देखें पृ० ३६-३७)

चित्र १. धौली की सीमांत शिला (हाथी के आकार में)।
इस पर अशोक के शिलालेख अंकित हैं।

चित्र २. राज्य संग्रहालय (उड़ीसा)
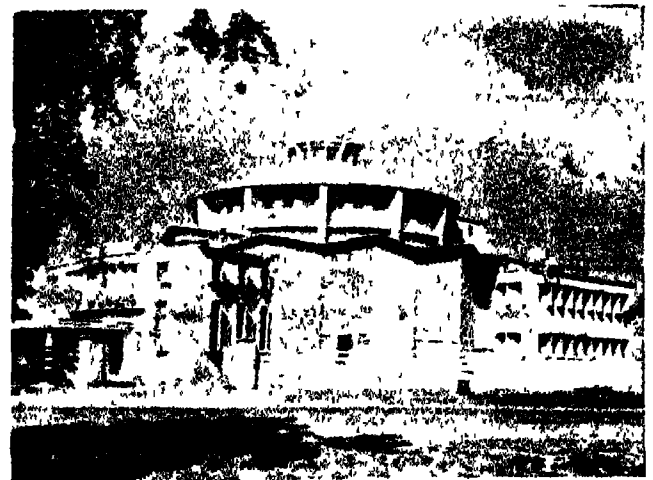
चित्र ३. रवींद्र मंडप

[फोटो : सूचना विभाग, उड़ीसा सरकार, भुवनेश्वर]

भुवनेश्वर (देखें पृ० ३६–३७)
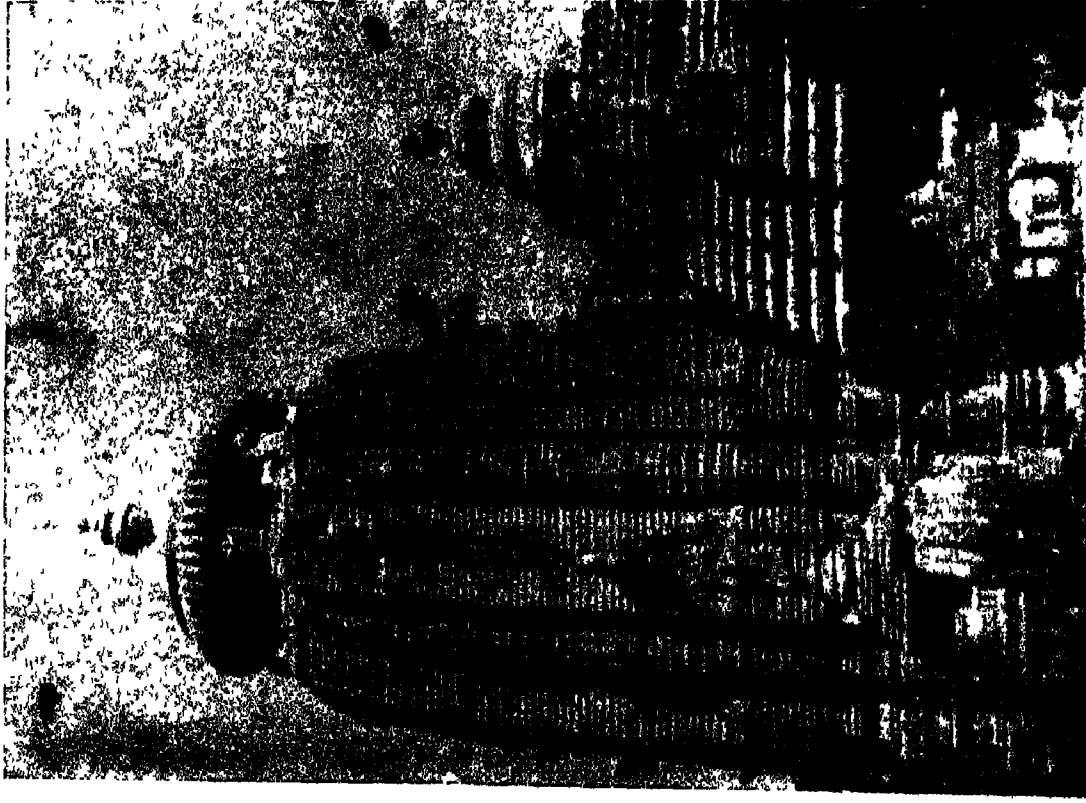
चित्र ४. लिंगराज मंदिर

चित्र ५.
राजारानी मंदिर

[फ़ोटो : सूचना विभाग, उड़ीसा सरकार, भुवनेश्वर]

भुवनेश्वर ही पुराणप्रसिद्ध एकाम्र क्षेत्र नामक प्रसिद्ध तीर्थ है जो शिवक्षेत्र वाराणसी के समान महत्वपूर्ण माना जाता है। यहाँ का लिंगराजमंदिर अपनी पवित्रता और कलात्मकता के लिये प्रसिद्ध है। तीर्थयात्री 'विंदुसागर' मे स्नानपूर्वक आठ देवताओं का दर्शन कर पुण्य लाभ करते है।

भूकंप, भूचाल या भूडोल भूपर्पटी के वे कपन हैं जो धरातल को कपा देते है और इसे आगे पीछे हिलाते हैं। पृथ्वी मे होनेवाले इन कंपनों का स्वरूप तालाब में फेंके गए एक कंकड़ से उत्पन्न होनेवाली लहरों की भाँति होता है। भूकप बहुधा आते रहते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि विश्व मे प्रति तीन मिनट में एक भूकंप होता है। साधारणतया भूकप के होने के पूर्व कोई सूचना नही प्राप्त होती। यह अकस्मात् हो जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भूकप पृथ्वी स्तर के स्थानातरण से होता है। इस स्थानातरण से पृथ्वीतल पर ऊपर और नीचे, दाहिनी तथा बाईं ओर गति उत्पन्न होती है और इसके साथ साथ पृथ्वी मे मरोड़ भी होते हैं। भूकप गति से पृथ्वी के पृष्ठ पर की तरगें भाग पर पानी के तल के सदृश तरगें उत्पन्न होती हैं। १८९० ई० मे असम मे जो भयकर भूकप हुआ था उसकी लहरें धान के खेतो मे स्पष्टतया देखी गई थी। पृथ्वी की लचीली चट्टानो पर किसी प्रहार की प्रतिक्रिया रबर की प्रतिक्रिया की भाँति होती है एव चट्टानो मे सकोचन तथा विकृति, या तरगें उत्पन्न होती हैं। ऐसी तरंगों के चढ़ाव उतार प्राय. एक फुट तक होते है। तीव्र कपन से धरती फट जाती है और दरारो से बालू, मिट्टी, जल और गंधकवाली गैसें कभी कभी बडे तीव्र वेग से निकल आती हैं। इन पदार्थों का निकलना उस स्थान की भूमिगत अवस्था या अध स्तल अवस्था पर निर्भर करता है। जिस स्थान पर ऐसा विक्षोभ होता है वहाँ पृथ्वी तल पर वलन, या विरूपण, अधिक तीक्ष्ण होता है। ऐसा देखा गया है कि भूकंप के कारण पृथ्वी में अनेक तोड मोड उत्पन्न हो जाते हैं।

बडे बडे भूकपों के कुछ पहले, या साथ साथ, भूगर्भ से ध्वनि उत्पन्न होती है। यह ध्वनि भीषण गड़गड़ाहट के सदृश होती है। भूकप की यह विकट गड़गड़ाहट मटीली जगहो की अपेक्षा पथरीली जगहो मे अधिक शीघ्रता से सुनी जाती है। भूकप से आभ्यंतर भाग की अपेक्षा पृथ्वी के तल पर कंपन अधिक तीव्र होता है। असम के सन् १८९७ वाले भूकप की ध्वनि रानीगज की कोयले की खानों में सुनी गई थी, पर उस भूकंप का अनुभव वहाँ नही हुआ था।

भूकप का वितरण — अब तक जितने भूकंप इस भूमडल पर हुए हैं, यदि उन सबका अभिलेख हमारे पास होता तो उससे स्पष्ट हो जाता कि पृथ्वी तल पर कोई ऐसा स्थान नही है जहाँ कभी न कभी भूकप न आया हो। जो क्षेत्र आज भूकप शून्य समझे जाते हैं, वे कभी भूकप क्षेत्र रह चुके हैं। इधर भूकंप के संबध में जो वैज्ञानिक खोज बीन हुई है, उनसे ज्ञात हुआ है कि भूकंप क्षेत्र दो वृत्ताकार कटिबंध मे वितरित है। इनमे से एक भूकप प्रदेश न्यूज़ीलैंड के निकट दक्षिणी प्रशांत महासागर से आरंभ होकर, उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ता हुआ चीन के पूर्व भाग में आता है। यहाँ से यह उत्तर-पूर्व की ओर मुड़कर जापान होता हुआ, बेरिंग मुहाने को पार करता है और फिर दक्षिणी अमरीका के दक्षिण-पश्चिम की ओर होता हुआ अमरीका की पश्चिमी पर्वत श्रेणी तक पहुचता है। दूसरा भूकप प्रदेश जो वस्तुत: पहले की शाखा ही है, ईस्ट इडीज द्वीप समूह से प्रारंभ होकर बगाल की खाडी पार कर बर्मा, हिमालय, तिब्बत तथा ऐल्प्स से होता हुआ दक्षिण पश्चिम घूमकर ऐटलैंटिक महासागर पार करता हुआ, पश्चिमी द्वीपसमूह (वेस्ट इंडीज) होकर मेक्सिको मे पहलेवाले भूकप प्रदेश से मिल जाता है। पहले भूकप क्षेत्र को प्रशात परिधि पेटी (Circum pacific belt) कहते हैं। इसमे ६८ प्रतिशत भूकंप आते हैं और दूसरे को रूमसागरीय पेटी (Mediterranean belt) कहते हैं। इसके अतर्गत समस्त विश्व के २१ प्रति शत भूकप आते हैं। इन दोनो प्रदेशो के अलावा चीन, मचूरिया और मध्य अफ्रीका मे भी भूकंप के प्रमुख केंद्र हैं। समुद्रो मे भी हिंद, ऐटलैंटिक और आर्कटिक महासागरों मे भूकंप के केंद्र हैं।

भूकप के कारण — अत्यत प्राचीन काल से भूकंप मानव के समुख एक समस्या बनकर उपस्थित होता रहा है। प्राचीन काल मे इसे दैवी प्रकोप समझा जाता रहा है। प्राचीन ग्रथो मे, भिन्न भिन्न सभ्यता के देशो मे भूकप के भिन्न भिन्न कारण दिए गए हैं। कोई जाति इस पृथ्वी को सर्प पर, कोई बिल्ली पर, कोई सुअर पर, कोई कछुवे पर और कोई एक बृहत्काय राक्षस पर स्थित समझती है। उन लोगों का विश्वास है कि इन जंतुओ के हिलने डुलने से भूकप होता है। अरस्तू (३८४ ई० पू०) का विचार था कि अध:स्तल की वायु जब बाहर निकलने का प्रयास करती है, तब भूकप आता है। १६वी और १७वी शताब्दी मे लोगो का अनुमान था कि पृथ्वी के अदर रासायनिक कारणो से तथा गैसो के विस्फोटन से भूकंप होता है। १८वी शती मे यह विचार पनप रहा था कि पृथ्वी के अदरवाली गुफाओ के अचानक गिर पडने से भूकप आता है। १८७४ ई० मे वैज्ञानिक एडवर्ड जुस (Edward Suess) ने अपनी खोजो के आधार पर कहा था कि 'भूकप भ्रश की सीध मे भूपर्पटी के खडन या फिसलने से होता है।' ऐसे भूकपों को विवर्तनिक भूकंप (Tectonic Earthquake) कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं। (१) सामान्य (Normal), जबकि उद्गम केंद्र की गहराई ४८ किमी० तक हो, (२) माध्यम (Intermediate), जबकि उद्गम केंद्र की गहराई ४८ से २४० किमी० हो तथा (३) गहरा उद्गम (Deep Focus), जबकि उद्गम केंद्र की गहराई २४० से १,२०० किमी० तक हो।

इनके अलावा दो प्रकार के भूकप और होते है ज्वालामुखीय (volcanic) और निपात (collapse)। १८वी शती मे भूकंपों का कारण ज्वालामुखी समझा जाने लगा था, परंतु शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि अनेक प्रलयकारी भूकपो का ज्वालामुखी से कोई सबध नही है। हिमालय पर्वत मे कोई ज्वालामुखी नहीं है, परंतु हिमालय क्षेत्र मे गत सौ वर्षों मे अनेक भूकंप हुए हैं। अति सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर पता चला है कि ज्वालामुखी का भूकप पर परिणाम अल्प क्षेत्र मे ही सीमित रहता है। इसी प्रकार निपात भूकंप का, जो चूने की चट्टान मे बनी कदरा, या खाली की हुई खानों की, छत के निपात से उत्पन्न होते है, भी परिणाम अल्प क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। कभी कभी तो केवल हल्के कंप मात्र ही होते हैं।

भूविज्ञानियों की दृष्टि भूकंप के कारणों को खोज निकालने के लिये पृथ्वी के आभ्यांतरिक स्तरों की ओर गई। भूवैज्ञानिकों के अनुसार भूकंप वर्तमान युग में उन्हीं पर्वतप्रदेशों में होते हैं जो पर्वत भौमिकी की दृष्टि से नवनिर्मित हैं। जहाँ ये पर्वत स्थित हैं वहाँ भूमि की सतह कुछ ढलवाँ है, जिससे पृथ्वी के स्तर कभी कभी अकस्मात् बैठ जाते हैं। स्तरों का इस प्रकार से बैठना, पृथ्वी के खोखलों में चट्टानों के गिरने से, अधिक दबाव के कारण ठोस स्तरों के फटने या एक चट्टान के दूसरी चट्टान पर फिसलने से होता है। जैसा ऊपर भी कहा जा चुका है, पृथ्वी स्तर की इस अस्थिरता से जो भूकंप होते हैं उन्हें विवर्तनिक भूकंप कहते हैं। भारत के सब भूकंपों का कारण विवर्तनिक भूकंप हैं।

भूकंप के कारणों पर निम्नलिखित विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है :

(१) प्रत्यास्थ प्रतिक्षेप सिद्धांत (Elastic Rebound Theory) — सन् १९०६ में हैरी फील्डिंग रीड ने इस सिद्धांत को प्रतिपादित किया था। यह सिद्धांत सैन फ्रैंसिस्को के भूकंप के पूर्ण अध्ययन तथा सर्वेक्षण के पश्चात् प्रकाश में आया था। इस सिद्धांत के अनुसार भूपर्पटी पर नीचे से कोई बल लंबी अवधि तक कार्य करे, तो वह एक निश्चित समय तथा बिंदु तक (अपनी क्षमता तक) उस बल को सहेगी और उसके पश्चात् चट्टानों में विकृति उत्पन्न हो जाएगी। विकृति उत्पन्न होने के बाद भी यदि बल कार्य करता रहेगा, तो चट्टानें टूट जाएँगी। इस प्रकार भूकंप के पहले भूकंप गति (earthquake motion) बनानेवाली ऊर्जा चट्टानों में प्रत्यास्थ विकृति ऊर्जा (elastic strain energy) के रूप में संचित होती रहती है। टूटने के समय चट्टानें भ्रंश के दोनों ओर अविकृति की अवस्था को प्रतिक्षिप्त (rebound) होती हैं। प्रत्यास्थ ऊर्जा भूकंपतरंगों के रूप में मुक्त होती है। प्रत्यास्थ प्रतिक्षेप सिद्धांत केवल भूकंप के उपर्युक्त कारण को, जो भौमिकी की दृष्टि से भी समर्थित होता है ही बतलाता है।

(२) पृथ्वी के शीतल होने का सिद्धांत — भूकंप के कारणों में एक अत्यंत प्राचीन विचार पृथ्वी का ठंढा होना भी है। पृथ्वी के अंदर (करीब ७०० किमी० या उससे अधिक गहराई में) के ताप में भूपर्पटी के ठोस होने के बाद भी कोई अंतर नहीं आया है। पृथ्वी अंदर से गरम तथा प्लास्टिक अवस्था में है और बाहरी सतह ठंढी तथा ठोस है। यह बाहरी सतह भीतरी सतहों के साथ ठीक ठीक अनुरूप नहीं बैठती तथा निपतित होती है और इस तरह से भूकंप होते हैं।

(३) समस्थिति (Isostasy) सिद्धांत — इसके अनुसार भूतल के पर्वत एवं सागर धरातल एक दूसरे को तुला की भाँति संतुलन में रखे हुए हैं। जब क्षरण आदि द्वारा ऊँचे स्थान की मिट्टी नीचे स्थान पर जमा हो जाती है, तब संतुलन बिगड़ जाता है तथा पुन: संतुलन रखने के लिये जमाववाला भाग नीचे धँसता है और यह भूकंप का कारण बनता है।

(४) महाद्वीपीय विस्थापन प्रवाह सिद्धांत — (Continental drift) — अभी तक अनेकों भूविज्ञानियों ने महाद्वीपीय विस्थापन पर अपने अपने मत प्रतिपादित किए हैं। इनके अनुसार सभी महाद्वीप पहले एक पिंड (mass) थे, जो पीछे टूट गए और धीरे धीरे विस्थापन से अलग अलग होकर आज की स्थिति में आ गए। इस महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धांत के प्रतिपादक ऐल्फ्रेड वैगनर हैं (देखें महाद्वीप)। इस परिकल्पना में जहाँ कुछ समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है वहीं विस्थापन के लिये पर्याप्त मात्रा में आवश्यक बल के अभाव में यह परिकल्पना महत्वहीन भी हो जाती है। इसके अनुसार जब महाद्वीपों का विस्थापन होता है तब पहाड़ ऊपर उठते हैं और उसके साथ ही भ्रंश तथा भूकंप होते हैं।

रेडियोऐक्टिवता (Radioactivity) सिद्धांत — सन् १९२५ में जॉली ने रेडियोऐक्टिव ऊष्मा के, जो महाद्वीपों के आवरण के अंदर एकत्रित होती है, चक्रीय प्रभाव के कारण भूकंप होने के संबंध में एक सिद्धांत का विकास किया। इसके अनुसार रेडियोऐक्टिव ऊष्मा जब मुक्त होती है तब महाद्वीपों के अंदर की चीजों को पिघला देती है और यह द्रव छोटे से बल के कार्य करने पर भी स्थानांतरित किया जा सकता है, यद्यपि इस सिद्धांत की कार्यविधि कुछ विचित्र सी लगती है।

संवहन धारा (Convection Current) सिद्धांत — अनेक सिद्धांतों में यह प्रतिपादित किया गया है कि पृथ्वी पर संवहन धाराएँ चलती हैं। इन धाराओं के परिणामस्वरूप सतही चट्टानों पर कर्षण (drag) होता है। ये धाराएँ रेडियोऐक्टिव ऊष्मा द्वारा संचालित होती हैं। इस कार्यविधि के परिणामस्वरूप विकृति धीरे धीरे बढ़ती जाती है। कुछ समय में यह विकृति इतनी अधिक हो जाती है कि इसका परिणाम भूकंप होता है।

उद्गम केंद्र और अधिकेंद्र (Focus and Epicentre) सिद्धांत — भूकंप का उद्गम केंद्र पृथ्वी के अंदर वह बिंदु है जहाँ से विक्षेप शुरू होता है। अधिकेंद्र (Epicentere) पृथ्वी की सतह पर उद्गम केंद्र के ठीक ऊपर का बिंदु है।

भूकंपों की भविष्यवाणी के संबंध में रूस के ताजिक विज्ञान अकादमी के भूकंप विज्ञान तथा भूकंप प्रतिरोधी निर्माण संस्थान के प्रयोगों के परिणामस्वरूप हाल में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यदि भूकंपों के दुबारा होने का समय अभिलेखित कर लिया जाय और विशेष क्षेत्र में पिछले इसी प्रकार के भूकंपों का काल विदित रहे, तो आगामी अधिक शक्तिशाली भूकंप का वर्ष निश्चित किया जा सकता है। भूकंप विज्ञानियों में एक संकेत प्रचलित है — भूकंपों की आवृत्ति की कालनीति का कोण — और शक्तिशाली भूकंप की दशा का इस कालनीति में परिवर्तन आता है। इसकी जानकारी के पश्चात् भूकंपीय स्थल पर यदि तेज विद्युतीय सगणक उपलब्ध हो सके, तो दो तीन दिन के समय में ही शक्तिशाली भूकंप के संबंध में तथा संबद्ध स्थान के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है और भावी अधिकेंद्र तक का अनुमान लगाया जा सकता है।

भूकंप का प्रभाव — भूकंप का प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों पर अलग अलग ढंग से पड़ता है। पेड़ गिर जाते हैं तथा बड़े बड़े शिलाखंड सरक जाते हैं। अल्पकाल के लिये बहुधा छोटी अथवा विशाल झीलें बन जाती हैं। विशाल क्षेत्र धँस जाते हैं और कुछ भूखंड सदैव के लिये उठ जाते हैं। कई दरारें खुलती एवं बंद होती हैं। सोते बंद हो जाते हैं तथा सरिताओं के मार्ग बदल जाते हैं। भूकंप तरंगों का

सबसे विध्वंसक प्रभाव मानव निर्मित आकारों, जैसे रेलमार्गों. सड़कों, पुलों, विद्युत् एवं टेलीग्राफ के तारों आदि पर पड़ता है। सहस्रों वर्षों से स्थापित सभ्यता एवं आवास को ये भूकंप क्षण भर में नष्ट कर देते हैं। इनके कारण अंशों का, विशेषकर अननुसारी (discordant) अंशों का होना बताया जाता है।

पृथ्वी का झटका (earth lurches) — भूकंप के कारण बहुधा मिट्टी इस तरह से फेंकी जाती है कि नदीतल के समांतर में दरारें पड़ जाती हैं। यहाँ पर जड़त्व गुरुत्व से अधिक महत्वपूर्ण कारण है। भूकंप से भूकंपी फव्वारे इत्यादि भी बन जाते हैं तथा पहाड़ों की ढलानों पर पड़ी हुई चट्टानें तथा अन्य चीजें वहाँ से लुढ़क कर नीचे आ जाती हैं। समुद्र में भूकंप से सुनामिस (Tsunamis) नामक तरंगें पैदा होती हैं। ये समुद्र में छोटे छोटे ज्वालामुखी के फूटने से, तूफान से, या दाब में एकाएक परिवर्तन होने से उत्पन्न होती हैं। ये जापान और हवाई द्वीपसमूह के निकट अधिक संख्या में अभिलिखित की गई हैं तथा इनसे समुद्रतटों पर बहुत क्षति होती है।

भूकंपलेखी (Siesmograph) — भूकंप का पता लगाने के लिये जो यंत्र बने हैं उन्हें भूकंपलेखी कहते हैं। भूकंप के कारण, प्रभाव तथा अन्य प्रकार के संबंधित विषयों का अध्ययन भूकंपविज्ञान (Seismology) के अंतर्गत होता है। भूकंपलेखी से अब पृथ्वी के अंदर तेल रहने का भी पता लगाया जाता है (देखें भूकंपमापी)।

[फू० स० व०]

भूकंपमापी (Seismometer) भूगति के एक घटक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विधि से अधिक से अधिक यथार्थतापूर्वक अभिलिखित करने वाला उपकरण है। सुपरिचित प्राकृतिक भूकंपों, भूमिगत परमाणु परीक्षण एवं पेट्रोलियम अन्वेषण आदि में मनुष्यकृत विस्फोटों तथा तेज हवा, समुद्री तरंग, तेज मानसून एवं समुद्री क्षेत्र में तूफान या अवनमन आदि से उत्पन्न सूक्ष्मकंपों (microseism) के कारण भूगति उत्पन्न हो सकती है। उचित रीति से अनुस्थापित (oriented), क्षैतिज भूकंपमापी भूगति के पूर्व-पश्चिम या उत्तर दक्षिण के घटक को अभिलिखित करता है और ऊर्ध्वाधर भूकंपमापी ऊर्ध्वाधर गति,
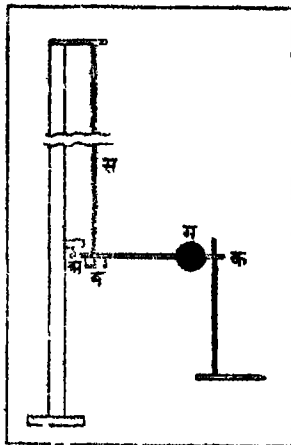
चित्र १. ग्रे तथा यूइंग का ऊर्ध्वाधर गति भूकंपमापी

अर्थात् भूगति के ऊर्ध्वाधर घटक को अभिलिखित करता है। १९वीं शताब्दी के मध्यकाल के लगभग यांत्रिक भूकंपविज्ञान की नींव पड़ी, भूकंपमापियों का निर्माण हुआ और भूकंप अभिलेखन के लिये वेधशालाओं के जाल बिछ गए। इन दिनों रॉबर्ट मैलेट (Robert Mallet) द्वारा किया गया कार्य महत्वपूर्ण था। १८९२ ई० में जापान में जॉन मिल्न (John Milne) ने नॉट (Knott), यूइंग (Ewing) और ग्रे (Gray) के सहयोग से संहत भूकंपमापी (compact seismometer) विकसित किया और तभी से विश्व के अनेक भागों से यथार्थ यांत्रिक आँकड़े एकत्र करने में भूकंपमापियों का उपयोग होने लगा। भारत की कुछ प्रधान वेधशालाओं (बंबई, कलकत्ता) में मिल्न भूकंपमापियों का उपयोग १८९८ ई० में प्रारंभ हुआ। १९०५ ई० में शिमला, बंबई और कलकत्ते की वेधशालाओं में ओमोरी-यूइंग भूकंपमापी आ गए थे। इसके बाद अन्यान्य भूकंपमापियों का उपयोग अनेक वेधशालाओं में प्रारंभ हुआ।

यांत्रिक भूकंपमापी (जैसे मिल्न-शॉ भूकंपलेखी) में एक क्षैतिज या ऊर्ध्वाधर लोलक होता है, जो उपलब्ध आधार शैल से सन्निहित पाए पर खड़ा रहता है, या पृथ्वी में काफी गहराई में स्थित रहता है। काँपती पृथ्वी के कारण लोलक में उत्पन्न कंपनों को उपयुक्त युक्ति से प्रवर्धित और अभिलिखित किया जाता है। अवांछित दोलनों
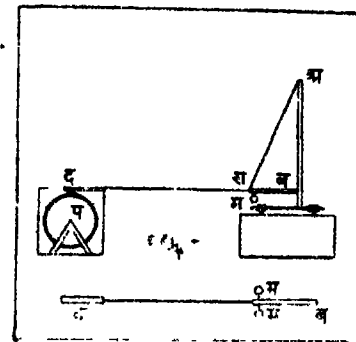
चित्र २. मिल्न (Milne) का भूकंपमापी

अ ब = लोहे का स्तंभ, ब द = लोलक की बल्ली, अ स = सहारा देनेवाला रेशम का डोरा, म = पीतल की दो गेंदों का लोलक तथा प = घूमने वाला बेलन, जिसपर ब्रोमाइड कागज चिपकाया है। द पर एक रेखाछिद्र तथा उसके नीचे, खोले के अंदर, समकोण दिशा में दूसरा रेखाछिद्र है। निकट के लैंप से प्राप्त तथा एक दर्पण से परावर्तित प्रकाश दोनों छिद्रों में गुजरकर, घूमते हुए ब्रोमाइड कागज पर गिरता है और इस प्रकार कंपनों के चित्र उसपर बन जाते हैं।

(oscillations) को निस्यंदित करने के लिये लोलक प्रायः क्रांतिक रूप से अवमंदित होता है। ऊर्ध्वाधर उपकरण के निम्नलिखित गणितीय विवेचन से भूकंपमापी का कार्यकारी सिद्धांत स्पष्ट हो जायगा।

मान लें कि किसी इमारत की धरन के स्थिर बिंदु से एक भारी संहति म (m), जो भारहीन कमानी से संबद्ध है, लटकाई जाती है। कमानी में निम्नलिखित प्रत्येक स्थिति में विस्थापन होगा :

(अ) निलंबित संहति पर अधोमुख बल के कार्य करने पर,

तथा (ब) धरन के स्थिर बिंदु (निलबन बिंदु) में किसी स्थिर अक्ष के संदर्भ में ऊर्ध्वमुख नियतगति (prescribed motion) होने पर।

इसलिये पृथ्वी की गति (यहाँ धरन की गति) चाहे जो हो, उसे यह मानकर निर्धारित किया जाता है कि निलंबित संहति पर एक बल कार्य करता है, जो संहति और धरन के ऋणात्मक त्वरण के गुणन के बराबर होता है। अत गति का समीकरण यह होगा :

$$\left.\begin{array}{l} \frac{\text{ता}^2 \text{ वि}}{\text{ता स}^2} + २ \text{ का} \frac{\text{ता वि}}{\text{ता स}} + \frac{\text{प्र}}{\text{स}} \text{ वि} = - \text{त्व स} \\ \left[\frac{d^2 Z}{d t^2} + 2 f \frac{dz}{dt} + \frac{k}{m} Z = - f''(t) \right] \end{array} \right\} \cdots (१)$$

जहाँ वि (Z) = विस्थापन, का (f) = क्रांतिक अवमंदन कारक, प्र (k) = कमानी का प्रत्यावर्तन बल निर्धारित करनेवाला प्रत्यास्थ स्थिरांक, स (m) = संहति और त्व [f''] = त्वरण तथा स (t) समय है। उपयुक्त स्थितियों मे दो विभिन्न प्रकार के अभिलेख उपलब्ध होते हैं।

प्रथम स्थिति — यदि प्रत्यावर्तन बल बहुत छोटा (k = ०), और साथ ही अवमंदन अत्यल्प (f = ०) हो, तो समीकरण का निम्नलिखित रूप हो जाता है :

$$\left.\begin{array}{l} \frac{\text{ता}^2 \text{ वि}}{\text{ता स}^2} = - \text{ त्व स} = - \frac{\text{ता}^2 \text{ त्व स}}{\text{ता स}^2} \\ \left[\frac{d^2 z}{d t^2} = - f''(t) = - \frac{d^2 f(t)}{d t^2} \right] \end{array} \right\} \cdots\cdots (२)$$

समीकरण (२) का इन परिसीमा प्रतिबंधों के साथ समाकलन करने पर कि प्रारंभ मे स (t) = o, वि(z) = ० और ता वि / ता स (d'/dt) = ० हो, तो हमे वि = − त्व स [z = − f'' (t)] प्राप्त होता है, अर्थात् संहति की वास्तविक गति पृथ्वी (धरन) की गति के ठीक विपरीत होती है। यह आदर्श भूकंपमापी है।

दूसरी स्थिति — यदि पहले समीकरण में प्रत्यावर्तन बल अन्य कारकों की तुलना मे बहुत बड़ा है, तो समीकरण घटकर

$$\left.\begin{array}{l} \frac{\text{प्र}}{\text{सं}} \text{ वि} = - \text{ त्व स} \\ \left[\frac{k}{m} Z = - f''(t) \right] \end{array} \right\} \cdots\cdots (३)$$

हो जायगा। यहाँ विस्थापन वि (Z) पृथ्वी (धरन) के ऋणात्मक त्वरण का अनुपाती है। पृथ्वी के त्वरण का अभिलेखन करने के लिये यह भी एक आदर्श उपकरण है।

जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, कुछ भूकंपलेखियों को भूकंपमापी के रूप मे और कुछ को त्वरणमापी के रूप मे अभिकल्पित किया जाता है। यांत्रिक भूकंपलेखियों मे मिल्न-शॉ और वुड ऐंडरसन उपकरण प्रधान हैं और भारत एवं विदेश की अनेक वेधशालाओं मे काम में आते हैं।

मिल्न-शॉ क्षैतिज घटक भूकंपमापी का उपकरणी विवरण — लोलक का आवर्तकाल स$_०$ (time period t_0) १० से १२ सेकंड तक तथा अवमंदन अनुपात २० : १ होता है। आवर्धन प्रकाशिक सहित यांत्रिक है और स्थैतिक (static) आवर्धन १५० से २५० तक परिवर्तनीय है। लगभग ०·५ किलोग्राम भार की संहति ५० सेंमी० लंबे बल्ले (boom) से जोड़ दी जाती है। अवमंदन युक्ति के रूप में तांबे की एक पट्टिका लोलक से जोड़ दी जाती है, जो चार नालचुंबकों के ध्रुवों के बीच गतिशील रहता है। चुंबकों की स्थिति का समंजन कर अवमंदन को समंजित किया जा सकता है।

वुड-ऐंडरसन (क्षैतिज) भूकंपमापी का उपकरणी विवरण — लगभग ०·७ ग्राम भार का तांबे का एक छोटा बेलन एक तने हुए ऊर्ध्वाधर तार पर उत्केंद्रत: चढ़ा होता है। तार की मरोड़ी (torsiona) प्रतिक्रिया से नियंत्रण होता है। आवर्तकाल स$_०$ (t_0) लगभग एक सेकंड होता है। शक्तिशाली चुंबक के ध्रुवों के बीच लटकती संहति के कारण क्रांतिक (critical) अवमंदन होता है। उपकरण का स्थैतिक आवर्धन प्राय: १,५०० से २,००० तक है।

विद्युच्चुंबकीय भूकंपमापी — विद्युच्चुंबकीय भूकंपलेखी, या भूकंपमापी, में जड़त्वीय द्रव्यमान (inertial mass) चुंबक के ध्रुवों के मध्य गतिशाली रहता है। चालक तार की एक कुंडली संहति के चारों ओर लपेट दी जाती है, जिससे वह विद्युज्जनित्र (electric generator) की तरह काम करने लगती है। कुंडली मे प्रेरित विद्युद्धारा जड़त्वीय द्रव्यमान और चुंबक के बीच की सापेक्ष गति, अर्थात् पृथ्वी के कंपन, पर निर्भर करती है। इस रीति से उत्पन्न विद्युद्धारा को उपयुक्त धारामापी द्वारा अभिलिखित कर लिया जाता है। बैनियॉफ उपकरण इस प्रकार के भूकंपमापी का अच्छा उदाहरण है। यह उपकरण क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर दोनों प्रकार का होता है।

ये सभी उपकरण भूकंप या सूक्ष्मभूकंप को अभिलिखित करने के लिये अभिकल्पित होते हैं। इनके अलावा अनेक प्रकार के भूकंपमापी हैं, जो छोटे, सुवाह्य एवं प्राय: विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत के अनुसार उपयुक्त अवमंदन आदि के साथ अभिकल्पित हैं और आजकल तेल आदि के भूकंपी पूर्वेक्षण म मनुष्यकृत विस्फोटनों से उत्पन्न अल्पकालिक तरंगों को अभिलिखित करने मे काम आते हैं।

भूकंपमापियों के अभिलेखन — भूकंपमापियों का अभिकल्पन विभिन्न प्रकार की भूकंप तरंगों, प्रा (P), प्राथमिक, गौ (S), गौण तथा पृष्ठ तरंग आदि का अभिलेखन करने के लिये होता है, जो भूकंप के स्रोत से इस प्रकार प्रसर्जित (emanated) होती हैं कि कोई भी उनकी विभिन्न प्रावस्थाओं (phases) के अंतर को अभिलेख से जान सकता है। भूकंप के अधिकेंद्र की (epicentral) दूरी और फोकस की गहराई के अध्ययन के दृष्टिकोण से यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। किसी भी प्रेक्षण स्थल पर प्रा (P) और गौ (S) तरंगों के अभिलिखित अंतराल (interval) मे प्रा (P) और गौ (S) तरंगों का वेग ज्ञात कर लिया जाता है, जिससे भूकंप के अधिकेंद्र की दूरी सीधे सीधे ज्ञात हो जाती है। इसी प्रकार स्थानीय भूकंपों के अभिलेख का अध्ययन पृथ्वी की पटलीय परतों और सुदूर होनेवाले भूकंपों से संबद्ध पृथ्वी के अंतराश की उपयोगी सूचनाएँ प्रदान करता है। उल्लेखनीय है कि भूकंपमापियों के अभिलेखों के आधार पर, जो उन दिनों पर्याप्त सूक्ष्मग्राही न थे, ओल्डैम (Oldham) ने सुझाया कि पृथ्वी का क्रोड ठोस नहीं, संभवत: तरल है। आज जब भूकंपविज्ञान का विकास भूकंप इंजीनियरी

और भूकंप सर्वेक्षण के रूप में हो चुका है, भूकंप और सूक्ष्मभूकंप के अध्ययन के अतिरिक्त, भूकंपमापियों के महत्व की अत्युक्ति नहीं की जा सकती। [कि० चं० अ०]

भूक्षरण प्राकृतिक कारणों से पृथ्वीपृष्ठ के कुछ अंशों के स्थानांतरण को कहते हैं। ये कारण ताप का परिवर्तन, वायु, जल तथा हिम हैं। इनमें जल मुख्य है।

समुद्रतट पर लहरों और ज्वारभाटा की क्रिया के कारण पृथ्वी के भाग टूटकर समुद्र में विलीन होते जाते हैं। मिट्टी अथवा कोमल चट्टानों के सिवाय कड़ी चट्टानों का भी इन क्रियाओं से धीरे धीरे अपक्षय होता रहता है। वर्षा और तुषार भी इस क्रिया में सहायक होते हैं। वर्षा के जल में घुली हुई गैसों की रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप, कड़ी चट्टानों का अपक्षय होता है। ऐसा जल भूमि में घुसकर अधिक विलेय पदार्थों के कुछ अंश को भी घुला लेता है और इस प्रकार अलग्न हुए पदार्थों को बहा ले जाता है।

वर्षा, पिघली हुई ठोस बर्फ और तुषार निरंतर भूमि का क्षरण करते हैं। इस प्रकार टूटे हुए अंश नालों या छोटी नदियों से बड़ी नदियों में और इनसे समुद्र में पहुंचते रहते हैं।

नदियों का अथवा अन्य बहता हुआ जल किनारों तथा जल की भूमि को काटकर, मिट्टी को ऊँचे स्थानों से नीचे की ओर बहा ले जाता है। ऐसी मिट्टी बहुत बड़े परिमाण में समुद्र तक पहुंच जाती है और समुद्र पाटने का काम करती है। समुद्र में गिरनेवाले जल में मिट्टी के सिवाय विभिन्न प्रकार के घुले हुए लवण भी होते हैं।

दिन में धूप से तप्त चट्टानों में पड़ी दरारें फैल जाती हैं तथा उनमें अड़े पत्थर नीचे सरक जाते हैं। रात में ठंढ पड़ने या वर्षा होने पर चट्टानें सिकुड़ती हैं और दरारों में पड़े पत्थरों के कारण दरारें और बड़ी हो जाती हैं। शीतप्रधान देशों में इन्हीं दरारों तथा भूमि के अंदर रिक्त स्थानों में जल भर जाता है। अधिक शीत पड़ने पर जल हिम में परिवर्तित हो जाता है और तब उन स्थानों या दरारों को फाड़कर तोड देता है। इन क्रियाओं के बार बार दोहराए जाने से चट्टानों के टुकड़े टुकड़े हो जाते है। इन टुकड़ों को जल और वायु अन्य स्थान पर ले जाते हैं। जिन प्रदेशों में दिन और रात के ताप में अधिक परिवर्तन होता है वहाँ की मिट्टी निरंतर प्रसार और आकुंचन के कारण ढीली हो जाती एवं वायु अथवा जल द्वारा अन्य स्थानों पर पहुंच जाती है। शुष्क प्रांतों में, जहाँ पृथ्वी वनस्पति से ढँकी नहीं होती, वायु अपार बालुकाराशि एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती है। इस प्रकार सहारा मरुभूमि की रेत, एक ओर सागर पार सिसिली द्वीप तक और दूसरी ओर नाइजीरिया के समुद्र तट तक, पहुंच जाती है। वायु द्वारा उड़ाया हुआ बालू इन्हीं अथवा ऊँची चट्टानों के कोमल भागों को काटकर उनकी आकृति में परिवर्तन कर देता है। जल में बहा हुआ पदार्थ सदा ऊँचे स्थान से नीचे को ही आता है, किंतु वायु द्वारा उड़ाई हुई मिट्टी नीचे स्थान से ऊँचे स्थानों को भी जा सकती है।

गतिशील हिम जिन चट्टानों पर से होकर जाता है उनका क्षरण करता है और इस प्रकार मुक्त हुए पदार्थ को अपने साथ लिए जाता है। वायु तथा नदियों के कार्य की तुलना में, ध्रुव प्रदेश को छोड़कर पृथ्वी के अन्य भागों में, हिम की क्रिया अल्प होती है। [म० दा० व०]

भूगणित (Geodesy) भूमापन विज्ञान को कहते हैं। भूगणित भूभौतिकी की वह शाखा है जिसका उद्देश्य पृथ्वी के आकार तथा परिमाण का और भूपृष्ठ पर संदर्भ बिंदुओं की स्थिति का यथार्थ निर्धारण करना है। इसमे उच्च कोटि की यथार्थतावाली सर्वेक्षण विधियों की ओर समय, अक्षांश, देशांतर तथा दिगंश (azimuth) के निर्धारण हेतु खगोलीय प्रेक्षणों की आवश्यकता होती है। इस कार्य में इतनी यथार्थता अपेक्षित है कि ध्रुवों (poles) के भ्रमण से उत्पन्न देशांतरों में सूक्ष्म परिवर्तनों पर और समीपवर्ती पहाड़ों के गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न ऊर्ध्वाधर रेखा की त्रुटियों पर ध्यान देना पड़ता है। पृथ्वी पर सूर्य और चंद्रमा के ज्वारीय (tidal) प्रभावों का भी ज्ञान आवश्यक है और चूँकि सभी बल सर्वेक्षणों में माध्य समुद्रतल (mean sea level) आधार सामग्री होता है, इसलिये महासागरों के प्रमुख ज्वारों का भी अध्ययन आवश्यक है। भूगणितीय सर्वेक्षण के इन विभिन्न पहलुओं के कारण भूगणित के विस्तृत अध्ययन क्षेत्र में अब पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र का, भूमंडल की पृष्ठ समाकृति पर इसके प्रभाव का और पृथ्वी पर सूर्य तथा चंद्रमा के गुरुत्वीय क्षेत्रों के प्रभाव का अध्ययन समाविष्ट है।

पृथ्वी की आकृति (ऐतिहासिक) — यद्यपि कोलंबस (१४९२ ई०) से पूर्व यूनानी-मिस्री ज्योतिर्विद टॉलिमि के समय से देशांतर तथा अक्षांशों वाले नक्शे प्रचलित थे (भले ही वे कितने भी त्रुटिपूर्ण रहे हों) और बिना देशांतरों तथा अक्षांशों वाले नाविक चार्टों का भी प्रचार था, किंतु कोलंबस के समय में ही पृथ्वी की आकृति को ध्यान में रखकर बनाए हुए यथार्थ नक्शों की आवश्यकता का अनुभव हो गया था। आरंभ में मनुष्य की धारणा थी कि पृथ्वी समुद्रों, नदियों और पहाड़ों से युक्त एक चौरसतल अथवा एक वृत्ताकार मंडलक (disc) है, किंतु खगोल विद्या के पुजारी बेबीलोन वासी आदि जातियों ने जब यह देखा कि दक्षिण दिशा मे जाने पर आकाश में तारों की व्यवस्था बदलती जाती है तथा नए नए तारे दिखाई पडते हैं और उत्तरी सदोदित तारों की संख्या घटती जाती है, तो उन्हें यह आभास हुआ कि कदाचित् पृथ्वी गोलाकार है और कुछ नहीं तो उसका पृष्ठ वक्रतापूर्ण अवश्य है। समुद्रवासियो ने जहाज को दूर जाने के साथ साथ उसे नीचे जाते भी देखा, तो उन्हें भी गोलीय नही तो पिंडाकार पृथ्वी की कल्पना करनी पड़ी होगी, किंतु इस सबका कोई प्रमाण नहीं है।

पृथ्वी गोलाकार है, इस मत का सर्वप्रथम प्रवर्तन पाइथैगोरैस या उसके दर्शनानुयायियों का है; किंतु उनके विचार भौतिक तथ्यों पर अवलंबित न होकर तात्विक (metaphysical) थे। ऐरिस्टॉटिल के समय में यूनानियों द्वारा पृथ्वी को गोलाकार माना जाने लगा था। उसने पृथ्वी की परिधि का अनुमान ४,००,००० स्टेडियम (stadium) दिया (एक स्टेडियम = १८५ मीटर) और बताया कि अन्य आकाशीय पिंडों की तुलना में पृथ्वी खास बडी नहीं है। ऐलेग्जैंड्रिया का ऐरेटोस्थनीज (लगभग २७६ ई० पू० से १९५

ई० पू० तक) पहला लेखक है, जिसने भूपरिधि निर्धारण की विधि बताई। नील नदी पर आधुनिक ऐस्वॉन को, जो तब सीन के नाम से प्रसिद्ध था, उसने कर्क रेखा (Tropic of Cancer) पर स्थित समझा और उत्तर अयनांत (summer solstice) पर सूर्य को वहाँ ठीक शीर्षस्थ मान लिया। वहाँ से ५,००० स्टेडियम दूर ऐलेग्जैंड्रिया मे, जो उसी देशांतर पर स्थित माना गया था, सूर्य शिरोबिंदु (zenith) से भूपरिधि का १/५०वाँ भाग दूर देखने मे आया। इस प्रकार पृथ्वी की परिधि २,५०,००० स्टेडियम ठहरी। टॉलिमि ने अपनी जिऑग्रफी नामक पुस्तक मे भूपरिधि का अनुमान १,८०,००० स्टेडियम दिया। हो सकता है, स्टेडियम की परिभाषा अलग अलग रही हो।

भूपरिधि निर्धारण की विधि में सुधार तभी संभव हुआ जब १७वीं-१८वी शताब्दियों के बीच पृथ्वी की आकृति नारंगी के मानिंद, चपटी गोलाभ (oblate spheroid) होने की आशंका जड पकड़ने लगी। तब हालैंड में स्नैल (सन् १५९१-१६२६) ने समक्ष मापन के बजाय त्रिभुजन शृंखला (triangulation chain) का आश्रय लिया। १६६९ ई० मे पीकार्ड ने अक्षांश निर्धारण और भू-त्रिभुजन के कोणों को नापने मे दूरदर्शक का प्रयोग किया। उसने एक अंश चाप की जो लंबाई दी, उसके आधार पर न्यूटन ने परिकलन द्वारा सिद्ध किया कि चद्रमा को उसकी कक्षा मे चलाने मे प्रधान बल भू-आकर्षण है।

न्यूटन और उसके समकालीन हाइगेंज (Huygens) से भूगणित का नया युग आरंभ हुआ। मुख्यतः उनके द्वारा यांत्रिक ज्ञानवृद्धि के कारण, और चूँकि पृथ्वी का अपने अक्ष के परितः घूर्णन सत्य माना जाने लगा, यह कल्पना प्रबल हो चली कि पृथ्वी गोलाकार न होकर लघु अक्ष (oblate) गोलाभ है, जो ध्रुवों पर चपटी है। इस धारणा की पुष्टि खगोलज्ञ रिशर के इस प्रायोगिक प्रमाण से हो गई कि उसकी घड़ी जो पैरिस में ठीक चलती थी दक्षिण अमरीका के सेमीन नगर में ढाई मिनट प्रति घंटा सुस्त हो जाती थी। इस धारणा के विरोध मे फ्रांस के कैसिनस का कहना था कि यदि पृथ्वी गोलाभ है तो विषुवत् से ध्रुव की ओर जाने पर एक अंश अक्षांश की दूरी बढ़ती जानी चाहिए। कदाचित् इसके विपरीत भी समझा जाय, क्योंकि पाठक के विचार से भूकेंद्रीय (geocentric) अक्षांश का एक अंशवाला चाप वह होगा जो भूकेंद्र पर एक अंश का कोण अंतरित करता है, किंतु इसके अनुसार समक्ष प्रेक्षण नहीं किया जा सकता। खगोलीय अक्षांश, (astronomical latitude) का, जो साहुल सूत्र और विषुवत् समतल के बीच का कोण है, प्रेक्षण संभव है। ध्रुवो से जाने वाला कोई भी समतल पृथ्वी से दीर्घवृत्ताकार जैसा परिच्छेद काटेगा, जिसकी वक्रता ध्रुवों पर (जो लघु अक्ष के सिरे हैं) सबसे कम और विषुवत् पर सबसे अधिक होती है। फलतः अक्षांश के प्रति चाप वृद्धि सबसे अधिक ध्रुवों पर होगी। लेकिन बात इसके विपरीत देखने में आई, जिससे ऐसा लगा कि पृथ्वी दीर्घाक्ष (prolate) गोलाभ है। इस प्रकार पृथ्वी को लध्वक्ष और दीर्घाक्ष समझने वाले विद्वानो में विवाद चल पड़ा। इसे तय करने के लिये पैरिस विज्ञान परिषद् (Paris Academy of Sciences) ने दो खोज-दल भेजे, एक पेरू को और दूसरा लैपलैंड को, जिनके अक्षांशों में यथासंभव बड़ा अंतर था। १७४३ ई० में इन दलों ने जो एक अंश चाप की मापें दीं, उनसे यह निष्कर्ष निकला कि ध्रुवों पर चपटापन (oblateness) १/२१३ है, जब कि आधुनिक मान १/२९७ है। इसके बाद मीटर की लंबाई के निर्धारण के निमित्त पृथ्वी के चपटेपन और चाप के अनेक मापन हुए। (प्रारंभ में विचार यह था कि मीटर किसी भी याम्योत्तर के चतुर्थांश की लंबाई का करोड़वाँ भाग रहे, किंतु बाद मे मीटर को एक मानक छड़ की लंबाई मान लिया गया।) यंत्रों में सुधार के साथ साथ परिकलन विधियों में भी सुधार हुए, जिनमें गाउस का न्यूनतम वर्ग सिद्धांत (Principle of Least Squares) अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस विधि का विस्तृत उपयोग जर्मन खगोलज्ञ बेसेल ने किया। परिष्कृत प्रेक्षण विधियों और परिशुद्धि के उच्च मानकों का सूत्रपात करने में वे अग्रणी थे।

भूसर्वेक्षण यंत्र और प्रेक्षण विधियाँ

भूसर्वेक्षण के ज्योतिष कार्य के लिये खगोलीय यंत्र काम में आते हैं। देशांतर (longitude) ज्ञात करने के लिये याम्योत्तर यंत्र (transit instrument) अत्यंत प्राचीन काल से उपयोग में आता रहा है। अब इस यंत्र में स्वतः अभिलेखी (selfrecording) सूक्ष्ममापी लगा रहता है और वह समयलेखी (chronograph) के साथ प्रयुक्त होता है। अक्षांश निर्धारण के लिये शिरोबिंदु दूरबीन (zenith telescope) या भग्न दूरदर्शक याम्यांतर यंत्र का उपयोग किया जाता है। दिगंश निर्धारण और त्रिभुजन कोणों (triangulation angles) के मापन हेतु ऐसे थियोडोलाइटों का उपयोग किया जाता है, जो सामान्य सर्वेक्षण में काम आनेवालों से अधिक सूक्ष्म एवं परिशुद्ध होते हैं। और अधिक यथार्थता की प्राप्ति के लिये कितनी ही मापें, यंत्र के क्षैतिज वृत्त पर समानतः वितरित बिंदुओं से निर्दिष्ट पिंड पर, दिष्ट कर ली जाती हैं। इस प्रकार अंशांकन की त्रुटियो से बचा जा सकता है।

त्रिभुजन मे भुजाएं तीन चार किलोमीटर की रहें तो अच्छा है। इससे कम रहने पर मापन त्रुटियों की संख्या बढ़ जाती है। पहाड़ी स्थल पर ३०० किलोमीटर तक की दूरी पर भी स्पष्ट दृश्यता रहती है। सिद्धांततः केवल एक ही समक्ष मापे हुए आधार और उसके सिरों पर के कोणों के मापन से ही कोई भी दूरी ज्ञात की जा सकती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर केवल कोणों के मापन से ही कोई भी दूरी ज्ञात की जा सकती है, किंतु व्यवहार में इस प्रकार परिकलित किसी किसी दूरी को समक्ष भी माप लिया जाता है, जिससे कोण मापन की यथार्थता की जाँच होती रहती है। आजकल निकल और स्टील की मिश्रधातु इनवार (invar) के बने तार या फीते से दूरी का समक्ष मापन किया जाता है। इस धातु पर ऊष्मा आदि का प्रभाव उपेक्षणीय होता है। मापन के समय तार का तनाव भी मानक रखा जाता है। इस प्रकार दूरी मापन मे १० लाख में १ तक की परिशुद्धता हो जाती है।

भूसर्वेक्षण मे भू का आशय उस पृथ्वीतल से है जो समुद्र पर माध्य समुद्रतल है तथा स्थल पर वह अभिकल्पित समुद्रतलवाला पृष्ठ है जो स्पिरिट तल द्वारा निर्धारित होता है। यदि समुद्र से स्थल में कोई नहर खोद दी जाय, तो जो तल नहर के पानी का होगा वही

पृथ्वी तल माना जायगा। इस भौतिक परिभाषा में गणितीय परिशुद्धता नहीं है, क्योंकि समुद्रतल भी पवन, क्षारता, दाब, ऊष्मा आदि के कारण परिवर्तनशील है। पृथ्वीतल की गणितीय परिभाषा उस समविभव (equipotential), अथवा समान तलवाले, पृष्ठ से दी जाती है जिसपर, पृथ्वी में जितना भी द्रव्य है तथा जहाँ भी है उस सबके गुरुत्वाकर्षण और अक्ष के परित. घूर्णन के कारण, विभवफलन (potential function) अचर होता है। ये समविभव पृष्ठ दृष्ट गुरुत्व अर्थात् गुरुत्वाकर्षण और घूर्णन जन्य अपकेंद्री बल (centrifugal force) के संयुक्त प्रभाव, की दिशा पर लंब होंगे और संख्या में कितने ही होंगे। इनमें से जो माध्य-सागर-तल के निकटतम है उसे पृथ्वीतल माना जाता है और उसे भू समुद्रतलाभ, या जियोइड (Geoid), कहते हैं। इस शब्द में पृथ्वी के गोलाभ होने का भाव अंतर्निहित नहीं है। इसमें केवल यही भाव है कि पृथ्वी 'पृथ्वी आकृति' वाली है। स्पिरिटतल से बिंदुओं का जो उन्नयन मिलता है, वह जियोइड के सापेक्ष होता है, न कि पार्थिव गोलाभ के। मानचित्रण हेतु जियोइड को ऐसा गोलाभ मान लिया जाता है जो पृथ्वी के या उसके किसी भाग के, जिससे हमें सरोकार हो, निकटतम हो। चूँकि पृथ्वी पूर्णत: गोलाकार नहीं है, इसके विभिन्न याम्योत्तरीय चापों (meridian arcs) को और उनके सिरों के अक्षांशों को माप कर, इन सब प्रेक्षणों का न्यूनतम वर्ग सिद्धांत, या अन्य किसी ऐसी विधि से समन्वय कर, पृथ्वी का आकार (अर्थात् परिमाण) ज्ञात किया जाता रहा है। इस कार्य के लिये देशांतरीय चाप भी काम में आ सकते हैं, लेकिन इनका मापन विद्युत् तारसंचार (electric telegraph) का आविष्कार होने पर ही संतोषजनक यथार्थता का हो सका है और भू-आकार का निर्धारण चाप के बजाय क्षेत्रफल अर्थात् विक्षेप (deflection) विधि से किया जाने लगा है। इस नई विधि में त्रिभुजन शृंखला से संबद्ध एक बड़ा क्षेत्र लिया जाता है, जिसके बीच एक बिंदु को मूलबिंदु चुनकर उसके देशांतर, अक्षांश और उससे जानेवाली एक रेखा का दिगंश तथा भू-गोलाभ से संबद्ध दो मापें स्वेच्छया चुन ली जाती हैं (सामान्यतया इन्हें खगोलीय मानों के लगभग ही समझ लेना ठीक रहता है)। इन जियोडीय मानों के आधार पर त्रिभुजन शृंखला द्वारा पार्थिव गोलाभ का परिकलन कर लिया जाता है।

समस्थिति (Isostasy)

साहुलसूत्र के अनियमित विक्षेप भूगणितज्ञ के लिये सदा पहेली रहे हैं। ये खगोलीय या जियोडीय निर्धारण की त्रुटियों से कहीं अधिक होते हैं और अपेक्षतया छोटे से क्षेत्र के लिये भी जियोडीय न्यास (data) में समुचित परिवर्तन उन्हें विशेष से कम नहीं कर सकता। इसलिये आरंभ में जहाँ भी विक्षेप का अधिक होना—पहाड़, घाटी, पठार, महासागरतल आदि — दृश्य स्थलाकृति (topographic) संबंधी कारणों से उत्पन्न समझा जाता था, उस क्षेत्र को परिकलन से छोड़ दिया जाता था। बाद में जब अधिक यथार्थ स्थलाकृति तथ्य उपलब्ध हुए तो उन सबके प्रभाव के यांत्रिक विधि से परिकलन की बात सूझी। सबसे पहले कलकत्ते के आर्कडेकन प्रेट ने ऐसे परिकलन किए, यद्यपि वे अत्यंत श्रमसाध्य थे। उन्होंने देखा कि परकलित विक्षेप अपेक्षित विक्षेप से कहीं कम था। इस तथ्य की सबसे अधिक संतोषजनक व्याख्या इस मान्यता पर की गई कि पृथ्वी से ऊपर उठे हुए भागों के नीचे द्रव्य घनत्व औसत से कम और गर्त (depression) के नीचे औसत से अधिक होता है। गणितीय सुविधा इसमें है कि घनत्व परिवर्तन इतना मान लिया जाय कि भूपृष्ठ से नीचे एक विशिष्ट गहराई पर, जिसे प्रतिकारी गहराई (compensating depth) कहते हैं, एकाई क्षेत्रफल पर (जो १,००० वर्ग मील की कोटि का होता है) जो द्रव्यमान ऊपर की ओर स्थित है अचर हो। इस परिकल्पना (hypothesis) को समस्थिति प्रतिकार (Isostatic Compensation) कहते हैं और ऐसी व्यवस्था को समस्थिति। समस्थिति विधि को पहली बार संयुक्त राज्य पर किए गए प्रेक्षणों में हेफर्ड ने प्रयुक्त किया और १९२४ ई० में अंतर्राष्ट्रीय जियोडेटिक और भूभौतिकीय संघ (International Geodetic and Geophysical Union) के जियोडेसी अनुभाग ने पूरी पृथ्वी के आकार को वही मान लिया जो हेफर्ड ने प्राप्त किया था। बाद में हीज कैनेन ने इस विधि को यूरोप में ऊर्ध्वाधर के विक्षेप पर लगाया और हेफर्ड के परिणामों को प्राय: पुष्ट कर दिया।

दोलक द्वारा प्रेक्षण (Observations with the Pendulum)

चूँकि पृथ्वी पूर्णत: दृढ़ पदार्थ की बनी नहीं मानी जाती और फिर उसमें अक्ष के परित. घूर्णन है, अत गुरुत्वाकर्षण और घूर्णन जन्य अपकेंद्र बल (centrifugal force) के कारण ध्रुवों पर उसकी आकृति चपटे गोलाभ की है। फलत: ध्रुवों और विषुवत् पर दृष्ट गुरुत्वाकर्षण की मापों और दिशाओं में अंतर है। लोलक दोलनों (oscillations) द्वारा इस अंतर को अत्यंत परिशुद्धत: नापकर, परिकलन द्वारा पृथ्वी की आकृति निर्धारित हो जाती है। साथ में पृथ्वी की त्रिज्या भी ज्ञात की जा सकती है, किंतु वह इतनी यथार्थ नहीं मिलती। ये गुरुत्व प्रेक्षण अन्य परिकलनों में भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

अक्षांश विचरण (Variation of Latitude)

याम्योत्तर में ऊर्ध्वाधर का विचरण (variation of the vertical) खगोलीय अक्षांश तथा जियोडीय अक्षांश दोनों पर निर्भर रहता है। इनमे जियोडीय अक्षांश तो कल्पित जियोडीय न्यास के अनुसार विचरणशील है और खगोलीय अक्षांश भी भू-घूर्णन के कारण विचरणशील है। प्रत्येक पिंड मे एक आकृति अक्ष (axis of the figure) होता है, जिसके परित: जड़ता आघूर्ण (moment of inertia) महत्तम होता है। यदि घूर्णन इस अक्ष के परित. न हो, तो घूर्णनाक्ष का ध्रुव आकृति अक्ष के ध्रुव के परित. एक बंद वक्र मे घूमा करेगा। पृथ्वी जैसे लगभग गोलाकार पिंड मे घूर्णनाक्ष की दिशा अवकाश (space) मे अपरिवर्तित रहेगी। इन परिघटनाओं (phenomena) के नियमों की व्याख्या पहले आयलर (Euler) ने की थी। इसके आधार पर खगोलज्ञों ने अक्षांश विचरण के लिये प्रेक्षण किए। कई व्यक्तियों के असफल प्रयासों के बाद ध्रुवगतिजन्य अक्षांश परिवर्तन, देशांतर मे लगभग १८०° के अंतरवाले, दो नगरों बर्लिन और होनोलूलू में देखा गया। एक मे जितनी वृद्धि थी दूसरे मे लगभग उतना ही ह्रास था। चांडलर (Chandler) ने यह देखा कि आकृति-ध्रुव के परित: घूर्णन-ध्रुव का परिक्रमण लगभग १४ मास मे पूरा हो जाता है। इतनी अवधि महासागर जल और पृथ्वी के प्रत्यास्थ द्रव्य के कारण है, जबकि दृढ़ पिंड के लिये आयलर के नियमानुसार अवधि १० मास की होनी चाहिए थी। पृथ्वी के घूर्णन ध्रुव की गति कुछ इस कारण भी होती

है कि आकृति-ध्रुव ऋतु, दाब, मेघ आदि के कारण विचरणशील रहता है। इन आर्तव परिवर्तनों की कालावधि (period) एक वर्ष की है। दोनों प्रकार के विचरणों का आयाम (amplitude) ०·१″ की कोटि का है।

भू-आकृति निर्धारण की खगोलीय विधियाँ

भू-आकृति-निर्धारण की अनेक खगोलीय विधियाँ भी हैं। अधिकांशतः उनमें पृथ्वी के विषुवतीय प्रोद्वर्ध (equatorial protruberance) से उत्पन्न यांत्रिक प्रभावों द्वारा चपटेपन का अध्ययन किया जाता है। इसका प्रभाव निकटतम पड़ोसी चंद्रमा के खगोलीय देशांतर तथा अक्षांश (celestial - longitude and latitude) में और क्रांति-वृत्त (ecliptic) पर चंद्र कक्षा के पात (node) तथा भूमि-नीच (perigee) में दीर्घकालिक (secular) परिवर्तन लाना है। बदले में चंद्रमा, सूर्य और अन्य ग्रहों के साथ, पृथ्वी के विषुवतीय उभार (bulge) पर क्रिया कर विषुवों (equinoxes) का मंद विस्थापन, जिसे अयन (precession) कहते हैं, उत्पन्न करता है। ऐसे किसी भी प्रभाव से चपटेपन का परिकलन किया जा सकता है।

यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रदेशविशेष के लिये समूची पृथ्वी की माध्य आकृति सर्वोत्तम रहेगी। निम्न सारणी में पृथ्वी गोलाभ की वे मापें दी गई हैं, जो विभिन्न देशों में प्रयुक्त हो रही हैं :

भूगोलीय उद्देश्यों के हेतु गोलाभ की मापें

लेखक और तिथि	अर्ध-दीर्घाक्ष (a) किलोमीटर में	चपटेपन का व्युत्क्रम १/च (१/f)	देश जहाँ यह गोलाभ प्रयुक्त होता है।
क्लार्क, १८६६	६,३७८·२०६	२९४·९८	युनाइटेडस्टेट्स, कैनाडा, तथा मेक्सिको
क्लार्क, १८८०	६,३७८·२४९	२९३·४७	फ्रांस, दक्षिणी अफ्रीका
एवरेस्ट, १८३०	६,३७७·२५३	३००·८०	भारत
प्लेसिस, ...	६,३७६·५२३	३०८·६४	फ्रांस (मानचित्रण हेतु)
बेसेल, १८४१	६,३७७·३९७	२९९·१५	जर्मनी, ऑस्ट्रिया तथा डच ईस्ट इंडीज
फेजानहॉफ...	६,३७६ ९५०	३०९·६५	हॉलैंड
डेनीयसर्वेक्षण	६,३७७·०१९	३००·००	डेनमार्क

अंतरराष्ट्रीय सदर्भ दीर्घ वृत्तज के मूल अवयव (Fundamental Elements of the International Ellipsoid of Reference)

अर्ध दीर्घाक्ष या विषुवतीय त्रिज्या (semi major axis, i.e. equatorial radius) क (a) = ६३,७७,३८८ मीटर, दीर्घवृत्तता (ellipticity) अर्थात् चपटापन (flattening) च = १ − ख/क = १/२९७ [f = 1 − b/a = 1/297]

परिकलित राशियाँ (Calculated Quantities)

अर्धलघुअक्ष या ध्रुवीय त्रिज्या (semi-minor axis, i. e. polar radius) ख(b) = ६३,५७,९१२ मीटर [b = 63,57,912]

उत्केंद्रता (eccentricity) का वर्ग = १ − ख²/क² (०·= ००६७२२६७००) [1 − a²/b² = 0·00672,26700]

विषुवत् चतुर्थांश (quadrant of the equator) की लंबाई = १,००,१९,१४८·४ मीटर।

याम्योत्तर चतुर्थांश (quadrant of the meridian) की लंबाई = १,००,०२,२८८·३ मीटर।

दीर्घवृत्तज का पृष्ठ (surface of the ellipsoid) = ५१,०१,००,९३४ वर्ग मीटर।

दीर्घवृत्तज का आयतन (volume of the ellipsiod) = १०,८३,३१,९७,८०,००० घन किलो मीटर।

दीर्घवृत्तज के बराबर पृष्ठवाले गोले (sphere) की त्रिज्या (radius) = ६३,७१,२२७·७ मीटर।

दीर्घवृत्तज के बराबर आयतनवाले गोले की त्रिज्या = ६३,७१,२२१·३ मीटर।

दीर्घवृत्तज का द्रव्यमान (mass) [माध्य घनत्व को ५·५२७ मानने पर] = ५·९८८ × १०²¹ मीट्रिक टन।

इन राशियों में कितनी अनिश्चितता समझी जाय, यह व्यक्तिगत संमति पर निर्भर है। कदाचित् दीर्घाक्ष में ५० मीटर तक की और चपटेपन के व्युत्क्रम (reciprocal) में अर्ध इकाई तक की त्रुटि हो सकती है।

अंतरराष्ट्रीय भूगणितीय संगठन

मूलतः भूगणित अंतरराष्ट्रीय विज्ञान है। द्वितीय महायुद्ध से पहले कई अंतरराष्ट्रीय संगठन भूसर्वेक्षण का काम करते थे किंतु युद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय भूगणितीय और भूभौतिकीय संघ (internationa l geodetic and geophysical union) का संगठन हुआ। इसके कई एक अर्ध स्वतंत्र अनुभाग हैं। इनमें एक भूगणितीय अनुभाग (geodetic section) है, जिसने पहले अंतरराष्ट्रीय भूगणितीय ऐसोसियेशन का कार्य सँभाल लिया और अंतरराष्ट्रीय ज्योतिष संघ के साथ अंतरराष्ट्रीय सर्वेक्षण का कार्य भी ले लिया। इस संघ के अतिरिक्त भी छोटे बड़े अन्य संगठन हैं। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भूगणित वास्तव में भूभौतिकी की एक प्रमुख शाखा है।

सं० ग्रं० — सी० आर० बीग्ले : दि डॉन ऑव मॉडर्न जिऑग्राफी, ३ खंड (लंदन, १८९७, १९०६); ए० डी० बटरफील्ड : ए हिस्ट्री ऑव दि डिटरमिनेशन ऑव दि फ़िगर ऑव दि अर्थ फ्रॉम आर्क मेजरमेंट्स (वॉरसेस्टर, मेस, १९०६); आइज़क टॉडहंटर : ए हिस्ट्री ऑव दि मैथमेटिकल थ्योरीज ऑव ऐट्रैक्शन ऐंड फ़िगर ऑव दि अर्थ फ्रॉम दि टाइम ऑव न्यूटन टु दैट ऑव लाप्लास, २ खंड (लंदन, १८७३)।

[हु० चं० गु०]

भूगोल (Geography) प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्षों के बीच कार्य-कारण-संबंध स्थापित करते हुए पृथ्वीतल की विभिन्नताओं का मानवीय दृष्टिकोण से अध्ययन ही भूगोल का सार तत्व है। पृथ्वी की सतह पर जो स्थान विशेष हैं उनकी समताओं तथा विषमताओं का कारण और उनका स्पष्टीकरण भूगोल का निजी क्षेत्र है।

भूगोल एक ओर अन्य शृंखलाबद्ध विज्ञानों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग उस सीमा तक करता है जहाँ तक वह घटनाओं और विश्लेषणों की समीक्षा तथा उनके संबंधों का यथासंभव समुचित समन्वय करने में सहायक होता है। दूसरी ओर अन्य विज्ञानों से प्राप्त जिस ज्ञान का उपयोग भूगोल करता है, उसमें अनेक व्युत्पत्तिक धारणाएँ एवं निर्धारित वर्गीकरण होते हैं। यदि ये धारणाएँ और

वर्गीकरण भौगोलिक उद्देश्यों के लिये उपयोगी न हों, तो भूगोल को निजी व्युत्पत्तिक धारणाएँ तथा वर्गीकरण की प्रणाली विकसित करनी होती है।

अतः भूगोल मानवीय ज्ञान की वृद्धि में तीन प्रकार से सहायक होता है :

(क) विज्ञानों से प्राप्त तथ्यों का विवेचन करके मानवीय वासस्थान के रूप में पृथ्वी का अध्ययन करता है।

(ख) अन्य विज्ञानों के द्वारा विकसित धारणाओं में अंतर्निहित तथ्य की परीक्षा का अवसर देता है, क्योंकि भूगोल उन धारणाओं का स्थान विशेष पर प्रयोग कर सकता है।

(ग) यह सार्वजनिक अथवा निजी नीतियों के निर्धारण में अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि प्रदान करता है, जिसके आधार पर समस्याओं का स्पष्टीकरण सुविधाजनक हो जाता है।

भूगोल के दो प्रधान अंग हैं . श्रृंखलाबद्ध भूगोल तथा प्रादेशिक भूगोल। पृथ्वी के किसी स्थानविशेष पर श्रृंखलाबद्ध भूगोल की शाखाओं के समन्वय को केंद्रित करने का प्रतिफल प्रादेशिक भूगोल है।

भूगोल		
श्रृंखलाबद्ध भूगोल	प्रादेशिक भूगोल	
समाज शास्त्र	सामाजिक भूगोल	
राजनीति शास्त्र	राजनैतिक भूगोल	सामाजिक विज्ञान
अर्थशास्त्र	आर्थिक भूगोल	
जनशास्त्र	जनशास्त्रीय भूगोल	
मानवशरीर शास्त्र	जनजाति भूगोल	
जंतु शास्त्र	जंतु भूगोल	प्राणि विज्ञान
वनस्पति शास्त्र	वनस्पति भूगोल	
भूगर्भ शास्त्र	स्थलाकृति	
मृत्तिका शास्त्र	मिट्टी शास्त्र	भौतिक विज्ञान
अंतरिक्ष शास्त्र	जलवायु	
	श्रृंखलाबद्ध विज्ञान	

भूगोल एक प्रगतिशील विज्ञान है। प्रत्येक देश में इसके विशेषज्ञ अपने अपने क्षेत्रों का विकास कर रहे हैं। फलतः इसकी निम्नलिखित अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ हो गई हैं :

अ. भौतिक भूगोल—इसके भिन्न भिन्न शास्त्रीय अंग स्थलाकृति, हिम-क्रिया-विज्ञान, तटीय-स्थल-रचना, भूस्पंदनशास्त्र, समुद्र विज्ञान, वायु विज्ञान, मृत्तिका विज्ञान, जीव विज्ञान, चिकित्सा या भैषजिक भूगोल, तथा पुरालिपि शास्त्र हैं।

ब. आर्थिक भूगोल—इसकी शाखाएँ कृषि, उद्योग, खनिज, शक्ति तथा भंडार भूगोल और भू उपभोग, व्यावसायिक, परिवहन एवं यातायात भूगोल हैं। आर्थिक संरचना संबंधी योजना भी भूगोल की शाखा है।

स. मानव भूगोल—इसके प्रधान अंग वातावरण, जनसंख्या, आवासीय भूगोल, ग्रामीण एवं शहरी अध्ययन के भूगोल हैं।

द. प्रादेशिक भूगोल—इसके दो मुख्य क्षेत्र हैं प्रधान तथा सूक्ष्म प्रादेशिक भूगोल।

य. राजनीतिक भूगोल—इसके अंग भूराजनीतिक शास्त्र, अंतरराष्ट्रीय, राष्ट्रीय, औपनिवेशिक भूगोल, शीत युद्ध का भूगोल, सामरिक एवं सैनिक भूगोल हैं।

र. ऐतिहासिक भूगोल—प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक, वैदिक, पौराणिक, इंजील संबंधी तथा अरबी भूगोल भी इसके अंग हैं।

ल. रचनात्मक भूगोल—इसके भिन्न भिन्न अंग-रचनामिति, सर्वेक्षण आकृति-अंकन, चित्रांकन, आलोकचित्र, कलामिति (फोटोग्रामेटरी) तथा स्थाननामाध्ययन हैं।

इसके अतिरिक्त भूगोल के अन्य खंड भी विकसित हो रहे हैं जैसे ग्रंथ विज्ञानीय, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, गणित शास्त्रीय, ज्योतिष शास्त्रीय एवं भ्रमण भूगोल तथा अंतर्नक्षत्रीय भूगोल।

प्राचीन धारणाएँ—सृष्टि तथा मानव की उत्पत्ति से भूगोल का संबंध है। भौगोलिक धारणाओं की उत्पत्ति मनुष्य के शब्दों में वर्तमान थी जो तदुपरांत वाक्यों में लिखी गई है। वैदिक काल में भूगोल वैदिक रचनाओं के रूप में मिलता है। ब्रह्मांड, पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, सूर्य, नक्षत्र तथा राशियों का तो विवरण वेदो, पुराणों और अन्य ग्रंथों में दिया ही गया है किंतु इतस्तत उन ग्रंथों मे सांस्कृतिक तथा मानव भूगोल की छाया मिलती है। भारत में अन्य शास्त्रों के साथ साथ ज्योतिष, ज्यामिति तथा खगोल भूगोल का भी विकास हुआ था जिनकी झलक प्राचीन खंडहरो या अवशेष ग्रंथों में मिलती है। महाकाव्य काल मे सामरिक, सास्कृतिक एवं वायु परिवहन भूगोल के विकाप के सकेत हैं।

यूनान के दार्शनिकों ने भूगोल के सिद्धांतो की चर्चा की थी। ईसा के ६०० वर्ष पूर्व होमर ने बतलाया था कि पृथ्वी चौड़े थाल के समान और ओसनस नदी से घिरी हुई है। मिलेटस के थेल्स ने सर्वप्रथम बतलाया कि पृथ्वी मडलाकार है। पाइथैगोरियन संप्रदाय के दार्शनिकों ने मंडलाकार पृथ्वी के सिद्धात को मान लिया था क्योंकि मंडलाकार पृथ्वी ही मनुष्य के समुचित वासस्थान के योग्य है। पारमेनाइड्स (४५० ई० पू०) ने पृथ्वी की जलवायु के समांतर कटिबंधों की ओर सकेत किया था तथा यह भी बतलाया था कि उष्णकटिबंध गरमी के कारण तथा शीत कटिबंध शीत के कारण वासस्थान के योग्य नहीं है, किंतु दो माध्यमिक समशीतोष्ण कटिबंध आवासीय हैं।

एच० एफ० टॉजर ने हेकाटियस (५०० ई० पू०) को भूगोल का पिता माना था जिसने स्थल भाग को सागरों से घिरा हुआ माना तथा दो महादेशों का ज्ञान दिया।

अरस्तू (Aristotle) (३८४–३२२ ई० पू०) वैज्ञानिक भूगोल का जन्मदाता था। उसके अनुसार मंडलाकार पृथ्वी के तीन कारण थे (क) पदार्थों का उभय केंद्र की ओर गिरना, (ख) ग्रहण में मंडल ही चंद्रमा पर गोलाकार छाया प्रतिबिंबित कर सकता है तथा (ग) उत्तर से दक्षिण चलने पर क्षितिज का स्थानांतरण और नयी नयी नक्षत्र राशियों का उदय होना। अरस्तू ने ही पहले पहल समशीतोष्ण कटिबंध की सीमा क्रांतिमंडल से ध्रुव वृत्त तक निश्चित की थी।

इरैटोस्थनीज (२५० ई० पू०) ने भूगोल शब्द का पहले पहल उपयोग किया था तथा ग्लोब का मापन किया था। यह सत्य है कि अरस्तू को डेल्टा निर्माण, तट अपक्षरण तथा पौधों और जानवरों का प्राकृतिक वातावरण पर निर्भरता का ज्ञान था। इन्होने अक्षांश और ऋतु के साथ जलवायु के अंतर के सिद्धात तथा समुद्र और नदियों मे जल प्रवाह की धारणा का भी संकेत किया था। इनका यह भी विमर्श था कि जनजाति के लक्षण मे अंतर जलवायु में विभिन्नता के कारण है और राजनीतिक समुदाय रचना स्थान विशेष के कारण होता है, जैसे समुद्रतट या प्राकृतिक प्रभावशाली क्षेत्र मे।

रोमन भूगोल वेत्ताओं का भी प्रारंभिक ज्ञान देने में हाथ रहा है। स्ट्राबो (५० ई० पू०–१४ ई०) ने भूमध्य सागर के निकटस्थ परिभ्रमण के आधार पर भूगोल की रचना की। पोंपोनियस मेला (४० ई०) ने बतलाया कि दक्षिणी समशीतोष्ण कटिबंध मे आवासीय स्थान है जिसे इन्होने एंटीकथोस (Antichthones) विशेषण दिया। १५० ई० मे क्लाउडियस टोलेमियस ने ग्रीस की भौगोलिक धारणाओं के आधार पर अपनी रचना की। अरब भूगोल तथा आधुनिक समय मे इस विज्ञान का प्रारंभ क्लाउडियस की विचारधारा पर ही निर्धारित है। टोलमी ने किसी स्थान के अक्षांश और देशांतर का निर्णय किया तथा स्थल या समुद्र की दूरी मे सुधार किया। टोलमी ने हिंदमहासागर को बृहत् भूमध्यसागर घोषित किया तथा इसकी स्थिति ऐटलैंटिक महासागर से पृथक् निर्णीत की।

फोनेशियस (१००० ई० पू०) को, जिन्हें 'आदिकाल के पादचारी' कहते हैं, स्थान तथा उपज की प्रादेशिक विभिन्नताओं का ज्ञान था। होमर के ओडेसी (८०० ई० पू०) से यह विदित है कि प्राचीन संसार मे सुदूर स्थानों मे कहीं आबादी अधिक और कहीं कम क्यों थी।

मध्यकालीन धारणाएँ—ईसाई जगत् में भौगोलिक धारणाएँ जाग्रतावस्था मे नहीं थीं किंतु मुस्लिम जगत् मे ये जाग्रतावस्था मे थीं। भौगोलिक विचारों का अरब के लोगों ने यूरोपवासियों से अधिक विस्तार किया। नवीं से चौदहवीं शताब्दी तक पूर्वी संसार मे व्यापारियों और पर्यटकों ने अनेक देशों का सविस्तार वर्णन किया। टोलमी (८१५ ई०) के भूगोल की अरब के लोगों को जानकारी थी। अरबी ज्योतिषशास्त्रियों ने मैसोपोटामिया के मैदान के एक अंश के बीच की दूरी मापी और उसके आधार पर पृथ्वी के विस्तार का निर्णय किया। आबू जफ़र मुहम्मद बिन मूसा ने टोलमी के आदर्श पर भौगोलिक ग्रंथ लिखा जिसका अब कोई चिह्न नहीं मिलता। गणित एवं ज्योतिष में प्रवीण अरब विद्वानों ने मक्का की स्थिति के अनुसार शुद्ध अक्षांशों का निर्णय किया।

आधुनिक धारणाएँ — पंद्रहवीं शताब्दी के अंत तथा सोलहवीं शती के प्रारंभ में मैगेलन तथा ड्रेक ने ऐटलैंटिक तथा प्रशांत महासागरों के स्थलों का पता लगाया तथा संसार का परिभ्रमण किया। स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैंड के समन्वेषकों ने संसार के नए स्थलों को खोजा। नवीन संसार की सीमा निश्चित की गई। १६वीं और १७वीं शताब्दियों मे विस्तार, स्थिति, पर्वतों तथा नदी प्रणालियों के ज्ञान की सूची बढ़ती गई जिनका शृंखलाबद्ध रूप मानचित्रकारों ने दिया। इस क्षेत्र मे मर्केटर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मर्केटर प्रक्षेपण तथा अन्य प्रक्षेपणों के विकास के साथ भूगोल का प्रसार हुआ।

बरनार्ड भरेन (भरेनियस) ने १६३० ई० में ऐम्सटरडैम में ज्योग्राफिया जेनरलिस (Geographia Generalis) ग्रंथ लिखा। २८ वर्ष की अवस्था में इस जर्मन डाक्टर लेखक की मृत्यु सन् १६५० मे हुई। इस ग्रंथ में संसार के मनुष्यों के शृंखलाबद्ध दिगंतर का सर्वप्रथम विश्लेषण किया गया। भरेन ने भूगोल का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :
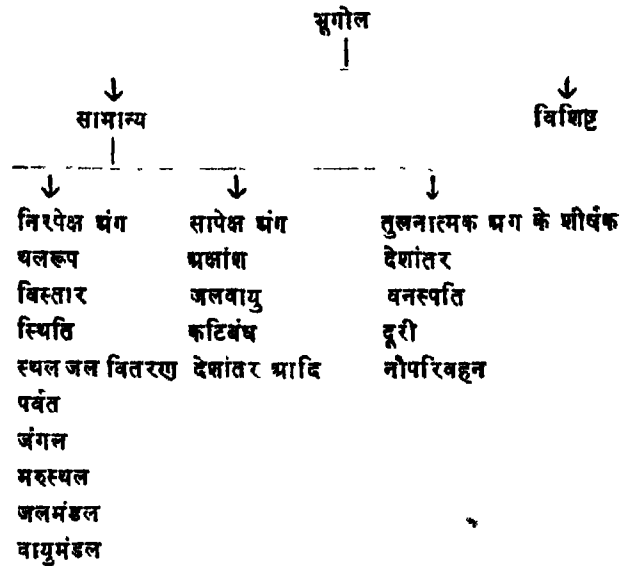
१८वीं शताब्दी मे भूगोल के सिद्धांतों का विकास हुआ। इस शताब्दी के भूगोलवेत्ताओं में इमानुअल कांट की धारणा सराहनीय है। कांट ने भूगोल के पाँच खंड किए : (१) गणितीय भूगोल–सौर परिवार मे पृथ्वी की स्थिति तथा इसका रूप, आकार, गति का वर्णन; (२) नैतिक भूगोल—मानवजाति के प्रवासीय क्षेत्र पर निर्धारित रीति रिवाज तथा लक्षण का वर्णन; (३) राजनीतिक भूगोल—संगठित शासनानुसार विभाजन; (४) वाणिज्य भूगोल (Mercantile Geography)—देश के बचे हुए उपज के व्यापार का भूगोल; तथा (५) धार्मिक भूगोल (Theological Geography)-धर्मों के वितरण का भूगोल।

कांट के अनुसार भौतिक भूगोल के दो खंड हैं—(क) सामान्य—पृथ्वी, जलवायु और स्थल, (ख) विशिष्ट—मानवजाति, जंतु, वनस्पति तथा खनिज।

उन्नीसवीं शताब्दी भूगोल का अभ्युदय काल है तो बीसवीं विस्तार एवं विशिष्टता का। अलेक्जैंडर फॉन या वॉन हंबोल्ट (१७६९–१८५९) तथा कार्ल रिटर (१७७९–१८५९) प्रकृति और मनुष्य की एकता को समझाने में संलग्न थे। यह दोनों का उभयक्षेत्र था। एक ओर हंबोल्ट की खोज स्थलक्षेत्र तथा संकलन में भौतिक भूगोल की ओर केंद्रित थी तो दूसरी ओर रिटर मानव भूगोल के क्षेत्र मे शिष्टता रखते थे। दोनों भूगोलज्ञों ने आधुनिक भूगोल का वैज्ञानिक तथा दार्शनिक आधारों पर विकास किया। दोनों की खोज पर्यटन अनुभव पर आधारित थी। दोनों विशिष्ट एवं प्रभावशाली लेखक थे किंतु दोनों मे विषयांतर होने के कारण ध्येय और शैली विभिन्न थी। हंबोल्ट ने १७९३ ई० में कॉसमॉस (Cosmos) और रिटर ने अर्डकुंडे (Erdkunde) ग्रंथों की रचना की। अर्डकुंडे २१ भागों में था।

वातावरण के सिद्धांत की उत्पत्ति पृथ्वी के अद्वितीय तथ्य मानव आवास की पहेली सुलझाने में हुई है। मनुष्य वातावरण का दास है या वातावरण मनुष्य का। मॉन्टेसकीऊ (१७४८) तथा हरडर (१७८४-१७६१) का संकल्पवादी सिद्धांत, सर चार्ल्स लाइल (१८३०-३२) का विकासवाद विचार, चार्ल्स डारविन का ओरिजन ऑव स्पीसीज (Origin of Species, 1859) के सारतत्व हुंबोल्ट की रचना में निहित है। मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में प्राकृतिक वातावरण की प्रधानता है किंतु किसी भी लेखक ने विश्वास नहीं किया कि प्रकृति के अधिनायकत्व में मनुष्य सर्वोपरि रहा।

रेटज़ेल (१८४४-१६०४) की रचना मानव भूगोल (Anthropogeographie) अपने क्षेत्र में असाधारण है। कुमारी सेंपुल (१८६३-१६३२) की रचनाओं जैसे 'भौगोलिक वातावरण के प्रभाव' 'अमरीकी इतिहास तथा उसकी भौगोलिक स्थिति' तथा 'भूमध्यसागरीय प्रदेश का भूगोल' से ऐतिहासिक तथा भौगोलिक तथ्यों का पूर्ण ज्ञान होता है। इल्सवर्थ हंटिंगटन (१८७६-१६४७) के 'भूगोल के सिद्धांत एवं दर्शन', 'पीपुल्स ऑव एशिया', 'प्रिंस्पुल्स ऑव ह्यूमैन ज्यॉग्रफी', 'मेनस्प्रिंग्स ऑव सिविलाइजेशन' में मिलते हैं।

विडा डी ला ब्लासी (१८४५-१६१८) तथा जीन ब्रूनहेज़ (१८६६-१६३०) ने मानव भूगोल की रचना की। भूगोल की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन मे आज सैकड़ों भूगोलवेत्ता संसार के विभिन्न भागों में लगे हुए हैं।

भारत में भूगोल का अध्ययन बीसवीं सदी मे ही विशेष रूप से प्रारभ मे हुआ और आज सैकड़ों भूगोलवेत्ता इसमें लगे हुए हैं। इनमें कुछ लोगों ने अपनी विद्वत्ता के कारण विश्व में ख्याति प्राप्त की है। अनेक विश्वविद्यालयों मे इसके अध्ययन का आज समुचित प्रबंध है।

अनेक संस्थाएँ भूगोल के अध्ययन और शोध के लिये स्थापित हुई हैं और अनेक उत्कृष्ट कोटि की पत्रपत्रिकाएँ देश के विभिन्न भागों से प्रकाशित हो रही हैं। भूगोल के संबंध मे प्रति वर्ष विभिन्न विश्वविद्यालयो मे संमेलन भी होते रहे हैं जिनमे उच्च कोटि के मौलिक निबंध पढ़े जाते हैं। भौगोलिक अनुसंधान में भारत अब अन्य देशो से पिछड़ा नहीं है। मीरा गुहा, जी० एस० गोशल, यू० सिंह, पी० के० सरकार, इत्यादि ने अपने क्षेत्रों में अग्रिम एवं असाधारण शोध किया है।

भारत में भूगोल की शिक्षा — भारत में भूगोल की शिक्षा भिन्न भिन्न स्तरों में दी जाती है। यहाँ के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में उत्तरस्नातक वर्ग की शिक्षा दी जाती है। [रा० प्रवेश सिं०]

भू-चुंबकी प्रेरक दिक्सूचक (Earth Inductor Compass) किसी स्थान की नति (dip) या आनति (inclination) मापने का परिष्कृत उपकरण है। यह सुविदित है कि चुंबकीय ध्रुववृत्त में निर्बाध, निलंबित, चुंबकीय सुई क्षितिज से प्रायः एक कोण बनाती है। यह कोण प्रेक्षण स्थल की नति या आनति होता है। इसे प्रायः नतिमापी (देखें नतिमापी) से मापा जाता है। व्यवहारतः प्रायोगिक त्रुटियों के अनेक स्रोतो के कारण नतिमापी द्वारा नति का यथार्थ मापन संभव नहीं है और इसलिये भू-चुंबकी प्रेरक नामक अधिक यथार्थ उपकरण ने नतिमापी को स्थानच्युत कर दिया है। यह ०·१' की यथार्थता से नतिकोण माप सकता है। भू-चुंबकी प्रेरक एक वृत्ताकार कुंडली का बना होता है, जिसमे कई लपेट होती हैं। कुंडली को, व्यास की लंबान मे स्थित अक्ष के द्वारा बड़ी तेजी से घूर्णित किया जा सकता है। अक्ष एक चौखटे पर स्थित होता है, जिसकी दिशा इच्छानुसार बदल कर लिख ली जा सकती है। यदि अक्ष की दिशा पृथ्वी के क्षेत्र की दिशा पर संपतित नही होगी, तो घूर्णन से कुंडली मे प्रत्यावर्ती धारा प्रेरित होगी। यह प्रत्यावर्ती धारा उपयुक्त दिक्परिवर्तक (commutator) से दिष्टकृत (rectified) होने पर एकदिशीय होती है और उपकरण से जुड़ी धारामापी से पहचानी जाती है। प्रेक्षक का चौखटा इस प्रकार समंजित करना पड़ता है कि कुंडली के घूर्णित होने पर धारामापी से होकर धारा बिलकुल न गुजरे। इस स्थिति में, अक्ष प्रेक्षण के लिये सही और अभीष्ट स्थिति में होता है, अर्थात् वह पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र की दिशा में होता है। फिर उपकरण से संबद्ध सूक्ष्मदर्शी की सहायता से एक ऊर्ध्वाधर अंशांकित वृत्त पर नति पढ़ ली जाती है। उल्लेखनीय है कि ऊपर बताई रीति से दिक्परिवर्तन की सहायता से प्रत्यावर्ती धारा को दिष्ट धारा में परिवर्तित करने की प्रक्रिया में ताप विद्युद्धाराएँ (thermoelectric currents), या अन्य पराश्रयी वोल्टताएँ (parasitic voltlage) उत्पन्न हो सकती हैं, जो उपकरण की अभीष्ट सूक्ष्मग्राहिता को प्रभावित कर सकती हैं। अतः ई० ए० जॉनसन (E. A Johnson) ने पहचानने की प्रत्यावर्ती धारा विधियाँ सुझाई हैं। इनमे उपकरण बहुत अधिक सूक्ष्मग्राही हो जाता है। कुंडली अक्ष के यांत्रिक कुसमायोजन (mechanical misadjustment) के कारण उत्पन्न होनेवाली त्रुटियाँ ऊर्ध्वाधर वृत्त के पूर्व और पश्चिम तथा दिक्परिवर्तक के ऊपर तथा नीचे की स्थिति मे कुंडली के धन और ऋण घूर्णनों के पाठ्यांकों की माला लेकर, दूर की जाती हैं। दिष्टधारा भू-चुंबकी प्रेरक मे काम आनेवाला धारामापी बहुत सूक्ष्मग्राही होता है और आधे मीटर की दूरी पर पृथ्वी के क्षेत्र पर बहुत कम विकृति उत्पन्न करता है। इसमें दो या अधिक अस्थैतिक रूप (astatically) से संतुलित चुंबक होते हैं। निलंबित चुंबकों के समीप ही आरोपित अनेक लपेटों की स्थिर कुंडली से होकर धारा प्रवाहित होती है।

भू-चुंबकी प्रेरक निरपेक्ष उपकरण है, अतः सिद्धांततः किसी स्वीकृत मानक के साथ इसके यथार्थ अंशशोधन की आवश्यकता नही होती, पर व्यवहार मे तुलना की जाती है और सूचक-संशोधन (index correction), जो अत्यल्प होता है, अपनाया जाता है।

दुनिया के विभिन्न भागो मे आजकल ऐस्कानिया (Askania) मॉडल का भू-चुंबकी प्रेरक व्यापक रूप से व्यवहृत हो रहा है। पहचान की प्रत्यावर्ती धारा विधि से काम करने वाले उपकरण समुद्री प्रेक्षणों के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हैं। [कि० च० च०]

भूटान स्थिति : २६° ४५' से २८° ३०' उ० अ० तथा ८८° ४५' से ९२° १५' पू० दे०। हिमालय पर्वत प्रदेश मे स्थित स्वतंत्र राष्ट्र है जिसके उत्तर मे तिब्बत तथा दक्षिण एवं पूर्व मे भारत स्थित है।

सन् १९४९ की भारत-भूटान संधि द्वारा भूटान भारत से संबंधित है। इसका क्षेत्रफल ५०,००० वर्ग किमी० (१८,००० वर्ग मील) है।

प्राकृतिक बनावट — यह अत्यंत ऊँचे एवं ऊबड़ खाबड़ क्षेत्र मे स्थित है। भूमि की ढाल मुख्यतः उत्तर से दक्षिण को है। उत्तर-दक्षिण को फैली हुई पर्वतश्रेणियाँ नदी घाटियों द्वारा एक दूसरे से पृथक् होती हैं। श्रामो नदी चुंबी घाटी मे, वुग नदी पारो जोंग घाटी में तथा मो नदी पुनाखा घाटी में बहती है। देश की सबसे बड़ी नदी मानस है।

जनसंख्या — भूटान की जनसंख्या ७,५०,००० (अनुमानित १९६४) है। पारो नगर शीतकालीन तथा थिंपू ग्रीष्मकालीन राजधानियाँ हैं। अधिकांश निवासी बौद्ध धर्मावलंबी हैं। यहाँ के लोगों को भोटिया या भूटानी कहते हैं जो मंगोलकल्प प्रजाति के हैं। यहाँ तिब्बती भाषा बोली जाती है।

जलवायु — देश की जलवायु में स्थान स्थान पर अंतर मिलता है। दक्षिण के निचले पर्वतीय पादप्रदेश में औसत वार्षिक वर्षा ५०० से ६३५ सेंमी० होती है। इस भाग के सघन वनों मे वर्षाकालीन ताप अत्यंत ऊँचा रहता है। देश के मध्यवर्ती भाग में वर्षा साधारण है जब कि उत्तर के अधिक ऊँचे भागों में अति ठंढी एवं सूखी जलवायु मिलती है।

वनस्पति एवं जीवजंतु — भूटान का लगभग एक तिहाई भाग वनाच्छादित है। १,५०० मीटर तक की ऊँचाई पर चौड़ी पत्ती वाले वन मिलते हैं, जब कि इससे ऊपर चीड़, स्प्रूस, लार्च, बाज, बीच, भूर्ज, ऐश, मैपिल, साईप्रस, फर इत्यादि वृक्ष उगते हैं। देश में जीव जंतुओं की भी भरमार है, जैसे, निचले भागों में हाथी, तेंदुआ, बाघ, चीता, साभर, गेंडा, हरिण तथा नीचे और ऊँचे भागों में हिम मृग तथा कस्तूरी मृग आदि। यहाँ घोड़े भी मिलते हैं। निवासियों की अहिंसक प्रकृति भी जीव जंतुओं की वृद्धि में सहायक है।

कृषि — समतल भूमि के अभाव मे कृषि सीढ़ीनुमा खेत बनाकर की जाती है। नदियों की उपजाऊ घाटियों मे यह उद्यम अधिक महत्वपूर्ण है और यहाँ सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी समुचित प्रबंध है। धान, मक्का, गेहूँ, जौ, शाक, इलायची, अखरोट एवं संतरे की उपजें महत्वपूर्ण हैं।

खनिज संपत्ति — कुछ समय पूर्व से ही भारतीय भूगर्भवेत्ताओं के अन्वेषणों के फलस्वरूप देश मे कोयला, ताँबा, डोलोमाईट, जिप्सम, कच्चा लोहा, ग्रेफाइट एवं अभ्रक के भंडारों की उपस्थिति का पता चला है और इनको खोदकर निकालने का कार्य आरंभ हो गया है। वैसे कई शताब्दियों से ही यहाँ प्राप्त चाँदी एवं लोहा खनिजों का उपयोग कलात्मक वस्तुओं के निर्माण में होता रहा है।

आर्थिक स्थिति एवं उद्योग धंधे — भूटान की अर्थव्यवस्था अभी तक प्रारंभिक स्तर पर ही है। अधिकांश निवासी कृषि एवं पशुपालन द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। कुछ लोग शिल्पकला में भी संलग्न हैं और चाँदी, पीतल, काँसा, ताँबा, तथा लोहे की कलात्मक वस्तुएँ, तलवार इत्यादि बनाते हैं। सूती, ऊनी, एवं रेशमी वस्त्रों की बुनाई तथा कढ़ाई, लकड़ी पर नक्काशी, काष्ठ एवं चमड़े का सामान, बेंत की टोकरियाँ, चटाइयाँ इत्यादि बनाने का काम भी महत्वपूर्ण है। चावल, जौ एवं बाजरे से चौंग नामक मदिरा तथा डफली नामक जंगली पौधे से कागज बनता है। व्यापार मे मुद्रा के स्थान पर अदल बदल की प्रथा अधिक प्रचलित है।

यातायात के साधन — अब तक पर्यटन पैदल अथवा खच्चरों पर होता था तथा सामान कुली, खच्चर अथवा याक ले जाते थे, परंतु १९६२ ई० मे भारत सरकार द्वारा निर्मित सड़क मार्ग पारो नगर एवं भारत के मध्य आधुनिक यातायात की सुविधा प्रदान करता है। देश में तार एवं टेलीफोन लगाने का प्रबंध हो गया है।

विदेशी व्यापार — इसका व्यापार लगभग पूर्णतः भारत से ही होता है। निर्यातित वस्तुओं मे लकड़ी, शिल्पकारी की वस्तुएँ तथा याक के बाल मुख्य हैं जबकि आयातित वस्तुओं में वस्त्र, सुपाड़ी, तंबाकू तथा अन्य उपभोग सामग्रियाँ हैं। [रा० ना० मा०]

भूदान : देखिए 'सर्वोदय'।

भूदृश्य वास्तुकला (Landscape Architecture) स्थल को मानव उपयोग और आमोद के लिये सुव्यवस्थित करने और उपयुक्त बनाने की सृजनात्मक कला है। इसका उद्देश्य संपूर्ण विन्यास के फलस्वरूप, मानव मस्तिष्क को अत्यधिक प्रभावित करना और स्थल या सरचना से संबद्ध भावनात्मक प्रेरणाओं को संतुष्ट करना है, ताकि लोग अत्यधिक प्रशंसा करें। इसके अतिरिक्त भूदृश्य वास्तुकला के अंतर्गत भूदृश्य इंजीनियरी, भूदृश्य उद्यानकर्म और भूदृश्य वनविद्या भी आ जाती है। बाहरी उपवनमार्ग और भलीभाँति आकल्पित चित्र विचित्र पार्क भी भूदृश्य वास्तुकला में सम्मिलित हैं।

स्थल दृश्य निर्माण मे सुविधा मात्र का ही बहुत कम काम है, यद्यपि पादपारोपण की उपयोगिता के अंतर्गत हवा रोकना, एकांत प्रदान करना, महत्व बढ़ाना और रंगीनी लाना आदि, सभी आ जाते हैं। आकल्पन का उद्देश्य महानता, सुंदरता और विविधता से पूर्ण दृश्यों के द्वारा चित्ताकर्षक पर्यावरण निर्माण करना है। इसकी सिद्धि स्थल, संरचना, स्थिति, वनस्पति और जलवायु के अनुसार कृत्रिम या नैसर्गिक आकल्प द्वारा, संगति अथवा विरोध उत्पन्न कर की जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना आवश्यक है कि इस सृजनात्मक शाखा के व्यावहारिक पक्ष का आधार यह मान्यता है कि उपयोगिता और सुंदरता परस्पर संगत हैं और इनमे से कोई भी दूसरे के बिना पूर्ण नहीं है।

भूदृश्य वास्तुकला उन आकल्पों के लिये उपयुक्त नाम हो सकता है, जो व्यापक रूप से स्थल दृश्य को व्यावहारिक बनाते हैं, जैसा ली नोत्रे ने वरसाइ के अद्वितीय उद्यानों में, जहाँगीर ने लाहौर के अत्युत्तम विन्यासवाले दिलखुश बाग तथा कश्मीर के विश्वविख्यात मनोरम शालीमार बाग मे और शाहजहाँ ने ताजमहल के गंभीर विन्यास और मनोहर परिवेश मे किया था, अथवा जापानी माली अपने चायगृहों के विचित्र स्वप्नलोकीय, और आनंददायक परिवेश में करते हैं, या जैसा वर्तमान काल में मैसूर के वृंदावन उद्यान के परिस्तानी परिवेश में, राष्ट्रपति भवन के शाही रचनावाले मुगल उद्यान मे, बंबई में सार्वजनिक आमोद के लिये झूलते हुए बाग के मनोरम परिवेश में, जहाँ नगर के एक भाग

भूटान (देखें पृष्ठ ४७–४८)

निशाना साधता मन्त्री →
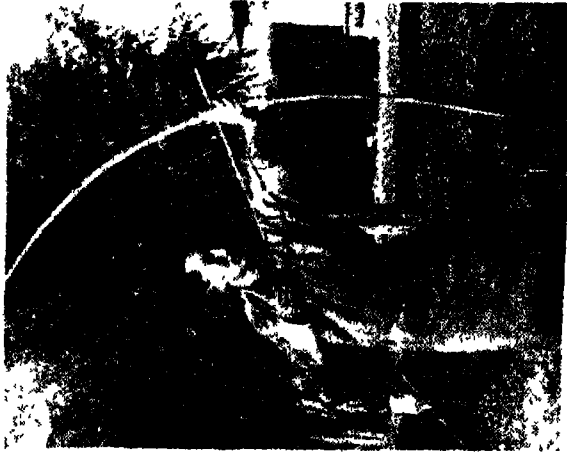
← पारो के निकट एक गांव में भारत की प्रधान मंत्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी
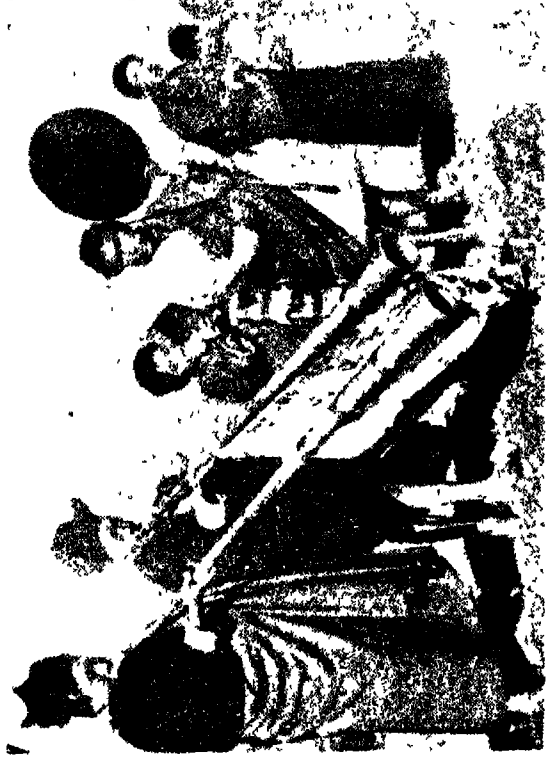
भूटानी बालकों का नृत्य →

← भूटानी व छपर, परंपरागत वाद्य बजाते हुए।

भूटान (देखें पृष्ठ ४७–४८)

स्तूप या चर्टेन

महाकाल नृत्य
महाकाल को समर्पित टट्टू बगल में है।

भूटानी बालक और उसका भाई

के लिये बने हुए विशाल जलाशय की सतह का उपयोग किया गया है, और टाटानगर के स्वर्ण जयंती उद्यान में है जो कारखाने में काम करनेवाले श्रमिकों का श्रमभार हलका करने के लिये अत्यंत व्यस्त औद्योगिक नगर मे विश्राम योग्य परिवेश प्रदान करता है। अनुपम सौंदर्य और विनोद का विशालतम प्रांगण, न्यूयार्क का केंद्रीय पार्क, नगर ही नहीं वरन् सारे राष्ट्र के लिये गर्व का विषय है। उसमे परस्पर गुथी हुई सड़कों, मार्गों, वनस्पतियों और जलाशयों के साथ साथ सहज और वृक्षाकार नमूने हैं। इन सब उदाहरणों मे स्थलदृश्य निर्माण की व्यवस्था भवनों, छोटी छोटी संरचनाओं और विशेष आकृतिवाली सड़कों तथा मार्गों से की गई है। इनके साथ ही साथ सजावटी वृक्षो, फूल पत्तियों, जलविस्तार और झरनों, फुहारों, मूर्तियो, दर्शक मंडपों, बेंचों और विविध नमूनों तथा रंगोंवाली फर्शी सामग्री का उपयोग हुआ है।

पर्यावरण के मानवीकरण के लिये सारे के सारे नगर में ही स्थलदृश्य निर्माण की व्यवस्था होनी चाहिए। यह पश्चिम में बेबीलोन से लेकर वेरसाइ तक के और भारत मे अशोककाल से लेकर मुगल उद्यानों तक के ऐतिहासिक घटनाक्रम में कोड़ियों उदाहरणों से स्पष्ट है, जिनमे कृत्रिम या समस्थापित विन्यास के नमूनो का बाहुल्य था। औद्योगिक क्रांति काल मे कुछ समय तक स्थलदृश्य निर्माण का महत्व भूला रहा, किंतु मानव मस्तिष्क और स्वास्थ्य पर यंत्रयुग का प्रतिकूल प्रभाव होने के कारण उद्यान नगरों, नगर सौंदर्य और हरित पेटी युक्त नगरियों का शक्तिशाली आंदोलन आरंभ हुआ, जिसमे चीन की खुली उद्यान शैली का समावेश हुआ। इस प्रकार नगर मे और उसके आस पास स्थलदृश्य के उचित निर्माण के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार हुआ।

एक और परिवर्तन यह दिखाई देता है कि जाल जैसी और अरवत् शैली के कृत्रिम विन्यास के स्थान पर स्थल रूपरेखा के अनुसार अकृत्रिम विन्यास आ गया, जिससे सतत प्रेरणा के लिये समस्त पर्यावरण का नित्य परिवर्तनशील दृश्य उपलब्ध होता है।

उपयुक्त स्थलदृश्य निर्माण के लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि सड़कों और गलियो, स्क्वायरो, चौराहो आदि जैसे नगर नियोजन के कुछ मौलिक तत्वो पर, इमारतों, दूकानो, दीपस्तंभो, टेलीफोन कोष्ठो और संकेतपटलों आदि संबंधी गौण तत्वों पर, और राह चलते व्यक्ति की दृष्टि मे आनेवाले नगर तथा इमारतो के क्षैतिज तथा ऊर्ध्वाधर दर्शन पर उचित विचार किया जाय। इनके अतिरिक्त स्थलविन्यास का सफल आकल्प चार बातो पर निर्भर है: समावरण, अनुरूपता या प्रतिकूलता, विस्मय और जल का उपयोग। ये सब मौलिक और गौण तत्वों के साथ मिलकर ऐसे उत्कृष्ट भूदृश्य आकल्प के लिये उपयुक्त आधार प्रस्तुत करते हैं, जिनमे नित्य परिवर्तनशील दृश्य की पूर्वकल्पना करनी पड़ती है।

पादप सामग्री के उपयोग के विषय मे यह आवश्यक है कि नगर, उसके पड़ोस और पर्यावरण के लिये सौंदर्य एवं उपयोगिता से पूर्ण अभिकल्प तैयार किया जाय। इस उद्देश्य से एक पादपारोपण योजना बनानी चाहिए। इस संबंध में मार्ग-पार्श्व-वृक्षावलि का मुख्य प्रयोजन छाया प्रदान करना तथा वीथी दृश्य को सुसज्जित करना है। इसके लिये संपूर्ण वर्ष रंग बिरंगे फूलों का आकर्षक चित्रपटल बना रहना चाहिए। सिंदूरी गुलमोहर के फूलो के व्यतिरेक के साथ गहरे पीले रंग का अमलतास लगाने से, मनोहर वृक्षावली तैयार हो सकती है और जैकरेंडा मिमासीफोलिया (Jacaranda mimasefoli) के नीले फूल लगा देने से भी दृश्य और सुंदर हो जाता है।

निवासक्षेत्रो के आस पास सजावटी फूलोंवाले वृक्ष लगाना उपयुक्त है, जैसे कदंब, मौलश्री, कचनार, कूपीकूर्च (bottle brush), और चंपक, पारिजात, सीता, अशोक और माजू।

पार्क वर्ष भर सुंदर रहे, इसके लिये दो एक महीने तक खिलनेवाले मौसमी फूलों की अपेक्षा कैना (canna), सजावटी इग्जोरा (ixora), नील चित्रक (plumbago), और बारहमासी ज़िनिया (zinnia) अधिक उपयुक्त हैं। इनके साथ साथ नारंगी रंग के दिल्ली गुलाब और अभिसुंदरा (gerbera) लताएँ लगा देने से वर्ष भर सुंदर लगनेवाला अद्भुत विन्यास तैयार होता है, जिसकी अनुरक्षण लागत बहुत कम होती है। मौसमी फूल लगाकर विन्यास में और भी प्रखरता लाई जा सकती है।

इस प्रकार वनस्पति और संरचना के अवकाश संबंध द्वारा व्यापक स्थलनिर्माण और अचर आमोद की शृंखला बनती है, जिससे मस्तिष्क को स्फूर्ति मिलती है और कार्य तथा संतोष की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। जहाँ तक निवासस्थानों का संबंध है, बागवानी के तीन भेद किए जा सकते हैं: (१) फल-शाक-वाटिका, (२) पुष्पवाटिका तथा (३) चित्र विचित्र बागवानी।

बागवानी के तीसरे प्रकार का उद्देश्य शोभा, सौंदर्य या विविधता पूर्ण दृश्यो से कल्पना को संतुष्ट करना है। इस संबंध मे पुरातन मत यह था कि घर के चारों ओर एक उद्यान हो, जिससे प्रकृति और संरचना मे निश्चित अलगाव रहे। यह विभाजन अत्यंत अनम्य था और जलवायु के अनुसार केवल इतना ही विकल्प था कि चाहे कोई छत के नीचे दीवारो से घिरा रहे और चाहे खुले उद्यान मे प्रकृति के बीच रहे। इनकी अपेक्षा चीन और जापान के गहराई मे बने बगीचे अच्छे होते हैं कि उनमे स्थल दृश्य के साथ साथ समावरण भी रहता है, जिससे एकांतता और आनंद प्राप्त होते हैं। किंतु आधुनिक प्रवृत्ति बगीचा भीतर लाने की है, जिससे भीतर और बाहर के बीच विभाजन की कोई स्पष्ट रेखा नही रहती। यह निवास उद्यान और गृह-विन्यास योजना के सभी पुराने प्रयासों से उत्कृष्ट है, क्योंकि इससे घर के भीतर रहें या बाहर, प्रकृति की उपस्थिति के कारण आनंद, उल्लास और शांत मनोभाव अविच्छिन्न रहते हैं।

इस प्रकार की योजना मे रात की रानी, रुक्मिणी, हरसिंगार जैसे पौधे उधर रखने चाहिए जिधर से हवा आती हो, ताकि भवन मे भीनी भीनी सुगंध पहुँचती रहे। भीतर की ओर मणि पादप (pathas oria), शतावरी आदि, ऐसे ही पौधों के गमले दर्शनतोष के लिये लगाए जा सकते हैं।

किंतु भूदृश्य वास्तुकला का उद्यानकर्म की ओर, जो समस्त उद्भिज सामग्री का मौलिक विज्ञान है, विशेष झुकाव रहता है, और विशिष्ट प्रकार के पर्यावरण में मानव की भावनात्मक लालसा पूरी

करनेवाली स्थलदृश्य-निर्माण-कला के जो अंतर्निहित अंग हैं, वे प्राकृतिक आकृतियों के साथ साथ बागवानी कौशल पर निर्भर हैं। वहाँ घूमने फिरनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के, और उधर जानेवाली प्रत्येक आँख के, सामने विविध दृश्यों की शृंखला प्रदर्शित करनेवाला एक चित्रपट सा खुल जाता है। इस प्रकार अन्वेषण और विस्मय का पुट पाकर वहाँ के उपागम, दृश्य और स्थानविभाजन का मूल्य बढ़ जाता है।

जब कभी मानवकृत और प्राकृतिक घटक, कृष्य क्षेत्रों या औद्योगिक केंद्रों के निकट चतुरता के साथ जमा दिए जाते हैं, तब यह मान लिया जाता है कि वह प्रकृति से मेल खाता होगा। ये प्रयास शुद्ध वायु, धूप, पानी, हरियाली, समीर और स्फूर्तिदायक उद्यानों और पार्कों के रूप में प्रकृति को वापस नगरों में बुला लेते हैं। वास्तव में नगर स्वयं ही स्थलदृश्य का भाग हो जाता है। एक-मंजिले मकान वृक्षों के बीच में विलीन हो जाते हैं, केवल ऊँची इमारतें दिखाई देती हैं। इस प्रकार निर्मित स्वाभाविक पर्यावरण में नगर स्थलदृश्य में होगा, और स्थलदृश्य नगर में। [गो० म० मा०]

भू-धाराएँ (Earth Currents) भूपर्पटी में प्रवाहित विद्युद्धाराओं को कहते हैं। अनुमानतः इनका प्रेरण उपरली धारा पद्धति (overhead current system) से होता है। सर्वप्रथम १८४७ ई० में इंग्लैंड में सुविकसित तार प्रणाली (telegraphy) की सहायता से पर्पटी में परिवर्तनशील विद्युद्धाराओं का पेक्षण किया गया था। इससे अनेक अनुसंधानकर्ताओं को भू-धाराओं के अध्ययन की प्रेरणा मिली। भू-धाराओं और भू-वायु-धाराओं के संबंध में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। पृथ्वी की सतह पर हवा से पृथ्वी की ओर, या इसके विपरीत, प्रवाहित विद्युद्धाराओं की व्याख्या पृथ्वी के विभवहीन क्षेत्र के आधार पर की जाती है। पृथ्वी की सतह पर स्थित बंद वक्रों (closed curves) के चारों ओर समांतर चुंबकीय बल के रेखासमाकल (line integral) की गणना द्वारा चुंबकीय विधि से इनकी पहचान की जा सकती है। परंतु भू-धाराओं के अध्ययन की विधि दूसरी है। भू-धाराओं की पहचान के लिये भूपर्पटी पर सुदूरस्थ विंदुओं के बीच का विभवांतर मापना पड़ता है। तीन या चार विंदुओं का चुनाव इस प्रकार करते हैं कि उनसे निर्मित समकोण त्रिभुज या आयत की दो भुजाएँ क्रमश: उत्तर दक्षिण और पूर्व पश्चिम के समांतर रहें। त्रिभुज या आयत के कोणीय विंदुओं पर धातु के बृहद् इलेक्ट्रोड (electrodes) गड़े रहते हैं। एक जोड़े इलेक्ट्रोड के बीच की दूरी एक दो किलोमीटर से लेकर १०० से २०० किलोमीटर तक हो सकती है। इलेक्ट्रोडों के प्रत्येक जोड़े के बीच वोल्टता का अंतर कुछ मिलीवोल्टों में होता है, जिसे उपयुक्त विंदुओं पर स्थापित सूक्ष्मग्राही उपकरणों से मापा जाता है। इलेक्ट्रोड और मिट्टी, जिसमें ये गाड़े जाते हैं, दोनों के गुणों के सर्वसम न होने के कारण, पर्पटी के किन्हीं दो विंदुओं के बीच के विभवांतर का यथार्थ मान प्राप्त करने के लिये, इलेक्ट्रोडों और मिट्टी के बीच संपर्क विभवांतर के संशोधनों को प्रयुक्त करना आवश्यक है। यह भी निश्चित होना चाहिए कि इलेक्ट्रोडों पर संपर्क प्रतिरोध, अभिलेखन-परिपथ के प्रतिरोध की तुलना में नगण्य है और समय बीतने के साथ बदलता नहीं।

भू-धाराओं को मापने के लिये प्राय: गीली मिट्टी में सीसे के तार का ग्रिड (grid) गड़ा रहता है। भारत के एक वैज्ञानिक ने इलेक्ट्रोडों को २५० मीटर की दूरी पर रखा और इलेक्ट्रोडों को मिट्टी के सापेक्ष उदासीन रखकर ध्रुवण की कठिनाई दूर की। इस वैज्ञानिक का प्रत्येक इलेक्ट्रोड विद्युद्धनीय तथा विद्युदृणीय धातुओं का संयोग था।

भू-धारा वेधशाला को पृथ्वी के व्यापक क्षेत्र की अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। इसे ऐसे स्थान पर नहीं होना चाहिए जो स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित हो। अतः वेधशाला के लिये स्थान निश्चित करने में पूर्व भू-प्रतिरोधकता (earth resistivity) सर्वेक्षण द्वारा यह निश्चित कर लिया जाता है कि वेधशाला स्थान की भूवैज्ञानिक संरचना (geological structure) भू-धारा को किसी निम्न प्रतिरोधकता की दिशा में प्रेरित करने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त नहीं है।

अंतरराष्ट्रीय परंपरा के अनुसार खगोलीय याम्योत्तर की दिशा में भू-धारा के प्रवाह को उत्तराभिमुख घटक, उ (N), कहते हैं और यदि प्रवाह उत्तर की ओर हो तो यह धनात्मक होता है। इसी प्रकार खगोलीय याम्योत्तर के लंबवत् प्रवाह को पूर्वाभिमुख घटक, पू (E), कहते हैं तथा यह पूर्व की ओर धनात्मक है।

परिणामी प्रवाह प्र = $(उ^2 + पू^2)^{1/2}$ $[R = (N^2+E^2)^{1/2}]$

और दिगंश रप α = पू/उ ($\tan \alpha = E/N$)

वाटरलू, वानकायो (Huancayo), एब्रो, पैरिस, बटेविया जैसे अनेक स्थानों में परिणामी भू-धारा की दिशा को एक ही दिगंश (azimuth), या उसके विपरीत, तक सीमित पाया गया है। यद्यपि यह विशेषता कुछ स्थानों जैसे टूसॉन (Tucson), ऐरिज़ोना (Arizona) आदि में नहीं पाई जाती, फिर भी इसका व्यापक क्षेत्र में पाया जाना एक रोचक तथ्य है। भू-धाराओं का विचरण दो प्रकार से होता है (१) अनियमित विचरण या भू-धारा तूफान और (२) नियमित तथा नियतकालिक विचरण, जैसे दैनिक तथा मौसमी विचरण।

अनियमित विचरण या तूफान — इनके अनेक लक्षण चुंबकीय विक्षोभ से मिलते जुलते है। भू-धारा तूफान, चुंबकीय तूफान और ध्रुवीय ज्योति की घटनाओं का समय एक ही होता है तथा इनका प्रादुर्भाव विश्वव्यापी और एक साथ होता है। इन दोनों सक्रियताओं का ११ वर्षीय विचरण होता है, जो सूर्य के धब्बों की सक्रियता के साथ संगत होता है और इसमें २७ दिवसीय आवृत्ति की प्रवृत्ति भी होती है। चुंबकीय सक्रियता के समान ही भू-धारा के स्थानीय विक्षोभ उच्च अक्षांशों पर अत्यंत तीव्रता में होते हैं। यह भी विचारणीय है कि भू-धारा के अभिलेखन चुंबकीय विक्षोभ के लगभग समांतर होते हैं और दोनों की प्रकृति भी एक सी होती है। उपर्युक्त समानताएँ दोनों घटनाओं के गहरे भौतिक संबंधों की ओर इंगित करती हैं।

नियमित विचरण — भू-धाराओं का औसत दैनिक विचरण, विभव प्रवणता (potential gradient) के दैनिक माध्यमान से माध्य विचलन को प्रति घंटे पर आलेखित करने से प्राप्त होता है।

दैनिक चुंबकीय विचरणों से इनकी निम्नलिखित समानताएँ होती हैं : (अ) दिन में रात की अपेक्षा विचरण तीव्र होते हैं। (ब) जाड़ों की तुलना में गर्मी के दिनों मे इनका परास अधिक उच्च होता है।

वाटरलू और टूसॉन की वेधशालाओं के प्रेक्षणों से उपर्युक्त निष्कर्ष स्पष्ट प्रतिपादित होते हैं। उत्तरी और दक्षिणी गोलार्धों मे भू-धाराओं के प्रेक्षणो से विषुवत् के निकट कला परिवर्तन (phase change) प्रकट होता है। दोपहर के समय दोनों ओर से भू-धारा का मुख्य प्रवाह विषुवत् की ओर होता प्रतीत होता है। नीचे लिखे तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है कि भू-धाराओं के दैनिक विचरण तथा पार्थिव चुंबकत्व मे भौतिक संबंध है :

(अ) चुंबकत्व की दृष्टि से किसी महीने के पाँच शात और अशात दिनों के लिये संगणित (computed) भू-धाराओ के घटकों के औसत दैनिक विचरणों मे शुद्ध ज्या तरग से मिलते जुलते एक वक्र का अतर होता है, जिसका आवर्तकाल (period) एक दिन के बराबर होता है। चुंबकीय घटकों के लिये भी ठीक इसी प्रकार का अतर वक्र प्राप्त होता है।

(ब) जिस प्रकार किसी मौसम के चुबकीय शात दिनों मे विभिन्न आयाम (amplitude) के चुंबकीय परिवर्तनो का होना संभव है, उसी प्रकार उन्ही चुबकीय शात दिनों मे भू-धाराएँ भी बडी या छोटी हो जाया करती है।

रुनी (Rooney) के अनुसार प्रदर्शित वाटरलू (अक्षाश ३०° द०) का चुबकीय बल और भू-धाराओ के दैनिक विचरण की दर चित्र मे प्रदर्शित है। चित्र मे वक्र अ वाटरलू की भू-धाराओं के उत्तरी अवयव का दैनिक विचरण निरूपित करता है और वक्र ब उसी स्थान के क्षैतिज चुबकीय बल के पूर्वी अवयव का काल व्युत्पन्न (time derivative) है। चित्र मे सपूर्ण रैखिक वक्र (time curve) उस स्थान
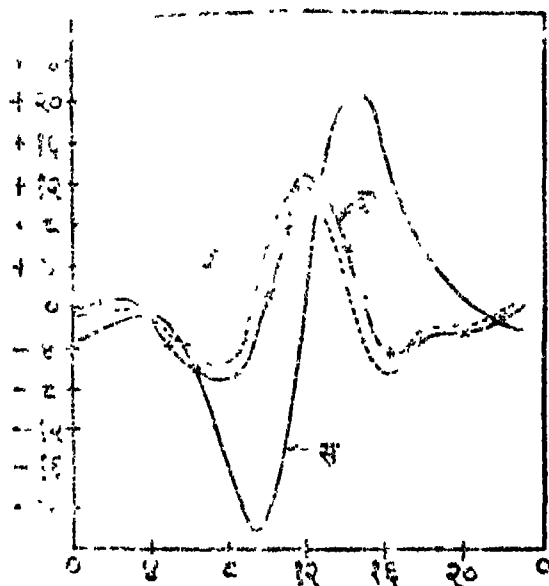
चित्र १.

के चुंबकीय बल के पूर्वी अवयव के विचरण का संकेत करता है। चूँकि वक्र अ और ब लगभग समांतर हैं, अत इनमे से किसी एक का झुकना अ और ब से निरूपित विचरणों का आकस्मिक संबंध बताता है। यह समझना असंगत नही है कि यदि सब नही तो अधिकाश भू-धाराएँ पार्थिव चुबकीय बलो मे विचरणो के कारण प्रेरित धाराएँ हैं। साथ ही यह भी तथ्य है कि इन धाराओ के निर्माण मे अन्य कारक भी सहायक हो सकते हैं। अ और ब के बीच व्यवस्थित कला अतर का होना प्रतीत होता है। भू-धाराओ और इनके संगत भू-चुबकीय क्षेत्रो के आँकड़ो के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि मध्य अक्षाशो के स्थानो मे, जहाँ भू-धाराओं के पूर्वी घटको के विचरण काफी स्पष्ट होते हैं, उत्तराभिमुख चुबकीय घटक (उत्क्रमित) के विचरण वक्र से मिलते जुलते दैनिक विचरण होते हैं, न कि उत्तराभिमुख चुबकीय घटक के विचरण के समय दर से, जैसा कि उस स्थिति मे होना चाहिए जबकि धारातत्र प्रेरित प्रभाव से उत्पन्न हो। इस असंगति का सकेत यह है कि भू-धारा निकाय (system) का मूल उतना सरल नही है, जितना चित्र के अ और ब की स्पष्ट समानता से प्रतीत होता है।

भू-धाराओ को भूभौतिकीविद् स्थलमंडलीय धाराएँ (telluric currents) कहते हैं और हाल ही मे पेट्रोलियम खोजने के क्षेत्र मे इससे बहुत लाभ उठाया गया है। पेट्रोलियम तैलाशय की उच्च प्रतिरोधकता चट्टानो मे इन धारानिकायो से उत्पन्न विभव प्रवणता के अध्ययन से, भूभौतिकीय अन्वेषण के लिये अत्यत उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त होती है। [कि० च० च०]

भूधृति (Land Tenure) भूमि की उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके अतर्गत भूमि पर अधिकार रखनेवाले व्यक्तियो का वर्गीकरण हो और उनके अधिकारो तथा उनके दायित्वो का उल्लेख हो। इस समय देश के विभिन्न राज्यो मे विभिन्न भूधृतियाँ पाई जाती हैं। स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद प्राय. सभी राज्यो मे भूमिसुधार सबधी कानून बनाए गए है। इनका लक्ष्य यह रहा है कि भूमि पर खेती करनेवालो और राज्य के बीच से मध्यवर्तियो को समाप्त कर दिया जाय।

ब्रिटिश शासनकाल मे भी भूमिव्यवस्था मे अनेक बार परिवर्तन किए गए। इस सबंध मे लार्ड कार्नवालिस द्वारा स्थापित स्थायी भूमि व्यवस्था का उल्लेख आवश्यक है। लार्ड कार्नवालिस ने भारत मे इग्लैंड जैसी भूमिव्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा की थी। इस व्यवस्था के फलस्वरूप बंगाल के जमीदार सरकार को स्थायी रूप से मालगुजारी देते थे। सन् १९०० मे बगाल के जमींदार सरकार को चार करोड रुपए मालगुजारी देते थे जबकि वे स्वय भूमि पर खेती करन वाले किसानो से १६॥ करोड रुपए लगान के रूप मे वसूल करते थे। किसानों की रक्षा करने के लिये सन् १८८६ और १९२८ में कानून बनाए गए जिनके आधार पर किसानो को बेदखल किए जाने से रोका गया। सन् १९३८ मे वहाँ फ्लाउड कमीशन नियुक्त किया गया। उसने बंगाल की भूमिव्यवस्था मे आमूल परिवर्तन करने का सुझाव दिया। सन् १९४५ मे बगाल मे जमीदारी उन्मूलन कानून लागू कर दिया गया। इस प्रकार बंगाल की स्थायी भूमिव्यवस्था का अत कर दिया गया और वहाँ खेती करनेवालो और सरकार के बीच के मध्यवर्तियो को समाप्त कर दिया गया।

मद्रास मे ब्रिटिश शासनकाल मे रैयतवाड़ी और जमीदारी

व्यवस्था थी। रैयतवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत किसान अपने खेत का स्थायी रूप से मालिक रहता था। पैतृक संपत्ति के रूप में भूमि उसके उत्तराधिकारियों को मिल जाती थी। उसे अपनी भूमि को बेचने अथवा हस्तांतरित करने का भी अधिकार था। रैयत को केवल सरकार को मालगुजारी देनी पड़ती थी। धीरे धीरे उक्त रैयत जमींदार बन गए और मद्रास की भूमिव्यवस्था में भी वे सब बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं जो जमींदारी व्यवस्था में पाई जाती थीं। मद्रास के बहुत बड़े भाग पर जमींदारी व्यवस्था की भूधृति थी। सन् १८०२ में मद्रास के पाँचवें भाग में जमींदारों को स्थायी भूमिव्यवस्था के अंतर्गत जमीन दी गई। जमींदारों को अपनी भूमि के लिये सरकार को 'पेशकस्त' देना पड़ता था। सन् १९४६ में मद्रास के कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने जमींदारी उन्मूलन का निश्चय किया और सन् १९५० में वहाँ भी जमींदारी उन्मूलन कानून बन गया। इस कानून के द्वारा मद्रास में भी मध्यवर्तियों को समाप्त कर दिया गया, साथ ही रैयतवाड़ी व्यवस्था में सुधार करने और किसानों को आवश्यक सुविधाएँ देने के लिये सन् १९५४ में एक कानून बनाया गया जिसके जरिए किसानों की जोतों की सुरक्षा और उसके लगान की व्यवस्था की गई है।

बंबई प्रदेश में भूमिव्यवस्था का आधार रैयतवाड़ी भूमिव्यवस्था ही थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत जोतों की सुरक्षा रहती थी और भूमि के वर्गीकरण के अनुसार उसपर लगान निश्चित किया जाता था। छोटे किसान और सरकार के बीच में सीधा संपर्क रहता था। किसान को अपनी भूमि हस्तांतरित करने, बेचने, रेहन रखने या दान देने का अधिकार था। वह अपने इच्छानुसार अपनी जमीन छोड़ सकता था। प्रारंभ में बंबई में रैयतों के दो वर्ग थे, प्रथम 'मीरासदार' और द्वितीय, 'उपरी'। सन् १९३९ में बंबई में भूमिसुधार कानून बनाया गया जिसके अधीन किसानों की जोत को सुरक्षित करने की व्यवस्था की गई। बंबई में सन् १९४९ और १९५१ में भी भूमिसुधार कानून बनाए गए। भूमिव्यवस्था के इन सुधारों में किसानों की जोतों को पहले से अधिक सुरक्षित कर दिया गया है और उनके अधिकार भी बढ़ा दिए गए हैं।

वर्तमान मध्यप्रदेश पुराने मध्यप्रदेश, भोपाल, ग्वालियर और इंदौर तथा रीवा और सेंट्रल एजेंसी के क्षेत्र को मिलाकर बनाया गया है। पुराने मध्यप्रदेश की भूमिव्यवस्था दो प्रकार की थी। प्रथम, कुछ क्षेत्र में रैयतवाड़ी व्यवस्था थी और द्वितीय, कुछ क्षेत्र में उत्तरप्रदेश जैसी जमींदारी व्यवस्था थी। रैयतवाड़ी क्षेत्र में मालगुजारी की वसूली पटेल करता था जिसे तहसीलदार नियुक्त करता था और उसे मालगुजारी वसूल करने पर २५ प्रतिशत कमीशन मिलता था। रैयत का अपनी भूमि पर वंशानुक्रम से अधिकार रहता था लेकिन उसे भूमि हस्तांतरित करने का अधिकार नहीं रहता था। लगान न देने पर, गैरकानूनी ढंग से जमीन हस्तांतरित करने पर, खेती न कर सकने पर और भूमिव्यवस्था का उल्लंघन करने पर रैयत को भूमि से बेदखल किया जा सकता था। छोटे शिकमी काश्तकारों को किसी प्रकार की कानूनी सुरक्षा नहीं मिलती थी। धीरे धीरे रैयतवाड़ी क्षेत्र का पटेल अपने क्षेत्र का जमींदार सा बन बैठा। सन् १९५१ में मध्य प्रदेश में एक कानून बनाया गया जिसके द्वारा ऐसी जमींदारी को समाप्त कर दिया गया। सन् १९५३ में ग्राम पंचायत कानून बनाया गया जिसके द्वारा वहाँ की भूमिव्यवस्था में सुधार किया गया।

बिहार की भूमिव्यवस्था ब्रिटिश शासनकाल में तीन प्रकार की थी। प्रदेश के बड़े भूभाग पर स्थायी भूमिव्यवस्था लागू थी जिसे लार्ड कार्नवालिस ने शुरू किया था। कुछ क्षेत्रों में भूमि का प्रबंध अस्थायी रूप से कुछ निश्चित समय के लिये किया जाता था और कुछ ऐसी भूमि थी जिसका प्रबंध सरकार की ओर से ऐसे किया जाता था जैसे वह स्वयं उस जमीन की जमींदार हो। ऐसी भूमि को 'खास महाल' कहा जाता था। बड़े जमींदार के अतिरिक्त दो प्रकार के काश्तकार होते थे—एक, ऐसे किसान जिनका लगान स्थायी रूप से निश्चित रहता था और दूसरे, जो कुछ समय के लिये जमीन पर अधिकार पाते थे। सन् १९३८ में बिहार में कृषि आयकर कानून बनाया गया। उसके अधीन कृषि में होनेवाली ५००० रु० से अधिक वार्षिक आय पर आयकर लगाने की व्यवस्था की गई। सन् १९५० में बिहार भूमिसुधार कानून बनाया गया जिसके अधीन जमींदारी का उन्मूलन कर दिया गया। सन् १९५३ में बिहार की समस्त भूमि पर सरकार का स्वामित्व हो गया और अब वहाँ किसान जोतदार के और सरकार के बीच मध्यवर्ती नहीं रह गए हैं। अब किसानों की जोतों को सुरक्षित कर दिया गया और उनका लगान भी निश्चित कर दिया गया है।

उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमिसुधार कानून, जो सन् १९५१ में बना था, उसके पहले भूमिव्यवस्था के सुधार के अनेक प्रयास हो चुके थे। उत्तर प्रदेश भूमि राजस्व कानून १९०१ में बना था। बाद में सन् १९२६ तथा सन् १९३९ में उत्तरप्रदेश काश्तकारी (टेनेन्सी) कानून बनाए गए थे।

उत्तरप्रदेश की भूमिव्यवस्था का सविस्तार उल्लेख करने के पूर्व भारत में भूमिव्यवस्था के विकास का सिंहावलोकन कर लेना अच्छा होगा। हिंदू शासनकाल में मनुस्मृति के अनुसार देश का राजतंत्र ग्रामों के संगठन पर आधारित था। दस ग्रामों का प्रशासन करनेवाला अधिकारी ग्राम अधिपति कहलाता था। उसे दो हल से खेती करने लायक भूमि दी जाती थी। २० ग्रामों के प्रशासन अधिकारी को पाँच हल की भूमि, एक सौ ग्रामों के अधिकारी को एक नगर की आमदनी और एक हजार ग्रामों के प्रशासन अधिकारी को एक बड़े नगर की आमदनी दी जाती थी। 'अर्थशास्त्र' में भूमि व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख है। राजस्व दो प्रकार का होता था, एक राष्ट्र और दूसरा सीता। राष्ट्र राजस्व सामान्य मालगुजारी की भाँति कृषकों से भूमिकर के रूप में लिया जाता था और सीता राजस्व उस भूमि से लिया जाता था जो राष्ट्र के अधीन रहती थी और उसपर प्रशासन की ओर से कृषि की जाती थी। अर्थशास्त्र में भूमि की नापजोख और भूमिराजस्व निश्चित करने की विधियों पर भी प्रकाश डाला गया है। पाँच या दस गाँव के प्रबंध को देखनेवाले अधिकारी को गोप कहते थे। आजकल के कानूनगो को उसका समकक्ष कहा जा सकता है। भूमि का वर्गीकरण किया जाता था और इन्हीं वर्गों के अनुसार राजस्व निश्चित किया जाता था। ग्रामों की अपनी व्यवस्था का संचालन पंचायतों द्वारा होता था। राजस्व अदा करने की जिम्मेदारी पूरे गाँव की सामूहिक रूप से होती थी।

मुसलमानी शासनकाल में और विशेष रूप से शेरशाह और बाद

में अकबर के शासनकाल में भारत की प्राचीन भूमिव्यवस्था में कुछ परिवर्तन किए गए। स्थानीय राजा अथवा सनद पाए जमींदारों के जरिए लगान वसूल किया जाने लगा। सामंतवादी प्रथा का विकास इस समय तक हो चुका था। राजस्व के अतिरिक्त 'अबवाब' अथवा अन्य प्रकार की गैरकानूनी वसूली भी होने लगी थी। इस्लामी कानून के अधीन मुसलमानों से 'उश्र' वसूल किया जा सकता था और गैरमुसलमानों से खिराज वसूल किया जा सकता था। खिराज दो प्रकार का होता था। प्रथम, 'मुकस्सीमाह खिराज' जो बँटाई की भाँति उपज के हिस्से के रूप में लिया जाता था और द्वितीय 'वजीफा खिराज' जो किसान की जोत के हिसाब से एक निश्चित रकम के रूप में वसूल किया जाता था। मुसलमान शासक जमीन पर शासक का स्वामित्व नहीं मानते थे। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि अकबर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने किला बनाने अथवा दूसरे शाही कामों के लिये जमीन खरीदकर ली थी।

ब्रिटिश शासनकाल मे उत्तरप्रदेश मे समय समय पर प्राप्त क्षेत्रों में अलग अलग भूमिव्यवस्था की गई। सन् १७७५ मे अवध के नवाब और ईस्ट इंडिया कंपनी में हुई संधि के अधीन बलिया, बनारस, जौनपुर और आजमगढ़ के कुछ क्षेत्र कंपनी को मिले; उनमें स्थायी भूमिव्यवस्था लागू की गई। सन् १८०१ मे अवध के नवाब से आजमगढ़, गोरखपुर, बस्ती, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, बदायूँ आदि जिले कंपनी को मिल गए। आगरा, मेरठ, मुजफ्फरनगर आदि जिले सन् १८०३ में ईस्ट इंडिया कंपनी को मिले। सन् १८०३, १८१७ और १८४० में बुंदेलखंड के जिले भी अंग्रेजों को मिल गए। सन् १८१५ मे देहरादून जिला भी अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। अंत में सन् १८५६ मे पूरे अवध पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। १८५९ मे आगरा और बनारस के क्षेत्रों में समान भूमिव्यवस्था कायम रखी गई। ब्रिटिश शासनकाल मे जो जमींदार आरंभ में केवल राजस्व एकत्र करने का काम करते थे और जिनका स्वयं खेती करने से कोई विशेष संबंध नही था उनको स्थायी रूप से भूमि का प्रबंधक मान लिया गया और प्रशासन की ओर से उनसे ही संबंध रखा जाने लगा और किसानों के हितों का ध्यान नही रखा गया। जमींदारी व्यवस्था मे जमींदारों से लिया जानेवाला राजस्व मालगुजारी या निश्चित कर दी जाती थी और किसानों से लगान वसूली की उन्हें छूट सी मिल गई थी। अस्थायी व्यवस्थावाले क्षेत्र मे समय समय पर राजस्व निश्चित किया जाता था। रैयतवाड़ी क्षेत्र में भी राजस्व समय समय पर निश्चित होता था और रैयत को अपनी भूमि पर स्थायी अधिकार रहता था। आरंभ में सन् १८८६ मे अवध रेंट ऐक्ट और सन् १९०१ में आगरा टेनेंसी ऐक्ट बनाए गए। सन् १९२१ और १९२६ मे काश्तकारों को कुछ सुविधाएँ देने के लिये उक्त कानूनों मे संशोधन किए गए। सन् १९३९ में यू० पी० टेनेंसी ऐक्ट नामक कानून बनाया गया। उसमे काश्तकारों को उनकी भूमि पर मौरूसी हक दिए गए। सन् १९५१ में उत्तरप्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमिसुधार कानून बनाया गया। इस कानून के अधीन किसानों के पुराने वर्गीकरण को समाप्त कर किसानो को चार श्रेणियों मे बाँटा गया है, (१) भूमिधर, (२) सीरदार, (३) आसामी और (४) अधिवासी। इस कानून के पहले किसानों को सात श्रेणियों में रखा जाता था जिनमें खुदकाश्त, मौरूसी काश्तकार, सीरदार, काश्तकार और शिकमी काश्तकार आदि शामिल थे। नए कानून के अनुसार भूमिधर दो प्रकार के होते हैं, एक तो ऐसे भूमिधर जो पहले के जमींदार हैं और अब अपनी खुदकाश्त अथवा सीरवाली जमीन के भूमिधर बन गए हैं, दूसरे जिन काश्तकारों ने लगान का दस गुना लगान एक साथ जमा कर यह अधिकार प्राप्त कर लिया है। भूमिधरों को आधी मालगुजारी ही देनी पड़ती है और बाकी किसानों को पूरी मालगुजारी देनी पड़ती है। सीरदार की परिभाषा मे कहा गया है कि वे सभी किसान जो जमीन पर मौरूसी काबिज थे, जिनके नाम पट्टा दवामी या इस्तमरारी था, ऐसे लोग जिन्हें गाँव सभा ने सीरदार काश्तकार मान लिया है, ऐसे आसामी काश्तकार जिन्हे सीरदार काश्तकार के हक मिल गए हैं, ये सब लोग सीरदार काश्तकार मान लिए गए है। आसामी उन काश्तकारों को कहते हैं जो सीरवाली भूमि पर खेती करते थे अथवा ठेकेदारो की भूमि पर खेती करते थे। पहले के शिकमी काश्तकार भी इसी श्रेणी में आ गए हैं। अधिवासी ऐसे अस्थायी काश्तकारों को कहा जाता है जो भूमिधर और सीरदार की जमीन पर काश्त करते हैं, जिन्हें तीन वर्ष के लिये खेती करने के लिये जमीन मिलती है। २५० रु० से कम लगान देनेवाले ऐसे किसान जो स्वयं अपनी खेती नही कर सकते, उनकी जमीन पर खेती करनेवाले किसान भी अधिवासी कहलाते हैं।

इस प्रकार नवीन भूधृति की स्थापना हो चुकी है। अब इस बात का प्रयास किया जा रहा है कि काश्तकारो की श्रेणियों को इससे भी कम कर दिया जाय, जिससे किसानो की जोत की सुरक्षा हो और उन्हें अपने खेतों में अधिक धन लगाकर अपनी उपज बढ़ाने के लिये उत्साहित किया जा सके। [चं० दी०]

भूपति, गुरुदत्त सिंह अमेठी के राजा थे। ये बंधुल गोत्रीय सूर्यवंशी कुशवाहा क्षत्रिय थे। इनके पिता राजा हिम्मतबहादुर सिंह स्वयं कवि एवं कवियों के आश्रयदाता थे। इस वंश के प्राय. सभी नरेश विद्वान् थे और गुणियों का यथोचित संमान करने मे रुचि रखते थे। हिंदी के पोषण मे यह राजवंश सदा अग्रगण्य रहा है। इस दरबार मे हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि मलिक मुहम्मद जायसी, सुखदेव मिश्र, कालिदास त्रिवेदी, उदयनाथ कवींद्र, दूलह और सुवंश शुक्ल को ससंमान आश्रय प्राप्त था। राजकार्य में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी गुरुदत्त सिंह काव्यनिर्माण मे दत्तचित्त रहते थे। ये निर्भीक योद्धा भी थे। अवध के नवाब सआदत खाँ से अनबन हो जाने पर उसने इनका रामनगर का गढ घेर लिया। उसके समुख मारकाट करते हुए ये बाहर निकल गए। कुछ ही वर्षों में बड़ी वीरता से उन्होने पुन: अपने गढ़ पर अधिकार कर लिया।

संवत् १७९१ में इन्होंने 'भूपति सतसई' का निर्माण किया। अर्थ एवं भाव रमणीयता की दृष्टि से सतसई परंपरा मे इसका महत्वपूर्ण स्थान है। 'बिहारी सतसई' की होड मे भूपति ने इसकी रचना की है। कवि के लोकज्ञान, शास्त्रज्ञान तथा काव्यज्ञान का समन्वित रूप इसमें परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त कंठाभरण, सुरसरत्नाकर, रसदीप, रसरत्नावली नामक ग्रंथ भी इनके रचे हुए बतलाए जाते हैं। इनके नाम से संबद्ध 'भाषा भागवत' वस्तुत; इनका ग्रंथ नहीं है। यह इटावानिवासी उनायाँ कायस्थ लेखराज के पुत्र भूपति कवि

की रचना है। गुरुदत्त सिंह भूपति का रचनाकाल संवत् १७८८ से १७९९ तक है।

स० ग्रं० — आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास; खोज विवरण १९२६–२८, नागरीप्रचारिणी पत्रिका सं० १९७९, मनस्वी, सं० २००२। [रा० व० पा०]

भूभौतिकी, शुद्ध और अनुप्रयुक्त पृथ्वी की भौतिकी है। इसके अंतर्गत पृथ्वी संबंधी सारी समस्याओं की छानबीन होती है। साथ ही यह एक प्रयुक्त विज्ञान भी है, क्योंकि इसमें भूमि समस्याओं और प्राकृतिक रूपों में उपलब्ध पदार्थों के व्यवहार की व्याख्या मूल विज्ञानों की सहायता से की जाती है। इसका विकास भौतिकी और भौमिकी से हुआ है। भूविज्ञानियों की आवश्यकता के फलस्वरूप नए साधनों के रूप में इसका जन्म हुआ।

विज्ञान की शाखाओं या उपविभागों के रूप में भौतिकी, रसायन, भूविज्ञान और जीवविज्ञान को मान्यता मिले एक अर्सा बीत चुका है। ज्यों ज्यों विज्ञान का विकास हुआ, उसकी शाखाओं के मध्यवर्ती क्षेत्र उत्पन्न होते गए, जिनमें से एक भूभौतिकी है। उपर्युक्त
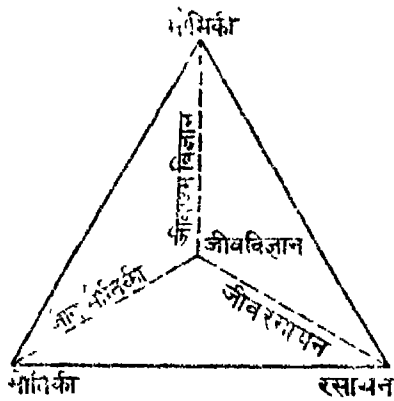
चित्र १ नवीन विज्ञानों के उपविभाग

विज्ञानों को चतुष्फलक के शीर्ष पर निरूपित करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। चतुष्फलक की भुजाएँ नए विज्ञानों को निरूपित करती हैं।

चित्र १ से स्पष्ट है कि भूभौतिकी का जन्म भौमिकी एवं भौतिकी से हुआ है।

भूभौतिकी के उपविभाग -- प्रयोग और सिद्धांत की नई प्रविधियों और औजारों की प्रयुक्ति भूसमस्याओं पर करने से साथ साथ अन्वेषण के नए नए क्षेत्र प्राप्त होते गए, जिनका समावेश भूभौतिकी में कर लिया गया। अब भूभौतिकी के निम्नलिखित लगभग दस उपविभाग हैं : (१) ग्रह विज्ञान, (२) वायुविज्ञान, (३) मौसम विज्ञान, (४) जलविज्ञान, (५) समुद्र विज्ञान, (६) भूकंप विज्ञान, (७) ज्वालामुखी विज्ञान, (८) भूचुंबकत्व (९), भूगणित और (१०) विवर्तनिक भौतिकी (Tectonic physics)।

अनुप्रयुक्त भू-भौतिकी के अंतर्गत धरती की सतह पर भौतिक मापनों से अधस्तल (subsurface) की भौमिक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसे भूभौतिक पूर्वेक्षण भी कहते हैं और इसका उद्देश्य उपयुक्त उपकरणों से घनत्व वैषम्य, प्रत्यास्थी गुणधर्म, चुंबकत्व, विद्युत्सग्राहकता और रेडियोऐक्टिवता आदि मापकर पेट्रोलियम, पानी, खनिज और रेडियोऐक्टिव तथा खडनीय पदार्थों का स्थान निर्धारण करना है।

भूभौतिक अनुसंधानों और प्रेक्षणों का समन्वय करने के लिये 'इंटरनैशनल यूनियन ऑव जिऑडिसि ऐंड जिओफिज़िक्स' नामक संस्था का संगठन किया गया है। इसे संसार के सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय भूभौतिक संस्थानों का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। इस संस्था की भूभौतिक मापनों के कार्यक्रम की सक्रियता कभी कभी एक दो वर्षों के लिये काफी तेज हो जाती है, जैसे अतीत में दो बार, अंतरराष्ट्रीय ध्रुवीय वर्षों सन् १८८३ तथा १९३३ में और एक बार अंतरराष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष सन् १९५७–५८ में ऐसा किया गया।

भूभौतिकी में सभी भौतिक प्रक्रमों और पृथ्वी के केंद्र से वायुमंडल के शीर्षस्थ तक के सब पदार्थों के गुणों का अध्ययन तथा अन्य ग्रहों के संबंध में इसी प्रकार का अध्ययन होता है। इसकी सभी शाखाओं के विषयक्षेत्र का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है :

ग्रह विज्ञान — यह विज्ञान चंद्रमा, बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति आदि ग्रहों के पृष्ठ और पर्यावरण के अध्ययन की वैज्ञानिक विधियों से संबंधित है। इससे जो जानकारी मिलती है, वह मनुष्य की ज्ञानराशि की अभिवृद्धि करती ही है, साथ ही उसकी भावी अंतरिक्षयात्रा में भी सहायक होती है। मापन के लिये भूस्थित स्पेक्ट्रमी प्रकाशलेखी रेडियो और रेडियोमापी विधियों का प्रयोग किया जाता है। रेडार और रेडियो आवृत्तियों के विस्तृत परास (range) का उपयोग करके, ग्रहों की पृष्ठीय रूक्षता, गहराई, भौतिक गुण, धूल परत और वायुमंडल का निर्धारण संभव होता है। ग्रहों के गुरुत्व, चुंबकीय क्षेत्र, दाब, ताप, पृष्ठीय भूविज्ञान और वायुमंडल की विद्युत् अवस्था ज्ञात करने की विधियों का आविष्कार किया जा चुका है। कृत्रिम उपग्रह तथा उपग्रह पर स्थित उपकरणों से अन्य ग्रहों पर जीवन या वनस्पति की उपस्थिति, या इनके अनुकूल परिस्थिति, की छानबीन की जा रही है। निकट भविष्य में रेडियो तारा उपगूहन (occultation) और द्विस्थैतिक रेडार (bistatic radar) के प्रयोगों से सौर किरीट, अयनमंडल तथा ग्रहीय वायुमंडल के बारे में बहुत सी बातें मालूम हो जाएँगी।

वायु विज्ञान (Aeronomy) — विज्ञान की यह शाखा सौ किलोमीटर से अधिक ऊँचाई के पृथ्वी के वायुमंडल की घटनाओं से संबंधित है। इतनी ऊँचाई पर हवा अत्यधिक आयनित होती है, परमाणु और इलेक्ट्रॉनों के औसत मुक्तपथ (mean free path) दीर्घ होते हैं और वहाँ पदार्थों का भौतिक व्यवहार जितना घनत्व और अन्य संहति गुणों पर निर्भर करता है उतना या उससे अधिक विद्युद्-गुणों पर निर्भर करता है। पृथ्वी के वायुमंडल की बाह्य सीमा कोई स्पष्ट पृष्ठ नहीं है, बल्कि अंतर्ग्रहीय अवकाश में सापेक्ष रिक्ति की ओर इसका क्रमशः संक्रमण है। इस संक्रमण के कटिबंधों में पृथ्वी के वायुमंडलीय पदार्थों और बाहर से आनेवाले विकिरणों और कणों में निरंतर परस्पर क्रिया होती है। वायुविज्ञान इन घटनाओं और भूपरिस्थितियों पर इनके महत्व से संबंधित है। लगभग ३०० किलोमीटर ऊँचाई

पर वायुमंडल का ताप लगभग १,५००° सेंटीग्रेड है। अतः पृथ्वी के वायुमंडल के निचले फैलाव के ऊपर उड्डयन में सुरक्षा के लिये ऊँचाइयों पर वायुमंडल के गुणों का अध्ययन बहुत आवश्यक है।

मौसम विज्ञान — यह वायुमंडल और भूपृष्ठ के निकटवर्ती वायुमंडल की विभिन्न घटनाओं से संबंधित हवा और मौसम का विज्ञान है। मौसम विज्ञानी ताप, दाब, पवन, मेघ, वर्षण आदि वायुमंडल के लक्षणों को प्रेक्षित करके, बाह्य प्रभावों और भौतिकी के मौलिक नियमों के आधार पर, वायुमंडल की प्रेक्षित संरचना और उद्भव की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। पवन और मौसम के जैसे प्रेक्षित चरों (variables) के प्रतिमानों (patterns) के आनुभविक संबंधों की खोज और व्याख्या करने योग्य समस्या के रूप में उभारकर, विज्ञान की प्रयुक्ति के लिये आवश्यक बातों की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है। किसी भी स्थान के तथा किसी भी समय के वायुमंडल की दशा की जानकारी के लिये हवा की भौतिकी और संघटन का ज्ञान आवश्यक है। वर्ष भर की मौसमी अवस्थाओं के मिश्र सामान्यकरण से जलवायु का स्वरूप संघटित होता है। संक्षिप्त मौसम विज्ञान के अंतर्गत, व्यापक क्षेत्र में एक ही समय में किए गए प्रेक्षणों के आधार पर, वायुमंडलीय लक्षणों का विवेचन होता है। मौसम विज्ञानीय खोजों में ऊष्मागतिक और द्रवगतिक सिद्धांतों का प्रयोग सहकारी रूप में द्रुत गति से किया जा रहा है। आधुनिक काल में मौसम पूर्वानुमान और भौतिक जलवायु विज्ञान, इन दोनों का आधार वायुमंडल में प्राकृतिक रूप से उत्पन्न गतियों का अध्ययन है। गतिज मौसम विज्ञान के अंतर्गत वायुमंडल में सहज रूप से उत्पन्न गति तथा उनसे संबद्ध ताप, दाब, घनत्व और आर्द्रता के वितरणों का अध्ययन होता है। यह मौसम के पूर्वानुमान और जलवायु विज्ञान का आधार है।

जल विज्ञान — यह पानी, उसके गुण, वितरण और स्थल पर परिसंचरण (circulation) का विज्ञान है। यह विज्ञान भूपृष्ठस्थ पानी, मिट्टी में स्थित पानी, अधःस्थ शैलजल, वायुमंडल में जल संबंधी पक्ष और जो बातें भूपृष्ठ पर वाष्पीकरण तथा वर्षण को प्रभावित करती हैं, उनमें संबंधित है। इसमें हिमानी विज्ञान, अर्थात् हिम (snow) और बर्फ (ice) के रूप में भूजल का अध्ययन, समाविष्ट है। चूँकि आधुनिक जल विज्ञान में जल संबंधी मात्रिक अध्ययन किया जाता है, अतः यह एक महत्वपूर्ण विषय है। जलविज्ञानीय चक्र, जिसके अनुसार जल समुद्र से वायुमंडल में और वायुमंडल से स्थल पर आता है और अंत में समुद्र में पहुँच जाता है, जल विज्ञान का आधार है। वर्षण के बाद जल की अवस्थाओं का अध्ययन जल विज्ञान में होता है। हिमनदी की प्रगति और प्रत्यावर्तन की दर से भी यह विज्ञान संबद्ध है। जल विज्ञान में जल की प्राप्ति, गति और कार्य संबंधी सिद्धांत और नियमों को प्रतिपादित करनेवाले मूल आँकड़ों का अध्ययन समाविष्ट है।

समुद्र विज्ञान — इसमें समुद्र का वैज्ञानिक अध्ययन होता है तथा समुद्र की द्रोणी की आकृति और बनावट, समुद्री पानी के भौतिक और रासायनिक गुण, समुद्रीधारा, तरंग तथा ज्वार का अध्ययन समाविष्ट है। इसमें पृथ्वी की ठोस तथा गैस अवस्थाओं के साथ समुद्र के सारे प्रक्रमों की व्याख्या करने की कोशिश की जाती है। आधुनिक समुद्र विज्ञान प्रयोगशालीय अध्ययन के साथ ही उपयुक्त जलयानों की सहायता से समुद्र विज्ञानीय सर्वेक्षण का विषय है। समुद्री पानी, तलछट और जैव नमूनों को एकत्र करने तथा परखने के उपकरणों से सज्जित, अनुसंधान पोत समुद्र के अनंत विस्तार की छानबीन करते ही रहते हैं। समुद्री धाराओं का गतिविज्ञान और ऊष्मागतिकी, बड़े पैमाने पर बहनेवाली समुद्री और वायुवाहित धाराओं के सिद्धांत तथा गहरे जल का परिसंचरण, इन सबकी समस्याएँ वायुमंडल की संगत समस्याओं से मिलती जुलती है। समुद्र और वायुमंडल में वाष्पीकरण तथा ऊष्मा विनिमयन प्रक्रमों का मौसम विज्ञान में बहुत महत्व है। समुद्री पानी के अधिकांश गुण ताप, खारापन और दाब पर निर्भर करते हैं, जिन्हें उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात किया जा सकता है। मनुष्य के लिये मछलियाँ और खनिज आर्थिक महत्व के हैं। रेडियोऐक्टिव विधियों से महासागरीय तलछटों का काल निर्धारित किया जाता है।

भूकंप विज्ञान — यह भूकंपों तथा भूकंपतरंगों से उद्घाटित पृथ्वी की अंतरंग अवस्था का विज्ञान है। यह एक नूतन विज्ञान है, जिससे पृथ्वी के अंतरंग के बारे में काफी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। भूकंप विज्ञान की महत्वपूर्ण प्रगति का आरंभ लगभग १८८० ई० में भूकंपलेखी उपकरण के आविष्कार के साथ हुआ। भूकंप, या विस्फोट, उन भूकंपतरंगों के स्रोतों को प्रस्तुत करता है जो पृथ्वी के अंतरंग में प्रसारित होती हैं और जिनका निर्गत भूकंपलेखी द्वारा अंकित होता है। तरंगविश्लेषण से अधस्तल (subsurface) की बनावट और कभी कभी स्रोत की क्रियाविधि भी ज्ञात हो जाती है। विस्फोटों और भूकंपों से उत्पन्न भूकंपतरंगें भूगति उत्पन्न करती हैं। लघुतम और बृहत्तम भूगति में १०[८] गुना का विचलन हो सकता है। इसलिये अनेक प्रकार के भूकंपलेखियों की अभिकल्पना हुई है, जैसे लोलक और विकृति भूकंपलेखी। लोलक भूकंपलेखी श्लथ युग्मित, जड़त्वीय द्रव्यमान (loosely coupled inertial mass) और भूमि के मध्य की सापेक्ष गति को मापता है। कुछ उपकरणों में प्रकाशीय आवर्धन (optical magnification) का उपयोग किया जाता है और कुछ में विद्युच्चुंबकीय ट्रांसड्यूसर (electromagnetic transducer), धारामापी, इलेक्ट्रॉनिक प्रवर्धक (amplifier) और प्रकाश विद्युत् सेल के उपयोग से उच्चतर आवर्धन प्राप्त किया जाता है। रैखिक विकृति (linear strain) भूकंपलेखियों में आधार शैल पर १०० फुट के अंतर पर दो स्तंभ स्थिर किए जाते हैं। एक स्तंभ से संगलित स्फटिक की दृढ नली संबद्ध होती है। अनुदैर्घ्य दिशा में नली की स्वातंत्र्य संख्या एक होनी है और खाली जगह में स्थित एक सूक्ष्मग्राही ट्रांसड्यूसर, नली के कंपनों का संसूचन करता है। भूकंप-केंद्र से ऊर्जा तीन प्रकार की तरंगों के रूप में चलती है, जिन्हें प (P) या अनुदैर्घ्य तरंग, स (S) या अनुप्रस्थ तरंग और पृष्ठ तरंग कहते हैं। स तरंग तरल पदार्थ में यात्रा नहीं कर सकती। तरंगवेग माध्यम के प्रत्यास्थ स्थिरांक और घनत्व पर निर्भर करता है। भूकंपलेखी के अंकनों से अनुदैर्घ्य और अनुप्रस्थ तरंगों को पहचाना जा सकता है। वेग-गहराई वक्र के विश्लेषण से पृथ्वी के अंतरंग के अनेक उपविभागों का नामकरण संभव है। इन प्रविधियों से ही हम जानते हैं कि पृथ्वी

के केंद्र में लोह और निकल का तरल क्रोड है, जिसका अर्धव्यास पृथ्वी के अर्धव्यास के आधे से अधिक है।

ज्वालामुखी विज्ञान — यह ज्वालामुखी और उससे संबंधित घटनाओं का विज्ञान है, जो मैग्मा (magma) और संबद्ध गैसों के पृष्ठीय उद्भेदन तथा उससे उत्पन्न संरचनाओं, निक्षेपों और अन्य प्रभावों से संबद्ध है। पृथ्वी के पृष्ठ पर जो प्रभाव देखने में आते हैं, वे गहराई की घटनाओं के परिणामस्वरूप होते हैं। अत: ज्वालामुखी विज्ञान में अधिकांश वितलीय (plutonic), मैग्मज (igneous) भूविज्ञान संमिलित रहता है।

पर्वतन (orogenic) और अन्य पटल-विरूपणी (diastrophic) बलों से भूपृष्ठ मे उत्पन्न दरारें वे वाहिकाएँ है, जिनसे मैग्मा पृष्ठ की ओर उठता है। दरारों की चौड़ाई लगभग १ फुट से लेकर १० फुट से अधिक तक हो सकती है। उद्भेदी तरल, गैस या लावा शंक्वाकार पर्वत की रचना करते हैं। इस क्रोड़ के केंद्र या बगल से पुन. उद्भेदन हो सकता है। उद्भेदी मैग्मा तरलशैल का बना होता है, जिसमे गैसें घुली होती हैं। लावा का ताप और उसकी श्यानता (viscosity) विशिष्ट उपकरणों से मापी जाती हैं। ज्वालामुखी उद्भेदन का स्वरूप मुख्यत: तरल मैग्मा से निर्धारित होता है, जो उद्भेदी मैग्मा के ताप और संरचना पर निर्भर होता है। उद्भेदन कई प्रकार के होते हैं, जिनका नामकरण ज्वालामुखी के नामपर, या जिस क्षेत्र मे ज्वालामुखी होता है उसके नाम पर, करते हैं। मापने से पता चला है कि पर्वत के नीचे एक प्रकार के आगार मे मैग्मा के अंत:क्षेपण से पहले सारा ज्वालामुखी पर्वत फूल जाता है। उद्भेदन के समय, या ठीक बाद ही, ज्वालामुखी पर्वत सिकुड़ते हैं। ज्वालामुखीय उद्भेदन से पहले अनेक भूकंप होते हैं। इन उद्भेदनों से वायुमंडल मे आघात तरगें उत्पन्न होती हैं। कभी कभी पानी के अंदर ज्वालामुखीय विस्फोट होने पर, भीमकाय भूकंपी सिंधुतरगें (tsunamis) उत्पन्न होती है।

भूचुंबकत्व — यह पृथ्वी के चुंबकत्व का विवेचन करनेवाली विज्ञान की शाखा है। पृथ्वी एक विशाल चुंबक है, जिसका अक्ष लगभग पृथ्वी के घूर्णन अक्ष पर पड़ता है। पृथ्वी के भूचुंबकीय क्षेत्र का स्वरूप प्रधानत. द्विध्रुवी है और यह पृथ्वी के गहरे अंतरग मे उत्पन्न होता है। क्रोड के अक्ष ध्रुव पर चुंबकीय तीव्रता ·५ गाउस है। निर्बाध विलंबित चुंबकीय सुई से दिक्पात, अर्थात् चुंबकीय और भौगोलिक उत्तर के बीच का कोण, और नति कोण, अर्थात् चुंबकीय बलरेखा और क्षितिज के बीच का कोण, ज्ञात होता है। विश्व की अनेक चुंबकीय वेधशालाओं मे नियमित रूप से चुंबकीय अवयवों का मापन निरंतर किया जाता है। ये अवयव है, दिक्पात, दि (D), नति, न (I), तथा पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र की संपूर्ण तीव्रता, ब (F), जिसके घटक, क्ष (H), क (X), ख (Y) तथा ग (Z) हैं। इन अवयवों का दीर्घकालीन परिवर्तन, शताब्दियों बाद हुआ करता है। क्यूरी (Curie) बिंदु से निम्न ताप पर शीतल हुआ ज्वालामुखी लावा, जमती हुई तलछट और प्राचीन ईंट, प्रेरित चुंबकत्व प्राप्त करते है और उसे युगों तक बनाए रखते हैं। इस प्रकार के अवशिष्ट चुंबकत्व का अध्ययन पैलियोमैग्नेटिज्म (Palaeomagnetism) कहलाता है और शताब्दियों, सहस्राब्दियों, या युगों पूर्व के भूचुंबकीय परिवर्तनों की जानकारी प्रदान करता है।

पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में होनेवाले बड़े विक्षोभों को चुंबकीय तूफान कहते हैं। चुंबकीय तूफानों की तीव्रता ध्रुवीय प्रकाश के क्षेत्रों मे सर्वाधिक होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य से निष्कासित, आयनित गैसों की धाराओं या बादलों से, जो पृथ्वी तक पहुँच जाते हैं, चुंबकीय तूफानों की उत्पत्ति होती है। असामान्य सूर्य धब्बों की सक्रियता के अवसरों पर अनियमित या क्षणिक चुंबकीय परिवर्तन हुआ करते हैं। माप के लिये अनेक प्रकार के चुंबकत्वमापी हैं। निरपेक्ष चुंबकत्वमापी किसी कुंडली मे प्रवाहित विद्युद्धारा के ज्ञात क्षेत्र और भूचुंबकीय क्षेत्र की तुलना पर आधारित होते हैं। परिवर्ती प्रेरकत्व (variometers) गौण यंत्र हैं और सापेक्ष मापन करते हैं। फलक्स गेट (flux gate) चुंबकत्वमापी और प्रोटॉन चुंबकत्वमापी अधिक सूक्ष्मग्राही हैं।

भूगणित — यह पृथ्वी के आकार, विस्तार और गुरुत्वीय क्षेत्र का विज्ञान है। इसके अंतर्गत गुरुत्वीय अपकेंद्री क्षेत्रों के मापनों से निर्धारित पृथ्वी के द्रव्यमान के वितरण का आकलन संमिलित है। पृथ्वी के पृष्ठ के ऊपर जहाँ तक गुरुत्वीय क्षेत्र के प्रभाव की पहचान संभव है वहाँ तक उसके वितरण का अध्ययन भी इसके अतर्गत होता है। भूभौतिकी की अन्य शाखाओं की सहायता से भूगणित द्वारा भूपटल की बनावट और संलग्न अध:स्तर (substrata) की बनावट का अध्ययन किया जाता है। सम्यक् भूमापन (mapping) और चार्ट निर्माण के लिये आवश्यक मापन और परिकलन करना भूगणित का व्यावहारिक उद्देश्य है। पृथ्वी के बड़े वृत्त के एक चाप अ (a) को भूगणितीय विधि से मापकर और वक्रताकेंद्र पर इस चाप द्वारा बनाए कोण α को खगोलीय विधि से मापकर, पृथ्वी का आकार और विस्तार निर्धारित किया जाता है। अ (a) और α के अत्यंत यथार्थ मान प्राप्त करने की आधुनिक तकनीकियों में त्रिभुजन (triangulation), शोरन (Shoran), हिरन (Hiran) और अन्य वैद्युत एवं अन्य खगोलीय विधियाँ संमिलित हैं, जिनमें कृत्रिम उपग्रह और अत्यंत परिष्कृत खगोलीय दूरबीनों और संक्रमणों का उपयोग होता है। त्रिभुजन विधि का आधार यह है कि किसी भी त्रिभुज का आधार और दो कोण ज्ञात हो, तो त्रिभुज पूर्णत. निश्चित हो जाता है। इस त्रिभुज की एक भुजा को आधार बनाकर उत्तरोत्तर त्रिभुजों से सारे क्षेत्र को पाट देते हैं। पृथ्वी का अंतराश दृढ नहीं है, अत सूर्य और चंद्र के आवर्ती ज्वारीय बल से भूपटल निरस्त हो जाता है। इस ज्वारीय प्रभाव को गुरुत्वमापी से मापा जाता है।

विवर्तनिक भौतिकी — यह भूवैज्ञानिक रचनाओं के निर्माण में सलग्न भौतिक प्रक्रियाओं का विज्ञान है। इसमें पृथ्वी के विस्तृत रचनात्मक लक्षणों और उनके कारणों, जैसे पर्वतरचना, शैलयांत्रिकी एवं शैल का सामर्थ्य तथा उससे संबद्ध भौतिक गुणों, का मापन तथा अध्ययन किया जाता है। भूवैज्ञानिक समस्याओं मे भौतिकी के अनुप्रयोग से विवर्तनिक भौतिकीविद् को पृथ्वी के संबंध मे अनेक गूढ़ जानकारियाँ प्राप्त करने का सुयोग मिला है।

अब भूपटल और उच्च प्रावार (upper mantle) के अध:स्तर एवं स्थल सतह के अनेक उपविभाग करना संभव हो गया है। मध्य महासागरीय एवं महाद्वीपी विभंग (fracture) पद्धति के भूवैज्ञानिक और भूभौतिक लक्षणों से प्रकट है कि यह दो प्रकार

के अवयवों से जिन्हें प्राथमिक और गौण चाप कहते हैं, बना है और विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में इनकी अनेक पुनरावृत्तियाँ हो चुकी हैं। भूपटल और ऊपरी प्रावार में भूवैज्ञानिक त्रुटिजनक बल और उनके पैटर्न महाद्वीपीय च्युति और ध्रुवीय परिभ्रमण के लिये अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हो सकते हैं। भ्रंशन और वलन की गतिकी और पृथ्वी के पदार्थों के यांत्रिक व्यवहार पर मॉडलों की सहायता से अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किए गए हैं। विवर्तनिक विकृति की दर प्रतिबलों और उनकी अवधि पर निर्भर करती है। ए. ई. शाइडेगर (A. E. Scheidegger) ने प्रतिबलों को छोटी, बड़ी और मध्य अवधि के आधार पर वर्गीकृत किया है। छोटी अवधि लगभग चार घंटे की, मध्य अवधि चार घंटे से १५,००० वर्षों तक की और लंबी अवधि १५,००० वर्षों से करोड़ों वर्षों तक की होती है।

अनुप्रयुक्त भूभौतिकी — अनुप्रयुक्त भूभौतिकी, या भूभौतिक पूर्वेक्षण में पृथ्वी के पृष्ठ पर भौतिक मापों के द्वारा अधस्थल भूवैज्ञानिक जानकारियों का संग्रह किया जाता है। इसका उद्देश्य खनिज, पेट्रोलियम, जल, धात्विक निक्षेप, विखंडनीय पदार्थों का स्थान-निर्धारण और बाँध, रेलमार्ग, हवाई अड्डों, सैनिक और कृषि प्रायोजनाओं के निर्माणार्थ सतह के निकटस्थ स्तर के भूवैज्ञानिक लक्षणों से आँकड़ों का संग्रह है। भूवैज्ञानिक अन्वेषण की प्रविधियाँ मूलतः इस तथ्य पर निर्भर करती हैं कि खनिज निक्षेप और भूवैज्ञानिक स्तर के घनत्व, चुंबकत्व, प्रत्यास्थता, विद्युच्चालकता और रेडियोऐक्टिवता जैसे भौतिक गुण भिन्न होते हैं। संसूचक युक्तियों में इन गुणों से लाभ उठाया जाता है और वे समुचित रूप से सुग्राही होते हैं। जिन अयस्क पिंडों और शैलसमूहों का घनत्व या चुंबकत्व अपने परिवेश से भिन्न होता है, वे पृथ्वी के गुरुत्व क्षेत्र या चुंबकत्व क्षेत्र में असंगति उत्पन्न करते हैं और उनका स्थान निर्धारण गुरुत्वमापी, या चुंबकीय विधियों, से किया जा सकता है। उपकरणों को अत्यधिक सुग्राही एवं सुवाह्य बनाया गया है। आधुनिक गुरुत्वमापी गुरुत्व के $\frac{1}{10}$ करोड़वें अंश का संसूचन कर सकता है। कुछ लक्षणों का अध्ययन अल्प प्रत्यक्ष विधि से, जैसे पेट्रोलियम पूर्वेक्षण में अपनति (anticlines) लवण गुंबद या भ्रंश ट्रैप (fault trap) जैसी सीमित संरचनाओं के गुण मापकर, करते हैं। गुरुत्व वैद्युत और चुंबकीय क्षेत्र जैसी प्राकृतिक घटनाओं, या आयोजित विस्फोटों, अथवा विद्युदूर्जा के स्रोतों से पृथ्वी में उत्पन्न विद्युद्धारा जैसे प्रेरित प्रभावों से उत्पन्न भूकंपतरंगों को मापने की विधियाँ उपलब्ध हैं। सामान्यतया मापन कार्य पृथ्वी पर, विमानों में, अंतर्देशीय या तटीय जलपृष्ठ पर उपलब्ध, अथवा विशेष रूप से निर्मित बोर छिद्रों (bore holes) से किया जाता है। भूभौतिक पूर्वेक्षण की प्रत्येक तकनीक का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :

गुरुत्व अन्वेषण — ध्रुवों के चिपटेपन और विषुवत् के उभार के कारण पृथ्वी का गुरुत्व ध्रुवों से विषुवत् की ओर ह्रासोन्मुख होता है। प्रेक्षण बिंदु की ऊँचाई और पर्यावरण की स्थलाकृति के अनुसार गुरुत्व बदलता है। इन एवं अन्यान्य प्रभावों के लिये प्रेक्षित गुरुत्वमानों का समायोजन किया जाता है। मान लिया जाता है कि अवशिष्ट मान प्रत्यक्षतः स्थानीय भौमिकी से संबद्ध है। गुरुत्व अन्वेषण का आधार यही है। पेट्रोलियम और खनिजों के स्थाननिर्धारण में यह अन्वेषण उपयोगी है। धात्विक अयस्कपिंड प्रायः सामान्य आकार के होते हैं और समान आयतन की प्रतिवेशी चट्टानों से इनके घनत्व का अंतर भी कम होने के कारण, अयस्कपिंडों के गुरुत्वप्रभाव स्थानीय और क्षीण होते हैं; फलतः गुरुत्व सर्वेक्षण का व्यापक होना आवश्यक है। प्रभावी गुरुत्व असंगति उत्पन्न करने के लिये अयस्क पिंड की गहराई जितनी अधिक होगी, अयस्क आकार में उतना ही बड़ा होता है। पेट्रोलियम के संदर्भ में घनत्व अंतर अल्प होने पर भी पिंडों के आकार की विशालता और संहति की न्यूनता या अधिकता के कारण परिणाम महत्वपूर्ण निकलते हैं।

लगभग सभी गुरुत्व प्रेक्षण आपेक्षिक होते हैं। प्रेक्षणबिंदुओं के बीच के अंतर निर्धारित कर लिए जाते हैं, पर उनके चरम मान अज्ञात रह जाते हैं। आधारबिंदु को ऐच्छिक मानकर निर्दिष्ट किया जाता है और अन्य सभी मान इसके आपेक्षिक होते हैं। प्रेक्षण स्थलों के बीच की दूरी घनत्व विपर्यासों (contrasts) वाली संरचना की गहराई की आधी से अधिक न होनी चाहिए।

जिस गुरुत्वमापी उपकरण का उपयोग होता है उसके अनेक रूप होते हैं। उपकरण के सरलतम रूप में कमानी से एक द्रव्यमान निलंबित होता है। गुरुत्व में वृद्धि होने से द्रव्यमान का भार बढ़ता है और तदनुरूप कमानी का विस्तार होता है। निलंबित द्रव्यमान में ज्ञात भार जोड़ने से उत्पन्न हुए विक्षेप का प्रेक्षण कर, या निर्धारित गुरुत्व अंतर के दो प्रेक्षणस्थलों पर गुरुत्व मापकर, गुरुत्वमापियों को अंशांकित किया जाता है। गुरुत्व अन्वेषण के प्रारंभिक काल में अटवश (Eotvos) मरोड़तुला का उपयोग व्यापक रूप से होता था। यह क्षैतिज प्रवणताओं को मापती है। गुरुत्वमापी के आविष्कार के साथ ही मरोड़तुला दो कारणों से लुप्त हो गई : पहला यह कि यह उपकरण स्थानीय अनियमितताओं के प्रति अत्यधिक सुग्राही होता था और दूसरा यह कि इसके द्वारा प्रेक्षण करने में कई घंटों का समय लग जाता था। पूर्वेक्षण की मध्यकालीन स्थिति में गुरुत्वदोलक का प्रयोग होता था और इनका प्रयोग गुरुत्वमापियों के आविष्कार से उठ गया, क्योंकि वे इनसे बहुत श्रेष्ठ सिद्ध हुए।

गुरुत्व मानचित्रों (gravity maps) में गुरुत्व उच्च और निम्न होते हैं। कुछ सौ वर्ग मीलों के उच्च तथा निम्न गुरुत्व क्षेत्रीय और कुछ वर्ग मीलों, या इससे कम के, उच्च तथा निम्न गुरुत्व अवक्षेत्रीय (subregional) कहलाते हैं। प्राकृतिक संपदाओं और खनिज अन्वेषणों के लिये इन स्थानीय विसंगतियों का ही प्रत्यक्ष महत्व है। इन स्थानीय विसंगतियों की प्रकृति सहत विसंगति की गहराई और विस्तार पर निर्भर करती है, जिससे वे संबद्ध होते हैं।

कल्पित संरचना और घनत्व वितरण की तदनुरूपी गुरुत्व असंगति के परिकलन के लिये शीघ्र परिकलनीय रीतियाँ उपलब्ध हैं। परिकलित असंगति की तुलना अब प्रेक्षित असंगति से की जा सकती है। अनेक प्रयत्नों के बाद कल्पित द्रव्यमान असंगति के द्वारा प्रेक्षित गुरुत्व असंगति का कारण निरूपित करना संभव होता है। सही निर्णय पर पहुँचने के लिये उस क्षेत्र की भौमिकी का ज्ञान बड़ा सहायक होता है।

स्रोत की गहराईं, घनत्व और विमाएँ (dimensions) अनेकविध संयोग से समरूप गुरुत्व असंगतियाँ उत्पन्न कर सकती हैं, परंतु गुरुत्व आँकड़ों की सहायता से उस क्षेत्र की भौमिकी या अन्य प्रकार से स्रोत की गहराई एवं प्रकृति के संबंध में कुछ तथ्य निकाले जा सकते हैं।

चुंबकीय अन्वेषण — चुंबकीय तकनीकियों का आधार यह है कि सतह और उसके निकट स्थित चट्टानों के चुंबकन से ज्यामितीय क्षेत्र में स्थानीय परिवर्तन होते हैं। कुछ परिस्थितियों में यह परिवर्तन महत्वपूर्ण हो सकता है। आग्नेय और अवसादी (sedimentary) चट्टानों में सर्वाधिक व्यापक खनिज मैग्नेटाइट, लो. आ. ($F_3 O_4$), है। पुंजीभूत रूप में मैग्नेटाइट का प्रभाव प्रसामान्य चुंबकीय क्षेत्र से अधिक होने के उदाहरण ज्ञात हैं। प्राय. आग्नेय भूभाग में, प्रसामान्य तीव्रता की १०% असंगति रहती है।

आग्नेय शैल उस समय स्थायी रूप से चुंबकित हो जाते हैं, जब वे तत्कालीन भूचुंबकीय क्षेत्र पर निर्भर दिशा और तीव्रता में क्यूरी बिंदु से शीतलित होते हैं। शैलों का चुंबकन प्रेरण द्वारा भी होता है, जिसकी दिशा और तीव्रता मूल स्थिति और वर्तमान भूचुंबकीय क्षेत्र के अंतर पर निर्भर करती है। भूचुंबकीय क्षेत्र में परिवर्तन धीरे धीरे होता है। पर्वतन गति (orogenic movements) के कारण चट्टानों की स्थिति और विन्यास परिवर्तित होता है। इसलिये आवश्यक नहीं है कि स्थायी और प्रेरित चुंबकनों की दिशा एक हो। अवसादी शैलों की चुंबकीय प्रवृत्ति (susceptibility) परिमाण में आग्नेय शैलों की अपेक्षा अनेक गुनी कम होती है। अत अवसादी बेसिन क्षेत्रों की चुंबकीय असंगतियाँ सतह पर, या आग्नेय आधारों के अंदर, स्थलाकृतिक या चुंबकन प्रभावों से उत्पन्न होती हैं।

कभी कभी अनुसंधेय अयस्क और चुंबकत्व का साहचर्य अप्रत्यक्ष होता है। प्लेसर निक्षेपों (placer deposits) की प्रणाल धाराओं में मैग्नेटाइट के साथ सोना प्राय. साद्रित रहता है, और चुंबकीय मापन का ज्ञान सोने की खोज का कारण बन सकता है।

पावरलाइन, वैद्युत अभिस्थापन और चुंबकीय विचरणों के दैनिक वक्र चुंबकीय मापनों में त्रुटि उत्पन्न करते हैं। चुंबकीय अवयवों के आकस्मिक अल्पकालिक परिवर्तन चुंबकीय तूफान कहलाते हैं, जो चुंबकीय प्रेक्षण और सर्वेक्षण की शुद्धता में बाधक होते हैं, परतु उपयुक्त सुधारों के द्वारा त्रुटियों को निरस्त करना सदैव संभव होता है।

फील्ड यंत्रों को ऊर्ध्वाधर एवं क्षैतिज बल विचरणमापी (variometer) कहते हैं। ऊर्ध्वाधर बल चुंबकत्वमापी क्षैतिज अक्ष की एक चुंबकीय पद्धति का बना होता है, जिसमें चुंबकत्व क्षेत्र से उत्पन्न वर्तन आघूर्ण (turning moment) केंद्र से परे स्थित भार के गुरुत्व आघूर्ण से क्षतिपूरित होता है। क्षतिपूरण करनेवाले चुंबकों का उपयोग क्षेत्र की तीव्रता के अंशत: क्षतिपूरण करने में होता है, जिससे यंत्र के मापन परास का विस्तार होता है। उपर्युक्त क्षतिपूरण का विकल्प निलंबित चुंबकीय तंत्र के घेरे में स्थापित हेल्महोल्ट्स (Helmholtz) कुंडली में धारा परिवर्तित कर क्षतिपूरण करना है। पार्थिव चुंबकीय क्षेत्र की क्षैतिज तीव्रता मापने के लिये इसी प्रकार का क्षैतिज बल चुंबकत्वमापी उपलब्ध है।

वायुवाहित चुंबकत्वमापी का क्षेत्र सूक्ष्मग्राही तत्व धातु, या अन्य उच्च चुंबकशीलता (permeability) वाले पदार्थ, का छड़ जैसा समुच्चय होता है, जिसपर उपयुक्त कुंडली लिपटी होती है और यह परस्पर लंब जिंबलों (gimbals) पर चढ़ा होता है। सर्वोयंत्र क्रिया विधि (servo mechanism) धातु अक्ष को पूर्ण चुंबकीय तीव्रता की दिशा में स्वत अनुरक्षित करती है। संपूर्ण तीव्रता के विचरण एक कागज के गोले पर अंकित होते हैं, जो एक समान समय दर से अंकनकारी कलम के साथ आगे बढ़ता है। शोरन (Shoran), या स्थान निर्धारण की किसी रेडियो युक्ति, से खड़ी निचाई की धरती का फोटोग्राफ लेकर सतत स्थिति की सूचनाएँ प्राप्त करते हैं। चुंबकीय और स्थानीय आँकड़ों में सहायक साधनों द्वारा समन्वय स्थापित किया जाता है। नियोजित दूरी के अंतर और निश्चित बैरोमीटरी ऊँचाई पर समांतर रेखाओं पर सर्वेक्षण विमान उड़ता है। वायु चुंबकीय (aeromagnetic) सर्वेक्षण द्वारा बड़े क्षेत्रों में कम लागत पर सर्वेक्षण किया जा सकता है।

हाल ही में एक नवीन चुंबकत्वमापी का आविष्कार हुआ है, जिसका नाम प्रोटॉन अयन चुंबकत्वमापी (proton precession magnetometer) है। इसमें जलसंहति से प्रोटॉनों का प्रदाय होता है। मापनीय क्षेत्र की अपेक्षा बड़े और अनुप्रस्थ क्षेत्र के प्रयोग से मापन का प्रारंभ होता है। इस क्षेत्र को सहसा हटा लेने पर प्रोटॉन घूर्ण चुंबक नए बिंदुओं से अयन (precession) करते हैं, जो मापन किए जा रहे क्षेत्र का अभिलक्षक होता है। अयन आवृत्ति इस क्षेत्र की तीव्रता का रैखिक फलन (linear function) होती है। अयन क्षणिक घटना होती है, अत. यह मापन एक या दो सेकंड के भीतर हो जाना चाहिए। आवृत्ति निर्धारण के लिये इलेक्ट्रॉनिकी गिनर का उपयोग किया जाता है। इस उपकरण का सबसे बड़ा लाभ मापन की परिशुद्धता है।

सिद्धांत रूप से चुंबकीय आँकड़ों का परिकलन गुरुत्व आँकड़ों के परिकलन के समान है। अंतर इतना ही है कि चुंबकीय पिंड में दो विपरीत ध्रुव और अर्वाणुए चुंबकन होते हैं, जिनके कारण चुंबकीय असंगति स्रोत के आयामों से सदैव सीधी सहचरित नहीं होती।

वैद्युत अन्वेषण — यह धात्विक खनिजों के अन्वेषण में उपयोगी है। कुछ खनिज निक्षेप अपने निकटतम पर्यावरण में स्वत: प्रवर्तित भूधाराएँ उत्पन्न करते हैं, जिनके अनुवर्ती वैद्युत विभवों को स्वविभव कहते हैं। किसी क्षेत्र की समविभव रेखाओं के नक्शे बनाकर, स्वविभव के स्रोत का प्राय. ज्ञात कर सकते हैं। विस्तृत क्षेत्रों को प्रभावित करनेवाली स्थल मंडलीय (telluric) धाराएँ भी होती हैं, जिन्हें वायुमंडल के धारा परिसंचरणों से संबद्ध माना जाता है। ये वायुमंडलीय धाराएँ प्राकृतिक वैद्युत विभवों के स्थानीय विवरण में भी योगदान करती हैं।

सर्वाधिक उपयोग में आनेवाली विधियाँ चालन (conduction), या प्रेरण (induction), द्वारा पृथ्वी में कृत्रिम धाराएँ उत्पन्न करती हैं। प्रयुक्त उपस्कर से धरती में पर्याप्त वैद्युत या विद्युच्चुंबकीय विक्षोभ उत्पन्न होता है। धारा के प्रवेश की गहराई उपकरण की स्थिति की ज्यामिति, प्रयुक्त आवृत्ति और पृष्ठ से नीचे की ओर की चालकता पर

निर्भर करती है। एक ही उपकरण व्यवस्था द्वारा अनेक आवृत्तियों पर मापन किए जाते हैं।

खनन उद्योग में मुख्यत. विद्युच्चुबकीय विधियों का प्रयोग किया जाता है। इनमे एक पारेषण कुंडली, जिसे उपयुक्त आवृत्ति पर उत्तेजित किया जाता है और एक ग्राही कुडली होती है, जो विद्युच्चुबकीय क्षेत्रों के एक या अधिक अवयवों को कई प्रेक्षण बिंदुओं पर मापती है। ग्राही कुडली प्रायः इस प्रकार अभिविन्यस्त होती है कि पारेषक के साथ उसका सीधा युग्मन न्यूनतम हो और तब अवशिष्ट प्रभाव पृथ्वी मे प्रेरित धाराओं के कारण होते हैं। चालकता असंगतियाँ अयस्क पिंडो की उपस्थिति का पता देती हैं।

वैद्युत विधियाँ वायुवाहित हो गई हैं। पारेषक और ग्राही कुंडलियाँ एव सभी सहचरित गिअर ऐसे वायुयानो में ले जाए जाते हैं, जो सामान्यतया धरती के निकट ही उड़ते हैं।

भौम जल के अन्वेषण मे वैद्युत विधियों का सफल उपयोग हुआ है। कूप अभिलेखी प्रक्रियाओं के रूप मे तेल अन्वेषण मे इनका अतिशय उपयोग है। गड़ी हुई पाइप लाइनो की स्थिति एवं देश के भीतरी भागो मे बिछी हुई सुरगो का पता लगाने और अन्य सैनिक परिचालनों मे इनका उपयोग होता है।

भूकप अन्वेषण — इस विधि मे विस्फोट द्वारा पृथ्वी मे तरंग उत्पन्न कर, उनकी पहचान भूफोनो (geophones, ट्रासड्यूसरो या भूकपमापियों) से करते हैं, जो उन्हे विद्युत स्पदो मे बदलकर एक दोलनलेखी (oscillograph) के एकसमान गतिवाले फीते पर अभिलिखित करते हैं। तरग प्रारंभ या विस्फोट क्षण को तार या रेडियो सकेत द्वारा अभिलेखक गिअर को पारेषित करते हैं। हर भूफोन मे एक फीते पर हो रहा अनुरेखण (tracing), उन तरंगो और तरगमालाओं का शून्यकाल प्रदर्शित करता है, जो तरग के प्रकार और पथ पर निर्भर काल मे भूफोन तक पहुँचते रहते हैं। कई भूफोनो को त्रिकोणादि किसी समाकृति मे व्यवस्थित कर तरगमालाओ का उनके प्रकार और पथ से साहचर्य सरल किया जा सकता है। भूफोन मुख्यत. भूगति के ऊर्ध्वाधर घटक की अनुक्रिया करते हैं। तरगमालाओं को अभिलेखों पर परावर्तित, अपवर्तित अनुदैर्घ्य तरगों और अनुदैर्घ्य एव अनुप्रस्थ दोनों घटकों से निर्मित अतरापृष्ठ (interface) तरगो के रूप मे पहचाना जा सकता है। अतरापृष्ठ तरंगों मे पृष्ठतरंग भी समिलित हैं।

विस्फोटबिंदु से भूकंपमापी तक किसी तरंगमाला का यात्राकाल सेकड के हजारवे भाग तक परिशुद्ध रूप मे अभिलेखों से निर्धारित किया जा सकता है। सामान्य सिद्धात और ज्यामिति के उपयोग से ढाल, पृष्ठीय असातत्य आदि की पहचान की जा सकती है। भूकंपी विधि को सामान्यत दो वर्गों मे विभाजित करते हैं : (१) अपवर्तन प्रविधियाँ और (२) परावर्तन प्रविधियाँ।

अपवर्तन प्रविधियाँ — अपवर्तन विधि में एक विस्फोटबिंदु और छह या अधिक भूफोन एक सरल रेखा मे समान अंतर पर रखे जाते है। विस्फोट को फायर कर अभिलिखित कर लिया जाता है। प्रत्येक अनुरेखण, विस्फोटबिंदु से भूफोन तक सर्वप्रथम आनेवाली तरंग के यात्राकाल को बताता है। ग्राफ पर समय की दूरी अंकित की
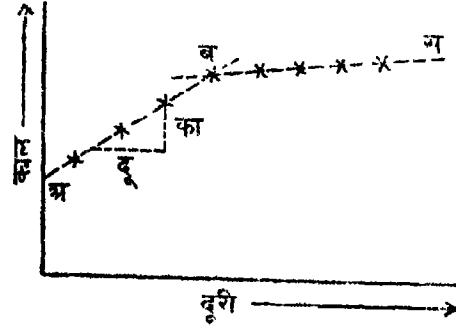
चित्र २. समय दूरी वक्र

जाती है (चित्र २.)।

अ ब, के प्रत्येक बिंदु के लिये सर्वप्रथम आनेवाली तरग, सीधी रेखा मे विस्फोटबिंदु से भूफोन तक, यात्रा कर चुकी होती है। ब स के
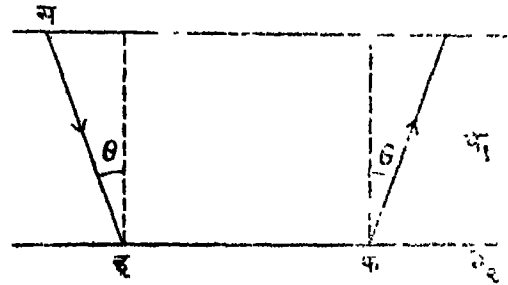
चित्र ३ न्यूनतम पथ का आलेखी आरेख

सभी बिंदुओं के लिये तरंगपथ चित्र ३. मे प्रदर्शित स इ फ ग जैसा ही होता है, जिसमे निचले माध्यम पर आपतन और निर्गमन के कोण ज्या θ $\frac{व_1}{व_2}$ द्वारा निरूपित होते हैं। अ ब और ब स के प्रतिच्छेदन (intersection) से सगत दूरी केवल समय, वेग और अंतरापृष्ठ की गहराई पर निर्भर करती है और क्रातिक दूरी कहलाती है। इससे दोनों वेगो और व, सतह की गहराई की गणना की जाती है। अपवर्तन विधि अपवर्तनकारी माध्यम के लाक्षणिक वेग के साथ ही उसकी गहराई के संबध मे भी सूचना देती है। परावर्तन विधि से केवल गहराई प्राप्त होती है।

अपवर्तन विस्फोट पर्याप्त गहराई मे उच्च वेग स्तरो के लिये प्रभावकारी हैं। भूकपमापी रैखिक व्यूह (linear array) के साथ साथ वृत्ताकार, या पखे जैसे, व्यूह भी काम मे आता है। पख विस्फोट से लवण गुबदो की खोज हुई है, क्योंकि लवण गुबद मे तरगवेग गुबद को घेरनेवाले अवसादों की अपेक्षा अधिक होता है।

परावर्तन प्रविधि — यह मुख्यत. प्रतिध्वनि से गहराई का मापन echo soun ding) है। प्रत्येक असातत्य पर जब प्रत्यास्थता, घनत्व या दोनो के परिवर्तन के परिणामस्वरूप वेग मे परिवर्तन होता है, तब ऊर्जा परावर्तित होती है। विस्फोटबिंदु के समीप ही १,००० से २,००० फुट की दूरी पर भूकपमापी रखा जाता है। भूकपमापी और

विस्फोट बिंदु के बीच दूरी के बढ़ने के साथ नीचे परावर्तन पृष्ठ तक तरंग के जाने और वहाँ से प्रतिध्वनि के रूप मे लौटने का संपूर्ण समय अंतराल बढ़ता है। परावर्तन अभिलेखों से परावर्तन क्षितिज की गहराई और प्रवणता ज्ञात होती है। प्रेक्षित समय को दूरी में परिवर्तित करने के लिये वेग ज्ञात होना चाहिए और विभिन्न परावर्तन के स्तरों में वेग का आकलन करने मे अनुभव काफी सहायक होता है।

भूरसायनी अन्वेषण — इस विधि का आधार यह है कि किसी गड़ी हुई प्राकृतिक संपदानिक्षेप का पृष्ठमृदा और जलपर्यावरण मे निक्षेप से व्युत्पन्न (derived) रासायनिक यौगिक, अनेक प्राकृतिक प्रक्रमों के कारण, अल्प परिमाण मे रहते हैं। ये प्राकृतिक प्रक्रम हैं : रंध्र या विदर के द्वारा निस्यदन (seepage), भौम जल की सतह में घट बढ़ और विसरण। स्रोत के निकट ही सकेंद्रण उच्चतम होना चाहिए। पेट्रोलियम के अन्वेषण मे मृदा और गैसों का रासायनिक विश्लेषण सहायक रहा है। धात्विक तत्वों, या इन तत्ववर्गों, की उपस्थिति परिपार्श्व के जल, मृदा और वनस्पति तक में १/१० लाख सांद्रण मे रहने पर भी पहचानी जा सकती है।

रेडियोऐक्टिव विधियाँ — इन विधियों मे यूरेनियम, थोरियम जैसे रेडियोऐक्टिव तत्वों के रेडियोऐक्टिव विकिरण और उनके विघटन उत्पादों को पहचाना जाता है। क्षेत्र मे भूमि पर प्राय. गाइगेर (Geiger) गणित्र या प्रस्फुर (Scintillation) गणित्र का उपयोग किया जाता है। इनका उपयोग खोदे हुए छेदों और निचाई पर उड़ने वाले वायुयानों मे किया जा सकता है। इन विधियो का अधिकतर उपयोग यूरेनियम अयस्क की खोज मे किया जाता है।

रेडियोऐक्टिव पदार्थों के α, β और γ विकिरणों मे से केवल γ विकिरणों की पहचान हो पाती है, क्योंकि α और β विकिरणों की वेधन क्षमता अत्यल्प होने के कारण ये चंद फुट मोटे मृदा आवरण मे अवशोषित हो जाते है और हवा में शीघ्र क्षीण हो जाते हैं।

कूपों मे रेडियोऐक्टिवता की माप से तैल बालू या रचना सीमाओं का संकेत प्राप्त होता है, जिनसे अंश, रेडियोऐक्टिव अयस्क और रेडियोऐक्टिव स्रोतों की स्थिति निर्धारित की जाती है। सतह पर रेडियोऐक्टिव मापनों से रेडियोऐक्टिव खनिज, अयस्क, तेल और भूमिगत बनावट का स्थान निर्धारण करने मे सहायता मिलती है।

विद्ध छिद्र द्वारा अन्वेषण — भौतिक शैल गुणों के निर्धारण पर भूभौतिक कूप परीक्षण आधारित है। इसका उद्देश्य कूपों का समन्वयन और व्यापारिक खनिज (तेल, गैस और कोयला) की पहचान है। कूप-अभिलेखी विधि के उपविभाग ये हैं : (१) वैद्युत (२) ऊष्मीय (३) रेडियोऐक्टिव (४) भूकंपी तथा (५) विविध अभिलेखन (logging), प्रविधियाँ।

वैद्युत अभिलेखन विधि — इस विधि का उपयोग सर्वाधिक होता है। सामान्यतः प्रतिरोधकता और स्वत प्रवर्तित विभव मापा जाता है। ये दोनो वैद्युतलक्षण रचनाओं के अश्मविज्ञान (lithology) के अनुसार काफी परिवर्तनशील है। दो शक्ति विद्युदग्रों के द्वारा धारा भेजी जाती है। इन विद्युदग्रो के बीच का विभवांतर विद्ध छिद्र मे एक ऊर्ध्वाधर रेखा मे मापा जाता है। उच्च प्रतिरोधकता का तात्पर्य अपेक्षाकृत अल्प चालक तरल से भरी सरंध्री संरचना, या अचालक तरल या गैस, से भरी सरंध्री संरचना है। निम्नप्रतिरोधकता का अर्थ चालक तरल से भरी सरंध्र रचना है। उच्च स्वत:विभव से परागम्य रचना का संकेत प्राप्त होता है। प्रतिरोधकता और स्वतः विभव अभिलेखन के संयोग से कभी कभी अनोखे परिणाम प्राप्त होते हैं।

ऊष्मीय अभिलेखन — भूऊष्मीय प्रवणता (geothermal gradient) रचना की चालकता पर निर्भर करती है। अतः रचना के अभिलेखन में कूपों की विभिन्न गहराइयों पर सापेक्ष ताप प्रवणताओं के मापन का उपयोग किया जाता है। इससे छादन (casing) के पीछे सीमेंट की ऊँचाई, कुछ रचनाओं की स्थिति, और गैस एवं पानी के बालू के स्थान का पता चलता है। विद्ध छिद्रों मे प्रवेश करने पर, दाब के घटने के फलस्वरूप गैस ठंढी होती है और ऊष्मीय अभिलेखन मे तीव्र न्यूनता उत्पन्न करती है।

रेडियोऐक्टिव अभिलेखन — इसका उपयोग छादित एवं अछादित दोनो प्रकार के कूपों में होता है, क्योंकि इससे कुछ अनोखी सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। गामा किरण अभिलेखन से उन अवसादों की प्राकृतिक रेडियोऐक्टिवता का अभिलेख मिलता है जिनसे होकर विद्ध छिद्र गुजरता है। न्यूट्रॉन अभिलेखन उस गामा किरण सक्रियता का अभिलेख प्रदान करता है, जो छिद्र में उतारे हुए स्रोत से उत्सर्जित न्यूट्रॉनो द्वारा रचनाओं में कृत्रिम रूप से उत्पन्न होती हैं। इसका सर्वाधिक महत्व इस तथ्य मे निहित है कि न्यूट्रॉनो के साथ किरणन (irradiation) की अवधि में शैल पदार्थ का गामा किरण उत्पादन शैलो के हाइड्रोजनांश से घनिष्ठ रूप से सबद्ध है। इसलिये न्यूट्रॉन अभिलेख की न्यूनता से तेल या पानी संस्तर की पहचान की जा सकती है। इधर हाल ही में कुछ अन्य केंद्रकीय (nuclear) अभिलेखन प्रविधियाँ, जैसे घनत्व, क्लोरीन, स्पेक्ट्रमी गामा, बंदी (captive) गामा, द्वारा प्रेरित (gated induced) गामा, सक्रियकरण (activation), ट्रेसर (tracer) और केंद्रकीय चुंबकत्व अभिलेखन का विकास हुआ है।

भूकंपी अभिलेखन — ये मापन कूपों मे निम्नलिखित कार्यों के लिये किए जाते हैं :

(१) ऊर्ध्वाधर वेग वितरण की पहचान के लिये,

(२) ऊर्ध्वाधर और पार्श्व अपवर्तन अन्वेषण के परास का विस्तार करने के लिये,

(३) छिद्रों की वक्रता के निर्धारण के लिये,

(४) कुछ रचनाओं की पहचान के लिये।

विस्फोट सतह पर होता है और संसूचक (detectors) छिद्र मे, या इसके विपरीत ससूचक सतह पर रहता है और विस्फोट छिद्र में होता है। इस विधि का अनुप्रयोग उन क्षेत्रो तक सीमित है जहाँ कुएँ के चारों ओर वेगवितरण पूर्णतया एकसमान है।

विविध अभिलेखन प्रविधियाँ — इसके अंतर्गत चुंबकीय विधियाँ हैं, जिनमें कूपों से प्राप्त क्रोडों का प्रयोगशाला मे परीक्षण और कैलीपर अभिलेखन, जिसके उपयोग से विद्ध छिद्र के परिवर्ती व्यास का मापन होता है और फलत. रचनाओं के शैल विज्ञान और नति मापनो के संबंध मे कुछ सूत्र मिलते हैं, संमिलित हैं। अभिलेखन विधियाँ बड़ी ही सशक्त हैं। [कृ० सिं० रा०]

भूमध्य रेखा या विषुवत् रेखा (Equator) वह काल्पनिक रेखा है जो भूमंडल के उत्तरी गोलार्द्ध को दक्षिणी गोलार्द्ध से अलग करती है। इस रेखा पर स्थित प्रत्येक बिंदु से उत्तरी एवं दक्षिणी दोनों ध्रुव समान दूरी पर होते हैं। यह रेखा वृत्ताकार है जिसका समतल पृथ्वी की धुरी को लंबवत् काटता है। पृथ्वी के आकार में मध्यगत प्रसार के कारण धरातल पर खींचे जानेवाले काल्पनिक वृत्तों में यह वृत्त सबसे बड़ा है। यही कारण है कि इस रेखा पर पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति न्यूनतम होती है। २२ मार्च और २३ सितंबर को सूर्य की किरणें विषुवत् रेखा पर लंबवत् पड़ती हैं। २३ मार्च को पृथ्वी दक्षिणी गोलार्द्ध से उत्तरी गोलार्द्ध में प्रवेश करती है। भारत के राष्ट्रीय पंचांग के अनुसार २३ मार्च ही वर्ष का प्रथम दिवस माना जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका के वाणिज्य विभाग के आधार पर भूमध्य रेखा की कुल लंबाई ४०,०७५·५६ किमी० है। १८४१ ई० में बेसेल महोदय ने विषुवतीय वृत्त का अर्धव्यास ६,३७७·३९७२ किमी० बताया था, किंतु १८६६ ई० मे क्लार्क महोदय ने अपने गणनानुसार इसके अर्धव्यास की लंबाई ६,३७८·२०६४ किमी० बताई।

चुंबकीय ध्रुव की दृष्टि से चुंबकीय (magnetic) विषुवत् रेखा धरातलीय विषुवत् रेखा से भिन्न है। चुंबकीय विषुवत् रेखा वह काल्पनिक रेखा है जिसपर चुंबकीय सूई का नयनाश शून्य है। विषुवत् रेखीय वृत्त के समतल मे पड़नेवाले आकाशीय वृत्त को खगोलीय (celestial) विषुवत् रेखा कहते हैं। पृथ्वी के धरातल पर सूर्य के ताप का वितरण समान रूप से नही होता। स्थल अधिक गरम रहता है और सागर अपेक्षाकृत कम। अधिक गरमीवाले स्थानों को मिलानेवाली काल्पनिक रेखा को तापीय विषुवत् रेखा कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध मे स्थल की मात्रा अधिक होने के कारण तापीय विषुवत रेखा औसत रूप से धरातलीय विषुवत् रेखा के उत्तर ही स्थित रहती है। [प्रा० स्व० जौ०]

भूमध्य सागर या रूम सागर (Mediterranean sea) स्थल से घिरे हुए सागरों में सबसे महत्वपूर्ण एवं सबसे बड़ा सागर है। यह दक्षिण मे अफ्रीका, उत्तर मे यूरोप एवं पूर्व में एशिया महाद्वीपो से घिरा हुआ है। इसका क्षेत्रफल १०,०७,२२१ वर्ग मील है। इसकी लबाई जिब्रॉल्टर से लेकर सिरिया तट तक २,२०० मील तथा उत्तर से दक्षिण की चौडाई १,२०० मील है। यह पश्चिम मे लगभग नौ मील चौडे जिब्रॉल्टर, उत्तर पूर्व मे एक मील चौडे मारमरा जलडमरूमध्यो से तथा दक्षिण-पूर्व मे १०३ मील लबी स्वेज नहर द्वारा लाल सागर मे जुड़ा है। ऐसा कहा जाता है कि किसी समय मे मोरॉको, स्पेन तथा यूरोप और एशिया में स्थित टर्की के दोनों भाग आपस मे जुड़े थे, जो किसी कारण से अब एक दूसरे से अलग अलग हो गए हैं। सागर के पश्चिमी भाग की औसत गहराई ४,६९२ फुट है। अधिकतम गहराई मॉल्टा एवं क्रीट द्वीपों के मध्य १४,४०० फुट तथा कम से कम गहराई ऐड्रिऐटिक सागर में ७९४ फुट है।

भूगर्भ विद्या के विशेषज्ञों के अनुसार यह प्राचीन टीथीज सागर का ही एक अंग है। भारत और मध्य पूर्व की सभ्यता इसी सागर द्वारा यूरोप महाद्वीप मे फैली। इस सागर में अनेक द्वीप हैं, जिनमें पूर्व से पश्चिम साइप्रस, रोड्ज, क्रीट, कार्फू, मॉल्टा, सिसिली, सार्डिनिया, कॉर्सिका, और बैलिऐरिक द्वीप प्रमुख हैं। इसमे द्वीपों एवं प्रायद्वीपों के मध्य भिन्न भिन्न नाम के सागर स्थित हैं जैसे सार्डिनिया और इटली के मध्य टिरहेनियन सागर, इटली एवं बॉल्कन प्रायद्वीप के मध्य ऐड्रिऐटिक सागर एवं यूनान तथा टर्की के मध्य इजिऐन सागर। इसी प्रकार इसमे कई खाडियाँ भी हैं। इस सागर की उत्पत्ति तृतीय महाकल्प (Tertiary era) मे हुई थी, जबकि दक्षिण यूरोप की नवीन पर्वतश्रेणियो का निर्माण हुआ। इस कारण समुद्रतटीय भागों मे भूकप आया करते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों की पेटी पूर्व से पश्चिम को चली गई है। सागर के पश्चिम का जल पूर्व के जल से कुछ ठंढा तथा स्वच्छ रहता है, एवं पूर्व का जल पश्चिम की अपेक्षा अधिक क्षारीय है। पश्चिमी भाग के जल की सतह का ऊपरी ताप लगभग ११·७° सें० तथा पूर्वी भाग के जल की सतह का ताप फरवरी मे १७° सें० से अगस्त मे लगभग २७° सें० के बीच रहता है। काला सागर के मीठे पानी के कारण निकटवर्ती समुद्र का खारापन कम है। इसमे गिरने वाली नदियों में एब्रो, रोन, सोन, ड्रूरास, आर्नो, टाइबर, वोल्टूर्नो, पो, वारडार, स्ट्रूमा एवं नील आदि प्रमुख हैं। इसके समीपवर्ती भागों मे लंबी, गरम, शुष्क तथा स्वच्छ गरमियाँ एवं छोटी, ठढी तथा नम सर्दियाँ रहती हैं। यद्यपि भूमध्यसागर प्राचीन काल से ही व्यापारिक महत्व का रहा है, तथापि १८६९ ई० मे स्वेज नहर के खुल जाने के कारण यह एक महत्वपूर्ण अतर्राष्ट्रीय व्यापारिक मार्ग बन गया है। [प्रा० स्व० जौ०]

भूमिहार उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध जाति। पजाब के महियाल, मेरठ-रुहेलखंड के त्यागी (तगा), महाराष्ट्र के चितपावन, गुजरात के अनावले (देसाई), मगध के बाभन, मिथिला के पश्चिमा और प्रयाग के जमीदार इसी जातिवर्ग के कहे जाते है। ये प्राय: जमीदार और राजा रईस रहे हैं। काशी, हथुवा, बेतिया, टेकारी, अमावाँ, तमकुही, मलेमगढ, लालगोला, शिवहर, सुरसर आदि के राजवश भूमिहार ही हैं।

कान्यकुब्ज वंशावलियों से विदित होता है कि कान्यकुब्ज प्रदेश स्थित मदारपुर के अधिपति 'भूमिहार' कहलाते थे। राजपूताना गजेटियर के अनुसार भूमिहार का अर्थ है जागीरदार किंतु पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार मे यह नाम एक विशेष वर्ग के लिये रूढ़ हो गया है। भूमिहार शब्द का पुराना उल्लेख कही नही मिलता।

सहजानद सरस्वती और हृमानंद सरस्वती भूमिहार का अर्थ भूमि छीनने या स्वीकार करनेवाला, स्वामी लक्ष्मणाचार्य और पं० अयोध्यादास भूमिभूषण, पं० योगेंद्रनाथ भट्टाचार्य, डा० सुनीति कुमार चटर्जी और डा० रामप्रसाद चदा जागीरदार तथा श्री मजहरहसन जमींदार करते हैं। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने भूमिहार की व्युत्पत्ति 'भूमिघर' से तथा पाडेय सूर्यनारायण शर्मा ने 'भूमिसुर' से की है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भूमिहारों को राजाओं द्वारा अग्रहार पानेवालों की वैदिक परंपरा मे मानते हैं। यह बात अनेक ताम्रपत्रो से भी सिद्ध है। श्री इलियट और डा० राजेंद्रलाल मित्र भूमिहारो को कान्यकुब्जों की शाखा, श्री शेरिंग अधिकाश सरवरियो की और कुछ कान्यकुब्जों की शाखा, श्री दुर्गादत्त लाहिड़ी मैथिलो की शाखा तथा

श्री दुर्गादत्त जोशी सारस्वतों की शाखा मानते हैं। श्री ओल्डहम, बीम्स, शेरिंग, इलियट और बुकानन के कथनानुसार इनमे शुद्ध आर्य रक्त है। [कु० ना० अ०]

भू-रसायन (Geochemistry) पूर्णत पृथ्वी तथा उसके अवयवों के रसायन से संबंधित विज्ञान को कहते हैं। भू-रसायन पृथ्वी मे रासायनिक तत्वो के आकाश तथा काल में वितरण तथा अभिगमन के कार्य से संबद्ध है। नवीन खोजो की ओर अग्रसर होते हुए कुछ भू-वैज्ञानियो तथा रसायनज्ञो ने नूतन विज्ञान भू-रसायन को जन्म दिया। यद्यपि भू-रसायन ने इसी शताब्दी मे विशेष प्रगति की है, तथापि भू-रसायन की धारणा बहुत प्राचीन है। शब्द भू-रसायन सर्वप्रथम सन् १८३८ मे स्विस रसायनज्ञ शनबाइन (Schonbeln) द्वारा प्रकाश मे आया।

अमरीकी वैज्ञानिक क्लार्क (Clarke) ने अपनी पुस्तक, 'दि डेटा ऑव जिओकेमेस्ट्री' (१६२४ ई०), मे इस विषय की परिमित व्याख्या की है। उसमे कहा गया है कि वर्तमान उद्देश्यो के लिये प्रत्येक चट्टान एक रासायनिक पद्धति मानी जा सकती है। इसमे विभिन्न साधनों द्वारा रासायनिक परिवर्तन भी लाया जा सकता है। ऐसे परिवर्तन नई पद्धति के निर्माण के साथ अत मे सतुलन के विक्षोभ को सूचित करते हैं। नई स्थिति मे यह नई पद्धति स्थायी होती है। इन परिवर्तनो का अध्ययन भू-रसायन का क्षेत्र है। यह निश्चय करना कि क्या परिवर्तन सभव है, कैसे और कब वे होते है, उन घटनाओं का निरीक्षण करना जो उक्त परिवर्तनों मे होती हैं तथा उनके अतिम परिणामो को लेखनीबद्ध करना ही भूरसायनज्ञ के कार्य है। सन् १६५४ मे वी० एम० गोल्डस्मिथ ने, जो आधुनिक भू-रसायन के पिता कहे जाते है, भू-रसायन के प्राथमिक उद्देश्य की व्याख्या करते हुए कहा था कि 'भू-रसायन का प्राथमिक उद्देश्य जहाँ एक ओर पृथ्वी तथा उसके भागो का मात्रात्मक सघटन ज्ञात करना है, वही दूसरी ओर विशेष (individual) तत्वो के वितरण पर नियत्रण रखनेवाले नियमों का पता लगाना भी है। इन समस्याओ के हल के लिये एक भू रसायनज्ञ को स्थलीय पदार्थ, जैसे चट्टान, जल, वायुमडल इत्यादि के विश्लेपणात्मक आँकडो के व्यापक सग्रह की आवश्यकता पडती है। भू-रसायनज्ञ उल्कापिडो के विश्लेषण, अन्य अतरिक्ष पिंडों के सघटन पर खगोल भौतिकीय आँकड़ो और भूगर्भ के स्वरूप पर भूभौतिकीय आँकड़ों का भी उपयोग करता है।

उक्त तथ्यो के संदर्भ मे भू रसायन के तीन मुख्य उद्देश्य निश्चित किए जा सकते है -

(१) पृथ्वी मे तत्वो और पारमाणवीय जाति (atomic species, समस्थानिक, isotopes) के सापेक्ष तथा निरपेक्ष बाहुल्य को ज्ञात करना।

(२) पृथ्वी के विभिन्न भागो, जैसे वायुमडल, जलमडल, भूपर्पटी इत्यादि, खनिजो, चट्टानो और विभिन्न प्राकृतिक वस्तु से बने भू-रासायनिक चक्रमंडल मे विशेष तत्वो के वितरण तथा अभिगमन का अध्ययन करना।

तथा (३) तत्वो के बाहुल्य संबधो, वितरण और अभिगमन को नियंत्रित करनेवाले नियमों को खोजना तथा पृथ्वी के रासायनिक उद्भव के बारे में भी ज्ञान प्राप्त करना।

अपने इतने विशाल क्षेत्र के कारण यह शास्त्र विज्ञान की अन्य मौलिक शाखाओं की कोटि मे आ जाता है। समस्थानिक तथा पारमाणविक जातियों के अध्ययन और विश्व मे उनकी स्थिरता भी इसी विज्ञान की सीमा मे आती है।

यद्यपि यह विज्ञान नित्य नए प्रयोगों द्वारा अपने को स्थापित कर रहा है, तथापि पृथ्वी के रसायन संबंधी स्वायत्त अनुशासन की धारणा अत्यंत प्राचीन है। स्विस रसायनज्ञ शनबाइन द्वारा सन् १८३८ मे भू-रसायन शब्द प्रकाश मे आने के बाद डबेराइनर (Dobereiner) द्वारा प्रथम बार तत्वो के बाहुल्य का अनुमान लगाया गया। मुख्यतया चट्टानों और खनिजों संबधी महत्वपूर्ण आँकडों का पता बरज़ीलियस तथा स्वीडन स्थित उसके विद्यालय द्वारा सन् १८५० मे ही लग गया था। इन आँकड़ों के संपादन तथा व्याख्या करने का प्रथम प्रयास जर्मन भूविज्ञानी तथा रसायनज्ञ बिशॉफ (Bischof) ने अपनी पुस्तक 'लेयरबुख डेर फिजीकलाइशेन उड केमीशेन जिओलागी (Lehrbuch der physikalischen und chemischen Geologie, (प्रथम प्रकाशन १८४७-१८५४ ई०) मे किया।

यह पुस्तक काफी समय तक प्रामाणिक बनी रही, परतु शताब्दी के अंत मे इसका स्थान रोथ (Roth) की पुस्तक 'ऐल्गेमाइने उंड केमिशे जिओलागी' (Allgemeine und chemische Geologie, प्रकाशन १८७९-१८९३ ई०) ने लिया। सपूर्ण १९वीं सदी में प्राप्त आँकडे पृथ्वीतल पर मानव पहुँच के भीतर की विभिन्न इकाइयो, जैसे खनिज चट्टान, प्राकृतिक जल तथा गैसो के विश्लेषण द्वारा तथा भौमिकीय और खनिज खोजो के उपोत्पादक है। बहुत वर्षो तक यह विज्ञान यूरोप तक ही सीमित रहा, परतु १८८४ ई० में अमरीका मे वहाँ के भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण की स्थापना के बाद तथा क्लार्क (Clarke) की वहाँ पर मुख्य रासायनज्ञ के रूप मे नियुक्ति के पश्चात्, अमरीका में भी इस विषय पर अनुसधान शुरू हुआ। सर्वेक्षण मे भू-रासायनिक अनुभाग की अपनी अलग सत्ता मानी जाती है।

क्लार्क की 'दि डेटा आव जिओकेमेस्ट्री' (१९२४ ई०) का अतिम सस्करण पूरे युग का अत करता है। गत १०० वर्ष मे भू-रसायन अनुसधान के नाम पर पृथ्वी के केवल कुछ हिस्सो की, जो दृष्टि की पहुँच के भीतर हैं, रासायनिक जाँच की गई। इस प्रकार के अनुसधान से वस्तुओ के बारे मे कुछ और जान लिया गया है, परंतु इसकी दर्शन मीमांसा प्रस्तुत करने के लिये इसे मौलिक विज्ञान, जैसे भौतिकी या रसायन, की प्रगति पर आश्रित होना पडा। उदाहरण-स्वरूप सिलिकेट खनिजो की भूरासायनिक मीमासा तब तक भली भाँति नही हो सकी, जब तक एक्सकिरण विवर्तन (x-ray diffraction) के आविष्कार ने ठोसो की पारमाणविक बनावट ज्ञात करने के साधन नहीं बता दिए। कारनेगी इंस्टिट्यूशन (Carnegie Institution), वाशिंगटन, की भूभौतिकीय प्रयोगशाला की स्थापना से भू-रसायन को नई दिशा मे प्रगति करने में काफी सहायता मिली। जे० एच० एल० फोग्ट (J H. L Vogt) तथा डब्ल्यू० सी० ब्रॉगेर (W. C. Brogger) की देखरेख में भू-रसायन का एक नया

केंद्र नार्वे में प्रगति कर रहा था। सन् १९१२ भू-रसायन के इतिहास मे गौरवमय वर्ष रहा है। इसी वर्ष प्रसिद्ध भूरासायनिक फान लाए (Von Lave) ने दिखलाया कि क्रिस्टल में से जब एक्स किरण गुजारी जाती है, तब क्रिस्टल के भंदर के परमाणुओं का क्रमिक विन्यास विवर्तन ग्रेटिंग (diffraction grating) के रूप में कार्य करता है और इस तरह उन्होंने ठोस पदार्थों की पारमाणविक संरचना संबंधित खोज की।

सन् १९१७ से सोवियत रूस मे भू-रसायन की जो प्रगति हुई है, उसका श्रेय रूसी वैज्ञानिक वी० आई० वरनैड्स्की (V. I. Vernadsky) तथा उनके युवा सहयोगी ए० ई० फर्समैन (A. E. Fersman) को मिलना चाहिए। इस विषय को दृढ़ आधार देने के अनेक वैज्ञानिकों के बहुमूल्य प्रयत्नों के पश्चात् भी, यह कार्य उस महान् वैज्ञानिक के कंधे पर आ पड़ा जिसका नाम भू-रसायन के इतिहास से कभी अलग नहीं किया जा सकता है और वे हैं आधुनिक भू-रसायन के पिता एवं प्रवर्तक वी० एम० गोल्डश्मिट (V. M Goldsmidt)। उनके अथक और मार्गदर्शी अनुसंधान ने, जो उन्होंने ऑस्लो और गटिंगेन मे किया, इस उगते हुए अंकुर को सींचा है।

भारत मे इस विषय पर कार्य सर्वप्रथम काशी हिंदू विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर कृष्णकुमार माथुर तथा सर शांतिस्वरूप भटनागर द्वारा किया गया। इन लोगो ने मिलकर जर्मन भाषा मे, १९२२ ई० में प्रथम बार, अपने परिणामों को एक लेख 'स्टुडियन युबैर बेंडस्ट्रक्ट्रेन मियेसेस गेवैर्डेम्र्टाइने' के रूप मे प्रकाशित करवाया। सन् १९२२ से १९२६ ई० तक मे प्रो० माथुर ने गिरनार पहाड़ी की चट्टानो की भू-रासायनिक समीक्षा की। सन् १९२६ मे जब वे 'इंडियन साइंस कांग्रेस' के भौतिकी विभाग के अध्यक्ष हुए, तब उन्होंने भू-रसायन का भौतिकी की अन्य शाखाओ से संबंध बतलाते हुए इसके महत्व पर जोर दिया। उनके आकस्मिक निधन के बाद इस शाखा पर सर भटनागर तथा डाक्टर भिगरन द्वारा कार्य किया गया। संप्रति पटना विश्वविद्यालय के भौमिकी विभाग के प्राध्यापक तथा अध्यक्ष, डा० रामचंद्र सिनहा, भारत के प्रामाणिक भू-रसायनज्ञ माने जाते हैं। [प्र० कु० पा०]

भूरिश्रवा कुरुवंशी सोमदत्त के पुत्र थे। (महा०, आ०, १७७ १४) द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर इन्होंने पांडवों के पराक्रम का वर्णन कर दुर्योधन को उनसे युद्ध न कर संधि कर लेने की राय दी थी। महाभारत के युद्ध में इन्होंने एक अक्षौहिणी सेना के साथ दुर्योधन की सहायता की थी (वही, उ०, १९।१२) सात्यकि, धृष्टकेतु, भीमसेन, शिखंडी आदि महारथियों से युद्ध कर अंत मे सात्यकि द्वारा मार डाले गए। मेरुसावर्णि मनु के एक पुत्र, मध्यमाध्वर्युओं मे एक आचार्य और एक ऋषि का भी यही नाम था। [चं० भा० पा०]

भूर्ज को अंग्रेजी मे बर्च (Birch) कहते हैं। यह बेटुलेसिई (Betulaceae) कुल का पेड़ है। इसके अधिकांश पेड़ मध्यम विस्तार के होते हैं। कुछ तो क्षुप (shrub) किस्म के भी होते है। पेड़ हृष्ट पुष्ट होते हैं और उत्तर अक्षांश मे ही अच्छे उपजते हैं। उत्तर अमरीका, यूरोप, उत्तर एशिया और हिमालय में १,५०० फुट से अधिक ऊँचाई पर ये साधारणतया पाए जाते हैं। इनकी पत्तियाँ क्रकची (serrat) तथा पर्णपाती (deciduous) होती हैं। एक ही पेड़ पर नर और मादा के कैटकिन (catkins) होते हैं। नर कैटकिन शरत् (पतझड़) ऋतु में और मादा कैटकिन वसंत ऋतु मे प्रकट होते हैं। इनके फल छोटे छोटे और पंखदार होते है। वृक्ष की छाल कागज के सदृश उखड़ती है, जिसे 'भोजपत्र' कहते हैं। एक समय भारत में भोजपत्र पर ही पुस्तकें लिखी जाती थीं। भोजपत्र सामान्य कागज से अधिक टिकाऊ समझा जाता है। आज भी भोजपत्र पर तांत्रिक मंत्र और कवचादि लिखे जाते हैं। ऐसे मंत्र और कवच जल्द फल देनेवाले समझे जाते हैं। पेड़ की भीतरी छाल से जो भोजपत्र प्राप्त होता है, वह लिखने के लिये अच्छा समझा जाता है। कुछ विशिष्ट धार्मिक अवसरों पर लोग इसका वस्त्र भी धारण करते हैं। भूर्ज के पेड़ कई प्रकार के होते हैं। इनकी निम्नलिखित किस्में अधिक महत्व की हैं :

१. कागज भूर्ज — इसका वैज्ञानिक नाम बेटुला पापायरिफेरा (Betula papyrifera) है। इसको कभी कभी श्वेत भूर्ज भी कहते हैं, क्योंकि इसकी छाल मलाई सी सफेद रंग की होती है। इसको मत्रभूर्ज भी कहते हैं, क्योकि इसकी छाल इतनी पतली होती है कि उसपर सुभीते से लिखा जा सकता है। इस भूर्ज की छाल से प्याले, तश्तरियाँ, आभूषण, छोटी छोटी टोकरियाँ आदि बनाई जाती हैं। इसकी लकड़ी से लुगदी और जूते के साँचे या फरमे भी बनते हैं। लकड़ी जलावन के काम मे भी आती है। हिमालय क्षेत्रों के अतिरिक्त यह कैनाडा, उत्तरी अमरीका और उत्तरी यूरोप में उपजता है।

पीत भूर्ज—इसको कभी कभी रजत भूर्ज भी कहते है। इसका वैज्ञानिक नाम बी० ल्यूटिया (B lutea) है। पेड़ के वयस्क होने पर इसकी छाल का रंग पीलापन लिए हुए धुँधले धूसर रंग का होता है। यह मासाचुसेट्स, फ्लोरिडा और टेक्सस मे अधिक पाया जाता है। इसकी लकड़ी मजबूत होती है और फर्निचर, कृषि के औजारों तथा अन्य घरेलू कामो के लिये अच्छी समझी जाती है।

रक्त भूर्ज — इसे कहीं कहीं नदी भूर्ज भी कहते हैं, क्योंकि यह नदी, पोखरों तथा दलदली भूमि के तटों पर बहुधा उगता हुआ पाया जाता है। इसके छोटे पेड़ों की छाल का रंग गुलाबी होता है। पीछे वह काला हो जाता है। इसके पेड़ ५० से ६० फुट तक ऊँचे होते हैं। यह दक्षिण अमरीका मे विशेष रूप से पाया जाता है। इसका वैज्ञानिक नाम बी० निग्रा (B nigra) है।

कृष्ण भूर्ज — इसका वैज्ञानिक नाम बी० लेंटा (B lenta) है। इसे चेरी या मीठा भूर्ज भी कहते हैं। यह ६० से ८० फुट तक ऊँचा होता है। इसके शीर्ष सुंदर होते है। इसकी शाखाएँ पतली और टहनियाँ कोमल होती हैं। इसकी लकड़ी श्याम रंग की तथा कठोर होती है और दाने गठे हुए होते हैं। फर्निचर और घर के अंदर की सजावट के सामानों के निर्माण के लिये इसकी लकड़ी बहुमूल्य समझी जाती है।

धूसर भूर्ज — इसका वैज्ञानिक नाम बी० पोपुलिफोलिया (B. populifolia) है। इसका पेड़ छोटा, ४० फुट से अधिक ऊँचा नहीं होता है। अमरीका के अनेक राज्यों मे यह पाया जाता है। इसकी छाल धूसर सफेद रंग की होती है। छाल कड़ी होती है और उसके स्तर अधिक दृढ़ता से चिपके रहते है। इससे अनेक खाँचे, फिरकी और अन्य सामान बनते हैं। यह ईंधन मे भी काम आता है। इसकी लुगदी भी बनती है। [फू० सं० व०]

भूलभुलैयाँ प्रकोष्ठों और मार्गों का ऐसा जाल है जो भ्रम में डाल देता है तथा जिसके कारण निकासमार्ग का ज्ञान होना कठिन होता है। इसका आधुनिक रूप व्यूह है। मनोरंजन के लिये बगीचों मे दोनों ओर पौधे अथवा झाड़ इस प्रकार लगाई जाती है कि निकास मार्ग तथा बगीचे का केंद्र ज्ञात करना कठिन होता है। इंग्लैंड के हैंपटन कोर्ट राजमहल मे बगीचे की भूलभुलैयाँ का सर्वोत्कृष्ट नमूना वर्तमान है। अब तो बहुत से खेल भी इस आधार पर बनाए गए हैं। इनसे खिलाडी की कुशाग्र बुद्धि की परीक्षा होती है। प्राचीन काल मे भारत तथा विदेशों मे सम्राटों ने जो भूलभुलैयाँ बनवाई, उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

ईजिप्शियन भूलभुलैयाँ २३०० ई० पू० अमेनेही (Amenehe) तृतीय द्वारा बनाई गई थी। हेरोडोट्स के अनुसार यह मोएरिस (Moeris) झील के सामने पूर्व की ओर स्थित थी और चारो ओर दीवार से घिरी हुई थी। इस दुमंजिली इमारत मे १२ दरबार हाल तथा १,५०० कमरे प्रथम मंजिल में और १,५०० कमरे द्वितीय मंजिल मे थे। सभी छतें पत्थर की थी और दीवालो पर नक्काशी की हुई थी। इसके एक ओर २४३ फुट ऊँचा एक पिरामिड था। कहा जाता है, क्रीट नगर मे भी ईजिप्शियन भूलभुलैयाँ जैसी ही भूलभुलैयाँ बनाई गई थी। इटली की पोसियन समाधि भी प्रसिद्ध भूलभुलैयाँ है। भारत मे लखनऊ के नवाब वजीर आसफुद्दौला ने १७८४ ई० मे इमामबाड़ा नामक भवन बनवाया जिसमे, भूलभुलैयाँ का एक भारतीय नमूना है। लेमनिएन (Lemnian) की भूलभुलैयाँ भी प्रसिद्ध है, जो ईजिप्शियन भूलभुलैयाँ के आधार पर ही बनी है। इसमे १५० स्तंभ हैं। [भ० ना० मे०]

भूलाभाई देसाई प्रख्यात विधिवेत्ता, प्रमुख संसदीय नेता तथा महात्मा गाधी के विश्वस्त सहयोगी। आपका जन्म सूरत जिले के बलसर मे हुआ था। विधिविशेषज्ञता आपको विरासत मे मिली। आपके पिता सरकारी वकील थे। प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा निर्भीक उक्तियाँ आपकी उल्लेख्य विशेषताएँ थी। बबई के एलफिंस्टन तथा सरकारी ला कालेज मे कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त की। बाद मे उच्च न्यायालय के अधिवक्ता बने। विशिष्ट विधिविशारद होने के कारण आपको अल्पकाल मे ही धन तथा यश की प्राप्ति हुई। राजनीति के क्षेत्र मे सर्वप्रथम माडरेटों के साथ, तदनतर होम रूल लीग मे और अत मे कांग्रेस मे आए। महात्मा गाधी की प्रेरणा तथा निर्देश से प्रभावित होकर स्वाधीनता आदोलन मे प्रमुखता से भाग लिया। गुजरात के किसानो को कानूनी सहायता देकर आपने स्वराज्य आदोलन को नवीन शक्ति प्रदान की। इस दिशा मे आपके कार्यों के फलस्वरूप ही ब्रमफील्ड प्रतिवेदन मे किसानो की कठिनाइयो को कम करने की संस्तुति की गई।

सन् १९३० के स्वाधीनता आदोलन मे भाग लेने के कारण आपको एक वर्ष का कारावास तथा दस हजार रुपए जुर्माने का दड मिला। इसके बाद के सभी प्रमुख कांग्रेस आदोलनो मे आप भाग लेते रहे। केंद्रीय धारासभा मे कांग्रेस दल के नेता के रूप मे आपका कार्य ऐतिहासिक महत्व का है। आपके तीखे तथ्यपूर्ण भाषण सरकारी पक्ष का हतप्रभ कर देते थे। श्री भूलाभाई देसाई मे ऐसी अनोखी सूझबूझ थी, जिसके फलस्वरूप आप महत्वपूर्ण बिलों पर मुसलिम पार्टी को साथ लेकर सरकारी पक्ष को पराजित कर देते थे। केंद्रीय धारासभा मे आपकी ससदीय प्रतिभा तथा असाधारण क्षमता अप्रतिम मानी जाती थी।

आजाद हिंद फौज के सेनापति श्री शाहनवाज, ढिल्लन तथा सहगल पर राजद्रोह के मुकदमे मे सेनिको का पक्षसमर्थन आपने जिस कुशलता तथा योग्यता से किया, उससे आपकी कीर्ति देश में ही नही विदेशो मे भी फैल गई।

आपमे प्रतिपक्षी पर प्रबल प्रहार कर उसे निरस्त्र कर देने की असाधारण और अद्भुत् क्षमता थी। यही कारण है कि आपके पास प्राय अत्यंत गभीर तथा कानूनी उलझनों के मुकदमे आया करते थे। देश के ख्यातिलब्ध विधिज्ञो मे आपका प्रमुख स्थान है। संसदीय नेतृत्व के आपमे अनुपम गुण थे। कांग्रेस पार्टी के नेता के रूप मे नौकरशाही आपसे सदा आतंकित रहती थी। अंग्रेजी भाषा पर आपका असाधारण अधिकार था। आपके भाषणों मे तथ्यों, तर्कों तथा व्यंग्य विनोदपूर्ण उक्तियो का प्रभावोत्पादक सयोजन रहता था। आपने हिंदू मुसलिम एकता के लिये भी प्रयास किया था। इस संबध में देसाई लियाकत समझौते का विशेष महत्व है। आपके व्याख्यानों तथा विचारों का संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। आरंभिक जीवन मे आपने अहमदाबाद स्थित गुजरात कालेज मे अर्थशास्त्र तथा इतिहास विषयक प्राध्यापक का भी कार्य किया था। [ल० श० व्या०]

भूषण हिंदी साहित्य के शृंगार (रीति) युग मे उत्पन्न होने पर भी भूषण ने वीर रस की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ प्रस्तुत की। इनका घर कानपुर जिले के दक्षिण मे जमुना नदी के समीप टिकमापुर (त्रिविक्रमपुर) गाँव मे था। भूषण त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहा जाता है, रत्नाकर त्रिपाठी इनके पिता और चिंतामणि तथा मतिराम कवि इनके भाई थे। इनके चौथे भाई का नाम जटाशकर था, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। भूषण का जन्मकाल निश्चित नही है। पर कुछ विद्वान् स० १६७० (सन् १६१३ ई०) और कुछ स० १६९२ (सन् १६३५ ई०) मानते हैं। भूषण ने शिवराज भूषण की रचना सं० १७३० मे आषाढ कृष्ण १३, रविवार को की थी जैसा निम्नांकित दोहे से स्पष्ट है :

सुभ सत्रह स तीस पर, सुचि बदि तेरस भान।
भूषन शिवभूषन कियो, पढियो सकल सुजान॥
(शिवराज भूषण)

शिवराज भूषण की रचना भूषण ने ३८ वर्ष की अवस्था में की होगी अत. उनका जन्मकाल सं० १६९२ वि० मानना अधिक समीचीन है। इसी प्रकार उनका मृत्युकाल सं० १७९० वि० के आस पास माना जा सकता है, क्योंकि वे छत्रपति महाराज साहू के समय भी विद्यमान थे और एक दीर्घजीवी कवि थे।

भूषण को चित्रकूट के राजा हृदयराम के पुत्र रुद्रशाह ने 'कवि भूषण' की पदवी दी थी।

भूषण के द्वारा लिखी हुई छह रचनाएँ मानी जाती हैं—१. शिवराज भूषण, २. भूषण हजारा, ३. भूषण उल्लास, ४. दूषण उल्लास, ५. शिवाबावनी और ६. छत्रसाल दशक। इन ग्रंथों में से केवल

तीन रचनाएँ—शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक ही प्राप्त हैं।

भूषण ने शिवराजभूषण और शिवाबावनी को छत्रपति महाराज शिवाजी के आश्रय में और उनकी प्रशंसा मे रचा। भूषण की प्रख्याति का मूलाधार ये ही दोनों कृतियाँ हैं। वे उत्तरी भारत के अनेक राजाओं के दरबारों में गए थे, पर किसी की, वीरता और उदारता ने भूषण को अधिक प्रभावित न किया। उन्होंने शिवाजी के रूप मे उस युग के राष्ट्रनायक का दर्शन किया जो अनाचार के दमन और सदाचार के सरक्षण की सामर्थ्य रखता था। अतएव भूषण की यह रचना समकालीन राष्ट्रीय भावना की कविता ही मानी जानी चाहिए।

'छत्रसालदशक' की रचना भूषण ने महाराज छत्रसाल की प्रशंसा में की। ये भी शिवाजी के ही मार्ग पर चलनेवाले वीर पुरुष थे। शिवाजी के समान ही छत्रसाल ने भी भूषण का बड़ा संमान किया था।

भूषण के नाम पर कुछ शृंगार रस के छंद भी मिलते हैं।

भूषण अत्यंत प्रतिभासंपन्न कवि थे। कहते हैं, कविता की शक्ति इन्हे देवी के वरदान से प्राप्त हुई थी। भूषण की जोरदार शब्दावली, सर्जनप्रतिभा और कठिन छंदसिद्धि उनकी दैवी कविप्रतिभा के प्रमाण प्रस्तुत करती है। भूषण की ओजस्विनी रचनाएँ उस युग की ही ज्वलंत कृतियाँ नही, हिंदी साहित्य मे उनका विशिष्ट और उच्च स्थान है। वीर रस के वे अप्रतिम कवि थे।

[भ० मि०]

भू-संतुलन (Isostasy) का अर्थ है, पृथ्वी के संतुलन बनाए रखने की अवस्था। इस तथ्य का उद्भव सन् १८५९ मे उत्तरी भारत के त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण के समय हुआ। कल्याना जो हिमालय की तलहटी में स्थित है और कल्यानपुर की, जो उससे लगभग ३७५ मील की दूरी पर मैदान मे स्थित है, दूरी त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण से ज्ञात की गई। इस दूरी और खगोलात्मक आधार पर ज्ञात दूरी मे पाँच सेकंड (५०० फुट) का अंतर पड़ा। यह अंतर हिमालय के आकर्षण के फलस्वरूप था, जिसका प्रभाव साहुल सूत्र (plumb line) पर पड़ा और वह एक ओर को हट गया। प्रैट (Pratt) ने बतलाया कि विशाल हिमालय के प्रभाव मे इस दूरी मे १५ सेकंड का अंतर पड़ना चाहिए था। अतः यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि किन कारणो से हिमालय पर्वत का पूरा प्रभाव साहुल सूत्र पर नही पड़ा। इस त्रुटि को इस मान्यता के आधार पर समझाया गया कि पर्वतों के नीचे पृष्ठीय क्षेत्र मे संहृति की कमी है, अर्थात् गहराई तक शिलाओं का घनत्व अपेक्षाकृत कम है।

भूसंतुलनवाद के अनुसार विशाल भू-रचनाएँ, जैसे ऊँची ऊँची पर्वतमालाएँ, पठार, मैदान आदि, संतुलन की अवस्था मे रहते हैं। पिण्ड की इन भिन्न भिन्न इकाइयो का भार समुद्र की सतह से नीचे एक समतल पर समान है। इसे भूदाबपूर्ति स्तर (compensation level) कहा जाता है। इस विचारधारा को समझाने के लिये एयरी ने पानी पर तैरते हुए लकडी के लट्ठों का उदाहरण रखा। इन लट्ठों की अनुप्रस्थ काट तो समान होनी चाहिए, पर लंबाई भिन्न भिन्न हो सकती है। पानी मे संतुलन की अवस्था में मोटे लट्ठे पतले लट्ठों की अपेक्षा जल से ऊपर अधिक ऊँचाई तक निकले रहते हैं और
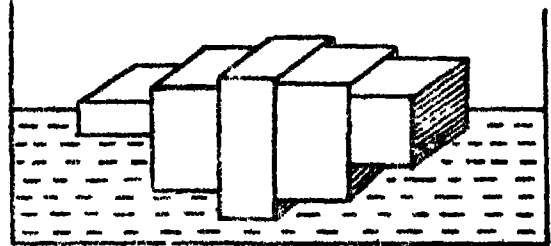
चित्र १. पानी में तैरते लकड़ी के खंड
भिन्न भिन्न ऊँचाइयों के खंड संतुलन अवस्था मे हैं।

जल के नीचे भी अधिक गहराई तक डूबे रहते हैं (देखें, चित्र १.)। पृथ्वी का पृष्ठभाग भी अपने से अधिक घनत्ववाले अधःस्तर पर बर्फ की भाँति तैर रहा है। ऊँची ऊँची पर्वतमालाओं की जड़ें इसमें अधिक गहराई तक चली गई हैं। आधुनिक गवेषणाओं से इस बात की पुष्टि भी हुई है। भूकंप लहरों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि पर्वतमालाओं के नीचे सियाल (sial) पदार्थ लगभग ४० किमी० या उससे भी अधिक गहराई तक विद्यमान है। मैदानो के नीचे की मोटाई १० से १२ किमी० तक है और
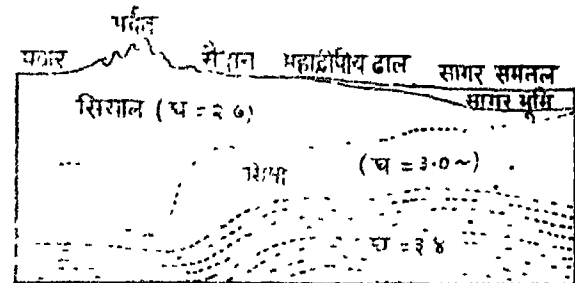
चित्र २ पृथ्वी के पृष्ठ भाग की काट
भिन्न भिन्न भूरचनाएँ तथा नीचे सियाल और सिमा का वितरण दिखाया गया है। पर्वतों के नीचे कम घनत्ववाला पदार्थ अधिक गहराई तक विद्यमान है।

सागरतल के नीचे तो यह पर्त बहुत ही पतली है और कही कहीं पर तो विद्यमान भी नही है (देखे, चित्र २.)।

प्रैट के अनुसार पृथ्वी की सतह पर की अनियमितताएँ इकाई क्षेत्रों के भिन्न भिन्न घनत्वों के कारण हैं। इसे समझाने के लिये आपने निम्नलिखित उदाहरण दिया। समान अनुप्रस्थ काटवाले, किंतु भिन्न भिन्न धातुओं के, खंडो को पारद मे भरे बर्तन मे रखने पर सभी खंडो के नीचे का भाग एक समतल मे रहता है, क्योंकि वे सभी समान मात्रा मे पारद का विस्थापन करते हैं, पर पारे से ऊपर भिन्न धातुओं के खंडो की ऊँचाई भिन्न भिन्न रहती है (देखें, चित्र ३.)। हाइसकानेन के अनुसार घनत्व ऊँचाई के साथ

विचरता है। ऊपर जाने पर वह कम होता है और नीचे जाने पर बढ़ता है। सागरतल पर यह २·७६ ग्राम प्रति घन सेंमी०
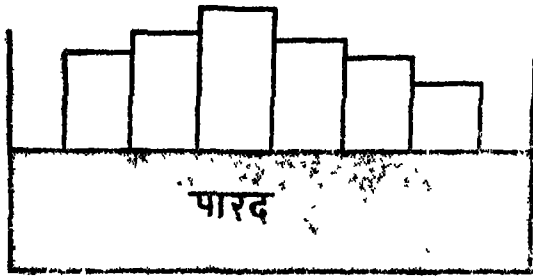
चित्र ३. धातुखंड पारद में

समान अनुप्रस्थ काट, किंतु भिन्न भिन्न घनत्ववाले धातु-खंड तैरते हुए संतुलन अवस्था में दिखाए गए हैं।

और तीन किमी० ऊँचाई पर २·७० ग्राम प्रति घन सेंमी० होता है। किसी भी स्तंभ मे हलकी शिलाओं मे घनत्व एक किलोमीटर पर ०·००४ ग्राम प्रति घन सेंमी० बढ़ता है और भारी शिलाओं मे इससे आधी गति से। अत: भूदाबपूर्ति स्तर पर सब जगह समान भार पड़ता है। घनत्व के विचरण पर आधारित यह वाद (ism) भौमिक दृष्टि से उपयुक्त है। [म० ना० मे०]

भेड़ स्तनी (Mammalia) वर्ग, अंगुलेटा (Ungulata) गण, बोविडी (Bovidae) कुल तथा ओविस (Ovis) वंश का प्राणी है। इसकी दुम छोटी, पैर लंबे और खुर छोटे, भुथरे एवं ठोस होते हैं। इसका सींग आधार के पास मोटा और सिरे पर पतला हो जाता है। संपूर्ण सींग खोखला एवं सर्पिल होता है। प्राय: नर और मादा दोनों के सींग होते हैं, किंतु मादा के सींग नर की अपेक्षा छोटे होते हैं। कुछ जाति की मादा को सींग नही होता। नर भेड़ की दाढ़ी नही होती, किंतु इसको बालो का कंठा (ruff) हो सकता है। नर और मादा दोनो मे आगे के दोनो बड़े खुरों के मध्य मे ग्रंथि-गर्त (gland pit) होते हैं।

भेड़ पहाड़ी पशु है और अच्छी आरोही है, किंतु बकरी की तरह कठिन चढ़ाई पर यह नही चढ सकती। ये अधिकतर शाकपात खाना पसंद करती हैं। इनकी घ्राण एवं दृष्टि शक्ति तीव्र और चाल तेज होती है। भेड़ के ऊपरी जबड़े मे कृंतक दाँत नही होते, किंतु नीचे के जबडे मे आठ कृंतक दाँत होते हैं। प्रत्येक जबड़े के पिछले भाग मे छह पेषण दाँत होते हैं। भेड़ जमीन के बहुत पास से घास काटती है।

भेड़ की आयु लगभग १३ वर्ष की होती है। जब नर और मादा एक वर्ष के हो जाते हैं, तब ये जनन के योग्य हो जाते है। मादा पाँच महीने तक गर्भधारण करने के पश्चात् बच्चा जनती है। मादा वर्ष मे केवल एक बार गर्भधारण करती है। एक भेड़ा ५० भेड़ों तक को गर्भधारण कराने के लिये रखा जाता है।

भेड़ें अनेक परजीवियों से पीडित रहती हैं। खुरसडा एवं मुखव्रण भेड़ों की साधारण बीमारियाँ हैं। चूहों एवं किलनियों से इन्हें खुजली हो जाती है। शरीर के भार में कमी भेड़ों के लिये घातक बीमारी है। अन्य रोगों का गंभीर परिणाम नहीं होता।

भेड़ का मूलस्थान मध्य एशिया है। इसकी मुख्य तीन जातियाँ हैं : अर्गली (Argali), ऊरियल (Urial) तथा भाराल (Bharal) या नीली भेड़।

अर्गली — इसका प्राणिविज्ञानीय नाम ओविस ऐमॉन (Ovis ammon) है। यह मध्य और उत्तरी एशिया में बुखारा से कैमचटका तक मिलती है। इसकी लगभग एक दर्जन प्रजातियाँ हैं, जिनमें से दो भारत मे पाई जाती हैं : होदग्सोनी (Hodgsoni) तथा पोली (Poli)। ये दोनों प्रजातियाँ १५,००० फुट की ऊँचाई पर रहती हैं। होदग्सोनी के नर की सींग बहुत बडी तथा वृत्ताकार होती है। पोली प्रजाति के नर की सींग की लबाई ७५ इच तक होती है। इसकी चाल बहुत तेज होती है। अर्गली का शिकार भी किया जाता है। मध्य शीतकाल इसका मदकाल (rutting season) होता है और मध्य ग्रीष्म में बच्चे होते हैं। तिब्बती भेडिए इसके मुख्य शत्रु हैं। इसके शरीर के ऊपरी भाग का रंग भूरा तथा पैर, थूथन, कंठा और नितंब सफेद होते है। ग्रंथिगर्त आँख के नीचे होता है।

ऊरियल — इसका *प्राणिविज्ञानीय नाम* ओविस विजनी (Ovis vignei) तथा पजाबी नाम कोच (koch) है। मध्य एशिया मे तुर्किस्तान और उत्तर पश्चिम भारत मे इस जाति की भेड़ें मिलती हैं। इसकी लंबाई लगभग एक गज होती है तथा पूँछ की लबाई चार इच। पूर्ण वयस्क भेड़े को कठा होता है। ग्रीष्मऋतु मे ऊरियल का रग पीलापन लिए लाल भूरा होता है, किंतु शीत ऋतु मे रग अवरक्त-पीत होता है। वयस्क भेडे के पैर, पेट और नितब का रंग सफेद तथा कंठे का रंग काला होता है। भेड़ और बच्चे पूर्णत. भूरे होते हैं। आँख के नीचे ग्रथिगर्त होता है। इसकी सींग वलियुक्त, लगभग वृत्ताकार होती हैं और इनकी लबाई ३७·७५ इंच तक होती है। इस जाति की भेड़ों को नमक प्रिय है, अत. ये प्राय. नमक की खानो के पास दिखाई पडते हैं। पजाब मे ये सितबर मास मे सगम करते हैं। इस जाति के भेडे पालतू भेडों से भी संगम करते देखे गए हैं।

भराल या नीली भेड़ — इसका प्राणिविज्ञानीय नाम ओविस भाराल (Ovis bharal) तथा हिंदी नाम शाह है। यह १०,००० से १६,००० फुट तक की ऊँचाई पर पाई जाती है। इसके नर की पूँछ सात इच तक लबी होती है। भेडा एक गज लबा होता है, पर मादा छोटी होती है। इसे अयाल या कंठा नही होता। जाड़े मे भराल का रंग धूसर नीला और गरमियो मे भूरा रहता है। पैर, पेट एवं नितंब सफेद होते हैं। पूँछ का अंतिम सिरा काला होता है। इसकी सींग अन्य जातियों की अपेक्षा चिकनी होती हैं। सींग पहले बाहर की ओर मेहराब बनाती हैं और बाद मे पीछे की ओर मुड जाती हैं। सींग की लंबाई ३० इच तक पाई गई है, किंतु मादा की सींग नर से छोटी होती है। आँख के नीचे ग्रंथिगर्त नही पाया जाता। झुंड में १०० भेड़ें रहती हैं। इनकी सगम ऋतु ग्रीष्म है। यह ऊरियल की तरह पालतू भेडो से जोडा नहीं बाँधती।

पालतू भेडों का उद्भव ऊरियल और मूफलॉन (mouflon) जाति के भेडों से हुआ है। इसके वंशज अपने पूर्वजों के सदृश हैं। जंगली भेड़ें ऊन (fleece), दूध और खाल के लिये पाली गई और

बोझ ढोने के लिये भी इनका उपयोग किया गया। प्रजनन के द्वारा इनके कड़े बाल कोमल बालों में परिवर्तित किए गए। अंतिम दो सौ वर्षों में प्रजनकों ने मास के लिये भेड़ों का विकास किया है। भेड़ों को ऊन की विशेषता के आधार पर चार वर्गों में विभक्त किया गया है: लंबे ऊन (long wool) वाली, मध्यम ऊन (medium wool) वाली, कोमल ऊन (fine wool) वाली तथा मोटे ऊन (carpet wool) वाली।

लंबे ऊन वाली भेड़ें — ऑस्ट्रेलिया, अर्जेंटिना एवं संयुक्त राज्य, अमरीका, के पश्चिमी भाग में ऐसे ऊनवाली भेड़ों का बाहुल्य है। लंबे ऊनवाली भेड़ों की नस्लें मुख्यतः इंग्लैंड में पाई जाती हैं। ये हैं: लिंकन (Lincoln), लीसेस्टर (Leicester) तथा कॉट्स्वोल्ड (Cotswold)।

मध्यम ऊनवाली भेड़ें — इस प्रकार की भेड़ें मुख्यतः मास के लिये पाली जाती हैं, किंतु ऊन भी इनसे मिलता है। इस प्रकार के ऊनवाली भेड़ों की मुख्य नस्लें हैं: हैंपशिर डाउन (Hampshire down), श्रॉपशिर (Shropshire), साउथडाउन (Southdonw) तथा सफक (Suffolk)।

कोमल ऊनवाली भेड़ें — स्पेन की मेरिनो (Merino) भेड़ कोमल ऊनवाली भेड़ है। कोमल ऊनवाली भेड़ों का जन्म इसी भेड़ से हुआ है। संयुक्त राज्य, अमरीका, की मेरिनो भेड़ संसार में सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है। इस भेड़ का मुँह और पैर सफेद होता है। यह पादांगुलि तक घने कोमल ऊन से ढँकी रहती है। इस नस्ल के भेड़े को सींग होती है। मेरिनो भेड़ के स्कंध और गर्दन पर त्वचा के वलय रहते हैं। इस नस्ल की कुछ प्रजातियों में शरीर पर भी वलय रहते हैं।

संसार में सबसे अधिक भेड़ें ऑस्ट्रेलिया में पाली जाती हैं। ऑस्ट्रेलिया में भेड़ों की संख्या वहाँ की जनसंख्या की ३० गुनी है। भेड़ पालनेवाले राष्ट्रों में भारत का स्थान चौथा है।

मास और ऊन के अतिरिक्त भेड़ से लोमयुक्त चमड़ा मुख्य उपजात के रूप में प्राप्त होता है। भेड़ का लोमविहीन शोधित चमड़ा सोफासाजी, जिल्दसाजी, दस्ताना, पोशाक तथा जूते का ऊपरी भाग बनाने के काम आता है। धड़ के अतिरिक्त भेड़ का यकृत, हृदय, वृक्क तथा कुछ अन्य भाग मनुष्य खाद्य के रूप में काम में आता है। भेड़ की कुछ ग्रंथियाँ ओषधि बनाने में प्रयुक्त होती हैं। शल्यकर्म तथा वाद्य यंत्र में प्रयुक्त होनेवाली तांत (catgut) भेड़ की क्षुद्र आंत्र से तैयार की जाती है। भेड़ के ऊन से प्राप्त होनेवाली ऊर्णावसा (lanolin) मरहम तथा शृंगार सामग्री बनाने में प्रयुक्त होती है। भेड़ की वसा tallow) खाद्य और अखाद्य दोनों रूप में प्रयुक्त होती है।

सं० ग्रं० — फिन, फ्रैंक . स्टर्नडेल्स मैमेलिया ऑव इंडिया, थैकर स्पिक ऐंड कं०, बंबई। [अ० ना० मे०]

भैंसा (Buffalo) अंगुलेटा (Ungulata) गण या खुरदार जानवरों के बोविडी (Bovidae) कुल का प्रसिद्ध जीव है। इसकी सींग बड़ी, जड़ के पास चौड़ी, चपटी और पीछे की ओर गोलाई में घूमी रहती हैं। ये भारत और मलाया में प्रागैतिहासिक काल में ही जंगली जातियों से पालतू कर लिए गए। लेकिन अभी इनकी कई जंगली जातियाँ, अफ्रीका और एशिया के जंगलों में पाई जाती हैं। रंग रूप में पालतू जातियों से मिलते जुलते रहने पर भी जंगली जातियाँ पालतू पशुओं से जोड़ा नहीं बाँधती।

भारत और मलाया के पश्चात्, पालतू भैंसे मिस्र, इटली, गैस्कोनी, ऑस्ट्रेलिया और हंगरी आदि में भी काफी संख्या में फैल गए हैं, जहाँ उनसे, खेती और बोझा ढोने का काम लिया जाता है। मादा दूध के लिये पाली जाती है।

हमारे देश के भैंसे कद में बैलों से बड़े होते हैं, लेकिन ये उनके समान आज्ञाकारी और बुद्धिमान नहीं होते। ये खेती, ढुलाई और गाड़ी खींचने का काम करते हैं। मादा गाय से अधिक दूध देती हैं, जो गाढ़ा और पौष्टिक होता है।

ये ४ से ४½ फुट तक ऊँचे जानवर हैं, जिनके शरीर का रंग कलछौंह, या गाढ़ा सिलेटी, रहता है। इनकी सींग स्थायी रहती है। ये ठोस हड्डी की होती हैं, जिनके ऊपर कड़ी खोल की परत चढ़ी रहती है। ये टेढ़ी, जड़ के पास चौड़ी और पीछे की ओर घूमी रहती हैं। भैंसों को कीचड़ में पड़े रहना बहुत पसंद है और जंगली एवं पालतू जातियाँ अपना काफी समय दलदलों में ही बिताती हैं।

अफ्रीका के जंगली भैंसों की दो निम्नलिखित मुख्य जातियाँ पाई जाती हैं:

१. केप भैंसा (Cape buffalo) — इसका प्राणिविज्ञानीय नाम सिनसेरस कैफर (Syncerus caffer) है। यह सहारा के दक्षिणी भाग के जंगलों का निवासी है। इसका सिर छोटा होता है। कान कटावदार और रीढ़ पर के बाल पीछे की ओर मुड़े रहते हैं।

केप भैंसे काले रंग के, पाँच फुट ऊँचे जानवर हैं, जिनकी सींग जड़ के पास काफी चौड़ी रहती हैं और जो पहले नीचे की ओर झुककर पीछे जाते जाते, ऊपर की ओर मुड़ जाती हैं। ये खुले पहाड़ी और झाड़ी से भरे हुए जंगलों में पानी और कीचड़ के आस पास ही रहना पसंद करते हैं।

इस जाति के भैंसे बहुत कद्दावर होते हैं और इन्हें सिंह और बाघ तक आसानी से नहीं मार पाते। इनका शिकार बहुत खतरनाक होता है, क्योंकि घायल हो जाने पर ये बहुत ही भयंकर हमला करते हैं।

२. बौना भैंसा या ड्वार्फ बफैलो (Dwarf buffalo) — यह अफ्रीका के कांगो के जंगलों का निवासी है, जो ऊँचाई में ३ से ३½ फुट तक पहुँच जाता है। ये खैरे रंग के होते हैं, नर पुराने हो जाने पर काले हो जाते हैं। इनकी सींग छोटी और कम घुमावदार होती हैं।

एशिया के जंगली भैंसों की तीन मुख्य जातियाँ पाई जाती हैं:

१. भारत का अरना (Arna) भैंसा (Anoa bubalis) — यह कद में काफी ऊँचा होकर भी शक्ल सूरत में हमारे यहाँ के पालतू भैंसे जैसा ही होता है। यह काले या गाढ़े सिलेटी रंग का जानवर है, जिसकी टाँगें घुटनों तक गंदे सफेद रंग की रहती हैं। इसका तीन, साढ़े तीन फुट लंबा सींग, चौड़ा, तिकोना और पीछे की ओर अर्धचंद्राकार घूमा रहता है। सिर बड़ा होता है और काव

छोटे तथा बिना कटाव के होते हैं। रीढ पर के बालों की पंक्ति आगे की ओर मुड़ी रहती है। ये प्राय तराई के जगलों में ऊँची घास और नरकुलों के बीच दलदलों के आस पास रहना अधिक पसद करते हैं।

अरने झुँड मे रहनेवाले जानवर है, जो बहुत निडर और साहसी होते हैं। इनके गरोह पर शेर जैसे खूखार और पराक्रमी जीव को भी हमला करने की हिम्मत नही पड़ती। ये वैसे तो सीधे सादे जाव हैं, लेकिन घायल हो जाने पर ये बहुत भयकर हो जाते हैं और हाथियो तक पर हमला कर बैठते है। इनका शिकार खतरे से खाली नही रहता।

इन्ही जगली भैसों को पालतू करके हमारे देश की पालतू जाति बनी है। इनकी मादा १० महीने पर बच्चा देती है।

२. फिलीपाइन का टमराऊ (tamrao) भैंसा (Anoa mindorensis) — यह कद मे अरना से छोटा, करीब ३½ फुट ऊँचा होता है। इसका सीग छोटा और ऊपर की ओर उठा रहता है। यह सीधा जीव है, जो अरना या केप भैसे की तरह खूँखार नही होता।

३. सेलेबीज (Celebes) का छोटा भैंसा (Anoa depressicornis) — यह कद मे तीन फुट से कुछ ही अधिक ऊँचा होता है। इसका सीग पतला, नुकीला, ऊपर की ओर उठा हुआ और भैसों के सीगों की अपेक्षा हरिणों के सीगों के अधिक अनुरूप होता है। इसके शरीर की बनावट भी भारी भरकम न होकर हलकी होती है। [मु० सिं०]

भोगवाद (Hedonism) या सुखवाद वह नैतिक सिद्धात या मत है जिसके अनुसार सुखभोग तथा सुखो को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ माना जाता है। अंग्रेजी शब्द हेडानिज्म का निर्माण यूनानी भाषा के हेडोन (Hedone) शब्द से हुआ है जिसका अर्थ सुख होता है। भोगवादी निषेधात्मक अन्य वस्तुओं के मूल्य को मानने से इन्कार नही करते। वे यह नहीं कहते कि ससार मे सुखानुभूति के अतिरिक्त और कोई मूल्यवान् पदार्थ है ही नही। सत्ता, सपत्ति, सौदर्य एव ज्ञानादि का मूल्य उन्हे स्वीकार्य है, परतु वह है केवल साधन रूप से, साध्य रूप से नही। उनकी राय में यथार्थ साध्य तो एकमात्र सुख ही है। उसका मूल्य उसका ही आतरिक स्वरूप या गुण है। वह किसी अन्य वस्तु या मूल्य का साधन नही होता, जबकि दूसरी सभी वस्तुओं के मूल्य उनके सुख के साधन होने पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार, भोगवादी कर्मों के मूल्याकन का मापदड भी सुख को मानते है। उनके अनुसार जो आचरण या कर्म सुख की उत्पत्ति या वृद्धि करते हैं, अथवा दुःखो को दूर करने मे सहायक होते हैं, वे शुभ और जिनका परिणाम विपरीत निकलता है वे अशुभ होते है। वे अतर्बोधवादियो की मान्यता के विरुद्ध, शुभता अशुभता को कर्मो का गुण या स्वरूप नही मानते। अत यदि किसी को कर्मो की शुभता अशुभता की तुलना करनी हो तो इस सिद्धात के अनुसार, उसे उनके परिणाम रूप सुख दुःख की मात्रा की ही तुलना करनी चाहिए।

अधिकतर भोगवादियो के अनुसार, जिनमे प्रख्यात भोगवादी बेंथम (१७४८–१८४२) और मिल (१८०६–७३) भी संमिलित हैं, अन्य प्राणियो की तरह मनुष्य भी एक भोगविलासप्रिय प्राणी है। वह स्वभाव से ही सुख चाहता है और उसकी खोज करता है। उसके सारे कार्य सुखप्राप्ति अथवा दुःखनिवृत्ति के लिये होते हैं। बेंथम ने कहा था कि 'प्रकृति ने मानव जाति को सुख और दुःख – दो पूर्ण शक्तिशाली स्वामियो के शासन मे रखा है। केवल वे ही यह बतलाते हैं कि हमको क्या करना चाहिए और हम क्या करेंगे'। जे० एस० मिल के अनुसार 'किसी वस्तु को चाहना और उसे सुखप्रद पाना, उसके प्रति द्वेष होना और उसे दुःखदायक समझना नितात अवियोज्य घटनाएँ अथवा एक ही घटना के दो भाग हैं। किसी वस्तु को वाछनीय समझना और उसे सुखकारक समझना एक ही बात है।' तात्पर्य यह है कि बेंथम एव मिल दोनो ही यह मानते थे कि मानव सदैव सुख चाहता है, अथवा यो कहिए कि वस्तुत. एकमात्र सुख ही सदैव हमारी इच्छा का विषय होता है। और इस प्रकार की मान्यता को मनोवैज्ञानिक भोगवाद कहते हैं (तुलना कीजिए 'दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्' –महाभारत, शांति पर्व, १३९,६१) क्योंकि इसका सबध मानव मन या व्यवहार विषयक भावात्मक तथ्यो से है जिनका अध्ययन मनोविज्ञान मे किया जाता है। तथ्य तथा आदर्श के भेद की दृष्टि से भोगवाद के दो प्रकार बतलाए जाते हैं–(१) मनोवैज्ञानिक और (२) नैतिक। मनोवैज्ञानिक भोगवाद सुखेच्छा को एक मानसिक तथ्य के रूप मे घोषित करता है, जबकि नैतिक भोगवाद के अनुसार एकमात्र सुख ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य या परम आदर्श होना चाहिए। नैतिक भोगवाद को इच्छा अनिच्छा सबधी तथ्यों का नही किंतु उनके औचित्य एव अनौचित्य का ही प्रतिपादन करना अभीष्ट है, और उसके अनुसार ससार मे केवल सुखभोग की ही इच्छा करना मानव का परम लक्ष्य है, क्योंकि एकमात्र सुख ही स्वत वाछनीय वस्तु है। अत नैतिक और मनोवैज्ञानिक भोगवादो मे पारस्परिक असगति प्रतीत होती है। यदि मनोवैज्ञानिक भोगवाद सही है (प्रत्येक व्यक्ति सदैव स्वभाव से ही सुख की चाह एवं खोज करता है) तो नैतिक भोगवाद (हमे सुख की ही खोज करनी चाहिए) निरर्थक हो जाता है, और यदि नैतिक भोगवाद सार्थक है, तो मनोवैज्ञानिक भोगवाद सही नहीं हो सकता। फिर भी बेंथम और मिल दोनो ने ही इन दोनो प्रकार के भोगवादो का प्रतिपादन किया है, और उनकी यह बात आलपर्योग्य समझी जाती है।

नैतिक भोगवाद दो प्रकार का माना जाता है– (१) स्वपरक (egoistic) और (२) परपरक या सर्वपरक (altruistic), और इनमे से प्रत्येक के (क) स्थूल एव (ख) परिष्कृत नामक दो दो अवातर भेद होते हैं। इस प्रकार नैतिक भोगवाद के ही स्थूल स्वपरक, परिष्कृत स्वपरक, स्थूल परपरक और परिष्कृत परपरक नाम के चार भेद हो जाते है। (१) स्थूल स्वपरक भोगवाद सुखों मे गुण का नही, केवल मात्रा का, भेद मानता हुआ मानव के निजी सुख की प्राप्ति का प्रतिपादन करता है। उसे बौद्धिक या आध्यात्मिक सुख मान्य नहीं। वह तो केवल शारीरिक अथवा इंद्रियजन्य वर्तमानकालीन सुखो को ही पूर्ण महत्व देता है और भविष्यकाल के सुखो को, उन्हे अनिश्चित बताकर, उपेक्षा करता है। इसके अनुसार 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' ही प्रत्येक मनुष्य का परम आदर्श होना चाहिए। यह सिद्धात यूनान देश के सिरेनाइक सप्रदाय

तथा उसके संस्थापक ऐरिस्टीपस एवं भारतवर्ष के चार्वाक तथा उसके अनुयायियों के साथ विशेषतया संबद्ध है। चार्वाक का कहना था कि मनुष्य जब तक जीवित रहे उसे सुखपूर्वक जीवित रहना चाहिए और (यदि उसके पास न हो तो) उधार लेकर भी घी पीना चाहिए (यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्)।

(२) परिष्कृत स्वपरक भोगवाद — इसके प्रख्यात एवं प्राचीन पाश्चात्य प्रतिपादक यूनान के ही एक दूसरे महाशय थे, जिनका नाम ऐपीक्युरस (Epicurus) था। उन्होंने मानव जीवन का चरम लक्ष्य, वर्तमान काल के क्षणिक सुखों को न मानकर, सुखी जीवन या आनंद (Happiness) माना है। वे, ऐरिस्टीपस की तरह, विचार या बुद्धि की उपेक्षा नही करते, किंतु उसे मानव जीवन को सही अर्थ मे सुखी बनाने के लिये, आवश्यक समझते है। यही नही, उन्हे बौद्धिक सुख भी स्वीकृत है, जिनको उन्होंने शारीरिक सुखों से अधिक महत्वपूर्ण माना है, यद्यपि उन्होंने भी सुखों मे सुस्पष्ट रूप से गुणभेदों का प्रतिपादन नहीं किया। इनके संबंध में एक विशेषतया स्मरणीय बात यह है कि इन्होने सुख दुःख दोनों के प्रति मन मे उदासीनता रखने पर बहुत बल दिया है। इन्हें सुख की भावात्मक अवस्था नही, किंतु आत्मा या चित्त की शांति अधिक अभीष्ट थी। भारत मे भी शिष्ट चार्वाक कहलानेवाले कुछ ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिनकी गणना इसी प्रकार के भोगवादियों मे की जा सकती है। उन्होंने भी न केवल वर्तमानकालीन शारीरिक सुखों को किंतु बौद्धिक एव भविष्य के सुखो को भी मान्यता प्रदान की है। और उनमे कामसूत्रकार श्री वात्स्यायन को एक उच्च स्थान दिया जा सकता है। यद्यपि उन्होने काम या सुखभोग को ही परम पुरुषार्थ माना है और अर्थ तथा धर्म को उसके साधन, फिर भी वह विचार, आत्मसयम एव नागरिक जीवन के महत्वपूर्ण मूल्य को मानते थे, और स्वप्रतिपादित ६४ ललित कलाओ के अभ्यास को सुखी जीवन के लिये आवश्यक समझते थे।

(३) स्थूल परपरक भोगवाद — परपरक भोगवाद व्यक्तिगत सुखभोग का नहीं, किंतु सर्वसामान्य या सार्वभौम सुख का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार मनुष्य का आदर्श मानव जाति का, अथवा अधिकाधिक मनुष्यो का, अधिक से अधिक सुख है, व्यक्ति का अपना ही अधिकतम सुख नहीं। इसे उपयोगितावाद भी कहते हैं, क्योकि यह कर्मों का नैतिक मूल्यांकन करने मे उनकी उपयोगिता की परीक्षा करता है, और कर्मोपयोगिता का अर्थ, इसके अनुसार होता है उनके द्वारा होनेवाली सामान्य सुख की उत्पत्ति या वृद्धि, अथवा दुःख की रोकथाम या कमी। अब, जो परपरक भोगवाद सुखो मे गुणभेद नही बतलाता, उसी को स्थूल परपरक भोगवाद कहा जाता है। बेंथम स्थूल परपरक भोगवाद के प्रतिपादक माने जाते हैं, क्योकि वह सुखो मे गुणभेद स्वीकार न करते हुए उनके *परिमाण* को ही, जिसके उन्होने तीव्रता, अवधि, समीपता, शुद्धता, निश्चितता, फलयुक्तता एव विस्तृति नामक सात आयाम (dimensions) स्वीकार किए हैं, उनके मूल्यांकन का मापदंड मानते हैं। ['शुद्धता' से उनका अभिप्राय दुःखराहित्य या दुःखों से अमिश्रण होने का तारतम्य है, गुणों के आधार पर सुखों के प्रकार मानना नहीं।] यद्यपि बेंथम ने मनुष्य को स्वभावत: स्वसुखपरायण माना है, फिर भी वह सुखों का मूल्यांकन करने मे उनके विस्तार (अर्थात् सुख प्राप्त करनेवाले मनुष्यों की संख्या) को ध्यान में रखने के कारण परपरक भोगवादियों में परिगणित किए जाते हैं। उन्होने परपरक भोगवाद की व्याख्या भौतिक (या प्राकृत), सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक या ईश्वरीय नामक चार प्रकार के बाहरी नैतिक नियोगो (moral sanctions) द्वारा करने का प्रयास किया है। उसे युक्तियों द्वारा पुष्ट एवं प्रमाणित नहीं किया। उनकी प्रसिद्ध नैतिक रचना का नाम 'नीति एव विधान के सिद्धात की भूमिका' (An Introduction to the Principles of Morals and Legislation) है।

(४) परिष्कृत परपरक भोगवाद—जिस परपरक भोगवाद के अनुसार सुखो मे गुण का भेद माना जाता है उसे परिष्कृत परपरक कहते हैं। इसके प्रसिद्ध प्रतिपादक 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) नामक प्रख्यात पुस्तक के प्रणेता श्री जे० एस० मिल (१८०६–१८७३) हैं। सुखो मे गुणभेद मानना भोगवाद के लिये उनकी एक विशेष देन समझी जाती है, क्योंकि उनके पूर्व किसी और पाश्चात्य भोगवादी ने उसे स्पष्टतया स्वीकार नही किया था (दे० श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १८, श्लोक ३६–३९)। इस भेद की विवेचना उन्होने आत्मगौरव की भावना द्वारा की है। उनका कहना है कि 'एक संतुष्ट शूकर की अपेक्षा असंतुष्ट मानव होना तथा संतुष्ट मूर्ख (मानव) की अपेक्षा एक सुकरात होना अधिक श्रेष्ठ है।' उनके अनुसार किन्ही भी दो सुखो मे से उस सुख को उच्च कोटि का सुख समझना चाहिए जिसे वे व्यक्ति अधिक अच्छा समझते हैं जिन्हे उन दोनो का अनुभव है। भोगवाद को मिल की दूसरी विशेष देन है बेंथम द्वारा स्वीकृत बाह्य नियोगों के अतिरिक्त नैतिकता के आतरिक नियोग की स्वीकृति। वह उसे अंत:करण का नियोग (sanction of conscience) कहते हैं। यह नियोग मानव जाति के प्रति व्यक्ति का सहृदय होना अथवा दूसरों के दुःख या मनुष्य वर्ग के सामाजिक भावों का उसके द्वारा आदर किया जाना है। उनके अनुसार मनुष्य को स्वकर्तव्य पालन मे आतरिक सुख का तथा उससे च्युत होने मे पश्चात्तापरूप दुःख का अनुभव हुआ करता है। अत वह इस प्रकार के सुख को प्राप्त करने और दुःख से मुक्त रहने के लिये प्राय. निस्स्वार्थ स्वभावगत कर्तव्यभावना से ही अन्य मनुष्यो के सुखोत्पादक तथा दुःखनिवारक कर्म किया करता है। मिल ने परपरक भोगवाद के समर्थन मे जो युक्ति दी है वह इस प्रकार है—'प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिये शुभ है, अत. सामान्य सुख व्यक्तिसमूह के लिये, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिये शुभ है।' परंतु उनकी इस युक्ति मे सग्रह एव विग्रह नामक तार्किक दोष विद्यमान हैं। इसी प्रकार उनकी, मनोवैज्ञानिक भोगवाद के आधार पर, नैतिक भोगवाद के समर्थन मे दी हुई युक्ति भी तार्किक दोष से युक्त समझी जाती है। वह इस प्रकार है—जैसे वह वस्तु जिसे मनुष्य सचमुच देखते हैं (अंगरेजी मे) 'विज़िबिल' visible) तथा वह बात जिसे वे सचमुच सुनते हे ऑडिबिल (audible) कहलाती है वैसे ही वह, जिसकी वे वस्तुत. डिज़ायर (इच्छा) करते हैं डिज़ाइरेबिल (desirable) है। इसलिये सुख वाछनीय है क्योंकि मनुष्य सचमुच ही उसकी इच्छा करते है। परंतु यह कहना ठीक नही, क्योंकि वस्तुत वांछित और वाछनीय बातें एक नही कही जा सकती।

परपरक परिष्कृत भोगवाद या इससे मिलते जुलते परोपकारवाद का बिखरा हुआ प्रतिपादन भारतवर्ष के वेद, स्मृति, पुराण

एवं इतिहासादि अनेक ग्रंथों में मिलता है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण यजुर्वेद के शांतिपाठ का वह मंत्र है जिसमें सभी के सुख, स्वास्थ्य, शुभ एवं दुःखराहित्य की कामना की गई है (सर्वे भवंतु सुखिन: सर्वे संतु निरामया., सर्वे भद्राणि पश्यंतु न हि कश्चिद् दुःखमाग्भवेत्)। और महात्मा बुद्ध ने तो बौद्ध भिक्षुओं को बहुजनसुख, बहुजनहित तथा लोकानुकंपा आदि का उपदेश विशेषरूप से दिया ही था (चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, लोकानुकंपाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं-विनयपिटक, महावग्ग)। अधिक परिचय के लिये देखिए गीता ५, २५; ६.३२, १२.४, महाभारत,वनपर्व २०६.७३, २०८.४, शांतिपर्व २८७.१६; ३२६.१३, मनु० ४.१७६, नीतिशतक ७४, भाग० पु० ३.२९.२२-२६; ११.२.४५,५२, ११.३.२६ आदि।]

हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer १८२०-१९०३) विकासनिष्ठ भोगवाद के सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतिपादक हैं। इन्होंने नैतिकता की व्याख्या में विश्वविषयक विकासवाद नामक सिद्धांत का प्रयोग किया है। इनका मुख्य ग्रंथ, जो दस भागों में है, दर्शन निकाय (The System of Philosophy) है। इन्होंने मानव का चरम लक्ष्य तो सुख या आनंद ही माना है; परंतु वह उसके समीप का लक्ष्य उसके जीवन की लंबाई चौड़ाई को मानते हैं। जीवन की चौड़ाई से उनका अभिप्राय उसकी जटिलता एवं समृद्धि से है। उनके विचार में सुख जीवन की वृद्धि का तथा दुःख उसके ह्रास का चिह्न है। नैतिकता की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसके विकास का प्रारंभ पाशविक आचरण में प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार 'जीवन का सार आंतरिक संबंधों का बाह्य संबंधों के साथ निरंतर एकीकरण, अर्थात् शरीर को वातावरण के अनुकूल बनाने का अनवरत अध्यवसाय,' है। उन्होंने इस एकीकरण में सहायक आचरण को शुभ तथा बाधक आचरण को अशुभ बतलाया है, और कहा है कि 'शुभ आचरण सुखोत्पादक तथा अशुभ आचरण दुःखजनक होता है, क्योंकि शुभ आचरण शरीर और उसके वातावरण में सामंजस्य स्थापित करता है, जब कि अशुभ असामंजस्य। मानव का वर्तमानकालीन आचरण पूर्ण रूप से शुभ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह केवल सुख ही नहीं किंतु दुःख भी उत्पन्न करता है। परंतु स्पेंसर की मान्यतानुसार, एक समय आएगा जब मनुष्य और समाज में पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाने से मनुष्य नैतिक कर्तव्यता की भावना से ऊपर उठकर स्वभावत: सदाचारी हो जाएगा और नैतिकता निरपेक्ष बन जायगी। समाज को एक जीवित शरीर के रूप में देखना एवं शरीर रूप समाज के स्वास्थ्य को मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानना श्री लेस्ली स्टीफन के, तथा नैतिक क्षेत्र में प्राकृतिक चुनाव के सिद्धांत का प्रयोग करना और सामाजिक व्यवस्था के संतुलन को मानवजीवन का सर्वश्रेष्ठ शुभ स्वीकार करना श्री ऐलेग्जेंडर के विकासवादी भोगवाद की मुख्य मुख्य विशेष बातें हैं।

'नीतिशास्त्र की पद्धतियाँ' (Methods of Ethics) नामक पुस्तक के लेखक श्री हेनरी सिजविक (Henry Sidgwick १८३८-१९००) युक्तियुक्त उपयोगितावाद या भोगवाद के प्रतिपादक हैं। वह भी, अन्य भोगवादियों की तरह, केवल सुख या आनंद को ही आंतरिक या स्वत: मूल्य, तथा ज्ञान, सौंदर्य आदि को उसके साधन, मानते हैं। उनके अनुसार नैतिक मूल्यांकन का अंतिम मापदंड आनंदमयी वांछनीय चेतना की उत्पत्ति है। वह मनोवैज्ञानिक के नहीं किंतु नैतिक भोगवाद के समर्थक हैं। उन्होंने सुख की परम श्रेष्ठता को अंतर्विवेक या विचारबुद्धि के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि 'जब हम शांत होकर बैठते हैं तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सुख के अतिरिक्त ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसका प्राप्त करना विचारसंगत हो, अर्थात् जो स्वत: वांछनीय हो। उन्होंने आनंद या उच्चतम शुभ के वितरण के बुद्धिमत्ता (prudence), उदारता या परोपकारिता (benevolence) और न्याय (justice) नाम के तीन नियम बतलाए हैं, तथा उनके ज्ञान का प्रदाता अंतरात्मा को माना है। बुद्धिमत्ता को वह विचारयुक्त आत्मप्रेम भी कहते हैं और उसे व्यक्ति के निजी जीवन में, पक्षपात रहित ढंग से, सुख वितरण का साधन मानते हैं। उसमें हमें अपने संपूर्ण जीवन के सुख को ध्यान में रखने की प्रेरणा मिलती है। उदारता हमें अपने और पराए सुख में भेद करने से रोकती है और प्रत्येक चेतन प्राणी को समान दृष्टि से देखने के लिये प्रेरित करती है, जिससे हम अन्य व्यक्तियों के शुभ को अपने ही शुभ के सदृश समझने की नैतिक कर्तव्यता का अनुभव करते हैं। न्याय के नियम को सिजविक इन दोनों नियमों का पूरक मानते हैं। यह हमें, अधिकतम सार्वजनिक सुख की दृष्टि से, अधिक योग्य व्यक्तियों के अधिकतर सुख को स्वीकार करने के लिये प्रेरित करता है और इस प्रकार नैतिक क्षेत्र में असमानता का भी स्थान मानता है। बुद्धिमत्ता तथा उदारता के नियमों की पारस्परिक असंगतता स्वयं सिजविक ने भी स्वीकार की है, परंतु वह उसे दूर करने में समर्थ नहीं हो सके हैं। [रा० सि० नौ०]

भोज १ एक यादव कुल तथा नरेश, जिन्होंने स्वप्न देखा था कि उन्होंने अपने शत्रुओं का उच्छिष्ट खाया है तथा उनके शत्रुओं ने उन्हें राज्य तथा स्त्रियों से वंचित कर दिया है। उन्होंने इससे अत्यंत प्रभावित होकर गृहत्याग किया और उसी दिन से परमात्मा के ध्यान में मग्न होकर अंत में ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया (भाग पु० १०-३६.३३; वही ११.३०-१६)।

२ मालवा का परमार वंशी राजा, दे० 'परमार भोज' तथा 'भोज प्रबंध'।

वैदिक उपाधि विशेष (ऐ० ब्रा०, ८।१२) जो दाता के अर्थ में प्रयुक्त है (ऋ० १०।१०७-९)। इसी प्रकार यह एक राजा के वंशजों का सामूहिक नाम है (ब्रह्म० १५।४५)। अनेक पौराणिक व्यक्तियों का भोज नाम से उल्लेख है। [च० भा०० पा०]

भोजपुरी भाषा भारत की आर्यभाषाओं में भोजपुरी हिंदी की एक प्रमुख बोली है। डॉ० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं को अंतरंग और बहिरंग इन दो श्रेणियों में विभक्त किया है जिसमें बहिरंग के अंतर्गत उन्होंने तीन प्रधान शाखाएँ स्वीकार की हैं—(१) उत्तर पश्चिमी शाखा (२) दक्षिणी शाखा और (३) पूर्वी शाखा। इस अंतिम शाखा के अंतर्गत उड़िया, असमी, बँगला और बिहारी भाषाओं की गणना की जाती है। बिहारी भाषाओं में मैथिली, मगही और भोजपुरी—ये तीन बोलियाँ मानी जाती हैं। क्षेत्रविस्तार और भाषाभाषियों की संख्या के आधार पर भोजपुरी अपनी बहनों—मैथिली और मगही में सबसे बड़ी है।

नामकरण—भोजपुरी भाषा का नामकरण बिहार राज्य के आरा

(शाहाबाद) जिले में स्थित भोजपुर नामक गाँव के नाम पर हुआ है। आरा जिले के बक्सर सब-डिविजन में भोजपुर नाम का एक बडा परगना है जिसमें 'नवका भोजपुर' और 'पुरनका भोजपुर' दो छोटे छोटे गाँव हैं। प्राचीन काल में इस स्थान को भोजवंशी राजाओं की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। इसी कारण इसके पास बोली जाने वाली भाषा का नाम 'भोजपुरी' पड गया।

क्षेत्रविस्तार — भोजपुरी भाषा प्रधानतया उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों और बिहार राज्य के पश्चिमी जिलो मे बोली जाती है। उत्तर प्रदेश के वाराणसी, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, बस्ती जिलों के निवासियों और बिहार राज्य के शाहाबाद, सारन, चंपारन जिलों मे रहनेवाली जनता की मातृभाषा भोजपुरी है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता नगर मे, बंगाल के 'चटकलों' मे, असम राज्य के चाय बगानों मे और बंबई के अंधेरी और जोगेश्वरी नामक स्थानों मे लाखों की संख्या मे, भोजपुरी लोग निवास करते हैं। इतना ही नही, मारिशस, फिजी, ट्रिनीडाड, केनिया, नैरोबी, ब्रिटिश गाइना, दक्षिण अफ्रीका, बर्मा (टागू जिला) आदि देशो में काफी बडी संख्या मे भोजपुरी लोग पाए जाते हैं।

भाषाभाषियो की संख्या — सन् १९५१ ई० की जनमतगणना के अनुसार भोजपुरी भाषा बोलनेवालो की संख्या २,८७,४३,६२९ अर्थात् लगभग तीन करोड थी। इसके पश्चात् गत १६ वर्षों (सन् १९६७ ई०) मे यह संख्या लगभग चार करोड़ हो गई होगी। ससार के विभिन्न देशो मे निवास करनेवाले भोजपुरी लोगो की सख्या मिला देने से वर्तमान समय मे भोजपुरी भाषाभाषियों की सख्या पाँच करोड़ के आसपास मानी जा सकती है।

भोजपुरी भाषा की प्रधान बोलियाँ — (१) आदर्श भोजपुरी, (२) पश्चिमी भोजपुरी और अन्य दो उपबोलियाँ (सब डाइलेक्ट्स) 'मधेसी' तथा 'थारू' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आदर्श भोजपुरी — जिसे डॉ० ग्रियर्सन ने स्टैंडर्ड भोजपुरी कहा है—प्रधानतया बिहार राज्य के आरा जिला और उत्तरप्रदेश के बलिया, गाजीपुर जिले के पूर्वी भाग और घाघरा (सरयू) एव गंडक के दोआब में बोली जाती है। यह एक लबे भूभाग मे फैली हुई है। इसमे अनेक स्थानीय विशेषताएं पाई जाती है। जहाँ शाहाबाद, बलिया और गाजीपुर आदि दक्षिणी जिलों मे 'ड़' का प्रयोग किया जाता है वहाँ उत्तरी जिलों में 'ट' का प्रयोग होता है। इस प्रकार उत्तरी आदर्श भोजपुरी मे जहाँ 'बाटे' का प्रयोग किया जाता है वहाँ दक्षिणी आदर्श भोजपुरी में 'बाड़े' प्रयुक्त होता है। गोरखपुर की भोजपुरी मे 'मोहन घर में बाटे' कहते हैं परंतु बलिया में 'मोहन घर मे बाड़े' बोला जाता है।

पूर्वी गोरखपुर की भाषा को गोरखपुरी कहा जाता है परंतु पश्चिमी गोरखपुर और बस्ती जिले की भाषा को 'सरवरिया' नाम दिया गया है। 'सरवरिया' शब्द 'सरुआर' से निकला हुआ है जो 'सरयूपार' का अपभ्रंश रूप है। 'सरवरिया' और गोरखपुरी के शब्दों—विशेषत: संज्ञा शब्दो—के प्रयोग में भिन्नता पाई जाती है।

बलिया (उत्तर प्रदेश) और सारन (बिहार) इन दोनो जिलों में आदर्श भोजपुरी बोली जाती है। परंतु कुछ शब्दो के उच्चारण मे थोडा अंतर है। सारन के लोग 'ड' का उच्चारण 'र' करते हैं। जहाँ बलिया निवासी 'घोडागाड़ी आवत बा' कहता है, वहाँ छपरा या सारन का निवासी 'घोरा गारी आवत बा' बोलता है। आदर्श भोजपुरी का नितांत निखरा रूप बलिया और आरा जिले मे बोला जाता है।

पश्चिमी भोजपुरी — जौनपुर, आजमगढ, बनारस, गाजीपुर के पश्चिमी भाग और मिर्जापुर मे बोली जाती है। आदर्श भोजपुरी और पश्चिमी भोजपुरी मे बहुत अधिक अंतर है। पश्चिमी भोजपुरी के करण कारक के लिये क्रिया के आगे 'अन' प्रत्यय का प्रयोग होता है जो आदर्श भोजपुरी मे नही है। पश्चिमी भोजपुरी मे आदर सूचक के लिये 'तुँह' का प्रयोग दीख पड़ता है परतु आदर्श भोजपुरी मे इसके लिये 'रउरा' प्रयुक्त होता है। संप्रदान कारक का परसर्ग (प्रत्यय) इन दोनों बोलियों मे भिन्न भिन्न पाया जाता है। आदर्श भोजपुरी मे संप्रदान कारक का प्रत्यय 'लागि' है परंतु वाराणसी की पश्चिमी भोजपुरी मे इसके लिये 'बदे' या 'वास्ते' का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ :

आदर्श भोजपुरी — 'घिया लागि उडबो, घिया लागि बूडबो घिया लागि खिलबों पाताल।'

पश्चिमी भोजपुरी —

> हम खरमिटाव कइली हा रहिला चबाय के।
> भेंवल धरल बा दूध मे खाजा तोरे बदे॥
> जानीला आजकल मे झनाझन चली रजा।
> लाठी, लोहाँगी, खजर और बिछुआ तोरे बदे॥
> (तेग अली—बदमाश दर्पण)

मधेसी शब्द संस्कृत के 'मध्य प्रदेश' से निकला है जिसका अर्थ है बीच का देश। चूँकि यह बोली तिरहुत की मैथिली बोली और गोरखपुर की भोजपुरी के बीचवाले स्थानों मे बोली जाती है, अत: इसका नाम मधेसी (अर्थात् वह बोली जो इन दोनों के बीच मे बोली जाय) पड़ गया है। यह बोली चंपारन जिले मे बोली जाती और प्राय: 'कैथी' लिपि में लिखी जाती है।

थारू लोग नेपाल की तराई मे रहते हैं। ये बहराइच से चंपारन जिले तक पाए जाते हैं और भोजपुरी बोलते हैं। यह विशेष उल्लेखनीय बात है कि गोंडा और बहराइच जिले के थारू लोग भोजपुरी बोलते हैं जबकि वहाँ की भाषा पूर्वी हिंदी (अवधी) है। हॉगसन ने इस भाषा के ऊपर प्रचुर प्रकाश डाला है।

भोजपुरी बहुत ही सुंदर, सरस, तथा मधुर भाषा है। भोजपुरी भाषाभाषियो की सख्या भारत की समृद्ध भाषाओं—बंगला, गुजराती और मराठी आदि बोलनेवालों से कम नहीं है। इन दृष्टियों से इस भाषा का महत्व बहुत अधिक है और इसका भविष्य उज्वल तथा गौरवशाली प्रतीत होता है।

भोजपुरी भाषा मे निबद्ध साहित्य यद्यपि अभी प्रचुर परिमाण मे नही है तथापि अनेक सरस कवि और अधिकारी लेखक इसके भाडार को भरने मे संलग्न है। भोजपुरिया—भोजपुरी प्रदेश के निवासी—

लोगों को अपनी भाषा से बड़ा प्रेम है। अनेक पत्रपत्रिकाएँ तथा ग्रंथ इसमें प्रकाशित हो रहे हैं तथा भोजपुरी सांस्कृतिक संमेलन, वाराणसी इसके प्रचार में संलग्न है।

सं० ग्रं० — डॉ० जी० ए० ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया, भाग ५, खंड २, पृ० १८६–३८५; डॉ० उदयनारायण तिवारी : 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' (राष्ट्रभाषा परिषद, पटना); प्रो० बलदेव उपाध्याय : 'भोजपुरी लोकगीत, भाग १ भूमिका पृ० १२–१७, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग,); डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० १५–४० (हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी), जॉन बीम्स : जे० आर० ए० एस०, भाग ३, पृ० ४८३–५०८; नोट्स ऑन दि भोजपुरी डाइलेक्ट्स ऑव हिंदी स्पोकेन इन वेस्टर्न बिहार'; जे० आर० रीड ' रिपोर्ट ऑन दि सेटिलमेंट ऑपरेशंस इन दि डिस्ट्रिक्ट ऑव आजमगढ़, परिशिष्ट २ तथा ६, इलाहाबाद, १८८१ ई०; डॉ० ए० एफ० आर० हॉर्नली . ए कंपरेटिव ग्रामर ऑव दि गौडियन लैंग्वेजेज (लंदन, १८८० ई०) [कृ० दे० उ०]

भोजप्रबंध संस्कृत लोकसाहित्य का एक अनुपम ग्रंथ है। इसकी रचना गद्यपद्यात्मक है। इसमे महाराज धारेश्वर भोज की राजसभा के कई सुंदर कथानक हैं। यद्यपि इन कथानकों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पूर्ण रूप से स्वीकृत नही की जा सकती, तथापि यह ग्रंथ ११वीं शताब्दी ईसवी मे वर्तमान जनजीवन पर प्रकाश डालने मे बहुत कुछ समर्थ है। विद्याव्यासंगी स्वयं कविपंडित नरेश के होने पर किस प्रकार राजसभा मे आस्थानपंडितों की मंडली तथा आगंतुक कविगण नित्य काव्यशास्त्र के विनोद द्वारा कालक्षेप करते थे, इसकी झाँकी इस ग्रंथ मे प्रति पद पर मिलती है। दानवीर महाराज भोज किस प्रकार कवियों का समान करते थे, इसका आदर्श इस ग्रंथ में मिलता है।

उस समय संस्कृत न केवल राजभाषा ही थी अपितु उसे जनभाषा का भी गौरव प्राप्त था। भोजनगरी मे ऐसा एक भी गृहस्थ न था जो संस्कृत मे कविता रचने मे असमर्थ हो। उस समय का भारवाहक भी व्याकरण के अशुद्ध प्रयोग पर आपत्ति उठाने मे समर्थ था, कुंभकार तथा रजक, बाल, वृद्ध एवं स्त्रियाँ भी काव्यकला से अनभिज्ञ न थीं। भोजप्रबंध मे प्रबंध की अवतरणिका के अतिरिक्त ८५ रोचक कथाएँ हैं और उन सबमे महाराज भोज से संबंधित किसी न किसी घटना का मनोरम वर्णन है। भोजप्रबंध के पद्य प्रायः सुभाषित हैं, भाषा सरल परंतु काव्यशैली से अनुप्राणित है। काव्यनिर्माण की रीति सर्वत्र वैदर्भी है तथा काव्यबंध प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। गद्य प्रायेण चूर्णक के रूप में हैं, छोटे छोटे वाक्य हैं, व्याकरण के दुरूह प्रयोगों का सर्वथा अभाव है। दीर्घ समास तो क्वचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं। ग्रंथ अलंकार तथा काव्यगत चमत्कार से परिपूर्ण है। इसमे सुंदर उपमाएँ, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टांत आदि अलंकारों के मध्य कहीं कहीं अक्लिष्ट श्लेष का प्रयोग अत्यंत हृदयंगम है। उदाहरणार्थ—किसी समय हेमंतकाल मे महाराज भोज अँगीठी ताप रहे थे, उनके निकट कवि कालिदास विराजमान थे। कौतुकवश राजा ने कवि से अँगीठी (जिसे संस्कृत मे हसंती कहते हैं) का वर्णन करने को कहा। कविवर तुरत ही एक आर्या प्रस्तुत करते हैं

कविमतिरिव बहुलोहा सुघटितचक्रा प्रभातवेलेव।
हरमूर्तिरिव हसंती भाति विधूमानलोपेता।

पक्के लोहे से बनी हुई यह हसंती बहुल ऊहों से सुशोभित कवि की प्रतिभा के समान है; चक्रवाक पक्षी का प्रिया से मिलन करानेवाली प्रभात वेला की भाँति यह सुंदर चक्राकार से मंडित है तथा धूम रहित अग्नि से भरी हुई यह चंद्र, उमा और अग्नि से संयुक्त की भाँति सुशोभित है। यह पद्य श्लिष्ट मालोपमा का रमणीय उदाहरण है तथा कविप्रतिभा का भी उज्वल निदर्शन है। ऐसे अनेक प्रसंगों पर कविगण द्वारा प्रस्तुत सुंदर सुभाषित का भोजप्रबंध एक सुंदर भांडार है।

प्रसिद्ध भोजप्रबंध बल्लाल की कृति है। बल्लाल के संबंध में प्रामाणिक जानकारी नहीं है। इतना ही पता चलता है कि बल्लाल दैवज्ञ अथवा बल्लाल मिश्र नामक एक काशीनिवासी विद्वान् था। उसके पिता का नाम त्रिमल्ल था। भोजप्रबंध के अंतःसाक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि बल्लाल का समय कहीं ई० १६वीं शताब्दी होगा।

भोजप्रबंध के नाम से बल्लाल के अतिरिक्त अन्य कवियों द्वारा प्रणीत कृतियाँ भी हैं। कहा जाता है कि आचार्य मेरुतुंग ने भी एक भोजप्रबंध लिखा था जो आज उपलब्ध नहीं है। इतना अवश्य है कि मेरुतुंग के 'प्रबंध चिंतामणि' में भोज कथाएँ है। इसी तरह कवि पद्मगुप्त, वत्सराज, शुभशील एवं राजवल्लभ द्वारा प्रणीत भोजप्रबंध का उल्लेख ऑफ्रेक्ट ने किया है। परंतु ये कृतियाँ अद्यावधि अप्रकाशित है। बल्लालकृत भोजप्रबंध के दो पाठ उपलब्ध होते हैं--एक गौडीय पाठ जो कलकत्ता से प्रकाशित है तथा अधिक प्रचलित है, दूसरा दाक्षिणात्य पाठ जिसका प्रचार मद्रास प्रांत में है। भोजप्रबंध पर जीवानंद विद्यासागर कृत सुबोध टीका मिलती है। यह मूल ग्रंथ निर्णयसागर प्रेस, बंबई से भी प्रकाशित हुआ है। भोजप्रबंध का कई भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है, अंग्रेजी मे इसका अनुवाद लुई ग्रे द्वारा विरचित अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी (ग्रंथसंख्या ३४) से प्रकाशित हुआ है। कई पाश्चात्य मनीषियों ने भारतीय ऐतिहासिक तत्वों की खोज मे भोजप्रबंध का अध्ययन कर तत्संबंधी अपने विचारों का प्रकाशन अनेक लेखों द्वारा किया है। [सु० ना० शा०]

भोपाल स्थिति : २३° १६' उ० अ० तथा ७७° ३६' पू० दे०। भारत मे मध्य प्रदेश राज्य के सिहोर जिले में, इंदौर से १२५ मील पूर्व स्थित, राज्य की राजधानी एवं प्रमुख नगर है। स्वतंत्रताप्राप्ति के पहले यह एक देशी रियासत थी। इसका वर्तमान भोपाल नाम शायद परमार वंश के राजा भोज के नाम पर ही पड़ा है। पुरातत्व पारखियों का मत है कि भोपाल का प्राचीन नाम भोजपाल रहा है। यहाँ कई प्रसिद्ध ताल हैं जिनमे भोपाल ताल देश के बड़े तालाबों में से एक है, जिसकी लंबाई लगभग सात मील है। श्यामला पहाड़ी तथा ईदगाह पहाड़ी के मध्य निर्मित इस ताल की शोभा बड़ी निराली है। इसे पुराने भोजसागर का ही एक भाग माना जाता है। नगर की जलपूर्ति इसी तालाब से होती है। नवाब हयात खाँ द्वारा निर्मित आधे वर्ग मील के आकारवाला एक छोटा ताल भी है। यहाँ एक प्राचीन रूपसी गोंड रानी कमलापति का महल है। शायद भोपाल

का यह सबसे प्राचीन स्मारक है। इन्हीं रानी की याद में इसी महल से लगा एक कमलापति उद्यान भी है। यहाँ दिल्ली की जामा मस्जिद से प्रेरणा लेकर बेगम शाहजहाँ द्वारा बनवाई एक विशाल तथा अधूरी ताजउल मस्जिद है। इस मस्जिद के बड़े कक्ष की कारीगरी बड़ी सुंदर है जो पत्थरों पर की गई है। मस्जिद के पीछे की ओर बेनजीर तथा ताजमहल नामक भवन विद्यमान हैं। भोपाल के मध्य में जामा मस्जिद स्थित है जो प्राय: नगर के सभी प्रमुख बाजारों से दिखाई पड़ती है। इसके अलावा मोती मस्जिद तथा सदर मंजिल भी दर्शनीय हैं। नगर से लगभग सात मील दूर पिपलानी में आधुनिक भारी बिजली उद्योग कारखाना स्थित है, जिसमें हजारों लोग कार्य करते हैं। इस कारखाने के कारण भोपाल का महत्व काफी बढ़ गया है। यहाँ अरेरा पहाड़ी पर बिड़ला बंधुओं द्वारा निर्मित एक लक्ष्मी-नारायण मंदिर है जो अति भव्य है। नगर की जलवायु शुष्क व ठंढी और वार्षिक वर्षा का औसत ४२ इंच है। समीपवर्ती भाग की काली मिट्टी में कपास, गेहूँ, दलहन, ज्वार, मक्का, गन्ना तथा तिल आदि का उत्पादन होता है। उद्योगों में सूती वस्त्रों की बुनाई, छपाई, आभूषण, सुंदर बटुए, हैंडबेग तथा गुटका सुपारी बनाने का काम होता है। नगर की जनसंख्या २,२२,९४८ (१९६१) है। [रा० स० स०]

भोपाल के नवाब (१७२३–१९४९ ई०) भोपाल राज्य का प्रथम नवाब दोस्तमुहम्मद खाँ बर्कज़ाई कबीले का पठान योद्धा था। उसने १७२३ में इस राज्य की स्थापना की। १७४० में उसकी मृत्यु होने पर उसका अल्पवयस्क पुत्र मुहम्मद खाँ उसका उत्तराधिकारी बना किंतु कुछ ही समय बाद दोस्तमुहम्मद के अवैध पुत्र यारमुहम्मद खाँ ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। उसकी पत्नी मामूलह बेगम का प्रभाव ५० वर्ष तक शासन पर पड़ा।

१७५४ मे यारमुहम्मद का बेटा फैजमुहम्मद खाँ नवाब बना। वह धार्मिक प्रवृत्ति का एकांतवासी व्यक्ति था। उसके राज्य का आधा भाग पेशवा ने छीन लिया। १७७७ में उसका भाई हयातमुहम्मद खाँ नवाब बना। वह भी अपने भाई की भाँति अयोग्य निकला। प्रथम मराठा युद्ध मे उसने जेनरल गॉडर्ड को सहायता देकर अंग्रेजों को मित्र बनाया। १७९८ से उसका राज्य पिंडारियों तथा मराठों के आक्रमणों का निरंतर शिकार बनता रहा। ऐसी स्थिति में उसके योग्य चचेरे भाई वजीर मुहम्मद खाँ ने शासनभार सँभाला। उसने पिंडारी सरदार करीम खाँ को नौकरी देकर राज्य को सुरक्षित किया। १८०७ में हयातमुहम्मद की मृत्यु हुई किंतु वास्तविक सत्ता वजीरमुहम्मद के हाथ मे रही। १८१६ मे वजीर मुहम्मद के पुत्र नजरमुहम्मद ने पिता का स्थान प्राप्त किया। उसने हयातमुहम्मद के पुत्र गौसमुहम्मद की बेटी कुदसिया बेगम से विवाह करके तथा अंग्रेजों को पिंडारियों के विरुद्ध सहायता देकर अपनी स्थिति दृढ़ की। १८१८ में उसने एक संधि द्वारा भोपाल को सदैव के लिये अंग्रेजों के अधीन मित्र राज्य बना दिया। अंग्रेजों ने उसे ही असली नवाब मान लिया।

१८२० में नजरमुहम्मद की अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर कुदसिया बेगम ने अपनी नाबालिग बेटी सिकंदर के नाम से शासन किया। उसने जामा मस्जिद बनवाई तथा त्रिवर्षीय बंदोबस्त लागू किया। १८३७ में सिकंदर बेगम का पति जहाँगीर मुहम्मद अंग्रेजों की सहायता से नवाब बना। उसने जहाँगीराबाद बसाया। १८४४ मे उसके मर जाने पर सिकंदर बेगम नवाब बनी। तब से १९२६ तक महिलाओं ने ही भोपाल में शासन किया।

नवाब सिकंदर बेगम बहुत प्रभावशाली तथा योग्य शासिका सिद्ध हुई। उसने शासन को सुव्यवस्थित किया। पुलिस संगठन, डाक व्यवस्था, सड़क निर्माण, शिक्षा प्रसार, पंद्रहवर्षीय बंदोबस्त, मुद्रा सुधार तथा व्यापार वृद्धि उसकी प्रमुख उपलब्धियाँ थी। १८५७ में उसने अंग्रेजों को विशेष सहायता दी जिससे उसे खिताब, सनद तथा प्रदेश मिले।

१८६८ में सिकंदर बेगम की बेटी शाहजहाँ बेगम नवाब बनी। वह बहुत बुद्धिमती शासिका थी। उसने उर्दू में भोपाल का इतिहास लिखा। शासन को आधुनिक रूप देना, जिलों के शासन का संगठन, जेलों की व्यवस्था, स्त्रियों की शिक्षा तथा चिकित्सा का प्रबंध, पक्की सड़कों का निर्माण, चुंगी की कमी, भोपाल-हुशंगाबाद तथा भोपाल-उज्जैन रेलमार्ग बनाने के लिये भूमि तथा धन दान, १८९७ में अंग्रेजी सिक्का चलाना, द्वितीय अफगान युद्ध में अंग्रेजों को सहायता देना, तथा ताजुल मस्जिद, लालकोठी, बारामहल और ताजमहल भवन बनवाना उसके उल्लेखनीय कार्य हैं।

१९०१ में शाहजहाँ बेगम की पुत्री सुल्तानजहाँ बेगम गद्दी पर बैठी। वह भी कुशल शासिका थी। उसने अपनी माँ के शासन को विकसित किया। डाक व्यवस्था को अंग्रेजी व्यवस्था के अंतर्गत कर दिया। प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों को सहायता दी।

१९२६ में नवाब सुल्तानजहाँ बेगम का सुशिक्षित एवं सुयोग्य पुत्र मुहम्मद हमीदुल्ला खाँ नवाब बना। उसने शासन को नया रूप दिया। वह नरेशमंडल का प्रमुख सदस्य तथा अनेक वर्षों तक उसका चांसलर रहा। १९३१–३२ में वह गोलमेज कांफ्रेंस मे संमिलित हुआ। १९४७ में उस के राज्य का प्रशासन भारतीय संघ ने ले लिया और १९४९ मे उसे निजी कोष स्वीकृत किया गया। [ही० ला० गु०]

भौतिकी (Physics) की परिभाषा करना कठिन है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह ऊर्जा विषयक विज्ञान है और इसमे ऊर्जा के रूपांतरण तथा उसके द्रव्य संबंधों की विवेचना की जाती है। इसके द्वारा प्राकृत जगत् और उसकी भीतरी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। आकाश (space), काल, गति, द्रव्य, विद्युत्, प्रकाश, ऊष्मा तथा ध्वनि इत्यादि अनेक विषय इसकी परिधि में आते हैं। यह विज्ञान का एक प्रमुख विभाग है। इसके सिद्धांत समूचे विज्ञान मे मान्य हैं और विज्ञान के प्रत्येक अंग मे लागू होते हैं। इसका क्षेत्र विस्तृत है और इसकी सीमा निर्धारित करना अति दुष्कर है। सभी वैज्ञानिक विषय अल्पाधिक मात्रा मे इसके अंतर्गत आ जाते हैं। विज्ञान की अन्य शाखाएँ या तो सीधे ही भौतिकी पर आधारित हैं, अथवा इनके तथ्यों को इसके मूल सिद्धांतों से संबद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

भौतिकी का महत्व इसलिये भी अधिक है कि इंजीनियरी तथा

शिल्पविज्ञान (Technology) की जन्मदात्री होने के नाते यह इस युग के अखिल सामाजिक एवं आर्थिक विकास की मूल प्रेरक है। बहुत पहले इसको दर्शन शास्त्र का अंग मानकर नैचुरल फिलॉसोफी (Natural Philosophy) कहते थे, किंतु १८७० ई० के लगभग इसको वर्तमान नाम फिजिक्स द्वारा संबोधित करने लगे। धीरे धीरे यह विज्ञान उन्नति करता गया और इस समय तो इसके विकास की तीव्र गति देखकर, अग्रगण्य भौतिक विज्ञानियों को भी आश्चर्य हो रहा है। धीरे धीरे इससे अनेक महत्वपूर्ण शाखाओं की उत्पत्ति हुई, जैसे रासायनिक भौतिकी (Chemical Physics), तारा-भौतिकी (Astrophysics), जीवभौतिकी (Biophysics), भूभौतिकी (Geophysics), नाभिकीय भौतिकी (Nuclear Physics), आकाशीय भौतिकी (Space Physics) इत्यादि।

भौतिकी का मुख्य सिद्धांत 'ऊर्जा संरक्षण' (Conservation of Energy) है। इसके अनुसार किसी भी द्रव्यसमुदाय की ऊर्जा की मात्रा स्थिर होती है। समुदाय की आतरिक क्रियाओं द्वारा इस मात्रा को घटाना या बढाना संभव नही। ऊर्जा के अनेक रूप होते है और उसका रूपातरण हो सकता है, किंतु उसकी मात्रा में किसी प्रकार परिवर्तन करना संभव नही हो सकता। आइंस्टाइन के आपेक्षिकता सिद्धात के अनुसार द्रव्यमान (mass) भी ऊर्जा मे बदला जा सकता है। इस प्रकार ऊर्जा संरक्षण और द्रव्यमान संरक्षण दोनो सिद्धातो का समन्वय हो जाता है और इस सिद्धात के द्वारा भौतिकी और रसायन एक दूसरे से संबद्ध हो जाते हैं।

चिरसंमत भौतिकी (Classical Physics) — भौतिकी को मोटे रूप मे दो भागो मे बाँटा जा सकता है। १६०० ई० से पूर्व जो भौतिक ज्ञान अर्जित किया गया था और तत्संबंधी जो नियम तथा सिद्धात प्रतिपादित किए गए थे, उनका समावेश चिरसमत भौतिकी मे किया गया। उस समय की विचारधारा के प्रेरणास्रोत गैलिलीयो (१५६४–१६४२ ई०) तथा न्यूटन (१६४२–१७२७) थे। चिरसम्मत भौतिकी को मुख्यत यांत्रिकी (Mechanics), ध्वानिकी (Acoustics), ऊष्मा (Heat), विद्युच्चुंबकत्व और प्रकाशिकी (Optics) मे विभाजित किया जाता है। ये शाखाएँ इंजीनियरिंग तथा शिल्पविज्ञान की आधारशिलाएँ हैं और भौतिकी की प्रारंभिक शिक्षा इनसे ही शुरू की जाती है। १६०० ई० के पश्चात् अनेक क्रातिकारी तथ्य ज्ञात हुए, जिनको चिरसमत भौतिकी के ढाँचे मे बैठाना कठिन है। इन नये तथ्यो के अध्ययन करने और उनकी गुत्थियों को सुलझाने मे भौतिकी की जिस शाखा की उत्पत्ति हुई, उसको आधुनिक भौतिकी कहते हैं। आधुनिक भौतिकी का द्रव्यसंरचना से सीधा संबंध है। अणु-परमाणु, केंद्रक (nucleus) तथा मूल कण इनके मुख्य विषय है। भौतिकी की इस नवीन शाखा ने वैज्ञानिक विचारधारा को नवीन और क्रातिकारी मोड दिया है तथा इससे समाजविज्ञान और दर्शनशास्त्र भी महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित हुए हैं।

यांत्रिकी तथा द्रव्यगुण -- यांत्रिकी मे द्रव्यपिंडो की गति का अध्ययन किया जाता है। यह गति समूचे पिंड की भी हो सकती है और पदार्थ भी। भौतिकी की इस शाखा का बहुत महत्व है और इसके सिद्धांत भौतिकी के प्रत्येक विभाग में, विशेषतया इंजीनियरिंग और शिल्पविज्ञान मे, प्रयुक्त होते हैं। इसके मूल मे जो सिद्धात लागू होते हैं, उनको सर्वप्रथम न्यूटन ने प्रतिपादित किया था। लैग्रेंज, हैमिल्टन आदि वैज्ञानिकों ने इन नियमो को गंभीर गणितीय रूप देकर जटिल समस्याएँ हल करने योग्य बनाया। मूल समीकरणों द्वारा ऊर्जा संवेग (momentum), कोणीय संवेग इत्यादि, नवीन राशियों की कल्पना की गई। इस विज्ञान के मुख्य नियम ऊर्जा संरक्षण, संवेग संरक्षण तथा कोणीय संवेग संरक्षण हैं। सिद्धात रूप से ज्ञात बलो के अधीन किसी भी पिंड की गति का पूरा विश्लेषण किया जा सकता है।

द्रव्य गुण शाखा मे द्रव्य की तीनो अवस्थाओं ठोस, द्रव, तथा गैस के गुणों की विवेचना की जाती है। इन गुणों के आपसी संबधो की भी चर्चा की जाती है और इनसे संबंधित आँकडे ज्ञात किए जाते हैं। कुछ गुण जिनका अध्ययन किया जाता है, ये हैं: घनत्व, प्रत्यास्थता गुणांक, श्यानता, पृष्ठतनाव, गुरुत्वाकर्षण गुणांक इत्यादि।

ध्वानिकी — ध्वनि की उत्पत्ति द्रव्यपिंडों के दोलन द्वारा होती है। इस दोलन मे वायु की दाब एवं घनत्व मे प्रत्यावर्ती (alternating) परिवर्तन होने लगते हैं, जो अपने स्रोत से एक विशेष वेग के साथ आगे बढते हैं। इनको ही ध्वनि की तरंग कहा जाता है। जब ये तरंगें कान के परदे से टकराती हैं, तब ध्वनि-संवेदन होता है। इन तरंगो की विशेषता यह है कि इनमें परावर्तन, अपवर्तन (refraction) तथा विवर्तन (diffraction) हो सकता है। प्रति सेकंड दोलन संख्या को आवृत्ति (frequency) कहते है। मनुष्य का कान एक सीमित परास की आवृत्तियो को ही सुन सकता है, किंतु आजकल ऐसी ध्वनि भी उत्पन्न की जा सकती है जिसका कान के परदे पर कोई असर नही होता। कान की सीमा से अधिक परास की आवृत्तियो की ध्वनि को पराश्रव्य ध्वनि कहते है। बहुत से जानवर, जैसे चमगादड, पराश्रव्य ध्वनि सुन सकते हैं। आधुनिक समय मे श्रव्य तथा पराश्रव्य दोनो प्रकार की ध्वनियो की आवृत्तियों को एक बडी सीमा के भीतर उत्पन्न किया, पहचाना और मापा जा सकता है।

ऊष्मा — इस उपशाखा मे ऊष्मा, ताप और उनके प्रभाव का वर्णन किया जाता है। प्राय. सभी द्रव्यो का आयतन तापवृद्धि से बढ जाता है। इसी गुण का उपयोग करते हुए तापमापी बनाए जाते हैं।

ऊष्मा मापने का मात्रक कैलॉरी है। विज्ञान की जिस उपशाखा मे ऊष्मा मापी जाती है, उसको ऊष्मामिति (Calorimetry) कहते हैं। इस मापन द्वारा द्रव्यों की विशिष्ट ऊष्मा तथा गुप्त ऊष्मा ज्ञात की जाती है। इस ज्ञान का बहुत महत्व है। विशेषतया विशिष्ट ऊष्मा का सैद्धांतिक रूप से बहुत महत्व है और इसके संबंध मे कई सिद्धात प्रचलित हैं।

ऊष्मा का स्थानातरण तीन विधियों से होता है: चालन, संवहन और विकिरण। पहली दो विधियों में द्रव्यात्मक माध्यम की आवश्यकता है, किंतु विकिरण की विधि में विद्युच्चुंबकीय तरंगों द्वारा ऊष्मा का अंतरण होता है।

ऊष्मा की एक उपशाखा अणुगति सिद्धांत (Kinetic Theory) है। इस सिद्धांत के अनुसार द्रव्यमात्र लघु अणुओं द्वारा निर्मित हैं। गैसों के संबंध में यह सिद्धात विशेष रूप से उपयोगी है और इसके द्वारा गैसों के अनेक गुण सैद्धांतिक रूप से समझे जा सकते हैं।

ऊष्मागतिकी (Thermodynamics) — ऊष्मा का अन्य प्रकार की ऊर्जा में परिवर्तन, अथवा इसके विपरीत अन्य ऊर्जा का ऊष्मा मे रूपांतरण, ये दोनों ऊष्मागतिकी के विषय हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण विज्ञान है और इसके उपयोग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। विशेष रूप से इंजीनियरिंग तथा शिल्पविज्ञान में इसका बहुत महत्व है।

ऊष्मागतिकी का अधिक भाग दो नियमों पर आधारित है। प्रथम नियम, ऊर्जा सरक्षण नियम का ही दूसरा रूप है। इसके अनुसार ऊष्मा भी ऊर्जा का ही रूप है। अत इसका रूपांतरण तो हो सकता है, किंतु उसकी मात्रा मे परिवर्तन नही किया जा सकता। जूल इत्यादि ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि इन दो प्रकार की ऊर्जाओं के रूपातरण मे एक कैलोरी ऊष्मा ४·१८ × १०^{७} अर्ग यात्रिक ऊर्जा के तुल्य होती है। इंजीनियरों का मुख्य उद्देश्य ऊष्मा का यांत्रिक ऊर्जा मे रूपातर करके इंजन चलाना होता है। प्रथम नियम यह तो बताता है कि दोनो प्रकार की ऊर्जाएँ वास्तव मे अभिन्न है, किंतु यह नही बताता कि एक का दूसरे मे परिवर्तन किया जा सकता है अथवा नही। यदि बिना रोक टोक ऊष्मा का यात्रिक ऊर्जा मे परिवर्तन सभव हो सकता, तो हम समुद्र से ऊष्मा लेकर जहाज चला सकते। कोयले का व्यय न होता तथा बर्फ भी साथ साथ मिलती। अनुभव से यह सिद्ध है कि ऐसा नही हो सकता है। ऊष्मागतिकी का दूसरा नियम यह कहता है कि ऐसा सभव नही और एक ही ताप की वस्तु से यांत्रिक ऊर्जा की प्राप्ति नही हो सकती। ऐसा करने के लिये एक निम्न तापीय पिंड (सघनित्र) की भी आवश्यकता होती है। किसी भी इंजन के लिये उच्च तापीय भट्टी से प्राप्त ऊष्मा के एक अश को निम्न तापीय पिंड को देना आवश्यक है। शेष अश ही यात्रिक कार्य मे काम आ सकता है। समुद्र के पानी से ऊष्मा लेकर उससे जहाज चलाना इसलिये संभव नही कि वहाँ पर सर्वत्र समान ताप है और कोई भी निम्न तापीय वस्तु मौजूद नही। इस नियम का बहुत महत्व है। इसके द्वारा ताप के परम पैमाने की सकल्पना की गई है।

दूसरा नियम परमाणुओं की गति की अव्यवस्था (disorder) से सबध रखता है। इस अव्यवस्थितता को मात्रात्मक रूप देने के लिये एंट्रॉपी (entropy) नामक एक नवीन भौतिक राशि की सकल्पना की गई है। ऊष्मागतिकी के दूसरे नियम का एक पहलू यह भी है कि प्राकृतिक भौतिक क्रियाओं में एंट्रॉपी की सदा वृद्धि होती है। उसमें ह्रास कभी नही होता। ऊष्मागतिकी के तीसरे नियम के अनुसार शून्य ताप पर किसी ऊष्मागतिक निकाय की एंट्रॉपी शून्य होती है। इसका अन्य रूप यह है कि किसी भी प्रयोग द्वारा शून्य परम ताप की प्राप्ति संभव नही। हाँ, हम उसके अति निकट पहुँच सकते हैं, पर उस तक नही।

ऊष्मागतिकी के प्रयोग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। विकिरण के ऊष्मागतिक अध्ययन द्वारा एक नवीन और क्रांतिकारी विचारधारा क्वाटम थ्योरी प्रस्फुटित हुई (देखें ऊष्मागतिकी)।

चुंबकत्व और विद्युत् — चुंबकत्व और विद्युत् का अध्ययन दो भिन्न विषयों के रूप मे प्रारभ हुआ, पर १८३० ई० के लगभग यह समझा जाने लगा कि ये दोनो विषय परस्पर सबधित है। वास्तव मे ये दोनो विद्युत् ऊर्जा के ही दो भिन्न प्रभाव हैं। अत अब इनका अध्ययन एक साथ ही किया जाता है।

चुबकत्व मे स्थायी चुबकों और चुबकीय क्षेत्रो का अध्ययन किया जाता है। पृथ्वी और सूर्य के चुबकीय क्षेत्र और द्रव्यो के चुबकीय गुण भी इस विज्ञान की परिधि मे आते हैं।

विद्युद्विज्ञान को दो खंडों, (क) स्थिर विद्युत् तथा (ख) धारा विद्युत्, मे विभक्त किया जाता है। स्थिर विद्युत् मे हम स्थिर आवेशो के पारस्परिक आकर्षण, विकर्षण तथा उनकी ऊर्जा का विचार करते है। इस अध्ययन की एक मुख्य सकल्पना विभव (potential) है। विभवातर के कारण आवेशो (charges) का गमन होता है।

कुछ पदार्थों मे आवेश एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित हो सकता है। ऐसे पदार्थ विद्युत् के चालक कहलाते हैं। इसके विपरीत अचालको मे विद्युत् प्रवाह नही होता। प्रवाहित आवेश का दूसरा नाम विद्युत् धारा है। जब किसी चालक के दो भिन्न बिंदुओ मे विभवातर होता है तब उनके बीच धारा प्रवाहित होने लगती है। विभवान्तर सेल या जनित्र द्वारा स्थापित किया जा सकता है। सेल मे विभवान्तर उसमे प्रयुक्त द्रव्यो की रासायनिक क्रिया से और जनित्र मे विद्युत् चुबकीय प्रेरण (electro-magnetic induction) से उत्पन्न होता है। आधुनिक युग मे विद्युत् धारा के उपयोग और चमत्कार सर्वविदित हैं।

विद्युत् और चुबकत्व को पूरी तरह एक सूत्र मे पिरोने का काम मैक्सवेल ने किया। इन्होने १८६५ ई० मे विद्युत् चुबकत्व सिद्धान्त का निरूपण किया। इस सिद्धात से इन्होने एक मुख्य परिणाम यह प्राप्त किया कि शून्य मे विद्युच्चुबकीय ऊर्जा का तरगो के रूप मे संचरण सभव है। इस सिद्धात के अनुसार इन्ही तरगो को प्रकाश कहते हैं। मैक्सवेल के उपर्युक्त सिद्धात की पुष्टि हर्ट्स (Hertz) ने २० वर्ष बाद की।

प्रकाशिकी — प्रकाश का अध्ययन भी दो खडो मे किया जाता है। पहला खड, 'ज्यामितीय प्रकाशिकी', प्रकाश किरण की सकल्पना पर आधृत है। दर्पणों मे प्रकाश का परावर्तन और लेंस तथा प्रिज्मो से प्रकाश का अपवर्तन, ज्यामितीय प्रकाशिकी के विषय हैं। सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी, फोटोग्राफी कैमरा तथा अन्य उपयोगी प्रकाशिकी यत्रों की क्रियाविधि ज्यामितीय प्रकाशिकी के नियमो पर ही आधृत है (देखें प्रकाशिकी, ज्यामितीय)।

प्रकाशिकी का दूसरा खंड भौतिक प्रकाशिकी है। इसमे प्रकाश की मूल प्रकृति तथा प्रकाश और द्रव्य की पारस्परिक क्रिया का अध्ययन किया जाता है। प्रकाश सूक्ष्म कणों का सचार है, ऐसा मानकर न्यूटन ने ज्यामितीय प्रकाशिकी के मुख्य परिणामो की व्याख्या की। पर १९वीं शताब्दी मे प्रकाश के व्यतिकरण की घटनाओं का आविष्कार हुआ। इन क्रियाओ की व्याख्या कणिका सिद्धात मे सभव नही है, अत. बाध्य होकर यह मानना पड़ा कि प्रकाश तरग-

संचार ही है। ऊपर वर्णित मैक्सवेल के विद्युच्चुंबकीय सिद्धांत ने प्रकाश के तरंग सिद्धांत को ठोस आधार दिया।

भौतिक प्रकाशिकी का एक महत्वपूर्ण भाग स्पेक्ट्रमिकी (Spectroscopy) है। इसमे प्रकाश तरंगों के स्पेक्ट्रम का अध्ययन किया जाता है। अणु परमाणुओं की रचना को समझने मे इस प्रकार के अध्ययन का प्रमुख योगदान रहा है। विज्ञान की यह शाखा तारा भौतिकी की आधारशिला है।

आधुनिक भौतिकी — १६वी शताब्दी मे भौतिकविज्ञानी यह विश्वास करते थे कि नवीन महत्वपूर्ण आविष्कारों का युग प्रायः समाप्त हो चुका है और सैद्धांतिक रूप से उनका ज्ञान पूर्णता की सीमा पर पहुँच गया है, किंतु नवीन परमाण्वीय घटनाओं की व्याख्या करने के लिये पुराने सिद्धांतों का उपयोग किया गया, तब इस धारणा को बडा धक्का लगा और आशा के विपरीत फलों की प्राप्ति हुई। जब मैक्स प्लांक ने तप्त कृष्ण पिंडों के विकिरण की प्रकृति की व्याख्या चिरसमत भौतिकी के आधार पर करनी चाही, तब वे सफल नही हुए। इस गुत्थी को सुलझाने के लिये उनको यह कल्पना करनी पड़ी कि द्रव्यकण प्रकाश-ऊर्जा का उत्सर्जन एवं अवशोषण अविभाज्य इकाइयों में करते हैं। यह इकाई क्वांटम कहलाती है। चिरसंमत भौतिकी की एक अन्य विफलता प्रकाश-वैद्युत्-प्रभाव की व्याख्या करते समय सामने आई। इस प्रभाव मे प्रकाश के कारण धातुओं से इलेक्ट्रॉनों का उत्सर्जन होता है। इसकी व्याख्या करने के लिये आइंस्टाइन ने प्लाक की कल्पना का सहारा लिया और यह प्रतिपादित किया कि प्रकाश ऊर्जा कणिकाओं के रूप मे संचरित होती है। इन कणिकाओं को फोटॉन कहा जाता है। यदि प्रकाश तरंग की आवृत्ति ν हो, तो उससे संबद्ध फोटॉन की ऊर्जा Ehν होती है। h को प्लाक स्थिराक कहते हैं।

१६०५ ई० मे आइंस्टाइन ने विशिष्ट आपेक्षिकता नामक एक अति क्रांतिकारी सिद्धात का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार शून्य मे प्रकाश का वेग स्थिराक है और यह किसी भी वेग की चरम सीमा है। द्रव्य हो अथवा ऊर्जा किसी के लिये भी इससे तीव्रतर वेग संभव नहीं। इस सिद्धात के अनुसार लबाई तथा समय दोनो आपेक्षिक हैं। इनकी मात्राएँ प्रेक्षक की गति पर निर्भर करती हैं। कोई भी चलता हुआ दड स्थिर दर्शक को गति की दिशा मे सिकुड़ा हुआ प्रतीत होगा। यहाँ तक कि प्रकाशवेग से गति करने पर दड की लबाई शून्य हो जायगी। इसी प्रकार समय का फैलाव होता है एव प्रकाश की गति से चलने पर यह फैलाव इतना होगा कि प्रत्येक दाग फैलकर असीमित हो जाएगा, अर्थात् समय रुक जायगा। आइंस्टाइन के सिद्धात का एक चमत्कारिक अग है कि ऊर्जा और द्रव्यमान दोनो का एक दूसरे मे परिवर्तन संभव है। इन दोनो का सबध, सूत्र $E = mc^2$ से दर्शाया जाता है। यहाँ E ऊर्जा है, m द्रव्यमान और c शून्य मे प्रकाश का वेग।

आइंस्टाइन ने व्यापक आपेक्षिकता सिद्धात का भी प्रतिपादन किया। यह सिद्धात वास्तव मे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धात है। इसके द्वारा निकाले गए परिणाम न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धात से प्राप्त परिणाम मे अपेक्षित सुधार प्रस्तुत करते हैं।

१६वीं शताब्दी का मूल सिद्धांत डाल्टन का परमाणुवाद था। परमाणु द्रव्य के अविभाज्य कण समझे जाते थे। इनके द्वारा गैसो, द्रवों एवं ठोस पदार्थों की सरचना, रासायनिक अभिक्रियाएँ, द्रव्यों के गुण इत्यादि की विशद व्याख्या की जाती थी। सन् १८६७ मे जे० जे० टॉमसन ने लंबी नली को निर्वात कर उसमे से तीव्र विभवांतर पर विद्युद्धारा प्रवाहित की। इस तरह उन्होंने परमाणु के एक घटक, इलेक्ट्रॉन, का अस्तित्व सिद्ध किया और स्पष्ट किया कि प्रत्येक इलेक्ट्रॉन ऋण विद्युत् से आवेशित रहता है और उसके आवेश और द्रव्यमान स्थिर होते हैं। जेमान ने परमाणुओं के स्पेक्ट्रम को चुंबकीय क्षेत्र द्वारा प्रभावित होते दिखलाया। इस प्रकार परमाणु की विद्युन्मय रचना की प्रतिष्ठा हुई। परमाणु का अविभाज्यत्व समाप्त हो गया और वैज्ञानिको की दृष्टि इसके भीतर पहुँची।

१६११-१३ ई० मे रदरफोर्ड ने ऐल्फा कणों के प्रकीर्णन (scattering) द्वारा यह सिद्ध किया कि परमाणु के भीतर सभी धन आवेश केंद्र से 10^{-12} सेंमी० दूरी के भीतर एकत्रित रहते हैं। इस केंद्रीय भाग को केंद्रक कहते हैं। १६१३ ई० में नील्स बोर ने चिरसंमत भौतिकी के सिद्धातों को छोडकर, क्वाटम सिद्धात पर आधारित अभिधारणाओं का प्रतिपादन किया और परमाणु की रचना एवं प्रकाश की उत्पत्ति को समझाया। इस कल्पना के अनुसार हाइड्रोजन के केंद्र में एक धन आवेशित कण रहता है, जिसको प्रोट्रॉन कहते हैं। इसके चारो ओर एक इलेक्ट्रॉन चक्कर काटता रहता है।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, आइंस्टाइन ने प्रकाश तरंगो के साथ ऊर्जा कण, अर्थात् क्वाटम, को संबद्ध किया था। कुछ प्रयोग प्रकाश के तरगवत होने की तथा कुछ फोटानवत होने की पुष्टि करते थे। प्रकाश का यह द्वैत व्यवहार बहुत उलझनपूर्ण था। १६२४ ई० मे प्रकृति की सममिति को आधार मानकर लुइस द ब्रॉग्ली (Louis de Broglie) ने सोचा कि हो न हो प्रकाश की ही तरह द्रव्यकण भी द्वैत व्यवहार करते हों। उन्होने प्रत्येक द्रव्यकण से सबद्ध एक तरंग की कल्पना की और यह सिद्ध किया कि इस तरंग का तरंगदैर्घ्य प्लाक स्थिरांक और कण के संवेग के अनुपात के बराबर होता है। इस कल्पना की प्रायोगिक पुष्टि डेविसन (Davisson) और गरमर (Germer) इत्यादि ने की। श्रेडिंगर (Schrodinger) ने १६२६ ई० मे इस विचार को सुदृढ गणितीय आधार प्रदान किया। इसके सिद्धात को तरंग यांत्रिकी (wave mechanics) कहते हैं। इसके मूल समीकरण मे एक राशि प्साई (ψ) का प्रयोग होता है। मैक्स बॉर्न के अनुसार प्साई से किसी स्थान पर कण उपस्थिति की संभावना निकाली जा सकती है। चिरसंमत भौतिकी मे सैद्धांतिक रूप से किसी पिंड और गति को निश्चयात्मक रूप से व्यक्त किया जा सकता था। उसके अनुसार यदि किसी पिंड की प्रारंभिक स्थिति तथा उसका वेग ज्ञात हो, तो उस गति और स्थान का हर समय के लिये पूरा विश्लेषण संभव है। आधुनिक भौतिकी के अनुसार नियम निश्चयात्मक नही होते, वह केवल संभावनाएँ व्यक्त करते हैं। इस संबंध मे हाइज़ेनबेर्ग (Heisenberg) ने अनिश्चितता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। इस सिद्धात के अनुसार संवेग और स्थिति, दोनो एक साथ बिलकुल ठीक ठीक नहीं नापे जा सकते। यदि

किसी एक समय में एक को यथार्थ परिशुद्धता से मापा जाय, तो दूसरी राशि एकदम अनिश्चित होगी। दोनों राशियों की अनिश्चितताओं की मात्राओं का गुणनफल कम से कम प्लांक स्थिरांक के बराबर होगा।

इसी से संबद्ध बोर का पूरक नियम है, जिसके अनुसार द्रव्य का कणात्मक और तरंगवत् व्यवहार एक दूसरे का विरोधी नहीं, बल्कि पूरक है। किसी भी प्रयोग द्वारा ये दोनों व्यवहार एक नहीं दर्शाए जा सकते। ये दोनों रूप एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं, जो एक साथ नहीं देखे जा सकते।

१८९६ ई० में हेनरी बैकरेल ने देखा कि यूरेनियम से कुछ अदृश्य किरणें निकलती हैं, जो फ़ोटोग्राफ़िक प्लेट पर अपना प्रभाव डालती हैं। शीघ्र ही प्रो० क्यूरी तथा श्रीमती क्यूरी ने कुछ अन्य तत्वों, रेडियम, पोलोनियम आदि, की खोज की, जिनसे इस प्रकार की अदृश्य किरणों का तीव्र उत्सर्जन होता है। इस गुण का नाम रेडियोऐक्टिवता दिया गया। प्रयोग करने पर ज्ञात हुआ कि ये किरणें तीन प्रकार की होती हैं, जिन्हें α (ऐल्फा), β (बीटा) और γ (गामा) किरण कहा जाता है। रेडियोऐक्टिव तत्व का ताप एवं दाब कम, अधिक करने से, उसकी अन्य भौतिक अवस्था में परिवर्तन कर देने से, उसका किसी अन्य तत्व के साथ रासायनिक संयोग करने से, या चुबकीय क्षेत्र आदि लगाने से तत्व की रेडियोऐक्टिवता की तीव्रता पर कोई असर नहीं पड़ता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रेडियोऐक्टिवता न्यूक्लियस का गुण है और इसका इलेक्ट्रॉन विन्यास से कोई संबंध नहीं है।

सन् १९३२ में न्यूट्रॉन की खोज की गई, जो प्रोट्रॉन से कुछ भारी और एक अनावेशित मूल कण है। अब यह माना जाता है कि न्यूक्लियस के भीतर न्यूट्रॉन तथा प्रोट्रॉन दोनों होते हैं। हलके तत्वों में न्यूट्रॉनों तथा प्रोट्रॉनों का अनुपात आधे का होता है और भारी तत्वों के न्यूक्लियस में न्यूट्रॉनों की संख्या प्रोटॉनों की संख्या से ज्यादा होती है। चूंकि परमाणु स्वयं उदासीन होता है, अत: न्यूक्लियस के भीतर प्रोटॉनों की संख्या परमाणु में उपस्थित इलेक्ट्रॉनों की संख्या के बराबर होती है। परमाणु का शेष द्रव्यमान न्यूट्रॉनों द्वारा पूरा होता है। ऐस्टन ने आयनित परमाणुओं की गति का अध्ययन कर यह सिद्ध किया कि एक ही तत्व के परमाणुओं के द्रव्यमान भी एक दूसरे से भिन्नता रख सकते हैं। इन विभिन्न द्रव्यमानों के परमाणुओं को समस्थानिक (Isotope) कहा जाता है। ऐल्फा रेडियोऐक्टिवता में न्यूक्लियस से आयनित हीलियम परमाणु का उत्सर्जन होता है। इसमें दो प्रोटॉन और दो न्यूट्रॉन होते हैं और इसको ऐल्फा कण कहते हैं। न्यूक्लियस में जब एक न्यूट्रॉन प्रोटॉन में, या एक प्रोटॉन न्यूट्रॉन में, रूपांतरित होता है, तो एक इलेक्ट्रॉन (या पाजीट्रॉन) और एक न्यूट्रिनो की उत्पत्ति होती है। यही बीटा रेडियोऐक्टिवता कहलाती है। न्यूट्रिनो एक अनावेशित एवं इलेक्ट्रॉन से भी काफी हल्का (लगभग शून्य द्रव्यमान का) मूल कण है, जो बहुत समय तक वैज्ञानिकों के प्रेक्षण से बचा रहा। इसका पता सर्वप्रथम १९५३ ई० में लगा। न्यूक्लियस की उत्तेजित अवस्था में जब परिवर्तन होता है, तो गामा किरणें निकलती हैं, जो एक्सकिरणों के समान, पर उनसे अधिक ऊर्जावाली, विद्युच्चुंबकीय तरंगें हैं।

आवेशित कणों की ऊर्जा बढ़ाने के लिये वैज्ञानिकों ने यंत्रों का निर्माण किया, जो त्वरक (accelerator) कहलाते हैं। अधिक ऊर्जावाले इन कणों की सहायता से न्यूक्लीय अभिक्रियाओं का और मूल कणों की उत्पत्ति एवं उनके गुणधर्मों का अध्ययन किया जाता है। कुछ प्रमुख त्वरक साइक्लोट्रॉन, बीटाट्रॉन तथा सिंक्रोट्रॉन हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले वैज्ञानिकों ने पता चलाया कि कुछ भारी न्यूक्लियसों (यूरेनियम आदि) पर न्यूट्रॉनों की बौछार करने से, न्यूक्लियस दो हलके न्यूक्लियसों में टूट जाता है और अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न होती है। यूरेनियम के विखंडन (fission) की अनियंत्रित शृंखलाबद्ध अभिक्रिया (uncontrolled chain reaction) का उपयोग परमाणु बम बनाने में किया गया। १९५० ई० के बाद ताप न्यूक्लीय अभिक्रिया (thermo-nuclear reaction) का पता लगा, जिसमें और भी अधिक मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न होती है। इस अभिक्रिया में हलके न्यूक्लियसों का एक भारी न्यूक्लियस में संलयन (fusion) किया जाता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि सूर्य एवं अन्य तारों की ऊर्जा का स्रोत यही अभिक्रिया है।

परमाणु ऊर्जा के विकासक्रम को रचनात्मक दिशाओं की ओर मोड़ने के प्रयत्न में रिऐक्टर का निर्माण हुआ, जिसमें विखंडन की शृंखलाबद्ध अभिक्रिया को नियंत्रित कर ऊर्जा उत्पन्न की जाती है। रिऐक्टर की मदद से समस्थानिक उत्पादित किए जाते है, जिनका रोगचिकित्सा, कृषि, वनस्पति विज्ञान और पुरातत्व अनुसंधान में तथा अनुरेखक (tracer) के रूप में बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है।

न्यूक्लीय भौतिकी के अध्ययन के साथ कॉस्मिक किरणों का अध्ययन भी जुड़ा हुआ है। प्राथमिक कॉस्मिक किरणों का अधिकतर भाग बहुत अधिक ऊर्जावाले प्रोटॉन होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐल्फा कण भी विद्यमान रहते हैं। अतरिक्ष से आकर ये प्रोटॉन, पृथ्वी के वायुमंडल में विभिन्न गैसों के न्यूक्लियसों से टकराते हैं और फलस्वरूप अन्य आवेशित कण तथा अत्यधिक ऊर्जावाली गामा किरणें उत्पन्न होती हैं, जिन्हें द्वितीयक कॉस्मिक किरणें कहा जाता है। कॉस्मिक किरणों के उद्गम के बारे में वैज्ञानिकों में मतभेद हैं, पर इनके अध्ययन से कई मूल कणों का पता चला है, जिनका प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन में काफी योगदान रहा है। मूल कणों में कुछ कण हैं : पॉजीट्रॉन (जो धन आवेशित इलेक्ट्रॉन है), तथा म्यूऑन, जो ऋण अथवा धन आवेशित होते हैं और इलेक्ट्रॉन से २०७ गुना भारी होते हैं। पाई मेसान, जो इलेक्ट्रॉन से २७३ गुना भारी होते हैं, ऋण आवेशित, धनावेशित एवं अनावेशित तीन प्रकार के होते हैं। म्यूऑन तथा पाइमेसान अस्थायी मूल कण हैं।

यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति ने पूरी सृष्टि की रचना कुल तीन मूल कणों प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन को लेकर की है। अन्य मूल कणों का स्थायी द्रव्य की रचना में क्या योगदान है, यह अभी ज्ञात नहीं। वैज्ञानिकों का मत है कि द्रव्यों की सभी ज्ञात पारस्परिक क्रियाओं, अर्थात् पिंडों में लगनेवाले सभी प्रकार के बलों, की व्याख्या मूल रूप से केवल चार अन्योन्य क्रियाओं (interactions) द्वारा की जा सकती है। इनके नाम हैं : १. गुरुत्वीय अन्योन्य क्रिया, २.

विद्युच्चुंबकीय अन्योन्य क्रिया, ३. प्रबल अन्योन्य क्रिया, तथा ४. दुर्बल अन्योन्य क्रिया।

सं० ग्रं० — मैक्स बार्न : ऐटॉमिक फिज़िक्स, ब्लैकी ऐंड सस; आर० एस० शैंकलैंड : ऐटॉमिक ऐंड न्यूक्लियर फिज़िक्स, मैकमिलन ऐंड कं; मैक्स बार्न : आइंस्टाइन्स थ्योरी ऑव रिलेटिविटी, डोवर न्यूयार्क (१९६२), डेविड बम : क्वाटम थ्योरी, एशिया पब्लिशिंग हाउस (१९६२); जी० कैलेन : एलिमेंटरी पार्टिकल फिज़िक्स, एडिसन वेज़ली कंपनी। [वि० द०]

भौतिकी के मौलिक नियतांक भौतिकी मे बहुत से नियताक ऐसे हैं, जिनके बारे मे वैज्ञानिको का ऐसा विश्वास है कि समय के साथ साथ उनमे कोई परिवर्तन नही होता। इन नियतांकों को भौतिकी के मौलिक नियताक कहते हैं। हमारी चुनी हुई मौलिक इकाइयो के अनुसार इनका मान जो कुछ है, सर्वदा वही रहेगा। ऐसे नियताको के कुछ उदाहरण ये है प्रकाश का वेग, अर्थात् वह वेग जिससे प्रकाश की तरंगो का सचरण शून्याकाश मे होता है; इलेक्ट्रान का आवेश; सर्वव्यापी गुरुत्वाकर्षण का नियताक, अर्थात् वह बल जिससे एक सेंटीमीटर की दूरी पर रखे एक एक ग्राम के दो पिंड एक दूसरे को आकर्षित करते हैं, ऊष्मागतिकी पैमाने पर बर्फ बिंदु, अर्थात् बर्फ के पिघलने का ताप आदि।

इन नियताको का ठीक मान ज्ञात करने का प्रयत्न बहुत से वैज्ञानिक काफी दिनो से कर रहे हैं। सन् १९२९ के पहले प्रत्येक नियताक को एक पृथक् समस्या के रूप मे ज्ञात किया जा रहा था। परतु इन नियताको मे आपस मे सबध होते हैं, जिनकी सहायता से इस बात की जाँच की जा सकती है कि इन नियताको के मानो मे आपस मे कोई असगति दोष तो नही है। उदाहरणत, प्रोटॉन का चुबकीय आघूर्ण μ_p प्रयोगो द्वारा मापा जा सकता है। यह चुंबकीय आघूर्ण दूसरे नियताको द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है, जिसका सूत्र है $\mu_p = e\,h/4\,\pi\,m_p\,c$। इसमे e, h, m_p तथा c, क्रमश इलेक्ट्रॉन का आवेश, प्लाक नियताक, प्रोटॉन की सहति एवं प्रकाश का वेग है। इन नियताको का मान भी प्रयोग द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। चूँकि मापने मे थोडी बहुत त्रुटि की सभावना है, इसलिये यह हो सकता है कि सूत्र मे e, h, m_p तथा c का मान रखने पर जो सख्या प्राप्त हो, वह प्रयोग द्वारा ज्ञात किए गए μ_p के मान के बराबर न हो। इसलिये इन सभी नियताको का मान इस तरह निश्चित किया जाना चाहिए कि यह अंतर कम से कम हो। यहाँ पर इस आपसी सबध का केवल एक उदाहरण दिया गया है। इसी तरह इन नियताको मे और भी सबध होते हैं।

इन परस्पर संबधित नियताको मे सबसे बडा समूह परमाणवीय नियताको का है। कुछ को छोडकर लगभग सभी नियताक इन्ही नियताको द्वारा प्रकट किए जा सकते हैं। सबसे महत्वपूर्ण नियताक, जो इनके द्वारा प्रकट नही किया जा सकता, गुरुत्वाकर्पण का नियतांक है।

इन नियताको मे से कुछ ऐसे मुख्य नियताक चुने जाते हैं, जिनके द्वारा दूसरे नियताको को प्रकट किया जा सकता है। मान लीजिए ऐसे मुख्य नियताको की सख्या 'य' है। अब कुछ ऐसी मात्राएँ चुनी जाती हैं जिनका मान प्रयोग द्वारा बड़ी यथार्थता से मापा जा सकता है और जिन्हें इन चुने हुए मुख्य नियताकों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। ऐसी एक मात्रा का उदाहरण प्रोटॉन का चुंबकीय आघूर्ण है, जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। इन चुनी हुई मात्राओं की सख्या कम से कम 'य' होनी चाहिए। पर यदि ऐसी चुनी हुई मात्राओ की सख्या 'य' से अधिक हो, तो हमारे पास इन नियताकों का मान प्राप्त करने के लिये आवश्यकता से अधिक समीकरण होगे। ऐसी दशा में यदि हम किन्ही 'य' समीकरणों को चुनकर इन मुख्य नियताको का मान निकालें और शेष समीकरणो मे इनको रखें, तो हम देखेंगे कि गणना द्वारा प्राप्त किए गए मानो एव प्रयोग द्वारा प्राप्त किए गए मानों मे अंतर है। इसलिये हमे इन नियताको का वह मान ज्ञात करना चाहिए कि इन चुनी हुई मात्राओ के 'गणित मानो' एव 'प्रायोगिक मानो' मे न्यूनतम असगति हो। इसके लिये इन नियताको के मान का निर्धारण 'न्यूनतम-वर्ग-रीति' द्वारा किया जाता है, तथा इसकी जाँच के लिये कि असगति दोष न्यूनतम है, x^2 जाँच का उपयोग किया जाता है।

इन नियताको के मानों का विस्तृत विवेचन सबसे पहले बर्ज ने सन् १९२९ मे किया। सन् १९३९ मे डर्निगटन द्वारा किए गए अध्ययन के बाद से प्रति दूसरे अथवा तीसरे सब्ल ऐसा अध्ययन किया जाता है। इन अध्ययनो मे सबसे अच्छी बात यह हुई है कि इन नियताको का मान न केवल उत्तरोत्तर शुद्धता मे ज्ञात किया जा सका है, अपितु यह भी हुआ है कि इनके नवीन मान पुराने निर्धारित मानों की त्रुटियों के अतर्गत ही प्राप्त हुए है।

आगे ग्रामअणु, अथवा ग्रामतुल्याक, के नियताको के मान भौतिकीय पैमाने मे दिए हुए हैं। इस पैमाने मे ऑक्सीजन के ओ१६ (O^{16}) समस्थानिक का परमाणवीय भार ठीक १६·००००००० माना जाता है। केवल इसी पैमाने मे किसी सदेह की गुजाइश नही होती। रासायनिक पैमाने मे ऑक्सीजन के समस्थानिको को लेकर, प्रकृति मे पाए जाने वाले उनके अनुपात के अनुसार उनका औसत परमाणवीय भार निकाला जाता है और इस औसत भार को १६·०००० मानकर दूसरे नियताक निर्धारित किए जाते है। परतु नीर तथा दूसरो ने भारानुक्रमलेखी द्वारा जो बहुत ठीक ठीक प्रयोग किए हैं, उनमे यह असंदिग्ध रूप से निश्चित हो गया है कि ऐसा कोई अनुपात नही है जिसमें ऑक्सीजन के समस्थानिक प्रकृति मे पाए जाते हैं। ऑक्सीजन का ओ१८ (O^{18}) समस्थानिक जिस अनुपात मे वायुमडल के अथवा चूने के ऑक्सीजन मे पाया जाता है, उससे पानी के, अथवा लोहे के अयस्क के, ऑक्सीजन में कम पाया जाता है। इन अनुपातो मे जो अतर है, वह पानी के ऑक्सीजन मे पाए जानेवाले ओ१८ (O^{18}) के अनुपात का ४ प्रति शत है। सन् १९५२ मे फ्रेडरिक रोसिनी ने यह प्रस्ताव किया कि यह निश्चित हो जाना चाहिए कि भौतिकीय पैमाने के परमाणुभार मे तथा रासायनिक पैमाने के परमाणुभार मे क्या अनुपात है। सन् १९४२ मे बर्ज ने यह मानकर कि प्रकृति मे ऑक्सीजन के ओ१६ (O^{16}), ओ१८ (O^{18}) एव ओ१७ (O^{17}) समस्थानिक क्रमश: (५०६ ± १०), १ तथा (०·२०४ ± ०·००८) के अनुपात मे पाए जाते हैं, यह निकाला था कि परिवर्तक गुणक (अर्थात् रासायनिक पैमाने के परमाणुभारों को जिस सख्या से गुणा करने पर भौतिकीय पैमाने

के परमाणुभार ज्ञात होंगे) का मान १·०००२७२ ± ०·००००05 है, परंतु नीर ने यह दिखलाया कि इस गुणक का मान इस बात पर निर्भर करता है कि ऑक्सीजन किस स्रोत से प्राप्त किया गया है। नीर के अनुसार वायुमंडल के ऑक्सीजन के लिये इस गुणक का मान १·०००२७८ तथा पानी के ऑक्सीजन के लिये इसका मान १·०००२६८ है। अब इसको १·०००२७५ मानने का प्रस्ताव है।

नीचे विद्युतीय राशियों को निरपेक्ष मानकों में दिखलाया गया है। निरपेक्ष स्थिरवैद्युत् मात्रकों के लिये e. s. u. एवं निरपेक्ष विद्युच्चुबकीय मात्रकों के लिये e. m. u. लिखा गया है। e v इलेक्ट्रॉन वोल्ट का द्योतक है। यह इलेक्ट्रॉन की वह गतिज ऊर्जा है, जो उसे एक वोल्ट के विभव में चलने से प्राप्त होती है।

१. सहायक नियतांक — ये वे नियतांक हैं जिनके मान स्वतंत्र प्रयोगों द्वारा इतनी शुद्धता से ज्ञात हैं कि इनका मान न्यूनतम वर्ग रीति द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता है, पर इनका उपयोग दूसरे नियतांकों का मान निर्धारित करने के लिये किया जाता है। प्रत्येक संख्या के बाद ± चिह्नों के साथ जो राशि लिखी गई है, वह मानों में प्रामाणिक त्रुटि है।

रिडबर्ग संख्या (अनंत संहति के लिये) :
R_∞ = (१०९७३७·३०९ ± ०·०१२) सेंमी$^{-१}$ ।
न्यूट्रॉन की परमाण्वीय संहति :
n = १·००८९८२ ± ०.००००03 (भौतिकीय पैमाना) ।
हाइड्रोजन की परमाणवीय संहति .
H = १·००८१४२ ± ०·०००००३ (भौतिकीय पैमाना) ।
ड्यूटीरियम की परमाणवीय संहति :
D = २ ०१४७३५ ± ० ००००06 (भौतिकीय पैमाना) ।
हीलियम की परमाणवीय संहति :
He = ४·००३८७३ ± ० ००००१५ (भौतिकीय पैमाना) ।
गैसनियतांक (प्रतिमोल–भौतकीय पैमाना) .
R_0 = (८ ३१६९६ ± ०·०००३४) $१०^{७}$ अर्ग मोल$^{-१}$ डिग्री$^{-१}$
(भौतिकीय पैमाना) ।
आदर्श गैस का प्रामाणिक आयतन (भौतिकीय पैमाना) :
V_0 = (२२४२० ७ ± ० ६) सेंमी^{३} वायुमंडल प्रति मोल
(भौतिकीय पैमाना) ।
गुरुत्वाकर्षण नियतांक :
G = (६·६७० ± ० ००५) × $१०^{-८}$ डाइन सेंमी^{२} ग्राम$^{-२}$ ।
प्रामाणिक वायुमंडल (परिभाषा) :
A_0 = १·०१३२५० ०० डाइन सेमी$^{-२}$ वायुमंडल$^{-१}$ ।
हिमबिंदु :
T_0 = २७३ १५०० ± ०·०००२° परम
जूल तुल्यांक (परिभाषा)
J = ४ १८४० जूल प्रति ऊष्मागतिकीय कैलोरी।
जूल तुल्यांक (प्रायोगिक १५° कैलोरी) :
J_{15} = ४ १८५५ ± ०·०००४ जूल प्रति १५° कैलोरी ।
प्रकाश की गति :
c = (२९९७९३·० ± ०·३) किमी० सेकंड$^{-१}$

२. न्यूनतम वर्ग रीति से निर्धारित मान (प्रत्येक संख्या के साथ ± चिह्नों के बाद की राशि प्रामाणिक त्रुटि की द्योतक है)—
आवोगाड्रो संख्या, अर्थात प्रति मोल अणुओं की संख्या
(भौतिकीय पैमाना) :
N = (६.०२४८६ ± ०·०००१६).$१०^{२३}$ मोल$^{-१}$ ।
ल संख्या (भौतिकीय पैमाना) :
L = N/V_0 = (२·६८७१९ ± ०·०००१०). $१०^{१९}$ सेंमी.$^{-३}$ ।
इलेक्ट्रॉन का आवेश :
e = (४ ८०२८६ ± ०·००००९)·$१०^{-१०}$ e s. u ।
e′ = e/c = (१·६०२०६ ± ०·००००३) × $१०^{-२०}$ e. m. u. ।
इलेक्ट्रॉन की संहति .
m = (९·१०८३ ± ०·०००३).$१०^{-२८}$ ग्राम ।
प्रोटॉन की संहति (जब प्रोटॉन निश्चल हो) :
m_p = M_p/N = (१·६७२३९ ± ०·००००४)·$१०^{-२४}$ ग्राम ।
निश्चल न्यूट्रॉन की संहति :
m_n = n/N = (१·६७४७० ± ०·००००४).$१०^{-२४}$ ग्राम ।
प्लांक का नियतांक :
h = (६·६२५१७ ± ०·०००२३)·$१०^{-२७}$ अर्ग सेकंड ।
ħ = h/2π = (१·०५४४३ ± ०·००००४)·$१०^{-२७}$ अर्ग सेकंड ।
फेराडे नियतांक (भौतिकीय पैमाना) :
F = Ne = (२·८९३६६ ± ०·००००३) $१०^{१४}$ e. s. u. मोल$^{-१}$।
F′ = Ne/c = (९६५२·१९ ± ०·११) e m. u. मोल$^{-१}$ ।
इलेक्ट्रॉन के आवेश एवं संहति का अनुपात :
e/m = (५·२७३०५ ± ०·००००७).$११^{१७}$ e. s. u. ग्राम$^{-१}$ ।
e′/m = e/mc = (१·७५८९० ± ०·००००२).$१०^{७}$e.m.u ग्राम$^{-१}$
सूक्ष्म संरचना नियतांक
ħc/e^{2} = 1/α = १३७·०३७३ ± ०·०००६ ।
इलेक्ट्रॉन की परमाणवीय संहति (भौतिकीय पैमाना) :
Nm = (५ ४८७६३ ± ०·००००६)·$१०^{-४}$ ।
प्रोटॉन की परमाणवीय संहति :
M_p = १·००७५९३ ± ० ०००००३ (भौतिकीय पैमाना) ।
प्रोटॉन एवं इलेक्ट्रॉन की संहति का अनुपात :
M_p/Nm = १८३६ १२ + ०·०२ ।
बोर की प्रथम परमाण्वीय कक्षा की त्रिज्या .
a_0 = ħ^{2}/me^{2} = (५·२९१७२ ± ०.००००२).$१०^{-८}$ सेंमी.
इलेक्ट्रॉन का काम्पटन तरंगदैर्घ्य :
λ_{ce} = h/mc = (२४·२६२६ ± ०.०००२) $१०^{-११}$ सेंमी.
इलेक्ट्रॉन की त्रिज्या (चिरसम्मत भौतिकी के अनुसार) :
r_0 = e^{2}/mc^{2} = (२·८१७८५ ± ० ००००४).$१०^{-१३}$ सेंमी.
बोल्ट्समान का नियतांक :
k = R_0/N = (१·३८०४४ + ० ०००07) × $१०^{-१६}$ अर्ग प्रति डिग्री
= (८·६१६७ ± ० ०००४) × $१०^{-५}$ ev प्रति डिग्री।
प्लांक के विकिरण नियम से संबंधित राशियाँ, जो कृष्ण पिंड के विकिरण के सूत्र में आती हैं :

$$\psi(\lambda)\, d\lambda = \frac{C_1\, d\lambda}{\lambda^5 \left\{ e^{C_2/\lambda T} - 1 \right\}}$$

विकिरण का प्रथम नियतांक :

$C_1 = 8\pi h c = (\text{४·९९१८} \pm \text{०·०००२})\ \text{१०}^{-\text{१५}}$ अर्ग सेंमी०

विकिरण का द्वितीय नियतांक :

$C_2 = hc/k = (\text{१·४३८८०} \pm \text{०·००००७})$ सेंमी० डिग्री।

वियेन का विस्थापन नियतांक :

$\lambda_{max} T = (\text{०·२८९७८२} \pm \text{०·००००१३})$ सेंमी० डिग्री।

स्टीफान–बोल्ट्समान नियतांक :

$\sigma = (\text{०·५६६८७} \pm \text{०·०००१०}).\text{१०}^{-\text{४}}$ अर्ग सेंमी$^{-\text{२}}$ डिग्री$^{-\text{४}}$ सेकंड$^{-\text{१}}$।

बोर मैग्नेटॉन :

$\mu_0 = (\text{०·९२७३१} \pm \text{०·००००२}) + \text{१०}^{-\text{२०}}$ अर्गप्रति गाउस।

इलेक्ट्रॉन का चुंबकीय घूर्ण :

$\mu_e = (\text{·९२८३७} \pm \text{०·००००२})\cdot\text{१०}^{-\text{२०}}$ अर्ग प्रति गाउस।

नाभिकीय मैग्नेटान :

$\mu_n = (\text{०·५०५०३८} \pm \text{०·००००१८})\cdot\text{१०}^{-\text{२३}}$ अर्ग प्रति गाउस।

प्रोटॉन का घूर्ण :

$\mu_p = (\text{२·७९२७५} \pm \text{०·००००३})$ नाभिकीय मैग्नेटान

$= (\text{१·४१०४४} \pm \text{०·००००४})\ \text{१०}^{-\text{२३}}$ अर्ग प्रति गाउस।

इलेक्ट्रॉन का ब्रॉग्ली तरंगदैर्घ्य :

$\lambda_{De} = (\text{१·५५२२५७} \pm \text{०·०००००१६})\cdot\text{१०}^{-\text{१३}}$ सेंमी. $(\text{अर्ग})^{\text{१/२}}/E^{\text{१/२}}$।

(इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा (E) अर्गों में है)

हाइड्रोजन का आयनीकरण विभव :

$I_0 = (\text{१३·५९७६५} \pm \text{०·०००२२})$ev।

सं० ग्रं० — डुमाँड तथा ई० आर० कोहेन : रिपोर्ट टु नैशनल रिसर्च कौंसिल कमिटी ऑन कॉन्सटैंट्स ऐंड कनवर्जन फैक्टर्स इन फिजिक्स, दिसंबर १९५०, जे० ए० बीर्डेन तथा जे० एस० टामसेन : नूवो सिमेंटो, ५, २६७, १९५७; ई० आर० कोहेन, नूवो सिमेंटो, ६, ११०, १९५७; आर० डी० हुट्टन तथा ए० जी० मैकनीश नूवो सिमेंटो, ६, १४६, १९५७। [रा० नि० रा०]

भौमिकी या भूविज्ञान सामान्य भूविज्ञान के विस्तार की सीमाएँ सुनिर्धारित नहीं हैं। इसके अंतर्गत पृथ्वी संबंधी अनेकानेक विषय आ जाते हैं, जिनमें से एक मुख्य प्रकरण उन प्राकृतिक क्रियाओं की विवेचना है जो चिरंतन काल से धरातल पर होती चली आ रही हैं एवं जिनके फलस्वरूप भूपृष्ठ का रूप निरंतर परिवर्तित होता रहता है, यद्यपि उसकी गति साधारणतया बहुत ही मंद होती है। अन्य प्रकरणों में पृथ्वी की आयु, भूगर्भ, ज्वालामुखी क्रीडा, भूसंचलन, भूकंप और पर्वतनिर्माण, महाद्वीपीय विस्थापन, भौमिकीय काल में जलवायु परिवर्तन तथा हिमनदी युग विशेष उल्लेखनीय हैं।

भूपृष्ठीय परिवर्तनों के अध्ययन को बहुधा गतिकीय (dynamical) भूविज्ञान भी कहते हैं। स्पष्ट है कि यह नाम पृथ्वीय वातावरण की गतिशील स्थिति की ओर संकेत करता है, किंतु आजकल यह नाम कुछ विशेष प्रचलित नहीं है और इसके स्थान पर प्राकृतिक भूविज्ञान अधिक प्रचलित होता जा रहा है।

प्राकृतिक भूविज्ञान

इस विज्ञान के तीन मुख्य अंग होते हैं, जो इस प्रकार हैं :

(१) प्राकृतिक कारकों द्वारा पृष्ठीय शैलों का क्षय (decay), अपरदन (erosion) एवं अनाच्छादन (denudation) तथा उससे उत्पन्न अवसाद इत्यादि का परिवहन (transport), (२) अवसाद का संचयन (accumulation) तथा (३) संचित अवसाद का संयोजन (cementation) और दृढ़ीभवन।

१. प्राकृतिक कारकों द्वारा क्षय — जो प्राकृतिक कारक पृष्ठीय पदार्थ को प्रभावित करते हैं, वे अपने क्रीडाक्षेत्र की परिस्थिति के अनुसार दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं : (अ) धरातलीय (surface) और (ब) अंतर्भौम (subterranean)। इनमें धरातलीय कारकों की क्रियात्मक ऊर्जा प्रधानतया एवं चरमतः सूर्य से उत्पन्न होती है। इस वर्ग में (क) वायुमंडल के विभिन्न अवयव, वर्षा इत्यादि, (ख) अंतर्भौम जल और सोते, (ग) नदी तथा (घ) हिमनदी, समुद्र तथा झील विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका क्रीडाक्षेत्र मुख्यतः भूमंडल का थल भाग होता है, जिसमें समुद्री तट भी संमिलित होंगे। समुद्र के नितल पर इनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता और पृष्ठ के गहरे भागों में भी इनकी प्रवेश्यता अपेक्षाकृत अति सूक्ष्म होती है।

अंतर्भौम कारकों की ऊर्जा का प्रधान स्रोत पृथ्वी की आंतरिक उष्णता ही है। इस वर्ग में पटलविरूपण (diastrophism) ज्वालामुखी क्रीडा, उष्ण सोते और भूकंप इत्यादि आते हैं। स्पष्ट है कि इनका मूल क्रीडाक्षेत्र धरातल के नीचे है और उनसे उत्पन्न प्रभाव धरातल के ऊपर कभी आ जाते हैं और कभी नहीं आ पाते।

धरातलीय अभिकर्ताओं की क्रियाएँ निम्नलिखित हैं :

(अ) वायुमंडल — वायुमंडल में चार ऐसे मुख्य अवयव हैं जो भूपृष्ठ के प्रति कार्यशील रहते हैं : (१) वर्षा, (२) ताप परिवर्तन, (३) तुषार और (४) वायु।

१ वर्षा — वर्षा एक बहुत सामान्य, किंतु अत्यंत शक्तिमान कारक है। इसके कार्य की विधि कुछ रासायनिक और कुछ बलकृत (mechanical) होती है। पूर्णतया शुद्ध जल में रासायनिक क्रिया करने की क्षमता प्रायः बिल्कुल नहीं होती। यद्यपि वर्षा-जल पृथ्वी पर पहुँचने से पूर्व अधिकांश शुद्ध होता है, फिर भी आकाशमार्ग से आते समय उसमें वायुमंडलीय ऑक्सीजन और कार्बन डाइऑक्साइड दोनों ही पर्याप्त मात्रा में विलीन हो जाते हैं। आक्सीकृत और कार्बनीकृत वर्षाजल की अभिक्रिया से पृष्ठीय शैलों के अनेकानेक खनिज अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ऑक्साइडों और कार्बनेटों में परिवर्तित हो जाते हैं। कुछ खनिज, अथवा उनके अंश, जल के साथ रासायनिक यौगिक हाइड्रेट भी बना लेते हैं। इस प्रकार वर्षाजल की रासायनिक क्रिया द्वारा शिलाएँ अपघटित (decomposed) हो जाती हैं। नए बने हुए पदार्थों में कुछ विलेय होते हैं और कुछ अविलेय। विलेय अंश बनने के साथ ही जल में विलीन होकर बह जाते हैं और अविलेय अंश जहाँ के तहाँ छूट जाते हैं। अविलेय भाग में मिट्टी के अणु और बालू इत्यादि होते हैं, जो कालांतर में संचित होकर विविध भाँति की मिट्टी के स्तर बनाते हैं।

कभी कभी अविलेय पदार्थ को संचित होने का अवसर ही नहीं *मिल पाता, अपितु वर्षा का जल धरातल पर बहते हुए उसे भी*

पूर्णतया, अथवा अंशतः, अपने साथ बहाकर ले जाता है। जब तक जल में पदार्थ को बहा ले जाने की शक्ति रहती है, तब तक वह बहता चला जाता है और शक्ति के क्षीण होने पर वह जहाँ तहाँ बैठ जाता है। इस प्रकार वर्षा के जल द्वारा बहाए हुए पदार्थ को (rain wash) कहते हैं। इसकी मात्रा धरातल की ढाल और वर्षा की गति पर निर्भर होती है। ढाल की प्रवणता और वर्षा की तीव्रता दोनों ही वर्षा के जल के बहाने की शक्ति को वर्धित करती हैं।

वर्षा की क्रिया के परिणामों पर स्थानीय जलवायु का भी बहुत प्रभाव पडता है। यदि दो प्रदेशों में वार्षिक वर्षा की मात्रा प्रायः समान हो, किंतु एक में हलके हलके छींटे बार बार पड़ते हों और दूसरे मे कभी कभी किंतु बहुत तीव्र वर्षा होती हो, तो इन दोनों प्रदेशों में वर्षा का प्रभाव भिन्न भिन्न होगा। इसी प्रकार सूखे और बरसाती मौसमों के एकांतरणवाले प्रदेशों में भी वर्षा का प्रभाव एकदम भिन्न हो जाता है। ताप की विभिन्नता का भी वर्षा की क्रियाशीलता पर प्रभाव पडता है। उष्णताप्रधान देशों में वर्षा के जल मे अपघटन करने की शक्ति, शीतप्रधान देशों की अपेक्षा, कहीं अधिक होती है।

(२) तापपरिवर्तन — बारी बारी से गरमी और सर्दी के प्रभाव में पडकर चट्टानें शनैः शनैः छिन्न भिन्न होकर मोटे या महीन चूरे के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। द्रव्य का यह साधारण गुण है कि गरमी के प्रभाव से फैलता है और सर्दी पाने पर सिकुड़ता है। फैलने एवं सिकुड़ने की मात्रा द्रव्यविशेष पर निर्भर होती है, अर्थात् कोई द्रव्य अधिक फैलता है और कोई कम। बहुत सी शिलाएँ दो, तीन या और अधिक खनिजों की बनी होती हैं। अतः दिन की गरमी मे ये सब खनिज अपने अपने गुणों के अनुसार फैलते हैं और रात्रि में ठंढे होते हुए सिकुड़ते हैं। कोई खनिज कम फैलता है, कोई अधिक। जो खनिज अधिक फैलता है, वह दूसरों पर एक प्रकार का दबाव डालता है जिससे कण छिन्न भिन्न होने लगते हैं। दिन प्रति दिन इस प्रक्रम के चलते रहने से प्रभाव बढ़ता जाता है और कालांतर में शैलों की ऊपरी परतें चूर्णप्राय हो जाती हैं तथा थोडा भी ऊपरी आघात लग जाने से छिन्न भिन्न हो जाती हैं। प्रत्यक्ष है कि दिन और रात के ताप मे जितना ही अधिक अंतर होगा, उतने ही अधिक वेग से शिलाएँ छिन्न भिन्न होंगी।

इस क्रिया मे खनिजों के रासायनिक संघटन में प्रायः बिलकुल ही परिवर्तन नही होता, केवल खनिजों के पारस्परिक बंधन इतने ढीले पड जाते है कि वे एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। इसी से इस क्रिया को विघटन (Disintegration) कहते हैं। वर्षा और तापपरिवर्तन दोनो की संमिलित क्रिया से, जो बहुधा प्रकृति में होती है, शिलाओं के अपघटन और विघटन दोनो को प्रोत्साहन मिलता है।

(३) तुषार — तुषार की क्रिया भी केवल बलकृत ही होती है। इस कारक की शक्ति का स्रोत यह सामान्य गुण है कि ४° सें० (प्रायः ३९° फा०) पर जल का आपेक्षिक घनत्व अधिकतम होता है। इससे और अधिक ठंढा होने पर घनत्व कम होने लगता है, अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि जल के आयतन में वृद्धि हो जाती है। ०° सें० (३२° फा०) पर जब जल बर्फ मे रूपांतरित होता है, तब उसका आयतन प्रायः दशमांश बढ़ जाता है। अतः कृत्रिम विधि से बर्फ जमाने में इस बात का ध्यान रखना नितांत आवश्यक होता है कि बर्फ के बढ़े हुए आयतन के लिये पात्र मे रिक्त स्थान होना चाहिए। इस स्थान के अभाव मे फैलती हुई बर्फ के दबाव से पात्र के फूट जाने की आशंका होती है। इसी तथ्य के अनुसार शीतप्रधान देशों में जब शिलाएँ तुषार के प्रभाव मे आती हैं, तो उनके अंग अंग छिन्न भिन्न हो जाते हैं। शिलाओं के छिद्रों और विदरों मे जल घुस जाता है और वह प्रति दिन सर्दी पाने पर जमता है और गरमी पाने पर पिघलता है। इससे कुछ ही काल मे चट्टानों की ऊपरी परतों के अवयव कमजोर और प्रायः असंबद्ध हो जाते हैं। बाद में वर्षा तथा वायु आदि के आघात से वे सहज ही चूर चूर हो जाते हैं। बहुधा तुषार का यह प्रभाव विस्फोटी होता है। शीतप्रधान देशों के उन भागों में जहाँ वनस्पति कम हो, खुली, अनाच्छादित चट्टानें इस प्रकार टूटे हुए शैल खंडों से ढकी रहती हैं एवं पहाड़ियों के तलों मे इस प्रकार से बने खंडों की बडी राशियाँ एकत्रित हो जाती हैं, जिसे शैलमलवा (Talus) कहते हैं। इन खंडों का कोई निश्चित आकार नही होता और इनके कोने बहुधा नुकीले एवं पैने होते हैं। शैल विघटन के लिये तुषार बहुत ही शक्तिशाली कारक है, किंतु इसका कार्यक्षेत्र केवल शीतप्रधान प्रदेश ही है।

(४) वायु — वायु के विशिष्ट क्रीड़ाक्षेत्र रेगिस्तान और ऊँचे पार्वत्य प्रदेश हैं, जहाँ यह बहुधा तीव्र गति से बहती है। अनुकूल परिस्थितियों मे इसमें बलकृत अपरदन करने की अपूर्व क्षमता होती है। इसकी शक्ति का मुख्य रहस्य इस बात में है कि यह अनगिनती छोटे बड़े बालू और मिट्टी के कणों को बडी तीव्र गति से उडा ले जाती है। प्रचंड वात मे बहते हुए ये कण बारंबार एक दूसरे से टकराते हैं, जिससे अपघर्षण होता है और शनैः शनैः कण लघुतर होते जाते हैं। साथ ही झंझावात के मार्ग मे जो पहाड़, चट्टानें एवं पत्थर के खंड आ जाते हैं, उन सबके ऊपर भी ये बालू झोंका (sand blast) की भाँति आघात करते हैं, जिससे वे सभी अपघर्षित होते रहते हैं।

साधारणतया बालू धरातल से अधिक ऊँचाई तक नहीं उठ पाती। इस कारण वायु की अपरदन-क्रिया-क्षेत्र की ऊँचाई भी उसी अनुपात से सीमित रह जाती है। फलतः बहुधा रेगिस्तानी प्रदेशों मे पहाड़ियों और चट्टानों के निचले भाग तो अपघर्षित हो पतले एवं सकीर्ण हो जाते हैं, किंतु ऊपर का धड़ अप्रभावित छूट जाता है। इस प्रकार के अधोरदन (undercutting) से कुकुरमुत्ता आदि सदृश कुछ विलक्षण आकृतियाँ बन जाती हैं।

रेगिस्तानी प्रदेशों मे वायु की दिशा प्रायः बहुत समय तक समान बनी रहती है, जिससे इनकी अपघर्षण और अपरदन की दिशा भी बहुत समय तक अपरिवर्तित रहती है। इस कारण रेगिस्तानों में व्युत्पन्न गोलाश्म (boulder) गोल मटोल न होकर, कोणीय और फलकीय होते हैं। वस्तुतः इनके लिये गोलाश्म शब्द अनुपयुक्त है और

इसके स्थान पर जर्मन शब्द ड्रीकैंटर (dreikanter) का प्रयोग करना चाहिए।

वायु में अपरदन के साथ साथ परिवहन की भी विलक्षण शक्ति है। महीन बालू और धूल के कणों को बड़े विशाल परिमाण में वायु वर्ष प्रति वर्ष रेगिस्तानी प्रदेशों से उड़ाकर ले जाती है और ऐसे स्थानों में निक्षेपित कर देती है जहाँ उसका वेग कम हो जाता है और घास एवं झाड़ियाँ उसके मार्ग मे रुकावट डालती हैं। इस प्रकार से परिवाहित पदार्थ के निक्षेपो को वायूढ बालू (aeolian sand) और वायूढ़ मृत्तिका कहते हैं। उत्तरी चीन मे इस प्रकार से बनी वायूढ़ मृत्तिका का एक बड़ा विशाल निक्षेप है, जिसकी मोटाई ३०० से ४५० मीटर तक है और जिसे वायु मध्य एशिया के रेगिस्तानों से उड़ा कर यहाँ ले आई है।

(ख) **आंतभौम जल और सोते** — वर्षा द्वारा आए हुए जल का कुछ भाग वाष्पीकरण से पुनः वायुमंडल में चला जाता है, कुछ धरातल पर बहता हुआ नदियो के मार्ग से समुद्र मे पहुँच जाता है और कुछ पृथ्वी मे अतःस्रवित हो जाता है। जो भाग धरातल पर बह जाता है, उसे अपवाह (run off) कहते हैं और जो पृष्ठ मे अतःस्रवित होता है, उसे भूमिगत अथवा आंतभौम जल (Ground water or Vadose water) कहते हैं। इन तीनो भागो का पारस्परिक अनुपात स्थानीय जलवायु, स्थलाकृति और भौमिकी पर निर्भर रहता है। आर्द्र जलवायु के प्रदेशों मे वाष्पीकरण अपेक्षाकृत अल्प होता है। इसके विपरीत सूखे प्रदेशों मे वाष्पीकरण की मात्रा प्रबल होती है। समान जलवायु के प्रदेशों मे स्थलाकृति की विषमता के साथ अपवाहित जल की मात्रा अधिक होती जाती है। भौमिकी का वृत्त भी अत्यत महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि कुछ शिलाएँ बहुत रध्री तो होती हैं, पर साथ ही उनकी प्रवेश्यता (perviousness) बहुत अल्प होती है, जैसे शैल और मृत्तिका। इनके अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी की शिलाएँ न तो रध्री होती और न प्रवेश्य, जैसे ग्रैनाइट। अत अतःस्रवित जल की मात्रा स्थानविशेष के शैलों के भौतिक लक्षणों पर निर्भर होती हैं।

धरातल में कुछ गहराई पर पहुँचने पर, भूमि और शैल जल से संतृप्त हो जाते हैं। संतृप्ति की सतह को 'भौमजल स्तर' (Water table) कहते हैं। इस स्तर की गहराई क्षेत्रविशेष की वार्षिक वर्षा की मात्रा, स्थलाकृति और स्थानीय भौमिकीय सरचना पर निर्भर होती है। साधारणतया भौमजलातर सूखे प्रदेशो की अपेक्षा आर्द्र क्षेत्रो मे धरातल के समीप होता है। समुद्र, झील, सरोवर एव बड़ी नदियों के समीपस्थ भागों मे भी यह स्तर अपेक्षाकृत धरातल के समीप होता है। सूखा पड जाने से यह गहराई मे चला जाता है और अति वृष्टि होने पर ऊपर आ जाता है।

आंतभौम जल पृष्ठ मे कितनी गहराई तक समा सकता है, यह बात भी स्थानीय शैलों की सरचना पर निर्भर है। जल शैलकणो के बीच के रंध्री स्थानों और विवरों मे समा जाता है, अत जितनी गहराई तक शैलों मे रध्र, अथवा विदर होंगे, उतनी ही दूर तक आंतभौम जल भी जा सकेगा। साधारणतया गहरे भागो मे उपरिशायी शैलो के दबाव के कारण अधिकाश विदर एव संधितल बंद हो जाते हैं। रंध्रावकाश भी अल्प हो जा सकता है। ऐसी स्थिति में आंतभौम जल अधिक गहराई में न जाकर पार्श्व की ओर अग्रसर होने लगता है। अततः इसका लक्ष्य समुद्र है। कभी तो यह भूमिगत मार्गों से ही वहाँ पहुँच जाता है और कभी उसे ऐसे मार्ग मिल जाते हैं, जिनसे वह पुनः धरातल पर सोतों के रूप मे पहुँच जाता है।

खुले हुए तथा चौड़े विदरों और संधितलों के अतिरिक्त, अन्यत्र आंतभौम जल की प्रवाहगति साधारणतया अति मंद होती है। इसी कारण उसमें किसी प्रकार की बलकृत क्रिया करने की शक्ति नहीं होती, किंतु अनुकूल परिस्थितियो मे यह रासायनिक क्रिया अवश्य कर सकता है। विदर और सधितलो के अनुप्रस्थ आगे बढ़ते हुए यह, वर्षाजल की ही भाँति, दीवारो के शैलों के खनिजों को ऑक्सीकृत, कार्बनीकृत, अथवा जलयोजित कर देता है और इस प्रकार शैल का अपघटन हो जाता है।

जिस भूभाग मे चूनापत्थर के शैल हों, वहाँ आंतभौम जल को कार्य करने का बहुत बड़ा क्षेत्र मिल जाता है। कार्बनीकृत जल में चूनापत्थर विलीन हो जाता है। अतः चूनापत्थर के स्तरों में से बहता हुआ जल उसके अनेकानेक भागो को विलीन कर गुफाएँ बना डालता है। कभी कभी इस प्रकार बनी गुफाओं का आकार बड़ा, कई सौ मीटर तक लंबा और ४-५ मीटर गहरा हो जाता है और इनमे से बहता हुआ जल आंतभौम नदी बना देता है।

कही कही कार्बोनेटयुक्त जल गुफा की छत से टपकने लगता है। टपकते पानी का कुछ भाग वाष्पीकृत होकर उड जाता है और उसमे विलेय कैल्सियम कार्बोनेट टपकनेवाले स्थान पर अवक्षेपित हो जाता है। एक ही स्थान पर बूँदों के बारबार टपकने और उसी स्थान पर कैल्सियम कार्बोनेट के निरंतर अवक्षेपण से एक स्तंभाकार राशि बन जाती है, जिसे स्टैलेक्टाइट (stal ctite) कहते हैं। इसी प्रकार की क्रिया गुफा के फर्श पर टपके हुए जल के वाष्पीकरण से भी होती है और उससे भी अवक्षेपित कार्बोनेट से ऐसी स्तभाकार आकृति बनती है जो फर्श से छत की ओर बढती है। इन आकृतियो को स्टैलैग्माइट (stalagmite) कहते है। कभी कभी स्टैलेक्टाइट और स्टैलैग्माइट एक दूसरे की ओर बढते हुए मिलकर गुफा की छत से फर्श तक का सतत स्तभ बना देते हैं। कभी इस प्रकार अवक्षेपित कार्बोनेट की राशि का कोई विशिष्ट रूप नहीं होता। ऐसी अवस्था मे उसे कैल्क सिसाद (calc sinter), टूफा (tufa) या ट्रैवर्टाइन (travertine) कहते हैं। किन्हीं किन्हीं गुफाओं में इस प्रकार अवक्षेपित कार्बोनेट की मात्रा इतनी विशाल हो जाती है कि ऐसे कार्बोनेट से व्यवसाय चल सकता है।

सोते — ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि कभी कभी आंतभौम जल सोतो के रूप मे पुन धरातल पर लौट आता है। यह घटना स्थानीय शैलो के विशिष्ट विन्यास के ऊपर निर्भर करती है। यदि कोई बालूपत्थर का रंध्री शैल, र, (देखें चित्र १) इस प्रकार विन्यस्त हो कि उसके ऊपर और नीचे पूर्णतया अथवा प्रायः अपारगम्य शैल, मृत्तिका, शेल (shale) या अन्य कोई उसी गुण की शिलाएँ स्थित हों, तो आंतभौम जल रध्री शैल में रिसता हुआ, अपारगम्य शिला के ऊपरी सस्पर्श तल तक पहुँचने के बाद, स्तरो की ढाल के अनुसार पार्श्ववर्ती दिशा में बढ़ने लगेगा। उसी दिशा में

जहाँ कहीं वह शैल किसी प्राकृतिक काट (नाला, खड्ड इत्यादि) मे अनाच्छादित हो प्रगट होगा, तो उस (चित्र १. मे स) स्थान पर प्रांतभौम जल सोतों के रूप में बहने लगेगा।

बहुधा शैलों मे उपस्थित भ्रंशतल भी सोतों के बनने में सहायता देते हैं। यदि किसी भ्रंश के कारण कोई अपारगम्य शैल विस्थापित
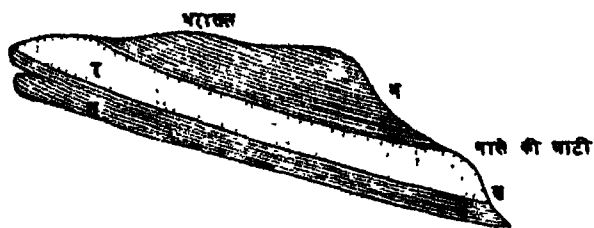
चित्र १ सोतों की उत्पत्ति

र. रंध्री शैल (बालू पत्थर), म. अपारगम्य शैल (मृत्तिका), तथा स सोते का स्थान।

होकर रंध्री और पारगम्य शैल के सान्निध्य में अवस्थित हो जाय, जैसा चित्र २. मे दिखाया गया है, तो उस स्थान पर जहाँ भ्रंशतल किसी प्राकृतिक काट (नाला, इत्यादि) के अनुप्रस्थ अनाच्छादित होगा, वहाँ सोते फूटने लगेंगे।

सोतो के पानी में प्राय सदैव खनिज पदार्थ थोडी बहुत मात्रा मे विलीन होते हैं। जब इनकी मात्रा भार के अनुसार १ प्रति शत से अधिक हो, तब उसे खनिज सोता कहते हैं। पर सर्वसाधारण व्यवहार मे किसी भी ऐसे सोते को, जिसके पानी में विलीन खनिज पदार्थ के
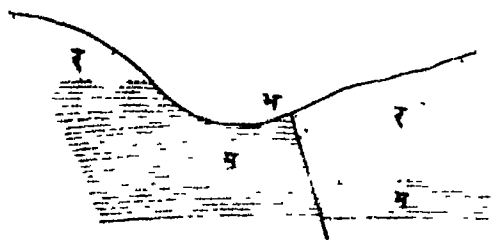
चित्र २. सोतों की उत्पत्ति

र. रंध्री शैल (बालू पत्थर), म. अपारगम्य शैल (मृत्तिका) तथा भ. भ्रंश तल।

कारण कुछ विशिष्ट स्वाद हो, खनिज सोता कहते हैं; किंतु कैल्सियम कार्बोनेट जैसे खनिज बहुत प्रचुर मात्रा मे होने पर भी कुछ स्वाद नही देते और मैग्नीशियम के लवण अति अल्प मात्रा मे भी स्वाद देने लगते हैं।

सोतो का पानी बहुधा दबाव के अधीन होता है। पानी के बाहर आते ही दबाव में कमी हो जाती है और उसके साथ पानी की विलेयता में भी ह्रास हो जाता है। अतः सोतों के उद्गम स्थान पर बहुधा खनिज पदार्थ अवक्षेपित हो जाता है। इस पदार्थ का संघटन प्रायः चूर्णिक अथवा सिलिकीय होता है और ये निक्षेप संघटन के अनुसार, कैल्क सिसाद (calc sinter), अथवा सिलिकीय सिसाद (siliceous sinter) कहलाते हैं। कभी कभी लोह कार्बोनेट, अथवा अन्य लवण, या गंधक भी अवक्षेपित हो जाते हैं।

किसी किसी सोते का पानी बहुत गरम होता है और कभी कभी पानी रेडियोऐक्टिव भी होता है। बिहार राज्य मे राजगिरि के गरम पानी के सोते बहुत प्रसिद्ध हैं। इन सोतों का पानी प्रायः पृष्ठ के बहुत गहरे भागों से आता है।

कुछ सोतों का पानी प्रांतभौम न होकर मैग्मीय उत्पत्ति का भी होता है, अर्थात् ऐसा जल जो सुदूर गर्भ मे मैग्मीय पदार्थ (द्रवीभूत शैल पदार्थ) से निकले हुए वाष्प से युक्त होता है। ऐसे सोते को मैग्मीय (magmatic) सोता कहते हैं।

उत्स्रुत (Artesian) कूप — कही कहीं प्रांतभौम जल ऐसी विशिष्ट परिस्थिति में विद्यमान होता है कि उस स्थान पर कुआँ बनाने से पानी स्वतः ऊपर चढ़ आता है, और कहीं कहीं तो पानी की धार फौवारे की भाँति धरातल से कई मीटर तक ऊपर उछलती हुई निकलती है। इन्हे उत्स्रुत कूप कहते हैं। इनके बनने के लिये अनिवार्य प्रवेश्य प्रतिबंध ये हैं (१) प्रांतभौम जल एक ऐसे रंध्रमय और अप्रवेश्य शैल के अंदर संचित हो जिसके ऊपर और नीचे दोनों ओर अपारगम्य शैल अवस्थित हो, (२) स्तरों के प्रवण की दिशा मे जल के बहकर निकल जाने का मार्ग अवरुद्ध हो और (३) जल का मूल स्रोतस्थान, कुआँ बनाने के स्थान से इतनी ऊँचाई पर हो कि वाञ्छनीय तरल स्थैतिक दाब उत्पन्न हो सके, जिसके प्रभाव से कुआँ बनने पर जल स्वतः धरातल तक ऊपर उठ जाय। इस प्रकार की संरचना का एक आदर्श आरेख परिच्छेद चित्र ३. में दिया हुआ है।

मद्रास प्रांत के दक्षिण आर्काट जिले मे नैवेली स्थान पर, जहाँ पीट (peat) के विशाल निक्षेप मिले हैं, बहुत ही उल्लेखनीय उत्स्रुत स्थिति पाई गई है। वहाँ उत्स्रुत जल की दाब और मात्रा दोनों ही इतनी अधिक है कि पीट के उत्खनन मे बहुत कठिनाई हुई है, तथा जल को नियन्त्रित करने के लिये विशेष साधन प्रयुक्त करने पड़े हैं।

(ग) नदी — प्राकृतिक कारको मे नदी बहुत ही प्रभावी तथा कार्यशील है। यह अपरदन, परिवहन और निक्षेपण, तीनो ही प्रकार के कार्य अत्यधिक परिमाण मे करती है। यद्यपि वर्षाजल के कार्य का

चित्र ३. उत्स्रुत कूप का परिच्छेदी आरेख
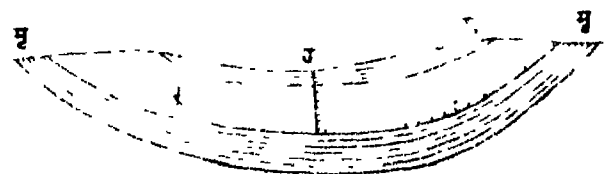
र. रंध्री शैल (बालूपत्थर), मृ. अपारगम्य शैल (शैल) तथा उ. उत्स्रुत कूप।

महत्व कुछ कम नही है, फिर भी नदी की क्रिया लबी एवं अपेक्षाकृत संकीर्ण घाटियो मे संकेंद्रित होने के कारण, इसका प्रभाव व फल अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है।

अपरदन — वर्षाजल की भाँति ही नदी का जल भी अपनी

घाटी के तल और किनारो के शैलों को रासायनिक क्रिया द्वारा अपघटित कर सकता है। इस प्रकार उत्पन्न अपघटित पदार्थ का विलेय अंश नदी के जल मे घुल जाता है और अविलेय भाग भी धार के साथ बह जाता है। यह क्रिया नदी अपने पर्वतीय प्रदेश के मार्ग मे सुगमता से करती है, क्योंकि वहाँ धार इतनी वेगवान होती है कि प्राय: सदैव नए, अनपघटित शैलों की स्तरें अनाच्छादित होती रहती हैं, जिससे कि वे सहज ही क्रिया के प्रभाव मे आती रहती हैं। किंतु मैदानी प्रदेश में धार का वेग कम हो जाने पर, घाटी का तल मृत्तिका और बालू के आवरण से आच्छादित हो जाता है। फलत. अनपघटित शैलो से संपर्क भी कम हो जाता है। जिन प्रदेशो मे चूनापत्थर के शैल अधिक हों, वहाँ रासायनिक क्रिया बहुत प्रचुर परिमाण में होती रहती है, क्योंकि कार्बोनेटी जल में चूनापत्थर सहज ही विलीन हो जाता है।

रासायनिक की अपेक्षा बलकृत अपरदन करने की शक्ति नदी मे बहुत अधिक होती है। साधारणतया शुद्ध जल शैलों को अपघर्षित नहीं कर सकता, किंतु जब उसमे बालू और बजरी मिली हो तो स्थिति बदल जाती है, क्योंकि वे दोनों एक दूसरे को सबलित करते हैं। नदी का जल शक्ति प्रदान करता है और बालू एवं बजरी अपघर्षण करते हैं, जिसके प्रभाव से तह और किनारे शनै. शनै. छिन्न भिन्न होते चले जाते हैं। छोटी छोटी बटियाँ तथा किंचित् बड़े गोलाश्म भी नदी की तह के अनुप्रस्थ लुढ़कते हुए आगे बढ़ते हैं। इस क्रिया मे उनका भी अपघर्षण हो जाता है और वे शनै: शनै. छोटे होते जाते हैं। साथ ही वे स्वयं भी तह के शैलों को अपघर्षित करने मे भाग लेते हैं।

नदी की अपघर्षण शक्ति धार की तीव्रता पर निर्भर है, और धार की तीव्रता स्थलाकृति पर आधारित है। ढाल जितनी ही प्रवण होती है, धार भी उसी के अनुसार तीव्र होती है। साथ ही जल की मात्रा भी धार की गति को प्रभावित करती है। जल की मात्रा के साथ धार की गति उसके घनमूल के अनुपात से बढती है, अर्थात् यदि जल की मात्रा आठगुनी हो जाय, तो धार की तेजी दुगुणी हो जाती है। फलत., जिन देशों मे सूखे और बरसाती मौसम पृथक् पृथक् होते हैं, वहाँ नदियों की अपरदन शक्ति बरसात के दिनो मे बहुत बढ जाती है।

आरभ मे, विशेषकर कठोर चट्टानों के प्रदेश मे, नदी के तट प्राय: एकदम खड़े और प्रपाती होते हैं। किंतु वायुमडलीय कारकों के प्रभाववश किनारों के ऊपरी भाग शनै शनै: अपक्षीण होने लगते हैं। इससे उत्पन्न अपघटित और खंडित पदार्थ नदी बहा ले जाती है। इसके फलस्वरूप कालातर मे नदी की घाटी का परिच्छेद V आकार का हो जाता है, अर्थात् उसके दोनो किनारे तल की ओर ढालू हो जाते है।

नदी ऊँचे स्थान से बहकर समुद्र की ओर जाती है, अत: उसका प्रयत्न सदैव यही होता है कि वह थल भाग को काटकर इतना नीचा कर दे कि वह समुद्रतल के बराबर हो जाय। इस तरह नदी के शीर्ष से सगम तक के अनुदैर्घ्य परिच्छेद की प्रवणता शीर्ष की ओर सबसे अधिक और सगम के समीप सब से कम होती है। दूसरे शब्दो मे, नदी का ऊर्ध्वाधर कटाव घाटी के ऊपरी भागों में सबसे अधिक होता है और समुद्र की ओर बढने पर कम होता जाता है। जब नदियों की घाटी ऐसी स्थिति में पहुँच जाय कि ऊर्ध्वाधर कटाव एक दम बंद हो जाय, और उसकी घाटी का तल समुद्रतल के समान हो जाय, तो वह अपरदन के चरम स्तर (base level of erosion) पर पहुँच जाती है। वह घाटी, जिसमे ऊर्ध्वाधर कटाव तीव्रता से प्रगतिशील हो, तरुण कहलाती है, जो चरमस्तर पर पहुँच चुकी हो उसे वृद्ध एव इनकी मध्यस्थ अवस्था को प्रौढ़ कहते हैं। एक ही घाटी के विभिन्न भागो मे तीनों अवस्थाएँ विद्यमान हो सकती हैं।

यदि किसी वृद्ध सरिता की घाटी के प्रदेश मे विवर्तनिक (tectonic) शक्तियों के प्रभाव से स्थलाकृतिक परिवर्तन हो जाए तथा स्थल वैषम्य पुन उत्पन्न हो जाए तो नदी का पुनर्युवन हो जाता है और वह एक बार फिर ऊर्ध्वाधर कटाई आरभ कर देती है।

साधारणतया नदी की घाटी की प्रवणता (gradient) क्रमिक होती है, यद्यपि प्रवणता की मात्रा स्थान स्थान पर घट बढ़ सकती है। किंतु कभी कभी प्रवणता अक्रमिक भी हो जाती है और जल-प्रपात बन जाते हैं। यह स्थिति विशेषकर ऐसे प्रदेशो मे होती है जहाँ कठोर और मृदु शिलाओं का एकातरण होता है। मृदु स्तर सुगमता से अपरदित होकर बह जाता है, जिससे वहाँ घाटी का उत्कीर्णन अधिक मात्रा मे हो जाता है। कठोर स्तर अवरोधी होता है और जहाँ का तहाँ खड़ा रह जाता है। पानी उसके ऊपर से बहता हुआ घाटी के मृदु स्तरवाले अधिक उत्कीर्ण भाग में गिरने लगता है। इस प्रकार घाटी की प्रवणता अक्रमिक हो जाती है और जल-प्रपात बन जाते हैं।

बहुधा कालातर मे इन प्रपातों का स्थान भी क्रमश नदी के शीर्ष की ओर हटता जाता है। होता यह है कि प्रपात के स्थान पर पानी के ऊँचाई से गिरने के कारण नदी की धार मे तेजी आ जाती है, जिससे उसकी अपरदन शक्ति और बढ जाती है। प्रपात के ठीक नीचे एक प्रकार का दह बन जाता है, जिसमे भँवर पड़ने लगते हैं तथा उनमे तीव्रता से घूमता हुआ पानी प्रपात की दीवार को काटने लगता है। इस प्रकार नीचेवाला मृदु स्तर और भी तेजी से कटता जाता है और एक प्रकार का तलोच्छेदन होने लगता हैं, जिससे कठोर स्तर निरवलब होकर बाहर को निकल आता है। कालातर मे तलोच्छेदन के और बढ जाने पर, कठोर स्तर का सबसे अग्रिम भाग अवलब के अभाव मे टूटकर गिर पड़ता है और प्रपात का स्थान गिरे हुए शैल की नाप के बराबर पीछे हट जाता है। यह क्रिया बारबार होती रहती है और प्रति बार प्रपात का स्थान क्रमश. पीछे हट जाता है। इस प्रकार के अपरदन के कारण कड़ी चट्टान के टूटने से, प्रपात के प्रारंभिक स्थान से पीछे की ओर एक गहरी घाटी बनती चली जाती है। जबलपुर के समीप नर्मदा नदी की सगमर्मर के शैलो मे उत्कीर्ण घाटी और भेड़ाघाट का जलप्रपात इस घटना का सुंदर दृष्टांत हैं। विश्वविख्यात न्यागरा नदी का प्रपात इसी प्रकार बना है। वहाँ की गई मापो से मालूम होता है कि प्रपात प्रति वर्ष अपने स्थान से प्राय. डेढ़ मीटर पीछे हट जाता है। अनुमानत. इसी गति से प्राय: ११ किलोमीटर लंबी न्यागरा की घाटी को बनने मे २० से ३५ हजार वर्ष तक लगे होंगे।

और भी कई परिस्थितियों में जलप्रपात बन सकते हैं, किंतु मूलत: हर अवस्था मे घाटी के विभिन्न अवयवों के अपरदन की गति में अंतर होना आवश्यक है। ये जलप्रपात घाटी की तरुण अवस्था के उपलक्षक होते हैं।

अपरदन की चरम स्तर अवस्था में पहुँचने पर नदी की शक्ति अपने पार्श्वों को काटने मे लग जाती है। जब घाटी एकदम सीधी हो, तो दोनों पार्श्व एक से कटते हैं, किंतु थोड़ी भी वक्रता आ जाने से असमानता उत्पन्न हो जाती है। घाटी के अवतल (concave) पार्श्व की ओर धार में अधिक तीव्रता होती है और इसलिये उधर कटाव अधिक मात्रा मे होता है। इसके विपरीत उत्तल (convex) पार्श्व की ओर धार का वेग कम हो जाने से, न केवल कटाव बंद हो जाता है बल्कि नदी द्वारा परिवाहित लाद का कुछ भाग निक्षेपित होने लगता है। इससे विषमता और बढ़ जाती है और नदी का मार्ग अधिकाधिक वक्र होता जाता है। इस प्रकार विसर्पी मोड़ (meander) की उत्पत्ति होती है। बहुधा इन मोड़ों का आयाम (amplitude) अत्यधिक बढ़ जाता है और मोड़ भी बहुत जटिल हो जाते हैं। कभी कभी दो मोड़ एक दूसरे के इतने पास आ जाते
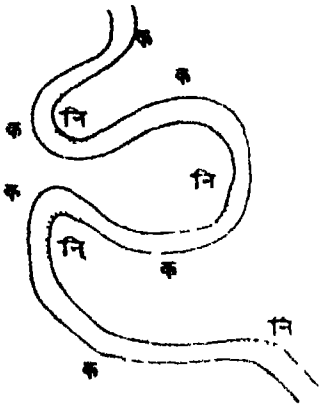
चित्र ४. नदियों की घाटी में विसर्पी मोड़
क. कटाव के केंद्र तथा नि०
निक्षेपण के केंद्र।

हैं कि उनके बीच की एकदम सीधी दूरी, नदी के अनुप्रस्थ मार्ग की दूरी का दशमांश या और भी कम होती है। ऐसी अवस्था में कभी कभी नदी दो मोड़ों के बीच की संकीर्ण ग्रीवा को काटकर, सीधे मार्ग से बहने लगती है और एक या अधिक विसर्पी मोड़ परित्यक्त हो जाते हैं, जिन्हें छाड़न (ox-bow) कहते हैं।

परिवहन — नदी का परिवहन कार्य, प्राय: सभी प्राकृतिक कारकों की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है। निजी अपरदन से उत्पन्न जो शैल चूर्ण, बजरी, बालू और मिट्टी उत्पन्न होती है, वह सब नदी बहाकर समुद्र की ओर ले जाती है; साथ ही वायुमंडलीय कारकों, विशेषकर वर्षाजल द्वारा उत्पन्न शैलचूर्ण तथा खंड भी, कालांतर मे किसी न किसी मार्ग से नदी की घाटी में पहुँच जाते हैं और उसकी धार मे पड़कर वे सब समुद्र की ओर धीरे धीरे आगे बढ़ते जाते हैं। जिन बड़े बड़े खंडों को नदी की धार उठाने मे असमर्थ होती है, वे तह के अनुप्रस्थ लुढ़कते हुए चलते हैं और छोटे कण जल में निलंबित बहते हुए चले जाते हैं।

परिवहन की शक्ति धार की गति पर निर्भर है। यदि गति मे वृद्धि की मात्रा व हो, तो परिवहन शक्ति व॰ हो जाएगी। अर्थात् यदि गति बढ़कर दुगनी हो जाय, तो परिवहन शक्ति ६४ गुनी हो जाएगी। इससे स्पष्ट है कि बरसाती बाढ़ के समय नदियों की परिवहन शक्ति और साथ साथ विनाश शक्ति की मात्रा बहुत भयानक हो जाती है। गंगा, ब्रह्मपुत्र इत्यादि बड़ी नदियों के तटवर्ती निवासी इस विनाशकारी शक्ति से भली भाँति परिचित हैं।

निलंबित बालू और मिट्टी के अतिरिक्त अनेकानेक पदार्थ नदियाँ अपने जल मे विलीन कर, महादेशीय भागों से समुद्र की ओर ले जाती हैं। जैसा वर्षा जल और भ्रातभौम जल के प्रकरणों मे बताया जा चुका है, उनकी रासायनिक क्रिया प्रचुर परिमाण में होती है, जिससे विलेय पदार्थ भी उसी अनुपात में बनता है। यह सभी पदार्थ कालांतर मे नदियों मे पहुँच जाते हैं। नदियाँ स्वयं भी अपनी क्रिया से कुछ विलेय पदार्थ उत्पन्न करती हैं और यह सब क्रमश. समुद्र मे पहुँच जाता है।

गणना कर यह अनुमान किया गया है कि गंगा और ब्रह्मपुत्र अपने सम्मिलित मार्ग से प्राय. ११००×१०^६ घनमीटर मिट्टी और बालू प्रति वर्ष बंगाल की खाड़ी मे पहुँचा देती हैं। अमरीका की मिसिसिपी नदी द्वारा प्रति वर्ष परिवहित पदार्थ की मात्रा २००×१०^६ घन मीटर है। चीन की ह्वांगहो नदी इतने विशाल परिमाण मे मिट्टी ले जाती है कि उसके मुहाने के पास का समुद्र मीलों दूर तक पीला बना रहता है और इसी से वह पीत सागर (Yellow sea) कहलाता है। दक्षिणी अमरीका मे अमेज़ॉन नद द्वारा बहाई मिट्टी और बालू से उसके मुहाने के सामने समुद्र के तल मे जो डेल्टा सदृश भूमि बन गई है, वह प्राय २०० किलोमीटर लंबी है। अनुमानत., विश्व की समस्त नदियों द्वारा प्रति वर्ष परिवहित पदार्थ की मात्रा १६ घन किलोमीटर आँकी गई है।

निक्षेपण — जैसा पूर्ववर्ती खंड में बताया गया है, नदी की परिवहन शक्ति उसकी धार की गति पर निर्भर होती है। अत: ज्योंही उसकी धार की गति मे ह्रास होता है, उसकी लाद का कुछ अंश तुरंत निक्षेपित होने लगता है।

नदी के मार्ग मे सबसे पहला महत्वपूर्ण निक्षेपण केंद्र पहाड़ के तल में उस स्थान पर होता है जहाँ वह पार्वत्य प्रदेश छोड़कर मैदान में प्रवेश करती है। काफी बड़े बड़े गोलाश्म और छोटी बड़ी वटियाँ, जो घाटी के पार्वत्य भाग मे सुगमता से लुढ़कती हुई चली आती हैं, नदी के मैदान में प्रवेश करते ही तल मे बैठ जाती हैं। इस प्रकार पहाड़ों के तलभाग मे एक निक्षेप बन जाता है, जिसे जलोढ शंकु, अथवा पखा (alluvial cone or fan) कहते हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण गतिपरिवर्तन का स्थान नदी के संगम के समीप होता है। एक तो घाटी की ढाल वहाँ पहुँचते पहुँचते यों ही बहुत कम हो जाती है, दूसरे समुद्र व झील का पानी भी बहाव को रोकता है। बहुधा धार का वेग इतना कम हो जाता है कि ज्वार का वेग नदी के वेग से अधिक होता है, जिससे ज्वार के समय नदी की धार

उल्टी बहने लगती है। इसका फल यह होता है कि संगम के पास के प्रदेश में नदी बड़ी तीव्रता से अवसाद और तलछट निक्षेपित करने लगती है और उसकी अपनी बनाई हुई घाटी ही भरने लगती है। अवसाद के जमा होने से नदी का बहना और भी कठिन हो जाता है और नदी कट कटकर कई छोटी धाराओं में विभक्त हो जाती है। कालांतर में इस निक्षेपित अवसाद से एक चौरस मैदान सा बन जाता है, जिसमें से अनेक छोटी धाराएँ अति मंथर गति से बहती हुई समुद्र की ओर जाती है। यह मैदान त्रिभुजाकार होता है, जिसका एक शीर्ष नदी की घाटी के उस स्थान पर होता है जहाँ से धारा का विभाजन आरंभ होता है और उसके सामनेवाली आधाररेखा समुद्र के तट के अनुप्रस्थ होती है। इस प्रकार के प्रदेश को डेल्टा कहते है।

नदी के संगम पर गति के अवरुद्ध होने से बहुधा बालू दीर्घाकार राशियो मे निक्षेपित हो जाता है, जिस बालुकाभित्ति, अथवा रोधिका (sand bar) कहते हैं।

जलोढ शंकु और डेल्टा के बीच के भाग मे नदी बहुधा मौसमी बाढ और उतार से प्रभावित होती रहती है। बाढ के समय नदी मे इतना अधिक पानी आ जाता है जो उसकी घाटी मे नही समा सकता। फलत. वह दोनों किनारो के ऊपर से होता हुआ कुछ दूर तक फैल जाता है। जो प्रदेश इस प्रकार बाढ के प्रभाव मे आ जाता है, उसे बाढ़ मैदान (flood plain) कहते हैं। उस भाग मे नदी की धार की गति मुख्य धार की अपेक्षा बहुत कम हो जाती है, जिससे वहाँ प्रचुर मात्रा मे मिट्टी और बालू निक्षेपित हो जाती है। इसके विपरीत बाढ के समय मुख्य धार की गति साधारण समय की गति मे बहुत अधिक होती है, इसलिये वहाँ अपरदन बढ जाता है और नदी पहले जमा की हुई बालू और मिट्टी को भी काट कर ले जाती है।

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, नदी की चेष्टा अपनी घाटी को निरतर गहरा कर, अपरदन के चरमस्तर पर पहुँचाने की होती है। घाटी की गहराई बढ जाने पर बहुधा ऐसी स्थिति आ जाती है कि बाढ के समय भी पानी पहलेवाली बाढ के मैदान तक न पहुँचने पाए। ऐसी दशा मे नदी एक नया बाढ-मैदान बनाती है। पुरानावाला बाढ़-मैदान नदी वेदिका (river terrace) कहलाता है। बहुधा नदी की घाटियो मे अभिनव तल मे काफी ऊपर दोनो किनारो पर, अथवा एक ही ओर, इस प्रकार की वेदिकाएँ दिखाई पडती हैं। कही कही तो २-३ या और भी अधिक वेदिकाएँ क्रमश: एक दूसरी के ऊपर विभिन्न तलो पर मिलती हैं। उनके अध्ययन मे नदी की घाटी के विकास का इतिहास जाना जा सकता है।

(घ) हिमनदी आदि—ऊँचे पर्वतीय भागो और शीतप्रधान देशो में ठढे मौसम मे जल के बदले हिम वर्षा होती है। जिन प्रदेशो मे हिम-वर्षा उस मात्रा से अधिक हो जितना गरमी के समय मे हिम पिघलता है, वे प्रदेश सदैव ही हिमाच्छादित रहते हैं। जिस ऊँचाई पर ऐसा होता है, उसे हिम रेखा कहते हैं। यह ऊँचाई भिन्न भिन्न अक्षाशो और प्रदेशो मे विभिन्न होती है, यथा हिमालय मे इसकी ऊँचाई प्राय ४,५०० से ५,५०० मीटर तक है, आल्प्स पर्वत मे २,४०० मीटर और नॉर्वे मे केवल १,५०० मीटर है। ध्रुवो के पास, विशेष कर दक्षिणी ध्रुव पर तो समुद्र का बहुत बडा भाग सदैव हिमाच्छादित रहता है।

आकाश से आते समय हिम रूई के गालो के समान कोमल होता है। वस्तुत उसमे प्रचुर मात्रा में वायु मिली होती है। जब एक बड़ी राशि एकत्रित हो जाती है, तो ऊपरी स्तरों की दाब से नीचे की स्तरों मे से हवा निकल जाती है और हिमकण आपस मे मिलकर कठोर बर्फ के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। बहुत विशाल परिमाण मे एकत्रित होने पर, गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से, अनुकूल स्थलाकृति प्रदेशों मे बर्फ की राशि धीरे धीरे नीचे की ओर खिसकने लगती है और इस प्रकार एक नदी सी बन जाती है, जिसे हिमनदी (glacier) कहते हैं। कालातर में नदी की भाँति वह भी अपने लिये एक घाटी बना लेती है, जिसे वह शनै. शनै अधिकाधिक गहरा करती जाती है।

ठोस बर्फ से उत्कीर्ण होने के कारण हिमनदी की घाटियों के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं, जिनमे से तीन प्रमुख हैं: (१) उनका नितल चौड़ा और किनारे प्रपाती होते हैं, जिससे उनका ऊर्ध्व परिच्छेद U आकार का होता है, (२) उनकी घाटियाँ सर्पिल न होकर बहुत दूर तक एकदम सीधी चली जाती हैं और (३) मुख्य हिमनदी और सहायक हिमनदी के संगम के स्थान पर दोनो घाटियो का तल क्रमिक न होकर प्रपाती होता है। इस कारण सहायक नदियो की घाटी निलबी घाटी (hanging valley) कहलाती है।

ठोस होने के कारण हिमनदी की गति बहुत कम होती है। कही कही तो दिन भर मे केवल ३० सेंटीमीटर ही आगे बढती है। कभी कभी वेग अपक्षाकृत अधिक भी होता है। अलास्का मे कुछ हिमनदियाँ एक दिन मे प्राय ढाई तीन मीटर तक बढ़ जाती हैं। यह गति, नदी की गति के समान ही, बर्फ की मात्रा और प्रादेशिक ढाल की प्रवणता पर निर्भर होती है।

हिमरेखा से नीचे पहुँचने पर बर्फ पिघलने लगती है और साधारण नदी का रूप धारण कर लेती है। हिमालय से आनेवाली प्राय: समस्त नदियो के जल का मूल स्रोत यह पिघलती हुई हिमनदियाँ ही हैं। जिन प्रदेशो मे हिमरेखा समुद्रतल के प्राय बराबर ही होती है, वहाँ हिमनदी स्वय समुद्र मे गिर जाती है। ऐसे सगमों पर बहुधा बर्फ की बड़ी बडी राशियाँ पीछे से आनेवाली बर्फ के दबाव से मूल नदी से टूटकर पृथक् हो, समुद्र मे प्रवाहित हो जाती हैं और बहते-बहते काफी दूर निकल जाती है। इन राशियो को प्लावी हिमशैल (iceberg) कहते हैं। प्लावी हिमशैल अन्य कारणो से भी बन सकते है। बहुत ठंढे प्रदेशो मे कभी कभी ऐसा भी होता है कि समुद्र के पास पहुँच जाने पर भी हिमनदी अपना रूप बनाए रहती है और तट के समीप की समुद्र तह को भी उत्कीर्ण कर अपनी घाटी काफी दूर तक आगे बढ़ाती चली जाती है। नॉर्वे और स्वीडेन मे इस प्रकार से बनी घाटियों के बहुत उदाहरण हैं एव उन्हे फियर्ड (fiord) कहते हैं।

नदी की भाँति, हिमनदी भी चट्टानों को अपरदित तथा उनसे टूटे हुए खडों का परिवहन करती है। किंतु दोनो की क्रिया-विधि मे बहुत अतर है। जहाँ नदी की तह मे अनेक छोटे बड़े रोड़े धार के वेग से लुढ़कते हुए आगे बढ़ते हैं, हिमनदी में उनके लुढ़कने के लिये कोई अवसर नहीं। जो टुकड़ा जिस दशा मे बर्फ में फँस जाता है उसी अवस्था मे आगे बढ़ता है। यत्र तत्र चट्टानों के बहुत से टुकड़े टूटकर हिमनदी के ऊपर गिर जाते हैं। ज्यों ज्यों

हिमधार आगे बढ़ती है, ये खंड भी ज्यों के त्यों पड़े हुए आगे बढ़ते हैं। इस भिन्नता के फलस्वरूप जहाँ नदी द्वारा परिवहित पत्थर कुछ काल तक लुढ़कते हुए तथा आपस में टकराते हुए गोल मटोल बटिया स्वरूप हो जाते हैं, हिमधार द्वारा ले जाए गए खंड अंत तक कोणीय व नुकीले ही बने रहते हैं।

इसके अतिरिक्त धार की सहायता से नदी अपने परिवहित पदार्थ को आकार और घनत्व के आधार पर पृथक् पृथक् भागों में विभक्त कर देती है, यथा तेज धार की जगहों पर केवल मोटी बजरी, उससे कम तेज धार मे मोटी बालू एवं गति के क्रमश: और कम होने पर महीन बालू और मिट्टी बारी बारी से घाटी की तह में जमा होती हैं। इसके विपरीत हिमनदी पदार्थ को इस प्रकार छाँट नहीं सकती, अपितु उसकी लाद में बड़े रोड़े, महीन बालू और मिट्टी, विभिन्न आकारो के खंड, सब एक साथ मिले हुए आगे बढ़ते हैं और जहाँ हिमनदी का पिघलना आरंभ होता है, सबका सब बिना किसी विभाजन के एक साथ निक्षेपित हो जाता है।

हिमनदी में पदार्थ के परिवहन की शक्ति अपरिमित है। शिलाओ के बड़े खडो को भी हिमधार उसी सुगमता से परिवहित कर सकती है जिससे कि छोटे कणों को। इस प्रकार जहाँ नदी की घाटी मे मातृ-शैल से पृथक्कृत बड़ी बडी राशियाँ बिना छोटे खंडों में टूटे हुए विशेष दूर तक आगे नही जा सकती, हिमनदी की घाटी मे वे निरंतर आगे परिवहित होती रहती हैं। हिमनदी का जहाँ अंत होता है और बर्फ पिघलती है, वही ये बड़े बड़े खड गिर पड़ते हैं। स्थानीय प्रादेशिक शैलों से इनका कोई मातृ संबंध नही होता, इसीलिये वे विस्थापित (erratic) खड कहलाते हैं। हिमनदी से धरातल पर गिरते समय जिस पहल पर भी ये टिक जायँ, उसीपर टिके हुए ये अनेक काल तक खडे रह जाते हैं। कभी कभी ये केवल एक छोटे से कोने के बल गिरते है और उसी के बल खडे रह जाते हैं। ऐसी स्थिति मे इनका सतुलन बड़ा अस्थिर सा दिखाई पड़ता है और इन्हे दु:स्थित (perched) खड कहते हैं।

घाटी की तह के पास बर्फ मे फँसे हुए खंड अपने नुकीले कोनो से तह की शिलाओ को खरोच डालते है। बर्फ के दबाव और शिलाओं की कठोरता के अनुसार, ये खरोचे कम या अधिक गहरी होती हैं। कभी कभी बहुत से छोटे छोटे खड पास पास होते हैं। उन सबकी रगड़ से एक ही शिला मे अनेक खरोचें बन जाती हैं। इन खडो की रगड हिमनदी के प्रवाह की दिशा मे ही लगती है, इसलिये सब खरोचें एक दूसरे के समातर होती हैं। इस प्रकार खरोची हुई शिलाओ को रेखान्वित (striated) कहते है। इसके विपरीत कभी कभी ऐसा भी होता है कि हिमनदी में नितल के पास फँसा हुआ कोई शैलखड घाटी की तह की कठोर शिलाओं से रगड़ खाता हुआ आगे बढता है, जिससे तह से सटा हुआ उसका पार्श्व चिकना और पहलदार हो जाता है और अन्य पार्श्व पूर्ववत् कोणीय व नुकीले छूट जाते हैं। इस प्रकार हिमनदीरंजित (glaciated) पहलदार (facetted) खड बनते हैं। कभी कभी हिमनदी की घाटी मे अवस्थित शैलो के टीले, बर्फ के अपघर्षण से काफी चिकने हो जाते हैं और उनके पार्श्वीय कोने झड़ जाते हैं। अधिकाश चिकनाहट टीले के उस भाग मे होती है जो धार की विपरीत दिशा मे होता है, क्योंकि बर्फ आगे की ओर रगड़ देती हुई बढ़ती है। जो भागपार्श्व की दिशा में होता है, वह ज्यों का त्यों खुरदरा और नुकीला छूट जाता है। इस प्रकार के टीलों को राश मुहाने (rocks montonnees) कहते हैं।

अधिकांशत: हिमनदी चट्टानों के खडों को अपने ऊपरी तल पर ही परिवहित करती है। घाटी के कगारों की चट्टानें तुषार आदि के प्रभाववश समय समय पर टूटती रहती हैं, जिससे शैलखड एवं चूर्ण हिमनदी के ऊपर उसके किनारों के पास गिरते रहते हैं और इस तरह हिमनदी के दोनों किनारों पर परिवहित पदार्थ को पार्श्व मोरेन (lateral moraine) कहते हैं। हिमनदी के मध्य भाग के ऊपर आरंभ मे शैलखड प्राय: बिल्कुल नही होते, क्योंकि वह भाग घाटी के किनारों से दूर होता है। पर दो हिमनदियों का संगम होने पर एक के दाहिनी ओर तथा दूसरी के बाईं ओर के मोरेन परस्पर मिल जाते हैं और संगम के आगे से मध्य मोरेन बन जाता है। अंत में जहाँ हिमनदी समाप्त होती है और बर्फ के पिघलने से जल बनता है, वहाँ बर्फ की सतह पर और बीच में लाया हुआ समस्त पदार्थ गिरकर एकत्रित हो जाता है। इसे अग्रातस्थ मोरेन कहते हैं। इसमें स्तरीकरण का नितात अभाव होता है। यदि जलवायु में परिवर्तन, या किसी और कारण से हिमनदी अपनी पहली सीमा से अग्रगामी होने लगे, तो बर्फ पहले बने हुए अग्रांतस्थ मोरेन की समस्त राशि को आगे ढकेलती हुई चलेगी। इसके विपरीत यदि हिमनदी शीर्ष की ओर हटती हो, तो अग्रातस्थ मोरेन का एक आस्तर पीछे की ओर बनता चला जाएगा।

समुद्र तथा झील — धरातल के तीन चौथाई भाग पर आधिपत्य होते हुए भी समुद्र अपना विस्तार बढाने के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहता है। प्रत्यक्षत उसका कार्यक्षेत्र तटस्थ प्रदेश है, जहाँ वह अपनी प्रबल तरगो द्वारा चट्टानो को छिन्न भिन्न कर भूमि के ऊबड-खाबडपन को नष्ट करता हुआ महादेश को अपनी सतह के बराबर चौरस बनाने का प्रयत्न करता है। यो तो शात मौसम मे भी लहरें बार बार चट्टानों से टकराकर उन्हे आघात पहुँचाती हैं, पर तूफान के समय तो उनकी शक्ति सहस्रो गुना अधिक हो जाती है। बडे बडे तूफानो की लहरें प्राय १४–१५ मीटर ऊँची उठती हैं। उनके द्वारा फेंका हुआ फेन, बजरी और छोटे रोडे ४०–५० मीटर ऊँचे उछलते हुए देखे गए हैं। प्रत्येक लहर अपनी समस्त जलराशि के भार से तट पर आघात करती है और ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति बहुत बडे घन से तटस्थ प्रदेश को पीट रही हो।

लहरें परोक्ष ढंग से भी अपनी अपरदी क्रिया मे सहायता लेती हैं। सभी चट्टानो मे महीन दरारें और छोटे छोटे छिद्र होते हैं। जब लहरें जोर से आकर अचानक चट्टानो से टकराती हैं, तब इन दरारो और छिद्रों मे भरी हुई हवा को बाहर निकलने का अवसर नही मिल पाता और वह जहाँ की तहाँ दबकर सकुचित हो जाती है। लहरों की वापसी के समय पानी का दबाव हटने पर हवा फिर फैल जाती है। यह क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि अचानक फैली हुई हवा को बाहर निकलने का मार्ग भी नही मिल पाता और वह एक प्रकार से विस्फोटक शक्ति का कार्य करती है। क्रिया के बार बार दुहराने से दरारो और छिद्रों के चारो ओर की चट्टानें फटकर टूटने लगती हैं और छिद्र क्रमश बड़े होते जाते हैं।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि दरारें समुद्र और महादेश दोनों की ओर खुली होती हैं। ऐसी अवस्था मे लहरों द्वारा दबाव पड़ने पर दरार की हवा तेजी से जमीन की ओर निकल भागती है और लहरों की वापसी पर उतनी ही तेजी से फिर दरार में घुस जाती है। बार बार ऐसा होने से महीन छिद्र बड़े होते जाते हैं और क्रमश. सुरंगें बन जाती हैं, जिन्हे 'धमिछिद्र' (blow hole) कहते हैं।

इस प्रकार तटस्थ चट्टानें लहरो की पहुँच की ऊँचाई पर धीरे-धीरे खोखली होने लगती हैं, जिससे ऊपरवाली चट्टानों का अवलंब भी कमजोर होता जाता है और वे भी शनैः शनै. टूटकर गिरने लगती हैं। गुरुत्वाकर्षण भी इस क्रिया मे बहुत कुछ भाग लेता है।

जहाँ चट्टानें कई प्रकार की हो, कुछ कमजोर और कुछ कड़ी, वहाँ लहरो को, वस्तुत. किसी भी प्राकृतिक अभिकर्ता को, अपना कार्य करने मे अधिक सुविधा होती है; क्योंकि जब कमजोर चट्टान कट जाती है, तब उससे संपर्कवाली कड़ी चट्टान का आधार भी कमजोर हो जाता है और उसकी निजी कड़ाई का महत्व कम हो जाता है।

लहरो के प्रभाववश चट्टानों के टूटने से विविध आकार के टुकड़े बनते है, कुछ बहुत बडे और कुछ छोटे। प्रत्येक लहर के साथ छोटे टुकड़े खूब हिलते डुलते हैं, और बार बार रगड़ खाने और आघात पाने से वे क्रमश और भी छोटे होते जाते हैं। वस्तुत काफी छोटे टुकड़ों को तो लहरें तेजी से लुढ़काकर चट्टानों पर दे मारती हैं, जिससे वे स्वयं भी टूटकर छोटे तथा गोलमटोल हो जाते हैं। इससे समुद्र की आघात करने की शक्ति और भी बढ जाती है। कालांतर मे टुकड़े बजरी में परिवर्तित हो जाते हैं। उसके बाद लहरें उन्हे पल भर भी विश्राम नही लेने देती, निरंतर अपने साथ आगे पीछे घसीटती फिरती है। फलत: कुछ समय बाद बजरी के टुकड़े बहुत महीन और एकदम गोलाकार हो जाते हैं, कभी कभी इतने छोटे कि तह मे बैठ भी नही पाते और पानी मे लटके रह जाते हैं। कणों के इस प्रकार छोटा व गोलमटोल करने की लहरो की शक्ति नदी की अपेक्षा कही अधिक होती है, क्योकि एक तो नदी की तह मे रगड़नेवाली गति केवल एक ही दिशा में, नदी के बहाव की ओर होती है, दूसरे नदी की घाटी के निचले भाग मे धार के कम हो जाने पर बडे बडे कण ज्यो के त्यो पड़े रह जाते हैं और इस प्रकार उनकी उत्तरोत्तर छोटे होने की क्रिया बंद हो जाती है।

ज्वारभाटा तथा समुद्री धाराएँ — ज्वारभाटा और अन्य प्रकार से उत्पन्न हुई समुद्री धाराएँ भी लहरों के काम मे सहयोग देती हैं। इनका विशेष उल्लेखनीय प्रभाव संगम के पास नदियों की सँकरी घाटियो मे होता है, जहाँ ज्वारभाटे के कारण तेज धाराएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो बलुई किनारों और पानी मे निमग्न चट्टानों को क्षय करने का प्रयास करती हैं। ये धाराएँ मिट्टी और बालू को नदी के मुहाने तथा समस्त समुद्रतट के पास से बीच समुद्र की ओर बहुत दूर तक बहा ले जाती हैं।

समुद्री अनाच्छादन का मैदान — लहरो के आघात का प्रभाव पानी की सतह से ऊपर निकली हुई भूमि तक ही सीमित नही रहता, वरन् समुद्र के छिछले भागो की तह पर भी पड़ता है। अनुभव से मालूम होता है कि प्राय: ३० मीटर की गहराई तक उनकी क्षय करने की शक्ति कार्यशील रहती है। सतह के नीचे लहरों का कार्य प्राय: वैसा ही होता है जैसा बढी हुई घास को हँसिए से काटने का, अर्थात् यों समझना चाहिए कि लहरें अपने आघात से समुद्र में डूबे हुए शैलों की ऊँचाई में असमानता दूर कर एक चौरस स्थान बनाने का प्रयास करती हैं। स्थान स्थान पर समुद्र की गहराई नापने से मालूम होता है कि समस्त भूभाग के चारों ओर प्राय: ३० मीटर की गहराई पर एक चौरस मैदान सा है। इस मैदान को समुद्री अनाच्छादन का मैदान (plain of marine denudation) कहते हैं।

झील — समुद्र और झीलों के प्राकृतिक गुणों में केवल आकार का ही अंतर है। समुद्र जहाँ अति विशाल एवं अथाह जलराशि है, झील अपेक्षाकृत बहुत छोटा जलाशय है। इसी से झील में उठी तरंगों का वेग एवं ज्वारभाटे का परिमाण समुद्र की अपेक्षा अति लघु होता है। फलत: भूपृष्ठ के प्रति झील की अपरदी क्रिया प्राय: समुद्र के समान ही होती है, केवल उसकी मात्रा झील के आकार के अनुरूप लघु हो जाती है।

२. अवसाद का संचयन — उपर्युक्त विवरण मे विभिन्न प्राकृतिक कारकों की अपरदी और अनाच्छादी क्रिया एवं उससे उत्पन्न अवसाद इत्यादि के परिवहन का वृत्त बताया गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक कारक का कार्यक्षेत्र विशिष्ट है। वह अपनी क्रिया से उत्पन्न अपरदित एवं अपघटित पदार्थ को अपने क्रियाक्षेत्र के सबसे निचले स्थान तक ले जाता है, जहाँ से समय एवं वातावरण के अनुसार दूसरा कारक उसे अपने प्रभाव में लेकर अपने क्रियाक्षेत्र की सबसे नीचे की सतह तक ले जाता है। उदाहरणार्थ, वर्षाजल की क्रिया से उत्पन्न अपघटित पदार्थ जल की छोटी छोटी धाराओ एवं नालियो द्वारा नदी मे पहुँच जाता है और फिर नदी उसे समुद्र अथवा झील में पहुँचा देती है। इस प्रकार तुषार द्वारा उत्पन्न शैलखंड गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से पहाडी के तल मे पहुँचते हैं और फिर जब तक वह किसी अन्य कारक के प्रभाव मे न आ जायँ, वहीं संचित पड़े रहते हैं। हिमनदी अपनी क्रिया से उत्पन्न अवसाद को परिवहित कर अपने गलने के स्थान तक ले जाती है। वहाँ उसका प्रभावक्षेत्र समाप्त हो जाता है और फिर वह अवसाद नदी के प्रभाव मे आ जाता है।

भूपृष्ठ का सबसे निचला स्थान समुद्र है। अत: शैलो के अपरदन और अपघटन से उत्पन्न अवसाद का अंतिम ठिकाना समुद्र ही है। अवस्थाविशेष के कारण यह हो सकता है कि यह पदार्थ मार्ग में किसी किसी स्थान पर कुछ काल तक रुकता हुआ आगे बढ़े; फिर भी, देर सबेर, कभी मंद गति से, कभी तेज गति से, वह समुद्र की ओर यात्रा करता ही रहता है।

अवसाद को समुद्र तक पहुँचाने का सबसे अधिक भार नदी के ऊपर है। इस बात का पहले उल्लेख किया जा चुका है कि नदी मे अपने परिवहित पदार्थ को उसके आकार के आधार पर बजरी, बालू, मिट्टी इत्यादि में वर्गीकृत करने की शक्ति है। अत: अधिकांश अवसाद मोटा, मध्यम और महीन तीन वर्गों में विभक्त हो जाता है, जो क्रमश: तट से अधिकाधिक दूरी पर जाकर निक्षेपित होते हैं, अर्थात् एक ही स्तर के तट के निकटवाले भाग में कण बड़े और दूरवाले भाग में महीन और छोटे होंगे। किसी भी एक स्थान पर ज्यों ज्यों अवसाद अधिक मात्रा में संचित होगा, वहाँ का जल भी

अपेक्षाकृत छिछला होता जाएगा और इसके फलस्वरूप धार का वेग भी कुछ बढ़ जाएगा। अतः समस्त अवसाद पहले की अपेक्षा कुछ दूरी पर जाकर अवक्षेपित होगा और प्रत्येक स्थान पर संचित अवसाद कुछ मोटा हो जाएगा, यथा छोटे कंकड़ों तथा बजरी के ऊपर मोटी बालू, मोटी के ऊपर महीन बालू और महीन बालू के
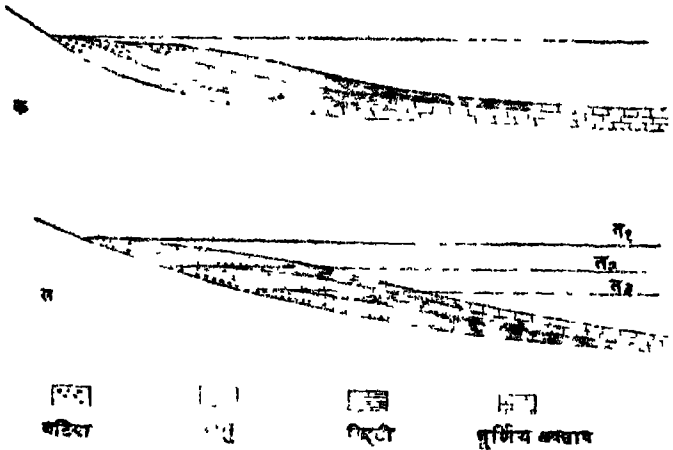
चित्र ५. समुद्रतल में अवसाद का संचयन एवं स्तरण

क. स्थिर समुद्रतल, ख. खिसकता हुआ समुद्रतल तथा त१, त२ और त३ क्रमशः खिसकते हुए तल।

ऊपर मिट्टी जमा होगी। कुछ काल के उपरांत और अधिक अवसाद के संचित होने से समस्त प्रदेश फिर और छिछला हो जाएगा और तब अवसाद का निक्षेपण पुन कुछ और आगे बढ़कर होगा और विभिन्न आकार के कण क्रमशः एक एक पग और आगे पहुँचने लगेंगे।

यदि किसी कारण उपर्युक्त निक्षेपण केंद्र में समुद्र की तह धीरे धीरे खिसककर नीची होने लगे और खिसकने की गति अवसाद के संचय होने की गति के बराबर हो तो अधिकाधिक अवसाद के संचित होने के बाद भी समुद्र की अंततः गहराई ज्यों की त्यों बनी रहेगी और प्रत्येक स्थान पर एक ही आकार के कणों का निक्षेपण चिरकाल तक अविराम होता रहेगा।

एक और दशा ऐसी भी हो सकती है जब समुद्र की तह के खिसकने की गति अवसाद के संचित होने की गति से अधिक हो जाय। उस अवस्था में प्रभाव उल्टा होगा और अवसाद के संचित होने पर भी समुद्र अधिकाधिक गहरा होता जाएगा। फलतः विभिन्न आकार के कणों के निक्षेपण का स्थान क्रमशः एक एक पग तट की ओर बढ़ता जाएगा।

उपर्युक्त पहली और तीसरी स्थितियों में विभिन्न आकार की राशियों का एकांतरण होता है और दूसरी स्थिति में समान आकार का अवसाद मोटी मोटी राशियों में संचित हो जाता है।

स्तरिकाभवन (Lamination) — अधिकांश नदियों द्वारा लाए हुए अवसाद की मात्रा वर्षा ऋतु की अपेक्षा अन्य ऋतुओं में बहुत कम होती है। अत. वर्षाकाल में अवसाद बहुत प्रचुर मात्रा में समुद्र में निक्षेपित होता है। बहुधा दो उत्तरोत्तर वर्षा ऋतुओं के बीच की अवधि में संचित अवसाद की मात्रा नगण्य होती है। ऐसी स्थिति में अवसाद संचयन रुक रुककर होता है, और एक वर्षा ऋतु में आए हुए अवसाद को दूसरी ऋतु के अवसाद के आने के पूर्व कुछ कड़ा होने तथा दब जाने का अवसर मिल जाता है। उपरिशायी जल के भार से अवसाद को दबने में सहायता मिलती है। फलतः उत्तरोत्तर वर्षा ऋतुओं में आए हुए अवसाद पहले आए हुए अवसादों से एकदम मिश्रित नहीं होते, अपितु पृथक् पृथक् स्तरिकाओं में संचित होते हैं। इस क्रिया को **स्तरिकाभवन** कहते हैं। प्रत्येक स्तरिका की मोटाई एक वर्षा ऋतु में आए हुए अवसाद की मात्रा पर निर्भर होगी। औसत में यह २ से ४ मिलीमीटर तक होती है।

स्तरिकाभवन अन्य कई कारणों से भी हो सकता है, किंतु विषय को सीमित रखने के लिये यहाँ इसका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

स्तरीभवन (Stratification) — यदि अवसाद का निक्षेपण कई वर्षों तक सतत होता रहे, तो स्पष्टतया पतली पतली स्तरिकाओं के स्थान पर कुछ मोटे स्तरों में अवसाद संचित होगा, और इन स्तरों की मोटाई अवसाद आने की गति एवं उस अवधि पर निर्भर होगी जिसमें अवसाद का निक्षेपण अविराम होता रहे।

आभासी सस्तरण (False bedding)—स्तरों में संचित अवसाद के कणों की व्यवस्था पर बहाव की गति और दिशा की स्थिरता का प्रभाव भी पड़ता है। महीन मिट्टी और महीन बालू के कण जल में बहुत देर तक निलंबित रहते हैं और बहुत ही शनै शनै. तह में बैठते हैं। उनका निक्षेपण भी अपेक्षाकृत गहरे पानी में होता है, जहाँ धार एकदम शिथिल पड़ जाती है। ऐसी अवस्था में कणों के संचित होने की व्यवस्था निरंतर एक सी बनी रहती है और स्तर सुव्यवस्थित और नियमित बनते हैं। कणों को जमने के लिये पर्याप्त समय मिलता है और स्तर समुद्रतह के समांतर बनते चले जाते हैं।

इसके विपरीत मोटी बालू और बजरी इत्यादि के संचित होने का स्थान अपेक्षाकृत छिछला होता है। ऐसे स्थानों में धार की गति बहुधा परिवर्तनशील होती है, कभी मंद हो जाती है और कभी तीव्र। मंद अवस्था में संचित अवसाद का ऊपरी भाग, तीव्र गति की अवस्था में अपरदित होकर बहने लगता है और जहाँ धार मंद हो वहाँ पुनः निक्षेपित हो जाता है। इस प्रकार पुन. निक्षेपित पदार्थ पहले स्तर के समांतर नहीं होता। इसके अतिरिक्त छिछले पानी में, जहाँ इन मोटे कणों का निक्षेपण होता है, बहुधा धार की दिशा भी बदलती रहती है। यह परिवर्तन ज्वारभाटा और प्रचंड पवन इत्यादि के कारण होता रहता है। अतः धार की दिशा के साथ साथ अवसादीय स्तरों की दिशा भी स्थानीयत. बदलती रहती है।

इस प्रकार छिछले पानी में संचित अवसादीय शैलों के स्तर बहुधा समांतर न होकर एक दूसरे से कोण बनाते हैं, जिनकी माप स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न हो सकती है। इस घटना को आभासी सस्तरण कहते हैं।

तरंगचिह्न (ripple marks) पादचिह्न (foot prints) इत्यादि — कभी कभी अवसाद क्षेत्रों में ऐसी स्थिति होती है कि जल

की तरंगों की छाप भी अवसादीय स्तरों में मुद्रित हो जाती है। छिछले प्रदेशों में, विशेषकर ज्वारभाटातर (littoral) कटिबंध में, तरंगों का वेग इतना अधिक होता है कि वहाँ निक्षेपित बालू और मिट्टी उनके संकेतों पर नाचती फिरती हैं और बहुधा उन्हें भी तरंग रूप दे देती है। नए अवसाद के आने से पूर्व यदि इस तरंगित बालू को सूखकर कुछ दृढ होने का अवसर मिल जाय, तो यह तरंग रूप सुरक्षित रह जाता है। भाटे की अवस्था मे अवसाद को सूखने एव दृढ हो जाने का अवसर बहुधा मिल जाता है।

इसी प्रकार केकडो, कीडो मकोडो तथा अन्य जतुओं के पादचिह्न भी ज्वारभाटातर प्रदेश मे संचित अवसाद मे सुरक्षित रह जा सकते हैं। कभी कभी वर्षाजल की बूँदो से बने आपातचिह्न भी इन अवसादों मे सुरक्षित हो जाते हैं।

चूनेदार अवसाद — समुद्र में रहनेवाले नाना प्रकार के शल्कधारी जंतुओं के मरने के उपरात उनके शल्क समुद्रतह मे संचित होने लगते हैं। तरंगो के प्रवाह से बहुधा ये शल्क इधर उधर लुढकते रहते है, जिससे कालान्तर मे वे टूटकर चूर हो जाते हैं और नदी द्वारा लाई हुई बालू और मिट्टी मे मिल जाते हैं। अधिकाश शल्क कैल्सियम कार्बोनेट के बने होते हैं और इस प्रकार कैल्सियममय (अर्थात् चूनेदार) अवसाद, बालू और मिट्टी बनती है। शुद्ध मिट्टी, अथवा बालू, के स्तर केवल उन्ही स्थानो मे संचित हो पाते है जहाँ शल्कधारी जीव प्राय. अनुपस्थित हो। कभी कभी शल्क टूटने से पूर्व ही अवसाद मे दब जाते है और उस अवस्था में वे ज्यो के त्यो सुरक्षित हो जाते है। इस प्रकार सुरक्षित शल्को को जीवाश्म (फ़ासिल) कहते हैं (देखें फॉसिल)।

समुद्र के गहरे भागो मे, जहाँ नदी द्वारा लाई हुई बालू और मिट्टी का अवसाद नही पहुँच पाता है, शल्को के चूरे का शुद्ध अवसाद निक्षेपित होता है, जिसकी राशि कालातर मे बहुत प्रचुर हो सकती है।

इस प्रकार बालू के स्तर छिछले पानी मे, मिट्टी के स्तर अपेक्षाकृत कुछ गहरे पानी मे और चूनेदार अवसाद के शैल अधिक गहरे समुद्री भागो मे संचित होते हैं।

लवणीय स्तर — शुष्क एव उष्णताप्रधान देशो मे जलवाष्पन बहुलता से होता है। इन प्रदेशो मे यदि कोई ऐसी झील हो जिसमे नदियो एवं वर्षाजल द्वारा लाए हुए जल की मात्रा भाप बनकर उड जानेवाले जल की अपेक्षा कम हो, तो वह झील शनै शनै सूखने लगती है और कालातर म पूर्णतया विनष्ट हो जा सकती है। नदियो के पानी और वर्षाजल मे साधारणतया कुछ न कुछ लवण घुले रहते हैं। अत झील मे नदियो द्वारा नित्य प्रति नया लवण पदार्थ आता रहता है। उष्णता के प्रभाव से पानी भाप बनकर उड जाता है, परंतु लवण पीछे ही छूट जाता है। अत. झील का पानी उत्तरोत्तर अधिक लवणीय अथवा खारा होता जाता है। कालातर मे लवण इतनी अधिक मात्रा म संचित हो सकता है कि झील का जल उससे संतृप्त हो जाय। इससे अधिक वाष्पन से लवण अवक्षिप्त होने लगेगा, जिससे अवसाद लवणीय हो जाएगा। यदि लवण के अवक्षेपण के समय नदियो द्वारा लाए हुए अवसाद की मात्रा बहुत कम हो, तो प्राय. विशुद्ध लवणीय स्तर अवक्षेपित हो सकते हैं। तिब्बत की अनेको झीलें इस क्रिया की उदाहरण हैं। वहाँ वर्षा बहुत कम होती हैं, जिससे झीलें उत्तरोत्तर सूखती जा रही हैं और इनकी तहों में लवणीय स्तर अवक्षेपित हो रहे हैं। पाकिस्तान के सॉल्ट रेंज पर्वत मे, खेवडा के प्रदेश मे सेंधा नमक तथा जिप्सम के निक्षेप इसी प्रकार किसी प्राचीन सागर की शाखा के सूखने से बने होंगे।

३. अवसाद का संयोजन एवं दृढ़ीभवन

इस प्रकार विभिन्न प्राकृतिक अभिकर्ताओं की क्रिया से भू-पृष्ठीय शैलों का क्षय एवं अपरदन निरतर हो रहा है और उससे उत्पन्न अवसाद अतत: समुद्र के गर्त मे संचित होता जा रहा है। ज्यों ज्यों अवसाद के स्तरो मे वृद्धि होती है, नीचेवाले स्तरो के ऊपर नए आए हुए पदार्थ की दाब बढती जाती है। प्राय ३०० मीटर मोटे अवसादीय स्तरो की दाब ८० किलोग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर होती है। अत: केवल ६० मीटर मोटे स्तरों के संचित होने पर, सबसे नीचे के स्तरों पर प्राय. १६ किलोग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर की दाब पड़ने लगेगी। *जलाशय के पानी की दाब भी कुछ कम नही होती। प्रति* एक मीटर पानी की दाब १०० ग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर होती है। इन सभी दाबो के प्रभाव से अवसाद के कण निकटतम आकर आपस में एक दूसरे से गुंथ जाते हैं। इनके बीच का पानी निकल जाता है और वे शुष्कप्राय हो जाते हैं। जल की पतली पतली झिल्लियाँ कणों से फिर भी चिपकी रह जा सकती हैं और उनका तनाव कणो को परस्पर जुड़ा रखने मे सहायता देता है।

संयोजन — जलाशयो अथवा अतर्भौम जल मे साधारणतया कुछ न कुछ लवण विलीन होते हैं। जब यह जल रिसता हुआ अवसाद मे से बहता है, तो कुछ विभिन्न कारणो से (यथा, दाब अथवा कार्बोनिक अम्ल गैस की मात्रा मे ह्रास से अथवा अवसादीय पदार्थ और विलीन लवण मे पारस्परिक रासायनिक क्रिया होने से) इसमे का कुछ लवण अवसाद के कणो के बीच मे अवक्षेपित होकर, उनके मुक्त कणो को आपस मे दृढ रूप से संयोजित कर देता है और अवसाद कठोर, सुबद्ध पाषाण मे परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार संयोजन करनेवाले लवणो मे कैल्सियम कार्बोनेट, लौह ऑक्साइड, एव सिलिका विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से सिलिका का बधन सबसे सुदृढ होता है। इस प्रकार बने हुए पाषाण की जाति अवसाद के पदार्थ पर निर्भर होगी। यथा बालू के अवसाद से बना शैल (बालू पत्थर), मिट्टी के अवसाद से बना शैल, (मिट्टी प्रस्तर, mud stone) अथवा शेल (shale), बटियो के समूह के संयोजन से संगुटिकाश्म (conglomerate) इत्यादि बनेंगे। यदि बालू मे थोड़ी मिट्टी मिली हो, तो मृण्मय बालू पत्थर और यदि मिट्टी मे थोड़ी बालू हो, तो बलुआ शेल इत्यादि शैल बनेंगे।

समुद्र वा अन्य जलाशयो मे अवसाद स्तरों अथवा परतों में शनै. शनै संचित होता है। दाब के प्रभाव से उनके संपीडित होने एवं किसी न किसी लवण तथा अन्य आधारक की सहायता से अवसाद के कण संयोजित हो जाते है। इस क्रिया मे भी अवसाद का स्तरभाव बना रहता है। इसी से इन शैलो को स्तरीभूत, अथवा स्तरित शैल कहते हैं। अवसाद से उत्पन्न होने के कारण इन्हे अवसादीय शैल भी कहते है।

अवसादीय शैल पदार्थ समुद्र अथवा अन्य जलाशयो की तह मे बहुत काल तक संचित होता रहता है। कालातर मे भूसचलन आदि

किसी वृत्त के प्रभाव से वह सागर की तह में से ऊपर उठकर, पर्वत का रूप धारण कर, महादेश का भाग बन सकता है। यह एक प्रलयकारी परिवर्तन होता है। ऐसा होने से अवसादीय पदार्थ पुन. प्राकृतिक अभिकर्ताओं की क्रिया की पृष्ठभूमि बनाता है और उनके प्रभाव में आकर फिर से क्षय होता हुआ नए अवसाद को जन्म देता है, जो तत्कालीन सागर की तह मे जाकर निक्षेपित होने लगता है। इस प्रकार भूपृष्ठ का पदार्थ निरंतर एक अवसादीय चक्र मे भाग लेता रहता है। प्रत्येक चक्र के अंत में सागर और महादेशों का पुनर्संस्थापन होता है और इनमे नए थल और जल भागों का निर्माण होता है। इस प्रकार के प्राय. ४ बृहत् और १४ लघु चक्र पृथ्वी के संपूर्ण इतिहास मे हो चुके है (देखें, स्तरित शैल विज्ञान)। [अ० गो० फ़ि०]

भ्रंश (Fault) भूपटल की शिलाएँ दबाव या तनाव के कारण संतुलन की अवस्था मे नही रहती। जब भी शिलाओं में खिंचाव अधिक बढ जाता है, अथवा शिलाओ पर दोनो पार्श्व से पड़ा दबाव उनकी सहन शक्ति के बाहर होता है, तब शिलाएँ उनके प्रभाव से विस्थापित हो जाती हैं अथवा टूट जाती हैं। एक ओर की शिलाएँ दूसरी ओर की शिलाओं की अपेक्षा नीचे या ऊपर चली जाती है। इसे ही भ्रंश कहते हैं।

वह समतल, जिसपर से शिलाएँ टूटती हैं, भ्रंश समतल कहलाता है। भ्रंश समतल ऊर्ध्वाधर न होकर एक ओर को झुका रहता है। ऊर्ध्वाधर समतल से भ्रंश समतल का जितना झुकाव होता है, वह उसका उन्नमन (hade) कहलाता है। भ्रंश समतल और क्षैतिज समतल के बीच का कोण भ्रंश का नमन (dip) कहलाता है। भ्रंश के प्रभाव मे शिलाओं का विस्थापन होता है। लंबवत् विस्थापन को ऊर्ध्वाधर विस्थापन तथा क्षैतिज दिशा में विस्थापन को क्षैतिज विस्थापन कहते है। भ्रंश के परिणामस्वरूप जो भाग अपेक्षाकृत ऊपर रहता है, उसे उत्क्षेप कहते हैं तथा जो भाग अपेक्षाकृत नीचे आता है वह अधःक्षेप कहलाता है।

भ्रंश कई प्रकार के होते हैं। उनमे से मुख्य मुख्य नीचे दिए गए हैं: वह भ्रंश, जिसमे एक ओर की शिलाएँ अपने मूल स्थान से अपेक्षाकृत नीचे की ओर चली जाती हैं, अनुक्रम भ्रंश कहलाता है (देखें चित्र १)। इसके विपरीत कभी कभी एक ओर की शिलाएँ मूल
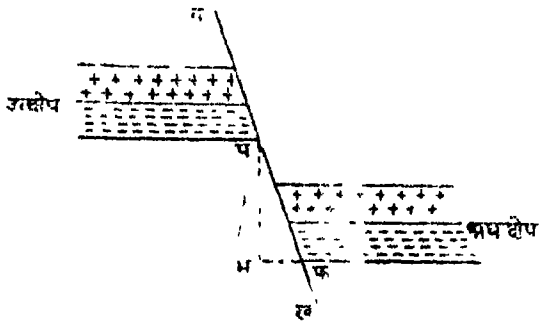
चित्र १. अनुक्रम भ्रंश

क ख = भ्रंश समतल, कोण भ प फ = उन्नमन (हेड), प भ = ऊर्ध्वाधर विस्थापन तथा भ फ = क्षैतिज विस्थापन।

स्थान से ऊपर की ओर चढ़ जाती हैं। इसे उत्क्रमभ्रंश कहते है।

यदि भ्रंश के प्रभाव मे शिलाओं का विस्थापन नमन दिशा की ओर होता है, अर्थात् नमन दिशा के समांतर होता है, तो इसे नमन भ्रंश तथा नमन से लंब दिशा मे होने पर इसे अनुदैर्ध्यभ्रंश की संज्ञा दी जाती है। पर यदि भ्रंश न तो नमन दिशा की ओर और न नमन से लंब दिशा के अनुकूल हो, तो इसे तिरछा या तिर्यक् भ्रंश कहते हैं। कभी कभी शिलाओं मे एक के बाद दूसरा, फिर तीसरा, इस प्रकार कई भ्रंश होते हैं। यदि इन भ्रंशो के उन्नमन की दिशा एक ही ओर को होती है, तो सीढी (सोपान) के आकार की रचना बन जाती है। इन भ्रंशों को सोपानभ्रंश नाम दिया गया है (देखें चित्र २)। यदि दो भ्रंशो का
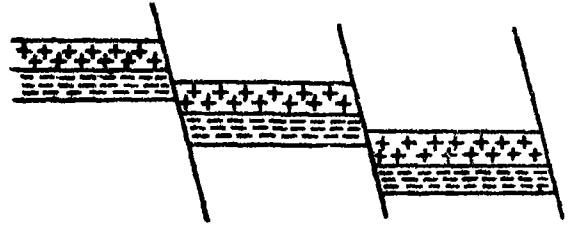
चित्र २ सोपान भ्रंश

उन्नमन एक दूसरे की ओर होता है, तो दोनो भ्रंशो के बीच का भाग अपेक्षाकृत नीचे चला जाता है। इसे द्रोणिकाभ्रंश कहते हैं (देखें चित्र ३)।

चित्र ३. द्रोणिका भ्रंश

इसके विपरीत भ्रंशोत्थ (horst) मे भ्रंशो का उन्नमन विपरीत दिशा मे होता है (देखें चित्र ४) फलस्वरूप दोनो भ्रंशो के बीच का भाग एक कूटक के समान ऊपर उठा दिखाई पड़ता है।

क्षेत्र भौमिकी मे भ्रंशो का विशेष महत्व है। भ्रंशो के परिणामस्वरूप कभी कभी नीचे छिपे खनिज-भंडार सतह पर आ जाते है। नीचे छिपे बहुत से कोयले के स्तरों का इसी प्रकार पता लगा है। इसके विपरीत कभी कभी अपरदन के कारण निक्षेपित भंडार नष्ट भी हो जाते हैं। सोपानभ्रंशो मे जलप्रवाह से बड़े बड़े प्रपातों की रचना होती है, जिनसे विद्युत् उत्पन्न की जाती है। बहुत से भ्रंश समतल झरनो के उद्गम स्थान भी है, आभ्यंतरिक जल इनके द्वारा ही सतह पर आता है।
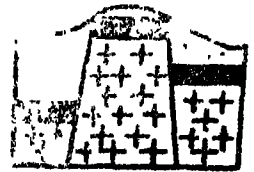
चित्र ४. भ्रंशोत्थ

क्षेत्र मे भ्रंशो का पता लगाना भूविज्ञानी के लिये कोई दुरूह कार्य नही है। भ्रंश के स्थान पर की शिलाएँ चिकनी होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनपर पालिश की गई हो। इसके अतिरिक्त स्तरों का अचानक लुप्त हो जाना, या एक ही से स्तरो का दो बार मिलना, भ्रंश संकोणाश्म (ब्रेशिया) की उपस्थिति आदि

अंशों को पहचानने के अन्य साधक चिह्न हैं। पर केवल कोई भूविज्ञानी ही इन चिह्नों का उचित अर्थनिर्णय कर सकता है, क्योंकि कभी कभी विभिन्न रचनाओं में समान चिह्न दिखाई देते हैं।

[म० मा० मे०]

भ्रूण (Embryo) प्राणी के विकास की प्रारंभिक अवस्था को कहते हैं। मानव में तीन मास की गर्भावस्था के पश्चात् भ्रूण को गर्भ की संज्ञा दी जाती है।

एक निषेचित अंडाणु जब फ़ालोपियोन नलिका (fallopian tube) से गुजरता है तब उसका खंडीभवन (segmentation) होता है तथा यह अवस्था मोरूला (morula) अवस्था होती है। इससे अब ब्लास्टोसिस्ट (blastocyst) बन जाता है। प्रथम तीन सप्ताह में ही प्रारंभिक जननस्तर (primary germ layers) बन जाते हैं। प्रारंभिक जनन स्तर के तीन भाग होते हैं। बाहर का भाग बाह्यत्वचा (ectoderm), अंदर का भाग अंतस्त्वचा (endoderm) और दोनों के बीच का भाग मध्यस्तर (mesoderm) कहलाता है। इन्हीं से विभिन्न कार्य करनेवाले अंग विकसित होते हैं।

भ्रूण अवस्था अष्टम सप्ताह के अंत तक रहती है। नाना आशयों तथा अंगों के निर्माण के साथ साथ भ्रूण में अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। इसके पश्चात् तीसरे मास से गर्भ कहानेवाली अवस्था प्रसव तक होती है।

भ्रूण अत्यंत प्रारंभिक अवस्था में अपना पोषण प्राथमिक अंडाणु के द्वारा लाए गए पोषक द्रव्यों से पाता है। इसके पश्चात् ब्लास्टोसिस्ट गर्भाशय की ग्रंथियों तथा वपन की क्रिया में हुए ऊतकलयन के फलस्वरूप एकत्रित रक्त से पोषण लेता है। भ्रूणपट्ट (embryonic disc), उल्व (amnion), देहगुहा (coelom) तथा पीतक (yolk) थैली में भरे द्रव्य से पोषण लेता है। अंत में अपरा तथा नाभि नाल के निर्माण के पश्चात् माता के रक्तपरिवहन से भ्रूणरक्त का परिवहनसंबंध स्थापित होकर, भ्रूण का पोषण होता है। २७० दिन तक मातृ गर्भाशय में रहने के पश्चात् प्रसव होता है और शिशु गर्भाशय से निकलता है।

[वि० पा०; ल० वि० गु०]

भ्रूणविज्ञान (Embryology) के अंतर्गत जीव के उद्भव एवं विकास का वर्णन अंडाणु के निषेचन से लेकर शिशु के जन्म तक होता है। अपने पूर्वजों के समान किसी व्यक्ति के निर्माण में कोशिकाओं और ऊतकों की पारस्परिक क्रिया का अध्ययन एक अत्यंत रुचि का विषय है। स्त्री के अंडाणु का पुरुष के शुक्राणु के द्वारा निषेचन होने के पश्चात् जो क्रमबद्ध परिवर्तन भ्रूण से पूर्ण शिशु होने तक होते हैं, वे सब इसके अंतर्गत आते हैं, तथापि भ्रूणविज्ञान के अंतर्गत प्रसव के पूर्व के परिवर्तन एवं वृद्धि का ही अध्ययन होता है।

क्रोमोसोम के आंतरिक घटक, अर्थात् जीन (gene), जो गर्भधारण के पश्चात् भ्रूण में रहते हैं, यदि उनको अनुकूल वातावरण प्राप्त होता है, तो वे विकास की दर एवं स्वरूप का नियंत्रण करते हैं।

एककोशिकीय अंडाणु का शिशु में परिवर्तन होने का मुख्य कारण दो प्रक्रियाएँ, (१) वृद्धि और (२) विभेदन (differentiation), होती हैं।

(१) वृद्धि — इसमें कोशिकाओं का आकार और संख्यात्मक वर्धन होता है, जो विभाजन एवं पोषण के द्वारा संपादित होता है। इसके अंतर्गत वह क्रिया भी आ जाती है जिसके द्वारा भ्रूण के आकार की पुनर्रचना भी होती है।

(२) विभेदन — इस प्रक्रिया से कुछ कोशिकाओं का समूह कोई एक निश्चित कार्य करने के लिये एक विशेष प्रकार का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। यह विभेदन आनुवंशिकता, अंत:स्राव तथा पर्यावरण आदि पर निर्भर करता है।

निषेचित अंडाणु से जो कोशिकाएँ प्रारंभ में विभाजन द्वारा प्राप्त होती हैं, उनमें पूर्णशक्तिमत्ता (totipotency), होती है, अर्थात् उनमें से एक के द्वारा संपूर्ण भ्रूण का निर्माण हो सकता है, परंतु इस अल्प सामयिक अवस्था के तुरत पश्चात् सुघट्यता (plasticity) की अवस्था होती है। इस अवस्था में कोशिका समूह में सर्वशक्तिमत्ता नहीं रहती है। अब वे विशेष प्रकार के ऊतकों का ही निर्माण कर सकते हैं, जो उनके लिये निश्चित किया जा चुका है। यह अवस्था तुरंत रासायनिक विभेदन (chemo differentiation) में परिवर्तित हो जाती है। अब इस अवस्था में कोशिकाद्रव्य (cytoplasm) के रासायनिक घटकों का पुन: वितरण होता है। कोशिका की शक्तिमत्ता का ह्रास होता है तथा अंत में उसमें कार्यशक्ति की भिन्नता उत्पन्न हो जाती है।

इस विज्ञान के अंतर्गत शुक्राणु, अंडाणु तथा उनका परिपाक, गर्भाधान, खंडीभवन, वपन, दैनिक वृद्धि, जरायु, अपरा एवं अंगों का निर्माण, भ्रूण पोषण, यमल तथा सहज विकृतियों का पूर्ण वर्णन किया जाता है।

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में मानव भ्रूणविज्ञान के अध्ययन का अत्यंत महत्व है, क्योंकि शरीररचना संबंधी अनेक विचित्र वास्तविकताओं को हम भ्रूणविज्ञान के ज्ञान से अब ठीक से समझ सकते हैं, जिन्हें पहले नहीं समझ पाते थे। शरीर-रचना-विकृतियों का वास्तविक कारण तथा प्रक्रम अब समझाया जा सकता है। यह विज्ञान तुलनात्मक शरीर-रचना विज्ञान एवं मानव-शरीर-रचना-विज्ञान, जातिवृत्त एवं व्यक्तिवृत्त के मध्य सेतु का काम करता है। मानव विकास की कई जटिलताओं को सामान्यत: समझ पाना बड़ा कठिन होता है, अतएव निम्नकोटि के प्राणियों के विकास का तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त कर मानव विकास के सिद्धांतों का निर्णय करना होता है। इस अध्ययन को तुलनात्मक भ्रूण वृद्धिज्ञान कहा जाता है।

[वि० पा०; ल० वि० गु०]

मंखक कश्मीर में सिंधु और वितस्ता के संगम पर महाराज प्रवरसेन द्वारा प्रवरपुर नामक नगर बसाया गया था। यह नगर वर्तमान श्रीनगर से १२५ मील उत्तर पूर्व की ओर है। यहीं महाकवि मंखक का जन्म हुआ था। पितामह मन्मथ बड़े शिवभक्त थे। पिता विश्ववर्त भी उसी प्रकार दानी, यशस्वी एवं शिवभक्त थे। वे कश्मीर नरेश सुस्सल के यहाँ राजवैद्य तथा सभाकवि थे। मंखक से बड़े तीन

भाई थे शृंगार, शृंग तथा लंक या अलंकार। तीनों महाराज सुस्सल के यहाँ उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे।

मंखक ने व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, ज्योतिष तथा अन्य लक्षण ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्य रुय्यक उनके गुरु थे। गुरु के 'अलंकारसर्वस्व' ग्रंथ पर मंखक ने वृत्ति लिखी थी।

मंखक की दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं : १—श्रीकंठचरित् महाकाव्य तथा, २— मंखकोश। श्रीकंठचरित् २५ सर्गों का ललित महाकाव्य है। इसके अंतिम सर्ग में कवि ने अपना, अपने वंश का तथा अपने समकालिक अन्य विशिष्ट कवियो एव नरेशों का सुंदर परिचय दिया है। अपने महाकाव्य को उन्होने अपने बड़े भाई अलंकार की विद्वत्सभा में सुनाया था। उस सभा मे उस समय कान्यकुब्जाधिपति गोविंदचंद्र (११२० ई०) के राजदूत महाकवि सुहल भी उपस्थित थे। महाकाव्य का कथानक अति स्वल्प होते हुए भी कवि ने काव्य संबंधी अन्य विषयों के द्वारा अपनी कल्पना शक्ति से उसका इतना विस्तार कर दिया है। 'मंखकोश' प्रसिद्ध नानार्थ पदों का संग्रह है। कुल १००७ श्लोकों मे २२५६ नानार्थपदों का निरूपण किया गया है।

समुद्रबंध आदि दक्षिण के विद्वान् टीकाकारों ने मंखक को ही 'अलंकारसर्वस्व' का भी कर्ता माना है। किंतु मंखक के ही भतीजे, बड़े भाई शृंगार के पुत्र जयरथ ने, जो 'अलंकारसर्वस्व' के यशस्वी टीकाकार हैं, उसे आचार्य रुय्यक की कृति कहा है।

महाराज सुस्सल के पुत्र जयसिंह ने मंखक को 'प्रजापालन-कार्यपुरुष' अर्थात् धर्माधिकारी बनाया था। जयसिंह का सिंहासनारोहण ११२७ ई० मे हुआ। अतः मंखक की जन्मतिथि ११०० ई० (११५७ वि०) के आसपास मानी जा सकती है। एक अन्य प्रमाण से भी यही निर्णय निकलता है। मंखकोश की टीका का, जो स्वयं मंखक की है, उपयोग जैन आचार्य महेंद्र सूरि ने अपने गुरु हेमचंद्र के 'अनेकार्थ संग्रह (११८० ई०) की 'अनेकार्थ कैरवकौमुदी' नामक स्वरचित टीका मे किया है। अत. इस टीका के २०, २५ वर्ष पूर्व अवश्य मंखकोश' बन चुका होगा। इस प्रकार मंखक का समय ११०० से ११६० ई० तक माना जा सकता है। [चं० प्र० शु०]

मंगतराम जोशी 'मंगल' (१६१०–१६४४) जन्म सैधार, बहु खड गढवाल। इन्होने हिंदी मे काव्यरचना की। इनकी विविध कविताओ का सग्रह 'तोप पर तोप' और 'मधु' उनके जीवन काल मे और 'जंगल' उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ है। उनकी कविताएँ बहुत समय तक 'कर्मभूमि', 'चाँद', 'माधुरी', 'विशाल भारत' और 'सरस्वती' मे प्रकाशित होती रही। [गो० चा०]

मंगल (Mars) ग्रह रक्ताभ वर्ण और अत्यधिक दीप्ति के कारण प्राचीन काल से ही ज्ञात है। यह सूर्य से दूरी मे चौथा, और पृथ्वी की कक्षा के बाहर पड़नेवाला पहला, ग्रह है।

मंगल ग्रह के पृष्ठ के निकट कुछ लाल खनिज ऑक्साइडों की बहुतायत है, जो सूर्य के प्रकाश को लाल प्रकाश के रूप मे मंगल के पृष्ठ से परावर्तित करते हैं और इसलिये मंगल लाल रंग का प्रतीत होता है। यह लगभग ४,२०० मील, पृथ्वी के अर्धव्यास से कुछ बड़े, व्यास का एक छोटा ग्रह है। यह सूर्य से लगभग १४ करोड़ मील की औसत दूरी पर स्थित है। यह प्राय: वृत्ताकार कक्षा मे, लगभग १५ मील प्रति सेकंड के वेग से, लगभग १·८८ वर्ष मे सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करता है। इसका घूर्णन काल २४ घंटे ३७ मिनट है। मंगल ग्रह के दो छोटे उपग्रह हैं। आंतर उपमंगल (Phobos) और बाह्य उपमंगल (Deimos) हैं इनके व्यास क्रमशः ४० मील और १० मील के लगभग हैं।

मंगल और पृथ्वी मे कई समानताएँ है। पृथ्वी के समान मंगल ग्रह में वायुमंडल है, जिसमे वर्णक्रमीय प्रमाणो से जलवाष्प और कार्बन डाइऑक्साइड का अस्तित्व सिद्ध हुआ है। पृथ्वी और मंगल का घूर्णनकाल लगभग समान है, जिसके परिणामस्वरूप दोनो ग्रहों पर दिन और रात लगभग बराबर लबाई के होते हैं। पृथ्वी और मंगल के अक्ष अपनी परिक्रमा के समतलो पर लगभग एक ही कोण पर नत हैं। अत. मंगल पर ऋतुपरिवर्तन होता है। मंगल की ऋतुएँ मंगल वर्ष के अनुपात में पृथ्वी की ऋतुओ के समान होती हैं।

मंगल ग्रह के ध्रुवों पर दूरदर्शी से दो श्वेत विरचनाएँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इन विरचनाओं के आकार में ऋतुओ के साथ साथ परिवर्तन हुआ करते हैं और विश्वास किया जाता है कि ये हिमीभूत जलवाष्प के ध्रुवीय आवरण हैं।

चूँकि मंगल ग्रह में ऊष्मा की चरम अवस्था नही है और इसकी भौतिक स्थिति बहुत कुछ पृथ्वी के ही समान है, अतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसके पृष्ठ के अदीप्त क्षेत्र संभवतः वनस्पति जीवन के बहुत ही आदिम रूप का सकेत करते हैं। [र० स०]

मंगलूरु या मंगलोर स्थिति : १२° ५०' उ० अ० तथा ७४° ५५' पू० दे०। भारत के दक्षिण-पश्चिम स्थित मैसूर राज्य मे दक्षिण कन्नड जिले का मुख्य केंद्र एव बंदरगाह है। यह एक औद्योगिक एवं शैक्षणिक केंद्र है जो नेत्रावती नदी के मुहाने पर स्थित है। जलयान निर्माण, खाद और कहवा तैयार करना और मत्स्योद्योग उल्लेखनीय हैं। मुद्रण एवं बढ़ईगीरी के यंत्र और टाइल्स का निर्माण भी होता है। करघा उद्योग का यह महत्वपूर्ण केंद्र है। यह दक्षिणी रेलमार्ग का पश्चिमी तट पर अंतिम स्टेशन है। मगलूरु पत्तन (पोर्ट) का निर्माण दो छोटी छोटी नदियो के छिछले भाग मे फैले हुए पश्चजल द्वारा हुआ है। बड़े बड़े जलयान यहाँ से तीन मील दूर ही रुक जाते हैं। यहाँ से कहवा, काली मिर्च, चदन की लकड़ी, मछली और मछली की खाद का निर्यात होता है। १३वी शताब्दी मे यह नगर अलूप वंश की राजधानी था। उपनगरो की जनसंख्या रहित यहाँ की जनसंख्या १,४२,६६६ (१९६१) है।

[रा० प्र० सिं०]

मंगोल बुरयात स्थिति : ५२° ०' उ० अ० तथा १०७° ०' पू० दे०। सोवियत रूस के अंतर्गत एक स्वायत्तशासी गणतंत्र है जो मगोलिया के उत्तर में, बाइकाल झील के दक्षिण-पूर्व स्थित है। पशुपालन मुख्य उद्यम है। शिकार और मछली पकडने का काम सामूहिक रूप मे होता है। ऊलान ऊडे (राजधानी) मे इजीनियरिंग, लकड़ी चीरने, मास को डब्बो मे बद करने, शीशा और चमड़े की वस्तुएँ बनाने के उद्योग होते हैं। बुरयात लोग मगोल जाति के हैं जो

बौद्ध धर्मावलंबी हैं। इसका क्षेत्रफल १,६१,७७६ वर्ग मील है।
[उ० सि०]

मंगोल भाषा और साहित्य यह अलताइक भाषाकुल की और योगात्मक बनावट की भाषा है। यह मुख्यत: जनतंत्र मगोल, भीतरी मंगोल के स्वतत्र प्रदेश, बुरयात (Buriyad) मगोल राज्य में बोली जाती है। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त इसके बोलनेवाले मचूरिया, चीन के कुछ क्षेत्र और तिब्बत तथा अफगानिस्तान आदि में भी पाए जाते हैं। अनुमान है कि इन सब क्षेत्रों मे मगोल भाषा बोलनेवालों की सख्या कोई ४० लाख होगी।

इन विशाल क्षेत्रों में रहनेवाले मगोल जाति के सब लोगों के द्वारा स्वीकृत कोई एक आदर्श भाषा नही है। परतु तथाकथित मंगोलिया के अंदर जनतत्र मगोल की हलहा (Khalkha) बोली धीरे धीरे आदर्श भाषा का पद ग्रहण कर रही है। स्वय मंगोलिया के लोग भी इस हलहा बोली को परिष्कृत बोली मानते हैं और इसी बोली के निकट भविष्य में आदर्श भाषा बनने की संभावना है।

प्राचीन काल मे मगोल लिपि मे लिखी जानेवाली साहित्यिक मंगोल पढेलिखे लोगों मे आदर्श भाषा मानी जाती थी। परतु अब यह मंगोल लिपि जनतत्र मगोलिया द्वारा त्याग दी गई है और इसकी जगह रूसी लिपि से बनाई गई नई मगोल लिपि स्वीकार की गई है। इस प्रकार अब मंगोल लिपि मे लिखी जानेवाली साहित्यिक भाषा कम और नव मगोल लिपि मे लिखी जानेवाली हलहा बोली अधिक मान्य समझी जाने लगी है।

मंगोल भाषा अनेक बोलियों मे विभक्त है। मुख्य बोलियाँ निम्नलिखित हैं

(१) पूर्वी मंगोल

(क) उत्तरी शाखा — बुरयात बोलियाँ (Buriyad)
- उत्तरी बोली (बैकल झील के उत्तर और पश्चिम में)
- पूर्वी बोली (बैकल झील के पूर्व मे)
- सेलेंगा बोली (Selenga)

(ख) मध्य शाखा— हलहा बोली (Khalkha)
- हलहा (Khalkha) बोली
- होतोगोइद (Gotogoid) बोली

(ग) दक्षिणी शाखा—
- चहर बोली (Tshakhar)
- ओरद बोली (Urad)
- ओरदुस बोली (Urdus)
- बर्गु बोली (Bargu)

(२) पश्चिमी मंगोल

(क) ओइरात शाखा (Uirad)—
- ,, कलमुइक बोली (Kalmuk)
- ,, दोर्बोद बोली (Dorbod)
- ,, तोर्गूत बोली (Torgud)

(ख) कोब्द की ओइरात (Kobd)—
- ,, बैत बोली (Bayid)
- ,, कोब्द की दोर्बोद बोली (Dorbod)
- ,, अलताइ की तोर्गूत बोली (Altai Torgud)
- उरियन्हाइ बोली (Uriyangxai)
- मिन्गत बोली [Mingad]

(३) फुटकर बोलियाँ

(क) दगोर (Dagur)
- हइलर (Xailar) बोली
- चिचिहर (Chichixar) बोली

(ख) मोन्गुओर (Monguor) बोली (चीन के कसू प्रात की बोली)

(ग) मोगोल (Moghol) बोली (अफगानिस्तान की बोली)

(घ) अन्य बोलियाँ

मंगोल भाषा का इतिहास—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक, इन तीन कालो मे विभाजित किया जा सकता है। १२वी शताब्दी तक की भाषा को प्राचीन मगोल, १३वी से १६वी शताब्दी की भाषा को मध्यकालीन मगोल तथा १७वी शताब्दी के बाद की भाषा को आधुनिक मगोल कहते हैं। मध्यकालीन और आधुनिक मगोल मे बहुत अतर नही है। प्राचीन मगोल के बारे मे स्पष्ट ज्ञात नही है।

मगोल साहित्य का इतिहास १३वी शताब्दी के मध्य भाग मे बने 'मगोलिया के रहस्य का इतिहास (Mongolin nuuca tobcoo)' से प्रारभ होता है। तथाकथित आधुनिक साहित्य १९२१ मे हुई जनक्राति के आसपास से प्रारंभ होता है परतु अब तक महत्व की रचनाएँ अधिक नही हैं। आधुनिक साहित्य के जन्म से पूर्व १९२० तक की सात शताब्दियो मे तीन महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए—मगोलिया के रहस्य का इतिहास, गेजेर खाँ की कथा (Geserin tuuji), और जन्गर (Janggar)।

'मगोलिया के रहस्य का इतिहास' शीर्षक ग्रंथ मे मगोल जाति के जन्म से लेकर चिन्गिस खाँ तक का इतिहास है और चिन्गिस खाँ पर विशेष बल दिया गया है। यह बहुत सरल और सुदर भाषा मे लिखा गया है तथा बीच बीच मे कविताएँ भी मिली हुई हैं। इसमे छोटी सी कमजोर जाति के मगोल लोगो के इकट्ठे होकर केंद्रीय सत्तात्मक देश बनाने, परिवारप्रधान समाज से बदलकर जागीरदारी समाज बनने तथा छोटे से जागीरदारो के इकट्ठे होकर बहुत प्रबल देश बनने तक का इतिहास वर्णित है।

'गेसेर खाँ की कथा' पौराणिक कथा पर आधारित एक पुरुष की कहानी है। इसमे जागीरदार और पुजारी वर्ग के विरुद्ध लड़नेवाली जनता की प्रशसा की गई है।

'जन्गर' पश्चिमी मगोलिया मे बनी एक ऐतिहासिक कथा है। इसमे एक पुरुष के कार्यों के माध्यम से जनता के कल्याण और सुख पर जोर दिया गया है।

ऐतिहासिक ग्रंथो मे 'इतिहास का मणि' (Erdeni-yin Tobci), 'सुनहरा इतिहास' (Altan Tobci) बहुत प्रसिद्ध हैं। दोनों चिन्गिस खाँ और उसके उत्तराधिकारियों के इतिहास हैं। इनमे प्राचीन मंगोल की पौराणिक कथाएँ, लोककथाएँ आदि संकलित हैं।

आधुनिक साहित्य १९२१ की जनक्राति तथा जागीरदारी प्रथा के विरुद्ध जनता के संघर्ष से प्रेरित होकर विकसित हुआ है। इस संघर्ष के इतिहास पर आधारित समाजवादी यथार्थवादी विचार ही आधुनिक साहित्य का मूल स्रोत है।

इस काल के D. Nacagdorji, C, Damding sureng,

C. Lodoidamba, D. Sengge, C. Oidob आदि लेखकों ने जागीरदारी शक्तियों के विरुद्ध जनता के संघर्ष मे जनता की विजय तथा नई और पुरानी विचारधाराओं के संघर्ष पर आधारित अच्छी कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। उनमें नैवगदोरजी आधुनिक साहित्य का पिता कहलाता है। उनका काव्य नाटक विशेष संबंध के तीन (त्रिकोण प्रेम) (ucirtai gurban tologai) बहुत प्रसिद्ध है। डैमडिनसूरेंग कृत 'अविवाहिता' (gologdsan keuken) भी बहुत अच्छी रचना है। यह जागीरदारी समाज मे दु:खमय जीवन व्यतीत कर रही एक स्त्री के आधुनिक समाजवादी समाज मे ही आनंद प्राप्त करने की कथा है। इस प्रकार कुछ अच्छी रचनाएँ निकलने लगी हैं। यद्यपि आधुनिक साहित्य अभी हाल ही में आरंभ हुआ है तथापि उसका भविष्य उज्वल है। [शि० प्रो०]

मंगोलिया गणतंत्र स्थिति : ४७° ०' उ० अ० तथा १०३° ०' पू० दे०। मंगोलिया (बाह्य मंगोलिया) एशिया महाद्वीप के मध्य पठारी भाग में स्थित गणतंत्र है। पहले अविभक्त मंगोलिया चीन के अधिकार में था, जो बाद मे दो भागों मे बँट गया : १. अंतस्थ मंगोलिया, जो अब चीन का ही एक भाग है (दे० चीन) तथा २. बाह्य मंगोलिया, जिसे सन् १९५० में रूसी-चीनी-संधि के अनुसार एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया गया है।

मंगोलिया गणतंत्र की पश्चिमी सीमा अल्टाई पहाड़ की ऊँची श्रेणियों द्वारा निर्धारित होती है जो उत्तर में सेयान पर्वत तक फैली हुई है। तत्पश्चात् इसकी उत्तरी सीमा बाइकाल झील के दक्षिण से होकर जाती है। पूर्व की ओर इसकी सीमा अंतस्थ मंगोलिया तथा मंचूरिया की सीमा को छूती हुई दक्षिण में गोबी के मरुस्थल के मध्य से होकर जाती है। इस प्रकार इसका कुल क्षेत्रफल संभवत: ६,०४,०९५ वर्ग मील तथा जनसंख्या १०,४४,९०० (१९६३) है।

मंगोलिया गणतंत्र का अधिकांश पठारी तथा रेगिस्तानी होने के कारण जनसंख्या बहुत विरल है। केवल उत्तरी भाग मे कुछ आबादी है। वर्षा की मात्रा सर्वत्र २० इंच से कम है तथा जाड़े मे अधिक जाड़ा पड़ता है। कृषि के लिये यहाँ बहुत कम अवसर है। थोड़ी मात्रा में गेहूँ, जौ, जई, घासें, कुछ तरकारियाँ, उत्तरी भाग की कुछ घाटियो मे, जहाँ सिंचाई की सुविधा प्रदान की गई है, उत्पन्न होती है। मंगोलिया गणतंत्र की मुख्य संपत्ति पशु हैं, जिनमें घोड़े, ऊँट, गाय, बैल, तथा भेड़ें प्रमुख हैं। ऊन, चमड़ा तथा फर का अधिक मात्रा मे रूस को निर्यात होता है। सन् १९३४ के पश्चात् से रूसी संरक्षण मे ऊलान-बटोर (राजधानी) मे, ऊन तथा जूते के कारखाने खोले गए हैं। ऊलान-बटोर की जनसंख्या २,१८,००० (१९६३) है।

इस देश में कोयला, लोहा, ताँबा, सीसा, सोना और चाँदी की खानें भी पाई गई हैं। ऊलान-बटोर, ट्रैंस साइबेरियन रेलवे के स्टेशन ऊलान ऊडे से सड़क एवं वायुमार्ग द्वारा संबंधित है। भीतरी भाग मे बैलगाड़ियो, घोड़ों तथा ऊँटों द्वारा यातायात होता है। इस देश के अधिकांश निवासी मंगोल जाति के हैं। [उ० सिं०]

मंचूरिया स्थिति ४६° २०' उ० अ० तथा १२७° ०' पू० दे०। साम्यवादी चीन का यह उत्तरी-पूर्वी प्रशासकीय क्षेत्र है जिसका क्षेत्रफल ३,४२,४५४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ४,१३,६७,८४६ (१९५०) है। मंचूरिया के उत्तर एवं पूर्व में साइबेरिया और कोरिया, दक्षिण मे पीला सागर और चीन तथा पश्चिम में चीन, साइबेरिया और मंगोलिया हैं। मंचू जाति, जिसने मंचू राजवंश स्थापित किया, के नाम पर इस भाग का नाम मंचूरिया पड़ा है लेकिन आज का मंचूरिया चीनियों के शासन में है और अधिकांश मंचू लोगो ने चीनी नाम, रीति रिवाज एवं चीनी भाषा को अपना लिया है।

मंचूरिया के प्रादेशिक विभागों मे कई बार परिवर्तन हुआ है लेकिन १९५६ ई० के अंतिम बँटवारे के अनुसार इसमे तीन प्रांत कीरिन, हेलुंगकियांग और लियाओनिंग हैं। इसका पश्चिमी भाग अंतस्थ मंगोलिया स्वायत्त क्षेत्र है। इसके उत्तर मे खिंगान (Khingan) पर्वत श्रेणियाँ तथा दक्षिण मे चांगपाई श्रेणी पड़ती है। आमूर, आरगुन, सुंगारी और ऊसूरी मुख्य नदियाँ हैं। यालू और तुमेन नदियाँ मंचूरिया को कोरिया से अलग करती हैं। अधिकांश भाग की जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धक है। अधिक ऊँचे तथा उत्तरी क्षेत्रों में जाड़े में बहुत ही अधिक ठंढक पड़ती है। यहाँ साल मे छह मास बर्फ जमी रहती है। गरमी का ताप ३२° सें० रहता है। वर्षा २० इंच से २४ इंच तक होती है।

उत्तर-पूर्वी भाग की भूमि, विशेषत: लियाओ और सुंगारी नदियों के बीच के मैदान, बहुत उपजाऊ है। इस समतल एवं विस्तृत मैदान को विशाल मंचूरियाई मैदान कहते हैं। कृषि का प्रमुख और उपजाऊ क्षेत्र होने के कारण इस मैदान को चीन का रोटी क्षेत्र (bread basket) कहा जाता है। लगभग आधे कृषि भूभाग में सोयाबीन की खेती होती है। गेहूँ, केओलिन, ज्वार, बाजरा, धान, मटर, कपास, चुकंदर, सन और पटसन अन्य महत्वपूर्ण फसलें हैं। सोयाबीन का रूपातरण मंचूरिया का सर्वप्रमुख उद्योग है। कीरिन, हार्बिन, चांगचुन और मूकडेन उद्योगों के मुख्य केंद्र हैं। वनसंपदा की भी प्रचुरता है। अखरोट, ओक, चीड़ और फर के वृक्षों से लकड़ी के अतिरिक्त कागज, काष्ठस्टार्च और दियासलाई का निर्माण होता है। पीतसागरीय तटों पर मछली मारना एक महत्वपूर्ण उद्योग है। यहाँ चीन की ८० प्रति शत लोह धातु निकाली जाती है। कुछ कोयले की खानें भी हैं। पर्याप्त मात्रा मे ऐलुमिनियम, मैग्नीशियम, टंगस्टन, टिन, सोना, चाँदी, जिंक, ताँबा, एस्बेस्टॉस, मोलीब्डेनम, चूना पत्थर एवं संगमरमर आदि मिलते हैं। ऊनी, सूती एवं रेशमी वस्त्र उद्योग, लोह इस्पात उद्योग तथा यंत्रनिर्माण उद्योग काफी विकसित हैं।

यातायात का प्रबंध बहुत उत्तम है। यहाँ की सभी नदियाँ नाव्य हैं लेकिन भारी वस्तुओं के यातायात के लिये केवल सुंगारी नदी ही उपयुक्त है। नदियों के जम जाने पर उनका उपयोग सड़कों के रूप में होता है। जलविद्युत् केंद्र सुंगारी एवं यालू नदियों पर है। [रा० प्र० सिं०]

मंझन हिंदी सूफी प्रेमाख्यान परंपरा के कवि मंझन के जीवनवृत्त के विषय मे उसकी एकमात्र कृति 'मधुमालती' मे संकेतित आत्मोल्लेख पर ही निर्भर रहना पड़ता है। मंझन ने उक्त कृति मे शाहएवक्त सलीम शाह सूर, अपने गुरु शेख मुहम्मद गौस एव

खिज्र खाँ का गुणानुवाद और अपने निवासस्थान तथा मधुमालती की रचना के विषय का उल्लेख किया है।

मंझन ने 'मधुमालती' की रचना का प्रारंभ उसी वर्ष किया, जिस वर्ष सलीम अपने पिता शेरशाह सूर की मृत्यु (९५२ हिजरी सन् १५४५ ई०) के पश्चात् शासक बना। इसीलिये सूफी-काव्य-परंपरा के अनुसार कवि ने शाह-ए-वक्त सलीम शाह सूर की अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसा की है। शत्तारी संप्रदायी सूफी संत शेख मुहम्मद गौस मंझन के गुरु थे, जिनका पर्याप्त प्रभाव बाबर, हुमायूँ और अकबर तक पर भी था। बड़ी निष्ठा और बड़े विस्तार के साथ कवि ने अपने इस गुरु की सिद्धियों की बड़ाई की है। उक्त उल्लेख को देखते हुए मंझन ऐतिहासिक व्यक्ति खिज्र खाँ (नौना) के कृपापात्र ज्ञात पड़ते हैं। मंझन जाति के मुसलमान थे।

'मधुमालती' का रचनाकाल ९५२ हिजरी (सन् १५४५ ई०) है। इसमे कनयगिरि नगर के राजा सुरजभान के पुत्र मनोहर और महारस नगर नरेश विक्रमराय की कन्या मधुमालती की सुखांत प्रेमकहानी कही गई है। इसमें 'जो सब रस महँ राउ रस ताकर करौं बखान' कविस्वीकारोक्ति के अनुसार जो सभी रसों का राजा (श्रृंगार) है उसी का वर्णन किया गया है, जिसकी पृष्ठभूमि में प्रेम, ज्ञान और योग हैं।

उनके जीवनदर्शन की मूलभित्ति ज्ञान-योग-संपन्न प्रेम है। प्रेम की जैसी असाधारण और पूर्ण व्यंजना मझन ने की है वैसी किसी अन्य हिंदी सूफी कवि ने नहीं की। उनकी कविता प्रसादगुण युक्त है।

सं० ग्रं० — डॉ० माताप्रसाद गुप्त : 'मधुमालती,' मित्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, १९६१ ई०; डॉ० धीरेंद्र वर्मा तथा अन्य . हिंदी साहित्य कोश, भाग २; परशुराम चतुर्वेदी : सूफी काव्य संग्रह, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग १९५१ ई०;

[उ० शं० शु०]

मंटगॉमरी, सर रॉबर्ट १. जन्म १८०९ ई०। १८२८ में बंगाल की सिविल सर्विस में प्रविष्ट हुए। १८३९ में इलाहाबाद के कलक्टर और १८४९ में लाहौर के कमिश्नर नियुक्त हुए। द्वितीय सिक्ख युद्ध के बाद १८४९ में पंजाब जब अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया, तब पंजाब का शासन एक बोर्ड को सौंपा गया। इस बोर्ड के तीन सदस्य थे—हेनरी लारेंस, जान लारेंस और चार्ल्स ई० मेसेल। सन् १८५१ में चार्ल्स मेसेल के स्थान पर सर राबर्ट मंटगॉमरी सदस्य नियुक्त किए गए। १८५८ में अवध के चीफ कमिश्नर और फिर १८५९ से १८६५ तक पंजाब के लेफ्टनेंट गवर्नर रहे। सन् १८६८ में इंडिया कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए। २८ दिसंबर, १८८७ को देहांत हुआ।

[मि० च० पां०]

२. मंटगॉमरी, बर्नर्ड ला एक ब्रिटिश सेनापति जिन्होंने द्वितीय महासमर में फ्रांस तथा उत्तर अफ्रिका के युद्धों में भाग लिया था।

मंटगॉमरी (Montgomery) १. जिला, पश्चिमी पाकिस्तान के मुल्तान उपखंड का एक जिला है, जिसका क्षेत्रफल ४,२०४ वर्ग मील तथा जनसंख्या १३,२९,१०३ (१९४१) है। यह सतलुज एवं रावी नदियों के मध्य स्थित है। सिंचाई की सुविधा हो जाने के कारण यहाँ गेहूँ, दलहन, कपास तथा चारा उत्पन्न कर लिया जाता है। सूती एवं रेशमी वस्त्र बनाने तथा कपास ओटने का कार्य होता है। जिले में स्थित हड़प्पा स्थान पर अत्यंत पुरानी सभ्यता के चिह्न मिले हैं।

२. नगर, स्थिति : ३०° ४५′ उ० अ० तथा ७३° ५′ पू० दे०। यह लाहौर-हड़प्पा-मुल्तान रेलमार्ग पर स्थित है। इसकी स्थापना १८६४ ई० में सर रॉबर्ट मंटगॉमरी ने की थी। इसकी जनसंख्या ३८,३४५ (१९४१) है।

३. इसी नाम का नगर संयुक्त राज्य अमरीका के ऐलाबामा प्रांत में है जिसकी जनसंख्या १,०५,०९८ (१९५०) है। इसी नाम का एक नगर इंग्लैंड के वेल्स प्रांत में भी है। [कै० ना० सिं०]

मंडन मिश्र ये भर्तृहरि के बाद कुमारिल के अंतिम समय में तथा शंकराचार्य (दे० शंकराचार्य) के समकालीन थे।

ये पूर्व मीमांसा दर्शन के बड़े प्रसिद्ध आचार्य थे। कुमारिल के बाद इन्हीं को प्रमाण माना जाता है। अद्वैत वेदांत दर्शन में भी इनके मत का आदर है। शालिकनाथ तथा जयंत भट्ट ने वेदांत का खंडन करते समय मंडन का ही उल्लेख किया—शंकराचार्य का नहीं। शांकर भाष्य के सुप्रसिद्ध व्याख्याता, भामती के निर्माता वाचस्पति मिश्र ने मंडन की ब्रह्मसिद्धि को ध्यान में रखकर अपनी कृति लिखी। मीमांसा और वेदांत दोनों दर्शनों पर इन्होंने मौलिक ग्रंथ लिखे। मीमांसानुक्रमणिका, भावनाविवेक और विधिविवेक, ये तीन ग्रंथ मीमांसा पर, शब्द दर्शन पर स्फोटसिद्धि, प्रमाणशास्त्र पर विभ्रम-विवेक तथा अद्वैत वेदांत पर ब्रह्मसिद्धि ये इनके ग्रंथ हैं।

एक परंपरा के अनुसार मंडन कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। यही बाद में शंकराचार्य द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित होकर संन्यासी हो गए और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। मंडन और सुरेश्वर की एकता को लेकर बड़ा विवाद हुआ है। अधिकांश प्रमाण दोनों की भिन्नता के पक्ष में ही मिलते हैं। मंडन ने शब्दाद्वैत (दे० शब्दाद्वैत) का समर्थन किया है, पर सुरेश्वर इसके बारे में मौन हैं। मंडन ने अद्वैतप्रस्थान में अन्यथाख्यातिवाद का बहुत हद तक समर्थन किया, पर सुरेश्वर इसका खंडन करते हैं। मंडन के अनुसार जीव अविद्या का आश्रय है, सुरेश्वर ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय और विषय मानते हैं। इसी मतभेद के आधार पर अद्वैत वेदांत के दो प्रस्थान चल पड़े। भामती प्रस्थान मंडन का अनुयायी बना, विवरण प्रस्थान सुरेश्वर के सिद्धांतों पर चला। सुरेश्वर शुद्धज्ञान को मोक्ष का मार्ग मानते हैं पर मंडन के अनुसार वेदांत के श्रवणमात्र से मोक्ष नहीं मिलता, जब तक अग्निहोत्र आदि कर्म ज्ञान के सहकारी न हों। यही नहीं, किसी प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथ में मंडन और सुरेश्वर को एक नहीं माना गया है।

सं० ग्रं० — म० म० कुप्पू स्वामी शास्त्री : ब्रह्मसिद्धि की भूमिका।

[रा० चं० पां०]

मंडन सूत्रधार मंडन, महाराणा कुंभा (१४३३–१४६८ ई०) का प्रधान सूत्रधार था। यह मेदपाट (मेवाड़) का रहनेवाला था। इसके पिता का नाम खेत या क्षेत्र था जो संभवतः गुजराती था और कुंभा के शासन के पूर्व ही गुजरात से जाकर मेवाड़ में बस गया था। मंडन सूत्रधार वास्तुशास्त्र का प्रकांड पंडित तथा शास्त्रप्रणेता था।

इसने पूर्वप्रचलित शिल्पशास्त्रीय मान्यताओं का पर्याप्त अध्ययन किया था। इसकी कृतियों में मत्स्यपुराण से लेकर अपराजितपृच्छा और हेमाद्रि तथा गोपाल के संकलनों का प्रभाव था। काशी के कवींद्राचार्य (१७वीं शती) की सूची में इसके ग्रंथों की नामावली मिलती है। इसकी रचनाएँ ये हैं—

१. देवतामूर्ति प्रकरण, २. प्रासादमंडन, ३. राजवल्लभ वास्तुशास्त्र, ४. रूपमंडन, ५. वास्तुमंडन, ६. वास्तुशास्त्र, ७. वास्तुसार ८. वास्तुमंजरी, और ९. आपतत्व।

आपतत्व के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। रूपमंडन और देवतामूर्ति प्रकरण के अतिरिक्त शेष सभी ग्रंथ वास्तु विषयक हैं। वास्तु विषयक ग्रंथों में प्रासादमंडन सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें चतुर्दश प्रासाद प्रकार के अतिरिक्त जलाशय, कूप, कीर्तिस्तंभ, पुर, आदि के निर्माण तथा जीर्णोद्धार का भी विवेचन है।

मंडन सूत्रधार मूर्तिशास्त्र का भी बहुत बड़ा पंडित था। रूपमंडन में मूर्तिविधान की इसने अच्छी विवेचना प्रस्तुत की है।

मंडन सूत्रधार केवल शास्त्रज्ञ ही न था, अपितु उसे वास्तुशास्त्र का प्रयोगात्मक अनुभव भी था। 'कुंभलगढ का दुर्ग', जिसका निर्माण उसने १४५८ ई० के लगभग किया, उसकी वास्तुशास्त्रीय प्रतिभा का साक्षी है। यहाँ से मिली मातृकाओं और चतुर्विंशति वर्ग के विष्णु की कुछ मूर्तियों का निर्माण भी संभवतः इसी के द्वारा या इसी की देखरेख में हुआ। [ब० श्री०]

मंडय १. जिला, भारत के मैसूर राज्य में दक्षिण के ऊबड़ खाबड़ तथा पठारी भाग में स्थित एक जिला है। इसके उत्तर में तुमकूरु, पूर्व में बेंगलूरु, पश्चिम-उत्तर में हसन, दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिण में मैसूर जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल १,९२४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,९६,२१० (१९६१) है। कावेरी इस जिले की मुख्य नदी है। इसके दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर कृष्णराज सागर जलाशय तथा दक्षिण-पूर्वी सीमा पर शिवसमुद्रम् जलविद्युतगृह स्थित है। दक्षिण-पूर्वी भाग प्रमुख गन्ना उत्पादक क्षेत्र है। शहतूत पर पले कीड़ों द्वारा रेशम भी प्राप्त किया जाता है। धान, ज्वार, बाजरा, कपास एवं तंबाकू अन्य फसलें हैं।

२. नगर, मैसूर नगर के २२ मील उत्तर-पूर्व में मंडय जिले का प्रशासनिक केंद्र है। यहाँ चीनी के कारखाने हैं। शर्बत, आइसक्रीम, ऐल्कोहल, तबाकू और वनस्पति घी का निर्माण होता है। करघों द्वारा ऊनी, सूती एवं रेशमी कपड़े बुने जाते हैं। कपड़ों की रंगाई भी यहाँ होती है। समीप में ऐस्बेस्टॉस की खुदाई होती है। मंडय नगर समूह की जनसंख्या ३३,३४७ (१९६१) है। [रा० प्र० सिं०]

मंडला १. जिला, भारत के मध्य प्रदेश राज्य में सातपुड़ा पहाड़ियों में स्थित एक जिला है जिसका क्षेत्रफल ५,१२७ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,८४,५०३ (१९६१) है। नर्मदा नदी उत्तर-पश्चिम बहती हुई इस जिले को रीवा से अलग करती है। नर्मदा की सहायक बंजार नदी की घाटी में जिले का सबसे अधिक उपजाऊ भाग पड़ता है, जिसे हवेली कहते हैं। हवेली के दक्षिण बंजार की घाटी जंगलों से ढकी हुई है। सर्वप्रमुख इमारती पेड़ साल है। बाँस, टीक और हुरड अन्य उल्लेखनीय वृक्ष हैं। नदियों की घाटियों में धान, गेहूँ और तिलहन की उपज होती है। जंगल में चीता के आखेट के लिये यह एक प्रसिद्ध जिला है। लाख उत्पादन, लकड़ी चीरना, पान उगाना, पशु पालन, चटाई और रस्सियों का निर्माण यहाँ के लोगों के उद्यम है। यहाँ के ६० प्रति शत निवासी गोंड़ जनजाति के हैं। यहाँ मैंगनीज और लौह धातु के निक्षेप हैं।

२. नगर, स्थिति : २२° ३६' उ० अ० तथा ८०° २३' पू० दे०। नर्मदा नदी के किनारे जबलपुर के ४५ मील दक्षिण-पूर्व में मंडला जिले का प्रशासनिक केंद्र है, जो तीन ओर से नर्मदा द्वारा घिरा हुआ है। यह बेल (bell, फूल) धातु के पात्रों के लिये विख्यात है। इस नगर का अधिकांश १९२६ ई० की बाढ़ में डूब गया था। यह गोंड़ वंश की राजधानी रह चुका है। यहाँ किले और प्रासाद के अवशेष हैं। इसकी जनसंख्या १९,४१९ (१९६१) है। [रा० प्र० सिं०]

मंडी १. जिला, यह भारत के हिमाचल प्रदेश राज्य का एक जिला है। इसके उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम में कांगड़ा तथा दक्षिण में बिलासपुर एवं महासु नामक जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल १,५२३ वर्ग मील तथा जनसंख्या ३,८४,२५९ (१९६१) है। पहले यह एक रियासत थी। कृषि में धान, मक्का, उड़द, ज्वार, बाजरा, आलू, गेहूँ, जौ, टमाटर, गन्ना आदि प्रमुख उपजें हैं।

२. नगर, स्थिति : ३१° ४३' उ० अ० तथा ७६° ५८' पू० दे०। यह शिमला से ८८ मील दूर स्थित है। इसकी स्थापना राजा अजबर सेन ने १५२७ ई० में की थी। यहाँ कई मंदिर हैं। व्यास नदी नगर के बीचोबीच बहती है। इसकी जनसंख्या १३,०३४ (१९६१) है। [र० च० दु०]

मंत्र आदि काल से ही मनुष्य का मंत्र में विश्वास रहा है। जो काम युक्ति और प्रयास से नहीं हो सकता उसको मनुष्य मंत्र द्वारा करना चाहता है और जब संयोगवश सफलता प्राप्त हो जाती है तो मंत्र में विश्वास बढ़ जाता है। यदि किसी कार्य में सिद्धि नहीं होती तो मंत्रप्रयोग में कोई त्रुटि मानी जाती है।

मंत्र की उत्पत्ति भय से या विश्वास से हुई है। आदि काल में मंत्र और धर्म में बड़ा संबंध था। प्रार्थना को एक प्रकार का मंत्र माना जाता था। मनुष्य का ऐसा विश्वास था कि प्रार्थना के उच्चारण से कार्यसिद्धि हो सकती है। इसलिये बहुत से लोग प्रार्थना को मंत्र समझते थे।

जब मनुष्य पर कोई आकस्मिक विपत्ति आती थी तो वह समझता था कि इसका कारण कोई अदृश्य शक्ति है। वृक्ष का टूट पड़ना, मकान का गिर जाना, आकस्मिक रोग हो जाना और अन्य ऐसी घटनाओं का कारण कोई भूत या पिशाच माना जाता था और इसकी शांति के लिये मंत्र का प्रयोग किया जाता था। आकस्मिक संकट बार बार नहीं आते। इसलिये लोग समझते थे कि मंत्र सिद्ध हो गया। प्राचीन काल में वैद्य ओषधि और मंत्र दोनों का साथ साथ प्रयोग करता था। ओषधि को अभिमन्त्रित किया जाता था और विश्वास था कि ऐसा करने से वह अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है।

कुछ मंत्रप्रयोगकर्ता (ओझा) केवल मंत्र के द्वारा ही रोगों का उपचार करते थे। यह इनका व्यवसाय बन गया था।

मंत्र का प्रयोग सारे संसार में किया जाता था और मूलत. इसकी क्रियाएँ सर्वत्र एक जैसी ही थीं। विज्ञान युग के आरंभ से पहले विविध रोग विविध प्रकार के राक्षस या पिशाच माने जाते थे। अत: पिशाचों का शमन, निवारण और उच्चाटन किया जाता था। मंत्र में प्रधानता तो शब्दों की ही थी परंतु शब्दों के साथ क्रियाएँ भी लगी हुई थीं। मंत्रोच्चारण करते समय ओझा या वैद्य हाथ से, अंगुलियों से, नेत्र से और मुख से विविध क्रियाएँ करता था। इन क्रियाओं में त्रिशूल, झाड़ू, कटार, वृक्षविशेष की टहनियों और सूप तथा कलश आदि का भी प्रयोग किया जाता था। रोग की एक छोटी सी प्रतिमा बनाई जाती थी और उसपर प्रयोग होता था। इसी प्रकार शत्रु की प्रतिमा बनाई जाती थी और उसपर मारण, उच्चाटन आदि प्रयोग किए जाते थे। ऐसा विश्वास था कि ज्यों ज्यों ऐसी प्रतिमा पर मंत्रप्रयोग होता है त्यों त्यों शत्रु के शरीर पर इसका प्रभाव पड़ता जाता है। पीपल या वट वृक्ष के पत्तों पर कुछ मंत्र लिखकर उनके मणि या ताबीज बनाए जाते थे जिन्हें कलाई या कंठ में बाँधने से रोगनिवारण होता, भूत प्रेत से रक्षा होती और शत्रु वश में होता था। ये विधियाँ कुछ हद तक इस समय भी प्रचलित हैं। संग्राम के समय दुंदुभी और ध्वजा को भी अभिमंत्रित किया जाता था और ऐसा विश्वास था कि ऐसा करने से विजय प्राप्त होती है।

ऐसा माना जाता था कि वृक्षों में, चतुष्पथों पर, नदियों में, तालाबों में और कितने ही कुओं में तथा सूने मकानों में ऐसे प्राणी निवास करते हैं जो मनुष्य को दुख या सुख पहुँचाया करते हैं और अनेक विषम स्थितियाँ उनके कोप के कारण ही उत्पन्न हो जाया करती हैं। इनका शमन करने के लिये विशेष प्रकार के मंत्रों और विविध क्रियाओं का उपयोग किया जाता था और यह माना जाता था कि इससे संतुष्ट होकर ये प्राणी व्यक्तिविशेष को तंग नहीं करते। शाक्त देव और देवियाँ कई प्रकार की विपत्तियों के कारण समझे जाते थे। यह भी माना जाता था कि भूत, पिशाच और डाकिनी आदि का उच्चाटन शाक्त देवों के अनुग्रह से हो सकता है। इसलिये ऐसे देवों का मंत्रों के द्वारा आह्वान किया जाता था। इनको बलि दी जाती थी और जागरण किए जाते थे।

अपने शत्रु पर ओझा के द्वारा लोग मारण मंत्र का प्रयोग करवाया करते थे। इसमें मूठ नामक मंत्र का प्रचार कई सदियों तक रहा। इसकी विविध क्रियाएँ थीं लेकिन सबका उद्देश्य यह था कि शत्रु का प्राणांत हो। इसलिये मंत्रप्रयोग करनेवाले ओझाओं से लोग बहुत भयभीत रहा करते थे और जहाँ परस्पर प्रबल विरोध हुआ वहीं ऐसे लोगों की माँग हुआ करती थी। जब किसी व्यक्ति को कोई लंबा या अचानक रोग होता था तो संदेह हुआ करता था कि उस-पर मंत्र का प्रयोग किया गया है। अत: उसके निवारण के लिये दूसरा पक्ष भी ओझा को बुलाता था और उससे शत्रु के विरुद्ध मारण या उच्चाटन करवाया करता था। इस प्रकार दोनों ओर से मंत्रयुद्ध हुआ करता था।

जब संयोगवश रोग की शांति या शत्रु की मृत्यु हो जाती थी तो समझा जाता था कि यह मंत्रप्रयोग का फल है और ज्यों ज्यों इस प्रकार की सफलताओं की संख्या बढ़ती जाती थी त्यों त्यों ओझा के प्रति लोगों का विश्वास दृढ़ होता जाता था और मंत्रसिद्धि का महत्व बढ़ जाता था। जब असफलता होती थी तो लोग समझते थे कि मंत्र का प्रयोग भली भाँति नहीं किया गया। ओझा लोग ऐसी क्रियाएँ करते थे जिनसे प्रभावित होकर मनुष्य निश्चेष्ट हो जाता था। इन क्रियाओं को इस समय हिप्नोटिज्म कहा जाता है। मंत्र, उनके उच्चारण की विधि, विविध चेष्टाएँ, नाना प्रकार के पदार्थों का प्रयोग, भूत प्रेत और डाकिनी शाकिनी आदि, ओझा, मंत्र, वैद्य, मंत्रौषध आदि सब मिलकर एक प्रकार का मंत्रशास्त्र बन गया है और इसपर अनेक ग्रंथों की रचना हो गई है।

मंत्रग्रंथों में मंत्र के अनेक भेद माने गए हैं। कुछ मंत्रों का प्रयोग किसी देव या देवी का आश्रय लेकर किया जाता है और कुछ का प्रयोग भूत प्रेत आदि का आश्रय लेकर। ये एक विभाग हैं। दूसरा विभाग यह है कि कुछ मंत्र भूत या पिशाच के विरुद्ध प्रयुक्त होते हैं और कुछ उनकी सहायता प्राप्त करने के हेतु। स्त्री और पुरुष तथा शत्रु को वश में करने के लिये जिन मंत्रों का प्रयोग होता है वे वशीकरण मंत्र कहलाते हैं। शत्रु का दमन या अंत करने के लिये जो मंत्रविधि काम में लाई जाती है वह मारण कहलाती है। भूत प्रेत आदि के निवारण के लिये जिन मंत्रों को काम में लाया जाता है उनको उच्चाटन या शमन मंत्र कहा जाता है। लोगों का विश्वास है कि ऐसी कोई कठिनाई, कोई विपत्ति और कोई पीड़ा नहीं है जिसका निवारण मंत्र के द्वारा नहीं हो सकता और कोई ऐसा लाभ नहीं है जिसकी प्राप्ति मंत्र के द्वारा नहीं हो सकती। [म० ला० श०]

मंददृष्टि (Amblyopia) ऐसा विकार है जिसमें यद्यपि बाहर से नेत्र पूर्णत: स्वस्थ दिखाई देते हैं, परंतु वस्तुत: उनमें किसी भी चीज को स्पष्ट देखने की क्षमता नहीं रहती।

यह विकार कभी कभी जन्मजात होता है तथा कभी कभी किसी रोग के उपद्रवस्वरूप बाद में भी उत्पन्न हो जाता है। जन्म से ही दृष्टि में कमी का होना प्राय: एक ही आँख में मिलता है। दोनों आँखों में यह विकार बहुत कम दिखाई देता है। इस रोग का प्रधान कारण नेत्र की आवर्तन संबंधी विकृति, विषम दृष्टि, है तथा इसके साथ ही साथ उग्र नेत्र में निकट एवं दूरदृष्टि विकार भी रहता है। इस कारण का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दृष्टि की यह कमी जन्मजात नहीं बल्कि बाद में ही उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि आवर्तन संबंधी विकृति को चश्मे द्वारा ठीक न करने के कारण वस्तु का चित्र ठीक दृष्टिपटल पर नहीं बनता, जिसका फल यह होता है कि उस दृष्टिपटल (retina) से देखने का कार्य लिया ही नहीं जाता, जिसके कारण देखने के कार्य में निपुण बनना तो दूर रहा, दृष्टिपटल अपनी प्रकृतिप्रदत्त शक्ति को भी खो देता है। इस प्रकार की अवस्था को कार्य असंलग्नता जनित मंददृष्टि (Amblyopia Exanopsia) कहते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि जन्मजात या शैशवकालीन मोतियाबिंद की शल्य चिकित्सा शीघ्र करा लेनी चाहिए, ताकि कार्य न करने के कारण दृष्टिपटल अपनी शक्ति न खो दे। सात या आठ वर्ष की उम्र के पश्चात् उत्पन्न दृष्टि-बाधा इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न नहीं करती।

इस प्रकार के रोगियों में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्ण सावधानी के साथ परीक्षा करने के पश्चात् भी चश्मा देने से आरंभ में लाभ नहीं मालूम पड़ता, बल्कि जब कुछ दिनों तक चश्मा लगा लिया जाता है तभी उसमें कुछ लाभ मालूम पड़ने लगता है, क्योंकि दीर्घ काल से बेकार दृष्टिपटल धीरे धीरे ही देखने का अभ्यासी होता है।

एकनेत्रीय मंददृष्टि बहुधा तिर्यक दृष्टि (squint) का कारण बन जाती है, क्योंकि इस अवस्था में एक नेत्र के विकृत होने के कारण द्विनेत्री दृष्टि (binocular vision) का कुछ भी महत्व नहीं रहता।

हिस्टीरिया में होनेवाली मंददृष्टि (hysterical amblyopia) के अंदर पुतली और फंडस (fundus) तो स्वाभाविक अवस्था में रहते हैं, परंतु परीक्षा करने पर दृष्टिक्षेत्र (field of vision) में सर्पिल प्रतिबंध (spiral restriction) मिलता है। [प्रि० कु० चौ०]

मंदसौर १. जिला, स्थिति : २३° ३३' से २५° १९' उ० अ० तथा ७४° ११' से ७५° ५४' पू० दे०। भारत के मध्य प्रदेश राज्य में एक जिला है। इसके दक्षिण में रतलाम जिला तथा शेष सभी ओर राजस्थान राज्य पड़ता है। इसका क्षेत्रफल ३,९६६ वर्ग मील तथा जनसंख्या ७,५२,०८५ (१९६१) है। मंदसौर, नीमच तथा जावद प्रमुख नगर हैं। यहाँ काली मिट्टी पाई जाती है जिसमें कपास पैदा होती है।

२. नगर, स्थिति : २४° ४' उ० अ० तथा ७५° ५' पू० दे०। मंदसौर जिले में सिप्रा की सहायक सिउना नदी के किनारे स्थित है। यहाँ मुसलमानों की जनसंख्या अधिक है। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा १४वीं शती में बनवाया गया यहाँ एक किला है। नगर की जनसंख्या ४१,८७६ (१९६१) है। [र० च० दु०]

इतिहास — पहले यह ग्वालियर राज्य के अंतर्गत पड़ता था। इतिहास और पुरातत्व की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। इसका प्राचीन नाम दशपुर अर्थात् दस गाँवों का शहर था। नासिक से प्राप्त एक प्राचीन लेख में, जिसका समय ईसा की प्रारंभिक सदी है, इसका उल्लेख मिलता है। मंदसौर से प्राप्त एक ऐतिहासिक लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में एक सूर्यमंदिर की स्थापना की गई थी एवं ३६ साल बाद ४७३ ई० में इस मंदिर की मरम्मत की गई। मुसलमानी शासनकाल में मंदसौर की ओर भी उन्नति हुई। १४वीं शताब्दी के आरंभ में अलाउद्दीन खिलजी ने शहर के पूरब में एक दुर्ग का निर्माण करवाया। आगे चलकर मालवा के शासक होशंग शाह (१४०५–१४३४) ने इस दुर्ग का विस्तार किया। इस शहर के बाहर एक बड़ा तालाब है जहाँ मुगल सम्राट् हुमायूँ ने गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के विरुद्ध घेरा डालकर उसे पराजित किया था। सम्राट् अकबर ने जब मालवा पर आधिपत्य जमाया तब मंदसौर शहर को मालवा प्रदेश वा मंदसौर सरकार का मुख्य प्रशासनिक केंद्र बनाया गया। १८वीं सदी में यह सिंधिया के आधिपत्य में आया। सन् १८१२ में मालवा की संधि (अंग्रेजों और होलकर के मध्य) पर हस्ताक्षर मंदसौर में ही किया गया। सन् १८५७ के विद्रोह में भी मंदसौर ने हिस्सा लिया था।

मंदसौर के तीन मील दक्षिण-पूरब में दो स्तंभ पाए गए हैं। उनमें से प्रत्येक एक एक पत्थर को तराश कर बनाया गया है। उनपर खुदे लेख से पता चलता है कि मालवा के राजा यशोधर्मा ने इसी जगह हूण सरदार मिहिरकुल को पराजित किया था। इस लेख का महत्व इस बात में भी है कि इससे गुप्त संवत् के प्रति खोज में सहायता मिलती है। [शां० प्र० रो०]

मंदोदरी हेमा अप्सरा से उत्पन्न रावण की पटरानी जो मेघनाद की माता तथा मयासुर की कन्या थी। रावण को सदा यह अच्छी सलाह देती थी और कहा जाता है कि अपने पति के मनोरंजनार्थ इसी ने शतरंज के खेल का प्रारंभ किया था। इसकी गणना भी पंचकन्याओं में है, यद्यपि रावणवध के पश्चात् इसका विवाह विभीषण से हुआ था। सिंघलद्वीप की राजकन्या और एक मातृका का भी नाम मंदोदरी था. [रा० द्वि०]

मंसबदारी फ़ारसी में मंसबदार का अर्थ है मंसब (पद या श्रेणी) रखनेवाला। मुगल साम्राज्य में मंसब से तात्पर्य उस पदस्थिति से था जो बादशाह अपने पदाधिकारियों को प्रदान करता था। मंसब दो प्रकार के होते थे, 'जात' और 'सवार'।

मंसब की प्रथा का आरंभ सर्वप्रथम अकबर ने सन् १५७५ में किया। 'जात' से तात्पर्य मंसबदार की उस स्थिति से था जो उसे प्रशासकीय पदश्रेणी में प्राप्त थी। उसका वेतन भी उसी अनुपात में उन वेतन सूचियों के आधार पर जो कि उस समय लागू थीं निर्धारित होता था। सवार श्रेणी से अभिप्राय था कि कितना सैनिक दल एक मंसबदार को बनाए रखना है; और इसके लिये उसे कितना वेतन मिलेगा। इसका निर्धारण प्रचलित वेतनक्रम को सवारों की संख्या से गुणा करके होता था।

कहा जाता है, मंसब प्रथा की उत्पत्ति प्रारंभिक तुर्कों और मंगोल सेना के 'दशमलवात्मक' संगठन में देखी जा सकती है, और इसी को आधार मानकर अकबर ने केवल वर्तमान सैनिक श्रेणी को 'जात' श्रेणी में परिवर्तित किया और एक नई 'सवार' श्रेणी को जन्म देकर उस उद्देश्य को पूरा किया जो कि प्राचीन श्रेणी करती थी। लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि १५७५ से पूर्व भी मंसब दिए जाते थे। इससे यही प्रतीत होता है कि 'जात' तथा 'सवार' श्रेणियों का आरंभ एक साथ ही उसी वर्ष किया गया।

अकबर के समय में सवार श्रेणी प्राय या तो 'जात' श्रेणी के बराबर अथवा कम ही होती थी। जहाँगीर ने मंसबदारी पद्धति में एक महत्वपूर्ण प्रयोग किया अर्थात् 'दो अश्व और तीन अश्व' श्रेणी का प्रारंभ। 'दो अश्व व तीन अश्व' श्रेणी को 'सवार' श्रेणी का ही भाग माना जाता था। 'दो अश्व तीन अश्व' श्रेणी प्राप्त करनेवाले का वेतन तथा सैनिक जिम्मेदारियाँ दोनों ही दोहरे हो जाते थे।

'जात' श्रेणी पर वेतन प्रत्येक श्रेणी के लिये अलग अलग निर्धारित था। वेतन में वृद्धि श्रेणी में वृद्धि होने के समानुपात में नहीं होती थी। पाँच हजार से नीचे की 'जात' श्रेणी पर वेतन तीन वर्गों में अलग अलग निर्धारित था — प्रथम, जब सवार' श्रेणी 'जात' श्रेणी के बराबर हो; द्वितीय, जब 'सवार' श्रेणी 'जात' श्रेणी से कम तो हो परंतु आधे से कम न हो; तृतीय जब आधे से भी कम

हो। प्रथम वर्गवालों का वेतन द्वितीय वर्ग से, तथा द्वितीय वर्गवालों का वेतन तृतीय वर्ग से अधिक होता था। सवार श्रेणी पर वेतन श्रेणियों के अनुसार अलग अलग निश्चित नहीं था; लेकिन प्रति इकाई पर वेतन की दर स्थायी रूप से बताई गई है। शाहजहाँ से लेकर बाद तक 'सवार' श्रेणी के प्रति इकाई की वेतन की दर आठ हजार दाम थी। सवार श्रेणी का वेतन इस योग (८ हजार दाम) को सवार संख्या से गुणा करके निकाला जा सकता है। मसबदार को वेतन या तो नकद अथवा जागीर के रूप मे दिया जाता था।

शाहजहाँ के राज्यकाल में 'मासिक अनुपात' व्यवस्था का जन्म हुआ। यह व्यवस्था नकद वेतनों पर भी लागू की गई। इसके परिणामस्वरूप मंसबदारों के वेतन, सुविधाओं तथा कर्तव्यों मे कमी आ गई।

'निश्चित वेतन' में बहुत सी कटौतियाँ होती थीं। सबसे अधिक कटौती दक्खिनी मंसबदारो के वेतनों मे की जाती थी और यह दामों में एक चौथाई की कमी होती थी। विशेष रूप से न माफ होने पर निम्नलिखित कटौतियाँ सभी मंसबदारों पर लागू की जाती थीं—पशुओं के लिये चारा, रसद के लिये माँग तथा रुपए में दो दाम।

मसब के साथ साथ अकबर ने १५७५ में दागने की प्रथा का प्रारंभ किया। इसका उद्देश्य प्रत्येक मसबदार को उतने घोडे तथा घुडसवार वास्तविक रूप मे बनाए रखने के लिये मजबूर करना था, जितने उससे राजकीय सेवा के लिये अपेक्षित थे। फलस्वरूप सैनिक जिम्मेदारियो से बचाव को रोकने के लिये अकबर ने घोडो को दागने तथा व्यक्तियों के लिये 'चेहरा' की प्रथा को अपनाया। अबुलफ़ज्ल के विवरण से पता चलता है कि अकबर के समय में मंसबदार से उम्मीद की जाती थी कि वह उतने सैनिक प्रस्तुत करेगा जितनी कि उसकी 'सवार' श्रेणी हो। ऐसा न करने पर उसे दंडित किया जाता था। विचारणीय बात रह जाती है कि मंसबदार से उसकी 'सवार' श्रेणी के अनुरूप जो संख्या प्रत्याशित होती थी वह घोडो की थी अथवा सैनिकों की ? शाहजहाँ के समय मे 'तृतीयाश' नियम के अंतर्गत, १०० सवार श्रेणी वाले मसबदार को ३३ सवार और ६६ घोडे रखने पडते थे। इससे यही प्रतीत होता है कि अकबर के समय में १०० 'सवार' श्रेणी के लिये ५० सवार और १०० घोड़ों से अधिक नही माँगे जाते होंगे।

शाहजहाँ ने नए सिरे से मंसबदारी पद्धति को सगठित किया। जो मसबदार उन प्रदेशों मे ही नियुक्त थे जहाँ उनको जागीरें प्राप्त थीं, उनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे अपनी 'सवार' श्रेणी के एक तिहाई सवार प्रस्तुत करेंगे; ऐसे प्रदेशो में नियुक्त होने पर जहाँ उनकी जागीरें नहीं थी केवल एक चौथाई, और बल्ख या बदकशाँ मे नियुक्त होने पर पचमाश। जिन मंसबदारों को वेतन नकद मिलता था उनपर भी पांचवें हिस्से का नियम लागू होता था। पंचमाश नियम के अंतर्गत वार्षिक व्यवस्था मे ५००० 'सवार' श्रेणी पर १००० सवार तथा २२०० घोड़े रहेगे।

सिद्धातरूप मे समस्त मसबदारों की नियुक्ति बादशाह द्वारा होती थी। प्राय मुगलों की सैनिक भर्ती जाति अथवा वंश के आधार पर ही की जाती थी, योग्यता के लिये कोई विशेष स्थान नही था। उच्चवंशीय न होने पर व्यक्ति के राजकीय सेवा मे प्रवेश के अवसर सीमित थे।

सं० ग्रं० — अबुलफ़ज्ल : अकबरनामा, बिब० इंडिका, १८७३-८७ अबुलफज्ल : आईने अकबरी, बिब० इडिका, १८६७-७७; अब्दुल हामिद लाहौरी : बादशाहनामा, बिब० इंडिका, १८६७-६८; अब्दुल अज़ीज दी मंसबदारी सिस्टम ऐंड दी मुगल आर्मी, लाहौर, १९४५; एम० अथरअली : दी मुगल नोबिलिटी अंडर औरंगजेब, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, १९६६; डब्लू० एच० मोरलैंड : रैंक इन दी मुगल स्टेट सर्विस', जे० आर० ए० एस०, १९३६, पृ० ६४१-६५; ए० जे० कैसर . ए नोट आन दी डेट ऑव दी इंस्टीट्यूशन ऑव मसब अडर अकबर, आई० एच० सी०, दिल्ली—१९६१, पृष्ठ १५५-५६। [एम० ए० ए०]

मंस्टर स्थिति : ५१° ५८' उ० अ० तथा ७° ३७' पू० दे०। पश्चिमी जर्मन गणतत्र के नॉर्थ राइन वेस्टफालिया क्षेत्र मे डॉर्टमुट-एम्स नहर का एक बंदरगाह है जो डॉर्टमुंट नगर से ३२ मील उत्तर-उत्तर-पूर्व स्थित है। बालुकामय मैदान मे स्थित यह प्रमुख रेलमार्ग एवं वायुमार्ग का केंद्र है। इस औद्योगिक नगर मे कृषि और खनन यंत्र, शैल्पिक यत्र, साबुन, चॉकलेट, मुद्रण यंत्र, शराब, कार्डबोर्ड, साजसज्जा, एवं इमारती सामान आदि का निर्माण होता है। रंगाई और बुनाई यहाँ का प्रसिद्ध उद्योग है। यहाँ अनाज, लकडी तथा भोज्य पदार्थों का व्यापार होता है। मंस्टर मे विश्वविद्यालय, वेस्टफालियन सग्रहालय एवं बड़े पादरी का आवासस्थान है। द्वितीय विश्वयुद्ध के व्यापक विनाश के पहले मस्टर मध्यकालीन भवनो एव सडकों के लिये विख्यात था। १२वी, १३वी शताब्दी का बडा गिरजाघर, सेंट लैबर्ट एव अवर लेडी गिरजाघर, गोथिक नगर भवन तथा स्टैड्टकेलर (Stadtkeller) भवन उल्लेखनीय हैं जो द्वितीय विश्वयुद्ध मे बुरी तरह क्षतिग्रस्त हुए थे। स्टैड्टकेलर मे प्रारंभिक जर्मन चित्रकला के अमूल्य संग्रह हैं। इसकी जनसंख्या १,८७,७४८ (१९६२) है। [रा० प्र० सिं०]

मकड़ी आर्थ्रोपोडा (Arthropoda) संघ, आरैक्निडा (Arachnida) वर्ग, एरानीइडा (Araneida) गण का प्राणी है। यह ससार के सभी भागो मे पाई जाती है। माउंट एवरेस्ट पर २२,००० फुट ऊँचाई पर भी मकडी देखी गई है। मकड़ी की लगभग २०,००० स्पीशीज ज्ञात हैं। इसके कई स्पीशीज अर्धसमुद्री हैं और एक स्पीशीज अलवण जल मे रहता है। मकड़ी की लबाई एक मिमी० से लेकर नौ सेंटीमीटर तक होती है।

मकडी के शरीर के दो भाग हैं : शिरोवक्ष और उदर। इसमें गर्दन के स्थान पर कटि होती है। मकडी का उदर अखंड होता है और तग कटि (waist) द्वारा शिरोवक्ष (cephalothorax) से जुडा रहता है। वक्ष मे चार जोडे पैर रहते हैं। पैरों के सिरों पर बालो की गद्दी रहती है, जिसकी सहायता से ये दीवारों पर चिपकी रहती हैं। शिरोवक्ष के अग्रपृष्ठीय सतह पर आँखें स्थित रहती हैं। सामान्य मकडियों में आठ सरल आँखें होती हैं। शिरोवक्ष मे छह जोडे उपांग (appendages) होते हैं। पहले जोड़े को कीलिसेरी (chelicerae) कहते हैं। इसमें दो विषग्रंथियाँ रहती हैं। कीलिसेरी के सिरे पर

नखर सदृश विषदंत (fang) होता है। दूसरा जोड़ा छह जोड़वाला पादस्पर्शक (pedipalpi) होता है, जो मादा में पैरों के सदृश होता है, किंतु नर में यह छोटा और अंत में बल्ब की आकृति का होता है। यह आकृति शुक्राणु रखने, या इनके स्थानांतरण, के काम आती है।

मुँह जंभिकाओं (maxillae) के मध्य में स्थित है। उदर के अग्र अधर सतह पर जननरंध्र (genital opening) तथा बुक लंगों (book lungs) के रेखाछिद्र रहते हैं। गुदा से पहले श्वासरंध्र (spiracle) रहता है, जो छोटी श्वासनलियों (tracheae)
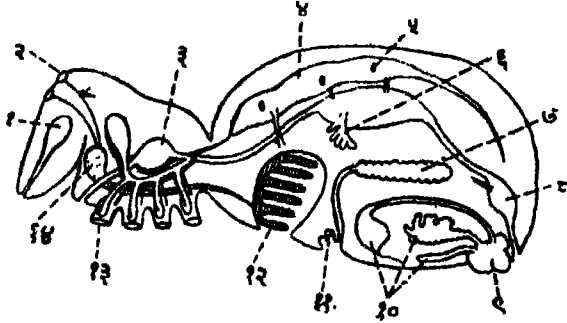
मकड़ी के अंतरांग

१. विषग्रंथि, २. चक्षु, ३. आमाशय, ४. हृदय, ५. आस्य (ostium), ६. पाचन ग्रंथि, ७. अंडाशय, ८ अवस्कर (cloaca), ९. तंतु ग्रंथि (spinneret), १०. रेशम ग्रंथि, ११. जनन ग्रंथि का मुख, १२. फुफ्फुस, १३. चलने की टाँगें तथा १४. मस्तिष्क।

से जुड़ा रहता है। उदर के पश्च भाग मे तंतुग्रंथियों (spinnerets) के तीन जोड़े होते हैं, जिनसे उदर मे स्थित रेशम ग्रंथि (silk gland) का स्राव निकलता है।

मकड़ी का आमाशय चूषण आमाशय (sucking stomach) होता है। मकड़ी शिकार में विष प्रवेश करती है और कुछ मकड़ियाँ एंजाइम प्रवेश करती हैं। इसके बाद वे कुछ समय तक प्रतीक्षा करती हैं, ताकि शिकार का आंतरिक भाग घुलकर द्रव बन जाए। तब वे इस द्रव को चूस लेती हैं।

मकड़ी में घ्राण अंग विकसित होते हैं और ये शरीर पर सूक्ष्म लिरिफार्म अंगो (lyriform organ) तथा उपांगों पर पाए जाते हैं। मकड़ी में ध्वनि की अनुक्रिया अनिश्चित है। कुछ मकड़ियों मे ध्वनि उत्पन्न करनेवाले निश्चित अंग होते हैं। पश्च स्पर्शकों तथा शरीर के अन्य भागों पर सुग्राही स्पर्श रोम (tactile hairs) होते हैं।

उदर के अधर भाग में जननग्रंथियाँ (gonads) रहती हैं, जो उदर के बाहर अधर सतह में अग्र सिरे की ओर खुलती हैं। नर में दो वृषण तथा मादा मे अंडाशय रहते हैं। रूपांतरित स्पर्शी द्वारा नर के शुक्राणु मादा में स्थानांतरित किए जाते हैं। संसेचन आंतरिक होता है। अंड रेशम के कोकून में दिए जाते हैं और कुछ स्पीशीज में मादा कोकून को उस समय तक ढोती है, जब तक बच्चा अंडा फोड़कर बाहर नहीं आ जाता है। लाइकोसा (lycosa) स्पीशीज की मादा अपने बच्चों को कुछ दिन तक अपने उदर पर ढोती है। नर मकड़ी को वयस्क होने मे पाँच माह लगते हैं और मादा को वयस्क होने में सात से आठ सप्ताह तक लगते हैं।

मकड़ी का अनुरंजन बड़ा कलापूर्ण होता है। अनुरंजन के अंतर्गत नर, दिखाई पड़नेवाली मादा के संमुख अपनी सज्जा का प्रदर्शन करता है, या एक प्रकार का नाच दिखाता है जिसमे यह पैरों तथा स्पर्शकों को हिलाता है, या जाल को विशेष प्रकार से बजाता है। अनुरंजन के बाद मादा नर को प्राय: खा जाती है पर यह निश्चित नहीं है कि खा ही जाए। अनुरंजन के समय नर अपेक्षया सुरक्षित रहता है और अनुरंजन के बाद उसके पास भागने का अवसर रहता है। संगम ऋतु के पिछले काल में नर के भागने का अवसर कम होता जाता है, क्योंकि मादा अधिक भूखी रहती है तथा नर निष्क्रिय होता जाता है।

मकड़ी की मुख्य विशेषता रेशम का उपयोग है, जो आमाशय की रेशम ग्रंथियों से श्यान द्रव के रूप में स्रवित होता है और शरीर के अंत में स्थित तंतुग्रंथियों (spinnerets) के समूह द्वारा बनाया जाता है। इस रेशम से जाल के बारीक तंतु बनते हैं, जिनपर नवजात मकड़ी प्रवास करती है। मकड़ी की घूमनेवाली जातियाँ जालो को अपने पीछे छोड़ जाती हैं। सुस्त स्पीशीज की मकड़ियाँ रेशम के घर में, या रेशम के अस्तरवाले गर्त में, रहती हैं। निर्मोचन तथा शीतनिष्क्रियता काल भी रेशम के कोष्ठो मे ही पूर्ण होता है।

कई कुलों की मकड़ियाँ जाल नहीं बुनतीं। मकड़ी के बहुत अधिक स्पीशीज घुमक्कड़ हैं। दिन में ये मार्ग मे पड़नेवाले किसी भी स्थान पर छिप जाते हैं और रात्रि मे घूमते हैं। कर्कट मकड़ी (crabe spider) गिरी हुई पत्तियों तथा फूलों की पंखुड़ियो मे छिपती है और अपने शिकार पर बगल से झपटती है। मकड़ी के कुछ स्पीशीज जिन फूलों तथा स्थलों मे छिपते हैं, उनके रंग के अनुसार अपना रंग बदल सकते हैं। कुछ मकड़ियो मे अनुहरण (mimicry) भी पाया जाता है। कुछ स्पीशीज ऐसे हैं, जो घोंघों, चीटियों तथा भृंगों (beetles) से मिलते जुलते हैं।

मकड़ी की एक यह भी विशेषता है कि यह लगभग ३० महीने तक निराहार रह सकती है। इस काल में यह अपने शरीर में संचित खाद्यपर निर्भर करती है। [अ० ना० मे०]

मकर रेखा (Tropic of Capricorn) वह काल्पनिक रेखा है, जो धरातल पर विषुवत् रेखा से लगभग २३½° की कोणात्मक दूरी पर इसके समांतर दक्षिणी गोलार्ध मे स्थित है। यह विषुवत् रेखा से लगभग २,६०० किमी० दूर है। २२ दिसंबर को जब सूर्य की किरणें इस रेखा पर लंबवत् पड़ती हैं, उस समय सूर्य के मकर राशि मे स्थित होने के कारण इस रेखा को मकर रेखा कहते हैं। दक्षिणी गोलार्ध मे स्थित होने के कारण इसपर स्थल की अपेक्षा जल का भाग अधिक पड़ता है। यह अफ्रीका के दक्षिणी भाग तथा दक्षिणी अमरीका, ऑस्ट्रेलिया एवं मैडागैस्कर द्वीप के मध्य से जाती है। इसकी संपूर्ण लंबाई लगभग ३६,७०० किमी० है। ऑस्ट्रेलिया के रॉकहैंपटन तथा एलिस स्प्रिंग और दक्षिणी अमरीका के रीओ डे जानेरो तथा साउम पोलू नगर इस रेखा के निकट स्थित हैं। [न० प्र०]

मकाओ चीन में शीजियांग डेल्टे के दक्षिणी किनारे पर, कैंटन से ६० मील दक्षिण तथा हाँगकाँग से ३५ मील पश्चिम स्थित एक क्षेत्र है जो सन् १५५७ से पुर्तगाल के अधीन है। इसमें ताइपा तथा कोलोवान द्वीप संमिलित हैं। इसका कुल क्षेत्रफल छह वर्ग मील तथा जनसंख्या १,६६,२६६ (१६६०) है। मकाओ नगर इसी नाम के एक पतले प्रायद्वीप पर, कैंटन नदी के मुहाने के पास स्थित है। यहाँ की जलवायु उष्ण कटिबधीय तथा आर्द्र है। वर्षा का वार्षिक औसत ६० इंच है। यहाँ चीनी-पुर्तगाली-मिश्रित भाषा का प्रयोग होता है। नगर ने उत्तम स्थिति के कारण व्यापार मे काफी प्रगति कर ली है। किसी समय अफीम के व्यापार का यह प्रमुख केंद्र था। यहाँ का अधिकांश व्यापार चीनियो के हाथ मे है। [म० मा० नि०]

मकेंजी नदी कैनाडा के उत्तर-पश्चिम मे उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम की ओर बहती हुई आर्कटिक महासागर में गिरती है। ग्रेट स्लेव झील से ऐथबैस्का झील तक इसकी लबाई १,१२० मील है। इस भाग को स्लेव नदी कहते हैं। ऐथबैस्का झील मे पीस और ऐथबैस्का नदियाँ गिरती हैं जो मकेंजी का ही क्रम मानी जाती हैं। इस प्रकार मकेंजी नदी की कुल लबाई २,५०० मील है जो लबाई के विचार से उत्तरी अमरीका की दूसरी बडी नदी है। इसके बेसिन में स्थित बहुत सी झीलें जलाशयो का काम करती हैं तथा बाढ को नियत्रित करती हैं। ग्रेट स्लेव, ग्रेट बियर तथा ऐथबैस्का झीलों का पानी मकेंजी मे ही बहता है। इस नदी का डेल्टा लगभग १०० मील लंबा तथा ८० मील चौड़ा है। वर्ष मे केवल जून से अक्टूबर तक ग्रेट स्लेव झील और आर्कटिक तट के बीच इसमे नावें चलती हैं। सर्वप्रथम इस नदी का पता सर एलेक्जेंडर मकेंजी ने १७८९ ई० में लगाया था, जिससे इसका नाम मकेंजी नदी पड़ा। इसी नाम का एक पर्वत (कैनाडा मे), नगर, खाड़ी तथा प्रदेश भी है। [उ० सिं०]

मक्का ग्रामिनी (Gramineae) कुल की लंबी उगनेवाली एकवर्षी घास है। मध्य अमरीका के मेक्सिको की यह देशज है। इसकी जडे ततुवत् झकडा प्रकार की होती हैं। तना मोटा, गोल तथा जातियों के अनुसार चार से १० फुट तक लबा होता है। पौधे में शाखाएँ नही होती। तने म पर्वसधि मोटी एवं पर्व ठोस होते हैं। पत्तियाँ लबी, रेखीय तथा चौडी होती है। यह एकलिगपुष्पी पौधा है, जिसके नर मादा पुष्प एक ही पौधे के विभिन्न भागो पर होते हैं। नर पुष्प सिरे पर एक गुच्छे मे होते हैं, जिन्हे झब्बा कहते हैं। तने के एक ओर से, पत्तियो के कक्ष से बालियाँ या भुट्टे निकलते हैं, जो एक से चार तक प्रति पौधे तक हो सकते हैं। इन बालियो मे मादा कोशिकाएँ पाई जाती है, जिन्हे रजकण कहते हैं। ये एक लबी कुक्षिनाल द्वारा जुड़ी होती हैं। यह वायु द्वारा निषेचित पौधा है। मक्के की खेती उत्तरी अमरीका मे सब देशों से अधिक होती है। वहाँ लगभग आठ करोड एकड़ भूमि मे आठ करोड़ टन मक्का पैदा होता है जब कि भारत के ८७,६२,००० एकड में ३०,६४,००० टन ही मक्का पैदा होती है।

मक्का का दाना गोल, चपटा, तश्तरी की भाँति तथा कई रग का, जैसे पीला लाल, नारंगी, बैगनी तथा मक्खन सदृश सफेद होता है। भारत में वर्षा के प्रारभ होने के साथ साथ खरीफ मे अधिकतर स्फट (flint) मक्का बोया जाता है। मक्का अधिकतर उष्ण कटिबंध के प्रदेशो मे ही बोया जाता है, परतु शीत कटिबंध मे भी उगनेवाली जातियाँ होती हैं। मक्का के लिये अधिक उपजाऊ, भली प्रकार जलोत्सरित तथा हलकी दोमट भूमि की आवश्यकता होती है। मक्का की निराई तथा गुड़ाई अति आवश्यक हैं। इसकी रोपाई नही की जा सकती। पौधों तथा पंक्तियो की दूरी विभिन्न जातियो पर निर्भर है। अमरीका मे निम्नलिखित प्रकार के मक्को की बहुत सी जातियों की कृषि की जाती है :

(१) पौड मक्का — प्रत्येक गिरी (बीज तत्व) भूसी से घिरी होती है। बालियाँ (भुट्टे) आवरण मे बद रहती हैं, जैसा अन्य फसलों में होता है। (२) स्फट मक्का — इसका भ्रूणपोष मंड (starch) युक्त होता है, जिसमे मुलायम मंड बाहर की ओर से कड़े मड द्वारा घिरा रहता है। मुलायम तथा कड़े मंड की तायदाद विभिन्न जातियों में काफी भिन्न होती है। (३) पॉप मक्का — इसके भ्रूणपोष में थोडे अनुपात मे ही केवल मुलायम मड होता है। इसके दाने छोटे होते हैं। (४) डैंट मक्का — इसमे कड़ा मंड बीज के किनारे पर ही पाया जाता है तथा मुलायम मड चोटी तक फैला रहता है। (५) फ्लोर मक्का — इसमे कडे मड की बिलकुल कमी होती है। इस वर्ग का विशिष्ट गुण यह है कि मुलायम मड अधिक मात्रा मे पाया जाता है। (६) मीठा मक्का — इस वर्ग का विशिष्ट गुण यह है कि इसकी गिरी कड़ी तथा अर्धपारदर्शक होती है तथा सूखने पर झुर्रीदार हो जाती है। इसमे बहुत कम मडकण पाए जाते हैं, और (७) मोमिया (waxy) मक्का — इसमे भ्रूणपोष मोम जैसा पाया जाता है।

आजकल मक्का का उन्नतिशील बीज 'मक्का वर्णसंकर' बीज के नाम से उत्पन्न किया जाता है। इसे अत प्रजात वशक्रम (inbred line) के सकरण (crossing) से तैयार किया जाता है। ये बीज बहुत अधिक पैदावार देते हैं।

उपयोग — भारत में मनुष्यों के लिये यह प्रमुख खाद्य फसल है। आटा रोटी के लिये, हरे भुट्टे भूनकर खाने के लिये, सूखा दाना खील तथा सत्तू बनाने के लिये उपयोग मे लाया जाता है। सयुक्त राज्य, अमरीका, तथा मेक्सिको मे भिन्न भिन्न मक्के की जातियाँ विभिन्न कामों के लिये उपयोग मे लाई जाती हैं, जैसे मीठा मक्का भूनने के लिये, पॉप मक्का खील बनाने के लिये। सयुक्तराज्य, अमरीका, मे यह प्राय जानवरों के खिलाने के काम मे भी लाया जाता है।

मक्का का औद्योगिक उपयोग भी अधिक है। बहुत सी वस्तुएँ इससे बनाई जाती हैं, जैसे मड, चासनी या शरबत, ऐल्कोहॉल (स्पिरिट), सिरका, ग्लूकोज, कागज, रेयन, प्लास्टिक, कृत्रिम रबर, रेजिन, पावर ऐल्कोहॉल आदि। [रा० प० सिं०]

मक्का (नगर) स्थिति : २१° २५' उ० अ० तथा ३९° ५४' पू० दे०। साउदी अरब के हेजाज प्रांत की राजधानी एव मुहम्मद साहब का जन्मस्थान होने के कारण मुस्लिम जनता का विश्वविख्यात तीर्थस्थान है। यह जिद्दा से ४५ मील पूर्व में स्थित है। प्राचीन काल से ही धर्म तथा व्यापार का केंद्र रहा है। यह

एक सँकरी, बलुई तथा अनुपजाऊ घाटी में बसा है, जहाँ वर्षा कभी कभी ही होती है। नगर का खर्च यात्रियों से प्राप्त कर द्वारा पूरा किया जाता है। यहाँ पत्थरों से निर्मित एक विशाल मस्जिद है जिसके मध्य में ग्रेनाइट पत्थर से बना आयताकार काबा स्थित है जो ४० फुट लंबा तथा ३३ फुट चौड़ा है। इसमें कोई खिड़की आदि नहीं है बल्कि एक दरवाजा है। काबा के पूर्वी कोने में जमीन से लगभग पाँच फुट की ऊँचाई पर पवित्र काला पत्थर स्थित है। मुसलमान यात्री यहाँ आकर इसके सात चक्कर लगाकर इसे चूमते हैं। मुहम्मद साहब ने अपने शिष्यों को अपने पापों से मुक्ति पाने के लिये जीवन में कम से कम एक बार मक्का आना आवश्यक बताया था। अतः विश्व के कोने कोने से मुसलमान लोग पैदल, ऊँटों, ट्रकों तथा जहाजों आदि से यहाँ आते हैं। पहले यहाँ पर केवल मुस्लिम धर्मावलंबी को ही आने का अधिकार प्राप्त था। इसके कुछ मील तक चारों ओर के क्षेत्र को पवित्र माना जाता है अतः इस क्षेत्र में कोई युद्ध नहीं हो सकता और न ही कोई पेड़ पौधा काटा जा सकता है। यहाँ मुहम्मद साहब ने ५७० ई० पू० मे जन्म लिया था, फिर मक्कावासियों से झगड़ा हो जाने के कारण आप ६२२ हिजरी मे मक्का छोड़कर मदीना चले गए थे (देखें, मदीना)। यहाँ की स्थायी जनसंख्या लगभग ९०,००० है किंतु हज के समय १,५०,००० तक हो जाती है। मुहम्मद साहब के पहले मक्का का व्यापार मिस्र आदि देशों से होता था। पहले अरब के कबीले प्रति वर्ष हजारों की संख्या मे देवताओं के पत्थरों के प्रतीक पूजने के लिये एकत्र होते थे किंतु बाद मे मुहम्मद साहब ने इस प्रकार की पूजा को समाप्त कर दिया। मस्जिद के समीप ही जम जम का पवित्र कुआँ है। [रा० प्र० सिं०]

मखमल (Velve) हलकी बुनाई के रोयेंदार रेशमी कपड़े को कहते है। यह साधारण रेशम (silk) या प्लश (plush) की रोएँदार सतह पर बनाया जाता है। यह सतह बुनाई करते समय ऐंठे हुए रेशमी धागों को पृथक् पृथक् करने से विकसित होती है। अलग अलग होने पर ये धागे गुच्छे के रूप मे रेशमी, सूती या किसी भी बुने कपड़े के दृढ़ आधार पर सीधे खड़े रहते हैं। प्राचीन काल मे मखमल पोशाकों के लिये काफी लोकप्रिय रहा है। राजकीय, सामाजिक तथा धार्मिक अवसरों पर मखमल के परिधानों का विशेष रूप से उपयोग होता था। इसके कई उपयोग भी हैं, जैसे पर्दे के रूप में एवं शोभा के लिये सोफे के गद्दे तथा लिहाफों के खोल के रूप मे।

मखमल की बुनाई — हलकी बुनाई का मखमल करघे पर बुना जाता है। यह मखमल ताने के धागों की दो कतारों तथा बाने के धागे की एक कतार से तैयार होता है, अर्थात ताना 'आधार' (ground) धागों के रूप में आधार बुनाई (foundation texture) करता है तथा रोएँदार धागा बाने के रूप में रोयाँ तैयार करता है। बुनाई के दौरान ऐंठे हुए रोयेंदार धागे को रोयाँ बनाने के लिये ऊपर उठा देते हैं, जबकि आधार के धागे नीचे रहते हैं। इस तरह से बने हुए ऐंठे छादक (warp shed) मे एक लंबा, पतला इस्पात का तार, जिसके संपूर्ण ऊपरी किनारे मे सँकरा खाँचा बना रहता है, डाला जाता है। इस तार को रोयेंवाला तार (pile wire) कहते हैं। यह तार जब पूर्ण चौड़ाई भर के रोयाँ बननेवाले डोरों के बीच मे फँसा दिया जाता है, तब कंघा (reed) मारते हैं। इसके बाद फिर उसी प्रकार से रोयेंवाला डोरा, जो बाना होता है, निश्चित तानों के बाद उकसाकर, ऐंठकर फंदा ऐसा बना लिया जाता है और उन फंदों में उपर्युक्त रोयेंवाले तार की तरह का दूसरा इस्पात का तार घुसेड़ा जाता है। तब फिर कंघा चलाकर कपड़ा बुना जाता है। इस प्रकार तीन तार लगाने पर चौथी बार पहलावाला तार निकालकर लगाते हैं। रोयाँ बनाने के लिये तार निकालने से पहले विशेष प्रकार से बने हुए हैंडिलदार चाकू को इस्पात के तार के ऊपरी खाँचे मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला देते हैं, जिससे धागा कट जाता है। इससे छोटे छोटे रोयें तैयार हो जाते हैं।

बिजली से चलनेवाले करघों द्वारा भी मखमल बुना जाता है। इसमें उमेठे हुए डोरों के फंदों मे रोयेंवाला तार निकालने और लगाने का कार्य स्वनियंत्रित होता है। विभिन्न प्रकार के मखमल रोयेंदार डोरे के रंग, प्रकार (जैसे, ऊन, सूत बकरी इत्यादि के लंबे बाल), आकार (जैसे, कटे बिनकटे) इत्यादि बदलने से बनाए जा सकते हैं [प्र० कु० पा०]

मखमल, नकली (Velveteen) नकली मखमल सूती, मोटा कपड़ा होता है। यह यथार्थतः सूती मखमल होता है, जो छोटे बाने से बने हुए रोयेदार सतह का होता है। यह असली मखमल जैसा ही मालूम पड़ता है। यद्यपि मखमल और नकली मखमल देखने में एक जैसे होते हैं, तथापि ये दोनों बुनाई के अलग अलग सिद्धातों द्वारा बनते हैं।

नकली मखमल कटाई के पहले सामान्य सूती साटन (sateen) की भाँति चिकना होता है। उसका विन्यास सूती या नकली साटन के विन्यास की भाँति होता है। नकली मखमल की सतह कटाई की प्रक्रिया के दौरान में या तो सादी, समान, रोयेंदार सतह, या ताने के समांतर कपड़े की लंबाई की दिशा मे डोरीदार सतह (corded surface), अर्थात् हलका उभार लिए हुए, बनाई जाती है। यद्यपि इसके संरचनात्मक विस्तार से संबंधित विभिन्न संशोधन हुए हैं, तथापि इसकी बनावट के मूल सिद्धांत मे कोई अंतर नहीं आया है।

इसको बनाने के लिये सादी कैलिको (calico) बुनाई, साधारण दुसूती की बुनाई, या ऐसी ही कोई उपयुक्त बुनाई के आधार पर रोयेंदार बाने के छोटे छोटे गुच्छे बनाते हैं। बुनावट निश्चित रूप से बाने की दो श्रेणियों तथा ताने की एक श्रेणी द्वारा निर्मित होती है। ताने तथा बाने के दो धागों को क्रमशः रोयेंवाला (pile or face pick) डोरा तथा पिछला डोरा (back pick) कहते हैं। आधार विन्यास के लिये ताने तथा बाने, या पिछले डोरे, को किसी भी बुनाई के प्राथमिक नियमों के आधार पर परस्पर बुनते हैं, जबकि बाने का रोयेंवाला डोरा (pile pick) सतह पर कुछ तैरता सा रहता है, जो कटाई के पश्चात् रोयेंदार गुच्छे में बदल जाता है। रोयेंवाले डोरों तथा पिछले डोरों की संख्या अलग अलग एक से नौ तक हो सकती है तथा उनमे और भी कई हेर फेर शोभा, रोयों की सघनता, भार तथा प्रकार की दृष्टि से किए जाते हैं।

रोयें बनाने के लिये कपड़े को एक फ्रेम मे कस देते हैं और तब उसपर एक विशेष प्रकार की कैंची (fustian cutter) चलाते हैं

जिससे छोटे छोटे रोयों का गुच्छ तैयार हो जाता है। नकली मखमल मुख्यत: तीन प्रकार का होता है : सादा, लहरियेदार (tabby) तथा जीन। इन तीन प्रकारों में अंतर नीव विन्यास विशेष बुनाई की संरचना पर निर्भर होता है। [प्र० कु० पा०]

मगेलैन (Magellan) दक्षिणी अमरीका के धुर दक्षिण में, दक्षिण अमरीका को टिएरा डेल फ्यूगो एवं अन्य द्वीपों से अलग करनेवाला, ३३० मील लंबा एवं २½ से १५ मील चौड़ा एक जलडमरूमध्य है। पश्चिम की ओर इसका कुछ भाग अर्जेंटीना से सबंधित है। शेष भाग चिली से मिला है। सन् १५२० मे मगलैन द्वारा इसकी खोज की गई थी। पनामा नहर बनने से पूर्व व्यापारिक मार्गों की दृष्टि से इसका अधिक महत्व था। [म० ना० मि०]

मच्छर कीटवर्ग, डिप्टेरा (Diptera) गण, ऑर्थोरैफा (Orthorrapha) तथा नेमाटोसिरा (Nematocera) उपगणों तथा क्यूलिसिडी (Culicidae) कुल का छोटा और दुर्बल कीट है, जिससे हम सब परिचित हैं। यह मनुष्य, पक्षी और स्तनपायियों पर आक्रमण करता, काटता और कष्ट देता है और भयानक बीमारियाँ फैलाता है। मच्छर अनेक प्रकार के होते हैं। वयस्क मच्छर का शरीर सिर, वक्ष और उदर मे विभक्त है। इसे दो शृंगिकाएँ (antenna), दो आँख, तीन जोड़ा पैर, दो पंख, एवं दो संतोलक अंग होते हैं। इनके पंख शल्कों के कारण धारीदार होते हैं और ये श्वासरंध्र से साँस लेते हैं।

नर की शृगिका पिच्छकी (plumose) और घनी रोयेंदार होती है। नर के स्पर्शक लंबे और सिरे पर मूठदार होते हैं तथा मादा के स्पर्शक विरल रोयेंदार होते हैं, जिनका आखिरी भाग कुछ मुड़ा होता है। लगभग सारी मादाएँ चूषण मुखांग से खून चूसती हैं और कुछ जातियाँ वनस्पतियो का रस ग्रहण करती हैं। नर के मुखांग अपेक्षाकृत छोटे होते हैं और ये बहुत कम आहार पर निर्वाह करते हैं।

मच्छरो के आराम करने की स्थिति में उनका अंगविन्यास उनकी जाति का परिचायक होता है। ऐनोफेलीन सिर, वक्ष और उदर को सीध मे रखने की प्रवृत्ति दर्शाता है और क्यूलिसीन कूबड़दार जैसा लगता है।

स्वभाव और आवास — घरो और गोशालाओं के अतिरिक्त नम स्थानों, छिद्रों, दरारो, पेड़ों के छेदो, छतों मे कटे फटे स्थानों, जहाँ अंधकार और नमी होती है, ये रहते हैं। सभी मच्छरों के डिंभक बँधे हुए पानी की तलैयो मे रहते हैं।

ये शाम या झुटपुटे मे, धरती से काफी ऊँचे उड़ते हुए, खुले में मैथुन करते हैं। नर, जो प्राय: प्रजनन स्थान के निकट रहते हैं, झुंड में एकत्र होकर कामद नृत्य करते हैं। वयस्को के निकलने के १२ से २४ घंटे बाद निषेचन (fertilisation) होता है। जाड़ो में इनमे शीत-निष्क्रियता होती है और ये निराहार अर्धप्रसुप्त स्थिति में रहते हैं। रेल, वायुयान, स्टीमर, हवा आदि से इनका प्रकीर्णन (dispersal) होता है। मच्छर की आयु ताप और आर्द्रता से प्रभावित होती है। ये उच्च ताप और निम्न आर्द्रता मे मर जाते हैं। नर का जीवनकाल मादा की अपेक्षा कम होता है।

जीवनवृत्त — मोटे तौर पर अधोलिखित जीवनवृत्त होता है : मच्छर (क्यूलेक्स या ऐनोफेलीज) निम्नलिखित चार स्पष्ट अवस्थाओं में से गुजरता है : (१) अंड — ये स्याह रंग के छोटे पिंड होते हैं, जिन्हें मात्र आँखों से देखा जा सकता है। ये पानी पर, पत्तों, या जलीय वनस्पतियों के तनो, पंक आदि पर धरे जाते हैं। अंडों का आकार और संख्या मच्छर की जाति पर निर्भर करती है। ऐनोफेलीज और ईडीज (aedes) मच्छर एक एक कर अंडे देते हैं, जब कि क्यूलेक्स झुंड या लट्ठों के रूप मे अंडे देते हैं। ऐनोफेलीज के अंडे नाव की शक्ल के होते है और इनमे पार्श्विक प्लव (lateral float) भी होता है। क्यूलेक्स के अंडे लंबे होते हैं। उष्णकटिबंध में अंड अवस्था केवल दो दिन की होती है।

(२) डिंभक (Larva) — यह रेंगता है और बहुत सक्रिय रहता है। इसे सिर, वक्ष, पतला उदर, श्वसन नली और आँखें होती हैं। यह ठोस पदार्थ (ऐलगी, कार्बनिक पदार्थ) को अपनी चिबुकास्थि (mandibles) से चबाकर खाता है। मुख कूर्च (mouth brushes) से उत्पन्न की गई जलधाराएँ खाद्य पदार्थ को इसके मुख की ओर खींचती हैं।

ऐनोफेलीज के डिंभक पानी की सतह के ठीक नीचे बहते हैं। इनमें साइफन नली नही होती, जब कि क्यूलेक्स का डिंभक सतह के ऊपर
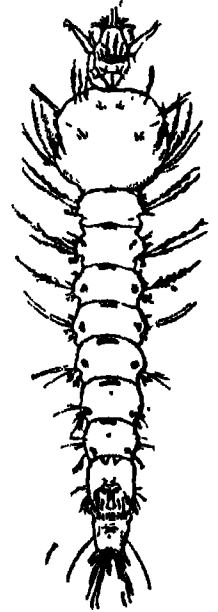
चित्र १. ऐनोफेलीज मच्छर का डिंभक
जलपृष्ठ से समातर स्थित यह आहार ग्रहण करता है।

निकले हुए साइफनो से लटकता रहता है। जब डिंभक चौकन्ने होते हैं, तब ये गोता मारकर तली मे कुछ समय निश्चल पड़े रहते हैं। ये हवा से ऑक्सीजन सांस मे लेते हैं।

डिंभ के जीवन का समय आहार और ताप पर निर्भर करता

है और इस अवधि में ये अनेक बार निर्मोचन (moult) करते हैं तथा प्यूपों (Pupae) में रूपांतरित हो जाते हैं।

(३) प्यूपा (Pupa) — यह सक्रिय तैराक है, परंतु देखने में डिंभक से भिन्न है। प्यूपा में सिर और वक्ष मिलकर एक बृहत् पिंड होता है, वक्ष में साँस लेनेवाली नलियाँ होती हैं और इसमें पतला उदर जुड़ा रहता है। ये विचित्र चाल से कलैया खाते चलते हैं और उदर के सिरों पर स्थित पत्ते जैसे उपांगों की सहायता से तैरते हैं।

ऐनोफेलाइन तथा क्यूलिसिन के प्यूपा को उनकी साइफन नलियों के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है। ऐनोफेलाइन मच्छरों में यह कीपाकार (funnel shaped) यानी छोटा और चौड़ा तथा क्यूलिसिन मच्छरों में लंबा और सँकरा होता है। प्यूपा की अवधि कम समय की होती है। इसके पश्चात् प्राणी पानी की सतह पर आ जाता है। वक्ष की मध्यपृष्ठ रेखा (mid dorsal line) के साथ साथ एक विपाटन (split) दृष्टिगोचर होता है, जिससे वयस्क मच्छर पहले सिर और अंत में पैर निकालकर बाहर आता है। कुछ समय यह प्यूपा के आवरण पर बैठा रहता है और शरीर के कड़े पड़ने ही उड़ जाता है। मच्छर का संपूर्ण जीवनवृत्त अंडे से वयस्क होने तक नौ दिनों, या इससे भी कम समय, का होता है।

मच्छर एवं रोग — अनेक प्रकार के ज्ञात मच्छरों में, मनुष्य तथा स्तनपायियों पर आक्रमण करनेवाले मच्छरों के अतिरिक्त,
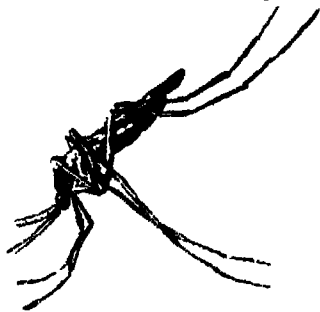
चित्र २. ऐनोफेलीज मैक्यूलिपेन्निस
मलेरिया तथा मस्तिष्कार्ति फैलानेवाला मच्छर।

कुछ मच्छर रोगवाहक के रूप में अधिक महत्व के हैं। इस दृष्टि से ये सच्चे मध्यवर्ती परपोषी का काम करते हैं, जिनमें रोगोत्पादक परजीवी का विकास होता है। मच्छरों द्वारा संप्रेषित कुछ रोग निम्नलिखित हैं : (१) मलेरिया, (२) फाइलेरिया तथा (३) पीतज्वर; (देखें मलेरिया)।

(१) मलेरिया—

(२) फाइलेरिया — फाइलेरिया का प्रसार एक नेमाटोड वुकरेरिया बैंक्रॉफ्टी (Wuchereria bancrofti) से होता है, जो मानव का पराश्रयी है और विश्व के सभी उष्ण भागों में पाया जाता है। इसके डिंभक ०·२ मिमी० लंबे होते हैं तथा दिन में बड़ी रक्त-वाहिकाओं में रहते हैं और रात्रि में चर्म की छोटी वाहिकाओं में चले जाते हैं। ये मनुष्य के शरीर में क्यूलेक्स फैटिगैन्स (Culex fatigans) द्वारा आते हैं। इस नेमाटोडा के वयस्क नर तथा मादा लसीका परिसंचरण (lymph circulation) में अवरोध उत्पन्न करते तथा ऐलिफेंटाइसिस उत्पन्न करते हैं। इस रोग के अन्य वाहक

चित्र ३. क्यूलेक्स पाइपायेंस
फाइलेरिया के नेमाटोडा का वाहक।

अफ्रीका में ए० गैंबी (A. gambiae), दक्षिण अमरीका में ए० डार्लिंगी (A darlingi) और चीन में क्यूलेक्स पाइपायेंस (Culex pipiens) हैं।

निरोधन — इसके लिये कमरों में पाइरेथ्रम, डी० डी० टी० और सिट्रोनेला तेल के मिश्रण का छिड़काव करना चाहिए।

(३) संधिक संनिपात (Dengue) तथा पीत ज्वर (Yellow fever) — ऊष्ण कटिबंधों में प्राय: इन रोगों का प्रसार हुआ करता

चित्र ४ ईडीस ईजिप्टी (Aedes aegypti)
पीत ज्वर के विषाणु का परपोषी।

है। ये रोग एक विषाणु के कारण होते हैं। जब ईडीस ईजिप्टी (Aedes aegypti) मच्छर इस विषाणु से संक्रमित हो जाता है, तब वह उसे मनुष्य में अंत:क्षिप्त (inject) कर देता है, जिससे मनुष्य को संधिक संनिपात और पीतज्वर हो जाता है।

निरोधन — टीका, संक्रमित रोगियों को स्वस्थ लोगों से दूर रखना, सामान्य स्वच्छता के नियमों का पालन और केरोसिन में ५ प्रति शत डी० डी० टी० मिलाकर घरों में छिड़काव रोग निरोधक है। [रा० चं० स०]

मजदूरी उत्पादन का जीवंत एवं मूल साधन श्रम है। श्रम के प्रतिपादन में प्राप्त मूल्य को मजदूरी कहते हैं। अर्थशास्त्र की दृष्टि में राष्ट्रीय आय का वह अंश जो श्रम के बदले में श्रमिक को प्राप्त होता है, मजदूरी है। अर्थशास्त्र की दृष्टि में मजदूरी और वेतन में कोई भी भेद नहीं है जबकि सामान्य व्यवहार में दोनों शब्दों में अंतर माना जाता है। जीविका के लिये जो भी शारीरिक और मानसिक प्रयत्न किया जाता है उसके प्रतिदान अथवा मूल्य के रूप में प्राप्त धन ही अर्थशास्त्र में मजदूरी है। स्वतंत्र रूप से कार्य करनेवालों की भी आय, चाहे वे डाक्टर, वैद्य, वकील, चित्रकार कोई भी क्यों न हों, मजदूरी ही है। मजदूरी कई प्रकार से दी जाती है। मूलत: समय

के अनुसार और कार्य के अनुसार मजदूरी स्थिर की जाती है। समय के अनुसार प्रति घंटा, प्रति दिन, या साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक और वार्षिक के हिसाब से तथा काम के अनुसार काम और उत्पादन की मात्रा पर मजदूरी का निर्धारण होता है।

मजदूरी नगद और वास्तविक दो रूपों में भी वर्गीकृत है। श्रम का मौद्रिक पुरस्कार नगद मजदूरी है और सेवा के बदले प्राप्त प्रतिदान से श्रमिक जो वस्तुएँ, सेवाएँ या अन्य सुविधाएँ और उन्नति के अवसर आदि प्राप्त कर सकता है वे सब मिलकर वास्तविक मजदूरी है। मुद्रा श्रमिक को इसलिये स्वीकार्य होती है कि उससे वह अपनी रुचि की वस्तुएँ क्रय कर सकता है। किंतु प्राय: प्रत्येक श्रमिक अपनी सेवाएँ अर्पित करते समय वास्तविक मजदूरी का ध्यान ही अधिक रखता है, क्योंकि वास्तविक मजदूरी जीवनयापन की आकांक्षाओं को स्थायित्व प्रदान करती है और मौद्रिक या नगद मजदूरी चल विचल होती रहती है, क्योंकि मुद्रा का मूल्य बराबर घटता बढ़ता रहता है।

वास्तविक मजदूरी मुद्रा की क्रयशक्ति, नगद मजदूरी के अतिरिक्त मिलनेवाली अन्य सुविधाएँ, कार्य की प्रकृति, अतिरिक्त आय, व्यावसायिक व्यय, आश्रितों को कार्य मिलने की सुविधा, कार्य की अवधि, भावी उन्नति की आशा, सामाजिक प्रतिष्ठा, प्रशिक्षण काल और उसपर व्यय तथा काम के घंटे और अवकाश को ध्यान में रखकर निर्धारित होती है।

मजदूरी निर्धारण के अनेक सिद्धांत हैं, जिनमें माँग और पूर्ति का सिद्धांत अर्थशास्त्र का एकमात्र आधुनिक, सहज सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार मजदूरी उत्पादन के एक साधन के रूप में है और इसका मूल्य श्रम की सीमांत उत्पादन क्षमता के बराबर है। इस प्रकार मजदूरी की अधिकतम सीमा श्रमिक के श्रम के सीमांत उत्पादन द्वारा निर्धारित होती है और न्यूनतम सीमा श्रमिक के जीवनस्तर के निर्वाह-मूल्य के आधार पर। इसमें मजदूरी का निर्धारण इन दो सीमाओं के बीच श्रमिक और उत्पादक की मोल भाव की क्षमता के आधार पर होता है। इन दोनों वर्गों मे जो भी अधिक सक्षम होगा वह अपने पक्ष में निर्णय करा लेता है। यद्यपि नश्वरता के कारण श्रम मोलभाव की स्थिति में अपर पक्ष की अपेक्षा कम शक्तिशाली होता है तो भी श्रमिक संगठनों एवं श्रम को संरक्षण प्रदान करनेवाले विधि विधानों के कारण वह ऐसे मोल भाव मे उत्पादक के एकांगी अन्याय से बच जाता है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक मजदूर और उसके आश्रितों के भरण पोषण मात्र के सिद्धांत पर मजदूरी का निर्धारण आधारित था। मजदूर को उतनी ही मजदूरी प्राप्त हो सकती थी जितनी उसे आश्रितों सहित जीवित रहने के लिये कम से कम आवश्यक थी। इसमें व्यक्ति का मान एक जड़ वस्तु के रूप मे किया जाता था। यह मानवता के ऊपर आश्रित प्रबुद्ध सिद्धांत नही था और न वैज्ञानिक ही। केवल मजदूरी सस्ती होने से ही मजदूरों का व्यापक नियोजन संभव नहीं, अपितु उनके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग पर ही श्रम नियोजन निर्भर करता है। मजदूरी के निर्धारण मे इस सिद्धांत के प्रतिक्रियास्वरूप रहन सहन के स्तर पर मजदूरी के निर्धारण का सिद्धांत प्रतिष्ठित किया गया। किंतु यह सिद्धांत भी वैज्ञानिक न था, क्योंकि इसमें माँग की अपेक्षा पूर्ति पर ही ध्यान केंद्रित था। रहन सहन के उच्च स्तर के आधार मात्र पर श्रम के मूल्य का निर्धारण कार्यकुशलता या क्षमता की वृद्धि का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि श्रम को मिलनेवाला प्रतिदान उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग पर ही मूलत: निर्भर है। पूँजी गँवा कर कोई न्यून उत्पादन का जोखिम नहीं ले सकता। इसकी प्रतिक्रिया के रूप मे नये मजदूरी सिद्धांत की अवतारणा हुई जो केवल माँग पर ध्यान देता है और पूर्ति की उपेक्षा करता है। इस सिद्धांत के अनुसार मजदूरी और पूँजी का अनुपात समान रहता है। इसमे कहा जाता है कि पूँजी के साथ मजदूरी भी बढ़ेगी और उसी के अनुपात में घटेगी भी; किंतु आधुनिक युग मे केवल नगद पूँजी ही पूँजी नही। साख भी पूँजी के लिये बहुत बड़ा आधार है। इस सिद्धांत मे साख की उपेक्षा है, इसलिये यह संगत नही। इसके अतिरिक्त अवशेष दावेदारी का सिद्धांत भी इस क्षेत्र मे व्यवहृत हुआ है। इसके अनुसार उत्पादन के अन्य साधनों का मूल्य निर्धारित कर उनसे शेष बचा अंश मजदूरी के रूप में वितरित किया जाता है और उससे ही श्रम का मूल्य निर्धारित होता है। किंतु लगान, ब्याज और लाभ जड़ नहीं, अपितु मजदूरी के साथ ही घटने तथा बढ़नेवाले तत्व हैं। इन प्राचीन सिद्धांतो के विलोम मे प्रतिष्ठित माँग और पूर्ति का मजदूरी निर्धारण सिद्धांत आधुनिक माना जाता है।

भिन्न भिन्न व्यवसायों मे मजदूरी भिन्न भिन्न होती है। इसके अनेक कारण हैं। भिन्न भिन्न व्यवसायों और अनेक प्रकार की श्रम की उत्पादन क्षमता में अंतर है। साथ ही भिन्न भिन्न उद्योगों में अधिक या कम कार्यक्षमता की आवश्यकता है। पेशा या वर्ग या जाति या परंपरागत कार्यक्षमता या वर्गीकरण भी इस विभिन्नता का एक कारण है। गतिशीलता तथा श्रमिक वर्गों में स्पर्धा के अभाव के कारण भी मजदूरी में विभिन्नता रहती है। इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त भी कुछ विशिष्ट कारण मजदूरी की विभिन्नता के हैं। जैसे व्यवसाय की सामाजिक मर्यादा और अप्रियता, प्रशिक्षण की कठिनाई और व्यय, कार्य का स्थायित्व या सामयिकता, यंत्रो का व्यवहार तथा वैज्ञानिक प्रबंधन, दायित्व तथा विश्वसनीयता, व्यवसाय का भविष्य, कानून तथा अन्य लाभ। जो लोग मर्यादा की दृष्टि से कार्य करते हैं वे कम वेतन पर प्राइमरी पाठशाला मे अध्यापक होना पसंद करते हैं किंतु अधिक वेतन पर उसी विभाग मे चपरासी होना नहीं। जब काम सीखने में व्यय होता है तो ऐसे मजदूरों की मजदूरी सामान्य मजदूरी से अधिक होती है। जहाँ काम मौसमी या अस्थायी होता है वहाँ अधिक मजदूरी तथा जहाँ स्थायी होता है वहाँ कम मजदूरी मिलती है तथा उसके अभाव मे कम। उत्तरदायित्व तथा विश्वास का काम सँभालने पर अधिक मजदूरी मिलती है और उसी ढंग के अन्य काम में कम। जहाँ उज्वल भविष्य की आशा है, वहाँ कम मजदूरी पर भी काम करना श्रमिक पसंद करते हैं। जोखिम वाले कार्यों मे अधिक मजदूरी निर्धारित की जाती हैं। अन्य लाभ की आशा भी कम मजदूरी का कारण होता है। श्रमिक की गतिशीलता का अभाव भी कम मजदूरी का कारण है।

मजदूरी देने के दोनों ढंगों, कालानुसार तथा कार्यानुसार, की अपनी विशेषताएँ हैं। कालानुसार मजदूरी में श्रमिकों की आय की नियमितता श्रमिकों की शारीरिक तथा मानसिक शक्ति की रक्षा होती है। शिल्प और कलात्मक कार्यों के लिये यह पद्धति उत्तम है, क्योंकि अनेक कार्यों

को परिमाण या कोटि के द्वारा नापा नहीं जा सकता। इस पद्धति मे श्रमिकों को प्रोत्साहन नहीं मिलता और उत्पादन व्यय में वृद्धि होती है। साथ ही कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के मजदूरों को समान वेतन मिलता है। कार्यानुसार मजदूरी की प्रथा यद्यपि अधिक न्यायोचित लगती है और इसमें मजदूरों को प्रोत्साहन मिलता है, साथ ही निरीक्षण व्यय में भी कमी होती है, किंतु इस पद्धति से मजदूरों की क्षमता और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। साथ ही घटिया माल के उत्पादन में वृद्धि होती है जो अंततोगत्वा व्यवसाय के लिये हानिकर होता है।

श्रमिक संघ मजदूरों को संगठित कर कार्य करने की उचित परिस्थितियों का निर्माण कराते हैं। इन संघों के द्वारा श्रमिकों में एकता की भावना पैदा होती है और मजदूरों को लाभ और सुविधा को बनाए रखने की सुविधा के साथ साथ मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का प्रबंध ये संघ करते हैं जिससे श्रमिक के हितचिंतन के कार्य होते हैं और इनका राजनीतिक उपयोग मजदूरों और मजदूरी के लिये हानिकार प्रमाणित होता है। श्रम संघों तथा सरकार के कारण तथा कानून के कारण समय समय पर मजदूरों को बोनस, बीमा, पेंशन, चिकित्सा आदि की भी सुविधा मिलती है। इनकी भी गणना वास्तविक मजदूरी मे की जानी है। [सु० पां०]

मजूमदार, धीरेंद्रनाथ भारत के अग्रणी नृतत्ववेत्ता धीरेंद्रनाथ मजूमदार का जन्म १९०३ मे पटना मे हुआ। वह ढाका जिले के निवासी थे। १९२४ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय से नृविज्ञान की एम० ए० परीक्षा में वह प्रथम श्रेणी मे प्रथम आए। १९२८ में वह लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र विभाग मे प्राध्यापक नियुक्त हुए। १९४६ मे वह नृविज्ञान के रीडर बनाए गए और १९५० मे प्रोफेसर हुए। १९५०-५१ मे उनकी अध्यक्षता मे नृविज्ञान विभाग स्थापित हुआ। वह आर्ट्स फैकल्टी के डीन भी थे जब ३१ मई १९६० को उनका देहावसान हुआ।

१९३५ मे कैंब्रिज विश्वविद्यालय से कोल्हन के हो लोगों मे सांस्कृतिक संपर्क तथा आसंस्करण पर हॉड्सन के निर्देशन मे तैयार की गई थीसिस पर उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि मिली। १९४१ और १९४६ के बीच डॉ० मजूमदार ने तत्कालीन संयुक्त प्रांत, अविभाजित बंगाल, गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ मे लगभग १०,००० लोगो के मानवमितीय माप लिए और उनके रक्तसमूहो का अध्ययन किया। अकेले किसी भारतीय नृतत्ववेत्ता ने इतने अधिक लोगो के माप आज तक नही लिए हैं। जातिविज्ञान (एथ्नोग्रैफी) सबंधी उनका कार्य बहुमूल्य है। हो लोगों के अलावा जौनसार बावर के खसों तथा दुदधी (दक्षिणी मिर्जापुर) के कबीलों के बारे मे उनका ज्ञान अगाध था।

डॉ० मजूमदार ने कैंब्रिज विश्वविद्यालय में व्याख्यान भी दिए थे। उनके अन्य प्रसिद्ध व्याख्यान निम्नलिखित हैं—१९३६-३७ मे विएना में भारतीय संस्कृति पर कई व्याख्यान, १९४२ मे देहरादून में भारतीय प्रजातियों तथा संस्कृतियों पर छह व्याख्यान, १९४६ में नागपुर विश्वविद्यालय में श्री महादेव हरि वठोडकर स्मारक व्याख्यान, १९५२-५३ में कॉर्नेल विश्वविद्यालय, इथैका, में विजिटिंग प्रोफेसर ऑव फ़ार ईस्टर्न स्टडीज; १९५७ में लंदन विश्वविद्यालय के स्कूल ऑव ओरिएंटल ऐंड ऐफ्रीकन स्टडीज में विजिटिंग प्रोफेसर तथा १९५९ मे हेग मे भारतीय सामाजिक नृविज्ञान पर व्याख्यान।

उन्होंने १९३९ में लाहौर में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के २६वें अधिवेशन मे नृविज्ञान तथा पुरातत्व अनुभाग की अध्यक्षता की। १९४१ में वह नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव साएंसेज ऑव इंडिया के फेलो चुने गए। १९५६ में वह भारतीय समाजशास्त्र समेलन के अध्यक्ष थे। देश विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों से विभिन्न रूप में संबंधित होने के अतिरिक्त वह नृविज्ञान की केंद्रीय सलाहकार परिषद, इंडियन काउंसिल फॉर कल्चरल रिलेशंस के कार्यकारी मंडल आदि के सदस्य थे।

डॉ० मजूमदार रॉयल ऐंथ्रोपोलॉजिकल सोसायटी ऑव ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयर्लैंड के फेलो थे। १९५२ मे भारतीय नृतत्ववेत्ताओ के अग्रणी के रूप मे उनकी अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा स्थापित हुई जब न्यूयार्क में नृविज्ञान की प्रतिष्ठा विषयक विश्वव्यापी सर्वेक्षण के लिये वेनर ग्रेन फाउंडेशन द्वारा आयोजित अंतरराष्ट्रीय गोष्ठी में उन्होने भारत, पाकिस्तान, बर्मा तथा सिंहल के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। १९५३ मे अमरीकन एसोसिएशन ऑव फिजिकल ऐंथ्रोपोलॉजिस्ट्स ने उन्हें विदेशी फेलो निर्वाचित किया। वह इंटरनैशनल यूनियन फॉर दि साएंटिफिक स्टडी ऑव पॉपुलेशन (संयुक्त राष्ट्र संघ) के सदस्य थे। उसी वर्ष फ्रांस मे उन्होंने अंतरराष्ट्रीय समाजशास्त्र कांग्रेस में भाग लिया।

१९४५ में डॉ० मजूमदार ने एथ्नोग्राफिक ऐंड फोक कल्चर सोसायटी, यू० पी०, की स्थापना की और १९४७ मे उसकी ओर से 'दि ईस्टर्न ऐंथ्रोपोलॉजिस्ट' का प्रकाशन आरंभ किया। हिंदी मे 'प्राच्य मानव वैज्ञानिक' के भी कुछ अंक प्रकाशित हुए। उनकी लिखी मुख्य पुस्तकें निम्न हैं —

(१) ए ट्राइब इन ट्रैंजिशन . ए स्टडी इन कल्चर पैटर्न (१९३७)
(२) फार्च्यून्स ऑव प्रिमिटिव ट्राइब्स (१९४४)
(३) रेसेज ऐंड कल्चर्स ऑव इंडिया (१९४४)—संशोधित परिवर्धित संस्करण १९५१, १९५८
(४) दि मैट्रिक्स ऑव इंडियन कल्चर (१९४७)
(५) दि अफेयर्स ऑव ए ट्राइब : ए स्टडी इन ट्राइबल डाइनेमिक्स (१९५०)
(६) रेस रियलिटीज इन कल्चरल गुजरात (१९५०)
(७) ऐन इंट्रोडक्शन टु सोशल ऐंथ्रोपोलॉजी (१९५६)
(८) कास्ट ऐंड कम्यूनिकेशन इन ऐन इंडियन विलेज (१९५८)
(९) भारतीय संस्कृति के उपादान (१९५८)
(१०) रेस एलिमेंट्स इन बेंगाल (१९६०)
(११) सोशल कंटूर्स ऑव ऐन इंडस्ट्रियल सिटी (१९६०)
(१२) छोर का एक गाँव (१९६२)
(१३) हिमालयन पॉलिऐंड्री (१९६२) [भं० मा० त्रि०]

मणिभविज्ञान, या क्रिस्टलकी वह विद्या है, जिसमे मणिभों या क्रिस्टलों की आकृति, गुण और संरचना का अध्ययन किया जाता है। क्रिस्टल ग्रीक भाषा के शब्द क्रुस्टालॉस (Krustallos) से व्युत्पन्न

मणिभविज्ञान, या क्रिस्टलकी

है। क्रुस्टोलॉस का मूल अर्थ है 'हिम', पर यह शब्द बाद मे शैल-क्रिस्टल के लिये, जो क्वार्ट्ज की एक रंगहीन पारदर्शक किस्म है, प्रयुक्त किया जाने लगा। इसके विषय में प्राचीन काल मे लोगों की धारणा थी कि यह अत्यधिक ठढ के कारण पानी के जमने से बनता है। शनैः शनैः 'क्रिस्टल' शब्द किसी भी ऐसे खनिज के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा, जो स्वभाव से ही साधारण फलकों (faces) से घिरा होता है। यह शब्द अंगूठी में जड़े जानेवाले रत्नों तथा अन्य आभूषणों के लिये प्रयुक्त नही किया जा सकता, क्योंकि उनमे जो सुव्यवस्थित समतल फलक दिखाई देते हैं, वे प्राकृतिक रीति से नही बने हैं, वरन् कृत्रिम हैं। ये फलक काटकर पॉलिश करने के बाद बनाए जाते हैं। सच्चे क्रिस्टल के फलक प्राकृतिक क्रिस्टलन के फलस्वरूप बनते हैं, क्रिस्टलन क्रिया चाहे भूपटल मे हुई हो या प्रयोगशाला मे। दूसरी अवस्था मे क्रिस्टलन के लिये पदार्थ और वातावरण तो मनुष्य द्वारा तैयार किया जाता है, लेकिन क्रिस्टल की वास्तविक रचना तथा उसके विशिष्ट फलकों का विकास मनुष्य के हस्तक्षेप के बिना होता है। ये फलक एक विशेष आतरिक परमाणु सरचना के फलस्वरूप निर्मित होते हैं। इसी सरचना पर क्रिस्टल के भौतिक गुण निर्भर करते है। कॉच के बने एक कृत्रिम रत्न मे नियमित आंतरिक संरचना नही होती है, अत बाह्य रूप में क्रिस्टल के समान होते हुए भी उसकी गणना क्रिस्टल में नही की जाती। अत., क्रिस्टल की सच्ची पहचान उसके अणुओ के परमाणुओं के नियमित विन्यास द्वारा होती है।

क्रिस्टल एक सम पिंड है, जो प्राय: ठोस होता है और चारो ओर से चिकने समतल फलको से, विशिष्ट सिद्धातो के आधार पर, घिरा रहता है। इसके भौतिक गुण निश्चित रहते है। इसके बाह्य रूप और भौतिक गुण दोनों ही नियमित आतरिक संरचना के बाहरी परिचायक हैं। अधिकतर खनिज, जो उपयुक्त अवस्थाओ के अंतर्गत बनते हैं, क्रिस्टल होते हैं।

कुछ ऐसे पदार्थ हैं, जिन्हे हम तरल क्रिस्टल कहते है। यद्यपि इनमे नियमित परमाणवीय विन्यास का प्रमाण मिलता है, तथापि ये सच्चे ठोस नही हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे ठोस खनिज हैं, जिनमे नियमित परमाणवीय सरचना नही मिलती। इन्हे रवाहीन (Amorphous) कहते हैं। कुछ क्रिस्टल बहुत ही छोटे होते है। इनके फलको का विकास सूक्ष्मदर्शी की सहायता से भी नही स्पष्ट होता। इन्हे गूढ क्रिस्टली (Cryptocrystalline) कहते है। साधारणत: क्रिस्टलीय शब्द किसी भी ऐसे पदार्थ के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है जिसमे परमाणु एक नियमित रूप मे व्यवस्थित रहते हैं, लेकिन क्रिस्टल शब्द उन्ही क्रिस्टलीय पदार्थो के लिये प्रयोग मे लाया जाता है जो चारो ओर से समतल फलको से घिरे होते है। क्रिस्टल का आकार क्रिस्टलन समय पर निर्भर करता है। क्रिस्टलन जितना धीरे धीरे होगा, क्रिस्टल उतने ही बड़े बनेंगे। जब क्रिस्टलन जल्दी होता है, तब अणुओ को विकास केंद्र की ओर अधिक संख्या मे जाने का अवसर नही मिलता। इस कारण बड़े बडे क्रिस्टलो की रचना नही हो पाती है। साथ ही श्यानता (viscosity) बढ़ने के कारण अणुओ की गति-विधि भी धीमी पड़ जाती है।

विलयन, गलन (fusion) और वाष्पन तीनों अवस्थाओ मे क्रिस्टलन हो सकता है। एक विलयन मे क्रिस्टल की रचना 'विलायक' (solvent) के वाष्पीकरण से, विलायक का ताप गिर जाने से, अथवा दबाव कम हो जाने से होती है। इस प्रकार नमक के क्रिस्टल, सोडियम क्लोराइड के जलीय विलयन से, तीनो मे से किसी भी विधि से बन सकते हैं। इसी प्रकार उसी सघटन के पिघले द्रव्य से क्रिस्टल की रचना हो सकती है। जल से हिम क्रिस्टल की रचना तथा पिघले हुए मैग्मा से आग्नेय शैल की रचना इसके साधारण उदाहरण है। पिछले उदाहरण मे ज्यो ज्यो तरल मैग्मा ठंढा होता जाता है, उसमे विद्यमान बहुत से तत्व, जो मूलतः पृथक् दशा मे रहते है, आपस मे मिलकर खनिज अणुओ के समुदाय बनाते है और अततः पिंडित शैल के खनिज अवयवो का निर्माण करते हैं। वाष्प से क्रिस्टल की रचना अपेक्षाकृत दुर्लभ है। इसके उदाहरण हैं, वायुमंडल के जलवाष्प से बने हिम क्रिस्टल और ज्वालामुखी से सबधित गरम पानी के झरनो से निकले गंधकमय वाष्प से बने गधक क्रिस्टल।

उपयोग — खनिज विज्ञान के अध्ययन मे क्रिस्टलकी का महत्व-पूर्ण योग है। भूपटल मे पाए जानेवाले खनिज प्राय: समाग क्रिस्टलीय ठोस होते है। इनमे अधिकतर सुविकसित क्रिस्टल की आकृतियाँ, जो आतरिक आणविक संरचना से सबद्ध है, मिलती है। इनमे हीरा, लाल, नीलम, पन्ना, पुखराज, ऐमिथिस्ट आदि रत्न खनिज विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन क्रिस्टलीय खनिजो को, जिनमे क्रिस्टल की आकृतियाँ नही दिखाई देती हैं, घिसकर पतले टुकडे निकाले जाते हैं और उनका ध्रुवण सूक्ष्मदर्शी के द्वारा परीक्षण किया जाता है। इस परीक्षण द्वारा उन खनिजो मे विद्यमान क्रिस्टलीय सममिति के कुछ तत्वो का ज्ञान हो जाता है, जिसके आधार पर उन खनिजों को पहचाना जा सकता है। यह इस कारण से है कि खनिजो की आतरिक आणविक व्यवस्था, जिसपर खनिज के क्रिस्टल की आकृति निर्भर करती है, खनिज के भौतिक और प्रकाशीय (optical) गुणो का आधार भी है।

यह विज्ञान ठोस कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिको के अध्ययन मे समान रूप से उपयोगी है। इनमे से बहुत से यौगिको मे क्रिस्टलकी आकृतियाँ बनती हैं, जो उनके पहचानने मे सहायता देती है।

उन क्रिस्टलीय पदार्थों का जिनमे आसानी से पहचान मे आनेवाली क्रिस्टलकी आकृतियाँ नही दिखाई देती, या जो क्रिस्टलकोणमापी (goniometer) द्वारा अध्ययन के लिये बहुत छोटे है, एक्सरे (X-ray) द्वारा विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार कुछ विधियो से प्राप्त फोटोग्राफ के प्रतिरूपों (patterns) की, आतरिक क्रिस्टलीय सममिति के आधार पर, व्याख्या की जाती है, जिससे उन्हे पहचानने मे लाभ उठाया जाता है। क्रिस्टल किसी विशेष प्रतिरूप की इकाई की पुनरावृत्ति से बना एक नियमित समुदाय है। अतः इस इकाई की सममिति संबंधित पदार्थ के क्रिस्टल की बाहरी सममिति की द्योतक है।

क्रिस्टलन का अध्ययन धातुकर्म (metallurgy) के लिये अपरि-हार्य है। कुछ धातुएँ, जैसे सोना, चाँदी और ताँबा, जो भूपटल में शुद्ध तत्वो के रूप मे प्राप्त होती हैं, क्रिस्टलीय स्वरूप दिखलाती हैं, लेकिन उन कुछ धातुओं की, जो खनिजो से निकाली जाती हैं, बाह्य आकृतियाँ क्रिस्टलन विधि को नही बतलाती। इन धातुओ की आतरिक सरचना और सममिति अध्ययन के लिये संरचना क्रिस्टलकी (struc-

tural crystallography) की विधियों को उपयोग में लाया जाता है।

इन विधियों का उपयोग आजकल मृत्तिका खनिजों (clay minerals) के अध्ययन मे भी किया जा रहा है, जिनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति से मिट्टी के वे गुण ज्ञात होते हैं जिनसे निश्चित होता है कि वह मिट्टी पोर्सलीन और चीनी मिट्टी के बरतन बनाने के लिये उपयोगी है या नही। ये खनिज बहुत छोटे छोटे कणों से लेकर कोलाइडी (colloidal) माप के आकार मे प्राप्त होते है तथा तीन वर्गों मे विभाजित किए गए हैं। एक्स-रे विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि ये खनिज क्रिस्टलीय हैं। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी के द्वारा, जिसमे एक लाख गुना आवर्धन होता है, इनमे से बहुत से क्रिस्टलो की बाह्य आकृतियाँ देखी गई हैं।

सरचना क्रिस्टलकी की बहुत सी विधियाँ तथाकथित द्रव क्रिस्टलो, जैसे कोलेस्टेराइल ऐसीटेट (cholesteryl acetate), ऐमोनियम ओलिएट (ammonium oleate) आदि, के अध्ययन मे सफलता से उपयोग की गई है। इन क्रिस्टलो को प्राचीन काल मे निश्चित रूप से द्रव माना गया था। पर ये मध्यरूपीय (mesomorphic) अवस्था मे ठोस ही है। इनमे दिखाई देनेवाली द्रव प्रकृति, या दृढ़ता की कमी, क्रिस्टल के बलों की कमजोरी के कारण हैं, जो इतने शक्तिशाली नही हैं कि किसी एक निश्चित ज्यामितीय आकृति को बनाए रख सकें।

विकास का इतिहास — क्रिस्टलकी को सबसे पहली महत्वपूर्ण देन डेन्मार्कवासी चिकित्सक निकोलस स्टैनो की है। सन् १६६९ मे आपने बतलाया कि एक क्रिस्टल के कुछ कोण सदा बराबर रहते हैं, चाहे फलको के रूप और आकार मे कितना ही अन्तर क्यो न हो। कुछ वर्ष बाद हाइगेंज़ (Huyghens, १६७८ ई०) ने कैलसाइट की द्विअपवर्तन (double refraction) क्रिया को समझाने के लिये यह मान लिया कि वह छोटे छोटे दीर्घवृत्तजीय कणो के नियमित रूप मे सुव्यवस्थित होने से बना है और इस आधार पर आपने क्रिस्टल की आकृति, विदलन (cleavage), उसकी कठोरता मे विभिन्नता और दिशाओ के साथ साथ द्विअपवर्तन की व्याख्या की।

१८वी शताब्दी मे क्रिस्टलकी के क्षेत्र मे कोई विशेष प्रगति नही हुई। केवल विलायकों के, जिनमे विलेय पदार्थ थे, वाष्पीकरण से क्रिस्टल तैयार किए गए। इन्हे कृत्रिम क्रिस्टल कहा गया। रोमे दि ल आइल (Rome' de l' Isle) ने अनेक प्राकृतिक और कृत्रिम क्रिस्टलों का संस्पर्श क्रिस्टल कोणमापी नामक यत्र की सहायता से अध्ययन किया। यह यत्र उनके सहायक कारनज्यो (Carangeot) ने सन् १७८० मे कोण मापने के लिये बनाया था। इस आधार पर आपने छह 'प्राथमिक आकृतियाँ' स्थापित की : घन, सम अष्टफलक, समचतुष्फलक, समातर षट्फलक, समचतुर्भुज आधार पर अष्ट फलक तथा दुहरा छह फलकों वाला पिरैमिड। अन्य आकृतियो के लिये यह कल्पना की गई है कि वे उपर्युक्त प्रत्येक आकृति के किनारों (edges) और घन कोणों के फलकों द्वारा प्रतिस्थापन से निर्मित हुई हैं। रोमे दि ल आइल की पहली कृति १७७२ ई० मे प्रकाशित हुई। उसका दूसरा विस्तृत संस्करण १७८३ ई० मे छपा। आपके कार्य के फलस्वरूप अतराफलक कोण (interfacial angle) की स्थिरता का नियम, जिसकी नींव लगभग १०० वर्ष पूर्व स्टैनो द्वारा रखी जा चुकी थी, पूर्ण रूप से स्थापित हो गया।

यद्यपि क्रिस्टलविज्ञानी क्रिस्टल की सभाव्य आतरिक संरचना के विषय में पहले से ही परिकल्पना कर रहे थे, पर इस संबंध में सुव्यवस्थित वर्णन सबसे पहले सन् १७८४ ई० में ऐबि औई (Abbe Hauy) ने किया। क्रिस्टल की आकृति से संबद्ध विदलन की सतहों का निरीक्षण करते समय आपने यह विचार स्थापित किया कि एक क्रिस्टल सब से छोटी सभव अणु एकक (molecule integrante) की पुनरावृत्ति से बना है। इस आधारभूत एकक की आकृति को उस क्रिस्टल की सममिति के अनुरूप माना गया। इसी एकक के आधार पर भिन्न भिन्न स्वभाव के क्रिस्टलो की रचना हो सकती थी, यदि चयन (stacking) की प्रगति के साथ साथ कुछ पंक्तियाँ नियमित रूप से छोड़ दी जाती। इस प्रकार घनकों (cubelets) की इकाई से एक विषमलबाक्ष द्वादशफलक (rhombic dodecahedron) बन सकता है, यदि घन नमूने का चयन करते समय किनारो पर के घनकों को छोड़ दिया जाय। यही इकाई एक अष्टफलक बना सकती है, यदि कोनों पर से घनकों का चयन छोड़ दिया जाय। पूर्ण क्रिस्टल और उसकी आधारभूत इकाई के संबंध के आधार पर औई ने 'परिमेय घाताक' (rational indices) के नियम को, जो क्रिस्टलकी का सबसे महत्वपूर्ण नियम है, स्थापित किया। औई की इस खोज की महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन्हे क्रिस्टलकी का जन्मदाता कहा जाता है।

औई के 'परिमेय घाताक' के नियम के आधार पर सन् १८३० मे हेज़ेल (Hessel) ने यह ज्ञात किया कि समतल फलकों वाले ठोस पिडों म ३२ प्रकार की सममितियाँ संभव हैं। आपका कार्य दीर्घकाल तक अनजाने में ही पडा रहा। स्वतत्र रूप से गाडोलिन फॉन लैंग (Gadolin von Lang) भी उसी निष्कर्ष पर पहुचे जिसपर हेज़ेल पहुँचे थे और उन्होंने १८७० ई० मे इस तथ्य को पूर्ण रूप से स्थापित कर दिया।

औई की खोज के पश्चात क्रिस्टल की आतरिक संरचना के कार्य मे प्रगति होती रही और यह मान लिया गया कि बृहत् क्रिस्टल की सरचना क्रिस्टल की आणविक इकाई या बहुआणविक इकाइयो के क्रिस्टल द्वारा घिरे स्थान की पुनरावृत्ति के फलस्वरूप होती है। इस क्षेत्र मे सीबर (Seeber, १८२४ ई०), डेना (Dana, १८३६ ई०), ब्रूस्टर (Brewster, १८३९ ई०), देलाफांस (Delafosse, १८४३ ई०) आदि के नाम उल्लेखनीय है। पर क्रिस्टल की इकाइयो की रचना और आकृति के सबंध मे कोई विशेष प्रगति नही हुई।

पिछले वर्षों मे बहुत से गणितज्ञ और क्रिस्टलविज्ञानी उन भिन्न भिन्न विन्यासो की खोज मे लगे रहे जिनके द्वारा विभिन्न समुदायो के क्रिस्टल अपनी इकाई कोशिकाओ (unit cells) से बने। इस दिशा मे पहली कृति फ्राकेनहाइम (Frankenhime, १८४२ ई) की थी। इनका विश्वास था कि १५ प्रकार के विभिन्न विन्यास सभव हैं। ये विन्यास त्रिविमजालक (space lattice) प्रकृति के थे। ब्रेवेस (Bravais, १८४८ ई०) ने फ्राकेनहाइम के त्रिविमजालकों के लिये पुष्ट प्रमाण दिए और यह भी दिखलाया कि उन १५ मे से दो विन्यास बिल्कुल समान हैं। उसने इन

१४ त्रिविमजालकों को, जो क्रिस्टल संरचना की नींव हैं, सात समुदायों में विभक्त कर दिया (इसमें त्रिकोणीय और षट्कोणीय पृथक समुदाय माने गए हैं)। ब्रेवैस ने यह भी सुझाव दिया कि प्रत्येक अणु के गुरुत्वकेंद्र के चारों ओर परमाणुओं की ज्यामितीय व्यवस्था समान है। दूसरे शब्दों मे, ब्रेवेस के त्रिविमजालक में प्रत्येक बिंदु का पर्यावरण प्रत्येक दूसरे बिंदु के पर्यावरण के समान है और यह समान रूप से ही अभिविन्यस्त (oriented) है। उपर्युक्त बिंदु अणुओं के गुरुत्व केंद्र का द्योतक है। यही सिद्धांत वीनेर (Wiener, १८६६ ई०) ने भी स्वतंत्र रूप से स्थापित किया। तुल्यरूप (analogous) परमाणुओं की व्यवस्था की नियमितता के अंतर्गत प्रत्येक ऐसा परमाणु आ जाता है, जिसके चारों ओर दूसरे परमाणु उसी तरीके से व्यवस्थित होते हैं। उसी वर्ष जॉर्डन (१८६६ ई०) ने क्रिस्टलो का संदर्भ न देकर, केवल गणित के आधार पर यह पता लगाया कि तथाकथित सर्वथा समभागों की नियमित आवृत्ति कितने प्रकार से संभव है। वीनेर के सिद्धांत को मानकर तथा जॉर्डन की विधि को क्रिस्टल में प्रयुक्त कर सोहके (Sohancke, १८७६-१८९२ ई०) ने ज्ञात किया कि ६५ बिंदु (मूलत: ६६, पर जिनमें से दो बाद को एक समान पाए गये) खास तरीकों से अवकाश (space) मे व्यवस्थित हो सकते हैं, जबकि केवल समान पर्यावरण की आवश्यकता है न कि समान अभिविन्यास की, जैसा कि ब्रेवैस के त्रिविमजाल मे। इन ६५ बिंदुसमुदायों से ऐसी सरचनात्मक व्यवस्था प्राप्त हुई जिससे केवल विभिन्न समुदायों के पूर्णफलकीय (holohedral) वर्ग की ही नहीं, जैसा कि ब्रेवैस त्रिविमजालक में भी थी, वरन् उससे भी नीचे के बहुत से वर्गों की सममिति प्राप्त हुई।

त्रिविमदिक् मे परावर्तन (reflection) तथा प्रतिलोमन (inversion) क्रियाओं का समावेश कर फेडोरॉफ़ (Fedorov, १८८५-१८९० ई०), शौएनफ्लाइस (Schoenflies, १८९१ ई०) और बार्लो (Barlow, १८९४ ई०) ने स्वतंत्र रूप से तथा विभिन्न तरीको से अध्ययन कर १६५ संरचनात्मक अणुविन्यास व्यवस्थाएँ ज्ञात की। इस प्रकार सब बिंदु समुदाय या वर्ग २३० हो गए। अब नीचे की श्रेणी की सममिति को भी समझना संभव हो गया। इस प्रकार स्थापित ३२ सममिति वर्ग (रचना के बिंदु वर्ग) क्रिस्टल सममिति के ३२ वर्गों से, जो कि आकृतिक क्रिस्टलकी (morphological crystallography) मे माने जाते हैं, मेल खाते है।

यद्यपि क्रिस्टल संरचना का ज्यामितीय सिद्धांत पिछली शताब्दी के अंतकाल मे सफलतापूर्वक स्थापित हुआ, पर क्रिस्टल के विशेषज्ञ क्रिस्टल के मौलिक इकाई के आकार, माप और स्वभाव के बारे में अनभिज्ञ ही थे। इकाइयों को अब तक अोई का घन समांतरफलक (parallelepipeda), या फेडोरॉफ (१९०४ ई०) का समातर फलक (parallelohedra), समझा जाता था। पोप और बार्लो (१९०६ ई०) के विचार मे ये बहुफलकीय इकाइयाँ प्रत्यास्थ (elastic), पर असंपीड्य (incompressible), और विरूपणीय (deformable) गोलों के संघनित समुच्चय से व्युत्पन्न हैं। रंटगेन (Roentgen, १८९६ ई०), द्वारा एक्स किरण की खोज तथा फॉन लावे (१९१२ ई०) द्वारा क्रिस्टल की आंतरिक संरचना जानने के लिये उसका उपयोग होने के बाद ही, इन इकाइयों को परमाणु समुच्चय के रूप में प्रभाव क्षेत्र (spheres of influence) माना गया।

कुछ वैज्ञानिकों ने एक्स किरणपुंज के विवर्तन (diffraction) के लिये क्रिस्टल के क्रमबद्ध परमाणुओ को उचित ग्रेटिंग (grating) के रूप मे उपयोग करने की बात सोची। इस संबंध मे पहले प्रयोग उनके साथियों, फीडरिक (Friedrich) और निपिंग (Knipping), द्वारा किए गए। श्वेत एक्स किरणपुंज को एक क्रिस्टल मे से होकर भेजा गया और उसे एक फोटोग्राफिक प्लेट पर लिया गया। इस प्लेट को धोने पर एक केंद्रीय काले हिस्से के चारों ओर बहुत से काले धब्बे प्रकट हुए, जो एक नियमित पैटर्न मे थे। इस प्रकार के फोटोग्राफ के अध्ययन से अपेक्षाकृत सरल क्रिस्टलों की संरचना को जान लेना सभव हुआ। लावे की इस खोज के बाद सुधारे हुए तकनीकों से दूसरे कार्यकर्ताओं ने शोध की गति बढ़ा दी। डब्ल्यू० एच० ब्रैग और डब्ल्यू० एल० ब्रैग (१९१३ ई०) ने क्रिस्टलों की ज्ञात दिशाओं में कटी प्लेटों को एक एक्स किरण स्पेक्ट्रोमीटर पर, जिसमे एकवर्णी (monochromatic) विकिरण प्रयोग करने की व्यवस्था थी, घुमाया। डिबाई और शेरर (Debye and Scherrer) ने क्रिस्टलके चूर्ण को दबाकर एक छोटे दड मे ठूंस कर, दडाकृति देकर, उसे एक बेलनाकार सूक्ष्मग्राही फिल्म की नली के अक्ष मे रखा और इस दड पर एकवर्णीय एक्स किरणें डाली। इस प्रकार से प्रभावित फिल्म को डिवेलप करने पर कुछ वक्र रेखाएँ प्राप्त हुई। यही ऐक्स किरण व्यतिकरण आकृतियाँ (interference figures) थी। शीबोल्ड (Schiebold, १९२२ ई०) ने एक विधि निकाली, जिसमे पूरे क्रिस्टल को एक मुख्य मंडल (zone axis) में घुमाया जाता है और उसपर एकवर्णी विकिरण डाला जाता है। इसमे विवर्तन जानने के लिये या तो एक सपाट या एक वेलनाकार फोटोग्राफिक प्लेट काम मे लाई जा सकती है। इस विधि के द्वारा क्रिस्टल की इकाई कोशिका (unit cell) की विमाएँ ठीक ठीक प्रकार मापी जा सकती हैं। इस घूर्णन विधि मे वाइसनबर्ग (Weissenberg) ने और सुधार किया। क्रिस्टल को एक छोटे कोण की सीमा के भीतर में इधर उधर दोलित किया जाता है और बेलनाकार कैमरा क्रिस्टल के साथ ही साथ इस तरह घूमता है कि उद्भासन (exposure) के समय बराबर उसके साथ रहता है।

एक्स किरण विश्लेषण द्वारा ज्ञात की गई इकाई कोशिका की विमाएँ प्राय: सभी खनिजों में क्रिस्टल कोणमापी द्वारा जाने हुए अक्षानुपात (axial ratio) से मेल खाती हैं। एक्स किरण विश्लेषण द्वारा हम क्रिस्टल की संरचना को पूर्णतया जान सकते हैं। पहले क्रिस्टल को उचित त्रिविम वर्ग मे रखा जाता है, तत्पश्चात् उसकी इकाई कोशिका की अंतर्वस्तु की जानकारी की जाती है।

क्रिस्टलों के सामान्य लक्षण — क्रिस्टल चारों ओर से सतहों से घिरा होता है। इन सतहों को फलक (Faces) कहते हैं। फलक साधारणत. समतल और चिकने होते हैं। फलक एक ही प्ररूप (type) या भिन्न भिन्न प्ररूप के हो सकते हैं। यदि सब फलक एक तरह के होते हैं तथा समान रूप से विकसित होते हैं तब उनकी ज्यामितीय आकृतियाँ समान होती हैं। लेकिन इन्हीं एक किस्म के फलकों की

आकृति भिन्न हो जाती है, यदि वे दूसरी किस्म के फलकों के संयोजन मे प्राप्त होते हैं। एक ही प्ररूप के सभी फलक एक क्रिस्टल रूप (form) के सदस्य होते हैं। यह रूप उन फलकों का जोड़ है जिनकी उपस्थिति उस स्थिति में क्रिस्टल सममिति के लिये आवश्यक होती है जब कि उनमें से कोई एक उपस्थित हो। इन फलकों की संख्या उस क्रिस्टल सममिति के ऊपर निर्भर करती है। दो संलग्न फलकों को मिलानेवाली रेखा को क्रिस्टल का कोर (Crystal edge) कहते हैं। वह कोना जहाँ तीन या अधिक फलक मिलते हैं कोनिया (Coign), जिसे बहुत से लेखक घन कोण कहते हैं, कहलाता है। बहुफलक के समान क्रिस्टल में भी फलक संख्या और कोनिया की संख्या का जोड़ कोर की संख्या और दो के जोड़ के बराबर हो जाता है।

$$फ + क = को + २,$$

जहाँ फ = फलक, क = कोनिया, को = कोर। उदाहरण के लिये एक घन में ६ फलक और ८ कोनिया और १२ कोर होते हैं, अतः समीकरण, ६ + ८ = १२ + २ उपर्युक्त संबंध को बतलाता है।

क्रिस्टलकी में दो फलकों पर खींचे गए अंतराफलक अभिलंबों के बीच के कोण को अंत फलक कोण (Interfacial angle) कहते हैं (चित्र १)। यह बात ध्यान में रखने की है कि यह कोण फलकों के बीच के वास्तविक कोण का पूरक (supplement)

चित्र १. संस्पर्श क्रिस्टल कोणमापी
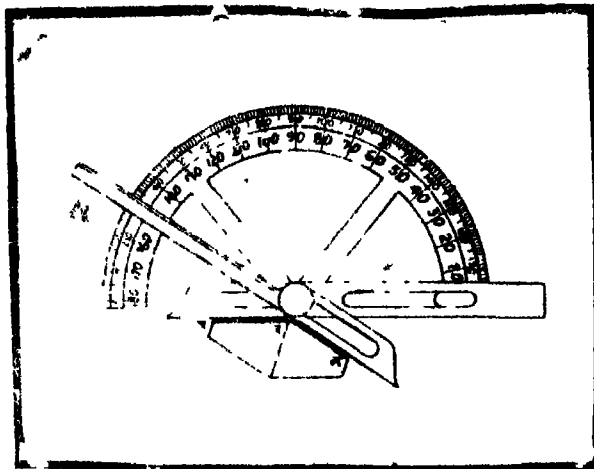
अंतर्फलक कोण = १८०° — ∠ चरल

है। यह विशेष प्रकार का अतराफलक कोण, कोण मापने की विधि के अनुरूप है। यह एक ओर गणितीय परिकलन (जो कोणों के माप के आधार पर निर्भर है) और दूसरी ओर क्रिस्टल के फलकों के त्रिविम निरूपण और तदनंतर गोलीय त्रिकोणमिति द्वारा परिकलन के भी अनुकूल है।

अपेक्षाकृत बड़े क्रिस्टलों का अंतराफलक कोण मापने के लिये संस्पर्श क्रिस्टल कोणमापी, जिसे १८७० ई० मे कारनग्यो (Carangeot) ने बनाया था, उपयोग में लाया जाता है (देखें चित्र १.)।

क्रिस्टल मे बहुत से फलक इस प्रकार व्यवस्थित हो सकते हैं कि उनकी सतह, जहाँ पर कि संलग्न जोड़े मिलते हैं, समांतर हों। ऐसे फलकों के समुदाय को मंडल (zone) कहते हैं। वह काल्पनिक रेखा, जो क्रिस्टल के केंद्र से होकर गुजरती है तथा जो कोरों के समांतर होती है, मंडल अक्ष (zone axis) कहलाती है और वह समतल, जिसमें मंडल के सभी फलकों के अभिलंब पड़ते हैं, मंडलतल (zone plane) कहलाता है। फलक एक या अनेक रूप (forms) के हो सकते हैं।

प्रक्षेप (Projection) — क्रिस्टल को कागज पर प्रदर्शित करने के बहुत से तरीके हैं। एक सीधा और सरल तरीका क्रिस्टल के कोरों का एक वैसा ही नक्शा (plan) खींचना है, जैसा कि वे एक बिंदु से, जो ठीक उनके ऊपर परिमित दूरी पर हो, दिखाई देते हैं। दो समान दृश्य भी प्रदर्शित किए जा सकते हैं, पहला

(अ) (ब)
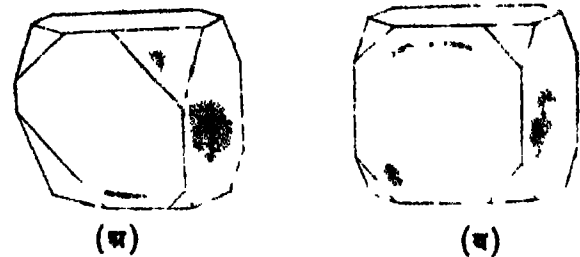
चित्र २. सममिति

(अ) क्रिस्टलीय तथा (ब) ज्यामितीय

जैसा कि सामने से दिखाई दे और दूसरा जैसा कि दाईं ओर से दिखाई दे। ये तीनों दृश्य इंजीनियरिंग के नीव विन्यास (ground plan), सामने का उत्थापन (front elevation) और बगली उत्थापन (side elevation) को क्रमशः निरूपित करते हैं। निरूपण की यह विधि लंबकोणीय प्रक्षेप (orthographic projection) कहलाती है (देखें चित्र २.)।

प्रवणता प्रक्षेप (clinographic projection) मे क्रिस्टल को एक उदग्र समतल के ऊपर प्रक्षेपित किया जाता है। इसमें क्रिस्टल एक ऐसे बिंदु से देखा जाता है, जो सबसे ऊपर के फलक, या कोनिया, की सतह से अनत दूरी पर (या कोण से) ९° २८′ तथा दाईं ओर १८° २६′ पर होता है।

सममिति (Symmetry) — क्रिस्टलों के फलक, सममिति की निश्चत योजनाओं के अनुसार व्यवस्थित रहते हैं। कुछ आधार चिह्नों, का जिन्हें सममिति के मूल अवयव (elements of symmerty) कहते हैं, अध्ययन किया जाता है। ये अवयव निम्नलिखित है: १. सममिति समतल, २. सममिति तथा ३. सममिति केंद्र। यदि क्रिस्टल में एक सममिति समतल उपस्थित है, तो वह क्रिस्टल को दो समरूप तथा बराबर भागों मे इस प्रकार विभाजित करता है कि एक हिस्सा दूसरे का प्रतिबिंब होता है। यदि क्रिस्टल में एक सममिति अक्ष है, तो उस अक्ष पर क्रिस्टल को घुमाने से, एक पूरे चक्र मे, क्रिस्टल का एक ही निर्दिष्ट रूप एक बार से अधिक, दो, तीन, चार बार दिखलाई पड़ता है। इस दृष्टि से सममिति अक्ष को द्विकोणीय (digonal), त्रिकोणीय (trigonal), चतुष्कोणीय (tetragonal), या षट्कोणीय (hexagonal) सममिति अक्ष कहते हैं। उपर्युक्त सममिति अक्षों के लिये क्रिस्टल को क्रमशः १८०°, १२०°, ९०° और ६०° घुमाना पड़ता है। षट्कोणीय

सममिति अक्ष से अधिक की अक्षीय सममिति क्रिस्टलों में संभव नहीं है। और न पंचकोणीय अक्षीय सममिति ही संभव है। यदि क्रिस्टल में सममिति केंद्र उपस्थित है, तो क्रिस्टल के एक भाग मे विद्यमान एक कोनिया (coign), एक कोर या एक फलक की संगत (corresponding) कोनिया, कोर या फलक क्रिस्टल के विपरीत भाग मे भी विद्यमान होता है।

किसी क्रिस्टल में सममिति अवयव और उनके गुणों को जानने के लिये क्रिस्टल को सम्रूप फलकों के असमान विकास से होनेवाली अनियमितताओं से, जैसा कि प्रकृति मे साधारणत. होता है, मुक्त कल्पित किया जाता है। केवल ज्यामितीय सममिति (चित्र २ ब) की दशा मे ही सममिति केंद्र या एक समतल के विपरीत पार्श्व मे विद्यमान कोनिया, कोर या फलक, समान दूरी पर स्थित होने चाहिए। इसमे विपरीत फलक भी एक ही आकार और रूप के होते हैं। क्रिस्टल सरचनात्मक सममिति (चित्र २ अ) में अंतराफलक कोण की सममिति ही निश्चयात्मक अवयव है, फलकों का विस्तार और आकृति प्राकृतिक विरूपण के कारण महत्व नही रखते हैं।

क्रिस्टल में विरूपण का कारण विलायकों की शुद्धता या क्रिस्टल की वृद्धि गति, ताप या सपीडन मे प्रतिकूलता है। यही तथ्य क्रिस्टल के विशेष रूप (habit) को निश्चित करते हैं। क्रिस्टल का विशेष रूप उपस्थित रूपों तथा प्रत्येक रूप के फलकों के आपेक्षिक विस्तार
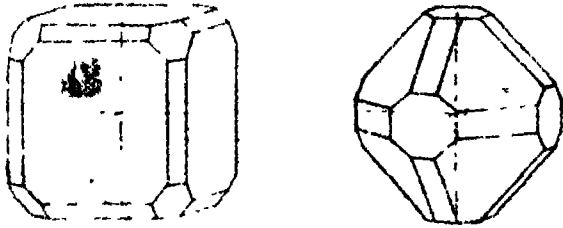
चित्र ३. एक ही क्रिस्टल के दो विशेष रूप

(देखें चित्र ३ तथा ४) के लक्षणो के योग का ही परिणाम है। क्रिस्टल मे विद्यमान प्रधान फलक समष्टियो, अथवा क्रिस्टल मे एक या दो दिशाओ में अधिक विकास के कारण बननेवाले प्रिज्मीय और सपाट रूपो के लिये प्रयुक्त शब्दों, के साथ "विशेष रूप" (habit) शब्द का प्रयोग किया जाता है।

क्रिस्टल की सममिति की विशेषताओं को पूर्ण रूप से अध्ययन
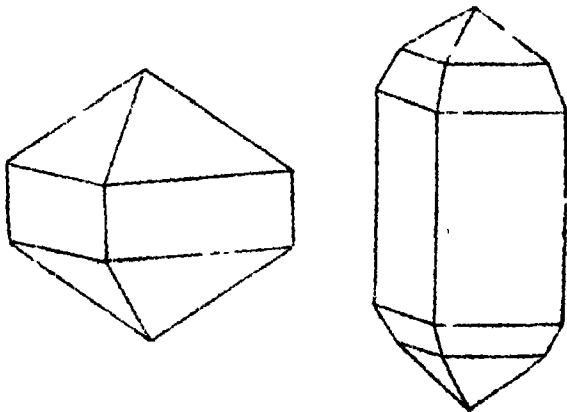
चित्र ४. ज़िरकॉन क्रिस्टल के दो विशेष रूप

करके प्राचीन कार्यकर्ताओं ने सममिति का नियम बनाया। यह सूत्र या नियम इस प्रकार है . एक क्रिस्टल के फलक सममिति के निश्चित अवयव के अनुसार स्थित होते हैं। उस क्रिस्टल के लिये फलकों की स्थिति निश्चत रहती है और इसी पर उसका बाह्यरूप तथा भौतिक गुण निर्भर करता है।

पहले कार्यकर्ताओं ने भी यह ज्ञात किया था कि एक पदार्थ के क्रिस्टल चाहे कितना ही विभिन्न रूप दिखलाएँ, पर उनके संगत अंतर-फलक कोणों का मान नियत रहता है। यही अतरफलक कोण की स्थिरता (Law of Constancy of Interfacial Angles) का मूल सूत्र है।

क्रिस्टलीय अक्ष — क्रिस्टलीय अक्ष वह कल्पित रेखा है, जो क्रिस्टल के केंद्र से होकर जाती है। क्रिस्टल के फलकों की स्थिति (attitude) बतलाने के लिये इन कल्पित रेखाओं का उपयोग संदर्भ अक्षों (axes of referenee) के रूप में किया जाता है। साधारणत ये अक्ष मुख्य सममिति अक्ष होते हैं, या कुछ कोरों के समातर होते हैं। क्रिस्टल के स्वभाव के आधार पर तीन सममिति समतलो पर अभिलंब होते हैं या क्रिस्टल की कुछ या चार ऐसे अक्ष मान लिए जा सकते हैं। यह आवश्यक नही है कि अक्ष एक दूसरे के बराबर हो, या दूसरे पर समान रूप से झुके हों। इन अक्षो की आपेक्षिक लंबाइयो को ही अक्षीय अनुपात कहते हैं। ये अधिकतर य, र, ल द्वारा लिखी जाती है। इनमें से र को ही इकाई मानने की प्रथा है। वे आपेक्षिक दूरियाँ जिनपर क्रिस्टल फलक के (आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाकर) क्रिस्टलीय अक्षो को काटते हैं उनका अत खंडी अनुपात (parameter) कहलाता है। वह फलक, जो अक्षों को इस प्रकार काटता है कि उन दूरियों का अनुपात क्रमिक अक्षों की इकाइयों के अनुपात के समान होता है, एकक फलक (unit face), या पैरामीटरी समतल (parametral plane) कहलाता है। एकक फलक निर्धारण करने के लिये साधारणत: सबसे अधिक मिलनेवाली फलक समष्टि को ही चुन लिया जाता है।

किसी भी फलक का आकार (attitude), या प्रवणता उनके इकाई अतर्खंडों (unit intercepts) द्वारा बतलाई जा सकती है। यदि एक फलक तीन अक्षो य, र, ल पर क, ख, ग अंतर्खंड काटता है, तब उनके सबंध को वाइस (Weiss, १८१८ ई०) की विधि के अनुसार क य, ख र, ग ल द्वारा दिखलाया जा सकता है। वाइस की पैरामीटर विधि के स्थान पर घातांक विधि (index system), जिसे सबसे पहले मिलर (Miller, १८३९ ई०) ने लोकप्रिय बनाया, अधिक प्रचलित है। इस विधि के व्युत्क्रमाक (reciprocal) या घाताक यदि भिन्न (fraction) में हैं, तो गुणा कर इनको पूर्ण संख्या मे बदलकर प्रयोग किया जाता है। अत यदि एक फलक, य अक्ष को एकक दूरी (unit distance) से दुगने स्थान पर, और र को तिगुनी दूरी पर, काटता है तथा ल के समानर है, तो इसका वाइस चिह्न २ य, ३ र, ∞ ल होगा। इनके व्युत्क्रमाक ½, ⅓, १/∞ होंगे। ६ से गुणा करने पर यह ३, २, ० हो जाएगा। अत इस फलक का मिलरचिह्न ३, २, ० लिखा जाएगा और यह तीन, दो, शून्य पढ़ा जाएगा। कभी कभी इसे छोटे कोष्ठक मे (३ २ ०) रखा जाता है, क्योंकि एक्स किरण क्रिस्टलकी मे बिना कोष्ठक के चिह्न रचना-समतलो के द्योतक होते हैं। मझले कोष्ठक मे यह {३ २ ०} फलक के पूरे रूप (form) को

बतलाता है और बड़े कोष्ठको में [३ २ ०] यह एक मंडल (zone) को सूचित करता है। क्रिस्टलकी की सभी विधियो, गोनियोमीटरी पठन, त्रिविमीय प्रक्षेप तथा गणितीय परिकलन के लिये मिलर चिह्न महत्वपूर्ण है।

अनुभव से ज्ञात हुआ है कि सामान्यत. एक क्रिस्टल मे केवल वे ही फलक रहते हैं, जिनके अक्षीय अंत:खंड इकाई के लघुगुणित (multiple), या अनत (infinite) होते हैं। इसी प्रकार मिलर घाताक सरल परिमेय सख्या (rational number) या शून्य होते है। इसे परिमेय घाताक नियम (Law of Rational Indices) कहते हैं। इसमे ऐसे घाताक जैसे √२, या १·३२७··· आदि, सभव नहीं है।

क्रिस्टल समुदाय (Crystal Systems) — भिन्न भिन्न प्रकार के क्रिस्टलो को समझाने के लिये सुविधानुसार क्रिस्टलीय अक्षो की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ कल्पित की जाती हैं। इनका छह क्रिस्टल समुदायो मे वर्गीकरण किया गया है। प्रत्येक समुदाय की व्याख्या अक्षो के स्वरूप के ऊपर निर्भर है। इन छह समुदायो मे से पाँच मे अक्षो की सख्या तीन तीन हैं तथा छठे मे उपयोग के विचार से तीन की अपेक्षा चार अक्ष अधिक सुविधाजनक ज्ञात हुए हैं। समुदायों की विभिन्नता अक्षो के आपस मे समान या असमान रूप से झुकाव पर, और एकक फलक के भिन्न भिन्न अक्षो पर अंत खंडी अनुपात के समान या असमान होने पर, निर्भर करती है। तीनों अक्षो को इस प्रकार अभिविन्यस्त किया जाता है कि तथाकथित ल अक्ष उदग्र रहता है, र प्रेक्षक के समातरवाले उदग्र समतल मे स्थित रहता है (अर्थात् दाईं ओर से बाईं ओर को जाता है) और तीसरा य अक्ष प्रेक्षक के सम्मुख रहता है। ल, र और य का क्रमश: ऊपरी, दायाँ तथा सामने का सिरा धन (positive) कहलाना है तथा इनके विपरीत सिरे ऋण (negative) कहलाते हैं। यदि किसी फलक द्वारा किसी अक्ष का ऋणभाग अत खंडित होता है, तब उससे संबंधित मिलर घाताक के ऊपर ऋण (−) का चिह्न बना दिया जाता है।

त्रिनताक्ष (triclinic) समुदाय मे तीनो अक्ष य, र, ल असमान लबाइयो के होते हैं तथा एक दूसरे पर तिर्यक् (oblique) कोण बनाते हुए झुके रहते है। एकनताक्ष (monoclinic) समुदाय में य, र, ल असमान है। य और ल एक दूसरे पर तिर्यक् कोण बनाते हैं, पर र उस समतल पर, जिसमे य और ल हैं, लबवत् स्थित रहता है। विषमलबाक्ष (orthorhombic) समुदाय मे य र, ल असमान है, लेकिन एक दूसरे पर समान रूप से झुके हुए हैं। षट्कोणीय (hexagonal) समुदाय मे तीन समान क्षैतिज अक्ष $य_1$, $य_2$, $य_3$ होते हैं, जो एक दूसरे को ६०° के कोण पर काटते हैं तथा चौथा अक्ष ल असमान है और पहले तीनो अक्षो के समतल पर लबवत् है। चतुष्कोणीय (tetragonal) समुदाय मे दो समान क्षैतिज अक्ष $य_1$ और $य_2$ एक दूसरे पर समकोण बनाते हैं और उदग्र अक्ष ल असमान है। त्रिसमलबाक्ष (isometric) समुदाय के तीन अक्ष समान हैं और एक दूसरे पर समकोण बनाते हैं। $य_1$, $य_2$ क्षैतिज हैं और $य_3$ उदग्र है।

सममिति के वर्ग (Classes of Symmetry) — एक ही समुदाय के भिन्न भिन्न क्रिस्टलों में ऐसे रूप (forms) पाए जाते हैं, जो क्रिस्टलीय अक्ष की दृष्टि से समान दिखाई पड़ते हैं, पर वे अपने फलको की संख्या तथा सममिति अवयवों के संमिलन पर भिन्न भिन्न होते हैं। वास्तव में इनमें से कुछ पूर्ण या पूर्णफलकीय रूप (holohedral) हैं, जिनमें उस समुदाय की पूर्ण सममिति के लिये आवश्यक सभी समतल विद्यमान रहते हैं। इनमे कुछ रूप आंशिक होते हैं, जैसे अर्धफलकीय (hemihedral) और चतुर्थांशफलकीय (tetartohedral) आकृतियाँ। अर्धफलकीय आकृतियों मे उसी समुदाय की पूर्णफलकीय आकृतियों के आधे फलक और चतुर्थांशफलकीय आकृतियों में एक चौथाई फलक विद्यमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त भी एक और आंशिक रूप होता है, जिसे अर्धाकृति रूप (hemimorphic form) कहते हैं। इसमें एक पूर्णफलकीय क्रिस्टल के आधे फलक क्रिस्टल के केवल एक ही ओर केंद्रित होते हैं, या बन जाते हैं, शेष आधा भाग या तो अनुपस्थित रहता है, या वहाँ पर दूसरे रूप का आधा भाग निरूपित रहता है। किसी भी समुदाय से संबद्ध, ये आंशिक रूप उस समुदाय के पूर्णफलकीय रूप (जिनसे कि वह बना है) की अपेक्षा निम्न श्रेणी की सममिति के होते हैं। अत. किसी भी समुदाय के क्रिस्टल भिन्न भिन्न सममिति वर्गों के अन्तर्गत आते हैं। सममिति वर्गों का नामकरण उस वर्ग के सबसे अधिक साधारण रूप के आधार पर किया जाता है। सममिति के सभी संभाव्य संमिलन पर सैद्धांतिक रूप से विचार कर, सममिति के ३२ वर्ग निर्धारित किए गए हैं। साधारणत: इनमें से केवल ११ ही खनिजों मे मिलते हैं, अन्य १३ खनिजों तथा कृत्रिम क्रिस्टलों मे दुर्लभता से मिलते हैं और अन्य ६ तो केवल कृत्रिम क्रिस्टलों मे ही मिलते हैं। शेष दो अभी भी अनिरूपित हैं।

पृष्ठ ११४ पर दी हुई सारणी मे प्रधान ११ सममिति वर्गों के नाम दिए गए हैं। क, अ, स क्रमश: सममिति के केंद्र, अक्ष और समतल के द्योतक हैं। अ से पहले की संख्या सममिति अक्ष की संख्या बतलाती है तथा अ के बाद की संख्या सममिति का क्रम बतलाती है, जैसे द्विकोणीय, त्रिकोणीय आदि।

रूपों का परिवर्तन — क्रिस्टलीय अक्षों से संबद्ध फलकों की स्थिति के आधार पर रूपो को कुछ निश्चित सामान्य नाम दिए गए हैं। पिनेकॉइड (pinacoid) में उसके रचक (constituent) फलक केवल एक ही क्रिस्टलीय अक्ष को काटते हैं तथा दोनो के समातर होते हैं। प्रिज्म (prism) के फलक उदग्र अक्ष के समातर होते हैं तथा अन्य दोनो अक्षों को काटते हैं। डोम (dome) के फलक उदग्र अक्ष और एक पार्श्व अक्ष को काटते हैं तथा दूसरे पार्श्व अक्ष के समातर होते हैं। पिरैमिड के फलक सभी अक्षों को काटते हैं। इन रूपों के साधारण चिह्न मिलर घाताक मे क्रमश: { १ ० ० }, { त द ० }, { त ० थ } और { त द थ } [{ 100 }, { h k 0 }, { h 0 l } और { h k l }] हैं (त, द, थ, थ क्रमश. अंग्रेजी के सूत्र h, k, i, l, के स्थान पर प्रयुक्त किए गए हैं)। अक्षो की संख्या बढ़कर चार हो जाने पर, जैसा षट्कोणीय समुदाय में है, तथा एक वर्ग से दूसरे वर्ग की सममिति में बदलने पर, रूप को बनानेवाले फलको की सख्या भी बदल जाती है। साधारण नामों का

परिवर्तन विशेष नामों में कर दिया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर चिह्न भी बदल दिए जाते हैं, जैसा सममिति के अनुसार विषमलंबाक्ष (orthorhombic) और त्रिनताक्ष समुदाय में तीन पिनेकॉइड (प्रत्येक दो फलकों का) होते हैं — दीर्घाक्ष पिनेकॉइड (macro-pinacoid) { १ ० ० }, लघुअक्ष (brachy-pinacoid) { ० १ ० } और आधार पिनेकॉइड (basal pinacoid) { ० ० १ }। इनमें से पहले दो, जो एकनताक्ष समुदाय मे लंबाक्ष पिनेकॉइड (ortho-pinacoid) और प्रवणाक्ष पिनेकॉइड (clino-pinacoid) कहलाते हैं, मिलकर चार फलकों का एक रूप निर्मित करते हैं, जो चतुष्कोणीय समुदाय मे द्वितीय प्रकार का चतुष्कोणीय प्रिज्म कहलाता है तथा षट्कोणीय समुदाय में छह फलकों से निर्मित रूप द्वितीय प्रकार का षट्कोणीय प्रिज्म कहलाता है। त्रिसमलंबाक्ष समुदाय में तीनों पिनेकॉइड मिलकर, छह फलकोंवाला एक रूप बनाते हैं, जिसे घन (cube) या घनाकृति कहते हैं। विषमलंबाक्ष और त्रिसमलंबाक्ष समुदाय का चार फलकोंवाला प्रिज्म त्रिनताक्ष समुदाय में दो दो रूपों, दाएँ प्रिज्म, { ल व ० } { h k 0 }, और बाएँ प्रिज्म, {ल व ०} {h k 0} में विभाजित हो जाता है, लेकिन ये ही चतुष्कोणीय समुदाय में आठ फलकोंवाले 'द्विषट्कोणीय प्रिज्म', { ल व ० } { h k 0 }, तथा षट्कोणीय समुदाय में बारह फलकोंवाले द्विषट्कोणीय प्रिज्म { ल व व ० } { h k i 0 } का रूप धारण कर लेता है, तथा यही डोम { ल ० ध } { h 0 l } और { ० व ध } { 0 k l } के साथ मिलकर 'त्रिसमलंबाक्ष समुदाय' में २४ फलकोंवाले चतु.षट्क फलक का निर्माण करते हैं। एकक प्रिज्म { १ १ ० } चतुष्कोणीय और षट्कोणीय समुदाय मे क्रमश: चार और छह फलकों वाला प्रिज्म प्रथम प्ररूप बन जाता है तथा एकक डोम { १ ० १ } और { ० १ १ } को मिलाकर त्रिसमलंबाक्ष समुदाय मे बारह फलकवाले द्वादशफलक (dodecahedron) का निर्माण करता है। विषमलंबाक्ष समुदाय के दो डोम { ल ० ध } { h 0 l } और { ० व ध } { 0 k l } मिलकर चतुष्कोणीय और षट्कोणीय समुदाय के 'द्विपिरैमिड द्वितीय प्ररूप' बनाते हैं तथा ये ही अएकक प्रिज्म { nonunit prism } { ल व ० } { h k 0 } का भी कुछ भाग मिलाकर, त्रिसमलंबाक्ष समुदाय का चतु.षट्कोण (tetrahexahedron) बनाते हैं। दूसरी ओर, विषमलंबाक्ष दीर्घाक्ष डोम, (ल ० ध) (h 0 l), एकनताक्ष समुदाय कि दो अर्धलंबाक्ष डोम तथा त्रिनताक्ष समुदाय के दो अर्धदीर्घाक्ष डोम बनाता है। लघुअक्ष डोम (० व ध) (0 k l) एकनताक्ष समुदाय मे प्रवणाक्ष डोम हो जाता है तथा त्रिनताक्ष समुदाय मे यही दाएँ और बाएँ अर्धलघुअक्ष डोम मे विभाजित हो जाता है।

इसी प्रकार आठ फलकोवाला विषमलंबाक्ष पिरैमिड (ल द ध) (h k l) सममिति घटने पर एकनताक्ष समुदाय में चार चार फलकों के दो अर्धपिरैमिड मे तथा त्रिनताक्ष समुदाय के दो फलकोवाले चार चतुर्थांश पिरैमिड मे विभाजित हो जाता है। सममिति का क्रम बढ़ने पर यही मूल पिरैमिड चतुष्कोणीय समुदाय के १६ फलकोंवाले द्विचतुष्कोणीय द्विपिरैमिड में, षट्कोणीय समुदाय मे २८ फलकोंवाले द्विषट्कोणीय द्विपिरैमिड मे तथा त्रिसमलंबाक्ष समुदाय मे ४८ फलकोवाले षट्‌ष्टक फलक में रूपांतरित हो जाता है।

क्रिस्टल समुच्चय — क्रिस्टल प्रकृति मे सामान्यत: नही दिखाई पड़ते हैं और न प्रयोगशाला में ही उनका बनाना सरल है। अधिकतर वे समुच्चय मे मिलते हैं, जो समांगी होते हैं (अर्थात् एक ही पदार्थ के बने होते हैं तथा समांतर रेखाओं में इनकी अणु-व्यवस्था भी समान होती है), या विषमांगी होते हैं, जिसमे भिन्न भिन्न क्रिस्टलो का योग भिन्न भिन्न होता है। समांगी समुच्चय में बहुधा क्रिस्टलो का समातर विकास दिखलाई पड़ता है, जैसे फिटकरी (alum), ताँबा, हेमाटाइट और हिम में। कभी कभी समातरण आंशिक होता है, जैसे कि यमल क्रिस्टलों (twin crystals) मे। बहुतेरो मे तो समातरण बिल्कुल ही नही दिखाई देता। इनमे क्रिस्टलीय इकाइयाँ अव्यवस्थित रूप से जुड़ी रहती हैं और इस प्रकार एक 'अनियमित समुच्चय' की रचना होती है। इसी प्रकार 'विषमागी समुच्चय' मे भी लगभग पूर्ण समांतरण हो सकता है [जैसा समाकृतिक वृद्धि (isomorphous growth) मे], या आंशिक समातरण हो सकता है, या समातरण का पूर्ण अभाव हो सकता है।

क्रिस्टलों के समुदाय तथा सममिति वर्ग

(देखें पृष्ठ ११३ तथा फलक)

समुदाय	वर्ग	सममिति	खनिजो का उदाहरण
त्रिसमलंबाक्ष	षडष्टकफलकीय	क; ३ अ$_{४}$, ४ अ$_{३}$ ६अ$_{२}$, ९ स	गैलेना, हैलाइट, गार्नेट, फ्लोराइट स्पिनेल, मैग्नेटाइट तथा हीरा
	षटचतुष्क-फलकीय	४अ$_{३}$, ३अ$_{२}$, ६स	टेट्राहेड्राइट, स्फैलेराइट
	डिप्लॉइडी	क, ४अ$_{३}$, ३अ$_{२}$, ३स	पाइराइट
चतुष्कोणीय	द्विचतुष्कोणीय द्विपिरैमिडी	क; १अ$_{४}$ ४अ$_{२}$ ५स	जरकॉन, कैसिटेराइट तथा रूटाइल
षट्कोणीय	द्विषट्कोणीय-द्विपिरैमिडी	क; १अ$_{६}$,६अ$_{२}$,७स	बेरिल
	षट्कोणीय-विषमत्रिभुज फलकीय	क; १अ$_{३}$,३अ$_{२}$,३स	कैल्साइट, हेमाटाइट
	त्रिकोणीय समलंबफलक	१अ$_{३}$, ३अ$_{२}$	क्वार्ट्ज
	द्वित्रिकोणीय पिरैमिडी	१अ$_{३}$, ३स	टूरमैलीन या तुरमली
एकनताक्ष	प्रिज्मीय	क; १अ$_{२}$, १स	जिप्सम, औजाइट, तथा ऑर्थोक्लेज
त्रिनताक्ष	पिनेकॉइडी	क,	ऐक्सीनाइट तथा ऐल्बाइट
विषमलंबाक्ष	विषमलंबाक्ष द्विपिरैमिडी	क; ३अ$_{२}$, ३स	बैराइट तथा ऑलिवीन

यमल क्रिस्टल मे दो या अधिक क्रिस्टल इस प्रकार आपस

मकड़ी (देखें पृष्ठ १००)
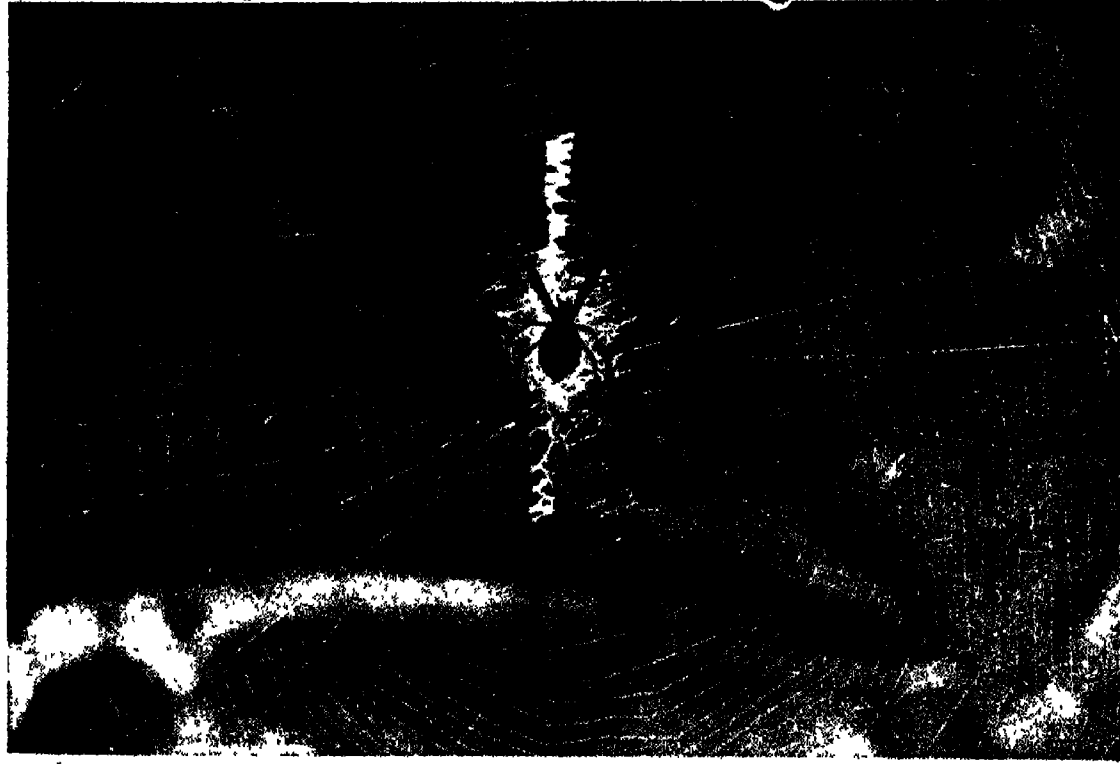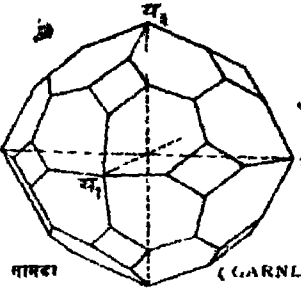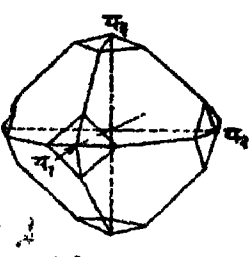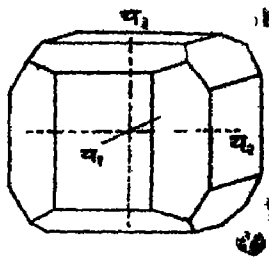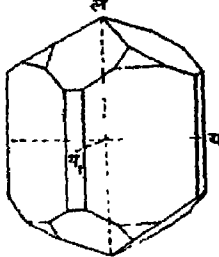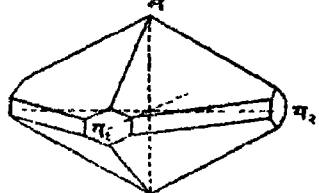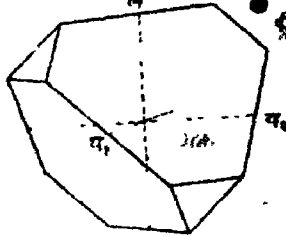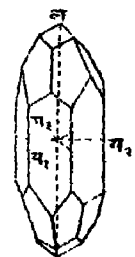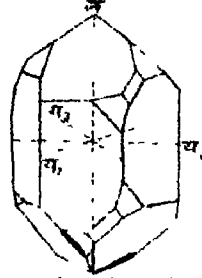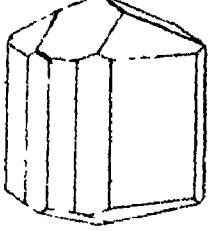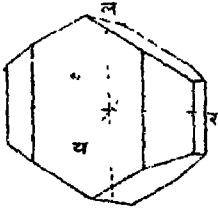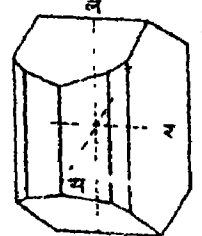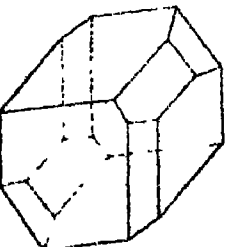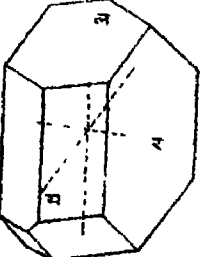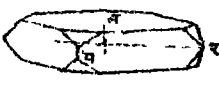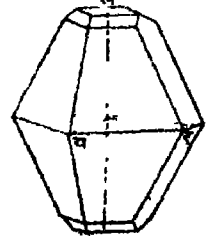
सुनिर्मित जाल के अंदर बैठी मकड़ी

मक्का (देखें पृष्ठ १०२)

मक्का का पौधा, पत्ते तथा भुट्टा

मणिभ विज्ञान (देखें पृष्ठ ११४)

विभिन्न समुदायों के क्रिस्टलों के उदाहरण

में जुड़े रहते हैं कि एक भाग संलग्न भाग के परावर्तन से बना दिखलाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यमल क्रिस्टल का एक भाग अपनी मौलिक स्थिति से अक्ष के ऊपर १८०° घुमाया गया है। ऊपर कथित परावर्तन समतल यमल क्रिस्टल के दोनो भागो से समान रूप से संबंधित रहता है, पर यह समतल उन दोनों भागों में से किसी का भी सममिति समतल नहीं होता है। यही कल्पित समतल यमल समतल और अक्ष यमल अक्ष कहलाता है। यह दोनों एक दूसरे पर समकोण बनाते हैं। वह समतल जहाँ पर दो सलग्न भाग आपस में मिले रहते हैं सम्मिलन तल (composition plane) कहलाता है। अधिकतर दशाओं में यह यमल समतल ही होता है। संस्पर्श यमलों (चित्र ५ तथा ६) में एक
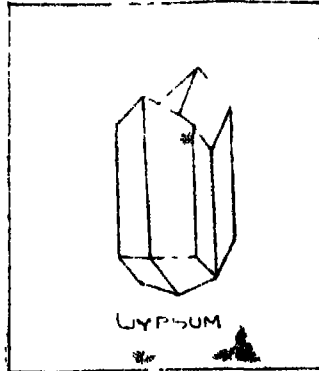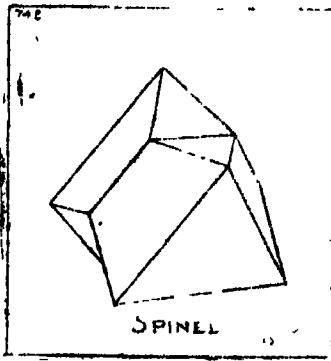
चित्र ५. स्पिनेल का संस्पर्श यमल चित्र ६. जिप्सम का संस्पर्श यमल

स्पष्ट सम्मिलन तल होता है, जैसे आर्थोक्लेज स्पिनेल और कैसिटेराइट मे। पर अंतर्वेशी यमल (penetration twins), जैसे स्टॉरोलाइट, फ्लुओराइट तथा पाइराइट मे ऐसा कोई समतल नही दिखलाई पड़ता (चित्र ७ और ८)। पिछले उदाहरण मे क्रिस्टल परस्पर अंतर्वेशी होते हैं। आवर्ती यमल (repeated twins) तीन या अधिक क्रिस्टलो से बनते हैं। इसी के अंतर्गत आते हैं, बहुसश्लेषी यमल (polysynthetic twins) तथा चक्रीय युग्म। बहुसंश्लेषी यमल
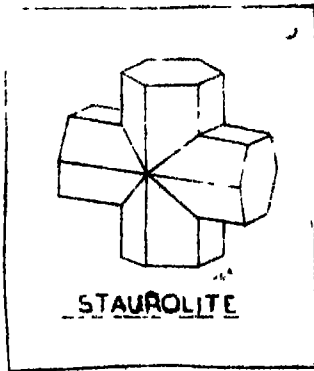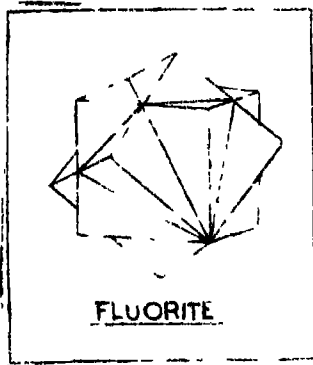
चित्र ७. फ्लुओराइट अंतर्वेशी यमल

चित्र ८ स्टॉरोलाइट अंतर्वेशी यमल

में क्रमागत सम्मिलन तल (composition planes) समातर होते हैं, जैसे ऐल्बाइट मे, तथा चक्रीय युग्म (cyclic twins) मे ये तल समांतर नही होते, जैसे रूटाइल मे। चक्रीय यमल के द्वारा नीची श्रेणी की सममिति के क्रिस्टल कभी कभी अपेक्षाकृत ऊँची श्रेणी की सममिति के क्रिस्टलों का अनुकरण करते हैं।

क्रिस्टलों में यमलन का कारण अणुओं मे पूर्ण समांतरण की कमी मानी जाती है, जो क्रिस्टलन के प्रक्रम मे अणुबलों को यथोचित समय न मिलने के कारण होती है। चक्रीय यमलो मे यमलन क्रिस्टलों की उच्च सममिति प्राप्त करने का असफल प्रयास ही प्रतीत होता है।

क्रिस्टल के भौतिक गुण — क्रिस्टल की आतरिक अणुव्यवस्था पर केवल उसका बाह्य रूप ही नही वरन् उसके भौतिक गुण भी निर्भर करते हैं। इनमें से कुछ गुण तो क्रिस्टल की प्रतिरोधक शक्ति से ज्ञात होते हैं, जब उसे तोड़ा, खुरचा या झुकाया जाता है। क्रिस्टल के अन्य गुण प्रकाश और ऊष्मा तथा चुबक और विद्युबलों से सबद्ध है।

गैलेना, पाइराइट, कैल्साइट तथा अन्य बहुत से खनिजों के क्रिस्टल निश्चित समतल सतहों पर से, जो क्रिस्टल के संभाव्य फलक या फलकों के समांतर होती हैं, टूटते है। इस गुण को विदलन (cleavage) कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ससंजक बल (cohesive force) कुछ दिशाओ मे अन्य दिशाओं की अपेक्षा दुर्बल हैं। क्रिस्टलो मे, जिनमे विदलन सतह नहीं विद्यमान होती, विभग (fracture) होता है। यह विभंग शखाभ (conchoidal) होता है, अर्थात् सतह टूटने पर चिकनी तथा नतोदर होती हैं, या असम (uneven) हो सकती है। क्रिस्टल अधिकतर भगुर होते है, अर्थात् ये सरलता से छोटे छोटे टुकड़ों मे तोड़े जा सकते हैं, या सरलता से इनका चूर्ण तैयार किया जा सकता है। क्रिस्टलीय आकृति की धातुओं मे से कुछ, जैसे सोना, चाँदी, ताँबा, आघातवर्ध्य (malleable) हैं, अर्थात् हथौड़े से पीटकर इनकी चादर तैयार की जा सकती है। कुछ छेद्य (sectile) होते हैं, अर्थात् पतली चादरों में काटे जा सकते हैं, जबकि अन्य कुछ तन्य (ductile) होते हैं, अर्थात् उनके तार खीचे जा सकते हैं। कुछ क्रिस्टल, जैसे क्लोराइट, नम्य (flexible) होते है, जबकि अन्य, जैसे अभ्रक, प्रत्यास्थ होते हैं।

खुरचने की क्रिया मे क्रिस्टल जो प्रतिरोध शक्ति प्रकट करता है, वह उसकी कठोरता (hardness) कहलाती है। भिन्न भिन्न कठोरता के दस प्रकार के क्रिस्टलों से एक मापक तैयार किया गया है, जिसकी सहायता से क्रिस्टल की कठोरता की सख्या बतलाई जाती है। इस मापक पर क्रिस्टल की कठोरता जानने के लिये यह देखा जाता है कि क्रिस्टल उन दस मे से किसको खुरचता है। सबसे कोमलतम (softest) क्रिस्टल टैल्क (talc) का तथा सबसे कठोर हीरे का है। मापक में ९ तक लगभग समान अंतराल (interval) है। हीरा, जिसकी इस पैमाने पर अपेक्षाकृत कठोरता १० है, निरपेक्ष (absolute) माप के हिसाब से ४२·४ है। अतः ९ (जो कोरंडम तथा उसकी रत्न किस्म, लाल और नीलम, द्वारा निरूपित है) और १० के बीच में अपेक्षाकृत बहुत अधिक अंतराल है। कुछ क्रिस्टलों मे दिशाओं के साथ साथ कठोरता बदलती रहती है। यह आतरिक अणुव्यवस्था के अंतर के कारण है। यह बड़ी रोचक बात है कि ग्रैफाइट की, जिसका रासायनिक सघटन हीरे के समान है, कठोरता दो से भी कम है।

क्रिस्टल की विशेष प्रकार की आंतरिक अणुव्यवस्था निक्षारण आकृतियों (etch figures) में प्रकट हो जाती है। निक्षारण आकृतियाँ क्रिस्टल के फलकों पर किसी उचित विलायक की क्रिया के फलस्वरूप निर्मित होती हैं। इन आकृतियों की सममिति नीचे विद्यमान

अनुभव कराने में सफल हुई है। साथ ही, इस व्यवस्था के फलस्वरूप मतदाताओं को मतदान मे संमिलित होने के लिये उन्हें घर से बाहर लाने का राजनीतिक संगठनो का कार्यभार भी हल्का हुआ है। इसी प्रकार बवेरिया ने सन् १८८१ ई० मे, बुलगेरिया ने सन् १८८२ ई० में तथा बेल्जियम ने सन् १८९३ ई० मे अनिवार्य मतदान की व्यवस्था अपनाई। बवेरिया की व्यवस्था के अनुसार यदि मतदाताओं की पूरी संख्या के एक तिहाई से अधिक लोग मतदान मे भाग नही लेते तो अनुपस्थित मतदाताओं को पुन. चुनाव कराने का पूरा व्यय वहन करना पड़ेगा। बेल्जियम ने अनुपस्थित मतदाताओं के लिये तीन दड निर्धारित किए अंतर्विवेक पर—अर्थ दंड, सार्वजनिक भर्त्सना तथा मताधिकार अपहरण।

अनिवार्य मतदान के विपक्ष में सामान्यत: यह कहा जाता है कि यह व्यवस्था आधारित आपत्ति करनेवाले (conscientious objector) के लिये कोई स्थान नही छोड़ती, तथापि मतदान न करने वालो का चरित्र उतना महत्वपूर्ण विषय नहीं है जितना इस बात पर ध्यान देना कि मत प्राप्त करने के लिये किन साधनों का प्रयोग किया जाता है। यदि किसी देश मे अनुचित साधनों द्वारा केवल विशिष्ट उद्दश्यों एवं स्वार्थो की पूर्ति के लिये सचेष्ट राजनीतिक संगठन ही मतदाताओ को मतदान में संमिलित होने की प्रेरणा देते हैं, तथा इस प्रकार अपने पक्ष में उनके मत संग्रह करते हैं तो निश्चय ही निर्वाचन तथा मतदान का प्रबंध सरकार के हाथों सौंपना अधिक श्रेयस्कर होगा ताकि यह कार्य अधिक उत्तरदायित्व के साथ संपन्न हो सके।

सं० ग्रं० — गॉसनल, एच० एफ० गेटिंग आउट दि वोट, शिकागो, १९२७; डीटर, पैक्सन : प्राइज एस ऑन कंपल्सरी वोटिंग, फिलाडेल्फिया, १९०२; मेरियम, सी० ई० नान-वोटिंग, कॉजेज ऐंड मेथड्स ऑव कंट्रोल, शिकागो, १९२४। [रा० प्र०]

मतदान यंत्र मतदान का सबसे पुराना तरीका हाथ ऊँचा उठाकर मत व्यक्त करने का है, दूसरा तरीका मतपत्र पर मत लिखकर पेटियों में डालने और निष्पक्ष व्यक्तियो द्वारा उन्हें छाँटकर गिनने का है। इन विधियों मे कितनी भी सावधानी बरती जाए कुछ न कुछ त्रुटियाँ तो रह ही जाती है, जिनके कारण मतदाताओं मे कभी कभी घोर असतोष और झगड़े भी पैदा हो जाते हैं। सन् १८६९–७० के लगभग चैंबरलिन और डेवी आदि अंग्रेज आविष्कारकों ने कुछ मतदान यंत्र बनाए, जिनमे मतपत्रो के बदले विभिन्न रग तथा नाप की गोलियों का प्रयोग होता था। इन्हे बाद मे सावधानी से गिनना पड़ता था। इसके बाद गिनती करनेवाले यंत्रों का प्रयोग आरंभ हुआ, जिनमें प्रत्येक मतदाता को किसी बटन, चाबी या लीवर को एक बार ही दबाना या चलाना पडता था। इस चाल की गिनती यन्त्र द्वारा हो जाती थी, लेकिन इनमे गोपनीयता नही रह पाती थी और बाद में झगड़े होते थे। बाद मे ऐसा भी यन्त्र बना जिसमे प्रत्येक उम्मीदवार के नाम के सामने के स्थान पर कार्ड मे छेद कर दिया जाता था। इन छेदो को वायुचालित यन्त्रो द्वारा छाँटकर गिना जाता था। इसमे भी गलतियाँ हो जाती थी। जुलाई २, १९१२ ई० मे न्यूयार्क के जेम्सटाउन मे कुछ अंतर्ग्रथित पुर्जों से युक्त मतदानयंत्र का पेटेंट कीपर (Keiper) के नाम से लिया गया। सन् १९२९ से कई यंत्र निर्माता कंपनियों ने उसे बनाना आरंभ कर दिया। नगर अथवा राज्य परिषदो के चुनाव आदि मे यह यंत्र बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है (देखें फलक)।

यह यन्त्र अंग्रेजी अक्षर यू (U) के आकार के फ्रेम पर लगे परदो द्वारा ढँका रहता है, जिन्हें बंद करने पर मतदाता बिल्कुल छिप जाता है और, जब तक प्रधान लीवर को चलाकर परदा न बंद किया जाए, यह यंत्र चालू भी नही होता। यंत्र मे ऊपर लगे लीवरों को चलाने से सब उम्मीदवारों की चाबियाँ ऊपर उठ जाती हैं। फिर क्या मतदाता परदे को बंद कर अपनी पसंद के एक एक उम्मीदवार की काले लीवर के रूप मे चाबियों को ऊर्ध्वाधर स्थिति मे घुमाकर अन्य को वैसे ही छोड़ देता है। यदि मतदाता किसी ऐसे उम्मीदवार को मत देना चाहे जिसके नाम की चाबी यंत्र में न लगी हो, तो इस यंत्र के दाहिने भाग मे इस काम के लिये कोरे कागज का बेलननुमा थान यंत्र की चाल के साथ घूमता रहता है, जिसपर वह अपने इच्छित उम्मीदवार का नाम लिख सकता है। बेलन का ढक्कन खोलकर नाम लिखने के बाद, ढक्कन बंद करने पर वह कागज घूम जाता है और फिर दूसरी बार नही खुलता, जबतक कि दूसरा मतदाता परदे मे न आवे। यदि कोई चाहे तो दल (party) के समस्त उम्मीदवारों को बाएँ हाथ की ओर लगे 'पार्टी लीवर' को चलाकर अपना मत दे सकता है। एक मतदाता का काम समाप्त होने पर, प्रधान लीवर को दाहिने चलाने पर परदा खुलने के साथ ही, उसी क्षण, चलाई हुई चाबियों की यन्त्र द्वारा गणना हो जाती है। जब तक परदा न खोला जाए, मतदाता, पहले चलाई हुई चाबी को पूर्ववत् करके तथा अन्य को चलाकर, मतपरिवर्तन भी कर सकता है। लेकिन एक बार परदा खोलने पर वही मतदाता उसे फिर से बद नहीं कर सकता। यह काम तो केवल चुनाव अधिकारी ही कर सकता है। मतगणना करनेवाले यन्त्र के डायल (dial) पीछे की तरफ ढँके रहते हैं। चुनाव समाप्त होने पर, परिणाम जानने के लिये जब एक बार डायलो का ढक्कन खोल दिया जाता है तब उसके बाद मतदान यन्त्र निष्क्रिय हो जाता है।

आजकल नगर निगम तथा परिषदो मे जहाँ सैकड़ों सदस्य बैठे बैठे ही महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श किया करते हैं, उन्हें भी अक्सर किसी विषय के पक्ष अथवा विपक्ष मे मत देकर निर्णय करना पडता है। वे यदि अपने स्थान से मतदान यंत्र पर जाकर मत दें, तो बहुत समय बरबाद हो जाता है। ऐसे कामो की सुविधा के लिये विद्युत् चालित यंत्र बनाए गए हैं, जिनके द्वारा वे स्थान पर बैठे बैठे ही, बिना शोर गुल के, अपना मत दे सकें। भारतीय लोकसभा मे ऐसे ही यंत्र का उपयोग हो रहा है जिसकी सहायता से मत विभाजन करने मे चार मिनिट से अधिक समय नही लगता।

इस स्वचल यंत्र के निर्माण में अनेक विद्युतीय परिपथों और रिलेओं (relays) का उपयोग होता है। इसमे अंतर्पाशित पुर्जे बहुत ही कम हैं, अत: यंत्र की बनावट बहुत ही सरल है और इसके द्वारा साधारण मतदान, गुप्त मतदान तथा गणपूर्ति के तीनों ही काम किए जा सकते हैं। प्रत्येक सदस्य की डेस्क अथवा उसके सामनेवाले कटघरे पर, कुर्सी के सामने, तीन दाब बटनों (push) का एक सेट (set), जिसमें हरा बटन 'हाँ' के लिये, लाल बटन 'ना' के लिये और एक

काला बटन मतदान में भाग लेने के लिये और एक 'द्योतक बत्ती' तथा तार से लटका एक 'पुशस्विच' डेस्क के भीतर लगा रहता है। जहाँ डेस्क नहीं होती वहाँ पुशस्विच पीठ पीछे के खाने में लटका रहता है (देखें चित्र में क)।

मतविभाजन की माँग की घोषणा सारे सभाभवन में २½ मिनट तक घंटी बजाकर की जाती है, फिर भवन के द्वार बंद कर, सभा के अध्यक्ष प्रश्न को पुन: दोहराते हैं। इधर सभासचिव की मेज पर यंत्र को चालू करने के लिये एक 'की बोर्ड' लगा होता है। सचिव द्वारा उसका बटन दबाते ही एक घंटा बज उठता है, जिससे मतदान के समय का संकेत होता है।
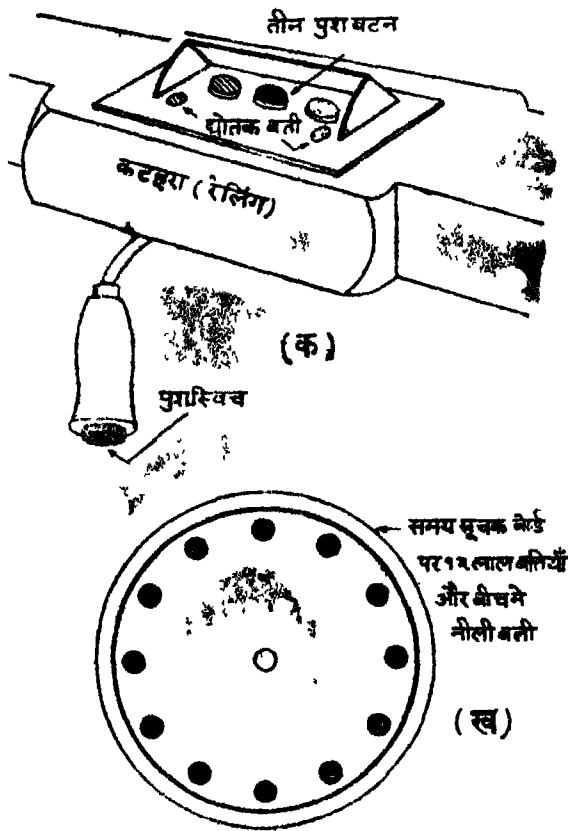
मतदान के लिये प्रत्येक सदस्य को पहले 'दाब स्विच' (push switch) दबाकर अपने इच्छानुसार उक्त तीनों बटनों में से किसी एक को दबाना होता है। दस सेकंड के बाद, जब तक दूसरी बार घंटा नहीं बजता तब तक 'दाब बटन' और दाब स्विच को लगातार दबाए रखना होता है। दस सेकंड के समय के बीतने की सूचना प्रेस गैलरी के दोनों तरफ, दोनों कोनों पर लगे हुए 'समय सूचक बोर्ड' पर १२ लाल बत्तियो की एक के बाद एक क्रमश: जलाकर, दी जाती है। दूसरा घंटा बजते ही, यह बताने के लिये कि मतदान का समय समाप्त हो गया, उस बोर्ड के बीच मे नीली बत्ती जल उठती है (देखें चित्र मे ख)। मतदान मे गलती होने पर कोई सदस्य चाहे तो दूसरा घंटा बजने से पूर्व 'दाब स्विच' के साथ सही बटन को दबाकर गलती ठीक कर सकता है। 'दाब बटन' के सेट पर लगी द्योतक बत्तियाँ, बटन और स्विच के दबाने के समय, जलती रहेंगी, जिससे मतदाता को मालूम हो कि उसका मत उक्त यंत्र में ठीक प्रकार से व्यक्त हो रहा है।

सभाभवन में अध्यक्ष के पीछे दोनो तरफ दीवार में 'लैंप फील्ड' सूचक दो बोर्ड लगाए जाते हैं। उनपर प्रत्येक मतदाता के स्थान के लिये एक एक 'आयताकार लैंप फील्ड' लगा होता है, जिसमे हरी, लाल और दो सफेद बत्तियाँ होती हैं। मतदाता के बटन दबाते ही 'हाँ सूचक' हरी बत्ती, अथवा 'ना सूचक' लाल बत्ती' अथवा तटस्थता तथा 'उपस्थिति' सूचक सफेद बत्तियाँ आवश्यकतानुसार जल जाती हैं।

दूसरा घंटा बजने के तुरंत बाद 'हाँ', 'ना', और मतदान में भाग न लेनेवालों का योग यंत्र द्वारा आरंभ हो जाता है और उसके एक मिनट पश्चात् ही अध्यक्ष और कूटनीतिज्ञों की गैलरियों के 'रेलिंगों' पर लगे परिणामसूचक बोर्डों पर 'हाँ', 'ना' और तटस्थ सदस्यों का कुल योग और सभाभवन मे उपस्थित सदस्यों की संख्या का कुल योग भी यंत्र द्वारा आ जाता है। 'हाँ' और 'ना' का कुल योग सभासचिव की मेज पर लगे सूचक बोर्ड पर भी आ जाता है।

प्रत्येक सदस्य के मतदान का ब्योरा और प्रत्येक मतविभाजन का अंतिम परिणाम 'ना' के गोष्ठीकक्ष (लॉबी) के सिरे पर स्थित 'यंत्र घर' में लगे एक बोर्ड पर भी आ जाता है। ज्यों ही उक्त ब्योरा तथा परिणाम आते हैं, उस बोर्ड का फोटो ले लिया जाता है, जो स्थायी अभिलेख के रूप में रख लिया जाता है।

गुप्त मतदान के समय की कार्यविधि भी ऊपर बताई गई विधि के अनुसार ही है। अंतर यही है कि 'लैंप फील्ड बोर्ड' तथा यंत्र घर में स्थित बोर्ड पर केवल सफेद बत्तियाँ ही जलने पाती हैं। यह जानने के लिये कि सभाभवन में उपस्थित सदस्यों की गणपूर्ति (quorum) क्या है, सदस्य दाब स्विच के साथ तीनों में से किसी एक बटन का ही उपयोग करते हैं, जिससे 'लैंप फील्ड बोर्ड' में केवल सफेद बत्ती ही जलती है, जिससे परिणामसूचक बोर्ड उपस्थित सदस्यो की संख्या का योग करके बता देता है। इन सब कामों के लिये प्रत्येक सदस्य को अपने नियत स्थान पर ही बैठना होता है, अन्यथा यंत्र घर में लगे मुख्य बोर्ड पर वास्तविक स्थिति नहीं प्रकट होती।

सं० ग्रं० — दी वर्ल्ड बुक इनसाइक्लोपीडिया, खंड १७, शिकागो; स्वचालित मतदान यंत्र, (फोल्डर) भारतीय लोकसभा द्वारा प्रकाशित। [ओं० ना० श०]

मताधिकार (फ्रैंचाइज) राज्य के नागरिकों को देश के संविधान द्वारा प्रदत्त सरकार चलाने के हेतु, अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने के अधिकार को मताधिकार कहते हैं। जनतांत्रिक प्रणाली मे इसका बहुत महत्व होता है। जनतंत्र की नींव मताधिकार पर ही रखी जाती है। इस प्रणाली पर आधारित समाज व शासन की स्थापना के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक वयस्क नागरिक को बिना किसी भेद-भाव के मत देने का अधिकार प्रदान किया जाय।

जिस देश मे जितने ही अधिक नागरिकों को मताधिकार प्राप्त रहता है उस देश को उतना ही अधिक जनतांत्रिक समझा जाता है। इस प्रकार हमारा देश संसार के जनतांत्रिक देशो मे सबसे बड़ा है क्योंकि हमारे यहाँ मताधिकारप्राप्त नागरिको की सख्या विश्व में सबसे बड़ी है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद (आर्टिकल) ३२५ व ३२६ के अनुसार प्रत्येक वयस्क नागरिक को, जो पागल या अपराधी न हो, मताधिकार प्राप्त है। किसी नागरिक को धर्म, जाति, वर्ण, संप्रदाय अथवा लिंग भेद के कारण मताधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

नवीन संविधान लागू होने के पूर्व भारत में १९३५ के 'गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट' के अनुसार केवल १३ प्रति शत जनता को मताधिकार प्राप्त था। मतदाता की अर्हता प्राप्त करने की बड़ी बड़ी शर्तें थीं। केवल अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थितिवाले नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया जाता था। इसमें विशेषतया वे ही लोग थे जिनके कंधों पर विदेशी शासन टिका हुआ था।

अन्य पश्चिमी देशों में, जनतांत्रिक प्रणाली अब पूर्ण विकसित हो चुकी है, एकाएक सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार नहीं प्रदान किया गया था। धीरे धीरे, सदियों में, उन्होंने अपने सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार दिया है। कहीं कहीं तो अब भी मताधिकार के मामले में रंग एवं जातिभेद बरता जाता है। परंतु भारतीय संविधान ने धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत मानते हुए और व्यक्ति की महत्ता को स्वीकारते हुए, अमीर गरीब के अंतर को, धर्म, जाति एवं संप्रदाय के अंतर को, तथा स्त्री पुरुष के अंतर को मिटाकर प्रत्येक वयस्क नागरिक को देश की सरकार बनाने के लिये अथवा अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करने के लिये 'मत' (वोट) देने का अमूल्य अधिकार प्रदान किया है।

संविधान लागू होने के बाद पिछले १५ वर्षों में भारतीय जनता ने अपने मताधिकार के पवित्र कर्तव्य का समुचित रूप से पालन करके प्रमाणित कर दिया है कि उसे जनतंत्र में पूर्ण आस्था है। इस दृष्टि से भी भारतीय जनतंत्र का विशेष महत्व है। [अ० प्र०]

मतिराम हिंदी के प्रसिद्ध ब्रजभाषा कवि। इनके रचित 'रसराज' और 'ललित ललाम' नामक दो ग्रंथ हैं; परंतु इधर कुछ अधिक खोजबीन के उपरांत मतिराम के नाम से मिलनेवाले आठ ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। इन आठों ग्रंथों की रचनाशैली तथा उनमें आए और उनसे संबंधित विवरणों के आधार पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि मतिराम नाम के दो कवि थे। प्रसिद्ध मतिराम फूलमंजरी, रसराज, ललित ललाम और सतसई के रचयिता थे और संभवत दूसरे मतिराम के द्वारा रचित ग्रंथ अलंकार पंचाशिका, छंदसार (पिंगल) संग्रह या वृत्तकौमुदी, साहित्यसार और लक्षणशृंगार हैं।

प्रसिद्ध मतिराम उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले में स्थित टिकमापुर (त्रिविक्रमपुर) के निवासी और आचार्य कवि चिंतामणि तथा भूषण के भाई थे। इसका उल्लेख 'वंशभास्कर' एवं 'तजकिरए सर्वे आजाद हिंद' में हुआ है। भूषण ने अपने को कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज त्रिपाठी रत्नाकर का पुत्र बताया है और चर्खारी नरेश विक्रमादित्य के राजकवि बिहारीलाल ने विक्रमसतसई की टीका रसचंद्रिका में अपना परिचय दिया है जिससे स्पष्ट है कि भूषण और बिहारीलाल एक ही गोत्र के थे और मतिराम उनके परबाबा थे, परनाना नहीं; अन्यथा वे मतिराम से अपना संबंध न जोड़कर अपने समगोत्रिय पूर्वज भूषण से अपना संबंध अधिक स्पष्ट करते। इसलिये दूसरे वत्सगोत्रीय मतिराम इन मतिराम से भिन्न हैं।

मतिराम और भूषण का भाई भाई का संबंध था, यह 'ललित ललाम' और 'शिवराज भूषण' में दिए गए अलंकारों के समान लक्षणों से भी स्पष्ट होता है। भूषण ने ललित ललाम से नि.संकोच लक्षण ग्रहण किए हैं। मतिराम का अधिकांश समय बूँदी दरबार में व्यतीत हुआ। वहाँ हाड़ा राजाओं का वर्णन और चरित्रचित्रण उन्होंने बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है। इनकी प्रथम कृति फूलमंजरी है जो इन्होंने संवत् १६७८ में जहाँगीर के लिये बनाई और इसी के आधार पर इनका जन्म सं० १६६० के आसपास स्वीकार किया जाता है क्योंकि 'फूल मंजरी' की रचना के समय वे १८ वर्ष के लगभग रहे होंगे। इनका दूसरा ग्रंथ 'रसराज' इनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार है। यह शृंगार-रस और नायिकाभेद पर लिखा ग्रंथ है और रीतिकाल में बिहारी सतसई के समान ही लोकप्रिय रहा। इसका रचनाकाल संवत् १६९० और १७०० के मध्य माना जाता है। इस ग्रंथ में सुकुमार भावों का अत्यंत ललित चित्रण है। इसके अनेक छंद हिंदी साहित्य के उत्कृष्ट छंदों में परिगणित हैं। यह रसिकजनों का कंठहार रहा है और इसकी अनेक टीकाएँ हुई हैं।

इनका तीसरा ग्रंथ ललित ललाम' बूँदी नरेश भावसिंह के आश्रय में लिखा गया अलंकारों का ग्रंथ है। इसका रचनाकाल सं० १७२० के आसपास माना जाता है। इस ग्रंथ में लक्षण चंद्रालोक, कुवलयानंद नामक संस्कृत ग्रंथों के आधार पर हैं, पर उदाहरण अपने हैं। इसमें रसराज के भी कुछ छंद आए हैं। रसराज की निश्छल भावुकता के स्थान पर इसमें सूक्ष्म कल्पनाशीलता स्पष्ट होती है।

मतिराम की अंतिम रचना 'सतसई' है। यह संकलन संवत् १७४० के आसपास बिहारी सतसई के उपरांत किया गया जान पड़ता है। इसकी रचना भूप भोगनाथ के लिये की गई थी। सतसई में सरस एवं ललित ब्रजभाषा के दोहे हैं। अधिकांश विषय शृंगार और नीति संबंधी हैं।

यद्यपि मतिराम के सभी ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं, फिर भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण सतसई, रसराज और ललित ललाम हैं।

२. मतिराम – द्वितीय मतिराम का परिचय केवल 'वृत्तकौमुदी' के आधार पर प्राप्त होता है। इसके अनुसार इन मतिराम के पिता का नाम विश्वनाथ, पितामह का बलभद्र और प्रपितामह का गिरिधर था। ये वत्स गोत्रीय त्रिपाठी थे और इनका निवासस्थान बनपुर था। इनकी रचना 'अलंकार पचासिका' अलंकार पर संवत् १७४७ वि० में लिखा संक्षिप्त ग्रंथ है। ग्रंथ के अंतर्गत ११६ वें दोहे में रचनाकाल दिया हुआ है। यह कुमायूँ नरेश उदोतचंद्र के पुत्र ज्ञानचंद्र के लिये लिखा गया था। इसमें दोहा, कवित्त, सवैया आदि छंदों का प्रयोग है। साहित्यसार दस पृष्ठों का छोटा सा ग्रंथ नायिकाभेद पर लिखा गया था। इसका रचनाकाल सं० १७४० वि० के आसपास है। 'लक्षण शृंगार' शृंगार रस के भावों एवं विभावों का वर्णन करनेवाला ग्रंथ है।

द्वितीय मतिराम का सबसे बड़ा ग्रंथ 'वृत्त कौमुदी' है। 'वृत्त कौमुदी' के अनेक छंदों में छंदसार संग्रह नाम मिलता है। यह ग्रंथ सं० १७५८ में श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतेहसाहि बुंदेला के पुत्र

स्वरूप साहि बुंदेला के आश्रय में लिखा गया। यह पाँच प्रकाशों में छंद संबंधी विविध सूचना देनेवाला ग्रंथ है। छंद पर यह एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

द्वितीय मतिराम यद्यपि प्रसिद्ध मतिराम के समान उत्कृष्ट प्रतिभावाले कवि न थे, फिर भी रीतिकालीन कवियों में इनका महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

सं० ग्रं० — कृष्णबिहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली; डॉ० महेंद्रकुमार : मतिराम कवि और आचार्य; डॉ० त्रिभुवन सिंह : महाकवि मतिराम।

मतीस, हेनरी (१८६९–१९५४) फ्रांस का चित्रकार। 'फाविज्म' चित्रशैली का नायक।

फ्रांस की १९वीं और २०वीं शताब्दी ने चित्रकला के क्षेत्र में अनेक वादों का सिलसिला कायम किया। 'फाविज्म' (जंगली जानवर) उनमें से एक है जिसका नायक हेनरी मतीस माना जाता है। सन् १९०५ में कुछ कलाकारों ने अत्यंत काल्पनिक तथा रंगीन चित्र एक आर्ट गैलरी में प्रदर्शित किए। कला-आलोचक लुई वाकसेल्स ने इनके चित्र देखकर इन्हें 'फाव्स' की संज्ञा प्रदान की। फाविज्म चित्रकला के क्षेत्र में एक शैली की तरह नहीं बल्कि एक विचार-धारा को लेकर आया। यह चित्रकार परंपरा के पूर्ण विरोधी थे और कला में मौलिक कल्पना को अपनी कला का मूलाधार मानते थे। इनमें प्रमुख थे मतीस, लामिक, दुफा तथा दराँ।

मतीस सन् १८६९ में उत्तरी फ्रांस के ल कातु नामक स्थान पर उत्पन्न हुआ था। उसकी माता को चित्रकला में रुचि थी। मतीस को उच्च शिक्षा मिली और उम्मीद थी कि वह अच्छा वकील बनेगा। २१ वर्ष की अवस्था में वह बीमार पड़ा और इसी समय उसकी रुचि चित्रकला की ओर पूर्ण रूप से जाग्रत हो उठी। उसने 'बुग्रा आर्ट्स', 'जूलें अकादमी' तथा 'लूव्र' में कलाशिक्षा ग्रहण की। शुरू में दामिग्रा, देगा, लात्रेक इत्यादि फ्रेंच कलाकारों की कला ने उसे प्रभावित किया पर जिस दिन उसने एशिया, अफ्रीका, चीन, जापान, भारत इत्यादि पूर्वीय देशों की कला को पहली बार देखा उसी दिन उसे अपने रास्ते का पता लग गया। सही माने में मतीस की कला पूर्वीय देशों की प्राचीन कला की ऋणी है।

आधुनिक फ्रेंच चित्रकारों में मतीस पहला प्रभावशाली कलाकार है जिसने पाश्चात्य आधुनिक कला में यथार्थता के स्थान पर कल्पना तथा लयात्मकता को प्रतिष्ठा प्रदान की। ये दोनों बातें आदर्शवृत्ति की परिचायक हैं और मतीस को एक उत्तम आदर्शवादी कलाकार ही कहना उचित होगा। वह संभ्रांत घराने का था ही, पढ़ा लिखा, प्रबुद्ध तथा जागरूक और परिष्कृत रुचि का भी था। सौंदर्य का पारखी था। उसने अपने व्यक्तित्व के अनुरूप स्वतंत्र रूप से अपनी कला को सँवारा। न वह समाजसुधारक बनता था, न विज्ञानवेत्ता, जैसा कि १९वीं शताब्दी के अन्य फ्रांसीसी कलाकारों ने किया था। वह शुद्ध कला का साधक था। प्रकृति में, मानवीय जीवन में और अपनी कल्पना में जहाँ भी सौंदर्य मिला उसने ग्रहण किया और अपने चित्रों में उतारा।

मतीस के चित्र अन्य सभी पाश्चात्य आधुनिक कलाकारों से भिन्न हैं, खास कर रंग प्रयोग की दृष्टि से। मतीस के बहुप्रशंसित चित्र हैं 'गोल्ड फिश', 'रेड स्टूडिओ', 'द यंग इंगलिश गर्ल', 'गर्ल इन व्हाइट ड्रेस' तथा 'प्लम ट्री ब्रांच ऑन अ ग्रीन बैकग्राउंड'। इस प्रकार के सभी चित्रों में पूर्वीय देशों की प्राचीन भित्ति चित्रकला (म्यूरल पेंटिंग) का सा आनंद मिलता है जिनमें गाढ़े लाल (गेरू का सा रंग) या नीले रंग की जमीन पर सफेद चमकदार रंगों से उभारकर चित्रसज्जा की जाती है।

वैसे आज पाब्लो पिकासो अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण संसार का बहुचर्चित कलाकार है, पर मतीस को भी बहुत से लोग इस युग का उच्चतम कलाकार मानते हैं। [रा० चं० शु०]

मत्स्य, या मछली जलीय, कशेरुकी तथा द्विपार्श्व सममित प्राणी है। ह्वेल और सील के अतिरिक्त सभी मछलियाँ जीवनपर्यंत गिल से श्वास लेती हैं। मछलियाँ अनियत तापी प्राणी (cold blooded animals) हैं। इनके शरीर का ताप जल के ताप के समान रहता है। कुछ मछलियाँ अपने शरीर के ताप को वातावरण के ताप से लगभग ५° सें० अधिक बढ़ा सकती हैं। अधिकांश मछलियाँ अंडज (oviparous) तथा कुछ जरायुज (viviparous) होती हैं। इनका शरीर कठोर शल्कों से ढँका रहता है। स्तनी की तरह मछली में बाल एवं दुग्धग्रंथियाँ नहीं होतीं। प्राय: दीर्घाकृति मछलियाँ मुख्यत: शरीर के तरंगण द्वारा तैरती हैं। इनके मुँह में ऊर्ध्वहनु एवं निम्नहनु रहते हैं। इनमें मस्तिष्क एवं मस्तिष्ककोश रहते हैं। प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार मछलियाँ मत्स्य वर्ग, या पिसीज (pisces) वर्ग, में आती हैं, किंतु आधुनिक प्राणिविदों ने मछलियों को कई वर्गों तथा उपवर्गों में विभक्त किया है।

मछली लंबी एवं कुछ शुंडाकार होती है। इसके शरीर के सिर, धड़ एवं पूँछ तीन भाग होते हैं। प्राय: गिलछद (gill cover) का पश्च किनारा सिर, और धड़ के बीच की सीमा तथा शरीरगुहा का पश्च किनारा धड़ एवं पूँछ की सीमा माना जाता है। आधुनिक मछलियों में जहाँ रीढ़ समाप्त होती है, वहीं से पूँछ आरंभ होती है। शार्क मछली में रीढ़ पूँछ के ऊपरी भाग तक जाती है। मछली में पख (fin) होते हैं, जिनके अर (ray) रीढ़दार या कोमल तथा शाखित होते हैं।

मछली में मध्य पख (median fin) और युग्म पख (paired fin), दो प्रकार के पख, होते हैं। मध्य पख के अंतर्गत पृष्ठीय पख, पुच्छ (caudal) पख तथा गुदा (anal) पख आते हैं। पृष्ठीय पख एक या एक से अधिक होता है। इस पख के दो भाग होते हैं, रीढ़दार तथा कोमल। पूँछ पर एक या अधिक पुच्छ पख होता है। गुदा पख गुदाद्वार पर रहता है और शायद ही कभी एक से अधिक होता है। युग्म पख दो जोड़ा होते हैं। इनके अंतर्गत अंस (pectoral) पख तथा श्रोणी (pelvic) पख आते हैं। ये क्रमश: अग्रपादों (fore limbs) तथा पश्चपादों (hind limbs) का प्रतिनिधित्व करते हैं। सामान्यत: अंस पख सिर के ठीक पीछे स्थित रहता है, किंतु श्रोणी पख धड़ के पिछले किनारे से लेकर अंस पख के नीचे तक, कहीं भी स्थित हो सकता है। युग्म पख शरीर

के संतुलन एवं गति में मदद करते हैं। गुदा पक्ष गति को स्थिर रखने का कार्य करता है। मछली को आगे की ओर नोदन करने तथा गति करने का कार्य पुच्छ पक्ष द्वारा होता है।

दरारों में रहनेवाली मछलियों में युग्म पक्ष नहीं होते। उड़नेवाली मछलियों के युग्म पक्ष दृढ़ एवं अधिक चौड़े होते हैं। पुच्छ पक्ष से जलसतह को धक्का देने से उड़नेवाली मछलियों में उड़ान शक्ति उत्पन्न होती है। समुद्री रॉबिन (sea robin) अंस पक्ष का उपयोग कर चलती है।

अस्थिल (bony) मछलियों की अनेक जातियों की पहचान में शल्क मदद करता है, क्योंकि प्रत्येक जाति की मछलियों में शल्क की कतारों की संख्या निश्चित होती है। कुछ मछलियों पर खुरदरा, कंकताभ शल्क (ctenoid scale) तथा कुछ पर चिकना चक्राभ (cycloid) शल्क होता है। आद्य मछलियों के शल्क भारी और प्लेट (plate) की तरह होते हैं, जिन्हें गैनाइड (ganoid) शल्क कहते हैं। शार्क मछलियों मे शल्क दाँत की तरह होते हैं, जिन्हें पट्टाभ (placoid) शल्क कहते हैं। त्वचा की कोशिकाओं (pockets) से शल्क वृद्धि करते हैं। वृद्धि वलय के द्वारा चिह्नित होती है। ये वलय मछली की आयु के निर्णायक हैं।

पाचक संस्थान — इस संस्थान के अंतर्गत मुख, दंतयुक्त हनु, जीभ, ग्रसनी, ग्रसिका (gullet) आमाशय, आंत्र, जठर निर्गम, अंधनाल (pyloric caecum), यकृत, अग्न्याशय, प्लीहा, बृहद् आंत्र और गुदा आते हैं।

मांसाहारी मछलियों का मुँह लंबा तथा हनु (jaw) लंबे एवं तीक्ष्ण दाँतों से युक्त होते हैं। शाकाहारी मछलियों का मुँह छोटा तथा हनु कुतरनेवाले दाँतों से युक्त होते हैं। कवचीय प्राणियों को खानेवाली मछलियों के दाँत चर्वणक होते हैं। चूषक मछलियों के ओठ लंबे तथा मुख दंतहीन रहता है। मुँह स्वतन्त्रतापूर्वक खुलता है। मुखगुहा के उत्तल पार्श्व के, जिसमें गिल रहता है, सम्मुख एक या अधिक गिल चाप के अवतल पार्श्व मे लघु तथा दृढ़ दंडों की कतार रहती है। इन दंडों को गिल कर्षणी (gill rakers) कहते हैं। यह कतार खाद्य को, ग्रसिका के मुख के संमुख तक पहुँचने एवं निगल लिये जाने तक, मुखगुहा से बाहर निकालने मे बाधा डालती है। ग्रसिका साधारण नली है, जिसका मुख पेशीय नियंत्रण द्वारा बंद रहता है। इस कारण बहुत थोड़ा पानी आमाशय में जाता है।

मछली का आमाशय सामान्यत. अंग्रेजी के यू (U) अक्षर के आकार का, अथवा अंधकोश (blind sac), होता है। आमाशय की दीवारों मे जठरग्रंथियाँ होती हैं। आमाशय का व्यास ग्रसिका एवं आंत्र दोनों से अधिक होता है। भोजन की आदत के अनुरूप आमाशय अलग अलग प्रकार के होते है। कुछ मछलियों में आमाशय सीधा एवं साधारण होता है। बहुत सी मछलियों मे नली के आकार के परिवर्ती संख्यावाले अंधकोश होते हैं, जिनके कार्य अनिश्चित है। आमाशय से आंत्र के निर्गम पर जठर निर्गमी अंधनाल लगा रहता है।

मांसाहारी मछलियों की आंत्र छोटी होती है और उसमे केवल एक या दो चक्कर (loop) रहते है, जबकि शाकाहारी मछलियों की आंत्र लंबी एवं कुंडलित होती है और उसमें कई चक्कर होते है। आंत्र का प्रारंभ आहार नाल की वलय सदृश मोटाईवाली दीवार से तथा यकृत से आनेवाली वाहिनी के प्रवेश स्थान से चिह्नित रहता है। विभिन्न मछलियों में यकृत का विस्तार और रंग विभिन्न होता है। यकृत मे प्राय: पित्ताशय रहता है और अग्न्याशय से आई हुई एक छोटी ग्रंथि इसमें न्यूनाधिक अंतःस्थापित रहती है।

ग्रसिका से भोजन आमाशय मे पहुँचता है और जठर रसों की अभिक्रिया के बाद यह तरल रूप मे आंत्र में प्रविष्ट होता है। यहाँ रक्त के द्वारा तरल खाद्य का अवशोषण होता है।

श्वसन तंत्र — ह्वेल, सील तथा अन्य जलीय स्तनियों को छोड़कर सभी मछलियाँ गिल से श्वास लेती हैं। ग्रसनी (pharynx) के प्रत्येक ओर गिल रहते है। मुँह मे भरा जल गिल को गीला करता हुआ क्लोम दरारों (branchial clefts) द्वारा बाहर बह जाता है। गिल का रक्त अर्ध पारगम्य झिल्ली द्वारा पानी से पृथक रहता है तथा इस झिल्ली से गैसीय विनिमय होता है। परासरण (osmosis) द्वारा जल भी झिल्ली के आर पार जा सकता है। पानी मे घुले हुए ऑक्सीजन से मछली का रक्त गिल द्वारा ऑक्सीजनित (oxygenated) हो जाता है। गिल मे रक्त का प्रवाह, गिल के बाहर पानी के प्रवाह की विपरीत दिशा मे होता है। इस प्रकार घुले हुए ऑक्सीजन का अधिक से अधिक अवशोषण होता है। ऑक्सीजनित रक्त अपवाही वाहिनियों (efferent vessels) द्वारा एकत्र किया जाता है और इन्ही के द्वारा वह शरीर मे भेजा जाता है। पृष्ठ धमनियों (dorsal aorta) द्वारा रक्त शरीर के अन्य भागों मे जाता है।

परिसंचरण तंत्र (Circulatory System) — गिल के निचले सिरे के ठीक पीछे हृदय रहता है। मछली के हृदय में तीन या चार कोष्ठ होते हैं। शिरारुधिर, जो संपूर्ण शरीर से एकत्र होता है, शिरा कोटर (sinus venosus), अलिंद (auricle) तथा मोटी दीवारवाले पेशीय निलय (ventricle) में जाता है। निलय के संकुचन द्वारा रक्त आगे बढ़ता है और अंत में मुख्य धमनी के आधार मे स्थित बल्ब (bulb) में पहुँच जाता है। यहाँ से हृदय की अधर महाधमनी (ventral aorta) तथा अभिवाही क्लोम (afferent branchia) के द्वारा संपूर्ण रक्त गिल में पहुँच जाता है। गिल में ऑक्सीजनीकरण होने के बाद, रक्त अपवाही (efferent) वाहिनियों द्वारा सिर मे तथा पृष्ठ महाधमनी (dorsal aorta) द्वारा शरीर मे जाता है।

तंत्रिका तंत्र तथा ज्ञानेंद्रियाँ (Nervous System and Sense Organs) — मछली के मस्तिष्क मे घ्राण पालि (olfactory lobe), प्रमस्तिष्क गोलार्ध, दृक्पालि, अनुमस्तिष्क, अग्रमस्तिष्क एवं पश्चमस्तिष्क होता है। अनुमस्तिष्क शरीर का संतुलन एवं गति का नियन्त्रण करता है।

मछलियाँ घ्राणेंद्रियों पर अत्यधिक निर्भर करती हैं। इनकी घ्राणेंद्रियाँ लंबी होती हैं और उनकी संरचना पक्षी की तरह की होती है। मस्तिष्क मे बड़ी घ्राण पालियाँ होती हैं, जिनके द्वारा मछली गंध का अनुभव करती है।

मछलियों की आँख मनुष्य की आँख की तरह होती है। इनकी आँखों का लेंस गोलाकार होता है। लेंस तथा कॉर्नीया (cornea)

के मध्य थोड़ा अवकाश रहता है। मछली की आँखें पानी में देखने के लिये अनुकूलित होती हैं। दक्षिण एवं मध्य अमरीका मे पाई जानेवाली जलसतह पर तैरनेवाली चार आँखोवाली मछली की आँखें काले दंड द्वारा दो भागो मे बँटी रहती हैं। दंड चिह्न के नीचे का भाग पानी में देखने के लिये अनुकूलित रहता है। लारवा अवस्था मे कुछ मछलियों की आँखें वृंत सदृश लंबे अवयव के अंतिम सिरे पर होती हैं। कुछ मछलियों की दृष्टि खराब होती है। गुफाओं में रहनेवाली मछलियाँ अंधी रहती हैं। प्राय: आँखो पर पलकें नही रहतीं, वरन् एक खाँचा तथा त्वचा का तंग वर्तुल वलन (fold) रहता है।

यद्यपि मछली मे बाह्य कर्ण नहीं रहता, तथापि प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि मछलियाँ सुन सकती हैं। मछली के आंतरिक कान में झिल्लीमय लेबिरिंथ (labyrinth) मे अतर्लसीका (endolymph) नामक द्रव रहता है। यद्यपि स्तनी की तरह मछली के लेबिरिंथ में कर्णावर्त्त (cochlea) नही होता, पर दृति (utriculus) होती है, जिसमे तीन अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ तथा इनकी तुंबिकाएँ (ampullae), गोणिकाएँ (sacculus) और लेगीना (lagena) होते हैं। अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ शारीरिक संतुलन ठीक रखती हैं तथा गोणिकाएँ एवं लेगीना सुनने से संबंधित हैं। मछलियों के कुछ समूहो मे वायुकोश (air bladder) सूक्ष्म नलिका के द्वारा आंतर कर्ण से जुड़ा रहता है। कुछ मछलियो मे वायुकोश वेबर यत्रावलि (Weberian mechanism) नामक जटिल अस्थि उपकरण से जुड़ा रहता है। यह युक्ति कान मे कंपनों का संचार करती है। मछलियों मे शिरस्य नाल (cephalic canal) एवं पार्श्वरेखा तंत्र (lateral line system) अद्वितीय ज्ञानेंद्रियाँ हैं। प्राय. पार्श्वरेखा त्वचा मे खाँचा या नाल होती है, जिसकी समाप्ति सूक्ष्म तत्रिकाओं मे होती है। अस्थिल मछलियों में यह नलरध्र की तरह सतह पर खुली रहती है। पार्श्व रेखातंत्र एवं शिरस्य नाल निम्न आवृत्तिवाले कंपनों को ग्रहण करते हैं। इनसे मछलियों को पानी में होनेवाली सूक्ष्म हलचल का भी ज्ञान हो जाता है।

मछली को स्पर्श का ज्ञान त्वचा द्वारा होता है। स्वादेंद्रिय कुछ मछलियो मे मुखगुहा में और कुछ मे त्वचा मे फैली रहती है। मछली के मस्तिष्क में स्वादकेंद्र बहुत विकसित होता है।

मछली तापपरिवर्तन के प्रति बड़ी संवेदी होती है। शार्क और रे (ray) मछलियो का तापपरिवर्तन का ज्ञान करानेवाला अंग सिर पर जेली से भरी नली मे स्थित रहता है।

वायु थैली (Air Bladder) — अस्थिल मछलियों मे यह थैली देहगुहा और मेरुदंड के मध्य में स्थित रहती है। इस थैली की दीवारें प्रत्यक्ष तंतुओं की बनी होती हैं। ऐसा अनुमान है कि संभवत: फुफ्फुस मीन में इस थैली का मौलिक कार्य श्वसन था, क्योंकि इसकी दीवारों में पर्याप्त रक्त वाहिकाएँ हैं तथा इसकी आंतरिक सतह खाँचों (furrows) तथा कटकों के कारण बढ़ जाती है। आधुनिक मछलियों में इस थैली का कार्य द्रवस्थैतिक (hydrostatic) है। इस थैली में गैस भरी रहती है।

जनन (Reproduction) — कुछ मछलियाँ जरायुज होती हैं और अधिकांश अंडज। समुद्री सूर्यमीन (sunfish) नामक मछली एक बार मे ३० करोड़ अंडे देती है, किंतु अधिकांश नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार संतुलन बना रहता है। बच्चो की देखरेख करनेवाली मछलियाँ बहुत कम अंडे देती हैं। जरायुज मछलियाँ भी दो तीन से अधिक बच्चे नहीं देती।

कुछ मछलियों में प्रवास की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण वे प्रवास द्वारा ऐसे स्थानों पर पहुँचकर अंडे देती हैं जहाँ परिस्थितियाँ उनके बच्चों के अनुकूल होती हैं। प्रवास करनेवाली मछलियाँ अंडे देने के बाद मर जाती हैं, किंतु बच्चे अपने पैतृक निवास को वापस आ जाते हैं (देखें प्रव्रजन)।

उत्तरी अमरीका की नदियो की सूर्यमीन और ब्लैक बास (black bass) का नर तश्तरी के आकार का गर्त बनाता है। मादा इसी गर्त मे अंडे देती है। माता पिता अंडो को स्वच्छ करते हैं तथा अंडों का ऑक्सिजनीकरण करते है। मछलियो की जातियों मे उपर्युक्त कार्य, या तो केवल नर, या केवल मादा करती है।

जो मछलियाँ जनन के लिये युग्मित होती हैं और अंडों की मातृवत देखरेख करती हैं, उनके नर, मादा रंगो द्वारा पहचान लिये जाते हैं। प्राय नर का रंग मादा की अपेक्षा अधिक चमकीला होता है। नर के पक्ष बड़े, गुलिकाएँ (tubercles) भुंगी, या मुँह लंबा होता है।

अधिकांश मछलियो मे निषेचन मादा के शरीर के बाहर होता है। निषेचन की क्रिया अंडा देने के तुरत बाद होती है, अथवा अंडा देने के साथ साथ होती है। कुछ मछलियों में मादा के शरीर के अंदर ही निषेचन होता है, किंतु ऐसी मछलियों की संख्या बहुत कम है और इनके अंडो से बच्चे भी कम निकलते हैं। कुछ मछलियाँ पूर्णत जरायुज हैं और स्तनी के अपरा के सदृश इनके भ्रूण के पीतक कोश और गर्भाशय की दीवार मे घना संबंध रहता है। अनेक मछलियाँ मुखी गर्भविधि (oral gestation) द्वारा अपने अंडो की रक्षा करती हैं। इस विधि मे मछली अंडों को मुँह मे उस काल तक रखती है जब तक वे फूट नही जाते। समुद्री अश्वमीन (sea horses) तथा नलमीन की मादाएँ अपने नरो की पूँछ के नीचे स्थित भ्रूणधानी मे अंडे देती हैं और भ्रूणधानी में ही अंडो से बच्चे निकलते हैं। पैराडाइज मीन जल की सतह पर बुलबुलों (bubbles) के घोसले बनाती है और अपने अंडो को मुँह से उठाकर छोटे बुलबुलों के समूह पर थूक देती है।

जीवनेतिहास — कुछ मछलियाँ केवल कुछ सप्ताहों मे, अथवा कुछ महीनों में, प्रौढ हो जाती है। कुछ मछलियाँ वर्षों मे प्रौढ होती हैं, जैसे स्टर्जियन (sturgeon) मछली २० वर्ष मे प्रौढ होती है। बड़ी जाति की मछलियाँ अधिक काल मे और छोटी जाति की मछलियाँ कम काल में प्रौढ़ होती हैं। प्रौढ़ मछलियो के विस्तार में भी बड़ा अंतर है। फिलीपीन की प्रौढ गोबी मछली का विस्तार आधा इंच होता है, जब कि ह्वेलशार्क की लंबाई ४० फुट तक होती है।

कुछ मछलियो की आयु एक वर्ष की है और कुछ की आयु ५०

वर्ष तक की होती है। शल्क पर बने वलयों (annuli) की गणना से बहुत सी मछलियों की आयु की गणना की जाती है।

मछली का रंग — मछलियाँ अनेक रंगों की होती हैं, जिनमें हरा, कालापन लिए भूरा अथवा भूरा, मुख्य रंग है। लाल, पीली, हरी, नीली तथा नारंगी रंग की मछलियाँ भी होती हैं। मछली संपूर्ण एक रंग की हो सकती है, किंतु प्रायः दो या अधिक रंगों के मिलने से मछली के शरीर पर निश्चित चिह्न बनते हैं। ये चिह्न विशेषकर पीठ पर होते हैं। मछली का तलभाग प्रायः हलका भूरा, सफेद, या चाँदी की तरह चमकीला होता है। मछलियों की दो भिन्न जातियों के रंग भिन्न होते हैं। नर तथा मादा मछली के रंग की चमक में अंतर रहता है।

केवल कुछ सूक्ष्मवर्णक कोशिकाओं के कारण मछलियाँ अनेक रंग प्रदर्शित करती हैं। काले रंग की वर्णककोशिकाएँ प्रायः सभी मछलियों में पाई जाती हैं। काली वर्णककोशिकाओं के कारण मछलियों में काली धारियाँ, हरे तथा नीले रंग की परिष्कृत वर्णबहुलता एवं छाया रहती है। जब रंगदीप्त कोशिका (iridocyte) अकेली रहती है, तब मछलियाँ सफेद या चाँदी जैसी सफेद दिखाई पड़ती हैं। श्यामवर्णक कोशिका (melanophores) और रंगदीप्त कोशिका में जब पीला वर्णक मिला रहता है, तब हरा रंग बनता है। मछलियों में अवरक्तनील, गुलाबी तथा बैंगनी रंग, रंगदीप्त कोशिकाओं तथा रुधिरवर्णक कोशिकाओं (erythrophores) के विभिन्न संयोजनों के कारण होते हैं।

रंग की उपर्युक्त कोशिकाएँ इकसवेग, शरीर की क्रियात्मक अवस्था तथा अनेक आंतर स्रावों के कारण संकुचित होती हैं या फैलती हैं। इस क्रिया के कारण जब मछली एक पर्यावरण से दूसरे पर्यावरण में जाती है, तो उसके रंग में परिवर्तन हो जाता है। ऐसा इसलिये होता है कि वर्णककोशिकाओं के वर्णक या तो तारे की आकृतिवाली कोशिका में बिखर जाते हैं, अथवा कोशिका के केंद्र में एक बिंदु के रूप में एकत्र हो जाते हैं। रंगपरिवर्तन से मछलियाँ शत्रुओं से अपनी रक्षा करती हैं।

रंग केवल सौंदर्यवृद्धि एवं छद्मावरण का ही कार्य नहीं करते, बल्कि मछली के शरीर की रक्षा भी करते हैं। मेलैनिन (melanin] मस्तिष्क पर केंद्रित रहता है और प्रकाश किरणों के हानिकारक प्रभाव से मस्तिष्क की रक्षा करता है। शरीर के पेरिटोनियल (peritoneal) स्तर का कालावर्णक अतराग की रक्षा करता है। शाकाहारी मछलियों में काला पेरिटोनियम वनस्पति ऊतकों को पचाने वाले एंजाइमों (enzyms) की रक्षा करता है। कुछ विषैली मछलियाँ विशिष्ट प्रकार से रंगीन होती हैं, पर ऐसे उदाहरण विरल हैं। विशेष प्रजनन के द्वारा चमकीले रंग की मछलियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। प्राचीन काल में चीनियों तथा जापानियों ने सुनहरी मछलियों की नस्ल को विशेष प्रजनन द्वारा विभिन्न चमकीले रंगों में उत्पन्न किया था।

संदीप्ति (Luminescence) — समुद्री मछलियों में ठंडा प्रकाश रहना साधारण घटना है। त्वचा अथवा शल्क में संदीप्तिवाली ग्रंथियाँ रहती हैं। ये ग्रंथियाँ प्रकाश उत्पन्न करनेवाली कोशिकाओं से बनी होती हैं। इन कोशिकाओं के पीछे परावर्तक और सामने लेंस लगा रह सकता है। मछलियाँ इच्छानुसार, रह रहकर प्रकाश फेंकती हैं। प्रत्येक जाति की मछली में प्रकाश का स्थान पृथक् पृथक् होता है। गहराई में रहने वाली समुद्री मछलियों में प्रकाश देने वाले अंग सिर, पेट, अथवा बगल में, समूह में, अथवा पंक्तियों में रहते हैं। मछलियों में रहनेवाले ठंडे प्रकाश के उद्देश्य का ठीक ठीक अभी तक पता नहीं है। मछली अपने प्रकाश द्वारा छोटे छोटे खाद्य प्राणियों को तथा विपरीत लिंगवाली मछली को अपनी ओर आकर्षित करती है।

ध्वनि — मछलियाँ शांत प्राणी नहीं हैं। इनके द्वारा उत्पन्न कोलाहल को कई गज दूर से सुना जा सकता है। ध्वनि उत्पन्न करनेवाले अंग भिन्न भिन्न होते हैं। कैटफिश में वायुकोश की गैस आगे और पीछे की ओर जाती है, जिससे कसी हुई झिल्ली में कंपन होता है। प्रजनन ऋतु में मछलियाँ बार बार तीव्र ध्वनि करती हैं।

पारिस्थितिकी (Ecology) — मछलियों में जल में रहने योग्य लगभग सभी आदतें पाई जाती हैं। ये ठंडे समुद्रों, ठंडी पहाड़ी झीलों और नदियों तथा उष्ण कटिबंधी समुद्रों में पाई जाती हैं। ४३° सें० तापवाले जलस्रोतों में भी मछलियाँ पाई जाती हैं। मछलियों की कई जातियाँ किनारे से दूर खुले समुद्र में रहती हैं और कई जातियाँ समुद्र की अधिकतम गहराई में, जहाँ बिलकुल अंधेरा रहता है, रहना पसंद करती हैं। मछलियों का निवास अपतृण (weed), शैवाल तथा चट्टानों की दरारों में होता है और वे पत्थरों के नीचे या बीच में छिपती हैं। कुछ मछलियाँ बालू, पंक और बजरी में बिल बनाती हैं। कुछ मछलियाँ रात्रिचर होती हैं, किंतु अधिकतर दिन में ही आहार प्राप्त करती हैं।

आर्थिक महत्व — मछलियाँ भोजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ साथ चमड़ा और मोती प्राप्त करने के लिये भी महत्वपूर्ण हैं। तालाबों में रहनेवाली मछलियाँ जल को स्वच्छ रखने में बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं। कुछ मछलियाँ खाद के लिये भी उपयोगी हैं। कॉड और हैलिबट (halibut) मछली के यकृत से निकाला गया तेल औषध के रूप में काम में आता है। मछलियों के शल्क भी उपयोगी हैं, इनसे नकली मोती बनाया जाता है। अनेक मछलियों से प्राप्त तेल चमड़ा पकाने, इस्पात पर पानी चढ़ाने (tempering) और साबुन बनाने के काम में आता है। मछली की हड्डियों और सिर से मुर्गियों, सूअरों तथा पशुओं के लिये उपयोगी खाद्य पदार्थ बनाया जाता है।

[प्र० ना० मे०]

उत्तर प्रदेश की मछलियाँ

संसार में अनुमानतः २५,००० प्रकार की मछलियाँ हैं। इनमें १००० प्रकार की मछलियाँ ही भारत के खारे और मीठे जलों में पाई जाती हैं। उत्तर प्रदेश में केवल मीठे जलवाली मछलियाँ ही नदियों, नालों, तालाबों, पोखरों, नहरों, झीलों इत्यादि जलाशयों में पाई जाती हैं। ये लगभग २०० किस्म की होंगी। इन्हें हम निम्न वर्ग में विभक्त कर सकते हैं.

कार्प — इसके अंतर्गत रोहू (Labeo rohita), कतला (Catla catla), नैन (Cirrhina Mrigala), करौंच (Labes Calbasu), सिधरी (Barbus Carana) तथा महाशेर (Barbus tor) हैं।

कैट फिश (Cat fish) — इन मछलियों में महाशेर (Barbus putitora), पढ़िन (Wallago Attu), टेंगन (Mystus aor), मागुर (Clarius batrachus), सिंघी (Heteropneustes fossilis) हैं।

पर्च की तरह डॉरसल फ़िन (fin) वाली मछलियाँ — इनके अंतर्गत खलीसा या कोलिसा (Trichogaster fasciatus), कोई (Anabas Scandavs) तथा चांदा (Ambasis spp) ।

मरेल — इसके अंतर्गत सौल (Ophencephalus striatns) और लाय (Ophucephalus punctatus) हैं।

फेदरबेक्स — इसके अंतर्गत फोली (Dotopterus notopterus) और मोह (Dotopterus chitala) हैं।

हेरिंग — इसके अंतर्गत हिलसा (Hilsa ilisha) और चिलवा (Chela Bacaila) हैं।

गारफिश — इसके अंतर्गत कौवा (Belone Cancilla) है।

स्नोट्राउट — इसके अंतर्गत असला (Oreinus mollesworthir) है।

लोचेज — इसमे गेयया सिघी (Botia dario) है।

ग्लोब फिश — इसके अंतर्गत भुकोहा (Tetradon Cutcutia) है।

स्पाइनोईल — इसके अंतर्गत बनिया (Masdacembelus armatus) है।

मडी ईल — इसके अंतर्गत कुचिया (Aniphiprous Cuchia) है।

इन मछलियों का कुछ विशेष विवरण नीचे दिया जा रहा है :

१ **रोहू** — प्रांत में सर्वाधिक लोगों द्वारा पसंद की जानेवाली, मीठे पानी मे पालने योग्य, यह मछली प्राय. सभी नदियों, बंधों तथा झीलों मे पाई जाती है। यह सेहरेदार मछली है, जिसका मुँह गोल होता हैं। यह पानी के मध्य भाग मे रहती है तथा वहाँ पाए जानेवाले छोटे छोटे जीवों को खाती है। यह बहते पानी में अंडे देती है।

२. **कतला** — इसका मुँह बुलडॉग कुत्ते से अधिक मिलता है तथा यह बहुत शीघ्र बढ़नेवाली होती है। यह लगभग तीन फुटो तक बढ़ जाती है। पानी की सतह पर पाए जानेवाले कीड़े मकोड़ो से यह अपना भोजन प्राप्त करती है। यह रोहू की भाँति अंडे देती है तथा खाने के लिये पसंद की जाती है। यह मीठे पानी में पाली जा सकती है।

३. **नैन** — इसका मुँह चौड़ा और छोटी छोटी दो मूँछे होती हैं। शरीर का रंग हलका सुनहला होता है और आँखें हिरन की तरह चमकदार होती हैं, जिसके कारण इसका नाम मृगल रखा गया है। यह प्रांत के पूर्वी जिलों में अधिकता से पाई जाती है। रोहू तथा कतला की भाँति यह अंडे देती है और खाने के लिये पसंद की जाती है।

४. **करौंच** — काले रंग की यह मछली खाने के लिये पसंद नहीं की जाती। यह विशेषकर प्रांत के कंकरीले पथरीले भागों में मिलती है। यह धरातल पर पाए जानेवाले कीटाणुओं को खाती है तथा अन्य मछलियों की भाँति यह प्रजनन करती है। तालाबों में सुगमता से पाली जा सकती है।

५. **सिधरी** — यह कार्प जाति की मछलियों में छोटी मछली है, जो लगभग एक फुट तक बढ़ जाती है। यह प्रायः सभी जगह छिछले तालाबों में पाई जाती है। इसका भोजन अधिकतर मलेरिया मच्छर के अंडे बच्चे इत्यादि हैं। इसलिये मलेरिया की रोकथाम के लिये यह प्रयोग मे लाई जाती है। यह रुके पानी मे अंडे देती है।

६. **महासेर** — यह प्रांत मे साधारणतया पाई जानेवाली मछलियों मे नही है। यह साफ एवं ठंडे पानी में रहनेवाली मछली है, जो गंगा नदी के ऊपरी भागों मे तथा बुंदेलखंड के कुछ बंधों में पाई जाती है। यह मांसाहारी मछली है। यह अधिक भागों में नहीं मिलती तथा काफी मँहगी बिकती है।

७. **पढ़िन** — मीठे पानी मे पाई जानेवाली मछलियों में यह सबसे खतरनाक तथा मांसाहारी मछली है। भक्षण की विशेष प्रकृति के कारण इसे मीठे पानी का शार्क कहते हैं। यह चार फुट तक बढ़ती है। यह रुके या बहते दोनों पानी मे प्रजनन करती हैं। यह बिना सेहरे की मछली है। इसका मुँह बहुत चौड़ा होता है तथा इसमे बहुत से नुकीले तथा तेज दाँत होते हैं। मुसलमान इसे धार्मिक कारणों से नही खाते हैं। यह तालाबों में पालने योग्य नही है, क्योंकि यह और मछलियों के बच्चों को खा जाती है।

८. **टेंगरा** — यह बिना सेहरे की मछली है और इसकी खास पहचान इसका वसा पख (adiporc fin) है, जो ऊपरी हिस्से के पिछले भाग मे होता है। यह अधिकतर नदियों मे पाई जाती है और नदियो में ही प्रायः अंडे देती हैं। खानेवाले भी इसे काफी पसंद करते हैं, इसलिये दाम भी अच्छे मिल जाते हैं।

९. **मांगुर** — यह मछली अधिकतर छिछले पानी मे पाई जाती है। यह एक फुट तक बढ़ती है तथा वायुमंडल मे सांस लेती है। यह मासाहारी है। दवा के रूप में उपयोगी होने के कारण यह बहुत मँहगी बिकती है।

१०. **सिंघी** — यह बिना छिलके की गहरे लाल रग की मछली है, जिसके चार जोड़ा मूँछे होती हैं और पेक्टोरल फिन मे काटे होते है। इन काटो को ये अपने शत्रुओं से बचने के लिये प्रयोग मे लाती हैं। यह छिछले गदे पानी मे पाई जाती है और वायुमडल मे सांस लेती है। यह एक फुट तक बढती है तथा कम दाम में बिकती है।

११. **खुर्दा** — यह सेहरेदार मछली हैं, जो छोटे छोटे तालाबों में पाई जाती है तथा पाच इंच तक बढ़ती है। यह मच्छरो के बच्चे खाने में विशेष रुचि लेती है, इसलिये इसका उपयोग मलेरिया की रोकथाम के लिये अधिक किया जाता है। इसके बदन के ऊपर की रगीन धारियों के कारण इसको जलजीवशाला में पाला जाता है।

१२. **कोई** — यह सेहरेदार मछली है, जो लगभग ८½ इंच तक बढ़ती है और छोटे तालाबों मे, जिनका तल कीचड, कंकड का होता है, पाई जाती है। यह मांसाहारी मछली है। इसकी विशेषता यह है कि यह वायुमंडल से हवा ले सकती है।

१३. **चांदा** — यह छोटे छिछले तालाबो मे अधिक पाई जाती है, इसके छिलके मुलायम तथा छूट जानेवाले होते हैं। यह तीन या चार इंच तक बढ़ती है और देखने में पारदर्शक तथा चमकदार मालूम होती

है। यह भी मच्छड़ों के अंडे तथा बच्चे खाती है, इसलिये मलेरिया उन्मूलन में प्रयुक्त की जाती है

१४. गिरई — यह सेहुरेदार मछली है, जो छिछले गंदे पानी में पाई जाती है और वायुमंडल से हवा प्राप्त कर सकती है। यह घिरे पानी में अंडे देती है और अपने बच्चों की बहुत देख भाल करती है। यह मांसाहारी है और औषध के रूप मे प्रयुक्त होती है।

१५. भोह तथा पतरा — ये भी सेहुरेदार मछलियाँ है तथा अन्य मछलियों की अपेक्षा बगल से अधिक दबी होती हैं। इनका ऊपर का फिन नाम मात्र का होता है और नीचे का फिन पूंछवाले फिन से मिला रहता है। ये भी मांसाहारी मछलियाँ हैं और लगभग १६ इंच तक बढ़ती हैं। ये नदियों तथा तालाबों दोनों में पाई जाती हैं।

१६. हिल्सा — ऐसे तो यह समुद्र की मछली है, मगर अंडे देने के लिये यह नदियों मे आ जाती है। अक्टूबर से नदियों मे इसकी चढ़ाई आरंभ होती है। यह प्राय. एक फुट तक बढ़ती है। यह बगल से दबी रहती है तथा इसका बदन बड़ा चिकना होता है और निचला भाग काँटेदार होता है।

१७ चिलवा — यह छोटी जाति की सेहुरेदार मछली है, जो लगभग सात इंच तक बढ़ जाती है। इसका बदन बड़ा चमकदार होता है और निचला भाग काँटेदार होता है। यह सुखाकर खाद बनाने के काम मे आती है। यह सस्ती किस्म की मछली है।

१८ कौवा — इसकी केवल एक जाति तराई के तालाबों मे विशेष रूप से पाई जाती है। यह लगभग एक फुट तक बढ़ जाती है। इसके ऊपर के भाग का रंग हरा होता है। तथा पेट की तरफ सफेद होता है। इसका शरीर धड़ाकार होता है। आगे के दोनों जबड़े लंबे हो जाते हैं, जो चोंच की तरह आगे बढ़े रहते हैं। इसका ऊपर का फिन पूँछ के पास होता है। इसकी आकृति कुछ कुछ टारपीडो की तरह होती है। यह जलजीवशाला मे भी पाली जाती है।

१६ असला — इसकी शक्ल ट्राउट की तरह होती है। यह लगभग १½ फुट तक बढ़ती है। यह स्वच्छ जल मे १,००० फुट तक की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह हरद्वार मे काफी संख्या मे मिलती है।

२०. नेपाली गेट या सिघी — इसका लंबा शरीर आगे की तरफ गोलाकार तथा पीछे की तरफ बगल से दबा होता है। यह लगभग तीन इंच तक की होती है। यह भी तराई की धाराओं मे पाई जाती है। इसकी पूंछ पर रंग बिरंगे छल्लो की आकृतियाँ बनी रहती हैं, जिससे यह बड़ी सुंदर दिखाई पड़ती है तथा जलजीवशाला मे पाली जाती है।

२१. फुकचा — यह एक छोटी जाति की मछली है। इसका पीठ का भाग काफी चौड़ा होता है और पीछे जाकर एकदम पतला हो जाता है। यह लगभग सात इंच तक लंबी होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर प्रदेश मे जल का विस्तृत भंडार होने के कारण अनेक प्रकार की उपयोगी और खाने योग्य मछलियाँ पाई जाती हैं। [गु० कु० स०]

मत्स्यगंधा ब्रह्मा के शाप से मत्स्यभाव को प्राप्त हुई 'अद्रिका' नाम की अप्सरा के गर्भ से उपरिचर वसु द्वारा उत्पन्न एक कन्या जिसका नाम बाद मे सत्यवती भी हुआ। मछली का पेट फाड़कर मल्लाहों ने एक बालक और एक कन्या को निकाला और राजा को सूचना दी। बालक को तो राजा ने पुत्र रूप से स्वीकार कर लिया किंतु बालिका के शरीर से मत्स्य की गंध आने के कारण राजा ने उसे मल्लाह को दे दिया। पिता की सेवा के लिये वह यमुना मे नाव चलाया करती थी। पराशर मुनि ने उसपर मुग्ध होकर उसका कन्या भाव नष्ट किया तथा शरीर से उत्तम गंध निकलने का वरदान दिया अतः वह गंधवती नाम से भी प्रसिद्ध हुई। उसका नाम योजनगंधा भी था। उससे व्यास का जन्म हुआ। बाद में राजा शांतनु से उसका विवाह हुआ। [च० भा० पा०]

मत्स्यपालन (Pisciculture) के अंतर्गत अलवण जल तथा समुद्री जल की खाद्य मछलियो का व्यावसायिक दृष्टि से पोखरों और लैगूनों (lagoons) मे कृत्रिम प्रवर्धन, निषेचन, प्रजनन, पालन पोषण, सुरक्षा तथा मछलियो की संख्या एवं भार मे वृद्धि की जाती है। मत्स्यपालन मे मछलियो की वृद्धि करने की आधुनिकतम विधि पर्यावरण का नियंत्रण करना है। वैज्ञानिक मत्स्यपालन की विधि के अंतर्गत क्षेत्र के चारो ओर की दशाओं को मछली की उत्तरजीविता, वृद्धि तथा जनन के अनुकूल बनाते हैं, झील, सरिताओं एवं पोखरों का सुधार किया जाता है और तीव्र धाराप्रवाह को परावर्तित करने के लिये लकडी के कुंदे या पत्थर डाले जाते हैं।

मत्स्यपालन के मुख्य दो प्रकार हैं. (१) रोके हुए जल मे मछलियो के बच्चो का वयस्क होने तक पालन पोषण करना तथा (२) अंडो या पोनो (fry) को प्राकृतिक जल सहित लेकर पालना।

भारत मे मत्स्यपालन के लिये पोखरों का उपयोग अत्यधिक होता है। इन पोखरो का क्षेत्रफल साधारणतया आधे एकड़ से लेकर दो एकड़ तक रहता है। इन पोखरो मे कुछ स्थानो की गहराई पाँच फुट अवश्य होनी चाहिए, जिससे गरमियों में मछलियों को ठंढा स्थान मिल सके। शेष स्थान छिछले होने चाहिए, जिससे मछलियों को सरलता से आहार दिया जा सके।

अधिकांश मछलियाँ छोटे छोटे जीवो का भक्षण करती हैं। ये जीव सूक्ष्म पौधों को खाकर जीवित रहते हैं। अतः पानी में सूक्ष्म पौधों का रहना और पनपना आवश्यक है। इन सूक्ष्म पौधो के आहार मे नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटैशियम आवश्यक हैं। इन पोषक तत्वो की पूर्ति पानी मे उर्वरक डालकर की जाती है, जिससे सूक्ष्म पौधे बढते हैं, और इन पौधों को खाकर सूक्ष्म जीव बढते हैं। इससे मछलियो को आवश्यक आहार प्राप्त होता है और वे शीघ्र मोटी हो जाती हैं। पोखरे में कितना उर्वरक डालना चाहिए, यह पोखरे की स्थिति, पोखरे की गहराई और पोखरे के पानी की प्रकृति पर निर्भर करता है। साधारणतया एक एकड़ क्षेत्रफल के पोखरे में २०० से ५०० पाउंड तक उर्वरक डालना चाहिए। पोखरे में उर्वरक वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु में डालना चाहिए अथवा पोखरे के किनारे रख देना चाहिए, ताकि उर्वरक वर्षाऋतु में वर्षा के जल में घुलकर धीरे धीरे पोखरे मे चले जाएँ।

पोखरे के जल का हरा, या हरापन लिए भूरा, दिखाई पड़ना इस बात का प्रमाण है कि पोखरे में पर्याप्त उर्वरक है।

मत्स्यपालनवाले पोखरों में जड़दार पौधों का पनपना ठीक नहीं है, क्योंकि इनसे स्थान घिरने के साथ साथ जल में पोषक पदार्थों की कमी हो जाती है। इससे मछलियों का विकास प्रभावित होता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन पोखरों में शहर का वाहितमलयुक्त जल तथा कारखानों का गंदा जल न आने पाए, क्योंकि इन जलों से मछलियाँ प्राय: मर जाती हैं। [अ० ना० मे०]

मथाई, डॉ० जॉन का जन्म त्रिवेंद्रम नगर में १० जनवरी, १८८६ ई० को एक धनी कुटुंब में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा त्रिवेंद्रम मे ही हुई। इसके उपरांत उन्होंने मद्रास क्रिश्चियन कालेज में शिक्षा प्राप्त की। बी० ए० तथा बी० एल० की डिग्रियाँ प्राप्त कर वे लंदन गए और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से बी० लिट्० की डिग्री प्राप्त की। फिर उन्होंने डी० एस-सी० की डिग्री लंदन विश्वविद्यालय से प्राप्त की।

१९१० ई० से १९१८ ई० तक वे मद्रास हाईकोर्ट के वकील रहे। १९२० ई० से १९२५ ई० तक मद्रास के प्रेजीडेंसी कालेज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे। १९२२ ई० से १९२५ ई० तक वे मद्रास लेजिस्लेटिव कौंसिल के तथा १९२५ से १९३१ तक इंडियन टैरिफ बोर्ड के सदस्य रहे। १९३५ में वे कामर्शियल इंटेलिजेंस तथा स्टैटिस्टिक्स के महा निदेशक नियुक्त हुए। १० जनवरी, १९४० ई० को उन्हें अवकाश प्राप्त हुआ।

१९४४ ई० से १९४६ ई० तक टाटा संस लिमिटेड के निदेशक रहने के बाद केंद्र में परिवहन मंत्री बने। इसके बाद १९५० तक उन्होने वित्त मंत्री का कार्यभार सम्हाला और फिर यहाँ से त्यागपत्र देकर वे पुन: टाटा संस लिमिटेड के निदेशक नियुक्त हुए। जुलाई, १९५५ ई० से सितंबर, १९५६ ई० तक वे स्टेट बैंक ऑव इंडिया के बोर्ड ऑव डाइरेक्टर्स के अध्यक्ष रहे। इसी बीच वे बंबई विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त हुए और फिर १९५८ से १९५९ तक केरल विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे। १९५९ ई० में भारत सरकार ने उन्हें पद्मविभूषण की उपाधि से विभूषित किया। उनकी मृत्यु १९५९ ई० मे हुई।

डाक्टर जॉन मथाई ने ये पुस्तकें लिखी हैं : (१) विलेज गवर्नमेंट इन ब्रिटिश इंडिया (२) ऐग्रीकलचरल कोआपरेशन इन इंडिया, (३) एक्साइज ऐंड लिकर कंट्रोल। [मि० च०]

मथित्र (Centrifuge), या अपकेंद्रित्र, सामान्यत: ऐसे उपकरण या मशीन को कहते हैं, जिसमें अपकेंद्री (centrifugal) बल के उपयोग से विभिन्न घनत्व के पदार्थों का पृथक्करण किया जाता है। आजकल अपकेंद्रित्र की उपर्युक्त परिभाषा अधिक विस्तृत हो गई है, जिसके अनुसार ऐसी किसी भी मशीन को, जिसकी रचना इस विशेष प्रयोजन से की गई हो कि उसमें पदार्थों को केंद्राभिमुख, अपकेंद्री बल के सतत प्रभाव में रखा जा सके, अपकेंद्रित्र कहा जाता है। अपकेंद्रित्र मे पदार्थों का पृथक्करण विभिन्न घनत्व के कारण होता है। अपकेंद्रण से अपकेंद्री बल उत्पन्न होता है, जो गुरुत्वाकर्षण बल के समान होता है। केंद्राभिमुख बल का उपयोग ऐसे अनेक प्रक्रमों को त्वरित करने में प्रयुक्त किया जा सकता है, जो सामान्यत: गुरुत्वाकर्षण के अपेक्षाकृत अल्प बल पर निर्भर करते हैं। भारत तथा अन्य देशों में अपकेंद्रित्र का उपयोग बहुत समय से होता आया है। दही तथा दूध को मथकर मक्खन निकालने की क्रिया केंद्राभिमुख बल पर निर्भर करती है। केंद्राभिमुख बल की वैज्ञानिक परिभाषा न्यूटन के बल तथा गति के प्रसिद्ध नियम पर आधारित है। न्यूटन के इस नियम के अनुसार मुक्त अवस्था मे, गतिशील पदार्थों में, सरल रेखा में चलने की प्रवृत्ति होती है। अत. यदि इस प्रकार के गतिशील पदार्थ को वक्र पथ पर चलने के लिये संचालित किया जाय, तो वह पदार्थ उस संचालित, अथवा नियंत्रित करनेवाले पदार्थ, अथवा वस्तु के विपरीत बल प्रयुक्त करता है। इसके फलस्वरूप गतिशील पदार्थ मे उस वक्रपथ की स्पर्श रेखा की दिशा की ओर चल पड़ने की निरंतर प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ, यह सामान्य अनुभव में देखा जाता है कि वृत्त पथ में परिभ्रमण करनेवाली कोई वस्तु परिभ्रमण केंद्र से दूर बलप्रयास करती है। बलप्रयास की यह दिशा परिभ्रमण वृत्त के स्पर्शज्या पथ की ओर होती है। अत. परिभ्रमण के कोणीय वेग, वस्तु, अथवा पदार्थ के भार, अथवा वस्तु के परिभ्रमणवृत्त के अर्धव्यास, मे वृद्धि होने से अपकेंद्री बल में वृद्धि होती है। अपकेंद्री बल का घूर्णन वृत्त के अर्धव्यास तथा वस्तु के भार से क्रमानुपात होता है, जबकि इसका कोणीय वेग के वर्ग से अनुपात होता है। अपकेंद्रित्र के प्रति मिनट घूर्णन की संख्या में दुगुनी वृद्धि होने से अपकेंद्री बल मे चौगुनी वृद्धि होती हैं। इसी प्रकार अपकेंद्रित्र की गति में दस गुनी वृद्धि से अपकेंद्री बल में सौ गुनी वृद्धि हो जाती है।

अपकेंद्रण की क्रिया मे किसी वस्तु पर कार्य करने, अथवा प्रभाव उत्पन्न करने, वाले अपकेंद्री बल की, बहुधा वस्तु की तौल (वस्तु का भार × गुरुत्वाकर्षण) से सीधे तुलना की जाती है। इस आधार पर अपकेंद्री बल को गुरुत्व के गुणज रूप मे व्यक्त किया जाता है। गुरुत्व के लिये g अक्षर को प्रतीक माना जाता है, अत: अपकेंद्री बल को संक्षेप मे g के गुणज मे लिखा जाता है। यदि अपकेंद्रित्र में कोई वस्तु ६०० घूर्णन प्रति मिनट की गति से घूर्णन कर रही हो तथा घूर्णनवृत्त का अर्धव्यास ३.९४ इंच अथवा १० सेंटीमीटर हो, तो इस परिस्थिति मे जनित होनेवाला अपकेंद्री बल गुरुत्व का ४१ गुना होता है। आधुनिक एवं विशेष प्रकार के अपकेंद्रित्र मे गुरुत्व का लाख गुना अपकेंद्री बल उत्पन्न किया जा सकता है।

आधुनिक अपकेंद्रित्र धातुनिर्मित एक ऐसा पात्र होता है जिसमें घूर्णन करनेवाला भाग विद्युन्मोटर की स्थिर धुरी से जुड़ा हुआ होता है। अत. विद्युन्मोटर के चलने पर अपकेंद्रित्र का घूर्णन करनेवाला भाग भी विद्युन्मोटर की गति से घूर्णित होने लगता है। घूर्णन की गति विद्युत् की धुरी के घूर्णन के समान होती है। पूर्व समय में अपकेंद्रित्र मे घूर्णन हाथ से उत्पन्न किया जाता था। आजकल भी घरेलू उपयोग मे अपकेंद्रित्र के घूर्णन के लिये शारीरिक श्रम का उपयोग होता है। आधुनिक अति तीव्र गति से घूर्णित होनेवाले अपकेंद्रित्र में विद्युन्मोटर के स्थान पर वायु टरबाइन का उपयोग होने लगा है। अपकेंद्रित्र के घूर्णन करनेवाले भाग को रोटर कहा जाता है। इसका आकार कटोरी के समान, अथवा उलटे प्याले के

समान होता है। इसमें द्रव अथवा अन्य वस्तु को अपकेंद्रित्र नली में, अथवा सीधे कटोरी में, अपकेंद्रण के लिये रखा जाता है। अपकेंद्रण कार्य में अपकेंद्रित्र में अनावश्यक एवं हानिकर कंपन उत्पन्न न हो, इसके लिये आवश्यक होता है कि वस्तु से पूरित रोटर पूर्ण रूप से संतुलित हो। इसके लिये वस्तु के संपूर्ण भार को घूर्णन धुरी के चारों ओर समान रूप से वितरित रखना पड़ता है। आदर्श परिस्थिति में इस व्यवस्था से मूल बलों का परिणामी शून्य के बराबर होता है।

अपकेंद्रण मे द्रवों की, विशेषकर ऐसे द्रवों की जिनमें ठोस पदार्थ के सूक्ष्म कण निलंबित हों अथवा जिनमे अमिश्रणीय द्रव की गोलिकाएँ अथवा दोनों ही विद्यमान हों, अपकेंद्रण प्रवृत्ति विशेष महत्व की होती है। ठोस पदार्थ के सूक्ष्म कण, जल तथा तेल से बने पायस से तीनों वस्तुओं का पृथक्करण सरलता से किया जा सकता है। अपकेंद्रण मे उत्पन्न होनेवाले अपकेंद्री बल की तुलना में गुरुत्व बल अत्यंत अल्प होता है। अपकेंद्री बल के क्षेत्र में, द्रव पदार्थ घूर्णन अक्ष से अधिक से अधिक दूरी पर विपरीत होने का प्रयत्न करता है, जिससे द्रव अपकेंद्रित्र के घूर्णन पात्र के बाहरी किनारों के समीप समान मोटाई मे स्थित हो जाता है। इस प्रकार पात्र में अक्ष से लेकर द्रव तक समान रूप में फैला हुआ मुक्त स्थान उत्पन्न हो जाता है, जो कि रंभाकार होता है। इस प्रकार अपकेंद्रण की क्रिया के द्वारा निलंबित करनेवाले द्रव से अपेक्षाकृत अधिक घनत्ववाले, निलंबित सूक्ष्मकण परिभ्रमण पात्र की परिधि मे एकत्रित हो जाते हैं तथा निलंबन करनेवाले द्रव से कम घनत्व के निलंबित सूक्ष्मकण पात्र के स्थल पर एकत्रित हो जाते हैं। उपर्युक्त पृथक्करण कितना शीघ्र होगा, यह केंद्राभिमुख बल की तीव्रता, निलंबित करनेवाले द्रव तथा निलंबित सूक्ष्म कणों के घनत्व के अंतर, द्रव की श्यानता, निलंबित सूक्ष्म कणों के आकार तथा परिमाण और कणों की सांद्रता तथा अनेक वैद्युत प्रभार के स्तर पर निर्भर करता है।

अपकेंद्रित्र के अनेक औद्योगिक उपयोग हैं। इससे विभिन्न वस्तुओं का पृथक्करण ही नही वरन् कपड़ों को सुखाने जैसे कार्य भी किए जाते हैं। अपकेंद्रण बल के उपयोग से पिघली हुई धातुओं से विभिन्न मोटाई के पाइपो एवं नलियों का निर्माण होता है। अपकेंद्रित्र का उपयोग चीनी के कारखानों मे चीनी के क्रिस्टलों से जल को दूर करने मे किया जाता है। अमोनियम सल्फेट सदृश उर्वरक के निर्माण में जल की अवांछित मात्रा इसी से निकाली जाती है। दूध से मक्खन अपकेंद्रित्र से पृथक किया जाता है। आजकल औद्योगिक कारखानों मे निरंतर प्रवाहवाले अपकेंद्रित्रों का उपयोग होता है जिनमे पृथक्करण सतत रूप से चलता रहता है। जैव विज्ञान एवं रसायन की प्रयोगशालाओ मे अपकेंद्रित्र एक अनिवार्य उपकरण बन गया है। चिकित्सा क्षेत्र में अत्यत सूक्ष्म विषाणु एवं अन्य जीवाणुओं को अपकेंद्रित्र के उपयोग से पृथक् करना संभव हो गया है। रासायनिक विश्लेषण मे अति तीव्र घूर्णनवाले अपकेंद्रित्र के उपयोग से अति सूक्ष्म कणों के अवसादन की गति तथा अवसादन साम्यावस्था का अनुमापन संभव हो सका है। सामान्यत. २०,००० घूर्णन प्रति मिनट से अधिक घूर्णन करनेवाले अपकेंद्रित्रों को अल्ट्रासेंट्रीफ्यूज, या द्रुत अपकेंद्रित्र, कहते हैं। ऐसे अपकेंद्रित्र जैव विज्ञान, चिकित्सा तथा रसायन से संबंधित अन्वेषण कार्यों मे विशेष महत्व के हैं। [भ० सि०]

मथुरा १. जिला, स्थिति : २७° ३०' उ०अ० तथा ७७° ४८' पू०दे०। यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य मे पश्चिम में स्थित है। इसके पश्चिम में राजस्थान राज्य, पूर्व एवं उत्तर में अलीगढ़, दक्षिण में आगरा जिले हैं। इसका क्षेत्रफल १,४६७ वर्ग मील है। यमुना नदी के द्वारा यह दो भागों मे बँट जाता है। यमुना के पूर्व का भाग उच्च एवं धनी भाग है जिसकी कुओं, नहरों तथा नदियों से सिंचाई होती है, जब कि पश्चिम का आधा भाग पुरानी प्रथाओं आदि को माननेवाले लोगों तथा असमान जलवायु वाला है। यहाँ की मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, दलहन, कपास, गेहूँ, जौ एवं गन्ना हैं। पूर्वी भाग आगरा नहर तथा पश्चिमी भाग गंगा की शाखा नहरों से सींचा जाता है। इसके मध्य का भाग हिंदुओं का अति पवित्र क्षेत्र है। गोकुल एवं वृंदावन में श्रीकृष्ण एव बलराम गायें चराया करते थे। अत. मथुरा, वृंदावन, गोकुल, महावन, गोवर्द्धन प्रसिद्ध तीर्थस्थान हैं। इसकी जनसंख्या १०,७१,२७६ (१९६१) है।

२ नगर, स्थिति : २७° २८' उ० अ० तथा ७७° ४१' पू० दे०। यमुना के पश्चिमी तट पर, आगरा से ३० मील उत्तर में स्थित है। हिंदुओं का यह एक प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ पर भारत के प्रत्येक स्थान से यात्री आते हैं। यह जिले के शासन का भी केंद्र है। इसकी जनसंख्या १,२५,२५८ (१९६१) है। शहर मे प्रवेश करने के लिये हार्डिंज फाटक मिलता है। प्रधान सड़कें पत्थर से पाटी गई हैं। यहाँ पर अन्नकूट प्रसिद्ध जगह है तथा १४ अति प्रसिद्ध मंदिर एवं ३३ से अधिक घाट यमुना नदी पर हैं। प्रसिद्ध इमारतों मे जामा मस्जिद भी है। मथुरा से छह मील उत्तर यमुना के किनारे वृंदावन मे गोपीनाथ, मनमोहन जी, गोपेश्वर महादेव, रामलखन, गोविंददेव जी तथा रंग जी के मंदिर हैं। लाला बाबू, महाराजा ग्वालियर, शाह बिहारीलाल, जुगलकिशोर, महाराजा जयपुर आदि के बनवाए प्रसिद्ध मंदिर भी यहाँ हैं। नंदगांव, बरसाने, गोवर्द्धन, गोकुल आदि प्रसिद्ध स्थान मथुरा के आसपास स्थित हैं। बरसाने की होली अति प्रसिद्ध है अत: लोग चारों तरफ से होली खेलने आते हैं। नदगाँव मथुरा से २४ मील दूर है। इसके आसपास करील का जंगल है। [र० चं० दु०]

इतिहास — पुराणेतिहास मे प्रसिद्ध, इस नगर की स्थापना शत्रुघ्न ने लवण दैत्य के वध के उपरात की थी। ध्रुव, अंबरीष, बलि आदि की तपोभूमि एवं यज्ञभूमि तथा विष्णु के आठवें अवतार श्रीकृष्ण की जन्मभूमि के रूप में मथुरा भारत की प्राचीन पवित्र नगरियों में महत्वपूर्ण है। कृष्ण की लीलास्थली, भक्तों की महिमामंडित ब्रजभूमि, बौद्धधर्म का केंद्र और यक्ष संस्कृति की आदिभूमि के रूप में यह नगर परम विख्यात रहा है। अंबरीष टीला, सप्तर्षि टीला, बलि टीला, कंस टीला, ध्रुवघाट, विश्रामघाट, कृष्णगंगाघाट, सोमघाट और रावणटीला आदि इसके महत्वपूर्ण पौराणिक धार्मिक स्थान हैं। सन् १०१७-१८ मे गजनी के महमूद ने इसे बर्बाद किया था तथा १५०० ई० के लगभग सुल्तान सिकंदर लोदी ने अधिकांश मंदिर एवं मूर्तियाँ नष्ट कर दी थीं। इसके बाद सन् १६६९-७० में औरंगजेब तथा १७५७ ई० मे अहमदशाह दुर्रानी ने इसे बर्बाद किया।

मदालसा अलर्क की ब्रह्मज्ञानी माता, जिन्हें हर ले जाने पर पातालकेतु तथा इनके पति ऋतुध्वज से घोर संग्राम हुआ। अंत मे पातालकेतु परास्त होकर मारा गया और ऋतुध्वज ने इन्हें उसके बंधन से मुक्त किया।

मदिरा के हानिकारक प्रभाव मदिरा मानव के लिये वरदान और अभिशाप दोनों है। इसके अल्पमात्रिक व्यवहार से प्राय: मानसिक और शारीरिक आह्लाद होता है, जिसमे मनुष्य प्रसन्न, संतुष्ट और शांत रहता है। यदि मदिरा की मात्रा अधिक हो जाए, तो मनुष्य के मानसिक संतुलन का ह्रास होता है, सिर गरम, चेहरा लाल और कपोलास्थि प्रदेश की धमनियो का स्पंदन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यदि मदिरा की मात्रा और अधिक बढ़े, तो ऐल्कोहॉल विषाक्तता के लक्षण प्रकट होते हैं तथा मानसिक संतुलन पूर्णतया नष्ट हो जाता है। मद्यसेवी के पैर लड़खड़ाने लगते हैं, बातचीत अस्पष्ट, असंबद्ध तथा अनर्गल हो जाती है। उसे उचित या अनुचित का ज्ञान नही रहता और यही स्थिति आगे चलकर बेहोशी का रूप धारण कर लेती है। मचली और वमन भी हो सकता है तथा चेहरा पीला पड जाता है। पेशियाँ शिथिल पड जाती हैं, जिससे अनजाने मे मल मूत्र का त्याग हो सकता है। वस्तुत: इसमे शरीर की प्राय: समस्त प्रतिवर्ती क्रियाएँ (reflex actions) बंद हो जाती हैं, नाडी मंद पड जाती है, शरीर का ताप गिर जाता है, साँस में घरघराहट होने लगती है तथा श्वसनकेंद्र का कार्य बंद हो जाने से मृत्यु तक हो सकती है।

परिणाह तंत्रिका (peripheral nerves) पर मदिरा का कोई प्रभाव नही पड़ता, पर दीर्घकालीन मदात्यय (alcoholism) की दशा में आतो द्वारा विटामिन बी का पूरा अवशोषण न हो सकने के कारण परिणाह शोथ और हृत्पेशी विस्तारण (myocardial dilatation) के लक्षण मिलने लगते हैं। कुछ व्यक्तियो मे प्रमस्तिष्क-मेरु-द्रव (cerebro-spinal fluid) का स्राव दबाव को बढ़ाता है, जिससे प्रमस्तिष्क शोथ की अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

मदिरासेवन से यक्ष्मा और न्यूमोनिया सदृश रोगो से और शल्य क्रियाओ के परिणाम से बचने की क्षमता घट जाती है। कुछ रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं, जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं : (१) जीर्ण आमाशय शोथ (gastritis) मे ऐल्कोहॉल से आमाशय का शोथ होता है, जिससे वह स्थायी रूप मे क्षतिग्रस्त हो जाता है, पाचनशक्ति का ह्रास हो जाता है और व्यक्ति दिन प्रति दिन दुबला पतला होता जाता है तथा (२) यकृत का सूत्रण रोग (cirrhosis of the liver)। ऐसे रोग उत्पन्न करने मे विभिन्न व्यक्तियों को ऐल्कोहॉल की विभिन्न मात्रा प्रभावित करती है। कुछ व्यक्ति अल्प मात्रा मे ही शीघ्र आक्रात होते हैं और कुछ लोगों के आक्रात होने मे वर्षों लग जाते हैं। मदिरा से यकृत का जीर्ण प्रदाह होता है, जिससे रेशेदार ऊतक बहुत बढ़ जाता है।

रेशेदार ऊतक के संकोचन (contraction) से यकृत की कोशिकाएँ दबाव पड़ने से नष्ट हो जाती हैं, जिससे शिराओं (veins) में रुधिर का बहाव अवरुद्ध हो जाता है। इससे यकृत का आकार साधारणतया छोटा हो जाता है। इस संकोचन का परिणाम यह होता है कि विस्तारित और संपीडित शिराओं से द्रव का स्पंदन (effusion) पर्युदर्या गुहा (peritoneal cavity) में होता है, जिससे एक प्रकार का जलोदर रोग हो जाता है। मद्यसेवी धीरे धीरे अधिक रोगी होने लगता है और जलोदर होने के कुछ मास बाद उसकी मृत्यु हो जाती है।

मदिरा का घातक प्रभाव — अत्यधिक मात्रा में मदिरा सेवन से तीव्र विषाक्तता के लक्षण प्रकट होते हैं। रुधिर मे ज्यों ज्यों इसकी मात्रा बढ़ती है, बेहोशी की स्थिति उत्पन्न होती है। ओंठ नीले (cyanosis) तथा आँखो के तारे (pupil) विस्तारित हो जाते हैं और निष्क्रिय त्वचा पर जुडपित्ती (Urticaria) इत्यादि प्रकट होती हैं। साँस में ऐल्कोहॉल की गंध आती है, पैर में लड़खड़ाहट, फिर प्रलाप एवं मूर्छा उत्पन्न होती है। साथ ही वमन भी होता है। मूर्छा १२ घंटे से अधिक रहती है। ये लक्षण भयकर समझे जाते हैं। साँस बंद होते ही मृत्यु हो जाती है। मदिरा के चिरकालीन सेवन से आमाशय शोथ, सूत्रण रोग, यकृत विकार आदि होते हैं। अंगों की शक्ति क्षीण हो जाती है और शरीर की प्रतिरक्षा की क्षमता कम हो जाने से रोगों के आक्रमण की संभावना बढ जाती है। इच्छाशक्ति तथा उच्च भावना शक्ति धीरे धीरे नष्ट होकर कंपोन्माद (delirium-tremens), अपस्मार (epilepsy), पक्षाघात (paralysis) तथा पागलपन आदि के लक्षण प्रकट होने हैं। निद्रानाश, जलोदर, वृक्कशोथ तथा देहशोथ भी होते देखा जाता है। मद्यसेवी साधारणतया क्षीणकाय होते हैं, पर बीयर सेवी स्थूलकाय भी होते हैं।

[प्रि० कु० चौ०]

मदीना स्थिति : २४° ३५' उ० अ० तथा ३६° ५२' पू० दे०। सऊदी अरब गणतंत्र के हेजाज प्रदेश मे, मक्का से २२० मील उत्तर, २,२०० फुट की ऊँचाई पर स्थित नगर है। यह मक्का के बाद इस्लाम धर्म का दूसरा पवित्र नगर एवं तीर्थ स्थान है। मुहम्मद साहब ने मक्का से आने के बाद (६२२ ई०) यहाँ निवास किया था। पुराने नगर की पैगंबर मस्जिद के विस्तृत प्रांगण में मुहम्मद तथा प्रथम दो कट्टर धर्मानुयायी खलीफाओं—अबू बकर एवं उमर—की कब्रों का होना माना जाता है। इसके समीप में ही फातिमा की प्रसिद्ध कब्र है। आठवीं शताब्दी में इस मस्जिद का विस्तार किया गया था। सन् १२५६ ई० एवं १४८१ ई० मे इसे जला दिया गया था। मूल रूप में इस नगर को यथरिब (Yathrib) कहा जाता था। मदीना पहले यहूदियों का एक उपनिवेश था। मदीना को नबी का नगर (मदीनत एन नबी), भगवान के दूत का नगर (मदीनत रसूले अल्लाह) या मदीनत एल मुनव्वर आदि नामों से अभिहित किया जाता था। १९०८ ई० मे दमिश्क से यहाँ तक हेजाज रेलमार्ग के निर्माण के कारण इसकी उन्नति होने लगी और प्रथम विश्वयुद्ध काल तक बढ़े हुए तीर्थयात्रियों के कारण इसने पर्याप्त संपत्ति अर्जित की। मदीना की जनसंख्या लगभग ५०,००० है। [रा० प्र० सिं०]

मदुरै (मदुरा) १. जिला, यह भारत के मद्रास राज्य का एक जिला है। इसके दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व मे रामनाथपुरम, उत्तर-पूर्व में

तिरुच्चिरापल्लि, उत्तर-पश्चिम में कोयंबुत्तूर जिले तथा पश्चिम में केरल राज्य स्थित है। इसका क्षेत्रफल ४,६१० वर्ग मील तथा जनसंख्या ३२,११,२२७ (१९६१) है। वार्षिक वर्षा का औसत ४० इंच है जो अधिकतर जाड़ों में होती है। वर्षा के असमान वितरण के कारण कृषि के लिये सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। पैरियर नदी यहाँ की प्रमुख नदी है। कृषि में धान, कपास, मूँगफली तथा कुछ मोटे अनाज उगाए जाते हैं।

२. नगर, स्थिति : ९° ५५′ उ० अ० तथा ७८° १० पू० दे०। मदुरै जिले में, तिरुच्चिरापल्लि से ७० मील दक्षिण, वैगाई नदी के किनारे स्थित, दक्षिणी मद्रास राज्य का दूसरा सबसे बड़ा तथा सुंदर नगर है। सुप्रसिद्ध मीनाक्षी मंदिर यहीं पर स्थित है जो दक्षिणी भारत के प्रसिद्ध मंदिरों में से एक है। यह मंदिर अपने सुनहरे कमलयुक्त तालाब के लिये भी प्रसिद्ध है। मंदिर, गोपुरमों से युक्त एक दीवार द्वारा घिरा है। ये गोपुरम १५२ फुट तक ऊँचे हैं और सुंदर नक्काशी से सजाए गए हैं। मंदिर के भीतर कई खंभों वाला एक जगमोहन या मंडप है जिससे होकर तालाब को सीढ़ियाँ गई हैं। यहाँ शिक्षा का प्रबंध उत्तम है। नगर जिले का व्यापारिक, औद्योगिक तथा धार्मिक केंद्र है। उद्योगों में सूत कातने, रँगनेने, मलमल बुनने, लकड़ी पर खुदाई का काम तथा पीतल का काम होता है। यहाँ की जनसंख्या ४,२४,८१० (१९६१) है।

इतिहास : पहले इसका नाम मधुरा या मधुरापुरी था। कतिपय शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों से विदित होता है कि ११वीं शती तक यहाँ, बीच में कुछ समय को छोड़कर, पांड्य राजवंश का शासन था। इस वंश के अंतिम राजा सुंदर पांड्य के समय मलिक काफूर ने मदुरा पर आक्रमण किया (१३११ ई०) (दे० पांड्य राजवंश)। १३७२ में कंपन उदैया ने इसपर अधिकार कर लिया और यह विजयनगर साम्राज्य मे मिला लिया गया। १५५९–६३ ई० तक नायक वंश के प्रतिष्ठाता विश्वनाथ ने राज्य का विस्तार किया। राजा तिरुमल की मृत्यु (१६५९) के बाद (दे० 'नायक') मदुरा राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। १७४० में चाँद साहब के आक्रमण के बाद नायक वंश की सत्ता समाप्त हो गई। कुछ समय पश्चात् इसपर अंग्रेजो का शासन स्थापित हो गया। मूर्ति और मंदिर निर्माण के शिल्प की दृष्टि से मदुरा का विशेष महत्व है। मीनाक्षी और सुंदरेश्वर शिव के मंदिर प्राचीन भारतीय शिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। [र० चं० दु०]

मद्यकरण (Brewing) आदिकाल से ऐल्कोहॉल का उपयोग उत्तेजक पेय के रूप में होता आया है। आसवन की क्रिया अपेक्षाकृत बाद मे अपनाई गई, परंतु उसके बहुत पहले से फल, ईख, ताड आदि के किण्वित रसों का उपयोग उत्तेजक तथा स्वास्थ्यवर्द्धक पेय के रूप मे होता था। भारत में भी इस प्रकार के पेय पदार्थों का उपयोग सोमरस, मध्विरा, सुरभित रस (elixir) आदि के रूप मे प्राचीन काल में होता था। भारत मे विविध प्रकार की जडी बूटियो के निष्कर्ष से सम्मिश्रित सुरा का उपयोग औषध के रूप में होता था तथा आज भी पुराने ग्रंथो मे इस प्रकार की सम्मिश्रित सुराओं को तैयार करने के अनेक नुस्खे मिलते हैं। इनका उत्पादन मुख्यत सन्यासी, चिकित्सक तथा कीमियागर (alchemist) करते थे तथा उपयोग मे आनेवाली जडी, बूटियो, फलों तथा अन्य वनस्पति पदार्थों के चयन में विशेष कौशल अपनाया जाता था। इनसे संबंधित बातो को प्राय. गुप्त रखा जाता था। ये पेय विशेष सुवास, स्वाद तथा गुणयुक्त होते थे और भारत इस विद्या में संसार के अन्य देशों मे अग्रणी था। सुरा के इस गुण के कारण यूरोप में आसुत सुरा को 'जीवन जल' (water of life) का नाम दिया गया, क्योंकि उन लोगो मे धीरे धीरे यह विश्वास फैल गया कि इसमें जीवनरक्षा के तत्व उपस्थित हैं।

आसुत ऐल्कोहॉलयुक्त पेय दो प्रकार के होते हैं : प्रथम वे पेय हैं, जिनको सीधे आसवन की रीति से प्राप्त किया जाता है। इस वर्ग के पेय मद्यकरण उद्योग मे अधिक महत्वपूर्ण हैं। द्वितीय वर्ग में उन पेय पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है जिनमें अंततः प्राप्त होनेवाली सुरा मे कुछ विशेष तथा वाछनीय विशेषता लाने के लिये एक या अधिक सघटको का मूल आसुत में संमिश्रण (blending) किया गया हो। सुरा में ऐल्कोहॉल का सदर्भ एथिल ऐल्कोहॉल से होता है, यद्यपि सभी आसुत सुरा मे अल्प मात्रा में उच्चतर ऐल्कोहॉल भी उपस्थित होता है। औद्योगिक उपयोग में आनेवाले ऐल्कोहॉल का उत्पादन शर्करा, अथवा ऐसे पदार्थ से, जिसे शर्करा में परिवर्तित किया जा सके, होता है, जैसे स्टार्च। ऐल्कोहॉलयुक्त पेय तथा आसुत सुरा के उत्पादन में क्रमश. फलो तथा ईख के रस का तथा अनाज का उपयोग होता है। बीयर, ह्विस्की आदि का उत्पादन अनाज से होता है। ब्रैंडी अंगूर तथा रम ईख के रस से तैयार की जाती है। सुरा में ऐल्कोहॉल की मात्रा के लिये जिस कच्चे माल का उपयोग होता है, प्राय वही अंतत तैयार होनेवाली सुरा की सौरभिक तथा स्वाद सबधी गुणों की विशेषता का कारण होता है।

पूर्णतः शुद्ध की हुई उदासीन (neutral) सुरा एथिल ऐल्कोहॉल होती है। इसे किसी भी उपर्युक्त लिखे हुए कच्चे माल से १९०° प्रूफ (proof) पर, अथवा इससे अधिक प्रूफ पर, आसवन करने से प्राप्त किया जा सकता है। आसवन के उपरांत प्राप्त आसुत के प्रूफ को प्राय कम किया जाता है। ऐल्कोहॉलयुक्त पेय की सांद्रता को प्रायः 'डिग्री प्रूफ' अथवा केवल 'प्रूफ' मे व्यक्त किया जाता है। अमरीका की परिभाषा के अनुसार प्रूफ स्पिरिट उस ऐल्कोहॉलयुक्त द्रव को कहते हैं, जिसमे ६०° फारेनहाइट ताप पर ०·७९३९ विशिष्ट गुरुत्व (specific gravity) का ऐल्कोहॉल, द्रव के आयतन के आधे परिमाण मे, उपस्थित हो। दूसरे शब्दो मे प्रूफ की संख्या ऐल्कोहॉल के आयतन के परिमाण की दुगुनी होती है। ग्रेट ब्रिटेन मे प्रूफ स्पिरिट उस ऐल्कोहॉलयुक्त द्रव को कहते हैं जिसका भार ५१° फारेनहाइट ताप पर समान आयतन के आसुत जल के भार का १२/१३ हो। सुरा दो प्रकार की होती है : (१) ऋजु आसुत सुरा (straight distilled liquor) तथा (२) मध्विरा (liqueur) और कॉर्डियल (cordial)।

(१) ऋजु आसुत सुरा — इसमें ह्विस्की, ब्रैंडी, रम तथा जिन प्रमुख है। पीसे हुए अनाज, अथवा कई प्रकार के अनाजो के मिश्रण, के किण्वित आसुत को ह्विस्की कहा जाता है। ह्विस्की के उत्पादन में जिस अनाज का अधिकतम उपयोग हुआ हो, उसी अनाज के नाम पर ह्विस्की का नाम प्रदान किया जाता है, जैसे गेहूँ की ह्विस्की (wheat whiskey), माल्ट ह्विस्की (malt whiskey) आदि।

माल्ट ह्विस्की किरिवत जौ के उपयोग से तैयार की जाती है। ह्विस्की दो प्रकार की होती है अमिश्रित ह्विस्की (straight whiskey) तथा विशेष गुणयुक्त संमिश्रित ह्विस्की (blended whiskey) ।

सामान्यतः फलों के किरिवत रसों से प्राप्त आसुत को ब्रैंडी कहा जाता है। यदि किसी फलविशेष का उल्लेख नहीं किया गया हो, तो ब्रैंडी का आशय अंगूर के रस से प्राप्त आसुत सुरा से होता है। ब्रैंडी में उस फल विशेष की विशेषताएँ, जिसके रस से वह तैयार की गई हो, बहुत कुछ विद्यमान होती है (देखें ब्रैंडी)।

ईख तथा ईख के सीरे के किरिवत आसुत को रम कहा जाता है। जूनिपर बेरी (juniper berry) के आक्वाथ तथा अन्य सौरभिक जड़ी बूटियों के आसवन से जिन (gin) का उत्पादन होता है।

(२) मध्विरा — ऋजु आसुत सुरा के अतिरिक्त अन्य सुरा में मध्विरा तथा कॉर्डियल प्रमुख हैं। इनमें ऐल्कोहॉल की मात्रा के अतिरिक्त २·५ प्रति शत शर्करा अथवा ग्लुकोज होता है। इनका उत्पादन उदासीन आसव, ब्रैंडी, रम, जिन, अथवा अन्य आसुत सुरा को फलों, फलों के निष्कर्षण तथा अन्य सौरभिक और तीव्र सुवासवाले पदार्थों के मिश्रण से होता है।

स्टार्चवाले पदार्थों से सुरा के उत्पादन मे सर्वप्रथम स्टार्च को शर्करा मे परिवर्तित करना होता है। परिवर्तन की यह क्रिया माल्ट में उपस्थित डायस्टेस ऐंज़ाइम द्वारा संपन्न की जाती है। प्राय: सभी अनाजों को माल्ट रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है, परंतु साधारण अवस्था में माल्ट का आशय अंकुरित जौ से होता है। माल्ट की क्रिया का उद्देश्य अनाज मे ऐंज़ाइम का विकास करना होता है। माल्ट न केवल स्टार्च को शर्करा मे परिवर्तित करता है, वरन् अंततः तैयार होनेवाली सुरा को सौरभिक सुवास तथा स्वाद प्रदान करता है। माल्ट की उत्पत्ति की रीतियो की विशेषता से स्कॉच ह्विस्की की विशेषता मानी जाती है।

अनाज से सुरा का उत्पादन पाँच क्रमो मे होता है। इन क्रमों को क्रमशः पीसना, पाक, शर्कराकरण, अवमिश्रण तथा किरवन कहा जाता है। अनाज को पीसना प्रथम क्रम है। इसमें चक्कियों में अनाज का बारीक चूर्ण तैयार किया जाता है। यह चूर्ण न तो बहुत मोटा होना चाहिए और न अत्यंत बारीक, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं मे उत्पादन की रीतियों में कठिनाई उपस्थित होती है और उपजातों की पुनःप्राप्ति मे बाधा पड़ती है। अनाज के चूर्ण का अधिकांश १०–३० अक्षि (mesh) की जाली से निकल सकने योग्य होना चाहिए।

दूसरा पाक क्रम है, जिसमे अनाज के चूर्ण मे पानी मिलाकर उसे विलोडकों द्वारा समांग किया जाता है। इस क्रिया में प्राय: ५६ पाउंड अनाज से प्राप्त चूर्ण के लिये १४ गैलन के हिसाब से मृदु जल मिलाया जाता है। समांग बनाने की क्रिया बड़ी बड़ी टंकियो मे की जाती है। इन टंकियों में विलोडक लगे रहते हैं तथा इन्हे गरम करने के लिये इनमें भाप की नलिकाएँ होती हैं। पाक क्रिया मे अनाज के चूर्ण तथा जल के समांग मिश्रण को गरम किया जाता है। गरम करने की अवधि में विलोडकों को निरंतर चलाते रहना पड़ता है। पाक की क्रिया से अनाज के चूर्ण का स्टार्च पानी के साथ पक कर लेई बनता है। किरवन की क्रिया में अनाज के चूर्ण की अपेक्षा लेई का शर्कराकरण शीघ्र होता है। पाक की क्रिया दो प्रकार से की जाती है: पहली रीति मे खुली टंकियों में हवा के साधारण दबाव पर १००° सें० ताप पर पाक की क्रिया ३० से ६० मिनट तक की जाती है। यह रीति औद्योगीकरण के इस युग में पुरानी हो चुकी है। आजकल आधुनिकतम तथा दूसरी रीति का उपयोग किया जाता है, जिसमें समय की बचत होती है। इस रीति मे पाक की क्रिया बंद टंकियो मे अधिक ताप पर (१२०° से १३५° सें० ताप पर) तथा अधिक हवा के दबाव मे की जाती है। क्रिया के लिये अल्प समय प्राय: पाँच मिनट ही पर्याप्त होता है। कुछ अनाज विशेष, जैसे राई, के उपयोग में पाक की क्रिया अपेक्षाकृत कम ताप (७०° सें०) पर करना आवश्यक होता है, क्योंकि उच्च ताप पर पकाने से तैयार होनेवाली सुरा का स्वाद अरुचिकर होता है। पाक की दोनों ही रीतियो के उपयोग में इस क्रिया के उपरात समांग लेई को तत्काल ६२° सें० ताप तक ठंढा कर लिया जाता है। ठंढा करने के लिये पाक की टंकियों मे पानी की नलिकाएँ लगी रहती हैं।

तीसरे क्रम में लेई के रूप में अनाज के स्टार्च का शर्कराकरण किया जाता है। इस क्रिया से स्टार्च माल्टोज में परिवर्तित हो जाता है। लेई में पीसे हुए माल्ट की कुछ मात्रा मिलाकर, इस क्रिया का ६०° सें० ताप पर सूत्रपात कराया जाता है। क्रिया के समय लेई तथा माल्ट के मिश्रण को समांग बनाए रखने के लिये, विलोडकों को निरंतर चलते रहना पड़ता है। शर्कराकरण की यह क्रिया २० से ६० मिनट के उपरांत बंद कर दी जाती है। इस अवधि मे लेई में उपस्थित स्टार्च का ३० से ७० प्रति शत भाग माल्टोज में तथा शेष भाग का डेक्सट्रिन में परिवर्तन हो जाता है। किरवन की क्रिया से अगले दो तीन दिनों में डेक्सट्रिन के अधिकांश का शर्करा में परिवर्तन हो जाता है।

शर्कराकरण की क्रिया के उपरात चौथे क्रम मे माल्टोज का अवमिश्रण किया जाता है। इस क्रिया मे शर्कराकरण के उपरांत प्राप्त द्रव्य को किरवन के लिये तैयार किया जाता है। अतः सर्वप्रथम द्रव्य को किण्वन ताप तक ठंढा किया जाता है और इसकी सांद्रता को पानी, अथवा आसवन की क्रिया से ऐल्कोहॉल की प्राप्ति के बाद के बचे हुए द्रव, को मिलाकर निश्चित सीमा तक लाया जाता है। इस क्रिया को अवमिश्रण कहा जाता है तथा इसका उद्देश्य किरवन के लिये द्रव के ताप तथा सांद्रता को निश्चित स्तर तक लाना होता है, जिससे किरवन नियंत्रित अवस्था मे संपन्न किया जा सके।

किण्वन की पाँचवीं तथा अंतिम क्रिया मद्यकरण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। किण्वन की क्रिया शर्करा को ऐल्कोहॉल मे परिवर्तित करती है। यह क्रिया ज़ाईमेज (Zymase) ऐंज़ाइम नामक ऐंज़ाइम संकुल (enzyme complex) द्वारा होती है। ऐल्कोहॉल युक्त पेय के उत्पादन में प्राय. खमीर अथवा सैकैरोमाइसीज (Saccharomyces) जाति के यीस्ट का प्रयोग होता है। ज़ाईमेज़ अन्य सूक्ष्म जीवो से भी प्राप्त किया जा सकता है। सैकैरोमाइसीज जाति का यीस्ट माल्टोज़ के द्रव में सरलता से उगता है और शीघ्र ही मुकुलन (budding) के द्वारा संवर्धन करता है। सैकैरोमाइ-

सीज की अनेक जातियों में से सैकैरोमाइसीज सेरिविसिया (Saccharomyces Cerevisiae) ही ऐल्कोहॉल के नियंत्रित किण्वन में सर्वाधिक प्रयुक्त होता है, यद्यपि कभी कभी अन्य विभेद (strain) का भी उपयोग किया जाता है। किण्वन की क्रिया एक जटिल प्रक्रम है। इसमें कार्बनिक पदार्थों के गैस का निकास और ऊष्मा की उत्पत्ति होती है। साधारण रूप से एक अणु ग्लूकोज से किण्वन के प्रक्रम के उपरांत दो अणु एथिल ऐल्कोहॉल तथा दो अणु कार्बन डाइऑक्साइड प्राप्त होते हैं। परंतु किण्वन का प्रक्रम इतना सरल नहीं होता और उपर्युक्त प्रक्रम के अतिरिक्त अनेक पार्श्व प्रक्रम भी होते हैं, जिनसे अल्प मात्रा में अनेक गौण उत्पाद प्राप्त होते हैं। पार्श्व प्रक्रम प्रयोग में आनेवाले माल्टोज द्रव की संरचना यस्ट तथा किण्वन की परिस्थितियों पर बहुत कुछ निर्भर करती है। इन गौण उपजातों का मद्यकरण में व्यापक प्रभाव होता है और ये तैयार होनेवाली सुरा में स्वाद तथा सुवास की विशेषता प्रदान करते हैं। गौण उत्पाद अनेक प्रकार के ऐल्डीहाइड, एस्टर (विशेषत: एथिल एस्टर), उच्चतर ऐल्कोहॉल तथा वसा अम्ल के रूप में होते हैं। उच्चतर ऐल्कोहॉल को फ्यूज़ेल तेल (Fusel oils) नाम भी दिया जाता है। तैयार होनेवाली आसुत सुरा में गौण उत्पादों को सामूहिक रूप में सप्रजाति (Congenerics) भी कहा जाता है।

किण्वन की क्रिया का समारंभ माल्टोज द्रव में दो से तीन प्रति शत (आयतन से) परिपक्व यीस्ट के निवेशन (inoculation) से होता है। यह क्रिया दो से चार दिनों में तीन विशेष प्रावस्थाओं में पूर्ण होती है। प्रथम प्रावस्था में यीस्ट की कोशिकाएँ सर्वधित होती हैं, दूसरी प्रावस्था में माल्टोज तथा अन्य शर्करा का मुख्य किण्वन होता है और तीसरी प्रावस्था में माल्टोज के साथ उपस्थित डेक्सट्रिन का किण्वन योग्य शर्करा में तथा तदुपरांत पूर्णत: एथिल ऐल्कोहॉल में किण्वन होता है। दूसरी प्रावस्था में तीव्र प्रक्रम होता है, जिसमें द्रव से कार्बन डाइऑक्साइड गैस अति शीघ्र गति से निकलती है और द्रव उबलता सा मालूम पड़ने लगता है, साथ ही ताप की वृद्धि होती है। अत: किण्वन-द्रव को ठंढा रखना पड़ता है। ताप के प्रति यीस्ट अत्यंत सुग्राही (sensitive) होता है। अत किण्वन की क्रिया के समय ८२° से ८६° फारेनहाइट के बीच सावधानी से ताप का नियंत्रण किया जाता है। यीस्ट के तैयार करने की रीति माल्टोज द्रव को तैयार करने के समान है। अंतर केवल इतना है कि इसमें पानी की मात्रा कम होती है और इसलिये पीसे हुए चूर्ण में पानी कम मिलाया जाता है। यीस्ट के चूर्ण तथा पानी के सांद्र मिश्रण का, लैक्टिक अम्ल बैक्टिरिया से २० घंटे के किण्वन से, अम्लीकरण किया जाता है। इस अम्लीकृत यीस्ट द्रव के प्रति १०० गैलन में १० से ३० गैलन तक पहले से क्रमबद्ध विकसित यीस्ट को मिलाकर निवेशन किया जाता है।

किण्वन की क्रिया के उपरांत द्रव में ऐल्कोहॉल वांछनीय गौण उत्पाद, अनाज के चूर्ण से शेष ठोस कण, खनिज लवण, तथा अन्य किण्वन के उत्पाद, जैसे ग्लिसरॉल, लैक्टिक अम्ल, सक्सिनिक अम्ल, टार्टरिक अम्ल तथा वसा अम्ल, उपस्थित होते हैं। आसवन की क्रिया से ऐल्कोहॉल तथा अन्य वांछित गौण उत्पादों को इनसे पृथक किया जाता है। आसवन की क्रिया एक, अथवा दो, आसवनों द्वारा संपन्न होती है तथा अवांछित तत्वों को सुरा से रहित करने के लिये भिन्न भिन्न आसवन स्तंभ (column) एवं बहुकक्षीय परिशोधन स्तंभ का उपयोग किया जाता है। आसवन की मूल क्रिया प्राचीन समय में घट-भभकों में की जाती थी। इनमें एक बड़े घट में ऐल्कोहॉलयुक्त द्रव को भरा जाता था और घट के ऊपर से नलिकाओं द्वारा ऐल्कोहॉल का वाष्प एक अन्य पात्र में संघनित किया जाता था। इस प्रकार की व्यवस्था को रिटॉर्ट (retort) आसवन कहा जाता है। घट भभके से प्राप्त प्रथम आसवन का आसुत अशुद्ध होता है तथा इसमें ऐल्कोहाल की मात्रा ४० से ५० प्रूफ होती है। इस प्रकार से प्राप्त हलकी सुरा का दो अथवा तीन बार पुन: आसवन किया जाता है, जिससे सांद्र सुरा प्राप्त होती है। ये भभके प्राय: ताँबे के बने होते हैं और इन्हें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से गरम किया जाता है। आज कल सुधार किए हुए घट भभकों का उपयोग ह्विस्की तथा ब्रैंडी के उत्पादन में किया जाता है। अब घट भभकों के उपरांत सतत भभकों का उपयोग होने लगा है। इनमें गरम द्रव का सतत प्रवाह किया जाता है तथा भभके में छिद्रयुक्त प्लेट लगे रहते हैं। गरमी से प्लेटों के ऊपर ऐल्कोहॉल का वाष्प बनता है और आसुत का पुन: आसवन होता रहता है। भभके में प्लेटों के नीचे जानेवाले गरम द्रव का पुन वाष्पीकरण होता है और भभके के तल पर एकत्रित होनेवाले गाढ़े द्रव तथा तलछट को नीचे से निकाल लिया जाता है।

आजकल के आधुनिक भभकों में सुविधाजनक और उपयोगी अनेक सुधार किए गए हैं, जिनके कारण आसवन की क्रिया न केवल मितव्ययी हो गई है, वरन् सभी स्तरों पर क्रिया को सरलतापूर्वक नियंत्रित किया जा सका है। इससे प्राप्त होनेवाली सुरा की विशेषताओं को इच्छानुसार परिवर्तित किया जा सकता है।

मद्यकरण से सुरा के अतिरिक्त उपयोगी उपजात भी प्राप्त किए जाते हैं। सुरा के आसवन के उपरांत बचे हुए द्रव को, जिसमें से ऐल्कोहॉल एवं अन्य वाष्पशील पदार्थों को पृथक् किया जा चुका हो, भभका द्रव कहा जाता है। भभके जल में अनेक पदार्थ विलयन में अथवा निलंबन की अवस्था में उपस्थित होते हैं। इस द्रव से राइबोफ्लेविन (riboflavin) तथा विटामिन बी-संकुल (Vitamin B Compex) के अन्य संघटनों को प्राप्त किया गया है। इस द्रव का उपयोग पशुओं के भोजन संमिश्रणों में होता है।

ऐल्कोहॉलयुक्त पेय की विशेषता उपयोग में आनेवाले कच्चे माल पर ही निर्भर नहीं करती, वरन् इसके स्वाद तथा सुवास पर बनाने की रीतियों का भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक सुरा की अपनी विशेषता होती है और इसमें उपस्थित ऐल्कोहॉल की मात्रा उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती जितना उसका स्वाद, सुवास तथा अन्य 'निजी विशेषताएँ'। [अ० सि०]

मद्रास १. राज्य, स्थिति : ८° ४' उ० अ० से १३° ५०' उ० अ० तथा ७६° १५' पू० दे० से ८०° ११' पू० दे०। यह भारत का एक दक्षिण-पूर्वी राज्य है। यह मद्रास नगर के कुछ उत्तर से लेकर कन्याकुमारी तक फैला हुआ है। १ नवबर, सन् १९५६ में हुए राज्य पुनर्गठन के फलस्वरूप इसका कुछ अंश मैसूर एवं केरल राज्यों में मिला दिया गया है और इसी राज्य के उत्तरी भाग को इससे अलग

कर आंध्र प्रदेश बना दिया गया है। अब वर्तमान मद्रास राज्य का क्षेत्रफल ५०,३३१ वर्ग मील है। इसके उत्तर में मैसूर एवं आंध्रप्रदेश, पश्चिम में केरल राज्य, दक्षिण में हिंद महासागर एव पूर्व में बगाल की खाड़ी स्थित है।

प्राकृतिक दशाएँ—राज्य का अधिकतर भाग समुद्र तटीय मैदान से बना है। केवल पश्चिम की ओर पहाड़ी भाग पाया जाता है। धरातल के आधार पर राज्य को दो भागो मे बाँटा जा सकता है : १. पूर्वी समुद्र तटीय निचला मैदान, २. उत्तर-पश्चिम का उच्च प्रदेश। प्रथम भाग कावेरी तथा पेनियार आदि नदियों के द्वारा लाई हुई मिट्टी से बना है एवं सामान्यतया २०० मीटर से कम ऊँचा है। यह प्रदेश कर्नाटक कहलाता है। दूसरा भाग कठोर चट्टान का बना है एव उसकी ऊँचाई सामान्यतया १,५०० मीटर के आसपास हैं। पश्चिम की ओर केरल तथा मद्रास की सीमा पर नीलगिरि, पालनी एव इलायची की पहाड़ियाँ फैली हुई हैं। पूर्वी घाट की पहाड़ियों का दक्षिणी क्रम मद्रास में दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व दिशा मे पचाई मलाई, शेवाराय आदि पहाड़ियों के रूप मे फैला है। नीलगिरि पहाड़ियों की प्रसिद्ध चोटी दोदाबेटा है जिसकी ऊँचाई २,६३३ मीटर है। नीलगिरि के दक्षिण मे पालघाट का दर्रा है।

जलवायु—जलवायु के दृष्टिकोण से मद्रास राज्य उष्णकटिबंध मे स्थित है। जून, जुलाई में औसत ताप लगभग ३२° सें० रहता है। वार्षिक ताप सामान्यतया ११° सें० से अधिक नही रहता। गरमी की ऋतु प्रायः शुष्क रहती है। वृष्टिछाया प्रदेश में होने के कारण मई से सितंबर तक मद्रास के किसी भी भाग मे औसत रूप मे ५०° सेंमी० से अधिक वर्षा नही होती, परतु जाड़े के दिनो मे लौटते हुए उत्तर-पूर्वी मानसून से अधिक वर्षा होती है। पूर्वी तटीय प्रदेश मे १०० से ११० सेंमी० तक वर्षा हो जाती है। कुछ चक्रवातीय वर्षा भी होती है।

वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पति की दृष्टि से राज्य अधिक घना नही है। वनो के अतर्गत १४,००० वर्ग किमी० भूमि है जो राज्य के क्षेत्रफल का १४ प्रति शत है। इसमे सागौन, चदन, सिनकोना एवं रबर आदि के पेड़ पाए जाते हैं। जंगली जानवरों मे हाथी, चीता, तथा पालतू जानवरों मे गाय, भैंस, बकरी, सूअर आदि मुख्य हैं।

जनसख्या—राज्य की जनसख्या ३,३६,८६,९५६ (१९६१) है। यहाँ की प्रमुख भाषा तमिल है। जनसंख्या का घनत्व २६६ व्यक्ति प्रति वर्ग किमी० है। लगभग ३० प्रति शत लोग साक्षर हैं। सभी धर्मों के लोग जैसे हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन और सिख यहाँ बसते है। सबसे अधिक सख्या हिंदुओं की है। मद्रास, मदुरै, कोयंपुतूर, त्रिचनापल्लि, सेलम, पालयमकोट्टि, तूतिकोरन, वेलूर, तजावूर आदि प्रमुख नगर हैं।

कृषि—यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय खेती है। लगभग ६१·५४ प्रति शत जनसंख्या खेती पर निर्भर रहती है एवं ४२·४ प्रति शत भूमि पर खेती होती है। खेतिहर भूमि के ८० प्रति शत भाग पर खाद्य फसलें उगाई जाती हैं जिनमें धान, ज्वार, और बाजरा मुख्य फसलें हैं। कपास, मूँगफली, तंबाकू, गन्ना, चाय आदि मुख्य व्यावसायिक फसलें हैं। केले, आम और रसदार फल भी उत्पन्न होते हैं। वर्षा की अनिश्चितता के कारण सिंचाई का सहारा लेना पड़ता है। लगभग २० लाख हेक्टेयर भूमि नहरों, तालाबों आदि के द्वारा सींची जाती है, विभिन्न नदियों पर बाँध बनाकर नहरें निकाली गई हैं। सिंचाई की मुख्य मुख्य योजनाएँ मैसूर, निम्न भवानी, अरनिया, अमरावती एव सठनूर आदि हैं।

खनिज संपत्ति—राज्य मे मैग्नेसाइट, बौक्साइट, कच्चा लोहा, जिप्सम, अभ्रक, चूने का पत्थर, चीनी मिट्टी आदि महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ मिलते हैं। लिग्नाइट, कोयला आर्काट मे एवं बौक्साइट, लोहा एव मैग्नेसाइट खनिज सेलम जिले में मिलते हैं।

उद्योग धंधे—मद्रास राज्य मे वस्त्र, चीनी, सीमेंट, इंजीनियरिंग का समान, तंबाकू, साइकिल एवं चमड़ा आदि के प्रमुख उद्योग होते हैं। राज्य ११ करोड़ से अधिक रुपए की खाल एवं चमड़े का निर्यात करता है। बनियाइन, ऊनी एवं रेशमी वस्त्र, लोहा तथा इस्पात, चाय, कहवा, तेल, चावल, खाद्य, रसायनक, कागज, साबुन, काँच, लकड़ी चीरने आदि के कारखाने भी पाए जाते हैं। कुटीर उद्योगों का भी अच्छा विकास हुआ है।

व्यापार तथा यातायात—राज्य मे सड़को की लबाई ६५ हजार किमी० है तथा रेलवे लाइनो का भी जाल सा बिछा है। मद्रास तथा नागपट्टणम, कारिकल आदि मुख्य बदरगाह हैं। निर्यात के मुख्य पदार्थ कपास, सूती वस्त्र, मूँगफली, सिगरेट, चीनी, चाय, खाल तथा चमड़ा आदि हैं।

२, नगर, स्थिति १३° ४' उ० अ० तथा ८०° १७' पू० दे०। यह नगर मद्रास राज्य की राजधानी है। नगर की स्थापना सन् १६४० मे फ्रांसिस डे, जो आर्मागन (Armagon) मे ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रधान थे, के द्वारा हुई तथा लगभग एक शताब्दी तक प्रमुख ब्रिटिश बस्ती रही। यह समुद्र के किनारे पर बसा है। इसका क्षेत्रफल लगभग ५० वर्ग मील है। नगर का पुराना भाग नियोजित नहीं है। विश्वविद्यालय जतरमतर, अस्पताल, गिरजाघर, चेपाक महल आदि दर्शनीय हैं। कूम (Cooum) नदी तथा बकिंघैम नहर नगर के क्षेत्र मे हैं। नगर की जनसंख्या १७,२९,१४१ (१९६१) है। भारत के बडे नगरो मे इसका चौथा स्थान है। यहाँ सूती कपड़ा, सिगरेट, मोटर, साइकिलें, मशीनें, दवाइयाँ, सीमेंट, दियासलाई, चमड़ा, काँच का सामान, रसायनक आदि के कारखाने हैं। यह प्रसिद्ध व्यापारिक नगर एवं भारत का तीसरा प्रधान बदरगाह है। अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियो के अभाव मे इसका निर्माण एक कृत्रिम बदरगाह के रूप मे किया गया है जिसका पृष्ठप्रदेश विस्तृत है आवागमन के साधनो का अच्छा विकास हुआ है। यहाँ से चमड़ा, हड्डी, हड्डी की खाद, तबाकू, तिलहन, मूँगफली का तेल, अभ्रक, मैंगनीज तथा कहवे का निर्यात एव गेहूँ, चावल, पेट्रोल, इजन, कागज तथा दवाओ आदि का आयात किया जाता है। [सु० च० श०]

मधु सभवत. पहला मीठा पदार्थ था, जिसकी जानकारी मनुष्य को हुई। भारत के प्राचीन ग्रंथो में मधु का उल्लेख व्यापकता से मिलता है। मधुवन सदृश वनो का भी उल्लेख मिलता है, जिनका नाम मधूत्पादन के कारण ही पड़ा होगा। हिंदुओ के कर्मकाडों मे मधु का विशिष्ट स्थान है।

मधु मीठा श्यान द्रव होता है जिसे मधुमक्खियाँ इकट्ठा करती

हैं। फूलों से वे मकरंद (nectar) चुनकर ले आती, छत्ते में रखकर परिपाक करती और कोषों में संचित करती हैं। इसे वे भोजन के काम में लाती हैं। मधुमक्खी पालन व्यवस्था में मधुमक्खियाँ अपनी आवश्यकता से अधिक मधु इकट्ठा करती हैं, जिसे निकालकर मनुष्य अपने उपयोग में लाता है। यदि मकरंद प्राप्य न हो, तो मधुमक्खियाँ कुछ कीड़ों से उत्पन्न मीठे द्रव को इकट्ठा कर मधु सा ही पकाती और संचित करती हैं, जिसे मधुरस (honey dew) कहते हैं। वास्तविक मधु से यह निकृष्ट कोटि का होता है। मकरंद के अभाव में मधुमक्खियाँ कुछ पादप स्रावों को भी इकट्ठा करती हैं, जिसे 'पादप मधुरस' कहते हैं।

चीनी के आविष्कार के पूर्व मानव आहार मे मधु का बहुत ऊँचा स्थान था। आज भी पौष्टिकता के कारण पर्याप्त मात्रा में मधु का उपयोग होता है। मीठा होने के अतिरिक्त मधु में विटामिन और खनिज लवण भी रहते हैं, जो सफेद चीनी में नहीं होते। इनके कारण मधु के पौष्टिक गुण बढ़ जाते हैं। इसके सहयोग से बने केक या रोटी बड़ी मुलायम होती है। ये सूखकर कड़ी नहीं होती। विशेष अवसरों के लिये आज भी मधु के सहयोग से रोटियाँ तैयार की जाती हैं। अनेक आयुर्वेदिक ओषधियों के निर्माण में मधु का उपयोग होता है। यह च्यवनप्राश का एक अत्यावश्यक अवयव है। अनेक ओषधियों का सेवन मधु से कराया जाता है। मिश्री के निर्माण में भी एक समय मधु प्रयुक्त होता था, पर आर्द्रताग्राही होने के कारण ऐसी मिश्री अब नहीं बनाई जाती। मधु का किण्वन सरलता से होता है, पर उसमें पानी का अंश पर्याप्त रहना चाहिए। आवश्यक मात्रा में लवण, विशेषत: नाइट्रेट या सल्फेट, की उपस्थिति मे मधु से उत्कृष्ट कोटि की सुरा तैयार हो सकती है। मधु का शर्बत भी उत्कृष्ट पेय है। बच्चों को भी मधु का सेवन कराया जाता है।

संगठन — मधु की प्रकृति फूलों के मकरंद पर निर्भर करती है। अच्छे फूलो के मकरद से बना मधु उत्कृष्ट कोटि का होता है। इसी कारण कश्मीरी मधु की सबसे अधिक माँग रहती है। कुछ विषैले पौधो के पुष्पों के मकरंद से बना मधु विषैला भी पाया गया है। मधु में १३ से लेकर २० प्रति शत तक जल, ४० से लेकर ५० प्रति शत तक फलशर्करा (फ्रुक्टोज), ३२ से ३७ प्रति शत द्राक्ष शर्करा (ग्लूकोज), लगभग २ प्रति शत इक्षु शर्करा (सुक्रोज) और लेश मात्रा मे माल्टोज, डेक्सट्रिन, गोंद और ०·२५ प्रति शत से कम खनिज पदार्थ रहते है। मधु में कुछ ऐंजाइम (इन्वर्टेज, डायस्टेस, कैटेलेस, इनूलेस) कुछ विटामिन और बहुत अल्प मात्रा मे मोम, प्रोटीन, अम्ल (ऐसीटिक, सक्सिनिक, मैलिक, सिट्रिक) और रंगीन पदार्थ (क्लोरोफिल, कैरोटिन, जैथोफिल) भी पाए जाते हैं।

गुण — विभिन्न फूलों के मकरंदों से निर्मित मधु के स्वाद और रंग मे भिन्नता पाई जाती है। सुगंधित अवयवों, विशेषत: असयुक्त अम्लों के, कारण मधु में स्वाद और गंध होती है। सब मधु प्रकाश-किरणों का कुछ न कुछ अवशोषण करते हैं। गाढ़े रंग के मधु मे अवशोषण क्षमता अधिक होती है। मधु में कुछ कलिल कण भी निलंबित रहते हैं। निलंबन के कारण ही मधु मे गँदलापन होता है। मधु मे ग्लूकोज के क्रिस्टल बनते हैं। ऐसे क्रिस्टल बने मधु को क्रिस्टलीकृत या दानेदार मधु कहते हैं। क्रिस्टल बनने में कोई रासायनिक क्रिया नहीं होती, केवल भौतिक कारणों से ही क्रिस्टल बनते हैं। क्रिस्टल मे ६.०६ प्रति शत जल का अंश रहता है। क्रिस्टल बनने पर मधु के द्रव अंश मे जल की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे मधु का किण्वन होना शुरू हो जाता है। जब क्रिस्टल धीरे धीरे बनते हैं तब वे बड़े आकार के होते हैं और जब वे जल्दी बनते हैं तब छोटे आकार के होते है।

निम्न ताप पर मधु की श्यानता ऊँची होती है और गरम करने पर शीघ्रता से कम हो जाती है। ३०° सें० से ४३ सें० के बीच श्यानता मे परिवर्तन बहुत अल्प होता है। मधु का पृष्ठतनाव पानी से कम होता है। वायुमंडल से मधु पानी का अवशोषण कर अथवा निष्कासन कर सकता है। यह क्रिया वायुमडल की आर्द्रता पर निर्भर करती है। यदि आर्द्रता लगभग ५८ % और पानी १७ % है, तो पानी का न अवशोषण होता है और न निष्कासन, पर इससे कम आर्द्रता पर मधु पानी का निष्कासन करता है और अधिक आर्द्रता पर पानी का अवशोषण करता है। पानी का अंश ५० प्रति शत से अधिक होने पर ही मधु का किण्वन होता है। यूरोप मे एक हीथर मधु (Heather honey) प्राप्त होता है। इसमें थिक्सोट्रॉपी का गुण होता है। स्थिर रहने पर यह जेली बन जाता है और हिलाने डुलाने पर द्रव बन जाता है। इसी से मिलता जुलता, पर थिक्सोट्रौपी गुण मे बहुत अल्प, अमरीका का कूटू (Buck wheat) मधु होता है। इस गुण का कारण मधु मे उपस्थित कलिल का होना समझा जाता है। यदि मधु से कलिल पदार्थ निकाल दिया जाय, तो उसका यह गुण नष्ट हो जाता है।

मधु का विशिष्ट गुरुत्व २० सें० पर १·४५२५ से १·४८६६ के बीच होता है। मधु का पीएच (pH) साधारणतया ६·८ होता है। मधु के उबालने से उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। पानी के साथ मिलाकर इसका उपयोग जमाव विरोधी मिश्रण के रूप मे मोटर रेडियेटर मे होता है।

छत्ते को हाथ से निचोड़कर मधु निकालने की रीति बड़ी पुरानी है। हाथ से निचोड़ने के स्थान पर प्रेस का उपयोग शुरू हुआ। हीथर मधु के लिये यह रीति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि हीथर मधु बड़ा श्यान होता है। आजकल प्रेस के स्थान पर अपकेंद्रित्र का उपयोग होने लगा है, पर हीथर मधु के लिये यह रीति व्यवहार्य नहीं है। बोतलों मे भरकर मधु बेचा जाता है। यदि मधु को दानेदार बनाना हो, तो द्राक्ष शर्करा के क्रिस्टल डालकर, उपयुक्त ताप पर मधु को रखकर, क्रिस्टलीकरण के लिये उसे उत्तेजित करते हैं।

[फू० स० व०]

मधुकरसाह बुंदेला, राजा इसके पिता प्रतापरुद्र या रुद्रप्रताप ने ओड़छा नगर की नीव डाली। मधुकरसाह ने सत्तारूढ़ होकर आस पास की छोटी छोटी बस्तियों को अपने अधिकार में कर लिया। स्वाभिमान के कारण इसने मुगल सम्राट् अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अकबर ने इसके विरुद्ध सादिक खाँ हर्वी और राजा आसकरन को भेजा। युद्ध में परास्त होकर मधुकर ने आत्मसमर्पण कर दिया। जब मालवा का सेनाध्यक्ष शहाबुद्दीन अहमद खाँ मिर्जा अजीज कोका के साथ दक्षिण की चढ़ाई पर नियुक्त हुआ, तो इसे भी साथ भेजा गया, किंतु इसने अजीज कोका का साथ नहीं दिया। इसपर शहाबुद्दीन

अहमद खाँ ने इसे दंड देना निश्चित किया। बाद में यह पुन: राजा भासकरन की मध्यस्थता से राजी हुआ। लेकिन सेना के पास पहुँचते ही वैसे इसमें फिर से उन्माद आया, और यह भाग खड़ा हुआ। इसकी सारी संपत्ति लूट ली गई। किसी प्रकार फिर दरबार में आया, और राजकुमार की सेवा में नियुक्त हुआ। १५९२ में इसकी मृत्यु हो गई।

मधुकैटभ असुरों के पूर्वज पुराणप्रसिद्ध राक्षसद्वय। इनकी उत्पत्ति कल्पांत तक सोते हुए विष्णु के कानों की मैल (महा०, शांति, ३५५/२२; दे० भा० १–४) अथवा पसीने (विष्णु धर्म० १–१५) या क्रमश: रजोगुण और तमोगुण (महा० शांति०, ३५५/२२; पद्म० सृ०, ४०) से हुई थी। जब ये ब्रह्मा को मारने दौड़े तो विष्णु ने इनका वध कर दिया। तभी से विष्णु मधुसूदन और कैटभजित् कहलाए। मार्कंडेय पुराण के अनुसार उमा ने कैटभ को मारा था जिससे वे कैटभा कहलाईं। महाभारत और हरिवंश पुराण का मत है कि इन असुरों की मेदा के ढेर के कारण पृथ्वी का नाम मेदिनी पड़ा था। पद्मपुराण के अनुसार देवासुर संग्राम में ये हिरण्याक्ष की ओर थे। [रा० द्वि०]

मधुबनी १. उपमंडल, भारत में बिहार राज्य के दरभंगा जिले का उपमंडल है। इसका क्षेत्रफल १,३४६ वर्ग मील है। यहाँ की मिट्टी उपजाऊ एवं जलोढ़ है। उपमंडल की मुख्य उपज धान है।

२. नगर, स्थिति : २६° २१' उ० अ० तथा ८६° ५' पू० दे०। यह नगर दरभंगा नगर से १६ मील उत्तर-पूर्व में है। मधुबनी उपमंडल का शासन केंद्र एवं प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। इसकी जनसंख्या २८, २२९ (१९६१) है। [सु० च० श०]

मधुमक्खी पालन संसार के प्रत्येक देश में मधुमक्खी के अलग अलग नाम भारत में भी लोग इसको भिन्न भिन्न नामों से जानते हैं, जैसे मधुमक्खी, शहद की मक्खी आदि।

मधुमक्खी पालन — गोपालन एवं मुर्गी पालन की तरह मधुमक्खी पालन भी एक धंधा हो गया है। पश्चिम में इस धंधे ने व्यवसाय का रूप ले लिया है। वहाँ अनेक बड़े बड़े मधुमक्षिकालय स्थापित हो चुके हैं। वहाँ के लोग लाखों रुपया प्रति वर्ष इस धंधे से कमा रहे हैं और करोड़ों रुपए का लाभ निषेचन क्रिया द्वारा अपने देश को, कृषि उत्पादन की वृद्धि के रूप में, दे रहे हैं।

भारत में सैकड़ों वर्ष पहले जिस प्रकार से मधुमक्खियाँ पाली जाती थी, ठीक उसी तरह से हम उन्हें आज भी पालते आ रहे हैं। पुराने ढंग से मिट्टी के घड़ो मे, लकड़ी के संदूको मे, पेड़ के तनों के खोखलों में, या दीवार की दरारों में, हम आज भी मधुमक्खियो को पालते हैं। मधु से भरे छत्तो से शहद प्राप्त करने के लिये छत्तों को काटकर या तो निचोड़ दिया जाता है, या आग पर रखकर उबाल दिया जाता है। फिर इस शहद को कपड़े से छान लेते हैं। इस विधि से मैला एवं अशुद्ध शहद ही मिल सकता है, जो कम कीमत मे बिकता है। इस प्रकार प्राचीन ढंग से मधुमक्खियों को पालने में कई दोष हैं।

भारत में वैज्ञानिक ढंग से मधुमक्खी पालन — आज संसार के कई देशों में मधुमक्खियो को आधुनिक ढंग से लकड़ी के बने हुए संदूकों मे, जिसे आधुनिक मधुमक्षिकागृह कहते हैं, पाला जाता है। इस प्रकार से मधुमक्खियों को पालने से अंडे एवं बच्चेवाले छत्तों को हानि नहीं पहुँचती। शहद अलग छत्तों में भरा जाता है और इस शहद को बिना छत्तों को काटे मशीन द्वारा निकाल लिया जाता है। इन खाली छत्तों को वापस मधुमक्षिकागृह में रख दिया जाता है, ताकि मधुमक्खियाँ इनपर बैठकर फिर से मधु इकट्ठा करना शुरू कर दें।

वैज्ञानिक ढंग से मधुमक्खी पालन का प्रारंभ भारत में कई वर्ष पहले हो चुका है। आज दक्षिण भारत मे यह धंधा काफी फैल चुका है। सैकड़ो मधुमक्षिकागृह वहाँ पर मधु उत्पादन के लिये बसाए जा चुके हैं। अब भारत के कई राज्यों की सरकारें मधुमक्खी पालन के धंधे की उपयोगिता को समझने लगी हैं और इसको फैलाने का प्रयत्न कर रही हैं। इस धंधे के लिये अभी सारा क्षेत्र भारत मे खाली पड़ा है।

आधुनिक मधुमक्षिकागृह — जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, यह एक लकड़ी का बना संदूक होता है। इसके दो खंड होते हैं। नीचे के खंड को शिशु खंड कहते हैं। इसमें रखे छत्तों में अंडे, बच्चे तथा स्वयं मक्खियों के लिये शुद्ध शहद एवं पराग संचित रहता है। शिशु कक्ष के ऊपर मधु कक्ष होता है, जिसमें मधुमक्खियाँ केवल शहद ही जमा करती हैं। मधुकक्ष से शहद के भरे छत्तों को निकालकर यंत्र द्वारा शहद निकाल लिया जाता है।

मधुमक्खी पालन प्रारंभ करना — मधुमक्खी पालन प्रारंभ करने से पहले यह अच्छा होगा कि इसके संबंध में उपलब्ध पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन कर लिया जाए।

मधुमक्खियो की किस्में — भारत मे चार प्रकार की मधुमक्खियाँ पाई जाती हैं। इनमें से सबसे बड़ी को भँवर या डिंगारा कहते हैं। यह ऊँचे पेड़ों या इमारतों पर खुले में केवल एक ही छत्ता लगाती हैं। मधु जमा करने में दूसरी किस्में इसकी बराबरी नही कर सकती। अंग्रेजी में इसे एपिस डॉरसेटा एफ० (Apis dorsata F.) कहते हैं। इसका डंक अधिक लंबा एवं अत्यंत विषैला होता है। यह प्राय: गरम स्थानों में रहती है। इसके पालने के प्रयत्न किए जा रहे हैं, लेकिन अभी तक सफलता नहीं मिल सकी है।

दूसरी प्रकार की मधुमक्खी को अंग्रेजी मे एपिस इंडिका एफ० (Apis Indica F.) कहते हैं। केवल इसी जाति को लोग पालते हैं। चीन और जापान की मधुमक्खियाँ भी इसी के अंतर्गत आ जाती हैं। यह मधुमक्खी आम तौर पर बंद अंधेरी जगहों में ही कई समांतर छत्ते लगाती है, जैसे पेड़ के खोखलों में, दीवार और छत के अंदर तथा चट्टानों की दरारों मे। यह प्राकृतिक हालत मे पाई जाती है। पुराने ढंग से लोग इसे मिट्टी के घड़ों, लकड़ी के संदूकों, तनों के खोखलों एवं दीवार की दरारो में पालते हैं।

तीसरी प्रकार की मधुमक्खी को अंग्रेजी में एपिस फ्लोरिया एफ० (Apis florea F.) कहते हैं। आम तौर पर यह मधुमक्खी को पोतींगा कहते हैं। इसका भी एक ही छोटा सा छत्ता होता है। यह झाड़ी या मकान की छतों पर रखी लकड़ियो आदि में अपना छत्ता लगाती है। इसके छत्ते से एक बार मे अधिक से अधिक दो, तीन पाउंड तक शहद निकल आता है। इसका डंक छोटा एवं कम विषैला होता है।

चौथी प्रकार की मधुमक्खी को अंग्रेजी मे मैलीपोना या डैमर

(Mellipona or Dammer) कहते हैं। यह मधुमक्खी अमरीका में अधिक पाई जाती है। अंधेरी जगहों मे, जैसे पेड के खोखलों और दीवार की दरारों आदि में, यह अपना छत्ता बनाती है। इसके छत्तों से मधु बहुत ही कम मात्रा में प्राप्त होता है। इसका मधु आँख में लगाने के लिये अच्छा माना जाता है।

मधुमक्षिकागृह के निवासी एवं उनके कार्य — मधुमक्षिकागृह के भीतर रहनेवाली मधुममक्खियाँ कार्य तथा प्रकार के अनुसार तीन तरह की होती हैं : (१) रानी, (२) श्रमिक और (३) नर मक्खी। रानी ही एकमात्र सारे गृह मे अंडे देनेवाली होती है। इसका काम दिन और रात अंडे देना ही होता है। श्रमिक और रानी का जन्म एक ही प्रकार के अंडे से होता है। जब भी श्रमिक मधुमक्खियाँ किसी लार्वे को रानी बनाना चाहती हैं, तो वे उसे एक विशेष प्रकार का भोजन खिलाना शुरू कर देती हैं। इस भोजन को अंग्रेजी मे रॉयल जेली (royal jelly) कहते हैं। वह लार्वा, जिसे अपने पूरे जीवन-काल तक यह भोजन खिलाया जाता है, रानी बन जाता है। अन्य लार्वे, जिन्हे यह भोजन पूरा नहीं मिल पाता है, श्रमिक बन जाते हैं। श्रमिक बननेवाले लार्वों को केवल दो तीन दिन तक ही रॉयल जैली दिया जाता है, फिर इनका पोषण एक साधारण भोजन द्वारा ही किया जाता है। रानी जो अंडे देती है। वे दो प्रकार के होते हैं : (क) श्रमिक और (ख) नर। वे अंडे, जिनसे नर निकलते हैं, रानी गर्भाधान कराए बिना ही दे सकती है। लेकिन श्रमिक उत्पन्न करनेवाले अंडे वह केवल गर्भाधान होने के बाद ही दे सकती है। रानी को डंक तो होता है, लेकिन इसका उपयोग वह तभी करती है जब किसी दूसरी रानी से उसकी लड़ाई होती है।

श्रमिक मधुमक्खियाँ मधुमक्षिकागृह में सबसे अधिक संख्या मे होती हैं। इनके पेट पर कई समातर धारियाँ होती हैं। डंक मारने-वाली यही मधुमक्खी होती है। इन मधुमक्खियों की अधिकता पर ही शहद जमा करने की मात्रा भी निर्भर करती है। मधुमक्षिका-गृह के अदर और बाहर का सभी कार्य श्रमिक मधुमक्खियाँ ही करती हैं। श्रमिक मधुमक्खी का डक आरीनुमा होता है। जब वह डंक मारती है, तो डक मनुष्य के शरीर मे गडा ही रह जाता है। कुछ समय बाद वह श्रमिक मधुमक्खी मर जाती है। मधुमक्खी के डक लगने से शरीर मे सूजन हो जाती है और दर्द भी होता है, पर इसका जहर हानिकारक नही होता। गठिया, जोडो के दर्द आदि के लिये इसे उपयोगी समझा जाता है। श्रमिक मधुमक्खी की आयु यों तो चार, पाँच मास तक की होती है, लेकिन जब उन्हे काम अधिक करना पडता है, तब वे कठिनाई से पाँच, छह सप्ताह तक जीवित रह पाती हैं।

नर मधुमक्खी का काम रानी का गर्भाधान करना होता है। इसे और कोई भी काम नही करना पड़ता। मधुमक्षिकागृह के अदर ही वह छत्तों मे जमा किया मधु खाता रहता है। दोपहर के समय यदि मौसम अच्छा हो, तो बाहर घूमने के लिये उडकर चला जाता है। यह श्रमिक मधुमक्खी से कुछ बडा और रानी से छोटा होता है। इसके शरीर पर अधिक बाल होते हैं। सिर एवं पेट काले, गोल एवं चपटे आकार के बने होते हैं। जब फूल काफी खिले होते हैं तब मधुमक्षिकागृह मे नर की सख्या बढ़ जाती है। जब फूल कम होते हैं और मधु भी छत्तों में अधिक नहीं होता, उस समय नर मधुमक्षिका-गृह में बहुत ही कम या बिलकुल ही नहीं दिखाई पड़ते हैं। छत्ते की जिन कोठरियो मे नर मधुमक्खियाँ पैदा होती हैं, वे श्रमिक मधुमक्खियों की कोठरियों से कुछ बड़ी होती हैं और उन्हें छत्ते के निचले भाग में ही बनाया जाता है। श्रमिक मधुमक्खियाँ रानी के गर्भाधान काल मे नर मधुमक्खियो को पैदा होने देती हैं, उसके बाद वे स्वय ही उन्हे मारकर समाप्त कर देती हैं।

मोम — शहद के बाद दूसरा मूल्यवान तथा उपयोगी पदार्थ, जो मधुमक्खियो से मिलता है, वह मोम है। इसी से वे अपने छत्ते बनाती हैं। मोम बनाने के लिये मधुमक्खियाँ पहले शहद खाती हैं फिर उससे गरमी पैदा कर अपनी ग्रंथियों द्वारा छोटे छोटे मोम के टुकड़े बाहर निकालती हैं।

मधुमक्खियों के शत्रु — प्रत्येक प्राणी की तरह मधुमक्खियों के भी अनेक शत्रु होते हैं। मधुमक्खियों के पालनेवालों को उनका ज्ञान होना अति आवश्यक है, ताकि वह उनसे मधुमक्खियों की रक्षा कर सकें। इनके मुख्य शत्रु निम्नलिखित हैं : १. मोमी पतिंगा, या मोमी कीड़ा, २. अंगलार, या बर्रें, ३ चीटी और चीटा, ४. चुपरौला, ५ भालू, ६ ड्रैगन फ्लाई, ७ मकडी, ८. बदर तथा ९. गिरगिटान।

[आ० स्व० श्री०]

मधुमेह (Diabetes) वह रोग है जिसमें मूत्र का विसर्जन अत्यधिक होता है और मूत्रत्याग करने की इच्छा सदा बनी रहती है। यह निम्नलिखित दो प्रकार का होता है :

१. डायबिटीज मेलाइटस (Diabetes Mellitus),

२. डायबिटीज इसिपिडस (Diabetes Insipidus) ।

१. डायबिटीज मेलाइटस — यह विकार मुख्यत: अग्न्याशय (pancreas) के आंत्रिक स्राव, इंसुलिन, के अभाव में उत्पन्न होता है। इंसुलिन, के द्वारा साधारणत: रक्त शर्करा की अत्यधिक मात्रा ग्लाइकोजेन (glycogen) के रूप मे परिणत होकर, यकृत मे संचित होती है तथा आवश्यकता पडने पर इंसुलिन की ही सहायता से यकृत मे संचित ग्लाकोजन पुन ग्लूकोस के रूप मे परिणत हो जाता है। परतु डायबिटीज मेलाइटस मे इंसुलिन के अभाव में परिवर्तन की यह क्रिया नही हो पाती। इसके फलस्वरूप शर्करा प्रत्यक्ष रूप से वृक्क से मूत्र द्वारा निरतर निकलती रहती है।

यद्यपि यह रोग सभी अवस्था के व्यक्तियो मे देखा जाता है, तथापि ४० वर्ष के ऊपर के ८० प्रति शत व्यक्तियों में होता है। स्थूलकाय तथा अत्यधिक वसा का सेवन एवं परिश्रम कम करनेवाले व्यक्तियों को यह रोग अत्यधिक होता है।

इसके मुख्य लक्षण ये हैं : रोगी को अत्यधिक भूख और प्यास लगती है, मूत्र की मात्रा तथा संख्या बढ़ जाती है। रोगी का शरीर क्रमश कृश होता जाता है, दुर्बलता अत्यधिक बढ़ जाती है तथा शरीर का भार गिर जाता है। त्वचा शुष्क हो जाती है, हाथ पैरों में दर्द होता है तथा कोष्ठबद्धता होती है। इस रोग के उपद्रव स्वरूप फोडा, जहरबाद तथा गैंग्रीन की अधिक संभावना होती है। इस रोग के कारण शरीर की अन्य रोगों के प्रतिरोध की क्षमता कम हो जाती है, जिसके फलस्वरूप अनेक घातक रोग, जैसे राजयक्ष्मा, हृदयविकार, नाड़ीगत विकार इत्यादि, घातक रूपो मे प्रकट होते हैं।

मतदान यंत्र (देखें पृष्ठ ११८)
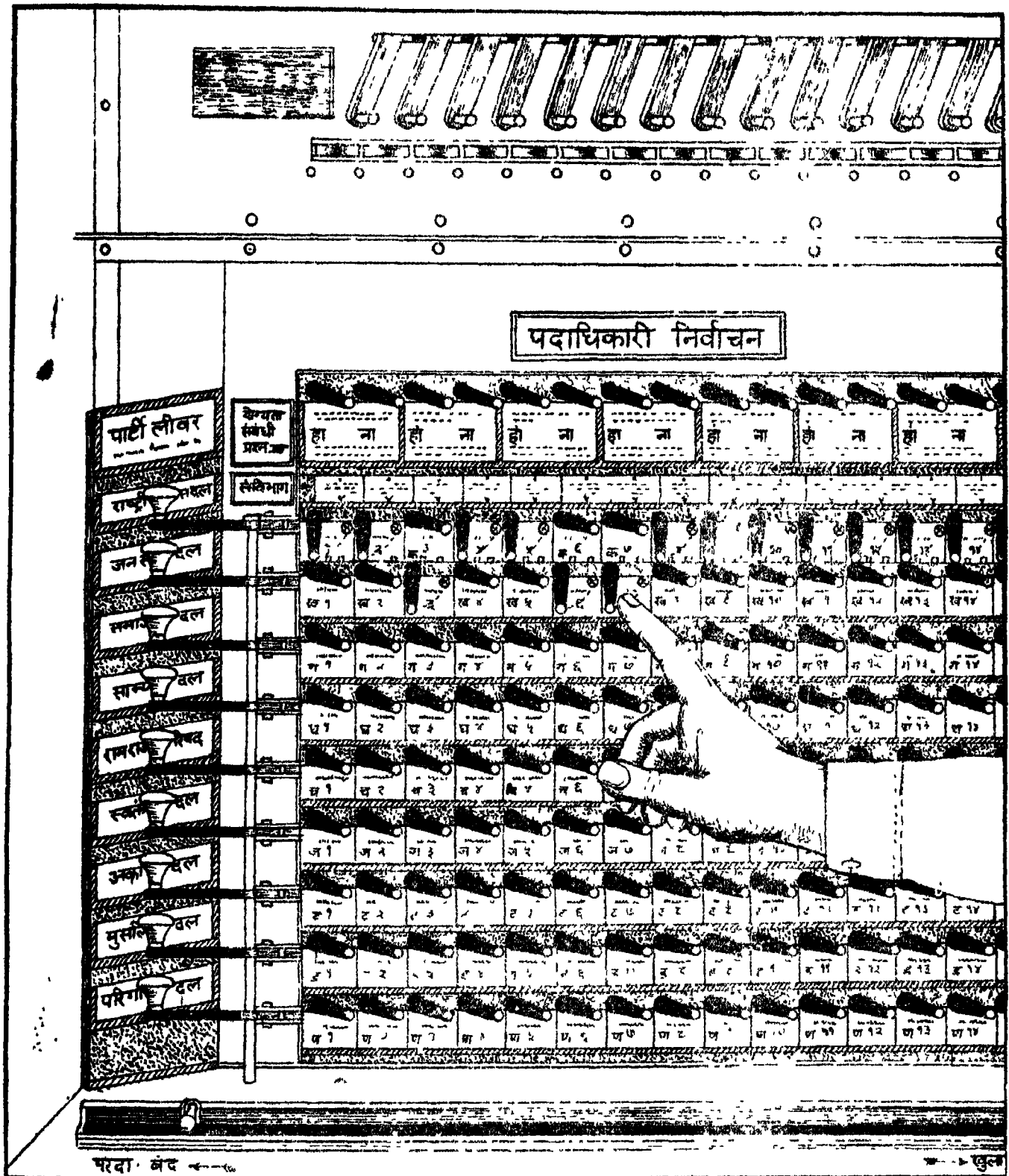
मतदान यत्र

चित्र में मतदाता ने प्रथम और द्वितीय पंक्तियों के लीवरों को ऊर्ध्वाधर कर क$_1$, क$_2$, क, क, क, से क तक तथा ख, ख और ख को अपना मत दिया है।

मधुमक्खी पालन (देख पृष्ठ १३५-१३६)

पेड़ से लटकता मधुमक्खियों का झुंड

मधुमक्खियाँ : पुंमधुप, रानी तथा श्रामक

मधुमक्खियों द्वारा निर्मित छत्ता

ऐसे रोगियों की मूत्रपरीक्षा में कई प्रति शत शर्करा मिलती है तथा रक्तपरीक्षा में भी प्राकृतिक रक्त शर्करा, अर्थात् १२० मिलिग्राम प्रति १०० सी० सी० से अधिक, मिलती है। यह परीक्षा सर्वदा प्रातःकाल, जब रोगी खाली पेट रहता है, कराते हैं।

कभी कभी इस रोग में रक्तशर्करा इतनी अधिक हो जाती है कि रोगी बेहोश हो सकता है। इस अवस्था को मधुमेह कोमा (Diabetic Coma) कहते हैं।

उपचार — प्रारंभ में मूत्र शर्करा की प्रति शत मात्रा के कम होने पर आहारनियंत्रण से ही पर्याप्त लाभ होता है। रोगी को हमेशा कार्बोहाइड्रेट युक्त भोज्य पदार्थ, जैसे चीनी, चावल, आलू, मक्का, चुकंदर इत्यादि का सेवन निषिद्ध है। इनके स्थान पर चने की रोटी, दाल तिक्त पदार्थ, जैसे करेला, नीम का फूल और साथ में गूलर, अंजीर इत्यादि का सेवन कराते हैं।

किसी योग्य चिकित्सक से मूत्र शर्करा की प्रति शत मात्रा के अनुसार इंसुलिन की मात्रा निर्धारित कराकर सूई देते हैं तथा गोलियों के रूप में उपलब्ध अनेक ओषधियों का मुख द्वारा सेवन कराते हैं।

२. डायबिटीज इंसिपिडस — यह एक दूसरे प्रकार का डायबिटीज रोग है, जिसमे बिना शर्करा के निकले ही अत्यधिक मात्रा में अनेक बार मूत्र होता है।

यह रोग मुख्यत: पीयूष ग्रंथि की पश्च पालि (posterior lobe of pituitary gland) के विकार के कारण होता है, जिसके फलस्वरूप पीयूष हार्मोन (pituitary hormone) का अभाव हो जाता है तथा इस रोग की उत्पत्ति होती है।

यह रोग १० से ४० वर्ष की अवस्था के बीच के व्यक्तियों में पुरुषों को अधिक हुआ करता है।

इसमे रोगी को अत्यधिक प्यास लगती है तथा वह बार बार मूत्रत्याग करने जाता है। रोगी को कोष्ठबद्धता रहती है तथा उसका मुख सूखा रहता है। अनेक बार पेशाब लगने के कारण रोगी को अच्छी नींद नहीं आती। ऐसे रोगियों की परीक्षा करने पर उनकी त्वचा सूखी तथा शरीर कृश दिखाई देता है। इसके मुख्य उपद्रवों में टी० बी० और कोमा प्रधान हैं।

उपचार — इसके उपचार में जल का पर्याप्त सेवन कराते है, परंतु नमक वाले आहार पदार्थों का सेवन कम कराते हैं। पिट्यूइट्रिन (pituitrin) की सूई देने से उसकी कमी पूरी हो जाती है, जिससे रोगी अच्छा होता है। [प्रि० कु० चौ०]

मध्यप्रदेश स्थिति : २३° ३०′ उ० अ० तथा ८०° ०′ पू० दे०। यह भारत का एक राज्य है। भारत के स्वतंत्र होने पर बरार, मध्य भारत तथा अनेक निकटवर्ती राज्यों को मिलाकर इस राज्य का निर्माण हुआ किंतु १ नवंबर, १९५६ ई० को राज्यों के पुनर्गठन स्वरूप इस राज्य मे मध्य भारत, विंध्य प्रदेश, भोपाल तथा राजस्थान के कुछ भाग मिला दिए गए एवं राज्य का कुछ दक्षिण-पश्चिमी भाग महाराष्ट्र राज्य मे मिला दिया गया। इसका क्षेत्रफल १,७१,२१७ वर्ग मील है। इस राज्य के उत्तर मे उत्तर प्रदेश, पूर्व मे बिहार तथा उड़ीसा, दक्षिण मे आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम में महाराष्ट्र एवं राजस्थान राज्य स्थित हैं।

धरातल — मध्यप्रदेश का उत्तरी भाग पठारी है। उत्तर-पश्चिम में ग्वालियर से प्रारंभ होकर पूर्व तक यह पठार फैला हुआ है। इसे बुंदेलखंड एवं बघेलखंड का पठारी क्षेत्र कहते हैं। पूर्व की ओर यह पठार कैमूर पर्वत तक चला गया है। इस भाग में सोन तथा उसकी सहायक नदियों की घाटियाँ हैं। इस भाग में भूक्षरण अधिक हुआ है। राज्य के पश्चिम में चंबल, बेतवा, धसान आदि नदियों की घाटियाँ हैं। ये नदियाँ आगे बहकर यमुना नदी मे मिल जाती हैं। इनकी घाटियाँ बड़े गहरे गहरे खड्डों (ravine) से भरी हैं। राज्य के पश्चिम में मालवा का पठार स्थित है, जो लगभग १,६०० फुट ऊँचा है। इस पठार का क्षेत्रफल ३,४६,००० वर्ग मील है। वास्तव मे मालवे का यह संपूर्ण भाग विंध्याचल के उत्तर में स्थित है। राज्य के मध्यवर्ती भाग मे विंध्याचल और सतपुड़ा पर्वत पश्चिम से पूर्व की ओर फैले हैं। इनके बीच मे नर्मदा की घाटी है। यह घाटी जबलपुर से हंडिया तक २०० मील लंबी तथा २० मील तक चौड़ी है। नर्मदा नदी अमरकंटक से निकल कर पश्चिम की ओर बहती हुई अरब सागर मे गिरती है। इसके दक्षिण में सतपुड़ा पर्वत स्थित है। इस पर्वत के पूर्वी सिरे पर महादेव तथा मैकल की पर्वत श्रेणियाँ हैं जो आगे चलकर छोटा नागपुर के पठार मे मिल जाती हैं। यह पर्वतमालाएँ २,००० से ३,००० फुट तक ऊँची हैं। सतपुड़ा के दक्षिण में ताप्ती नदी की घाटी है। इन नदियों की घाटियाँ छिछली तथा चट्टानी हैं। सतपुडा के दक्षिण-पूर्व में एक समतल मैदान है जिसके पूर्व में महानदी एवं दक्षिण में वेनगंगा नदियाँ बहती हैं।

जलवायु — राज्य की जलवायु विषम है। उत्तरी भाग गरम और शुष्क रहता है एवं मध्यवर्ती भाग जाड़ों मे शीतल तथा ग्रीष्म में गरम रहता है। पठार होने के कारण रात ठंढी रहती है। जबलपुर का औसत ताप लगभग २५° सें० रहता है। उत्तर-पश्चिमी भाग को छोड़कर शेष राज्य में वर्षा ३० से ६० इंच तक होती है। पश्चिमी भागों मे वर्षा ३० इंच से कम तथा भोपाल के पास ३० से ५० इंच तक वर्षा होती है। वर्षा अधिकतर अरब सागर के मानसून से होती है। नर्मदा एवं ताप्ती की घाटियों मे विशेषकर ग्रीष्मकालीन मानसून से वर्षा होती है।

मिट्टी — मध्यप्रदेश में अनेक प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। काली मिट्टी राज्य के पश्चिमी भाग मे और लाल मिट्टी राज्य के अन्य भागो मे पाई जाती है। उत्तर तथा उत्तर-पश्चिमी भागों में बलुई तथा कंकड़ीली पथरीली मिट्टी मिलती है। नर्मदा तथा ताप्ती नदियों की घाटियों में उपजाऊ मिट्टी के जमाव हैं।

वनस्पति — भारत मे असम के बाद वनों का सबसे बड़ा क्षेत्र यहीं है। यहाँ के मुख्य वृक्ष साज (saj), तेंदू, महुआ, बाँस, सागौन, साल, पलास, बबूल, हर्रा आदि हैं। यहाँ भारत का सर्वोत्तम सागौन उत्पन्न होता है। व्यापारिक लकड़ी के अतिरिक्त लाख, गोंद, बीड़ी के पत्ते आदि भी वनों से प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ हैं। बहुत से भागों में वनों को साफ करके कृषि योग्य भूमि प्राप्त कर ली गई है।

कृषि—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार यहाँ के ७८ प्रति शत लोग कृषिकार्य में लगे हैं। धान की कृषि सबसे अधिक भूभाग में की जाती है। अन्य प्रमुख फसलें हैं—गेहूँ, ज्वार, बाजरा, कपास, तेलहन एवं दलहन। छत्तीसगढ़ के मैदान में तथा ताप्ती, नर्मदा, वेनगंगा की घाटियों में धान की उपज के प्रमुख क्षेत्र स्थित हैं। मालवा के पठारी प्रदेशों में गेहूँ तथा कपास की खेती विशेष रूप से की जाती है। मध्यवर्ती और दक्षिण पश्चिमी भागों में कपास एवं तेलहन बहुत पैदा होता है। इस क्षेत्र में गन्ना भी पैदा किया जाता है। वर्षा की कमी को पूरा करने के लिये सन् १९५२ में चंबल घाटी योजना तथा १९५८ में होशंगाबाद जिले की वेतवा योजना को कार्यान्वित किया गया है।

खनिज—यहाँ खनिज पदार्थों की अधिकता है। प्रमुख खनिजों में लोहा, कोयला, बौक्साइट, चूने का पत्थर, मैंगनीज, संगमरमर, अभ्रक, ताँबा आदि हैं। सन् १९५६ के अनुसार राज्य में ६७ कोयले की, २७७ मैंगनीज की, ६७ चूने के पत्थर की, नौ चीनी मिट्टी की, छह बौक्साइट की, १२ टैल्क की, दो फेल्सपार की तथा तीन हीरे की खानों (इनमें भारत के ९५ प्रति शत हीरे मिलते हैं) में खुदाई हो रही थी। कोयला सोहागपुर, उमरिया, सरगुजा, रामगढ़, बिलासपुर, छिंदवाड़ा तथा शहडोल के पास, चूने का पत्थर संपूर्ण पठारी क्षेत्र में, हीरा पन्ना के पास, मैंगनीज बालाघाट, जबलपुर, दुर्ग तथा बस्तर के पास, लोहा दुर्ग, बस्तर तथा बिलासपुर में मिलता है। जबलपुर के पास नर्मदा की संगमरमर की चट्टानों से भरी घाटी का दृश्य बड़ा मनोहारी लगता है।

उद्योग—उद्योगों में भी इस राज्य ने काफी प्रगति कर ली है। भारत का पहला अखबारी कागज बनाने का कारखाना यहीं पर नेपा नगर में स्थापित किया गया। १९५६ ई० में सूती कपड़े के १६ कारखाने थे। इसके अतिरिक्त सीमेंट, काँच, चीनी, बिस्कुट, दियासलाई, रेशमी वस्त्र, रबर का सामान, औजार तथा तेल एवं वनस्पति के कारखाने हैं। कटनी सीमेंट का बड़ा केंद्र है। जबलपुर में हथियार तथा रायगढ़ में कोसा रेशम बनता है। कुटीर उद्योगों में चमड़े का माल, खिलौने, छपाई का काम, स्लेट, खड़िया, रंग, पेंट, साबुन, बीड़ी, ऊनी तथा रेशमी माल, काँच के बरतन आदि बनाने का कार्य होता है। भिलाई में इस्पात बनाने का प्रसिद्ध कारखाना है।

जनसंख्या—मध्यप्रदेश की जनसंख्या ३,२३,७२,४०८ (१९६१) है, जिसमें १,६५,७८,२०४ पुरुष एवं १,५७,९४,२०४ स्त्रियाँ हैं। शिक्षितों की संख्या १७१ व्यक्ति प्रति १,००० है। राज्य के इंदौर जिले में सबसे अधिक शिक्षित तथा झबुआ जिले में सबसे कम शिक्षित व्यक्ति हैं। जनसंख्या का घनत्व सिहोर में सबसे अधिक तथा बिलासपुर में सबसे कम है। यहाँ के कुछ भागों में गोंड़, भील आदिवासी जातियाँ रहती हैं जिनकी बोलियाँ, रीतिरिवाज अलग अलग हैं। राज्य की प्रमुख भाषा हिंदी है। प्रमुख नगर ग्वालियर, इंदौर, भोपाल, जबलपुर, रीवाँ, कटनी, बिलासपुर तथा सागर आदि हैं। भोपाल यहाँ की राजधानी है। बंबई से दिल्ली, कलकत्ता, झाँसी, इलाहाबाद जानेवाली सड़कें इसी राज्य से होकर जाती हैं। मध्यवर्ती और दक्षिण-पूर्वी रेलें भी यहीं से होकर जाती हैं।

ऐतिहासिक महत्व—इसका ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं है। साँची का स्तूप, त्रिपुरी के खंडहर, ग्वालियर का दुर्ग, उदयगिरि की गुफाएँ, उज्जैन की वेधशाला तथा खजुराहो के मंदिर आदि प्राचीन भारत के गौरव हैं। [र० च० दु०]

मध्यनूतन कल्प (Miocene Period) तृतीय महाकल्प आज से पाँच करोड़ वर्ष पूर्व आरंभ होता है। इस महाकल्प का सामयिक विभाजन जीवविकास के आधार पर, सर चार्ल्स लॉयल ने १८३३ ई० में तीन भागों, आदिनूतन (Eocene), मध्यनूतन (Miocene) और अतिनूतन (Pliocene) में किया था। इसके पश्चात् दो अन्य कल्प भी इसके अंतर्गत ले लिए गए। मध्यनूतन कल्प अल्पनूतन (Oligocene) कल्प के बाद आरंभ होता है। इसका समय आज से २½ करोड़ वर्ष पूर्व माना जाता है। इस समय के शैलसमूह पृथ्वी पर बिखरे हुए पाए जाते हैं, जिनसे यह विदित होता है कि ये किसी बड़े जलसमूह या समुद्र में नहीं बने हैं, अपितु छोटी छोटी झीलों में इनका निक्षेपण हुआ है। इसका मुख्य कारण पृथ्वी के धरातल का शनैः शनैः ऊँचा होना है। यूरोप में ऐल्पस् और एशिया में हिमालय के प्रकट हो जाने से, वहाँ का जलसमूह या तो सूख गया था, या छोटी छोटी झीलों में परिवर्तित हो गया, जिसके फलस्वरूप इस कल्प के शैलसमूहों का समस्तरक्रम (homotaxis) केवल उनमें पाए जानेवाले फॉसिलों के द्वारा हो सकता है।

मध्यनूतन कल्प के जीव एवं वनस्पतियाँ — यद्यपि इस समय का जलवायु शीतोष्ण था, फिर भी कुछ पौधों, जैसे सीनामोमम (Cinnamomum), के कहीं कहीं पर मिलने से यह मालूम होता है कि जलवायु समशीतोष्ण भी था। इस कल्प की वनस्पति में बाँज, एल्म (elm), भुर्ज (birch), बीच (beech), ऐल्डर (alder), होली (holly), आइवी (ivy) आदि मुख्य थे। अकेशरुकी में प्रवाल और एकाइनॉड विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मध्यनूतन कल्प के फॉसिलों में स्तनधारियों की संख्या अत्यधिक थी। इनमें सूँड़वाले जीव, जैसे मैस्टोडॉन तथा डाइनोथेरियम भी थे। घोड़ों का विकास चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

विस्तार एवं कालविभाजन — मध्यनूतन कल्प के शैलसमूह यूरोप, एशिया, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, उत्तरी एवं दक्षिणी अमरीका, मेक्सिको और उत्तरी अफ्रीका में पाए जाते हैं। समय के अनुसार इनका वर्गीकरण पाँच अवधियों में किया जाता है। भारत में निम्न मध्यनूतन कल्प समुद्री निक्षेपों से, तथा उच्च मध्यनूतन कल्प अक्षारजलीय निक्षेप से, जो शिवालिक प्रणाली के अंतर्गत हैं, निरूपित होता है। इस युग की शिलाएँ सिंध, बलूचिस्तान, कश्मीर, पंजाब, हिमाचल प्रदेश एवं असम में स्थित हैं। सिंध में गजमेल समूह, बलूचिस्तान में बुग्ती शैलस्तर, कश्मीर और पंजाब में मरी श्रेणी, शिमला में दगशाई और कसौली श्रेणी तथा असम में सुर्मा श्रेणी इसी कल्प के शैलस्तर हैं। इस युग के आरंभ में आग्नेय उद्भेदन भी हुए, जिनके उदाहरण भारत के उत्तरपश्चिमी भागों में मिलते हैं। [रा० च० सि०]

मध्ययुग रोमन साम्राज्य के पतन के उपरांत, पाश्चात्य सभ्यता एक हजार वर्षों के लिये उस युग में प्रविष्ट हुई, जो साधारणतया मध्ययुग के नाम से विख्यात है। ऐतिहासिक रीति से यह कहना कठिन

है कि किस किस काल अथवा घटना से इस युग का प्रारंभ और अंत होता है। मोटे तौर से मध्ययुग का काल पश्चिमी यूरोप में पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ से पंद्रहवी तक कहा जा सकता है।

तथाकथित मध्ययुग में एकरूपता नहीं और इसका विभाजन दो निश्चित एवं पृथक् युगों में किया जा सकता है। ११वी शताब्दी के पहले का युग सतत संघर्षों, अनुशासनहीनता, तथा निरक्षरता के कारण अंधयुग कहलाया, यद्यपि इसमे भी यूरोप को रूपातरित करने के कदम उठाए गए। इस युग का प्रारंभ रोमन साम्राज्य के पश्चिमी यूरोप के प्रदेशो में, बर्बर गोथ फ्रैंक्स वेडल तथा बरगंडियन के द्वारा स्थापित जर्मन साम्राज्य से होता है। यहाँ तक कि शक्तिशाली शार्लमेन (७४२–८१४) भी थोड़े ही समय के लिये व्यवस्था ला सका। शार्लमेन के प्रपौत्रो की कलह तथा उत्तरी स्लाव और सरासेन के आक्रमणो से पश्चिमी यूरोप एक बार फिर उसी अराजकता को पहुँचा जो सातवी और आठवी शताब्दी में थी। अतएव सातवी और आठवी शताब्दी का ईसाई संसार, प्रथम शताब्दी के लगभग के ग्रीक रोम जगत् की अपेक्षा सभ्यता एवं संस्कृति की निम्न श्रेणी पर था। गृहनिर्माण विद्या के अतिरिक्त, शिक्षा, विज्ञान तथा कला किसी भी क्षेत्र मे उन्नति नही हुई थी। फिर भी अंधयुग उतना अंध नहीं था, जितना बताया जाता है। ईसाई भिक्षु एवं पादरियों ने ज्ञानदीप को प्रज्वलित रखा।

११वी शताब्दी के अंत से १५वी शताब्दी तक के उत्तर मध्य युग मे मानव प्रत्येक दिशा में उन्नतिशील रहा। राष्ट्रीय एकता की भावना इग्लैंड मे ११वी शताब्दी मे, तथा फ्रांस मे १२वीं शताब्दी मे आई। शार्लमेन के उत्तराधिकारियों की शिथिलता तथा ईसाई चर्च के अभ्युदय ने, पोप को ईसाई समाज का एकमात्र अधिष्टाता बनने का अवसर दिया। अतएव, पोप तथा रोमन सम्राट् की प्रतिस्पर्धा, पावन धर्मयुद्ध, विद्या का नियंत्रण तथा रोमन कैथोलिक धर्म के अतर्राष्ट्रीय स्वरूप इत्यादि मे इस प्रतिद्वंद्विता का आभास मिलता है।

१३वी शताब्दी के अंत तक राष्ट्रीय राज्य इतने शक्तिशाली हो गए थे कि चर्च की शक्ति का ह्रास निश्चित प्रतीत होने लगा। नवी शताब्दी से १४वी शताब्दी तक, पश्चिमी यूरोप का भौतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक आधार सामतवाद था, जिसके उदय का कारण राजा की शक्तियो का क्षीण होना था। समाज का यह संगठन भूमिव्यवस्था के माध्यम से पैदा हुआ। भूमिपति सामंत को अपने राज्य के अंतर्गत सारी जनता का प्रत्यक्ष स्वामित्व प्राप्त था। मध्ययुग नागरिक जीवन के विकास के लिये उल्लेखनीय है। अधिकांश मध्ययुगीय नगर सामतों की गढ़ियों, मठों तथा वाणिज्य केंद्रो के आस पास विकसित हुए। १२वी तथा १३वी शताब्दी में यूरोप मे व्यापार की उन्नति हुई। इटली के नगर विशेषतया वेनिस तथा जेनोआ पूर्वी व्यापार के केंद्र बने। इनके द्वारा यूरोप मे रूई, रेशम, बहुमूल्य रत्न, स्वर्ण तथा मसाले मँगाए जाते थे। पुरोहित तथा सामत वर्ग के समानातर ही व्यापारिक वर्ग का ख्याति प्राप्त करना मध्ययुग की विशेषताओं मे है। इन्ही मे से आधुनिक मध्यवर्ग प्रस्फुटित हुआ। मध्ययुग की कला तथा बौद्धिक जीवन अपनी विशेष सफलताओं के लिये प्रसिद्ध है। मध्ययुग मे लैटिन अंतरराष्ट्रीय भाषा थी, किंतु ११वी शताब्दी के उपरांत वर्नाक्यूलर भाषाओं के उदय ने इस प्राचीन भाषा की प्राथमिकता को समाप्त कर दिया। विद्या पर से पादरियों का स्वामित्व भी शीघ्रता से समाप्त होने लगा। १२वी और १३वी शताब्दी से विश्वविद्यालयों का उदय हुआ। अरस्तू की रचनाओं के साथ साथ, कानून, दर्शन तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन सर्वप्रिय होने लगा। किंतु वैज्ञानिक साहित्य का सर्वथा अभाव था। भवन-निर्माण-कला की प्रधानता थी, जैसा वैभवशाली चर्च, गिरजाघरों तथा नगर भवनो से स्पष्ट है। भवननिर्माण की रोमन पद्धति के स्थान पर गोथिक पद्धति विकसित हुई। आधुनिक युग की अधिकांश विशेषताएँ उत्तर मध्ययुग के प्रवाहों की प्रगाढ़ता है।

सं० ग्रं० — टामसन : हिस्ट्री ऑव मिडिल एजेज; मायर्स : द मिडिल एजेज; डी० सी० मनरो : द मिडिल एजेज।

[मि० शं० मि०]

मध्वाचार्य इनको पूर्णप्रज्ञ और आनदतीर्थ भी कहते हैं। इनका जन्म दक्षिण कनाड जिले के उडुपि नामक स्थान के पास एक गाँव में सन् ११९९ ई० में हुआ। अल्पावस्था मे ही ये वेद और वेदांगों के अच्छे ज्ञाता हो गए और इन्होंने सन्यास ले लिया। पूजा, ध्यान, अध्ययन और शास्त्रचर्चा मे इन्होने अनेक वर्ष बिताए। शांकर मत के अनुयायी अच्युतप्रेक्ष नामक एक आचार्य से इन्होंने विद्या ग्रहण की और गुरु के साथ शास्त्रार्थ करके इन्होने अपना एक अलग मत बना लिया जिसको 'द्वैत दर्शन' कहते हैं। इनके अनुसार विष्णु ही परमात्मा हैं। रामानुज की तरह इन्होंने श्री विष्णु के आयुधों, शंख चक्र, गदा और पद्म से अपने अंगो को अलकृत करने की प्रथा का समर्थन किया। देश के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने अनुयायी बनाए। उडुपि में कृष्ण के मंदिर का स्थापन किया, जो उनके सारे अनुयायियों के लिये तीर्थस्थान बन गया। यज्ञो में पशुबलि बद कराने का सामाजिक सुधार इन्ही की देन है। ७९ वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हो गया। नारायणाचार्य कृत मध्वविजय और मणिमंजरी नामक ग्रंथो मे मध्वाचार्य की जीवनी और कार्यों का पारंपरिक वर्णन मिलता है। परतु ये ग्रंथ आचार्य के प्रति लेखक के श्रद्धालु होने के कारण अतिरंजना, चमत्कार और अविश्वसनीय घटनाओ से पूर्ण है। अत इनके आधार पर कोई यथातथ्य विवरण मध्वाचार्य के जीवन के सबंध मे नही उपस्थित किया जा सकता।

मध्वाचार्य ने द्वैत दर्शन के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा और अपने वेदात के व्याख्यान की तार्किक पुष्टि के लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ अनुव्याख्यान भी लिखा। भगवद्गीता और उपनिषदों पर टीकाएँ, महाभारत के तात्पर्य की व्याख्या करनेवाला ग्रंथ भारततात्पर्यनिर्णय तथा श्रीमद्भागवतपुराण पर टीका ये इनके अन्य ग्रंथ हैं। ऋग्वेद के पहले चालीस सूक्तों पर भी एक टीका लिखी और अनेक स्वतंत्र प्रकरणों मे अपने मत का प्रतिपादन किया। ऐसा लगता है कि ये अपने मत के समर्थन के लिये प्रस्थानत्रयी की अपेक्षा पुराणो पर अधिक निर्भर हैं।

मध्व के दार्शनिक सिद्धातों के लिये देखिए—'द्वैत'।

[रा० चं० पां०]

मनःश्रांति (Neurasthenia) शारीरिक और मानसिक थकान की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति निरंतर थकान और शक्ति के ह्रास का अनुभव करता है।

मन:श्रांति के मुख्य कारण अत्यधिक शारीरिक परिश्रम, दीर्घकालीन संवेगात्मक तनाव, मानसिक श्रम और चिंता इत्यादि हैं। चाय, काफी तथा मदिरा का अत्यधिक सेवन, इन्फ्लुएंजा, आंत्रिक ज्वर एवं प्रवाहिका (पेचिश) आदि भी इसकी उत्पत्ति और विकास में योग देते हैं।

इसके लक्षण मुख्यतया दो प्रकार के हैं : (१) शारीरिक तथा (२) मानसिक। शारीरिक लक्षणों के अंतर्गत साधारणतया व्यक्ति को निरंतर शारीरिक क्षीणता, रक्ताल्पता, अनिद्रा, थकान एवं शरीर का भारीपन और विशेष रूप से आमाशय संबंधी विकार, जैसे औदरिक क्लेश आदि, खट्टी डकार आना, कब्ज रहना तथा हृदय संबंधी विकार, जैसे धड़कन, एवं सर का भारीपन तथा आमाशयी धमनियों में धड़कन इत्यादि का अनुभव होता है। इनके अतिरिक्त व्यक्ति अत्यधिक संवेदनशीलता, मेरुदंड के कुछ भागों में वेदना, मासपेशियों मे व्यतिक्रम, पलक, जिह्वा और हाथो मे कपन का भी अनुभव करता है। मानसिक लक्षणों के अंतर्गत व्यक्ति को सिर के अंदर तनाव तथा कुछ रेंगने का अनुभव होता है। सर्वांग वेदना, किसी चीज पर एकाग्रचित्त न हो पाना और अधिक देर तक मानसिक कार्य करने में असमर्थ रहना भी इसके लक्षण हैं। रोगी के स्वभाव मे संवेगात्मक अस्थिरता, चिड़चिड़ापन, उदासीनता और शीघ्र घबड़ा जाने की प्रवृत्ति आ जाती है। गंभीर अवस्था में रोगी की संकल्प शक्ति का इतना ह्रास हो जाता है कि वह कई सप्ताह एव माह तक विश्राम करने पर भी मानसिक तथा शारीरिक शक्ति को पुन: जाग्रत नही कर पाता। इस रोग मे व्यक्ति को थकावट विशेष प्रकार के श्रमो से ही उत्पन्न होती है, जैसे व्यवसाय संबंधी वार्तालाप इत्यादि। इसमें जो कार्य रोगी को जितना ही अप्रिय होगा, रोगी की थकान तथा मन:श्रांति उतनी ही अधिक होगी। इस रोग में कभी कभी उपद्रव स्वरूप उन्माद की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

उपचार — मन श्रांति के स्थायी उपचार के लिये उसके उत्तेजक कारणो का पता लगाना अत्यंत आवश्यक है, जैसे मानसिक चिंता, विषाक्तता (toxaemia), अथवा आघात। जीर्ण रोगियों के लिये पूर्ण विश्राम, उत्तेजक वातावरण मे परिवर्तन तथा मनोनुकूल वार्तालाप आवश्यक है। उपर्युक्त उपचार के अतिरिक्त रोगी को पौष्टिक आहार एवं दूध, फल आदि का अत्यधिक सेवन करना चाहिए तथा सुबह शाम टहलना एव हलकी कसरत करना नितांत आवश्यक है। अनिद्रा की अवस्था के लिये मृदु प्रकार की निद्राकारी ओषधियो का सेवन करना उत्तम है। अन्य उपचार मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के अंतर्गत कराना चाहिए। [प्रि॰ कु॰ चौ॰]

मनरो, सर टामस (१७६१-१८२७), ग्लासगो का निवासी था। स्थानीय विश्वविद्यालय मे उसने उच्च शिक्षा पाई तथा कई यूरोपीय भाषाओ का अध्ययन किया। आर्थिक कठिनाई के कारण वह सेना में भर्ती होकर १७८० मे मद्रास आया।

योग्यता तथा कर्तव्यपरायणता के कारण मनरो की पदोन्नति उत्तरोत्तर होती गई। वह कई सैनिक तथा असैनिक पदों पर रहा। मैसूर के दूसरे तथा तीसरे युद्धों में उसने भाग लिया। १७९२ में कैप्टेन बना। उसी वर्ष वह बारामहल का कलेक्टर नियुक्त हुआ। वहाँ उसने कर्नल रीड के आदेशानुसार रैयतवारी बंदोबस्त कायम किया, दक्षिण की भाषाओं का अध्ययन किया तथा फारसी सीखी। अंतिम मैसूर युद्ध मे वह मेजर बना। युद्ध के पश्चात् मैसूर-भविष्य-निर्माण कमीशन का वह सचिव नियुक्त हुआ। वह उस राज्य को कायम रखने के पक्ष मे नहीं था।

कर्नाटक का कलेक्टर बनने पर उसने वहाँ भी रैयतवारी बंदोबस्त कायम किया। फिर १८०७ तक वह निजाम से प्राप्त इलाकों में प्रधान कलक्टर रहा। वहाँ उसने पालीगारों को दबाया, रैयतवारी बंदोबस्त द्वारा सरकारी आय बढ़ाई तथा पुलिस व्यवस्था द्वारा शांति एव सुरक्षा स्थापित की। दूसरे मराठा युद्ध मे उसने आर्थर वेलेजली के संमुख एक सैनिक योजना पेश की। साम्राज्य मे बगावत की संभावना को हटाने के लिये उसने अंग्रेज सिपाहियों की संख्यावृद्धि पर जोर दिया जिससे उनमे और देशी सिपाहियों मे १ : ४ का अनुपात हो जाय। उसके मतानुसार १८०६ में वेलोर के सैनिक विद्रोह के पीछे कोई बड़ा राजनीतिक षड्यंत्र न था।

१८०७ मे मनरो इंग्लैंड चला गया। १८१४ मे वह न्याय कमीशन का अध्यक्ष होकर मद्रास आया। उसकी महत्वपूर्ण सिफारिशें कार्यान्वित हुईं। पुलिस और मजिस्ट्रेट के कार्य जजो से लेकर कलेक्टर को सौंपे गए। १८१७ मे मनरो पेशवा से प्राप्त दक्षिणी इलाकों का कमिश्नर हुआ। सहायक संधियों के दोषो पर उसने प्रकाश डाला। पिंडारियों तथा मराठो के युद्ध मे उसे ब्रिगेडियर जेनरल का पद मिला।

सन् १८२० से १८२७ तक सर टामस मनरो मद्रास का गवर्नर रहा। रैयतवारी भूमिव्यवस्था को इसी समय असली रूप मिला। उसने भारतवासियो को ऊँचे शासकीय पदो पर नियुक्त करने पर जोर दिया। जनता की धार्मिक परंपराओ के प्रति उसने सम्मान दिखाया। शिक्षा की व्यवस्था की। इन कार्यों से उसकी लोकप्रियता बढी पर साम्राज्य की सुरक्षा के लिये उसने प्रेस की स्वतत्रता को घातक समझा। प्रथम बर्मी युद्ध मे उसने महत्वपूर्ण सहायता दी। १८२७ मे उसकी मृत्यु हो गई। [ही॰ ला॰ गु॰]

मनशेरजी खरेघाट पारसी समुदाय के पथप्रदर्शक मनशेरजी पेस्तनजी खरेघाट का जन्म दिसबर, १८६४ मे हुआ था। आप बचपन से ही बड़े मेधावी थे। मुख्य रूप से गणित की समस्याओं को हल करके आपने अपनी कुशलता का परिचय दिया। मैट्रीकुलेशन की परीक्षा मे आप १३ वर्ष की उम्र में ही उत्तीर्ण हो गए और तत्पश्चात् कालेज की पढाई छोड़कर इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा के लिये अपने को तैयार किया। इनाम और छात्रवृत्ति प्राप्त करते हुए आपने गौरवपूर्ण ढंग से १८८२ मे उस परीक्षा मे सफलता प्राप्त की और वकालत की पढ़ाई को जारी रखा। न्यायालयो में जाते समय आपने देखा कि एक स्त्री ने अपने पति की हत्या का प्रयास किया जिसके लिये उसे प्राणदंड की सजा दी गई। इसे देखकर आपने अपने पिता को लिखा कि मेरे विचार से 'यह प्राणदंड की आज्ञा निर्दयतापूर्ण न्याय' है।

भारत लौटने पर आप सहायक कलेक्टर, मैजिस्ट्रेट, सहायक न्यायाधीश और सेशन न्यायाधीश के रूप में क्रमशः थाना, बस्ती, बरौंच और शिकारपुर में रहे। जब आप रत्नगिरि में सेशन न्यायाधीश थे, आप बंबई के उच्च न्यायालय की बेंच पर आसीन किए गए। परंतु आप शीघ्र ही छुट्टी पर चले गए जिसका प्रमुख कारण प्राणदंड की सजा के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट करना था। आप पुनः रत्नगिरि के सेशन जज बना दिए गए जहाँ आप संन्यासी की भाँति धार्मिकतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण सबके द्वारा पूजित तथा प्रशंसित हुए। गरीब जनता के लिये आपके हृदय में जो स्नेह था उसके कारण उनकी सेवा करने के लिये आपने अवकाश-प्राप्ति की उम्र तक पहुँचने के पूर्व ही सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। पारसी पंचायत के 'बोर्ड ऑव ट्रस्टी' के सभापति के रूप में आप जीवन के अंतिम दिनों तक कार्य करते रहे। [द० म०]

मनसूर अबू जाफर अब्दुल्लाह बिन मुहम्मद, दूसरे अब्बासी खलीफा, (७५४ ई०–७७५ ई०) ने अब्बासी शासन को दृढ बनाने के अतिरिक्त अपनी राजधानी के लिये बगदाद का निर्माण कराया। प्रसिद्ध बरमकी वजीर खालिद बिन बरमक उसका मुख्य परामर्शदाता था।

सं० ग्रं०—तबरी, अबू जाफर मुहम्मद बिन जरीर : तारीख अलरसुल वलमुलूक, लीडेन, १८७६, १६०१; ब्रोकमान (Brockelmann) हिस्ट्री ऑव दि इस्लामिक पीपुल, लंदन, १६५६। [सै० अ० अ० रि०]

मनसूर अल कासिम बिन मुहम्मद (मृ० १६२० ई०) आपने यमन में स्वतंत्र बादशाही की स्थापना की, तदुपरांत यमन जैदी फिरके का दृढ केंद्र बन गया।

सं० ग्रं०—ट्रिलटन (Trilton) : द राइज ऑव द इमाम्स ऑव सन्ना, आक्सफोर्ड १६२५। [सै० अ० अ० रि०]

मनसूर, अल हल्लाज आपका जन्म बैजा के निकट तूर (फारस) मे ८५८ ई० मे हुआ। आपने फारस और मध्य एशिया के अनेक भागों तथा भारत की भी यात्रा की। सूफी मत में अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) का प्रतिपादन कर, आपने उसे अद्वैत पर आधारित कर दिया। आप हुलूल अथवा प्रियतम मे तल्लीन हो जाने के समर्थक थे। सर्वत्र प्रेम के सिद्धांत मे मस्त आप इबलीस (शैतान) को भी ईश्वर का सच्चा भक्त मानते थे। समकालीन आलिमो एवं राजनीतिज्ञों ने आपके मुक्त मानव भाव का घोर विरोध कर २६ मार्च, ६२२ ई० को निर्दयतापूर्वक बगदाद मे आठ वर्ष बंदीगृह में रखने के उपरात आपकी हत्या करा दी। किंतु साधारणतः मुसलमान मानवता के इस पोषक को शहीद मानते हैं। आपकी रचनाओं में से किताब-अल-तवासीन को लुई मसीनियों ने पेरिस से १६१३ ई० मे प्रकाशित कराया। आपके अन्य फुटकर लेख और शेर बड़े प्रसिद्ध हैं।

सं० ग्रं०—ब्राउन, ई० जी० : लिट्रेरी हिस्ट्री ऑव पर्शिया, खंड १, कैंब्रिज, १६६४। [सै० अ० अ० रि०]

मनसूर, अहमद बिन मुहम्मद मराको के सादियान वंश का ७ वाँ बादशाह (१५७४–१६०३ ई०) जिसने तुर्की, स्पेन एवं अन्य यूरोपीय शक्तियों के विरोध के बावजूद अपनी सत्ता की पूर्ण रक्षा की। सूडान से उसने अपनी ताकत का लोहा मनवा लिया था। उसके राज्यकाल में मराको को अत्यधिक समृद्धि प्राप्त हुई। [सै० अ० अ० रि०]

मनसूर इब्न अबी आमीर (मृ० १० अगस्त, १००२ ई०) इसको स्पेन के उम्या खलीफाओं के समय बड़ा यश प्राप्त हुआ। इसने ईसाइयों के विरुद्ध अनेक युद्धों मे भाग लिया और कारडोवा की जामा मस्जिद के विस्तार को बहुत बढ़ा दिया। इसके कारण स्पेन की मुस्लिम सत्ता अत्यधिक दृढ़ हो गई थी।

सं० ग्रं०—डोज़ी, आर० : स्पैनिश इस्लाम (अनूदित), लंदन, १६१३ [सै० अ० अ० रि०]

मनसूर इस्माईल अबू ताहिर, तीसरा फातेमी खलीफा (६४६ ई० ६५३ ई०), इफ़रीकिया (लातीनी अफरीका अथवा बरबरी के पूर्वी भाग) का बड़ा यशस्वी शासक हुआ है। उसने कैरवान एवं महदीया से सटाकर अपनी राजधानी सबरा मे बनाई जो मनसूरिया के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सं० ग्रं० — इब्न खाल्लिकान : बायोग्राफिकल डिक्शनरी; रिजवी, सै० अ० अ० : इब्ने खलदून का मुकद्दमा, लखनऊ, १६६१। [सै० अ० अ० रि०]

मनसूर, बरबरी (अफ्रीका माइनर) के हम्मादीद वंश का छठा बादशाह (१०८८–११०४ ई०), इसने अरबी बद्दुओं के आक्रमण के विरुद्ध अपने राज्य की दृढ़तापूर्वक रक्षा की। १०६०-६१ ई० में अपनी नई राजधानी बूगी का निर्माण कराया। इसके अतिरिक्त उसने कई सुंदर भवन भी बनवाए।

सं० ग्रं० — रिजवी, सै० अ० अ०. इब्ने खलदून का मुकद्दमा, लखनऊ, १६६१। [सै० अ० अ० रि०]

मनसूर बिन अली (मृ० १००३ ई०) इस्लाम के जैदी फिरके का प्रचारक हुआ है। जैदी फिरका यमन मे काफी प्रसिद्ध था। [स० अ० अ० रि०]

मनसूर बिन नूह अबू सालेह, सामानी वंश का सुलतान (६६१–६७६ ई०) जिसने खुरासान एवं ट्रांसाक्सियाना (मावरा उंनहर) पर राज्य किया। उसके अंगरक्षक अल्पतेगीन ने ग़ज़नी के स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। [सै० अ० अ० रि०]

(द्वितीय) अबुल हारिस ने ट्रांसाक्सियान पर ६६७ से ६६६ ई० तक राज्य किया। उसके समय मे सामानी वंश का राज्य बड़ी हीन दशा को प्राप्त हो गया था।

सं० ग्रं० — डब्ल्यू० बर्थोल्ड : तुर्किस्तान डाउन टु द मुगल इनवेजन, लंदन, १६२८, [सै० अ० अ० रि०]

मनियारसिंह जन्म वाराणसी मे स० १८०७ वि० के लगभग हुआ। इनके पिता का नाम श्यामसिंह था। 'हनुमत् छब्बीसी' नामक रचना से ज्ञात होता है कि इन्होंने कुछ समय बलिया मे भी बिताया था। रामचंद्र पंडित इनके प्रमुख आश्रयदाता और कृष्णलाल इनके काव्यगुरु थे। रचनाओं में कवि ने कहीं कहीं 'यार' उपनाम का भी प्रयोग किया है। अब तक इनके कुल चार ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—(१) 'सौंदर्यलहरी'

(रचनाकाल सं० १८४३), (२) 'महिम्नभाषा' या 'भावार्थचंद्रिका' (सं० १८५३), (३) हनुमत् छब्बीसी, और (४) सुंदरकांड रामायण। [रा० फे० त्रि०]

मनीपुर स्थिति : २४° ३०' उ० अ० तथा ६४° ०' पू० दे०। पूर्वी पाकिस्तान के पूर्व में, असम और बर्मा की सीमा पर स्थित, भारत का एक केंद्रशासित राज्य है। पहले यह रियासत थी। इसका क्षेत्रफल ८,६२८ वर्ग मील तथा जनसंख्या ७,८०,०३७ (१९६१) है। यहाँ की राजधानी इंफाल है। यह संपूर्ण भाग पहाड़ी है। जलवायु गरम एवं तर है तथा वार्षिक वर्षा का औसत ६५ इंच है। यहाँ नागा तथा कूकी जाति की लगभग ६० जनजातियाँ निवास करती हैं। यहाँ के लोग संगीत तथा कला में बड़े प्रवीण होते हैं। यहाँ यद्यपि कई बोलियाँ बोली जाती हैं तथापि हिंदी का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। उद्योगों में करघा उद्योग प्रमुख है। पहाड़ी ढालों पर चाय तथा घाटियों में धान की उपजें प्रमुख हैं। यहीं से होकर एक सड़क बर्मा को जाती है। [र० चं० दु०]

मनीला स्थिति : १४° ४०' उ० अ० तथा १२१° ३' पू० दे०। फिलिपीन के सबसे बड़े लूजॉन द्वीप के पश्चिमी किनारे पर स्थित फिलिपीन गणतंत्र का सबसे बड़ा एवं आधुनिक नगर है। इस नगर का निर्माण स्पेन निवासियों ने किया। अपनी राजनीतिक महत्व की स्थिति के कारण यह विभिन्न प्रशासकों के अधिकार में रहा। १७६२-६३ ई० में अंग्रेजों ने तथा १८९८ ई० में अमरीका ने इसपर अधिकार किया। २ जनवरी, १९४२ ई० को द्वितीय विश्वयुद्ध काल में जापानियों ने इसपर अधिकार कर लिया था, पर १९४५ ई० में अमरीका ने पुनः अपने अधीन कर लिया। सन् १९४८ के पहले यह राष्ट्र की राजधानी था किंतु १९४८ ई० में राजधानी यहाँ से हटाकर १० मील दूर स्थित इसी के उपनगर केसॉन सिटी में बना दी गई। १४ वर्ग मील में विस्तृत यह नगर फिलिपीन का प्रमुख पत्तन भी है। २५ फुट ऊँची दीवार जो २½ मील की परिधि में है, नगर के सुरक्षित होने का प्रमाण देती है। पसिज नदी नगर को दो भागोंमें विभक्त करती है। प्राकृतिक छटा एवं महत्वपूर्ण स्थिति के कारण ही इसे 'पर्ल ऑव दि ओरिएंट' भी कहते हैं। सैंटो टामस विश्वविद्यालय, फिलिपिंस विश्वविद्यालय महत्वपूर्ण शिक्षण संस्थान हैं। प्रमुख उद्योग गरी का तेल निकालना, शक्कर साफ करना, धान कूटना, शराब बनाना, रेलों की मरम्मत करना, जूते, साबुन, सिगार, सिगरेट, टोप, गिलास, फर्नीचर आदि तैयार करना है। इसकी जनसंख्या ११,००,००० (१९६०) है। [कै० ना० सिं०]

मनुष्य का विकास चार्ल्स डार्विन की 'ओरिजिन ऑव स्पीशीज' नामक पुस्तक के पूर्व साधारण धारणा यह थी कि सभी जीवधारियों को किसी दैवी शक्ति (ईश्वर) ने उत्पन्न किया है तथा उनकी संख्या, रूप और आकृति सदा से ही निश्चित रही है। परंतु उक्त पुस्तक के प्रकाशन (सन् १८५९) के पश्चात् विकासवाद ने इस धारणा का स्थान ग्रहण कर लिया और फिर अन्य जंतुओं की भाँति मनुष्य के लिये भी यह प्रश्न साधारणतया पूछा जाने लगा कि उसका विकास कब और किस जंतु अथवा जंतुसमूह से हुआ। इस प्रश्न का उत्तर भी डार्विन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'डिसेंट ऑव मैन' (सन् १८७१) द्वारा देने की चेष्टा करते हुए बताया कि केवल वानर (विशेषकर मानवाकार) ही मनुष्य के पूर्वजों के समीप आ सकते हैं। दुर्भाग्यवश धार्मिक प्रवृत्तियोंवाले लोगों ने डार्विन के उक्त कथन का त्रुटिपूर्ण अर्थ (कि वानर स्वयं ही मानव का पूर्वज है) लगाकर, न केवल उसका विरोध किया वरन् जनसाधारण में बंदरों को ही मनुष्य का पूर्वज होने की धारणा को प्रचलित कर दिया, जो आज भी अपना स्थान बनाए हुए है।

यद्यपि डार्विन मनुष्य विकास के प्रश्न का समाधान न कर सके, तथापि उन्होंने दो गूढ़ तथ्यों की ओर प्राणिविज्ञानियों का ध्यान-आकर्षित किया : (१) मानवाकार कपि ही मनुष्य के पूर्वजों के संबंधी हो सकते हैं और (२) मानवाकार कपियों तथा मनुष्य के विकास के बीच एक बड़ी खाई है, जिसे लुप्त जीवाश्मों (fossils) की खोज कर के ही कम किया जा सकता है।

यह प्रशंसनीय है कि डार्विन के समय में मानव के समान एक भी जीवाश्म उपलब्ध न होते हुए भी, उसने भूगर्भ में छिपे ऐसे अवशेषों की उपस्थिति की भविष्यवाणी की जो सत्य सिद्ध हुई।

विकासकाल का निर्धारण — मानवाकार सभी जीवाश्म भूगर्भ के विभिन्न स्तरों से प्राप्त हुए हैं। अतएव मानव विकास काल का निर्धारण इन स्तरों (शैल समूहों) के अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। ये स्तर पानी के बहाव द्वारा मिट्टी और बालू से एकत्रित होने और दीर्घ काल बीतने पर शिलाभूत होने से बने हैं। इन स्तरों में जो भी जीव फँस गए, वे भी शिलाभूत हो गए। ऐसे शिलाभूत अवशेषों को जीवाश्म कहते हैं। जीवाश्मों की आयु स्वयं उन स्तरों की, जिनमें वे पाए जाते हैं, आयु के बराबर होती है। स्तरों की आयु को भूविज्ञानियों ने मालूम कर एक मापसूचक सारणी तैयार की है, जिसके अनुसार शैलसमूहों को चार बड़े खंडों अथवा महाकल्पों में विभाजित किया गया है : आद्य (Archaean), पुराजीवी (Palaeozoic), मध्यजीवी (Mesozoic) और नूतनजीवी (Cenozoic) महायुग। इन महाकल्पों को कल्पों में विभाजित किया गया है तथा प्रत्येक कल्प एक कालविशेष में पाए जानेवाले स्तरों की आयु के बराबर होता है। इस प्रकार आद्य महाकल्प एक [कैंब्रियन पूर्व (Pre-cambrian)], पुराजीवी महाकल्प छह [कैंब्रियन (Cambrian) ऑर्डोविशन (Ordovician), सिल्यूरियन (Silurian), डिवोनी (Devonian), कार्बोनी (Carbniferous) और परमियन (Permian)], मध्यजीवी महाकल्प तीन [ट्राइऐसिक (Triassic), जूरैसिक (Jurassic) और क्रिटेशस (Cretaceous,] और नूतनजीव महाकल्प पाँच [आदिनूतन (Eocene), अल्प नूतन (Oligocene), मध्यनूतन (Miocene), अतिनूतन (Pliocene) और अत्यंत नूतन (pleistocene)] कल्पों में विभाजित हैं (देखें सारणी)।

जीवाश्म की आयु का निर्धारण — शैल समूहों से जीवाश्मों की केवल समीपवर्ती आयु का ही पता चल पाता है। अतएव उसकी आयु की ओर सही जानकारी के लिये अन्य साधनों का उपयोग किया जाता है। इनमें रेडियोऐक्टिव कार्बन, (का^{14}, या C^{14}), की विधि विशेष महत्वपूर्ण है जो इस प्रकार है : सभी जीवधारियों (पौधे हो या जंतु) के शरीर में दो प्रकार के कार्बन कण उपस्थित

होते हैं, एक साधारण, का^{12} (C^{12}), और दूसरा रेडियोऐक्टिव, का^{14} (C^{14})। इनका आपसी अनुपात सभी जीवों में (चाहे वे जीवित स्थिर हों या मृत) (constant) रहता है। कार्बन^{14}, वातावरण में उपस्थित नाइट्रोजन^{14} के अंतरिक्ष किरणों (cosmic rays) द्वारा परिवर्तित होने से, बनता है। यह कार्बन^{14} वातावरण के ऑक्सीजन से मिलकर रेडियोऐक्टिव कार्बन डाइऑक्साइड का^{14} औ$_2$ ($C^{14}O_2$) बनाता है, जो पृथ्वी पर पहुँचकर प्रकाश संश्लेषण द्वारा पौधों में अवशोषित हो जाता है और इनसे उनपर आश्रित जंतुओं मे पहुँच जाता है। मृत्यु के बाद कार्बन^{14} का अवशोषण बद हो जाता है तथा उपस्थित कार्बन^{14} पुनः नाइट्रोजन^{14} मे परिवर्तित होकर वातावरण मे लौटने लगता है। यह मालूम किया जा चुका है कि कार्बन^{14} का आधा भाग ५,७२० वर्षों में नाइट्रोजन^{14} मे बदल पाता है। अतएव जीवाश्म मे कार्बन^{14} की उपस्थित मात्रा का पता लगाकर, किसी जीवाश्म की आयु का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि में कमी यह है कि इसके द्वारा केवल ५० हजार वर्ष तक की आयु जानी जा सकती है।

भूवैज्ञानिक कल्पों की सारणी

वर्ष लाख में	कल्प	महाकल्प	जन समूहों की अवधि अपृष्ठवंशी (Invertebrates) मत्स्य (Fishes) जलस्थल चर (Amphibians) सरीसृप (Reptiles) पक्षी (Birds) स्तनी (Mammals) मनुष्य
१०	अत्यतनूतन (Pleistocene)	नूतनजीव (Cenozoic)	
१५०	अतिनूतन (Pliocene)		
३५०	मध्यनूतन (Miocene)		
४५०	अल्पनूतन (Oligocene)		
७००	आदिनूतन (Eocene)		
१,४००	क्रिटेशस (Cretaceous)	मध्यजीवी (Mesozoic)	
१,७००	जूरैसिक (Jurassic)		
१९५०	ट्राइऐसिक (Triassic)		
२,२००	परमियन (Permian)		
२,७५०	कार्बनी (Carboniferous)	पुराजीवी (Palaeozoic)	
३,२००	डिवोनी (Devonian)		
३,५००	सिल्यूरियन (Silurain)		
४,२००	ऑर्डोविशन (Ordovician)		
५,२००	कैंब्रियन (Cambrian)	प्राद्य महायुग (Archaean)	
३०,०००	पूर्व-कैंब्रियन (Pre Cambrian)		

मनुष्य के जीवित संबंधी — मनुष्य के पूर्वजों की अन्य कोई जाति अब जीवित नही है। वर्तमान जंतुओं में जो समूह उनके निकट संबंधी होने का दावा कर सकता है, उसे प्राइमेटीज़ (primates, नर-वानर-गण) कहते हैं। यह स्तनियों का एक समूह है। मानव विकास के अध्ययन मे प्राइमेटीज का संक्षिप्त विवरण आवश्यक हो जाता है। प्रख्यात जीवाश्म विज्ञानी, जी० जी० सिंपसन (G. G. Simpson), के अनुसार प्राइमेटीज का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं :
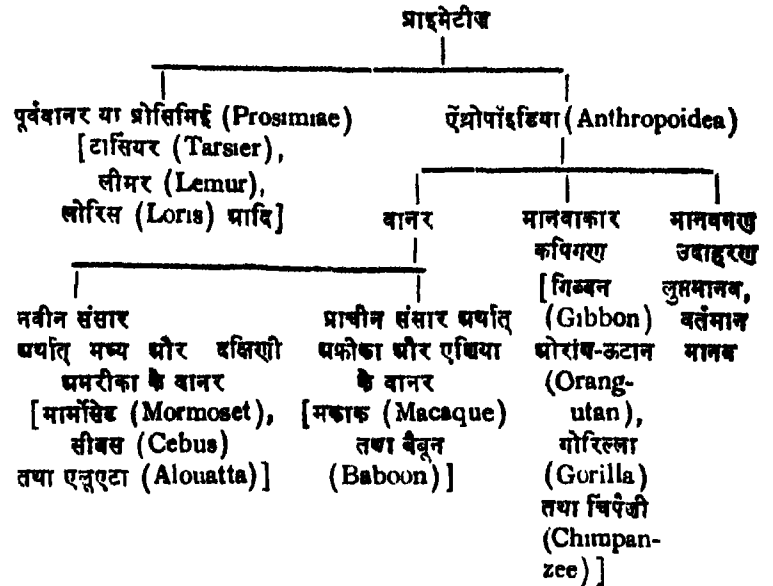
प्रोसिमिई

टार्सियर—टार्सियर की केवल एक जाति होती है, जो पूर्वी एशिया के द्वीपों में पाई जाती है, परंतु इसके जीवाश्म यूरोप और अमरीका में भी पाए जाते हैं, जो इनके विस्तृत वितरण के द्योतक हैं।

लीमर — ये मैडागैस्कर द्वीप पर ही पाए जाते हैं और वृक्षवासी होते हैं। भोजन की खोज मे ये बहुधा भूमि पर भी आ जाते हैं। ये सर्वभक्षी (omnivorous) होते हैं।

लोरिस—ये उष्ण कटिबंधीय अफ्रीका और एशिया मे पाए जाते हैं। छोटे और समूर-दार (furry) होने के कारण ये लोकप्रिय, पालतू जंतु माने जाते हैं।

ऐंथ्रोपॉइडिया

नवीन संसार के वानर — इनमें निम्नलिखित जातियाँ हैं :

मार्मोसेट — मार्मोसेट उष्णकटिबंधीय अमरीका मे पाया जाता है। यह वृक्षवासी और सर्वभक्षी होता है।

सीबस — ये उष्णकटिबंधीय अमरीका मे पाए जानेवाले वृक्षवासी वानर हैं, जो मानवाकार कपियों की भाँति साधनों या करण का उपयोग करते हैं।

एलूएटा — एलूएटा मध्य अमरीका के पनामा नहर के समीप बैरो कोलैरैडो (Barrow Colarado) नामक द्वीप पर पाए जाते हैं। ये वानर संसार मे सबसे अधिक शोर मचानेवाले जंतु हैं। इनमें कुछ सामाजिक प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं।

प्राचीन संसार के वानर — इनमें नीचे लिखी जातियाँ हैं :

बैबून — बैबून अफ्रीका और दक्षिणी एशिया में रहते हैं। ये माप में भेड़िये के बराबर होते हैं। इनकी थूथन लंबी और कुछ चोटी होती है।

मकाक — मकाक की विभिन्न जातियाँ जिब्राल्टर, उत्तरी अफ्रीका, भारत, मलाया, चीन और जापान में पाई जाती हैं। ये वृक्षवासी, चतुर और परिश्रमी जन्तु होते हैं।

मानवाकार कपिगण — मानवाकार कपि के अंतर्गत चार बृहत् कपि, गिब्बन, ओरांग ऊटान, गोरिल्ला और चिपैंजी, आते हैं। (देखें नर-वानर-गण, ओरांग ऊटान, गोरिल्ला तथा चिपैंजी)।

यद्यपि बृहत् कपियों और मनुष्य में अनेक समानताएँ अवश्य पाई जाती हैं, फिर भी इन्हें मनुष्य का पूर्वज कहना सर्वथा त्रुटिपूर्ण होगा, क्योंकि जहाँ मनुष्य तथा इन कपियों मे समानताएँ मिलती हैं, वहाँ उनमें और पूर्व वानरों मे भी कुछ मिलती हैं। इतना ही नहीं, बृहत् कपि अपने अनेक गुणों में मनुष्य से अधिक विशिष्ट हैं। अतएव हम समानताओं के आधार पर केवल इतना ही कह सकते हैं कि बृहत् कपि और मनुष्य के पूर्वज प्राचीन काल में एक रहे होंगे।

वे विशेष गुण, जिन्होंने मनुष्य के विकास को प्रोत्साहित किया, निम्नलिखित हैं :

स्वभावतः खड़े होकर चलना — यद्यपि कुछ बृहत् कपि भी बहुधा खड़े हो लेते हैं, परंतु स्वभावतः खड़ा होकर चलनेवाला केवल मनुष्य ही है। इस गुण के फलस्वरूप मनुष्य के हाथ अन्य कार्यों के लिये स्वतंत्र हो जाते हैं। खड़े होकर चलने के लिये उसकी अस्थियों की बनावट और स्थिति तथा आतरिक अंगों की स्थितियों में फेर बदल हुए। पैर की अस्थियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अंगूठा अन्य उँगलियों की सीध में आ गया तथा पैरों ने चापाकार (arched) होकर थल पर चलने और दौड़ने की विशेष क्षमता प्राप्त कर ली। ये गुण मनुष्य की सुरक्षा और भोजन खोजने की क्षमता में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए।

त्रिविम दृष्टि (Stereoscopic Vision) — चेहरे पर आँखों का सामने की ओर अग्रसर होना टार्सियर जैसे पूर्व वानरों में प्रारंभ हो चुका था, पर इसका पूर्ण विकास मनुष्य में ही हो पाया। इसके द्वारा वह दोनों आँखें एक ही वस्तुपर केंद्रित कर न केवल उसका एक ही प्रतिबिंब देख पाता है, वरन् उसके त्रिविम आकार (three dimensional view) की विवेचना भी कर सकता है। इस विशेष दृष्टि द्वारा उसे वस्तु की दूरी और आकार का सही अनुमान लग पाता है तथा वह अधिक दूर तक भी देख पाता है।

संमुख अंगुष्ठ (Opposible Thumb) — संमुख अंगुष्ठ का अर्थ है, अंगुष्ठ को अन्य उंगलियों की प्रतिकूल स्थिति में लाया जा सकना। इस स्थिति मे अंगुष्ठ अन्य उंगलियों के सामने आकर और साथ मिलकर वस्तुओं को पकड़ सकने मे सफल हो पाता है। यह गुण जंतु समूह मे केवल प्राइमेट गणों मे, वस्तुओं को परीक्षण हेतु मुख के समक्ष लाने से, प्रारंभ हुआ तथा मनुष्य मे उसका इतना अधिक विकास हुआ कि आज मनुष्य का हाथ एक अत्यंत संवेदनशील और सूक्ष्मग्राही यंत्र बन गया है। ऐसे हाथ की सहायता से मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों को कार्य रूप देकर सृष्टि का सबसे प्रतिभाशाली प्राणी बन पाने में सफल हुआ है। यह कहना कि संमुख अंगुष्ठ ने ही मानव मस्तिष्क के संवर्धन मे योगदान किया है, अतिशयोक्ति न होगी।

इस प्रकार विकास की दिशा में जो पहला परिवर्तन मनुष्य मे हुआ वह प्रथम पैरों पर सीधा खड़े होने के लिये तथा द्वितीय हाथों से वस्तुओं को भली प्रकार पकड़ सकने के लिये रहा होगा। हाथ में हुए परिवर्तन ने उसे उपकरण बनाने की ओर प्रोत्साहित किया होगा और उपकरणों ने आक्रमण कर शिकार करने, या अपनी सुरक्षा करने, की भावना उसमें उत्पन्न की होगी। आक्रमण के बाह्य साधन की उपलब्धि के फलस्वरूप उसके आक्रमणकारी अंगों (दाँत, जबड़े और संबंधित मुख या गर्दन की मासपेशियों) में ह्रास और स्वयं हाथों में विशेषताएँ प्रारंभ हुई होंगी। हाथ के अधिक क्रियाशील होने पर, मस्तिष्क संवर्धन स्वाभाविक ही हुआ होगा। संक्षेप मे, मानव विकास में तीन मुख्य क्रम रहे होंगे : पहला पैरों का, दूसरा हाथों का और तीसरा मस्तिष्क का विकास।

मनुष्य और वानर में भेद — साधारणतया मनुष्य और वानर, विशेषकर मानवाकार वानर, अपनी शारीरिक रचनाओं मे समान हैं : समान अस्थियाँ, अंग, मांसपेशियाँ और यहाँ तक कि रक्त-समूह (blood group) भी। परंतु सूक्ष्म परीक्षण पर अनेक अंतर भी मिलते हैं, जो मुख्यतः मनुष्य के खड़े होकर दो पैरों पर चलने के कारण हैं। उदाहरणार्थ, कपियों के प्रतिकूल मनुष्य की टाँगें हाथों से अपेक्षाकृत लंबी होना, कूल्हे की अस्थि के आकार और स्थिति में परिवर्तन, पैरों के अंगूठों का अन्य उँगलियों की सीध मे आना तथा स्वयं पैरों का चापाकार हो जाना आदि। इन गुणों के अतिरिक्त मनुष्य का मस्तिष्क अन्य सभी कपियों से बड़ा है। जहाँ कपियों की कपालगुहा का आयतन ३५०–४५० घन सेंटीमीटर है, वहाँ मनुष्य का १२००–१५०० घन सेंमी० तक है। उसका अपेक्षाकृत सपाट चेहरा, घटित तथा ठुड्डी युक्त जबड़ा, और प्रत्यक्ष नाक उसे मानवी रूप प्रदान करते हैं। होठों के आतरिक भाग का बाहर दिखाई पड़ना, कानों की बारियों का मुड़ा होना, बालों का संपूर्ण शरीर पर न होना, रदनक दाँत (canine teeth) का होना, ऐसे अन्य गुण हैं जो मनुष्य को कपियों से दूर ले जाते हैं।

मानव विकास के प्रमाण जीवाश्म — मनुष्य विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण केवल उसके जीवाश्मों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। डार्विन के समय से अबतक प्राइमेटों के जो जीवाश्म प्राप्त हुए हैं, उन्हें दो मुख्य भागों मे संगृहीत कर सकते हैं : अवानरीय और वानरीय।

अवानरीय प्राइमेटों के जीवाश्मों का प्रारंभ क्रिटैशस और आदिनूतन कल्पों मे होता है। यद्यपि अभी तक ये यूरोप और उत्तरी अमरीका मे ही पाए गए हैं, तथापि ऐसा अन्य स्थानों मे निरीक्षण के अभाव के कारण है, न कि जीवाश्मों के। उपर्युक्त दो स्थानों में सीमित होने के कारण ये प्रारंभिक जीवाश्म आज के आद्य प्राइमेट टार्सियर से मिलते जुलते हैं।

आदिनूतन कल्प के बाद प्राइमेटों का विकास पृथ्वी के दो भागों मे विभक्त हो गया। नवीन संसार (उत्तरी और दक्षिणी अमरीका)

में विकास प्लेटीराइन (platyrrhine, चिपटी नाकवाले अर्थात् वानर) और प्राचीन संसार (अफ्रीका और एशिया) में कैटाराइन (catarrhine, उभरी और निचले रंध्रयुक्त नाकवाले अर्थात् मानवाकार कपि) की दिशाओं में अग्रसर होने लगा। प्रारंभिक मानवाकार कपियों के जीवाश्मों को निम्नलिखित क्रम में अध्ययन किया जा सकता है :

पैरापिथीकस (Parapithecus) — इस जीव का पता मिस्र में प्राप्त अल्पनूतन कल्प के केवल जबड़ों द्वारा ही लगा है। यद्यपि इसका दंत सूत्र (formula) आधुनिक मानवाकार कपियों के समान था, तथापि जबड़े की बनावट अभी भी टार्सियर जैसी ही थी, जो उसके टार्सियर जैसे पूर्वज से वंशागत होने की ओर संकेत करती है।

प्रोप्लियोपिथीकस (Propliopithecus) — प्रोप्लियोपिथीकस का भी मिस्र के अल्पनूतन युग से प्राप्त हुए एक जबड़े द्वारा ही पता लगा है। अनुमानतः यह छोटे गिब्बन के बराबर था और मानवाकार की दिशा में पैरापिथीकस से एक पग आगे था।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों जीवाश्म, केवल जबड़ों के रूप में ही होने के कारण मानव विकास पर अधिक प्रकाश नहीं डालते, फिर भी उनसे निम्नलिखित दो बातों का बोध अवश्य होता है :

(१) अल्पनूतनयुग जैसे पुरातन काल में ही मानवाकार कपि उपस्थित थे तथा (२) मानवाकार कपि का विकास टार्सियर जैसे प्राइमेट से बिना वानर की अवस्था में गुजरे ही हुआ है।

वानर मानवाकार कपियों से आद्य माने जाते हैं, अतएव मनुष्य की विकास श्रृंखला में वानर अवस्था का अनुपस्थित होना आशा के प्रतिकूल सा जान पड़ता है; परंतु उपर्युक्त जीवाश्म अत्यंत आद्य होते हुए भी वानरों के कोई लक्षण नहीं प्रस्तुत करते, अपितु उनमें मानवाकार कपियों के गुण प्राप्त होते हैं।

ड्रायोपिथीकस (Dryopithecus) — ड्रायोपिथीकस के मध्यनूतन युगीन जीवाश्म प्राचीन संसार के कई भागों में प्राप्त हुए हैं। इसके चर्वणक (molar teeth) के चर्वण धरातल की प्रतिकृति गिब्बन, बृहत् कपि और मनुष्य में भी पाई जाती है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि ड्रायोपिथीकस संभवतः मनुष्य सहित सभी मानवाकार कपियों के सामान्य पूर्वज थे।

लिम्नोपिथीकस (Limnopithecus) — पूर्वी अफ्रीका के मध्यनूतन युगीन स्तरों में पाया गया जीवाश्म वर्तमान गिब्बन से काफी मिलता जुलता है। गिब्बन की भाँति इसके रदनक दंत (canine teeth) लंबे थे और बाहु यद्यपि अपेक्षाकृत छोटे थे, फिर भी वानरों के अनुपात में लंबे थे। अतएव इन्हें वानर और मानवाकार कपि के बीच का कहा जा सकता है।

प्रोकॉन्सल (Proconsul) — प्रोकॉन्सल का जीवाश्म कीनिया (अफ्रीका) में प्रारंभिक मध्यनूतन युग के स्तरों से प्राप्त किया गया। इनका मुख वानरों का सा, परंतु दंत प्रतिकृति मानवाकार कपियों जैसी थी। नितंबास्थियों से इनके चलगामी (न कि वृक्षवासी) होने का भास होता है। संभवतः ये वनमानुष और गोरिल्ला के पूर्वज रहे होंगे।

मध्यनूतन युग के कपियों में केवल ड्रायोपिथीकस को ही मानव विकास की दिशा की ओर अग्रसर कहा जा सकता है, क्योंकि इसके दाँतों के दंताग्रों (cuspo) का प्रतिरूप यद्यपि वर्तमान मनुष्य में नहीं, तो उनमे अवश्य पाया जाता है जो वर्तमान मनुष्य के पूर्वज समझे जाते हैं। इस सत्य में यदि तनिक संशय रह जाता है, तो वह यह कि ड्रायोपिथीकस के रदनक मनुष्य से कहीं अधिक लंबे हैं और मनुष्य और मनुष्य के पूर्वज में इतने लंबे रदनक (जब कि स्वयं मनुष्य में ये इतने छोटे होते हैं) संभव नहीं जान पड़ते। सच तो यह है कि मध्यनूतन युग के स्तरों में पाए जानेवाले सभी जीवाश्मों में रदनक लंबे, नुकीले और बाहर निकले हुए हैं, जो मानवविकास का लक्षण नहीं है।

ओरियोपिथीकस (Oreopithecus) — ओरियोपिथीकस का जीवाश्म इटली में टस्कनी की कोयले की खानों के अतिनूतनयुगीन स्तरों से प्राप्त किया गया। इसका छोटा मुँह, ह्रासमान रदनक तथा जबड़ों का आकार वानरों से दूर और मानवाकार कपियों के समीप था। अपने दाँतों की बनावट में यह स्वयं मनुष्य के समान था। यद्यपि इसकी नितंबास्थियाँ वानर के समान थीं, तथापि मेरुदंड की अग्रिम कशेरुकाओं की बनावट से उसके खड़े होकर चलने का संकेत मिलता है। अतएव यदि उपर्युक्त अनुमान सही है, तो हमें ओरियोपिथीकस में नूतन-जीव-महाकल्प के प्रारंभिक मानव का प्रथम दर्शन मिलता है।

आस्ट्रेलोपिथीकस (Australopithecus) — १९२४ ई० में रेमंड डार्ट (Raymond Dart) को दक्षिणी अफ्रीका के टॉग्स (Taungs) नामक स्थान से कई ऐसी खोपड़ियाँ प्राप्त हुईं जो मानवाकार थीं। डार्ट ने उन्हें आस्ट्रेलोपिथीकस का नाम दिया। आस्ट्रेलोपिथीकस का अर्थ है, दक्षिण में पाया जानेवाला कपि, अतएव इसका ऑस्ट्रेलिया देश से कोई संबंध नहीं है। १९३६ ई० में दक्षिणी अफ्रीका के ही स्टर्कफॉण्टीन (Sterkfontein) नामक स्थान से रॉबर्ट ब्रूम (Robert Broom) ने आस्ट्रेलोपिथीकस के अन्य जीवाश्म अत्यंतनूतन युग के स्तरों से प्राप्त किए। आद्य मानव के सभी जीवाश्म इसी युग से प्राप्त किए गए हैं, अतएव इसे मानव विकास का युग कहा जाता है। आस्ट्रेलोपिथीकस का जीवाश्म इस युग के अन्य सभी जीवाश्मों में अधिक मानवाकार था। यहाँ तक कि इसके कुछ लक्षण मनुष्य से भी मिलते थे; उदाहरणार्थ, खोपड़ी की मेरुदंड पर अग्रिम स्थिति (उसके खड़े होकर चलने का द्योतक), ललाट का गोलाकार होना, भौं-अस्थियों के भारी होते हुए भी उभार का न होना, जबड़े की आकृति, कृंतकों (incisors) का छोटा तथा कम नुकीला होना (यद्यपि रदनक लंबे थे), कूल्हे की इलियम (ilium) नामक अस्थि का चौड़ा होना तथा अन्य बहुत से गुणों में आस्ट्रेलोपिथीकस मनुष्य के इतने निकट था कि उसे मानव परिवार, 'होमिनिडी' (Hominidae), में समाविष्ट करना स्वाभाविक हो जाता है। कपालगुहा के आयतन (६०० घन सेंमी०) में अवश्य ही वह मनुष्य (कपालगुहा का आयतन १,००० घन सेंमी०) से पिछड़ा था और विशद विचार रखनेवाले इस गुण को अत्यधिक महत्व देते हैं, परंतु जो भी मनुष्य का पूर्वज होगा, उसकी कपाल गुहा वर्तमान

मनुष्य से अवश्य कम रहेगी। ऑस्ट्रेलोपिथीकस में यह बात महत्व की है कि उसकी कपालगुहा का आयतन मनुष्य से कम होते हुए भी वर्तमान मानवाकार कपियों से अधिक था।

फिर भी ऑस्ट्रेलोपिथीकस के मनुष्य के पूर्वज होने में एक शंका रह ही जाती है और वह है युग की। यह सर्वविदित है कि जिस युग में ऑस्ट्रेलोपिथीकस था, उसमे उससे अधिक विकसित मानव उपस्थित थे। अतएव मनुष्य का पूर्वज होने के लिये ऑस्ट्रेलोपिथीकस की उपस्थिति और पहले होनी चाहिए थी।

होमोहेबिलिस (Homohabilis) — पूर्वी अफ्रीका के टैंगैन्यीका (Tanganyika) स्थान से होमोहेबिलिस नामक कुछ विकसित मानव आकृति का जीवाश्म प्राप्त हुआ है। इसके आविष्कर्ता थे एल० एस० बी० लीके (L. S. B. Leakey), पी० वी० टोबियास (P. V. Tobias) तथा जे० आर० नेपियर (J. R. Napier)। इस मानव की लंबाई ४ फुट और हाथ अधिक विकसित थे, जो उपकरण और झोपड़ी बना सकने की उसकी क्षमता की ओर संकेत करता है। उसकी कपालगुहा का आयतन लगभग ६८० घन सेंमी० (ऑस्ट्रेलोपिथीकस से अधिक) है।

पिथिकैंथ्रॉपस (Pithicanthropus) **या जावा का मानव** — सेना के सर्जन डा० युजीन दुब्वा (Eugene Dubois) को अपने विद्यार्थी काल से ही यह विश्वास था कि मनुष्य का जन्मस्थान एशिया में संभवतः जावा (Java) में था। अपनी धारणा की पुष्टि के लिये वे जावा गए और वहाँ के अत्यंतनवीन युग की चट्टानों से कुछ अस्थियाँ प्राप्त कीं, जिन्हें उन्होंने १८६४ ई० में पिथिकैंथ्रॉपस (अथवा जावा का मानव) के नाम से वर्णित किया। इस जीवाश्म की कपालगुहा ६०० घन सेंमी० थी, जो ऑस्ट्रेलोपिथीकस से अधिक और मनुष्य से कुछ ही कम थी। जाँघ की हड्डी से इसके सीधे होकर चलने का भी आभास होता है।

साइनैन्थ्रॉपस (Sinanthropus) **या चीन का मानव** — चीन में पीकिंग से लगभग ४० मील दक्षिण पश्चिम की ओर चाऊकुटीम (Choukouteim) नामक गाँव के, अत्यंतनूतन युग के, मध्यवर्ती स्तरों से एक और मानव जीवाश्म १६२७ ई० में प्राप्त हुआ, जिसे साइनैन्थ्रॉपस (या चीन का मानव) कहा गया। जावा और चीन के मानवों की अत्यधिक समानताओं के कारण दूसरे को पहले की ही एक जाति समझा जाता है और बहुधा उसे पिथिकैन्थ्रॉपस पिकिनेन्सिस (Pithicanthropus pekinensis) का नाम दिया जाता है। इस मानव की कपालगुहा (आयतन ६०० से १,३०० घन सेंमी०) मनुष्य के समान थी तथा इसके जीवाश्मों के साथ पत्थर के अनेक औजार (उपकरण) प्राप्त हुए। इनसे इनमें उद्योगों (आगे देखिए) के प्रचलन का पता चलता है। आसपास कोयले के कण प्राप्त होने से उनके अग्निप्रयोगी, तथा कई लंबी हड्डियों की चिरी दशा में पाए जाने से उनके मानव भक्षी होने का संकेत मिलता है।

हाइडेल्बर्ग मानव (Heidelberg Man) — सन् १६०७ में जर्मनी में हाइडेलबर्ग नामक स्थान में अत्यंतनूतन युग के प्रारंभिक स्तरों से एक जबड़ा प्राप्त हुआ, जिसके दाँत वर्तमान मनुष्य के समान थे। ठुड्डी का अभाव था, अतः स्पष्ट है कि यह पूर्णतः मनुष्य नहीं बन पाया था।

स्वांसकोंब मानव (Swanscombe Man) — सन् १६३५ और ३६ में ए० टी० मार्स्टन (A. T. Marston) को इंग्लैंड के स्वांसकोंब नामक स्थान में मानव कपाल की भित्तिकास्थि (parietal) की दो हड्डियाँ प्राप्त हुईं। यद्यपि इन अस्थियों की मोटाई मनुष्य की भित्तिकास्थि से अधिक थी, तथापि कपालगुहा का आयतन लगभग १,३०० घन सेंमी० (मनुष्य के समान) हो गया था। गुहा के साँचे से यह भी अनुमान लगता है कि मस्तिष्क के धरातल का परिवलन भी बहुत कुछ मनुष्य जैसा ही था।

स्टीनहाइम मानव (Steinheim Man) — सन् १६३३ में जर्मनी के स्टीनहाइम नामक स्थान में एक पूर्ण खोपड़ी प्राप्त हुई, जिसका काल स्वांसकोंब मानव के समान था। रचना द्वारा यह पिथिकैंथ्रॉपस और मनुष्य के बीच की कड़ी प्रतीत होती है। इसकी कपालगुहा का आयतन १,००० घन सेंमी०, भौं की अस्थि घटित तथा जबड़े बहुत कुछ मनुष्य जैसे थे।

नियेंडरथाल मानव (Neanderthal Man) — सन् १८५६ में जोहैन कार्ल फ्यूलरोटे (Johanne Karl Fuhlrotte) नामक एक स्कूली अध्यापक को जर्मनी के डसेल्डर्फ (Dusseldorf) नामक स्थान मे मानव जीवाश्म प्राप्त हुआ, जिसे नियेंडरथाल मानव का नाम दिया गया। बाद मे लगभग १०० ऐसे ही जीवाश्म संसार के अन्य भागों (फ्रांस, बेल्जियम, इटली, रोडेशिया, मध्य एशिया, चीन और जापान तक) मे मिले। यद्यपि नियेंडरथाल के मानव होने मे अब तनिक भी संदेह नही है, फिर भी इसके सदृश अस्थियों वाले चेहरे से पशुता का ही भास होता है — भौं की अस्थियाँ उभरी, जबड़े बड़े (यद्यपि दाँत सर्वथा मनुष्य समान) तथा ठुड्डी का अभाव था। इसमे कुछ ऐसे भी गुण थे जो वर्तमान मनुष्य मे नहीं मिलते, जैसे कपालगुहा के आयतन का १,६०० घन सेंमी० (मनुष्य से अधिक) होना और चर्वण दंत गुहिका का बहुत बडा होना। इतना ही नहीं उसकी निलंबास्थियाँ (limb bones) मोटी, टेढ़ी और बेडौल थी, जिससे इसके लड़खड़ा कर चलने का भास होता है। अतएव एक ओर जहाँ इसमें मनुष्य के अनेकों गुण थे, तो दूसरी ओर कई बड़ी भिन्नताएँ भी थी। अतएव, नियेंडरथाल मानव को मनुष्य विकास की मुख्य शाखा की केवल एक उद्भ्रांत उपशाखा ही मान सकते हैं। अंतिम हिमयुग (आगे देखें) मे इस मानव के अवशेषों का न मिलना यह संकेत करता है कि मनुष्य के आगमन पर या तो ये नष्ट कर दिए गए, या संकरण (hybridization) द्वारा उसी के परिवार मे विलीन हो गए।

सामाजिक व्यवस्था मे नियेंडरथाल मानव अब तक के अन्य मानवों से आगे थे। इनमें अपने मृतकों को गाड़ने की प्रथा थी और इनके औजार उच्चतम थे।

नियेंडरथाल सदृश अन्य अफ्रीकी तथा एशियाई मानव — सन् १६२१ में उत्तरी रोडेशिया (अफ्रीका) से, १६३१–३२ में जावा की सोलो (Solo) नदी के पास से और सन् १६५३ मे सल्दान्हा,

(Saldanha), अफ्रीका, से मानवाकार खोपड़ियाँ प्राप्त हुईं, जिन्हें क्रमश: रोडीज़िया, सोलो और सल्दान्हा मानवों का नाम देते हैं।
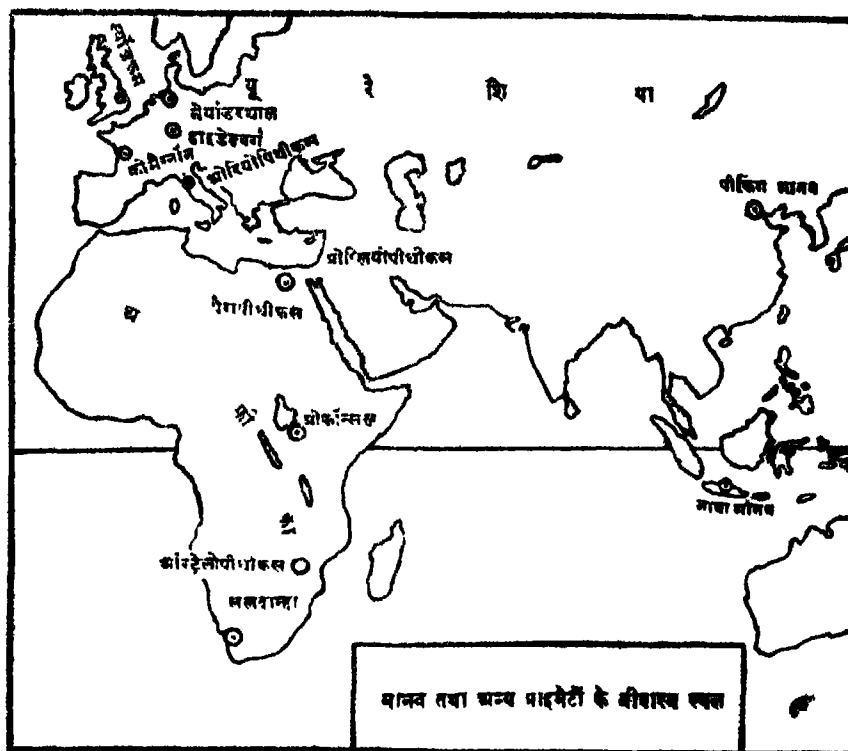
चित्र १.

ये सभी मानव अपने अधिकाश लक्षणों मे नियेंडरथाल मानव सदृश थे, यद्यपि कपालगुहा के आयतन मे वे नियेंडरथाल से कम, अर्थात् मनुष्य सदृश, ही थे। उपर्युक्त उपलब्धियों से यह पता चलता है कि नियेंडरथाल मानव का विस्तार विस्तृत था।

क्रोमैग्नॉन मानव (Cromagnon Man) या आधुनिक मानव — दक्षिणी फ्रांस मे क्रोमैग्नॉन नामक स्थान से वर्तमान मनुष्य के निकटतम पूर्वजों के जीवाश्म प्राप्त हुए हैं। इन्हे क्रोमैग्नॉन मानव, अथवा 'आधुनिक मानव', कहा जाता है। इनकी अस्थियों से न केवल इनके लबे, सुडौल, सुदृढ और बुद्धिमान होने का आभास होता है, वरन् वर्तमान यूरोपीय जातियो से इन्हे पृथक् कर सकना अत्यंत कठिन हो जाता है। चित्रकला इनमे उन्नति पर थी।

विकास क्रम — होमोहैबिलिस (Homohabilis) के सह आविष्कर्ता जॉन नेपियर (John Napier) के मतानुसार (१९६४ ई०) मनुष्य का विकास पाँच अवस्थाओं से होकर गुजरा है : (१) प्रारंभिक पूर्वमानव (early prehuman), कीनियापिथीकस (अफ्रीका से प्राप्त) और (भारत से प्राप्त) रामापिथीकस (Ramapithecus) के जीवाश्मों द्वारा जाना जाता है। ये मानव सभवत मनुष्य के विकास की अति प्रारंभिक अवस्थाओं मे थे। (२) बाद के पूर्व मानव (late prehuman), का प्रतिनिधित्व अफ्रीका से प्राप्त ऑस्ट्रेलोपिथीकस (Australopithecus) करता है, (३) प्रारंभिक मनुष्य को अफ्रीका से ही प्राप्त होमोहैबिलिस द्वारा जाना जाता है, (४) उत्तरभावी मनुष्य (late human), के अंतर्गत होमोइरेक्टस (Homo-erectus), अथवा जावा और चीन के मानव, आते हैं और (५) वर्तमान मनुष्य (modern human), का प्रथम उदाहरण क्रोमैग्नॉन मानव मे प्राप्त होता है। होमोइरेक्टस के बाद विकास दो शाखाओ मे विभक्त हो गया। पहली शाखा का नियेंडरथाल मानव में अत हो गया और दूसरी शाखा क्रोमैग्नॉन मानव अवस्था से गुजरकर वर्तमान मनुष्य तक पहुँच पाई है। संपूर्ण मानव विकास मस्तिष्क की वृद्धि पर ही केंद्रित है। यद्यपि मस्तिष्क की वृद्धि स्तनी वर्ग के अन्य बहुत से जतुसमूहो मे भी हुई, तथापि कुछ अज्ञात कारणो से यह वृद्धि प्राइमेटो मे सबसे अधिक हुई। सभवत: उनका वृक्षीय जीवन मस्तिष्क की वृद्धि के अन्य कारणो मे से एक हो सकता है।

आद्य मानव उद्योग — जिस प्रकार उपर्युक्त जीवाश्मों द्वारा मानव शरीर (अस्थियो) के विकास का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न मानवों द्वारा छोड़े करणों (औजारो, implements) द्वारा उनकी सभ्यता के विकास का अध्ययन किया जा सकता है। ये

हिमयुग मानव

हिमयुग			मानव जीवाश्म
ऐतिहासिक काल			
नवप्रस्तर			
आधुनिक :— चतुर्थ वुर्म (Wurm) एक लाख वर्ष पूर्व		अंतिम	आधुनिक मानव (मनुष्य) क्रोमैग्नॉन मानव
तृतीय अंतर्हिम युग :— सवा दो लाख वर्ष पूर्व तृतीय रिस (Riss) सवा तीन लाख वर्ष पूर्व	पुराप्रस्तर काल	माध्यमिक	नियेंडरथाल मानव
द्वितीय अंतर्हिम युग :— छह लाख वर्ष पूर्व द्वितीय मिंडेल (Mindel) सात लाख वर्ष पूर्व		प्रारंभिक	हाईडेलबर्ग मानव चीन मानव जावा मानव स्वास्कोब मानव
प्रथम अंतर्हिम युग :— प्रथम गुंज (Gunj) दस लाख वर्ष पूर्व			ऑस्ट्रेलोपिथिकस

औजार मानव जीवाश्म के साथ, या आस पास, पाए गए हैं और मानव-मस्तिष्क के विकास के साथ इनमें भी विकास हुआ है। प्रारंभिक औजार भोंडे (crude) और पत्थर के टुकड़े मात्र थे, परतु बाद मे ये सुघड़ और उपयोगी होते गए।

ये औजार केवल अत्यंतनूतन युग मे ही मिलते है, अतएव इनके काल का ज्ञान उन हिमनदी कल्पों से भी लगाया जाता है जो इस (अत्यतनूतन) युग मे पड चुके हैं। भिन्न भिन्न समय पर पाए गए उपकरणों को एक उद्योग का नाम देते हैं। यह नाम किसी यूरोपीय स्थान के नाम पर आधारित है। औजार उद्योग के आधार पर अत्यंतनूतन युग को तीन कालो में विभक्त कर सकते हैं: (१) पुराप्रस्तर काल, (२) मध्यप्रस्तर काल तथा (३) नवप्रस्तर काल।

पुराप्रस्तर काल — पुराप्रस्तर काल को चार अन्य कालों मे विभक्त कर सकते हैं (१) प्रारभिक, (२) निचला, (३) मध्य और (४) उत्तर काल।

(१) प्रारंभिक काल — अत्यंतनूतन युग के प्रारंभ में जो औजार प्राप्त होते हैं, वे पत्थरो के भोंडे टुकडो के रूप में हैं। बहुधा यह संदेहमय जान पडता है कि ये मनुष्य द्वारा ही गढ़े गए होंगे।

(२) निचला काल — इस काल मे निम्नलिखित उद्योग पाए गए हैं:

(क) ऐबिविलियन (Abbevillian) उद्योग — यह उद्योग प्रथम हिमनदीय कल्प से प्रथम अंतराहिमनदीय कल्प (interglacial period) तक पाया जाता है तथा इसमें बड़ी और भोंडी कुल्हाड़ियाँ बनाई जाती थी।

(ख) एक्यूलियन (Acheulian) उद्योग — एक्यूलियन उद्योग अंतिम अंतराहिमनदीय कल्प तक फैला था और इसमे हाथ से काम में लाई जानेवाली कुल्हाडियाँ अधिक कौशल से बनाई जाती थी।

(ग) लेवैलिओसियन (Levalliosian) उद्योग — यह उद्योग तीसरे हिमनदीय कल्प मे स्थापित हुआ और इसमें औजार पूरे

चित्र २. आदिपाषाण (Eoliths)

अतिनूतन (Pliocene) युग के, संभवत: मानव निर्मित, ये प्रस्तर अवशेष इंग्लैंड के केंट प्रदेश मे प्राप्त हुए थे।

पत्थरों से नही, वरन् उनसे चिप्पड उतारकर बनाए जाने लगे। इस उद्योग के काल मे चीन के, और संभवत: जावा के, मानव रहा करते थे।

(३) मध्य काल — इस काल का उद्योग इस प्रकार है:

मूस्टीरियन (Mousterian) उद्योग — यह उद्योग तृतीय हिमनदीय कल्प से अंतिम, अर्थात् चतुर्थ हिमनदीय कल्प, के प्रारभिक काल तक फैला था। इस उद्योग में हस्त कुल्हाड़ियो का स्थान अन्य औजारो ने ले लिया था, जो पत्थरो के बड़े बड़े चिप्पड उतार कर बडे कौशल से बनाए जाते थे। यह उद्योग काल नियँडरथाल मानव काल माना जाता है।

(४) उत्तर काल — यह काल अंतिम हिमनदीय कल्प के अतिम चरण में पाया जाता है। इसके अतर्गत निम्नलिखित उद्योग संमिलित हैं:

(क) ऑरिग्नेशियन (Aurignacian) उद्योग — ऑरिग्नेशियन उद्योग उत्कृष्ट नमूनो तथा उच्च कला कौशल का परिचायक है। पत्थर के अतिरिक्त इस काल में हड्डी, सीग, हाथीदाँत आदि का
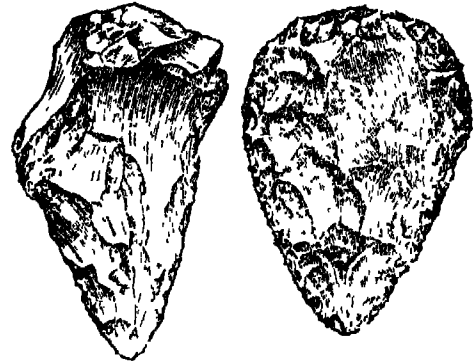
चित्र ३ आद्य मानव द्वारा निर्मित औजार फ्रांस में प्राप्त दो नमूने।

उपयोग गले के हार तथा अन्य शारीरिक आभूषण निर्माण के लिये किया जाता था। गुफा चित्रकारी तथा शिल्प कला इस काल में प्रारंभ हो चुकी थी।

(ख) सोलूट्रियन (Solutrean) उद्योग — इस उद्योग के समय पत्थरो से चिप्पड काटकर नही, वरन् उन्हे दबाकर, निकाले जाते थे। इनसे उत्कृष्ट भाला फलक बनाए जाते थे।

(ग) मैग्डेलिनियन (Magdalenian) उद्योग — इस उद्योग काल में पत्थरो के औजारो के साथ साथ बारहसिंघों के सींग से अन्यान्य प्रकार के औजार बनाए जाते थे, जैसे हारपून (तिमि भेदने के लिये), बरछों के फलक तथा भाला फेंकनेवाले उपकरण आदि। चित्रकारी मे विभिन्न रगो का उपयोग कर जतुओ के चित्र बनाए जाते थे। यूरोप [फ्रास और पाइरेनीज (Pyreness)] मे ऐसी अनेक कला कृतियाँ अब भी मौजूद हैं (देखें फलक)।

मध्यप्रस्तर काल — अंतिम हिमनदीय कल्प के अंत होने या गरम जलवायु के वापस आने तक के काल को मध्यप्रस्तर काल कहा जाता है। यह अल्पकालीन (transitory) युग कहा जाता है। इस समय तक मनुष्य सभ्य हो चला था। यद्यपि कृषि तथा पशुपालन का प्रारंभ अभी नही हुआ था और मानव अब भी घूम घूमकर पशुओ का शिकार किया करता था। शीतकाल में पाए जानेवाले अधिकांश जंतु इस काल में या तो नष्ट हो गए थे, या प्रवास कर गए

मनुष्य का विकास (देखें पृष्ठ १४२–१४६)
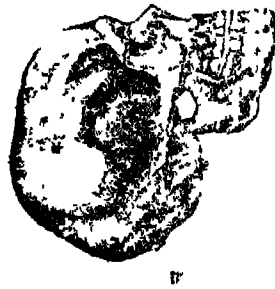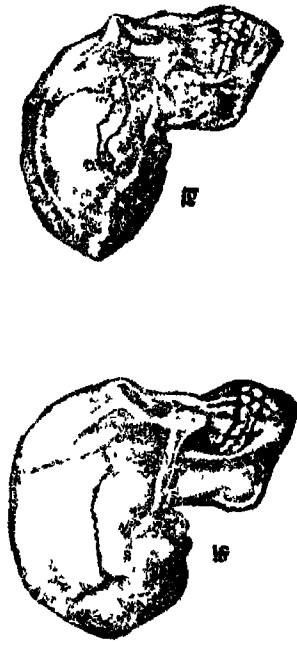
जीवाश्मों से प्राप्त खोपड़ियाँ

क ऑस्ट्रेलोपिथिकस, ख. पिथिकैंथ्रोपस, ग. सिनैंथ्रोपस, घ. नेयाडरताल तथा च. क्रोमैग्नॉन (क डाट तथा ब्रूम के, ख. ग और च मैक्ग्रेगर के तथा ग. वाइडेनराइख के अनुसार पूरित)।

क पिल्टडाउन मानव

ख पिथिकैंथ्रोपस (जावा मानव)

ग. सिनैंथ्रोपस (पीकिंग मानव)

घ. नेयांडरताल मानव
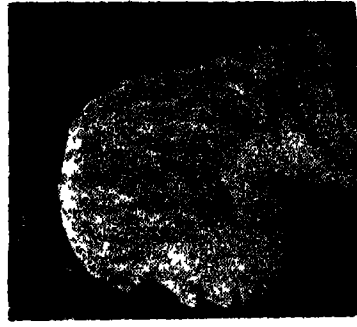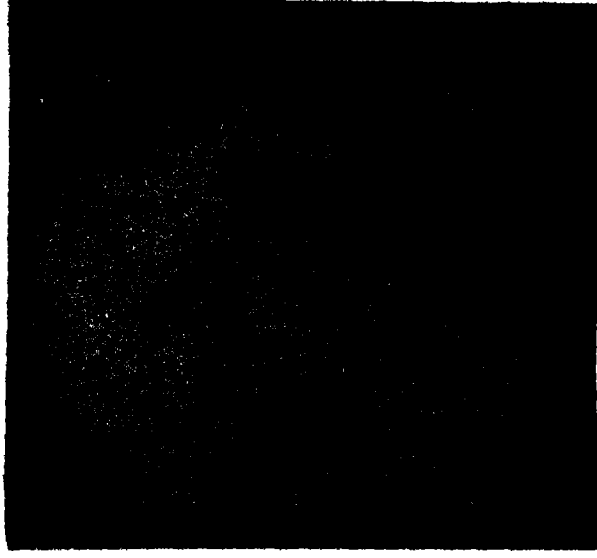
च. क्रोमैग्नॉन

(प्राप्त खोपड़ियों के आधार पर चेहरों के अनुमानित स्वरूप)

मनुष्य का विकास (देखें पृ० १४२-१४६)

उच्च पुरा प्रस्तर काल की चित्रकला के नमूने

गिब्बन →
(Gibbon)

← बारहसिंगा
(Reindeers)

कूर्च मर्कट →
(Tarsier)

जंगली भैंसा (Bison)
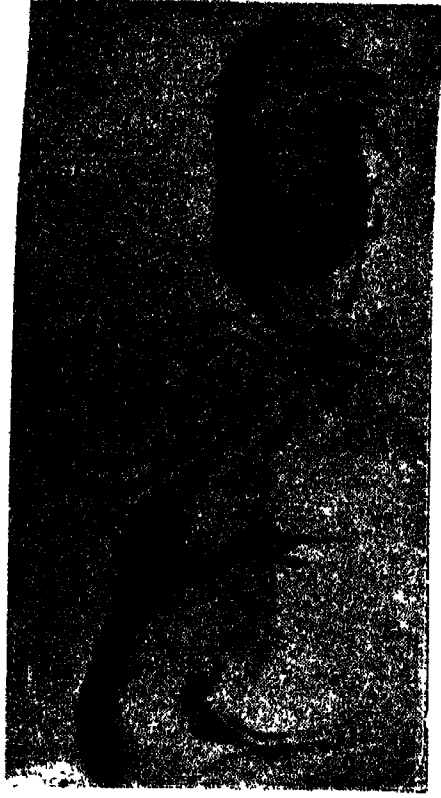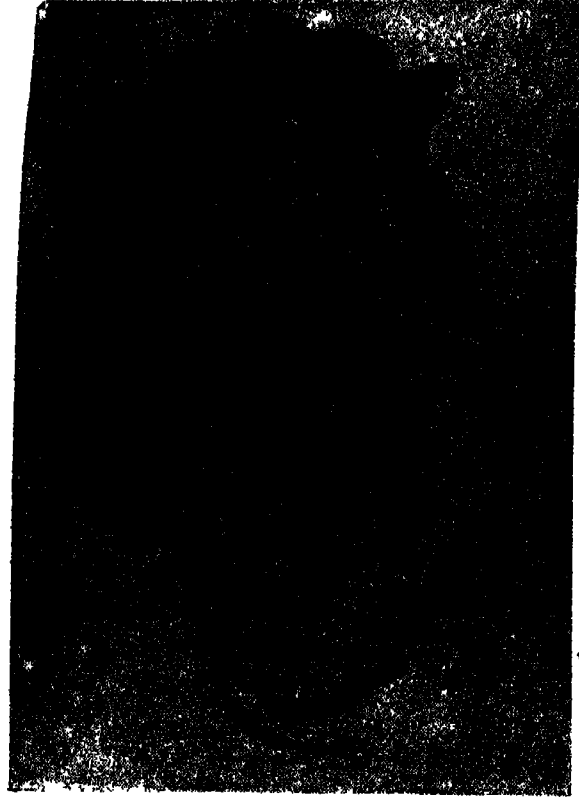
[फ्रांस के दॉदौन (Dordogne) क्षेत्र की गुफा की दीवार पर, लगभग पाँच लाख वर्ष पूर्व के कलाकार द्वारा बनाए चित्रों की अनुकृतियाँ ।]

थे। अमरीका में आनेवाले प्रथम मानव इसी युग के थे। पत्थर के औजार सूक्ष्म तथा विविध आकार के थे।

नवप्रस्तर काल — यह अंतिम और वर्तमान युग है। पत्थर के औजार यद्यपि इस युग (के प्रारंभ) में भी बनाए जाते थे, परंतु कृषि और पशुपालन इस युग की विशेष घटनाएँ थीं। अनाज रखने के लिये मिट्टी के बरतन बनाए जाते थे, जिनकी आयु का अनुमान उनकी बनावट और उनके भागों के अनुपात की भिन्नता से सरलता से आना जा सकता है। सूअर, गाय, भेड़ और बकरी का पालन प्रारंभ हो चुका था। इस युग के प्रारंभ काल का निश्चित पता नहीं चलता, परंतु यह निश्चित है कि ४,००० वर्ष ईसा से पूर्व इस युग की स्थापना भलीभाँति हो चुकी थी। संभवत: इस युग की सभ्यता का श्रीगणेश मिस्र, मेसोपोटामिया, उत्तरी पश्चिमी भारत तथा इन भागों की बृहत् नदियों, जैसे नील, दजला (Tigris), फरात (Euphrates) और सिंध की घाटियों में हुआ।

वनस्पति और जंतु का पूर्ण उपयोग करने के पश्चात् मनुष्य का ध्यान खनिज पदार्थों की ओर गया। सर्वप्रथम ताँबे का उपयोग किया गया, परंतु शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि धातुओं के मिश्रण से वस्तुएँ अधिक कड़ी बनाई जा सकती हैं। लगभग ३,००० वर्ष ईसा पूर्व काँसे (ताँबे और टिन के मिश्रण) का प्रयोग प्रारभ हुआ। १,४०० वर्ष ईसा पूर्व इस्पात का उपयोग होने लगा, जो अब तक चला आ रहा है।

मनुष्य का भविष्य — स्पष्ट है कि मस्तिष्क की वृद्धि पर ही मनुष्य के संपूर्ण विकास का बल रहा है। यह वृद्धि अब भी हो रही है या नहीं, यह कहना कठिन है, परतु जितना कुछ विकास हो चुका है उसके आधार पर मानव और लुप्त सरीसृपों (डाइनोसॉरिया, इक्थियोसॉरिया आदि) के विकास से तुलनात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। लुप्त सरीसृपों का शरीर भीमकाय (भार ४०–६० टन तक) हो गया था। फलस्वरूप बृहत् शरीर की आवश्यकताओं को अपेक्षाकृत छोटा मस्तिष्क पूरा न कर सका और ये जतु क्रमश: लुप्त होते गए। इसके प्रतिकूल मनुष्य में शरीर के अनुपात मे अपेक्षाकृत मस्तिष्क कहीं बड़ा हो गया है, अतएव मनुष्य के मस्तिष्क की अधिकांश शक्ति शारीरिक आवश्यकताओं (भोजन, सुरक्षा आदि) को पूरा कर लेने के बाद भी शेष रह जाती है। यह शक्ति मनुष्य अपने सुख साधनों को एकत्रित करने तथा विज्ञान और तकनीकी उपलब्धियों को प्राप्त करने मे लगा रहा है। इनमें विनाश के भी बीज निहित हैं। मनुष्य का भविष्य, अर्थात वह रहेगा अथवा सरीसृपियों की भाँति पृथ्वी रूपी रगमंच पर अपना अभिनय समाप्त करके सदा के लिये लुप्त हो जाएगा, यह उसके विनाशकारी औजारों की शक्ति और उनके उपयोग पर निर्भर करता है। यदि उसका लोप हुआ, तो वह इस निष्कर्ष की पूर्ति करेगा कि प्रकृति मे किसी जंतु के शरीर और मस्तिष्क विकास मे समन्वय होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर उस जतु का भविष्य मे अस्तित्व सदा अनिश्चित ही रहेगा। [कृ० प्र० श्री०]

मनुस्मृति भारतीय परंपरा मे मनुस्मृति को (जो मानव-धर्म-शास्त्र, मनुसंहिता आदि नामों से प्रसिद्ध है) प्राचीनतम स्मृति एवं प्रमाणभूत शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है। धर्मशास्त्रीय ग्रंथकारों के अतिरिक्त शंकराचार्य, शबरस्वामी जैसे दार्शनिक भी प्रमाणरूपेण इस ग्रंथ को उद्धृत करते हैं। परंपरानुसार यह स्मृति स्वायंभुव मनु द्वारा रचित है, वैवस्वत मनु या प्राचनेस मनु द्वारा नहीं। मनुस्मृति से यह भी पता चलता है कि स्वायंभुव मनु के मूलशास्त्र का आश्रय कर भृगु ने उस स्मृति का उपबृंहण किया था, जो प्रचलित मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। इस भार्गवीया मनुस्मृति की तरह नारदीया मनुस्मृति भी प्रचलित है।

मनुस्मृति के काल एवं प्रणेता के विषय में नवीन अनुसंधानकारी विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। किसी का मत है कि 'मानव' चरण (वैदिक शाखा) में प्रोक्त होने के कारण इस स्मृति का नाम मनुस्मृति पड़ा। कोई कहते हैं कि मनुस्मृति से पहले कोई मानव धर्मसूत्र था (जैसे मानव गृह्यसूत्र आदि हैं) जिसका आश्रय लेकर किसी ने एक मूल मनुस्मृति बनाई थी जो बाद में उपबृंहित होकर वर्तमान रूप में प्रचलित हो गई। मनुस्मृति के अनेक मत या वाक्य जो निरुक्त, महाभारतादि प्राचीन ग्रंथो मे नही मिलते हैं, उनके हेतु पर विचार करने पर भी कई उत्तर प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार के अनेक तथ्यों का बूहलर (Buhler, G) (सैक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट सीरीज, सख्या २५), म० म० काणे (हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र मे मनुप्रकरण) आदि विद्वानों ने पर्याप्त विवेचन किया है। यह अनुमान बहुत कुछ संगत प्रतीत होता है कि मनु के नाम से धर्मशास्त्रीय विषय परक वाक्य समाज मे प्रचलित थे, जिनका निर्देश महाभारतादि में है तथा जिन वचनों का आश्रय लेकर वर्तमान मनुसंहिता बनाई गई, साथ ही प्रसिद्धि के लिये भृगु नामक प्राचीन ऋषि का नाम उसके साथ जोड़ दिया गया। मनु से पहले भी धर्मशास्त्रकार थे, यह मनु के 'एके' आदि शब्दों से ही ज्ञात होता है। कौटिल्य ने 'मानवा: (मनुमतानुयायियों) का उल्लेख किया है।

मनु परंपरा की प्राचीनता होने पर भी वर्तमान मनुस्मृति ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से प्राचीन नही हो सकती (यह बात दूसरी है कि इसमें प्राचीनतर काल के अनेक वचन सगृहीत हुए हैं) यह बात यवन, शक, काबोज, चीन आदि जातियों के निर्देश से ज्ञात होती है। यह भी निश्चित है कि स्मृति का वर्तमान रूप द्वितीय शती ई० तक दृढ़ हो गया था और इस काल के बाद इसमें कोई संस्कार नही किया गया। मनु के कुछ प्रयोग प्राक्पाणिनीय हैं, उत्तरोत्तर इसके प्राचीन पाठ पाणिनीयव्याकरणानुसार सस्कृत हुए हैं—ऐसा मानने के लिये प्रमाण हैं।

मनु के १२ अध्यायों मे कुछ कम २७०० श्लोक हैं। अध्यायानुसार इसके विषय ये हैं—(१) जगत् की उत्पत्ति; (२) सस्कारविधि; व्रतचर्या, उपचार; (३) स्नान, दाराधिगमन, विवाहलक्षण, महायज्ञ, श्राद्धकल्प; (४) वृत्तिलक्षण, स्नातक व्रत; (५) भक्ष्याभक्ष्य, शौच, अशुद्धि, स्त्रीधर्म; (६) वानप्रस्थ, मोक्ष, संन्यास; (७) राजधर्म; (८) कार्यविनिर्णय, साक्षिप्रश्नविधान; (९) स्त्रीपुंसधर्म, विभाग धर्म, धूत, कंटकशोधन, वैश्यशूद्रोपचार; (१०) सकीर्णजाति, आपद्धर्म; (११) प्रायश्चित्त; (१२) संसारगति, कर्म, कर्मगुणदोष, देशजाति, कुलधर्म, नि:श्रेयस।

मनु पर कई व्याख्याएँ प्रचलित हैं—(१) मेधातिथिकृत भाष्य; (२) कुल्लूककृत मन्वर्थ मुक्तावली टीका; (३) नारायणकृत मन्वर्थ विवृत्ति टीका; (४) राघवानंद कृत मन्वर्थ चंद्रिका टीका; (५) नदनकृत नंदिनी टीका; (६) गोविंदराज कृत मन्वाशयानुसारिणी

टीका आदि। मनु के अनेक टीकाकारों के नाम ज्ञात हैं, जिनकी टीकाएँ अब लुप्त हो गई हैं, यथा—असहाय, भर्तृयज्ञ, यज्वा, उपाध्याय ऋजु, विष्णुस्वामी, उदयकर, भारुचि या भागुरि, भोजदेव धरणीधर आदि। [रा० श० भ०]

मनोमिति **व्यक्तित्व**—जी० डब्लू० आलपोर्ट ने व्यक्तित्व की लगभग ५० परिभाषाओं की तालिका प्रस्तुत की है जिनमें से कुछ ही इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष से संबद्ध हैं और ये भी पुन. ऐसे लक्षणों पर बल देती प्रतीत होती हैं, जैसे (क) व्यक्ति के सामाजिक उद्दीपक मूल्य और (ख) व्यक्ति के आंतरवैयक्तिक संगठन।

प्रचलित धारणा के अनुसार 'व्यक्तित्व' शब्द का किसी व्यक्ति के सामाजिक उद्दीपक मूल्य के सूचक के रूप मे प्रयोग किया जाता है। इससे तात्पर्य उस संपूर्ण प्रभाव से है जो एक व्यक्ति दूसरों पर डालता है, अर्थात् व्यक्ति उस प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिये जिसके संपर्क मे वह आता है एक उद्दीपक के रूप मे कार्य करता है। किसी व्यक्ति के सामाजिक उद्दीपक मूल्य के अंतर्गत उसकी दैहिक विशेषताएँ (जैसे उसकी ऊँचाई, शरीरभार, वर्ण, वेशभूषा इत्यादि), उसकी विशिष्ट व्यवहारपद्धतियाँ (जैसे उसकी निजी आदतें और व्यवहारवैचित्र्य) और तात्कालिक परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया करने के उसके अपने विशिष्ट ढंग, आदि आते हैं।

उद्दीपक के रूप मे क्रियाशील रहते हुए व्यक्ति पर उन पारस्परिक क्रियाओं का भी सतत प्रभाव रहता है जिनका वह अपने तथा अन्य व्यक्तियो के बीच उपक्रमण करता है। ये परिणामात्मक शक्तियाँ ऐसे परिवर्तन उत्पन्न करती हैं जो उसके अपने, अन्य व्यक्तियों और स्थितियो के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दो मे, व्यक्ति अपने को अदर से देखता है और संगठन, अर्थात् एकता और स्थिरता उत्पन्न करके अपने आंतर वैयक्तिक स्वभाव मे अपनी आत्म-धारणा का विकास करता है। आंतरवैयक्तिकता की दृष्टि से देखने पर व्यक्तित्व को सामान्यतया 'आत्मा' अथवा 'अहं' कहते है। इसके अंतर्गत व्यक्ति की बौद्धिक, संवेगात्मक संरचनाएँ, उनकी योग्यताएँ और अभिवृत्तियाँ, रुचियाँ, पसंदगी और नापसंदगी आती हैं। यह द्रष्टव्य है कि चेतनात्मक के अतिरिक्त व्यक्ति के आंतर वैयक्तिक संगठन में कभी कभी ऐसे अचेतन तत्वों का भी समावेश होता है जिनसे वह स्वयं अवगत नही होता।

व्यक्तित्व मापन—व्यक्तित्व के सामाजिक और आंतर वैयक्तिक दोनो पक्षो पर मापन योग्य तथा बोधगम्य होने के रूप मे अनेक विधियाँ प्रस्तावित की गई हैं। फिर भी, इनमें से प्रत्येक विधि के कुछ गुण और कुछ दोष हैं। प्रमुख शीर्षक, जिनके अंतर्गत इन विधियो को सूचीबद्ध किया जा सकता है, इस प्रकार हैं :

(१) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अध्ययन; (२) दैहिक वृत्त; (३) सामाजिक वृत्त; (४) व्यक्तिगत वृत्त, (५) अभिव्यंजनात्मक गतियाँ; (६) योग्यताक्रम निर्धारण; (७) मानसिक परीक्षण, (८) लघु जीवन स्थितियाँ; (९) सांख्यिकीय विश्लेषण; (१०) प्रयोगशाला के प्रयोग; (११) प्रागुक्ति; (१२) गहन विश्लेषण; (१३) आदर्श प्रकार और (१४) संश्लिष्ट विधियाँ।

इन विधियों का अनेक अन्य तकनीको के रूप मे उपविभाजन किया गया है जिसकी उपयोगिता विश्वसनीयता तथा वैधता की समस्या उत्पन्न कर देती है क्योंकि सामान्य मूल्यांकन पद्धतियों को विश्वसनीय तथा परिशुद्ध होना चाहिए।

व्यक्तित्व मूल्यांकन और अनुसंधान संबंधी कैलिफोर्निया इंस्टीटयूट (देखिए अमेरिकन साइकॉलोजिस्ट, १९६१. १६।II, ७९–८३) ने संयुक्त राज्य अमरीका मे व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के प्रयोग की समालोचना करने के पश्चात् ६२ मानसिक परीक्षणों का उल्लेख किया गया है जिनमे से कुछ की चर्चा नीचे की जा रही है।

दस प्रमुख परीक्षणों मे से पाँच बुद्धिपरीक्षण हैं और चार प्रक्षेपीय परीक्षण। दसवें परीक्षण का नाम 'मिनेसोटा मल्टीफेजिक व्यक्तित्व इन्वेन्ट्री है। यह एक मनोमितिक तकनीक है जिसका प्रयोग व्यक्तित्व के नैदानिक प्रकारो का वर्णन अर्थात् विभिन्न मनोविकारात्मक श्रेणियो के अंतर्गत रोगियो का निदान करने के लिये किया जाता है। प्रक्षेपीय परीक्षणों का प्रयोग व्यक्तित्व की गहन अभिव्यक्तियो अर्थात् किसी व्यक्ति मे अंतर्निहित उन व्यक्तिगत और प्रकृति वैशिष्टयजन्य अर्थों तथा संगठनों की, जो अन्य किसी प्रकार से प्रकट नहीं होते, जानकारी प्राप्त करने के लिये किया जाता है। रोर्शा परीक्षण एक प्रक्षेपीय तकनीक है जो रोशनाई के धब्बो के विवेचन पर आधारित है। यह मनोरंजक है कि रॉर्शा परीक्षण का प्रयोग करनेवाले स्थानो तथा व्यवहार परिमाण दोनों ही दृष्टियों से रॉर्शा अपने अन्य प्रतिद्वंद्वियों से स्पष्ट आगे है। बुद्धिपरीक्षण का उद्देश्य व्यक्ति की उन योग्यताओ का चित्रण करना होता है जो संपूर्ण परिवेश अथवा उसके विभिन्न पक्षो के प्रति उसके अभियोजन को संभव बनाती हैं।

बुद्धि (सामान्य मानसिक योग्यता)—व्यक्तित्व के संघटकों की गणना करते समय अनेक मनोवैज्ञानिक बुद्धि को प्रमुख स्थान देते हैं। ऐसी समस्या के उपस्थित होने पर, जिसका समाधान कई तरह से हो सकता है, व्यक्ति अपनी बुद्धि का जिस प्रकार प्रयोग करता है वह उसके व्यक्तित्व गठन को प्रतिबिंबित करता है।

स्पीयरमैन का सदैव यही मत रहा है कि बुद्धि एक सामान्य मानसिक योग्यता है। उनका विश्वास था कि समस्त बौद्धिक कार्यों मे एक आधारभूत क्रिया अथवा क्रियासमूह समान रूप से वर्तमान होता है, और यह कि बुद्धि अनिवार्यत. एक तर्कनापरक चिंतन है। यह एक प्रकार के सामान्य 'शक्ति' तत्व के समान होता है जो बुद्धि को अपनी सामान्य शक्ति का व्यवहार करने मे सक्षम बनाता है। फिर भी इन्होंने कुछ विशेष अमूर्त कुशलताओ अथवा 's' तत्वों को भी स्वीकार किया है, यद्यपि वे बाह्य और सीमित रूप से 'g' (सामान्य) तत्व से ही अंश ग्रहण करते है।

स्पीयरमैन के इस सामान्य तत्वसिद्धांत के विरुद्ध बुद्धि के एक बहुतत्व सिद्धात का प्रतिपादन किया गया। इस सिद्धात के प्रमुख प्रवर्तक, केली का कथन है कि 'G' कोई एकमात्र वस्तु नही है, जैसा उसे कहा जाता है, वरन् इस तत्व के अतर्गत समान योग्यताओं के विशेष समूह होते हैं। उदाहरण के लिये. अपने अमूर्त क्षेत्र के अतर्गत, बुद्धि समाकलित विशेष पक्षों, जैसे स्मृति, स्थानगत संबंध, शाब्दिक और आंकिक समझ, समझ की गति इत्यादि, का सम्मिश्रण हो सकती है। यह द्रष्टव्य है कि बाद के मनोवैज्ञानिकों ने भी इसी के समान प्रस्तावों के आधार पर इस परिकल्पना को सिद्ध किया है।

बुद्धि के अंतर्गत, जैसा इसे अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने समझा है, वे सब योग्यताएँ आ जाती हैं जिनके द्वारा ज्ञान का अर्जन, धारण तथा किसी समस्या के समाधान में व्यवहार किया जाता है। यह प्रत्यक्षीकरण, अधिगम, स्मृति, कल्पना इत्यादि योग्यताओं का भी उपनय करती है। किंतु यत: विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का ठीक ठीक निर्धारण निश्चित रूप से कठिन है, अत: बुद्धि की किसी भी परिभाषा का इतना अधिक विस्तृत होना अनिवार्य है कि उसका बहुत व्यावहारिक महत्व नहीं रह जाता। फिर भी, मनोवैज्ञानिकों ने कम से कम तीन प्रकार की मापनपद्धति का विकास किया है। अमूर्त बुद्धि की आवश्यकता वृत्तिक व्यक्तियों, जैसे वकीलों, चिकित्सकों, साहित्यक व्यक्तियों और व्यवसायियों, राजमर्मज्ञों, तथा इसी प्रकार के लोगों को होती है। अभियंता, कुशल मैकेनिक, प्रशिक्षित औद्योगिक कर्मचारी, नकशानवीस, इत्यादि सब को यांत्रिक दृष्टि से, तथा राजनयज्ञ, विक्रेता, उपदेशक, और परामर्शदाता को सामाजिक दृष्टि से बुद्धिसंपन्न होना आवश्यक है।

अमूर्त बुद्धि प्रतीकों के संबंधों को समझने से तथा उनके सार्थक व्यवहार से संबद्ध होती है। इन अमूर्त योग्यताओं के मापन के लिये निर्मित परीक्षणों को साधारणतया 'सामान्य बुद्धि परीक्षण' कहते हैं। इन परीक्षणों को प्रयुक्त सामग्री और आवश्यक प्रतिक्रियाओं की दृष्टि से दो श्रेणियों के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है—शाब्दिक बुद्धि परीक्षण तथा अशाब्दिक बुद्धिपरीक्षण। व्यक्ति की बुद्धि का निर्णय उस सूचकांक के आधार पर किया जाता है जो वह (शब्द रूप में प्रस्तुत) किसी समस्या के समाधान में अपनी शाब्दिक योग्यता, पठन और लेखन, के प्रयोग में प्राप्त करता है। अशाब्दिक परीक्षण प्रहेलिकाओं, भूलभुलैयों, चित्रों और रेखाचित्रों, के रूप में किसी समस्या को उपस्थित करते हैं और परीक्ष्य व्यक्ति को साधारण चिह्नों द्वारा अथवा जोड़ तोड़कर अपना समाधान प्रस्तुत करना पड़ता है।

यांत्रिक बुद्धि से सामान्यत:, भाषागत प्रतीकों की अपेक्षा, स्वयं मूर्त्त वस्तुओं के साथ कार्य करने की औसत से अधिक क्षमता का तात्पर्य होता है। हस्तकौशल तथा गत्यात्मक समन्वय की क्षमता से युक्त व्यक्ति यांत्रिक साधनों को जोड़ने तोड़ने में प्रवीण होते हैं। यांत्रिक अभियोग्यता परीक्षण उन्हें कहते हैं जो इस प्रकार की बुद्धि का मूल्यांकन करने के लिये प्रयुक्त होते हैं।

सामाजिक बुद्धि से उस प्रभावशाली आंतरवैयक्तिक योग्यता संबंध से तात्पर्य है जो वांछित अभीष्टों की प्राप्ति को सुगम बनाता है। सामाजिक बुद्धिसंपन्न व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ सुचारु संबंध बना रखने की कला और नैपुण्य से युक्त होता है। अन्य प्रकारों के अंतर्गत अभिवृत्ति परीक्षणों द्वारा सामाजिक बुद्धि में अंतर्निहित सामाजिक प्रवृत्तियों की माप होती है।

फिर भी, बुद्धिजन्य व्यवहार के उक्त तीन पक्षों में भी इस तरह के पर्याप्त वैयक्तिक विभेद होते हैं, और निर्मित परीक्षण अपनी सीमा में मानसिक योग्यताओं की समस्त विविधता और संपन्नता को समाप्त नहीं कर सकते। किंतु 'परीक्षणों' द्वारा प्राप्त सूचकांक के अंतर्गत मनोवैज्ञानिक शोध के आज के ढाँचे की सीमा में निष्पक्ष रूप से प्राप्त संगत सूचना का समस्त क्षेत्र आ जाता है। यह उपागम सिद्धांत की अपेक्षा तथ्यों का ही अधिक उत्पादक रहा है, और संभवत: यही इसकी शक्ति है।

बुद्धिपरीक्षण — ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्धिपरीक्षण में रुचि का आरंभ उस समय हुआ जब शैक्षणिक कार्यक्रम के अंतर्गत विद्यार्थियों की योग्यता के निर्धारण की शैक्षिक पाठ्यचर्या की प्रायोगिक आवश्यकता प्रतीत हुई। सन् १९०४ ई० में फ्रांस के पब्लिक स्कूलों में मंदबुद्धि बालकों के लिये विशेष कक्षाओं की व्यवस्था संबंधी संस्तुतियों का निर्धारण करने के लिये एक आयोग गठित किया गया था। वहाँ के मनोवैज्ञानिक ऐल्फ्रेड बिने सदस्य नियुक्त हुए। इस नियुक्ति से उन्हें उन कतिपय परीक्षणों के प्रयोग का अवसर मिला जिन्हें वे तथा उनके सहयोगी साइमन विकसित कर रहे थे। सामान्य बालक और मंद-बुद्धि बालक का विभेद करने के लिये किसी ठीक ठीक माध्यम के निर्माण में इन लोगों की प्रधान रुचि थी। वैयक्तिक विभेद विषयक गाल्टन के अनुसंधानों ने बिने की प्राक्कल्पनाओं के विकास में सहायता पहुँचाई। (प्रायोजना के विकास का पहले से ही मार्ग प्रशस्त कर दिया था।)

विभिन्न अवस्था के व्यक्तियों की तुलना तथा एक ही उम्र के विभिन्न व्यक्तियों की तुलना करने के लिये बिने ने एक बुद्धिपरीक्षण का निर्माण किया। परीक्षण के विकास में देखा गया कि ऐसे अनेक कार्य हो सकते हैं जिन्हें करने में किसी अवस्था के, जैसे दस वर्ष के बालक तो समर्थ होते हैं जब कि अपेक्षाकृत कम उम्र के बालक उन्हें पूरा करने में निश्चित रूप से असमर्थ होते हैं। यदि कोई बालक कोई ऐसा कार्य कर सकता है, जिसे १० वर्ष के अधिकतर बालक कर सकते हैं, तो उस बालक की 'मानसिक वय' १० वर्ष मानी जायगी, चाहे उसकी वास्तविक उम्र छह, आठ, अथवा १४ वर्ष हो। मान लीजिए यदि आठ वर्ष के एक बालक की मानसिक उम्र १० वर्ष है, तो उसे अपनी अवस्था के अनुसार प्रखर—वास्तव में दो वर्ष अधिक प्रखर—कहा जायगा। दूसरी ओर १४ वर्ष की वास्तविक उम्रवाले बालक की यदि मानसिक वय केवल १० वर्ष हो तो उसे चार वर्ष पिछड़ा, या मंद, कहेंगे।

स्वयं बिने ने अपने परीक्षण में दो बार संशोधन किया, और उनका अंतिम परीक्षण सन् १९११ में निकला। बिने के परीक्षण के इसी अंतिम रूप का एल० एम० टर्मन ने स्टैंफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रयोग किया जहाँ बिने परीक्षण के तीन स्टैंफोर्ड परिष्कार हुए। इनमें से प्रथम १९१६ में, दूसरा १९३७ में और तीसरा १९५९ में निकला।

बिने की 'मानसिक वय' का परिमार्जन किया गया और बालक की मानसिक उम्र को उसकी वर्षायु से भाग देकर उसमें १०० से गुणा करके बुद्धि उपलब्ध (इंटेलिजेंस कोशंट, I. Q.) निकालने का प्रस्ताव किया गया। इस प्रकार I. Q = १००+M. A./C. A.। यत एक औसत बालक की मानसिक उम्र उसकी वर्षाग्र के बराबर होती है, अत: १०० से ऊपर की बुद्धि उपलब्धि औसत से अधिक एवं १०० से नीचे की बुद्धि उपलब्धि औसत से कम मानसिक योग्यता की द्योतक होगी। सामान्य रूप से उद्देश्य यह रहा है कि मानक को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया जाय कि किसी बालक की बुद्धि उपलब्धि उसकी उम्र बढ़ते रहने पर भी स्थिर रहे। स्टैंफोर्ड

बिने परीक्षण का अधिकतर प्रयोग चार से १४ वर्ष की सीमा के भीतर के बालकों के लिये ही होता है। प्रमुख रूप से प्रौढ़ों के मापनार्थ निर्मित एक परीक्षण का नाम 'वेक्सलर बेलेव्यू मान स्केल' है। इस परीक्षण द्वारा मानसिक वय तो प्राप्त नहीं होती किंतु बौद्धिक उपलब्धि अवश्य ज्ञात होती है। इसका अंकन इस प्रकार अभियोजित है कि प्रत्येक स्तर के लिये I. Q. १०० होता है। इस प्रकार ५० वर्ष का एक व्यक्ति जो १२५ I. Q. प्राप्त करता है, सामान्य रूप से ५० वर्ष के अन्य व्यक्तियों से उतना ही श्रेष्ठ कहा जायगा जितना १२५ I. Q. प्राप्त करनेवाला ३० वर्ष का व्यक्ति अन्य ३० वर्ष के लोगों से श्रेष्ठ होगा।

स्टैंफोर्ड-बिने तथा वेक्सलर बेलेव्यू, दोनों ही परीक्षण वैयक्तिक परीक्षण हैं और इनसे एक समय में एक ही बालक या वयस्क का परीक्षण किया जा सकता है। किंतु इनके अतिरिक्त अन्य वैयक्तिक परीक्षण भी हैं, और ऐसे परीक्षण भी हैं जिनका एक बार में सामूहिक रूप से अनेक व्यक्तियों पर प्रयोग किया जा सकता है।

भारत में व्यक्तित्वपरीक्षण और बुद्धिपरीक्षण — कालक्रम की दृष्टि से भारत में व्यक्तित्वपरीक्षण की अपेक्षा बुद्धिपरीक्षणों का आरंभ पहले हुआ। विदेशी परीक्षणों का भारतीय स्थितियों के अनुकूल रूप तैयार करने का प्रयत्न सर्वप्रथम हर्बर्ट सी० राइस ने सन् १९२२ में लाहौर में किया। उन्होंने बुद्धिमापन के बिने स्केल पर कार्य करते हुए केवल बालकों के लिये उर्दू और पंजाबी में 'हिंदुस्तानी बिने पर्फार्मेंस प्वाइंट स्केल' का निर्माण किया। बाद में सन् १९३५ में बालक और बालिकाओं दोनों के लिये बंबई में वी० पी० कामथ ने मराठी और कन्नड़ मे बिने स्केल की रचना की। बिने स्केल के परिमार्जन बाद में बंगला (ढाका ट्रेनिंग कालेज), हिंदुस्तानी (पटना ट्रेनिंग कॉलेज), तमिल और तेलुगू (लेडी विलिंगडन ट्रेनिंग कॉलेज,मद्रास) तथा हिंदी (गुप्ता का बिने परीक्षण, खजुआ, यू० पी०) मे भी निकले। इनके अतिरिक्त स्टैंफोर्ड परिमार्जन के अनेक अन्य अनुकूलनों का व्यवहार किया गया। इन परिमार्जनों के अतिरिक्त, इलाहाबाद के सोहनलाल ने सन् १९४२ में विद्यालय मे पढनेवाले बालकों के लिये हिंदी और उर्दू मे सामूहिक बुद्धिपरीक्षण का, और इलाहाबाद के ही सी० एम० भाटिया ने सन् १९४५ मे भारतीयों के लिये बुद्धि के क्रियात्मक (पर्फारमेंस) परीक्षण का निर्माण किया।

इलाहाबाद ईविंग क्रिश्चियन कालेज के जे० हेनरी ने सन् १९२७ मे भारतीय स्थितियो के अनुकूल प्रथम शाब्दिक सामूहिक परीक्षण का निर्माण किया। इनका प्राइमरी क्लासिफिकेशन परीक्षण, शैक्षिक और बुद्धिपरीक्षणों का संमिश्रण था और यह हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी मे तैयार किया गया था। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के लज्जाशंकर झा ने सन् १९३३ में रिचार्डसन के 'सिप्लेक्स मेंटल टेस्ट' का हिंदी अनुकूलन प्रकाशित किया, और इसके बाद सिप्लेक्स परीक्षण के ही आयु वर्ग के लिये टर्मन के 'ग्रूप टेस्ट ऑव मेंटल एबिलिटी' पर कार्य किया। इनके बाद एस० जलोटा (सामूहिक शाब्दिक परीक्षण) और लाहौर के आर० आर० कुमारिया (अक्षर सामूहिक बुद्धिपरीक्षण), लखनऊ के एस० के० शाह० (कालेज के विद्यार्थियो की मानसिक योग्यता के लिये सामूहिक परीक्षण), मद्रास के सी० टी० फिलिप (तामिल में मानसिक योग्यता का शाब्दिक परीक्षण), पटना के एस० एम० मोहसिन (हिंदुस्तानी सामूहिक बुद्धिपरीक्षण) आदि ने भारत में शाब्दिक सामूहिक परीक्षणों के निर्माण की दिशा में योगदान दिया है।

व्यक्तित्वपरीक्षण की दिशा में भारत मे प्रथम प्रयास लाहौर के बी० मल० ने किया। इनकी 'व्यक्तित्व प्रश्नावली' का उद्देश्य किशोरो के संवेगात्मक परीक्षणों को उनकी निर्माणविधि के आधार पर तीन उपवर्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है जो इस प्रकार हैं : प्रश्नावली, प्रक्षेपीय परीक्षण तथा क्रमनिर्धारण मान।

इस क्षेत्र मे प्रश्नावली विधि का अधिकांश भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग किया है। इनमे से कुछ नाम ये हैं—मैसूर के बी० कुप्पूस्वामी, बनारस के एस० जलोटा, लखनऊ के एच० एस० अस्थाना, बनारस के एम० एस० एल० सक्सेना, इलाहाबाद के डी० सिनहा, इलाहाबाद की मनोविज्ञानशाला, कलकत्ता का शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक अनुसधान ब्यूरो, बिहार का शैक्षिक और व्यावसायिक निर्देशन ब्यूरो इत्यादि। वर्तमान समय में हमारे अधिकांश भारतीय विश्वविद्यालयो में प्रश्नावली विधि से व्यक्तित्वपरीक्षण की दिशा मे पर्याप्त कार्य हो रहा है। भारत मे व्यक्तित्व के प्रक्षेपीय परीक्षण के प्रयोग के लिये हम इलाहाबाद की मनोविज्ञान शाला द्वारा TAT के अनुकूलन तथा यू० पारिख द्वारा रोजेनवीग के पिक्चर फ्रस्ट्रेशन परीक्षण का उल्लेख कर सकते हैं। अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों मे विद्यार्थियो द्वारा अपनी शैक्षिक आवश्यकता के लिये रोर्शा परीक्षण का सर्वाधिक प्रयोग किया जा रहा है। व्यक्तित्व परीक्षण के लिये क्रमनिर्धारण मान विधि के प्रयोगो के संबध मे श्री जमुना प्रसाद के 'व्यक्तित्व अभियोजन संबधी क्रमनिर्धारण मान' का उल्लेख किया जा सकता है।

विशिष्ट मानसिक योग्यता—बुद्धिपरीक्षणों को अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) बुद्धि की माप कहते हैं जो सामान्य मानसिक योग्यता के द्योतक होते हैं। इस मत के प्रवर्तक यह विश्वास करते हैं कि सहायक शैक्षणिक नीतियों के द्वारा सामान्य बुद्धि का परीक्षण मात्र विद्यार्थियों को किसी व्यवसाय के लिये आवश्यक है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का विरोध ऐसे मनोवैज्ञानिक करते हैं जो आदत की विशिष्टता अथवा योग्यता की विशिष्टता पर जोर देते हुए कहते हैं कि बुद्धि जैसी कोई चीज नही वरन् इसके स्थान पर अनेक बुद्धियाँ होती हैं जो अमूर्त के अतिरिक्त अन्य प्रकार की योग्यताओं से मिलकर बनी होती हैं। यह तथ्य कि एक व्यक्ति किसी एक कार्यक्षेत्र के लिये योग्यता रखता है, इस बात की प्रत्याभूति नही है कि वह कार्य के अन्य क्षेत्रों मे भी उतना ही योग्य होगा। अत. शुद्धता के हित मे यही उचित है कि 'बुद्धिमान्' शब्द को विशिष्ट स्थितियो मे विशिष्ट व्यवहारों के वर्णन के लिये सुरक्षित रखा जाय। कभी व्यक्ति बुद्धिमत्तापूर्वक और कभी मूर्खतापूर्वक व्यवहार करता है।

'कारण विश्लेषण' के नाम से ख्यात एक विस्तृत सांख्यिक पद्धति के द्वारा मनुष्य की योग्यताओं को छाँटने के लिये अनेक अध्ययन किए गए हैं। भाषात्मक, यांत्रिक, कलात्मक, संगीतात्मक, लिपिक तथा पुस्तकायिक आदि सर्वाधिक उपलब्ध विशिष्ट योग्यताएँ हैं। हम अपने

प्रति दिन के अनुभव द्वारा यह देख सकते हैं कि एक व्यक्ति इनमें से किसी एक योग्यता क्षेत्र में पारंगत होते हुए भी अन्य में हीन या पिछड़ा हुआ होता है।

अभिवृत्ति (रुझान) और अभिरुचि—अभिवृत्ति से हमारा तात्पर्य किसी कौशल विशेष में नैपुण्य प्राप्त करने की व्यक्ति की अप्रकट और अविकसित योग्यता से है। अतः अभिवृत्तियों के मापन के लिये विशेष रूप से निर्मित परीक्षण भावी क्षमताओं की प्रभावोत्पादकता के पूर्वकथन को संभव बनाने का प्रयास करते हैं। अतः भावी निष्पत्तियों के ये पूर्वकथनात्मक परीक्षण विभिन्न योग्यताओं से संबद्ध होते हैं, अतः कार्य के विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने के लिये अनेक अभिवृत्तिपरीक्षणों का निर्माण किया गया है। इस प्रकार हमें सामान्य यांत्रिक, लिपिक, संगीतात्मक तथा अन्य अभिवृत्तिपरीक्षण उपलब्ध हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् निर्मित 'मिनेसोटा फॉर्म बोर्ड' परीक्षण का उल्लेख यांत्रिक योग्यता के मापन के सर्वाधिक वैध माध्यम के रूप में किया गया है। इसमें अलग अलग भागों में कटे दो आयामों-वाले रेखाचित्र परीक्ष्य व्यक्ति के सामने रखे जाते हैं जिनमें से उसे ऐसा रेखाचित्र चुनना होता है जो मूल रेखाचित्र में दिखाए गए ठीक ठीक भागों से मिलकर बना हो। यह परीक्षण उन यांत्रिक योग्यताओं का मापन करता है जो स्थानगत वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण तथा जोड़ने तोड़ने की प्रक्रिया से संबद्ध होती हैं। अन्य अभिवृत्तिपरीक्षणों के संबंध में यही कहा जा सकता है कि विशिष्ट योग्यतामापक उदाहरणों की कमी नहीं है।

अभिरुचियों को व्यक्तित्व के उन प्रेरणात्मक पक्षों का अभिव्यंजक कहा गया है जिनका विकास अनुभूत आवश्यकताओं से होता है। अनेक व्यक्तियों में विविध प्रकार के कार्यों के लिये समान योग्यता देखी जाती है, किंतु उनके प्रति इनकी अभिरुचि में स्पष्ट अंतर होता है। यह निर्विवाद है कि हम उसी व्यवसाय में किसी व्यक्ति की संतोषजनक प्रगति की आशा कर सकते हैं जिसके प्रति उसमें योग्यता तथा अभिरुचि दोनों एक साथ वर्तमान हों। अतः अभिरुचियों के माप को योग्यताओं के माप के साथ संयुक्त कर देने पर किसी व्यक्ति की किसी व्यवसाय विशेष में सफलता का पूर्वकथन और अधिक सशक्त हो जाता है।

अनेक अभिरुचि प्रश्नावलियों का निर्माण किया गया है जिनमें 'क्यूडर प्रेफरेंस रेकार्ड' (वोकेशनल) प्रमुख है। यह प्रश्नावली अनेक प्रकार के कार्यों के प्रति व्यक्ति की अभिरुचि का मूल्यांकन करने का प्रयास करती है। यह वर्णनात्मक मान है जिसमें परीक्ष्य व्यक्ति को तीन संभव क्रियाओं से संबद्ध प्रत्येक पद के अनुसार अपनी रुचि को—किसे वह सबसे अधिक चाहता है और किसे सबसे कम—व्यक्त करना पड़ता है। इस प्रकार हमें इन नव क्षेत्रों में से प्रत्येक व्यक्ति की मापें उपलब्ध होती हैं : यांत्रिक, संगणनात्मक, वैज्ञानिक, अननयी, कलात्मक, साहित्यिक, संगीतात्मक, सामाजिक सेवा और लिपिक। स्ट्रांग का 'वोकेशनल इंटरेस्ट ब्लेंक' एक अन्य बहुप्रयुक्त व्यावसायिक अभिरुचि तालिका है। स्ट्रांग का सर्वविषयक चार्ट पचास व्यवसायों और कार्यों के क्षेत्र में, जिनमें कानून, चिकित्सा, शिक्षण, इंजीनियरिंग, विक्रेता का कार्य और लेखा आते हैं, व्यक्ति की अभिरुचियों की शक्ति की माप प्रदान करता है।

शैक्षिक निर्देशन और व्यावसायिक चुनाव — अभिवृत्ति और अभिरुचि की माप किसी व्यक्ति के भावी जीवन की निष्पत्तियों के सूचनांक प्रदान करते हैं। अतः उसे अपने जीवन की योजना बनाने में जिससे उसकी निष्पत्तियाँ और क्षमताएँ समाज में उसके स्थान की आवश्यकताओं के अनुकूल हो सकें, निर्देशन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक मनुष्य की योग्यताओं में वैयक्तिक अंतर होता है, अतः निर्देशन तभी प्रभावकर हो सकता है जब वह शैक्षिक प्रयत्नों के आरंभ में ही प्राप्त हो सके। इसके द्वारा विद्यार्थियों को उनकी लगभग समान योग्यता की कक्षाओं में वर्गीकृत करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार वर्गीकृत विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये एक सुसंचालित शैक्षिक नीति का होना भी आवश्यक है।

शैक्षिक निर्देशन बहुत अंशों तक साधारणतया बुद्धिपरीक्षणों द्वारा नापी गई व्यक्ति की बौद्धिक अभिवृत्ति पर आधारित होता है। विद्यार्थी को अपना शैक्षिक अभीष्ट अपनी अभिवृत्ति से न तो बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा, वरन् अनुकूल रखने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे सर्वाधिक लाभप्रद अभिरुचि विकसित तथा अर्जित करने के लिये सहायता प्रदान करते हुए किसी ऐसी अभिरुचि विशेष में चिपके रहने नहीं देना चाहिए जो उसने अर्जित कर ली हो। निःसंदेह, अभिभावक की साधन-संपन्नता उसे जीवन के विभिन्न कार्यों के लिये तैयार करने में महत्वपूर्ण सहायक तत्व होता है।

सफल व्यावसायिक चुनाव के लिये आवश्यक है कि बुद्धि, अभिवृत्ति, अभिरुचि और व्यक्तित्व की प्रवृत्तियों के माप द्वारा उपलब्ध तथ्यगत प्रदत्तों का सतर्क विवेचन पहले से ही कर लिया जाय। यतः बुद्धि को मनोवैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सर्वाधिक सरलता से नापा जा सकता है, अतः व्यवसाय के चुनाव में किसी भी अन्य विशिष्टता की अपेक्षा बुद्धिपरीक्षण को अधिक महत्व दिया गया है। फिर भी इसके लिये बुद्धि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सूचनाएँ भी आवश्यक हैं। साथ ही, कुछ प्रकार की व्यावसायिक सफलता के लिये व्यक्तित्व प्रवृत्तियाँ जैसे प्रभुत्वस्थापन, आक्रामकता, और निष्ठा अत्यधिक महत्वपूर्ण होती हैं।
[एम० एस० एस०]

मनोविकार विज्ञान आधुनिक युग का एक नवीन विज्ञान है। २०वीं सदी में ही इस विज्ञान के विभिन्न अंगों में महत्व की खोजें हुई हैं। १९वीं शताब्दी तक विभिन्न प्रकार के मनोविकार ऐसे रोग माने जाते थे जिनका साधारण चिकित्सक से कोई संबंध नहीं था। जटिल मनोविकार की अवस्था में रोगी को मानसिक चिकित्सालयों में रख दिया जाता था, ताकि वह समाज के दूसरे लोगों का कोई नुकसान न कर सके। इन चिकित्सालयों में भी उसका कोई विशेष उपचार नहीं होता था। चिकित्सकों को वास्तव में उसकी चिकित्सा के विषय में स्पष्ट ज्ञान ही न था कि चिकित्सा कैसे की जाय।

अब परिस्थिति बदल गई है। मनोविकार विज्ञान को एक अँधियारी कोठरी नहीं मान लिया गया है, जिसका संबंध थोड़े से

मनोविक्षिप्त लोगों से है, वरन् यह विज्ञान इतना महत्व का विषय माना गया है कि इसका समुचित ज्ञान न केवल कुशल शारीरिक चिकित्सक को, वरन् समाज के प्रत्येक सेवक और कार्यकर्ता, शिक्षक, समाजसुधारक तथा राजनीतिक नेता को भी होना आवश्यक है। इतना ही नहीं, इसके ज्ञान की आवश्यकता प्रत्येक सुशिक्षित नागरिक को भी है। यदि कोई प्रबल मनोविकार मन में आ गया और हमें उसका ज्ञान नहीं हुआ, तो हम उससे मुक्त होने के लिये किसी विशेषज्ञ की सहायता भी न ले सकेंगे। कोई भी व्यक्ति, जो पूर्ण स्वस्थ है और जिसकी बुद्धि की सभी लोग प्रशंसा करते हैं, अपने मन का संतुलन किसी समय खोकर विक्षिप्त हो सकता है। फिर वह समाज के लिये निकम्मा हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसी परिस्थितियों का ज्ञान कर ले जिससे वह किसी प्रकार की असाधारण मानसिक अवस्था मे न आ जाय, अर्थात् मानसिक रोग से पीडित न हो जाय। फिर मानसिक चिकित्सा कराने के लिये भी मनोविकार विज्ञान मे श्रद्धा होना आवश्यक है।

मनोविकार विज्ञान का विकास — मानव की विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनोविकार विज्ञान का विकास हुआ। यह २०वी शताब्दी की एक विशेष देन का परिणाम है। इस शती में मनुष्य की कार्यक्षमता और उसकी सुखसामग्रियो में कल्पनातीत अभिवृद्धि हुई है। उसकी तार्किक शक्ति और वैज्ञानिक चमत्कार अत्यधिक बढ़ गए हैं। इसके साथ साथ उसकी मानसिक असाधारणता भी पहले से कई गुनी बढ़ गई है। यह कोरी बकवाद नही है कि प्रतिभा और पागलपन एक दूसरे के पूरक हैं। बुद्धिविकास के साथ साथ विक्षिप्तता का भी विकास होता है। विज्ञान सुखद सामग्रियों मे वृद्धि करता है, तो दु:खद परिस्थितियों का भी सृजन करता है। वह बाह्य परिस्थितियों के सुलझाव पैदा करने के साथ साथ नई मानसिक उलझनें भी उत्पन्न कर देता है। एक ओर विज्ञान मनुष्य की सुरक्षा बढा देता है, तो दूसरी ओर अचिंत्य चिताओं को भी उत्पन्न कर देता है। अतएव यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि २०वीं शताब्दी विक्षिप्तता की शताब्दी है। यदि इसने विक्षिप्तता को बढाया है, तो उसके शमन के विशेष उपाय खोजना भी इसी का काम है। जो देश जितना ही सभ्यता में प्रगतिशील है, उसमे विक्षिप्ततानिवारक चिकित्सक और चिकित्सालय भी उतने अधिक हैं। अतएव मनोविकारो के निवारण हेतु अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक खोजें मानवविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो मे हो रही है।

डाक्टर फ्रायड के पूर्व मानसिक रोगो की चिकित्सा के लिये डाक्टर लोग भौतिक ओषधियो का ही उपयोग प्राय: करते थे। कुछ लोग इन रोगो को शात करने के लिये तंत्रोपचार का उपयोग करते थे। तंत्रोपचार का आधार विश्वास और निर्देश रहता है। आज भी इस विधि का उपयोग ग्रामीण अशिक्षित लोगो मे अधिकतर होता है। बेल्जियम के प्रसिद्ध मानसोपचारक डा० मेसमर ने संमोहन और निर्देश का व्यापक उपयोग मानसिक रोगो के उपचार में किया। इससे मनोजात शारीरिक रोगों का भी निवारण होता था। फ्रास के ब्रन हीम और शारको नामक विद्वानो ने समोहन की उपयोगिता मानसोपचार में बताई। रोगी अपनी समोहित अवस्था मे दबी मानसिक भावना को उगल देता था और इस प्रकार के रेचन से वह रोगमुक्त भी हो जाता था। फ्रास के नेंसन के डाक्टर इमील कूये ने मानसिक रोगो के उपचार में निर्देश का उपयोग किया, परंतु इन सभी विधियों से मनोविकार विज्ञान की विशेष उन्नति नहीं हुई। इसके लिये मन का गंभीर प्रयोगात्मक अध्ययन करना आवश्यक था। यह काम डाक्टर फ्रायड ने किया। अब यह माना जाने लगा कि मन की विभिन्नताओं का ज्ञान किए बिना और उनमे चलनेवाली प्रक्रियाओं के जाने बिना किसी भी व्यक्ति को उसके मनोविकार से मुक्त नहीं किया जा सकता।

डाक्टर फ्रायड के अनुसार मन के तीन स्तर हैं: चेतन, अवचेतन और अचेतन, तथा मन तीन प्रकार के कार्य भी करता है: इच्छाओं का निर्माण, उनका नियन्त्रण और उनकी संतुष्टि। पहला काम भोगाश्रित मन का है, दूसरा काम नैतिक मन का है और तीसरा काम अहकार का है। इच्छाओं का जन्म प्राय: अचेतन स्तर पर होता है, उनका नियंत्रण अवचेतन पर और उनकी संतुष्टि चेतन स्तर पर होती है। मनुष्य के भोगेच्छुक मन और नैतिक मन मे प्राय: सघर्ष चलता रहता है। जब यह संघर्ष मनुष्य की चेतना मे चलता है, तब वह दु:खदायक चाहे जितना भी हो पर रोग का कारण नही बनता, किंतु जब प्रयत्नपूर्वक कठोरता से किसी प्रबल इच्छा का दमन नैतिक मन के द्वारा हो जाता है, तब सघर्ष मानसिक चेतना के स्तर पर न होकर मनुष्य के अचेतन मन मे होने लगता है। इस संघर्ष का होना ही मानसिक रोग है और व्यक्ति को इस संघर्ष से मुक्त करना उसकी मानसिक चिकित्सा है, जो मनोविकार विज्ञान का ध्येय है। इसके लिये रोगी को मानसिक शिथिलीकरण की अवस्था में लाया जाता है और फिर उसे अपने अप्रिय अथवा अनैतिक अनुभवों को स्मरण करने का निर्देश दिया जाता है। इसके लिये कुछ लोग अब भी समोहन विधि का उपयोग करते हैं, परंतु फ्रायड रोगी का मनोविश्लेषण करते थे। इस विधि में रोगी को शात और शिथिल अवस्था मे लाकर मन मे आनेवाले सभी विचारो और चित्रो को कहते जाने के लिये कहा जाता है। इस प्रकार कभी कभी रोगी बहुत पुराने अप्रिय अनुभवो को कह डालता है। जब वे अनुभव पूरे सजीव हो जाते हैं और रोगी उनके अनुसार लज्जा, ग्लानि, हर्ष, विषाद या उसी प्रकार अनुभव करता है, जैसा पहली बार किया था, तब उसके भावों का रेचन हो जाता और रोग के अनेक लक्षण समाप्त हो जाते हैं। रोगी का लाभ कोरी बौद्धिक स्मृति से नही होता, वरन् पुराने अनुभवों की सजीव स्मृति, अर्थात् भावपूर्ण स्मृति, से होता है।

जब किसी दमित भाव का रेचन होता है, तब वह पहले पहल मानसिक चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाता है। भाव के बाहर आने के लिये रोगी का चिकित्सक के प्रति स्नेह का रुख होना नितात आवश्यक है। जब तक रोगी और चिकित्सक मे हृदय की एकता नही होती, दमित इच्छा अवचेतना के स्तर पर आती ही नही। फिर यह स्नेह दिन प्रति दिन बढता जाता है। जैसे जैसे चिकित्सक पर रोगी की श्रद्धा बढ़ती जाती है, उसका रोग कम होता जाता है। अपने रोग से मुक्त होते समय रोगी चिकित्सक को बहुत प्यार करने लगता है। इस प्यार का बढना और रोगमुक्ति एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। अब चिकित्सक का कर्तव्य होता है कि वह रोगी के प्रेम के आवेग को उसके उचित पात्र पर मोड़ दे, अथवा उसका उपयोग किसी रचनात्मक कार्य मे कराए। चिकित्सक रोगी को भावात्मक रचनावलंबन प्राप्त कराने का प्रयास करता रहता है। वह उसे अपने आपका

ज्ञान बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित करता है। रोगी को रोगमुक्त तभी समझा जा सकता है, जब वह न केवल अपने रोग के सभी लक्षणों से मुक्त हो गया हो, वरन् उसे भावात्मक स्वावलंबन और आत्म सूझ प्राप्त हो गए हों। मनोविकार विज्ञान इसी मनोदशा की प्राप्ति का साधन है।

मानसिक चिकित्साविज्ञान की नई खोजें मनोविज्ञान के अतिरिक्त दूसरी दिशाओं मे भी हुई हैं। इनमे से दो प्रधान हैं : (१) भौतिक ओषधियों के द्वारा निद्रा अथवा अचेतन अवस्था को ले आना और (२) बिजली के झटकों द्वारा मानसिक रोगी को बेहोश करना तथा उसके दमित भावो का लक्षणात्मक ढग से रेचन करना। मानसिक रोगी के मन मे संघर्ष चलते रहने के कारण वह अनिद्रा का शिकार हो जाता है। अब यदि ऐसे व्यक्ति को किसी प्रकार नीद लाई जाय, तब संभव है कि उसका रोग हलका हो जाय। मानसिक रोगी को दो स्थलो पर सदा लड़ते रहना पड़ता है, एक भीतरी और दूसरा बाहरी। उसे बाहरी और भीतरी चिंताएँ सताती रहती हैं। इनके कारण वह असाधारण थकावट का अनुभव करता है। इससे वह अपनी नीद खो देता है। नीद के खो जाने से उसकी थकावट और भी बढ़ जाती है और फिर वह पागलपन की स्थिति मे आ जाता है। यदि उसे नीद आने लगे, तो उसकी मानसिक शक्ति बहुत कुछ संचित हो जाय और वह अपनी बाहरी समस्याओं को हल करने मे समर्थ हो जाय। इसके बाद उसकी भीतरी समस्याओं की भयकरता भी कम हो जाती है। अतएव जो भी ओषधि रोगी को नीद ला दे, वह उसे लाभप्रद होती है। इसके लिये भारतीय आयुर्वेदिक ओषधि सर्पगंधा है, या ऐलोपैथिक विधि से बनी निद्रा लानेवाली टिकियाँ हैं।

जटिल मानसिक रोगो से पीड़ित व्यक्ति को कभी कभी अचेतन अवस्था मे लाया जाता है। इसके लिये उसे इंसुलीन का इंजेक्शन दिया जाता है। इसके देने के बाद रोगी इधर उधर छटपटाता है और शारीरिक ऐठन व्यक्त करता है। बार बार इंजेक्शन देने पर रोगी की तोड़ फोड़, मारपीट की प्रवृत्ति शांत हो जाती है। उसका मन शिथिलीकरण की अवस्था मे आ जाता है। इससे फिर रोगी स्वाभाविक रूप से स्वास्थ्य लाभ करता है। इसी प्रकार का उपचार बिजली के झटकों से भी होता है। इनसे रोगी को अर्धचेतन अथवा अचेतन अवस्था मे लाया जाता है। उसकी चेष्टाएँ प्रतीक रूप से दमित भावों का रेचन करती हैं। जटिल रोगियो के उपचार मे प्राय: बिजली के झटको से ही काम लिया जाता है। जब इनका प्रयोग पहले पहल हुआ था, तब इस उपचार विधि से बड़ी आशा हुई थी, पर ये सभी आशाएँ पूरी नही हुई।

कुछ मानसिक रोगों की चिकित्सा प्राकृतिक ढंग से भी होती है। रोगी अपने जटिल कामों को छोड़ जब प्रकृति मे भावलीन होने लगता है, तब उसे मानसिक साम्य स्वत: प्राप्त हो जाता है। हमारी वर्तमान सभ्यता मे सामाजिक तनाव के अवसर अत्यधिक बढ़ गए हैं। जब मनुष्य अपनी साधारण दिनचर्या को छोड़ अपने मन को आराम देने लग जाता है, तब उसे स्वास्थ्यलाभ हो जाता है। डा० युग के कथानुसार रोग मनुष्य को आराम की आवश्यकता दर्शाने के लिये आता है। वह उसे अपनी इच्छाओ को वश में लाने का सबक सिखाता है। एडवर्ड कारपेंटर के अनुसार हमारी वर्तमान सभ्यता ही मानसिक रोग है। यह हमें प्राकृतिक जीवन से दूर हटाती है। यह हमारी इच्छाओं को इतना बढ़ा देती है कि उनकी पूर्ति में हम सदा अपने आपको डुबो देते हैं। जिस विधि से इन व्यर्थ की इच्छाओं में कमी हो, वही मानसिक स्वास्थ्य की सर्वोत्तम ओषधि है। अतएव प्राकृतिक जीवन मानस-रोग-निवारण का उत्तम उपाय है।

मनोविकार विज्ञान मे न केवल प्राकृतिक जीवन का स्थान है, वरन् धर्म का भी है। अनेक मानसिक विकार तृष्णा की वृद्धि से और सयम की कमी से उत्पन्न होते हैं। धर्म तृष्णा की वृद्धि को रोकता और संयम को बढ़ाता है। अतएव वह अनेक प्रकार के मनोविकारों को पैदा ही नही होने देता। दूसरे, धर्म का संबंध साहित्य और कला से अनिवार्य रूप से रहता है। इनके द्वारा मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छाओं का उदात्तीकरण होता रहता है। इसके कारण मनुष्य की इन इच्छाओं और नैतिक बुद्धि में संघर्ष नही होता और मानसिक ग्रंथियो के बनने का अवसर ही नही आता।

मनोविकार विज्ञान इस प्रकार हमारी दृष्टि मानव समाज में प्रचलित जीवन के उन पुराने तरीकों और मूल्यों की ओर फेर देता है, जिनके ह्रास के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश भोगने पड़ते हैं। इस ज्ञान के सहारे सामाजिक मूल्यों और संस्कृति का जो निर्माण होगा, वह मनुष्य के जीवन को स्थायी स्वास्थ्य प्रदान करेगा। इसी आशा से इस विज्ञान का विस्तार न केवल मानसिक चिकित्सकों द्वारा हो रहा है, वरन् सभी समाज-कल्याण-चिंतकों द्वारा हो रहा है। [ला० रा० शु०]

मनोविक्षिप्ति (Psychosis) मन की वह दशा है जिसमें मन संसार के साधारण व्यवहार करने मे असमर्थ रहता है। मनोविक्षिप्ति और पागलपन दोनों शब्द असाधारण मनोदशा के बोधक हैं, परंतु जहाँ पागलपन एक साधारण प्रयोग का शब्द है, जिसका कानूनी उपयोग भी किया जाता है, वहाँ मनोविक्षिप्ति चिकित्साशास्त्र का शब्द है जिसका चिकित्सा मे विशेष अर्थ है। पागल व्यक्ति को प्राय: अपने शरीर एव कामो की सुध बुध नही रहती। उसकी हिफाजत दूसरे लोगों को करनी पड़ती है। अतएव यदि वह कोई अपराध का काम कर डाले, तो उसे दंड का भागी नही माना जाता। इससे मिलता जुलता, परतु इससे पृथक्, अर्थ मनोविक्षिप्ति का है। मनोविक्षिप्त व्यक्ति मे साधारण असामान्यता से लेकर बिल्कुल पागलपन जैसे व्यवहार देखे जाते हैं। कुछ मनोविक्षिप्त व्यक्ति थोड़ी ही चिकित्सा से अच्छे होजाते हैं। ये समाज मे रहते हे और समाज का कोई भी अहित नही करते। उनमे अपराध की प्रवृत्ति नही रहती। इसके विपरीत, कुछ मनोविक्षिप्त व्यक्तियो मे प्रबल अपराध की प्रवृत्ति रहती है। वे अपने भीतरी मन मे बदले की भावना रखते हैं, जिसे विक्षिप्त व्यवहारो मे प्रकट करते हैं। कुछ ऐसे विक्षिप्त भी होते हैं जिनमें अच्छे और बुरे व्यवहार मे अतर समझने की क्षमता ही नही रहती। वे हँसते हँसते किसी व्यक्ति का गला घोट दे सकते हैं, पर उन्हे ऐसा नही जान पड़ता कि उन्होने कोई जघन्य अपराध कर डाला है। इस तरह मनोविक्षिप्ति मे पागलपन का समावेश होता है, परतु सभी मनोविक्षिप्त व्यक्तियो को पागल नही कहा जा सकता है।

मानसिक चिकित्सकों ने मनोविक्षिप्ति के प्रधानत. दो प्रकार माने

है : एक शरीरजन्य और दूसरा मनोजन्य। इन्हें जैव (organic) और क्रियात्मक (functional) मनोविक्षिप्ति कहा जाता है।

शरीरजन्य मनोविक्षिप्ति — यह विक्षिप्ति पैतृक परंपरा से प्राप्त होती है। कितने ही कुटुंबों में पीढ़ी दर पीढ़ी इसे देखा जाता है। कभी कभी पिता की ओर कभी माता की पूर्व पीढ़ियों में इसे पाया जाता है। कभी कभी तुरंत के पहले की पीढ़ी में मनोविक्षिप्ति नहीं रहती, परंतु किसी सुदूर पूर्वज मे यह पाई जाती है। किसी विशेष प्रकार के रोग के कारण जीन (gene) की विशिष्ट प्रकार की क्षति हो जाती है और जब यही जीन फिर से नए शरीर के निर्माण का कारण होता है, तब उसकी क्षति इस नए प्राणी मे व्यक्त होती है। जिस प्रकार क्षय रोग और उपदंश (गर्मी) वंशपरंपरागत चलते रहते हैं, उसी प्रकार शरीर-जन्य मनोविक्षिप्ति वंशपरंपरागत चलती रहती है। इस प्रकार के रोग की चिकित्सा के लिये अनेक वैज्ञानिक खोजें हो रही हैं, परतु उनमें पर्याप्त सफलता अभी तक नहीं मिली है।

दूसरे प्रकार की मनोविक्षिप्ति मनोविकारजन्य है। यह विक्षिप्ति प्रबल मानसिक संघर्ष से उत्पन्न होती है। इस प्रकार के रोगी के पूर्वजों में मनोविक्षिप्ति का पाया जाना अनिवार्य नही है। इसे हम मनोवैज्ञानिक मनोविक्षिप्ति कह सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक मनोविक्षिप्ति की उत्पत्ति — मनोवैज्ञानिक मनोविक्षिप्ति का कारण मनुष्य के अपने ही जीवन मे रहता है। कुछ लोगों में जन्म से ही स्नायु की दुर्बलता होती है। यह दुर्बलता पैतृक परंपरा से नही आती, वरन् बालक के गर्भ में आने के बाद आती है। फिर व्यक्ति के बचपन के संस्कार उसके विकास के अनुकूल नही होते, उसे अनेक प्रकार की अप्रिय भावात्मक अनुभूतियाँ होती हैं। व्यक्ति के जीवन को पुष्ट करनेवाली वस्तु बचपन का प्रेम और प्रोत्साहन होता है। इसके अभाव में व्यक्ति का व्यक्तित्व सुगठित और दृढ़ नहीं हो पाता, अतएव जब प्रौढ़ जीवन मे उसे भावात्मक घटनाओं का सामना करना पड़ता है, तब वह आत्मविश्वास खो देता है।

कभी कभी बचपन में अधिक लाड़ प्यार मिलने पर मनुष्य में असाधारण व्यवहार उत्पन्न हो जाता है। अधिक लाड़ प्यार की अवस्था में मनुष्य आत्मनियंत्रण की शक्ति उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर पाता जिस प्रकार वह अधिक ताडना की स्थिति मे दुर्बल मन का बना रहता है। जब ऐसे व्यक्ति को क्रूर वातावरण का सामना करना पड़ता है, तब उसमें मनोविक्षिप्ति की अवस्था उत्पन हो जाती है।

मनोविक्षिप्ति और सनक मे बहुत कुछ समानता है, परंतु दोनों में भेद भी है। जहाँ तक उनके कारण की बात है, दोनों के कारण एक से होते हैं, परंतु दोनों में व्यवहार की असाधारणता तथा समझ भिन्न भिन्न मात्रा में होती हैं। सनकी मनुष्य के विशेष व्यवहार ही असाधारण होते हैं।

विक्षिप्त व्यक्ति के प्राय. सभी व्यवहार असाधारण होते हैं। वह कभी कभी ही सामान्य स्थिति में आता है, पर सनकी मनुष्य समाज में अपना जीवन ठीक से चलाता रहता है। समाज के दूसरे लोग उसे भले ही झक्की, सनकी कहे, पर वह अपना काम अधिकतर ठीक से कर लेता है। सनकी, अथवा उन्मादग्रस्त, व्यक्ति थोड़े समय ही असाधारण रहता है, किंतु विक्षिप्त सब समय असाधारण रहता है। सनकी मनुष्य को असाधारणता का ज्ञान कभी कभी हो जाता है। वह अपने आपको इससे मुक्त करने की चेष्टा भी करता है और निरंतर प्रयत्न करने से वह अपनी असाधारणता से मुक्त भी हो जाता है। विक्षिप्त व्यक्ति मे यह क्षमता नहीं रहती। जीवन में वह अपने आपको सँभाल भी नही सकता। दूसरों को उसकी देखभाल करनी पड़ती है।

मनोविक्षिप्ति के प्रकार — मनोविक्षिप्ति का प्राथमिक वर्गीकरण शारीरिक और मनोवैज्ञानिक रूप मे पहले किया गया है, परंतु इनका वर्गीकरण दूसरे प्रकार से भी किया जाता है। कुछ मनोविक्षिप्त अपने आपको बहुत बड़ा व्यक्ति मानने लगते हैं। उन्हे कभी विचार आता है कि वे किसी देवी देवता की कृपा से कुछ ऐसी अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर चुके हैं, जिससे वे जो भी इच्छा करें वही पूर्ण हो जाएगी। यौगिक साधना करते हुए जो व्यक्ति विक्षिप्त हो जाते हैं, वे इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के मनोविक्षिप्त अहकारी विक्षिप्त या सविभ्रमवत् या पैरानायड (paranoid) कहे जाते हैं। इनका अहंकार बहुत बढ़ा चढ़ा रहता है, परतु यह उनके सुख का कारण न बन दु.ख का कारण बन जाता है। उनके मन मे यह विचार आता है कि समाज के दूसरे लोग उनके विरुद्ध सदैव षड्यंत्र करते रहते हैं। इसी के कारण वे अपनी महानता के लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर पाते। अतएव वे अपने आस पास के लोगों को शत्रु के रूप में देखने लगते हैं। ऐसे लोग सोचते है कि उनके आस पास किसी दुश्मन के गुप्तचर लगे हुए हैं, जो उनको गिराने मे प्रयत्नशील हैं। वे कभी कभी दूसरे लोगों पर घातक प्रहार भी कर देते हैं। डा० फ्रायड के अनुसार इन लोगों मे बचपन से कामविकृति रहती है, जो घर के स्नेहहीन वातावरण और समलिंगी प्रेम की वृद्धि तथा उसके बाद के दमन के कारण उत्पन्न होती है। सविभ्रमवत् रोगी में उचित आत्महीनता की भावना रहती है।

संविभ्रम (paranoia) से भिन्न मनोविक्षिप्ति और बहुत कुछ इसके विपरीत विषाद विक्षिप्ति (melancholia) कही जाती है। विषादविक्षिप्ति का रोगी अपने आपको सदा दयनीय अवस्था में सोचता है। वह अपने चारो ओर दु.ख ही दु ख का वातावरण पाता है। वह अपने जीवन को ही व्यर्थ समझता है। वह मानव मात्र को दयनीय जीवन मे देखता है। उसके विचार मे ससार का प्रलय बहुत जल्दी होनेवाला है, और प्रलय हो जाने में ही उसका भला है। वह अपने सभी संबधियो और परिवारों का निकट भविष्य में निश्चित विनाश देखता है। जहाँ संविभ्रम का रोगी बातूनी और डींग मारनेवाला होता है, वहाँ विषादविक्षिप्ति का रोगी किसी से बोलना ही नही चाहता। उसे किसी से मिलने जुलने, खेलकूद मे भाग लेने, किसी सुंदर दृश्य को देखने की इच्छा ही नही होती। उसे सारा संसार रसहीन दिखाई देता है। वह नहाने धोने, तथा हजामत बनाने को व्यर्थ समझता है। यहाँ तक कि बिना दूसरे के आग्रह किए, वह भोजन तक नही करता। कभी कभी वह उपवास का इतना आग्रह करता है कि उसके मुंह मे नली डालकर जबरदस्ती दूध पिलाया जाता है, ताकि वह मर न जाय।

तीसरे प्रकार के मनोविक्षिप्त उल्लास-विषाद-मनोविक्षिप्त हैं। वे बारी बारी से उल्लास और विषाद की मनोदशा मे रहते हैं। उल्लास की अवस्था मे वे अत्यधिक चंचल हो उठते हैं, इधर उधर खूब दौड़ते हैं, अनेक लोगों से बात करते हैं, विभिन्न कामों में हाथ डालते हैं,

और खूब हँसते रहते हैं। इसके प्रतिकूल आचरण विषाद की अवस्था में होता है। इन विक्षिप्तों की मनोदशा इतनी असाधारण नहीं होती कि उनकी चिकित्सा ही न हो सके। मानसिक रोगों में मनोदशाओं का बदलते रहना, चाहे मनोदशा कितनी ही असाधारण क्यों न हो, रोगी के लिये कल्याणसूचक है।

उपर्युक्त तीन प्रकार की मनोदशाओं से भिन्न जटिल मनोविक्षिप्ति है, जिसे स्किज़ोफ्रीनिया (Schizophrenia) कहा जाता है। इस मनोदशा में मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का कुछ ज्ञान ही नहीं रह जाता। उसके जीवन में न तो उल्लास का प्रश्न रहता है, न विषाद का। अतएव इस मनोदशा को दूसरा बचपन कहा जा सकता है। इस मनोदशा में आने पर रोगी में अपने आपको सँभालने की कोई शक्ति नहीं रहती। वह मलमूत्र के नित्य कार्य भी नहीं कर पाता। बिछावन पर ही वह मलमूत्र कर देता है। उसके हँसने और रोने मे कोई विचार ही नहीं रहता। वह किस समय क्या कर डालेगा, इसके विषय मे कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। दो चार मिनट तर्कयुक्त बातें करते हुए वह कोई ऐसी बात कह सकता है जो बिल्कुल अनर्गल हो। वह हँसते हँसते अपने सामने खड़े बालक का गला घोंट दे सकता है।

मनोविक्षिप्ति का उपचार — मनोविक्षिप्ति अशांत मानसिक रोगो में में गिनी गई है। अतएव जब उपर्युक्त किसी प्रकार की मनोविक्षिप्ति से कोई ग्रस्त हो जाय, तब उसे मानसिक चिकित्सालयों मे रखना आवश्यक होता है। चिकित्सालय से बाहर रहने पर मनोविक्षिप्त दूसरों को नुकसान पहुँचा सकते हैं। अतएव सामान्य जनता से उन्हें अलग रखना आवश्यक होता है। चिकित्सालयों में इनका उपचार प्राय: नींद लानेवाली दवाइयो, अथवा बेहोशी लानेवाले इंजेक्शनों, के द्वारा किया जाता है। इधर ३०-४० वर्षों से बिजली के झटकों द्वारा इनका उपचार किया जाने लगा है। इन सभी प्रकार के उपचारों से कुछ विक्षिप्तों को लाभ होता है, परंतु अभी तक मनोविक्षिप्ति की कोई अचूक उपचारविधि खोजी नहीं जा सकी है। डा० फ्रायड के कथनानुसार मनोविक्षिप्त का मनोवैज्ञानिक उपचार होना संभव ही नहीं है। दूसरे मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सभी प्रकार की दूसरी मानसिक चिकित्साएँ सफल होने पर भी, बिना मनोवैज्ञानिक उपचार हुए रोगी को स्थायी लाभ नहीं होता। अतएव निद्रा उत्पादक और अचेतनता लानेवाली ओषधियाँ तथा बिजली के झटके मनोविक्षिप्ति में स्थायी लाभ नहीं पहुँचाते। इनके होने पर भी मनोवैज्ञानिक उपचार की आवश्यकता होती है। मनोवैज्ञानिक उपचार का ध्येय उचित कुप्रभावों का रेचन एवं मानसिक एकीकरण की स्थापना होता है। [ला० रा० शु०]

मनोविज्ञान : इतिहास तथा शाखाएँ आधुनिक मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इसके दो सुनिश्चित रूप दृष्टिगोचर होते हैं। एक तो वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा आविष्कारों द्वारा प्रभावित वैज्ञानिक मनोविज्ञान तथा दूसरा दर्शनशास्त्र द्वारा प्रभावित दर्शन मनोविज्ञान। वैज्ञानिक मनोविज्ञान १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से आरंभ हुआ है। सन् १८६० ई० में फेक्नर (१८०१–१८८७) ने जर्मन भाषा मे 'एलिमेंट्स आव साइकोफ़िज़िक्स' (इसका अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध है) नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक समस्याओं का वैज्ञानिक पद्धति के परिवेश में अध्ययन करने की तीन विशेष प्रणालियों का विधिवत् वर्णन किया : मध्य त्रुटि विधि, न्यूनतम परिवर्तन विधि तथा स्थिर उत्तेजक भेद विधि। आज भी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं मे इन्हीं प्रणालियों के आधार पर अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान किए जाते हैं।

वैज्ञानिक मनोविज्ञान में फेक्नर के बाद दो अन्य महत्वपूर्ण नाम है : हेल्मोलत्स (१८२१–१८९४) तथा वुंट (१८३२–१९२०)। हेल्मोलत्स ने अनेक प्रयोगों द्वारा दृष्टींद्रिय विषयक महत्वपूर्ण नियमों का प्रतिपादन किया। इस संदर्भ में उन्होंने प्रत्यक्षीकरण पर अनुसंधान कार्य द्वारा मनोविज्ञान का वैज्ञानिक अस्तित्व ऊपर उठाया। वुंट का नाम मनोविज्ञान में विशेष रूप से उल्लेखनीहै। उन्होने सन् १८७९ ई० मे लाइपज़िग (जर्मनी) में मनोविज्ञान की प्रथम प्रयोगशाला स्थापित की। मनोविज्ञान का औपचारिक रूप परिभाषित किया। मनोविज्ञान अनुभव का विज्ञान है, इसका उद्देश्य चेतनावस्था की प्रक्रिया के तत्वों का विश्लेषण, उनके परस्पर संबंधों का स्वरूप तथा उन्हें निर्धारित करनेवाले नियमों का पता लगाना है। लाइपज़िग की प्रयोगशाला में वुंट तथा उनके सहयोगियों ने मनोविज्ञान की विभिन्न समस्याओं पर उल्लेखनीय प्रयोग किए, जिसमें समयअभिक्रिया विषयक प्रयोग विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

क्रियाविज्ञान के विद्वान् हेरिंग (१८३४–१९१८), भौतिकी के विद्वान् मैख (१८३८–१९१६) तथा जी० ई० म्यूलर (१८५० से १९३४) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हेरिंग घटना-क्रिया-विज्ञान के प्रमुख प्रवर्तकों में से थे और इस प्रवृत्ति का मनोविज्ञान पर प्रभाव डालने का काफी श्रेय उन्हे दिया जा सकता है। मैख ने शारीरिक परिभ्रमण के प्रत्यक्षीकरण पर अत्यंत प्रभावशाली प्रयोगात्मक अनुसंधान किए। उन्होंने साथ ही साथ आधुनिक प्रत्यक्षवाद की बुनियाद भी डाली। जी० ई० म्यूलर वास्तव मे दर्शन तथा इतिहास के विद्यार्थी थे किंतु फेक्नर के साथ पत्रव्यवहार के फलस्वरूप उनका ध्यान मनोदैहिक समस्याओ की ओर गया। उन्होने स्मृति तथा दृष्टींद्रिय के क्षेत्र मे मनोदैहिकी विधियों द्वारा अनुसंधान कार्य किया। इसी संदर्भ में उन्होंने 'जास्ट नियम' का भी पता लगाया अर्थात् अगर समान शक्ति के दो साहचर्य हो तो दुहराने के फलस्वरूप पुराना साहचर्य नए की अपेक्षा अधिक दृढ़ हो जाएगा ('जास्ट नियम' म्यूलर के एक विद्यार्थी एडाल्फ जास्ट के नाम पर है)।

मनोविज्ञान पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति के साथ साथ दर्शनशास्त्र का भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। वास्तव मे वैज्ञानिक परंपरा बाद मे आरंभ हुई। पहले तो प्रयोग या पर्यवेक्षण के स्थान पर विचारविनिमय तथा चिंतन समस्याओं को सुलझाने की सर्वमान्य विधियाँ थी। मनोवैज्ञानिक समस्याओं को दर्शन के परिवेश में प्रतिपादित करनेवाले विद्वानों में से कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं।

डेकार्ट (१५९६–१६५०) ने मनुष्य तथा पशुओं मे भेद करते हुए बताया कि मनुष्यों में आत्मा होती है जबकि पशु केवल मशीन की भाँति काम करते हैं। आत्मा के कारण मनुष्य में इच्छाशक्ति होती है। पिटयूटरी ग्रंथि पर शरीर तथा आत्मा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। डेकार्ट के मतानुसार मनुष्य मे कुछ विचार ऐसे होते हैं जिन्हें जन्मजात कहा जा सकता है। उनका अनुभव से कोई संबंध नहीं होता। लायबनीत्स (१६४६-१७१६) के मतानुसार संपूर्ण

पदार्थ 'मोनैड' इकाई से मिलकर बना है। उन्होंने चेतनावस्था को विभिन्न मात्राओं में विभाजित करके लगभग दो सौ वर्ष बाद आनेवाले फ्रायड के विचारों के लिये एक बुनियाद तैयार की। लॉक (१६३२-१७०४) का अनुमान था कि मनुष्य के स्वभाव को समझने के लिये विचारों के स्रोत के विषय में जानना आवश्यक है। उन्होंने विचारों के परस्पर संबंध विषयक सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए बताया कि विचार एक तत्व की तरह होते है और मस्तिष्क उनका विश्लेषण करता है। उनका कहना था कि प्रत्येक वस्तु में प्राथमिक गुण स्वयं वस्तु में निहित होते हैं। गौण गुण वस्तु में निहित नही होते वरन् वस्तु विशेष के द्वारा उनका बोध अवश्य होता है। बर्कले (१६८५-१७५३) ने कहा कि वास्तविकता की अनुभूति पदार्थ के रूप मे नही वरन् प्रत्यय के रूप मे होती है। उन्होंने दूरी की संवेदना के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि अभिबिंदुता धुँधलेपन तथा स्वत.समायोजन की सहायता से हमें दूरी की संवेदना होती है। मस्तिष्क और पदार्थ के परस्पर संबंध के विषय मे लॉक का कथन था कि पदार्थ द्वारा मस्तिष्क का बोध होता है। बर्कले ने कहा कि मस्तिष्क की सहायता से पदार्थ का बोध होता है। ह्यूम (१७११-१७७६) ने मुख्य रूप से 'विचार' तथा 'अनुमान' मे भेद करते हुए कहा कि विचारों की तुलना मे अनुमान अधिक उत्तेजनापूर्ण तथा प्रभावशाली होते हैं। विचारों को अनुमान की प्रतिलिपि माना जा सकता है। ह्यूम ने कार्य-कारण-सिद्धांत के विषय मे अपने विचार स्पष्ट करते हुए आधुनिक मनोविज्ञान को वैज्ञानिक पद्धति के निकट पहुँचाने में उल्लेखनीय सहायता प्रदान की। हार्टले (१७०५-१७५७) का नाम दैहिक मनोवैज्ञानिक दार्शनिको मे रखा जा सकता है। उनके अनुसार स्नायु-तंतुओ में हुए कंपन के आधार पर संवेदना होती है। इस विचार की पृष्ठभूमि में न्यूटन के द्वारा प्रतिपादित तथ्य थे जिनमे कहा गया था कि उत्तेजक के हटा लेने के बाद भी संवेदना होती रहती है। हार्टले ने साहचर्य विषयक नियम बताते हुए सान्निध्य के सिद्धांत पर अधिक जोर दिया।

हार्टले के बाद लगभग ७० वर्ष तक साहचर्यवाद के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य नही हुआ। इस बीच स्काटलैंड मे रीड (१७१०-१७९६) ने वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण का वर्णन करते हुए बताया कि प्रत्यक्षीकरण तथा संवेदना में भेद करना आवश्यक है। किसी वस्तु विशेष के गुणो की संवेदना होती है जबकि उस संपूर्ण वस्तु का प्रत्यक्षीकरण होता है। संवेदना केवल किसी वस्तु के गुणों तक ही सीमित रहती है, किंतु प्रत्यक्षीकरण द्वारा हमे उस पूरी वस्तु का ज्ञान होता है। इसी बीच फ्रांस मे कांडिलैक (१७१५-१७८०) ने अनुभववाद तथा ला मेट्री ने भौतिकवाद की प्रवृत्तियों की बुनियाद डाली। कांडिलैक का कहना था कि संवेदन ही संपूर्ण ज्ञान का मूल स्रोत है। उन्होंने लॉक द्वारा बताए गए विचारो अथवा अनुभवो को बिल्कुल आवश्यक नहीं समझा। ला मेट्री (१७०९-१७५१) ने कहा कि विचार की उत्पत्ति मस्तिष्क तथा स्नायुमंडल के परस्पर प्रभाव के फलस्वरूप होती है। डेकार्ट की ही भाँति उन्होंने भी मनुष्य को एक मशीन की तरह माना। उनका कहना था कि शरीर तथा मस्तिष्क की भाँति आत्मा भी नाशवान् है। आधुनिक मनोविज्ञान में प्रेरकों की बुनियाद डालते हुए ला मेट्री ने बताया कि सुखप्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

जेम्स मिल (१७७३-१८३६) तथा बाद में उनके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३) ने मानसिक रसायनी का विकास किया। इन दोनो विद्वानो ने साहचर्यवाद की प्रवृत्ति को औपचारिक रूप प्रदान किया और वुंट के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार की। बेन (१८१८-१९०३) के बारे मे यही बात लागू होती है। कांट ने समस्याओ के समाधान मे व्यक्तिनिष्ठावाद की विधि अपनाई और बाह्य जगत् के प्रत्यक्षीकरण के सिद्धांत मे जन्मजातवाद का समर्थन किया। हरबार्ट (१७७६-१८४१) ने मनोविज्ञान को एक स्वरूप प्रदान करने मे महत्वपूर्ण योगदान किया। उनके मतानुसार मनोविज्ञान अनुभववाद पर आधारित एक तात्विक, मात्रात्मक तथा विश्लेषात्मक विज्ञान है। उन्होंने मनोविज्ञान को तात्विक के स्थान पर भौतिक आधार प्रदान किया और लॉत्से (१८१७-१८८१) ने इसी दिशा मे और आगे प्रगति की।

मनोवैज्ञानिक समस्याओ के वैज्ञानिक अध्ययन का शुभारंभ उसके औपचारिक स्वरूप प्राप्त के बहुत पहले से हो चुका था। सन् १८३४ मे वेबर ने स्पर्शेन्द्रिय संबंधी अपने प्रयोगात्मक शोधकार्य को एक पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। सन् १८३१ मे फेक्नर स्वयं एकदिश धारा विद्युत् के मापन के विषय पर एक अत्यंत महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित कर चुके थे। कुछ वर्षों बाद सन् १८४७ मे हेल्मोल्त्स ने ऊर्जा संरक्षण पर अपना वैज्ञानिक लेख लोगों के सामने रखा। इसके बाद सन् १८५६ ई०, १८६० ई० तथा १८६६ ई० मे उन्होंने 'ऑप्टिक' नामक पुस्तक तीन भागो मे प्रकाशित की। सन् १८५१ ई० तथा सन् १८६० ई० मे फेक्नर ने भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दो महत्वपूर्ण ग्रंथ (जेंड आवेस्टा तथा एलिमेंटे डेयर साईकोफिजिक) प्रकाशित किए।

सन् १८५८ ई० मे वुंट हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय मे चिकित्सा विज्ञान मे डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर चुके थे और सहकारी के पद पर क्रियाविज्ञान के क्षेत्र मे कार्य कर रहे थे। उसी वर्ष वहाँ बॉन से हेल्मोल्त्स भी आ गए। वुंट के लिये यह संपर्क अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि इसी के बाद उन्होंने क्रियाविज्ञान छोड़कर मनोविज्ञान को अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

वुंट ने अनगिनत वैज्ञानिक लेख तथा अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित करके मनोविज्ञान को एक धुँधले एवं अस्पष्ट दार्शनिक वातावरण से बाहर निकाला। उसने केवल मनोवैज्ञानिक समस्याओं को वैज्ञानिक परिवेश मे रखा और उनपर नए दृष्टिकोण से विचार एवं प्रयोग करने की प्रवृत्ति का उद्घाटन किया। उसके बाद से मनोविज्ञान को एक विज्ञान माना जाने लगा। तदनंतर जैसे जैसे मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ पर प्रयोग किए गए वैसे वैसे नई नई समस्याएँ सामने आईं।

व्यवहार विषयक नियमो की खोज ही मनोविज्ञान का मुख्य ध्येय था। सैद्धांतिक स्तर पर विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे सन् १९१२ ई० के आस पास संरचनावाद, क्रियावाद, व्यवहारवाद, गेस्टाल्टवाद तथा मनोविश्लेषण आदि मुख्य मुख्य शाखाओ का विकास हुआ। इन सभी वादो के प्रवर्तक इस विषय मे एकमत थे कि मनुष्य के व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन ही मनोविज्ञान का उद्देश्य है। उनमे परस्पर मतभेद का विषय था कि इस उद्देश्य

को प्राप्त करने का सबसे अच्छा ढंग कौन सा है। संरचनावाद के अनुयायियों का मत था कि व्यवहार की व्याख्या के लिये उन शारीरिक संरचनाओं को समझना आवश्यक है जिनके द्वारा व्यवहार संभव होता है। क्रियावाद के माननेवालों का कहना था कि शारीरिक संरचना के स्थान पर प्रेक्षण योग्य तथा दृश्यमान व्यवहार पर अधिक जोर होना चाहिए। इसी आधार पर बाद में वाटसन ने व्यवहारवाद की स्थापना की। गेस्टाल्टवादियों ने प्रत्यक्षीकरण को व्यवहारविषयक समस्याओं का मूल आधार माना। व्यवहार में सुसगठित रूप से व्यवस्था प्राप्त करने की प्रवृत्ति मुख्य है, ऐसा उनका मत था। फ्रायड ने मनोविश्लेषणवाद की स्थापना द्वारा यह बताने का प्रयास किया कि हमारे व्यवहार के अधिकांश कारण अचेतन प्रक्रियाओं द्वारा निर्धारित होते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन सभी 'वादों' का अब एकमात्र ऐतिहासिक महत्व रह गया है। इनके स्थान पर मनोविज्ञान में अध्ययन की सुविधा के लिये विभिन्न शाखाओं का विभाजन हो गया है।

प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में मुख्य रूप से उन्हीं समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विधि से अध्ययन किया जाने लगा जिन्हें दार्शनिक पहले चिंतन अथवा विचारविमर्श द्वारा सुलझाते थे। अर्थात् संवेदना तथा प्रत्यक्षीकरण। बाद में इसके अंतर्गत सीखने की प्रक्रियाओं का अध्ययन भी होने लगा। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान की प्राचीनतम शाखा है।

मनुष्य की अपेक्षा पशुओं को अधिक नियंत्रित परिस्थितियों में रखा जा सकता है, साथ ही साथ पशुओं की शारीरिक रचना भी मनुष्य की भाँति जटिल नहीं होती। पशुओं पर प्रयोग करके व्यवहार संबंधी नियमों का ज्ञान सुगमता से हो सकता है। सन् १६१२ ई० के लगभग थॉर्नडाइक ने पशुओं पर प्रयोग करके तुलनात्मक अथवा पशु मनोविज्ञान का विकास किया। किंतु पशुओं पर प्राप्त किए गए परिणाम कहाँ तक मनुष्यों के विषय में लागू हो सकते हैं, यह जानने के लिये विकासात्मक क्रम का ज्ञान भी आवश्यक था। इसके अतिरिक्त व्यवहार के नियमों का प्रतिपादन उसी दशा में संभव हो सकता है जब कि मनुष्य अथवा पशुओं के विकास का पूर्ण एवं उचित ज्ञान हो। इस संदर्भ को ध्यान में रखते हुए विकासात्मक मनोविज्ञान का जन्म हुआ। सन् १६१२ ई० के कुछ ही बाद मैक्डूगल (१८७१–१६३८) के प्रयत्नों के फलस्वरूप समाज मनोविज्ञान की स्थापना हुई, यद्यपि इसकी बुनियाद समाज वैज्ञानिक हरबर्ट स्पेंसर (१८२०-१६०३) द्वारा बहुत पहले रखी जा चुकी थी। धीरे धीरे ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर मनोविज्ञान का प्रभाव अनुभव किया जाने लगा। आशा व्यक्त की गई कि मनोविज्ञान अन्य विषयों की समस्याएँ सुलझाने में उपयोगी हो सकता है। साथ ही साथ, अध्ययन की जानेवाली समस्याओं के विभिन्न पक्ष सामने आए। परिणामस्वरूप मनोविज्ञान की नई नई शाखाओं का विकास होता गया। आज मनोविज्ञान की लगभग १२ शाखाएँ हैं। इनमें से कुछ ने अभी हाल में ही जन्म लिया है, जिनमें प्रेरक मनोविज्ञान, सत्तात्मक मनोविज्ञान, गणितीय मनोविज्ञान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आजकल रूस में अनुकूलन तथा अंतरिक्ष मनोविज्ञान में काफी काम हो रहा है। अमरीका में लगभग सभी क्षेत्रों में शोधकार्य हो रहा है। संमोहन तथा प्रेरक मनोविज्ञान में अपेक्षाकृत कुछ अधिक काम किया जा रहा है। परा-इंद्रीय प्रत्यक्षीकरण की तरफ मनोवैज्ञानिकों के सामान्य दृष्टिकोण में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी इस क्षेत्र में पर्याप्त वैज्ञानिक तथ्यों एवं प्रमाणों का अभाव है। किंतु ड्यूक विश्वविद्यालय (अमरीका) में डा० राईन के निर्देशन में इस क्षेत्र में बराबर काम हो रहा है।

एशिया में जापान मनोविज्ञान के क्षेत्र में सबसे आगे बढ़ा हुआ है। समाज मनोविज्ञान तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के साथ साथ वहाँ जेन बुद्धवाद का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

भारत में मनोविज्ञान की स्थिति आज पहले की अपेक्षा बहुत संतोषजनक है। भारतीय विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान की शिक्षा साधारणतया दर्शनशास्त्र तथा शिक्षाशास्त्र के अध्यापकों द्वारा ही दी जाती रही है। इसका परिणाम एक तो यह हुआ कि दर्शन की चिंतन विधि को स्थानांतरित करने में प्रयोगात्मक पद्धति को काफी संघर्ष करना पड़ा और दूसरे शिक्षाशास्त्र के प्रभाव के कारण मनोविज्ञान की मूल समस्याओं पर शोधकार्य होने के बजाय 'शिक्षा में मनोविज्ञान का उपयोग' विषयक समस्याएँ ही विद्वानों का ध्यान आकर्षित करती रहीं। किंतु आज अधिकतर विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान में ही प्रशिक्षित अध्यापक मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में काम कर रहे हैं।

अगस्त, सन् १६६६ ई० में मास्को में मनोवैज्ञानिकों के एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में प्रस्तुत किए गए शोधकार्यों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि मनोविज्ञान का विस्तार सामाजिक तथा प्राकृतिक दोनों ही विज्ञानों की दिशाओं में हो रहा है।

[रा० कु० मि०]

मनोहर राय यह रामशरण चट्टराज के शिष्य थे, जो श्री गोपाल भट्ट की शिष्यपरंपरा में थे। इनके शिष्य प्रियादास जी भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार थे। इनकी रचना 'राधारमणसागर' प्रसिद्ध है, जो सं० १७५७ की कृति है। इससे इनका समय सं० १७१० से सं० १७८० के मध्य में आता है। इनकी अन्य रचनाएँ हैं—रसिक जीवनी, संप्रदायबोधिनी, क्षणदा गीति चिंतामणि। कुछ स्फुट पद भी प्राप्त हैं। [ब० र० दा०]

मनौस (Manaus) स्थिति ३° ०' द०अ० तथा ६०° ०' प० दे०। ऐमाज़ॉन की घाटी में नीग्रो एवं ऐमाज़ॉन नदियों के संगम से १० मील ऊपर स्थित यह नगर ब्राज़िल के ऐमाज़ोनास प्रांत की राजधानी तथा पश्चिमी ऐमाज़ॉन की घाटी का नदी पत्तन (river port) एवं प्रमुख नगर है। नगर की स्थापना १६६६ ई० में हुई पर जंगली रबर का उपयोग बढ़ने के साथ साथ इस नम एवं उष्ण प्रदेशीय नगर ने भी आशातीत उन्नति की। ऐमाज़ॉन नदी में बड़े बड़े जहाज आसानी से यहाँ तक आ जाते हैं। मनौस करमुक्त पत्तन (free port) तथा अंतरराष्ट्रीय वायुयान अड्डा है। जंगलों एवं दलदली भूमि के कारण स्थल से आवागमन के साधनों की उन्नति नहीं हो सकी। एकमात्र जल या आकाश मार्ग का ही आश्रय लेना पड़ता है। समीपवर्ती क्षेत्र में खनिज तेल का भंडार होने का भी अनुमान लगाया गया है। यहाँ से काष्ठफल, रबर, चमड़े, एवं कठोर लकड़ी का निर्यात

मुख्य रूप से होता है। यहाँ दो तैलशोधक कारखाने कार्य कर रहे हैं। वनस्पति उद्यान (Botanical garden) एवं कैथेड्रल दर्शनीय हैं। नगर की जनसंख्या १,७०,४०० (१९६०) है। [कै० ना० सि०]

मय, मयासुर कश्यप और दनु का पुत्र, नमुचि का भाई, एक प्रसिद्ध दानव। इसकी दो पत्नियाँ—हेमा और रंभा थीं जिनसे पाँच पुत्र तथा तीन कन्याएँ हुईं। मय ने दैत्यराज वृषपर्वन् के यज्ञ के अवसर पर बिंदुसरोवर के निकट एक विलक्षण सभा का निर्माण कर अपने अद्भुत शिल्पशास्त्र के ज्ञान का परिचय दिया था। यह ज्योतिष तथा वास्तुशास्त्र का आचार्य था।

जब शंकर ने त्रिपुरों को भस्म कर असुरों का नाश कर दिया तब मयासुर ने अमृतकुंड बनाकर सभी को जीवित कर दिया था किंतु विष्णु ने उसके इस प्रयास को विफल कर दिया। मत्स्यपुराण (१२४) के अनुसार इंद्र द्वारा नमुचि का वध होने पर इसने इंद्र को पराजित करने के लिये तपस्या द्वारा अनेक माया विद्याएँ प्राप्त कर लीं। भयग्रस्त इंद्र ब्राह्मण वेश बनाकर उसके पास गए और छलपूर्वक मैत्री के लिये उन्होंने अनुरोध किया तथा असली रूप प्रकट कर दिया। इसपर मय ने अभयदान देकर उन्हें माया विद्याओं की शिक्षा दी।

महाभारत (आदि०, २२६।३६; सभा०, १६) के अनुसार खांडव वन को जलाते समय यह उस वन में स्थित तक्षक के घर से भागा। कृष्ण ने तत्काल चक्र से इसका वध करना चाहा किंतु शरणागत होने पर अर्जुन ने इसे बचा लिया। बदले में इसने युधिष्ठिर के लिये सभाभवन का निर्माण किया जो मयसभा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी सभा के वैभव को देखकर दुर्योधन पांडवों से डाह करने लगा था। इस भावना ने महाभारत युद्ध को जन्म दिया।

[श्या० ति०]

मयूरभंज स्थिति : २१° १७' से २२° ३४' उ० अ० तथा ८५° ४०' से ८७° १०' पू० दे०। यह भारत के उड़ीसा राज्य का एक जिला है जो पूर्व में बालेश्वर, दक्षिण मे केंदुझरगढ़ तथा उत्तर एवं पश्चिम में बिहार के सिंघभूम जिले से घिरा है। इसका क्षेत्रफल ४,०२२ वर्ग मील तथा जनसंख्या १२,०४,०४३ (१९६१) है। जिले के दक्षिण में मेघासनी पहाड़ी सागरतल से ३,८२४ फुट तक ऊँची है। यहाँ पर लोहा बड़ी मात्रा में निकाला जाता है। अभ्रक भी मिलता है।

मयूर भट्ट किंवदंती के अनुसार मयूर भट्ट महाकवि बाण के श्वसुर या साले कहे जाते हैं। कहते हैं—एक समय बाण की पत्नी ने मान किया और सारी रात मान किए रही। प्रभात होने को हुआ, चंद्रमा का तेज विशीर्ण होने लगा, दीप की लौ हिलने लगी, किंतु मान न टूटा। अधीर हो बाण ने एक श्लोक बनाया और सविनय निवेदन किया। श्लोक के तीन चरण इस प्रकार थे—

गतप्राया रात्रि: कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रा वशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामांतो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो,

इतने में वहाँ कवि मयूर भट्ट आ गए थे। उन्होंने इन तीन चरणों को सुना। कवि काव्यानंद में डूब गया। संबंध की मर्यादा भूल गया, और जब तक बाण चौथा चरण सोचते स्वयं परोक्ष से ही बोल उठा—

'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चंडि कठिनम्'॥

पंक्ति की चोट से बाण और उनकी पत्नी दोनों घायल हो उठे। विशेषत. उनकी पत्नी को अपने रहस्य में इस प्रकार अनधिकार हस्तक्षेप करनेवाले मर्यादाविहीन संबंधी पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उसे कुष्टी होने का शाप दे दिया। दु:खी कवि मयूर ने भगवान् सूर्य की स्तुति में एक अतिशय प्रौढ़ एवं ललित श्लोकशतक की रचना की, जिसे 'सूर्यशतक' कहते हैं, और उस पापरोग से मुक्ति पाई। इस रोगमुक्तिवाली घटना की ओर कुछ इस प्रकार संकेत आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजन बताते हुए अपने काव्यप्रकाश में किया है—'आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थ निवारणम्' (प्रथम उल्लास)। कहते हैं, क्रुद्ध हो मयूर ने भी बाण को प्रतिशाप दिया, जिससे मुक्ति के लिये बाण ने भगवती दुर्गा की स्तुति में 'चंडीशतक' की रचना की। कन्नौज के महाराज हर्षवर्धन की सभा में जिस प्रकार बाण की प्रतिष्ठा थी, उसी प्रकार मयूर की भी, जैसा राजशेखर की इस उक्ति से प्रमाणित होता है—

'अहो प्रभावो वाग्देव्या: यन्मातंगदिवाकरा:।
श्रीहर्षस्याभवन् सभ्या: समा: बाणमयूरयो:॥
(शार्ङ्गधरपद्धति मे उद्धृत)।

अत: मयूर का भी समय ईसा की सप्तम शताब्दी के मध्य के आस पास माना जा सकता है। मयूर भी काशी के पूर्ववर्ती प्रदेश के रहनेवाले थे। आज भी गोरखपुर जिले के कुछ प्रतिष्ठित ब्राह्मण अपने को मयूर भट्ट का वंशज बताते हैं।

मयूर भट्ट की एक शृंगाररस विषयक रचना 'मयूराष्टक' नाम से बताई जाती है, जिसमे प्रिय के पास से लौटी प्रेयसी का वर्णन किया गया है। किंतु इसकी प्रामाणिकता मे सदेह है। इनकी सुप्रसिद्ध रचना 'सूर्यशतक' है। संस्कृत के सबसे बड़े छंद स्रग्धरा मे, लंबे समस्त पदों की गौडी रीति मे श्लेष एवं अनुप्रास अलंकार से सुसज्जित अतिशय प्रौढ भाषा मे पूर्ण वैदग्ध्य के साथ रचे गए इन सौ श्लोकों ने ही काव्यजगत् में मयूर की कवित्वशक्ति की ऐसी धाक जमा दी कि वे कविताकामिनी के कर्णपूर बन गए—'कर्णपूरो मयूरक'। इस 'शतक' मे कवि का संरंभ देवविषयक भक्ति से अधिक अलंकारादि योजना के प्रति समझ पड़ता है। प्राय: प्रत्येक श्लोक के अंत में आशीर्वाद सा दिया गया है। सूर्य के रथ, घोड़े, बिंब आदि के प्रति बड़ी अनूठी कल्पनाएँ की गई हैं। प्रतिभा के साथ कवि की व्युत्पत्ति (पांडित्य) ने इस शतक का महत्व बढ़ा दिया है। व्याकरण, कोश तथा अलंकार के विद्वानों मे इस ग्रंथ की बड़ी प्रतिष्ठा रही है, जो उनमें इसके उद्धरणों से प्रमाणित होता है। अतएव इसपर टीकाएँ भी विशेष संख्या में मिलती हैं। [चं० प्र० शु०]

मराकेश (Marrakech) स्थिति : ३१° ४०' उ० अ० तथा ८° ०' प० दे०। यह मोरक्को का सबसे बड़ा नगर है जो ब्लाड-एल-हमरा (Blad el Hamra) नामक विस्तृत मैदान में कैसाब्लांका से १६० मील दक्षिण-पश्चिम में १,५०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। लताकुंजों की अधिकता एवं पर्वतीय दृश्यों के कारण यह आकर्षक नगर है। इस नगर में शायद ही कोई भवन दुमंजिले से अधिक ऊँचा

हो। मराकेश के मध्य में जेम्मा-एल-फना (Djemma el Fna) नामक विशाल चौक है। सुल्तान का महल भी एक विस्तृत भाग में स्थित है। इसके बाहर एगुडालका शाही पार्क है जिसके दो मील लंबे एवं ५,००० फुट चौड़े क्षेत्र में फलदार वृक्ष लगे हुए हैं। मराकेश चहारदीवारी से घिरा हुआ है जिसमें कई प्रवेशद्वार हैं। कास्बा द्वार बहुत ही सुंदर है। धार्मिक भवनों में कुतुबिया मस्जिद (१२वीं शताब्दी की) बहुत ही महत्वपूर्ण है जिसका गुंबद २२१ फुट ऊँचा है तथा यह मराकेश के स्मारकों में सबसे अधिक आकर्षक है। कास्बा मस्जिद के पास में सादी शरीफों के मकबरे हैं। बाईमा प्रासाद रेजीडेंट का आवास रहा है। इसकी जनसंख्या २,४२,००० (१९६०) है जिनमें मुसलमानों की बहुलता है। [रा० प्र० सिं०]

मराठी भाषा और साहित्य मराठी साहित्य महाराष्ट्र के जीवन का अत्यंत संपन्न तथा सुदृढ उपाग है। इस साहित्य की प्रारंभिक रचनाएँ यद्यपि १२वीं शती से उपलब्ध हैं तथापि मराठी भाषा की उत्पत्ति इसके लगभग ३०० सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो चुकी रही होगी। मैसूर प्रदेश के श्रवण बेल गोल नामक स्थान की गोमतेश्वर प्रतिमा के नीचेवाले भाग पर लिखी हुई 'श्री चामुंड राजे करवियले' यह मराठी भाषा की सर्वप्रथम ज्ञात पंक्ति है। यह संभवतः शक ९०५ (ई० सन् ९८३) मे उत्कीर्ण की गई होगी। यहाँ से यादवों के काल तक के लगभग ७५ शिलालेख आज तक प्राप्त हुए हैं। इनकी भाषा का संपूर्ण या कुछ भाग मराठी है। मराठी भाषा का निर्माण प्रमुखतया, महाराष्ट्री, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से होने के कारण संस्कृत की अतुलनीय भाषासंपत्ति का उत्तराधिकार भी इसे मुख्य रूप से प्राप्त हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा को आत्मसात् कर मराठी ने १२वीं शती से अपना अलग अस्तित्व स्थापित करना शुरू किया। इसकी लिपि वही है जो हिंदी की है।

ऐतिहासिक अनुसंधान करनेवाले अनेक विद्वानों ने यह मान लिया है कि मुकुंदराज मराठी साहित्य के आदि कवि हैं। इनका समय ११२८ से १२०० तक माना जाता है। मुकुंदराज के दो ग्रंथ 'विवेकसिंधु' और 'परमामृत' हैं जो पूर्ण आध्यात्मिक विषय पर हैं। मुकुंदराज के निवासस्थान के संबध मे विद्वानों का एक मत नहीं है, फिर भी बीड जिले के अंबे जोगाई नामक स्थान पर बनी इनकी समाधि से वे मराठवाडा के निवासी प्रतीत होते हैं। वे नाथपंथीय थे। उनके साहित्य से इस पंथ के संकेत प्राप्त होते हैं।

ज्ञानदेव तथा नामदेव

मराठी भाषा के अद्वितीय साहित्यभांडार का निर्माण करनेवाले ज्ञानदेव को ही मराठी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। १५ वर्ष की अवस्था में लिखी गई उनकी रचना ज्ञानेश्वरी अत्यंत प्रसिद्ध है। उनके ग्रंथ अमृतानुभव तथा चांगदेव पासष्टी, वेदांत चर्चा से ओतप्रोत हैं। ज्ञानदेव का श्रेष्ठत्व उनके अलौकिक ग्रंथनिर्माण के समान ही उनकी भक्तिपंथ की प्रेरणा मे भी विद्यमान है। इस कार्य में उन्हे अपने समकालीन संत नामदेव की अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। ज्ञान और भक्ति के साकार स्वरूप इन दोनों संतों ने महाराष्ट्र के पारमार्थिक जीवन की नई परंपरा को सुदृढ़ स्थान प्राप्त करा दिया। इनके भक्तिप्रधान साहित्य तथा दिव्य जीवन के कारण महाराष्ट्र के सभी वर्गों के समाज में भगवद्भक्तों का पारमार्थिक लोकराज्य स्थापित होने का आभास मिला। चोखा मेला, गोरा कुम्हार, नरहरि सोनार इत्यादि संत इसी परंपरा के हैं।

इसी समय चक्रधर द्वारा स्थापित महानुभावीय ग्रंथकारों की एक अलग शृंखला का आरंभ हुआ। चक्रधर के पट्ट शिष्य नागदेवाचार्य ने महानुभाव पंथ को संघटित रूप देकर पंथ की नींव सुदृढ की। इन्हीं की प्रेरणा से महेंद्र भट, केशवराज सूरी आदि लोगों ने ग्रंथरचना की। चक्रधर जी के संस्मरण को बतलानेवाला महेंद्र भट का 'लीलाचरित्र' इस पंथ का आद्य ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित स्मृतिस्थल, केशवराज सूरी का मूर्तिप्रकाश तथा दृष्टांतपाठ, दामोदर पंडित का वत्सहरण, नरेंद्र का रुक्मिणी स्वयंवर, भास्कर भट का शिशुपालवध और उद्धवगीता आदि महानुभाव पंथ के प्रमुख ग्रंथ हैं। शिशुपालवध तथा रुक्मिणी स्वयंवर ग्रंथ काव्य की दृष्टि से अत्यंत सरस एवं महत्वपूर्ण हैं।

अब ज्ञानदेव तथा नामदेव के समय की राज्यस्थिति बदल चुकी थी। यादवों का राज्य नष्ट होकर उसके स्थान पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण निराशा की गहरी छाया छाई हुई थी। उसे दूरकर परमार्थ मार्ग को फिर से प्रकाशमान बनाने का कार्य मराठवाडा के अंतर्गत पैठण क्षेत्र के निवासी संत एकनाथ ने किया। इनके ग्रंथ विशद तथा साहित्यिक गुणों से संपन्न है। इनमे वेदांत ग्रंथ, आख्यान, कविता, स्फुट प्रकरण, लोकगीत, रामायणकथा इत्यादि नाना प्रकार के साहित्य का समावेश है। एकनाथी भागवत, भावार्थ रामायण, रुक्मिणी स्वयंवर, भारुड आदि ग्रंथ मराठी मे सर्वमान्य हैं। एकनाथ के ही समय में प्रचुर मात्रा मे साहित्यनिर्माण करनेवाले दासोपंत नामक कवि हुए। एकनाथ के पौत्र (नाती) मुक्तेश्वर के 'कलाविलास' को मराठी भाषा में उच्च स्थान प्राप्त है। इनके लिखे महाभारत के पाँचों पर्व मानो नवरसों से सुसज्जित मंदाकिनी ही हैं।

तुकाराम तथा रामदास

१७वीं शती में तुकाराम तथा रामदास ने एक ही समय धर्मजाग्रति का व्यापक कार्य किया। ज्ञानदेवादि वारकरी संप्रदाय के अधिकारियों द्वारा निर्मित धर्ममंदिर पर तुकाराम के कार्य ने मानो कलश बैठाया। पोथी पंडितो के अनुभवशून्य वक्तव्यों तथा कर्मकांड के नाम पर दिखलाए जानेवाले ढोंग का भंडाफोड करने में तुकाराम की वाणी को अद्भुत ओज प्राप्त हुआ। फिर भी जिस साधक अवस्था से उन्हे जाना पड़ा उसका उनके द्वारा किया हुआ वर्णन काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

रामदास का साहित्य परमार्थ के साथ साथ प्रापंचिक सावधानता का तथा समाजसंघटन का उपांग है। छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरु होने के कारण उनके चरित्र की उज्वलता बढ गई। फिर भी उनके द्वारा प्रयत्नवाद, लोकसंग्रह, दुष्टों के दलन इत्यादि के संबध में दिए गए बोध के कारण उन्हें स्वयं ही वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है। दासबोध, मनाचे श्लोक, करुणाष्टक आदि उनके ग्रंथ परमार्थ के विचार से परिपूर्ण हैं। उनके कतिपय अध्यायों के विषय राजनीतिक विचारों से प्रभावित हैं।

तुकाराम रामदास के कालखंड में वामन पंडित, रघुनाथ पंडित, सामराज, नागेश, तथा विट्ठल आदि शिवकालीन आख्यानकर्ता कवियों की एक लंबी परंपरा हो गई। शब्दचमत्कार, अर्थचमत्कार, नाद माधुर्य, और वृत्तवैचित्र्य इत्यादि इन आख्यानों की विशेषताएँ हैं। वामन नामक पंडित की यथार्थदीपिका गीताटीका उनकी विद्वत्ता के कारण अर्थगंभीर व तत्वागप्रचुर हो गई है। स्वप्न में तुकाराम का उपदेश प्राप्त कर लेनेवाले महीपति प्राचीन मराठी के विख्यात संत चरित्रकार हो गए हैं। कृष्णदयार्णव का 'हरिवरदा' तथा श्रीधर कवि के हरिविजय, रामविजय, आदि ग्रंथ सुबोध व रसपूर्ण होने के कारण आबाल वृद्धों को बहुत पसंद आए। इन परमार्थप्रवृत्त पंडितों की परंपरा में मोरोपंत का विशिष्ट स्थान है। इनके रचित आर्या भारत, १०८ रामायण तथा सैकड़ों फुटकर काव्यरचनाएँ भाषाप्रभुत्व एवं सुरस वर्णनशैली के कारण विद्वन्मान्य हुई हैं।

पेशवाओं के समय मे 'शाहिरी' (राजाश्रित) कवियो ने मराठी काव्य को अलग ही रूप रंग प्रदान किया। रामजोशी, प्रभाकर होनाजी बाला इत्यादि कवियो ने संत कवियों के अनुसार परमार्थ पर काव्यरचना न करते हुए समकालीन इतिहास से सामग्री ग्रहण कर वीररसपूर्ण काव्य का निर्माण किया। इन कवियों द्वारा रचित 'पोवाडा' (पँवाडा, कीर्तिकाव्य) साहित्य महाराष्ट्र के इतिहास का ओजस्वी अंग है। इन्हीं राजकवियों के लावणी साहित्य में स्त्रीपुरुषों के शृंगार का भव्य वर्णन है। यद्यपि इनमें से कितनों ने ही वैराग्य पर भी 'लावणी' साहित्य का निर्माण किया है, फिर भी इनका वैशिष्ट्य पोवाड़े तथा शृंगारिक लावणियों में ही व्यक्त हुआ है।

बखर साहित्य

प्राचीन मराठी साहित्य प्रधानत. पद्यमय होने के कारण उसमे गद्य का भाग बहुत छोटा होना स्वाभाविक है। इसमे बखर साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया साधार न होने पर भी उपेक्षणीय नही। कृष्णाजी शामराव की लिखी भाऊ साहेब की बखर, कृष्णाजी अनंत सभासद लिखित शिव छत्रपति की बखर, सोवनी द्वारा लिखी पेशवाओं की बखर इत्यादि बखरें प्राचीन मराठी गद्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक कालखंड के राजपुरुषों के जो हजारों पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी अनेक साहित्यिक गुणों का मनोरम दर्शन होता है।

अंग्रेजों के पूर्वकालीन साहित्य की सीमा यहाँ समाप्त होती है और एक नए युग का प्रारंभ होता है। इस समय के साहित्य की प्रेरणा प्राय: धर्मजीवन के लिये ही थी, अत: इस दीर्घ कालखड मे निर्मित साहित्य अत्यंत विशद होने पर भी अधिकांश एक ही सा है। काव्यों के विषय, आध्यात्मिक विचार, पौराणिक कथाएँ, तथा ऐसी ही अन्य बातें थी जो थोड़े से हेरफेर के साथ पुनः पुनः आई सी मालूम होती हैं। समय के हेरफेर से तथा व्यक्ति के बदलने से वर्णन की पद्धति बदली परंतु साहित्य में एक ही परमार्थ प्रवाह बराबर बहता रहा।

नए युग का आरंभ

अंग्रेजों के शासन काल से ही महाराष्ट्र के नवयुवकों में अपनी निश्चित सीमा से कुछ दूर जाने के प्रयत्न चल रहे थे। मुद्रणकला का प्रचार होने से साहित्य पढ़नेवाले वर्ग की सर्वत्र वृद्धि होने लगी, अतः उनकी संतुष्टि के लिये साहित्यिक भी नवीन साहित्यक्षेत्रों में प्रवेश करने लगे। १८५७ में बाबा पदमजी ने 'यमुनापर्यटन' नामक प्रथम उपन्यास लिखकर इस नवीन साहित्य प्रकार का शुभारंभ किया। इसी तरह वि० ज० कीर्तने के १८६१ मे लिखे 'थोरले माधवराव पेशवे' ऐतिहासिक नाटक के कारण नाट्य साहित्य मे नए युग का सूत्रपात हुआ। क्रमश. निबंध, चरित्र, व्याकरण, कोश, धर्मनीति तत्वज्ञान, प्रवासवर्णन, इत्यादि अनेक विभागों में साहित्यनिर्माण होने लगा। अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य के ललित और शास्त्रीय ग्रंथों के मराठी अनुवाद बडी संख्या में होने लगे। कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, परशुराम तात्या गोडबोले, लोकहितवादी देशमुख, दादोबा पांडुरंग आदि बहुश्रुत व्यक्तियो ने अनेक विषयों पर ग्रंथरचना कर मराठी वाङ्मय को विकास के क्षेत्र में सभी ओर से नया मोड़ दिया। इस समय के विविध ज्ञानविस्तार, ज्ञानप्रकाश, ज्ञानसंग्रह, दिग्दर्शन आदि नियमित पत्रों ने भी ज्ञान का पौसरा चलाकर मानों नई पीढ़ियों की साहित्यिक पिपासा शांत करने में हाथ बँटाया।

१८७४ में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर द्वारा शुरू की गई निबंध-माला के कारण मराठी साहित्य में ही नहीं अपितु महाराष्ट्र की विचारपरंपरा में भी क्रांति होकर नए युग की प्रतिष्ठापना हुई। नव सुशिक्षित वर्ग मे अपना देश, अपनी भाषा, अपनी सस्कृति आदि के सबध मे स्वाभिमान जाग्रत हुआ। अंग्रेजी साहित्य के वैशिष्ट्य को आत्मसात् करते हुए वह ऐसे साहित्य के लिये प्रवृत्त हुआ जिससे भारतीय संस्कृति के भविष्य का पोषण होता। [शं० ग० तु०]

आधुनिक काल

१८७४-१९२०— हरिनारायण आपटे ने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा भूतकालीन घटनाओ को बड़े ही सुंदर ढंग से चित्रित किया, तथा सामाजिक उपन्यासो द्वारा स्त्रियों के दुःखी जीवन का हृदयद्रावक चित्र भी खींचा। श्री अण्णा साहेब किर्लोस्कर ने १८८० मे शाकुतल नाटक लिखकर आधुनिक मराठी रंगभूमि की नीव डाली। इन्ही की परपरा मे गो० व० देवल ने सबसे पहले प्रभावोत्पादक नाटक लिखकर नाट्य साहित्य को नई दिशा प्रदान की। १८८५ मे केशवसुत नामक कवि ने काव्यक्षेत्र मे नए युग की स्थापना की। ऐतिहासिक सुख में विश्वास, अकृत्रिम प्रेम तथा आत्मनिष्ठा इत्यादि गुण इन कविताओं का वैशिष्ट्य रहा। इनके बाद तिलक, बी० गोविंदाग्रज, बालकवि चद्रशेखर, ताबे इत्यादि कवियो ने मराठी कविताओ का सौंदर्य एवं सामर्थ्य और अधिक बढाया। सावरकर तथा गोविंद ने राष्ट्रीय भावनाओं का उद्दीपन करनेवाली कविताएँ लिखीं। इतिहासाचार्य राजवाडे ने मराठी इतिहास के सशोधन की परपरा का निर्माण किया। खरेशास्त्री, साने, पारसनीस आदि इतिहासज्ञो ने इतिहासलेखन के साधनों की महत्वपूर्ण खोज करने का प्रयत्न किया। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक की ओजस्वी विचारधारा के आधार पर खाडिलकर ने उत्कृष्ट पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण किया। इसी समय रामगणेश गडकरी ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा से करुण एवं हास्य रस का उत्तम चित्रण किया। श्रीकृष्ण कोल्हाटकर ने अपने हास्य-पूर्ण लेखों द्वारा सामाजिक आचार विचार मे दिखलाई पड़नेवाली त्रुटियों को सर्वमान्य जनता के सामने ला रखा। लोकमान्य तिलक,

सावरकर, परांजपे, नरसिंह चिंतामणि केलकर आदि प्रसिद्ध लेखक इसी समय देश मे विचारजाग्रति का महान् कार्य कर रहे थे। लोकरंजन की अपेक्षा विविध विषयों के ज्ञानभंडार की पूर्ति को अधिक महत्वपूर्ण मानकर साहित्यनिर्माण का कार्य किया गया।

१९२०-१९४५—इसके बाद की कालावधि मे लोकरंजन को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। प्रमुख आशय के साथ साथ उद्देश्य की अभिव्यक्ति का भी विचार होने लगा। फिर भी यह नहीं भुलाया गया कि साहित्य ही समाज के मन पर विशिष्ट संस्कार डालनेवाला प्रभावी साधन है। डा० केलकर, वा० म० जोशी, वि० स० खांडेकर ने कलाप्रदर्शन की अपेक्षा ध्येयवादी जीवनदर्शन को ही अपने उपन्यासों में महत्व का स्थान दिया। श्री माडखोलकर ने समकालीन राजकीय घटनाओं के आधार पर अनेक उपन्यासों का सृजन किया। श्री विभावरी शिरुरकर जी ने अपने कथासाहित्य में सपन्न समाज की महिलाओं के मन की सूक्ष्म विचारतरंगों को बड़ी सफलता से चित्रित किया।

ना० सी० फड़के ने अनेक प्रणयकथाएँ सुंदर शैली मे लिखी जो यथेष्ट लोकप्रिय हुई। रविकिरण मंडन के कवियों ने, विशेषतः माधव ज्यूलियन और यशवंत ने वैयक्तिक दुःखों का वर्णन करनेवाले काव्यों की रचना की। इसके बाद के कालखंड में अनिल, बोरकर, कुसुमाग्रज, आदि कवि सामने आए। प्रल्हाद केशव अत्रे ने हास्य एवं समस्याप्रधान नाटको का निर्माण किया। वरेरकर ने समय समय पर दृष्टिगोचर होनेवाली समस्याओ को प्रधानता देनेवाले नाटकों का सृजन कर बहुत बड़ा कार्य किया। इसी समय व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर लिखे गए निबंध भी लघुकथाओं के रूप में सामने आए। श्री म० माटे द्वारा लिखित कथाओ में अस्पृश्य समाज के सुख दु:खों की करुण कहानी देखने को मिली। ठीक इसी समय य० गो० जोशी द्वारा मध्यम वर्गीय समाज के सुख दु:खो को कथाओं का रूप देकर जनता के संमुख रखा गया। वि० दा० सावरकर, म० माटे, के० क्षीरसागर, पु० ग० सहस्रबुद्धे, दत्तोवामन पोतदार, आदि विद्वानों ने बहुमूल्य निबधों द्वारा साहित्यभाडार की अभिवृद्धि की। द० के० केलकर, रा० श्री० जोग तथा के० ना० वाटवे ने पौर्वात्य एवं पाश्चिमात्य शास्त्रीय तथा साहित्यकीय विचारो का सागोपाग अध्ययन किया।

१९४५—१९६५ - इस कालखंड का आरंभ ही दूसरे महायुद्ध के समय निर्मित साहित्य के आधार पर हुआ। इस काल के वाड्मय से इसके पूर्व के काव्य और कथाओं के प्रमुख आशय को एवं आविष्कारादि संकेतों को जबरदस्त धक्का लगा जिसके फलस्वरूप साहित्य का मूल्य ध्वस्त होता सा प्रतीत होने लगा। मानव जीवन की असफलता, तुच्छता, घृण्यता तथा परस्पर के अकल्पनीय संबंधों का असुंदर एवं दुर्बोध चित्रण करने में होड़ सी चल पड़ी। मर्ढेकर जी की कविताओं ने रसिकों की काव्यदृष्टि मे ही परिवर्तन कर दिया। गाडगील, भावे, गोखले आदि मनीषियों द्वारा लिखित साहित्य में मनोमय व्यापार, उग्र वासना का प्रक्षोभ, एवं गूढ विचारतरंग इत्यादि की जो विशिष्टता अभिव्यंजित की गई, उसके कारण वाड्मय का स्वरूप ही बदल गया। वि० दा० करंदीकर तथा मुक्तिबोध काव्यों मे मानववाद की अभिव्यक्ति हुई। ग्रामीण जीवन का यथार्थ दर्शन व्यंकटेश माडगुलकर ने कराया, तो दूसरी ओर माधव शास्त्री जोशी ने मध्यवर्गीय जीवन का वास्तविक चित्र जनता के संमुख रखा। संपन्न वर्ग के स्त्रीपुरुषों के सुख एवं दु:खों का दिग्दर्शन रांगणेकर, कालेलकर, बाल कोल्हाटकर इत्यादि द्वारा लिखे नाटकों में दिखाई पड़ता है, तो विद्याधर गोखले द्वारा लिखित नाटक में प्राचीन सगीत नाट्यकला पुनरुज्जीवित हो उठी है। पेंडसे, दांडेकर, माडगूलकर आदि के उपन्यासो मे प्रादेशिक हलचल के साथ सूक्ष्म भावना दर्शन को भी महत्व दिया गया है। श्री रणजीत देसाई एवं इनामदार ने ऐतिहासिक उपन्यासों का पुनरुद्धार किया। इसी प्रकार तेंदुलकर, साठे, खानोलकर इत्यादि ने नए ढंग के नाटकों का प्रणयन किया। कानेरकर जी द्वारा लिखित प्रयोगी नाटक इसी कालखंड में लिखे गए। मर्ढेकर, वा० ल० कुलकर्णी, श्री० के० क्षीरसागर, रा० श० वालिंबे, दि० के० बेडेकर आदि विद्वानों ने साहित्य के मूल सिद्धातों की चर्चा करनेवाले अत्यंत मूल्यवान् एवं आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किए। नेने, मिराशी, कोलते, तुलपुले इत्यादि विद्वानों का सशोधनात्मक वाड्मय भी इसी समय निर्मित हुआ। पु० ल० देशपांडे के ठोस विनोदी साहित्य ने रसिकों के मन मे अचल स्थान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार सन् १८७४ से निर्मित आधुनिक मराठी वाड्मय रूपधारी सरस्वती की धारा काव्य, कथा, नाटक, उपन्यास, चरित्र, एव इतिहास संशोधनादि प्रवाहों से दिन प्रति दिन समृद्ध हो रही है।

[मु० श्री० का०]

मरियम इब्रानी भाषा में 'मिर्याम' का अर्थ है उच्च, उन्नत, प्रतिष्ठित। यूनानी में वह 'मारिया' बन गया है। बाइबिल के पूर्वार्ध में यह मूसा की बहन का नाम है और उत्तरार्ध में मरियम मगदलेन, बेथानी की मरियम आदि अनेक अन्य स्त्रियों के अतिरिक्त यह ईसा की माता का भी नाम है।

संत लूकस के सुसमाचार के प्रथम दो अध्यायों में ईसा की माता मरियम के विषय मे प्रचुर सामग्री मिलती है। फिलिस्तीन के उत्तरी प्रदेश गलीलिया के नाजरेथ गाँव में रहनेवाली कुमारी मरियम को एक देवदूत दिखाई पड़ा और उसने कहा—हे भगवत्कृपा से परिपूर्ण! आपको प्रणाम है। प्रभु आपके साथ है। डरिए नही। आपको ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त है। देखिए, आप गर्भवती होंगी और पुत्र जनेंगी, आप उनका नाम येसु रखिएगा। मरियम ने उत्तर दिया कि यह कैसे संभव है। मेरा किसी पुरुष से कोई सबध नही रहा। इसपर देवदूत ने उनको आश्वासन दिया कि सर्वोच्च प्रभु की शक्ति की छाया उनपर उतरेगी और उसी के प्रभाव से वह मसीह की माता बनेंगी। मरियम ने अपनी सहमति प्रकट की और वह पवित्र आत्मा की शक्ति से गर्भवती हो गई। सत मत्ती के सुसमाचार में भी ईसा के अलौकिक जन्म का वृत्तात मिलता है। बाद मे मरियम का यूसुफ के साथ विवाह सपन्न हुआ किंतु फिर भी वह जीवन भर कुँवारी ही रहीं और उनके कोई दूसरी सतान नहीं हुई।

ईसा ईश्वर के अवतार हैं, अतः ईसा की माता होने के नाते ईसाई लोग मरियम को ईश्वर की माता कहकर पुकारते हैं। बाइबिल में अंकित उनके चरित्र के आधार पर वे मरियम को निष्पाप एवं निष्कलंक (आदि पाप से मुक्त) मानते हैं। काथलिक चर्च के एक

धर्म सिद्धांत के अनुसार वह अब अपने पुत्र की तरह सशरीर स्वर्ग में विराजमान हैं।

सं० ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [श्रा० वे०]

मरियम उज्जमानी दे० जोधबाई।

मरियम मकानी मुगलकाल मे काफी मात्रा मे स्त्रियाँ इतिहास के पन्नों पर दृष्टिगोचर होती हैं। मध्य एशिया की परंपराओं का पालन करते हुए मुगल शासकों ने अपनी स्त्रियों को काफी स्वतंत्रता दी थी और उनके साथ मिलते जुलते थे। वैसे तो महल की सभी बेगमों और शाहजादियों का आदर एवं सत्कार होता था परंतु उनमें से कुछ का संमान विशेष रूप से था। उन्ही में से मरियम मकानी भी थी जिनका वास्तविक नाम हमीदा बानू बेगम था। मरियम मकानी की पदवी उनके प्रति आदर की भावना प्रदर्शित करती है।

हमीदा बानू बेगम का विवाह हुमायूँ बादशाह के साथ सन् १५४१ ई० में हुआ था। स्वभाव से वह बहुत ही दृढ संकल्पवाली तथा स्वाभिमानिनी प्रतीत होती हैं। विवाह के पश्चात् उन्होंने अपने प्रभाव से बादशाह के हृदय को जीता। बेगम शिया थीं। अपनी बुद्धिमत्ता एवं सुव्यवहार के कारण उन्होने फारस के शाह और उनकी बहन को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप उन्होने बादशाह हुमायूँ की सहायता की। मरियम मकानी वीर एवं साहसी थी। वह ऊँट, घोड़े इत्यादि पर भली भाँति सवार हो सकती थी।

मरियम मकानी को शासनप्रबंध में भी दिलचस्पी थी। जब १५४५ मे कांधार विजय के बाद हुमायूँ काबुल की ओर रवाना हुआ तो हमीदा बानू वहाँ बादशाह के प्रतिनिधि के रूप मे सुरक्षा एवं देखभाल के लिये रह गईं।

मरियम मकानी के जीवन का अधिकतर भाग उनके पुत्र अकबर के काल मे व्यतीत हुआ। उनका प्रभाव पुत्र पर पड़ना स्वाभाविक ही था। कहा जाता है, अकबर का शिया धर्म के प्रति झुकाव बेगम के प्रभाव के ही कारण कुछ अश मे था। अकबर भी अपनी माँ का बहुत आदर एवं सत्कार करते थे और सदैव उनका स्वागत करने राजधानी से बाहर जाते थे। शाहजादे शाहजादियो के विवाह के उत्सव भी उन्ही के महल मे मनाए जाते थे।

१५९९ ई० मे जब अकबर दक्षिण की ओर जा रहे थे तो सलीम को अत्यधिक मद्यपान के कारण बादशाह के संमुख जाने की आज्ञा न दी गई। परंतु मरियम मकानी की प्रार्थना मे उसे कोरनिश करने की आज्ञा मिल गई। जब सलीम ने १६०१ में अपने पिता के विरुद्ध गद्दी प्राप्त करने के लिये विद्रोह कर दिया तो किसी का भी साहस शाहजादे के लिये क्षमा माँगने का न हुआ। अत में मरियम मकानी तथा गुलबदन बेगम ने उसकी ओर से क्षमा माँगी और उन्ही के प्रयत्न द्वारा बादशाह ने उसे क्षमा किया।

बादशाह जहाँगीर की आत्मकथा से ज्ञात होता है कि मरियम मकानी ने कई उद्यान भी लगवाए थे। बेगम को फरमान जारी करने का विशेष अधिकार भी प्राप्त था। उनके कुछ फरमान भी प्राप्त हैं जो उनके प्रभाव एवं महत्व को प्रदर्शित करते हैं। १६०४ में उनका देहांत हुआ। [रे० मि०]

मरीचिका एक प्रकार का वायुमंडलीय दृष्टिभ्रम है, जिसमे प्रेक्षक अस्तित्वहीन जलाशय एवं दूरस्थ वस्तु के उल्टे या बड़े आकार के प्रतिबिंब तथा अन्य अनेक प्रकार के विरूपण देखता है। वस्तु और प्रेक्षक के बीच की दूरी कम होने पर प्रेक्षक का भ्रम दूर होता है, वह जलाशय नही देख पाता। गरम दोपहरी में सड़क पर मोटर चलाते समय किसी सपाट ढालवीं भूमि की चोटी पर पहुँचने पर, दूर आगे सड़क पर, पानी का भ्रम होता है। यह मरीचिका का दूसरा सुपरिचित स्वरूप है।

इस घटना की व्याख्या प्रकाश के पूर्ण आंतरिक परावर्तन (total internal reflection) के सिद्धांत के आधार पर की जाती है। जब पृथ्वी की सतह से सटी हुई हवा की परत गरम हो जाती है, तब वह विरल हो जाती है और ऊपर की ठंढी परतों की अपेक्षा कम
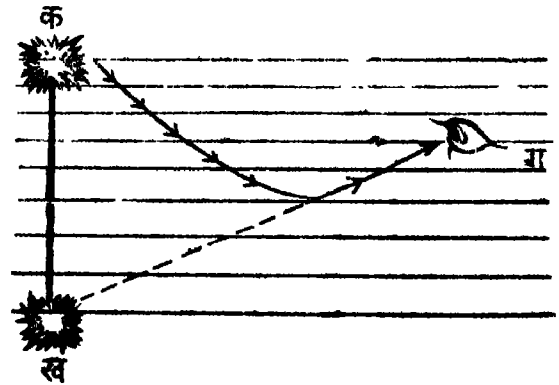
मरीचिका

क. वृक्ष का सिरा, ख. उसका प्रतिबिंब तथा ग. दर्शक की आँख।

अपवर्तक (refracting) होती है। अत किसी सुदूर वस्तु से आनेवाला प्रकाश (जैसे पेड की चोटी से आता हुआ) ज्यों ज्यो हवा की परतो से अपवर्तित होता आता है, त्यो त्यों वह अभिलंब (normal) से अधिकाधिक विचलित (deviate) होता जाता है और अंत मे पूर्णतः परावर्तित हो जाता है। फलत प्रेक्षक वस्तु का काल्पनिक उल्टा प्रतिबिंब देखता है, जैसा चित्र मे दिखाया गया है। [कि० च० च०]

मरुद्गण चारों वेदों में मिलकर मरुद्देवता के मंत्र ४९८ हैं।

मरुत् गणश. रहते हैं अत इनका वर्णन संघशः ही किया जाता है—

१. मरुतों के गणों के लिये हव्य अर्पण करो (मारुताय शर्धाय हव्या भरध्वम, ऋ० ८।२०।९)। २. मरुतों के गणों का वंदन करो (वंदस्व मारुत गणम्, ऋ० १।३८।१)। ३. मरुतों के गणों को नमन करो (मारुतं गणं नमस्य, ऋ० ५।५२।१३)। ४. मरुत अपने गणों में शोभते हैं (गणश्रियः मरुतः, ऋ० १।६४।९)। ५. मरुतों का बलवान् गण संरक्षण करता है (त्वेषा गणः अभिता, ऋ० १।८७।४)।

सब मरुत् समान रहते हैं। सब मरुत् देखने में एक जैसे रहते हैं—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदो

अमध्यमासो महसा विवावृधु । (ऋ० ५।५९।६)

वे मरुत् श्रेष्ठ नहीं, कनिष्ठ नही और मध्यम भी नही होते। वे सब एक जैसे होते हैं और वे अपनी महती शक्ति से बढ़ते रहते हैं।

उन मरुतों के सिर पर हिरण्मय शिरस्त्राण होता है। (ऋ० ५।५४।७७)।

समान गणवेश

सब मरुतों का गणवेश समान रहता है।

'१. इनके गणवेश समान रीति से शोभते है। २. इनकी छाती पर पदक और गले मे मालाएँ चमकती हैं। ३ इनके पाँवों में भूषण और छाती पर पदक आभूषण से दीखते हैं—(ऋ० ५।५४।११)।

सब मरुतों के शस्त्रास्त्र समान रहते हैं।

कंधों पर भाले और हाथों मे अग्नि के समान तेजस्वी शस्त्र रहते हैं। अपने हाथों में वे कुठार और धनुष रखते है। हाथों मे चाबुक धारण करते है।

मरुतों के रथ

१. मरुत् अपने रथों मे घोड़े जोतते है। २ रथो मे धब्बोंवाली हिरनियाँ जोतते हैं। ३ उनके रथ को हिरन खीचता है (ऋ० २।३४, ८।७, १।३९)।

मरुतों का रथ बिना घोडो के भो चलनेवाला था। किसी पशु पक्षी के जोतने के बिना वह चलता था।

'हे मरुतो! तुम्हारा रथ (अन्-एन.) निर्दोष है. (अन्-अश्व) इसमे घोड़े नही जोते जाते, तथापि वह (अजति) चलता है। वह रथ (अ-रथी) रथी बिना भी चलता है। (अन्-अवस) रक्षक की जिसको जरूरत नही है, (अन् अभीशु) लगाम भी नही है, ऐसा तुम्हारा रथ (रजस्तू) धूलि उडाता हुआ (रोदसी पथ्या) आकाश मार्ग से (साधन् याति) अपना अभीष्ट सिद्ध करता हुआ जाता है।' आशय यह कि मरुतो के चार प्रकार के रथ थे—(१) अश्व रथ, (२) हरिणियो से चलनेवाला रथ, (३) अनश्व रथ अर्थात घोडे के बिना वेग से चलनेवाला रथ, (४) आसमान मे (रोदसी) उड़नेवाला रथ अर्थात् वायुयान (ऋ० ६।६६ ७)

शत्रु पर आक्रमण

मरुत् देवो के सैनिक थे अत: उनके लिये शत्रु पर हमला करना आवश्यक होता था।

मरुत् मनुष्य थे इस विषय मे वेद के वचन देखिए।

मरुतों के गुण

मरुत् ज्ञानी हैं (प्रचेतस मरुत)। वे दूरदर्शी हैं ('दूरे दृश')। वे कवि हैं—(कवय. मरुत:)। मरुत अत्यंत कुशल, उत्तम सैनिक हैं। मरुत् उग्र हैं (उग्रा: मरुत:)। शत्रु को जड मूल से उखाड़कर फेंकनेवाले मरुत् हैं (सुमाया मरुत)।

स्थिर शत्रु को भी अपनी शक्ति से ये मरुत् स्थानभ्रष्ट करते हैं। (ऋ० १।८५।४)।

एक पंक्ति में सात—मरुत् अपनी पंक्ति मे ही रहते थे। यह इनकी पक्ति सात की होती थी। ऐसी सात पंक्तियों का एक गण होता था। अत: कहा है—

१. गणशो हि मरुत। (ताड्य ब्रा० १९।१४।२)

२. मरुतो गणानां पतय.। (तै० ब्रा० ३।११।४।२)

३ सप्त गणा वै मरुत। (तै० ब्रा० १।६।२।३)

मरुतों का संघ होता है, अर्थात् मरुत् गणश. रहते हैं। मरुतो का गण सात सात का होता है। इस कारण उनको 'सप्ती' कहते हैं :

पार्श्व रक्षक		मरुतो का एक गण		पार्श्वरक्षक

• • • • • • • • •
• • • • • • • • •
• • • • • • • • •
• • • • • • • • •
• • • • • • • • •
• • • • • • • • •
• • • • • • • • •

सात सात सैनिकों की सात पक्तियो मे ये ४९ रहते हैं। और प्रत्येक पंक्ति के दोनो ओर एक एक पार्श्व रक्षक रहता है। अर्थात् ये रक्षक १४ होते हैं। इस तरह सब मिलकर ४९ + १४ = ६३ सैनिकों का एक गण होता है। 'गण' का अर्थ 'गिने हुए सैनिको का संघ' है। इन मरुतो के संघ इस तरह ६३ सैनिको के होते थे।

मरुतों के विमान

मरुतों के विमान भी होते थे, जैसा ऊपर कह चुके हैं।

हे मरुतो! तुम अंतरिक्ष से हमारे पास आओ। (ऋ० ५।५३।८) अंतरिक्ष से सचार करनेवाले आकाशयान उनके पास थे।

मरुतों का स्तोता अमर होता है।

ये मरुत मानव थे।

आप मनुष्य हैं पर आपकी स्तुति करनेवाला अमर होता है। आप रुद्र के मनुष्य रूपी पुत्र हैं। (ऋ० १।३८।४, १।६४।२)।

इस तरह वेद मे मरुतो का वर्णन 'सनिकीय गण' के रूप मे किया गया है। वह देखने योग्य और राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने योग्य है।

मर्केटर प्रक्षेप (Mercator's Projection) मानचित्रण के हेतु किए गए प्रक्षेपो (projections) का निम्नलिखित दृष्टिकोणों से वर्गीकरण किया जा सकता है: (१) व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थात् संदर्श (perspective, जो ज्यामितीय विधि है) अथवा विश्लेषी (analytical) प्रक्षेप; (२) जिस विकासनीय पृष्ठ पर चित्रण किया जाय उसके प्रकार के अनुसार अर्थात् समतलीय (plane), शंकु (conical) अथवा बेलनाकार (cylindrical) प्रक्षेप (३) प्रक्षेप के प्रधान गुणधर्म के अनुसार अर्थात् अनुकोण (conformal, लघु क्षेत्र के यथार्थ चित्रण वाला), समक्षेत्रफली, (equal area), अथवा दिगंशीय समदूरस्थ (azimuthal equidistant) प्रक्षेप। कोई विशेष प्रक्षेप इनमे से कई वर्गोंवाला हो सकता है और सुविधानुसार उसका नाम रख दिया जाता है। नौचालन मे विशेषोपयोगी होने के कारण मर्केटर प्रक्षेप प्राचीन और सर्वाधिक सुविदित है। इसकी खोज मर्केटर नाम से विख्यात गर्हार्ड क्रेमर ने

१५६९ ई० में की थी। लोगों की मिथ्या धारणा है कि यह बेलनाकार प्रक्षेप है।

गणितीय विश्लेषण द्वारा प्राप्त यह एक अनुकोण प्रक्षेप है, जिसमें यह गुणधर्म है कि याम्योत्तरों (meridians) का निरूपण समदूरस्थ ऋजुरेखाओं से और किसी भी अक्षांश समांतर (parallel of latitude),λ का निरूपण इन रेखाओं पर लंब और दूरी, a log { tan (¼π + ½ λ) }, पर स्थित रेखा से होता है। सभी याम्योत्तरों से सर्वत्र एक सा कोण बनानेवाला एकदिश नौपथ (rhumbline) इस प्रक्षेप में ऋजुरेखा बन जाता है। इस कारण कुतुबनुमा (compass) के एक ही बिंदु की दिशा में चलनेवाला जहाज सदा एकदिश नौपथ के अनुदिश चलता रहता है।

महासागर नौचालन में दो बिंदुओं के बीचवाली लघुतम दूरी के अनुदिश चलने के लिये बृहत् वृत्त (great circle) पर चलना होगा और ऐसा करने के लिये कुतुबनुमा से बताई गई दिशा में निरंतर परिवर्तन करना होगा। इस असुविधा से बचने के उद्देश्य से बृहत्-वृत्तीय पथ पर समुचित दूरियों पर बिंदु अंकित कर लिए जाते हैं और दो क्रमागत बिंदुओं के बीच की यात्रा एकदिश नौपथ के अनुदिश की जाती है। बृहत्-वृत्त केंद्ररेखीय (gnomonic) चार्ट पर ऋजुरेखा द्वारा निरूपित होता है और वहाँ जिन अक्षांशों पर यह याम्योत्तरों से प्रतिच्छेदन करता है, उन्हें मर्केटर प्रक्षेप पर अंकित करने से अभीष्ट बिंदु नौचालन हेतु मिल जाते हैं। जहाँ नौचालन हेतु मर्केटर प्रक्षेप अपरिहार्य है, वहाँ थल मानचित्रों के लिये यह बेकार है। ध्रुव अक्षांश ९०° वाला समांतर तो अनंतस्थ रेखा से निरूपित होगा; ३०° अक्षांशों से बाहर का क्षेत्र इस प्रक्षेप द्वारा काफी विकृपित हो जाता है और क्षेत्रफलों का मिथ्याभास कराता है। विशेष रूप से ध्रुवों के समीपस्थ क्षेत्रफलों की तुलना के लिये, समक्षेत्रफली प्रक्षेप का आश्रय लेना होगा।

सं० ग्रं० — ए० आर० हिंक्स : मैप प्रोजेक्शंस (१७२२)

[ह० च० गु०]

मर्सरीकरण (Mercerizing) रूई के सूतों या वस्त्रों को जब दाहक सोडा के साथ उपचारित किया जाता है, तब उनमें उत्कृष्ट कोटि की, स्थायी रेशम सी चमक आ जाती है। ऐसे सूतों या वस्त्रों को मर्सरीकृत सूत या वस्त्र कहते हैं तथा मर्सरीकृत होने की प्रक्रिया को मर्सरीकरण कहते हैं। इस प्रक्रिया के आविष्कारक एक अंग्रेज रसायनज्ञ मर्सर थे, जिन्होने इसका आविष्कार १८४४ ई० में किया तथा १८५० ई० मे इसका पेटेंट कराया था। उन्हीं के नाम पर इस प्रक्रिया का नाम मर्सरीकरण पड़ा है। मर्सरीकरण से केवल चमक ही नही आती वरन् लगभग १५ % मजबूती और रंजक ग्रहण करने की क्षमता बढ जाती है। मर्सरीकृत सूत के बने मोजे, बनियाइन, अन्य अंतर्वस्त्र, सीने के धागे, जूते के फीते और वायुयान पंखों के वस्त्र अच्छे होते हैं तथा अन्य अनेक कामों के लिये, जहाँ चमक एवं मजबूती आवश्यक होती है, इससे बनी वस्तुएँ अच्छी समझी जाती हैं।

मर्सरीकरण दाहक सोडा के विलयन के प्रयोग से संपन्न होता है। ऐसे विलयन के उपचार से सूत फूल जाता है। फूलने के पश्चात् सूत का सिकुड़ना स्वाभाविक है, पर उसे सिकुड़ने नहीं दिया जाता। सिकुड़ने से चमक नहीं आती। सूत को खींचकर ऐसे बाँध रखते हैं कि वह सिकुड़े नही। जिस मशीन मे यह क्रिया संपन्न होती है, उसमें दाहक सोडा, सोडा धावन, तनु अम्ल और अम्ल धावन के लिये अलग अलग पात्र होते हैं, जिनके बीच सूत क्रमशः पारित होता हुआ बाहर निकलता है। मशीन के बाहर भी सूत की पुनः धुलाई होती है, ताकि उससे अम्ल का पूर्ण निराकरण हो जाय।

मर्सरीकरण के लिये लंबे रेशेवाली रूई अच्छी समझी जाती है। इकहरी परत के सूत पर मर्सरीकरण से चमक नही आती, पर इससे सूत के रंजक ग्रहण करने की क्षमता अवश्य बढ़ जाती है। दोहरी परत के सूत पर ही चमक आती है। दोहरी परत के सूत का ही सबसे अधिक मात्रा मे मर्सरीकरण होता है।

दाहक सोडा के अतिरिक्त अन्य अभिकर्मक भी मर्सरीकरण के लिये उपयुक्त हो सकते हैं। ऐसे अभिकर्मकों मे सल्फ्यूरिक अम्ल या नाइट्रिक अम्ल भी हैं। पर इनसे रूई के अपघटन होने का भय रहता है। इनके सांद्रण के संबंध मे बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। एक दूसरा अभिकर्मक ट्राइटन बी, या टेट्रा ऐल्किल अमोनियम हाइड्रॉक्साइड, है, जो रूई को मर्सरीकृत करने के साथ घुलाता भी है। पर मर्सरीकरण के लिये सस्ता होने के कारण केवल दाहक सोडा ही बड़े पैमाने पर प्रयुक्त होता है। ऐसा समझा जाता है कि दाहक सोडा के मर्सरीकरण से सेलुलोस, ऐल्कली सेलुलोस बन जाता है। कुछ लोगो का मत है कि यह ऐल्कली सेलुलोस एक अधिशोषण संकर (complex) है। धोने पर यह ऐल्कली पदार्थ अपघटित होकर सूत से निकल जाता है। पुनर्जनित सेलुलोस रसायनत. सामान्य सेलुलोस सा ही होता है, पर ऐसा समझा जाता है कि उसकी आणविक अवस्था मे परिवर्तन अवश्य हुआ है, जिससे उसमे चमक आ गई है।

विलयन मे लगभग १३ से १४ प्रति शत दाहक सोडा पर्याप्त है, पर जैसे जैसे मर्सरीकरण आगे चलता है, सांद्रण मे कमी होती जाती है। अतः मर्सरीकरण के लिये सर्वप्रथम २० से २५ प्रति शत विलयन का उपयोग करना अच्छा होता है। यदि ताप नीचा हो, तो दुर्बल विलयन का भी उपयोग हो सकता है, पर उससे कोई विशेष लाभ नही होता। सोडा के साथ कुछ अन्य पदार्थों के डालने का भी सुझाव दिया गया है। इनमें से कुछ से सूत के फूलने में वृद्धि होती है, पर अधिकांश से फूलने में ह्रास ही होता है।

मर्सरीकरण से रूई के गुणों मे कोई परिवर्तन नही होता। रूई के कुछ गुणों मे वृद्धि अवश्य होती है। अवशोषण गुण २५ से ५० % बढ जाता है। मर्सरीकृत सिकुड़ी रूई में सबसे अधिक अवशोषण क्षमता रहती है। रूई के सुखाने से अवशोषण मे बाधा पहुँचती है। रंजक ग्रहण करने की क्षमता भी कम हो जाती है।

मर्सरीकृत सेलुलोस के लिये परिक्षिप्त सेलुलोस (dispersed cellulose) और सेलुलोस हाइड्रेट आदि नाम भी दिए गए हैं, पर ये नाम ठीक नहीं हैं। मर्सरीकृत रूई का एक्स-रे विवर्तन आरेख (deffraction diagram) सामान्य रूई के एक्सरे विवर्तन आरेख से भिन्न होता है। मर्सरीकृत सूत की पहचान उसके रंजक अवशोषण गुण से हो सकती है। सामान्य सूत की अपेक्षा यह अधिक गाढ़े रंग

में रंगा जाता है। रंगीन मर्सेरीकृत सूत की पहचान नील की (Neal's) बेराइड़ा अवशोषण रीति से की जाती है।

मर्सेरीकृत सूत का उपयोग दिन दिन बढ़ रहा है। आज बहुत बड़ी मात्रा में ऐसे ही सूत के वस्त्र बन रहे हैं। इसका व्यापक व्यवहार गत ६० वर्षों में ही बढ़ा है। [स० व०]

मल और मल निपटारा देखें, जनस्वास्थ्य इंजीनियरी।

मलयालम् भाषा और साहित्य मलयालम् भाषा अथवा उसके साहित्य की उत्पत्ति के संबंध में सही और विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। फिर भी मलयालम् साहित्य की प्राचीनता लगभग एक हजार वर्ष तक की मानी गई है। भाषा के संबंध में हम केवल इस निष्कर्ष पर ही पहुँच सके हैं कि यह भाषा संस्कृतजन्य नहीं है—यह द्रविड़ परिवार की ही सदस्या है। परंतु यह अभी तक विवादास्पद है कि यह तमिल से अलग हुई उसकी एक शाखा है, अथवा मूल द्रविड़ भाषा से विकसित अन्य दक्षिणी भाषाओं की तरह अपना अस्तित्व अलग रखनेवाली कोई भाषा है। अर्थात् समस्या यही है कि तमिल और मलयालम् का रिश्ता माँ बेटी का है या बहन बहन का। अनुसंधान द्वारा इस पहेली का हल ढूँढने का कार्य भाषा-वैज्ञानिकों का है और वे ही इस गुत्थी को सुलझा सकते हैं। जो भी हो, इस बात में संदेह नहीं है कि मलयालम् का साहित्य केवल उसी समय पल्लवित होने लगा था जबकि तमिल का साहित्य फल फूल चुका था। संस्कृत साहित्य की ही भाँति तमिल साहित्य को भी हम मलयालम् की प्यास बुझानेवाली स्रोतस्विनी कह सकते हैं।

रामचरितम् काव्य

मलयालम् साहित्य के इतिहास का प्रभात गीतों से गुंजायमान है। इनमें भक्ति, वीररस और हास्यरस के गीतों के साथ साथ प्रौढ़ काव्य भी विद्यमान हैं। इन प्रौढ़ रचनाओं में 'रामचरितम्' का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा तमिल के इतने निकट है कि चंद तमिल विद्वान् इसे तमिल की रचना समझ बैठे, परंतु आज यह निस्संदेह सिद्ध हो चुका है कि रामचरितम् मलयालम् काव्य है और उसका रचयिता भी केरलवासी है। इसकी विषयवस्तु रामायण के लंकाकांड की कथा है। केरल के चीरामन नामक कवि ने इसकी रचना की है। अनुसंधानकर्ताओं का यही मत है कि रामचरितम् का रचनाकाल १३वीं शताब्दी है।

पहली से आठवीं सदी ईसवी तक की अवधि में चेर राज्य में, जो आगे चलकर केरल बना, अनेक सुप्रसिद्ध तमिल रचनाओं का जन्म हुआ है। 'चिलप्पतिकारम्' इत्यादि उच्च कोटि के काव्यों का उदाहरण हम ले सकते हैं। परंतु रामचरितम् को इस कोटि में, अर्थात् केरलवासी द्वारा रचित तमिल रचनाओं में गिनना भ्रामक होगा। रामचरितम् की रचना उस काल में हुई थी जब संस्कृत का प्रसार केरल में जम चुका था और मणिप्रवालम् नामक मिश्र भाषा विकसित हो रही थी। रामचरितम् में संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। परंतु द्रविड़ अक्षरों द्वारा लिखे जाने के कारण इनके रूपों में थोड़ा परिवर्तन आया है।

मणिप्रवाल साहित्य

सातवीं सदी ईसवी से लेकर आगे कुछ समय तक केरल के सांस्कृतिक क्षेत्र में आर्यवंशज नंपूतिरियों का काफी प्रभाव रहा। अधिकतर अनुसंधाताओं का यही मत है कि वे बहुत पहले ही केरल में आ चुके थे। इन्हीं के प्रभाव से केरल में मणिप्रवालम् नामक मिश्र भाषा का विकास हुआ। १०वीं और १५वीं सदी ईसवी के मध्य मणिप्रवाल साहित्य की अत्यधिक पुष्टि हुई। इसी मणिप्रवाल के माध्यम से संस्कृत के अनेक काव्यरूपों का संक्रमण मलयालम् में हुआ। चंपू काव्य, संदेश काव्य इत्यादि का उदाहरण हम ले सकते हैं। 'उण्णियच्ची चरितम्', 'उण्णिच्चिरुतेवीचरितम्', और उण्णियाडी 'चरितम्' प्राचीन मणिप्रवाल चंपू हैं। उण्णियच्ची चरितम् का रचनाकाल १४वीं सदी का पूर्वार्ध है। उण्णियाटीचरितम् ११५० ई० के आसपास लिखा गया और उसका रचयिता है दामोदर चाक्यार। उण्णियच्ची चरितम् का रचयिता तेवन चिरिकुमार नामक कवि माना जाता है। उण्णिच्चिरुतेवी चरितम् को इन्हीं का समकालीन माना जाता है। परंतु यह किस कवि की रचना है, इस संबंध में कोई जानकारी नहीं है। जैसा इनके नामों से विदित होता है, इनकी विषयवस्तु कुछ विख्यात सुंदरियों की प्रशस्ति है।

संदेश काव्यों में 'उण्णुनीलीसंदेशम्' और 'कोकसंदेशम्' महत्वपूर्ण हैं। ऐसा माना जाता है कि दोनों का रचनाकाल १४वीं शताब्दी है। इनके रचयिता कवियों के संबंध में कुछ पता नहीं है।

१०वीं और १५वीं सदियों के बीच कुछ लघु मणिप्रवाल कृतियों की भी रचना हुई। इनमें से अधिकतर कुछ विलासवती सुंदरियों से संबद्ध शृंगाररस की रचनाएँ हैं। इलयच्चि, चेरियच्चि, उत्तराचंद्रिका, कोण्णेरारा, मल्लीनिलाव, मारलेखा इत्यादि नायिकाओं का वर्णन इनमें सम्मिलित है, 'वैशिकतंत्रम्' एक वेश्यापुत्री को दिए गए कुलधर्मोपदेश का संग्रह है; इसका रचनाकाल संभवतः ११वीं शताब्दी है। भक्तिप्रधान रचनाएँ भी मणिप्रवाल साहित्य में मिलती हैं। अनंतपुरवर्णनम्, श्रीकृष्णस्तवम्, दशावताररचरितम् इत्यादि इनके उदाहरण हैं। चंद्रोत्सवम् १५वीं सदी के एक अज्ञातनामा कवि की रचना है। 'मेदिनीवेण्णिलाव' नामक गणिका द्वारा मनाए गए चंद्रोत्सव का वर्णन इसकी विषयवस्तु है।

मणिप्रवाल साहित्य के प्रसार ने उस भाषारूप के व्याकरण नियमों एवं साहित्यिक लक्षणों का विवरण देनेवाले एक शास्त्रग्रंथ की रचना की प्रेरणा दी। इस ग्रंथ का नाम है 'लीलातिलकम्'। यह अनुमान किया जा सकता है कि 'लीलातिलकम्' १४वीं सदी में लिखा गया है।

यदि एक तरफ मणिप्रवाल साहित्य का विकास होता गया तो दूसरी तरफ 'पाट्टु' (गीत) नामक काव्यशाखा की भी वृद्धि होती गई। जैसा ऊपर कहा गया है, इस शाखा में धार्मिक एवं खेती और अन्य पेशों से संबद्ध अनेक लोकगीत हैं। तोररम् पाट्टु (अवतारगीत — कालीस्तुति), सर्पम् पाट्टु (सर्पस्तुति गीत), अय्यप्पन् पाट्टु (अय्यप्पन् देवता का स्तुतिगीत) इत्यादि का संबंध आचार मर्यादाओं और धार्मिक विषयों से है। कृषिप्पाट्टु (कृषि-

गीत), भारतपाट्टु (धान के पौधे लगाते वक्त गाया जानेवाला गीत), वल्लप्पाट्टु (नौका गीत) इत्यादि दूसरे वर्ग में आते हैं। इन गीतों के मूल घटक हैं — स्वर, ताल और लय।

प्रौढ़ गीत लोकगीतों से भिन्न हैं। उपरिलिखित 'रामचरितम्' ही इस विभाग में सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। लीलातिलकम् में प्रौढ़ पाट्टु काव्य के लिये दी गई परिभाषा इसमें ठीक बैठती है। बाद में लिखे गए 'निरणम्' गीतों मे प्रयुक्त शब्द केवल द्राविड़ अक्षरों के बने हुए नहीं हैं। इनमें ऐसे संस्कृत पदों की भरमार है जिनसे यह पता चलता है कि संस्कृत के अक्षरों का पर्याप्त प्रचार इस समय तक हो चुका था। इस मत को मान्यता मिली है कि निरणम् गीत १४वी सदी के उत्तरार्ध और १५वी सदी के पूर्वार्ध के बीच लिखे गए हैं। रामचरितम् और निरणम् गीतों के कालों में एक या डेढ़ शताब्दियों से अधिक का अंतर नहीं है। फिर भी इन दोनों के बीच का भाषा संबंधी अंतर अत्यधिक स्पष्ट है। इससे यह अनुमान होता है कि यद्यपि रामचरितम् के समय में मणिप्रवाल विकसित हो चुका था तथापि इस काव्य में जान बूझकर केवल तमिल के अक्षरों द्वारा लिखे जाने योग्य पदावली का प्रयोग किया गया था।

निरणम् कवि तीन हैं — माधव पणिक्कर, शंकर पणिक्कर और राम पणिक्कर। माधव पणिक्कर द्वारा अनूदित भगवद्गीता ने भाषा को गौरवान्वित किया—भारत की प्रादेशिक भाषाओं मे रचित गीता-नुवादों में यही सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख है। इसमें सात सौ श्लोकों का भाषांतरण ३२८ गीतों मे हुआ है। गीता का आशयगांभीर्य और महत्ता का अनुवाद में लेशमात्र भी लोप नहीं हुआ है। शंकर पणिक्कर की रचना 'भारतमाला' नामक गानकाव्य है। राम पणिक्कर ने रामायण, भारत और भागवत का संक्षिप्त अनुवाद किया। यह कथन गलत नही होगा कि मलयालम् को अपने पाँव पर खड़े होने का बल प्रदान करनेवाले इसी कवि को भाषा का पिता माना जा सकता है—यद्यपि इतिहासकारों की दृष्टि में तुंचत्त एषुत्तच्छन इस उपाधि के अधिकारी हैं; मेरे विचार में कण्णश्शन् के नाम से विख्यात इस राम कवि को उपर्युक्त पदवी प्रदान करने मे एषुत्तच्छन को हर्ष ही होगा, क्योंकि एषुत्तच्छन के आचार्यपद के भी वे पात्र हैं।

उपर्युक्त सारे काव्य पुराणकथाओं के पुनराख्यान हैं। परंतु पंद्रहवीं शताब्दी मे आविर्भूत 'कृष्णगाथा' केवल पुराण का पुनराख्यान मात्र नही है। इसमे भागवत के दशम स्कंध मे वर्णित कृष्णगाथा का अन्वाख्यान इस प्रकार साधित हुआ है कि संस्कृत महाकाव्यों का रूप-शिल्प मंजरी छंद मे—जो द्राविड छंदों के परिणत प्रकारों मे से एक है—अवतरित हुआ है। अत कृष्णगाथा को मलयालम् का सर्वप्रथम स्वतंत्र महाकाव्य मान सकते हैं। ऋतुओं के कवि के नाम से प्रख्यात कृष्णगाथाकार ने प्रकृतिवर्णनों द्वारा नूतन सौंदर्य प्रपंचों का साक्षात्कार कराया। सुरीली गानविधा, ललित और कोमल पदावली, चिरनूतन कल्पनाएँ—इनके कारण कृष्णगाथा एक संमोहनकारी रचना बन गई है।

प्रसिद्ध कवि एषुत्तच्छन्

पाट्टु शाखा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विभाग 'किलिप्पाट्टु' है। तुंचत्त एषुत्तच्छन को इस विधा का संस्थापक मानते हैं। इसमें 'किलि' अर्थात् तोते की जबानी कथाख्यान होता है, इसलिये इसे किलिप्पाट्टु कहते हैं। एषुत्तच्छन् का काल १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। उस जमाने में केरल एक प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक शिथिलता का अनुभव कर रहा था। इस अधःपतन से केरल का अभ्युत्थान कराने के हेतु अवतरित दिव्य पुरुष के रूप में ही केरल की जनता आज भी एषुत्तच्छन् को मानती है। उन्होंने भक्ति के उद्बोधन से जनता को प्रबुद्ध किया। नामदेव, कबीर, चैतन्य, सूरदास, तुलसी-दास, माणिक्कवाचकर, कंबर इत्यादि भक्त कवियों से भास्वर नभो-मंडल में केरल की दिशा से उदित तारक एषुत्तच्छन हैं। उन सबकी भाँति एषुत्तच्छन् भी जनता को जाग्रत एवं उद्बुद्ध करने में सफल हुए। रामायण, भारत और भागवत, इन तीनों के संक्षिप्त अनुवाद के माध्यम से एषुत्तच्छन् ने समस्त केरलवासियों के हृदयों में सीधे प्रवेश पाया। केरली को एक नूतन गरिमा, गंभीरता, शालीनता और स्वाव-लंबन प्राप्त हुआ। इसी अर्थ में एषुत्तच्छन् को मलयालम् साहित्य का पिता मानते हैं। वे ही ऐसे कवि हैं जो झोपड़ियों और महलों में समान रूप से समादृत हैं।

पाट्टु विभाग में दूसरा भक्तिप्रधान गानकाव्य 'पूंतानम्' की 'ज्ञानप्पाना' है। पूंतानम् के अन्य स्तोत्र भी ललित, कोमल और भक्ति-सुधा से ओतप्रोत हैं।

इस विभाग की अन्य उल्लेनीय रचनाएँ कुछ लोकगीत और 'वटक्कन पाट्टु' (उत्तरी गीत) तथा 'तेक्कन पाट्टु' (दक्षिणी गीत) के नामों से विख्यात कुछ आख्यानात्मक गान काव्य हैं। जैसा नामों से विदित होता है, ये गीत क्रमशः उत्तर और दक्षिण केरल की वीर-गाथाएँ हैं। उत्तरी गीतों की भाषा आधुनिक मलयालम् से मिलती जुलती है, परंतु दक्षिणी गीतों में भाषा का तमिल से सामीप्य अधिक है। १६ वीं और १८ वीं सदियों के बीच रचे गए दक्षिणी गीतों में तमिल का प्रभाव संभवतः दक्षिण केरल के तमिल प्रदेशों के साथ निकट संपर्क को ही सूचित करता है, न कि भाषा के स्वतंत्र विकास के अभाव को। दक्षिण के कवि द्विभाषा (तमिल और मलया-लम्) के विद्वान् थे।

मणिप्रवाल आंदोलन के अंतर्गत चंपू काव्यों का दूसरा चरण १५वीं शताब्दी में पुनः दर्शनीय है। यद्यपि इस काल में तीन सौ से भी अधिक चंपू काव्य रचे गए तो भी इनमें पुनम् नंपूतिरि का रामायण और मषमंगलम् नारायणन् नंपूतिरि का भाषानैषध इत्यादि चंपू ही विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पुनम् का काल १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अथवा १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होना चाहिए। नैषधचंपूकार का काल १६ वीं शताब्दी का मध्य है। यद्यपि विकास-क्रम के अनुसार उत्तम मणिप्रवाल में मलयालम् की ही प्रमुखता होनी चाहिए थी, फिर भी इन चंपुओं में संस्कृतप्रधान भाषा ही अपनाई गई है। ऐसी स्थिति पैदा हुई कि अधिकांश चंपुओं को समझने के लिये संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य हो गया। इस कारण मणिप्रवाल साहित्य सामान्य जनता से दूर होता गया।

नृत्यकलारूप—कृष्णनाट्टम, रामनाट्टम

आट्टक्कथा नृत्यकला से संबद्ध साहित्य विभाग है। इस कलारूप

का नाम 'कथकली' है। आट्टक्कथा मलयालम् की एक विपुल साहित्य-शाखा है। आज कथकली को अंतरराष्ट्रीय संमान प्राप्त है। इस कला-रूप को यह स्थिति प्रदान करने में इसके आधारभूत साहित्य ने महान् योगदान दिया है।

१७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कोषिक्कोट के मानवेद राजा ने 'कृष्णगीति' नामक संस्कृत काव्य की रचना की। इसके आधार पर 'कृष्णनाट्टम्' नामक नृत्यकला का भी आविर्भाव हुआ। इसमें श्रीकृष्ण की कथा का आठ दिनों में अभिनय करने की योजना बनाई गई।

कृष्णनाट्टम् की देखा देखी 'रामनाट्टम्' नामक दूसरे नृत्यकला-रूप का भी आविष्कार किया गया। इस कला-रूप के आधारभूत साहित्य में रामकथा को आठ रात में खेलने योग्य खंडों में विभक्त किया गया। इसके रचयिता कोट्टारक्करा के राजा हैं। इनके जीवनकाल के संबंध में दो मत हैं। कुछ लोग इन्हें सत्रहवीं शताब्दी के मानते हैं, दूसरे १५-१६ वीं शताब्दी के। रामनाट्टम् में आज की कथकली का प्रारूप दर्शनीय है।

कोट्टयम् के राजा ने, जिनका जीवनकाल १७वीं सदी का अंतिम चरण माना जाता है, रामनाट्टम का संशोधन और परिष्करण करके कथकली के आधुनिक रूप का विकास किया। इनकी रचनाएँ चार हैं—सभी महाभारत के उपाख्यानों पर आधारित हैं। कार्तिक तिरुनाल्, अश्वति तिरुनाल् (अर्थात् इन नक्षत्रों के दिन जात) इत्यादि राजाओं ने भी आट्टक्कथाएँ रची हैं। जैसे नाटकों में शाकुंतल श्रेष्ठ है, उसी प्रकार आट्टक्कथाओं में सर्वोत्तम कृति उण्णायि वारियर रचित 'नलचरितम्' है। नलचरितम् चार रातों में अभिनेय है। कुछ विद्वान् उण्णायि वारियर को १६वीं शताब्दी के अंतिम और १७वीं शताब्दी के प्रथम पाद का मानते हैं तो दूसरे १७वीं १८ वीं सदियों के संध्य आद्य पाद के। इस प्रतिभावान् कवि ने आट्टक्कथाओं के लिये एक अमोघ पथ का उद्घाटन किया। उच्छृंखल पद-योजन-शैली, अकुंचित कल्पनावैभव और गंभीर जीवन-दर्शन-पटुता से यह कवि अनुगृहीत है।

'गिरिजाकल्याणम्' नामक गीत प्रबंध को भी कुछ विद्वान् उण्णायि वारियर रचित मानते हैं। इसकी रचना किलिप्पाट्टु के छंदों में अनुप्रासयुक्त शैली में हुई है।

तुल्लल् साहित्य उद्‌भावक कुंचन नंप्यार

१८वीं सदी के ऊषाकाल में एक महान् तेजपुंज का उदय हुआ—तुल्लल्-साहित्य के उपज्ञाता कुंचन नंप्यार का। संभव है, तुल्लल् जैसे कलारूप पहले भी रहे हों। परंतु इसमें संदेह नहीं कि इसी प्रतिभाशाली कवि ने तुल्लल् को एक आंदोलन के रूप में विकसित किया। एक प्रकार से तुल्लल् को नृत्यात्मक एकाभिनय कह सकते हैं। तुल्लल् गीत इसका आधारस्वरूप साहित्य है। नंप्यार ने तुल्लल् गीतों के कथानक के रूप में पुराणों के उपाख्यान ही लिए हैं। फिर भी वर्णनों में आनेवाला वातावरण पौराणिक न होकर केरल के समसामयिक जनजीवन से मेल खानेवाला है। नंप्यार ने पौराणिक इतिवृत्तों के माध्यम से तत्कालीन जीवन की वैयक्तिक और सामाजिक विकलताओं पर तीखे व्यंग्यबाण चलाए हैं। इनके इस परिहास की तेज धार का लक्ष्य समाजशरीर के व्रणों की चीर फाड़ करना था। तुल्लल् साहित्य में सटायर विधा का अत्यधिक संपन्न काव्यालोक दर्शनीय है। इस विषय में कोई भी इनके समक्ष नहीं आता, न इनके पहले, न बाद में। यदि परिहास को सफल बनाना है तो सूक्ष्म, निर्मम और व्यापक मर्मबोध अपेक्षित है। यह सिद्धि प्रचुर मात्रा में होने के कारण नंप्यार का हास्य आदर्श है। उनके हास्य और मर्मोक्तियों में विद्वेष की ज्वाला नहीं चुभती, वरन् हार्दिक सहानुभूति और मानव प्रेम का चैतन्य ही स्फुरित होता है।

पाट्टु शाखा की एक अन्य महत्वपूर्ण रचना १८वीं सदी के पूर्वार्ध (१७०३-१७६३) के कवि रामपुरम् वारियर का 'कुचेलवृत्तम्' वञ्चिप्पाट्टु (नौकागीत) है।

शुरू शुरू में मलयालम् में गद्य साहित्य की खास प्रगति नहीं हुई थी। १०वीं या ११वीं शताब्दी में लिखित 'भाषाकौटलीयम्' कूटियाट्टम् के अभिनय के लिये दिग्दर्शन देनेवाली 'आट्टप्रकारम्' नामक ग्रंथपरंपरा, १४वीं शताब्दी का 'दूतवाक्यम् गद्य, उसी शताब्दी का 'ब्रह्मांडपुराणम्' गद्य, 'अंबरीषचरितम्', देवीभागवतम्' इत्यादि गद्य—इन सभी को गद्य साहित्य के लिये प्राचीन काल की देन मान सकते हैं। तद्देशीय ईसाई धर्मप्रचारकों ने कुछ गद्य ग्रंथ १६वीं, १७वीं तथा १८वीं सदियों में लिखे हैं। इनमें सक्षेप वेदार्थम्' 'वेदतर्कम्' इत्यादि सम्मिलित हैं। 'वर्तमानप्पुस्तकम्' सर्वप्रथम यात्रा-साहित्य (१८वीं सदी का अंत) है।

कुंचन नंप्यार के बाद कुछ समय तक की अवधि मलयालम् के लिये अंधकारमय है। करीब आधी शताब्दी तक की इस अवधि में किसी ज्योति का उदय नहीं हुआ। बाद में स्वाति तिरुनाल (राजा) के युग का सुप्रभात हुआ। इरयिम्मन तंपि (१७८३-१८५६) किलिमानूर कोयित्तंपुरान इत्यादि आट्टक्कथाकारों ने स्वातितिरुनाल् का प्रश्रय पाया। स्वाति तिरुनाल स्वयं कवि थे और उन्होंने हिंदी में भी गीत लिखे थे।

नाटक, महाकाव्य, तथा उपन्यास

इसके बाद केरल वर्मा कोयित्तंपुरान के काल (१८४५) से मलयालम् साहित्य के आधुनिक युग का प्रारंभ हो जाता है। साहित्य-सार्वभौम की उपाधि से विभूषित इस प्रतिभाशाली लेखक के नेतृत्व में साहित्य में एक नवजागरण आ गया। 'मयूरसंदेशम्' नामक संदेश काव्य, 'शाकुंतलम्' नाटक का अनुवाद और अकबर नामक उपन्यास उनकी रचनाओं में मुख्य हैं। उनके शाकुंतल अनुवाद के साथ मलयालम् में संस्कृत नाटकों के अनुवादों की बाढ़ सी आई। चात्तुक्कुट्टि मन्नाडियार, कुंजिक्कुट्टन तंपुरान, कोट्टारत्तिल शंकुण्णि इत्यादि ने इस शाखा की पुष्टि की। संस्कृत नाटकों की ही तरह के स्वतंत्र मलयालम् नाटक भी लिखे गए। केरल वर्मा के भागिनेय राजराज वर्मा ने भी कालिदास आदि के ग्रंथों का अनुवाद किया। इन्हीं राजराज वर्मा ने मलयालम् को 'केरलपाणिनीयम्' नामक व्याकरण ग्रंथ और 'वृत्तमंजरी' नामक छंदशास्त्र ग्रंथ प्रदान किया था। ये भी अपने मातुल की तरह सबके लिये प्रेरणास्रोत और मार्गदर्शक रहे। उस जमाने में द्वितीयाक्षर प्रास (श्लोक की प्रत्येक पंक्ति के दूसरे अक्षर में आवर्तित होनेवाला अनुप्रास) के पक्षपातियों और विरोधियों में जो घोर विवाद छिड़ गया था उसके प्रवर्तक क्रमशः ये मातुल भागिनेय

थे। इस विवाद में स्वच्छंदतावाद के 'रूप से भाव की ओर' वाले आंदोलन की पहली गूँज सुनाई देती है।

इसी अवधि में संस्कृत के महाकाव्यों के अनुकरणों के रूप में मलयालम् महाकाव्यों की रचना हुई थी। कृष्णगाथा के बाद मणिप्रवाल में एक महाकाव्य — 'श्रीकृष्णचरितम्' — की रचना हुई (अधिकांश विद्वान् इसे कुंचन नंप्यार की रचना मानते हैं)। इस महाकाव्य के बाद अनुकरणात्मक महाकाव्यों के युग का आरंभ होने तक कम से कम एक शताब्दी बीती होगी। अयकरा पद्मनाभ कुरुप का 'रामचंद्रविलासम्', पंतलम् केरल वर्मा का 'रुग्मांगदचरितम्' और 'विजयोदयम्', उल्लूर का 'उमाकेरलम्', वल्लत्तोल् का 'चित्रयोगम्', के० सी० केशव पिल्ला का 'केशवीयम्', कोटुङ्ङल्लूर कोच्चुण्णि तंपुरान का 'वंचीशवंशम्' और 'पांडवोदयम्', वटक्कुमकूर राजराज वर्मा का 'रघुवीरविजयम्' और 'राघवाभ्युदयम्', कट्टक्कयम् चेरियान माप्पिला का 'श्रीयेशुविजयम्', इत्यादि मलयालम् के प्रमुख महाकाव्य हैं। ये १९०२ एवं १९१७ के बीच लिखे गए थे।

गद्य-साहित्य में उपन्यासों का उदय भी उन्नीसवीं सदी में केरल वर्मा युग में ही हुआ था। प्रथम उपन्यास अप्पु नेटुङ्ङाटि लिखित 'कुंदलता' है। एक दो साल में (१८८९ में) चंतु मेनन ने इंदुलेखा का प्रकाशन किया। चंतु मेनन ने 'शारदा' नामक उपन्यास का प्रथम भाग लिखा—और दूसरे भाग की रचना करने के पहले ही स्वर्ग सिधार गए। इंदुलेखा और शारदा आज भी मलयालम् के सामाजिक उपन्यासों की प्रथम श्रेणी में स्थित हैं। सामाजिक उपन्यासकारों में चंतु मेनन की प्रतिभा अद्वितीय है।

तीन ऐतिहासिक उपन्यासों 'मार्तंड वर्मा' (१८९१) 'धर्मराजा' (१९१३) और 'रामराजा बहादुर' (१९१७–२०) के लेखक सी० वी० रामन पिल्ला ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके सामाजिक उपन्यास 'प्रेमामृतम्' का महत्व इतना अधिक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके जीवन का उद्देश्य ही ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा मलयालम् की गरिमा बढ़ाने का था।

केरल वर्मा के समसामयिक कवियों में बहुत से रसिक कवि थे। पूतोट्टम् नंपूतिरि, वेण्मणि पिता और पुत्र, कोटुङ्ङल्लूर कुञ्ञिक्कुट्टन तंपुरान्, कोच्चुण्णि तपुरान् इत्यादि कवियों ने मिलकर एक नूतन काव्यरूप को जन्म दिया। ये सभी सरल भाषा के प्रयोग में तत्पर थे। इस प्रवृत्ति का विकास 'पच्च मलयालम्' (शुद्ध और संस्कृत से मुक्त भाषा) आंदोलन के रूप में हुआ। कुञ्ञिक्कुट्टन् तंपुरान्, (नल्ल भाषा—अच्छी भाषा), कुंदूर नारायण मेनन् (नालु भाषा-काव्यङ्ङल्—चार भाषा काव्य) इत्यादि इस प्रकार के भाषाप्रयोग में निपुण थे। परंतु खेद है कि 'पच्च मलयालम्' आंदोलन समय से पहले ही समाप्त हो गया। फिर भी वेण्मणि आदि कवियों द्वारा अपनाई गई काव्यशैली और दृष्टिकोण ने आगे के कवियों पर अपना प्रभाव डाला है। मणिप्रवाल काल की शृंगार प्रवृत्ति ने इनकी कविता में नए रूप में प्रवेश पाया। इस आंदोलन के शिखरस्थ कवि कुञ्ञिक्कुट्टन् तपुरान इसलिये युगविभूति नहीं माने गए हैं कि उन्होंने शुद्ध मलयालम् मे कुछ कविताएँ लिखी हैं; परंतु उसका कारण यह है कि अपने लघु जीवनकाल के मात्र दो सालों के ऊपर की अवधि में उन्होंने एक ऐसा चमत्कार कर दिखाया जो पुरुषसाध्य नहीं माना जा सकता। यह महान् कवि इस छोटे अर्से में संपूर्ण महाभारत का मलयालम् में छंदशः और पद्यशः अनुवाद करने में सफल हुए। जिस कार्य को संपन्न करने में तेलुगु में तीन पीढ़ियों की साधना की आवश्यकता पड़ी थी उसको पूरा करने में इस कवि ने तीन साल भी नहीं लगाए! उनके मुख से कविता की धारा प्रवाहित होती थी, यह नहीं कि वे कविता 'लिखते' थे। उनकी 'सरस-द्रुत-कवि-किरीट-मणि' की उपाधि उनके लिये सर्वथा सार्थक थी। उनको 'केरल व्यास' कहना भी उचित ही था।

स्वच्छंदतावादी आंदोलन

अब हम मलयालम् के स्वच्छंदतावादी आंदोलन (अर्थात् रोमांटिसिज्म, जो मलयालम् में काल्पनिक प्रस्थानम् के नाम से प्रसिद्ध है) के युग में आ जाते हैं। वी० सी० बालकृष्ण पणिक्कर का 'ओरु विलापम्' (१८९५) इत्यादि इस प्रसंग मे स्मरणीय हैं। परंतु कुमारन् आशान् का 'वीण पूवु' (पतित कुसुम) ही इस आंदोलन की प्रारंभिक रचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मलयालम् का स्वच्छंदतावाद आशान् की कविताओं के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुआ। नलिनि, लीला, चिंताविष्टयाय सीता, चंडालभिक्षुकी, प्ररोदनम्, दुरवस्था, करुणा इत्यादि इनकी मुख्य रचनाएँ हैं। आशान् जिस काव्य प्रपंच को अनावृत्त करने मे सफल हुए वह गंभीर दार्शनिकता, जीवनदर्शन का अदम्य कौतूहल, और तीव्र भावविभोरता से भास्वर है। आशान् ही वह कवि थे जिन्होंने शृंगार को सामान्य धरातल से स्वर्गिक विशुद्धता तक पहुँचाया। आध्यात्मिक प्रेम की सुंदर कल्पना ने उनकी कविता को प्रभापूरित किया है।

वल्लत्तोल् की सफलता इसमें थी कि वे मानव के मानसिक भाव को काल्पनिकता का परिधान देकर सुंदर रूप मे प्रस्तुत कर सके। उन्होंने १९०९ मे वाल्मीकि रामायण का अनुवाद किया। १९१० में 'बधिरविलापम्' नामक विलापकाव्य लिखा। इसके बाद उन्होंने अनेक नाटकीय भावकाव्य लिखे—गणपति, बंधनस्थनाय अनिरुद्धन्, ओरु कत्तु (एक खत), शिष्यनुम् मकनुम् (शिष्य और पुत्री), मग्दलन मरियम्, अच्छनुम् मकनुम (पिता पुत्री) कोच्चुसीता इत्यादि। सन् १९२४ के बाद रचित साहित्यमंजरियों में ही वल्लत्तोल के देशभक्ति से ओतप्रोत वे काव्यसुमन खिले थे जिन्होंने उनको राष्ट्रकवि के पद पर आसीन किया। एन्टे गुरुनाथन (मेरे गुरुनाथ) इत्यादि उन भावगीतों में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। जीवन के कोमल, और कांत भावों के साथ विचरण करना वल्लत्तोल को प्रिय था। अधकार मे खड़े होकर रोने की प्रवृति उनमें नहीं थी। यह सत्य है कि पतित पुष्पों को देखकर उन्होंने भी आहें भरी हैं, परंतु उनपर आँसु बहाते रहने की बनिस्बत विकसित सुमनों को देखकर आह्लाद प्रकट करने की प्रवृत्ति ही उनमें अधिक है।

'उमाकेरलम्' नामक महाकाव्य की रचना करके काव्यजगत् में अपना नाम अमर करनेवाले उल्लूर ने अनेक खंडकाव्यों और भावगीतों की भी रचना की है। पिंगला, कर्णभूषणम्, भक्तिदीपिका, चित्रशाला इत्यादि खंडकाव्यों और किरणावली, ताराहारम् तरंगिणि इत्यादि कवितासंग्रहों द्वारा उन्होंने मलयालम् की श्रीवृद्धि की है। परंतु इस महाविद्वान् और भाषाभिमानी साहित्यकार की स्मृति

मलयालम प्रेमियों के हृदयों में शायद केरल साहित्य चरित्रम् के लेखक के रूप में ही मुख्य रूप से रहेगी।

इस समय के अन्य कुछ कवियों के नाम ये हैं—मालप्पाट्टु नारायण मेनन (इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना कण्णुनीरत्तुल्लि अश्रुबिंदु नामक विलापकाव्य है); करिरप्पुरत्त् केशवन नायर (काव्योपहारम् नव्योपहारम् इत्यादि भावगीत संग्रह); के० के० राजा (अनेक भावगीत और एक विलापकाव्य, बाष्पांजली, इन्होंने लिखी है), इत्यादि।

जी० शंकर कुरुप, वेण्णिक्कुलम् गोपाल कुरुप, पी० कुञ्जिरामन् नायर इत्यादि कवियों का जन्म २०वीं सदी के प्रथम दशक में हुआ है। इटप्पल्लि कविद्वय (इटप्पल्लि राघवन पिल्ला और चङङ्‌पुषा कृष्ण पिल्ला), वैलोप्पिल्लि श्रीधर मेनन इत्यादि इनके थोड़े ही साल बाद के हैं। इटप्पल्लि कवियों ने, खासकर चङङम्पुषा ने डेढ़ दशाब्दियों की अवधि में जितना कार्य करके संसार से विदा ली है उतना पूर्ण दीर्घायु में भी किसी के द्वारा असाध्य है। मलयालम् के स्वच्छंदतावाद के आंदोलन के लिये उनकी देन अमोघ है। जी० शंकर कुरुप, बालामणि अम्मा, पी० कुञ्जिरामन् नायर इत्यादि ने भी इस आंदोलन को संपन्न किया है।

प्रथम ज्ञानपीठ पुरस्कार के विजेता जी० शंकर कुरुप के भावगीतों में २०वीं सदी के भारतीय जनजीवन में अनुभूत पीडाओं, व्यामोहों, मोहभंगो, प्रतीक्षाओं, अभिलाषाओं, इच्छा साक्षात्कारों का ऐसा चित्रण हुआ है कि वे अंतरात्मा की गहराइयों तक पहुँच जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे गीत मानव की आध्यात्मिक एवं मानसिक भावानुभूतियों को प्रतीकात्मक या अन्य रूप मे व्यक्त करते हैं। मलयालम् की आत्मगीत शाखा को आज की ऊँचाइयों तक उठानेवाले कवियों की श्रेणी में जी० शंकर कुरुप का स्थान सर्वोपरि है। (ओटक्कुषल, पाथेयम्, जीवनसंगीतम् इत्यादि जी० के मुख्य कवितासंग्रह हैं। विश्वदर्शनम् नामक संग्रह ने साहित्य अकादमी का पुरस्कार पाया है। बालामणि अम्मा, पी० कुंजिरामन् नायर, इटप्पल्लि कविद्वय और वैलोप्पिल्लि ने भी इस शाखा को लगभग अपना सर्वस्व भेंट किया है। बालामणि अम्मा का काव्यसाम्राज्य मातृत्व का दिव्य प्रपंच है। उनकी रचनाएँ एक ऐसे अनुभूति मंडल का साक्षात्कार कराती हैं जो मलयालम् में अदृष्टपूर्व है। (उनके काव्यसंग्रहों मे 'सोपानम्' मुख्य है। मुत्तश्शि (दादी) नामक संग्रह को अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ है।) कुञ्जिरामन् नायर अत्यधिक प्रतिभाशाली कवि हैं। वे वैयक्तिक अनुभूति मंडल पर विहरण करने में ही रुचि रखते हैं, न कि व्यक्ति के सामाजिक संबंधों पर विचार करने में। (काव्यसंग्रहों में 'पूक्कलम' (फूलों की क्यारी) और तामरत्तोणि (कमल नौका) प्रसिद्ध हैं। इटश्शेरि यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनानेवाले कवि हैं। उनकी रचनाओं में मलयालम् की पहली श्रेणी की क्रांतिकारी कविताएँ आती हैं।

चङङम्पुषा मलयालम् के गान गंधर्व कहलाते हैं। किसी भी अन्य कवि ने कविता में इतना अधिक स्वरमाधुर्य नहीं घोला है। उनका नाटकीय भावकाव्य 'रमणम्' एक क्लासिक बन गया है। रमणन् की जितनी प्रतियाँ बिकी हैं उतनी शायद एषुत्तच्छन् के अध्यात्म रामायण को छोड़कर और किसी रचना नहीं बिकी होंगी। उनकी कई पंक्तियाँ प्रत्येक केरलवासी को कंठस्थ हैं।

वैज्ञानिक जीवन विश्लेषण, जीवन की अनश्वरता का बोध और मानव जीवन की ओर क्रांतिकारी दृष्टिकोण के कारण साहित्य में वैलोप्पिल्लि का स्थान महत्वपूर्ण है। मलयालम् के क्रांतिवादी काव्यों में इनके 'कुटियोषिक्कल' (घर निकाला) का स्थान अद्वितीय है। मध्यवर्गीय कवि के अंतःकरण की वेदना का इतना मार्मिक चित्रण और कोई नहीं कर पाया है।

यद्यपि ओ० एन० वी० कुरुप के काव्यजीवन का आरंभ क्रांतिकारी कवि के रूप में हुआ, तो भी आज वे स्वच्छंदतावादी हैं। जीवन की ओर सुगतकुमारी का दृष्टिकोण दार्शनिक है। विष्णु नारायणन नंपूतिरि, रामकृष्णन् इत्यादि उदीयमान कवि हैं। पी० भास्करन और वयलार रामवर्मा क्रांतिकारी कवियों के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के बाद फिल्मी गीतों के क्षेत्र में चले गए। एन० एन० कक्काट, माधवन् अय्यप्पत्त, अय्यप्प पणिक्कर और एन० एन० पालूर अंग्रेजी के नवीनतम उन्मुक्त काव्यविधाओं का प्रयोग मलयालम् मे करने मे सिद्धहस्त हैं। काव्यशास्त्र में नवीनतम सिद्धांत यह है कि चौंकाकर ध्यान आकर्षित करना कविता का लक्ष्य है। उपर्युक्त कवियों की कविताओं में यही विधा अपनाई गई। अक्कित्तम् अच्युतन नंपूतिरि इटश्शेरि और एन० वी० कृष्ण वारियर द्वारा प्रशस्त किए गए पथ पर विचरण करनेवाले कवि हैं। उनका काव्य 'इरुपताम् नुररांटिरे इतिहासम्' (२०वीं सदी का महाकाव्य) वैलोप्पिल्लि के कुटियोषिक्कल की ही भाँति महत्वपूर्ण है। किसी लक्ष्य के अभाव में क्रांति के महान् आदर्श को भी भ्रामक पाकर भटकनेवाले आधुनिक मानव की संभ्रांत आत्मा की कराहें इस काव्य में सुनाई देती हैं।

आधुनिक गद्य साहित्य

मलयालम् के उपन्यास साहित्य, नाटक साहित्य और कहानी साहित्य का विकास भी २०वीं सदी मे हुआ। चंतु मेनन और सी० वी० रामन पिल्ला के बाद कुछ समय तक उपन्यास शाखा मे अनुकरणों का प्रधानता रही। अप्पन् तपुरान् द्वारा लिखित 'भूतरायर' नामक ऐतिहासिक उपन्यास और 'भास्कर मेनन' नामक जासूसी उपन्यास, टी० रामन नपीशन का केरलेश्वरन्, के० एम० पणिक्कर के 'केरलसिंहम्' और 'परंकिपटयालि' (पुर्तगाली सैनिक) इत्यादि इस जमाने के मुख्य उपन्यास हैं।

सामाजिक उपन्यासों का दूसरा युग आधुनिक उपन्यासकारों के साथ प्रारंभ होता है। मूर्तिरिङ्ङोट का 'बाप्पन्रे मकल' (बाबा की बेटी) यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। तकषि, बशीर, केशव देव, पोन्कुन्नम वर्कि, ललितांबिका अंतर्जनम्, पी० सी० कुट्टिकृष्णन् इत्यादि शुरू में विख्यात कहानीकार थे। इनमें से तकषि, बशीर, केशवदेव और कुट्टिकृष्णन बाद में उपन्यासकारों के रूप में भी मशहूर हुए। तकषि के 'चेम्मीन' की ख्याति अंतरराष्ट्रीय है (यह उपन्यास साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत है)। पी० सी० कुट्टिकृष्णन के उपन्यास 'उम्माच्चु' और अकादमी द्वारा पुरस्कृत 'सुंदरिकलुम् सुंदरन्मारुम्'

(सुंदर सुंदरियाँ) प्रथम श्रेणी के हैं। केशवदेव का 'ओटयिल निन्नु (गंदे नाले से) प्रसिद्ध उपन्यास है। इनके प्रधतम उपन्यास 'अयल्कार' (पड़ोसी) ने अकादमी पुरस्कार पाया है। बशीर की 'बाल्यकालसखी', 'न्दुप्पाक्कोरानेंटानु' (मेरा दादा हाथी पालता था) इत्यादि उच्च स्तर के उपन्यास हैं। तकषि का 'रंटिटङ्ङषि' (दो सेर), पोर्रेक्काट की विषकन्यका नई पीढ़ी के एम० टी० वासुदेवन नायर का नालुकेट्टु (पुराने ढंग का घर), असुरवित्तु (असुर बीज), मंजु (बरफ) इत्यादि मलयालम् के गिने माने उपन्यास हैं। आधुनिक उपन्यासकारों में वासुदेवन् नायर प्रथम स्थानीय हैं। 'तालम्', काट्टुकुरङ्ङ् (जंगली बंदर) 'सुजाता' सीमा इत्यादि के लेखक के० सुरेंद्रन् का नाम उल्लेखनीय है।

मलयालम् का कहानी साहित्य भारत के किसी भी कहानी साहित्य की तुलना में ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकता है। बशीर, अंतर्जनम्, वर्कि इत्यादि कहानीकार सामाजिक अनाचारों और अत्याचारों के विरुद्ध क्रांति की आवाज उठानेवाले लेखक हैं। वे अपनी जातियों में पाई जानेवाली अनैतिकताओं को प्रकाश में लाने में सफल हुए। तकषि केशवदेव इत्यादि कहानीकारों ने मनुष्य की सामाजिक और आर्थिक परतन्त्रताओं तथा व्यक्ति की दुर्बलताओं और परिमितियों को अपनी कहानियों का विषय बनाया। स्वर्गीय ए० बालकृष्ण पिल्ला ने इन कहानीकारों के व्यक्तित्व को विकसित करने में जो योगदान किया है वह महत्वपूर्ण है। मोपासाँ प्रभृति फ्रांसीसी साहित्यकारों और चेखव प्रभृति रूसी साहित्यकारों द्वारा प्रशस्त किए गए मार्गों से हमारे कहानीकारों को ले जाने का श्रेय इन्हीं बालकृष्ण पिल्ला को है। इन्हीं से मलयालम् के ख्यातनामा कथाकारों को सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक क्रांति के बोध को प्रवर्तित करनेवाली और मनोवैज्ञानिक तत्वों को प्रकट करनेवाली कहानियाँ लिखने की प्रेरणा मिली। आज कहानी के क्षेत्र में एक ऐसी पीढ़ी अग्रसर हो रही है जो इन प्रशस्त कहानीकारों के पदचिह्नों का अनुसरण कर उनसे भी आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रही है। सरस्वती अम्मा, राजलक्ष्मी इत्यादि इन पूर्ववर्तियों के प्रभावक्षेत्र से परे खड़ी हैं। सरस्वती अम्मा बीती हुई पीढ़ी का और स्वर्गीय राजलक्ष्मी नवीन पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं। नई पीढ़ी में बालामणि अम्मा की पुत्री माधविक्कुट्टि का नाम भी उल्लेखनीय है। नंतनार, कोविलन इत्यादि द्वारा रचित सैनिक जीवन की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। पारप्पुरम ने इस शाखा को दो उपन्यास 'निणमणिञ्ज काल्पाट्टुकल्' (रुधिरार्द्र पदचिह्न) और 'आद्यकिरणङ्ङल्' एवं कई कहानियाँ भेंट की हैं। पुरानी पीढ़ी के कहानीकारों में तीन उल्लेखनीय नाम हैं—वेट्टूर रामन् नायर, कारूर नीलकंठ पिल्ला और पोंजिक्कर राफी। आजकल नेशनल बुक स्टाल नामक प्रकाशन संस्था दस कहानीकारों की चुनी हुई कहानियों का संग्रह प्रकाशित कर रही है। (ये दस कहानीकार हैं—तकषि, देव, बशीर, पोन्कुन्नम् वर्कि, अंतर्जनम्, वेट्टूर रामन नामन नायर, कारूर नीलकंठ पिल्ला, पोंञ्जिक्कर राफी, पी० सी० कुट्टिक्कृष्णन और पोर्रेक्काट। पी० सी० कुट्टिक्कृष्णन को छोड़कर बाकी सबके संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।)

मलयालम् का नाटक साहित्य संपन्न है। संस्कृत नाटकों के अनुकरण और अनुवाद के युग के उपरांत गद्य नाटकों के भी कुछ अनुकरण आ गए। आधुनिक गद्य नाटकों के पूर्वगामी के रूप में सी० रामन् पिल्ला इत्यादि के प्रहसन, बाद में एन० पी० चेल्लप्पन नायर आदि हास्य नाटककारों के लिये प्रेरणास्रोत बने। कैनिक्कर कुमार पिल्ला, कैनिक्कर पद्मनाभ पिल्ला इत्यादि ने गंभीर नाटक भी लिखे। इब्सन की नाट्य विधा को अपनाकर लिखे हुए समस्यामूलक नाटकों की दिशा में एन० कृष्ण पिल्ला ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सामाजिक समस्या को विषयवस्तु बनानेवाले नाटकों में वी० टी० भट्टतिरिप्पाट का 'अट्टुक्कळयिल् निन्नु अरङ्ङत्तेक्कु' (रसोईघर से रंगमंच की ओर) और राजनीतिक नाटकों में 'पाट्टबाकी' (बकाया लगान) उल्लेखनीय हैं। आज के नाटककारों में टी० ए० गोपिनाथन् नायर, तायर, नागवल्लि आर० एन० कुरुप, केशवदेव, एन० पी० चेल्लप्पन नायर, के० टी० मुहम्मद, तोप्पिल भासि, जी० शंकर पिल्ला इत्यादि प्रमुख हैं। तोप्पिल भासि के 'निङ्ङलेन्ने कम्युनिस्टाक्की' (तुम लोगों ने मुझे कम्युनिस्ट बनाया) 'मुटियनाय पुत्रन्' (धूर्त पुत्र), सर्वेक्कल (सीमा का पत्थर) इत्यादि और मुहमद के 'करवर्र पशु' (दुग्ध बंद गाय) 'मनुष्यन् कारा गृहत्तिलाणु' (मनुष्य कारावास में है) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

मलयालम् में आलोचना साहित्य भी किसी भी अन्य शाखा की तरह संपुष्ट है। जोसेफ मुंटश्शेरि और कुट्टिकृष्ण मारार ने आलोचना साहित्य में अपने अपने विशेष मत चलाए। पहले ने पश्चिमी साहित्यिक दार्शनिकों और दूसरे ने प्राचीन भारतीय साहित्यमर्मज्ञों से प्रेरणा ग्रहण की। दोनों अपने अपने क्षेत्र में प्रभावशाली हैं। इनमें कुट्टिक्कृष्ण मारार हाल में अकादमी द्वारा पुरस्कृत हुए हैं। स्वर्गीय एम० पी० पॉल ने मलयालम् के आलोचना साहित्य को एक प्रकार का अपनत्व प्रदान किया। मुंटश्शेरि, सी० जे० तॉमस इत्यादि उन्हीं के दीपक से अपनी दीपशिखा जलानेवाले हैं। पॉल के 'नोवल साहित्यम्' और 'सौंदर्यनिरीक्षणम्' मुंटश्शेरि की 'काव्यपीठिका', 'मारोलि' (प्रतिध्वनि), 'अंतरीक्षम्,' 'मानदण्डम्' और 'रूपभद्रता' मारार के 'राजांकणम्', 'कलयुम् जीवितवुम्' और 'साहित्यविद्या' विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वर्गीय उल्लाट्टिल गोविंदन् कुट्टि नायर संतुलित विचारों के समीक्षक थे। आज के आलोचकों में एस० गुप्तन् नायर, कुट्टिरप्पुष कृष्ण पिल्ला, एन० कृष्ण पिल्ला, एम्० गोविंदन, एम्० कृष्णन् नायर, एम्० श्रीधर मेनन, एम्० अच्युतन, एम्० एन्० विजयन, के० एन० एष़ुत्तच्छन्, पएमुखदास, जी० बी० मोहनन् इत्यादि प्रमुख हैं। गुप्तन् नायर के आधुनिक साहित्यम्, समालोचना, इसङ्ङलक्कप्पुरम (वादों से परे) इत्यादि पठनीय हैं। के० एन० एष़ुत्तच्छन् विद्वत्तापूर्ण एवं गवेषणात्मक लेख लिखते हैं। एन० कृष्ण पिल्ला सरस समालोचना लिखने में निपुण हैं। क्रांतिकारी विचारधारा का वीरतापूर्ण दृष्टिकोण कुट्टिरप्पुष कृष्ण पिल्ला की विशेषता है। मनोवैज्ञानिक तत्वों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण करने की नूतन पद्धति को विजयन् ने अपनाया है।

ऊपर के अनुच्छेदों में मलयालम् साहित्य का बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आज मलयालम् साहित्य भारत की किसी अन्य भाषा के साहित्य से पीछे नहीं है। काव्य और कहानी के क्षेत्रों में शायद मलयालम् साहित्य अन्य भाषा साहित्यों से उच्चतर स्थान

पाने के लिये होड़ सी कर रहा है। पिछले कुछ वर्षों में मलयालम् साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये बहुत सी योजनाएँ बनी हैं और बहुत सी संस्थाएँ भी कायम की गई हैं। विज्ञान परिषद्, इतिहास परिषद्, संगीत परिषद्, कला परिषद्, आदि अच्छी योजना बनाकर काम कर रही हैं। इसके अलावा केरल विश्वविद्यालय तथा केरल सरकार मलयालम् विश्वकोश बनाने की बहुत बड़ी योजनाएँ चला रही हैं। केरल में बहुत से युवक विद्वान् रचनाकार्य में लगे हुए हैं और मलयालम् साहित्य का भविष्य बहुत ही उज्वल है। [ए० च०]

मलयेशिया यह दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थित एक संघ है। १६ सितंबर, १९६३ ई० को इसमें मलाया प्रायद्वीप, सिंगापुर, साबाह (देखें नॉर्थ बोर्नियो) एवं सारावाक (देखें बोर्नियो) नामक ब्रिटिश उपनिवेशों के विलयन के फलस्वरूप मलयेशिया गणतंत्र की स्थापना हुई। ९ अगस्त, १९६५ ई० को आपसी समझौते द्वारा सिंगापुर मलयेशिया से अलग हो गया एवं एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया (देखें, सिंगापुर)। इस देश का संविधान भूतपूर्व मलय संघ के संविधान पर ही आधारित है, फिर भी साबाह और सारावाक की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा गया है। यहाँ की राजभाषा मलय तथा राजधानी क्वालालंपुर है। मलयेशिया का क्षेत्रफल १,३०,२२४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ९१,३६,६४१ (१९६४) है। देश की सुरक्षा के लिये सुव्यवस्थित स्थल, वायु एवं जलसेनाएं है। क्वालालंपुर के निकट सुंगेई बेसी नामक स्थान पर संघीय सैनिक महाविद्यालय है जहाँ सशस्त्र सेनाओं के अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

मलय राज्य या मलाया — सुमात्रा द्वीप के उत्तर में एक प्रायद्वीप है। इस राज्य में भूतपूर्व मलय संघ के जोहोर, केदाह, केलांटन, मलैका, नेग्रीसेंबिलान, पाहँग, पेनांग, पेराक, सेलँगर, ट्रेंगानू एवं परलिस नामक ११ प्रदेश संमिलित हैं। इसका क्षेत्रफल ५०,७०० वर्ग मील एवं जनसंख्या ७८,१०,२०५ (१९६४) है। यहाँ के निवासियों मे आधे मलय तथा शेष में चीनी, भारतीय एवं पाकिस्तानी हैं। यहाँ का प्रधान धर्म इस्लाम एवं भाषा मलय है। क्वालालंपुर यहाँ की राजधानी एवं प्रमुख नगर है जिसकी जनसंख्या ३,१६,२३० (१९६४) है। अन्य महत्वपूर्ण नगरों में जॉर्जटाउन, इपोह, क्लांग, मलैका, ताइपिंग, सेरेंबान आदि हैं। शिक्षा की काफी प्रगति हुई है। उच्च शिक्षा क्वालालंपुर के तकनीकी महाविद्यालय एवं मलय विश्वविद्यालय में दी जाती है। मैदानी भाग में १०० इंच तक तथा पहाड़ी भाग में २०० इंच तक वर्षा होती है। यहाँ का औसत ताप २२° सें० से लेकर लगभग ३३° सें० के मध्य तक रहता है।

मलाया का अधिकांश घने जंगलों, पर्वतों एवं दलदलों से ढका है। इसके उत्तर में थाईलैंड, पूर्व मे दक्षिणी चीन सागर, दक्षिण में सिंगापुर एवं पश्चिम में मलैका जलडमरूमध्य एवं अंदमान सागर स्थित हैं। पर्वतश्रेणियाँ प्राय उत्तर से दक्षिण को फैली हैं जिनकी ऊँचाई ७,००० फुट तक है। ये आवागमन मे बड़ी बाधा उत्पन्न करती हैं। यहाँ के विस्तृत जगलों में कपूर, चदन, टीक, ताड़, नारियल और एबोनी के वृक्ष मिलते हैं। यहाँ ताड़ का तेल, अटाजूट एवं नारियल की गरी तथा तेल पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है। मलाया कच्चे माल का प्रमुख उत्पादक क्षेत्र है। यहाँ से रबर एव टिन बड़ी मात्रा में बाहर भेजा जाता है। निर्यात की अन्य वस्तुओं में गरी का तेल, गरी, लौह धातु, एवं लकड़ी का स्थान प्रमुख है। यहाँ टिन के अलावा बौक्साइट, इल्मेनाइट तथा सोना भी मिलता है। यहाँ पर कृषि में धान का स्थान सर्वप्रमुख है। यहाँ के लोगों का मुख्य भोजन चावल एवं मछली है। चाय भी पैदा होती है।

यहाँ पर उद्योग धंधे सीमित हैं। पेनांग में टिन गलाया जाता है। उद्योगों के लिये जलविद्युत् पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न कर ली जाती है। मलाया के बड़े बड़े नगर रेलों के द्वारा आपस में संबद्ध हैं। प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर जनसंख्या सघन है। जॉर्जटाउन इस राज्य का प्रमुख नगर है। [रा० प्र० सिं०]

मलाकंद दर्रा स्थिति : ३४° ३२′ उ० अ० और ७१° ४६′ पू० दे०। पश्चिमी पाकिस्तान में पेशावर के ४० मील उत्तर, उत्तर पूर्व स्थित दक्षिणी स्वात क्षेत्र का एक दर्रा है। इस दर्रे से होकर एक प्राचीन बौद्धकालीन सड़क जाती है। १६वीं शताब्दी के प्रारंभ मे यूसुफजाई पठानों ने इसी दर्रे में से होकर स्वात घाटी में प्रवेश किया था। समीप मे स्थित मलाकंद गाँव में जलविद्युत्गृह है जिसकी क्षमता २०,००० किलोवाट है। [रा० प्र० सिं०]

मलावी (नीऐसालैंड Nyasaland) स्थिति : १३° ०′ द० अ० तथा ३४° ०′ पू० दे०। यह दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका का एक देश है जो अफ्रीका की तृतीय सबसे बड़ी झील मलावी (निऐसा) के दक्षिणी तथा पश्चिमी किनारे के साथ साथ जैंबीजी नदी तक फैला हुआ है। इसकी संपूर्ण लंबाई २,५०० मील तथा चौड़ाई ५० से १३० मील है। संपूर्ण क्षेत्रफल ४०,००० वर्ग मील तथा जनसंख्या ३५,००,००० (३० जून, सन् १९६३) थी, जिसमें ८,६०० यूरोपवासी, १०,४०० एशियाई, २८,६०,००० अफ्रीका वासी तथा १,६०० अन्यान्य देशों के लोग निवास करते थे। संपूर्ण राष्ट्र तीन प्रातों मे विभक्त है। जलवायु उष्णकटिबंधीय है। चीनी तथा गेहूँ को छोड़कर अन्य सभी खाद्यानों का उत्पादन यहाँ होता है। तंबाकू यहाँ की प्रधान कृषि उपज है। इसके साथ ही चाय, कपास आदि भी न्यूनाधिक मात्रा में पैदा की जाती है। सन् १९६४ में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद से कृषि की उन्नति पर काफी जोर दिया जा रहा है, परंतु संपूर्ण राष्ट्र के पहाड़ी एवं पठारी होने के कारण कृषियोग्य भूमि की कमी है। यहाँ के पर्वतों की ऊँचाई १,५०० फुट एवं १०,००० फुट के मध्य है। यहाँ से निर्यात की जानेवाली सामग्री में तबाकू एवं कपास का स्थान प्रथम है। अंग्रेजी प्रमुख भाषा है परंतु निएंजा भाषा उन्नति कर रही है।

संपूर्ण राष्ट्र एक रेलमार्ग द्वारा विभक्त है। इस रेलमार्ग के अलावा यहाँ पर्याप्त पक्की सड़कें भी हैं। हवाई मार्ग की भी सेवाएँ अफ्रीका के विभिन्न भागों से सुलभ हैं। इस राज्य की राजधानी जोम्बा (Zomba) है जिसकी जनसंख्या १५,५०० (१९६३) है, किंतु नई राजधानी लिलौग्वे में बनाई जानेवाली है। [अ० सिं०]

मलिक अंबर का जन्म संभवत. १५४९ मे एक हब्शी परिवार मे हुआ। बाल्यकाल में ही उसे दास बनाकर बगदाद के बाजार में ले जाकर ख्वाजा पीर बगदाद के हाथों बेचा गया। ख्वाजा मलिक अंबर के साथ दक्षिण भारत गया जहाँ उसे निजामशाह प्रथम के मंत्री चंगेज खाँ ने खरीद लिया। मलिक अंबर की बुद्धि

झुकाव, प्रकृति प्रतिभायुक्त और उदार थी, अतः उसे अन्य गुलामों की अपेक्षा ख्याति पाने में देर न लगी। चंगेज खाँ के संरक्षण में रहकर निजामशाही राजनीति तथा सैनिक प्रबंध को समझने का उसको अवसर प्राप्त हुआ। चंगेज खाँ की आकस्मिक मृत्यु होने के कारण वह कुछ समय तक इधर उधर निजामशाही राज्य में ठोकरें खाता रहा। निजामशाही राज्य पर काले बादलों को आच्छादित होते देखकर तथा दलबंदी के संताप और मुगलों के निरंतर आक्रमणों से भयभीत होकर ख्याति पाने की आशा से वह बीजापुर और गोलकुंडा गया परंतु जब इन राज्यों में भी यथेष्ट सुअवसर प्राप्त न हुआ तब वह अन्य हब्शियों के साथ फिर अहमदनगर लौट आया। वह सेना में भरती हुआ और उसे अर्बंग खाँ ने १५० अश्वारोहियों का सरदार नियुक्त किया। वह अपने आश्रयदाता के साथ भुलार पहुँचा, और वहाँ उसने मुगल आक्रमणकारियों को परेशान करना प्रारंभ किया। शत्रु के शिविरों पर छापा मारकर वह रसद लूट लेता था और उसके प्रदेश में घुस पड़ता था। इस प्रकार धीरे धीरे उसकी ख्याति बढ़ने लगी।

परंतु जब अहमदनगर पर मुगलों का अधिकार हो गया, और निजामशाही राज्य अपनी अंतिम साँसें ले रहा था तब मलिक अंबर को अपने अदम्य साहस, शक्ति एवं गुणों का परिचय देने का अवसर मिला। मराठों की सहायता से उसने एक सेना का निर्माण करके निजामशाही परिवार के अली नाम के व्यक्ति को गद्दी पर बिठाकर परेंडा में नवीन राजधानी स्थापित की। ह्रासग्रस्त राज्य का पुन. संगठन करके और सुख शांति के वातावरण का प्रतिपादन करके उसने एक नवीन जागृति पैदा कर दी। निजामशाही राज्य पुनः प्रभुता तथा ऐश्वर्य की ओर उन्मुख हो गया। परिस्थिति उसके अनुकूल थी। राजकुमार सलीम के अकस्मात् विद्रोह के कारण मुगल सेना का दक्षिण से हटना अनिवार्य हो गया था। फलतः मलिक अंबर ने मुगलों द्वारा विजय किए हुए प्रदेशों पर अपना अधिकार करना प्रारंभ कर दिया और अहमदनगर, प्राय. समस्त दक्षिण भाग, हस्तगत कर लिया। परंतु शीघ्र ही उसको एक अन्य कठिनाई का सामना करना पड़ा। अबाबत खाँ ने, जो निजामशाही सरदार था, मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। यह देखकर उसके एक अनुचर राजू ने उसके अधिकृत प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया और उसने मुगलों से टक्कर लेना प्रारंभ कर दिया। वह भी परेंडा आया पर अन्य निजामशाही सेवकों में संमिलित हो गया। परंतु आशाजनक पद न पाने के कारण क्रुद्ध होकर वह अपने प्रदेश को वापस चला गया और वहाँ से निजामशाह को अंबर के विरुद्ध भड़काना प्रारंभ किया। फलस्वरूप अंबर और राजू दोनों एक दूसरे के शत्रु हो गए। लेकिन अपने क्षेत्रों में दोनों ही मुगलों का मुकाबला करते रहे। इसके बावजूद १६०५ तक मलिक अंबर की परिस्थिति दृढ़ ही होती गई।

मुगलों को संपूर्ण अहमदनगर राज्य से निकालकर उसने परेंडा को छोड़ दिया, और जुन्नार में नई राजधानी बनाई। राजू को परास्त कर उसने बंदी बना लिया, और फिर मौत के घाट उतार दिया, तथा उसकी जागीर पर भी अधिकार कर लिया। मुगलों से टक्कर लेते लेते उसने खानेखाना को लोहे के चने चबवा दिए। अपने सेनाध्यक्ष खानेखाना की असफलता पर जहाँगीर को क्रोध आया और इसका कारण जानने के हेतु खानेखाना को दरबार में बुलाया गया। आगरा पहुँचकर खानेखाना ने विषम परिस्थिति का ब्योरा दिया, अतएव मलिक अंबर की बढ़ती हुई सत्ता का दमन करने के अभिप्राय से वह पुनः दक्षिण भेजा गया।

अब मलिक अंबर ने बीजापुर और गोलकुंडा से सहायता ली, और मुगलों पर टूट पड़ा। उसने खानेखाना की योजना को असफल कर दिया। विवश होकर सम्राट् ने राजकुमार और आसफ खाँ को एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण भेजा पर उसे भी कोई सफलता न मिली। मलिक अंबर की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती गई और १६१० में समस्या इतनी गंभीर हो गई कि आसफ खाँ ने सम्राट् से अनुरोध किया कि वह स्वयं ही पधारें। जहाँगीर ने इस सुझाव पर विचार किया और दक्षिण प्रस्थान करने की बात सोची परंतु अन्य अमीरों ने इसका समर्थन न किया। अब दक्षिण की समस्या के हल का उत्तरदायित्व खानेजहाँ को सौंपा गया। परंतु इसके पूर्व कि वह वहाँ पहुँचे खानेखाना ने, अपने बेटों की मदद से वर्षा ऋतु में, मलिक अंबर पर अचानक हमले की योजना बनाकर उसपर हमला कर दिया। मलिक अंबर तो तैयार ही बैठा था। उसने मुगलों के छक्के छुड़ा दिए और खानेखाना को बुरहानपुर लौटने पर बाध्य कर दिया। उसको एक संधि पर हस्ताक्षर भी करने पड़े। तत्पश्चात् मलिक अंबर ने अहमदनगर के निकटवर्ती प्रदेशों पर अधिकार करके उसके किले पर घेरा डाला और उसको भी छीन लिया। बरार और बालाघाट के कुछ भागों को छोड़कर लगभग संपूर्ण निजामशाही राज्य, जिसपर मुगलों ने १६००–१६०१ में अपना अधिकार जमा लिया था, अब मलिक अंबर ने उनके हाथों से छीन लिया और निजामशाही वंश के राज्य को पुनर्जीवन प्रदान किया।

खानजहाँ लोदी ने प्रदेश में पहुँचकर वहाँ के वातावरण से परिचित होने का प्रयास किया। उसने सम्राट् को यह सुझाव दिया कि खानेखाना को हटाकर सेनापति पद का भार उसको ही सौंपा जाए। उसने वचन दिया कि यदि उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया तो वह अहमदनगर तथा बीजापुर के राज्यों पर मुगल सत्ता दो वर्षों के भीतर ही स्थापित कर देगा। जहाँगीर ने उसकी बातें मान लीं, और उसे प्रचुर धन और सेना दी। फिर भी जब वह मलिक अंबर के विरुद्ध मैदान में उतरा, तब उसे यह प्रतीत हुआ कि यद्यपि शत्रु की तलवार उसकी तलवार से भारी नहीं, तथापि उसके लड़ने का ढंग अवश्य ही निराला है। कहने का तात्पर्य यह कि उसे भी मलिक अंबर के सामने झुकना पड़ा और उसका गर्व चूर चूर हो गया। मलिक अंबर को परास्त करने के अभिप्राय से सम्राट् ने एक विशाल योजना बनाई जिसका यह उद्देश्य था कि अहमदनगर पर तीन दिशाओं से एक साथ सैनिक अभियान करके मलिक अंबर को घेर-कर उसकी सत्ता को नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाए। परंतु यह योजना भी असफल सिद्ध हुई और शाही सेना अस्तव्यस्त होकर भाग खड़ी हुई। खोई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से खानेखाना को फिर दक्षिण क्षेत्र में भेजा गया। वह वहाँ १६१२ ई० में पहुँचा। उसका यह सौभाग्य था कि इस समय निजामशाह के दरबार में आंतरिक फूट फैली थी। इस परिस्थिति से लाभान्वित होकर उसने अनेक दक्षिणी सरदारों को घूस देकर अपने पक्ष में कर लिया।

यद्यपि मलिक अंबर को बीजापुर और गोलकुंडा का सहयोग प्राप्त था, तिसपर भी कूटनीति और सबल सेना के सामने उसकी कुछ न चली। १६१६ ई० के युद्ध में उसे हार खानी पड़ी। विजेताओं ने किर्की को नष्ट भ्रष्ट कर डाला। यद्यपि खानेखाना ने मुगल प्रतिष्ठा को एक सीमा तक फिर से स्थापित कर दिया था, परंतु उसपर घूसखोरी के आरोप लगते ही रहे। इसीलिये सम्राट् ने राजकुमार खुर्रम को एक विशाल सेना के साथ दक्षिण क्षेत्र में भेजा। राजकुमार के आगमन से दक्षिणी राज्यों में खलबली मच गई। शीघ्र ही बीजापुर तथा गोलकुंडा के नरेशों ने मुगलों से संधि कर ली। ऐसी दशा में जबकि मलिक अंबर मित्रहीन हो गया, उसके समक्ष सर झुकाने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं रह गया। अतएव विवश होकर उसने बालाघाट का क्षेत्र और अहमदनगर के दुर्ग की कुंजी मुगलों को सौंप दी और इस प्रकार निजामशाही राज्य का लोप होने से बचा लिया।

अगले दो वर्षों तक वह चुपचाप अपने साधनों को जुटाने में लगा रहा। इधर मुगल सेना में विद्वेष की प्रचंड अग्नि प्रवाहित हो गई। अत: मलिक अंबर ने पुन. गोलकुंडा और बीजापुर को मिलाकर मुगल विरोधी संघ स्थापित कर लिया। दो वर्ष पूर्व हुई संधि की धाराओं का उल्लंघन कर वह मुगल अधिकृत क्षेत्रों पर टूट पड़ा और तीन मास की लघु अवधि मे ही उसने मुगलाई अहमदनगर के अधिकाश भाग और बरार को हस्तगत कर लिया। उसने न केवल बालापुर को लूटा ही बल्कि उसपर घेरा भी डाला। बुरहानपुर की दिशा मे पीछे हटती हुई मुगल सेनाओ पर निरंतर वार करता हुआ वह बुरहानपुर तक बढ़ आया। नगर के बाहर घेरा डाला और निकटवर्ती प्रदेश को खूब लूटा। इतना ही नहीं, उसने मालवा मे प्रवेश करके मांडू पर भी छापा मारा। इससे नर्मदा के उत्तर और दक्षिण क्षेत्रों मे मुगलों की ख्याति को बहुत धक्का लगा।

परिस्थिति को निरंतर गंभीर होते हुए देखकर खानेखाना ने सैनिक सहायता की बार बार याचना की। सम्राट् ने राजकुमार शाहजहाँ को यह आदेश दिया कि वह सेना सहित दक्षिण को प्रस्थान करे। उसके वहाँ पहुँचते ही वातावरण शीघ्रता से बदलने लगा। उसकी सेना आँधी के समान शत्रु के देश पर आच्छादित हो गई। मराठे मांडू से भाग खड़े हुए और शत्रु को बुरहानपुर का दुर्ग भी खाली करना पड़ा। मुगलों ने अब किर्की पर धावा बोल दिया। संभवत: निज़ामशाह अपने परिवार सहित आक्रमणकारियों के हाथ पड जाता परतु मलिक अबर ने उन लोगों को दौलताबाद भेज दिया था। किर्की से चलकर मुगल सेना अहमदनगर पहुँची और उसको घेरे से मुक्त किया। मलिक अंबर दौलताबाद के दुर्ग से अपने दुर्भाग्य की गतिविधि को देख रहा था।

कुछ विपरीत परिस्थितियो के कारण शाहजहाँ इस युद्ध को आगे बढ़ाना नही चाहता था। इसलिये उसने सधि करना ही उचित समझा। मलिक अंबर ने उस समस्त क्षेत्र को वापस कर दिया जो उसने गत दो वर्षों मे मुगलों से छीन लिया था। इसके अतिरिक्त १४ कोस निकटवर्ती भूमि भी दी। तीनो दक्षिणी रियासतों ने ५० लाख रुपया कर के रूप में देने का वचन दिया—२० लाख गोलकुंडा ने और शेष १२ लाख अहमदनगर ने। इस प्रकार बड़े चातुर्य से मलिक अंबर ने निजामशाही राज्य को काल के मुँह से पुन. निकाल लिया। परंतु उसकी विपत्तियों का अंत न हुआ। फिर भी उसके साहस मे कमी न आई।

शाहजहाँ ने अपने पिता के प्रति विद्रोह करके मुगल साम्राज्य में राजनीतिक भूकंप पैदा कर दिया। अतएव जब उत्तर मे परास्त होकर वह दक्षिण प्रदेश में पहुँचा और उसने मलिक अबर से सहायता की याचना की, तब सम्राट् की शत्रुता मोल लेने के भय से मलिक अंबर ने इनकार कर दिया। परंतु इसके पीछे भीति भी थी। शोलापुर को लेकर निजामशाह और आदिलशाह मे झगड़ा चल रहा था। उसमें उसको मुगलों की सहानुभूति प्राप्त करने की आशा थी। अतएव जब महावत खाँ शाहजहाँ का पीछा करते हुए दक्षिण प्रदेश में पहुँचा, तब आदिलशाह और मलिक अंबर दोनों ने ही मुगलाई सहायता के लिये याचना की। कुछ समय तक तो महावत खाँ ने दोनों को द्विविधा मे रखा, परंतु जब शाहजहाँ बगाल की ओर भाग गया तब मुगल सेनापति ने आदिलशाह को सहायता देने का वचन दिया। परंतु शीघ्र ही उसे बंगाल की ओर जाना पड़ा।

इस सुअवसर से मलिक अंबर ने पूरा लाभ उठाया। सुरक्षा हेतु निजामशाह को तो उसने सपरिवार दौलताबाद भेज दिया और स्वयं सेना लेकर गोलकुडा की सीमा की ओर बढ़ा। कुतुबशाह से धन लेकर संधि करके वह आदिलशाही प्रदेश पर टूट पड़ा। वांछित स्थानों पर अधिकार करके वह बीजापुर की ओर लूटता हुआ अग्रसर होने लगा। आदिलशाह ने मुगलों से सहायता माँगी। भाटवाड़ी की लड़ाई में मुगल आदिलशाही सेना ने मलिक अंबर का डटकर सामना किया। परंतु १५ जून, १६२५ को मलिक अंबर ने उन्हे बुरी तरह हराया। इस सफलता ने उसके यश और कीर्ति में वृद्धि की। अब वह कुशल सेनापति, राजनीतिज्ञ और प्रबंधकर्ता समझा जाने लगा। उसके साहस और साधनों में भी उन्नति हुई। फलस्वरूप अहमदनगर व शोलापुर पर उसने फिर से अपना आधिपत्य जमा लिया और उसके सेनापति, याकूत खान ने बुरहानपुर के किले पर घेरा डाल दिया। इसी समय महावत खाँ, शाहजहाँ का पीछा करते करते पुन: दक्षिण आ पहुँचा। याकूत खाँ ने बुरहानपुर से अपनी सेना हटा ली। मलिक अबर इस बार शाहजहाँ को संरक्षण देने मे बिलकुल न हिचकिचाया। दोनो संयुक्त सेनाओं ने बुरहानपुर पर घेरा डाला, परंतु कोई सफलता प्राप्त न हुई। थोड़े समय बाद शाहजहाँ ने हथियार डाल दिए और अपने को समर्पित कर दिया। ऐसी परिस्थिति में मलिक अंबर के लिये मुगलों का सामना करना कठिन था। अतएव उसने बुरहानपुर के दुर्ग से सेना हटा ली। अगले वर्ष उसे मुगलों से टक्कर लेने का अवसर प्राप्त हुआ। इस समय जहाँगीर रोगग्रस्त था। नूरजहाँ की गुटबंदी ने महावत खाँ को विद्रोह करने पर विवश कर दिया था, तथा संपूर्ण शाही सेनाएँ महावत खाँ का विद्रोह दमन करने मे लगी हुई थीं। दक्षिण में कोई भी कुशल सेनापति न रह गया था। इससे पहले कि वह अपनी सेनाओं की गतिविधि मुगलों के विरुद्ध या आदिलशाह के विरुद्ध सचालित करे, मृत्यु ने उसकी आँखे मई १४, १६१५ को अस्सी वर्ष की आयु मे बंद कर दीं।

१६०१ से १६२६ तक, मलिक अंबर ने अपनी प्रतिभा, अदम्य साहस, कार्यकुशलता, और सैन्य चातुर्य का परिचय दिया। भारतीय इतिहास में ऐसा बिरला ही उदाहरण मिलेगा जब किसी उजड़े हुए राज्य को एक साधारण श्रेणी के व्यक्ति ने नवजीवन प्रदान किया हो। मलिक अंबर की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह सुयोग्य सेनापति तो था ही, इसके साथ साथ कुशल नीतिज्ञ और चतुर शासक भी था। उसने मराठों की सैनिक मनोवृत्ति का ठीक मूल्यांकन करके एक नवीन सैनिक प्रणाली का आविष्कार किया। टोडरमल की भूमिकर व्यवस्था का अपने राज्य में प्रचलन करके उसने न केवल रिक्त कोष को ही समृद्धिशाली बनाया बल्कि जनता को भी सुख प्रदान किया। किर्की में उसने अपनी राजधानी बसाई और यहाँ उसने अनेक मस्जिदों, महलों का निर्माण कराया तथा उद्यान लगवाए। सिंचाई के लिये नहरें भी खुदवाईं। महबल दर्रा, दरवाजा नाखुदा महल, काला चबूतरा दीवान-ए-आम और दीवान-ए-खास, जो आज खंडहरों के रूप में दिखाई देते हैं उसकी भावनाओं को प्रमाणित करते हैं। उसने ज्ञान तथा विद्वानों दोनों को संरक्षण प्रदान किया। अरब से बहुत विद्वान् आए और उसने उन्हें प्रोत्साहन दिया। उनमें से एक अली हैदर था, जिसने ११वीं शताब्दी हिजरी के प्रसिद्ध संतों की जीवनियों पर इक्द अल जवाहर ग्रंथ की रचना की। फारस से आए हुए विद्वानों को भी उसने आश्रय दिया। उसने किर्की में चित्रखाना की स्थापना की जहाँ बहुत से हिंदू और मुसलमान विद्वान् ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का गंभीर अध्ययन करते थे। [ब० प्र० स०]

मलूकदास (संत) का जन्म, सं० १६३१ की वैशाख बदी ५ को, कड़ा (जि० इलाहाबाद) के कक्कड़ खत्री सुंदरदास के घर हुआ था। इनका पूर्वनाम 'मल्लु' था और इनके तीन भाइयों के नाम क्रमशः हरिश्चंद्र, शृंगार तथा रामचंद्र थे। इनकी 'परिचई' के लेखक तथा इनके भाजे एवं शिष्य मथुरादास के अनुसार इनके पितामह जहरमल थे और इनके प्रपितामह का नाम वेणीराम था। उनका कहना है कि मल्लु अपने बचपन से ही अत्यंत उदार एवं कोमल हृदय के थे तथा इनमें भक्तों के लक्षण पाए जाने लगे थे। यह बात इनके माता पिता पसंद नहीं करते थे और जीविकोपार्जन की ओर प्रवृत्त करने के उद्देश्य से, उन्होंने इन्हें केवल बेचने का काम सौंपा था परंतु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिल सकी और बहुधा मंगतों को दिए जानेवाले कंबल आदि का हाल सुनकर उन्हें और भी क्लेश होने लगा। बालक मल्लु को दी गई किसी शिक्षा का विवरण हमें उपलब्ध नहीं है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये अधिक शिक्षित न रहे होंगे। कहते हैं, इनके प्रथम गुरु कोई पुरुषोत्तम थे जो देवनाथ के पुत्र थे और पीछे इन्होंने मुरारिस्वामी से दीक्षा ग्रहण की जिनके विषय में इन्होंने स्वयं भी कहा है, मुझे मुरारि जी सतगुरु मिल गए जिन्होंने मेरे ऊपर विश्वास की छाप लगा दी, (सुखसागर पृ० १६२)।

अभी तक पाए गए संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका विवाह संभवतः १२ वर्ष की अवस्था के अनंतर ही हुआ होगा। इनकी पत्नी का नाम ज्ञात नहीं। इनके देशभ्रमण की चर्चा करते समय केवल पुरी, दिल्ली एवं कालपी जैसे स्थानों के ही नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं और अनुमान किया जाता है कि यह पर्यटन कार्य भी इन्होंने अधिकतर उस समय किया होगा जब ये वृद्ध हो चले थे तथा जब ये अपने मत का उपदेश भी देने लगे थे। सं० १७३९ की वैशाख बदी १४, बुधवार को संभवत. कड़ा में रहते समय ही, इनका देहांत हो गया। इनके अनंतर इनकी गद्दी पर इनके भतीजे रामसनेही बैठे और उनके पीछे क्रमशः कृष्णसनेही, ठाकुरदास, गोपालदास, कुंजबिहारीदास, एक दूसरे के उत्तराधिकारी होते आए जिसके पश्चात् यह परंपरा आगे नहीं बढ़ सकी।

संत मलूकदास की रचनाओं की संख्या २१ तक बतलाई जाती है और उनमें से 'अलखबानी', 'गुरुप्रताप', 'ज्ञानबोध', 'पुरुषविलास', 'भगत वच्छावली', 'भगत विरुदावली', 'रतनखान', 'रामावतार लीला', 'साखी', 'सुखसागर' तथा 'दसरत्न' विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ का सीधा संबंध संतमत के साथ समझा जाता है और अन्य के लिये कहा जाता है कि उनका मुख्य विषय सगुण भक्ति है। इनकी कतिपय चुनी हुई रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्हें परमात्मा के अस्तित्व में प्रबल आस्था थी और ये न केवल उसके सतत नाम स्मरण को विशेष महत्व देते थे, अपितु अपने भीतर उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते भी जान पड़ते थे। किसी विषम स्थिति के आ पड़ने पर ये घबड़ाना नहीं जानते थे, प्रत्युत विश्वकल्याण की दृष्टि से ये सारा दुःख अपने ऊपर ले लेना चाहते थे। अपनी आध्यात्मिक वृत्ति एवं हृदय की विशालता के कारण, ये क्रमशः बहुत विख्यात हो चले और इनके उपदेशों का प्रचार उत्तरप्रदेश के प्रयाग, लखनऊ आदि से लेकर पश्चिम की ओर जयपुर, गुजरात, काबुल आदि तक तथा पूरब और उत्तर की ओर पटना एवं नेपाल तक होता गया और प्रसिद्धि है कि इनकी कोई गद्दी श्रीकाकुलम् (आंध्र प्रदेश) तक में पाई जाती है। परंतु इनके अनुयायियों का सर्वप्रमुख केंद्र कड़ा ही समझा जाता है। [प० च०]

मलेरिया प्रोटोज़ोआ संघ की अनेक परजीवी जातियों द्वारा उत्पन्न रोग है। मनुष्य में केवल प्लैजमोडियम (Plasmodium) वंश के सदस्य ही यह रोग उत्पन्न करते हैं। ये जीव मानव शरीर के अचल ऊतक कोशों (यकृत के मृदूतक कोश) में खंडविभाजन अवस्था पूर्ण कर रक्त के लोहितागुओं पर आक्रमण करते हैं और फलस्वरूप आवर्ती ज्वर, तिल्लीवृद्धि और रक्तक्षीणता उत्पन्न होती है। इन जीवों का संवाहन ऐनोफिलीज जाति की मादा मच्छर करती है (देखें मच्छर)।

मलेरिया विश्व के सबसे पुराने रोगों में से एक है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में जाड़ा देकर आनेवाले अंतरिया ज्वर का उल्लेख है, जिसमें कहा गया है कि कछुवे की पीठ सी कड़ी और बढ़ी हुई तिल्ली के कारण उदर का वाम भाग फूल आता था। हथौड़ा, ठंढा जल और चूल्हा लिए तीन प्रेत, सर दर्द, जड़ैया और ज्वर उत्पन्न करते हैं, ऐसी कल्पना प्राचीन चीन में की गई थी। मिस्र के मंदिरों में उत्कीर्ण आलेखों से इस रोग का संकेत मिलता है। ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व रोमन एपेडोक्लीज (Empedocles) ने सिसली स्थित सेलिनस के दलदलों से जल की निकासी का प्रबंध कर मलेरिया को भगाया था। इसी युग में हिपॉक्रेटीज ने मलेरिया का विशद वर्णन प्रस्तुत किया और दलदलों के विषाक्त जल को इसका कारण बताया। ईसा की प्रथम शताब्दी में कॉलुमेला (Columella) ने मच्छ्

सुझाव दिए कि घर दलदल के पास नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसमे कीट पतंगे पैदा होते हैं और ये कीचड़ तथा सड़ती हुई गंदगी से विष लेकर आते हैं तथा मनुष्य को काटकर गंदे रोग दे जाते हैं। अथर्ववेद में मच्छरो को शत्रु बताया गया है और उनके विनाश के लिये उसमे ओषधियों का उल्लेख है। अनेक विजय अभियान, कृषि योजनाएँ और कमानी संकल्प इस मलेरिया के कारण असफल हो गए। सिकंदर की मृत्यु और रोमन साम्राज्य के विघटन का दोष भी इसी रोग के माथे मढ़ा जाता है और इसी रोग के कारण पनामा नहर का निर्माण रुक गया था।

मलेरिया इतालवी शब्द है, जिसका अर्थ है दूषित वायु (मैल = दूषित, एरिया = वायु)। मध्ययुग में रूढ़िवादी चिकित्सक दूषित वायु को ही मलेरिया का कारण मानते थे और उन दिनों यूरोप में इसके भीषण आक्रमण होते थे। इस असहाय अवस्था से मानव की रक्षा करने के लिये सर्वप्रथम मलेरिया की एक ओषधि अवतीर्ण हुई, जिसका नाम है सिंकोना। पेरू के वाइसराय, चिकान के काउंट की पत्नी को मलेरिया हुआ था, जिसे पेरूवासी चिकित्सकों ने देशी ओषधि से अच्छा कर दिया। यह देशी ओषधि थी एक वृक्ष की छाल। पेरू से पादरी दल यह 'ज्वर वृक्ष' रोम लाया और इसका नाम काउटेस के नाम पर 'सिंकोना' रखा गया। आरंभ मे इस ओषधि का धार्मिक विरोध हुआ। प्रोटेस्टैंट दल ने 'पोपी चूर्ण' नाम देकर इसे धोखा बताया। कहते हैं, ऑलिवर क्रॉमवेल इसी कारण मर गया कि कोई भी अंग्रेज डाक्टर पोपी चूर्ण देने को तैयार न था। गुप्त ओषधि के रूप मे इसका उपयोग होता था और ज्वर विशेषज्ञ रॉबर्ट टैलबर ने इसी से अपार धन और यश कमाया। उसके रोगियों मे चार्ल्स द्वितीय और स्पेन की रानी भी शामिल थे।

भारत मे १८०४ ई० मे एक सर्जन जेम्स जॉन्सन थे और इनका रोगी सिंकोना चूर्ण देने से मर गया। बस जॉन्सन साहब ने फतवा दे दिया कि सिंकोना बेकार है, पुराना इलाज रेचन, स्वेदन और रक्तस्रवण ही ठीक है। अगले ३५ वर्षों तक सिंकोना का उपयोग नही हुआ। दो फ्रांसीसी वैज्ञानिकों ने सिंकोना का सत् कुनैन ढूँढ़ निकाला और शीघ्र ही संसार मे अनेक स्थानो पर कुनैन के कारखाने खुल गए। सिंकोना की माँग बढी, उसकी खेती का प्रयास होने लगा और डच लोगों को इसकी खेती मे सफलता प्राप्त हुई। जावा में सिंकोना की खेती को सफलता मिली। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जावा में प्रति वर्ष दो करोड़ टन सिंकोना की छाल उत्पन्न होती थी।

सन १८८० में अल्जीरिया में फ्रांसीसी वैज्ञानिक लेबरान ने मलेरिया के परजीवी ढूँढ निकाले। १८९४ ई० में मैंसन ने कहा कि शायद मच्छरों द्वारा मलेरिया का सवाहन होता है और मलेरिया विष से पीड़ित मच्छर जब पानी मे गिरकर मर जाते हैं, तब यह दूषित जल पीने से मलेरिया होता है। १८८९ ई० और १८९३ ई० में स्मिथ और किलबोर्न ने सिद्ध किया कि रोग के प्रसार में कीट आवश्यक हैं। १८९८ ई० मे भारत में रोनाल्ड रॉस ने पक्षी मलेरिया के चक्र का उद्घाटन किया। इन्होने क्यूलेक्स जाति के मच्छरों में पक्षी मलेरिया का मैथुनी चक्र देखा। इधर इटली में विविवत् वैज्ञानिक अनुसंधानों के फलस्वरूप बैतिस्ता ग्रासी, बिगनामी और बैस्टियानेली ने सिद्ध कर दिया कि मानवी मलेरिया चक्र ऐनोफेलीज जाति के मच्छरों में चलता है। यही नही, वे प्रयोगशाला में संक्रमित मच्छरों द्वारा स्वस्थ व्यक्ति में मलेरिया उत्पन्न करने में सफल हो गए।

इस प्रकार सिद्ध हो गया कि प्रोटो ज़ोआ संघ तथा स्पोरोज़ोआ वर्गीय प्लैज़मोडियम वंश के एककोशीय जीव मलेरिया के परजीवी हैं। इस वंश की अनेक जातियों में से प्ला० मलेरी (लेवरान, १८८१ ई०) चौथिया (quartan) ज्वर उत्पन्न करता है, प्ला० वाइवैक्स (ग्रासी और फैलेट्टी, १८९० ई०) सुदम्य तृतीयक, या पारी का ज्वर, और प्ला० फाल्सिपैरम (वेल्श, १८९७ ई०) दुर्दम्य तृतीयक (मैलिग्नैंट टर्शियन) ज्वर तथा प्ला० ओवेल (स्टीफेंस, १९२२) भी एक प्रकार का तृतीयक मलेरिया उत्पन्न करता है।

ओषधि अनुसंधान — परजीवी की शोध के साथ ही ओषधि तथा रोकथाम के उपायों की खोज भी चलती रही। १८९१ ई० मे पॉल अर्लिख ने बताया कि मेथिलीन ब्लू का मलेरिया पर कुछ प्रभाव होता है। अर्लिख ने रसायन चिकित्सा की नीव रखी। प्रथम महायुद्ध के समय जब जर्मनी को कुनैन मिलने मे कठिनाई हुई, तो नई मलेरिया-नाशक ओषधियों की शोध प्रारंभ हो गई। १९२४ ई० में शूनमान ने प्लास्मोचिन, १९३० ई० मे किकुथ और उनके सहयोगियो ने क्वीनाक्रीन (मेपाक्रीन) तैयार की। दूसरे महायुद्ध मे जब जावा पर जापानियो का कब्जा हो गया तो मित्र राष्ट्रों को कुनैन मिलना बंद हो गया। फिलीपीन से सिंकोना के चुने हुए बीज खेती के लिये दक्षिणी अमरीका लाए गए। इस प्रकार सिंकोना पूर्व की यात्रा कर घर लौट आया। १९४४ ई० मे ब्रिटिश वैज्ञानिक कुर्ड, डेवी और रोज ने ४,८८८वें यौगिक की परीक्षा की और 'पालुड्रीन' सी सफल ओषधि पा गए। इसी परंपरा मे नीवाक्वीन, डाराप्रिम, क्लोरोक्वीन और कामाक्वीन का जन्म हुआ और ये ओषधियाँ मलेरिया के उपचार मे ही नही वरन् रोकथाम मे भी सक्षम सिद्ध हुईं।

यह सिद्ध होने पर कि मलेरिया प्रसार में मच्छर दोषी हैं, मच्छरो के विनाश और उनके दंश से बचने के उपाय प्रारंभ हुए। जल की निकासी, रुके हुए जल पर लार्वा नाशक ओषधियो का छिड़काव, लार्वा भक्षक मछलियो का उपयोग, मच्छरदानी, मच्छर भगानेवाले धूप और क्रीमो का उपयोग तथा अन्य उपायों का व्यवहार होने लगा। जब पॉल मूलर ने डी० डी० टी० का आविष्कार किया, तो मलेरिया संघर्ष का दृष्टिकोण ही बदल गया। मलेरिया उन्मूलन की चेष्टा आरंभ हो गई। डी० डी० टी० के साथ ही अन्य कीटनाशक, यथा गैमाक्सेन, पाइरेथ्रम, क्लोरडेन, लिंडेन, डीलड्रिन आदि, मैदान मे आए। डी० डी० टी० संसर्गी कीटविष है और मलेरिया उन्मूलन मे इसका उपयोग मच्छर विनाश से अधिक मलेरिया चक्र तोड़ने के उद्देश्य से होता है। मादा ऐनोफेलीज रक्तपान कर कमरे के अँधेरे कोने मे दीवार पर विश्राम करती हैं और यहाँ डी० डी० टी० छिड़का हो, तो कुछ समय बाद यह मलेरिया संवाहिका मर जाती है और इस प्रकार मलेरिया चक्र टूट जाता है।

मलेरिया का प्रसार — मलेरिया संसार के सभी भागों में होता है, किंतु विशेष रूप से उष्ण कटिबंध में। भारत में मलेरिया उन्मूलन का

कार्यक्रम लागू होने से पूर्व प्रति वर्ष एक करोड़ व्यक्ति आक्रांत होते थे और १० लाख मौतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसी के कारण होती थीं। अनुमान है कि १९४३ ई० में संसार में ३० करोड़ मनुष्यों को मलेरिया हुआ, जिनमे से ३० लाख मर गए। सुदम्य तृतीयक, या पारी का बुखार, सबसे अधिक व्यापक है, दुर्दम्य तृतीयक खतरनाक होता है और चौथिया भूमध्यसागरीय क्षेत्र मे सीमित है। मलेरिया प्रसार की महत्वपूर्ण कड़ियाँ हैं : ऐनोफैलीज़ मच्छर, परजीवी भंडार (रोगी), मलेरिया प्रभाव्य मानव समूह, अनुकूल जलवायु, वर्षा, व्यवसाय, आर्थिक अवस्था, कृषि, युद्ध, देशातरण आदि।

मलेरिया परजीवी - ये परजीवी मनुष्य, बंदर, पक्षी, और सरीसृप मे पाए जाते हैं। मानवी मलेरिया की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। इन जीवों के दो जीवनचक्र होते हैं : एक मनुष्य में, अमैथुनी चक्र, और दूसरा मच्छर मे, मैथुनी चक्र। मच्छर के दंश से आए बीजाणु (spores) ऊतकों मे विश्राम करने के बाद लोहितागुओं मे प्रवेश करते हैं। यहाँ ट्रोफोज़ोआइट (trophzoite, पोष बीजाणु) के रूप में आगे विकास होता है, और अंत में अनेक नन्हें खंडों में विभाजित होने पर खंडप्रसू (schizont) बनता है। अब लोहितागु फट जाता है और खंडज (merozoite) नए लोहितागुओं पर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार परजीवी की संख्यावृद्धि होती रहती है। विभिन्न परजीवियों के अमैथुनीचक्र मे थोड़ा अंतर होता है और कुछ मे वृद्धिकाल मे एक प्रकार का विषाक्त रंजक भी बनता है। एक चक्र पूरा होने पर जब लोहितागुओ का नाश होता है, तब ज्वर आता है।

मैथुनी चक्र–कुछ खंडप्रसू यौन रूप, या युग्मक जनकाणु रूप, धारण करते हैं और ये रूप जब रक्तपान कर रहे मच्छर के पेट मे जाते हैं, तो मैथुनीचक्र प्रारभ होता है। नर मादा युग्मक जनकों का संयोग होकर, ऊकिनीट बनता है, जो रेंगकर मच्छर के आमाशय की दीवार के बाह्य तल पर घर बनाता है। इसे युग्मकपुटी कहते हैं। इसमे विभाजन प्रक्रिया द्वारा बड़ी सख्या मे बीजाणु बनते है। अंत मे पुटी फट जाती है और बीजाणु मच्छर की लालाग्रंथि मे घुस जाते हैं। अब यह मच्छर स्वस्थ मनुष्य को काटता है, और स्वभाव के अनुसार दश स्थल मे थूक भी देता है। उसकी लार म परजीवो बीजाणु भरे होते हैं। ये बीजाणु स्वस्थ मनुष्य मे नया अमैथुनी चक्र प्रारभ करते हैं।

मच्छर -- मच्छर ससार के सभी भागो मे रहते हैं। मलेरिया संवाहक ऐनोफेलीज़ की ३५ उपजातियाँ हैं। भारत मे ए० फ्युनेसटस, ए० क्युलिसीफसीज़, ए० स्टीफेनसाई, ए० मैकुलेटस और ए० मिनिमस जातियाँ मलेरिया सवाहक हैं। मच्छर के जीवनचक्र का भी विस्तार से अध्ययन किया गया है। ऐनोफेलीज के साथ ही क्यूलेक्स मच्छर भी बड़ी संख्या मे मिलते है और इन दोनों मच्छरो को पहचानने के तरीकों का उल्लेख किसी भी मलेरिया सबंधी पुस्तक मे देखा जा सकता है। मच्छर के जीवन की चार अवस्थाएँ होती हैं : अंडे, लार्वा, प्यूपा और वयस्क मच्छर (देखे मच्छर), और इन सभी का अध्ययन मलेरिया विनाश कार्यक्रम के लिये आवश्यक है।

मलेरिया ज्वर --- मच्छर काटने के दस दिन बाद सुदम्य तृतीयक ज्वर आता है। इसमें एक दिन का अंतर देकर बुखार आता है और चार घंटे तक रहता है। चौथिया ज्वर दंश के २० दिन बाद प्रकट होता है और दो दिन का अतर देकर ज्वर आता है। दुर्दम्य तृतीयक अनियमित और प्रति दिन चढनेवाला ज्वर है। बहुधा यह निमोनियाँ, बेहोशी या अतिसार के रूप मे भी प्रकट होता है।

मलेरिया ज्वर हलकी सर्दी से प्रारंभ होता है, फिर तेज जाड़ा लगता है, दाँत किटकिटाते हैं, कँपकँपी का दौरा होता है, त्वचा छूने पर बर्फ सी ठढी लगती है, पर ताप ४० डिग्री सेंटीग्रेड (१०४° फा०) तक या उससे भी अधिक हो जाता है। तबीयत घबराती है, जी मिचलाता है। ठढ का वेग घटता है और शुष्क दाह प्रारभ होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बदन मे आग लगी है। उन्माद सी अवस्था, अतृप्त प्यास, सिर मे धमधमाहट, लाल आँखें, और अनाप शनाप बक झक के लक्षण प्रगट होते हैं। सहसा तापहर पसीने की फुहार छूटती है, शय्या और वस्त्र भीग जाते हैं, ताप घटता है और रोगी सो जाता है। कुछ समय तक शांति रहती है, फिर नया आक्रमण होता है। अनेक आक्रमणों के बाद रक्तक्षीणता और तिल्ली की वृद्धि होती है।

तीव्र मलेरिया अनेक रूपों मे मिलता है : (१) प्रमस्तिष्कीय (cerebral) — इसमें बेहोशी, लकवा, दौरा आदि के लक्षण रहते हैं, (२) शीत ज्वर — इसमे मानसिक आघात के लक्षण रहते हैं, (३) हृदीय -- इसमे दुःश्वास, अंधमता, रक्त परिसचरण की घात आदि लक्षण रहते हैं, (४) आमाशयांत्रिक — इसमे विशूचिका या आमाशयव्रण के लक्षण रहते हैं, (५) उदरीय — इसमें उदर स्थित अगो के रोगों के लक्षण रहते हैं, (६) परप्यूरिक — इसमें त्वचा तथा अन्य अगो मे रक्तस्राव होता है तथा (७) वृक्कीय -- इसमे मूत्र मे ऐल्बूमेन तथा वृक्क रोग के लक्षण रहते हैं।

मलेरिया का निदान — रक्त मे मलेरिया परजीवी की उपस्थिति, ज्वर के आक्रमण का रूप, लक्षणसमूह, रक्त मे श्वेत रुधिर कणिकाओ की संख्या मे ह्रास, रक्तक्षीणता, तिल्ली की वृद्धि आदि निदान मे सहायक होते हैं।

प्रतिरक्षा — मलेरिया के आक्रमणो के प्रति मलेरिया के क्षेत्र के निवासियों मे निम्न श्रेणी की प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है, पर इसका रूप स्पष्ट नहीं है।

बचाव तथा उपचार -- मलेरिया उन्मूलन के लिये मच्छरों का विनाश, तथा मच्छरों और मानव के संपर्क मे रुकावट के उपाय किए जाते हैं। शरीर मे ओषधि द्वारा बचाव संभव है। पहले कुनैन की टिकिया खाते थे, पर इससे बधिरता, त्वचा की विवर्णता, पाचन की गड़बड़ी आदि कुप्रभाव होते थे। युद्ध के बाद नई ओषधियाँ सक्षम सिद्ध हुई हैं। इनमें पैलुड्रिन, लाल रुधिर कणिकाओं मे प्रवेश करने से पूर्व ही, परजीवी को नष्ट कर देती है। उपचार में कुनैन और मेपाक्रीन दुर्दम्य तृतीयक के युग्मक जनक को छोड़ सभी अवस्थाओ पर असर करती हैं; पामाक्वीन युग्मक जनक का सहार करती है। क्लोराक्विन, नीवाक्विन, पैलुड्रिन और कामाक्विन तीव्र गति से क्रिया करनेवाली मलेरिया नाशक ओषधियाँ हैं।

उन्मूलन — सफल चिकित्सा और प्रबल कीटनाशकों ने मानव को मलेरिया के उन्मूलन की ओर अग्रसर किया। १९४५ ई० में

वेनिजुएला में प्रथम राष्ट्रीय उन्मूलन कार्यक्रम आरंभ हुआ। इटली ने इसका अनुसरण किया। १९५५ ई० मे पॉल रसेल और एमिलो पांपाना द्वारा प्रेरित, विश्वव्यापी मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम विश्व स्वास्थ्य संगठन के तत्वावधान मे आरंभ हुआ। विगत दस वर्षों से मलेरिया लुप्त हो चला है।

कुछ मच्छरों ने डी० डी० टी० विष का प्रतिरोध कर परेशानी पैदा कर दी है। वैज्ञानिकों ने यह ज्ञात किया है कि मच्छर के प्रतिरोध का कारण उसमे वर्तमान डी० डी० टी० नाशक एंजाइम है और अब वे इसका प्रतिकार ढूँढ़ रहे हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने तो इस शोध के सिलसिले मे मच्छरों मे कृत्रिम गर्भाधान कराने मे सफलता प्राप्त की है। मलेरिया, मच्छर और मानव का त्रिकोणात्मक युद्ध अब अपने आखिरी चरण मे है और हमारे प्रयास शिथिल न हुए तो विजय दूर नहीं है। [भा० शं० मे०]

मलैका (Malacca) १ नगर, स्थिति : २° १५' उ० अ० तथा १०२° १५' पू० दे०। यह मलाया प्रायद्वीप के पश्चिमी समुद्रतट पर ६४० वर्ग मील में फैले हुए मलैका प्रदेश की राजधानी तथा बंदरगाह है। यह एक अति प्राचीन यूरोपीय बस्ती है। कहा जाता है, मलाया के राजा ने सन् १४०३ मे इस नगर की स्थापना की थी। द्वितीय विश्वमहायुद्ध के समय यह जापानियों के अधीन रहा एवं १९५१ ई० में स्वतंत्र हुआ और मलाया गणतंत्र का एक सदस्य हो गया। प्राचीन काल से ही भारत तथा चीन से इसका व्यापारिक संबंध है पर इसकी अत्यधिक वृद्धि अंग्रेजों के आने के बाद ही हुई। नवीन मलैका मे अब भी पुर्तगाली और हॉलैंड वासियो के प्राचीन भवनो के ध्वसावशेष मिलते हैं। यह पूर्वी एशिया का सबसे महत्वपूर्ण तथा बड़ा औद्योगिक केंद्र है। इसके पृष्ठप्रदेश में भूमध्यरेखीय सघन सदाबहार वन पाए जाते हैं। तटीय भागो मे पश्चिम की ओर मैंग्रोव जाति के वृक्ष अधिक पाए जाते हैं। यहाँ का मुख्य उद्यम कृषि है। यहाँ के निवासी रबर, धान, नारियल, अनन्नास तथा गरम मसालों की खेती करते हैं। इस बंदरगाह से रबर, नारियल, चावल तथा गरम मसालों का निर्यात होता है। इसकी जनसंख्या ३,५५,२७१ (१९६२) है।

२. जलडमरूमध्य, सुमात्रा तथा मलाया प्रायद्वीप को एक दूसरे से अलग करनेवाला एक जलडमरूमध्य है जो दक्षिणी चीन सागर तथा हिंद महासागर को आपस मे मिलाता है। इस जलसंधि की लंबाई ५०० मील तथा चौड़ाई २५ मील से १०० मील तक है। इसके दक्षिण-पूर्वी छोर पर स्थित एक छोटे द्वीप पर सिंगापुर स्थित है। इस जलसंधि के द्वारा संसार का सबसे अधिक माल आता जाता है। [वि० रा० सिं०]

मल्लिनाथ संस्कृत के सुप्रसिद्ध टीकाकार। इनका पूरा नाम कोलाचल मल्लिनाथ था। पेड्डु भट्ट भी इन्हीं का नाम था। ये संभवत: दक्षिण के निवासी थे। इनका समय प्राय. १४वीं या १५वी शती माना जाता है। ये काव्य, अलंकार, व्याकरण, स्मृति, दर्शन, ज्योतिष आदि के विद्वान् थे। व्याकरण, व्युत्पत्ति एवं अर्थ-विवेचन आदि की दृष्टि से इनकी टीकाएँ विशेष प्रशंसनीय हैं। टीकाकार के रूप में इनका सिद्धांत था कि 'मैं ऐसी कोई बात न लिखूँगा जो निराधार हो अथवा अनावश्यक हो।' इन्होंने रघुवंश, मेघदूत, कुमारसंभव, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय, नैषधचरित, अमरकोष आदि ग्रंथों की टीकाएँ लिखीं जिनमे उक्त सिद्धात का भली भाँति पालन किया गया है।

मल्हारराव होल्कर इंदौर राजवंश के संस्थापक मल्हारराव होल्कर ने बाजीराव के नेतृत्व में अनेक युद्धो में भाग लिया था। बालाजी बाजीराव के शासनारंभ में उसने धार पर कब्जा किया (१७४१) जिससे संपूर्ण मालवा पर अधिकार संभव हो सका। जयपुर की उत्तराधिकार की समस्या मे हस्तक्षेप करने के कारण मल्हारराव और जयप्पा सिंधिया में वैमनस्य का बीजारोपण हुआ, जिससे महाराष्ट्र ने भविष्य में राजपूतों का सहयोग तो खोया ही, साथ में होल्कर तथा सिंधिया राजवंशो मे परंपरागत शत्रुता बँध गई। मल्हारराव ने जाट राजा सूरजमल से भी अनावश्यक शत्रुता मोल ली। इस युद्ध मे उसके पुत्र खंडेराव की मृत्यु हुई। मल्हारराव का रोहिल्ला नायक नजीब खाँ का पक्ष ग्रहण करना भी महाराष्ट्र के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ। अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध दत्ताजी सिंधिया को सामयिक सहायता न प्रदान करने के कारण, वह सिंधिया की पराजय और मृत्यु का अपरोक्ष कारण बना। २० मई, १७६६ को उसकी मृत्यु हुई।

सं० ग्रं० — गोविंद सखाराम सरदेसाई : दि न्यू हिस्ट्री ऑव दि मराठाज [रा० ना०]

मविल आल्फोन्ज मारी दि (१८३६–१८८५) फ्रेंच चित्रकार। विशेषकर क्रीमिया, इटली और मेक्सिको मे फ्रांस के आक्रमण और युद्ध के दृश्यों को सजीव रूप से प्रस्तुत करने मे ख्याति अर्जित की। कालेज से 'बैचलर ऑव लेटर्स' की डिग्री प्राप्त कर वह लोरिएट के सैन्य कालेज में दाखिल हो गया और वहाँ से प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद लगभग १८५६ ई० में कला की ओर आकृष्ट हुआ। उसकी सर्वप्रथम कृति एक युद्ध के पाँचवें बैटालियन का दृश्य प्रस्तुत करती थी। १८६१ में 'दि लाइट हॉर्स गार्ड्स इन दि ट्रेंचेज ऑव दि मेमलन वर्ट' नामक उसकी दूसरी कलाकृति सलून मे प्रदर्शित की गई। जर्मनी से युद्ध के दौरान वह स्वयं मोर्चे पर लड़ाई में शामिल हुआ। 'दि लास्ट कैर्ट्रिजेज' 'दि सरप्राइज ऐट ले ब्रेक' 'दि डिस्पैच बेयरर' आदि कतिपय सुप्रसिद्ध चित्रों के अतिरिक्त उसके जुनू युद्ध के दृश्यांकन भी सफल बन पड़े।

पुस्तको के डिजाइन और दृष्टांत चित्र बनाने मे भी वह बड़ा ही दक्ष था। उसने अनेक कथाप्रसंग और साहित्यिक विषयो को लेकर चित्र बनाए। [श्र० गु०]

मशीनगन थल सेना और वायु सेना का आधुनिक हथियार है, जिससे लगातार या एक एक करके, जैसी आवश्यकता हो, दोनो तरह से फायर हो सकता है। ससार के विभिन्न देशो मे कई तरह की मशीनगनें प्रयुक्त हो रही हैं, जिनमे थोड़ा बहुत अतर है और उनके अपने अलग अलग नाम हैं। लेकिन मूल रूप से मशीनगनों के अतर दो तीन ही हैं।

साधारणतया इस हथियार के चार प्रकार हैं : हलकी या लाइट मशीनगन, मझोली या मीडियम मशीनगन, भारी या हैवी मशीनगन

और सबसे छोटी सब मशीनगन, या मशीन कार्बाइन। हलकी और मझोली, और किसी किसी भारी मशीनगन में भी, आम तौर से वही कारतूस प्रयुक्त होते हैं, जो इस देश की रायफल में। इस हथियार मे फायर की दर इतनी ऊँची होती है कि कारतूसों की पूर्ति की समस्या हर देश के सामने रहती है। दो तीन हथियारों में एक ही तरह का कारतूस प्रयुक्त करने से, यह समस्या और कारतूसों के उत्पादन की समस्या बहुत कुछ सरल हो जाती है। मशीन कार्बाइन में आम तौर से स्वचालित पिस्तौल का कारतूस काम में लाया जाता है। भारी मशीनगनों की नाल का छेद (bore) प्रायः रायफल की नाल के छेद से बड़ा होता है और उसमें कारतूस भी रायफल के कारतूस से बड़ा लगता है।

मशीनगनों मे पहला अंतर उनकी नाल को ठंढा रखने की विधि में होता है। लगातार फायर करने से मशीनगन की नाल बहुत गरम हो जाती है। अगर बहुत गरम होने के बाद भी उससे फायर किया जाय, तो नाल की धातु के मुलायम हो जाने से और उसमें बराबर गोली की रगड़ लगने से नाल के अंदर बना हुआ खाँचा नष्ट, हो जाता है और नाल बेकार हो जाती है। इसलिये अधिकतर मशीनगनो के साथ फालतू नालें रहती हैं। अधिक समय तक लगातार फायर करने की आवश्यकता होने पर नाल बहुत गरम होने के पहले ही बदली जा सकती है और फायर जारी रखा जा सकता है।

नाल को ठंढा रखने के लिये दो वस्तुएँ काम मे लाई जाती हैं: पानी या हवा। पानी से ठंढी होनेवाली मशीनगनों मे बेलन के आकार की एक टंकी होती है, जिसके बीच में से होकर गन की नाल फिट की जाती है। इन टंकियो में पानी भरा रहता है। ५०० गोलियाँ लगातार फायर होने के बाद यह पानी खौलने लगता है और २,००० गोलियाँ फायर होने के बाद टंकी को फिर भरने की जरूरत पड़ती है। भारतीय सेना में प्रयुक्त होनेवाली विकर्स (Vickers) मझोली मशीनगन और अमरीकी सेना में प्रयुक्त होनेवाली ब्राउनिंग मशीनगन इसी प्रकार की हैं।

हवा में ठंढी होनेवाली मशीनगनों की नाल के ऊपर बहुत सी नलियाँ उसी प्रकार बनी रहती हैं जिस प्रकार मोटर साइकिल के चारो ओर बनी रहती है। किसी किसी मशीनगन में बहुत
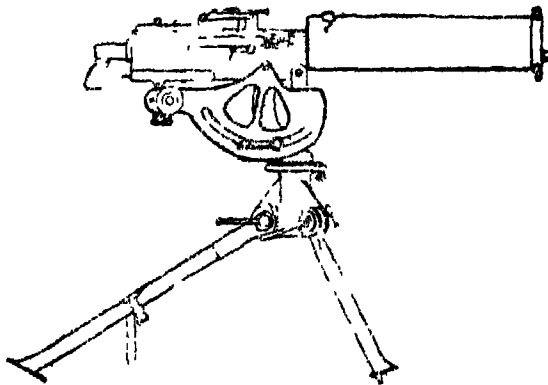
चित्र १. ब्राउनिंग मशीनगन

से सूराखों का बेलन नाल के चारो ओर लगाया जाता है। नाल के गरम होने से इसके चारो ओर की हवा गरम होकर हलकी हो जाती और ऊपर उठ जाती है तथा चारों ओर की हवा आकर उसकी जगह ले लेती है। इस प्रकार लगातार हवा का बहाव स्थापित हो जाता है। बराबर ठंढी हवा लगने से नली बहुत कुछ ठंढी रहती है। पर यह विधि तभी सफल हो सकती है, जब लगातार फायर अधिक देर तक न किया जाय। इस प्रकार की मशीनगनें थोड़ी थोड़ी गोलियो के फायर करने के अधिक उपयुक्त हैं। भारतीय सेना की हलकी ब्रेन मशीनगन, या टैंकों मे लगनेवाली ७·९२ बीज़ा (Besa) मशीनगन, इसी प्रकार की होती है। मशीन कार्बाइन भी हवा में ठंढी होनेवाली बनाई जाती है।

मशीनगनो का दूसरा बड़ा अंतर उनकी लगातार फायर करने की विधि मे होता है। इसमे मुख्यत. दो ही वर्ग हैं: (१) गैस से चलनेवाली और (२) विस्फोट के धक्के से चलनेवाली। पर ऐसी कई मशीनगनें भी आजकल उपयोग में हैं जिनमे इन दोनों सिद्धांतों को मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है।

गैस के जोर से चलनेवाली मशीनगनो मे नाल के तल में एक छेद होता है, जो नाल के नीचे लगे हुए एक बेलन से संबंधित होता है। नीचे के बेलन मे एक पिस्टन आगे पीछे हरकत करता है। पिस्टन के ऊपर ब्रीचब्लॉक (breech block) जुड़ा रहता है। पिस्टन के तने मे एक स्प्रिंग लगी होती है, जो पिस्टन को आगे ठेलती रहती है। कारतूस के चलने पर नाल मे गैस भर जाती है, जो गोली को बहुत जोर से आगे को ढकेलती है। जब गोली नाल मे सूराख के आगे पहुँच जाती है, तो कुछ गैस सूराख मे होकर नीचेवाले बेलन मे पहुँच जाती है और पिस्टन के सिर पर ठोकर मारती है। इससे पिस्टन ब्रीचब्लॉक को साथ मे लेकर पीछे चला जाता है और साथ ही मे चला हुआ कारतूस भी खिंच आता है। चला हुआ कारतूस एक सूराख से बाहर गिर पड़ता है और पीछे की स्प्रिंग पिस्टन और ब्रीचब्लॉक को आगे ढकेल देती है। ब्रीचब्लॉक मे लगा हुआ फीड पीस (feed piece) मैगज़ीन से एक नया कारतूस लेकर, नली के चेंबर तक पहुँच जाता है। कारतूस चेंबर के भीतर चला जाता है और ब्रीचब्लॉक में लगा हुआ फायरिंग पिन (firing pin) कारतूस से टकराकर फायर कर देता है। भारतीय सेना की ब्रेनगन इसी सिद्धांत पर काम करती है।

विस्फोट के धक्के से चलनेवाली मशीनगनो में फायर के धक्के से ब्रीचब्लॉक पीछे आ जाता है। एक स्प्रिंग ब्रीचब्लॉक को फिर आगे ढकेल देती है। ब्रीचब्लॉक मैगज़ीन से एक कारतूस लेता हुआ आगे आ जाता है। ब्रीचब्लॉक मे लगा हुआ कर्षक (extractor) कारतूस को पकड़ लेता है और कारतूस चेंबर मे बैठ जाता है। ब्रीचब्लॉक मे लगा हुआ फायर पिन कारतूस को फायर कर देता है और फिर ब्रीचब्लॉक चले हुए कारतूस को लेकर पीछे चला जाता है। इस तरह ब्रीचब्लॉक आगे पीछे हरकत करता रहता है। भारतीय सेना की स्टेन मशीन कार्बाइन इसी तरह से फायर करती है।

कुछ ऐसी भी मशीनगनें होती हैं जिनमे विस्फोट और गैस दोनों को गन चालू रखने में काम में लाया जाता है। विकर्स मझोली मशीनगन इसी तरह से काम करती है।

मशीनगनों मे कारतूस लगाने का काम कई तरह से होता है। कुछ

मशीनगनों में मोटे कपड़े की पेटियाँ होती हैं, जिनमें कारतूस लगाने के लिये जगहें बनी होती हैं। एक पेटी में साधारणतः २५० कारतूस लगे होते हैं। पहले कारतूस को हाथ से चैंबर में लगा देते हैं और इसके बाद जैसे जैसे फायर होता जाता है, पेटी आगे बढ़ती जाती है। विकर्स मशीनगन में इसी प्रकार कारतूस पहुँचाने का प्रबंध है।

कुछ मशीनगनों में पेटी की जगह धातु की एक पट्टी होती है, जिसमें कारतूस लगा दिए जाते हैं। पट्टी को हाथ से ठीक जगह पर रख दिया जाता है, जिससे पहला कारतूस चैंबर में आ जाता है। फायर शुरू होने पर पहले की तरह पट्टी आगे बढ़ती जाती है। यह तरीका अब लुप्तप्राय है।

अधिकतर मशीनगनों मे कारतूस पहुँचाने के लिये एक मैगजीन लगाई जाती है। यह धातु का एक बॉक्स होता है, जिसकी पेंदी के नीचे एक स्प्रिंग लगी होती है। यह एक प्लेट को ऊपर की ओर ठेलती है। स्प्रिंग के जोर से कारतूस ऊपर की ओर उठे रहते हैं और उन्हें आगे की ओर से बक्स का बाहर की ओर निकला हुआ किनारा रोके रहता है। कारतूस सीधा बाहर की ओर नही निकल सकता, पर सरकाकर आगे किया जा सकता है। गन के ब्रीचब्लॉक में एक फीड पीस लगा रहता है, जिसका काम मैगजीन से कारतूस को सरकाकर चैंबर में ले जाना है। इन मैगजीनो मे २० से लेकर ३० कारतूस भरे जाते है। अलग अलग देशों में भिन्न भिन्न क्षमता के मैगजीन बनते हैं। मशीन कार्बाइन का मैगजीन अधिक कारतूस के लिये बनाया जाता है और कुछ देशों के मशीन कार्बाइन के मैगजीनों मे ४० कारतूस तक आ जाते हैं।

भारत की सेना में ब्रेन और स्टेन दोनों में बॉक्स मैगजीन काम में लाया जाता है।

बॉक्स मैगजीन के अतिरिक्त कुछ गनों में ड्रम मैगजीन भी प्रयुक्त होते हैं। इनमें कारतूस भी बहुत आ जाते हैं; पर इनका काम बहुत संतोषजनक नही होता, इसलिये ये भी अब लुप्तप्राय हैं।

मशीनगन के लगातार फायर से जो कंपन होता है, उससे ठीक निशाना लगाना बहुत कठिन होता है। मशीन कार्बाइन में तो बहुत छोटा कारतूस प्रयुक्त होता है। इसलिये वह आदमी जो इसको चला रहा हो, अपनी मजबूत पकड़ से उसको काबू मे रखकर बहुत कुछ ठीक फायर कर सकता है। लेकिन मशीनगनों मे इतना शक्तिशाली कारतूस प्रयुक्त होता है कि उसके लगातार फायर को ठीक निशाने पर पहुँचाना आदमी की ताकत के बाहर की बात है। मझोली और भारी मशीनगनें इतनी भारी भी होती हैं कि एक आदमी कंधे से लगाकर रायफल की तरह उनको चला भी नहीं सकता। इसलिये सब मशीनगनो में स्थिर रखने के लिये कई तरह की स्थापन व्यवस्था (माउंटिंग) होती है। हलकी मशीनगनों मे तो दो पैरवाली दुपाई (bipod) से ही काम चल जाता है। दुपाई नाल के लगभग बीच मे लगी होती है और जमीन पर ठीक तरह जमाने के बाद फायर के समय नाल को स्थिर रखने मे बहुत मदद देती है।

भारी और मझोली मशीनगनों में तीन पैरवाली तिपाई (tripod) लगती है। फायर करनेवाला मशीनगन के पीछे बैठता है और आवश्यकतानुसार मशीन को घुमा सकता है। कुछ मशीनगनें चारों ओर घूम सकती हैं, पर कुछ मशीनगनें निश्चित सीमा के अंदर ही घुमाई जा सकती हैं। जो मशीनगनें टैंक में प्रयुक्त होती हैं, उनमें उचित माउंटिंग लगा होता है, जिससे टैंक से उनका ठीक ठीक उपयोग हो सके।

भारत में ब्रेनगन दुपाई पर लगती है और विकर्स मशीनगन तिपाई के ऊपर लगाई जाती है।

लड़ाई मे मशीन कार्बाइन और हलकी मशीनगन को लेकर आदमी चलते हैं। अलग अलग देशों की मशीन कार्बाइनों और हलकी मशीनगनों का वजन अलग अलग होता है, पर मशीन कार्बाइन का औसत वजन आठ से सौ पाउंड और हलकी मशीनगन का औसत वजन २० से २४ पाउंड तक होता है। मझोली मशीनगनों का वजन ४० से ५६ पाउंड तक होता है। मझोली मशीनगनों को कुछ दूर तक तो आदमी लेकर चल सकते हैं, पर अधिकतर इनको ट्रक में ले जाते हैं। अलग अलग देशों की भारी मशीनगनों के वजन में बहुत अधिक अंतर होता है। इसलिये उनका औसत वजन नही बताया जा सकता। अधिकतर यह टैंको, आरमर्ड कारों, या हवाई जहाज में लगी होती हैं।

मशीन कार्बाइन समीप की लड़ाई का हथियार है। इससे कूल्हे के सहारे, बिना निशाना लिए बहुत जल्दी, या कंधे से निशाना साधकर, फायर हो सकता है। पहली तरह से इसकी मार आम तौर से ५० गज तक और दूसरी तरह से करीब २०० गज तक होती है।

हलकी मशीनगन का हर मौके पर, और सबसे ज्यादा, उपयोग होता है। इसकी ठीक मार ५०० गज है, यद्यपि १,००० गज तक इसका फायर कारगर हो सकता है।

मझोली मशीनगन का अधिकतर उपयोग आगे के अपने सैनिकों के ऊपर से, या बगल से बचाव का फायर करने, बचाव मे सामने की जमीन मे दुश्मन को न आने देने, या टैंको से दुश्मन के ऊपर फायर करने मे होता है। इसकी कारगर मार २,५०० से ४,००० गज तक है। भारी मशीनगन का उपयोग टैंको और हवाई जहाजों मे होता है और इसकी मार ७,२०० गज तक है।

सब मशीनगनों और मशीन कार्बाइन के लगातार फायर की तेजी एक मिनट मे ४०० से ६०० गोलियाँ तक है। हवाई जहाज पर लगी कुछ मशीनगनें एक मिनट मे १,२०० गोलियाँ तक फायर कर सकती है। इससे यह न समझना चाहिए कि मशीनगनें आमतौर से इतना तेज फायर करती हैं। इतना तेज फायर तभी हो सकता है जब बराबर कारतूस गन मे पहुँचते रहें। पर बॉक्स मैगजीनवाली मशीनगनो में मैगजीन के खाली होने पर दूसरी मैगजीन चढानी पड़ती है। उसमे काफी समय निकल जाता है, जिससे फायर की तेजी बहुत कम हो जाती है। बेल्ट से कारतूस पहुँचानेवाली मशीनगनो में भी एक बेल्ट के खतम होने पर दूसरा बेल्ट लगाने की, या उसी मे दूसरा बेल्ट जोड़ने की जरूरत होती है और इस तरह उनका फायर भी धीमा पड़ जाता है।

अधिकतर मशीनगनों और मशीन कार्बाइनों में, जहाँ तक हो सके, एक एक करके ही फायर करने की कोशिश की जाती है। लगातार फायर बहुत जरूरत पड़ने पर ही किया जाता है, क्योंकि ऐसा करने से दुश्मन को मशीनगन की उपस्थिति का पता चल जाता है।

इतिहास — सन् १८६० में अमरीका मे सबसे पहले डॉ० गेटलिंग ने एक मशीनगन बनाई। इसमे एक धुरी के चारों ओर कई नालें लगाई गई थी। नालों की संख्या अलग अलग मशीनगनों में घटती बढ़ती रहती थी। इन नलियों को एक हैंडिल से घुमाया जाता था, जिससे एक एक करके सब नालों में लगे हुए कारतूस फायर हो जाते थे। कारतूसों की पूर्ति के लिये गन के ऊपर कारतूसों के लिये एक बॉक्स बना रहता था और गन के घूमने के साथ साथ, एक एक करके, ऊपर से कारतूस खाली चैंबरों में गिरते रहते थे। यह पहला आविष्कार था, जिसमें लगातार फायर करने में सफलता मिली। इस हथियार का उपयोग अमरीकन गृहयुद्ध में हुआ, पर इस हथियार को अच्छी तरह से न समझ पाने से इसका उपयोग अधिक कारगर न हुआ। इसका उपयोग बजाय पैदल सेना का एक अंग बनाकर करने के, तोपखाने की तरह किया गया। यह हथियार तोपों से बिलकुल भिन्न था और दोनों की विशेषताएँ बिलकुल अलग अलग थी। इस हथियार का पूरा फायदा न होने पर, इतना तो हुआ ही कि और देशों ने इसकी नकल करना शुरू किया। तरह तरह की गैटलिंग गनें बनी और १८७० ई० में फ्रांस मे मीट्रेज (mitrailleuse) बनाई गई,जिसमे नालें एक खोल के अंदर बंद की हुई थी, लेकिन फायर इसमे भी गैटलिंग गन की तरह एक हैंडिल घुमाने से ही होता था। इस गन का उपयोग फ्रांस और प्रशा के युद्ध मे सन् १८७० में हुआ, पर यह गन भी अधिक सफल सिद्ध न हुई।

कुछ दिनों तक हाथ से हैंडिल घुमाकर चलानेवाली मशीनगनें बनती रही। इनमें मुख्य गार्डनर (Gardner) और नॉर्डेनफेल्ड (Nordenfeld) हैं।

सन् १८८४ में पहली बार विस्फोट के धक्के का उपयोग करके अमरीका मे हीरम एम० मैक्सिम (Hiram S. Maxim) ने लगातार फायर करनेवाली मशीनगन बनाई। इस तरह की मशीनगनों मे बहुत उन्नति हुई और सन् १९१४-१८ की लड़ाई मे बहुत तरह की मशीनगनो का उपयोग हुआ। अब तक इस हथियार की विशेषताएँ समझने और इसका उपयोग करने की विधि पर काफी विचार हो चुका था, इसलिये इस हथियार ने लड़ाई की शक्ल ही बदल दी। घुड़सवार, जो अभी तक सेना के बहुत जरूरी और कारगर अंग समझे जाते थे, अब बिलकुल बेकार हो गए। फायर की दुरुस्ती और तेजी से सैनिकों का इकट्ठा होना, या सामने आकर लड़ना, असंभव हो गया। सैनिकों के बचाव के लिये खाइयाँ खोदकर और बिखरकर लड़ने की आवश्यकता पड़ी। मशीनगन फौज का प्रधान अस्त्र हो गई और युद्ध करने की रीति उसी पर आधारित हो गई।

लड़ाई के बाद भी मशीनगनो की बनावट मे बहुत उन्नति हुई, जिससे उनकी मजबूती और विश्वसनीयता बहुत बढ़ गई। धक्के से चलनेवाली मशीनगनों मे ब्रिटिश विकर्स और अमरीकी ब्राउनिंग बनीं, जो अभी तक अपने बहुत प्रारंभिक रूप में हैं। इसी काल में मशीनगन चलाने के लिये गैस का उपयोग आरंभ हुआ और लुइस मशीनगन इसी सिद्धांत पर बनाई गई। कुछ रायफलें भी इसी आधार पर बनीं, जो दूसरे महायुद्ध में बहुत काम आई।

इसी काल मे मशीन कार्बाइन का जन्म हुआ, जिसमें टामसन सब-मशीनगन, या टॉमी गन, बहुत प्रसिद्ध है। अमरीकन डाकुओं ने इसको
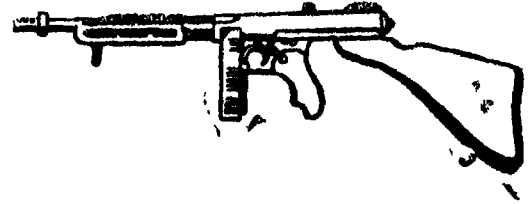
चित्र २. टॉमी गन

प्रसिद्धि दी और फिर बाद मे अनेक देशों की सरकारों ने यह हथियार सेना के लिये अपनाया। दूसरे महायुद्ध में इस हथियार के अनेक रूप बने तथा उनका लड़ाई में खूब उपयोग हुआ।

दूसरे महायुद्ध में टैंकों के आने से मशीनगन की पूर्ववाली स्थिति तो न रही, तब भी मशीनगन बनाने में बहुत उन्नति हो गई थी। मशीनगनों के लिये तरह तरह के माउंटिंग बने, जिनसे अनेक प्रकार से मशीनगनों का उपयोग किया जा सका। दूसरे महायुद्ध मे ही पहली बार भारी मशीनगनों का उपयोग हुआ, यद्यपि उनका आविष्कार लड़ाई के पहले ही हो गया था। आवश्यकतानुसार उनका आकार बराबर बढ़ता ही रहा और भारी मशीनगन २० मिलीमीटर हिस्पानो और ओर्लिकन तोपों मे बदल गई।

दूसरे महायुद्ध में ही स्वचालित रायफलो का भी विस्तृत रूप से उपयोग हुआ। इस हथियार से सिर्फ एक एक कर ही फायर हो सकता

चित्र ३. ब्राउनिंग स्वचालित रायफल

था और इसकी मैगजीन मे पाँच से लेकर १५ कारतूस भरे जाते थे। इस हथियार को चलाने के लिये अधिकतर गैस का ही उपयोग होता था, यद्यपि कुछ देशों ने धक्के से चलनेवाली स्वचालित रायफलें भी बनाईं। इन रायफलो मे अमरीकी गैरैंड (Garand) और जर्मन जी,१ (G_{41}) अधिक प्रसिद्ध हैं। ये रायफलें इतनी सफल सिद्ध हुईं कि लड़ाई के बाद अधिकतर देश पुराने चाल की सिटकनीदार रायफलों को छोड़कर, इसी तरह की रायफलों को उपयोग में लाते हैं। [एन० सी० च०]

मसऊदी (अबुल हसन अली इब्न हुसेन इब्न अली उल मसऊदी) अरब भूगोलवेत्ता तथा इतिहासज्ञ थे। इनका जन्म ९वीं सदी के अंत मे बगदाद (इराक) मे और देहांत ९५६ ई० के लगभग फोस्टाट में हुआ था। मसऊदी विद्वान्, उदार विचार के तथा इस्लाम के कट्टरपंथी विचारों से मुक्त थे। विभिन्न देशों तथा निवासियों के इतिहास, भाषा, धर्म, रहन सहन, रस्म रिवाज आदि का विशद और प्रत्यक्ष अध्ययन करने के विचार से ये विदेशयात्रा को निकल

पढ़े तथा इन्होंने सर्वप्रथम ईरान तथा करमान का भ्रमण किया। ९१५ ई० में ये इस्तख्र और ९१६ ई० में मंसुरा पहुँचे। वहाँ से कांबे होकर सैमूर की यात्रा की और फिर श्रीलंका गए। तत्पश्चात् मैडागैस्कर होकर ओमान की ओर से स्वदेश लौट गए। कुछ कालोपरांत इन्होंने उत्तर की ओर कैस्पियन सागर के तटीय भागों की यात्रा की तथा फिलिस्तीन (आधुनिक इजराइल) में कुछ समय रहकर यहूदी धर्म का अध्ययन किया। ९४३ ई० में वे ऐंटिओक तथा ९४५ में दमिश्क पहुँचे। अपने जीवन के अंतिम दस वर्ष इन्होंने मिस्र तथा सीरिया में व्यतीत कर शांतिपूर्वक अध्ययन किया। जीवन भर भ्रमण के कारण इन्हें पूर्व तथा पश्चिम के विभिन्न देशों के इतिहास तथा धर्मों का प्रचुर ज्ञान हो गया था। [का० ना० सिं०]

इतिहास तथा भूगोल संबंधी ग्रंथ—मसऊद ने अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें प्रायः सभी नष्ट हो चुके हैं। ३३२ हि० (९४३ ई०) में उन्होंने संसार के भूगोल तथा इतिहास से संबंधित अख्बारुज्जमान नामक जिस वृहत् ग्रंथ की रचना प्रारंभ की उसकी ३० जिल्दों में से केवल एक जिल्द वियना में वर्तमान है। इसके कुछ अंश मसऊदी ने किताबुल औसत नामक ग्रंथ में संमिलित कर दिए जिसका एक भाग आक्सफोर्ड में है। इन दोनों ग्रंथों का सारांश मसऊद ने मुरुजुज्जहब और मादनुल जवाहर नामक ग्रंथों मे प्रस्तुत किया जो प्राप्त हैं। इसकी रचना ९४७ ई० मे समाप्त हुई थी किंतु ९५६ ई० में मसऊद ने इसका पुनः संशोधन किया। अपने जीवन के अंतिम समय में मसऊद ने किताबु-अल्-तंबीह् वल् इश्राफ़ नामक ग्रंथ की रचना की थी जिसमें अपना जीवनवृत्तांत तथा अपने साहित्यिक कार्यों का विस्तृत विवरण दिया था।

मसऊदी का देशविशेष का अध्ययन गहन न था। भारतवर्ष के धर्मों के विषय में अलबरुनी ने जो कुछ लिखा है उसके सामने मसऊदी का विवरण बड़ा साधारण जान पड़ता है किंतु यहाँ के भूगोल एवं सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के विषय मे जो कुछ मसऊदी ने लिखा वह अधिक महत्वपूर्ण है।

सं० ग्रं०—इब्न-अल्-नदीम : किताब-अल्-फिह्‌रिस्त; सुबकी : तबकात-अल्-शाफिया; मसऊदी : किताब-अल्-तंबीह वल इश्राफ़; निकोलसन : ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑव दि अरब्स, मसऊदी कमेमोरेशन वाल्यूम (लाइडेन)। [सै० अ० अ० रि०]

मसारिक, टॉमस गरीगुए (१८५०–१९३७ ई०) टॉमस गरीगुए मसारिक चेकोस्लेवेकिया के प्रथम राष्ट्रपति थे। विएना विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर सन् १८७९ मे उसी विश्वविद्यालय मे वे दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। सन् १८८२ में जब प्राग विश्वविद्यालय का विभाजन हुआ तो उनको चेक का आचार्य बनाया गया। चेक देशभक्तों की सोकोल नामक संस्था के सदस्य तथा निर्देशक के रूप में उन्होंने प्राग में अप्रचलित विषयों पर भाषण दिए तथा कुछ पुस्तकों को प्रकाशित किया। सन् १८९१ मे मसारिक नव चेक दल के सदस्य बन संसद के लिये निर्वाचित हुए। किंतु शीघ्र ही उन्होंने त्यागपत्र देकर चेकवासियों के नैतिक उत्थान के लिये काम करना शुरू कर दिया।

सन् १९०० में मसारिक के समर्थकों ने उनके नेतृत्व में प्रगतिशील दल की स्थापना की जिसका प्रतिनिधित्व उन्होंने संसद् में किया। सन् १९१४ में वे आस्ट्रिया छोड़कर विदेश चले गए और चार वर्ष तक निरंतर फ्रांस, स्विटजरलैंड, जर्मनी, इंग्लैंड तथा रूस में राजनीतिक तथा प्रचारात्मक काम करते रहे। विदेशों में रहनेवाले चेकवासियों के सहयोग से मसारिक ने चेकोस्लावक राष्ट्रीय परिषद नामक केंद्रीय क्रांतिकारी समिति की स्थापना की। वे इसके अध्यक्ष थे। अमरीका तथा दूसरे मित्र राष्ट्रों ने १९१८ ई० में मसारिक की राष्ट्रीय परिषद को चेकोस्लेवेकिया की भावी गणतन्त्र सरकार के रूप में तथा मसारिक को उसके प्रथम राष्ट्रपति के रूप में मान्यता प्रदान की। वे पुनः दो बार राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। सन् १९३५ में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया।

मसारिक न केवल उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ ही थे वरन् प्रसिद्ध दार्शनिक भी थे। उन्होंने राजनीति, समाजशास्त्र तथा दर्शन पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। [ला० सिं०]

मसाला भोजन को रुचिकर, स्वादिष्ट और सुगंधित बनाने के लिये जिन द्रव्यों का उपयोग होता है उनका सामूहिक नाम मसाला है। मसाले से भोजन का परिरक्षण भी होता है। इन द्रव्यों में तेल होता है, जिसके कारण इनमें सुगंध होती है। प्राचीन काल में यूरोपीय देशों ने इन्हीं मसालों के उद्देश्य से भारत के मार्ग का पता लगाया। भारत के मसालों का व्यापार सुदूर रोम, मिस्र, ईरान तथा अरब देशों तक फैला हुआ था। इन मसालों में काली मिर्च इतनी मूल्यवान् थी कि व्यापारिक विनिमय में मुद्रा की तरह इसका उपयोग होता था। अन्य मसाले भी मूल्यवान् थे, इसलिये दवा तौलने के तराजू पर तौलकर इनका क्रयविक्रय होता था। इलायची, अजवायन, केसर, जायफल, जावित्री, जीरा, दालचीनी, धनिया, मिर्चा, राई, लौंग, सरसों, सौंफ, हल्दी, तेजपत्र तथा मेथी इत्यादि मुख्य मसाले हैं।

इलायची — यह दो प्रकार की होती है — छोटी इलायची तथा बड़ी इलायची। छोटी इलायची एलेटेरिया कार्डामोमम (Elettaria cardamomum) नामक बर्षानुवर्षी वृक्ष का शुष्क फल है। इसके बीजों में सुगंधित उड़नशील तेल होता है। यह मैसूर, मंगलोर, मालाबार, श्रीलंका में बहुतायत से होती है। बड़ी इलायची ऐमोमम कार्डामोमम (Amomum cardamomum) नामक वृक्ष का फल है। यह छोटी इलायची से कम सुगंधित एवं स्वादिष्ठ होती है। ईस्ट इंडीज में यह पर्याप्त मात्रा में होती है (देखें इलायची)।

अजवायन — यह कैरम कॉप्टिकम (Carum copticum) पौधे का बीज है और यह चरपरी, उत्तेजक तथा तीक्ष्ण होती है। ओषधि में इसका उपयोग होता है। इसमें एक प्रकार का तेल होता है। भारत में बंगाल में इसकी खेती होती है। मिस्र, ईरान तथा अफगानिस्तान में भी यह पौधा होता है (देखें अजवायन)।

केसर — क्रोकस सैटाइवस (Crocus sativus) नामक पौधे के पुष्प की शुष्क कुक्षियों को केसर कहते हैं। इसका आदिस्थान

दक्षिण यूरोप है। इसकी खेती भारत के कश्मीर में तथा चीन, ईरान, स्पेन आदि में होती है (देखें केसर)।

जायफल और जावित्री — ये मिरिस्टिका फ्रैग्रैंस (Myristica fragrans) नामक वृक्ष से प्राप्त होते हैं। जायफल वृक्ष का बीज एवं जावित्री बीजोपांग है। वृक्ष भारत में उगता है, किंतु व्यापार के लिये जायफल तथा जावित्री ईस्ट इंडीज से प्राप्त होते हैं। इन दोनों में उड़नशील सुगंधित तेल मिलता है। आमिष खाद्य में इनका उपयोग विशेषकर होता है (देखें जावित्री)।

जीरा — यह क्यूमिनम साइमिनम (Cuminum cyminum) नामक वार्षिक शाक का बीज है। इसमें तेल होता है, जिसके कारण इसमें गंध और तीक्ष्ण स्वाद होता है। यह भारत, चीन तथा अन्य भूमध्यसागरीय जलवायुवाले देशों मे उत्पन्न होता है।

तेजपत्र — यह लौरस नोबिलिस (Laurus nobilis) नामक वृक्ष की पत्ती है। यह भूमध्यसागरीय जलवायुवाले देशों में उत्पन्न होता है। शुष्क पत्ती का उपयोग विशेषकर आमिष खाद्य तथा रसदार सब्जियों मे होता है।

धनिया — यह कोरिऐंड्रम सैटाइवम (Coriandrum sativum) नामक पौधे का फल है। इसका आदिस्थान एशिया माइनर तथा दक्षिण यूरोप है। भारत में इसकी खेती बड़े पैमाने पर होती है। इसमें उड़नशील तेल होता है, जिसके कारण इसकी गंध है। इसका उपयोग ओषधि, शराब को सुगंधित करने और शाक भाजियों मे होता है।

दालचीनी — यह सिन्नेमोमम जाइलैनिकम ब्राइन (Cinnamomum zeylanicum Breyn) नामक सदाबहार वृक्ष की शुष्क छाल है। यह श्रीलंका, भारत, पूर्वी द्वीप तथा चीन मे उत्पन्न होती है। यह भोजन, पेय, तथा मिठाई को सुगंधित करने के काम में आती है (देखें दालचीनी)।

मेथी — यह ट्रिगोनेला फोएनम ग्रैकम (Trigonella foenum graecum) नामक शाक का बीज है। एक फल मे १० से २० तक बीज होते हैं। यह ओषधि और भोजन मे प्रयुक्त होती है तथा पुल्टिस बनाने के काम में आती है।

मिर्च — इसके अंतर्गत, काली, सफेद एवं लाल मिर्च आती है। पाइपर नाइग्रम लिन (Piper nigrum Linn) नामक लता सदृश बारहमासी पौधे के अधपके और रूखे फलो का नाम काली मिर्च है। पके हुए सूखे फलो को छिलको से पृथक् कर सफेद गोल मिर्च बनाई जाती है। सफेद गोल मिर्च तेजी और कड़वाहट मे काली मिर्च से कम किंतु सुगंध मे अधिक होती है। काली मिर्च के दानों मे पिपरीन, पिपेरिडीन और चैविसिन नामक ऐल्केलॉइड के अतिरिक्त सुगंधित तेल भी होता है। यह उत्तेजक, स्फूर्तिदायक एवं पाचक होती है। भारत में मालाबार, ट्रावनकोर तथा असम, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, वेस्ट इंडीज, इत्यादि मे उत्पन्न होती है (देखें काली मिर्च)।

लाल मिर्च कैप्सिकम ऐन्नुअम (Capsicum annuum) नामक वार्षिक पौधे का फल है। यह काली मिर्च से अधिक चरपरी तथा उत्तेजक होती है। भारत मे इसकी खेती बड़े पैमाने पर होती है, किंतु काली मिर्च की तरह इसका विश्वव्यापी प्रचार नहीं है। इसको सुखाकर और हरा दोनों प्रकार से उपयोग में लाते हैं।

राई और सरसों — ये ब्रैसिका (Brassica) नामक जातीय पौधे से प्राप्त होते हैं। काली सरसों को ब्रैसिका कैंपेस्ट्रिस (Brassica campestris), पीली सरसों को ब्रैसिका नैपस (Brassica napus) तथा राई को ब्रैसिका नाइग्रा (Brassica nigra) कहते हैं। सरसों के दानों का उपयोग मसाले, ओषधि तथा खाद के रूप मे होता है। बीज में तेल होता है, जो तीक्ष्ण और चरपरा होता है। इसके अतिरिक्त बीजो में साइनिग्रिन नामक ग्लूकोसाइड और माइरोसिन नामक एंजाइम होता है। सरसो के चूर्ण में पानी मिलाने पर एंजाइम क्रियाशील हो जाता है और साइनिग्रिन को कई यौगिकों मे विभक्त कर देता है, जिससे इसमें सुगंध उत्पन्न हो जाती है। उच्च ताप पर एंजाइम नष्ट हो जाता है। राई ब्रैसिका नाइग्रस का बीज है और इसे पीसकर पुल्टिस के काम मे भी लाया जाता है। इस बीज में तेल होता है।

लौंग — यह यूजीनिया कैर्योफिलेटा (Eugenia caryophyllata) नामक पौधे की सूखी हुई कलियाँ हैं। यह मलैका द्वीप का आदिवासी पौधा है, किंतु अब उष्ण कटिबंध में बहुतायत से होता है। ये कलियाँ धूप या आग पर सुखाई जाती हैं। इसका तेल दंतचिकित्सा के काम आता है।

सौंफ — यह पिम्पिनेला ऐनिसम (Pimpinella anisum) नामक पौधे का बीज है। इसमें उपस्थित तेल के कारण ही इसकी सुगंध है। ओषधि, पेय तथा खाद्य पदार्थों मे इसका उपयोग होता है।

हल्दी — यह करकुमा लौंगा (Curcuma longa) नामक शाक का शुष्क प्रकंद है। इसमें पाया जानेवाला रंग करकुमिन कहलाता है। यह मूलत. भारतीय शाक है। खाद्य में इसका उपयोग रंग तथा सुगंध के लिये होता है। यह ओषधि भी है।

उपर्युक्त मसाले भारतीय भोजन के प्राण हैं। मुस्लिम देशों में आमिष खाद्यो मे इनका प्रचुर उपयोग होता है। भारत की आर्थिक संरचना मे इनका बड़ा महत्व है और आज भी ये विदेशी मुद्रा लाने के मुख्य स्रोतो में से हैं। [अ० ना० मे०]

मसीह— दे० ईसामसीह।

मसीहचरण सिंह, पादरी डाक्टर पादरी एम० सी० सिंह का जन्म १८८४ ई० मे मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश) मे हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा कानपुर के मेथोडिस्ट मिशन सेंट्रल स्कूल मे हुई। १९१२ ई० मे वे अमरीका चले गए और १९१४ ई० में इन्होंने बी० ए० की डिग्री इवानस विले कालेज, इंडियाना, यू० एस० ए० से प्राप्त की।

१९१५ में अमरीका से भारत लौटने पर लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में उनकी नियुक्ति हो गई। १९२२ में वे सेंट्रल मेथोडिस्ट चर्च, लखनऊ के पास्टर नियुक्त हुए। २६ वर्ष तक उन्होने आरा (बिहार), बलिया, मुजफ्फरपुर (बिहार), बक्सर, रायबरेली, कानपुर, गोंडा, बाराबंकी, लखनऊ में डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट की हैसियत से काम किया। लखनऊ क्रिश्चियन कालेज तथा लखनऊ आईजाबेला थोबर्न कालेज के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के २० वर्ष तक सदस्य रहे। तीन बार वे भारतीय चर्च की ओर से भारत के प्रतिनिधि बनकर जनरल कान्फ्रेंस मे संमिलित होने के लिये अमरीका गए।

उनकी पुस्तक 'कॉनकॉर्डन्स ऑफ दि बाइबिल' सर्वप्रिय है। उन्होंने बहुत से अंग्रेजी गीतों का अनुवाद भारतीय भाषा में किया। उन्होने स्वय भी भजन तथा गीत बनाए।

वे ईमानदार तथा न्यायप्रिय व्यक्ति थे। वे अंग्रेज तथा अमरीकन पादरियों से कह देते थे कि अमुक फैसले में अमुक व्यक्ति के साथ अन्याय हुआ है; यह फैसला इस तरह होना चाहिए था। वे अपना कर्तव्य भली भाँति समझते थे।

उन्होने देश की स्वतन्त्रता के लिये अमरीका तथा इंग्लैंड मे भाषण दिए और इन दोनों देशों की जनता को यह बतलाया कि भारत की जनता इस योग्य है कि अपना राज्य स्वयं चला सके। वे गाधी जी के सहयोगियों मे से थे। वे बहुधा खादी के कपड़े पहनते थे और गांधी टोपी लगाते थे।

उन्हे बच्चों से बड़ा प्रेम था। वे कहा करते थे कि ईश्वर बच्चो में वास करते हैं। वे बच्चो की शिक्षा के लिये भिन्न भिन्न स्थानो में स्कूल खुलवाते थे। उनका कथन था कि अच्छे नागरिक बनने के लिये बच्चों को उचित शिक्षा दी जाए।

शिक्षा संस्थाओ को उचित सुझाव देकर उन्होने उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया। गरीब लड़कों तथा लड़कियों के लिये शिक्षा का उचित प्रबंध किया। बाइबिल के प्रचार को भारतीय रूप दिया।

पादरी एम० सी० सिंह आदर्श पुरुष थे। जहाँ कहीं वे जाते सादी और सरल रीति से रहते और सब लोगो के साथ शिष्टता का व्यवहार करते थे। वे हिंदुस्तानी की हैसियत से भाषण देना आदर और गौरव की बात समझते थे। उनकी मृत्यु २७ फरवरी, १९६४ को लखनऊ में हुई। वे सुधार और उन्नति के अनेक काम करनेवाले महान् मसीही नेता था। [मि० च०]

मसूरिका (Measles) और जर्मन मसूरिका (German measles), रोमांतिका या खसरा, एक वाइरस (virus) का एव अत्यत सक्रामक रोग है, जिसमे सर्दी, जुकाम, बुखार, शरीर पर दाने एव मुँह के भीतर सफेद दाने हो जाते हैं तथा फेफड़े की गभीर बीमारियो की आशका रहती है। अग्रेजी मे इसे मॉरबिली (Morbilli) तथा रूबियोला (Rubeola) कहते हैं।

सपूर्ण विश्व मे व्याप्त यह रोग बच्चों को अधिक होता है। यह चार पाँच मास तक के बच्चो को साधारणतया नही होता तथा चार पाँच वर्ष तक के बच्चो को अधिक होता है। गर्भवती नारी मे यह रोग गर्भपात का कारण बन सकता है। इसका प्रकोप प्रत्येक दो या चार वर्ष पर होता है।

कारण — यह रोग एक अत्यंत सूक्ष्म वाइरस द्वारा होता है, जो नाक, आँख तथा गले के स्राव में मिलते हैं। दाने निकलने के पूर्व रोगी सर्वाधिक सक्रामक होता है।

लक्षण तथा चिह्न — इस रोग का उद्भवन काल चौदह दिन होता है। सर्वप्रथम सर्दी, जुकाम, खाँसी, ज्वर तथा मुँह के भीतर सफेद दाने प्रकट होते हैं। वे पिछले दाँतों के पास कपोल की भीतरी श्लेष्म कला पर, त्वचा पर दाने प्रकट होने के ७२ घंटे पूर्व, दृष्टिगोचर होते हैं। नेत्र रक्ताभ हो जाते हैं तथा नासिका एव नेत्रो से स्राव होता है। ज्वर दूसरे दिन कुछ कम हो जाता है, किंतु तीसरे दिन से पुन: बढ़ना प्रारंभ हो जाता है। चौथे दिन त्वचा पर दाने प्रकट हो जाते हैं। ये दाने सर्वप्रथम बालो की रेखा के पास, कानों के पीछे, ग्रीवा पर तथा मस्तक पर दृष्टिगोचर होते हैं। इसके बाद ये नीचे की ओर बढ़ते हैं तथा शनै: शनै: सपूर्ण शरीर को आच्छादित कर लेते हैं। दाने अत्यत सूक्ष्म एवं रक्ताभ होते हैं, जो आपस में मिलकर एक हो जाते हैं तथा शरीर को रक्तवर्ण प्रदान करते हैं। रोगी को खुजली तथा जलन की अनुभूति होती है। ये दाने चार से सात दिनों तक रहते हैं, फिर धीरे धीरे लुप्त हो जाते हैं। अब त्वचा की एक झिल्ली सी सपूर्ण शरीर से अलग हो जाती है। ज्वर तथा अन्य लक्षण भी इसके साथ ही समाप्त हो जाते हैं।

अन्य रूप — (१) काली (Haemorrhagic) मसूरिका — इस मे अत्यधिक ज्वर, सदमे के चिह्न तथा रक्तरंजित दाने मिलते हैं। नाक, आँख और त्वचा से रक्तस्राव होता है तथा रोग प्राय: घातक होता है।

(२) विषाक्त मसूरिका — इसके दाने अधिक न होने पर भी तीव्र ज्वर, कंपन, साँस फूलना, संज्ञाहीनता और नाड़ी की क्षीणता होती है।

(३) फुप्फुसीय मसूरिका — इसमें श्वास की गति अत्यंत तीव्र हो जाती है, रोगी नीला पड़ जाता है तथा बेहोशी अथवा मृत्यु हो सकती है।

जटिलताएँ — ग्रसनी शोथ, कंठ शोथ, श्वासनली शोथ, फुप्फुसीय शोथ, कर्ण शोथ, पलक शोथ, मुखशोथ, लसिकाग्रंथि शोथ, मस्तिष्क शोथ, अतिसार आदि रोग हो सकते हैं। पुराना क्षय रोग पुन: उभड़ सकता है।

निदान — चेचक, जर्मन मसूरिका और छोटी माता से इस रोग मे कई अंतर हैं।

फलानुमान — साधारणतया मसूरिका घातक नही होती, किंतु इसके घातक रूप या जटिलताओं के कारण मृत्यु हो सकती है।

चिकित्सा — रोगी को अलग रखा जाय। उसके सपर्क मे आए बच्चों को अलग रखा जाय। रोग ठीक होने पर रोगी के रक्त से सीरम निकालकर इजेक्शन देने से, दूसरे बच्चो मे प्रतिशोधक शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

इस रोग की कोई विशेष रोगहर चिकित्सा ज्ञात नही है। केवल रोगी को आराम देना, सफाई रखना, द्रव खाद्य पदार्थ देना तथा जटिलताओं की चिकित्सा करना आवश्यक है।

जर्मन मसूरिका — यह रोग अत्यत सूक्ष्म वाइरस द्वारा होता है। प्रकोप वर्ष के पूर्वार्ध में अधिक होता है। दाने निकलने के पूर्व अत्यंत संक्रामक होता है। उद्भवन काल १७-१८ दिनो का होता है। जटिलताओ की सभावना कम होती है। एक आक्रमण जीवन पर्यंत रोग प्रतिशोधक शक्ति उत्पन्न कर देता है। साधारणतया बड़े बच्चे तथा किशोर ही इस रोग के शिकार होते हैं।

प्रथम २४ घंटों में ही दाने निकल आते हैं तथा सपूर्ण शरीर

पर फैल जाते हैं। चेहरे तथा गर्दन से प्रारंभ होकर, ये दाने वक्ष, पीठ, हाथ और पैर पर फैलते हैं तथा रक्तवर्ण के होते हैं। ये ७२ घंटों में समाप्त हो जाते हैं। कान के पीछे, सिर के पिछले हिस्से तथा गले में लसिका ग्रंथियाँ बड़ी हो जाती हैं तथा स्पर्श से दर्द होता है। यदि गर्भवती नारी को यह रोग गर्भधारण के प्रथम कुछ सप्ताहों के भीतर होता है, तो ५० प्रति शत संभावना है कि बच्चे के हृदय, आँख, कान या मस्तिष्क की बनावट में कुछ दोष आ जायगा। रोग की रोकथाम या चिकित्सा के लिये उचित ओषधि नहीं है। [गो० दा० अ०]

मस्कट और ओमान स्थिति : २३° ०' उ० अ० तथा ५८° ०' पू० दे०। एशिया में अरब प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी किनारे पर एक समुद्रीतटवर्ती स्वतंत्र राज्य है। प्राकृतिक दृष्टि से इसके तीन विभाग हैं : १. तटीय मैदान, २. पहाड़ और ३. पठार। तटीय मैदान माट्रा (Matrah) और मस्कट नगरों से प्रारंभ होता है तथा इसकी अधिकतम चौड़ाई सुवैक के निकट १० मील है। पर्वतश्रेणियाँ साधारणत: उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर फैली हुई हैं। जेबेल अखधार (Jebel Akhdhar) क्षेत्र में इनकी सर्वाधिक ऊँचाई ९,००० फुट से भी अधिक है। यह क्षेत्र हरा भरा और कृषि योग्य है। अन्य सभी पहाड़ी क्षेत्र उजाड़ हैं। पठारी भाग की औसत ऊँचाई १,००० फुट है। कुछ मरूद्यानों को छोड़कर अन्यत्र कृषि संभव नहीं है। मस्कट के उत्तर-पश्चिम में बतिना (Batinah) नामक उपजाऊ तटीय मैदान है। यहाँ खजूर के बाग हैं जिनके फल स्वाद और रस के लिये विख्यात हैं। जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ है, वहाँ कृषि के विकास की संभावनाएँ हैं। धोफार नामक उपजाऊ प्रदेश में गन्ने की खेती होती है। इस क्षेत्र मे सालालाह प्रधान नगर है और मुरबत बंदरगाह है। यहाँ ऊँट बहुत अधिक पाए जाते हैं। इस देश मे कोई महत्वपूर्ण उद्योग नही है।

मस्कट और ओमान का क्षेत्रफल ८२,००० वर्ग मील तथा जनसंख्या ५,५०,००० (१९५१) है। मस्कट (जनसंख्या ६,२०८) यहाँ की राजधानी है। माट्रा से भीतरी भागों के लिये रास्ते गए हुए हैं। आंतरिक गमनागमन पशुओं द्वारा होता है। बंबई-बसरा-मार्ग पर मस्कट बंदरगाह है। इस बंदरगाह से पाँच मील की दूरी पर बैताल फजल हवाई अड्डा है। मस्कट और ओमान का व्यापार मुख्यत: भारत, पाकिस्तान और फारस की खाड़ी के किनारे स्थित देशों के साथ होता है। आयात की वस्तुओं में चावल, गेहूँ और आटा, चीनी, सीमेंट, मोटरगाड़ियाँ और पुर्जे, सिगरेट एवं तंबाकू तथा कहवा उल्लेखनीय हैं। निर्यात की प्रधान वस्तुएँ फल, खजूर, मछली एवं तत्संबंधी उत्पाद हैं। [रा० प्र० सिं०]

मस्तानी १८वीं शताब्दी के पूर्व मध्यकाल में मराठा इतिहास मे मस्तानी का विशेष उल्लेख मिलता है। बखर और लेखों से मालूम पड़ता है कि मस्तानी अफगान और गूजर जाति की थी। इनका जन्म नृत्य करनेवाली जाति मे हुआ था। गुजरात के गीतों मे इन्हें 'नृत्यांगना' या 'यवन कांचनी' के नाम से संबोधित किया गया है।

मस्तानी अपने समय की अद्वितीय सुंदरी एवं संगीत कला में प्रवीण थी। इन्होंने घुड़सवारी और तीरंदाजी में भी शिक्षा प्राप्त की थी। गुजरात के नायब सूबेदार शुजाअत खाँ और मस्तानी की प्रथम भेंट १७२४ ई० के लगभग हुई। चिमाजी अप्पा ने उसी वर्ष शुजाअत-खान पर आक्रमण किया। युद्ध क्षेत्र मे ही शुजाअत खाँ की मृत्यु हुई। लूटी हुई सामग्री के साथ मस्तानी भी चिमाजी अप्पा को प्राप्त हुई। चिमाजी अप्पा ने उन्हें बाजीराव के पास पहुँचा दिया। तदुपरांत मस्तानी और बाजीराव एक दूसरे के लिये ही जीवित रहे।

१७२७ ई० में प्रयाग के सूबेदार मोहम्मद खान बंगश ने राजा छत्रसाल (बुंदेलखंड) पर चढ़ाई की। राजा छत्रसाल ने तुरत ही पेशवा बाजीराव से सहायता माँगी। बाजीराव अपनी सेना सहित बुंदेलखंड की ओर बढ़े। मस्तानी भी बाजीराव के साथ गई। मराठे और मुगल दो वर्षों तक युद्ध करते रहे। तत्पश्चात् बाजीराव जीते। छत्रसाल अत्यंत आनंदित हुए। उन्होंने मस्तानी को अपनी पुत्री के समान माना। बाजीराव ने जहाँ मस्तानी के रहने का प्रबंध किया उसे 'मस्तानी महल' और 'मस्तानी दरवाजा' का नाम दिया।

मस्तानी ने पेशवा के हृदय में एक विशेष स्थान बना लिया था। उसने अपने जीवन में हिंदू स्त्रियों के रीति रिवाजों को अपना लिया था। बाजीराव से संबंध के कारण मस्तानी को भी अनेक दु:ख झेलने पड़े पर बाजीराव के प्रति उसका प्रेम अटूट था। मस्तानी को १७३४ ई० में एक पुत्र हुआ। उसका नाम शमशेर बहादुर रखा गया। बाजीराव ने काल्पी और बाँदा की सूबेदारी उसे दी, शमशेर बहादुर ने पेशवा परिवार की बड़े लगन और परिश्रम से सेवा की। १७६१ ई० में शमशेर बहादुर मराठों की ओर से लड़ते हुए पानीपत के मैदान मे मारा गया।

१७३९ ई० के आरंभ में पेशवा बाजीराव और मस्तानी का संबंध-विच्छेद कराने के असफल प्रयत्न किए गए। १७३९ ई० के अंतिम दिनों में बाजीराव को आवश्यक कार्य से पूना छोड़ना पड़ा। मस्तानी पेशवा के साथ न जा सकी। चिमाजी अप्पा और नाना साहब ने मस्तानी के प्रति कठोर योजना बनाई। उन्होंने मस्तानी को पर्वती बाग में (पूना में) कैद किया। बाजीराव को जब यह समाचार मिला, वे अत्यंत दु:खित हुए। वे बीमार पड़ गए। इसी बीच अवसर पा मस्तानी कैद से बचकर बाजीराव के पास ४ नवंबर, १७३९ ई० को पटास पहुँची। बाजीराव निश्चिंत हुए पर यह स्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी। शीघ्र ही पुरंदरे, काका मोरशेट तथा अन्य व्यक्ति पटास पहुँचे। उनके साथ पेशवा बाजीराव की माँ राधाबाई और उनकी पत्नी काशीबाई भी वहाँ पहुँची। उन्होंने मस्तानी को समझा बुझाकर लाना आवश्यक समझा। मस्तानी पूना लौटी। १७४० ई० के प्रारंभ में बाजीराव नासिरजंग से लड़ने के लिये निकल पडे और गोदावरी नदी को पारकर शत्रु को हरा दिया। बाजीराव बीमार पड़े और २८ अप्रैल, १७४० को उनकी मृत्यु हो गई।

मस्तानी बाजीराव की मृत्यु का समाचार पाकर बहुत दु:खित हुई और उसके बाद अधिक दिनों तक जीवित न रह सकी। आज भी पूना से २० मील दूर पाबल गाँव मे मस्तानी का मकबरा उनके त्याग, दृढ़ता तथा अटूट प्रेम का स्मरण दिलाता है। [सु० वै०]

मस्तिष्क (Brain) केंद्रीय तंत्रिकातंत्र (nervous system) का वह भाग है जो अस्थिनिर्मित कपाल (cranium) रूपी बक्स के अंदर स्थित है। शरीर के प्रत्येक भाग को यहाँ से तंत्रिकाएँ जाती

और आती हैं। मस्तिष्क के मुख्यतः तीन भाग हैं : १. अग्र मस्तिष्क, जिसमें (क) चेतक (Thalmus), (ख) रेखी पिंड (Corpus striatum) तथा (ग) प्रमस्तिष्क (Cerebrum) सम्मिलित हैं; २. मध्यमस्तिष्क (Mid-brain), जिसके (क) चतुष्टय काय (Corpora quadrigemina) और (ख) प्रमस्तिष्क वृंत (Cerebral peduncles) भाग हैं, तथा ३. पश्च मस्तिष्क (Hind brain), जिसमें (क) मेरुशीर्ष (Medula oblongata), (ख) पौंस (Pons), (ग) अनुमस्तिष्क (Cerebellum) हैं।

मस्तिष्क आवरण (membranes) — मेरुरज्जु तथा मस्तिष्क को चारों ओर से आच्छादित करनेवाली मुख्यतः तीन कलाएँ हैं : १. दृढ़तानिका (Duramater), जालतानिका (Arachnoid mater), तथा ३. मृदुतानिका (Piamater)
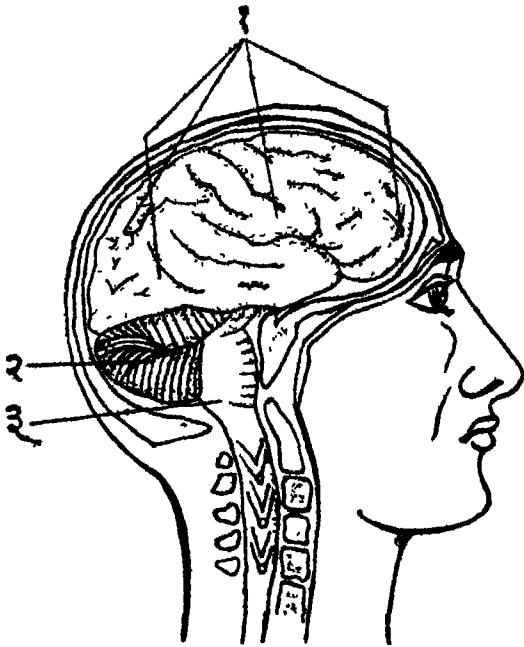
चित्र १. कपाल में प्रमस्तिष्क तथा अनुमस्तिष्क की स्थिति
१. प्रमस्तिष्क, २. अनुमस्तिष्क तथा ३. मेरुशीर्ष।

दृढ़तानिका — यह मस्तिष्क का सबसे बाहरी तांतव आवरण या कला है। दृढ़ करोटि में इस तानिका का बाह्यपृष्ठ कुछ असम होता है और यह अस्थियों के भीतरी पृष्ठ के साथ चिपटी रहती है। महारंध्र (foramen magnum) पर इसका भीतरी भाग मेरुरज्जु (modulla spinalis) की बाह्य कला से लगा रहता है। यही स्तर करोटि तंत्रिकाओं (cranial nerves) का बाह्य आवरण बन जाता है। दृढ़तानिका के चार प्रवर्धित भाग होते हैं, जिनमें दो ऊर्ध्वाधर तथा दो क्षैतिज होते हैं। ऊर्ध्वाधर भाग, जो प्रमस्तिष्क दात्र (Falx cerebri) कहलाता है, प्रमस्तिष्क के दोनों गोलार्धों के बीच में सामने से लेकर पीछे तक फैला रहता है। दूसरा अनुमस्तिष्क दात्र (Falx cerelielli), जो अनुमस्तिष्क के गोलार्धों के बीच में त्रिकोणाकार रूप में स्थित है, क्षैतिज अनुमस्तिष्क छदि (tentorium cerebelli), अनुमस्तिष्क और प्रमस्तिष्क के पश्चिम भाग के बीच में, क्षैतिज स्थिति में रहता है। इस प्रकार इसका आकार तंबू के समान होता है। दृढ़तानिका का दूसरा क्षैतिज भाग पर्याणिका तनुपट (Diaphragma sellae) कहलाता है, जो पीयूष ग्रंथि (pituitary gland) को आवृत कर देता है। दृढ़तानिका के स्तरों के बीच में कहीं कहीं शिरा द्वारा रक्त को लौटाने के लिये मार्ग बन गए है, जिन्हे शिरानाल (Sinus) कहते हैं।

जालतानिका — यह अत्यंत पतली तानिका मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों तथा मेरुरज्जु पर छाई रहती है। मस्तिष्क के आधार पर इन दोनों तानिकाओं के बीच में स्पष्ट अवकाश दिखाई देते हैं, जो अधोजालतानिका कुंड (subarachnoid cisternae) बनाते हैं। दृढ़तानिका और उसके बीच के स्थान को अधोदृढ़तानिका अवकाश कहते हैं। इसमे लसिका सदृश द्रव प्रमस्तिष्क मेरुद्रव (cerebrospinal fluid) प्रवाहित होता रहता है। इन दोनों तानिकाओं के बीच संयोजक धातु के कुछ बंधक (trabeculae) तथा कणांकुर (granulations) पाए जाते हैं, जो उन्हे एक दूसरे से संबंधित रखते हैं।

मृदुतानिका — यह रक्त केशिकाओं से युक्त तानिका सबसे भीतर रहती है। इसके गहरे पृष्ठ से सूक्ष्म धमनियाँ निकलकर मस्तिष्क पदार्थ मे प्रवेश करती हैं। दोनों मस्तिष्कों के विदर और परिखाओं (fissures and sulcus) मे भीतर तक यह तानिका प्रवेश करती है।

पश्च मस्तिष्क

मेरुशीर्ष — यह लगभग १$\frac{1}{4}$ इंच लंबी और १ इंच चौड़ी मुकुलाकार रचना है, जो ऊपर की ओर अधिक चौड़ी होती है। यह पौंस की ऊर्ध्वधारा से लेकर महारंध्र (foramen magnum) की ऊर्ध्वधारा के तल तक के स्थान के बीच में रहता है और उसके नीचे मेरुदंड से संबंधित हो जाता है। आकार मे यह पिरामिड के समान है। अनुमस्तिष्क के गोलार्धों के बीच मे स्थित खात मे इसका पश्च भाग रहता है और यह चतुर्थ निलय के तल का नीचे का भाग बनाता है। मेरुदंड के अग्रमध्यम विदर (anterior median fissure) तथा पश्चमध्यम परिखा (posterior median sulcus) इस पर चले आते हैं, जिनके द्वारा मेरुशीर्ष दो बराबर समान भागों में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक अर्ध भाग पुनः दो परिखाओं द्वारा तीन भागों मे बँटा है : १. अग्रभाग — इसके दोनों ओर अग्रमध्यम और अग्रपार्श्विक (anterior lateral) परिखाएँ स्थित हैं; २. पार्श्विक भाग — यह अग्रपार्श्विक और पश्चपार्श्विक परिखाओं के बीच मे स्थित है, जहाँ से जिह्वाग्रसनी (glasso-pharyngeal), वेगस (vagus) तंत्रिका और उपतंत्रिका (accessory nerve) निकलती हैं। इसके ऊपरी भाग मे एक अंडाकार उत्सेध है, जिसे वर्तुलिका (Olivary body) कहते हैं, तथा ३. पश्चभाग, — यह पश्चमध्यम तथा पश्चपार्श्विक परिखाओं के बीच मे स्थित है, जिसे ऊर्ध्व और अधोभागो मे विभक्त किया जा सकता है और इस प्रकार विभक्त होने पर इसके द्वारा चतुर्थ निलय (ventricle of brain) के निम्न अर्धभाग की सीमा बनती है। इसकी पश्चपार्श्विक परिखा पर से ९वीं, १०वीं तथा ११वीं कपाली तंत्रिकाओं के मूल निकलते हैं। पश्चभाग के निचले हिस्से में

तनुपूलिका (fasciculus gracilis) तथा कीलक पूलिका (fasciculus cuneatus) ऊपर आकर दो उत्सेधों में समाप्त हो जाती हैं, जिनको क्लावा (Clava) और कीलक गुलिका (Cuneate tubercle) कहते
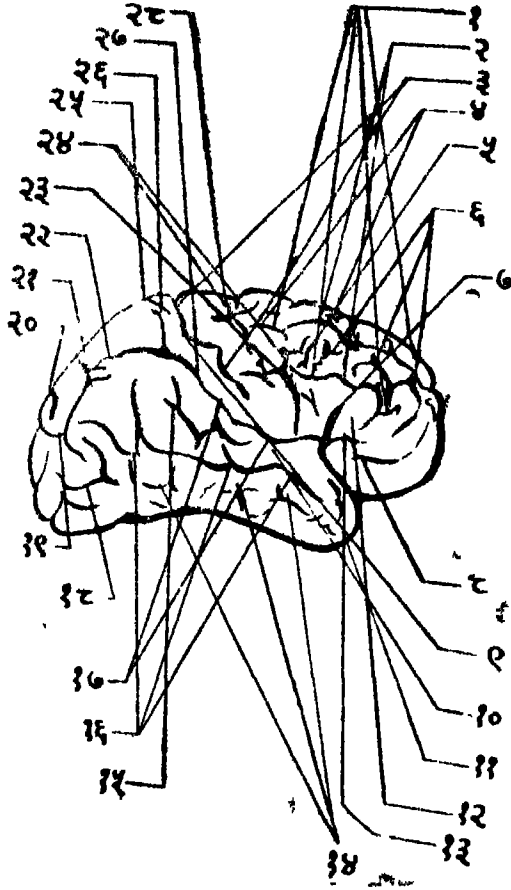
चित्र २. दाहिने प्रमस्तिष्क के गोलार्ध का पार्श्व दृश्य

१. ऊर्ध्व ललाट परिखा (Superior frontal sulcus); २. निम्न ललाट परिखा; ३. रोलैंडो का विदर (मध्य परिखा); ४ परा-अभिमध्य (para-medial) परिखा; ५. अधो-अनुप्रस्थ (lower transveruse) परिखा; ६. मध्यललाट परिखा; ७. सिल्वियस (Sylvius) परिखा; ८. ललाट पालि (lobe) का नेत्रगुहा (orbital) भाग, ९. ऊर्ध्व जानु (Superior genu); १०. अधो जानु; ११. नलीय भाग (Parabasalis); १२. त्रिकोणीय भाग (Pars triangularis); १३. पूर्व समतल भाग (Pars horizontalis); १४. अधोशंख (lower temporal) परिखा; १५. सिल्वियस विदर के समतल भाग की ऊर्ध्वगामी शाखा; १६. ऊर्ध्व शंख परिखा; १७. सिल्वियस विदर का समतल भाग तथा १८. पश्च परिखा का समतल भाग।

हैं। ये उभार उनके भीतर स्थित धूसर द्रव्यसमूह (grey matter) के कारण होते हैं, जो तनुकेंद्रक (nucleus gracilis) और कीलक केंद्रक कहलाते हैं। भस्माभ गुलिका (Tuberculum cinereum) नामक एक तीसरा उभार भी होता है। यहाँ पाँचवीं त्रिधारा तंत्रिका (trigeminal nerve) के संज्ञावह (sensory) सूत्र समाप्त होते हैं। पश्च भाग ऊर्ध्वांश में रेस्टिफार्म काय (restiform body) है, जो चतुर्थनिलय के तल तथा जिह्वाग्रसनी तंत्रिका और वेगस तंत्रिका के मूल के बीच में स्थित है। आगे चलकर यह अनुमस्तिष्क में प्रविष्ट हो जाती है और अनुमस्तिष्क का अधोवर्ती वृंत बनाती है।

पौंस (Pons) — यह पश्च मस्तिष्क का वह भाग है जो ऊपर की ओर प्रमस्तिष्क व नीचे की ओर मेरुशीर्ष तथा पीछे की ओर अनुमस्तिष्क को संयोजित करता है। इसके ऊपरी भाग पर प्रमस्तिष्क वृंत दिखाई देते हैं तथा नीचे का भाग मेरुशीर्ष से लगा रहता है। इसका अग्रपृष्ठ (ventral surface) उन्नतोदर है और उसमें तंत्रिका सूत्र अनुप्रस्थ होते है। ये सूत्र दोनों ओर से मिलकर एक घना समुदाय (compact mass) बनाते हैं, जो अनुमस्तिष्क में प्रवेश करता है। ये गुच्छे अनुमस्तिष्क के मध्यवृंत कहलाते हैं। इनके द्वारा प्रमस्तिष्क के विभिन्न भागों की तंत्रिका से अनुमस्तिष्क में सूत्र आकर इसको प्रमस्तिष्क के नियंत्रण में रखते हैं। इनके अतिरिक्त पौंस के धूसर द्रव्य में निम्नलिखित कपाली तंत्रिकाओं के केंद्रक होते हैं :

(१) त्रिधारा तंत्रिका, (२) उपतंत्रिका, (३) आनन तंत्रिका, (४) श्रवण तंत्रिका (auditory nerve) की कर्णावर्त शाखा cochleardivision) के केंद्रक और (५) श्रवण तंत्रिका की प्रघाण शाखा (vestibular division) के केंद्रक।

अनुमस्तिष्क — यह पौंस और मेरुशीर्ष के पीछे प्रमस्तिष्क के
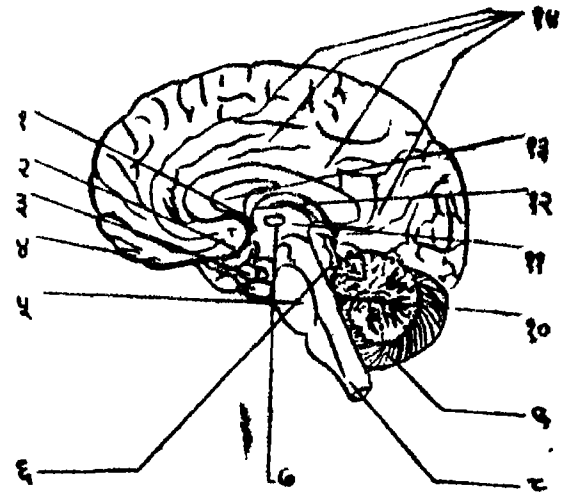
चित्र ३. तंत्रिका तंत्र (मस्तिष्क)

१. तृतीय तंत्रिका, २. दृष्टि (optic)तंत्रिका, ३. पीयूषिका ग्रंथि, ४ घ्राण कद (Olfactory bulb), ५. पौंस, ६. चतुष्टयकाय (Corpora quadrigemina), ७. मध्यपिंड (Corpus), ८. मेरुशीर्ष, ९. अनुमस्तिष्क, १०. चतुर्थ निलय, ११ तृतीय निलय, १२ मुनरो का छिद्र, १३. पार्श्व निलय तथा १४. मस्तिष्क के वक्रांग (convolutions)।

पश्चकपाल खंड(occipital lobe)के नीचे स्थित केंद्रीय तंत्रिका तंत्र की

एक प्रमुख रचना है। इसके बाहर की ओर धूसर द्रव्य होता है, जो प्रमस्तिष्क के धूसर द्रव्य से अधिक धूसर वर्ण का होता है। श्वेत द्रव्य इसके भीतर रहता है। प्रमस्तिष्क के समान इसके तल या पृष्ठ पर बड़ी परिखाएँ नहीं होतीं, बल्कि इसमें बहुसख्यक पतली स्तरिकाएँ (lamina) होती हैं, जो बहुत सी समातर परिखाओं द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहती हैं। इनको अनुमस्तिष्क की स्तरिकाएँ कहते हैं। अनुमस्तिष्क के मुख्यत: तीन भाग होते हैं, जिनमें दो पार्श्व भाग होते हैं और एक मध्य भाग। पार्श्व भाग अनुमस्तिष्क गोलार्ध कहलाते हैं और मध्यभाग वर्मिस (Vermis) कहलाता है। वर्मिस का एक भाग, जो अनुमस्तिष्क के ऊपरी तल पर स्थित है, ऊर्ध्व वर्मिस कहा जाता है तथा निचले तल पर निम्न वर्मिस स्थित है। इसका भीतरी भाग चतुर्थ निलय की छत बनाता है, वह मध्यवृंत है। इस प्रकार अनुमस्तिष्क ऊर्ध्व, मध्य तथा निम्न वृंत के द्वारा प्रमस्तिष्क, पौंस और मेरुशीर्ष से संबद्ध रहता है। इसकी सामान्य रचना प्रमस्तिष्क के समान है। इसमे निम्नलिखित तीन आंतरिक और एक पार्श्विक केंद्रक स्थित हैं : (१) कीलकल्प केंद्रक (Nucleus emboiliformi), (२) गोल केंद्रक (nucleus globosus), (३) वलभि केंद्रक (nucleus fastigii) आतरिक केंद्रक हैं तथा पार्श्वक दंतुर केंद्रक (nucleus dentalus) उपर्युक्त तीनों केंद्रकों से बड़ा और आकार मे मेरुशीर्ष की वर्तुलिका के समान है। इसके एक भाग में नाड़ीसूत्र प्रविष्ट होते हैं तथा बाहर निकलते हैं। केंद्रीय श्वेत द्रव्यसमूह के अतिरिक्त, श्वेत द्रव्य तत्रिका सूत्रो (fibres) का बना होता है, जो तीनों वृंदो द्वारा बाहर से सबंधित होते हैं।

प्रमस्तिष्क के समान इसके धूसर द्रव्य में (क) बाह्य, (ख) मध्य तथा (ग) आभ्यंतर स्तर होते है। विशेषता केवल इतनी है कि अनुमस्तिष्क के प्रत्येक क्षेत्र मे ये समान रूप से होते हैं, किंतु प्रमस्तिष्क के विभिन्न भागों मे इनके वितरण में विभिन्नता होती है।

(क) वाह्य स्तर — इसमें निम्नलिखित रचनाएँ होती हैं : १. पर्किंजे कोशिका के अक्षतंतु (Axon of Purkinje cells), २. कणमय कोशिकाओं के अक्षतंतु (Axon of granular cells), ३. आरोही सूत्र, ४. करंड कोशिकाएँ (Basket cells), ५. आण्विक स्तर की क्षुद्र कोशिकाएँ तथा (ख) मध्यस्तर में पर्किंजे कोशिकाएँ एक स्तर मे व्यवस्थित रहती हैं; (ग) अभ्यतर स्तर में निम्नलिखित रचनाएँ होती हैं : १. कणमय कोशिकाएँ (Granular cells), २. गोल्जी (Golgi), कोशिकाएँ तथा ३. मॉस तंतु (Moss fibers)।

अनुमस्तिष्क के कार्य — यदि कबूतर में अनुमस्तिष्क को निकाल दिया जाय, तो वह खड़ा नही रह सकता है। इसका कारण यह है कि शरीर के सतुलन से संबद्ध विभिन्न पेशियों का संकोच समुचित रूप से नही हो पाता। अत: अनुमस्तिष्क का सबंध शरीरसंतुलन से स्पष्टत: प्रतीत होता है। संक्षेप में इसके निम्नलिखित तीन मुख्य कार्य हैं : १. पेशीसंकोच को बनाए रखना (Tonic functions), २. कार्य के समय पेशी को दृढ़ रखना (Static functions), ३. कार्यकाल में पेशी को शक्तिशाली बनाए रखना (Sthenic functions), ४. शरीर की विभिन्न पेशियों की क्रियाओं में सहयोग उत्पन्न करना, जिससे शारीरिक उद्देश्यों की पूर्ति हो (Theory of synergic control)।

चतुर्थ निलय — यह पश्च मस्तिष्क में स्थित एक ऐसी गुहा है जिसका आकार बर्फी जैसा (lozenge shaped) होता है।
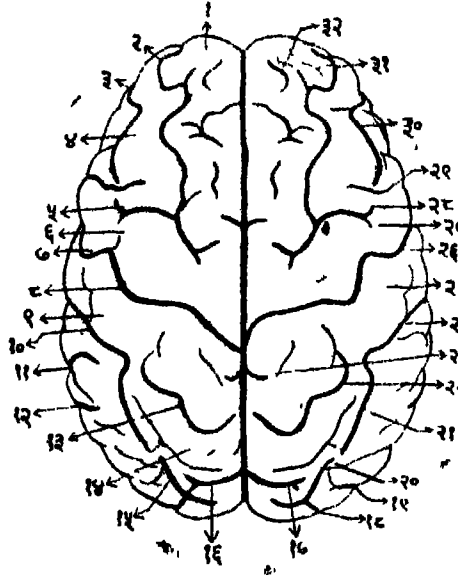
चित्र ४ मस्तिष्क का ऊर्ध्व पृष्ठ

१. उच्च ललाट कर्णक (Superior Frontal Gyrus), २, उच्च ललाट परिखा (Sulcus); ३ मध्य ललाट परिखा, ४. मध्यकर्णक का उच्च भाग; ५. अधो मध्यपूर्व परिखा; ६ मध्यपूर्व कर्णक, ७ निम्न मध्योत्तर परिखा, ८ पार्श्व विदर; ९. अतपार्श्विका परिखा; ११ उच्च बाह्य पार्श्विका; १२. उच्च मध्योत्तर परिखा, १४ उच्च ललाट खंडक (lobule); १५. अतपार्श्विका परिखा; १६. पार्श्विक पश्चकपाल परिखा; १७. पार्श्विका पश्चकपाल (Parieto-occipital) परिखा, १८. अनुप्रस्थ पश्चकपाल परिखा, २० अत: पार्श्विक (intra parietal) परिखा; २१. पार्श्विकातर (Intraparieta') परिखा; २२. उच्च मध्योत्तर (Superior post central) परिखा; २३ ऊर्ध्व पार्श्व कर्णक; २४ निम्न मध्योत्तर परिखा; २५. मध्योत्तर कर्णक, २६. मध्यपरिखा; २७. कर्णक २८ निम्न मध्यपूर्व (inferior pre-central) परिखा, ३०. मध्य ललाट परिखा; ३१. ऊर्ध्व ललाट परिखा तथा ३२ उच्च ललाट कर्णक की एक परिखा।

यह अनुमस्तिष्क के सामने, पौंस तथा मेरुशीर्ष के ऊपरी अर्ध भाग के पीछे स्थित है। इसकी पार्श्वसीमा का ऊपरी भाग ऊर्ध्व अनुमस्तिष्क वृंत को बनाता है तथा निचला भाग तनुगुलिका, कीलक पूलिका, और अध. अनुमस्तिष्क वृंत का बना होता है।

चतुर्थ निलय की छत का ऊपरी भाग ऊर्ध्व अनुमस्तिष्क वृंत तथा ऊर्ध्व अंतस्थाच्छादन (superior medullary velum) का बना होता है और निचला भाग निम्न अंतस्थाच्छदन, निलय अंतरीयक (ependyma), निलय की टीनिया (taenia of the ventricle) इत्यादि से निर्मित है। चतुर्थ निलय का तल समप्रतिभुज (rhomboid) के समान होता है तथा पौंस और मेरुशीर्ष के पश्चिम भाग से बना हुआ होता है। यह धूसर द्रव्य के पतले स्तर से घिरा रहता है, जो नीचे मेरुशीर्ष एवं मेरुरज्जु की मध्य नलिका (central canal) से संबंधित है। इस तल के तीन भाग होते हैं, जिनमें ऊर्ध्वभाग त्रिकोणाकार होता है। इसकी दोनों भुजाएँ ऊर्ध्व अनुमस्तिष्क वृंत की बनी हैं। शिखर (apex) मध्य मस्तिष्क कुल्या (aqueduct of the mid-brain) से संबंधित है तथा आधार एक कल्पित रेखा से, जो दो छोटे गड्ढों को जोड़ती है। इस कल्पित रेखा से लेकर निलय की टीनिया तक मध्य भाग रहता है। इसका अधोभाग भी त्रिकोणाकार है।

मध्य मस्तिष्क

मध्य मस्तिष्क अग्र तथा पश्च मस्तिष्क को मिलानेवाला सबसे छोटा भाग है, जिसके दोनों पार्श्वों से तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी तंत्रिकाएँ निकलती हैं। यह दो सेंटीमीटर लंबा होता है। इसके तीन मुख्य भाग हैं : १. अधर (ventral) भाग, जिसमें दोनों प्रमस्तिष्क वृंत होते हैं; २. पश्च भाग, जिसमें चतुष्टयकाय की गणना है तथा ३. आभ्यंतर (internal) भाग, जिसमें सिल्वियस की कुल्या होती है।

प्रमस्तिष्क वृंत — यह मध्य मस्तिष्क बनानेवाली प्रधान रचना है। यह दो मोटी रस्सी के सदृश, पौंस के ऊपरी तल से निकलकर, एक दूसरे से अलग होकर, प्रमस्तिष्क गोलार्धों के अधोतल में प्रवेश करता है। इसके तीन भाग होते हैं : १. अग्रिमांश, जो श्वेत सूत्रों के समूहों से बना होता है; २. मध्यमांश, जो श्याम वर्ण का होता है, कृष्ण द्रव्य कहलाता है तथा ऊपर की ओर चेतक के मूल तक फैला हुआ होता है तथा ३. पश्चांश, जिसमें जालक वस्तु की अधिकता होती है। इसे छादिका (tegmentum) कहते हैं। इसमें दो मुख्य केंद्रक तथा तीन तंत्रिकाएं होती हैं। उपर्युक्त दोनों वृंतों के बीच के रिक्त स्थान को वृंतांतर खात (inter-peduncular fossa) कहते हैं।

केंद्रक — ये निम्नलिखित हैं :

१. अरुण केंद्रक (Red nucleus) — यह छादिका के ऊपरी भाग में चेतक के नीचे स्थित रहता है। इससे अरुण मेरुपथ (rubro-spinal tract) और छादक के मेरुपथ (tecto-spinal tract) की तंत्रिकाएँ प्रारंभ होती हैं और ऊर्ध्व नेत्रप्रेरक तंत्रिका (occulomotor nerve) इस केंद्रक का उल्लंघन कर जाती है। अरुण केंद्रक के कार्य हैं (क) अनुमस्तिष्क और मेरु के सूत्रों के मार्ग में एक संमिलन स्टेशन का कार्य करना, जिससे अनुमस्तिष्क का नियंत्रण ऐच्छिक पेशियों पर हो तथा जिसकी उत्तेजना से भ्रमण आदि चेष्टाएँ होती हैं; (ख) उन सूत्रों के मार्ग में भी सहायक का कार्य करना, जिससे परतंत्र पेशियों का स्वत.जात संयुक्त नियंत्रण हो; (ग) शरीर की सामान्य स्थिति बनाए रखने के लिये आवश्यक प्रतिवर्ती क्रियाओं (reflex actions) का यह केंद्र है तथा (घ) शरीर की सामान्य स्थिति नष्ट होने पर पुन: पूर्ववत् स्थिति में आने का प्रयास यहीं से होता है।

२. वृंतांतर गुच्छिका (Interpeduncular ganglion) — यह दोनों वृंतों के बीच अग्रिम भाग में स्थित है तथा इसके तंतु चेतक
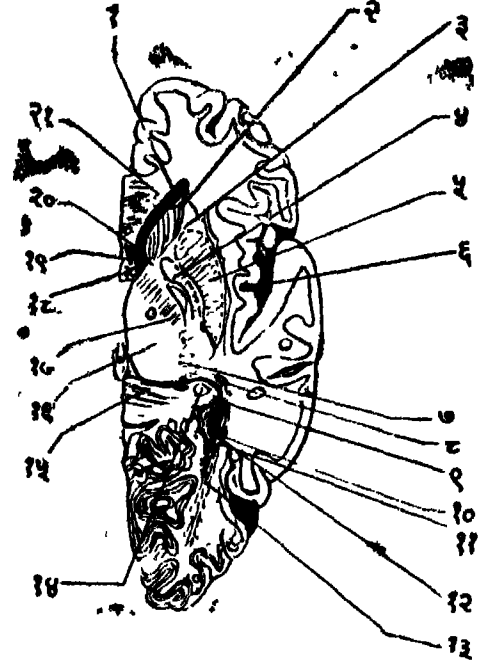
चित्र ५. दाहिने गोलार्ध की समतल काट

१. पार्श्व निलय का अग्र शृंग, २. पुच्छ केंद्रक (Caudate nucleus); ३. आभ्यंतर संपुट (capsule) का अग्रभाग ४. मांडुर पिंड (Globus palidus); ५. पुटेमिन (Putamen); ६. द्वीपिका (Insula); ७. अंत: संपुट का प्रत्यंग भाग (Recto-lenticular part); ८. पुच्छ केंद्रक का अंतर्भाग; ९. अक्षिविकिरण, ११. टैपिटम (Tapetum); १२. कोरॉइड जालिका (Choroid plexus); १३. निम्न अनुदैर्ध्य गुच्छक (Lower longitudinal ganglion); १४. बृहत् हिप्पोकैंपस (Major hippocampus); १५. स्प्लीनियम (Splenium); १६. थैलेमस (Thalamus); १७. अंत:संपुट का पश्चभाग; १८. फोर्निक्स (Fornix) का अग्रस्तंभ; १९. निलय वाल्व; २०. अंत.संपुट का जानु (genu) तथा २१. मध्य संयोजक (corpus callosum) का जानु।

(thalamus) से मिलते हैं। यह पट्टिका (habenular) गुच्छिका के ऊपर एक तंतुसमूह के द्वारा संबंधित रहती है। इसे मेनर्ट की प्रत्यग्वक्र पूलिका (fasciculus retro flexus of Meynert) कहते हैं।

सिल्वियस की कुल्या — यह एक संकीर्ण मार्ग है, जो छादिका से

मस्तिष्क के तृतीय निलय (ventricle) तक जाता है। इसके चारो ओर धूसर द्रव्य होता है और आगे नेत्रप्रेरक तंत्रिका का केंद्रक (nucleus of occulomotor nerve) स्थित है।

चतुष्टय काय — ये मध्य मस्तिष्क के पश्चिम भाग मे स्थित हैं। ये छोटे और वर्तुलाकार होते हैं तथा एक परिखा द्वारा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। इनके बाहर की ओर से तंत्रिकासूत्रों के गुच्छे निकलते हैं, जिन्हें ऊर्ध्वबाहुक (superior brachium) तथा अधोबाहुक (inferior brachium) कहते हैं। इनके प्रांत भाग में दो उत्संध होते हैं, जिन्हें बाह्य जानुनत पिंड (external geniculate body) तथा आभ्यंतरिक जानुनत पिंड (internal geniculate body) कहा जाता है।

पट्टबंध (Fillet or lemniscus) — यह अनुदैर्घ सूत्रों की एक तंत्रिका है, जो छादिका के अग्रिम भाग से होकर जाती है। इसके दो भाग होते हैं : १. अभिमध्य (medial) पट्टबंध, जिसमें संज्ञासूत्र दूसरी ओर के मेरुशीर्ष के तनुकेंद्रक (nucleus gracilis) और कीलक केंद्रक (nucleus cuneatus) से आते हैं तथा २. पार्श्व पट्टबंध (lateral lemniscus), जो अभिमध्य पट्टबंध के पीछे की ओर झुका रहता है।

अग्र मस्तिष्क

चेतक — ये धूसर द्रव्य द्वारा निर्मित आधार गुच्छिकाओं (basal ganglia) से बने हुए हैं, जो संख्या मे दो हैं और मस्तिष्क के तृतीय निलय के दोनो ओर स्थित हैं। विकास की दृष्टि से ये मस्तिष्क के परिसरीय भाग से अति प्राचीन हैं तथा निम्नवर्ग के प्राणियों में उच्च संज्ञाधिष्ठान केंद्रकों के रूप में कार्य करते हैं। चेतक के मुख्यत: दो भाग होते हैं :

(१) पार्श्विक भाग — यह भाग पीछे की ओर निकला रहता है। इसमे दो केंद्रक होते हैं : (क) पुलविनार (Pulvinar) — यह पिंड चेतक के पिछले अंतिम सिरे पर स्थित है। यहाँ दृष्टिनाड़ी के सूत्र आते हैं और यहाँ से प्रमस्तिष्क के पश्चकपाल खंड (occipital lobe of cerebrum) में जाते हैं। इसके नीचे एक मटर के आकार का उभार होता है, जिसे अभिमध्य वक्र पिंड (medial geniculate body) कहते है और जो अधोबाहुक के द्वारा अधोकोलिकस (inferior collicus) से संबंधित रहता है। पुलविनार के नीचे और पार्श्व की ओर एक दूसरा उभार है, जिसे पार्श्व (lateral) जानुनत पिंड कहते हैं और यह ऊर्ध्वबाहुक के द्वारा ऊर्ध्व कोलिकस से संबंधित है। (ख) पार्श्व केंद्रक—यह पट्टबंध के सूत्रों से संबद्ध रहता है तथा त्वचा की गभीर संवेदनाओं को ग्रहण करता है।

(२) अग्र अभिमध्य भाग (Anterior medial part) — इसमें भी निम्नलिखित दो केंद्रक होते हैं : (क) अग्र केंद्रक (Anterior nucleus) — यह अग्र गुलिका मे स्थित रहता है और इसके अक्षतंतु रेखीपिंड (corpus striatum) के पुच्छकेंद्रक (caudate nucleus) तक जाते हैं। (ख) अभिमध्य केंद्रक — घ्राण नाड़ी के सूत्रों को ग्रहण करता है और इसके अक्षतंतु पुच्छकेंद्रक के भाग में जाते हैं।

चेतक के कार्य : (१) चेतक का पार्श्वकेंद्रक शरीर के विभिन्न सूत्रों के मार्ग में स्टेशन का कार्य करता है और पुलविनार दृष्टिनाड़ी के मार्ग में सहायक का कार्य करता है। सभी संवेदनाएँ प्रमस्तिष्क के परिसरीय भाग में अपने अपने केंद्रकों तक पहुँचने के पूर्व व्यवस्थित हो जाती हैं। (२) चेतक प्राथमिक संवेदक केंद्रों का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये प्रमस्तिष्क के परिसरीय भाग में स्थित संवेदक केंद्रों में विकार होने पर भी ये संवेदनाएँ पूर्णत: नष्ट नहीं होतीं, किंतु चेतक में विकार होने पर ये संवेदनाएँ पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं। (३) संवेदनाओं में सुख दु:ख की प्रतीति चेतक से होती है। (४) यह भावावेशों की अभिव्यंजना का प्राथमिक केंद्र है। (५) यह एक ओर के अनुमस्तिष्क को दूसरी ओर के प्रमस्तिष्क से संबंधित करता है। अतएव प्रमस्तिष्क के परिसरीय भाग की ऐच्छिक क्रियाओं का इसके द्वारा नियंत्रण होता है।

पिनियल पिंड (Pineal body) — यह कोण के आकार की रक्तवर्ण, छोटी ग्रंथि है, जो चतुष्टय काय के बीच के दबे हुए क्षेत्र पर स्थित है। इसका शीर्ष पीछे की ओर होता है और इसका आधार, जो आगे की ओर स्थित है, एक डंठल द्वारा स्थिर है। यह डंठल अग्र भाग और पश्च भाग में बँटा हुआ है। इन दोनों भागों से श्वेतसूत्रों के समूह निकलते हैं, जिन्हें अग्र और पश्च संयोजिकाएँ (commissures) कहते हैं।

यह ग्रंथि यौन ग्रंथियों से संबंधित होती है और उनके अकाल पक्व (premature) विकास को रोकती है। इस ग्रंथि की वृद्धि होने से यौन अंगों का समय से पूर्व ही विकास हो जाता है, शरीर बढ़ जाता है और विशिष्ट मानसिक भावों का उदय होता है। युवावस्था के बाद इसका क्षय होने लगता है और अंत में यह केवल सौत्रिक तंतुओं के समूह के रूप मे रह जाती है।

रेखी पिंड — यह भी आधार गुच्छिका का ही एक भाग है, जो धूसर वस्तु से निर्मित चेतक के पार्श्व मे और सामने स्थित रहता है। इसकी कोशिकाएँ प्रमस्तिष्क के परिसरीय भाग की कोशिकाओं के समान होती हैं। इस प्रकार विकास और कार्य की दृष्टि से यह प्रमस्तिष्क गोलार्धों का भाग है। इसके अंदर धूसर द्रव्य के दो समूह पाए जाते हैं : (१) भीतर की ओर पुच्छ केंद्रक और (२) बाहर की ओर मसूरक (lenticular) केंद्रक। ये दोनों भाग श्वेत सूत्रों के एक गुच्छे से विभक्त रहते हैं, जिसे आंतर संपुट (capsule) कहते हैं और जो प्रमस्तिष्क के एक पार्श्व को शरीर के विपरीत पार्श्व से संबंधित करता है।

१. पुच्छकेंद्रक एक मोटी धूसर वस्तु से निर्मित रचना है। इसका आगे का सिरा चौड़ा होता है, जिसे शिर कहते हैं। यह तृतीय निलय में उभरा रहता है। इसका पिछला सिरा क्रमश: पतला होता जाता है तथा पुच्छ कहलाता है और चेतक के पार्श्व में स्थित रहकर, बादामाकार (amygdaloid) केंद्रक मे समाप्त हो जाता है। २. मसूरक केंद्रक धूसर द्रव्य से निर्मित उभयोत्तल (biconvex) रचना होती है। यह नीचे की अपेक्षा ऊपर अधिक चौड़ी है। इसके दो भाग होते हैं। इसका बड़ा भाग

पुटेमिन (Putamen) कहलाता है, जो गहरे रंग का होता है और छोटा भाग पांडुर पिंड (Globus pallidus) कहा जाता है।

रेखी पिंड के कार्य : १. यह प्रमस्तिष्क के परिसरीय प्रेरक क्षेत्रों से मिलकर ऐच्छिक पेशियों की गति नियंत्रित करता है; २. यह पेशियों को सहयोगिता से कार्य करने के लिये प्रस्तुत रखता है; ३. यह मसूरक केंद्रक के संवेगों को ऐच्छिक पेशियों तक पहुँचाता है, जिससे स्वचालित क्रियाएँ, जैसे घूमना, दौड़ना इत्यादि होती हैं, तथा ४. यह तापं का नियंत्रण करता है।

आंतर संपुट — यह मेदावृत तंत्रिका (medullated nerve) सूत्रों का एक गुच्छा है, जो मसूरक केंद्रक के बाहर की ओर और पुच्छकेंद्रक तथा चेतक के भीतर की ओर स्थित रहता है। इसका आकार अर्धचंद्र के समान होता है, जिसका नतोदर भाग मसूरक केंद्रक के सामने होता है। इसमें निम्नलिखित तीन भाग हैं : १. ललाट भाग (Frontal part), २. जानु भाग (Genu), तथा ३. पश्चकपाल भाग (Occipital part) धमनी काठिन्य (arterio-sclerosis) आदि के कारण अति रक्तदाब (high blood pressure) होने पर, यहीं की धमनियाँ प्रायः फटती हैं, जिससे संन्यास, पक्षाघात आदि रोग होते हैं तथा विपरीत पार्श्वपेशियों का पक्षाघात (paralysis) होता है। वामभाग में रक्तस्राव होने पर वाक्शक्ति का लोप हो जाता है।

बाह्य संपुट — यह श्वेत द्रव्यों से बने सूत्रों का गुच्छा है, जो मसूरक केंद्रक के बाह्य पार्श्व में रहता है और प्रमस्तिष्क के मसूरक केंद्रक और रोधपट (claustrum) के बीच स्थित रहता है। मसूरक केंद्रक के पीछे की ओर यह आंतर संपुट से मिल जाता है। इसके सूत्र प्रायः चेतक से उत्पन्न होते हैं।

मस्तिष्क का तृतीय निलय (Third Ventricle of the Brain) — दोनों चेतकों के बीच में स्थित यह पतला गहरा अंतराल है, जो नीचे प्रमस्तिष्क के आधार पर चला जाता है। इसकी छत एक पतली कला (thin efritherial layer) से बनती है, जो एक से दूसरे चेतक तक फैली रहती है। पीछे यह चतुर्थ निलय से मध्य मस्तिष्क की कुल्या से संबंधित रहता है तथा सामने की ओर पार्श्व निलय से निलयांतर रंध्र (interventricular foramen) से मिल जाता है। इसका तल सामने और नीचे की दिशा में ढालवाँ होता है, जिसमें सामने से पीछे की ओर अक्षिस्वस्तिक (optic chiasma), कीप (infundibulum), भस्माभ गुलिका (tuberculum cinereum) और चुचुकाभ काय (corpora mamillaria) रहते हैं। इसके पीछे पश्चविद्ध द्रव्य (posterior perforated substance) रहता है। इसकी अग्रसीमा (anterior boundry) अंत्यफलक (lamina terminalis) के नीचे स्थित है और अक्षिस्वस्तिक से लेकर महासयोजक के चंचु (rostrum of the Corpus Callosum) ऊर्ध्वपृष्ठ तक विस्तृत हैं। तृतीय निलय की पश्चिम सीमा पिनियल पिंड, पश्च संयोजिका तथा मध्य मस्तिष्ककुल्या से बनती है। पार्श्वसीमाएँ संख्या में दो होती हैं। ये क्रमशः चेतक के अग्रिम दो तिहाई भाग तथा अधश्चेतक (hypothalamus) से बनती हैं। उपर्युक्त दोनों भाग अधश्चेतक परिखा (sulcus) से विभाजित हैं।

प्रमस्तिष्क

यह मस्तिष्क का सबसे बृहद् भाग है, जो संपूर्ण शरीर की क्रियाओं तथा ज्ञान का उत्पादनस्थल है। इसका ऊपरी एवं बाह्य भाग धूसर द्रव्य का बना होता है और आंतरिक भाग श्वेत द्रव्य का। इसका संपूर्ण बाह्य स्थल ऊँचा नीचा असमतल होता है। इसके भिन्न भिन्न भाग शरीर के भिन्न भिन्न भागों की क्रियाओं से संबंध रखते हैं। प्रमस्तिष्क गहरे अनुदैर्घ्य विदर (fissure) द्वारा बीचोबीच से मध्यम समतल (median plane) में दो गोलार्धों में विभक्त होता है, जिनको प्रमस्तिष्क गोलार्ध कहते हैं।

प्रमस्तिष्क गोलार्ध — प्रमस्तिष्क में दाहिने और बाएँ दो गोलार्ध होते हैं, जो ऊपर से देखने पर अंडाकार दिखाई देते हैं। इनका पिछला भाग अगले भाग से अधिक चौड़ा होता है। दोनों गोलार्ध वाम अनुदैर्घ्य प्रमस्तिष्क विदर द्वारा पृथक् रहते हैं और वे महासयोजक नामक अनुप्रस्थ ततुओं के गुच्छों द्वारा परस्पर संबद्ध रहते हैं। प्रत्येक गोलार्ध के भीतर एक बड़ा रिक्त स्थान होता है, जिसे पार्श्व निलय कहते हैं। ये रिक्त स्थान पीछे की ओर तृतीय निलय में खुलते हैं। प्रत्येक गोलार्ध पर बाहर धूसर द्रव्य छाया रहता है, जो कोशिकाओं का बना होता है। इसको प्रांतस्था (cortex) कहते हैं। प्रमस्तिष्क के विभिन्न पृष्ठों में प्रांतस्था के परिमाण में अंतर होता है। मस्तिष्क के आधार में तीन महत्वपूर्ण धूसर द्रव्य के समूह होते हैं, जिन्हें चेतक तथा चतुष्य काय कहते हैं। धूसर द्रव्य के नीचे प्रमस्तिष्क के भीतरी भाग में श्वेत सूत्रों के समूह होते हैं। यही श्वेत द्रव्य कहलाता है।

प्रमस्तिष्क का बहिर्भाग तीन गहरी परिखाओं द्वारा चार खंडों में विभक्त है, जिनको ललाट (frontal), पार्श्विक (parietal), शंख (temporal) और पश्च कपाल (occipital) खंड कहते हैं। प्रमस्तिष्क का पृष्ठ समतल न होकर ऊँचा नीचा, टेढ़ा मेढ़ा होता है जिससे प्रांतस्था का धूसर द्रव्य अधिक परिमाण में करोटिगुहा में आ सके। निम्नवर्ग के प्राणियों में यह बिलकुल सपाट होता है, तथा इसकी रचना नितांत साधारण होती है, किंतु ज्यों ज्यों विकास बढ़ता गया है, इसकी रचना जटिल होती गई है। मनुष्य में भी गर्भावस्था के समय प्रमस्तिष्क की रचना साधारण ही रहती है, किंतु विकासक्रम में उसमें परिखाएँ प्रकट होने लगती हैं। प्रमस्तिष्क और उसका पृष्ठ जटिल होने लगता है। युवावस्था में पहुँचने पर वह पूर्ण विकसित हो जाता है। निम्न श्रेणियों के बंदरों और नवजात मानव शिशु का प्रमस्तिष्क प्रायः समान होता है। प्रमस्तिष्क के प्रत्येक खंड का पृष्ठ विदरों और परिखाओं नामक गहरी रेखाओं द्वारा अनेक भागों में विभक्त होता है। इन छोटे छोटे उपविभागों को कणिका या लहरिकाएँ (gyrus or convolutions) कहते हैं। प्रमस्तिष्क के गोलार्धों के निम्नलिखित तीन पृष्ठ होते हैं : (क) बाह्य पार्श्व (supero lateral) पृष्ठ, (ख) अभिमध्य (medial) पृष्ठ, (ग) अधो (inferior) पृष्ठ।

(क) बाह्य पार्श्व पृष्ठ — यह आकार में उत्तल (convex) होता है, जो कपाल के अवतल भाग (concave part of cranium) में भरा रहता है। पृष्ठ पर क्रमशः निम्नलिखित तीन विदर या मुख्य परिखाएँ होती हैं : (१) पार्श्व परिखा (lateral sulcus or fissure of Sytvius), (२) केंद्रीय परिखा (central sulcus or fissure of

Rolands) तथा (३) बाह्य पूर्वपश्चकपाल परिखा (external parieto occipital sulcus) ।

(ख) अभिमध्य पृष्ठ — इसमें निम्नलिखित मुख्य परिखाएँ होती हैं : (१) महासंयोजिका (collosal) परिखा, (२) शूक (calcarine) परिखा, (३) अवपार्श्विका (subparietal) परिखा, (४) समपार्श्वी (collateral) परिखा तथा (५) आतरिक पार्श्विक पश्चकपाल परिखा (internal parieto occipital sulcus) ।

(ग) अधोपृष्ठ — इसमें मुख्य वृत्ताकार परिखा (circular sulcus) होती है ।

उपर्युक्त तीनों पृष्ठों की परिखाओं के द्वारा प्रमस्तिष्क निम्नलिखित खंडों में विभक्त होता है · (१) ललाट खंड—यह खंड प्रमस्तिष्क की केंद्रीय परिखा के सामने स्थित है। (२) पार्श्विका खंड यह खंड केंद्रीय परिखा और बाह्य पार्श्विका पश्चकपाल परिखा के बीच मे स्थित रहता है। (३) पश्चकपाल खंड — यह खंड आतरिक पार्श्विका पश्चकपाल परिखा के पीछे स्थित रहता है। (४) शंख खंड — यह खंड पार्श्वपरिखा के नीचे स्थित रहता है। (५) राइल की द्वीपिका या द्वीपिका (Island of Reil or Insula) — यह भाग प्रमस्तिष्क के भीतर वृत्ताकार परिखा (circular sulcus) से सवेष्टित रहता है, जो ललाट खंड, पार्श्विक खंड और शंख खंड की कर्णिकाओं को हटाने से दिखाई देता है। (६) पाद खंड (Limbic lobes) — ये प्रमस्तिष्क के महासयोजक भाग को आवेष्टित करनेवाले दो खंड (lobes) हैं, जो ऊपर की ओर ऊर्ध्व जलाश्व सयोजिका कर्णिका (hippocampal gyrus) से बनते हैं। ये कुत्ते आदि तीक्ष्ण गंधशक्तियुक्त प्राणियों में अधिक विकसित होते हैं।

प्रमस्तिष्क प्रातस्था की सूक्ष्म रचना तथा कार्य निम्नलिखित हैं :

(क) धूसर द्रव्य — प्रमस्तिष्क का प्रातस्था भाग आयु के अनुसार दो से लेकर चार मिलिमीटर तक मोटा होता है। प्रातस्था की गहराई कर्णिका के खुले भाग मे परिखा की अपेक्षा अधिक होती है। धूसर द्रव्य में पाँच स्तर होते हैं, जो बाहर से भीतर की ओर निम्नलिखित प्रकार से स्थित रहते हैं : १. बाह्य तंतु स्तर (Outer fibre layer) मे तंतुजाल की बहुलता होती है। इसका विशेष कार्य स्मृति है। इस स्तर का बुद्धि से विशेष सबंध है। व्यक्ति जितना बुद्धिमान् होता है उसमे यह स्तर उतना ही अधिक होता है। बुद्धिमाद्य, बुद्धिवैषम्य आदि मानस रोग इसी स्तर के विकार के परिणाम होते हैं। २ बाह्य कोशिका स्तर (outer cell layer), मानस भावों के सयोजन से सबंध रखता है। ३. मध्य कोशिकास्तर (Middle cell layer) संवेदना क्षेत्रों मे विशेष स्पष्ट होता है। अत: इसका संबंध संवेदना से होता है। ४. आभ्यंतर तंतु स्तर (Inner fibre layer), भी प्रेरक क्षेत्रों में विशेष स्पष्ट होता है। अत: इसका सबंध प्रेरणा से होता है। ५. आभ्यंतर कोशिकास्तर (Inner cell layer) का संबंध शारीरिक क्रियाओं तथा अंतर्जात क्रियाओं से है।

(ख) श्वेत द्रव्य — श्वेत द्रव्य तंत्रिकातंतुओं का बना होता है। ये तंतु क्रिया के अनुसार निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किए जाते हैं :

१. संयोजिका तंतु, जो प्रमस्तिष्क गोलार्धों को परस्पर मिलाते हैं, जैसे (अ) महासंयोजक, (ब) शंखखंड को मिलानेवाली अग्रिम संयोजिका तथा (स) जलाश्व संयोजिका।

२. संयोजन तंतु (Association fibres), जो एक ही पार्श्व के विभिन्न भागों को मिलाते हैं। ये लघु और दीर्घ दो प्रकार के होते हैं। लघु तंतु निकटवर्ती कर्णिकाओं को मिलाते हैं और दीर्घ तंतु दूरस्थ कर्णिकाओं को। दीर्घतंतु निम्नलिखित हैं : (अ) ऊर्ध्व अनुदैर्ध्य पूलिका (Superior longitudinal bundle), ये तंतु ललाट, शंख तथा पश्चकपाल खंडों को मिलाते हैं; (ब) अधो अनुदैर्ध्य पूलिका (Inferior longitudinal bundle), ये तंतु शंख और पश्चकपाल खंडों को मिलाते हैं, (स) पश्चकपाल पूलिका (Occipital bundle), (द) अंकुश पूलिका (Uncinate bundle) तथा (ई) मेखला (Cinguium) ।

३. प्रक्षेपण तंतु (Projection fibres) — ये तंतु प्रमस्तिष्क प्रांतस्था, अनुमस्तिष्क, मस्तिष्क के दूसरे भागों तथा मेरुरज्जु (spinal cord) के भिन्न भिन्न भागो का आपस में संबंध स्थापित करते हैं। दिशा के अनुसार ये तंतु निम्नलिखित दो प्रकार के होते हैं : (अ) आरोही तंतु (Ascending fibres) तथा (ब) अवरोही तंतु (Descending fibres) ।

(अ) आरोही तंतु प्राय: सवेदी (sensory) होते हैं और इनमें से अधिकाश चेतक मे पहुँचकर समाप्त हो जाते है। इनमें निम्नलिखित तंतु होते हैं : (अ) ऊर्ध्व पट्टबंध (lemniscus), (र) पार्श्व पट्टबंध अथवा श्रवण विकिरण तंतु (Auditory radiation fibres) (स) अक्षि विकिरण तंतु तथा (ब) अनुमस्तिष्क-प्रमस्तिष्क तंतु ।

(ब) अवरोही तंतु प्राय: प्रेरक (motor) होते हैं, जैसे (१) ललाट पूलिका तंतु, (२) शंखपूलिका तंतु तथा (३) पश्चकपाल पूलिका तंतु ।

(ग) पार्श्व निलय — प्रमस्तिष्क गोलार्धों के अंदर स्थित ये दो टेढ़ी गुहाएँ हैं, जो मध्यम तल (median plane) मे दोनों ओर प्रमस्तिष्क गोलार्धों के अधर और मध्यस्थ भाग मे स्थित रहती हैं। दोनों गोलार्धों के पार्श्वनिलय एक दूसरे से अग्र शृंगांतरपट (septum lucidum) द्वारा अलग रहते हैं पर ये तृतीय निलय से निलयांतर रंध्र द्वारा संबधित होते हैं। ये पार्श्वनिलय रोमक उपकला (ciliated epithelium) से आच्छादित होते हैं। इनमें प्रमस्तिष्क मेरुद्रव्य (cerebro spinal fluid) रहता है। प्रत्येक पार्श्वनिलय मे एक केंद्रीय भाग और तीन शृंग (cornue or horns) होते हैं, जो क्रमश: अग्रशृंग (Anterior horn), पश्चशृंग (Posterior horn) तथा अधोशृंग (Inferior horn) कहलाते हैं।

प्रमस्तिष्क के कार्य — इसके कार्यों के निरूपण के लिये अनेक विधियाँ काम में लाई गई हैं, जिनमें एक विधि यह है कि प्रमस्तिष्क को निकालकर ऐसा करने के परिणामों का निरीक्षण किया जाता है। प्रमस्तिष्क के अभाव में जिन क्रियाओं का लोप हो जाता है, वा

जिन क्रियाओं में विकार आ जाता है उनका संबंध अनुमान के द्वारा प्रमस्तिष्क से स्थापित किया जाता है। इसे निकाल देने से विभिन्न प्राणियों में विभिन्न परिणाम होते हैं। मनुष्य में इसके कारण नहीं होता और न स्मृति आदि ही होती है। भूख प्यास नहीं लगती तथा अंगो में स्वाभाविक गति नहीं होती। प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के अभाव या विकार में जब पेशियाँ क्रियाहीन हो जाती हैं, तब
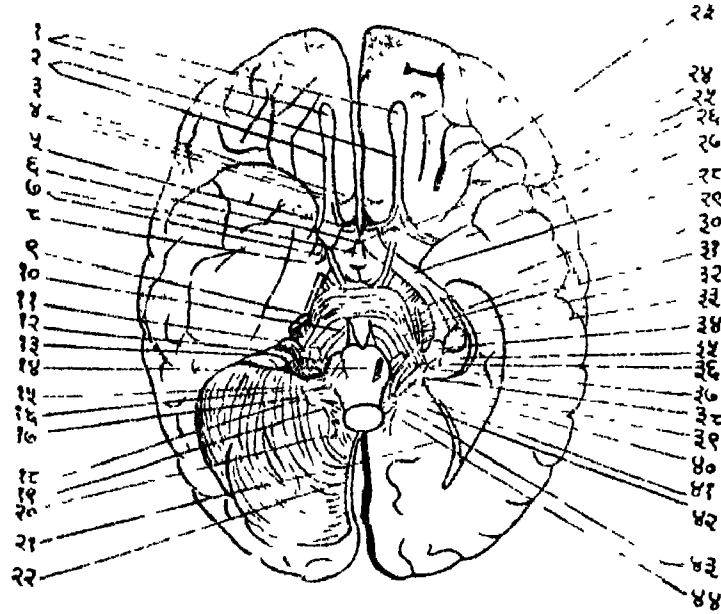
चित्र ६. मस्तिष्क के अधोपृष्ठ से निकलनेवाली तन्त्रिकाएँ

१. घ्राणकंद (Olfactory bulb); २. घ्राणपथ; ३. ब्रोका का (Broca's) क्षेत्र; ४. घ्राण अमेधिका (tubercle); ५. दृष्टि (optic) तंत्रिका; ६ दृष्टि स्वस्तिक (Chiasma); ७. नेत्रचालनी (Oculomotor) तीसरी तंत्रिका; ८. चक्रक (Trochlear) चौथी तन्त्रिका; ९. त्रिमूलिका (trigeminal) पाँचवी तंत्रिका; १०. उद्विवर्तनी (abducent) छठी तंत्रिका; ११. आनन (facial) सातवी तंत्रिका, १२. मध्यक भाग (Pars Media); १३. श्रवण (auditory) आठवी तन्त्रिका; २४. अधोजिह्विकी (sublingual) बारहवी तंत्रिका; १५. जिह्विका ग्रसनी (Glosso-pharyngeal) नवी तन्त्रिका; १६. अधोजिह्विकी (Sublingual) बारहवी तन्त्रिका; १७. वेगस (Vagus), दसवी तंत्रिका, १८. मेरु सहायिका ग्यारहवी तंत्रिका, सहायिका भाग (Spinal accessory part) १९. मेरु सहायिका ग्यारहवी तन्त्रिका, मेरुभाग (Spinal acce. nerve, spinal part); २०. मेरुरज्जु (Spinal cord): २१. पश्चकपाल खंड (Occipital lobe) कटा हुआ; २२. अनुमस्तिष्क का वर्मिस (Vermis ot cerebellum) कटा हुआ; २३. घ्राणतन्त्रिका का अभिमध्यमूल (medial root); २४. दृष्टि स्वस्तिक; २५. पार्श्वमूल (Lateral root); २६. पूर्व सुषिरबिंदु (Anterior spongy point); २७. शंखखंड (Temporal lobe) कटा हुआ; २८. दृष्टिपथ (Optic tract); २९ चक्रक (Trochlear) तन्त्रिका; ३०. वृत्ताकार वेणी, टीनिया (Tinea circularis); ३१. त्रिमूलिका (trigeminal) तन्त्रिका; ३२. उद्विवर्तनी तंत्रिका; ३३. बहि.वक्रपिंड (Exterior geniculate body); ३४ अत.वक्रपिंड, जेनिकुलेट; ३५. पुल्विनार (Pulvinar); ३६ आननी (facial) तंत्रिका; ३७. अभिमध्य भाग (Pons medialis); ३८. श्रवण (auditory) तन्त्रिका; ३९. मध्य अनुमस्तिष्क वृंत (Medial cerebellar Peduncle); ४०. पार्श्व निलय (Lateral Ventricle); ४१. जिह्वाग्रसनी (Glosso-pharyngeal) तन्त्रिका; ४२. वेगस तंत्रिका; ४३. मेरुसहायक (spinal accessory) तंत्रिका तथा ४४, मेरुसहायक तन्त्रिका (लघु)।

पक्षाघात आदि गंभीर लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका शांत होना कठिन हो जाता है। प्रेरक क्षेत्रों (motor areas) के नाश से अनेक प्रेरणागत विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जिन शिशुओं में प्रमस्तिष्क अनुपस्थित रहता है, उनमें बुद्धि का कोई चिह्न प्रमस्तिष्क प्रांतस्था का निरोधक प्रभाव नष्ट हो जाता है। इससे अनुमस्तिष्क का संकोचक प्रभाव बने रहने के कारण चेष्टाहीन पेशियों का संकोच बढ़ जाता है। इसे अपकुंचन (contracture) कहते हैं। प्रमस्तिष्क के विभिन्न क्षेत्रों के निम्नलिखित तीन कार्य होते हैं :

१. उत्तेजनाओं को ग्रहण करना; (संज्ञाक्षेत्रों का कार्य) २. ज्ञान संचय और वर्तमान उत्तेजनाओं का उससे संबंधस्थापन, फलत: स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और विचार करना; (संयुक्त क्षेत्रों का कार्य) तथा ३. प्रेरणा का उत्पादन (प्रेरक क्षेत्रों का कार्य)।

इस प्रकार से प्रमस्तिष्क बाह्य वातावरण से उत्पन्न संज्ञाओं को ग्रहण कर तदनुकूल चेष्टाओं को उत्पन्न करता है, जिससे मनुष्य अपने अतीत अनुभवों से लाभ उठाकर जीवनयात्रा में सफलतापूर्वक आगे बढ़ सके। प्रमस्तिष्क बुद्धि तथा जाग्रत संवेदनाओं का स्थान है, क्योंकि सभी केंद्रों तथा उनके मिलानेवाले सूत्रों की क्रिया का परिणाम बुद्धि कहलाता है। प्रमस्तिष्क प्रांतस्था का धूसर द्रव्य इच्छा, स्मृति बुद्धि, भावना आदि उच्च मानसिक प्रतिक्रियाओं का अधिष्ठान है। इसके अतिरिक्त वह ज्ञानेंद्रियों (sensory organs) का भी चरम अधिष्ठान है तथा उच्च मानस प्रतिक्रियाओं के क्रम में होनेवाली जटिल नाड़ीक्रियाओं का स्थान भी प्रमस्तिष्क प्रांतस्था का धूसर द्रव्य ही है। अतः मनुष्य के जीवन में इसका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रमस्तिष्क के क्षेत्र — अनेक विधियों के द्वारा प्रमस्तिष्क के निम्नलिखित तीन प्रकार के क्षेत्र निश्चित किए गए हैं: १. प्रेरक या उत्तेजक क्षेत्र (Motor or excitable areas), जहाँ से ऐच्छिक वेगों का आरंभ होता है; २. संवेदक या ग्राहक क्षेत्र (Sensory or receptive areas) जिनका कार्य संज्ञाओं को ग्रहण करना है, तथा ३. संयोजक क्षेत्र (Association areas), जो उच्च मानसिक प्रतिक्रियाओं के अधिष्ठान हैं। रचना के अनुसार एक अन्य विद्वान् ने प्रमस्तिष्क प्रांतस्था को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित किया है: क. कणिकामय प्रकार (granulose type), जो संवेदन क्षेत्रों में पाए जाते है तथा ख. कोणीय प्रकार (angular type), जो प्रेरक तथा संयोजक क्षेत्रों में पाए जाते हैं।

१. प्रेरक क्षेत्र (Motor areas) — प्रमस्तिष्क के निम्नलिखित तीन प्रेरक क्षेत्र निर्धारित किए गए हैं: (क) प्राक्केंद्र कर्णक (Precentral gyrus), (ख) ललाटदृष्टि क्षेत्र (Frontal eye areas) तथा (ग) उच्चारित वाणी क्षेत्र (Motor speech areas)।

(क) प्राक्केंद्र कर्णक — यह कर्णक पूर्णत: प्रेरणा का अधिष्ठान है। कुछ प्रेरक क्षेत्र इसके अंतः पृष्ठ में भी हैं। इस कणिका में ऊर्ध्वशाखाओं (upper limbs), मध्यकाय (trunk) तथा ग्रीवा (neck) के लिये पृथक् पृथक् केंद्र होते हैं। अधोशाखा (lower limbs) का केंद्र सबसे ऊपर स्थित है, इसके नीचे मध्यकाय का केंद्र है। मध्यकाय के केंद्र के नीचे ऊर्ध्वशाखा का केंद्र होता है। इन केंद्रों में पुन: सभी उपभोगों के लिये केंद्र होते हैं यथा अधोशाखा केंद्र में पैर की अंगुली, पिंडली, जाँघ और नितंब आदि के उपकेंद्र विद्यमान होते हैं।

इन क्षेत्रों का विस्तार पेशियों की संख्या के अनुसार नहीं, बल्कि उनकी गति की जटिलता के अनुसार होता है। जिन अंगों में गति जटिल होती है, उनके क्षेत्र विस्तृत होते हैं। यह क्षेत्र अभ्यासजन्य क्रियाओं का भी संचालन करता है। साथ ही इसके द्वारा पेशियों के स्वाभाविक संकोच पर निरोधक प्रभाव पड़ता है। अन्य संज्ञाक्षेत्रों की संयुक्त क्रिया से अभ्यासजन्य कार्यों के प्रेरक (motor fibres) निर्मित होते हैं, जो वामपार्श्व में प्राक्केंद्र कर्णक में संचित रहते हैं। और समय पर प्रेरक क्षेत्र से संचालित होते हैं। इसकी विकृति होने पर मनुष्य अभ्यासजन्य क्रियाओं का संपादन नहीं कर सकता। इस विकार को चेष्टा अक्षमता (apraxia) कहते हैं।

(ख) ललाटदृष्टि क्षेत्र — यह नेत्रगोलकों की गति का केंद्र है और इसका अधिष्ठान मध्य ललाटकर्णक (middle frontal gyrus) है। यह तृतीय, चतुर्थ तथा छठी कपालतंत्रिकाओं (cranial nerves) के केंद्रकों में उत्तेजना पहुँचाता है, जिससे सहयोगिता के आधार पर कार्य होकर नेत्रगोलकों में समुचित गति होती है।

(ग) चालक वाक्केंद्र — यह अधोललाट कर्णक (inferior frontal gyrus) के पश्चिम प्रांत में पार्श्व परिखा की अग्रिम शाखा के पास स्थित है। यह क्षेत्र केवल वाम भाग में होता है और वाणी की स्पष्टता के लिये विभिन्न अंगों, यथा जिह्वा, ओठ, स्वरयंत्र आदि की विविध गतियों का नियंत्रण एवं सहयोगमूलक संचालन करता है। इस क्षेत्र के विकार से वाचाघात (aphasia) नामक रोग हो जाता है, जिससे रोगी बोल नहीं सकता।

२. संवेदक क्षेत्र — इन क्षेत्रों का निरूपण उत्तेजना या पृथक्करण के द्वारा होता है। इन क्षेत्रों को उत्तेजित करने पर यद्यपि कोई गति नहीं होती, तथापि उस विषय की अनुभूति तथा तज्जन्य प्रतिवर्ती क्रिया होती है तथा सनसनाहट होने लगती है। संवेदी क्षेत्र को अलग कर देने से संवेदन का नाश हो जाता है। पाँचों इंद्रियों के लिये पृथक् पृथक् क्षेत्र निर्धारित हैं, जिनमें प्राय: शरीर के विपरीत पार्श्व से संवेदनाएँ आती हैं। इन निम्नलिखित विभिन्न संवेदी क्षेत्रों में से प्रत्येक के पुन: दो भाग हैं: (अ) संवेदी संग्रहणशील (sensory receptive) क्षेत्र तथा (ब) संवेदी मानसिक (sensory psychic) क्षेत्र।

विभिन्न संवेदी क्षेत्र में निम्न प्रकार हैं:

(क) स्पर्शसंवेदी क्षेत्र (Tactile area) — यह पश्चकेंद्र कणिका में स्थित है, जो पीछे की ओर ऊर्ध्वपार्श्विक कणिका के पूर्वार्ध में ग्रहण करनेवाला क्षेत्र है तथा पश्चिमार्ध में विवेक क्षेत्र है, जहाँ शीतोष्ण, रूक्ष, स्निग्ध आदि स्पर्श के विशिष्ट प्रकारों का ज्ञान होता है। इसमें भी ऊपर से नीचे की ओर अधोशाखा (lower extremity), मध्यकाय, ऊर्ध्वशाखा (upper extremity) तथा ग्रीवा और शिर के संवेदी क्षेत्र हैं।

(ख) श्रवण क्षेत्र (Auditory area) — यह ऊर्ध्वशंख कणिका (superior temporal gyrus) तथा अनुप्रस्थ शंख कणिका (transverse temporal gyrus) में स्थित है। ऊर्ध्वशंख कणिका के मध्य भाग में ग्रहणक्षेत्र तथा अधिपरिसरीय कणिका (supramarginal gyrus) में मानस श्रवण क्षेत्र (audito psychic area) है। यहाँ पर सुने और बोले गए शब्दों के स्मृतिचिह्न संचित रहते हैं। इस मानस श्रवण क्षेत्र की विकृति होने से मानसिक बहरापन (psychic deafness) नामक रोग उत्पन्न होता है। इसमें सामान्य श्रवणसंवेदना का ग्रहण होता है, किंतु उसके विशिष्ट प्रकारों को पहचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है। ऊर्ध्वशंख कणिका के मध्य में एक और विकसित क्षेत्र है, जिसे श्रवण शब्द (audito words) क्षेत्र

कहते हैं। यहाँ उच्चारित शब्दों तथा वर्णों की स्मृति, जिसे ध्वनि-चित्र (sound picture) कहते हैं, संचित रहती है। इस क्षेत्र के आघात से श्रवण वाचाघात (auditory aphasia) नामक रोग हो जाता है, जिसमें शब्दों का श्रवण तो होता है, किंतु उसके अर्थ को रोगी नहीं समझता।

(ग-घ) स्वाद और गंध क्षेत्र — यह जलाश्व कर्णक (hippocampal gyrsus) विशेषत: अंकुश (uncus) में स्थित रहता है। यह कुत्ते आदि तीक्ष्ण गंधयुक्त प्राणियों में अधिक विकसित होता है। इसके ठीक पीछे क्षुधा और पिपासासंवेदी क्षेत्र होते हैं, जिनके विकृत होने से क्षुधा और पिपासा संबंधी विकार होते हैं।

(ङ) दृष्टिक्षेत्र (Visual area) — यह प्रमस्तिष्क के पश्चकपाल खंड मे कीलक (cuneus) पर स्थित रहता है। यह दृष्टि संवेदी क्षेत्र है। इसी के पार्श्व में, मुख्यत पश्चकपाल खंड के बाह्यपृष्ठ पर, मानस दृष्टिक्षेत्र (visuo-psychic area) स्थित है। इसी के विकृत हो जाने पर मानसिक अंधापन (psychic blindness) उत्पन्न होता है, जिससे मनुष्य वस्तुओं को देखता है, परंतु पहचान नही सकता। पश्चकपाल खंड के एक भाग में शब्द-दर्शन-क्षेत्र (visuo-word centre) होता है, जिसमें लिखित या मुद्रित वर्णों के स्मृति चित्र अंकित रहते हैं। इस केंद्र के विकृत होने से लिखित या मुद्रित वर्णों को पहचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसे दृष्टिवाचाघात (visual aphasia) कहते हैं।

३. संयोजक क्षेत्र — उपर्युक्त संवेदक क्षेत्र तथा प्रेरक क्षेत्र प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के बहुत थोड़े भाग में सीमित है। इनके चारों ओर ऐसे बड़े बड़े क्षेत्र है जिनकी उत्तेजना से कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया नही होती, किंतु उनके विकार से शरीर की क्रियाओं मे जटिल से जटिल विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ये क्षेत्र सूत्रों और तंत्रिका कोशिकाओं के समूह से बने हैं। सूत्रों को संयोजक सूत्र (Association fibres) तथा कोशिकाओं के समूह को संयोजक केंद्र (Association centres) कहते हैं। सूत्रों का कार्य विभिन्न केंद्रों को मिलाना तथा केंद्रों का कार्य अनुभूत विषयों को स्मृति के रूप मे संचित करना है। इन क्षेत्रों मे ध्यान, आलोचन, स्मरण आदि उच्चतर मानसिक क्रियाएँ होती हैं। प्राणियों मे बुद्धि का विकास ज्यों ज्यों होता है त्यों त्यों इन क्षेत्रों का भी विकास होता जाता है। मनुष्य के प्रमस्तिष्क मे ये क्षेत्र अधिक विकसित होते हैं। इन्हें निम्नलिखित तीन भागों मे विभक्त किया गया है : (क) अग्रसंयोजक क्षेत्र (Anterior association area) ललाट खंड मे पूर्व भाग में होता है; (ख) मध्यम संयोजक क्षेत्र (Middle association area) राइल द्वीपिका में स्थित है; (ग) पश्चसंयोजक क्षेत्र (Posterior association area) पार्श्विक खंड (parietal lobe) और पश्चकपाल खंड के पिछले भाग मे स्थित है। इन क्षेत्रों के विकृत हो जाने पर संवेदन और प्रेरक (sensory and motor) क्रियाओं मे कोई विशेष विकार नहीं आता, परंतु व्यक्ति की मानसिक स्थिति तथा उसके व्यवहार में बहुत अंतर आ जाता है।

अक्षिपथ (Optic tract) — इसका अंत अक्षिखंड के केंद्रों मे होता है, जिसे आसानी से देखा जा सकता है। अक्षिपथ अक्षि स्वस्तिक (optic chiasma) के पीछे से निकलकर प्रमस्तिष्क वृंत के पार्श्वतल पर पश्च पृष्ठ (posterior surface) में पहुँचकर अभिमध्य (medial) और पार्श्व (lateral) भागों में विभक्त हो जाता है। अभिमध्य भाग छोटा है और दृष्टितंत्रिका (optic nerve) के सूत्रों का इससे कोई संबंध नहीं है। इसका अंत अभिमध्य वक्र पिंड (medial geniculate body) में होता है। इसमें अभिमध्य वक्र पिंड को जोड़नेवाले सूत्र होते हैं, जिन्हें गुडन संयोजिका (Commissure of gudden) कहते हैं। पार्श्व भाग के मूल सूत्र (lateral root fibres) दो ओर से होते हैं। एक तो उसी ओर के नेत्र के दृष्टिपटल (retina) के पार्श्विक अधोभाग से और दूसरे दूसरी ओर के दृष्टिपटल के अभिमध्य अर्धभाग से। ये सूत्र मिलकर पार्श्वमूल (lateral root) बनाते हैं। इसके पुन. तीन भाग हो जाते हैं। एक भाग पुलविनार मे जाता है, दूसरा पार्श्व वक्र पिंड मे तथा तीसरा ऊर्ध्व चतुष्टय काय मे पहुँचकर समाप्त हो जाता है।

कपाली तंत्रिकाएँ — ये निम्नलिखित १२ तंत्रिकाएँ होती हैं, जिनमे कुछ प्रेरक, कुछ संवेदक तथा कुछ मिश्रित प्रकार की होती हैं : १ घ्राण (olfactory) तंत्रिका, २. दृष्टि (optic) तंत्रिका ३. नेत्रप्रेरक (occulomotor) तंत्रिका, ४. चक्रक (trochlear) तंत्रिका, ५ त्रिधारा (trigeminal) तंत्रिका, ६. उद्विवर्तनी (abducent) तंत्रिका, ७. आनन (facial) तंत्रिका, ८. श्रवण तंत्रिका, (auditory) ९. जिह्वाग्रसनी (glossopharyngeal) तंत्रिका, १०. वेगस (vagus) तंत्रिका, ११. उप (accessory) तंत्रिका तथा, १२. अधोजिह्वा (hypoglossal) तंत्रिका।

मस्तिष्क का वजन (Weight of brain) — अत्यधिक अनुसंधान के उपरांत मस्तिष्क का भार पुरुषों मे १,४०९ ग्राम और स्त्रियों मे १,२६३ ग्राम पाया गया है। सबसे अधिक भार २५ से ३५ वर्ष की अवस्था मे रहता है। जन्म के समय मस्तिष्क का भार शरीर के भार के १:६ अनुपात में रहता है। दस वर्ष की अवस्था में शरीर तथा मस्तिष्क के भार में अनुपात १:१४ रहता है। २० वर्ष की अवस्था मे शरीर तथा मस्तिष्क के भार मे अनुपात १:३० होता है तथा उसके बाद की सभी अवस्थाओं मे यह अनुपात १:३६·५ होता है। अत्यधिक बुद्धिमान् व्यक्तियों में मस्तिष्क का भार अधिक पाया गया है। १,७०१ ग्राम से ऊपर के वजन का मस्तिष्क या तो अत्यधिक बुद्धिमान् व्यक्ति मे पाया गया है अथवा मूर्ख मे। जितना व्यक्ति लंबा होता है उतना ही उसके मस्तिष्क का वजन भी अधिक होता है। अनुमस्तिष्क का भार संपूर्ण मस्तिष्क के भार का १/८ भाग होता है। अब मस्तिष्क के धूसर द्रव्य के भार को मालूम करने का प्रयत्न किया जा रहा है। [प्रि० कु० चौ०]

मस्तिष्कशोथ (Encephalitis) केंद्रीय तंत्रिकातंत्र की ऐसी शोथयुक्त अवस्था है जिसमे मस्तिष्क एवं केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के अन्य अवयवों का धूसर द्रव्य (grey matter) मुख्य रूप से आक्रांत होता है।

कारण — इस रोग का प्रसार मुख्यत. एक विशेष प्रकार के निस्यंदनीय वाइरस (filterible virus) द्वारा नाक और गले से मस्तिष्क के अधोजालतानिक अवकाश (subarchnoid space) मे होता है। यह रोग सभी अवस्था एवं लिंग के व्यक्तियों में समान रूप

से होता है। शीत ऋतु के प्रारंभ में इसका प्रकोप अधिक होता है। देहातों की अपेक्षा शहरों में यह रोग अधिक होता है।

लक्षण तथा विकृति विज्ञान (Pathology) — इस रोग में मस्तिष्क के धूसर द्रव्य के संपूर्ण भाग में काफी परिवर्तन होता है, जिसके फलस्वरूप केंद्रीय तंत्रिकाओं के केंद्र (nuclei) तथा सुषुम्ना की अग्र शृंग कोशिकाएँ (anterior horn cells) मुख्यत: आक्रांत होती हैं। ये सभी स्थान शोथयुक्त (oedematous) तथा रक्ताधिक्ययुक्त (hyperaemic) हो जाते हैं। इस रोग के लक्षण ६० प्रति शत एकाएक प्रकट होते हैं तथा ४० प्रति शत शनै. शनै प्रकट होते हैं।

एकाएक प्रकट होनेवाले लक्षणों में ज्वर १०४ या १०५ डिग्री से १०६ या १०७ डिग्री तक हो जाता है। इसके साथ साथ वमन, तीव्र शिर शूल, अतिसार, आक्षेप इत्यादि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। रोगी को हाथ पैर में दर्द, कमजोरी, हाथ पैर मे शक्तिहीनता तथा अवसाद एवं सुस्ती का अनुभव होता है। अंत मे रोगी बेहोश हो जाता है।

इस रोग के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं : ज्वर ७५.४ प्रति शत, बेहोशी ५२ ६ प्रति शत, आक्षेप ४२.६ प्रति शत, वमन २८ ७ प्रति शत, शिर:शूल १६ ५ प्रति शत, बेचैनी १३.१ प्रति शत, वाक्‌शक्ति हीनता ७.८ प्रति शत, मूत्रावरोध ६ प्रति शत, पीठ और गर्दन मे दर्द ५.१२ प्रति शत और हिचकी १.७ प्रति शत।

निदान — जब कभी रोगी तीव्र ज्वर, आक्षेप, बेचैनी, बेहोशी की अवस्था, वमन, अतिसार इत्यादि लक्षण बताता है तो समझ लेना चाहिए कि कोई मस्तिष्कगत उपद्रव चल रहा है। ऐसी अवस्था मे रोग के निदान के हेतु इसी प्रकार के लक्षणो से युक्त अन्य रोगों का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है, जैसे प्रमस्तिष्कीय मलेरिया (cerebral malaria), टाइफाइड, गर्दनतोड़ बुखार (cerebrospinal fever), गुलिकार्ति, मस्तिष्क-प्रावरण-शोथ (tubercular meningitis) इत्यादि।

ऐसी अवस्था मे रक्तपरीक्षा करके मलेरिया के कीटाणुओं को देखने की कोशिश करनी चाहिए। साथ ही श्वेत रक्तकणों की संयुक्त संख्या भी देख लेनी चाहिए, जो इस रोग मे अत्यधिक बढ़ जाती है। यदि श्वेत रक्तकणों की संख्या अत्यधिक मिले और रक्त में मलेरिया के कीटाणु न दिखाई दें, तो तत्काल उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर चिकित्सक को रीढ़ की हड्डी में सूचीवेध करके मस्तिष्क के तरल पदार्थ को निकालकर परीक्षा करनी चाहिए। इस विधि को कटिवेधन (lumbar puncture) कहते हैं। इसी से रोग का स्पष्ट निदान होता है।

उपद्रव एवं साध्यासाध्यता — इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति या तो शीघ्र ही मर जाता है अथवा कुछ सप्ताह मे ठीक होकर आंशिक पक्षाघात से ग्रस्त हो जाता है। इसकी साध्यासाध्यता रोग की उग्रता तथा रोगी की अवस्था पर निर्भर करती है।

उपचार — रोगी को तत्काल लेटाकर उसका बुखार उतारने के लिये शीतोपचार (hydrotherapy) करना चाहिए। अन्य लाक्षणिक उपचार के साथ साथ इस रोग की विशिष्ट चिकित्सा के अतर्गत ब्रॉड स्पेक्ट्रम ऐंटिबायोटिक, जैसे टेरामाइसिटीन, ऐक्रोमाइसिटीन, क्लोरोमाइसिटीन आदि का उपयोग किया जाता है। रोग की उग्रता तथा रोगी की अवस्था के अनुसार मात्रा निर्धारित करते हैं। औषधि का उपयोग भी मुख तथा सूचीवेध द्वारा आवश्यकतानुसार करते हैं। चूँकि मस्तिष्क पर प्रमस्तिष्क मेरुद्रव के दबाव से रोगी को असह्य पीड़ा, संज्ञानाश तथा अनेक उपद्रवो का अनुभव होता है, अत कटि-वेधन-विधि से द्रव निकालने से आशातीत लाभ होता है। इससे यह देखा गया कि द्रव काफी गति से निकलता है तथा स्वच्छ होता है। उसमे स्थित शर्करा और क्लोराइड साम्यावस्था में होते हैं, परंतु प्रोटीन काफी बढ़ा रहता है। कभी कभी अन्य मार्गों से औषधि प्रवेश से लाभ न होने पर कटिवेधन द्वारा औषधि प्रविष्ट कराने से तत्काल लाभ मिलता है। [प्रि० कु० चौ०]

महदी, सैयद मुहम्मद जौनपुरी शताब्दियों से मुसलमानों में यह भविष्यवाणी चली आती है कि सृष्टि के अंतिम काल मे मुहम्मद साहब के घराने से एक व्यक्ति पैदा होगा जो ईश्वर के दीन को संसार मे पुन स्थापित करेगा, न्याय फैलाएगा; मुसलमान उसका साथ देंगे और वह समस्त इस्लामी राज्यों को अपने अधिकार मे कर लेगा। उसका नाम महदी होगा। कयामत के अन्य चिह्नों मे महदी का प्रकट होना भी बताया गया है। इस कारण इस्लाम के ७० वर्ष के भीतर ही महदी प्रकट होने लगे तथा कयामत की प्रतीक्षा होने लगी। प्रत्येक राजनीतिक अथवा सामाजिक उथल पुथल को कयामत का द्योतक बताया जाता था किंतु सैय्यद मुहम्मद जौनपुरी ने राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के स्थान पर इस्लाम के शुद्धतम रूप के प्रचार का दावा किया। उनका जन्म ८ सितंबर, १४३३ ई० को जौनपुर में हुआ और उन्होंने शेख दानियाल से शिक्षा ग्रहण की। १४८६ ई० के लगभग वे हज के लिये चले और १४९५–९६ ई० मे मक्के पहुँचे। वहाँ से लौटने के बाद गुजरात मे महदी होने का दावा किया। आलिमो के विरोध पर सुल्तान महमूद बेगढ़ के आदेशानुसार गुजरात छोड़कर सिंध होते हुए अफगानिस्तान के फ़रह नामक स्थान पर पहुँचे और २३ अप्रैल, १५०५ ई० को वहीं चल बसे।

उनकी योग्यता एव त्याग की प्रशसा उनके शत्रु भी करते थे। उनके व्यक्तित्व मे बड़ा आकर्षण था। जिस स्थान पर उनके अनुयायी जो महदवी कहलाते थे, एकत्र होकर अल्लाह की याद करते, उसे दायरा (क्षेत्र) कहा जाता था। तवक्कुल (सांसारिक साधनों का भरोसा हटाकर समस्त कार्य ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देना) उनके जीवन का मुख्य आधार था। जो कुछ उन्हे प्राप्त हो जाता, सब मिलकर आपस मे बराबर बराबर बाँट लेते। यह प्रथा सवय्यत कहलाती थी।

उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियो ने अनेक दायरे बना लिए जहाँ वे सैय्यद मुहम्मद के शिक्षानुसार जीवन व्यतीत करते थे। इस्लाम के १००० वर्ष व्यतीत हो जाने तथा कयामत के न आने एवं अन्य आंदोलनों के कारण महदवियों की ओर से लोगो की रुचि कम होने लगी और अब केवल हैदराबाद, जयपुर तथा पालनपुर मे थोड़े से महदवी पाए जाते हैं।

सं० ग्रं० — अब्दुर्रहमान : सरित इमाम महदी; मियाँ अब्दुर्रशीद : नकलियात; मियाँ मुस्तफा : मक्तूबात; वली : इसाफनामा (फारसी) अब्दुल मलिक सुजावदी; सिराजुल अबसार (अरबी)।

सै० अ० अ० रिज़वी: महदवी मूवमेंट इन इंडिया (मिडीवल इंडिया क्वाटंरली, अलीगढ़, वाल्यूम १, १९४९); मुस्लिम रिवाइवलिस्ट मूवमेंट्स इन नार्दर्न इंडिया इन दि सिक्सटींथ ऐंड सेवेंटींथ सेंचुरीज़। [सै० अ० अ० रि०]

महमूद ग़ज़नवी अमीर सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद का जन्म ९७१ ई० मे हुआ और ९९८ ई० में वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके पिता ने गज़नी तथा आसपास के क्षेत्रों पर अपनी सत्ता को दृढ़ बनाकर अपने पड़ोसी, पूर्व के शाही राजा जयपाल के किलों को अधिकृत करना प्रारंभ कर दिया था। महमूद ने हिरात, बल्ख तथा बुस्त के इलाकों को सुव्यवस्थित कर एवं खुरासान पर पूर्ण रूप से अधिकार जमा लेने के उपरांत पूर्व की ओर प्रस्थान किया। ९९९ ई० में अब्बासी खलीफा ने उसकी बढ़ती शक्ति को देखकर उसे यमीनुद्दौला एवं अमीनुल मुल्क की उपाधि प्रदान की थी। १००० ई० में उसने भारतवर्ष पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। दो वर्ष के भीतर महमूद ने खुरासान से भी अधिक समृद्ध पेशावर को अपने अधिकार मे कर लिया। जयपाल उसे रोकने में असफल रहा। अपनी बार बार की असफलताओं के कारण उसने १००१ ई० में आत्महत्या कर ली और आनंदपाल उसका उत्तराधिकारी बना। १००५-६ ई० में महमूद ने मुल्तान के इस्माईली शासक अबुल फतह दाऊद के विनाश के हेतु गज़नी से प्रस्थान किया। आनंदपाल दाऊद का सहायक था। उसने महमूद को पेशावर के आगे बढने का मार्ग न दिया। पेशावर के निकट घोर युद्ध हुआ। आनंदपाल ने पराजित होकर कश्मीर की पहाड़ियों मे शरण ली। महमूद ने मुल्तान पर अधिकार जमा लिया। १००८ ई० में महमूद ने आनंदपाल पर आक्रमण किया। इस बार पंजाब के गक्खरों ने भी आनंदपाल की सहायता की और युद्ध मे सुल्तान के दाँत खट्टे कर दिए किंतु अंत मे वे पराजित हुए और महमूद ने भीमनगर (नगर कोट अथवा कोट काँगड़ा) तक उनका पीछा किया। १००९ ई० मे उसने पुनः मुल्तान पर आक्रमण करके इस्माईलियों को तहस नहस कर दिया। महमूद को इस प्रकार विजय पाते देखकर आनंदपाल ने उससे संधि कर ली। १०११ ई० में उसने थानेश्वर जीत लिया। १०१२ ई० में आनंदपाल की मृत्यु के पश्चात् महमूद ने १०१३ ई० में नंदना पर आक्रमण किया और शाहीवंश की बची खुची शक्ति का विनाश कर डाला। १०१५ ई० मे महमूद ने कश्मीर पर आक्रमण किया किंतु लोहकोट (लोहारिन) पर विजय न प्राप्त कर लौट आया। १०१६-१७ ई० में वह खुरासान के विद्रोहों के दमन में व्यस्त रहा। दिसंबर, १०१८ में बरन (बुलंदशहर) पहुँचा। वहाँ राजा हरदत्त को पराजित कर महाबन तथा मथुरा को लूटता हुआ कन्नौज पहुँचा। वहाँ उस समय प्रतिहार नरेश राज्यपाल राज कर रहा था। उसने महमूद का मुकाबला न किया और भाग खडा हुआ। महमूद ने कन्नौज को खूब लूटा और वहाँ से आसी (फतहपुर के उत्तर-पूर्व) पहुँचा। फिर श्रवा (सिरसावा) को विजय करता हुआ १०१९ ई० के प्रारंभ मे गजनी लौट गया। १०२१-२२ ई० में उसने ग्वालियर से लेकर कालिंजर तक को लूटा। इन हमलों से सीमाप्रांत से कन्नौज और ग्वालियर तक के मार्ग के नगर कंगाल हो गए और वहाँ के मंदिरों एवं निवासियों को अत्यधिक हानि हुई। १०२४ ई० में वह समुद्रतट पर स्थित काठियावाड़ के विशाल शिवमंदिर सोमनाथ पर आक्रमण के उद्देश्य से गजनी से निकला और जनवरी के मध्य मे सोमनाथ पहुँचा। हिंदुओं ने डटकर सामना किया। महमूद को एक बार पीछे हटना पड़ा किंतु अंत मे उसने विजय प्राप्त कर ली। ५०,००० हिंदू मारे गए, शिवलिंग तोड़ दिया गया, अतुल धनराशि महमूद के हाथ लगी। किंतु रेगिस्तानी मार्ग से लौटते समय जाटों ने उसे बहुत परेशान किया। १०२६ ई० में वह ग़ज़नी पहुंचा। १०२७ ई० में उसने जाटों पर आक्रमण किया और उन्हें दंड देकर ग़ज़नी वापस चला गया। १०३० ई० मे उसकी मृत्यु हो गई।

शक्ति, कौशल, दृढ़ता, निर्भीकता, सूझबूझ और सैन्यसंचालन की दक्षता में महमूद की तुलना उसके समकालीनों में कोई न कर सकता था। भारत की अपार धन संपत्ति से वह साधनहीन ग़ज़नी को एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप मे परिवर्तित करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु उसने खुरासान के मुसलमानों एवं मुल्तान के इस्माईलियो के खून की नदी बहाने मे भी सकोच न किया। भारत को उसके आक्रमणों से नि:संदेह बड़ा धक्का पहुँचा।

सं० ग्रं०—एम० निज़ामी : दि लाइफ ऐंड टाइम्स ऑव सुल्तान महमूद ऑव गजनी; एम० हबीब : सुल्तान महमूद ऑव ग़ज़नी द स्ट्रगल फ़ॉर एंपायर (भारतीय विद्याभवन)।

[सै० अ० अ० रि०]

महमूद गावाँ बहमनी राज्य के महान् सचिव थे। इनका जन्म १४११ ई० में कैस्पियन सागर के तट पर जिलान राज्यांतर्गत कावाँ अथवा गावाँ नामक स्थान मे हुआ था। राज्य के कुछ उच्चाधिकारियों से विवाद के फलस्वरूप इन्हे अपना जन्मस्थान त्यागना पड़ा और १४५३ ई० मे भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर बहमनी राज्य के अतर्गत दाबल नामक बंदरगाह पर शरण लेनी पड़ी। वहाँ से वे बीदर चले गए। विस्तृत अनुभव और गुणीजन से संपर्क होने के कारण वे अलाउद्दीन अहमद द्वितीय (१४३६-५८) के दरबार में पहुँच गए। अलाउद्दीन का पुत्र हुमायूँशाह १४५८ में अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। नए राजा ने महमूद को अपना मुख्य मंत्री नियुक्त किया। तीन वर्ष के अनतर हुमायूँ की मृत्यु पर उसका अष्टवर्षीय पुत्र निज़ामुद्दीन अहमद तृतीय उसका उत्तराधिकारी हुआ। एक राजसरक्षण परिषद् की भी स्थापना हुई, जिसके सदस्य विधवा राजमाता महारानी मखदूमए जहान नरगिस बेगम, महमूद गावाँ और ख्वाजए जहाँ तुर्क नियुक्त हुए। यह त्रिसदस्यीय शासन परिषद्, अहमद के दो वर्षों के लघु शासनकाल मे तथा उसके भाई शमशुद्दीन मुहम्मद तृतीय, जो इतिहास में मुहम्मदशाह लशकरी (१४६३-८२) के नाम से प्रसिद्ध है, के शासन के आरंभ मे कुछ वर्षों तक बनी रही। ख्वाजए जहाँ तुर्क के वध और महारानी के सक्रिय राजनीति से पृथक् होने के फलस्वरूप महमूद गावाँ राज्य के सर्वोच्च अधिकारी हो गए और उन्हे ख्वाजए जहाँ की उपाधि दी गई।

ख्वाजा द्वारा अपनी ओर से तथा युवक मुहम्मद शाह की ओर से गुजरात के महमूद बेगढ़ को लिखे गए अनेक पत्र उन्हें एक उच्च कोटि का कूटनीतिज्ञ प्रदर्शित करते हैं। जब मालवा के महमूद खल्जी ने दक्षिण पर आक्रमण करके बीदर पर वास्तविक आधिपत्य स्थापित

कर लिया तब ख्वाजा गुजरात के सुल्तान की सहायता से मालवा की ओर से हुए आक्रमण को विफल करने में सफल हुए। हमें मालवा के राजदूत और महमूद गावाँ के बीच हुआ पत्राचार भी उपलब्ध है जिससे उनकी उस कूटनीतिक मेधा पर प्रकाश पड़ता है जिससे द्वारा मालवा और दक्षिण का संघर्ष अंतिम रूप से समाप्त किया गया। एक सेनाध्यक्ष के रूप में महमूद गावाँ मराठा देश के उस भाग को नियंत्रित करने में सफल हुए जो भौगोलिक दृष्टि से दक्षिणवर्ती पठार से संबद्ध था। १४६६ और १४७२ के बीच किए गए अनेक ज्वलंत सैनिक अभियानों द्वारा उन्होंने व्यावहारिक रूप से संपूर्ण कोंकण समुद्रतट को अपने अधीन कर लिया तथा अंत में १ फरवरी १४७२ को बिना किसी रक्तपात के गोआ नगर पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। अब राज्य एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक फैल गया। प्रसिद्ध राजा टोडरमल की भाँति उन्होंने बहमनी राज्य के विस्तृत भूभाग की नाप करवाई और उचित स्वामित्व का शुद्ध लेखा रखा। राज्य को आठ अतराफ या प्रदेशों में पुनर्विभाजित करना आवश्यक हो गया जिनके केंद्र गविल, महुर, दौलताबाद, जुनैर, बीजापुर, गुलबर्ग, वारंगल और राजामुंद्री थे। प्रत्येक देश मे कुछ भूभाग राजा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखे गए जिससे राज्यपालों के अधिकारों पर प्रभावशाली अंकुश रखा जा सके। इसी प्रकार दुर्ग शासकों को प्रदेशीय राज्यपालों की अपेक्षा सीधे राजा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। जागीरदारों और क्षेत्रपतियों को उस धनराशि का विवरण प्रस्तुत करना पड़ता था जिसे वे अपनी जागीरों से वसूल करते थे। इस प्रकार जहाँ महमूद गावाँ ने सामंतवाद के दोषों को कम करने का प्रयास किया, वहीं जागीरदारों और उच्चाधिकारियों को अपना जानी दुश्मन बना लिया। शासकीय कुलीनतंत्र के दो बड़े दलों के संबंधों मे सौहार्द लाने का प्रयत्न भी किया गया। ये दोनो दल थे दक्खिनी या उत्तर से आए प्रवासियों के वंशज और अफीकी या समुद्र पार से आए नवागत लोग। लेकिन यहाँ भी वे असफल रहे। कला और साहित्य जगत् में भी ख्वाजा ने अपना चिह्न अंकित कर दिया है। बीदर में उसके महान् मदरसा की भव्य अट्टालिका पर आज भी उनका नाम अंकित है। यद्यपि औरंगजेब के शासनकाल में इस भव्य भवन का एक भाग बारूद से विनष्ट कर दिया गया था तथापि भवन के बहिर्भाग पर सुंदर नक्काशी इसके भव्य कक्ष, इसकी एकमात्र अवशिष्ट मीनार, इसके बड़े कमरे, जिनमें कभी पुस्तकालय था और वहाँ का संपूर्ण सौम्य वातावरण आज भी हमें महमूद गावाँ की ज्ञानप्रियता का स्मरण दिलाता है। अपने सुधारों और विरोधियों के द्वेष के कारण इन्हें अपनी जान तक दे देनी पड़ी। जब १४८१ ई० में राजा एक युद्ध अभियान पर जिंजी चला गया था तब कोंडापल्ली के (जो आजकल कृष्णा जिले में स्थित है) राजकीय शिविर मे एक षड्यंत्र रचा गया था। ख्वाजा की ओर से एक जाली पत्र तैयार किया गया था जिसमे उड़ीसा के गजपति को राज्य पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया गया था। जब शाह जिंजी से लौटा तब उसे यह पत्र दिखाया गया। ख्वाजा को राजदरबार में बुलाया गया और उनका सर १४ अप्रैल, १४८१ को धड़ से पृथक् कर दिया गया। उसे अपना पक्ष प्रस्तुत करने का भी अवसर नहीं दिया गया।

ख्वाजा के वध के एक वर्ष पश्चात् मुहम्मद शाह का स्वर्गवास हो गया। उसके कुछ निःशक्त उत्तराधिकारी हुए और अंत में साम्राज्य पाँच भागों में विभक्त हो गया। अहमदनगर में निजामशाही, बीजापुर में आदिलशाही, बीदर मे बरीदशाही, बरार में इमादशाही और गोलकुंडा मे कुतुबशाही की स्थापना हुई। [एच० के० एस०]

महमूद बेगड़ गुजराती सुल्तान महमूद बेगड़ मई १४५८ में गद्दी पर बैठा। उसने ५४ वर्ष तक वैभव और समृद्धि के साथ राज्य किया। 'मीरात सिकंदरी' के अनुसार सुल्तान महमूद अपने न्याय, दया एवं मुसलिम नियमों का आदर करने के कारण गुजरात के सभी सुल्तानों मे सर्वश्रेष्ठ था। उसने बड़ी आयु प्राप्त की और अपनी शक्ति, शौर्य तथा उदारता के लिये विख्यात हुआ।

महमूद के विषय में प्रसिद्ध है कि उसकी खुराक बहुत थी। सिकंदर के अनुसार उसका प्रत्येक दिन का आहार लगभग २० सेर होता था। भोजन के पश्चात् वह पाँच सेर मीठा खाता था और सोते समय अपने निकट समोसे भरी दो तश्तरियाँ दोनो तरफ रखवा लेता था ताकि जिस तरफ भी नींद खुले वह कुछ खा सके। अपनी भूख के लिये वह स्वयं कहता था कि यदि अल्लाह ने उसे इतना बड़ा राज्य न दिया होता तो उसकी भूख कैसे शांत होती?

जहाँ तक महमूद के नाम से बेगढ़ का संबंध है गुजरात के लोगों का कहना है कि उसकी मूँछें लंबी और बटदार उस बैल के समान थी जिसे बेगड़ कहते हैं, अत. वह महमूद बेगढ के नाम से जाना जाने लगा। यह भी कहा जाता है कि गुजराती भाषा में 'बी' के अर्थ होते हैं 'दो' और गढ के अर्थ है किला, अतः उसे बेगढ़ के नाम से पुकारा जाने लगा क्योंकि जूनागढ़ और चंपानेर के किले उसके अधिकार में आ गए थे।

अमीरों ने उसे हटाने का षड्यंत्र किया पर महमूद ने उन्हें समुचित दंड दिया। इसके बाद फिर कभी किसी अमीर को राजाज्ञा के उल्लंघन का साहस उसके समय मे न हुआ।

जब महमूद गद्दी पर बैठा था तब उसकी उम्र केवल १३ वर्ष की थी। परंतु उसने बड़े योग्यतानुसार एक सुदृढ सेना का निर्माण कर साम्राज्य मे शांति स्थापित की। उसके राज्य के सैनिक वृत्तांत उसके लगातार विजय के परिचायक हैं। गुजरात के तीन मुख्य हिंदू राज्य जूनागढ़, चांपानेर तथा ईडर किसी तरह अहमदशाह के धार्मिक युद्धों से अपने को बचाए हुए थे। परंतु प्रथम दोनों राज्य शौर्यपूर्ण लंबे विरोध के बाद भी महमूद की सेना के सामने न टिक सके और शाही राज्य के अंग बन गए। जूनागढ के शासक के साथ १४६७–१४७० तक चार वर्ष तक युद्ध चलता रहा और अंत में महमूद विजयी हुआ। जूनागढ का नाम बदलकर उसने मुस्तफाबाद कर दिया। परंतु उसकी मृत्यु के बाद मुस्तफाबाद का नाम अधिक समय तक न रह सका। कच्छ के रेगिस्तान को पार करते हुए महमूद ने सिंध के जाट और बलूची लोगों से युद्ध किया। सन् १४७३ मे उसने द्वारका, बेट इत्यादि पर कब्जा किया। १४७९ में वत्रक पर महमूदाबाद की स्थापना की। राधनपुर को भी उसने जीता। १४८२–८४ के बीच चांपानेर से युद्ध हुआ। अंत मे पड़ोसी राज्य खानदेश के उत्तराधिकार पर भी संघर्ष हुआ।

महमूद को न केवल सैनिक विजयों का गौरव ही प्राप्त था बल्कि वह एक योग्य शासक भी था। भवननिर्माण इत्यादि में उसकी विशेष रुचि थी। फरिश्ता के कथन से प्रकट है कि महमूद बेगढ ने गुजरात के तीन मुख्य नगरों अहमदाबाद, जूनागढ़ एवं चपानेर के विस्तृत दुर्गों की रचना की। इसके अतिरिक्त उसने बहुत सी सराएँ, मदरसे एवं मस्जिदें बनवाई। फलो के बहुत से वृक्ष भी लगवाए।

[रे० मि०]

महर मुस्लिम विधि के अंतर्गत वह धनराशि या दूसरे प्रकार की सपत्ति जिसकी पत्नी, विवाह के कारण, अधिकारिणी हो जाती है। इसमें कोई संदेह नही कि प्रारंभ में यह विक्रयमूल्य के सदृश या अनुरूप था लेकिन इस्लाम का आरंभ होने के बाद इसे विवाह संबंधी संभोग का मूल्य समझना ठीक नही जान पड़ता। अरबी (जूरिस्ट्स) स्मृतिशास्त्रों ने इसकी तुलना विक्रयमूल्य से इसलिये की है कि मुसलिम व्यवस्था मे यह नागरिक संबंधी अनुबंध समझा जाता है।

इस्लाम के पूर्व अरब मे वधूमूल्य को, जो उसके मातापिता को देय था, महर कहते थे तथा जो धन स्त्री को आदर और स्नेहसूचक उपहार के रूप मे दिया जाता था उसे सदक कहते थे। दोनो में अंतर समझा जाता था। इस्लाम ने महर को स्त्री के पक्ष मे एक वास्तविक व्यवस्था के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। दुर्दिन के लिये एक साधन के रूप मे और सामाजिक दृष्टि से पति के तलाक के असीम अधिकार के मनमाने प्रयोग पर यह एक अंकुश हो गया था। पति को अपनी स्त्री को तलाक देने के पूर्व कई बार सोचना पड़ता है, क्योंकि वह जानता है कि तलाक देने पर संपूर्ण महर राशि तत्काल देय होगी। आधुनिक संबुद्ध धारणा महर के विषय मे यह है कि महर विवाह का पारितोषिक नही है वरन् स्त्री के प्रति आदर सूचित करने के लिये पति के ऊपर विधि द्वारा डाला गया दायित्व है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि विवाह के समय महर का सविस्तार उल्लेख न होने पर भी विवाह की वैधानिकता पर कोई प्रभाव नही पड़ता। यदि महर वधूमूल्य होता तो विवाह के बाद महर प्रदान करने के लिये अनुबंध होने पर पारितोषिक के अभाव में वह अवैध होता। लेकिन ऐसा प्रतिज्ञापत्र वैध और बलपूर्वक प्रतिपादन योग्य होता है।

पति महर के रूप मे कोई धनराशि अपनी स्त्री के लिये निश्चित कर सकता है, चाहे यह उसकी सामर्थ्य से अधिक ही क्यों न हो और चाहे इस धनराशि के देने के बाद उसके उत्तराधिकारियों के लिये कुछ भी न बच पाए। लेकिन वह किसी भी स्थिति मे १० दरहम (लगभग तीन-चार रुपए) से कम की व्यवस्था नही कर सकता। महर अनुबंध के अंतर्गत जब कोई वाद उपस्थित होता है तो न्यायालय अनुबंध में उल्लिखित संपूर्ण धनराशि प्रदान करता है जब तक कि किसी धारा सभा की विधि इसके विपरीत न हो। भारतवर्ष के मुसलमानों मे पति द्वारा स्त्री को तलाक देने से बचाने के लिये महर प्रायः ऊँचा होता है। तलाक की स्थिति में स्वीकृत धनराशि उसे देनी ही पड़ेगी और यह तर्क कि स्वीकृत धनराशि अत्यधिक है या पति की सामर्थ्य के बाहर है, पत्नी को उसे देने से बचने के लिये पर्याप्त न होगा। न्यायालय महर की धनराशि निश्चित करने मे अपनी इच्छा का तभी प्रयोग कर सकता है जब धारा सभा की विधि द्वारा उसे अधिकार प्राप्त हो। केवल पति की सामर्थ्य तथा स्त्री की स्थिति का सम्यक् विचार ही धनराशि निर्णय करने में निर्णायक तथ्य होगा। उल्लिखित महर विवाह के पहले, विवाह के अवसर पर या उसके बाद निश्चित किया जा सकता है और वैवाहिक जीवन के अंतर्गत इसमे वृद्धि की जा सकती है। यदि पति अवयस्क हो तो महर उसके पिता द्वारा निश्चित किया जा सकता है और पति द्वारा दिया जा सकता है। शिया लोगों में प्रचलन है कि यदि लड़का अपनी स्त्री को महर देने में असमर्थ रहा तो पिता व्यक्तिगत रूप से महर देने का उत्तरदायी होता है।

यदि महर की राशि निश्चित नही है तो पत्नी उचित महर की या महरेमिसल की अधिकारिणी होती है। क्या उचित महर है इसका निश्चय करने मे इसका ध्यान रखा जाता है कि उसके पिता के परिवार में स्त्रियो को, जैसे उसके पिता की बहनों को, कितना कितना महर मिला है।

चूँकि महर पत्नी का निहित अधिकार है, अत. उसकी माँग पर यह प्राप्त होना चाहिए और यह प्राप्ट (तात्कालिक) महर कहा जाता है। लेकिन कभी कभी मृत्यु से या तलाक से विवाह के विच्छेद पर महर देय होता है और यह डेफर्ड (आस्थगित) महर कहा जाता है। तात्कालिक महर पत्नी द्वारा किसी भी समय विवाह के उपरांत लिया जा सकता है, चाहे विवाह (संभोग द्वारा) पूर्ण या पक्का हुआ हो या नहीं। विवाह के समय यदि यह निश्चित नही हुआ हो कि महर तात्कालिक है या आस्थगित, तो शिया विधि के अनुसार वह तात्कालिक समझा जायगा।

यद्यपि सुन्नी उसे अंशत: तात्कालिक और अंशत आस्थगित समझते हैं, दोनों का अनुपात रीति या उभय पक्ष की स्थिति पर आधारित होगा।

पत्नी अपनी इच्छा से महर या इसका कोई भाग अपने पति या उसके उत्तराधिकारियों के पक्ष मे छोड़ दे सकती है। यह परित्याग वैध होता है, भले ही यह बिना पारितोषिक के हो। यह आवश्यक है कि यह परित्याग उसकी अपनी स्वेच्छा से उसके द्वारा किया गया हो। जब तक कि महर का परित्याग न किया गया हो पत्नी इसके पाने का अधिकार रखती है, यद्यपि विवाह इस शर्त पर अनुबंधित हुआ हो कि वह किसी मुआवजे की माँग न करेगी।

जब तक कि तात्कालिक महर न दिया जाय पत्नी पति के पास जाना अस्वीकार कर सकती है। यदि पति उसके विरुद्ध वैवाहिक संबंधों के प्रतिपादन के लिये वाद प्रस्तुत करता है, तो महर का न दिया जाना ही पत्नी के लिये यथेष्ट बचाव है और वाद खारिज हो जाएगा।

दूसरी ओर यदि महर नही दिया जाता तो पत्नी या उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी इसके लिये उस तिथि से जबकि तात्कालिक महर की माँग की गई हो, या वह अस्वीकार किया गया हो, या जब मृत्यु या तलाक के कारण वैवाहिक संबंध विच्छेद हुआ हो, उसके तीन वर्ष के भीतर, वाद प्रस्तुत कर सकते हैं।

मृत मुसलमान के उत्तराधिकारी व्यक्तिगत रूप से महर देने के लिये उत्तरदायी नहीं हैं। लेकिन मृत व्यक्ति से पाई हुई

संपत्ति के अपने हिस्से के अनुपात में वे उत्तरदायी होते हैं। महर एक ऋण के रूप मे है और विधवा अपने मृत पति के दूसरे महाजनो के साथ उसकी संपत्ति से इसके भुगतान की अधिकारिणी होती है, लेकिन उसका अधिकार असुरक्षित महाजन के अधिकार से अधिक नहीं होता। यदि उसके अधिकार मे उसके पति की सपत्ति हो जिसे उसने वैध रूप से बिना धोखे के या दबाव के महर के बदले में हस्तगत किया हो कि वह किराए और मुनाफे से स्वत्व की सतुष्टि कर सके, तो वह अपने पति के दूसरे उत्तराधिकारियों के विरुद्ध उस कब्जा को तब तक कायम रख सकती है जब तक कि महर के स्वत्व की सतुष्टि न हो जाय। [ल० ना० मा०]

महाकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य का प्रथम सूत्रबद्ध लक्षण आचार्य भामह ने प्रस्तुत किया है और परवर्ती आचार्यों मे दंडी, रुद्रट तथा विश्वनाथ ने अपने अपने ढग से इस लक्षण का विस्तार किया है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षणनिरूपण इस परंपरा मे अंतिम होने के कारण सभी पूर्ववर्ती मतों के सारसंकलन के रूप मे उपलब्ध है। विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार है :

जिसमे सर्गों का निबंधन हो वह महाकाव्य कहाता है। इसमें देवता या सदृश क्षत्रिय, जिसमे धीरोदात्तत्वादि गुण हों, नायक होता है। कही एक वंश के अनेक सत्कुलीन भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शांत मे से कोई एक रस अगी होता है तथा अन्य सभी रस अग रूप होते हैं। उसमे सब नाटकसंधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित होती है। चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) मे से एक उसका फल होता है। आरभ मे नमस्कार, आशीर्वाद या वर्ण्यवस्तुनिर्देश होता है। कही खलो की निंदा तथा सज्जनों का गुणकथन होता है। न अत्यल्प और न अतिदीर्घ अष्टाधिक सर्ग होते हैं जिनमे से प्रत्येक की रचना एक ही छद मे की जाती है और सर्ग के अत मे छदपरिवर्तन होता है। कही कहीं एक ही सर्ग मे अनेक छद भी होते हैं। सर्ग के अंत मे आगामी कथा की सूचना होनी चाहिए। उसमे सध्या, सूर्य, चद्रमा, रात्रि, प्रदोष, अधकार, दिन, प्रात काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, संयोग, विप्रलंभ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, सग्राम, यात्रा और विवाह आदि का यथासंभव सागोपाग वर्णन होना चाहिए (साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६,३१५–३२४)।

आचार्य विश्वनाथ का उपर्युक्त निरूपण महाकाव्य के स्वरूप की वैज्ञानिक एव क्रमबद्ध परिभाषा प्रस्तुत करने के स्थान पर उसकी प्रमुख और गौण विशेषताओ का क्रमहीन विवरण उपस्थित करता है। इसके आधार पर सस्कृत काव्यशास्त्र मे उपलब्ध महाकाव्य के लक्षणों का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

कथानक (१) आधार — महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक अथवा इतिहासाश्रित होना चाहिए।

(२) विस्तार — कथानक का कलेवर जीवन के विविध रूपों एवं वर्णनों से समृद्ध होना चाहिए। ये वर्णन प्राकृतिक, सामाजिक, और राजनीतिक क्षेत्रों से इस प्रकार संबद्ध होने चाहिए कि इनके माध्यम से मानव जीवन का पूर्ण चित्र उसके संपूर्ण वैभव, वैचित्र्य एवं विस्तार के साथ उपस्थित हो सके। इसीलिये उसका आयाम (अष्टाधिक सर्गो में) विस्तृत होना चाहिए।

विन्यास — कथानक की सघटना नाट्य सधियों के विधान से युक्त होनी चाहिए अर्थात् महाकाव्य के कथानक का विकास क्रमिक होना चाहिए। उसकी आधिकारिक कथा एव अन्य प्रकरणो का पारस्परिक सबध उपकार्य-उपकारक-भाव से होना चाहिए तथा इनमें औचित्यपूर्ण पूर्वापर अन्विति रहनी चाहिए।

नायक — महाकाव्य का नायक देवता या सदृश क्षत्रिय हो, जिसका चरित्र धीरोदात्त गुणों से समन्वित हो — अर्थात् वह महासत्व, अत्यत गंभीर, क्षमावान्, अविकत्थन, स्थिरचरित्र, निगूढ़, अहकारवान् और दृढ़व्रत होना चाहिए। पात्र भी उसी के अनुरूप विशिष्ट व्यक्ति, राजपुत्र, मुनि आदि होने चाहिए।

रस — महाकाव्य मे शृंगार, वीर, शांत एवं करुण मे से किसी एक रस की स्थिति अगी रूप मे तथा अन्य रसो की अग रूप मे होती है।

फल — महाकाव्य सद्वृत्त होता है — अर्थात् उसकी प्रवृत्ति शिव एव सत्य की ओर होती है और उसका उद्देश्य होता है चतुर्वर्ग की प्राप्ति।

शैली — शैली के संदर्भ मे सस्कृत के आचार्यों ने प्राय. अत्यंत स्थूल रूढियो का उल्लेख किया है—उदाहरणार्थ एक ही छद मे सर्ग रचना तथा सर्गात मे छदपरिवर्तन, अष्टाधिक सर्गों मे विभाजन, नामकरण का आधार आदि। परंतु महाकाव्य के अन्य लक्षणो के आलोक मे यह स्पष्ट ही है कि महाकाव्य की शैली नानावर्णन क्षमा, विस्तारगर्भा, श्रव्य वृत्तो से अलंकृत, महाप्राण होनी चाहिए। आचार्य भामह ने इस भाषा को सालकार, अग्राम्य शब्दो से युक्त अर्थात् शिष्ट नागर भाषा कहा है।

महाकाव्य के जिन लक्षणो का निरूपण भारतीय आचार्यों ने किया, शब्दभेद से उन्ही से मिलती जुलती विशेषताओं का उल्लेख पश्चिम के आचार्यों ने भी किया है। अरस्तू ने त्रासदी से महाकाव्य की तुलना करते हुए कहा है कि "गीत एवं दृश्यविधान के अतिरिक्त (महाकाव्य और त्रासदी) दोनो के अग भी समान ही हैं।" अर्थात् महाकाव्य के मूल तत्व चार हैं—कथावस्तु, चरित्र, विचारतत्व और पदावली (भाषा)।

कथावस्तु के संबध मे उनका मत है कि (१) महाकाव्य की कथावस्तु एक ओर शुद्ध ऐतिहासिक यथार्थ से भिन्न होती है और दूसरी ओर सवथा काल्पनिक भी नही होती। वह प्रख्यात (जातीय दतकथाओ पर आश्रित) होनी चाहिए, और उसमे यथार्थ से भव्यतर जीवन का अकन होना चाहिए।

(२) उसका आयाम विस्तृत होना चाहिए जिसके अंतर्गत विविध उपाख्यानों का समावेश हो सके। 'उसमे अपनी सीमाओ का विस्तार करने की बड़ी क्षमता होती है' क्योंकि त्रासदी की भाँति वह रगमच की देशकाल सबधी सीमाओं में परिबद्ध नही होता। उसमे अनेक घटनाओ का सहज समावेश हो सकता है जिससे एक ओर काव्य को भव्यत्व और गरिमा प्राप्त होती है और दूसरी ओर अनेक उपाख्यानो के नियोजन के कारण रोचक वैविध्य उत्पन्न हो जाता है।

(३) किंतु कथानक का यह विस्तार अनियंत्रित नही होना चाहिए। उसमें एक ही कार्य होना चाहिए जो आदि मध्य अवसान से युक्त एवं स्वतः पूर्ण हो। समस्त उपाख्यान इसी प्रमुख कार्य के साथ संबद्ध और इस प्रकार से गुंफित हों कि उनका परिणाम एक ही हो।

(४) इसके अतिरिक्त त्रासदी के वस्तुसंगठन के अन्य गुण—पूर्वापरक्रम, संभाव्यता तथा कुतूहल—भी महाकाव्य में यथावत् विद्यमान रहते हैं। उसकी परिधि मे अद्भुत एवं अतिप्राकृत तत्व के लिये अधिक अवकाश रहता है और कुतूहल की संभावना भी महाकाव्य मे अपेक्षाकृत अधिक रहती है। कथानक के सभी कुतूहलवर्धक अंग, जैसे स्थितिविपर्यय, अभिज्ञान, संवृति और विवृति, महाकाव्य का भी उत्कर्ष करते हैं।

पात्र—महाकाव्य के पात्रो के संबध में अरस्तू ने केवल इतना कहा है कि 'महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रो की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।' त्रासदी के पात्रो से समानता के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नही कि महाकाव्य के पात्र भी प्राय त्रासदी के समान—भद्र, वैभवशाली, कुलीन और यशस्वी होने चाहिए। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य मे प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन होता है।

प्रयोजन और प्रभाव—अरस्तू के अनुसार महाकाव्य का प्रभाव और प्रयोजन भी त्रासदी के समान होना चाहिए, अर्थात् मनोवेगो का विरेचन, उसका प्रयोजन और तज्जन्य मन.शाति उसका प्रभाव होना चाहिए। यह प्रभाव नैतिक अथवा रागात्मक अथवा दोनो प्रकार का हो सकता है।

भाषा, शैली और छंद—अरस्तू के शब्दो मे महाकाव्य की शैली का भी 'पूर्ण उत्कर्ष यह है कि वह प्रसन्न (प्रसादगुण युक्त) हो किंतु क्षुद्र न हो।' अर्थात् गरिमा तथा प्रसादगुण महाकाव्य की शैली के मूल तत्व हैं, और गरिमा का आधार है असाधारणता। उनके मतानुसार महाकाव्य की भाषाशैली त्रासदी की करुणमधुर अलंकृत शैली से भिन्न, लोकातिक्रात प्रयोगो से कलात्मक, उदात्त एव गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए।

महाकाव्य की रचना के लिये वे आदि से अत तक एक ही छंद—वीर छंद—के प्रयोग पर बल देते है क्योकि उसका रूप अन्य वृत्तो की अपेक्षा अधिक भव्य एवं गरिमामय होता है जिसमे अप्रचलित एवं लाक्षणिक शब्द बड़ी सरलता से अंतर्भुक्त हो जाते है। परवर्ती विद्वानो ने भी महाकाव्य के विभिन्न तत्वो के संदर्भ मे उन्ही विशेषताओं का पुनराख्यान किया है जिनका उल्लेख आचार्य अरस्तू कर चुके थे। वीरकाव्य (महाकाव्य) का आधार सभी ने जातीय गौरव की पुराकथाओ को स्वीकार किया है। जॉन हेरिंगटन वीरकाव्य के लिये ऐतिहासिक आधारभूमि की आवश्यकता पर बल देते है और स्पेंसर वीरकाव्य के लिये वैभव और गरिमा को आधारभूत तत्व मानते हैं। फ्रांस के कवि आलोचको पैलेतिए, वोकलें और रोनसार आदि ने भी महाकाव्य की कथावस्तु को सर्वाधिक गरिमामय, भव्य और उदात्त स्वीकार करते हुए उसके अंतर्गत ऐसे वातावरण के निर्माण का आग्रह किया है जो क्षुद्र घटनाओ से मुक्त एवं भव्य हो।

भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों के उपर्युक्त निरूपण की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों मे ही महाकाव्य के विभिन्न तत्वो के संदर्भ मे एक ही गुण पर बार बार शब्दभेद से बल दिया गया है और वह है भव्यता एवं गरिमा, जो औदात्य के अंग हैं। वास्तव मे, महाकाव्य व्यक्ति की चेतना से अनुप्राणित न होकर समस्त युग एवं राष्ट्र की चेतना से अनुप्राणित होता है। इसी कारण उसके मूल तत्व देशकाल सापेक्ष न होकर सार्वभौम होते हैं—जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नही बन सकती और जिनके सद्भाव मे, परंपरागत शास्त्रीय लक्षणो की बाधा होने पर भी, किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित करना संभव नही होता। ये मूल तत्व हैं—(१) उदात्त कथानक (२) उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य (३) उदात्त चरित्र (४) उदात्त भाव और (५) उदात्त शैली। इस प्रकार औदात्य अथवा महत्तत्व ही महाकाव्य का प्राण है। [न०]

महादजी शिंदे जन्म, लगभग १७२७ ई०, मृत्यु, १७९४। शिंदे (अथवा सिंधिया) वंश के संस्थापक रानोजी शिंदे के पुत्रो में केवल महादजी पानीपत के युद्ध से जीवित बच सका। तदनंतर, सात वर्ष उसके उत्तराधिकार संघर्ष में बीते (१७६१–६८)। स्वाधिकार स्थापन के पश्चात् महादजी का अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रारंभ हुआ (१७६८)। पेशवा के शक्तिसंवर्धन के साथ, उसने अपनी शक्ति भी सुदृढ की। पेशवा की ओर से दिल्ली पर अधिकार स्थापित कर (१० फरवरी, १७७१), उसने शाह आलम को मुगल सिंहासन पर बैठाया (६ जनवरी, १७७२)। इस प्रकार, पानीपत में खोए, उत्तरी भारत पर मराठा प्रभुत्व का उसने पुनर्लाभ किया। माधवराव की मृत्यु से उत्पन्न अव्यवस्था तथा तज्जनित आंग्ल-मराठा-युद्ध मे उसने राघोबा तथा अंग्रेजो के विरुद्ध नाना फड़निस और शिशु पेशवा का पक्ष ग्रहण किया। तालेगाँव मे अंग्रेजो की पराजय (जनवरी, १७७९) से वह महाराष्ट्र संघ का सर्वप्रमुख सदस्य मान्य हुआ। अंततः, उसी की मध्यस्थता से मराठों और अंग्रेजो मे सालबाई की संधि संभव हो सकी (१७८२)। इससे उसकी महत्ता और प्रभुत्व मे बड़ी अभिवृद्धि हुई। युद्ध की समाप्ति पर महादजी पुनः उत्तर की ओर अभिमुख हुआ। ग्वालियर अधिकृत कर (१७८३), उसने गोहद के राणा को पराजित किया (१७८४)। फ्रेंच सैनिक डिबोयन (de boigne) की सहायता से उसने अपनी सेना सुशिक्षित एव सशक्त की। मुगल सम्राट् ने उसे वकील-ए-मुतलक की पदवी से पुरस्कृत किया; तथा मुगल राज्य संचालन का उत्तरदायित्व उसे सौंपा। महादजी ने अनेक विद्रोहो का दमन कर मुगल राज्य मे व्यवस्था स्थापित की। किंतु जयपुर के सैनिक अभियान की असफलता के कारण उसकी स्थिति संकटापन्न हो गई (१७८७), तथापि इस्माईल बेग की पराजय से (जून, १७८८) उसने अपनी सत्ता पुनःस्थापित कर ली। दानवी आततायी गुलाम कादिर को दिल्ली से खदेड़, नेत्रविहीन मुगल सम्राट् को उसने पुनः सिंहासनासीन किया (अक्टूबर, १७८९)। १७९१ के अंत तक उसने राजपूतों को भी नत कर दिया। अब नर्मदा से सतलज तक पूरा उत्तरी भारत उसके आधिपत्य मे था। अपनी सफलता के चरमोत्कर्ष में, १२ वर्षों बाद, वह महाराष्ट्र लौटा। दो वर्ष पूना में रहकर (१७९२-'९४) उसने महाराष्ट्र संघ को पुनः

संगठित करने का सतत किंतु विफल प्रयत्न किया। लाखेरी में तुकोजी होल्कर की पूर्ण पराजय (जून १७९३) उसकी अंतिम विजय थी, यद्यपि पारस्परिक विभेद से दुःखित महादजी ने उसे विजय दिवस संबोधित करने की अपेक्षा शोक दिवस ही की संज्ञा दी। १२ फरवरी, १७९४ को उसकी मृत्यु हुई।

कुशाग्रबुद्धि महादजी व्यक्तिगत जीवन में सरल, तथा स्वभाव से सहिष्णु, धैर्यशील और उदार था। उसमें नेतृत्व शक्ति और सैनिक प्रतिभा तो थी ही, राजनीतिज्ञता भी असाधारण थी। उसके महान् कार्य, विषम परिस्थितियों तथा आतंरिक वैमनस्य—नाना फड़निस के द्वेषी स्वभाव और तुकोजी होल्कर के शत्रुतापूर्ण व्यवहार—के बावजूद केवल स्वावलंबन के बल पर संपन्न हुए। किंतु इन सब के ऊपर थी उसकी स्वार्थरहित उदात्त दृष्टि, जिसे, महाराष्ट्र के दुर्भाग्य से, सहयोग की अपेक्षा सदैव गत्यवरोध ही प्राप्त हुआ।

सं० ग्रं० — ग्रांट डफ : हिस्ट्री ऑव दि मराठाज; जी० एस० सरदेसाई : न्यू हिस्ट्री ऑव दि मराठाज; जदुनाथ सरकार : फाल ऑव दि मुगल एपायर, महादजी सिंधिया, रूलर्स ऑव इंडिया सिरीज; जे० होप : दि हाउस ऑव् सिंधिया। [रा० ना०]

महादेव शाब्दिक अर्थ 'महान् देवता' या 'महान् राजा' किंतु प्रचलित अर्थ में केवल हिंदू देवता शिव का एक नाम या विशेषण।

यह कहना कठिन है कि शिव को सर्वप्रथम महादेव के रूप में मान्यता किस कालविशेष में मिली, किंतु उत्तर वैदिक काल में आर्यजन निश्चित रूप से महादेव के रूप में शिव की उपासना करने लगे थे। इनके अतिरिक्त भी शिव के कितने ही अन्य पर्याय हैं पर उनमें प्रमुख कहे जा सकते हैं — ईश, ईशान, उमापति, भूतेश, खंडपरशु, शंकर, सर्वज्ञ, धूर्जटि, व्योमकेश, स्थाणु, रुद्र, त्र्यंबक, महाकाल, नीललोहित, गंगाधर, मृत्युंजय, त्रिलोचन इत्यादि। महादेव के ये सब नाम तथा इस प्रकार के दूसरे पर्याय कितने ही गुण तथा प्रतीकों को व्यक्त करते हैं। इससे स्पष्ट है कि शिव या महादेव का मान्य स्वरूप किसी एक काल, संप्रदाय या विश्वास की उपज न होकर कई संस्कृतियों, विश्वासों, प्राकृतिक तथा लौकिक प्रतीकों का सम्मिलित या विकसित रूप है। प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक परंपराओं में जैसे हिंदू धर्म ढला उसी प्रकार और क्रम से 'एक सद्विप्रा. बहुधा वदंति' वाली आस्था स्वीकार कर महादेव की सर्वव्यापी कल्पना और रूप स्थापित हुए। किंतु शिव की उपासना विभिन्न भावों और रूपों में चलती रही जिसे आज भी भारत के विभिन्न भागों में देखा जा सकता है।

स्थूल रूप से हिंदू धर्म में महादेव को संहार से संबद्ध किया जाता है, किंतु शिवोपासक अपने इष्टदेव को सृष्टि, स्थिति (पालन) और विनाश का कर्ता मानता है। यही नहीं, वह भगवान् शिव को अनुग्रह तथा तिरोभाव (मुक्ति) का कारण मानता है — अतएव महादेव के कार्यों को 'पंचकृत्य' भी कहा गया है। मध्ययुगीन ग्रंथों में महादेव का वर्णन सर्वश्रेष्ठ शास्त्रव्याख्याता, अद्वितीय योगी, गान, नृत्य और दूसरी कलाओं के जनक तथा श्रेष्ठतम ज्ञाता के रूप में है। अधिकांशतः शिव का सर्वमान्य प्रतीक लिंग है और मूलतः इसका संबंध प्रजनन के प्राथमिक भाव से है, और इस देवता की अर्धनारीश्वर, उमापति तथा विश्वपिता के रूप में उपासना इसी भावना की पुष्टि करती है। सगुण उपासना में महादेव का बहुप्रचलित स्वरूप इस प्रकार बतलाया जाता है कि वे रजतगिरि के समान श्वेत (और विशाल), बालेंदु युक्त जटामुकुट, व्यालालंकार शोभित, भस्मांकित शरीर धारण किए हैं। उनके हाथों में डमरू, त्रिशूल (परशु) तथा कपाल और एक हाथ अभय मुद्रा में है। मस्तक से गंगा बह रही है। व्याघ्रांबर परिधान, सौम्य मुखाकृति और वाहन वृषभ नंदि है। पार्श्व में पार्वती (गणेश और कार्तिकेय) विराजमान हैं।

ऐतिहासिक संदर्भ में अर्चनात्मक दृष्टि से महादेव की प्राचीनता निर्विवाद है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि सर्वप्रथम किस रूप में और किस स्थान पर इसका आविर्भाव हुआ। परंतु ईसा पूर्व तृतीय सहस्राब्दी की हड़प्पा या सिंधु संस्कृति के अवशेषों में शिव पूजा-परक तत्व विद्वानों ने खोजे हैं। इस विषय में विशेष उल्लेखनीय योगासन में स्थित, पशुओं से घिरी हुई, मुद्रांकित मानवाकृति है जिसे पशुपति—शिव का प्राचीन स्वरूप माना गया है। कुछ पुराविदों ने लिंग पूजा का अस्तित्व भी सिंधु सभ्यता के धार्मिक विश्वासों के अंतर्गत माना है।

ऋग्वैदिक युग का एक प्रमुख आर्य देवता रुद्र था, और कालांतर में इसका समन्वय शिव या महादेव की विशालतर कल्पना में हो जाता है। किंतु आज के हिंदू धर्म द्वारा अंगीकृत पौराणिक महादेव के स्वरूप में कितने ही तत्व रुद्र परंपरा से जुड़े हैं। किसी अंश तक शिव और रुद्र की एकात्मकता ऋग्वेद में (१०।९९।६) ही स्वीकार कर ली गई थी, पर आर्यजन लिंगार्चना को हेय समझते थे। उन्होंने अनार्यों का अनास, मृध्रवाक् के साथ शिश्नदेवाः कहकर उपहास किया है। संभवत. महादेव का क्रतुध्वंसी (यज्ञविनाशक) स्वरूप शिश्नोपासकों की ही कल्पना की देन था और योगेश्वर रूप में वे मूलत. आर्यों के रुद्र प्रतीत होते हैं।

यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कुछ मंत्रों में महादेव का एक महान् तथा पराक्रमी देवता के रूप में चित्रण किया गया है। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि (ई० पू० ५००) ने भी शिवाराधकों का उल्लेख अष्टाध्यायी में किया है, पर इतिहास और पुरातत्व के प्रमाणों के अनुसार शिव की स्वतंत्र और विकसित आराधना प्रणाली का अस्तित्व हमें ई० पू० दूसरी शती के आसपास ही ज्ञात होता है। महाभाष्यकार पतंजलि (ई० पू० दूसरी शती) शिव और रुद्र दोनों का ही उल्लेख करते हैं। उन्होंने शिव भागवतों के विशेषण बताए हैं 'दंडाजिनिक' (दंड और अजिन-धारी) और 'अयः शूलिक' (लोहे का शूल उठाकर चलनेवाले)। रामायण में सुदूर दक्षिण भारत में शिवपूजा की चर्चा है और महाभारत महादेवपरक विश्वासों तथा कथानकों का कितनी ही बार उल्लेख करता और शैवाराधन पद्धतियों का भी उसमें यत्र तत्र विवरण है। खीस्ताब्द की प्रारंभिक शतियों के लगभग महादेव की उपासना अधिक लोकप्रिय हो गई थी। कुषाण, कुणिंद तथा दूसरी मुद्राओं में शिव के मानवीय रूप का अंकन होने लगा था। औदुंबर सिक्कों में त्रिशूलध्वज से युक्त शिवमंदिर भी दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त प्रतीक पूजा के रूप में लिंग की महत्ता बढ़ी। इस संबंध में गुडिमल्लम् का शिवलिंग तथा भरतपुर संग्रहालय स्थित एकमुख लिंग उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध शैवाचार्य

लकुलीश ने इसी बीच (प्रथम शती ई०) शैव धर्म का पुनरुद्धार किया और लकुलीश पाशुपत संप्रदाय की नीव डाली जिसका प्रसार उनके चार प्रमुख शिष्यों ने भारत के विभिन्न भागों में किया। कालांतर में लिंग की और भी महत्ता बढ़ी और वह केवल प्रजनन चिह्न न रहकर अनादि, अव्यक्त, अनंत तथा ज्योतिकूट परमात्मा का प्रतीक मान लिया गया। शिवपुराण का लेखक कहता है :

ज्योतिर्लिंग तदोत्पन्नमावयोर्मध्य अद्भुतम् ।
ज्वालामाल सहस्राढ्यं कालानल चयोपमं ।।
क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यांतवर्जितम् ।
अनौपम्यमनिर्दिष्टमव्यक्तं विश्वसंभवम् ।। (१।२।६३-६४)

संभवत: महादेव का शिवलिंगिन् भाव, जिसमें शिव स्वयं अपने लिंग को वहन करते दिखाए गए हैं, इसी काल में गढ़ा गया, क्योंकि यह लिंग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है। इसी परंपरा का निर्वहन करने के कारण प्राचीन भारत में एक बलशाली राजवंश ने भारशिव संज्ञा पाई।

इसके उपरांत गुप्त-वाकाटक-युग में अन्य ब्राह्मण देवी देवताओं के साथ महादेव की विविध रूपों में उपासना फली फूली और कितने ही शिवमंदिर बने। विष्णु के अवतारों की तरह महादेव के अवतारों की परंपरा प्रकाश में आई। भारत के अतिरिक्त द्वीपांतरों में शैव धर्म पल्लवित हुआ। शिवोपासन विशेषज्ञों में सफल द्विजों के एक नए वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। स्मार्त परंपरा भी महादेव पूजा के अनुकूल ही रही।

पर मध्ययुगीन शिल्प में शिव और उनके अनुचरों के विविध रूप अंकित हुए। और 'ॐ नम. शिवाय' ऐसे मंत्रों को सर्वोपरि प्रतिष्ठा मिली। इस काल मे लकुलीश पाशुपतों के अतिरिक्त विशेष उल्लेखनीय संप्रदाय थे : कापालिक, कालमुख, सोमसिद्धांतिक आगमिक शैव (दक्षिण भारत), प्रत्यभिज्ञ शैव (कश्मीर), लिंगायत (वीर शैव), नाथसंप्रदाय इत्यादि। इनमें आचार भेद के साथ दर्शनात्मक भेद भी थे। कट्टर शैवों और दूसरे संप्रदायों के बीच कटुता के प्रमाण भी मध्ययुगीन ग्रंथों से मिलते हैं पर ब्राह्मण धर्म की स्मार्त परंपरा द्वारा आपस मे इस कटुता को संभवत: कम करने का यत्न किया गया। हरिहर, शिवलोकेश्वर तथा पंचायतन लिंग की उपलब्ध प्रतिमाओं से यही अनुमान लगाया जा सकता है। दक्षिण भारत के नायनारों ने शैव धर्म और दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया।

मुस्लिम तथा आधुनिक युग में यद्यपि महादेव के मंदिर बहुत अधिक न बन सके तथापि पूजा कम नहीं हुई। फिर भी, शैव दर्शन के क्षेत्र मे कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नही हो पाई अबकि उसके अधिकांश मध्ययुगीन संप्रदाय किसी न किसी रूप में जीवित रहे। महादेव की पूजापरंपरा आज भी सशक्त और जीवंत है। इसमें धीरे धीरे कितने ही लोक और ग्रामदेवताओं के तत्वों का समावेश होता रहता है।

महादेव की प्रतिमाएँ — भारतीय और भारत से प्रभावित शिल्प में महादेव का चित्रण विविध रूपों मे किया गया है। उनको प्रधानत: दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है (१) लिंग (अव्यक्त) रूप मे, (२) मानवीय (सगुण) रूप में।

प्रथम वर्ग में प्राकृतिक (स्वयंभू) लिंगों के अतिरिक्त, साधारण लिंग एकमुख और चतुर्मुख लिंगों का उल्लेख किया जा सकता है। चतुर्मुख लिंग में महादेव चारमुख, उनके सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष और अघोर रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे वर्ग मे शिव का अनेक रूपों में चित्रण हुआ है, जिनमें निहित भावना मूल रूप में मनुष्य के अपने ही कार्यकलापों का प्रतिरूप है। ऐसी कृतियों में महत्वपूर्ण अधोलिखित प्रकार की प्रतिमाएँ हैं : अर्धनारीश्वर, नृत्यमूर्ति, आलिंगन मूर्ति, उमासहित मूर्ति, रावणानुग्रहमूर्ति, कालारिमूर्ति, संहारमूर्ति, कल्याण सुंदर (शिवविवाह) मूर्ति, दक्षिणामूर्ति (योगी), गंगाधर मूर्ति और लिंगोद्भव मूर्ति। लिंगोद्भव मूर्ति मे महादेव के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपों का सुंदर समन्वय मिलता है। [मु० च० जो०]

महादेव पहाड़ियाँ भारत की नर्मदा और ताप्ती नदियों के बीच स्थित हैं। ये २,००० से ३,००० फुट तक की ऊँचाई वाले पठार हैं, जो दकन के लावा से ढँके हैं। ये पहाड़ियाँ आद्य महाकल्प (Archaean Era) तथा गोंडवाना काल के लाल बलुआ पत्थरों द्वारा निर्मित हुई हैं। महादेव पहाड़ों के दक्षिण की ढालों पर मैंगनीज तथा छिंदवाड़ा के निकट पेंच घाटी से कुछ कोयला प्राप्त होता है। बेनगंगा एवं पेंच घाटी के थोड़े से चौड़े मैदानों मे गेहूँ, ज्वार तथा कपास पैदा किए जाते हैं। पश्चिम ओर बुरहानपुर दरार मे थोड़ी कृषि की जाती है। यहाँ आदिवासी गोंड जाति निवास करती है। घासवाले क्षेत्रों मे पशुचारण होता है। यहाँ का प्रसिद्ध पहाड़ी इलाका पंचमढ़ी है। छिंदवाड़ा छोटा नगर है। [रा० स० ख०]

महाद्वीप (Continent) सागरतल से एक औसत ऊँचाई तक ऊपर उठे हुए पृथ्वी के क्रमबद्ध विस्तृत भूभागों को कहते हैं। ये द्वीपों से केवल आकार मे ही भिन्न होते हैं। इनके अंतर्गत सागर निहित लगभग ६०० फुट तक की महाद्वीपीय मग्नतट भूमि तथा महाद्वीपीय मग्नढाल को भी सम्मिलित किया जाता है। विश्व मे सात महाद्वीप हैं : एशिया (१,६४,१४,२१७ वर्ग मील), अफ्रीका (१,१५,२६,४८० वर्ग मील), उत्तरी अमरीका (९३,६३,८६६ वर्ग मील), दक्षिणी अमरीका (७०,६६,६५६ वर्ग मील), यूरोप (३८,००,००० वर्ग मील) तथा ऐंटार्कटिका (५३,६२,६२६ वर्ग मील)। ऑस्ट्रेलिया एक लघु महाद्वीप है। कभी कभी ऐसा भी कहा जाता है कि महाद्वीप के बीच मे बेसिन तथा बेसिन के दोनों ओर पर्वतमालाएँ भी होनी चाहिए, किंतु यूरेशिया इसका अपवाद है। अधिकतर महाद्वीप बड़े बड़े पर्वतों द्वारा सीमाबद्ध हैं।

उपर्युक्त सात महाद्वीपों के अंतर्गत विश्व का २८ प्रति शत भाग आता है। यूरोप को भौतिक दृष्टि से एशिया का ही भाग माना जा सकता है। अफ्रीका एवं यूरोप महाद्वीप एक दूसरे से जिब्राल्टर जलसंयोजक, बाब-अल-मांदेब तथा स्वेज नहर द्वारा अलग होते हैं। अफ्रीका, यूरोप, एवं एशिया महाद्वीप चारो ओर से महासागरों द्वारा घिरे हैं। ये तीनों महाद्वीप उत्तर में केप चिल्यापिनस्क (साइबीरिया) तथा दक्षिण में केप ऑव गुड होप तक विस्तृत हैं। ये तीनो महाद्वीप भूखंड के ६६ प्रति शत भाग में विस्तृत है एवं इनमें विश्व की ७/८ जनसंख्या निवास करती है। विश्व का सर्वोच्च शिखर माउंट एवरेस्ट (२६,२४१ फुट)

तथा सबसे गहरा स्थान (सागरतल से १,२९२ फुट नीचा) मृतसागर एशिया में स्थित है।

उत्तरी एवं दक्षिणी अमरीका महाद्वीप ऐटलैंटिक, प्रशांत तथा आर्कटिक महासागरों से घिरे हैं और पनामा नहर द्वारा विभक्त हैं। ऑस्ट्रेलिया तथा ऐंटार्कटिका दोनों महाद्वीप दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित हैं। ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप ऐटलैंटिक, प्रशांत एवं हिंद महासागरों से घिरा तथा ऐंटार्कटिका को छोड़कर यह सबसे विरल बस्तीवाला महाद्वीप है। ऐंटार्कटिका, यूरोप तथा आस्ट्रेलिया से बड़ा है, किंतु पूर्णरूपेण निर्जन है। इसके बारे मे अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि यह एक ही भूखंड है या बर्फ में दबे हुए कई द्वीपों का एक समूह है।

यद्यपि साधारण तौर पर मनुष्य की दृष्टि में ये महाद्वीप स्थिर हैं, तथापि वास्तव में ये गतिमान हैं और एक दूसरे से अलग होते जा रहे हैं। ऐसा कहा जाता है कि महाद्वीप महासागरों की अपेक्षा हलकी चट्टानों से बने हैं, जो सागरों की भारी तली पर तैर रहे हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार पृथ्वी के महाद्वीपों का प्रवाह ही पर्वतों की उत्पत्ति का कारण है। कुछ जीव एक दूसरे से दूरस्थ महाद्वीपो मे मिलते हैं, जिनका विवरण संकेत करता है कि ये भाग पूर्वकाल मे एक दूसरे से अवश्य ही संबद्ध रहे होंगे। दूरस्थ महाद्वीपों की चट्टानो और उनमें प्राप्त होनेवाले खनिजों की उपलब्धि भी प्रवाह सिद्धात के आधार पर समझी जा सकती है। पिछले कई भूवैज्ञानिक कालों में समुद्र के जलतल मे भी काफी अंतर आता रहा है। कुछ महाद्वीपो में पर्वत शृंखलाओं का विवरण भी उन स्थलखंडों के पूर्वकालिक संबंध को बताता है। इन्ही सब बातों से यह सिद्ध होता है कि ये महाद्वीप गतिशील हैं।

वेगनर (Wegner) का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धांत — जुस (Swess) की भांति वेगनर ने भी यह माना है कि पृथ्वी की ऊपरी परत सिऐल (sial, सिलिका ऐल्यूमिनियम) की बनी है, इसके बाद साइमा (sima, सिलिका मैगनीशियम) और केंद्र मे निफे (Nife, निकल फेरस) की स्थिति है। कार्बनी कल्प मे सिऐल से निर्मित एक विशाल महाद्वीप था, जिसे 'पैंजिया' (Pangaea) कहते थे। कार्बनी कल्प के पश्चात् कुछ शक्तियों के कारण विशाल महाद्वीप पैंजिया के विघटन का कार्य आरंभ हो गया, जिसके फलस्वरूप आधुनिक स्थिति के महाद्वीपो का निर्माण हुआ। यह विघटन कार्य सामान्यतया दो दिशाओं मे हुआ। प्रथम भूमध्य रेखा की ओर तथा द्वितीय पश्चिम की ओर। वेगनर ने भूमध्यरेखा की ओर महाद्वीपों की गति के लिये पृथ्वी के केंद्र से गुरुत्वाकर्षण और महाद्वीपों की उत्प्लावकता (buoyancy) के संबंध का आश्रय लिया। उत्प्लावकता का केंद्र महाद्वीप विशेष के गुरुत्वाकर्षण के केंद्र के मध्य स्थित होगा, किंतु इस प्रकार की उत्प्लावकता पृथ्वी के केंद्र और गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तुलना मे नगण्य ही है। पश्चिमोत्तर प्रवाह के लिये वेगनर ने ज्वार की शक्ति का आश्रय लिया है। उनका कहना है कि सूर्य एव चंद्रमा की आकर्षण शक्ति, पृथ्वी के ऊपरी, उभरे हुए भाग को पश्चिमीय गति प्रदान करती है। श्वीडार (Schweydar) ने विभिन्न भूवैज्ञानिक युगों में ध्रुवों की स्थिति के प्रभाव को भी एक कारण बताया है।

वेगनर के अनुसार उत्तरी ध्रुव सिल्यूरियन (Silurian) कल्प में १४° उ० अ० तथा १२४° प० दे० पर और कार्बनी कल्प में १९° उ० अ० तथा १४७° प० दे० पर था, किंतु तृतीय युग में ५१° उ० अ० तथा १५३° प० दे० पर हो गया। वेगनर ने ऐटलैंटिक महासागर के दोनों तटों का अध्ययन कर बताया कि यदि ब्राज़िल के उभरे हुए भाग को गिनी की खाड़ी मे रखा जाय, तो वह उसमें पूर्णरूप से समा जाता है। भूवैज्ञानिक प्रमाण देते हुए आपने कहा कि दोनों तटों के पर्वत निर्माण में भी काफी समानता है। इसी प्रकार बाईआ ब्लैंका और जूरबर्ग के दक्षिण प्रदेश की भूवैज्ञानिक रचना में समानता है, क्योंकि दोनों की पूर्व ट्राइऐसिक चट्टानों में ज्वालामुखी क्रियाएँ अधिक हैं और उनपर मध्य क्रिटेशियस विघटन का प्रभाव पड़ा है। बाईआ ब्लैंका की पर्वत शृंखलाएँ अफ्रीका की अंतरीपीय मोड़दार पर्वत श्रेणियों से समानता रखती हैं। उत्तर कार्बनी कल्प में हिमयुग का प्रभाव ब्राज़िल के सेंट कैथारिना, फॉकलैंड द्वीप, दक्षिणी अफ्रीका के कैरू, प्रायद्वीपीय भारत तथा ऑस्ट्रेलिया आदि में मिलता है। इससे पता चलता है कि ये भाग कभी आपस में एक रहे हैं और अब एक दूसरे से काफी दूर दूर हो गए हैं। वर्तमान महाद्वीपों के कुछ भागों को यदि स्थानातरित कर मिलाया जाय, तो वे दो आरियों के दाँतों की भाँति एक दूसरे में बैठ जा सकते हैं। इस संबंध में जुस, जॉली, डेली (Daly) तथा होम्स (Holmes) ने भी अपने अपने सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं। [र० चं० दु०]

महाधमनी और उसकी कपाटिकाएँ (Aorta and Aortic Valves) महाधमनी शरीर की सबसे बड़ी तथा मुख्य धमनी है, जो हृदय के बाएँ निलय (ventricle) से आरंभ होती है तथा जिसमें से ऑक्सीजनमिश्रित रक्त सारे शरीर की ऊतियों मे ऑक्सीजन का सचारण करता है। यह धमनी दैहिक (systemic) एव फुफ्फुसीय (pulmonary) रक्त परिवहन करती है तथा दैहिक केशिकाओं और शिरातंत्रों से होती हुई, पुनः हृदय के दाहिने अलिंद (auricle) में वापस जाती है। बाएँ निलय से, जहाँ इसका व्यास प्राय. तीन सेंटीमीटर होता है, निकल तथा कुछ ऊपर चढकर, धनुषाकार मुड़कर, वक्ष में पृष्ठ कशेरुकाओं (vertebra) के बाईं ओर से उदरगुहा में प्रवेश करती है तथा चौथी कटि कशेरुका के पास दाहिनी तथा बाईं श्रोणिफलक (iliac) धमनियों मे विभक्त हो जाती है। सरलता के लिये इसे अधिरोही महाधमनी, महाधमनी की चाप (arch) तथा अवरोही वक्षीय और उदरीय महाधमनी मे विभाजित करते हैं।

महाधमनी के उद्गम भाग के छिद्र पर, अर्धगोलाकार तथा जेब के आकार के तीन वाल्व हैं, जिन्हें त्रिवलन कपाट (Tricuspid valves) कहते हैं। इन वाल्वों का नतोदर भाग हृदय की ओर रहता है। बाएँ निलय से रक्तपरिवहन के समय रुधिर चाप के कारण इन वाल्वों का मुख खुल जाता है, जिससे हृदय से महाधमनी में रक्तसंचारण होता है, पर विपरीत दशा में जब बाएँ निलय मे अनुशिथिलन (diastole) रहता है, तब महाधमनी के स्थितिस्थापक प्रतिक्षेप (recoil) के कारण रक्तचाप महाधमनी से हृदय की ओर हो जाता है। इस कारण तीनों वाल्व रक्तचाप से फूलकर बद हो जाते हैं, जिससे रक्त संचरण की दिशा विपरीत नहीं होती और

रक्त महाधमनी से बाएँ निलय में वापस नहीं आ सकता है। हाँ, कपाटिकाओं में जब रोग के कारण शोथ आदि उत्पन्न हो जाता है,
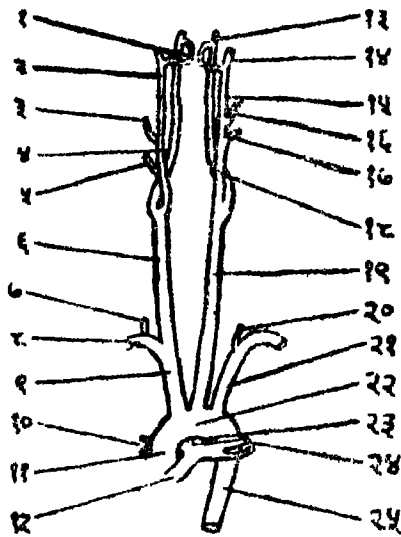
महाधमनी और उसकी शाखाएँ

१. आंतर जंभिका (Internal maxillary), २. बाह्य ग्रीवा (External carotid), ३. पश्चकर्ण (Posterior auricular), ४. दक्षिण आंतर ग्रीवा (Right internal carotid), ५ पश्च कपाल (Occipital), ६. दक्षिण सार्व ग्रीवा (Right common carotid), ७. दक्षिण कशेरुकी (Right vertebral), ८. दक्षिण अधोजत्रुक (Right subclavian), ९. अनामी (Innominate) १०. फुफ्फुस शाखाएँ (Pulmonary branches), ११. महाधमनी चाप (Arch of Aorta), १२. फुफ्फुस प्रकांड (Pulmonary trunk), १३. नेत्र संबंधी (Ophthalmic), १४. उत्तल स्कंध (Superficial trunk), १५. बाह्य ग्रीवा (External carotid), १६. पश्चकर्ण (Posterior auricular), १७. पश्च कपाल, १८. वाम आंतर ग्रीवा (Left internal carotid), १९ वाम सार्व ग्रीवा (Left common carotid), २०. वाम कशेरुकी (Left vertebral), २१. वाम अधोजत्रुक (Left subclavian), २२. महाधमनी चाप, २३. डक्टस आर्टीरिओसस (Ductus arteriosus), २४. फुफ्फुस शाखाएँ तथा २५. अभिपृष्ठ महाधमनी (Dorsal aorta)

उस दशा में वाल्व ठीक कार्य नहीं करते तथा उनका मुख खुला रह जाने से रक्तसंचारण विपरीत दिशा में होता है। इससे रक्त पुन: महाधमनी से बाएँ निलय में प्रवेश करता है, जिसके कारण रक्त संचालन में विकृति होती है तथा रोग उत्पन्न होने लगता है।

[उ० शं० प्र०]

महानदी भारत की प्राचीन नदियों में से एक है। यह मध्य प्रदेश के बस्तर जिले की बस्तर पहाड़ियों से निकलकर रायपुर तथा बिलासपुर जिलों से बहती हुई उड़ीसा राज्य में प्रवेश करती है। उड़ीसा में संबलपुर, बलांगीर, तथा ढेंकानल जिलों से बहती हुई यह कटक जिले में प्रवेश करती है और कटक नगर से सात मील पहले से ही डेल्टा का निर्माण आरंभ हो जाता है। यह कई धाराओं में विभक्त होकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है। इसकी कुल लंबाई ५५० मील एवं अपवाह क्षेत्र ४४,००० वर्ग मील है। उड़ीसा में संबलपुर जिले के हीराकुड खड्ड पर बाँध बनाया जा रहा है और विद्युत् उत्पन्न करने की भी योजना है। वर्षा ऋतु के अलावा अन्य ऋतुओं में महानदी पतली धारा के रूप में बहती है। [कै० ना० सिं०]

महाबोधि सोसायटी (भारतीय) विश्व के एवं भारत के बौद्ध धर्मियों की प्रमुख संस्था; प्रधान कार्यालय, ४-ए, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता १२। इसकी स्थापना ३१ मई १८९१ ई० को सिलोन (लंका) निवासी अनागारिक धर्मपाल के द्वारा सिलोन में हुई। ९ दिसंबर, १९१५ ई० को भारत सरकार के कंपनी ऐक्ट ७; १९१३ ई० के अनुसार इसकी रजिस्ट्री हुई। तब भारत और सिलोन की शाखाओं के नाम तथा कार्यक्षेत्र अलग हो गए।

प्रमुख उद्देश्य — १. बौद्ध धर्म, बौद्ध संस्कृति, बौद्ध तीर्थों और बौद्ध समाज में पुन: जागरण लाना और उनका संगठन करना।

२. बौद्ध साहित्य के पालि तथा संस्कृत भाषा के ग्रंथों को पुन: प्रकाशित करना और उनके प्रचार को प्रोत्साहन देना।

३ बौद्ध शिक्षा, बौद्ध संस्कार और बौद्ध सिद्धांतों का विस्तार।

४ बौद्ध मठ, मंदिर, संघाराम, बिहार, स्तूप, चैत्य और बौद्ध मूर्तियों का जीर्णोद्धार करना, स्थापन करना, तथा उनकी मर्यादा की रक्षा करना।

५. बौद्ध कला, बौद्ध शिल्प तथा बौद्ध आदर्शों का प्रचार बढ़ाना।

६. बौद्ध दर्शन, बौद्ध साधना, बौद्ध उपासना का स्तर बढ़ाना।

७. बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों के पवित्र जीवनस्तर को संरक्षण और सहायता देना।

कार्य की सफलता — अपने ७३ वर्ष के जीवन में इस संस्था ने ८०४ आजीवन सदस्य तथा ३७१ साधारण सक्रिय सदस्य बनाए हैं। सदस्यों में सिलोन, जापान, श्याम, कंबोडिया, बर्मा, इंग्लैंड, पश्चिम जर्मनी, फ्रांस तथा अमरीका प्रभृति देशों के नाम उल्लेखनीय हैं। कुल ७० देशों से इसका बौद्ध धर्मप्रचार का धार्मिक समन्वय है।

गत ७२ वर्ष से अंग्रेजी भाषा में 'महाबोधि' नाम की मासिक पत्रिका और २८ वर्ष से 'धर्मदूत' नाम की हिंदी मासिक पत्रिका प्रकाशित करती आ रही है।

शाखा सभाएँ — १. धर्मराजिका बिहार, ४-ए० बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता, इसके अंतर्गत एक मंदिर है, जिसमें आंध्र प्रदेश के कृष्णा जिला के भत्तीप्रोलू ग्राम से प्राप्त इतिहासप्रसिद्ध भगवान् बुद्ध की अस्थि (धातु) संरक्षित है। भगवान् बुद्ध की अष्टधातु तथा श्वेत मर्मर की प्रतिमा पूजित हैं।

नि:शुल्क वाचनालय तथा पुस्तकालय है। एक विशाल भवन में

महाबोधि अनाथाश्रम और अनाथ विद्यालय चलता है। धर्मपाल इंस्टिट्यूट ऑव कल्चर तथा 'इंटरनेशनल गेस्ट हाउस' का निर्माण हो रहा है।

२. सारनाथ, वाराणसी शाखा — मूलगंधकुटी बिहार : यहाँ इतिहासप्रसिद्ध तक्षशिला, नागार्जुनी कुंड, और मीरपुर खास (सिंध) से प्राप्त भगवान् बुद्ध की अस्थियाँ संरक्षित और पूजित हैं। अपना विशाल मंदिर तथा पुस्तकालय है। धर्मार्थ निःशुल्क चिकित्सालय, अंतर्जातीय निवास, निःशुल्क विद्यालय, बौद्ध संघाराम, आर्य धर्मसंघ, धर्मशाला आदि चलते हैं।

३ बंबई शाखा — यहाँ बहुजन विहार, परेल बंबई, और आनंद बिहार, डॉ० आनंदराव नया रोड, बंबई पर चल रहे हैं। अपना मंदिर और निवासस्थान है।

४. नई दिल्ली शाखा — बुद्ध बिहार, रीडिंग रोड, नई दिल्ली। इस शाखा के पास भी अपना मंदिर और संघाराम हैं।

सहकारी संस्थाएँ — महाबोधि सोसाइटी, सिलोन; महाबोधि सोसाइटी १० केन्नर लेन, इगमोर मद्रास; महाबोधि सेंटर, गांधी नगर बेंगलूर; चैत्यगिरि विहार, साँची; महाबोधि रेस्ट हाउस, बुद्ध गया; बौद्ध मंदिर रिसालदार बाग, लखनऊ; श्रीनिवास आश्रम लुंबिनी रोड, तेतरी बाजार, जिला बस्ती, प्रभृति अंतरंग सहयोगी संस्थाएँ हैं।

साँची स्तूप बिहार में सारिपुत्त मोगल्लान (सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन) और सम्राट् अशोक द्वारा नियुक्त बौद्ध धर्म प्रचारक महास्थविर के धातु (अस्थियाँ) संरक्षित हैं।

प्रकाशन — इस संस्था ने अभी तक बौद्ध धर्म के प्राचीन और कुछ नवीन ११७ मूल्यवान् ग्रंथ प्रकाशित किए हैं—हिंदी भाषा में ५०; अंग्रेजी में ४६ तथा बँगला में २१। [वि० शा०]

महाभारत महाभारत प्राचीन भारत का इतिहास तथा एक राष्ट्रीय महाकाव्य है जिसकी मूल रचना कृष्ण द्वैपायन व्यास ने जय नाम से चौबीस सहस्र श्लोकों में की थी। लोकमान्य तिलक जैसे विद्वानों के मत से कौरवों पर पांडवों की विजय का वर्णन होने से इसका 'जय' नाम पड़ा। परंतु धर्म संस्थापन इसका मुख्य प्रयोजन तथा इसमें बार बार दुहराए 'यतो धर्मस्ततो जयः' के प्रयोग से धर्म की विजय का निर्देशक होने से 'जय' नाम की सार्थकता अधिक उपयुक्त है। कुछ श्लोक अपनी ओर से मिलाकर व्यासशिष्य वैशंपायन ने जनमेजय के सर्पसत्र में 'भारत' नाम से जय काव्य को लोकविश्रुत किया और अनेक कथाएँ और उपाख्यान जोड़कर सौति उग्रश्रवा ने भारत को महाभारत का वर्तमान तथा अंतिम स्वरूप दिया। बृहदाकार तथा विषय की महत्ता के कारण इसका नाम महाभारत पड़ा। वस्तुतः व्यास, वैशंपायन और सौति इसके तीन रचयिता होने पर भी व्यास के मूल प्रयोजन, सिद्धांत और वर्णनशैली में स्वारस्य बने रहने के कारण व्यास ही को महाभारतकार मानने की परंपरा अयथार्थ नहीं है।

काल —जय और भारत की रचना का काल आज तक अनिश्चित है। महाभारत युद्ध के बाद ही जय का रचा जाना असंदिग्ध है किंतु उस युद्ध के विषय में भी मतैक्य नहीं है। लोकमान्य तिलक तथा दूसरे विद्वान् उसका समय ईसा पूर्व १४०० वर्ष बतलाते हैं (गीता रहस्य, पृ० ५५५) तो आर्य ज्योतिषियों की परंपरा के अनुकूल रा० ब० चिं० वि० वैद्य सप्रमाण उसे ईसवी सन् के ३१०१ वर्ष पहले सिद्ध करते हैं (म० आ० मीमांसा, ८६)। जो हो, वर्तमान महाभारत के काल के विषय में प्रायः ऐकमत्य है। वैद्य महोदय का मत है कि 'इन सब बातों का निचोड़ यह है कि ईसवी सन् के पहले ३२० से, २०० तक के समय में वर्तमान महाभारत का निर्माण हुआ है'। इसी से मिलता जुलता मत लोकमान्य तिलक का है कि 'यह बात निस्संदेह प्रतीत होगी कि वर्तमान महाभारत शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व में जरूर था। स्पष्ट है कि यह विषय और शोध की अपेक्षा करता है।

विस्तार — महाभारत की अनुक्रमणिका में १८ पर्व और एक लाख श्लोक बतलाए गए हैं। परंतु हरिवंश अर्थात् खिल पर्व को संमिलित करने पर उपलब्ध पोथियों की गणना एक लाख से न्यूनाधिक है।

विषय — महाभारत संस्कृत साहित्य का एक बृहत् विश्वकोश है जिसमें उसके रचनाकार के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषयों में उसमें जो कुछ है वह अन्यत्र भी मिलेगा और जो यहाँ नहीं है वह और कहीं नहीं मिलेगा (आदि० १,२६७)। उसमें वेदों, उपनिषदों और पुराण का रहस्य, भूत, वर्तमान और भविष्य वर्णन, जरा, मृत्यु, भय और व्याधि का हेतु तथा प्रतिकार, अनेक धर्मों तथा आश्रमों के लक्षण, चातुर्वर्ण्य का विधान, तपस्या, ब्रह्मचर्य, पृथ्वी, चंद्रमा और सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं का युगों के साथ प्रमाण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अध्यात्म विद्या, सात्विक इत्यादि कर्मों के साथ देवता और मनुष्य जन्म का वर्णन, एवं देवताओं के नगरों और धनुर्वेदोक्त युद्ध की क्रियाओं, सेना, गृहरचना, पवित्र तीर्थों, देशों, नदियों, पर्वतों, वनों और समुद्रों का वर्णन अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विषयों की मीमांसा समाविष्ट है। संक्षेप में इस विश्वकोश में धर्मसंहिता, राजनीति शास्त्र, कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र, विज्ञान, अध्यात्म, दर्शन, इत्यादि विभिन्न शास्त्रों का भांडार भरा हुआ है।

महाभारत युद्ध का वर्णन अत्यंत सरस, रोमांचकारी और ओजस्वी भाषा में हुआ है जो आद्योपांत अद्भुत वीर भावनाओं का उद्दीपक है। जहाँ तहाँ करुण रस के पुट से वह मनोरंजक भी हो गया है। इसके अभ्यंतर व्यावहारिक नीति तथा सत्यानृत विवेचन इत्यादि विषय भी यथास्थान पिरोए गए हैं। स्वभावतः क्षात्रधर्म पर अत्यधिक बल दिया गया है और पूर्ण शक्ति तथा उत्साह के साथ धर्मपूर्वक शत्रु से लड़कर विजय पाना अथवा संमुख रण में मृत्यु का आलिंगन करके योगी की गति प्राप्त करना क्षत्रिय का परम कर्तव्य निर्दिष्ट हुआ है।

इस युद्ध के मूल हेतु तथा परिणाम को दिखाने में व्यास जी का उद्देश्य इतिहास प्रस्तुत करने के साथ अन्याय पर न्याय की विजय

स्थापित करना है। उन्होंने इतिहास और पुराण को वेद के रहस्य खोलने का साधन बतला कर मनुष्य जीवन की सफलता और समाज की सुस्थिति के लिये धर्मनिष्ठा का प्रभावपूर्ण शब्दों में आदि से अंत तक सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। महाभारत में एक परमात्मा के अस्तित्व पर बल दिया गया है और उसमें त्रिमूर्तियों तथा दूसरे देवी देवताओं को उसकी अनंत शक्तियों की अभिव्यक्ति बतलाकर वैष्णव शैव, शाक्त इत्यादि मतों के विरोध मिटा कर सनातन धर्म में ऐक्य स्थापित करने का महान् उद्योग है। उसमें प्रत्येक वर्णवाले को, स्त्री और शूद्र को भी, अपने अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए आधिभौतिक उन्नति के साथ परम पद पाने का मार्ग प्रशस्त किया गया है। शील और चरित्र के महत्व तथा संबंधियों और समाज के प्रति कर्तव्यों की सविस्तार व्याख्या के समावेश के कारण महाभारत को वस्तुतः प्रामाणिक धर्मशास्त्र की प्रतिष्ठा प्राप्त है।

महाभारत के अनेक संवादों और भाषणों में भावावैचित्र्य, अर्थगौरव और वाग्मिता तथा मनोविज्ञान पर आधारित रीति शास्त्र (Rhetoric) का उत्कृष्ट उपकरण वर्तमान है। उदाहरण के लिये कौरवों की सभा मे संधिदूत भगवान् श्रीकृष्ण की वक्तृता संसार के अनुपम भाषणों मे एक ही है। इसी तरह अनेक प्रकार के मनोरंजक आख्यानों और शिक्षाप्रद पुरावृत्त विषयक कहानियों के मेल से उसे कथासरित्सागर का स्वरूप प्राप्त है।

व्यावहारिक ज्ञान और विवेकप्रद विदुरनीति तथा दूसरे नीति-वचनो से अलकृत महाभारत सुभाषित संग्रह है और राष्ट्रनीति तथा राजनीति के विवेचन से, जिसकी शांतिपर्व में विशेष विस्तारपूर्वक मीमांसा है, उसे राजनीतिशास्त्र का भी महत्व प्राप्त है। इसी तरह उसमें आदर्श नारियों के त्यागमय चरित्र, पातिव्रत्य और प्रगल्भ पांडित्य को महत्व देने से स्त्रीजाति के गौरव तथा संमान की प्रतिष्ठा हुई है।

सत्य और अहिंसा तथा धर्म के अन्य तत्वों का सहेतुक विवेचन और अध्यात्म का निरूपण कृष्ण-अर्जुन-संवाद, जनक-सुलभा याज्ञवल्क्य-जनक, ब्राह्मण-व्याध एवं अन्य संवादों में विविध प्रकार से हुआ ही है; सर्वोपरि महाभारत के शिरोभूषण गीता में समस्त उपनिषदों का अध्यात्मज्ञान अमृतघट के समान भर दिया गया है और उसका ज्ञान, कर्म और भक्ति का समुच्चय तथा समन्वय पर्याय से महाभारत की अद्वितीय मौलिकता है। परस्पर विरोधी धर्मों की विषम परिस्थिति में कर्तव्याकर्तव्य से व्यामूढ़ पुरुष के लिये अध्यात्म पर आधारित अचूक कसौटी का नीतिशास्त्र यही है।

सं० ग्रं० — महाभारत मीमांसा, माधवराव सप्रे कृत हिंदी अनुवाद; लोकमान्य तिलक . गीता रहस्य; ई० हार्पकिस : द एज ऑव द महाभारत; एसाइक्लोपीडिया ऑव मॉरल्स और हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर (डब्ल्यू विंटर्निज); हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर : (बेंडेल, कीथ तथा मेकडॉनेल); इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया वाल्यूम २; द हिरोइक एज ऑव इंडिया (एन० के० सिद्धांत) हिस्ट्री ऑव द कलि एज (पार्जिटर); एन० वी० ठक्कानी कृत 'दि मिस्ट्री ऑव दि महाभारत (पाँच खंडों में) [च० त्रि०]

महाभियोग (Impeachment) जब किसी बड़े अधिकारी या प्रशासक पर विधानमंडल के समक्ष अपराध का दोषारोपण होता है तो इसे महाभियोग कहा जाता है। इंग्लैंड में राजकीय परिषद क्यूरिया रेजिस के न्यासत्व अधिकार द्वारा ही इस प्रक्रिया का जन्म हुआ। समयोपरांत जब क्यूरिया या पार्लिमेंट का हाउस ऑफ लार्ड्स तथा हाउस ऑफ कामंस, इन दो भागों मे विभाजन हुआ तो यह अभियोगाधिकार हाउस ऑव लार्ड्स को प्राप्त हुआ। किंतु जब से (१७०० ई० से) न्यायाधीशों एवं मंत्रियों के ऊपर अभियोग चलाने का रूप अन्य प्रकार से निर्धारित हो गया है, महाभियोग का प्रयोग समाप्तप्राय है। इंग्लैंड में कुछ महाभियोग इतने महत्वपूर्ण हुए हैं कि वे स्वयं इतिहास बन गए। उदाहरणार्थ १८वीं शताब्दी में वारेन हेस्टिंग्ज तथा लार्ड मेलविले (हेनरी डंडस) का महाभियोग सतत स्मरणीय है।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका के संविधान के अनुसार उस देश के राष्ट्रपति, सहकारी राष्ट्रपति तथा अन्य सब राज्य पदाधिकारी अपने पद से तभी हटाए जा सकेंगे जब उनपर राजद्रोह, घूस तथा अन्य किसी प्रकार के विशेष दुराचरण का आरोप महाभियोग द्वारा सिद्ध हो जाए (धारा २, अधिनियम ४)। अमरीका के विभिन्न राज्यों में महाभियोग का स्वरूप और आधार भिन्न भिन्न रूप मे है। प्रत्येक राज्य ने अपने कर्मचारियों के लिये महाभियोग संबंधी भिन्न भिन्न नियम बनाए हैं, किंतु नौ राज्यों मे महाभियोग चलाने के लिये कोई कारण विशेष नही प्रतिपादित किए गए हैं अर्थात् किसी भी आधार पर महाभियोग चल सकता है। न्यूयार्क राज्य मे १९१३ ई० मे वहाँ के गवर्नर विलियम सुल्जर पर महाभियोग चलाकर उन्हे पदच्युत किया गया था और आश्चर्य की बात यह है कि अभियोग के कारण श्री सुल्जर के गवर्नर पद ग्रहण करने के पूर्व काल से संबंधित थे।

इंग्लैंड एवं अमरीका में महाभियोग क्रिया मे एक अन्य मान्य अंतर है। इंग्लैंड मे महाभियोग की पूर्ति के पश्चात् क्या दंड दिया जायगा, इसकी कोई निश्चित सीमा नही, किंतु अमरीका में संविधानानुसार निश्चित है कि महाभियोग पूर्ण हो चुकने पर व्यक्ति को पदभ्रष्ट किया जा सकता है तथा यह भी निश्चित किया जा सकता है कि भविष्य में वह किसी गौरवयुक्त पद ग्रहण करने का अधिकारी न रहेगा। इसके अतिरिक्त और कोई दंड नही दिया जा सकता। यह अवश्य है कि महाभियोग के बाद भी व्यक्ति को देश की साधारण विधि के अनुसार न्यायालय से अपराध का दंड स्वीकार कर भोगना होता है।

भारतीय संविधान के अनुसार केवल राष्ट्रपति के ऊपर महाभियोग चल सकता है। किंतु यह तभी संभव हो सकता है जब यह निर्धारित हो जाय कि राष्ट्रपति ने संविधान के विरुद्ध कार्य किया है। राष्ट्रपति की महाभियोग-प्रणाली का रूप इतना जटिल और दुष्कर है कि उसकी पूर्ति की संभावना ही नही दिखती। अन्यथा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु निश्चय ही राष्ट्रपति पर महाभियोग द्वारा आक्रमण संभव हो जाता।

सं० ग्रं० — इंसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइंसेज; भारतीय

संविधान; संयुक्त राष्ट्र अमरीका का संविधान; दा ग्रोथ इंपीचमेंट इन दि यूनाइटेड स्टेट्स (डेविड वाई, टामस, द्वितीय भाग, १६०७) ।
[सु० कु० ग्र०]

महामारी जलशोथ जलशोथ में शरीर में तरल पदार्थ की अधिकता हो जाती है, और किसी ऊतक या अंग में, अथवा शरीर की गुहा (cavity) आदि में जल भर जाता है; उदाहरण के लिये हृदय रोग मे शरीर के दूर के भागों में, या वक्षशोफ (hydro-thorax) दशा में, तरल पदार्थ का फुफ्फुसावरणी गुहा मे जमा होना । हृदय के तल मे जल-हृदयावरण (hydro-pericardium), उदर की गुहा (peritoneal cavity) में जलंधर (ascites) तथा जब सारे शरीर मे प्रकट होता है, तब यह देहशोथ (Anasarca) कहलाता है ।

जलशोथ किसी विशेष रोग का नाम नही है, वरन् लक्षण मात्र है । परतु यदि विशेष रोग मे यह दशा महामारी के रूप मे प्रकट हो, तब यह महामारी जलशोथ कहलाती है । यह विशेष महामारी रोग बेरी बेरी तथा इससे कुछ मिलते रोग मे देखा जाता है । इस कारण महामारी जलशोथ विशेष रोग समझा जाता है ।

महामारी जलशोथ रोग का उचित ज्ञान बहुत दिनों तक नहीं था । १८७७ ई० में कलकत्ता शहर मे यह रोग संक्रामक रूप मे पहली बार प्रकट हुआ और दूसरे वर्ष यह रोग पुन: अधिक क्षेत्र में उत्पन्न हुआ । सन् १६०२ में इस रोग का इतना भीषण प्रकोप हुआ कि प्राय: ३३ प्रति शत रोगी मर गए । जलशोथ प्रारंभ में पैरों मे प्रकट होता था, फिर रोग बढ़ने पर हाथ में भी आ जाता था । इसके साथ ही आत्रस्राव, पैरो मे दर्द, कमजोरी, हाथ पैर में जलन तथा मीठा दर्द, सूई चुभने का अनुभव तथा रक्तक्षीणता (anaemia) मुख्य लक्षण थे । ताप नही होता था । फुफ्फुस प्रदाह तथा हृदयगति रुकने से मृत्यु होती थी । यह सब लक्षण बेरी बेरी रोग से बहुत मिलते थे । पता लगने पर बेरी बेरी की भाँति भोजन मे विटामिन बी की न्यूनता ही रोग का कारण माना गया है । बंगाल के निवासियों मे, जिनका मुख्य आहार पॉलिश किया चावल है, यह रोग बहुत अधिक पाया जाता था ।

रोगनिवारण के लिये भोजन मे विटामिन की पूरी मात्रा की आवश्यकता है, विशेषकर विटामिन बी की । रोगचिकित्सा में लक्षणों की चिकित्सा के साथ साथ विटामिन बी का उचित मात्रा में प्रयोग आवश्यक है । [उ० शं० प्र०]

महामारी विज्ञान (Epidemiology) सामान्य धारणानुसार महामारी विज्ञान का संबंध मानवरोगों के प्रकोप में सहसा वृद्धि के विभिन्न कारणों से है । महामारी की दशा मे रोग की आपतन संख्या, व्यापकता और प्रसारक्षेत्र में आकस्मिक वृद्धि हो जाती है । यह शब्द प्राय. संक्रामक और घातक रोगों की वृद्धि से उत्पन्न आपत्काल का द्योतक रहा है, परंतु गत सौ वर्षों में इस विज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है और प्राचीन धारणा में भी महत्वपूर्ण अंतर हो गया है । अब यह शास्त्र केवल अकस्मात् प्रकुपित महामारी के सिद्धांत का ही विवेचन नही करता है, वरन् साधारण तथा महामारी दोनों ही स्थितियों में किसी भी रोग या विकार के जनता पर होनेवाले सामूहिक प्रभाव से संबंधित है । इस विज्ञान के लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि रोग परजीवी जीवाणुजन्य संक्रामक हो । जनता मे व्याप्त असंक्रामक रोगों और शरीर की अवस्थाविशेष का विवेचन इस विज्ञान की सीमा के बाहर नहीं है । चिकित्सा क्षेत्र के अतर्गत किसी संक्रामक व्यापार, कायिक (organic) अथवा क्रियागत विकार, अथवा रोग की जनता में आवृत्ति तथा वितरण निर्धारित करनेवाले विभिन्न कारणों और दशाओं के परस्पर संबंध का ज्ञान महामारी विज्ञान कहा जाता है । विकृति विज्ञान (pathology) व्यक्ति के शरीर के अग प्रत्यंगों मे रोगजन्य विकार का परिचायक है और महामारी विज्ञान जन समुदाय मे समष्टिगत रोग विधान का बोधक ।

रोगकारी परजीवी जीवाणु द्वारा सफल संक्रमण तभी संभव है, जब वह किसी रोगग्रहणशील मनुष्य के शरीर की विभिन्न रक्षा-पंक्तियों से युक्त व्यूहरचना को भेद कर, उपयुक्त मार्ग से प्रविष्ट हो, देह की कोशिकाओं में वंशवृद्धि द्वारा जीवविष (toxin) उत्पन्न कर, परपोषी मनुष्य देह पर आक्रमण करे और उसे रोगग्रस्त कर सके । रोग की उत्पत्ति परजीवी रोगाणु (microbes) की संहार शक्ति तथा परपोषी मनुष्य की रोग प्रतिरोधक शक्ति के बलाबल पर निर्भर है । यदि संहारशक्ति मनुष्य की प्रतिरोध शक्ति की अपेक्षा निर्बल है, तो रोग उत्पन्न नहीं होता । यदि दोनो का बल समान सा है, तो दोनो ही सहअस्तित्व अथवा युद्ध विराम की स्थिति मे स्थायी-अस्थायी-शांति बनाकर रहते हैं । जब किसी पक्ष का बल अपेक्षाकृत बढ़ जाता है, तब संघर्ष पुन. प्रारंभ हो जाता है । यदि संहारक शक्ति मनुष्य की प्रतिरोध शक्ति से अधिक बलवती होती है, तो संक्रमण कार्य की प्रगति बढ़ती रहती है और आक्रांत मनुष्य रोगग्रस्त हो जाता है । इससे स्पष्ट है कि रोग की तीव्रता न तो केवल संहार शक्ति की माप है और न मनुष्य की प्रतिरोध शक्ति के अभाव की । रोग तो वास्तव में आक्रामक की संहारशक्ति के विरुद्ध आक्रांत की प्रतिरोध शक्ति की प्रतिक्रिया की असफलता का परिणाम है । रोग की तीव्रता दोनों के बलाबल के अनुपात पर निर्भर है । यह अनुपात घटता बढ़ता रहता है, जिससे परस्पर सतुलन मे अतर पड़ता रहता है ।

$$\text{रोगकारिता} = \frac{\text{जीवाणु की संख्या} \times \text{जीवाणु की संहारशक्ति}}{\text{मनुष्य देह की प्रतिरोध शक्ति}}$$

संक्रमण का जो प्रभाव व्यष्टि पर पड़ता है, उसी के अनुरूप समष्टि पर भी पड़ता है । रोगाणु की संहारशक्ति उसकी संख्या, आक्रमकता, जननक्षमता तथा जीवविष निर्माण की सामर्थ्य पर निर्भर करती है और जनता की रोग प्रतिरोधक शक्ति प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिरोध शक्ति के फलस्वरूप सामूहिक प्रतिरक्षा (immunity) पर निर्भर है । इन दोनों विरोधी शक्तियो का सामूहिक जनता पर जो प्रभाव पड़ता है, उसी के परिणामस्वरूप रोगविशेष का प्रसार, व्यापकता, वितरण, आवृत्ति आदि की संभावना होती है । प्रयोगशाला में रोगग्रहणशील तथा प्रतिरक्षित (immune) प्राणिसमूहों पर कृत्रिम संक्रमण के प्रभाव का अध्ययन करने से अनेक तथ्यों की जानकारी प्राप्त की गई है । रोगग्रहणशीलता, प्रतिरक्षा अथवा रोग-क्षमता तथा जीवाणु की संहारशक्ति के परस्पर अनुपात पर निर्भर होनेवाली रोगकारिता के आधार पर जनसमुदाय को निम्नलिखित विशेष वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है । इन वर्गों के मध्य से

पृथक्कारी कोई व्यक्त सीमा नहीं है, किंतु क्रमिक रूप से उत्तरोत्तर भेद होने के कारण प्रत्येक वर्ग एक दूसरे से इंद्रधनुषी विभिन्नता प्रकट करता हुआ श्रेणीबद्ध है :

१. असंक्रमित, प्रतिरक्षित जनसमुदाय — इस वर्ग में उन मनुष्यों की गणना होती है जिनमें रोग विशेष का संक्रमण नहीं होने पाया हो और यदि कभी हो भी जाय तो उस रोग से प्रतिरक्षित होने के कारण जीवाणु की संहार शक्ति विफल हो जायगी और ये मनुष्य रोग से बचे रहेंगे। प्रतिरक्षा सापेक्ष होती है। इस कारण यदि संक्रमण अत्यधिक तीव्र हुआ, तो रोग से पूर्ण रक्षा की संभावना नहीं रहती। जनता में इस वर्ग के प्राणी यदि अधिक संख्या मे हो, तो सामूहिक प्रतिरक्षा के प्रभावबश संक्रमण महामारी का रूप नही धारण करता, किंतु कुछ अल्प प्रतिरक्षित मनुष्य यदा कदा, अथवा यत्र तत्र, संक्रमण से प्रभावित हो सकते हैं; परंतु यदि प्रतिरक्षित व्यक्तियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, तो रोग का वेग उसी अनुपात में बढ़ जाता है। संक्रमण की संभावना पर्यावरण की स्वच्छता, जन संकुलता, रोग की प्रसारगति, जनता के अस्वास्थ्यकर रहन सहन आदि पर अवलंबित होती है। उदाहरणार्थ, शीतलारोधी टीके द्वारा प्रतिरक्षित सैनिकों में, जिनका रहन सहन स्वास्थ्यानुकूल स्वच्छ-वातावरण मे होता है, शीतला का रोग विशेष रूप से तीव्र नही होने पाता।

२. असंक्रमित, रोगग्रहणशील जनसमुदाय — इस वर्ग मे वे मनुष्य होते हैं जिन्हें रोग विशेष का संक्रमण नही हो पाया, किंतु रोग से प्रतिरक्षित न होने के कारण संक्रमण होने पर रोग के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। इस वर्ग के मनुष्यों के आधिक्य से जनता की सामूहिक प्रतिरक्षा का स्तर गिर जाता है और संक्रमण हो जाने पर रोग का प्रकोप महामारीवत् हो जाता है। यदि जनता मे रोगग्रहणशील व्यक्तियों की संख्या सीमित न हो, या अकस्मात बढ़ जाय, तो रोग भयंकर रूप से फैलता है। प्रथम वर्ग के वे मनुष्य जिनकी प्रतिरक्षा घट गई हो, रोग प्रभावशील वर्ग के मनुष्यों की चपेट मे रोगाक्रांत हो सकते हैं। मेले, त्योहारों तथा तीर्थों मे स्थान स्थान से मनुष्यों के आवागमन से, अथवा बाढ़, अकाल, युद्ध, वाणिज्य, व्यवहार, औद्योगीकरण आदि से रोगग्रहणशील व्यक्तियों की संख्या अकस्मात् बढ़ जाती है और रोग के संक्रामक रूप धारण कर लेने की संभावना हो जाती है। महामारी की संभावना दूर करने के हेतु रोगनिरोधक टीके द्वारा रोगशील व्यक्तियों की संख्या यथासंभव सीमित कर दी जाती है। इस वर्ग के मनुष्य रोगाग्नि को भड़काने के लिये ईंधन के समान होते हैं और जनता के लिये आपदजनक सिद्ध होते हैं। प्राय: सभी बालक रोगग्रहणशील होते हैं। रोग-प्रतिरोध-शक्ति कुपोषण, थकान, अजीर्ण, रक्तहीनता, चिंता, दूषित वायु, सीलन, जनसंकुलता, अनिद्रा, अधिक शीत या ताप, चिरकालिक रोगावस्था आदि से घट जाती है। कृत्रिम प्रतिरक्षण अस्थायी होने के कारण कुछ समय बाद घट जाता है।

३. लक्षणहीन संक्रमित जनसमुदाय — इस वर्ग के मनुष्य प्रतिरक्षित होते हैं और रोधक शक्ति के कारण स्वयं रोगी नही होते। संक्रमण होने पर परजीवी जीवाणु इनके शरीर मे पनपते रहते हैं, परंतु वे रोग उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। ये मनुष्य स्वयं स्वस्थ होते हुए भी रोगवाहक होते हैं और रोगग्रहणशील व्यक्तियों में रोग का प्रसार करते हैं। कुछ रोगों मे इस वर्ग के मनुष्य कई वर्षों तक रोगवाहक बने रहते हैं। महामारी फैलने पर रोगवाहकों की संख्या बढ़ जाती है। यदि रोगग्रहणशील प्राणियों का अभाव न हो और निरंतर कुछ बने रहे, तो रोगवाहक उनमे यदा कदा संक्रमण उत्पन्न कर रोग प्रकट करते रहते हैं। इस प्रकार उस स्थान मे रोग स्थायी रूप धारण कर लेता है। परजीवी जीवाणु के स्वस्थ परपोषी होने के कारण इस वर्ग के रोगवाहक मनुष्य संक्रमण के आश्रय बने रहते हैं। डिफ्थीरिया, आंत्र ज्वर (enteric fever), प्रवाहिका, तानिकाशोथ (meningitis) आदि में रोगवाहक अधिकतर पाए जाते हैं। लक्षणों के अभाव मे इनका पता लगाना कठिन है और उपचार द्वारा इनकी रोगवाहकता दूर करने का प्रयास भी प्राय विफल होता है।

४. अलक्षित संक्रमित जनसमुदाय — इस वर्ग के मनुष्यों में रोग के वास्तविक लक्षण नही प्रकट होते, किंतु स्वल्प मांद्य अथवा कुछ अस्वस्थता हो जाती है। अस्पष्ट लक्षणों से युक्त अस्वस्थता अनेक प्रकार के रोगों का पूर्वरूप हो सकती है। सांकेतिक लक्षणों के अभाव मे रोग का निदान नही हो पाता और रोगजन्य पीडाविशेष के अभाव मे, ये अलक्षित या लुप्त रोगी अपने नित्य के काम में लगे रहते हैं और रोगग्रहणशील व्यक्तियों मे रोग फैलाते रहते हैं। ये भी रोगवाहक होते हैं और रोग का प्रसार करते रहते हैं।

५. अस्पष्ट लक्षणयुक्त रोगी (Atypical cases) — इस वर्ग के मनुष्यों में रोग के लक्षण स्पष्ट तो नहीं होते, किंतु कुछ सांकेतिक लक्षणों के कारण रोगविशेष का संदेह उत्पन्न हो जाता है। निदान में कुछ कठिनाई अवश्य पड सकती है। इसका कारण यह है कि लक्षण अप्रतिरूपी (atypical) ही होते हैं। रोग का रूप अविकसित अथवा अपरिणत होता है और रोगी रोगवाहक होते हैं।

६. साधारण रोगी (Typical cases) — इस वर्ग के मनुष्यों मे रोग के लक्षण स्पष्ट और प्रतिरूपी (typical) होते है, परंतु रोग विशेष उपद्रवी अथवा कठिन नही होता ऐसे रोगी रोगवाहक तो होते ही हैं, परंतु यदि शय्याग्रस्त हो जाएँ तो परिवार के व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य मनुष्यों से संसर्ग न होने के कारण रोगप्रसार सीमित ही रहता है। शीघ्र ही निदान कर इनको चिकित्सालय में प्रवेश करा दिया जाय, तो रोग के प्रसार को रोकने में सहायता मिलती है। रोग शांत होने के पश्चात् भी ये मनुष्य कुछ समय तक रोगवाहक बने रहते हैं।

७ कठिन रोगी — इस वर्ग के रोगी रोग की तीव्रता के कारण स्वयं शय्याग्रस्त हो जाते हैं और रोगवाहक होते हुए भी विशेष रूप से रोगप्रसार नही कर पाते। यदि क्षय रोग के समान रोग चिरकालिक हो, तो परिवार मे या निकटस्थ व्यक्तियों मे रोगप्रसार होता रहता है। मरणासन्न रोगी भी रोगवाहक होते हैं, परंतु निकटस्थ व्यक्तियों के लिये ही।

नवजात शिशु अपनी माता से प्राप्त कुछ रोग-प्रतिरोधक-शक्ति रखते हैं। यह शक्ति आनुवांशिक नही होती और अस्थायी होती है। स्तनधारी शिशुओं मे यह शक्ति कुछ अधिक काल तक रहती है। जन्म के

कुछ मास पश्चात् ही नवजात शिशु रोगग्रहणशील हो जाता है। अस्वस्थ और कुपोषित बालक विशेष रूप से रोगग्रहणशील होते हैं। हलके हलके और बारंबार होनेवाले संक्रमण बालक मे प्रतिरक्षा शक्ति उत्पन्न कर उसे बढ़ाते रहते हैं। जनता मे रोग का महामारी के रूप में प्रसार जनता की सामूहिक रोग प्रतिरक्षा तथा जीवाणु की आक्रामक और संहारशक्ति के परस्पर बलाबल पर और साथ ही जल, भोजन, वायु, कीट और अन्य संगदूषित वस्तुओं के द्वारा रोगप्रसार की संभावना पर अवलंबित है। प्रतिरक्षित तथा रोगग्रहणशील मनुष्यों की संख्या का अनुपात और वातावरण की स्वच्छता जनता मे रोग का प्रसार, वितरण तथा आवृत्ति के निर्णायक है।

उपर्युक्त विभिन्न वर्गों के मनुष्यों में प्रथम वर्गवालों को निदान और चिकित्सा की आवश्यकता नही पड़ती। वे निरापद रहते हैं। दूसरे वर्ग को उचित आहार, स्वस्थ आचरण तथा अन्य उपायो से अपनी रोग-प्रतिरक्षा-शक्ति बढ़ानी चाहिए। संक्रमण से अपनी रक्षा करना आवश्यक है, कारण कि संक्रमण हो जाने पर रोग से बचना कठिन होगा। थोड़ी थोड़ी मात्रा मे हलके संक्रमण से, अथवा रोग-निरोधी टीके से, इनमे प्रतिरोध शक्ति उत्पन्न करना उपयोगी है। संक्रमणरहित रोगग्रहणशील बालकों को, बी० सी० जी० के टीके द्वारा, क्षय रोग से रक्षा इसी सिद्धातानुसार की जाती है। तृतीय, चतुर्थ तथा पचम वर्ग के मनुष्यो के शरीर मे रोगकारी जीवाणु न्यूनाधिक मात्रा में उपद्रव मचाते रहते हैं, परंतु ये मनुष्य देह मे रोगविशेष उत्पन्न करने मे पूर्ण सफल नहीं हो पाते। ये मनुष्य स्वस्थ बने रहते हैं, या स्वल्प मात्रा के लक्षण प्रकट करते है। ये रोगवाहक होने के कारण जनता के लिये विशेष आपत्तिकर है। निदान और चिकित्सा की व्यवस्था इनके लिये विशेष लाभकारी नहीं है। ये रोगवाहक होते हुए भी जनता से विशेष सपर्क रखते हैं और जल, भोजन, वायु आदि को दूषित कर रोग संक्रमण के कारण होते है। प्रत्येक व्यक्ति को वातावरण की शुद्धता तथा अपने व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर ध्यान देकर, इन रोगवाहको द्वारा प्रसारित रोगकारी जीवाणुओ के संक्रमण से अपने को सुरक्षित रखना चाहिए। रोगवाहक स्वयं सावधान रहें और अपने मल मूत्र आदि द्वारा संक्रमण का प्रसार न होने दें, तो जनता मे रोग फैलने की संभावना कम हो जायगी। षष्ठ तथा सप्तम वर्ग के रोगियो को चिकित्सा के लिये किसी अच्छे चिकित्सालय मे अनिवार्य रूप से प्रवेश कराकर इनके द्वारा रोगप्रसार होने की संभावना को यथा-संभव दूर कर देना उचित है। इन रोगियो को जनता से संपर्क नही रखना चाहिए।

जिन रोगों मे तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम वर्ग के रोगवाहक प्राणी अपेक्षाकृत अधिक होते हैं, वे स्थानिक रोग का रूप ग्रहण कर जनता मे अपना घर कर लेते है। छिटपुट रूप से यदाकदा नए रोगी होते रहते हैं और संक्रमण तथा जनता मे एक संतुलन स्थापित हो जाता है। संतुलन बिगड़ने पर रोगग्रस्त मनुष्यो की संख्या बढ़ जाती है और फिर नया संतुलन स्थिर हो जाता है। ऐसी अवस्थाओ में द्वितीय वर्ग के रोगग्रहणशील व्यक्तियों की संख्या यदि जनता के आवागमन से सहसा बढ़ जाय, तो रोग महामारी का रूप ले सकता है। महामारी का प्रकोप होने पर रोगग्रहणशील व्यक्ति रोगी होकर मरते हैं, या निरोग हो जाने पर प्रतिरक्षित हो जाते हैं। उनकी संख्या फिर कम हो जाती है और रोग प्रतिरोधी व्यक्तियो की संख्या उसी अनुपात से बढ़ जाती है। इसी क्रम से समय समय पर रोगग्रहणशील व्यक्तियों की संख्या बढ़ने पर, और रोगी अथवा रोगवाहको द्वारा संक्रमण होने पर, महामारी का प्रकोप होता है और फिर रोगप्रतिरोधी व्यक्तियो की संख्या बढ़ने पर, या रोगग्रहणशील व्यक्तियो के कम हो जाने पर, महामारी शात हो जाती है।

महामारी की आवृत्ति उपर्युक्त सिद्धात के अनुसार होती रहती है। यह आवृत्ति दो प्रकार की होती है : अल्पकालिक और दीर्घकालिक। अल्पकालिक आवृत्ति प्राय: प्रत्येक वर्ष जलवायु के परिवर्तन के कारण जीवाणुओ की वृद्धि होने पर होती है। अत्यधिक शीत, ताप और शुष्कता जीवाणुओ के लिये अनुकूल नही है। अनुकूल जलवायु होने पर उनकी संख्या में वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप रोग की भी वृद्धि होती है। श्वास द्वारा प्रवेश पानेवाले संक्रमण, दूषित वायु द्वारा, शीतकाल मे अधिक होते हैं। तब मनुष्य शीत से बचने के लिये बंद कमरों मे जनसंकुल वातावरण मे अधिक समय व्यतीत करते है। कीटों की संख्या बढ़ने पर, या जब उन्हे मनुष्य का रक्त चूसने का अधिक अवसर मिलता है, तब कीटप्रसारित रोग फैलते हैं। दूषित भोजन से फैलने-वाले रोग मक्खियो के बढ़ने पर अधिक होते हैं। दीर्घकालिक आवृत्ति रोगशील व्यक्तियो की संख्या बढ़ने पर होती है, या संक्रमण की तीव्रता बढ़ने पर। शीतला का प्रकोप प्रत्येक वर्ष बसत ऋतु मे प्रबल हो जाता है, परंतु पाँच से आठ वर्ष के अंतर मे, जब रोगशील और अप्रतिरक्षित व्यक्तियो की संख्या क्रमश: बढ़ जाती है, रोग अधिक भयंकर हो जाता है। जिन रोगो मे रोगी के अंदर प्रतिरोधशक्ति उत्पन्न नही होने पाती, वे बारबार होते रहते और प्राय बने ही रहते हैं।

रोग का वितरण विशेषत: संक्रमण की सानुकूलता के अनुसार होता है। जल के समीप रहनेवालो मे मलेरिया, जनसंकुल वातावरण मे काम करनेवालो मे वायुसंचारित श्वासरोग और अस्वच्छ स्थान मे रहनेवालो मे दूषित भोजन द्वारा प्रसारित रोग अधिक होते है। मनुष्य की उम्र का भी रोग के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। जिस जीवाणु की संक्रामक शक्ति अधिक होती है और उससे उत्पन्न प्रति-रक्षा स्थायी होती है वह प्राय: बालरोग ही उत्पन्न करता है। बाल्यकाल मे प्राप्त रोगजन्य प्रतिरक्षा उस रोग को युवावस्था मे पुन: नही होने देती, इस कारण वह रोग मुख्यत: बालरोग ही बना रहता है। प्राय सभी बालरोगो से वयस्क इसी कारण बचे रहते हैं। व्यावसायिक रोग प्रतिकूल और अस्वस्थ वातावरण मे कार्य करने-वाले श्रमिकों को होते हैं। स्त्रियो की प्रतिरोध शक्ति प्रसवकाल मे बहुत घट जाती है और तब क्षय तथा अन्य संक्रमण, जो पहले प्रभावहीन अथवा निर्बल थे, प्रबल हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक रोगो की जनता में आवृत्ति तथा वितरण का अध्ययन महामारी विज्ञान द्वारा किया जाता है। प्रत्येक रोग की व्यापकता संबंधी जानकारी प्राप्त करने के लिये महामारी संबंधी सर्वेक्षण किया जाता है, जिसके द्वारा स्वस्थ जनता, रोगी तथा वातावरण की अनुकूल, प्रतिकूल स्थितियों का वैज्ञानिक विवेचन और अध्ययन किया जाता है। रोगनिरोधक उपायो का ज्ञान चिकित्साशास्त्र के अध्ययन से

जनसंख्या एवं नगर — राज्य की जनसंख्या ३,९५,५३,७१८ (१९६१) है। जनसंख्या का औसत घनत्व १२५ व्यक्ति प्रति वर्ग किमी० है, परंतु बंबई क्षेत्र में यह घनत्व ६,४४३ है। इस राज्य मे भारत की जनसंख्या का ९.०२ प्रति शत निवास करता है तथा इसके आधार पर इसका स्थान राज्यों में तीसरा है। यहाँ विभिन्न धर्मों के लोग, जैसे बौद्ध, ईसाई, हिंदू, जैन, मुसलमान एवं सिक्ख आदि रहते हैं। यहाँ एक लाख से अधिक जनसंख्यावाले छह नगर बंबई, पूना, नागपुर, शोलापुर, कोल्हापुर एवं अहमदनगर हैं। अजंता एवं एलोरा की गुफाओं की मूर्तिकला एवं चित्रकला दर्शनीय है। नासिक, जो गोदावरी के तट पर बसा है, हिंदुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। बंबई नगर राज्य की राजधानी है। [सु० च० श०]

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना — मराठी भाषी प्रदेश में राष्ट्रभाषा का प्रचार करने के हेतु गांधी जी की प्रेरणा से महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा की स्थापना हुई। आचार्य काकासाहब कालेलकर की अध्यक्षता मे ता० २२ मई, १९३७ को पूना मे महाराष्ट्र के रचनात्मक कार्यकर्ताओं, राजनीतिक और सांस्कृतिक नेताओं आदि का समेलन सम्पन्न हुआ जिसमे महाराष्ट्र हिंदीप्रचार समिति के नाम से एक संगठन बनाया गया। आठ साल तक यह समिति राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा से संबद्ध रही। भाषा विषयक सिद्धांत के मतभेद के कारण इस संगठन ने समेलन तथा वर्धा समिति से संबंध तोड दिया। १२ अक्तूबर, १९४५ को महाराष्ट्र के प्रमुख कार्यकर्ताओं की एक बैठक हुई, जिसमे स्वतंत्र रूप से कार्य करने का निश्चय किया गया। संस्था अब महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा के नाम से काम करने लगी।

सभा की नीति के लिये निम्नांकित सिद्धांत आधारशिला हैं: (१) प्रदेशों मे प्रादेशिक भाषाओं का स्थान और मान बना रहे। अंतःप्रांतीय व्यवहार के लिये राष्ट्रभाषा को प्रयुक्त किया जाए। (२) राष्ट्रभाषा प्रचार राष्ट्र के नवनिर्माण का तथा राष्ट्रीय एकता के संवर्धन का एक श्रेष्ठ रचनात्मक कार्य है। (३) राष्ट्रभाषा का स्वरूप सर्वसंग्राहक हो। राष्ट्रभाषा की हमारी व्याख्या इस प्रकार है : भारत में अंत प्रांतीय व्यवहार के लिये जिस एक भाषा का उपयोग सदियो से आम तौर पर चलता आ रहा है वह हमारी राष्ट्रभाषा है। इसके लिये हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी तीनों नाम रूढ़ हैं। (४) राष्ट्रभाषा का विकास देश की प्रादेशिक भाषाओं के संपर्क से सम्पन्न होता रहे।

सभा के विधान और नियमों के अनुसार विभिन्न श्रेणियों के सदस्यों द्वारा निर्धारित समय पर कार्यसमिति और नियामक मंडल का चुनाव किया जाता है। हिंदी प्रचारकों, हिंदी के विद्वानों, रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा समाजसेवकों को सभा के विधान के अनुसार नियामक मंडल और नियामक समिति में आनुपातिक प्रतिनिधित्व दिया गया है, जिससे सभा के संगठन का ढाँचा केवल एक प्रचार संस्था का नहीं, बल्कि विद्याप्रसारिणी संस्था का सा बन सके। सभा का केंद्रीय कार्यालय पूना में तथा विभागीय कार्यालय पूना, बंबई, नागपुर और औरंगाबाद में हैं। सभा की अचल जायदाद साठ आठ लाख रुपए लागत की है। वार्षिक आय व्यय का बजट १६ लाख रुपए के लगभग होता है।

सभा की शिक्षण और प्रचार संबंधी प्रवृत्तियों में परीक्षाओं का संचालन, पुस्तक प्रकाशन, ग्रंथालय प्रायोजना तथा विद्यालय प्रमुख हैं। विभिन्न श्रेणियों के सदस्यों की संख्या दो हजार तथा आधिकारिक शिक्षकों की संख्या छह हजार है।

परीक्षा — प्रति वर्ष दो बार १५ परीक्षाएँ आयोजित की जाती हैं। हिंदी भाषा और साहित्य का ज्ञान, देवनागरी और उर्दू लिपि का परिचय, हिंदी के माध्यम से कार्यालय संबंधी कामकाज चलाने की सक्षमता, हिंदी मे संभाषण करने और मातृभाषा से हिंदी में लिखित तथा मौखिक अनुवाद करने का प्रावीण्य, आदि को प्रोत्साहन देने के हेतु विभिन्न स्तरों और योग्यताओं की परीक्षाओं का पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है। प्रबोध, प्रवीण और पंडित परीक्षाओं को भारत सरकार द्वारा हिंदी की योग्यता की दृष्टि से क्रमशः एस्० एस्० सी०, इंटर और बी० ए० के समकक्ष निर्धारित किया गया है। इधर कुछ वर्षों से प्रति वर्ष प्राय तीन लाख छात्र परीक्षाओं में बैठते हैं। अब तक ३३ लाख छात्र परीक्षा में बैठ चुके हैं।

पुस्तकप्रकाशन — पुस्तको और पत्रिकाओं के प्रकाशन मे सभा के निम्नांकित उद्देश्य हैं — (१) मराठी भाषा भाषी छात्रों की आवश्यकताओं के अनुसार हिंदी पाठ्यपुस्तकें तैयार करना (२) हिंदी और मराठी साहित्यों के बीच आदान प्रदान बढ़ाने के लिये अनूदित पुस्तकों का प्रकाशन (३) मराठी भाषा भाषियों को हिंदी मे लिखने के लिये प्रोत्साहित करना (४) हिंदी और मराठी भाषा तथा साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन और अनुसंधान को बढ़ावा देना। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सभा ने लगभग डेढ सौ पुस्तकें प्रकाशित की हैं, तथा दो हिंदी मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन जारी रखा है। 'राष्ट्रवाणी' श्रेष्ठ साहित्यिक स्तर की पत्रिका है जो पिछले २० वर्षों से प्रकाशित की जाती रही है। 'हमारी बात' मे राष्ट्रभाषा प्रचार संबंधी जानकारी दी जाती है। भारत सरकार के अनुदान से बृहत् हिंदी शब्दकोश प्रकाशित किया गया। पूना मे सभा अपना राष्ट्रभाषा मुद्रणालय भी चलाती है।

ग्रंथालय योजना — हिंदी ग्रंथालय और वाचनालय राष्ट्रभाषा प्रचार की एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस योजना के अंतर्गत पूना मे केंद्रीय राष्ट्रभाषा ग्रंथालय चलाने के अतिरिक्त विभाग, जिला तथा नगर आदि विभिन्न स्तरों पर भी ग्रंथालय चलाए जाते हैं। साथ साथ ग्रामवासी जनता के लाभ के लिये भ्रमणशील ग्रंथालय का भी सूत्रपात किया गया है। ग्रंथालय योजना के अंतर्गत विभिन्न कक्षाओं के छात्रों के मार्गदर्शन के लिये व्याख्यानमालाएँ चलाई जाती हैं। 'ज्ञानदा' के अंतर्गत उदीयमान साहित्यकारों को प्रोत्साहन देने के हेतु संगोष्ठियों, उपसंवादों आदि का आयोजन प्रति मास किया जाता है।

शिक्षण — सभा के परीक्षाकेंद्रों में आधिकारिक शिक्षक सभा के नियत पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षण वर्ग चलाते हैं। तहसील, जिला, विभाग और राज्य स्तर पर शिक्षकों के शिविर आयोजित कर उनका मार्गदर्शन किया जाता है। पुस्तकें तथा अनुदान देकर उनकी अल्प मात्रा में सहायता भी की जाती है। दो शिक्षक-प्रशिक्षण-केंद्र, १५ शिक्षाकेंद्र तथा ६० हिंदी विद्यालय चलाए जाते हैं।

[द० रं० जा० [

महाराष्ट्री (प्राकृत) उस प्राकृत शैली का नाम है जो मध्यकाल में महाराष्ट्र प्रदेश में विशेष रूप से प्रचलित हुई। प्राचीन प्राकृत व्याकरणों में—जैसे चंडकृत प्राकृतलक्षण, वररुचि कृत प्राकृतप्रकाश, हेमचंद्र कृत प्राकृत व्याकरण एवं त्रिविक्रम, शुभचंद्र आदि के व्याकरणों में — महाराष्ट्री का नामोल्लेख नहीं पाया जाता। इस नाम का सबसे प्राचीन उल्लेख दंडी कृत काव्यादर्श (६ ठी शती ई०) में हुआ है, जहाँ कहा गया है कि 'महाराष्ट्रीयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः, सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबंधादि यन्मयम्।' अर्थात् महाराष्ट्र प्रदेश आश्रित भाषा प्रकृष्ट प्राकृत मानी गई, क्योंकि उसमें सूक्तियों के सागर सेतुबंधादि काव्यों की रचना हुई। दंडी के इस उल्लेख से दो बातें स्पष्ट ज्ञात होती हैं कि प्राकृत भाषा की एक विशेष शैली महाराष्ट्र प्रदेश में विकसित हो चुकी थी, और उसमें सेतुबंध तथा अन्य भी कुछ काव्य रचे जा चुके थे। प्रवरसेन कृत 'सेतुबंध' काव्य सुप्रसिद्ध है, जिसकी रचना अनुमानतः चौथी पाँचवीं शती की है। इसमें प्राकृत भाषा का जो स्वरूप दिखाई देता है उसकी प्रमुख विशेषता यह है कि शब्दों के मध्यवर्ती क् ग् च् ज् त् द् प् य् व् इन अल्पप्राण वर्णों का लोप होकर केवल उनका संयोगी स्वर (उद्वृत्त स्वर) मात्र शेष रह जाता है। जैसे मकर > मअर, नगर > नअर, निचुल > निउल, परिजन > परिअण, नियम > णिअम, इत्यादि।

भाषा-विज्ञान-विशारदों का मत है कि प्राकृत भाषा में यह वर्ण लोप की विधि क्रमशः उत्पन्न हुई। आदि में क् च् त् इन अघोष वर्णों के स्थान में क्रमशः सघोष ग् ज् द् का आदेश होना प्रारंभ हुआ। यह प्रवृत्ति साहित्यिक शौ० प्रा० में उपलब्ध होती है। विद्वानों के मतानुसार ईसवी द्वितीय शती के लगभग उक्त वर्णों के लोप होने की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई और शीघ्र ही अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई।

इस व्यंजनलोप तथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर ह् के आदेश से भाषा में विशेष कोमलता तथा लालित्य उत्पन्न हुआ। इसी कारण कालांतर में ऐसी धारणा भी उत्पन्न हो गई कि गद्य शौ० प्रा० में और पद्य महा० प्रा० में लिखा जाय।

प्राकृत रचनाओं के कुछ संपादकों ने इसी धारणानुसार प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य के विरुद्ध भी गद्य में शौ० और पद्य में महाराष्ट्री प्रा० की शैलियाँ अपनाई हैं। इसका एक विशेष उदाहरण कोनो द्वारा संपादित कर्पूरमंजरी सट्टक है, जिसकी प्रस्तावना में उन्होंने स्वयं कहा है कि गद्य पद्य की शैलियों का एक आदर्श उपस्थित करने के हेतु उन्होंने कोई एक दर्जन प्राचीन प्रतियों के पाठ के विरुद्ध भी गद्य में शौ० और पद्य में महा० के अनुरूप पाठ रखने का प्रयत्न किया है। किंतु है यह बात प्राकृत व्याकरणों एवं नाटकों की परंपरा के विरुद्ध। संस्कृत नाटकों में प्राकृत का सबसे अधिक प्रयोग तथा वैचित्र्य मृच्छकटिक नाटक में पाया जाता है। इस नाटक के टीकाकार पृथ्वीधर ने पात्रों के अनुसार प्राकृत भेदों का निरूपण किया है। किंतु वहाँ उन्होंने महाराष्ट्री का कहीं नाम नहीं लिया। उन्होंने यह संकेत अवश्य किया है कि महा० प्रा० का केवल काव्य में ही प्रयोग किया जाता है, नाटक में नहीं।

महा० प्रा० के सर्वोत्कृष्ट काव्य प्रवरसेन कृत सेतुबंध का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसमें १५ आश्वास हैं, जिनमें किष्किंधा में राम की वियोगावस्था से लेकर रावणवध तक रामायण का कथाभाग काव्यरीति से वर्णित है। इसका दूसरा नाम रावणवध भी पाया जाता है। महा० प्रा० की दूसरी उत्कृष्ट रचना है गाथासप्तशती, जिसका उल्लेख महाकवि बाण ने हर्षचरित में कोश के नाम से किया है। इसके मूलकर्ता हाल या सातवाहन हैं, जो आंध्रभृत्य राजवंश के एक नरेश थे (लगभग दूसरी, तीसरी शती ई०)। किंतु इसे सप्तशती का रूप क्रमशः प्राप्त हुआ, ऐसा अनुमानित होता है; क्योंकि इसकी अनेक गाथाओं के कर्ताओं के नामों में चौथी पाँचवीं शती के कवियों के भी उल्लेख हैं। काव्य कल्पना, नरनारियों के भावों की अभिव्यक्ति तथा लोकजीवन के चित्रण की दृष्टि से इसकी गाथाएँ अद्वितीय हैं। महा० प्रा० का तीसरा महाकाव्य वाक्पतिराज कृत गउडवहो है। इसका रचनाकाल ७वीं, ८वीं शती ई० सिद्ध होता है। काव्य में लगभग १२०० गाथाएँ हैं और इनमें यशोवर्मा की विजययात्रा व उनके द्वारा गौड नरेश के वध का वृत्तांत वर्णित है। महा० प्रा० का उपयोग जैन कवियों ने भी पुराण, चरित, प्रबंध आदि रचनाओं में विपुलता से किया है। किंतु उनकी अपनी भाषात्मक विशेषता है, जिसके कारण उनकी भाषा को जैन महाराष्ट्री कहा गया है। यथार्थतः उनकी रचना की भाषा वही प्राकृत मान्य है जिसका निरूपण वररुचि व हेमचंद्र आदि ने अपने व्याकरणों में अथ प्राकृतम् कहकर किया है।

सं० ग्रं० — हेमचंद्र जोशी कृत पिशल के जर्मन ग्रंथ का अनुवाद—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण; विंटरनित्ज—इंट्रोडक्शन टु प्राकृत। [ही० ला० जै०]

महावीर नवीं शताब्दी के भारतीय गणितज्ञ थे। ८५० ई० में इन्होंने गणित-सार-संग्रह नामक पुस्तक लिखी, जिससे उस काल की हिंदू ज्यामिति एवं अंकगणित की उन्नत अवस्था का आभास मिलता है। सर्वप्रथम इन्होंने ही लघुतम समापवर्त्य की कल्पना की और भिन्नों के समच्छेदन का नियम दिया। इन्होंने ज्ञात किया कि किसी वृत्त के खंड का संनिकट क्षेत्रफल $\frac{1}{2}$ (ग + क) क होता है। बीजगणित को इनकी सबसे महत्वपूर्ण देन, गुणोत्तर श्रेणी के प्रथम न पदों के योग का सूत्र है, जिसका प्रयोग आज भी किया जाता है। [रा० कु०]

महावंस यह सिंहल का प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य है। भारत का शायद ही कोई प्रदेश हो, जिसका इतिहास उतना सुरक्षित हो, जितना सिंहल का; डब्ल्यू गेगर की इस संमति का आधार महावंस ही है। महान् लोगों के वंश का परिचय करानेवाला होने से तथा स्वयं भी महान् होने से ही इसका नाम हुआ 'महावंस' (महावंस टीका)।

इस टीका ग्रंथ की रचना 'महानाम' स्थविर के हाथों हुई। आप दीघसंद सेनापति के बनाए विहार में रहते थे (महावंस टीका, पृ० ५०२)। दीघसंद सेनापति राजा देवानांप्रिय तिष्य का सेनापति था।

'महावंस' पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से चौथी शताब्दी ई० तक, लगभग साढ़े आठ सौ वर्षों का लेखा है। उसमें तथागत के तीन बार

लंका आगमन का, तीनों बौद्ध संगीतियों का, विजय के लंका जीतने का, देवानांप्रिय तिष्य के राज्यकाल में अशोकपुत्र महेंद्र के लंका आने का, मगध से भिन्न भिन्न देशों में बौद्ध धर्म प्रचारार्थ भिक्षुओं के जाने का, तथा बोधि वृक्ष की शाखा सहित महेंद्र स्थविर की बहन अशोकपुत्री संघमित्रा के लंका आने का वर्णन है। सिंहल के महापराक्रमी राजा दुष्टग्रामणी से लेकर महासेन तक अनेक राजाओं और उनके राज्य काल का वर्णन है। इस प्रकार कहने को 'महावंस' केवल सिंहल का ही इतिहासग्रंथ है, लेकिन वस्तुतः यह सारे भारतीय इतिहास की मूल उपादान सामग्री से भरा पड़ा है।

'महावंस' की कथा महासेन के समय (३२५-३५२ ई०) तक समाप्त हो जाती है। किंतु सिंहल द्वीप में इस 'महावंस' का लिखा जाना आगे भी जारी रहा है। यह आगे का हिस्सा चूळवंस कहा जाता है। 'महावंस' सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा पर पहुँचकर एकाएक समाप्त कर दिया गया है। छत्तीस परिच्छेदों में प्रत्येक परिच्छेद के अंत में 'सुजनों के प्रसाद और वैराग्य के लिये रचित महावंस का······परिच्छेद' शब्द आते हैं। सैंतीसवाँ परिच्छेद अधूरा ही समाप्त है। जिस रचयिता ने महावंस को आगे जारी रखा उसने इसी परिच्छेद में १९८ गाथाएँ और जोड़कर इस परिच्छेद को 'सात राजा' शीर्षक दिया। बाद के हर इतिहासलेखक ने अपने हिस्से के इतिहास को किसी परिच्छेद पर समाप्त न कर अगले परिच्छेद की भी कुछ गाथाएँ इसी अभिप्राय से लिखी प्रतीत होती हैं कि जातीय इतिहास को सुरक्षित रखने की यह परंपरा अक्षुण्ण बनी रहे।

महानाम की मृत्यु के बाद महासेन (३०२ ई०) के समय से दंबदेनिय के पंडित पराक्रमबाहु (१२४०-७५) तक का महावंस धम्मकीर्ति द्वितीय ने लिखा। यह मत विवादास्पद है। उसके बाद से कीर्ति राजसिंह की मृत्यु (१८१५) के समय तक का इतिहास हिक्कडुवे सुमंगलाचार्य तथा बटुवंतुडावे पंडित देवरक्षित ने। १८३३ में दोनों विद्वानों ने 'महावंस' का एक सिंहली अनुवाद भी छापा। १८१५ से १९३५ तक का इतिहास यगिरल प्रज्ञानंद नायक स्थविर ने पूर्व परंपरा के अनुसार १९३६ में प्रकाशित कराया।

मूल महावंस की टीका के रचयिता का नाम भी महानाम है। किसी किसी का कहना है कि महावंस का रचयिता और टीकाकार एक ही है। पर यह मत मान्य नहीं हो सकता। महावंस टीकाकार ने अपनी टीका को 'वंसत्थप्पकासिनी' नाम दिया है। इसकी रचना सातवीं आठवीं शताब्दी में हुई होगी।

और स्वयं महावंस की? इसकी रचना महावंस टीका से एक दो शताब्दी पहले। धातुसेन नरेश का समय छठी शताब्दी है, उसी के आस पास इस महाकाव्य की रचना होनी चाहिए।

[भ० आ० कौ०]

महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के अंतर्गत दौलतपुर नामक छोटे से गाँव में १५ मई, सन् १८६४ ई० को हुआ था। आरंभिक शिक्षा ग्रामीण पाठशाला में उर्दू-फारसी में हुई। घर पर वे संस्कृत का भी अभ्यास किया करते थे। फिर अँगरेजी पढ़ने रायबरेली चले गए। निर्धनता ऐसी थी कि प्रति सप्ताह लगभग ३० मील पैदल चलकर घर आया करते और सप्ताह भर का आटा, दाल, चावल आदि लादकर पुनः रायबरेली लौट जाया करते थे। पर पाठशाला की फीस, जो मात्र कुछ आने थी, बड़ी कठिनाई से जुट पाती। बचपन की इस घोर दरिद्रता से युद्ध करने का बड़ा सुंदर प्रभाव द्विवेदी जी पर पड़ा। सहिष्णुता, स्वावलंबन और संकल्प की दृढ़ता आदि जिन उदात्त गुणों से उनका जीवन हम ओतप्रोत पाते हैं, उनका बीजारोपण उनमें बाल्यकाल में ही हुआ था।

उन दिनों इनके पिता जी जीविका के कारण बंबई में रहा करते थे। पढ़ाई का सिलसिला समाप्त होने पर वे भी अपने पिता के पास बंबई चले गए और वहाँ रेलवे में नौकर हो गए। नागपुर, अजमेर और बंबई में कार्य करते समय इन्होंने तार का अभ्यास कर लिया और जी० आई० पी० रेलवे में तारबाबू हो गए। इनकी प्रतिभा और योग्यता पुरस्कृत होती गई और अंत में ये झाँसी में टेलिग्राफ इंस्पेक्टर होकर आ गए। यहाँ नए अधिकारी से कुछ खटपट हो गई और दूसरे ही दिन उन्होंने अपना पदत्याग कर दिया।

द्विवेदी जी का निर्माण 'मोर्स कोड' के संसार के लिये नहीं हुआ था। भाषा और साहित्य ही उनके उपयुक्त क्षेत्र थे और इधर आकर उन्होंने जो जो कार्य किए, भाषा और साहित्य क्षेत्र की अव्यवस्थित अराजकता को क्रमशः, अत्यंत धैर्यपूर्वक किंतु निश्चित गति से व्यवस्थित और परिमार्जित किया, उनसे साहित्य के अध्येता भली भाँति अवगत हैं। २०वीं शती के प्रारंभ के साथ ही हिंदी साहित्य के क्षेत्र में दो बड़े व्यापक और महत्वपूर्ण अनुष्ठान हुए और दोनों कार्यों के सूत्रपात का श्रेय काशी नागरीप्रचारिणी सभा को है। ये दो कार्य थे : (१) 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रवर्तन और (२) हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज।

ये दोनों अनुष्ठान अभी तक चल रहे हैं। 'सरस्वती' के संपादन का प्रबंध प्रारंभ में सभा ही करती रही, पर दो तीन वर्षों बाद (सन् १९०४ से) पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी जैसे युगप्रवर्तक, कर्मठ महापुरुष का सहयोग संपादक के रूप में उसे मिला। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय तक आते आते यद्यपि गद्य और पद्य दोनों के लिये हिंदी की खड़ी बोली स्वीकृत हो चुकी थी, फिर भी कविता खड़ी बोली परंपरा से चली आती हुई ब्रजभाषा के प्रभाव से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर सकी थी जिसके कारण उसमें वह प्रवाह और रवानी नहीं आ रही थी जिसके दर्शन आज सर्वसुलभ हैं। यह कार्य किया महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने। लगभग २० वर्षों के उनके संपादन काल में प्रकाशित 'सरस्वती' की संपादित प्रेस कापी नागरीप्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। इसके दर्शन मात्र से यह पता चल जाता है कि 'सरस्वती' को वांछित रूप में प्रकाशित करने में उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ता था। प्रत्येक रचना की प्रत्येक पंक्ति उनकी पैनी निगाहों से गुजरती थी और परिमार्जित होकर ही 'सरस्वती' में स्थान पाती थी। इस प्रकार निरंतर परिश्रम करके उन्होंने हिंदी में सैकड़ों लेखक तैयार किए जो उनके मार्गदर्शन के बिना शायद ही साहित्य क्षेत्र में आगे बढ़ पाते।

द्विवेदी जी के प्रति हिंदी साहित्य की प्रत्येक विधा ऋणी है। संस्कृत साहित्य से एक ओर कुमारसंभव और रघुवंश जैसे ग्रंथों के अनुवाद उन्होंने किए, दूसरी ओर महाभारत सदृश पौराणिक-आध्यात्मिक कृतियों के भी अनुवाद किए। अँगरेजी से बेकन के

विचारात्मक निबंधों का हिंदी भाषांतर उन्होंने प्रस्तुत किया तो स्पेंसर सदृश आंग्ल दार्शनिक के विचारों को भी हिंदी में ले आए। हिंदी का काव्यक्षेत्र भी उनकी मौलिक एवं अनूदित रचनाओं से सुशोभित हुआ। उनके विविध विषयों के मौलिक निबंध भी हिंदी की स्थायी संपत्ति हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य का कोई भी अंग अछूता नहीं छोड़ा, सभी क्षेत्रों को उन्होंने अपनी रचनाओं से परिपुष्ट किया। इन सबसे बढ़कर जो महत्वपूर्ण कार्य द्विवेदी जी ने किया वह है हिंदी गद्य को सुनिश्चित और परिनिष्ठित रूप देना जिसे 'सरस्वती' के संपादनकाल में वे निरंतर करते रहे। उन्हीं की प्रेरणा और संमति से नागरीप्रचारिणी सभा ने 'हिंदी व्याकरण' का निर्माण स्व० पं० कामताप्रसाद गुरु द्वारा कराया था जिसके परामर्शमंडल में द्विवेदी जी का भी सहयोग और निर्देशन था। यह व्याकरण आज भी हिंदी खड़ी बोली गद्य का सर्वमान्य व्याकरण है और प्रति वर्ष इसकी हजारों प्रतियाँ हिंदी के जिज्ञासुओं में खप जाती हैं।

सन् १९३३ ई० में स्व० द्विवेदी जी की सेवाओं के समादरार्थ काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया था, जिसके लेखकों में भारत की प्रायः सभी भाषाओं के चोटी के विद्वान् लेखकों का तो सहयोग था ही, अंगरेजी एवं अन्यान्य यूरोपीय भाषाओं के मान्य विद्वानों ने भी अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

हिंदी साहित्य की सेवा से उन्होंने जो कुछ अर्जित किया उसे वे हिंदी साहित्य के उन्नयन के लिये ही दान कर गए। कई सहस्र रुपयों की निधि उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय को दी जिसके ब्याज से छात्रवृत्ति दी जाती है। अपने पुस्तकसंग्रह और 'सरस्वती' की संपादित पांडुलिपियों के अतिरिक्त नागरीप्रचारिणी सभा को भी उन्होंने एक निधि प्रदान की जिसके ब्याज से प्रति वर्ष (अब प्रति दूसरे वर्ष) प्रकाशित हिंदी ग्रंथों में से सर्वोत्तम ग्रंथ के रचयिता को स्वर्णपदक प्रदान करने की व्यवस्था है। यह 'द्विवेदी स्वर्णपदक' हिंदीजगत् में सर्वाधिक समादृत और स्पृहणीय पदक के रूप में विख्यात है।

द्विवेदी जी की मौलिक कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं—नैषध-चरित-चर्चा, (२) हिंदी कालिदास की समालोचना, (३) हिंदी वैज्ञानिक कोश की दार्शनिक परिभाषा, (४) विक्रमांकदेवचरितचर्चा, (५) हिंदी भाषा की उत्पत्ति, (६) संपत्तिशास्त्र, (७) कालिदास की निरंकुशता, (८) नाट्यशास्त्र, (९) प्राचीन पंडित और कवि, (१०) औद्योगिकी, (११) कोविदकीर्तन आदि। इनके अतिरिक्त 'सरस्वती' में प्रकाशित विभिन्न विषयों के लेख, जीवनचरित, आदि के २०-२५ संग्रह भी पुस्तकाकार निकले हैं। द्विवेदी जी की संपूर्ण कविताओं का संग्रह 'द्विवेदी-काव्य-माला' नाम से प्रकाशित हुआ है।

द्विवेदी जी का शरीरांत २१ दिसंबर, सन् १९३८ ई० को हुआ।

सं० ग्रं० — उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग; कुलवंत कोहली : युगनिर्माता द्विवेदी ; प्रेमनारायण टंडन : द्विवेदी मीमांसा; 'सरस्वती' के द्विवेदी-स्मृति - अंक तथा हीरक-जयंती अंक; 'साहित्य संदेश' का द्विवेदीअंक; 'भाषा' का द्विवेदी-स्मृति-अंक।
[शं० मा० वा०]

महाश्येन (Eagle) एक शिकारी पक्षी का नाम है, जिसका आकार बहुत बड़ा होता है। यह दिन में उड़नेवाला पक्षी है तथा गिद्ध से भिन्न होता है। इसका सिर चपटा एवं परों से आच्छादित होता है, चोंच टेढ़ी एवं दृढ़ होती है और चंगुल बहुत बड़ा तथा भयानक होता है। इसकी आकृति से ही इसकी वीरता का प्रत्यक्ष आभास होता है। इसकी प्रभावशाली आकृति, बल, तीव्र दृष्टि, सुंदर एवं शक्तिशाली उड़ान के कारण इसे पक्षियों के राजा की उपाधि से विभूषित किया गया है।

महाश्येन, फैल्कोनिफॉर्मीज (Falconiformes) गण, ऐक्सिपिटर (Accipitres) उपगण, फैल्कानिडी (Falconidae) कुल तथा ऐक्विलिनी (Aquilinae) उपकुल के अंतर्गत है। यह उपकुल दो वर्गों में विभाजित है। ये दो वर्ग ऐक्विला स्थल महाश्येन (Aquila Land Eagle) और हैलिई-एटस, जल महाश्येन (Haliaeetus Sea Eagle) हैं। इस श्येन परिवार में लगभग तीन सौ जातियाँ पाई जाती हैं। ये अनेक जातियाँ स्वभाव तथा आकार प्रकार में एक दूसरे से भिन्न होती हैं तथा विश्व भर में पाई जाती हैं। इस पक्षी को ऊँचाई से ही प्रेम है, धरातल से नहीं। यह धरातल की ओर तभी दृष्टिपात करता है जब इसे कोई शिकार करना होता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इसकी दृष्टि बड़ी तीव्र होती है और यह धरातल पर विचरण करते हुए अपने शिकार को ऊँचाई से ही देख लेता है।

प्राचीन काल से ही यह साहस एवं शक्ति का प्रतीक माना गया है। संभवतः इन्हीं कारणों से सभी राष्ट्रों के कवियों ने इसका वर्णन किया है और इसे रूस, जर्मनी, संयुक्त राज्य (अमरीका) आदि देशों में राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में माना गया है। भारत में इसे गरुड़ की संज्ञा दी गई है तथा पौराणिक वर्णनों में इसे विष्णु का वाहन कहा गया है। संभवतः तेज गति और वीरता के कारण ही यह विष्णु का वाहन हो सका है।

अन्य देशों के भी पौराणिक वर्णनों में इसका वर्णन आता है, जैसे स्कैंडेनेविया में इसे तूफान का देवता माना गया है और यह बताया गया है कि यह देव स्वर्ग लोक के एक छोर पर बैठकर हवा का झोंका पृथ्वी पर फेंकता है। ग्रीसवासियों की, प्राचीन विश्वास के अनुसार, ऐसी धारणा है कि उनके सबसे बड़े देवता, ज्यूस (Zeus), को इस महाश्येन ने ही सहायतार्थ वज्र प्रदान किया था।

भगवान् विष्णु का वाहन होकर भी इस पक्षी की मनोवृत्ति अहिंसक नहीं है। यह मांसभक्षी, अति लोलुप और प्रत्यक्षतः हानि पहुँचानेवाला होता है, तथापि यह उन बहुत से पक्षियों को समाप्त करने में सहायक है, जो कृषि एवं मनुष्यों को हानि पहुँचाते हैं। साथ ही साथ यह हानि पहुँचानेवाले सरीसृप तथा छोटे छोटे स्तनी जीवों को भी समाप्त करता है और इस प्रकार जंतुसंसार का संतुलन बनाए रखता है। [ग० श० शु०]

महासागर वह समग्र लवण जलराशि है, जो पृथ्वी के लगभग तीन चौथाई पृष्ठ पर फैला हुआ है। महासागर के छोटे छोटे भागों को समुद्र तथा खाड़ी कहते हैं। सबसे बड़ा समुद्र भूमध्यसागर है, जो ८,१३,००० वर्ग मील में फैला हुआ है। संसार में पाँच महासागर

हैं, जिनके नाम तथा क्षेत्रफल इस प्रकार हैं : १. प्रशांत महासागर ६,३६,३४,००० वर्ग मील, २. ऐटलैंटिक महासागर ३,१३,५०,००० वर्ग मील, ३. हिंदमहासागर २,८३,५६,००० वर्ग मील, ४. आर्कटिक महासागर ४०,००,००० वर्ग मील तथा ५. ऐंटार्कटिक महासागर ५७,३१,००० वर्ग मील।

महासागरों में प्रशांत महासागर सबसे बड़ा है। यह अमरीका से ऑस्ट्रेलिया और एशिया तक फैला है। ऐटलैंटिक महासागर यूरोप और उत्तरी अमरीका के बीच तथा दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका के बीच फैला है। विषुवत् वृत्त द्वारा यह दो भागों, उत्तरी और दक्षिणी ऐटलैंटिक महासागरों में बँटा हुआ है। हिंद महासागर एशिया के दक्षिण में अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के बीच फैला हुआ है। ऐंटार्कटिक महासागर ऐंटार्कटिक महाद्वीप के चारों ओर फैला हुआ है। अनेक भूगोलविद् ऐंटार्कटिक महासागर को अलग महासागर नहीं मानते, वरन् इसे प्रशांत, हिंद और ऐटलैंटिक महासागर का ही अंग मानते हैं। आर्कटिक महासागर उत्तर में स्थित है।

महासागर की गहराई — महासागरों में प्रशांत महासागर सबसे गहरा है। इसकी औसत गहराई १४,००० फुट से अधिक है। ऐटलैंटिक और हिंद महासागर प्रशांत महासागर से कम और प्रायः बराबर गहरे हैं।

महासागर का तल — महासागरों में कहीं कहीं गड्ढे पाए जाते हैं। एक ऐसा ही बड़ा गड्ढा जापान और फिलिपीन द्वीप समूह के निकट है। यहाँ का मिडानाओ (Mindanao) गड्ढा सागरतल से ३५,४०० फुट गहरा है। यह गहराई विद्युत् तरंगों की सहायता से ज्ञात की जाती है। अधिकांश तल हलका ढालू है। कहीं कहीं खड़ी ढालवाली पर्वत-शृंखलाएँ तथा गह्वर (chasm) हैं। डेड सी भी इसी तरह का स्थल का एक गह्वर है। इसका जलतल भूमध्य सागर के जलतल से १,२९० फुट नीचा है। कभी कभी पर्वतों की चोटियाँ सागर तल के ऊपर आ जाती हैं, तो उनसे द्वीपों का निर्माण होता है, जैसे कि जापान द्वीपसमूह। सागरतली पर सिंधुपक (ooze) जमा रहता है। उथले भागों को महाद्वीपीय शेल्फ (shelf) कहते हैं।

महासागर का जल — महासागर का जल खारा होता है, अतः यह पीने के काम में नहीं आ सकता। इसके जल में सोडियम, पोटैशियम, कैल्सियम तथा मैग्नीशियम के लवण न्यूनाधिक मात्रा में मिले रहते हैं। स्थल से नदियों द्वारा आनेवाले जल में अनेक प्रकार के खनिज लवण घुले रहते हैं। सागर से वाष्प बनकर जल उड़ता रहता है, किंतु लवण सागर में ही रह जाते हैं। इस प्रकार लवणों की मात्रा सागरों में बराबर बढ़ती रहती है। प्रति वर्ष नदियों से अनुमानतः १६,००,००,००० टन खनिज लवण सागर में आते हैं। खारेपन की मात्रा स्वच्छ जल के संभरण, हवा तथा समुद्री धाराओं, वाष्पीकरण की मात्रा तथा तीव्रता पर निर्भर करती है। संसार में सबसे अधिक खारापन डेड सी में २३७°/०० (लवण) है जब कि बॉल्टिक सागर में सिर्फ १५°/०० है। लवणों के कारण समुद्र जल का घनत्व अलवण जल के घनत्व से अधिक होता है। अतः समुद्रजल में तैरना सरल होता है। समुद्र में पाए जानेवाले लवण पदार्थों की संख्या प्रायः ४६ तक पहुँच गई है। सागर के जल के लवण में प्रमुख लवणों की औसत मात्रा इस प्रकार पाई जाती है :

लवण	प्रति १०० भाग शुष्क लवण में मात्रा
१. सोडियम क्लोराइड	७७·६ प्रति शत
२. मैग्नीशियम क्लोराइड	१०·८८ ,,
३. मैग्नीशियम सल्फेट	४·७४ ,,
४. कैल्सियम सल्फेट	३·६० ,,
५. कैल्सियम कार्बोनेट	३ ४ ,,
६. पोटैशियम सल्फेट	२·४६ ,,
७. मैग्नीशियम ब्रोमाइड	०·२२ ,,

महासागर का रंग — सागर का जल देखने में नीला होता है। पानी में रहनेवाले धूल के कण सूर्य की किरणों को परावर्तित करते हैं, किंतु सूर्य की किरणों से प्राप्त रंगों में से लाल एवं पीला रंग जल द्वारा अवशोषित हो जाते हैं और शेष बचे रंग हरा, नीला तथा बैंगनी मिलकर जल को नीला बनाते हैं।

गैसें — वायुमंडल में पाई जानेवाली सभी गैसें सागर के जल में मिली रहती हैं। सागर के जल में खारेपन की मात्रा के अनुसार ऑक्सीजन और नाइट्रोजन की जल में विलेयता निश्चित होती है। यद्यपि वायुमंडल में ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन का अनुपात १:३·७ रहता है, तथापि सागर के जल में यह अनुपात १:१·७ रहता है क्योंकि ऑक्सीजन जल में अधिक विलेय होता है।

ताप — महासागर का जल भूमध्य रेखा के पास गरम तथा ध्रुवों पर ठंढा होता है। ताप में इस विभिन्नता के कारण सामुद्रिक धाराओं का जन्म होता है। साधारणतया सागरी धरातल का औसत ताप लगभग १७° सें० होता है। विषुवतीय भागों में ताप लगभग २७° सें० तथा ध्रुवीय भागों में लगभग ४° सें० रहता है। जैसे जैसे हम समुद्र की गहराई में जाते हैं, समुद्र का ताप धीरे धीरे नीचा होता जाता है। यदि तल का ताप २१° सें० हो, तो एक मील गहराई का ताप २०° सें० हो जाता है।

महासागर के कार्य — विश्व में होनेवाली वर्षा महासागरों पर ही निर्भर है। महासागर कभी सूखता नहीं, क्योंकि इसमें से जितना पानी वाष्प बनकर उड़ता है वह वर्षा द्वारा नदियों में बहकर पुन. सागर में मिल जाता है। इस प्रकार से पानी का एक चक्र बना रहता है। महासागर लहरों तथा ज्वार भाटा से कई प्रकार के कटाव एवं जमाव करता है, जिनसे विशेष प्रकार की भू-आकृतियाँ बनती हैं। लहरों से विभिन्न प्रकार के द्वीप तथा खाड़ियों का निर्माण होता है।

महासागर के प्राणी और वनस्पतियाँ — महासागर के प्रत्येक भाग तथा गहराई में किसी न किसी प्रकार के जीव जंतु अवश्य पाए जाते हैं। जीवन संबंधी प्रवृत्तियों के दृष्टिकोण से समुद्र के जीव जंतुओं को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

१. प्लवक (Plankton) — महासागर में इनकी अधिकता रहती है। ये जीव स्वयं भ्रमण नहीं करते वरन् लहरों, धाराओं, ज्वार

भाटा आदि नतियों के कारण इधर से उधर प्रवाहित होते रहते हैं। इसके अंतर्गत कुछ पौधे भी आते हैं।

२. तरणक (Nekton) — स्वतंत्र रूप से चलने या तैरनेवाले सभी जीव इसमें आते हैं, जैसे ह्वेल मछलियाँ इत्यादि।

३. नितल जीवसमूह (Benthos) — इसके अंतर्गत समुद्र की तली पर, अथवा तली के समीप, एक स्थान पर स्थिर रहनेवाले जीव आते हैं। ये सागर के गहरे भागों में मिलते हैं तथा इनके शरीर की बनावट विचित्र एवं आश्चर्यजनक होती है।

इन जीव जंतुओं में प्रवाल जीव अधिक महत्व के हैं (देखें प्रवाल शैल श्रेणी)। इनके अलावा सैकड़ों प्रकार के शैवाल, पेड़ पौधे एवं अन्य वनस्पतियाँ भी समुद्र मे उगती हैं। कुछ वनस्पतियाँ मछलियों का आहार बनती हैं और कुछ से उपयोगी पदार्थ तैयार कर हम अपने काम में लाते हैं। कुछ वनस्पतियाँ मनुष्यों या धरती के अन्य पशुओं द्वारा खाई भी जाती हैं।

महासागरों का इतिहास — वैज्ञानिकों का विचार है कि सागरी बेसिन, तथा महाद्वीपीय तल, महाद्वीपों की अपेक्षा अधिक भारी चट्टानों से बने होने के कारण नीचे बैठ गए। इन भारी चट्टानों के आंतरिक दबाव के कारण हलकी चट्टानों से बने महाद्वीपीय भाग ऊपर को निकल आए। महाद्वीपों के कटाव द्वारा भूमि सागरतलों मे जमा होती है, अतः भार के कारण सागरतल पुनः नीचे की ओर धँसता है और महाद्वीप ऊपर की ओर उठते हैं। यह क्रिया अत्यंत धीमी होती है। पृथ्वी की आंतरिक तथा बाह्य हलचलों से सागर की तली में भी अंतर आता रहता है। उत्तरी गोलार्ध में महाद्वीपों की तथा दक्षिणी गोलार्ध में महासागरों की प्रधानता, महाद्वीपों तथा महासागरों का त्रिभुजाकार होना, उत्तरी ध्रुव के जल से तथा दक्षिणी ध्रुव के थल से ढँके होने तथा भूतल पर जल और थल विभागों के एक दूसरे से विपरीत दशा मे होने से कहा जा सकता है कि सागरों की उत्पत्ति के समय पृथ्वी की दशा उसी प्रकार की थी जैसी एक वृत्त पिंड को चारों ओर से दबाने पर होती है। ऊँचे उठे भाग महाद्वीप तथा नीचे धँसे भाग सागर बन गए।

महासागर का महत्व — महासागरों के द्वारा यातायात मे बड़ी सुविधा होती है। सागर द्वारा सीधा मार्ग अपनाकर लक्ष्य स्थान पर शीघ्र पहुँचा जा सकता है। ये सागर मानव भोजन के भंडार हैं। सागरों में मछलियाँ बड़ी संख्या में रहती हैं। इनके पकड़ने का व्यापार आज जोरों से चल रहा है। अधिकांश मछलियाँ खाने के काम आती हैं, पर कुछ से खाद भी तैयार की जाती है। ऐसी खाद मे पर्याप्त मात्रा में नाइट्रोजन तथा फॉस्फेट रहता है। कुछ समुद्री घासें भी बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इनसे आयोडीन तैयार होता है। समुद्र के जल से अनेक लवण भी तैयार होते हैं। इनके अलावा स्पंज, मोती, मछलियों से तेल, मछलियों तथा अन्य जंतुओं से मार्गरीन, शिशुक से खालें तथा सील से फर प्राप्त होता है।

[श० प्र० स०]

महासु भारत के केंद्रशासित हिमाचल प्रदेश राज्य का जिला है। इसके पश्चिम में बिलासपुर, दक्षिण में शिमला तथा सिरमौर, पूर्व में किन्नौर तथा उत्तर प्रदेश राज्य एवं उत्तर में मंडी तथा काँगड़ा जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल २,१७१ वर्ग मील तथा जनसंख्या ३,५८,९६६ (१९६१) है।

महिम भट्ट 'वक्रोक्तिजीवित' के रचयिता 'कुंतक' के अनंतर (दे० कुंतक) ध्वनि सिद्धांत के प्रबल विरोधी के रूप में आचार्य महिम भट्ट का नाम संस्कृत साहित्य में प्रथित है। इनका ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' तीन विमर्शों में लिखा गया है। सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में अंतर्भाव करने के उद्देश्य से ही इस ग्रंथ की रचना की गई है। मंगलाचरण में ही महिम भट्ट ने यह स्पष्ट कर दिया है। इसके प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान मे अंतर्भाव, द्वितीय में शब्द और अर्थसंबंधी अनौचित्य का विवेचन और तृतीय विमर्श में 'ध्वन्यालोक' में दिखाए गए ध्वनि के चालीस उदाहरणों को अनुमान में ही गतार्थ किया गया है। ध्वनिकार ने जिस प्रतीयमान अर्थ को अर्थात् व्यंग्य को व्यंजनावृत्ति का व्यापार और काव्य में सर्वप्रधान चमत्कारकारक तत्व बताया है, महिम भट्ट उसे अनुमान का विषय बताते हैं। वे शब्द की व्यंजनावृत्ति को भी अस्वीकार करते हैं और केवल अभिधावृत्ति ही मानते हैं। ध्वनिकार ने शब्द के तीन अर्थ कहे हैं— अभिधेय, लक्ष्य और व्यंग्य। किंतु महिम दो ही अर्थ मानते हैं, एक अभिधेय और दूसरा अनुमेय; यथा—

'अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च'।

महिम भट्ट उल्लेखनीय तार्किक तथा प्रखर मेधावी आलोचक थे। ध्वनि का खंडन करते हुए इन्होंने रस को अनुमेय सिद्ध किया है और इस प्रकार आचार्य शंकुक के अनुमितिवाद को और आगे बढ़ाया है। काव्य मे 'रस' को ये प्राणभूत मानते हैं और रस, भाव तथा प्रकृति के औचित्य को भी स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार काव्य का सर्वातिशायी दोष है अनौचित्य। इसमें काव्य के समस्त दोषों का अंतर्भाव हो जाता है। रस की अप्रतीति ही इस अनौचित्य का सामान्य रूप है जो काव्य की मुख्य भावनाओं से और रस से संबद्ध होने के कारण 'अंतरंग' तथा शब्दगत होने से 'बहिरंग' रूपों में व्यक्त होता है। अनौचित्य की इस प्रकार व्याख्या करते हुए महिम भट्ट, काव्यगत दोषों का आलोचनात्मक दृष्टि से सूक्ष्म और प्रांजल विवेचन करनेवालों मे पूर्ववर्ती ठहरते हैं। इन्होंने पाँच प्रकार के दोषों का प्रतिपादन किया है, जिन्हें मम्मट ने भी स्वीकार कर लिया है।

महिम भट्ट कश्मीरी थे। इनकी उपाधि 'राजानक' थी। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य था और ये महाकवि श्यामल के शिष्य थे। 'व्यक्तिविवेक' के अंत में महिम ने अपना यह परिचय दिया है। क्षेमेंद्र ने अपने ग्रंथ 'औचित्य-विचार-चर्चा' और 'सुवृत्ततिलक' में श्यामल के पद्य उद्धृत किए हैं। राजानक रुय्यक ने 'व्यक्तिविवेक व्याख्या' नाम से महिम के ग्रंथ की टीका की है और आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पाँचवें उल्लास मे 'व्यक्तिविवेक' के विचारों का खंडन किया है। अतः महिम भट्ट क्षेमेंद्र, मम्मट और रुय्यक के पूर्ववर्ती तथा आनंदवर्धन और अभिनव गुप्त के परवर्ती ठहरते हैं। इस प्रकार 'व्यक्तिविवेक' और उसके निर्माता महिम भट्ट का काल ईसा की ११वीं शताब्दी का प्रारंभ निश्चित होता है।

[वि० वि०]

महिरावण एक राक्षस जिसे रावण का पुत्र कहा जाता है। यह पाताल में रहा करता था और वही राम तथा लक्ष्मण को लंका से उठा कर ले गया था। हनुमान जी ने दोनों भाइयों को ढूंढते ढूंढते पाताल में ही जाकर इसे मारा था। [रा० द्वि०]

महिषासुर रंभासुर का पुत्र एक प्रसिद्ध देवीभक्त असुर जो शकर के अंश से उत्पन्न हुआ था। ब्रह्मा को अपने तप से प्रसन्न कर इसने मनुष्य से अजेय होने का वर प्राप्त कर लिया और दंभपूर्वक तीनों लोकों के निवासियों को सताने लगा। इसपर अष्टादश भुजाओंवाली देवी ने इसका वध कर सभी को त्रासमुक्त किया (दे० भा०, ५।१६)। स्कंदपुराण (१।३; १०।११) के अनुसार तपस्यारत पार्वती के समक्ष पहुंचकर इसने महादेव के स्थान पर अपने को पतिरूप मे वरण करने की बात चलाई। फलत. दोनों में घोर युद्ध हुआ और अंत में पार्वती के हाथों इसका संहार हुआ। महाभारत (वन०, २२१।६६) के अनुसार कार्तिकेय ने इसका वध किया था। [श्या० ति०]

महेंद्रगढ़ भारत के हरियाणा राज्य का एक जिला है। इसके उत्तर पश्चिम में हिसार, दक्षिण पश्चिम, एव दक्षिण मे राजस्थान राज्य, पूर्व में गुड़गांव तथा उत्तर पूर्व मे रोहतक जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल १,३४३ वर्ग मील तथा जनसंख्या ५,४७,८५० (१९६१) है।

महेसाणा भारत के गुजरात राज्य का जिला है जिसके उत्तर मे बनासकांठा, पूर्व में साबरकांठा, पश्चिम मे कच्छ तथा दक्षिण मे सुरेंद्रनगर एवं अहमदाबाद जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल ४,३२४ वर्ग मील तथा जनसंख्या १६,८६,९६३ (१९६१) है।

महोबा स्थिति : २५° १८' उ० अ० तथा ७९° ५३' पू० दे०। भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में हमीरपुर जिले का एक ऐतिहासिक नगर है जो झांसी-मानिकपुर रेल मार्ग पर स्थित है। यह चंदेलवंश के १५वें राजा मदन वर्मा द्वारा निर्मित मदनसागर झील के किनारे स्थित है। खंडहर अवस्था मे महल तथा अन्य इमारतें मिलती हैं। किरातसागर तथा मदनसागर प्रमुख झीलें हैं। यहाँ की जनसंख्या २४,८७८ (१९६१) है। यहाँ का पान काफी प्रसिद्ध माना जाता है।

इतिहास. चंदेल राजवश के संस्थापक चद्रवर्मा की राजधानी उसके द्वारा मनाए जानेवाले 'महोत्सव' से महोबा कहलाई। 'कालिंजर' और 'खजुराहो' चंदेलो के क्रमश सैनिक और धार्मिक केंद्र थे। तीन शताब्दियों के लंबे शासन के बाद ११८५ ई० मे पृथ्वीराज ने अंतिम चंदेल सम्राट् परमर्दिदेव परमाल से इसे (महोबा) छीन लिया। उसके २० वर्षों बाद इसपर कुतबुद्दीन का अधिकार हो गया। १७वी और १८वी शताब्दियों मे यह बुदेलों के शासन में रहा।

मांग (Demand) एक निश्चित मूल्य पर समय की निश्चित इकाई के भीतर क्रय की जानेवाली वस्तु का परिमाण ही मांग है। मांग, मूल्य और वस्तु की मात्रा का वह संबंध व्यक्त करती है, जो उस भाव पर समय की निश्चित इकाई मे क्रय की जाए। इसलिये मांग मूल्याश्रित है; साथ ही वह किसी विशेष समय की होती है। इसी मूल्याश्रय के कारण मांग एव आवश्यकता एक ही तत्व नही है, भले ही मांग का मूलाधार आवश्यकता हो।

मांग का नियम उपयोगिता ह्रास सिद्धांत (Law of diminishing utility) पर आधृत है। यदि सभी कुछ यथावत् रहे तो वस्तु की मांग उसके मूल्य के घटने के साथ साथ बढ़ती जाएगी और वस्तु के मूल्य मे वृद्धि के साथ उसकी मांग घटती जाएगी। यही मांग का नियम है। बाजार मे मांग की सूची की सहायता से मांग की रेखा बनाई जाती है जो श्रीमती रॉबिंस के अनुसार 'इस बात का प्रतिनिधित्व करती है कि एक बाजार मे किसी विशेष समय पर भिन्न भिन्न मूल्यों पर वस्तु की कितनी मात्रा खरीदी जाए। मांग का नियम नीचे दिए गए चित्र मे स्पष्ट है :
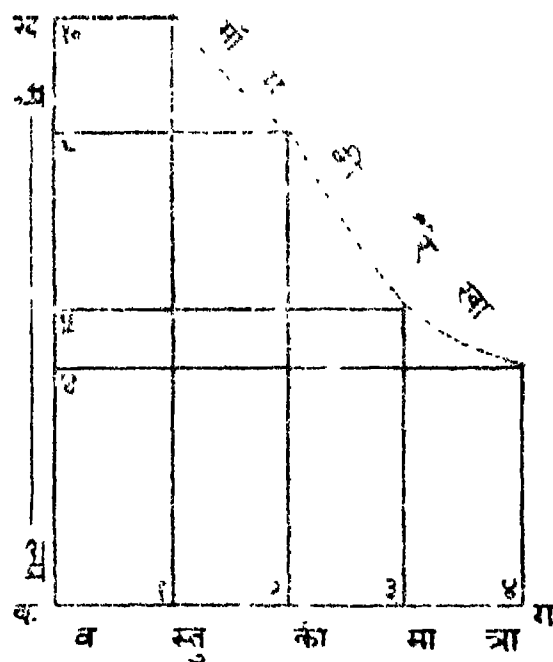
मांग का सिद्धात सार्वभौम नही है। निम्नांकित चार अवस्थाओं मे वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने पर भी वस्तुओं की मांग मे वृद्धि होती है : (क) भविष्य मे वस्तु की पूर्ति में कमी होने की संभावना की स्थिति मे, (ख) शान शौकत के प्रदर्शन के लिये, (ग) जीवनयापन के लिये वस्तु की अनिवार्यता के कारण तथा (घ) अज्ञानता के कारण।

मांग निम्नांकित तत्वों से प्रभावित होती है—(१) आय में परिवर्तन, (२) जनसंख्या मे परिवर्तन, (३) द्रव्य की मात्रा मे परिवर्तन, (४) धन के वितरण मे परिवर्तन, (५) व्यापार की स्थिति मे परिवर्तन (६) अन्य प्रतिस्पर्धी वस्तुओं के मूल्यों मे परिवर्तन, (७) रुचि तथा फैशन मे परिवर्तन और (८) ऋतुपरिवर्तन।

मूल्यपरिवर्तन के कारण होनेवाली मांग की मात्रा में परिवर्तन की माप को मांग की लोच कहते हैं। मांग की लोच वस्तु के प्रकार, उपभोक्ता की आय, वस्तु के मूल्यस्तर, आय के अंश का संबद्ध वस्तु

पर विनियोजन, वस्तु के प्रयोगों की मात्रा, स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि, वस्तु के उपभोग की स्थगन शक्ति, समाज में संपत्ति के वितरण, समाज के आर्थिक स्तर, संयुक्त माँग (Joint Demand) की स्थिति, तथा समय के प्रभाव पर निर्भर करती है।

माँग की लोच का अध्ययन उत्पादकों, राजस्व विभाग, एकाधिकारी उत्पादकों तथा संयुक्त उत्पादन (Joint Production) के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। माँग की लोच निकालने का प्रो० फ्लक्स का निम्नलिखित सिद्धांत विशेष व्यवहृत होता है :

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग में प्रति शत वृद्धि}}{\text{मूल्य में प्रति शत वृद्धि}}$$

[सु० पां०]

मांटेनिग्रो बालकन प्रायद्वीप (यूरोप) का एक छोटा राज्य। यह पहले सर्बिया के अधीन था पर १४वीं शती में स्वतंत्र राज्य बन गया। सन् १९१८ में इसे यूगोस्लाविया में संयुक्त कर दिया गया।

मांटेसरी, डा० मारिया (१८७०–१९५२ ई०) मांटेसरी शिक्षा पद्धति की प्रवर्तक एवं बालक की आवश्यकताओं और अधिकारों की महान् समर्थक डा० मारिया मांटेसरी का जन्म इटली के एक छोटे से शहर में हुआ था। इनके जन्म के थोड़े समय बाद ही इनके माता पिता रोम चले आए जहाँ इनकी शिक्षा प्रारंभ हुई। सन् १८९४ में रोम विश्वविद्यालय के चिकित्साशास्त्र की शिक्षा पूरी कर डाक्टर की उपाधि पानेवाली यह रोम की पहली महिला थी। इसके दो वर्ष पश्चात् एक राष्ट्रीय शिक्षा समेलन में इन्होंने 'मंद बुद्धि एवं संबंधित दोषों का शिक्षा द्वारा उपचार' विषय पर एक प्रभावशाली भाषण दिया जिसने लोगों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया। रोम के शिक्षा मंत्री ने इन्हें और भी व्याख्यान देने को आमंत्रित किया और तत्पश्चात् मंदबुद्धि बालकों के लिये शिक्षक तैयार करने का भार सौंपा। यह अवसर पाकर मांटेसरी ने स्वयं मंदबुद्धि बालकों की चिकित्सा का काम प्रारंभ किया और उनपर शैक्षिक प्रयोग भी किए। यह कार्य करते हुए उनका ध्यान डा० एडवर्ड सेग्विन नामक चिकित्सक मनोवैज्ञानिक की बनाई शिक्षण पद्धति की ओर गया जो ऐसे बालकों को सुधारने में काम आती थी। उन्होंने सेग्विन की शैक्षिक चिकित्सा तथा अन्य साहित्य का गहन अध्ययन किया और उनके संचालित स्कूलों को भी देखा। सेग्विन के द्वारा उनका परिचय फ्रांस की क्रांति के समय मंदबुद्धि बालकों की शिक्षा पर ध्यान देनेवाले डा० जे० एम० जी इटार्ड के साहित्य से भी हुआ। इन दोनों डाक्टरों के शिक्षा संबंधी विचारों से मांटेसरी ने लाभ उठाया और उनके आधार पर अपनी शिक्षणविधि का विकास किया।

इस प्रकार रोम में मंदबुद्धि बालकों की चिकित्सा एवं शिक्षा का कार्य करते हुए डा० मांटेसरी को यह विश्वास होने लगा कि यदि ऐसी वैज्ञानिक शिक्षापद्धति का प्रयोग सामान्य बुद्धि के बालकों पर हो तो वे कहीं अधिक लाभ उठाएँ। इस प्रयोग का सुअवसर भी उन्हें शीघ्र ही मिला जब 'डाइरेक्टर जनरल ऑव द रोमन एसोसिएशन फार गुड बिल्डिंग्स' ने उन्हें श्रमिकों के घरों के बीच बच्चों का स्कूल खोलने को आमंत्रित किया। ऐसा पहला स्कूल ६ जनवरी, १९०७ को सेन लोरेंजो नामक स्थान में 'बालगृह' नाम से खुला। इससे बालकों का बड़ा लाभ हुआ और मांटेसरी पद्धति का प्रचार होने लगा।

सन् १९२९ में अंतरराष्ट्रीय मांटेसरी संघ की स्थापना हुई और डा० मांटेसरी जीवन पर्यंत इसकी प्रधान बनी रहीं। नवंबर, १९३९ में डा० जी० एस० एरंडेल के निमंत्रण पर वे अपने भतीजे और दत्तक पुत्र मिस्टर मारिओ मांटेसरी के साथ भारत आईं। ये दोनों दस वर्ष भारत में रहे और अथक परिश्रम से मांटेसरी शिक्षा का प्रचार करते रहे। कई स्थानों पर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम आयोजित किए गए जिनसे न केवल भावी शिक्षकों ने वरन् अन्य लोगों ने भी लाभ उठाया। ऐडयार (मद्रास) में बेसेंट थियासॉफिकल स्कूल के माध्यमिक वर्गों में डा० मांटेसरी ने 'एडवांस्ड मांटेसरी पद्धति' का प्रयोग किया तथा इसके लिये भी कुछ शिक्षक तैयार किए।

मांटेसरी पद्धति के प्रतिपादनार्थ तथा शिक्षासुधार संबंधी अपने विचारों को प्रकट करने के हेतु डा० मांटेसरी ने कई छोटी बड़ी पुस्तकें लिखीं जिनमें से प्रमुख हैं 'द डिस्कवरी ऑव द चाइल्ड' 'द ऐबसॉर्बेंट माइंड', ३. 'द सीक्रेट ऑव चाइल्डहुड', ४. 'टु एजुकेट द ह्यूमन पोटेंशल', ५. 'एजुकेशन फार अ न्यू वर्ल्ड', ६. 'द चाइल्ड', ७. 'रिकंस्ट्रक्शन इन एजुकेशन', ८. 'पीस ऐंड एजुकेशन', ९. 'ह्वाट यू शुड नो एबाउट योर चाइल्ड'। अंतरराष्ट्रीय मांटेसरी संघ द्वारा प्रकाशित वार्षिक पत्रिका में भी उनके विचारों की अभिव्यक्ति होती रहती थी। [श० स०]

मांटेसरी पद्धति यह २½ से ६ वर्ष के बालकों के हेतु प्रयोग में लाई जानेवाली पद्धति है जिसका विकास बीसवीं सदी के प्रारंभ में डा० मारिया मांटेसरी द्वारा हुआ। रोम विश्वविद्यालय में मंदबुद्धि बालकों की चिकित्सा का कार्य करते हुए उनका ध्यान उक्त बालकों की शिक्षा की ओर भी गया और उन्होंने मांटेसरी पद्धति का विकास किया जो बाद में सामान्य बुद्धि बालकों की शिक्षा के लिये भी उपयोग में लाई गई। इस पद्धति पर चलाया जानेवाला पहला स्कूल अर्ध बर्बर श्रमिक बालकों के लिये सेन लोरेंजो में ६ जनवरी, १९०७ को खुला। १९१३ में रोम में प्रथम अंतरराष्ट्रीय मांटेसरी प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का आयोजन हुआ जिसमें अमरीका, अफ्रीका, भारत तथा कई यूरोपीय देशों के लोग संमिलित हुए। डा० मांटेसरी स्वयं अपने दत्तक पुत्र मारिओ मांटेसरी के साथ जीवन भर इसके प्रसार में लगी रहीं।

फ्रोएबेल के शिक्षादर्शन से दूर होते हुए भी मांटेसरी की शिक्षा के उद्देश्य एवं सिद्धांत फ्रोएबेल से मिलते जुलते हैं। फ्रोएबेल की भाँति उनका भी विश्वास था कि वही वास्तविक शिक्षा है जो जीवन की शक्तियों की अभिव्यक्ति कर सके। ऐसा कर सकने के हेतु शिक्षा को बालक की अंतर्प्रेरणाओं एवं निर्माणशक्तियों के अनुरूप होना होगा। शिक्षा का मूल सिद्धांत बालक के नैसर्गिक विकास में सहायक होना और उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। चिकित्साशास्त्र से संबंधित होने के कारण वे यह भी

मानती थीं कि शिक्षा को बच्चों के साधारण मानसिक एवं ऐंद्रिक दोषों, जैसे भीरुता, वाणीदोष आदि, के सुधार में भी सहायक होना चाहिए।

इस शिक्षा का पाठ्यक्रम मुख्यत: चार भागों में विभाजित है — कर्मेंद्रिय शिक्षण, ज्ञानेंद्रिय शिक्षण, भाषा, और गणित। कर्मेंद्रिय शिक्षण के अंदर कई प्रकार की 'व्यावहारिक जीवन की क्रियाएँ, जैसे पानी उड़ेलना, कुर्सी उठाना, बटन खोलना आदि, आती हैं, जिनकी संख्या एक सौ के लगभग है। यद्यपि हर क्रिया का अपना विशेष प्रयोजन भी है, इनका साधारण उद्देश्य है बालक को गतिनियंत्रण, मांसपेशियों का संचालन, तथा संतुलन सिखाना। इन क्रियाओं का दूसरा साधारण उद्देश्य है बच्चे को आत्मनिर्भर बनाकर सही अर्थ में स्वतंत्र बनाना। ज्ञानेंद्रिय शिक्षण के लिये कई शिक्षण यंत्र हैं जिनमें स्वयं भूल का नियंत्रण या सुधार होता है और जो बच्चे को स्वयं शिक्षा देनेवाले हैं। मांटेसरी के विचार में इस शिक्षा से न केवल ज्ञानेंद्रियाँ कुशाग्र होती हैं वरन् बालक को आत्मा संबंधी ज्ञान-प्राप्ति में भी सहायता मिलती है। यह विचार अतिशयोक्तिपूर्ण माना गया है। भाषाशिक्षण में पढ़ने से पूर्व या प्राय: साथ साथ लिखने की शिक्षा आती है जिसके लिये रेगमाल के और लकड़ी के कटे अक्षरों का प्रयोग होता है। लिखने की तैयारी उन क्रियाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से पहले ही हो जाती है जिनमें बालक अँगुलियों का विशेष प्रयोग करता है। 'चित्र कार्ड' द्वारा बालक पढ़ना आरंभ करता है। गणित शिक्षा के हेतु अंक सीढ़ियाँ 'नंबर कार्ड्स', मोतियों का सामान आदि कई साधन हैं जिनके द्वारा बच्चों को गिनती और सरल अंकगणित के बाद शनै: शनै: भिन्न, दशमलव और रेखागणित का भी कुछ ज्ञान कराया जाता है। बालक की आवश्यकताओं की दृष्टि से यह पाठ्यक्रम कुछ अपूर्ण सा है। इसमें बच्चे के शारीरिक तथा सामाजिक विकास, और उसकी कल्पनात्मक एवं रचनात्मक प्रवृत्तियों के लिये समुचित साधन नहीं हैं।

मांटेसरी पाठ्यक्रम की उपयोगिता उपर्युक्त अभावों के कारण कुछ कम हो जाती है। भारत में 'नूतन बालशिक्षण संघ' जैसी संस्थाओं ने इन अभावों की पूर्ति कर इस शिक्षा को अधिक लाभदायक बनाने का प्रयास किया है। इस शिक्षापद्धति की विशेष आलोचना किलपैट्रिक महोदय की पुस्तक 'मांटेसरी ऐग्ज़ामिंड' में हुई है। उनके अनुसार डा० मांटेसरी बालमनोविज्ञान के आधुनिकतम तथ्यों से पूर्ण परिचित नहीं थीं। पृथक् पृथक् बनावटी साधनों द्वारा प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय की शिक्षा अमनोवैज्ञानिक है। मांटेसरी शिक्षा के लाभ संबंधी डा० मांटेसरी के कुछ कथन अमान्य हैं, और उनके पाठ्यक्रम में कई बड़े अभाव हैं। किंतु दूसरी ओर बालोचित वातावरण, बालक की आत्मनिर्भरता तथा स्वानुशासन, और शिक्षक का चतुर सहायक जैसा होना इस प्रणाली के मान्य गुण हैं। व्यावहारिक जीवन की क्रियाएँ और कई शिक्षण यंत्र बहुत उपयोगी हैं। मांटेसरी का बाल शिक्षा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा बालक के प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति विशेष प्रशंसनीय हैं।

भारत में इस शिक्षा का प्रचलन अधिक है क्योंकि डा० मांटेसरी ने स्वयं भारत में दस वर्ष तक रहकर इसका प्रचार किया और १९४९ में उनके जाने के बाद से उनके व्यक्तिगत प्रतिनिधि उत्साहपूर्वक इस कार्य में संलग्न हैं। अधिकतर स्कूलों में आवश्यकता, रुचि, और समझ के अनुसार मांटेसरी पाठ्यक्रम में कुछ परिवर्तन और संशोधन किया हुआ पाया जाता है।

सं० ग्रं० — एम० ड्रैकबर्न : मांटेसरी ऐक्सपेरिमेंट्स; डब्ल्यू० एच० किलपैट्रिक : मांटेसरी ऐग्ज़ामिंड; ए० एम० जुस्टेन : द मांटेसरी मेथड, प्रिंसिपल्ज़, रिज़ल्ट्स ऐंड प्रैक्टिकल रिक्वायरमेंट्स। [म० स०]

मांडले १. जिला, स्थिति : २१° ४२' से २२° ४६' उ० अ० तथा ९५° ५४' से ९६° ४६' पू० दे०। यह उत्तरी बर्मा का जिला है। इसका क्षेत्रफल २,११५ वर्ग मील तथा जनसंख्या ४,०८,८२९ (१९४१) है। कृषियोग्य भूमि केवल इरावदी नदी की घाटी में है जो काँप मिट्टी द्वारा निर्मित है और इसका क्षेत्रफल लगभग ६०० वर्ग मील है। उत्तर और पूर्व में पहाड़ तथा पठार हैं जो भौगोलिक रूप से शान पठार के ही भाग हैं। इनका विस्तार लगभग १,५०० वर्ग मील में है। सर्वोच्च चोटी मैमयो (Maymyo) ४,७५३ फुट ऊँची है। यहाँ बाँस आदि के जंगल पाए जाते हैं। इस जिले में इरावदी और उसकी सहायक म्यितगे (Myitnge) तथा मडया नदियाँ बहती हैं। ७° सें० से ४३° सें० यहाँ का वार्षिक औसत ताप है। मैदानी भाग की जलवायु शुष्क एवं स्वास्थ्यप्रद है तथा औसत वार्षिक वर्षा ६० इंच होती है। पहाड़ी भागों में मुख्यत: हाथी, गवल एवं साँभर पाए जाते हैं। भूकनेवाला हरिण (gyi) प्राय: सभी जगह पाया जाता है। धान इस जिले की प्रधान फसल है। लेकिन गेहूँ, चना, तंबाकू और कई प्रकार की दालें भी उत्पन्न की जाती हैं। अभ्रक मुख्य खनिज है। इसके अतिरिक्त, माणिक्य, सीसा और निम्न कोटि का कोयला भी पाया जाता है।

रेशम के वस्त्र बुनना एक महत्वपूर्ण उद्योग है। इस जिले में कई पगोडा हैं, किंतु सूताउंग्बी (Sutaungbyi) सूतांग्ये (Sutaungye), शुई जयान (Shue Zayan) और श्वे मेल (Shwe Male) उल्लेखनीय हैं।

२. नगर, स्थिति : २२° ०' उ० अ० तथा ९६° ०' पू० दे०। यह स्वतंत्र बर्मा की भूतपूर्व राजधानी, मुख्य व्यापारिक नगर एवं गमनागमन का केंद्र है जो इरावदी नदी के बाएँ किनारे पर, रंगून से ३५० मील उत्तर में स्थित है। १८५६–५७ ई० में राजा मिंडान ने इसे बसाया था। नगर को बाढ़ से बचाने के लिये एक बाँध बनाया गया है। मांडले से बर्मा की सभी जगहों के लिये स्टीमर सेवाएँ हैं। रेल एवं सड़क मार्ग द्वारा यह रंगून से संबद्ध है। यहाँ की जनसंख्या २,१२,८७३ (१९६३) है, जिसमें अधिकांश बौद्ध धर्मावलंबी हैं। यहाँ का मुख्य पगोडा पयाग्यी या अराकान है जो राजमहल से चार मील दूर स्थित है। यहाँ का मुख्य बाजार जेग्यो है। यहाँ विश्वविद्यालय भी है।

नगर में बर्मियों के अतिरिक्त हिंदू, मुसलमान, यहूदी, चीनी, शान एवं अन्य जाति के लोग निवास करते हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय १ मई, १९४२ ई० को जापानियों ने इसपर अधिकार कर लिया था। उस समय राजप्रासाद की दीवारों के अतिरिक्त लगभग सभी इमारतें जल गई थीं। अत: जापानियों ने इसे 'जलते हुए खंडहरोंवाला नगर' कहा। [रा० प्र० सिं०]

मांडूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग की उपनिषद् है। प्रथम दस उपनिषदों में समाविष्ट केवल बारह मंत्रों की यह उपनिषद् उनमें आकार की दृष्टि से सब से छोटी है किंतु महत्व के विचार से इसका स्थान ऊँचा है, क्योंकि बिना वाग्विस्तार के आध्यात्मिक विद्या का नवनीत सूत्र रूप में इन मंत्रों में भर दिया गया है।

इस उपनिषद् में ॐ की मात्राओं की विलक्षण व्याख्या करके जीव और विश्व की ब्रह्म से उत्पत्ति और लय एवं तीनों का तादात्म्य अथवा अभेद प्रतिपादित हुआ है। कहा गया है कि विश्व में एवं भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों में तथा इनके परे भी जो नित्य तत्व सर्वत्र व्याप्त है वह ॐ कार है। यह सब ब्रह्म है और यह आत्मा भी ब्रह्म है।

आत्मा चतुष्पाद है अर्थात् उसकी अभिव्यक्ति की चार अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रत अवस्था की आत्मा को वैश्वानर कहते हैं, इसलिये कि इस रूप में सब नर एक योनि से दूसरी में जाते रहते हैं। इस अवस्था का जीवात्मा बहिर्मुखी होकर 'सप्तांगो' तथा इंद्रियादि १९ मुखों से स्थूल अर्थात् इंद्रियग्राह्य विषयों का रस लेता है। अतः वह बहिष्प्रज्ञ है। दूसरी तैजस नामक स्वप्नावस्था है जिसमें जीव अंतःप्रज्ञ होकर सप्तांगों और १९ मुखों से जाग्रत अवस्था की अनुभूतियों का मन के स्फुरण द्वारा बुद्धि पर पड़े हुए विभिन्न संस्कारों का शरीर के भीतर भोग करता है। तीसरी अवस्था सुषुप्ति अर्थात् प्रगाढ निद्रा की है जिसे चेतोमुख प्राज्ञ कहते हैं। इसमें कामनाओं तथा स्वप्नों का लय हो जाता है और जीवात्मा की स्थिति आनंदमय ज्ञान स्वरूप हो जाती है। इस अवस्थिति में वह सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और अंतर्यामी एवं समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और लय का कारण है।

परंतु इन तीनों अवस्थाओं के परे आत्मा का चतुर्थ पाद अर्थात् तुरीय अवस्था ही उसका सच्चा और अंतिम स्वरूप है जिसमें वह न अंतःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ, और न इन दोनों का संघात है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ और न अप्रज्ञ, वरन अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, शांत, शिव और अद्वैत है जहाँ जगत्, जीव और ब्रह्म के भेद रूपी प्रपंच का अस्तित्व नहीं है (मंत्र ७)।

ओंकार रूपी आत्मा का जो स्वरूप उसके चतुष्पाद की दृष्टि से इस प्रकार निष्पन्न होता है उसे ही ॐकार की मात्राओं के विचार से इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि ॐ की अकार मात्रा से वाणी का आरंभ होता है और अकार वाणी में व्याप्त भी है। सुषुप्ति स्थानीय प्राज्ञ ॐ कार की मकार मात्रा है जिसमें विश्व और तैजस के प्राज्ञ में लय होने की तरह अकार और उकार का लय होता है, एवं ॐ का उच्चारण दुहराते समय मकार के अकार उकार निकलते से प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह कि ॐकार जगत् की उत्पत्ति और लय का कारण है।

वैश्वानर, तैजस, और प्राज्ञ अवस्थाओं के सदृश त्रैमात्रिक ओंकार प्रपंच तथा पुनर्जन्म से आबद्ध है किंतु तुरीय की तरह अ-मात्र ॐ अव्यवहार्य आत्मा है जहाँ जीव, जगत् और आत्मा (ब्रह्म) के भेद का प्रपंच नहीं है और केवल अद्वैत शिव ही शिव रह जाता है।

[चं० ब० त्रि०]

मांतेस्पाँ फ्रांस्वा-अथेनी दि पार्देल्लाँ (१६४१–१७०७ ई०) मातमार्त के ड्यूक की पुत्री थी। १६६१ में वह महारानी (फ्रांस) की राजपरिचारिका या 'मेद इन वेटिंग' बनाई गई। १६६३ में मारक्विस द मांतेस्पाँ से उसका विवाह हुआ जिससे उसके दो संतानें हुईं। थोड़े समय बाद ही पति से उसका संबंधविच्छेद हो गया और उसके अनुपम सौंदर्य से आकृष्ट होकर १६६७ में सम्राट् लुई चौदहवें ने उसको अपनी प्रेयसी बना लिया और उससे उत्पन्न अपनी संतानों को १६७३ में औरस घोषित कर दिया। राजा से उत्पन्न इन बच्चों की शिक्षा के सुचारु संचालन के लिये मदाम मांतेस्पाँ ने मदाम मैंतेनाँ को शिक्षिका नियुक्त किया। कालांतर में मादाम मैंतेनाँ के सौंदर्य और आकर्षक व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर सम्राट् का रुझान उधर हो गया और १६८० के लगभग मदाम मांतेस्पाँ का स्थान ग्रहण कर वही राजप्रेयसी हो गई। जीवन की इन विषमताओं से दुखी होकर मांतेस्पाँ ने अपने को धर्म में लीन कर दिया।

[ह० च०]

मांधाता इक्ष्वाकुवंशीय नरेश युवनाश्व और गौरी का पुत्र, सौ राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों का कर्ता और (विष्णु०, ४।२।१९), दानवीर (महा०, अनु०, ७४।४, ८१।५), धर्मात्मा (पद्म० उ० ५७) चक्रवर्ती सम्राट् जो वैदिक अयोध्या नरेश मंधातृ (ऋ०१–११२।१३; ८–३९।८) से अभिन्न माना जाता है। यादव नरेश शशबिंदु की कन्या बिंदुमती इनकी पत्नी थीं जिनसे मुचकुंद, अंबरीष और पुरुकुत्स नामक तीन पुत्र और ५० कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं जो एक ही साथ सौभरि ऋषि से ब्याही गई थीं। पुत्रेष्टियज्ञ के हविर्युक्त मंत्रपूत जल को प्यास में भूल से पी लेने के कारण युवनाश्व को गर्भ रह गया जिसे ऋषियों ने उसका पेट फाड़कर निकाला। वह गर्भ एक पूर्ण बालक के रूप में उत्पन्न हुआ था जो इंद्र की अमृतस्राविणी तर्जनी उँगली चूसकर रहस्यात्मक ढंग से पला और बढ़ा। इंद्रपालित (इंद्र के यह कहने पर कि माता के स्तनों के अभाव में यह शिशु 'मेरे द्वारा धारण किया' अथवा पाला जायगा) होने के कारण उसका नाम मांधाता पड़ा। यह बालक आगे चलकर परम पराक्रमी हुआ और रावण समेत (भाग० ९।६।२९) अनेक योद्धाओं को इसने परास्त किया (वायु० ८८।८)। इसने विष्णु तथा उतथ्य से राजधर्म और वसुहोम से दंडनीति की शिक्षा ली थी। गर्वोन्मत्त होने पर यह लवणासुर द्वारा युद्ध में मारा गया।

[श्या० ति०]

मांसाहारी गण (Carnivora) मांसाहारी स्तनियों का गण है। इसके अंतर्गत सिंह, बाघ, चीता, पालतू कुत्ते एवं बिल्लियाँ, सील, लोमड़ी, लकड़बग्घा, रीछ आदि जीव आते हैं। इस गण के ११५ वंश वर्तमान हैं और वर्तमान वंश के लगभग दुगने वंश विलुप्त हो गए हैं। तृतीयक (Tertiary) युग के आरंभ में इस गण के जीवों की उत्पत्ति हुई, तब से अब तक ये अपना अस्तित्व बनाए रखने में पर्याप्त सफल रहे हैं। इस गण के प्राणी साहसी, बुद्धिमान् एवं सक्रिय होते हैं। इनके देखने और सूँघने की शक्ति तीव्र होती है। इनके चार रदनक

(canine) दाँत होते हैं, जो मांस फाड़ने के अनुकूल होते हैं। इस गण की अनेक जातियों की पादांगुलियाँ दृढ़ एवं तेज नखर (claw) से युक्त होती हैं। ये नखर शिकार को पकड़ने में सहायक होते हैं। मांसाहारी गण के प्राणी छोटे विज्ञा (weasel) से लेकर बड़े रीछ के आकार तक के होते हैं और इनका भार लगभग २० मन तक हो सकता है। ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड को छोड़कर संसार के प्रत्येक भाग में मांसाहारी गण के जीव पाए जाते हैं। ध्रुवीय लोमड़ी और रीछ ही केवल ऐसे स्थल स्तनी हैं, जो सुदूर उत्तर में पाए जाते हैं। जलसिंह (sea lion) उत्तर ध्रुवीय एवं दक्षिण ध्रुवीय समुद्र में पाए जाते हैं। गंध मार्जार (civet) उत्तरी एवं दक्षिणी अमरीका को छोड़कर सभी देशों में पाया जाता है। अफ्रीका में असली रीछ नहीं पाए जाते। पंडा को छोड़कर सभी रैकून (raccoon) अमरीका में ही पाए जाते हैं। यद्यपि कुछ मांसाहारी प्राणी मनुष्य और पालतू पशुओं को हानि पहुँचाते हैं, तथापि इनमें से अधिकांश समूरधारी (furry) और कृंतक भक्षक होने के कारण महत्वपूर्ण हैं। कृंतक (rodente) कृषि को हानि पहुँचाते हैं, पर मांसाहारी गण के अधिकांश प्राणी कृंतकों का भक्षण कर इनकी संख्यावृद्धि को रोकते हैं। इस गण के सभी प्राणी मांसाहारी ही हों, यह आवश्यक नहीं है। इस गण के कुछ प्राणी, जैसे अधिकतर रीछ, शाकाहारी होते हैं।

विशिष्ट लक्षण (Distinctive characters) — इस गण के प्राणियों को स्तनी वर्ग के अन्य गणों से अलग करने के लिये कोई एक विशेष लक्षण नहीं बताया जा सकता, किंतु संरचनात्मक लक्षणों के समूह द्वारा मांसाहारी गण के जीवों को अन्य गणों से पृथक् किया जाता है। ये लक्षणसमूह निम्नलिखित हैं : (१) प्रत्येक मांसाहारी के प्रत्येक पाद में चार पादांगुलियाँ होती हैं और प्रथम पादांगुलि, शेष पादांगुलियों की प्रतिरोध्य नहीं होती। अंगुलिपर्व में सुगठित नखर होते हैं, किंतु नख या खुर नहीं होते। (२) प्रत्येक कपोल पर स्पर्श नासा बाल (tactile vibrissae) के दो गुच्छे होते हैं, जो हिंस्र जंतुओं में पर्याप्त बड़े तथा वनस्पतिभक्षियों में छोटे होते हैं। (३) ऐसे सभी प्राणियों के पूँछ होती हैं। (४) जनन अंग और गुदा पृथक् पृथक् छिद्रों में खुलते हैं। (५) स्तन कभी भी पूर्णतः अंसीय (pectoral) नहीं होते। (६) मस्तिष्क अच्छे प्रकार से या साधारण सवलित (convoluted) होता है। (७) इनमें तीन प्रकार के दाँत होते हैं : कृंतक (incisors), रदनक तथा कपोल दाँत (cheek teeth) ऊपर और नीचे के जबड़ों में कृंतक दाँत होते हैं। इनमें मध्य के दाँत, अगल बगल के दाँतों से बड़े होते हैं। रदनक दाँत सदा बड़े होते हैं और दोनों जबड़ों में होते हैं। कपोल दाँत जड़दार होते हैं, किंतु ये दृढ़ स्थायी नहीं होते। (८) गर्भाशय दो भागों में बँटा रहता है और अपरा (placenta) अपाती (deciduate) होती है।

वर्गीकरण (Classification) — मांसाहारी गण के वर्तमान जीवों को दो उपगणों में विभक्त किया गया है : (१) फिसिपीडिया (Fissipedia) तथा (२) पिन्नीपीडिया (Pinnipidea)। उपर्युक्त दो जीवित उपगण जिस उपगण से निकले हैं, वह क्रव्यदंत (creodonta) है और इस उपगण के प्राणी तृतीयक कल्प के प्रारंभ में ही विलुप्त हो गए थे (देखें क्रव्यदंत)।

१. फिसिपीडिया — इस उपगण के प्राणी विलग्नांगुल होते हैं तथा इनके कपोल दाँत विभिन्न प्रकार के होते हैं। इस उपगण को दो अधिकुलों में विभक्त किया गया है : (१) आर्क्टोइडिया (Arctoidea) या कानोइडिया (Canoidea) तथा (२) एलुराइडिया (Aeluroidea) या फेलोइडिया (Feloidea)। आर्क्टोइडिया के अंतर्गत कुत्ता, भालू, रैकून तथा विज्ञा कुल आते हैं और एलुराइडिया के अंतर्गत बिल्ली, लकड़बग्घा, गंधमार्जार कुल आते हैं (देखें, कुत्ता, गंधमार्जार, चीता, बाघ, बिल्ली, भालू, सिंह)।

२. पिन्नीपीडिया — इस उपगण के प्राणियों के अग्र पाद छोटे होते हैं और सब पैर चप्पू के आकार के होते हैं। पश्चपदों की पहली और पाँचवीं पादांगुलियाँ शेषपादांगुलियों से लंबी होती हैं। कपोल दंत एक जैसे होते हैं। इस गण के अंतर्गत तीन कुल हैं . ओडोबीनिडी (Odobaenidae), फोसिडी (Phocidae) तथा ओटारिइडी (Otariidae)। ओडोबीनिडी के अंतर्गत वालरस, फोसिडी के अंतर्गत सील एवं ओटारिइडी के अंतर्गत जलसिंह तथा फरवाले सील आते हैं (देखें सील)।

मांसाहारी गण के जीवाश्म — आधुनिक मांसाहारी गण के सामान्य प्राणियों के जीवाश्मों के साथ साथ अनेक विलुप्त प्राणियों के जीवाश्म भी अत्यंत नूतन (Pleistocene) युग की चट्टानों में पाए गए हैं। सबसे प्राचीन मांसाहारी गण वह छोटा क्रिओडॉण्टा था जिसके जीवाश्म उत्तरी अमरीका के पुरानूतन (Palaeocene) युग के आरंभ की चट्टानों में पाए गए हैं। उत्तरी अमरीका में मध्यपुरानूतन युग की चट्टानों में मीआसिड (Miacid) गण के जीवों के जीवाश्म मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि उस काल में इस गण के जीव उत्पन्न हो गए थे। अफ्रीका की मध्यनूतन युग के आरंभ की चट्टानों और भारत की अतिनूतन (Pliocene) युग की चट्टानों से प्राप्त जीवाश्मों से ज्ञात होता है कि उस काल में अंतिम क्रिओडॉण्टा जीवित थे। क्रिओडॉण्टा और फिसिपीडिया दोनों गणों के संबंध संदेहयुक्त हैं, यद्यपि दोनों के अवशेष एक ही काल की चट्टानों में मिलते हैं। जलव्याघ्र के जीवाश्म मध्यनूतन युग की चट्टानों में मिलते हैं, जिनसे पता लगता है कि उनमें पिन्नीपीडिया गण के सभी लक्षण उपस्थित थे। जलव्याघ्र के पूर्वज के संबंध में कोई विशेष संकेत नहीं मिलते।

[सा० प०]

माइकेल आंजेलो बुआनारोत्ती (१४७५-१५३४) जन्मस्थान कास्तेल काप्रेसे, फ्लोरेंस के पास। रेनेसाँ युग का महान् मूर्तिशिल्पी और चित्रकार। माइकेल के पिता कास्तेल काप्रेसे गाँव के प्रमुख मैजिस्ट्रेट थे। वे चाहते थे कि उनका लड़का पढ़ लिखकर बुद्धिजीवी बने। लेकिन माइकेल आंजेलो ने घिरलादाइयो की तीन साल तक शागिर्दी कर मूर्तियाँ गढ़ना शुरू किया। कुछ ही दिनों में आस पास के धनवान् संग्राहकों से उसका परिचय हो गया। फलस्वरूप लोरेंजो द मेदिची ने माइकेल आंजेलो को अपने संरक्षण में ले लिया और उसे पाँच सौ दूकात वेतन देना तय हुआ। सन् १४९० में एक के बाद एक ऐसी घटनाएँ होती गईं कि माइकेल आंजेलो को फ्लोरेंस से भागना पड़ा। वह बोलोन्या के विद्वान् साहित्यिकों के साथ काव्यालोचना करने और घूमने में कुछ महीने व्यस्त रहा। साथ ही वह अपने काम में भी रत रहा। उसकी एक मूर्ति क्यूपिड (cupid)

मांसाहारी गण [(देखें पृष्ठ २१७–२१८)

सियार

गिद्ध तथा चित्तीदार लकड़बग्घा

गड्ढे पर बैठी स्याही

गड्ढे से छिपा बिज्जू

(प्रथम तीन चित्र अमरीकन म्यूजियम ऑव नेचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से प्राप्त)

मांसाहारी गण (देखें पृष्ठ २१७–२१८)

नेवले के बच्चे

लोमड़ी

भेड़ियों का जोड़ा

बर्फ़ पर बैठा, चीखता भेड़िया
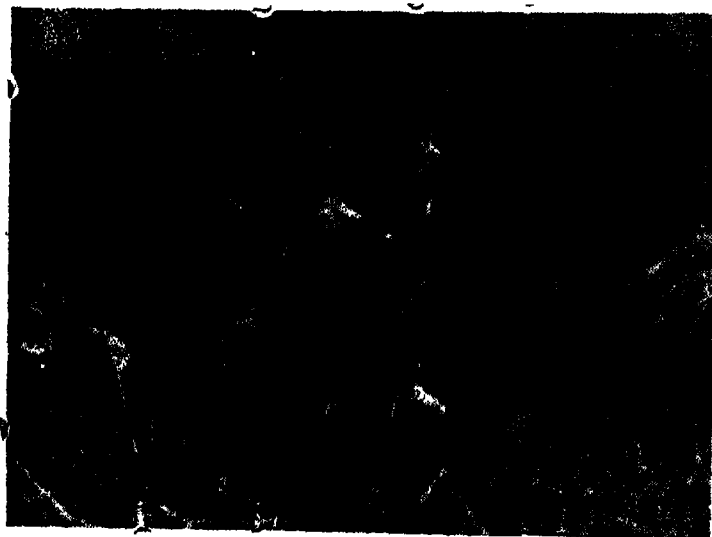
(नीचे के तीन चित्र अमरीकन म्यूज़ियम ऑव नेचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से प्राप्त)

जब रोम में बेची गई तो ग्रीक पुरातत्व के बहाने उसका अधिक दाम वसूल हुआ। परंतु जब पता चला कि यह किसी समकालीन युवक कलाकार का काम है तो माइकेल आंजेलो की रोम में बड़ी सराहना हुई और वहाँ से उसको बुलावा आया। यहीं से उसका रोम का रोमांटिक अध्याय शुरू हुआ।

सन् १५०५ मे पोप द्वितीय जूलियस के बुलाने पर माइकेल आंजेलो फ्लोरेंस से रोम आ पहुँचा। पोप की इच्छा थी कि उसके अंतिम विश्राम के लिये एक मकबरा बनाया जाय और उसे आंजेलो की मूर्तियों से मंडित किया जाय। संगमर्मर का संग्रह किया जाने लगा। इसी बीच माइकेल आंजेलो के प्रतिस्पर्धी ब्रामाते ने पोप के कान भर दिए और कहा 'अपने जीते जी अपनी समाधि बनवाना अशुभ है।' बस, पोप ने आंजेलो को प्रासाद से निकाल दिया। कुछ समय बाद पोप ने माइकेल आंजेलो को दुबारा रोम आने का आदेश दिया। अब मूर्तिकार माइकेल आंजेलो को सिस्टीन चैपल के गिर्जे में छत का चित्रण करने की कठोर आज्ञा हुई। इस बात मे भी ब्रामाते की ही शरारत थी। ब्रामाते ने मन मे सोच रखा था कि इस काम में माइकेल आंजेलो की पूरी बदनामी होगी और रोम राजधानी में उसका नामोनिशान तक नहीं रहेगा। आंजेलो ने इस महासंकट का उल्लेख अपनी डायरी मे किया है। "१५ मार्च, १५०८,—आज मैं माइकेल आंजेलो जो मूर्तिकार मात्र है, चर्च की छत चित्रित करने का कार्य कर रहा हूँ जो मेरी योग्यता के बाहर का काम है।" सिस्टीन चैपल की छत पर उसने अपना काम अकेले ही शुरू किया। चार साल तक अत्यंत मनोयोगपूर्वक उसने बायबल मे उक्त मानव इतिहास की कथाओं को चित्रित करने का महान् प्रयास किया। इस काम मे अनेक बाधाएँ सामने आईं। लेकिन आंजेलो की विदग्ध प्रतिभा और अटूट साहस ने इनपर विजय प्राप्त की। सन् १५१२ में यह विलक्षण चित्रशिल्प लोगों की दृष्टि मे पहले पहल आया।

सिस्टीन चैपल की छत और दीवारों का चित्रण नो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—(१) मानव का निर्माण, (२) प्रकाश और अंधकार का भगवान् द्वारा विभक्तीकरण, (३) पृथ्वी को भगवान् आशीर्वाद देते हैं, (४) आदम का निर्माण, (५) ईव्ह का निर्माण, (६) मोह और पतन, (७) नूह का बलिदान, (८) प्रलय, (९) नूह का नशा।

इस महान् कार्य के समुचित मूल्यांकन के पहले ही पोप की मृत्यु हो गई और परवर्ती पोप माइकेल आंजेलो को उसका पारिश्रमिक दे नहीं सका। तब वह फ्लोरेंस लौट आया। उसके संरक्षकों ने उसकी उचित कद्र नहीं की। फलत: वह इन सबसे छुटकारा पाने के लिये फ्लोरेंस मे प्रज्वलित क्रांति की आग मे कूद पड़ा (सन् १५२७)। लेकिन शीघ्र ही पोप की सेनाओं ने विद्रोही सेना को पराजित किया। माइकेल आंजेलो इस मारकाट मे सही सलामत रहा।

सन् १५३४ में फिर पोप तृतीय पाल ने उसे रोम बुलाया और आज्ञा दी कि सिस्टीन चैपल की प्रमुख दीवार पर शेष न्याय (last judgement) का चित्रण किया जाय। अब इकसठ साल की उसकी उम्र थी। वृद्धावस्था में जर्जरित शरीर लेकर उसने यह काम पाँच साल के अतिमानव प्रयास के बाद संपन्न किया। यह एक विशाल कल्पना का उदार चित्रण है। यह काम पूरा होते न होते पोप की दूसरी आज्ञा हुई कि वातिकन के संत पीतर के गुंबज का पुनर्गठन करने के लिये वह स्थापत्य अभिकल्पन करे। यह कार्य भी उसने बड़ी योग्यता और बड़े परिश्रम से किया।

अपने अंतिम दिनों में वह अत्यंत कष्टमय और एकाकी जीवन बिताता रहा। एक टुकड़ा रोटी और थोड़ी सी मदिरा ही उसकी खुराक थी। वसारी नामक इतालीय इतिहासकार जब उससे मिला, माइकेल आंजेलो ८८ साल का वृद्ध था। फिर भी काम करने की उसकी आग बुझी नहीं थी। वसारी कहता है: 'माइकेल आंजेलो निद्राहीन रात्रियों के मध्य में हथौड़ा और छेनी उठाकर मूर्तियों की सौंदर्यवृद्धि करने में जुटा रहता था। प्रकाश के लिये अपनी टोपी में मोमबत्ती खोंस लेता था। इस तरह वह दोनों हाथों को काम मे ला सकता था।' सन् १५६३ में उसकी मृत्यु हुई।

[दि० को०]

माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२४-१८७३) : बंगला के प्रख्यात कवि। बंगाल के केसर जिले के एक गाँव में उत्पन्न हुए। इनके पिता राजनारायण दत्त कलकत्ते के प्रसिद्ध वकील थे। १८३७ ई० में हिंदू कालेज मे प्रवेश किया। मधुसूदन दत्त अत्यंत कुशाग्र बुद्धि के विद्यार्थी थे। एक ईसाई युवती के प्रेमपाश मे बँधकर उन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिये १८४३ ई० में हिंदू कालेज छोड़ दिया। कालेज जीवन मे ही माइकेल मधुसूदन दत्त ने काव्यरचना आरंभ कर दी थी। हिंदू कालेज छोड़ने के पश्चात् वे बिशप कालेज मे प्रविष्ट हुए। इस समय इन्होंने कुछ फारसी कविताओं का अंग्रेजी मे अनुवाद किया। आर्थिक कठिनाइयों के कारण १८४८ मे उन्हें बिशप कालेज भी छोड़ना पड़ा। तत्पश्चात् वे मद्रास चले गए जहाँ उन्हें गंभीर साहित्यसाधना का अवसर मिला। पिता की मृत्यु के पश्चात् १८५५ मे वे कलकत्ता लौट आए। उन्होंने अपनी प्रथम पत्नी को तलाक देकर एक फ्रांसीसी महिला से विवाह किया। १८६२ ई० मे वे कानून के अध्ययन के लिये इंग्लैंड गए और १८६६ ई० मे वापस आए। तत्पश्चात् उन्होंने कलकत्ता के न्यायालय मे नौकरी कर ली।

१९वीं शती का उत्तरार्ध बँगला साहित्य मे प्राय: मधुसूदन-बंकिम युग कहा जाता है। माइकेल मधुसूदन दत्त बंगाल मे अपनी पीढ़ी के उन युवकों के प्रतिनिधि थे, जो तत्कालीन हिंदू समाज के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन से क्षुब्ध थे और जो पश्चिम की चकाचौंधपूर्ण जीवनपद्धति मे आत्माभिव्यक्ति और आत्मविकास की संभावनाएँ देखते थे। माइकेल अतिशय भावुक थे। यह भावुकता उनकी आरंभ की अंग्रेजी रचनाओं तथा बाद की बँगला रचनाओं में व्याप्त है। बँगला रचनाओं को भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से अधिक समृद्धि प्रदान करने के लिये उन्होंने अँगरेजी के साथ साथ अनेक यूरोपीय भाषाओं का गहन अध्ययन किया। संस्कृत तथा तेलुगु पर भी उनका अच्छा अधिकार था।

मधुसूदन दत्त ने अपने काव्य में सदैव भारतीय आख्यानों को चुना किंतु निर्वाह में यूरोपीय जामा पहनाया, जैसा 'मेघनाद

वध' काव्य (१८६१) से स्पष्ट है। 'वीरांगना काव्य' लैटिन कवि ओविद के हीरोइदीज की शैली में रचित अनूठी काव्यकृति है। 'व्रजांगना काव्य' में उन्होंने वैष्णव कवियों की शैली का अनुसरण किया। उन्होंने अंग्रेजी के मुक्तछंद और इतालवी सॉनेट का बँगला में प्रयोग किया। चतुर्दशपदी कवितावली उनके सानेटों का संग्रह है। 'हेक्टर वध' बँगला गद्य साहित्य में उनका उल्लेखनीय योगदान है।

माइकेल्सन, ऐल्बर्ट ऐब्रैहैम (१८५२-१९३१ ई०) अमरीकी भौतिकविज्ञानी एवं नोबेल पुरस्कार विजेता (१९०७ ई०) थे। इनका जन्म १९ दिसंबर, १८५२ ई० को जर्मनी के स्ट्रेल्नो (Strelno) नगर में हुआ, किंतु इनके माता पिता इनके जन्म के दो वर्ष पश्चात् सैन्फ्रैंसिस्को (संयुक्त राज्य, अमरीका) में आकर बस गए। इनकी शिक्षा सैन्फ्रैंसिस्को में हुई। १८७५ ई० में ये अमरीकी जलसेना ऐकेडेमी मे भौतिकी एवं रसायन के शिक्षक नियुक्त हुए और १८९२ ई० में शिकागो विश्वविद्यालय मे भौतिकी विभाग के अध्यक्ष हो गए।

जब ये क्लीवलैंड मे थे, तब इन्होंने १८८७ ई० में व्यतिकरणमापी (interferometer) का आविष्कार, प्रकाश के वेग पर पृथ्वी की गति का प्रभाव जानने के लिये, किया। इस यंत्र की सहायता से ये प्रकाशतरंगों के द्वारा दूरियों के ठीक मापन मे सफल हुए। मॉर्लि के साथ इन्होने पृथ्वी के वेग को प्रकाशवेग की सहायता से ज्ञात करने के लिये प्रयोग किए, जो माइकेल्सन-मॉर्लि प्रयोग के नाम से विख्यात हैं। माइकेल्सन ने कैडमियम प्रकाश के तरंगदैर्घ्य की सहायता से मीटर की लंबाई मापी। तारे के व्यास को मापने के लिये इन्होंने व्यतिकरणमापी का उपयोग १९१० ई० में किया। [भ० प्र०]

माइकेल्सन-मॉर्लि प्रयोग ए० ए० माइकेल्सन और ई० डब्ल्यू० मॉर्लि ने मिलकर ईथर मे घूमती हुई पृथ्वी का वेग ज्ञात करने का प्रयास इस पूर्वानुमान पर किया कि पृथ्वी के वेग का प्रभाव प्रकाश के वेग पर पड़ता है। माइकेल्सन और मॉर्लि प्रकाश के वेग पर पृथ्वी के वेग का कोई भी प्रभाव ज्ञात करने में असफल रहे। इन दोनों वैज्ञानिकों की असफलता ही आइंस्टाइन के आपेक्षिकता सिद्धांत (देखें आपेक्षिकता) की जन्मदात्री है। आपेक्षिकता सिद्धांत के लिये महत्वपूर्ण होने के कारण यह प्रयोग बार बार दोहराया गया।

इस प्रयोग मे माइकेल्सन ने स्वनिर्मित व्यतिकरणमापी (देखें व्यतिकरणमापी) का उपयोग किया था, जिसका रेखाचित्र आगे के स्तंभ मे दिया गया है। दाहिनी ओर से एक प्रकाशकिरण दर्पण पर आती है। $द_1$ दर्पण (अर्ध दर्पण) पर चाँदी का पतला स्तर होता है, जिससे केवल ५० प्रति शत प्रकाश परावर्तित होकर $द_2$ दर्पण की ओर जाता है और शेष ५० प्रति शत प्रकाश पारगमित होकर सीधा $द_3$ दर्पण पर आपतित होता है। $द_2$ तथा $द_3$ दर्पण एक दूसरे पर लंब होते हैं। प्रकाश की ये दो किरणपुंजे क्रमशः $द_2$ तथा $द_3$ दर्पणों से परावर्तित होकर पुनः $द_1$ दर्पण पर आपतित होती हैं और प्रेक्षक इन दोनों किरणों के द्वारा व्यतिकरण की धारियों (fringes) को एक साथ देख सकता है। यदि $द_1$ से $द_2$ और $द_3$ दर्पण समान दूरियों पर हों, तो इन धारियों में से केंद्रीय धारी चमकीली होती है। $द_2$ और $द_3$ दर्पणों के अंतरों में अत्यंत स्वल्प परिवर्तन भी हो, तो इन दो प्रकाशकिरणों में से एक को पहुँचने में समानुपाती स्वल्प विलंब होगा और केंद्रीय धारी स्वल्प मात्रा मे विचलित होगी। केंद्रीय
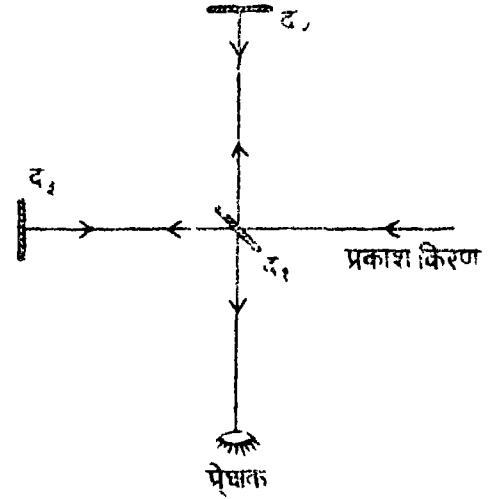
माइकेल्सन-मॉर्लि प्रयोग की व्यवस्था

$द_1$ अर्ध दर्पण तथा $द_2$ और $द_3$ पूर्ण दर्पण।

धारी के स्थान विचलन के मापन से इन दो किरणों के संचरण (propagation) के काल का अंतर ज्ञात हो सकता है। $द_1$ से $द_2$ और $द_3$ के अंतर यद्यपि ठीक ठीक समान हो, किंतु किसी कारण $द_1 द_2$ और $द_1 द_3$ परस्पर अभिलंब दिशाओं मे प्रकाश का वेग भिन्न होता हो, तो भी केंद्रीय धारी विस्थापित होगी और इस विस्थापन का मापन कर इन दो दिशाओ मे प्रकाश के वेग ज्ञात किए जा सकते हैं।

ईथर की परिकल्पना के अनुसार प्रकाश का वेग इन दो अभिलंब दिशाओ मे भिन्न होना स्वाभाविक तथा आवश्यक होना चाहिए। न्यूटनीय अंतरिक्ष एक स्वतंत्र सत्ता है और उसमे ईथर भरा हुआ है। यह ईथर स्थिर होता है। जब पृथ्वी इस स्थिर ईथर मे सूर्य की परिक्रमा करती है, तब 'ईथरवात' (ether wind) उत्पन्न होगा। हम कल्पना करेंगे कि 'ईथरवात' $द_1 द_3$ दिशा मे है (अर्थात् $द_1 द_3$ पृथ्वी का तल है) और उसका वेग व (v) है। यह व वेग वस्तुत: केवल पृथ्वी की सौर परिक्रमा का ही वेग नही रहेगा, किंतु पृथ्वी की सौर परिक्रमा का वेग, सौर मंडल का वेग, आकाशगंगा (जिसमे सौर मंडल है) का वेग इत्यादि सर्वसंभाव्य वेगों का परिणामी वेग होगा। $द_1 द_3$ दिशा में प्रकाशकिरण का प्रथम संचरण स + व (c+v) वेग से और लौटते समय संचरण स − व (c − v) वेग से होगा, जहाँ स (c) प्रकाश का वेग है। $द_1 द_2$ दिशा 'ईथरवात' से अभिलंब है। सरल गणना से यह सिद्ध किया जा सकता है कि $द_1 द_3$ दिशा मे प्रकाशकिरण को $द_1$ से $द_3$ तक जाकर पुनः $द_1$ तक लौटने के लिये

$$\frac{२ल_१}{स} \cdot \frac{१}{१-\frac{व^२}{स^२}} \left[\frac{2l_1}{c} \cdot \frac{1}{1-\frac{v^2}{c^2}} \right]$$ काल लगेगा, जहाँ $ल_१ (l_1)$

$द_१$ से $द_३$ की दूरी है। किंतु $द_१$ $द_२$ दिशा में प्रकाशकिरण $द_१$ से $द_२$ तक जाकर पुनः $द_१$ तक लौटने के लिये

$$\frac{२ ल_२}{स} \cdot \frac{१}{\sqrt{१-\frac{व^२}{स^२}}} \left[\frac{2 l_2}{c} \cdot \frac{1}{\sqrt{1-\frac{v^2}{c^2}}} \right]$$

काल लगेगा, जहाँ $ल_२$ (l_2), $द_१$ से $द_२$ की दूरी है। ये दोनों काल समान नहीं हैं, इसलिये केंद्रीय धारी विस्थापित होगी।

माइकेल्सन-मॉर्लि प्रयोग में केंद्रीय धारी का विस्थापन नहीं हुआ। यह संभव है कि 'ईथरवात' जैसा $द_१$ $द_३$ दिशा में समझा गया वैसा नहीं होगा, किंतु किसी अन्य दिशा मे होगा। इस शका का भी निरसन इस प्रयोग में हुआ। माइकेल्सन-मॉर्लि प्रयोग मे व्यतिकरणमापी एक शिला पर दृढ़ता से स्थापित था, जिसका पृष्ठ १५०×१५० सेंमी० और मोटाई ३० सेंमी० थी। लोहे के वृत्तीय हौदे मे पारा भरकर उसमें यह शिला रखी गई थी और शिला व्यतिकरणमापी सहित पारे मे तैर सकती थी। व्यतिकरणमापी को इस प्रकार तैरता रखने से दो लाभ थे: एक तो कंपनो से होने वाला उपद्रव नष्ट हो गया और दूसरा, प्रयोग करते समय व्यतिकरण-मापी को पूर्णतः घुमाना संभव हुआ। इस प्रकार व्यतिकरणमापी को घुमाते समय किसी एक क्षण पर $द_१$ $द_३$ दिशा 'ईथरवात' की दिशा मे और $द_१$ $द_२$ दिशा अभिलंब होगी। अतः प्रेक्षण करते समय व्यतिकरणमापी को घूर्णन दिया जाए, तो केंद्रीय धारी का विस्थापन क्रमशः कम अथवा अधिक होता रहेगा, अथवा दूसरे शब्दो मे केंद्रीय धारी का विशिष्ट अंतर मे दोलन होता रहेगा। प्रयोग को अधिक सवेदी बनाने के लिये, प्रकाश के पथो की वृद्धि की गई थी, जिसके लिये व्यतिकरण के पूर्व दर्पणों से प्रकाशकिरणों का बारबार परावर्तन किया गया था। आवश्यक सुधार तथा सावधानियाँ रखने पर भी केंद्रीय धारी का विस्थापन नहीं हुआ और जो कुछ अत्यंत स्वल्प मात्रा का विचलन प्राप्त हुआ वह प्रायोगिक त्रुटि के अतर्गत था। अत. 'ईथरवात' का अस्तित्व प्रमाणित नहीं हुआ।

माइकेल्सन-मॉर्लि प्रयोग की शृंखला के परिणामों को सक्षेप में इस तरह कह सकते हैं कि ईथर मे घूमती हुई पृथ्वी का वेग प्रकाश के वेग पर कोई प्रभाव नहीं डालता है, अतः प्रकाश के वेग की सहायता से पृथ्वी का वेग नही ज्ञात किया जा सकता।

[दे० र० भ०]

माइक्रोफोन (Microphone) ध्वनितरंग की ऊर्जा को समान कंपनिक अभिलक्षण की विद्युत् ऊर्जा में परिवर्तित करनेवाली ध्वनि-वैद्युत-युक्ति है। सन् १८७६ में ग्राहम बेल ने इस दिशा मे प्रथम सफल प्रयास कर विद्युच्चुंबकीय टेलीफोन प्रेषित्र (transmitter) का निर्माण किया। 'माइक्रोफोन' शब्द का प्रयोग ह्यूज (Hughes) द्वारा हुआ, जब सन् १८७८ में इन्होंने कार्बन माइक्रोफोन का निर्माण किया।

यद्यपि माइक्रोफोन का सबसे अधिक उपयोग टेलीफोन प्रेषित्र के रूप में ही होता है, तथापि आजकल केवल उन्हीं ध्वनि-वैद्युत-युक्तियों को माइक्रोफोन कहते हैं, जिनका उपयोग टेलीफोन सेट में नहीं होता। अंतर्जलीय ध्वनितरंगों को ग्रहण करनेवाले माइक्रोफोन को हाइड्रोफोन
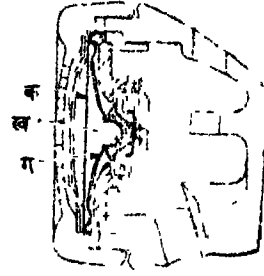
चित्र १. टेलीफोन का प्रेषित्र
(अनुप्रस्थ काट)
क. परदा (membrane), ख. कार्बन कणिकाएँ तथा
ग. सकूट तनुपट (ribbed diaphragm)।

कहते हैं। ऐसे यंत्र ठास पदार्थो मे चलनेवाली ध्वनितरंगों को पकड़ सकते हैं।

माइक्रोफोन का उपयोग टेलीफोन प्रेषित्र के अतिरिक्त श्रव्यसाधन, सार्वजनिक सभाओं तथा प्रसारण व्यवस्था, जैसे रेडियो, टेलीविजन, इत्यादि, मे होता है।

वर्गीकरण — माइक्रोफोन का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। वर्गीकरण का एक आधार यह है कि माइक्रोफोन द्वारा ध्वनि को विद्युत् में बदलते समय निर्गत (output) विद्युत् केवल निवेश (input) ध्वनि से ही व्युत्पन्न होती है, अथवा साथ मे प्रवर्धन भी होता है। यदि विद्युत् ऊर्जा केवल ध्वनि से ही व्युत्पन्न होती है, अर्थात् प्रवर्धन नही होता, तो माइक्रोफोन निष्क्रिय कहलाता है, परतु यदि प्रवर्धन भी होता है, तो माइक्रोफोन सक्रिय (active) कहलाता है। निष्क्रिय माइक्रोफोन का उपयोग उच्च स्तर की ध्वनि प्राप्त करने मे होता है, जैसे ध्वनि के अभिलेखन, प्रसारण एवं मापन मे। टेलीफोन मे सक्रिय माइक्रोफोन प्रयुक्त होता है।

जब विद्युत् ऊर्जा मे ध्वनितरंग की ऊर्जा का परिवर्तन होता है, तो माइक्रोफोन मे दो क्रियाएँ साथ साथ होती हैं। पहली क्रिया मे ध्वनितरंगें धातु की एक सतह से, जिसे तनुपट (diaphragm) कहते हैं, टकराती हैं। इस टकराव के कारण तनुपट आगे पीछे कपन करने लगता है।

दूसरी क्रिया मे, तनुपट की गति के कारण, विद्युत् परिपथ के कुछ गुणों में संगत परिवर्तन होता है, जैसे कार्बन कणों के बीच का प्रतिरोध बदलना, संधारित्र की धारिता मे परिवर्तन होना, अथवा चुंबकीय क्षेत्र मे कुडली का गतिशील होना इत्यादि। प्रत्येक दशा मे तनुपट की गति से निर्गत विद्युत् का मान बदलता है।

माइक्रोफोन पहले ध्वनिकंपन को यांत्रिक गति में, फिर यांत्रिक गति को विद्युत्तरंगो मे बदलता है। अतः माइक्रोफोन के कार्य को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है: (१) तनुपट की यांत्रिक गति, और (२) यांत्रिक गति का विद्युत्तरंग मे परिवर्तन। उपर्युक्त दोनों हो भाग माइक्रोफोन के वर्गीकरण के आधार बन सकते हैं।

प्रथम भाग के अनुसार माइक्रोफोन को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) दाब प्ररूप (Pressure type), (२) वेग प्ररूप (Velocity type), अथवा दोनों का संयुक्त प्ररूप। यदि माइक्रोफोन के तनुपट की केवल एक सतह से ध्वनितरंगें टकराती हैं, तो माइक्रोफोन को दाब प्रचालित (pressure operated) माइक्रोफोन कहते हैं, क्योंकि यहाँ पर तनुपट का विस्थापन ध्वनितरंग के दबाव के समानुपाती होता है। वेग माइक्रोफोन में ध्वनितरंगें तनुपट की दोनों सतहों से टकराती हैं।

तनुपट की यांत्रिक गति को विद्युत्तरंगों में बदलने के लिये अपनाई गई विभिन्न युक्तियों के अनुसार भी माइक्रोफोन के विभिन्न भेद होते हैं, जैसे कार्बन, संधारित्र, चल कुंडली, क्रिस्टल, रिबन, चुंबकीय विरूपण इत्यादि।

नीचे कुछ प्रमुख माइक्रोफोनों के सिद्धांतों की व्याख्या की गई है।

कार्बन माइक्रोफोन — सन् १८७८ में ह्यूज ने इसका निर्माण किया। एक छोटे से सेल (cell) में कार्बन के कण भरे रहते हैं। कक्ष की अगली और पिछली सतह कार्बन का पतला प्लेट होता है (चित्र १.)। जब कोई व्यक्ति मुखिका (mouthpiece) में बोलता है, तब तनुपट और सेल की अगली सतह कंपन करने लगती है, जिसकी वजह से कार्बन के कणों में क्रमश: संपीडन (compression) और विरलन (rarefaction) होने लगता है। इस तरह कार्बन कणों का प्रतिरोध बदलता रहता है और साथ ही साथ बैटरी की धारा भी बदलती रहती है। कार्बन माइक्रोफोन का उपयोग टेलीफोन में होता है। आजकल रेडियो प्रसारण में प्राय: द्विबटन कार्बन माइक्रोफोन का उपयोग होता है। इसमें तनुपट के दोनों तरफ कार्बन के कण होते हैं। इसके द्वारा ध्वनि का पुनरुत्पादन, एकल बटन कार्बन माइक्रोफोन की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होता है।

संधारित्र (Condenser) माइक्रोफोन — सन् १८८० में ए० ई० डेल्बियर (A. E. Delbear) ने इसकी कल्पना की एवं सन् १९१६ में ई० सी० वेंटे (E.C. Wente) ने इसे व्यावहारिक रूप दिया। इसमें तनुपट के समांतर एवं उससे एक इंच के हजारवें भाग की दूरी पर एक प्लेट जड़ा रहता है। तनुपट ही परिवर्ती संधारित्र (variable condenser) के एक प्लेट के रूप में कार्य करता है। संधारित्र श्रेणी क्रम में दिष्ट धारा के स्रोत एवं एक प्रतिरोधक से जुड़ा रहता है। आपतित ध्वनितरंगों के दबाव से तनुपट के गतिशील होने के कारण संधारित्र की धारिता बदलती रहती है। अत: विद्युद्धारा भी बदलती रहती है। इसका उपयोग ध्वनिमापन (sound measurement) एवं उच्च स्तर के ध्वनि अभिलेखन (sound recording) में होता है।
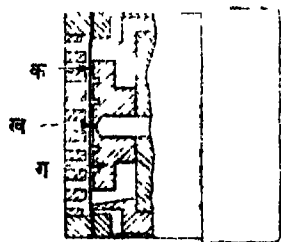
चित्र २. संधारित्र माइक्रोफोन

(अनुप्रस्थ काट)

क. तनुपट या डायाफ्राम,

ख. वायु विवर तथा

ग. पृष्ठ पट्ट।

क्रिस्टल माइक्रोफोन — क्रिस्टल माइक्रोफोन की क्रिया दाब-विद्युत् प्रभाव पर निर्भर करती है। इसमें रोशेल (Rochelle) लवण (सोडियम पोटैशियम टारट्रेट) का क्रिस्टल प्रयुक्त होता है, क्योंकि इसका दाब-विद्युत्-प्रभाव अधिक होता है। दो विपरीत ध्रुवित रोशेल लवण के क्रिस्टलों को जोड़कर 'बाइमॉर्फ' बनाते हैं। इस 'बाइमॉर्फ' (bimorph) का उपयोग कई तरह से किया जा सकता है। सीधे सक्रियित (direct activated) माइक्रोफोन में ध्वनितरंग क्रिस्टल पर ही गिरती हैं, परंतु तनुपट द्वारा सक्रियित (diaphragm activated) माइक्रोफोन में ध्वनि तरंगों का दबाव तनुपट पर पड़ता है, जो क्रिस्टल से जुड़ा रहता है। दूसरी प्रकार का माइक्रोफोन अधिक सुग्राही होता है। इसमें बाह्य विद्युद्धारा की आवश्यकता नहीं पड़ती, परंतु ताप बढ़ने पर इसकी सुग्राहिता में कमी आ जाती है।
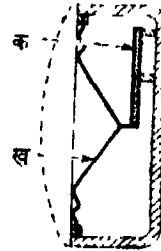
चित्र ३. क्रिस्टल माइक्रोफोन

(अनुप्रस्थ काट)

क. यमल क्रिस्टल तथा

ख. तनुपट।

सिरैमिक (Ceramic) माइक्रोफोन — सिरैमिक माइक्रोफोन में रोशेल लवण के स्थान पर ध्रुवित बेरियम टिटनेट प्रयुक्त होता है। इसकी सुग्राहिता कम होती है, परंतु अधिक ताप एवं आर्द्रता पर भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

गतिक (Dynamic) माइक्रोफोन — इसे चल कुंडली (moving coil) माइक्रोफोन भी कहते हैं। यदि कोई कुंडली (coil) किसी चुंबकीय क्षेत्र के आर पार गतिशील होती है, तो वह गति के क्रम में नियत दर से चुंबकीय बलरेखाओं को काटती है। फलस्वरूप चालक के सिरों के बीच एक विद्युद्वाहक बल उत्पन्न होता है, जिसके कारण चालक में विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। गतिक माइक्रोफोन में तनुपट के साथ एक कुंडली जुड़ी रहती है, जो ध्वनितरंगों के दबाव से चुंबकीय क्षेत्र में आगे पीछे घूमती रहती है। अत: कुंडली में विद्युद्धारा उत्पन्न होती है। गतिक माइक्रोफोन ध्वनि के अभिलेखन, प्रसारण इत्यादि में प्रयुक्त होते हैं। सार्वजनिक सभाओं में भी, विशेषकर जहाँ तेज आवाज की आवश्यकता होती है, गतिक माइक्रोफोन प्रयुक्त होते हैं।

रिबन (Ribbon) माइक्रोफोन — रिबन माइक्रोफोन, चलकुंडली माइक्रोफोन का ही एक रूप है, जिसमें धातु की एक पट्टी (ribbon) चुंबकीय क्षेत्र में लटका दी जाती है। प्राय: रिबन को स्थायी चुंबक के दोनों ध्रुवों के बीच लटकाते हैं। रिबन माइक्रोफोन का आविष्कार जर्मनी में डब्ल्यू० एच० स्कॉटकी (W. H. Schottky) एवं एर्विन गेरलाख (Erwin Gerlach) द्वारा सन् १९२३ में हुआ तथा सन् १९३१ में एच० एफ० ओस्लन (H. F. Oslan) ने इसे इसका आधुनिक रूप दिया।

यदि रिबन की केवल सतह पर ध्वनितरंगें पड़ती हैं, तो यह दबाव (pressure) माइक्रोफोन हो जाता है तथा इसकी अनुक्रिया

(response) सार्वदिशिक (omnidirectional) होती है। परंतु यदि ध्वनितरंगें रिबन की दोनों सतहों पर पड़ती हैं, तो द्विदिशात्मक
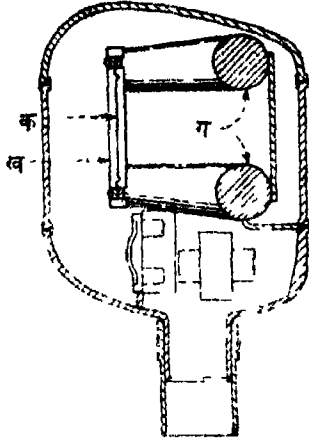
चित्र ४. पट्टीदार (Ribbon) माइक्रोफोन
(अनुप्रस्थ काट)
क. पट्टी या रिबन, ख. ध्रुव पट्ट तथा
ग. चुंबक।

(bidirectional) अनुक्रिया होती है। दोनों तरह के रिबन माइक्रोफोनों को जोड़कर एकदिशात्मक (unidirectional) अभिलक्षण पाया जा सकता है।

रिबन माइक्रोफोन का उपयोग प्रसार एवं ध्वनिमापन में होता है।

चुंबकीय (Magnetic) माइक्रोफोन — यह माइक्रोफोन का आदिरूप है। सर्वप्रथम सन् १८७६ में ग्राहम बेल ने इसका निर्माण किया था। इसमें एक तनुपट होता है, जो आर्मेचर से जुड़ा रहता है। विद्युत्चुंबक के चुंबकीय क्षेत्र में आर्मेचर की गति से
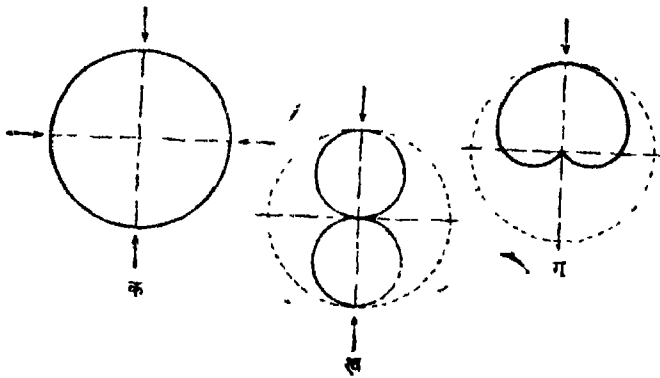
चित्र ५ माइक्रोफोन की दिशात्मक विशेषताएँ
क. सार्वदिशात्मक, ख. द्विदिशात्मक तथा ग. एक दिशात्मक।

चुंबकीय परिपथ का प्रतिरोध बदलने के कारण कुंडली मे विद्युद्विभव उत्पन्न होता है। कार्बन, संधारित्र, गतिक अथवा रिबन माइक्रोफोन की अपेक्षा निम्न स्तर का होने के कारण चुंबकीय माइक्रोफोन का उपयोग अधिक नहीं होता। ऐसे स्थानों पर जहाँ कम वजन, तीव्र ध्वनि एवं अधिक सुग्राहकता की आवश्यकता होती है, जैसे मिलिटरी अथवा अन्य साधन में, वहाँ चुंबकीय माइक्रोफोन का परिवर्तित (modified) रूप प्रयुक्त होता है।

एकदिशात्मक (Unidirectional) एवं बहुदिशात्मक (Polydirectional) माइक्रोफोन — अवांछित शोर एवं प्रतिध्वनि कम करने में एकदिशात्मक अभिलक्षणवाला माइक्रोफोन उपयोगी होता है। ऐसा माइक्रोफोन एक द्विदिशात्मक अभिलक्षण एवं एक अदिशात्मक (nondirectionl) अभिलक्षणवाले माइक्रोफोनों को संयुक्त कर बनाया जाता है। वेग माइक्रोफोन (Velocity microphone) को रिबन दबाव माइक्रोफोन अथवा गतिक दबाव माइक्रोफोन के साथ संयुक्त कर एकदिशात्मक अभिलक्षण का माइक्रोफोन बनाया जाता है।

एक या कई माइक्रोफोन अवयवों को ध्वानिकी-कला-विस्थापक (acoustical phase shifting network) से संयुक्त करके भी एकदिशात्मक अभिलक्षण का माइक्रोफोन बनाया जाता है। ऐसे माइक्रोफोन का उपयोग ध्वनि के अभिलेखन, प्रसारण एवं सार्वजनिक सभाओं में होता है।

सन् १९३५ में एच० जे० वॉन ब्रानमुल (H. J. Von Braunmuhl) एवं डब्ल्यू० वेबर (W. Weber) ने एक छिछले एवं छिद्रित केस (perforated casing) के दो विपरीत पार्श्वों (opposite sides) पर प्लास्टिक की झिल्ली लगाकर संधारित्र माइक्रोफोन की संरचना की। झिल्लियों का उचित ढंग से विद्युत् संबंध करके अदिशात्मक अथवा एकदिशात्मक माइक्रोफोन प्राप्त किया जा सकता है।

बहुदिशात्मक अभिलक्षण का माइक्रोफोन भी माइक्रोफोनो का उचित ढंग से संयोजन करके प्राप्त किया जा सकता है।

प्रवर्धक (Amplifier) — आधुनिक तकनीक की सहायता से किसी भी श्रव्यता के पराम के लिये माइक्रोफोन प्रवर्धक बनाना संभव हो गया है। आयाम विकृति (amplitude distortion) के लिये ऋणात्मक पुनर्निविष्ट (feedback) एवं आवृत्ति की विकृति को कम करने के लिये प्रतिरोधक संधारित्र युग्मन (Resistance Capacitance Coupling) का उपयोग होता है। यद्यपि पहले केवल इलेक्ट्रॉन ट्यूबो के ही प्रवर्धक बनाए जाते थे, तथापि अब छोटे आकार, विद्युदूर्जा के कम व्यय इत्यादि कारणों से प्रवर्धक का कार्य ट्रांजिस्टरों से भी लिया जाता है (देखें प्रवर्धक)।

माइक्रोफोन की क्रिया का परीक्षण (Performance Testing) — माइक्रोफोन का परीक्षण, श्रवण परीक्षण (listening test) अथवा ध्वनिक मापन (acoustic measurement) द्वारा विशेषज्ञ से कराया जाता है। माइक्रोफोन का परीक्षण एक मानक (standard) से तुलना परीक्षण (comparison test) द्वारा किया जाता है, परंतु यह निश्चित नही है कि परीक्षण की परिस्थिति से भिन्न परिस्थितियों में भी परीक्षण वैध होगा अथवा नहीं। प्रायः एक लघु संधारित्र माइक्रोफोन मानक माइक्रोफोन के रूप में प्रयुक्त होता है। [भू० ना० नि०]

माए, निकोलस संसारप्रसिद्ध डच चित्रकार रेब्रां का शिष्य (१६४८) था। १६६५ तक रेब्रां की शैली में ही वह व्यक्तिचित्र (पोर्ट्रेट) तथा दृश्य बनाता रहा। १६६५-६६ में वह ऐंटवर्प गया। वहाँ उसपर फ्लेमिश कला का प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को उसने इन व्यक्तियों की आकृतियों मे भी दर्शाया। उसके चित्र ऐम्सटर्डम, ऐंटवर्प, बोस्टन, ब्रुसेल्स, वाशिंगटन की कलावीथियों इत्यादि स्थानों मे देखे जा सकते हैं। [रा० चं० शु०]

माकार्ट हांस (१८४०-१८८४) १९वीं शताब्दी के इस सर्वश्रेष्ठ चित्रकार का जन्म साल्जबर्ग मे हुआ था। जब इसने वियना कला अकादमी में प्रवेश किया, जर्मन कला का बौद्धिक स्तर ऊँचा था, फिर भी वहाँ अकादमी कला का ही प्रचलन था। रंगों की तीव्र भावासक्ति के कारण माकार्ट वियना छोड़कर म्यूनिख में दो साल रहा। कला पथदर्शक पाइलॉटी का ध्यान भी उसके चित्रों की ओर गया। अपनी कृतियों में आलंकारिक शैली को उसने अपनाया। वियना के राजा ने उसका 'रोमियो जूलिएट' शीर्षक चित्र खरीदकर उसे वियना आने के लिये निमंत्रित किया। फिर तो वियेना के कलाजगत् मे वह अग्रणी माना जाने लगा। उसके विशाल चित्रों के रंग आह्लाददायी थे और रंगों की चमक में एक मोहक शक्ति थी। किंतु सस्ते रंगों का उपयोग करने से उसकी कृतियाँ नष्ट हो गई हैं. वियेना, बर्लिन, हबर्ग और स्टटगार्ट की आर्ट गेलरियों में उसकी कृतियाँ सुरक्षित हैं। उसके कई प्रसिद्ध चित्रों में 'क्लिओपेट्रा का अंत' भी एक है। [भा० स०]

माक्सिमिलियन प्रथम (१४५९-१५१९) अंतिम रोमन सम्राट् और फ्रेडेरिक तृतीय का पुत्र था, जिसका जन्म २२ मार्च, १४५९ को आस्ट्रिया मे हुआ। वह महान् खेलाडी था और विविध भाषाओं, कला और विज्ञान के क्षेत्र में भी उसकी अच्छी पहुँच थी। १८ अगस्त, १४७७ को उसकी शादी मेरी से हुई जो बरगंडी के ड्यूक चार्ल्स की पुत्री और उसकी उत्तराधिकारिणी थी। इस शादी के द्वारा माक्सिमिलियन को बरगंडी का प्रदेश मिला। इसके पौत्र फर्डीनेंड की शादी हंगरी और बोहेमिया की रानी के साथ होने के कारण वह प्रदेश भी इसे मिल गया। यह सारे प्रदेश हैप्सबर्ग राज्य में मिला दिए गए। इस प्रकार हैप्सबर्ग राज्य के प्रभुत्व मे पूर्वी अंचल के तीन विस्तृत प्रदेश जुड गए।

माक्सिमिलियन ने रोमन साम्राज्य के प्रशासन का पुनर्गठन करने के लिये अथक प्रयत्न किया और उसमें उसे आशातीत सफलता मिली। उसने अपने प्रशासन में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए जिसके कारण उसने महान् लोकप्रियता प्राप्त की। १२ जनवरी, १५१९ को अपर आस्ट्रिया के वेल्स स्थान पर उसकी मृत्यु हो गई।

माक्सिमिलियन अनेक व्यक्तिगत गुणों से संपन्न था। वह स्वभाव का सरल और रुचि का उदार था। वह एक जन्मजात बहादुर और निर्भीक शिकारी था। अपने मधुर स्वभाव के कारण उसने आजीवन किसी को शत्रु नही बनाया। उसने विएना विश्वविद्यालय का पुनर्गठन किया और अन्य विश्वविद्यालयों के विकास को प्रोत्साहित किया। एक लेखक के रूप में 'सैनिक सुधार' नामक उसकी पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है। चार्ल्स पंचम के विस्तृत साम्राज्य के मार्ग को प्रशस्त करने का श्रेय माक्सिमिलियन के सुयोग्य प्रशासन को ही प्राप्त है। [स० वि०]

माखाचकाला (Makhachkala) कैस्पियन सागर पर स्थित रूस के दगेस्तान नामक प्रांत की राजधानी, महत्वपूर्ण नगर एवं बंदरगाह है। सन् १८५७ में इसका नाम पेट्रोवस्क (Petrovsk) था, जो सन् १९२१ में बदलकर माखाचकाला हो गया। तभी से यह दगेस्तान की राजधानी भी है। यह प्रांत का व्यापारिक एवं औद्योगिक केंद्र है। यहाँ पर खनिज तेल साफ करने के अनेक कारखाने हैं, जो ग्रोज़िनी तेल क्षेत्र से संबंधित हैं। यह नगर सूती, ऊनी कपडे बनाने एवं वायुयान निर्माण के लिये भी प्रसिद्ध है। यहाँ की जनसंख्या १,४०,००० (१९६३) है। [म० ना० सि०]

मागधी यह उस प्राकृत का नाम है जो प्राचीन काल में मगध (दक्षिण बिहार) प्रदेश मे प्रचलित थी। इस भाषा के उल्लेख महावीर और बुद्ध के काल से मिलते हैं। जैन आगमों के अनुसार तीर्थंकर महावीर का उपदेश इसी भाषा अथवा उसी के रूपांतर अर्ध-मागधी प्राकृत मे होता था। पालि त्रिपिटक में भी भगवान् बुद्ध के उपदेशों की भाषा को मागधी कहा गया है।

प्राकृत व्याकरणों के अनुसार मागधी प्राकृत के तीन विशेष लक्षण थे—(१) र के स्थान पर ल् का उच्चारण, जैसे राजा > लाजा; (२) स् श् ष् इन तीनों के स्थान पर श् का उच्चारण, जैसे पुरुष > पुलिश, दासी > दाशी, यासि > याशि; (३) अकारांत शब्दों के कर्ताकारक एकवचन की विभक्ति 'ए', जैसे नरः > नले।

सम्राट् अशोक की पूर्वीय प्रदेशवर्ती कालसी और जौगढ़ की धर्मलिपियों में पूर्वोक्त तीन लक्षणों मे से प्रथम और तृतीय ये दो लक्षण प्रचुरता से पाए जाते हैं, किंतु दूसरा नही। जैनागमों में तीसरी प्रवृत्ति बहुलता से पाई जाती है, तथा प्रथम प्रवृत्ति अल्प मात्रा मे; दूसरी प्रवृत्ति यहाँ भी नही है। इसी कारण विद्वान् अशोक की पूर्व प्रादेशीय लिपियों की भाषा को जैन आगमों के समान अर्ध-मागधी मानने के पक्ष में हैं। कुछ प्राचीन लेखों में, जैसे रामगढ़ पर्वतश्रेणी की जोगीमारा गुफा के लेख में, मागधी की उक्त तीनों प्रवृत्तियाँ पर्याप्त रूप से पाई जाती हैं। किंतु जिस पालि त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध के उपदेशों की भाषा को मागधी कहा गया है, उन ग्रंथों में स्वयं कुछ अपवादों को छोडकर मागधी के उक्त तीन लक्षणों में से कोई भी नहीं मिलता। इसीलिये पालि ग्रंथों की आधारभूत भाषा को मागधी न मानकर शौरसेनी मानने की ओर विद्वानों का झुकाव है।

मागधी प्रा० में लिखा हुआ कोई स्वतंत्र साहित्य उपलब्ध नही है, किंतु खंडश: उसके उदाहरण हमें प्रा० व्याकरणों एवं संस्कृत नाटकों जैसे शकुंतला, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक आदि में मिलते हैं। भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार गंगासागर अर्थात् गंगा से लेकर समुद्र तक के पूर्वीय प्रदेशों मे एकारबहुल भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा है कि राजाओं के अंतःपुर निवासी मागधी बोलें, तथा राजपुत्र सेठ चेट अर्धमागधी। मृच्छकटिक मे शकार, वसंतसेना और चारुदत्त इन तीनों के चेटक, तथा संवाहक, भिक्षु और चारुदत्त का पुत्र ये छह पात्र मागधी बोलते हैं।

सं० ग्रं० — पिशल कृत ग्रंथ का हिंदी अनुवाद—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण; दिनेशचंद्र सरकार : ग्रामर ऑव दि प्राकृत लैंग्वेज; वूलनर : इंट्रोडक्शन टु प्राकृत। [ही० ला० जै०]

माडखोलकर, गजानन त्र्यंबक मराठी उपन्यासकार, आलोचक तथा पत्रकार; जन्म २८ दिसंबर, १८९९ को बंबई में हुआ। आपने प्रारंभ में रवि-किरण-मंडल नामक कविसमक के सदस्य के नाते काव्यलेखन प्रारंभ किया। बाद में आलोचक के नाते अधिक ख्याति प्राप्त की। १९३३ में आपने 'मुक्तात्मा' नामक उपन्यास लिखकर मराठी में राजनीतिक उपन्यास लेखन की प्रथा प्रारंभ की। बाद में कई उपन्यास आपने लिखे जिनमें रूढ़ नैतिकता और सामाजिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह का द्वंद्व बहुत तीव्र रूप से व्यक्त हुआ है।

माडखोलकर अपनी काव्यमयी भाषाशैली के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। कुछ आलोचकों ने उनकी कथात्मक रचनाओं में स्त्री-पुरुष-संबंधों की स्पष्ट व्याख्या को श्लीलता की मर्यादा से परे बताया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के ज्ञाता और अभिजात रसवादी होने पर भी वे आधुनिकता को सहानुभूति से देखते थे। मराठी भाषा तथा साहित्य में पिछली पीढ़ी की औपन्यासिक त्रयी में फड़के-खांडेकर के साथ आपका नाम आदर से लिया जाता है। आपकी कई रचनाओं के अनुवाद हिंदी, गुजराती आदि भाषाओं में भी हुए हैं।

माडखोलकर के सब प्रकाशित ग्रंथ ३४ हैं। प्रमुख कृतियाँ हैं — समालोचनात्मक : 'विष्णु कृष्ण चिपलूणकर' (१९२३); 'वाङ्मयविलास' (१९३७); उपन्यास : 'मुक्तात्मा' (१९३३); 'भाप' (१९३६); 'भंगलेले देऊळ' (भग्न मंदिर, हिंदी मे अनुवादित); 'दुहेरी जीवन' (दुहरा जीवन १९४२ मे सरकार द्वारा जब्त); 'प्रमद्वरा', 'डाक बंगला', 'चंदनवाडी' (१९४३); 'एका निर्वासिताची कहाणी' (एक शरणार्थी की कहानी, १९४९), अनघा इत्यादि। प्रवास वर्णन : 'दक्षिणेश्वर' 'माझा अमेरिकेचा प्रवास'; कहानी संग्रह : 'शुक्राचे चांदणे' (शुक्र की चाँदनी) इत्यादि। [प्र० मा०]

माडियरा (Madeira) स्थिति : ३२° ४०′ उ० अ० तथा १६° ४५′ प० दे०। अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी तट से ३४० मील दूर स्थित द्वीपों का समूह है। यह पुर्तगाल के अधिकार मे उसके एक राज्य के रूप मे है। द्वीपसमूह में सात द्वीप प्रमुख हैं। इनका कुल क्षेत्रफल ३१५ वर्ग मील है, जिनमें सबसे बड़ा माडियरा द्वीप है। इसकी जनसंख्या २,६६,७६६ (१९५०) है। माडियरा द्वीप, ज्वालामुखी पर्वत के कारण निर्मित होने से, ऊबड़ खाबड़ धरातल वाला है। सागरतल से इसकी औसत ऊँचाई ४,००० फुट है। जलवायु स्वास्थ्यप्रद तथा औसत वार्षिक वर्षा २६ इंच है। यहाँ की राजधानी फुंशाल (Funchal) है। यहाँ खाद्यान्न, अंगूर, गन्ना, खट्टे फल, केला एवं सब्जियों का उत्पादन किया जाता है। शक्कर एवं शराब बनाना प्रमुख उद्योग हैं। [म० ना० नि०]

मॉडेना (Modena) १. प्रांत, यह इटली का प्रांत है। इसका क्षेत्रफल १,०४२ वर्ग मील है तथा इसमे ४६ विभाग (कम्यून) हैं। इसका आधा भाग मैदानी तथा शेष पहाड़ी है। कृषि प्रमुख उद्योग है जिसमें गेहूँ, मक्का, चुकंदर, पटुवा, सब्जियाँ, अंगूर, फल, चेस्टनट आदि का उत्पादन होता है। कच्चा रेशम बनाने एवं पशुपालन का काम भी होता है।

२. नगर, स्थिति : ४४° ४०′ उ० अ० तथा १०° ५५′ पू० दे०। इटली के मॉडेना प्रांत की राजधानी है, जो सागरतल से ११० फुट की ऊँचाई पर, बोलोन्या नगर से २५ मील उत्तर-पश्चिम स्थित है। इसके पश्चिम में सेक्चिया तथा पूर्व में पनारो नदियाँ बहती हैं। यहाँ का रोमन गिरजाघर, २८२ फुट ऊँचा घंटाघर, महल, टाउनहाल, तथा अजायबघर दर्शनीय हैं। यहाँ विश्वविद्यालय भी है। इसकी जनसंख्या १,१२,७६० (१९४७) है। [म० ना० नि०]

माड्रिड १. प्रांत, यह यूरोप में स्पेन राष्ट्र का एक प्रांत है जिसका क्षेत्रफल ३,०९० वर्ग मील तथा जनसंख्या २६,०६,५२४ (१९६०) है। इसके पूर्व एवं दक्षिण में न्यूकैस्टील तथा उत्तर-पश्चिम में ओल्ड कैस्टील स्थित है। जारामा यहाँ की प्रमुख नदी है। धरातल ऊँचा नीचा है। अधिकांश भाग मे चरागाह हैं, किंतु फिर भी गेहूँ, अंगूर आदि की कृषि होती है।

२. नगर, स्थिति : ४०° २४′ उ० अ० तथा ३° ४१′ प० दे०। यह स्पेन प्रायद्वीप के मध्य सागरतल से २,१३० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह माड्रिड प्रांत और देश दोनों की राजधानी एवं सबसे बड़ा नगर है। पुराने नगर की पश्चिमी एवं दक्षिणी सीमा के पास से होकर मेजानारेस नदी बहती है। यहाँ की जलवायु महाद्वीपीय है। सर्दियों मे ताप १२° सें० तथा गरमियों मे लगभग ४०° सें० तक हो जाता है और वर्षा का वार्षिक औसत १७ इंच रहता है। यह सड़कों का केंद्र है। माड्रिड शिक्षा एवं संस्कृति की दृष्टि से विश्व मे काफी प्रसिद्ध है। नगर में ट्रामें एवं बसें चलती हैं। यहाँ का प्लाज़ा अल्काला चौराहा, नैशनल असेंबली, प्लाज़ा मेयर, प्राचीन विश्वविद्यालय, सैन इसिड्रो, सैन जाइंस, सैन ऐंड्रेस, रॉयल पैलेस, अवर लेडी कैथेड्रल, प्रेडो पुरातत्वशाला, नैशनल पुस्तकालय आदि दर्शनीय हैं। इसकी जनसंख्या २२,५९,९३१ (१९६१) है। [म० ना० नि०]

माणिक्कवाचगर प्रसिद्ध नालवारों में एक; माणिक्कवाचगर का जन्म तीसरी शती में तिरुवत्तवूर के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पाड्य राजा ने उनकी विशद विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें 'तेन्नवन ब्रह्मायॅन' की उपाधि से विभूषित कर मंत्री नियुक्त किया। कहते हैं तिरुपेरुंतुरै में माणिक्कवाचगर को भगवान् का दर्शन हुआ जो कुरुंथ वृक्ष के नीचे आसीन थे तथा वेद उन्हें शिष्यों के रूप में घेरे हुए थे। यह घटना उस समय हुई जब माणिक्कवाचगर राजा के लिये घोड़ा खरीदने जा रहे थे। माणिक्कवाचगर राजकीय धन से मंदिर का निर्माण कर वहीं रह गए।

घोड़ों के न आने पर राजा ने उन्हें कारागार मे बंद कर दिया। बाद में जब घोड़े पहुँच गए, राजा ने माणिक्कवाचगर से क्षमा माँगी। अंत में माणिक्कवाचगर राजपद का त्याग कर तिरुपेरुंतुरै चले गए। अनेक तीर्थस्थानों से होते हुए वे चिदंबरम् पहुँचे। यहाँ

लंकाधिपति अपनी मूक पुत्री और कट्टर बौद्ध धर्मगुरु के साथ पधारे हुए थे। चुनौती पाकर माणिक्कवाचगर ने धर्मगुरु को मूक कर राजकुमारी की वाक्‌शक्ति पुनः ला दी। आभार मानकर लंका के पर्यटकों ने शैव मत ग्रहण कर लिया।

माणिक्कवाचगर की कृतियों पर मर्मले अडिगल, का० सुब्रह्मण्य पिल्लै, और सी० के० सुब्रह्मण्य मुदालियर ने शोधग्रंथ लिखे हैं। डॉक्टर जी० यू० पोप ने माणिक्कवाचगर को 'असीसी के संत फ़्रांसिस' और संत पाल की सद्‌वृत्तियों के संयुक्त रूप में देखा है।

[के० आर० सु०]

मातरिश्वा (१) वेदों में यह शब्द (मातरिश्वन्) वायु के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है, पर यास्क (नि० ७।२६) तथा सायण के मतानुसार यह पवन का ही दूसरा नाम है। ऋग्वेद (३।५।९) में यह अग्नि तथा उसको उत्पन्न करनेवाले देवता के लिये प्रयुक्त किया गया है और उसी में अन्यत्र वर्णन है कि मनु के लिये मातरिश्वा ने अग्नि को दूर से लाकर प्रदीप्त किया था। (२) ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध यज्ञकर्ता और गरुड़ के पुत्र का भी यही नाम है। [रा० द्वि०]

मातृत्व और बालकल्याण (Maternity and Child Welfare) प्रसूता माता तथा बालक की जीवनरक्षा तथा उनके स्वास्थ्य और कल्याण की समस्या से संबंधित है। इस विषय पर प्रारंभ में कुछ समाज सेवा करनेवाले निजी संगठनों ने ध्यान दिया। धीरे धीरे इस विषय के महत्व पर सरकारों का ध्यान आकर्षित हुआ और अब प्रायः सभी देशों की सरकारें इसे अपना दायित्व मानने लगी हैं। इस कार्य के लिये सरकारें धन की व्यवस्था करती हैं। भारत में मातृत्व और बाल-कल्याण-विभाग स्वास्थ्य मंत्रणालय के अंतर्गत कार्य कर रहा है।

मातृकल्याण — माता के स्वास्थ्य के कल्याण के विचार से यह आवश्यक है कि प्रसव-पूर्व (pre-natal) देखरेख का उचित प्रबंध सुलभ हो। इस हेतु प्रसवपूर्व निदानशाला या क्लिनिक प्रायः सभी देशों में स्थापित हैं। इनमें गर्भवती स्त्रियों को चिकित्सकों तथा उपचारिकाओं की समय समय पर देखरेख और उचित सलाह तथा आवश्यक निदान के लिये प्रयोगशालाएँ उपलब्ध रहती हैं। कुछ केंद्रों में रोग निदान तथा उपचार का, विशेषतः उपदंश और स्थानिकमारी रोग, जैसे मलेरिया आदि, के निदान और उपचार का प्रबंध रहता है तथा पौष्टिक भोजन, दूध, विटामिन की गोलियाँ आदि भी सुलभ रहती हैं। समाज सेविकाएँ, महिला स्वास्थ्य निरीक्षिकाएँ तथा उपचारिकाएँ प्रसव के पहले गर्भवती स्त्रियों के घर पर जाकर उनकी देखभाल करती हैं तथा उन्हें स्वास्थ्य संबंधी उचित सलाह भी देती हैं। साथ ही राजकीय या निजी संगठनों द्वारा मातृकक्ष (maternity ward) तथा प्रसवाश्रयों की स्थापना की जाती है, जहाँ धात्री की देखरेख में प्रसव कार्य होता है। भारत में धात्रियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी है। जिस प्रकार राज्यों के पिछड़े हुए क्षेत्रों में मातृत्व और बालकल्याण सेवा में व्यवस्थापन की पृथक् राजकीय योजनाएँ हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय विकास खंडों में स्वास्थ्य केंद्रों की स्थापना की गई है, जिससे गाँवों में भी सभी सुविधाएँ मिल सकें। नगरपालिकाएँ भी इस कार्य में दिलचस्पी लेने लगी हैं। साथ ही नगरपालिका या नगर महापालिका में माता की मृत्यु की सूचना देना आवश्यक हो गया है। इससे मातृक मृत्युदर के आँकड़े प्राप्त होते हैं तथा मातृक योजनाओं के लाभ, कुशलता और सुधार की आवश्यकता आदि पर प्रकाश पड़ता है।

प्रसूता के लिये प्रसूति सहायता (maternity benefit) की दूसरी व्यवस्था भी है, जिसके अनुसार प्रसवकाल के नजदीक आने पर तथा प्रसव होने के समय प्रसूता कुछ धनराशि की हकदार होती है और इस धन के मिलने से कुटुंब पर व्यय का भार बहुत कुछ कम हो जाता है। इससे माता तथा शिशु के स्वास्थ्य, चिकित्सा, पोषण आदि की चिंता कम हो जाती है। यह योजना अभी भारत में बहुत छोटे पैमाने पर है। नौकरी करनेवाली स्त्रियों को, जिन्हें रोगी बीमा संगठन (Compulsory Sickness Contribution Scheme) में नाम लिखाना अनिवार्य है तथा जो नियमों के अनुसार प्रसूति काल में नौकरी नहीं कर सकती हैं, इस व्यवस्था से सहायता मिलती है।

महिला सरकारी कर्मचारी तथा राजकीय जीवनबीमा व्यवस्था से लाभ पानेवाली स्त्रियों को इसके साथ ही प्रसव के बाद कुछ समय तक प्रसूत्यवकाश भी मिलता है, जिससे प्रसूतिकाल में उन्हें नौकरी के संबंध मे चिंता नहीं रहती है। इस अवधि में माताओं के स्वास्थ्य का सुधार होता है तथा उन्हें विश्राम भी मिलता है।

बालकल्याण—(देखें, बालकल्याण)। [उ० शं० प्र०]

माथुर, कृष्णकुमार (१८९३-१९३६ ई०) प्रसिद्ध भारतीय भूविज्ञानी तथा विख्यात शिक्षाविशारद थे। इनका जन्म १८९३ ई० में हुआ था। आप बडे मेधावी छात्र थे। सभी परीक्षाओं में आप प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए तथा सर्वदा आपने योग्यता छात्रवृत्तियाँ पाई। सन् १९१५ में आप आगरा कालेज से बी० एस-सी० परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त कर १९१६ ई० में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंग्लैंड चले गए। लंदन विश्वविद्यालय में खनन तथा भूविज्ञान में बी० एस-सी० ऑनर्स परीक्षा मे सर्वप्रथम रहे और डिलाविचे पदक प्राप्त किया।

लंदन से लौटने पर आप 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त हुए और भूविज्ञान का अध्यापन शुरू किया। जो भी आपके संपर्क में आया, उसपर आपके व्यक्तित्व की छाप पड़ी। काशी हिंदू विश्वविद्यालय की सेवा के समय दो सत्रों तक आप फैकल्टी ऑव साइंस के डीन और अनेक संस्थाओं के सदस्य थे।

भूविज्ञान के क्षेत्र में आपका कार्य अद्वितीय है। डेकन ट्रैप पर किया गया आपका शोध कार्य आज भी अप्रतिम है। आप बंबई में १९३४ ई० में भारतीय विज्ञान कांग्रेस अधिवेशन में भूविज्ञान विभाग के अध्यक्ष थे। प्रो० माथुर बहुत सी वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य और कुछ के संस्थापकों में से थे। ४३ वर्ष की अल्प अवस्था में ही १८ जुलाई, १९३६ ई० को लखनऊ मे इनका देहावसान हो गया। [म० ना० मे०]

माद्री 'धृति' के अंश से उत्पन्न पांडु की दूसरी रूपवती पत्नी जो मद्रदेश के राजा ऋतायन की पुत्री और शल्य की बहन थी। इन्हें

नकुल तथा सहदेव नामक दो जुड़वाँ पुत्र दुर्वासा के आकर्षण मंत्र के प्रभाव से हुए थे, यद्यपि यह कहा जाता है कि इनके वास्तविक पुत्र अश्विन थे। सहवास के समय, पूर्वशाप के कारण, पांडु के मरने पर माद्री उनके साथ सती हो गई थी। [रा० द्वि०]

माधव कंदलि यह असमी के प्रसिद्ध कवि थे। इनके कविताकाल के संबंध में इतिहासकारों तथा समालोचकों में अधिक मतभेद है। कनकलाल बरुवा के मतानुसार इनके आश्रयदाता वाराही नरेश कपिली उपत्यका के शासक थे और माधव कंदलि इन्हीं के राजकवि थे। इस प्रकार इनकी कविता का रचनाकाल १४वीं शती का उत्तरार्ध मालूम होता है। माधवचंद्र बरदलोई ने स्वसंपादित रामायण की भूमिका में इनकी कृति रामायण को १४वीं अथवा १५वीं शती की रचना और इन्हें नवगाँव का निवासी प्रमाणित किया है। शंकरदेव ने रामकथा के पदकर्ता माधव कंदलि की भूरि भूरि प्रशंसा की है। उनकी तुलना गज से की है और कहा है कि वे स्वयं उनके संमुख शशक के समान लघु हैं। माधव कंदलि को लोग 'कविराज कंदलि' कहते थे। वर्तमान नवगाँव जिले के कंदलि नामक स्थान से अनेक प्रख्यात कंदलि ब्राह्मणों का संबंध था परंतु माधव कंदलि वहाँ के निवासी नहीं थे।

वाराहराज श्री महामाणिक्य के अनुरोध पर माधव कंदलि ने सर्वसाधारण के लिये सुबोध शैली में रामायण का पयारबद्ध अनुवाद किया (रामायण सुपयार श्रीमहामाणिक्य ये वाराह राजार अनुरोधे)। माधव कंदलि के रामायण की सभी प्रतियों में आदि तथा उत्तरकांड नहीं मिलते, यद्यपि उन्होंने लंकाकांड के अंत में रामायण के सात कांडों का उल्लेख किया है [सात कांडे रामायण पद बंधे निबंधिलो]। कंदलि ने वाल्मीकि कृत रामायण को वेदों के समकक्ष रखा है। मूल कथा को अधिक रोचक बनाने के लिये यत्रतत्र सुंदर काव्यकल्पना का सहारा लिया है। 'देवजित्' इनकी दूसरी रचना है किंतु प्रयोग एवं शैली की दृष्टि से यह किसी अन्य कवि की रचना प्रतीत होती है।

सं० ग्रं० : रामायण, सं० माधवचंद्र बरदलोई; असमिया सात कांड रामायण — सं० प्रसन्नलाल चौधरी १९४१; उपेंद्रचंद्र लेखारु : असमिया रामायण साहित्य, १९४८। [ला० शु०]

माधवदास जगन्नाथी यद्यपि यह श्री माधवेंद्रपुरी के शिष्य थे पर श्री गौरांग का आविर्भाव होने पर यह उनके अनुगत हो गए। श्रीमाधवेंद्रपुरी सं० १५४८ में अप्रकट हुए अतः इनका जन्म सं० १५३० के लगभग हुआ होगा। यह पद बनाकर गायन करते हुए यात्रा करते रहते थे और जगन्नाथ पुरी अधिक जाते थे, जिससे यह जगन्नाथी भी कहे जाने लगे। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये विरक्त भक्त संन्यासी तथा संस्कृत के विद्वान् थे और ब्रजभाषा पदों के सिवा इन्होंने संस्कृत में कई ग्रंथ प्रस्तुत किए हैं पर वे सब प्रायः अप्राप्य हैं। ब्रजभाषा की कुछ छोटी छोटी रचनाएँ, जैसे *श्याम लीला, मदालसा आख्यान,* परतीत परीच्छा आदि प्राप्त हैं। यह १६वीं शती के अंत तक विद्यमान थे। [ब्र० र० दा०]

माधवदेव यह असमी के प्रसिद्ध कवि थे। इनका जन्म असम के उत्तर लखीमपुर जनपद के अंतर्गत नारायणपुर के समीप हरिसिंगबरा के घर संवत् १४११ में हुआ। इनके पिता गोविंदगिरि रंगपुर जिले के बांडुका नामक स्थान में रहकर राजा का कार्य करते थे। वहीं से व्यापार के लिये वे पूर्व असम की ओर गए। देश में जब अकाल पड़ा, तो पुत्र और भार्या को साथ लेकर माधव के पिता अपने मित्रों के घर घूमते रहे किंतु कहीं भी उन्हें आदर-सत्कार न मिला। धार्वारि मांजि के घर वे सपरिवार कई वर्षों तक रहे। इसके उपरांत माधव की माता मनोरमा को उनके पिता ने दामाद के घर छोड़ दिया और स्वयं माधव के साथ बांडुका चले आए। माधव ने व्याकरण, भारत, पुराण, भागवत, न्याय, तर्कशास्त्र की शिक्षा राजेंद्र अध्यापक द्वारा प्राप्त की। पिता के देहांत के पश्चात् वे टेमुनि गए और वाणिज्य-व्यवसाय आरंभ किया। वहीं एक सुंदरी कन्या को उन्होंने अलंकार पहनाया।

माधव देवी के उपासक थे। बाद में जब शंकरदेव से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति मार्ग पर वाद-विवाद हुआ तो माधव ने पराजय स्वीकार की तथा शंकरदेव की शरण ली। इसके उपरांत माधव ने उपार्जित पैतृक संपत्ति और अलंकार पहनाई गई परिणीता कन्या का परित्याग किया तथा धर्म और गुरु के हित के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लिया। गुरु के आज्ञानुसार इन्होंने कीर्तनघोषा ग्रंथ का संकलन पूर्ण किया और आजीवन एक शरणधर्म का प्रचार किया। माधव शंकरदेव के अभिन्न सहयोगी थे। उनकी दोनों तीर्थयात्राओं में वे उनके साथ रहे। १५९६ ई० में कूचबिहार में उनकी मृत्यु हुई।

माधव ने भक्तिरत्नावली और आदिकांड रामायण का रूपांतर असमिया छंदों में किया तथा नामघोषा की रचना की। उन्होंने दो सौ बरगीतों का निर्माण किया जो संप्रदाय के नामसेवा प्रसंग में गाए जाते हैं। 'जन्मरहस्य' में सृष्टि के निर्माण और विनाश की लीला वर्णित है। 'राजसूय यज्ञ' उनकी एक लोकप्रिय कृति है जिसमें कृष्ण को सर्वश्रेष्ठ देव सिद्ध किया गया है। 'अर्जुन भंजन' 'चोरधरा', 'पिंपरा गुचुवा', 'भोजन बिहार', और भूमिलोटोवा नाटकों में कृष्ण की बाललीला के विविध प्रसंग चित्रित हुए हैं। 'रास झूमुरा'; भूषण हेरोवा, ब्रह्मामोहन और 'कटोराखेलावा' उनकी अन्य रचनाएँ हैं। माधवदेव के गीतों की भाषा ब्रजावली है किंतु वर्णनात्मक अंश असमिया में लिखे गए हैं। 'नामघोषा' इनकी अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है जिसमें संपूर्ण शास्त्रों तथा अनुभूतियों का सार अंतर्भुक्त किया गया है। इसमें एक सहस्र घोषाएँ हैं।

सं० ग्रं० : सं० उपेंद्रचंद्र लेखारु . कथा गुरुचरित; रामानंद, : गुरुचरित; दैत्यारि : गुरुचरित; भूषण द्विज : गुरुचरित; लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा : श्री शंकरदेव आरु माधवदेव; महेश्वर नेओग : श्री शंकरदेव; जे० एन० शर्मा : शंकरदेव एंड हिज वर्क्स। [ला० शु०]

माधवप्रसाद मिश्र (१८७१–१९०७ ई०) भिवानी (जि० हिसार; पंजाब) के समीप *कूँगड़ नामक ग्राम के निवासी और कट्टर सनातन-धर्मी विचारों के थे।* वे स्वभाव के बड़े जोशीले तथा भारतीय संस्कृति के संरक्षक और राष्ट्रप्रेमी विद्वान् थे। उन्होंने 'वैश्योपकारक' और 'सुदर्शन' का संपादन किया। 'वेबर का भ्रम' उनके निजी संस्कृतिप्रेम का परिचायक है। 'नैषध-चरित-चर्चा' पर महावीर-प्रसाद द्विवेदी से उनकी नोक-झोंक चलती रही। श्रीधर पाठक के काव्यविषय की भी उन्होंने खूब टीका टिप्पणी की। लोकोपयोगी

स्वामी विषयों पर इनके 'धृति' और 'क्षमा' शीर्षक दो लेख उपलब्ध हैं। आपके निबंध अधिकतर भावात्मक हैं। भाषा पांडित्यपूर्ण और मुहावरेदार है। जीवन-चरित-रचना में भी आप सिद्धहस्त थे।

सं० ग्रं० — पं० रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास (सं० १९९९) [न० क०]

माधव शुक्ल प्रयाग के निवासी और मालवीय ब्राह्मण थे। इनका कंठ बड़ा मधुर था और ये अभिनय कला में पूर्ण दक्ष थे। वे सफल नाटककार होने के साथ ही साथ अच्छे अभिनेता भी थे।

इनकी राष्ट्रीय कविताओं के दो संग्रह 'भारत गीतांजलि' और 'राष्ट्रीय गान' जब प्रकाशित हुए तो हिंदी पाठकवर्ग ने उनका सोत्साह स्वागत किया। बहुत इधर आकर भारत और चीन में युद्ध छिड़ने पर इनकी राष्ट्रीय कविताओं का संकलन 'उठो हिंद संतान' नाम से प्रकाशित हुआ था। कविताओं की विशेषता यह है कि आज की स्थिति में भी वे उतनी ही उपयोगी एवं उत्साहवर्धक हैं जितनी अपनी रचना के समय थीं। सन् १८९८ ई० में इन्होंने 'सीय स्वयंबर', सन् १९१६ ई० में 'महाभारत पूर्वार्ध और 'भामाशाह की राजभक्ति' नामक नाटकों की रचना की। इनमें केवल एक ही नाटक 'महाभारत पूर्वार्ध' प्रकाशित हुआ। ये सभी नाटक इनके समय मे ही सफलता के साथ खेले गए थे और इन्होंने अभिनय में भाग भी लिया था। प्रयाग के अतिरिक्त ये नाटक कलकत्ता मे भी खेले गए थे और उससे शुक्ल जी को काफी ख्याति मिली थी। इन्होंने जौनपुर और लखनऊ में नाटक मंडलियाँ स्थापित की थी और कलकत्ते मे हिंदी-नाट्य-परिषद् की प्रतिष्ठा की थी। इनके मन में देश की पराधीनता से मुक्ति की और सामाजिक सुधार की प्रबल आकांक्षा थी। तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलनों में सक्रिय भाग लेने के कारण इन्हे ब्रिटिश शासन का कोपभाजन बनकर कई बार कारागार का दंड भी भुगतना पड़ा था।

नाटक के प्रति उस समय हिंदी भाषी जनता की सुप्त रुचि को जगाने का बहुत बड़ा श्रेय शुक्ल जी को है। [ना० ध० त्रि०]

माधवसिंह 'छितिपाल' अमेठी नरेश कविवर 'छितिपाल' की गणना उन भारतीय नरेशों में होती है जो कुशल शासक होने के साथ सहृदय कवि भी थे। इन्होंने अमेठी राज्य तथा हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में पूरा योगदान दिया। इन्होंने प्रयाग, काशी, विंध्याचल, लखनऊ और अमेठी में कई मंदिरों तथा महलों का निर्माण करवाया। इनका कार्यकाल संवत् १९०१ से १९४८ तक था।

आरंभ में इन्होंने शृंगारपरक रचनाएँ कीं। 'मनोजलतिका' रीतिपरंपरा की अनूठी कृति है। इसमें नखशिख, ऋतुओं तथा नायिकाभेद का मर्यादित एवं सरस वर्णन है। इसके पश्चात् इनकी अंतर्वृत्ति भक्ति की ओर हुई। वे देवी के अनन्य उपासक और भावुक भक्त थे। देवी की भक्ति विषयक इनकी सभी रचनाएँ उच्चकोटि की हैं। इन्होंने संगीत, धर्म, नीति, सज्जनमहिमा आदि अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं। इनकी कृतियाँ ये हैं :

मनोजलतिका, भगवती विजय, देवीचरित्र-सरोज, रघुनाथ चरित्र, सीतास्वयंबर, लवकुशचरित्र प्रकाश, वैराग्यप्रकाश, नीतिदीप, सुरसदीप, रागप्रकाश, पंचाष्टक, कुंडलिया शतक, दोहा शतक, सोरठा शतक, षट्पदावली, विज्ञानविलास, भजनप्रदीप, सज्जनविलास, आदि। [रा० ब० पा०]

माधवेंद्रपुरी, श्री बंगाल या उत्तरी भारत में लुप्त वैष्णव भक्ति धर्म के सस्थापन के आदि सूत्रधार, श्री चैतन्य के दादा गुरु तथा ईश्वरपुरी, केशव भारती, अद्वैताचार्य और नित्यानंद के गुरु थे। श्री मध्वाचार्य की गुरुपरंपरा में यह १६वें आचार्य थे (बलदेव विद्याभूषण कृत प्रमेय रत्नावली)। यह परम कृष्णभक्त थे और इनकी भावुकता उच्च कोटि की थी। संन्यासियों मे इन्हीं ने पहले प्रेमभक्ति का प्रचार किया था। यह दाक्षिणात्य थे और दक्षिण मे ही सं० १४६० के लगभग इनका जन्म हुआ। श्री लक्ष्मीपति से दीक्षा ग्रहण कर उडूपी (उदीपि) मे प्रधान आचार्य हुए। सन् १५०७ मे अद्वैताचार्य यात्रा करते हुए उडूपी आए और इनसे सत्संग कर आगे यात्रा करने चले गए। कुछ दिनों के अनंतर पुरी जी तीर्थाटन को निकले और भ्रमण करते हुए वृंदावन पहुँचे। इनकी अयाचित वृत्ति थी। यह एक वृक्ष के नीचे बैठे नामजप कर रहे थे कि एक सुंदर गोप बालक ने आकर इन्हें दूध से भरा एक लोटा दिया और फिर आने को कहकर चला गया। रात्रि मे स्वप्न मे उसी बालक ने इन्हे एक कुंज दिखलाकर कहा कि इसमे गोपाल का विग्रह है, उसे निकालकर सेवा का प्रबंध करो। पुरी जी ने उस विग्रह को निकलवाया, प्रतिष्ठापन किया तथा एक धनी ने मंदिर बनवा दिया। इन्हें पुन. स्वप्न हुआ कि नीलाचल से कपूर तथा चदन लाकर सेवा करो। पुरी जी तत्काल यात्रा पर निकल पड़े। मार्ग मे नित्यानंद जी से भेंट हुई और इसके अनतर शांतिपुर मे अद्वैताचार्य से मिलते तथा दीक्षा देते हुए यह रेमुना में श्रीगोपीनाथ जी के दर्शन करने पहुँचे। यहाँ से नीलाचल पहुँचकर तथा कपूर, चदन लेकर पुनः रेमुना आए तथा स्वप्नादेश पाकर यहीं रह गए। सं० १५४८ के लगभग यहीं यह नित्यलीला मे पधारे। (द्रष्टव्य ईशान नागर कृत अद्वैत प्रकाश, चैतन्य भागवत, चैतन्य चरित्र आदि)। [ब्र० र० दा०]

माधुरी माधवदास इनका नाम माधवदास था और ये कपूर खत्री थे। कहीं अन्यत्र से आकर वृंदावन के पास माधुरीकुंड पर रहने लगे और अपना उपनाम 'माधुरी' रखा। वंशीवटमाधुरी, केलिमाधुरी, उत्कंठामाधुरी, वृंदावनमाधुरी आदि इनकी छोटी छोटी रचनाएँ हैं, जिनका एक सग्रह प्रकाशित हो चुका है। दो रचनाओं मे सं० १६८७ तथा सं० १६९९ रचनाकाल दिया है अतः इनका समय सं० १६५०–१७१० तक निश्चित रूप से माना जा सकता है। यह चैतन्य सप्रदाय के थे, क्योंकि सभी रचनाओं में श्री चैतन्य महाप्रभु तथा रूप-सनातन की वंदना की है। [ब्र० र० दा०]

मानक समय वह समय है जो किसी देश या विस्तृत भूभाग के लोगो के व्यवहार के लिये स्वीकृत होता है। यह उस देश के स्वीकृत मानक याम्योत्तर के लिये स्थानीय माध्य समय होता है। हमारे अपने स्थानो के समय स्थानीय समय कहलाते हैं। इनसे हमारी समय संबंधी स्थानीय आवश्यकता तो पूर्ण हो जाती है, किंतु ये अन्य स्थानों के लिये उपयोगी नहीं होते। इसीलिये मानक समय की आवश्यकता पड़ती है। इसके अभाव में यातायात संचालन तथा देशव्यापी समय के

कार्यक्रमों का संचालन नितांत कठिन है। आजकल तो जिस प्रकार हमारा अपने देश के स्थानों से संबंध है उसी प्रकार विश्व के अन्य देशों से भी है। विश्वव्यापी व्यवहार को चलाने के लिये ग्रीनिच के माध्य समय को विश्व समय माना गया है। ग्रीनविच से किसी भी स्थान के पूर्व या पश्चिम देशांतर ज्ञात होने से हम अपने मानक समय से अन्य देशों का मानक समय ज्ञात कर सकते हैं। भारत का मानक याम्योत्तर ग्रीनिच से ८२ ५´ पूर्व है, जिसका अर्थ है कि हमारा मानक समय ग्रीनिच के मानक समय से साढ़े पाँच घंटे आगे है। [मु० ला० श०]

मानचित्र किसी चौरस सतह पर निश्चित मान या पैमाने और अक्षांश एवं देशांतर रेखाओं के जाल के प्रक्षेप के अनुसार पृथ्वी या अन्य ग्रह, उपग्रह, अथवा उसके किसी भाग की सीमाएँ तथा सन्निहित विशिष्ट तथ्यों का विशिष्ट व्यावहारिक, या सांकेतिक, चिह्नों द्वारा, चित्रण या परिलेखन मानचित्र कहलाता है। अतः प्रायः मानचित्र किसी बड़े क्षेत्र का छोटा प्रतिनिधि रूपचित्रण है, जिसमे अंकित प्रत्येक बिंदु मानचित्र क्षेत्र पर स्थित बिंदु का संगत बिंदु होता है। इस प्रकार मानचित्र तथा मानचित्रित क्षेत्र मे स्थैतिक या स्थानिक सम्यकता स्थापित हो जाती है। मानचित्र पर भूआकृति या वस्तुस्थिति के प्रदर्शन के निमित्त प्रयुक्त प्रत्येक चित्र, चिह्न या आकृति एक विशिष्ट स्थिति का बोध कराते है और प्रचलन एव उपयोग में रहने के कारण इन रूढ़ चिह्नों का एक सर्वमान्य अंतरराष्ट्रीय विधान सा बन गया है। इस प्रकार के चिन्हों के उपयोग से किसी भी भाषा के अंकित मानचित्र, बिना उस भाषा के ज्ञान के भी, ग्राह्य एव पठनीय हो जाते हैं। उद्देश्यविशेष की दृष्टि से विभिन्न विधियों द्वारा रेखाओं, शब्दों, चिह्नों, आदि का उपयोग किया जाता है, जिससे मानचित्र की ग्राह्यता एव उपादेयता बढ़ जाती है। मानचित्र निर्माण की कला मे पिछले कुछ दशकों मे, विशेषकर द्वितीय महायुद्ध काल तथा परवर्ती काल मे, प्रचुर प्रगति हुई है और संप्रति कम से कम शब्दालेख के साथ मानचित्र मे विभिन्न प्रकार के तथ्यों का सम्यक् परिलेखन संभव हो गया है। किसी मानचित्र में कितने तथ्यों का ग्राह्य समावेश समुचित रूप से किया जा सकता है, यह मानचित्र के पैमाने, प्रक्षेप तथा मानचित्रकार की वैधानिक क्षमता एवं कलात्मक बोध आदि पर निर्भर करता है।

मानचित्र वस्तुतः त्रिविम (three dimensional) भूतल का द्विविम (two dimensional) चित्र प्रस्तुत करता है। मानचित्र मे किसी क्षेत्र के वैसे रूप का प्रदर्शन किया जाता है जैसा वह ऊपर से देखने में प्रतीत होता है। अतः प्रत्येक मानचित्र मे द्विविम स्थितितथ्य, अर्थात् वस्तु की लंबाई, चौड़ाई चित्रित होती है, न कि ऊँचाई या गहराई। उदाहरणस्वरूप, साधारणतया धरातल पर स्थित पर्वत, मकान या पेड़ पौधों की ऊँचाई मानचित्र पर नहीं देख पाते और न ही समुद्रों आदि की गहराई ही देख पाते हैं, लेकिन संप्रति भू-आकृति का त्रिविम प्रारूप प्रदर्शित करने के लिये ब्लॉक चित्र (block diagrams) तथा उच्चावच मॉडल (relief model) आदि अत्यधिक सफलता के साथ निर्मित किए जा रहे हैं।

हिंदी का शब्द 'मानचित्र' 'मान' तथा 'चित्र' दो शब्दों का सामासिक रूप है, जिससे मान या माप के अनुसार चित्र चित्रित करने का स्पष्ट बोध होता है। इस प्रकार यह अंग्रेजी के मैप (map) शब्द की अपेक्षा, जो स्वयं लैटिन भाषा के मैपा (mappa) शब्द से (जिसका अर्थ चादर या तौलिया होता है) बना है, अधिक वैज्ञानिक एवं अर्थबोधक है। मानचित्र के साथ ही चार्ट (chart) एवं प्लान (plan) शब्दों का उपयोग होता है। चार्ट शब्द फ्रेंच भाषा के कार्ट (carte) शब्द से बना है। पहले बहुधा चार्ट एवं मानचित्र शब्दों का उपयोग एक दूसरे के अर्थ मे हुआ करता था, परतु अब 'चार्ट' का उपयोग महासागरीय या वायुमंडलीय मार्गों अथवा जल या हवा की तरगों एव उनके मार्गों को अंकित करने के लिये होता है। समुद्र पर जहाजों के तथा वायुमंडल मे वायुयानों के मार्ग चार्ट पर प्रदर्शित किए जाते हैं। मानचित्र और प्लान में भी व्यावहारिक अंतर हो गया है। प्लान, साधारणतया उद्देश्य विशेष के लिये अपेक्षाकृत छोटे भाग को ठीक ठीक मापकर तैयार किए गए चित्र को कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, भवन-निर्माण-कला-विशेषज्ञ द्वारा भवन का प्लान तैयार किया जाता है, जिसमें उसकी बाहरी सीमा ही नहीं अदर के कमरो, दरवाजो, खिड़कियों आदि के स्थानविशेष भी अंकित रहते हैं। प्लान, मानचित्र की अपेक्षा अधिक बड़े पैमाने पर तैयार किए जाते हैं।

मानचित्र का महत्व एव उपयोगिता — मानचित्र अनेक प्रकार के होते हैं और अनेक प्रकार से उपयोगी हैं। प्रति इकाई स्थान का मानचित्र किसी अन्य प्रकार के वर्णन या आलेखन की अपेक्षा अधिक तथ्यसूचक एव समावेशी होता है। हजारो शब्दो मे भी जिस तथ्य का ठीक ठीक वर्णन कर ज्ञान नहीं करा सकते, उसका ज्ञान वैज्ञानिक ढग से तैयार किया गया एक छोटा मानचित्र सुविधा से करा सकता है। इसलिये आजकल सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान आदि सबंधी वस्तुस्थिति के बोध के लिये मानचित्रों तथा समानताबोधी आकृतियों, चित्रों आदि का अधिकाधिक उपयोग हो रहा है।

भूगोल तथा मानचित्र मे घनिष्ठ सबंध है। भूगोल का अध्ययन और अध्यापन दोनों मानचित्र के बिना अधूरे तथा असभव से लगते हैं। मानचित्र द्वारा विभिन्न तथ्यो की स्थिति, विस्तार अथवा वितरण एव पारस्परिक स्थैतिक सबंधों का समुचित एव सहज ज्ञान हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि हमे देशविशेष या उसके विभिन्न प्रशासनिक विभागो की कुल जनसख्या का ज्ञान हो, तो भी उस ज्ञान से हमें जनसख्या के वास्तविक वितरण का बोध नही हो पाता, किंतु उसी ज्ञान को मानचित्र पर अंकित करने पर न केवल वितरण का प्रत्युत क्षेत्रीय या स्थानीय जनसंकुलता के विभिन्न परिमाण भी स्पष्ट ज्ञान सहज ही हो जाता है। अत. मानचित्र के द्वारा पृथ्वी की वस्तुस्थितियो का जितना ज्ञान विहगम दृष्टिमात्र से ही हो जाता है उतना पुस्तकीय अथवा किसी अन्य साधन द्वारा सभव नही है। भूगोल मे वस्तुस्थिति के वितरण का विशेष अध्ययन होता है, इसलिये मानचित्र को अधिकाधिक महत्व प्रदान किया जाता है। सैनिक विज्ञान मे भी मानचित्र को समुचित महत्व दिया जाता है।

प्रशासनिक कार्यों तथा योजनाओं मे भी मानचित्र अत्युपयोगी सिद्ध हुए हैं। राष्ट्र या राज्यों अथवा विभिन्न प्रशासनिक विभागों तथा उपविभागों के सीमानिर्धारण के लिये ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक खड के

विभिन्न प्राकृतिक तथा मानवीय संसाधनों के वितरण के मानचित्र भी सुचारु प्रशासन के लिये आवश्यक हैं। योजना संबंधी कार्यों के लिये विभिन्न मानवीय तथा प्राकृतिक संसाधनों के वितरण का ज्ञान भी आवश्यक है, जिसके आधार पर संतुलित तथा वैज्ञानिक रूप से और प्रादेशिक या क्षेत्रीय दृष्टि से आर्थिक समुन्नति के लिये योजनाएँ बनाई जाएँ। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्राकृतिक अवयवों के पारस्परिक पारिस्थितिक (ecological) संबंधों एवं निर्भरता के बोध के लिये मानचित्र सर्वश्रेष्ठ साधन है। उदाहरणस्वरूप, जलवायु के विभिन्न अवयवों, ताप, आर्द्रता, वृष्टि, आदि का संबंध मिट्टी, वानस्पतिक तथा जैविक प्रकारों से मानचित्र द्वारा प्रकट किया जा सकता है और उस संकलित चित्र का संबंध जनसंख्या के वितरण से स्थापित किया जा सकता है। सैन्य संचालन, पर्यटन, यातायात, व्यापार, व्यवसाय आदि, सभी क्षेत्रों में मानचित्र का महत्व अधिक है।

२०वीं सदी के उत्तरार्ध में जब मनुष्य महासागरों के तल तथा अंतरिक्ष के ग्रह उपग्रहों तक अपनी सत्ता स्थापित करने में सफलतापूर्वक सचेष्ट है, न केवल पृथ्वी के ही प्रत्युत अन्य ग्रह उपग्रहों के मानचित्र तैयार करने की आवश्यकता बढ़ गई है।

मानचित्र पठन के लिये आवश्यक बातें — मानचित्र भूतल पर स्थित किसी वास्तविक तथ्य को नहीं प्रदर्शित करते, केवल चिह्न-विशेष द्वारा कागज या अन्य तल पर पृथ्वी के सगत बिंदु की स्थिति दिखाते हैं। इस सत्य का ज्ञान न होने से भ्रांति उत्पन्न होती है।

मानचित्र समतल होते हैं, परंतु पृथ्वी या अन्य ग्रह उपग्रह, या उसका कोई भाग, गोलक अर्थात् गोले का भाग होता है, पर गोलक (globe) को समतल पर ठीक ठीक नहीं प्रकट किया जा सकता, अतः इस चेष्टा मे मानचित्र के विभिन्न भागों में आकृति की विकृति होती है। प्रक्षेप के द्वारा विभिन्न प्रकार से अक्षांश एवं देशांतर रेखाओं का जाल तैयार कर मानचित्र बनाया जाता है (देखें, प्रक्षेप)। अतः मानचित्र के पठन के लिये पृथ्वी के विभिन्न भागों की मानचित्र पर उतारी हुई सापेक्षिक स्थिति, दिशा, दूरी तथा विस्तार आदि का ज्ञान होना आवश्यक है।

मानचित्र के संबंध में दो बातें आवश्यक हैं : (१) मानचित्र का पठन, अर्थात् पृथ्वी के विषय मे मानचित्र पर अंकित तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करना, तथा (२) मानचित्र की रचना, जिसके अंतर्गत, मानचित्र तैयार करने की विधियों को सीखना तथा आँकड़ों, मापक, प्रक्षेप, व्यावहारिक एवं सांकेतिक चिह्नों, रंगों आदि का ज्ञान प्राप्त करना आता है।

मानचित्र का वर्गीकरण और प्रकार — मानचित्र अनेक प्रकार के होते हैं और उन्हें हम कई प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं : १. साधारण मानचित्र, २. विशिष्ट विषयात्मक मानचित्र। साधारण मानचित्र में मानचित्र क्षेत्र की सभी साधारण प्राकृतिक एव सांस्कृतिक स्थितियो का समावेश रहता है, जैसे पर्वत, नदी, प्रशासनिक विभाग, नगर, परिवहन के साधन आदि। विशिष्ट विषयात्मक मानचित्रों मे उद्देश्य विशेष से कुछ निश्चित प्रकार के तथ्यों का समावेश रहता है, जैसे जनसंख्या का वितरण मानचित्र या फसलों के वितरण का मानचित्र। एक ही मानचित्र पर बहुत से या समस्त तथ्यों का प्रदर्शन एक तो असंभव है, दूसरे उससे विभिन्न तथ्यों के वितरण, विस्तार या सापेक्षिक महत्व आदि के विषय में भ्रांतियाँ हो जाती हैं, अतः विभिन्न तथ्यों को विभिन्न मानचित्रो मे समाविष्ट करने की प्रथा सी बन गई है। उन तथ्यों की क्षेत्रीय सापेक्षिकता के ज्ञान के लिये एक ही पैमाने पर तैयार किए गए विभिन्न विषयात्मक मानचित्रों का तुलनात्मक अध्ययन आसानी से किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, किसी क्षेत्र के एक ही पैमाने पर, अलग अलग तैयार किए गए, वर्षा, ताप, मिट्टी, वनस्पति, फसलों तथा जनसख्या के वितरण मानचित्रों का सहज ही तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है।

मानचित्रो को पैमाने तथा उद्देश्य के समाविष्ट तथ्यो की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं :

क. भूकर या पटवारी के मानचित्र (Cadastral map) — ऐसे मानचित्र में भूमिस्वत्व, कृषि क्षेत्रों, भवन तथा अन्य भूमिसंपत्ति का सविस्तार समावेश रहता है। प्रशासन द्वारा व्यक्तिगत भूमि कर, आय कर, भवन कर आदि, वसूल करने मे इससे सुविधा मिलती है। हमारे गावों के मानचित्र प्रायः १६ इंच, परंतु कभी कभी ३२ इंच तथा ६४ इंच, प्रति मील के पैमाने पर बने रहते हैं।

ख. भू-आकृति (Physiographic) मानचित्र — ये मानचित्र शुद्ध सर्वेक्षण विधियों द्वारा ठीक ठीक सर्वेक्षण करके तैयार किए जाते हैं। भारत के सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र इसी प्रकार के होते हैं। इनमे धरातल पर के महत्वपूर्ण प्राकृतिक तथ्य, जैसे पर्वत, पठार, उच्चावचन, नदी, वनस्पति आदि तथा सांस्कृतिक, अर्थात् मानव द्वारा निर्मित वस्तुएँ, जैसे भवन, ग्राम, नगर, परिवहन के साधन, आदि प्रदर्शित किए जाते हैं। साधारणतया इनका पैमाना एक इंच बराबर एक मील (द्योतक भिन्न १.६३,३६०) के रूप मे होता है, किंतु १/२ इंच या १/४ इंच बराबर एक मील के भी मानचित्र होते है। विदेशी मानचित्रों के पैमाने भी भिन्न भिन्न होते हैं। अधिकांश यूरोपीय देशो के भू-आकृति मानचित्रों के पैमानो के द्योतक भिन्न १:२५,००० या १.१,००,०००, या इनके गुणक के रूप मे होते हैं। संयुक्त राज्य (अमरीका) में १.६२,५००, या १:१,२५,०००, के द्योतक भिन्न पर भू-आकृति मानचित्र बने हैं। मेट्रिक प्रणाली के अपनाने से भारत के सर्वेक्षण मानचित्र भी १:५०,००० द्योतक भिन्न के पैमाने पर परिवर्तित किए जा रहे हैं। १:१०,००,००० (१ इंच बराबर लगभग १५.७८ मील) के मानचित्र भी इसी प्रकार के हैं, जिन्हें अंतरराष्ट्रीय मानचित्र कहते हैं।

ग. दीवारी मानचित्र (Wall maps) — भू-आकृति मानचित्रों की अपेक्षा इनका पैमाना छोटा होता है। इनमे भी प्रमुख प्राकृतिक तथा मानवनिर्मित निर्माणों का आलेख रहता है और इसलिये इनका अधिकांश उपयोग कक्षाओं में अध्ययन अध्यापन के लिये होता है।

घ ऐटलस मानचित्रावली — ये मानचित्र अपेक्षाकृत बहुत छोटे पैमाने पर तैयार किए जाते हैं और दीवारी मानचित्रों की तरह ही इनमें विभिन्न प्राकृतिक तथा मानव द्वारा निर्मित निर्माणों का समावेश रहता है। छोटा पैमाना होने के कारण प्रायः प्रमुख प्रशासनिक खंडों एवं विभागों ने भी राष्ट्रीय या प्रादेशिक ऐटलस तैयार किए हैं और कर रहे हैं। भारत में भी केंद्रीय सरकार ने एक महती राष्ट्रीय ऐटलस योजना बनाई है, जिसका केंद्र कलकत्ता है और जो भूगोलविदों के प्रबंध में सफलतापूर्वक चल रही है।

उद्देश्य एवं तथ्य के अनुसार भी मानचित्रों के अनेक प्रकार होते हैं। ऐसे मानचित्रों में जिस तथ्यविशेष का समावेश रहता है, उसी के अनुसार उनका नामकरण होता है; उदाहरणस्वरूप, ग्रह उपग्रहों एवं अंतरिक्ष की स्थिति प्रदर्शक मानचित्र, 'ज्योतिष मानचित्र' कहलाता है, किंतु जब कई तथ्य प्रदर्शित किए जाते हैं और उनमें विषयात्मक संबद्धता रहती है, तो मूल विषय पर नामकरण होता है; उदाहरणस्वरूप, जब किसी मानचित्र में ताप, हवा, जल या हिमवृष्टि या मौसम संबंधी तत्व साथ साथ समाविष्ट रहते हैं, तो उसे ऋतुदर्शक मानचित्र (Weather map) कहते हैं। कुछ प्रमुख तथ्यात्मक (thematic) मानचित्र निम्न हैं : १. ज्योतिष (astronomical) मानचित्र; २. उच्चावचन (relief) मानचित्र; ३. भूवैज्ञानिक (geological) मानचित्र (इसमें भूगर्भिक-स्थितियों, चट्टानों, खनिज पदार्थों तथा मिट्टी आदि एवं उनका विस्तार आदि का समावेश रहता है); ४. समुद्र की गहराई (bathymetric) मापन मानचित्र — इनमें समुद्रों, महासागरों या बड़ी झीलों आदि की समुद्र तल से गहराई तथा उनके वितल (floor) की ऊँचाई निचाई प्रदर्शित की जाती है; ५. समुद्र एवं पर्वतीय (orographic) उच्चावचन मानचित्र— इनमें समुद्रों, महासागरों या झीलों की गहराई तथा पर्वतीय ऊँचाई निचाई का प्रदर्शन रहता है; ६. ऋतु या मौसम सूचक मानचित्र; ७. जलवायु मानचित्र—इनमें अधिक कालावधि के ऋतु प्रकरणों की औसत दशाओं का वितरण दिखलाया जाता है, ८. वनस्पति एवं जीव संबंधी मानचित्र—इनमें वनस्पति के विभिन्न प्रकार, जानवरों तथा मनुष्य आदि का वितरण दिखलाया जाता है; ६. राजनीतिक (political) मानचित्र— इनमें किसी राष्ट्र के विभिन्न स्तरीय प्रशासनिक खंडों, उपखंडों तथा उनके विभागों, उपविभागों, सीमाओं, प्रशासनिक केंद्रों आदि का समावेश रहता है (विभिन्न राष्ट्रसमूह आदि भी साथ साथ दिखलाए जाते हैं, जैसे राष्ट्रकुल के देश); १०. जनसंख्या संबंधी मानचित्र — इनमें विभिन्न विधियों द्वारा आबादी का वितरण दिखलाया जाता है) प्रजाति के अनुसार मानव के वितरण मानचित्र को मानव जाति (ethnographic) मानचित्र कहते हैं); ११. आर्थिक (economic) मानचित्र — इनमें मुख्यतः वन साधन, कृषि की फसलों, खनिज तथा औद्योगिक वस्तुओं का वितरण दिखलाया जाता है (इन्हें संसाधन (resource) मानचित्र भी कहते हैं। व्यापारिक महत्व की वस्तुएँ, तथा व्यापार में सहायक साधनों जैसे यातायात साधन आदि दिखलानेवाले मानचित्रों को व्यापारिक मानचित्र कहते हैं। वितरण दिखलानेवाले मानचित्रों को वितरण मानचित्र कहते हैं); १२. ऐतिहासिक तथा पुरातात्विक मानचित्र—इनमें प्राचीन ग्राम एवं नगर, प्राचीन राज्यों तथा साम्राज्यों की सीमा, युद्धस्थल, आक्रमण या रक्षा एवं यात्रा के मार्ग आदि का अंकन होता है तथा १३. सैनिक मानचित्र — इनमें सैनिक महत्व के तथ्यों का अंकन होता है।

मानचित्र की भाषा — मानचित्र में शब्दों द्वारा कम से कम वस्तुस्थिति या तथ्य का आलेख होता है और उनके स्थान पर विविध विधियों का उपयोग होता है। उन विविध विधियों तथा चिह्नों को सामूहिक रूप से मानचित्र की भाषा की संज्ञा दे सकते हैं। इस भाषा के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं :

१. पैमाना — मानचित्र में पृथ्वी या उसके खंड को छोटे रूप में प्रदर्शित करते हैं। अतः पृथ्वी तथा मानचित्र के मध्य जो आनुपातिक संबंध होता है, उसे पैमाने द्वारा प्रदर्शित करते हैं। पैमाने दो प्रकार के होते हैं : दीर्घ तथा लघु। दीर्घ पैमाने में दो बिंदुओं के मध्य की दूरी अपेक्षाकृत अधिक होगी। अतः दीर्घ पैमाने का मानचित्र लघु पैमाने के मानचित्र की अपेक्षा कम क्षेत्र घेरेगा, किंतु उसमें अधिक तथ्यों का समावेश स्पष्टतर ढंग से होगा। छोटे पैमाने में दो बिंदुओं की दूरी समीपतर होगी और अपेक्षाकृत कम या प्रमुख तथ्यों का ही समांकन ऐसे मानचित्रों में संभव है। पैमाने का चुनाव निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है : (क) मानचित्रित क्षेत्र का कुल क्षेत्रफल, (ख) कागज का विस्तार, (ग) अंकित किए जानेवाले तथ्यों की संख्या एवं (घ) मानचित्र का प्रयोजन। पैमाना प्रत्येक मानचित्र पर अवश्य अंकित रहना चाहिए। पैमाने तीन विधियों से प्रदर्शित किए जाते हैं, किंतु सभी विधियाँ प्रत्येक मानचित्र पर नहीं दिखलाई जातीं : अ. साधारण विवरण द्वारा या लिखकर, जैसे ४ इंच = १ मील; ब. रेखा द्वारा (इस विधि में सीधी रेखा को कई समान भागों में विभाजित करते हैं, 'जिनके बीच की दूरी धरातल पर के बिंदुओं की दूरी प्रदर्शित करती है। रेखा को प्रायः प्रमुख तथा गौण विभागों में विभाजित करते हैं), स. अनुपात द्योतक या प्रतिनिधि भिन्न द्वारा (representation), (इस विधि में दो बिंदुओं की दूरी तथा मानचित्रित भूखंड पर के संगती बिंदुओं की दूरी के अनुपात को ऐसी भिन्न द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जिसका अंश एक रहता है और हर भी उसी माप की इकाई होता है। ऐसी भिन्न को द्योतक भिन्न कहते हैं। १/१०० द्योतक भिन्न का अर्थ होगा कि पृथ्वी पर की प्रत्येक १०० इकाइयों का प्रदर्शन मानचित्र पर उसकी एक इकाई द्वारा किया गया है। चाहे उक्त इकाइयाँ, इंच, फुट, गज में हों अथवा सेंटीमीटर, मीटर मे अथवा माप की अन्य इकाइयों में।)

द्योतक भिन्न के पैमाने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे अज्ञात भाषा के मानचित्र पर अंकित दो बिंदुओं की दूरी और पृथ्वी के आनुपातिक संबंध को ज्ञात किया जा सकता है। साधारण विवरण के पैमाने को द्योतक भिन्न में तथा द्योतक भिन्न को साधारण विवरण के पैमाने में परिवर्तित किया जा सकता है।

२. संकेतात्मक एवं रूढ़ चिह्न (symbols and conventional signs) — मानचित्र पर अधिकाधिक एवं विविध तथ्यों को समुचित ग्राह्यता के साथ प्रदर्शित करने के लिये विविध प्रकार के चिह्नों का उपयोग किया जाता है, जिनका हम दो भागों में वर्णन कर सकते हैं। सांकेतिक या प्रतीकात्मक चिह्न उन्हें कहते हैं जिन्हें प्रायः विभिन्न व्यक्ति, विभिन्न रूप से, विभिन्न तथ्यों को प्रदर्शित करने के लिये उपयोग में लाते हैं। ये चिह्न रेखा, बिंदु, वृत्त, वर्ग, त्रिभुज आदि, विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों अथवा प्रतीकात्मक अक्षरों द्वारा दिखलाए जाते हैं (देखें, नक्शा खींचना)।

रूढ़ चिह्न भी संकेतात्मक होते हैं, लेकिन अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इन्हें परंपरागत सर्वमान्यता प्राप्त है और तथ्यविशेष के लिये चिह्नविशेष का ही उपयोग होता है। उदाहरणस्वरूप, पक्की सड़क को हर देश के धरातलीय मानचित्र पर दो समातर रेखाओं द्वारा तथा कच्ची सड़क को दो समांतर टूटी रेखाओं द्वारा दिखलाते हैं। इससे

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानचित्रों की ग्राह्यता एवं उपादेयता बढ़ जाती है।

३. रंग — आजकल विभिन्न एवं अधिकाधिक तथ्यों को मानचित्र पर ग्राह्य एवं सुस्पष्ट बनाने के लिये विभिन्न रंगों या एक ही रंग के विभिन्न स्तरों या छायाओं का उपयोग बढ़ गया है। साधारण रंगीन मानचित्र में नीले रंग द्वारा नदियाँ तथा जलाशय, भूरे रंग द्वारा समोच्च रेखाएँ तथा अन्य ऊँचाइयाँ, लाल रंग द्वारा सड़कें तथा भवनादि, काले रंग द्वारा रेलमार्ग आदि, हरे रंग द्वारा वन या अन्य वनस्पतियाँ तथा पीले रंग द्वारा कृषिक्षेत्र प्रदर्शित किए जाते हैं।

४. भौगोलिक जाल — गोलक पर न कहीं प्रारंभ है और न कहीं अंत और न ही कोई प्रकृत निश्चित बिंदु (reference point) है, लेकिन पृथ्वी पर, जो स्वयं लगभग गोलाकार है, उसकी दैनिक एवं वार्षिक गतियों तथा ग्रह उपग्रहीय अंत संबंधों के कारण उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव बिंदु, निश्चित बिंदु हो जाते हैं और उसकी धुरी को जोड़ते हैं, जिसकी सहायता से काल्पनिक ढंग से निश्चित किया हुआ अक्षांश तथा देशांतर रेखाओंका रेखा जाल (net), जिसे भौगोलिक जाल कहते हैं, बनता है। पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण शुद्ध शुद्ध, ठीक ठीक दूरी पर खिंची अक्षांश तथा देशांतर रेखाओं का जाल मानचित्रों पर किसी स्थान की स्थिति निर्धारण के लिये आवश्यक है। यदि किसी स्थान विशेष की स्थिति ५०° २५′ २५″ उ० अ० तथा ७०° २५′ १५″ पू० दे० पर है, तो भौगोलिक जाल की सहायता से सुगमता से इसकी स्थिति का निर्धारण हो सकता है। ये सारी रेखाएँ वृत्त अथवा वृत्त के भाग हैं और अंश (°) मिनट (′) एवं सेकंड (″) में बटी रहती हैं।

देशांतर रेखाएँ उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक खिंची रहती हैं और इस प्रकार अर्धवृत्त होती हैं। अंतरराष्ट्रीय समय के निर्धारण के लिये लंदन के समीप ग्रीनिच स्थान की वेधशाला से गुजरनेवाली देशांतर रेखा को प्रमुख देशांतर रेखा (prime meridian) कहते हैं। इससे पूर्व की देशांतर रेखाएँ पूर्व देशांतर तथा पश्चिम की देशांतर रेखाएँ पश्चिमी देशांतर रेखाएँ कहलाती हैं। १८०° पूर्व या १८०° पश्चिम देशांतर जो एक ही रेखा है, उसे अंतरराष्ट्रीय तिथि-रेखा (International date line) कहते हैं, जहाँ पूर्व एवं पश्चिमी गोलार्धों की समयसारिणी निर्धारित होती है।

अक्षांश रेखाएँ उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों से समान दूरी पर पृथ्वी के चारों ओर खींची जाती हैं और वृत्त बनाती हैं। इनकी मध्य रेखा भूमध्य अथवा विषुवत् (equator) रेखा कहलाती है, जो ०° ०′ ०″ पर खिंची रहती है और जो पृथ्वी को उत्तरी तथा दक्षिणी दो गोलार्द्धों में विभाजित करती है। इसके २३·५° उत्तर तथा २३·५° दक्षिण, क्रमशः कर्क (North tropic) तथा मकर (South tropic) रेखाएँ तथा ६६·५° उत्तर तथा दक्षिण में क्रमशः उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवीय वृत्त रेखाएँ होती हैं।

५. मानचित्र प्रक्षेप — चौरस कागज पर गोलक से इन रेखाओं को उतारकर जो जाल तैयार होता है, उसे रेखाजाल (net) कहते हैं। अतः परिभाषा के रूप में एक समतल धरातल पर (चौरस कागज पर) एक निश्चित पैमाने के अनुसार पृथ्वी या किसी क्षेत्र की अक्षांश एवं देशांतर रेखाओं को क्रमबद्ध रूप में खींचने की विधि को मानचित्र प्रक्षेप कहते हैं। मानचित्र बनाने के लिये किसी न किसी विधि पर तैयार किए गए प्रक्षेप पर आधारित अक्षांश तथा देशांतर रेखाओं का जाल बनाना नितांत आवश्यक है। प्रक्षेपों का चुनाव मानचित्र के प्रयोजन पर निर्भर करता है, जैसे शुद्ध क्षेत्रफल, शुद्ध दिशा अथवा शुद्ध आकार आदि वांछनीय तत्वों में से किसी एक पर एक मानचित्र में विशेष ध्यान दिया जाता है। ये तीनों गुण एक से मानचित्र प्रक्षेप में नहीं मिलते (देखें, 'प्रक्षेप')।

भू-आकृति की ऊँचाई, निचाई तथा स्वरूप का प्रदर्शन — मानचित्र में भू-आकृति के विभिन्न स्वरूपों एवं आकृतियों को दिखाना कठिन कार्य है। भू-आकृति की ऊँचाई निचाई का अभिप्राय समुद्रतल से भूमि की ऊँचाई निचाई से है। जहाँ भूमि समुद्रतल से नीची है वहाँ निचाई ऋणात्मक (—) चिह्न द्वारा दिखाई जाती है एवं ऊँचाई या निचाई फुट या मीटर में दिखाई जाती है। मानचित्र पर भू-आकृति को दिखलाने की कई विधियाँ हैं : १. चित्र द्वारा प्रदर्शन, २. गणित द्वारा तथा ३. मिश्रित विधियाँ।

१ चित्र द्वारा प्रदर्शन — इसमें कई विधियाँ अपनाई जाती हैं :

(क) रेखाच्छादन विधि (Hachures) — इस विधि द्वारा बहुत पतली पतली छोटी रेखाओं की सहायता से जलप्रवाह या ढाल की दिशा दिखलाते हैं। अधिक ढालवें क्षेत्र को अपेक्षाकृत मोटी तथा पास पास खींची रेखाओं द्वारा तथा कम ढालुवें क्षेत्र को पतली पतली तथा दूर दूर खींची रेखाओं द्वारा प्रदर्शित करते हैं (देखें नक्शा बनाना)। मैदानों अथवा पठार के समतल भागों को श्वेत छोड़ देते हैं। ठीक ठीक प्रदर्शन के लिये रेखाओं की मोटाई गणित के आधार पर निर्धारित होती है, लेकिन बहुधा अनुभव के आधार पर ही खींचते हैं। अतः इससे ढालक्रम का साधारण ज्ञान हो जाता है, परंतु भू-आकृति ठीक ठीक स्पष्ट नहीं हो पाती है और मानचित्र में दर्शाए गए पहाड़ी क्षेत्रों में इतनी अधिक रेखाएँ हो जाती हैं कि भू-आकृति के अन्य रूपों का ज्ञान नहीं हो सकता। रेखाओं को खींचने में समय भी अधिक लगता है, अतः इसका उपयोग कम हो रहा है। अधिक ऊर्ध्वाधर पैमाने (vertical scale) पर खींची समोच्च रेखाओं (contour) के बीच बीच में छिछली घाटियों, छोटी टेकरी (knoll) आदि के प्रदर्शन में इसका उपयोग होता है।

(ख) पहाड़ी छायाकरण (Hill Shading) — इसके अंतर्गत (अ) ऊर्ध्वाधर प्रदीप्ति और (ब) तिर्यक् प्रदीप्ति विधियाँ आती हैं।

अ. ऊर्ध्वाधर प्रदीप्ति (Vertical illumination) — इस विधि में कल्पना की जाती है कि एक कल्पित प्रकाशपुंज भूमि के ऊपर प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रकाश ढाल के उतार चढ़ाव के क्रम के अनुसार कम बेशी होता है। अपेक्षाकृत चपटे भाग हलकी छाया से दिखलाए जाते हैं।

ब. तिर्यक् प्रदीप्ति (Oblique illumination) — इस विधि में कल्पना की जाती है कि मानचित्र के उत्तर-पश्चिमी कोने के बाहर प्रकाशपुंज रखा हुआ है। अतः उत्तर-पश्चिमी ढाल प्रकाशित रहेगा और दक्षिण-पूर्वी भाग अँधेरे में रहेगा। छाया में पड़नेवाले भाग

अधिक बड़े दिखाई देते हैं। समतल भाग भी छाया में पड़ने पर ढालवें दिखाई देते हैं। हैश्यूर की तरह ही पर्वतीय छायाविधि में ढालक्रम का ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, परंतु इसमें बिंदुओं की सहायता ली जाती है, अतः यह अपेक्षाकृत सुविधाजनक होता है और कम समय में तैयार हो जाता है।

(ग) स्तर वर्ण (layer tint) विधि — इस विधि में विभिन्न रंगों से ऊँचाई दिखलाई जाती है।

२. गणित द्वारा प्रदर्शन — इस विधि में निम्नलिखित पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं :

(क) बिंदु द्वारा — स्थान की ऊँचाइयाँ (spot heights) बिंदु द्वारा अंकित स्थान के पास, समुद्रतल से स्थान विशेष की ऊँचाई ठीक माप कर, फुट या मीटर में लिख दी जाती है।

(ख) निर्देश चिह्न (Bench Mark) — भवनादि या पुल की खास ऊँचाई पर बी॰ एम॰ (B. M.) लिखकर समुद्रतल से ऊँचाई लिख दी जाती है, जैसे बी. एम. २००।

(ग) त्रिकोणमितीय स्टेशन (Trigonometrical Station) — इसमें त्रिकोणीय सर्वेक्षण द्वारा निश्चित किए गए स्टेशनों को उनकी ऊँचाई के साथ दिखलाते हैं, जैसे △ २००।

(घ) समोच्च रेखाएँ — ये वे कल्पित रेखाएँ हैं, जो समुद्रतल से समान ऊँचाई के स्थानों को मिलाती हुई, मानचित्र पर बराबर दूरी पर खींची जाती है। ये अधिक शुद्ध होती हैं और इनके विभिन्न स्वरूपों से भू-आकृतियों का समुचित ज्ञान हो जाता है।

(च) खंडित रेखा (form line) विधि — ये रेखाएँ समोच्च-रेखाओं के समान ही होती हैं, किंतु ये समोच्च रेखाओं के बीच बीच में आवश्यकतानुसार छोटी छोटी भू-आकृतियों को दिखाने के लिये टूटी रेखाओं द्वारा दिखलाई जाती हैं।

३. मिश्रित विधियाँ — आजकल भू-आकृति को दिखलाने के लिये कई विधियों को साथ साथ उपयोग में लाते हैं, उदाहरणस्वरूप (क) समोच्च रेखाएँ तथा हैश्यूर, (ख) समोच्च रेखाएँ, हैश्यूर तथा स्थानिक ऊँचाइयाँ (ग) समोच्च रेखाएँ, खंडित रेखाएँ तथा स्थानिक ऊँचाइयाँ, (घ) समोच्चरेखाएँ तथा पर्वतीय छाया विधि और (च) समोच्चरेखाएँ तथा स्तरवर्ण।

मानचित्र कला (Cartography) — मानचित्र तथा विभिन्न संबंधित उपकरणों की रचना, इनके सिद्धांतों और विधियों का ज्ञान एवं अध्ययन मानचित्र कला कहलाता है। मानचित्र के अतिरिक्त तथ्य प्रदर्शन के लिये विविध प्रकार के अन्य उपकरण, जैसे उच्चावचन मॉडल, गोलक, मानारेख (cartograms) आदि भी बनाए जाते हैं।

मानचित्र कला का इतिहास — मानचित्र निर्माण की विद्या अति प्राचीन है। मार्शल द्वीपवासी ताड़ के डंठलों एवं कौड़ियों की सहायता से समुद्र संतरण के मार्गों तथा द्वीपों को दिखाने के लिए चार्ट तैयार करते थे। एस्किमो, अमरीका के रेड इंडियन आदि भी नदियों, वनों, मंदिरों तथा बस्तियों, शिकार के रास्तों आदि का उल्लेख भौगोलिक शुद्धता के साथ रेखाचित्र पर कर लेते थे। इसी प्रकार एशिया तथा अफ्रीका के आदिवासियों तथा अन्य जातियों में भी मानचित्र बनाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

प्राचीन भारतीय मानचित्र कला — अभी प्राचीन भारत की मानचित्र कला तथा संबंधित भौगोलिक ज्ञान के विषय में शोध कार्य नहीं हुआ है, लेकिन अन्य विषयों के शोध कार्यों से संबंधित तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीयों ने मानचित्र कला में पर्याप्त उन्नति की थी। परिलेखन ज्ञान, प्रक्षेप, सर्वेक्षण, शुल्व सूत्र तथा तत्संबंधी विविध प्रकार के यंत्रों के निर्माण एवं ज्ञान का आभास प्राचीन पुस्तकों में मिलता है। यह कला रोमनों से बहुत पहले ऋग्वेद (४,००० ई० पू० से १,५०० ई० पू०), बौधायन (८०० ई० पूर्व), आपस्तंब एवं कात्यायन के काल में उन्नत अवस्था में थी। भूमि पर विभिन्न आकृतियों और योजना लेखों के खींचने की परिपाटी बौधायन से पहले ही प्रारंभ हो चुकी थी। पाणिनि के अष्टाध्यायी से भी सर्वेक्षण ज्ञान की स्थिति का पता चलता है। मौर्य काल में सुसंगठित सर्वेक्षण विभाग की स्थिति, मानचित्रों को समाहित कार्यों में उपयोग करने की परंपरा तथा जातकों में शुल्व कार्य में यष्टि और रज्जु के प्रयोग आदि तथ्यों के उल्लेख से स्पष्ट है कि भारतीय लोग मानचित्रों के निर्माता ही नहीं थे, वरन् उसका कुशल और व्यावहारिक उपयोग भी करते थे। सूर्यसिद्धांत तथा विविध ज्योतिष ग्रंथों में भूगोल एवं तत्संबंधी चित्रों एवं सीमांकन रेखाचित्रों आदि के संबंध में सर्वार्थवाची शब्द 'परिलेख' का उपयोग हुआ है। विभिन्न खगोल संबंधी कार्यों तथा ग्रहण आदि के अवसर पर विविध ग्रह उपग्रहों की स्थितियों, मार्गों आदि को प्रक्षेप प्रतिपाद के द्वारा दिखलाया जाता था। सूर्यसिद्धांत के अनुसार गोलक पर अक्षांश, देशांतर, क्रांति, विषुवत् आदि को अंकित करने की रीतियाँ बताई गई हैं। उसी पुस्तक से स्पष्ट होता है कि जल द्वारा तलमापन (levelling) किया जाता था, जो आजकल स्पिरिट लेवल (spirit level) से किया जाता है।

अक्षांश, देशांतर के स्थान पर सर्वप्रथम भारतीय पुराणकारों ने पृथ्वी के चारों ओर चार प्रमुख स्थानों, यथा श्रीलंका, श्रीलंका से ९०° पूर्व यमकोटि, श्रीलंका से ९०° पश्चिम सिद्धपुर तथा उसके विपरीत अध.भाग में रोमकपत्तन, का उल्लेख करते हुए सूर्य की दृश्यमान गति को स्पष्ट किया है। यहीं से बाद में अक्षांश तथा देशांतर का सूत्रपात होता है। प्रक्षेप की पद्धति का सूत्रपात भी सर्वप्रथम ज्योतिष ग्रंथों में ही मिलता है। आर्यभट्ट ने ही सर्वप्रथम π का वास्तविक फल तथा वृत्त का क्षेत्रफल निकालने की रीति बतलाई। पौराणिक काल में जंबू द्वीप आदि का मानचित्र बनाकर उन्हें मंजूषा में रखा जाता था। एक वर्ग हस्त के समपटल पर मानचित्र बनाने की पद्धति पाई जाती है।

अन्य प्राचीन देशों में मानचित्र कला — भारतीयों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन संस्कृतिवाले देशों में भी मानचित्र कला का ज्ञान था। बेबिलोनिया से प्राप्त एक मृत्तिका पट्टिका पर अंकित पर्वतसंकुल घाटी का चित्र २,३०० ई० पू० का बनाया जाता है। लगभग उसी समय मिस्र निवासियों को तथा बाद में फारस तथा फिनीशिया निवासियों

को इस कला का ज्ञान हो चुका था। तीसरी सदी ई० पू० में यूनानी मानचित्रों पर अक्षांश, देशांतर तथा प्रक्षेप आदि खींचते थे। रोम निवासियों ने युद्ध तथा प्रशासनिक कार्यों के लिये सर्वेक्षण द्वारा विभिन्न ज्ञात देशों, पर्वतों, मैदानों, घाटियों, बंदरगाहों तथा राजमार्गों के मानचित्र तैयार किए। रोमनों ने मानचित्रों के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया, जबकि यूनानियों के मानचित्रों मे वैज्ञानिक पक्ष को अधिक महत्व दिया जाता था।

ऐलेग्जैंड्रिया (मिस्र) निवासी क्लॉडियस टॉलिमी द्वारा निर्मित १५० ई० के लगभग का, ज्ञात संसार का, मानचित्र सुविख्यात है। उनकी आठ जिल्दोंवाली पुस्तक ज्योग्राफिया मे तत्कालीन ज्ञात संसार के ३२ भूभागो तथा क्षेत्रों का समावेश हुआ है। १४१० ई० में टॉलिमी की पुस्तक का अनुवाद करके मानचित्रावली का रूप दिया गया। इस काल में मानचित्र कला का पुनर्जन्म माना जाता है। बाद मे १६वीं सदी मे उसमें नई दुनिया (अमरीका) तथा अफ्रीका के दक्षिण से होते हुए पूर्व एशिया के समुद्री मार्गों का समावेश किया गया। मानचित्र कला मे अरब विद्वानों का महत्वपूर्ण वैज्ञानिक योगदान है। दसवी सदी में उन्होने सर्वप्रथम स्कूल ऐटलस बनाया। अरब भूगोलवेत्ता इद्रिसी के संसार के मानचित्र (११५४ ई०) में विविध तथ्यों का समावेश है।

आधुनिक मानचित्र कला का विकास — १४वीं एवं १५वीं सदी मे यूरोपीय सामुद्रिक नाविक चार्ट का बहुत उपयोग करते थे। समुद्रतटीय प्रदेशो, बंदरगाहों, बस्तियों आदि का उसमें आलेख होता था। बहुधा ये मानचित्र भेड़ की खाल पर बनाए जाते थे। कोलंबस स्वयं मानचित्र निर्माता था, यद्यपि उसके स्वयं बनाए मानचित्र उपलब्ध नही हैं। १५०० ई० के लगभग बनाया हुआ उसके साथी ह्वान डे ला कोसा (Juon da la Cosa) का मानचित्र मैड्रिड (स्पेन) के सामुद्रिक संग्रहालय मे सुरक्षित है। संसारव्यापी समुद्रसंतरण के सिलसिले में नए रास्ते एवं अन्य खोजों का समावेश तीव्रता से बढ़ता गया।

१६वीं एवं १७वीं सदी मे डच लोग (हॉलैंड निवासी) यूरोप में सर्वश्रेष्ठ मानचित्रकार थे। मर्केटर ने, जो डच मानचित्र परिलेखन का जन्मदाता माना जाता है, अपना सुप्रसिद्ध मर्केटर मानचित्र प्रक्षेप (Mercator's map projection) बनाया (देखें मर्केटर प्रक्षेप) इग्लैंड निवासी चार्ल्स सेक्स्टन को इंग्लैंड के मानचित्र कला की परंपरा का पिता माना जाता है। उन्होंने बहुत से उच्च कोटि के मानचित्र बनाए। १७वीं सदी के अंत तक सर्वेक्षण के विभिन्न यंत्र, जैसे प्लेनटेबुल, सेक्स्टैंट, थियोडोलाइट (Theodolite) आदि का प्रयोग अच्छी तरह होने लग गया था, जिससे प्राप्त आँकडो (data) से मानचित्र निर्माण की प्रचुर सामग्री प्राप्त होने लगी।

त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण और देशांतरों की शुद्ध माप के १८वी सदी में संभव हो जाने पर मानचित्रो का शुद्धिकरण एवं संशोधन युग प्रारंभ हुआ। पहले फ्रेंच लोग इसमें अगुआ थे। सी० एफ० कैसिनी (C. F. Cassini) तथा उसके पुत्र ने फ्रास मे विश्व का प्रथम राष्ट्रीय सर्वेक्षण प्रारंभ किया। बाद में इंग्लैंड की सैनिक एवं राजनीतिक शक्ति बढ़ी और लंदन मानचित्र निर्माण एवं छापने में अग्रणी हो गया। १८०१ ई० में सर्वप्रथम १ इंच = १ मील का मानचित्र वहाँ तैयार किया गया। बाद में स्पेन, जर्मनी, स्विट्जरलैंड आदि अन्य देशों में भी राष्ट्रीय सर्वेक्षण प्रारंभ किए गए। १९वीं तथा २०वीं सदी में मानचित्र विज्ञान की अत्यधिक प्रगति हुई है। नई नई वैज्ञानिक पद्धतियों के विकास से मानचित्र तैयार किए गए हैं। फ्रांस, संयुक्त राज्य (अमरीका) एवं सोवियत रूस ने राष्ट्रीय ऐटलस निर्माण की पद्धति प्रारंभ की, जिसमें राष्ट्र के बारे में शोधपूर्ण संसाधन तथ्यों का आलेख रहता है। वायुयान द्वारा भूभागों की फोटो लेने की पद्धति ने पिछले दशकों, विशेषकर द्वितीय युद्ध तथा इसके उत्तरकाल मे, मानचित्र कला की प्रगति मे महत्वपूर्ण योगदान किया है।

भारत मे भी मानचित्र कला की प्रगति के दो महत्वपूर्ण कार्य प्रारंभ किए गए हैं : राष्ट्रीय ऐटलस का निर्माण तथा वायुयान द्वारा भू-सर्वेक्षण। अब तक भूगोलविदो के संरक्षण मे राष्ट्रीय ऐटलस योजना ने हिंदी तथा अंग्रेजी मे राष्ट्रीय ऐटलस का संस्करण प्रकाशित किया है। जनसख्या वितरण के कुछ पत्रक भी प्रकाशित हो गए हैं। [का० ना० सिं०]

मानसरोग या उन्माद (Insanity) मस्तिष्क की उस गंभीर स्थिति को कहते हैं जिसमें मानसिक और संवेदनात्मक क्रियाओं के बिलकुल अस्तव्यस्त हो जाने के कारण व्यक्ति अपनी देखरेख करने की शक्ति तथा सामाजिक सामंजस्य सर्वथा खो बैठता है। इन्ही रोगियों को साधारणतया विक्षिप्त या पागल कहते हैं। चेतन और अचेतन मन के द्वंद्व से मानसरोग उत्पन्न होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में जब अराजकता का साम्राज्य हो तब उसे हम विक्षिप्त कहते हैं। मानसरोग कई प्रकार के होते हैं। इनमे कुछ जटिल होते हैं एवं कुछ साधारण। कुछ रोगों को मानस चिकित्सको ने साध्य माना है और कुछ को असाध्य। रोगो का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से दो वर्गों और उनके उपवर्गों मे किया जा सकता है १. आधि (Neurosis). (क) मन श्रांति (Neurasthenia), (ख) चिंता (Anxiety), (ग) उन्मादी की आधि (Neurosis of insane) (घ) बाध्यता आधि (Compulsion neurosis), (ङ) भीति (Phobia) तथा (च) हिस्टीरिया (Hysteria)।

२ मनोविक्षिप्ति (Psychosis) : (क) उन्माद (Mania), (ख) सविषाद (Depression) (ग) अंतरावंध (Schizophrenia), (घ) विषाद रोग (Melancholia), (ङ) सविभ्रम विक्षिप्ति (Paranoia)।

मानसरोग के कारण दो प्रकार के होते हैं, एक जन्मजात और दूसरे अर्जित। कुछ मानसिक रोग माता पिता से संतान मे चले आते हैं और कुछ जीवन मे होनेवाली अनेक प्रकार की वेदनाओं की अनुभूतियो के कारण उत्पन्न होते हैं। दुस्साध्य मानसरोग का प्रधान कारण प्राय वंशपरंपरागत ही होता है। साध्य मानसरोग बचपन के अवाछनीय संस्कारो, वातावरणों अथवा जीवन मे घटनेवाली विशेष प्रकार की भावात्मक घटनाओ के कारण उत्पन्न होते हैं। डेडफील्ड ने इन रोगो के कारण दो प्रकार के बताए हैं : एक दूरस्थ और दूसरे समीपस्थ।

आधि और मनोविक्षिप्ति में भेद — फिशर ने आधि और मनोविक्षिप्ति मे निम्नलिखित भेद बतलाए हैं

१. दूसरों के प्रति मनोविक्षिप्त व्यक्ति का व्यवहार, आधिग्रस्त व्यक्ति की अपेक्षा अधिक असाधारण रहता है। उदाहरणार्थ,

आधिपीड़ित व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को देखकर उसके ऊपर थूकने की प्रबल इच्छा हो सकती है, परंतु वह थूक नहीं सकता, किंतु मनोविक्षिप्त व्यक्ति जिस समय ऐसी प्रेरणा का अनुभव करता है वह उसी समय थूक देता है। २. मनोविक्षिप्त व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसके मस्तिष्क में कोई खराबी है, किंतु आधिग्रस्त व्यक्ति इसे जानता है। आधिग्रस्त व्यक्ति मे विवेक रहता है, किंतु मनोविक्षिप्त व्यक्ति विवेकहीन होता है। ३. आधिग्रस्त व्यक्ति देश, काल और व्यक्तित्व के विषय मे ज्ञान रखता है। यदि उसका ज्ञान थोड़े समय के लिये चला भी जाय तो वह फिर लौट आता है। मनोविक्षिप्त व्यक्ति यह जानता ही नहीं कि वह कौन है, क्या है और किस समय मे है, जैसे कोई आधिग्रस्त भिखारी अपने आपको किसी देश का राजा मान ले सकता है। ४. आधि पीड़ित व्यक्ति को भ्रामक और अनुपस्थित वस्तुएँ नहीं दिखाई देतीं, परंतु मनोविक्षिप्त व्यक्ति को मरे हुए और दूर के लोग भी दिखाई देते हैं। ५. आधिग्रस्त व्यक्तियों की विचारशक्ति उतनी विकृत नहीं होती जितनी मनोविक्षिप्त व्यक्तियों की होती है। आधिग्रस्त व्यक्ति अपनी किसी भी धारणा के लिये कोई ऐसा कारण खोजने की चेष्टा करते हैं, जो सामान्य लोगों मे प्रचलित है, परंतु मनोविक्षिप्त व्यक्ति किसी चुड़ैल को घटना का कारण बताने लगते है। उन्हें यह विचार आता है कि कोई भूत उनके हाथ से कुछ उल्टा सीधा लिखा लेता है, अथवा उनके किए कराए काम को चौपट कर देता है। ६. वास्तविक दुनिया से मनोविक्षिप्त व्यक्तियों का संबंध आधिग्रस्त व्यक्ति की अपेक्षा बहुत कम रहता है और घटनाओं के प्रति उसकी सतर्कता भी बहुत कम रहती है। ७. कारणों के अनुसार आधिग्रस्त व्यक्ति मे मनोजन्य तत्व और वंशानुक्रम अधिक महत्वपूर्ण हैं एवं तंत्रिका (neurological) तत्व और रासायनिक तत्व प्राय महत्वहीन हैं, परंतु मनोविक्षिप्त व्यक्तियों मे वंशानुक्रम, विषज, और तंत्रिका तत्व ही प्रमुख कारण होते हैं। मनोजन्य तत्वों का महत्व हो भी सकता है और नहीं भी। ८. साधारण व्यवहार के अतर्गत आधिग्रस्त व्यक्ति में भाषा और विचार पर्याप्त सीमा तक संगत और विवेकपूर्ण होते हैं तथा व्यामोह, अवस्तुबोध और मानसिक अस्तव्यस्तता का अभाव रहता है, परंतु मनोविक्षिप्ति मे भाषा और विचार असंगत, विचित्र तथा तर्कहीन हो जाते हैं। मानसिक अस्तव्यस्तता, व्यामोह और अवस्तुबोध इत्यादि पर्याप्त होते हैं। ९. आधिग्रस्त व्यक्ति का समाज और वास्तविकता के साथ संबंध बना रहता है। साधारणतया व्यवहार समाजविहित नियमों के अनुकूल होता है। मनोविक्षिप्त अवस्था मे सामूहिक प्रवृत्ति और सामाजिक आदतें नष्ट हो जाती हैं। व्यवहार समाजविहित नियम के प्रतिकूल और असंबद्ध होता है। १०. आधिपीड़ित रोगियों मे आत्मव्यवस्था की क्षमता होती है। वे पूर्णतया, अथवा आंशिक रूप से, आत्मनिर्भर होते हैं तथा उनमें कदाचित् ही कभी आत्महत्या की प्रवृत्ति रहती है। मनोविक्षिप्त रोगियों मे आत्मव्यवस्था की क्षमता नहीं होती। ये प्रायः आत्महत्या के लिये प्रवृत्त रहते हैं, अतः चिकित्सालय में भर्ती करना अथवा घर पर इनकी देखरेख रखना आवश्यक है। ११. आधि के रोगियों का व्यक्तित्व प्रायः सामान्य ही रहता है, परंतु मनोविक्षिप्त रोगियों के व्यक्तित्व में पर्याप्त अंतर होता है, व्यवहार और क्रियाओं की दृष्टि से ये सामान्य से भिन्न प्रतीत होते हैं।

आधि की विशेषताएँ — १. बाल्यकाल से लेकर जरावस्था तक के बीच प्रायः सभी अवस्था के लोग इससे आक्रांत हो सकते हैं। औसतन ४० वर्ष की उम्र मे इसका प्रसार अधिक पाया गया है। २. पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ इससे अधिक आक्रांत होती हैं। ३. मंद बुद्धि वालों की अपेक्षा प्रखर बुद्धि वालों मे यह रोग अधिक होता देखा गया है।

मनोविक्षिप्ति संबंधी सामान्य तत्व — प्रायः देखा गया है कि मानसिक व्याधियाँ छिटपुट, या अनिश्चित रूप से, जीवनकाल की प्रत्येक अवस्था मे उत्पन्न नहीं होती, वरन् प्रत्येक व्याधि का किसी न किसी विशेष अवस्था में ही आक्रमण होता है। अतरावंध मुख्यत युवा और पूर्वप्रौढावस्था की व्याधि है। सविषाद विक्षिप्ति एवं सहज मनोविक्षिप्ति प्रायः मध्यावस्था मे होती है तथा रजोनिवृत्तिकाल का (climacteric) अवसाद प्राय जीवन के उत्तरार्ध में अधिक होते हैं। यह व्याधि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों मे अधिक होती है।

उपचार — आधि का एकमात्र उपचार मनश्चिकित्सा (psychotherapy) है। इसके अंतर्गत व्यक्तित्व संबंधी व्यतिक्रमों की मनोवैज्ञानिक पद्धति द्वारा चिकित्सा करते हैं। सुझाव, सदुपदेश, सम्मोहन इत्यादि मनश्चिकित्सा की प्रारंभिक विधियाँ हैं, जिनके द्वारा आधि का उपचार किया जाता है। आधुनिक मनश्चिकित्सा मे शास्त्रीय पद्धतियों के अंतर्गत रोगी के विश्लेषण और उपचार की कठिनाइयों मे रोगी का ही सक्रिय सहयोग होता है तथा चिकित्सक का स्थान गौण अथवा निष्क्रिय हो जाता है। इन पद्धतियों मे रोगी को मुक्त रूप से अभिव्यक्ति और विचार के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक पद्धतियों द्वारा रोगी के प्रकट लक्षणों के लिये उत्तरदायी अंतर्द्वंद्वों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें ही समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इन नवीन पद्धतियों में मानसिक विरेचन (Mental catharsis), मनोविश्लेषण (Psycho analysis) तथा अनिर्देशात्मक मनश्चिकित्सा (Nondirective psychotherapy) विधियाँ मुख्य हैं।

मनोविक्षिप्ति के उपचार के अतर्गत निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं : १ अस्पताल में भरती करना — जिन रोगियों की घर पर देखरेख नहीं हो सकती उनको अस्पताल मे भर्ती करना उत्तम है, क्योंकि मनोविक्षिप्त रोगियों में आत्महत्या की प्रवृत्ति रहती है और समाज एवं परिवार के लिये भी ये घातक हो सकते हैं। २. ओषधीय उपचार — मानस रोगों के अतिरिक्त यदि किसी अन्य शारीरिक कष्ट से रोगी पीड़ित हो, तो उसका पूर्ण शारीरिक परीक्षण करके तदनुकूल उपचार आवश्यक होता है। ३. मनश्चिकित्सा — इसके द्वारा आधि के रोगियों में लाभ होता है। चिकित्सक रोगी तथा उसके सगे संबंधियों से बातचीत कर रोग की आधारभूत समस्याओं का पता लगाने की चेष्टा करता है। इस विधि द्वारा चिकित्सा का उद्देश्य रोगी के व्यक्तित्व को पुन संगठित करना होता है, जिससे अपने बारे मे पर्याप्त जानकारी तथा आत्मविश्वास प्राप्त कर, रोगी स्थायी नहीं तो अस्थायी रूप से अपने को सुरक्षित अनुभव करने लगे। ४. आक्षोभ चिकित्सा (Shock therapy) — इधर हाल मे कुछ वर्षों से विविध प्रकार की आक्षोभ चिकित्साओं का प्रयोग किया गया है जैसे : (क) इंसुलिन आक्षोभ चिकित्सा (Insulin shock therapy), जिसमे सुई से रोगी को पर्याप्त इंसुलिन देकर रोगी

में प्रगाढ़ बेहोशी उत्पन्न की जाती है। इस अवस्था में रोगी को अत्यधिक पसीना आता है। बेहोशी दूर करने के लिये शिरा से ग्लूकोज चढ़ाते हैं। इस विधि से प्रति सप्ताह तीन से पाँच बार तक तथा कुल लगभग दस सप्ताह तक चिकित्सा कार्यक्रम चलता रहता है। इस विधि का उपयोग अंतराबंध मे करते हैं। (ख) कॉर्डियाजोल चिकित्सा, जिसमें रोगी की मासपेशी मे कॉर्डियाजोल की सुई देते हैं। सुई लगने पर रोगी अचेत हो जाता है और उसमें दौरे आते हैं। प्रति दिन कई सप्ताह तक इसके प्रयोगो से अंतराबंध तथा विषादरोग मे पर्याप्त लाभ मिलता है। (ग) विद्युदाक्षोभ चिकित्सा, उपर्युक्त दोनों पद्धतियों से अधिक सफल सिद्ध हुई है और अधिकतर मनोविक्षिप्तावस्था में इसका उपयोग होता है। (घ) शामक ओषधि चिकित्सा (Sedative drug therapy) मे रोगी को शामक ओषधियो का सेवन कराते हैं। उत्साह-विषाद के दौरों तथा स्थायी मनोविक्षिप्ति के आवेगों का नियंत्रण करने मे इस पद्धति द्वारा अधिक सफलता मिलती है। (च) जलचिकित्सा (Hydro therapy); (छ) भौतिक चिकित्सा (Physiotherapy) तथा (ज) व्यावसायिक चिकित्सा (Occupational therapy) से भी मनोविक्षिप्त के रोगी की चिकित्सा मे पर्याप्त लाभ होता है। [प्रि० कु० चौ०]

मानसरोवर झील स्थिति : ३०° ४०′ उ० अ० तथा ८१° २०′ पू० दे०। यह दक्षिण-पश्चिमी तिब्बत मे समुद्रतल से १५,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसका व्यास लगभग १५ मील और क्षेत्रफल लगभग २०० वर्ग मील है। पंजाब की सतलुज नदी और असम की ब्रह्मपुत्र नदी इसी झील से निकलती है। इस झील के उत्तर मे २२,०२८ फुट ऊँचा कैलाश पर्वत शिखर है। मानसरोवर झील और कैलाश पर्वत दोनों ही हिंदुओं के लिये बड़े पवित्र हैं। [रा० स० ख०]

मानसिक संघर्ष मनुष्य का मन और बाहरी जगत् एक दूसरे के समान और सापेक्ष हैं। जो कुछ और जैसी बाहरी जगत् में घटनाएँ होती हैं, उन्ही के समान और अनुरूप मनुष्य के मानसिक जगत् में भी घटनाएँ घटित होती है। कभी कभी बाहरी जगत् की घटनाएँ मानसिक जगत् की घटनाओ का कारण बन जाती हैं। मानसिक जगत् मे सदा संघर्ष होते रहते हैं।

जिस प्रकार बाहरी भौतिक जगत् मे जीव मे आत्मरक्षा और आत्मप्रसार के लिये संघर्ष होता है, उसी प्रकार मनुष्य के मानसिक जगत् मे उसके विभिन्न प्रकार के विचारो में संघर्ष होता है। जो विचार अधिक प्रबल होता है और जिसका आंतरिक प्रवृत्ति से अधिक समन्वय स्थापित हो जाता है, वही विचार जीवित रहता है। यह विचार उसी के अनुरूप अनेक विचारों को जन्म देता है, जिसके कारण मनुष्य का विशेष प्रकार का चरित्र, स्वभाव अथवा व्यक्तित्व निर्मित हो जाता है।

मानसिक संघर्ष एक बड़ी ही दुखदायी मन:स्थिति है। यह संघर्ष मनुष्य के दो प्रबल विचारो अथवा भावनाओं में होता है। जब तक यह संघर्ष चलता है, मनुष्य बड़ा ही बेचैन रहता है। मानसिक संघर्ष दुखदायी भले ही हो, परतु यह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये नितांत आवश्यक है। दो प्रबल भावनाओं के संघर्ष को शात तथा समाप्त करने के लिये ऐसे सिद्धांत की आवश्यकता होती है जो संघर्ष करनेवाले विचारों अथवा भावनाओ मे समन्वय स्थापित कर सके, अथवा जो एक विचार को पदस्थ कर दे और दूसरे को चेतना से हटा दे। विकसित व्यक्तित्व का पुरुष वही है जिसके जीवन में सुदृढ़, सुनिश्चित कुछ मौलिक सिद्धातो का विकास हुआ है, जो इन सिद्धातो की कसौटी पर सभी नए विचारों तथा नई भावनाओं को कसता है, और उनमे जो खरा उतरता है उसे ही अपने व्यक्तित्व में स्थान देता है, उसके अनुसार आचरण करता है और जो खोटा निकलता है उसे हटा देता है। इस प्रकार की क्रियाप्रणाली से कर्तव्यशास्त्र और दर्शन का आविर्भाव होता है। यदि मनुष्य को मानसिक संघर्ष की अनुभूति न हो, तो न कर्तव्यशास्त्र और न दर्शन का ही जन्म हो। पशुओं को मानसिक संघर्ष का अनुभव कम से कम होता है। उनमे वह मानसिक विकास सभव ही नही है जो मनुष्य में होता है।

मानसिक संघर्ष की चर्चा प्राचीन काल से होती चली आई है। इस प्रकार के एक संघर्ष का चित्र हम भगवद्गीता मे पाते हैं। महाभारत के समय कौरव और पाडवों के बीच जो भौतिक संघर्ष हो रहा था, उससे कही अधिक महत्व का संघर्ष वह था, जो अर्जुन के मस्तिष्क मे चल रहा था।

पहले संघर्ष का परिणाम केवल उसी देश और काल के लिये महत्व का था जिसमे महाभारत युद्ध हुआ। दूसरे संघर्ष का परिणाम आज भी अपना महत्व रखता है। वह इस देश और काल के लोगो के लिये पथप्रदर्शक बन गया। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप एक नए दर्शन का जन्म हुआ, जिसका महत्व सारे ससार के लिये है।

उपर्युक्त संघर्ष की चर्चा संसार के सभी देशो के विद्वानों ने की है और उन्होने अपने अपने दृष्टिबिंदु से यह बताने की चेष्टा की है कि ऐसे संघर्ष का अंत किस प्रकार किया जाय। आधुनिक मनोविज्ञान ने एक नए प्रकार के संघर्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया है। यह संघर्ष ऐसा है जिसका ज्ञान ही हमे नहीं हो पाता। पहले प्रकार का संघर्ष उन विचारो अथवा भावनाओं के बीच होता है जिनका हमें ज्ञान है अथवा जिन्हें हम ज्ञात कर सकते हैं, अतएव ऐसे संघर्ष का हम अत भी कर सकते हैं। यदि हम स्वयं इस संघर्ष का अपनी ही क्षमता से अंत नही कर सकते, तो दूसरे ज्ञानी व्यक्ति या व्यक्तियों की सहायता लेकर हम उसे दूर कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति को हम गुरु, ऋषि अथवा दार्शनिक मानते हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण अर्जुन के गुरु थे। वे एक ऋषि और दार्शनिक थे।

अज्ञात मन के संघर्ष का अंत करना ज्ञात मन के संघर्ष का अंत करने से कही अधिक कठिन कार्य है। हम उन दो विरोधी पक्षों में समन्वय स्थापित कैसे कर सकते हैं जिन्हें हम जान ही नही पाते? फिर गुरु की भी यहाँ उपयोगिता क्या हो सकती है? जब कोई व्यक्ति यह जाने कि उसके मन में संघर्ष है, तभी तो गुरु के पास जाएगा और उससे प्रकाश पाने का प्रयत्न करेगा। कितने ही लोग, जिनके मन में प्रबल अज्ञात संघर्ष चलते रहते हैं, प्राय: यह जानते ही नही हैं कि उनके मन मे संघर्ष की स्थिति है। ऐसे अनेक लोग इस अज्ञात, अथवा अचेतन मन के, संघर्ष की उपस्थिति को ही निकम्मा सिद्धात मानते हैं।

इस अज्ञात मन के संघर्ष के प्रमाण क्या हैं ? संसार के विद्वानों ने यह कैसे जाना कि कोई अचेतन मन का भी संघर्ष है ? आधुनिक काल में इस संघर्ष की खोज पहले पहल डा० फ्रायड ने की। उसी ने इस सिद्धांत का प्रवर्तन किया कि मनुष्य के मन के दो भाग हैं — एक चेतन और दूसरा अचेतन। इसमें मनुष्य का चेतन मन अचेतन मन की अपेक्षा बहुत ही छोटा है। चेतन मन संपूर्ण मन का आठवाँ भाग है। बाकी सब भाग अचेतन है। हमें चेतन मन की घटनाओं का ही ज्ञान होता है, अचेतन मन की घटनाओं का ज्ञान साधारणतः नहीं रहता। हमारे अचेतन मन में वे सभी इच्छाएँ, भाव और विचार उपस्थित रहते हैं जिन्हें हम बरबस अपनी चेतना से हटा देते हैं और जिनकी स्मृति दबाने की प्रबल चेष्टा करते हैं। ये इच्छाएँ, भाव अथवा विचार अनेक प्रकार के होते हैं। वे आपस में उसी प्रकार प्रतिद्वंद्व करते हैं जिस प्रकार वे चेतनावस्था में करते हैं, परंतु उनके इन संघर्षों का हमें ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार हमारी चेतना के समक्ष न केवल विभिन्न विषम स्वभाव की इच्छाओं, भावों और विचारों में आपसी संघर्ष होता है तथा सभी का संघर्ष हमारे जीवन के प्रमुख सिद्धांत से होता है, उसी प्रकार अचेतन मन की इन शक्तियों में भी न केवल आपसी संघर्ष होता है, वरन् सभी का संघर्ष मनुष्य के उस नैतिक स्वत्व से भी होता है, जो मनुष्य की चेतना के नीचे, अर्थात् उसके अनजाने ही, इस संघर्ष को चेतना के स्तर पर आने से रोके रहता है। यह नैतिक स्वत्व सरकार के उस गुप्तचर विभाग के समान है, जो राजा के अनजाने ही राज्य में अनेक प्रकार के अनर्थ पैदा करनेवाले बदमाशों का दमन करता रहता है। जिस प्रकार राज्य के चोर और डाकू सरकार के खुफिया विभाग से डरते रहते हैं और उसकी आँख बचाकर ही समाज में विचरण करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के अनेक अनैतिक, दमित भाव उसके नैतिक स्वत्व की नजर बचाकर चेतना के स्तर पर आते हैं। इसके लिये वे अनेक प्रकार के स्वाँग रचते हैं तथा अनेक प्रकार के षड्यंत्र करते हैं। डा० फ्रायड ने इन षड्यंत्रकारी विधियों, अथवा धोखा देनेवाले तरीकों, को मनोरचनाएँ कहा है। ये मनोरचनाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। इनका प्रत्यक्ष रूप मनुष्य के स्वप्नों में देखा जाता है। मनुष्य के स्वप्न प्रायः उसकी दमित इच्छाओं, भावनाओं और विचारों के द्वारा ही रचित होते हैं।

मनुष्य का स्वप्नसंसार एक विलक्षण संसार है। मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य का कोई भी स्वप्न निरर्थक नहीं होता, परंतु स्वप्न का अर्थ जानने के लिये मनोरचनाओं की विधि को और स्वप्न की भाषा को समझना नितांत आवश्यक है। स्वप्न में कभी वासना उलट करके तृप्त होती है, जैसे किसी स्त्री की प्रबल कामवासना बलात्कार के स्वप्न पैदा करती है। जिस व्यक्ति से हम घृणा करते हैं, उसकी मृत्यु का स्वप्न देखते हैं, परंतु यह घृणा का भाव हमें ज्ञात न रहने के कारण उसके लिये हम रोते हैं। पिता की मृत्यु का स्वप्न बहुत से किशोर बालक देखते हैं। कौन किशोर बालक कहेगा कि हम अपने पिता से घृणा करते हैं। छोटा सा भाव लंबी चौड़ी घटना बनकर प्रकाशित हो जाता है। कटु भाव मीठा हो जाता है और मीठा भाव कटु। स्वप्न में अधिक बातें प्रतीक के रूप में प्रकाशित होती हैं। हवा में उड़ना, सीढ़ी पर चढ़ना और पानी में तैरना प्रतीक रूप से कामतृप्ति हैं। दंगे के स्वप्न बलात्कार के स्वप्न हैं। भैंस, साँड़, सर्प, भाला, चाकू सभी कामवासना के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के द्वारा दमित वासना प्रकाशित होती है।

दमित वासना प्रति दिन की भूलों तथा अकारण भय और चिंताओं से भी प्रकट होती है। इसी के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार की झक और इल्लतें लग जाती हैं। बार बार हाथ धोना, नाक फुसकारना, सर खुजलाना, बटन टोना, छाती पर हाथ रखना, किसी अंग को सदा हिलाते रहना — सभी दमित भावों के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के द्वारा दमित भाव प्रकाशित होता है और मनुष्य साम्य स्थिति की ओर जाता है।

अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग भी मानसिक संघर्ष के परिणाम होते हैं। ये भी दमित भावों के बाहर निकलने के यत्न के परिणाम हैं। मानसिक रोग स्वयं यह दर्शाता है कि व्यक्ति के मन में मानसिक संघर्ष उपस्थित है। मानसिक रोग के द्वारा दमित भाव की शक्ति क्षीण होती है। हिस्टीरिया, न्यूरेस्थिनिया, मेलैंकोलिया आदि अनेक मानसिक रोग दमित भाव को बाहर निकालते हैं।

आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान हमें अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों से परिचित कराता है। जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, मानसिक रोगों की वृद्धि होती जाती है। जब मानसिक रोग का दमन होता है, तब वह शारीरिक रोग का रूप ले लेता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के मनोजात शारीरिक रोग मानसिक संघर्ष की उपस्थिति के परिणाम हैं। दमा, एक्जेमा, कोलाइटीज, हृदय की धड़कन, लकवा तथा लगातार सिर की पीड़ा, ये सभी रोग दमित भावों के कारण हो जाते हैं। मनोजात शारीरिक रोगों का उपचार भौतिक ओषधियों से नहीं होता। इस प्रकार के उपचार से वे प्रायः बढ़ जाते हैं।

मानसिक संघर्ष का निराकरण — ज्ञात मानसिक संघर्ष के निराकरण के लिये ऋषि, या दार्शनिक की आवश्यकता होती है और अज्ञात मानसिक रोगों के निराकरण के लिये मानसिक चिकित्सक की। परंतु मानसिक चिकित्सक कोरा चिकित्सक ही नहीं होता, उसका प्रथम कार्य अज्ञात मानसिक संघर्ष को चेतना के स्तर पर लाना होता है। कितने ही प्रकार के मानसिक संघर्ष का अंत इसी से होता जाता है। परंतु यदि दमित भावों के चेतना के स्तर पर आने के बाद भी यह संघर्ष चलता रहे, तो उसका अंत करने के लिये चिकित्सक को रोगी के प्रति उचित दृष्टिकोण भी अपनाना पड़ता है। इस तरह उसका दार्शनिक और शिक्षक भी होना आवश्यक है। दमित भाव चेतना के स्तर पर सरलता से नहीं आता। वह अनेक प्रकार की लुकाछिपी करता है। इस लुकाछिपी को समाप्त करने के लिये रोगी के नैतिक मन को बदलना पड़ता है। उसकी पुनःशिक्षा होती है। साधारणतः मानसिक रोगी का नैतिक स्वत्व बड़ा ही कठोर होता है। उसे नम्र बनाने के लिये चिकित्सक को अनेक प्रकार के यत्न करने पड़ते हैं। रोगी के प्रति बहुत ही प्रेम का भाव दिखाने से मन के विभिन्न भागों में इतनी एकता आ जाती है कि दमित भाव चेतना के स्तर पर आ जाएँ। इसके लिये चिकित्सक का दृष्टिकोण अत्यंत उदार होना आवश्यक है। जब तक प्रेम और सेवाभाव की प्रधानता चिकित्सक में नहीं होती, तब तक उसे अज्ञात मानसिक संघर्ष

को समाप्त करने के लिये न केवल मानसिक चिकित्सा के ज्ञान की आवश्यकता है, वरन् एक तरह की दार्शनिक समझ और सूझ की भी आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त चिकित्सक मे भावना की दृढ़ता होनी चाहिए, जिससे वह रोगी के मन में सचाई तथा उदार भावों का जागरण कर सके। इससे रोगी आत्मस्वीकृति करने में तथा अपने भीतरी मन के संघर्ष को समाप्त करने में समर्थ होता है।
[ला० रा० शु०]

मॉनसून अरबी भाषा के 'मौसिम' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है मौसम। मॉनसून वे नियमित पवन हैं जो वर्ष के एक निश्चित समय में चला करते हैं। ये पवन ग्रीष्म ऋतु के छह माह तक समुद्र से स्थल की ओर और शीत ऋतु में छह माह तक स्थल से समुद्र की ओर चलते हैं। ग्रीष्म ऋतु में ताप उच्च होने के कारण स्थल भाग जल की अपेक्षा अधिक गरम हो जाता है। फलतः स्थल पर कम और जल पर अधिक वायु दबाव हो जाता है अत. जल से स्थल की ओर वाष्पयुक्त पवन चलने लगता है जिसे हम 'ग्रीष्म मानसून' कहते हैं। यह पवन जल से युक्त होता है अतः ग्रीष्म मॉनसून से भारी वर्षा होती है, इसी कारण इसे आर्द्र मॉनसून भी कहा जाता है। इसके विपरीत शीत ऋतु में स्थल के ठढे हो जाने से स्थल पर वायु का दबाव अधिक हो जाता है तथा जल पर कम। इस स्थिति में पवन स्थल की ओर से जल की ओर चलने लगता है। यह पवन स्थल से आने के कारण शुष्क होता है और किसी जलभाग के ऊपर होकर जाने से जलवाष्प प्राप्त करने पर ही वर्षा करता है अन्यथा नही। इसे 'शिशिर मॉनसून' या शुष्क मानसून भी कहते हैं।

एशिया महाद्वीप मे मॉनसून का विकास विस्तृत रूप से होता है, क्योंकि यह सबसे बड़ा महाद्वीप है तथा इसके दो तरफ हिंद और प्रशांत महासागर है। भारत, बर्मा, थाईलैंड, हिंदेशिया, कंबोडिया, दक्षिणी चीन, उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका, पूर्वी अफ्रीका तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया प्रमुख मॉनसूनी प्रदेश हैं। अधिकांश मॉनसूनी हवाएँ कर्क और मकर रेखा से अधिक ऊँचे अक्षांशों मे नहीं पाई जाती हैं परतु एशिया महाद्वीप में मॉनसून अधिक शक्तिशाली होने के कारण कर्क रेखा को पार कर ६०° उ० अ० तक पहुँच जाती हैं।

भारत का मॉनसून से बहुत ही गहरा संबध है, क्योंकि भारत की समस्त कृषि इस मानसून पर ही आधारित रहती है। भूगोलविदों के अनुसार भारत को प्रभावित करनेवाला मॉनसून बंगाल की खाड़ी तथा अरबसागर पर चक्रवातो की स्थापना के कारण उत्पन्न होता है। भारत मे प्रवेश करते समय ये मॉनसून हवाएँ तीन शाखाओं मे बँट जाती हैं। प्रथम शाखा गुजरात और काठियावाड़ से आरंभ होकर राजस्थान, पजाब तथा हिमाचल प्रदेश होती हुई कश्मीर की घाटी में लुप्त हो जाती है। द्वितीय शाखा पश्चिमी घाट की पहाड़ियों पर घनघोर वर्षा करने के पश्चात् मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा से होती हुई पूर्वी घाट तक पहुँच जाती है। इसकी तीसरी शाखा बंगाल की खाड़ी से आरंभ होकर गंगा नदी की घाटी से होती हुई पश्चिम की ओर मुड़ जाती है और दक्षिण-पूर्वी हवाओं का रूप धारण कर हिमालय पर्वत के समांतर बहती हुई उत्तरी भारत तक पहुँचकर समाप्त हो जाती है। इसी शाखा से पश्चिमी बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में वर्षा होती है। शीत काल में उत्तर-पश्चिम से आनेवाला मॉनसून बंगाल की खाड़ी के ऊपर से गुजरने के कारण आर्द्र हो जाता जिससे केवल मद्रास, केरल तथा लंका में वर्षा होती है।
[म० प्र० स०]

मानसेहरा की ख्याति इतिहासप्रसिद्ध मौर्य सम्राट् अशोक के शिलालेख को लेकर है। यह जगह भारत के उत्तर पश्चिम सीमांत (अब पाकिस्तान के) हजारा जिले मे अवस्थित है एवं अबोटाबाद से १५ मील उत्तर मे है। मानसेहरा के आस पास प्राचीन निवास का कोई अवशेष नही मिला है, किंतु सर आरेल स्टाइन के विचार मे यह लेख जिस जगह चट्टानों पर खुदवाया गया है वह एक प्राचीन मार्ग के समीप पड़ती है। यहाँ से होता हुआ यह मार्ग एक तीर्थस्थान तक जाता था। अशोक के धर्मलेखों में चतुर्दश शिलालेख का विशेष स्थान है। मानसेहरा का लेख भी चतुर्दश शिलालेख के नाम से जाना जाता है जो इसके अतिरिक्त भी अन्य छह अलग अलग स्थानो में खोज निकाले गए हैं। ये मोटे तौर पर अशोक के राज्यकाल के १३वें और १४वें साल मे खुदवाए गए थे। मानसेहरा का शिलालेख तीन जगहो मे विभक्त है, प्रथम शिलालेख एक से आठ है, दूसरा नौ से ग्यारह। इसके उत्तरी सतह की चट्टान पर खुदा है एव बारहवाँ दक्षिण की ओर है। इनमें से दो की खोज प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता कनिंघम द्वारा हुई एव तीसरे का पता ई० सन् १८८६ मे पजाब के पुरातत्व सर्वेक्षण के एक स्थानीय सहकारी द्वारा लगाया गया।

चतुर्दश शिलालेख अलग अलग जिन सात स्थानों मे पाए गए हैं उनमे से मानसेहरा और शाहबाजगढ़ी की लिपि खरोष्ठी है जो दाहिनी से बाईं ओर को लिखी जाती है। यह लिपि उन दिनो मुख्यतः भारत के उत्तर पश्चिम सीमात में प्रचलित थी। अन्य पाँच स्थानो के अधिकतर प्रदेशो के शिलालेखो की लिपि ब्राह्मी है जो तत्कालीन भारत के अनेक प्रदेशों म प्रचलित थी। मानसेहरा के शिलालेख की भाषा शाहबाजगढ़ी के लेख के समान है, किंतु मानसेहरा के शिलालेख में स्थानीय भाषा की अपेक्षा मागधी का विशेष प्रभाव परिलक्षित है। मानसेहरा के शिलालेख के अक्षरो की खुदाई में सुघडता है एवं अक्षर बडे हैं और साफ ढग से लिखे गए हैं। इनमें अशोक के शासन और धर्म संबंधी सिद्धांतो का विशेष प्रतिपादन किया गया है।
[शा० प्र० रो०]

मानागुआ (Managua) नगर, स्थित : १२° ०' उ० अ० तथा ८६° २०' प० दे०। लैटिन अमरीका के निकारागुआ देश की राजधानी है जो मानागुआ झील के दक्षिणी तट पर स्थित रेलमार्ग का केंद्र भी है। जलवायु प्राय. उष्ण एवं नम है। समीप मे मोमोटोंबो ज्वालामुखी स्थित है। नगर की जनसख्या २,६४,००० (१९६०) है। यह सागर तल से १५० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। मानागुआ झील निकारागुआ की द्वितीय सबसे बड़ी झील है। यह अधिक से अधिक ३८ मील लबी तथा १०-१६ मील चौड़ी है। [कै० ना० सिं०]

माने एदुवार (Manet Edouard) प्रभाववादी शैली का प्रवर्तक महान फ्रांसीसी चित्रकार। जन्म २३ जनवरी १८३२ को पेरिस में हुआ। प्रारंभ में रोलिन कालेज का छात्र बना लेकिन कला के प्रति इसकी अभिरुचि इस सीमा तक थी कि कभी अध्ययन के प्रति जागरूक

नहीं रहा। १८४८ में समुद्री मार्ग के द्वारा रीयो द जेनरो गया। लौटने पर कोचर की पाठशाला में प्रवेश लिया लेकिन इसकी मौलिकता उस संस्था के अध्यक्ष के लिये द्वेष का कारण बन गई। इस चित्रशाला से उसका संबंध लगभग छह वर्ष रहा लेकिन बीच में यदा कदा छुट्टियाँ लेकर कासेल, ड्रेसडेन, वियना, म्यूनिख, फ्लोरेंस तथा रोम का परिभ्रमण करता रहा। इसी बीच स्पेनी 'गिटार वादक' की रचना की। इस चित्र को लेकर कलाजगत् में उसकी काफी आलोचनाएँ हुई।

धीरे धीरे माने के व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर लोग इसके दल मे संमिलित होने लगे जिनमे लेग्रास, जाँगकाइंड, विशलर, हार्पग्नीज इत्यादि कलाकार, जोला तथा डुरेट जैसे लेखक और आस्ट्रक जैसा मूर्तिकार भी था। १८६३ में एम० मार्टिनेट ने प्रदर्शनी के निमित्त एक कक्ष प्रदान किया जिसमें माने द्वारा रचित चौदह चित्र प्रदर्शित किए गए।

प्रभाववादी विचार के अस्तित्व में आने से पूर्व भी माने मौलिक रूप से कार्य करता रहा। इसने प्रभाववादी शैली की सेवा केवल चित्रों द्वारा ही नहीं की बल्कि समस्त विरोधों और आक्षेपों को अपने ऊपर झेलकर भी की। प्रभाववादी चित्रपरंपरा के प्रति किए गए कुतर्कों का निरसन किया और अपने अन्य सहयोगियों के लिये भी लड़ता रहा।

'मद्यपान' और 'वृद्ध संगीतज्ञ' का प्रदर्शन इसी बीच पेरिस में हुआ जिसने लोगों को किंचित् आकर्षित किया लेकिन 'ओलपिया' जिसका प्रदर्शन लक्समबर्ग में हुआ, लोगों को उतना पसंद नहीं आया और इसकी व्यापक आलोचना हुई। इस बीच माने ने अनेक प्रयोग किए और परिणाम स्वरूप कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश मे आईं जिनमें मुख्य हैं — वृषभ द्वंद्व, ईसा का अपमान, मासदी का पात्र तथा जिटानोज रुबियर और इमागोंजालेस के आकृति चित्र। 'कारसाजे और मल-बामा के द्वंद्व' के द्वारा इसकी रचनाओं को एक नया मोड़ मिला। इसके पश्चात् यह प्रभाववादी चित्रकार के रूप मे काफी प्रसिद्ध हो गया। 'ट्यूयरी महल में संगीत' तथा 'ओपेरा' इत्यादि चित्रों में यही प्रभाव परिलक्षित होता है। १८७५ मे आर्जाटाय की रचना के द्वारा इसने वातावरण चित्रण संबंधी विशेष अभिज्ञता दी और इसी क्रम मे फोग्रा, लिज, डेसबोतन के आकृतिचित्र भी बनाए। बाडे फुनी (वेजेयर नाइटक्लब) की रचना १८८२ में की।

माने को इस नई विचारधारा को अस्तित्व मे लाने और व्यापक बनाने के लिये साहसपूर्ण संघर्ष करने पड़े। माने की कला के प्रारंभिक दस वर्ष संघर्ष के थे लेकिन बाद के १३ वर्षों मे इसकी प्रभाववादी रचनाएँ पूर्णरूप से प्रकाश में आईं। १८७० से १८८३ तक इसने अपना समय चित्रों पर पड़नेवाले प्रकाश के अध्ययन के निमित्त प्रदान किया। आकृति चित्र, दृश्य चित्र, सामुद्रिक दृश्य, तात्कालिक जीवनचित्र तथा वस्तुचित्र पर इसने अपनी तूलिका समान सफलतापूर्वक उठाई। माने में मानव जीवन के मूल्यों को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी। फ्रांसीसी कलाजगत् मे इसका विशेष स्थान है। कहना गलत न होगा कि माने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का सर्वश्रेष्ठ कलाकार है जिसने कलाजगत् मे क्रांति का प्रणयन किया। १८८३ में इसकी मृत्यु हुई। [गु० चि०]

मॉन्ट्रिऑल (Montreal) स्थिति : ४५° ३१' उ० अ० तथा ७३° ३४' प० दे०। कैनाडा के क्विबेक प्रांत में, ओटावा तथा सेंट लॉरेंस नदियों के संगम स्थल पर स्थित, कैनाडा का यह सबसे बड़ा नगर है। यह महत्वपूर्ण व्यापारिक तथा औद्योगिक केंद्र भी है। सेंट लॉरेंस नदी के किनारे होने के कारण यह प्रमुख बंदरगाह भी बन गया है। कैनाडा का अधिकतर व्यापार यहीं से होता है। यहाँ लोहा, इस्पात, विद्युत् यंत्र, जूता, शराब, वायुयान, सीमेंट, जलयान, कपड़े तथा तंबाकू आदि के कारखाने हैं। नगर मे अनेक सुंदर भवन तथा लगभग ३०० गिरजाघर हैं। माउंट रॉयल पार्क, मांट्रिऑल बोटैनिकल गार्डन प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं। मैकगिल विश्वविद्यालय तथा यूनिवर्सिटी डि मॉन्ट्रिऑल प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है। यह रेलों, वाष्पयानों, सड़कों तथा हवाई मार्गों का केंद्र हैं। इसकी जनसंख्या १८,७२,४३७ (१९६१) है। [म० ना० नि०]

मॉन्टेविडिओ (Montevideo) स्थिति : ३४° ५०' द० अ० तथा ५६° ११' प० दे०। यह दक्षिणी अमरीका में रियो दे ला प्लाटा नदी पर स्थित युरुग्वे देश की राजधानी, सबसे बड़ा नगर तथा पत्तन है। इस नगर की स्थापना का श्रेय पुर्तगाल निवासियो को है जिन्होंने १७१७ ई० में एक पर्वत पर एक दुर्ग का निर्माण करके इसकी स्थापना की। १७२४ ई० से इसपर स्पेन वासियो का आधिपत्य हो गया। यह युरुग्वे का पर्यटन एवं व्यापारिक केंद्र है। समीपवर्ती घास के मैदानो के कारण यहाँ पशुपालन व्यवसाय पर आधारित मांस के सचयन तथा निर्यात का उद्योग उन्नति कर गया है। इसके अतिरिक्त निर्यात के सामानो मे मछली एवं खाद्यान्न प्रमुख हैं। नगर की जनसंख्या लगभग १०,००,००० (१९५७) है। इसी नाम का युरुग्वे में एक प्रांत भी है। [कै० ना० सिं०]

मॉन्टैना स्थिति . ४७° ०' उ० अ० तथा ११०° ०' प० दे०। संयुक्त राज्य अमरीका का उत्तर-पश्चिमी राज्य है, जिसका क्षेत्रफल १,४७,१३८ वर्ग मील तथा जनसंख्या ६,७४,७६७ (१९६०) है। राज्य का सर्वोच्च शिखर ग्रेनाइट (१२,८५० फुट), तथा निम्नतम स्थान कुटनाई नदी पर (१,८०० फुट) है। प्रमुख नदी मिजुरी है। औसत वार्षिक ताप ५५° सें० तथा औसत वर्षा १५ इंच है। खनिज धातु, खनिज तेल, गैस तथा कोयले का प्रचुर भंडार है। मध्य पूर्व एवं उत्तर-पूर्व की मिट्टी तथा जलवायु गेहूँ की कृषि को उत्तम है। जई, जौ, चारा, मक्का, पटुवा, चुकंदर तथा आलू प्रमुख फसलें हैं। चाँदी, ताँबा, सोना, जस्ता, सीसा तथा मैंगनीज खनिज मिलते हैं। राज्य में तेल शोधन, शक्कर निर्माण, सीमेंट बनाना, धातु शोधन एवं मांस को डिब्बों मे बंद करने का काम होता है। ग्रेट फाल्स, बिलिंग्स तथा हेलेना (राज्य की राजधानी) प्रमुख नगर हैं। [कै० ना० सिं०]

मान्तेन (Montaigne Michle De) (१५३३–१५९२), माइकेल डि मातेन, दक्षिण पश्चिम फ्रांस मे बोर्दो के निकट उत्पन्न हुआ था। उसने दर्शन और विधि का अध्ययन किया, वह शिक्षा की शास्त्रीय विधा का पंडित था। २४ वर्ष की अवस्था में वह बोर्दो की प्रतिनिधि सभा मे परामर्शदाता के पद पर मनोनीत हुआ। १५७१ में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह कुछ काल तक पेरिस मे रहा, तत्पश्चात् वह अपने परिवार में वापस आ गया। उसने अपना अधि-

कांश समय अपने पुस्तकालय में अध्ययन और लेखन में व्यतीत किया। १५८० में बोर्दो में उसके निबंधों का संग्रह 'एसेज ऑव मेस्सीर माइकेल, सीन्योर दि मांतेन' के नाम से प्रकाशित हुआ। उसके निबंध व्यक्तिगत उद्गार हैं। पहले उसका चिंतन स्टोइकवाद की ओर उन्मुख था किंतु उसके मस्तिष्क का प्राकृतिक रुझान उसे संशयवादी चिंतन की ओर ले गया। उसका उद्देश्य हो गया 'मुझे क्या ज्ञान है ?' १५८० में मांतेन ने पेरिस, स्विटजरलैंड, दक्षिण जर्मनी और इटली की यात्राएँ कीं। तत्पश्चात् वह बोर्दो का मेयर बनाया गया। १५८८ में उसने अपने निबंधों का तीन भागों का नया संस्करण (पाचवाँ) प्रकाशित किया। मातेन के दर्शन का सार है कि मृत्यु को जीवन का सहज फल मानना चाहिए और प्रकृति के अनुशासन का सावधानी से पालन करना चाहिए। नीतिशास्त्री और शिक्षाशास्त्री के रूप में उसका योगदान महत्वपूर्ण है। १७वीं और १८वीं शती के लेखकों और विचारकों पर उसका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा था।

मान्तेन्या आंद्रेया (Mantegna, Andrea, १४३१–१५०६) इतालीय चित्रकार जो माइकेल आंजेलो का समकालीन था। उसने बेलीनी से चित्रकला की शिक्षा ग्रहण की। वेनिसी चित्रकला उन दिनों रंगसंगति के क्षेत्र में प्रसिद्ध थी, जबकि फ्लारेंस की चित्रकारी अपने रेखांकन के कारण। आंद्रेया ने अपनी शैली में ग्रीक मूर्तियों से अपनाया हुआ सुडौल रेखांकन उभारा और वेनिसी कला में मँजी हुई रंगसंगति भी उसके साथ जोड़ दी। शीघ्र ही उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई। पोप इनोसांत (अष्टम) ने उसे अपने सुप्रसिद्ध बेलवेदेरे प्रासाद में भित्तिचित्र बनाने का आदेश दिया। यह काम उसने बड़ी मेहनत और कौशल से संपन्न किया। पोप ने भी उसकी यथोचित प्रशंसा की और उसे पर्याप्त पुरस्कार दिया। अपने अंतिम दिनों में मांतेन्या ने मांतुवा शहर मे अपने आवास के लिये सुंदर सा मकान बनवाया जहाँ सन् १५०६ में उसका देहांत हुआ।

मांतेन्या के अनेक चित्र देश विदेश के राष्ट्रीय संग्रहालयों में रखे गए हैं। 'मादोना और शिशु', 'सिपियो की विजय' आदि चित्र लंदन के नैशनल गेलेरी में हैं। [दि० को०]

मान्य औषधकोश (Pharmacopeia) राजकीय अथवा औषध प्रकृति तथा निर्माण विज्ञान परिषद द्वारा संकलित एवं प्रकाशित भेषज संग्रह है, जिसमें औषधि की पहचान, प्रभावविज्ञान, निर्माण विज्ञान, औषधि की प्रकृति आदि का भेद वर्णन किया गया है।

इंग्लैंड मे १६१७ ई० में साधारण प्रयोग मे आनेवाली औषधियों को औषधिविक्रेता और पंसारी बेचा करते थे। बाद में बेचनेवालों पर राजकीय प्रशासन द्वारा नियंत्रण होने लगा। १६१८ ई० में वहाँ कालेज ऑव फिजिशियन्स ऐंड सर्जन्स द्वारा पहले भेषज संग्रह का प्रकाशन हुआ था। १६१८ ई० से १८५१ ई० तक लंदन फारमाकोपिया के १३ संस्करण निकले थे। १६९९ ई० मे एडिनबरा औषधकोश का प्रथम संस्करण छपा तथा १८०७ ई० मे डबलिन औषधकोश छपा। इन तीनों औषधकोशों की औषधियों में पृथकता होने के कारण १८५८ ई० के मेडिकल कानून द्वारा जेनेरल औषध परिषद् ने ब्रिटिश फारमाकोपिया तैयार कराया, जो १८६४ ई० में पहले पहल प्रकाशित हुआ और तब से समय समय पर नए नए आविष्कारों को लेकर पुस्तक के संशोधन द्वारा नए संस्करण निकलते रहे हैं। अब प्रायः सभी देशों के अपने अपने औषधकोश बन गए हैं। अंतरराष्ट्रीय औषधकोश अभी तक नहीं बन पाया है।

भारतीय शासन द्वारा स्थापित नैशनल फार्मूलरी कमिटी ने नैशनल फार्मूलरी ऑव इंडिया नामक एक ग्रंथ अंग्रेजी में तैयार किया, जिसमे लगभग सब औषधि द्रव्यों का वर्णन और उनसे बननेवाले नुस्खे दिए हैं। यह १९६० ई० में स्वास्थ्य मंत्रालय, केंद्रीय सरकार, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित हो गया। ब्रिटिश फारमाकोपिया के आधार पर हिंदी में पाश्चात्य द्रव्य-गुण-विज्ञान पर एक पुस्तक डा० रामसुशील सिंह द्वारा लिखी गई और मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित हुई है। [उ० शं० प्र०]

माप और तौल (Measures aad Weights) प्राकृतिक विषयों का अध्ययन करते समय उनके बारे में सही ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रकृति के कुछ गुणों की माप करें। साधारणतया यह पाया गया है कि माप में मुख्य रूप से तीन राशियाँ, लंबाई, भार तथा समय, उपलब्ध होती हैं। सैद्धांतिक रूप से प्रत्येक माप में उपर्युक्त राशियाँ ही आती हैं। इन राशियों में से किसी को भी मापने के लिये कोई निश्चित तथा सुविधाजनक परिमाण को मानक मान लिया जाता है। इसमे पूरी मात्रा माप ली जाती है। इसको हम उस विशेष राशि की इकाई, या एकक, अथवा मात्रक मानते हैं। उदाहरणस्वरूप, अर्थ को हम रुपए में गिनते हैं तथा तौल को किलोग्राम में। विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक राशियों को मापने के लिये विभिन्न प्रकार की इकाइयाँ उपयोग मे लाई जाती हैं।

विज्ञान मे लंबाई, भार और समय को मूल इकाई की संज्ञा दी गई है, क्योंकि ये तीनो राशियाँ एक दूसरे पर निर्भर नहीं करती हैं। अन्य सभी प्रकार की इकाइयों का आधार मूल इकाइयाँ ही होती हैं। इन अन्य इकाइयों को व्युत्पन्न इकाइयों की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार क्षेत्रफल की इकाई एक ऐसे वर्ग का क्षेत्रफल है जिसकी लंबाई एक हो तथा चौड़ाई भी एक हो। आयतन की इकाई एक ऐसे घन का आयतन माना गया है जिसकी प्रत्येक भुजा की लंबाई एक हो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि क्षेत्रफल की इकाई तथा आयतन की इकाई लंबाई की इकाई से ही उत्पन्न होती हैं। गति की इकाई परिभाषा के अनुसार, दूरी को समय से भाग देने से प्राप्त होती है, और चूँकि दूरी लंबाई में व्यक्त की जाती है, इसलिये गति की इकाई मूल इकाइयों पर आधृत है। व्युत्पन्न इकाइयों का मूल इकाइयों से एक साधारण संबंध भी पाया गया है। प्रायः यह पाया जाता है कि व्युत्पन्न इकाइयाँ या तो बहुत बड़ी होती हैं अथवा बहुत छोटी। इस अवस्था में सुविधा के दृष्टिकोण से इनके कुछ गुणित, या उपगुणित, उपयोग में लाए जाते हैं। इन नई इकाइयों को व्यावहारिक इकाई के नाम से पुकारा जाता है।

इकाइयों की पद्धतियाँ — वैज्ञानिक जगत् में माप के कार्यों के लिये आम तौर पर दो प्रकार की इकाइयों की पद्धति उपयोग में लाई जाती है : १. फ्रेंच पद्धति तथा २. ब्रिटिश पद्धति। फ्रेंच पद्धति — इसे मीटरी पद्धति, अथवा सेंटीमीटर-ग्राम-सेकंड पद्धति (C. G. S. System) भी कहते हैं। इस पद्धति को संसार भर में वैज्ञानिक कार्यों में उपयोग मे लाया जाता है। इसमें लंबाई को

सेंटीमीटर में, भार को ग्राम में तथा समय को एक सेकंड में मापा जाता है। आजकल इस मीटरी पद्धति का उपयोग तेजी से बढ़ता जा रहा है। ब्रिटिश पद्धति — इसे फुट-पाउंड-सेकंड पद्धति (F. P. S. System) भी कहा जाता है। इस पद्धति में लंबाई को फुट में, भार को पाउंड में तथा समय को सेकंड में व्यक्त किया जाता है। यह प्रणाली खास तौर पर उन देशों में प्रचलित है, जो कभी ब्रिटिश साम्राज्य के अंग रह चुके थे। इसे विशेष रूप से ब्रिटिश इंजीनियर, या ब्रिटेन में प्रशिक्षित इंजीनियर, तथा ऋतु-विज्ञान-विशेषज्ञ उपयोग में लाते हैं; लेकिन इसका उपयोग धीरे धीरे घटता जा रहा है और इसका स्थान मीटरी प्रणाली लेती जा रही है।

लंबाई की इकाइयाँ — मीटरी प्रणाली में लंबाई की मानक इकाई को मीटर कहते हैं। प्रारंभ में जनतंत्रीय फ्रेंच कानून के अनुसार इसे उत्तरी ध्रुव से विषुवत् रेखा तक पैरिस से गुजरती हुई याम्योत्तर (meridian) की सीध मे मापी गई दूरी के १/१०^{७} वें हिस्से के बराबर माना गया था। लेकिन आजकल जो मानक माना गया है वह पैरिस के निकट सेव्र (Severes) में रखे प्लैटिनम-इरीडियम मिश्रधातु के एक डंडे के सिरों पर बने दो चिह्नों के बीच की दूरी है, जब डंडा शून्य डिग्री सेंटीग्रेड पर होता है। इसे मानक मीटर कहा जाता है।

लंबाई की मीटरी मापें

१० मिलीमीटर	=	१ सेंटीमीटर (सेंमी०)
१० सेंटीमीटर	=	१ डेसिमीटर (डेसिमी०)
१० डेसिमीटर	=	१ मीटर (मी०)
१० मीटर	=	१ डेकामीटर (डेकामी०)
१० डेकामीर	=	१ हेक्टोमीटर (हेमी०)
१० हेक्टोमीटर	=	१ किलोमीटर (किमी०)

लंबाई की ब्रिटिश मापें

१२ लाइन	=	१ इंच
१२ इंच	=	१ फुट
३ फुट	=	१ गज
२२० गज	=	१ फर्लांग
८ फर्लांग या १,७६० गज	=	१ मील
६ फुट	=	१ फैदम
५½ गज	=	१ पोल
४ पोल	=	१ चेन
१० चेन	=	१ फर्लांग
३ मील	=	१ लीग
१·१५ मील	=	१ समुद्री या भौगोलिक मील।

इस सारणी से यह विदित होता है कि १ मिलीमीटर = ०·१ सेंटीमीटर = ·०१ डेसिमीटर = ·००१ मीटर। अतएव मीटरी प्रणाली में इकाइयों को केवल दशमलव के स्थानातरण करने से ही बदला जा सकता है, जो अत्यंत सुविधाजनक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीटरी प्रणाली अत्यंत सुविधाजनक पद्धति है।

खगोल विज्ञान (astronomy) में दूरी को मापने के उपयोग मे आनेवाली इकाई को प्रकाशवर्ष की संज्ञा दी गई है। प्रकाश, जिसकी गति ३ × १०^{१०} सेंटीमीटर प्रति सेकंड है, एक वर्ष में जितनी दूरी तय करता है उसी दूरी को खगोल विज्ञान में सुविधा के हेतु दूरी की इकाई माना गया है। अत: १ प्रकाशवर्ष = ९·४५ × १०^{१५} मीटर। ब्रिटिश प्रणाली, अर्थात् फुट-पाउंड-सेकंड पद्धति में, लंबाई की मानक इकाई ब्रिटिश राजकीय गज है। यह लंदन के राजकोष कार्यालय मे रखे ६२° फारेनहाइट ताप पर कांस्य के डंडे पर स्थित स्वर्ण-डाटों पर बनी हुई रेखाओं के बीच की दूरी है।

लंबाई की सब मापों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सब पद्धतियों मे मीटरी प्रणाली सबसे अधिक सुविधाजनक तथा वैज्ञानिक है। भारत सरकार ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए, सारे देश में मीटरी प्रणाली के उपयोग के लिये कानून बना दिया है। दोनो पद्धतियों में लंबाई की इकाइयों में ये संबंध हैं : १ इंच = २·५४ सेंटीमीटर; १ मीटर = ३९.३७ इंच; १ किलोमीटर = ०·६२१ मील।

लंबाई को मापने के लिये लकडी या धातु की बनी हुई, पैमानोंवाली पटरियाँ, या अन्य वस्तु के बने फीते, काम में लाए जाते हैं। इनके किनारे या तो सेंटीमीटर तथा मिलीमीटर में खुदे रहते हैं, अथवा इंच तथा उसके दसवें, आठवें या सोलहवें अंशों में। लंबी दूरियों को, या वक्र रेखाओं मे लंबी दूरियों को, मापने के लिये मापक चेन, विशेषकर जमीन के सर्वेक्षण में, उपयोग में लाई जाती है।

जब पैमानों को लंबाई की सीध में सुविधा से नहीं रखा जा सकता, तब परकार, दंड परकार, या एक साधारण कैलिपर उपयोग में लाया जाता है। साधारण कैलिपर से भीतरी तथा बाहरी व्यास भी मापे जाते हैं। पाइप आदि के कोणों की माप करने के लिये वृत्तीय चल वर्नियर बनाए गए हैं। यदि मिलीमीटर के १/१० वें हिस्से तक मापने की आवश्यकता हो, तो वहाँ पर चल वर्नियर का उपयोग किया जाता है। बहुत ही छोटी लंबाइयों को, जैसे किसी चद्दर की मोटाई या एक पतले तार का व्यास आदि, मापने के लिये स्क्रूगेज उपयोग में लाया जाता है।

क्षेत्रफल की इकाई मीटर पद्धति में वर्ग सेंटीमीटर तथा ब्रिटिश पद्धति मे वर्ग फुट है। आयतन की इकाई मीटरी प्रणाली में एक घन सेंटीमीटर है। सामान्य वायुदाब पर अधिकतम घनत्व के एक किलोग्राम शुद्ध पानी के आयतन को मीटरी पद्धति मे आयतन की इकाई, अर्थात् लिटर, कहते हैं। साधारणत: एक घन डेसिमीटर को लिटर के समतुल्य माना गया है। आयतन की इकाई ब्रिटिश पद्धति में घनफुट कहलाती है। इस पद्धति में धारिता की मानक माप को गैलन कहा जाता है। ६२° फा० ताप पर १० पाउंड आसुत पानी १ गैलन के बराबर माना गया है। यह पाया गया है कि १ गैलन = ४·५४ लिटर होता है। धारिता की मीटरी इकाई को लिटर माना गया है।

घन इंच के संबंध में यह पाया गया है कि ४° सें० पर हवा से रहित एक घन इंच शुद्ध पानी का भार २५२·२८७ ग्रेन होता है।

भार की इकाइयाँ — मीटर पद्धति में भार की इकाई को ग्राम (किलोग्राम का हजारवाँ भाग) कहते हैं और एक ग्राम का भार ४° सें० ताप के शुद्ध पानी के एक घन सेंटीमीटर (c. c.) के भार के बराबर होता है।

भार की मीटरी मापें

१० मिलीग्राम	=	१ सेंटीग्राम
१० सेंटीग्राम	=	१ डेसिग्राम
१० डेसिग्राम	=	१ ग्राम
१० ग्राम	=	१ डेकाग्राम
१० डेकाग्राम	=	१ हेक्टोग्राम
१० हेक्टोग्राम	=	१ किलोग्राम
१० किलोग्राम	=	१ मिरियाग्राम

ब्रिटिश प्रणाली में भार की इकाई को पाउंड कहते हैं। यह एक प्लैटिनम के बेलन का भार है, जो लंदन के राजकीय कार्यालय मे रखा है।

भार की ब्रिटिश ऐवॉर्डुपॉयज (Avoirdupois) मापें

२७·३२	ग्रेन	=	१ ड्राम
१६	ड्राम	=	१ आउंस = ४३७½ ग्रेन
१६	आउंस	=	१ पाउंड = ७,००० ग्रेन
२०	हंड्रेडवेट	=	१ टन
४	क्वार्टर या २८ पाउंड	=	१ क्वार्टर
११२	पाउंड	=	१ लॉङ्ग हंड्रेडवेट
२०	लॉङ्ग हंड्रेडवेट	=	१ लॉङ्ग टन

भार की इकाइयों का दोनों पद्धतियों में एक संबंध पाया गया है जो इस प्रकार है : १ ग्रेन = ०·०६४८ ग्राम; १ ग्राम = १५·४३२ ग्रेन; १ किलोग्राम = २·२ पाउंड; १ पाउंड = ४५३·५९२४३ ग्राम या ०·४५३६ किलोग्राम।

समय की इकाई — हमें सूर्य आकाश के आर पार जाता मालूम पड़ता है। सूर्य का सर्वोच्च स्थान शिरोबिंदु (meridian) कहलाता है। शिरोबिंदु से सूर्य के दो बार जाने के अंतराल को दृष्ट-सूर्य-दिन (Apparent solar day) कहते हैं। अनेकानेक कारणों से दृष्ट-सूर्य-दिन की अवधि दिन प्रति दिन बदलती रहती है, लेकिन एक वर्ष के पश्चात् यह उसी परिवर्तन चक्र को दुहराती है। वर्ष की अवधि ३६५¼ दिनों की होती है। यदि हम वर्ष के सभी दिनों के काल को जोड़ दें और इसे वर्ष के पूरे दिनों से भाग दें, तो हम एक समयांतराल प्राप्त करते हैं, जिसे वैज्ञानिकों ने 'माध्य सूर्य दिन' की संज्ञा दी है। इस समय को चौबीस घंटों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक घंटे को साठ मिनट में तथा प्रत्येक मिनट को साठ सेकंड में बाँटा गया है। समय की इकाई को मीटरी तथा ब्रिटिश दोनों पद्धतियों में सेकंड माना गया है, जो माध्य सूर्य दिन का ८६,४०० वाँ हिस्सा है।

किसी स्थान के शिरोबिंदु के पार किसी स्थिर तारे के क्रमिक गमनों (transits) में जो समयांतराल व्यतीत होता है, वह तारे के क्रमिक याम्योत्तरगमन के बीच का काल, या नाक्षत्र दिन (sidereal day) कहलाता है। इसका मान स्थिर पाया गया है। नाक्षत्र दिवस माध्य सूर्य दिन से लगभग चार मिनट कम होता है।

यह मालूम करने के लिये कि दो समयांतराल बराबर हैं या नहीं, अथवा मानक समय को बराबर बराबर समय के उपांतराल (subinterval) में विभाजित करने के लिये, दोलक काम में लाया जाता है। दो समयांतराल तभी बराबर कहे जाते हैं जब प्रत्येक में दोलक की दोलन संख्या एक ही होती है। यदि दोलक के दोलनों की संख्या एक 'माध्य सौर दिन' में ६०×६०×२४ होती है, तो प्रत्येक दोलन का समयांतराल एक सेकंड कहा जाता है। हमारी घड़ियों में माध्य सौर काल उपयोग में लाया जाता है।

विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग की जानेवाली अन्य तौलों तथा मापों की तालिकाएँ :—

औषधिविक्रेताओं के ब्रिटिश तौल (Apothecary's weights)

२०	ग्रेन	=	१ स्क्रूपल
३	स्क्रूपल	=	१ ड्राम
८	ड्राम	=	१ आउंस
१२	आउंस	=	१ पाउंड
२०	द्रव आउंस	=	१ पाइंट

औषधिविक्रेताओं की ब्रिटिश मापें (Apothecary's fluid measures)

६०	द्रव मिनिम	=	१ ड्राम
८	ड्राम	=	१ आउंस
२०	आउंस	=	१ पाइंट
८	पाइंट	=	१ गैलन
१	द्रव मिनिम	=	०·००४५ क्यूबिक इंच
१	चाय चम्मच	=	१ द्रव ड्राम
१	डेसर्ट चम्मच	=	२ द्रव ड्राम
१	टेबुल चम्मच	=	½ आउंस
१	मदिरा गिलास	=	२ आउंस
१	चाय प्याला	=	३ आउंस

कुछ अन्य ब्रिटिश ऐवर्डुपॉयज तौल
(खुदरा व्यापारियों द्वारा आम तौर पर प्रयोग में लाई जानेवाली)

२७·३२	ग्रेन	=	१ ड्राम
१६	ड्राम	=	१ आउंस
१६	आउंस	=	१ पाउंड
१४	पाउंड (lbs)	=	१ स्टोन (stone)

ऐवर्डुपॉयज का पाउंड सोने चाँदी की तौल के काम में लाए जानेवाले ट्रॉय पाउंड (troy pound) से १७ : १४ के अनुपात में भारी होता है। जब कि ट्रॉय का आउंस एवर्डुपॉयज आउंस से भारी होता है। इनके बीच ७९ : ७२ का अनुपात पाया जाता है।

जवाहरातों, सोने तथा चाँदी को तौलने के लिये जो बटखरे प्रयोग में लाए जाते हैं, उन्हें ट्रॉय बटखरे कहते हैं।

ब्रिटिश ट्रॉय तौल

४	ग्रेन	=	१ कैरेट (carat)
२४	ग्रेन	=	१ पेनीवेट (pennyweight)

२० पेनीवेट = १ आउंस
१२ आउंस = १ पाउंड (lb.)
५,७६० ग्रेन = १ पाउंड
२५ पाउंड = १ क्वार्टर
१०० पाउंड = १ हंड्रेडवेट (cwt.)
२० हंड्रेडवेट = १ टन
१ ट्रॉय आउंस = १५० डायमंड कैरेट

शहतीर तथा लकड़ी की माप

४० घनफुट नातराश लकडी (unhewn timber) }
५० घनफुट तराशी लकड़ी (squared timber) } = १ टन
४२ घनफुट लकड़ी = १ शिपिंग टन (shipping ton)
१०८ घनफुट लकड़ी = १ स्टैक (stack)
१२८ ,, ,, = १ कॉर्ड (cord)

ऊन संबंधी मापें

७ पाउंड = १ क्लोव (clove)
२ क्लोव = १ स्टोन (stone)
२ स्टोन = १ टॉड (tod)
६½ टॉड = १ वे (wey)
२ वे = १ सैक (sack)
१२ सैक = १ लास्ट (last)
२४० पाउंड = १ पैक (pack)

तौल की मापों का संबंध

१ ग्रेन = ०.००००६४७९९ किलोग्राम
१ आउंस = ०·०२८३४९५ किलोग्राम
१ पाउंड = ०·४५३५९२४ किलोग्राम
१ हंडेडवेट = ५०·८०२ किलोग्राम
१ टन = १०१६·०५ किलोग्राम

खगोलीय मापें (Astronomical measures)

खगोलीय इकाई = ९,२८,९७,४०० मील
प्रकाश वर्ष = ५९,००,००,००,००,००० मील
पारसेक (parsec) = ३·२५९ प्रकाश वर्ष

ठीकेदारों की मापें (Builder's measurements)

भट्ठे की ईंट ८¾" × ४¼" × २¾"
वेल्श (welch) अग्निसह ईंट ९" × ४½" × २¾"
फर्शी ईंट ९" × ४½" × १¾"
स्क्वायर टाइल ९¼" × ९¾" × १"
,, ,, ६" × ६" × १"
डच क्लिंकर ईंट ६¼" × ३" × १½"
१६½ फुट × १½ ईंट की मोटाई
एकरॉड (rod) ईंट की चिनाई }
(1 rod of brickwork) } = ३०६ घन फुट या ११⅓ घन गज

धारिता की माप

(जो द्रवों तथा ठोस सामानों के लिये प्रयोग में लाई जाती हैं।)

४ गिल = १ पाइंट
२ पाइंट = १ क्वार्ट (quart)
४ क्वार्ट = १ गैलन (gallon)
२ गैलन = १ पेक (peck)
४ पेक = १ बुशल (bushel)
३ बुशल = १ बैग (bag)
५ बुशल = १ सैक (sack)
८ बुशल = १ क्वार्टर (quarter)
५ क्वार्टर = १ लोड (load)
२ लोड = १ लास्ट (last)
३६ बुशल = १ चालड्रोन (chaldron)

गेहूँ का एक बुशल तौल में औसतन ६० पाउंड, जौ का लगभग ४७ पाउंड तथा जई का ४० पाउंड होता है।

यवसुरा (Ale & beer) की माप

२ पाइंट = १ क्वार्ट
४ क्वार्ट = १ गैलन
९ गैलन = १ फरकिन (firkin)
२ फरकिन = १ किल्डरकिन (kilderkin)
२ किल्डरकिन = १ बैरल (barrel)
१½ बैरल = १ हॉग्सहेड (hogshead)
२ बैरल = १ पचोयान (puncheon)
२ हॉग्सहेड = १ बट (butt)
२ बट = १ टुन (tun)

सुरा (Wine) की माप

१० गैलन = १ अंकर (anker)
१८ गैलन = १ रनलेट (runlet)
४२ गैलन = १ टियर्स (tierce)
८४ गैलन = १ पचोयान
६३ गैलन = १ हॉग्सहेड
१२६ गैलन, या २ हॉग्सहेड = १ पाइप
२५२ गैलन, या २ पाइप = १ टुन (tun)

वृत्तीय तथा कोणीय मापें

६० थर्ड्स (thirds, |||) = १ सेकंड (")
६० सेकंड = १ मिनट (')
६० मिनट = १ डिग्री (°)
३० डिग्री = १ साइन (sign)
४५ डिग्री = १ ओक्टैंट (octant)
६० डिग्री = १ सेक्सटैंट (sextant)
९० डिग्री = १ क्वाड्रैंट या समकोण

किसी भी वृत्त की परिधि उसके व्यास का ३·१४१६ गुना होती है।

सूती धागे की मापें

१२० गज = १ लच्छी (skein)
७ लच्छियाँ = १ गुंडी (hank)
१८ गुंडियाँ = १ स्पिंडल (spindle)

विद्युत् माप (Electric measure)

वोल्ट (volt) = किसी १ ओम (ohm) प्रतिरोध (resistance) से होकर १ ऐंपियर (ampere) करेंट

को गुजारने के लिये जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है उसे १ वोल्ट कहते हैं।

ओम (ohm)	=	उस परिपथ का प्रतिरोध है, जिसमें एक वोल्ट का विद्युद्बल एक ऐंपीयर धारा उत्पन्न करता है।
मेगओम (megohm)	=	10^6 ओम
ऐंपीयर (ampere)	=	जो करेंट किसी एक ओम प्रतिरोध के आर पार १ वोल्ट विभवांतर पैदा करे।
कूलंब (coulomb)	=	विद्युत् की वह मात्रा जो एक ऐंपियर करेंट के एक सेकंड तक बहने से प्राप्त हो।
१ वाट (watt)	=	१ जूल (Joule)
७४६ वाट	=	एक अश्व शक्ति प्रति सेकंड
१ किलोवाट	=	१,००० वाट
	=	१$\frac{1}{3}$ अश्वशक्ति

रैखिक माप (Lineal Measures)

८ जौ दाना	=	१ इंच
२$\frac{1}{4}$ इंच	=	१ नेल (nail)
३ इंच	=	१ पाम (palm)
७·०२ इंच	=	१ लिंक (link)
९ इंच	=	१ स्पैन (span or quarter)
१८ इंच	=	१ हाथ (cubit)
३० इंच	=	१ पद (pace)
३७·२ इंच	=	१ स्काटिश एल (Scottish ell)
४५·० इंच	=	१ इंगलिश एल (English ell)
५ फुट	=	१ रेखीय पाद (geometrical pace)
६ फुट	=	१ फैदम
६०८ फुट	=	१ केबल (cable)
१० केबल	=	१ नाविक मील (nautical mile)
६,०८० फुट	=	१ नाविक मील
६,०८७ फुट	=	१ भूगोलीय मील
२२ गज या ५ बल्ली	=	१ चेन (chain)
१०० लिंक	=	१ चेन
१० चेन	=	१ फर्लांग
८० चेन	=	१ मील
१ नॉट	=	नाविक मी० प्र० घं० की चाल।

लिनेन के धागे (Linen Yarn) की माप

३०० गज	=	१ कट
२ कट	=	१ हीर (heer)
६ हीर	=	१ हास्प (hasp)
४ हास्प	=	१ स्पिंडल

संख्याओं की माप (Numbers)

१२ इकाइयाँ	=	१ दर्जन
१२ दर्जन	=	१ ग्रुस
२० इकाइयाँ	=	१ विंशक या कोड़ी (score)
५ गड्डी, कोड़ी, या १०० इकाइयाँ	=	१ सैकड़ा

समुद्री माप

६ फुट	=	१ फैदम
१०० फैदम	=	१ केबल की लंबाई
१,००० फैदम	=	१ समुद्री मील
३ समुद्री मील	=	१ समुद्री लीग
६० समुद्री मील	=	१° देशांतर भूमध्य रेखा पर
३६० डिग्री	=	१ वृत्त

कागजों की माप

२४ ताव (sheets)	=	१ दस्ता (quire)
२० दस्ता	=	१ रीम (ream)
५१६ ताव	=	१ प्रिंटर रीम (printer's ream)
२ रीम	=	१ बंडल
५ बंडल	=	१ बेल (bale)

सर्वेक्षक की माप (Surveyor's Measure)

७·९२ इंच	=	१ लिंक		
१०० लिंक	=	२२ गज	=	१ चेन
८० चेन	=	१७६० गज, या	=	१ मील

ताप की माप

(१) सेंटीग्रेड — इस नाप मे पानी के हिमांक विंदु को शून्य माना जाता है तथा जल का क्वथनांक १००° सें० माना गया है। शरीर में रुधिर का ताप ३६·८° सें० होता है।

(२) र्‌यूमर — इस नाप मे पानी का हिमांक शून्य माना जाता है तथा जल का क्वथनांक ८०° माना जाता है। इसका प्रयोग आम तौर पर जर्मनी मे होता है।

(३) फारेनहाइट — इसमें हिमांक ३२° होता है और जल का क्वथनांक (boiling point) २१२° माना जाता है। यह माप खास करके ग्रेट ब्रिटेन तथा उत्तरी अमरीका में प्रयोग में लाई जाती है।

समय की मापें

६० सेकंड	=	१ मिनट
६० मिनट	=	१ घंटा
२४ घंटा	=	१ दिन
७ दिन	=	१ सप्ताह
४ सप्ताह	=	१ महीना
१३ चांद्र मास	=	१ साल
१२ कैलेंडर मास	=	१ साल
३६५ दिन	=	१ साधारण वर्ष
३६६ दिन	=	१ अधिवर्ष (leap year)
३६५$\frac{1}{4}$ दिन	=	१ जूलियन वर्ष
३६५ दिन ५ घं० ४८ मि० ५१ से०	=	१ सौर वर्ष
१०० साल	=	१ शत वर्ष या शताब्दी

दशमिक माप-प्रणाली के संबंध

लंबाई तथा धारिता की इकाइयाँ

१ इंच	=	०·०२५४ मीटर
१ फुट	=	०·३०४८ ,,
१ गज	=	०·९१४४ ,,
१ मील	=	१६०९·३४४ ,,
१ इंपीरियल गैलन	=	४·५४५९६ लिटर (litres)

धारिता की दशमिक माप

पाइंट		गैलन		घन फुट		लिटर
१	=	०·१२५	=	०·०२	=	०·५६७
८	=	१·०००	=	०·१६०४	=	४·५४१
१६	=	२·०००	=	०·३२०८	=	९·०८२

धारिता की माप

१० मिलीलिटर	=	१ सेंटीलिटर
१० सेंटीलिटर	=	१ डेसिलिटर
१० डेसिलिटर	=	१ लिटर
१० लिटर	=	१ डेकालिटर
१० डेकालिटर	=	१ हेक्टोलिटर
१० हेक्टोलिटर	=	१ किलोलिटर
१ लिटर	=	१$\frac{३}{४}$ पाइंट

तल की माप

१ सेंटीएयर या १ वर्ग मीटर = १·१९६०३३ वर्ग गज

१० सेंटीएयर	=	१ डेसिएयर
१० डेसीएयर	=	१ एयर (१०० वर्ग मील)
१० एयर	=	१ डेकाएयर
१० डेकाएयर	=	१ हेक्टाएयर
१०० हेक्टाएयर	=	१ वर्ग किलोमीटर
१ हेक्टाएयर	=	२ एकड़

ठोस या घन की माप

१ सेंटीस्टियर (centistere) = ६१०·२४०५१५ घन मी०

१ डेसिस्टियर	=	३·५३१६५८ घन फुट
१ स्टियर	=	१·३०७९५४ घनगज
१० सेंटिस्टियर	=	१ डेसीस्टियर
१० डेसिस्टियर	=	१ स्टियर या घन मीज
१० स्टियर	=	१ डेकास्टियर

क्षेत्रफल	की	इकाई	: वर्गमीटर
आयतन	,,	,,	: घनमीटर
धारिता	,,	,,	: लिटर
समय	,,	,,	: सेकंड
करेंट	,,	,,	: ऐंपीयर
ताप	,,	,,	: सेंटीग्रेड

भारत में अंग्रेजी काल में फुट-पाउंड-सेकंड पद्धति का उपयोग प्रचलित था, किंतु १ अप्रेल, १९५८ ई० से मीटरी पद्धति का प्रयोग हो रहा है। इन पद्धतियों के अतिरिक्त अन्य निम्नलिखित मापें भी भारत में प्रचलित हैं।

तौल की भारतीय मापें

८ खसखस	=	१ चावल
८ चावल या ४ धान	=	१ रत्ती
६ रत्ती	=	१ आना
८ रत्ती	=	१ माशा
५ सीकीस	=	१ कंचा
१० माशा	=	१ भरी
१२ माशा या १६ आना	=	१ तोला
५ तोला	=	१ छटाँक
४ छटाँक	=	१ पाव
४ पाव (१६ छटाँक)	=	१ सेर
५ सेर	=	१ पंसेरी
८ पंसेरी या ४० सेर	=	१ मन
	=	८२$\frac{२}{७}$ पाउंड (ऐवुर्डुपॉयज)
	=	१०० पाउंड ट्रॉय

लंबाई की भारतीय मापें

४ अंगुल	=	१ गिरह
१६ गिरह	=	१ गज
३ गिरह	=	१ गट्ठा
२० गट्ठा	=	२ जरीब
२१$\frac{१}{२}$ जरीब	=	१ मील
३ हाथ	=	१ करम
१० करम	=	१ जरीब

समय की भारतीय मापें

६० अनुपल	=	१ विपल
६० विपल	=	१ पल
६० पल	=	१ दंड या १ घड़ी
६० दंड	=	१ दिन
७ दिन	=	१ सप्ताह
३० दिन	=	१ महीना
१२ महीना	=	१ वर्ष
१०० वर्ष	=	१ शताब्दी

धरातल की मापें (बंगाल में प्रचलित)

१ वर्ग हाथ	=	१ गंडा
२० गंडा	=	१ छटक
१६ छटक	=	१ कट्ठा
२० कट्ठा	=	१ बीघा
१ बीघा	=	१,६०० वर्ग गज
१ एकड़	=	३ बीघा ८ छटक
	=	३,०२५ वर्ग गज,

(महाराष्ट्र में प्रचलित)

३६१$\frac{१}{४}$ वर्ग हाथ	=	१ काठी
२० काठी	=	१ पाव
२० पाव	=	१ बीघा
६ बीघा	=	१ रुकेह
२० रुकेह	=	१ चाहुर

(मद्रास में प्रचलित)

४०० वर्ग फुट	=	१ मनाई
२४ मनाई	=	१ काउनी
४८४ काउनी	=	१ वर्ग मील
१२१ काउनी	=	१६० एकड़

(पंजाब में प्रचलित)

१ वर्ग करम	=	१ सीरसई
६ सीरसई	=	१ मार्ला
१० मार्ला	=	१ कनाल
		या ३२४ वर्ग गज
४ कनाल	=	१ बीघा
२ बीघा	=	१ घुमाओ

(उत्तर प्रदेश में प्रचलित)

२० कचवांसी	=	१ बिस्वांसी
२० बिस्वासी	=	१ बिस्वा
२० बिस्वा	=	१ बीघा
१ बीघा	=	५५ × ५५ वर्ग गज

[ग्र० ला०]

मापविज्ञान (Metrology) भौतिकी की वह शाखा है जिसमे शुद्ध माप के बारे में हमें ज्ञान होता है। मापविज्ञान में मूल रूप से हम तीन राशियो, अर्थात् भार, लबाई एवं समय के बारे मे चर्चा करते हैं और इन्ही तीन राशियों के ज्ञान से हम अन्य राशियों, जैसे घनत्व, आयतन, बल तथा शक्ति को मापते हैं।

मापविज्ञान द्वारा अपरिवर्तनीय मानकों (standards) का निर्देश ही नहीं मिलता, वरन् इन्हें कायम भी रखा जाता है। इन्हीं मानकों द्वारा हम वस्तुओ के गुणों की माप तथा तुलना भी करते हैं। दूसरा पक्ष यह है कि किसी कार्यविशेष को दृष्टि में रखकर मापविज्ञान से ऐसे तरीके प्राप्त होते हैं जिनसे तुलनाएँ काफी उच्च स्तर की शुद्धता तक की जा सकें। आधुनिक विज्ञान तथा उद्योगों में उपर्युक्त मौलिक तुलनाओं (fundamental comparisons) का अत्यंत शुद्ध होना आवश्यक है। माप पूर्णतया ठीक नही होती और निश्चित रूप से उसमें कुछ न कुछ प्रायोगिक गलती सदा ही रहती है। आजकल मापविज्ञान की अधिक मौलिक क्रियाओ मे यथार्थता की निम्नलिखित सन्निकटताएँ प्राप्त है :

अंतरराष्ट्रीय आदिरूप (prototype) किलोग्राम के दो प्लेटिनम-इरीडियम नमूनों की तुलना में · १०,००,००,००० में एक भाग।
साधारण रासायनिक बाटों की तुलना में : १०,००,००० में एक भाग।
सूक्ष्ममापी तुला द्वारा छोटे छोटे भारों की तुलना में : १०,००,००,००० में एक भाग।

दो गजों या मानक मीटरों की तुलना में : १,००,००,००० में एक भाग।
अंत्य मानक (End standard) की रेखामानक (Line standard) से तुलना में : १०,००,००० में एक भाग।
साधारण आयतन तथा घनत्व के निर्धारण में : १०,००० में एक भाग।
अंत्य मानक के कुलक के अंशांकन (calibration), १ इंच की लंबाई से कम नहीं मे १०,००,००० में एक भाग।
चिह्नांकित गज या धातु पैमानों के उपविभागों के अंशांकन की पूरी लंबाई के पदो (terms) में ०·००००५ इंच, या ०.०००१ मिलीमीटर।

लबाई के मानक — साधारणत: प्रयोग में आनेवाले मानकों के लिये इस विषय को माप और तोल शीर्षक लेख में देखें।

तरग-दैर्घ्य प्राकृतिक मानक के रूप में (Wavelength as natural standard) — बाद की प्रगति ने काफी हद तक हमारी मान्यताओ मे परिवतन ला दिया है। सर्वप्रथम, वैज्ञानिक माइकेल्सन (Michelson) के प्रयोगो ने एक प्राकृतिक मानक, (कैडमियम के स्पेक्ट्रम मे लाल रेखा (red line) का तरगदैर्घ्य, स्थापित किया, जो सर्वसम्मति से मान लिया गया। यह मानक कम से कम उतनी ही उच्च स्तर की शुद्धता के साथ पुनरुत्पादनीय है जितनी द्रव्यात्मक मानको की तुलनाओ मे पाया जाता है। लेकिन इस मानक की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि यह दीर्घकालिक विचरण (secular variation) की सभावना से परे है, जबकि अन्य सभी प्रकार के मानको मे यह सभव है। हमारे दैनिक जीवन मे प्राय: द्रव्यात्मक मानको का ही प्रयोग होता है। पृथ्वी के किसी भी भाग में हम इस प्राकृतिक मानक की सहायता से द्रव्यात्मक मानको का सत्यापन कर सकते है। यदि द्रव्यात्मक मानको को अंतरराष्ट्रीय केंद्रीय प्रयोगशाला मे भेजकर आदिप्ररूप मीटर से तुलना करानी होती है, तो आवागमन में उसे हानि पहुचने की सभावना रहती है, किंतु प्राकृतिक मानक की सहायता से हम अपनी ही प्रयोगशाला मे यह कार्य कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के सुधारो से चपटे सिरोवाले मानको का विकास हुआ। आजकल ऐसे दड भी प्राप्य हैं जिनके सिरे एकदम समातर हैं। इस प्रकार के दडो की लबाइयो का रेखीय मानक से न निकालकर सीधे प्रकाशीय व्यतिकरण (optical interference) से निकाला जाता है।

माइकेल्सन के व्यतिकरणमापी (interferometer) का उपयोग इस बात को जानने म भी किया गया कि एक मानक मीटर में कितनी प्रकाश की तरगें आती हैं तथा उनकी संख्या क्या है? माइकेल्सन ने १५० सेंटीग्रेड ताप तथा ७६० मिमी० वायुमडल के दबाव पर अतरराष्ट्रीय मीटर का, जो पैरिस के पास माप और तोल के अतरराष्ट्रीय संस्थान मे रखा हुआ है, मान कैडमियम की लाल तरंगों मे, ज्ञात किया। यह मान १५,५३,१६३·५ है, जो २ × १०⁵ में एक सीमा तक सही है। फैब्री पैरों (Fabri Perot) के बाद के प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि १५° से० तथा ७६० मिलीमीटर दबाव पर शुष्क हवा मे एक मीटर मे यह संख्या १५,५३,१६४·१३ है। यदि माइकेल्सन के प्रयोगो मे जलवाष्प के प्रभाव के लिये संशोधन किया जाय, तो यह स्पष्ट होता है कि दोनों के मान में कोई अंतर नही है।

द्रव्यात्मक मानकों का व्यवहार — इस बात का प्रमाण है कि द्रव्यात्मक मानक गज अपने निर्माणकाल से लेकर आज तक संभवत: ०·०००२ इंच घट चुका है, लेकिन जहाँ तक अंतरराष्ट्रीय आदिप्ररूप मीटर का सवाल है वह अपरिवर्तित रहा है। माइकेल्सन तथा फैब्री

पैरों के प्रयोगों ने इसे सिद्ध भी कर दिया है। इनकी तुलना का आधार कैडमियम की लाल रेखा थी। द्रव्य के सब के सब मानक मीटर एक मिश्रधातु के बनाए जाते हैं, जिसके निर्माण में ९० % प्लैटिनम तथा १० % इरीडियम नामक धातु होती है। इस प्रकार के मीटरों को आधारभूत मानकों के लिये सबसे संतोषप्रद माना जाता है।

इनवार (Invar) का व्यवहार — बहुत से कार्यों में, जहाँ अत्यंत ही यथार्थ माप की समस्या आ खड़ी होती है, वहाँ यह आवश्यक है कि हम ऐसे द्रव्य का व्यवहार करें जिसका तापीय प्रसार नाम मात्र का हो। ऐसी धातुओं की खोज हो चुकी है तथा इनमें से एक को 'इनवार' कहते हैं। यह निकल तथा इस्पात की मिश्रधातु है, जिसमें ३६ % निकल रहता है। दूसरी मिश्रधातु को स्टेबल इनवार (Stable invar) की संज्ञा दी गई है। इसमें थोड़ा क्रोमियम भी होता है। इस मिश्रधातु में साधारण इनवार की अपेक्षा यथेष्ट कम प्रसार होता है, तो भी इसको अचर के रूप में नहीं माना जा सकता।

संगलित सिलिका (fused silica) तथा प्राकृतिक क्रिस्टल क्वार्ट्ज (crystal quartz) — दूसरा द्रव्य संगलित सिलिका है, जिसका प्रसार गुणांक बहुत ही कम है। यह द्रव्य एक डिग्री सें० ताप बढ़ने पर केवल $0{\cdot}4 \times 10^{-6}$ बढ़ता है। संगलित सिलिका का मानक मीटर एक नली के आकार का होता है, जिसके सिरे पर समांतर पट्ट (plates) सलीन (fused) होते हैं। इसके प्लैटिनीकृत तल पर सीमांकित रेखाएँ खुदी होती हैं। इस मानक के बारे में जहाँ तक ज्ञात है, इसकी लंबाई में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। चूँकि इस प्रकार का मानक बहुत ही नाजुक होता है, इसलिये न तो इसे मौलिक निर्देश मानक के रूप में स्वीकार किया गया और न इसका प्रचलन दैनिक कार्यों में हुआ। केवल मापविज्ञानी प्रयोगशालाओं में इसे प्रयोग में लाया जाता है।

संहति का मानक — किसी भी प्राकृतिक मानक द्वारा अभी तक इकाई संहति की परिभाषा देने का प्रयास नहीं किया गया। हम सभी लोगों को यह ज्ञात है कि रेडियो सक्रिय पदार्थों की खोज के पहले संहति या द्रव्यमान पदार्थ का एक आवश्यक स्थिर गुण माना जाता था। बटखरों की संहति या द्रव्य मानक में परिवर्तन की आशंका अपघर्षण, ऑक्सीकरण तथा आर्द्रताग्राही अवशोषण के कारण ही संभव है। यदि द्रव्यों के मानकों का संरक्षण तथा उपयोग उचित सावधानी के साथ किया जाय, तो ये काफी हद तक भार की स्थिरता का प्रदर्शन करते हैं।

भार का आधारभूत मानकनिर्देश प्लैटिनम तथा इरीडियम मिश्रधातु का बना है। इसी मिश्रधातु का उपयोग राजकीय मानक पाउंड तथा 'अंतरराष्ट्रीय आदि प्ररूप किलोग्राम' के निर्माण में किया गया है। कई वर्षों के बाद जब किलोग्राम की विभिन्न राष्ट्रीय प्रतियों की पुनः तुलना की गई, तो यह ज्ञात हुआ कि स्थिरता का स्तर 10^{8} में एक भाग तक है। इससे मानकों की यथार्थता ही नहीं वरन् तुलनाओं की पूर्णता भी परिलक्षित होती है।

एक दूसरा द्रव्य, जिसमें संहति की उच्च स्तर की स्थिरता पाई जाती है, क्रिस्टल क्वार्ट्ज कहलाता है। इसमें त्रुटियाँ ये हैं कि इसका घनत्व अपेक्षाकृत कम है और यह आ ता अवशोषक है।

हवा में संहति के मानकों की तुलना करते समय ये मानक वायु के विभिन्न आयतनों को हटाते हैं। अतः संहति के मानकों की तुलना करने में ऊपरी उत्प्लावन प्रभाव का विचार अवश्य रखना चाहिए। यदि मानक का घनत्व कम होगा, तो उत्प्लावन संशोधन ज्यादा होगा। प्लैटिनम-इरीडियम मानकों की आपसी तुलना में जो शुद्धता प्राप्त होती है, वह इस तथ्यांश पर आघृत है कि इनका घनत्व अधिक ही नहीं वरन् बहुत पास पास होता है। इसके कारण उत्प्लावन संशोधन बहुत ही कम होता है। उन भारों की तुलना में उत्प्लावन संशोधन एक समस्या के रूप में आ खड़ा होता है जिनके घनत्व में बहुत अंतर होता है, जैसे प्लैटिनम, क्वार्ट्ज तथा पीतल आदि। इस दोष को दूर करने के लिये वायुरहित वातावरण में तौलना आवश्यक है। प्रति दिन के व्यापारिक कार्यों में तौल का कार्य हवा में ही होता है और उत्प्लावन के कारण जो अंतर बाटों तथा माल में होता है, वह व्यापारिक दृष्टिकोण से नगण्य है। निरीक्षक व्यापारिक बाटों की तुलना के लिये पीतल के, जिसका घनत्व ८·१४३ है, बाटों के मानक काम में लाते हैं।

तुला का उपयोग — जब हम वायुरहित वातावरण में तौल नहीं करते हैं, तब भी द्रव्यमान के प्राथमिक मानकों की सही तुलना के लिये तुला की बनावट उत्तम, प्रयोग की रीति दक्ष तथा सतर्क होनी चाहिए। तुला के शून्य पठनांक को स्थिर रखने के लिये यह आवश्यक है कि तापस्थिरता में अत्यंत सावधानी बरती जाय। इसलिये जिस कक्ष में तुला रखी हो उसको ताप स्थापकीय रीति से (thermostatically) नियंत्रित होना आवश्यक है और निरीक्षक को तौलने का कार्य कक्ष से बाहर से करना चाहिए, या उसे कुछ दूरी से तौलना चाहिए। बाटों को काम में लाने का कार्य तुला के बाहर से यांत्रिक नियंत्रण द्वारा, या लंबी छड़ों से चलाकर, किया जाना चाहिए। तुला की डंडी (beam) का संचलन या तो दूरदर्शी से देखना चाहिए अथवा पैमाने के आर पार डंडी से लगे हुए शीशे से परावर्तित होते एक प्रकाशपुंज की मापनी (scale) पर गति से।

ताप का प्रभाव तुला पर कम से कम हो, इसलिये यह आवश्यक है कि इनवार की डंडी व्यवहार में लाई जाय, किंतु इनवार कुछ हद तक चुबकीय है। यदि अत्यंत उच्च स्तर की शुद्धता की आवश्यकता हो, तो यह आवश्यक है कि तुला की डंडी चुबकीय प्रभाव से पूर्णतया प्रच्छन्न (screened) हो और तुला को एक लोहे के बक्स (case) में रखा जाय।

छोटी छोटी मात्राओं को तौलने के लिये, और विशेष कर गैसों के घनत्वों की तुलना में, सूक्ष्म तुला प्रयोग में लाई जाती है, जो पूर्णतया गलित क्वार्ट्ज की बनी होती है। इस प्रकार की तुलाओं द्वारा 10^{8} में एक भाग की शुद्धता तक १/१० ग्राम भी तौला जा चुका है।

[अ० ला०]

मामसन, थ्योडोर : जर्मन पुरालेखविद् और इतिहासकार; जन्म, ३० नवंबर, सन् १८१७ ई०; मृत्यु, १ नवंबर, सन् १९०३ ई०। कील विश्वविद्यालय में न्यायशास्त्र और भाषाविज्ञान का विद्यार्थी था। सन् १८४२ ई० में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। १८४८ ई० में लाइपज़िग में रोमन विधि का आचार्य नियुक्त हुआ। १८५८ ई० से

जीवनपर्यंत बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राचीन इतिहास का प्राचार्य रहा। १८७३ ई० से १८८२ ई० तक प्रशा की पार्लिमेंट का भी सदस्य रहा और वहाँ उसने बिस्मार्क की गृहनीति की तीव्र आलोचना की। सन् १९०२ ई० में उसे नोबेल पुरस्कार से संमानित किया गया।

१९ वीं शताब्दी के यूरोपीय विद्याजगत् में मामसन उस जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति है जिसने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से अनेक क्षेत्रों को उद्भासित किया। वह न केवल महान् इतिहासकार था अपितु उच्च कोटि का पुरालेखविद्, न्यायवेत्ता, भाषाशास्त्रविद् मुद्राशास्त्रज्ञ तथा साहित्यिक भी था। इतिहास में उसकी परम देन उसका महान् ग्रंथ, 'रोम का इतिहास' है जो पाँच विशाल खंडों में प्रकाशित हुआ (१८५४-१८५६ ई०)। इसके अतिरिक्त रोमन विधि तथा अन्य विषयों पर भी उसने कई उच्च कोटि के ग्रंथों का प्रणयन किया। उसके समकालीन आंग्ल विद्वान् फ्रीमैन के अनुसार मामसन न केवल अपने ही काल का, परंतु सार्वकालिक दृष्टि से भी चरम कोटि का विद्वान् था। [चं० भू० त्रि०]

माया और मायावाद माया शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विचार में परिवर्तन के साथ शब्द का अर्थ भी बदलता गया। जब हम किसी चकित कर देनेवाली घटना को देखते हैं, तो उसे ईश्वर की माया कह देते हैं। यहाँ माया का अर्थ शक्ति है। जादूगर अपनी चतुराई से पदार्थों को विपरीत रूप में दिखाता है, पदार्थों के अभाव मे भी उन्हें दिखा देता है। यह उसकी माया है। यहाँ माया का अर्थ मिथ्या ज्ञान या ऐसे ज्ञान का विषय है। मिथ्या ज्ञान दो प्रकार का है—भ्रम और मतिभ्रम। भ्रम में ज्ञान का विषय विद्यमान है परंतु वास्तविक रूप में दिखाता नहीं, मतिभ्रम में बाहर कुछ होता ही नहीं, हम कल्पना को प्रत्यक्ष ज्ञान समझ लेते हैं।

हम में से हर एक कभी न कभी भ्रम या मतिभ्रम का शिकार होता है। कभी ज्ञानेंद्रिय मे दोष होता है, कभी द्रष्टा और दृष्ट के दरमियान परदा पड़ जाता है। कभी वातावरण मिथ्या ज्ञान का कारण हो जाता है। व्यक्ति की हालत में इसे अविद्या कहते है। माया व्यापक अविद्या है जिसमें सभी मनुष्य फँसे हैं। कुछ विचारक इसे भ्रम के रूप में देखते हैं, कुछ मतिभ्रम के रूप में। पश्चिमी दर्शन में कांट और बर्कले इस भेद को व्यक्त करते हैं।

ज्ञानलाभ के अनुसार आरंभ में हमारा मन कोरी पटिया के समान होता है जिसपर बाहर से निरंतर प्रभाव पड़ते रहते हैं। कांट ने कहा कि ज्ञान की प्राप्ति में मन क्रियाहीन नहीं होता, क्रियाशील होता है। सभी घटनाएँ देश और काल में घटती प्रतीत होती हैं, परंतु देश और काल कोई बाहरी पदार्थ नहीं, ये मन की गुणग्राही शक्ति की आकृतियाँ हैं। प्रत्येक उपलब्ध को इन दोनों साँचों में से गुजरना पड़ता है। इस क्रम में उनका रंग रूप बदल जाता है। इसका परिणाम यह है कि हम किसी पदार्थ को उसके वास्तविक रूप मे नहीं देख सकते, चश्मे में से देखते हैं, जिसे हम आरंभ से पहने हैं और जिसे उतार नहीं सकते।

लॉक ने बाह्य पदार्थों के गुणों में प्रधान और अप्रधान का भेद देखा। प्रधान गुण प्राकृतिक पदार्थों में विद्यमान है, परंतु अप्रधान गुण वह प्रभाव है जो बाह्य पदार्थ हमारे मन पर डालते हैं। बर्कले ने कहा कि जो कुछ अप्रधान गुणों के मानवी होने के पक्ष में कहा जाता है, वही प्रधान गुणो के मानवी होने के पक्ष में कहा जा सकता है। पदार्थ गुणसमूह ही हैं, और सभी गुण मानवी हैं, समस्त सत्ता चेतनो और विचारो से बनी है। हमारे उपलब्ध (Sense Experience) हम पर थोपे या आरोपित किए जाते हैं, परंतु ये प्रकृति के आघात के परिणाम नहीं, ईश्वर की क्रिया के फल हैं।

भारत में मायावाद का प्रसिद्ध विवरण है—'ब्रह्म सत्यम्, जगत् मिथ्या'। इस व्यवस्था में जीवात्मा का स्थान कहाँ है? यह भी जगत् का अंश है, ज्ञाता नहीं, आप आभास है। ब्रह्म माया से आप्त होता है और अपने शुद्ध स्वरूप को छोड़कर ईश्वर बन जाता है। ईश्वर, जीव और बाह्य पदार्थ, आप ब्रह्म के ही तीन प्रकाशन हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं, यह सारा खेल होता क्यों है? एक विचार के अनुसार मायावी अपनी दिल्लगी के लिये खेल खेलता है, दूसरे विचार के अनुसार माया एक परदा है जो शुद्ध ब्रह्म को ढक देती है। पहले विचार के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है, दूसरे के अनुसार उसकी अशक्ति की प्रतीक है। सामान्य विचार के अनुसार मायावाद का सिद्धांत उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और भगवद्गीता में प्रतिपादित है। इसका प्रसार प्रमुख रूप से शंकराचार्य ने किया। उपनिषदों मे मायावाद का स्पष्ट वर्णन नहीं, माया शब्द भी एक दो बार ही प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मसूत्रों में शंकर ने अद्वैत को देखा, रामानुज ने इसे नहीं देखा, और बहुतेरे विचारकों के लिये रामानुज की व्याख्या अधिक विश्वास करने के योग्य है। भगवद्गीता दार्शनिक कविता है, दर्शन नहीं। शंकर की स्थिति प्राय: भाष्यकार की है। मायावाद के समर्थन में गौड़पाद की कारिकाओं का स्थान विशेष महत्व का है, इसपर कुछ विचार करें।

गौड़पाद कारिकाओं के आरंभ मे ही कहता है :

'स्वप्न मे जो कुछ दिखाई देता है, वह शरीर के अंदर ही स्थित होता है, वहां उसके लिये पर्याप्त स्थान नहीं। स्वप्न देखनेवाला स्वप्न में दूर के स्थानों में जाकर दृश्य देखता है, परंतु जो काल इसमें लगता है वह उन स्थानों मे पहुँचने के लिये पर्याप्त नहीं, और जागने पर वह वहाँ विद्यमान नहीं होता।'

देश के संकोच के कारण हमे मानना पड़ता है कि स्वप्न में देखे हुए पदार्थ वस्तुगत अस्तित्व नहीं रखते, काल का संकोच भी बताता है कि स्वप्न के दृश्य वास्तविक नहीं। इसके बाद गौड़पाद कहता है कि स्वप्न और जागरित अवस्थाओं में कोई भेद नहीं, दोनों एक समान अस्थिर हैं। वर्तमान प्रतीति से पूर्व का अभाव स्वीकृत है, इसके पीछे आनेवाले अनुभव का भाव अभी हुआ नहीं; जो आदि और अंत में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा ही है। 'जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे जाते हैं, जैसे गंधर्वनगर दिखता है, उसी तरह पंडितों ने वेदांत में इस जगत् को देखा है।'

गौड़पाद के तर्क मे दो भाग हैं—

(१) स्वप्न के दृश्य मिथ्या हैं, क्योंकि उनके लिये पर्याप्त देश और काल विद्यमान नहीं।

(२) स्वप्न तथा जागरण अवस्थाओं में मौलिक भेद नहीं। स्वप्न

में देश और काल को अपर्याप्त कहने में गौडपाद जागरण के अनुभव को मापक और कसौटी मान रहा है। उसकी यह प्रतिज्ञा कि स्वप्न और जागरण में कोई मौलिक भेद नहीं, इसी से खंडित हो जाती है।

जागरण और स्वप्न में कई मौलिक भेद हैं—

(१) जागरण का अनुभव मूल है, स्वप्न का अनुभव उसकी नकल है। जन्म का अंधा स्वप्न में देख नहीं सकता, बहरा सुन नहीं सकता।

(२) स्वप्न में चित्रों का संयोग अनिर्णीत होता है, जागरण मे यह निर्णीत भी होता है। स्वप्न कल्पना का खेल है, इसमें बुद्धि काम नही करती। स्वप्न रूपक और कल्पना की भाषा का प्रयोग करता है, जागरण में प्रत्ययों की भाषा भी प्रयुक्त होती है।

(३) स्वप्न में प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी दुनिया मे विचरता है, जागरण में हम साझी दुनिया में रहते हैं। इस दूसरी दुनिया मे व्यवस्था प्रमुख है। प्रतिदिन भ्रमण मे अनेक पदार्थों को एक ही क्रम में स्थित देखता हूँ, मेरे साथी भी उन्हें उसी क्रम में देखते हैं; दूसरी ओर कोई दो मनुष्य एक ही स्वप्न नहीं देखते, न ही एक मनुष्य के स्वप्न एक दूसरे को दुहराते हैं। [दी० च०]

मॉरफीन एक ऐल्केलॉइड है। सरटर्नर (Sertürner) द्वारा सन् १८०६ में इस ऐल्केलाइड का पृथक्करण अफीम से हुआ था। इसका प्रयोग हाइड्रोक्लोराइड, सल्फेट, ऐसीटेट, टार्ट्रेट और अन्य नजातों के रूप मे होता है। मॉरफीन से पीड़ा दूर होती और गाढ़ी नींद आती है। इसका सेवन मुख से भी कराया जाता है, पर इंजेक्शन से प्रभाव शीघ्रता से होता है। पीड़ा हरने में यह अद्वितीय पदार्थ सिद्ध हुआ है, पर इसके लगातार सेवन से आदत पड़ जाने की आशंका रहती है। इससे डाक्टर लोग इसका सेवन जहाँ अन्य ओषधियों से काम चल जा सकता हो, वहाँ नहीं कराते। बहुधा इसका उपयोग दमा और खाँसी, विशेषतः कुक्कुर खाँसी, में होता है। कुछ परिस्थितियों में इससे वमन और अतिसार रुकता है। आभ्यंतर रक्तस्राव, अभिघातज पीड़ा, गर्भपात की आशंका आदि में इसका व्यवहार होता है। यह बहुमूल्य औषधि है।

ऐल्कोहॉल मे विलयन से वर्णरहित क्रिस्टल के रूप में मॉरफीन प्राप्त होता है। इसके अणु में क्रिस्टलन जल का एक अणु रहता है। अजल मॉरफीन २५४° सें० पर पिघलता है। इसका विशिष्ट घूर्णन

$$\left[a \right]_{d}^{25} = -१३२^{\circ}$$

है। एक ग्राम मॉरफीन ५००० घन सेंमी० जल में, अथवा २१० घन सेंमी० ऐल्कोहॉल मे घुलता है। क्षार में यह विलेय है। अम्लों से यह लवण बनाता है। सल्फेट, हाइड्रोक्लोराइड और ऐसीटेट इसके महत्व के लवण हैं। इसके लवण लोहे, ताँबे और पारद के लवणों, क्षारमृत्तिका के लवणों तथा टैनिनवाले पदार्थों से मेल नहीं खाते। फेरिक क्लोराइड से यह गाढ़ा नीला रंग देता है। इसका संश्लेषण २७ क्रमों में हुआ है। यह संश्लेषण केवल वैज्ञानिक महत्व का है, व्यापारिक महत्व का नहीं। आज अनेक संश्लिष्ट पदार्थ बने हैं, जो मॉरफीन के स्थान में पीड़ापहारी के रूप मे प्रयुक्त हो सकते हैं, या होते हैं। मॉरफीन का अणुसूत्र, का₁₇ हा₁₉ ना ओ₃ ($C_{17} H_{19} N O_3$) है। [फू० स० व०]

मारमारा सागर (Marmara sea) स्थिति : ४०° ४०' उ० अ० तथा २८° १५' पू० दे०। पश्चिमी एशिया में टर्की के बीच डार्डनेल्ज तथा बॉसपोरस सागर के मध्य स्थित, १२० मील लंबा तथा ५० मील चौड़ा एक सागर है, जो यूरोपीय तुर्क राज्यों को एशिया स्थित राज्यों से अलग करता है। यह बॉसपोरस प्रवाह प्रणाली द्वारा कालासागर से मिला हुआ है। इसके अतिरिक्त डार्डनेल्ज द्वारा यह एजियन सागर से मिला हुआ है। इसका क्षेत्रफल ४,५०० वर्ग मील है। इसकी सबसे अधिक गहराई ७०० फैदम है और सबसे गहरे भाग, ५०० फैदम से अधिक, इसके उत्तरी भाग की तीन तलहटियों में हैं। इसमे अनेक छोटे द्वीप हैं, जिनमें सबसे बड़ा मारमोरा द्वीप पश्चिम की ओर स्थित है, जो २४ मील लंबा एवं पाँच मील चौड़ा है। [कृ० कु० सा०]

मारिएत ऑगुस्त फर्डिनेंड फ्रांस्वा (Mariettee August Ferdinand Francois) मिस्र का फ्रांसीसी इतिहासज्ञ। जन्म ११ फरवरी, १८२१ को बुलानिओ (Boulgne) में हुआ। १८३९ मे इसने इंगलैंड मे फ्रेंच भाषा और चित्रकला का अध्यापन किया। लौटकर म्यूनिसिपल कॉलेज मे अध्यापक बना और वहीं पुरातत्व शास्त्र का अध्ययन किया। १८४८ मे लूव्र के मिस्री संग्रहालय में इसकी नियुक्ति हो गई। १८५० मे सरकार ने इसे अरबी, कोप्ती, सीरियाई तथा युथोपियाई पांडुलिपियों के संग्रह का काम सौंपा। वहाँ तीन दीर्घकाय पिरामिडों के निकट मेंफिस तथा सिरापियम मंदिर की खोज की। ग्रीक निर्माण से संबंधित ४,००० से अधिक मूर्तियों तथा पांडुलिपियों की खोज की। १८५४ में पैरिस आया और सहायक क्यूरेटर बना। १८५५ में बर्लिन संग्रहालय में मिस्र की प्राचीन वस्तुओं के अध्ययनार्थ गया। १९ जनवरी, १८८१ मे काहिरा मे इसकी मृत्यु हुई। [गु० त्रि०]

मॉरिटेनिया स्थिति : ८२° ०' उ० अ० तथा १०° ०' प० दे०। अफ्रीका के उत्तर पश्चिमी किनारे पर स्थित एक देश, जो फ्रांस के अधीन है। इसके उत्तर-पश्चिम में स्पेनी सहारा, उत्तर-पूर्व में ऐल्जिरिया, दक्षिण पूर्व मे माली एवं दक्षिण पश्चिम मे सेनिगॉल देश स्थित है। इसका क्षेत्रफल ३,२३,३१० वर्ग मील तथा जनसंख्या ७,२७०० (१९६०) है। यह सहारा के रेगिस्तानी क्षेत्र का ही भाग है। इसके लंबे समुद्री तट पर अच्छे बंदरगाह स्थित हैं। सागर से देश के आंतरिक भाग की ओर जाने पर गरमी एवं शुष्कता बढ़ती जाती है। यहाँ से नमक, खजूर आदि का निर्यात होता है। पशुपालन एवं समुद्री किनारे पर मत्स्य व्यवसाय होता है। यहाँ की राजधानी नौकचोट (Nouakchott) है। [नि० कौ०]

मॉरिशस (Mauritius) द्वीप, स्थिति : २०° ०' द० अ० तथा ५७ ०' पू० दे०। बंबई से २,६४० मील दक्षिण हिंद महासागर में स्थित यह द्वीप ब्रिटिश उपनिवेश है। इसका क्षेत्रफल ७२० वर्ग मील

है। इसके आसपास के द्वीपों में सबसे बड़ा द्वीप रोड्रीगेस (Rodriguez) इससे ३५० मील दक्षिण-पूर्व में स्थित है। उष्ण कटिबंध में स्थित होते हुए भी समुद्र के कारण यहाँ मुख्यतया गरमी और जाड़ा दो ऋतुएँ होती हैं। नवंबर से अप्रैल तक गरमी और मई से सितंबर तक जाड़ा पड़ता है। वर्ष में २०० इंच तक वर्षा हो जाती है। प्राकृतिक सौंदर्य से पूर्ण इस द्वीप में छः झीलें हैं, जिनमें दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। शामरेल, पॉपुलेमुस का सार्वजनिक उपवन और सुन्दर दर्शनीय स्थान हैं। यहाँ हिंस्र जंतु तथा साँप नहीं हैं। यहाँ की जनसंख्या ६,६७,००० (१६६१) है, जिसमें पाँच लाख से अधिक भारतीय, २०,००० चीनी, १०,००० फ्रांसीसी तथा ३५० अंग्रेज हैं। भारतीयों में ८०,००० मुसलमान हैं। जनसंख्या का घनत्व ६१० व्यक्ति प्रति मील है।

यहाँ का मुख्य व्यवसाय चीनी बनाना है, जिसका वार्षिक उत्पादन पाँच लाख टन है। ईख के अतिरिक्त चाय, तंबाकू, शराब, बीयर, जूता, नमक, सिगरेट, दियासलाई, साबुन, ईंट, बैटरी, लोहे की खिड़कियों एवं दरवाजों के लघु उद्योग भी यहाँ हैं।

चीनी का निर्यात मुख्यतः इंग्लैंड और कैनाडा को होता है। इसके अतिरिक्त एशियाई देशों को भी चीनी भेजी जाती है। शराब, चाय आदि इंग्लैंड भेजी जाती है। मॉरिशस में मशीनों, ट्रैक्टरों, तथा ऊनी कपड़ों का आयात कई देशों से होता है, जिनमे इंग्लैंड मुख्य है। सूती वस्त्र, दाल, तेल, मसाला, पीतल तथा ऐल्यूमिनियम के बरतन भारत से आयात होते हैं।

यहाँ की राजधानी और प्रसिद्ध बंदरगाह पोर्ट लुई है, जो व्यावसायिक केंद्र भी है। इसकी जनसंख्या ८०,००० है। यहाँ के सिक्के भारत के पुराने सिक्कों की तरह हैं। मॉरिशस द्वीप का सांस्कृतिक वातावरण भारतीय है और सभी भारतीय पर्व यहाँ मनाए जाते हैं। 'बनाने' नामक तिथि के दिन यहाँ के लोग एक दूसरे को शुभकामनाएँ भेजते हैं और आपस में गले मिलते हैं।

यहाँ की ६० प्रति शत जनता साक्षर है। राज्यभाषा अंग्रेजी है, किंतु फ्रांसीसी, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ, जैसे भोजपुरी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू आदि भी यहाँ बोली जाती हैं। यहाँ से प्रकाशित होनेवाले दैनिक पत्रों में मुख्य हैं 'ऐडवांस' तथा 'मॉरिशस टाइम्स' जो फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी भाषा में निकलते हैं। हिंदी में 'नवजीवन' मुख्य समाचार पत्र है। इनके अतिरिक्त अनेक मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक एवं अर्धसाप्ताहिक पत्र पत्रिकाएँ निकलती हैं। यहाँ के मंत्रिमंडल में अधिकांश मंत्री भारतीय हैं।

[अ० कु० च०]

मारीच सुंद और ताड़का का पुत्र (वा० रा० बा०, २५) और रावण का अनुचर जिसे अजेयत्व के वरदान स्वरूप १० हजार हाथियों का बल प्राप्त था। विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न पहुँचाने पर राम ने बाण से इसे १०० योजन दूर समुद्र में फेंक दिया। अंत में सीताहरण के लिये सोने के कपट मृग का रूप धारण करने पर यह राम द्वारा मारा गया।

[रा० द्वि०]

मारुफ कर्खी, शेख मारूफ अल कर्खी, उपनाम अबू महफूज, बिन फ़ीरोज अथवा फीरोजाँ की गणना बगदाद स्कूल के प्रसिद्ध सूफियों में होती है। साधारणतः यह कहा जाता है कि आपके वंशज परंपरागत ईसाई धर्मावलंबी थे। आपका निवासस्थान वासित जिले में था। आपने हजरत अली बिन मूसा रजा के हाथों इस्लाम धर्म अंगीकार किया। हजरत इमाम रजा आप पर बहुत कृपालु थे और आपके आध्यात्मिक तथा पुस्तकीय शिक्षण में प्रयत्नशील रहते थे। प्रमाणत: मारूफ कर्खी स्वयं 'तरीकत' और 'हकीकत' की सूफी पद्धति के इमाम कहलाए। आपने मारूफ के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। पुस्तकीय शिक्षण मे आप हजरत अबू हनीफ़ तथा सूफ़ीवाद में हजरत हबीब राई के शिष्य थे जो हजरत सल्मान फारसी के शिष्य थे। अंत मे आपके माता पिता ने भी इस्लाम स्वीकार कर लिया। आपके शिष्यो में सरी-अल-सकती एक महान सूफी हुए हैं जो जुनैन बगदादी के अध्यात्म गुरु थे। मारूफ कर्खी की कुछ शिक्षाएँ ये हैं — 'प्रेम सांसारिक व्यक्तियों से नही सीखा जाता। यह ईश्वरीय पुरस्कार है और उसी की कृपा से मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होता है। सूफियों में तीन गुण आवश्यक हैं, उनकी चिंता ईश्वर के लिये होती है, वे ईश्वर के ध्यान में मग्न रहते हैं और उनका पलायन ईश्वर की ही ओर होता है, अध्यात्मवाद का तात्पर्य हकीकत की पहचान और उन वस्तुओं का बहिष्कार है जो मानव के अधिकार मे हों।' आपकी मृत्यु २०० हि० (८१५-८१६ ई०) में हुई। उस समय ईसाई और मुसलमान दोनों आपको अपना बताते थे। अंत में आपके शिष्य ने कहा कि स्वर्गवासी की यह वसीयत थी कि जो उनकी अर्थी को अपने कंधे पर उठा ले जाए उनका उसी धर्म से संबंध है। ईसाई इस कार्य में असफल रहे तथा मुसलमानो ने आपके जनाजे को दफन किया। बगदाद निवासी आपपर बड़ी श्रद्धा रखते थे तथा समाधि पर दर्शनार्थ जाया करते थे। आप तर्याक अकबर (प्रमाणित औषधि) कहलाते थे। कुशैरी ने लिखा है कि लोग आपकी समाधि पर वर्षा के लिये सहायता प्राप्त करने जाते थे।

सं० ग्रं० — शेख अली हुज्वेरी : कश्फुल महजूब, लाहोर; इमाम कुशैरी: रिसाला कुशैरी (मिस्र, १३१८); ख्वाजा फरीदुद्दीन अत्तार : तजकिरातुल औलिया (निकलसन द्वारा संपादित), १, २६९-२७४; मौलाना अब्दुर्रहमान जामी: नफहातुल उंस (नवलकिशोर, १३२३) ३९-४०; दाराशिकोह: सफीनतुल औलिया (उर्दू अनुवाद, करांची १९६१) ५७-५८; मौलाना गुलाम सर्वर · खजीनतुल आस्फिया (नवलकिशोर), १, ७६-७८; निकलसन : द ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आफ सूफीज्म (जे० ए० आर० एस०, १९०६) ३०६; एनसाइक्लोपीडिया आफ इस्लाम (लंदन, १९३६) ३, ३०७)। [मु० उ०]

मार्क एकेंसाइड (अंग्रेज कवि और वैद्य) (१७२१-१७७०) मार्क ऐकेंसाइड जान आर्मस्ट्रांग के समान ही कर्मणा वैद्य थे, परंतु स्वभावत: काव्यपारखी तथा साहित्यप्रेमी थे। वह एक कसाई के पुत्र थे और ह्विग पार्टी के उत्साही समर्थक। उनके लेखों मे ह्विग दलीय सिद्धांतों का विशद प्रतिपादन हुआ है। काव्यरचना का उन्हें विशेष शौक था, परंतु उनकी प्रतिभा साधारण कोटि की ही थी, जैसा उनकी सर्वप्रसिद्ध कविता 'प्लेजर्स आव इमैजिनेशन' से स्पष्ट है। इस बृहत् काव्य मे मिल्टन की ओजपूर्ण शैली का असफल अनुकरण है, परंतु विचार ऐडिसन के तद्विषयक लेख के अनुरूप हैं। एकेंसाइड टामस ग्रे तथा कालिंस के समान ही ग्रीक साहित्य के विद्वान् तथा ग्रीक

प्रवृत्ति के प्रतिपादक थे। उनकी व्यंग्यात्मक शैली का सर्वोत्तम उदाहरण 'दी इपिसिल टु क्यूरियो' में मिलता है जहाँ हृदय के वास्तविक उद्‌गारों के साथ साथ शैली में काफी स्फूर्ति आ गई है।

सं० ग्रं० — ब्यूके, सी० : आन दी लाइफ ऐंड जीनियस आव मार्क एकेंसाइड, १८३२।

मार्कस पोर्सियस कातो (९५–९ ई० पू०) रोमन दार्शनिक जो राजनीति और युद्ध में भी रुचि लेता था। पांपे और जूलियस सीजर के बीच हुए युद्ध में उसने पांपे का पक्ष लिया जिसकी पराजय होने पर उसने आत्महत्या कर ली। बताया जाता है कि मरते समत तक प्लेटो के 'डायलॉग' के आत्मा की अमरता वाला भाग पढ़ता रहा, यद्यपि स्वयं उसने भविष्य को अपेक्षा तात्कालिक कर्तव्य को सदैव अधिक महत्वपूर्ण समझा। इसी तरह राजनीति में तो वह अराजकवादी था किंतु सिद्धांततः स्वतंत्र राज्य का समर्थक था। मृत्यु के उपरांत उसका चरित्र चर्चा का विषय बना। सिसरो ने 'कातो' लिखा और सीजर ने 'एंटाकातो'। ब्रूटस ने कातो को सद्‌गुणों और आत्मत्याग का आदर्श बताया। [शि० श०]

मार्कोनी, गूल्येलमो (Morconi, Gughelmo) का जन्म इटली के बोलोन नगर में २५ अप्रैल १८७४ ई० को हुआ था। आपकी शिक्षा दीक्षा घर ही पर निजी तौर पर हुई थी। विद्यार्थी जीवन में ही आपने इस बात को भाँप लिया था कि हेर्ट्‌स (Hertz) द्वारा उत्पन्न की गई विद्युच्चुंबकीय (electromagnetic) तरंगों की मदद से दूर तक संदेश भेजा जा सकता है। फिर तो मृत्यु पर्यंत आप इसी क्षेत्र में निरंतर अनुसंधान करते रहे। रेडियो टेलिग्राफी को व्यावहारिक रूप देने का श्रेय मार्कोनी को ही प्राप्त है। सन् १८९५ में मार्कोनी ने अपने घर के बगीचे में ही रेडियो टेलिग्राफी के प्रारंभिक प्रयोगों का सूत्रपात किया। शीघ्र ही बिना किसी तार आदि का सहारा लिए ही आप एक मील की दूरी तक रेडियो संकेत भेजने में सफल हुए। अगले वर्ष आप इंग्लैंड गए और वहाँ आपने रेडियो टेलिग्राफी का सर्वप्रथम पेटेंट प्राप्त किया। यहाँ एक प्रदर्शन में आपने ९ मील की दूरी पर रेडियो संकेत भेजा। सन् १८९९ में आपने इंग्लिश चैनेल के आर पार ८५ मील के फासले पर रेडियो संकेत भेजा। आप रेडियो ट्रांस्मिटर और ग्राहक यंत्र में सुधार कर १२ दिसंबर, १९०१ को ऐटलांटिक महासागर के आर पार १,८०० मील की दूरी पर रेडियो संकेत भेजने में सफल हुए। आपकी खोजों के फलस्वरूप ही रेडियो यंत्र इतने जनोपयोगी बन सके। इन आविष्कारों के उपलक्ष में आपको १९०९ में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। इंग्लैंड के बादशाह तथा रूस के जार ने भी मार्कोनी को विशेष संमान प्रदान किए। मार्कोनी की मृत्यु १९३७ ई० में हुई। [भं० प्र० स०]

मार्क्स, कार्ल हाइनरिख (१८१८–१८८३) जर्मन दार्शनिक, अर्थशास्त्री और वैज्ञानिक समाजवाद का प्रणेता। ५ मई, १८१८ को त्रेवेस (प्रशा) के एक यहूदी परिवार में उत्पन्न हुआ। १८२४ में उसके परिवार ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। १७ वर्ष की अवस्था में मार्क्स ने कानून का अध्ययन करने के लिये बॉन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। तत्पश्चात् उसने बर्लिन और जेना विश्वविद्यालयों में साहित्य, इतिहास और दर्शन का अध्ययन किया। इसी काल में वह हीगेल के दर्शन से बहुत प्रभावित हुआ। १८३९–४१ में उसने दिमॉक्रितस और एपीक्यूरस के प्राकृतिक दर्शन पर शोधप्रबंध लिखकर डाक्टरेट प्राप्त की।

शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् १८४२ में मार्क्स उसी वर्ष कोलोन से प्रकाशित 'राइनिशे जीतुंग' पत्र में पहले लेखक और तत्पश्चात् संपादक के रूप में संमिलित हुआ किंतु सर्वहारा क्रांति के विचारों के प्रतिपादन और प्रसार करने के कारण १५ महीने बाद ही १८४३ में उस पत्र का प्रकाशन बंद करवा दिया गया। मार्क्स पेरिस चला गया, वहाँ उसने 'ड्यूस फांजोसिश यारबूशर' पत्र में हीगेल के नैतिक दर्शन पर अनेक लेख लिखे। १८४५ में वह फ्रांस से निष्कासित होकर ब्रूसेल्स चला गया और वहीं उसने जर्मनी के मजदूर संगठन और 'कम्युनिस्ट लीग' के निर्माण में सक्रिय योग दिया। १८४७ में एंजेल्स के साथ 'अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद' का प्रथम घोषणापत्र (कम्युनिस्ट मॉनिफेस्टो) प्रकाशित किया।

१८४८ में मार्क्स ने पुन कोलोन में 'नेवे राइनिशे जीतुंग' का संपादन प्रारंभ किया और उसके माध्यम से जर्मनी को समाजवादी क्रांति का संदेश देना प्रारंभ किया। १८४९ में इसी अपराध में वह प्रशा से निष्कासित हुआ। वह पेरिस होते हुए लंदन चला गया और जीवन पर्यंत वहीं रहा। लंदन में सबसे पहले उसने 'कम्युनिस्ट लीग' की स्थापना का प्रयास किया, किंतु उसमें फूट पड़ गई। अंत में मार्क्स को उसे भंग कर देना पड़ा। उसका 'नेवे राइनिश जीतुंग' भी केवल छह अंकों में निकल कर बंद हो गया।

१८५९ में मार्क्स ने अपने अर्थशास्त्रीय अध्ययन के निष्कर्ष 'जुर क्रिटिक दर पोलिटिशेन एकानामी' नामक पुस्तक में प्रकाशित किये। यह पुस्तक मार्क्स की उस बृहत्तर योजना का एक भाग थी, जो उसने संपूर्ण राजनीतिक अर्थशास्त्र पर लिखने के लिये बनाई थी। किंतु कुछ ही दिनों में उसे लगा कि उपलब्ध सामग्री उसकी योजना में पूर्ण रूपेण सहायक नहीं हो सकती। अत. उसने अपनी योजना में परिवर्तन करके नए सिरे से लिखना प्रारंभ किया, और उसका प्रथम भाग १८६७ में दास कापिताल' (द कैपिटल) के नाम से प्रकाशित किया। 'द कैपिटल' के शेष भाग मार्क्स की मृत्यु के बाद एंजेल्स ने संपादित करके प्रकाशित किए। 'वर्गसघर्ष' का सिद्धांत मार्क्स के 'वैज्ञानिक समाजवाद' का मेरुदंड है। इसका विस्तार करते हुए उसने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और बेशी मूल्य (सरप्लस वैल्यू) के सिद्धांत की स्थापनाएँ कीं। मार्क्स के सारे आर्थिक और राजनीतिक निष्कर्ष इन्हीं स्थापनाओं पर आधारित हैं।

१८६४ में लंदन में 'अंतरराष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना में मार्क्स ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संघ की सभी घोषणाएँ, नीति और कार्यक्रम मार्क्स द्वारा ही तैयार किए जाते थे। कोई एक वर्ष तक संघ का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा, किंतु बाकूनिन के अराजकतावादी आंदोलन, फ्रांसीसी जर्मन युद्ध और पेरिस कम्यूनों के चलते 'अंतरराष्ट्रीय मजदूर संघ' भंग हो गया। किंतु उसकी प्रवृत्ति और चेतना अनेक देशों में समाजवादी और श्रमिक पार्टियों के अस्तित्व के कारण कायम रही।

अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ भंग हो जाने पर मार्क्स ने पुन. लेखनी उठाई। किंतु निरंतर अस्वस्थता के कारण उसके शोधकार्य में अनेक बाधाएँ आईं। मार्च १४, १८८३ को मार्क्स के तूफानी जीवन की कहानी समाप्त हो गई। मार्क्स का प्राय सारा जीवन भयानक आर्थिक संकटों के बीच व्यतीत हुआ। उसकी छह संतानो मे तीन कन्याएँ ही जीवित रहीं (देखिए समाजवाद और साम्यवाद)।

मार्ग वृक्षपालन के अंतर्गत सड़कों के किनारे वृक्ष लगाना और फिर उनका अनुरक्षण करना आता है। वृक्ष विज्ञान से इसका सीधा संबंध है। मार्ग वृक्ष पालन के लिये वृक्षों की वृद्धि और उनकी क्रिया-प्रणाली संबंधी ज्ञान तो अनिवार्यतः आवश्यक है ही, साथ ही साथ सजावट के उद्देश्य से, दृढ़ता के आधार पर, या प्रतिरोधात्मक गुणों की दृष्टि से पौधों के चुनाव और समूहन संबंधी कौशल भी अपेक्षित हैं। इसलिये मार्ग वृक्षपालन का दायित्व निभाने के लिये पादप-क्रिया प्रणाली, मृदा-विज्ञान, विकृति आदि का कामचलाऊ ज्ञान होना चाहिए।

सजावट, शिक्षा संबंधी या वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिये काष्ठ उत्पादक वृक्ष बहुत प्राचीन काल से लगाए जाते रहे हैं। प्राचीन साहित्य में वृक्षारोपण और वृक्षों की देखभाल की पर्याप्त चर्चा है। वैदिक संस्कृति मूलतः आश्रम संस्कृति है और भारत गरम देश है, अतः यहाँ आदिकाल से ही वृक्षारोपण की महत्ता मान्य रही है एवं सड़कों के किनारे पेड़ लगाना एक पुनीत कार्य समझा जाता रहा है। पाश्चात्य जगत् में सड़को का इतिहास जब से आरंभ होता है, उसके शताब्दियों पहले से भारतीय सड़कें यात्रियों को छाया देनेवाली, शोभावाली वृक्षावलियों के लिये प्रसिद्ध थी। सड़कों के किनारे कुआँ, बावली, या सराय बनवाने की अपेक्षा वृक्षारोपण का महत्व कम न था।

वृक्ष सड़क के किनारे प्रायः दोनों ओर, समातर एवं लगातार, पंक्तियों में, गोला से काफी दूर लगाए जाते हैं। बहुधा इकहरी पंक्ति ही दोनों ओर लगाई जाती है, किंतु यदि सड़क के किनारे बहुत चौड़ी पट्टी हो तो वहाँ दो पंक्तियाँ भी लगाई जा सकती हैं। वृक्षों के बीच आड़े-बेंडे कम से कम चालीस चालीस फुट का अंतर होना चाहिए, ताकि वृक्षों को स्वस्थ वृद्धि संभव हो और उनका पूर्ण विकास होने पर एक की पत्तियाँ दूसरे से न छू जाएँ। बरगद सरीखे कुछ विशाल वृक्षों के लिये यह अंतर और भी अधिक रखना पड सकता है। प्रत्येक दशा मे सड़क के दोनो ओर इतनी दूरी होनी चाहिए कि यदि इकहरा यानपथ हो तो दस-बारह फुट और दुहरा यानपथ हो, तो बीस-चौबीस फुट जगह सड़क पर बिल्कुल खुली रह सके। इस दृष्टि से स्थानीय मिट्टी के लिये उपयुक्त वृक्षों का चुनाव करने के साथ साथ यह भी आवश्यकता होती है कि पेड़ कम घेरे वाले हो। सड़क के किनारे की भूसंपत्ति का भी ध्यान रखना पड़ता है, जैसे विशेष उपजाऊ भूमि हो तो ऐसे पेड लगाने चाहिए कि उनकी छाया से फसल को विशेष हानि न पहुँचे। शहरी क्षेत्रो मे ऐसे पेड़ लगाने चाहिए जो वर्तमान, अथवा प्रस्तावित, मार्ग-प्रकाशन-व्यवस्था मे बाधा न दें और न वर्तमान संरचनाओं को ही कोई हानि पहुँचाएँ।

वृक्षारोपण के प्रथम चरण मे गड्ढे खोदना और पौध तैयार करना संमिलित है। वृक्षों की स्थिति निश्चित हो जाने पर वहाँ कम से कम तीन फुट लंबे, तीन फुट चौड़े और तीन फुट गहरे गड्ढे खोदे जाते हैं और खुदी हुई कुछ मिट्टी से गड्ढे के चारों ओर एक बाँध जैसा बना दिया जाता है। इसे थाला कहते हैं। थाला बनाने का काम वर्षा के पहले ही पूरा कर लिया जाता है। खुदी हुई मिट्टी में आस पास उपलब्ध पत्तियो एव गोबर आदि की खाद मिलाकर, फिर थाले में इस प्रकार भर दी जाती है कि गड्ढा भूमितल से लगभग एक बालिश्त नीचा रहे। इसे वर्षा में (या कभी कभी पानी सींच कर) बैठने के लिये छोड़ देते हैं। पौध किसी सुविधाजनक स्थान पर क्यारियो में ही तैयार की जाती है। यहाँ प्रशिक्षित और अनुभवी माली की देख रेख मे पौधे बढ़ते हैं। क्यारियाँ ऐसी जगह बनानी चाहिए जहाँ पानी सदा मिल सके और पशुओं से उनकी रक्षा की जा सके। कड़ी धूप से भी पौधो को बचाना आवश्यक होता है।

पौधे प्रायः वर्षा मे, या उसके बाद ही, लगाए जाते हैं, जब गड्ढे गीले हों और पौधे लगाने के लिये ठीक हों। थाले के बीचों बीच लगभग छह इंच चौकोर और १२ इंच गहरा गड्ढा खोदकर, उसमें स्वस्थ और सामान्य बाढ़वाला कोई पौधा चुनकर लगा दिया जाता है। फिर उसमें रोज पानी दिया जाता है, जबतक कि पौधा जड न पकड़ ले। धीरे धीरे उसकी कुछ या सारी पत्तियाँ झड जाती हैं और नई निकलने लगती हैं। यदि डंठल हरा है और उसमे अंकुर निकल रहे है, तो पौधा जीवित समझना चाहिए। इस अवधि मे विशेष देखभाल की आवश्यकता होती है। थालो के चारों ओर मिट्टी, ईंट या लकड़ी के घेरे बना दिए जाते हैं, ताकि जानवर पौधे न चर जाएँ। पौधे की और मिट्टी की किस्म के अनुसार लगभग तीन से पाँच वर्ष तक सिंचाई और निराई गुड़ाई की आवश्यकता रहती है। बड़े हो जाने पर पौधों पर नंबर डाल दिए जाते हैं। सब पेड़ो की एक सूची बना ली जाती है, जिसमें भविष्य में आवश्यकतानुसार यदि कभी कोई परिवर्तन हो तो संशोधन किया जा सके।

सड़क के किनारे बहुधा लगाए जाने वाले पेड आम, इमली, जामुन, बरगद, पीपल, नीम, बकायन, अशोक, शीशम, सागौन, महुआ, नारियल और खजूर आदि हैं। बबूल सरीखे काँटेदार पेड़ लगाना ठीक नही होता, क्योकि इनके सूखे काँटे गिर गिर कर पैदल तथा सवारीवाले, सभी यात्रियों को कष्ट देते हैं। वृक्षों का चुनाव बहुधा मिट्टी की दृष्टि से किया जाता है।

पौधो मे अनेक प्रकार के रोग भी लग जाते हैं ऐसी दशा में शीघ्र ही उपचार होना चाहिए। कभी कभी पत्तियों मे नीचे की ओर छोटे छोटे सफेद अंडे जैसे अथवा टहनियो में फफूंद जैसी लगी दिखाई देती हैं। इन्हे तुरंत नष्ट कर देना चाहिए और पौधों पर चूने का पानी और नीला थोथा (तूतिया) के हलके घोल का मिश्रण, अथवा तंबाकू का पानी, छिड़क देना चाहिए। यदि तुरंत इसपर ध्यान न दिया गया, तो यह बीमारी अन्य पौधो तक फैल सकती है। कभी कभी तो थालो मे भरी हुई मिट्टी या खाद में ही कीटाणु मौजूद रहते हैं और वहीं से पेड़ो में फैल जाते हैं और कभी कभी निकटस्थ वनस्पति से।

मार्ग-वृक्षपालन का एक महत्वपूर्ण अंग है काट छाँट या काट तराशी। यदि पौधे में अत्यधिक टहनियाँ या शाखाएँ निकल आती हैं,

तो उसकी बाढ़ रुक जाती है। शाखाओं के फैलाव से सड़क के ऊपर यानों के अबाध आवागमन में कठिनाई होती है। इसलिये किसी तेज चाकू, कैंची या कुल्हाड़ी से ऐसी सभी अनावश्यक शाखाएँ और टहनियाँ काट देनी चाहिए जो बेढंगी लगती हों, या यातायात में बाधक होती हों। मोटी डालें तेज कुल्हाड़ी या आरी से इस प्रकार काटनी चाहिए कि छिलका न उतर जाय और पेड़ को क्षति न पहुँचे। पतले और झुके हुए तनेवाले पौधे यदि बदले न जा सकें, तो उन्हें पास में एक लकड़ी गाड़कर उससे बाँध देना चाहिए, ताकि वे धीरे धीरे सीधे हो जायें। यह सब काम सुव्यवस्थित ढंग से, सावधानी पूर्वक, किसी अनुभवी व्यक्ति की देख रेख में, उपयुक्त मौसम में किया जाय, तो अत्यंत चित्ताकर्षक मार्ग तैयार होता है।

वृक्षारोपण और वृक्षों के पालन की लागत स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। यह मजदूरी की दरों, पानी की उपलब्धि, मिट्टी की किस्म और वृक्ष की जाति पर बहुत अंश तक निर्भर होता है। मार्ग वृक्षपालन पर हुआ व्यय यदि लकड़ी और फलों के रूप मे वसूल न हो, तो भी वह व्यर्थ नहीं जाता। यात्रियों की सुख सुविधा की दृष्टि से वह लाभदायक ही ठहरता है। इतना ही नहीं, उपयुक्त जाति के वृक्ष चुनकर उन्हें सुंदर ढंग से लगाने से निर्जन मार्ग भी सुंदरता से भर जाता है और मनोहारी वीथी का रूप ग्रहण कर लेता है। इसलिए सड़क इंजीनियरों को इस दिशा मे भी उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना सड़कनिर्माण और मरम्मत पर दिया जाता है। [वि० प्र० गु०]

मार्ग्रेटा क्रैग कुमारी मार्ग्रेटा क्रैग का जन्म १५ जून, १६०३ ई० को अमेरिका के मेरीलैंड के नगर बालटीमोर में हुआ। उनके पिता श्री जोजफ क्रैग धनवान् व्यापारी थे।

इंटरमीडिएट की परीक्षा पास करने के उपरांत उन्होंने मेरीलैंड अस्पताल में नर्सिंग की दीक्षा ली। यहाँ से उन्होंने नर्सिंग की एम० ए० की परीक्षा १६२५ ई० मे पास की और इसी अस्पताल मे उनकी नियुक्ति भी हुई।

१६३० ई० में वह अमेरिका के प्रेसबीटेरियन मिशन की ओर से भारत आईं और यहाँ महाराष्ट्र राज्य के नगर मीरज के प्रेसबीटेरियन मिशन अस्पताल की नर्सिंग अध्यक्ष नियुक्त हुईं। वह इस पद पर १६४३ ई० तक रहीं।

१६४३ ई० के दिसंबर महीने में भारत सरकार ने उनसे प्रार्थना की कि वह नर्सों के लिये स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम तैयार करें। इसी समय उन्होंने देहली नर्सिंग शासकीय स्कूल की स्थापना की। यह भारत का प्रथम स्कूल है जहाँ नर्सों को उच्चतम नर्सिंग की शिक्षा दी जाती है।

अगस्त, १६४६ ई० मे कुमारी मारग्रेटा क्रैग ने भारत सरकार की आज्ञा के अनुसार नई देहली में कालेज आफ नर्सिंग की स्थापना की। वह इस कालेज आफ नर्सिंग की संस्थापिका प्रधानाचार्या अगस्त, १६४६ ई० से जून, १६५८ ई० तक रहीं। इस सेवाकाल में उन्होंने 'पोस्ट बेसिक कोर्सेज इन टीचिंग, एडमिनिस्ट्रेशन एवं मिडवाइफरी' तैयार कराए। इसके उपरांत उन्होंने भारत सरकार की आज्ञा से १६५६ ई० में देहली विश्वविद्यालय के लिये 'मास्टर्स डिग्री कोर्स इन नर्सिंग' प्रस्तुत किया।

कुमारी मारग्रेटा क्रैग भारत की नर्सिंग शिक्षा की उन्नति तथा विकास में घनिष्ठ रूप से संबंधित रहीं। भारत सरकार की भारतीय नर्सिंग कौंसिल की मनोनीत सदस्या १६४६ से १६५३ ई० तक तथा १६६२ से १६६४ ई० तक रहीं।

१६४६ से १६६४ तक कुमारी मारग्रेटा क्रैग ट्रेंड नर्सेज एसोसिएशन आफ इंडिया कौंसिल की नायक सभापति, अवैतनिक संयुक्त कोषाध्यक्ष तथा मनोनीत सदस्या रहीं। वह देहली शाखा की ट्रेंड नर्सेज एसोशिएशन आफ इंडिया की सभापति अपने जीवन काल तक रहीं। वह नर्सिंग रिसर्च कमेटी की भी चेयरमैन जीवन पर्यंत रहीं।

नवंबर, १६५८ को कुमारी मारग्रेटा क्रैग को भारतीय सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त हुआ। इसके उपरांत सी० एम० सी० मिशन ने उनको पंजाब राज्य के नगर लुधियाना के सी० एम० सी० अस्पताल की नर्सिंग अध्यक्ष दिसंबर, १६५८ से नियुक्त किया, जहाँ वे १६६४ तक रहीं।

कुमारी मारग्रेटा क्रैग की मृत्यु २५ दिसंबर, १६६४ को लुधियाना अस्पताल मे हुई। भारतवर्ष मे आधुनिक नर्सिंग को विकास देने का श्रेय उन्हीं को है। भारत सरकार ने १६४६ ई० में उनको ओ० बी० ई० की उपाधि दी।

वह नर्सों से कहा करती थी कि रोगियों की सेवा करना ईश्वर को प्रसन्न करना है। प्रत्येक नर्स का यह कर्तव्य है कि अपने हृदय तथा अपनी शक्ति से प्रत्येक रोगी को उचित सलाह दे तथा उसके प्रति सहानुभूति का व्यवहार करे। यदि कोई नर्स ऐसा नहीं कर सकती तो उसके लिये उचित होगा कि वह नर्सिंग के कार्य को त्याग कर कोई अन्य कार्य करे जो उसकी रुचि के अनुसार हो। नर्सिंग कार्य महान् सम्मानित कार्य है। इस कार्य को केवल वही अपना सकता है जिसमे त्याग की भावना एवं महान् सहनशक्ति हो। नर्सिंग सेवा ईश्वरीय सेवा के समान है।

कुमारी मारग्रेटा क्रैग की अंतिम अभिलाषा यह थी कि भारत के लड़के और लड़कियाँ नर्सिंग व्यवसाय को अपनाएँ ताकि भारत का कोई भी रोगी नर्सिंग सेवा के अभाव से मृत्यु का शिकार न हो सके और रोगियों की उचित देखभाल हो सके। [मि० च०]

मार्टनीक स्थिति : १४° ४०' उ० अ० तथा ६१° ०' प० दे०। फ्रांस द्वारा अधिकृत पश्चिमी द्वीपसमूह का एक द्वीप है। यह ४० मील चौड़ा है। यहाँ माउंट पीली नामक ४,४२६ फुट ऊँचा पर्वत है। ऊबड़ खाबड़, उत्तरी भाग जंगलों से भरा है। गन्ना, कोकआ, काफी, केला, अनन्नास यहाँ की सर्वप्रमुख फसलें हैं। इसकी राजधानी फोर्ट डि फ्रांस है। १६०२ ई० मे माउंट पीली में ज्वालामुखी उद्गार के कारण प्राचीन राजधानी सेंट पियरी नष्ट हो गई। सन् १८१६ से यह फ्रांस के अधिकार में है। इसकी जनसंख्या २,७४,००० (१६६०) है। [नि० कौ०]

मार्टिन संत (सन् ३१६–३६७ ई०)। वह २२ वर्ष की अवस्था में ईसाई बने और सेना छोड़कर साधना करने लगे। उन्होंने दक्षिण

फ्रांस में सर्वप्रथम मठ की स्थापना की और बाद में टूर (tours) के बिशप बनकर उन्होंने फ्रांस के देहातों मे ईसाई धर्म का सफल प्रचार किया। मध्यकाल तक संत मार्तिन (St. Martin) का मकबरा एक अत्यंत लोकप्रिय तीर्थस्थान रहा। उनके संबंध में यह दंतकथा प्रचलित है कि एक अर्धनग्न भिखारी उस समय उनसे भीख माँगने आया जब उनके पास कुछ भी नहीं था। संत मार्तिन ने अपने सैनिक लबादे को दो भागों मे विभक्त कर आधा भाग उसको दे दिया। उसी रात ईसा उनका आधा लबादा पहने स्वप्न में संत मार्तिन को दिखाई पड़े। [का० बु०]

मार्तीनी, साइमोनी (१२८४–१३४४) सियानीज चित्रकार। प्रसिद्ध चित्रकार दूसिओ का शिष्य था जिसने लयात्मकता उत्पन्न करने के लिये सर्वप्रथम रेखाओं का चित्रों में प्रयोग किया। साइमोनी पर प्रसिद्ध मूर्तिकार जिओवानी पीसानो की कला का यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। फ्रांसीसी गोथिक कला का भी उसने खासा अध्ययन किया था। नेपिल्स के सम्राट राबर्ट आज़ू ने उसकी प्रतिभा पहिचान कर उसे अपने दरबार में चित्र बनाने के लिये निमंत्रित किया था। दरबारी कलाकार बन जाने पर साइमोनी की कला राजसी ठाटबाट के रूप मे विकसित होने लगी। उसने दरबारी तथा धार्मिक चित्र बड़े ही मार्मिक तथा कौशलपूर्ण बनाए हैं। उसका सर्वप्रसिद्ध चित्र 'एनन्शियेशन' है।

मार्तीनी को सियानीज अपने यहाँ के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों मे स्थान देते हैं। उसकी कला का समकालीन फ्रांसीसी कला पर भी खासा प्रभाव पड़ा था। [रा० चं० शु०]

मॉर्ले, जान (१८३८–१९२३) पत्रकार, लेखक और कूटनीतिज्ञ। मॉर्ले का जन्म २४ दिसंबर, १८३८ को लंकाशायर के ब्लैकबर्न नगर मे हुआ। उसने १८५९ में आक्सफोर्ड के लिंकन कालेज से बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इस वर्ष ही वह लंदन नगर आया और मृतप्राय 'लिटरेरी गजट' का संपादक नियुक्त हुआ। साहित्य और राजनीति मार्ले के प्रिय विषय थे। उसके तथ्ययुक्त विचारपूर्ण लेखों ने उसको शीघ्र ही प्रसिद्ध कर दिया। लिटरेरी गजट का प्रकाशन कुछ समय बाद बंद हो गया किंतु मार्ले के साहित्यिक जीवन की ठोस नींव इस काल मे पड़ गई। वह १८६७ मे फोर्टनाइटली रिव्यू का संपादक नियुक्त हुआ और १८८३ तक इस पद पर कार्य करता रहा। इस बीच उसने १८६८ से १८७० तक दैनिक 'मार्निंग स्टार' और १८८० से १८८३ तक 'पाल माल गजट' का भी संपादन किया। १८८३ से १८८५ तक वह मेकमिलंस मैगजीन का संपादक रहा। सुप्रसिद्ध साहित्यिक और राजनीतिक पुरुषों के जीवनकार्यों का उसने विशेष अध्ययन किया और उनकी जीवनियाँ लिखी। 'एडमंड बर्क — एक ऐतिहासिक अध्ययन' का प्रकाशन १८६७ में हुआ। फ्रांस के वोल्तेर, रूसो, दिदेरो और विश्वकोशकारों तथा इंग्लैंड के रिचर्ड काबडेन की जीवनियाँ इस काल में प्रकाशित हुई। १८७४ में उसका प्रसिद्ध निबंध 'कंप्रोमाइज' प्रकाशित हुआ। इस निबंध ने मार्ले को दार्शनिकों की पंक्ति में स्थान दिला दिया। वालपोल, आलिवर क्रामवेल और ग्लैडस्टन की जीवनियाँ १८८९, १९०० और १९०३ में प्रकाशित हुई। मॉर्ले की अन्य दो प्रसिद्ध कृतियाँ 'स्टडीज इन लिटरेचर' और 'द स्टडी आव लिटरेचर' भी शताब्दी के अंतिम दशक में प्रकाशित हुई।

मॉर्ले ने १८६९ में अपने नगर से और १८८० में वेस्टमिंस्टर से पार्लमेंट में पहुँचने का असफल प्रयत्न किया। १८८३ में वह न्यूकासिल आन टाइन से पार्लमेंट का सदस्य चुन लिया गया। इसी वर्ष उसकी अध्यक्षता में लीड्स में उदारदल का बृहत् संमेलन हुआ। प्रतिनिधि व्यवस्था और निर्वाचन पद्धति में सुधार के संबंध में संमेलन के महत्वपूर्ण निर्णयों ने उदारदल के प्रभाव में वृद्धि की। मार्ले ने समान निर्वाचन क्षेत्रों, नगरों और काउंटियों में समान मताधिकार योग्यता तथा सदस्यों को वेतन देने के पक्ष में देश भर में जनमत तैयार किया। आयर्लैंड के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति भी मॉर्ले की पूर्ण सहानुभूति थी। उस देश को स्वशासन का अधिकार देने के प्रश्न पर वह ग्लैडस्टन के विचारों से सहमत था। ग्लैडस्टन ने उसको १८८६ ई० में आयर्लैंड का सचिव नियुक्त किया। बहुमत द्वारा समर्थन के अभाव मे आयर्लैंड के प्रश्न पर छह मास मे ही सरकार की पराजय हो गई पर मॉर्ले अपने क्षेत्र से फिर चुन लिया गया। १८९२ में उदार दल की सरकार बनने पर प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने मॉर्ले को दुबारा आयर्लैंड का सचिव नियुक्त किया। आयर्लैंड की समस्या को हल करने मे मार्ले को सफलता नहीं मिली। दल के मतभेद ने इस संबंध के कानून को पार्लमेंट मे स्वीकृत नहीं होने दिया। १८९५ मे उदार दल की सरकार भंग हो गई और अगले दस वर्षों तक शासनसूत्र अनुदार दल के हाथ मे रहा। मॉर्ले ने इस अवधि में कई उत्तम रचनाएँ देश को दीं। १९०२ मे एंड्रू कार्नेगी ने लार्ड एक्टन का मूल्यवान् पुस्तकालय खरीदकर मॉर्ले को भेंट किया। मॉर्ले ने उसे कैंब्रिज विश्वविद्यालय को सौंप दिया।

१९०५ मे उदार दल की सरकार बनने पर मॉर्ले भारत सचिव के पद पर नियुक्त हुआ। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिये उसने १९०७ मे कठोर कानून की सृष्टि की। देश की एकता के लिये घातक सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली के जन्मदाता १९०९ के कानून की रचना मे उसका प्रमुख हाथ था। ब्लैकबर्न के वाइकाउंट का पद देकर १९०८ मे सरकार ने मॉर्ले का सम्मान किया। तबसे जीवन के अंतिम दिन तक वह लार्ड सभा का सदस्य रहा। १९०९ मे उसके विशेष प्रयत्न से लार्ड सभा ने अर्थबिल पर स्वीकृति दी थी। १९१० से १९१४ तक कौंसिल के प्रेसीडेंट का पद भी उसने सँभाला। मॉर्ले शांतिवादी था। १९१४ मे प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ होने पर उसने स्वयं ही लार्ड प्रेसीडेंट का पद त्याग दिया। १९१७ मे उसके संस्मरण प्रकाशित हुए। २३ सितंबर, १९२३ को विम्बलेडन मे उसकी मृत्यु हुई। [त्रि० प०]

मार्शल ऐल्फ्रेड (जन्म १८४२; मृत्यु १९२८), लंदन के एक मध्यवित्त परिवार मे जन्म। विद्यार्थी काल मे अति कुशाग्र। गणित एवं सामाजिक विज्ञान मे विशेष अभिरुचि। दर्शन शास्त्र, विशेष रूप से हिगेल और कांट, का अध्ययन। महान् दार्शनिकों के प्रभाव ने उच्च आदर्शों मे विश्वास पैदा किया। डारविन के सिद्धांत से सामाजिक परिवर्तन में विश्वास हुआ। अपने से पूर्व के और समकालिक

अर्थशास्त्रियों के अध्ययन के परिणाम स्वरूप सभी विचारधाराओं और प्रवृत्तियों से पूर्ण परिचित था। १८७७ से ४ वर्ष तक युनिवर्सिटी कालेज, ब्रिस्टल, तथा उसके बाद दो वर्ष तक आक्सफोर्ड में अध्यापक रहा। १८८५ में कैंब्रिज विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के प्रधान के रूप में नियुक्ति। १९०८ से जीवन के अंतिम दिनों तक कैंब्रिज से रिसर्च प्रोफेसर के रूप में संबंधित रहा। कैंब्रिज स्कूल ऑव इकनामिक्स की स्थापना की। कैंब्रिज को अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख केंद्र बनाया। उसका प्रमुख लक्ष्य था सत्य की खोज। अर्थशास्त्र की अध्ययन प्रणाली को एक नया रूप देने का श्रेय उसे है। स्मिथ की अर्थशास्त्र की परिभाषा की आलोचना के प्रकाश में अर्थशास्त्र की नई परिभाषा दी। 'उपभोग' को अर्थशास्त्र के एक अलग विभाग का रूप दिया। 'उपभोक्ता की बचत', 'प्रतिनिधि फर्म' की धारणा उसकी देन है। अर्थशास्त्र के सभी प्रमुख अंगों पर प्रकाश डाला। केंस ने उसको १०० वर्षों तक का सबसे महान् अर्थशास्त्री माना है। उसके आर्थिक विश्लेषण ने आर्थिक विचारधारा के इतिहास में उसे प्रमुख स्थान प्रदान किया। सरकारी स्तर पर स्थापित विभिन्न आयोगों में उसने कार्य किया। 'अर्थशास्त्र के सिद्धांत' नामक ग्रंथ १८९० में प्रकाशित हुआ।

सं० ग्रं० — *भटनागर-'ए हिस्ट्री ऑफ इकनामिक थाट'*; जिड तथा रिस्ट-'ए हिस्ट्री आफ इकॉनामिक डाक्ट्रिन'; एरिकरोल-'ए हिस्ट्री आफ इकॉनामिक थाट'; मार्शल; प्रिंसिपल्स आफ इकॉनामिक्स।

[उ० ना० पां०]

मार्शल, सर जॉन (१८७६-१९५८ ई०)। प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता। इनकी शिक्षा कैंब्रिज में डलविच एवं क्वींस कॉलेज में हुई। भारत आने से पूर्व इन्होंने ग्रीस में पुरातत्व संबंधी शोध कार्य किया। सन् १९०२ में भारतीय पुरातत्व के महानिदेशक के रूप में इनकी नियुक्ति हुई। अपने कार्यकाल में इन्होंने सर्वांगीण और महत्वपूर्ण योग दिया जिसके फलस्वरूप स्मारकों के जीर्णोद्धार, पुरालेख संबंधी शोध, अन्वेषण एवं उत्खनन, स्थानीय संग्रहालयों की स्थापना, पुरातत्व रसायन, प्रकाशन एवं प्रशासन संबंधी अनेक सुधार किए गए।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण मे नए मंडलों की स्थापना के साथ ही इन्होंने राज्यों को भी पुरातत्व संबंधी कार्य के प्रति प्रोत्साहित किया जिसके फलस्वरूप भोपाल, हैदराबाद, मैसूर, कश्मीर आदि राज्यों में पुरातत्व विभागों की स्थापना की गई।

अपने कार्यक्रम के अनुसार इन्होंने भारत के स्मारकों की सूची बनवाई तथा उनके जीर्णोद्धार के लिये एक सार्वभौम प्रणाली को अपनाया जो उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'कंजर्वेशन मैन्युअल' में उल्लिखित है। इसके अनुसार उन्होंने आनुमानिक पुनरुद्धार और पुनर्रक्षण को अनुचित बताया। उनके बनाए जीर्णोद्धार संबंधी नियम आज भी भारतीय पुरातत्व में व्यवहृत होते हैं। उनके द्वारा जिन स्थानों का जीर्णोद्धार हुआ उनमें प्रमुख हैं सारनाथ, साँची एवं अनेक भारतीय इस्लामी स्मारक।

सन् १९१३ में मार्शल ने तक्षशिला में उत्खनन आरंभ किया जिसमें उन्हें लगभग बीस वर्ष लगे। गांधार क्षेत्र के प्रसिद्ध नगर चारसदा (प्राचीन पुष्पकलावती) में भी इसी बीच उन्होंने उत्खनन कराया। सन् १९२२ से १९२७ तक उन्होंने ऐतिहासिक स्थल मोहनजोदारों में भी खुदाई की। इनके अतिरिक्त जिन अन्य स्थानों में मार्शल ने उत्खनन कराया उनमें प्रमुख हैं भीटा, पाटलिपुत्र, राजगृह, विदिशा, इत्यादि। इसके साथ ही उन्होंने भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं को भी पुरातत्व संबंधी शोधकार्य करने के लिये प्रोत्साहित किया। भारत में स्थल संग्रहालयों की स्थापना भी मार्शल की ही देन है।

अवकाशप्राप्ति के बाद भारत सरकार के विशेष अधिकारी के रूप में इन्होंने पुस्तकें लिखीं तथा मृत्युपर्यंत स्वतंत्र रूप से लेखन, पठन एवं शोध का कार्य करते रहे।

इनके प्रमुख ग्रंथ निम्नलिखित हैं :

कंजर्वेशन मैन्युअल (कलकत्ता, १९२३;); मोहनजोदारो एंड दि इंडस सिविलिजेशन, तीन खंड (लंदन, १९३१); मॉनुमेंट्स ऑव साँची, दो खंड (दिल्ली, १९४०); टैक्सिला, तीन खंड (कैंब्रिज, १९५१); (५) बुद्धिस्ट आर्ट ऑव् गांधार (लंदन, १९५२) [बृ० मो० पां०]

मार्शल द्वीप स्थिति : ९° ०' उ० अ० तथा १७१° ०' पू० दे०। प्रशांत महासागर में अंतरराष्ट्रीय तिथिरेखा के समीप, हवाई द्वीप के दक्षिण-पश्चिम स्थित, लगभग ७०० मील तक फैले प्रवाल द्वीपों की दो शृंखलाएँ हैं। प्रथम राटाक शृंखला एवं द्वितीय रालिक शृंखला कहलाती है। इनका कुल क्षेत्रफल १७६ वर्ग मील तथा जनसंख्या ११,००० (द्वितीय विश्वयुद्ध के समय) है। यहाँ की राजधानी क्वाजानिन है। नारियल, पपीता एवं अन्य फल बड़ी मात्रा में उत्पन्न होते हैं। सन् १५२६ मे कैप्टेन गिल्बर्ट तथा मार्शल ने इसकी खोज की थी। इस पर संयुक्त राज्य अमरीका का अधिकार है।

[नि० कौ०]

मार्सेल्ज़ स्थिति : ४३° १८' उ० अ० तथा ५° २३' पू० दे०। दक्षिणी फ्रांस में लाइंज़ (Lions) की खाड़ी पर, नीस नगर से ९८ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित फ्रांस का द्वितीय मुख्य नगर, औद्योगिक केंद्र तथा प्रमुख बंदरगाह है। यह जल तथा स्थल सैन्य प्रशिक्षण का भी केंद्र है। नगर के प्राचीन भाग मे सड़कें पतली एवं अधिक मोड़दार हैं। शेष भाग में सड़कें चौड़ी एवं छायायुक्त हैं। नगर मे बगीचे एवं भव्य भवन देखने को मिलते हैं। यहाँ के प्राचीन दर्शनीय स्थलों में सन् १८९३ में निर्मित गिरजाघर मुख्य है। नॉट्रे डेम डे ला गर्डे, एक पहाड़ी पर स्थित सुंदर भवन है। यहाँ के संपूर्ण पत्तन के ४१४ एकड़ जलक्षेत्र में सात जल गोदियाँ (dock) हैं। आसपास की भूमि को नहरों से सींच कर हरा भरा कर लिया गया है। सन् १९२६ में ५० मील लंबी मार्सेल्ज़-रोन नहर का निर्माण हुआ। शाखाओं सहित ३५० मील लंबी यह नहर मार्सेल्ज से मध्यवर्ती यूरोप तथा फ्रांस के भीतरी भागों में आवागमन सुलभ करती है। यहाँ साबुन, सोडा, दवाएँ, तेल, चीनी, मशीनें, दियासलाई, शीशा, कपड़ा तथा जहाज निर्माण संबंधी कार्य होते हैं। इसकी जनसंख्या ७,८३,७३८ (१९६२) है। [वि० रा० सिं०]

मालण मालण को गुजराती साहित्य में आख्यान काव्य का जन्मदाता माना जाता है। अपनी एक कृति में उन्होंने स्वयं लिखा है कि गुजरात की पुराणप्रिय जनता के संतोष के लिये ही गुजराती भाषा में संस्कृत के पौराणिक आख्यानों के लेखन का संकल्प उनके मन में

उत्पन्न हुआ। इसके लिये कदाचित् उनका विरोध भी हुआ। मालण के विषय में अन्य उल्लेखनीय बात उनकी अनन्य रामभक्ति है जो उन्हें रामानंदी संप्रदाय के सपर्क से प्राप्त हुई थी। रामभक्त होने से पूर्व वे शैव थे। संस्कृत साहित्य का उन्होंने यथेष्ट परिशीलन किया था। उनके पांडित्य का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण 'कादंबरी' का अनुवाद है जिसे कुछ विद्वान् उनकी श्रेष्ठतम कृति मानते हैं। कवि का वास्तविक मूल्यांकन उसकी मौलिक रचनाओं से ही होता है तथापि अनुवादकौशल की दृष्टि से कादंबरी की महत्ता निर्विवाद है। राम और कृष्ण के वात्सल्य भाव से युक्त उत्कृष्ट पदों की रचना मालण की और विशेषता है।

मालण का समय सामान्यत: सभी गुजराती इतिहासकारों ने १५ वीं शती ई० में माना है तथापि उसे सर्वथा असंदिग्ध नही कहा जा सकता। मालण के विशेषज्ञ रा० चु० मोदी ने उन्हें नरसी का समकालीन मानते हुए स० १४६० से १५७० के बीच स्थापित किया है पर अन्यत्र उनका मृत्यु काल सं० १४४५-४६ के लगभग अनुमानित किया गया है। क० मा० मुंशी के अनुसार उनका जीवनकाल सन् १४२६ से १५०० के बीच तथा के० का० शास्त्री के मत से जन्म सं० १५१५-२० के लगभग संभव है। उपलब्ध रूप मे कादंबरी की भाषा से इतनी प्राचीनता की संगति नही बैठती। मालण कृत दशमस्कंध में प्राप्त होनेवाले कतिपय ब्रजभाषा के पद भी यदि प्रामाणिक हैं, तो मालण को के० का० शास्त्री के अनुसार ब्रजभाषा का आदि कवि सिद्ध करने के स्थान पर समयच्युत करने के पक्ष मे ही वे अधिक सहायक प्रतीत होते हैं। मालण और 'हरिलीला षोडश कला' के रचयिता भीम के वेदांतपारंगत गुरु पुरुषोत्तम की एकता सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है, परंतु यह दुरूह कल्पना मात्र लगती है। 'बीजु', 'नलाख्यान' और मालणसुत विष्णुदास रचित 'उत्तर कांड' की तिथियाँ भी असंदिग्ध नही हैं।

'मालणना पद' के संपादक जेठालाल त्रिवेदी के अनुसार मालण की समस्त रचनाएं निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत की जा सकती हैं—

श्रेष्ठ—१ कादंबरी २. पहेलुं नलाख्यान ३. दशमस्कंध
४. रामबालचरित

मध्यम—१. रामविवाह २ ध्रुवाख्यान ३. मृगी आख्यान
४ द्रौपदीवस्त्रहरण ५. कृष्णविष्टि

सामान्य—१. शिव भीलडी संवाद २. सप्तशती ३ जालंधर आख्यान
४ मामकी आख्यान ५. बीजुं नलाख्यान ६. दुर्वासा आख्यान

'गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर' मे क० मा० मुंशी ने 'रुक्मिणी-हरण', 'सत्यभामा विवाह' 'कृष्ण बालचरित', 'महाभारत', 'नैषधीय', 'नलचपू' और 'हर संवाद' नामक रचनाओं का उल्लेख किया है जिनमे से कुछ उपर्युक्त वर्गीकरण मे नामभेद से समाविष्ट हैं और कुछ दशमस्कंध का ही अंश हैं। 'रामायण' नाम से भी एक रचना का अन्यत्र उल्लेख मिलता है।

मालण की रचनाओं का मुख्य प्रेरणास्रोत वाल्मीकि रामायण, महाभारत, शिवपुराण मार्कंडेय पुराण, भागवत, नैषध और कादंबरी आदि संस्कृत के मान्य ग्रंथ रहे हैं। दशमस्कंध मे कृष्ण का बालचरित विशेष भावुकता के साथ वर्णित है। यशोदा के भावों का चित्रण समस्त गुजराती साहित्य मे अद्वितीय लगता है। सूर के वात्सल्य वर्णन से उसमें पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। ब्रजभाषा के पदकारों का मालण पर निश्चित प्रभाव प्रतीत होता है। कृष्ण के अभाव मे यशोदा का अपनी लड़की (दीकरी) के लिये विलाप ब्रज के कृष्ण साहित्य मे भी उपलब्ध नही होता। राम की बाल-लीलाओं का वर्णन मालण ने कृष्ण बालचरित् के समांतर और भी अधिक किया है क्योंकि वे स्वयं रामभक्त थे। कृष्ण विषयक पदों के अंत मे भी 'मालण प्रभु राम' या 'मालण प्रभु रघुनाथ' की छाप अनिवार्यत: उपलब्ध होती है जो रामभक्ति की अनन्यता सिद्ध करती है।

मालण के काव्य का प्रभाव उनके परवर्ती आख्यानकारों एवं पदकारो पर स्पष्टतया लक्षित होता है।

सं० ग्रं० — रामलाल चुन्नीलाल : मालण, (सयाजी साहित्य-माला)। [ज० गु०]

मालदह १. जिला, यह भारत के पश्चिमी बंगाल राज्य का जिला है। इसके पश्चिम में बिहार राज्य, पूर्व में पूर्वी पाकिस्तान, उत्तर मे पश्चिमी दिनाजपुर तथा दक्षिण में बीरभूम जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल १,४३६ वर्ग मील तथा जनसख्या १२,२१,९२३ (१९६१) है। यहाँ का औसत ताप लगभग २५° सें० है। वर्षा का वार्षिक औसत ५७ इंच है। धान प्रमुख फसल है। रेशम उद्योग प्रमुख उद्योग है। इंग्लिश बाजार जिले का प्रमुख नगर है।

२. नगर, स्थिति २५° २' उ० अ० तथा ८८° ८' पू० दे०। मालदह जिले में कालिंद्री तथा महानदा नदियों के संगमस्थल पर स्थित नगर है। इसे पुराना मालदह भी कहते हैं। इसकी जनसंख्या ६,८८५ (१९६१) है।

मालदिव भारत के केरल राज्य से लगभग ४०० मील दक्षिण-पश्चिम मे लगभग २,००० प्रवाली द्वीपों का समूह है, जो १७ प्रवाल वलयों में बँटा है। इनमे से लगभग २२० द्वीपों मे ही लोग रहते हैं। इन द्वीपों का क्षेत्रफल ११५ वर्ग मील और जनसख्या ९०,००० (१९६१) है। यहाँ की राजधानी माली (Male) है, जिसकी जनसंख्या १२,००० है। यहाँ के निवासी मुसलमान हैं। नारियल के पेड़ अधिक उगते हैं। लोगों का मुख्य पेशा मछली मारना है। १८८७ ई० से ये द्वीप ब्रिटिश संरक्षण मे रहे, किंतु सन् १९६० से इनका शासन भारत की केंद्रीय सरकार के अधीन है। [प्रे० शं० सि०]

मालवगण प्राचीन भारत की एक जातिविशेष का संघ। महाभारत मे मालवों के उल्लेख मिलते हैं। अपनी पड़ोसी जाति क्षुद्रकों की तरह मालव भी महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से लड़े थे। वे पंजाब में निवास करते थे जहाँ उनकी तरह अंबष्ट, यौधेय आदि जनों का भी आवास था। तदनंतर कई शताब्दियों तक वे वहीं बने रहे। यूनानी सम्राट् सिकंदर के आक्रमण के समय मालवगण का राज्य मुख्यतया रावी और चिनाब के दोआब में था। क्षुद्रकों का राज्य मालवों के राज्य से लगा हुआ था। अतएव मालवों ने क्षुद्रकों के साथ सुदृढ़ ऐक्य स्थापित किया था। दोनो सेनाओं ने वीरता और दृढ़ता के साथ डटकर सिकंदर का सामना किया। यूनानी इतिहास-कार एरियन के अनुसार पंजाब में निवास कर रही भारतीय जातियों में मालव और क्षुद्रक संख्या में बहुत अधिक तथा सबसे अधिक युद्ध

कुशल थे। अतः उनकी सेनाओं का सामना करने से यूनानी सेना भी हिचकिचाने लगी थी, जिससे सिकंदर को स्वयं आगे बढ़ना पड़ा था और उस युद्ध में वह विशेष आहत भी हुआ था। अंत में मालव पराजित हुए और उन्हें हथियार डालने पड़े।

पाणिनि के अनुसार मालवगण एक 'आयुधजीवी संघ' थे। युद्धविद्या में निपुणता प्राप्त करना इस संघ के प्रत्येक नागरिक का प्रधान कर्तव्य होता था, अतः वहाँ सभी निवासी योद्धा हुआ करते थे। मालवों का समाज अपनी पूर्ण और विकसित अवस्था को पहुँच चुका था। उसमें क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि कई वर्ग होते थे। जो व्यक्ति क्षत्रिय या ब्राह्मण होते थे वे 'मालव' कहे जाते थे और अन्य वर्गों के लोग 'मालव्य' कहलाते थे। मालवगणों का अधिकारक्षेत्र बहुत विस्तृत और संगठन अति बलशाली था जिससे उनको पराजित करना कठिन होता था। कात्यायन और पतंजलि ने भी 'क्षुद्रक मालवी सेना' का उल्लेख किया है। इसके बाद क्षुद्रकों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिससे यही अनुमान होता है कि सिकंदर के आक्रमण के समय स्थापित मालव-क्षुद्रक-ऐक्य समय पाकर अधिकाधिक बढ़ता ही गया और अंत में क्षुद्रक मालवों में ही पूर्णतया समाविष्ट हो गए।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद बाख्त्री (बैक्ट्रियन) और पार्थव (पार्थियन) राजाओं ने जब पंजाब तथा सिंध पर आधिपत्य स्थापित कर लिया, तब अपनी स्वतंत्रता तथा स्वशासन को संकटापन्न देखकर ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी मे मालवगण विवश हो पंजाब छोड़कर दक्षिण पूर्व की ओर बढ़े। सतलज पारकर पहले कुछ काल तक वे फिरोजपुर, लुधियाना और भटिंडा के प्रदेश में रहे, जिससे वह क्षेत्र अब तक 'मालवा' कहलाता है। किंतु यहाँ भी वे अधिक काल तक नहीं ठहर पाए और आगे बढ़ते हुए वे उसी शताब्दी मे अजमेर से दक्षिण पूर्व में टोंक मेवाड़ के प्रदेश में जा पहुँचे तथा वहाँ अपने स्वाधीन गणराज्य की स्थापना की। टोंक से कोई २५ मील दक्षिण में स्थित ककोंट नागर नामक स्थान उनका मुख्य केंद्र रहा होगा; वहाँ मालवों के विभिन्न कालों के सैकड़ों सिक्के प्राप्त हुए हैं।

कुषाण साम्राज्य के उत्थान के साथ ही गुजरात में उनके अधीन पश्चिमी क्षत्रपों ने उज्जैन को जीतकर मालवों पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया था। जैन ग्रंथों के अनुसार शकों को वहाँ लाने में कालकाचार्य का विशेष हाथ था। परतु स्वातंत्र्य प्रेमी मालव निरंतर विद्रोह करते रहते थे। उत्तम भद्रों के सहायतार्थ महाक्षत्रप नहपाण को उषवदात्त (ऋषभदत्त) के नेतृत्व में मालवों के विरुद्ध सेना भेजनी पड़ी थी। अत में मालवों के सहयोग से गौतमीपुत्र शातकर्णी ने महाक्षत्रप नहपाण और उसके साथी शकों का पूर्ण संहार किया। नहपाण और गोतमीपुत्र शातकर्णी के सही सन् संवतों के बारे मे इतिहासकार एकमत नहीं हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार इससे भी पहिले मालवगणों की ही एक शाखा के प्रमुख, उज्जैन के पदच्युत अधिपति गर्दभिल्ल के पुत्र, विक्रम ने पराजित कर शकों को उस प्रदेश से निकाल बाहर किया था। यद्यपि बाद में शकों ने उनपर पुनः आधिपत्य स्थापित कर लिया था तथापि तीसरी शती के प्रारंभ में श्री सोम के नेतृत्व में उन्होंने फिर मालव गणराज्य की स्वाधीनता घोषित कर दी।

मालवगण ककोंट नगर से दक्षिण में उस सारे प्रदेश पर फैल गए, जो आगे चलकर उन्हीं के नाम से मालवा प्रदेश कहलाने लगा।

मालवों के इस गणराज्य में शासन व्यवस्था उनके चुने हुए प्रमुख के हाथ में रहती थी। कई बार उत्तराधिकारी का चुनाव वंश परंपरागत भी हो जाता था। परंतु उनमे गणतंत्रीय परंपरा प्रबल रही। मालवों के कई सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये प्रायः छोटे होते थे। मालवो के सिक्के दो प्रकार के मिलते हैं। प्रथम प्रकार के सिक्कों पर मालवों ने अपनी महत्वपूर्ण विजय की स्मृति में ब्राह्मी लिपिमें 'मालवाना जयः', और मालवगणस्य जयः' लेख अंकित किए थे। ईसा पूर्व की पहली शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक ये जारी किए गए होंगे। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर मजुप, मपोजय, मगजस, मगोजय, मपक, पच, गजव, मरज, जमकु आदि शब्द अंकित हैं। इन शब्दों के सही अर्थ अथवा उनके संतोषजनक अभिप्राय के बारे में विद्वानों का मतैक्य नहीं हो पाया है।

ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध मे जब समुद्रगुप्त ने दिग्विजय कर अपने विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की, उसने मालवों के गणराज्य को भी अपने अधीन कर लिया। तदनंतर मालवों के इस गणराज्य की आतरिक स्वाधीनता कुछ काल तक अवश्य बनी रही होगी। परंतु गुप्त साम्राज्य के पतन काल में बर्बर हूणों के आक्रमण प्रवाह में मालवगण का समूचा प्रदेश भी निमग्न हो गया।

मालवों ने मालवा प्रदेश को एकता और महत्वपूर्ण परंपराएँ प्रदान कीं। यह प्रदेश पहले दो विभिन्न भागों में बँटा हुआ था; पश्चिमी भाग अवंतिका क्षेत्र कहलाता था और पूर्वी भाग आकर अथवा दशार्ण नाम से सुज्ञात था। वे दोनों अब मालवा प्रदेश में संमिलित होकर अभिन्न हो गए। मालवगण का स्वाधीनता-प्रेम और जनतंत्रीय भावनाएँ इस प्रदेश की सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ संमिलित हो गए। इस प्रकार जिस नई विस्तृत राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इकाई का निर्माण हुआ, आगे चलकर उसका भारतीय इतिहास मे सदैव विशेष महत्व रहता आया है। यशोधर्मन्, मुंज और भोज उसी नवीन संमिलित परपरा की प्रारंभिक कड़ियाँ थे।

मालवगण की दूसरी देन राष्ट्रीय महत्व की है; वह है उनका मालव संवत् जो आगे चलकर विक्रम संवत् के रूप में भारत में सर्वत्र प्रचलित हुआ। मालवों के गणराज्य की स्वतंत्रताप्राप्ति की स्मृति मे ही इस संवत् का प्रारंभ हुआ होगा। ईसा की तीसरी शती के पूर्वार्ध से ही राजस्थान, मालवा तथा उनके पड़ोसी प्रदेशों के शिलालेखों मे 'कृत संवत्' के नाम से इस सवत् का उल्लेख मिलता है। ईसा की पाँचवीं शती के बाद के शिलालेखों में 'कृत संवत्' के साथ ही इसे 'मालव' या 'मालवेश' संवत् भी लिखा जाता रहा। ईसा की दसवीं शताब्दी के बाद यही संवत् 'विक्रम संवत्' के नाम से सुज्ञात हुआ। परंपरागत प्रवाद के अनुसार

उज्जैन के प्रतापी शकारि राजा विक्रम की विजय के समय (ई० पू० ५७) से ही इस मालव अथवा विक्रम संवत् का प्रारंभ हुआ था।

सं० ग्रं० — 'पाणिनि कालीन भारत' डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल कृत (हिंदी अनुवाद)। 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला', डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत (द्वितीय संस्करण)। 'दी वाकाटक गुप्त राज', मजुमदार और अल्तेकर द्वारा संपादित। 'ए कांप्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑव इंडिया', खंड २, प्रो० नीलकंठ शास्त्री द्वारा संपादित। 'दि एज ऑव इंपीरियल यूनिटी', मजुमदार द्वारा संपादित, (भारतीय विद्याभवन, बंबई)। 'दि क्लासिकल एज', मजुमदार द्वारा संपादित (भारतीय विद्याभवन, बंबई)। विक्रमादित्य ऑव उज्जयिनी', डॉ० राजबली पांडेय कृत। 'हिंदू राज्य तंत्र', खंड १–२ डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल कृत (हिंदी अनुवाद)। अंधकार युगीन भारत, डॉ०काशीप्रसाद जायसवाल कृत हिंदी अनुवाद।

[र० सिं०]

मालवा भारत के मध्य भाग में स्थित वह सुविख्यात ऐतिहासिक प्रदेश जो मालवा के पठार के साथ ही नर्मदा की घाटी तक फैला हुआ है। यों तो इस प्रदेश की राजनीतिक सीमाएँ समय समय पर बदलती रही हैं परंतु सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परंपराओं के आधार पर मालवा प्रदेश की सीमाओं का निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है। उत्तर-पश्चिम में मुकुंदवाड़ा दर्रा से होती हुई शिवपुरी से कुछ ही दक्षिण में इसकी उत्तरी सीमा निकलती है। पूर्वी सीमा पर चंदेरी, विदिशा, भोपाल और होशंगाबाद के क्षेत्र मालवा के अंतर्गत पड़ते हैं। पश्चिम में मालवा और गुजरात प्रदेशों की सीमाओं का निर्धारण दोहद नगर से होता रहा है। उससे उत्तर में काठल (भूतपूर्व प्रतापगढ़ राज्य) तथा दक्षिणी बागड़ (भूतपूर्व बाँसवाड़ा राज्य) और दक्षिण में राठ क्षेत्र (वर्तमान झाबुआ जिला) मालवा के ही अंग हैं। नर्मदा घाटी में असीरगढ़ किले की अग्रभूमि को छोड़ते हुए पश्चिमी नेमाड़ से लेकर होशंगाबाद जिले तक का सारा क्षेत्र भी मालवा के अंतर्गत आता है। वर्तमान मध्यप्रदेश के पश्चिमार्द्ध में मालवा प्रदेश के अधिकतम भाग का एकीकरण हो गया है।

प्रागैतिहासिक काल में मालवा में निषाद और द्राविड़ संस्कृतियाँ फैली हुई थीं, जिनके अवशेष महेश्वर, नागदा और उज्जैन आदि स्थानों पर की गई खुदाई में मिले हैं। आक्रमणकारी आर्यों ने द्रविड़ों को पराजित कर इस प्रदेश पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, परंतु पराजित द्रविड़ों से भी आर्यों ने बहुत कुछ पाया। आर्यों के विश्वासों और भावनाओं के साथ द्राविड़ी परंपराओं का समन्वय वैदिक काल में ही होने लगा था। तब मालवा की आदिम आर्य संस्कृति का विकास पुण्यसलिला शिप्रा, चंबल, नर्मदा आदि नदियों के तटों पर हुआ। अवंतिका, माहिष्मती (महेश्वर), विदिशा, पद्मावती, दशपुर (मंदसौर) आदि नगर हजारों वर्षों से भारत भर में विख्यात रहे हैं।

माहिष्मती के हैहय साम्राज्य के समय मालवा में राजनीतिक संगठन के साथ ही सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की नींव पड़ी। महाजनपदों का उदय होने पर अवंति के प्रद्योतों और उनके बाद विदिशा और पद्मावती पर शासन करनेवाले नागों के समय में मालवा में सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा व्यापारिक परंपराओं का बहुत विकास हुआ। अशोक के धर्मप्रचार में दूर देशों तक जानेवाले भिक्षुओं तथा बाद में वहाँ पहुँचनेवाले बौद्धधर्मावलंबी प्रकांड विद्वानों में मालवा के निवासियों की भी संख्या बहुत बड़ी थी। महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग और बड़े बड़े सार्थवाह उज्जैन और माहिष्मती में ही होकर गुजरते थे तथा वहाँ बने माल को दूर दूर तक पहुँचाते थे। तब मालवा दो विभागों में विभक्त था; पूर्वी भाग दशार्ण अथवा आकर क्षेत्र कहलाता था और पश्चिमी भाग अवंतिका क्षेत्र।

कुछ ही शताब्दियों के बाद शकों ने मालवा पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया। तब तक रावी और चिनाब के दोआब से दक्षिण की ओर बढ़ते बढ़ते मालवगण टोंक मेवाड़ के प्रदेश में आ पहुँचे थे। पड़ोसी शक्तियों के साथ मिलकर वे अब शकों का सामना करने लगे और अंत में सन् २२५ ई० के लगभग उन्होंने शकों का आधिपत्य पूर्णतया समाप्त कर अपने मालव गणराज्य की स्वाधीनता घोषित की, जो कोई सवा सौ वर्षों तक अक्षुण्ण रही। संभवतः इसी काल में मालवगण इस सारे पठार प्रदेश पर फैल गए जिससे आगे चलकर यह प्रदेश उन्हीं के नाम से मालव प्रदेश कहलाया।

मालवा में सदियों से चल रही सांस्कृतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, आदि सभी परंपराएँ गुप्त काल में ऐसी सुदृढ़ हो गईं कि बर्बर हूणों के प्रलयंकारी आक्रमण भी उनका निर्मूलन नहीं कर पाए। मालवगण भी तब तक इस प्रदेश के जन साधारण में विलीन हो गए थे और उनका स्वाधीनताप्रेम तथा जनतंत्रीय भावनाएँ इस प्रदेश की विशेषताओं में संमिलित हो गईं, जो कालांतर में यशोधर्मन के व्यक्तित्व में प्रस्फुटित हुईं जिसने दशपुर के पास हूणों को पूर्णतया पराजित कर उन्हें मालवा से निकाल बाहर किया।

मालवगणों ने इस प्रदेश को जो सांस्कृतिक एकता दी थी उसे वहाँ परमारों के राज्य ने पूर्ण स्थायित्व प्रदान किया और तदनंतर मालवा प्रदेश राजनीतिक एकता के साथ ही भौगोलिक इकाई भी बन गया। प्रतिहार साम्राज्य के विशृंखलनकाल में सन् ९६७ ई० के लगभग मालवा के प्रतापी परमार शासक सीयक ने अपनी स्वाधीनता घोषित की। सीयक के उत्तराधिकारी वाक्पतिराज मुंज तथा बाद में राजा भोज के शासनकाल में मालवा पुनः साहित्य और संस्कृति का प्रमुख केंद्र बन गया। विद्वानों के प्रश्रयदाता होने के साथ ही वे दोनों स्वयं बड़े विद्वान् और सत्कवि थे। संस्कृत साहित्य को पूर्णतया समृद्ध बनाने में उन्होंने पूरा योगदान दिया। वराहमिहिर से प्रारंभ खगोल शास्त्र की परंपरा को भोज ने आगे बढ़ाया। जन साधारण की समृद्ध वाणी, मालवा की स्थानीय प्राकृत की ओर भी भोज ने विशेष ध्यान दिया, उसने स्वयं अनेक प्राकृत काव्यों की रचना की और प्राकृत का व्याकरण भी लिखा।

भोज की मृत्यु के साथ ही मालवा के परमार राज्य की अवनति प्रारंभ हो गई। गुजरात के चालुक्य राजाओं के साथ भोज का विरोध उसकी मृत्यु के बाद भी वंशपरंपरागत चलता रहा जिससे परमार राज्य अधिकाधिक शक्तिहीन और संकुचित होता गया। सन् १०८० ई० के लगभग उदयादित्य ने अवश्य ही परमार राज्यवंश के महत्व,

गौरव और शक्ति के पुनरुत्थान के लिये भरसक प्रयत्न किए थे। परंतु गुजरात के साथ चल रहा वैमनस्य मालवा के लिये घातक प्रमाणित हुआ; राजगद्दी पर बैठने के कुछ ही बाद कुमारपाल चालुक्य ने मालवा को जीतकर अपने साम्राज्य में संमिलित कर लिया। कुमारपाल की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य विशृंखलित हो गया; तब मालवा को स्वाधीन कर परमार राजवंश ने पुन: वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया।

मालवा अब मुख्यतया स्थानीय राज्य रह गया था। होयशाल, देवगिरि तथा गुजरात के पड़ोसी राज्यों के साथ उसे बारंबार संघर्ष करना पड़ रहा था। सुभट वर्मा ने राज्यवृद्धि की, परंतु वह स्थायी नहीं हो सकी। देवपाल के राज्यारोहण के साथ ही परमार राज्य का पतन बड़ी शीघ्रता से होने लगा। सन् १२३३ ई० में दिल्ली के तुर्क सुलतान इल्तुतमिश ने भेलसा पर अधिकार कर उज्जैन तक धावा मारा। वहाँ महाकाल के प्राचीन मंदिर को ध्वस्त किया और बहुत लूटमार के बाद वापस दिल्ली को लौट गया। तब वहाँ पर पुन: परमार राजाओं का आधिपत्य हो गया, परंतु इस मुसलमानी आक्रमण ने परमार राज्य की रही सही सत्ता और प्रतिष्ठा को जड़ से हिला दिया। वह अब धीरे धीरे विशृंखलित होने लगा। रणथंभोर का नवोदित चौहान राज्य भी मालवा पर आक्रमण करने लगा। पड़ोसी राज्य मालवा राज्य के निकटस्थ भागों पर अपना अधिकार जमाने लगे और भेलसा आदि दूरस्थ विभागों के स्थानीय सामंत स्वाधीन हो गए। सन् १२९२ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने भेलसा को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। मालवा को जीतकर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १३०५ ई० के उत्तरार्ध में अपने सेनानायक ऐन-उल-मुल्क को ससैन्य वहाँ भेजा। तब राय महलिक देव मालवा का शासक और कोका उसका मंत्री था। युद्ध में परमार सेना की हार हुई, कोका खेत रहा और महलिक देव ने माडू किले में शरण ली। ऐन-उल्-मुल्क ने तब उस किले को जा घेरा और अंत में उसे भी जीत लिया। महलिक देव युद्ध में काम आया। यों मालवा के परमार राज्य का अंत हो गया और मालवा प्रदेश दिल्ली सल्तनत का एक प्रांत बन गया।

अलाउद्दीन खिलजी ने तब ऐन-उल्-मुल्क को ही मालवा सूबे का प्रथम सूबेदार नियुक्त किया था; कोई तेरह वर्ष तक वह इसी पद पर लगातार बना रहा। सल्तनत का उपजाऊ प्रांत होने के साथ ही मालवा का अपना सैनिक महत्व भी था, क्योंकि सुदूर दक्षिण को जानेवाले सभी मुख्य मार्ग उसी में होकर गुजरते थे। अत: वहाँ विशेष सैनिक व्यवस्था रहती थी। तब धार नगर ही इस प्रांत की राजधानी था। इब्नबतूता के अनुसार तब धार से दिल्ली तक के मार्ग पर सर्वत्र कोस कोस पर मीनार बने हुए थे, जिनसे यात्रियों को बहुत सुविधा होती थी। तब भी मालवा खेती के लिये बहुत प्रसिद्ध था और वहाँ गेहूँ विशेष रूप से बहुत उत्तम होता था। धार के पान भी तब दिल्ली तक जाते थे। सन् १३३५ ई० में मालवा में भयंकर अकाल पड़ा जो तदनंतर कई वर्ष तक बना रहा। इधर सारे साम्राज्य में यत्र तत्र विद्रोह होने लगे थे, अत: मालवा में कड़ाई के साथ शासनप्रबंध करने के हेतु मुहम्मद तुगलक ने अजीज खंमार को वहाँ का सूबेदार बनाया। अजीज ने धार में 'अमीराने सदा' तथा वहाँ के कई प्रमुख सैनिकों को बंदी कर उनको मरवा डाला। मालवा में तब कोई विद्रोह नहीं हुआ परंतु गुजरात आदि पड़ोसी प्रांतों में विद्रोह अत्यधिक भड़क उठे।

फिरोज तुगलक के शासनकाल में मालवा का शासन शांतिपूर्वक यथावत् चलता रहा, परंतु उसके निकम्मे उत्तराधिकारियों के समय में दिल्ली सल्तनत शक्तिहीन और विशृंखलित होने लगी। तब दिलावर अली गोरी मालवा का सूबेदार था। उसने अधिकाधिक सेना एकत्र कर समूचे मालवा पर अपना सुदृढ़ आधिपत्य स्थापित कर लिया। तैमूर से पराजित होकर जब सुलतान महमूद तुगलक दिल्ली से भागकर गुजरात पहुँचा, तब सन् १४०० ई० में वहाँ से वह दिलावर अली के पास चला आया और कुछ समय तक धार में रहने के बाद सन् १४०१ ई० में वह वापस दिल्ली को लौट गया। उसके धार से यों चले जाने के बाद दिलावर अली ने स्वयं को मालवा का स्वाधीन सुलतान घोषित कर दिया। उसके उत्तराधिकारी पुत्र होशंगशाह ने माडू को अपनी राजधानी बनाया। होशंगशाह तथा उसके बाद अन्य कई सुलतानों ने समय समय पर माडू में अनेकों सुंदर महल, मसजिदें, मकबरे, बावड़ी आदि बनवाए जिनके कारण ही माडू के वे भग्नावशेष भारतीय स्थापत्य कला के सुंदरतम स्मारक के रूप में आज भी अतीव आकर्षक और सर्वथा दर्शनीय हैं।

पड़ोसी राज्यों के साथ मालवा के सुलतानों का संघर्ष प्रारंभ से ही चलने लगा। गुजरात के सुलतानों से वे कई बार पराजित भी हुए। होशंगशाह ने अचलदास खीची को सन् १४२३ ई० में पराजित कर गागरोन का किला अपने अधिकार में कर लिया। होशंगशाह के बाद उसके पुत्रों को अपनी राह से हटाकर उसी के फुफेरे भाई मलिक मुगिस का पुत्र महमूद खिलजी स्वयं मालवा का सुलतान बन गया। उसने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। मेवाड़ के राणा कुंभा के साथ उसके कई युद्ध हुए, जिनमें अपनी विजय के स्मारक के रूप में कुंभा ने चित्तौड़ तथा माडू में क्रमश: कीर्तिस्तंभ तथा मीनार बनवाए। महमूद खिलजी के शासनकाल में मालवा राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा चरम सीमा तक पहुँच गई थी। उसके बाद के दोनों सुलतानों ने अपना समय ऐश्वर्य विलास और राग रंग में ही बिताया; तब माडू में साहित्य, संगीत, स्थापत्य आदि ललित कलाओं को विशेष प्रोत्साहन मिला।

परमार राजाओं के समय से ही जैन धर्मावलंबी वणिक समाज का प्रभाव और महत्व मालवा में अधिकाधिक बढ़ने लगा था। उद्योग धंधे और व्यापार उनके हाथ में थे ही, तब से वे शासन व्यवस्था में भी पदारूढ़ होने लगे थे। मालवा पर मुसलमानों आधिपत्य हो जाने के बाद भी इन जैन धर्मावलंबियों का यह महत्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ, प्रत्युत मालवा की इस स्वाधीन सल्तनत में वे ऊँचे ऊँचे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त होकर उसके शासन का संचालन करते थे। अत: तब माडू जैनियों के लिये एक प्रमुख तीर्थ तथा जैन विद्वानों का विशिष्ट केंद्र बन गया।

द्वितीय महमूद खिलजी ने सन् १५१२ ई० में मेदिनीराय पूरबिया राजपूत को अपना वजीर बनाया, जिसके सलहदी तंवर आदि

राजपूत सामंतों का मालवा के शासन में प्रभाव दिनों दिन बढ़ने लगा। तब इसी कारण राजपूतों के साथ मुसलमान अमीरों तथा सेनानायकों का आपसी वैमनस्य हो गया। कुछ ही समय के बाद महमूद खिलजी भी मेदिनीराय तथा उसके राजपूत साथियों के विरुद्ध हो गया। तब तो गुजरात के सुलतान तथा मेवाड़ के राणा साँगा से सैनिक सहायता प्राप्त कर दोनों विरोधी पक्षों में आपसी युद्ध होने लगे, जिससे मालवा राज्य शक्तिहीन और विशृंखलित हो गया। बाबर ने सन् १५२८ ई० में चंदेरी पर अधिकार कर लिया। उसके तीन वर्ष बाद गुजरात के सुलतान बहादुर शाह ने मांडू को जीतकर महमूद खिलजी को कैद कर लिया तथा मालवा को गुजरात राज्य में संमिलित कर लिया। सन् १५३५ ई० में हुमायूँ ने बहादुरशाह को मंदसौर तथा मांडू में पराजित कर मालवा पर गुजरात के आधिपत्य का अंत कर दिया। तदनंतर जब शेरशाह सूर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तब उसने मालवा को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया, तथा सन् १५४२ ई० में शुजात खाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। उसके उत्तराधिकारी पुत्र बाज बहादुर ने सन् १५५५ ई० में स्वयं को मालवा का स्वाधीन सुलतान घोषित किया। कुछ वर्षों बाद अकबर ने मालवा विजय के लिये मुगल सेनाएँ भेजीं। उन्होंने मार्च, १५६१ ई० में सारंगपुर के युद्ध में बाज बहादुर को हराकर मालवा पर अधिकार कर लिया, अगले वर्ष बाज बहादुर ने पुन: मालवा पर अधिकार कर लिया, किंतु वह सुस्थिर नहीं हो पाया और सन् १५६२ ई० के उत्तरार्ध में मालवा स्थायी रूपेण *मुगल साम्राज्य का अभिन्न अंग बन गया*। इसके दो वर्ष बाद रानी दुर्गावती को हराकर जब मुगलों ने गोंडवाना के *गढ़ा-मंडला* क्षेत्र जीत लिए तब उन्हें भी मालवा प्रांत मे संमिलित कर दिया गया।

मुगल साम्राज्य में संमिलित होते ही इस प्रांत के सुप्रबंध का आयोजन किया गया। उज्जैन नगर को पुन: मालवा प्रात की राजधानी बना दिया। शासन तथा राजस्व संबंधी अनेकानेक सुधार समय समय पर किए जाते रहे। सन् १५७९-८० मे ही मालवा प्रात की शासकीय व्यवस्था का पूर्ण स्वरूप बन पाया। तदनुसार मालवा प्रांत को उज्जैन, रायसेन, चंदेरी, सारंगपुर, माडू, हंडिया, गागरोन, कोटड़ी पिड़ावा, बीजागढ़, गढ़ा, मदसौर और नदुरबार की बारह सरकारों (जिलों) में विभक्त किया गया। प्रत्येक सरकार के अंतर्गत कई परगने थे, जिनकी संख्या वहाँ की परिस्थिति के अनुसार निर्धारित की गई। मालवा मे तब कुल मिलाकर ३०१ परगने थे। आवश्यकतानुसार यदा कदा किए गए यत्किंचित् परिवर्तनों के साथ यही शासनव्यवस्था मुगल साम्राज्य के पतन तक निरंतर चलती रही।

कोई सवा सौ वर्षों से भी अधिक समय तक शक्तिशाली मुगल सम्राटों के शासन मे रहकर मालवा प्रांत अधिकाधिक समृद्ध होता गया। अनेकानेक नए व्यापारमार्ग खुल गए थे और सूरत आदि बंदरगाहों के द्वारा विदेशों तक से बराबर व्यापार चलता रहता था। मालवा मे तब महीन धागे के कपड़े बुने जाते थे। वहाँ की 'छीट', छपे हुए तथा अन्य रंग बिरंगे कपड़ों की विदेशों तक में बड़ी माँग थी। 'अफीम, गन्ना, अंगूर, सुगंधित द्रव्य, खरबूजे और खाने के पान जैसी बहुमूल्य फसलें वहाँ बहुतायत से पैदा होती थीं।' प्रांत की आमदनी भी बढ़ते बढ़ते लगभग दुगुनी हो गई थी।

मुगल सम्राटों की राजपूतों को साम्राज्य का आधारस्तंभ बनानेवाली नीति का मालवा पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यहाँ के *कई एक स्थानीय राजघरानों* को महत्व और क्षमता प्राप्त हुई। यही नहीं, मेवाड़ और मारवाड़ के कई छोटे राजकुमारों या उनके वंशजों को उन्होंने मालवा में अनेकों जागीरें दीं। पश्चिमी मालवा के सभी राठौड़ राज्यों का प्रारंभ ऐसी ही जागीरों से हुआ था। मालवा में आ बसनेवाले सभी राजपूत सेनानायकों के साथ उनके भाई भतीजे, सगे संबंधी तथा अन्य अधीनस्थ सेनानायक भी मालवा चले आये, जिनमे से कई ने आगे चलकर प्रात की अराजकतापूर्ण परिस्थिति से पूरा पूरा लाभ उठाकर अपने अपने अधीन अनेक छोटे बड़े ठिकानों, जागीरों तथा जमींदारियों की स्थापना की।

मुगल साम्राज्य काल में मालवा की शांति को यत्र तत्र होने वाले छोटे छोटे स्थानीय उपद्रव ही कदाचित् भंग करते थे। धरमत का युद्ध ही सत्रहवीं शताब्दी की एकमात्र महत्वपूर्ण घटना थी। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह के सेनापतित्व में शाही सेना को औरंगजेब और मुराद की संमिलित सेना ने पराजित किया था (अप्रैल १६५८)। मुगल-मेवाड़ युद्ध के समय कुछ वर्ष (१६७९-१६८१ ई०) तक मालवा की उत्तर पश्चिमी सीमा पर कुछ अशांति उत्पन्न हुई थी, परतु उस युद्ध की समाप्ति के साथ ही उसका भी अंत हो गया।

किंतु ईसा की १७ वीं शताब्दी के अंत के साथ ही मालवा में अशांति, विद्रोह और अराजकता का प्रारंभ हुआ। सन् १६९९ ई० में कृष्णाजी सावंत के नेतृत्व मे मराठों ने प्रथम बार नर्मदा पार कर मालवा मे लूट मार की। 'जो मार्ग इस प्रकार तब खुला वह १८ वीं शताब्दी के मध्य मे जब तक मालवा पूर्णतया मराठों के आधिपत्य में न आ गया किसी प्रकार बंद नही हुआ।' बहादुर शाह के शक्तिहीन उत्तराधिकारियों के शासनकाल में परिस्थिति दिनों दिन बिगड़ती ही गई। नर्मदा के उत्तरी तीर पर पिलसुद के युद्ध में मालवा के सूबेदार सवाई जयसिंह ने १० मई, १७१५ ई० के दिन आक्रमणकारी मराठों के एक बड़े दल को पूर्णतया पराजित किया। परंतु उसका प्रभाव स्थायी नही हुआ। पेशवा बाजीराव से प्रेरित कई मराठा दल बारंबार मालवा पर आक्रमण करने लगे। २९ नवंबर, १७२८ ई० के दिन अमझरा के युद्ध में शाही सेना की पूर्ण पराजय के बाद समूचा दक्षिणी मालवा मुगलों के हाथ से निकल गया। फरवरी, १७३३ ई० में मंदसौर के युद्ध में सवाई जयसिंह की हार के बाद उत्तरी मालवा पर भी मुगलों का अधिकार नही रहा। मालवा पर पुन: मुगल आधिपत्य स्थापित करने का निजाम का अंतिम प्रयत्न भी दिसंबर १४,१७३७ ई० के भोपाल के युद्ध में हुई पराजय के कारण विफल हुआ। अत: नादिरशाह के आक्रमण के फलस्वरूप अशक्त और विशृंखलित हो मुगल सम्राट् ने सितंबर ७,१७४१ ई० को शाही सनद द्वारा मालवा प्रात पेशवा बालाजीराव को दे दिया।

वस्तुत: यह सब कागजी कार्रवाई मात्र थी। मालवा से चौथ

आदि करों से प्राप्त द्रव्य का बटवारा दिसंबर, १७३१ ई० में ही पेशवा ने मल्हार राव होलकर, राणोजी शिंदिया, आनंदराव पवार आदि में कर दिया था। जनवरी, १७३४ ई० में मल्हार राव को खासगी की जागीर भी मिली। सन् १७३५ ई० से ही राणोजी ने उज्जैन को मालवा में अपने पड़ाव का एकमात्र स्थान बना लिया था। पेशवा से सरंजाम पाकर इन घरानों ने मालवा के कई एक भागों पर पूर्ण आधिपत्य भी स्थापित कर लिया, जिससे आगे चलकर मालवा में इन घरानों के अलग अलग राज्यों की स्थापना हुई। मालवा में मराठों की स्थापना होने से पहले ही दोस्त मुहम्मद नामक अफ़गान ने भोपाल को अपनी राजधानी बनाकर दक्षिण पूर्वी भाग में अपना राज्य स्थापित कर लिया था, जो मराठों के आक्रमणों और विरोध के होते हुए भी उसके उत्तराधिकारियों के अधिकार में बराबर बना रहा।

मालवा पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त होने के बाद भी मराठा शासकों ने प्रांतीय शासनसंगठन में एकता स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। सारा प्रांत विभिन्न मराठा सेनानायकों में बँट गया। यहाँ के स्थानीय राजाओं तथा जमींदारों पर टाँका तय कर उसे वसूल करने के अधिकार भी उन मराठा सेनानायकों में बाँट दिये गये। मराठा सेनापतियों और शासकों का प्रायः सारा समय प्रांत से बाहर के ही मामलों मे बीत जाता था तथा अपने अधिकारक्षेत्र की शासनव्यवस्था की ओर भी वे ध्यान नहीं दे पाते थे। स्थानीय राजा, जागीरदार और जमींदार अधिक स्वतंत्र और शक्तिशाली हो गए तथा छोटी बड़ी अनेक नई जागीर-जमींदारियाँ भी स्थापित हो गईं। विभिन्न मराठा सेनानायकों के आपसी झगड़ों के कारण भी प्रांत मे कई उलझनें खड़ी हो जाती थीं। मराठा सेनानायकों को द्रव्य की आवश्यकता सदैव बनी रहती थी, किंतु मालवा की आर्थिक स्थिति दिनों दिन बिगड़ती जा रही थी। अतः प्रांत की आमदनी बढ़ाने के उद्देश्य से महादजी सिंधिया जब मालवा के शासन को सुव्यवस्थित करने लगे तब राजपूत राजाओं, जमींदारों और ठिकानेदारों से उनकी मुठभेड़ हो गई, जिससे मालवा में राजपूत-मराठा संघर्ष फिर प्रारंभ हो गया। इससे अंग्रेजों ने पूरा लाभ उठाया।

अंग्रेजों के साथ हुई बसई की संधि (१८०२ ई०) के बाद पेशवा का मालवा के साथ कोई संबंध नहीं रह गया तथा मालवा मे शासनारूढ़ मराठा सरदार स्वाधीन हो गए। मालवा के सभी मराठा सरदारों के सरंजामों तथा अधिकार क्षेत्रों के अनेकानेक छोटे बड़े टुकड़े प्रारंभ से ही प्रांत के विभिन्न भागों मे दूर दूर तक छितरे हुए थे। विरोधी सरदारों के अधीन क्षेत्रों के सान्निध्य के कारण भी इन सरदारों को अपने अपने विभागों के शासन पर अत्यधिक व्यय के बाद भी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वहाँ शांति और सुरक्षा बनाए रखना सर्वथा असंभव हो जाता था। अतः ईसा की १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब सिंधिया-होलकर-विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया था और प्रायः सारे यूरोपीय सेनानायकों के चले जाने के कारण मराठा सेनाओं की शक्ति क्षीण हो गई थी तब मालवा में 'गर्दी का वक्त' प्रारंभ हुआ। पहले कई वर्षों तक यशवंतराव होलकर और अमीर खाँ की सेनाओं ने सर्वत्र लूटमार की, जिनमें पिंडारी, पठान, मराठे, भील आदि सभी प्रकार के उपद्रवी दल संमिलित थे। सन् १८१३ ई० के बाद कोई ५०,००० से भी अधिक पिंडारियों के बड़े बड़े दल मालवा के एक छोर से दूसरे छोर तक भयंकर लूट मार करने लगे। समूचे प्रांत में असीम अराजकता फैल गई।

लार्ड हेस्टिंग्ज ने तब सन् १८१७ ई० मे तटस्थता की नीति त्याग कर मालवा पर भी अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित करने का निर्णय किया। अमीर खाँ टोंक का नवाब बना दिया गया। महिदपुर के युद्ध में होलकर पूर्णतया पराजित हुआ। चारों ओर से शक्तिशाली सेनाओं का घेरा डालकर बड़ी ही तत्परता के साथ सन् १८२८ ई० मे पिंडारियों का अंत कर डाला। मालवा मे शांति स्थापित हो जाने के बाद वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था की समस्या सामने आई। सिंधिया, होलकर, भोपाल आदि प्रमुख शासकों के साथ अंग्रेजों ने संधियाँ कर ली थीं। किंतु वहाँ के राजपूत राजाओं, तथा मराठा राज्यों के अधीन राजपूत सामंतों, अन्य ठिकानेदारों और गिरासियों के साथ उनके सही संबंधों और उन सभी राज्यों, ठिकानों तथा जमींदारियों की सीमाओं का निर्धारण तब भी करना था। सर जान मालकम ने विभिन्न पक्षों मे आपसी समझौते करवाए, और सारे पारम्परिक दावों, माँगों और विरोधों को निपटाकर उन निर्णयों को भविष्य मे पूर्णतया कार्यान्वित करवाते रहने के बारे में अंग्रेजी शासन की ओर से लिखित आश्वासन दिए। मराठा राज्यों के अधीन राजपूत सामंतों संबंधी वे आश्वासन सन् १६२१ ई० में समाप्त किए गए। मालवा के सभी राज्यों की देख रेख तथा नियंत्रण के लिये गवर्नर जनरल ने इंदौर मे एक प्रमुख अंग्रेज अधिकारी को अपना एजंट' नियुक्त किया और उसके अधीन 'पोलिटिकल एजंट' नियुक्त किए गए। स्थान स्थान पर अंग्रेजी सेना की सैनिक छावनियाँ भी डाल दी गईं। यह राजनीतिक इकाई तभी से 'सेंट्रल इंडिया एजंसी' कहलाने लगी। ग्वालियर का रेसीडेंट भी सन् १८५४ से १६२१ ई० तक इसी एजेंसी के अधीन रहा।

शांतिस्थापना से प्रदेश में खेती बाड़ी, उद्योगधंधों और व्यापार मे वृद्धि होने लगी। किंतु सभी राज्यों का शासनप्रबंध तब भी मध्यकालीन ढर्रे का था और दुर्व्यवस्था को दूर करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किए जा रहे थे। जनसाधारण की सुविधा, हित या उन्नति की ओर यत्किंचित् भी ध्यान नही दिया जाता था। अंग्रेज अधिकारियों के अत्यधिक आग्रह पर ही मालवा मे प्रथम शासकीय विद्यालय सन् १८४१ में इंदौर मे खोला गया। सारे प्रदेश मे अंग्रेजों का सैनिक नियंत्रण और दबाव बढ़ता जा रहा था। वहाँ के नाबालगी शासन के निर्देशन के मामले को लेकर अंग्रेजों ने सन् १८४३ ई० में ग्वालियर राज्य को पूरी तरह अपने अधीन कर लिया। सन् १८४४ ई० मे इंदौर राजगद्दी के उत्तराधिकार के प्रश्न को भी अंग्रेजों ने अपने ही इच्छानुसार तय किया। तदनंतर दोनों ही राज्यों का नाबालगी शासन अंग्रेज अधिकारियो की ही देखरेख में चलने लगा। तब ग्वालियर में भी विद्यालय खोला गया और इंदौर में प्रथम सार्वजनिक अस्पताल स्थापित हुआ।

सन् १८५७ ई० में जब उत्तरी भारत मे बड़ा सैनिक विद्रोह प्रारंभ हुआ, तब उसका प्रभाव इस प्रदेश पर भी पड़ा। नीमच,

ग्वालियर, इंदौर और मऊ की सेनाओं ने भी विद्रोह किया। अपनी सेना में भी विद्रोह हो जाने पर १ जून, १८५८ ई० के दिन सिंधिया को ग्वालियर से भागकर आगरा चला जाना पड़ा और वहाँ विद्रोहियों का अधिकार हो गया। कोई १७ दिन बाद उन्हें पराजित कर सर ह्यू रोज ने ग्वालियर पर पुनः सिंधिया का आधिपत्य स्थापित कर दिया। इधर नीमच, इंदौर और मऊ के विद्रोही सैनिक वहाँ से राजस्थान तथा ग्वालियर की ओर चले गए, परंतु तभी बाहर के कई अन्य उपद्रवी सैनिक आदि पश्चिमी मालवा में जा पहुँचे और वहाँ स्थानीय लोगों से मिलकर उन्होंने धार, मंदसौर आदि छोटे छोटे कई स्थानों में विद्रोह का झंडा खड़ा किया। अमझरा के सिवाय प्रायः सभी राज्यों के शासकों ने अंग्रेजों का साथ दिया। अत वहाँ कहीं भी विद्रोहियों को विशेष सफलता नहीं मिली और हेनरी ड्यूरेंड ने सन् १८५७ ई० के अंत तक उन्हें पूर्णतया दबा दिया। धार राज्य को तब अंग्रेजों ने जब्त कर लिया था किंतु बाद में वह पुनः वहाँ के राजा को दे दिया गया।

इस विद्रोह के शांत होने के बाद भारत का शासन सीधे इंग्लैंड की सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया के नाम पर चलाया जाने लगा, जिससे मालवा के राजाओं तथा अंग्रेजी शासन के संबंध अधिक गहरे और दृढ़ हो गए। अनेकानेक प्रमुख महाराजाओं को दत्तकाधिकार की सनदें दी गईं; सभी राजाओं आदि की समान परंपराएँ निश्चित की गईं; और उनके राजकुमारों, सामंतपुत्रों आदि की अंग्रेजी शिक्षा के लिये सन् १८७६ ई० में इंदौर में एक विशेष विद्यालय खोला गया। अब राजाओं पर अंग्रेज अधिकारियों का नियंत्रण हर तरह से बढ़ गया और राज्यों के शासनप्रबंध में सुधार करने के लिये भी वे उनपर दबाव डालने लगे। अत. इंदौर, ग्वालियर जैसे प्रमुख राज्यों में तदर्थ प्रयत्न प्रारंभ हुए। लगान संबंधी बंदोबस्त नये सिरे से किया गया। अंग्रेजों द्वारा बनाए गए कानून कायदे लागू कर न्यायालयों की व्यवस्था नए ढंग से की गई। पुलिस व्यवस्था में सुधार किए गए। शिक्षाप्रसार के लिये अधिक विद्यालय खोले जाने लगे और उच्च शिक्षा के हेतु ग्वालियर, इंदौर और उज्जैन में महाविद्यालय (कालेज) भी स्थापित किए गए। अस्पतालों की संख्या में वृद्धि की जाने लगी। इंदौर और ग्वालियर नगरों में नगरपालिकाएँ स्थापित की गईं। आगे चलकर ये सब सुधार अन्य बड़े छोटे राज्यों में भी कार्यान्वित किए जाने लगे। ईसा की २०वीं सदी के प्रारंभ के बाद इन सब सुधारों की गति और भी बढ़ गई।

अंग्रेज शासक अपने कुछ विशेष आयोजनों को इस प्रदेश में भी कार्यान्वित करने लगे जिससे भारत के अन्य प्रदेशों के साथ भी उसका निकट संपर्क और स्थायी संबंध स्थापित होने लगा तथा आर्थिक एकता बढ़ने लगी। बड़े बड़े नगरों को मिलानेवाली सैकड़ों मील लंबी अनेकानेक सड़कें बनने लगीं। रेलगाड़ियाँ चलने लगीं। सारे महत्वपूर्ण नगरों और कस्बों में डाक-तार-घर खोले गए। सभी राज्यों में राहदारी वसूल करना बंद करवा दिया। अंग्रेजों द्वारा चलाए गए सिक्कों का सर्वत्र प्रचलन किया गया और विभिन्न राज्यों के निजी सिक्के बंद होते गए। उच्च शिक्षा का नियंत्रण विश्वविद्यालय द्वारा होने लगा।

१९वीं सदी के अंतिम युगों में अंग्रेजों के अधीन प्रांतों में राजनीतिक चेतना होने लगी थी। बंग भंग के बाद वहाँ स्वदेशी की लहर भी फैली। मालवा में शिक्षा की वृद्धि तथा आवागमन के साधनों के बढ़ने के फलस्वरूप इनका प्रभाव वहाँ भी पड़ने लगा, परंतु वह इंदौर, ग्वालियर और उज्जैन नगरों तथा वहाँ भी कुछ ही विशेष वर्गों तक सीमित रहा। महात्मा गांधी के राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण होने के बाद भी बहुत समय तक राजनीतिक हलचलें इसी प्रकार अति सीमित क्षेत्रों में ही चलती रहीं। कांग्रेस ने भी देशी राज्यों के मामले में सीधे हस्तक्षेप करने की नीति अपनाई। परंतु सन् १९३० ई० के सत्याग्रह आंदोलन के समय से कई राज्यों में राजनीतिक हलचलें प्रारंभ हुईं जिनके फलस्वरूप तदनंतर वहाँ प्रजामंडलों का संगठन होने लगा। ग्वालियर राज्य में ऐसा संगठन 'सार्वजनिक सभा' कहलाया। 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्' की शाखा के रूप में जब 'मध्यभारत देशी राज्य लोक परिषद्' की स्थापना की गई तब इस प्रदेश के सभी प्रजामंडल उससे संबद्ध हो गए। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद यह परिषद् अधिक सक्रिय हुई और मध्यभारत राज्यनिर्माण संबंधी प्रयत्नों में इसने महत्वपूर्ण भाग लिया। स्वाधीनताप्राप्ति के बाद वह भारतीय कांग्रेस में समाविष्ट हो गई।

प्रथम महायुद्ध के कुछ पहले से ही अंग्रेजी शासन भारतीय नरेशों के प्रति अपनी नीति बदलने लगा था। पहले जैसी रुखाई अब नहीं रही, प्रत्युत उनका सहयोग प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया जाने लगा। सन् १९२१ ई० में सभी पूर्णाधिकारप्राप्त नरेशों का एक 'नरेंद्रमंडल' दिल्ली में स्थापित किया गया। राज्य शासनों में अधिकाधिक सुधार के लिये प्रयत्न होने लगे। यद्यपि सन् १९२१ ई० में ग्वालियर में 'मजलिस आम' की स्थापना की गई थी, इस प्रदेश में लोकतंत्रीय संस्थाओं का वस्तुतः प्रारंभ सन् १९३६ ई० में इंदौर में 'धारा सभा' तथा सन् १९३९ ई० ग्वालियर में 'प्रजासभा' और 'सामंत सभा', तथा सीतामऊ में 'राज्य परिषद्' की स्थापना के साथ हुआ था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद इन संस्थाओं का समुचित विस्तार नहीं हो सका। तथापि सन् १९४८ ई० के प्रारंभ में ग्वालियर और इंदौर राज्यों में लोकप्रिय मंत्रिमंडल बन गए जो अपने अपने महाराजा की छत्रछाया में वहाँ शासन करने लगे।

सन् १९३० ई० से भारत में संघराज्य की स्थापना के बारे में विचार होने लगा। अंत में तदर्थ इंग्लैंड की संसद् ने सन् १९३५ ई० का 'गवर्नमेंट आँव इंडिया ऐक्ट' स्वीकृत किया। देशी राज्यों में भी उसे कार्यान्वित करने के लिये चर्चाएँ चल रही थीं कि द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हो गया। छोटे छोटे राज्यों के समूहीकरण की भी आवश्यकता स्पष्ट होने लगी। महायुद्ध की समाप्ति के बाद परिस्थितियाँ बहुत जल्दी-जल्दी बदलती गईं। छोटे छोटे राज्यों के समूहीकरण का उपयुक्त तरीका सोचा जाने लगा। स्वाधीन भारत का 'संविधान' बनाने के लिये दिसंबर, १९४६ ई० में 'संविधान परिषद्' का प्रथम अधिवेशन नई दिल्ली में प्रारंभ हुआ। तदनंतर अंग्रेजी शासन ने विभाजन के साथ ही भारत को स्वाधीनता देने का निर्णय किया। तब इस प्रदेश के सभी राज्य भारत के साथ संबद्ध हो गए। उनके प्रतिनिधि भी संविधान परिषद् में संमिलित हो चुके थे। यों

१५ अगस्त, १९४७ के दिन इस प्रदेश पर से भी अंग्रेजों का आधिपत्य समाप्त हो गया।

अंग्रेजों के भारतत्याग के साथ ही 'सेंट्रल इंडिया एजेंसी' का राजनीतिक संगठन भी समाप्त हो गया था। अतः स्वाधीन भारत का नया संविधान बनने तक के अंतरिम काल में इस प्रदेश के सभी राज्यों के साथ अत्यावश्यक संपर्क बनाए रखने के लिये भारत शासन ने इंदौर में 'रीजनल कमिश्नर' (प्रादेशिक आयुक्त) की नियुक्ति की। भारत के उप-प्रधान मंत्री सरदार पटेल के निर्देशनानुसार सन् १९४८ ई० के प्रारंभ में इस प्रदेश के विभिन्न राज्यों का एकीकरण करने के लिये यहाँ के सभी राजाओं तथा इस प्रदेश के प्रमुख राजनीतिक नेताओं के साथ विचारविमर्श प्रारंभ हुआ। भोपाल के नवाब ने कुछ समय के लिये भोपाल को स्वतंत्र इकाई के रूप में रखने का निश्चय किया। अतः अब ग्वालियर और इंदौर के साथ इस प्रदेश के अन्य सब ही राज्यों का एकीकरण कर 'मध्य भारत' राज्य के निर्माण का निर्णय अप्रैल २२, १९४८ ई० के दिन किया गया। सभी राजाओं के वार्षिक निजी खर्च की रकमें तय कर दी गई, उनकी निजी संपत्ति को निर्धारित कर दिया और उनके परंपरागत संमान तथा विशेषाधिकारों को मान्य कर लिया गया। ३० जून, १९४८ ई० के दिन यहाँ के सभी राजाओं ने अपने अपने राज्याधिकार इस नवसंगठित 'मध्य भारत' राज्य को सौंप दिए। सिंधिया इस राज्य के राजप्रमुख बने। राज्य की विधान सभा संगठित की गई। राजनीतिक नेताओं का लोकप्रिय मंत्रिमंडल राज्य का शासन चलाने लगा। भोपाल के नवाब ने भी अप्रैल, १९४९ ई० में अपने राज्याधिकार भारत शासन को सौंप दिए।

२६ जनवरी, १९५० ई० के दिन भारत का संविधान इस प्रदेश में भी लागू हो गया और तब तदनुसार मध्य भारत और भोपाल राज्य भारतीय गणराज्य के अंतर्गत क्रमशः 'ख' और 'ग' श्रेणी के राज्य बन गए। सन् १९५२ ई० के प्रारंभ में वयस्क मताधिकार के आधार पर भारत में आम चुनाव कराए गए, जिनमें दोनों ही राज्यों की विधान सभाओं में कांग्रेस दल को अत्यधिक बहुमत प्राप्त हुआ। सन् १९५३ ई० के अंत में भारत शासन ने राज्यों के पुनर्गठन के लिये एक विशेष आयोग नियुक्त किया। उसके सुझावों को मान्य कर नवंबर, १९५६ ई० में नए मध्य प्रदेश का संगठन किया गया जिसमें मध्य भारत और भोपाल राज्य विलीन कर दिए गए। नर्मदा घाटी का जो मालवा क्षेत्र कोई सवा सौ वर्षों से अंग्रेजों के अधीन तथा तत्कालीन मध्य प्रांत के अंतर्गत था, वह भी अब इस नए मध्य प्रदेश में संमिलित होकर उसकी पुनर्गठित इंदौर और भोपाल कमिश्नरियों में मिल गया। यों इस नए मध्य प्रदेश के अधिकतम भाग का पुनः एकीकरण हो गया है।

आधुनिक शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप ईसा की २०वीं सदी के प्रारंभ से ही मालवा प्रदेश में प्राथमिक शिक्षा तथा शासकीय कार्यवाही हिंदी के ही माध्यम से होती रही है, परंतु जनसाधारण आज भी बोलचाल में स्थानीय मालवी बोली का ही प्रयोग करते हैं जो हिंदी की ही एक बोली मानी जा सकती है। स्थानीय प्राकृत से निकली इस बोली पर राजस्थानी, गुजराती और मराठी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। पड़ोसी क्षेत्र की भाषा से प्रभावित होने के कारण उसका स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में थोड़ा बहुत बदल जाता है। मालवी बोली का विशेष लिखित साहित्य नहीं है, परंतु उसका लोक साहित्य विशेषतया लोकगीत प्रचुर मात्रा में आज भी प्राप्य तथा प्रचलित है।

इस प्रदेश ने आधुनिक युग में भी हिंदी साहित्य के उत्थान और विकास में विशेष योगदान दिया है। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन के सन् १९१८ तथा १९३५ ई० के ऐतिहासिक अधिवेशन महात्मा गांधी के सभापतित्व में इंदौर में हुए थे। यों अखिल भारत में हिंदी प्रचार का महत्वपूर्ण निर्णय इसी मालव भूमि में लिया गया था।

सं० ग्रं० — दी हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑव दी इंडियन पीपुल, भारतीय विद्याभवन प्रकाशन, सभी खंड; दी कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड १,३,४,५ और ६; मध्यभारत का इतिहास, हरिहरनिवास द्विवेदीकृत, खंड १ और ४; हिस्ट्री ऑव मेडीवल इंडिया, ईश्वरीप्रसाद कृत; आईन-इ-अकबरी, अबुलफ़जल कृत, अंग्रेजी अनुवाद, भाग २; इंडिया ऑव औरंगजेब, यदुनाथ सरकार कृत; मालवा में युगांतर, रघुबीरसिंह कृत; ए मेमायर ऑव सेंट्रल इंडिया, सर जान मालकम कृत, खंड १–२; अठारह सौ सत्तावन, सुरेंद्रनाथ सेन कृत; इंपीरियल गैजेटियर ऑव इंडिया, प्राविंशियल सीरीज़, सेंट्रल इंडिया, सी० ई० ल्यूअर्ड कृत; इंडियन स्टेट्स ऐंड दी न्यू रेजीम, रघुबीरसिंह कृत; देशी-राज्य शासन, भगवानदास केला कृत, दी स्टोरी ऑव दी इंटीग्रेशन ऑव दी इंडियन स्टेट्स, वी० पी० मेनन कृत; मध्य भारत जनपदीय अभिनंदन ग्रंथ, सत्यदेव विद्यालंकार कृत। [र० सिं०]

मालवा का पठार विंध्य पहाड़ियों के आधार पर त्रिभुजाकार पठार है। इसके पूर्व में बुंदेलखंड और उत्तर पश्चिम में अरावली पहाड़ियाँ स्थित हैं। इसकी ढाल उत्तर पूर्व की ओर है। यहाँ की नदियाँ चंबल, काली सिंध, बेतवा, केन आदि हैं। इस पठार के दक्षिणी ओर दकन का पठार है, जो काफी कटा फटा है। उत्तर में नदियों के कछारी निक्षेप तथा यमुना के खादर क्षेत्र स्थित हैं। मालवा का पठार भौतिक बनावट के अनुसार उत्तर की ओर विंध्य उच्छ्रग तथा दक्षिण की ओर दकन लावा के पठार में विभाजित है। विंध्य पहाड़ियों पर सागौन के वन हैं, सामान्य ऊँचे क्षेत्रों में गाँव तथा नगर बसे हैं। इस पठार में २५ इंच तक वर्षा होती है, पर वर्षा अनिश्चित है। ज्वार, गेहूँ, चना तथा तिलहन के अतिरिक्त लावा की काली रेगर भूमि पर कपास पैदा होती है। इंदौर, ग्वालियर, लश्कर, भोपाल तथा उज्जैन यहाँ के प्रसिद्ध नगर हैं। [रा० स० ख०]

मालविकाग्निमित्र दे० कालिदास।

मालवीय, कृष्णकांत जन्म इलाहाबाद में १८८३ ई० (ज्येष्ठ शुक्ल ११, सं० १९४० वि०) में हुआ। आप महामना मदनमोहन मालवीय के बड़े भाई जयकृष्ण मालवीय के द्वितीय पुत्र थे। १९०४ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। १९१० ई० में 'अभ्युदय' के संपादक हुए और १९११ ई० में मासिक 'मर्यादा' का भी संपादन शुरू किया जिसमें साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक

विषयों पर विचारपूर्ण लेख प्रकाशित होते थे। १९१६-१८ वर्ष की अवधि में अभ्युदय के संपादक पद से अलग रहे पर १९१८ से १९३० ई० तक फिर अभ्युदय के संपादक रहे। मर्यादा का संपादन १९२२ तक किया। सत्याग्रह आंदोलनों के संबंध में तीन बार जेल गए। केंद्रीय एसेंबली के सदस्य लगभग १२ वर्ष तक रहे। आपके विचारों पर लाला लाजपत राय और महात्मा गांधी का प्रभाव अधिक था। फलत: विधवा विवाह, अछूतोद्धार और पैत्रिक संपत्ति में लड़कियों को भी हिस्सा मिलने का समर्थन किया। पहले विश्व महायुद्ध के समय 'संसार संकट' स्तंभ के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण हिंदी पत्रकारिता को आपकी विशेष देन थी। उर्दू शायरी के बड़े प्रेमी थे और स्वयं उर्दू कविता करते थे। भाषा सरल, स्पष्ट और उर्दू की पुट लिए रहती थी। लगभग आधे दर्जन बँगला और मराठी उपन्यासों के अनुवाद के अतिरिक्त चार मौलिक पुस्तकों की रचना की—(१) 'सोहागरात' (२) 'मनोरमा के पत्र' (३) 'मातृत्व' और (४) 'संसार संकट'। ३ जनवरी, १९४१ ई० को दिल्ली में मृत्यु हुई। [कृ० प्र० मि०]

मालवीय, मदनमोहन हृदय की महानता के कारण संपूर्ण भारत में 'महामना' के नाम से संपूजित मालवीय जी को संसार में सत्य, दया और न्याय पर आधारित सनातनधर्म सर्वाधिक प्यारा था। करुणामय हृदय, भूतानुकंपा, मनुष्यमात्र में अद्वेष, शरीर मन और वाणी के संयम, धर्म और देश के लिये सर्वस्व त्याग, उत्साह और धैर्य, नैराश्यपूर्ण परिस्थितियों में आत्मविश्वासपूर्वक दूसरों को असंभव प्रतीत होनेवाले कर्मों का संपादन, वेशभूषा और आचार विचार में मालवीय जी भारतीय संस्कृति के प्रतीक तथा ऋषियों के प्राणवान् स्मारक थे।

'सिर जाय तो जाय प्रभु मेरो धर्म न जाय' मालवीय जी का जीवनव्रत था जिससे उनका वैयक्तिक और सार्वजनिक जीवन समान रूप से प्रभावित था। यह आदर्श उन्हें बचपन में पितामह प्रेमधर चतुर्वेदी के, जिन्होंने १०८ दिन में निरंतर १०८ बार श्रीमद्भागवत का परायण किया था, राधाकृष्ण की अनन्य भक्ति, और पिता ब्रजनाथ के भागवती कथा द्वारा धर्मप्रचार एवं माता मूनादेवी के दुखियों की सेवा में प्रत्यक्ष मिला, तथा धनहीन किंतु निर्लोभी परिवार में पलते हुए देश की दरिद्रता तथा अर्थार्थी छात्रों के कष्टनिवारण का स्वभाव एवं उनके जीवन में ओतप्रोत, आचार विचारों का निर्माण हुआ जिससे रेल में, जेल में, जलयान में भी सायंप्रात: संध्योपासना तथा श्रीमद्भागवत और महाभारत का स्वाध्याय उनके जीवन का अभिन्न अंग बना रहा।

मालवीय जी ने प्रयाग की धर्मज्ञानोपदेश तथा विद्या-धर्म-प्रवर्द्धिनी पाठशालाओं में संस्कृत का अध्ययन समाप्त करके म्योर सेंट्रल कालेज से १८८४ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० की उपाधि ली। इस बीच उन्होंने अखाड़े के व्यायाम, और सितार पर शास्त्रीय संगीत का भी अभ्यास किया। नवयुवकों को ब्रह्मचर्य और व्यायाम की वह बराबर शिक्षा देते और साठ वर्ष की अवस्था तक व्यायाम करते रहे।

सात वर्ष के मदनमोहन को धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला के देवकीनंदन मालवीय माघ मेले में ले जाकर मोढ़े पर खड़ा करके व्याख्यान दिलाते थे। क्या आश्चर्य कि कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में अंग्रेजी के प्रथम भाषण से ही प्रतिनिधियों को मंत्रमुग्ध कर देनेवाले 'सिलवर टंग मालवीय' देश के सर्वश्रेष्ठ हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी के व्याख्यान-वाचस्पतियों में इतने प्रसिद्ध हुए। हिंदूधर्मोपदेश, मंत्रदीक्षा और सनातनधर्म प्रदीप ग्रंथों में उनके धार्मिक विचार उपलब्ध हैं जो उनके देश की विभिन्न समस्याओं पर बड़ी कौंसिल से लेकर असंख्य सभा सम्मेलनों के हजारों व्याख्यानों में भावी पीढ़ियों के उपयोगार्थ प्रेरणा और ज्ञान का अमित भंडार सुरक्षित है। उनके बड़ी कौंसिल में रौलट बिल के विरोध में निरंतर साढ़े चार और अपराध निर्मोचन (Indemnity) बिल पर पाँच घंटे के भाषण निर्भयता और गंभीरतापूर्ण दीर्घवक्तृता के लिये स्मरणीय हैं। उनके उद्बोधन में हृदय को स्पर्श करके रुला देने की क्षमता थी, परंतु वे अविवेकपूर्ण कार्य के लिये श्रोताओं को कभी उसकाते नहीं थे।

म्योर कालेज के मनस्वी गुरु महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य के साथ १८८० ई० में स्थापित 'हिंदूसमाज' में मालवीय जी भाग ले ही रहे थे कि इन्हीं दिनों प्रयाग में वाइसराय लार्ड रिपन का आगमन हुआ, जो स्थानीय स्वायत्त शासन स्थापित करने के कारण भारतवासियों में जितने लोकप्रिय थे उतने ही अंग्रेजों के कोपभाजन जिससे प्रिंसिपल हैरिसन ने उनका स्वागत न करने का आदेश दिया; परंतु वाइसराय का भव्य स्वागत संगठित करके मालवीय जी ने प्रयाग-वासियों के हृदय में स्थान बना लिया।

कालाकाँकर के देशभक्त राजा रामपाल सिंह के अनुरोध पर मालवीय जी ने उनके हिंदी अंग्रेजी दैनिक 'हिंदुस्तान' का १८८७ से संपादन करके दो ढाई साल तक जनता को जगाया। उन्होंने कांग्रेस के नेता पं० अयोध्यानाथ का उनके इंडियन ओपीनियन के संपादन में भी हाथ बँटाया और १९०७ ई० में साप्ताहिक अभ्युदय को निकालकर कुछ समय तक संपादित किया, एवं सरकार समर्थक पायोनियर के समकक्ष १९०९ में दैनिक लीडर को निकालकर लोकमत निर्माण का महान् साधन जुटाया तथा दूसरे वर्ष मर्यादा पत्रिका भी प्रकाशित कराई। बाद में उन्होंने १९२४ ई० में दिल्ली के हिंदुस्तान टाइम्स को सुव्यवस्थित किया तथा सनातन धर्म के प्रचारार्थ काशी से सनातन धर्म और लाहौर से विश्वबंधु पत्रों को प्रकाशित कराया।

हिंदी के उत्थान में मालवीय जी की भूमिका ऐतिहासिक है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के नेतृत्व में हिंदी गद्य के निर्माण में संलग्न मनीषियों में 'मकरंद' तथा 'झक्कड़सिंह' के उपनाम से विद्यार्थी जीवन में रसात्मक काव्यरचना के लिये ख्यातिलब्ध मालवीय जी ने देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा को पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध के गवर्नर सर एंटोनी मैकडोनेल के संमुख १८९८ ई० में विविध प्रमाण प्रस्तुत करके कचहरियों में प्रवेश कराया। हिंदी साहित्य संमेलन के प्रथम अधिवेशन (काशी १९१०) के अध्यक्षीय अभिभाषण में हिंदी के स्वरूप निरूपण में उन्होंने कहा कि 'उसे फारसी अरबी के बड़े बड़े शब्दों से लादना जैसे बुरा है, वैसे ही अकारण संस्कृत शब्दों से गूँथना भी अच्छा नहीं और भविष्यवाणी की कि "एक दिन यह भाषा राष्ट्रभाषा हो सकेगी"। संमेलन के अधिवेशन (बंबई १९१९) के सभापतिपद से उन्होंने हिंदी उर्दू के प्रश्न को, धर्म का नहीं, राष्ट्रीयता का प्रश्न बतलाते हुए उद्घोष

मद्रास (देखें पृ० १६२-६३)

मद्रास के निकट महाबली पुरम के एक मंदिर में उत्कीर्ण पाषाण रथ
[फ़ोटो : सूचना विभाग, मद्रास सरकार, मद्रास]

कार्ल मार्क्स (देखें पृष्ठ २५१)
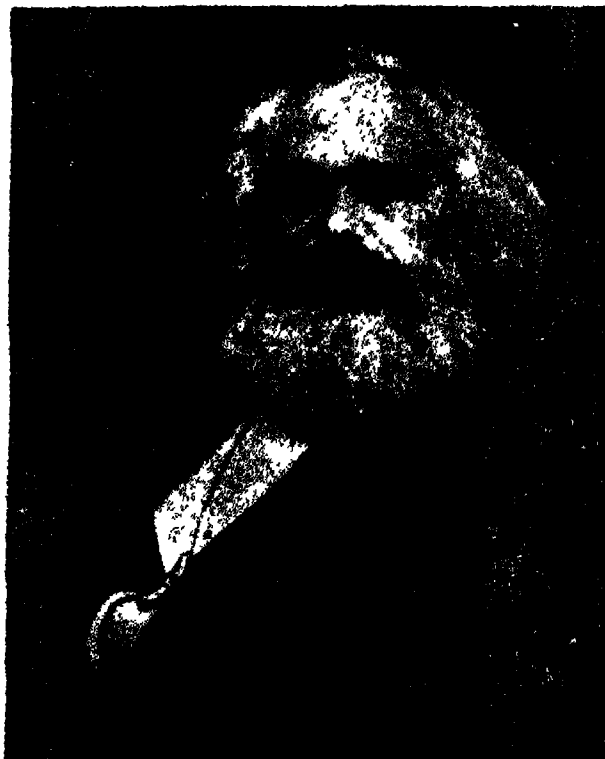
मदनमोहन मालवीय (देखें पृ० २६४–६५)
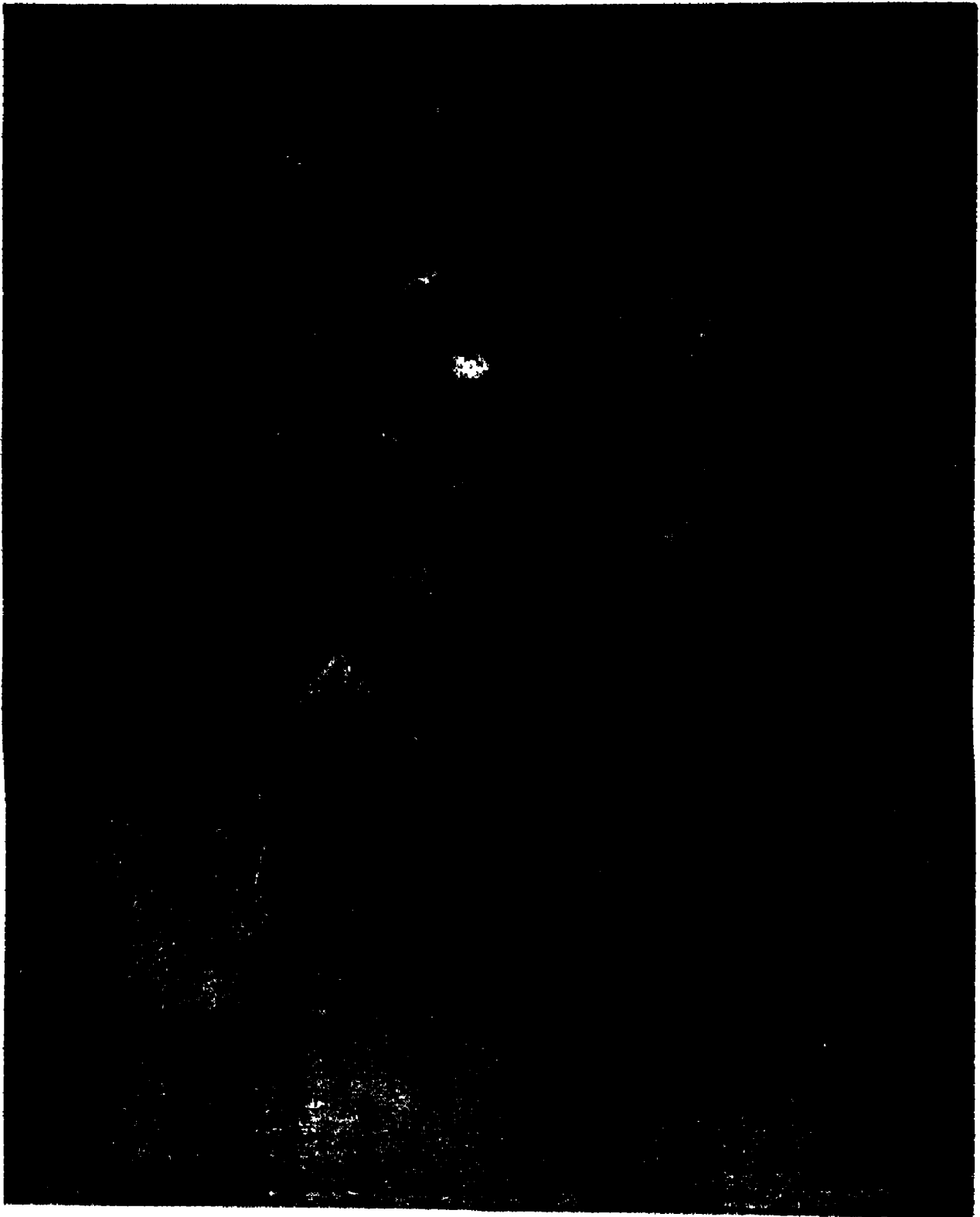
किया कि साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा द्वारा ही हो सकती है और समस्त देश में प्रांतीय भाषाओं के विकास के साथ साथ हिंदी को अपनाने के आग्रह के साथ इस भविष्यवाणी से कि 'कोई दिन आवेगा कि जिस भाँति अंग्रेजी जगत भाषा हो रही है उसी भाँति हिंदी का भी सार्वत्रिक प्रचार होगा' हिंदी जगत् को उसके अंतरराष्ट्रीय रूप का लक्ष्य दिया।

कांग्रेस के निर्माताओं मे विख्यात मालवीय जी ने उसके द्वितीय अधिवेशन (कलकत्ता, १८८६) से लेकर अपनी अंतिम साँस तक स्वराज्य के लिये कठोर तप किया। उसके प्रथम उत्थान में नरम और गरम दलों के बीच की कड़ी मालवीय जी गाँधी युग की कांग्रेस मे हिंदू मुसलमानों एवं उसके विभिन्न मतों मे सामंजस्य स्थापित करने मे प्रयत्नशील रहे। एनी बेसेंट ने ठीक कहा था कि 'मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि विभिन्न मतों के बीच, केवल मालवीय जी भारतीय एकता की मूर्ति बने खड़े हुए हैं।' असहयोग आंदोलन के आरंभ तक नरम दल के नेताओं के कांग्रेस को छोड़ देने पर मालवीय जी उसमे डटे रहे और कांग्रेस ने उन्हें चार बार सभापति निर्वाचित करके संमानित किया — लाहौर १९०९, दिल्ली १९१८ और १९३१ तथा कलकत्ता १९३३ — यद्यपि अंतिम दोनों बार वे सत्याग्रह के कारण पहले ही गिरफ्तार कर लिए गए। स्वतंत्रता के लिये उनकी तड़प और प्रयासों के परिचायक फैजपुर कांग्रेस (१९३६) में 'राष्ट्रीय सरकार और चुनाव' प्रस्ताव के समर्थन मे मालवीय जी के ये शब्द स्मरणीय हैं कि 'मैं पचास वर्ष से कांग्रेस के साथ हूँ। संभव है, मैं बहुत दिन न जिऊँ और अपने जी में यह कसक लेकर मरूँ कि भारत अब भी पराधीन है। किंतु फिर भी मैं आशा करता हूँ कि मैं इस भारत को स्वतंत्र देख सकूँगा'।

असहयोग आंदोलन की चतुःसूत्री मे शिक्षासंस्थाओं के बहिष्कार का मालवीय जी ने विरोध किया और उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से हिंदू विश्वविद्यालय पर उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। १९२१ ई० मे कांग्रेस के नेताओं तथा स्वयंसेवकों से जेल भर जाने पर किंकर्तव्यविमूढ वाइसराय लॉर्ड रीडिंग को प्रांतों में स्वशासन देकर गांधी जी से संधि कर लेने को मालवीय जी ने सहमत कर लिया था परंतु ४ फरवरी, १९२२ के चौरीचौरा कांड ने इतिहास को पलट दिया, गांधी जी ने बरदोली की कार्यकारिणी में सत्याग्रह को रोक दिया, और कांग्रेसजनों में असंतोष फैला कि 'बड़ील भाई' के कहने मे आकर गांधी जी ने भयंकर भूल की। गांधी जी भी पाँच साल के लिये जेल भेज दिए गए और चिलचिलाती धूप मे बूढ़े मालवीय ने पेशावर से डिब्रूगढ़ तक तूफानी दौरा करके राष्ट्रीय चेतना को जीवित रखा। इस भ्रमण में उन्होंने बहुत बार कुख्यात धारा १४४ का उल्लंघन किया जिसे सरकार पी गई। किंतु १९३० के सविनय अवज्ञा आंदोलन मे सरकार ने उन्हें बंबई में गिरफ्तार किया जिसकी महत्ता पर श्री भगवान्दास ('भारतरत्न') ने कहा कि मालवीय जी का पकड़ा जाना राष्ट्रीय यज्ञ की पूर्णाहुति समझनी चाहिए। उसी साल दिल्ली मे अवैध घोषित कार्यसमिति की बैठक मे मालवीय जी को बंदी करके नैनी जेल भेज दिया गया जो उनकी कठोर जीवनचर्या तथा वृद्धावस्था के कारण यथार्थ तप था। परंतु सैद्धांतिक मतभेद के कारण हिंदू विश्वविद्यालय में प्रिंस ऑव वेल्स का स्वागत, कांग्रेस स्वराज्य पार्टी के समकक्ष कांग्रेस स्वतंत्र दल एवं रैमजे मैकडॉनल्ड के सांप्रदायिक निर्णय पर, जिसकी स्वीकृति को मालवीय जी ने राष्ट्रीय आत्महत्या माना, कांग्रेस की 'न स्वीकार न अस्वीकार' नीति के कारण निर्णय विरोधी संमेलन और राष्ट्रीय कांग्रेस दल का संगठन उनके कांग्रेस विरोध के उदाहरण भी उल्लेखनीय हैं।

सनातन धर्म और हिंदू संस्कृति की रक्षा और संवर्धन में मालवीय जी का योगदान अनन्य है। जनबल तथा मनोबल में निरंतर क्षीयमान हिंदू जाति को विनाश से बचाने के लिये उन्होंने हिंदू संगठन का शक्तिशाली आंदोलन चलाया और स्वयं अनुदार सहधर्मियों के तीव्र प्रतिवाद झेलते हुए कलकत्ता, काशी, प्रयाग और नासिक में भंगियों को धर्मोपदेश और मंत्रदीक्षा दी। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रनेता मालवीय जी ने, जैसा पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, अपने नेतृत्वकाल मे हिंदू महासभा को राजनीतिक प्रतिक्रियावादिता से मुक्त रखा, और अनेक बार धर्मों के सहअस्तित्व में अपनी आस्था को अभिव्यक्त किया।

प्रयाग के भारती भवन पुस्तकालय, मैकडोनेल यूनिवर्सिटी हिंदू छात्रालय और मिंटो पार्क के जन्मदाता, बाढ़, भूकंप, सांप्रदायिक दंगों और मार्शल ला इत्यादि के दुःखियों के आँसू पोंछनेवाले मालवीय जी को ऋषिकुल हरिद्वार, गोरक्षा और आयुर्वेद संमेलन तथा सेवा समिति ब्वॉय स्काउट तथा अन्य कई संस्थाओं को स्थापित अथवा प्रोत्साहित करने का श्रेय है, किंतु उनका अक्षय-कीर्ति-स्तंभ काशी हिंदू विश्वविद्यालय है जिसमें उनकी विशाल बुद्धि और संकल्प, देशप्रेम और क्रियाशक्ति तथा तप और त्याग मूर्तिमान हैं। विश्वविद्यालय के उद्देश्यों मे हिंदू समाज और संसार के हित के लिये भारत की प्राचीन सभ्यता और महत्ता की रक्षा और संस्कृत विद्या के विकास और पाश्चात्य विज्ञान के साथ भारत की विविध विद्याओं और कलाओं की शिक्षा को प्राथमिकता दी गई। उसके विशाल तथा भव्य भवनों एवं विश्वनाथ मंदिर मे भारतीय स्थापत्य कला के अलंकरण भी मालवीय जी के आदर्श के ही फल हैं।

सं० ग्रं० : महमना प० मदनमोहन मालवीय : जीवनचरित् : ७५वी वर्षगाँठ का अभिनंदन ग्रंथ १९३६ (मालवीय जीवन चरित समिति, काशी); जवाहरलाल नेहरू : ऐन आटोबायोग्रैफी (रि बॉडले हेड लंदन) महामना पं० मदन मोहन मालवीय (संस्मरण) १९५७ चंद्रबली त्रिपाठी, (प्र० दुर्गावती त्रिपाठी, मदन मोहन मालवीय मार्ग, बस्ती); इंडिया विंस फ्रीडम : मौलाना अबुल कलाम आजाद, १९५९, ओरिएंट लॉगमैंस लिमिटेड कलकत्ता; नेहरू जी अपनी ही भाषा में, १९६२, रामनारायण चौधरी (नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद–१४) [चं० त्रि०]

माला (रोजरी) ५९ दानों की एक जपमाला जिसे रोमन काथलिक ईसाई मरिया (ईसा की माता) से प्रार्थना करते समय काम में लाते हैं। कुछ दानों पर 'प्रभु की बिनती' (दि आवर फादर) और शेष पर 'प्रणाम मरिया' के शब्दों से प्रारंभ होनेवाली एक छोटी सी बिनती बोली जाती है। [का० बु०]

माला (मुस्लिम) दे० 'तस्बीह।'

माला (हिंदू) दे० 'सुमरनी'।

माली स्थिति : १२° १०' उ० अ० तथा १२° २०' प० दे०। पश्चिमी अफ्रीका का एक नवनिर्मित गणतंत्र है जिसका क्षेत्रफल ४,६५,००० वर्ग मील तथा जनसंख्या ४३,००,००० (अनुमानित १९६१) है। उत्तर में ऐल्जिरिया, पूर्व में अपर वॉल्टा एवं नाइजर, दक्षिण में गिनी तथा आइवरी कोस्ट तथा पश्चिम में मॉरिटानिया एवं सेनेगल द्वारा इसकी सीमा निर्धारित होती है। दक्षिण की ओर नाइजर और सेनेगल नदियाँ इस प्रदेश में बहती हैं। इन नदियों का मैदान उपजाऊ है और वहाँ मूँगफली, धान, तीसी, और कपास आदि की खेती होती है। गणतंत्र का शेष भाग शुष्क है जहाँ पर जौ की कुछ खेती होती है। लोगों का मुख्य उद्यम पशुचारण है। पशुओं में गाय, बैल, भेंड़ तथा बकरियाँ मुख्य हैं। खनिजों में सोना तथा नमक का उत्पादन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लोहा, मैंगनीज और फास्फेट आदि खनिज भी मिलते हैं पर उनका उत्पादन विशेष नहीं हो रहा है। यहाँ की जलवायु गरम एवं शुष्क है। औसत ताप २४° से ३२° सें० के बीच रहता है।

उद्योगधंधों में प्राय: खाद्य पदार्थ संबंधी वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। बामाको (१,५०,०००) इस राज्य की राजधानी है। यहाँ की दो तिहाई जनसंख्या इस्लाम धर्म को मानती है।

माली प्रदेश चौथी शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक अधिक प्रसिद्ध रहा और यहाँ कई राज्य तथा साम्राज्य स्थापित हुए जिनमें माला मुख्य है। १३ वीं शताब्दी में यह एक शक्तिशाली राज्य था। उस काल में टिंबक्टू शिक्षा तथा संस्कृति का केंद्र था। [उ० सिं०]

मालेगाँव स्थिति : २०° २३' उ० अ० एवं ७४° ३२' पू० दे०। भारत मे महाराष्ट्र राज्य के नासिक जिले में, बंबई से आगरा जानेवाली सड़क पर, बबई से १५४ मील उत्तर-पूर्व तथा मनमाड़ के २४ मील उत्तर-पूर्व, मध्य रेलवे पर एक नगर है। पहले यह एक कैंटूनमेंट क्षेत्र था। सन् १८६३ से ही यह नगरपालिका द्वारा प्रशासित है। यहाँ कपास से बिनौला अलग करने के दो कारखाने हैं। मालेगाँव करघा सूती वस्त्र का एक प्रसिद्ध केंद्र है। यहाँ एक किला, न्यायालय, विद्यालय एवं चिकित्सालय हैं। इस नगर की जनसंख्या १,२१,४०८ (१९६१) है। [रा० प्र० सि०]

मालोजी भोंसले (लगभग १५५०-१६२० ई०) शाहजी के पिता तथा ख्यातिलब्ध शिवाजी के पितामह थे। उनके पिता का नाम बाबाजी भोंसले था जो वेरूल के निवासी थे। उनका विवाह मराठा अभिजात वंश में उत्पन्न वनगोजी नामक निंबालकर की बहिन दीपाबाई से हुआ था। २७ वर्ष की अवस्था में वे सिंदखेड के लखूजी यादव के अधीन, जो अहमदनगर के निजामशाही राज में उच्च पदाधिकारी थे, एक पद पर नियुक्त हो गए। सौभाग्य से मालोजी को अकस्मात् एक स्थान पर गड़ा हुआ धन प्राप्त हो गया जिससे उन्होंने अपनी सेना में बहुत से युवक सिलहदारों को भरती कर लिया। अपने साहस, वीरता और सैनिक पराक्रम से उन्होंने यथेष्ट ख्याति अर्जित कर ली और समाज मे अपने पुराने स्वामी लखूजी यादव के समकक्ष स्थान प्राप्त कर लिया। अब उन्होंने लखूजी से अनुरोध किया कि वे अपनी पुत्री जीजाबाई का विवाह उनके पुत्र शाहजी से कर दें। इसका प्रस्ताव उन्होंने एक बार पहले भी किया था किंतु उस समय लखूजी ने उसे ठुकरा दिया था, पर अब उन्हें प्रतिष्ठित स्थिति में देखकर लखूजी ने सहर्ष इसकी स्वीकृति दे दी।

निजामशाही वंश को कुछ सीमा तक पुनरधिष्ठित कराने में मालोजी ने प्रसिद्ध सेनानी और राजनेता मलिक अंबर की सहायता की, जिसके बदले में उन्हें दौलताबाद तथा पूना के बीच में स्थित कुछ क्षेत्र जागीर के रूप में भेंट कर दिए गए।

उन्होंने वेरूल के घृष्णेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार कराया, जैसा एक अभिलेख से प्रकट होता है। उन्होंने खानदेश में शिंगनपुर नामक स्थान पर एक तालाब बनवाया जिससे वहाँ के निवासियों को यथेष्ट मात्रा में पेय जल की उपलब्धि हो सके। [पी० एम० जे०]

माल्ट यह भिगोकर अंकुरित होने के बाद भुना हुआ जौ है। जौ के अतिरिक्त गेहूँ, मक्का या जई आदि का भी माल्ट बनता है। अन्नों के अंकुरित होने में जो प्राकृतिक परिवर्तन होते हैं, उनसे उपयुक्त एंज़ाइम की प्राप्ति होती है। एंज़ाइम की प्राप्ति के लिये इस प्राकृतिक रासायनिक क्रिया का उपयोग माल्टीकरण (malting) कहलाता है। अमरीका में छोटे दानेवाले जौ, जिनमें एंज़ाइम की सक्रियता तथा नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होती है, तथा यूरोप के देशों में बड़े दानेवाले जौ, जिनमें एंज़ाइम की सक्रियता तथा नाइट्रोजन की मात्रा कम होती है, उपयोग में लाए जाते हैं। ये दाने विभिन्न प्रकार के जौ से प्राप्त किए जाते हैं।

प्राय: अंकुरहीन दानों में सब प्रकार के एंज़ाइम न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं, किंतु बीटा-ऐमिलेस (B-amylase) प्रचुर मात्रा में रहता है। बीटा-ऐमिलेस का कुछ अंश जल में अविलेय है तथा प्रोटीनों के साथ संयुक्त रहता है। अंकुरण काल में संयुक्त बीटा-ऐमिलेस प्रोटीन अपघटक (proteolytic) एंज़ाइम की क्रिया द्वारा मुक्त हो जाता है। प्राय: सब बीटा-ऐमिलेस तैयार माल्ट मे मुक्तावस्था में रहता है। प्रोटीन अपघटक एंज़ाइम अंकुरण के प्रारंभिक दिनों में सक्रिय तथा भ्रूणपोष में सब स्थानों पर फैले रहते हैं। साइटेस (cytase) एंज़ाइम कोशिका की दीवारों पर आक्रमण करते हैं और उनको पारगम्य बना देते हैं। इससे शुष्क माल्ट अधिक भुनने योग्य हो जाता है। अंकुरहीन दानों में ऐल्फा-ऐमिलेस बहुत ही न्यून मात्रा मे होता है। इसकी उत्पत्ति माल्टीकरण के प्रथम दो या तीन दिन के पश्चात् बड़ी तीव्रता से होती है और यह क्रिया लगभग सात या आठ दिन तक चलती है। साइटेस एंज़ाइम की ऊपर वर्णित क्रिया द्वारा ऐमिलेस इस योग्य हो जाता है कि वह स्टार्च पर क्रिया कर उसे विलेय बना देता है और इस प्रकार उसको विसरणशील, पाचक तथा अंकुर का भोज्य पदार्थ बना देता है। प्रोटीन पर भी साइटेस एंज़ाइम की कुछ क्रिया होती है और वह भी विलेय, विसरणशील तथा साधारण यौगिकों में परिणत हो जाता है। इस रासायनिक क्रिया को प्रोटीन अपघटन (proteolysis) कहते हैं और यह पौधों के प्रोटीन अपघटक एंज़ाइम द्वारा होती है। इस क्रिया द्वारा केवल ५ प्रति शत स्टार्च का परिवर्तन 'माल्टोस' मे होता है। फिर इस माल्टोस का परिवर्तन 'ग्लुकोस', 'फ्रुक्टोस' तथा शर्करा में होता है। माल्टोकरण में प्रोटीन अधिक मात्रा में जलअपघटित होता है।

माल्टीकरण में सर्वदा यह ध्यान रखा जाता है कि स्टार्च का उपभोग जितना कम हो उतना ही अच्छा है। माल्टीकरण के कारण जब स्टार्च की विलेयता तथा एंज़ाइम का विकास इतना हो जाता है कि वे अधिकतम उपयोगी हों, तब अंकुरित दानों को भट्ठी में सुखाकर इस क्रिया को रोक दिया जाता है। कितने स्टार्च का परिवर्तन शर्करा में हुआ है, इसपर ऐल्कोहॉल की प्राप्ति निर्भर करती है। अत: अधिकतम स्टार्च को शर्करा में परिवर्तित करने के लिये यह अति आवश्यक है कि माल्ट का विकास हो।

माल्टीकरण में निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं: (१) जौ के दानों को साफ करना तथा समान दानों को अलग अलग करना, (२) जल में भिगोना तथा तर रखना, (३) अंकुरण, (४) सुखाना और (५) साफ करना तथा चूर्ण करना। दानों को साफ करने, तर रखने और सुखाने के साधन और विधियों का लगभग मानकीकरण हो गया है, किंतु अंकुरण कई विधियों से किया जाता है।

तर रखना — जौ के दानों को लगभग ४८ घंटे तक ठंडे कठोर जल में भिगो देते हैं। छोटे कंडाल में आधी गहराई तक जल भर देते हैं, फिर इतना दाना डालते हैं कि जल दानों के एक या दो फुट ऊपर तक रहे। पहले दिन १२ घंटे के पश्चात् जल बदल देते हैं और फिर २४, २४ घंटे के पश्चात् जल बदला जाता है। जब दाने भली भाँति भीग जाते हैं, तब सारा जल कंडाल से बाहर निकाल देते हैं।

अंकुरण — उद्योग के लिये अंकुरण तीन विभिन्न पद्धतियों द्वारा किया जाता है। इनको क्रमश: तल (floor), कक्ष (compartment) तथा ढोल (drum) पद्धति कहते हैं। प्रारंभ में तल पद्धति ही उपयोग में लाई जाती थी, शेष दोनों पद्धतियाँ आधुनिक रासायनिक इंजीनियरी की देन हैं।

तल पद्धति — इस पद्धति में तर किए हुए दानों को तल पर बिछा देते हैं और समय समय पर दानों को फावड़े से चलाया करते हैं, जिससे अंकुर को पर्याप्त वायु मिलती रहती है। अंकुर का ताप उसके ज्वलन बिंदु के नीचे रखते हैं। वायु का उपयुक्त ताप लगभग १५° सें० और दानों का ताप लगभग २४ सें० है। जब अंकुर दाने की लंबाई के बराबर हो जाता है, तब कच्चे माल्ट को भट्ठी में सुखाकर अंकुरण समाप्त कर देते हैं। मंचूरियन जौ में यह क्रिया लगभग ५ दिन में संपन्न होती है और दूसरे प्रकार के जौ में लगभग आठ दिन में।

कक्ष पद्धति — इस पद्धति में जस्तेदार इस्पात के दीर्घाकार पात्र, जिनके तल में अनेक छोटे छोटे छिद्र होते हैं, दानों को तर करने के लिये काम में लाए जाते हैं। अनुकूलित वायु, पात्र में ऊपर या नीचे से प्रवेश करती है: एक गाड़ी, जिसमें घूर्णमान पंखे जौ के दानों को पलटने के लिये लगे रहते हैं, पात्र के सिरे पर चलती रहती है। पलटे हुए दानों को तर रखने के लिये जल छिड़कने का भी प्रबंध रहता है। पात्र को अन्न से रिक्त करने के लिये फावड़े का उपयोग करते हैं, जो अन्न को एक किनारे लगा देता है। वहाँ से स्वचालित यंत्र द्वारा अंकुरित अन्न का ढेर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाया जाता है।

ढोल पद्धति — इसमें चक्कर करनेवाले और उलीचकर फेंकनेवाले बड़े बड़े ढोल उपयोग में लाए जाते हैं। ढोलों को इस प्रकार से रखते हैं कि उनमें अनुकूलित वायु का प्रवेश लगातार होता रहे और ढोलों की गति पर भी नियंत्रण हो सके। प्रारंभ में ढोलों को शनै: शनै: घुमाते हैं, लेकिन जैसे जैसे अंकुर बढ़ता है, वैसे वैसे घुमाने की गति क्रमश: बढ़ाई जाती है। इसके लिये कोई विशेष नियम प्रतिपादित नहीं हुआ है, क्योंकि अंकुरण की परिस्थितियाँ अभी तक प्रामाणिक नहीं हुई हैं। साधारणतः निम्नलिखित सूचना उपयोगी है। प्रथम तीन दिन तक १२ पूर्ण चक्कर प्रत्येक २४ घंटे में, फिर अगले ३६ घंटों तक पूर्ण चक्कर प्रत्येक १½ घंटे में, तत्पश्चात् गति इतनी बढ़ा देनी चाहिए कि प्रत्येक ४० मिनट में एक पूर्ण चक्कर हो जाय। अंकुरण पूर्ण होने के १२ घंटे पहले ही घूर्णन बंद कर देते हैं।

सुखाना — यह प्रक्रम तीनमंजिले मकान में संपन्न होता है। इसकी सबसे ऊपरवाली मंजिल में एक चूषक पंप तथा भूतल पर भट्ठी होती है। धूमरहित कोयला, वायु तथा अन्य दूसरी गरम गैसें तल से स्पर्श करती हुई भट्ठी में प्रवेश करती हैं और तीसरी मंजिल से पंखे द्वारा बाहर फेंक दी जाती हैं। तीसरी मंजिल में दाने बिछा दिए जाते हैं और यहीं इनको थोड़ा सा सुखाते हैं। फिर यहाँ से इनको दूसरी मंजिल में गिरा देते हैं और इनका ताप क्रमश: बढ़ाते हैं। यह क्रिया अधिक सावधानी तथा अनुभव की है। जरा सी असावधानी से माल्ट अधिक ऊष्मा पाने पर झुलसकर नष्ट हो जा सकता है। यदि कच्चा माल्ट एकाएक ऊँचे ताप पर सुखाया जाय, तो उसकी डायास्टैटिक (diastatic) क्षमता, अर्थात् एक विशेष एंज़ाइम द्वारा स्टार्च को शर्करा में परिवर्तन करने की क्षमता, कम हो जाती है। प्रथम २४ घंटे तक माल्ट को ३२° सें० पर गरम करते हैं, फिर शनै शनै ऊष्मा इस प्रकार बढ़ाई जाती है कि चालीसवें और अड़तालीसवें घंटे के अंदर ताप ४९° सें० से ५५° सें० तक हो जाय। ५० सें० पर पानी को सुखाने से उसमें 'डायास्टैटिक' क्षमता की वृद्धि अधिकतम होती है। इस ताप पर सुखाए हुए माल्ट को हरा माल्ट कहते हैं। जब डायास्टैटिक क्षमता की अधिक आवश्यकता नहीं रहती है तब माल्ट को ऊँचे ताप पर सुखाते हैं। इससे निम्नलिखित लाभ हैं: (१) अधिक भुना हुआ माल्ट प्राप्त होता है, जिसका चूर्ण सरलता से बन जाता है। यह माल्ट संचित करने के लिये अधिक उपयुक्त होता है, और (३) इसमें किण्वन सुचारु रूप से होता है तथा इसका स्वाद एवं गंध हरे माल्ट से अच्छी होती है। इसकी तुलना में हरा माल्ट यीस्ट (yeast) के कारण अधिक पौष्टिक होता है तथा उसमें इससे १० गुना अधिक डायास्टैटिक गुण होता है। जौ के माल्ट में अधिकतम डायास्टैटिक गुण होता है। इसके बाद क्रमश: राई (rye), गेहूँ और जई का माल्ट होता है। शुष्क माल्ट से अंकुर को अलग कर देते हैं। इस प्रकार जो माल्ट प्राप्त होता है उसका भार कच्चे दानों के भार से लगभग २० प्रति शत कम होता है, अर्थात् जो माल्ट प्राप्त होता है वह मूल दानों से स्थूलतर तथा कम सघन होता है।

उद्योग के लिये साधारणत: दो प्रकार के माल्ट तैयार किए जाते हैं। इनका नाम 'डिस्टिलर (Distiller) तथा दूसर

(Brewer) माल्ट हैं। डिस्टिलर माल्ट में डायास्टैटिक गुण अधिक होता है। यह उस जौ से तैयार किया जाता है जिसमें नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होती है। अत. इसमे एंजाइम की सक्रियता अधिक होती है। इस जौ का अंकुरीकरण ४५-४६ प्रति शत आर्द्रता पर किया जाता है तथा इसको ४६° से ६०° सें० पर सुखाते हैं। ब्रूअर माल्ट गुरुतर तथा स्थूल जौ से तैयार किया जाता है। यह अधिक भुना होता है। इस जौ का अंकुरण ४३-४० प्रति शत आर्द्रता पर किया जाता है तथा इसको ७१° से ८२° सें० पर सुखाते हैं।

जब माल्ट बिलकुल तैयार हो जाता है, तब उसका रंग हलका पीला, पीतभूरा, या काला भूरा होता है। माल्ट बनाते समय ऊष्मा किस ताप पर तथा कितनी दी गई है, इसपर माल्ट का रंग निर्भर करता है। कैरामेल (Caramel) माल्ट साधारण माल्ट से तैयार किया जाता है। साधारण माल्ट को क्रमिक बढ़ते हुए ताप पर तब तक गरम करते हैं, जब तक निम्न ताप पर बनी हुई शर्करा काली बादामी रंग की नहीं हो जाती। काले माल्ट का रंग गहरा काला होता है और यह साधारण माल्ट को अधिक ताप पर सुखाने से प्राप्त होता है।

साधारणतः अमरीकी माल्टो मे डायास्टैटिक गुण अधिक होता है। अतः मध्यम कोटि की ह्विस्की नामक सुरा बनाने मे दूसरे अन्नों के साथ १० से १५ प्रति शत तक इसको मिलाते हैं और उच्च कोटि की ह्विस्की के लिये २० से ५० प्रति शत तक। ह्विस्की, जिन, वोदका और बीयर आदि सुराओं के उत्पादन मे माल्ट अकेले या अन्य दूसरे अन्नों के साथ कच्चा माल होता है।

माल्टीकरण से कई लाभ हैं। यह महत्वपूर्ण एंजाइमों, डायास्टेस, साइटेस और पेप्टेस के विकास में योग देता है तथा अन्नों मे निहित प्रोटीन, स्टार्च और फॉस्फेट की विलेयता को प्रभावित करता है। [बै० ना० प्र०]

माल्ट-ब्रँ, कौनरैड (Malte-Brun, Conrad, सन् १७७५-१८२६) फ्रांसीसी भूगोलवेत्ता का जन्म थिस्टेड, डेन्मार्क, तथा देहांत पैरिस (फ्रांस) मे हुआ था।

ऐड्म मैंतेल के साथ इन्होंने १६ जिल्दो में एक बृहदाकार भूगोल की पुस्तक (Geographie mathematique...de toutes les parties du monde) तैयार की। इनकी सर्वोत्तम रचना 'विश्वभूगोल की संक्षिप्त रूपरेखा' (Precis de Geographie) आठ जिल्दों मे प्रकाशित हुई। इन्होंने २४ जिल्दों में भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सामुद्रिक यात्राओं के विवरणों, का संकलन (Annales de voyages de la Geographie et de l histoire) भी किया था। इन्होंने पैरिस की भौगोलिक परिषद् की स्थापना की और उसकी समुन्नति के लिये प्रचुर कार्य किए। राजनीति में भी वे प्रायः भाग लेते थे। इनका द्वितीय पुत्र ऐडोल्फ माल्ट (सन् १८१६-१८८६) भी भूगोलवेत्ता था। [का० ना० सिं०]

मॉल्टा स्थिति : ३५° ५०' उ० अ० तथा १४° ३०' पू० दे०। भूमध्यसागर मे सिसिली द्वीप के दक्षिण मे स्थित एक द्वीपसमूह है। इसका क्षेत्रफल १२२ वर्ग मील तथा जनसंख्या ३,२६,३२६ (१९६२) है। इसमे मॉल्टा, गोजो एवं कोमिनो द्वीप संमिलित हैं। साल के अधिकांश मे यहाँ की जलवायु उपोष्ण एवं स्वास्थ्यवर्धक रहती है। यहाँ का वार्षिक ताप १९° सें० तथा जनवरी से फरवरी का ताप १३° सें० तक रहता है। जाड़ों में कभी कभी प्रभंजन (hurricane) आते हैं। गरमियों मे सिराक्को हवाओं द्वारा जलवायु नम एवं धुँधली रहती है। वार्षिक वर्षा का औसत १७ इंच है। यहाँ कला, विज्ञान और टेक्नोलोजी के महाविद्यालय तथा रायल विश्वविद्यालय हैं। मॉल्टा की स्थिति सामरिक महत्व की है। बहुत समय तक यह ब्रिटेन का सैनिक एवं नौसैनिक अड्डा रहा लेकिन अब नौसैनिक गोदी को व्यापारिक उपयोग मे लाया जा रहा है। कृषि में गेहूँ, जौ, आलू, प्याज, सोयाबीन, टमाटर, अंगूर एवं तरकारियाँ तथा अन्य फलों का उत्पादन होता है। मत्स्य उद्योग प्रमुख उद्योग है। मांस, दुग्ध उत्पाद, खाद्यान्न, फल, तरकारियाँ, रसायनक, ईंधन, वस्त्र, धातु एव यंत्र आदि का आयात होता है। वैलेटा (Valletta) प्रमुख नगर तथा राजधानी है। ग्रैंड हार्बर तथा मार्सामजेट प्रमुख बंदरगाह हैं। मॉल्टा पुरातत्वीय अनुसंधान का प्रधान केंद्र है। इसका प्राचीन नाम मेलिता है। [रा० प्र० सिं०]

माल्टा ज्वर (Malta Fever), मेडिटरेनियन ज्वर, ब्रूसिलोसिस (Brucellosis), या अंडुलेंट (undulent) ज्वर, संक्रामक रोग है, जो ब्रूसेला (Brucella) जाति के जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होता है। मनुष्यो मे पालतू जानवरों, जैसे मवेशी, कुत्ते या सूअर आदि, द्वारा इसका संचारण होता है। रोग की तीव्रावस्था में ज्वर, पसीना, सुस्ती तथा शरीर मे दर्द रहता है और कभी कभी यह महीनो तक जीर्ण रूप मे चलता रहता है। रोग द्वारा मृत्यु की संख्या अधिक नही है, किंतु रोग शीघ्र दूर नहीं होता। ब्रिटेन के चिकित्सको ने इस रोग के संबंध में पूरी जाँच पड़ताल की है। राइट (Wright) ने सन १८९७ में ब्रूसेलोसिस रोग के समूहन (agglutination) परीक्षण का वर्णन किया।

ब्रूसेला की तीन किस्में ज्ञात हैं, जो जानवरों की तीन जातियों मे पाई जाती हैं : बकरी में ब्रूसेला मेलिटेन्सिस (Br. Melitensis), सूअर मे ब्रूसेला सूई (Br. Suis) तथा मवेशी मे ब्रू० ऐबारटस (Br. Abortus)। संक्रामक जानवरों के दूध पीने से मनुष्य मे रोग का संचार होता है। उद्भवन काल ५ से २१ दिन है। कभी कभी रोग के लक्षण प्रत्यक्ष होने मे ६ से ९ माह तक लग जाते हैं। उग्र रूप मे ज्वर, ठंढ के साथ कँपकँपी तथा पसीना होता है। जीर्ण रूप में धीरे धीरे लक्षण प्रकट होते हैं। इस रोग के तथा इंफ्लुएंजा, मलेरिया, तपेदिक, मोतीझरा आदि रोगों के लक्षण आपस मे मिलने के कारण विशेष समूहन परीक्षा तथा त्वचा में टीका परीक्षण से रोग निदान होता है।

चिकित्सा में उचित परिचर्या तथा सल्फोनेमाइड, स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि का प्रयोग होता है। रोग प्रतिषेध के लिये पास्चुरीकृत दूध को काम में लाना चाहिए। [उ० शं० प्र०]

माल्थस, टामस राबर्ट (१७६६-१८३४ ई०) सन् १७९८ में आप पादरी हो गए और इसी वर्ष जनसंख्या के सिद्धांतों पर आपका एक खोजपूर्ण निबंध प्रकाशित हुआ। माल्थस के जीवन में ही इस पुस्तक के छह संस्करण निकल गए। अपनी पुस्तक में माल्थस ने

भ्रूणविज्ञान (देखें पृ० ६२)

(१) (२) (३)

भ्रूण का विकास

(१) मुर्गी, (२) खरगोश तथा (३) मानव भ्रूण विकास के चार दशा प्रक्रम ।

मथुरा (देखें पृ० १२८)

मथुरा—चित्र १. द्वारिकाधीश मंदिर

चित्र २. गोविंद देव का मंदिर

[फोटो : सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ]

मॉस्को (देखें पृ० २६९–२७०)
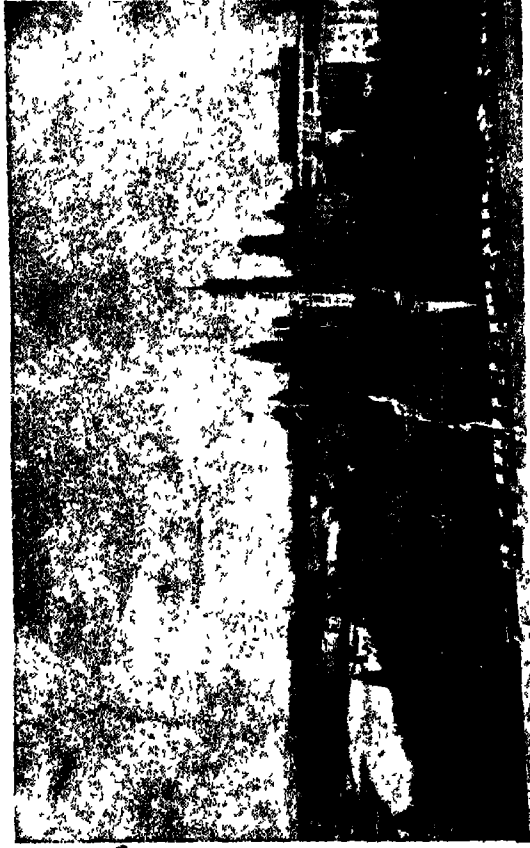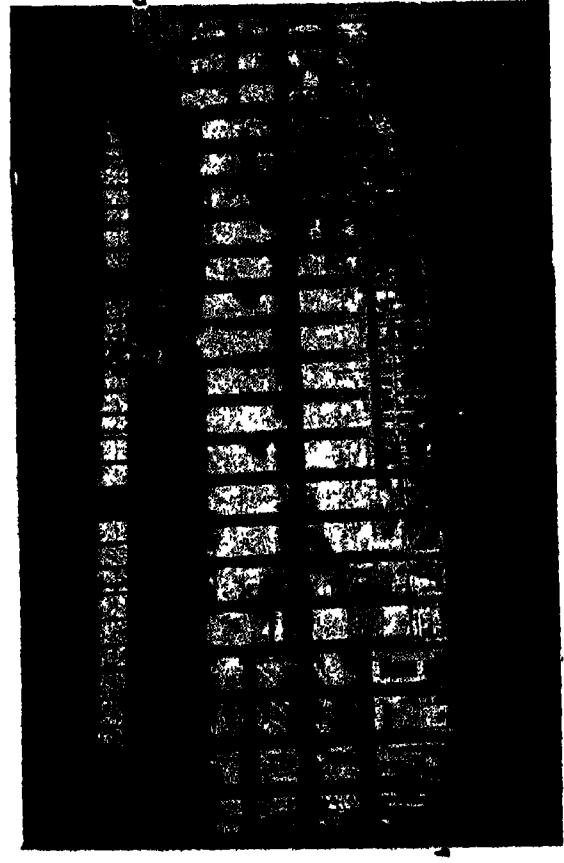
चित्र १.

चित्र ३.

चित्र २.

चित्र १. क्रेमलिन

चित्र २. क्रेमलिन

चित्र ३. क्रेमलिन का कांग्रेस भवन

[फोटो सोवियत दूतावास, नई दिल्ली]

जनसंख्या के संबंध में तीन निर्णयों की स्थापना की। पहला यह है कि यदि कोई अन्य बाधा उपस्थित न हो तो देश की जनसंख्या वहाँ उत्पन्न होनेवाली खाद्य सामग्री के परिमाण की अपेक्षा शीघ्र बढ़ जाती है। उनके मतानुसार जनसंख्या ज्यामितीय वृद्धि के अनुसार बढ़ती है, अर्थात् १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४ आदि के हिसाब से, किंतु खाद्य सामग्री के परिमाण की वृद्धि अंकगणित के अनुसार बढ़ती है अर्थात् १, २, ३, ४, ५, ६, ७ आदि के हिसाब से। दूसरा यह है कि प्रत्येक देश में एक समय ऐसा आता है जब देश मे उत्पन्न हुई खाद्य सामग्री उसकी जनसंख्या के लिये अपर्याप्त हो जाती है। जब खाद्य सामग्री कम हो जाती है तो उस देश मे मृत्युसख्या बढ़ जाती है। तीसरा यह कि जिस देश मे जन्मसंख्या कम रहती है उस देश मे मृत्युसख्या भी कम रहती है। माल्थस ने जन्मसंख्या को कम करने के लिये बड़ी उम्र में विवाह करने, ब्रह्मचर्य एवं सयम पर जोर दिया।

माल्थस के उपर्युक्त सिद्धात की बड़ी कड़ी आलोचना हुई। माल्थस के सिद्धात का विरोध होने के बावजूद भी हम उनके सिद्धात मे निहित इस सत्य से मुँह नही मोड़ सकते कि यदि जनसख्या की वृद्धि न रोकी गई तो वह खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ जायगी। उन्नत देशो ने तो वैज्ञानिक साधनो द्वारा खाद्य सामग्री की वृद्धि आशातीत रूप मे की है किंतु पिछड़े हुए देशो मे ऐसा नही हुआ है।

माल्थस के बाद नव माल्थसवाद का विकास हुआ। जनसख्या की वृद्धि किसी भी देश की जनता के कल्याण के लिये हानिकारक है। नवमाल्थस- वादियो ने जनसख्या की वृद्धि को रोकने के भिन्न साधन अपनाए। उन्होंने कृत्रिम संततिनिग्रह के साधनो पर बल दिया था।

माल्थस ने केवल जनसख्या पर ही विशेष विचार नही किया बल्कि दूसरे आर्थिक विषयों, जैसे लगान, अत्यधिक उत्पत्ति, मूल्य के माप एवं व्यापार मदी के विषय में भी अपने विचार प्रकट किए। माल्थस का महत्व किसी से कम नहीं है। उन्होने जनसंख्या की समस्या को एक निश्चित रूप दिया और जनसंख्या विज्ञान की स्थापना की।

माल्थस की 'एसे ऑन पॉपुलेशन' के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रधान पुस्तकें हैं: (१) काजेज ऑव प्रेजेंट हाई प्राइस ऑव प्रोविजन, (२) एफैक्ट ऑव दी कॉर्नला, (३) नेचर एंड प्रोग्रेस ऑव रेंट, (४) ए समरी व्यू ऑव दी प्रिंसिपल्स ऑव पॉपुलेशन।

[द० दु०]

माल्म (Malmo) स्थिति : ५५° ३३' उ० अ० तथा १३° ८' पू० दे०। दक्षिण-पश्चिमी स्वीडन का प्रमुख बदरगाह तथा देश के बड़े नगरों में तीसरा सबसे बड़ा नगर है। यह स्टाकहोम से ३८४ मील दूर है तथा नहर द्वारा समुद्र से सबद्ध है। जाड़ों में बर्फभंजक स्टीमरो से नहर को खुला रखा जाता है। यह देश का व्यापारिक औद्योगिक तथा यातायात का मुख्य केंद्र है। रेल, मोटर गाड़ियाँ, चमड़े का काम, तंबाकू, चॉकलेट तथा लोहे संबंधी कार्य होते हैं। इसकी जनसंख्या २,२८,८७८ (१९६२) है। [वि० रा० सिं०]

मासाचुसेट्स (*Massachusetts*) स्थिति : ४१° १०' से ४२° ५३' उ० अ० तथा ४१° १०' से ४२° ५३' प० दे०। यह संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तर-पूर्वी भाग मे, प्रारंभिक १३ राज्यों में से एक राज्य है। इसके उत्तर में न्यू हैंपशिर और वरमॉन्ट, पश्चिम में न्यूयॉर्क दक्षिण मे कॉनेक्टीकट राज्य और रोड द्वीप एव पूर्व मे ऐटलैंटिक महासागर है। राज्य का क्षेत्रफल ७,८६७ वर्ग मील एव जनसख्या ५१,४८,५७८ है। यह सयुक्त राज्य का तीसरा सबसे घना बसा राज्य है। पश्चिमी भाग मे बर्कशिर की पहाड़ियाँ हैं, उसके पूर्व मे कॉनेक्टीकट की चौड़ी घाटी है। इस घाटी के पूर्व में मध्य का पठार है एव सबसे पूर्व मे तटीय मैदान है। यहाँ की जलवायु शीतोष्ण है। जुलाई का औसत ताप २१° सें० एव जनवरी का –४° सें० रहता है। वर्षा साल भर होती है जिसका वार्षिक औसत ४० इंच है।

लगभग ४० प्रति शत भूमि पर राज्य के ३० प्रतिशत लोग कृषि करते हैं। प्रमुख उपजें फल, तबाकू, आलू और सब्जियाँ हैं। निर्माण उद्योग यहाँ के लोगों का प्रमुख पेशा है। वस्त्र उद्योग, जूते बनाना, मशीन, कागज और रबर उद्योग विशेष महत्वपूर्ण हैं।

इस राज्य मे कई महत्वपूर्ण बंदरगाह है। बोस्टन, वर्सेस्टर, स्प्रिंग- फील्ड, कैंब्रिज एव न्यू बेडफोर्ड यहाँ के प्रमुख शहर हैं। सयुक्त राज्य अमरीका के ३६ राष्ट्रपतियो मे से चार राष्ट्रपति इस राज्य से हुए हैं। [प्रे० श० ति०]

मासाच्चो (*Masaccio*) इतालीय चित्रकार। जन्म २१ दिसबर, १४०२ फ्लोरेंस के निकट एक गाँव में हुआ। इसे इतालीय चित्रकला का पुनरुद्धारक भी कह सकते हैं। इसकी रचनाओ मे अधिकांश नष्ट हो चुका है और जो है वह अच्छी अवस्था में नही है। इसकी प्रारंभिक रचनाएँ हैं—'कुमारी सत ऐन और बालक' तथा 'कुमारी एनथ्रोंब और दो सत'। इसका महत्वपूर्ण चित्र है—'आदम का निष्कासन।' इसकी रचनाओ ने इटली के कलाजगत् मे क्रांति ला दी थी। १४२८ में यह रोम गया और वहीं कुछ काल पश्चात् इसकी मृत्यु हो गई। [गु० त्रि०]

मासूम अली शाह मीर दक्षिण भारत के एक सूफी सत, करीम खाँ जद (मृ० १७७९) के राज्यकाल मे शीराज पहुँचे। शीघ्र ही उनके अनुयायियों की सख्या ३० हजार तक पहुँच गई। किंतु सम- कालीन आलिमों ने उन्हे शीराज से निकलवा दिया और वे इस्फहान के एक छोटे से गाँव में निवास करने लगे। करीम खाँ के मरने पर उन्होंने उदार सूफी सिद्धातों का प्रचार इस्फहान मे प्रारभ कर दिया। आलिमो के कड़े विरोध के कारण उनके मत का कठोरतापूर्वक दमन करा दिया गया। उनकी मृत्यु १८०० ई० के आसपास हुई।

सं० ग्रं० — बील, टी० ओरियटल बायग्राफिकल डिक्शनरी।

[मै० अ० अ० रि०]

मास्क (मुखावरण) दे० मुखौटा।

मॉस्को स्थिति : ५५° ४५' उ० अ० तथा ३७° ३५' पू० दे०। मॉस्को सोवियत सोशलिस्ट गणराज्य संघ की जो राजधानी तथा सबसे बड़ा नगर ११६ वर्ग मील पर फैला है। यह यूरोपीय रूस के मध्य में मॉस्को नदी पर स्थित है। मॉस्को नदी वोल्गा की सहायक ओका नदी की सहायक है। क्रेमलिन इस नगर का मुख्य राजनीतिक केंद्र है जहाँ सरकारी इमारतें, गिरजाघर तथा प्राचीन राजाओ के प्रासाद स्थित हैं। यहीं पर लाल चौक (Red Square) में लेनिन

की समाधि स्थापित है। यह भाग मॉस्को का मुख्य क्रय-विक्रय-केंद्र है जिसमें बड़े बड़े वस्तुभंडारों के अतिरिक्त बड़े बड़े होटल तथा प्रेस भी स्थित हैं। रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्य कार्यालय, प्रेसिडियम, प्रचार विभाग, प्रमुख मंत्रालय, राष्ट्रीय नियोजन विभाग का मुख्य केंद्र तथा सैनिक कार्यालय और सभी महत्वपूर्ण केंद्रीय इमारतें मॉस्को के इसी भाग में स्थित हैं। यह नगर रूस का वैज्ञानिक प्रचारकेंद्र भी है। यहाँ लगभग ८२ महाविद्यालय, विश्वविद्यालय तथा वैज्ञानिक अकादमी स्थापित हैं। मॉस्को रेल यातायात का भी मुख्य केंद्र है। नगर से ११ रेलवे लाइनें विभिन्न दिशाओं को जाती हैं। जल यातायात की भी अच्छी सुविधा प्राप्त है। नगर के उत्तर की ओर ८० मील लंबी नहर निर्मित है जिससे वॉल्गा का जल मॉस्को नदी में प्रवेश करता है। इस नहर से मॉस्को नगर को पीने का पानी मिलता है, बिजली प्राप्त होती है तथा बड़े बड़े जहाज नगर के भीतरी भाग तक पहुँच सकते हैं। बॉल्टिक सागर, श्वेत सागर, काला सागर, एजॉव तथा कैस्पिएन सागर को भी नहरों द्वारा नगर से संबंधित कर दिया गया है। इसी कारण मॉस्को को 'पाँच सागरों का बंदरगाह' की संज्ञा दी गई है।

मॉस्को रूस का सबसे बड़ा औद्योगिक नगर है। आज यहाँ हर प्रकार की वस्तुओं का निर्माण हो रहा है, जिसमें मशीनों का निर्माण भी संमिलित है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह नगर बहुत दिनों तक ज़ार की राजधानी बना रहा। १७११ ई० मे पीटर महान् के काल मे सेंटपीटर्सबर्ग राजधानी घोषित किया गया, जिसके पश्चात् इसका विकास रुक गया। १८१२ ई० में नेपोलियन के आक्रमण के समय नगर अग्नि की ज्वाला मे भस्म हो गया। तत्पश्चात् नगर को फिर नए रूप में बसाया गया और उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। १९१२ ई० में लेनिन ने मॉस्को को फिर देश की राजधानी घोषित किया। सन् १९४१ में जर्मनों के आक्रमणों से नगर की काफी क्षति हुई। इस समय यह नगर रूस की राजधानी, सबसे बड़ा नगर तथा यूरोप के तीन विशाल नगरों मे से एक है। इसकी जनसंख्या ६२,९६,००० (१९६२) है। [उ० सिं०]

माहजंग (Mahjongg) यह चीनी खेल (मा्त्सिऐंग) है। यूरोप और अमरीका में यह पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है। इसमें ताश के पत्तों के स्थान पर १४४ टाइलें होती हैं। टाइलों का पृष्ठ भाग बाँस का तथा संमुख भाग हाथी दाँत का या (अब) प्लास्टिक का बना होता है। इस पर अंग्रेजी के अंक लिखे रहते हैं और चीनी आकृतियाँ बनी होती हैं। टाइलें निम्न नामों की होती हैं: १. बाँस (Bamboo)— एक से नौ अंक तक की टाइलें, प्रत्येक अंक की चार टाइलें, कुल ३६ टाइलें। २. वृत्त (Circle) — एक से नौ अंक तक की टाइलें, प्रत्येक अंक की चार टाइलें, कुल ३६ टाइलें। ३. आकृतियाँ (Character) — एक से नौ अंक तक की टाइल, प्रत्येक अंक की चार टाइलें, कुल ३६ टाइलें। ४. ऑनर्स (Honours) — चार लाल, चार हरे तथा चार सफेद ड्रैगन, कुल १२ टाइलें। ५. हवाएँ (Winds)— चार पूर्वी, चार पश्चिमी, चार उत्तरी तथा चार दक्षिणी हवाएँ, कुल १६ टाइलें। ६. फूल और ऋतुएँ (Flowers and seasons) — प्रत्येक की चार टाइलें या किसी एक की आठ टाइलें, कुल आठ टाइलें। इनके अतिरिक्त प्राप्तांकों का हिसाब रखने के लिये टोकन तथा खिलाड़ी के १४ टोकन रखने के लिये रैक और दो पासे भी होते हैं।

यह साधारणतया चार खिलाड़ियों का खेल है, किंतु इससे कम या अधिक खिलाड़ियों के लिये भी इस खेल का रूपांतर बन गया है। सर्वप्रथम प्रत्येक खिलाड़ी के लिये हवाओं की स्थिति का निर्धारण पासा फेंककर किया जाता है। इसके बाद टाइलों को उल्टा कर फेंटते हैं और दो टाइलें ऊँची तथा १७ या १८ (फूल का उपयोग करने पर) टाइलें चौड़ा खोखला वर्ग बनाती हैं। पूर्वी हवा-वाला खिलाड़ी १४ टाइलें तथा अन्य तीन १३ टाइलें लेते हैं। टाइलें किस क्रम से दीवार से निकाली जायँ, इसका निर्णय पासा फेंककर किया जाता है। यदि फूल टाइल आती है, तो उसे खुली फेंककर दूसरी टाइल ले लेते हैं। खेल में १४ टाइलें बनानी पड़ती हैं, जो चो (chow), पंग (pung) और कांग (kong) द्वारा बनाई जाती हैं। चो (chow) एक ही समूह की तीन टाइलों का अनुक्रम है, जिनमें अंक क्रम से होते हैं। पंग में एक ही समूह और श्रेणी की तीन टाइलें, या एक ही रंग के तीन ड्रैगन, या एक ही दिशा की तीन हवाएँ होती हैं। कांग में पंग की तरह की चार टाइलें होती हैं।

पूर्वी हवावाला खिलाड़ी एक खुली टाइल फेंककर खेल आरंभ करता है। क्रम से इसके दाहिनी ओर का खिलाड़ी दीवार से टाइल निकालकर, अथवा अंतिम फेंकी गई टाइल उठाकर, अपने हाथ की अनावश्यक टाइल फेंक देता है। कोई भी खिलाड़ी चो, पंग और कांग कहकर फेंकी गई टाइल की माँग कर सकता है। यदि एक से अधिक माँग करनेवाले होते हैं, तो पंग, कांग तथा चो के अनुसार क्रम से प्राथमिकता दी जाती है। यदि दो खिलाड़ियों की एक ही माँग होती है, तब जिस खिलाड़ी की खेलने की बारी पहले आती है उसे फेंकी गई टाइल उठाने में प्राथमिकता दी जाती है। यदि कोई भी खिलाड़ी फेंकी गई टाइल को नहीं उठाता, तो जिस खिलाड़ी की बारी है वह दीवार से एक टाइल निकालकर अपने हाथ की एक अनावश्यक टाइल फेंक देता है। इस प्रकार खेल आगे बढ़ता है।

जब कोई खिलाड़ी तीन तीन टाइलों के चार समूह और एक जोड़ा, या टाइलो के सात जोड़े, या १३ विशिष्ट, जिसमें किसी एक का जोड़ा भी हो, बना लेता है, तो यह माहजंग बाजी कहलाती है और यह खिलाड़ी विजेता होता है। इसके बाद प्रत्येक खिलाड़ी के हाथ की टाइलों की गणना की जाती है। माहजगवाले खिलाड़ी को पूर्ण तथा शेष खिलाड़ियों को गणना के पारस्परिक अंतर के आधार पर टोकन दिए जाते हैं। पूर्वी हवावाला खिलाड़ी सदा दूने टोकन लेता अथवा देता है। [अ० ना० मे०]

माही १. नदी, पश्चिमी भारत की नदी है। माही का उद्गम ग्वालियर के समीप हुआ है। यह राजस्थान के धार, झबुआ और रतलाम जिलों तथा गुजरात राज्य से होती हुई खंभात की खाड़ी द्वारा अरबसागर में गिरती है। नदी की कुल लंबाई ३५० मील है। [रा० स० ख०]

२. नगर, स्थिति : ११° ४३' उ० अ० तथा ७५° ३३' पू० दे०। भारत के पश्चिमी तट पर स्थित नगर है। सन् १७२२-२३ से यह

मद्रास राज्य के मालाबार जिले में फ्रांसीसी कॉलोनी था, किंतु सन् १९५४ में यह फ्रांस के अधिकार से मुक्त होकर पॉन्डिचेरी के साथ ही भारत का केंद्रशासित क्षेत्र बना दिया गया। इसके समीपस्थ भाग में नारियल के वृक्षों के कुंज दृष्टिगोचर होते हैं। नगर की जनसंख्या ७,९२१ (१९६१) है।

माहेश्वरी, पंचानन (१९०४-१९६६ ई०), सुप्रसिद्ध वनस्पति विज्ञानी, का जन्म राजस्थान के जयपुर नगर में हुआ था, जहाँ इनकी प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय से आपने एम० एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण की। वनस्पति के पादरी प्रोफेसर के चरित्र का इनपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और उससे इनमें कर्मठता, स्पष्टवादिता तथा सहृदयता के गुण आए। अध्ययन के पश्चात् इनकी नियुक्ति आगरा कालेज में, १९३० में हुई। इन्होंने क्रमशः इलाहाबाद, लखनऊ तथा ढाका विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। १९४८ ई० मे दिल्ली विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के अध्यक्ष होकर आए और तब से जीवनपर्यंत वहीं रहे। मस्तिष्क की सूजन से पीड़ित होकर १८ मई, १९६६ ई० को इनका निधन दिल्ली में ही हुआ।

माहेश्वरी का विशेष कार्य पादप भ्रूणविज्ञान एवं पादप आकारिकी पर हुआ है। वनस्पति विज्ञान की अन्य शाखाओं, विशेषतः पादप क्रिया विज्ञान, में भी इनकी रुचि थी। इनके अधीन अध्ययन करने के लिये छात्र विदेशों, विशेषतः अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, अर्जेंटाइना इत्यादि देशों, से आते थे। आपके अधीन शोधकार्य करके लगभग ६० छात्र छात्राओं ने डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है। ३०० से ऊपर इनके शोधनिबंध अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी तथा अंग्रेजी भाषाओं के अतिरिक्त इन्हें जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। इनकी लिखी पुस्तक, 'इंट्रोडक्शन टु इंब्रियोलॉजी ऑव संजियो स्पर्मस्', जो मैकग्रॉहिल बुक कंपनी द्वारा १९५० ई० मे प्रकाशित हुई थी, अंतरराष्ट्रीय महत्व की है और उससे इनका यश देश देशांतर में फैल गया। ये १९३४ ई० में नैशनल इंस्टिट्यूट ऑव सायंसेज के सदस्य मनोनीत हुए। १९५९ ई० में इंडियन बोटैनिकल सोसायटी ने इन्हें बीरबल साहनी पुरस्कार प्रदान कर संमानित किया। माहेश्वरी ने विदेशों में भी काफी भ्रमण किया था और अनेक वैज्ञानिक सस्थाओं द्वारा ये आमंत्रित किए गए थे और वहाँ उन्होंने व्याख्यान दिए थे। मैकगिल विश्वविद्यालय ने इन्हे डी० एस-सी० की संमानित उपाधि से संमानित किया था। इलिनायस विश्वविद्यालय ने इन्हें विजिटिंग प्रोफेसर के पद पर नियुक्त कर संमानित किया था। भारत के प्रतिनिधि के रूप में इन्होंने अनेक अंतरराष्ट्रीय वनस्पति विज्ञान के संमेलनों में भाग लिया था। भ्रूण विज्ञान और पादप क्रिया विज्ञान (Plant Physiology) के संमिश्रण से इन्होंने एक नई शाखा का विकास किया है, जिसमें फूलों के विभिन्न भागों को कृत्रिम पोषण द्वारा वृद्धि कराने की दिशा में इन्हें काफ़ी सफलता मिली। टिशू कल्चर प्रयोगशाला की स्थापना तथा टेस्ट ट्यूब कल्चर पर शोध निबंध प्रस्तुत करने पर १९६५ ई० में लंदन की रॉयल सोसायटी ने इन्हें फेलो (F. R. S.) नियुक्त कर संमानित किया था। जर्मन सरकार के निमंत्रण पर १९६१ ई० में ये पश्चिम जर्मनी गए और अनेक विश्वविद्यालयों में व्याख्यान दिया। इनके महत्व के शोध कार्य पौधों की आकारिकी तथा जिम्नोस्पर्म के अध्ययन पर हैं। [कृ० स० व०]

मिंटो, गिल्बर्ट इलियट लार्ड (१७५१-१८१४), इंगलैंड में व्हिग दल का सदस्य था। उसने वारेन हेस्टिंग्ज के विरुद्ध मुकदमा तैयार करने में बर्क को मदद दी तथा इंपे के विरुद्ध पार्लिमेंट में अभियोग लगाया। १८०६ में वह बोर्ड ऑव कंट्रोल का अध्यक्ष बना। १८०७ से १८१३ तक वह भारत का गवर्नर-जनरल रहा। उसने ब्रिटिश हितों को बढ़ाया तथा सुरक्षित बनाया।

स्थलमार्ग से फ्रांसीसी आक्रमण की संभावना को दूर करने के लिये मिंटो ने पंजाब, सिंध और अफगानिस्तान में राजदूत भेजकर १८०९ में उनके साथ संधियों द्वारा मैत्री संबंध स्थापित किए। ईरान के साथ ब्रिटेन के राजदूत ने संधि की। वहाँ कंपनी का राजदूत मैलकम असफल रहा। जलमार्ग की ओर से ब्रिटिश भारत को सुरक्षित रखने के लिये मिंटो ने अरब सागर में फ्रांसीसी टापुओं पर अधिकार कर लिया तथा फारस की खाड़ी पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित किया। पूर्व मे जावा और मसाले के द्वीप ले लिये। इससे सारे हिंद महासागर पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित हो गया तथा प्रशांत महासागर के प्रवेशद्वार पर अधिकार हो गया।

आंतरिक सुरक्षा के लिये मिंटो ने रणजीतसिंह को सतलज से पूर्व की ओर बढने से रोका; सरहिंद के राज्यों को संरक्षण दिया; ट्रावनकोर के विद्रोह को दबाया; बुंदेला विद्रोहियों से कालिंजर और अजयगढ़ के किले छीन लिए; हरियाना पर अधिकार कर लिया; मद्रास में अंग्रेज अफसरों के विद्रोह को दबाया तथा देशी राज्यों में आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप किया।

मिंटो ने व्यापार और शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। १८१३ का चार्टर ऐक्ट उसी के समय मे पारित हुआ। उसी वर्ष वह मिंटो का प्रथम अर्ल बना। १८१४ मे इग्लैंड में मृत्यु होने पर उसे वेस्टमिंस्टर एबी में स्थान मिला। [ही० ला० गु०]

मिंटो, जॉन गिल्बर्ट इलियट लार्ड (१८४५-१९१४), गिल्बर्ट इलियट लार्ड मिंटो का प्रपौत्र तथा टॉमस हिसलप का नाती था। १८९८ से १९०४ तक वह कनाडा का गवर्नर-जनरल था। नवंबर, १९०५ से नवबर, १९१० तक वह भारत मे वाइसराय रहा। उसके समय १९०७ मे अंग्रेज-रूसी-संधि के फलस्वरूप भारत सरकार को रूस के भय से मुक्ति मिली। रूस ने अफगानिस्तान को अपने प्रभाव-क्षेत्र से बाहर मान लिया तथा तिब्बत और फारस के मामलों पर उससे समझौता हो गया।

मिंटो ने कृषि और शिक्षा की व्यवस्था के प्रति रुचि दिखाई। १९०६ में कृषिसेवा का निर्माण हुआ। १९०८ में पूना में कृषि कालेज खोला गया। १९१० मे शिक्षा विभाग की स्थापना हुई। १९०७ में चीन के साथ अफीम का व्यापार समाप्त हो जाने से सरकार तथा किसानों को बहुत हानि हुई।

भारतीय इतिहास में मिंटो का शासनकाल उग्र राष्ट्रीयता तथा आतंकवाद का युग था। कर्जन की नीति से तीव्र उत्तेजना तथा १९०५ मे रूस के विरुद्ध जापान की विजय से नवीन जागृति पैदा हुई।

१९०६ में कांग्रेस ने स्वराज्य की माँग की। स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलनों ने जोर पकड़ा। तिलक का उग्रवाद लोकप्रिय बना। आशंकित होकर मिंटो ने दमनचक्र चलाया, कूटनीतिक तोड़ फोड़ की तथा साम नीति अपनाई। जन आंदोलनों, समाचारपत्रों और सार्वजनिक सभाओं पर रोक लगा दी। बिना जाँच के उग्र नेताओं को बंदी बनाया, उन्हें कठोर दंड दिया या निर्वासित किया। बंदरगाहों पर कठोर नियंत्रण लगाकर क्रांति के लिये विदेशों से मदद आने की संभावना नष्ट कर दी। १९०६ में मुस्लिम शिष्ट मंडल को लीग बनाने के लिये प्रेरित किया। १९०९ में सांवैधानिक सुधार द्वारा मुसलमानों की स्वामिभक्ति प्राप्त की और उदारवादियों को तोड़ लिया। इससे राष्ट्रीयता विशृंखलित हो गई। [ही० ला० गु०]

मिंस्क स्थिति : ५३° ५०' उ० अ० तथा २७° ३५' पू० दे०। सोवियत संघ में यह मिंस्क प्रांत की राजधानी है। यह मॉस्को नगर से ४०० मील पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम में स्विसलोच नदी पर स्थित है। यहाँ ट्रैक्टर, साइकिल, मशीन, सूती कपड़े, लिनेन आदि का निर्माण होता है। लकड़ी के सामान बनाना तथा खाने की वस्तुओं को डिब्बों में बंद करने के उद्योग भी यहाँ हैं। यहाँ विश्वविद्यालय, गिरजाघर, मेडिकल कालेज, पॉलिटेक्निकल कालेज तथा संग्रहालय आदि हैं। यहाँ की जनसंख्या ४,२०,००० (१९५४) है। [पु० क०]

मिकिर पहाड़ियाँ स्थिति : २६° ३०' उ० अ० तथा ९३° ३०' पू० दे०। भारत के असम राज्य में, असम श्रेणी एवं ब्रह्मपुत्र नदी के मध्य, नौगाँव एवं शिवसागर जिलों में स्थित पहाड़ियाँ हैं। पूर्व में धनसिरी एवं पश्चिम में कपिली नदियाँ इसे मुख्य पर्वतीय क्षेत्र से अलग करती हैं। पहाड़ियों की ऊँचाई ४,५०० फुट तक है। यहाँ लोहा एवं कोयला खनिज मिलते हैं। पहाड़ियों की ढाल तीव्र है। अधिकांश क्षेत्र जंगलों से भरा है। आदिवासियों में मिकिर प्रमुख हैं जो यहाँ बसनेवाले अन्य आदिवासियों से अधिक शांतिप्रिय हैं। कृषि में कपास, धान, एवं मिर्च प्रमुख उपजें हैं। [कै० ना० सिं०]

मिक्सोडीमा (Myxoedema) शरीर गठन संबंधी रोग है, जो थाइरॉइड ग्रंथि की न्यून क्रिया के कारण उत्पन्न होता है। थाइरॉइड रस की कमी के कारण विभिन्न आयु में विभिन्न लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अत आयु के अनुसार मिक्सोडीमा के विभिन्न नाम भी हैं। भ्रूणावस्था या शिशुकाल में होनेवाला रोग जड़वामनता (ckretinism), यौनारंभ (puberty) काल में होनेवाला रोग यौन मिक्सोडीमा तथा वयस्क अवस्था में होनेवाला वयस्क मिक्सोडीमा कहलाता है। वैसे मिक्सोडीमा दो प्रकार का होता है : प्रथम प्रकार थाइरॉइड रस की कमी का कारण थाइरॉइड ग्रंथि का रोग होता है, जिससे यह ग्रंथि रस बनाने की अपनी सामान्य क्रिया नहीं कर पाती है तथा दूसरे प्रकार में शल्य क्रिया से जब थाइराइड ग्रंथि काट दी गई हो तब रस की कमी या रस की अनुपस्थिति हो जाती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ इस रोग से अधिक पीड़ित रहती हैं। एक ही वंश के रोगियों में यह रोग बहुधा मिलता है तथा माता पिता द्वारा संचारित होता है। गलगंड (goiter) के स्थानिकमारी स्थान में माँ के शरीर में आयोडीन की कमी से शिशु की थाइरॉइड ग्रंथि का पूर्ण विकास न होने पर शिशु को यह रोग हो सकता है।

शिशुकाल में मोटी त्वचा, मोटा स्वर, बड़ी जीभ, नेत्रों में आपस में अधिक दूरी, शिशु को बैठने, खड़े होने तथा बोलने में अपनी आयु से अधिक समय लगाना, बड़ा सिर, चिपटी नाक, मोटे मोटे ओठ, खुला मुँह, बाहर लटकती जीभ, स्थूलता, देखने में मूर्ख लगना आदि, इसके लक्षण हैं। बुद्धि का विकास जड़ बुद्धिवाले या मंद बुद्धिवाले बालक के समान होता है। शरीर के बाल गिरना, शरीर के ताप की कमी, स्मरणशक्ति का लोप, आधा पागलपन तथा चयापचय (metabolic) गति की कमी इस रोग में पाई जाती है। चिकित्सा में थाइरॉइड ग्रंथि का निष्कर्ष (extract) दिया जाता है, जिससे रस की प्राकृतिक कमी पूरी हो जाय।

रोग रोकने के लिये, जिस प्रदेश में गलगंड रोग पाया जाता हो वहाँ की गर्भवती स्त्री को आयोडीन का सेवन कराना चाहिए। भारत के अनेक स्थानों में, जैसे बिहार के मोतिहारी जिले में, गलगंड रोग प्रचुरता से देखा जाता है। अत. वहाँ नमक में आयोडीन यौगिक मिलाकर सरकार द्वारा बेचा जाता है। [उ० शं० प्र०]

मिज़ुरी नदी पश्चिमी संयुक्त राज्य अमरीका में मिज़ुरी प्रांत की नदी है जो दक्षिणी-पश्चिमी मॉन्टाना राज्य से निकलकर मिसिसिपी नदी में गिरती है इसकी लंबाई लगभग २,७०० मील है। [पु० क०]

मिज़ो पहाड़ियाँ यह भारत के असम राज्य का एक दक्षिणी जिला है। इसका क्षेत्रफल ८,१३४ वर्ग मील तथा जनसंख्या २,६६,०६३ (१९६१) है। इसके पश्चिम में त्रिपुरा एवं पूर्वी पाकिस्तान, उत्तर में कछार एवं मनीपुर, पूर्व में बर्मा तथा दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम में क्रमश: बर्मा एवं पूर्वी पाकिस्तान है। हिमालय की पटकाई श्रेणी भारत-बर्मा सीमा पर दक्षिण की ओर फैली है, इसी का क्रम मिज़ो पहाड़ियाँ जिले में फैला है। पहाड़ियाँ जंगलों से ढकी हैं। इन्हें लुशाई पहाड़ियाँ भी कहते हैं। पहाड़ियों की ढाल पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में अधिक तीव्र है।

मिट्टी, कृष्य पृथ्वी की ऊपरी सतह पर मोटे, मध्यम और बारीक कार्बनिक तथा अकार्बनिक मिश्रित कणों को मिट्टी कहते हैं। ऊपरी सतह पर से मिट्टी हटाने पर प्राय. चट्टान पाई जाती है। कभी कभी थोड़ी गहराई पर ही चट्टान मिल जाती है। नदियों के किनारे तथा पानी के बहाव से लाई गई मिट्टी जिसको कछार मिट्टी कहते हैं, खोदने पर चट्टान नहीं मिलती। वहाँ नीचे के स्तर में जल का स्रोत मिलता है। सभी मिट्टियों की उत्पत्ति चट्टान से हुई है। जहाँ प्रकृति ने मिट्टी में अधिक हेरफेर नहीं किया और जलवायु का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा, वहाँ यह संभव है कि हम नीचे की चट्टानों से ऊपर की मिट्टी का संबंध क्रमबद्ध रूप में स्थापित कर सकें। यद्यपि ऊपर की सतह की मिट्टी का रंग रूप नीचे की चट्टान से बिलकुल भिन्न है, फिर भी दोनों में रासायनिक संबंध रहता है और यदि प्राकृतिक क्रिया द्वारा, अर्थात् जल द्वारा बहाकर, अथवा वायु द्वारा उड़ाकर, दूसरे स्थान से मिट्टी नहीं लाई गई है, तब यह संबंध पूर्ण रूप से स्थापित किया जा सकता है। चट्टान के ऊपर एक स्तर ऐसा भी पाया जा सकता है जो चट्टान से ही बना है और अभी प्राकृतिक क्रियाओं द्वारा पूर्णत: मिट्टी के रूप में नहीं आया है, सिर्फ चट्टान के मोटे मोटे टुकड़े हो

गए हैं, जो न तो मिट्टी कहे जा सकते हैं और न चट्टान। इन्हीं की ऊपरी सतह में मिट्टी की बनावट पाई जाती है। इसी स्तर की मिट्टी में हमें नीचे की चट्टान के रासायनिक और भौतिक गुणों का संचय मिल सकता है। यदि चट्टान क्रिस्टलीय है, तो इसकी संभावना शत प्रति शत पक्की है। नीचे की चट्टान के अत्यंत निकटवर्ती, पार्श्व भाग में चट्टान के समान रासायनिक और भौतिक गुण प्राप्त हो सकते हैं। जैसे जैसे ऊपर की ओर दूरी बढ़ती जाएगी चट्टान की रूपरेखा भी बदलती जाएगी। अंत में हम वह मिट्टी पाते हैं, जो कृषि के लिये अत्यंत अनुकूल सिद्ध हुई है और जिसपर आदि काल से कृषि होती आ रही है तथा मनुष्य फसल पैदा करता रहा है। कोई कोई मिट्टी दूसरी जगह की चट्टानों से बनकर प्राकृतिक कारणों से आ जाती है। ऐसे स्थानों में यह संभावना नहीं है कि ऊपर की मिट्टी का भौतिक तथा रासायनिक संबंध नीचे के संचय से स्थापित किया जाय, पर यह निश्चित है कि मिट्टी की उत्पत्ति चट्टानों से हुई है। खेतों की मिट्टी में चट्टानों के खनिजों के साथ साथ, पेड़ पौधों के सड़ने से, कार्बनिक पदार्थ भी पाए जाते हैं।

सूक्ष्मदर्शी द्वारा तथा रासायनिक विश्लेषण से पता चलता है कि चट्टानों की छीजन क्रिया प्रकृति में पाए जानेवाले रासायनिक द्रव्यों के प्रभाव से धीरे धीरे होती है। चट्टानों के रासायनिक अवयव बदल जाते हैं और मिट्टी की रूपरेखा बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है। यदि चट्टान का छीजना ही मिट्टी के बनने में एक प्रधान क्रिया होती तो हम आज खेतों की मिट्टी को पौधों के पनपाने के लिये अनुकूल नहीं पाते। मिट्टी की तुलना पीसी हुई बारीक चट्टान से नहीं की जा सकती। यद्यपि चट्टानों के खनिज मिट्टी के ऊपरी भाग में बहुत पाए जाते हैं और उनके टुकड़े भी बड़े परिमाण में वर्तमान रहते हैं, फिर भी मिट्टी में जीव जंतु होने के कारण उसमें बहुत सी रासायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं, जो कृषि के लिये महत्वपूर्ण साबित हुई हैं। जीवजंतु तथा उनसे संबंध रखनेवाले पदार्थों के, जैसे पेड़ पौधों की सड़ी हुई वस्तुओं और सड़े हुए जीव जंतुओं के, प्रभाव से कलिल अवस्था में प्राप्त चट्टानों के छोटे छोटे कणों पर प्रतिक्रिया होती रहती है और मिट्टी का रंग रूप बदल जाता है। यह रूप चट्टानों के सिर्फ कणों का नहीं रहता, मिट्टी एक नवीन प्रणाली की सुषा से सुसज्जित हो जाती है। हम सूक्ष्मदर्शी से मिट्टी के एक टुकड़े की परीक्षा करें और फिर उसी यंत्र द्वारा इन चट्टानों के कणों की परीक्षा करें तो हम दोनों में जमीन आसमान का अंतर पावेंगे। यह अंतर उन अकार्बनिक पदार्थों के संमिश्रण से होता है जो जीवजंतु और पौधों से प्राप्त होते हैं।

प्राकृतिक क्रियाओं द्वारा चट्टानों का छोटे छोटे कणों में परिवर्तन होने से मिट्टी के बनने में जो सहायता होती है, उस क्रिया को अपक्षय (weathering) कहते हैं। यह क्रिया महत्वपूर्ण है और इसके कारण ही हम पृथ्वी पर मिट्टी को कृषि के अनुकूल पाते हैं। इस क्रिया में जल, हवा में स्थित ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड, जीवाणुओं तथा अन्य अम्लीय रासायनिक द्रव्यों से बहुत सहायता मिलती है।

(२) मिट्टी का पार्श्व दृश्य और उसके संस्तर — यह मानी हुई बात है कि जिस मिट्टी पर प्राकृतिक क्रियाएँ होती हैं, जल का प्रपात तथा वायु और सूर्यकिरण का संसर्ग होता रहता है, वह कुछ वर्षों में ऐसा रूप धारण कर लेती है जिससे उसके नीचे की भिन्न रूप रंग और गुणवाली मिट्टियों के बहुत से संस्तर हो जाते हैं। यदि हम मिट्टी की ऊपरी सतह पर १० या १२ फुट गहरा गड्ढा खोदें और मिट्टी के पार्श्व का अवलोकन करें, तो हमें नियमित रूप से कई भिन्न रूप, रंग, रचना की मिट्टी एक स्तर से दूसरे स्तर तक मिलती जाएगी। वैज्ञानिकों ने इसके तीन ही प्रधान स्तर माने हैं और वे किन किन कारणों से और किन किन परिस्थितियों में पाए जाते हैं, इसका भी वर्णन किया है।

जल मिट्टी के ऊपरी संस्तर पर से होते हुए और बहुत से रासायनिक द्रव्यों को लेते हुए नीचे के संस्तर में जाता है, और वहाँ मिट्टी के साथ मिलकर अनेक रासायनिक क्रियाओं द्वारा मिट्टी के रंग रूप को बदल देता है। इस तरह ऊपर से द्रव्य आकर नीचे के संस्तर में जमा हो जाते हैं। चित्र १. में तीन प्रधान संस्तरों को दिखाया गया है।

इनमें एक है ऊपरी संस्तर, जिसमे से जल द्वारा विलयन होकर द्रव्य नीचे की ओर जाते हैं, अथवा अवक्षेपण क्रिया द्वारा नीचे के स्तर में जमा हो जाते हैं। इस ऊपरी संस्तर को हम (अ) संस्तर कहते हैं। दूसरा वह संस्तर है, जिसमें ऊपर वर्णन की गई क्रिया द्वारा द्रव्य आकर जमा होते हैं इसे (ब) संस्तर कहते हैं। तीसरा संस्तर उसके नीचे है, जिसमें ऊपर की मिट्टी बनती है। इसे (स) संस्तर कहते हैं। इस संस्तर को दूसरे शब्दों में पैतृक संस्तर (parent horizon) भी कहा जाता है। यह नाम इसलिये सार्थक है कि इसी संस्तर से ऊपर-वाली मिट्टी की उत्पत्ति हुई है। इस संस्तर में चट्टान और उससे बने बड़े बड़े मलबे (debris) पाए जाते हैं। हर एक संस्तर में [प्रायः (अ) और (ब) संस्तर में] भिन्न भिन्न संस्तर सम्मिलित रहते हैं। संस्तरों का क्रमबद्ध संबंध दिखलाना अति कठिन समस्या है। इस समस्या को पहले रूस के वैज्ञानिकों ने हल किया था और इसपर अब ऑस्ट्रिया और अमरीका में उच्च कोटि के अनुसंधान हो रहे हैं। सबसे कठिन समस्या तब प्रकट होती है जब मिट्टी के ऊपरी संस्तर का कुछ

चित्र १. धरती की मिट्टी
(सार्वलक्षणिक पार्श्व चित्र)
अ. संस्तर पर जलवायु का सर्वाधिक प्रभाव, ब. संस्तर पर उससे कम तथा स. संस्तर पर सबसे कम पड़ता है।

अंश अपरदन (erosion) द्वारा कट जाता है। कभी कभी तो संपूर्ण (ब) संस्तर का कटाव हो जाता है और (स) संस्तर रह जाता है।

इन संस्तरों के आंतरिक संबंध पर जिस विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान होता है, उसे मृदाविज्ञान (Pedology) कहते हैं। इस विज्ञान से मिट्टी के वर्गीकरण में अधिक सहायता मिलती है। यह आधुनिक विज्ञान है और इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती जा रही है। अब यह प्रायः सिद्ध हो गया है कि मिट्टी की ऊपरी सतह के भौतिक और रासायनिक गुणों को जान लेने से ही कृषि को लाभ नहीं हो सकता। पौधों की बढ़ती को जानने के लिये तथा कृषकों को सलाह देने के लिये यह आवश्यक है कि मिट्टी के विभिन्न संस्तरों के भौतिक और रासायनिक गुण तथा इनका परस्पर संबंध जान लिया जाय।

मिट्टी में विभिन्न प्रकार के कण रहते हैं। इनमें जो औसतन न्यून मात्रा के कण हैं, वे ही मिट्टी को उर्वरा बनाने के लिये आवश्यक हैं। इनके कारण मिट्टी की मृदुकण रचना (crumb structure) की उत्पत्ति होती है। इस रचना द्वारा मिट्टी में जल अवशोषण की क्रिया बढ़ जाती है तथा पौधों के लिये अन्य विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ भी अवशोषित होते हैं।

मिट्टी के भौतिक गुण मिट्टी, की संरचना, जलवायु, मिट्टी में स्थित ऊष्मा एवं खनिज पदार्थों पर निर्भर हैं। मिट्टी के कण भिन्न भिन्न आकार प्रकार के, कोई बड़े तो कोई छोटे और कोई अति सूक्ष्म, होते हैं। बड़े आकार के कण छोटे छोटे पत्थरों के टुकड़े होते हैं। जैसे जैसे इनपर प्राकृतिक क्रियाएँ होती जाती हैं, बड़े टुकड़े छोटे होते जाते हैं और अंत में बालू, सिल्ट, चिकनी मिट्टी अथवा दोमट मिट्टी के आकार के हो जाते हैं। मिट्टी के बड़े आकार के कण अधिकांश बलुई मिट्टी में पाए जाते हैं और छोटे आकार के कण मटियार मिट्टी में मिलते हैं। इन्हीं दोनों आकार के कणों के मिश्रण से भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टियाँ बनती हैं और उनके भिन्न-भिन्न भौतिक गुण भी हुआ करते हैं। मिट्टी में स्थित भौतिक गुणों का कृषिविज्ञान से अत्यंत गहरा संबंध है।

मिट्टी के कुछ भौतिक गुण, जैसे आपेक्षिक गुरुत्व, कणविन्यास (structure), कण आकार (texture), मिट्टी की सुघट्यता और संसंजन, रंग, भार, कणांतरिक छिद्र, समूह आदि महत्व के हैं, मिट्टी का आपेक्षिक गुरुत्व दो प्रकार का, एक आभासी (apparent) और दूसरा निरपेक्ष (absolute), होता है।

आभासी आपेक्षिक गुरुत्व मिट्टी के भीतरी भाग में जल तथा वायु के समावेश से प्राप्त होता है, अर्थात् यह मिट्टी के भीतर स्थित खनिज से मिश्रित जल और वायु का गुरुत्व है। इसलिये इस गुरुत्व की मात्रा निरपेक्ष आपेक्षिक गुरुत्व से कम होती है। किसी ज्ञात आयतनवाली शुष्क मिट्टी के भार और उसी आयतनवाले जल के भार का यह अनुपात है। यह १·४० से १·६८ तक होता है। चिकनी मिट्टी और सिल्ट के कण बहुत छोटे और हलके होते हैं, इसलिये वे एक दूसरे के साथ सघन नहीं हो पाते। ऐसी मिट्टी का भार कम होता है। मटियार, दोमट तथा सिल्ट मिट्टी का भार जानने के लिये उसे शुष्क बना दिया जाता है, क्योंकि भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टी में नमी भिन्न प्रकार की होती है।

निरपेक्ष आपेक्षिक गुरुत्व मिट्टी के उन भागों से संबंध रखता है जो खनिज तत्व हैं। इस कारण इसका मान अधिक होता है। निरपेक्ष आपेक्षिक गुरुत्व १·४ से २·६ के बीच में होता है।

मिट्टी के कणसमूह बनते हैं। भिन्न भिन्न समूह भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टी उत्पन्न करते हैं। ये कण एक दूसरे के साथ भिन्न भिन्न प्रकार से मिले हुए हैं और इनका पारस्परिक संबंध दृढ़ तथा व्यवस्थित होता है। कण किसी भी रूप और आकार के हो सकते हैं। मिट्टी की उर्वरता कणों के विन्यास पर निर्भर है। पौधों को हवा और पानी की आवश्यकता होती है और हवा तथा पानी का मिट्टी में रहना कणों के विन्यास पर निर्भर है। ये कण समूह हैं (१) एककणीय (single grain), (२) स्थूलकणीय (massive), (३) मृदुकणीय (crumb), (४) दानेदार (granular), (५) खंडात्मक (fragmentary), (६) पलवार (mulch), (७) गिरिदार (nut), (८) प्रिज्मीय (prismatic), (९) स्तंभाकार (columnar), (१०) परतदार (platy), (११) गोलाकार (shot), और (१२) वज्रसारीय (orstein) हो सकते हैं।

(१) एककणीय विन्यास में कण अधिकांश अलग अलग रहते हैं। इसमें पानी अधिक देर तक नहीं ठहरता। रेतीली मिट्टी में ऐसा होता है। (२) स्थूलकणीय में छोटे छोटे कण मजबूती से इकट्ठे होकर बहुत बड़े बड़े हो जाते हैं। इनमें कणांतरिक छिद्र बहुत कम होते हैं। (३) मृदुकणीय विन्यास में छोटे छोटे कणों के परस्पर मिल जाने से मिट्टी बनती है। यह उर्वरा होती है। इसमें जल देर तक ठहरता है। (४) कणों के परस्पर मिलकर कंकर बनने से दानेदार मिट्टी बनती है। पौधों की वृद्धि के लिये यह विन्यास अच्छा नहीं है। (५) खंडात्मक बनावट में छोटे छोटे कण बहुत बड़े ढेलों के समान हो जाते हैं और अनियमित रूप से वितरित रहते हैं। यह बनावट पौधों के लिये अच्छी नहीं है। (६) पलवार विन्यास कार्बनिक पदार्थों के साथ कणों के मिश्रित होने से बनता है। इसमें कणों की पारस्परिक दूरी कम रहती है और पानी का अवशोषण अधिक होता है। (७) गिरिदार रचना में छोटे छोटे कण पत्थर के बड़े बड़े टुकड़े के आकार को प्राप्त होते हैं। कण आपस में मिलकर बड़े ठोस हो जाते हैं और अनियमित रूप से वितरित रहते हैं। इस रचना में पानी नहीं ठहरता और कार्बनिक पदार्थ की कमी होने के कारण मिट्टी की उर्वरता कम रहती है। (८) प्रिज्मीय बनावट कणों के त्रिकोणिक वितरण पर निर्भर है। वायु और जल की न्यूनता के कारण यह उतनी उपजाऊ नहीं है। (९) स्तंभाकार रचना में कण एक दूसरे से मिलकर गोलाकार रूप धारण करते हैं और बहुत कठोर मिट्टी बनाते हैं। (१०) परतदार मिट्टी की रचना अभ्रक में पाई गई परत का रूप धारण करती है। मिट्टी के कण परत के रूप में अभ्रक के सदृश रहते हैं। यह रचना भी पौधों के लिये लाभदायक नहीं है, क्योंकि इसमें जल एक स्थान से दूसरे स्थान तक सरलता से नहीं जा पाता। (११) गोलाकार रचना कणों के गेंद के समान गोल आकार होने पर बनती है। इसमें कार्बनिक पदार्थ की कमी होने से मिट्टी की उर्वरता कम रहती है। (१२) वज्रसार विन्यास में मिट्टी के सभी कण एक दूसरे से आकर्षित होकर, परस्पर बहुत मजबूती से बँध जाते हैं। इसके बनने में मिट्टी का लोहा और कैल्सियम बहुत सहायक होते हैं। यह विन्यास पौधों

के लिये हानिकारक है, क्योंकि इसमें न तो पौधों की जड़ें बढ़ सकती हैं, न जल का ही संचारण सरलता से हो सकता है तथा न हवा का प्रवेश ही स्वच्छंदता से हो सकता है।

कण आकार — कणों के आकार का प्रभाव मिट्टी के अन्य भौतिक गुणों पर भी पड़ता है। बड़े आकार के कणोंवाली मिट्टी के कणांतरिक छिद्र बड़े होते हैं। ऐसी मिट्टी में जल बड़ी तीव्रता से नीचे बह जाता है, जिससे नमी का सदा अभाव रहता है। ऐसी मिट्टी में शीघ्र गरम और ठंडा हो जाने का गुण रहता है तथा ऐसी मिट्टी ऊसर होती है। छोटे छोटे कणवाली मिट्टियों में, विशेषतः चिकनी मिट्टी में, विपरीत गुण होते हैं।

मिट्टी की सुघट्यता और संसजन (Plasticity and Cohesion) — मिट्टी के साथ जल के मिलने से (१) गुरुत्व, दबाव, प्रणोद (thrust) और खिंचाव (pull) पर प्रभाव पड़ता है, (२) मिट्टी में अन्य पदार्थों के साथ सट जाने की शक्ति हो जाती है और (३) उंगली से कुरेदने पर सुघट्यता का अनुभव होता है। कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति से भी मिट्टी में सुघट्यता आती है। छोटे छोटे कणों के कारण सुघट्यता बढ़ती है। ऐटबर्ग (Atberg) ने सुघट्यता की चार अवस्थाएँ बतलाई हैं, जो जल की मात्रा पर निर्भर करती हैं।

मिट्टी के विभिन्न कणों पर एक दूसरे से विद्युत् शक्ति द्वारा खिंचाव उत्पन्न होता है, जिसे संसजन कहते हैं। ससंजन और सुघट्यता का परस्पर संबंध है। एक के अधिक होने से दूसरा भी अधिक हो जाता है।

रंग — मिट्टियों के रंग भिन्न भिन्न होते हैं। कुछ मिट्टियाँ सफेद होती हैं, कुछ लाल, कुछ भूरी, कुछ काली तथा कुछ राख के रंग की। कहीं कहीं पीली मिट्टी भी पाई जाती है। विभिन्न द्रव्यों की उपस्थिति के कारण मिट्टी में ये रंग आ जाते हैं। मिट्टी के रंग पर भी जलवायु का प्रभाव पड़ता है। जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ की मिट्टी रंगीन होती है। उष्ण प्रदेशों में लोहयुक्त मिट्टी पाई जाती है, जिसका रंग भूरा तथा पीला हो जाता है। लोह के आक्सीकरण से यह रंग प्राप्त होता है। काली मिट्टी का रंग कार्बनिक पदार्थ तथा ह्यूमस (humus) के रहने के कारण काला होता है। ऐसी मिट्टी अधिक वर्षा वाले स्थानों में पाई जाती है।

भार — मिट्टी का अधिकांश भाग खनिज पदार्थों द्वारा बना हुआ है। आपेक्षिक गुरुत्व (लगभग २·५) से भार का ज्ञान होता है। कार्बनिक पदार्थ तथा जीवाश्म अधिक होने से मिट्टी हलकी हो जाती है।

कणांतरिक छिद्र — मिट्टी में कणों के बीच कुछ जगह छूटी रहती है। इन जगहों को कणांतरिक छिद्र कहते हैं। यह कणों के के विन्यास पर निर्भर करता है। प्रति शत कणांतरिक छिद्र =

$$\left(१ - \frac{\text{आभासीय आपेक्षिक गुरुत्व}}{\text{निरपेक्ष आपेक्षिक गुरुत्व}}\right) \times १००$$

। इससे कणांतरिक प्रति शत छिद्रों के आयतन का पता लगाया जा सकता है, पर छिद्रों के आकार और रूप का पता नहीं लगता। मटियार मिट्टी में कणांतरिक छिद्र छोटे होते हैं, जबकि बलुई मिट्टी में वे बड़े होते हैं। इससे मटियार मिट्टी जल अधिक सोखती है और बलुई मिट्टी कम सोखती है। पहले प्रकार की मिट्टी केशिकीय (capillary) होती है और दूसरे प्रकार की अकेशिकीय। कणांतरिक छिद्र के कारण मिट्टी में जलावशोषण क्षमता आती है।

मिट्टी की संरचना कणों की संरचना पर निर्भर करती है। कण विद्युच्छक्ति से बँधकर समूह बनाते हैं। समूहों में बँध जाने से बंधन और मजबूत हो जाता है। समूहों के बाँधने में लोह और कार्बनिक पदार्थों का विशेष हाथ रहता है। छोटे छोटे कणों के मिलने से मृदुकण विन्यास (crumb structure) प्राप्त होता है। इससे पानी का ठहराव अधिक होता है और जुताई भी अधिक सुगमता से होती है।

कणों की माप — कणों को मापकर उनका वर्गीकरण किया गया है। माप से मिट्टी के गुणों और उर्वरता का बहुत कुछ पता लगता है। यह वर्गीकरण अंतरराष्ट्रीय है : मोटी बालू में २ मिमी० से ०·२ मिमी० व्यास तक, महीन बालू में ०·२ मिमी० से ०·०२ मिमी० व्यास तक, सिल्ट (silt) में ०·०२ मिमी० से ०·००२ मिमी० व्यास तक तथा चिकनी मिट्टी (clay) में ०·००२ मिमी० से कम व्यास के कण होते हैं। *इन कणों की माप स्टोक्स (Stokes) नामक वैज्ञानिक* के निर्धारित समीकरण से प्राप्त होती है।

मिट्टी में जल — मिट्टी में जल का बहुत बड़ा महत्व है। यह जल चार प्रकार का होता है : (१) आर्द्रतावशोषी (hygroscopic) जल (moisture), (२) अंतःशोषित (imbibitional) जल, (३) केशिका (capillary) जल तथा (४) गुरुत्वीय (gravitational) जल।

(१) आर्द्रतावशोषी जल मिट्टी के कणों में आकर्षण द्वारा मिला रहता है। इसे हटाना कठिन है। (२) अंतःशोषित जल मिट्टी में स्थित केशिकाओं द्वारा अवशोषित होकर रहता है। (३) केशिका जल पौधों को प्राप्त होता है तथा (४) गुरुत्वीय जल वह जल है जो नालियों के भर जाने के बाद जमा हो जाता है। यह जल बहाव द्वारा बाहर निकल जाता है।

पौधों का जल से संबंध — जब तक पानी पर्याप्त रहता है, पौधे की जड़ अपना काम करती रहती है। धीरे धीरे पानी जब कम हो जाता है तब ऐसी अवस्था आ जाती है कि पौधे की जड़ें पानी का अवशोषण करने में असमर्थ हो जाती हैं और पौधे सूखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में मिट्टी में जल बहुत कम रहता है और उसको मिट्टी से प्रेषित करने के लिये अधिक मात्रा में शक्ति की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में जो जल मिट्टी में है, उसे म्लानिगुणांक (wilting coefficient) कहते हैं। इसकी उपयोगिता अधिक है, क्योंकि इससे मिट्टी के कोलॉयड पदार्थ की मात्रा ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त इससे निष्क्रिय जल की मात्रा का भी ज्ञान होता है। उस अधिकतम जल को, जिसे मिट्टी संतृप्त वायुमंडल के किसी एक ताप पर अवशोषित करती है, आर्द्रतावशोषी गुणांक (hygroscopic coefficient) अथवा आर्द्रतावशोषी क्षमता (hygroscopic capacity) कहते हैं। आर्द्रतावशोषी गुणांक का ज्ञान निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त किया जाता है।

आर्द्रतावशोषी गुणांक = म्लानि गुणांक × ०·६८ = (नमी निर्धारण क्षमता – २१) × ०·२३४ = ०·००७ रेत + ०·०८२ सिल्ट + ०·३९ चिकनी मिट्टी + जैव पदार्थ।

मिट्टी में स्थित वायु — मिट्टी मे कणांतरिक छिद्र रहते हैं। उन छिद्रों में जब जल नहीं रहता तब वायु प्रवेश करती है। यह वायु मिट्टी में स्थित जल में भी विलयन की अवस्था में पाई जाती है। इस वायु में ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के साथ साथ कार्बन डाइऑक्साइड भी रहता है। ऑक्सीजन पौधों की जड़ों के लिये लाभदायक है। कार्बन डाइऑक्साइड से पौधों की वृद्धि होती है।

मिट्टी में ऊष्मा — पौधों की वृद्धि मिट्टी के जल वायु और ताप पर निर्भर करती है। मिट्टी की ऊपरी सतह पर पाँच प्रकार से गरमी पहुँचती है : (१) सूर्य की किरणों द्वारा, (२) ग्रीष्मकाल में वर्षा के गरम पानी द्वारा, (३) गरम वायु के जलवाष्प द्वारा, (४) मिट्टी के नीचे की गरमी ऊपर को संचालित होने पर मिट्टी की ऊपरी सतह पर ताप के बढ़ने से तथा (५) कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से। मिट्टी की ऊपरी सतह पर ताप दो प्रकार से घटता है : (क) मिट्टी पर जमे पानी के भाप बनकर वायु मे उठने से तथा (ख) ऊपरी हवा के ताप के कम रहने से। मिट्टी का ताप उसकी गहराई और जलवायु पर निर्भर करता है। गहराई से ऊष्मा बढ़ती है। ग्रीष्म ऋतु में ताप ऊँचा होता है और शरदृऋतु में नीचा।

मिट्टी में स्थित अकार्बनिक पदार्थ — लीबिग (Liebig) ने १८४० ई० में पहले पहल यह सिद्धांत स्थापित किया कि मिट्टी में पौधों को उपजाने के लिये अकार्बनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। इसके बाद इस विषय पर अनेकानेक अनुसंधान होते रहे और आज हम निश्चित रूप से जानते हैं कि मिट्टी में निम्नलिखित तत्वों का न्यूनाधिक मात्रा में रहना अत्यावश्यक है : अधिक मात्रा में रहनेवाले तत्व, (१) नाइट्रोजन, (२) पोटैशियम, (३) फॉस्फरस, (४) कैल्सियम, (५) मैग्नीशियम, (६) सोडियम, (७) कार्बन, (८) ऑक्सीजन और (९) हाइड्रोजन।

न्यून मात्रा मे रहनेवाले तत्व — (१) लोह, (२) गंधक, (३) सिलिका, (४) क्लोरीन, (५) मैंगनीज, (६) जस्ता, (७) निकल, (८) कोबल्ट (९) मोलिब्डेनम, (१०) ताम्र, (११) बोरन तथा (१२) सैलेनियम हैं।

नाइट्रोजन मिट्टी में कार्बनिक और अकार्बनिक दोनों रूपों में रहता है; अकार्बनिक रूप मे नाइट्रेट और अमोनिया के रूप में। कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से अमोनिया बनता है। अमोनिया पर जीवाणुओं की क्रिया से पहले नाइट्राइट और पीछे नाइट्रेट बनते हैं। जीवाणुओं से एंजाइम बनते हैं, जो मिट्टी को अपघटित करते रहते हैं। फॉस्फेट ऐपेटाइट से आता है। यह पौधों के फूल और फल के लिये लाभदायक होता है। पोटैशियम सल्फेट और कार्बोनेट के रूप मे मिट्टी में रहता है तथा पौधों की रासायनिक क्रिया में सहायक होता है। इससे पौधों के पत्ते स्वस्थ रहते हैं और प्रोटीन और शर्करा की मात्रा बढ़ती है। कैल्सियम मिट्टी में, फॉस्फेट, कार्बोनेट और सल्फेट के रूप में रहता है। इससे पौधों के तने मजबूत होते हैं। यह मिट्टी की अम्लता को कम करता है और उससे पौधों को लाभ पहुँचता है। मैग्नीशियम कार्बोनेट के रूप में मिट्टी में रहता है। यह पौधों में क्लोरोफिल के बनाने में सहायता पहुँचाता है। कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ और जल द्वारा प्राप्त होते हैं। पौधे मिट्टी से ये तत्व कार्बोनेट के रूप मे पाते हैं, लेकिन अधिकांश कार्बन पौधों को वायु द्वारा प्राप्त होता है। पौधे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन को मिट्टी से जल के रूप में प्राप्त करते हैं। सोडियम क्षारीय तत्व है और मिट्टी में सल्फेट तथा कार्बोनेट के रूप में पाया जाता है।

न्यून तत्वों में लोह अत्यंत आवश्यक है। यह मिट्टी में ऑक्साइड के रूप में रहता है और क्लोरोफिल के बनने मे सहायता पहुँचाता है। गंधक मिट्टी में सल्फेट के रूप में रहता है। यह पौधों में प्रोटीन को बढाता है। क्लोरीन मिट्टी मे कैल्सियम, मैग्नीशियम और सोडियम क्लोराइड के रूप मे पाया जाता है। यह तत्व पौधों के पत्तों को बढ़ाता और मोटा करता है। अन्य तत्व पौधो की क्रियाओं को संतुलित रखकर फूलो और फलों के बनने में सहायक होते हैं।

मिट्टी में स्थित जैव और कार्बनिक पदार्थ — मिट्टी में अनेक जीवाणु, कीटाणु और जीवजंतु पाए जाते हैं, जो अनेक रासायनिक अभिक्रियाएँ संपन्न कर मिट्टी के गुण में परिवर्तन करते हैं। ये हैं : (क) सूक्ष्म जंतुसमूह (microfauna), जैसे प्रोटोज़ोआ (protozoa), सूत्रकृमि (nematodes) तथा अन्य कृमि कीट इत्यादि; (ख) सूक्ष्म वनस्पतिसमूह (microflora), जैसे काई या शैवाल (algae), डायटम (diatom), कवक, (fungi), ऐक्टिनोमाइसीज़ (actinomyces) आदि, (ग) जीवाणु (bacteria), जिनमें स्वजीवी (autotropic), नाइट्रीकारी, गंधककारी, लोह, परजीवी (heterotrophic), सहजीवी (symbiotic), स्वतंत्रजीवी, वातजीवी, ऐज़ोटोबैक्टर (azotobacter), अवातजीवी, अमोनीकारक तथा सेलुलोज उत्पादक सम्मिलित हैं; (घ) कीटो में कृतक (rodent), इंसेक्टिवोरा, मिलिपीड (millipede), सो बग (sow bugs), माइट्स (mites), घोंघा, सितुआ, शतपद (centipedes), मकड़ी और केंचुआ हैं।

मिट्टी में जीवाणुओं का स्थान बड़े महत्व का है। इनसे मिट्टी के भौतिकगुण बदलते हैं और उसकी उर्वरता बढ़ती है।

मिट्टी में स्थित कलिल पर विनिमय क्रिया — मिट्टी में बारीक कण कलिल के रूप में रहते हैं। उन पर आयनों (ions) की विनिमय क्रिया होती है। यह क्रिया पौधों की जड़ों को पोषक द्रव्य पहुँचाने मे सहायक होती है। इसलिये यह क्रिया बड़े महत्व की है। कलिल कार्बनिक और अकार्बनिक दोनों हो सकते हैं। ये दोनों परस्पर मिले रहते हैं। अकार्बनिक कलिल ऐल्यूमिना और सिलिका के योग से बनते हैं। सिलिका कलिल पर ऋण विद्युत् रहता है। ये धन आयन का अवशोषण करते हैं। धन आयन पोषक तत्व होता है। कार्बनिक कलिल जल और पोषक तत्व का अधिक अवशोषण करता है। कलिल ऋण आयन का भी अवशोषण करते हैं।

मिट्टी में अम्लता और क्षारीयता — मिट्टी मे अम्लता और क्षारीयता कलिल से उत्पन्न होती है। जब कलिल में क्षारीय तत्व अधिक रहता है तब क्षारीयता, और हाइड्रोजन अधिक अवशोषित रहता है तब अम्लता, उत्पन्न होती है। अम्लता और क्षारीयता दोनों

पौधों के लिये हानिकारक हैं। पौधों की अम्लता और क्षारीयता हाइड्रोजन आयन के सांद्रण से मापी जाती है। इसे पीएच द्वारा प्रकट करते हैं। यदि पीएच १ से ६ है, तो मिट्टी अम्लीय और ८ से
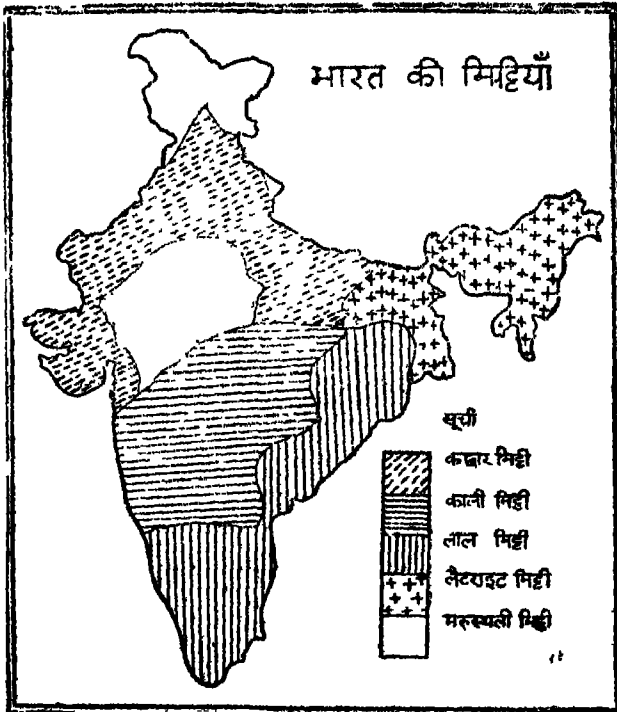
१४ है, तो मिट्टी क्षारीय होती है। विभिन्न पीएच पर तत्वों का अवशोषण विभिन्न होता है। अम्लता को दूर करने के लिये चूने या जिप्सम का प्रयोग होता है।

मिट्टी का विश्लेषण — मिट्टी के रासायनिक और भौतिक विश्लेषण किए जाते हैं। रासायनिक विश्लेषण से मिट्टी के पोषक द्रव्यों का पता लगता है और भौतिक विश्लेषण से मिट्टी के कणों की स्थिति का ज्ञान होता है। रासायनिक विश्लेषण में नाइट्रोजन, फॉस्फेट (पूर्ण और प्राप्य), पोटाश (पूर्ण और प्राप्य) और जल की मात्रा निर्धारित की जाती है।

मिट्टी का वर्गीकरण — पहले पहल १८७९ ई० में डोकशैव ने मिट्टी का वर्गीकरण किया और मिट्टी को सामान्य और असामान्य मिट्टी में विभाजित किया। भारत की मिट्टियाँ स्थूल रूप से पाँच वर्गों में विभाजित की गई हैं : १. कछार मिट्टी (Alluvial soil), २. काली मिट्टी (Black soil), ३. लाल मिट्टी (Red soil), ४. लैटेराइट मिट्टी (Laterite) तथा ५. मरु मिट्टी (Desert soil)।

उपर्युक्त सभी प्रकार की मिट्टियाँ जलवायु के प्रभाव से उत्पन्न हुई हैं। [शि० ना० प्र०]

मित्र, दीनबंधु (१८२९-१८७४) : बंगला नाटककार। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के समकालीन थे। उनका प्रथम नाटक 'नीलदर्पण' (ढाका, १८६०) तत्कालीन ग्रामीण किसानों पर निलहे गोरों के अत्याचारों की कथावस्तु पर आधारित है। यद्यपि शिल्प की दृष्टि से यह बहुत सफल कृति नहीं कही जा सकती, तथापि रंगमंच पर नाटक काफी प्रभावकारी सिद्ध हुआ। 'नवीन तपस्विनी' (कृष्णनगर, १८६३) भी तकनीक और शैली में बहुत महत्व नहीं रखता। 'सधवार एकादशी' (१८६६) मित्र की सर्वोत्तम रचना है और निश्चय ही बंगला साहित्य को एक महत्वपूर्ण योगदान है। इसमें चरित्रचित्रण की सूक्ष्मता निस्संदेह प्रशंसनीय है।

मित्र के अन्य नाटकों में 'लीलावती' (१८६७), जमाई बारिक' (१८७२) और 'कमलकामिनी' (१८७३) उल्लेखनीय हैं।

मित्रावरुण मित्र तथा वरुण नाम के दो देवताओं का अधिकांश पुराणों में इस एक ही शब्द द्वारा उल्लेख है। ऋग्वेद में दोनों का अलग और प्राय. एक साथ भी वर्णन है। मित्र द्वादश आदित्यों में से है जिनसे वशिष्ठ का जन्म हुआ। वरुण से अगस्त्य की उत्पत्ति हुई और इन दोनों के अंश से इला नामक एक कन्या उस यज्ञकुंड से प्रगट हुई जिसे प्रजापति मनु ने पुत्रप्राप्ति की कामना से रचाया था। स्कंदपुराण के अनुसार काशीस्थित मित्रावरुण नामक दो शिवलिंगों की पूजा करने से मित्रलोक एवं वरुणलोक की प्राप्ति होती है। [रा० द्वि०]

मिनिएपोलिस (Minneapolis) स्थिति : ४५° २' उ० अ० तथा ९३° १६' प० दे०। यह संयुक्त राज्य अमरीका के मिनिसोटा प्रदेश का सबसे बड़ा नगर है। यह ५८ वर्ग मील से अधिक भूभाग पर फैला हुआ है। मिसिसिपी नदी नगर को दो भागों में बाँटती है। मेक्सिको खाड़ी से आए हुए जहाज सुगमता से मिसिसिपी नदी द्वारा नगर के मध्यतक पहुँच जाते हैं। यहाँ के मुख्य औद्योगिक प्रतिष्ठान सेंट अलप्रपात के निकट हैं जिससे जलविद्युत उत्पन्न की जाती है और जो प्रतिष्ठानों को प्राप्त हो जाती है। मिसिसिपी के पूर्वी किनारे पर मिनिसोटा विश्वविद्यालय स्थित है। यह नगर महत्वपूर्ण पर्यटनकेंद्र भी है। नगर की जनसंख्या ४,८२,८७२ (१९६३) है। [वि० रा० सिं०]

मिनेंडर १. दे० मिलिंद।

मिनो दी फिएसोल (१४३१-१४८४) इस इतालीय शिल्पकार का जन्म कोस्तेतिनो में पाँपी में हुआ। लेकिन इसकी जायदाद फिएसोले में थी। बिशप सालुराती चर्च में सफेद संगमरमर पत्थरों से बनाई धर्मपुरुषों की सात फुट ऊँचाई की मूर्तियाँ अब भी हैं। देसदरियो दी सेत्तिग्नानो आदि शिल्पकार एक ही उम्र के थे, उसने आंतोनी रोसेलिनो के साथ फ्लोरेंस के बारगेलो में कुछ शिल्प चित्र और मूर्तिशिल्पों का काम किया। बर्लिन म्यूजियम में और पेरिस के व्यक्तिगत संग्राहकों के पास इनकी बनाई भावपूर्ण मूर्तियाँ हैं। मिनो की कृतियों की कारीगरी सफाईदार है और कोमल प्रभावों को व्यक्त करती है। [मा० स०]

मियाँ मीर हज़रत मियाँ मीर बिन काजी सानीदत: बिन कलंदर फ़ारूकी का असली नाम शेख मुहम्मद फ़ारूकी था। मियाँ मीर तथा बालापीर के नाम से इसलिये प्रसिद्ध हुए क्योंकि जहाँगीर, शाहजहाँ, राजकुमार दाराशिकोह जैसे मुगल राजवंश के लोग तथा उनके सामंत आपके भक्त थे। ९५७।१५५० में सीस्तान में जन्म हुआ। प्रारंभिक शिक्षा माता तथा सीस्तान के कई विद्वानों से प्राप्त की।

तत्पश्चात् आध्यात्मिक गुरु की खोज में निकल पड़े। सौभाग्य से शेख खिज्र सीस्तानी नामक एक महापुरुष से आपकी भेंट हुई तथा कादिरी संप्रदाय में दीक्षित होकर अध्यात्म की शिक्षाएँ प्राप्त कीं। २८ वर्ष की उम्र में लाहौर पधारे तथा जीवन के अंतिम समय तक वहीं निवास करके हजारों पथभ्रष्टों का मार्गदर्शन किया। मियाँ मीर फाकामस्ती, निस्पृहता, तपस्या तथा ईश्वरनिर्भरता में अद्वितीय समझे जाते थे। आपके ही कथनानुसार 'सूफी' वह है जिसका अस्तित्व 'फ़ना' हो जाए। वह सुन्नत (हजरत मुहम्मद साहब के कथन और आचरण) का कठोरता से पालन करते थे तथा शरीयत (आचरण पक्ष) के विपरीत एक पग बाहर नहीं निकालते थे। तरीकत (अध्यात्मवाद) में आप अपने समय के जुनैद बगदादी समझे जाते थे। सर्वेश्वरवादी थे। आप आजन्म कुँवारे रहे। जहाँगीर बादशाह ने आपको आगरे आमंत्रित किया था। वहाँ जाकर आपने बादशाह को सदुपदेश दिए और अंत में कहा, 'मुझे आगरे आने का पुन: कष्ट न देना'। जहाँगीर ने आदेश का अक्षरश: पालन किया परंतु पत्रव्यवहार द्वारा उनसे कंधार विजित होने के बारे में ईश्वर से प्रार्थना करने का निवेदन किया था। इसी प्रकार सम्राट् शाहजहाँ ने भी मियाँ मीर से दो बार भेंट की थी और आध्यात्मिक विषयों पर वाद विवाद भी किया था। वह मियाँ मीर के साधारण जीवन तथा कोमल आचरण से बहुत प्रभावित हुआ था। आपका स्वर्गवास १०४५।१६३५-३६ में हुआ। लाहौर से पाँच कोस की दूरी पर स्थित ग्राम में समाधि है जो मियाँ मीर के नाम से प्रसिद्ध है। दारा शिकोह आपपर बड़ी श्रद्धा रखता था। समाधि पर एक भव्य भवन निर्मित कराने के लिये उसने सामग्री जुटाई थी परंतु भवन का निर्माण कुछ वर्षों के उपरांत औरंगजेब ने कराया। समाधि के निकट एक बारहदरी है जिसमें दाराशिकोह की धर्मपत्नी की कब्र है।

सं० ग्रं० — दाराशिकोह : सफीनतुल औलिया (उर्दू अनुवाद, लाहौर); दाराशिकोह : सफ़ीनतुल औलिया, (उर्दू अनुवाद, करांची १९६१), १०१-१०५; जहाँगीर : तुजुके जहाँगीरी, (मूल फारसी ग्रंथ), २८६-२८७; अब्दुल हमीद लाहौरी : बादशाहनामा, (कलकत्ता, १८६७-१८६८); मुहम्मद सालिह कम्बो : अम्ले सालिह (कलकत्ता, १९२३-१९२७); मौलवी गुलाम सर्वर : खजीनतुल अस्फिया, (नवल किशोर), १,१५४-१६०; शेख मुहम्मद इकाम : रोदे कोसर, (करांची), २५१-२५५; मुहम्मद वारिस कामिल : तजकिरा औलियाए लाहौर, (करांची, १९६३), ११६-११४०। [मु० उ०]

मिर्ज़ा मज़्हर जान जानाँ नक्शबंदी संप्रदाय को 'शम्सिया मज़्हरिया' के नाम से उन्होंने पुनरुज्जीवित किया। अतएव उनको पुराने नक्शबंदी संप्रदाय के अंतर्गत इस संप्रदाय का संस्थापक कहना चाहिए।

शम्सुद्दीन हबीबुल्ला हजरत मिर्ज़ा मज़्हर जान जानाँ का, जो मज़्हर जान जानाँ के नाम से लोकप्रसिद्ध थे, जन्म १११११।१६९९ अथवा १११३।१७०१ में हुआ था। पिता मिर्ज़ा जान सम्राट् औरंगजेब के प्रतिभाशाली सामंतों में थे तथा सूफी विचारों और प्रवृत्तियों के थे। पुत्र की शिक्षा का उन्होंने सुप्रबंध किया। इसके अतिरिक्त मिर्ज़ा मज़्हर को कलाकौशल, दरबारी शिष्टाचार तथा युद्धकला की भी शिक्षा दी। पिता की मृत्यु के उपरांत मिर्ज़ा मज़्हर को उत्तराधिकार में प्रभूत संपत्ति मिली जिसको उन्होंने शीघ्र ही उड़ा दिया। उस समय के महान् और सुप्रसिद्ध नक्शबंदी सप्रदाय के सूफ़ी हज़रत नूर मुहम्मद बदायूनी की सेवा में उपस्थित होकर दीक्षित हुए तथा चार वर्ष उनकी सुसंगति में रहकर आध्यात्मिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त किया। मिर्ज़ा मज़्हर ने हज़रत शूयखुल शयूख मुहम्मद आबिद सुनामी तथा अन्य सूफ़ियों से भी आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की। मुहम्मद आबिद सुनामी के स्वर्गवास के उपरांत ११६०।१७४७ में मिर्ज़ा मज़्हर ने दिल्ली में अपनी स्वतंत्र खानकाह स्थापित की। थोड़े ही समय में उनकी प्रसिद्धि दूर दूर तक फैल गई और हर श्रेणी के व्यक्ति धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षाप्राप्ति के लिये आने लगे। इस प्रकार ३० वर्ष तक मिर्ज़ा मज़्हर अपने शिष्यों को मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा देने में व्यस्त रहे और नक्शबंदी संप्रदाय को, जिसकी केंद्रीय संस्था हजरत मुजद्दिद अल्के सानी शैख अहमद सरहिंदी के देहावसान के उपरांत क्रमश: विशृंखलित हो चुकी थी, पुन:प्रकाश और पुनर्जन्म दिया तथा उसका नवीन संस्कार भी किया। मिर्ज़ा मज़्हर ने इस्लाम धर्म के प्रचार तथा आध्यात्मिक शिक्षा के लिये देश के विभिन्न क्षेत्रों में अपने खलीफा भेजे। अपने संप्रदाय के पूर्ववर्ती सूफ़ियों के सिद्धांतों का दृढ़ता से पालन करते हुए मिर्ज़ा मज़्हर बादशाहों और सामंतों से किसी प्रकार का संबंध न रखते थे। यद्यपि १८वीं शताब्दी की अराजकता और आर्थिक दुर्दशा काल से प्रत्येक व्यक्ति पीड़ित था, तथापि मिर्ज़ा मज़्हर ईश्वरीय कृपाओं के सहारे किसी तरह जीवन व्यतीत करते रहे और कभी किसी धनवान् की ड्योढ़ी पर नहीं गए। उन्होंने सम्राट् मुहम्मद शाह और उसके सामंत निजामुल मुल्क आसिफ जाह के उपहारों को ठुकरा दिया था। किराए के मकान में रहकर और बाजार से पका हुआ खाना खाकर जीवन बिताया। पूर्व नक्शबंदी सिलसिले की विचारधारा तथा कार्यप्रणाली में उन्होंने परिवर्तन किया था। वह अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण रखते थे। मिर्ज़ा मज़्हर के 'मक्तूब चहार दहुम' (१४वाँ पत्र) के अध्ययन से हिंदू धर्म के प्रति १८वीं शताब्दी के मुसलमानों की विचारधारा का अच्छा ज्ञान होता है। उन्होंने हिंदुओं को 'मुश्रिकाने अरब' (नास्तिक अरबों) के समान स्वीकार करने से इंकार कर दिया और वेदों को रहस्योद्घाटित ग्रंथ स्वीकार करते हुए उन्हें 'अहले किताब' का स्थान दिया। नक्शबंदियों के इतिहास में यह अपूर्व और महत्वपूर्ण घटना है। इसी कारण हिंदुओं से उनके बहुत अच्छे संबंध हो गए। मिर्ज़ा मज़्हर ने १८वीं शताब्दी की राजनीति पर भी प्रभाव डाला और नजीबुद्दौला को जाटों से समझौता करने से रोका। वह उर्दू फारसी में कविता करते थे। फारसी काव्य का संग्रह 'खरीता ए जवाहर' के नाम से प्रसिद्ध है किंतु अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। गद्य में उनके पत्र मिलते हैं जिनसे उस समय की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। १०वीं मुहर्रम ११९५।१७८० को एक शिया के हाथों उनकी हत्या हुई। दिल्ली में चितली कब्र नामक मुहल्ले में उनकी समाधि पर श्रद्धालु दर्शनार्थ जाते हैं।

सं० ग्रं० : शाह गुलाम अली : मकामे मज़्हरी (दिल्ली, १३०९); नईमुल्ला बहराएची : मामूलात मज़्हरी (कानपुर, १२७५); रुक्क़ाते करामत सआदत : मिर्ज़ा मज़्हर शहीद (अलीगढ़,

१२७१), तजकिरा ग्रमी ग्रौलियाए देहली (हस्तलिपि, कुतुब खाना ग्रास्फ़िया, हैदराबाद, दखन); मौलवी गुलाम सर्वर : खजीनतुल ग्रास्फ़िया (नवल किशोर, १२८२), १,६८४–६८७; मुहम्मद उमर : सूफ़ी संत मिर्जा मज़हर जान जानाँ (ग्रलीगढ़); ग्रब्दुर्रज्ज़ाक़ कुरैशी : मिर्जा मज़्हर जान जानाँ ग्रौर उनका उर्दू कलाम (बंबई १९६१); मिर्जा ग्रली लुत्फ : गुल्शने हिंद (लाहौर, १९०९) १५९–६०; भगवानदास हिंदी : सफीनाए हिंदी : (पटना, १९५८), १८७–१८९; बिंदाबनदास खुशगो : सफीनाए खुशगो (पटना, १९५९) ३०१–०८; नईमुल्ला: बशारते मज़हरिया (ब्रिटिश म्यूजियम : या हस्तलिखित ग्रंथ; सैयद ग्रकजद ग्रली खाँ : नूरूल कुलूब : (हस्तलिखित, रामपुर (२१७ ग्र–ब) । [मु० उ०]

मिर्जापुर १. जिला, भारत में उत्तर प्रदेश राज्य का एक दक्षिण-पूर्वी जिला है जिसके उत्तर में वाराणसी, पश्चिम में इलाहाबाद जिले, दक्षिण-पश्चिम में मध्य प्रदेश एवं पूर्व में बिहार राज्य के जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल ४,३६९ वर्ग मील तथा जनसंख्या १२,४९,६५३ (१९६१) है। इस जिले में कैमूर एवं विंध्य पर्वतश्रेणियाँ पूर्व से पश्चिम को फैली हैं। मध्य का पठार गंगा नदी को सोन नदी से अलग करता है। विंध्य का उत्तरी भाग कृषि योग्य है, किंतु शेष भाग विरल बस्तीवाला, खड्ड युक्त एवं जंगली है। सर्दियाँ शुष्क तथा ठंढी एवं गरमियाँ अधिक गरम रहती हैं। गरमियों में ३० से ५० इंच तक वर्षा होती है। उत्तरी भाग में गंगा तथा दक्षिणी भाग में रिहंद, सोन ग्रादि नदियाँ बहती हैं। दक्षिणी सीमा के पास रिहंद नदी पर एक प्रसिद्ध बाँध बनाया गया है, जहाँ बिजली का उत्पादन होता है। कृषि मे धान, गेहूँ, जौ, गन्ना, बाजरा, मक्का, ज्वार ग्रादि उगाए जाते हैं। जिले में पत्थर, ताँबा एवं पीतल के बरतन, ऊनी गलीचे, खिलौने, मूर्तियाँ ग्रादि बनाने का काम होता है। चुर्क में सीमेंट का एक कारखाना है। चुनार ग्रपने दुर्ग तथा प्राकृतिक दृश्यों के लिये प्रसिद्ध है (देखें चुनार)। रेणुकूट में ऐल्यूमिनियम का प्रसिद्ध कारखाना है।

२. नगर, स्थिति : २५° १०' उ० ग्र० तथा ८२° ३७' पू० दे०। मिर्जापुर जिले मे गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर बनारस से ३० मील दक्षिण-पश्चिम स्थित है। गंगा के कई घाट पक्के बने हैं जिसमें 'पक्का घाट' प्रसिद्ध है। घाटों पर कई मंदिर तथा नारायण घाट पर एक गुरुद्वारा बना है। यहाँ पीतल के बरतन, दरियाँ एवं गलीचे बनाने का कार्य होता है। इसकी जनसंख्या विंध्याचल सहित १,००,०९७ (१९६१) है। [र० च० दु०]

मिल, जॉन स्टूवर्ट (जन्म, १८०६; मृत्यु, १८७३) प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता ग्रौर ग्रर्थशास्त्री जेम्स मिल का पुत्र। बचपन में कुशाग्र-बुद्धि ग्रौर प्रतिभाशाली। दर्शन, ग्रर्थशास्त्र, फ्रेंच, ग्रीक तथा इतिहास का ग्रध्ययन। १७ वर्ष की उम्र मे ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में प्रविष्ट हुग्रा ग्रौर ३५ वर्ष तक सेवा करता रहा। स्त्री, श्रीमती टेलर, समाजवादी थीं ग्रौर मिल को समाजवाद की ग्रोर खींचने में उनका हाथ था। जीवन के प्रथम भाग में शास्त्रीय विचारधारा में ग्रास्था रखता था ग्रौर प्राचीन ग्रार्थिक परंपरा का समर्थक था। एडम स्मिथ तथा रिकार्डो के सिद्धांतों का ग्रध्ययन किया। बेंथम के उपयोगितावाद से भी प्रभावित हुग्रा। लगान के क्षेत्र में रिकार्डो उसके चिंतन का ग्राधार बना रहा। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थक था। ग्रार्थिक समस्याग्रों के समाधान में उपयोगितावाद के समावेश का पक्षपाती था। उसने स्वतंत्र स्पर्द्धा ग्रौर स्वतंत्र व्यापार के सिद्धांत को प्रोत्साहन दिया। ग्रपने सिद्धांत की व्याख्या मे माल्थस के जनसंख्या के सिद्धांत का प्रयोग किया। मूल्यनिर्धारण के सिद्धांत में सीमांत को महत्व-पूर्ण स्थान दिया। संतुलनबिंदु पर मूल्य 'उत्पादन व्यय' के बराबर होता है। शास्त्री-विचारधारा के 'मजदूरीकोष' के सिद्धांत को मानता था। स्वतंत्रस्पर्द्धा ग्रौर व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का समर्थक होते हुए भी यदि उसने समाजवाद का समर्थन किया तो केवल इसलिये कि पूँजीवाद के ग्रन्याय ग्रौर दोष स्पष्ट होने लगे थे। साधारण तौर पर वह ग्रबाध व्यापार का समर्थक रहा परंतु ग्रावश्यक ग्रपवादों की ग्रोर भी उसने संकेत किया। साम्यवाद के दोषों को पूँजीवाद के ग्रन्याय के सामने नगण्य मानता था। मिल का महत्व उसके मौलिक विचारों के कारण नहीं बल्कि इसलिये है कि यत्र तत्र बिखरे विचारों को एकत्र कर उसने उनको एक रूप में बाँधने का प्रयास किया। वह शास्त्रीय विचारधारा ग्रौर समाजवाद के बीच खड़ा रहा किंतु दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इस विषय पर वह निश्चयात्मक ग्रादेश न दे सका। ग्रर्थशास्त्र को दार्शनिक रूप देने ग्रौर उसे व्यापक बनाने का श्रेय मिल को है। 'ग्रर्थशास्त्र के सिद्धांत' (१८४८) इसका प्रमुख ग्रंथ है। [उ० पा० पां०]

मिल, जेम्स (१७७३–१८३६) ग्रंग्रेज इतिहासकार, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक। उन्होंने व्यापार, शिक्षा, प्रेस-स्वतंत्रता, तथा कारागार ग्रनुशासन पर बहुत लेख लिखे। परंतु उनकी प्रमुख रचनाएँ तीन पुस्तकें थीं जिनके विषय थे भारत का इतिहास, राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र के तत्व, ग्रौर मन का विश्लेषण। इतिहास ग्रंथ में उन्होंने ग्रंग्रेजों द्वारा भारत पर विजय एव शासन के संचालकों के व्यवहार की कड़ी ग्रालोचना की। परिणामस्वरूप वह इंग्लैंड के इंडिया हाउस के ग्रधिकारी ग्रौर फिर संचालक नियुक्त कर दिए गए।

उन्होंने इंग्लैंड की राजनीति के दार्शनिक परिवर्तनवाद (philosophical redicalism) की स्थापना की ग्रौर मताधिकार के विस्तृत विस्तार द्वारा सुराज्य (good government) की सुरक्षा का पक्ष लिया। उन्होंने प्रसिद्ध दार्शनिक बेंथम के सिद्धांतों का समर्थन करते हुए उनके मनोवैज्ञानिक पक्ष का विकास किया ग्रौर साहचर्यवाद को मानसिक यांत्रिकी का रूप देकर सर्वोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। उन्होंने सभी मानसिक घटनाग्रों को साहचर्य से ग्रौर समस्त साहचर्य को ग्रव्यवधान ग्रर्थात् एक साथ घटित होने से उत्पन्न प्रतिपादित किया।

सं० ग्रं० — जेम्स मिल : हिस्ट्री ग्रॉव इंडिया; एलीमेंट्स ग्राफ पोलिटिकल एकोनॉमी; एनलिसिस ग्राफ द फेनामेना ग्राफ ह्यू मन माइंड; एलेग्जेंडर बेन : जेम्स मिल; जी० एस० बोवर : हार्टले ऐंड जेम्स मिल। [रा० मू० लू०]

मिलरा ग्रलेग्जांद्र (Millerand Alexandre) एक फ्रांसीसी राजनेता जो १८८५ मे क्रांतिकारी समाजवादी दल की ग्रोर से प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) का सदस्य चुना गया।

१८९९ में मिलरां पहला समाजवादी विचारक था जिसे फ्रांस के मंत्रिमंडल में स्थान प्राप्त हुआ। फ्रांस ने इसके राजनीतिक जीवन का गौरव इसे फ्रांस के गणतंत्र का राष्ट्रपति पद देकर (१९२०-२४) किया। यह क्रांतिकारी समाजवादी था और मार्क्स के समाजवादी विचारों का अनुयायी था। धीरे धीरे इसका झुकाव उदारवादी समाजवाद की ओर होने लगा। कहा जाता है, इसके विचारों के परिवर्तन के कारण दल के मार्क्सवाद का प्रभाव क्षीण होने लगा और इस दल की शक्ति भी घटने लगी। पहले यह उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व तथा मजदूरों के अंतारराष्ट्रीय संगठन आदि विचारों पर निष्ठा रखता था। परंतु वाल्डेक रुसो (Waldeck Rousseau) के मंत्रिमंडल में प्रवेश करने के लिये व्यावहारिक एवं उपयोगी सुधार करके संतुष्ट हो गया। मजदूरों की स्थिति में सुधार, श्रमिकों को संघ बनाने की स्वीकृति, व्यापार का विकास, डाक संगठन का विकास, शिल्पकला प्रशिक्षण, व्यवसायी जहाजों के सुधार आदि कार्यों को उसने उत्साह से किया। इसका विशेष उल्लेखनीय प्रस्ताव 'बूढ़ों को पेंशन' की व्यवस्था करने के संबंध में था जो १९०५ में कानून बन गया। [शु० ते०]

मिलवॉकी (Milwaukie) स्थिति : ४३° १' उ० अ० तथा ८७° ५८' प० दे०। संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिण-पूर्वी विस्कॉन्सिन प्रांत में, शिकागो नगर के उत्तर में, मिलवॉकी, मेनोमनी तथा किनीकिनिक नदियों के संगम पर मिशिगन झील के पश्चिमी तट पर स्थित नगर है। नगर की जनसंख्या ७,४१,३२४ (१९६१) तथा क्षेत्रफल ९६.९ वर्ग मील है। ग्रेट लेक्स मार्ग से बड़े बड़े जहाज सुगमता से नगर तक आ जाते हैं। उत्तम बंदरगाह, उन्नतिशील पृष्ठप्रदेश तथा कच्चे माल की सहज एवं प्रचुर प्राप्ति ने नगर को उत्तम जलपोत केंद्र बना दिया है। मिलवॉकी काउंटी की यह राजधानी भी है। मांस को डिब्बों में भरना और शराब बनाना यहाँ के प्रमुख व्यवसाय हैं। यहाँ मार्केट (Marquette) एवं विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय के अतिरिक्त महाविद्यालय एवं प्रशिक्षण संस्थान हैं। [कै० ना० सिं०]

मिलिंद (मिनेंडर) भारत के पश्चिमोत्तर राज्य का एक प्राचीन यूनानी शासक। सिकंदर महान् की मृत्यु के बाद काबुल तथा पंजाब के क्षेत्र में जिस यूनानी वंश का राज्य स्थापित हुआ, उसके दो प्रसिद्ध शासक थे अपोलोडोटस तथा मिनेंडर। संस्कृत तथा पालि के ग्रंथों में इस मिनेंडर की ही चर्चा मिलिंद के नाम से आई है। स्ट्राबो नामक इतिहास लेखक ने लिखा है कि मिनेंडर ने सिकंदर से भी अधिक जनजातियों को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया था। प्रोफेसर लासेन के अनुसार यह ईसा के लगभग १४४ वर्ष पूर्व राज्य पर प्रतिष्ठित हुआ था। इसके तथा अपोलोडोटस के सिक्के भड़ोच में सन् ७० ई० तक प्रचलित थे।

पतंजलि के महाभाष्य में साकेत के घेरे और यवनराज मिनांद (मिलिंद) की विजय का उल्लेख है। मिलिंद बौद्धधर्म का अनुयायी बन गया था। 'मिलिंद पन्ह' नामक बौद्ध ग्रंथ में विख्यात विद्वान् नागसेन के साथ हुए उसके वादविवाद का वर्णन मिलता है।

मिलिकैन, रॉबर्ट एंड्रूज (Millikan, Robert Andrews, १८६८-१९५३ ई०) अमरीकी भौतिक विज्ञानी थे। इनका जन्म, २२ मार्च, सन् १८६८ को इलिनॉय में हुआ था। इन्होंने ओबेलिन कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त की और १८९१ से १८९३ ई० तक ये इसी कालेज में भौतिकी के अध्यापक रहे। १८९३ ई० में कोलंबिया विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की डिग्री प्राप्त की। १८९६ से १९१० ई० तक सहायक प्रोफेसर तथा १९१० ई० से प्रोफेसर के पद पर आपने शिकागो विश्वविद्यालय में कार्य किया। १९२० ई० से कैलिफोर्निया इंस्टिटयूट ऑव टेक्नॉलोजी में नार्मन ब्रिज भौतिकी प्रयोगशाला में निदेशक के पद पर नियुक्त हुए। सन् १९४५ में इन्होंने इस पद से अवकाश ग्रहण किया।

इलेक्ट्रॉन के विद्युदावेश का सही मान प्राप्त करने के लिये मिलिकैन ने तैलबूँद (oil drop) का प्रयोग १९०६ ई० में प्रारंभ किया और इसका सिलसिला १० वर्षों तक चला। इन प्रयोगों के फलस्वरूप इन्होंने ज्ञात किया कि इलेक्ट्रॉन का विद्युदावेश $4\cdot8\times10^{-10}$ स्थिरवैद्युत् मात्रक (electrostatic unit) होता है। इन्होंने प्रकाश वैद्युत् (photo electric) प्रभाव के लिये आइंस्टाइन के सूत्र $eV = h\nu - p$ की प्रायोगिक जाँच सफलतापूर्वक की और प्लांक नियतांक, h, का मान $6\cdot56\times10^{-27}$ अर्ग सेकंड प्राप्त किया। सन् १९२२ के पश्चात् इन्होंने अनंत अंतरिक्ष से आनेवाली तीव्र भेदनवाली किरणों के संबंध में अनुसंधान किया। आकाश में हजारों फुट ऊँचाई तक में तथा पानी में सैकड़ों फुट गहराई तक में, इन किरणों की भेदन शक्ति की माप की गई और मिलिकैन ने यह सिद्ध किया कि तीव्र भेदनवाली किरणें वायुमंडल के बाहर के अनंत अंतरिक्ष प्रदेश से आती हैं। अंत में इन किरणों का नाम कॉस्मिक किरण रखा गया। प्रकाशविद्युत् तथा इलेक्ट्रॉन आवेश संबंधी अनुसंधानों के उपलक्ष में इन्हें १९२३ ई० में नोबेल पुरस्कार दिया गया। सन् १९५३ में इनका देहावसान हो गया। [भं० प्र० स०]

मिलैन स्थिति : ४५° ३०' उ० अ० तथा ९° १८' पू० दे०। इटली के लोंबार्डी क्षेत्र में स्थित प्रशासनिक, व्यापारिक तथा इटली का दूसरा सबसे बड़ा नगर है। ऐतिहासिक काल में यह पश्चिमी रोम साम्राज्य का प्रशासनिक केंद्र था। नगर में मोटर, हवाई जहाज, रेल इंजन, रबर के सामान, वस्त्र, मुद्रण एवं प्रकाशन संबंधी उद्योग होते हैं। रेशम एवं रेशमी वस्त्र के उत्पादन का भी वृहत् केंद्र है। यहाँ दो विश्वविद्यालय हैं। प्राचीन दर्शनीय भवनों में गोथिक कैथेड्रल एवं ब्रेरा राजप्रासाद प्रमुख हैं। नगर की जनसंख्या १५,८०,९७८ (१९६१) है। [कै० ना० सिं०]

मिल्टन, जान अंग्रेजी के इस प्रसिद्ध कवि का जन्म लंदन में ९ दिसंबर, १६०८ को हुआ था। ये एक समृद्ध लेखक-महाजन के सुपुत्र थे। यह व्यवसाय आधुनिक काल में नष्ट हो गया है परंतु उस समय इस प्रकार के लोग आजकल के बकवालों तथा वकील इन दोनों का काम करते थे। मिल्टन के पिता साहित्य और संगीत के प्रेमी थे, तथा उनके विचार कट्टरपंथी (प्यूरिटन) थे। मिल्टन ने स्वयं उनके

विषय में कहा है 'उनके जीवन में स्थिरप्रज्ञता की आश्चर्यजनक झलक थी'।

मिल्टन की शिक्षा लदन मे सेंट पाल पाठशाला में हुई, और वहाँ उन्होंने प्रतिभासंपन्न व्यक्ति तथा कवि के रूप मे प्रसिद्धि पाई। १६२५ में उन्होंने कैंब्रिज के क्राइस्ट विद्यालय मे प्रवेश किया जहाँ उनका हठी तथा क्रोधी स्वभाव प्रकट हुआ, और आज्ञाभग के फलस्वरूप एक सत्र के लिये वे निष्कासित कर दिए गए। पुन: प्रवेश होने पर उन्होंने विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम पूरा किया और १६३२ मे एम० ए० की पदवी प्राप्त की। उनकी इच्छा धर्मोपदेशक बनने की थी परंतु प्रधान पादरी लाड के निरंकुश शासन के कारण उन्होने अपनी इच्छा त्याग दी और बकिंगहम शायर स्थित हार्टन नामक छोटे से गाँव में चले गए जहाँ उनके पिता अपना व्यवसाय छोड़कर रहने लगे थे। मिल्टन ने अध्ययन तथा स्वानुशासन द्वारा महाकवि बनने के एकमात्र उद्देश्य से हार्टन को ही अपना निवासस्थान बना लिया। उनकी काव्यप्रतिभा विश्वविद्यालय मे लिखी गई प्राय: एक दर्जन विविध विषयों की कविताओं से सिद्ध हो चुकी थी। इन कविताओं मे 'ओड ऑन क्राइस्ट्स नेटिविटी (ईसा मसीह का उत्पत्तिगीत), ऐट ए सालेम म्यूजिक (पवित्र गान के समय), ऐन एपिटाफ आन विलियम शेक्सपियर (शेक्सपियर का समाधिलेख) और ऑन अराइविंग ट् एज आफ ट्वेंटी थ्री (तेईस वर्ष की उम्र होने पर) ये प्रधान हैं। उन्होने लैटिन मे भी सुंदर कविता लिखी है। उनका भव्य काव्य ओड आन क्राइस्टस नैटिविटी (१६२६) बीस वर्ष के युवक के लिय एक अद्भुत सफलता है। इसका नादमाधुर्य, सुंदर उतारचढ़ाव युक्त लय पर आधारित है जिसमे अंत तक कवि की प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है। संपूर्ण काव्य एक ऐसी महान् शक्ति को सूचित करता है जो प्रतिबंधशून्य स्वतंत्र शैली का अनुसरण करती है।

हार्टन में उन्होंने 'एल' अलेग्रो' (प्रसन्नचित्त मानव) तथा 'इल पेंसेरोसो (चिंतायुक्त मानव) ये दो कविताएँ १६३२ में प्रकाशित की। ये दोनो वर्णनात्मक लघु काव्य है जो अष्टाक्षरी दो पंक्तिवाले छंद मे लिखे गए हैं तथा जिनमे क्रमश: आनंदित तथा चिंतित मनुष्य के अनुभवों का वर्णन किया गया है। ये दोनो काव्य पांडित्यपूर्ण कल्पना और चतुर काव्यानुकूल मुहावरो से भरे हुए है। इनके सामने पहले लिखे हुए जानसन, लिली तथा फ्लेचर के लघु काव्य साधारण श्रेणी के लगते है। अभी भी वे अपनी मौलिकता के विषय मे किसी से परास्त नही किए जाते। हार्टन मे लिखी अन्य कविताएँ 'आर्केडिस', 'कोमस' तथा 'लिसिडास' है। आर्केडिस, जो १६३३ मे लिखित एक मूकनाट्य (मास्क) का खंड है, अपने गीतों के लिये विख्यात है। 'कोमस' प्रसिद्ध सगीतशास्त्रज्ञ हेनरी लाज की प्रेरणा से तथा लार्ड ब्रिजवाटर के वैल्स का अध्यक्ष पद ग्रहण करने के उपलक्ष मे लिखा गया था तथा लुडलो कैसल मे (१६३४) खेला गया था। यह १६३५ में प्रकाशित हुआ और सर्वसाधारण की दृष्टि से अंगरेजी के मूक नाटकों में श्रेष्ठ समझा जाता है। मिल्टन के काव्यों में यह अत्यंत निर्दोष काव्य है और इसका 'सद्गुणों का गुणगान' (ए युलजी आफ वर्चू) सार्थक नामकरण किया गया है। कोमस तथा उसके अनुयायी तत्कालीन सभ्रात लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं, सभ्य महिला तथा उसके भाई कट्टरपंथी आदर्श उपस्थित करते हैं जिनमे विचारो की श्रेष्ठता तथा जीवन की पवित्रता का पूर्ण सम्मिश्रण है। शास्त्रीय दृष्टि से, 'कोमस' मिल्टन के तुकशून्य काव्यरचना का प्रथम प्रयत्न है तथा यह कुछ काव्यशरीर की विशेषताओं को छोड़कर 'पैराडाइज लास्ट' से मिलता जुलता है। १६३७ में 'एडवर्ड किंग' नामक मिल्टन के मित्र की मृत्यु हो गई और यही घटना 'लिसिडास' की रचना का कारण बनी। यह एक ग्राम शोकगीत है तथा शेली के 'अडोनेस', मैथ्यू आर्नल्ड के 'थीसिस' इत्यादि सर्वोत्तम अंगरेजी शोकगीतों के लिये आदर्श हो गया। यह कल्पना की विविधता तथा रचना की एकरूपता मे उपरिनिर्दिष्ट दोनों काव्यों से अधिक सुंदर है। अनुप्रास तथा लय की कोमलता को प्रकट करनेवाला ऐसा दूसरा काव्य अंगरेजी साहित्य मे नहीं है। उसी प्रकार 'लिसिडास' के आकार की बहुत कम कविताएँ हैं जिनमे विचार तथा स्वरमाधुर्य की दृष्टि से अधिक से अधिक संख्या में समुचित तथा असाधारण शब्दविन्यास किया गया हो। इस काव्य मे ऐसा एक भी अंश तथा पंक्ति नहीं होगी जो पूर्ण रूप से काव्यमय न हो। 'लिसिडास' केवल स्वरमाधुर्य के लिये ही नही परंतु काव्य की सजावट, विशेषणों का उत्तरोत्तर गौरव तथा भावनाओं का ऊँचे दर्जे का गांभीर्य आदि गुणों के लिये भी बेजोड़ है।

१६३८-३९ मे उन्होंने छह महीने इटली की यात्रा की जहाँ इटालियन साहित्यकारों ने उनका हृदय से स्वागत किया। इटली से लौटने पर उन्होंने अपनी विधवा बहन के बच्चों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया। परंतु इसी समय इंग्लैंड में गृहयुद्ध छिड़ गया और मिल्टन को लेखनी पार्लिमेंट की सहायता के लिये सक्रिय हो उठी, क्योंकि वे प्रतिनिधि सभा से अत्यधिक प्रेम रखते थे। उन्होंने अपने जीवनकाल के मध्य के बीस वर्ष तक (१६४०-६०) पचीस छोटे लेख प्रकाशित किए जिनमें से बीस अंगरेजी मे तथा शेष लैटिन में लिखे। इसके अतिरिक्त बीच बीच में उन्होने कुछ इटालियन तरीके के सानेट (चतुर्दशपदी) भी प्रकाशित किए जिनमे से कुछ अंगरेजी मे सर्वोत्तम समझे जाते हैं। लघु लेखों में 'एरिओपे जिटिका' नामक लेख (१६४४ ई०) सर्वोत्कृष्ट है जिसमे प्रेस स्वातंत्र्य के निमित्त आवेगपूर्ण आग्रह है। १६४१ ई० मे उन्होंने मेरी नामक सत्रह वर्षीय युवती के साथ विवाह किया। यह युवती रिचर्ड पॉवेल की ज्येष्ठ कन्या थी। परंतु यह देखकर कि विख्यात परंतु कट्टर धर्मपंथी मिल्टन के साथ जीवनयात्रा अधकारमय है, विवाह के महीने भर बाद ही वह अपने पिता से मिलने गई और लौटने से इनकार कर दिया। इसी के बाद मिल्टन ने 'तलाक के सिद्धांत तथा अनुशासन' पर एक पुस्तका लिखी (१६४३ ई०)। इसके बाद 'मार्टिन ब्यूसर का तलाक विषयक निर्णय' प्रकाशित हुआ। १६४५ मे उनकी पत्नी लौट आई और तीन पुत्रियों की माँ बनने के बाद १६५२ में मर गई। १६४१ मे वे 'कौंसिल आफ स्टेट' के लैटिन सेक्रेटरी बन गए और रेस्टोरेशन (पुन. राजतंत्र स्थापित होने) तक इसी पद पर बने रहे। इस समय उन्होंने कई पुस्तिकाएँ लिखीं और चार्ल्स द्वितीय के लौटने के पूर्व ही 'प्रजातंत्र स्थापित करने के सहज तथा सरल उपाय' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की। अब मिल्टन खतरे के बाहर न थे। राजभक्त उनके विरोध में उत्तेजित हुए।

वे पकड़े गए। परंतु जमानत होने के कारण उनके संकटों का अंत हुआ। उन्होंने १६५८ ई० में दुबारा विवाह किया। इस पत्नी की भी मृत्यु के दो वर्ष बाद उन्होंने १६६३ में एलिजाबेथ मिंसल से शादी की।

अब अंध, निर्धन तथा उपेक्षित अवस्था में उन्होंने चिरकाल से अभिलषित महाकाव्य लिखना प्रारंभ कर दिया। 'पैराडाइज लास्ट' १६५८ ई० शुरू किया गया तथा आब्रे के अनुसार पाँच वर्ष बाद समाप्त हुआ, यद्यपि उसका प्रकाशन १६६७ तक नहीं हुआ। 'पैराडाइज रिगेंड' (पुनः स्वर्गप्राप्ति) १६७१ ई० में प्रकाशित किया गया। इसी समय उनका अंतिम महत्वपूर्ण ग्रंथ 'सैम्सन अगोनिस्टीज' नामक ग्रीक आदर्श पर लिखा हुआ नाटक प्रकाशित हुआ। परंतु यह रंगमंच पर खेलने के उद्देश्य से नहीं लिखा गया था। मिल्टन की मृत्यु ८ नवंबर, १६७४ को हुई तथा वे क्रिपलगेट के सेंट गाइल्स में दफनाए गए। यहाँ उनकी स्मृति में एक स्मारक बनाया गया। 'वेस्ट मिंस्टर एबे' में भी उनका एक दूसरा स्मारक विद्यमान है।

उनके जीवन के अंतिम तीन काव्यग्रंथ अंग्रेजी काव्यजगत् के उत्कृष्ट आभूषण हैं। 'पैराडाइज लास्ट' होमर, व्हर्जिल तथा टैस्सो के विस्तृत आदर्श पर लिखा हुआ अंग्रेजी भाषा का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है, तथा 'पैराडाइज रीगेंड' 'बुक आफ जाब' के संक्षिप्त आदर्श पर लिखा श्रेष्ठ महाकाव्य है। इनमें से दूसरा सीमित तथा गंभीर शैली में लिखा हुआ अंग्रेजी काव्यग्रंथों में अद्वितीय है। 'पैराडाइज लास्ट' पूर्ण रूप से प्राचीन ग्रीक महाकाव्यों के स्वरूप का अनुकरण करता है। उसका विषय मानव का पतन है। विचारधारा मे वह प्रभावपूर्ण है। वह ऐसे सभी विस्तृत वर्णनों से अधिकाधिक परिपूर्ण है जिनको प्राचीन महाकाव्यों के तथा क्रिश्चियन धर्मग्रंथ के ज्ञान से परिपुष्ट हुई मिल्टन की अनोखी कल्पनाशक्ति प्रकट करती है। तुक-रहित छंद की कल्पना नई तथा आश्चर्यजनक है। इसमें कविता-पाठ का उतारचढ़ाव, यति, लय तथा स्वरमाधुर्य आदि गुण प्रारंभ से अंत तक बिखरे हुए हैं। 'पैराडाइज रीगेंड' यद्यपि आकार में संकुचित है तथापि उपदेश, नीतिशास्त्र तथा आध्यात्मिकता, इन गुणों के कारण अधिक सुंदर है। 'सैम्सन अगोनिस्टीज' अंग्रेजी काव्यमय नाटकों में जो तीन चार सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं उनमे से एक है। शैली में वह कठोर होने पर भी भावपूर्ण है। वह मिल्टन की ही जीवनकथा का नाटकीय प्रमाणपत्र है। स्थान स्थान पर मिल्टन की हठी आत्मा *करुणार्द्र तथा परलोकश्रद्धा से ऊँची हो उठती है। उसके सहगीत* (कोरस) एक अनोखी सफलता दिखाते हैं।

मिल्टन के अनेक जीवनचरित्र प्रकाशित हुए हैं, परंतु मैसन द्वारा छह भागों में लिखी जान मिल्टन की जीवनी, जो १८५९-८० में प्रकाशित हुई, सर्वांगसुंदर है। मैसन ने मिल्टन के ग्रंथ भी प्रकाशित किए हैं (दूसरा सस्करण १८९०)।

सं० ग्रं० — दि वर्क्स ऑव जॉन मिल्टन इन वर्स ऐंड प्रोज, संपादक जे० मिटफोर्ड, आठ भागों में। पोइटिकल वर्क्स, संपादक, सर ऐच० न्यूबोल्ट। मिल्टन, लेखक एम० पैटिसन। लाइफ ऑव मिल्टन लेखक आर० गारनट। दि एज ऑव मिल्टन, लेखक जे० एच० मास्टरमैन। मिल्टन, लेखक सर वाल्टर रैले। मिल्टन, लेखक जे० पी० वेली। मिल्टन, मैन ऐंड थिंकर, लेखक डी० सौरट। मिल्टन, लेखक ई० एम० डब्लू० टिलियार्ड। मिल्टन, लेखक रोज मैकाले।

[ब० ला० सा०]

मिशिगैन झील संयुक्त राज्य अमरीका में मीठे पानी का सबसे बड़ा जलाशय एवं ग्रेट लेक्स समूह में तीसरे क्रम की झील है। यह पूर्ण रूप से संयुक्त राज्य अमरीका के अधिकार में है तथा लगभग ३०० मील लंबी एवं ७५ मील चौड़ी है। सागरतल से इसकी सतह ५८१ फुट ऊँची है। इसकी अधिकतम गहराई ९२३ फुट है। इसके माध्यम से पूर्व में ऐटलैंटिक महासागर तक तथा नहर और मिसीसिपी नदी मार्ग के द्वारा मेक्सिको की खाड़ी तक जलमार्ग प्राप्त होता है। इसके किनारे शिकागो, मिलवॉकी, ग्रैंड हैवेन तथा ग्रीन बे आदि नगर स्थित हैं। व्यापार की दृष्टि से यह काफी महत्वपूर्ण झील है।

[कै० ना० सिं०]

मिश्र, केशवप्रसाद आचार्य केशवप्रसाद जी के पूर्वज बस्ती जिला के धर्मपुर गाँव से कई शताब्दी पूर्व काशी आकर भदैनी मुहल्ले में बस गए। प्राचीन राममंदिर के पास ही आप लोगों का पैतृक गृह था। यहीं विक्रम संवत् १९४२ की चैत्र कृष्ण सप्तमी को मिश्र जी का जन्म हुआ। पंडित जी अपने पिता पं० भगवतीप्रसाद वैद्य के ज्येष्ठ पुत्र थे। किशोरावस्था खेलकूद और पतंगबाजी में बीती। आपने १४ वर्ष की अवस्था में पं० योगेश्वर झा से व्याकरण पढ़ना आरंभ किया। क्रमशः जयनारायण हाई स्कूल और संस्कृत महा-विद्यालय (वर्तमान वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) में शिक्षा प्राप्त की। अपने गुरु पं० योगेश्वर जी की बाल पाठशाला से ही आपने अध्यापन कार्य प्रारंभ किया। महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री जी के साग वेद विद्यालय में कुछ काल तक व्याकरण पढ़ाते रहे। इसी काल में श्री माधवाचार्य, श्रीराम शास्त्री, महामहो-पाध्याय गंगाधर शास्त्री, गोस्वामी दामोदरलाल जी प्रभृति मनीषियों की छत्रछाया मे साहित्य, व्याकरण, वेदांत, दर्शन का भी अध्ययन करते रहे। अपने अध्यवसाय से अंग्रेजी में इंटर की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और साहित्य में काव्यतीर्थ की उपाधि प्राप्त की। बिना किसी गुरु के स्वाध्याय द्वारा बँगला, गुजराती, फ़ारसी, पालि, जर्मन, लैटिन, आदि भाषाओं में दक्षता प्राप्त कर ली। आयुर्वेद में भी आप-की असाधारण प्रगति थी। सुश्रुत, अष्टांगहृदय, आदि ग्रंथों के बहुत से स्थल आपको कंठस्थ थे। साहित्य क्षेत्र में आचार्य पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी को अपना गुरु मानते थे। १९१४-१९१६ तक आपने सनातन धर्म हाई स्कूल, इटावा में अध्यापन किया। १९१६ में आप काशी के विख्यात सेंट्रल हिंदू स्कूल मे अध्यापक नियुक्त हुए। यहीं से आप १९२८ मे पदोन्नति कर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के सेंट्रल हिंदू कालेज के हिंदी विभाग में प्राध्यापक होकर चले आए और अवकाश-ग्रहण तक यहीं बने रहे। १९४१-५० तक हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहकर आपने अवकाश ग्रहण किया। विश्वविद्यालय ने १९५२ में पंडित जी को डाक्टर ऑव लेटर्स की संमानित उपाधि प्रदान की थी। इनकी सरसता, प्रतिभा तथा विद्वत्ता से पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय जी इतने प्रभावित थे कि इनकी नियुक्ति का स्वयं ही प्रस्ताव किया था।

पंडित जी अध्ययनशील तथा स्वभावतः एकांतप्रिय व्यक्ति थे। उनके ओजस्वी संस्कृत धारावाही भाषण तथा लेखन से अनवा

पांडित्य टपकता था। उनका अंग्रेजी भाषाज्ञान भी बहुत अच्छा था। उन्होंने अंग्रेजी में बहुत से निबंध लिखे जो प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। अपभ्रंश पर आपका इंडियन एंटीक्वेरी में निबंध प्रकाशित हुआ। उनके शोधात्मक दृष्टिकोण से देश विदेशों के विद्वान् विशेषतः प्रभावित हुए। उनके लेखों का संकलन और संस्मरण नागरीप्रचारिणी पत्रिका के 'केशव स्मृति अंक' में संकलित हैं।

पंडित जी हिंदी और संस्कृत दोनों भाषाओं में पद्यरचना करते थे। आपका कालिदास के मेघदूत का खड़ी बोली में पद्यानुवाद भाव, भाषा और सौंदर्य की दृष्टि से अनूठी कृति है।

आपकी अनेक भूमिकाओं में मधुमती की भूमिका विशिष्ट है। कामायनी अध्यापन आपका प्रिय विषय था। आपका गद्य बहुत ही भावपूर्ण होता था।

'हिंदी वैद्युत शब्दावली', अंग्रेजी हिंदी तकनीकी शब्दों का आपका कोश १९२५ में प्रकाशित हुआ था। 'हिंदी शब्द सागर' में शब्दों की व्युत्पत्ति का कार्य आपकी देखरेख में चला था। परंतु पंडित जी की सबसे बड़ी विशिष्टता उनकी आलोचनापद्धति है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और पंडित जी का आलोचनात्मक विवेचन भिन्न सिद्धांत और दिशा में होता था। शुक्ल जी की जीवनदृष्टि प्रयत्नवादी थी। मिश्र जी की अध्यात्मवादी। मिश्र जी भारतीय संस्कारों से परिपोषित दृष्टिकोण से देखते थे। उनका आचार्य शुक्ल के रस-मीमांसा-सिद्धांत से वैषम्य था। पंडित जी के मौलिक विचार मेघदूत के पद्यानुवाद, 'आदर्श और यथार्थ', शांतिप्रिय द्विवेदी के 'परिचय की भूमिका' काव्यालोक, गद्य भारती, पदचिह्न, हिंदी वैद्युत शब्दावली, शुद्ध साहित्य का आनंद प्रदान करते हैं। देवभाषा संस्कृत में पंडित जी ने 'हरिवंश गुण-स्मृति' नामक प्रबंध काव्य की रचना की। संस्कृत पढ़ने एवं सीखनेवालों के लिये दो भागों में संस्कृत सारिणी नामक पुस्तक लिखी। आपके अक्षर मोतियों के समान सुडौल और सुगठित होते थे।

पंडित जी की मित्रमंडली में उस समय के प्रसिद्ध साहित्यिक और कवि थे जिनमे प्रमुख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, बाबू राधेकृष्णदास, पं० रामदहिन मिश्र, पं० रामनारायण मिश्र, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, और जयशंकर प्रसाद, जैसे, प्रसिद्ध ख्यात व्यक्ति थे। सहयोगियों में बाबू श्यामसुंदर दास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, लाला भगवानदीन, पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र आदि थे। आप संगीत और कला में अभिरुचि लेते एवं उसके उत्तम पारखी थे। आपकी अनेक पद्य रचनाएँ 'सरस्वती' और 'इंदु' में प्रकाशित हुई थीं।

पंडित केशवप्रसाद जी का सौर चैत्र ७, संवत् २००८ में काशी में देहावसान हो गया। [श्री० च० पां०]

मिश्र, गुमान ये सांडी (जिला हरदोई) के निवासी थे और सं० १८०६ वि० मे वर्तमान थे। अपना परिचय देते हुए कवि ने स्वयं लिखा है कि वह मिश्र ब्राह्मण और सबसुख मिश्र का शिष्य है। ये संस्कृत और हिंदी भाषा तथा साहित्यशास्त्र के पंडित थे। कुछ समय तक ये दिल्ली में मुहम्मदशाह सम्राट् (१७१९-१७४८ ई०) के यहाँ राजा जुगुलकिशोर भट्ट के पास रहे। फिर पिहानी के मुहमदी महराज अकबर अली खाँ के यहाँ गए थे। उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने हर्षकृत संस्कृत ग्रंथ 'नैषध' को 'काव्यकलानिधि' नाम से हिंदी में भाषांतरित किया। इसका भाषांतरण काल सं० १८०५ वि० है। इस अनुवाद का प्रकाशन श्री वेंकटेश्वर प्रेस से हो गया है जो काफी अशुद्ध है। खोज रिपोर्टों में इसके अतिरिक्त इनकी दो और कृतियाँ कही गई हैं — १. अलंकार दर्पण और २. गुलाल चंद्रोदय। इनमें प्रथम का निर्माणकाल सं० १८१८ और दूसरे का सं० १८११ वि० है। 'अलंकारदर्पण' का वर्ण्यविषय अलंकारों का वर्णन करना है। 'गुलालचंद्रोदय' की रचना बिसवाँ (जिला सीतापुर) के तालुकेदार के आश्रय में हुई थी। 'नैषध' के अनुवाद को कवि ने नाना छंदों में करके सफल बनाने की चेष्टा की है, किंतु उसमें उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है। काव्य चमत्कार की ओर कवि का स्वाभाविक झुकाव था, यह इस अनुवाद से स्पष्ट ज्ञात होता है। कवि की रचनाओं से उसकी काव्य-कला-मर्मज्ञता तथा उसके अभिव्यंजना कौशल का अच्छा परिचय मिलता है।

सं० ग्रं० : रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग० १; मिश्रबंधु : मिश्रबंधु विनोद, खोज विवरण, सन् १९०५ (प्रकाशन, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)। [रा० के० त्रि०]

मिश्र, चंद्रशेखरधर 'रत्नमाला' पंडित चंद्रशेखरधर मिश्र का जन्म बिहार प्रांत के चंपारन जिले में स्थित रत्नमाला नामक गाँव में पौष बदी २, संवत् १९१५ में हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित कमलाधर मिश्र था जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कवि थे। विद्या की ओर प्रारंभ से ही रुचि होने के कारण इन्होंने विभिन्न विद्वानों से संस्कृत व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य और आयुर्वेद की अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ली। संस्कृत के साथ इन्होंने प्रसिद्ध हिंदी काव्यों का भी सम्यक् अध्ययन किया। बंगला और उर्दू भाषा में भी इनकी अच्छी गति थी। समाजसेवा की प्रबल कामना से इन्होंने चंपारन के अतिरिक्त गोरखपुर, बस्ती, अयोध्या, काशी, प्रयाग आदि नगरों में 'विद्या धर्म वर्द्धिनी सभा' की स्थापना की। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' से इनकी घनिष्ठ मित्रता थी।

विभिन्न नगरों में स्थापित सभाओं के सुचारु संचालन के लिये इन्हें भारतेंदु, मझौली के राजा खड्गबहादुर मल्ल और पंडित उमापति शर्मा ने (जिन्हें पं० नकछेदराम के नाम से लोग जानते थे) आर्थिक सहायता दी थी। चंपारन में त्रिवेणी नहर का निर्माण इन्हीं के प्रयत्न का फल था। संवत् १९४० मे इनके पिता का देहावसान हो गया। उसके पश्चात् इन्हें अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। इन्होंने वैद्यक को अपनी जीविका का साधन बना लिया था। हिंदी सेवा की लगन के कारण अपने व्यस्त कार्यक्रम से थोड़ा बहुत समय निकाल ये हिंदी में रचनाएँ किया करते थे। संवत् १९४४ में इन्होंने 'विद्या-धर्म-दीपिका' नाम की मासिक पत्रिका निकाली थी। 'चंपारन चंद्रिका' नामक साप्ताहिक पत्रिका का भी इन्होंने संपादन किया था। ये आशुकवि थे। एक बार कलकत्ते मे एक राजा के परीक्षा लेने पर इन्होंने अनेक विद्वानों के सामने एक मिनट में तीन कविताएँ करके सुनाई थीं। पंडित सत्यव्रत सामश्रमी ने इनकी कविता पर मुग्ध होकर इन्हें 'कवींद्र' की उपाधि दी थी। महामना

मदनमोहन मालवीय जी भी इनका बड़ा संमान करते थे। संवत् १९५८ में ये बाबू श्यामसुंदर दास से परिचय होने पर नागरीप्रचारिणी सभा के संपर्क में आए। फाल्गुन शुक्ला ४, संवत् २००५ में इनका स्वर्गवास काशी में ही हुआ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कथनानुसार हिंदी में वर्णवृत्तों मे सर्वप्रथम रचना करनेवाले ये ही थे। इन्होंने संस्कृत में काव्य, नीति, और वैद्यक के १२ ग्रंथ तथा हिंदी कविता की तीस पुस्तकें लिखी थीं। इनके अतिरिक्त इन्होंने एक नाटक, पाँच उपन्यास, और अनेक पुस्तकें विविध विषयों पर रची थीं। एक पुस्तकालय और दो पाठशालाएँ इन्होंने खोली थीं। [ला० ध० त्रि०]

मिश्रधातु (Alloy) व्यापक रूप में एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग किसी भी धात्विक वस्तु के लिये होता है, बशर्ते वह रासायनिक तत्व न हो। मिश्रधातु बनाने की कला अति प्राचीन है। सत्य तो यह है कि काँसे का महत्व एक युग में इतना अधिक था कि मानव सभ्यता के विकास के उस युग का नाम ही काँसा युग पड़ गया है। यद्यपि शुद्ध धातुओं के कई उपयोगी गुण हैं, जैसे ऊष्मा और विद्युत् की सुचालकता, तथापि यांत्रिक और निर्माण संबंधी कार्यों मे साधारणतया शुद्ध धातुएँ उपयोग में नहीं लाई जातीं, क्योंकि इनमें आवश्यक मजबूती नहीं होती। धातु को अधिक मजबूत बनाने की सबसे महत्वपूर्ण विधि धातुमिश्रण (alloying) है। इस दिशा मे १९वीं शताब्दी में बहुत अधिक प्रयास हुआ, उसी का फल है कि अनेक उपयोगी कार्यों के लिये आज पाँच हजार से भी अधिक मिश्रधातुएँ उपलब्ध हैं और नई मिश्रधातुएँ तैयार करने के लिये नित्य नए नए प्रयोग किए जा रहे हैं। आज किसी विशेष उपयोग के लिये इच्छित गुणोंवाली मिश्रधातुएँ बनाई जाती हैं।

धातुएँ जब किसी सामान्य विलयन, जैसे अम्ल, मे घुलती है तब वे अपने धात्विक गुणों को छोड देती हैं और साधारणतया लवण बनाती हैं, किंतु पिघलाने पर जब वे परस्पर घुलती हैं तब वे अपने धात्विक गुणों के सहित रहती हैं। धातुओं के ऐसे ठोस विलयन को मिश्रधातु कहते हैं। अनेक मिश्रधातुओं मे अधातुएँ भी अल्प मात्रा मे होती हैं, किंतु संपूर्ण का गुण धात्विक रहता है। अत. १९३९ ई० मे अमरीका वस्तु परीक्षक परिषद् ने मिश्रधातु की निम्नलिखित परिभाषा की—"मिश्रधातु वह वस्तु है जिसमे धातु के सब गुण होते हैं। इसमे दो या दो से अधिक धातुएँ, या धातु और अधातु, होती हैं, जो पिघली हुई दशा मे एक दूसरे मे पूर्ण रूप से घुली रहती हैं और ठोस होने पर स्पष्ट परतो मे अलग नहीं होतीं।" प्रारंभ मे मिश्रधातु का अधिकतम उपयोग सिक्कों और आभूषणों के बनाने में होता था। तांबे के सिक्कों मे तांबा, टिन और जस्ता क्रमश ९५, ४ तथा १ प्रति शत रहते हैं। सन् १९२० तक इंग्लैंड में चाँदी के सिक्के, 'स्टर्लिंग' चाँदी के बनाए जाते थे, जिनमें चाँदी और तांबा क्रमश. ९२·५ और ७·५ प्रति शत होते थे। अमरीका मे चाँदी के सभी सिक्कों मे चाँदी और तांबा क्रमश: ९० तथा १० प्रति शत होते हैं। इंग्लैंड के सोने के सिक्कों मे सोना और तांबा क्रमश: ९१·६७ और ८·३३ प्रति शत होते हैं और अमरीकी सोने के सिक्को में सोना ९० प्रति शत तथा शेष अन्य धातुएँ, विशेषकर तांबा, रहता है। प्लैटिनम, सोना तथा चाँदी के आभूषणों के रंगों में सुंदरता लाने के लिये, उनको कठोर, मजबूत तथा टिकाऊ बनाने के लिये, या उन्हें सस्ते मूल्यों मे विक्रय के लिये, दूसरी धातुओं के साथ मिलाकर काम में लाते हैं।

यह निश्चय करना कि मिश्रधातुएँ साधारण मिश्रण हैं या रासायनिक यौगिक, एक जटिल समस्या है। कुछ अर्थों मे ये रासायनिक यौगिक हैं, क्योंकि जब सोडियम सरस बनाया जाता है, तब सोडियम के हर एक टुकडे को पारे मे डालने से प्रकाश की तीव्र ज्वाला निकलती है और पारा गरम हो जाता है, यह यौगिक बनने का लक्षण है। इसी प्रकार पिघलते हुए सोने मे जब ऐल्युमिनियम धातु का एक टुकडा डालते हैं, तब इतनी अधिक ऊष्मा उत्पन्न होती है कि संपूर्ण पिघली हुई धातु उज्ज्वल प्रकाशमय हो जाती है। अनेक मिश्रधातुओं का रंग अपने अवयव धातुओं के रंगों से बिल्कुल भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, चाँदी और जस्ता दोनों श्वेत रंग के होते हैं, किंतु इनसे जो मिश्रधातु बनती है उसका रंग अति सुंदर गुलाबी होता है। सोना पीला और ऐल्युमीनियम श्वेत होता है, किंतु इनकी मिश्रधातु का रंग अति चमकीला नीललोहित होता है। यह गुण भी यौगिकों का है।

मिश्रधातुओं के गलनांक निकालने पर ज्ञात हुआ है कि मिश्रधातुओं का व्यवहार दो प्रकार का है. कुछ मिश्रधातुओं का गलनांक जैसे जैसे किसी अवयव धातु की मात्रा बदलती है वैसे वैसे बदलता है, यह मिश्रण का गुण है, और कुछ मिश्रधातुओं का गलनांक एक स्थिर ताप होता है, जो प्रकट करता है कि मिश्रधातुएँ यौगिक हैं।

ऊपर वर्णित फलों द्वारा तथा सूक्ष्मदर्शी, एक्स-किरण वर्णक्रममापी, ऊष्मीय तथा रासायनिक विश्लेषण और दूसरे भौतिक परीक्षणों द्वारा मिश्रधातुओं के संगठन तथा क्रिस्टलीय रचना के विस्तृत अध्ययन के परिणामस्वरूप, मिश्रधातुओं को तीन श्रेणियों में रखा गया है। यह विभाजन मिश्रधातुओं में अवयव धातुओं के परमाणुओं का समूह किस प्रकार से संगठित है, उसके आधार पर किया गया है। ये तीन श्रेणियाँ निम्नलिखित है

(१) सामान्य मिश्रण — इस प्रकार की मिश्रधातुओं में अवयव धातुएँ जब पिघली हुई रहती है, तब वे एक दूसरे मे घुली हुई होती है, किंतु ठोस होने पर धातुओं के क्रिस्टल अलग अलग हो जाते हैं, अर्थात् धातुएँ परस्पर अविलेय हैं। इस प्रकार की मिश्रधातु प्रत्येक अवयव धातु के शुद्ध क्रिस्टल का मिश्रण होती है और ठंढा करने पर कोई एक अवयव धातु ठोस रूप में पृथक् हो जाती है। उदाहरणार्थ, एक तरल मिश्रधातु, जिसमे मात्रानुसार १० भाग सीसा और ९० भाग टिन होते हैं, जब ठंढी की जाती है तब शुद्ध टिन के क्रिस्टल प्रथम उसी प्रकार से पृथक् होते हैं जिस प्रकार शुद्ध हिम के क्रिस्टल चीनी के तनु विलयन में से ठंढा करने पर पृथक् होते हैं। जिस ताप पर टिन के क्रिस्टल पृथक् होना प्रारंभ करते हैं, वह ताप शुद्ध टिन के गलनांक से कम होता है। टिन के गलनांक को, जब उसमें सीसा घुला रहता है, ज्ञात कर सीसे का अणुभार उसी नियम द्वारा निकालते हैं जिस नियम से पानी में घुली वस्तुओं का अणुभार निकालते हैं। इस विधि से उन कई धातुओं का अणुभार निकाला गया है, जो तनु धात्विक विलयन में अलग परमाणु के रूप

में रहती है। सीसा-ऐंटीमनी मिश्रधातु मिश्रण श्रेणी की है। ऐंटीमनी भंगुर होता है और सीसा मुलायम। मुद्रण धातु सीसा, ऐंटीमनी और अत्यंत कम मात्रा में टिन की मिश्रधातु है। इस मिश्रधातु में ऐंटीमनी की कठोरता तो होती है, किंतु यह उसकी तरह भंगुर नहीं होती।

(२) ठोस विलयन — इस प्रकार की मिश्रधातुओं में एक अवयव धातु के परमाणु दूसरी अवयव धातु के क्रिस्टलीय ढाँचे (crystalline lattice) में भली भाँति बैठ जाते हैं। ठोस विलयन श्रेणी की मिश्रधातुएँ दो भिन्न प्रकार की होती है (क) प्रतिस्थापित ठोस विलयन — वे होते हैं, जिनमें एक तत्व के परमाणु दूसरे तत्व के क्रिस्टलीय ढाँचे में उन्हीं स्थानों को ग्रहण करते हैं जहाँ पर उनके पहले दूसरे तत्व के परमाणु स्थित थे। इस प्रकार की ठोस विलेयता दोनों तत्वों के परमाणुओं के तुलनात्मक आकार पर निर्भर करती है। अगर परमाणुओं के अर्द्धव्यास सर्वसम (identical), या लगभग समान हों, तो ठोस विलेयता पूर्ण रूप में होगी। उदाहरणार्थ, ताँबे के परमाणु का अर्द्धव्यास १·२७५ × १०$^{-}$ सेमी० तथा निकल के परमाणु का अर्द्धव्यास १·२४३ × १०$^{-}$ सेंमी०का होता है, अतः इनकी मिश्रधातु में ठोस विलेयता पूर्ण रूप से होगी। अगर अर्द्धव्यासों में अधिक अंतर हो, जैसे टिन और सीसे के परमाणुओं का अर्द्धव्यास क्रमश. १·५० × १०$^{-}$ तथा १·७४६ × १०$^{-}$ सेमी० है, तो केवल सीमित ठोस विलेयता होगी। अगर दोनों धातुओं के ऋणविद्युती अंतर (electronegative difference) में कमी हो, तो इस प्रकार की ठोस विलेयता और भी अच्छी तरह से होगी। (ख) अंतराकाशी (interstitial) मध्य ठोस विलयन — इस प्रकार की मिश्रधातुओं में अधातु तत्व, जैसे हाइड्रोजन, कार्बन, नाइट्रोजन और बोरॉन के लघु परमाणु धातु के क्रिस्टलीय ढाँचे के मध्यस्थानों में अपना स्थान बनाते हैं। साधारणत, इससे धातु की रचना में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता है, केवल उसमें थोड़ी सी विकृति (distortion) आ जाती है। हॉग (Hogg) के अनुसार अंतराकाशी मध्य ठोस विलयन तभी बनेंगे, जब अधातु और धातु के परमाणुओं के अर्द्धव्यासों का अनुपात ०·५९ से कम हो।

ताँबा-निकल की अनेक मिश्रधातुएँ, जिनका महत्वपूर्ण उपयोग है, ठोस विलयन की श्रेणी में आती हैं; उदाहरणार्थ, वे मिश्रधातुएँ जिनसे निकल के सिक्के, राइफल की गोलियों की टोपियाँ और एक तार जिसका वैद्युत प्रतिरोध अधिक होता है, बनता है। कैनाडा के बहुत से खनिजों में ताँबा और निकल के सल्फाइड होते हैं, जिनको गलाने से एक मिश्रधातु मिलती है। इसमें निकल और ताँबा क्रमश ६७ और २८ प्रति शत तथा शेष पाँच प्रतिशत में लोहा और मैंगनीज होते हैं। इस मिश्रधातु को मोनेल (Monel) धातु कहते हैं। यह अधिक तन्य, लचीली तथा संक्षारण प्रतिरोधक होती है।

(३) अंतराधातुक यौगिक (Intermetallic compound) — साधारणतः धातुएं एक दूसरे के साथ संयोग कर यौगिक नहीं बनाती, किंतु ऊष्मा विश्लेषण द्वारा ज्ञात हुआ है कि धातुएँ एक दूसरे के साथ संयोग कर बहुत अधिक संख्या में यौगिक बनाती हैं। इन यौगिकों का वर्गीय नाम अंतराधातुक यौगिक है। इस प्रकार के सबसे अधिक यौगिक क्षार और क्षारीय मिट्टी की धातुएँ, आवर्त सारणी के विषम उपवर्गों (odd subgroups) की धातुओं के साथ संयोग करके, बनाती हैं। इन यौगिकों में धातुएँ किस मात्रा में मिली हुई हैं, इसको रासायनिक सूत्रों द्वारा दर्शाते हैं। इन सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के यौगिक संयोजकता के उन सब नियमों का उल्लंघन करते हैं जो धातु तथा अधातु के संयोग से बननेवाले यौगिकों द्वारा प्रतिपादित हुए हैं। उदाहरणार्थ, सोडियम, टिन और सीसा के साथ रासायनिक क्रिया कर निम्नलिखित यौगिक बनाता है :

सो वं ($NaSn_6$), सो वं ($NaSn_4$) सो वं ($NaSn_3$), सो वं ($NaSn_2$), सो वं ($Na\,Sn$), सो वं ($Na_4\,Sn_3$), सो वं ($Na_2\,Sn$), सो वं ($Na_3\,Sn$), सो वं ($Na_4\,Sn$); सो सी ($Na\,Pb_6$), सो सी ($Na_4\,Pb_9$), सो सी ($Na\,Pb$), सो सी ($Na_2\,Pb$) तथा सो सी (Na_4Pb)।

अनेक अंतराधातुक यौगिक बहुत स्थायी होते हैं और अपने गलनांक से अधिक ताप पर गरम करने से भी अपनी अवयव धातुओं में विघटित नहीं होते। ये यौगिक तरल अमोनिया में घुलते हैं और इस प्रकार से जो विलयन तैयार होता है, वह वैद्युत् चालक होता है। जब इनका वैद्युत अपघटन किया जाता है, तब एक अवयव धातु, जो दूसरी की अपेक्षा न्यून धनविद्युती (electropositive) होती है, धनाग्र पर जमती है और दूसरी ऋणाग्र पर। अंतराधातुक यौगिक क्यों बनाता है, इसकी अभी तक सैद्धांतिक व्याख्या नहीं हुई। केवल इतना ही प्रतिपादित हो पाया है कि वे धातुएँ, जिनके गुण एक से हैं, एक दूसरे के साथ संयोग नहीं करती हैं। चूँकि इस प्रकार की मिश्रधातुएँ कठोर, भंगुर, बहुत ही कम तन्यशील तथा लचीली होती हैं, अत. इनमें से केवल कुछ ही उपयोगी हैं।

मिश्रधातुओं के भौतिक तथा रासायनिक गुण अपनी अवयव-धातुओं के गुणों से भिन्न होते हैं और मिश्रधातुओं के गुण किसी भी प्रकार से अवयव धातुओं के गुणों के माध्य नहीं होते। यह भिन्नता इस कारण से है कि जब धातुओं को एक साथ पिघलाते हैं, तब वे कितने ही अंतराधातुक यौगिक तथा ठोस विलयन बनाती हैं। मिश्रधातु का घनत्व अपनी अवयव-धातुओं के माध्य घनत्व से कम या अधिक हो सकता है। कुछ मिश्रधातुओं का रंग अपनी अवयव धातुओं के रंगों से बिलकुल ही भिन्न होता है। ये अपनी अवयव धातुओं से कठोरतर, किंतु कम लचीली तथा घातवर्ध्य, और अधिक भंगुर होती हैं। मिश्रधातुओं का गलनांक सर्वदा अधिकतम ताप पर पिघलनेवाली अवयवधातु के गलनांक से भी कम होता है और प्रय. न्यूनतम ताप पर पिघलनेवाली अवयव धातु के गलनांक से भी कम होता है। उदाहरणार्थ, एक मिश्रधातु, जिसमें सीसा (४ भाग), टिन (२ भाग), बिस्मथ (६ भाग) तथा कैडमियम (१ भाग) हैं, ७५° सें० पर गलती है, जब कि न्यूनतम ताप पर पिघलनेवाली अवयव-धातु, टिन का गलनांक २३२° सें० है। ये सब वे गुण हैं जिनके कारण मिश्रधातुएं शुद्ध धातुओं से अधिक मूल्यवान् हो जाती हैं तथा उद्योग में अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं।

सब मिश्रधातुओं को साधारणतया लौह तथा अलौह मिश्रधातुओं में विभाजित किया गया है। जब मिश्रधातु में लोहा आधार धातु रहता है, तब वह लौह तथा जब आधार धातु कोई अन्य धातु

होती है, तब वह अलोह मिश्रधातु कहलाती है। कुछ मुख्य अलोह मिश्रधातुएँ निम्नलिखित हैं :

(१) ऐल्युमिनियम-पीतल (Aluminium-brass) — इसके संघटन में तांबा, जस्ता और ऐल्युमिनियम हैं, जो क्रमशः ७१–५५, २६–४२ तथा १–६ प्रति शत तक होते हैं। इसका उपयोग पानी के जहाजों तथा वायुयान के नोदकों (propeller) के निर्माण में होता है।

ऐल्युमिनियम-कांसा — इसमें तांबा ९९–८९ तथा ऐल्युमिनियम १–११ प्रति शत तक होता है। यह अति कठोर तथा संक्षारण अवरोधक होता है। इसके बरतन बनाए जाते हैं।

बबिट (Babit) धातु — इसमें टिन, ऐंटीमनी तथा तांबा की प्रति शत मात्रा क्रमशः ८९, ७·३ तथा ३·७ होती है। इसका मुख्य उपयोग बॉल बियरिंग बनाने में होता है।

घंटा धातु (Bell metal) — इसमे तांबा और टिन की प्रति शत मात्रा क्रमशः ७५-८० और २५-२० तक होती है। इससे घंटे आदि बनाए जाते हैं।

(५) पीतल — इसमें तांबा ७३-६६ तथा जस्ता २७-३४ प्रति शत तक होता है। इसका उपयोग चादर, नली तथा बरतन बनाने में होता है।

(६) कार्बोलाय (Carboloy) — यह टंग्स्टन कार्बाइड तथा कोबल्ट की मिश्रधातु है। इससे रगड़ने और काटनेवाले यंत्र बनाए जाते हैं।

(७) कॉन्स्टेंटैन (Constantan) — इसमें तांबा ६०-४५, निकल ४०-५५, मैंगनीज ०-१·४, कार्बन ०·१ प्रति शत तथा शेष लोहा होता है। इसका उपयोग वैद्युत-तापमापक यंत्रों तथा ताप-वैद्युत-युग्म (thermocouple) बनाने में होता है, क्योंकि यह विद्युत् का प्रबल प्रतिरोधक होता है।

डेल्टा धातु (Delta metal) — इसमें तांबा ५६-५४, जस्ता ४०-४४, लोहा ०·९-१·३, मैंगनीज ०·८-१·४ और सीसा ०·४-१·८ प्रति शत तक होता है। यह मृदु इस्पात के समान मजबूत है, किंतु उसकी तरह सरलता से जंग खाकर नष्ट नहीं होती। इसका उपयोग पानी के जहाज बनाने मे होता है।

(९) डो धातु (Dow metal — इसमे मैग्नीशियम ९०-९६, ऐल्युमिनियम १०-४ प्रति शत तक तथा कुछ अंशों मे मैंगनीज होता है। इसका उपयोग मोटर तथा वायुयान के कुछ हिस्सों को बनाने में होता है।

(१०) जर्मन सिलवर — इसमें तांबा ५५, जस्ता २५ और निकल २० प्रति शत होता है। कुछ वस्तुओं को बनाने में चाँदी के स्थान पर इसका उपयोग करते हैं, क्योंकि इससे बनी वस्तुएँ चाँदी के समान ही होती हैं।

(११) हरित स्वर्ण (Green gold) — इसमें सोना, चाँदी और कैडमियम, क्रमशः ७५, ११-२५ तथा १३-० प्रति शत तक, होते हैं। इसके आभूषण बनाए जाते हैं।

(१२) गन मेटल (Gun metal) — इसमें तांबा ९५-७१, टिन ०-११, सीसा ०-१३, जस्ता ०-५ तथा लोहा ०-१·४ प्रति शत तक होता है। इससे बटन, बिल्ले, थालियाँ तथा दाँतीदार चक्र (gear) बनाए जाते हैं।

(१३) मैग्नेलियम (Magnalium) — इसमें ऐल्युमिनियम ९५-७० प्रति शत तथा मैग्नीशियम ५-३० प्रति शत तक होता है। यह मिश्रधातु हलकी होती है। इसका उपयोग विज्ञान संबंधी यंत्रों तथा तुलादंड बनाने में होता है।

(१४) नाइक्रोम (Nichrome) — इसमें निकल ८०-५४, क्रोमियम १०-२२, लोहा ४·८-२७ प्रति शत तक होते हैं। ऊँचे ताप पर इसका संक्षारण नहीं होता तथा इसका वैद्युत प्रतिरोध अधिक होता है। इसका उपयोग ऊष्मक (heater) बनाने में होता है।

(१५) पालौ (Palau) — इसमें सोना ८० तथा पैलेडियम २० प्रति शत होते हैं। मूषा (crucibles) और थाली बनाने में प्लैटिनम के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है।

(१६) पर्मऐलॉय (Permalloy) — इसमें निकल ७८, लोहा २१, कोबल्ट ०·४ प्रति शत तथा शेष मैंगनीज, तांबा, कार्बन, गंधक और सिलीकन होते हैं। इससे टेलीफोन के तार बनाए जाते हैं।

(१७) सोल्डर (Solder) — इसमें सीसा ६७ तथा टिन ३३ प्रति शत होते हैं। यह धातु दो धातुओं को आपस में जोड़ने के काम आती है।

(१८) शॉट धातु (Shot metal) — इसमें सीसा ९९ तथा आर्सेनिक १ प्रति शत होता है। इससे बंदूक की गोली तथा छर्रे बनाए जाते हैं।

(१९) टिन की पन्नी (Tin foil) — इसमें टिन ८८, सीसा ८, तांबा ४ और ऐंटिमनी ०·५ प्रति शत होते हैं। यह पन्नी सिगरेट और खाद्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिये उनके ऊपर लपेटी जाती है।

(२०) उड की धातु (Woods metal) — यह मिश्रधातु सर्वप्रथम उड ने बनाई थी। इसमे बिस्मथ ५०, सीसा २५, टिन १३ और कैडमियम १३ प्रति शत होते हैं। इसका गलनांक बहुत कम होता है। आग को पानी छिड़क कर बुझानेवाले, स्वचालित यंत्रों में, जो प्लग (plug) लगा रहता है वह इस मिश्रधातु का बना होता है।

लोह मिश्रधातुएँ — आधुनिक युग में लोहमिश्र धातुओं का अधिकतम महत्व है। इसके अंतर्गत इस्पात और ढलवाँ (cast) तथा पिटवाँ (wrought) लोहा आते हैं। जब शुद्ध गलित लोहे को ठंढा करते हैं, तब १,५३५° सें० पर तरल लोहे से क्रिस्टलीय रूप मे एक प्रकार का लोहा निकलता है। इसको डेल्टा लोहा (δ-लोहा) कहते हैं। यह लोहा दूसरे प्रकार के क्रिस्टल मे १,४०४° सें० पर परिवर्तित हो जाता है। इसको गामा लोहा (γ–लोहा) कहते हैं। यह ९००° सें० के ऊपर स्थायी रहता है और इस ताप पर ऐल्फा लोहा में परिवर्तित हो जाता है, जो साधारण ताप पर स्थायी रहता है। लोहा और कार्बन का एक यौगिक बनता है, जिसमें कार्बन की प्रति शत मात्रा ६·६७ होती है। इस मिश्रधातु को सेमेंटाइट (sementite) कहते हैं। यह मिश्रधातु गामा लोहा (γ–लोहा)

के साथ ठोस विलयन बनाती है, जिसको ऑस्टेनाइट (Austenite) कहते हैं। इस्पात में कार्बन की मात्रा ०·५ से लेकर १·५ प्रति शत तक रहती है। जब गलित इस्पात ठोस होता है, तब ऑस्टेनाइट के ठोस विलयन-क्रिस्टल प्राप्त होते हैं। ये क्रिस्टल मुलायम होते हैं और इनसे चद्दरें, छड़ तथा तार सरलता से बनाए जाते हैं।

मोटर गाड़ियों के विकास के साथ साथ वे तत्व, जिनको केवल रसायनज्ञ ही जानते थे, इस्पात के साथ मिश्रधातु बनाने के उपयोग में लाए गए। ये इस्पात मिश्रधातुएँ मोटर गाड़ियों के इंजिनों के हिस्से बनाने तथा वे हिस्से जिन यंत्रों से बनाए जाते हैं, उनको बनाने में काम आती हैं। उदाहरणार्थ, मैंगनीज से इस्पात की मजबूती बढ़ती है और यह ऑक्सीजन और गंधक को, जो इस्पात को दुर्बल तथा भंगुर बना देते हैं, इस्पात मे से अलग कर देता है। निकल इस्पात की मजबूती को बिना उसकी भंगुरता बढ़ाए, बढ़ा देता है। क्रोमियम की कम मात्रा इस्पात को कठोरता प्रदान करती है और इसकी अधिक मात्रा इस्पात को संक्षारण से बचाती है। स्टेनलेस स्टील मे क्रोमियम होता है। वैनेडियम-इस्पात (vanadium-steel) आघातसह (shock proof) होता है और मोलिब्डेनम्-इस्पात (molybdenum-steel) अधिक कठोर तथा ऊष्मा अवरोधक होता है। इस्पात-मिश्रधातुएँ केवल कार्बन-इस्पात से अधिक महँगी पड़ती हैं।

सं० ग्रं०—जर्नल ऑव केमिकल एडुकेशन, खंड ४ (पृष्ठ ५८३) और खंड १३ (पृष्ठ ५३); थेराल्ड मोएलर : इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री (जॉन विली ऐंड संस)। [वै० ना० प्र०]

मिश्रबंधु मिश्रबंधु नामधारी तीन सहोदर भाई थे, गणेशबिहारी, श्यामबिहारी और शुकदेवबिहारी। ग्रंथ ही नहीं एक छंद तक की रचना भी तीनों जुटकर करते थे। इसलिये प्रत्येक की रचनाओं का पार्थक्य करना कठिन है। ये कात्यायन गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। 'मुहूर्त चिंतामणि (ज्योतिष ग्रंथ) के प्रणेता चिंतामणि मिश्र इनके पूर्वज थे। इनके पूर्वजों का वासस्थान भगवतनगर (जि० हरदोई) था। बाद मे वे इटौंजा (जि० लखनऊ) चले आए जहाँ मिश्रबधुओं का बाल्यकाल बीता। गणेशबिहारी (ज० सं०१९२२) को हिंदी, सस्कृत और फारसी की शिक्षा घर पर ही मिली। दो विवाह हुए। दोनो से दो पुत्र हुए। ये लखनऊ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य और उपाध्यक्ष भी रहे। श्यामबिहारी (ज० स० १९३०) को एम० ए० तक की उच्च शिक्षा मिली। ११ वर्ष की उम्र में विवाह हुआ। तीन पुत्र हुए। इन्होने डिप्टी कलक्टर और डिप्टी कमिश्नर जैसे प्रशासकीय सरकारी पदों पर काम किया। इनका पहला लेख 'सरस्वती' भाग १ मे 'हमीर हठ' विषयक समालोचना का निकला। रायबहादुर शुकदेवबिहारी (ज० सं० १९३५) को भी बी० ए० तथा वकालत तक की शिक्षा मिली। इन्होंने पहले वकालत की शुरुआत कन्नौज मे की, फिर लखनऊ चले आए। तत्पश्चात् वे मुंसिफ, दीवान और सबजज हुए। सभी ने हिंदी स्वाध्याय से ही सीखी। सभी बड़े विद्याव्यसनी, उदार, स्वतंत्रचेता और मिलनसार थे। विलायत भी हो आए थे।

प्रमुख रचनाएँ—लवकुश चरित्र, हिंदी नवरत्न, मिश्रबंधु विनोद (४ भा०), नेत्रोन्मीलन, पूर्वभारत, उत्तर भारत (नाटक) भारतवर्ष का इतिहास (२ भा०), भारत विनय (पद्य), बूँदी वारीश (पद्य), पुष्पांजलि (गद्य पद्यमय लेख संग्रह), भूषण ग्रंथावली, देव ग्रंथावली, सूर सुधा, जापान, रूस और स्पेन के इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदुइज्म (अंग्रेजी) इत्यादि।

इनमे हिंदी साहित्य के इतिहास और समालोचना की दृष्टि से हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबंधु विनोद' का विशिष्ट महत्व है। प्रथम में हिंदी के श्रेष्ठ नौ कवियों तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, केशव, मतिराम, चंदबरदायी, हरिश्चंद्र को क्रमशः बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी में श्रेणीबद्ध कर जीवनी के साथ उनके काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरी रचना 'मिश्रबंधु विनोद' में पाँच हजार के लगभग कवियों एवं लेखकों का परिचयात्मक उल्लेख हुआ है। इनकी समीक्षा पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता श्रेणी विभाजन है जिसके मूल मे शास्त्रीयतायुक्त काव्योत्कर्ष और तुलना है। दोषों की अपेक्षा गुणों की ही चर्चा अधिक की गई है। इतना होने पर भी इनकी समीक्षा में मार्मिक निरूपण, संतुलन निर्वाह, तटस्थता, विश्लेषण, तर्क, प्रौढ़ विवेचन की कमी दिखाई पड़ती है। [रा० फे० त्रि०]

मिश्र, सदल खड़ी बोली के गद्य का प्रारंभिक रूप उपस्थित करनेवाले चार प्रमुख गद्यलेखकों मे सदल मिश्र का विशिष्ट स्थान है। इनमें से दो गद्यलेखकों लल्लूलाल और सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम कालेज में रहकर कार्य किया और मुंशी सदासुखलाल तथा सैयद इंशाउल्ला खाँ ने स्वतंत्र रूप से गद्यरचना की। अपने ग्रंथ 'नासिकेतोपाख्यान' में मिश्र जी ने अपनी भाषा को खड़ी बोली लिखा है। इससे प्रकट होता है कि उस समय यह नाम प्रचलित हो चुका था। उन्होंने लिखा है "अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को जिसमें चंद्रावली की कथा कही गई है, देववाणी मे कोई समझ नहीं सकता। इसलिये खड़ी बोली से किया।" वास्तव मे लल्लूलाल के साथ फोर्ट विलियम कालेज में इनकी नियुक्ति प्रचलित भाषा मे गद्य ग्रंथों के निर्माण के लिये हुई थी। ईसाई धर्मप्रचारकों एवं शासकों को गद्य के ऐसे स्वरूप एवं साहित्य की आवश्यकता थी, जिनके माध्यम से वे जनसाधारण मे अपना धर्मप्रचार कर सकें, अपने स्थापित स्कूलों के लिये पाठ्य पुस्तकों का निर्माण कर सकें तथा अपना शासकीय कार्य चला सकें। अतः जान गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में फोर्ट विलियम कालेज मे इस कार्य का सूत्रपात किया गया। यहीं अपने कार्यकाल मे लल्लूलाल ने अपने प्रमुख ग्रथ 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' तथा 'रामचरित्र' लिखा। ये मूल ग्रंथ न होकर अनुवाद ग्रथ हैं। फोर्ट विलियम कालेज के विवरणों मे इनके पद 'भाखा मुंशी' के लिखे गए हैं।

'नासिकेतोपाख्यान' मे नचिकेता ऋषि की कथा है। इसका मूल यजुर्वेद में तथा कथा रूप मे विस्तार कठोपनिषद् एवं पुराणों मे मिलता है। कठोपनिषद् मे ब्रह्मज्ञान निरूपण के लिये इस कथा का उपयोग किया गया है। अपने स्वतंत्र अनुवाद में मिश्र जी ने ब्रह्मज्ञान निरूपण को इतनी प्रधानता नहीं दी जितनी घटनाओं के कौतूहलपूर्ण वर्णन को। पुस्तक के शीर्षक को आकर्षक रूप देने के लिये उन्होंने चंद्रावली नाम रखा। उन्होंने अध्यात्म रामायण का 'रामचरित्र'

नाम से अनुवाद किया। इस पुस्तक पर कंपनी की ओर से पुरस्कार भी मिला।

हिंदी और फारसी की शब्दसूची तैयार करने पर भी इन्होने पुरस्कार प्राप्त किया।

इन प्रारंभिक गद्य लेखकों में मिश्र जी की भाषा खड़ी बोली के विशेष अनुरूप सिद्ध हुई, यद्यपि वह बिहारी भाषा से प्रभावित है। परंतु लल्लूलाल की भाषा के समान न तो उसमें ब्रज भाषा के रूपों की भरमार है और न तद्भानुकूल वाक्यगठन और तुकबंदी की।

सदल मिश्र का प्रयास इसलिये विशेष अभिनंदनीय है कि उनमें खड़ी बोली के अनुरूप गद्य लिखने और भाषा को व्यवहारोपयोगी बनाने का प्रयास विशेष लक्षित होता है।

आरा (बिहार) निवासी सदल मिश्र सीदे सादे स्वभाव के कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। अंग्रेजो के निरंतर संपर्क मे रहते हुए भी अपने खानपान और रहनसहन मे आप कट्टर परंपरावादी थे। वे जीवन भर स्वयंपाकी रहे। किसी के हाथ का भोजन तो क्या, जल भी ग्रहण नही किया। फोर्ट विलियम कालेज की नियुक्ति के पूर्व आप प्रायः कथावाचन का कार्य करते थे। पटना में कथावाचन करते समय उनका कुछ अंग्रेज अधिकारियों से परिचय हुआ, जिनके प्रभाव से उनकी नियुक्ति फोर्ट विलियम कालेज मे हुई।

राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) के कुछ अधिकारी विद्वान् उनके वंश और जीवनवृत्तो की खोज मे संलग्न हैं। अभी तक उन्हे जो सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अनुसार सदल मिश्र नंदमणि मिश्र के पुत्र तथा लक्ष्मण मिश्र के प्रपौत्र थे। सदल मिश्र और सीताराम मिश्र उनके दो भाई थे। अपने भाइयो के पुत्रो से ही आगे इनका वंश चला। वे निस्सतान थे। इनका जन्म अनुमानतः १७६७-६८ ई० तथा मृत्यु १८४७-४८ ई० के लगभग ८० वर्ष की अवस्था मे हुई।

[र० श० श०]

मिसलें, सिक्खों की मुगल बादशाह बहादुरशाह (१७०७-१७१२) की १० दिसंबर, १७१० को प्रसारित एक राजाज्ञा से बड़े पैमाने पर सिक्खो का उत्पीड़न प्रारंभ हुआ। फर्रुखसियर ने भी उस आदेश को दोहरा दिया। लाहौर के गवर्नर अब्दुस्समद खाँ और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी जकरिया खाँ (१७२६-४५) ने भी सिक्खो को पीड़ित करने के लिये अनेक उपाय किए।

अतएव सिक्खो ने अपने को दो दलो में संगठित किया—(१) बुड्ढा दल और (२) तरुण दल। बुड्ढा दल का नेतृत्व कपूर सिंह और तरुणदल का नेतृत्व दीपसिंह के हाथो मे था। ये दोनो दल जब तब अपने छिपने के स्थानों से निकलकर स्थानीय अधिकारियो को परेशान करते थे। इन्होंने अपनी बिखरी हुई शक्ति को संगठित किया। तरुण दल पाँच जत्था मे विभाजित किया गया जिनके निम्नलिखित नेता थे—(१) दीपसिंह शहीद, (२) करमसिंह और धरमसिंह, अमृतसर। (३) खानसिंह और बिनोदसिंह, गोइंदवाल (४) दसोधा सिंह, कोट बुड्ढा और (५) बीरूसिंह और जीवनसिंह।

जब अफगानिस्तान से अहमदशाह दुर्रानी के पंजाब पर आक्रमण हुए तो सिक्खों को अपने को दृढ़तर आधार पर संगठित करने का अच्छा अवसर मिल गया। उन्होने सरहिंद (जनवरी १४, १७६४) और लाहौर (अप्रैल १६ १७६५) पर अधिकार कर लिया।

१७४८ और १७६५ के बीच बुड्ढा और तरुण दलों के पाँचों जत्थो ने द्रुत गति से अपना प्रसार किया और अनेक राज्यसंघ बने जो मिसलें कहलाई। निम्नलिखित १२ मिसलें मुख्य थीं :

(१) भंगी — इसे छज्जासिंह ने स्थापित किया; बाद मे भूमासिंह और हरिसिंह ने भंगी मिसल का नेतृत्व किया। इसके केंद्र अमृतसर, रावलपिंडी और मुलतान आदि स्थानो मे थे।

(२) अहलूवालिया — जस्सासिंह अहलूवालिया के नेतृत्व में स्थापित हुई। इसका प्रधान केंद्र कपूरथला था।

(३) रामगढ़िया — इस समुदाय को नंदसिंह संघानिया ने स्थापित किया। बाद मे इसका नेतृत्व जस्सासिंह रामगढ़िया ने किया। इसके क्षेत्र बटाला, दीनानगर तथा जलधर दोआब के कुछ गाँव थे।

(४) नकई — लाहौर के दक्षिण-पश्चिम में नक्का के हरिसिंह द्वारा स्थापित।

(५) कन्हैया — कान्ह-कच्छ के जयसिंह के नेतृत्व मे गठित इस मिसल के क्षेत्र गुरदासपुर, बटाला, दीनानगर थे। यह रामगढ़िया मिसल में मिला जुला था।

(६) डलेवालिया — गुलाबसिंह और तारासिंह गैबा के नेतृत्व मे यह मिसल थी। राहो तथा सतलज के उत्तर-दक्षिण के इलाके इसके मुख्य क्षेत्र थे।

(७) निशानवालिया — इसके मुखिया संगतसिंह और मोहरसिंह थे। इसके मुख्य क्षेत्र अबाला तथा सतलज के दक्षिण और दक्षिण पूर्व के इलाके थे।

(८) फैजुल्लापुरिया (सिंहपुरिया) — नवाब कपूर सिंह द्वारा स्थापित, जलधर और अमृतसर जिले इसके क्षेत्र थे।

(९) करोड़सिंहिया — 'पंज गाई' के करोड़सिंह द्वारा स्थापित। बाद मे बघेलसिंह इसके मुखिया हुए। कलसिया के निकट यमुना के पश्चिम, और होशियारपुर जिले में इस मिसल के क्षेत्र थे।

(१०) शहीद — दीपसिंह इस मिसल के अगुआ थे। बाद मे गुरबख्शसिंह ने उत्तराधिकार ग्रहण किया। दमदमा साहब और तलवंडी साबो इस मिसल के मुख्य केंद्र थे।

(११) फूलकियाँ — पटियाला, नाभा और जींद के सरदारों के पूर्वज फूल के नाम पर स्थापित। ये सरदार इसके तीन गुटों के मुखिए थे।

(१२) सुकरचकिया — चढ़तसिंह ने अपने पूर्वजो के निवास-ग्राम सुकरचक के नामपर स्थापित किया। महत्व मे चढ़तसिंह का स्थान नवाब कपूरसिंह और जस्सासिंह अहलूवालिया के स्थानों के बाद आता था। उसका मुख्य क्षेत्र गुजराँवाला और आसपास के इलाके थे। चढ़तसिंह के पुत्र महासिंह ने अपने पिता का उत्तराधिकार संभाला और उसके बाद उसके पुत्र शेरेपंजाब रणजीतसिंह ने।

मिसलों का संविधान बिलकुल सरल था। मिसल के सरदार के नीचे पट्टीदार होते थे जो अपने अनुयायियो के भरणपोषण के

लिये सरदार के साथ गाँवों और भूमि का प्रबंध करते थे। घुड़सवारी और अस्त्रशस्त्रों के प्रयोग में दक्षता सरदारों, पट्टीदारों और उनके सहायकों की मुख्य योग्यताएँ मानी जाती थीं। मिसलों का रूप गणतंत्रवादी था। जीत और लूट की सामग्री का दशम भाग सरदार के लिये नियत रहता था। शेष उसी अनुपात मे छोटे सरदारों और उनके अनुयायियों में बाँटा जाता था। एक सरदार से प्राप्त गाँव और भूमि छोड़कर अन्य मिसल मे सम्मिलित होना संभव था। सरदार से भूमि प्राप्त करनेवाले जागीरदारों को जागीर की सुरक्षा के लिये एक निश्चित संख्या मे घोड़े और सिपाही उपलब्ध थे। छोटे सरदारों या जागीरदारों की मिसल विरुद्ध गतिविधियों पर उनकी सपत्ति जब्त करने का अधिकार सरदार को होता था। सरदारों के निजी नौकर तावेदार कहे जाते थे और अवज्ञा या विद्रोह करने पर उनकी भूमि जब्त हो जा सकती थी।

सभी मिसलों का समूह दल खालसा कहलाता था। वे गुरु के नाम पर युद्ध करते थे. और सरबत्त खालसा के नाम पर संधियाँ करते थे। मिसलों की व्यापक समस्याओं पर पंथ की साधारण सभा द्वारा विचार किया जाता था। यह अमृतसर मे वर्ष भर मे दो बार वैशाखी और दीवाली के अवसरो पर बैठती थी। गुरु ग्रंथ साहब की उपस्थिति में बहुमत से प्रस्ताव (गुरुमत) पारित करके निर्णय लिया जाता था। न्याय बहुत जल्दी होता था। कानून और व्यवस्था कायम रखने का उत्तरदायित्व छोटे सरदारो पर था; और न्याय की व्यवस्था पंचायतो के माध्यम से होती थी। पंचायतों के विरुद्ध निर्णय सुनने का अधिकार सरदार को था, और अंत मे, पर प्रायः बहुत कम, पथ या साधारण सभा मे अपील की जाती थी। उनके यहाँ मृत्युदंड का विधान नही था। चोरियों के मामलों में पदचिह्नान्वेषक जिस गाँव में चोरो के पदचिह्नों को खोज लेते थे, उस गाँव के मुखिया को या तो वे पदचिह्न गाँव के बाहर की ओर जाते हुए दिखाने पडते थे या हानि के बराबर द्रव्य देना पड़ता था। [गं० सिं०]

मिसिसिपी १. नदी उत्तरी अमरीका की एक विशाल नदी है जिसकी लंबाई २,३३० मील है। अपनी मुख्य सहायक मिज़ुरी नदी सहित इसकी लंबाई ३,८९२ मील हो जाती है। इस प्रकार यह नील नदी के बाद विश्व की दूसरी सबसे लंबी नदी है। सहायक नदियों सहित इसका प्रवाह क्षेत्र १२,४०,००० वर्ग मील है जो सपूर्ण महाद्वीप का १/८ भाग है। प्रवाह क्षेत्र के अनुसार संसार मे ऐमाज़ॉन एवं काँगो नदियों के बाद इसका तीसरा स्थान है। यह मिनिसोटा राज्य के उत्तर मे स्थित आइटॅस्का झील से निकलकर साधारणतया दक्षिण और दक्षिण-पूर्व को बहती हुई मेक्सिको की खाडी में गिरती है। यह संयुक्त राज्य अमरीका के ३१ राज्यों में से होकर बहती है। मिनिसोटा, डेस माइन, मिज़ुरी, आरकैंसा, रेड, इलिनॉय तथा ओहायो आदि इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। इसके किनारे सेंट पॉल, मिनियापॉलिस, सेंट लुईस, मेंफिस और न्यूऑर्लियंज नामक व्यापारिक एवं औद्योगिक नगर बसे हैं। इसकी धारा की चौड़ाई सेंट लुईस में ३,५०० फुट, कैरो मे ४,५०० तथा न्यूऑर्लियंज में २,५०० फुट है। मिनियापॉलिस तथा सेंट लुईस के बीच गमनागमन के लिये इसपर २७ बाँध तथा एक नहर बनाई गई है। इसके किनारे पर स्थित उपजाऊ मैदानों में कपास, धान, और गन्ने की अच्छी उपज होती है।

२. राज्य, संयुक्त राज्य अमरीका का एक राज्य है जिसका क्षेत्रफल ४७,७१६ वर्ग मील तथा जनसंख्या २२,४८,००० (अनुमानित १९६२) है। वार्षिक औसत ताप लगभग २०° सें० तथा विस्तृत वर्ग में औसत वर्षा ५२ इंच होती है। जैक्सन यहाँ की राजधानी है जिसकी जनसंख्या १,४४,४२२ (१९६०) है। [रा० प्र० सिं०]

मिस्र स्थिति : ३१° ३५' उ० अ० से २२° उ० अ० तथा २५° पू० दे० से ३७° पू० दे०। अफ्रीका के उत्तर-पूर्वी भाग में सिनाइ प्रायद्वीप सहित नील नदी की निचली घाटी मे, जिसके दोनों ओर रेगिस्तान पड़ते हैं, एक वर्गाकार देश है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३,८६,००० वर्ग मील, अधिकतम लंबाई ६७५ मील तथा चौड़ाई ७६० मील है। इसका समुद्र तट सपाट है। अरब की पहाड़ियाँ यहाँ की मुख्य पर्वतश्रेणी है। देश की अधिकतम ऊँचाई समुद्रतल से लगभग ८,६०० फुट तथा निम्नतम ऊँचाई लगभग १०० फुट तक है। संसार की सबसे लंबी नील नदी यहाँ बहती है तथा मुख्य खाड़ियाँ स्वेज और ऐबुकिर की खाडी हैं।

धरातल — प्राकृतिक लक्षण के विचार से नील नदी के चारों ओर मिस्र के आबाद हिस्से को दो भागों में बाँट सकते हैं :(क) निचला मिस्र, जो नील नदी के डेल्टा वाले भाग में पड़ता है। यह उत्तरी मिस्र
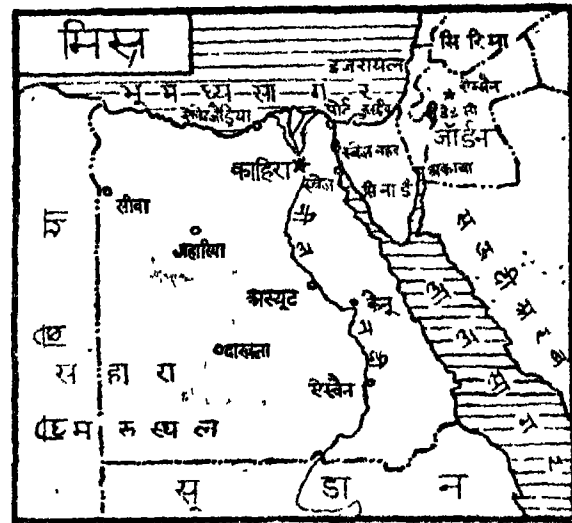
भी कहलाता है जो भूमध्य सागर से लेकर काहिरा तक विस्तृत है। (ख) उच्च मिस्र, जो दक्षिणी सीमा तक नील नदी की घाटी की पतली पट्टी मे विस्तृत है। इस प्रकार मिस्र की ढाल नील नदी के अनुरूप सामान्यत. दक्षिण से उत्तर की ओर है।

मिस्र का भूपृष्ठ केवल नील नदी के आस पास अधिक चौरस है। नदी के पश्चिम की भूमि धीरे धीरे ऊँची होती गई है (लगभग १,००० फुट तक), जहाँ हवा के प्रभाव से निर्मित चिकनी चट्टानें तथा लिबिया की रेगिस्तानी बालू दृष्टिगोचर होती है। नदी के

पूर्वी और अरब के रेगिस्तान का विस्तार पाया जाता है, जो और आगे चलकर लाल सागर के निकट लगभग ७,००० फुट ऊँची पहाड़ियों के रूप में परिणत हो जाता है। नदी के पश्चिमी और काहिरा के उत्तर में लगभग ५० मील दूर फायूम की उपजाऊ निम्नभूमि है।

मिस्र का अधिक भाग जलविहीन है। केवल नील नदी ही जल का स्रोत है। निचले मिस्र में नील से नहरें भी निकाली गई हैं जिनका उपयोग जलमार्गों के रूप में तथा खेतों की सिंचाई के लिये किया जाता है। विश्वविख्यात स्वेज नहर भूमध्य सागर तथा लाल सागर को उत्तर-पूर्वी मिस्र में सिनाइ प्रायद्वीप से होकर जोड़ती है। कहीं कहीं पर मरूद्यान भी दृष्टिगोचर होते हैं, जहाँ भूमिगत जल के प्रभाव के कारण अत्यधिक पौधे उग सकते हैं।

मिस्र में शुष्क तथा गरम रेगिस्तानी जलवायु पाई जाती है। दिन में सूर्य की प्रखरता के कारण अत्यधिक गरमी तथा रात में बालू की शीतलता के कारण अत्यधिक ठंढक पड़ती है भूमध्यसागरीय तट को छोड़कर देश के अधिकांश में वर्षा नहीं होती। भूमध्य-सागरीय तट की औसत वार्षिक वर्षा आठ इंच के लगभग है। ऊपरी नील की ओर यह औसत केवल एक इंच के लगभग रह जाता है। मिस्र में दक्षिण की ओर से आनेवाली हवाओं को खामसिन कहते हैं। इन हवाओं के साथ गरमी में बालू एवं धूल के भीषण तूफान आते हैं।

मिस्र की जनसंख्या लगभग २,८०,३०,००० (अनुमानित १९६३) है। यहाँ की ९/१० जनसंख्या नील नदी के दोनों ओर एक पतली पट्टी में निवास करती है। नील के डेल्टों तथा घाटी में कहीं कहीं जनसंख्या का घनत्व १,५०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील हो गया है। कुछ भ्रमणशील जातियाँ लिबिया के रेगिस्तान में एक मरूद्यान से दूसरे मरूद्यान में घूमती रहती हैं, परतु मिस्र के रेगिस्तानों के बहुत से भाग बिल्कुल ही जनविहीन हैं।

कार्य और रहन सहन के आधार पर मिस्र के निवासियों को तीन समूहों में विभाजित कर सकते हैं: (क) फेलाहिन अथवा कृषक, इनकी संख्या कुल जनसंख्या का लगभग ३/४ है जो अपने पूर्वजों की भाँति सैकड़ों वर्षों से खेती करते आ रहे हैं। इनकी आकृति इनके पूर्वजों की ही भाँति भिन्न भिन्न है। ये अरबी भाषा बोलने वाले तथा सामान्यत मुस्लिम धर्म को मानने वाले होते हैं, यद्यपि कुछ लोग ईसाई धर्म को भी मानते हैं। (ख) बद्दू, इनका वर्ग बहुत छोटे पैमाने पर है। ये रेगिस्तान के अरबी भाषा बोलनेवाले आदिवासी होते हैं। कुछ बद्दू नदी घाटी के किनारे अथवा हरे भरे मरूद्यानों में स्थायी खेमों में निवास करते हैं। कुछ लोग एक रेगिस्तान से दूसरे रेगिस्तान में अपनी भेड़ों तथा घोड़ों को लेकर भ्रमण किया करते हैं और छोटे मोटे भूभागों पर निवास करते हैं। (ग) व्यापारी तथा व्यवसायी, यह सबसे छोटा समूह है जो शहरों में निवास करता है। इसमें अधिकतर विदेशी खासकर यूनानी, तुर्की, इतालवीय, अंग्रेज तथा फ्रांसीसी संमिलित हैं।

कृषि — मिस्र के लोगों का मुख्य धंधा कृषि है। खेत अधिकतर नील नदी के निकट लगभग १२ मील की चौड़ाई में फैले हैं। कम वर्षा या वर्षारहित दिनों में नील की घाटी में कृषि सिंचाई पर निर्भर करती है। बाढ़ के समय नदी का पानी खेतों में फैल जाने के कारण साल में एक बार अपने आप सिंचाई हो जाती है और खेतों में बाढ़ द्वारा लाई हुई नई उपजाऊ मिट्टी भी बिछ जाती है। इसी समय शीघ्र फसलें रोपकर मिट्टी मे नमी के विद्यमान रहने तक आवश्यक उत्पादन कर लिया जाता है। अब तो बाढ़ के जल को नियंत्रित एवं संचित करने के लिये पार पार बड़े बड़े बाँध तथा फाटक बन गए हैं और आवश्यकतानुसार पानी को नहरों द्वारा खेतों में पहुँचाकर दो या कभी कभी तीन तीन फसलें प्रति वर्ष उगा ली जाती हैं। मिस्र की मुख्य फसलों में लंबी रेशे वाली कपास, गेहूँ, धान, गन्ना, फलियाँ (बीन), प्याज, मसूर, शकरकंद, खजूर आदि हैं।

उद्योगधंधे — उद्योगों मे मिस्र बहुत पिछड़ा हुआ है, परंतु अब इसपर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

खनिज पदार्थ — मिस्र के पूर्वी पर्वतों से सोना, ऐस्वैन और ऐल बहारिया के निकट से लोहा, जस्ते की प्राचीन खानों के निकट सिनाइ प्रायद्वीप से मैंगनीज, नील डेल्टा के दलदल से नमक और पूर्वी तट के किनारे तेल के अतिरिक्त फॉस्फेट, जस्ता, फिटकरी, जिप्सम, बेरिल, ग्रेनाइट, सैंडस्टोन तथा चूना पत्थर आदि प्राप्त किए जाते हैं।

यातायात — नील नदी मिस्र के लिये एक बहुत बड़ा जलमार्ग है। रेलें मिस्र के आधुनिक शहरों को आपस मे जोडती हैं। सड़कें देश के आबाद भागों में स्थित हैं। वायुयान देश के मुख्य शहरों को एक दूसरे के साथ तथा अफ्रीका, यूरोप, भारत एव सुदूर पूर्व के नगरों को जोड़ते हैं। रेगिस्तानी बालू के क्षेत्रों में, जहाँ यात्रा का अन्य कोई साधन संभव नहीं है, वहाँ ऊँटो द्वारा यातायात संभव होता है।

काहिरा, एलेग्जेंड्रिया, अस्यूट, डेमिएटा, एल ऐलामेन, एल मंसुरा, पोर्ट सईद, स्वेज, मेंफिस, थीबीज, टॉन्टॉ आदि मिस्र के आधुनिक नगर हैं। काहिरा यहाँ की राजधानी है। [रा० स० ख०]

इतिहास और संस्कृति — यह प्रदेश बड़ा ऊबड़खाबड़ है। इसमे कम से कम छह स्थलों पर नदी पर्वतीय शिलाओं को काटकर सीधा मार्ग बनाने में सफल नहीं हो पाई है। ये स्थल महाप्रपात कहलाते हैं। अंतिम महाप्रपात, जो मिस्र की ओर से गिनने पर पहला कहा जाएगा, एलिफेंटाइन के समीप है। इसके उत्तर में नील की निचली या उत्तरी घाटी है। यही मिस्र देश है। इसे भी दो भागों में विभाजित किया जाता है: दक्षिणी मिस्र जिसमें केवल घाटीवाला प्रदेश संमिलित किया जाता है और उत्तरी मिस्र जिसके अंतर्गत नील का मुहाना आता है। मिस्र के मध्यवर्ती भाग मे नील ने १० से २० मील चौड़ी और ३० से ४० फुट मोटी उर्वर मिट्टी की पट्टी बना दी है। यह उर्वर प्रदेश, जो मिस्र के कुल क्षेत्रफल का केवल ३·५ प्रति शत है, १०,००० वर्गमील से अधिक नहीं है। यह भारत के केरल राज्य के लगभग बराबर है। मिस्र का यही भाग मनुष्य के निवास के योग्य है। इसीलिये 'इतिहास पिता' हेरोडोटस ने मिस्र को नील का वरदान कहा था।

मिस्र (पृष्ठ देखें २८९–९५)

लक्सौर में मेम्नाउन की मूर्तियाँ
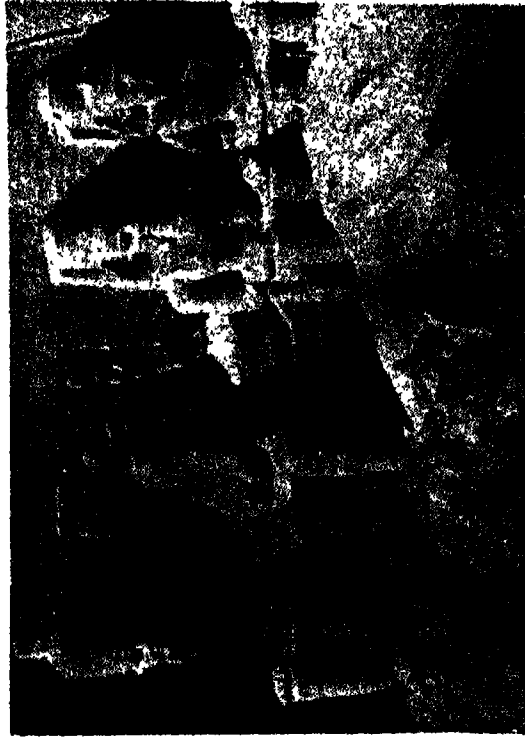
अबू सिंबल के मंदिर
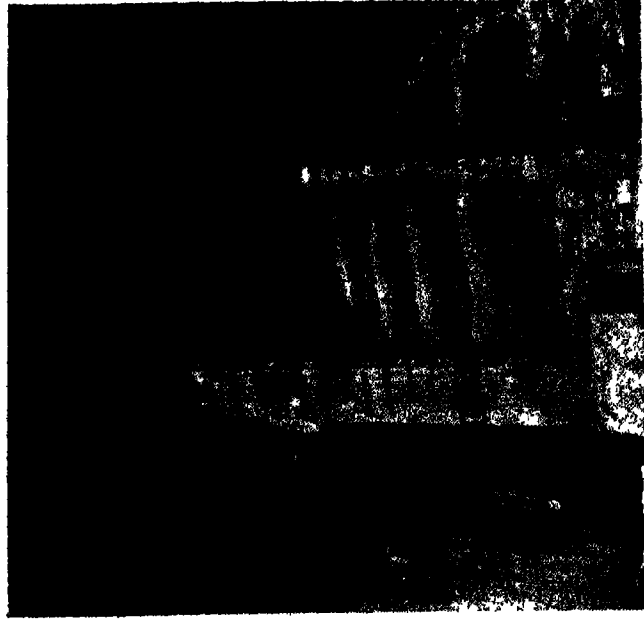
सकारा के पिरैमिड

प्राचीन मिस्र की भित्तिचित्रण कला

मिस्र (देखें पृष्ठ २८६–९५)

काहिरा की 'कानिदे अख रमा' मस्जिद

नगर के केंद्र में काहिरा की मीनार
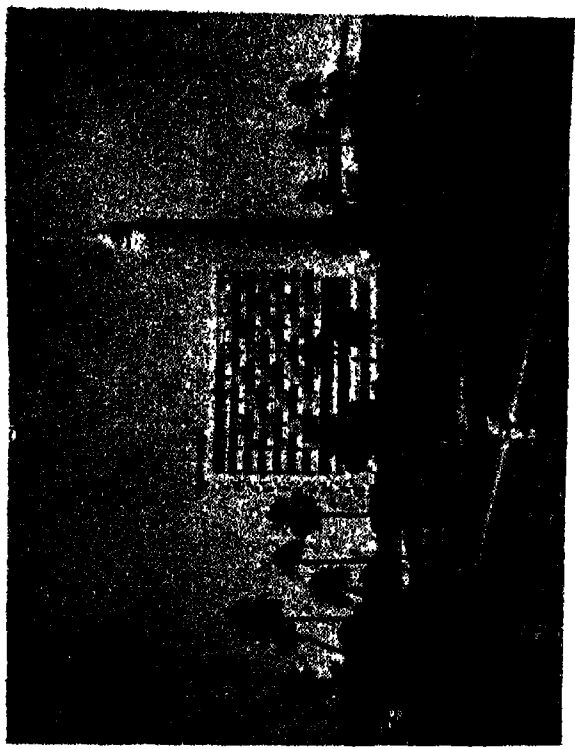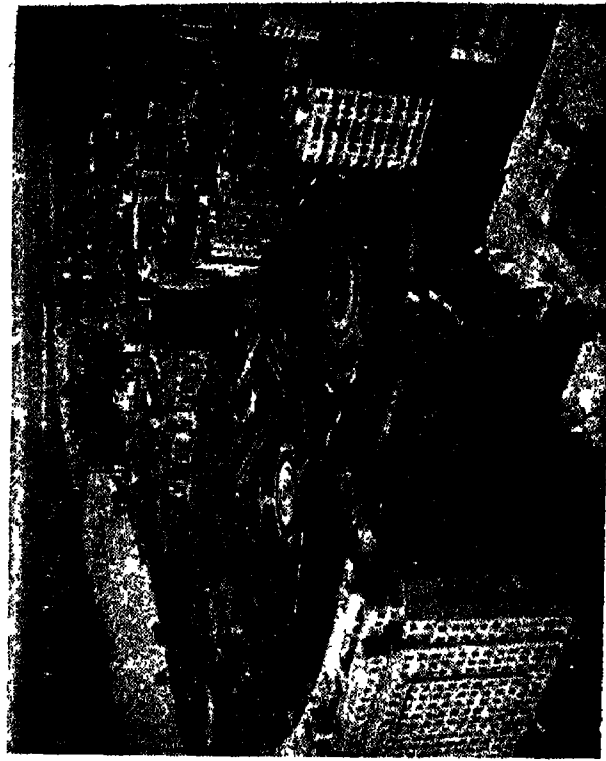
काहिरा का 'तहरीर' चौक

आधुनिक काल में मिस्री विद्या का अध्ययन नेपोलियन के मिस्री अभियान (१८९७ ई०) और शांपोल्यों (१७९०-१८३२ ई०) नामक फ्रेंच विद्वान् द्वारा रोजेटा प्रस्तर की सहायता से मिस्री चित्राक्षर लिपि के उद्वाचन से प्रारंभ होता है। मिस्र के अधिकांश स्मारक धरातल के ऊपर हैं, इसलिये इनपर उत्कीर्ण अभिलेखों का अध्ययन करने के लिये इनकी लिपि से परिचय मात्र की आवश्यकता थी। मिस्री इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले प्राचीन लेखकों में हेरोडोटस तथा डायोडोरस प्रमुख हैं, परंतु उनके विवरण विशेष ज्ञानवर्धक नहीं हैं। सबसे महत्वपूर्ण प्राचीन रचना है तीसरी शती ई० पू० के मनेथो नामक मिस्री पुजारी की। आजकल उसकी कृति का फ्लेवियस अफ्रीकेनस, यूसीबियस तथा जोसेफस प्रभृति परवर्ती लेखकों की रचनाओं में उद्धरणों के रूप में सुरक्षित लगभग आधा भाग ही प्राप्य है। इसमें मनेथो ने प्राचीन मिस्री राजाओं को सूचीबद्ध करके उन्हें तीस वंशों में विभाजित किया था। यह विभाजन अनेक दोषों के बावजूद अत्यंत उपयोगी और सत्य के काफी निकट सिद्ध हुआ है।

प्रागैतिहासिक युग में उत्तरी मिस्र में लीबियन और सेमेटिक जातियाँ निवास करती थीं। इनके अतिरिक्त एक तीसरी जाति और थी जिसके सदस्यों का सिर बड़ा, चेहरा गोल और नाक छोटी होती थी। यह जाति दक्षिणी मिस्र मे प्रागैतिहासिक युग में अज्ञात थी, परंतु ऐतिहासिक युग मे धीरे धीरे वहाँ भी फैल गई। दक्षिणी मिस्र में निवास करनेवाली जाति जिसका ज्ञान हमे उस युग की समाधियों से प्राप्त अवशेषों और मूर्तियों आदि से होता है छोटे सिरवाली थी। जैसा मिस्र की ट्यूबसम आकृति से स्पष्ट है, नील की उपरली घाटी में इसका प्रवेश निश्चित रूप से मिस्र के दक्षिण से हुआ होगा।

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से मिस्री इतिहास को कई भागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम दो वंशो के शासनकाल में मिस्री सभ्यता से प्राग्वंशीय सभ्यता विशेष भिन्न नही थी, इसलिये मिस्री सभ्यता के प्राचीनतम युग का अध्ययन करते समय प्रथम दो वंशों के शासनकाल को उसी में संमिलित कर लिया जाता है। तीसरे वंश की स्थापना से लेकर बीसवें वंश के पतन तक के सुदीर्घ युग मे मिस्री सभ्यता के तीन काल माने गए हैं। 'प्राचीन राज्य युग' अथवा 'पिरेमिड युग' जिसमें तीसरे से छठे वंशों ने राज्य किया; 'मध्य राज्य युग' जिसमें ११वें और १२वें वंशों ने राज्य किया तथा 'साम्राज्य युग' जिसमें १८वें से लेकर २० वें वंशों ने शासन किया। इन युगों के मध्यवर्ती युगों में और २० वें वंश के पतन के पश्चात् मिस्र प्राय: आंतरिक दौर्बल्य और विदेशी आक्रमणों का शिकार रहा।

प्राग्वंशीय मिस्र प्रारंभ में छोटे छोटे नगर राज्यों में विभाजित था। ये नगर ४००० ई० पू० के लगभग संयुक्त होकर दो राज्यों में एकीकृत हो गए :—उत्तरी अथवा नील के मुहाने का राज्य और दक्षिणी अथवा नील की घाटी का राज्य। नेखेब (आधुनिक अलकाब) दक्षिणी राज्य की राजधानी थी। इसके राजा लंबा श्वेत मुकुट धारण करते थे। उनका राजप्रासाद नेखेन और कोषागार 'श्वेत भवन' कहलाता था। उनका राजचिह्न लिली पौधे की शाख एवं संरक्षिका गृध्रदेवी नेखबत थी। उत्तरी राज्य की राजधानी बूटो, संरक्षिका इसी नाम की नागदेवी और उसका विशिष्ट रंग लाल था। इसलिये उसके राजा लाल मुकुट धारण करते थे और उनके राजप्रासाद और कोषागार क्रमश: 'पे' और 'रक्तभवन' कहलाते थे। उनके राजचिह्न पेपाइरस का गुच्छा और मधुमक्खी थे।

उत्तरी और दक्षिणी राज्यों को संयुक्त करके राजनीतिक एकता और प्रथम वंश की स्थापना दक्षिणी मिस्र मे एबाइडोस के समीप स्थित तेनी (यूनानी थिस अथवा थिनिस) नामक स्थान के निवासी मेना (यूनानी मेनिज) ने की थी। उसके बाद प्रथम दो वंशों के १८ नरेशों ने ४२० वर्ष (लगभग ३४००–२९८० ई० पू० तक) राज्य किया। तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारंभ में द्वितीय वंश के पतन और जोसेर के नेतृत्व में तृतीय वंश की स्थापना (२९८० ई० पू०) से मिस्र के इतिहास के पिरेमिड अथवा प्राचीन राज्य युग का प्रारंभ हुआ जो २४७५ ई० पू० मे छठे वंश के पतन तक चला। जोसेर के शासनकाल मे मेंफिस (मेन नो फेर) का प्रभुत्व दृढ़रूपेण स्थापित हुआ और उसके मंत्री इम्होतेप ने सक्कर के सीढ़ीदार पिरेमिड का निर्माण करके पाषाण वास्तुकला को जन्म दिया। जोसेर के एक उत्तराधिकारी नेफ्रु ने विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया, उत्तरी नूबिया मे विद्रोही जातियों को परास्त किया तथा पहले ढलवाँ पिरेमिड का निर्माण कराया। मिस्र के चौथे वंश के संस्थापक खूफू ने मिस्र का विशालतम पिरेमिड बनवाया तथा उसके पुत्र खेफ्रे ने एक लघुतर पिरेमिड और संभवत: विशाल स्फिंक्स भी बनवाया। पंचम वंश के संस्थापक यूसेरकाफ तथा उसके पुत्र सहूरे ने मिस्र की नौशक्ति मे वृद्धि की तथा फिनीशिया और देवभूमि 'पुंट' पर सफल आक्रमण किए। परंतु इसके बावजूद उनके शासनकाल मे रे के पुजारियों, सामंतो और सेनापतियो की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ जाने के कारण फेराओ की शक्ति शनै: शनै: कम होती गई। राजपद की इस ह्रासोन्मुखी प्रतिष्ठा को बढ़ाने का महनीय कार्य किया छठे वंश के प्रथम दो फेराओ तेती द्वितीय और पेपी प्रथम ने। पेपी प्रथम के एक उत्तराधिकारी पेपी द्वितीय ने, जो राज्यारोहण के समय शिशु मात्र था, मनेथो के अनुसार ९४ वर्ष राज्य किया। विश्व इतिहास मे उसके शासनकाल को दीर्घतम माना जा सकता है।

२४७५ ई० पू० मे छठे वंश के पतन के बाद लगभग तीन सौ वर्ष तक मिस्र मे घोर अव्यवस्था रही और स्थानीय सामंत लगभग स्वतंत्र रूपेण शासन करने लगे। उनकी शक्ति तोड़ने में कुछ सफलता ग्यारहवें वंश (२१६०–२००० ई० पू०) के राजाओं ने प्राप्त की। लेकिन लगभग समस्त मिस्र के स्वामी होते हुए भी वे सामंतवादी व्यवस्था को बदलने मे असमर्थ रहे। उनसे अधिक सफलता बारहवें वंश (२०००–१७८८ ई० पू०) के शासकों को मिली। इस वंश का संस्थापक एमेनेम्हेत प्रथम था। इन दो वंशों के राजाओं का शासनकाल सांस्कृतिक प्रगति के लिये प्रसिद्ध है।

१७८८ ई० पू० में १२वें वंश के पतन के साथ सामंतों में सत्ता हड़पने के लिये पुन: संघर्ष प्रारंभ हो गया। इस अराजकता के कारण वे १७६५ ई० पू० मे एशिया से आनेवाले हिक्सोस नामक आक्रमणकारियों को नहीं रोक पाए। हिक्सोस सांस्कृतिक दृष्टि से मिस्रियों से बहुत पिछड़े थे। लेकिन वे अश्वों और रथों के प्रयोग से परिचित थे, इसलिये मिस्रियों को लगभग दो सौ वर्ष तक अपने अधीन रखने में सफल रहे (१३वाँ–१७वाँ वंश)। उनको

देश से खदेड़ने का महनीय कार्य किया अहमोस प्रथम ने। उसके द्वारा अठारहवें वंश की स्थापना से मिस्री इतिहास का 'साम्राज्य युग' प्रारंभ होता है। उसके एक उत्तराधिकारी थटमोस प्रथम ने अपनी सत्ता कार्केमिश तक स्थापित की। उसकी पुत्री हतशेपशुत विश्व इतिहास की पहली पूर्ण सत्तासंपन्न शासिका थी। हतशेपशुत के उत्तराधिकारी थटमोस तृतीय को 'प्राचीन मिस्र का नेपोलियन' कहा जाता है। उसने पश्चिमी एशिया पर पंद्रह बार आक्रमण किए थे। उन्नीसवें वंश के शासकों में रेमेसिस द्वितीय सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह साहसी और बलवान् था। युद्धकला में भी उसकी उतनी ही रुचि थी जितनी प्रेमव्यापार में। फिलिस्तीन विजय के बाद उसने हित्तियों के विरुद्ध कादेश की प्रसिद्ध लड़ाई लड़ी। १२६१ ई० पू० में उसने हित्तियों से इतिहासप्रसिद्ध संधि की। वह महान् भवन निर्माता भी था।

बीसवें वंश के काल में फराओ रेमेसिस तृतीय के शासन काल तक मिस्र का कुछ एशियाई प्रांतों पर नियंत्रण बना रहा। लेकिन उसके बाद स्थिति शीघ्रता से बिगड़ी और बारहवीं शती ई० पू० के मध्य तक मिस्र का एशियाई साम्राज्य अतीत की कहानी रह गया। इस वंश का पतन और २१वें वंश की स्थापना १०९० ई० पू० में हुई। उसके बाद मिस्र एक शती तक दुर्बल परंतु स्वतंत्र रहा। दसवीं शती के मध्य उसकी स्वतंत्रता का भी अंत हो गया और कई शती तक क्रमश: लीबियनों, इथियोपियनों असीरियनों का प्रभुत्व उसे मानना पड़ा।

६६३ ई० पू० में नील के मुहाने के पश्चिमी भाग में स्थित साइस स्थान के एक महत्वाकांक्षी शासक साम्तिक ने असीरियन सेनाओं को निकाल बाहर किया और कई शती बाद मिस्र में एक स्वतंत्र राज्य (२६वाँ वंश) की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी ५२५ ई० पू० तक राज्य करते रहे। नीको द्वितीय के शासनकाल में तो उन्होंने एशिया पर भी आक्रमण किए। उनके शासनकाल को 'साइतयुग' कहा जाता है। ५२५ ई० पू० में उनका पतन हो गया और मिस्र हखामशी साम्राज्य में मिला लिया गया। फारसी आधिपत्य के अंत (३३२ ई० पू०) के बाद मिस्र पर पहले यूनानियों (३३२–४८ ई० पू०) और तत्पश्चात् रोमनों ने शासन किया। ३० ई० पू० में इसे रोम साम्राज्य का एक प्रांत बना लिया गया। इस प्रकार मिस्र की पाँच सहस्र वर्ष पुरानी सभ्यता और पृथक् राजनीतिक अस्तित्व का अंत हुआ।

मिस्री शासनव्यवस्था पूर्णत: धर्मतांत्रिक थी। मिस्री नरेश सूर्यदेव रे के प्रतिनिधि होने के कारण स्वयं देवता माने जाते थे। मृत्यु के बाद उनकी पूजा उनके पिरेमिड के सामने बने मंदिर में होती थी। यह विश्वास कालांतर में इतना दृढ़ हो गया कि चौथी शताब्दी ई० पू० में सिकंदर को भी अपने को एमन-रे का पुत्र घोषित करके मिस्री जनता को संतुष्ट करना पड़ा था। उनके प्रजाजन उनका नाम तक लेने से झिझकते थे, इसलिये इन्हें प्राय: 'अच्छा देवता' अथवा 'पेर ओ' (बाइबिल का फेरओ) कहा जाता था। राज्य की आय का एक बहुत बड़ा भाग उनके हरम और परिवार के भरण पोषण पर व्यय किया जाता था। सिद्धांतत: वे राज्य के सर्वेसर्वा होते थे। वे न केवल राज्याध्यक्ष होते थे वरन् सर्वोच्च सेनापति, सर्वोच्च पुजारी और सर्वोच्च न्यायाधीश भी होते थे। लेकिन व्यवहार में सामंतों, पुरोहितों, प्रभावशाली पदाधिकारियों और चहेती महारानियों की इच्छाएँ तथा राज्य की परंपराएँ उनकी निरंकुशता पर नियंत्रण रखती थीं। वे कानून के निर्माता न होकर उसके संरक्षक माने जाते थे। फेरओ के बाद राज्य का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति प्रधान मंत्री था। वह राज्य का प्रधान वास्तुकार, प्रधान न्यायाधीश और राजाभिलेख सग्रहालय का अध्यक्ष होता था। तीसरे वंश के तीन मंत्री इम्होतेप, केगेम्ने तथा टा:होतेप ने अपने ज्ञान के बल पर अतुल कीर्ति अर्जित की। मिस्री राज्य का एक अन्य महत्वपूर्ण पदाधिकारी 'प्रधान कोषाध्यक्ष' था। वह संपूर्ण देश की वित्त व्यवस्था को नियंत्रित रखता था। शासकीय सुविधा के लिये मिस्र लगभग ४० प्रांतों में विभाजित था। ये वास्तव में वे प्राचीन राज्य थे जिनको एकीकृत करके प्रथम वंश के पहले दो राज्य—उत्तरी और दक्षिणी—स्थापित किए गए थे। लेकिन अब इनपर स्वतंत्र राजाओं के स्थान पर फेरओ द्वारा नियुक्त गवर्नर राज्य करते थे। मध्य राज्य युग में प्रांतीय गवर्नरों तथा सामंतों की शक्ति विशेष रूप से बढ़ी और साम्राज्य युग में सम्राट् की।

मिस्री समाज पाँच वर्गों में विभाजित था—राजपरिवार, सामंत, पुजारी, मध्यवर्ग तथा सर्फ और दास। भूमि सिद्धांतत: फेरओ के हाथ में थी। व्यवहार में उसने इसे अधिकांशत: पुजारियों, पुराने राजाओं के वंशजों और सामंतों में विभाजित कर दिया था। उनकी बड़ी बड़ी जागीरों में दास और सर्फ काम करते थे। मध्यम वर्ग में लिपिक, व्यापारी, कारीगर और स्वतंत्र किसान सम्मिलित थे। प्राचीन राज्य युग में सबसे अधिक प्रतिष्ठा राजपरिवार, सामंतों और पुजारियों की थी। मध्य राज्य युग में सामंतों के साथ मध्यम वर्ग को महत्व मिला तथा साम्राज्य युग में सैनिक वर्ग को। वर्ग व्यवस्था आश्चर्यजनक रूप से लचीली थी। हर व्यक्ति कोई भी पेशा अपना सकता था। केवल राजपरिवार के सदस्य इस अधिकार से वंचित थे। सर्फ भी प्राय: उच्च पदों पर पहुँच जाते थे। लेकिन उच्च और निम्न वर्ग के लोगों के रहन सहन में भारी अंतर था। धनी लोग विशाल हवादार भवनों में रहते थे और निर्धन गंदे मोहल्ले की छोटी छोटी झोपड़ियों में।

समाज की इकाई परिवार था। विध्यनुसार प्रत्येक व्यक्ति की केवल एक पत्नी हो सकती थी और उसी की संतान को पारिवारिक संपत्ति उत्तराधिकार में मिलती थी। फेरओ भी इस नियम के अपवाद नहीं थे। लेकिन समृद्ध पुरुष अनेक उपपत्नियाँ रखते थे। मिस्री समाज के प्रत्येक वर्ग में भाई बहिन के विवाह की प्रथा थी, इसलिये पति पत्नी में बाल्यावस्था से ही स्नेह संबंध रहता था। समाज में स्त्रियों को अत्यंत प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। मैक्समूलर के अनुसार किसी अन्य जाति ने स्त्रियों को उतना उच्च वैधानिक समान प्रदान नहीं किया जितना मिस्रियों ने।

मिस्रियों के आर्थिक जीवन का आधार कृषिकर्म था। वे मुख्यत: गेहूँ, जौ, मटर, सरसों, अंजीर, खजूर, सन तथा अंगूर और अन्य अनेक फलों की खेती करते थे। मिस्र में कृषिकर्म अपेक्षया आसान था। बिना हल चलाए भी मिस्री किसान कई कई फसलें पैदा कर सकते थे। सिंचाई व्यवस्था का आधार नील नदी थी। किसानों को

मिस्र (देखें पृष्ठ (२८९–९५)

मिस्र के आधुनिक किसान

मिस्र का लोकनृत्य
(नई दिल्ली में काहिरा के अभिनेता दल द्वारा प्रस्तुत किया गया ।)

एलेक्जेंड्रिया का सागर बालू तट

मेघ (पृष्ठ ३७६–८२)

घने पक्षाभ (Cirrus), खंडों में

पक्षाभ, तंतुओं के रूप में
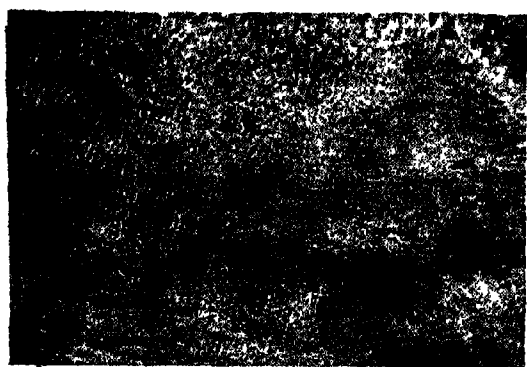
पक्षाभ कपासी (Cirro-cumulus)
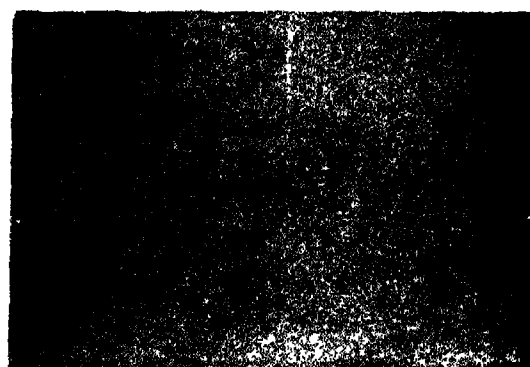
पक्षाभ स्तरी (Cirro-stratus)
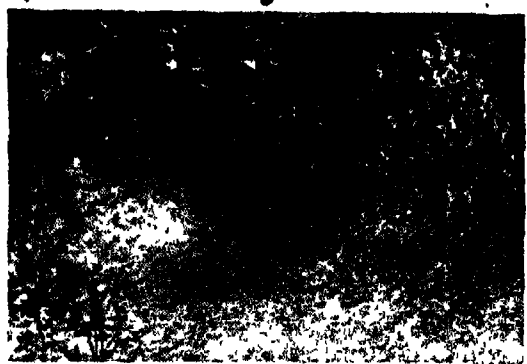
मध्यकपासी (Alto-cumulus), अर्ध पारदर्शक

वर्षास्तरी (Nimbo stratus)

ऊर्ध्वगामी कपासी (Cumulus)
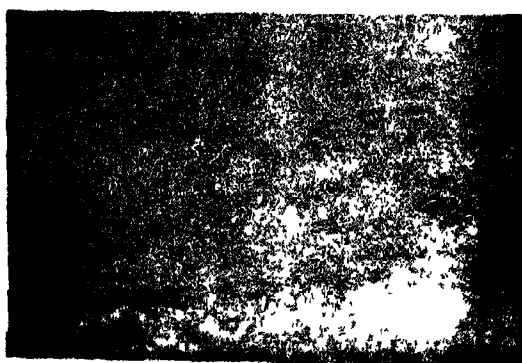
कपासी-वर्षी (Cumulo-nimbus)

उपज का १० से २० प्रतिशत भाग कर के रूप में देना होता था। कर खाद्यान्न आदि के रूप में दिए जाते थे। दूसरा प्रमुख उद्यम पशुपालन था। उनके प्रमुख पालतू पशु थे गाय, भेड़, बकरी, और गधा। अबीसीनिया और नूबिया से वे देवदारु, हाथीदाँत और आबनूस का आयात करते थे और इनसे अपने फेरओ और सामंतों के लिये बहुमूल्य फर्नीचर बनाते थे। वे कई प्रकार के जलपोत बनाने की कला में भी कुशल थे। चमड़े और खालों से वे भाँति भाँति के वस्त्र और ढाल इत्यादि तथा पेपाइरस पौधे से कागज, हलकी नावें, चप्पलें, चटाइयाँ, और रस्सियाँ आदि बनाते थे। उत्तम कोटि के लिनन वस्त्रों की बहुत माँग थी। मिस्रियों के इन उद्योग धंधों की झाँकी उनके रिलीफ चित्रों में सुरक्षित है।

मिस्रनिवासी अति प्राचीन काल से बहुदेववादी थे। उन्होंने अपने देवताओं की कल्पना प्रायः मनुष्यों अथवा पशुपक्षियों अथवा मिलेजुले रूप में की। उनके अधिकांश देवता प्राकृतिक शक्तियों के दैवी रूप थे। सूर्य, चंद्र तथा नील नदी को ही नहीं वरन् झरनों, पर्वतों, पशुपक्षियों, लताकुंजों, वृक्षों और विविध वनस्पतियों तक को वे दैवी शक्ति से अभिहित मानते थे। आकाश की कल्पना उन्होंने नूत नाम की देवी अथवा हथोर नाम की देवी गौ के रूप में की थी। मेंफिस का प्रमुख देवता टा' किसी प्राकृतिक शक्ति का दैवीकरण न होकर कलाओं और कलाकारों का संरक्षक था। सूर्य की उपासना मिस्र में लगभग सभी जगह विभिन्न नामों और रूपों में होती थी। उत्तरी मिस्र में उसकी पूजा का मुख्य केंद्र ओन (यूनानियों का हेलियोपोलिस) नाम का स्थान था। यहाँ उसे रे कहा जाता था और उसकी कल्पना पश्चिम की ओर गमन करते हुए वृद्ध पुरुष के रूप में की गई थी। थीबिज में उसका नाम एमन था। दक्षिणी मिस्र में उसका प्रमुख केंद्र एडफू नामक स्थान था। वहाँ उसकी उपासना बाज पक्षी के रूप में होरस नाम से होती थी। संयुक्त राज्य की स्थापना होने पर सूर्य के इन विभिन्न रूपों को अभिन्न माना जाने लगा और उसका संयुक्त नाम एमन-रे लोकप्रिय हो गया। उसका प्रतीक 'पक्षयुक्त सूर्यचक्र' मिस्र का राजचिह्न था। मिस्रियों के विश्वास के अनुसार सबसे पहले उसी ने फेरओ के रूप में शासन किया था। सूर्यदेव के आकाशगामी हो जाने पर पृथिवी पर उसके प्रतिनिधि फेरओ राज्य करने लगे। इनमें सबसे पहला स्थान ओसिरिस को दिया गया है। यद्यपि कहीं कहीं उसको सूर्य का पुत्र भी कहा गया है, तथापि वह मूलतः नील नदी, पृथिवी की उर्वर शक्ति तथा हरीतिमा का दैवीकरण प्रतीत होता है। एक नरेश के रूप में वह अत्यंत परोपकारी और न्यायप्रिय सिद्ध हुआ। शासनकार्य में उसे अपनी बहिन और पत्नी आइसिस से बहुत सहायता मिली। उसके दुष्ट भ्राता सेत ने उसकी धोखे से हत्या कर दी। बाद में आइसिस ने होरस नामक पुत्र को जन्म दिया। उसका पालनपोषण उसने मुहानेवाले प्रदेश में गुप्त रूप से किया। युवावस्था प्राप्त करने के बाद होरस ने घोर संघर्ष करके सेत को पराजित किया और अपने पिता के अपमान और वध का प्रतिशोध लिया।

मध्य राज्य युग में ओसिरिस का महत्व बहुत बढ़ा और यह माना जाने लगा कि प्रत्येक मृतात्मा परलोक में ओसिरिस के न्यायालय में जाती है। वहाँ ओसिरिस अपने ४२ अधीन न्यायाधीशों की सहायता से उसके कर्मों की जाँच करता है। जो मृतात्माएँ इस जाँच में खरी उतरती थीं उन्हें यारूलोक में स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने के लिये भेज दिया जाता था और जिनका पार्थिव जीवन दुष्कर्मों से परिपूर्ण होता था उन्हें घोर यातनाएँ दी जाती थी।

साम्राज्य युग में पुजारी वर्ग अत्यंत धनी और सत्ताधारी हो गया। इससे मध्य राज्य युग में धर्म और सदाचार में जो घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ था वह टूट गया। अब स्वयं धर्म के संरक्षक भोगविलास का जीवन व्यतीत करने लगे। 'देवताओं के मनोरंजन के हेतु नियुक्त देवदासियाँ वस्तुतः उनका ही मनोरंजन करती थीं। अब उन्होंने मृतकों को परलोक का भय दिखाकर यह दावा करना शुरू किया कि अगर वे चाहें तो अपने जादू के जोर से पापिष्ठों को भी स्वर्ग दिला सकते हैं। इतना ही नहीं, वे खुले आम ऐसे पापमोचक प्रमाणपत्र बेचते थे। इन प्रमाणपत्रों की तुलना मध्यकालीन यूरोप में ईसाई पादरियों द्वारा बेचे जानेवाले पापमोचक प्रमाणपत्रों (इंडल्जेंसेज) से की जा सकती है। मिस्री धर्म की यह वह अवस्था थी जब १३७५ ई० पू० में अमेनहोतेप चतुर्थ मिस्र का अधीश्वर बना। उसने प्रारंभ से ही पुजारी वर्ग में फैले भ्रष्टाचार और राजनीति पर उनके अवांछनीय प्रभाव का विरोध किया और एटन नामक एक नये देवता की उपासना को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। उसकी प्रशंसा में उसने अपना नाम भी अख्नाटन रख लिया। एटन मूलतः सूर्यदेव रे का ही नाम था। लेकिन अख्नाटन ने उसे केवल मिस्र का ही नहीं, समस्त विश्व का एकमात्र देवता बताया। क्योंकि एटन निराकार था, इसलिये अख्नाटन ने उसकी मूर्तियाँ नहीं बनवाई। लेकिन जनसाधारण उसकी महिमा को हृदयंगम कर सकें, इसलिये उसने 'सूर्यचक्र' को उसका प्रतीक माना। एटन की उपासना में न बहुत अधिक चढ़ावे की आवश्यकता थी, न जटिल कर्मकांड, तंत्रमंत्र और पुजारियों की भीड़ की। केवल हृदय से एटन के आभार को मानना और उसकी स्तुति करते हुए श्रद्धा के प्रतीक रूप कुछ पत्र, पुष्प और फल चढ़ाना पर्याप्त था। उसके परलोकवाद में नरक की कल्पना नहीं मिलती क्योंकि वह यह सोच भी नहीं सकता था कि दयालु पिता एटन किसी को नारकीय पीडाएँ दे सकता है।

अख्नाटन ने प्रारंभ में अन्य देवताओं के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया किंतु पुजारियों के उग्र विरोध पर उसने अन्य देवताओं के मंदिरों को बंद करवा दिया। उनके पुजारियों को निकाल दिया, अपनी प्रजा को केवल एटन की पूजा करने का आदेश दिया और सार्वजनिक स्मारकों पर लिखे हुए सब देवताओं के नाम मिटवा दिए। लेकिन अख्नाटन के विचार और कार्य उसके समय के अनुकूल नहीं थे। इसलिये उसकी मृत्यु के साथ उसका धर्म भी समाप्त हो गया। उसके बाद, उसके दामाद तूतेनखाटन ने पुराने धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया, पुजारियों के अधिकार लौटा दिए, और अपना नाम बदलकर तूतेनखामेन रख लिया।

मिस्र की प्राचीन लिपि चित्राक्षर लिपि (हाइरोग्लाइफिक) कही जाती है। हाइरोग्लाइफ' यूनानी शब्द है। इसका अर्थ है 'पवित्र चिह्न'। इस लिपि में कुल मिलाकर लगभग २००० चित्राक्षर थे। इनमें कुछ चित्रों में मनुष्य की विभिन्न आकृतियाँ आदि हैं। ये चिह्न तीन प्रकार के हैं : भावबोधक, ध्वनिबोधक तथा संकेतसूचक।

चित्राक्षरों को बनाते समय वस्तुओं के यथार्थ रूप को अंकित करने का प्रयास किया जाता था, इसलिये इसे लिखने में बहुत समय लगता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रथम वंश के शासनकाल में ही मिस्रियों ने एक प्रकार की द्रुत अथवा घसीट (हाइरेटिक) लिपि का विकास कर लिया था। मिस्रियों ने प्राचीन राज्य युग में २४ अक्षरों की एक वर्णमाला का आविष्कार करने में भी सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने वर्णमाला को भावबोधक और ध्वनिबोधक चित्रों के सहायक के रूप में प्रयुक्त किया, स्वतंत्र माध्यम के रूप में नहीं। आठवीं शताब्दी ई० पू० के लगभग मिस्रियों ने 'हाइरेटिक' लिपि से भी शीघ्रतर लिखी जानेवाली लिपि का आविष्कार किया जिसे 'डिमाटिक' कहा जाता है। यह एक प्रकार की 'शार्टहैंड' लिपि कही जा सकती है।

मिस्र में प्राचीन राज्य काल से ही पेपाइरस (नरकुल के गूदे से बना कागज) लिखने का सामान्य साधन था। चर्मपत्रों को तथा मृद्भांडों के टुकड़ों को भी लिखने के लिये काम में लाया जाता था। उनपर चित्राक्षर नरकुल की लेखनी से भी बनाए जाते थे और ब्रुश से भी।

मिस्री साहित्य प्रकृत्या व्यावहारिक था। उनकी अधिकांश कृतियाँ ऐसी हैं जो किसी न किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये लिखी गई थीं। इसीलिये वे महाकाव्यों, नाटकों और यहाँ तक कि साहित्यिक दृष्टि से आख्यानों की भी रचना कभी नहीं कर पाए। उनके जिन आख्यानों की चर्चा की गई है, वे सब साम्राज्य युग के अंत तक केवल जनकथाओं के रूप में प्रचलित थे। उनको कभी पृथक् साहित्यिक कृतियों के रूप में लिपिबद्ध नहीं किया गया। पिरेमिड युग की विशिष्ट धार्मिक रचनाएँ पिरेमिड टेक्सट्स हैं। इनमें मृतक संस्कार में काम आनेवाले वे मंत्र, पूजागीत और प्रार्थनाएँ आदि संमिलित हैं जिन्हें मृत फेरओ के पारलौकिक जीवन को संकटरहित करने के लिये उसके पिरेमिडों की भित्तियों पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था। इनसे ही कालांतर में 'कॉफिन टेक्सट्स' तथा 'बुक ऑव दि डेड' का विकास हुआ। शेष साहित्य भी प्रकृत्या व्यावहारिक है। उदाहरणार्थ इम्होतेप, केगेम्ने तथा टा होतेप इत्यादि मंत्रियों ने अपने अनुभवजनित ज्ञान को लेखबद्ध किया। ये कृतियाँ 'नीतिग्रंथ' कहलाती हैं। मध्य राज्ययुगीन रचनाओं में 'मुखर कृषक का आवेदन' 'इपुवेर की भविष्यवाणी', 'एमेनम्हेत का उपदेश' तथा 'वीणावादक का गान' प्रमुख हैं तथा साम्राज्ययुगीन कृतियों में अखनाटन के स्तोत्र।

विज्ञान के केवल उन्हीं क्षेत्रों में मिस्रियों की रुचि थी जिनकी व्यावहारिक जीवन में आवश्यकता पड़ती थी। जिज्ञासा के सीमित होने के बावजूद उन्होंने कुछ क्षेत्रों में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। उदाहरणार्थ उन्होंने ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति का काफी सही अंदाज करके आकाश का मानचित्र बना लिया था। सौर पंचांग का आविष्कार उनकी महत्वपूर्ण सफलता थी। गणित के मुख्य नियम जोड़, घटाना और भाग व्यापार और प्रशासन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काफी पहले आविष्कृत हो चुके थे। लेकिन गुणा से वे अंत तक अपरिचित रहे। इसका काम वे जोड़ से चलाते थे। शून्य और दशमलव विधि से भी वे अपरिचित थे। बीजगणित और रेखागणित की प्राथमिक समस्याओं को हल करना उन्हें आ गया था, लेकिन विषम चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालने में दिक्कत का अनुभव करते थे। वृत्त, अर्द्धगोलक और सिलिंडर का क्षेत्रफल निकालने में काफी सफलता प्राप्त कर ली थी। भवनों की आधारयोजना बनाने में वे असाधारण रूप से कुशल थे। उनके कारीगर स्तंभों और मेहराबों के प्रयोग से परिचित थे। चिकित्साशास्त्र में भी उन्होंने पर्याप्त प्रगति कर ली थी।

मिस्रियों के लिये कला उनके राष्ट्रीय जीवन को अभिव्यक्त करने का माध्यम थी। इसका सर्वोत्तम प्रमाण उनके पिरेमिड हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि मिस्री नरेशों ने इन्हें राज्य की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ने पर जनता को रोजगार देने के लिये बनवाया था। लेकिन यह असंभव लगता है। जिस समय ये पिरेमिड बनाए गए थे मिस्र समृद्ध देश था, इसलिये इनका निर्माण आर्थिक संगठन के दौर्बल्य का कारण माना जा सकता है, परिणाम नहीं। वास्तव में मिस्रियों ने पिरेमिडों की रचना अपने राज्य और उसके प्रतीक फेरओ की अनश्वरता और गौरव को अभिव्यक्त करने के लिये की थी। अगर फेरओ अमर थे तो उनकी मृत देह की सुरक्षा और उसके निवास के हेतु उनकी महत्ता के अनुरूप विशाल और स्थायी समाधियों का निर्माण आवश्यक था। हेरोडोटस के अनुसार गिजेह के 'विशाल पिरेमिड' को एक लाख व्यक्तियों ने बीस साल में बनाया था। यह तेरह एकड़ भूमि में बना है और ४८० फुट ऊँचा तथा ७५५ फुट लंबा है। इसमें ढाई ढाई टन भार के २३ लाख पाषाणखंड लगे हैं। ये इतनी चतुरता से जोड़े गए हैं कि कहीं कहीं तो जोड़ की चौड़ाई एक इंच के हजारवें भाग से भी कम है।

साम्राज्य युग में मिस्री वास्तुकला का प्रदर्शन मंदिरों के निर्माण में हुआ। पिरेमिडों के समान ये मंदिर भी प्राय. कठोरतम पाषाण से बनाए गए हैं और अत्यंत विशाल हैं। कानार्क का मंदिर संभवत विश्व का विशालतम भवन है। यह १३०० फुट (लगभग चौथाई मील) लंबा है। इसका मध्यवर्ती कक्ष १७० फुट लंबा और ३३८ फुट चौड़ा है। इसकी छत छह पंक्तियों में बनाए गए १३६ स्तंभों पर टिकी है जिनमें मध्यवर्ती बारह स्तंभ ७९ फुट ऊँचे हैं और उनमें से प्रत्येक के शीर्षभाग पर सौ व्यक्ति खड़े हो सकते हैं। मिस्री नूबिया में निर्मित आबू सिंबेल का मंदिर वस्तुत: एक गुहामंदिर है। यह १७५ फुट लंबा और ९० फुट ऊँचा है। इसके मध्यवर्ती कक्ष की छत २० फुट ऊँचे ८ स्तंभों पर आधारित है जिनके साथ ओसिरिस की १७ फुट ऊँची मूर्तियाँ बनी हैं। लक्सोर का मंदिर अमेनहोतेप तृतीय ने बनवाया था। किंतु वह इसे पूरा नहीं करा पाया।

वास्तुकला के समान विशालता, सुदृढ़ता और रूढ़िवादिता भी मिस्री मूर्तिकला की विशेषताएँ थीं। राजाओं की मूर्तियाँ अधिकांशत. कठोर पाषाण से विशाल आकार और भावविहीन मुद्रा में बनाई जाती थीं। उन्हें प्राय. कुर्सी पर पैर लटकाकर मेरुदंड को सीधा किये और हाथों को जाँघों पर रखे बैठने की मुद्रा में अथवा हाथ लटकाए बायाँ पैर आगे बढ़ाकर चलने की मुद्रा में दिखाया गया है। थटमोस तृतीय और रेमेसिस द्वितीय की मूर्तियाँ तो आकाश को छूती लगती हैं। खेफ्रे के पिरेमिड के सामने स्थित 'विशाल स्फिक्स्' नामक मूर्ति संभवत: विश्व की विशालतम मूर्ति है। इसका शरीर सिंह का है और सिर फेरओ खेफ्रे का। इन सबसे भिन्न हैं अखनाटन के काल

मिस्र (देखें पृ० १८९–९५)
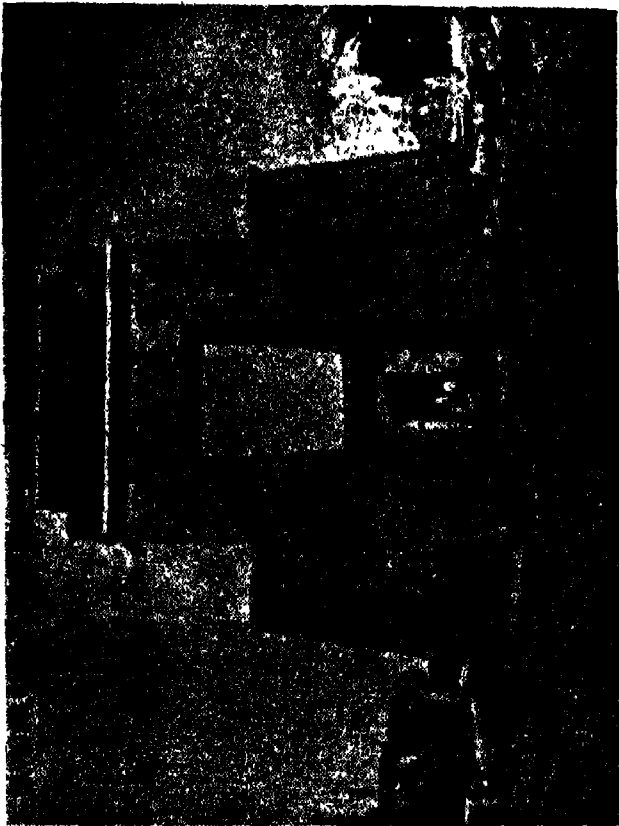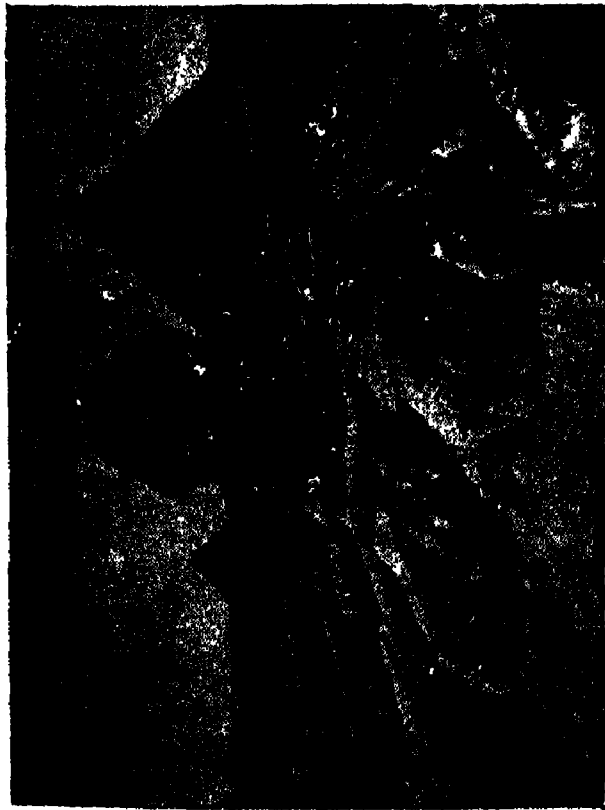
स्फ़िंक्स (Sphinx) : गीज़ा के पिरामिड के समीप अवस्थित

कार्नेक–स्थित स्फ़िंक्स ऐवेन्यू का विशाल द्वार
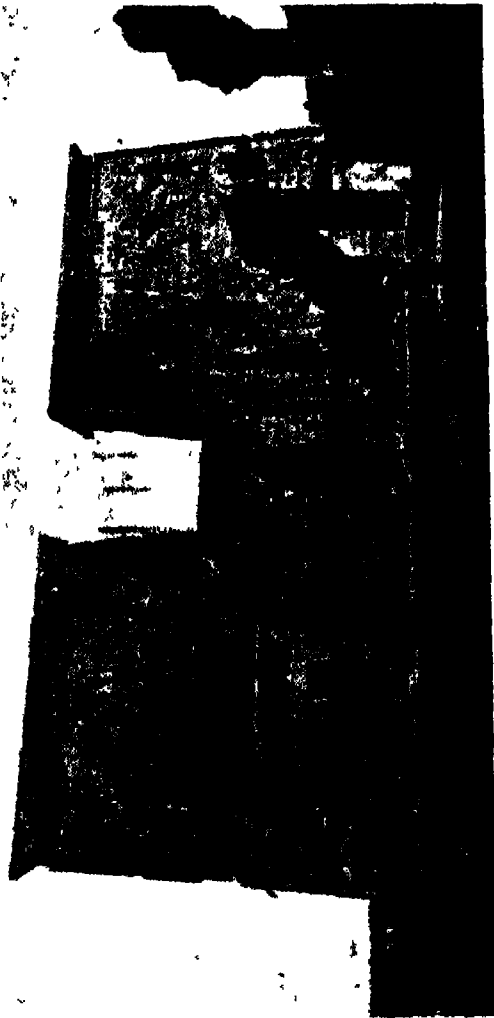
फिला–स्थित ईसिस के मंदिर का पार्श्वकृत प्रवेश द्वार
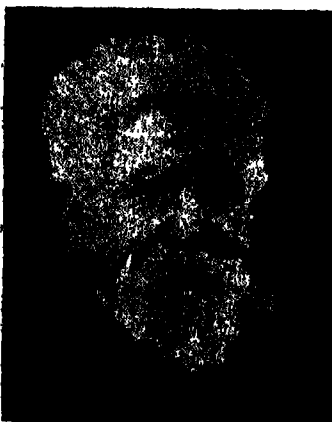
में बनी कुछ मूर्तियाँ जिनमें स्वयं अखनाटन और उसकी रानी नोफ़ेरतीति की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके निर्माता कलाकार पुरानी परंपराओं के बंधनों से मुक्त थे। ऐसी कुछ मूर्तियाँ सामान्य जनों की भी मिली हैं। इनमें काहिरा संग्रहालय में सुरक्षित प्राचीन राज्य के एक ओवरसियर की काष्ठ की प्रतिमा, जिसका केवल सिर अवशिष्ट है, बहुत प्रसिद्ध है। यह 'शेख की मूर्ति' नाम से विख्यात है। लूव्रे संग्रहालय की 'लिपिक की मूर्ति' भी अत्यंत प्राणवान् प्रतीत होती है।

मिस्र में मंदिरों और मस्तबाओं (समाधियों) में रिलीफ चित्र बनानेवाले कलाकारों की भी बहुत माँग थी। ऐसी मूर्तियाँ बनाते समय अंकित वस्तु की लंबाई चौड़ाई तो आसानी से दिखा दी जाती थी, लेकिन मोटाई अथवा गोलाई दिखाने में दिक्कत होती थी। इसलिये उनके रिलीफ चित्रों में काफी अस्वाभाविकता आ गई है। लेकिन इस दोष के बावजूद मिस्री रिलीफ चित्र दर्शनीय हैं और प्राचीन मिस्री सभ्यता और रीति रिवाजों पर ज्ञानवर्द्धक प्रकाश डालते हैं।

मिस्र की चित्रकला के अधिकांश नमूने नष्ट हो चुके हैं, लेकिन जो शेष हैं, धार्मिक और राजनीतिक रूढ़ियों से अप्रभावित लगते हैं। ऐसा लगता है, मिस्र में चित्रकला का जन्म पिरेमिड युग में हो जाने पर भी विकास काफी बाद में हुआ। इसलिये यह कला धर्म की परिधि से बाहर रह गई। मिस्री चित्रकला के उपलब्ध नमूनों में सर्वोत्तम अखनाटन के समय के हैं। चित्रकला के अतिरिक्त साम्राज्ययुगीन मिस्री अन्य अनेक ललित कलाओं में भी दक्ष हो चुके थे। तूतेनखामेन की १९२२ ई० में उत्खनित समाधि से अब से लगभग ३३०० वर्ष पूर्व छोड़े गए बहुमूल्य काष्ठ, चर्म और स्वर्ण निर्मित फर्नीचर उपकरण, आबनूस और हस्तिदंत खचित बाक्स, स्वर्ण और बहुमूल्य पाषाणों से सज्जित रथ, स्वर्णपत्रमंडित सिंहासन, श्वेत पाषाण के सुंदर भांड तथा जरी के सुंदर शाही वस्त्र, उपलब्ध हुए हैं। इनसे साम्राज्ययुगीन मिस्र की कला की प्रगति और वैभव का पता चलता है।

सं० ग्रं० — श्रीराम गोयल : विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, पृ० ३०७-८४। [श्री० रा० गो०]

मिहिरकुल हूण सम्राट् तोरमाण और उसके पुत्र मिहिरकुल भारतीय इतिहास में अपनी खूँखार और ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के लिये प्रसिद्ध हैं। भारतीय स्रोतों के अतिरिक्त इनकी बर्बरता का चित्रण चीनी तथा यूनानी इतिहासकारों ने भी किया है। कुमारगुप्त के राज्यकाल (ई० ४१४-४५५) के अंतिम वर्षों में हूणों ने उत्तरी भारत पर धावा बोल दिया। राजकुमार स्कंदगुप्त ने इस आक्रमण को रोक लिया पर छठी शताब्दी के प्रथम चरण में हूणों का आधिपत्य मालवा तक छा गया। तोरमाण का पुत्र मिहिरकुल लगभग ५१५ ई० में सिंहासन पर बैठा। उसकी राजधानी शाकल अथवा स्यालकोट थी। 'राजतरंगिणी' के अनुसार उसका राज्य कश्मीर तथा गंधार से लेकर दक्षिण में लंका तक फैला था। किंतु इस वृत्तांत में तथ्य नहीं है। कल्हण ने तोरमाण को मिहिरकुल से १८ वीं पीढ़ी बाद रखा है पर वास्तव में मिहिरकुल तोरमाण का पुत्र था। इस ग्रंथ में उल्लिखित मिहिरकुल की नृशंस प्रवृत्तियों की पुष्टि युवान् च्वांग के वृत्तांत से भी होती है। चीनी स्रोतों में सुंग युन का वृत्तांत भी उल्लेखनीय है। यह लगभग ५२० ई० में गंधार में हूण सम्राट् के यहाँ राजदूत था। इसके अतिरिक्त एक यूनानी भौगोलिक कास्मॉस इंडिको प्लुस्तस ने श्वेत हूण सम्राट् गोलस का उल्लेख किया है जो लगभग ५२५-५३५ ई० में उत्तरी भारत का सम्राट् था। कदाचित् इसकी समानता मिहिरकुल से की जा सकती है। उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर हूण सम्राट् मिहिरकुल का साम्राज्य सिंधु नदी के पश्चिम में था और उसका आधिपत्य उत्तरी भारत के शासक स्वीकार करते थे। बौद्ध धर्म का वह कट्टर विरोधी था और इसने मठों तथा संघारामों को ध्वस्त किया। इसके राज्यकाल के १५वें वर्ष का एक लेख ग्वालियर में मिला है जिसमें मातृचेत नामक एक व्यक्ति द्वारा सूर्यमंदिर की स्थापना का उल्लेख है।

मिहिरकुल अधिक समय तक राज्य न कर सका। हूणों की बर्बरता ने उत्तरी भारत के शासकों में नवीन स्फूर्ति डाल दी थी। अत: यशोधर्मन् के नेतृत्व में इन शासकों ने उसे हराया। मंदसोर (मध्यभारत) के यशोधर्मन् के लेख से ज्ञात होता है कि मिहिरकुल ने इस भारतीय सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। युवान् च्वांग के वृत्तांतानुसार मगध शासक बालादित्य पर जब मिहिरकुल ने आक्रमण किया तो उसने एक द्वीप में शरण ली। मिहिरकुल ने उसका पीछा किया पर वह स्वयं पकड़ा गया। उसका वध न कर, उसे मुक्त कर दिया गया। मिहिरकुल की अनुपस्थिति में उसके छोटे भाई ने राज्य पर अधिकार कर लिया अत: कश्मीर में मिहिरकुल ने शरण ली। यहाँ के शासक का वध कर वह सिंहासन पर बैठ गया। उसने स्तूपों और संघारामों को जलाया और लूटा। एक वर्ष बाद उसका देहांत हो गया और उसी के साथ हूण राज्य का भी अंत हो गया।

सं० ग्रं० — मजुमदार, आर. सी.—दी क्लासिकल एज; फ़्लीट— गुप्त इंस्क्रिप्शंस।

मीअरेवेल्ट, मिखील जॉन्स्ज़ फ़ान (१५६७-१६४१) मीअरेवेल्ट बड़ा शक्तिशाली कलाकार था। डेल्फ्ट में उत्पन्न हुआ और बाद में वहीं उसकी मृत्यु हुई। १६२५ में वह हेग पहुँचा और प्रिंसेस आफ आरेंज का कलाकार नियुक्त हुआ। वह अधिकतर व्यक्ति चित्र (पोर्ट्रेट) बनाता था और अधिकतर कमर से ऊपरी पार्श्व (बस्ट) का। इसके चित्र बड़े ही सुसंस्कृत स्वरूप के हैं और ऐम्स्टर्डम, बोस्टन, डेल्फ्ट, हेग, लंदन, न्यूयार्क रोटर्डम इत्यादि स्थानों में प्राप्त हैं। [रा० चं० शु०]

मीडिया ईरान का उत्तर पश्चिमी प्रांत, जिसके निवासियों ने ईरान के प्रथम ऐतिहासिक आर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। यह प्रदेश अपने घोड़ों के लिये बहुत प्रसिद्ध था। आर्यों के आगमन के पूर्व इस प्रदेश में संभवत: तूरानी जाति की एक शाखा रहती थी। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में किसी समय यहाँ ईरानी आर्य आकर बसे जिन्होंने अधिकांश पुराने निवासियों को मौत के घाट उतार दिया। इसके पश्चिमी भाग में जग्रोस का पर्वतीय प्रदेश था और पूर्वी भाग में उर्वर मैदान। इसके मध्य से बेबिलोनिया और ईरान को जोड़नेवाला व्यापारमार्ग गुजरता था, इसलिये इसके निवासी, अन्य ईरानी कबीलों की तुलना में अधिक समृद्ध हो गए। दूसरे, वे

असीरियनों के अधिक निकट थे इसलिये उन्हें बार बार असीरियन आक्रमणों का सामना करना पड़ता था। इससे उनमें एकता की भावना अन्य ईरानियों से पहले आई। प्रथम तिगलथपिलेसर (११०० ई० पू०), द्वितीय शलमनेसर (८४४ ई० पू०), तृतीय अदाद निरारी (८१० ई० पू०) तथा चतुर्थ तिगलथपिलेसर (७४४ ई० पू०) आदि असीरियन सम्राटों ने मीडिया पर आक्रमण किए थे। हेरोडोटस के अनुसार मीडिया के संयुक्त राज्य की स्थापना डीयोकीज नामक नागरिक ने की थी। अपने साथियों के झगड़ों का उचित फैसला करने के कारण उसने बहुत कीर्ति प्राप्त की। जब उसके पास बहुत मुकदमे आने लगे तब उसने इस काम से हाथ खींच लिया। इससे देश में अराजकता फैल गई और विवश होकर मीडों को अपना राजा चुनने के लिये बाध्य होना पड़ा। उसने अलवंद पर्वत की तलहटी में स्थित 'राहों के मिलनस्थल' हगमतन (हमदन) अथवा एक्बटना को अपनी राजधानी बनाया, दरबार के रीति रिवाज निश्चित किए और राजानुशासन लागू किया। असीरियन सम्राट् सारगोन द्वितीय (७२२-७०५ ई० पू०) के एक अभिलेख में कहा गया है कि उसके शासनकाल में मीडिया के बहुत से सरदारों ने उरर्तु नरेश रूसस के साथ मिलकर एक संघ बनाया था। इनमें एक नाम दायक्कु बताया गया है। यही व्यक्ति हेरोडोटस का डीयोकीज रहा होगा। सारगोन ने इजराइल राज्य को पराजित करके बहुत से यहूदियों को भी मीडिया में बसाया था।

हेरोडोटस के अनुसार डीयोकीज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र फरोओर्टीज (फ्रवर्तिश) था। लेकिन असीरियन अभिलेखों में इस समय क्षस्तरित (लगभग ६८०-६५३ ई० पू०) नामक व्यक्ति को मीडों का राजा बताया गया है जिसने ६८० ई० पू० के लगभग असीरियन नरेश एसरहद्दोन के विरुद्ध विद्रोह किया था। उसने अपनी शक्ति उस समय बढ़ा ली होगी जब सारगोन द्वितीय का उत्तराधिकारी सेनाकेरिब एलम, मिस्र और जूडा के साथ युद्धों में फँसा हुआ था। क्षस्तरित अथवा फ्रवर्तिश ने किमरियन और सीथियन जातियों को पराजित किया, उनके साथ मिलकर असीरिया के विरुद्ध एक संघ बनाया और हेरोडोटस के अनुसार, अपने को भली भाँति शक्तिशाली समझकर निनेवेह पर आक्रमण कर दिया, परंतु पराजित हुआ और मार डाला गया (६५३ ई० पू०)।

क्षस्तरित की मृत्यु के बाद मीडिया २८ वर्ष तक सीथियनों के अधिकार में रहा। उसे सीथियन आधिपत्य से मुक्ति दिलाने और एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत करने का श्रेय उवक्षत्र (सियक्सीज) को प्राप्त है। उसने सीथियनों को मीडिया से भगाने के बाद समस्त पश्चिमी ईरान को संगठित किया। कैल्डियन नरेश नेबोपोलस्सर के साथ निनेवेह के विरुद्ध संधि की और ६१२ ई० पू० में असीरियन साम्राज्य का सदैव के लिये अंत कर दिया। इस विजय से नेबोपोलस्सर को उत्तर में अशुर तक का प्रदेश और भूमध्यसागरीय तटवर्ती प्रांत मिले और शेष असीरिया, उत्तरी मेसोपोटामिया, आरमीनिया और कप्पेडोशिया उवक्षत्र को। बैबिलोन के साथ मैत्री बढ़ाने के हेतु उवक्षत्र ने अपनी पुत्री का विवाह नेबोपोलस्सर के युवराज नेबूशद्रेज्जर से कर दिया। ५९० ई० पू० के लगभग उसने लीडिया पर आक्रमण किया। पाँच वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। अंत में ५८५ ई० पू० में सूर्यग्रहण के दिन नए बैबिलोनियन सम्राट् नेबूशद्रेज्जर की मध्यस्थता से दोनों पक्षों में संधि हुई। हैलीज नदी दोनों राज्यों की सीमा निश्चित हुई और लीडियन राजकुमारी का विवाह मीड राजकुमार इश्तुवेगु (अस्त्यागीज) के साथ कर दिया गया। इस प्रकार उवक्षत्र ने न केवल मीडिया को स्वतंत्र किया वरन् असीरियन साम्राज्य का अंत करके प्रथम महान् ईरानी साम्राज्य की स्थापना भी की।

उवक्षत्र के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी इश्तुवेगु (५८४-५५० ई० पू०) हुआ। उसके शासनकाल में दक्षिणी ईरान में स्थित अंशान प्रांत के शासक प्रथम कबुजिय ने, जो नाममात्र के लिये उसके अधीन था, अपनी शक्ति बढ़ा ली जिससे प्रभावित होकर इश्तुवेगु ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। परंतु कंबुजिय के पुत्र कुरुष द्वितीय ने इश्तुवेगु के असंतुष्ट सामंतों का सहयोग पाकर ५५३ ई० पू० में विद्रोह कर दिया और ५५० ई० पू० में मीडिया को अधिकृत कर लिया। टीसियस और हेरोडोटस ने बताया है कि उसने शक्ति से मीडिया को अधिकृत किया था। परंतु हेरोडोटस यह भी कहता है कि उसको बहुत से मीड सरदारों का सहयोग प्राप्त था। हो सकता है, उसको बहुत से मीड सरदारों ने किसी कारणवश इश्तुवेगु से अप्रसन्न होकर उसके दौहित्र कुरुष को राजा बनने के लिये निमंत्रित किया हो। संभवत: इसीलिये यूनानी बहुत समय तक खामशी साम्राज्य को मीड साम्राज्य और कुरुष को मीड राजा मानते रहे। इस सहायता के बदले में कुरुष ने मीड सरदारों को अपने साम्राज्य में बहुत संमानपूर्ण स्थान दिया और मीड नगर एक्बटना को अपनी एक राजधानी होने का गौरव भी प्रदान किया।

मीड जाति ईरानी आर्यों की एक शाखा थी। उसका धर्म स्पष्टत: ईरानी आर्यों के धर्म से अभिन्न था। स्ट्रेबो के अनुसार वह 'पर्सियनों', 'एरियनों' और 'सोग्दी' लोगों की बोलियों से सादृश्य रखनेवाली बोली बोलती थी। अभी तक मीड भाषा में लिखित कोई अभिलेख नहीं मिला है। इसलिये कुछ विद्वानों का सुझाव है कि मीडों की अपनी भाषा केवल बोलचाल की भाषा थी, लिखित भाषा के रूप में वे असीरियन भाषा का प्रयोग करते थे, उसी प्रकार जैसे अफगानिस्तान में बोलचाल की भाषा पश्तु है और लिखने की भाषा फारसी। अभिलेख अनुपलब्ध होने के कारण मीडों के साहित्य की भी जानकारी नहीं हो पाती। उनके राजनीतिक संगठन के विषय में भी कुछ कहना दुष्कर है। अनुमान किया जाता है कि उन्होंने असीरियन और बैबिलोनियन सम्राटों का अनुकरण करके कुछ राजकीय नियम बनाए थे जिनका अनुसरण कालांतर में ईरान के हखामशी सम्राटों ने किया। हखामशियों ने मीडों की वेशभूषा भी अपनाई थी, जिसका कुछ ज्ञान असीरियन रिलीफ चित्रों में मीड बंदियों के अंकन से होता है। यूनानी साहित्य से ज्ञात होता है कि मीडिया के राजे अपनी विलासिता और वैभव के लिये प्रसिद्ध थे। कला के क्षेत्र में उनकी सफलता का कुछ ज्ञान साकिज से प्राप्त कोष से होता है जिसमें मिली कलाकृतियों पर असीरियन छाप स्पष्ट है। उनकी वास्तुकला का कोई नमूना कुछ मामूली समाधियों को छोड़कर अभी तक नहीं मिला है, परंतु उनकी राजधानी एक्बटना का विवरण हेरोडोटस के ग्रंथ में मिलता है। यह क्रमश: छोटी होती गई सात प्राचीरों से घिरा था। सातवीं मध्यवर्ती प्राचीर के बीच में राजप्रासाद और कोषागार थे। इनकी दीवारों को विभिन्न रंगों के प्रयोग से सुंदर बनाने की

चेष्टा की गई थी। हमदान से प्राप्त शेर की एक विशाल परंतु अत्यंत खंडित मूर्ति उनकी स्थापत्य कला के विरल नमूनों में से एक है।

सं० ग्रं० : श्रीराम गोयल : विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ; अध्याय १६-२०। [श्री० रा० गो०]

मीनसरीसृप (इक्थियोसॉरिया, Ichthyosauria) लुप्त जलीय सरीसृप हैं, जिनका आकार मछली के ऐसा होता था। अतः मीनसरीसृप नाम पड़ा। जीवाश्म सरीसृपों में इनका पता सबसे पहले लगा था। कोनीबियर और मैंटेल ने इनका सर्वप्रथम वर्णन किया। ये ऐसे चतुष्पदीय जीव थे जिनका जीवन ट्राइऐसिक कल्प में, बहुत बड़े परिमाण में, थलीय से जलीय जीवन में बदल गया। ये पूर्ण रूप से जल अनुकूलित हो गए और जलीय जीवन बिताने लगे थे। तृतीय महाकल्प में जो स्थान सूंस (dolphin), शिशुक (porpoise) और ह्वेल (whale) का था, वही स्थान ट्राइऐसिक कल्प में मीनसरीसृप का हो गया। मध्यजीवी महाकल्प (Mesozoic era) के अधिक भाग तक इनका सर्वाधिक आधिपत्य रहा। जलीय जीवनयापन के बाद ये बिल्कुल लुप्त हो गए और इनके स्थान को स्थलीय जीवन बितानेवाले अन्य जीवों ने ले लिया।

इनके पूर्वजों के संबंध में विशेष ज्ञान प्राप्त हो सका है। संभवत: इनका विकास, जैसा इनके शरीर की रचना से पता लगता है, कोटिलोसॉरिया (Cotylosauria) से हुआ है। इस विचार से कि इनकी उत्पत्ति किसी उभयचारी, आद्यसरीसृप (protosaur) से पर्मियन (Permian) युग में हुई थी, कोई मतभेद नहीं है। ऐसा
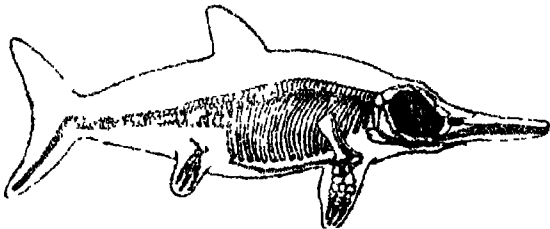
मीनसरीसृप (इक्थियोसॉरस)

विचार किया जाता है कि ये आद्यसरीसृप अपने अवयवों के ह्रास से जलीय जीवन के अनुकूल हो गए, न कि प्लिसियोसॉरस (Plesiosaurus) जल सरीसृपों के समान अवयवों के वर्धन से।

केवल कुछ ही मीनसरीसृपों के जीवाश्म संसार के विभिन्न भागों में, उत्तर में यूरोप से लेकर दक्षिण में न्यूज़ीलैंड तक, मिले हैं। इनका प्रारूपिक रूप इक्थियोसॉरस का है, यद्यपि ट्राइऐसिक युग के मिक्सोसॉरस (Mixosaurus) और ओंफैलोसॉरस (Omphalosaurus) भी प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त यूरिटेरिजियस (Eurepterygius), स्टेनोटेरीजियस (Stenopterygius) और यूरिनोसॉरस (Eurhinosaurus) भी मिले हैं।

अधिकांश मीनसरीसृपों की आकृति और गुण समान होते हैं, केवल कुछ व्यक्तिगत गुणों में ही विभिन्नता पाई जाती है। अतः यहाँ केवल इक्थियोसॉरस का ही वर्णन किया जा रहा है, जिसके जीवाश्म संसार के प्राय: सब खंडों में, उत्तर से दक्षिण तक, पाए गए हैं। ये संसार की मध्यजीवी कल्प की चट्टानों में और उत्तर यूरोप की जूरैसिक युग की चट्टानों में प्रचुरता से मिले हैं। ये एक मीटर से लेकर १०-१२ मीटर तक लंबे पाए गए हैं। जीवाश्मों से इनके शरीर और कोमल अंगों तक का विस्तृत विवरण प्राप्त हो सका है। इनका शरीर जलीय जीवन के लिये बिल्कुल अनुकूल और थलीय जीवन के लिये सर्वथा अयोग्य था। इनकी आकृति मछली जैसी थी। इनका जीवनक्रम भी मछली जैसा ही था। इनमें अधिक वेग से तैरने की क्षमता थी। इनका शरीर त्वचा की महीन झिल्ली से ढँका हुआ था। इनकी चाल शरीर की तालबद्ध गति के कारण होती थी। शरीर की प्रगति की लहर अगले अंगों से पूँछ की तरफ होती थी। पूँछ पतवार का कार्य करके शरीर को आगे बढ़ाने में सहायक होती थी। अगले और पिछले अंग क्षेपणी (paddle) का कार्य करते थे तथा जल में शरीर को संतुलित कर अंगों पर नियंत्रण रखते थे। इन्हीं अंगों के द्वारा शरीर को खेया या रोका जाता था। इनका शरीर धारारेखित (streamlined) था। शरीर का आकार सिर से पैर तक बढ़ा जाता था। वास्तविक गर्दन नहीं थी। सिर शरीर से जुड़ा हुआ प्रतीत होता था। शरीर चिपटा सा हो गया था। पक्ष क्षेपणी का रूप लेकर तैरने में सहायक हो गया था। कलाई, टखने और अंगुलियों की हड्डियाँ असाधारण रूप से चपटी, षट्कोणीय, जुड़ी, छोटी हड्डियों के समान रह गई थीं। अंगुलियाँ लंबी और चौड़ी हो गई थीं। अंगुलियों की संख्या पाँच से बढ़ या घट गई थी। इनमें शार्क मछली की भाँति विषमपालि (heterocercal) पूँछ उत्पन्न हो गई थी। जीवाश्मों में पृष्ठरेखा (dorsal line) कंकालविहीन मांसल अंग के रूप में दृष्टिगोचर होती है। जबड़ों के लंबे होने के कारण सिर लंबा और तुंडाकार था। आँखें बहुत बड़ी थीं और अक्षिपट (sclerotic plates) के दृढ़ वलय से घिरी हुई थीं। नेत्र कोटर के समीप ही नासाद्वार था। दाँत अनेक और नुकीले, प्रत्येक जबड़े के खाँचे में एक पंक्ति में थे। अग्रपाद की तुलना में पश्चपाद बहुत छोटा था।

खोपड़ी की ऊपरी हड्डियाँ संपीडित हो गई थीं और शंखखात (temporal fossa), पश्च ललाट (postfrontal) और ऊर्ध्वशंख (supratemporal) हड्डियों से मिलकर बनी थीं। वलयक (stapes) हड्डी काफी विशालकाय हो गई थी, जबकि सरीसृपों में यह पतली होती है। मेखलाओं का अस्थिकरण नहीं हुआ था और श्रोणी मेखला (pelvic girdle) पृष्ठदंड से अलग हो चुकी थी। प्रगंडिका (humerus) और ऊर्विका (femur) के अतिरिक्त अन्य लंबी हड्डियाँ गोल और छोटी हो गई थीं।

मीनसरीसृप अंडज थे या जरायुज, इसका बहुत दिनों तक निर्णय न हो सका था; पर अब यह निश्चय हो गया है कि ये जरायुज थे। कुछ जीवाश्मों में शरीर के अंदर छोटे शिशु या भ्रूण मिले हैं, जिससे जरायुज होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जीवाश्मों की आँतों में समुद्रफेनी या कटलफिश, या मछलियों के मिलने से पता लगता है कि ये मछलियों को खाते थे। संभवत: ये अपने शिशुओं का भी भक्षण करते थे। एक समय ऐसा समझा जाता था कि मीनसरीसृप मछलियों के विकास से बने हैं, पर अब यह निश्चित है कि ये स्थलीय

सरीसृपों से ही ऐसे बने हैं कि उनकी थलीय प्रकृति बिल्कुल नष्ट हो गई है और जलीय जीवनयापन के अनुकूल बन गई है।

सं ग्रं० — कोलबर्ट, ई० एच० : 'इवोल्यूशन ऑव वर्टिब्रेट्स' (१९५५), जे० विली ऐंड संस, न्यूयॉर्क; रोमर, ए० एस० : 'दि वर्टिब्रेट स्टोरी (१९५९) युनिवर्सिटी शिकागो प्रेस, शिकागो।

[रा० शं० ह०]

मीमांसक आचार्य, प्रमुख तैत्तिरीय शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथ तथा श्रौत सूत्रों की समीक्षा से विदित होता है कि वैदिक वाक्यों में प्रतीयमान विरोध का परिहार करने के लिये ऋषि महर्षियों ने जो छानबीन की वही विचारधारा मीमांसा के रूप में परिणत हुई। मीमांसा कर्मकांड विषयक वाक्यों के विरोध का परिहार करती है। इसपर जिन प्रमुख प्राचार्यों ने टीकाओं या भाष्यों की रचना की, उनकी अनुक्रमणिका यह है — १. सूत्रकार जैमिनि, २. भाष्यकार शबर स्वामी, ३. कुमारिल भट्ट, ४. प्रभाकर मिश्र, ५. मंडन मिश्र, ६. शालिकनाथ मिश्र, ७. वाचस्पति मिश्र, ८. सुचरित मिश्र ९. पार्थसारथि मिश्र, १०. भवदेव भट्ट, ११. भवनाथ मिश्र, १२. नंदीश्वर, १३. माधवाचार्य, १४. भट्ट सोमेश्वर, १५. आप देव, १६. अप्पय दीक्षित, १७. सोमनाथ, १८. शंकर भट्ट, १९. गंगा भट्ट, २०. खंडदेव, २१. शंभु भट्ट और २२. वासुदेव दीक्षित।

जैमिनि

मीमांसा संप्रदाय तथा मीमांसा दर्शन का सूत्र के रूप में संकलन भगवान् जैमिनि ने किया है। इसके संबंध में दो बातें हैं—

(१) भगवान् जैमिनि ने उस समय में महर्षियों की जो विचारधारा थी उसको लेकर किसी को पूर्वपक्ष में, किसी को सिद्धांत के रूप में रखकर तथा अपने अभिप्राय को मिलाकर मीमांसा दर्शन बनाया। सभी दर्शनशास्त्रों की यही रीति है।

(२) ब्रह्मा से लेकर व्यास तक संकीर्त गुरुपरंपरा को जैमिनि ने प्राप्त किया। यह 'न्याय रत्नाकर में उद्धृत है। क्रियामात्रपर्यंकपी वा गुरुपर्वक्रमोपि वा सर्वसङ्घावयोस्तस्य विशेषो नोपलभ्यते।'

इस वार्तिक की व्याख्या में मीमांसा दर्शन का इतिहास बहुत रोचक है। इस इतिहास को हम तीन भागों में विभाजित करते हैं।

१—शबर स्वामी पर्यंत प्राचीन काल,
२—माधवाचार्य तक मध्य काल,
३—भट्ट सोमेश्वर से नवीन समय।

जैमिनि से पूर्व के आचार्य

जिन प्राचार्यों के नाम का उल्लेख जैमिनि ने अपने सूत्रों में किया है उनके ग्रंथ नहीं मिलते। संक्षेप में उनके नामों की सूची यह है—

१. आत्रेय; २. आलेखन; ३. आश्मरथ्य; ४. ऐतिशायन; ५. कामुकायन; ६. कार्ष्णाजिनि; ७. बादरायण; ८. बादरि; ९. लाबुकायन।

जिन प्राचीन आचार्यों के नाम द्वादशलक्षणी में उपलब्ध होते हैं, वे सब एक समय के थे या भिन्न भिन्न समय के थे, और एक स्थान के थे या भिन्न भिन्न स्थानों के, यह नहीं कहा जा सकता। क्या उनके ग्रंथों को देखकर जैमिनि ने सभी पक्षों का संग्रह किया है, यह भी स्पष्ट नहीं है।

द्वादशलक्षणात्मक मीमांसा दर्शन के कर्ता जैमिनि हैं। जैमिनि के संबंध में भिन्न भिन्न मत हैं। लेकिन जैमिनि सूत्रों में ऐसे सूत्र हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। जैसे 'वायोस्तयेति' 'गव्यस्य च तदादिषु' इत्यादि; इससे ये पाणिनि से प्राचीन हैं यह अनुमान करने का अवसर है। इस विषय में जो सूत्र उपलब्ध होते हैं वे जैमिनि के हैं, यह निश्चय है। लेकिन पाश्चात्य विद्वान् इस विषय में विप्रतिपन्न हैं, जैमिनि तथा बादरायण का गुरुशिष्य भाव प्रसिद्ध है। इसलिये प्रामाणिक आचार्य होने के कारण अपने अपने ग्रंथों में जैमिनि अपने गुरु बादरायण का नाम लेते हैं और बादरायण अपने शिष्य का नाम लेते हैं।

पाणिनि क्रमादिगण में मीमांसा शब्द का पाठ करते हैं। इसलिये उनसे प्राचीन हो सकते हैं। जैमिनि तथा आश्वलायन शौनक आदि का मीमांसा का परिज्ञान उनके सूत्रों से स्पष्ट मालूम होता है। बृहद्देवता में बहुत से श्लोक हैं जो जैमिनि की याद दिलाते हैं, इसलिये जैमिनि का समय ई० पू० ४०० प्रतीत होता है।

उपवर्ष — इन्होंने मीमांसा के सूत्रों के ऊपर एक वृत्ति लिखी है। मीमांसा भाष्यकार शबर स्वामी ने अपने भाष्य में कई स्थानों में वृत्तिकार पद से इनका निर्देश किया है।

शंकराचार्य भी देवताधिकरण में उपवर्ष का नाम लेते हैं। 'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवान् उपवर्ष.। भगवता उपवर्षेण प्रथमे तंत्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्यामः इत्युद्धार; कृतहति'। इससे मालूम होता है कि संपूर्ण मीमांसा के ऊपर २० अध्याय वृत्ति रही है। इस उद्धरण के सिवा इनका ग्रंथ नहीं मिलता। समय अनुमानतः ई० पू० ३००–१०० हो सकता है।

बोधायन

आपकी कृतकोटि नामक एक वृत्ति थी जिसका विशिष्टाद्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने अपने भाष्य की प्रामाणिकता के लिये उद्धरण दिया है। इस विषय का निर्देश 'प्रपंचहृदय' नामक ग्रंथ में हुआ है। इनके बाद मीमांसासूत्रवृत्तिकार व्याख्याता देवस्वामी और भवदास ऐसे दो प्रपंच हृदय से मालूम होते हैं, लेकिन इनका कौन ग्रंथ था यह कहना कठिन है। कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रंथ में भवदास का नाम तीन चार बार खंडन करने के लिये लिया है।

शबर स्वामी

मीमांसा सूत्र पर शबर स्वामी का भाष्य आज भी उपलब्ध है। इसमें चौबीस हजार ग्रंथ (श्लोक) हैं। इन्होंने संकर्षण कांड के ऊपर भाष्य किया है, परंतु वह नहीं मिलता, लेकिन 'संकर्षकांडे वक्ष्यते' ऐसा उल्लेख मिलता है। पूना से प्रकाशित न्यायमाला की भूमिका में दुर्गवर्चन कृत लिंगानुशासन का शबर स्वामी ने सर्ववर्ण नामक व्याख्यान किया है। हिरण्यकेशीय गृह्य पर भी आपका भाष्य है।

संकर्षकांड चंद्रिका में जिस भाष्यकार का निर्देश मिलता है। उनका नाम देवस्वामी है। आप कश्मीर के निवासी तथा दीपस्वामी के पुत्र थे। आप मैत्रायणी शाखा के अध्येता थे।

आपने प्रत्येक अधिकरण के विषय वाक्य तैत्तिरीय, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण वाक्य रहते हुए भी मैत्रायणी शाखा को लेकर ही विचार किया है। आप श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों को प्रमाण नहीं मानते थे। आपका कथन है कि जो दृष्टार्थक स्मृति वचन हैं उनकी मूल श्रुति यदि नहीं मिलती तो उसकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। रामकृष्ण भांडारकर तथा पी० वी० काणे आदि विद्वानों का कहना है कि आप पतंजलि के बाद के हैं। शबर स्वामी ने दशमाध्याय अष्टम पाद के पहले अधिकरण में महाभाष्याधिकार के संबंध में 'सद्वादी पाणिनि. असद्वादी कात्यायनः' कहा है। यदि पतंजलि प्राचीन होते तो उनकी भी अवश्य खबर लेते, परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसलिये पतंजलि से शबर स्वामी प्राचीन हैं। इतना ही नहीं। 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इस सूत्र में धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा करके चतुर्थी तत्पुरुष समास बतलाया है 'अश्वघोषादीना अर्थसंख्यानम्' इस कात्यायन महावार्तिक से। इस वार्तिक का पतंजलि ने खंडन किया। मीमांसा दर्शन में 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इत्यादि स्थल में कुमारिल भट्ट तथा अथातो ब्रह्मजिज्ञासा में शंकराचार्य ने महाभाष्याकार के पक्ष को लेकर कर्मणि षष्ठी समास माना है। इसलिये यह महाभाष्यकार से प्राचीन अवश्य हैं। शाबर भाष्य और पातंजल भाष्य इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि पातंजल भाष्य में शाबर भाष्य का शब्दतः, अर्थतः अनुकरण किया गया है। इनको शंकराचार्य ने 'आगमतात्पर्यविद्' इस शब्द से निर्देश किया है।

कुमारिल भट्ट

शबर स्वामी के बाद मीमांसा दर्शन में कुमारिल भट्ट का स्थान है। ये मीमांसादर्शन में युगप्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। शाबर भाष्य तक मीमांसा दर्शन का रूप स्पष्ट नहीं था। इन्होंने मीमांसा को दर्शनों में स्थान देने का सर्वप्रथम प्रयास किया जो अत्यंत स्तुत्य है। बौद्धों का सामना करने का इन्हीं को प्रथम अवसर मिला। इनसे खंडित बौद्ध दर्शन का बाद में और लोगों ने भी खंडन किया। इनमें यह विशेषता है कि बौद्ध दर्शन को यथावत् समझने के लिये ये बौद्धभिक्षु का स्वरूप धारण कर दक्षिण से बिहार में नालंदा आये थे। इन्होंने बौद्ध दर्शन का यथावत् अध्ययन कर बौद्ध सिद्धांतों का खडन किया। यह इनके वार्तिक से स्पष्ट है। डॉ० तारानाथ ने तिब्बतवासी धर्मकीर्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—कुमारिल भट्ट संपन्न गृहस्थ थे। इनके यहाँ पाँच सौ हल चलते थे। उनके यहाँ धर्मकीर्ति नौकर था जो उनकी बड़ी सेवा करता था। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने उसे शास्त्रश्रवण करने की अनुमति दे दी। इन्हीं से शास्त्र पढ़कर वह महान् विद्वान् बन गया। उसने शास्त्रार्थ में कुमारिल भट्ट को हरा दिया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि उस समय कुमारिल भट्ट की वृद्धावस्था और धर्मकीर्ति की युवावस्था थी, अर्थात् वे समकालिक थे। वेदशास्त्र को नास्तिकों से बचाना कुमारिल भट्ट का जीवनलक्ष्य था। सारा जीवन इन्होंने इसी कार्य में लगाया।

कुमारिल भट्ट ने शाबरभाष्य पर दो टीकाएँ लिखी थीं जिसका उल्लेख माधव सरस्वती ने 'सर्वदर्शन कौमुदी' में किया है। वे टीकाएँ आजकल नहीं मिलती हैं। इसका आभास श्लोकवार्तिक आदि से मिलता है।

अब जो वार्तिक मिलता है वह तीन विभागों में विभक्त है—श्लोकवार्तिक, तंत्रवार्तिक और टुप्टीका। श्लोकवार्तिक प्रथम पाद का, प्रथमाध्याय द्वितीयपाद से तृतीयाध्याय पर्यंत तंत्रवार्तिक, तथा चतुर्थाध्याय से बारह अध्याय तक टुप्टीका है।

ये संभवतः दाक्षिणात्य थे। इसमें प्रमाण शिष्टाचार प्रामाण्याधिकरण में तथा पिकनेमाधिकरण में दाक्षिणात्यों की दक्षिणी (तमिल) भाषा के शब्दों का निर्देश किया है जैसे—वयर (उदरम्), चोर (भात), पांबु (सर्प) इत्यादि। इसके लिये और भी कई प्रमाण वार्तिक में उपलब्ध होते हैं। इनका समय ६२०–७०० ई० के लगभग है।

प्रभाकर मिश्र

मीमांसादर्शन में सूत्र के बाद उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन शाबर भाष्य है जिसपर कुमारिल भट्ट की वार्तिक नाम से प्रसिद्ध व्याख्या है। परंतु भाष्य का उल्लेख करके भी कहीं कहीं व्याख्यान किए जाने के कारण कुमारिल की व्याख्या प्रभाकर मिश्र को अच्छी नहीं लगी। इसलिये वेद-वाक्यार्थ-निर्णय में उस व्याख्यान को अनुपयुक्त समझकर प्रभाकर मिश्र ने शाबर भाष्य के ऊपर शब्द सामर्थ्य एवं अर्थसामर्थ्य को लेकर क्रमशः विवरण एवं निबंधन इस प्रकार दो टीकाएँ की हैं। इन्होंने भाष्य के आधार पर ही सब कुछ कहा है। भाष्यमत विरोधी स्वतंत्रतापूर्वक कुछ नहीं कहा। इनमें पहली व्याख्या अनुपलब्ध है, जो लघ्वी नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी जो बृहती नाम से प्रसिद्ध है, पंचमाध्याय तथा षष्ठाध्याय का कुछ अंश संस्कृत यूनिवर्सिटी, मद्रास से प्रकाशित हो चुकी है। आप कुमारिल भट्ट के शिष्य नहीं, बल्कि एक दूसरे प्राचीन स्वतंत्र प्रस्थान के उपासक हैं। आपकी जन्मभूमि मिथिला थी तथा आप दिवाकर मिश्र के पुत्र थे। दिवाकर मिश्र दक्षिण कोसलेंद्र के अमात्य थे। प्रभाकर मिश्र ही वेद० प्रामाण्य-संरक्षण के श्रेयोभाजन हैं। शालिकनाथ मिश्र का गुरु होने से आपका मत गुरुमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (समय ६५०–७२० ई०)

मंडन मिश्र

मंडन मिश्र मैथिल ब्राह्मण थे। संपूर्ण मीमांसा दर्शन का अध्ययन अपनी गृहस्थावस्था में आपने कुमारिल भट्ट से किया। उसी अवस्था में आपने विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक, ब्रह्मसिद्धि, वेदांत में, मीमांसानुक्रमणिका, स्फोटसिद्धि व्याकरण में, आदि ग्रंथों का निर्माण किया।

आचार्य शंकर से शास्त्रार्थ में पराजित होने पर सन्यास लेने के बाद ये सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। पाश्चात्य विद्वानों के मत से स्थूल प्रमाणों के आधार पर मंडन एवं सुरेश्वर दो व्यक्ति माने जाते हैं। भारत के कितने ही विद्वानों के मत में दोनों एक ही व्यक्ति थे (दे० 'मंडन मिश्र')।

मंडन मिश्र के ग्रंथों की प्रवृत्ति प्रभाकर मिश्र के सिद्धांतों के खंडन के लिये है। 'कार्ये विध्यर्थः' (वेद कार्यपरक होता है, सिद्धार्थपरक नहीं) प्रभाकर के इस मत के खडन के लिये ही विधिविवेक की रचना हुई। 'इष्ट साधनत्वं विध्यर्थं' इसका समर्थन 'विधिविवेक' ने किया। अख्यातिवाद (सब ज्ञान यथार्थ ही होता है, अयथार्थ नहीं) का खंडन करके अन्यथाख्यातिवाद का प्रतिपादन किया गया है।

शालिकनाथ मिश्र

ये प्रभाकर मिश्र के शिष्य थे। न्यायाचार्य उदयन 'स्तुति०

कुसुमांजलि' में 'गौड मीमांसक' शब्दों से आपका निर्देश करते हैं। ये गौड़ देश के निवासी थे। प्रभाकर मत के समर्थन का मुख्य यश आपको है। विवरण पर 'दीप शिखा', निबंधन पर 'ऋजु विमला'; दोनों टीकाएँ आपने लिखीं। यदि आपके ये टीका ग्रंथ न होते तो प्रभाकर सिद्धांतों का समझना सरल न होता। पहली पंचिका उपलब्ध नहीं। दूसरी 'मद्रास यूनिवर्सिटी से कई भागों में प्रकाशित है। 'प्रकरण पंचिका' आपका स्वतंत्र तीसरा ग्रंथ है। बड़ी बड़ी युक्तियों से इसमें प्रभाकर मत का समर्थन किया गया है। इसका द्वितीय संस्करण 'हिंदू विश्वविद्यालय' काशी से प्रकाशित है। शाबर भाष्य प्रथमाध्याय प्रथम पाद (तर्क पाद) का भाष्य परिशिष्ट नामक टीकाग्रंथ आपकी चौथी कृति है। यह भी मद्रास से प्रकाशित है। जिन युक्तियों द्वारा मंडन मिश्र ने प्रभाकर सिद्धांतों का खंडन किया, कर्कश शब्दों में उन युक्तियों का खंडन कर आपने प्रभाकर सिद्धांतों का समर्थन किया है। आपका समय ६९०-७६० ई० के आसपास माना जा सकता है।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र मैथिल ब्राम्हण भट्ट कुमारिल तथा मंडन मिश्र के पक्षसमर्थक थे। ये माहिष्मती के निवासी थे। वहाँ आज भगवती उग्रतारा के नाम से एक देवी का मंदिर है जहाँ मंडनमिश्रादि उच्च कोटि के विद्वान् रहा करते थे। इन्होंने अपना समय न्याय सूची ग्रंथ मे स्वयं बताया है—

'न्यायसूची निबंधोऽसावकारि सुधियामुदे
श्री वाचस्पति मिश्रेण वस्वंक वसुवत्सरे।'

यहाँ वि० सं० ८९८ समझना चाहिए। ई० ८४१ मे न्यायसूची ग्रंथ बना है। नृग चक्रवर्ती के तत्वावधान में भामती ग्रंथ बना, ऐसा इन्होंने लिखा है। शार्ङ्गधर पद्धति में विशिष्ट राजाओं के वर्णन के प्रसंग में नृग महाराज पाषाण यज्ञयूप प्रशस्ति के नाम से दो पद्य उद्धृत है। शार्ङ्गधर 'वीर हम्मीर राजा के सभापंडित' श्री दामोदर का पुत्र था। इससे भी वाचस्पति मिश्र का उपर्युक्त समय ही निर्धारित होता है। इनकी पत्नी का नाम 'भामती' था।

तत्वबिंदु मे अन्विताभिधान का खंडन करके भाट्ट संमत अभिहितान्वयवाद का आपने समर्थन किया है। 'न्यायकणिका' मे अन्यान्य आस्तिक, नास्तिक मतो का खंडन करते हुए शालिकनाथ समर्थित प्रभाकर सिद्धांतों का मुख्य रूप से खंडन किया है। बौद्धाचार्य धर्मोत्तर आदि का भी खंडन उसी प्रकार किया है जैसा शालिकनाथ का। इनकी 'भामती' वेदांत टीका प्रसिद्ध है। इनका समय ८००-९०० ई०के आसपास समझना चाहिए।

सुचरित मिश्र

मैथिल थे। श्लोक वार्तिक के ऊपर आपकी 'काशिका' व्याख्या प्रसिद्ध है। आपने किसी न किसी प्रसंग से प्रभाकर सिद्धांतों को लाकर उनका खंडन करना अपना सिद्धांत बनाकर ही 'काशिका' लिखी। प्रभाकर मिश्र तथा तदनुयायियों के भाष्य व्याख्यानों को अयुक्त बतलाकर भट्टोक्त अर्थ को भाष्यारूढ करके समर्थित करना इनका ध्येय रहा। यह काशिका अनतशयन संस्कृत ग्रंथमाला में तीन भागों मे प्रकाशित है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने आगे भी तंत्रवार्तिक का व्याख्यान किया होगा जो अनुपलब्ध है। इनका समय लगभग १०००-११०० ई० माना जा सकता है।

पार्थसारथी

मिश्र मैथिल थे। इनके पिता का नाम यज्ञात्मन् था। अपने पिता से ही संपूर्ण शास्त्रों का इन्होने अध्ययन किया। इसका इन्होंने स्वयं ही—'पितुरेव श्रुतं प्राप्य श्रीमद्यज्ञात्मसूनुना'—शब्दों द्वारा न्याय-रत्नमाला में उल्लेख किया है। मीमासा दर्शन में भाष्य एवं वार्तिक के बाद अधिकरण प्रस्थान के वर्णन का श्रेय इन्ही को है। इसकी विशेषता यह है—प्रायशः उन अधिकरणों मे एक श्लोक विषय, संशय, पूर्वपक्ष; दूसरे से सिद्धात पक्ष का संग्रह से वर्णन करना। 'श्लोकों से संग्रह करना' इसके मार्गदर्शी यही थे, यह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इन्होंने तर्कपाद मे मीमासक संमत प्रमाण प्रमेयों का वर्णन करते हुए न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदांती, बौद्ध आदि मत का भी पूर्व पक्ष मे उपन्यास करके उनका खंडन किया है। इससे मालूम होता है कि इनकी आस्तिक नास्तिक सभी दर्शनो में अप्रतिहत गति रही है। इतना होते हुए भी ये भाट्ट सिद्धातों के समर्थन तथा प्राभाकर सिद्धातों के खंडन को कटिबद्ध थे।

आपके चार ग्रंथ मिलते हैं—१. न्याय रत्नमाला, २. तंत्ररत्न, ३. शास्त्रदीपिका, ४. न्याय रत्नाकर। पहला प्रकरण ग्रंथ है। इसमे भाट्ट मत के अनुसार मीमांसा शास्त्र के समर्थनानुरूप मीमासा दर्शन सूत्र के बारह अध्यायो का समर्थन है। इसमें शालिकनाथ की प्रकरण पंचिका का पूरा पूरा खंडन है। दूसरा ग्रंथ कुमारिल भट्ट की टुप्टीका वार्तिक की व्याख्या के रूप मे है। यह चतुर्थ अध्याय से बारहवें अध्याय पर्यंत है। इसका संपादन म० म० डॉ० गंगानाथ झा महोदय ने किया है। शास्त्रदीपिका द्वादशाध्यायी रूप पूर्वमीमासा दर्शन का अधिकरण रूप से निरूपण करने वाला एक मात्र प्रथम ग्रंथ है। इसके पश्चात् जितने अधिकरण ग्रंथ प्रणीत हुए उनका आधार यही है। इसमें भाट्ट एवं प्राभाकर सिद्धातों के प्रभेद स्थलो मे प्राभाकर सिद्धातो के खंडनपूर्वक भाट्ट मतों का प्रतिस्थापन है। चौथा ग्रंथ न्याय रत्नाकर कुमारिल भट्ट के श्लोक-वार्तिक की व्याख्या है। यह संपूर्ण चौखंभा, वाराणसी से प्रकाशित है। इनका समय है १०५०-११२० ई० के लगभग।

भवदेव भट्ट

आप कुमारिल भट्ट के अनुयायी है। परितोष मिश्र ने अजिता नाम की एक टीका कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक के ऊपर लिखी है। अत्यंत क्लिष्ट होने के कारण इस टीका का ही समझना कठिन हो गया, फिर वार्तिक के समझने का विचार ही कैसे होता? इसलिये तन्त्रवार्तिक के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये भवदेव भट्ट ने 'तौतातितमततिलक' नाम से एक टीका लिखी जो तंत्रवार्तिक के आशय को स्पष्ट करती है। सरस्वती भवन ग्रंथमाला, बनारस से यह प्रकाशित है। इनका समय ११०० ई० के आसपास प्रतीत होता है।

भवनाथ मिश्र

आप प्रभाकर मिश्र के अनुयायी तथा समर्थक थे। प्रभाकर प्रस्थान में शालिकनाथ मिश्र के बाद दूसरा स्थान इन्हीं का है। आपने शालिकनाथ की बृहती, पंचिका आदि को आधार मानकर बारह अध्याय के ऊपर 'नयविवेक' नाम से एक टीका लिखी है।

इस पर रंतिदेव का नयरत्न, वरदराज की दीपिका इत्यादि कई टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इनका समय अनुमानतः ११००-१२०० ई० है।

माधवाचार्य

आप कर्णाटिक देश के निवासी आंध्र ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम मायण था। आप हंपी विजयनगर के अधिपति महाराज बुक्क के प्रधानामात्य तथा कुलगुरु थे। महाराज बुक्क के आज्ञानुसार आपके तत्वावधान में तत्तद्विषय विशेषज्ञ विद्वानों की सहायता से चतुर्वेद संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यक तथा उपनिषद् भागों के भाष्य तैयार किये गये। यदि माधव के वेद भाष्य नहीं होते, तो आज वेदार्थ बोध कठिन होता। मीमांसा शास्त्र रूपी समुद्र में प्रवेश करने के लिये आपने लगभग दो हजार श्लोकों में जैमिनीय न्यायमाला (अधिकरणमाला) की रचना की। विस्तर नाम से उसका व्याख्यान भी किया। सन्यास लेने के बाद जगद्गुरु आचार्य शंकर के शृंगेरी पीठ में पंचदशी, जीवन्मुक्ति विवेक, अपरोक्षानुभव, बृहदारण्यक वार्तिकसार इत्यादि ग्रंथ बनाए। आपका समय १२६७-१३८६ ई० है।

भट्ट सोमेश्वर

महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। कुमारिल भट्ट के तंत्र वार्तिक पर 'न्यायसुधा' व्याख्या आपने लिखी है। आपका समय लगभग १२०० ई० है।

आपदेव

देवोपनाम कुलोत्पन्न महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। आपदेव ने न्याय प्रकाश में पूर्व षट्क के प्रतिपाद्य विषयों (उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग, अधिकार, प्रमाण, शेषत्वादि) का संगति के साथ अच्छे ढंग से प्रतिपादन किया है। इसके ऊपर इनके पुत्र अनंतदेव ने भाट्टालंकार नाम से विशद व्याख्या लिखी है। दीपिका' नाम की एक वेदांतसार पर व्याख्या भी आपने लिखी है। शास्त्रदीपिका को आधार मानकर ही न्यायप्रकाश में विषय प्रतिपादन किया गया है। इसमें 'न्यायसुधा' का खंडन किया गया है। आपका समय अनुमानतः १५००-१६०० ई० है।

अप्पय दीक्षित

आप मद्रास प्रांत कांची मंडल के अंतर्गत आडयपलम् ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम रंगराजाध्वरि था। माता का नाम तोतांबा था। इनको मूर्तिमती मीमांसा कहना अतिशयोक्ति नहीं है। मीमांसा न्याय संचार में आप अत्यंत कुशल हैं। वेदांत कल्पतरु-परिमल, शिवार्कमणि-दीपिका, वाद-नक्षत्रमाला तथा विधि रसायन ग्रंथों के परिश्रमपूर्वक परिशीलन करनेवालों को यह स्पष्ट है। विधिरसायन में अपूर्व, नियम, परिसंख्या विधियों के वार्तिकोक्त लक्षण तथा उदाहरणों का आक्षित कर आक्षेप व्याज से द्वादशाध्यायी (१२ अध्यायों) के विषयों का पूर्वोत्तर पक्षों के रूप में प्रतिपादन किया है। आचार्य खंडदेव 'मीमांसक मूर्धन्य' पद से आपको संबोधित करता है। बयालीस श्लोकों से वार्तिकोक्त लक्षणों का आक्षेप तथा दो श्लोकों द्वारा उनका समाधान किया गया है। मूल का नाम विधिरसायन एवं गद्यात्मक व्याख्या का नाम सुखोपयोजिनी है।

दीक्षित के लिखे एक सौ चार (१०४) ग्रंथ हैं। सर्वतोमुख इनका पांडित्य था। पंडित जगन्नाथ द्वारा इनके ऊपर किए गए आक्षेपों का परिमार्जन उत्तरकालीन विद्वानों ने प्रायशः कर डाला है। समय १५८०-१५९३ ई०।

सोमनाथ

आंध्र ब्राह्मण थे। वेदशास्त्रों का अध्ययन इन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता व्यंकटेश दीक्षित से किया। शास्त्रदीपिका के ऊपर मयूखमालिका नाम की आपका व्याख्या पूर्वमीमांसा एवं श्रौतविद्या में आपकी अप्रतिहत गति बतलाती है। मयूखमालिका यत्र तत्र विधिरसायन की समालोचना भी करती है। आपका समय लगभग १६०० ई० है।

शंकरभट्ट

सुप्रसिद्ध नारायण भट्ट के पुत्र हैं। शास्त्रदीपिकाप्रकाश नाम की आपकी शास्त्रदीपिका की व्याख्या है जो अभी तक छपी नहीं है। इसकी एक संपूर्ण हस्तलिखित पुस्तक श्री विश्वेश्वरानंद वैदिक अनुसंधान संस्थान' होशियारपुर में सुरक्षित है। बालप्रकाश नाम का एक दूसरा ग्रंथ भी आपका लिखा है। धर्मशास्त्रों में जितने विधि प्रकार हो सकते हैं सबका सुंदर ढंग से विवेचन इसमें किया गया है। पार्थसारथी मिश्र पर आपकी बड़ी श्रद्धा है। उनकी विचारपद्धति का आपने समर्थन किया है।

आपका तीसरा २५० श्लोकों का मीमांसासार नाम का ग्रंथ सहस्राधिकरणों को क्रमशः याद रखने के लिये अत्यंत उपयोगी है। आपका समय १५५०-१६२० ई० है।

गागा भट्ट

आपका दूसरा नाम विश्वेश्वर भट्ट है। आप दिनकर भट्ट के पुत्र हैं। पंडित जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट के विद्यागुरु आचार्य खंडदेव आपके शिष्य थे। द्वादशाध्यायी मीमांसादर्शन के ऊपर विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ भाट्ट चिंतामणि आपकी कृति है। इसके देखने से मालूम होता है कि आप आस्तिक नास्तिक दर्शनों के धुरंधर विद्वान् तथा मर्मज्ञ थे। आचार्य कक्षाओं में आपका यह ग्रंथ पढ़ाया जाता है। चौखंभा (वाराणसी) से इसके दो संस्करण निकल चुके हैं। जैमिनि सूत्रों की एक वृत्ति भी आपने लिखी है। 'भाट्ट चिंतामणि' में कई स्थलों में उसका उल्लेख मिलता है। आपका समय १५७५-१६६५ ई० है।

खंडदेव

मीमांसा दर्शन को नव्य न्यायपद्धति से परिष्कृत रूप देनेवालों में आपकी गणना है। आप महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। रुद्रदेव आपके पिता थे। पंडित जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट मीमांसाशास्त्र में आपके शिष्य थे, ऐसा रसगंगाधर में पंडित जगन्नाथ ने लिखा है। आपके बनाए तीन ग्रंथ हैं—(१) भाट्ट कौस्तुभ, बलाबलाधिकरणांत जैमिनि सूत्रों का विस्तृत व्याख्यान। (२) भाट्ट तंत्ररहस्य—तार्किक वैयाकरणाभिप्रेतार्थों का खंडन करते हुए—विध्यर्थ, आख्यातार्थ, विभक्त्यर्थ आदि का परिष्कार से विवेचन। (३) भाट्टदीपिका—जैमिनि सूत्र बारह अध्यायों पर, कौस्तुभ विस्तार से डरे हुए के समान, प्रवचन। सूत्र, भाष्य, वार्तिक, शास्त्रदीपिका, न्यायसुधा, न्यायप्रकाश, विधिरसायन आदि ग्रंथों में युक्तिहीन बातों का आपने खंडन किया है। साथ ही साथ युक्तियुक्त बातों को बड़े सम्मानपूर्वक स्वीकार किया है। शब्दबोध के संबंध में वैयाकरणों के वक्तव्यों का निरास किया है। आपका समय लगभग—१६३०-१७०० ई० है।

शंभु भट्ट

आप बालकृष्ण भट्ट के पुत्र तथा खंडदेव के शिष्य थे। खंडदेव आचार्य से ही पूर्व तथा उत्तर मीमांसा दर्शनों का अध्ययन किया। उनकी 'भाट्ट दीपिका' का स्वयं व्याख्यान किया है। इस व्याख्या में इन्होंने प्रायः सभी के ऊपर टीका टिप्पणियाँ की हैं। अपने गुरु को भी नहीं छोड़ा। गूढ़ार्थदीपिका में अष्टादशाध्याय के विधि तत्व के विचार पर मधुसूदन सरस्वती के विचार का भी आपने खंडन किया है। आपका समय १६४०-१७०० ई० है।

वासुदेव दीक्षित

आप काशीमंडलांतर्गत सत्यमंगल ग्राम के निवासी दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम महादेव वाजपेयी तथा माता का नाम अन्नपूर्णा था। आप शाहजी महाराज के मंत्री थे। आप तैत्तिरीय शाखा आपस्तंब श्रौत सूत्र, बौधायनादि के प्रकांड विद्वान् थे। आपने जैमिनि सूत्र पर अध्वर-मीमांसा-कुतूहल वृत्ति एक विस्तृत व्याख्या लिखी हैं। जैमिनि सूत्रों का अर्थ समझने के लिये यह एक ही ग्रंथ पर्याप्त है। समय १७००-१७६० ई० के लगभग माना जा सकता है। [मु० शा०]

मीमांसा दर्शन पक्ष प्रतिपक्ष को लेकर वेदवाक्यों के निर्णीत अर्थ के विचार का नाम मीमांसा है। उक्त विचार पूर्व आर्य परंपरा से चला आया है। किंतु आज से प्रायः सवा पाँच हजार वर्ष पूर्व सामवेद के आचार्य कृष्ण द्वैपायन के शिष्य ने उसे सूत्रबद्ध किया। सूत्रों में पूर्व पक्ष और सिद्धांत के रूप में बादरायण, बादरि, ऐतिशायन, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्य, आलेखन, लाबुकायन और कामुकायन महर्षियों का उल्लेख मिलता है, जिसका विस्तृत विवेचन सूत्रों के भाष्यवार्तिकों में किया गया है, जिनसे सहस्राधिकरण हो गए हैं।

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर का कहना है कि — 'यह दर्शन शास्त्र कोटि में नहीं आ सकता, क्योंकि इसमें धर्मानुष्ठान का ही विवेचन किया गया है। इसमें जीव, ईश्वर, बंध, मोक्ष और उनके साधनों का कहीं भी विवेचन नहीं है।'

मैक्समूलर मत के पक्षपाती कुछ भारतीय विद्वान् भी इसे दर्शन कहने में संकोच करते हैं, क्योंकि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदांत में जिस प्रकार तत् तत् प्रकरणों में प्रमाण और प्रमेयों के द्वारा आत्मा-अनात्मा, बंध मोक्ष आदि का मुख्य रूप से विवेचन मिलता है, वैसा मीमांसा दर्शन के सूत्र, भाष्य और वार्तिक आदि में दृष्टिगोचर नहीं होता।

उपर्युक्त विचारकों ने स्थूल बुद्धि से ग्रंथ का अध्ययन कर अपने विचार व्यक्त किए हैं। फिर भी स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन ही सभी दर्शनों का सहयोगी कारण है। जैमिनि ने इन विषयों का बीज रूप से अपने सूत्रों में उपन्यास किया है 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येंद्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्'। इस चतुर्थ सूत्र में दो शब्द आए हैं — पुरुष और बुद्धि। पुरुष शब्द से 'आत्मा' ही विवक्षित है। यह अर्थ कुमारिल भट्ट ने 'भाट्टदीपिका' में लिखा है। बुद्धि शब्द से ज्ञान, (प्रमिति) प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण अर्थ को व्यक्त किया गया है।

वृत्तिकार ने 'तस्य निमित्त परीष्टिः' पर्यंत तीन सूत्रों में प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणों का सपरिकर विशद विवेचन तथा औत्पत्तिक सूत्र में आत्मवाद का विशेष विवेचन अपने व्याख्यान में किया है। इसी का विश्लेषण शाबर भाष्य, श्लोक वार्तिक, शास्त्रदीपिका, भाट्ट चिंतामणि आदि ग्रंथों में किया गया है, जिसमें प्रमाण और प्रमेयों का भेद, बंध, मोक्ष और उनके साधनों का भी विवेचन है।

मीमांसा दर्शन में भारतवर्ष के मुख्य प्राणधन धर्म का वर्णाश्रम व्यवस्था, आधानादि, अश्वमेधांत आदि विचारों का विवेचन किया गया है।

प्रायः विश्व में ज्ञानी और विरक्त पुरुष सर्वत्र होते आए हैं, किंतु धर्माचरण के साक्षात् फलवेत्ता और कर्मकांड के प्रकांड विद्वान् भारतवर्ष में ही हुए हैं। इनमें कात्यायन, आश्वलायन, आपस्तंब, बोधायन, गौतम आदि महर्षियों के ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। (कर्मकांड के विद्वानों के लिये उपनिषदों में महाशाला; श्रोत्रियाः, यह विशेषण प्राप्त होता है)। भारतीय कर्मकांड सिद्धांत का प्रतिपादन और समर्थन इसी दर्शन में प्राप्त होता है। डा० कुंनन् राजाने 'बृहती' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में इसका समुचित रूप से निरूपण किया है। यद्यपि कणाद मुनि कृत वैशेषिक दर्शन में धर्म का नामतः उल्लेख प्राप्त होता है — (१।१,११।१।२, १।१।३) तथापि उसके विषय में आगे विचार नहीं किया गया है। किसी विद्वान् का कहना है —

> 'धर्मंव्याख्यातुकामस्य षट् पदार्थविवेचनम् ।
> समुद्रं गंतुकामस्य हिमवत् गमनं यथा ॥'

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य समुद्र पर्यंत जाने की इच्छा रखते हुए हिमालय में चला जाता है, उसी प्रकार धर्म के व्याख्यान के इच्छुक कणाद मुनि षट् पदार्थों का विवेचन करते रह गए। उत्तर मीमांसा (वेदांत) के सिद्धांत के अनुसार कर्मत्याग के पश्चात् ही आत्मज्ञान प्राप्ति का अधिकार है, किंतु पूर्व मीमांसा दर्शन के अनुसार —

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा.'

इस वेदमत्र के अनुसार मुमुक्षु जनो को भी कर्म करना चाहिए। वेदविहित कर्म करने से कर्मबंधन स्वतः समाप्त हो जाता है — ('कर्मणा त्यज्यते ह्यसौ।) तस्मान्मुमुक्षुभिः कार्यं नित्यं नैमित्तिकं तथा' आदि वचनों के अनुसार भारतीय आस्तिक दर्शनों का मुख्य प्राण मीमांसा दर्शन है।

मीमांसा दर्शन का स्वरूप

मीमांसा दर्शन सोलह अध्यायों का है, जिसमें बारह अध्याय क्रमबद्ध हैं। शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति, पादसंगति और अधिकार संगतियों से सुसंबद्ध है। इन बारह अध्यायों में जो छूट गया है, उसका निरूपण शेष चार अध्यायों में किया गया है जो संकर्षकांड के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें देवता के अधिकार का विवेचन किया गया है। अतः उसे देवता कांड भी कहते हैं अथवा द्वादश अध्यायों का परिशिष्ट भी कह सकते हैं।

भास्कर राय दीक्षित ने संकर्षण कांड की व्याख्या के अंत में लिखा है कि षोडशाध्यायी मीमांसा के रहते हुए भी पठनपाठन मध्य काल में द्वादशाध्याय का ही होता था।

जिस तरह चतुष्पदा गायत्री के रहने पर भी विद्वान् वर्ग त्रिपदा

गायत्री को ही जपते हैं, उसी तरह वर्तमान काल में द्वादशाध्यायी मीमांसा का ही अध्ययन अध्यापन प्रचलित है।

कुछ विद्वानों के अनुसार मीमांसा के बिना वाक्यार्थ का निर्णय करना कठिन है, क्योंकि अमुक वाक्य उपस्थित अर्थ में प्रमाण है अथवा अन्य अर्थ में, इस विचार के निर्णय में जो निष्कर्ष आता है उसे मीमांसा कहा गया है, किंतु यहाँ मीमांसा शब्द का अर्थ दर्शन ही है।

धर्मज्ञान के लिये परस्पर विरोध रहित वेदमंत्रों के अर्थों के विचार का नाम मीमांसा है। और विचारपूर्वक प्राप्त धर्मज्ञान मीमांसा का फल है। यही बात जैमिनि ने अपने मीमांसा दर्शन में कही है — अथातो धर्म जिज्ञासा ।१।१।१। कुमारिल भट्ट ने इसे इस प्रकार वर्णन किया है —

'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।'

आगे वाक्यार्थ निर्णयोपयोगी सहस्रों न्यायों का वर्णन किया गया है। यहाँ तक छह अध्यायों का संक्षिप्त विषयनिर्देश किया गया।

इस दर्शन में प्राप्ताप्राप्त विवेक न्याय से, अथवा अवश्य वहुन न्याय से उद्देश्य विधेय भाव का विचार कर वेद-वाक्यार्थ-निर्णय से कर्त्तव्या कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। इसलिए धर्मज्ञान ही मीमांसा दर्शन का प्रयोजन है। इस दर्शन में धर्मविचार से उपक्रम (प्रारंभ) है। व्याकरण के लिये 'पदशास्त्र', वैशेषिक न्याय के लिये 'प्रमाणशास्त्र' और मीमांसा के लिये 'वाक्यशास्त्र' का प्रयोग संस्कृत साहित्य में होता है। इस शास्त्र में ही धर्मविचार की चर्चा हैं। भारतीय जनता का मुख्य उद्देश्य धर्मानुष्ठान है। अनुष्ठान फल के बिना नहीं हो सकता, और फलसाधनता भी साधन सामग्री के बिना नहीं हो सकती। अतः संक्षेप में साधन का भी विवेचन किया जाता है।

अनुष्ठान के पूर्व धर्म का लक्षण, प्रमाण, और साधन फल जानना आवश्यक है। इस शास्त्र में साधन, अंग और शेष, ये तीनों पर्याय-वाचक शब्द हैं। ऐसे ही साध्य, शेषी और अंगी ये तीनों पर्यायवाची हैं। उदाहरण के लिये स्वर्गप्राप्ति के निमित्त दर्श पूर्णमास का अनुष्ठान यदि करना हो तो उसमें दर्श और पूर्णमास अंगी होंगे, और प्रयाज आदि अंग होंगे। दर्श याग अमावस्या तिथि को और पूर्ण-मास याग पूर्णिमा तिथि को होता है।) इसमें अंगी प्रधान अंग का प्रयोजक है और अंग प्रयोज्य है। इस प्रकार धर्मप्राप्ति के साधनों को जानकर अनुष्ठान के लिये पौर्वापर्य का भी ज्ञान अपेक्षित है एवं फल के लिये अनुष्ठेय अग्नि होत्रादि कर्मों के प्रकरण में पूर्वांग और उत्तरांग साधनों का भी विवेचन है, जिनके लिए 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग होता है। किंतु सौर्यादि कर्म के सन्निधि में अंग का पाठ नहीं है। उस स्थल पर आकांक्षा के उदय होने पर दर्श पूर्णमास में प्रतिपादित अंगों को लेना होता है जिसे अतिदेश कहते हैं। (यहाँ तक उत्तर षट्क का संक्षिप्त विषयनिर्देश हुआ)।

अन्य अर्थों का संक्षिप्त विचार — सामान्य रूप से निर्णय होने पर भी किस कर्म से किस कर्म में अंग का आगमन होता है, इसका विवेचन विशेषातिदेश से कहा गया है। अंगों का अतिदेश होने पर भी प्रकृति में भेद होने के कारण प्राकृत पद के स्थान पर पदांतर को रखकर पाठ किया जाता है। उदाहरणार्थ 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि'। इस श्रुतिवाक्य में अग्नि पद के स्थान में 'सौर्येष्टि' के सूर्यपद रखकर 'सूर्याय त्वाजुष्टं निर्वपामि' इस श्रुति को पढ़ते हैं। ऐसे वाक्य को 'ऊह' कहते हैं। इन बातों के ज्ञान बिना यह समझ लेना संभव नहीं है कि किस अंग का कहाँ और कैसे उपयोग करना चाहिए जिससे अनुष्ठान समुचित फलदायक हो सके। जिस स्थल पर अंग पठित न हो वहाँ अन्य स्थल से अंग लाना चाहिए, किंतु जो विकृति याग के उपकार कर सकते हों वे ही प्रकृति में लिए जा सकते हैं। जो विकृति में उपकार नहीं कर सकते वहाँ अन्य अंगों का अध्याहार नहीं होता। और उनका अनुष्ठान भी नहीं होता। ऐसे वचनों को 'बाध' कहते हैं। किस अंग का बाध होता है और किसका नहीं, इसका निर्णय 'ऊह' 'बाध' के अधीन है। एवं अभीप्सित फलदाता कर्म एक ही होता है। किंतु कहीं कहीं अनेक भी होते हैं। कुछ अंगों का अनुष्ठान प्रधान से पूर्व तथा कुछ का प्रधान के पश्चात् भी किया जाता है। उदाहरणार्थ सामिधेनी प्राया-जादि तथा स्विष्ट कृत अनुयाजादि। एक ही समय पर उन अंगों का एक बार अथवा अनेक बार प्रयोग करने के विषय में कहा गया है—

एक बार प्रयोग करने का नाम तंत्र है, और अनेक (असकृत) बार के करने का नाम 'आवृत्ति' अथवा 'आवाप' है। कहीं कहीं अंगों का तंत्र से अनुष्ठान होता है और कहीं कहीं आवृत्ति से। इसलिए तंत्र और आवाप का विचार भी आवश्यक है।

किसी फल विशेष के लिये प्रधान अंगी का अनुष्ठान करते हैं, और उसके अंगों को भी करते हैं। उन अंगों को भी अन्य अंगों की अपेक्षा होने पर जिसके प्रयोग की आवश्यकता होती है उसे प्रसंगी कहते हैं। इसमें प्रधान तंत्री होता है, जिसे प्रसंग कहते हैं। उदाहरणार्थ अग्निष्टोमीय पशु पुरोडाशादि पूर्वोक्त विषयों का पूर्णज्ञाता व्यक्ति ही सांगोपांग धर्मानुष्ठान कर सकता है, जिसकी विवेचना 'मीमांसा दर्शन' में जैमिनि ने की है।

धर्म में प्रमाण का निर्देश—

(१) इस दर्शन के प्रथमाध्याय में धर्मप्रमाणों का निरूपण किया गया है और विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति, शिष्टाचार, नामधेय, संदिग्धार्थ निर्णायक वाक्यशेष और सामर्थ्य का निरूपण किया गया है।

(२) द्वितीयाध्याय मे शब्दांतर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण और प्रकरणांतर, ये छह कर्म भेद के प्रमाण हैं।

(३) तृतीयाध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, और समाख्या ये छः विनियोजक (अंगता बोधक) प्रमाण हैं।

(४) चतुर्थाध्याय मे, श्रुति अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति में छह बोधक प्रमाण हैं।

(५) पंचमाध्याय में अतिदेश, प्रत्यक्षवचनातिदेश, नामाति देश, कल्पित वचनातिदेश, आश्रयातिदेश और स्थानापत्ति अतिदेश ये सात प्रकार के अतिदेश हैं। अंत के दो भेद सप्तमअध्यायमें वर्णित नहीं हैं। ये इंद्रिय कामाधिकरण तथा स्थानापत्ति अतिदेश में निरूपित हैं।

(६) नवम अध्याय में मंत्रोह, सामोह और संस्कारोह के भेद से तीन प्रकार के 'ऊह' का निरूपण है।

(७) दशमाध्याय में अर्थलोप, प्रत्याम्नाय और प्रतिषेध के भेद से तीन प्रकार के बाध का निरूपण हैं।

(८) एकादशाध्याय में तंत्र और आवाप का निरूपण है।
(९) द्वादशाध्याय में 'प्रसंग' का निरूपण है।

इस प्रकार एक एक विषय का प्रतिपादन द्वादशाध्यायात्मक मीमांसा दर्शन में किया गया है जिसे 'द्वादशलक्षणी' भी कहा गया है। यहाँ लक्षण शब्द अध्यायवाचक है। इसको दो प्रकार से विभक्त किया गया है जिसे उपदेश और अतिदेश कहते हैं। प्रथम (पूर्व षट्क) अध्यायों में उपदेश का विवेचन है। द्वितीय (उत्तर षट्क) के छह अध्यायों में अतिदेश का विवेचन है। उक्त उपदेश अतिदेश द्वय विचारात्मक शास्त्र है। शास्त्र दीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र के अनुसार उपदेश विचार के अनंतर अतिदेश विचार का आरंभ होता है।

वर्तमान काल में उपलब्ध मीमांसा दर्शन में द्वादश अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद होते हैं, किंतु तृतीय, षष्ठ और दशम अध्यायों में आठ आठ पाद हैं, जिसे 'शबरा' अध्याय भी कहते हैं। इस तरह संपूर्ण ग्रंथ में साठ पाद हैं।

इस दर्शन की सूत्रसंख्या में विवाद है। किसी के मत में दो सहस्र छह सौ बावन (२६५२), किसी के मत में दो सहस्र सात सौ बयालीस (२७४२) सूत्र हैं। उपर्युक्त वर्णन 'ऐसेकित' की 'कर्ममीमांसा' नामक पुस्तक पृष्ठ चार में प्रतिपादित है। आनंद आश्रम पूना से प्रकाशित 'न्यायमाला' में दो सहस्र सात सौ पैंतालीस (२७४५) सूत्रों का प्रतिपादन है।

इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों के मत से अधिकरण संख्या नौ सौ सात (९०७) प्राप्त होती है। कुछ के मत से नौ सौ पंद्रह (९१५) सूत्र हैं। किंतु 'मीमांसासार संग्रह' के कर्ता शंकर भट्ट के अनुसार 'पूर्वषट्क' में पाँच सौ तीस, (५३०) उत्तरषट्क मे चार सौ सत्तर (४७०) सूत्र हैं। इस प्रकार सपूर्ण अधिकरण एक सहस्र संख्या में विभाजित है।

'नत्वागणेश-वागाम-गुर्वङ्घ्रीन् भट्टशंकर·।
सहस्र वक्ति सिद्धांतान् सार्धश्लोक शतद्वयान् ॥

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार अधिकरणों की संख्या एक सहस्र दो सौ पचास (१२५०) है।

अधिकरणों तथा सूत्रों के नियम — अनेक सूत्रों से एक अधिकरण बनता है, जिसमें एक प्रधान सूत्र तथा अन्य गुण सूत्र होते हैं। प्रधान सूत्र पूर्व पक्ष का प्रतिपादन करता है और अन्य सूत्र सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। कहीं कहीं पर दो सूत्रों के द्वारा पूर्वोत्तर पक्ष का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ही कहीं कहीं पर बिना सूत्र के ही पूर्व पक्ष का उत्थापन करके सूत्र से सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। कही कही सिद्धांत रूप से उपक्रम द्वारा पूर्व पक्ष कर सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। एक पाद में कतिपय अधिकरण होते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम पाद में आठ अधिकरण हैं।

अधिकरण में छ: पदार्थ होते हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धांत प्रयोजन और संगति। संगति तीन प्रकार की होती है—शास्त्र संगति, अध्याय संगति और पाद संगति।

प्रथम सूत्र — प्रथम अधिकरण का नाम जिज्ञासा अधिकरण है। विचार शास्त्र विषय है। विचार शास्त्र (विषय) आरंभ करने योग्य है या नहीं, यह संशय है। आरंभ करने योग्य नहीं है, यह पूर्व पक्ष है। सिद्धांत है कि विचार शास्त्र आरंभ करना चाहिए। इस विषय का मूल है कुमारिल भट्ट के मत में अध्ययन विधि और 'प्रभाकर' (गुरु) मत में अध्यापन विधि। पूर्वपक्ष में अध्ययन का अदृश्य प्रयोजन है और सिद्धांत पक्ष में अर्थ-ज्ञान-रूप दृष्ट प्रयोजन है।

धर्म के विचार शास्त्र संबंधी होने के कारण इस विचार शास्त्र में इसका विवेचन संगत है। इस (प्रथम) अधिकरण में अध्ययन दृष्टार्थ होता है, यही सिद्ध किया गया है। अतएव विचार शास्त्र का मूल अध्ययन विधि है। अर्थज्ञान का साधन (विचार) अध्ययन विधि से आक्षिप्त होता है। इसीलिये विचार शास्त्र का आरंभ वैध है।

द्वितीय सूत्र — द्वितीय अधिकरण में धर्म का लक्षण और प्रमाण है, जिसकी कर्तव्यता विधिवाक्य से प्रतीत होती है। वह श्रेय का साधन है। यहाँ श्रेय शब्द से ऐहिक और आमुष्मिक दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। गम्य धर्म मे गमक विधिवाक्य प्रमाण होता है। जो निषेध द्वारा प्रतिपादित होता है वह अनर्थ का साधन होता है, उसे ही अधर्म कहते हैं।

तृतीय सूत्र — तृतीय अधिकरण मे विधि वाक्य ही प्रमाण है। यहाँ प्रतिज्ञा मात्र की गई है। वे दो प्रकार की हैं—'चोदनैव लक्षणं यस्य, चोदना लक्षणमेव यस्य' अर्थात् यहाँ प्रत्यक्ष आदि प्रमाण धर्म में प्रमाण नहीं होते, किंतु विधिवाक्य ही धर्म में प्रमाण माना गया है।

चतुर्थ सूत्र — इस सूत्र मे प्रथम प्रतिज्ञा के समर्थन के लिए चतुर्थ अधिकरण है। इस अधिकरण मे लोक सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण — 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्'। अर्थात् प्रत्यक्ष वर्तमान सन्निकृष्ट को ही ग्रहण करता है और धर्म उत्पद्यमान है, अतएव प्रत्यक्ष धर्म मे प्रमाण नही हो सकता, क्योंकि धर्म भविष्यत् कालिक है। इन वचनो से मीमांसाकार ने प्रत्यक्षोपजीवी अनुमान उपमान, और अर्थापत्ति को भी प्रमाण नही माना है।

पंचम सूत्र—चतुर्थ सूत्र में चतुर्थ अधिकरण की प्रथम जिज्ञासा का समर्थन करके पंचम सूत्र के पंचम अधिकरण में द्वितीय प्रतिज्ञा का समर्थन किया गया है। इस अधिकरण में विधिवाक्य ही प्रमाण है, इसी प्रतिज्ञा का समर्थन किया गया है। इसी प्रसंग में प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत: उत्पन्न और स्वत: गृहीत होता है। अर्थात् ज्ञानजनक सामग्री से प्रामाण्य उत्पन्न होता है और उसी सामग्री से प्रामाण्य गृहीत भी होता है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं--लौकिक और वैदिक। लौकिक वाक्य पौरुषेय (पुरुषकृत) होने के कारण पुरुषगत भ्रम, प्रमाद, विप्रलंभ (विप्रलिप्सा), करणापाटव आदि दोषों से दुष्ट होता है, अतएव पौरुषेय वाक्य प्रमाण नहीं होता।

मंत्र ब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद अपौरुषेय (पुरुषाप्रणीत) है। अत: विधिवाक्य में अप्रामाण्य के कारण भ्रमादि नही होने से विधिवाक्य ही धर्म मे प्रमाण हैं। इस द्वितीय प्रतिज्ञा का समर्थन करने के लिये प्रमाण का लक्षण और शब्दार्थ का संबंध नित्य है। बादरायण ने भी प्रामाण्य में परापेक्षा को स्वीकार नहीं किया है।

वेद से पुरुष का संबंध

संकेत द्वारा शब्द से पदार्थ प्रतिपादन में पदार्थों का, वाक्यार्थ प्रतिपादन में ग्रंथ का और रचना द्वारा (पद का) पुरुष का त्रिधा संबंध होता है। शब्द और अर्थ के साथ जो वाच्य-वाचक-संबंध है उसे नित्य मानकर पुरुष प्रवेश का खंडन किया गया है। वाक्यार्थ संबंध के द्वारा पुरुष संबंध को पृथक् करने के लिये वाक्याधिकरण की प्रवृत्ति है। इस अधिकरण मे यथा पद की पदार्थ में शक्ति होती है, वैसे ही वाक्य की वाक्यार्थ में शक्ति होती है, ऐसे जो प्रतिपादन करते हैं उसकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि पद से उपस्थित पदार्थ ही आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति से अन्वित होकर अशनय विशिष्ट भावनारूप वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता है। वैयाकरण मत से वाक्यार्थ वाक्यशक्ति से भासित होता है। इस मत के अनुसार शब्दबोध में पदार्थों का परस्पर संबंध संसर्ग मर्यादा से भासता है। यह नैयायिकों का मत है, जिससे वाक्य की वाक्यार्थ में पृथक् शक्ति की प्रतीति होती है, किंतु कुमारिल भट्ट ने अभिहितान्वय का समर्थन किया है। प्रभाकर ने अन्विताभिधान का समर्थन किया है। इस तरह वाक्यार्थ मे पुरुष संबंध द्वितीय प्रकार से निरस्त हुआ। तृतीय प्रकार ग्रंथ रचना द्वारा होता है।

संदर्भ वाक्य का पुरुष के साथ दो प्रकार से संबंध होता है, एक कर्तृ-कर्म-भाव-संबंध द्वारा और द्वितीय प्रयुक्त-प्रवचन-भाव-संबंध द्वारा होता है। प्रवचन सर्वसाधारण और रचना असाधारण होती है। असाधारण विशेषण होता है। अतएव वेद पौरुषेय है।

कुछ विद्वानो के अनुसार वेदों में पुरुष, देश, नदी, वृक्ष आदि के निर्देश होने के कारण वेदो को पुरुषप्रणीत अथवा पौरुषेय कहते हैं, किंतु मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रवचन भी असाधारण माना गया है। उदाहरणार्थ 'कठसंहिता' अथवा 'कठ ब्राह्मण' के विषय मे किंवदंती है कि अनेक शाखा अध्यायियों के मध्य 'कट्ठ' महर्षि ने पूर्ण रूप से अध्ययन किया था। द्वितीय हेतु है कि वेद में पुरुष, नदी आदि का नाम आता है, इससे भी वेद पौरुषेय सिद्ध होता है, किंतु यह कल्पना चतुर-बुद्धि-विहित नहीं; क्योंकि प्रायः सर्वप्रथम सांसारिक वस्तुओं के नाम वेद से ही आए हैं, उसी दृष्टि से लोक-नाम की परंपरा चली है। अर्थात् वेद इतिहास को अनित्य नही मानता, किंतु इतिहास के नित्यत्व का प्रतिपादन करता है, इसका विस्तृत विवेचन मीमांसा के 'शाबरभाष्य' मे द्रष्टव्य है। नित्य विषय और वाक्य अथवा वचन को यथानुपूर्वी ब्रह्मर्षिगण समाधि मे दर्शन करते हैं, अतएव वेद में पूर्वपुरुष कर्तृत्वकल्पना का लेश भी समावेश नहीं है।' लौकिक रचनाएँ पुरुष विशेष कर्तृत्व होने के कारण पौरुषेय हैं, यथा महाभारत, रामायण आदि।

कुमारिल भट्ट के अनुसार अध्ययन परंपरा अनादि है। अतएव वेद भी अपौरुषेय हैं। ऐसे ही अधिकरण सिद्धांत न्याय से भी वेद ग्रंथ रचना के द्वारा पुरुष संबंध नहीं हो सकता, अतएव विधि वाक्य ही धर्म में प्रमाण है।

मोक्ष और उसका साधन

मीमांसा दर्शन में आत्म तत्व का प्रतिपादक कोई भी मौलिक सूत्र नहीं है। यद्यपि उत्तरमीमांसा (वेदांत) के 'एक एवात्मनः शरीरे भावात्' इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने लिखा है कि 'पूर्व तंत्र (पूर्वमीमांसा) में आत्मप्रतिपादक सूत्र नहीं है, इस वचन को कहकर आत्म स्वरूप का विवेचन किया है। वृत्तिकार मत को प्रमाण रूप से उद्धृत करते हुए लिखा है. 'आत्माभिधान प्रसक्तौ यथात्मास्तित्वं तथा शारीरके वक्ष्याम.'। अभिप्राय यह हुआ कि मीमांसाद्वय आत्मा को मानकर ही निर्मित हुए हैं, तथापि उत्तर-मीमांसा शरीर के अतिरिक्त आत्मतत्व को मानकर ही प्रचलित हुआ है, क्योंकि कर्म सिद्धांत के अंतर्गत 'कृत हानि' और 'अकृताभ्यागम' निहित है, जिससे पुनर्जन्म, इहलोक और परलोक का पुनरागमन कर्ता नित्य, विभु, चेतन, कर्ता, भोक्ता, अविकारी, आत्मा तदंतर्गत अव्यक्त रूप मे विहित है, क्योंकि 'चोदना पुनरारंभः' 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणाम्' इन दोनों सूत्रो से आत्मबीज का प्रतिपादन किया गया है। और वपन आदि संस्कार फली (यजमान) का संस्कार है। पुरुषार्थ में पुरुष शब्द से अस्थि यज्ञ और कृत याग से आत्मा को फलप्राप्ति होती है।

शबर स्वामी ने सूत्र विशेष के बिना ही 'यज्ञायुध वाक्य' को निमित्त मानकर अनात्मवादी के मत का खंडन करते हुए आत्मस्वरूप को तर्क और श्रुतियों के द्वारा सिद्ध किया है जिससे वेद प्रामाण्य की भी सिद्धि होती है।

उत्तर मीमांसा मे आत्मा को एक ही माना गया है; किंतु 'सांख्य योग', न्याय, वैशेषिक और पूर्वमीमांसा में आत्मा को अनेक माना गया है, जिसका कर्म के द्वारा शरीर, इंद्रिय और मन से संबंध होता है। अतएव शरीर, इंद्रिय और विषय को बंध कहा गया है। उक्त त्रय आत्मा को बंधन में डालते हैं, जिससे आत्मा सुखदुःखादि द्वंद्व को भोगता है। नित्य नैमित्तिक कर्मों को कर्तव्य बुद्धया करते हुए प्रारब्ध कर्मों को जीव भोगता रहता है। शरीर इंद्रिय से अतिरिक्त जो ब्रह्म बुद्धि से आत्मा की उपासना करता है उसका शरीर इंद्रिय आदि से संबंध का कोई कारण (काम्य और निषिद्ध कर्म) नही है, ऐसा व्यक्ति वर्तमान शरीर के नाश के पश्चात् स्व स्वरूप मे स्थित हो जाता है। उत्तरमीमांसा के अनुसार शरीर, इंद्रिय और विषय को बंधन कहा गया है जो अज्ञान का कारण है; उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। उदाहरणार्थ—

'निवृतिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः'

पूर्वमीमांसा भी यही स्वीकार करता है कि शरीर, इंद्रिय और विषयों का संबंध ही बंधन है, तथा उसका विलय ही मोक्ष है, जिसका साधन, ज्ञान (उपासना) और कर्म समुच्चय है। आत्मज्ञान दो प्रकार का होता है। शरीरातिरिक्त आत्मज्ञान क्रतु का अंग होता है, जो निःश्रेयसकारक है। वैदिक और लौकिक वाक्यों का सहस्रों की संख्या मे वाक्यार्थ निर्णयोपयोगी न्यायों का पूर्वमीमांसा ने ही प्रतिपादन किया है। अतएव भारतीय दर्शनों मे प्रथम न्याय कर्म प्रतिपादक पूर्वमीमांसा दर्शन का ही है।

सृष्टि प्रलय के विषय में मीमांसक मत

उत्तरमीमांसा (वेदांत) अज्ञान से सृष्टि और आत्मज्ञान से

सृष्टि का विनाश (मोक्ष) मानता है। न्याय, वैशेषिक दर्शन ने द्वयणुकादि क्रम से महाभूत पर्यंत महासृष्टि और महाभूत से परमाणु पर्यंत विनाश को महाप्रलय कहा है। अर्थात् संपूर्ण भाव कार्य द्वयणुकादि क्रम से उत्पन्न होते हैं और स्थूल से परमाणु पर्यंत जाकर नष्ट हो जाते हैं। पंच महाभूतों में पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं। आकाश स्वयं ही नित्य है, किंतु पूर्व मीमांसा के अनुसार दो प्रकार की सृष्टि और तीन प्रकार के प्रलय होते हैं, जिनमें महा सृष्टि और खंड सृष्टि शब्द से दो सृष्टि कही गई है। ऐसे ही प्रलय, महाप्रलय और खंड प्रलय शब्द से तीन प्रलय कहे गए हैं। उनमें खंड सृष्टि और खंड प्रलय आजकल के समान ही माना गया है। उदाहरणार्थ किसी स्थल विशेष का भूकंप आदि से विनाश हो जाता है और कहीं पर नवीन वस्तु की सृष्टि हो जाती है। महासृष्टि में परमाणुओं से द्वयणुकादि द्वारा पंचमहाभूत पर्यंत नवग्रहादिकों की सृष्टि होती है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के दशम मंडल में प्राप्त होता है—

'सूर्याचंद्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्'

मत्स्यपुराणादि में भी खंड प्रलय के अंतर्गत विद्यमान पदार्थों की स्थिति का विवरण प्राप्त होता है, किंतु पूर्व मीमांसा महासृष्टि और महाप्रलय को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार सभी पदार्थों के नाश में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है —

'प्रलयेऽपि प्रमाणं नः सर्वोच्छेदात्मके नहि।
तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना।'

मीमांसा दर्शन खंड सृष्टि और खंड प्रलय को ही मानता है।

ईश्वर के संबंध में पूर्वमीमांसा का मंतव्य

भारतीय छः आस्तिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक और वेदांत की ईश्वर साधक युक्तियाँ प्रायः समान ही हैं। उदाहरणार्थ 'यतो वा इमानि भूतानि जायंते', 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' 'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इन श्रुतियों के द्वारा और 'जन्माद्यस्य यतः' इस वेदांत सूत्र के द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है। इसी प्रकार न्याय शास्त्र के 'क्षित्यंकुरादिक कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्' अनुमान से भी ईश्वर की सिद्धि की गई है, किंतु वेदांतियों ने श्रुतियों से ईश्वर को सिद्ध कर अनुमान प्रमाण को उसका सहकारी कारण माना है। और नैयायिकों ने अनुमान से ईश्वर को सिद्ध कर श्रुतियों को सहकारी कारण माना है। सांख्य दर्शन में दो मत हैं — सेश्वर और निरीश्वर। सेश्वर सांख्यवादी ईश्वर को मानते हैं, किंतु उसे पुरुष विशेष शब्द से व्यवहार करते हैं। निरीश्वर सांख्यवादी ईश्वर का निषेध करते हैं, किंतु विज्ञान भिक्षु ने 'ईश्वरासिद्धेः' इस सूत्र में 'प्रमाणाभावात्' इस पद का उल्लेख कर ईश्वर को स्वीकार किया है।

मीमांसा दर्शन नैयायिकों के समान विधि मुख से ईश्वर का समर्थन और निरीश्वर सांख्यवादियों के समान निषेध भी नहीं करता, किंतु 'संबंधाक्षेपपरिहार' ग्रंथ में कुमारिल भट्ट ने शब्दार्थ के संबंध का कर्ता ईश्वर का निराकरण किया है। अभिप्राय यह है कि संबंध का कर्ता ईश्वर नहीं है। उपर्युक्त वचनों को स्वीकार कर लोकप्रसिद्धि है कि मीमांसक निरीश्वरवादी हैं। कुमारिल भट्ट, नंदीश्वर आदि मीमांसकों ने अनुमानसिद्ध ईश्वर का निराकरण किया है और वेदसिद्ध ईश्वर को स्वीकार किया है।

देवता संबंध विषयक विचार

वेदविहित यागादि कर्म द्रव्य और देवता इन दो से साध्य हैं। द्रव्य दध्यादि है और देवता शास्त्रैक समधिगम्य है। अर्थात् विधि वाक्य जिसको देवता कहता है उसे ही देवता माना जाता है। यहाँ देवता के विषय में तीन पक्ष समाम्नाय के चतुर्थपाद में और शाबर भाष्य आदि ग्रंथों में भी स्वीकार किया गया है। अर्थ देवता, शब्द विशिष्ट अर्थ देवता और शब्द देवता हैं। इन तीनों में अंतिम पक्ष ही सिद्धांत है, क्योंकि अर्थ का स्मरण शब्द के द्वारा हुआ करता है। अतएव शब्द की प्रथम उपस्थिति होने के कारण शब्द ही देवता माना गया है। उदाहरणार्थ 'इंद्राय स्वाहा, तक्षकाय स्वाहा' शब्दों में इंद्राय, और तक्षकाय ये चतुर्थ्यंत पद ही देवता हैं। अर्थ को देवता स्वीकार करनेवाले व्यक्ति भी शब्द की उपेक्षा नहीं कर सकते। अतः तीनों पक्षों में शब्द मुख्य होने के कारण मीमांसकों ने शब्द को ही देवता स्वीकार किया है। यहाँ पर एक नियम है — विधि वाक्य में जो देवतावाचक शब्द है उसका आवाहन, त्याग और सूक्त वाक्य आदि में उच्चारण करना चाहिए, न कि उसके पर्यायवाची शब्दों को। उदाहरणार्थ 'आग्नेयमष्टाकपालम्' में अग्नि के पर्यायवाची 'जातवेदस' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उक्त बातों से विदित होता है कि 'शब्दमयी देवता' ही मीमांसा दर्शन का सिद्धांत है।

देवता के विग्रहादि सदसद् भाव का विचार — अग्नि आदि देवता के विग्रहादि पाँच इस दर्शन में माने जाते हैं।

'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलदातृत्वमित्ये तत् पंचकं विग्रहादिकम्।'

अर्थात् विग्रह, हविष, भोग, ऐश्वर्य, प्रसन्नता और फलदातृत्व (फलदायकता) ये पाँच विग्रह कहे जाते हैं। उक्त वचन के आधार पर ही वेदांतियों ने देवता के विग्रहादि पाँच स्वरूप माने हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य आदि के समान ही कर, चरण आदि अवयव देवताओं के भी होते हैं, वे हविष स्वीकार करते हैं, भक्षण करते हैं और प्रसन्न होकर यजमान को फल देते हैं। अतः देवता विग्रहाभिमान हैं। उपर्युक्त विचार ही यास्क महर्षि ने 'निरुक्त' के 'अथाकार चिंतनम्' वाक्य से पुरुषविग्रहता को सिद्ध किया है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार 'शब्दमयी देवता' का समर्थन किया गया है, किंतु शबर स्वामी ने अपने षष्ठ देवताधिकरण भाष्य में देवताविग्रह का खंडन किया है। प्रायः पार्थसारथि, खंडदेव आदि सभी विद्वानों ने इसी मार्ग का अवलंबन किया है, किंतु कुमारिल भट्ट ने अपनी टीका में देवता को प्रधान न मानकर द्रव्य के समान उसे अंग माना है और कर्म को ही प्रधानतया स्वीकार किया है, तथा कहा है कि कर्म ही फल देता है। स्वामी के रहते हुए दास से कोई फल की याचना नहीं करता।

(१) कर्मणा फलजनकत्वं तथा (२) शब्दमयी देवता, उक्त द्वय सिद्धांतों का समर्थन देवता विग्रहादि को मानकर अन्य मीमांसकों ने किया है। भाष्यकार शबर का देवता विग्रह का

निराकरण प्रौढ़िवाद से जानना चाहिए। अतएव पूर्वमीमांसा 'शब्द मयी देवता' को ही स्वीकार करता है। उसका ज्ञान तद्धित, चतुर्थी विभक्ति और मंत्रवर्ण इन तीनों से होता है। केवल इनमें परस्पर अंतर यह है कि तद्धित शक्ति की आवृत्ति से देवता का बोधन करता है। चतुर्थी विभक्ति लक्षणया और मंत्रवर्ण अधिष्ठान का बोधन करता है।

शाब्द बोध के विषय में मीमांसक मत

वाक्यों के द्वारा जो बोध (ज्ञान) होता है उसे वाक्यार्थ, बोध या शाब्द बोध कहते हैं। वाक्य भी आख्यातात ही होता है—

(१) सुबतचयः वाक्यम्, (२) तिगंतचयोवाक्यम्, (३) सुप्तिगन्तचयो 'वाक्यम्'। उसमे ये तीन पक्ष हैं, जिनमें कारकान्वित क्रिया होनी चाहिए। अमरकोश के अनुसार — 'तिङ् सुबंत चयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता'।

अर्थात् सुबंत और तिगन्त वाक्यों का कारकान्वित क्रिया पर्यवसान होता है। पूर्वमीमांसा में कुमारिल भट्ट, प्रभाकर और मुरारी के तीन मत प्रसिद्ध हैं, किंतु अंतिम मे त्रिपाद नीति नयन' इस नाम से ख्यात ग्रंथ भी विदित हुआ है। मीमांसकों मे अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद नाम से दो प्रस्थान प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम कुमारिल भट्ट और द्वितीय प्रभाकर का मत है। शाब्द बोध में भावना को मुख्य रूप से भट्ट ने स्वीकार किया है। प्रभाकर ने कार्य को मुख्य स्वीकार किया है। अभिहितान्वय शब्द का यह अर्थ है कि पदों से प्रतिपादित पदार्थ ज्ञान आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति समन्वित होकर लक्षणा के द्वारा शाब्दबोध (वाक्यार्थ बोध) कराते हैं।

न्यायमत में पदों की पदार्थ में शक्ति है और पद ज्ञान लक्षण या बोध करते हैं। पदों से पदार्थ की उपस्थिति होती है। इसी प्रकार मीमांसा में कहा गया है उदाहरणार्थ ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग कामो यजेत'। यहाँ 'यजेत' मे दो अंश हैं—'यज' धातु और 'त' प्रत्यय। प्रत्यय आख्यातांश को लेकर आर्थी भावना का प्रतिपादन करता है। उस भावना की तीन आकांक्षाएँ होती हैं—साध्याकांक्षा साधनाकांक्षा और 'इतिकर्तव्यताकांक्षा'। साध्याकांक्षा होने पर (स्वर्गकामाधिकरण से) स्वर्ग का साध्यत्वेन अन्वय होता है। साधनाकांक्षा होने पर धात्वर्थ का कारणत्वेन अन्वय होता है। (भावार्थाधिकरण न्याय से) । इति कर्तव्यताकांक्षा होने पर (दीक्षिणी-यादि) इतिकर्तव्यतात्वेन अन्वय होता है। वाक्यार्थाधिकरण में कहा गया है—

'भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यात वत्तया।
अनेक गुण जात्यादि कारकार्थानुराजिता।'

विशिष्ट अर्थ का बोध करने के लिये वाक्य लोक में प्रयुक्त होता है। पदश्रवण से पदार्थों का पृथक् पृथक् ज्ञान होता है। यह वाच्यार्थ है, किंतु जो पदार्थज्ञान होता है वह श्रोता को अभिप्रेत नहीं, और जिसके लिये वाक्य प्रयुक्त हुआ उससे श्रोता का कार्य नहीं होता, ऐसे स्थल में वाक्य तात्पर्य की अनुत्पत्ति होती है। अतएव अनुपपत्ति के निवारणार्थ लक्षणा मानी गई है। सभी दार्शनिकों ने तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज स्वीकार किया है। पदों के दो प्रकार के तात्पर्य माने गए हैं, प्रथम तात्पर्य तथा द्वितीय महातात्पर्य। प्रथम अवांतर तात्पर्य पदार्थ विषय का प्रतिपादन करता है और महातात्पर्य वाक्यार्थ विषय का प्रतिपादन करता है। अभिहितान्वयवाद में वाक्य से वाक्यार्थ का बोध लक्षणया होता है। कुमारिल भट्ट ने निम्न श्लोकों से प्रतिपादन किया है —

'साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
'वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तो नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठाना पदार्थ-प्रतिपादनम्॥'

इस वचन से भट्ट पादका अभिहितान्वयवाद का स्वरूप निदर्शित होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'अनन्वितावस्थ' पदार्थ पदों से अभिहित होते हैं। उनकी अन्वितावस्था केवल लक्षित होती है। अतएव 'अन्विताभिधानवाद' कुमारिल भट्ट का है, किंतु भट्ट मत का अनुवादक अन्विताभिधानवाद मानकर जो खंडन करते हैं, यह उचित नहीं है, क्योंकि उनके ग्रंथों में उपर्युक्त लेख की चर्चा कहीं भी नहीं है।

प्रभाकर मत—अन्विताभिधानवाद — अन्विताभिधान शब्द का यह अर्थ है — पद अन्वितार्थ (अन्वय और पदार्थ को सख्या बुध्या) बोधन करते हैं। अतएव पद शक्ति से ही पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों का बोध हो जाता है। पद शक्ति से अतिरिक्त लक्षणा आदि मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। वयोवृद्ध पुरुष किसी वस्तु को लाने ले जाने के लिये शब्द का प्रयोग करता है। उसके पास का बालक उस शब्द को श्रवण कर और दूसरे पुरुष को ले आने और ले जाने का कार्य करते देखकर शब्द का अर्थ समझ लेता है। यही प्रवृत्ति का कार्यताज्ञान कारण है। लोक में क्रिया को भी कार्य समझा जाता है, उसी प्रकार वेद में भी यागादि क्रिया को प्रथमतः कार्य समझा जाता है। यागादि क्रिया क्षणिक है और स्वर्ग कालांतर भावी है। अतएव उक्त (स्वर्गकाम पद समभि-व्यवहार अन्यथानुपपत्तिः) वेद वाक्य विमर्श से यागातिरिक्त 'अपूर्व, नामक वस्तु समझी जाती है। यहाँ पर 'एक कार्य शब्द' की पूर्वोक्त दो शक्तियाँ दो अर्थों मे स्वीकार करनी पड़ती हैं। एक में शक्ति (अभिधा) और दूसरे से लक्षणा माननी होती है। उसमें भी अलौकिक कार्य मे विशेष शक्ति है, जैसा विद्वानों में प्रचलित है—

'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ.'

लोक में क्रिया रूप कार्य में लक्षणा होती है। वेद में पद ही वाक्य होते हैं (पदान्येव वाक्यम्) और पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है (वाक्यार्थः पदार्थः)। इस मत मे वाक्यार्थ, अन्वय और संसर्ग ये सब पर्याय हैं। अर्थात् अन्वित ही अन्वय में निमित्त होता है। प्रभाकर ने ग्राहक ग्रहण को माना है, उसमे भी अन्विताभिधानवाद सिद्ध होता है। इस मत में—'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य से अन्विताभिधान का शाब्द बोध होता है।

इस दर्शन में स्वर्गप्राप्ति के लिये याग का ही विधान है। स्वर्ग से अभिप्राय यह है—जो दुःख से ग्रस्त न हो तथा दुःख उत्पन्न की उसमें संभावना न हो, और अभिलाषा को पूर्ण करे उसे स्वर्ग कहते हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों द्वारा दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग के साधन का विधान किया गया है। याग

को क्षणिक माना गया है, क्योंकि किसी देवता के उद्देश्य से द्रव्य के त्याग का नाम याग है। 'इन्द्राय इदं न मम' इस वाक्य से मानस व्यापार का त्याग होता है। उस क्षण में उस व्यापार का नाश हो जाता है। निरतिशय प्रीति विषय को स्वर्ग कहा गया है। वह कालांतर अथवा जन्मांतर में प्राप्त होता है। यह दर्शन शास्त्र का नियम है, कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण मे कारण को रहना चाहिए और क्षणिक याग जन्मांतर भावी स्वर्गोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में संभव नहीं है। एतदर्थं उक्त श्रुति के आधार से याग का साध्य, स्वर्ग का साधन अथवा याग की उत्तरावस्था एवं फल की पूर्वावस्था, ये सब एक वस्तु सिद्ध होती हैं, जिसे अतिशय, अपूर्व, या योग्यता कहते हैं। इसका विस्तृत विवेचन कुमारिल भट्ट ने अपूर्वाधिकरण में युक्तिपूर्वक किया है। यागानुष्ठान के पूर्व पुरुष मे स्वर्ग के उपभोग करने की योग्यता नही होती। अनुष्ठान के पूर्व याग मे भी स्वर्गादि फल देने की योग्यता नहीं होती एवं पुरुष की अयोग्यता तथा कर्म की अयोग्यता का निराकरण कर शास्त्रगम्य सामर्थ्य अब या अतिशययोग्यता को अपूर्व माना गया है। यथा

> 'कर्मभ्य प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा।
> योग्यता शास्त्रजन्या या सा पराऽपूर्वमुच्यते।'

इसे अधिकारापूर्व अथवा फलापूर्व कहते हैं। जहाँ एक ही प्रधान हो वहाँ प्रधान याग से जो अपूर्व उत्पन्न होता उसे उत्पत्यपूर्व कहते हैं। अंगों से जो अपूर्व उत्पन्न होता है, उसे अंगापूर्व कहते हैं। अंगापूर्व और प्रधानापूर्व दोनो मिलकर परमापूर्व को उत्पन्न करते हैं। उससे स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती है। कुछ यागों में अनेक प्रधानों से फल होता है। उदाहरणार्थ—दर्श मे तीन याग होते हैं और पौर्णमास मे भी तीन याग होते हैं। यहाँ तीनों प्रधानों से उत्पन्न होनेवाले तीन उत्पत्यपूर्वों से एक समुदाया पूर्व उत्पन्न होता है। दोनो समुदायापूर्वों से एक परमापूर्व उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह हुआ कि उपर्युक्त प्रथम उदाहरण मे तीन अपूर्व (उत्पत्यपूर्व, अंगापूर्व और परमापूर्व) माने जाते हैं। द्वितीय उदाहरण मे उत्पत्यपूर्व, अंगापूर्व, समुदायापूर्व और फलापूर्व, चार अपूर्व माने जाते हैं। ये ही मीमांसको का सर्वस्व है। इसमे भाट्ट मीमांसक शाबर भाष्य २।१।२ के 'यागेन अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत्' अनुसार शब्द से तथा श्रुतार्थापत्ति से अपूर्व की सिद्धि करते हैं। और उसे लिंगादि का वाच्य तथा शब्दबोध मे मुख्य विशेष्य मानते हैं। सभी दार्शनिकों के द्वारा अपूर्व का जो खडन किया गया है वह वाच्यत्वांश और प्राधान्यांश का ही खंडन है।

प्रामाण्य विचार

दर्शन शास्त्रों में पदार्थविवेचना के लिये चार कोटियाँ मानी गई हैं—

(१) प्रमाण।	(३) प्रमिति।
(२) प्रमेय।	(४) प्रमाता।

प्रमाण — प्रमाण उसे कहते हैं जिससे विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो और विषय का निर्धारण हो।

प्रमेय — प्रमाण के द्वारा जिसका ज्ञान हो उसे प्रमेय (वस्तु-विषय) कहते हैं।

प्रमिति — प्रमाण के द्वारा जिस किसी भी विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो, उसे प्रमिति कहते हैं।

प्रमाता — प्रमाण के द्वारा प्रमेय ज्ञान को जो जानता है—उसे प्रमाता कहते हैं।

यहाँ विभिन्न भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान के विषय में द्विविध विचार किया है—

ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ग्राह्य है अथवा परतः ग्राह्य है। स्वतः कोटि मे मीमांसक, वेदांती और बौद्ध आते हैं। परतः कोटि मे न्याय, वैशेषिक, योग, जैन और चार्वाक आते हैं। यहाँ प्रामाण्य शब्द से अर्थतथात्व लक्षण (विषय का यथार्थ स्वरूप) प्रामाण्य समझना चाहिए, न कि अज्ञातार्थ ज्ञापकत्व लक्षण प्रामाण्य। चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः सूत्र मे—'ननु अतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयात् चोदना' इत्यादि भाष्य से अर्थतथात्व ही विवक्षित है। 'तच्च अबाधितत्वं, अर्थनिष्ठो धर्म विशेष, तस्य ज्ञानेन निरूपणात्'। चोदना सूत्र के भाष्य 'अतथाभूत अर्थ' से अबाधित्व अर्थनिष्ठ धर्म विवक्षित है, जिसका निरूपण ज्ञान के द्वारा होता है। अतएव प्रामाण्य को ज्ञाननिष्ठ कहा जाता हैं। वह परतः उत्पन्न और परतः गृहीत होता है। यह नैयायिको का सिद्धांत है। अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे प्रामाण्य उत्पन्न न होकर अन्य सामग्री से उत्पन्न होता है एव जिससे ज्ञान ग्रहीत होता है, उससे प्रामाण्य गृहीत न होकर अन्य गुण ज्ञानादि से गृहीत होता है। इससे यह आया कि ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न सामग्री से प्रामाण्य उत्पन्न होता है और ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री के द्वारा प्रामाण्य गृहीत होता है। इस मत मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं। यह नैयायिक सम्मत विवेचना है।

उपर्युक्त मत में मीमांसक लोग अनवस्था दोष बताते हैं (अनवस्था उसे कहते हैं जिसमे कल्पना का विश्राम न हो।) जिससे ज्ञानगत प्रामाण्य कभी सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् लोकव्यवहार विच्छिन्न हो जायगा। अतः ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न और स्वतः गृहीत होता है। अभिप्राय यह है कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है; और जिस सामग्री से ज्ञान गृहीत होता है उसी सामग्री से प्रामाण्य भी गृहीत होता है। यही स्वतःप्रामाण्यवादी मीमांसकादिकों का प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, जिसका कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रंथ भाट्ट वार्तिक में अनेक युक्तियों से समर्थन किया है—

> 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
> नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते॥
> 'परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित्।
> मूलोच्छेदकरं पक्षं कोहि नामाध्यवस्यति॥'—शा० दी०

यहाँ भट्टमत में ज्ञान अनुमेय है। ज्ञान के विषय में कुछ अतिशय उत्पन्न होता है जिससे 'ज्ञातोघटः' यह अनुभव होता है। इससे ज्ञातता नामक एक धर्म घटादि विषय में उत्पन्न होता है, जिसे प्राकट्यम्, भासनं, प्रकाशः आदि शब्दों से कहा जाता है। इससे यह

माया कि ज्ञातता लिंगक अनुमान से ज्ञान का ग्रहण होता है। इसी से प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।

प्रभाकर (गुरु) मत में ज्ञान स्वयं प्रकाश है। अतः ज्ञान से ही ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। अतएव स्वतः प्रामाण्य दोनों मतों में समान है, जिसका विवेचन 'श्लोक वार्तिक', 'प्रकरण पंजिका' 'न्याय रत्नमाला' में विस्तृत रूप से किया गया है।

'विधि'

प्रत्यक्ष अनुमानादि से अनवगत (अज्ञात) अर्थ के बोधक वाक्य को विधि कहते हैं। अर्थात् अज्ञातज्ञापक अप्रवृत्तप्रवर्तक जो वाक्य हैं उसका नाम 'विधि' है। विध्यर्थ के संबंध में मीमांसकों के दो पक्ष हैं — एक प्रवर्तना को विध्यर्थ मानता है। इसमें प्रायशः सभी मीमांसक आ जाते हैं। दूसरा कार्य को विध्यर्थ मानता है। यह प्रभाकर का सिद्धांत है। इस पक्ष में इस प्रकार का उत्पादन होता है—

लोक में प्रवर्तक पुरुष, आचार्य अथवा राजा अपने शिष्य अथवा भृत्य को प्रवृत्त कराने के लिये 'गामानय' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करते है। शिष्य या भृत्य उक्त वाक्य को सुनकर उसके अर्थ का अनुसंधान करता है। पश्चात् 'गवानयन' (गाय लाने) आदि कार्य में प्रवृत्त होता है। इसलिये प्रवर्तक पुरुष का जो अभिप्राय विशेष है, उसे लोक में विध्यर्थ कहते हैं। यह पुरुष की क्रिया है जो पुरुष में रहती है। अतएव इसे पुरुषाभिप्राय भी कहते हैं। वेद अपौरुषेय होने के कारण वैदिक लिंगादि का अर्थ पुरुषाभिप्राय नहीं कहा जा सकता। अतः पुरुष के स्थान पर लिंगादि (लिंग लुंग आदि लकार) शब्द का प्रयोग होता है। उसका व्यापारविशेष ही विध्यर्थ है। शब्दनिष्ठ होने के कारण इसे शाब्दी भावना भी कहते है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल प्रवतक लिंगादिनिष्ठो व्यापारविशेष शाब्दी भावना'। शास्त्र मे इसे ही प्रवर्तना, प्रेरणा आदि कहा गया है। लोक मे प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—प्रथम अपनी इच्छा से (इष्ट साधन समझकर) पुरुष प्रवृत्त होता है। द्वितीय प्रवर्तक पुरुष, अथवा शब्द के द्वारा व्यक्ति प्रवृत्त होता है, जिसे 'प्रेरणा जन्य' कहते हैं। जहाँ प्रेरणा के पश्चात् प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रवर्तन ज्ञान ही प्रवर्तक माना जाता है, जिसे मंडन मिश्र, पार्थसारथि प्रभृति विद्वानों ने इष्टसाधन' माना है। न्याय सुधाकर ने इसे अलौकिक धर्म विशेष माना है। प्रभाकर मिश्र ने प्रवृत्ति के प्रति कार्यताज्ञान को कारण माना है, जिससे इष्टसाधनत्व आदि आक्षिप्त हो जाता है। अतः 'चोदना लक्षणो धर्मः' सूत्र में लिखा है—'आचार्य चोदित करोमि' इस भाष्य की व्याख्या करते हुए शालिकनाथ ने कहा है—चोदित. प्रवर्तितः, कार्यमवबोधितः इत्यर्थ, कार्यताज्ञान विना प्रवृत्तेरसंभवादिति' (तदभूतादि प्र० पं०) अतएव प्रभाकर मत में कहा गया है—'कार्य विध्यर्थः, तच्च कार्यं धात्वर्थातिरिक्तम्, अपूर्व शब्द वाच्यम् तदेव विध्यर्थ इति'

'विधि का भेद' — वेद वाक्यार्थ निर्णय के लिये प्रवृत्त मीमांसा दर्शन में चार प्रकार की विधि का पूर्व में प्रतिपादन किया गया है—(१) उत्पत्तिविधि, (२) विनियोगविधि, (३) प्रयोगविधि और (४) अधिकारविधि।

(१) जिस वाक्य से कर्म स्वरूप की कर्तव्यता प्रथमतः विदित होती हो उसे उत्पत्तिविधि कहते हैं। उदाहरणार्थ 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से अग्निहोत्र नामक होम से इष्ट को प्राप्त करना अर्थ होता है।

(२) अंगप्रधान का संबंध जिस विधिवाक्य से ज्ञात होता है, उसे विनियोगविधि कहते हैं। उदाहरणार्थ 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य से दही से हवन करने का अर्थ बोधित होता है। इसमें दधि साधन है और होम साध्य है। यहाँ विनियोग विधि में विनियोग शब्द से संबंध को समझना चाहिए। वह संबंध साध्य-साधन-भाव, अंगांगि भाव अथवा शेषशेषी भाव में समाप्त होता है।

(३) जो प्रधान और अंग के अनुष्ठान में क्रम का बोध कराता है उसे प्रयोगविधि कहते हैं। उदाहरणार्थ प्रयाजादि अंग से उपकृत प्रधान दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय से लक्षण किया गया है 'अंगाना क्रमबोधको विधि, प्रयोगविधिः.'

(४) जिस विधि से कर्मजन्य फल का भोक्ता कर्ता को माना जाता हो उसे अधिकारविधि कहते हैं। उदाहरणार्थ 'यजेत स्वर्ग काम' यहाँ जो यागकर्ता है वही स्वर्गफल का भोक्ता है। इसी प्रकार से अपूर्व विधि, नियम विधि और परिसंख्या विधि के भेद से तीन प्रकार की विधियाँ प्रसिद्ध हैं—(क) जो अत्यंत अप्राप्य विषय का विधान करता हो उसे अपूर्व विधि कहते हैं। उदाहरणार्थ 'व्रीहीन् प्रोक्षति, दर्शपूर्ण मासाभ्या स्वर्गकामो यजेत' यहाँ व्रीही में प्रोक्षण क्रिया का विधान है और दर्शपूर्णमास में स्वर्ग के साधन का विधान है। यह बात उपर्युक्त वाक्यों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से सर्वदा और सर्वथा अप्राप्त है। अतः यह अपूर्वविधि है।

(ख) जो पक्ष प्राप्त अर्थ को नियमित (अप्राप्तांश पूरक) करता है उसे नियमविधि कहते हैं। उदाहरणार्थ 'व्रीहीन् अवहन्ति'। यहाँ वैतुष्य के प्रति अवघात साधन है। ऐसे ही अश्म कुट्टनादि साधन है। जो पुरुष शास्त्रीय उपाय अवघात को त्यागकर अश्म कुट्टनादि या नखविदलनादि से वैतुष्य करता हो उसे शास्त्रीय विधि के अनुसार अवघात से ही वैतुष्य करना चाहिए—

'व्रीहीनवहन्यादेव' यहाँ अवघात के प्रत्यक्ष होने पर भी अवघात नियम अप्रत्यक्ष है।

(३) जहाँ एक काल में दो समुच्चय से प्राप्त हों और उनमें एक की व्यावृत्ति (निवृत्ति) करना ही जिसका फल हो उसे परिसंख्या विधि कहते हैं। उदाहरणार्थ—

पंच पंचनखा भक्ष्याः यह पंचनख भक्षण राग प्राप्त होने के कारण इसका विधान नहीं करता। पंचनखेतर पचनख भक्षण भी प्राप्त है अर्थात् राग से पंचनखवाले पाँच का भक्षण जैसे प्राप्त होता है वैसे ही पचनख से भिन्न पंचनखवालों का भी भक्षण रागतः प्राप्त है। इसलिये यहाँ अपूर्व विधि या नियम विधि नहीं। पचेतर पंचनख भक्षण निवृत्ति है। इसलिये यह परिसंख्याविधि का उदाहरण है। नियम विधि में इतर निवृत्ति का वाचक शब्द नहीं किंतु अर्थात् होती है। परिसंख्या विधि में इतर निवृत्ति का बोधक शब्द रहता है। एवकार का दोनों में प्रयोग होता है। लेकिन नियमविधि में एवकार प्रयोग व्यावृत्ति का बोधक है और परिसंख्याविधि में एवकार अन्य योग व्यावृत्ति का बोधक है।

ऊपर विधियों के दो प्रकार बताए गए हैं, उसे इस प्रकार समझना चाहिए कि अपूर्वविधि में उत्पत्ति, विनियोग प्रयोग और अधिकार विधि चारों अंतर्गत होते हैं। नियम तथा परिसंख्या विधि, विनियोग विधि में ही अतर्गत है। इस विषय का विशेष ज्ञान भाट्ट चिंतामणि में द्रष्टव्य है। [सु० शा०]

मीर (मीर तक़ी) का जन्म सन् १७३८ के लगभग आगरे में हुआ। इनके पिता अब्दुल्ला इनके बचपन ही में मर गए, जिससे यह अपने मौसा सिराजुद्दीन खाँ 'आर्जू' के पास दिल्ली चले आए और वहीं शिक्षा प्राप्त की। दो वर्ष आगरे में रहने के अनंतर यह दिल्ली चले आए और इनकी कविता की प्रसिद्धि फैलने लगी। दिल्लीवालों ने इनका बहुत संमान किया। इन्होंने कभी दरबारों से या धनाढ्यों से संबंध नहीं रखा, इसलिये इन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा तथा ये दरिद्रावस्था में कालयापन करते रहे। दिल्ली पर बाहरी चढ़ाइयाँ होने से उसकी ऐसी दुरवस्था हुई कि मीर को बाध्य होकर सन् १७८२ ई० के लगभग लखनऊ जाना पड़ा। इनकी प्रसिद्धि वहाँ भी फैली और आसफुद्दौला ने इनको दो सौ रुपए की मासिक वृत्ति दी, जो इन्हें अंत तक मिलती रही। यह लखनऊ में सन् १८१० ई० में गत हो गए। मीर मझोले क़द के दुबले पतले से थे, रंग गेहुँआ था और नेत्र तीखे थे। इनकी प्रकृति मे अहंमन्यता अधिक थी पर इनका हृदय करुणा से पूर्ण था।

मीर की कविता मे रुबाई, मुखम्मस, मुसद्दस, छोटी मसनवियाँ, वासोख्त सभी कुछ है पर वस्तुतः इनकी ग़जलें ही इनके 'खुदाए-सखुन' कहलाए जाने की आधार हैं। इन्हीं के कारण सभी परवर्ती कवियों ने इन्हें उस्ताद माना है। इनकी ग़ज़लों में इतनी सरलता तथा सरसता है कि उनका एक एक शेर हृदय पर चोट करता है। अर्थसंकोच प्रायः इनके सारे जीवन में रहा और इसका भी प्रभाव इनपर पड़ा। इनकी शृंगारिक कविताएँ अत्यंत आकर्षक, विशिष्ट, तथा करुण रस से पूर्ण हैं। मीर का भाषा पर पूर्ण अधिकार था।

मीर की रचनाओं में एक दीवान फारसी का और छह दीवान उर्दू के हैं। मसनवियों, कसीदों, छोटी छोटी कविताओं का भी एक संग्रह है। गद्य में 'फैजे मीर' एक छोटी पुस्तिका लिखी है, जिसमें शेर व शायरी पर कुछ तर्क वितर्क है। 'निकातुश्शोअरा' एक तजकिरा है, जिसमें फारसी भाषा में उर्दू के कुछ कवियों का अति संक्षिप्त परिचय दिया गया है तथा उदाहरणों में शेर भी दिए हैं।

[र० ज०]

मीर क़ासिम यह सन् १७६० से १७६३ तक बंगाल का नवाब रहा। सन् १७६० से पहले बंगाल का नवाब मीर जाफर था। अंग्रेजों ने मीर जाफ़र को लाभ की शर्तों पर नवाब बना दिया था, पर उन्होंने नवाब से इतना धन ऐंठना शुरू किया कि वह परेशान हो गया। इस समय मीर जाफ़र का दामाद मीर कासिम बंगाल की नवाबी के लिये अधिक उपयुक्त समझा गया। इसका कारण यह था कि मीर कासिम का बंगाल की सेना पर काबू था। इसके अतिरिक्त उसने अंग्रेजों को कुछ धन तथा प्रदेश भी देने का वचन दिया था। इसलिये अक्टूबर, सन् १७६० में मीर जाफ़र को गद्दी से उतारकर मीर कासिम को बंगाल का नवाब बना दिया गया।

मीर कासिम अपने युग का प्रतीक था। वह एक कुशल शासक था। नवाब बनते ही उसने बंगाल प्रांत की स्थिति बहुत कुछ सुधार दी। मीर जाफ़र से मीर कासिम कई अर्थों में अच्छा शासक था। मानव होने के नाते मीर कासिम के व्यक्तित्व में कुछ बुराइयाँ होना स्वाभाविक था। वह स्वभाव से बड़ा सनकी था तथा हर काम बहुत सोच समझकर करता था, पर कभी कभी वह अपने व्यवहार में कठोर भी हो जाता था। जमींदारों से पैसा लेने के बारे में उसने कुछ सख्ती दिखाई।

मीर जाफ़र के समय से ही बहुत से जमींदारों ने रुपया देना बंद कर दिया था जिससे सरकार की आय में कमी हो गई थी। कंपनी तथा उसके अधिकारियों को प्रसन्न रखने के लिये मीर कासिम को धन की आवश्यकता थी और प्रांत की सरकार में सुधार करने के लिये भी उसे धन चाहिए था। यह धन वह जमींदारों से ही वसूल कर सकता था।

नवाब बनाने के बदले में मीर कासिम ने अपने मुख्य सहायक अंग्रेज अधिकारियों तथा काउंसिल के सदस्यों को बहुत सा धन दिया तथा कंपनी को चटगाँव, बर्दवान तथा मिदनापुर के जिले दे डाले। उसने मीर जाफ़र के समय की कंपनी तथा सेना की बकाया धनराशि जल्दी ही चुका दी। वह महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह दबकर रहना नहीं चाहता था। वह अपने राज्य के निवासियों का शुभेच्छु था और कंपनी के भ्रष्ट सेवकों की दाल नहीं गलने देना चाहता था।

जब मीर कासिम के सुधारों से कंपनी के सेवकों का व्यक्तिगत अहित होने लगा तब कंपनी से उसका संघर्ष होना निश्चित हो गया। मीर कासिम के सेना संबंधी सुधारों का अर्थ अंग्रेजों ने यह लगाया कि वह कंपनी के विरुद्ध लड़ाई की तय्यारी कर रहा है। व्यापार के क्षेत्र मे अंग्रेज बड़ी बेईमानी कर रहे थे। भारतीय व्यापारियों को कुछ घूस देकर बिना महसूल दिए व्यापार करने की अनुमति मिल जाती थी। अंग्रेज व्यापारी स्वयं कई वस्तुओं का व्यापार करते थे और उनपर कोई महसूल नहीं देते थे। इससे नवाब को बड़ी आर्थिक हानि होती थी। हारकर मीर कासिम ने एक आज्ञा द्वारा अंग्रेज तथा भारतीय व्यापारियों का एक ही स्तर कर दिया और व्यापारिक माल पर चुंगी लेने की प्रथा ही उठा दी। इससे अंग्रेज बहुत चिढ़ गए और उन्होंने मीर कासिम को नवाब के पद से हटाने का निश्चय कर लिया।

एक घटना और हुई जिससे स्थिति और भी बिगड़ गई। मीर कासिम ने पटना के धृष्ट नायब रामनारायण को पदच्युत कर दिया पर अंग्रेजों ने उसे अपने यहाँ शरण दे दी। पटना की अंग्रेजी फैक्ट्री के प्रधान पद पर कूट तथा एलिस आए। इन दोनों ने मीर कासिम को काफी परेशान किया। नवाब ने स्थिति को चतुराई से सम्हालने का प्रयत्न किया और काफी धैर्य दिखाया। पर इस धैर्य का बाँध भी टूट गया और नवाब भी युद्ध की तैयारी में तत्पर हो गया। मीर कासिम तथा कंपनी के झगड़ों का चरमोत्कर्ष सन् १७६४ में आया जब बक्सर का युद्ध हुआ। इस युद्ध में मीर कासिम ने बड़ी वीरता दिखाई पर अर्थाभाव के कारण वह अंग्रेजों का बहुत दिनों तक मुकाबला न कर सका और अंत में हार गया। इधर सन् १७६३

में कलकत्ता की काउंसिल ने मीरजाफ़र से एक नई संधि करके उसे पुन: नवाब बना दिया। [मि० चं० पां०]

मीर जाफर एक उत्साहसंपन्न सैनिक था। बंगाल में सिपाही के पद से उसकी दिनोंदिन पदोन्नति होती गई। उसने अलीवर्दी खाँ को नवाब बनने में सहायता दी; उसके लिये उड़ीसा की विजय की तथा आंतरिक विद्रोहों और मराठों के आक्रमणों से बंगाल की रक्षा की। इस सहायता के लिये मीर जाफर को बख्शी का पद मिला। नवाब ने अपनी सौतेली बहन का विवाह उसके साथ कर दिया, उसे उड़ीसा की सूबेदारी दी तथा उपसेनापति बनाया। इससे मीर जाफर की प्रतिष्ठा बढ़ी और उसकी महत्वाकांक्षा जाग्रत हुई।

सिराजुद्दौला के नवाब बनने पर मीर जाफर ने उसके प्रति स्वामिभक्त रहने का वचन दिया, पर बाद में विश्वासघात किया। पहले उसने शौकतजंग को नवाब के विरुद्ध उकसाया और स्वयं नवाब बनने के स्वप्न देखने लगा। क्लाइव ने अमीचंद के माध्यम से उसके साथ गुप्त संधि की, तथा रायदुर्लभ, जगत सेठ आदि असंतुष्ट लोगों के सहयोग से नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र रचकर प्लासी के युद्ध के पश्चात् उसे नवाब बनाया। इसके बदले में मीर जाफर ने ईस्ट इंडिया कंपनी को चौबीस परगने की जमींदारी, शोरा के व्यापार पर एकाधिकार तथा क्षतिपूर्ति और ईनाम के रूप में १,५३,१०,६६६ रुपये दिये। इसके अतिरिक्त १,१४,५०,००० रुपए न दे सकने के कारण उसे बर्दवान, नदिया तथा हुगली का लगान कंपनी को सौंपना पड़ा।

सन् १७५७ से १७६० तक मीर जाफर बंगाल का नवाब रहा। वह असफल सिद्ध हुआ। उसका शासन अंग्रेजों की सैनिक शक्ति पर अवलंबित रहा। वह उनके अनुचित कार्यों का विरोध न कर सका। इसलिये बंगाल की राजनीति पर अंग्रेज हावी हो गए। उन्होंने डचों का प्रभाव हटा दिया। वे व्यापारिक अधिकारों का प्रत्यक्ष रूप से दुरुपयोग करके नि:शुल्क अंतर्देशीय व्यापार करने लगे। अंत में मीर जाफर पर अतिरंजित आरोप लगाकर उसे पदच्युत कर दिया गया।

७ जुलाई, १७६३ को अंग्रेजों ने अशक्त एवं अयोग्य मीर जाफर को पुन: बंगाल का नवाब बनाकर उससे महत्वपूर्ण अधिकार तथा बड़ी धनराशि प्राप्त की। ५ फरवरी, १७६५ को ७४ वर्ष की आयु में मीर जाफर का देहांत हो गया। उसकी सूबेदारी बंगाल के लिये घातक बनी। शासन अव्यवस्थित हो गया। व्यापार तथा उद्योग धंधे नष्ट होने लगे। बंगाल से अर्थनिस्सरण होने लगा। इस बहुमुखी शोषण से बंगाल के ह्रास का युग प्रारंभ हुआ। [ही० ला० गु०]

मीर जुमला औरंगजेब के सर्वश्रेष्ठ सेनापतियों में से था। उसे बंगाल का गवर्नर बनाया गया। इस समय पूर्वीय सीमा पर मंगोलों के वंशज अहोम लोग बड़ा ऊधम मचाए हुए थे। इन लोगों ने १३वीं शताब्दी में बर्मा से आकर ब्रह्मपुत्र की घाटी का कुछ भाग अपने अधिकार में कर लिया था। शनै: शनै: इन्होंने अपने राज्य को काफी विस्तृत कर लिया। सन् १६३१ में शाहजहाँ से अहोम लोगों ने एक संधि कर ली थी, पर उसकी मृत्यु के बाद जब उत्तराधिकार के लिये युद्ध छिड़ गया तो अहोम लोगों ने सन् १६५८ में आक्रमण करके गौहाटी पर अधिकार कर लिया, बहुत सी संपत्ति लूट ली तथा कई तोपें एवं घोड़े आदि अपने कब्जे में कर लिए। क्रुद्ध होकर नवंबर, १६६१ में मीर जुमला अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित एक शक्तिशाली सेना लेकर आक्रमणकारियों को दंडित करने के लिये ढाका से चल पड़ा। रास्ते में आसाम तक कूचबिहार पर आक्रमण करके उसपर विजय प्राप्त करता हुआ वह मार्च, १६६२ में राज्य की राजधानी गढ़गाँव पहुँच गया। अहोम लोग अपने नृपति जयध्वज के साथ राजधानी छोड़कर भाग खड़े हुए। मीर जुमला के शाही सैनिकों ने राजधानी को लूटकर विशाल धन संपत्ति प्राप्त की।

गढ़गाँव की जलवायु मुगल सेना के सर्वथा प्रतिकूल थी। अन्य सैनिकों के साथ मीर जुमला को भी कष्ट झेलने पड़े। गढ़गाँव पर अधिकार करने के शीघ्र बाद ही वर्षा ऋतु प्रारंभ हो गई। इससे जलवायु और भी कष्टदायक हो गई। चिकित्सा तथा रसद का उचित प्रबंध न होने के कारण मुगल सेना में बीमारियाँ फैल गईं और सैनिक भूखों मरने लगे।

मुगल सेना की इस दुर्दशा से लाभ उठाकर अहोम लोगों ने पुन: वापस लौटकर शत्रुओं को छकाना शुरू कर दिया। इन सब कष्टों से मीर जुमला हतोत्साह नहीं हुआ। वह वर्षा के समाप्त होने की प्रतीक्षा करता रहा। वर्षा समाप्त होते ही उसने अहोम लोगों पर पुन: आक्रमण कर दिया। विवश होकर जयध्वज ने मुगलों से संधि कर ली। इस संधि के द्वारा मुगलों को गजबाहुल्यवाले दारंग प्रांत का अधिकांश मिल गया। इसके अतिरिक्त मीर को हर्जाने के रूप में एक बड़ी धनराशि मिली। इस युद्ध के संबंध में कई सैनिकों की जानें गईं और सारी सेना को बेहद कष्ट उठाना पड़ा। ढाका लौटते समय मार्ग में ३० मार्च, १६६३ को मीर जुमला की मृत्यु हो गई। [मि० चं० पां०]

मीर मदन यह बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला की सेना का एक वीर सेनापति था। सन् १७५७ में जब अंग्रेजों का प्लासी के मैदान में नवाब सिराजुद्दौला से युद्ध हुआ उस समय नवाब के सेनापतियों ने उसे धोखा दे दिया। एक फ्रांसीसी सैनिक अफ़सर सेंट फ्राई तथा मोहनलाल के साथ केवल मीर मदन ही निष्कपट भाव से रणक्षेत्र में डटा रहा और बड़ी वीरता से लड़ा। मीर मदन तथा मोहनलाल की सैनिक टुकड़ियाँ अंग्रेजों के छक्के छुड़ा रही थीं। इसी समय दुर्भाग्यवश एक गोली लगने से मीर मदन की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से नवाब बौखला गया। वह इतना हताश हो गया कि उसने कपटी मीर जाफर की सलाह मान ली और उसका स्वयं अंत हो गया। [मि० चं० पां०]

मीरा (मीराँ) इस नाम से सात व्यक्ति प्रसिद्ध हैं। (१) राजस्थान की राजरानी मीरा सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त हुईं। मेड़ता का राठौड़ वंश इनका पितृकुल तथा चित्तौड़ का सिसोदिया राजवंश इनका श्वसुर कुल था। कर्नल टॉड ने इनको रावदूदा की पुत्री तथा राणा कुंभ की रानी माना है। स्व० देवीप्रसाद मुंसिफ के मतानुसार मीरा राव दूदा के द्वितीय पुत्र रत्नसिंह की एक मात्र संतान थीं। इनका विवाह

राणा साँगा के युवराज भोजराज से हुआ था जिनकी मृत्यु संभवत: कानवा के युद्ध में हुई।

इनके जन्म तथा मृत्यु को लेकर कई मत हैं। एक मतानुसार विक्रम की चौदहवीं शताब्दी मीरा का जीवनकाल है। अन्य मतानुसार इनका जन्म सं० १५५५ में मेड़ते मे, विवाह १५७३, वैधव्य १५८३, तथा मृत्यु वि० सं० १६०३ में द्वारिका में हुई। अन्य एक मत इनका जन्मकाल १५६१, कुड़की मे, विवाह १५७५, वैधव्य तथा मृत्यु १६२०-३० के बीच किसी समय मानता है।

मीरा के माता पिता तथा अन्य पारिवारिक संबंधों को लेकर भी पर्याप्त मतभेद है। उपलब्ध पदों में 'माई', 'ननद', 'ऊदा बाई' राणा और गुरु रैदास की बारंबार चर्चा है। मान्य इतिवृत्त के आधार पर इन विभिन्न संबंधों पर कोई समीचीन प्रकाश नहीं पड़ता।

१ नरसी जो रो माहिरो — (माहिरा, मायरा) (वि० सं० १६००)। यह रूणीजा गाँव, गोलमंडी के रामानुजी साधु मीरादास की रचना है।

२ गीत गोविंद की टीका — (अप्राप्य)।

३ फुटकर पद — इनकी प्रामाणिकता निर्विवाद नहीं। ये दो मोटे भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। प्रथमत: वे पद जिनमें मीरां के जीवन का वर्णन है। दूसरे वे जो साधना से संबंधित हैं। इन पदों पर नाथ पंथ, संत मत, तथा पौराणिक परंपरानुमोदित वैष्णव मत का प्रभाव है। नाथ पंथ से प्रभावित पदों में कृष्ण नाथ जोगी [illegible] वर्णित हैं। सेली, नाद, बघुवो आदि की चर्चा के अतिरिक्त कुछ पदो मे 'सुर', 'निरत', 'त्रिकुटी महल' आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

लोकप्रिय होने से इन पदों का प्रचार देश भर में हुआ। फलत: इनपर कई भाषाओ का प्रभाव है। इनमे अनेक गुजराती और ब्रजभाषा मे, कुछ राजस्थानी में और कुछ पंजाबी, अवधी, मैथिली आदि मे भी हैं किंतु ये स्वतंत्र न होकर अन्य पदों के भाषांतर ही हैं।

वैष्णव-प्रभाव-द्योतक कुछ पदों में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है. अधिकांश पदों मे आराध्य के प्रति अनन्य समर्पण, विरह-जनित वेदना और मिलनजनित आनंद आदि भावों की गंभीर अभिव्यक्ति हुई है। संपूर्ण उपलब्ध पदावली एक आर्त स्वरलहरी से अनवरत गुंजरित है, 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' ही उसकी टेक है—यह वैशिष्ट्य ही मीरा का व्यक्तित्व है।

अन्य मीराएँ ये हैं—(१) बाँसवाड़े के पास किसी गाँव की निवासिनी। (२) मारवाड़ नरेश राव मालदेव (वि० सं० १५६८-१६१६ जीवनकाल) की तेरह पुत्रियों में से एक, (४) वृंदावन में राधा मोहन मंदिर के स्थान पर रहनेवाले गोस्वामी तुलसीदास की पुत्री जो कृष्णप्रेम के कारण आजन्म कुँवारी रही।

[प० श०]

गुजराती रचनाएँ—मीरा को नरसी के समकक्ष रखकर 'नरसिंह मीरा युग' की कल्पना करनेवाले गुजराती इतिहास के आगे दो मुख्य आधार थे। एक यह कि गुजराती भाषा में मीरा के बहुसंख्यक पद प्राप्त होते हैं तथा दूसरा यह कि गुजरात में भक्तिभावना के प्रसार की दृष्टि से नरसी के अतिरिक्त यदि कोई अन्य व्यक्तित्व महत्वपूर्ण है तो वह मीरा का ही है। वास्तव मे मीरा पर राजस्थान, मध्यदेश और गुजरात तीनों का समान अधिकार है क्योंकि उनका जन्म राजस्थान में, दीक्षा मध्यप्रदेश में और देहावसान गुजरात में हुआ तथा उनके पद राजस्थानी, ब्रजभाषा और गुजराती तीनों मे ही उपलब्ध होते हैं। कुछ पद ऐसे भी हैं जो भाषाभेद के साथ उक्त तीनों क्षेत्रों मे प्राय समान रूप से प्रचलित हैं; और जिनके विषय में अंतिम रूप से यह निर्णय करना कठिन है कि मूलत: उनकी रचना किस भाषा मे हुई। द्वारका मे मीरा के जीवनकाल का पिछला अंश व्यतीत हुआ अतएव मीरा द्वारा गुजराती पदों की रचना तथा गुजरात मे उनकी लोकप्रियता इसी समय विशेष संभावित प्रतीत होती है। लोकप्रिय कवि की रचनाओं में प्रक्षेप और परिवर्तन की भी पर्याप्त संभावना रहती है और मीरा के गुजराती पदो को इससे परे नहीं माना जा सकता।

मीरा के समस्त गुजराती पद 'बृहत् काव्य दोहन' भाग १, २, ५, ६ और ७ में संकलित हैं। 'सत्य भामानु रूसणुं' नामक एक रचना भी प्राप्त होती है पर यह कोई विस्तृत कृति न होकर बीस कड़ियों का एक पद मात्र है। इन पदों की संख्या १६० है। 'सेलेक्शन्स फ्रॉम क्लैसिकल गुजराती लिटरेचर' मे जो १०६ पद प्रकाशित हैं वे उक्त पदों में से ही संगृहीत हैं। 'प्राचीन काव्यसुधा', भाग ४ में अनेक पद छपे हैं जिनका अंतर्भाव प्राय. निर्दिष्ट पदों मे हो जाता है। सभी पद गुजराती लिपि मे छपे हैं पर ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि इनमे गुजराती भाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली और ब्रजभाषा के भी कुछ पद हैं तथा बहुत से पदो की भाषा मिश्रित कही जा सकती है। पदों का शीर्षक 'कृष्ण कीर्तन' दिया गया है। 'मीरा स्मृति ग्रंथ' में मीरा के राजस्थानी पद तथा 'मीरा की पदावली' में हिंदी के पद प्रकाशित हैं।

मीरा की कृष्णभक्ति संपूर्ण कृष्णसाहित्य में अपना विशिष्ट एवं स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। उसमें पुष्टिमार्गीय पद्धति के लीला भाव के स्थान पर वैयक्तिक मधुर संबंध की कल्पना से संपन्न उत्कट प्रेमानुभूति उपलब्ध है। चैतन्य और रामानंद की भक्ति परंपरा से प्रभावित होकर भी उसकी विशिष्टता सर्वथा अकुंठित दिखाई देती है। मिलन और विरह सूक्ष्म एवं तीव्र अनुभूतियों की स्त्री-सुलभ भाव भंगिमाओं के साथ जैसी सहज अभिव्यक्ति मीरा के पदों में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण काव्य की स्थूल शृंगारिकता एवं विलास का उसमें आभास भी नही है। केवल मर्मस्पर्शी रागात्मिका वृत्ति का ही उत्कृष्ट भक्तिमय परिविस्तार मिलता है। [ज० गु०]

मुंकासी माइकेल वान (Munkacsy Michel Von) हंगरी का चित्रकार, जन्म मुंकास (अब चेकोस्लोवाकिया मे) २० फरवरी, १८४४ को हुआ था। प्रारंभ में बढ़ईगिरी के काम मे लगा। १८६७ मे पेरिस गया और वहीं अंतिम रूप से बस गया। 'मिल्टन द्वारा अपनी पुत्रियों से पैराडाइज लास्ट लिखवाना', 'हंगरी के कैदी' आदि इसके प्रसिद्ध चित्र हैं। [गु० त्रि०]

मुंगेर १. जिला, स्थिति : २४° २२' से २५° ४६' तथा ८५° ३६' ८६° ५१' पू० दे०। यह भारत के बिहार राज्य का जिला है जिसका

क्षेत्रफल १,९७१ वर्ग मील तथा जनसंख्या ११,८७,०८२ (१९६१) है। इसके उत्तर में दरभंगा एवं सहरसा, पूर्व में भागलपुर एवं संताल परगना, दक्षिण में हजारीबाग तथा पश्चिम में गया एवं पटना जिले हैं। गंगा नदी इसे दो भागों में विभाजित करती है। उत्तर में बूढ़ी गंडक नदी का उपजाऊ मैदान है। दक्षिण का भाग पहाड़ियों के कारण असम है। जिले की मुख्य उपज धान है, पर तंबाकू, गेहूँ, चना, जौ, मक्का तथा पोस्ता भी उगाया जाता है। अभ्रक, फेल्सपार, स्लेट तथा लोहा आदि खनिज यहाँ मिलते हैं। सूत कातने, कंबल बुनने, साबुन, नाव तथा औजार बनाने का काम होता है। जमालपुर में रेलवे वर्कशाप है।

२. नगर, स्थिति : २५° २३' उ० अ० तथा ८६° २८' पू० दे०। यह मुंगेर जिले का शासन का केंद्र है, जो गंगा के दक्षिणी किनारे पर स्थित है। इसका आदिनाम संभवतः मुनिगृह था। इसकी जनसंख्या ८६,७९९ (१९६१) है। [र० चं० दु०]

मुंज, वाक्पतिराज ९वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के आरंभ तक मालव पर परमार वंश के राजाओं का राज था, जिनकी राजधानी धारा थी। मुंज इसी वंश का सातवाँ राजा था। वह राजा सीयक द्वितीय का पुत्र था और उसकी वाक्पति और उत्पल नाम से भी प्रसिद्धि थी। ९७२ ई० में राज्यारूढ़ होने के बाद ही अपने राज्य का विस्तार करने के लिये उसने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध बड़े सैनिक अभियान किए। पहले उसने अपने पूर्वी पड़ोसी अर्थात् डाहल के कलचुरियों पर हमला किया, जिनकी राजधानी त्रिपुरी थी। इस चढ़ाई में उसने कलचुरि राजा युवराज द्वितीय को हटाया और कुछ समय के लिये राजधानी पर अधिकार जमा लिया। पश्चिमोत्तर में मुंज ने मेवाड़ के गुहिलवंशीय राजा शक्तिकुमार को हराया और अपने राज्य की सीमा और भी उत्तर तक बढ़ाई। नड्डूल (नाडोल) के चाहमान बलिराज से उसने आबू पर्वत और दक्षिण मारवाड़ प्रदेश छीन लिए, किंतु राजधानी पर कब्जा करने का उनका प्रयास बलिराज ने विफल कर दिया। इसी समय वाक्पति ने एक हूण राजा को हराया, जिसका राज्य मालव के पश्चिमोत्तर में पड़ता था। राजपूताना में सैनिक अभियान के बाद मुंज ने गुजरात पर चढ़ाई की और वहाँ के राजा चालुक्य मूलराज प्रथम को पराजित किया। स्थिति प्रतिकूल देखकर चालुक्य मूलराज अपने राज्य से भाग गया। उसने हस्तिकुंडी के धवल की शरण ली। इस अवसर पर मुंज ने लाट प्रदेश अर्थात् दक्षिणी गुजरात पर हमला किया और वहाँ के राजा चौलुक्य बारप्प को हराया। इन सब जीतों से मुंज बहुत बड़े क्षेत्र का स्वामी बन गया किंतु दक्षिणी मारवाड़ को छोड़कर शेष प्रदेश अधिक दिनों तक उसके हाथ में नहीं रह सके। मुंज अपना बड़ा साम्राज्य इस कारण न स्थापित कर सका कि उसे बार बार दक्षिण के चालुक्य वंशीय राजा तैलप द्वितीय के आक्रमणों का सामना करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ रही थी। कहा जाता है, मुंज ने छह बार तैलप के आक्रमण विफल कर दिए, किंतु सातवीं बार वह पराजित हो गया और शत्रु द्वारा बंदी बना लिया गया। चालुक्य राजधानी कल्याणी की जेल से, जहाँ उसे बंद रखा गया था, उसने भाग निकलने की कोशिश की, किंतु पकड़ लिया गया और इसके लिये उसे बहुत अपमान सहन करने पड़े। कहा जाता है, प्रति दिन उसे लोहे के कटघरे में बंद करके दरवाजे दरवाजे घुमाया जाता था और भीख माँग कर उसे अपनी क्षुधा शांत करनी पड़ती थी। इतना होने पर भी तैलप द्वितीय को उसे बहुत दिनों तक बंदी रखना निरापद नहीं प्रतीत हुआ। उसने ९९७ में मुंज को फाँसी दे दी। अपने समय के एक सबसे बड़े रणकुशल योद्धा मुंज की दु:खद परिस्थितियों में मृत्यु होने से पश्चिम भारत की जनता बहुत दिनों तक शोक-संतप्त रही। इस घटना के संबंध में गाथाएँ चल पड़ीं, जिनका जैन मुनि मेरुतुंग ने तेरहवीं शताब्दी में अपनी कृति प्रबंधचिंतामणि में बहुत करुण और भावुकतापूर्ण वर्णन किया।

मुंज महायोद्धा ही नहीं, बहुत प्रसिद्ध कवि भी था। उसने अनेक बड़े विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया, जिनमें धनंजय भट्ट, हलायुध, धनिक, धनपाल, शोभन, पद्मगुप्त, परिमल आदि के नाम प्रमुख हैं। मंदिरों के निर्माण द्वारा उसने मालव की सौंदर्य-वृद्धि की। [धी० च० गा०]

मुंट्ज, ऐचिल चार्ल्स (सन् १८४८-१९१७) फरासीसी कृषि रसायनज्ञ थे। इन्होंने श्लोएसिंग (Schloesing) के साथ जल की परिष्करण विधियों की खोज करते समय यह पाया कि गंदे जल में अमोनिया बनता और नाइट्रेट में परिवर्तित होता रहता है। इन्होंने सिद्ध किया कि यह संपूर्ण क्रिया जीवाणविक है तथा नाइट्रीकरण में नाइट्राइट और नाइट्रेट दोनों बनते हैं। मिट्टी में यह क्रिया चूने की मात्रा तथा पीएच पर निर्भर करती है। मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों के ऑक्सीकरण से संबंधित कुछ प्रयोग भी इन्होंने किए। [शि० मो० मि०]

मुंडकोपनिषद् मुंडकोपनिषद् दो दो खंडों के तीन मुंडकों में, अथर्ववेद के मंत्रभाग के अंतर्गत, अद्वैत वेदांत तथा संन्यास निष्ठा का प्रतिपादक है।

इसके अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, अथर्वा, अंगी, सत्यवह और अंगिरा की ब्रह्मविद्या की आचार्य परंपरा थी। शौनक की इस जिज्ञासा के समाधान में कि 'किस तत्व के जान लेने से सब कुछ अवगत हो जाता है' अंगिरा ऋषि ने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जिसमें उन्होंने विद्या के परा और अपरा भेद करके वेद वेदांग को अपरा तथा उस ज्ञान को पराविद्या नाम दिया जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है (१. १. ४.५)।

अपरा विद्या — विहित यज्ञ यागादि के फलस्वरूप स्वर्गादि दिव्य किंतु अनित्य लोक सधते हैं परंतु कर्मफल का भोग समाप्त होते ही मनुष्य अथवा हीनतर योनि में जीव जरामरण के चक्कर में पड़ता है (१. १.७—१०)। कर्मफल की नश्वरता देखते हुए संसार से विरक्त हो ब्रह्मनिष्ठ गुरु से दीक्षा लेकर संन्यासनिष्ठा द्वारा ब्रह्मोपलब्धि ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है (१. २—११.१२)।

ब्रह्म 'भूतयोनि' है अर्थात् उसी से प्राणिमात्र उत्पन्न होते और उसी में लीन होते हैं। यह क्रिया किसी ब्रह्मबाह्य तत्व से नहीं होती, बल्कि जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपने में से ही जाले को

निकालती और निगलती है, जैसे पृथिवी में से ओषधियाँ और शरीर से केश और लोम निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से विश्वसृष्टि होती है। अपने अनिर्वचनीय ज्ञानरूपी तप से वह किंचित् स्थूल हो जाता है जिससे अन्न, प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म, कर्मफल, हिरण्यगर्भ, नामरूप, इंद्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और पृथिवी इत्यादि उत्पन्न होते हैं (१. १. ६—६, २. १. ३)। प्रदीप्त अग्नि से उसीके स्वरूप की अनगिनत चिनगारियों की तरह सृष्टि के अशेष भाव ब्रह्म ही से निकलते हैं। यथार्थतः संसार पुरुष (ब्रह्म) का व्यक्त रूप है (२. १. १, २. १. १०)।

ब्रह्म का सच्चा स्वरूप अव्यक्त और अचिंत्य है। आँख, कान इत्यादि ज्ञानेंद्रियों और हाथ पाँव इत्यादि कर्मेंद्रियों, तथा मन और प्राण इत्यादि से रहित वह अज, अनादि, नित्य, विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, दिव्य और वर्णनातीत है (१. १.६, २. १.२)। तथापि सत् और असत्, दूर से दूर, समीप से समीप, हृदय में अवस्थित महान् और सूक्ष्म, गतिशील और सप्राणोन्मेष इत्यादि उसके सगुण निर्गुण स्वरूप का वर्णन भी बहुधा हुआ है (२. २.१, ३. १.७)।

ब्रह्म को कोरे ज्ञान अथवा पांडित्य से, तीव्र इंद्रियों, मेधा, अथवा कर्म से नहीं पा सकते, कामनाओं का त्याग, निष्ठारूपी बल, सत्य, ब्रह्मचर्य, मन और इंद्रियों की एकाग्रता रूपी तप, अनासक्ति और सम्यक् ज्ञान इत्यादि उपायों से मनोविकारों के नष्ट हो जाने पर बुद्धि शुद्ध हो जाती है जिससे ध्यानावस्था में परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है (३.२—२.३.४, ३.१, ५.८)। इसके निमित्त उपनिषदों के महान् अस्त्र प्रणवरूपी धनुष पर उपासना से प्रखर किए आत्मारूपी बाण से तन्मय होकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य को बेधने की साधना का निर्देश है (२. २. ३.४)। इससे जीवात्मा और परमात्मा के अभेद का अनुभवात्मक ज्ञान हो जाता है; हृदय की गाँठ खुल जाती, सब संशय मिट जाते और पुण्य और पाप के बंधन से मुक्ति मिल जाती है (२.२.८) एवं मरण काल में आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। इस 'एकीभाव' का स्वरूप बहती हुई नदियों का समुद्र में मिलने पर नामरूप मिटकर एकरसता प्राप्त होने के समान है (३.२.७.८)।

द्वैतवादी 'एक ही वृक्ष पर सटे बैठे दो पक्षी मित्रों में एक पीपल के मीठे मीठे गोदे खाता और दूसरा ताकता मात्र है' (३. १. १)। मंत्र में कर्म-फल-भोक्ता आत्मा तथा ब्रह्म का भासमान भेद लेकर दोनों को स्वरूपतः भिन्न मानते हैं, परंतु अनुवर्ती तथा दूसरे मंत्रों एवं उपसंहारात्मक 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (३. १.२. ३, ३. २. ७—६) वाक्य से ब्रह्मात्मैक्य इस उपनिषद् का सिद्धांत निष्पन्न होता है। [चं० त्रि०]

मुंशी सदासुखलाल खड़ी बोली के प्रारंभिक गद्यलेखकों में मुंशी सदासुखलाल का ऐतिहासिक महत्व है। फारसी एवं उर्दू के लेखक और कवि होते हुए भी इन्होंने तत्कालीन शिष्ट लोगों के व्यवहार की भाषा को अपने गद्य-लेखन-कार्य के लिये अपनाया। इस भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करके भाषा के जिस रूप को इन्होंने उपस्थित किया, उसमें खड़ी बोली के भावी साहित्यिक रूप का आभास मिलता है। अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त इन्होंने उस गद्य परंपरा का अनुसरण किया जो रामप्रसाद 'निरंजनी' तथा दौलतराम से चली आ रही थी। खड़ी बोली का यह रूप 'भाखा' नाम से संबोधित किया जाता था। इसके प्रति इनका अगाध स्नेह था। इसीलिये फारसी मिश्रित गद्य की प्रतिष्ठा होते हुए देख इन्होंने खेद प्रकट करते हुए लिखा था 'रस्मोरिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया'। लल्लूलाल तथा सदल मिश्र ने अंग्रेजों की अधीनता में फोर्ट विलियम कालेज में गद्यरचना की। इनकी तथा मुंशी इंशाअल्ला खाँ की स्वतंत्र रूप से 'स्वांतःसुखाय' गद्य-रचना थी। इन चारों प्रारंभिक गद्यलेखकों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषा के रूपों की भरमार है। पद्यमय वाक्यविन्यास और तुकबंदियाँ होने के कारण वह व्यवहारानुकूल और संबद्ध विचारों को व्यक्त करने में यथेष्ट सक्षम नहीं है। यद्यपि मुंशी इंशाउल्ला खाँ ने 'हिंदवी छुट किसी बोली का पुट न रहे' के अपने कथनानुसार हिंदी के अतिरिक्त किसी भाषा का पुट न रखने का निश्चय किया था, फिर भी अपने लेखनकौशल के प्रदर्शन की धुन में चुलबुली भाषा में उर्दू के ढंग का वाक्यविन्यास रखने और सानुप्रास विराम की छटा दिखाने के लोभ का वे त्याग न कर सके। अतः इन चारों प्रारंभिक गद्य-लेखकों में व्यवहारानुकूल गद्य लिखने का प्रयास सदासुखलाल तथा सदल मिश्र में ही दृष्टिगोचर होता है। परंतु इन दोनों गद्यलेखकों में कुछ ऐसे दोष रह गए थे जिनसे इनकी गद्यपरंपरा का आगे अनुसरण न किया जा सका तथा इनका गद्य, गद्य साहित्य के इतिहास में ऐतिहासिक उल्लेख मात्र करने के लिये रह गया।

मुंशी सदासुखलाल की भाषा शिष्ट होते हुए भी पंडिताऊपन लिए हुए थी। उसमें 'जो है सो है' 'निज रूप में लय हूजिये' 'बहुत जाधा चूक हुई' 'स्वभाव करके वैश्य कहाए' 'उन्हीं लोगों से बन आवे है' जैसे रूपों का बाहुल्य है। इसी प्रकार सदल मिश्र की भाषा में पूर्वीपन है (दे० सदल मिश्र)।

दिल्ली निवासी मुंशी सदासुखलाल सरल स्वभाव के हरिभक्त थे। सन् १७९३ के लगभग ये कंपनी सरकार की नौकरी में चुनार के तहसीलदार थे। बाद में नौकरी छोड़कर प्रयाग निवासी हो गए और अपना समय कथा वार्ता एवं हरिचर्चा में व्यतीत करने लगे। आपने श्रीमद्भागवद् का अनुवाद 'सुखसागर' नाम से किया। अपनी रचना 'मुंतखबुत्तवारीख' में अपना जीवनवृत्तांत लिखा है। इनका जन्म सन् १७४६ में तथा देहावसान ७८ वर्ष की आयु में सन् १८२४ में हुआ। [र० श० श०]

मुकुल भट्ट कश्मीर के प्रथितयश विद्वान् एवं सिद्ध आचार्य कल्लट के पुत्र। राजतरंगिणी के अनुसार भट्ट कल्लट कश्मीर नरेश अवंतिवर्मा के शासनकाल में वर्तमान थे। अवंतिवर्मा का समय सन् ८५७-८८४ ई० मान्य है अतः मुकुल भट्ट का समय नवीं शताब्दी का अंतिम चरण और दसवीं का प्रारंभ मान्य होता है। मुकुल भट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' नाम का ग्रंथ लिखा है जिसमें कुल १५ कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओं पर विस्तृत वृत्ति भी मुकुल भट्ट ने ही लिखी है। इस छोटे किंतु महत्वपूर्ण ग्रंथ में वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) और लक्ष्यार्थ का तथा अभिधा और लक्षणा मात्र का निरूपण किया गया है। यह निरूपण विस्तृत एवं समीक्षात्मक है। अभिनव भारती में

भी मुकुल भट्ट की कारिकाएँ उद्धृत हैं। काव्यप्रकाश में भी यत्र तत्र मुकुल भट्ट के विचार पूर्व पक्ष के रूप मे उद्धृत किए गए हैं। उद्भटाचार्य के 'काव्यालंकार सारसंग्रह' पर 'लघुवृत्ति' व्याख्याकार प्रतिहारेंदुराज या इंदुराज ने अपनी व्याख्या के अंतिम पद्य में अपने आचार्य के रूप मे मुकुल भट्ट का गौरव के साथ उल्लेख किया है। यह प्रतिहारेंदुराज कोंकण निवासी था। मुकुल भट्ट द्वारा रचित अन्य कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, फिर भी इस छोटे से ग्रंथ 'अभिधावृत्तिमातृका' द्वारा साहित्य क्षेत्र में उनका नाम उल्लेखनीय एवं समादरणीय आचार्यों मे परिगणित है। [वि० ना० त्रि०]

मुक्त सागर शब्द का प्रयोग उस विवृत समुद्र के लिये किया जाता है जो विश्व के अधिकतर भाग में विस्तृत (तरंगित) है। इस विवृत सामुद्रिक जल से समुद्र के उन भागो को विलग समझा जाता है जिन्हें अंतरराष्ट्रीय विधि में सामुद्रिक पट्टी (maritime belt), जलडमरूमध्य एवं खाड़ी कहा जाता है, जो वास्तव में समुद्र का अंग तो अवश्य है किंतु मुक्त सागर का अंग नहीं। अतः विश्व के प्रत्येक भाग का नमकीन सिंधुजल जो सब राष्ट्रों की नौकाओं एवं जलपोतों द्वारा स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हो सकता है, वह मुक्त सागर है। उदाहरणार्थ अटलांटिक महासमुद्र, प्रशांत महासागर, हिंद महासागर, आर्कटिक एवं एंटार्कटिक महासागर आदि। किंतु यदि यह नमकीन सिंधुजल किसी एक अथवा एक से अधिक तटीय राष्ट्र की सीमाओं से घिरा हो तो वह साधारणतया मुक्त सागर न कहलाएगा, उदाहरणार्थ अरल सागर मुक्त सागर नहीं अपितु सोवियट राष्ट्र भूमि क्षेत्र मे होने के नाते सोवियट राष्ट्र भूमि का अंग है और रूसी क्षेत्राधिकार में है। इस संदर्भ में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि विश्व के बहुत से सिंधु जल ऐसे भी हैं जिनके बारे मे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे मुक्त सागर के भाग हैं अथवा क्षेत्रीय जल के, जैसे बाल्टिक सागर, श्वेत सागर, मेडीटेरेनियन सागर आदि आदि।

अंतरराष्ट्रीय विधि के अंतर्गत मुक्त सागर की स्वतंत्रता अथवा उन्मुक्तता से अभिप्राय यह है कि विवृत समुद्र किसी भी एक राष्ट्र अथवा राज्य की प्रभुसत्ता के अधीन किसी भी अर्थ अथवा अंश में नहीं हो सकता। स्पष्टतया मुक्त सागर किसी भी राष्ट्र के क्षेत्राधिकार में नहीं होता अतः किसी भी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह मुक्त सागर के लिये अपना विधान, प्रशासन या पुलिस प्रणाली लागू कर सके। यह भी अधिकार किसी राज्य को नहीं कि वह मुक्त सागर के थोड़े भाग पर भी आधिपत्य स्थापित कर सके। उपर्युक्त विशेषताओं के विद्यमान होने के कारण रोमन विधि में मुक्त सागर के लिये रेस एक्स्ट्रा कमरशियम (res extra commercium) तथा अंग्रेजी भाषा मे ओपेन सी (open sea) या हाई सी (high sea) शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

मुक्त सागर की उन्मुक्तता (स्वतंत्रता) से यह निष्कर्ष संगत न होगा कि यदि मुक्त सागर पर किसी राज्य का प्रभुत्व नहीं है तो वहाँ अराजकता का साम्राज्य है। किसी राष्ट्रविशेष की अनधिकृत चेष्टाओं या असंगत महत्वाकांक्षाओं को संयमित करने के लिये एवं अराजकता की संभावना को दृष्टि में रखते हुए मुक्त सागर को अंतरराष्ट्रीय विधि का महत्वपूर्ण विषय माना गया है। १९३० ईसवी के हेग संहिताकरण संमेलन में मुक्त सागर संबंधी नियमों को भी संहित किया गया। तत्संबंधी नियमों और उपनियमों को विस्तृत रूप कन्वेंशन ऑन हाई सीज, (Convention on High seas) जेनेवा में २९ अप्रैल, १९५८ को दिया गया।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में नौवाहन अधिकार पर कोई सीमाएँ न थी। किंतु १५ वीं एवं १६ वीं शताब्दियों मे महत्वपूर्ण सामुद्रिक अन्वेषणों के परिणामस्वरूप सामुद्रिक शक्ति से परिपूर्ण राज्यों ने मुक्त सागर के कई अंशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना आरंभ कर दिया। उदाहरण के रूप मे स्पेन ने प्रशांत महासागर एवं मेक्सिको की खाड़ी पर, ग्रेट ब्रिटेन ने नेरो समुद्र तथा नॉर्थ सागर पर और पुर्तगाल ने हिंद महासागर पर अपना प्रभुत्व प्रतिपादित किया। अंतरराष्ट्रीय विधि के प्रकांड पंडित ग्रोशियस ने इन दावों का प्रतिभापूर्ण शब्दों मे खंडन किया। उनकी आपत्तियाँ निम्नलिखित दो सिद्धांतों पर आधारित थी —

(१) विवृत सागर किसी भी राष्ट्रविशेष की संपदा नहीं हो सकता क्योंकि किसी राष्ट्र मे यह क्षमता नहीं कि वह समुद्र को वास्तविक रूप में अधिकृत कर सके;

(२) प्रकृति किसी को भी इस विशेषाधिकार से सुसज्जित नहीं करती कि वह उन वस्तुओं को भी अपना सके जो सर्वप्रयोगार्थ एवं अनंत हैं।

ग्रोशियस के विचारों का स्थायी प्रभाव विधिविशेषज्ञों एवं विद्वानों पर पड़ा। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक रूप मे पारस्परिक हितों को ध्यान मे रखते हुए राष्ट्रों को भी यह सिद्धांत उपयोगी सिद्ध हुआ। फलस्वरूप नियमित रूप से मुक्त सागर की स्वतंत्रता का सिद्धांत विकसित हो चला।

वर्तमान काल में मुक्त सागर की स्वतंत्रता के निम्नलिखित आशय हैं —

(१) मुक्त सागर किसी राज्यविशेष की प्रभुसत्ता के अधीनस्थ नहीं हो सकता;

(२) सब राष्ट्रों को पूर्णरूपेण मुक्त सागर मे नौवाहन संचरण का अधिकार है। इससे कोई अंतर नहीं कि वे पोत युद्धपोत हैं, अथवा वाणिज्यपोत अथवा नागरिक या सार्वजनिक पोत;

(३) साधारणतया किसी भी राष्ट्र को यह अधिकार नहीं कि वह किसी अन्य पोत पर जो उसकी पताका न लहराते हों अपना क्षेत्राधिकार मुक्त सागर मे उस पोत पर प्रतिपादित करे;

(४) कोई राष्ट्र साधारणतया उस जलयान पर क्षेत्राधिकार प्रतिपादित कर सकता है यदि वह जलयान ऐसी समुद्री पताका धारण किए हो जिसके कारण राष्ट्र को ऐसा अधिकार प्राप्त हो सके;

(५) हर राष्ट्र एवं उसके नागरिकों को यह अधिकार है कि वे मुक्त सागर में सबमेरीन तार तथा तैल की पाइपलाइन बिछा सके, मत्स्य उद्योग, वैज्ञानिक और तकनीकी प्रयोगों के लिये;

(६) प्रत्येक वायुयान को मुक्त सागर के ऊपर उड़ान करने की पूर्ण स्वतंत्रता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि युद्धकाल में मुक्त सागर की स्वतंत्रता

कुछ अंशों में नियमों द्वारा सीमित कर दी जाती है। फलत: युध्यमान राज्यों में कुछ विस्तार हो जाता है। उदाहरणार्थ युध्यमान राज्य को यह अधिकार है कि वह तटस्थ राज्यों के जलपोतों का निरीक्षण या खोज (तलाशी) कर सके इस आशय से कि वे विनिषिद्ध सामग्री ले जाकर तटस्थता के नियमों की अवहेलना तो नहीं कर रहे हैं।

यह उल्लेखनीय है कि मुक्त सागर विषय की महत्ता नित्यप्रति नूतन वैज्ञानिक उपलब्धियों एवं अनुसंधानों के कारण बढ़ती जा रही है। बहुत से महत्वपूर्ण प्रश्न, जैसे समुद्रतल एवं महाद्वीपीय समुद्रतल से बहुमूल्य खनिज एव मोती निकालने का विषय, मुक्त सागर के नीचे की भूमि को मुक्त सागर के समकक्ष मानने का विषय एवं परिमाणुक व थर्मोन्यूक्लियर प्रयोगों से संबंधित समस्याएँ अंतरराष्ट्रीय विधिशास्त्रियों के समुख समाधानार्थ उपस्थित हैं। [अ० कु०]

मुक्ति (ईसाई दृष्टि से) बाइबिल के प्रारंभ मे लिखा है कि ईश्वर ने कहा था—'हम मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाएँ कि वह हमारे सदृश हो।' ईसाइयों का विश्वास है कि मनुष्य की सृष्टि इसीलिये हुई थी कि वह कुछ समय तक इस पृथ्वी पर रहकर अपने ईश्वर का सादृश्य विकसित करे और इसके बाद स्वर्ग में ईश्वर के परमानंद का भागी बन जाय। स्वभाव से मनुष्य परमानंद का भागीदार होने के योग्य नही है, इसलिये ईश्वर ने उसे एक आध्यात्मिक नवजीवन (सैक्टिफायिंग ग्रेस) भी प्रदान किया था। यह सब होते हुए भी प्रथम मनुष्य ने ईश्वर का यह विधान अस्वीकार किया (दे० आदि पाप) जिससे संसार में पाप का प्रवेश हुआ और मुक्ति का द्वार बंद हुआ।

मनुष्यों को पाप के भार से मुक्त करने के लिये ईश्वर ने अवतार लिया। मानव जाति का प्रतिनिधि बनकर ईसा ने सभी पापो का प्रायश्चित्त किया और अपने शिष्यो को दुनिया भर मे भेजकर आदेश दिया कि वे मुक्ति का समाचार फैलाएँ और विश्वासियो को पाप से छुटकारा तथा अभ्यंतर नवजीवन का वरदान प्राप्त करने का उपाय समझा दे (दे० बपतिस्मा, पापस्वीकरण)।

ईसाई पुनर्जन्म नही मानते। उनके लिये मुक्ति का अर्थ है पाप के बधनो से छुटकारा पाना और स्वर्ग मे ईश्वर के परमानंद का भागी बनना (दे० स्वर्ग)। यह तभी सभव है जब मनुष्य इस दुनिया मे रहकर अपने मे ईश्वर का सादृश्य सुरक्षित और विकसित करता है। अत. ईसाई मुक्ति को सारूप्य मुक्ति कहा जा सकता है। [का० बु०]

मुक्तिसेना (सैलवेशन आर्मी) के संस्थापक विलियम बूथ (सन् १८२९–१९१२ ई०) ऐंग्लिकन चर्च को छोड़कर मेथोडिस्ट पादरी बन गए। सन् १८६१ ई० में वह लंदन आकर निम्न वर्ग के लोगो मे सुसमाचार (गॉस्पेल) का प्रचार करने लगे और इस उद्देश्य से उन्होने 'दि क्रिस्चियन रिवाइवल सोसाइटी' की स्थापना की जिसे बाद में 'दि क्रिस्चियन मिशन' का नाम दिया गया। सन् १८७८ ई० मे दि क्रिस्चियन मिशन' का रजिस्ट्रेशन हुआ और बताया गया कि यह एक धार्मिक सस्था है जिसके सदस्य सुसमाचार का प्रचार करने का भार कर्तव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। सन् १८८० ई० में इस संस्था का 'मुक्तिसेना' नाम रखा गया। इस नाम का कारण यह है कि अंग्रेजी सेना के अनुकरण पर इसका गठन किया गया था। इसके सदस्य बाइबिल, ईसा के ईश्वरत्व आदि मुख्य ईसाई धर्मसिद्धांतों पर विश्वास करते हैं किंतु वे बपतिस्मा आदि ईसाई सस्कार अस्वीकार करते हैं। मुक्तिसेना का मुख्यालय लदन मे है किंतु उसके सदस्य लगभग ८५ देशों मे सामाजिक सेवा के विभिन्न कार्यों में लगे हुए हैं। उनकी कुल सदस्यता २० लाख बताई जाती है। [का० बु०]

मुखर्जी, राधाकुमुद (१८८९–१९६३) प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार, राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्र विशेषज्ञ। इनकी प्रारंभिक शिक्षा बरहमपुर (बगाल) मे हुई; तत्पश्चात् कलकत्ता प्रेसीडेंसी कॉलेज से एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९१५ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

इन्होंने शिक्षक जीवन कलकत्ता के रिपन कॉलेज तथा बिशप कॉलेज से आरभ किया जहाँ वे अंग्रेजी पढ़ाते थे। बाद में डॉ० मुखर्जी बनारस, मैसूर और लखनऊ विश्वविद्यालय मे प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा इतिहास के अध्यापक रहे।

बड़ोदा के गायकवाड़ ने इन्हे ७००० रुपए का पुरस्कार दिया था तथा 'इतिहासशिरोमणि' की उपाधि प्रदान की थी। इनके मित्रो ने इनके सम्मान मे 'राधाकुमुद लेक्चरशिप' शुरू की। सन् १९५४ मे डॉ० मुखर्जी ने मैसूर विश्वविद्यालय मे दीक्षात भाषण किया। भारत के अनेक विश्वविद्यालयो और अनुसधान सस्थाओं मे भी इन्होने प्राचीन भारतीय इतिहास तथा सस्कृति से सबधित भाषण किए।

सन् १९३९ और १९४० के बीच वे बगाल भूराजस्व आयोग के सदस्य रहे। सन् १९४६–४७ मे वे खाद्य और कृषि संगठन के उपक्रम आयोग की बैठक मे भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप मे वाशिंगटन गए। सन् १९५२ से १९५८ तक डॉ० मुखर्जी राज्यसभा के सदस्य भी रहे। भारत सरकार ने इन्हे पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित किया।

इन्होंने कई ग्रंथों का सपादन किया तथा अनेक शोधलेख लिखे। इनके प्रमुख ग्रंथ हैं—

१. ए हिस्ट्री ऑव इडियन शिपिंग, २. दि फ़ंडामेंटल यूनिटी ऑव इंडिया, ३. हिंदू सिविलिजेशन, ४. एशेंट इडियन एजुकेशन, ५. एशेंट इंडिया, ६. हर्ष; ७. अशोक, ८. गुप्त एपायर, ९. लोकल गवर्नमेंट इन एशेंट इंडिया, १०. मेन ऐंड थॉट इन एंशेंट इंडिया, ११. चंद्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज टाइम्स, १२. ग्लिम्प्सेज ऑव एंशेंट इंडिया, १३. नेशनलिज्म इन हिंदू कल्चर, १४. ए न्यू अप्रोच टु कम्यूनल प्रॉब्लेम और १५. अवर प्रोब्लेम्स इत्यादि। [बृ० मो० पा०]

मुखर्जी, श्यामाप्रसाद आप महान् शिक्षाशास्त्री, राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक तथा संघटनकर्ता थे। आप न केवल बंगाल के चोटी के नेता थे अपितु आपका स्थान देश के वरिष्ठ नेताओं की प्रथम पंक्ति मे रहा है। आपका दृढ़ विश्वास था कि जब तक भारत अपनी संस्कृति और सभ्यता की सुदृढ़ नीव पर खड़ा होकर बदलते हुए युग की आवश्यकताओं के अनुरूप समता, नैतिकता और प्रगति की दीपशिखा लेकर आगे नहीं बढ़ता, तब तक उसका भविष्य उज्वल नही होगा। आपका जन्म ६ जुलाई, सन् १९०१ ई० को हुआ। देश

के प्रख्यात शिक्षाशास्त्री श्री आशुतोष मुखर्जी के आप पुत्र थे। एम० ए० तथा बी० एल० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर आप इंग्लैंड गए और सन् १९२७ में वहाँ से बैरिस्टर होकर आए। कलकत्ता उच्च-न्यायालय में आपने कार्य प्रारंभ किया और अपनी प्रतिभा के कारण अल्प काल में ही प्रसिद्ध बैरिस्टर हो गए। सार्वजनिक कार्यक्षेत्र मे आपका पदार्पण बंगाल धारासभा के सदस्य निर्वाचित होने के समय (१९२९) से होता है। आप सन् १९३४ से '३८ तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर थे तथा सन् '४१ से '४२ तक बंगाल के अर्थमंत्री। सन् १९४६ में आप निर्विरोध केंद्रीय असेम्बली के सदस्य चुने गए। आप सन् १९४७ से १९५० तक भारत सरकार के उद्योग तथा पूर्ति मंत्री रहे। सन् १९५२ ई० में आप कांग्रेस के विपक्ष मे लोकसभा के सदस्य चुन लिए गए। आप परम देशभक्त रहे हैं और सार्वजनिक हित के लिये महान् त्याग तथा बलिदान की परंपरा स्थापित कर गए हैं। जैसा प्रभावशाली आपका व्यक्तित्व था, वैसी ही ओजस्वितापूर्ण आपकी वाणी थी। हिंदू धर्म तथा सभ्यता का आपको सहज अभिमान था और इस दिशा मे उपेक्षा की नीति आपको असहनीय थी। इसी प्रवृत्ति के कारण आप भारतीय कांग्रेस दल के कटु आलोचक थे। हिंदू महासभा के नेताओं मे आपका अग्रगण्य स्थान था किंतु इस दल मे भी संकीर्णता देखकर आपने २१ अक्टूबर, १९५१ ई० को भारतीय जनसंघ की स्थापना की जिसके सदस्य सभी जाति तथा धर्म के लोग हो सकते हैं। शक्तिशाली विरोधी दल की नीव आपने ही डाली।

सन् १९५२ मे आप भारतीय जनसंघ के प्रथम वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए और आपने देश के समक्ष राष्ट्रीय दृष्टिकोण, सुव्यवस्थित अर्थव्यवस्था, आध्यात्मिक पुनर्जागरण, पंचवर्षीय योजना, कश्मीर, पूर्वी बंगाल, सुसंघटित राष्ट्रजीवन तथा विश्वशांति संबंधी अपने महत्वपूर्ण विचार रखे। कश्मीर के भारतीय संघ मे एकीकरण के आप प्रबल समर्थक थे और इसी आंदोलन के सिलसिले में कश्मीर यात्रा के दौरान नजरबंदी की स्थिति मे २३ जून, १९५३ ई० को आपका निधन हो गया। [ल० श० व्या०]

मुखाकृति विज्ञान (Physiognomy) मनोविज्ञान और शरीर-क्रिया-विज्ञान से संबंधित विज्ञान की एक शाखा है। इस विज्ञान के अंतर्गत मानव की मुखाकृति और अभिव्यक्ति का अध्ययन किया जाता है। इस विज्ञान के बारे में विभिन्न प्राचीन विचारकों के विचार विभिन्न रहे हैं। प्लेटो और उसके बाद अरस्तू का मत था कि प्रकृति आत्मा की प्रवृत्तियों के अनुरूप शरीर को ढालती है। अरस्तू ने मुखाकृति विज्ञान पर एक किताब लिखी थी। विकासवादी न होने पर भी प्लेटो ने मानव आकृति की तुलना पशु आकृति से की। उदाहरण के लिये उन्होंने कहा कि सिंह का वशगुण उदारता और साहस है। अत: चौड़े सीने, दृढ़ कंधों और कठोर मुखाकृति वाला मनुष्य उदार और साहसी होगा। जी० डेला पोर्टा (G. della Porta) ने मोर, कुत्ता, घोड़ा, बछड़ा, सांड़, मुर्गा, सूअर आदि पशुओं की आकृति से मानव की आकृति की तुलना की। लावाटर (Lavater) ने आकृतिविज्ञान मे वैज्ञानिक कार्य किया। यद्यपि डिक्टेनबर्ग (Dichtenberg) ने 'दुम आकृतिविज्ञान' शीर्षक से व्यंग्यलेख लिखकर लावाटर का मजाक उड़ाया, परंतु आकृति विज्ञान के इतिहास में लावाटर चिरस्मरणीय रहेगा। इस विज्ञान का वास्तविक प्रारंभ कैंपर (Camper) के समय से हुआ जब उसने मुखकोण (facial angle) की जो, इस विज्ञान की सबसे प्रतिभाशाली शोध रही है, खोज की, १८०६ ई० में चार्ल्स बेल (Charles Bell) का 'अभिव्यक्ति का शरीर-क्रिया-विज्ञान और दर्शन' प्रकाशित हुआ। प्रख्यात सेराताग्रोलेत (Cera-Tiolet) ने सॉरबॉन (Sorbonne) मे अभिव्यक्ति पर एक सार्वजनिक भाषण दिया, जो १८६५ ई० में प्रकाशित हुआ। पिडरिट (Piderit) ने १८५९ ई० मे अभिव्यक्ति, और १८६७ ई० मे मुखाकृति विज्ञान और अभिव्यक्ति पर एक वैज्ञानिक प्रबंध प्रकाशित किया।

आदमी आदमी म पहचान करने की दृष्टि से चेहरे के सभी भागों का महत्व समान नहीं है। मुख के लक्षण दो प्रकार के होते हैं, मुख्य और सहायक। यदि किसी व्यक्ति की आँख, नाक और ऊपरी होठ खुले हों और बाकी चेहरा ढका हो, तो उसे पहचाना जा सकता है, परंतु यदि ये भाग ढके हों और बाकी के भाग खुले हों तो व्यक्ति पहचान में नहीं आता। इसी प्रकार चेहरे का वह भाग जो नाक की हड्डी से मस्तक के मध्य भाग तक जाता है और दोनों कनपटियों के बीच स्थित है चेहरे की पहचान का अनिवार्य प्रभेदक लक्षण है और गंडास्थि तथा नाक का निचला भाग सहायक प्रभेदक लक्षण है। मानव-जाति-विज्ञानीय (ethnological) तथा मुखविपूर्ण विशेषताएँ शारीरलक्षणों (anatomical characters), पर लगभग पूर्णतया निर्भर करती हैं, जबकि इसके विपरीत शरीरात्मक (physiological), नैतिक और बौद्धिक गुण, शारीर (anatomy) से अधिक, अभिव्यक्ति पर निर्भर करते हैं। मुखाकृति विज्ञान में चेहरे का प्रत्येक भाग विचारणीय है।

ललाट — ललाट आँखों के बाद बुद्धि का सबसे विश्वस्त सूचक है।

आँख — मुखाकृति विज्ञान मे आँखें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। आँखों की अभिव्यक्ति का अध्ययन करते समय उनकी बनावट, स्थिति, रंग और भौंह तथा बरौनियों के विन्यास का विचार किया जाता है। बड़ी आँख पूर्णता की आदर्श स्थिति है और छोटी आँख भद्दी लगती है। यदि आँखें काफी दूर दूर हों, या बहुत निकट हों, तो भी भद्दी लगती हैं। विशेषकर पहली स्थिति म आँखों मे, पाशविक अभिव्यक्ति और प्रतिकर्षकता आ जाती है। आँखों का अतिशय रूप से नेत्र कोटर में धँसा होना अतिशय दुर्बलता के कारण, या कोटर की हद के बाहर निकले हुए होने के कारण, होता है। उक्त दोनों स्थितियों मे आँखों से दुखी या हिंस्र प्रकृति का बोध हो सकता है। आँखों का रंग परितारिका (iris) और पुतलियों के प्रभाव पर निर्भर करता है। भिन्न भिन्न प्रजातियों में आँखों का रंग भिन्न भिन्न होता है। काली आँखें आवेश और अनुभूतिशीलता के लिये उपयुक्त जान पड़ती हैं, नीली और भूरी आँख स्वभाव की मृदुता और सौजन्य को अभिव्यक्त करती हैं। आँखों में परिवर्तनशील चमक होती है, जो उनकी व्यंजना को रूपांतरित करने में सहायक होती है। हँसते, बोलते और तेजस्विता के साथ सोचते हुए व्यक्ति की आँखें बहुत चमकदार रहती हैं और बुद्धिहीन, दुर्बल या बीमार आँखों की चमक बहुत क्षीण होती है।

नाक — यदि नाक छोटी हो और उसका सिरा ऊपर की ओर

मुड़ा हो, तो उससे मुख पर चंचलता और अशिष्टता का भाव आ जाता है। आवेश और आह्लाद की स्थिति में नथुने स्पष्ट रूप से फूलने तथा सिकुड़ने लगते हैं।

मुंह — यह भावना और कामुकता की अभिव्यजना का केंद्र है। अत्यधिक मांसल होंठोंवाला मुंह भद्दा प्रतीत होता है और यह स्थिति प्रायः उभरे हुए थूथनवाले मुंह, या वैज्ञानिक शब्दों में बहिःक्षेपात्मक (prognathous) मुंह, मे होती है। ऐसे मुंह में ऊपरी होंठ निचले होंठ को छोपकर बाहर निकला होता है। यह सहृदयता का स्पष्ट चिह्न है। ऐसे मुंह को भावुक मुंह कह सकते हैं। बराबर होंठवाले मुंह ईमानदार और विश्वसनीय व्यक्तियों मे पाए जाते हैं। जिस व्यक्ति के मुंह का निचला होठ ऊपरी होठ से बाहर निकला होता है उसे चिड़चिड़ा कह सकते हैं।

चिबुक (chin) — इसका बहुत प्रशस्त होना इच्छाशक्ति की प्रबलता का सूचक है। लावाटर के अनुसार पश्चप्रवण ठुड्डी सदा अभावात्मक विशेषता की परिचायक है।

मुख के अन्य भाग भी व्यक्ति को परखने में सहायक होते हैं और उनका अध्ययन मुखाकृतिविज्ञान का अग है, परंतु ये अपेक्षाकृत कम महत्व के हैं।

सं० ग्रं० — डार्विन : दि एक्सप्रेशन ऑव दि इमोशन्स इन मैन एंड ऐनिमल्ज, लंदन, १८७२; टोपिनार्ड : द ला, मॉर्फोलोजिया हु नेज, बुलेटिन द ला सोसाइटी ऐंथ्रोपॉलोजी, खड ८, १८७३; सी-थोर : डिक्शनेयर द ला फ्रेनॉलोजी एट द ला फ़िज़िऑग्नोमी ब्रसेलीज, १८३७। [रा० च० शु०]

मुखिया वैदिक काल में गांव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। ऋग्वेद मे उसकी तुलना साक्षात् राजा से की गई है (ऋग्वेद १०।१०५)। महावग्ग, कुलावक जातक, खरसर जातक और उभतोभट्ट आदि बौद्ध ग्रंथों मे ग्रामणी या ग्रामभोजक का उल्लेख है जिसे ग्राम की देख रेख करनी पड़ती थी और मालगुजारी भी वही वसूल करता था। मनु, शुक्र, विष्णु आदि स्मृतियो मे ग्रामिक के कर्तव्य बतलाए गये हैं। 'ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दश ग्रामपतिं तथा (मनु० ७।११५), 'ग्राम दोषान् समुत्पन्नान्ग्रामिक. शनकैः स्वयम्। शंसेद् ग्राम दशेशाय दशेशो विशतीशिने। (मनु० ७।११६)।

'अर्थशास्त्र' और चद्रगुप्त मौर्य का ग्रामिक संभवत. चुना हुआ कर्मचारी था। गुप्तकाल मे भी ग्राम के प्रमुख को ग्रामिक कहते थे। इसके अस्तित्व को मुस्लिम काल मे भी माना गया है। बहमनी राज्य मे कर वसूल करने के लिये इसकी सहायता ली जाती थी। मुर्शिद कुली ने करवसूली के लिये गांव पटेल नियुक्त किए थे। अंग्रेजी राज्य में भी मुखिया का अस्तित्व बना रहा। उसकी नियुक्ति आदि के लिये नियम बनाए गए थे। जिलाधीश या उसके द्वारा अधिकृत परगनाधीश प्रत्येक ग्राम या ग्राम समूह के लिये एक या एकाधिक व्यक्तियो को मुखिया नियुक्त करता था, जो अच्छे चालचलन वाला और प्रभावशाली व्यक्ति होता था। जिलाधीश या परगनाधीश ही मुखिया को पदच्युत भी कर सकते थे। उनके प्रमुख कर्तव्य ग्राम सुरक्षा से संबद्ध थे और वह अपने क्षेत्र की ऐसी सभी घटनाओं की जिनसे शांति और सुरक्षा को खतरा हो सूचना निकटस्थ थाने या मजिस्ट्रेट को देता था। पंचायत राज अधिनियम लागू होने पर यह व्यवस्था स्वतः समाप्त हो गई है और अब इस प्रकार का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं है। [म० श० सिं०]

मुखौटा अपने मुख का कोई भाग या पूरा मुख, लोकदृष्टि से छिपाने के लिये जो कपड़ा मुख पर डाला जाता है उसे मुखावरण और किसी जीव अथवा देवता का रूप धारण करने के लिये जो मुख पर चित्रित आकृति का आवरण लगाया जाता है उसे मुखौटा कहते हैं। मुख की आकृति ढकने के लिये प्रायः आंख पर काली पट्टी बांध ली जाती है या तुर्की स्त्रियो की भांति आंख के नीचे का भाग ढकने के लिये या मुसलिम स्त्रियो की भांति सिर से पैर तक शरीर को ढकने के लिये जो आवरण (बुर्का) डाला जाता है वह भी मुखावरण के अंतर्गत आ जाता है।

यूनान मे यह प्रथा थी कि जो अभिनेता धार्मिक कर्मकांड के अवसर पर किसी देवता से आविष्ट होकर उसका अभिरूपण करता था, उसे उस देवता का मुखौटा लगा देते थे। हमारे यहाँ रामलीला में हनुमान, सुग्रीव, जाबवंत, अंगद या रावण का मुखौटा लगाकर अभिनय किया जाता है। काशी की नक्कटैया (शूर्पणखा के नाक कान काटने की लीला) की यात्रा मे जो लोग काली आदि का स्वांग बनाते हैं वे भी मुखौटा लगाते हैं। तिब्बत, चीन, जापान, ब्रह्मा, स्याम, श्रीलंका और जावा में मध्यकालीन यूरोप के चमत्कार नाटको (मिरेकिल प्लेज) के समान नृत्यो और नाटको में मुखौटो का प्रयोग होता है।

यूनान में बाक्स देवता की पूजा के उत्सवो में भी मुखौटों का प्रयोग होता था। यूनानी नाटको मे भी रंगे हुए टाट या मोटे कपड़े के ऐसे विचित्र और बड़े मुखौटे बनाए जाते थे कि उनपर बने हुए भाव सबको दूर से स्पष्ट दिखाई दे, दर्शकों को पात्र का परिचय मिल जाय और मुखौटे के भीतर से बोली हुई ध्वनि दूर तक सुनाई दे सके। प्रसिद्ध यूनानी नाटककार अस्कुलस ने केवल मुख ढकनेवाले ही नहीं वरन् पूरा सिर ढकनेवाले कांसे के मुखौटे बनाए थ जिनमे बाल भी लगे रहते थ और मुंह इतना ही खुला रहता था कि वाणी स्पष्ट निकल सके। उनमे आंखो के स्थान मे आंखो की पुतलियों के बराबर छेद बने होते थे। त्रासदी के इन मुखौटो के अतिरिक्त प्रहसन के लिये बड़े कुदर्शन और विकृत मुखौटे बनाए जाते थे जिनके ओठ भोंपे के समान बड़ी सी दुहरी सीपी की आकृति के होते थे जिससे स्वर गूंज सके। यह मुखौटा सिर पर ढकी हुई टोपी के साथ जुड़ा रहता था। यूनान और रोम की रंगशालाओं में लगभग सभी पात्रों के लिये अलग अलग आकृति के इस प्रकार के मुखौटे बनाए जाते थे।

मिस्र में मृतकों के मुख पर उनकी मुख की आकृति के सोने के मुखौटे लगाए जाते थे। यूनान में भी समाधियों के भीतर संभवतः पाताल लोक की देवी परसर फोनी को प्रसन्न करने के लिये उनकी आकृति के मुखौटे दीवार पर टंगे मिलते हैं।

जापान में सातवीं या आठवीं शताब्दी में चीन से मुखौटों का प्रयोग लिया गया। इनमे से सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक मुखौटे नोह नाटकों के होते हैं जिनका सबसे प्राचीन प्रयोग संबासो नामक मुखौटा

मुखौटा (देखें पृ० ३१८–३१९)
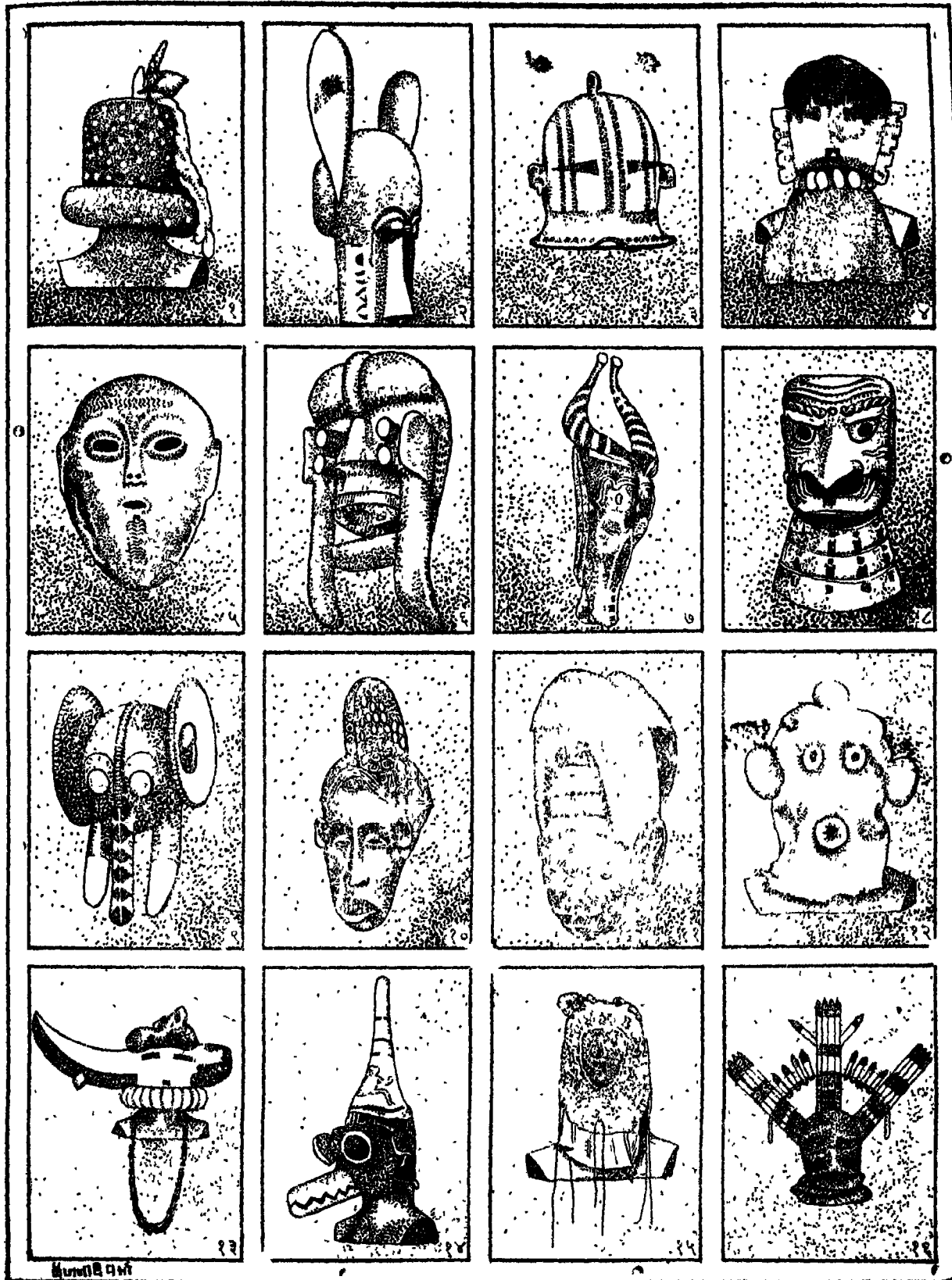
न्यू मेक्सिको (१,३,४,१२,१३,१४), कांगो (२,५,६,७१६), जापान (८), साइबेरिया (१०), नाइजीरिया (११) आदि के कुछ प्राचीन मुखौटे

मुखौटा (देखें पृ० ३१८-१९)
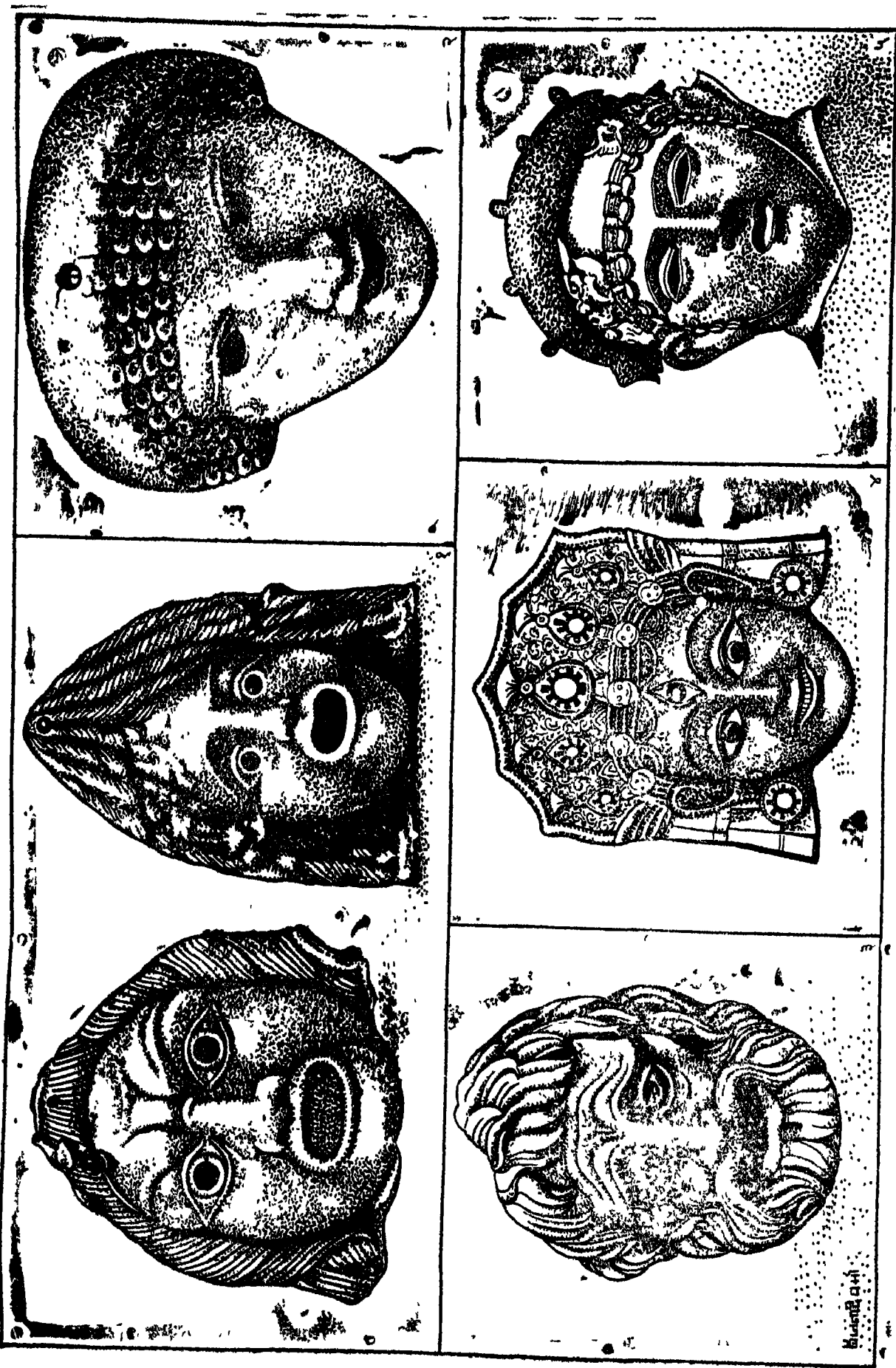
१ मिस्र के त्रासदी मुखौटा प्रथम शती ई०; २. यूनान का त्रासदी मुखौटा, नारी का; ३. संगमरमर का त्रासदी मुखौटा, रोमन काल; ४. प्राचीन तिब्बत का मुखौटा; ५. कास्य का बना शिरस्त्राण लैंकेशायर, ब्रिटेन

नृत्य में होता है। जापानी राजसभाओं में बूकागू (सभानृत्य) में भी बहुत बड़े बड़े मुखौटों का प्रयोग होता है। नोह नाटकों के मुखौटे सौ प्रकार के मिलते हैं जिनमें पुरुष, स्त्रियाँ, देवता, राक्षस और पशुओं की आकृति बनी रहती है। नोह नाटक के ये मुखौटे लकड़ी के बने होते हैं जिसके भीतर भूमिका का नाम लिखा रहता है। इन नाटकों, नृत्यों और धार्मिक उत्सवों के मुखौटों के अतिरिक्त बच्चों के खेलने के लिये और शिरस्त्राण तथा ढालों पर शत्रुओं को डराने के लिये भी मुखौटे बना लिए जाते थे।

तिब्बत मे लामा लोग वर्ष के निश्चित अवसरों पर भयोत्पादक मुखौटे लगाकर दुष्ट भूत, प्रेत, राक्षसों को भगाने के लिये देवताओं और राक्षसों का चरित्र प्रदर्शन करनेवाला रहस्य नाटक, करते हैं जो आज भी लाल व्याघ्र या राक्षस का नृत्य कहलाता है। ये मुखौटे गला हुआ कागज कूटकर या कपड़े से बनाए जाते हैं। सिक्किम और भूटान मे लकड़ी पर खोदकर मुखौटे बनाए जाते हैं। ये मुखौटे पाँच प्रकार के होते हैं—

१. दानवों के राजा का बड़ा और भयानक मुखौटा जिसमें बड़े बड़े दाँत और तीन आँखें होती हैं। २. दस भयानक दैत्य और दस बेतियानी के मुखौटे जिनपर साँड़, व्याघ्र, सिंह, गरुड़, वानर, हरिण और याक के मुख बने होते हैं। ३. शवभक्षक दैत्य का मुखौटा जो खोपड़ी जैसा होता है। ४. पृथ्वी के स्वामी के दैत्य मुखौटे जो विशाल और भयानक होते हैं और जिनमे आँखें बड़ी होती हैं। ५. भारत से तिब्बत में बौद्ध धर्मवाले भिक्षु, बौद्ध विद्वान् और विदूषकों के कपड़े के मुखौटे जो सफेद मिट्टी या काले रंग में रंगे हुए साधारण आकार के होते हैं।

चीनी रंगशालाओं में कुटे हुए कागज के बने हुए मुखौटे ही अप्रधान पात्रों के लिये काम में लाए जाते हैं। इनमें से दुष्ट शासक के लिये लाल और निर्दय के लिये काला मुखौटा होता है। इनके अतिरिक्त बौद्ध धर्म से संबंध रखनेवाले मुखौटे नाटकों में अधिक प्रयुक्त होते हैं। बौद्ध धर्म से प्रभावित तिब्बत, चीन, जापान तथा आसपास के देशों मे सिंह के सिर का मुखौटा लगाकर किया जानेवाला सिंहनृत्य बहुत प्रसिद्ध है। इसमें सिंह के मुखौटे का नीचे का जबड़ा ताल के साथ डोरी खींचने पर खट खट करता चलता है। तायरोल, स्लावा और जूनी इंडियाना के विशाल मुखौटों मे भी ऐसी ही यांत्रिक क्रिया होती है।

श्री लंका में नाटकों, मुखावरण-संमेलनों या मुखावरण-नृत्यों (मास्करेड) और दैत्य नृत्यो में मुखौटों का प्रयोग होता है। भूत प्रेत भगाने के लिये विभिन्न रोगों का प्रतिनिधित्व करानेवाली आकृतियों के मुखौटों का प्रयोग होता है जो लकड़ी पर खोदकर बनाए जाते हैं। घातक रोगों के मुखौटे दैत्यों के आकार के होते हैं। पशुरोगों के मुखौटों मे बड़े बड़े सींग और दाँत बने होते हैं। वहाँ गृहप्रवेश के समय गारा नामक राक्षस को भगाने के लिये भी मुखौटा पहना जाता है।

जावा में लकड़ी के बने हुए उपेग नामक मुखौटे लगाए जाते हैं। यद्यपि वहाँ के निवासी सब मुसलमान हैं और मुखौटों का प्रयोग मुस्लिम धर्म के अनुसार वर्जित है, फिर भी उनके नाटकों की कथाएँ महाभारत और रामायण से ली गई हैं जिनमें वे मुखौटे लगाते हैं।

मीलेनेशिया के लोग अपनी गुप्त समितियों में खुदी हुई लकड़ी के मुखौटे लगाकर जाते हैं। अफ्रीका के पश्चिमी तट के कांगो प्रदेश-निवासी युद्ध, नृत्य और विनोद के मुखौटों का प्रयोग करते हैं। ये खुदी हुई लकड़ी के मुखौटे इतने कलात्मक होते हैं कि संसार में उनकी कहीं तुलना नहीं हो सकती। पूर्वी यूरोप मे स्लाव लोग अपने उत्सवों मे मुखौटों का प्रयोग करते हैं जिनपर बारहसिंगों के मुख बने रहते हैं जैसे यूरोप के अन्य भागों मे मई उत्सव के नृत्यों में किसान लगाते हैं।

उदारावादी (क्लासिकल) नाटकों के ह्रास के पश्चात् मुखौटों का प्रयोग समाप्त हो गया किंतु फिर भी मध्य काल में मूक प्रहसन तथा इतालिया के लोकप्रिय सुखांत नाटक (कमीदिया दलार्ते) के द्वारा मूक नाट्य (पैंतोमीम) के रूप में विकसित हुआ। मास्करेड (मुखौटों का उत्सव) का प्रादुर्भाव भी इटली में हुआ जहाँ डोमिनो (अधमुखौटे) के साथ ढीला चोगा पहना जाता था। यह मुखौटा नृत्य (मास्करेड) १३वीं शताब्दी मे बड़ा लोकप्रिय था जिसमें लोग सिंह, हाथी या मनुष्य के सिर के मुखौटे बनाकर उसमें चमगादड़ के पंख बनवा लेते थे। शेक्सपियर के समय में तो प्रायः महिलाएँ अपनी आकृति छिपाने के लिये आँखों पर काला आवरण डालकर नाटकों में जाती थीं।

अमरीका की आदिम जातियो के धार्मिक जीवन में मुखौटे का बड़ा महत्व है। मेक्सिको में भी पत्थर पर खुदे हुए मुखौटे प्राप्त हुए है और लकड़ी पर खुदे हुए तथा वैदूर्य मणि जड़े हुए मुखौटे संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। दक्षिण पश्चिम अमरीका के रेड इंडियन देवता के मुखौटे लगाते हैं। प्रशांत महासागर के तटवासी दुहरे मुखवाले मुखौटे बनाते हैं जिनमे मानवीय आकृति के थूथन या चोंच इस प्रकार बनी होती है कि उत्सव के समय खुलकर झूल जाती है। अमरीका के दक्षिण पश्चिमी भाग के इंडियन लोग ऐसा ढोल के समान गोल मुखौटा लगाते हैं जो सिर को ढँकता हुआ कंधे पर टिक जाता है किंतु केवल मुख ढकनेवाले विचित्र मुखौटो का प्रयोग भी यहाँ होता है। ये मुखौटे दो प्रकार के होते हैं—गोल मुखौटे पुरुषों के और चौकोर स्त्रियों के होते हैं। क्लिफ्ट वैलम मे रहनेवाले लोगों के मुखौटे पक्षी, वृक्ष और देवताओं की आकृति के होते हैं। अमरीका की उत्तर पश्चिमी तटवासी जातियों मे दो प्रकार के मुखौटे चलते हैं। एक तो साधारण नृत्य मुखौटे और दूसरे तीन से पाँच फुट तक ऊँचे वंश-घोषक मुखौटे जो घरों के आगे खंभों पर टँगे रहते हैं। उनके नृत्य मुखौटो का प्रयोग पोंबलाश नामक उत्सव पर और मूक नाट्य के मुखौटों का प्रयोग जाड़े में होता है। ये मुखौटे देवदार की लकड़ी के बने होते हैं। इक्वेडर और पीरू में भी मुखौटो का पहले बहुत महत्व था। अमेजन प्रदेश में पायना की रहनेवाली जातियाँ मुखौटों का प्रयोग करती हैं और टिप्राडेनाफयुगों में वृक्ष की छाल और सील की खाल के और मछली के आकार के नृत्य मुखौटे बनाए जाते हैं। पीरुवियों में मिट्टी के पके हुए मुखौटे समाधियों मे मिले हैं और नीमा के पास पुरानी समाधि स्थली में मनुष्य की खोपड़ी के बने हुए मुखौटे मिले हैं। पीरुवियावाले भी लकड़ी का मुखौटा बनाकर मृतक के मुँह पर कील से जड़ देते थे।

हमारे यहाँ रामलीला के अतिरिक्त दक्षिण में कथकली नृत्यों में मुखौटे लगाने की प्रथा है जिसके साथ मुकुट भी बना रहता है।

संसार के ये सब मुखौटे पाँच प्रकार के होते हैं; १. जो केवल आँख ही ढके; २. जो पूरा मुँह ढके; ३ जो पूरा मुँह और खोपड़ी ढके। ४. जो आगे पीछे पूरे सिर को ढंके और ५. जो सिर को ढकता हुआ आकर कंधों पर बैठ जाय। इन मुखौटों मे इतनी सुविधा अवश्य होनी चाहिए जिसमें देखने और साँस लेने के लिये पूर्ण अवकाश हो।

यूरोप में कुछ ऐसे चलते हुए यात्रा दृश्य (पेजेंट) दिखाए जाते हैं जिनमें बहुत बड़े बड़े १५-२० फुट ऊँचे अत्यंत हास्यजनक विनोदात्मक मुखौटे बनाए जाते है जो चारों ओर झूलते ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कोई वास्तविक जीवित व्यक्ति ही सिर हिला रहा हो।

इस प्रकार संसार मे कोई ऐसा सभ्य अथवा अविकसित देश नहीं है जहाँ धार्मिक कर्मकांड, नाट्य, नृत्य, अथवा लोकव्यवहार मे मुखावरण या मुखौटे का प्रयोग न होता हो। [सी० च०]

मुख्य जातियाँ और कबीले, भारत के — भारत पर अंग्रेजों के आधिपत्य के कारण भारत की जातियों के संगठन पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है। जो कुछ थोड़ा बहुत प्रभाव हुआ वह बड़े नगरों—कलकत्ता, बंबई, मद्रास, बंगलोर और लखनऊ आदि में और उनके निकटवर्ती क्षेत्रों में हुआ। पिछली दो शताब्दियो मे यूरोपियनों, विशेषकर अंग्रेजो, का भारत के प्राय निचले स्तर के लोगों से सम्मिश्रण हुआ है। ये एंग्लो इंडियन कहे जाते हैं। इस अंतरमिश्रण के अतिरिक्त भारतीय तथा यूरोपियनों के बीच, जिनमे केवल अंग्रेज ही नहीं, वरन् जर्मन और फ्रांसीसी भी थे, पहले वैवाहिक संबंध भी हुए (परंपरा अब भी प्रचलित है)। किंतु ये संबंध समाज के उच्च वर्गों में सीमित थे। अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने के पूर्व भी दक्षिण बंगाल और गोआ आदि प्रदेशों में यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट होने लगा था। यह सम्मिश्रण प्राय: पुर्तगालियों के साथ हुआ था। कलकत्ता में भी पुर्तगाली-भारतीय मिश्रण की एक जाति थी, जिससे बनी शाखा 'किराली' कही जाती है। १७वी और १८वी शती में पनपे पुर्तगाली प्रभाव के अतिरिक्त अमरीकी प्रभाव भी कलकत्ता और तन्निकट क्षेत्रों में परिलक्षित होता है। असम के भी कुछ कबीलों विशेषतया खासी की शारीरिक रचना पर यूरोपीय प्रभाव पाया जाता है। यूरोपीय संपर्क से भारत के कुछ क्षेत्रों में नार्डिक अल्पाइन तथा मेडिटेरेनियन प्रभाव भी सम्मिलित हो गया है।

भारतीयो की शारीरिक रचना पर मुसलमानों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। १०वीं शती से ११वीं शती तक पठानो का आगमन जारी रहा जिससे यहाँ अफगानिस्तान और फारस के तत्वों का प्रवेश हुआ। कालांतर मे अन्य इस्लाम धर्मावलंबी जो मुगल आए वे वे मंगोलों या तुर्कों के वंशज थे। आक्रमणों की शृंखला से शारीरिक तत्वों मे परिवर्तन हुए, और परिवर्तन दो बातों से प्रभावित हुए। प्रथम, उनकी आकृति के अवशेष दक्षिण और पूर्व की अपेक्षा उत्तर और पश्चिम मे अधिक शेष रहे। दूसरे, उन्होंने पूर्वी भागो की अपेक्षा जहाँ उनका संपर्क समाज के निम्न वर्ग से हुआ, पश्चिमी भागों के उच्चवर्गीय तत्वों को अधिक आत्मसात् किया। सामान्यत. मुसलमान मेडिटेरेनियन और मंगोल दोनों तत्व अपने साथ लाए। भारत के विभिन्न प्रदेशों मे विभिन्न संपर्कों के कारण उत्तर पश्चिम भाग के मुसलमान दीर्घकाय, सुडौल और बड़े सिर के होते हैं, जब कि पूर्वी भागों में निम्न स्तर से मिश्रण के कारण वे रंग के काले, शरीर के छोटे और प्राय: चपटी नाक के होते हैं। दक्षिण में, जहाँ पश्चिमी प्रदेशों की अपेक्षा परिवर्तन कम हुए हैं, विशेषतया आंध्र और केरल के उर्दूभाषी मुसलमान अधिक सुडौल आकृतियों के हैं।

यदि मुसलमानों के आक्रमणों के पूर्व की स्थिति को देखा जाय, तो उस समय प्रवेश करनेवाले आक्रमणकारी गूजर, हूण, शक और कुशाण थे। इन लोगों के शारीरिक लक्षण स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हैं, यद्यपि यह कल्पना की जा सकती है कि लघुशिरस्क और अन्य मंगोलियन लक्षण भारत में उन लोगों के साथ आए। इनके उत्तराधिकारी राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र के तटीय प्रदेशों में बसे हुए हैं।

३२६ ई० पू० हिंदू राज्यकाल में सिकंदर के आक्रमण स्वरूप शारीरिक दृष्टि से उत्तरी पश्चिमी भाग को छोड़कर, जो अब पाकिस्तान मे है, भारत के अन्य भाग अप्रभावित रहे।

अब तक हमने केवल उन ऐतिहासिक घटनाओं की चर्चा की है जब बाह्य नृतत्वों ने भारत के जातीय संगठन में प्रवेश किया। प्रागैतिहासिक काल में आर्यों ने बहुत विशाल संख्या में यहाँ प्रवेश किया था। यह कोई २००० ई० पू० से १५०० ई० पू० की बात है, जिसने भारतीय इतिहास की धारा को तो बदला ही, साथ ही भारतीयों को विशेषत: सिंधु और गंगा के मैदानो के वासियों पर भी प्रभाव डाला। आर्यों के माध्यम से भारत में काकेशियाई मुख्यत: अल्पाइन और मेडिटेरेनियन तत्वों ने प्रवेश किया। नार्डिक प्रभाव अभी तक स्पष्ट नहीं है, यद्यपि १९वीं शती मे अनेक विद्वानों ने मत प्रकट किया कि आर्य वास्तव में नॉर्डिक ही थे। जो हो, आर्यों का आगमन एक ही बार मे न होकर दो तीन बार में, सैकड़ों वर्षों के अंतर से, हुआ। वर्तमान स्थिति का नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन करने से यह संभव लगता है कि दीर्घ शिरवाले आर्य उत्तर में बसे, किंतु बाद में आनेवाले लघु शिरवाले आर्यों के समूह ने उन्हें तटीय प्रदेशों में खदेड़ दिया। उनके वंशज अब गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल में मिलते हैं। लघुशिरस्कों के वंशज उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और किसी हद तक बिहार तथा राजस्थान में पाए जाते हैं। लघुशिरस्को का समूह संभवत मेडीटेरेनियन था। जो हो, आर्यों के आक्रमणों का प्रभाव प्राय: देश के उच्च वर्गों की शरीर रचना पर पड़ा, विशेषकर उत्तर भारत मे कुछ सीमा तक दक्षिण भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग की (जो अब पाकिस्तान में है) कुछ जातियों पर यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

आर्यों के आगमन के समय और उससे पूर्व भी तिब्बती-चीनी और तिब्बती-बर्मी आए, जो हिमालय की दक्षिणी तराई में पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल तथा असम की पहाड़ियों में बसे। इनमे पहले आनेवाले तिब्बती जाति के थे, जो हिमालय के इस ओर के इलाके में बसे। ये साधारणतया लंबे होते हैं, और मंगोलियाई बनावट प्रकट करते हैं। असम मे दो जातियाँ दिखाई देती हैं। पहले समूह में दीर्घशिरस्क आगमनकारी थे, जिनके वंशज गारो, कचारी तथा असम की अन्य जातियों के अंतर्गत मिलते हैं। वे रंगों

के काले और कद के छोटे होते हैं। दूसरी बार आनेवाले अपेक्षाकृत गोरे रंग के मंगोल थे। वर्तमान नागा और निकटवर्ती क्षेत्रों की कुछ जातियों के लोग उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। अहोम, जिन्होंने असम पर कुछ काल तक शासन किया, संभवतः स्याम से आए। उनका प्रभाव ब्रह्मपुत्र घाटी की केवल उच्च जातियों में परिलक्षित होता है।

आर्यों के आने से पूर्व सिंध नदी के मैदानों में सभ्यता बहुत विस्तीर्ण और उन्नत थी। वर्तमान शताब्दी के तृतीय दशक में खुदाई से प्राप्त होनेवाले मोहनजोदड़ो और हड़प्पा उसके पूर्वचिह्न हैं, जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में हैं। इसी सभ्यता के प्रतिनिधि आगे चलकर अन्य प्रदेशों, गुजरात, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश, में बसे, जिसके चिह्न लोथल और कालिबंगन आदि के रूप में मिलते हैं। कालांतर में आर्यों के आक्रमणों से वे लोग भारत के दक्षिणी कोने में जाकर बसे। कुछ विद्वान् उस सभ्यता का रूप दक्षिण की वर्तमान द्रविड़ जातियों में देखते हैं। जो हो, यह सत्य है कि कुछ प्रस्तरनिर्मित पात्रों के, जो दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में पाए जाते हैं, भित्तिचित्रण और सिंधु घाटी में पाए गए दो तीन सहस्राब्दी ईसा पूर्व के पात्रों की रचना में बहुत सादृश्य है। सिंधु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं का मूल भूमध्यसागरीय प्रदेश था। आज की द्रविड़ भाषाएँ बोलनेवाले मेडीटेरेनियन क्षेत्रवालों की विशेषताओं के बहुत निकट हैं। इसी तरह उत्तर भारत के उच्च और मध्यम वर्गों में भी मेडीटेरेनियन तत्व देखे जा सकते हैं।

अंत में विश्लेषण के लिये एक ऐसा भी काल मिलता है, जिसमें लोग आर्यों तथा द्रविड़ों की भाँति उन्नतिशील नहीं थे। आस्ट्रोलायड या प्रोटो आस्ट्रोलायड के नाम से इनका उल्लेख किया जाता है। भारतीय आदिम जातियों में इनकी संख्या सर्वाधिक है, और मध्य तथा दक्षिण प्रदेशों के बहुत बड़े भूभाग पर ये फैले हुए हैं। ये चार जातीय और भौगोलिक भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। पश्चिमी भाग में लगभग ३० लाख की संख्या में भील अत्यंत विषम जातीय समूह के रूप में पाए जाते हैं। भीलों पर हूणों गुजरों, राजपूतों, मराठों और मुसलमानों का बहुत प्रभाव पड़ा है। अन्य आदिम जातियाँ कतकरी, वरली और गामित आदि हैं। इनमें से किसी की अपनी कोई भाषा नहीं। ये संपर्क प्रभाव के अनुसार गुजराती, मराठी और राजस्थानी आदि इंडोआर्यन बोलियाँ बोलते हैं। दूसरा समूह गोंड जाति का है, जिनकी संख्या भी तीस लाख है। उनमें अधिकांश मध्यप्रदेश, पूर्वी महाराष्ट्र, उत्तरी आंध्र और पश्चिमी उड़ीसा के जिलों में बसे हुए हैं। इनमें राजगोंडों की संख्या सबसे अधिक है। दर्वे गोंड, मरिया, मुड़िया, दोरला और कोया आदि भी उनमें संमिलित हैं। प्रायः सभी द्रविड़ उपभाषाएँ बोलते हैं। ऐसा लगता है कि इन भागों के कुछ कबीले कोलम, धुरवा, पोया आदि यद्यपि द्रविड़ बोलियाँ बोलते हैं, तथापि इनकी भाषा और गोंडों की द्राविड़ी भाषा में स्पष्ट भिन्नता है। द्रविड़ भाषा भाषी एक अन्य बड़ा समूह, कोंड है, जो उड़ीसा के कोरापुट और आंध्र के उत्तरी जिलों में बसा हुआ है। ओरांव और मालेर द्रविड़ भाषी कबीलों की सीमा बनाते हैं। तीसरे भाग के कबीलों में इंडोआर्यन, द्रविड़ और तिब्बती बर्मी भाषाओं से भिन्न भाषा प्रचलित है। इनकी भाषाएँ आस्ट्रोएशियाटिक (Austro-asiatic) अथवा कोल या मुंडारी हैं। इस समूह में कोई १२ या १३ विभिन्न कबीले हैं, जिनमें संथालों की संख्या सबसे अधिक, लगभग २० लाख, है। अन्य महत्वपूर्ण कबीलों के नाम मुंडा, हो, सावोरा, जुआंग, खारिया और कोर्कू आदि हैं। जहाँ तक भाषा का संबंध है, मुंडारियों का प्रभाव हिमालय के पहाड़ी कबीलों तथा असम के खासियों पर भी है। मुंडारी कबीला अपनी भाषाई विशेषताओं तथा सांस्कृतिक रीतिरिवाजों में दक्षिण पूर्व एशिया के कबीलों के निकट है।

मध्य भारत में एक और जनजाति बसती है। यह मुंडारी समूह की ही एक शाखा समझी जाती है। इनमें कुछ स्थानीय कृषक वर्ग से अभिन्न लगते हैं। लंबे समय से उन्होंने अपनी भाषा भूलकर इंडो आर्यन बोलियों को अपना लिया है। इनमें बैगा, भर, भुइयाँ, बिझवार आदि कबीले संमिलित हैं। कुछ विद्वानों के मत से 'नहाल' नामक अल्पसंख्यक जाति नहाली भाषा का, जो अन्य कई भाषाओं से मिली जुली है, प्रयोग करती है। ऐसा लगता है कि 'नहाली' के बीस प्रतिशत शब्द किसी भी भारतीय भाषा में नहीं मिलते। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि बहुत प्राचीन काल में भारत में एक ऐसी जनजाति थी, जिसकी अपनी भाषा थी, उसका ही प्रभाव 'नहाली' पर पड़ा रह गया। यह भी माना जाता है कि संभवतः भील, जिनकी इस समय कोई निजी भाषा नहीं है, उसी भाषा का व्यवहार करते थे।

दक्षिण भारत के कबीले उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई पर्वत-श्रेणी में बिखरे हुए हैं। आंध्र में चेंचू और यनादी पाए जाते हैं। सुदूर दक्षिण मैसूर में सोलिगा और उससे संबंधित कोरगा तथा कोरवा कबीले बसे हुए हैं। मद्रास प्रांत के नीलगिरि जिले, और केरल के वाइनाड (Wynad) तालुक में इरुला, कुरुबा और अन्य कबीले हैं। और भी अधिक दक्षिण केरल की पहाड़ियों में काडार, कन्निकर और पुलयन आदि छोटे छोटे कबीले बसते हैं। इन कबीलों की भी अपनी कोई भाषा नहीं है, वरन् ये स्थानिक संपर्कों से तेलुगु, कन्नड, तामिल या मलयालम के अपभ्रंश रूपों का व्यवहार करते हैं। गोंडों या इनसे संबंधित अन्य कबीलों की अपेक्षा ये अपनी आकृतियों और सांस्कृतिक रीतिरिवाजों के मामलों में अधिक आदिम हैं।

ये सभी कबीले जिनमें भील, गोंड और मुंडारी भी संमिलित हैं, कद के नाटे, दीर्घशिरस्क, चपटी नाक और काले रंग के होते हैं। इनके शरीर पर रोमसंख्या प्रायः कम होती है। ये द्रविड़ों के पूर्ववर्ती और दक्षिणपूर्व एशिया के कबीलों की शारीरिक आकृति से अधिक निकट समझे जाते हैं। लंका के वेद्दा भी इनसे बहुत मिलते जुलते हैं। कुछ लेखकों के अनुसार कबीलों के मुंडारी समूह में मंगोली तत्व पाए जाते हैं, जिससे हेडन तथा अन्य लोगों ने उनमें पारोइयन तत्व होने का अनुमान किया।

दूसरा नृतत्वभेद मद्रास के दक्षिणी जिलों में बसे एक बहुत छोटे समुदाय में पाया जाता है। जेम्स हार्नेल ने सर्वप्रथम परावों पर, जो मद्रास राज्य के कन्याकुमारी, तिरुनलवेली और रामनाथपुरम् जिलों में मत्स्य व्यापार करते हैं, पोलीनेशियाई प्रभाव का अनुमान किया

है। ये प्राय: रंग के काले, औसत से अधिक ऊँचे कद के तथा दीर्घ सिर वाले होते हैं। बी० एस० गुहा ने भी हार्नेल के जैसा ही मत प्रकट किया है। स्वर्गीय एस० एस० सरकार ने स्थापना की है कि इस क्षेत्र में प्रथम पोलीनेशियाई लोग आ बसे थे। मद्रास राज्य के पराबा तथा अनाम और केरल के इजावा कबीलों पर उनका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इजावा जनजाति के लोग लंका से आए थे। ऐसी परंपरागत मान्यता आज भी वहाँ प्रचलित है। दक्षिण पूर्व एशिया से कबीलों के आने का समय ज्ञात नहीं है, किंतु यह लगभग निश्चित है कि यह आज से कम से कम दो तीन हजार वर्ष पूर्व की घटना है।

केवल पश्चिमी तट पर यत्र तत्र नीग्रो प्रभाव भी देख पड़ता है। गुजरात में कुछ मुसलमान व्यापारी अपने व्यापार के सिलसिले में अफ्रीका जाते हैं और वहाँ नीग्रो स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। उनसे उत्पन्न संतानें भारतीय समुदाय में ही आती हैं। १९३१ की जनगणना के अनुसार मैसूर राज्य के दक्षिण कनारा जिले में नीग्रो जनों की बस्ती होने का पता चला था। एस० एस० सरकार ने केरल के कादारों में भी नीग्रो प्रभाव होने की शंका प्रकट की थी। ऐसा समझा जाता है उनका इस तरह आवागमन बहुत हाल में तथा छिटफुट रूप में ही हुआ। [ही० कु० र०]

मुख्य जातियाँ तथा कबीले (पश्चिमी भारत के) इस लेख के लिये हमने नवस्थापित गुजरात और महाराष्ट्र राज्यों के क्षेत्र को ही पश्चिम भारत माना है। इसलिये इन्ही राज्यों की जातियों तथा उपजातियों से संबंधित विवरण यहाँ दिया गया है।

गुजरात में (जो महागुजरात के नाम से भी प्रसिद्ध है) काठियावाड़ या सौराष्ट्र के भूभाग, कच्छ, और उत्तरी तथा दक्षिणी गुजरात के क्षेत्र संमिलित हैं। साहित्य और लोकगीतों मे गुजरात की सीमा इस प्रकार वर्णित है . चार दिशाओं में इसके चार सीमाचिह्न हैं। उत्तर की ओर आबू पर्वत है, दक्षिण में दामन गंगा, पश्चिम में कच्छ का रन और पूर्व में सह्याद्रि तथा सतपुड़ा पहाड़ियों का मध्यवर्ती क्षेत्र है।

१९६१ की जनगणना के अनुसार गुजरात का क्षेत्रफल १.८७,११५ वर्ग मील है, तथा जनसंख्या २,०६,३३,३५०। इसमें से अनुसूचित जातियों की आबादी १३,६७,२५५ है, जिसमे ६,९३,४३६ पुरुष और ६,७३,८१९ महिलाएँ हैं। इस प्रकार कुल जनसंख्या का लगभग ६१% अनुसूचित जातियों के लोगों की संख्या है।

गुजरात में अनुसूचित कबीलों की कुल जनसंख्या २७ ५४,४४६ है, जिसमें ११.९८,४७८ पुरुष तथा १३,५५,९६८ महिलाएँ हैं। यह जनसंख्या राज्य की कुल आबादी का लगभग १३.३५% है। इस में से २६,१६,४९६ व्यक्ति गाँवों में बसते हैं तथा १,३७,९५० नगरों में।

महाराष्ट्र — राज्य चार भागों में बँटा है—बंबई, पूना, औरंगाबाद और नागपुर, जिनमें कुल २६ जिले हैं।

महाराष्ट्र का कुल क्षेत्रफल १,१८,२७१.९ वर्गमील तथा जनसंख्या ३,९५,५३,७१८ है।

इसमें अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का अनुपात ५·६३% तथा अनुसूचित कबीलों की जनसंख्या का अनुपात ६·०६% है। अनुसूचित कबीलों की कुल जनसंख्या २३.९७ लाख है।

अध्ययन से स्पष्ट है कि अनुसूचित जातियाँ सारे राज्य में बिखरी हुई हैं। बुलढाना, अकोला, वर्धा, नागपुर और भंडारा जिलों में अनुसूचित जातियाँ बिल्कुल नहीं पाई जातीं, जबकि थाना, नासिक, धूलिया जिलों मे इनकी जनसंख्या क्रमश: ३०%, २४% और ३७% है।

गुजरात के कबीले — गुजरात में कबीलों की जनसंख्या का अनुपात १३·३५ प्रतिशत है जो पूरे भारत मे इनके अनुपात से प्राय: दूना है और भी, जहाँ तक उनकी कुल जनसंख्या का प्रश्न है, गुजरात का स्थान चौथा है। इस प्रकार अनुपात और संख्या के अनुसार गुजरात मे कबीलों की समस्या महत्वपूर्ण है।

यह भी उल्लेखनीय है कि गुजरात मे कबीलों की जनसंख्या लगातार बढ़ रही है। १९६१ की गणना में यह वृद्धि लगभग ३५% पाई गई थी।

गुजरात में लगभग २९ कबीले अनुसूची में उल्लिखित हैं, उनमें बर्द, भील, चोधरा, टाडवी, ढोडिया, गोंड, कोली, नायकड, पारधी, वर्ली, भरवद, और रबारी आदि संमिलित हैं। किंतु यह सूची अधूरी है।

कबीलों की आबादी सूरत में, राज्य के अन्य स्थानों की अपेक्षा, अधिक है। इसके बाद पचमहल, भड़ौच, बड़ौदा, साँबर काँठा, डांग, बनस काँठा और कच्छ का स्थान आता है। भीलों की संख्या सर्वाधिक है, उसके बाद दुबला, गामिट, ढोडिया, चोधरों, और कोंकणों का नंबर आता है।

कबीलों के धंधे — अधिकांश लोग खेतिहर हैं। दूसरा नंबर नौकरी का है, किंतु यह नौकरी प्राय: घरेलू नौकरी होती है। यह भी उल्लेखनीय है कि खेती और खेतिहर श्रम उनका मुख्य आधार है। किंतु उन इलाकों में, जहाँ वे रहते हैं, भूमि अधिक उर्वर नहीं है तथा पानी की सुविधाएँ बहुत कम हैं, अत: वर्षा ऋतु समाप्त होने पर कुछ लोग धधों की तलाश में शहरों को चले जाते हैं। कबीलों में शिक्षा का अनुपात मात्र ११·७% है। किंतु प्राथमिक शिक्षा का अनुपात अवश्य अपेक्षाकृत ऊंचा है।

यह उल्लेखनीय है कि २७ लाख की कबीली जनसंख्या मे केवल १७ विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। ढोडिया शिक्षा मे सबसे आगे हैं और तब चोधरों (chodhoras) और गामितों के नाम आते हैं।

गुजराती कबीलों के वंश साम्य का भौगोलिक विस्तार निम्न प्रकार है।

(१) उत्तरी गुजरात के भीलों और राजस्थान के भीलों में समानता है।

(२) पंचमहल, बड़ौदा और भड़ौंच जिलों के भील मध्यप्रदेश के कबीलों (Tribes) से मिलते जुलते हैं।

(३) दक्षिण गुजरात के कबीलों यथा ढोडिया, चोधरा गामित, कोंकण, दुबला, भील और नायक में महाराष्ट्रीय कबीलों से समशीलता हैं।

(४) सौराष्ट्र और कच्छ के कबीले पिछड़ी जातियों और पिछड़े हुए समुदायों के समकक्ष माने जाते हैं। कबीलों का सामाजिक ढाँचा वंश संबंधों पर आधारित रहता है। प्रेमविवाह, विधवाविवाह, तलाक के पश्चात् विवाह तथा घरजमाई आदि रिवाज भीलों, दुबलों और चोधरों में बहुत व्याप्त हैं।

इन लोगों की धार्मिक मनोवृत्ति पशुपूजा तथा देवियों की पूजा आदि में अभिव्यक्त होती है। ये प्राय: मूर्तिपूजक नहीं होते। ऐसा पाया गया है कि अन्य कबीलों की भाँति गुजराती कबीलों का जीवन भी धर्मसमारोह और मनोरंजन से पूर्ण होता है।

सूरत में फसल कट चुकने तथा अनाज घर आ जाने के पश्चात् चोधरा, धनका तथा नायक पर्वत देवता के निकट जाते हैं तथा मुर्गियों और बकरियों का बलिदान करते हैं। इसी प्रकार भील व्याघ्रों तथा नाग साँपों की पूजा करते हैं। वे 'मेलादी माई', 'कालका माई' आदि देवियों की भी पूजा करते हैं। नामित चेवक के देवता 'काका बालिया' की पूजा करते हैं।

होली, दिवाली, रक्षाबंधन आदि पर्व मनाए जाते हैं। इन अवसरों पर वे नाचते गाते हैं। कबीलों के मुर्गा नृत्य, रज्जु नृत्य और धान्य कटाई नृत्य बहुत लोकप्रिय हैं।

सभी कबीले प्राय: भूतों प्रेतों आदि में विश्वास करते हैं। बीमारी आदि में वे 'भुवो' कहे जानेवाले झाड़-फूँक चिकित्सक पर विश्वास करते हैं। उनकी आस्था अनेक देवियों और देवताओं में भी होती है। उनका धार्मिक नेता 'भगत' कहलाता है। वास्तव में 'भगत' उन लोगों के जीवनपथ का मार्गदर्शक होता है। वह उनके क्रियाकलापों, त्योहारों और रीतिरिवाजों का निर्देशन करता है।

गुजराती कबीलों के तीन शत्रु होते हैं—अतिशय मदिरापान, रुपये उधार बाँटनेवाले और जंगलों के ठेकेदार। दरअसल शराब पीना उनके यहाँ बुराई न होकर एक सामाजिक आवश्यकता है। शिशु के उत्पन्न होने के छठें दिन का समारोह शराब पीकर मनाया जाता है। विवाहादि बिना शराब के पूर्ण माने ही नहीं जाते। 'भगत' उन्हें शराब और रुपया बाँटनेवालों से दूर रखने का प्रयत्न करता है। और भी अनेक संस्थाएँ उनकी स्थिति सुधारने का प्रयत्न कर रही हैं। सरकार कानून द्वारा और सामाजिक कार्यकर्ता अनेक संस्थाओं यथा 'भाल सेवा मंडल', 'रानीपुरज सेवा समिति' और 'कस्तूरबा सेवाश्रम' द्वारा एक ओर आदिवासियों की संस्कृति की रक्षा का प्रयास कर रहे हैं और दूसरी ओर उनकी स्थिति भी सुधार रहे हैं। धीरे धीरे सिनेमा, संगीत और नृत्य नाचने-गाने के प्राचीन रूपों का स्थान ले रहे हैं।

स्वयं अब आदिवासियों द्वारा ही अपने युवकों का आह्वान किया जा रहा है। रहन सहन में सुधार करने तथा जीवन को उन्नत बनाने का चतुर्दिक् प्रयास किया जा रहा है।

इस जागृति के फलस्वरूप जाति उत्थान की चेतना ने कबीलों में व्यापक अंगड़ाई सी ली है।

[सी० दे०]

मुख्य जातियाँ और कबीले (पूर्वी भारत के) पूर्वी भारत (असम, बिहार, उड़ीसा और अन्य समीप प्रदेशों) में अनुसूचित जातियों एवं आदिवासियों की आबादी इस प्रकार है —

राज्य	अनुसूचित जातियाँ	आदिवासी
असम	१७·४२%	६·१७%
बिहार	६·०५%	१४·०७%
प० बंगाल	५·६१%	१६·६०%
उड़ीसा	२४·०७%	१५·७५%
मणिपुर	३१·९३%	१·७१%
नागालैंड	६३·०३%	१·०३%
नेफा	१·५०%	
त्रिपुरा	३६·५३%	१०·४८%

सबसे पहले प्रजातीय संबंध के आधार पर भारतीयों का विभाजन सर हर्बर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley) ने किया। १९११ की जनगणना के उच्चतम अधिकारी रिज़ले के अनुसार भारतीयों को मोटे तौर पर तीन मुख्य प्रजातियों में बाँटा जा सकता है १. द्रविड़, २ इंडोआर्यन, ३. मंगोलियन, परंतु हडन (A. C. Haddan) ने रिज़ले के विचार से असहमति दिखाते हुए भारतीय समाज में पूर्वद्रविड़ (Pre Dravadian) को महत्वपूर्ण बताया। लेकिन हटन (G. H. Huttan) ने भारत के मूल निवासी नेग्रिटो (Nigritoes) लोगों को माना है। डॉ० गुहा ने १९३१ की जनगणना के अवसर पर भारतीयों को छह मोटे मोटे भागों में बाँटा। वास्तव में भारत जैसे देश की जनसंख्या को विभिन्न मूल जातियों में बाँटना और भिन्न समूहों को अलग अलग भागों में रखना कठिन ही नहीं, प्राय: असंभव सा है।

समय समय पर संसार के विभिन्न भागों से लोग यहाँ आकर बसते गए हैं। फिर आपस में शादी ब्याह का संबंध बढ़ता चला गया। अत: यह बताना बहुत ही कठिन है कि वस्तुत: कौन किस मूल जाति से संबंधित लोग हैं। लेकिन सुविधा के लिये हम पूर्व भारत तथा मध्य भारत के आदिवासियों को प्रोटो ऑस्ट्रेलायड (Proto Australoid) तथा उत्तरी भारत के आदिवासियों को मंगोलायड (Mongoloid) मूल जातियों में रख सकते हैं। मगर जहाँ तक विभिन्न जातियों का संबंध है, उन्हें किसी प्रकार भी दो तीन मूल जातियों से संबंधित करना बहुत कठिन है। इनमें मंगोल, प्रोटो आस्ट्रेलायड, मेडेटेरेनियन (Mediterranian) द्राविडियन, अलपाइन (Alpine) तथा नौर्डिक (Nordic) मूल जातियाँ आती हैं।

धर्म के आधार पर यदि देखा जाय तो पूर्वी भारत में हिंदुओं की संख्या सबसे अधिक है। इसके बाद मुसलमानों की संख्या आती है। मुसलमानों में कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिनके पूर्वज अरब ईरान, तुर्की, अफ़गानिस्तान इत्यादि देशों से आए किंतु अधिकांश लोग वही हैं जो धर्मपरिवर्तन के द्वारा मुसलमान हुए। इनमें मुख्यत: पिछड़े तथा अछूत जाति के लोग आते हैं। इसी प्रकार ईसाई धर्म के लोगों

की संख्या भी अधिकांशतः उन्हीं लोगों से है जो धर्मपरिवर्तन द्वारा ईसाई हुए हैं। ईसाई मिशनरियों ने छोटा नागपुर के आदिवासियों तथा आसाम और नेफा के पहाड़ी कबीलों के जीवन में व्यापक परिवर्तन उपस्थित किया है। पूर्वी भारत की मुख्य जातियों में ब्राह्मण, भूमिहार, राजपूत और कायस्थ उच्च जातियाँ समझी जाती हैं।

ब्राह्मण जाति के लोग पूर्वी भारत में हर स्थान पर पाए जाते हैं। यह जाति प्राचीन काल से ही भारत में महत्वपूर्ण रही है। आज भी इनमें से अधिकतर लोगों का मुख्य कार्य पूजा पाठ करना, वेदों का अध्ययन करना और अन्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक कार्यों को करना, कराना है। यही कारण है कि धर्म पर आज भी इनका अधिकार है और समाज में इनकी अधिक प्रतिष्ठा है। पर अब देश के विभिन्न व्यापारों तथा व्यवसायों में अन्य जातियों के समान ब्राह्मण भी काम करने लगे हैं। समाज में शिक्षा के प्रसार, औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव से अब ब्राह्मण और अन्य जातियों के व्यक्तियों में जन्म के कारण ऊँच नीच का भेद खत्म हो गया है और उनमें विशेष अंतर नहीं रह गया है।

वैदिक ब्राह्मणों की संख्या बंगाल में अधिक है। वैदिक शब्द का अर्थ है वह ब्राह्मण जो वेदों की विद्या अपने साथ लाए। यह लोग सात आठ सो वर्ष पहले ऐसे समय में यहाँ आए जब वेदों की धार्मिक रीतियों को बंगाल के ब्राह्मण पुरोहित भूल चुके थे।

कायस्थ दूसरी महत्वपूर्ण जाति है। संस्कृत भाषा में कायस्थ शब्द दूसरों की अपेक्षा नया है। यहाँ तक कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा सम्राट् अशोक के लेखों में भी इनका नाम नहीं मिलता। यह शब्द एक ही बार याज्ञवल्क्य संहिता में मिलता है। इनकी उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न कथाएँ प्रचलित हैं। (दे० 'कायस्थ')। मुगल बादशाहों के समय ये लोग लिखने पढ़ने से संबंधित कार्य किया करते थे। पुराने जमाने में ये प्रशासनिक अधिकारी, जज, मंत्री, क्लार्क, लेखापाल आदि के रूप में रहते थे।

बंगाल में साधारणतः ये लोग अपने नाम के साथ घोष, मित्र, दत्त और दास जोड़ते हैं। बिहार आदि में प्रसाद, सिंह, वर्मा, अंबष्ठ, सक्सेना, खरे, माथुर, दयाल, इत्यादि जोड़ते हैं। बंगाल और असम में नामशूद्र (Namsudras) जाति के व्यक्ति भी अधिक संख्या में हैं। यह लोग अधिकतर खेतीबाड़ी, मछली पकड़ना, मल्लाह तथा बढ़ई का काम किया करते हैं। भूमिहार या बाभन जाति के लोग मुख्यतः बिहार में मिलते हैं। अन्य प्रदेशों में इनकी संख्या बहुत कम है। यह लोग अधिकतर खेती करते हैं। भूमिहार अपने को ब्राह्मण जाति से संबंधित बताते हैं। किंतु रिज़ले के अनुसार इनका अधिक संबंध राजपूतों के समीप मालूम पड़ता है। यह लोग बिहार में ब्राह्मणों जैसा गोत्र और पारिवारिक नाम रखते हैं जैसे मिश्र, पांडे, तिवारी अथवा राय, सिंह और ठाकुर (दे० 'भूमिहार')।

इनके अतिरिक्त पेशों के आधार पर भी बहुत सी जातियाँ पाई जाती हैं। बिहार तथा उड़ीसा में ग्वालों और कुर्मियों की संख्या अधिक है। ये लोग असम तथा बंगाल में भी पाए जाते हैं। ग्वाल जाति के लोग पशुपालन और दूध बेचने का काम करते हैं। कुर्मी कृषक प्रायः खेतिहर मजदूर हैं। तेली जाति के लोग तेल निकालने और बेचने का काम करते हैं। बनिया विभिन्न प्रकार के व्यापार करते हैं। पूर्वी भारत में ये लोग अधिक संख्या में पाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ बड़ी संख्या में पिछड़ी जाति के लोग भी हैं। इनमें डोम, चमार, धोबी, दुसाध, नट, माली आते हैं। इनकी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति सदा से खराब रही है। विशेषकर बंगाल तथा बिहार में उच्च जातिवालों द्वारा ये बहुत सताए गए हैं। पहले समाज में इनका कोई स्तर ही नहीं था, इन्हें कुँए से पानी लेने तक का भी अधिकार न था, मंदिर में जाने पर प्रतिबंध था। लेकिन अब स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद से सरकार ने इनके आर्थिक, तथा सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाने का प्रयत्न आरंभ किया है। कानून द्वारा अस्पृश्यता को मिटा दिया गया है और इन्हें आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार मिले हैं। असम की मुख्य जनजातियों में नागा गारो, खासी, लुशाई, कछारी, कूकी, मीजू इत्यादि हैं।

ब्रह्मपुत्र नदी के दक्षिण में पूरब की ओर बर्मा और चीन की सीमा से मिलता हुआ जो पूर्ववर्ती अंचल है उसमें नागा जनजाति के लोग रहा करते हैं। नागा प्रजाति में कई प्रजातियाँ संमिलित हैं—अंगामी नागा, सेमा नागा, अगे नागा, लहोटा नागा, संगतम नागा, इत्यादि। इनकी जनसंख्या लगभग ३·७० लाख है। नागाओं में सिर काटने (Head hunting) की प्रथा बड़ी पुरानी है, किंतु अब यह खत्म हो रही है। इनका रंग गंदुमी, कद छोटा और शरीर पुष्ट होता है। यह लोग खेती करते हैं और धान, बाजरा, इत्यादि पैदा करते हैं। इनकी स्त्रियाँ बड़े सुंदर कपड़े बुनती हैं। बच्चों के लिये शयनशालाएँ (Dormitories) हैं जिन्हें यह लोग 'घोतुल' कहते हैं। इनके गाँव पहाड़ियों के ढाल या चोटी पर बसे होते हैं। अब अधिकतर नागाओं ने ईसाई धर्म को अपना लिया है और शिक्षित होते जा रहे हैं (दे० 'नागा')।

खासी लोग शिलांग तथा चेरापूंजी के बीच रहते हैं। इसे साँपों का देश कहा जाता है। इनकी आबादी लगभग ढाई लाख है। अलग अलग क्षेत्रों में इनके अलग अलग नाम हैं जैसे सिंकिर, मोई, वार, चिराम, होटेम और सिंगटेम। खासी भाषा मुंडारी से मिलती है। खासी समाज मातृमूलक है। जायदाद की अधिकारिणी छोटी लड़की हुआ करती है। संगीत और नाच से इन्हें अधिक प्रेम है। यह लोग अच्छे खेतिहर हैं और धान, मकई, आलू इत्यादि पैदा करते हैं। खासी लोग बेत की चीजें तथा मिट्टी के बरतन भी बनाया करते हैं। यह लोग अपने सर्वोच्च देवता को सृष्टि का निर्माता मानते हैं। प्रत्येक गाँव का एक पुजारी होता है, जिसे लिंगदों कहते हैं।

असम के नेफा इलाके में आका (Aka) नाम की प्रजाति कामेंग डिवीजन में पाई जाती है। इनके गाँव पहाड़ों की चोटियों पर बसे होते हैं। इनका असली नाम ह्रुस्सो (Hrusso) है, किंतु असम के लोग इन्हें 'आका' इसलिये कहते हैं क्योंकि ये अपने मुँह रंग लिया करते हैं। इनके रंग साफ, शरीर पुष्ट तथा नाक चिपटी होती है। इनकी भाषा आसपास की जनजातियों जैसे—डफला (Daflas), मिरि, मीपा तथा अबुंकपेन लोगों—से भिन्न है। ग्रियर्सन के अनुसार इनकी भाषा तिब्बती-बर्मी भाषा-समूह से मिलती जुलती है। इनके समाज में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के समान है।

यह लोग झूम की खेती करते हैं और बहुत से देवताओं की पूजा करते हैं।

अबुंकपेल जनजाति के लोग भी नेफा में बोमडिला (Bomdila) के पास पाए जाते हैं। इनका रंग साफ और कद औसत होता है। यह पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार प्रथा को मानते हैं। इनका समाज कुछ गोत्रों में विभाजित हैं। गोत्र के अंदर विवाह पर प्रतिबंध है। इनका धर्म बौद्ध मत तथा स्थानीय विश्वासों पर आधारित है।

चटगाँव की पहाड़ी जनजातियों में चकमा (Chakma) तथा माघ (Magh) प्रसिद्ध हैं। माघ जाति के लोग झरनों के किनारों पर पहाड़ी की घाटियों में रहा करते हैं। शायद १७वीं शताब्दी में इनके पूर्वज अराकान (Arakan) से कौक्स बाजार (Cox Bazar) में आए थे। माघ गाँव में साधारणत: १० से लेकर ४० तक घर हुआ करते हैं। घर बाँस के बनते हैं। अब ये बौद्ध धर्मावलंबी हैं। विवाह आम तौर से गोत्र ही में होता है। इनकी भाषा आराकानी है जो बर्मी भाषा की एक शाखा है। इन्हें गोदना कराने (Tattoing) से बड़ा प्रेम है। यह लोग अब भी झूम की खेती करते हैं लेकिन अब धीरे धीरे इनमें हल का रिवाज बढ़ता जा रहा है।

चकमा (Chakma) लोगों को अपने इतिहास का बहुत ही कम ज्ञान है। अनुमान है कि ये माघ स्त्रियों तथा मुगल सिपाहियों की संतान हैं। ये बंगालियों और मंगोलों से मिलते जुलते हैं। ऊँचे घराने के लोग बरातियों जैसे कपड़े भी पहनते हैं। इनके गाँव झरनों के किनारों पर बसे होते हैं। इन लोगों ने भी बौद्ध धर्म अपना लिया है।

इन जनजातियों के अतिरिक्त इस इलाके में तिपेरा, खियांग, कूकी, मरो इत्यादि लोग भी पाए जाते हैं।

पहाड़ी भुइँयाँ (Bhuyiyans) यों तो बिहार, बंगाल और असम में भी पाए जाते हैं, किंतु इनका असली निवासस्थान उड़ीसा ही है। इनकी आबादी २० लाख से कम है। इन्हें भुइयाँ शायद इसलिये कहा जाता है कि यह भूमि के मालिक हैं। १९३१ की जनगणना में इन लोगों को कोल जनजातियों में माना गया है और इन्हें बैगा (Baiga), भैना, भूजिया लोगों के समान बताया जाता है। इनका रंग भूरा, कद औसत और बाल काले होते हैं। इनके समाज में पितृसत्तात्मक परिवार होते हैं। एक गाँव में एक दर्जन से लेकर ४० तक घर हुआ करते हैं। वैसे बहुत से देवता पूजे जाते हैं, लेकिन इनका धर्म देवता सर्वोच्च तथा सृष्टि का निर्माता माना जाता है। इनका मुख्य मनोरंजन नाचना, गाना और शराब पीना है।

बिहार, बंगाल और उड़ीसा के मुख्य आदिवासियों में संथाल, मुंडा, हो, उराँव, बिरहोर, खरिया, सौरा पहड़िया, भूमीज, असुर, कारवा इत्यादि हैं। १९४१ की जनगणना के अनुसार संथालों की आबादी २७ लाख से कुछ अधिक थी। यों तो यह बंगाल, उड़ीसा तथा किसी हद तक मध्य प्रदेश में भी पाए जाते हैं किंतु बिहार का संथाल परगना इनका मुख्य निवासस्थान है। यह लोग भारत के प्राचीन निवासी माने जाते हैं। इनका रंग साफ और कद छोटा होता है। ये लोग संथाली भाषा बोलते हैं और बड़े मेहनती होते हैं। महाजनों के अत्याचार से तंग आकर इन्होंने १८५५ में विद्रोह किया था। यह लोग सबसे बड़े देवता को ठाकुर कहते हैं। इनका कबीला बहुत से गोत्रों में बँटा हुआ है। इनके समाज में सगोत्र विवाहप्रथा नहीं है। इनके यहाँ कन्याधन लड़के के माता पिता देते हैं। गाँव का मुखिया सरदार होता है।

उराँव जनजाति के लोग भी बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में पाए जाते हैं। यह लोग अन्न के अतिरिक्त रुई भी पैदा करते हैं। इनका समाज विभिन्न गोत्रों में बँटा हुआ है और प्रत्येक गोत्र का अपना गणचिह्न (Totem) होता है। अपने गोत्र के बाहर ही किसी का विवाह होता है। इनके गाँवों में बच्चों के लिये जो शयनागार है उन्हें धुमकुरिया कहा जाता है। अब जिन उराँव लोगों ने ईसाई धर्म अपना लिया है, उनके गाँव में बच्चों के लिये धुमकुरिया नहीं होते। मुंडा और उराँव लोगों ने मिलकर हिंदू साहूकारों तथा मिशनरियों के खिलाफ एक आंदोलन चलाया था जिसे 'बिरसा आंदोलन' कहते हैं। यह लोग अपनी भाषा में अपने को 'कोरख' (मनुष्य) कहते हैं।

[जि० अ०]

मुख्य जातियाँ और कबीले (मध्य प्रदेश के) मध्यप्रदेश वास्तव मे भारत की आदिवासी संस्कृतियों का सबसे बड़ा संग्रह स्थान है। बड़े छोटे लगभग ३९ कबीले मध्यप्रदेश में (विशेषत: उसके पर्वतीय क्षेत्रों) रायपुर, बिलासपुर, शहडोल, रीवाँ, बस्तर, जबलपुर और छिंदवाड़ा में बसे हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं — (१) आबूझमड़िया (२) अगरिया (३) बैगा (४) भैना (५) भरिया (६) भातरा (७) भील (८) भिलाला (९) बिझवार (१०) भुंजिया (१२) भंवार (१३) धोबा (१४) धुरवा (१५) दोवला (१६) गदाबा (१७) गोंड (१८) हाल्बा (१९) कलंग (२०) कमर (२१) कवार (२२) खैरवार (२३) खारिया (२४) खोंड (२५) कोल (२६) कोरकू (२७) कोरवा (२८) मझवार (२९) मूडा (३०) मुड़िया (३१) नगरची (३२) नागेसिया (३३) निहाल (३४) ओझा (३५) ओरांव (३६) पार्धी (३७) प्रधान (३८) सहरिया (३९) सावर।

इन कबीलों में गोंडों का उल्लेख विशेष रूप से आवश्यक है। यह न केवल मध्यप्रदेश का, वरन् भारत का सबसे बड़ा कबीला है। १९४१ में इनकी कुल संख्या ३२ लाख थी, जिसमें २५ लाख केवल मध्यप्रदेश में रहते थे। गोंडों के कई भेद हैं — मड़िया, मुड़िया भातरा। राजगोंड उनमें सर्वोपरि हैं। गोंडवाना या गोंडराज्य कभी छिंदवाड़ा, मंडला, आदिलाबाद और वरंगल जिलों तक फैला हुआ था। इनके बाद भीलों का स्थान है, जो संख्या की दृष्टि से देश की तीसरे नंबर की जनजाति है।

मध्यप्रदेश के कबीले अनेक बोलियाँ बोलते हैं, जो मुख्यत: दो भाषापरिवारों ऑस्ट्रिक (Austric) और द्राविड़ के अंतर्गत आती हैं। गोंडों द्वारा बोली जाने वाली गोंडी द्राविड़ भाषाओं से संबंधित

स्पष्ट छाप पड़ती है। कोरवा, खोंड और गोंड आदि मुख्य कबीले द्रविड़ परिवार से संबंध रखनेवाली बोलियाँ बोलते हैं। किंतु उनपर आस्ट्रिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जो हो, स्थानीय ग्रामीणों के संपर्क में आने के कारण वे प्रायः द्विभाषी हो गए हैं। एक तो वे अपनी भाषा बोलते हैं तथा दूसरी आसपास के उन ग्रामीणों की जो या तो हिंदुस्तानी होती है या उड़िया।

मध्यप्रदेश के कबीलों में वंशसाम्य खोजना काफी कठिन है, क्योंकि किसी मत के समर्थन मे कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसलिये जो भी निष्कर्ष निकलते हैं, वे अस्थायी ही माने जा सकते हैं। इस संबंध में रिजले आदि के मत पहले दिए जा चुके हैं (दे० पूर्वी भारत के कबीले)। रिजले के कथनानुसार द्रविड़ और मंगोलियाई मुख्य रूप से भारतीय कबीलों का निर्माण करते हैं। हाल में गुहा ने भारतीय जातियों के वर्गीकरण का प्रयास किया है। उन्होंने छह मुख्य जातियों के नाम लिए हैं (१) नीग्रिटो (२) प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड (३) मंगोलायड (४) मेडिटेरेनियन (५) वेस्टर्न ब्राकीसेफल्स (६) नार्डिक। हुटन का वर्गीकरण गुहा के वर्गीकरण से मिलता जुलता है। वर्तमान कबीलों की पूर्वज परंपरा पहले तीन की कोटियों में आती है। गुहा का मत है कि मध्यभारत के कबीले प्रो-आस्ट्रोलॉयड वर्ग के हैं।

मध्यप्रदेश के कबीलों के आर्थिक जीवन में भूमि और जंगलों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में उनमे से अधिकांश खेती का एक आदिम तरीका अपनाते थे। वह तरीका बस्तर के मड़िया कबीलों में 'पेंडा', खोंडों मे पेंडू और बैगा कबीलों में 'बेवार' कहलाता है। इस तरीके में बोआई के मौसम के कुछ पूर्व पर्वतीय क्षेत्रों के पेड़ों को गिराकर उनमे आग लगा दी जाती है और उनकी राख मे बीज बो दिए जाते हैं। इन सभी क्रियाओं के आगे पीछे धार्मिक उत्सव होते हैं। इस प्रकार की कृषिपद्धति बहुत ही अपव्यय-पूर्ण होती है, किंतु कबीलों के पौराणिक विश्वास इस पद्धति का समर्थन करते हैं। 'बैगा' कबीलों का विश्वास है कि भूमि जोतने से धरती माता की देह क्षत-विक्षत हो जाती है। जो हो, अब कुछ समय से अनेक कबीलों ने सुव्यवस्थित ढंग से खेती करना आरंभ कर दिया है।

भूमि की अनुर्वरता तथा जोतने बोने के अलाभकारी तरीकों आदि कारणों से कबीलों को अपना भोजन जुटाने के लिये अनेक वनस्पतियों तथा जंगली उत्पादन, शहद आदि, पर निर्भर करना पड़ता है। बहुत से कबीले कभी कभी शिकार करने, मछली पकड़ने तथा टोकरी बुनने आदि हस्तशिल्पों का भी सहारा लेते हैं। कोरवा और अगरिया लोहा गलाने और स्थानीय प्रयोग के लिये औजार बनाने का काम करते हैं। नगाड़ची बाजा बजाकर रोजी कमाते हैं।

मध्यप्रदेश के कबीले सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। पितृसत्तात्मक और पितृवंशीय परिवार सामान्यतः प्रचलित हैं, और परिवार बसाने के लिये विवाह आवश्यक माना जाता है। अनेक कबीलों में अपने ही गोत्र में विवाह वर्जित है। गोंड लोग अपने गोत्र से बाहर ही विवाह करते हैं।

इन कबीलों में विवाह की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। ये पद्धतियाँ हैं शास्त्रीय विधि से होनेवाला विवाह, किसी तरह की सेवा के बदले में किया जानेवाला विवाह, परस्पर सहमति द्वारा विवाह, अपहरण द्वारा विवाह, कन्या के घर में बलात् प्रवेश द्वारा विवाह। भीलों में शास्त्रीय विधि के अतिरिक्त अपहरण विधि बहुत प्रचलित है। गोंडों में सभी पद्धतियाँ प्रचलित हैं।

यह उल्लेखनीय बात है कि इन कबीलों में विवाह के अवसर पर लड़कों और लड़कियों को अपना जीवनसाथी चुनने की पूरी स्वतंत्रता रहती है। प्रौढ़ विवाह अधिक प्रचलित हैं, बालविवाह यदा कदा ही देखने में आते हैं। इधर कुछ बाहरी प्रभावों के कारण कुछ कबीलों—जैसे भुइयाँ, भुंजिया और धोरला—में बालविवाह का प्रचलन बढ़ रहा है।

सभी कबीलों में वधूमूल्य देने की प्रथा है। यह वधूमूल्य प्रायः अनाज के रूप में दिया जाता है; किंतु कुछ सीमा तक पशु और मुद्रा के रूप में भी मूल्य अदा किया जाता है। खैरा कबीले में एक वधू का मूल्य १२ बैलों के बराबर होता है। किंतु अनेक परिवार इसे प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं और दो बैल या एक जोट बैल की जगह कुछ मुद्राएँ देकर काम चलाते हैं। कुछ कबीलों में निर्धन युवक अपनी ससुराल में सेवा करके अपनी पत्नी का मूल्य चुकाते हैं। इस प्रकार अरिया, बैगा, गोंड और कोरकू कबीलों में सेवा द्वारा वधूमूल्य चुकाने की परंपरा है। कवारों में दो परिवारों में लड़कियों के परस्पर आदान प्रदान द्वारा काम चला लिया जाता है। यह प्रथा 'गुमलत' कही जाती है।

ममेरे फुफेरे भाई बहनों का विवाह अनेक कबीलों—गोंड, हालबा और अबूझमड़िया—में बहुत पसंद किया जाता है। विधवा विवाह प्रायः सभी कबीलों में प्रचलित है, उसमें भी मृतक पति के छोटे भाई से विवाह अधिक अच्छा माना जाता है। यद्यपि युवक युवतियों मे विवाह के पूर्व यौन संबंधों की काफी स्वतंत्रता रहती है, तथापि व्यभिचार मान्य नहीं है, और इसमें कड़े दंड की व्यवस्था है। औरतों में गोदना बहुत प्रिय है; कुछ कबीलों में तो यह आवश्यक माना जाता है।

इन कबीलों में अविवाहितों के लिये शयनशालाओं का, जिन्हें धुमकुरिया या घोटुल कहते हैं, बहुत महत्व है; और युवक युवतियों के लिये प्राय. अलग अलग शयनशालाएँ होती हैं। मुड़िया कबीले में घोटुल बहुत सुव्यवस्थित बना होता है, जहाँ क्वाँरे सदस्य एकत्र होकर नाचते गाते हैं, परस्पर लोककथाएँ कहते सुनते और रात को सोते हैं। युवक युवतियों को पूरी यौन स्वतंत्रता रहती है किंतु व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम की अनुमति नहीं दी जाती। घोटुल के वरिष्ठ सदस्य कनिष्ठ सदस्यों को उसके नियमादि सिखाने का कार्य करते हैं। शयनागार के अफसर, जो वरिष्ठ सदस्यों के बीच से चुने जाते हैं, वहाँ की गतिविधियों को नियंत्रित करते हैं और अनुशासन कायम रखते हैं। खेती, शिकार, मधुसंग्रह आदि की शिक्षा इन्हीं शयनशालाओं में सामूहिक रूप से दी जाती है। इस प्रकार ये शयनागार कबीलों की सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखने और उसे पीढ़ी दर पीढ़ी चलाते रहने की महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका अदा करते हैं।

साँपों, व्याघ्रों, पेड़ों और अन्य कबाइली देवताओं के साथ साथ वे शिव, विष्णु तथा हनुमान की भी पूजा करते हैं। बलि चढ़ाकर भूत प्रेतों को प्रसन्न करने तथा जादू टोने आदि का काफी प्रचलन है।

भीलों तथा कुछ अन्य कबीलों में होली, दशहरा और रामनवमी आदि हिंदू पर्व भी मनाए जाते हैं। स्पष्ट है कि कबीलों के धर्म पर हिंदू धर्म की छाप है।

इन कबीलों में मृतक को भूमि में गाड़ने की प्रथा है। किसी धनी या महत्वपूर्ण व्यक्ति के मरने पर उसे जलाया भी जाता है। भीलों और मुड़ियाओं में 'जलाना' सामान्य प्रथा है। हिंदुओं के साथ उनके संपर्क के साथ साथ जलाने की प्रथा बढ़ती जा रही है, और इसे सामाजिक प्रतिष्ठा तथा अच्छी स्थिति का सबूत माना जाता है।

इनमें अनेक हस्तकलाओं का अच्छा विकास हुआ है। नृत्य मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय साधन है, जिसमें पुरुष और स्त्रियाँ दोनों भाग लेते हैं। कुछ कबीलों ने तो अपनी नृत्यकला को इतना उन्नत कर लिया है कि उदयशंकर जैसे भारत के शीर्षस्थ शास्त्रीय नर्तक भी उसकी ओर आकर्षित हुए हैं।

कबीलों में राजनीतिक संस्थाओं के गठन का भी विकास हुआ है। प्रत्येक कबीले के गाँव का एक मुखिया होता है और उसकी अपनी ग्रामपरिषद् भी।

अंग्रेजों की अहस्तक्षेपकारी और कबीला क्षेत्र को अलग रखने की नीति ने उनकी बड़ी हानि की। परिणाम यह हुआ कि लालची बनियों ने भारी ब्याज पर रुपया उधार बाँटकर उनका शोषण करने का अवसर पाया। इसी प्रकार ईसाई धर्मप्रचारक समितियों ने भी उनके विकास और सांस्कृतिक उत्थान में बड़ी बाधा पहुँचाई। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् जनजातियों की समस्या को राष्ट्रीय और राजनीतिक महत्व प्राप्त हो गया है। इसके परिणाम स्वरूप कबीलों के हितों की रक्षा तथा उनके सामाजिक-आर्थिक-विकास के लिये अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं। संविधान में सामान्य रूप से उन्हें पूरी सुरक्षा प्रदान की गई है, तथा भूमिधन पर उनके अधिकारों को सुरक्षित करने और बनियों के शोषण से मुक्त करने की भी व्यवस्था की गई है। सरकार ने आर्थिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य और यातायात संबंधी सामुदायिक विकास योजनाएँ भी चालू की हैं, जिससे आशा की जाती है कि भारत के कबीले आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान की ओर बढ़ेंगे।

सं० ग्रं० — दुबे, एस० सी० : द कमार (लखनऊ, १९५१); एल्विन, वी० : द बैगा (लंदन, १९३९), द मुड़िया ऐंड देयर घोटुल (लंदन, १९४७); ग्रिगसन, डब्ल्यू० वी० : द मरिया गोंड्स ऑव् बस्तर (आक्सफर्ड, १९३८); नायक, टी० बी० : द अबू झमड़िया; रसेल, आर० वी० तथा हीरालाल, आर० बी० : द ट्राइब्ज़ ऐंड कास्ट्स ऑव् द सेंट्रल प्रोविंसेज ऑव् इंडिया (१९१६); सिंह, इंद्रजीत : द गोंडवाना ऐंड द गोंड्स (लखनऊ, १९४४) ट्राइबल रिसर्च इंस्टीट्यूट, छिंदवाड़ा : द ट्राइब्ज ऑव मध्य प्रदेश (१९६४)। [टी० एम० बो०]

मुख्य जातियाँ और कबीले (आस्ट्रेलिया के) इस महादेश की जातियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : १. आदिवासी जातियाँ तथा २. श्वेतांग जातियाँ।

(१) आदिवासी वर्ग — इस वर्ग में शुद्ध आदिवासी एवं मिश्रित आदिवासी आते हैं। प्रागैतिहासिक तथ्यों के आधार पर आस्ट्रेलिया के आदिवासियों का मूल संबंध दक्षिण-पूर्वी एशिया की कतिपय जातियों से जोड़ा जा सकता है। किंतु यह कहना कठिन है कि इन जातियों का संबंध अपने उद्गम स्थल से कब तक बना रहा।

१९६१ की जनगणना के अनुसार आस्ट्रेलिया के ४०,०८१ आदिवासी शुद्ध उपवर्ग में और ३९,१७२ आदिवासी मिश्रित उपवर्ग में हैं। शारीरिक लक्षणों के आधार पर इन सभी आदिवासियों को 'ऑस्ट्रेलॉयड' की संज्ञा दी गई है। इनके शरीर का रंग प्राय: कत्थई है। शरीर में बालों की बहुतायत, छोटा माथा, सँकरा सिर, चौड़ा मुँह, बड़ी एवं चपटी नाक आदि शुद्ध आदिवासियों के मुख्य शारीरिक लक्षण हैं। मिश्रित आदिवासियों में रक्तमिश्रण के मात्रानुसार अनेक प्रकार के अंतर आ गए हैं। कई मिश्रित आदिवासी शारीरिक लक्षणों में श्वेत वर्ग के बहुत समीप हैं तो कई शुद्ध आदिवासी वर्ग के। ऑस्ट्रेलॉयड जाति के कुछ वर्ग दक्षिण भारत, मलएशिया तथा लंका में भी पाए जाते हैं। ऑस्ट्रेलिया के शुद्ध आदिवासी एक ही परिवार की विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। शब्दकोश एवं गढ़न की विभिन्नता होते हुए भी इनमें मूलभूत समानता पाई जाती है। सन् १७७८ में शुद्ध आदिवासियों की अनुमानित जनसंख्या ३००,००० थी जो लगभग ५०० कबीलो मे बँटी थी। आज के आदिवासी ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी क्षेत्र में सर्वाधिक संख्या में हैं, यद्यपि इनके कुछ कबीले पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया, न्यू साउथ वेल्स, विक्टोरिया क्वींसलैंड तथा दक्षिण ऑस्ट्रेलिया राज्यों में भी मिलते हैं। ऑस्ट्रेलिया महादेश में यूरोपियन जातियो के आगमन के परिणामस्वरूप शुद्ध आदिवासियों की जनसंख्या में अनेक परिवर्तन आए। उनके कबीले के कबीले नष्ट कर दिए गए। अस्त्र शस्त्रों के बलबूते पर प्रवासी श्वेत जातियों ने खेतों तथा चरागाहों पर अधिकार कर लिया और आदिवासियों को जंगलों मे खदेड़ दिया। आज मध्य ऑस्ट्रेलिया के कुछ सौ आदिवासियों के अतिरिक्त अन्य सभी शुद्ध एवं मिश्रित उपवर्ग यूरोपियन जातियों के संपर्क में रहते हैं। इनमे से अधिकांश आस्ट्रेलिया के छोटे नगरों की सीमा पर सरकारी नियंत्रण में बसाए गए रिजर्वों या ईसाई मिशन द्वारा बनाए गए आवासगृहों में टूटी फूटी झोपड़ियों में, बसे हैं। केवल कुछ वर्ग अब भी पर्यटनकारी जीवन व्यतीत करते हैं।

दोनों उपवर्ग के आदिवासियों के जीवनयापन एवं सामाजिक संगठन मे आज भी, विभिन्न मात्रा मे, अपनी मूल संस्कृति पर आधारित विविधताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्राकृतिक वातावरण के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के आर्थिक कार्यकलाप पाए जाते हैं। कुछ कबीले सागरतट पर रहते हैं, कुछ उपजाऊ नदीतट पर, तो कुछ जगलों तथा पहाड़ी क्षेत्रों में पाए जाते हैं। मध्य ऑस्ट्रेलिया मे पर्यटक आदिवासी मरुभूमि में झरनों एवं प्राकृतिक कुओं (Water holes) के आसपास विचरण करते हैं। दुर्दम वातावरण में निवास तथा खाद्यान्न प्राप्ति के साधनों की दुर्लभता ने इन कबीलों के संपूर्ण जीवनक्रम को प्रभावित किया है। शस्त्रों एव अन्य उपकरणों को बनाने की विधि जगह जगह भिन्न है। विश्वविख्यात 'बूमेरैंग' कहीं हथियार की तरह प्रयुक्त होता है तो कहीं गाने के समय ताल बाँधने के लिये। कुछ कबीलों में यह पाया ही नहीं जाता।

सभी आदिवासियों में समाज का मूलाधार परिवार है। कुछ कबीलों की परंपराएँ मातृवंशीय हैं तो कुछ की पितृवंशीय। किन्हीं में दोनों वंशों को बराबर महत्व दिया जाता है। मोइटी (moiety), वर्ग, उपवर्ग अथवा पीढ़ी स्तर के माध्यम से एक आदिवासी कबीले का दो भागों में विभाजन (dual organization) समस्त आदिवासियों में पाया जाता है। इन विभागों के अनुसार ही सामाजिक संबंधों का आदान प्रदान नियमित होता है। एक ही पूर्वज द्वारा अपने को उत्पन्न माननेवाले एक कुल के सदस्य होते हैं। कुल में परस्पर विवाह निषिद्ध है। मामा फूफा के बच्चों में विवाह अथवा केवल मामा की लड़की से विवाह आदि नियम उपर्युक्त संगठन के अनुरूप निर्धारित होते हैं। प्रत्येक कबीले का अपना एक क्षेत्र है जिसकी सीमाएँ निश्चित होती हैं। आसपास रहनेवाले कई कुल एक टोटम मानते हैं, टोटम संबंधी निषेधों का पालन करते हैं एवं समान पुरावृत्तों (myths) में विश्वास करते हैं। ये कुल एक ही प्रकार की धार्मिक क्रियाओं में भाग लेते हैं एवं समान पवित्र स्थानों को मान्यता देते हैं।

उत्तरी, पश्चिमी, मध्य एवं दक्षिणी ऑस्ट्रेलिया के केवल ७२०० आदिवासियों में अभी तक पुराने सामाजिक संगठन की परंपराओं के अंश देखे जा सकते हैं। मिश्रित आदिवासी आदिवासियों एव यूरोपीय जातियों तथा किन्हीं क्षेत्रों में (अपवाद स्वरूप) चीनियों एवं भारतीयों, के संमिश्रण का परिणाम हैं। इनकी संख्या न्यू साउथ वेल्स में सबसे अधिक है। इनके सामाजिक संगठन में आदिवासी समाज के चिह्न मात्र रह गए हैं।

(२) श्वेत वर्ग — ऑस्ट्रेलियावासी यूरोपियन जातियों में अंग्रेजी सभ्यता का स्पष्ट प्रभाव दो कारणों से है। पहला कारण है कि जनसंख्या में अंग्रेज प्रवासियों एवं उनकी संतानों की संख्या सर्वाधिक है। १९वीं शती में आरंभ हुई खोजों के परिणामस्वरूप जो यूरोपवासी ऑस्ट्रेलिया में आए उनमें अंग्रेज प्रवासी मुख्य थे। मूलदेश के अनुसार उन्हें इंग्लिश, आइरिश, स्कॉटिश या वेल्श श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। दूसरा कारण यह है कि राजनीतिक क्षेत्र में भी ऑस्ट्रेलिया पर इंग्लैंड का अधिकार था। प्रारंभिक शासनकर्ताओं में अंग्रेज थे। आज भी ऑस्ट्रेलिया का मुख्य व्यापार इंग्लैंड से है।

पिछले दशकों में अन्य यूरोपीय देशों से आए प्रवासियों की संख्या तेजी से बढ़ी है। इनमें जर्मन, इटालियन, पोलिश और ग्रीक मुख्य हैं। प्राय: सभी श्वेत जातियाँ ईसाई धर्मावलंबी हैं। बड़ी संख्या मे पशुपालन एवं कृषि उन श्वेतों के हाथ में है जो तीन या चार पीढ़ी से ऑस्ट्रेलिया में बस चुके हैं। कारखानों एवं उद्योग धंधों मे नए प्रवासी यूरोपियन बड़ी संख्या में काम करते हैं। आदिवासियों की तुलना में श्वेत वर्ग की सभी जातियों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है।

सं० ग्रं० — एल्किन, ए० पी० : द ऑस्ट्रेलियन एबोरिजनीज, सिडनी, १९६१; लेवी स्ट्रॉस, सी० : लै स्ट्रक्चर एलिमंतेयरज द ला परंते पेरिस, १९४९; बॉरी, डब्ल्यू० डी० : 'ऑस्ट्रेलिया (यूनेस्को सीरीज, 'द पॉजिटिव कॉन्ट्रीब्यूशन बाई इमिग्रेंट्स), १९५५।

[र० चं०]

मुख्य जातियाँ (दक्षिण-पूर्वी एशिया की) प्राचीन ऐतिहासिक काल से ही इस क्षेत्र में विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों एवं प्रजातियों का संमिलन होता रहा है। अत: विभिन्न जातियों के विस्तार का क्षेत्र राजनीतिक सीमाओं द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। इन जातियों पर चीनी तथा भारतीय सभ्यताओं का विशेष प्रभाव पड़ा है। निस्संदेह दक्षिण-पूर्वी एशिया को सामुद्रिक वाणिज्य तथा साम्राज्य विस्तार पर आधारित बृहत्तर भारतीय संस्कृति की देन चामत्कारिक थी। किंतु दक्षिण चीन के प्रदेशों का दक्षिण-पूर्वी एशिया की मुख्य भूमि से निरंतर संबंध बृहत्तर भारतीय इतिहास से भी पुराना है और प्रागैतिहासिक काल से जोड़ा जा सकता है। आज भी दक्षिण पूर्वी एशिया की अधिकांश जातियों की भाषा तथा संस्कृति का क्षेत्र दक्षिण चीन से पृथक् करना असंगत है। अत: निम्नलिखित विवरण में दक्षिण चीन की जातियाँ भी संमिलित हैं। इन जातियों का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों के आधार पर करना कठिन एवं अनावश्यक है। देशीय सीमाओं के अनुसार भी वर्गीकरण अनुपयुक्त है, क्योंकि ये जातियाँ ऐतिहासिक कारणों से स्थानांतरित होती रही हैं। भाषा को वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार माना जा सकता है; भाषा पर आधारित मूल वर्ग विस्तृत सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन के लिये उपवर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं।

भाषावार मूल वर्ग चार हैं : १. चीनी तिब्बती, २. ऑस्ट्रो-एशियाई, ३. ताइ कदाइ, तथा ४. मलयपोलिनेशियाई।

१. चीनी तिब्बती — चीनी भाषा की दो बोलियाँ, मैंडारिन एवं कैंटोनीस चीनी, क्रमश. 'पैथे' एवं 'हा' जातियों द्वारा बोली जाती हैं। मूलत: चीनी नाम से विदित जातियाँ चीन देश की मुख्य भूमि के प्रवासी 'हन' किसानों के प्रव्रजन का परिणाम हैं। स्याम देश मे इनका प्रवेश बहुत पहले से ही हो गया था एवं क्रमश: पिछली शती से ये जातियाँ मलयेशिया और सिंगापुर आदि में भी फैल गई हैं। बर्मा-चीन-सीमा-प्रदेश के निवासी पैथे जाति के चीनी भाषाभाषी लोग मुस्लिम व्यापारी हैं जो कृषि केवल अपनी जरूरत भर के लिये करते हैं। लाओस तथा उत्तरी स्याम देश के पहाड़ी किसान एवं व्यापारी 'हा' या 'हो' जातियों के हैं। ये कृषि एवं पशुपालन की उन्नत कला के लिये प्रसिद्ध हैं।

तिब्बती बर्मी भाषाओं का चीनी भाषा से निकट संबंध है। इन भाषाओं का प्रयोग करनेवाली जातियाँ उत्तरी-पश्चिमी बर्मा, चीन-बर्मा-सीमा-प्रदेश, स्याम देश तथा उत्तरी वियतनाम में फैली हैं। इनकी संख्या लगभग १ करोड़ ९० लाख है तथा ये जातियाँ प्रधानत: अपनी पड़ोसी जातियों की अधीनता में रहती हैं।

बर्मा एवं स्याम देश के पहाड़ी कबीले करेन भाषा का प्रयोग करते हैं। इनकी संख्या लगभग दस लाख है। १९२१ की भारत की जनगणना में इन्हें बौद्ध कहा गया था। मिया एवं याओ भाषाभाषी लोग वियतनाम एवं स्याम में पाए जाते हैं। मिया जातियों को सदैव चीनी एवं ताइ जातियों द्वारा आक्रमण सहने पड़े हैं परंतु अपनी स्वातंत्र्यप्रियता तथा सैन्य संगठन के कारण ये कभी पराधीन नहीं रहीं। याओ जातियाँ यद्यपि भाषा के अनुसार समान हैं, तथापि दूर दूर फैली होने के कारण संस्कृति में भिन्न हैं।

२. ऑस्ट्रोएशियाई — मोन, ख्मेर एवं पर्वती मोन ख्मेर बोलने

वाली 'मोनख्मेर' जातियाँ स्याम देश के पश्चिमी समुद्री तट, समस्त कंबोडिया, वियतनाम तथा दक्षिण पूर्वी लाओस में पाई जाती हैं। १६३७ की जनगणना के अनुसार इन जातियों की संख्या १८ करोड़ थी। दक्षिण वियतनाम में रबर, चाय, कहवा और धान की खेती एवं उत्तर वियतनाम में कृषि के साथ साथ खनिज पदार्थों की प्रचुरता है। यहाँ की जातियाँ महायान, ताओ तथा कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं का पालन करती हैं। 'मुओंग' जातियों की संख्या १९२६ में लगभग ३ लाख ६६ हजार थी। लाओस एवं वियतनाम में फैली ये जातियाँ नदीतट पर बसी हैं। इनमें जादू टोने और झाड़ फूंक संबंधी विश्वासों की बहुलता है।

इसी भाषावर्ग में 'सेनाइ' या 'सकाई' जाति के सेनोई भाषाभाषी भी आते हैं। सेनोई मुख्यतः पहाड़ियों पर रहते हैं। मलाया में ये पहांग, केलनतान एवं पेराक राज्यों में पाए जाते हैं। इनमें आपस में भी विभिन्न बोलियों के अनुसार विभाजन हैं। यद्यपि मलय जातियों से इनका संबंध धीरे धीरे बढ़ रहा है, तथापि ये इस्लाम से दूर हैं।

'सेमांग' भाषी जातियाँ भी मुख्यतः मलाया में हैं किंतु इनका एक वर्ग स्याम देश में भी पाया जाता है। ये जातियाँ नदी की घाटियों एवं समुद्रतट पर रहना पसंद करती हैं। ये भ्रमणकारी स्वभाव की जातियाँ शिकार एवं कंदमूल का आहार करती हैं। कहीं कहीं ये साधारण कृषि भी करने लगी हैं।

३. ताइ कदाइ—लगभग तीन करोड़ संख्या की ताई भाषाभाषी 'थाम', 'लाओ', 'स्यामी' और 'श्याम ताइ' जातियाँ समस्त स्याम देश, लाओस, उत्तर वियतनाम तथा बर्मा के कुछ हिस्से में फैली हुई हैं। यद्यपि ये जातियाँ ऐतिहासिक कालांतर में दक्षिण पूर्वी एशिया के विभिन्न हिस्सों में फैल गई हैं तथा अपने अपने क्षेत्रों में अन्य मुख्य जातियों द्वारा घिरी हुई हैं, फिर भी ताई भाषा की मूलभूत समानता के कारण इन जातियों को पहचानना कठिन नहीं है। स्याम देश के मूलवासी (Autochthones) जो ग्रामीण हैं और थेरवादी बौद्ध धर्म मानते हैं, सभी ताइ जाति के हैं। धान की खेती, मछली मारना, पशुपालन तथा हाथीदाँत और जंगली लकड़ी का व्यापार इनके मुख्य धंधे हैं।

हैनान के 'ली' कबीले कदाइ भाषा बोलते हैं, जिसमें ताइ भाषा का संमिश्रण पाया जाता है। प्रायः २००० वर्षों से इनका निकटतम संपर्क चीनी भाषाभाषी जातियों से रहा है जिनके बीच इन्हें (ली कबाइलियों को) अत्यधिक भयंकर एवं मानवभक्षी समझा जाता है। धान की खेती के अतिरिक्त ये पशुपालन भी करते हैं। कदाई भाषा भाषी लगभग २०० व्यक्तियों का एक वर्ग चीन वियतनाम सीमा पर भी पाया जाता है।

४. मलयपोलिनेशियाई — इस वर्ग की 'चाम' एवं 'मलय' जातियाँ दक्षिण वियतनाम, कंबोडिया एवं मलएशिया में बसी हैं। कंबोडिया में बसी चाम जाति के लोग कट्टर मुसलमान हैं जबकि दक्षिण वियतनाम में पाई जानेवाली इस जाति के संस्कारों में १४वीं तथा १५वीं शती के चंपा हिंदू राज्य की सांस्कृतिक परंपरा का प्रभाव अब भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन जातियों का मुख्य व्यवसाय मछली मारना एवं रुई की खेती है। ये मूर्ति निर्माण एवं नाव बनाने में कुशल हैं।

मलय भाषा का प्रयोग दक्षिण पूर्वी एशिया के एक बड़े भाग में होता है। मलएशिया में मलय जाति की संख्या ४५ प्रतिशत है। यद्यपि वर्तमान मलय जाति प्रायः पूर्णतः ही मुस्लिम है, तथापि इनकी संस्कृति में बृहत्तर हिंदू भारतीय संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। मलाया की आदिवासी जाति 'जकुन' भी मलय भाषा को ही एक रूप व्यवहार में लाती है। मलएशिया में मलय-भाषा-भाषी जातियों के अतिरिक्त मुख्य जातियाँ चीनी और तमिल भाषाभाषी हिंदू और मुसलमान हैं। बोर्नियो में यद्यपि 'डायक' एवं मलय जातियाँ पास पास रहती है, तथापि केवल मलय ही मुसलमान हैं।

मलयपोलिनेशियाई भाषावर्ग में ही इंडोनेशिया की प्राय. समस्त और फिलीपींस की प्रमुख जातियाँ आ जाती हैं। हिंदएशिया के विभिन्न द्वीपों में मलय भाषा की बोलियों का व्यवहार होता है। यहाँ की आदिवासी भाषाएँ भी मलय एवं पोलिनेशियन भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं। हिंदएशिया में दो प्रतिशत चीनी जनसंख्या के अतिरिक्त अन्य सभी जातियाँ इस वर्ग की नौ विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करती हैं। जावा द्वीप के निवासी प्रायः सभी मुसलमान हैं और वे सुंडानी भाषा बोलते हैं। मदुरा द्वीप एवं बाली द्वीप में क्रमशः मदुरी व बालीनी का प्रयोग होता है। बाली जातियों के लोग भी इस्लाम से पूर्व की हिंदू संस्कृति के पालक हैं। सुमात्रा में भाषा के आधार पर मलय, मिनांकबाऊ, आचिनी एवं बताक मुख्य जातिवर्ग देखे जा सकते हैं। यहाँ के 'कुबु' कबीले वाले हिंदएशिया के सबसे पुराने निवासी माने जाते हैं। सुमात्रा द्वीप में, बताक जाति के अतिरिक्त, अन्य सभी जातियाँ मुसलमान हैं। सेलिबिस में मकस्सरी एवं बुगीनी बोली जाती है। यहाँ ईसाई धर्म का प्रसार काफी मात्रा में हुआ है।

फिलीपींस की राजधानी मनीला के आस पास 'तगालोग' बोली जाती है। पश्चिमी हिंदएशिया से फिलीपींस मे इस्लाम का प्रवेश १५वीं शताब्दी में हुआ था। इस देश के अर्वाचीन इतिहास में स्पेन अमरीकी युद्ध से अनेक परिवर्तन आए जिनमे ईसाई धर्म का आगमन सर्वोपरि महत्व रखता है। यद्यपि यहाँ तरह तरह के उद्योग धंधे हैं, तथापि कृषि ही यहाँ का प्रधान व्यवसाय है।

सं० ग्रं०—लेबार फ्रैंक, एम० तथा अन्य : एथनिक ग्रुप्स ऑव मेनलैंड साउथ-ईस्ट एशिया, न्यू हेवन, १९६४; केडी, जॉन० एफ० : साउथ ईस्ट एशिया : इट्स हिस्टॉरिकल डेवलपमेंट, न्यूयार्क, १९६४।

[र० जै०]

मुगल चित्रकला मुगल साम्राज्य के आरंभ के साथ चित्रकला के मौलिक सृजन में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। मुगल साम्राज्य के संस्थापक, बाबर, तैमूर की पाँचवीं पीढ़ी मे थे। उनकी माँ, चंगेज खाँ के वंश की अर्थात् 'मंगोल' थी। इस प्रकार मुगल वंश में 'तुर्की' और 'मंगोल' दोनों संस्कृतियों और परंपराओं का संमिश्रण मिलता है। इसपर ईरान की सभ्यता और संस्कृति का गहरा

प्रभाव पड़ा। इस काल में, कलाकारों ने धार्मिक संकीर्णताओं को त्यागकर, तथा ईरानी आदर्श और दृष्टिकोण को अपनाकर भारतीय कलातत्वों को ग्रहण करना शुरू किया। राजस्थानी चित्रों में अभिव्यक्ति और भावना प्रधान होती हैं। ईरानी शैली की चित्रकला में बाह्य सौंदर्य और अभिव्यंजना प्रमुख हैं और इनकी अभिव्यक्ति प्राकृतिक दृश्यों के माध्यम से की जाती है। मुगल शैली के विकास में मानवीय भावना और यथार्थता की अभिव्यंजना बनी रही। मुगल चित्रकला में सामयिक जीवन की व्याख्या है। इनमें व्यक्तियों, पशुओं और पक्षियों का सजीव चित्रण हुआ है। प्रकृति प्रेम, आखेट दृश्य और 'हाशिए' के अलंकरण मिलते हैं। इस प्रकार मुगल चित्रकला का अपना एक पृथक् अस्तित्व था।

बाबर : संस्कृति और कलाप्रेम (१५२६–१५३० ई०) — बाबर को संस्कृति और कला से बड़ा प्रेम था। ये गुण उसे कुलगत परंपरा से मिले थे। उसने तुर्की भाषा में अपना आत्मचरित्र 'बाबरनामा' लिखा है। 'बाबरनामा' से समकालीन घटनाओं और विशेष रूप से ईरानी कला की विशेषताओं का पता चलता है।

भारत आने से पहले बाबर हिरात गया था। वहाँ उसे ईरान के प्रसिद्ध चित्रकार 'विहज़ाद' के चित्रों को देखने का अवसर मिला था। विहज़ाद' ईरानी शैली का सर्वप्रसिद्ध चित्रकार माना जाता है। इसे 'पूर्व का रेफ़ल' कहा जाता है। बाबर ने 'विहज़ाद' के चित्रों की समीक्षा की है जो १५वीं शती के अंत में तैमूर वंशी सुलतान, हुसैन मिर्जा के दरबार में चित्रकार था। इसी तरह बैसन्गर मिर्जा के दरबार में 'मीर अली' रहता था, जिसे फारसी लिपि के 'नस्तालीक़' नामक भेद में प्रसिद्धि प्राप्त थी।

बाबर, भारत में मुगल राज्य की स्थापना के बाद, बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सका। अतएव चित्रकला के विकास का उसे अवसर नहीं मिला।

हुमायूँ (१५३०–१५५६) — हुमायूँ को कलाप्रेम विरासत में मिला था। जौहर के एक कथन से हुमायूँ की कलाप्रियता स्पष्ट हो जाती है। जिन दिनों हुमायूँ अमरकोट में ठहरा हुआ था, उसके खेमे में एक सुंदर चिड़िया आ गई थी। खेमे के दरवाजे एकदम बंद कर दिए गए और चिड़िया पकड़ ली गई। इसके बाद हुमायूँ ने चित्रकार को बुलवाकर उसका चित्र बनवा लिया।

सिंहासनारूढ़ होते ही हुमायूँ को संघर्षमय परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। शेरशाह से परास्त होकर उसे ईरान के बादशाह 'शाह तहमास्प' के यहाँ शरण लेनी पड़ी। 'शाह तहमास्प' स्वयं उच्च कोटि का कलाकार था और उसने अपने दरबार में अनेक कलाकारों को आश्रय दे रखा था। यहाँ विहज़ाद और मीराक की शैली पर कलाकार अब भी चित्र बनाते थे। यद्यपि हुमायूँ के ईरान पहुँचने से बहुत पहले विहज़ाद' की मृत्यु हो चुकी थी लेकिन उनकी परंपरा को 'आगा मीराक मुहम्मद' और 'मुजफ्फर' ने बनाए रखा था। हुमायूँ की कलाप्रियता को यहाँ की चित्रकारी ने आकृष्ट किया। ईरान में हुमायूँ के संपर्क में अनेक कलाकार और कवि आए। 'तबरीज' में उसकी भेंट कलाकार 'मीर सय्यद अली' से हुई। 'तारीख-ए-खानदानी-ए-तैमूरिया' में उल्लेख है कि हुमायूँ और उसके पुत्र अकबर ने इस महा चित्रकलाकार से चित्रकला सीखी थी। 'मीर सय्यद अली' कवि भी था। उसने 'जुदाई' के नाम से काव्यरचना की थी। १५५० ई० में हुमायूँ ने 'मीर सय्यद अली' और 'अब्दुस समद' को भारत बुलाया और अपने दरबार में रखकर सेवा की। इन दोनों कलाकारों ने लगभग सात वर्ष में 'दास्तान-ए-अमीर हमजाद' की सचित्र प्रति तैयार की थी। ख्वाजा अब्दुस समद ने चित्रकार और लिपिकार के रूप में बहुत ख्याति पाई। वह 'शीरीं' कलम का कुशल चित्रकार था। हुमायूँ की मृत्यु के बाद भी ये दोनों कलाकार अकबर के दरबार को सुशोभित करते रहे। इन दोनों कलाकारो ने ईरानी शैली को भारतीय शैली मे ढालकर चित्रकला की एक नई धारा प्रवाहित की।

अकबर (१५५६–१६०५)—हुमायूँ के काल तक मुगल चित्रकला की अपनी विशेषताएँ नहीं उभर पाई थी। इन चित्रों में 'ईरानी' शैली के अंतर्गत 'हिरात' और 'शिराज' की कलम का ही प्राधान्य था। ईरानी कला का अपना वैशिष्ट्य है, जिसका संबंध चीन से है। ईरानी कला के अंतर्गत यह चीनी अंश १३वीं शताब्दी से मंगोल' प्रभाव के रूप में चला आ रहा था। समय बीतने पर यह प्रभाव ईरानी चित्रो की सूक्ष्म रेखाओं मे विलीन हो गया। ईरानी चित्रों की अपनी सबसे बड़ी विशेषता है—'अलंकारिता'। नदी, पर्वत, आकाश और वृक्षो से लेकर पशु पक्षी तक का अंकन अलंकारिक किया जाता है। इनको नक्काशी के रूप मे अंकन करके रंग भर देते हैं। इन रेखाओं मे गत्यात्मकता रहती है। ईरानी चित्रकला मे अलंकरण की प्रधानता संभवत. 'इस्लाम' के प्रतिबंध फलस्वरूप हो। वहाँ नक्काशी को ही कला की कोटि मे रखा जाता है।

ईरानी कला की एक और विशेषता है। उसका नाजुकपन या कोमलता। किंतु ये आकृतियाँ, फारसी नाज़ोअदाज लिए हुए भी वास्तविक दिखाई देती हैं। सूक्ष्म रेखाओं और रंगों का योग इनको सजीव बना देता है। चित्रकार जब किसी दृष्टांत या युद्ध स्थल या घटना का अंकन करता है तो घटना या कथानक गौण और नक्काशी जैसी अलंकारिता प्रमुख हो जाती है।

अकबर शैली — वस्तुत मुगल चित्रकला अकबर के संरक्षण में ही धार्मिक संकीर्णताओ को छोड़कर एक स्वतंत्र रूप की शैली में विकसित हो पाई। अकबर की नीति सामंजस्य की नीति थी। उसके संरक्षण मे हिंदू, जैन, ईसाई, सूफी सिद्धांतों को पनपने का अवसर मिला। ख्वाजा अब्दुस समद और मीर सैयद अली के निरीक्षण में कलाकारो ने अकबर की नीति और रुचि के अनुसार कला के क्षेत्र मे भी सामंजस्य पैदा कर दिया। ईरानी कला के भारतीयकरण का प्रयास शुरू हो गया। भारतीय कला के आंतरिक सौंदर्य को ईरानी रेखाओं के सूक्ष्म आकार में ढाल दिया गया। यह अकबर जैसे महान् और दूरदर्शी शासक की ही क्षमता थी कि भारत की संस्कृति के साथ साथ ईरान और मध्य एशिया की परंपराओं को मिला दिया गया। ईरानी और भारतीय प्रभावों के संयोग से चित्रकला में एक वैशिष्ट्य आने लगा और एक अलग शैली बन गई। इस शैली में भारतीय प्रभाव मुख्य रहा। हिंदू रानियों के सान्निध्य से अकबर की कलात्मक रुचि को पुट मिला। फतहपुर सीकरी में हिंदू रानियों के महल, उनके अंत:पुर, शयन गृह, अतिथिगृह आदि स्थानों को चित्रों से

सुसज्जित करवाया गया था। वे चित्र अधिकांशतः भित्तिचित्र थे। कलाकारों ने ईरानी आकृतियों और रेखाओं को भारतीय भावना और साजसज्जा में ढालकर, अकबर के विचारों को सजीव कर दिया। फतहपुर सीकरी में इनके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं।

अकबर का कलाप्रेम — अबुल फज़ल की पुस्तक 'आईन-ए-अकबरी' से अकबर के कलाप्रेम की पुष्टि होती है। कला के विषय में अकबर के विचारों का आईन-ए-अकबरी में इस प्रकार उल्लेख है—

'बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो चित्रों से नफरत करते हैं। उन लोगों को मैं पसंद नहीं करता। मुझे ऐसा लगता है कि कलाकार मे ईश्वर को आत्मसात् करने की अद्भुत शक्ति होती है। चित्रकार जब कभी किसी प्राणी का चित्रांकन करने लगता है, उसके अंग, उपांगों का निर्धारण करता है तो वह इस बात का अनुभव करेगा कि वह अपने चित्र मे किसी पृथक् व्यक्तित्व की प्राणप्रतिष्ठा करने में असमर्थ है। निःसंदेह, वह जीवनदाता, ईश्वर का चिंतन करने के लिये बाध्य होगा, साथ ही वह इस प्रकार चिंतन मनन द्वारा अपने ज्ञान को भी विकसित करेगा।'

शासनकाल के आरंभ से ही अकबर ने हस्तलिखित ग्रंथों की सचित्र प्रतियाँ बनवानी शुरू कर दीं। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, भारतीय प्रभाव की देन बढ़ती गई और चित्रों का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। ख्वाजा अब्दुस समद, मीर सैयद अली, फरुख बेग खुसरू कुली—इन दो चार मुसलमान कलाकारों के अतिरिक्त, अकबर के दरबार में कितने ही हिंदू कलाकार थे। आइन-ए-अकबरी मे उस काल के प्रमुख चित्रकारों के नामों का उल्लेख है। हिंदू कलाकारों में 'दसवंत' और 'बसावन' के नाम प्रमुख हैं। दसवंत जाति के कहार थे और इन्होंने अपना सारा जीवन चित्रकारी में ही लगा दिया था। एक दिन अकबर की दृष्टि इनपर पड़ी। इनकी योग्यता देखकर अकबर ने इन्हें 'ख्वाजा' के सुपुर्द कर दिया। शीघ्र ही ये अन्य चित्रकारों से आगे निकल गए और इस समय के सर्वश्रेष्ठ उस्ताद हुए।

बसावन — ये भी अपने ढंग के सर्वोत्तम चित्रकार थे। पृष्ठिका के निर्माण, आकृति आलेखन, रंग संयोजन, और 'शबीह' (प्रतिमूर्ति) लगाने में अपना सानी नहीं रखते थे।

फर्रुख क़लमाक — ये मध्य एशिया के निवासी थे। १५८५ ई० में इन्होंने अकबर के दरबार में सेवा शुरू की, अतएव अपने साथ चीनी और मंगोल परंपराओं को भी लाए थे।

निम्नलिखित चित्रकारों ने भी ख्याति प्राप्त की —

केशो, लाल, मुकुंद, मिस्कीन, माधो, जगन, खेमकरन, सांवला, हरबंस तथा राम।

'अबुल फज़ल' के कथनानुसार, 'हिंदू चित्रकारों के चित्र हम लोगों (मुस्लिम) की भावना से कहीं ऊँचे होते हैं। सारे संसार मे ऐसे बहुत कम कलाकर हैं जो उनकी बराबरी कर सकें।'

अकबर के चित्रकलाप्रेम का उल्लेख करते हुए आईन-ए-अकबरी में लिखा है —

'किशोरावस्था से ही श्रीमान् की अभिरुचि चित्रकला की ओर रही है और वे सब तरह से उसे प्रोत्साहित करते रहे हैं। चित्रकला को वे अध्ययन एवं मनोरंजन का माध्यम मानते हैं। चित्रशाला का दरोगा प्रति सप्ताह चित्रकारों के काम श्रीमान के सामने रखता है और वे उत्कृष्ट चित्रों को संमानित करते हैं तथा कारीगरों को पुरस्कार देते हैं या उनका वेतन बढ़ाते हैं।······अब ऐसे उत्कृष्ट चित्रकार तैयार हो गए हैं कि इनके चित्र 'बिहज़ाद' और यूरोप के चित्रों से टक्कर ले सकें। इन उत्तम चित्रकारों की संख्या सौ से ऊपर है।'

कलम की बारीकी, तैयारी आदि में जो उन्नति हुई, वह अद्भुत है। निष्प्राण वस्तुएँ भी सजीव जान पड़ती हैं।

कला के मूल्यांकन के उद्देश्य से कला की शैलियों में नए नए प्रयोग होने लगे। कलाकारों को प्रोत्साहन देने के लिये 'मनसब' और ऊँचे ओहदे दिए गए। ख्वाजा अब्दुस समद की अध्यक्षता में एक शाही चित्रसंग्रहालय भी स्थापित किया गया। वह अपने अतिथियों को बड़े शौक से यह संग्रहालय दिखाता था।

अकबर के काल में हस्तलिखित ग्रंथों को चित्रित कराने तथा धार्मिक पुस्तकों और किस्से कहानियों को दृष्टांत या घटना चित्रों से सजाने की प्रथा में विशेष रुचि हुई। ऐसी सचित्र पोथियाँ अकबर के शाही पोथीखाने में सहस्रों की संख्या में थी। इसी प्रकार हिंदू प्रभाव के कारण, संस्कृत साहित्य के कुछ ग्रंथों को लेकर सचित्र कृतियाँ भी तैयार कराई गईं। संस्कृत और हिंदी के प्रमुख ग्रंथों को फारसी में और फारसी ग्रंथों को देशी भाषा मे अनूदित कराया गया। ग्रंथों के आधार पर चित्रावली तैयार कराने का गौरव अकबर को ही प्राप्त है।

अकबर के तैयार कराए गए चित्रों में, समयानुक्रम से, सबसे पहला किस्सा 'अमीर हम्ज़ावली' की चित्रावली है। अकबर किस्सा अमीर हम्ज़ा का बड़ा शौकीन था और उसने इसे दस भागों में पूर्ण कराया। इसमें ११ चित्रकारों ने १४०० किस्से कहानियों को चित्रित किया। विधान की दृष्टि से अमीर हम्ज़ा के चित्र भारतीय माने जाते हैं, क्योंकि ये सूती कपड़े पर बने हैं। परिमाण में ये चित्र २२ × २८½ हैं, जो कि भारतीय शैली की विशेषता है। ये आलंकारिक चित्र न होकर घटना चित्र हैं। इनकी रेखाओं में गोलाई है और एकचश्म (profile) चेहरों की अधिकता है। ईरानी शैली के कुछ अंशों को छोड़कर इन चित्रों का निजत्व है। जल, स्थल, पहाड़, बादल, आकाश तथा दानवों का चित्रांकन विलक्षण है। वृक्षों में वट और पीपल तथा पशु पक्षियों मे हाथी, मोर आदि का चित्रण मुख्यतः भारतीय हैं।

अकबरकालीन कलाकारों ने भारतीय कथाओं और विषयों को लेकर चित्र तैयार किए जैसे रामायण, महाभारत, आदि। ऐतिहासिक चित्रों में 'तवारीखे खानदाने तैमूरिया', 'अकबर नामा' आदि पोथियाँ थीं। शाही पुस्तकालय, आगरे के साथ ही दिल्ली और लाहौर में भी रहता था। शाही पोथीखाने में एक चित्रशाला थी जिसका अध्यक्ष मकतब खाँ था। चित्रशाला में 'हिरात' और 'शीराज़', शैली के चित्र, तथा 'सफ़वी' और 'तिमूरिया' कलम के संग्रह मौजूद थे। शाही पोथीखाने में रखी हुई प्रतियों पर शाही मुहर लगी रहती थी।

व्यक्ति चित्रों में अकबर के चित्रकारों ने कमाल कर दिखाया। अकबर को व्यक्ति चित्र ('शबीह') का बहुत शौक था। अबुल फजल का कहना है —

'श्रीमान् ने स्वयं अपनी 'शबीह' लगवाई और आज्ञा दी कि राज्य के सभी उमराओं की शबीह तैयार की जाय। इस प्रकार, राज्य के सभी विशिष्ट व्यक्तियों और पूर्वजों के चित्रों का एक बहुत बड़ा एलबम तैयार हो गया जो शायद शाही पोथीखाने में रखा गया।

अकबर के काल मे तैयार की गई सचित्र पोथियों की मुख्य सूची यह है —

१. 'तवारीख-ए खानदाने-तैमूरिया' — इसमें तैमूरिया वंश के आरंभ से अकबर शासन के २२वें वर्ष तक का इतिहास है।

२. 'रज्मनामा' (महाभारत)
३. 'अकबरनामा'।
४. 'वाकआत बाबरी' (बाबर की आत्मकथा)

चंगेजनामा, जफरनामा, शाहनामा आदि फारसी की चित्रित प्रतियाँ भी तैयार की गई। अकबर की आज्ञा से 'पंचतंत्र' का संस्कृत से फारसी अनुवाद 'अयार दानिश' नाम से किया गया। अकबर कालीन' 'अनवर सुहेली' की चित्रित प्रति भी मौजूद है।

इनके अतिरिक्त, तारीख-ए-रशीदी, दराब नामा, खमसा निजामी, बहारस्ताने, जामी, रामायण, हरिवंश (फारसी अनुवाद) योग वाशिष्ठ, नल दमयंती कथा, कालिय दमन, शकुंतला, आईन-ए-अकबरी की चित्रित प्रतियाँ भी भारतीय और विदेशी संग्रहालयों में मौजूद हैं।

अकबर कालीन चित्रों की शैली, ईरानी शैली से भिन्न, तथा पूर्णतया भारतीय है। हमजा चित्रावली के बाद अकबर शैली के चित्र ईरानी और राजस्थानी अंशों को आत्मसात् कर, भारतीय एकता को प्रकट करते हैं। इन चित्रों की अपनी विलक्षणता है। रेखाओं में गोलाई, और गति है। पशु पक्षियों और वृक्षों में स्वाभाविकता है। 'शबीह' चित्रों में, विशेषकर हस्तमुद्राओं के चित्रांकन में, व्यक्तित्व है। इनमे एकचश्म चेहरे की ही अधिकता है। इनकी भावाभिव्यक्ति भी भारतीय परंपरा के अनुकूल है। भारतीय चित्रकार पटचित्रों मे कुशल थे। ईरानी कलाकारों के सहयोग से रंग विधान की बारीकियों को अपना कर उन्होंने कला को सजीव बना दिया। भारतीय कला और ईरानी कला में एक बड़ा भेद आलंकारिक आलेखन मे है। चित्रों को आकर्षक बनाने के लिये, ईरानी चित्रकार चित्रों को फारसी के शेर या नक्काशी से अलंकृत करते थे। एक ही पोथी को दो या तीन व्यक्ति पूरा करते थे। एक चित्रांकन करता, दूसरा लिखाई करता और तीसरा उसमे रंग विधान करता। अकबर शैली के प्रायः सभी चित्र दो या तीन चित्रकारों के संयोग से बने हैं। एक ही चित्र तैयार करने में कई चितेरों का हाथ होता था, यद्यपि चित्र पर चित्रकार का नाम अंकित करने की प्रथा भी प्रचलित थी। अधिकतर, एक चित्र को तैयार करने में दो चित्रकारों का ही संयोग होता था। एक रेखांकन करता, दूसरा उसमें चित्र अंकित करता। कभी कभी तीसरा चित्रकार भी होता जो 'चेहर नुमा' या व्यक्तिचित्र बनाता। चौथी श्रेणी का चित्रकार 'सूरत' या 'आकृतिचित्र' बनाता।

जहाँगीर (१६०५–१६२७) — अकबर के बाद, उसका पुत्र, जहाँगीर, राज्य का उत्तराधिकारी बना। हिंदू माँ से उत्पन्न होने के कारण, जहाँगीर में उदारता और कलाप्रेम दोनों का ही सामंजस्य था। उसके राज्यकाल में मुगल चित्रकला चरम विकास को पहुँच गई। कला के क्षेत्र में जिस भारतीयकरण की अकबर ने नींव डाली, जहाँगीर के संरक्षण में, वह परंपरा सर्वाधिक उन्नति करने लगी। उसकी उदारता ने हिंदू मुसलमान कलाकारों के भेदभाव को बहुत कुछ मिटा दिया था। अकबर कालीन चित्रों में, विशेषकर रेखाओं मे, भारतीय परंपरा स्पष्ट हो उठती है। यह शैली जहाँगीर के प्रारंभिक काल तक बनी रही पर बाद मे मुगल शैली का रूप फिर ईरानी शैली से मेल खाने लगा। धीरे धीरे मुगल कला ईरानी बारीकियों को अपनाकर यथार्थता की ओर प्रेरित हो गई। इसमें अब अकबर शैली की रूढ़ि और दृढ़ता का अभाव था।

जहाँगीर का कलाप्रेम — जहाँगीर ने 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' नामक अपना आत्मचरित्र लिखा, और उसकी कई सचित्र प्रतियाँ तैयार कराईं। इससे हमे बादशाह के भावुक हृदय, और प्रकृति प्रेम का परिचय मिलता है। जहांगीर प्रकृति का उपासक था और चित्रकला से उसे विशेष प्रेम था। कोई सुंदर फूल, या विलक्षण पशु पक्षी दिखाई देता, तो जहाँगीर उसके चित्र तैयार करवाता था। एक कथनानुसार जहाँगीर ने कश्मीर में एक बहुत विशाल चित्रशाला का निर्माण किया था और इसमें अलग अलग शैली के चित्रकारों के चित्र संगृहीत किए थे।

अपनी रुचि के चित्र बनवाने में जहाँगीर अत्यधिक धन खर्च करता था, इसमें कोई संदेह नहीं। कितने ही कलाकार उसके संरक्षण में पल रहे थे। कुमारावस्था से ही उसके आश्रय में हिरात के आका रिजा चित्रकार रहते थे। उसके पुत्र अबुल हसन पर बादशाह की विशेष कृपादृष्टि थी और उसे 'नादिर-उल-जमा' की पदवी दी गई थी। जहाँगीर ने 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' में लिखा है कि 'उसके चित्र उस युग के चमत्कार हैं। उसके सदृश अन्य कोई चित्रकार नहीं है। एक बार उसके एक चित्र पर प्रसन्न होकर जहाँगीर ने एक सहस्र मुद्राएँ उसे पुरस्कार में दीं। जहाँगीर शैली के चित्रों में इस चित्रकार का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

जहाँगीर के चित्रकारों मे उस्ताद मंसूर उच्च कोटि के माने जाते थे। इन्होंने पशु पक्षियों और फूल पेड़ आदि के चित्रण में दक्षता प्राप्त की थी। इन्हें 'नादर-उल-असर' की पदवी प्राप्त थी। उस्ताद मंसूर ने सैकड़ों तरह के पुष्पों को चित्रित किया।

अपने हिंदू चित्रकार बिशन दास के विषय में जहाँगीर ने 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' में लिखा है कि 'शबीह' लगाने में वह अपना जोड़ नहीं रखता। जहाँगीर ने जब अपने राजदूत ईरान के शाह अब्बास के यहाँ भेजे (१६१८–१६१९), तो उनमें बिशन दास चित्रकार भी था। जहाँगीर ने लिखा है —

'उसने मेरे भाई शाह अब्बास की ऐसी सच्ची शबीह लगाई कि

मैंने जो उसे शाह के नौकरों को दिखाया तो वे मान गए। मैंने बिशनदास को एक हाथी और बहुत कुछ पुरस्कार दिया।'

इन मुख्य चित्रकारों के अतिरिक्त मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, गोवर्धन, मनोहर, दौलत, लाल, साँवला भी बादशाह के दरबार में रहते थे और दरबार से संबंधित घटनाओं को चित्रित करते थे।

कलापारखी — जहाँगीर कुशल कलापारखी भी था। इसको चित्र परखने का इतना अभ्यास था कि वह एक ही आकृति, एवं एक ही रंग रूप से तैयार किए गए अनेक चित्रकारों के चित्रों को अलग कर सकता था। यहाँ तक कि एक ही चित्र में विभिन्न कलाकारों द्वारा बनाए गए विभिन्न अंशों को वह एक दृष्टि में समझ सकता था और यह बता सकता था कि कौन सा अंश किस उस्ताद का बनाया हुआ है। जेम्स प्रथम के राजदूत, सर टॉमस रो ने, जो जहाँगीर के दरबार में १६१५ ई० में उपस्थित हुआ था लिखा है कि जहाँगीर को यूरोपीय चित्रों का बहुत शौक था। जब उसने किसी यूरोपीय चित्रकार का बनाया हुआ चित्र बादशाह की सेवा में भेंट किया, तो उसने वैसी ही, नकल तैयार करने के लिये अपने दरबारी चित्रकारों को आज्ञा दी। उनकी प्रतिकृतियाँ तैयार होने पर सर टॉमस रो के संमुख रख दी गईं, इन्हीं चित्रों में ईसाक ऑलिवर का भी एक चित्र था।

जहाँगीर शैली की विशेषताएँ — जहाँगीर को चित्रों को संगृहीत करने का बहुत शौक था। चित्रों को एल्बम में रखा जाता था। शाही पोथीखाने में रखे गए चित्रों पर शाही मुहर लगाई जाती थी। इस प्रकार हमें जहाँगीर के जीवन संबंधी तथा उस काल के सभी प्रमुख व्यक्तियों के चित्र मिल जाते हैं जिनका राजदरबार से संबंध था। चित्रों का विषय राजदरबार या राज उत्सवों तक ही सीमित न रहा। आखेट, और घुड़दौड़ के चित्र, हाथियों की लड़ाई, ऊँटों की लड़ाई, पशु पक्षियों से लेकर फूल और पौधे तक का चित्रण—ये सब विषय जहाँगीर की चित्रशाला की शोभा बढ़ाते थे। उस्ताद मंसूर के फूल और पशु पक्षियों के चित्रण में ऐसी सुकोमलता और स्वाभाविकता है कि दर्शक विमुग्ध हो जाता है। चित्रों की पृष्ठ-भूमि, व्यक्तियों की सूक्ष्मतम रूपरेखा, दृश्यों की योजना तथा रंगों के संयोजन में ये चित्र अकबरी शैली के चित्रों से कहीं आगे बढ़ गए हैं। अनुकृति मात्र न होकर ये अब ईरानी प्रभाव से मुक्त हो गए हैं, और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

व्यक्तिचित्रों में, मानवीय संवेदना और व्यक्तित्व की प्रेरणा है, यद्यपि अंग प्रत्यंग का चित्रण और वस्त्राभूषण की योजना करने में चित्रकार की दृष्टि यथार्थ पर ही टिकी रही। इन चित्रों की बारीकी बहुत ही आकर्षक है।

मुगल चित्र का विधान और उसकी सामग्री — मुगल चित्र प्रायः कागज पर ही बनाए जाते थे। बढ़िया 'ईरानी' या 'इसफहानी' किस्म के कागज के दो या तीन पर्त लेकर लेई से उन्हें एक में चिपटा दिया जाता था। इसके बाद सुलेमानी पत्थर से घुटाई की जाती थी। कागज मोटा और तसवीर बनाने के योग्य हो जाता था और कागज में आब आ जाती थी। चित्रकार, एक हल्के 'आब रंग' (मिली हुई स्याही, गुलाबी और प्योड़ी) से 'खबीह' या 'ख्याली चित्र' को अंकित कर देता था। इसे 'ठिपाई' कहते थे। इस पर फिर पतले सफेदे का अस्तर दिया जाता था, ताकि नीचे का 'खाका' दिखाई दे। इस खाके पर फिर रंग भर दिए जाते थे। इसे 'अमली' कहते थे। जहाँ वस्त्रों पर सजावट या शृंगार आदि करना होता, चित्रकार 'सोने' या 'स्याही' को घोलकर अलंकरण बना देते थे। अब चित्र की घुटाई करते थे। इससे चित्र के रंगों में आब आ जाती थी और चित्र मीनेकारी जैसा जान पड़ता था। चित्र को फिर 'वसलची साज' के सुपुर्द कर दिया जाता जो चित्र को वसलती पर सजाता था। (कागज के कई पर्त जमा कर बनाई गई दफ्ती को वसलती कहते हैं)। अब चित्र नक्काश या 'जलकश' के हाथ में आता था जो उसे 'नक्काशी' या जलकश बेलें, फूल पत्तियाँ, या कोरा रेखाओं से सुसज्जित हाशिये में सजाया करता था। ये हाशिये मुगल दस्तकारी के उत्कृष्ट नमूने हैं और कभी कभी 'हाशिये' की चित्रकारी प्रधान चित्र से भी उत्कृष्ट हो जाती है। जहाँगीर के समय में हस्तलिखित पोथियों के बदले स्फुट चित्र बनाने की प्रथा ही प्रिय हो गई। इस तरह, 'लघु चित्र' या 'शबीह चित्रों' को वसलती पर, सुंदर हाशियों से जड़ने की प्रथा भी चालू हो गई। हाशियों पर ऐसे बेल बूटे और शिकारगाह के दृश्य अंकित होते थे जिनका मेलजोल चित्र से हो। कुछ हाशियों पर सोने या चाँदी का छिड़काव रहता था—जिसे अफशां कहते थे। वसलती के पिछले हिस्से पर फारसी सुलिपि के नमूने जमाए जाते थे। इनके भी हाशिये बने रहते थे।

मुगल चित्रकार अपनी 'कलम' को बड़े परिश्रम से तैयार करते थे। गिलहरी की पूँछ के बालों से तैयार किया हुआ बुरुश 'उमदा' और बारीक रेखाओं के लिये रखा जाता था। नेवले के बाल या बकरी के पेट के नीचे के बालों से भी बुरुश तैयार किए जाते थे। पुराने और घिसे हुए बुरुश 'खाका' खींचने और रूपरेखा' बनाने के काम आते थे।

अकबर के काल में रंगों के बनाने और प्रयोग में बहुत उन्नति हुई। जहाँगीर के चित्रकारों ने इन रंगों को बढ़िया सज्जा दी। रंगों की बड़े परिश्रम से घुटाई की जाती थी। मुगल चित्रों के रंग मजबूत और ठहराऊ हैं। ऐसे रंग खनिज से बनाए जाते थे — जैसे लाजवर्द। कुछ रंग मिट्टी और चूने (Earths) से भी तैयार किए जाते थे — जैसे गेरू, रामरज, शगरफ। रासायनिक प्रभाव से रंग तैयार करने की विधि भी प्रचलित थी — जैसे सफेदा, सेंदुर, काजल, जंगाल। कुछ रंग वनस्पति और जीव पदार्थ से तैयार होते थे — जैसे — नील, गुलाबी, प्योड़ी।

ये सभी रंग, चित्र की घुटाई होने पर, मीना जैसे चमकने लगते थे, जिससे चित्र में 'ओप' आ जाती थी। इस पर चाँदी और सोने का प्रयोग चित्र को कहीं आकर्षक बना देते थे।

मुगल चित्रकारों को रंगों को मिलाकर या सफेदे के प्रयोग से रंगों को हलका करके, स्वतंत्र रूप से चित्र बनाने की क्षमता थी। मुगल राज्य के उत्तरार्ध में, विशेषकर शाहजहाँ के राज्यकाल में चित्रों में विदेशी रंगों का प्रयोग भी शुरू हो गया।

पश्चिमी प्रभाव — जहाँगीर को यूरोप के चित्रों की कदर थी और उसके राज्य में यूरोप के चित्र, काफी संख्या में आए। बादशाह ने चित्रकारों से उनकी प्रतिकृतियां तैयार कराई। इनके आधार पर स्वतंत्र चित्र भी बनाए जाने लगे। यूरोपिय चित्रों में 'साया' और 'उजाले' के प्रयोग से पूरा डौल दिखाया जाता है। जहांगीर शैली के चित्रकारों ने, विशेषकर उसके उत्तरार्ध में, साया और उजाले से डौल दिखाने का प्रयत्न किया है। किंतु इन चित्रों में कृत्रिमता सी उभर आई है और परिप्रेक्ष्य भी यूरोपीय चित्रों से भिन्न है। इस प्रकार के चित्र दृश्यों से संबंधित हैं — जैसे लालटेन द्वारा आखेट के दृश्य, भीलों द्वारा हिरणों का शिकार या जंगल में झोपड़ी के सामने गोष्ठी। इन चित्रों में साया या उजाले का प्रभाव स्वाभाविक न होकर आलंकारिक सा रह जाता है।

जहाँगीर के काल में तैयार किए गए व्यक्ति चित्र या 'शबीहों' की संख्या अगणित है। शाही परिवार की तरह अमीर उमरा भी कलाकारों को शरण देते थे और उनसे अपनी 'शबीह' लगवाते थे। इन्हें देख कर हमें विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र का परिचय मिलता है। मुखाकृति और हाथों के चित्रण में तो इन चित्रकारों ने अद्वितीय कौशल प्राप्त कर लिया था। इस समय के शबीह चित्रों में—पृष्ठिका में — यूरोपीय ढंग के दृश्यों का प्रभाव स्पष्ट है।

शाहजहाँ (१६२८–१६५८) — शाहजहाँ में परंपरागत कला प्रेम की भावना भवन-कला-निर्माण की ओर प्रकट हुई। चित्रकला में उसे विशेष रुचि न थी, यद्यपि कुछ प्रसिद्ध चित्रकार उसके दरबार में काम करते थे। इनमे गोवर्द्धन, मोहम्मद नादिर, मनोहर, बिचित्तर, चित्रमन मुख्य चित्रकार थे। उसके दरबार में, ईरानी चित्रकार, मुहम्मद जमाँ ने भी कुछ वर्षों तक सेवा की। उसके कारण मुगल चित्र कला पर पश्चिमी प्रभाव शुरू हो गया।

शाहजहां की उदासीनता के कारण, दरबारी चित्रकारों मे भी कला के लिये उत्साह न रहा। इस समय के तैयार किए गए चित्रों मे कृत्रिमता के भाव प्रकट होते हैं। कला का उद्देश्य मुगल साम्राज्य के वैभव, तथा अमीर उमरावों के व्यक्तिगत ऐश्वर्य का प्रदर्शन-मात्र रह गया। दरबार संबधी चित्रों का आकर्षण रगों की सजावट, स्थल की व्यवस्था, अग प्रत्यग का चित्रांकन, और वस्त्राभूषणों की अलंकारिकता पर केंद्रित होने लगा। अब रेखाओ की सूक्ष्मता और बारीकीपन प्रधान हो उठे।

अकबर के समय में, स्त्रियों के चित्र या उनकी शबीह लगाने का कोई भी चिह्न नहीं मिलता। यह निश्चित है कि जहाँगीर के समय में कुछ राजकीय सदस्यों की शबीहें तैयार की गई थी। इस काल में स्त्रियों के अतःपुर आदि के दृश्य भी चित्रित किए गए थे। शाहजहां के राज्य के आरंभ से ही बादशाहों के अंत पुर के दृश्यों की लोकप्रियता बढ़ गई। कलाकारों का ध्यान अब दैनिक जीवन और सामान्य विषयों की ओर आकर्षित होने लगा। चूंकि स्त्रियों ने राजनीति में प्रमुख भाग लिया था, स्त्रियों के दैनिक जीवन के दृश्य उनके शृंगार और आमोद प्रमोद के विषय चित्रकारों को विशेष प्रिय हो गए।

इन चित्रों में शृंगार और सौंदर्य की प्रधानता है। कई ऐसे चित्र हैं जहाँ बादशाह अंतःपुर में परिचारिकाओं से घिरे हुए, उद्यानों के बीच या संगमरमर की छत पर चाँदनी रात में नाट्य उत्सव देख रहे हैं। सेज पर अधलेटे हुए बादशाह के साथ कीमती वस्त्रों और झीने दुपट्टों से सुसज्जित सुंदरियाँ रूपछवि लुटा रही हैं। कहीं कहीं शृंगार कक्ष मे सुंदरी बाल सँवार रही है या उसकी परिचारिकाएं उसका शृंगार कर रही हैं। ऐसे प्रसंग जन साधारण के लिये विशेष रोचक थे। चित्रकला का ह्रास आरंभ हो गया।

दारा शिकोह — शाहजहाँ के बेटे शाहजादा दारा को चित्रों से बहुत प्रेम था। उसका चालीस चित्रों का एल्बम इंडिया हाउस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। यह एल्बम दारा ने अपनी पत्नी नादिरा बेगम को १६४४ ई० में उपहार में दिया था। इस संग्रह में उस्ताद मंसूर के फूलों के चित्र भी मौजूद हैं।

औरंगजेब (१६५८–१७०७) — औरंगजेब धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसकी असहिष्णुता और संकीर्णता से चित्रकला को बहुत धक्का लगा। शाही संरक्षण समाप्त होने से कला का विकास अवरुद्ध हो गया और चित्रकार अमीर उमराओं की शरण में चले गए जहां उनका समान पूर्ववत् बना रहा। यहीं चित्रकला का क्रमश. विकास प्रांतीय शालाओं के रूप में हुआ। [को०]

मुचकुंद इक्ष्वाकु नरेश मांधाता के पुत्र थे। इन्होंने अपने बाहुबल की परीक्षा के लिये अलकापति कुबेर पर आक्रमण किया था। पौराणिक कथाओं के अनुसार दैत्यों से बहुत समय तक इन्होंने देवताओं की रक्षा की थी। निवृत्त होने पर इन्होंने निद्रा का तथा जगानेवाले व्यक्ति को भस्म होने का वरदान माँगा था। श्रीकृष्ण का पीछा करते समय कालयवन इन्हें जगाकर भस्म हो गया था। [चं० भा० पां०]

मुज़फ्फ़रनगर १. जिला, स्थिति: २९° १०' से २९° ४५' उ० अ० तथा ७७° २' से ७८° ७' पू० दे०। यह भारत के उत्तर प्रदेश राज्य के पश्चिमी भाग में स्थित एक जिला है जो उत्तर में सहारनपुर, दक्षिण में मेरठ, पूर्व में बिजनौर, पश्चिम में हरियाना के करनाल जिले से घिरा है। इसकी पूर्वी सीमा पर गंगा एवं पश्चिमी सीमा पर यमुना नदी बहती है। इसका क्षेत्रफल १,६८३ वर्ग मील तथा जनसंख्या १४,४४,९२१ (१९६१) है। मध्य का क्षेत्र ऊँचा है। वनस्पतियों में ढाक के जंगल एवं शीशम, जामुन, अनार, अमरूद और आम के पेड़ पाए जाते है। जंगलों में जगली सुअर, हरिण, तेंदुआ आदि मिलते हैं। जलवायु उत्तम है तथा वर्षा ३३ इंच के लगभग होती है। कृषि में ईख, गेहूँ, चना, धान एवं कपास प्रमुख है। सिंचाई के लिये कई नहरें भी हैं।

२. नगर, स्थिति : २९° २८' उ० अ० तथा ७७° ४१' पू० दे०। यह मुज़फ्फ़रनगर जिले में मेरठ से हरिद्वार-रुड़की रेलमार्ग पर स्थित है। यहाँ पतली गलियाँ हैं। यह जिले का मुख्य केंद्र है। इसकी जनसंख्या ८७,६२२ (१९६१) है। [र० चं० दु०]

मुज़फ्फ़रपुर १. जिला, यह भारत के बिहार राज्य का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ३,०१८ वर्ग मील एवं जनसंख्या ४१,१८,३९८ (१९६१) है। इसके पश्चिम में चंपारन, दक्षिण-पश्चिम में सारन, दक्षिण में पटना, पूर्व में दरभंगा जिला एवं उत्तर में नेपाल स्थित है। इसकी दक्षिणी सीमा पर गंगा नदी एवं दक्षिण-पश्चिम में गंडक

नदी बहती है। कुल का औसत ताप लगभग २६° सें० रहता है। वार्षिक वर्षा का औसत ४६ इंच है। भूमि उपजाऊ है, जिसमें धान, गेहूँ, जौ, मई, दलहन एवं तिलहन की कृषि होती है।

२. नगर, स्थिति : २६° ७' उ० अ० तथा ८५° २४' पू० दे०। मुजफ्फरपुर जिले में छोटी गंडक नदी के दाएँ किनारे पर स्थित एक स्वच्छ नगर है। यहाँ से पटना ३६ मील, दक्षिण पश्चिम है। पटना-नेपाल मार्ग के मध्य में स्थित होने के कारण यह व्यापारिक नगर बन गया है। इसकी जनसंख्या १,०६,०४८ (सन् १९६१) है।

मुत्सिग्रानो, गिरोलामा (१५२८-१५९२) इतालीय चित्रकार। १५५० में उसने रोम को अपनी स्थायी निवासभूमि बनाया जहाँ वह मृत्यु पर्यंत रहा। अल्पावस्था में ही उसने दृश्य चित्रकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। वैटिकन में अधीक्षक के पद पर रहकर वह जड़ाई और पच्चीकारी में यथार्थ अनुकृति की वर्षों साधना करता रहा। रोम मे सेंट ल्यूक एकेडेमी की स्थापना में भी उसने सहायता की।

मुत्सिग्रानो के दो चित्र बड़े ही प्रसिद्ध हैं। रोम की सांता मेरिया चर्च में एक दृश्यांकन है जिसमें सेंट जेरोम मरुस्थल में ईसाई साधुओं को उपदेश दे रहे हैं तथा रीम्स की चर्च में एक दूसरी कलाकृति है जिसमें ईसा अपने शिष्यों के चरण धोते हुए दिखाए गए हैं। आरविएटो और लोरेटो में उसने काम किया। रोम स्थित महलों और गिर्जाघरों में भी उसकी अनेक कलाकृतियाँ उपलब्ध हुई हैं।

[श० रा० गु०]

मुद्रण या छपाई वह तकनीक है जिसमें यांत्रिक और प्रकाश यांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा पाठ्य पुस्तक, आलेख, निदर्शचित्र आदि का पुनरुत्पादन और अनुलिपि की जाती है। दूसरे शब्दों में कागज, कपड़ा, लकड़ी, धातु, काच या किसी संश्लिष्ट पदार्थ पर पाठ्यपुस्तकों और निदर्शचित्रों की कई प्रतियाँ बनाने की कला का नाम मुद्रण है।

इतिहास — मुद्रण का जन्म एशिया मे मुद्गुटिका, मिट्टी के बरतन और पपीरस पदार्थों को चिह्नित करने के अविकसित रूप में हुआ। चिह्नित करने के प्रमुख साधन साँचे और लकड़ी के ब्लॉक थे। सुमेरिया, बैबिलोनिया, मिस्र, चीन, भारत, जापान और कोरिया मे मुद्रण का यह प्रारंभिक रूप सामने आया। कोरी छाप के बाद मसीकृत मुद्रण का युग आया। उभारदार डिजाइन स्याही लगाने के बाद चर्मपत्र और पपीरस पदार्थ पर दबाए जाते थे। सुनिश्चित ब्लॉक मुद्रण का जन्म चीन मे ७७० ई० के कुछ पहले हुआ। इसके बाद ब्लॉक से किताबें छपने लगीं। ब्लॉक से छपे हुए पृष्ठों की जिल्द बाँधकर किताबों का रूप दिया जाने लगा।

ब्लॉक मुद्रण बहुत ही धीमी और भद्दी प्रक्रिया थी। लगभग १०४० ई० में पी शेंग नामक एक चीनी छापेखाने वाले ने मिट्टी के चल टाइप बनाए। प्रत्येक अक्षर और लिपि के लिये अलग अलग टाइप बनाए गए। इन टाइपों को मजमून छापने के लिये, अलग अलग, बार बार जोड़ा जा सकता था। लेकिन एशियाई देशों में चल टाइप लोकप्रिय नहीं हुए, क्योंकि चीनी, जापानी और कोरियाई भाषाओं में हजारों अक्षर हैं। काठ के ब्लॉकों से छापने पर लागत में कमी और छापने में सहूलियत होती थी।

ब्लॉक मुद्रण को मुसाफिरों, मिशनरियों और व्यापारी कारवाँओं ने यूरोप में पहुँचाया। वहाँ प्रारंभ में ताश के पत्तों और धार्मिक चित्रों को छापने में इस कला का उपयोग हुआ। कागज बनाने की मशीन का आविष्कार होने पर और दस्तकारी 'श्रेणी' के उत्थान से जब मठ सुलेख तथा पुस्तकों के निदर्शचित्रण मे पिछड़ गए, तो सस्ती और शीघ्रता से छपी पुस्तकों की माँग बड़ी तेज हुई, जिसके फलस्वरूप आधुनिक मुद्रण का जन्म हुआ। आधुनिक मुद्रण के आविष्कार का श्रेय जॉन्स गुटेनबर्ग को है जिनका नाम सर्वप्रथम छपी और अत्यंत प्रसिद्ध पुस्तक, गुटेनबर्ग बाइबिल से संबद्ध है।

गुटेनबर्ग ने अपने समय तक की सारी खोजों को एकत्रित कर उन्हें आधुनिक मुद्रण के रूप मे संघटित किया। इन्होंने टाइप ढालने के लिये समजनीय साँचा और टिन तथा सीसे की मिश्रधातु का आविष्कार भी किया एवं छापने के लिये काठ के हस्तमुद्रणयंत्र का उपयोग किया। छापने की यह सुनिश्चित विधि १४४० ई० में आई। इसका खूब प्रचार हुआ। किताबें सस्ती मिलने लगीं और यूरोप तेजी से शिक्षित होने लगा। १५६६ ई० मे विश्व का पहला समाचार पत्र "गजेटा" वेनिस से प्रकाशित होना प्रारंभ हुआ। १४७५ ई० में कैक्सटन ने छपाई इंग्लैंड में प्रसारित की।

हस्तमुद्रण यंत्र द्वारा चल टाइपों को छापने का क्रम लगभग ४०० वर्षों तक चला। औद्योगिक क्रांति काल में १८०० ई० में अर्ल स्टैनहोप ने लोहमय हस्तमुद्रण यंत्र का आविष्कार किया। औद्योगिक क्रांति की गतिविधि के साथ हस्तमुद्रणयंत्र पीछे पड़ गए और उनका स्थान सिलिंडर प्लैटेन और रोटरी मशीनों ने लिया। १७२५ ई० में विलियम गेड ने दुहरी प्लेट तैयार करने की विधि, स्टोरियोटाइपिंग, का आविष्कार किया, जिसके कारण छपाई सस्ती हो गई और छपाई का प्रसार हुआ। १८८६ ई० मे ऑटमर मरगैनथेलर ने लाइनो टाइप का आविष्कार किया और १८९८ मे टाल बर्ट लैंस्टन ने मोनोटाइप का आविष्कार किया जिससे कि टाइप कैरेक्टरों को यंत्रों से ढाला और जोड़ा जाने लगा। कागज एवं स्याही निर्माण और टाइपोग्रैफिक डिजाइन मे भी क्रांतिकारी उन्नति हुई। १८४० ई० मे गिलॉट ने जे० एन० नीप्से और डेगरे के फोटोग्राफी संबंधी प्रयोगों से लाभ उठाकर जिंक प्लेटो के निक्षारण की विधि निकाली और १८५१ ई० मे स्कॉट आर्चर ने गीले कोलोडियन विधि से निगेटिव तैयार करने की विधि निकाली। इसके बाद कंटिनुग्रस टोन (continous tone), हाफटोन (halftone), या जस्ते और ताँबे के ब्लॉकों का आविष्कार हुआ। फोटोग्राफी के तमाम टोन पुनरुत्पादित किए जाने लगे। निदर्शचित्रों की प्रकाशयांत्रिक छपाई के बाद रंगीन निदर्शचित्रों का पुनरुत्पादन होने लगा, जिसमें हर रंग को दिखाने के लिये ब्लॉकों का अध्यारोपण करना पड़ता था। एलायस सेनेफेल्डर ने १७९५ ई० में छपाई की प्लेनोग्राफ़िक, या लिथोग्राफ़िक विधि निकाली, जिसे १९०५ ई० मे रूबेल ने वर्ण छपाई की लोकप्रिय विधि आफसेट छपाई का आविष्कार कर पूर्णता प्रदान की। १८६० ई० मे कार्ल क्लिक ने उत्कीर्ण आकृति या ग्रेवुर विधि को पूर्णता तक पहुँचाकर सस्ते से सस्ते कागज पर वर्ण छपाई संभव कर दी।

२०वीं शताब्दी का आगमन होते ही छपाई की विविध प्रक्रियाओं में यंत्रीकरण, स्वचलीकरण और सुवाहीकरण बड़े स्तर पर होने

लगे। अविश्वास्य गति और दक्षता की प्रिसिशन (precision) मशीनें अब प्राप्त हो रही हैं। छपाई टेक्नॉलोजी में इलेक्ट्रॉनिकी, प्रकाशिकी, यांत्रिकी और रसायन विज्ञान की प्रयुक्ति से यह संभव हो सका है। अब शीघ्र ही और सस्ते दामों में छपाई मे विशेषता, नवीनता, सुंदरता और वर्ण आ सकता है और ये सब सस्ते तथा सजीव होते हैं। आधुनिक प्रेस में स्टूडियो, सुवाही कैमरा, सुसज्जित प्रकाशीय यंत्र, चकाचौंध करनेवाले आर्क लैंप, बोतल और जार के आकर्षक रैक, परिशुद्ध निर्मित, रोटरी मशीन आदि, भव्य साज सामान होता है।

भारत में छपाई का इतिहास — आधुनिक छपाई की तकनीक भारत में १५६६ ई० में आई, अर्थात् अमरीका से सौ वर्ष पूर्व। गोआ में एक पुर्तगाली जहाज काठ का एक हस्तदाब मुद्रणयंत्र, जिसमे नक्काशी के औजार भी थे, सौंप गया। ये सब उपकरण अबीसिनिया के लिये रवाना किए गए थे। गोआ के मिशनरियों ने इसयंत्र के धार्मिक साहित्य छापने के लिये गोआ में स्थापित करने का निश्चय किया। तमिल लिपि में बाइबिल का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। १५७६ ई० में एक ब्राह्मण ईसाई, पीरोलुइस, तमिल भाषा में धार्मिक साहित्य मुद्रण का कार्यभारी हुआ। १५५८ ई० में कोल्लम और बाद में कोचीन के मिशनरियों ने हस्तदाब मुद्रणयंत्र स्थापित कर धार्मिक साहित्य छापना प्रारंभ कर दिया। १५८० ई० तक मिशनरियों ने सारे भारत में हस्तदाब मुद्रणयंत्र स्थापित किए और देवनागरी, कन्नड़ और तमिल लिपि के टाइप ढाले। सरकार ने भी मुद्रण का महत्व समझा और सरकारी प्रेसों में स्टेशनरी, फॉर्म, गजट आदि छपने लगे।

चूंकि छपाई अभी तक सरकार और मिशनरी तक ही सीमित थी, अतः उसका व्यापक विकास न हो सका। शिशिक्षुता (apprenticeship) की व्यवस्था के अभाव में भारतीयों के लिये इसका ज्ञान शक्य नहीं था। भारत मे कोई औद्योगिक क्रांति नही हुई और यहाँ की अर्थव्यवस्था प्रधानतया कृषि पर निर्भर थी। अंग्रेज शासक भारत में शिक्षा का व्यापक प्रसार करना नही चाहते थे, अत. मुद्रित सामग्री की माँग सीमित थी। इन सभी कारणों से भारत में मुद्रण का विकास अवरुद्ध रहा। मद्रास, कलकत्ता आदि के मिशनों के बंद हो जाने पर, जब उनके प्रेस बिके तब भारत में छपाई का प्रसार हुआ। बंद हुए प्रेस के कर्मचारियों ने बंबई, कलकत्ता और मद्रास में अपने प्रेस स्थापित किए और इस प्रकार भारतीय प्रेस उद्योग का जन्म हुआ। श्री रुस्तमजी कार्सपजी के निर्देशन में भारत का पहला समाचार पत्र, बांबे करीयर (Bombay Career), का प्रकाशन १७७५ ई० में प्रारंभ हुआ।

स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं ने साक्षरता की वृद्धि की है और देश का औद्योगिकीकरण किया है। देश मे पुस्तकों की आवश्यकता दिनोदिन बढ रही है। अमृतसर, आगरा, दिल्ली और बंगलौर में छोटे स्तर की इकाइयों ने मशीनरी निर्माण करने का काम अपने हाथ में लिया है। मशीन बनाने की बृहदाकार इकाई हावड़ा में विकसित हो रही है। ऑल इंडिया फेडरेशन ऑव मास्टर प्रिंटर्स के अंतर्गत, उद्योग का संगठन हुआ है और विदेशों से होड़ लेने के प्रयत्न चल रहे हैं।

मुद्रण की परिक्रियाएँ — मुद्रण की लोकप्रिय विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) रिलीफ (Relief) मुद्रण या अक्षर मुद्रण, २. प्लैनोग्राफिक (Planographic) या लिथोऑफसेट मुद्रण, तथा ३. इंटैल्यो (Intaglio) या ग्रेवुर (Gravur) मुद्रण, ४. सिल्क स्क्रीन मुद्रण, ५. कोलोटाइप (Collotype) या फोटोजिलेटिन मुद्रण तथा ६. इस्पात और ताँबे की खुदाई से मुद्रण आदि विशेष रीतियाँ हैं। मुद्रण की इन विधियों ने इस उद्योग को प्रशस्त बनाया है।

अक्षर मुद्रण (Letterpress Printing)

रिलीफ मुद्रण या अक्षर मुद्रण टाइप, ब्लॉक, प्लेट आदि से छापने की तकनीक का नाम है। इसमें डिजाइन और लिपि रिलीफ में, यानी उभरे हुए, होते हैं। दूसरे शब्दों में, ये मुद्रणीय क्षेत्र की अपेक्षा ऊँचे तल पर रहते हैं। जब स्याही चढ़ाई जाती है, तब वह केवल मुद्रणीय क्षेत्र पर ही पड़ती है, क्योंकि अमुद्रणीय क्षेत्र निचाई पर होता है। इस प्रकार स्याहीयुक्त मुद्रणीय क्षेत्र जब कागज के संपर्क में आते हैं, तो स्याही को कागज पर स्थानांतरित करते हैं और कागज पर मुद्रणीय क्षेत्र की छाप पड़ जाती है।

अक्षर मुद्रण की विशेषता सत्य और निश्चित छाप है। लिपि का प्रत्येक बिंदु और उसकी सारी रूपरेखा सफाई के साथ, ज्यों की त्यों पुनरुत्पादित होती है। स्याही का स्थानांतरण निर्दोष होता है। मुद्रण की इस विधि को हाशिया छोड़कर छापने के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है। मुद्रण की सभी अवस्थाओं में त्रुटिका निरास और संशोधन संभव है। चल टाइपों के उपयोग के कारण यह बहुत ही लचीली विधि है। उभरे हुए तल को स्याही लगाकर उसकी छाप ले लेने के सरल सिद्धांत पर आधारित होने के कारण इस विधि मे स्याही भरना, संपर्क, दाब और स्थानांतरण निर्दोष होता है। इस विधि का यदि कोई दोष है तो यही कि निदर्शचित्रों के लिये लाइन और हाफटोन ब्लॉक का निर्माण और मुद्रण खर्चीला है।

अक्षर मुद्रण प्राचीनतम विधि है और आज भी छपाई की बुनियादी विधि यही है, तथापि दुनिया के सभी देशों मे पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। लगभग सभी समाचारपत्र, पुस्तकें, पत्रिकाएँ, विज्ञापन, वाणिज्य प्रपत्र और विविध अन्य छपाइयों में अक्षर मुद्रण विधि का उपयोग होता है। अक्षर मुद्रण की बुनियादी क्रियाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) डिजाइन और अभिन्यास — डिजाइन विभाग में हस्तलिखित प्रति को छापने की विशद योजना बनाई जाती है। मूलपाठ की डमी या अभिन्यास तैयार किया जाता है।

(२) टाइप सेटिंग — कंपोजिंग (composing) या टाइप सेटिंग विभाग में कॉपी सेट की जाती है। पहले स्टिक और बाद में गैलियों में कॉपी के अनुसार टाइपों को जोड़कर शब्द, पंक्ति और पृष्ठों की रचना की जाती है। टाइपों को जोड़ने का काम कंपोजिटर या अक्षरयोजक (compositors) करते हैं। बड़े स्तर के मुद्रणालयों में टाइपों को जोड़ने का काम मशीनें करती हैं, जिन्हें लाइनोटाइप और मोनोटाइप मशीन कहते हैं।

(क) लाइनोटाइप मशीन — यह टाइपों की एक समूची पंक्ति को धातुखंड के रूप में सेट कर देती है। लाइनोटाइप परिचालक कुंजीफलक की सहायता से कॉपी को टाइप करता है। मशीन टाइप के साँचों या मैट्रिक्सों को पंक्ति में जोड़ती है। जब मैट्रिक्सों की एक पूरी पंक्ति जुड़

जाती हैं। तब मशीन के साँचे में पिघली धातु जमकर कठोर हो जाती है और तैयार धातुखंड एक थाली में गिरता है।

(ख) मोनोटाइप — इसकी दो इकाइयाँ हैं कुंजीफलक और ढालक। मोनोटाइप परिचालक कुंजीफलक पर कापी टाइप करता है। फलतः, एक कागज के फीते में, जिसे स्पूल (spool) कहते हैं, छिद्रण होता है। छिद्रण संयोजन मे किया जाता है, अर्थात् विभिन्न संयोजन द्वारा प्रदर्शित किए जानेवाले हर अक्षर के लिये एक बार में दो या तीन छिद्र किए जाते हैं। छिद्रण के स्पूल का भरण ढालक से किया जाता है। यह मशीन टाइपों को स्वचालित विधि से ढालती है और उन्हें ठीक क्रम से जोड़ती है। मोनोटाइप का एक लाभ यह भी है कि किसी भी टाइप के स्थान पर दूसरा टाइप रखकर संशोधन करना संभव होता है।

(ग) टेलीटाइपसेटर (Teletype-setter) — १९५०-५९ ई० मे विश्व के बहुत से समाचारपत्रों ने टेलीटाइपसेटर का उपयोग प्रारंभ कर दिया। यह यंत्र समाचार एजेंसी से कापी को समाचार पत्र को पारेषित करता है और एक कागज के फीते में छेद करता है। जब यह फीता टाइपसेटिंग मशीन में लगा दिया जाता है, तब कापी अपने आप अक्षरयोजित हो जाती है।

(घ) मेकअप (Make up) — टाइपसेटिंग के बाद टाइप का मेकअप किया जाता है, अर्थात् सीमाबद्ध पृष्ठ तैयार किए जाते हैं। इसी अवस्था में लाइन और हाफटोन ब्लॉक भी जोड़ दिए जाते हैं और शब्दों तथा पंक्तियों के बीच अंतर को ठीक कर पृष्ठों को सँवारा और उनका समकरण किया जाता है। प्रूफ दाब में प्रूफ तैयार किया जाता है और संशोधन के लिये लेखक, या प्रूफ संशोधक, के पास भेजा जाता है। जब प्रूफ संशोधित होकर लौट आता है, तब आवश्यक संशोधन कर लिये जाते हैं। जब सभी संशोधन कर लिये जाते हैं, तब पृष्ठों को एक धातु के चौखटे में, जिसे परिबंध या चेस (chase) कहते हैं, कस दिया जाता है और छपाई विभाग में भेज दिया जाता है।

(३) लाइन और हाफटोन ब्लॉक — अक्षरमुद्रण छपाई की विधा में शब्दों और वाक्यों के समूह से पाठ्य सामग्री को हाथ या मशीन से योजित करना होता है, किंतु निदर्श चित्रों के पुनरुत्पादन के लिये उन्हें लाइन या हाफ़टोन ब्लॉक का रूप देकर पृष्ठों और फर्मों में अक्षरयोजित पाठ के साथ निविष्ट करना पड़ता है। लाइन और हाफ़टोन ब्लॉकों को अक्षरमुद्रण के बुनियादी सिद्धांत के अनुसार मुद्रणक्षेत्र की अपेक्षा ऊँचे तल पर होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, ब्लॉक का मुद्रणकारी प्रतिबिंब उभरा हुआ होना चाहिए और यह प्रकाशयांत्रिकी विधि से प्राप्त किया जाता है (देखें ब्लॉक बनाना)।

(४) द्वितक प्लेटें (Duplicate plates) — बड़े बड़े प्रकाशनों को एक ही स्थान पर, या कई स्थानों पर, छापने के लिये द्वितक प्लेटों की आवश्यकता होती है। इससे मूल ब्लॉक और टाइप की टूट फूट नहीं होती और दो या चार पृष्ठों को एक साथ छापना संभव है। इस प्रकार सुगमता और कम व्यय में अलग अलग स्थानों पर विज्ञापनों की छपाई संभव है। लोकप्रिय द्वितक प्लेट बनाने की विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(क) स्टीरियोटाइपिंग (Stereotyping) — द्रवचालित दाबक में मोटे कागज या प्लास्टिक का साँचा ढालकर पृष्ठ का स्टीरियोटाइप बनाया जाता है।

(ख) वैद्युत् मुद्रण (Electrotyping) — मोम या टेनाप्लेट (tenaplate, धातु और धातवर्ण्य पदार्थों का मिश्रण) का एक साँचा तैयार करते हैं। इसे ग्रेफाइट का आवरण देकर विद्युत् का सुचालक बनाया जाता है। इस साँचे को विद्युत्लेपन कुंड में लटकाकर धातुखोल तैयार किया जाता है। यह खोल धातु को पिघला और भरकर पृष्ठपोषित होता है। इस रीति से वैद्युतब्लाक (electrotype) तैयार हो जाते हैं। स्टीरियोटाइप और वैद्युतब्लाक का संमुख भाग कभी कभी निकल या क्रोमियम का होता है, जिससे उनका टिकाऊपन बढ़ जाता है।

(५) अक्षरमुद्रण छपाई यंत्र — गुटेनबर्ग द्वारा आविष्कृत हस्तदाब मुद्रण यंत्र का स्थान परिशुद्धता से निर्मित स्वचालित प्लैटेन, सिलिंडर और रोटरी यंत्रों ने लिया है, जो आश्चर्यजनक तेज गति से चलते हैं :

(क) प्लैटेन (platen) प्रेस — इनमें परिबंध में स्थित और मशीन के शीर्ष पर अवस्थित स्याही चढ़े हुए टाइपों को कागज पर दबाने के लिये प्लैटन नामक चौरस सतह का उपयोग होता है। प्लैटनों का उपयोग छोटे कामों में, जैसे लिफाफा, पोस्टकार्ड, स्टेशनरी, वाणिज्य प्रपत्र आदि की छपाई मे, होता है। यंत्र सीपी के खोल के समान खुलता और बंद होता है। अधिकतर आधुनिक प्लैटन प्रेसों में स्वचालित संभरक (feeders) होते हैं।

(ख) सिलिंडर (cylnder) प्रेस या चौरस तल प्रेस — छोटे क्षेत्र की अक्षरमुद्रण छपाई प्रायः सिलिंडर प्रेसों पर होती है। तल अनुकूल रीति से दोलन करता है और सिलिंडर द्वारा आलंबित और सँभारित कागज को छापकर निकाल देता है। इसमें सिलिंडर भी एक या दो बार परिक्रमा करता है। स्याही चढ़ाने का काम रोलर करते हैं। आधुनिक सिलिंडर मशीनों मे निरपवाद रूप से स्वचालित संभरक होते हैं, जिनसे तीव्र गति और उत्तम कोटि का कार्य संपादित होता है।

(ग) रोटरी प्रेस — समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, पुस्तकें, व्यापारिक प्रपत्र आदि के बड़े पैमाने पर मुद्रण के लिये रोटरी प्रेसों का उपयोग किया जाता है। ये प्रेस भारी भरकम होते हैं और बहुत ही तेज चलनेवाले होते हैं। ये तीव्रगति यंत्र प्रति घंटे समाचार पत्रों की ६० हजार प्रतियाँ छापकर, काटकर, मोड़कर और गिनकर तैयार कर देते हैं। पत्रिका, सूची तथा अन्य प्रकाशनों से संबंधित छिद्रण, गणना, सिलाई आदि कई अन्य क्रियाएँ रोटरी प्रेस से की जाती हैं। रोटरी प्रेसो में दो या दो से अधिक सिलिंडर होते हैं, जो एक दूसरे के मेल में चलते है। इनमे से एक सिलिंडर पर, जिसे प्लेट सिलिंडर कहते हैं, वक्र स्टीरियो प्लेट चढ़े रहते हैं। दूसरे सिलिंडर पर वह कागज होता है जिसका भरण कागज का एक रील एक बड़े गोले के रूप मे करता है। आधुनिक रोटरी मशीनों में प्लेट सिलिंडर और इंप्रेशन (impression) सिलिंडरों की संख्या अधिक होती हैं, जिससे अनेक पृष्ठों की छपाई एक साथ हो सकती है।

(घ) जिल्दसाजी — पुस्तक, पत्रिका, सूचीपत्र आदि के सभी पृष्ठों के छप जाने के बाद जिल्दसाजी विभाग में उनका बंधन होता है। हाथ से या वाहक पट्टा और अन्य उपकरणों से चलनेवाली मशीनों, या संतति में काम करने वाली मशीनों, से कागज को काटकर मोड़कर, जोड़कर और सीकर आवरणयुक्त कर दिया जाता है। (देखें जिल्दसाजी)।

प्लैनोग्रैफिक या लिथोऑफसेट मुद्रण

(Plganographic or Litho-offset Printing)

प्लैनोग्राफिक छपाई का सिद्धांत यह है कि पानी और ग्रीज मिश्रित नही होते। डिजाइन या पुस्तक का पाठ्य भाग, जिसे छापना है, चित्रित कर एक प्लेट पर अंतरित करते हैं, या फोटोग्राफी से छापते है और उसे चिकना रखते हैं। प्लेट के अमुद्रणीय भागों पर चिकनाहट नहीं होती और उन्हे छापते समय बराबर पानी से तर रखा जाता है ताकि वे मसि का प्रतिरोध कर सकें। इस विधि में मुद्रणीय और अमुद्रणीय भागो की सतह एक ही होती है। उनकी पृथकता रसायनत: होती है, न कि भौतिक जैसी अक्षरमुद्रण मे होती है।

इस मुद्रण की यह विशेषता है कि छपाई छूट आदि से विहीन होती है। इसमें बिंदुओ के कोर उतने साफ और तेज नही होते जितने अक्षरमुद्रण मे होते हैं। पानी के प्रभाव के कारण रंग कुछ धुले से जान पड़ते हैं। लागत की कमी के कारण यह विधि वर्ण छपाई में दिनों दिन लोकप्रिय होती जा रही है। सूक्ष्म लाइन काम, सूक्ष्म छाया और टिंट, कोमल विनेट (vignette), पेंसिल चित्र आदि की छपाई इस विधि से बहुत अच्छी होती है। इस छपाई मे महँगे आर्ट पेपरो की कोई आवश्यकता नहीं है। प्लेटों के द्वितकीकरण के क्रम और आवृत्तिविधियो के कारण समय और लागत की बचत होती है। लोकप्रियता की दृष्टि से ऑफसेट छपाई का दूसरा स्थान है।

(क) लिथोग्राफी — प्लैनोग्राफिक मुद्रण का मूल रूप, जो सैनेफेल्डर ने आविष्कृत किया लिथोग्राफी कहलाता है। चिकनी स्याही से प्रतिबिंब को मरल लिथोस्टोन, जस्ता या ऐल्युमिनियम की प्लेटो पर चित्रित, अंतरित या छाप लिया जाता है। स्टोन या प्लेट को जब चौरस तल वाली लिथो छपाई मशीन पर, या रोटरी मशीन के प्लेट सिलिंडर पर, चढाया जाता है, तब वह सिलिंडर द्वारा आलंबित कागज को छाप देता है। मुद्रणीय और अमुद्रणीय क्षेत्रो के विभाजनार्थ पानी और स्याही बराबर पर्यायक्रम से प्रयुक्त किए जाते हैं।

(ख) ऑफसेट (offset) मुद्रण — प्लैनोग्राफिक छपाई की इस लोकप्रिय विधि मे प्लेट और कागज के बीच निर्दोष संपर्क और निर्दोष मसि अंतरण मे रबर चादर की लचक का लाभ उठाया गया है। सिलिंडर पर आरोपित चादर प्लेट सिलिंडर से स्याही की छाप लेकर इस मसी प्रतिबिंब को इंप्रेशन सिलिंडर द्वारा आलंबित कागज पर ऑफसेट कर देती है। ऑफसेट प्लेटो का निर्माण फोटोग्राफी द्वारा अर्थात् सूक्ष्मग्राहीकृत प्लेटों को निगेटिव के अतर्गत छापकर होता है। तीव्र वैषम्य, विशेष विवरण और बड़े पैमाने पर छपाई के लिये गहरा तक्षण प्लेट निर्माण विधि का उपयोग करते हैं। इसमे निगेटिवों के स्थान पर फोटोग्राफिक पाज़िटिव का उपयोग होता है और छपे हुए प्रतिबिंब को हलका निक्षारित किया जाता है ताकि प्लेट अधिक स्याही ले सके और देर तक छाप सके।

(ग) फोटोटाइप योजन — पाठ्यसामग्री को ऑफसेट द्वारा छापने के लिये टाइपों को अक्षरमुद्रण छपाई के समान ही योजित किया जाता है और पुनरुत्पादन प्रूफ तैयार किया जाता है। इस प्रूफ को मूल के रूप में इस्तेमाल कर प्रकाशयांत्रिकी विधि से निगेटिव और आफसेट प्लेटो को तैयार किया जाता है।

पाठ्य सामग्री को ऑफसेट द्वारा छापने की दिशा में हुई आधुनिक खोज के परिणामस्वरूप फोटोटाइप योजकमशीनों का विकास हुआ है। मोनाफोटो, इंटरटाइपयोजक, लाइनोफिल्म आदि, इसके उदाहरण है। मूल को कुंजीफलक पर चढ़ाया जाता है और मैट्रिक्सों (matrixes) को, जिनमे विभिन्न लिपियों के निगेटिव हैं, सूक्ष्मग्राही-कृत फिल्म के संपर्क मे उद्भासित किया जाता है। यह डेवेलप किया गया फिल्म ऑफसेट द्वारा प्रकाशयांत्रिकी पुनरुत्पादनों के लिये विशिष्ट तकनीकों द्वारा संशोधन के बाद निगेटिव के रूप में काम आता है।

(घ) ड्राइ ऑफसेट — ड्राइ ऑफसेट छपाई में अक्षरमुद्रण और ऑफसेट दोनो प्रकार की छपाइयो की तकनीकों का उपयोग किया जाता है। प्लेट पर मुद्रित प्रतिबिंब उसी प्रकार लक्षित किया जाता है, जैसे अक्षरमुद्रण प्लेट मे। इस विधि मे आफसेट छपाई के ही समान रबर चादर का उपयोग होता है। जल प्रयुक्ति इसलिये जरूरी नही है कि मुद्रणीय क्षेत्र उभरा हुआ होता है। रबर चादर प्रतिबिंब को कागज पर ऑफसेट करती है और यह अंतरण लगभग ऑफसेट छपाई के ही समान निश्छिन्न होता है। छपाई की यह विधि स्टांप, मुद्रानोट, व्यापारिक प्रपत्र, लेबल आदि की छपाई मे अत्यधिक काम आ रही है।

उत्कीर्ण आकृति (Intaglio) या ग्रेवुर मुद्रण

उत्कीर्ण आकृति छपाई मे मुद्रणीय और अमुद्रणीय क्षेत्र उसी प्रकार अलग होते हैं, जैसे अक्षरमुद्रण छपाई मे। इसमे अक्षरमुद्रण के विपरीत मुद्रणीय क्षेत्र का तल अमुद्रणीय क्षेत्र की अपेक्षा नीचा होता है। दूसरे शब्दो मे, प्रतिबिंब को उत्कीर्ण, तक्षित या निक्षारित करना होता है। छापने के लिये प्लेट को स्याही मे आप्लावित कर ऊपरी अमुद्रणीय क्षेत्र साफ कर लिया जाता है और ग्रेवुर छपाई मशीन में दाब कर प्रतिबिंब को कागज पर अतरित कर दिया जाता है। तक्षित बिंदुओं की विविध गहराई के फलस्वरूप छपे बिंदुओं की विविध स्थूलता के कारण रंग की गहराई रंगाभास और छाया की आकर्षक क्रम स्थापना, इस प्रकार की छपाई की अपनी विशेषता है। अक्षर मुद्रण और प्लैनोग्राफिक छपाई में बिंदु रूप और आकार कई प्रकार के होते हैं, जिनका आकार सूची बिंदु से लेकर अतिव्यापी वर्ग और वक्र तक का हो सकता है। इसके विपरीत उत्कीर्ण आकृति छपाई में घटिया से घटिया कागज पर वर्ण मुद्रण हो सकता है। प्लेट और सिलिंडरो का निर्माण अपेक्षाकृत महँगा है। बड़े स्तर में वर्णों के पुनरुत्पादन के लिये यह विधि सस्ती है और अत्यंत आकर्षक छपाई करती है।

उत्कीर्ण आकृति मुद्रण में इस्पात और ताँबा प्लेट तक्षण विधि, पैतृक विधि है और वय में अक्षरमुद्रण से स्पर्धा करती है। डिजाइन

को साँचे या प्लेट पर चित्रित या अंतरित कर टाँकी, खलानी, या मशीन द्वारा तक्षित किया जाता है। साँचा या प्लेट को स्याही से आप्लावित करने के बाद पोंछ कर दाब प्रयोग करने से कागज पर बहुत ही सुंदर छाप उभर आती है। प्रिंट पर प्रतिबिंब हलका उभरा होता है और रंग बड़ा आकर्षक होता है। यह विधि नामपत्रक और कार्यालय लेखन सामग्री की बड़े पैमाने पर छपाई मे काम आती है।

उत्कीर्ण आकृति विधि की बुनियाद पर तीन विधियों का विकास हुआ है, जिनके नाम हैं : प्रकाश ग्रेवुर, (photogravure), रोटोग्रेवुर (rotogravure) और शीटफेड ग्रेवुर (sheetfed gravure)। इनका सामूहिक नाम ग्रेवुर है। इनमें सबसे महत्व का रोटोग्रेवुर है। इसमें तक्षित ताँबे की सतहवाली या ताँबे के जैकेटदार सिलिंडरों का उपयोग कागज के अविच्छिन्न जाल को छापने के लिये होता है। प्लेट निर्माण में होनेवाले विलंब और अर्थव्यय के कारण रोटोग्रेवुर का उपयोग बड़े पैमाने के उत्पादनों तक ही सीमित है। फोटोग्रेवुर हाथ की विधि है। सीमित या डिलक्स प्रकाशनों के लिये यह उपयुक्त है, जिनमे सर्वोत्तम कोटि की छपाई वाछनीय होती है (देखें, फोटोग्रेवुर)। शीटफेड ग्रेवुर मध्यम उत्पादन के लिये उपयुक्त है।

ग्रेवुर विधियाँ फोटोग्राफ और गहरी या हलकी आभाओंवाली कलाकृतियों के लिये अत्यंत उपयुक्त हैं। ग्रेवुर पर्द के कारण टाइप पर आड़ी तिरछी रेखाएँ बनती हैं, जिससे उसकी पठ्यता कुप्रभावित होती है और इससे टाइप पुनरुत्पादन मे हानि होती है। पर्दे के दोष का कारण यह है कि ग्रेवुर प्लेट निर्माण मे प्रयुक्त पर्दा अक्षरमुद्रण और प्लेनोग्राफिक छपाई पर्दे का उल्टा होता है।

रेशम-पट-मुद्रण (Serigraphy)

रेशमपट छपाई स्टेंसिल छपाई विधि है। इसमे एक स्टेंसिल का उपयोग किया जाता है, जो मुद्रणीय क्षेत्रों मे स्याही का प्रवाह होने देता है, किंतु अमुद्रणीय क्षेत्रों में उसका प्रवेश रोक लेता है।

स्टेंसिल पर डिजाइन हाथ से काटते है। स्टेंसिल का निर्माण प्रकाशयांत्रिकी विधि से, विशिष्ट रूप से तैयार फिल्म का इस्तेमाल करते हुए, किया जाता है। चौखटे पर स्टेंसिल चढाया जाता है। स्याही या रंग को स्टेंसिल रबर बेलन या रबर प्लेट से कागज पर, या जिसपर छपाई करनी है उस पर, प्रणोदित करते हैं। चूँकि छपाई की सतह पर स्याही की मोटी परत अंतरित होती है, अतः छपा हुआ ताव काफी देर में सूखता है। फलत. इस विधि मे समय काफी लगता है। इधर हाल ही मे इस विधि का यंत्रीकरण हुआ है और रेशमपट छपाई मशीन अब मिलने लगी हैं। यह विधि विज्ञापन, ताश के पत्तों आदि की छपाई में, जहाँ कि भड़कदार रंगों मे छपाई होती है, प्रयुक्त होती है।

फोटोजिलेटिन या कोलोटाइप छपाई

इस विधि में प्रिंटिंग प्रतिबिंब तैयार करने में सीसे या धातु की प्लेट पर सूक्ष्मग्राहीकृत जिलेटिन की पतली परत का उपयोग किया जाता है। प्लेट का निर्माण प्रकाशयांत्रिकी विधि से बेपरदा (unscreened) नेगेटिव के नीचे प्लेट को उद्भासित कर होता है। उद्भासित सूक्ष्मग्राहीकृत जिलेटिन उसके विभिन्न भागों में आपात प्रकाश के अनुपात में विभिन्न अंशों में प्रभावित होता है। जब प्रिंटिंग प्रतिबिंब तैयार हो जाता है, तब वह स्याहीधारक या निरसारक सामर्थ्य के अनुसार मोटाई और आर्द्रता मे भी विभिन्न होता है। प्लेट को गीला रखा जाता है और प्रेस कक्ष को उपयुक्त आर्द्रता पर व्यवस्थित रखते हैं। स्टॉप सिलिंडर प्रेसों पर छपाई होती है। शीटफेड रोटरी प्राप्य है। कोलोटाइप प्रायः थोड़ी छपाई की विधि है। अब यह विधि विज्ञापन और फोटोग्राफ तथा वर्णचित्रों की अनुप्रति पुनरुत्पादन के काम बहुत आने लगी है। पर्दा न होने के कारण इस विधि से प्राचीन हस्तलेखों का पुनरुत्पादन किया जाता है, क्योंकि इस विधि से अत्यंत निर्दोष पुनरुत्पादन होता है।

जेरोग्राफी (Xerography)

इस विधि मे स्याही का उपयोग नही होता और दाब के स्थान पर स्थिर विद्युत् के उपयोग से प्लेट का डिजाइन कागज पर स्थानांतरित कर लिया जाता है। प्रतिबिंब के काले भाग विद्युत से घन आविष्ट किए जाते हैं और हलके भागों पर हलका आवेश दिया जाता है। आविष्ट प्लेट पर सूक्ष्म चूर्ण का बादल छोड़ा जाता है, जो कागज पर स्थानांतरित हो जाता है। कागज को गरम करने पर चूर्ण का रेजिन पिघल जाता है और परिणाम स्वरूप डिजाइन कागज पर छप जाता है। इस विधि से इंजीनियरी के चित्र, रूल, फार्म आदि छापे जाते हैं और कार्यालयों में अभिलेख और पत्रव्यवहार आदि का त्वरित प्रतिलिपिकरण भी किया जाता है।

ऐनिलीन मुद्रण — यह भी एक प्रकार का अक्षरमुद्रण है। इसमें रोटरी मशीनों पर तीव्र गति से इश्तहारी कागज, पैकेट बनाने वाले पदार्थ आदि की छपाई के लिए रबर और प्लास्टिक के स्टीरियो का उपयोग किया जाता है। पानी या ऐल्कोहॉल आदि द्रवों में विसरित ऐनिलीन रंजक ही प्रयुक्त होनेवाली स्याही है। संक्षेप मे यह बड़े पैमाने पर छपाई की सस्ती विधि है।

मुद्रण शिक्षा

भारत में मुद्रण उद्योग की शिथिल प्रगति का एक कारण यह है कि यहाँ शिल्पी, पर्यवेक्षक और कार्यकारी आदि, तीनों प्रकार के कर्मचारी वर्ग के लिये प्रशिक्षण व्यवस्था का अभाव है। १९४६ ई० में मुद्रण औद्योगिकी सहित प्रयुक्त कला मे प्रशिक्षण व्यवस्था के लिए ऑल इंडिया काउंसिल ऑव टेकनिकल एजुकेशन के अंतर्गत ऑल इंडिया बोर्ड ऑव टेक्निकल स्टडीज इन ऐप्लाइड आर्ट्स का निर्माण हुआ। इस बोर्ड ने इलाहाबाद, बंबई, कलकत्ता और मद्रास में चार प्रादेशिक मुद्रण शिक्षण संस्थाओं की स्थापना कर मुद्रण शिक्षा मे महत्वपूर्ण कार्य किया। शिक्षा संस्थाओं की स्थापना क्रमश. १९५७, १९५५ और १९५६ ई० मे हुई।

मुद्रण शिल्पविज्ञान की प्रादेशिक शालाओं ने अक्षर मुद्रण और लिथोग्राफी का तीन साल का पूर्णकालिक और चार साल का अंशकालिक नैशनल सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम लागू किया है। स्टेट बोर्ड ऑव टेकनिकल एजुकेशन द्वारा राज्य स्तर पर परीक्षाएँ चलती हैं और दोनों पाठ्यक्रमों मे डिप्लोमा मिलता है। जहा तक इन प्रशिक्षितों को काम देने का सवाल है, केंद्रीय सरकार और कई राज्य सरकारों ने इन पाठ्यक्रमों को मान्यता दे रखी है। ये प्रादेशिक विद्यालय पर्यवेक्षक और योग्य प्राविधिज्ञ का प्रशिक्षण प्रदान करते हैं।

भारत सरकार ने मुद्रण की एक केंद्रीय संस्था स्थापित करने का निश्चय किया है। संस्था मुद्रण में कार्यकारी प्रशिक्षण देगी। प्रशिक्षण अवधि स्नातकों के लिए तीन वर्ष और डिप्लोमाधारियों के लिये दो वर्ष होगी। यह संस्था एक सूचना केंद्र और ग्राफिक आर्ट्स के लिए एक अनुसंधानशाला की व्यवस्था करेगी। आशा है कि संस्थाएँ शीघ्र ही साकार होंगी।

जहाँ तक शिल्पी प्रशिक्षण का प्रश्न है, कुछ औद्योगिक संस्थाओं में शिल्पियों को मुद्रण में प्रशिक्षण की व्यवस्था है। ये सुविधाएं नगण्य हैं और इनका अतिशय प्रसार आवश्यक है। कुछ अन्य संस्थाएँ, जैसे स्कूल ऑव प्रिंटिंग ऐंड ऐलाइड ट्रेड्स, कटक, कलानिकेतन, जबलपुर, पूना प्रेस ओनर्स ऐसोसियेशन स्कूल, बंगलोर पॉलिटेक्निक आदि, मुद्रण शिल्पविज्ञान में प्रशिक्षण दे रही हैं। मुद्रण उद्योग के प्रशिक्षित कर्मचारियों को तैयार करने के लिये वैज्ञानिक आधार पर प्रशिक्षार्थियों के प्रशिक्षण को सगठित करना आवश्यक है। [ले० रा० ना०]

मुद्राएँ — दे० सिक्कों का इतिहास

मुद्रास्फीति और अवस्फीति इन शब्दों का उपयोग प्रथम महायुद्ध के पूर्व भी किया गया था। किंतु इनका वैज्ञानिक ढंग से प्रचलन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही आरंभ हुआ जबकि मुद्रा और कीमत संबंधी गड़बड़ियाँ उत्पन्न होने लगी। युद्ध के बाद लगभग प्रत्येक देश ने स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया जिससे स्वर्ण और विनिमय के माध्यम का संबंध ढीला पड़ने लगा और प्रजातांत्रिक सरकारों को लचीली मौद्रिक प्रणाली मिल गई। इसका समय समय पर उपयोग करके मुद्रा के परिमाण को सरलतापूर्वक परिवर्तित किया जाने लगा जिसके फलस्वरूप मौद्रिक गड़बड़ियों में उग्रता अधिक आने लगी और मुद्रास्फीति तथा अवस्फीति की समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं।

परिभाषा — इन विचारों के संबंध में मतैक्य न होने के कारण १९३० तक मुद्रास्फीति वह अवस्था कही गई जिसमें मुद्रा का परिमाण वस्तुओं की मात्रा की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है जिससे कुछ वस्तुओं को खरीदने के लिये अपेक्षाकृत मुद्रा का अधिक परिमाण हो जाता है और वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। इस प्रकार कीमतों की वृद्धि को ही मुद्रास्फीति समझ लिया गया। जब मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की माँग से अधिक हो जाती है तो वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती है परंतु मुद्रा का मूल्य कम होने लगता है जिसके कारण मुद्रा की एक इकाई पहले की अपेक्षा कम वस्तुओं की मात्रा क्रय कर पाती है। मुद्रा की माँग वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करने के लिये की जाती है जब कि उसकी पूर्ति मौद्रिक संस्थाओं के द्वारा की जाती है। इसी कारण जब मुद्रा का परिमाण देश की उचित व्यापारिक आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं जिसको मुद्रास्फीति कहा जाता है। परंतु जब मुद्रा का परिमाण देश की व्यापारिक आवश्यकता से कम रहता है तो अवस्फीति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में वस्तुओं की अधिक मात्रा को मुद्रा की कुछ इकाइयाँ पीछा करती हैं। इस प्रकार का (मुद्रा परिमाण संबंधी स्फीति और अवस्फीति का) विचार, मुद्रा परिमाण संबंधी अर्थशास्त्रियों का ही था, जो मुद्रा के परिमाण की वृद्धि को ही कीमतों की वृद्धि या मुद्रास्फीति का कारण समझ लिया करते थे। यह वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता।

परंतु सब प्रकार की कीमतों की वृद्धि मुद्रास्फीति नहीं कही जा सकती। पूर्ण रोजगार से कम की दशा में कीमतों की वृद्धि को स्फीति न कहकर संस्फीति कहना अधिक उचित है। इस प्रकार की कीमत की वृद्धि मजदूरी बढ़ने और उत्पत्ति ह्रास मान के कारण प्रति इकाई उत्पत्ति की लागत की वृद्धि के कारण हो जाती है। ऐसी कीमत की वृद्धि लाभदायक होने के कारण उत्पादकों को विनियोजन की वृद्धि के लिये प्रोत्साहित करती है। प्रो० जान मेनर्ड कींस ने मुद्रास्फीति को उस कुल खर्च से संबंधित किया जिसे समाज सामान्यतः उपभोग और विनियोजन की वस्तुओं पर व्यय करता है। उपभोग और विनियोजन पर किया गया व्यय प्रभावशील माँग निश्चित करता है जो राष्ट्रीय आय और रोजगार को निर्धारित करता है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार की स्थापना के पश्चात् भी जब विनियोजन बढ़ता जाता है तो स्फीतिक अंतर उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण मुद्रास्फीति और कीमतों में तीव्र गति से वृद्धि होने लगती है। क्योंकि पूर्ण रोजगार में वस्तुओं की मात्रा बढ़ती नहीं है, वस्तु की पूर्ति शून्य लोचदार हो जाती है। ऐसी दशा में यदि कुल खर्च बढ़ता जाता है तो वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ने लगती हैं। अत: वास्तविक रूप में स्फीति दशा तभी उत्पन्न होती है जब पूर्ण रोजगार स्थापित हो जाता है। प्रो० कींस का कहना है कि 'जब तक पूर्ण रोजगार नहीं रहता तब तक मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन के अनुपात में ही रोजगार परिवर्तित होगा, परंतु पूर्ण रोजगार के पश्चात् कीमतों में परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन के अनुपात में ही होगा।' इस प्रकार की स्फीति कीमत की वृद्धि या प्रभावशील माँग के पूर्ण रोजगार की आय से अधिक बढ़ जाने के कारण है, न कि मुद्रा के परिमाण के कारण।

प्रकार एवं कारण — युद्धकाल में जब सरकार उपभोक्ताओं की बढ़ी हुई आय के प्रभाव को मूल्य नियंत्रण या राशनिंग के द्वारा वस्तुओं की कीमतों पर नहीं पड़ने देती है तो बंद स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है जो युद्ध के पश्चात् भिन्न नियंत्रणों के हटाए जाने पर खुली मुद्रास्फीति में परिणत हो जाती है। यदि कीमत स्थिर भी रहती है तो भी वैज्ञानिक आविष्कारों एवं औद्योगिक संगठन की उत्तमता के कारण प्रति इकाई उत्पत्ति की लागत गिरने लगती है जिससे स्फीति की अवस्था पैदा हो जाती है जिसको प्रो० कींस ने लाभस्फीति कहा। स्फीति, लागत या प्रभावशील माँग की वृद्धि या दोनों के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकती है।

स्फीति सरकारी वित्त से अधिक संबंध रखती है। जब सरकार युद्ध या अन्य रचनात्मक कार्यों के लिये करों और ऋणों से पर्याप्त आय नहीं प्राप्त कर पाती तो घाटे की अर्थव्यवस्था करती है और बजट के घाटे को बैंकों से उधार लेकर या नई मुद्रा की मात्रा को बढ़ाकर पूर्ण करती है, जिसके कारण मुद्रा का कुल परिमाण बढ़ जाता है परंतु उसी अनुपात में वस्तुओं की मात्रा की वृद्धि नहीं हो पाती जिससे स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में जब तक सरकार को आय प्राप्त हो तब तक उसका खर्च, कीमतों के बढ़ जाने के कारण, पहले की तुलना में कई गुना बढ़ जाता है।

बजट के घाटे की पूर्ति वह और अधिक नई मुद्रा की निकासी से करती है। अतः मुद्रास्फीति पुनः स्फीति को जन्म देती है जिससे मुद्रास्फीति का द्रुतगामी स्वरूप उत्पन्न हो जाता है। इसके मूल मे मुद्रा के औसत चलन की गति को वृद्धि ही है। जर्मनी में १९२३ मे मुद्रा का परिमाण ५००,०००,०००,०००,०००,०००,००० मार्क्स हो गया जिसके कारण अमेरिका का एक सेंट १०००,०००,०००,००० मार्क्स के बराबर हो गया और १०००,०००,०००,००० मार्क्स एक स्थानीय पत्र का पोस्टेज हो गया था। इस द्रुतगामी स्फीति से बचने के लिये जर्मनी ने मार्क्स के स्थान पर रैनटन मार्क्स का प्रचलन किया। युद्धकाल मे लगभग सभी देशों मे कम अधिक मात्रा मे स्फीति को अवस्था उत्पन्न हो गई थी।

अत. जहाँ मुद्रास्फीति मे वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं और मुद्रा की क्रयशक्ति गिरती है वहाँ अवस्फीति मे वस्तुओं की प्रचुरता रहती है और कोमतों की गिरावट होती है तथा मुद्रा की औसत क्रयशक्ति बढ़ जाती है। स्फोति (या अवस्फीति) का कारण (१) मुद्रा के परिमाण की वृद्धि (या कमी), (२) वस्तुओं की मात्रा की न्यूनता या प्रचुरता या वस्तुओं की लोचहीन पूर्ति (या लोचदार पूर्ति), (३) मुद्रा के चलन की गति की वृद्धि (या कमी), (४) साख का अधिक विस्तार (या सकुचन), (५) प्रभावशील माँग को वृद्धि (या कमी), तरलता की कमी (या अधिकता) पसंदगी हो सकती है। मुद्रास्फीति और अवस्फीति का आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण हो सकता है जिसका सबध व्यापारिक चक्र से है।

माप — मुद्रा के परिमाण और कीमतों में प्रत्यक्ष संबध है परंतु मुद्रा का मूल्य वस्तुओं की कीमत से परोक्ष रूप से संबद्ध है। इसीलिय मुद्रा क मूल्य के परिवर्तनों के लिये निर्देशाकों का उपयोग किया जाता है। जब किसी वर्ष का निर्देशाक आधार वर्ष से अधिक हो जाता है तो सामान्य मूल्यस्तर अधिक समझा जाता है और मुद्रा का मूल्य गिरा हुआ समझा जाता है जो स्फीति का द्योतक है।

प्रभाव — स्फीति और अवस्फीति का प्रभाव भिन्न वर्ग पर अलग अलग पड़ता है। स्फीति (या अवस्फीति) मे सभी वस्तुओं की कीमतें एक ही अनुपात मे परिवर्तित नही होती — कुछ अधिक तो कुछ कम, तो कुछ मे गिरावट भी हो सकती है। परतु इनका औसत अधिक वृद्धि (या कमी) की ओर सकेत करता है। इस प्रकार स्फीति से विनियोजकों और उद्योगपतियों को लाभ प्राप्त होता है। ऋणी को लाभ होता है, क्योंकि भुगतान मे उसको कम क्रयशक्ति देनी पड़ती है। सरकार अपने ऋण क भार को कम कर लेती है। कृषकों को भी लाभ होता है। रोजगार और श्रमिकों की आय मे वृद्धि होती है। परतु स्फीति मे सरकार के बजट का घाटा बढ़ जाता है — आय कम और खर्च अधिक हो जाता है। मध्यम और स्थिर आय वाले व्यक्तियों को हानि होती है। कीमतों में अधिक वृद्धि होने के कारण मजदूरी कीमतों से सतुलित नही हो पाती, मजदूरी और भत्ते की माँग के बढ़ने के कारण औद्योगिक अशांति उत्पन्न होने लगती है। धन और आय के वितरण की असमानता बढ़ जाती है। रहन सहन का स्तर, बचत और पूंजी का निर्माण कम हो जाता है। पूँजी का विदेशों को पलायन होने लगता है। सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अस्थिरता एवं अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। निर्यात कम और आयात बढ़ जाते हैं। भुगतानतुला विपरीत हो जाती है जिससे देश का दिवाला भी निकल सकता है। विदेशी विनिमय की दर और विदेशी विनिमय कोष गिर जाता है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार और लेनदेन तथा आर्थिक विकास की दर मंद हो जाती है। ऋणदाता को भी हानि होती है। परंतु अवस्फीति में उपर्युक्त दशा की विपरीत अवस्था होती है। अवस्फीति मे कीमत, लाभ और रोजगार कम होता जाता है। बेरोजगारी विस्फीति का अभिशाप है। दोनों ही अवस्थाएँ साम्य से विचलन को बताती हैं। अतः दोनों ही अनुपयुक्त हैं। प्रो० कीस के कथनानुसार 'मुद्रास्फीति अन्यायपूर्ण अतथा अवस्फीति अव्यावहारिक और अनुचित है परतु दोनों मे अवस्फीति ही सबसे खराब है।'

[कृ० कु० को०]

मुद्रा हाट मुद्रा हाट का आशय किसी विशिष्ट स्थान से नही है जहाँ नगर के अधिकोष तथा मुद्रा के क्रयविक्रय से सबंधित अन्य व्यक्ति अथवा संस्थाएँ समिलित हो, वरन् उसका तात्पर्य मुद्रा क विनिमय से संबंध रखनेवाले व्यक्तियों और सगठनों के समूह से है। द्रव्य अथवा मुद्रा को उधार लेने वाले व्यक्ति ही विनिमयकर्ता अथवा मुद्रा के क्रेता विक्रेता हैं। क्राउथर (Crowther) के कथनानुसार 'मुद्रा हाट' उन विभिन्न फर्मों तथा संस्थाओ का सामूहिक नाम है जो विभिन्न द्रव्य को काम मे लाते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि मुद्रा हाट का आशय केवल अल्पकालीन ऋण बाजार से है, दीर्घकालीन ऋण बाजार पूंजी बाजार कहलाता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मुद्रा हाट के अंग मुद्रा के विनिमयकर्ता होते हैं। विनिमयकर्ताओं मे साधारणत देश के विभिन्न अधिकोष, जो मुद्रा के क्रेता तथा विक्रेता दोनों हैं, रुपया उधार देनेवाली संस्थाएँ तथा अन्य व्यक्ति, मुद्रा उधार लेनेवाले व्यक्ति व सस्थाएँ तथा विनिमय अनुबधो मे सहायता देनेवाले कटौती घर और दलाल संमिलित है। भारतीय मुद्रा बाजार के प्रमुख अंग ये हैं — (१) केंद्रीय बैंक (रिजर्व बैंक ऑव इंडिया), (२) स्टेट बैंक ऑव इंडिया, (३) सयुक्त स्कध बैंक, (४) औद्योगिक बैंक, (५) सहकारी बैंक, (६) भू आधि बैंक, (७) विनिमय बैंक, (८) पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक तथा (९) देशी बैंकर और (१०) ऋण लेने व देनेवाली आम जनता।

भारत में अभी तक किसी अखिल भारतीय मुद्रा हाट का विकास नही हो पाया है। इसका कारण मुद्रा हाट क विभिन्न अंगो मे सहयोग का ही नही वरन् सपर्क का भी अभाव है। इसके अतिरिक्त न केवल आधुनिक बैंक तथा देशी बैंकरो के मध्य वरन् आधुनिक बैंकरो के बीच भी हानिकारक स्पर्द्धा रहती है। देश के आधुनिक बैंकों का ऐसा कोई अखिल भारतीय सगठन नही है जो सपूर्ण स्थिति को ध्यान मे रखते हुए विभिन्न सदस्य बैंको की सामान्य नीति का निर्धारण करे। कुछ समय से रिजर्व बैंक के तत्वावधान मे इस दिशा मे कुछ प्रगति हुई है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ अब तक बैंकिंग सुविधाएं अप्राप्य थीं बैंक की शाखाएँ स्थापित होने लगी है। देश मे असगठित मुद्रा हाट का सबसे प्रमुख कारण उन महाजनो का बहुसख्या मे होना है जो ब्याज की अनुचित दरो पर धन उधार देते हैं। इस संगठन के अभाव के फलस्वरूप देश मे विभिन्न स्थानों की ब्याज की दरो में बहुत असमानता

रही है जिसके कारण देश की बैंक दर असफल हो जाती है तथा रिजर्व बैंक को साख नियंत्रण करने में भारी कठिनाई होती है।

देश में मुद्रा हाट का अन्य बड़ा दोष व्यापारिक बिलों तथा हुंडियों के बाजार का अभाव है। रिजर्व बैंक ने अभी इस दिशा में एक उपयोगी कदम उठाया है। रिजर्व बैंक द्वारा अन्य बैंकों को पुनः कटौती (rediscount) की सुविधा बिल बाजार के विकास को काफी प्रोत्साहन देगी।

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय से भारतीय मुद्रा हाट को व्यवस्थित रूप से विकसित करने की ओर अनेक कदम उठाए गए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध करने के लिये अनेक शाखाएँ खोली गई हैं। जनता का विश्वास भी आधुनिक बैंकों में स्थापित हो रहा है। देश की बैंकिंग प्रणाली के सर्वाधिक कमजोर अंग, महाजनों के प्रभाव, को दूर करने हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ वे अधिक प्रभावशाली हैं, सहकारी बैंक, पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक तथा अन्य बैंकों की शाखाओं का खुलना देश में मुद्रा बाजार के समुचित विकास के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। [प्र० ना० प्र०]

मुनि राग-द्वेष-रहित संतों, साधुओं और ऋषियों को मुनि कहा गया है। मुनियों को यति, तपस्वी, भिक्षु और श्रमण भी कहा जाता है। भगवद्गीता में कहा है कि जिनका चित्त दुःख से उद्विग्न नहीं होता, जो सुख की इच्छा नहीं करते और जो राग, भय और क्रोध से रहित हैं, ऐसे निश्चल बुद्धिवाले मुनि कहे जाते हैं। वैदिक ऋषि जंगल के कंदमूल खाकर जीवन निर्वाह करते थे। जैन ग्रंथों में उन निर्ग्रंथ महर्षियों को मुनि कहा गया है जिनकी आत्मा संयम में स्थिर है, सांसारिक वासनाओं से जो रहित हैं और जीवों की जो रक्षा करते हैं। जैन मुनि २८ मूल गुणों का पालन करते हैं। वे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों तथा ईर्या (गमन में सावधानी), भाषा, एषणा (भोजन शुद्धि), आदाननिक्षेप (धार्मिक उपकरण उठाने रखने में सावधानी) और प्रतिष्ठापना (मल मूत्र के त्याग में सावधानी), इन पाँच समितियों का पालन करते हैं। वे पाँच इंद्रियों का निग्रह करते हैं, तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान (त्याग) और कायोत्सर्ग (देह में ममत्व का त्याग) इन छह आवश्यकों को पालते हैं। वे केशलोच करते हैं, नग्न रहते हैं, स्नान और दातौन नहीं करते, पृथ्वी पर सोते हैं, त्रिशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं और दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं। ये सब मिलाकर २८ मूल गुण होते हैं।

सं० ग्रं० — दशवैकालिक सूत्र; वट्टकेर, मूलाचार; हरिभद्र, अष्टकप्रकरण। [ज० च० जै०]

मुनि सुव्रत मुनि सुव्रतनाथ जैन धर्म के २०वें तीर्थंकर माने गए हैं। उनके पिता का नाम सुमित्र और माता का नाम पद्मावती था। उनका जन्म राजगृह (राजगिर) और निर्वाण समेदशिखर पर हुआ था। कछुवा उनका चिह्न बताया गया है। उनके समय में ९वें चक्रवर्ती महापद्म का जन्म हुआ जो विष्णुकुमार महापद्म के छोटे भाई थे। आगे चलकर विष्णुकुमार मुनि जैनधर्म के महा उद्धारक हुए। मुनि सुव्रतनाथ के समय में ही राम (अथवा पद्म) नाम के ८वें बासुदेव और रावण नाम के ८वें बलदेव, लक्ष्मण नाम के ८वें प्रतिवासुदेव का जन्म हुआ। [ज० च० जै०]

मुबारक अली सैयद मुबारक अली का जन्म बिलग्राम में संवत् १६४० में हुआ था। ये अरबी और फारसी के अच्छे ज्ञाता होने के साथ ही हिंदी के प्रौढ़ कवि थे। ब्रजभाषा पर इनका पूरा अधिकार था। इनके सैकड़ों कवित्त और दोहे पुराने काव्यसंग्रहों में मिलते हैं, किंतु अभी तक इनका 'अलकशतक और तिलशतक' ग्रंथ ही उपलब्ध हो सका है जिसमें सौ दोहे नायिका की अलकों पर और सौ दोहे नायिका के मुखमंडल के तिल पर लिखे गए हैं। इनका जैसा अधिकार दोहों की रचना पर देखने को मिलता है वैसा ही कवित्त और सवैयों की रचना पर भी दिखाई पड़ता है। कविता में इन्होंने अपना नाम 'मुबारक' ही रखा है। जनश्रुति के अनुसार इन्होंने नायिका के दस प्रमुख अंगों में से प्रत्येक पर सौ दोहों की रचना की थी, किंतु अभी तक अलक और तिल इन दो ही अंगों पर सौ सौ दोहे मिल सके हैं। 'शिवसिंह सरोज' में इनकी पाँच कविताएँ संकलित हैं, जिनमें चार कवित्त और एक सवैया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इनका अनुमित कविताकाल संवत् १६७० ठहरता है। यद्यपि मोटे तौर पर रीतिकाल का आरंभ संवत् १७०० से माना जाता है तथापि केशवदास के समय से कविता की जो शृंगार धारा प्रवाहित हो चली थी उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि रीतिकाल का आरंभ कविवर केशवदास से ही मानना समीचीन है क्योंकि लौकिक शृंगार काव्य का प्राधान्य ही रीतिकाल की प्रमुख विशेषता रही है, जिसमें हृदय पक्ष को अछूता न छोड़कर भी चमत्कार का प्राधान्य सुरक्षित था। मुबारक भी शृंगार के ही कवि हैं और ये केशवदास के जीवनकाल में ही कविता करने लगे थे। इनके काव्य में भी चमत्कारों की प्रधानता है। अलंकारों में उपमा, रूपक, अपह्नुति, संदेह, यमक, अनुप्रास और सर्वाधिक रूप में उत्प्रेक्षा अलंकार इन्हें प्रिय था। इनकी उत्प्रेक्षाएँ बहुत दूर की दौड़ लगाने वाली होने पर भी हृदयावर्जक हैं। प्रासादिकता इनकी कविता में सर्वत्र मिलती है। इनकी भाषा साफ सुथरी है, जिसमें पाठक को कहीं उलझन नहीं होती। तत्कालीन लोकप्रिय कवियों में इनका अपना विशिष्ट स्थान है। इनके कितने ही कवित्त आज भी लोगों की जिह्वा पर लोकोक्ति की भाँति विराजते हैं। 'आगुरी तेरी कटेगी कटाछन', 'जु औरे कलपाइहै सो कैसे कल पाइहै', और 'दिन को प्रनाम किए राति चली जाति है' जैसी इनकी उक्तियाँ अत्यंत लोकप्रिय हैं। निस्संदेह मुबारक ऊँचे दर्जे के कवि हैं। [ला० त्रि० प्र०]

मुबारक नागौरी, शेख आपके पूर्वज यमन से सिवस्तान पहुँचे; किंतु शेख मुबारक के पिता शेख खिज्र नागौर में निवास करने लगे। वहीं १५०६ ई० में शेख मुबारक का जन्म हुआ। शीघ्र ही शेख खिज्र की मृत्यु हो गई। शेख मुबारक का पालन पोषण उनकी माता ने किया। उन्होंने अपने समय के अनेक विद्वानों से शिक्षा ग्रहण की। ६ अप्रैल, १५४३ ई० में वे आगरा चले आए और मीर रफी उद्दीन सफ़वी के निवासस्थान के समीप रहने लगे। वहीं उन्होंने विवाह किया और उच्च कोटि की शिक्षा के लिये तत्कालीन विद्वानों

के प्रथानुसार अपने घर पर एक मदरसा स्थापित कर लिया। शीघ्र ही आगरा के विद्वान् उनकी विद्वत्ता का लोहा मानने लगे। सूर सुल्तान, इस्लाम शाह के राज्यकाल में उन्होने महदवी मत के प्रचारक शेख अलाई के विचारो का निर्भीक होकर समर्थन किया। इसी प्रकार अकबर के राज्यकाल के प्रारंभ मे उन्होंने शीयो की भी सहायता की। इस कारण कट्टर सुन्नी आलिम उनके घोर विरोधी हो गए और अकबर के राज्यकाल के प्रारंभिक वर्षों मे उन्हे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १५७३-७४ ई० मे उनके पुत्र अबुल फ़ज़ल के अकबर के दरबार मे पहुँच जाने के कारण स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया। १५७६ ई० के महज़र की तैयारी में, जिसके अनुसार यह बात मान ली गई कि जब कभी किसी समस्या पर आलिमों मे मतभेद हो तो शाहंशाह को राज के हित में किसी भी मत को स्वीकार कर लेने का पूर्ण अधिकार है, शेख मुबारक का बड़ा हाथ था। १६वीं शती ई० के मध्य के कई मुस्लिम विद्वान शेख मुबारक के शिष्य थे। अबुल फ़ज़ल तथा फैजी का घोर विरोधी मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी भी शेख मुबारक का शिष्य था। उन्होंने कुरान की एक बृहत् टीका तैयार की जिसका नाम 'मंबउन्न-फायसुल उयून' रखा। १५ अगस्त, १५६३ ई० को उनकी मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं० — शेख अबुल फज़ल : आईने अकबरी, भाग ३ (कलकत्ता, १८६६-७७, फारसी); अब्दुल कादिर बदायूनी : मुतखबुत्तवारीख, भाग ३ (कलकत्ता, १८६४-६६)।

[सै० अ० अ० रि०]

मुरमांस्क स्थिति : ६६° १०' उ० अ० तथा ३३° ३०' पू० दे०। सोवियत रूस मे, बेरेंट्स सागर की कोल्स्की खाड़ी पर, टुलोमा नदी के पूर्वी किनारे पर, पेचेंगा नगर मे ७३ मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित, यह आर्कटिक वृत्त का बंदरगाह एव सबसे बड़ा नगर है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे इसका स्थान महत्वपूर्ण रहा है। मुरमांस्क-लेनिनग्रैड रेलमार्ग बन जाने से इस नगर की उन्नति काफी हो गई है। वर्ष भर यातायात के लिये यह बंदरगाह खुला रहता है। बंदरगाह पर बड़े बड़े जलयान ठहरने के स्थान, जलयान मरम्मत घाट, भडारगृह आदि के लिये काफी स्थान है। श्रमिको के लिये आधुनिक ढंग के आवास बनाए गए हैं। अधिकाश उद्योग मछलियो पर आधारित हैं। नगर की जनसंख्या २,५४,००० (१९६३) है।

[रा० प्र० सिं०]

मुराकबा मन को सासारिक विषयों से विरत कर, ध्यानपूर्वक ईश्वर का स्मरण। इस अवस्था मे कुरान के विभिन्न भागो का पाठ भी किया जाता है और चित्त को केवल ईश्वर के ध्यान मे ही एकाग्र करना पड़ता है।

[सै० अ० अ० रि०]

मुरादाबाद १. जिला, स्थिति : २८° ५०' उ० अ० तथा ७८° ५०' पू० दे०। यह उत्तरपश्चिमी उत्तर प्रदेश का एक जिला है। इसके पश्चिम में मेरठ और गाजियाबाद, उत्तर मे बिजनौर, दक्षिण में बदायूँ, पूर्व मे बरेली एवं रामपुर जिले हैं। इसका क्षेत्रफल २,२८९ वर्ग मील है। गगा नदी इसकी पश्चिमी सीमा बनाती है। रामगंगा तथा सोट भी यहाँ की प्रमुख नदियाँ हैं। पश्चिमी क्षेत्र की ढाल गंगा की ओर है। उत्तरी भाग पहाड़ी है। गंगा के किनारे एक नीचे मैदान की पट्टी बन गई है। यहाँ की आबादी में काफी बड़ी सख्या में, लगभग ११३, मुस्लिम हैं। यहाँ की मुख्य उपजें गेहूँ, धान, ज्वार, बाजरा, ईख, दलहन तथा कपास हैं। जिले की कुल जनसंख्या १९,७३,५३० (१९६१) है।

२. नगर, यह जिले के पूर्वी भाग मे रामगंगा नदी की पश्चिम दिशा मे स्थित है। यहाँ पर कलई किए हुए तथा अन्य प्रकार के बरतनों का उद्योग सबसे प्रमुख है। यहाँ की प्रसिद्ध इमारतों में किला तथा एक बड़ी मस्जिद है। यहाँ कपड़ा बुनाई तथा छपाई का काम भी होता है। इसकी जनसख्या १,९१,८२८ (१९६१) है।

मुरारि गुप्त इनका जन्म श्रीहट्ट मे वैद्य वंश में हुआ था और इनके परिवार वाले यहाँ से नवद्वीप आकर श्री गौराग के पड़ोस में बस गये। *यह श्री गौराग के बाल्यबधु तथा सहपाठी थे।* इन्होंने सस्कृत काव्य ग्रथ 'चैतन्यचरितामृत' मे इस सबका वर्णन किया है। इस ग्रथ के सिवा पदावली भी बनाई है तथा रामाष्टक भी लिखा है। महाप्रभु के प्रति इनकी भक्ति अतुलनीय थी और श्री गौराग भी इन पर अत्यंत स्नेह रखते थे।

[ब्र० र० दा०]

मुरैना भारत के मध्यप्रदेश राज्य का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ४,४८९ वर्ग मील एव जनसख्या ७,८३,३४८ (१९६१) है। इसके पूर्व में शिवपुरी, ग्वालियर एव भिंड जिले तथा उत्तर में उत्तर प्रदेश और पश्चिम मे राजस्थान राज्य फैले हैं। उत्तरी एव पश्चिमी सीमा पर चंबल नदी बहती है। इसी जिले में मुरैना नामक एक नगर भी है, जो जिले के उत्तरी भाग मे स्थित है तथा जिले का प्रमुख नगर है।

मुर्शिद कुली खाँ दे० मुहम्मद हादी।

मुर्शिदाबाद १. जिला, भारत के पश्चिमी बंगाल राज्य का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल २,०५६ वर्ग मील तथा जनसंख्या २२,९०,०१० (१९६१) है। इसके उत्तर मे पश्चिमी दिनाजपुर जिला, पूर्व में पूर्वी पाकिस्तान, पश्चिम मे बीरभूम जिला एवं बिहार राज्य तथा दक्षिण मे नदिया जिला स्थित है। इसकी उत्तरी एवं पूर्वी सीमा पर पद्मा नदी तथा जिले के मध्य में भागीरथी नदी बहती है। यहाँ का औसत ताप लगभग २५° सें० तथा वार्षिक वर्षा ५३ इंच है। गेहूँ, जो, चना, दलहन, गन्ना तथा जूट प्रमुख फसलें हैं।

२. नगर, स्थिति : २४° १२' उ० अ० तथा ८८° १७' पू० दे०। मुर्शिदाबाद जिले में भागीरथी नदी के बाएँ किनारे पर स्थित एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है। पहले इसे 'मखसूदाबाद' कहते थे। यहाँ एक प्रसिद्ध इमामबाड़ा है तथा नवाजिस मुहम्मद खाँ द्वारा बनवाई मोतीझील है। इसके अतिरिक्त अन्य कई ऐतिहासिक इमारतें यहाँ हैं। इसकी जनसख्या १६,९९० (१९६१) है।

मुलर, जोहैनीज़ पीटर (१८०१–१८५८ ई०) जर्मनी के सुप्रसिद्ध शरीरक्रिया विज्ञानी (physiologist) तथा तुलनात्मक शरीर रचनाविज्ञान (antaomy) विशेषज्ञ थे। इनका जन्म सन् १८०१

में कॉब्लेंज नगर में हुआ था। शिक्षा जर्मनी के विख्यात बॉन विश्वविद्यालय में हुई तथा इसी विश्वविद्यालय में इन्होंने १८२१ से १८३३ ई० तक अध्यापन कार्य भी किया। बाद में ये बर्लिन विश्वविद्यालय के शरीररचना और शरीरक्रिया विज्ञान विभाग के अध्यक्ष हुए।

मुलर ने प्रथम बार कहा कि शरीरक्रिया विज्ञान अन्य विज्ञानों पर निर्भर है। इसको पाठ्यक्रम में अलग विषय के रूप में मान्यता दिलाने का श्रेय भी मुलर को है। मुलर ने तंत्रिका और संवेदना की क्रिया पर विशेष शोध किया। इनका 'विशिष्ट तंत्रिका ऊर्जा नियम' प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार एक तंत्रिका एक ही संवेदना ग्रहण करती है। मुलर ने ही बताया कि संवेदना के अनुरूप ही बाह्य जगत का अनुभव होता है। सन् १८३० में प्रथम बार मुलर ने स्राव और उत्सर्जन का भेद बताया — स्राव विशिष्ट द्रव होते हैं, जो शरीर की किसी क्रिया के लिये आवश्यक होते हैं और उत्सर्जन शरीर के लिये अनुपयोगी पदार्थों का निष्कासन है। गर्भस्थ शिशु मे मुलर नलिका (१८२५ ई०) तथा मेढक में लसिकाहृदय (१८३२ ई०) के अनुसंधान का श्रेय भी मुलर को ही है। इन्होंने अर्बुदों पर कार्य किया (१८३८ ई०) और सोरोस्परमोसिस नामक परजीवी रोग का वर्णन किया (१८४१ ई०)। मुलर ने शरीर रचना के अध्ययन में तिल्ली, थाइमस, अवटु ग्रंथि और नाभिनाल को एक वर्ग में रखा और बताया कि ये ऐसी ग्रंथियाँ हैं जिनमें बाहर से संबंध स्थापित करनेवाली वाहिनी नहीं है। उस समय निःस्रोत ग्रंथियों और हॉरमोनों की कल्पना भी न थी।

जीवन के अंतिम भाग में ये समुद्री जीवजंतुओं और तुलनात्मक शरीर-रचना-विज्ञान पर कार्य करते रहे। १८५८ ई० में केवल ५७ वर्ष की आयु में इनका निधन हो गया। [भा० प्र० मे०]

मुलरेडी विलियम (Mulready William) आयरिश चित्रकार। जन्म एनिस-को कनारे में ३० अप्रैल, १७८६ को हुआ। इसे १८०० में लंदन अकादमी में प्रवेश मिला। यह आकृतिचित्र, भावचित्र तथा बच्चों की पुस्तकों पर चित्रांकन में दक्ष था। इसके प्रसिद्ध चित्र हैं 'बढ़ई की दुकान,' 'नाई की दुकान', 'सॉनेट' तथा 'प्रथम प्रणय'। २७ जुलाई, १८६२ को यह चल बसा। [गु० त्रि०]

मुल्तान नगर, स्थिति : ३०° १२' उ० अ० तथा ७१° ३१' पू० दे०। यह पश्चिमी पाकिस्तान में चिनाब नदी के समीप स्थित नगर है। यह अति प्राचीन नगर है। सिकंदर महान् द्वारा अधिकृत भारत के क्षेत्रों में इसका भी नाम था। १५२७ ई० मे बाबर ने इसे मुगल साम्राज्य के अंतर्गत तथा सन् १८१८ मे सिख राजा रणजीत सिंह ने इसे अपने अधिकार में कर लिया था, किंतु सन् १८४८ के बाद से लेकर भारत के विभाजन के समय तक यह ब्रिटिश शासन के अंतर्गत रहा। यह शुष्क प्रदेश तथा जलोढ मैदान में स्थित है। जनवरी का औसत ताप लगभग १३° सें० तथा जून का ताप लगभग ३५° सें० रहता है। साल में कुल सात इंच वर्षा होती है। समीपवर्ती प्रदेश में गेहूँ, बाजरा, तिलहन, तथा कपास की उपज होती है। अफगानिस्तान जाने के मार्ग में स्थित होने के कारण यहाँ का बाजार काफी प्रगति कर गया है। सूती कपड़ा, गलीचे, चीनी मिट्टी के बर्तन, जूते तथा रेशम का निर्माण यहाँ होता है। यहाँ कई मुसलमान संत हो चुके हैं। यहाँ एक पुराना किला भी है। इसकी जनसंख्या १,९०,१२२ (१९५१) है। पश्चिमी पाकिस्तान में मुल्तान नाम का एक डिविज़न और जिला भी है। [रा० प्र० सि०]

मुल्ला शाह नाम शाहमुहम्मद, उपनाम अख्वंद था। पिता का नाम मुल्ला अब्दी था। बदख्शाँ में स्थित अर्कसान नामक ग्राम में जन्म हुआ था। युवावस्था ही में ईश्वर-मार्ग-प्राप्ति की जिज्ञासा से वहाँ से निकल पड़े तथा कश्मीर आए। वहाँ तीन वर्ष निवास कर लाहौर आए। वहाँ आपने मियाँ मीर से दीक्षा ग्रहण की। तपस्या, मुजाहदा और निस्पृहता में मियाँ मीर के समस्त शिष्यों में आप प्रमुख थे। सात वर्ष तक ज़िक्र ख़फ़ी (गुप्त रूप से ईश्वर गुणगान) करते रहे। ख़िलाफ़त का ख़र्क़ा प्राप्त कर कश्मीर चले गए तथा दारा शिकोह और जहाँआरा द्वारा निर्मित ख़ानक़ाह में निवास किया। हजारों व्यक्तियों को अध्यात्मवाद की शिक्षाओं से संपन्न कर ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखाया। उस युग में कश्मीर के सुन्नियों और शियाओं के बीच धार्मिक झगड़ा जोरों पर चल रहा था। मुल्ला शाह चारों ख़लीफ़ाओं की प्रशंसा करते थे अत: शिया लोग आपसे वादविवाद करते और पराजित होकर सुन्नी मत स्वीकार कर लेते थे। इस प्रकार मुल्लाशाह ने हज़ारों शियाओं को सुन्नी बनाया था। धार्मिक विषयों में आप सहनशील और उदार थे। अन्य धर्म के लोगों से मिलने जुलने में संकोच नहीं करते थे। आपके प्रभाव में आकर वलीराम कायस्थ ने, जो मुगल सामंत था, अपना पद और वैभव त्याग कर आपसे दीक्षा ली थी और ख़लीफ़ा नियुक्त हुआ था। मुल्ला शाह सर्वेश्वरवादी थे। यही कारण है कि वलीराम वली की कविताओं में सर्वेश्वरवाद की झलक मिलती है। इस पर कश्मीर के उलमा ने मुल्ला शाह को नास्तिक घोषित कर शाहजहाँ बादशाह से आपको शरीयत के अनुसार क़त्ल करने को कहा। दारा शिकोह के हस्तक्षेप के कारण शाहजहाँ ने आपके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। १६३९ ई० में दारा शिकोह और जहाँआरा ने मुल्ला शाह से दीक्षा ली। दारा शिकोह की पराजय के बाद जब औरंगजेब सिंहासनारूढ़ हुआ तो उलमा ने पुन: मुल्ला शाह की शिकायत की। औरंगजेब ने आदेश दिया कि वह कश्मीर के बजाय लाहौर में निवास करें। ऐसा ही हुआ।

मुल्ला शाह कवि भी थे। आपका एक फारसी दीवान उपलब्ध है। आपकी काव्य रचनाओं मे अध्यात्मवाद के सूक्ष्म विषयों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। सन् १६५८ या १६६१ मे देहावसान हुआ। समाधि मियाँ मीर की समाधि के निकट है।

सं० ग्रं० — दारा शिकोह . सकीनतुल औलिया (उर्दू अनुवाद, लाहौर) ११६–१६६; मौलवी गुलाम सर्वर : ख़ज़ीनतुल औलिया (नवलकिशोर) १,१७२-१७४; शेख़ मुहम्मद इकराम : रौदे कौसर (कराची २५५–२६०; मुहम्मद वारिस कामिल : तज़किरा औलियाए लाहौर (कराची, १९६३) १४०; अब्दुल हमीद लाहौरी: बादशाहनामा (कलकत्ता, १८६७)। [मु० उ०]

मुशायरा उर्दू में शेर कहनेवाले को शायर और शेर सुनने सुनाने की महफ़िल को मुशायरा कहते हैं। मुशायरे राजाओं के दरबार में

शायरों और साहित्यकारों के समक्ष हुआ करते थे। जनसाधारण की वहाँ पहुँच नही थी। मुशायरे की पहुँच जब जन साधारण मे हुई, फारसी के स्थान पर जनसाधारण की भाषा 'रेख़ता' में शेर कहे जाने लगे। ख़ुसरो ने, जो रेख़ता के सर्वप्रथम कवि थे, फारसी और रेख़ता की मिलीजुली भाषा में लिखा। 'ज़ुर, अगुफ्तम् में तुझ कहिया। कुजा बमादी तू किता रहिया'। वजही दक्खिनी ने १६३० में लिखा 'सलासत नही जिसके रे बात में, पढ़ा जाय क्या जुझ लकीर हाथ मे'।

रेख़ता मे शेर कहनेवालों की महफ़िल को 'मराख़्ता' कहते थे। मराख़्तों में जब 'रदीफ और काफ़ियों' की पाबंदी के साथ शेर पढ़े जाने लगे तो ऐसी महफिल को 'मुतारहा' कहा जाने लगा। मुतारहो का नाम फिर बदलकर मुनाजमा या मुशायरा हो गया।

मुशायरे उत्तरी हिंद मे, विशेषकर दिल्ली, लखनऊ, आगरा और रामपुर में, तथा दक्षिण हैदराबाद में अत्यंत लोकप्रिय हुए। हर उस्ताद अपने शागिर्दों के साथ, जिनको वह स्वयं शेर कहकर दे देता था, मुशायरे में दाद (प्रशंसा) पाता था। शायरों मे आपस में चोटें चलती और झगड़े भी हो जाते थे। सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि भाषा का एक स्थायी स्वरूप निर्धारित हो गया। फिर चोटों की जगह तारीफों के पुल बँधने लगे। 'वाह वाह' 'सुभान अल्लाह' 'जज़कं अल्लाह' 'हुज़ुर यह आपही का हिस्सा है' इत्यादि वाक्यों से महफिल गूँजने लगी। झूठी प्रशंसा के लोभ में उर्दू शायरी अस्वाभाविक तथा रूढ़िवादी हो चली। जिसने दो चार दीवान पढ़ लिए या कुछ शब्दों और मुहावरो को रट लिया और उन्हें जोड़कर एकाध गज़ल कह ली, वही शायर बन गया। नज्मो विशेषकर गज़लों मे बँधे टिके मजमून कहे जाने लगे। गुल वो बुलबुल की छेड़छाड़, 'रकीबे रूसियाह' नासिहों पर फब्ती, रिंद, जाम, मीना, साक़ी की बात चली। आशिक माशूक के मिलन और विरह की कहानियाँ, शायरी मे दाखिल हो गईं। कतिपय गंभीर प्रतिभाशाली कवियो ने तसव्वुफ, खुदा और मजहब को भी कविता का विषय बनाया। 'मंज़िल', 'ज़िंदगी' और 'मौत' 'दावर' 'हश्र', इत्यादि शब्दो के प्रयोग होने लगे लेकिन इस आँधी में ठहरना मुश्किल था। हसरत ने कभी लिखा था :

> खिरद का नाम जनू पड़ गया, जनू का खिरद
> जो चाहे आपका हुस्ने करिश्मा साज़ करे।

वही लिखते हैं :

> मैंने किस दिन तेरे कूचे में गुज़ारा न किया
> काम ऐ शोख मगर तूने हमारा न किया।

इस तरह उर्दू शायरी बदनाम भी हुई। स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व भी अच्छे कवि मुशायरों का स्तर ऊँचा रखना चाहते थे। फरहतुल्लाह बेग ने अपने 'आख़िरी यादगार मुशायरे' में सभी प्रसिद्ध कवियों, उनकी अच्छी गज़लो, उनके उठने बैठने के ढंग, कवियों का परिचय, शमादान का घूमना, सभी कुछ वर्णन किया है। इस काल के प्रमुख कवि 'सौदा', मीर, ग़ालिब और ज़ौक, मोमिन तथा दाग, मुसहिफी और इन्शा, आतिश और नासिख थे।

स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् जनसाधारण ने अपनी दासता और विवशता को महसूस किया। शायरों ने भी 'अपना रंग बदला'। यह मुशायरे का मध्यकाल था। इसमे मीर हसन और नसीम ने मसनवी लिखी, अनीस और दबीर ने मरसिए लिखे। नज़ीर, हाली, इक़बाल और जोश, चकबस्त ने कौमी तराने, स्वतंत्रता सबंधी नज्मे, जिंदगी के गीत और कुछ काम की नज्में लिखीं और देश तथा राष्ट्र की महत् भावना को जाग्रत किया। अकबर इलाहाबादी ने अपने व्यंग्यपूर्ण काव्य से सोने वालों को जगाया। देश के नेताओं के साथ शायरो ने भी महसूस किया कि दासता की शृंखला तोड़े बिना भाषा तथा साहित्य का जीवित रहना असभव है। सन् १९२० से १९४७ तक जो स्वतंत्रता सग्राम अपने विशिष्ट रूप में चलता रहा, उसमें प्रगतिशील कवियों का बड़ा हाथ रहा। उन्होंने नवयुवक समुदाय विशेषकर छात्रों को अधिक प्रभावित किया। जिगर ने प्रेम सबंधी काव्य में पवित्रता, संस्कृति और गभीरता को स्थान दिया और शेरों के पढ़ने का ऐसा तर्ज़ निकाला जिसे ६० प्रतिशत शायरों ने अपनाया। गज़लें जिनका विषय, साधारणत. 'गुल वो बुलबुल', 'हिज्र वो वसाल' तक सीमित था अब जीवन के दुःख दर्द को प्रतिबिंबित करने लगीं। नज्मों को जोश ने सँवारा और उनके पीछे मजाज अली जव्वाद, सरदारे जाफरी, वामिक, मजरूह, शकील, माहिर, जज़्बी, अहेसान, रविश, और फ़ैज़ चले। अब स्वच्छंद तथा मुक्त छद वाले मीराजी नून राशिद, अख़्तर उल ईमान, सभी ने मिलकर ऐसा साहित्यिक वातावरण उत्पन्न किया कि साहित्य के साथ साथ भाषा भी अपने प्रतिबंधों से मुक्त हो गई।

वर्तमान समय में उर्दू के कवि निर्धारित पारिश्रमिक के साथ ही मुशायरे में भाग लेते हैं। मुशायरे में एक सद्र (अध्यक्ष) होता है जो कोई मत्री, राजा, नवाब, सरकारी पदाधिकारी आदि होता है। कभी कभी किसी साहित्यकार या शायर को भी सद्र बना लिया जाता है। अध्यक्ष के समीप एक सयोजक भी बैठता है जो कवियों की सूची अध्यक्ष के परामर्श से बनाता है और उसी के अनुसार उनको एक एक करके कविता पढ़ने के लिये बुलाता है। यह काम जरा नाज़ुक होता है क्योंकि गलत जगह पर बुलाए जाने से बाज शायर, जो नाज़ुकमिज़ाज होते हैं, रुष्ट होकर चले भी जाते हैं। मुशायरे में पहिले की भाँति अब भी चोटें चलती हैं लेकिन शायरों की ओर से कम, सुननेवालों की ओर से अधिक। यदि किसी का शेर समझ मे नही आता या तरन्नुम से वह नही पढ़ सकता तो उसकी हूटिंग भी हो जाती है। तरन्नुम से पढ़नेवाला ज्यादा दाद पाता है चाहे उसका शेर फ़सुर्दा ही क्यों न हो।

जो हो, मुशायरो से लाभ भी बहुत हैं। इससे जनसाधारण, पढ़े लिखो की तहज़ीब स परिचित हो जाते हैं। उनके शब्दों का उच्चारण सही होता है, भाषा के विकास से भी वे परिचित होते हैं। शायरो को यह लाभ होता है कि वे पथभ्रष्ट होने से बचते हैं और खुराफात नही लिख सकते। हास्य रस के शायर समाज की कुरीतियों को प्रकाश मे लाते हैं। सबसे बड़ा लाभ यह है कि हिंदू तथा मुस्लिम सस्कृतियो के समन्वय की नीव पड़ती है। हर धर्म, वर्ग, सप्रदाय, तथा विचार के लोगो मे प्रेमभावना जाग्रत होती है। वहाँ का साहित्यिक वातावरण हृदय की ग्रंथियों का उन्मीलन करता है। आपस मे सहनशीलता आती है। [ता० अं०]

मुसहिफ़ी इनका नाम शेख गुलाम हमदानी था और ये मुरादाबाद-अमरोहा के निवासी थे। ये सन् १७७६ ई० में लखनऊ आए। इसके पहले इन्होंने दिल्ली में प्रायः १२ वर्ष तक रहकर कविता की शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय नवाब आसफ़ुद्दौला लखनऊ की गद्दी पर थे। मुसहिफ़ी मिर्जा सुलेमान शिकोह के यहाँ नौकर हो गए। इनके जन्म तथा मृत्यु के सनों के संबंध में विभिन्न मत हैं। आजाद का मत है कि अस्सी वर्ष की अवस्था में सन् १८२४ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनका एक तजकिरा सन् १७६४ ई० में लिखा गया था। हसरत ने इसका जन्म सन् ११६४ हि०, (सन् १७५१ ई०) में और मृत्यु छिहत्तर वर्ष की अवस्था में लिखी है।

मुसहिफ़ी ने उर्दू भाषा को स्वच्छ रूप देने तथा उसके उत्कर्ष के लिये बहुत प्रयत्न किया। बहुत से शब्दों का बहिष्कार किया और *बहुत से नए शब्द प्रयोग में लाए। इनकी 'बहरुल् मुहब्बत' मसनवी* प्रसिद्ध है। इन्होंने उर्दू कवियों के दो तजकिरे लिखे हैं तथा एक फारसी के कवियों का। इन्होंने बहुत सी गजलें तथा कसीदे लिखे हैं, जो कई दीवानों में संगृहीत हैं। इनकी शैली पर मीर, सौदा, इंशा, जुरअत तथा सोज़ सभी का थोड़ा थोड़ा प्रभाव है। यह बड़ी बहरों में शेर अच्छे कहते थे। क्लिष्ट काफियों तथा नियमों का यह सरलता से प्रयोग कर लेते थे। आतिश, खलीक, जमीर, असीर आदि इनके कई प्रसिद्ध शिष्य थे। [र० स० ज०]

मुसोलिनि, बेनितो इनका जीवन अवसरवाद, आवारापन और प्रतिभा के मिश्रण से बना कहा गया है। इनका जन्म १८८३ की २६ जुलाई को इटली के प्रिदाप्पो नामक गाँव में हुआ था। अठारह वर्ष की अवस्था में ये एक पाठशाला में अध्यापक बने। १६ साल की उम्र में बेनितो भागकर स्विटजरलैंड चले गए। वहाँ वे मजदूरी करते और साथ ही रात को समाजवादियों से मिलते जुलते और समाजवाद का अध्ययन करते। वहाँ से लौटकर कुछ समय तक सेना में कार्य किया। तदुपरांत घर लौटकर उन्होंने समाजवादी आंदोलन में भाग लेना जारी रखा और साथ ही वे पत्रकारिता में लग गए। १६१२ तक वे समाजवादी दल के मुखपत्र 'आवांति' के संपादक बन गए।

१६१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ने के साथ मुसोलिनि ने समाजवादियों की तरह यह मानने से इनकार किया कि इटली को निष्पक्ष रहना चाहिए। वे चाहते थे कि इटली ब्रिटेन और फ्रांस के पक्ष में लड़ाई में उतरे। इस कारण उन्हें 'आवांति' के संपादक पद से अलग होना पड़ा और वे दल से निकाल दिए गए।

१६१६ के २३ मार्च को मुसोलिनि ने अपने ढंग से राजनीति में एक नए संगठन को जन्म दिया। इस दल का नाम था फासी-दि-कंबात्तिमेंतो। इसमें उन्होंने उन्हीं लोगों को लिया जो १६१४ में उनके विचार के थे। इसमें मुख्यतः भूतपूर्व सैनिक आए। देश इस प्रकार के कार्यक्रम के लिये तैयार था क्योंकि समाजवादी कमजोर थे, भूतपूर्व सैनिकों में बेकारी फैल गई थी, भ्रष्टाचार बढ़ गया था, राष्ट्रीयता का जोर हो रहा था और लोगों में अंतरराष्ट्रीय समाजवाद के प्रति अनास्था उत्पन्न हो गई थी। मुसोलिनि धीरे धीरे शक्तिशाली होते गए और एक चतुर अवसरवादी होने के कारण सभी अवसरों से वे लाभ उठाते रहे, यहाँ तक कि फासिस्टों ने रोम पर ३० अक्टूबर, १६२२ को कब्जा कर लिया। सरकारी सेना के तटस्थ हो जाने से यह संभव हुआ।

मुसोलिनि ने १६३५ में अबीसीनिया पर हमला किया और कहा जा सकता है कि यहीं से द्वितीय महायुद्ध का आरंभ हुआ। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में हिटलर और मुसोलिनि का गठबंधन हो चुका था और जब द्वितीय महायुद्ध छिड़ा तो हिटलर और मुसोलिनि यूरोप में एक तरफ थे और दूसरी तरफ ब्रिटेन तथा फ्रांस। क्रमशः इसमें और भी शक्तियाँ आती गईं। पहले हिटलर की विजय हुई, फिर फासिस्टों की पराजय शुरू हुई।

पराजयों के कारण २५ जुलाई, १६४३ तक ऐसी स्थिति हो गई कि मुसोलिनि को प्रधान मंत्री पद से इस्तीफा देना पड़ा और वे हिरासत में ले लिए गए। पर सितंबर में ही हिटलर ने उन्हें छुड़ाया और वे उत्तर इटली में एक कठपुतली राज्य के प्रधान के रूप में स्थापित किए गए।

इसके बाद भी फासिस्ट हारते ही चले गए और २६ अप्रैल, १६४५ को मित्र सेनाएँ इटली पहुँच गईं। देश के गुप्त प्रतिरोधकारियों ने इनका साथ दिया। उसी दिन मुसोलिनि स्विट्ज़रलैंड भागने की चेष्टा करते हुए प्रतिरोधकारियों द्वारा पकड़ लिए गए और २८ अप्रैल, १६४५ को उन्हें *मृत्युदंड* दिया गया।

सं० ग्रं० — १. जान गुन्थर : इनसाइड यूरोप, २. ऐनसाक्लोपीडिया ब्रिटैनिका। [म० गु०]

मुस्लिम दर्शन विभिन्न पंथ एवं व्याख्याकार — अरब दर्शन, जिसे ज्यादा सही तौर पर मुस्लिम दर्शन कहा जाता है, मुख्यतः ग्रीक दर्शन के प्रभावक्षेत्र में तेजी के साथ विकसित होता हुआ चार मुख्य आयामों में प्रकट होता है :

(१) मुतज्लवाद (बुद्धिवाद), (२) अश'अरवाद (पांडित्य वाद), (३) सूफीवाद (रहस्यवाद) तथा (४) दर्शन। इन विभिन्न विचार संप्रदायों का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है :

(१) मु'तज्लवाद — (मोतजेलावाद, दे० अरबी दर्शन) यह विचार संप्रदाय हिजरी संवत् की प्रथम शताब्दी का अंत होते होते स्थापित हुआ। यह दो महान् सिद्धांतों— ईश्वरीय एकत्व तथा ईश्वरीय न्याय—पर आधृत था। ईश्वरीय एकत्व से यह अभिप्राय था कि ईश्वर एक है—उसमें द्वैतता की गंध तक नहीं मिल सकती। उसमें अपने 'मूलसत्व' से परे कोई अन्य गुण नहीं है। उसका अपना सत्व ही सभी गुणों की लक्ष्यपूर्ति करता है। वह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है, किंतु इसका कारण यह नहीं है कि उसमें अपनी सत्ता या सत्व से पृथक् सर्वज्ञता या सर्वशक्तिमत्ता के कोई गुण हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि उसका मूलसत्व ही इन गुणों के नाम से जानी जानेवाली विशेषताओं को अपने में निहित करता है। इस मत का प्रतिपादन इस संप्रदाय के प्रवर्तक वासिल बिन' अता (मृत्यु ७४८ ई०) ने किया तथा अब्दुल हुदैल (अबुल हुजैल) अल्लाफ़ ने (मृत्यु ८४० ई०) इसकी सुस्पष्ट व्याख्या की (दे० अरबी दर्शन)।

ईश्वरीय न्याय का अभिप्राय यह है कि ईश्वर सदैव न्यायी है और वह कभी निर्दय नहीं होता। इसी विश्वास की एक उपशाखा की वह

मान्यता है कि ईश्वर ने मनुष्य को एक सीमा तक इच्छास्वातंत्र्य एवं कार्य की स्वतंत्रता से विभूषित किया। मनुष्य अपने सभी कर्मों के लिये उत्तरदायी है, अपने सत्कर्मों के लिये वह पुरस्कार तथा दुष्कर्मों के लिये दंड पाता है।

मु'तज़ली लोग अपने को 'अह्‌ल अत् तवहीद वल् अद्‌ल' (ईश्वरीय एकत्व एवं न्याय के अनुयायी) कहते थे क्योंकि वे ईश्वर के न्याय एवं एकत्व के दृढ़ समर्थक थे। मु'तज़्लियों के अन्य प्रमुख मत थे, कुरान की शाश्वतता से इनकार तथा परलोक में ईश्वर दर्शन की असंभाव्यता। पुरातनपंथी यह मानते थे कि विवेक ईश्वर का गुण है और यह कुरान में अभिव्यक्त है। यों कुरान स्वयंभू है और वह ईश्वर की शाश्वतता से संबद्ध है। मु'तज़्ली कहते हैं कि यदि यह ज्ञान ईश्वर की शाश्वतता से संबद्ध है तो इसका अर्थ दो शाश्वत सत्यों का अस्तित्व हुआ। दूसरे शब्दों में कहें तो इससे दो ईश्वरों की सत्ता मान्य हो जाती है।

पुरातनपंथी यह मानते थे कि कम से कम कुछ लोगों को स्वर्ग में ईश्वर का दर्शन होना संभव है और यह परम आनंद का विषय होगा। मु'तजलियों का कहना था कि स्वर्ग में भी ईश्वर नहीं दिखाई दे सकता क्योंकि ऐसा होना इस बात की पूर्वकल्पना करना है कि इस विस्तार में वह भी कुछ जगह घेरता है। लेकिन ईश्वर विस्तारमय है ही नहीं, अतः उसे कभी कहीं भी नहीं देखा जा सकता।

मु'तजलियों ने इस्लाम के रूढ़ नियमों का उदात्तीकरण अच्छी भावना से प्रेरित होकर शुरू किया था किंतु कुरान की दैवी उत्पत्ति के संबंध में उनमें से बहुतों की आस्था अनजाने में हिल उठी। परिणामतः अपनी ही तर्कपद्धति को लेकर वे मज़्हब के अनेक रूढ़ नियमों को न मानने के लिये विवश हो गए, यथा इलहाम का सिद्धांत, इत्यादि। मु'तज़्ली विचारकों का पहला दल अपने मजहब के प्रति जागरूक था और मानवीय विवेक बुद्धि के साथ संगति बिठाने के लिये उसका उदात्तीकरण चाहता था। मु'तजलियों के संप्रदाय का उद्‌गम बाहरी प्रभाव से अछूते रहकर हुआ था। (दे० स्टाइनर और ओबरमान)। किंतु जब ग्रीक दर्शन अनूदित होकर आया तो मु'तजलियों ने उसे बड़े हौसले के साथ पढ़ा। ग्रीक दर्शन के अध्ययन ने इनके मन में नई नई समस्याएँ उत्पन्न कीं और धर्म में उनकी अभिरुचि स्वतः उसकी ही खातिर पीछे ठेल दी गई।

मुतज़्लियों में कुछ प्रमुख थे, नज्जाम (मृत्यु ८४५ ई०) जुब्बा' ई (मृत्यु ९१५ ई०), जाहिज़ (मृत्यु ८६८ ई०) इत्यादि।

(२) अश'अरवाद (मुस्लिम पांडित्यवाद, आशारियावाद) — अश'अरवाद, मु'तज़्लवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रियात्मक आंदोलन है। अब्दुल हसन अल–अश'अरी इसके संस्थापक थे (दे० अरबी दर्शन)। इनका जन्म २६० या २७० हिजरी में बसरा में हुआ था और वे मु'तज़्लीय शिविर में ही प्रशिक्षित थे। ४० साल की अवस्था तक ये मु'तज़्लवादी थे। इनके बारे में कहा जाता है कि इन्हें स्वप्न में पैगंबर के दर्शन हुए थे जिसमें उन्होंने इनको कुरान तथा हदीस के नियमों पर चलने के लिये उकसाया था। उन्होंने ऐसा करने की प्रतिज्ञा की तथा अपनी शक्ति भर मु'तज़्लियों से संघर्ष करने का निश्चय किया। सार्वजनिक शास्त्रार्थ में इन्होंने अपने गुरु जुब्बा'ई से बहस की और उन्हें परास्त किया। इन्होंने इ'तिज़ाल के खंडन में सौ से अधिक पुस्तकें लिखीं। ये ईश्वरीय वस्तुओं के संबंध में किसी भी ऐसे ज्ञान से इनकार करते थे जो इलहाम से अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता हो। उनकी मान्यता थी कि धर्मविज्ञान की इमारत विशुद्ध बुद्धिवादी आधार पर नहीं खड़ी की जा सकती। वे मु'तजलियों के इस मत को कि ईश्वर निर्गुण है, अस्वीकार करते थे। उनका यह विश्वास था कि ईश्वर विविध गुणों से संपन्न है, यथा ज्ञान, इच्छा, सामर्थ्य इत्यादि; किंतु ये सभी मनुष्यों में पाए जानेवाले गुणों के अर्थ में नहीं समझे जा सकते। कुरान के संबंध में उनका मत था कि वह ईश्वर की शाश्वत वाणी है।

इच्छा या संकल्प की स्वतंत्रता के संबंध में उनकी स्थापना थी कि मनुष्य किसी वस्तु का सर्जन नहीं कर सकता। ईश्वर ही एकमात्र स्रष्टा या सिरजनहार है। ईश्वर मनुष्य में चुनाव एवं शक्ति के जातीय गुणों को पैदा कर देता है, तत्पश्चात् उन कार्यकलापों की सृष्टि करता है जिनका तालमेल चुनाव एवं शक्ति के साथ बैठता है। प्रेरक सिर्फ वही ईश्वर है। जो बात मनुष्य की शक्ति में निहित है, वह है मात्र 'कस्ब' (अर्जन) जिसका अर्थ यही है कि मनुष्य के कार्य उसके चुनाव एवं शक्ति के उन गुणों के अनुरूप हैं जिन्हें ईश्वर ने उसमें पहले से ही पैदा कर रखा है। मनुष्य ईश्वर के कार्यों का लक्ष्यबिंदु (महल्ल) है। मु'तजिलयों की स्थापना थी कि ईश्वर न्यायी होने के कारण अपने प्राणियों का अनिष्ट कर ही नहीं सकता। ईश्वर ने मनुष्य को कर्म की स्वतंत्रता दी है। अतः ईश्वर नहीं बल्कि स्वयं मनुष्य अच्छे एवं बुरे कृत्यों का निर्माता है। इस दृष्टिकोण को गलत साबित करते हुए अल-अशरी ने यह मत प्रस्तुत किया कि ईश्वर किसी सीमा में नहीं बँधा है। वह अपने इच्छानुसार अपने किसी भी प्राणी का हित या अहित कर सकता है।

परलोक में ईश्वर का साक्षात्कार हो सकने के संबंध में उनका मत यह था कि भौतिक दृष्टि से यह अवश्य ही असंभव है, क्योंकि इससे स्थल विशेष एवं दिशा का संबंध है, फिर भी उसका दर्शन भौतिक नेत्रों की सहायता के बिना किया जा सकता है।

जैसा डी० बी० मैक्डोनल्ड कहते हैं, 'अल अशरी की महान् मौलिक बुद्धि ने तत्वशास्त्रीय धर्मविज्ञान की एक शक्तिशाली प्रणाली की नींव डाली तथा 'पांडित्यवादी कलाम' की वैज्ञानिक बुनियाद के लिये आधारशिला रखी।'

(३) सूफीवाद (रहस्यवाद) — सूफीवाद इस बात की शिक्षा देता है कि हम अपने अंतःकरण को कैसे पवित्र बनाएँ, अपना नैतिक धरातल कैसे दृढ़ करें तथा अपने आंतरिक एवं बाह्य जीवन का कैसे निर्माण करें कि शाश्वत आनंद की उपलब्धि हो सके। आत्मा की शुद्धि ही इसकी विषयवस्तु है, तथा इसकी परिणति एवं लक्ष्य है शाश्वत परमानंद और परम कृपा की प्राप्ति ('शेख उल्-इस्लाम जकरिया अंसारी')। सूफी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर द्वारा अपने बंदों पर आरोपित उनके पवित्र ग्रंथ के सभी अधिनियम तथा पैगंबर द्वारा सुझाए गए (परंपरानुगत) सभी कर्तव्य ऐसे आवश्यक अनुबंध हैं जिनके बंधन में सभी वयस्कों एवं प्रौढ़ मस्तिष्क-वालों का बंधना जरूरी है। इस अर्थ में सूफीवाद एक विशुद्ध इस्लामी

अनुशासन है जो मुस्लिमों के आंतरिक जीवन तथा चरित्र का निर्माण ऐसे कर्तव्यों एवं अधिनियमों, अनुबंधों एवं अनिवार्यताओं के जरिए करता है जिन्हें कोई भी व्यक्ति किसी भी तरह से नहीं छोड सकता। किंतु इस्लाम मे सूफीवाद का यही समूचा अर्थ नहीं है। इसका एक रहस्यमय अभिप्राय है। दुनिया के रहस्यवादी अर्थ में सूफी वही है जिसे अपने तथा ईश्वर के बीच स्थित सच्चे संबंध की जानकारी है। इस प्रकार सूफी यह जानता है कि वह आंतरिक रूप से ईश्वर के मन में स्थित एक विचार है। विचार होने के कारण ईश्वर के साथ साथ वह भी सार्वकालिक है। बाह्य रूप से वह एक सृजित प्राणी है जिसके रूप में ईश्वर स्वयं सूफी की कार्यक्षमता (या 'वाकिलत') के अनुसार अपने को प्रकट करता है। वह न तो अपना कोई स्वतंत्र निजी अस्तित्व रखता है और न कोई सत्तात्मक गुण ही (यथा— जीवन, ज्ञान, शक्ति इत्यादि)। ईश्वर की सत्ता से उसकी सत्ता है, वह ईश्वर के ही द्वारा देखता है, ईश्वर के ही द्वारा सुनता है। इस अभिप्राय की पुष्टि कुरान के इस पाठ से होती है : 'वही प्रथम है, और अंतिम है, वही बाह्य है और अभ्यंतर है, और वह सब कुछ जानता है' (कु० ५७/२)। इस आयत का विश्लेषण करते हुए पैगंबर ने कहा : 'तुम बाह्य हो, और तुममे ऊपर कुछ भी नहीं; तुम अभ्यतर हो और तुमसे नीचे कुछ भी नहीं, तुम प्रथम हो और तुमसे पूर्व कुछ भी नहीं, तुम अंतिम हो और तुम्हारे बाद कुछ भी नहीं है।'

सूफीवाद के एक बहुत बड़े अधिकारी फारसी विद्वान् जामी का कहना है कि रहस्यमय सूफी मत का प्रथम व्याख्याकार मिस्र निवासी धुन नून (मृत्यु २४५–२४६ हिजरी) था। धुन नून के अभिज्ञान को बगदाद के जुनैद (मृत्यु २९७) ने संकलित एवं व्यवस्थित किया। जुनैद के मत का दृढ़ प्रचार उसके शिष्य, खुरासान के अबू बक्र शिबली (मृत्यु ३३५) ने किया। ये अभिज्ञान अबू नस्र सर्राज (मृत्यु ३७८) द्वारा उनकी पुस्तक 'लुमा' (संपा० आर० ए० निकोलसन्) में लिपिबद्ध हुए, तदुपरांत अब्दुल कासिम अल कुशैरी ने (मृत्यु ४३७) इन्हें अपनी पुस्तक 'रसैल' में रखा। किंतु इस विचारप्रणाली को इस्लामी रहस्यविद्या में रखनेवाले तथा उन्हें नियमबद्ध करनेवाले प्रथम व्यक्ति महान् रहस्यवादी शेख मुहिउद्दीन इब्नुल् अरबी (५६० हिजरी) थे। यह आप ही थे जिन्होंने छः 'अलायतों' अथवा 'विशेषीकरणों' की योजना समझाई और ऐसे हर अभिव्यक्ति के सबद्ध विषयो का निश्चय किया। ये वजुदियह (जीव की इकाई) के नाम से प्रसिद्ध सप्रदाय के संस्थापक थे। इमाम गजाली (मृत्यु ४५० हिजरी) ने सूफीवाद को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। उनके व्यापक प्रभाव के चलते पुरातनपंथी सूफीवाद सुन्नी धर्मविज्ञान के साथ संलग्न हुआ और तबसे ही उसमे उसने अपना स्थान बनाया।

(४) दर्शन — इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व पूरब के कुछ स्थल यथा, फारस मे जन्दीशापुर, मेसोपोटामिया में हर्रान तथा मिस्र मे अलेक्सांद्रिया अपनी हेलेनिक संस्कृति के कारण विख्यात थे। इन्हीं स्थानों से हेलेनिक विद्यावैभव पूरब के लोगों मे संक्रमित हुआ। ओमैद काल के अरब साम्राज्यवादी गैर-अरबियों के साथ खुलकर मिलने मे अपनी हेठी समझते थे। अब्बासियों के अभ्युदय के साथ विजित एवं विजेता जाति के लोग खुलकर मिलने एवं विचार विनिमय करने लगे। ग्रीक विद्या को मुस्लिम विद्वानों के बीच फैलाने में अल-मामून ने पहलकदमी की। अरबों का ग्रीक सभ्यता एवं दर्शन से संपर्क, ग्रीक दर्शन का मात्र सामान्य ग्रहण न होकर 'विचारों की उस मौलिक पद्धति का क्रमिक विकास था, जो अरब संसार मे पहले से ही विद्यमान दार्शनिक प्रवृत्तियों द्वारा खास तौर से नियत थी।'

सबसे प्रथम विख्यात मुस्लिम दार्शनिक थे अबू याकूब अलकिंदी (८३०-८७५ ई०)। विशुद्ध राजवंशी अरब होने के नाते इन्होंने 'प्रथम अरब दार्शनिक' की स्पृहणीय उपाधि अर्जित की। इन्होंने दर्शन के अनेक ग्रंथों का ग्रीक से अरबी में अनुवाद किया तथा अन्य उपलब्ध अनुवादों का संशोधन किया। उनके ग्रंथ के प्राय: २६६ शीर्षक हमें प्राप्त हैं। अल किंदी को इस्लाम मे धर्मनिरपेक्ष विवेकशीलता का आरंभकर्ता माना जाना चाहिए। ज्ञानक्षेत्र का कोई भी विभाग उनकी सतर्क बुद्धि के परीक्षण से बच नहीं पाया था। उनके मौलिक विचारपूर्ण ग्रंथों में 'बुद्धि विषयक प्रबंध' तथा 'पाँच मूल तत्त्व' बड़े ही महत्त्व के हैं। अल-किंदी ने बुद्धि के चतुर्मुख विभाग का सिद्धांत स्थापित किया; यह अरस्तू के 'डि एनिमा' में प्राप्य नहीं। बहुत से विद्वानों ने इनके मूल उद्‌गम को जानने का व्यर्थ प्रयत्न किया। मि० गिल्सन का विचार है कि यह अफ्रोदिसियस के सिकदर द्वारा रचित डि अनिमा से नि:सृत है, किंतु उसमें केवल तीन विभागों की चर्चा है। अल-किंदी का महत्व इस बात मे है कि वे ग्रीक दार्शनिकों की मनोवैज्ञानिक सामग्री को संचित एवं विकसित करनेवाले पहले मुस्लिम विचारक थे।

अल-किंदी की सर्वाधिक महत्व वाली पुस्तिका 'पाँच मूल तत्वों' पर है जिसमे पदार्थ, रूप, गति, काल एवं विस्तार विषयक पाँच स्थितियों का वर्णन है। प्राय: सभी यूरोपीय लेखकों ने इन्हें एक कट्टर मु'तजलवादी करार दिया है, परंतु कुस्तुंतुनियाँ में हाल मे ही खोज निकाली गई उनकी कुछ पुस्तिकाओं के आधार पर उन्हें कभी भी सच्चे अर्थ मे मु'तजलवादी नहीं कहा जा सकता।

अल् फरबी (मृत्यु ९५० ई०) : इस्लाम के सबसे महान् दार्शनिक तथा नव्य प्लेटोवादी फरबी (फराबी, दे० अरबी दर्शन) प्लेटो और अरस्तू के दर्शनों के सर्वोत्तम विश्लेषक माने जाते हैं। इब्न खल्लिकान के शब्दों मे, 'कोई भी मुस्लिम दार्शनिक-विज्ञानो के क्षेत्र मे अल फरबी की कोटि तक नहीं पहुँचा है; उनकी कृतियों का अध्ययन तथा उनकी शैली का अनुकरण करके ही अविसिना ने ऐसी सुविज्ञता प्राप्त की तथा स्वत अपनी ही कृतियों को उपादेय बनाया।' अरस्तू को उन्होंने इतनी पूर्णता के साथ समझा तथा ग्रीक दर्शन के रहस्यों का उद्‌घाटन इतनी व्यापकता के साथ किया कि वे मुस्लिमों द्वारा 'दूसरे उस्ताद' कहलाए क्योंकि पहले उस्ताद स्वयं अरस्तू थे। अरस्तू के प्रति उनके सारे जोश के बावजूद उन्हें उत्पत्ति विषयक नव्य प्लेटोवादी मान्यताओं का भी चसका था। उनका विश्वास था कि यह विश्व, ईश्वर से उत्पन्न होकर अवरोहात्मक ढंग से नीचे तक आया है।

अल फरबी की तर्कशास्त्र की पुस्तकों के बारे में अपनी अनुशसा लिखते हुए सबसे महान् यहूदी दार्शनिक मैमोनिदीस ने ये शब्द कहे : 'मैं तुम्हें तर्कशास्त्रसंबंधी अन्य कोई पुस्तक पढ़ने को न कहकर दार्शनिक अबू नासर अल् फरबी की कृतियों को पढ़ने की सम्मति

दूंगा। अल् फराबी का कहना है कि 'सामान्य सत्यों का निगमन विशेष सत्यों के प्रतिष्ठित हो जाने के बाद ही संभव है, तथा भावात्मक ज्ञान ऐंद्रिय अनुभवों द्वारा प्राप्त ज्ञान की ही परिणति के रूप में हो सकता है।

जहाँ तक बुद्धिवाले सिद्धांत का प्रश्न है, अल फराबी अपने पूर्वाधिकारी अल-किंदी का अनुसरण करते हुए चार प्रकार की बुद्धि की चर्चा करते हैं, यथा, गुप्त अथवा प्रसुप्त बुद्धि (Intellect in Habitu), क्रियानिष्ठ बुद्धि (Intellect in Actu), अर्जित बुद्धि (Intellect Acquistus or Adeptus) तथा माध्यम ज्ञान (Intellect in Actu Absolute)

अल फराबी कारणता के सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या अपने 'ज्ञानरत्न' नामक प्रबंध में करते हैं। अरस्तू की भाँति इनकी भी यह मान्यता है कि कारणों की शृंखला अनंत नहीं है, उद्‌गमों की अनंतता असंभव है। प्रथम कारण एक तथा शाश्वत है। प्रथम कारण एक आवश्यक सत्ता है जिसका अस्तित्व दूसरे अस्तित्वों के आकलन के लिये आवश्यक है। इसका बोध किसी मानवीय ज्ञानशक्ति द्वारा नहीं हो सकता। उसकी मूलसत्ता अगम अपार है। सिर्फ यहीं पर अल फराबी दार्शनिक सिद्धांतों को भली भाँति उस रहस्यवाद के साथ मिलाता प्रतीत होता है जो एशियाई इस्लाम धर्म के अंतर्गत बड़ी ही तेजी के साथ विकसित हो रहा था।

इब्ने सिना (९८०-१०३७ ई०)—इनका अध्ययन सर्वज्ञानात्मक था। ये अच्छे चिकित्सक तथा महान् दार्शनिक थे। इनका दर्शन नव्य प्लेटोवाद का हल्का सा प्रभाव लिए हुए अरस्तू के सिद्धांतों का अंगीकरण था। इनके द्वारा लिखे गए ग्रंथों की महती संख्या में 'अल शिफा', जो भौतिक विज्ञान, तत्वज्ञान एवं गणित का विश्वज्ञानकोश था, सबसे प्रमुख था। इसका विस्तार १८ भागों में है (संपा० फोर्जेट, लीडेन १८९२)।

इब्न सिना ने 'अलशिफा' का एक संक्षिप्त संस्करण भी तैयार किया जिसका नाम 'नजात' रखा जिसके अंतर्गत उन्होंने गालेन तथा हिपोक्रेतु के कथनों को अपने ढंग से उपस्थित किया।

इब्न सिना के अनुसार तर्कशास्त्र का लक्ष्य लोगों को कुछ ऐसे मानदंड प्रस्तुत करना है जिसके आधार पर वे अपने तर्क वितर्कों में गुमराह होने से बच सकते हैं। तर्कशास्त्र विषयक अपने प्रबंध को वे नौ भागों में बाँटते हैं जो अरस्तू के अरबी संस्करणवाले ग्रंथ से साम्य रखता है। इस ग्रंथ में (Isagogi) तथा छंदशास्त्र एवं काव्यशास्त्र भी सम्मिलित है। इब्न सिना इस बात पर जोर देता है कि गंभीर तर्क सदैव किसी बात की ठीक ठीक परिभाषा करने पर निर्भर रहता है। परिभाषा में वस्तु के गुण, उसकी मूल जाति, उसके व्यवच्छेदक धर्म तथा उसके विशिष्ट लक्षणों को स्पष्ट करना चाहिए; इस प्रकार वह कोरे वर्णन से बिलकुल पृथक् चीज है। सामान्य एवं विशेषों की चर्चा करते हुए इब्न सिना बताते हैं कि सामान्य का अस्तित्व केवल मनुष्य के मन में ही रहता है। यह एक प्रकार का अमूर्त प्रत्यय है जो केवल मानसिक बोध के रूप में ही रहता है और उसकी कोई वस्तुनिष्ठ यथार्थता नहीं होती। सामान्य बोध की निष्पत्ति विशेष अथवा व्यक्ति तक उसी भाँति होती है जैसे व्यक्ति की सृष्टि के पूर्व सृष्टिकर्ता के मन में वह एक सामान्य प्रत्यय के रूप में था। पदार्थों में सामान्यता का बोध तभी होता है जब विशिष्ट गुणों से उसका सहयोग होता है। इन विशिष्टताओं के अभाव में यह एक मानसिक प्रत्यय मात्र है।

आत्मा, इब्न सिना के अनुसार, क्षमताओं (कूवा) अथवा प्रेरक शक्तियों का संग्रह है। सर्वाधिक सरल आत्मा वनस्पति की है जिसके क्रियाव्यापार पोषक तत्व ग्रहण एवं प्रजनन तक ही सीमित हैं। पशुओं की आत्मा में वनस्पति की क्षमताओं में सिवा कुछ और बातें भी रहती हैं। इसी तरह मानवात्मा में इनके सिवा कुछ और चीजें बढ़ जाती हैं और वह 'बौद्धिक आत्मा' कहलाती है।

ज्ञान या बोध की शक्तियाँ अंशतः बाहरी और अंशतः आंतरिक होती हैं। बाहरी शक्तियाँ शरीर में ही रहती हैं, जिसके भीतर आत्मा वास करती है। इनकी संख्या आठ है जिन्हें इंद्रिय ज्ञान कह सकते हैं, देखने की, सुनने की, स्वाद की, गंध की, शक्ति तथा शीत-ताप-बोध, शुष्कता-आर्द्रता-बोध, कोमल कठोर अवरोधों का बोध और रूक्षता सुचिक्कणता का बोध। ये सारे बोध मिलकर बाह्य पदार्थ के स्वरूप का परिकल्पात्मक ज्ञान बोधकर्ता की आत्मा को कराते हैं।

इंद्रियबोध की आंतरिक शक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) अल मुस्साविरा (स्वरूपात्मक), (२) अल मुफकिरा (परिचयात्मक), (३) अल वह्‌म (राय या समति), (४) अल् हाफिजा अथवा अल जाकिरा (स्मृति)।

मनुष्यों एवं पशुओं को विशेषों का बोध इंद्रियों द्वारा होता है, मनुष्य सामान्य का ज्ञान बुद्धि शक्ति द्वारा करता है। मनुष्य की बौद्धिक आत्मा अथवा 'अकल्' को शारीरिक शक्तियों से पृथक् अपनी निज की शक्तियों का ज्ञान रहता है। इसे एक पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ता के रूप में मान्यता देना ठीक होगा, यद्यपि संयोगवश शरीर से इसका सह संबंध है।

जहाँ तक भौतिक विज्ञान का प्रश्न है, इब्न सिना प्रकृति की शक्तियोंकी चर्चा करते हैं, जो तीन प्रकार की होती हैं — यथा गुरुत्व जो कि शरीर का ही एक आवश्यक तत्व है जिसमें ये शक्तियाँ पाई जाती हैं — वे शक्तियाँ जो शरीर के बाहर रहते हुए भी उसपर प्रभाव डालती हैं, जैसे कारण, गति या विराम और इनके अलावा वे शक्तियाँ जो गति का उत्पादन सीधे ही बिना किसी बाहरी उत्तेजना के कर देती हैं। कोई भी शक्ति असीम नहीं है, इन्हें घटाया बढ़ाया जा सकता है तथा इनके परिणाम हमेशा ससीम होते हैं। यद्यपि काल या समय स्वयं गति नहीं है, तथापि वह नक्षत्रों की गति के सहारे जाना एवं मापा जा सकता है। अल किंदी का अनुसरण करता हुआ इब्न सिना स्थान की परिभाषा इस तरह प्रस्तुत करता है 'कि यह आधान (containar) की वह सीमा है जो धारित या समाविष्ट से जाकर मिलती है', तथा जिसे हम शून्य (खला) कहते हैं, वह केवल एक नाम तथा असंभावित वस्तु है।

इब्न सिना ईश्वर को ही 'आवश्यक सत्ता' (वाजिब उल वजूद) तथा परमतत्व मानता है। भौतिक विज्ञानों में जिन पदार्थों का अध्ययन किया जाता है वे केवल संभावित 'वस्तुएँ' (मुमकिन उल वजूद) हैं। पूरे अनंत में एक मात्र ईश्वर ही आवश्यक रूप से अस्तित्ववान् रहता है।

दर्शन का प्रयोजन ईश्वर को जानना और जितना संभव हो सके, उतना उसी के समान होना (तशब्बुह बिल्लाह) है। इब्न सिना के अनुसार इसकी प्राप्ति हमें शिक्षा एवं ईश्वरीय दिव्य दृष्टि के द्वारा हो सकती है।

ग्यारहवीं सदी के मोड़ पर आकर पूर्व में अरबी दर्शन एक अंत पर आ पहुँचता है। अल ग़ज़ाली (गिज़ाली १०५९–११११ ई०, दे० अरबी दर्शन) दार्शनिकों के उपदेशों का सीधा विरोध अपनी पुस्तक 'तहफत उल फलसिफा' (दार्शनिकों का विनाश) मे धर्म के हित के लिये करता है, और दर्शन की इस क्षमता से भी, कि वह सत्य तक पहुँच सकता है, इनकार करता है। उसे दार्शनिक पद्धतियों में व्यक्ति के अमरत्व का सिद्धांत तथा ईश्वर के पूर्वज्ञान एवं पूर्वविधान में विश्वास की बात दिखाई नहीं देती जिसके द्वारा ऐसा माना जाता है कि ईश्वर जीवन की छोटी छोटी घटनाओं को पहले से ही जानता है और उन्हें पहले ही देख ले सकता है तथा किसी भी समय उनमें हस्तक्षेप कर सकता है। अल गज़ाली की पुस्तक के प्रभाव के प्रकाशन ने दार्शनिकों का मुँह बंद कर दिया।

अरबी दर्शन ने फिर भी अपना अस्तित्व कायम रखा और स्पेन मूर खलीफा तंत्र में फैला। विशेषत: इसका प्रसार कारदोवा में हुआ जो प्रसिद्ध शिक्षास्थली थी और जहाँ मुस्लिम, यहूदी और ईसाई बिना किसी दखलंदाजी के साथ बैठकर पढ़ते थे। पाश्चात्य मुस्लिम विचारकों इब्नी रश्द (अवरोज) (इब्ने रुश्द, ११२६–११९८ ई०, दे० अरबी दर्शन) सबसे अधिक महत्व के थे। मंक के शब्दों में 'अरस्तू की कृतियों के सबसे गंभीर भाष्यकार में उनकी गणना थी।' इसके साथ साथ वे मुस्लिम विधान के एक सफल व्याख्याकार भी थे। बहुत दिनों तक यूरोप में इब्न रश्द सर्वाधिक श्रद्धा के पात्र रहे और उनकी किताबें विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ी जाती रहीं। उनके दर्शन की टीकाएँ यूरोप की बहुत सी भाषाओं में मौजूद थीं।

इब्नी बजा (Avempace) (मृत्यु ११३८ ई०), इब्न मिस्क बइह् (मृत्यु ११३० ई०), शेख शहाबुद्दीन जो शेख उल इशराक के नाम से विख्यात थे (मृत्यु ११९० ई०), आदि कुछ अन्य प्रसिद्ध मुस्लिम दार्शनिक हैं।

यह अब एक प्रतिस्थापित तथ्य हो चुका है कि मुस्लिम दार्शनिकों के अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण रहे हैं जिन्होने ग्रीक विचारों का अनुकरण तो दूर, उनकी स्वतंत्र आलोचना की तथा उन्हें आत्मप्रसंगतियों एव आत्मविरोधों से मुक्त करने का प्रयास किया।

सं० ग्रं० — दि एन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, लाइडेन; ई० जी० ब्राउन : ए लिट्रेरी हिस्ट्री ऑव पर्शिया; डी० एल० लिदरी : अरेबिक थॉट ऐंड इट्स प्लेस इन हिस्ट्री; शाह वली उल्लाह : हुज्जत-उल्लाह-ए बालिगा; अब्दुल करीम शरिस्तानी : किताब उल् मिलल वा निहाल; इब्न इ खल्दून : मुकदमा; जामी : नफहत् उल उंस; आर० ए० निकोलसन : स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टिसिज्म; सय्यद उंदलुसी : तबाक़त उल उमाम। मंक और दियोतिरिची की कृतियाँ। गोल्ड जिहेर तथा उस्तरवेग ह्वाइजे की सदर्भ सूचियाँ, भाग २—२८, २९ (जिनमें अरबी तथा यहूदी दर्शनों के अच्छे विवरण हैं।) [मी० ब० उ०]

मुस्लिम लीग दिसंबर, सन् १९०६ ई० में ढाका में हुए मुस्लिम सम्मेलन के अनुसार अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। इस प्रकार, जैसा रैमजे मैकडानाल्ड ने लिखा, मुसलमानों के प्रति विशेष कृपा प्रदर्शित कर हिंदू मुसलमानों के बीच मतभेद के बीज बो दिए गए। मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशनों में बंगभंग का समर्थन, व्यवस्थापिका सभाओं के अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं के लिये भी पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाने और नौकरियों के सिवा प्रीवी कौंसिल में भी मुसलमानो के प्रतिनिधित्व की माँग की जाने लगी। सन १९१० में मुस्लिम लीग का अधिवेशन दिल्ली में हुआ, जिसका सभापतित्व आगा खाँ ने किया। आप लीग के पाँच वर्षों तक स्थायी सभापति रहे। सन् १९१५ मे उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दिया।

सन् १९१३ मे मुस्लिम लीग का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। अब उसका प्रधान उद्देश्य हुआ (१) ब्रिटिश सम्राट् के संरक्षण में और बातों के साथ साथ वर्तमान शासनप्रणाली में व्यवस्थित सुधार; (२) राष्ट्रीय एकता और भारतीयों में सार्वजनिक भावना की वृद्धि तथा उद्देश्यप्राप्ति के लिये अन्य समुदायो के साथ सहयोग; (३) वैध उपायों द्वारा स्वायत्त शासन की प्राप्ति। सन् १९१५ मे मुस्लिम लीग और कांग्रेस का अधिवेशन बंबई में हुआ। लीग के इस संमेलन मे महामना मालवीय, सरोजिनी नायडू, महात्मा गांधी आदि कांग्रेसी नेता संमिलित हुए। लीग ने कांग्रेस के साथ मिलकर देश के लिये योजना बनाई। सन् १९१६ मे भी लीग और कांग्रेस के अधिवेशन लखनऊ में साथ साथ हुए। यहीं लीग तथा कांग्रेस मे समझौता हुआ जिसके अनुसार मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन, तथा पंजाब, बंगाल के अतिरिक्त अन्य प्रातो मे जनसख्या के अनुपात से बहुत अधिक प्रतिनिधित्व देना स्वीकार हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासित राज्य की माँग भी संयुक्त रूप से की गई। कांग्रेस के अध्यक्ष लोकमान्य तिलक सहित सभी नेताओं तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्ष श्री मुहम्मद अली जिना ने यह समझौता स्वीकार किया। लीग ने कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम को मान लिया। सात वर्षों तक लीग, कांग्रेस के कार्यक्रम के समानातर चलती रही। कांग्रेस द्वारा सविनय अवज्ञा की स्वीकृति होते ही लीग ने कांग्रेस के साथ अपना वार्षिक अधिवेशन समाप्त कर दिया। सन् १९२१ मे अहमदाबाद में मुस्लिम लीग का जो अधिवेशन हुआ, वही अंतिम अधिवेशन था, जो एक ही समय एक ही स्थान पर कांग्रेस के साथ साथ हुआ।

धीरे धीरे दूषित प्रचार और सांप्रदायिक तनाव के कारण लीग कांग्रेस के मतभेद की खाई चौड़ी होती गई। दिसबर, १९२७ में मुस्लिम लीग मे दो दल हो गए। एक दल की बैठक मुहम्मद शफी ने लाहौर मे की और उसी समय दूसरे दल की बैठक श्री जिना ने कलकत्ता मे आयोजित की। साइमन कमीशन की नियुक्ति द्वारा सभी भारतीयों का जो अपमान किया गया और सभी भारतीयों के लिये ग्राह्य विधान बनाने की जो चुनौती दी गई, उससे कांग्रेस, मुस्लिम लीग आदि दलों में पुन: निकटता आई। सन् १९२८ के प्रारंभ में कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा अन्य संस्थाओं ने मिलकर भारत के लिये एक विधान बनाने का निश्चय किया, सर्वदलीय संमेलन में विधान निर्माण के लिये श्री मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में समिति बनी। विधान

स्वीकार करने के समय लीग के प्रतिनिधियों में मतभेद हुआ। श्री जिना ने मुसलमानों के हितों और अधिकारों की रक्षा के लिये चौदह बातें रखीं जो आगे लीग-कांग्रेस-वार्ता तथा समझौता वार्ता का आधार बनीं। ये माँगें इस प्रकार हैं — (१) मुस्लिम लीग की उन माँगों की स्वीकृति जो सन् १९२९ में निर्धारित की गई थीं; (२) कांग्रेस न तो सांप्रदायिक निर्णय का विरोध करे और न उसे राष्ट्रीयता विरोधी बताए; (३) सरकारी नौकरियों में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व विधान द्वारा निर्धारित किया जाय; (४) विधान द्वारा मुसलमानों के कानून और संस्कृति की रक्षा की जाय; (५) कांग्रेस शहीदगंज मस्जिद आंदोलन में भाग न ले और उसे मुसलमानों को वापस दिलाने में सहायक हो; (६) अग्रेज, निजाम या मुसलमानों की धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार में बाधा न डाली जाय; (७) मुसलमानों को गोवध की आजादी रहे; (८) प्रांतों के प्रति संघटन में जहाँ मुस्लिम बहुमत हो उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय; (९) वंदेमातरम् राष्ट्रीय गान के रूप में स्वीकार न किया जाय; (१०) मुसलमान उर्दू को जो राष्ट्रीय भाषा बनाना चाहते हैं, उसमें किसी प्रकार की रुकावट न डाली जाय और न उसका प्रयोग ही कम किया जाय, (११) स्थानीय संस्थाओं मे मुसलमानों का प्रतिनिधित्व सांप्रदायिक निर्णय के आधार पर हो; (१२) तिरंगा झंडा बदल दिया जाय या मुस्लिम लीग के झंडे को उसकी बराबरी का स्थान दिया जाय; (१३) मुस्लिम लीग मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था स्वीकार की जाय; (१४) प्रांतों मे संयुक्त मंत्रिमंडल बनाए जायें। स्मरणीय है कि आगे चलकर जो गोलमेज समेलन हुआ उसकी अल्पसंख्यक समिति किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकी। फलत. ब्रिटिश प्रधान मंत्री सर रैमजे मैकडानल्ड को अपना निर्णय देना पड़ा जो 'सांप्रदायिक निर्णय' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे श्री जिना की चौदह माँगों में से अधिकांश माँगों का समावेश कर दिया गया।

मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान का प्रस्ताव पास किया गया और मद्रास अधिवेशन मे उसकी प्राप्ति को उसका ध्येय बताया गया। इसके प्रधान उद्देश्य—(१) पृथक् निर्वाचन प्रणाली (२) विशेष प्रतिनिधित्व तथा (३) श्री जिना की चौदह माँगें—ब्रिटिश सरकार ने एक एक कर स्वीकार कर लिए। संघ शासन की माँग सन् १९३५ के शासन विधान द्वारा पूर्ण होते ही लीग ने उसका विरोध शुरू किया और उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व के इलाकों के लिये स्वतंत्र मुसलिम-राष्ट्र की माँग पेश की। ब्रिटिश सरकार ने लीग को आश्वासन दिया कि संघ शासन स्थगित किया जाता है तथा मुसलमानों की स्वीकृति के बिना कोई शासन विधान नहीं बनाया जायगा। यही नहीं, लीग के नेताओं को यह भी आश्वासन दिया गया कि हिंदू मुसलमानों के समान प्रतिनिधित्व का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया है। सन् १९३५ के भारत शासन विधान के अनुसार सन् १९३६-३७ मे प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं का चुनाव हुआ। लीग के घोषणापत्र में मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा तथा उनकी स्थिति में सुधार के यत्न पर विशेष बल दिया गया। चुनाव मे कुल ४८५ मुसलिम स्थानों में लीगी उम्मीदवारों को केवल १०८ स्थान मिले। १९३७ की जुलाई मे कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय हुआ। मंत्रिमंडल में उन्हीं मुसलमानों को स्थान दिया गया जो कांग्रेस दल के थे। ३० मार्च, १९३८ को लीग की कौंसिल ने प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस मंत्रिमंडल के प्रांतों में मुसलमानों, विशेषकर लीगी कार्यकर्ताओं को, सताया जा रहा है। जाँच समिति बनी और रिपोर्ट प्रकाशित हुई। वस्तुत: अभियोग असत्य थे। कांग्रेस सांप्रदायिक समस्या सुलझाने का प्रयत्न करती रही पर लीग की माँग बराबर बढ़ती गई। ब्रिटिश सरकार के प्रोत्साहन से स्थिति बिगड़ती ही गई।

श्री जिना की जिद थी कि कांग्रेस हिंदुओं की संस्था है और लीग ही मुसलमानो की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था। सन् १९३९ में महात्मा गांधी, नेहरू जी आदि ने श्री जिना से समझौते का प्रयत्न किया पर सफलता नहीं मिली। असेम्बली के प्रथम अधिवेशन में ही एक परचा बाँटा गया, जिसका शीर्षक था—पाकिस्तान। यह परचा कैंब्रिज से छपकर आया था और इसमे पाकिस्तान की माँग की गई थी। द्वितीय महायुद्ध के समय वाइसराय की ओर से जब युद्ध तक संघ शासन की कोई व्यवस्था न होने की घोषणा की गई तो लीग की कार्यकारिणी समिति ने उसका स्वागत किया। लीग की ओर से संघ शासन की योजना त्यागने तथा उसकी स्वीकृति के बिना भारत के लिये कोई भी शासन विधान तैयार न करने की माँग की गई। दिसंबर, १९४० ई० को लार्ड लिनलिथगो की ओर से इसका आश्वासन दिया गया। मार्च, १९४२ में क्रिप्स प्रस्ताव आया जिसके अनुसार किसी भी प्रांत को भारतीय संघ से अलग होने का पूरा अधिकार दिया गया। इस प्रकार प्रकारांतर से मुस्लिम स्वतंत्र राष्ट्र स्थापित करने की माँग स्वीकार कर ली गई। इस प्रस्ताव को लीग ने अस्वीकार किया किंतु उसकी कार्यसमिति में यह बात मानी गई कि पाकिस्तान के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया है।

कांग्रेस ने अगस्त, ४२ मे 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार किया। लीग ने इसका विरोध किया। सन् १९४४ मे गांधी जी श्री जिना से मिले किंतु कई दिनों की वार्ता के बाद भी कोई समझौता न हो सका। वार्ता के मध्य श्री जिना पाकिस्तान की रूपरेखा तक न बता सके किंतु अपनी जिद पर अड़े रहे। सन् १९४५ मे लार्ड वेवल ने अस्थायी समझौते का प्रस्ताव किया जिसमें दलित जातियों को छोड़कर हिंदू मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व की व्यवस्था थी। इस प्रकार लीग की माँग पूरी हो गई। इसपर भी श्री जिना की जिद बनी रही कि मुसलिम सदस्यों को नामजद करने का अधिकार एकमात्र लीग को मिले। वेवल के इनकार के बाद लीग की नई माँग यह हुई कि मुसलमानों को केवल हिंदुओं के बराबर ही प्रतिनिधित्व न मिले अपितु दलित वर्ग, अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधियों को भी हिंदुओं मे मिलाकर कुल संख्या के बराबर मुसलमानों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

पाकिस्तान संबंधी लतीफ योजना, अलीगढ़ योजना, सर सिकंदर योजना, लाहौर प्रस्ताव, हारून कमेटी की योजना, राजाजी का सूत्र, महात्मा जी का प्रस्ताव, जगतनारायण लाल का प्रस्ताव, देसाई लियाकत समझौता, आदि मे सांप्रदायिक समस्या को हल करने के लिये विभिन्न विचारसूत्र रखे गए। अंतत: २० फरवरी, १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने भारत के विभाजन का प्रस्ताव रखा

और १४ अगस्त, १९४७ को मुस्लिम बहुमत वाले भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान का अंग बने, जिसके प्रथम गवर्नर जनरल श्री जिना हुए। संप्रति पाकिस्तान में मुस्लिम लीग की ही सरकार सत्तारूढ़ है। इसे सन् १९६५ के चुनाव में नेशनल असेम्बली में ११८ स्थान प्राप्त हुए। भारत में केरल में मुस्लिम लीग को सन् १९६७ के महानिर्वाचन में संसद में दो स्थान तथा राज्य विधान सभा में कुल १३३ स्थानों में से १४ स्थान प्राप्त हुए हैं। [स० शं० व्या०]

मुहम्मद अमीन राज़ी ख्वाजा मिर्ज़ा अहमद का पुत्र जो ईरान के शाह तहमास्प का बड़ा विश्वासपात्र था, वह एतमादुद्दौला राज़ी का चचेरा भाई था। उसने अकबर के दरबार में रहकर 'हफ्त इकलीम' की रचना १५९३-९४ ई० में समाप्त की। इसमें १५६० कवियों, संतों एवं विद्वानों की जीवनियाँ उनके निवासस्थान के अनुसार ७ भागों (इकलीम अथवा जलवायु के प्रदेश) में विभाजित करके दी गई हैं।

सं० ग्रं० — राज़ी : हफ्त इकलीम (तेहरान, फ़ारसी)।
[सै० अ० अ० रि०]

मुहम्मद गौस ग्वालियरी शत्तारी सिलसिले के सुप्रसिद्ध सूफ़ी का जन्म १५०० ई० में हुआ। अपने जीवन के प्रारंभ में उन्होंने चुनार के जंगलों में घोर तपस्या की। उनके भाई शेख फूल का हुमायूँ बादशाह बड़ा भक्त था। हुमायूँ के भारत से चले जाने के उपरांत मुहम्मद गौस ने गुजरात में रहना प्रारंभ कर दिया। वहाँ के सुल्तानों, शाहज़ादों एवं गण्यमान्य व्यक्तियों ने उनका बड़ा आदर संमान किया। गुजरात के प्रसिद्ध सूफ़ी, शेख वजीहुद्दीन उनके शिष्य हो गए। अकबर के शासनकाल के प्रारंभ में वे आगरा पहुँचे किंतु उनके इच्छानुसार उनका आदर सम्कार न हुआ और वे ग्वालियर चले गए। वहीं १५६२-६३ ई० में उनकी मृत्यु हो गई। योग विषयक अमृतकुंड नामक संस्कृत ग्रंथ का उन्होंने फारसी अनुवाद 'बहरुल हयात' के नाम से किया। उन्होंने जवाहरे खम्मा, कलीदे मख़ाज़िन तथा मेराजनामा नामक ग्रंथों की भी रचना की।

सं० ग्रं० — गौसी शत्तारी गुलज़ारे अबरार (ह० लि०, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, फारसी)। [सै० अ० अ० रि०]

मुहम्मद गौस जीलानी शेख अब्दुल कादिर जीलानी (गौसुल आज़म) के एक प्रसिद्ध वंशज जो १३९४ ई० में उच्च पहुँचे। वहाँ के दाऊद पुत्र उनके मुरीद हो गए और उनका अत्यधिक संमान करने लगे। [सै० अ० अ० रि०]

मुहम्मद मासूम (ख़्वाजा) हज़रत मुजद्दिद अल्फे सानी शेख अहमद सरहिंदी के पुत्र तथा द्वितीय खलीफ़ा थे। १००७।१५९८ में जन्म हुआ था। १६ वर्ष की उम्र में वे अध्यात्म ज्ञान की ओर उन्मुख हुए और क्रमश. सूफ़ीवाद की समस्त अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त किया। फलस्वरूप वृद्धावस्था के कारण पिता ने शिष्यों का शिक्षणकार्य उनको सौंप दिया था। मृत्यु के समय पिता ने वसीयत की थी कि वह पुरानी गुदड़ी को राजसिंहासन समझते हुए निस्पृह का जीवन व्यतीत करें तथा धनवानों और सामंतों के संपर्क से दूर रहे। ख्वाजा मासूम ने इस वसीयत का अक्षरशः पालन किया। कहा जाता है कि सम्राट् शाहजहाँ उनसे भेंट करने के लिये उत्सुक था परंतु उसे यह सौभाग्य प्राप्त न हो सका। औरंगजेब भी उनपर श्रद्धा रखता था। संभवत. एक बार उनसे उसकी भेंट भी हुई। ख्वाजा मासूम ने अपने पुत्र और भाई को सम्राट् के लश्कर में धर्मप्रचार के लिये भेजा था और एक अवसर पर औरंगजेब ने उनके भाई शेख मुहम्मद सईद को ३०० अशर्फियाँ उपहार रूप दी थीं। ख्वाजा मासूम के शिष्यों की संख्या एक लाख से भी अधिक बताई जाती है और जब वह हज करने अरब गए तो कहा जाता है कि बहुसंख्यक अजमी और अरबों ने उनसे दीक्षा ली। दारा शिकोह मुल्लाशाह का शिष्य था और औरंगजेब ख्वाजा मासूम में श्रद्धा रखता था। अरब निवास के समय जब ख्वाजा मासूम ने यह समाचार सुना कि दारा शिकोह सिंहासनारूढ़ हो गया है तो वह भारत लौट आए। परंतु इसी बीच औरंगजेब से पराजित होकर दारा परलोक सिधार चुका था। शिया सुन्नी झगड़े में ख्वाजा मासूम अपने पिता के मतानुसार चारों खलीफाओं में से किसी की भी बुराई नहीं सुन सकते थे और ऐसे लोगों के दंडित किए जाने के पक्ष में थे। उन्होंने इस विषय में औरंगजेब को एक पत्र लिखा था और शियों को दंडित किए जाने के संबंध में अनेक हदीसें प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की थीं। ७२ वर्ष की आयु में १०७९।१६६८ में उनका स्वर्गवास हुआ। समाधि सरहिंद में है। कहा जाता है कि सम्राट् शाहजहाँ की पुत्री ने समाधि पर भव्य भवन का निर्माण कराया था।

सं० ग्रं० · ख्वाजा मुहम्मद मासूम : मकतूबात (कानपुर, १३०२); मौलवी गुलाम सर्वर : ख़ज़ीनतुल अस्फ़िया (नवल किशोर) १,६३९–६४२, शेख मुहम्मद इक्राम : रौदे कौसर (कराची) २१८–२२२, निज़ामी बदायूँनी, कामूसुल मशाहीर (बदायूँ, १९२६) २,२०१ अतहर अब्बास रिज़वी . रिवाइवलिस्ट मूवमेंट, लखनऊ १९६५। [मु० उ०]

मुहम्मद मुइज़्ज़ुद्दीन गोरी दे० 'गोर'

मुहम्मदशाह (औरंगजेब का पुत्र और शाहजहाँ का पौत्र, रोशन अख्तर) १८ वर्ष की उम्र में २८ सितंबर. १७१९ ई० को सिंहासनारूढ़ हुआ और मृत्यु पर्यंत (१५ अप्रैल, १७४८) शासन करता रहा। उसका पालन पोषण अंत:पुर के वातावरण में हुआ। वह सुंदर और बुद्धिमान था। उसका स्वभाव सर्वजनप्रिय और दृष्टिकोण उदार था।

मुहम्मदशाह के समय तक मुगल साम्राज्य का विस्तार चरम सीमा पर पहुँच चुका था। सैय्यद भाइयों ने राजनीति पटल पर लगभग ७ वर्षों तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा था और मुहम्मदशाह तथा उसके पूर्वपुरुषों को नगण्य बना दिया था। मुगल दल के साथ संधि कर मुहम्मदशाह ने सैय्यद शासन का दमन कर दिया। भविष्य में उसने किसी भी मंत्री को इतना सशक्त नहीं बनने दिया जिससे उसकी सत्ता को आँच आती। जब वजीर निज़ामुलमुल्क अपनी राजनीतिक सत्ता को बढ़ाते हुए पाया गया तो उसे दक्षिण में शरण लेने पर बाध्य किया गया। कमरुद्दीन खाँ को २२ जुलाई, १७२४ ई० को वजीर नियुक्त किया गया। यह बड़ा आलसी था। उसकी एकमात्र महत्वाकांक्षा बादशाह के कृपापात्र

बनने की थी। मीर बख्शी खान-ए-दौरान इसका प्रतिद्वंद्वी था। वजीर और मीर बख्शी के परस्पर विरोध को प्रोत्साहन दिया जाता था। योग्य प्रांतीय शासकों को स्थानीय समस्याओं को सुलझाने में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि वे केंद्रीय दलबंदी में भाग लेने में असमर्थ रहते। बादशाह उन लोगों के विश्वासघाती कृत्यों की भी उपेक्षा करता और उनके साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध रखता था। इस प्रकार ३० वर्ष तक मुहम्मदशाह ने राज्य किया किंतु मुगल साम्राज्य के विघटन की प्रवृत्ति को रोकना उसकी शक्ति के बाहर की बात थी।

पेशवा बाजीराव प्रथम के नेतृत्व में मराठों ने गुजरात और मालवा पर अधिकार कर लिया तथा बुंदेलखंड में प्रवेश किया और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के पूर्वी प्रांतों को उजाड़ कर तत्कालीन राज्यपाल अलीवर्दी खाँ को चौथ देने के लिये विवश किया। मुहम्मदशाह ने इन प्रांतों की रक्षा करने के लिये घोर संघर्ष किया, परंतु असफल रहा। गुरिल्ला युद्ध में निपुण मराठों के सामने मुगल सेनाएँ न टिक सकीं। मुगल सेना के सरदारों के आपसी मतभेद के कारण सैन्यसंचालन भी ठीक न हो सका। राजधानी के समीप जाटों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और अलीमुहम्मद खाँ ने रोहिलखंड में अपना स्वतंत्र राज्य बना लिया। इसी प्रकार बंगाल में अलीवर्दी खाँ, अवध में सादत खाँ, इलाहाबाद में मुहम्मद खाँ, बंगाश, मालवा में राजा जयसिंह और दक्षिण में निजामुलमुल्क प्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्र हो गए, यद्यपि बादशाह से इनके कानूनी बंधन बने रहे।

नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण (१७३८–१७३९ ई०) कर मुगल साम्राज्य को गहरी क्षति पहुँचाई। करनाल के मैदान में भारतीय सेना को पराजित कर नादिरशाह ने मुगल बादशाह को हिरासत में ले लिया और दिल्ली पहुँचकर राजधानी को बड़ी नृशंसता के साथ लूटा। मयूर सिंहासन तथा अपार धनराशि प्राप्त करने के अतिरिक्त उसने सिंधु पार तक प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। १० वर्ष के पश्चात् अहमदशाह दुर्रानी ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया परंतु वह ११ मार्च, १७४८ ई० को सरहिंद के युद्धक्षेत्र में कमरुद्दीन खाँ और सफदरजंग मीर आतश से संचालित मुगल सेना के द्वारा पराजित कर दिया गया। विदेशी आक्रामकों तथा सिक्खों और युद्धरत जमींदारों की हरकतों से पंजाब में अराजकता फैल गई।

मुहम्मदशाह ने जजिया को खत्म कर दिया तथा हिंदुओं को गोपनीय एवं शासन विभाग में नियुक्त किया। वह स्वामी नारायण सिंह का शिष्य था जिन्होंने १७३४ ई० में शिवनारायणी संप्रदाय की स्थापना की थी। हिंदू एवं मुसलमानों के बीच उत्पन्न संघर्षों को दूर करने के लिये मुहम्मदशाह सहिष्णुता तथा उदारता का दृष्टिकोण अपनाता था और दोनों संघर्षरत वर्गों में समन्वय की स्थापना करता था। उसने जयपुर और मारवाड़ के राजपूत नेताओं के प्रति समझौते की नीति अपनाई। १७२४ ई० में महाराजा अजीत सिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अभय सिंह ७,०००।७,००० के पद पर नियुक्त कर दिया गया और १७३० ई० में उसे गुजरात का सूबेदार बना दिया जहाँ वह सात वर्षों तक शासन करता रहा। राजा जयसिंह, जिसने सैय्यदों के विरुद्ध मुहम्मदशाह का साथ दिया था, सशक्त हो गया। वह मालवा और आगरा के शासक के रूप में राज्य की सेवा करता रहा। वह मुगल एवं मराठों के बीच मध्यस्थता भी करता था। अन्य हिंदू शासक थे गिरधर बहादुर और भवानी राम। मालगुजारी विभाग में हिंदुओं को महत्वपूर्ण पद प्राप्त थे।

मुहम्मदशाह का काल कला और साहित्य के विकास तथा धार्मिक आंदोलनों की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उर्दू साहित्य की वृद्धि के लिये यह सबसे महत्वपूर्ण काल माना जाता है। वली, फैज, मार्जू, हातिम, सौदा, दर्द और मीर ताकी मीर आदि कवि इसी काल को अलंकृत करते हैं। मुहम्मदशाह के राजदरबार में तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ संगीतज्ञों का जमघट लगा रहता था। सदारंग और अदारंग के अतिरिक्त नेमत खाँ, रहीम सेन, देवी सिंह आदि कुछ प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। ज्योतिष विज्ञान का भी विकास हुआ और इसके लिये महाराजा जयसिंह का बड़ा ही योगदान रहा। शाह वलीउल्लाह, शाह कलीमुल्लाह, निजामुद्दीन औरंगाबादी तथा दिल्ली के शाह फखरुद्दीन से संबद्ध कुछ नए धार्मिक आंदोलन भी प्रकाश में आए। चिश्ती परंपरा को भी पुनर्जीवन मिला।

सं० ग्रं० — इर्विन, डब्लू० : लेटर मुगल्स, खंड २, कलकत्ता। सरकार, जे० एन० : फॉल ऑव द मुगल एंपायर, खंड १, कलकत्ता, १९४९। [अ० म०]

मुहम्मद हादी उर्फ मुर्शिद कुली खाँ हाजी शफी इस्फहानी ने मुहम्मद हादी का पुत्रवत् पालन कर उसे उचित शिक्षा दी। हाजी के ही अंतर्गत उसने दीवानी संबंधी दीक्षा ग्रहण की। उसकी असाधारण योग्यता की ख्याति सुन सम्राट् औरंगजेब ने उसे हैदराबाद का दीवान नियुक्त किया (१६९८)। बंगाल में योग्य अधिकारी की आवश्यकता पड़ने पर वह बंगाल का दीवान तथा मकसूदाबाद का फौजदार नियुक्त किया गया (१७००)। शासकीय दक्षता के कारण वह मुर्शिद कुली खाँ की उपाधि से विभूषित हुआ (१७०२)। युद्धजनित आर्थिक संकट में, अपनी कार्यतत्परता द्वारा औरंगजेब को बंगाल से एक करोड़ रुपए वार्षिक लगान देने के कारण मुर्शिदकुली औरंगजेब का पूर्ण विश्वासपात्र बन गया। किंतु सम्राट की मृत्यु के बाद, द्वेषवश, मुर्शिद कुली दक्षिण स्थानांतरित कर दिया गया (१७०८–'०९)। जनवरी, १७१० में वह पुन: बंगाल का दीवान नियुक्त हुआ। फिर उसने उत्तरोत्तर पदोन्नति की। अंतत: दीवान के अतिरिक्त बंगाल का सूबेदार नियुक्त होकर, वह प्रांत का सर्वोच्च अधिकारी (१७१४) बना। अपनी असाधारण योग्यता से कृषि के क्षेत्र में उसने बड़े महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। उसी ने मुर्शिदाबाद बसाया। ३० जून, १७२७ के दिन उसकी मृत्यु हुई। [रा० ना०]

मूँगफली (Groundnut), या चीनी बादाम, ब्राजील देश का देशज है। इसका वानस्पतिक नाम ऐरैकिस हाइपोजिया (Arachis hypogaea) है। भारत के किसी प्राचीन ग्रंथ में इसका कहीं उल्लेख

नहीं मिलता। १६वीं शती के लगभग किसी पुर्तगाली पादरी द्वारा यह भारत लाई गई और मद्रास में इसकी खेती शुरू हुई तथा पनपी। फिर मद्रास से महाराष्ट्र और बाद में सारे देश में फैल गई। आज भारत के प्रायः सभी राज्यों में थोड़ी बहुत मूंगफली उपजती है, पर महाराष्ट्र और आंध्र राज्यों में अब भी यह सबसे अधिक उपजती है। इसकी पैदावार दिनों दिन बढ़ रही है। १९५५–५६ ई० में, जहाँ ३८ लाख टन मूंगफली पैदा हुई थी वहाँ १९६१–६२ ई० में बढ़कर ४६ लाख टन हो गई। आज समस्त संसार में प्रायः २,८०,००,००० एकड़ भूमि में इसकी खेती होती है। भारत के अतिरिक्त चीन, पश्चिमी अफ्रीका और संयुक्त राज्य, अमरीका, में इसकी खेती होती है।

बीज के आधार पर मूंगफली १२ किस्म की पाई गई है। इनमें से जो मूंगफली भारत में उपजाई जाती है, वह निम्नलिखित चार प्रकार की होती है :

(१) कोरोमंडल किस्म, जिसे मॉरिशस किस्म भी कहते हैं। यह मोजंबिक से आई है और मद्रास, सतारा तथा रायचूर में उपजाई जाती है। इसकी फसल साढ़े चार मास में तैयार हो जाती है। इसमें ४९ प्रति शत तेल रहता है।

(२) बंबई 'बोल्ड' किस्म, जो शोलापुर, बेलगाँव, अहमदाबाद तथा काठियावाड़ में उगाई जाती है। यह भी साढे चार मास में परिपक्व हो जाती है और इसमें ४९ प्रति शत तेल रहता है।

(३) खानदेश किस्म, जो स्पेन से आई है। यह खानदेश, मध्यप्रदेश, गुंटूर और आर्काट में उपजाई जाती है। यह साढ़े तीन मास में तैयार हो जाती है और इसमें ४८ प्रति शत तेल रहता है।

(४) लाल नेटाल किस्म, जिसे लाल दाना भी कहते हैं सतारा, कोयंबटूर, अकोला, अमरावती, बुलडाना और बैतूल जिलों में उगाई जाती है। इसमें भी ४९ प्रति शत तेल होता है।

मूंगफली खरीफ की फसल है। वर्षा ऋतु शुरू होने पर बोई जाती है। साधारणतया इसको सिंचाई नहीं होती, पर कहीं कहीं सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। यह उष्णकटिबंधी और उपोष्ण कटिबंधी देशों में ३,५०० फुट की ऊँचाई तक उपजती है। यह सूखा, या पाला, या पानी लगना सहन नहीं करती। इसके लिये बलुई मिट्टी, दोमट मिट्टी और काली मिट्टी सर्वोत्कृष्ट होती है; भारी, चिकनी या कड़ी मिट्टी अच्छी नहीं होती।

मूंगफली में साधारणतः तेल लगभग ५०.० प्रति शत, ऐल्बुमिनायड २४.५ प्रति शत, कार्बोहाइड्रेट ११.७ प्रति शत, जल ७.५ प्रति शत और राख १.८ प्रति शत रहती है। भूनने से इसका समस्त जल और कुछ तेल नष्ट हो जाता है। मूंगफली का तेल खाया जाता और इससे वनस्पति घी बनता है। खली पशुओं को खिलाई जाती है, अथवा खाद के रूप में अकेले या अन्य खादों के साथ मिलाकर प्रयुक्त होती है। अन्य खलियों से इसमें नाइट्रोजन की मात्रा अधिक रहती है और इसका प्रभाव भी पौधों पर शीघ्र पड़ता है।

मूंगफली की पैदावार बढ़ाने के लिये भारत के अनेक कृषि फार्मों में अनुसंधान कार्य हुए और हो रहे हैं। संकरण द्वारा ऐसे बीज प्राप्त हुए हैं जिनसे उपलब्धि २० प्रति शत बढ़ गई है। मैसूर के हेब्बाल फार्मों में जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे पता लगता है कि कितनी किस्म की कितनी दूरी पर पौधों के लगाने से उपज अधिकतम होगी। कुछ मूंगफली को ६×६ इंच की दूरी पर बोने से, कुछ किस्म की मूंगफली को ९×९ इंच की दूरी पर बोने से और कुछ किस्म की मूंगफली को १२×१२ इंच की दूरी पर बोने से सर्वाधिक उपलब्धि होती है। नेगी और दलाल ने पंजाब के समराला में जो अनुसंधान किए हैं, उनसे १२×९ इंच की दूरी पर बोने से सर्वाधिक प्राप्ति हुई है।

खाद के संबंध में, जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे पता लगा है कि मूंगफली के लिये फ़ॉस्फेट और पोटैश विशेष रूप से लाभदायक हैं।

बी० वी० वेंकटराव (B. V. Venkatrao) और गोविंदराजन (Govind Rajan) द्वारा मैसूर में किए गए अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि मूंगफली की उपज बढ़ाने में फॉस्फोरस और चूने का विशेष हाथ है। केवल चूने से कोई लाभ नहीं पाया गया है।

पंजाब के समराला में मूंगफली के 'टिक्का' रोग पर विशेष कार्य हुआ है। 'बोर्डो' मिश्रण के साथ साथ उर्वरकों के व्यवहार से इस रोग का प्रभाव बहुत कुछ कम किया जा सका है।

सं० ग्रं० — जी० वी० नारायण एवं सी० आर० शेषाद्रि : ग्राउंडनट कल्टिवेशन इन इंडिया, आई० सी० ए० आर० प्रकाशन; एल० एस० नेगी एवं जे० एल० दलाल : स्पेसिंग ऐंड मेन्युरिएल एक्सपेरिमेंट, पंजाब ऑयल सीड जर्नल; बी० वी० वेंकटराव एवं जी० वी० गोविंदराजन : मेन्युरिंग ऑव ग्राउंडनट, मैसूर ऑयल सीड जर्नल (१९६०)। [फू० स० व०]

मूत्रतंत्र (Urinary System) मनुष्य के मूत्रतंत्र में निम्नलिखित अंग होते हैं :—

(क) वृक्क (Kidneys) : मूत्र उत्पत्ति के स्थान; (ख) मूत्रवाहिनी (Ureter) : वृक्क से मूत्राशय तक मूत्र ले जानेवाली नलियाँ; (ग) मूत्राशय (Urinary bladder) : मूत्र को थोड़े समय के लिये संचय करने का स्थान तथा (घ) मूत्रमार्ग (Urethra): मूत्राशय से बाहर मूत्र निकलने का मार्ग।

भ्रौणिकी (Embryology) — कार्यों में अंतर होते हुए भी मूत्र तथा जननतंत्र दोनों ही मध्यजनस्तर (mesoderm) के माध्यमिक कोशिका पुंज (intermediate cell mass) से उत्पन्न होते हैं। इस पुंज के पार्श्व (lateral side) से प्राक्वृक्क (pronephros), मध्यवृक्क (mesonephros) तथा पश्चवृक्क (metanephros) क्रमशः कपाल से पुच्छ की ओर (cranio caudally) बनते हैं। अल्पकालीन प्राक्वृक्क की वाहिनी (duct) ही केवल स्थायी होती है। इसमें मध्यवृक्क की नलिकाएँ खुलती हैं। पश्चवृक्क लगभग दस लाख उत्सर्गी (excretory) नलिकाओं के पालियुक्त पुंज (lobulated mass), अंतिम वृक्क जनन छंद (metanephrogenic cap) को कहते हैं। इसी मध्यवृक्कवाहिनी से मूत्रवाहिनी नलिका निकलती है, जो ऊपर दो भागों में विभाजित होकर बृहत् आलवालिका (major calyces) तथा फिर अंतर्विभाजित

होकर लघु आलवाल तथा संग्राहक नलिकाएँ बनाती हैं, जिनमें पश्चवृक्क की संवलित नलिकाएँ (convoluted tubules) खुल जाती हैं।

मूत्राशय, अवस्कर गुहा (cloaca) के अंदर अननमूत्र विवर भाग तथा मध्यवृक्क वाहिनी को उभय उत्सर्गी वाहिनी से बनता है। बाद में मूत्रवाहिनी का कुछ भाग इसकी दीवारों में आ जाता है।

चित्र १. मूत्रतंत्र का आरेख
क. वृक्क, ख. वृक्कद्रोणि, ग. मूत्रवाहिनी, घ मूत्राशय, च. प्रॉस्टेट ग्रंथि तथा छ. मूत्रमार्ग।

तुलनात्मक शारीर (Comparative Anatomy)

कशेरुक श्रेणी (vertebrate scale) में तीन विभिन्न उत्सर्गी अंग प्राक्वृक्क, मध्यवृक्क तथा पश्चवृक्क होते हैं। प्राक्वृक्क केवल भ्रूणमत्स्य मे, मध्यवृक्क सब मछलियों एवं जलचरो मे तथा पश्चवृक्क इनसे ऊँची श्रेणी के जीवों मे होता है।

वर्णनात्मक (Descriptive) शारीर

(क) वृक्क — मेरुदंड के दोनों ओर उच्च कटिप्रदेश में दो अंडाभ (ovoid) ग्रंथीय अंग होते हैं, जिन्हे वृक्क कहते हैं। प्रौढ़ वृक्क लगभग ११ सेंमी० लंबा, ५.५ सेंमी० चौड़ा, ३ सेंमी० मोटा तथा १२५ ग्राम भार का होता है। दाहिना वृक्क बाएँ से थोड़ा नीचे होता है।

वृक्क के चारों ओर घनी परिवृक्क वसा (perirenal fat) अंतर्नत शंकु (inverted cone) के आकार मे तथा अवकाशी ऊतक (areolar tissue) का पुंज होता है। ये सब एक तंतुमय संपुट परिवृक्क प्रावरणी से घिरे होते हैं। इन सब के तथा अपनी रुधिर वाहिकाओं के कारण ही वृक्क अपने स्थान पर रहता है।

वृक्क में अग्र तथा पश्च पृष्ठ, बाह्य एवं आंतरिक उपांत और ऊपरी एवं निचले सिरे होते हैं। दोनों पृष्ठ तथा बाह्य उपांत उत्तल होते हैं। आंतरिक उपांत अवतल होता है, जिसे नाभिका (hilum) कहते हैं और इसमें से वृक्कद्रोणि (renal pelvis), रुधिर वाहिकाएँ, तंत्रिकाएँ तथा लसीका वाहिनियाँ (lymphatics) जाती हैं।

वृक्क की संरचना — काटे हुए वृक्क में संपुट के अंदर गहरा लाल संवहन वल्कुट (cortex) और फिर मज्जका (medulla) दिखाई पड़ती है। मज्जका में कई त्रिकोणात्मक घने धारीदार क्षेत्र होते हैं, जिन्हे सूची स्तंभ कहते हैं। इनके शिखाग्र त्रिविमितीय प्रकार से एक वृक्क पैपिला (papilla) मे खुलते हैं। वल्कुट में केशिकागुच्छ (glomeruli) तथा संवलित नलिकाएँ होती हैं तथा मज्जा में धारी संग्राहक नलिकाएँ समांतर सी होती हैं।

वृक्क के शारीरिक तथा शरीरक्रियात्मक इकाई को वृक्काणु (nephron) कहते हैं। प्रत्येक वृक्क मे लगभग दस लाख वृक्काणु
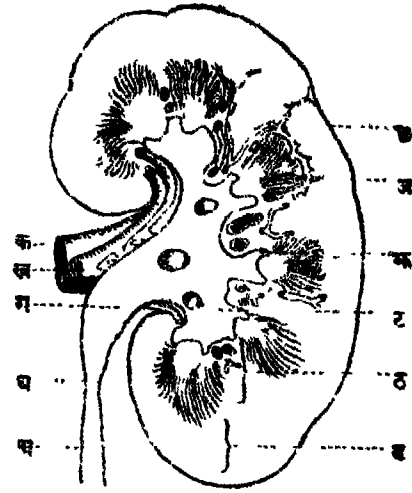
चित्र २. वृक्क की अनुदैर्घ्य काट
क. वृक्क शिरा, ख. वृक्क धमनी, ग. वृक्कद्रोणि, घ. वृक्कद्रोणि-मूत्रवाहिनी संगम, च. मूत्रवाहिनी, छ. संपुट, ज. सूची स्तंभ, झ. लघु आलवाल, ट अंकुरक, ठ. मज्जका तथा ड. वल्कुट।

होते हैं। केशिका गुच्छ, समीपस्थ तथा दूरस्थ संवलित नलिकाएँ और हेन्लि का पाश (Loop of Henle) वृक्काणु के भाग हैं।

वृक्क धमनियाँ (arteries) उदर महाधमनी (abdominal aorta) से आती हैं। कभी कभी सहायक वृक्क धमनियाँ
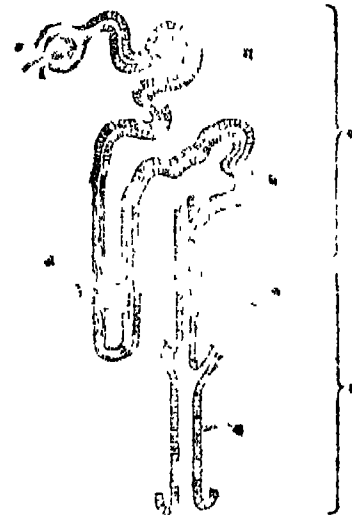
चित्र ३. वृक्काणु का आरेख
अ. वल्कुट, ब. मज्जका, क. केशिका स्तवक ख. हेन्लि का पाश, ग समीपस्थ लहरी नलिका, घ दूरस्थ लहरी नलिका, च. वल्कुट मज्जका सीमा क्षेत्र तथा छ. संग्राहक नलिका।

(accessory renal arteries) भी होती हैं। वृक्क शिरा

(veins) निम्न महाशिरा (inferior vena cava) में खुलती हैं। लसीका वाहिनियाँ द्वितीय कटि कशेरुक के पास की परामहाधमनी लसीका ग्रंथियों में जाती हैं। वृक्क में अनुकंपी (sympathetic) तथा परानुकंपी (parasympathetic) तंत्रिकाएँ उदरगुहा जालक (coeliac plexus) से आती हैं।

वृक्कद्रोणि (Pelvis of the kidney) — मूत्रवाहिनी के ऊपरी भाग को वृक्कद्रोणि कहते हैं। इसकी ऊपरी तथा निचली शिराएँ वृहत् आलवाल कहलाती हैं, जिनमें लगभग एक दर्जन लघु आलवाल होते हैं। वृक्कद्रोणि की श्लेष्मा कला संक्रमण उपकला की होती है।

(ख) मूत्रवाहिनी — यह वृक्कद्रोणि से मूत्राशय तक लगभग ३१ सेंमी० लंबी तंतुमय पेशीय नली होती है। वृक्कद्रोणि-मूत्रवाहिनी संगम (pelvi-ureteric junction), वृक्कद्रोणि मुख (pelvic brim) के ऊपर तथा मूत्राशय के समीप यह सँकरी होती है। इसमें संक्रमण उपकला की श्लेष्मा कला होती है।

मूत्रवाहिनी में रक्त वृक्क धमनी, मूत्राशय धमनियाँ, जनन ग्रंथीय (gonadial) धमनी तथा मूल श्रोणि (common iliac) धमनी से आता है। शिराएँ वृक्क, जननग्रंथीय शिराओं तथा मूल श्रोणि शिराओं में जाती हैं। लसीका तंत्रिकाएँ धमनियों के साथ साथ परामहाधमनी (para aortic) तथा आंतर श्रोणि लसीका ग्रंथि समूह (internal iliac group of lymph nodes) में जाती हैं। तंत्रिकाएँ उदरगुहा (coeliac) तथा वृक्क गुच्छिकाओं (ganglia) से आती हैं।

(ग) मूत्राशय — यह एक थैलीनुमा कलामय आशय होता है, जो रिक्त होने पर श्रोणि (pelvis) में तथा भरा होने पर उदर में भी प्रविष्ट करता (project) है। प्रौढ़ मूत्राशय में लगभग २२० मिली० की क्षमता होती है। इसका वर्णन चापछत (vault), पार्श्वभित्ति, आधार तथा त्रिकोण (trigone) में किया जाता है। त्रिकोण दोनों मूत्रवाहिनी रंध्र (orifices) तथा आंतरिक मूत्र कुहर के बीच के त्रिकोणात्मक स्थान को कहते हैं।
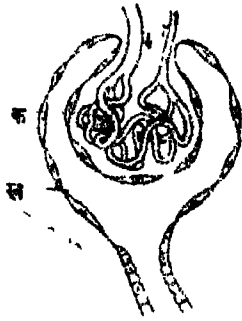
चित्र ४. केशिकास्तवक का आरेख

क. केशिका जाल तथा ख. केशिका स्तवक संपुट।

इसकी संरचना हर दिशा में जाते हुए चिकने पेशीय तंतुओं से होती है। श्लेष्मकला संक्रमण उपकला की होती है। मूत्राशय के अंदर का भाग मूत्राशय दर्शक (cystoscope) से देखा जा सकता है। मूत्राशय में रक्त उत्तल तथा निम्न मूत्राशय धमनियों से आता है। इसकी शिराएँ एक मूत्राशय जालिका बनाती हैं, जो आंतर श्रोणि शिराओं में खुलती है। लसीका तंत्रिकाएँ धमनियों के साथ साथ आंतरश्रोणि लसीकाग्रंथि समूह में जाती हैं। तंत्रिकाएँ श्रोणि जालिकाओं से आती हैं।

(घ) मूत्रमार्ग — यह पुरुष में १८ से २० सेंमी० लंबा मूत्राशय के आंतर मूत्रकुहर से शिश्न के अंत पर बाह्य मूत्रकुहर तक होता है। वर्णनात्मक दृष्टि से इसके प्रॉस्टेट ग्रंथीय, कलामय तथा शिश्नीय (penile) भाग होते हैं। मूत्र करते समय छोड़कर मूत्र मार्ग केवल चीर (slit) मात्र होता है। प्रॉस्टेट ग्रंथीय भाग तीन सेंमी० लंबी ग्रंथि के अंदर होता है। इसमें शुक्र प्रसेचिनी वाहिनियाँ (ejaculatory ducts) खुलती हैं। सबसे छोटा कलामय भाग दो सेंमी० लंबे मूलाधार (perineum) में मूत्रपथ संवरणी (sphincter urethrae) से घिरा होता है। १५ सेंमी० लंबा शिश्नीय भाग शिश्न के मूत्रपथकाय (corpus spongiosum) में होता है। मूत्रमार्ग की आंतर अवरोधिनी, (sphincter) अनैच्छिक होती है। यह मूत्राशय के आंतर मूत्रकुहर के चारों ओर होती है। बाह्य अवरोधिनी ऐच्छिक नियंत्रण में मूत्रपथ अवरोधिनी होती है।

स्त्री में मूत्रमार्ग प्रायः ४ सेंमी० लंबा होता है। यह मूत्राशय के आंतर मूत्रकुहर से मूलाधार कला को छिद्रित करता हुआ बाह्यकुहर तक होता है। बाह्य कुहर प्रघाण (vestibule) में योनि के ठीक अग्र भाग में होता है।

मूत्रमार्ग में मूत्रमार्ग ग्रंथियाँ खुलती हैं। तथा इसकी श्लेष्मा कला संक्रमण उपकला की होती है। [च० सिं०]

मूत्ररोगविज्ञान (Urology) आयुर्विज्ञान की वह शाखा है, जो दोनों लिंगों में मूत्रतंत्र तथा पुरुषों के जननांग के रोगों का ज्ञान कराती है। आजकल भ्रूणवैज्ञानिक, लाक्षणिक तथा नैदानिक कारणों से अधिवृक्क (adrenals) के रोगों को भी इसमें संमिलित किया जाने लगा है।

जननमूत्र तंत्र (Urogenital System) — भ्रूणविज्ञानी तथा रोग निदान की दृष्टि से मूत्र तथा पुरुष के जनन तंत्रों को पृथक नहीं किया जा सकता है। मूत्र तंत्र में वृक्क, मूत्रवाहिनी, मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग होते हैं। इनकी उत्पत्ति मध्यजनस्तर के मध्यस्थ कोशिका पुंज तथा अवस्कर गुहा (cloaca) के जननमूत्र विवर से होती है। वृक्क उच्च कटिप्रदेश में मेरुदंड के दोनों ओर होते हैं और इनमें मूत्र बनता है। यहाँ से मूत्रवाहिनी के द्वारा मूत्र को मूत्राशय तक पहुँचाया जाता है। मूत्राशय में अल्पकाल के संचय के पश्चात् मूत्रमार्ग से मूत्र बाहर निकाला जाता है।

पुरुष के जननतंत्र में शिश्न वृषणकोष (scrotum), वृषण (testicle), अधिवृषणिका (epididymis), वृषण रज्जु (spermatic cord), प्रॉस्टेट (prostate) ग्रंथि तथा शुक्राशय होते हैं और ये सब जननक्रिया में काम आते हैं।

मूत्ररोग के लक्षण — पीड़ा, रक्तमूत्रता (haematuria) तथा बारंबारता मूत्ररोग के सामान्य लक्षण हैं। पीड़ा मूत्रवाहिनी शूल (colic) तथा मूत्राशय, प्रॉस्टेट ग्रंथि, मूत्रमार्ग, अथवा जनन पथ

के रोगों के कारण शरीर के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार से हो सकती है। रक्तमेह मूत्रतंत्र के किसी अंग के अथवा रक्त के, विकार से हो सकता है। बारंबारता के साथ साथ अतिपात (urgency), हिचकिचाहट (hesitancy), बहुमूत्रता (polyuria) तथा मूत्रकृच्छ्र (dysuria) भी हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त मूत्र प्रतिधारण (urinary retention), अमूत्रता (anuria), मूत्र असंयम (incontinence), ज्वर, परिस्पृश्य पुंज (palpable mass), वात मूत्रता (pneumaturia), शोफ (oedema), उपघात (injury), तथा रक्तमूत्र विषाक्तता (uraemia) आदि भी मूत्ररोग के लक्षण हो सकते हैं।

मूत्ररोग निदान — लगभग प्रत्येक रोग के निदान के लिये तीन बातों की आवश्यकता पड़ती है: रोग इतिहास (history), परीक्षा तथा जाँच (investigations)। इन तीनों का वर्णन निम्नलिखित है:

(क) लाक्षणिक (clinical) इतिहास — बच्चों के रोगनिदान में माता पिता से और बड़ों के रोगनिदान में स्वयं उन्हीं से चार भागों में पूरा इतिहास लेना चाहिए: (१) मुख्य शिकायतें तथा उनकी अवधि; (२) पूर्व (past) इतिहास, विशेष कर मसूरिका, लोहितज्वर (scarlet fever), कनपेड़ा (mumps) या किसी दीर्घकालिक संक्रमण की अवधि; (३) वंश वृत्त, विशेष कर क्षयरोग, अतिरुधिर तनाव (hypertension), उपदंश आदि से पीड़ित होने की जानकारी; तथा (४) वर्तमान रोगवृत्त के बारे में कालक्रम से पूरी जानकारी और यदि पहले कोई जाँच, अथवा चिकित्सा हुई हो तो उसका भी ज्ञान करना चाहिए।

(ख) शारीरिक (physical) परीक्षा — व्यापक परीक्षा करने के पश्चात् उदर का निरीक्षण (inspection), परिस्पर्शन (palpation), परिताड़न (percussion) तथा परिश्रवण (auscultation) से वृक्क, मूत्रवाहिनी, मूत्राशय आदि की परीक्षा करनी चाहिए। प्रॉस्टेट ग्रंथि तथा शुक्राशय आदि के लिये मलाशय परीक्षा करनी चाहिए। मूलाधार (perineum), एपिडिडिमिस (epididymis) और वृषणरज्जु की परीक्षा भी आवश्यक है। रक्त चाप तथा ज्वर को भी माप कर लेनी चाहिए।

(ग) मूत्ररोग जाँच (Urologic Investigations) — चार प्रकार से मूत्ररोगों की जाँच की जाती है: (१) भौतिक, रासायनिक, सूक्ष्मदर्शीय तथा जीवाणु-विज्ञान-संबंधी (bacteriological) मूत्रपरीक्षा, (२) रक्तपरीक्षा, रक्त यूरिया (blood urea), लसी विद्युद्विश्लेष्य (serum electrolytes) तथा यूरिया सर्कंद्रण परीक्षा; (३) उपकरण परीक्षा (instrumental examination), जैसे मूत्रनलिका पारित करना (catheterization), अवशिष्ट मूत्र परिमापन (residual urine estimation), शलाका पारित करना (bouginage) और मूत्रवाहिनी शलाका पारित करना (ureteric catheterization) (४) विकिरण परीक्षा (radiological investigations), जैसे उदर तथा श्रोणि का सामान्य विकिरण चित्र (plain skiagram of abdomen and pelvis), अंतः-शिरा (intravenous) तथा आरोही (ascending) पाइलोग्राफी (pyelography), ऐओर्टोग्राफी (aortography), सिस्टोग्राफी (cystography) एवं परिवृक्क श्वासगतिविज्ञान (perirenal pneumography) आदि।

मूत्रतंत्र की जन्मजात असंगतियाँ — मनुष्यों में जन्म के समय मूत्रजनन तंत्र में असंगतियाँ विद्यमान होती हैं। स्पाइना बिफिडा ओकल्टा (spina bifida occulta) को छोड़कर शरीर की विकासात्मक त्रुटियाँ ३५% से ४०% तक मूत्रजनन अंगों में ही होती हैं।

वृक्क में जन्मजात असंगतियाँ सात प्रकार की हो सकती हैं: (१) संख्या में असंगति, एक ही अथवा दो से अधिक वृक्क; (२) आयतन तथा संरचना की असंगति, जैसे पुटी रोग (cystic disease), अववृद्धि (hypoplasia), अतिवृद्धि (hypertrophy) आदि; (३) आकार की असंगति, जैसे छोटा, बड़ा या नाल आकार (horse shoe) का वृक्क या एल (L) आकार का वृक्क; (४) स्थिति की असंगति, जैसे अस्थानी (ectopic) वृक्क, जंगम वृक्क (movable kidney) आदि, (५) परिभ्रमण (rotation) की असंगति, जैसे कम या अधिक परिभ्रमण, (६) श्रोणी (pelvis) की असंगति, जैसे द्विश्रोणि (double pelvis) आदि, तथा (७) रुधिर वाहिकाओं की असंगति, जो धमनी या शिरा की हो सकती है।

मूत्रवाहिनी की असंगतियाँ संख्या, उद्भव, सात आकार, तथा संरचना में हो सकती हैं। उदाहरण के लिये क्रमशः एक ही ओर दो मूत्रवाहिनी, अस्थानी, युरीटरोसील (ureterocele), जन्मजात सकोच (stricture) और जन्मजात विपुटी (diverticula) आदि असंगतियाँ होती हैं।

मूत्राशय की उल्लेखनीय जन्मजात असंगतियाँ विपाल, यूरैकस पुटी (urachus cyst), यूरैकस फिस्टुला (fistula) और मूत्राशय त्रिकोण पुट (trigonal folds) हैं। मूत्रमार्ग की असंगति में जन्मजात कपाटिकाएँ, जन्मजात मूत्रमार्ग संकोच आदि होते हैं।

मूत्र की रुकावट — ६०% से ६५% मूत्ररोग मूत्र के अवरोधन अथवा संक्रमण के कारण होते हैं। बच्चों में अवरोधन प्रायः जन्मजात तथा प्रौढ़ पुरुषों में प्रॉस्टेट ग्रंथि के कारण होता है। अश्मरी (calculi), मूत्रमार्ग संकोच तथा नाना प्रकार के और भी कारण होते हैं, पर जहाँ कहीं भी रुकावट होती है उसके पीछे के मूत्रतंत्र में सर्वदा क्रमशः विस्तारण (dilatation) फिर संक्रमण और अश्मरी निर्माण तथा कभी कभी अर्बुद भी बन जाते हैं। रुकावट जितनी ही श्रोणि-मूत्रवाहिनी संगम के समीप होगी उतनी ही शीघ्र हाइड्रोनिफ्रोसिस (hydronephrosis) हो जाएगा। मूत्र रुकावट की चिकित्सा के सिद्धांत ये हैं: (१) प्रतिधारण (retention) से तुरंत छुटकारा कराना और तरल पदार्थ देना, (२) सही निदान करना, (३) वृक्क की सही अवस्था का पता लगाना तथा उसकी कार्यशक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करना और (४) अवरोध को हटाना।

मूत्रतंत्र के संक्रमण — मूत्रतंत्र का संक्रमण सबसे सामान्य मूत्र रोग है। यह जीवाणुओं के कारण होता है तथा मूत्र का अवरोध इसके लिये सबसे बड़ा पुरःप्रवर्तक कारक (predisposing factor) है। मूत्रतंत्र की प्रमुख समस्याओं में ६० प्रति शत भाग संयुक्त रूप से संक्रमण तथा अवरोध का होता है। ये समस्याएँ तीन प्रकार की होती हैं: (१) अगुलिकार्तीय (non tuberculous), (२) गुलिकार्तीय

(tuberculous) तथा (३) असामान्य (unusual)। मूत्रतंत्र के अयुक्तिकारीय संक्रमण प्रत्येक आयु में हो सकते हैं, पर दो वर्ष के पहले तथा ४० वर्ष के पश्चात् सबसे अधिक होते हैं। ग्राम-ऋणी बैक्टीरिया (gram-negative bacilli) एशरिकिया कोलाई (escherichia coli), ५०%-७५% रोगियों में पाए जाते हैं। स्यूडोमोनैस एरोजेनीज, प्रोटियस, शिगेल्ला, सालमोनेल्ला गुच्छ गोलाणु (staphylococcus), श्रृंखला गोलाणु (streptococcus) इत्यादि भी मूत्र के संक्रमण उत्पन्न करते हैं। ये संक्रमण रुधिरजन्य (haematogenous) मूत्रजन्य (urogenous), लसीकाजन्य (lymphogenous), अथवा सीधे विस्तरण (extension) से हो सकते हैं। वृक्क में तरुण (acute) अथवा जीर्ण (chronic) संक्रमण हो सकते हैं। पाइओनेफ्रोसिस (pyonephrosis) में पूरा वृक्क पूय की थैली बन जाता है। वृक्क तथा परिवृक्क फोड़े वृक्क संक्रमण के और भी उदाहरण हैं। मूत्रवाहिनी मे पाइओयूरेटर (pyoureter) हो सकता है। मूत्राशय मे नाना प्रकार के जीवाणु तथा प्रजीवाणु हो सकते हैं। मूत्रमार्ग मे युरेथराइटिस (urethritis) हो सकता है।

मूत्रतंत्र में क्षयरोग अब उन्नतोन्मुख देशों में धीरे धीरे कम होता जा रहा है। यह मूत्रतंत्र के किसी या सब अंगों में हो सकता है। यह तरुण, अथवा जीर्ण, या व्रण रूपों इत्यादि मे हो सकता है। उपदंश, ब्रूसेलोसिस (brucellosis) तथा थ्रश (thrush, actinomycosis) मूत्रतंत्र के असामान्य संक्रमण हैं।

मूत्रतंत्र के उपघात (injuries) — ये दुर्घटनाएँ युद्ध तथा उपकरण उपघात से हो सकती हैं। यदि ठीक चिकित्सा समय पर न की गई, तो बुरे परिणाम हो सकते हैं। वृक्क, मूत्रवाहिनी, मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग में कहीं भी अकेले, अथवा और किसी अंग के समेत, उपघात हो सकता है।

मूत्र अश्मरी रोग (Urinary Calculous Disease) — मूत्र अश्मरी फॉस्फेट, कार्बोनेट, यूरिक अम्ल, यूरेट तथा आक्सलेट के प्रकार की होती है। कभी कभी सिस्टिन, जैंथीन और अन्य असामान्य प्रकार की भी होती हैं। यह वृक्कद्रोणि, मूत्रवाहिनी तथा मूत्राशय मे साधारणतया होती है, पर मूत्रतंत्र के अन्य भागो मे भी हो सकती है। इसके होने के मुख्य कारण विटामिन ए की कमी, अतिपरावटुता (hyperparathyroidism), जीवाणु संक्रमण (bacterial infection) तथा मूत्र अवरोध होते हैं। छोटी अश्मरी कभी कभी अपने आप बाहर निकल आती है, पर बड़े आकार की अश्मरियों को शल्य से निकाला जा सकता है। अश्मरियों को निकाल देने के पश्चात् उनके फिर से न बनने का उपाय करना चाहिए।

मूत्रजनन तंत्र के अर्बुद (tumours) — मनुष्य के सारे अर्बुदों में मूत्रजननतंत्र के अर्बुद २०% से २५% तक होते हैं, इस तंत्र के ९३% से ९५% तक के अर्बुद दुर्दम्य (malignant) होते हैं। इस कारण प्रथम लक्षण परिस्पृश्य पुंज (palpable mass), अथवा रक्तमेह (haematuria) आदि प्रकट होने पर तुरंत पूरी जाँच तथा ठीक चिकित्सा होनी चाहिए। वृक्क के अर्बुदों में हाइपरनेफ्रोमा (hypernephroma) प्रौढ़ अवस्था मे तथा विल्म का अर्बुद (Wilm's tumour) बचपन में साधारणतया होते हैं। वृक्कद्रोणि तथा मूत्रवाहिनी में पैपिलोमा (papilloma), पैपिलरी कार्सिनोमा (papillary carcinoma) तथा शल्कायकोशिका कैंसर (squamous cell cancer) होते हैं। मूत्राशय के अर्बुदों में पैपिलोमा तथा पैपिलरी कार्सिनोमा उल्लेखनीय हैं। प्रॉस्टेट ग्रंथि की सुदम्य अधिवृद्धि (benign hyperplasia) तथा कैंसर प्रौढ़ों मे मूत्र अवरोध के सामान्य कारण हैं। इस संबंध में प्रॉस्टेट ग्रंथीय सूत्रणरोग (fibrosis) तथा मूत्राशय के अग्रभाग में रुकावट का भी स्थान है।

अंड ग्रंथि में सेमिनोमा (seminoma) और टेराटोमा अर्बुद प्रायः होते हैं। शुक्राशय, मूत्रमार्ग, शिश्न तथा अन्य भागों से भी सुदम्य तथा दुर्दम्य दोनो ही प्रकार के अर्बुद निकल सकते हैं।

पेशी तंत्रिका के (neuromuscular) रोग — पेशी तंत्रिका के रोग, जैसे मूत्रवाहिनी अतानता (atony) मूत्राशय की पेशी तंत्रिका के रोग, विशेषकर स्पाइना बाइफिडा (spina bifida) तथा मेरुरज्जु के कार्य आदि में पर्याप्त सयोग होता है और ये गंभीर हो जा सकते हैं। इनकी चिकित्सा भी अच्छी प्रकार से नहीं हो पाती। कुछ में तो जीवन की कोई आशा नही रह जाती।

पुरुष जननतंत्र के रोग — शिश्न में फिमोसिस (phimosis), पाराफिमोसिस (paraphimosis), पॉस्थिटिस (posthitis), शिश्नाग्रशोथ, कर्कट आदि रोग हो सकते हैं।

मूत्रमार्ग के सामान्य रोग युरेथ्राइटिस (urethritis) तथा संकोच हैं। अंडकोष की त्वचा में शोथ, श्लीपद आदि रोग हो सकते हैं। अंडधर कंचुक (tunica vaginalis) मे हाइड्रोसील (hydrocele), काइलोसील (chylocele), पाइओसील (pyocele) आदि रोग होते हैं। अंडग्रंथि मे अंडशोथ, ऐंठन (torsion) तथा अर्बुद हो सकते हैं। अधिवृषण मे शोथ तथा वृषण रज्जु में शोथ आदि, प्रॉस्टेट ग्रंथि तथा शुक्राशय मे शोथ, अर्बुद आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

अधिवृक्क (Adrenals) — अधिवृक्क वे हैं जिनके हॉरमोन जीवन के लिये नितांत आवश्यक होते हैं और ये औषधिकी तथा नैदानिक दृष्टि से मूत्रजनन तंत्र के अभिन्न भाग हैं। शारीरिक सरचना तथा क्रियात्मक दृष्टि से अधिवृक्क के दो भाग होते हैं: बाहरी वल्कुट तथा भीतरी मज्जका। अधिवृक्क के वल्कुट से लगभग ३० हारमोन निकाले जा चुके हैं, जिनके मुख्य कार्य विद्युद्विश्लेष्य का संतुलन और कार्बोहाइड्रेट उपापचय को ठीक रखना है। इनकी कमी से ऐडिसन का रोग (Addison's disease) तथा अधिकता से सिंड्रोम (syndrome) हो जाता है। अधिवृक्क की मज्जका से गैंग्लिओन्युरोमा (ganglioneuroma), न्यूरोब्लास्टोमा (neuroblastoma) और फीओक्रोमोसिटोमा (phoeochromocytoma) अर्बुद निकलते हैं।

स्त्रियों के मूत्ररोग — अवरोधन, संक्रमण, अश्मरी, अर्बुद आदि रोग स्त्रियों में भी होते हैं, पर उनमें कुछ रोग, जैसे वेसिको वैजिनल (vesico-vaginal) फिस्टुला (fistula), वल्वाइटिस (vulvitis) आदि विशेषकर होते हैं, जिनके निदान तथा चिकित्सा करने में कभी कभी कठिनाई पड़ सकती है। [प्र० सिं०]

मूत्राशय और प्रॉस्टेट ग्रंथि के रोग (अ) मूत्राशय के रोग निम्नलिखित हैं :

(१) जन्मजात असंगतियाँ — इनके कारण निम्नलिखित दोष रहते हैं : (क) मूत्राशय की एक्सट्रॉफी (extrophy)—इस रोग में मूत्राशय तथा अग्र उदरीय भित्ति के कुछ भाग ठीक से नहीं बनते, जिससे मूत्राशय की पृष्ठभूमि दिखाई देती है और उसमें से मूत्र निकलता रहता है। यह संपूर्ण तथा अपूर्ण दो प्रकार का होता है। संपूर्ण प्रकार में जघन अस्थियाँ संधि में न होकर एक दूसरे से दूर होती हैं, तथा एपिस्पेडियस (epispadius) भी होता है। इसकी चिकित्सा के प्रथम चरण में मूत्रवाहिनी को आंत्र से जोड़ना, दूसरे चरण में मूत्राशय की श्लेष्मकला को निकालना, तथा तीसरे चरण में अग्र उदरीय भित्ति की हानि तथा एपिस्पेडियस आदि को ठीक करना होता है। (ख) यूरैकस पुटी और (ग) खुला हुआ यूरैकस, ये अपरापोषिका (allantois) के पूरी तरह न बंद होने के कारण होते हैं। शल्य द्वारा इनकी चिकित्सा की जाती है। (घ) जन्मजात मूत्राशय विपाक (diverticulum) तथा (च) त्रिकोणात्मक पुट भी कभी कभी देखे जाते हैं।

(२) मूत्राशय के उपघात — ये खुले तथा बंद उपघातों से हो सकते हैं। मूत्राशय का फटन पर्युदर्या के बाहर (extraperitoneal, ८०%) अथवा पर्युदर्या के अंदर (intraperitoneal, २०%) हो सकता है।

पर्युदर्या के बाहर मूत्राशय की फटन के साथ प्रायः श्रोणि का विभंग भी होता है। स्तब्धता, विभंग इत्यादि की प्रारंभिक चिकित्सा के पश्चात्, बिना देर किए हुए, दोनों ही प्रकार के मूत्राशय फटनों में लैपैरोटोमी (laparotomy) करके मूत्र स्रवण करना, मूत्राशय फटन को सीना, तथा अधिजघन (suprapubic) का सिस्टोस्टोमी (cystostomy) करना होता है। पर्युदर्या के बाहर की फटन में केवल अधिजघन का सिस्टोस्टोमी (cystostomy) करके पूर्व मूत्राशयी (prevesical) स्थान का अपवाह (drain) करना होता है; इसमें मूत्राशय फटन को सीने की कोई आवश्यकता नहीं होती है।

(३) मूत्राशय के नालव्रण (fistula) — ये निम्नलिखित प्रकार के होते हैं :

(क) मूत्राशय बृहदांत (Vesico colic) तथा मलाशय मूत्राशय (Recto vesical) नालव्रण — यह जन्मजात, शस्त्र अथवा शल्य के उपघात से, आंत्र विपुटी के प्रदाह, प्रादेशिक आंत्र प्रदाह आदि रोगों से, अथवा मूत्राशय या आंत्र के अर्बुदों से हो सकता है। जिस कारण भी नालव्रण हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

मूत्राशय योनि नालव्रण — यह प्रसूति अथवा योनि के उपघातों, श्रोणि के शल्यकर्म अथवा गर्भाशय के अर्बुदों के कारण हो सकता है। इसमें रोगिणी की योनि से सदा मूत्र निकलता रहता है और इसे शल्य द्वारा बंद करना चाहिए।

(ग) अधिजघन नालव्रण — यह शल्य अथवा उपघात के पश्चात् हो सकता है। यदि किसी प्रकार का मूत्र अवरोध हो, तो उसे नालव्रण बंद करने से पहले हटाना चाहिए।

(४) मूत्राशय के संक्रमण — तीव्र तथा दीर्घकालिक दोनों ही प्रकार के मूत्राशय प्रदाह दोनों लिंगों में प्रत्येक आयु में होते हैं, पर स्त्रियों में यह अधिक होते हैं। किसी प्रकार का मूत्र अवरोध, जैसे बढ़ी हुई प्रॉस्टेट ग्रंथि, मूत्रमार्ग का संकोच आदि, गर्भ के उपघात तथा रोग, मूत्राशय मे अश्मरी अथवा अर्बुद आदि का होना, तथा किसी अन्य रोग से सामान्य प्रतिरोध का कम हो जाना, इसके पुरःप्रवर्तक कारण होते हैं। अधिकांश व्यक्तियों में ई० कोलाई (E. Coli) ही संक्रमण करनेवाला जीवाणु होता है। बारंबारता, पीड़ा, रक्तमेह, पूयमेह आदि इसके लक्षण होते हैं। मूत्र परीक्षा, विशेष करके मूत्र संवर्धन, से इसका निदान हो जाता है। जीवाणुओं की संवेदनशीलता के अनुसार उपयुक्त, प्रतिजैविकी तरल तथा मूत्र अवरोध के कारण आदि के हटाने से इसकी चिकित्सा होती है।

तीव्र अजीवाणु, दीर्घकालिक त्रिकोणात्मक, अंतरालीय बिलहार्जिया (Bilharzial) आदि विशेष प्रकार के मूत्राशय प्रदाह होते हैं।

(५) अश्मरी रोग (Calculous disease) — प्राथमिक मूत्राशय अश्मरी विसंक्रमित मूत्र में बनती है, और प्रायः वृक्क से मूत्रवाहिनी के द्वारा मूत्राशय में आती है। द्वितीयक मूत्राशय की अश्मरियाँ ऑक्सैलेट, यूरिकाम्ल तथा यूरेट सिस्टीन तथा फॉस्फेटी प्रकार की होती हैं। बारंबारता, पीड़ा, शिश्न के अग्रभाग में खुजली, रक्तमेह, थोड़ी देर के लिये मूत्र का रुक जाना आदि, इसके लक्षण हैं। विकिरण द्वारा इसका निदान होता है। लिथोलैपेक्सी (Litholapaxy) अथवा सिस्टोलिथोटोमी (Cystolithotomy) द्वारा इसे निकाल लेना चाहिए।

मूत्राशय की ग्रीवा पर मध्यम दंड अवरोध — यह दो प्रकार का होता है : जन्मजात पेशीय दंड अवरोध, अथवा उपार्जित तंतुमय दंड अवरोध। इनके लक्षण तथा चिह्न प्रॉस्टेट ग्रंथीय अवरोध के समान होते हैं। दंड को मूत्रमार्ग अथवा सिस्टोस्टोमी (cystostomy) द्वारा निकाल लेना चाहिए।

(७) मेरुरज्जु के क्षत स्थलों में मूत्राशय — मूत्राशय का तंत्रिका नियंत्रण मेरुरज्जु से होने के कारण मेरुरज्जु के उपघात के पश्चात् कुछ समय तक मूत्राशय सर्वथा काम नहीं करता। उसके पश्चात् या तो यह स्वचालित (automatic) हो जाता है, अथवा आत्मग (autonomous)। इस अवस्था में मूत्राशय को स्वचालित बनाने का सारा प्रयत्न करना चाहिए।

(८) मूत्राशय के अर्बुद (Neoplasms) — मूत्राशय के सुदम्य अर्बुदों में पैपिलोमा उपकला ऊतक से तथा फाइब्रोमा (fibroma), लाइपोमा (lipoma), एंजियोमा (angioma) और एंडोमेट्रिओमा (endometrioma) मध्यकला ऊतक से होते हैं। दुर्दम्य अर्बुद कई प्रकार के होते हैं। श्रोणि बृहदांत्र के एडिनोकारसिनोमा (edenocarcinoma) सेकंडेरीज (secndaries) भी मूत्राशय में हो सकते हैं। मूत्राशय कर्कट के कारणों में मूत्र अवरोधन, संक्रमण, विपुटी अश्मरी तथा ऐनिलीन, बेंजीडीन आदि रासायनिक रंजकों का आहार मे प्रयोग भी होता है। पीड़ा रहित, अधिक मात्रा में, बारंबार, समय समय पर रक्तमेह तथा रक्तक्षीणता, मूत्रकृच्छ्र और अक्रम्य मूत्राशय प्रदाह इसके मुख्य लक्षण हैं। इसके निदान के लिये क्रमशः

मूत्रसंवर्धन, अंतःशिरा पाइलोग्रैफी (pyelography), मूत्राशय दर्शन (cystoscopy), मूत्राशय दर्शक जीवोतिपरीक्षा (cystoscopy biopsy) तथा उभयहस्त (bimanual) परीक्षा करनी चाहिए। थोड़े विस्तों के अधिकांश पैपिलोमों (papillomas) को सिस्टोडायथर्मी (cystodiathermy) द्वारा जला दिया जाता है। गुंबद (vault, dome, fundus) के कार्सिनोमा (carcinoma) को जो मूत्रवाहिनी रंध्रों (orifices) से दूर हों (partial) सिस्टेक्टोमी (cystectomy) द्वारा निकाला जाता है। बढ़े हुए रोगवाले रोगियों (advanced cases) तथा मूत्राशय के आधार के कर्कटों के लिये मूत्र विपथन (urinary diversion) के साथ पूर्ण सिस्टेक्टोमी (cystectomy) है, अथवा रैडिकल सिस्टेक्टोमी (radical cystectomy) करना पड़ता है। रोग बहुत बढ़ जाने पर केवल मूत्र विपथन या पैलिएटिव (palliative) शल्य से संतोष करना पड़ता है। कुछ लोग मूत्राशय के कर्कट की चिकित्सा सुपरस्टेज एक्सरे थेरैपी (superstage X-ray therapy), रेडियोऐक्टिव गोल्ड ग्रेन (radio active gold grain), रैडनसीड (radon seeds) तथा टैंटेलम तार (tantalum wire) आदि से भी करने का प्रयत्न करते हैं।

(ख) प्रॉस्टेट ग्रंथि के रोग निम्नलिखित हैं

(१) प्रॉस्टेट ग्रंथि का सुदम्य बढ़ना — यह रोग पुरुषों में प्रायः ५० वर्ष की अवस्था के पश्चात् होता है। इसका कारण हॉरमोनों का असंतुलन अथवा सुदम्य अर्बुद होता है। मध्यम तथा पार्श्व खंड ही अधिकांश बढ़ते हैं तथा मूत्रमार्ग, मूत्राशय, मूत्रवाहिनी तथा वृक्क में पश्च संपीडन प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसके लक्षण मूत्र त्यागने की बारंबारता, विशेष कर रात में, मूत्र कृच्छ्र तथा रक्तमेह होते हैं। कुछ रोगी मूत्र के तीव्र अवरोधन (acute retention) तथा कुछ वृक्क की अपर्याप्तता के कारण भी देखे जाते हैं। मूत्र करने में प्रक्षेपी शक्ति की कमी हो जाती है। मलाशय परीक्षा से बढ़ी हुई प्रॉस्टेट ग्रंथि का स्पर्श हो जाता है। प्रत्येक रोगी में रक्त यूरिया तथा हीमोग्लोबिन (haemoglobin) की जाँच और पाइलोग्रैफी (pyelography) तथा मूत्राशय दर्शन (cystoscopy) होना चाहिए। यदि मलाशय परीक्षा से प्रॉस्टेट ग्रंथि बहुत बढ़ा हुआ लगे, मूत्र त्यागने की बारंबारता इतनी बढ़ गई हो कि रात्रि बिताना कठिन हो गया हो, अथवा १०० मिलि० से अधिक अवशेष मूत्र हो, तो प्रॉस्टेट ग्रंथि निकाल देनी चाहिए। कभी कभी मूत्र अवरोधन के कारण भी शल्य कर्म करना पड़ता है। संक्रमण, सामान्य स्वास्थ्य का ठीक न होना, हृदय के रोग आदि में शल्यकर्म दो चरण में, प्रथम चरण में सिस्टोस्टोमी (cystostomy) तथा दूसरे में प्रोस्टेटेक्टोमी (prostatectomy) कर देना चाहिए।

(२) प्रॉस्टेट ग्रंथि का कर्कट (Carcinoma) — ६५ वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों में यह सामान्य दुर्दम्य रोग होता है। पाँच में से एक प्रॉस्टेट ग्रंथीय अवरोधन कर्कट के कारण होता है। लगभग ५ सुदम्य बढ़ी हुई प्रॉस्टेट ग्रंथि में शल्य से निकाले जाने के पश्चात् सूक्ष्मदर्शीय जाँच करने पर कर्कट मिलता है। प्रॉस्टेट ग्रंथीय अवरोधन के लक्षणों के साथ साथ कभी कभी मूत्रधार अथवा अधिजघन क्षेत्र में दर्द भी होता है। मलाशय परीक्षा में गुटिकाएँ, मलाशय श्लेष्मकला की स्थिरता आदि चिह्न मिलते हैं। शुक्राशय आदि में, रक्त के द्वारा अस्थियों, (विशेष करके कटिशिरा कशेरुक, श्रोणि, पसलियों आदि) में, लसीका तंत्रियों द्वारा आंतरिक तथा बाह्य श्रोणिक-लसीका-ग्रंथि समूहों में स्थानीय प्रसार होता है। विकिरण चित्रों के द्वारा हड्डियों का स्थानांतरण देखा जाता है। सेरम ऐसिड फॉस्फेटेस, (serum acid phosphatase) एक्स फोलिएटिव साइटॉलोजी (exfoliative cytology) तथा जीवोतिपरीक्षा से भी निदान में सहायता मिलती है। बहुत ही आरंभ के कुछ रोगियों को छोड़ अधिकांश रोगियों में प्रोस्टेटेक्टोमी संभव नहीं होता, परंतु ऐंटि-ऐंड्रोजेनिक चिकित्सा (anti-androgenic treatment) से बहुत रोगी ठीक हो जाते हैं। आजकल बाइलैटरल सबकैप्सुलर ऑर्किडेक्टोमी (subcapsular orchidectomy) करते हैं तथा साथ ही स्टिल्बोएस्टेरॉल अथवा डाइएनोएस्ट्रॉल (dienoestrol) मुँह से खाने को देते हैं। हारमोनों की बहुमात्रा [लगभग १०० मिग्रा० (stilboesterol) प्रति दिन] में देते हैं और इसका असर सेरम ऐसिड फास्फेटेज (serum acid phosphatase) की बार बार जाँच करके देखते हैं, जिसके अनुसार दवा की मात्रा में कमी बेशी करते हैं। बढ़े हुए रोग में, अथवा पुनः रोग (relateral) होने पर, कार्टिसोन, बाइलैटरल ऐड्रेनैलेक्टोमी (bilateral adrenalectomy), हाइपोफिसेक्टोमी (hypophysectomy), अथवा केमोथेरैपी (chemotherapy) से कुछ लाभ हो सकता है।

(३) पुरस्थ ग्रंथि प्रदाह — यह तरुण अथवा दीर्घकालिक हो सकता है और प्रायः पृष्ठ मूत्रमार्ग प्रदाह (posterior urethritis) तथा शुक्राशय प्रदाह (seminal vesiculitis) के साथ होता है। इन्हीं तीनों में से किसी भी रोग के लक्षण प्रधान हो सकते हैं। चिकित्सा के लिये उष्ण सिट्ज स्नान तथा उपयुक्त प्रतिजैविकी देना चाहिए। पुरस्थ ग्रंथीय पूय बनने पर उसका उत्स्रावण (drainage) करना चाहिए।

(४) मूत्राशय ग्रीवा संकोच — इसे मध्यम दंड अवरोधन तथा मेरियान (Marion's) रोग भी कहते हैं। यह दोनों लिंगों में और प्रत्येक आयु में हो सकता है। पुरस्थ ग्रंथीय अवरोधन के समान ही इसके लक्षण तथा चिह्न होते हैं। मूत्रमार्ग (transurethral) अथवा अधिजघन मार्ग से अवरोधन दंड को निकाल देना चाहिए।

(५) प्रॉस्टेट ग्रंथि का सारकोमा (sarcoma) तथा

(६) प्रॉस्टेट ग्रंथि के सिस्ट (cyst), ये बहुत अनुपलब्ध रोग हैं।

(७) प्रॉस्टेट ग्रंथि की अश्मरियाँ — ये प्रॉस्टेट ग्रंथि में ही बन सकती हैं, अथवा वृक्क मूत्रवाहिनी या मूत्राशय की अश्मरियाँ प्रॉस्टेट ग्रंथीय मूत्रमार्ग में आकर रुक सकती हैं। मूत्रमार्ग या प्रत्यग्जघन (retropubic) मार्ग से अश्मरियों को निकाल देना चाहिए। [अ० सिं०]

मूर स्पेन विजय और उस देश पर ७११ से १४९२ तक अधिकार जमा रखनेवाले अरबों या बर्बरों को दिया गया नाम। उन्हें मूर कहे जाने का कारण यह था कि वे अफ्रीका के मौरीतानिया प्रदेश से

गए थे, जिसे अब मोरक्को कहा जाता है। विभिन्न देशों के नगरों में रहनेवाले कतिपय मुस्लिम तत्वों और विशेषकर उत्तरी अफ्रीका के भूमध्यसागरवर्ती प्रदेशों के निवासियों को अब भी मूर कहा जाता है। [मु० या०]

मूर अल्बर्ट जोसेफ (Moore Albert Joseph) अंग्रेज चित्रकार। इनका जन्म ४ सितंबर, १८४१ को यार्क नगर में हुआ। १८५७-७० तक इन्होंने सज्जासंबंधी चित्रकारी की तथा १८६३ में भित्ति-अलंकरण। 'अंतिम भोज' तथा 'पाँच हजार का सहभोज' का चित्रण संत अलबान रायडेल के गिरजाघर की दीवारों पर किया। 'एलिजा का उत्सर्ग' इनका सबसे बड़ा चित्र है। इनकी मृत्यु लंदन में २५ सितंबर, १८६३ में हुई। [गु० त्रि०]

मूर हेनरी (Moore Henry) अंग्रेज चितेरा। जन्म यार्क नगर में ७ मार्च, १८३१ में हुआ। १८५३ में सर्वप्रथम इनके चित्रों का प्रदर्शन रायल अकादमी में हुआ। १८५७ में पश्चिमी इंग्लैंड की यात्रा के समय समुद्रचित्रण का प्रयोग किया। 'पहाड़ी लड़का' इनका सुप्रसिद्ध चित्र है। १८८५ में यह रायल अकादमी के सदस्य बने। मारगेट में २२ जून, १८६५ को इनका शरीरांत हुआ। [गु० त्रि०]

मूर्तिकला दे० 'स्थापत्य और मूर्तिकला'।

मूल या जड़ उच्च कोटि पादपों (फर्न तथा बीजवाले पौधे) का भूमिगत भाग है, जिसमें न तो पत्तियाँ रहती हैं और न जनन अंग, किंतु इसमें एक शीर्ष वर्धमान (apical growing) सिरा रहता है। यह अवशोषण अंग, वातापं (aerating) अंग, खाद्य भंडार और सहारे का कार्य करता है। अधिकांश पौधों में जड़ बीजपत्राधर (hypocotyl) के निम्न छोर के रूप में उत्पन्न होती है। बहुवर्षी (perennial) जड़ें तने के सदृश ऊतकतंत्र प्रदर्शित करती हैं तथा इनका रंभ (stele) अविच्छिन्न रहता है। बहुवर्षी जड़ों के प्रकेधा (procambium) वलयक (strand) के विकास, अंतश्चर्म (endodermis) की सुव्यक्त मोटाई और वर्धन सिरे के विभज्योतक (meristem) के सुरक्षात्मक आवरण के रूप में अंतर होता है। अधिपादप (epiphytes) की जड़ें पूर्णतः वायव (aerial) होती हैं। जड़ों की शाखनविधि सामान्यतः अग्राभिसारी (acropetal) होती है, किंतु अपस्थानिक (adventitious) जड़ें पौधों के अन्य भागों पर उत्पन्न होती हैं। निम्न कोटि पादपों में जड़ों का अधिकांश कार्य प्रकंद करते हैं।

शारीर (anatomy) की दृष्टि में मूल के तीन भाग हैं : अधिचर्म (epidermis), वल्कुट (cortex) तथा रंभ। इन तीनों भागों में शीर्ष विभज्योतक द्वारा नई कोशिकाएँ जुड़ती हैं, विभज्योतक की बाह्य सतह मूल-गोप (root cap) बनाती है। जब मूल मृदा में बलपूर्वक प्रवेश करता है, तब मूल-गोप आघात से उसकी रक्षा करता है। मूल की संपूर्ण मोटाई में शीर्ष विभज्योतक व्याप्त रहता है, अतः नई कोशिकाएँ दीर्घीकरण के बाद व्यवस्थित कोशिकाओं की तरह पंक्तियों में विकसित होती हैं। कोशिकाओं का विभाजन, दीर्घीकरण तथा परिपक्वन वर्धमान प्रक्रम है, जो मूल के ऊर्ध्वाधर स्तरविन्यास में मूल गोप, शीर्ष विभज्योतक, दीर्घीकरण क्षेत्र तथा परिपक्वन क्षेत्र में
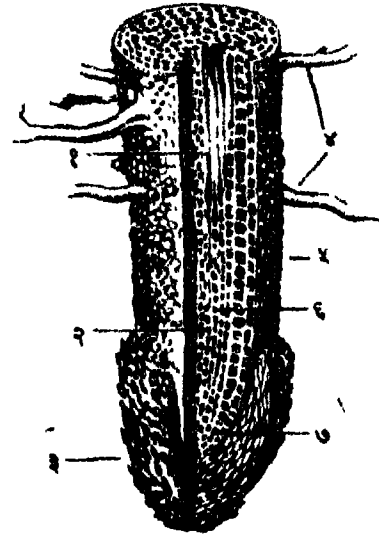
चित्र १. मूल के सिरे की अनुप्रस्थ काट

१. केंद्रीय सिलिंडर, २. वाहिनी बंडल, ३. मूल गोप (root cap), ४. मूल रोम, ५. बाह्य त्वचा, ६. अंतस्त्वचिका, तथा ७ बढ़ता प्रदेश।

होता है। अधिचर्म, वल्कुट और रंभ क्षेत्र में ऊतकों के अंतर की उत्तरोत्तर अवस्थाएँ सुस्पष्ट रहती हैं। दीर्घीकरण क्षेत्र के ठीक ऊपर अधिचर्म कोशिकाएँ लंबी बेलनाकार उद्वर्ध (outgrowth) उत्पन्न करती हैं, जिन्हें मूलरोम (root hair) कहते हैं। ये रोम मूल का अवशोषण क्षेत्र बढ़ा देते हैं।

अधिचर्म के ठीक नीचे ऊतकों का जो क्षेत्र रहता है, उसे वल्कुट कहते हैं। इस क्षेत्र का अधिकांश मृदूतक (parenchyma) का बना होता है। इसमें तंतु बिखरी हुई कोशिकाओं के रूप में रहते हैं। रंभ या अविच्छिन्न बेलन भी वल्कुट में हो सकता है। कोशिकाओं के बीच में सुस्पष्ट अवकाश होता है।

रंभ प्राथमिक दारु (xylem) वलयक तथा प्राथमिक फ्लोएम (phloem) का बना होता है। दारु वलयक त्रिज्यातः चौरस होते हैं और मूल की एक ही परिधि में ये और फ्लोएम एकांतर होते हैं। जड़ में प्रायः मज्जा नहीं होती, किंतु द्विबीजपत्री पौधों की जड़ों की अपेक्षा एकबीजपत्री पौधों की जड़ों में प्रायः मिलती है। रंभ की सतह पर पार्श्वीय जड़ें विभज्योतकी (mesistematic) कोशिकाओं से निकलकर वल्कुट से बाहर निकलने का मार्ग बलपूर्वक बनाती हैं। मोटाई में सुस्पष्ट वृद्धि करनेवाली जड़ें, प्राथमिक दारु के ठीक बाहर प्रशाखित बेलन के रूप में तथा प्राथमिक फ्लोएम के अंदर, संवहनी (vascular) एधा (cambium) विकसित करती हैं। एधा की बाह्य सतह से द्वितीयक फ्लोएम तथा आंतरिक सतह से द्वितीयक दारु विकसित होता है। जब जड़ों की अत्यधिक मोटाई

वल्कुट को विदीर्ण कर देती है, तब वल्कुट की आंतरिक सतह परिरंभ (pericycle) या द्वितीयक फ्लोएम में कार्क (cork) बनती है।

जो जड़ पहले बनती है और सीधे तने से वृद्धि करती है, वह प्राथमिक जड़ कहलाती है। प्राथमिक जड़ की शाखाएँ द्वितीयक तथा द्वितीयक की शाखाएँ तृतीयक जड़ें कहलाती हैं।

जड़ों को उनके उगने के स्थान के अनुसार मृदामूल (soil root), वायव (aerial) मूल तथा जलमूल कहते हैं। जो जड़ें तने पर निकलती हैं, उन्हें अपस्थानिक कहते हैं, जैसे बरगद की जड़। जो जड़ें दूसरे पौधों से पोषण प्राप्त करती हैं, उन्हें परजीवी (parasitic) जड़ें कहते हैं।

मूल के प्रकार उसकी आकृति और शाखनविधि पर निर्भर करते हैं। जब केंद्रीय अक्ष बिना विभक्त हुए गावदुम रूप में गहरा भूमिगत होता है, तब उसमे मूसला जड़ (tap root) बनती है। इस प्रकार की जड़ कभी कभी छोटी होती है और खाद्य पदार्थों से भरी रहने के कारण फूली रहती है, जैसे गाजर की शंक्वाकार (conical), मूली की तकुआनुमा (fusiform) तथा शलजम की कुंभीरूप (napiform) मूल। एक बीजपत्री पौधों में
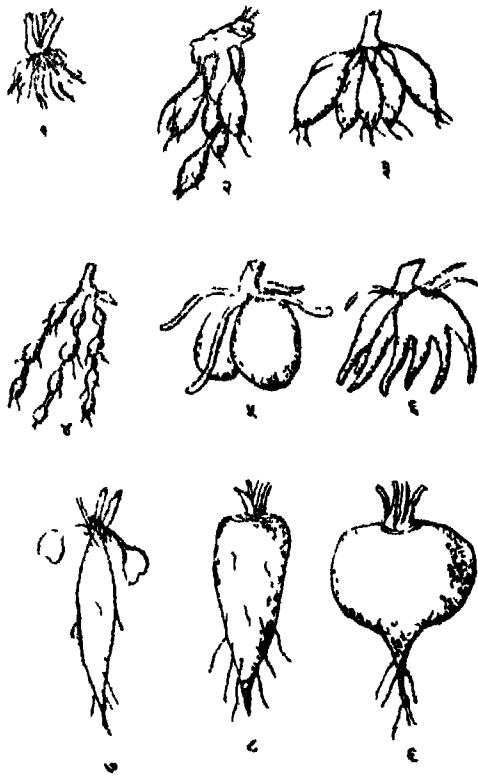
चित्र २ जड़ों के रूप

१. झकरा, २. ग्रंथिल, ३. पूलिकित, ४. मालाकार, ५. कंदिल, ६. पाणिवत् कंदिल, ७. तकुआनुमा, ८. शंक्वाकार तथा ९. कुंभी रूप।

प्राथमिक अक्ष शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और उसका स्थान द्वितीयक अक्ष ले लेता है। जब अवरोही अक्ष बहुत छोटा होता है और छोटे छोटे, पतले तथा समान तंतुओं (fibrous) में विभक्त हो जाता है, तब ऐसा मूल रेशेदार या झकरा (fibrous) मूल कहलाता है। जो जड़ें मनका की लड़ी की तरह होती हैं, उन्हें मालाकार (moniliform) मूल कहते हैं। जब तंतुक (fibril) मोटे तथा रसदार होते हैं, तो ऐसा मूल पूलिकित (fasciculate) कहलाता है। इन मूलों के अतिरिक्त ग्रंथिल (nodulous), कंदिल (tuberous) एवं पाणिवतकंदिल (palmately tubercular) मूल भी होते हैं।

सं० ग्रं० — चार्ल्स मैकमन : ट्रीज ऑव इंडिया, तारापुरवाला; तथा वर्ल्ड बुक इन्साइक्लोपीडिया। [अ० ना० मे०]

मूल अधिकार (Fundamental Rights) प्रत्येक देश के लिखित अथवा अलिखित संविधान में नागरिक के मूल अधिकार को मान्यता दी गई है। ये मूल अधिकार नागरिक को निश्चयात्मक (Positive) रूप मे प्राप्त हैं तथा राज्य की सार्वभौम सत्ता पर अंकुश लगाने के कारण नागरिक की दृष्टि से ऐसे अधिकार विपर्ययात्मक (Negative) कहे जाते हैं। मूल अधिकार का एक दृष्टांत है 'राज्य नागरिकों के बीच परस्पर विभेद नहीं करेगा'। प्रत्येक देश के संविधान में इसकी मान्यता है।

इंग्लैंड का संविधान अलिखित है। अत: उस देश मे अमरीका की भाँति कोई कोड या संहिता नहीं बनी हुई है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि इंग्लैंड के नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त नहीं हैं। इनके बिना गणतंत्र का कोई अधिकार ही नहीं रह जायगा। इंग्लैंड में व्यक्तिगत अधिकार का आधार इस अर्थ मे (Negative) है कि किसी भी व्यक्ति को इस बात का अधिकार एवं स्वतंत्रता है कि जब तक वह देश के साधारण कानून का उल्लंघन न करे, वह कोई भी काम करने को स्वतंत्र है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता न्यायालय द्वारा (Writs आदेशों) के जरिए सुरक्षित रहती है। किंतु इंग्लैंड में यद्यपि न्यायालय सरकार की ज्यादती से नागरिकों की रक्षा करता है, तथापि उन्हें विधानमंडल के आघात से नहीं बचा सकता। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि इंग्लैंड में मूल अधिकार की मान्यता संसद् की मर्जी पर है, क्योंकि पार्लिमेंट सर्वोपरि होने के कारण आवश्यकता पड़ने पर मूल अधिकार में परिवर्तन कर सकती है या इसके अस्तित्व को ही समाप्त कर सकती है। अत: इंग्लैंड में कोई अधिकार वास्तव में मूल अधिकार नहीं कहा जा सकता। मैगना कार्टा (Magna Carta) तथा बिल ऑव राइट्स (Bill of Rights) ने कॉमन लॉ की घोषणा की; किंतु ये कार्यपालिका (Executive) पर लागू थे, पार्लमेंट पर नहीं। इंग्लैंड में न्यायालय को विधान (Legsilation) की समीक्षा करने का अधिकार नहीं है। पर कार्यपालिका के विरुद्ध न्यायालय भी व्यक्ति की स्वतंत्रता का पूरा रक्षक है। [देखिए 'ईशुग्लियी बनाम नाइजीरिया सरकार (१९३१), ३५ सी० डब्लू० एन०, ७५५ पी० सी०]।

अमेरिका में नागरिक के मौलिक अधिकार की रक्षा न्यायालय के हाथ में है अर्थात् न्यायालय विधान-निर्मातृ-परिषद् से भी ऊपर है। अत: राज्य की सुरक्षा के नाम पर उस देश का विधानमंडल किसी नागरिक के व्यक्तिगत अधिकार का अपहरण नहीं कर

सकता। [देखिए, थार्न हिल बनाम अलबामा (१९४०) ३१४, यू० एस० २५३, २६१]।

अमेरिका मे विधान परिषद् के द्वारा साधारण रूप में नागरिक के मौलिक अधिकारों मे परिवर्तन नही किया जा सकता। ऐसा परिवर्तन तभी सभव है, यदि देश के मौलिक विधान मे परिवर्तन लाया जाय। किंतु ऐसा करने के लिये समस्त राज्यों की सहमति अनिवार्य है।

आयरलैंड के संविधान (१९३७) में पार्लिमेंट एवं न्यायालय को परस्पर एक दूसरे के ऊपर न होने देकर एक मध्यम मार्ग अपनाया गया है।

भारत का संविधान लिखित है। ब्रिटिश पार्लिमेंट की प्रणाली के बहुतेरे सिद्धांत यद्यपि इसमें अंतर्भुक्त है, फिर भी इसने कानून बनाने के प्रसंग मे पार्लिमेंट के एकनिष्ठ आधिपत्य को स्वीकार नही किया है। बल्कि इसमें अमरीकी विधान का प्रभाव परिलक्षित होता है। [देखिए, गोपालन बनाम स्टेट ऑव मद्रास १९५० एस० सी० आर० ८८ (२४७)] भारत के संविधान के तृतीय अध्याय मे वर्णित धाराओं में व्यक्तिगत अधिकार की लिखित गारंटी और समाज के सामूहिक हित के मध्य स्पष्ट रूप से सतुलन लाने का प्रयास किया गया है। विधान की १४, १५, १७, १८, २० एव २४ धाराएँ राज की कार्यपालिका तथा विधायिका (Executive and Legislature) दोनो पर अनिवार्य रूप से लागू हैं। अत. भारत के न्यायालय उक्त अधिकारो की अवहेलना होने पर तत्संबंधित कानून को अमान्य घोषित करने मे सक्षम होंगे। किंतु धारा २१ (जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता), धारा २२ द्वारा निर्धारित विकल्प को छोड़, पूर्णत विधायिका (Legislature) की परिधि के अतर्गत है। ये अधिकार नागरिक को कार्यपालिका के विरुद्ध उपलब्ध होंगे, किंतु कानून द्वारा निर्धारित सीमा के अंदर ही।

संविधान की धारा १९ उन व्यक्तिगत अधिकारो की गारंटी देता है जिन्हें कार्यपालिका तथा विधायिका अनिवार्य रूप से मानने को बाध्य हैं; किंतु राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक शांति, समाज की नैतिकता इत्यादि कितने ही विकल्प हैं जो अधिकारियो को उपलब्ध है।

मौलिक अधिकार के प्रभेद

व्यक्तिगत समता — भारतीय संविधान के १४वें अनुच्छेद मे निर्देश किया गया है कि कानून के समक्ष सब व्यक्ति बराबर हैं तथा सभी को समान रूप से कानून का संरक्षण प्राप्त होगा। पर कानून के समक्ष समता का अर्थ यह नही कि सब लोग बराबर हैं। इसका अर्थ यह है कि जन्म, जाति, वर्ण आदि के कारणों से किसी को कानून के समक्ष विशेष अधिकार प्राप्त नही होंगे एवं देश का साधारण कानून सबों पर एक समान लागू होगा। विधिवेत्ता जेनिंग्स के शब्दों में इसका अर्थ यह है कि वयस्क एवं साधारण ज्ञान के प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अथवा अपने विरुद्ध मामला चलाने का अधिकार समान रूप से होगा तथा जाति, धर्म, धन, सामाजिक मर्यादा अथवा राजनीतिक प्रभाव के कारण इस अधिकार में कोई परिवर्तन नही होगा किंतु प्रत्येक राज्य में इस सिद्धांत के कई विकल्प होते हैं, जो राष्ट्रों के पारस्परिक सौहार्द्र एवं राजनीतिक कारणों पर आधारित हैं। यथा, किसी देश का राजा या राजदूत दूसरे देश में जाने पर वहाँ के साधारण कानून से परे है।

विभेद — भारतीय संविधान के १५वें अनुच्छेद में कहा गया है कि धर्म, जाति, वर्ण, जन्म आदि कारणों से राज्य नागरिकों में परस्पर विभेद नहीं करेगा तथा इन कारणों से कोई भी नागरिक साधारण सामाजिक अधिकार यथा दूकान, होटल, सार्वजनिक कूप, घाट, सड़क, धर्मशाला आदि, जो राज्य के द्रव्य से निर्मित हुए हैं या सर्वसाधारण के उपयोग के लिये उत्सर्ग किए गए है, के उपयोग से वंचित न होगा।

सार्वजनिक सेवा में समान अवसर — भारतीय संविधान के १६वें अनुच्छेद मे निर्देश है कि राज्य द्वारा नियुक्ति में सभी नागरिकों को समान अवसर मिलेगा। कोई भी नागरिक धर्म वर्ण जाति लिंग आदि कारणों से सरकारी सेवा म नियुक्ति के लिये अनुपयुक्त नहीं होगा। चूँकि भारतीय संविधान के निर्माण के पहले हरिजन, अनुसूचित जाति एव जन जाति के लोग ऐसी सुविधा से वंचित थे तथा शिक्षा की कमी के कारण निकट भविष्य में वे विकसित एवं शिक्षित वर्ग के समकक्ष न हो सकेंगे, अतः उक्त सिद्धान्त के विकल्प के रूप में उन वर्गों के लिये आरक्षण (Reservation) दिया गया है।

अस्पृश्यता निवारण — संविधान के १७ वें अनुच्छेद के अनुसार अस्पृश्यता, किसी भी रूप मे, त्याज्य मानी गई है एवं इसमें उत्पन्न सामाजिक अक्षमता को अपराध माना गया है।

उपाधि — संविधान के १८वें अनुच्छेद के अनुसार सैनिक अथवा शैक्षणिक विशेषता के अतिरिक्त और किसी भी प्रसग मे राज्य द्वारा किसी नागरिक को कोई उपाधि नही दी जायगी। यह भी निर्देश किया गया है कि भारत का कोई नागरिक किसी अन्य राष्ट्र से उपाधि ग्रहण नहीं करेगा। कोई व्यक्ति, जो भारत का नागरिक नहीं है, किंतु राज्य के अन्तर्गत किसी ऑफिस में नियुक्त होकर वेतन पा रहा है, वह भी राष्ट्रपति के आदेश के बिना किसी विदेशी राज्य से उपाधि नही लेगा। कोई व्यक्ति, (भारत का नागरिक हो या अन्य राष्ट्र का) जो राज्य के अंतर्गत किसी लाभवाले पद या न्यास पर प्रतिष्ठित है, राष्ट्रपति की अनुमति के बिना किसी दूसरे राज्य से कोई उपहार या उपाधि ग्रहण नही करेगा और न कोई पद ही लेगा।

संविधान के १९वें अनुच्छेद में प्रत्येक नागरिक को निम्नलिखित अधिकार दिए गए है :—

(१) भाषण करने एवं विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता।
(२) शांतिपूर्वक नि.शस्त्र होकर सभा मे सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता।
(३) समिति अथवा सघ के निर्माण का अधिकार।
(४) निर्बाध गति से समस्त भारत मे भ्रमण की स्वतन्त्रता।
(५) भारत के किसी भी राज्य में रहने तथा आवास होने की स्वतंत्रता।
(६) संपत्ति का स्वतंत्रतापूर्वक क्रय विक्रय एवं संरक्षण।
(७) वाणिज्य एवं व्यवसाय की स्वतन्त्रता।

उक्त अधिकार 'सप्त स्वातन्त्र्य' के नाम से विदित हैं।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सार्वजनिक हित में व्याघात न पहुँचाने पावे,

इसलिये उक्त अनुच्छेद में विकल्प लगा दिए गए हैं कि राज्य सार्वजनिक हित में आवश्यकता पड़ने पर उन अधिकारों में समुचित प्रतिबंध लगा सकता है। इंग्लैंड में भी, जहाँ नागरिक के मौलिक अधिकार की वैधानिक गारंटी नहीं है, यही स्थिति है। किसी भी आधुनिक राज्य में परिपूर्ण अथवा निर्बाध वैयक्तिक अधिकार का अस्तित्व संभव नहीं है। [देखिए, लिभरसिज बनाम एंडरसन (१९४२) ए० सी० २०६ (२६१)]।

अमरीका में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी के बावजूद उक्त प्रतिबंध है। [देखिए सिउक बनाम यूनाइटेड स्टेट्स (१९१९) २४९ यू० एस० ४७]

भारतीय संविधान ने भी स्वीकार किया है कि किसी व्यक्ति को अव्याहत (Absolute) स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे समाज में अराजकता एवं अशांति फैल सकती है। इसी से समाज के हित की दृष्टि से व्यक्तिस्वतंत्रता पर उपयुक्त हद तक अंकुश लगाने का अधिकार सरकार को दिया गया है। किंतु न्यायालय को भी इस बात का निर्णय देने का अधिकार है कि सरकार द्वारा लगाए प्रतिबंध कहाँ तक उपयुक्त हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि यथोचित प्रतिबंध उस उद्देश्य के अनुपात में होना चाहिए, जिसे विधान सभा ने अपना लक्ष्य बनाया है तथा उद्देश्य से अधिक नहीं होना चाहिए। [देखिए, सुबोध गोपाल बनाम बिहारी लाल (१९५१) ५५, सी, डब्लू० एन०४३३]

निम्नलिखित विषयों के प्रसंग में राज्य बोलने तथा लिखने की वैयक्तिक स्वतंत्रता पर अंकुश लगा सकता है :

(१) अपवचन (Libel & Slander) से व्यक्ति की रक्षा।

(२) अश्लीलता के प्रचार से समाज का बचाव।

(३) न्याय के मार्ग मे अवरोध पर रोक।

(४) देश में आंतरिक अशांति अथवा स्थापित सरकार को बलात् उलटने के विरुद्ध राष्ट्र की रक्षा।

(५) अपराध को प्रोत्साहन देने के लिये दंड।

(६) देश के बाहर के हमलों से राष्ट्र की सुरक्षा।

अन्यान्य राष्ट्रों के साथ भारत की मैत्री के विच्छेद की चेष्टा एवं न्यायालय की मानहानि के कारण भी राज्य वैयक्तिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप कर सकता है।

पिकेटिंग — अमरीका में शांतिपूर्ण ढंग से पिकेटिंग करना, बोलने तथा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता के अंतर्गत माना गया है। किंतु यदि पिकेटिंग में हिंसा को स्थान मिले, यह विद्वेष से किया जा रहा हो या इसका लक्ष्य अवैधानिक हो जाय तो पिकेटिंग का अधिकार लुप्त हो जाता है। भारत में इस विषय का कानून अभी निश्चित नहीं हो पाया है। पर ऐसा संभव दिखता है कि राज्य शांतिपूर्ण पिकेटिंग को भी अवैध घोषित कर देगा, यदि इससे शांति भंग होने की संभावना दीख पड़े या पिकेटिंग से अन्य लोगों के मौलिक अधिकार पर आघात पहुँचे।

सभा में एकत्र होने की स्वतंत्रता—अमरीका के विधान के प्रथम संशोधन में कहा गया है कि कांग्रेस कोई ऐसा कानून नहीं बनाएगी जिससे शांतिपूर्वक सभा में इकट्ठा होने के जन्माधिकार में कमी की जाय। इंग्लैंड में भी प्रत्येक व्यक्ति को अन्य किसी भी व्यक्ति से मिलने तथा सभा में संमिलित होने की स्वतंत्रता है, यदि ऐसा करने में देश के कानून का उल्लंघन न होता हो। पबलिक ऑर्डर ऐक्ट, १९३६ के अनुसार जनसाधारण की सभा या जूलूस में अवैध शस्त्र लेकर जाना मना है। भारतीय संविधान में परस्पर मिलने की स्वतंत्रता है, पर इस पर निम्नलिखित अंकुश लगाए गए हैं :

(१) बैठक शांतिपूर्ण हो।

(२) बैठक नि.शस्त्र हो।

एवं (३) बैठक जनहित की दृष्टि से अवांछित न हो।

संपत्ति — भारतीय संविधान के अनुसार किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार की संपत्ति अर्जित करने का अधिकार है। उपार्जित संपत्ति को बेचने की भी उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। राज्य को अधिकार है कि भिन्न भिन्न प्रकार की संपत्ति की परिभाषा करे। सर्वसाधारण एवं पिछड़े वर्ग के हित के लिये सरकार संपत्ति के हस्तांतरण पर यथोचित प्रतिबंध लगा सकती है।

व्यवसाय की स्वतंत्रता — व्यवसाय की स्वतंत्रता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका चुनने, व्यवसाय या वाणिज्य करने की स्वतंत्रता रहे। राज्य केवल जनहित की दृष्टि से ही इसपर प्रतिबंध लगाए। किंतु अपनी मर्जी के अनुसार कोई जहाँ चाहे, वहाँ व्यवसाय नहीं कर सकता। किसी व्यक्ति को किसी व्यवसाय में एकाधिकार नहीं है। कचहरी में वकालत करने का स्वाभाविक या अखंड अधिकार किसी वकील को नहीं है। बार काउन्सिल के नियमों का वह कायल है। उसे लाइसेंस भी लेना पड़ता है।

भारतीय संविधान के २० वें अनुच्छेद में निर्देश है कि किसी को कानून द्वारा निश्चित अपराध के लिये ही दोषी घोषित किया जायगा एवं उस अपराध के लिये निर्धारित दंड से अधिक दंड उसे नहीं दिया जायगा। एक ही अपराध के लिये किसी पर दुबारा अभियोग नहीं लाया जायगा और न उसे दंडित किया जायगा। कोई भी अभियुक्त अपने विरुद्ध साक्ष्य देने को बाध्य नहीं होगा।

संविधान के २१ वें अनुच्छेद में व्यक्ति के जीवन एवं उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और २२ वें अनुच्छेद मे किसी की गिरफ्तारी तथा स्वतंत्रता के अपहरण के विरुद्ध निर्देश दिया गया है। दासता तथा असहाय व्यक्तियों के शोषण पर भी रोक लगाई गई है। [देखिए अनुच्छेद २३, २४] भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता है। केवल सार्वजनिक सुरक्षा, नैतिकता एवं जनस्वास्थ्य की दृष्टि से इस अधिकार पर किंचित् अंकुश लगाया गया है।

सं० ग्रं०—डायसी : कॉनफ्लिक्ट ऑव लॉज (षष्ठ संस्करण, १९४९)। हॉल्सबरी : लॉज ऑव इंग्लैंड (१९५३); मनरो : कॉन्स्टिट्यूशन ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स (१९३०), बसु, दुर्गादास : कमेंट्री ऑन दि कॉन्स्टिट्यूशन ऑव इंडिया, (पहला भाग १९५५)।

[गु० कु०]

मूलक (Radical) तत्वों के ऐसे समूह को कहते हैं, जो यौगिकों में एक रासायनिक तत्व सा व्यवहार करता है। यौगिकों में यह किसी तत्व का स्थान ले सकता है अथवा उसे विस्थापित कर

सकता है। मूलक में असंयुक्त बंधुता होती है, जिससे वह असंयुक्त दशा में साधारणतया स्थायी नहीं होता, यद्यपि कुछ मूलक, जैसे कार्बोनिल, काओ (CO), और नाइट्रोसिल, नाओ (NO) असंयुक्त पाए गए हैं।

मूलक अकार्बनिक और कार्बनिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। अकार्बनिक मूलकों में ऐमोनियम (नाहा$_{४}$ –) (NH_4 –), सल्फेट (=गंओ$_{४}$, = SO_4) और फास्फेट (≡ फाओ$_{४}$ ≡ PO_4) एवं कार्बनिक मूलकों में सायनोजन (–काना, – CN), बेंजायल (का$_{६}$हा$_{७}$ओ –, C_6H_7O –), और मेथाइल (– काहा$_{३}$, – CH_3) उल्लेखनीय हैं। मूलक का विचार गे लुसैक (Gay Lussac) ने पहले पहल १८१५ ई० में रसायनज्ञों के संमुख रखा था और लिबिख (Liebig) और वलर (Wöhler) ने १८३२ ई० में बेंजायल मूलक पर एक निबंध लिखकर इसके महत्व को बढ़ाया।

मूलक में संयोजकता भी होती है। कुछ मूलक एकसंयोजी, कुछ द्विसंयोजी, और कुछ त्रिसंयोजी होते हैं। कुछ समय तक कार्बनिक यौगिकों के अध्ययन में मूलकों का बड़ा महत्व था और उनसे अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती थी, पर आज इनका महत्व उतना नहीं रह गया है। [स० व०]

मूलबंध बंध एवं मुद्राएँ शरीर की कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनके द्वारा कुंडलिनी सफलतापूर्वक जाग्रत की जा सकती है। घेरंड संहिता में २५ मुद्राओं एवं बंधों का वर्णन मिलता है। इनमें निम्नलिखित १२ अधिक महत्वपूर्ण हैं (१) मूलबंध, (२) जालंधरबंध, (३) उड्डीयानबंध, (४) महामुद्रा, (५) महाबंध, (६) महावेध (७) योगमुद्रा, (८) विपरीतकरणीमुद्रा, (९) खेचरीमुद्रा, (१०) वज्रिणीमुद्रा, (११) शक्तिचालिनीमुद्रा, (१२) योनिमुद्रा।

उपर्युक्त अनेक क्रियाओं का एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। किसी किसी अभ्यास में दो या तीन बंधों और मुद्राओं को संमिलित करना पड़ता है। यौगिक क्रियाओं का जब नित्य विधिपूर्वक अभ्यास किया जाता है निश्चय ही उनका इच्छित फल मिलता है। मुद्राओं एवं बंधों के प्रयोग करने से मंदाग्नि, कोष्ठबद्धता, बवासीर, खाँसी, दमा, तिल्ली का बढ़ना, योनिरोग, कोढ़ एवं अनेक असाध्य रोग अच्छे हो जाते हैं। ये ब्रह्मचर्य के लिये अत्यंत प्रभावशाली क्रियाएँ हैं। ये आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनिवार्य हैं।

घेरंड संहिता में मूलबंध इस प्रकार वर्णित है :

'पार्ष्णिना वाम पादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः।
नाभिग्रंथिं मेरुदंडे संपीड्य यत्नतः सुधीः॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्मे तु दृढबंधं समाचरेत्।
जरा विनाशिनी मुद्रा मूलबंधो निगद्यते॥'

गुह्यप्रदेश को बाईं एड़ी से संकुचित करके यत्नपूर्वक नाभिग्रंथि को मेरुदंड में दृढ़ता से संयुक्त करे। पुनः नाभि को भीतर खींचकर पीठ से लगाकर फिर उपस्थ को दाहिनी एड़ी से दृढ़ भाव से संबद्ध करे। इसे ही मूलबंध कहते हैं। यह मुद्रा बुढ़ापे को नष्ट करती है। घेरंड संहिता में मूलबंध का फल इस प्रकार दिया हुआ है : जो मनुष्य संसार रूपी समुद्र को पार करना चाहते हैं उन्हें छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से निश्चय ही मरुत् सिद्धि होती है। अतः साधक आलस्य का परित्याग करके मौन होकर यत्न के साथ इसकी साधना करे।

मतांतर में मूलबंध इस प्रकार वर्णित है :

'पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयंत्रितं।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं समभ्यसेत्।
कल्पितोय मूलबंधो जरामरण नाशनः॥'

एड़ी से मध्यप्रदेश का यत्नपूर्वक संपीडन करते हुए अपान वायु को बलपूर्वक धीरे धीरे ऊपर की ओर खींचना चाहिए। इसे ही मूलबंध कहते हैं। यह बुढ़ापा एवं मृत्यु को नष्ट करता है। इसके द्वारा योनिमुद्रा सिद्ध होती है। इसके प्रभाव से साधक आकाश में उड़ सकते हैं।

मूलबंध के नित्य अभ्यास करने से अपान वायु पूर्णरूपेण नियंत्रित हो जाती है। उदर रोग से मुक्ति हो जाती है। वीर्य रोग हो ही नहीं सकता। मूलबंध का साधक निर्द्वंद्व होकर वास्तविक स्वस्थ शरीर से आध्यात्मिक आनंद का अनुभव करता है। आयु बढ़ जाती है। इसका साधक भौतिक कार्यों को भी उल्लासपूर्वक संपन्न करता है। सभी बंधों में मूलबंध सर्वोच्च एवं शरीर के लिये अत्यंत उपयोगी है।

सं० ग्रं० — हठयोग प्रदीपिका; घेरंड संहिता, कुंडलिनी योग [यो० ना० च०]

मूलर, विलियम जेम्स अंग्रेज चित्रकार। जन्म २२ जून, १८१२ को हुआ। इनकी प्रसिद्धि प्राकृतिचित्रों के कारण है। १८३३ में इन्होंने 'लंदन के पुराने पुल की समाप्ति और प्रभात' शीर्षक रेखाचित्र बनाया। दूसरे वर्ष फ्रांस, स्विटजरलैंड, इटली भ्रमणार्थ गए। 'वासों का बाजार' इनका प्रसिद्ध चित्र है। इनका निधन ८ सितंबर, १८४५ को ब्रिस्टल में हुआ। [गु० चि०]

मूल्यमीमांसा (Axiology) मूल्यमीमांसा अंग्रेजी शब्द 'एक्जियोलॉजी' का हिंदी रूपांतर है। 'एग्जियोलॉजी' शब्द यूनानी शब्द 'एक्सियस' और 'लागस' से बना है। 'एक्सियस' का अर्थ मूल्य या कीमत है तथा 'लागस' का अर्थ तर्क, सिद्धांत या मीमांसा है। अतः एग्जियोलॉजी' या मूल्यमीमांसा का तात्पर्य उस विज्ञान से है जिसके अंतर्गत मूल्य का स्वरूप, प्रकार और उसकी तात्विक सत्ता का अध्ययन या विवेचन किया जाता है। किसी वस्तु के दो पक्ष हो सकते हैं—तथ्य और उसका मूल्य। तथ्य पर विचार करना उस वस्तु का वर्णन कहलाएगा और उसके मूल्य का निरूपण उसका गुणावधारण। मूल्यविषयक निर्णय प्रस्तुत वस्तु की किसी आदर्श से तुलना करके किसी व्यक्ति द्वारा उपस्थित किया जाता है। हमारे सभी अनुभवों में मूल्यों का विचार सन्निहित रहता है। विवेचन के अधिकांश मापदंड मूल्यमापदंड ही होते हैं। सौंदर्यशास्त्र में सुंदर-असुंदर का मूल्यांकन, संगीत, साहित्य और कला में माधुर्य और सरसता का मूल्यांकन और धर्म में मूल्यों के संरक्षण का प्रयत्न तो सभी को स्वीकृत है किंतु साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि आचारशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान आदि में भी मूल्यों की समस्याओं पर ही विचार किया जाता है। मूल्यमीमांसा के अंतर्गत इन सभी शास्त्रों और

विज्ञानों के मूल्यों का अलग अलग विवेचन नहीं किया जाता वरन् इन सर्वव्यापी मूल्यों के स्वरूप और प्रकृति पर विचार किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक युग में मूल्यमीमांसा दर्शन की एक शाखा बनकर द्रुत गति से पल्लवित हो रही है।

मूल्य का तात्पर्य किसी मूल्य का भाव हो सकता है या उसका अभाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त भाव या अभाव न होकर कोई मूल्य तटस्थ भी हो सकता है। 'मूल्य' शब्द का प्रयोग इनमें से किसी भी स्थिति के लिये हो सकता है। इसलिये मूल्यमीमांसा को मूल्य का विज्ञान कहना अधिक युक्तिसंगत नहीं है। फिर भी सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आचार शास्त्र का विवेचन सही और गलत पर केंद्रित रहता है वैसे ही मूल्यमीमांसा का विवेचन प्रायः अच्छे और बुरे से संबंधित होता है।

पश्चिमी दर्शन में प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत के साथ मूल्यमीमांसा का उदय हुआ और अरस्तू के आचारशास्त्र, राजनीति और तत्वविज्ञान में उसका विकास हुआ। स्टोइक और एपीक्यूरियन लोगों ने जीवन के उच्चादर्श खोजे। ईसाई दार्शनिकों ने अरस्तू के उच्चतम मूल्य का ईश्वर से तादात्म्य दिखाने का प्रयत्न किया। आधुनिक दार्शनिकों ने स्वतंत्ररूप से विभिन्न मूल्यों का स्वरूप निर्धारण किया। कांट ने सौंदर्य और धर्म विषयक मूल्यों की सबसे प्रथम गहन विवेचना की। हीगेल के अध्यात्मवाद में आचार, कला और धर्म सर्वोपरि मान्य ठहराए गए। इन्हीं के समन्वय से निरपेक्ष प्रत्यय की उद्भावना होती है। १९वीं शताब्दी के विकासवादी सिद्धांत, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के अंतर्गत मूल्यों की व्यावहारिक विवेचना की जाने लगी। उसके तात्विक स्वरूप के निरूपण और एकत्व की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। नीत्शे ने इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न किया। ब्रेंटानो प्रेम को ही एकमात्र मूल्यमानता था। डब्ल्यू० एम० अरबन ने २०वीं शताब्दी में सबसे पहले मूल्यमीमांसा पर एक व्यवस्थित ग्रंथ (वेलुएशन, १९०९) लिखा। समकालीन प्रमुख रचनाएँ, बी० बोसांके की 'दि प्रिंसिपल ऑव इंडीविजुएलटी ऐंड वेल्यू'' (१९१२); डब्ल्यू० आर० सूरले की ''मारल वेल्यूज'' (१९१८) और 'दि आइडिया ऑव गॉड' (१९२१), एस० एलेक्जेंडर की 'स्पेस, टाइम एण्ड डाइटी' (१९२०), एन० ह्वाइटमैन की 'एथिक्स' (१९२६), आर० बी० पेरी की 'जनरल थ्योरी ऑव वेल्यू' (१९२६) और जे० लेयर्ड की 'दि आइडिया आफ वल्यू' आदि पुस्तकें हैं।

मूल्यमीमांसा के अंतर्गत मुख्यत. मूल्य का स्वरूप, मूल्य के प्रकार, मूल्य का भाव सिद्धांत और मूल्य के तात्विक संस्तरण का अध्ययन किया जाता है।

दार्शनिकों ने मूल्य के स्वरूप की अवधारणा विभिन्न प्रकार से की है। स्पिनोज़ा आदि ने उसी को मूल्य माना है जिससे किसी इच्छा की तृप्ति होती हो। एपीक्यूरस, बेंथम, मीनांग आदि सुखवादी दार्शनिक सुख को ही मूल्य मानते हैं। मूल्य का स्वरूप पैरी की दृष्टि में अभिरुचि, मार्टीन्यू के विचार से वरीयता (प्रिफेरेंस), स्टाइक, कांट और रायस के लिये शुद्ध तर्कसंगत इच्छा, टी० एच० ग्रीन के लिये व्यक्तित्व के एकत्व का सामान्य अनुभव है; नीत्शे और अन्य उत्क्रांतिवादी उसी अनुभव को मूल्य मानते हैं जो जीवन के विकास में किसी प्रकार सहायक हो। कुछ दार्शनिक जैसे स्पिनोज़ा, लोट्ज़ या डीवी आदि फलवादी मूल्य को व्यक्तिगत मानते हैं। उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह तो व्यक्ति की रुचि, अरुचि और उसकी मानसिक स्थिति तथा आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। इसके विपरीत लेयर्ड, मूर आदि मनीषी मूल्य को रूप, रस, गंध की भाँति विषयगत मानते हैं। एलेक्जेंडर की स्थिति इन दोनों मतों के मध्य में है। व्यक्ति, जो मूल्य का अनुभव करता है और वस्तु जिसके मूल्य का अनुभव किया जाता है, दोनों के संबंध में ही मूल्य का अस्तित्व है। व्यक्ति और वस्तु के संबंध से पृथक् अथवा स्वतन्त्र रीति से दो में से किसी एक में मूल्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। ए० जी० आयर का तार्किक भाववादी दृष्टिकोण है, इसलिये वे मूल्य को अर्थहीन कहते हैं।

मूल्य विभिन्न प्रकार के होते हैं। उनका कई प्रकार से विभाजन किया जा सकता है। प्राय दार्शनिक अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती मूल्यों का भेद करते है। अंतर्वर्ती मूल्य का स्वतन्त्र रूप से अपने लिये ही मूल्य होता है। इन मूल्यों को पाने का प्रयत्न इसलिये नहीं किया जाता कि उनके द्वारा किसी दूसरे उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। वस्तुतः इन मूल्यों को पा लेना ही अंतिम लक्ष्य होता है। बाह्यमूल्य अंतर्वर्ती मूल्यों की प्राप्ति के लिये एक साधन या यंत्र मात्र होते हैं। एक ओर ऐसे वेदांती हैं जिनका विश्वास है कि निर्गुण ब्रह्म रूप में अंतर्वर्ती मूल्य की ही अंतिम सत्ता है, उसके अतिरिक्त सभी बहिर्वर्ती मूल्य हैं जो भ्रांति मात्र है। दूसरी ओर ऐसे फलवादी हैं जो यन्त्रवादी सिद्धांत (इन्स्ट्रुमेंटलिज्म) का समर्थन करते हैं और अंतर्वर्ती मूल्यों का खंडन करते हैं। द्वैतवादी मूल्यमीमांसक अंतर्वर्ती और बहिर्वर्ती दोनों प्रकार के मूल्यों का अस्तित्व मानते हैं। एक शाश्वत होते हैं और दूसरे नश्वर अधिकांश दार्शनिक इसी सिद्धांत को थोड़े बहुत हेर फेर से स्वीकार करते हैं। कुछ अंतर्वर्ती मूल्यों को प्रधानता देते हैं और बहिर्वर्ती मूल्यों को उनके अधीनस्थ मानते हैं। कुछ लोग बहिर्वर्ती मूल्यों को प्रधानता देते हैं और अंतर्वर्ती मूल्यों को बहिर्वर्ती मूल्यों की उत्पत्ति या परिणाम मानते हैं। कुछ दार्शनिक (ब्राह्म) ऐसे भी हैं जो सभी वस्तुओं में दोनों प्रकार के मूल्य अपरिहार्य रूप से मानते है। वे यह नहीं अस्वीकार करते कि कहीं एक की प्रधानता होती है तो कहीं दूसरे की। किंतु ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें शुद्ध अंतर्वर्ती या बिलकुल बहिर्वर्ती मूल्य ही हों।

सामान्य रूप से शुभ, सत्य, शिव, सुंदर और पवित्र ही अंतर्वर्ती मूल्य माने जाते हैं। कुछ लोग इनके साथ दैहिक कल्याण, संबंध, कार्य और क्रीड़ा को भी अंतर्वर्ती मूल्य मान लेते हैं। मांटेग के विचार से सत्य को सही रूप में मूल्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि कुछ सत्य मूल्यहीन होता है और कुछ तटस्थ अर्थात् उसमें मूल्य होने न होने का प्रश्न ही नहीं होता। धार्मिक मूल्यों के संबंध में भी दार्शनिकों में मतभेद है। कुछ लोग उसे एक विशिष्ट प्रकार का मूल्य मानते है और कुछ लोग अन्य मूल्यों के प्रति एक विशिष्ट प्रकार के दृष्टिकोण को ही धार्मिक मूल्य समझते हैं।

मूल्य का माप सिद्धांत मनोवैज्ञानिक हो सकता है और तार्किक भी। सुखवादी दार्शनिक मूल्य की माप सुखानुभूति से करते हैं। एरेस्टीपस व्यक्ति के सुख और बेंथम समाज के सुख को मूल्य का मापदंड मानते हैं। बेंथम ने ऐसे सुखगणक की खोज की थी जिसमें सुख की गहनता, स्थायित्व, निश्चितता, निकटत्व, उपयोगिता, पवित्रता

व्यापकत्व आदि के अंक निर्धारित कर सुख को मापा जा सकता है। यह मूल्य के मापन का मनोवैज्ञानिक प्रयास है। मारटेन्यू और बेंटामों संतर्दृष्टि से मूल्य की माप संभव समझते हैं। कुछ अध्यात्मवादियों ने वस्तुगत आदर्श निश्चित कर रखे हैं और उन्ही से तुलना करके मूल्यों का मापन करते हैं। कुछ दार्शनिक समष्टि और सामंजस्य में ही मूल्य का गुणावधारण उचित बतलाते हैं। प्रकृतिवादी दार्शनिक जैविक विकास और वातारण से समंजन को मूल्य की माप मानते हैं। जिस वस्तु, क्रिया या परिस्थिति में जीव का विकास अधिक द्रुत गति से होता है उसका अधिक मूल्य है। इसके विपरीत जिनसे जीवन में बाधा उपस्थित होती है, उनको मूल्य नहीं दिया जाता।

मूल्य का तात्विक संस्तरण निर्धारित करते समय परमतत्व से उसका संबंध निश्चित किया जाता है। यदि मूल तत्व सत् है तो मूल्य का उससे क्या संबंध है? इस संबंध मे मुख्यतः तीन सिद्धांत हैं—व्यक्तिवादी, तार्किक वस्तुवादी और तात्विक वस्तुवादी। व्यक्तिवादी मूल्य को मानवी अनुभव से संबद्ध और आश्रित मानते हैं। मूल्य व्यक्ति के मन की ही उत्पत्ति है। वस्तु से उसका संबंध नहीं है। व्यक्ति अपनी परितृप्ति के अनुसार वस्तु में मूल्य का आरोपण करता है। "प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्तथा:, सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं मिषु।" (पंचदशी, ४।२२) प्रिय, अप्रिय और उपेक्षा करने योग्य मणि के तीन आकार जीवरचित हैं। तथा उसका साधारण मणिरूप ईश्वर निर्मित है। प्रिय, अप्रिय और उपेक्षा भाव व्यक्ति व्यक्ति में भिन्न होने के कारण निश्चय ही व्यक्ति के मन की रचनाएँ हैं। सुखवादी, भाववादी और प्रकृतिवादी भी इसी से मिलते-जुलते मतों का समर्थन करते हैं। वस्तुवादी इस सिद्धांत का खंडन करते हैं। वे मूल्य को मानसिक रचना मात्र नहीं मानते हैं। मूल्य का वस्तु मे स्वतंत्र अस्तित्व है। व्यक्ति उस मूल्य को पहिचाने न पहिचाने, फिर भी वह अपना अस्तित्व सुरक्षित रखता है। सभी वस्तुवादियों का एक मत नही हैं। कुछ वस्तुवादी मूल्य का तार्किक विश्लेषण करते हैं और तार्किक वस्तुवादी कहलाते हैं। कुछ वस्तुवादी तात्विक दृष्टि से मूल्य का निर्धारण करते हैं। वे तात्विक वस्तुवादी (मेटाफिजीकल आब्जेक्टिविस्ट) कहे जा सकते हैं। तार्किक वस्तुवादी मूल्य को मानस रचना न मानने के कारण उसे एक सार या द्रव्य मानते हैं। वह वस्तु में रहते हुए भी कोई ऐसी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता जो वस्तु या सत् पर कोई प्रभाव डाल सके या परिवर्तन कर सके। यहाँ सत् और मूल्य में स्पष्ट भेद रखा जाता है। तात्विक वास्तुवादी मूल्य की तात्विक यथार्थता स्वीकार करते हैं और उसे सत् का ही एक अंग मानते हैं। [हु० ना० मि०]

मूल्यांकन, खदानों का सामान्य रूप से खदान का मूल्य निम्नांकित बातों पर निर्भर है :

(१) खदान से होनेवाली वार्षिक आय;
(२) उत्पादन अनुवृत्ति की वर्ष संख्या, तथा
(३) भावी लाभों का वर्तमान मूल्य।

इन तीनों उपादानों को पृथक् पृथक् निर्धारित कर सकना संभव नहीं है। वार्षिक आय तथा खदान का जीवन उत्पादन दर पर आधारित है तथा इसका चुनाव इस प्रकार किया जाना चाहिए कि अधिकतम वर्तमान मूल्य मिल सके। उत्पादन दर ही प्रत्यक्षत: खदान के जीवन को निर्धारित करती है, क्योंकि जैसा स्पष्ट है, यदि खनिज की दी हुई मात्रा खनित की जाती है, तो जितनी अधिक वार्षिक उत्पादन दर होगी उतनी शीघ्रता से खान की आयु घटती चली जाएगी। वार्षिक लाभ भी उत्पादन दर पर आधारित है। यह प्रति टन लाभ गुणित टनों की संख्या के कारण नही, बल्कि इसलिये भी कि स्वयं प्रति टन लाभ भी उत्पादन दर के साथ बढ़ जाता है, क्योंकि कार्य बृहद् परिमाण में होने से उत्पादन मूल्य कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन मूल्य में कटौती हो जाने के कारण अपेक्षाकृत घटिया खनिज का खनन भी संभव हो जाता है, जिसका अर्थ है वार्षिक क्षमता में वृद्धि। इसके साथ ही खनिज के परिमाण में वृद्धि होने से खदान की आयु भी बढ़ जाती है।

किसी धातु खदान का मूल्यांकन करते समय आवश्यक चरणों को संक्षेप में इस प्रकार अनुबद्ध किया जा सकता है :

(१) प्रतिदर्श के आधार पर खनिज के प्रकार तथा परिमाण की गणना।

(२) प्रतिदर्श के प्रकार (Sampled grade) के आधार पर तनूकरण (dilution) के लिये आवश्यक संशोधन की गुंजाइश रखते हुए पेषणी-मुख-प्रकार (mill head grade) की गणना।

(३) पेषणी-मुख-प्रकार एवं प्रति शत उपलब्धि का प्रयोग करते हुए उपलब्ध धातु की मात्रा की गणना।

(अ) यदि उत्पादों को संकेंद्रित रूप मे विक्रय किया जाता है, तो खनिज के धातुशोधक विघटन मूल्य (smelter liquidation value) की गणना।

(४) इस चरण में आता है, परिचालन लागत (operating cost) का अनुमान, जिसके अंतर्गत निम्नांकित परिव्ययों का समावेश है :

(क) खनिज का खनन परिव्यय;
(ख) खनित खनिज का दलन एवं पेषण परिव्यय;
(ग) धातु अथवा सारकृत (यदि ३ (अ) में इसकी गणना की है) की ढुलाई;
(घ) विकास मूल्य तथा
(च) संयंत्र एवं उपकरण का परिरक्षण परिव्यय।

संयंत्र परिरक्षण के अंतर्गत आनेवाले मदों को छोड़कर मूल्य ह्रास (depreciation) तथा रिक्तीकरण (depletion) आदि का इसमें समावेश नहीं है। यद्यपि कर, बीमा तथा अन्य ऊपरी खर्चों का बहुधा गणना के पिछले चरणो मे अनुमान लगा लिया जाता है, तथा उन्हें लाभ में से घटा दिया जाता है, (क्योंकि उनमे परिवर्तन टन मान से प्रत्यक्ष में संबंधित नही है), तथापि वे खर्च का एक अंग हैं और इनका यहाँ समावेश सुविधापूर्ण है।

(५) प्रति टन लाभ प्राप्त करने के लिये संभाव्य उत्पादन दर का टन प्रति वर्ष मे अनुमान कर उसे प्रतिटन लाभ से गुणा कर दिया जाता है।

(६) वार्षिक लाभ प्राप्त करने के लिये संभाव्य उत्पादन

टर का टन प्रति वर्ष में अनुमान कर उसे प्रति टन लाभ से गुणा कर दिया जाता है।

(७) खनिज भंडार की आयु प्राप्त करने के लिये खनिज भंडार की मात्रा को वार्षिक उत्पादन से भाग दिया जाता है।

(८) भावी वार्षिक लाभ का वर्तमान मूल्य ज्ञात करने के लिये वार्षिक लाभ का अपहार कर दिया जाता है।

(९) वर्तमान भंडारों के अतिरिक्त अपेक्षित अंतिम टन मान का अनुमान कर वर्तमान मूल्य में से अपहार कर दिया जाता है।

(१०) ९ मे अनुमानित टन मान की संभावना को प्रदर्शित करनेवाला एक गुणांक मान लिया जाता है तथा ऐसे खनिज के वर्तमान मूल्य में इसका गुणा कर दिया जाता है।

(११) अव्यक्त खनिज के वर्तमान मूल्य तथा विकसित अथवा खनित खनिज के वर्तमान मूल्यों को जोड़ दिया [(८)+(१०)] जाता है।

(१२) खनिज भंडारों के वर्तमान मूल्य का निर्धारण हो जाने के पश्चात् संयंत्र के प्रथम मूल्य को उसमें से घटा दिया जाता है।

(१३) यदि तत्काल उत्पादन प्रारंभ नहीं करना है, तो रुके हुए कार्य के लिये भी अपहार लगा दिया जाता है।

उपर्युक्त चरणों के परिणाम का निष्पादन कई प्रकार से किया जा सकता है।

जहाँ तक सामान्य सिद्धांतों का प्रश्न है, 'खनिप्रत्याशन' का मूल्यांकन भी एक चालू खदान की भाँति ही किया जाता है तथा कार्यरूप में भी अंतर किसी विशेष बात पर जोर दिए जाने का ही हो सकता है। खनि-प्रत्याशन, जहाँ विकसित खनिज की मात्रा बहुत ही थोड़ी अथवा नगण्य हो, अप्रकट तथा अविकसित खनिज के मूल्य पर ही जोर दिया जाना स्वाभाविक है। यह मूल्य अधिकांशत: निम्नांकित दो बड़े परंतु अज्ञात परिमाणों के मूल्य की परख पर ही निर्भर है :

(१) सफलता की दशा मे अपेक्षित खनिज का परिमाण तथा मूल्य, तथा (२) खनिज प्राप्ति की संभावनाओं पर आधारित जोखिम के लिये अपहार।

उपर्युक्त उपादानो के संबंध में निर्णय की महत्ता का आभास इससे सहज ही लगाया जा सकता है कि लाभ अनुमान के लिये अधिकतम संभव अनुभवी को होगी। इतना ही नहीं, लॉक के शब्दों में 'हमें मानना पड़ेगा कि खनि प्रत्याशन संबंधी निर्णय वास्तव में एक परायत्त समस्या है, जो मार्गदर्शन के लिये नियमों की न्यूनता तथा विकल्पों की अधिकता के लिये (जिनमें से किसी एक का चुनाव भी स्वयं एक समस्या है) बेजोड़ है। सुंदर स्वप्न सी मोहक तथा प्रयोग में व्यावहारिक नियमों से इतनी उपेक्षित शायद ही कोई दूसरी समस्या हो।' जब इतने अधिक उपादानों की केवल कल्पना करनी पड़े, और विशेषकर जब दायित्वपूर्ण उपादान भी इतने अधिक व्यक्तिगत निर्णय के विषय हों, तो स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है 'इस हिसाब किताब में फिर क्यों दिमाग पचाना ? क्यों नहीं मूल्य का केवल अनुमान कर मामला खतम किया जाय ?' इसका कितना उचित उत्तर दिया प्रो० मैकन्ट्रे ने कि 'यह सत्य है कि एक दीर्घ अनुभवी इंजीनियर के लिये यह संभव है कि कुछ वैयक्तिक नियमों के आधार पर वह सही मूल्यांकन कर दे, परंतु जिन्हें यह षष्ठेंद्रिय अभी प्राप्त नहीं, इस प्रकार की गणना एक शानदार मानसिक अनुशासन है। थोड़ा सा गणित कल्पना को उचित सीमाओं में रखने में सहायक होता है तथा यह दिखा सकता है कि किसी भी सम्मान मान्यता से संपत्ति का मूल्य अन्वेषण परिव्यय के तुल्य हो अथवा इसका विलोम कदापि संभव नहीं और यह बता सकता है कि उचित सफल विकास की दृष्टि से खनि प्रत्याशन में आकर्षक जुए के सभी तत्व विद्यमान हैं।' [वि० सा० दु०]

मूसा मूसा की ऐतिहासिकता के विषय में किसी भी संदेह का स्थान नहीं है किंतु उनके संबंध में जो परवर्ती दंत कथाएँ प्रचलित हैं उनमें से ऐतिहासिक तथ्य निकालना दुष्कर है। उनका जन्म लगभग १३५० ई० पू० मे मिस्र देश में हुआ था। उनके माता पिता इसराएली थे। फराऊन ने सभी इसराएली नवजात बच्चों को मार डालने का आदेश दिया था, मूसा फराऊन की पुत्री के हस्तक्षेप से ही बच सके। प्राचीन मिस्री भाषा में उनके नाम का अर्थ है पुत्र।

वयस्क होकर मूसा ने एक इसराएली जाति भाई की रक्षा करने के लिये एक मिस्री की हत्या कर डाली और स्वयं भागकर मरुभूमि में छिप गए, जहाँ उन्होंने एक मैडियनाइट स्त्री से विवाह किया। बाद में ईश्वर ने उनको यहूदी जाति का नेता ठहराकर उस जाति को मिस्र की दासता से मुक्त करने का आदेश दिया। अत: रामसेस द्वितीय के राज्यकाल मे मूसा मिस्र लौटकर फराऊन के सामने उपस्थित हुआ और ईश्वर के नाम से निवेदन किया कि इसराएली जाति को मिस्र से निकल जाने की आज्ञा दें। फराऊन ने अस्वीकार कर दिया किंतु ईश्वर के विधान से मिस्र देश में उत्पन्न दस महाविपत्तियों की सहायता से मूसा अपनी जाति को मिस्र की दासता से मुक्त कराने में समर्थ हो सके। वह उनको मरुभूमि होकर सिनाई पर्वत के पास ले गए जहाँ उन्होंने उनको दस नियम तथा एक 'विधि' संग्रह प्रदान किया (दे० निष्क्रमण)। बाद में वह यहूदियों को 'प्रतिज्ञात देश' कानान के सीमा प्रांत तक ले जाकर मर गए। यात्रा के समय ईश्वर पर पूरा भरोसा न रखने के कारण वह उस देश में प्रवेश न कर सके।

जहाँ तक मूसा को पेंतातुख का रचयिता मानने का प्रश्न है, इसपर अलग विचार किया गया है (दे० पेंतातुख)। बाइबिल के पूर्वार्ध में मूसा को ईश्वर का दास, नबी, पुरोहित, आदि कहा गया है। यहूदियों की दृष्टि में वह इसराएल के महागुरु, ईश्वर द्वारा प्रदत्त मुक्ति के इतिहास के प्रधान नायक तथा प्रतिज्ञात मसीह के प्रतीक हैं। बाइबिल के (उत्तरार्ध) अनुसार वे संहिता के रचयिता और मसीह के आगमन की घोषणा करनेवाले नबी हैं, जिस तरह सुसमाचार (गॉस्पेल) मूसा संहिता से बढ़कर है उसी तरह ईसा मूसा से कहीं अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [का० बे०]

मृगावती (१) भगवान् बुद्ध के समकालिक कोशांबी नरेश उदयन की पत्नी का नाम मृगावती है। (२) वैशाली नरेश चेटक की पुत्री, महावीर की ममेरी बहन और राजा शतानीक की पत्नी। इनकी

गणना जैन धर्म में १६ सतियों में की जाती है। इनकी कथा भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध है। उसके अनुसार जब वे गर्भवती हुईं तो एक दिन उन्हें रुधिरस्नान का दोहद हुआ। उसे पूरा करने के लिये प्रधान मंत्री युगंधर ने बावली को लाल रंग के पानी से भरवा दिया। उसमें स्नान कर ज्यों ही मृगावती बाहर आईं, मांसपिंड जानकर भारंड नामक पक्षी उन्हें अपने पंजे में दबोचकर उड़ गया। १४ बरसों तक शतानीक ने उनकी खोज कराई पर कुछ पता न चला। एक दिन एक बनवासी कंकण बेचते हुए पकड़ा गया जिस-पर राजा का नाम अंकित था। उसे ही रक्तस्नान के दिन मृगावती ने पहना था। राजा ने कंकण देखते ही पहचान लिया। इस प्रकार बनवासी की सहायता से रानी मृगावती अपने पुत्र उदयन के साथ शतानीक को पुन: प्राप्त हुईं। कुछ दिनों पश्चात् एक चित्रकार के पास मृगावती का चित्र देखकर उज्जैन नरेश प्रद्योत उनपर मुग्ध हो गया और शतानीक से उनकी माँग की। किंतु शतानीक ने देने से इनकार कर दिया। इसपर दोनों में युद्ध छिड़ गया। इसी बीच शतानीक की मृत्यु हो गई और महावीर कौशांबी पधारे। मृगावती ने उनसे दीक्षा ग्रहण की और ९० समय उपवास कर मोक्ष प्राप्त किया।

जैन साहित्य में इस कथा की चर्चा है ही; महायान बौद्ध पिटक में भी सुधन मनोहरा की कथा के रूप में इसकी चर्चा है।

१६वीं शताब्दी के आरंभ (१५०३-०४ ई०) में, कुतबन नामक मुसलमान कवि ने मिरगावती नाम से एक प्रेमाख्यानक काव्य प्रस्तुत किया है। इस काव्य की कथा है कि कचन नगर के राजा रूप मुरारी की बेटी मृगावती मृगी का वेश धारण कर बन में विचरण कर रही थी। उसे चंद्रगिरि के राजा गणपति देव के पुत्र ने देखा और उसपर आसक्त हो गया और उसकी खोज में योगी वेश धारण करके निकला। मार्ग में रुपमणि नामक राजकुमारी की राक्षस से रक्षा कर विवाह किया। फिर उसे छोड़ कर मृगावती की खोज में चल पड़ा। नाना कष्ट सहते हुए कंचन नगर पहुँचा और वहाँ मृगावती को राज करते पाया। वहाँ १२ बरस रहा। जब वह घर न लौटा उसे बुलाने के लिये उसके पिता ने दूत भेजा। रास्ते में वह रुपमणि से मिलता हुआ राजकुमार के पास पहुँचा और उसे लौटा लाया। अंत में एक दिन आखेट करते हुए राजकुमार की मृत्यु हो गई और मृगावती और रुपमणि उसके साथ सती हो गईं। इस कथा के आधार पर पीछे अनेक लोगों ने हिंदी और बँगला में रचनाएँ की हैं। [प० ला० गु०]

मृच्छकटिक संस्कृत नाट्य साहित्य में यह सबसे अधिक लोकप्रिय रूपक है। इसमें १० अंक हैं। भरत के अनुसार दस रूपों में से यह मिश्र प्रकरण का सर्वोत्तम निदर्शन है। इसकी कथावस्तु कविप्रतिभा से प्रसूत है। उज्जयिनी का निवासी सार्थवाह विप्रवर चारुदत्त इस प्रकरण का नायक है और वारवनिता के कुल में उत्पन्न वसंतसेना नायिका है। चारुदत्त की पत्नी धूता पूर्वपरिग्रह के अनुसार ज्येष्ठा है जिससे चारुदत्त को रोहितसेन नाम का एक पुत्र है। चारुदत्त किसी समय बहुत समृद्ध था परंतु वह अपने दया दाक्षिण्य के कारण नि:स्व हो चला था, तथापि प्रामाणिकता, सौजन्य एवं औदार्य के नाते उसकी महती प्रतिष्ठा थी। वसंतसेना नगर की शोभा है, अत्यंत उदार, मनस्विनी एवं व्यवहारकुशला, रूपगुणसंपन्ना साधारणी नवयौवना नायिका उत्तम प्रकृति की है और वह असाधारण गुणों से मुग्ध हो उसपर निर्व्याज प्रेम करती है। नायक की यों एक साधारणी और एक स्वीया नायिका होने के कारण यह संकीर्ण प्रकरण माना जाता है। इसकी कथावस्तु तत्कालीन समाज का पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित्व करती है। यह केवल व्यक्तिगत विषय पर ही नहीं अपितु इस युग की शासनव्यवस्था एवं राज्यस्थिति पर भी प्रचुर प्रकाश डालता है। साथ ही साथ यह नागरिक जीवन का भी यथावत् चित्र अंकित करता है। इसमें नगर की साज सजावट, वारांगनाओं का व्यवहार, दास प्रथा, द्यूत क्रीड़ा, विट की धूर्तता, चौर्यकर्म, न्यायालय में न्यायनिर्णय की व्यवस्था, अवांछित राजा के प्रति प्रजा के द्रोह, एवं जनमत के प्रभुत्व का सामाजिक स्वरूप भली भाँति चित्रित किया गया है, साथ ही समाज में दरिद्रजन की स्थिति, गुणियों का संमान, सुख दु:ख में समरूप मैत्री के निदर्शन, उपकृत वर्ग की कृतज्ञता, निरपराध के प्रति दंड पर क्षोभ, राजवल्लभों के अत्याचार, वारनारी की समृद्धि एवं उदारता, प्रणय की वेदी पर बलिदान, कुलांगनाओं का आदर्श चरित्र जैसे वैयक्तिक विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस विशेषता के कारण यह यथार्थवादी रचना संस्कृत साहित्य में अनूठी है। इसी कारण यह पाश्चात्य सहृदयों को अत्यधिक प्रिय लगी। इसका अनुवाद विविध भाषाओं में हो चुका है, और भारत तथा सुदूर अमरीका, रूस, फ्रांस, जर्मनी, इटली, इंग्लैंड के अनेक रंगमंचों पर इसका सफल अभिनय भी किया जा चुका है।

मृच्छकटिक की न केवल कथावस्तु ही अत्यंत रोचक है, अपितु कवि की चरित्रचित्रण की चातुरी बहुत उच्च कोटि की है। यद्यपि इसमें प्रधान रस विप्रलंभ शृंगार है तथापि हास्य, करुण, भयानक एवं वात्सल्य जैसे हृदयहारी विविध रसों का सहज सामंजस्य है। ग्रीक नाट्यकला की दृष्टि से भी परखे जाने पर इसका मूल्य पाश्चात्य मनीषियों द्वारा बहुत ऊँचा आँका गया है। इसकी भाषा प्रसाद गुण से संपन्न हो अत्यंत प्रांजल है। प्राकृत के विविध स्वरूपों का दर्शन इसमें होता है — प्राच्या, मागधी और शौरसेनी के अतिरिक्त, सर्वोत्तम प्राकृत महाराष्ट्री और आवंती के भव्य निदर्शन यहाँ उपलब्ध होते हैं। पिशल के अनुसार इस प्रकरण में शाकारी विभाषा में ढक्की प्राकृत का भी प्रयोग पाया जाता है। शब्दचयन में माधुरी एवं अर्थव्यक्ति की ओर कवि ने सविशेष ध्यान दिया है, जिससे आवंती एवं वैदर्भी रीति का निर्वाह पूर्ण रूप से हुआ है।

यह महाराज शूद्रक की कृति मानी जाती है जो भास और कालिदास के मध्ययुगीन राजकवि हुए हैं। मृच्छकटिक ईसवी प्रथम शती के लगभग की रचना कही जा सकती है। कहा जाता है, भासप्रणीत चारुदत्त नामक चतुरंगी रूपक की कथावस्तु को परिवर्धित कर किसी परवर्ती शूद्र कवि के द्वारा मृच्छकटिक की रचना हुई है। वस्तुत: इसकी कथावस्तु का आधार बृहत्कथा और कथासरित्सागर में वर्णित कथाओं में मिलता है।

मृच्छकटिक पर अनेक टीकाएँ लिखी गई। इसके अनेक अनुवाद भी हुए हैं और अनेक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें से सर्व-प्राचीन टीका पृथ्वीधर की है। जीवानंद ने भी एक व्यापक टीका लिखी। हरिदास की व्याख्या अत्यंत मार्मिक है। आर्थर रायडर द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद हार्वर्ड युनिवर्सिटी सीरीज़ में प्रकाशित हुआ है।
[सु० ना० सा०]

मृत्तिका या चीनी मिट्टी निसर्ग भूमि के तीन प्रमुख अवयव हैं, रेत, सिल्ट और मिट्टी। इनके कणों के आकार में तो अंतर है ही, इनके रासायनिक तथा भौतिक गुण भी भिन्न हैं।

रेत साधारणतया सिलिका और स्फटिक की बनी होती है। सिलिका और स्फटिक निष्क्रिय होते हैं। रेत का आकार ०·०६ मिमी० से २ मिमी० तक का होता है। रेत के कणों में संसंजन (cohesion) और केशिकात्व (capillarity) नहीं होता, किंतु पारगम्यता (permeability) अधिक होती है।

सिल्ट के घटक सिलिका और स्फटिक ही हैं, किंतु इसके कणों का आकार ०·००२ मिमी० से ०·०६ मिमी० तक का होता है। सिल्ट के कणों में संसंजन नहीं होता, लेकिन केशिकात्व काफी होता है।

मिट्टी के कणों का आकार ०·००२ मिमी० से कम होता है। रेत और सिल्ट से इसकी असमानता यह है कि मिट्टी के कण रसायनतः आविष्ट (chemically charged) होने के कारण रसायनकों से अभिक्रिया करते हैं।

मिट्टी की अधिकता से भूमि में केशिकात्व तथा संसंजन आता है। ऐसी भूमि गीली होने पर फूलती है तथा सूखने पर सिकुड़ती है।

मिट्टी के इन स्पष्ट भौतिक गुणों का कारण उसमें कोलायडीय कणों की उच्च प्रतिशतता है, जिससे हाइड्रोजन, सोडियम, कैलसियम, पोटैशियम, मैग्नीशियम आदि के आयन पृष्ठ से अधिशोषित (adsorbed) होते हैं। ये आयन विनिमेय हैं, अर्थात् विलयन (solution) में ये दूसरे आयनों से प्रतिस्थापनीय (replaceable) हैं।

इन आयनों को अधिशोषित करने की उच्चतम क्षमता को क्षार की विनिमय धारिता (base exchange capacity) कहते हैं। आयनों की क्षारक विनिमय धारिता जितनी अधिक होगी उनका विशिष्ट पृष्ठक्षेत्र (specific surface area) भी उतना ही अधिक होगा। मिट्टी के गुण पृष्ठ पर अधिशोषित धनायन (cation) पर निर्भर करते हैं।

मिट्टी की संरचना — भिन्न भिन्न मिट्टियों के रासायनिक अवयव एक ही हैं, अर्थात् विभिन्न मात्रा मे मै$_{\text{ग}}$ओ (M_gO), कै ओ (CaO), पो$_2$ ओ (K_2O), सो$_2$ओ (Na_2O) के साथ सिओ$_2$ (SiO_2), ऐ$_2$ओ$_3$ (Al_2O_3), लो$_2$ओ$_3$ (Fe_2O_3) तथा जल, किंतु भिन्न मिट्टियों मे खनिज यौगिक भिन्न होते हैं। अनेक वैज्ञानिकों के एक्स किरण तथा सजातीय शैल विश्लेषण (petrographic analysis) संबंधी प्रयोगों के फलस्वरूप मिट्टी-खनिज के दो मुख्य समूह निश्चित हुए हैं। वर्गीकरण का आधार क्रिस्टल जालक (crystal lattice) की बनावट है।

केओलिन समूह — इस समूह के खनिज सिलिका और ऐल्यूमिना के एक एक चादरों से बने होते हैं।

मांट मारिलोनाइट समूह — इस समूह के खनिज के क्रिस्टल जालक दो इकाई सिलिका चादर और एक इकाई ऐल्यूमिना चादर से बने होते हैं।

क्रिस्टल जालक संरचना की भिन्नता के फलस्वरूप इन दो समूहों की मिट्टियों के रासायनिक तथा भौतिक गुणों में महान् अंतर होता है।

केओलिन खनिज की क्षार विनिमय धारिता निम्न और उसका अधिशोषण गुण भी कम होता है, जब कि मांटमारिलोनाइट खनिज का धनायन-अधिशोषण अत्युच्च होता है।

भारत के मिट्टी समूहों में प्रधान कपास की काली मिट्टी, जो प्रायः समस्त मध्य तथा दक्षिण भारत में छाई हुई है, मांटमारिलोनाइट समूह की है। इसका मुख्य गुण सिकुड़ना तथा फैलना है, जो भवन तथा सड़क निर्माण की समस्या है। इधर की खोज से सिद्ध हुआ है कि मोटे चूने (fat lime) से अभिक्रिया कराने पर मिट्टी का फूलना बहुत कुछ कम हो जाता है।

सं० ग्रं० — राल्फ ई० ग्रि० : क्ले मिनरेलॉजी, मैक ग्रॉ हिल बुक कंपनी, १९५३; एल० डी० बेवर : सॉयल फिजिक्स, जॉन विले ऐंड सस, आई. एन सी., न्यूयार्क, १९५६; जी० डी० रॉबिन्सन : सॉयल्स, टॉमस मर्बी ऐंड कंपनी, लंदन १९५१। [ह० ला० ज०]

मृत्तिकाशिल्प (Ceramics) 'सिरैमिक्स' ग्रीक भाषा के 'कैरेमिक' से व्युत्पन्न है। 'कैरेमिक' का अर्थ है कुंभकार का शिल्प। अमरीका मे मृद भांड, दुर्गलनीय पदार्थ कांच, सीमेंट, एनैमल तथा चूना उद्योग मृत्तिका शिल्प के अंतर्गत हैं। गढ़ने तथा सुखाने के बाद अग्नि द्वारा प्रज्वलित मिट्टी या अन्य सुघट्य पदार्थ की निर्मिति को यूरोप में मृत्तिका शिल्प उत्पादन कहते हैं। मृत्पदार्थों के निर्माण, उनके तकनीकी लक्षण तथा निर्माण में प्रयुक्त कच्चे माल से संबंधित उद्योग को हम मृत्तिका शिल्प या सिरैमिक्स कहते हैं।

मिट्टी के उत्पाद अनेक क्षेत्रों में, जैसे भवन निर्माण तथा सजावट, प्रयोगशाला, अस्पताल, विद्युत उत्पादन और वितरण, जलनिकास मलनिर्यास, पाकशाला, ऑटोमोबाइल तथा वायुयान आदि में काम आते हैं।

मिट्टी के बरतनों का वर्गीकरण — बौरी (Bourry) ने मिट्टी के बर्तनों को दो वर्गों में रखा है : पारगम्य, जो जलशोषक हैं, तथा अपारगम्य जो अत्यल्प जलशोषक या बिलकुल अशोषक हैं। पारगम्य तथा अपारगम्य, दोनों ही काचित या अकाचित हो सकते हैं। अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण इस प्रकार है :

(१) टेराकोटा (Terracota) — १,०००° सें० या इससे कम ताप पर पकाए, लाल या पांडु मिट्टी के सरंध्र तथा अकाचित बरतन टेराकोटा हैं। ईंट तथा छाजन के खपरैल टेराकोटा के उदाहरण हैं।

(२) मिट्टी के सामान (Earthenware) — इस वर्ग में वे समान आते हैं जो सफेद या रंगीन मिट्टी के बने, सरंध्र तथा लुक

(glaze) के आवरण चढ़े होते हैं। इसके उदाहरण फ्रांस के फेयेंस (Faience), मैजोलिका, लौह पाषाण, चकमक तथा रॉकिंघम पात्र हैं। भारत में खुर्जा के नीले बरतन, चुनार के भूरे बरतन, बंगाल पॉटरीज, कलकत्ता, जामनगर तथा ग्वालियर के सफेद बरतन, इसी श्रेणी में आते हैं।

(३) पाषाण भांड (Stoneware) — सफेद या रंगीन पकी हुई मिट्टी के काचित या अपारदर्शी बरतनों को पाषाण भांड कहते हैं। सफेद बरतनों पर प्राय: पोर्सिलेन जैसा और रंगीन बरतनों पर भूरा या पीताभ भूरा काच होता है। निकास नलों पर लवण काच होता है।

(४) पोर्सिलेन — श्वेत, अपारगम्य, काचित तथा काट (section) में पारभासक बरतन इस वर्ग में आते हैं। इस वर्ग के निम्नलिखित उपवर्ग हैं :

(क) कठोर पोर्सिलेन — यह साधारणतया चीनी मिट्टी (kaolin), सुघट्य मिट्टी (ball clay), स्फटिक तथा फेलस्पार से बनता है। यह पहले ९००° सें०,या इससे कम ताप पर, हलका बादामी (biscuit) तथा दूसरी बार १,३००° सें० या इससे कम ताप पर पकाया जाता है। इसपर अत्यंत कठोर काच होता है। रासायनिक पोर्सिलेन और भी कठोर होता है तथा अधिक उच्च ताप पर पकाया जाता है।

(ख) मृदु पोर्सिलेन — इसमें २० प्रति शत फ्रिट या कांच, पिथर (पोर्सिलेन के टुकड़े) मिले रहते हैं। पहले इसे १,२००° सें० पर हलका बादामी तथा बाद में १,०५०°-१,१५०° सें० पर पकाते हैं।

(ग) अस्थि पोर्सिलेन (Bone China) — इसमे काच, फ्रिट आदि के स्थान पर अस्थिराख होती है। अस्थिराख की मात्रा २० से ४० प्रति शत हो सकती है। इसे पहले १,२००° सें० पर हलका बादामी तथा दूसरी बार १,०००°–१,१००° सें० पर पकाते हैं।

(घ) पेरियन पोर्सिलेन (Perion Porcelain) — यह साधारणतया चीनी मिट्टी, फेल्स्पार, तथा अल्प ज़िंक ऑक्साइड से बना होता है। ज़िंक ऑक्साइड से सफेदी आती है। यह एक ही बार १,२५०° सें० पर पकाया जाता है तथा बेकाचित होता है। यह अधिकतर खिलौने तथा मूर्ति निर्माण के काम आता है।

(ङ) मैग्ना पोर्सिलेन (Magna China) — मिट्टी फेल्स्पार, स्फटिक के अतिरिक्त सागरजल से प्राप्त अवक्षिप्त मैग्नीशियम हाइड्रॉक्साइड से बनाया जाता है। यह बिलकुल सफेद तथा आकर्षक होता है। इसे पहले ऊँचे ताप पर तथा दूसरी बार कम ताप पर पकाया जाता है।

(५) ऊष्मसह (Refractory) — इस शब्द से सरंध्र तथा अकाच उत्पादों का बोध होता है। ये बहुत ऊँचे ताप पर भी चटकते नहीं। इनका निर्माण अग्निसह मिट्टी और अन्य अग्निसह पदार्थों से होता है। ये उत्पादन भट्ठियाँ बनाने के काम आते हैं।

६. विशेष उच्चतापसह बरतन — विशेष उच्चतापसह बरतनों में मिट्टी के स्थान पर कोई अन्य सुघट्य पदार्थ होता है। प्रधानतया ऐल्यूमिना तथा जर्कोनिया का उपयोग होता है। उदाहरण के लिये स्फुलिंग प्लग (sparking plug) का कलेवर ऐल्यूमिना का होता है। अम्ल की प्रक्रिया से ऐल्यूमिना सुघट्य बनाया जाता है। जेट वायुयानों में प्रयुक्त होनेवाला सर्मेट्स या सर्मेट्स भी ऐसा ही है।

मृत्तिका शिल्प का संक्षिप्त इतिहास — मृत्तिका शिल्प अति प्राचीन उद्योग है। मिट्टी के बरतन कब से आग में पकाए जाने लगे, इसका ठीक पता नहीं लगता। नील की घाटी की खुदाई में उपलब्ध पकी हुई मिट्टी के बरतन अनुमानत: १३,००० वर्ष पुराने हैं। इंग्लैंड, बेल्जियम तथा जर्मनी की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि हिमनदी अवधि मे मिट्टी के बरतन हाथ से बनाए और बाद मे पकाए जाते थे। इन सूत्रों से सिद्ध होता है कि १,५०० ई० पू० से ही मिट्टी के बरतन बनते चले आ रहे हैं।

मृत्तिका शिल्प के विकास का तैथिक विवरण निम्नलिखित है .

विधि या तकनीकी	क्रमिक विकास का काल	देश जहाँ विकास पहले हुआ
चिकनी मिट्टी का प्रयोग	१५,००० ई० पू०	विश्व में सर्वत्र
मिट्टी के बरतनों का फूँका जाना	१५००० से १३,०००	"
काचित बरतन उद्योग	५,००० ई० पू०	मिस्र
,	२,७०० ई० पू०	चीन
नीली तथा हरी चमक	३,५०० ई० पू०	१ मिस्र २. बेबिलोनिया ३. एसीरिया ४ मीडिया की राजधानी एकिलबातामा ५ पर्शिया
कुम्हार का चाक	३,००० ई० पू० या और भी अधिक	विश्व मे स्वतन्त्र रूप से सर्वत्र
ईंट, खपरैल, लाल मिट्टी के पाषाण बरतन नल, तथा स्नान कुंड।	८०० ई० पू०	रोम तथा उसके उपनिवेश
लोहा, मैंगनीज, मैग्नीशियम तथा लकड़ी के कोयले का कलेवर में उपयोग।	"	"
कठोर पोर्सिलेन (अपारदर्शी श्वेत)	१८५ ई० पू०	चीन
कठोर पोर्सिलेन (पारभासी)	५८१ ई० १७०८ ई०	१. चीन २ यूरोप, जर्मनी, बॉटगर
मृदु पोर्सिलेन, पारभासी	१६७० ई० १६९३ ई०	१. इंग्लैंड (ड्वाइट) २. फ्रांस (चिकेनियम)
अस्थि पोर्सिलेन (पारभासी)	१८वी शताब्दी	इंग्लैंड (शेल्टनका एस्टबरी)
स्लिप कास्टिंग प्रोसेस	"	इंग्लैंड
ट्रांसफर डेकोरेशन	१७५२ ई०	इंग्लैंड (जॉन सैड्लर तथा गाय् ग्रीन)
प्लास्टर साँचे	१८वी शती	इंग्लैंड
माजोलिका	१२वी शती १७वी शती	मजोलिका द्वीप स्पेन इंग्लैंड
फेयेंस	१६वी शती	डच
लवण काचित नल	१२वी शती १७वीं शती	जर्मनी इंग्लैंड
उच्च ताप शंकु (Seger Cone)	१९वीं शती	जर्मनी (एच० ए० सेगर)
मैग्ना पोर्सिलेना (पारभासी)	१९५२ ई०	जापान (सैंगो काइशा)

भारतीय मृत्तिका शिल्प — मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई

में सिंधु घाटी सभ्यता (३,००० ई० पू०) काल के मिट्टी के बरतन उपलब्ध हुए हैं। इसमें घरेलू तथा कर्मकांड के सभी प्रकार के बरतन हैं। बरतनों पर सुंदर नक्काशी तथा रंगीन चित्र हैं। उनपर बनी आकृतियाँ ज्यामितीय तथा बरतन की आकृति के अनुरूप हैं। इसके अतिरिक्त पकी मिट्टी के खिलौने हैं, जो तत्कालीन शिल्प का परिचय देते हैं। भारत के अन्य ऐतिहासिक स्थलों में खुदाई से प्राप्त भग्नावशेष कृतित्व और सौंदर्य में नवपाषाणयुगीन विदेशी कला के समकक्ष हैं।

मोहनजोदड़ो के काचित बरतन प्राचीनतम हैं। कुछ अवशेष तो इतने पुराने हैं कि मेसोपोटामिया या अन्यत्र कहीं भी वैसे उपलब्ध नहीं हैं। यह उद्योग कुछ काल के लिये भारत से लुप्त हो गया और कुषाण काल (१ ई०) में पुनः पल्लवित हुआ। तब से काचन कला कभी नष्ट नहीं हुई, यद्यपि उसका ह्रास और उत्कर्ष होता रहा।

हिंदू कुम्हारों की प्रतिभा घरेलू पात्रों के उत्पादन तक सीमित थी। मिट्टी के बरतनों का खानपान में उपयोग न होने से काचित पात्रों का विकास न हो सका।

मुसलमानों ने काचित खपरैल तैयार कर काचन कला का उत्कर्ष किया। १३वीं शताब्दी में चंगेज खाँ के साथ काचित पदार्थ भारत में आए। कुछ कुम्हार तैमूरलंग के साथ भारत में आकर दिल्ली, मुलतान, कसूर, खुर्जा, जयपुर, रामपुर तथा सिंध में बस गए और मिट्टी के नीले बरतनों का व्यवसाय अपनाया। खुर्जा में ताम्रहरित, गहरा नीला तथा फीरोजी चित्रों से सज्जित मिट्टी के बरतन बनाने का उद्योग १९२६ ई० तक चला। स्थानीय लाल मिट्टी की निर्मितियों पर सफेद मिट्टी का आवरण (तकनीकी नाम एनगोब) चढ़ाया जाता था। हैदराबाद, बड़ोदा तथा गवर्नमेंट पोटरी डेवलपमेंट सेंटर, खुर्जा, के संग्रहालयों में ऐसे मिट्टी के बरतन हैं। उभरी हुई नक्काशीवाला एक पात्र खुर्जा के पात्रों में आकर्षण का केंद्र है। सिंध भी मिट्टी के काचित बरतनों के लिये प्रसिद्ध है।

पेशावर, चुनार, निजामाबाद तथा वेल्लोर के मिट्टी के बरतन तकनीकी दृष्टि से विदेशी प्रभाव से मुक्त थे। पेशावर के कुंभकार एनगोब तकनीक का भी प्रयोग करते थे। लाल मिट्टी के कलेवर को खैबर की सफेद मिट्टी से लेपकर लेड ऑक्साइड के लुक में डुबाया जाता था, परंतु सजावटी, चिनपके बरतनों पर मैंगनीज निर्मित रंग से खाका खींचकर, ताम्र निर्मित रसायन से भर दिया जाता था। लाल रंग लोह ऑक्साइड से और काला एक काले खनिज से प्राप्त होता था। लोह ऑक्साइड और खनिज खैबर से मिल जाते थे। नीला रंग कोबाल्ट से प्राप्त होता था। पेशावर का उत्पादन इंग्लैंड, रूस, हॉलैंड तथा चीन के कलात्मक उत्पादों के जोड़ तोड़ का होता था।

मर्तबान, चिलम, लोटे, तथा प्याले लाहौर के प्रमुख उत्पादन थे। मर्तबान का आकार और रूपांकन बर्मा से प्रभावित था। जालंधर में भी कुछ अच्छे काचित बरतन बनते थे। गुजरानवाला पतले काठ के बरतनों के लिये, जिन्हें कागजी बरतन कहते थे, प्रसिद्ध था।

प्राचीन दक्षिण भारत के कलात्मक, मृत्तिका शिल्प उत्पादों में नक्काशीदार आभूषणों से सज्जित, पक्वमृद् भांड उल्लेखनीय हैं। उन दिनों मानव आवासों के निकट पवित्र स्थानों में मिट्टी के विशालकाय जीवों को प्रतिष्ठित करने की प्रथा थी। ये जीव आज भी कहीं कहीं देखे जाते हैं। १४ वीं शती के बाद घरों और देवालयों में मिट्टी की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा होने लगी। वेल्लोर में उजली मिट्टी के उत्पादों पर आकर्षक हरे तथा नीले रंग का काच होता था। दक्षिण भारत के मृद्भांड के अन्य केंद्र मदुरै, उदयगिरि, सेलम तथा विशाखपत्तनम् हैं।

भारत में उच्चतापीय श्वेत भांडों का निर्माण २० वीं शती में प्रारंभ हुआ। श्री डी० सी० मजूमदार ने ग्वालियर में पहली फैक्टरी स्थापित की। इसके बाद कई फैक्टरियाँ स्थापित हुईं। बर्न ऐंड कंपनी ने सन् १८५९ में ऊष्मसह ईंटें बनाईं। १९०९ ई० में 'टाटा आयरन ऐंड स्टील वर्क्स' की स्थापना के बाद देश भर में ऊष्मसह निर्माण फैक्टरियाँ फैल गईं।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने भारत में सर्वप्रथम मृद्भांड उद्योग की शिक्षा की व्यवस्था की। 'सेंट्रल ग्लास ऐंड सिरैमिक रिसर्च इंस्टिट्यूट, कलकत्ता,' 'सेंट्रल पॉटरी ट्रेनिंग इंस्टिट्यूट, खुर्जा', 'सिरैमिक इंस्टिट्यूट, कलकत्ता', 'गवर्नमेंट सिरैमिक फैक्टरी, गूडूर,' तथा गवर्नमेंट डिमान्स्ट्रेशन सेंटर, बेलगाँव', भारत की प्रमुख अनुसंधान तथा प्रशिक्षण संस्थाएँ हैं। [त्रि० ना० श०]

मृत्यु समस्त शारीरिक क्रियाओं का स्थायी अवसान है। मृत्यु के निम्नलिखित चिह्न हैं :

१. रुधिर परिसंचरण का पूर्णतया रुक जाना — मृत्यु से हृदय का कार्य पूर्ण रूप से रुक जाता है तथा रुधिरसंचरण बंद हो जाता है। लगातार पाँच मिनट तक हृदयस्पंदन को स्टेथॉस्कोप यंत्र से सुनने पर कुछ भी नहीं सुनाई देता। नाड़ी का स्पंदन लुप्त हो जाता है। हृदयप्रदेश पर हथेली रखने से उसके नीचे कोई हरकत नहीं मालूम होती। नाखून को दबाने पर उसमें रुधिर नहीं दिखाई पड़ता तथा होंठ और नख नीले दिखाई देते हैं। २. श्वसन का पूर्णतया रुक जाना — लगातार पाँच मिनट तक स्टेथॉस्कोप से फुफ्फुस की परीक्षा से साँस रुक जाने का पता लगता है। स्पष्टीकरण के लिये चमकदार स्वच्छ दर्पण को व्यक्ति के मुख या नाक के पास रखने से उसपर कोई धुँधलापन नहीं होता। किसी डोरे, या पक्षी के पंख को नाक या मुख के पास रखने पर यदि कोई कंपन मालूम हो तो यह समझना चाहिए कि श्वासक्रिया हो रही है, अन्यथा नहीं। ३. त्वचा में परिवर्तन — मृत्यु के पश्चात् त्वचा की चमक जाती रहती है, जिससे शव का वर्ण पीत अथवा श्वेत हो जाता है। त्वचा की प्रत्यास्थता नष्ट हो जाती है तथा काटने पर रुधिरस्राव नहीं होता। ४. नेत्रों में परिवर्तन — आँखों की पुतलियों की क्षमता नष्ट हो जाती है। अँगुलियों से स्पर्श करने पर भी ये बंद नहीं होतीं। कृष्ण मंडल की पारदर्शकता नष्ट हो जाती है और वह धुँधला तथा परांध दिखाई देता है। ५. शरीर का ठंडा होना — मृत्यु के पश्चात् समस्त शरीर ठंडा हो जाता है और शव का ताप आसपास के वायुमंडल के ताप के बराबर हो जाता है। मृत्यु के प्रथम तीन घंटे में शव का ताप २ सें० प्रति घंटे के हिसाब से, और उसके बाद लगभग ०·५ सें० प्रति घंटे के हिसाब से, घटता है, परंतु आयु, शव की स्थूलता, बाह्य परिस्थिति तथा मृत्यु के कारण के अनुसार ताप के ह्रास में परिवर्तन होता देखा गया है। ६. अंत में शव की अकड़न (rigor mortis),

शव की नीलिमा (cadaveric lividity), सड़ांध (putrefaction) तथा शारीरिक वसा का साबुनीकरण (saponification) इत्यादि, मृत्यु के विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं।

मृत्यु के प्रकार — मृत्यु के मुख्यत: दो प्रकार हैं : १. प्राकृतिक और २. आकस्मिक। ये दोनों मुख्य रूप से तीन कारणों से होते हैं : (क) हृदयकार्यावरोध (Heart failure), (ख) श्वासावरोध (Asphyxia) तथा (ग) अति मूर्च्छा या निश्चेतनता (Coma)।

१. प्राकृतिक मृत्यु — यह मृत्यु स्वभावत जीव के पर्याप्त अवस्था तक पहुँच जाने पर प्राकृतिक रूप से शरीर के अवयवों के जीर्ण एवं विदीर्ण हो जाने के फलस्वरूप होती है।

२. आकस्मिक मृत्यु — आकस्मिक दुर्घटना, आघात या विष के सेवन से आकस्मिक मृत्यु हो सकती है; परंतु कभी कभी निम्नलिखित शारीरिक कारणों से भी आकस्मिक मृत्यु होती है :

(क) रुधिर परिसंचरण संबंधी कारण — १. परिहृद पर वसानिक्षेपण (deposit of fat on pericardium), हृत्कपाट के रोग (valvular disease), परिमंडल रक्तस्रोतरोधन और थ्रॉम्बोसिस (coronary embolism and thrombosis) तथा हृदय के आवरण के रोग इत्यादि; २. धमनी काठिन्य (arteriosclerosis), धमनी विस्फारण (aneurism), रक्तस्रोतरोधन (embolism) तथा शिरावक्रता और विस्तार (vericose vein) और ३. अंत:करोटि रक्तस्राव (intracranial haemorrhage), जो मस्तिष्कगत धमनी के फट जाने से प्राय: उच्च रक्तचाप, फिरंग, मदात्यय आदि से ग्रस्त व्यक्तियों में होता है।

(ख) पाचनसंस्थान तथा अन्य कोष्ठ्य अंगों से संबंधित कारण — आमाशय के व्रणों का फटना, प्लीहा, यकृत, पित्ताशय, मूत्राशय, गर्भाशय, तथा आंत्र के विकार इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(ग) श्वसनतंत्र संबंधी कारण — इसके अंतर्गत श्वसनतंत्र के वे सभी रोग आते हैं जिनके कारण श्वासावरोध उत्पन्न होकर ऑक्सीजन की कमी से मृत्यु हो जाती है।

(घ) नाड़ी संबंधी कारण — १. मानसिक, या शारीरिक आकस्मिक स्तब्धता (mental and physical shock) की अवस्था तथा २. शरीर की आंतरिक परीक्षा के समय शलाका इत्यादि के प्रयोगकाल में आकस्मिक हृदयस्तब्धता के कारण मृत्यु।

(ङ) संक्रामक रोग, विसूचिका, प्लेग, इंफ्लुएंजा, रोहिणी इत्यादि, तीव्र संक्रामक रोगों के कारण भी अकस्मात् मृत्यु हो सकती है। [प्रि० कु० चौ०]

मृत्युदर देशों की जनसंख्या विभिन्न होने के कारण प्रति १,००० जनसंख्या की मृत्युदरों के आधार पर उनके मृत्यु आँकड़ों की तुलना किए जाने की प्रथा है। उदाहरणतया १९४१-५० में भारत की मृत्युदर पंजीकृत आँकड़ों के अनुसार २० थी, अर्थात् औसतन ३४ करोड़ की आबादी में प्रति वर्ष ६८ लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। जो मृत्युदर एक कैलेंडर वर्ष के भीतर हुई कुल मृत्युओं के और उसी अवधि में जीवित संपूर्ण जनसंख्या के अनुपात से प्राप्त होती है, उसे स्थूल वार्षिक मृत्युदर (crude annual death rate) कहते हैं। मृत्युदरों का परिकलन प्रत्येक लिंग (पुरुष और स्त्री) तथा वय और राष्ट्र की प्रत्येक जाति के लिये अलग अलग किया जा सकता है।

जब किसी विशिष्ट वय पर, एक कैलेंडर वर्ष के भीतर हुई मृत्युओं की संख्या में उस वय पर जीवित जनसंख्या से भाग किया जाता है, तो वार्षिक वयविशिष्ट (age specific) की मृत्युदर मिलती है। वयवृद्धि के साथ वयविशिष्ट मृत्युदर में प्रभाववाली विचरण होता है। जीवन के प्रथम वर्ष में यह मृत्युदर ऊँची होती है; शिशु की वय बढ़ने पर मृत्युदर कम होती जाती है और १०-१२ वर्ष की वय पर यह न्यूनतम होती है। इस वय से आगे मृत्युदर फिर बढ़ने लगती है, पहले मंद — गति से आयु के पाँचवें दशक तक (भारत में) और फिर जीवन की प्राकृतिक आयु तक अधिकाधिक द्रुतता से।

मानकीकृत मृत्युदर — वयविशिष्ट मृत्युदर में वयानुसार प्रभावशाली विचरण होने के कारण राष्ट्र की स्थूल मृत्युदर पर संपूर्ण जनसंख्या के वयोबंटन (age distribution) का भीषण प्रभाव पड़ेगा। यद्यपि दो राष्ट्रों की वयविशिष्ट दरें एक जैसी हों तथापि एक की स्थूल मृत्युदर दूसरे की अपेक्षा केवल इसी कारण उच्चतर हो सकती है कि उसकी जनसंख्या में बड़ा अंश उच्चतर वयवालों का है। दो राष्ट्रों की दशाओं की वैध तुलना के उद्देश्य से, इस विषमता के निवारण की एक विधि यह है कि मृत्युदरों से मानकीकृत मृत्युदर (standardized death rate) निर्धारित कर ली जाय। यह वह मृत्युदर है, जो राष्ट्र में तब होती जब उसकी जनसंख्या में वयोबंटन किसी उपयुक्त मानक जनतावाला होगा। इसके परिकलन हेतु निम्न क्रियाएँ आवश्यक हैं : (१) वयविशिष्ट मृत्युदरों का मानक जनता में उस वय वाले व्यक्तियों की संख्या से गुणा करना, (२) विभिन्न वयों वाले इन सब गुणनफलों को जोड़ना, (३) योगफल में मानक जनता की जनसंख्या से भाग देना और अंत में (४) भागफल वाले भिन्न को प्रति १,००० के रूप में प्रकट करना। ये ही क्रियाएँ लिंग और रंग भेद के अनुसार राष्ट्र के उपखंडों की मृत्युदर की गणना के लिये भी की जा सकती हैं।

अंतरराष्ट्रीय तुलनाएँ — भारत की मृत्युदरें विश्व के अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक हैं। १९४६-४८ में भारत की मृत्युदर १७·५ थी, जब कि संयुक्त राज्य, अमरीका, की १०·० और इंग्लैंड तथा वेल्स की ११·४ थी। इससे भी कम मृत्युदरें ये थीं : कनैडा ९·४, डेनमार्क ९·५, नीदरलैंड ८·० और नार्वे ९·१।

भारत में मृत्युदरों का परिकलन — जीवन सारणी शीर्षक के लेख में बताया गया है कि इस सारणी के लिये वयानुसार मृत्युदरें अत्यंत महत्वपूर्ण मद (item) हैं। अन्य सभी स्तंभ इससे प्राप्त किए जाते हैं। आयु के अनुसार एक वर्ष के भीतर हुई मृत्युओं की संख्या मृत्यु पंजीकरण द्वारा मिल जाती है और किसी विशेष वय वाले व्यक्तियों की संख्या के लिये उस वर्ष की और उससे अगले तथा पीछेवाले वर्षों की जनसंख्या का औसत लेने की प्रथा है। किंतु भारत बड़ा देश है और उसके विभिन्न भागों की मृत्युदरों में काफी अंतर है; फिर यहाँ मृत्यु और जन्म का पंजीकरण अत्यंत असंतोषप्रद है और औसत विधि का पालन नहीं हो पाता। इसलिये भारत

में जीवन सारणी बनाने के लिये यह देखा जाता है कि एक दस वर्षीय जन गणना में किसी अमुक वय की जनसंख्या क्या है और उससे ठीक पिछली जनगणना में उस वय से १० वर्ष कम वय वालों की संख्या क्या थी। प्रव्रजन की उपेक्षा करते हुए और गणितीय विश्लेषण का आश्रय लेकर, उत्क्रम-उत्तर-जीविता-विधि (reverse survival method) से अलग अलग वयों पर मृत्युदरों का परिकलन किया जाता है। यह अत्यंत संश्लिष्ट प्रक्रिया है। अभी तो पंजीकृत मृत्यु और जन्म आंकड़ों द्वारा मृत्युदरों का परिकलन दुराशामात्र है। यदि मृत्यु और जन्म आंकड़ों द्वारा मृत्यु पंजीकरण में सुधार भी हो जाय, तो भी मृतक की ठीक ठीक आयु का पता न लग पाएगा, क्योंकि राष्ट्रीय चेतना में न तो यथार्थ वय का ज्ञान रखने की क्षमता है और न ऐसा करना नागरिक कर्तव्य ही समझा जाता है।

मृत्युदर संबधी तथ्य — पश्चिमी देशों में देखा गया है कि मृत्युदर विवाहितों में न्यूनतम, और विधवाओं तथा विधुरों और तलाक शुदा व्यक्तियों में अधिकतम, होती है। विवाहित व्यक्तियों में मृत्युदर कम होने का कारण विवाह का जीवन में स्थिरता लाना है और साथ साथ अस्वस्थ व्यक्तियों का विवाह से वंचित रहना भी है। निम्नतम सामाजिक-आर्थिक वर्ग से उच्चतम वर्ग तक मृत्युदरों में कम देखा गया है। संयुक्त राज्य, अमरीका, में १९३० ई० में १५ और ६४ वर्ष की वयों के बीच मृत्युदरें विभिन्न वर्गों मे ये थीं : अकुशल श्रमिक, १३·१; अर्धकुशल श्रमिक, ९·९; कुशल श्रमिक, ८·१; वणिक, स्वामियों (प्रोप्राइटर्स), प्रबंध के अधिकारी, ७·४; व्यवसायी, ७·० और कृषि श्रमिक, ६·२। संयुक्त राज्य, अमरीका, में १९४८ ई० में प्रति १० लाख व्यक्तियों में १० बड़े कारणों से मृत्यु की दरें ये थीं : हृदय रोग ३२३, कैंसर १३५, प्रमस्तिष्कीय रक्तस्राव ९०, दुर्घटनाएँ, ६७, जन्मजात कुरचना आदि, ५५, नेफ्राइटिस, निमोनिया और श्रीतज्वर, ३९; तपेदिक, ३०; मधुमेह २६ और धमनी काठिन्य, १९। इन १० कारणों से ८५% मृत्युएँ हुईं।

प्रत्याशित आयु — जीवनसारणी नामक लेख में प्रत्याशित आयु ज्ञात करने की विधि बताई गई है। इस आंकड़े से भी वयविशिष्ट मृत्युदरों की संयुक्त माप मिल जाती है और यह एक प्रकार से मानकीकृत मृत्युदर से इस कारण श्रेष्ठतर है कि इसमें स्वेच्छया चुने गए वयोवंटन को मानक नहीं मानना पड़ता। भारत के कुछ जीवनमरण आंकड़े ये हैं :

वर्ष	प्रति सहस्र व्यक्ति		प्रति सहस्र जन्म पर शिशु मृत्युदर		जन्म पर जीवन प्रत्याशा	
	जन्म दर	मृत्यु दर	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
१९४१-५१	३९·९	२७·४	१९०·०	१७५·०	३२·५	३१·७
१९५१-५६	४१·७	२५·९	१६१·४	१४६·७	३७·८	३७·५
१९५६-६१	४०·७	२१·६	१४२·३	१२७·९	४१·७	४२·१

सं० ग्रं० — डबलिन, लोटका, स्पीगल मेन : लेंग्थ ऑव लाइफ (१९४९); वायटल स्टैटिस्टिक्स ऑव इंडिया; इंडिया १९६३; एच० एच० वुल्फेंडन : पॉपूलेशन स्टैटिस्टिक्स ऐंड देयर कॉम्पाइलेशन (१९५४); जे कोरन : माडर्न मैन ऐंड मॉर्टैलिटी (१९६१)। [कृ० चं० गु०]

मृदुविज्ञान मिट्टी को मनुष्य अनादिकाल से जानता है। धरती, जिसपर वह हल चलाता है, खेत जिसमें वह फसलें उगाता है और घर जिसमें वह रहता है, ये सभी हमें मिट्टी की याद दिलाते हैं। किंतु मिट्टी के संबंध में हमारा ज्ञान प्राय: नहीं के बराबर है। यह सभी जानते हैं कि अनाज और फल मिट्टी में उपजते हैं और यह उपज खाद एवं उर्वरकों के उपयोग से बढ़ाई जा सकती है, लेकिन मिट्टी की अन्य विशेषताओं के बारे में, जिनसे हम सड़क, भवन, धावनपथ (runway) तथा बंधों का निर्माण करते हैं, हमारा ज्ञान बहुत कम है।

मिट्टी के व्यवहार को भली प्रकार से समझने के लिये मिट्टी के रासायनिक और भौतिक संघटन का ज्ञान आवश्यक है।

मृदुभौतिकी — भौतिकी की दृष्टि से मिट्टी के तीन अवयव हैं, रेत, सिल्ट और मृत्तिका। रेत स्थूल अवयव है, जिसमें न केशिकात्व होता है और न संसंजन। रेत के कणों का आकार ०·०५ मिमी० से २ मिमी० के बीच होता है। सिल्ट के कण रेत से भी सूक्ष्म होते हैं। इनका आकार ०·०५ मिमी० से ०·००२ मिमी० के बीच होता है। सिल्ट में संसंजन नहीं होता, पर केशिकात्व पर्याप्त मात्रा में होता है। रेत और सिल्ट दोनों निष्क्रिय पदार्थ हैं। तीसरा महत्वपूर्ण अवयव मृत्तिका है, जिसके कण ०·००२ मिमी० से छोटे होते हैं। रेत, सिल्ट और मृत्तिका में प्रमुख अंतर यह है कि जहाँ रेत और सिल्ट निष्क्रिय होते हैं, वहाँ मृत्तिका रसायनत: सक्रिय होती है।

मिट्टी की बनावट काफी सीमा तक इन अवयवों की प्रतिशतता पर निर्भर है। रेत, सिल्ट और मृत्तिका की अधिकता होने पर मिट्टी को क्रमश: रेतीली, सिल्टी और मटियार कहते हैं। इन अवयवों का प्रति शत निर्धारण भौतिकीय विश्लेषण (Mechanical Analysis) कहलाता है।

रेतीली मिट्टी की बनावट (texture) खुली होती है, जिससे वायु संचारण पर्याप्त होता है और यदि मटियार भाग में खनिज पदार्थों की मात्रा यथेष्ट हो तो यह मिट्टी खेती के लिये अधिक उपयुक्त है। मटियार मिट्टी सूखने पर पर्याप्त सिकुड़ती है और पर्याप्त पानी से खूब फूलती भी है। ऐसी मिट्टी न तो कृषि के लिये अच्छी होती है और न मकान बनाने के लिये।

मृदसघनता — खुली बनावटवाली मिट्टी सघनता की कमी के कारण कृषि के लिये अच्छी होती है, क्योंकि जल अतिरिक्त स्थलों मे प्रविष्ट कर खनिज लवणों को घुला सकता है; पर इंजीनियरी के काम के लिये यह मिट्टी अच्छी नहीं होती, क्योंकि जल प्रवेश के कारण मिट्टी की दृढ़ता कम होती है। इंजीनियरी के काम के लिये मिट्टी में सघनता होनी चाहिए। मिट्टी जितनी सघन होगी, उसकी दाब प्रबलता और दृढ़ता भी उतनी अधिक होगी। सघनता का घनत्व (degree of compaction) वस्तुत: आर्द्रता की मात्रा पर निर्भर करता है। किसी विशिष्ट प्रकार की मिट्टी के लिये आर्द्रता की जो प्रतिशतता अधिकतम सघनता प्रदान करती है, वह उस मिट्टी की

इष्टतम आर्द्रता कही जाती है। इष्टतम आर्द्रता हलके रोलर की तुलना में भारी रोलर के लिये कम होती है। जिस मिट्टी में भिन्न आकार के कणों का संमिश्रण अच्छा होता है, उसका घनत्व उच्चतम होता है। संघनित मिट्टी की प्रबलता बनाए रखने के लिये यह आवश्यक है कि पानी के मृदुकरण प्रभाव का वह प्रतिरोधक हो। इसके लिये मिट्टी में सीमेंट, चूना, रसायनक या बिटूमनी पदार्थ मिलाते हैं।

मृद् रसायन — यह पहले ही बताया जा चुका है कि मिट्टी में प्रधानतया रेत, सिल्ट और मृत्तिका रहते हैं। इनके साथ ही उसमें कुछ विलेय और कुछ अविलेय लवण भी रहते हैं, जैसे कैल्सियम तथा मैग्निशीयम के कार्बोनेट और सोडियम एवं पोटैशियम के क्लोराइड तथा सल्फेट। अनेक रूपों में भिन्न सांद्रता के कार्बनिक पदार्थ भी रहते हैं। ये सभी मिट्टी के रासायनिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रेत और सिल्ट निष्क्रिय हैं तथा मृत्तिका ही रसायनत: सक्रिय है, अत: मिट्टी के रासायनिक गुण मृत्तिका पर अवलंबित हैं। मृत्तिका अनेक तत्वों, जैसे लोह, ऐल्यूमिनियम, सिलिकन आदि की जटिल संरचना के रूप में बनी है।

मृत्तिका के खनिज संमिश्र के कुछ गुण विलक्षण हैं। यह पानी में अविलेय होता है, पर उसमे निलंबित अवस्था में रह सकता है। इसका निलंबित रहना कणों के आकार पर निर्भर है। निलंबित अवस्था में यह अम्लीय अभिक्रिया देता है। इसकी अम्लता ऐसीटिक अम्ल की अम्लता सदृश है। इस अम्लता का उदासीनीकरण कैल्सियम और सोडियम के हाइड्रॉक्साइड सदृश किसी क्षारीय पदार्थ से किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप कैल्सियम और सोडियम मिट्टियाँ बनती हैं। दानेदार संरचना के कारण कैल्सियम मिट्टी कृषि के लिये उपयुक्त है, पर सोडियम मिट्टी जलाभेद्य होने के कारण बाँध और सड़कों के निर्माण के लिये अधिक उपयोगी है।

मिट्टी द्वारा कैल्सियम आयन अवशोषित होकर ऐसा स्थिरीकृत हो जाता है कि शुद्ध जल के द्वारा वह धुलकर निकल नहीं जाता पर अन्य लवण से सरलता से प्रतिस्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिये कैल्सियम मिट्टी को जब नमक के विलयन से प्रक्षालित किया जाता है, तब उससे सोडियम मिट्टी बनती है और कैल्सियम आयन क्लोराइड के रूप में विलयन में आ जाता है। सोडियम मिट्टी को फिर कैल्सियम, या अन्य मिट्टियों के विलयन के साथ प्रक्षालित करने से कैल्सियम, या अन्य धातुओं की मिट्टियों में परिणत किया जा सकता है। मिट्टी के इस गुण को, जिसमें क्षारों का विनिमय होता है, 'मिट्टी का विनिमय गुण' कहते हैं और विनिमय होनेवाला धनायन 'विनिमेय धनायन' कहलाता है। प्रकृति में भिन्न भिन्न धनायन वाली मिट्टियाँ होती हैं, जिनमें कैल्सियम, सोडियम, पोटैशियम तथा मैग्निशियम प्रमुख हैं और निकेल, कोबाल्ट, बोरन आदि बड़ी अल्प मात्रा में रहते हैं, यद्यपि पौधों की वृद्धि के लिये ये आवश्यक हैं। सूक्ष्म मात्रा में रहनेवाले इन तत्वों को अणुपोष 'तत्व' कहते हैं।

किसी मृद्भाग मे धनायन का प्रति शत विनिमय धारिता पर निर्भर करता है, जो मांटमारिलोनाइट कोटि की मिट्टी में अधिक और केओलिनाइट कोटि की मिट्टी में कम होती है। मांटमारिलोनाइट कोटि की मिट्टी का उदाहरण कपासवाली काली मिट्टी है, जो भारत के मध्यप्रदेश, मद्रास और बंबई के कुछ भागों मे फैली हुई है। केओलिनाइट मिट्टी साधारणतया भारत के जलोढ़ मैदानों मे पाई जाती है।

हाइड्रोजन आयन सांद्रता (ph) — जैसा पहले संकेत किया जा चुका है कि जिस मिट्टी में तनु अम्ल के उपचार से विनिमेय क्षार का नितांत अभाव है, उसकी हाइड्रोजन आयन सांद्रता उच्चतम होती है और फलत पीएच निम्नतम होता है। ज्यों ज्यों मिट्टी में सोडियम कैल्सियम जैसे विनिमेय आयन मिलाए जाते हैं, त्यों त्यों उसका पीएच बढ़ता जाता है। मिट्टी का उच्चतम पीएच लगभग ११ तक पहुँच जाता है। वास्तविक क्षेत्र परिस्थिति में इससे कुछ अधिक पीएच देखा गया है, किंतु इसका कारण विनिमेय धनायन नहीं है, बल्कि सोडियम कार्बोनेट जैसा विलेय लवण है, जो क्षारीय मिट्टी मे साधारणतया रहता है। ऐसे लवणों का एक निश्चित सीमा से अधिक होना फसलों की वृद्धि को रोकता है। लेकिन इंजीनियरी संरचना के लिये मिट्टी में सोडियम कार्बोनेट का होना आवश्यक होता है। इन लवणों की उपस्थिति मिट्टी को सोडियम मिट्टी में परिणत करती है, जो सघन अवस्था में कैल्सियम मिट्टी से अधिक जल प्रतिरोध करती है। फलत. नम अवस्था में भी मिट्टी की शक्ति बनी रहती है, जो इंजीनियरी संरचना के लिये आवश्यक है। [ह० ला० उ०]

मेंग त्सू (३७२–२८९ ई० पू०) या मेंग-फु-त्सू या मेन्शियस (लैटिन उच्चारण) यथार्थ नाम नहीं है, वरन् उस प्राचीन महान चीनी साधु के प्रति एक संभावित संबोधन है, जिसका वास्तविक नाम मेंग को था। मेंग उनका कुलनाम था और को उनका व्यक्तिगत नाम। उन्हें त्सू यू का शिष्ट संबोधन भी प्राप्त हुआ था। चीनी शब्द त्सू का अर्थ है मास्टर या दार्शनिक। यह संस्कृत शब्द 'गुरु' या ऋषि का समानार्थी है। अतएव मेंग त्सू या मेंग फु-त्सू का तात्पर्य हुआ 'गुरु मेंग' या 'दार्शनिक मेंग'।

चीन के हिरोदोटस महान् चीनी इतिहासज्ञ सु-मा चियन (ई० पू० १४५–?) ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'शिह् चि' या ऐतिहासिक रिकार्ड में मेंग त्सू का प्रथम ऐतिहासिक विवरण दिया है। दूसरा मूल साधन १४वीं शताब्दी के चेंग फु सिंग द्वारा निर्मित 'तैथिक सारिणी' है जिसमें मेंग-त्सू की जन्मतिथि ३७१ ई० पू० एवं मृत्यु तिथि २८९ ई० पू० दी है। ये तिथियाँ साधारणतया चीनी भाषाविदों द्वारा मान्य हैं। इस प्रकार मेंग-त्सू प्लेटो के जीवन के अंतिम भाग के समकालीन थे और प्लेटो की भाँति ही वे राजनीतिक विचारक समाजशास्त्री और दार्शनिक तथा महान् संत कन्फ्यूशियस के अनुयायी थे।

फिर कन्फूशिएस के पौत्र कुंग चि या त्सू-सु (४९२–४३१ ई० पू०) ऐसे विद्वान् का शिष्यत्व भी उन्हे प्राप्त हुआ।

एक राज्य से दूसरे राज्य में यात्रा कर राजाओं को अच्छे दयालु एवं न्यायप्रिय शासक होने के लिये प्रभावित कर मेंगत्सू ने कन्फूशिएस की कार्यपद्धति से स्पर्धा की और प्रमनिवृत्ति के बाद उन्होंने अपने 'दार्शनिक शिक्षक' का कार्य आरंभ किया। इनके उपदेशों को

इनके शिष्यों ने मेंग त्स् नामक पुस्तक में संगृहीत किया, जिसके साथ ही लुन यू (अंग्रेजी अनुवाद—दि कन्फ़ूशिएस एनालेक्ट्स्) ता-सुएह (अंग्रेजी अनुवाद—दि ग्रेट लर्निंग) और चुंगयुंग (अं० अनुवाद—दि गोल्डेन मीन) भी हैं। मेंग त्सू को 'चार पुस्तकें' की संज्ञा दी जाती है·········जो शताब्दियों तक चीनी शिक्षा के आधारग्रंथ रहे हैं और अब भी हैं।

इनका युग सैकड़ों संप्रदायों का युग था। मानव हृदय की शुद्धि तथा विपरीत स्वेच्छाचारी सिद्धांतों के समाप्त करने संबंधी कन्फ़ूशियस की शिक्षाओं के चिरस्थायी बनाने के कार्य में मेंगत्जू ने तर्क से काम लिया। उन्होंने कन्फ़ूशिएस की वांग ताओ (शाही तरीका या राज विधि) जेन (दयालुता या मानवीय उदारता) तथा यी (पवित्रता) संबंधी शिक्षाओं को बड़े विश्वास के साथ स्थापित किया। उन्होंने लड़ाकू राजाओं की आलोचना और उन 'साधु राजाओं' की ओर से वकालत की *जिनकी सरकारें जेन चेंग (मानवीय नियम) से चलाई जाती है।*

सं० ग्रं० — सु-मा चियन (१४५ ई० पू०) — शिह चि : मेंग त्सुन लिएह् चुआन (हिस्टॉरिकल रिकार्ड्स बाइग्राफ़ीज ऑव मेंग त्सू ऐंड त्सुन त्सु; चाओ चि (१०८–२०१ ई०) — मेंग त्सू ति त्सू : प्रीफ़ेस टु मेंग त्सू; चिअराओ त्सुन (१७६३–१८२० ई०) मेंग त्सू चें यि (दि करेक्टेड इंटरप्रिटेशन ऑव मेंगत्जू। ४. जेम्स लेगी; दि चाइनीज क्लैसिक्स Vol II–दि वर्क ऑव मेंसियस। [तां० यु०]

मेंडेल, ग्रेगर जोहैन (Mendel, Gregor Johann, सन् १८२२–८४) ऑस्ट्रिया निवासी, मठवासी साधु थे, जिन्होंने जैविक वंशागति (inheritance) के मूलभूत नियमों को ढूँढ़ निकाला। मोरेविया प्रदेश के हाइनजेंडॉर्फ़ (Heinzendorf) नामक कस्बे में इनका जन्म हुआ था तथा सन् १८४७ में ये ब्रून (Brunn) के ईसाई मठ के साधु वर्ग में संमिलित हुए। मठ के व्यय से ही इन्होंने वियेना (Vienna) के विश्वविद्यालय में सन् १८५१ से १८५३ तक विज्ञान की शिक्षा पाई और स्नातक होने पर रेयालस्कूल (Realschule) में पढ़ाने लगे। सन् १८६८ में ये मठाधीश निर्वाचित हुए।

मेंडेल ने वियेना से वापस आने के बाद बागीचों में उगनेवाले पौधों के साधारण लक्षणों (characters) की वंशागति पर दीर्घकाल तक प्रयोग किए। इस अनुसंधान में इनका मार्ग तत्कालीन अन्य अन्वेषकों से पूर्णतः भिन्न था। मेंडेल द्वारा प्राप्त फलों से सिद्ध हुआ कि इन लक्षणों की वंशागति कुछ सरल सांख्यिकीय नियमों के अनुसार होती है। इनके अनुसंधान संबंधी पुस्तक का प्रकाशन सन् १८६६ में हुआ, किंतु वैज्ञानिकों ने उसपर ध्यान नहीं दिया और इनके अनुसंधान की महत्ता को किसी ने भी नहीं समझा। अनेक वर्ष बाद जब अन्य तीन वैज्ञानिकों ने, सन् १९०० में, वही बातें फिर ढूँढ़ निकाली, तब वैज्ञानिक जगत् ने मेंडेल के कार्य की महत्ता स्वीकार की। मेंडेल के प्रसिद्ध, मुख्य प्रयोग मटर के पौधों को लेकर किए गए थे, पर कुछ अन्य पौधों तथा मधुमक्खियों के संकरण संबंधी अन्वेषण भी इन्होंने किए थे।

उपादानीय (factorial) वंशागति के जो सिद्धांत मेंडेल ने ढूँढ़ निकाले और एकल लक्षणों के मात्रिक (quantitative) अन्वेषण की जिन रीतियों का प्रयोग मेंडेल ने अपने अन्वेषणों में किया था, वे आज आनुवंशिकी (Genetics) विज्ञान का आधार हो गई हैं। वंशागति के घटकों को अब जीन (gene-) कहते हैं (देखें आनुवंशिकता)। यद्यपि आधुनिक खोज से इस संबंध की अन्य अनेक पेचीदा बातें ज्ञात हुई हैं, फिर भी मेंडेल द्वारा निकाली रीतियाँ तथा मौलिक सिद्धांत आज भी अपने मूल रूप में स्वीकृत हैं। [भ० दा० व०]

मेंडेलीफ़, डेमीत्रि इवानोविच (Mendeleev Dmitrv Ivanovich) तत्वों के आवर्त वर्गीकरण के प्रसिद्ध प्रतिपादक रूसी रसायनज्ञ थे। मेंडेलीफ़ का जन्म १८३४ ई० में साइबीरिया प्रदेश के टोबोल्स्क नगर में हुआ था। इसी टोबोल्स्क जिमनाज़ियम (विद्यालय) में मेंडेलीफ का आरंभिक शिक्षण हुआ और फिर ये पीटर्सबर्ग के पेडागॉजिकल इंस्टिट्यूट में भरती हुए। १८५७ ई० में मेंडेलीफ़ पीटर्सबर्ग से स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इन्हें एक स्वर्णपदक मिला। इसके बाद दो वर्ष इन्होंने सिमफरोपोल और फिर ओडेसा के जिमनाज़ियमों में अध्यापन कार्य किया। १८५६ ई० में इन्होंने मास्टर ऑव् साइंस की उपाधि के लिये 'विशिष्ट आयतन' विषयक निबंध लिखा। इसके बाद ये दो वर्ष के लिये एक वैज्ञानिक कमिशन के साथ विदेश यात्रा के लिये निकले और १८६० ई० में इन्होंने एल्सरूका में होनेवाले 'विश्व रसायन संमेलन' में भाग लिया। यात्रा से लौटने पर इन्हें पीटर्सबर्ग टेकनोलोजिकल इंस्टिट्यूट में प्रोफेसर का पद मिला और दो वर्ष बाद ये पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में रसायन के प्रोफ़ेसर हो गए। यहाँ रहकर इन्होंने २३ वर्ष वैज्ञानिक कार्य और अध्यापन किया। १८९३ ई० में मेंडेलीफ की नियुक्ति 'ब्यूरो ऑव् वेट्स ऐंड मेज़र्स' (तौल माप संस्थान) के निदेशक पद पर हो गई। इस अवधि में भी इन्होंने वैज्ञानिक और साहित्यिक कार्य बराबर किए। १९०७ ई० में मेंडेलीफ़ की मृत्यु न्यूमोनिया रोग से हो गई।

मेंडेलीफ़ का अमर कार्य तत्वों के आवर्त नियम और आवर्त सारणी संबंधी है। तत्वों के भौतिक एवं रासायनिक गुण परमाणु भारों के आवर्त फलन हैं। यह नियम लगभग एक ही समय जर्मनी में लोथर मेयर (Lothar Meyer, १८३०–१८९५ ई०) ने और रूस में मेंडेलीफ ने प्रतिपादित किया। मेंडेलीफ ने तत्वों की जो आवर्त सारणी प्रस्तुत की, उसमें अब काफी सुधार हो गए हैं, पर यह सारणी आज तक रसायन विज्ञान का पथप्रदर्शन कर रही है। इस आवर्त सारणी के आधार पर मेंडेलीफ़ ने कुछ ऐसे तत्वों के अस्तित्व की घोषणा की थी, जिनका उसके समय में पता न था, और बाद को जब ये तत्व खोज निकाले गए तो इनके गुण वही मिले जिनकी भविष्यवाणी मेंडलीफ ने पहले ही कर रखी थी।

मेंडलीफ़ के अन्य गवेषण कार्य ये हैं — आपेक्षिक घनत्व द्वारा विलयनों का अध्ययन, ऐलकोहाल और पानी का संयोग (डॉक्टर की उपाधि के लिये), विलयन और साहचर्य (association), विलयनों के संबंध में हाइड्रेट सिद्धांत, चरम ताप (जिसे उसने ऐब्सोल्यूट क्वथनांक कहा) की कल्पना की। मेंडलीफ ने 'रसायन सिद्धांत' नाम से

एक पुस्तक १९०५ ई० में लिखी, जिसके अनुवाद सभी प्रमुख भाषाओं में किए गए। उसने भूवर्म विज्ञान, भूभौतिकी आदि पर भी कार्य किया। इन्होंने अपने देश को उद्योग तथा रसायन संबंधी अनेक बातों पर अमूल्य सुझाव दिए। [सत्य प्र०]

मेंफिस (Memphis) स्थिति : ३५° ८' उ० अ० तथा ९०° ४' प० दे०। यह संयुक्त राज्य, अमरीका के टेनेसी राज्य मे, सेंट लुईस से २१५ मील दक्षिण, मिसिसिपी नदी के किनारे २७५ फुट की ऊँचाई पर स्थित, राज्य का सबसे बड़ा एवं महत्वपूर्ण व्यापारिक तथा औद्योगिक नगर है। यह एक प्रमुख बंदरगाह तथा रेल एवं वायुमार्ग का केंद्र भी है। इसके समीप में मक्का, चावल, गेहूँ, तबाकू, सोयाबीन, फल, तरकारी एवं दुग्ध पदार्थों का उत्पादन होता है। कपास का तो यह एक प्रसिद्ध केंद्र ही है। खनिजों में कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, संगमरमर, चीनी मिट्टी (kaolin) एवं मृत्तिकापिंड (ball clays) पाए जाते हैं। इस नगर के समीप में ही सैकड़ों वर्ग मील के क्षेत्र में कठोर लकड़ी के वन हैं। यहाँ मोटरगाड़ियों, टायर ट्यूब, लोह-इस्पात एवं इनकी बनी हुई बहुत सी वस्तुओं, साज सज्जा के सामानों, शराब, प्लाईवुड (स्तर काष्ठ) एवं वेनीर (अल्कल काष्ठ) की चीजों तथा लकड़ी के खिलौनों, दवाओं, सुगंधियों, यत्रों, बिजली के उपकरणों, अस्त्र शस्त्रों, वार्निश एवं रगों, साबुन, बिनौला के तेल, बैटरी, स्नेहकों (lubricants), गोल्फ के डंडों, रेयन की लुगदी, जूतों, रेल की पटरियों एव धातु की चद्दरों का निर्माण होता है। कुछ चीजो, जैसे दवाओं, बिजली के सामानो, कृषि यन्त्रों, लोहे की चीजो (hardware), पंसारी एवं मिल की चीजों के थोक व्यापार के लिये यह संयुक्त राज्य, अमरीका में अपना महत्व रखता है। यह नगर टेनेसी राज्य का सबसे साफ सुथरा नगर माना जाता है। सुंदर इमारतों, चिकित्सालयों एवं उपवनों के लिये यह प्रसिद्ध है। यहाँ संग्रहालय, क्रीड़ा स्थल तथा सभाभवन हैं। यहाँ छह रेडियो प्रसारण केंद्र हैं। इसकी जनसख्या ४,९७,५२४ (१९६०) है। [रा० प्र० सि०]

मेंहदी (Henna) का वानस्पतिक नाम लॉसोनिया इनर्मिस (Lawsonia inermis) है और यह लिथ्रेसिई (Lythraceae) कुल का काँटेदार पौधा है। यह उत्तरी अफ्रीका, अरब देश, भारत तथा पूर्वी द्वीपसमूह में पाया जाता है। अधिकतर घरों के सामने की वाटिका अथवा बागों में इसकी बाड़ लगाई जाती है जिसकी ऊँचाई आठ दस फुट तक हो जाती है और यह झाड़ी का रूप धारण कर लेती है। कभी कभी जगली रूप से यह ताल तलैयों के किनारे भी उग आती है। टहनियों को काटकर भूमि में गाड़ देने से ही नए पौधे लग जाते हैं। इसके छोटे सफेद अथवा हलके पीले रंग के फूल गुच्छों में निकलते हैं, जो वातावरण को, विशेषतः रात्रि में अपनी भीनी महक से सुगंधित करते हैं। फूलों को सुखाकर सुगंधित तेल भी निकाला जाता है। इसकी छोटी चिकनी पत्तियो को पीसकर एक प्रकार का लेप बनाते हैं, जिसे स्त्रियाँ नाखून, हाथ, पैर तथा उँगलियों पर शृंगार हेतु कई अभिकल्पों में रचाती हैं। इस लेप को लगाने के कुछ घंटो के बाद धो देने पर लगाया हुआ स्थान लाल, या नारगी रंग में रँग जाता है जो तीन चार सप्ताह तक नहीं छूटता। पत्तियों को पीसकर भी रख लिया जाता है, जिसे गरम पानी में मिलाकर रंग देनेवाला लेप तैयार किया जा सकता है। इस पौधे की छाल तथा पत्तियाँ दवा में प्रयुक्त होती हैं। [रा० प्रया० प्र०]

मेकियावेली, निकोलो (Machiavelli, Nicholo) का जन्म ३ मई, सन् १४६९ में फ्लोरेंस मे हुआ था। सन् १४९४ में फ्लोरेंटाइन गणतंत्र की चासरी में लिपिक के रूप में उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन प्रारंभ किया। सन् १४९८ मे वे द्वितीय चांसलर तथा सचिव नियुक्त हुए और सन् १५०२ मे सीजरे बोर्जिया के पास भेजे गए। वापस आने पर सन् १५०६ मे उनकी योजनानुसार एक विशेष सैन्य मंत्रालय की स्थापना हुई जिसके वे सचिव नियुक्त हुए। जब स्पेन की सैन्य सहायता से मेडिची परिवार ने पुनः फ्लोरेंस में प्रवेश किया तब इन्हें सचिव पद से हटना पड़ा। कुछ समय कारावास मे रहने के बाद सार्वजनिक जीवन से उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया। फ्लोरेंस मे २० जून सन् १५२७ को उनकी मृत्यु हो गई। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं, फ्लोरेंटाइन हिस्ट्रीज, दि प्रिंस, स्केचेज ऑव फ्रेंच अफेयर्स, स्केचेज ऑव जर्मन अफेयर्स, दि आर्ट ऑव वार, डिसकोर्सेज ऑन दि फर्स्ट डिकेड ऑव टाइटस लिवियस।

मेकियावेली अपने युग के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। उनके विचारों में १६वीं शताब्दी की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाप है। उनका दर्शन अधिकांशत: पैगनवाद की श्लाघा का प्रतिफल है। इटली मे पैगनवाद के पुनरुदय से प्रेरणाप्राप्त मेकियावेली अपनी शिक्षा तथा स्वभाव दोनो से मध्ययुगीन यूरोपीय राजनीति के संवैधानिक तथा नैतिक आदर्शो को स्वीकार न कर सके। इस दृष्टि से उनका राजनीतिक दृष्टिकोण जितना व्यापक तथा स्पष्ट था, उनके राजनीतिक अभिसंधान उतने ही संकीर्ण तथा स्थानीय थे।

मेकियावेली के समय इटली पाँच राज्यों में विभक्त था तथा कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो उसकी एकता स्थापित कर सके। पोप इटली में स्वयं एकता स्थापित करने के लिये अत्यधिक क्षीण होने के साथ ही साथ इतना शक्तिशाली अवश्य था कि किसी अन्य को ऐसा करने से रोक सके। वाणिज्य, बौद्धिक प्रखरता एवं कलात्मक सृजन शक्ति मे अद्वितीय होने के साथ ही साथ इटैलियन समाज निकृष्टतम राजनीतिक तथा नैतिक भ्रष्टाचार का शिकार था। हिंसा और क्रूरता सरकार के सामान्य साधन हो गए थे, बल तथा धूर्तता सफलता की कुंजी थे। इस दृष्टि से मेकियावेली अंकुशरहित मनुष्य के राजनीतिक चिंतक हैं। वे ऐसे समाज के दार्शनिक हैं जिसमे व्यक्ति दंभ तथा स्वार्थपरता के अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नही रखता।

मेकियावेली के दर्शन में धर्म और राजनीति का केवल विच्छेद ही नही वरन् व्यावहारिक राजनीति के लिये धर्म को राजनीति के अतर्गत रखा गया है। राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये उन्होंने अनैतिक साधनों के प्रयोग की अनुमति दी। परतु उन्होने कभी इस बात पर संदेह नही किया कि किसी राष्ट्र का नैतिक पतन उसके लिये स्वस्थ सरकार असंभावित कर देता है। परतु इसका यह तात्पर्य

नहीं कि शासक अपनी प्रजा का धर्म तथा उसके नैतिक मूल्य अपनाए। सेना के लिये अस्त्र भी उतने ही आवश्यक हैं जितना कि नैतिक स्तर, और बुद्धिमान् शासक दोनों की उत्कृष्टता पर ध्यान देता है। अतः मेकियावेली ने नैतिकता के दो स्तर बताए, एक शासक के लिये तथा दूसरा शासित के लिये। पहले का मापदंड है शक्ति अर्जित करने में शासक की सफलता; दूसरे का, समाज को शासित के आचरण से प्राप्त होनेवाली शक्ति। शासक समाज से परे है, और इसलिये उसमें आरोपित होनेवाली नैतिकता से भी राष्ट्र की सुरक्षा शासक का परमधर्म है जिसकी प्राप्ति के लिये उसे नीति अनीति का विचार नहीं करना चाहिए। उनके ग्रंथ 'दि प्रिंस' में तथा अन्य रचनाओं में नैतिकता की अद्भुत असंगतियाँ देख पड़ती हैं। पढ़ते समय जो अंश आप के सामने हो उसके अनुसार आप उन्हें साधु समझ सकते हैं या असाधु।

मेकियावेली के दर्शन में राजनीति तथा नैतिकता के विच्छेद का दूसरा कारण है शक्ति के प्रति उनकी आस्था। तीसरे, आदर्श राज्य की कल्पना के बजाय उन्हें मानव अस्तित्व की वास्तविकताओं से अधिक रुचि थी। उनके अनुसार मनुष्य जिस प्रकार रहते हैं तथा जिस प्रकार उन्हें रहना चाहिए, इन दोनों स्थितियों में बहुत अंतर है। मनुष्य स्वार्थी आक्रमणकारी तथा लोभी है, उसकी इच्छाएँ असीमित हैं; फलतः मनुष्यों में परस्पर होड़ और संघर्ष चलता रहता है जिसे यदि विधान के पीछे विद्यमान बल द्वारा संयत न किया जाय तो अराजकता फैल जाएगी। अतः सरकार की नींव व्यक्ति की दुर्बलताओं पर पड़ी है। सफल सरकार का विशेष उद्देश्य जीवन तथा संपत्ति की सुरक्षा प्रदान करना है। सफल राज्य की स्थापना एक व्यक्ति द्वारा होती है और उसके द्वारा निर्मित विधान उसकी प्रजा का चरित्र निर्धारित करते हैं। नैतिक मूल्य तथा सामाजिक सद्गुण विधान से निःसृत होते हैं और जब कोई समाज इतना भ्रष्ठ हो जाय कि वह स्वयं अपना सुधार न कर सके तो उसे एक सर्वशक्तिमान् विधायक के हाथों सौंप देना ही श्रेयस्कर है ताकि वह उसे स्वस्थ सिद्धांतों पर संजो सके।

परंतु मेकियावेली ने सर्वशक्तिमान् विधायक का विचार सामान्य सिद्धांत के रूप में नहीं प्रतिपादित किया। ऐसे विधायक की आवश्यकता केवल दो स्थितियों में ही है. नये राज्य के निर्माण या भ्रष्टराज्य के सुधार के लिये। परंतु निर्माण या सुधार के अनंतर राज्य स्थायित्व तभी प्राप्त कर सकता है जब जनता को सरकार में भाग लेने का अवसर दिया जाय तथा शासक विधानानुकूल शासन करे और जनता की संपत्ति एवं अन्य अधिकारों का समुचित आदर करे। भ्रष्ट राज्यों के लिये अधिराजक शक्ति एक प्रबल औषधि है, परंतु फिर भी वह विष की भाँति है जिसे पूर्ण सावधानी के साथ ही प्रयोग करना चाहिए। अततः मेकियावेली एक जनतंत्रवादी विचारक थे।

मेकियावेली को आधुनिक राजनीतिक विज्ञान का प्रवर्तक कहा जाता है क्योंकि उन्होंने राजनीति विज्ञान में ऐतिहासिक पद्धति को महत्व दिया, धर्म तथा नीति का राजनीति से विच्छेद किया, शक्ति सिद्धांत तथा सैन्य कला को प्रश्रय दिया, मानव समाज के विश्लेषण का मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया तथा राष्ट्रप्रेम एवं उपनिवेशवाद को मान्यता प्रदान की। फिर भी दो कारणों से उन्हें पूर्णरूप से आधुनिक राजनीतिक चिंतक नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः उन्होंने मानवीय क्रियाओं के पीछे भाग्य शक्ति स्वीकार कर अपने विचारों में प्रौढ़ोक्ति (myth) का समावेश किया, जिसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता; दूसरे, उनके विचार सरकार के विज्ञान से उतने संबंधित नहीं हैं जितने सरकार की कला से।

सं० ग्रं० — चैबड, एफ़० : मेकियावेली ऐंड दि रैनासाँ, लंदन, १९५८; डायर, एल० : मेकियावेली ऐंड दि माडर्न स्टेट, बोस्टन, १९०४; पुलवर, जे० : मेकियावेली, लंदन, १९३७; बटरफील्ड, एच० : दि स्टेट क्रैफ्ट ऑव मेकियावेली, लंदन, १९५५; विलारी, पी० : दि लाइफ ऐंड टाइम्स आव निकोलो मेकियावेली (दो भाग) लंदन, १८९१; व्हिटफील्ड, जे० एच० : मेकियावेली, ऑक्सफोर्ड, १९४७। [रा० अ०]

मेक्सिको १. देश, स्थिति : ३२° ४१' से १४° ३०' उ० अ० तथा ८६° ४४' से ११७° १०' प० दे०। यह उत्तरी अमरीका महाद्वीप में संयुक्त राज्य, अमरीका के दक्षिण में स्थित एक स्वतंत्र देश है। इसके सँकरे दक्षिण-पूर्वी सिरे पर ग्वाटिमाला तथा हॉन्डुरैस देश स्थित हैं। देश के पूर्वी तट पर प्रशांत महासागर है। तटरेखा की कुल लंबाई ९,२२० किमी० है। पश्चिमी तट के समांतर लोअर कैलिफोर्निया प्रायद्वीप १,२२० किमी० की लबाई में फैला है। देश का कुल क्षेत्रफल १९,७२, ५४७ वर्ग किमी० है।

प्राकृतिक बनावट एवं जलप्रवाह — देश के मध्य में स्थित पठारी प्रदेश लावा के जमाव से ढँका हुआ है। समुद्रतल से इस पठार की औसत ऊँचाई १,००० मीटर (देश की उत्तरी सीमा पर) से लेकर २,००० मीटर (मध्यवर्ती भाग में) से भी अधिक है। यह पठार पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः सिएरा माद्रे ऑयेंटाल और

सिएरा माद्रे ऑक्सिडेंटाल नामक ऊँची पर्वतश्रेणियों से घिरा है। इन श्रेणियों एवं समुद्रतट के बीच निचले तथा सँकरे मैदान हैं। पर्वतश्रेणियों की ऊँचाई ३,००० मीटर से अधिक है और इनके उच्चतम शिखर ज्वालामुखी पर्वत के हैं। देश में ज्वालामुखी

क्रिया वर्तमान काल में भी विद्यमान है और इसका एक सुंदर उदाहरण पारीकूटीन (Paricutin) ज्वालामुखी है, जो सर्वप्रथम १९४३ ई० में उद्गारित होकर १९५३ ई० तक जागृत अवस्था में था।

इस राष्ट्र की मुख्य नदियाँ रीओ ग्रैंड (Rio grand) तथा पापालोआपान (Papaloapan) हैं। इनमें से दूसरी नदी जलशक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। मेक्सिको की घाटी के अंतर्गत अनेक झीलें थीं परंतु अब केवल टेसकोको दे मोरा झील ही शेष रह गई है, जो सबसे निचली एवं खारी है और मुख्यत: वर्षाकाल में ही जल से भरी रहती है। इसी घाटी में देश का सबसे बड़ा नगर एवं राजधानी मेक्सिको स्थित है।

जलवायु — समुद्रतल से लेकर ९०० मीटर तक के ऊँचे भागों की जलवायु साधारणत: उष्ण है और औसत वार्षिक ताप २५° सें० है। ऊँची पर्वत चोटियाँ सदा हिमाच्छादित रहती हैं। अधिकतम वर्षा दक्षिण-दक्षिण-पूर्व के टबैस्को (Tabasco) तथा च्यापास (Chiapas) क्षेत्रों में ५०० सेंमी० प्रति वर्ष से भी अधिक होती है जबकि उत्तरी एवं पश्चिमी भागों की जलवायु मुख्यत: अर्ध मरुस्थलीय है। वर्षाकाल जून से सितंबर तक रहता है।

वनस्पति एवं जीवजंतु — यहाँ उष्ण सदाबहारीय से लेकर अर्ध-मरुस्थलीय वनस्पतियाँ पाई जाती हैं, ऊँचे भागों में ओक तथा चीड़ के वृक्ष मुख्य हैं।

मुख्य नगर एवं जनसंख्या — देश की कुल जनसंख्या ३,६६,४२,६७१ (१९६४ ई०) है। मुख्य नगर मेक्सिको सिटी (जनसंख्या ३१,१८,०५६, राजधानी), एर्मोसीयो (Hermosillo), ग्वादालाहारा, मॉन्टेरे, प्वेब्ला, सैन ल्वास, कूल्याकान, आकापूल्को आदि हैं।

यहाँ की राष्ट्रभाषा स्पैनिश है। अधिकांश निवासी रोमन कैथोलिक धर्मावलंबी हैं।

कृषि — कुल भूमि का केवल १२ प्रति शत भाग ही कृषि योग्य है। कृषि में मशीनों का उपयोग बढ़ता जा रहा है, यद्यपि अधिकांश कृषक अब भी बैल, घोड़े अथवा खच्चर का उपयोग करते हैं। आय की दृष्टि से मुख्य फसलें क्रमानुसार कपास, गेहूँ, कहवा, गन्ना, बीन (bean), संतरा, टमाटर, सीसल, एल्फाएल्फा घास तथा धान हैं। मक्का एवं बीन का देशवासियों के भोजन में विशिष्ट स्थान है। मक्का की खेती में प्रयुक्त भूमि का क्षेत्रफल अन्य सब फसलों के संयुक्त क्षेत्रफल के बराबर है।

खनिज संपत्ति — खनिज पदार्थों का यहाँ यथेष्ट भंडार है। विश्व में इसका चाँदी उत्पादन में पहला, गंधक में दूसरा, सीसा में तीसरा, ऐंटिमनी, ग्रेफाइट तथा पारे में पाँचवा, जस्ता एवं सोने में नवाँ और ताँबे में तेरहवाँ स्थान है। अन्य प्राप्त खनिजों में मैंगनीज, कोयला, खनिज तेल, लोहा तथा यूरेनियम महत्वपूर्ण हैं। अधिकांश खनिज सिएरा माद्रे पर्वत श्रेणी में मिलते हैं।

उद्योग धंधे — भारी उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। उत्पादक सामग्री से संबंधित उद्योगों में लोहा, इस्पात, सेलुलोस, कागज एवं काँच उद्योग मुख्य हैं। उपभोग सामग्री से संबंधित उद्योगों में वस्त्र, गेहूँ का आटा, चीनी, वनस्पति तेल, फल, मदिरा, जूते, दियासलाई, साबुन तथा बिजली के सामान के उद्योग महत्वपूर्ण हैं। कुल औद्योगिक उत्पादन का लगभग ४० प्रति शत भाग मेक्सिको सिटी एवं समीपवर्ती क्षेत्रों से प्राप्त होता है, जहाँ शक्ति के साधन तथा यातायात की पर्याप्त सुविधाएँ हैं। औद्योगिक केंद्रों में मेक्सिको सिटी के उपरांत मॉन्टेरे का द्वितीय एवं ग्वादालाहारा का तृतीय स्थान है।

यातायात के साधन — प्रमुख सड़क मार्गों की दिशा उत्तर-दक्षिण है तथा वे संयुक्त राज्य, अमरीका का संबंध मेक्सिको एवं इसके दक्षिण स्थित अन्य देशों से स्थापित करते हैं। यातायात की दृष्टि से आंतरिक जलमार्ग महत्वपूर्ण नहीं हैं। आकापूल्को का समुद्रतट एक प्रसिद्ध मनोरंजन स्थल भी है। देश के ऊबड़ खाबड़ धरातल के कारण वायु यातायात का महत्व बढ़ता जा रहा है। हवाई अड्डों की संख्या ५५ है। रेलों की भी उन्नति हो रही है।

[रा० ना० मा०]

२. खाड़ी, ऐटलैंटिक महासागर में ७,००,००० वर्ग मील में विस्तृत एक खाड़ी है। उत्तर, उत्तर-पश्चिम मे संयुक्त राज्य, अमरीका, तथा दक्षिण-पश्चिम में मेक्सिको है। इस खाड़ी का संबंध खुले ऐटलैंटिक महासागर से है, लेकिन क्यूबा द्वीप समूह के कारण समुद्री प्रभावों से सुरक्षित है। इस खाड़ी की लंबाई १,००० मील, चौड़ाई ८०० मील तथा औसत गहराई ४,७०० फुट है। सबसे गहरा स्थान सिग्सबी (१२,४८० फुट) है। इस खाड़ी में गल्फ स्ट्रीम नामक एक उष्ण जलधारा का भी प्रवेश होता है, जो खाड़ी में चक्कर लगाती हुई फ्लॉरिडा के दक्षिण से होती हुई उत्तर को चली जाती है। इस खाड़ी मे कई नदियाँ गिरती हैं। इन नदियों के निचले होने तथा अपने साथ बड़ी मात्रा मे मिट्टी लाने के कारण खाड़ी में असंख्य छोटे छोटे द्वीप तथा लैगून पाए जाते हैं। इसके किनारे कई बड़े बड़े नगर स्थित हैं।

[वी० ना० व०]

३. नगर, समुद्र तल से ७,३५० फुट की ऊँचाई पर स्थित मेक्सिको देश की राजधानी है। जलवायु स्वच्छ, ठंढी एवं शुष्क रहती है। २६ इंच वार्षिक वर्षा होती है। नगर के मध्य में स्थित मैक्सिमिलियन का महल, प्लाजा दि ला कांस्टिट्यूसियन (ज़ोकालो), राष्ट्रीय महल, पैलेस ऑव फाइन आर्ट दर्शनीय हैं। कपड़ा, काच मशीनरी, रसायनक, कागज, लोहा एवं इस्पात संबंधी कार्य नगर में होते हैं। यहाँ की जनसंख्या ३१,१८,०५६ (१९६४) है।

मेघ भूमि की सामान्य सतह के ऊपर स्थित वायु में जल के सूक्ष्म कणों अथवा, हिमकणों, या इन दोनों ही के दृश्य संग्रह को मेघ कहते हैं। अंतरराष्ट्रीय मेघ मानचित्रावली में मेघों को २० मुख्य कुलों मे वर्गीकृत किया गया है। आकृति एवं रचना के आधार पर इनके १४ उपविभाग तथा पारदर्शिता और ज्यामितीय विन्यास के आधार पर नौ सामान्य प्रकार बनाए गए हैं। ऊँचाई के अनुसार मेघ कुलों की सूची नीचे दी जा रही है।

(अ) उच्च मेघ (High clouds) — इन मेघों की सामान्य ऊँचाई ५ से १३ किमी० तक होती है। इसके निम्नलिखित प्रकार हैं :

(१) पक्षाभ (Cirrus) मेघ — संकेत Ci, ये मेघ श्वेत कोमल

तंतुओं और श्वेत, या मुख्यतया श्वेत थप्पों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ये श्वेत सँकरी पट्टियों में फैले दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें रेशमी चादर के समान चमक होती है। ये वायु में निलंबित सूक्ष्म हिमकणों से निर्मित होते हैं तथा रेशेदार दिखाई पड़ते हैं।

(२) पक्षाभकपासी (Cirrocumulus) मेघ — संकेत Cc, ये पतले श्वेत थप्पों, चादरों, या स्तरों में होते हैं।

(३) पक्षाभस्तरी (Cirrostratus) मेघ — संकेत Cs, इनका रूप प्रायः श्वेत पतली चादर के समान होता है। ये रेशेदार, चिकने एवं पारदर्शक होते हैं।

(ब) मध्य मेघ (Middle clouds) — इन मेघों की सामान्य ऊँचाई दो से सात किमी० तक है। इनके निम्नलिखित प्रकार है :

(१) मध्यकपासी (Altocumulus) मेघ — संकेत Ac, ये समस्थलीय गोलाकार संहति में देखे जाते हैं और बहुधा छायादार होते हैं।

(२) मध्यस्तरी (Altostratus) मेघ — संकेत As, ये घने पक्षाभस्तरी के समान होते हैं।

(३) वर्षास्तरी (Nimbostratus) मेघ — संकेत Ns, ये घने काले रंग के, अथवा धूमर मेघ स्तर निम्न ऊँचाई के असम और आकृतिहीन बादल होते हैं।

(स) निम्न मेघ (Low cloud) — इन मेघों की सामान्य ऊँचाई शून्य से दो किमी० तक होती है। इनके निम्नलिखित प्रकार हैं :

(१) स्तरीकपासी (Stratocumulus) मेघ — संकेत Sc, ये मेघ विशाल गोलाकार संहति में, या हलके धूसर रंग के बेलनाकार समूहों में पाए जाते हैं।

(२) स्तरी (Stratus) मेघ — संकेत St, ये मेघ घने कुहरे से मिलते जुलते प्राय एक सम स्तरवाले तथा धूसर रंग के होते हैं।

(३) कपासी (Cumulus) मेघ — संकेत Cu, ये स्थूल एवं सघन मेघ उदग्र विकासवाले होते है।

(४) कपासीवर्षी (Cumulonimbus) मेघ — संकेत Cb, ये भारी एवं सघन मेघ लबवत् विस्तारवाले होते हैं।

अंतिम दो मेघ कुलों को हम एक स्वतंत्र वर्ग मान सकते हैं। ये मेघ उदग्र विकासवाले होते हैं जिनका ऊपरी विस्तार तो पक्षाभ की तरह १३ किमी० तक होता है, पर न्यूनतम औसत ऊँचाई ०·५ किमी० ही है। ऊँचाई के अनुसार मेघों का यह वर्गीकरण शीतोष्ण कटिबधीय स्थिति के लिये सम्यक् है। ध्रुवीय क्षेत्रों में दिए गए मेघ कुलों की ऊँचाइयाँ कम तथा उष्ण कटिबंध में अधिक पाई जाती हैं। मध्यस्तरी, वर्षास्तरी, कपासी, कपासीवर्षी, तथा कुछ अन्य प्रकार के बादल कभी निर्धारित ऊँचाई से अधिक विस्तारवाले भी होते हैं। इनके अलावा आकाश की स्थिति को दर्शाने के लिये ऊँचाई के अनुसार वर्गीकृत मेघों के लिये ३० संकेत संख्याओं का भी उपयोग किया जाता है। दैनिक मौसम प्रतिवेदन में विभिन्न ऊँचाइयों पर मेघाच्छादन की मात्रा, मेघों की गति की दिशा तथा आधार की ऊँचाई भी दी जाती है।

मेघों से संबंधित मौसम — वायुमंडल में होनेवाली भौतिक क्रियाओं के परिणाम होने के कारण मेघ मौसम के सूचक होते हैं। मध्यस्तरी, वर्षास्तरी तथा कपासीवर्षी मेघों से वर्षा सार्थक मात्रा में होती है। स्तरी, कपासी, मध्यकपासी और स्तरीकपासी मेघों से हलकी वर्षा संभव है। हिम रवों से निर्मित होने के कारण पक्षाभ, पक्षाभकपासी तथा पक्षाभस्तरी मेघ तुषारवृष्टि को जन्म देते हैं। अधिकांश तुषार तो भूमि पर पहुँचने के पहले ही वाष्पीकृत हो जाता है, पर नीचे यदि जल कणों से भरे घने बादल हों, तो हिमकण उन्हें ग्रहण कर आकार में बढ़ता है और ताप के अनुसार तुषार, या जलवृष्टि के रूप में सतह पर गिरता है। कपासीवर्षी मेघों से तेज बौछारों में वर्षा होती है। तड़ित, झंझा एवं टॉरनेडो में मुख्य रूप से यही मेघ होते हैं। इनसे तुषारवृष्टि और ओले भी संभावित हैं। स्तरी मेघों से फुहारों में तथा कपासी मेघों से हलकी बौछारों में वर्षा होती है। मध्यस्तरी या वर्षास्तरी मेघों से लंबे समय तक स्थिर तथा अनवरत वर्षा होती है।

मौसम का पूर्वानुमान — (देखें, ऋतु पूर्वानुमान और ऋतु विज्ञान)।

मेघों की माप — मौसम के पूर्वानुमान के हेतु प्रेक्षक को प्रत्येक मेघस्तर पर वायु की गति, दिशा एवं अन्य गुणों की वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है। यदि आकाश पूर्णाच्छादित है, तो एक स्वतंत्र गुब्बारा छोड़कर उसकी कोणीय स्थिति को थ्योडोलाइट की सहायता से प्रत्येक मिनट पर ज्ञात किया जाता है। गुब्बारे के ऊपर उठने की गति ज्ञात रहती है। इसका अनुसरण तब तक किया जाता है, जब तक गुब्बारा आकाश में मेघों के भीतर लुप्त न हो जाए। अन्य विधि के अनुसार नेफोस्कोप की सहायता से एक मिनट तक मेघ के एक चुने हुए भाग की आभासी गति तथा दिशा को उसके परावर्तन का अनुसरण करते हुए निश्चित किया जाता है। नेफोस्कोप में एक रजतित क्षैतिज दर्पण होता है जिसकी परिधि पर ३६० दिगंश के मापक होते हैं। एक बद्ध नैत्रिका से अवलोकन किया जाता है। नेफोस्कोप की सहायता से वायु की गति को समान त्रिभुजों की विधि से नापा जाता है। इसके लिये मेघ के आधार की ऊँचाई ज्ञात करना आवश्यक है। इसे मेघ के प्रकार से आकलित किया जा सकता है, पर शुद्ध माप के लिये सीलिंग बैलून (ceilling balloon), सीलिंग लाइट प्रोजेक्टर (ceilling light projector), सीलोमीटर (ceilometer) तथा श्रव्यनिक लघुतरंग (१ सेंमी०) वाले रेडार आदि यंत्र काम मे लाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त मेघों की ऊँचाई प्रकाशीय परासमापी (optical range finder) की सहायता से त्रिभुजीकरण की विधि से, अथवा पहाड़ियों पर पर्वतों से मेघों में अंतश्छेदन ज्ञात कर, या ओस बिंदु के सूत्र का उपयोग कर ज्ञात की जाती है। अंतिम विधि में जब वायु मेघ के आधार तक पूर्ण रूप से मिश्रित होती है, तब कपासी मेघ के आधार की ऊँचाई निम्न सूत्र से आकलित की जाती है :

$$\text{सीलिंग की ऊँचाई} = २२५\,(T - T\alpha)$$

जहाँ T = ताप, Tα = ओसबिंदु। रात्रि को या अंधकार के समय आधार की ऊँचाई सीलिंग लाइट प्रोजेक्टर की सहायता से ज्ञात की जाती है। एक छोटे से सर्चलाइट से प्रकाश का एक सँकरा किरणपुंज उदग्र दिशा में मेघ के आधार पर डाला जाता है। इस किरणपुंज का विस्तार ३०° से कम होता

है। १५२·४ मीटर से ३०५ मीटर की दूरी पर स्थित प्रेक्षक प्रकाश-स्थल की ऊँचाई निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात करता है :

सीलिंग की ऊँचाई = l tan h

जहाँ l = आधार रेखा की लंबाई, h = उदग्रकोण।
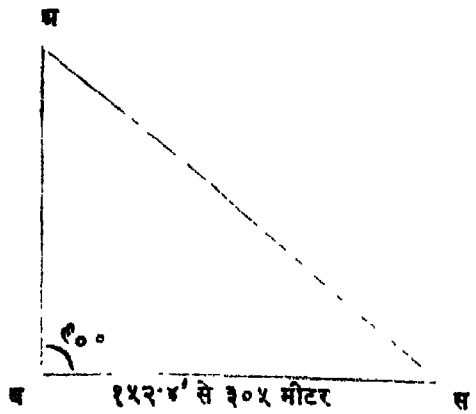
अ = सर्चलाइट, ब = प्रेक्षक और स = मेघ के आधार की ऊँचाई अ ब = आधार रेखा

यदि मेघ का आधार समान हो तो शीर्षकोण शुद्धता के साथ मापा जाता है। आदर्श अवस्था में लगभग ५ किमी० तक के मेघ के आधार की ऊँचाई मापने में लगभग ७५८ मीटर तक की अशुद्धि पाई जाती है। दिन के समय सर्चलाइट से प्रक्षिप्त प्रकाश मंद होता है और ठीक से दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि आकाश प्रकाशस्थल से १० लाख गुना अधिक चमकीला होता है।

अतः दिन के समय आधार की ऊँचाई सिलोमीटर (ceilometer) से ज्ञात की जाती है। एक निश्चित और पूर्वज्ञात आवृत्ति वाले प्रकाश को मेघ के आधार पर प्रक्षिप्त कर एक विशिष्ट दूरदर्शक यंत्र से प्रकाशस्थल को देखा जाता है। इस दूरदर्शक यंत्र में लेंस के फोकस पर एक फोटो विद्युत् सेल होता है। इसके साथ एक विद्युत् फिल्टर प्रयुक्त होता है, जो अन्य संकेतों को त्यागकर ज्ञात आवृत्ति वालों को ग्रहण करता है। इन विद्युत् संकेतों को पर्याप्त मात्रा में प्रवर्धित कर एक विद्युत् मीटर को कार्यशील किया जाता है। इस पर आधार की ऊँचाई पढ़ी जा सकती है। सीलोमीटर की सहायता से दिन को लगभग ३ किमी० की ऊँचाई तक तथा रात्रि को लगभग ६ किमी० की ऊँचाई तक की माप शुद्धता के साथ की जा सकती है। नागरिक एवं सैनिक हवाई अड्डों पर इनका उपयोग किया जाता है।

रेडार उपकरणों की सहायता से मेघों के आधार की ऊँचाई, उदग्र विस्तार तथा रचना का ज्ञान यथार्थता के साथ किया जाता है।

अतिसंतृप्त वाष्प का द्रवण — यदि जलवाष्प से संतृप्त वायु का ताप घटकर ओसबिंदु ताप अथवा उसके समीप हो जाए, तो वायु अतिसंतृप्त हो द्रवण, अथवा ऊर्ध्वपातन की क्रिया को जन्म देती है। यदि वायु ठंढी हो जाए तो उसके जलवाष्प ग्रहण करने की क्षमता कम हो जाती है। घनीभवन की क्रिया दो परिवर्तनशील उपादानों पर निर्भर करती है : (१) शीतलता की मात्रा तथा (२) वायु की आपेक्षिक आर्द्रता। यदि वायु में आपेक्षिक आर्द्रता कम है, तो द्रवण के लिये वायु के ताप को बहुत अधिक घटने की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत, यदि वायु में आपेक्षिक आर्द्रता अधिक है, तो उसका ताप अल्प मात्रा में कम होने पर द्रवण की क्रिया होती है। यद्यपि ठोस रूप में द्रवण की क्रिया ०° सें० से नीचे किसी भी ताप पर हो सकती है फिर भी ४५° ताप तक अधिकांश द्रवण द्रवरूप में होते हैं। कोलाइडी स्थिरता के कारण ही इतने कम ताप पर जलवाष्प द्रव रूप में रह सकता है।

वायुमंडल में द्रवण की क्रिया सूक्ष्म केंद्रों के चारों ओर होती है। आर्द्रताग्राही सूक्ष्म धूलिकणों, लवण कणों, अथवा कोयला मिट्टी-तेल जैसे पदार्थों के दहन से प्राप्त धूम कणों पर जलवाष्प द्रवित होकर एकत्र होता है। जब अतिसंतृप्ति ४·२ के मान पर पहुँच जाती है, तब इलेक्ट्रॉन तथा आवेशयुक्त आयन पर जलकण बनने लगते हैं।

स्थिर दबाव और स्थिर आयतन पर विशिष्ट ऊष्मा का अनुपात है। यदि प्रसारण का अनुपात १·२५ से कुछ अधिक हो, तो धूल कणों से रहित वायु में जल की कुछ ही बूँदें उत्पन्न होती हैं तथा कुहरा बनता है। पर यदि प्रसारण का अनुपात १·३८ से अधिक हो, तो घने मेघ बनते हैं। इस अवस्था में अतिसंतृप्ति का मान ८ होता है। विलसन ने बताया कि जलवाष्प की उपस्थिति में द्रवण केंद्र के रूप में धन (positive) और ऋण (negative) समान रूप से प्रभावशील नहीं होते। ऋण आयन १·२५ के प्रसारण अनुपात में तथा धन आयन १·३१ के प्रसारण अनुपात में प्रभावी होते हैं। द्रवण केंद्र के रूप में आवेशयुक्त आयन की प्रभावशीलता संतृप्त वायुमंडल में जल बूँदों के विभिन्न आकार के वाष्पीकरण पर निर्भर करती है। जलकणों का निर्माण तभी होता है, जब वाष्प की स्थिति से द्रव का जमाव केंद्र (आयन) पर हो।

जब वायुमंडल में वाष्प संतृप्त अवस्था में होता है, तब समतल पृष्ठ वाले बिंदुओं की अपेक्षा गोलाकार जल बिंदुओं पर वाष्प का दबाव अधिक होने के कारण शीघ्र वाष्पीकृत होने की प्रवृत्ति होती है। जलकणों को विद्युत् से आवेशित करने पर वाष्पीकरण की प्रवृत्ति घटती है। आवेशयुक्त जलकणों के आकार में कमी के लिये और अंत में वाष्पीकरण के हेतु ऊर्जा के संभरण की आवश्यकता होती है।

मेघ पथ जानने के उपकरण — मेघों की रचना सूक्ष्म जल, या हिमकणों के संग्रह से होती है, जो उच्च गति वाले आयनित कणों पर निर्मित होते हैं। गतिवान् होने पर ये आयोनित कण सूक्ष्म जलबिंदुओं के वाष्पीय पथपुच्छ (trail) छोड़ते जाते हैं। ये आँखों से दृश्य होते हैं तथा इनका फोटो भी लिया जा सकता है। इसका अनुसरण करने पर मेघ का संभावित मार्ग निर्धारित किया जा सकता है। इनका अध्ययन अभ्रप्रकोष्ठ (cloud chamber) यंत्र की सहायता से किया जाता है। ये यंत्र दो प्रकार के होते हैं :

(१) विलसन (Wilson) का अभ्रकोष्ठ तथा (२) विसरण (diffusion) अभ्रकोष्ठ।

विलसन का अभ्रकोष्ठ — (देखें विलसन का अभ्रकोष्ठ)।

विसरण अभ्रकोष्ठ — यह एक सतत सूक्ष्मग्राही मेघ कोष्ठ होता है, जिसमें उच्च ऊर्जावाले त्वरित्र होते हैं। इसे ई० डब्ल्यू० कोवान,

टी० एस० नीडल्स तथा सी० ई० नेल्सन ने सन् १९५० में बनाया था। कोवांस का प्रथम कोष्ठ ३० सेमी० व्यास और १५ सेमी० गहराई वाला वायुपूरित बेलनाकार काँच का पात्र है। इसे मेथिल ऐल्कोहॉल के कड़ाह पर रखा जाता है जिसे शुष्क हिम से शीतल किया जाता है। कोष्ठ के ऊपरी भाग में रखा गया अल्पोष्ण मेथिल ऐल्कोहॉल वाष्पीकृत हो जाता है और वाष्प नीचे शीतल कड़ाह की ओर विसरित होता है। कोष्ठ की तली से ५ सेमी० से १० सेमी० की ऊँचाई पर मेघपथ दृष्टिगोचर होते हैं। बेलन को काँच के एक प्लेट से ढँकते हैं, जिससे बाजू से प्रकाश देने पर पथ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़े। सन् १९५४ में २२,००० गॉस के उदग्र चुंबकीय क्षेत्र में ३५ वाण्वीय दबाव पर क्रियाशील ११ व्यास वाला हाइड्रोजन पूरित विसरण मेघकोष्ठ बनाया गया। इस वर्ष अंतरिक्ष किरणों का अध्ययन करने के लिये १·२ मी० × २·४ मी० का एक बड़े सतत सूक्ष्मग्राही मेघकोष्ठ का निर्माण किया गया। इसपर एक क्षण में १,१०० तक अंतरिक्ष किरणों को गुजरते हुए देखा जा सकता है।

अभ्र कोष्ठ का अनुप्रयोग — इस यंत्र से कई महत्वपूर्ण आविष्कार हुए हैं। ऐक्स किरण, अंतरिक्ष किरणें एवं विखंडनाभि क्रियाओं के अध्ययन में यह एक शक्तिशाली उपकरण है।

वृष्टि प्रस्फोट (cloud burst) — आकस्मिक रूप से अल्प अवधिवाली अत्यधिक और मूसलाधार वृष्टि को वृष्टि प्रस्फोट कहा जाता है। ये स्थानीय प्रकृति की होती है और संवाहनिक वायु धाराओं के द्वारा उत्पन्न होती हैं। अधिकांश वृष्टि प्रस्फोट तड़ित झंझाओं से संबंधित होते हैं। इन तूफानों में प्रचंड गति से ऊपर उठती हुई वायुधाराएँ आकाश के घनीभूत जल बिंदुओं को भूमि पर गिरने से रोकती है। इस भाँति अत्यधिक ऊँचाई पर अधिक मात्रा में जल की बूँदे एकत्र हो जाती हैं। जब ऊर्ध्वगामी वायुधाराएँ कमजोर हो जाती हैं, तब यह समस्त जल एक ही समय में गिर जाता है। पहाड़ी भागों में इस प्रकार के वृष्टि प्रस्फोट अधिक होते हैं। इसका कारण तड़ित झंझा की उष्णवायु धाराओं में पर्वतीय ढालों पर से होकर तीव्र गति से ऊपर उठने की प्रवृत्ति होती है। पर्वतीय भागों में वृष्टि प्रस्फोट से आकस्मिक और विनाशकारी बाढ़ें आती हैं क्योंकि ढालों पर से होकर गिरता हुआ जल घाटियों और नलिकाओं में जमा हो जाता है। वृष्टि प्रस्फोट में वृष्टि की तीव्रता बहुत अधिक होती है। उदाहरणार्थ २९ नवंबर, १९११ ई० को पनामा के पोर्ट बेल में ३ मिनट की अवधि में ६ सेमी० तथा अप्रैल १९२६ को मानोबियत (कैलीफोर्निया) के ओपिड कैंप में १ मिनट में २·५ सेमी० वर्षा मापी गई है। गिरते हुए जल के द्वारा भूमि पर निर्मित गर्तों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि वृष्टि की तीव्रता इससे भी अधिक होती है। [शू० ना० मि०]

मेघदूत महाकवि कालिदास द्वारा विरचित विप्रलंभ शृंगार परक खंड काव्य। इसका कथासूत्र साधारण सा है—विरही यक्ष रामगिरि से अपनी पत्नी को संदेश भेजता है और दूत बनाता है मेघ को जो अचेतन है, मूक है। इस साधारण कथा को कवि ने अपनी उच्च आदर्शात्मकता, विरहव्यथा की सरस अभिव्यंजना, काव्यमय भौगोलिक वर्णनों की संपूर्णता, आदि के यथास्थान संयोजन द्वारा अत्यंत रमणीय बना दिया है और यक्ष के संदेशवाहक मेघ को अमर कर दिया है।

मेघदूत में पूर्व मेघ और उत्तर मेघ नाम से दो विभाग हैं। पूर्व मेघ में कल्पनाओं की रंगीनी और भावों की तरलता के अपूर्व संयोजन द्वारा प्रकृति के अनेक रम्य चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। रामगिरि से अलका तक के प्रकृति वर्णन में मालक्षेत्र में जनपद वधूजनों का वर्णन, विदिशा, विंध्य की तलहटी में हाथी के मस्तक पर की पत्ररचना के समान छिटकी हुई रेवा की धारा, रसभरी सिप्रा नदी, उज्जयिनी, देवगिरि, चंबल, रंतिपुर, कुरुक्षेत्र, कनखल में गंगा, क्रौंचरंध्र के मार्ग से होते हुए कैलास पर्वत और फिर अलका पहुँचने तक की भौगोलिक यात्रा के काव्यमय दृश्यों का उत्कृष्ट एवं संमोहक चित्र आ जाता है। उत्तर मेघ में अलकापुरी का, शापित यक्ष के गृह का और विरहविधुरा यक्षपत्नी का वर्णन है। इसके अनंतर 'यक्ष संदेश' है जिसमें कल्पना और भावना, दोनों का घन संश्लिष्ट आवेगमय रूप मिलता है। काव्य में संयोग शृंगार को गौण करता हुआ विप्रलंभ अपने उत्कृष्टतम रूप में ऊर्जस्वित है। पूर्वमेघ में उज्जयिनी और उत्तरमेघ में अलकापुरी का वर्णन प्रमुख है। इनमें कवि रम गया है, मूलत. नागरिक जीवन का कवि होने के कारण। मेघ यक्ष का संदेशवाहक है अत: इसे दूत काव्य कहते हैं जो इसके नाम 'मेघदूत' से ही स्पष्ट है। मेघदूत के छंद गेय हैं अतः इसे गीतिकाव्य कहना भी उपयुक्त होगा।

इस काव्य का संस्कृत साहित्य पर अमिट प्रभाव पड़ा। इसके अनंतर संस्कृत में लिखे गए दूत काव्यों की एक परंपरा सी बँध गई। इनकी संख्या शताधिक होगी। इनमे गौड़ीय संप्रदाय के भी दूत काव्य हैं और जैनियों के भी।

मेघदूत पर अनेक संस्कृत टीकाएँ हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं में भी उसके अनुवाद हुए हैं जिनमें जर्मन, अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, इतालीय, स्वीडिश, आदि हैं। सिंहली और तिब्बती अनुवाद के अतिरिक्त मेघदूत के चीनी अनुवाद का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रकृति ही मेघदूत की काव्यकला का मूलदंड है जिसके सरस चित्रों को एक कुशल चितेरे की तरह कवि ने चित्रित किया है। मेघदूत का कवि यक्ष की आँखों से देखता है और वह यक्षदूत मेघ के साथ है, वह ऊँचे से देखता है। वर्णन तत्व की प्रमुख विशेषता है शैथिल्य का अभाव। उच्च कल्पना सौंदर्य, तलस्पर्शी अनुभूति और संगीतमयी कविवाणी ने संयोग और विप्रलंभ शृंगार को जो रूप दिया है वह साहित्य में अद्वितीय है। [वि० ना० मि०]

मेघना नदी भारत के पश्चिमी बंगाल राज्य के डेल्टाई भाग में एस्चुअरी (estuary) बनाती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। गंगा एवं ब्रह्मपुत्र नदी का अधिकांश जल यह नदी समुद्र तक पहुँचाती है। नदी अपने साथ बड़ी मात्रा में मिट्टी लाकर बिछाती है। नदी कभी कभी पाँच, या छह जलधाराओं मे बँट जाती है। कभी यह विशाल क्षेत्र में चादर के समान फैलकर बहती है। इसके मुहाने में तीन मुख्य द्वीप हैं। इसमें सालभर नावें तथा स्टीमर सरलता से चलाए जा सकते हैं, लेकिन किनारे ढलुए होने से धँस जाते हैं, जो नावों के

लिये हानिप्रद है। मानसून के समय में यह खतरा और भी बढ़ जाता है। [दी० ना० ब०]

मेघनाद रावण तथा मंदोदरी का महाबली ज्येष्ठ पुत्र और सुलोचना का पति था। युद्ध में इंद्र को पराजित करने के कारण इसे इंद्रजित् नाम मिला। इसने जन्मते ही मेघ के समान गर्जना की थी जिससे यह मेघनाद कहलाया। पहले इसने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान कर शिवजी से दिव्यास्त्र प्राप्त किए, फिर इंद्र को हराया। सीता की खोज में लंका को गए हनुमान को इसने ब्रह्मास्त्र से बाँधकर रावण की सभा में उपस्थित किया था। राम रावण युद्ध के प्रारंभ में ही इसने रामलक्ष्मण को नागपाश में बद्ध कर समस्त वानरी सेना को विमूर्छित कर दिया था और अगणित वानरों को एक ही प्रहार से नष्ट कर मायावी युद्ध में शत्रु को हतप्रभ कर दिया था। अंत में निकुंभिला में यज्ञभंग हो जाने पर यह लक्ष्मण द्वारा ऐंद्रास्त्र से मारा गया। इस नाम से स्कंद की सेना का एक वीर और घटोत्कच पुत्र 'मेघवर्ण' भी प्रसिद्ध है। [रा० द्वि०]

मेघनाद साहा (सन् १८९३-१९५६) प्रमुख, भारतीय भौतिकी विद्, का जन्म पूर्वी बंगाल के ढाका जिले के सिओरातली नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता श्री जगन्नाथ साहा साधारण व्यापारी थे। सन् १९०९ में मेघनाद ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा पास की। गणित में विश्वविद्यालय के छात्रों में तथा पूरी परीक्षा में पूर्वी बंगाल के छात्रों में आप सर्वप्रथम आए। इंटरमीडिएट, बी० एस-सी० और एम० एस-सी० परीक्षाओं में भी ससम्मान उत्तीर्ण हुए तथा अत्युच्च स्थान पाए।

सन् १९१६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के सायंस कॉलेज में आपको एक पद मिल गया तथा आपके उच्च अनुसंधान के आधार पर सन् १९१८ में डी० एस-सी० की उपाधि मिली। इसी समय तारा भौतिकी संबंधी एक निबंध पर आपको प्रेमचंद रायचंद पुरस्कार भी मिला। सन् १९२१ में आप इग्लैंड गए। इंपीरियल कॉलेज ऑव सायंस, लंदन, में प्रोफेसर फाउलर के साथ तथा बर्लिन में प्रोफेसर नर्न्स्ट की प्रयोगशाला में आपने महत्वपूर्ण खोजें कीं। विदेश से वापस आनेपर आपकी नियुक्ति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग में प्रोफेसर तथा अध्यक्ष के पद पर हुई। सन् १९३८ में आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के सायंस कालेज में पालित प्रोफेसर के पद पर चले गए तथा सन् १९५२ में इंडियन ऐसोसिएशन फॉर दि कल्टिवेशन ऑव सायंस के निदेशक नियुक्त हुए।

सन् १९२१ में ही तारों के ताप और वर्णक्रम के निकट संबंध के भौतिकीय कारणों को आपने खोज निकाला था। २६ वर्ष की अल्पायु में श्री साहा ने तापीय आयनन (Thermal Ionization) के अपने सिद्धांत के कारण विश्वप्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। इसी सिद्धांत को तारों के वर्णक्रम पर लगाकर, इन्होंने आणविक तथा परमाणविक वर्णक्रम संबंधी अनेक गुत्थियों को सुलझाया। इनके अनुसंधान से सूर्य तथा उसके चतुर्दिक् अंतरिक्ष में दिखाई पड़नेवाली प्राकृतिक घटनाओं में से मुख्य के कारण ज्ञात हुए।

सन् १९२७ में, कुल ३४ वर्ष की उम्र में ही, इंग्लैंड की सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक संस्था, रॉयल सोसायटी, का फेलो चुने जाने का उच्च सम्मान आपको मिला। सन् १९३० में आप एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल के फेलो तथा सन् १९४४-४६ में सभापति हुए और सन् १९३४ में इंडियन सायंस कांग्रेस के सभापति मनोनीत हुए। इंग्लैंड के इंस्टिट्यूट ऑव फिजिक्स ने तथा अंतरराष्ट्रीय ज्योतिः सभा ने भी आपको सदस्य चुनकर संमानित किया था।

दि इंडियन फिजिकल सोसायटी तथा इंस्टिट्यूट ऑव न्यूक्लियर फिजिक्स की स्थापना तथा कलकत्ता के इंडियन इंस्टिट्यूशन फॉर दि कल्टिवेशन ऑव सायंस के विस्तार का श्रेय आपको है। [भ० दा० व०]

मेघाणी, झवेरचंद (१८९६-१९४७) गुजराती लोकसाहित्य के क्षेत्र में मेघाणी का स्थान सर्वोपरि है। वे सफल कवि ही नहीं, उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, निबंधकार, जीवनीलेखक तथा अनुवादक भी थे। उनकी रचनाओं में गांधीवादी प्रभाव से युक्त उत्कृष्ट देशप्रेम तथा स्वातंत्र्य भावना प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती है। अपनी इसी भावना के कारण उन्हें अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रदत्त दो वर्ष कारावास का दंड भी भुगतना पड़ा तथा उनकी 'सिंधुड़ा' नामक कृति भी जब्त कर ली गई। अपनी मातृभाषा गुजराती के अतिरिक्त उनका बँगला और अंग्रेजी पर भी सम्यक् अधिकार था। इन भाषाओं से उन्होंने अनेक सफल अनुवाद किए हैं। सारे काठियावाड़ का भ्रमण करने के उपरांत वे 'सौराष्ट्र' साप्ताहिक के संपादन में सहायता करने लगे तथा 'तंत्री मंडल' के सदस्य हो गए। इस प्रकार उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जो जीविका की दृष्टि से कालांतर में उनका प्रमुख कार्यक्षेत्र बन गया। लोकसाहित्य का अन्वेषण एवं अनुशीलन उनका मुख्यतम ध्येय था। उन्होंने लुप्तप्राय और उपेक्षित लोकसाहित्य को पुनरुज्जीवन तथा प्रतिष्ठा प्रदान की। उनका निम्नलिखित साहित्य महत्वपूर्ण है :

काव्य — युगवंदना, वेणी ना फूल, किल्लोल;

नाटक — वठेलां;

कथा साहित्य — समरांगण, गुजरात नो जय (२ भाग), सोरठ तारा वहेता पाणी, रा गंगाजलीओ, आदि।

लोकगीत संग्रह — रढियाली रात (४ भाग), सौराष्ट्र नी रसधार (५ भाग) सोरठी गीत कथाओ।

यात्रा साहित्य — सौराष्ट्र ना खंडेरामा।

आलोचना साहित्य — वेरान मा परिभ्रमण तथा जन्मभूमि में प्रकाशित अनेक स्फुट लेख।

जीवन चरित्र — देशदीपको, ठक्कर बापा, दयानंद सरस्वती, इ०।

आत्मचरित — परकंमा।

इतिहास ग्रंथ — एशियानु कलंक, हंगेरी नो तारणहार सलगतुं आयर्लैंड, मिसर नो मुक्तिसंग्राम।

अनुवाद — कथा ओ कहिनी, कुरबानी नी कथाओ, राणो प्रताप, राजाराणी, शाहजहाँ।

मेघाणी की कविताओं में सोरठ (सौराष्ट्र) की आत्मा और कथाओं में उसके संवेदन का सजीव चित्र उपलब्ध होता है। उनके शक्तिशाली स्वर ने सारे गुजरात में अहिंसक क्रांति की प्रखर सजगता उत्पन्न की।

हजारो वर्षनो जूनो अमारी वेदनाओ ।
कलेजा चीरती कंपावती अम भयकथाओ ॥

जैसी पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं । उनके 'छेल्ले कटोरे' में बापू का 'शाश्वत आलेखन' मिलता । इस काव्य को कविकंठ से सुनकर मुग्ध जनता ने उन्हें 'राष्ट्रीय शायर' की उपाधि प्रदान की । लोकसाहित्य और लोकगीतों से संबद्ध उनकी प्राय: सभी कृतियाँ महत्ता रखती हैं किंतु 'गुजरात नो जय', 'सौराष्ट्रनी रसधार' तथा 'रोढियाली रात' सर्वश्रेष्ठ हैं । [ज० गु०]

मेचनिकाफ, एली (सन् १८४५–१९१६) इस रूसी यहूदी का जन्म सन् १८४५ में खारकोव प्रदेश में हुआ था । इसने खारकोव विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया । वह इधर उधर की किताबें ज्यादा पढ़ता, कक्षा में कम जाता और परीक्षा आने पर कुछ ही दिनों में रट रटाकर प्रथम स्थान प्राप्त कर लेता था । अल्प आयु में ही वह वैज्ञानिक प्रबंध लिखता था और उनके न छपने पर आत्महत्या करने की सोचता था । उसके स्वभाव की विशेषता थी कि जहाँ विचार आया, बिना शोध या प्रयोग के सिद्धांत बना डाला और प्रचारित कर दिया । विरोध हुआ तो प्रमाण ढूँढने निकलता और असफल होने पर मरने की बात सोचने लगता ।

अध्यापकों से लड़कर वह जर्मनी गया, रास्ते में डार्विन की किताब पढ़ी तो 'विकासवाद' का प्रचारक बन गया । वह लड़ता रहा और रूस, जर्मनी, इटली की प्रयोगशालाओं में काम करता रहा । १८६८ ई० में उसने क्षयरोगिणी लुदमिला से विवाह किया जो चार वर्ष बाद मर गई । सन् १८७० में वह ओडेसा आया और विश्वविद्यालय में जंतुविज्ञान और तुलनात्मक शरीर रचनाशास्त्र का प्रोफेसर बन गया । यहाँ उसके 'अस्तित्ववाद' पर भाषण प्रसिद्ध थे । यहीं उसने ओल्गा से विवाह किया । सन् १८८२ में फिर झगड़ा कर के वह सिसली चला आया ।

यहीं सन् १८८३ में वह स्पंज और स्टारफिश का अध्ययन कर रहा था । इन पारदर्शक जीवों में उसने कुछ 'घुमंतू कोशिकाएँ' देखीं जो खाद्यकण गटक जाते थे । मेचनिकाफ ने कार्मीन नामक रंजक का एक कण स्टारफिश के लार्वा में प्रविष्ट किया । तुरत घुमंतू कोशिकाओं ने उसे घेर लिया । 'तो ये कोश बाहरी चीज हजम कर जाते हैं !' बस जीवाणु देखने से पूर्व ही मेचनिकाफ ने सिद्धांत प्रस्तुत किया कि ये कोशिकाएँ जीवाणु चट कर जाती हैं और इसी से शरीर की प्रतिरक्षा होती है । महान् फिर्खो ने उसका विश्वास किया पर विज्ञान जगत् में घोर विवाद उठ खड़ा हुआ, बेहरिंग और कॉख ने उसे झूठा बताया । क्लास के सुझाव पर इन कोशिकाओं का नाम रखा 'भक्षक कोशिका' (फैगोसाइट) रखा गया । शीघ्र ही मेचनिकाफ ने प्रयोग किए और उन्हें जीवाणु भक्षण करते देखा । जलकीट और खमीर के बीज ने पहले प्रयोग में भाग लिया और शरीर प्रतिरक्षा विज्ञान का अनजाने ही जन्म हुआ ।

१८८६ ई० में उसे लुई पास्चर का सहयोग मिला और वह पेरिस में काम करने लगा । यहाँ उसने शानदार तमाशे रचे, भक्त शिष्य पाए । उन्हीं की सहायता से विरोध पक्ष की यह धारणा कि भक्षक कोशिकाएँ केवल मृत जीवाणु खाती हैं, गलत सिद्ध की । उसके शिष्य बोर्डे ने उपदंश रोग की परीक्षा के लिये रक्त परीक्षा का सूत्रपात किया । सन् १८९२ में उसका भक्षक सिद्धांत मान लिया गया । १९०८ ई० में उसे नोबेल पुरस्कार मिला ।

बाद में उसे 'वृद्धावस्था' के अध्ययन का शौक हुआ । रक्तवाहिनियों के कड़ी होने का कारण ढूँढते हुए उसने वनमानुष पर प्रयोग किए और उपदंश चिकित्सा के लिये प्रसिद्ध कैलोमेल मलहम ढूँढ़ निकाला । फिर उसने कहा कि सब रोगों की जड़ आँत के जीवाणु का विष होता है जिसका निवारण बलगेरियन दण्डाणुओं से हो सकता है, जो खट्टे दूध में होते हैं । जीवन के अंत समय तक वह स्वयं सेरों मट्ठा पीता रहा । पर मट्ठा आँत के रोगों में लाभ करता है, वृद्धावस्था नहीं रोक सकता । इस विचित्र वैज्ञानिक का सन् १९१६ में पेरिस में देहांत हो गया । [भा० दां० मे०]

मेटकाफ, सर चार्ल्स इनका जन्म कलकत्ते में सेना के एक मेजर के घर सन् १७८५ ईसवी में हुआ । आरंभ से ही आपका अनेक भाषाओं की ओर रुझान रहा । १५ वर्ष की उम्र में आप कंपनी की नौकरी में एक क्लार्क के रूप में प्रविष्ट हुए । शीघ्र ही गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली की, जिसे योग्य व्यक्तियों को पहचानने की अपूर्व क्षमता थी, निगाह आपपर पड़ी और आपने महाराज सिंधिया के दरबार में स्थित रेजीडेंट के सहायक के पद से अपना कार्य प्रारंभ कर, अनेक पदों को सुशोभित किया । सन् १८०८ में आपने अंग्रेजी राजदूत की हैसियत से सिक्ख महाराजा रणजीत सिंह को अपनी विस्तार नीति को सीमित करने पर बाध्य कर दिया तथा सन् १८०९ ई० की अमृतसर की मैत्रीपूर्ण संधि का महाराज रणजीत सिंह ने यावज्जीवन पालन किया । गवर्नर-जनरल लार्ड हेंसटिंग्ज ने आपके द्वारा ही विद्रोही खूँखार पठान सरदार अमीर खाँ तथा अंग्रेजों के बीच संधि कराई । भरतपुर के सुदृढ़ किले को भी नष्ट करने में आपका योगदान था । सन् १८२७ में आपको नाइट पदवी से विभूषित किया गया । जब आगरे का नया प्रांत बना तो आपको ही उसका प्रथम गवर्नर मनोनीत किया गया । थोड़े ही दिनों में आपको अस्थायी गवर्नर-जनरल बनाया गया । आपके इस कार्यकाल का सबसे महत्वपूर्ण कार्य भारतीय प्रेस को स्वतंत्र बनाना था । सन् १८३८ ईसवी में आप स्वदेश लौट गए । तदुपरांत आपने जमायका के गवर्नर का तथा कनाडा के गवर्नर-जनरल का पदभार सँभाला । अंत में १८४६ में कैंसर के भीषण रोग से आपकी मृत्यु हो गई । [मि० ना० चा०]

मेत्तूर (Mettur) भारत में मद्रास राज्य के सेलम जिले में, सेलम से २६ मील पश्चिम, कावेरी नदी के किनारे औद्योगिक केंद्र है, जहाँ वस्त्र, चीनी, साबुन, शोरा, उर्वरक, सीमेंट एवं वनस्पति घी का निर्माण तथा मछलियों की डिब्बाबंदी के उद्योग धंधे होते हैं । इन कारखानों को मेत्तूर विद्युत् गृह से बिजली प्राप्त होती है । यहाँ कावेरी नदी पर एक ५,३०० फुट लंबा और १७६ फुट ऊँचा बाँध बनाकर जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है । सेलम तथा अन्य १२ जिलों को यहाँ से बिजली प्राप्त होती है । इरोड नामक स्थान पर इस योजना को पाइकारा पारेषण (Transmission) प्रणाली द्वारा संबद्ध कर दिया गया है । मेत्तूर बाँध के जलाशय से ग्रैंड अनीकट और वाडावार नहरें निकाली गई हैं, जिनसे कावेरी डेल्टा एवं तंजावूर जिले में सिंचाई होती है । मेत्तूर की जनसंख्या २७,६९८ (१९६१) है । [रा० प्र० सिं०]

मेत्सु गैब्रिएल (Metsu Gabriel) चितेरा। ज० १६३० में लाइडेन की कला संस्था का १६४६ तक सदस्य था। १६५० में एम्सटर्डैम में बस गया। फ्रांस के हाल और रेमब्रांट का इसपर यथेष्ट प्रभाव है। 'एम्सटर्डैम बाजार' तथा 'एक स्त्री मछलीवाली की दूकान पर' इसके प्रारंभिक चित्र हैं। 'खिलाड़ी', 'संगीतप्रेमी', 'सोता हुआ खिलाड़ी' आदि चित्रों की गणना उसके श्रेष्ठ चित्रों में है। पारिवारिक जीवन संबंधी चित्रों में 'माता द्वारा रुग्ण शिशु की परिचर्या' श्रेष्ठ है। मेत्सु की मृत्यु एम्सटर्डैम में २४ अक्टूबर, १६६७ में हुई। [गु० त्रि०]

मेथिल ऐल्कोहॉल जिसके दूसरे नाम मेथेनोल, काठ स्पिरिट और कार्बिनॉल हैं, मोनोहाइड्रिक ऐलिफैटिक प्राथमिक ऐल्कोहॉल श्रेणी का प्रथम सदस्य है। इसको सर्वप्रथम रॉबर्ट बॉयल ने सन् १६६१ में काठ के भंजक आसवन में मिलनेवाले पदार्थों में पाया था। इसका सूत्र काहा$_3$. ओहा ($CH_3.OH$), गलनांक –९७.८° सें०, क्वथनांक ६४.८° सें० तथा आपेक्षिक गुरुत्व ०.७९२४ है। यह पानी कार्बनिक और द्रवों में पूर्णतया मिश्र्य है और एक अत्यंत विषैला तथा ज्वलनशील पदार्थ है।

मेथेनोल के रासायनिक गुणधर्म प्राथमिक ऐल्कोहॉलों के प्रारूपिक हैं। मेथेनोल एक अत्यंत महत्वपूर्ण औद्योगिक रसायनक है जिसका वार्षिक उत्पादन करोड़ों किलोग्राम आँका गया है। इसके व्यापारिक निर्माण की आधुनिक पद्धति कार्बन मोनोआक्साइड, या कार्बन डाइ-ऑक्साइड के उच्च दाब अवकरण पर निर्भर है। १०० से ६०० वायुमंडलीय दाब एवं ३५०° से ४००° सेंटीग्रेड ताप पर धातु विशिष्ट के ऑक्साइड उत्प्रेरकों के संमुख हाइड्रोजन एवं कार्बन मोनोऑक्साइड, या डाइऑक्साइड की अभिक्रिया से मेथेनोल का संश्लेषण किया जाता है। अल्प मात्रा में यह प्राकृतिक गैस के हाइड्रोकार्बनों के आंशिक ऑक्सीकरण से और काठ के भंजक आसवन से प्राप्त पाइरोलिग्नियस अम्ल से भी प्राप्त होता है।

मेथेनोल की सर्वाधिक उपयोगिता फार्मऐल्डिहाइड, जो एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्बनिक रसायनक है, के निर्माण के लिये एक मध्यवर्ती (intermediate) के रूप में है। यह सरल विधियों से अन्य महत्वपूर्ण पदार्थों में, जैसे मेथिल ऐसीटेट, मेथिल क्लोराइड, मेथिल सैलिसिलेट और मेथिल ऐमिन में बदला जा सकता है। मेथेनोल एक उत्तम विलायक एवं निष्कर्षक होने के कारण प्रयोग-शालाओं में प्रयुक्त होता है। विशिष्ट ईंधन, प्रतिहिमायक एवं ऐथिल ऐल्कोहॉल से मेथिलेटेड स्पिरिट बनाने के लिये विकृतीकारक के रूप में इसका उपयोग होता है। [रा० हु० स०]

मेथेन संतृप्त हाइड्रोकार्बन श्रेणी का सरलतम सदस्य है। इसका अणुसूत्र, काहा$_4$ (CH_4) है। यह वर्णरहित, गंधरहित तथा स्वादरहित गैस है। इसका क्वथनांक –१६१.६° सें० और गलनांक –१८२.६° सें०, क्रांतिक ताप –८२.१५° सें० और गैस का मानक ताप और दाब पर घनत्व ०.७१७ ग्राम प्रति घन सेंमी० है। इसका प्रमुख स्रोत प्राकृतिक गैस है, जो तैल कूपों से निकलती है। कोयला आसवन के उत्पादों और वानस्पतिक पदार्थों के वानस्पतिक किण्वन से निकली गैसों में भी यह पाया जाता है। दलदली भूमि से निकली गैस में उपस्थित होने के कारण इसे मार्श, या पंक गैस भी कहते हैं। कोयले की खदानों से निकलने के कारण इसे फायर डैंप कहते हैं। इसके कारण खदानों में विस्फोट हो सकता है। निम्न ताप पर कोयले के आसवन से जो गैसें प्राप्त होती हैं उनमें लगभग ५०% तक मेथेन रह सकता है। कोयला गैस निर्माण में कोयला कार्बनीकरण से प्राप्त गैसों में इसकी मात्रा २५ से ३५% तक रहती है।

मेथेन का ऊष्मीय मान बहुत ऊँचा, पेट्रोल के ऊष्मीय मान के दुगुने से भी, ऊँचा है। अतः यह एक बहुमूल्य ईंधन है। कम ऊष्मीय मान गैसों के ऊष्मीय मान बढ़ाने के लिये इसका उपयोग होता है। बड़े पैमाने पर हाइड्रोजन प्राप्त करने का यह उत्कृष्ट स्रोत है। अनेक उद्योगों में इस विधि से हाइड्रोजन तैयार होता है। वायु के साथ यह विस्फोटक मिश्रण बनता है। इससे अनेक रसायनक, विशेषतः मेथेनोल और अन्य ऐल्कोहॉल तैयार होते हैं। इसके जलने से जो कज्जल प्राप्त होता है वह उत्कृष्ट कोटि का और अनेक उद्योगों, रबर तथा मुद्रण स्याही के निर्माण में प्रचुर मात्रा में व्यवहृत होता है। अतर्दहन इंजन में ईंधन के रूप में इसके उपयोग का प्रयास हुआ है।

रसायनतः यह निष्क्रिय गैस है। केवल क्लोरीन के साथ क्रिया-शील होकर क्लोरीन के यौगिक, मेथिल क्लोराइड, मेथिलीन क्लोराइड, क्लोरोफार्म और कार्बन टेट्राक्लोराइड, बनते हैं। इसके पूर्ण रूप से जलने से कार्बन डाइऑक्साइड और जल बनते हैं।

[रा० हु० स०]

मेथोडिज़्म एक ऐंग्लिकन पादरी जान वेस्ली (सन् १७०३-१७९१ ई०) के नेतृत्व में मेथोडिज़्म का प्रवर्तन हुआ था। उन्होंने सन् १७२९ ई० में अपने भाई चार्ल्स तथा कुछ अन्य साथियों के साथ ऑक्सफर्ड के विद्यार्थियों के लिये 'होली क्लब' नामक संस्था बनाई। इस क्लब के सदस्य एकत्र होकर बाइबिल पढ़ते, उपवास करते, जनता को उपदेश देते और बीमारों तथा कैदियों से भेंट करने जाते थे। लोगों ने उपहास में 'होली क्लब' के सदस्यों का नाम मेथोडिस्ट रखा था। किंतु वेस्ली ने स्वयं उसी नाम को अपनाया। प्रारंभ में वे ऐंग्लिकन गिरजाघरों में प्रवचन किया करते थे किंतु उनका सुधार आंदोलन बढ़ता गया और मेथोडिस्ट सोसाइटी के रूप में ऐंग्लिकन चर्च से अलग हो गया। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मेथोडिज़्म को अमरीका में बड़ी सफलता मिली। आज कल वहाँ का चर्च महत्वपूर्ण मेथोडिस्ट चर्च बन गया है (सदस्यता एक करोड़ सत्ताईस लाख)। मेथोडिज़्म विश्व भर में फैला हुआ है। ब्रिटेन (सात लाख से अधिक वयस्क सदस्य) के अतिरिक्त वह प्रधानतया कनाडा, साउथ अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में फैला हुआ है।

[का० बु०]

मेदिनी राय यह चंदेरी राज्य का राजपूत शासक था। महमूद द्वितीय ने उसे अपने दरबार में मंत्री नियुक्त कर दिया। मेदिनी राय

ने उत्तरदायित्व के पदों पर हिंदुओं को नियुक्त किया। दरबार में अपना प्रभाव घटते देखकर मालवा के दरबारियों ने उसके विरुद्ध सुल्तान के कान भरे तथा गुजरात के सुल्तान मुजफ्फर शाह की सहायता से मेदिनी राय को पदच्युत करवा दिया। मेदिनी राय ने चित्तौड़ के राणा सांगा की सहायता से सुल्तान महमूद पर आक्रमण कर दिया और उसे हरा दिया। राजपूतों ने महमूद को पकड़ कर अपने सरदारों के संमुख उपस्थित किया। बाद में राणा सांगा ने वंशानुगत राजपूतोचित दयालुता के कारण महमूद को क्षमा कर दिया तथा मेदिनी राय की सहमति से उसका राज्य उसे वापस लौटा दिया। [मि० चं० पा०]

मेद्राजो, कुंत दोन फेडोरिकोद स्पेनी चितेरा। जन्म रोम मे १२ फरवरी को, १८१५ मे हुआ। पिता मेद्राजे ने प्रारंभिक शिक्षा दी। १८५२ मे पेरिस गया और वहां विंतर हाल्तर के शिष्यत्व में बेरोन टेलर और इप्रेस के आकृति चित्रों का निर्माण किया। पिता की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकारी रूप में प्राडो चित्र वीथी का संचालक तथा सनफरडो एकाडमी का सभापति बना। उसकी उत्तम रचनाओं मे नवगीत', 'सिगरेट' तथा 'संत सिसालिया' की गणना है। इसने कला संबंधी पत्रों का भी प्रकाशन किया। इसकी इहलीला माड्रिड मे ११ जून, १८६४ को समाप्त हो गई।

[गु० त्रि०]

मेधातिथि मनुस्मृति पर एक विशद टीका के लेखक। अपने ग्रंथ मे ये कुमारिल का उल्लेख करते हैं अतः सातवी शताब्दी के बाद इनको होना चाहिए। मनुस्मृति पर लिखी टीका मिताक्षरा (१०७६ से ११२१) मे इनका उल्लेख है। अतः डॉ० गंगानाथ झा के अनुसार नवी शताब्दी इनका काल ठहरता है। डॉ० बुहलर इनको कश्मीर का तथा जॉली दक्षिण का मानते हैं। केवल इतना ही इनके ग्रंथ के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है कि ये कश्मीर की बोली तथा कश्मीर और पंजाब के रीति रिवाजों से पूर्णत परिचित थे। इनका एक अन्य ग्रंथ स्मृतिविवेक भी था।

सं० ग्रं० — डॉ० गंगानाथ झा : मनुस्मृति। [रा० चं० पा०]

मेन (Maine) स्थिति : ४७° २७' से ४०° ४' उ० अ० तथा ६६° ५७' से ७१° ७' प० दे०। यह संयुक्त राज्य, अमरीका का उत्तर-पूर्वी राज्य है। इसके उत्तर मे क्यूबेक (कैनाडा), पूर्व मे न्यूब्रंजविक (कैनाडा) और फंडी की खाड़ी, दक्षिण मे ऐटलैंटिक महासागर और पश्चिम में न्यूहैंपशिर तथा क्यूबेक हैं। इसका कुल क्षेत्रफल ३३,२१५ वर्ग मील है जिसमें से २,१७५ वर्ग मील में जलाशय हैं। मेन राज्य की तट रेखा की सीधी लंबाई केवल २५० मील है लेकिन कटी फटी तथा खाड़ियों के भीतरी भाग में घुसी होने के कारण यह २,३७६ मील लंबी हो गई है। वनों में सफेद देवदार, बीच, बांज देवदार, स्प्रूस, हेमलॉक, बालसम, फर, ऐश, बर्च, मेपल आदि वृक्षों की प्रधानता है। इनकी लकड़ियों से कागज, काष्ठमंड, जलयान एवं साजसज्जा आदि का निर्माण किया जाता है। मेन की प्रमुख उपज आलू है। मीठी मक्का (sweet corn) मटर, सोयाबीन, जई एवं अनन्नास तथा ब्लू बेरीज नामक फल अन्य महत्वपूर्ण उपजें हैं। यहाँ मछलियाँ भी बहुत अधिक पकड़ी जाती हैं तथा इनका निर्यात किया जाता है। खनिजों में फेल्सपार, स्लेट, ग्रेनाइट, मैंगनीज, बेरील, सीसा, तांबा, जस्ता एवं गंधक मुख्य हैं। उद्योग धंधों मे सीमेंट, मुर्गी पालन, कागज, जूते एवं वस्त्र उद्योग उल्लेखनीय हैं। यहाँ पाँच वर्ष से लेकर २१ वर्ष तक की उम्रवालों को नि:शुल्क शिक्षा दी जाती है। ओरोनो में स्थित मेन विश्वविद्यालय द्वारा उच्च शिक्षा दी जाती है। इस राज्य की कुल जनसंख्या ९,६९,२६५ (१९६०) है। मुख्य नगर पोर्टलैंड, लेविस्टन, बैंगॉर, आबर्न, साउथपोर्टलैंड, ऑगस्टा (राजधानी) एवं वाटरविल हैं। यातायात का प्रबंध उत्तम है तथा ३० हवाई अड्डे हैं। पर्यटन उद्योग इस राज्य का महत्वपूर्ण उद्योग है। इसका मूल कारण इसकी प्राकृतिक छटा है। यहाँ २,५०० से भी अधिक झीलें तथा छोटे जलाशय हैं। १,३०० द्वीप जंगलों से भरे हैं। यहाँ पाँच नदियाँ हैं। मूज हेड झील ४० मील लंबी और दो से १० मील तक चौड़ी है। बर्फ पर फिसलने की बहुत ही अच्छी सुविधाएँ हैं। जाड़े की क्रीड़ाएँ प्रसिद्ध हैं। एकेडिया नैशनल पार्क तथा बाक्सटर स्टेट पार्क मनोरंजन के स्थान हैं। [रा० प्र० सिं०]

मेनका वृषणाश्व (ऋ० १-५१-१३) अथवा कश्यप और प्राधा (महा० आदि०, ६८-६७) की पुत्री, स्वर्गलोक की छह सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं में से एक, ऊर्णायु नामक गंधर्व की पत्नी थी। अर्जुन के जन्म समारोह तथा स्वागत मे इसने नृत्य किया था। अपूर्व सुंदरी होने से पृषत् इसपर मोहित हो गया जिससे द्रुपद नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इंद्र ने विश्वामित्र को तपभ्रष्ट करने के लिये इसे भेजा था जिसमे यह सफल हुई और इसने एक कन्या को जन्म दिया। उसे यह मालिनी तट पर छोड़कर स्वर्ग चली गई। शकुन पक्षियों द्वारा रक्षित एवं पालित होने के कारण महर्षि कण्व ने उस कन्या को शकुंतला नाम दिया जो कालांतर में दुष्यंत की पत्नी और भरत की माता बनी। [रा० द्वि०]

मेना पेद्रो दे (Mena Pedrode) स्पेनी मूर्तिकार। जन्म एड्रा मे हुआ। सर्वप्रथम एल एगल के भवन निर्माण ने इसे प्रख्यात कर दिया। इसकी प्रसिद्ध मूर्तियों में 'मरियम और ईसा', 'क्रूसीफिकेशन', 'संत फ्रांसिस' आदि हैं जो माड्रिड मे हैं। इसकी मृत्यु माल्गा में १६९३ में हुई। [गु० त्रि०]

मेनिएर्ज रोग (Menier's disease) का पता पहले मेनिएर ने १८६१ ई० मे लगाया था जिनके नाम पर इस रोग का नाम पड़ा। इसके उत्पन्न होने का कारण तीव्र आंतरकर्ण रक्तस्राव (acute labyrinthine haemorrhage) तथा तीव्र पूयजनक आंतरकर्णशोथ है। किसी किसी व्यक्ति मे आधारभूत धमनी के असाधारण स्फीत (aneurion), अथवा आभ्यंतर श्रवण धमनी के बद हो जाने, अथवा अनुमस्तिष्क कर्णकटक अर्बुद (cerebellum pontile tumor) इत्यादि कारणों से भी यह रोग हो सकता है। इन सभी मे मस्तिष्क की आठवी नाड़ी का प्रघाण क्षेत्र (vestibular area) अवश्य आक्रांत होता है।

इस रोग का आक्रमण अधिकांश युवावस्था में होता है। रोगी को एकाएक चक्कर आने लगता, कानों में झनझनाहट की आवाज

होती, उल्टी आती और अंततः बहरापन हो जाता है। ऐसे रोगी स्वस्थ भाग की ओर लेटे मिलते हैं। दूसरी करवट लेटने से उल्टी आने लगती है, आँखों की काली पुतली विकृत पार्श्व की ओर हो जाती है और रोगी पूर्णतया बेहोश हो जाता है। अच्छे होने पर रोगी के बहरे होने का भय रहता है।

रोगी को पूर्ण विश्राम करने देना चाहिए, सिर पर बर्फ की टोपी रखनी चाहिए और तरल आहार देना चाहिए। नमक बिल्कुल न देना चाहिए। वमन इत्यादि का उपचार उपयुक्त ओषधियों द्वारा करना चाहिए। [प्रि० कु० चौ०]

मेनोन, ओय्यारत्तु चंतु (१८४६-१८९९) मलयालम उपन्यासकार। जन्म मालाबार में हुआ था। मद्रास प्रदेश में न्यायाधीश का काम करते थे। उनका 'इदुलेखा' उपन्यास अब भी मलयालम के उच्चतम उपन्यासों में से एक है। यह एक सामाजिक सुखांत उपन्यास है जिसमें वह उन मूढ़ एवं तुच्छ रीति रिवाजों और व्यवहारों का वर्णन करता है जो आदर्श के रूप में नंबूदिरियों और उच्च वर्ग के नायरों में प्रचलित थे। नायक एवं नायिका माधवन और इंदुलेखा प्रबुद्ध नवीन पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जो जीवन के मानवीय मूल्यों का समर्थन करते हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि और पात्रों का चित्रण ओज, मर्मज्ञता एवं शुद्धता से किया गया है। चंतु-मेनोन ने शारदा नाम का दूसरा उपन्यास लिखना प्रारंभ किया था किंतु अभाग्यवश इसे पूरा करने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। इसमें विश्व के न्यायालयों का सजीव चित्रण किया गया है और उसमें अनेक स्मरणीय पात्र मिलते हैं। [जी० वा० तं०]

मेनोन वल्लत्तोल नारायण (१८७८-१९५८) मलयालम कवि जो दक्षिण मालाबार में पैदा हुए थे। इन्होंने १२ वर्ष की अवस्था से ही लिखना प्रारंभ किया। २८ वर्ष की अवस्था में इनका वाल्मीकि रामायण का अनुवाद प्रकाशित हुआ। जीवन के प्रारंभ में ही बधिर हो जाने के कारण उन्हें एक अत्यंत मर्मस्पर्शी कविता 'बधिर विलापम्' लिखने की प्रेरणा मिली। उन्होंने चित्रयोगम् नामक एक महाकाव्य भी लिखा जो कथा सरित्सागर में वर्णित मंदारवती और सुंदरसेन की कहानी पर आधारित है। उनका प्रथम खंडकाव्य आधुनिक शैली में 'बंधनस्थनाय अनिरुद्धना' है। उनकी अधिकांश छोटी छोटी कविताएँ और गीत साहित्य मंजरी में ९ भागों में संगृहीत हैं। उसकी 'एंटे गुरुनाथन्' कविता भारतीय भाषाओं में गांधी जी पर लिखी हुई अच्छी से अच्छी कविताओं में से एक है। उनकी कुछ अधिक महत्वपूर्ण कविताएँ जो साहित्यमंजरी ग्रंथों में संगृहीत हैं ये हैं ओरुचित्रम्, भारतप्पुळा, उण्णिनिल्ला, पट्टिलयोतिञ्ञ तीक्कोल्लि, कविता, ओपाटियिल चेल्लुन्ना अक्रूरन, ओरुकृष्णप्परु-विनोट्टु, राघयुटे कृतार्थता, परीक्षयिल जयिच्चु, नागिला भारतस्त्रीकल तन भावशुद्धि इत्यादि।

मलयालम में उनके तीन खंड काव्य हैं। शिष्यनुम् मकनुम् अच्छनुम्मकलुम् और मग्दलन मरियम्। शिष्यनुम् मकनुम् में परशुराम और गणेश के बीच युद्ध और शिव पार्वती की मुद्राओं का वर्णन है। अच्छनुम् मकलुम् कश्यप मुनि के आश्रम पर विश्वामित्र और शकुंतला के बीच मिलन की कल्पना करता है। मग्दलनमरियम का आधार बाइबिल की कहानी है। वल्लत्तोल ने अनेक सुंदर राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी हैं। इन कविताओं ने केरल की जनता को राजनीतिक तंद्रा एवं पराजय की अवस्था से जागरित करने में पर्याप्त योग दिया है। राजनीतिक आंदोलनों के संगठित होने के बहुत पहले ही केरल में नारायण मेनोन ने ऐसी कविताओं की रचना की जिनमें दरिद्रों की दुःखद अवस्था का वर्णन एवं मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की निंदा की गई है

नारायण मेनोन ने अपनी कविताओं में उच्च कोटि की आलंकारिक पूर्णता प्राप्त की है। उन्होंने स्वाभाविक द्राविड छंदों को पुनरुज्जीवित किया एवं लोकप्रिय बनाया और मलयालम रचनाओं को प्रभावक रूप से प्रभावित किया। उन्होंने अनेक संस्कृत नाटकों कुछ पुराणों आदि का तथा ऋग्वेद का मलयालम में अनुवाद कर ख्याति प्राप्त की। उन्होंने कथकलि का कायाकल्प किया और १९०३ ई० में केरल कला मंडलम् की स्थापना की। [जी० वा० तं०]

मेयो, लार्ड रिचर्ड साउथवेल बोर्क, मेयो के छठे अर्ल का जन्म डबलिन में २१ फरवरी सन् १८२२ को हुआ था। सन् १८५२ में इनकी नियुक्ति आयरलैंड के प्रधान सचिव के पद पर हुई। इसी पद पर वे दो बार और सन् १८५८ और सन् १८६६ में आसीन रहे। १२ जनवरी, सन् १८६९ को लार्ड मेयो ने कलकत्ते में भारत के वाइसराय व गवर्नर जेनरल के पद की शपथ ली।

उस समय सोवियत रूस मध्य एशिया में अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ा रहा था। इसलिये भारत के उत्तर पश्चिम में स्थित देशों के प्रति मेयो ने मित्रतापूर्ण नीति अपनाई। अफगानिस्तान के अमीर शेरअली को अंबाला में आमंत्रित किया और २७ मार्च, सन् १८६९ को वहीं दरबार किया। शेरअली अंग्रेजों का मित्र हो गया। लार्ड मेयो ने अफगानिस्तान और ईरान के बीच सीस्तान को लेकर हो रहे झगड़े का भी दोनों देशों के बीच सीमा निर्धारण कर अंत कर दिया। मेकरान की समस्या को लेकर ईरान और बिलोचिस्तान के बीच हो रहे झगड़े का भी उन्होंने सीमा निर्धारण कर अंत कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सोवियत रूस को इन राज्यों की सीमा समस्याओं का बहाना लेकर हस्तक्षेप करने का अवसर नहीं मिला और ये दोनों राज्य अंग्रेजी सरकार के मित्र हो गए।

लार्ड मेयो ने विकेंद्रीकरण की नीति अपनाई। इस नीति से सिंचाई, रेल, यातायात तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में बड़ी सहायता मिली। ८ फरवरी, सन् १८७२ को अंडमन द्वीप में शेरअली नामक एक बंदी ने लार्ड मेयो की हत्या कर दी। [कृ० स्व० श्री०]

मेरठ (Meerut) १ जिला, स्थिति : २८° १' उ० अ० तथा ७७° ५०' पू० दे०। यह भारत में उत्तर प्रदेश राज्य के उत्तर-पश्चिमी भाग में स्थित है। इसके पूर्व में मुरादाबाद एवं बिजनौर, उत्तर में मुजफ्फर नगर, दक्षिण में गाजियाबाद जिला तथा पश्चिम में पंजाब के जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल २,३२२ वर्ग मील है। इसके अंतर्गत ऊपरी दोआब, या गंगा यमुना के बीच का भाग आने के कारण यह काफी उपजाऊ है। यहाँ पर आमों के कुंज एवं कहीं

कहीं पर जंगलों की टुकड़ियाँ तथा कहीं कहीं कुछ अनुर्वर भूमि भी मिलती है। सिंचाई योग्य नहरों के कारण यहाँ पर पैदावार बहुत अधिक होती है। कई नहरों से सिंचाई की सुविधा प्राप्त है। तुलनात्मक रूप से उच्च अक्षांश तथा उन्नत भूभाग के कारण यहाँ का जलवायु अति उत्तम है। जनवरी का औसत ताप १४° सें० तथा जून का ३१° सें० रहता है। वार्षिक वर्षा ३० इंच से भी कम होती है। गेहूँ, दलहन ज्वार, बाजरा, गन्ना, कपास आदि मुख्य फसलें हैं। इसकी जनसंख्या २७१२,९६० (१९६१) है।

२. नगर, यह जिले के मध्य में स्थित है तथा ब्रिटिशकाल से ही सेना की छावनी यहीं है। यहाँ पर गुड आदि का काम भी होता है। यह एक अच्छा नगर तथा जिले के शासन का केंद्र है। इसकी जनसंख्या (केवल मेरठ) २,८३,९९८ (१९६१) है।

मेरी प्रथम दे० ट्यूडर राजवंश।

मेरी रीड (अमेरिकन मेथोडिस्ट इपिस्कोपल मिशन) का जन्म ४ दिसंबर, १८५४ ई० को ओहायो (अमरीका) के नगर लोवेल में हुआ था। उन्होंने एम० ए० की परीक्षा ओहायो विश्वविद्यालय से १८७५ ई० में पास की। इसके उपरांत उन्होंने दस वर्ष तक पढ़ाने का कार्य किया।

१८८४ ई० में वह भारत आकर उत्तर प्रदेश के नगर कानपुर में मिशनरी कार्य करने लगीं। इस नगर में उनका स्वास्थ्य कुछ खराब होने लगा इसलिये उनको पिथौरागढ़ भेज दिया गया।

स्वस्थ होने के उपरांत वह पुन: कानपुर गईं। १८९० में वे अपना इलाज कराने के लिये अमरीका वापिस गईं।

अमरीका से लौटने पर वे चंदग (पिथौरागढ) के कोढ़ीगृह में नियुक्त हुईं। कुष्ठगृह की उन्होंने उचित तथा नए ढंग की व्यवस्था की। वह प्रात: चार बजे बिस्तर से उठती थीं और रात्रि के दस बजे सोने के लिये जाती थीं। वह कोढ़ी गृह के प्रत्येक सदस्य की कठिनाइयों को दूर करने की सदैव कोशिश करती थीं।

कुमारी मेरी रीड ने कुछ कोढ़ियों को गाएँ चराने का कार्य दिया और कुछ को खेतों में तरकारियाँ उगाने तथा फलों के पेड़ों में पानी, खाद, आदि देने का कार्य करने को दिया। शिक्षित वर्ग को दफ्तर का कार्य करने तथा अनपढ़ कोढ़ियों को पढ़ाने का कार्य दिया। स्त्रियों को कपड़ों की सिलाई करने और भोजन बनाने का कार्य दिया गया। इससे कोढ़ीगृह का काफी पैसा बचने लगा और इस बचत के रुपए से वह अच्छी से अच्छी दवाइयाँ विदेशों से मंगवाने लगीं।

१९०९ ई० में कुमारी मेरी रीड ने कुष्ठगृह को और अधिक बढ़ाया। आधुनिक पुस्तकालय की स्थापना की गई। कोढ़ियों को पढ़ाने का उचित प्रबंध किया गया। मनोरंजन के विविध साधन जुटाकर उन्होंने कुष्ठगृह को आनंदगृह में परिवर्तित कर दिया।

कुष्ठ रोग बरसों के संपर्क से ही लगता है। कुमारी मेरी रीड ने सब कोढ़ियों को इस बात पर राजी कर लिया कि वे अपने बच्चों को अपने पास नहीं रखेंगे और उन्हें छात्रावास में भेज देंगे। सन् १९१० में कुमारी रीड ने इन बालकों के लिये एक स्कूल स्थापित किया जहाँ उनको उचित शिक्षा दी जाती थी। माता पिता तथा भाई बहन इन बालकों और बालिकाओं से केवल शनिवार को ही मिल सकते थे।

१९१४ ई० में लड़ाई छिड़ जाने से सभी आवश्यक वस्तुओं के दाम चढ़ गए। कोढ़ियों, स्कूल के बालक, बालिकाओं और कुष्ठगृह के कर्मचारियों की खानपान की व्यवस्था करना कठिन हो गया। फिर भी वे धैर्यपूर्वक अपने काम में जुटी रहीं।

१९१७ में अकाल पड़ जाने, हैजा फैलने तथा भूकंप आने से कुष्ठगृह की इमारतें क्षतिग्रस्त हो जाने से उन्हें फिर संकट का सामना करना पड़ा पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी।

भारत सरकार उनके काम से प्रभावित हुई और उसने उनकी मूल्यवान सेवाओं के लिये उन्हें कैसरे हिंद स्वर्ण पदक दिया।

१९२३ ई० में डॉक्टर म्योर तथा श्री ए० डोनल्ड मिल्लर (मंत्री, भारत में कुष्ठ रोगी मिशन) चंदग कुष्ठगृह को देखने के लिये आए। वे कुमारी मेरी रीड के कार्यों को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। डॉक्टर म्योर ने कुष्ठ रोग के विषय में कुमारी मेरी रीड को नई नई खोजों के बारे में बताया और यह सलाह दी कि नई खोजों का प्रयोग कुष्ठगृह में अवश्य करें।

कुमारी रीड को १० अक्तूबर १९४० में चंदग कुष्ठगृह की सेवा में ५० वर्ष पूरे हो गए। इस अवसर पर चंदग की जनता से उनकी मूल्यवान सेवाओं के उपलक्ष में महान् उत्सव मनाया। यह दिन उनके जीवन का महत्वपूर्ण दिवस था। इसी दिन अपने मकान की सीढ़ी से फिसल जाने के २४ दिन बाद ८ अप्रैल, १९४३ को उनकी मृत्यु हो गई। [मि० च०]

मेरुदंड का शल्यकर्म मेरुदंड, रीढ़, या कशेरुक दंड अनेक छोटी अस्थियों से निर्मित होता है, जो कशेरुक (vertebrate) कहलाती है और जिनकी संख्या कुल २६ होती है — गर्दन पर (ग्रैव) सात, पृष्ठीय, या वक्षीय १२, कटि पर पाँच, त्रिकास्थि (sacrum) और कोसेजी (coseyse)।

चोट और रोग — प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बल प्रयोग से कशेरुकों के अलग हो जाने पर मेरुदंड का भंग होता है जिसमें मेरुरज्जु का विदारण (tearing), या दलन (crushing) सम्मिलित है जिसके फलस्वरूप चोट के स्थान के नीचे के भाग संवेदनहीन और संचलन शक्ति से शून्य हो जाते हैं। पहले ऐसे रोगी नीरोग नहीं हो पाते थे और शय्याव्रण और संक्रमण ग्रस्त होकर चिरकाल तक कष्ट भोगते और मर जाते थे। पिछले महायुद्ध के समय में अर्जित ज्ञान के कारण अब पैर के लकवे (paraplegic) के रोगी पहिएदार कुर्सियों में उपयोगी जीवन बिता सकते हैं।

मेरुदंड की वक्रता के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें मुख्य है, मेरुदंड की गुलिकार्ति (tuberculosis)। कशेरुकों की काय अस्थिक्षय (caries) से नष्ट हो जाती है और उसके निपात (collapse) से कूबड़ निकल आता है। स्पॉण्डिलाइटिस (spondylitis) एक विकलांगकारी चिंताजनक स्थिति है जिसमें पीठ क्रमश:

सीधी और अनम्य हो जाती है। कभी कभी दोषपूर्ण आसन की आदत, या चोट से असमर्मित विकास के फलस्वरूप पृष्ठकशेरुका में पार्श्विक वक्रता उत्पन्न हो जाती है। इसे समुचित व्यायाम, या धनुर्बंधनी (braces) पहनकर ठीक किया जा सकता है।

कभी कभी पीठ के निम्न भाग के दर्द का निदान और चिकित्सा में द्वारा उसकी चिकित्सा बहुत ही निराशाजनक और कठिन सी समस्या बन जाती है। इसकी जटिलता का अनुमान इस बात से सहज ही हो जाता है कि इस वेदना के स्रोत अनन्य हो सकते हैं। मेरुदंड और श्रोणि प्रदेश (pelvis) की अस्थियाँ, इनके मध्य के

चित्र १. मेरुदंड-वक्र

१. प्रथम ग्रीवा कशेरुका, (atlas), द्वितीय ग्रीवा कशेरुका (axis), ३. सातवीं ग्रीवा कशेरुका, ४. प्रथम पृष्ठ कशेरुका, ५. बारहवीं पृष्ठ कशेरुका, ६. प्रथम कटि कशेरुका, ७. पंचम कटि कशेरुका, ८. त्रिक तथा ९. अनुत्रिक।

असंख्य जोड़ और इस प्रदेश की असंख्य पेशियाँ तथा स्नायु। यह वेदना श्रोणि आशयों (Pelvis Viscera), अर्थात् मूत्राशय (bladder), प्रॉस्टेट शुक्राशय, या अंडाशय, गर्भाशय तथा मलाशय में भी उठ सकती है। इन सबके अतिरिक्त मोच और तनाव भी हैं, जो मनुष्य के ऊर्ध्वाधर आसन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं जिनके लिये हमारी शरीर यंत्रावली अभी भी पर्याप्त उपयुक्त नहीं है। [र० ना० सि०]

मेरुरज्जु (Spinal cord) मध्य तंत्रिकातंत्र का वह भाग है, जो मस्तिष्क के नीचे से एक रज्जु के रूप में पश्चकपालास्थि के पिछले और नीचे के भाग में स्थित महारंध्र (foramen magnum) द्वारा कपाल से बाहर आता है और कशेरुकाओं के मिलने से जो लंबा कशेरुकादंड बन जाता है उसकी बीच की नली में चला जाता है। यह रज्जु नीचे की ओर प्रथम कटि कशेरुका तक विस्तृत है। यदि संपूर्ण मस्तिष्क को उठाकर देखें, तो यह १८ इंच लंबी श्वेत रंग की रज्जु उसके नीचे की ओर से लटकती हुई दिखाई देगी। कशेरुक नलिका के ऊपरी दो तिहाई भाग में यह रज्जु स्थित है और उसके दोनों ओर से उन तंत्रिकाओं के मूल निकलते हैं, जिनके मिलने से तंत्रिका बनती है। यह तंत्रिका कशेरुकांतरिक रंध्रों (intervertebral foramen) से निकलकर शरीर के उसी खंड में फैल जाती है, जहाँ वे कशेरुक नलिका से निकलती हैं। वक्ष प्रांत की बारहों मेरुतंत्रिका इसी प्रकार वक्ष और उदर में वितरित हैं। ग्रीवा और कटि तथा त्रिक खंडों से निकली हुई तंत्रिकाओं के विभाग मिलकर जालिकाएँ बना देते हैं जिनसे सूत्र दूर तक अंगों में फैलते हैं। इन दोनों प्रांतों में जहाँ बाहुनी और कटित्रिक जालिकाएँ बनती हैं वहाँ मेरुरज्जु अधिक चौड़ी और मोटी हो जाती है।

मस्तिष्क की भाँति मेरुरज्जु भी तीनों तानिकाओं से आवेष्टित है। सब से बाहर दृढ़ तानिका है, जो सारी कशेरुक नलिका को कशेरुकाओं के भीतर की ओर से आच्छादित करती है। किंतु कपाल की भाँति परिअस्थिक (periosteum) नहीं बनाती और न उसके स्तर पृथक होकर मेरुरज्जु में जाते हैं। उसके स्तरों के पृथक होने से रक्त के लौटने के लिये शिरानाल भी नहीं बनते जैसे कपाल में बनते हैं। वास्तव में मेरुरज्जु पर की दृढ़तानिका मस्तिष्क पर की दृढ़ तानिका का केवल भीतरी स्तर है।

दृढ़ तानिका के भीतर पारदर्शी स्वच्छ कोमल, जालक तानिका है। दोनों के बीच का स्थान अधोदृढ़तानिका अवकाश (subdural space) कहा जाता है, जो दूसरे, या तीसरे त्रिक खंड तक विस्तृत है। इसके भीतर मृदु तानिका है, जो मेरुरज्जु के भीतर अपने प्रवर्धों और सूत्रों को भेजती है। इसमें सूक्ष्म रक्त वाहिकाएँ होती हैं। इस तानिका को रज्जु के तल से पृथक् नहीं किया जा सकता। मृदु तानिका और जालक तानिका के बीच के अवकाश को अधो जालक तानिका अवकाश कहा जाता है। इसमें प्रमस्तिष्क मेरुद्रव भरा रहता है।

नीचे की ओर द्वितीय कटि कशेरुका पर पहुँचकर रज्जु की मोटाई घट जाती है और वह एक शंक्वाकार शिखर में समाप्त हो जाती है। यह [illegible] (conus [illegible]) कहलाता है। इस भाग से [illegible] नीचे की ओर एक चमकता हुआ पतला [illegible] सूत्र ([illegible]) नीचे की ओर जाकर अनुत्रिक (coccyx) के भीतर की ओर चला जाता है।

मेरुरज्जु की स्थूल रचना — रज्जु की रचना जानने के लिये उसका अनुप्रस्थ काट (transverse section) काट लेना आवश्यक है। काट में दाहिने और बाएँ भाग समान रहते हैं। दोनों ओर के भागों के बीच में सामने की ओर एक गहरा विदर, या परिखा (fissure) है जो रज्जु के अग्र पश्च व्यास के लगभग तिहाई भाग तक भीतर को चली जाती है। यह अग्रपरिखा है। पीछे की ओर भी ऐसी पश्चमध्य (postero median) परिखा है। वह अग्र मध्य (antero median) परिखा से गहरी किंतु संकुचित है। अग्र

परिखा में मृदुतानिका भरी रहती है। पश्च परिखा में मृदुतानिका नहीं होती। पश्चपरिखा से तनिक बाहर की ओर पश्च पार्श्व परिखा (postero lateral fissure) है जिससे तंत्रिकाओं के पश्च मूल निकलते हैं। अग्र मूल सामने की ओर से निकलते हैं, किंतु उनका उद्गम किसी परिखा, या विदर से नहीं होता।

मेरुरज्जु में आकर धूसर और श्वेत पदार्थों की स्थिति उलटी हो जाती है। श्वेत पदार्थ बाहर रहता है और धूसर पदार्थ उसके भीतर H अक्षर के आकार में स्थित है।

धूसर पदार्थ की स्थिति ध्यान देने योग्य है। इसके बीच में एक मध्यनलिका (central canal) है जिसमें प्रमस्तिष्क मेरुद्रव चतुर्थ निलय से आता रहता है। वास्तव में इसी नलिका के विस्तृत हो जाने से चतुर्थ निलय बना है। नलिका के दोनों ओर रज्जु में समान भाग हैं, जो अग्र पश्च परिखाओं द्वारा दाहिने और बायें अर्धांशों में विभक्त हैं। इस कारण एक ओर के वर्णन से दूसरी ओर भी वैसा ही समझना चाहिए।

श्वेत पदार्थ के भीतर धूसर पदार्थ का आगे की ओर को निकला हुआ भाग (H का अग्र अर्धांश) अग्र शृंग (anterior cornua) और पीछे की ओर का प्रवर्धित भाग पश्च शृंग (posterior cornua) कहलाता है। इन दोनों के बीच में पार्श्व की ओर को उभरा हुआ भाग पार्श्व शृंग (lateral horns) है, जो वक्ष प्रांत में विशेषतया विकसित है। भिन्न भिन्न प्रांतों में धूसर भाग के आकार में भिन्नता है। वक्ष और त्रिक प्रांतों में धूसर भाग विस्तृत है। इन विस्तृत भागों से उन बड़ी बड़ी तंत्रिकाओं का उदय होता है, जो ऊर्ध्व और अधो शाखाओं के अंगों में फैली हुई हैं।

धूसर पदार्थ के बाहर श्वेत पदार्थ उन अभिवाही और अपवाही सूत्रों का बना हुआ है जिनके द्वारा संवेदनाएँ त्वचा तथा अंगों से उच्च केंद्रों में और अंत में प्रमस्तिष्क की प्रांतस्था में पहुँचती हैं तथा जिन सूत्रों द्वारा प्रांतस्था और अन्य केंद्रों से प्रेरणाएँ या संवेग अंगों और पेशियों में जाते हैं।

सूक्ष्म रचना — धूसर पदार्थ में तंत्रिका कोशाणु, मेदस पिधान-युक्त अथवा अयुक्त तंत्रिकातंतु तथा न्यूरोग्लिया होते हैं। कोशाणु विशेष समूहों में सामने, पार्श्व में और पीछे की ओर स्थित हो। ये कोशाणु समूह स्तंभों (column) के आकार में रज्जु के धूसर भाग में ऊपर से नीचे को चले जाते हैं और भिन्न भिन्न स्तंभों के नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार अग्र, मध्य तथा पश्च कई स्तंभ बन गए हैं। ये मुख्य स्तंभ फिर कई छोटे छोटे स्तंभों में विभक्त हो जाते हैं।

धूसर पदार्थ के बाहर श्वेत पदार्थ के भी इसी प्रकार कई स्तंभ हैं। यहाँ कोशिकाएँ नहीं है। केवल पिधानयुक्त सूत्र और न्यूरोग्लिया नामक संयोजक ऊतक हैं। सूत्रों के पुंज पथ (tract) कहलाते हैं, किंतु इन पथों को स्वस्थ दशा में सूक्ष्मदर्शी की सहायता से भी पहिचानना कठिन होता है। संवेदी तंत्रिकाओं के सूत्र पश्च मूल द्वारा मेरु रज्जु में प्रवेश करते हैं, अतएव उनका संबंध पश्च शृंगों में स्थित कोशिकाओं से होता है और वहाँ से वे प्रमस्तिष्क की प्रांतस्था तक कई न्यूरोनों द्वारा तथा कई केंद्रकों से निकलकर पहुँचते हैं। कितने ही सूत्र पश्चिम शृंग की कोशिकाओं में अंत न होकर सीधे ऊपर चले जाते हैं। इसी प्रकार प्रेरक तंत्रिकाओं के सूत्र रज्जु के अग्रभाग में स्थित होते हैं और अग्र शृंगों के संबंध में रहते हैं।

मेरुरज्जु के कर्म — ये दो हैं : (१) मेरुरज्जु द्वारा संवेगों का संवहन होता है। प्रांतस्था की कोशिकाओं में जो संवेग उत्पन्न होते हैं उनका अंगों, या पेशियों तक मेरुरज्जु के सूत्रों द्वारा ही संवहन होता है। त्वचा या अंगों से जो संवेग आते हैं, वे भी मेरुरज्जु के सूत्रों में होकर मस्तिष्क के केंद्रों तथा प्रांतस्था के संवेदी क्षेत्र में पहुँचते हैं। (२) मेरुरज्जु के धूसर भाग में कोशिकापुंज भी स्थित हैं जिनका काम संवेगों को उत्पन्न करना तथा ग्रहण करना है। पश्च ओर के स्तंभों की कोशिकाएँ त्वचा और अंगों से आए हुए संवेगों को ग्रहण करती हैं। अग्र शृंग की कोशिकाएँ जिन संवेगों को उत्पन्न करती हैं वे पेशियों में पहुँच कर उनके संकोच का कारण होते हैं जिससे शरीर की गति होती है। अन्य अंगों के संचालन के लिये जो संवेग जाते हैं उनका उद्भव यहीं से होता है। संवेग के पश्चिम शृंग में पहुँचने पर जब वह संयोजक सूत्र द्वारा पूर्व शृंग में भेज दिया जाता है तो वहाँ की कोशिकाएँ नए संवेग को उत्पन्न करती हैं जो तन्त्रिकाक्ष कोशिकाओं द्वारा, जिस पर आगे चलकर पिधान (medullated) चढ़ने से वे तंत्रिका सूत्र बन जाते हैं, पेशियों में पहुँचकर उनके संकोच के हेतु होते हैं। इस प्रकार की क्रियाएँ प्रतिवर्ती क्रिया (reflex action) कहलाती हैं। मेरुरज्जु प्रतिवर्ती क्रियाओं का स्थान है।

प्रतिवर्ती क्रियाएँ — शरीर में प्रति क्षण सहस्रों प्रतिवर्ती क्रियाएँ होती रहती हैं। हृदय का स्पंदन, श्वास का आना जाना, पाचक तंत्र की पाचन क्रियाएँ, मल, या मूत्र त्याग ये सब प्रतिवर्ती क्रियाएँ हैं जो मेरुरज्जु द्वारा होती रहती हैं; हाँ इन क्रियाओं का नियमन, घटना, बढ़ना मस्तिष्क में स्थित उच्च केंद्रों द्वारा होता है। हमारी अनेक इच्छाओं से उत्पन्न हुई क्रियाएँ भी, यद्यपि उनका उद्भव प्रमस्तिष्क के प्रांतस्था से होता है किंतु आगे चलकर उनका संपादन मेरुरज्जु से प्रतिवर्ती क्रिया की भाँति होने लगता है। अपने मित्र से मिलने की इच्छा मस्तिष्क में उत्पन्न होती है। प्रांतस्था की प्रेरक क्षेत्र की कोशिकाएँ संबंधित पेशियों को संवेग, या प्रेरणाएँ भेजकर उनसे सब तैयारी करवा देती हैं और हम मित्र के घर की ओर चल देते हैं। हम बहुत प्रकार की बातें सोचते जाते हैं, कभी अखबार, या चित्र भी देखने लगते हैं, तो भी पाँव मित्र के घर के रास्ते पर ही चले जाते हैं। यहाँ प्रतिवर्ती क्रिया हो गई। जिस क्रिया का प्रारंभ मस्तिष्क से हुआ था, वह मेरुरज्जु द्वारा होने लगी। इन प्रतिवर्ती क्रियाओं का नियमन मस्तिष्क द्वारा ही होता है। इनपर भी प्रांतस्था का सर्वोपरि अधिकार रहता है।

प्रतिवर्ती चाप (Reflex arc) — इससे उस समस्त मार्ग का प्रयोजन है जिसके द्वारा संवेग अपने उत्पत्ति स्थान से केंद्रीय तंत्रिका तंत्र (मस्तिष्क और मेरुरज्जु) द्वारा अपने अंतिम स्थान पर पहुँचते हैं, जहाँ क्रिया होती है। इस मार्ग, या परावर्ती चाप के पाँच भाग होते हैं : (१) संवेदी तन्त्रिका सूत्रों के ग्राहक अंतांग (recepters or receptive nerve endings) जो त्वचा में, या अंगों के भीतर स्थित होते हैं। ज्ञानेंद्रियों, त्वचा, पेशियों, संधियों, आमाशय की दीवार, फुफ्फुस, हृदय, इन सभी में ऐसे तन्त्र्यतांग स्थित हैं जो वस्तुस्थिति में परिवर्तन के कारण उत्तेजित हो जाते हैं। यहीं से

संवेग की उत्पत्ति होती है। (२) अभिवाही तंत्रिका जिसके सूत्रों की कोशिकाएँ पश्चमूल की गंडिका (ganglion) में स्थित हैं। (३) केंद्रीय तंत्रिकातंत्र (मस्तिष्क और मेरुरज्जु)। (४) अपवाही तंत्रिका और (५) जिस अंग में तंत्रिका सूत्र के अंतांग स्थित हों, जैसे पेशी, लाला ग्रंथियाँ, हृदय, आंत्र, आदि। प्रथम अंतांगों से संवेग अभिवाही तंत्रिका द्वारा केंद्रीय तंत्र में पहुँचकर वहाँ से अभिवाही तंत्रिका में होकर दूसरे (प्रेरक) अंतांगों में पहुँचते हैं।

कुछ भागों में ये पाँचों भाग होते हैं। कुछ में कम भी हैं। ये भाग वास्तव में न्यूरॉन (neuron) हैं। तंत्रिका कोशिका, उससे निकलनेवाला लंबा तंत्रिकाक्ष (axon) जो आगे चलकर तंत्रिका का अक्ष सिलिंडर बन जाता है और कोशिका के डेंड्रोन (dendron) मिलकर न्यूरॉन कहलाते हैं। डेंड्रोन में होकर संवेग कोशिका में जाता है। ये छोटे छोटे होते हैं और कोशिका के शरीर से वृक्ष की शाखाओं की भाँति निकले रहते हैं। कोशिका के दूसरे कोने से तंत्रिकाक्ष निकलता है, जो पिधानयुक्त होने पर तंत्रिका में होकर दूर तक चला जाता है।

प्रतिवर्ती चाप में कम से कम दो न्यूरॉन होते हैं। जानु प्रतिवर्त (knee reflex) में दो न्यूरॉन हैं। किंतु इतनी छोटी चाप शरीर में एक दो ही हैं। अधिक अंगों में तीन, चार और पाँच न्यूरोन तक होते हैं। इनके द्वारा संवेग ग्राहक अंतांगों से लेकर अंतिम निर्दिष्ट स्थान या अंग तक पहुँचता है। [मु० स्व० व०]

मेलबर्न (Melbourne) स्थिति : ३७° ५०′ द० अ० तथा १४४° ९५′ पू० दे०। यह आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया राज्य की राजधानी एवं सबसे बड़ा नगर है जो पोर्ट फिलिप खाड़ी के उत्तरी तट पर, यारा नदी के किनारे स्थित है। यहाँ की जलवायु उष्ण है, औसत वार्षिक ताप १५° से १९° सें० रहता है। इस नगर का उच्चतम ताप ४५° सें० तक लिया गया है। वार्षिक वर्षा का औसत २५·६६ इंच है। १८३५ ई० में अपराधी आवास के रूप में इसकी स्थापना हुई थी। सन् १८३७ में इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान मंत्री लार्ड मेलबर्न के नाम पर इस नगर का नामकरण किया गया। १८५१ ई० में सोने की प्राप्ति की घोषणा के फलस्वरूप इसकी उन्नति तेजी से होने लगी। रेलमार्ग एवं सड़कों का निर्माण मेलबर्न बंदरगाह तक शीघ्र ही हो गया। इस प्रकार थोड़े ही समय में मेलबर्न आस्ट्रेलिया का सबसे बड़ा नगर हो गया। एक वर्ग मील के आयताकार खंडों में इसकी निर्माण योजना बनाई गई थी, जो बाद में चारों ओर बढ़ गई। मुख्य नगर में कई सुंदर आयताकार सड़कें हैं जिनमें बुर्क, विलियम्स एवं कालिंस उल्लेखनीय हैं। सेंट किल्डा रोड लगभग ३०० फुट चौड़ी है। मेलबर्न अपने विस्तृत पार्क, सायेदार वृक्षवाली सड़कों तथा छिटके हुए निजी भवनों के लिये प्रसिद्ध है। विक्टोरिया राज्य के रेल एवं सड़कमार्ग यहीं से चारों ओर को जाते हैं तथा संसार के प्रसिद्ध नगरों के लिये वायु सेवाएँ भी हैं।

यह प्रारंभ से ही एक व्यापारिक एवं वित्तीय नगर रहा है। आस्ट्रेलिया के अधिकांश बैंकों का प्रधान कार्यालय मेलबर्न में ही है। विक्टोरिया राज्य के ७० प्रति शत कारखाने तथा ८१% श्रमिक इस नगर में हैं। यहाँ वायुयान, अभियांत्रिकी एवं बिजली के यंत्र, मोटरें, वस्त्र, सिगरेट, फल संरक्षण एवं जलयान के कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त रबर एवं शीशे की वस्तुएँ भी बनाई जाती हैं। नगर समुद्र से ५० मील दूर है। पोर्ट फिलिप की उथली खाड़ी में से होकर बड़े बड़े जहाज यहाँ आते हैं जिनके ठहरने की सुविधाएँ भी हैं। यह फ्लेमिंगटन घुड़दौड़ का प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ प्रति वर्ष घुड़दौड़ के लिये 'मेलबर्नकप' दिया जाता है। यह वायु एवं नौसेना केंद्र तथा ताप विद्युत केंद्र है। यहाँ टकसाल, दो बड़े गिरजाघर, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, प्राविधिक महाविद्यालय, कला गैलरी एवं संसद भवन हैं। इसकी जनसंख्या १९,५६,४०० (१९६२) है। [रा० प्र० सि०]

मेलबर्न, लॉर्ड — वास्तविक नाम, विलियम लैंब। जन्म, १५ मार्च, सन् १७७९; मृत्यु, २४ नवंबर सन् १८४८ ई०, ईटन तथा ट्रिनिटी कॉलेज (कैंब्रिज) में शिक्षा पाई। सन् १८०६ में एक 'ह्विग' के रूप में यह पार्लमेंट में प्रविष्ट हुआ। सन् १८१२ के चुनाव में यह हार गया पर सन् १८१६ में यह पुन: चुन लिया गया। पार्लमेंट में मेलबर्न बहुत कम बोलता था। लॉर्ड कैनिंग ने उसे सन् १८२७ में आयर्लैंड का सेक्रेटरी बना दिया। इसी समय वेलिंगटन प्रधान मंत्री हो गया, पर मेलबर्न अपने पद पर बना रहा। सन् १८२८ में उसने त्याग पत्र दे दिया। अगले वर्ष उसने अपने पिता की 'लॉर्ड' की उपाधि ग्रहण की और लार्ड सभा में चला गया।

सन् १८३० में उसे गृहसचिव बनाया गया। इसी समय आयर्लैंड के प्रश्न पर कुछ कठिनाई उठ खड़ी हुई और प्रधान मंत्री लार्ड ग्रे ने त्यागपत्र दे दिया। इस पर १८३४ ई० में मेलबर्न को प्रधान मंत्री बनाया गया। इसकी मंत्रिपरिषद् में आयर्लैंड तथा अन्य प्रश्नों पर मतभेद हो गया। इस कारणवश उसी वर्ष नवंबर मास में बादशाह ने इसके मंत्रियों को पदच्युत कर दिया, और मेलबर्न के बाद पील प्रधान मंत्री बना।

अप्रैल, सन् १८३५ में पील सरकार के त्यागपत्र दे देने पर मेलबर्न ने दुबारा सरकार बनाई। सन् १८३७ में कम अवस्था में विक्टोरिया इंग्लैंड की रानी बनी। मेलबर्न विक्टोरिया का विश्वस्त परामर्शदाता बन गया। उसने अपनी इस स्थिति का कभी अनुचित लाभ नहीं उठाया। अगस्त, सन् १८४१ के अंत में मेलबर्न ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

मेलोत्सो दा फोर्ली (१४३८–९४) १६वीं शताब्दी का प्रसिद्ध चित्रकार। प्रसिद्ध कलाकार पियरो डेला फ्रांसेस्का का सहयोगी था। टेकनीक की दृष्टि से उसके चित्र अपने समय में बड़े महत्वपूर्ण थे। आगे झुकी हुई आकृति में देखने पर शरीर का कुछ भाग प्राकृतिक रूप से कुछ बड़ा और कहीं कुछ छोटा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का रूप प्रदर्शित करना उस जमाने में साधारण कार्य नहीं था। इसे कला की भाषा में 'फोर शार्टनिंग' कहते हैं जो 'पर्सपेक्टिव' दृष्टि विज्ञान नामक कलासिद्धांत का एक भाग है। उसके बनाए चित्र अब अधिकतर विकृत हो चुके हैं। कुछ चित्र लोरेटो की दीवारों पर मिलते हैं। [रा० चं० शु०]

मेवा या शुष्कफल अनेक प्रकार का होता है जिसमें नट, या काष्ठफलों (कड़े छिलकेवाले फल) का स्थान महत्वपूर्ण है। वे सूखे, एक

कोष्ठक और प्रधानतया एक बीजवाले फल होते हैं जिनकी रचना प्रायः एक अंडाशय से, जिसमें एक से अधिक अंडप होते हैं, होती है। सामान्यतया इनका फलावरण कठोर और कभी कभी रेशेदार, झिल्लीदार तथा बालों जैसा भी होता है। कठोर आवरण-वाले फल, जैसे चेस्टनट (Chestnut), अखरोट (Walnut), काजू (Cashewnut), बादाम (Almond), नारियल इत्यादि रेशेदार फलावरण के उदाहरण हैं. बटरनट (Butternut) और हिकरीनट (Hickerynut) की रचना में स्त्री केशर के अतिरिक्त फूल के दूसरे भाग भी सहायक होते हैं। सुपारी एक दूसरे प्रकार का नारियल से मिलता जुलता फल है लेकिन इसके आवरण की रचना नारियल से कुछ भिन्न होती है। इसमें फलावरण कुछ खुला हुआ होता है। पिलिनट (Pilinut), जो चिकना और आकार में तिकोना होता है बहुत ही मोटे एवं कठोर आवरण से ढका होता है। ब्रेजिलनट (Brazilnut) में पूरा फल नाशपाती के आकार का होता है और काष्ठ के समान कठोर छिलके से ढका रहता है।

जैसा नाम से स्पष्ट है, काष्ठफल कठोर आवरणवाले शुष्क फल हैं लेकिन रचना, जलवायु आदि की दृष्टि से आपस में भिन्न होते हैं। कुछ मुख्य काष्ठफलों के विवरण निम्नलिखित हैं :

बादाम, चेस्टनट एवं अखरोट समशीतोष्ण जलवायु में पाए जाने वाले फल हैं। इन फलों को पैदा करने के लिये गहरी तथा उर्वर भूमि की आवश्यकता होती है। शुष्क तथा ठंढी जलवायु में ही ये फल अच्छे होते हैं, लेकिन अधिक ठंढक में पाला पड़ने से फूल नष्ट हो जाते हैं और फलस्वरूप पेड़ों में फल नहीं लगते।

बादाम — यह एशिया माइनर, या उत्तरी अफ्रीका का देशज समझा जाता है। दक्षिण यूरोप, अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान में यह अधिक पैदा किया जाता है। भारत में इसकी खेती कश्मीर की पहाड़ियों में ही होती है।

इसके फूल सुंदर होते हैं और फरवरी के अंत में पेड़ों पर आने लगते हैं। यदि इस समय अधिक पाला पड़ जाय, तो अधिकांश फूल नष्ट हो जाते हैं। फल लगने के लिये इसे परपरागण (cross-pollination) की आवश्यकता होती है। बादाम की बहुत सी किस्मों में स्वयंवंध्यता (self sterility) होती है, अतः परागण के लिये इन्हें बादाम के अन्य पेड़ों पर निर्भर रहना पड़ता है। फूलों से शहद लेने के लिये मधुमक्खियाँ आती हैं और इन्हीं के द्वारा परागण होता है।

इसका प्रसारण कलिकोद्गम द्वारा होता है। मूल वृंत के लिये बादाम के ही पौधे अच्छे होते हैं। आड़ू तथा जंगली खुबानी के भी पौधे मूल वृंत के लिए प्रयोग किये जा सकते हैं। कलिकोद्गम फरवरी, या मार्च में करना चाहिए। पौधों को लगभग २० फुट की दूरी पर लगाना चाहिए।

प्राय. बादाम कड़वे तथा मीठे दो प्रकार के होते हैं। कड़वे बादाम की गिरी (kernel) स्वाद प्रदान करनेवाले रस बनाने के काम आती है। मीठे तथा खाने वाले बादाम का खोल छाल मुलायम तथा कठोर दोनों प्रकार का होता है। कठोर खोल वाले बादाम कम उपयोगी होते हैं। प्रायः मुलायम खोल वाले बादाम की ही अधिकतर खेती होती है और उनका विभिन्न प्रकार से उपयोग किया जाता है। एक एकड़ में लगभग १२ मन फलों की उत्पत्ति होती है। फल संचय सितंबर, या अक्टूबर में किया जाता है, जब वे पूरे पके होते हैं।

अखरोट—भारत में अखरोट की पैदावार कश्मीर, हिमाचल प्रदेश तथा कुमायूँ की पहाड़ियों में होती है। इसका प्रसारण अधिकतर बीज से होता है। इसके वृक्ष बीजू होते हैं और पहाड़ी स्थानों में अर्ध जंगली अवस्था में बिखरे रहते हैं। इसकी नियमबद्ध खेती नहीं की जाती है। अन्य देशों में इसके उद्यान होते हैं और इसका प्रवर्धन भी रोपण, या कलिकोद्गम विधि से किया जाता है। वृक्षों की आपसी दूरी लगभग ५० फुट होनी चाहिए।

स्थानीय मिट्टी तथा जलवायु के अनुसार पेड़ लगाने के ८ या १० साल बाद फल देना शुरू कर देते हैं। इसके फलों की गिरी खाने के काम आती है और उससे तेल भी निकाला जाता है। इसके पेड़ों की लकड़ी बंदूक, राइफल आदि के कुंदे (Butt) बनाने के काम आती है। एक पेड़ से प्रायः ५,००० से ६,००० तक फल मिल जाते हैं।

चेस्टनट — यह यूरोप का देशज समझा जाता है। कश्मीर तथा कुमायूँ की पहाड़ियों में सीमित मात्रा में पैदा किया जाता है। यह अधिकतर बीज से पैदा होता है। इसका रोपण भी किया जा सकता है। पौधों को लगभग ४०–५० फुट की दूरी पर लगाया जाता है। बीजू पेड़ लगाने के १५–२० साल बाद फल देने लगता है। रोपणवाले वृक्षों में फल ८–१० साल में आने लगते हैं। फूल जुलाई में आते हैं और नर तथा मादा अलग अलग होते हैं। इसी कारण परपरागण मधुमक्खियों तथा अन्य कीड़ामकोड़ों द्वारा होता है। इसके हरे फल भूनकर खाए जाते हैं। फल के अतिरिक्त इसकी लकड़ी कुर्सी, मेज इत्यादि बनाने के काम आती है।

चिरौंजी — इसके पेड़ विंध्याचल की पहाड़ियों के जंगलों तथा ऐसी जलवायु वाले अन्य जंगलों में भी बहुतायत से पाए जाते हैं। इसके फल छोटे छोटे होते हैं भूनने पर काले एवं सिकुड़े हुए दिखाई पड़ते हैं। फल की गिरी, जो कड़े छिलके के आवरण के अंदर रहती है, चिरौंजी कहलाती है। आवरण के ऊपर सूखे हुए गूदे की पतली तह होती है जो खाने में खट्टी मीठी होती है किंतु फल का महत्व इस गूदे में नहीं बल्कि भीतर की चिरौंजी से है। आवरण हलकी चक्की या ऐसे अन्य उपायों से तोड़ दिया जाता है और उपयोगी मेवा चिरौंजी अलग कर ली जाती है।

काजू — यह दक्षिण अमरीका का देशज बताया जाता है परंतु भारत, पूर्वी अफ्रीका और ब्राज़िल में ही प्रधानतया पैदा होता है। संसार भर में भारत और पूर्वी अफ्रीका में इसकी उपज सबसे अधिक होती है। अफ्रीका की अधिकांश पैदावार फल के रूप में ही भारत भेज दी जाती है और यहाँ पर इसकी गिरी निकाली जाती है। इस भाँति भारत ही संसार भर में काजू भेजनेवाला देश है और लगभग ६० प्रति शत काजू भारत से अन्य देशों को भेजा जाता है।

भारत में इसकी खेती विशेष रूप से पश्चिमी तथा पूर्वी तटीय प्रदेशों में होती है। मलाबार और दक्षिणी कन्नड़ जिलों में यह देश में सबसे अधिक पैदा होता है। कुछ मात्रा में यह विशाखापट्टनम,

तंजौर और पूर्वी गोदावरी क्षेत्र में पैदा होता है। इसके अतिरिक्त मद्रास और आंध्र प्रदेश के अन्य भागों में इसके वृक्ष पाए जाते हैं। केरल के, जो देश का दूसरा काजू पैदा करनेवाला प्रांत है, अधिकतर जिलों में इसके वृक्ष प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं।

साधारणतया वृक्ष २०–२५ फुट की ऊँचाई के होते हैं, किंतु उपयुक्त जलवायु एवं मिट्टी के क्षेत्रों में और भी ऊँचे होते हैं। इसकी जड़ें अधिक गहराई तक जाती हैं। यह कम उपजाऊ तथा पहाड़ी स्थानों पर ही अधिक उगाया जाता है। यह पश्चिमी तटीय प्रदेश की लाल लेटराइटिक मिट्टी पर, जहाँ अधिक वर्षा होती है, अच्छी प्रकार उपजता है। दूसरी ओर पूर्वी तटीय भाग में जहाँ बलुई मिट्टी होती है और वर्षा का औसत ३५ इंच ही है वहाँ भी इसकी उपज अच्छी होती है। इसकी खेती में ताप मुख्य स्थान रखता है। यह समशीतोष्ण जलवायु में अधिक अच्छी तरह उपजता है। यह सूखे को सहन कर सकता है, लेकिन पाला पड़नेवाले स्थानों में यह नहीं उगाया जा सकता है। इसकी खेती प्रधानतः वर्षा पर निर्भर है और लगातार वर्षा होनेवाले भागों में ही यह सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

अब तक इसकी खेती नियमित रूप से नहीं की जाती। इसके पेड़ बागों और घर के अहातों में, आम, नारियल इत्यादि पेड़ों के साथ, लगाए जाते हैं। इसकी खेती साधारण है और इसके पौधों को लगाने से पहले और बाद में बहुत गोड़ाई, निराई आदि की आवश्यकता नहीं होती। बड़े बड़े उद्यानों में इसके लिये गड्ढे २०–२५ फुट की दूरी पर खोदे जाते हैं और दक्षिण-पश्चिमी मानसून प्रारंभ होने पर एक या दो काजू के बीज (छिलके के साथ) गड्ढे में रखकर मिट्टी से ढँक दिए जाते हैं। लगभग दो सप्ताह में बीज अंकुर देने लगते हैं और जड़ें अधिक संख्या में निकलने लगती हैं। इसके बाद इनकी कोई विशेष देखभाल नहीं करनी पड़ती। फूल दिसंबर और जनवरी माह में आते हैं। फूलों के आते समय थोड़ी वर्षा लाभदायक होती है। फूले हुए पुष्पवृंत (peduncle) वाले फल काजू सेब (Cashew-apples) कहे जाते हैं और काजू के फल, फूल के ऊपरी भाग में लगते हैं। इसके फल मार्च, अप्रैल और मई के महीनों में पकने पर तोड़े जाते हैं। फलों की पैदावार भूमि, जलवायु आदि पर निर्भर करती है और प्रति वृक्ष एक पाउंड से लेकर ४० या ५० पाउंड तक हो सकती है। पश्चिमी तटवर्ती भाग में औसत पैदावार २० पाउंड और पूर्वी भाग में इससे कुछ अधिक होती है।

काजू के पेड़ साधारणतया लगाने के तीन चार साल बाद फल देने लगते हैं। पैदावार दस साल तक बढ़ती जाती है, यों पेड़ों की औसत आयु ३५ से ४० वर्ष तक होती है।

१९५१–५२ ई० में भारत में काजू की खेती का क्षेत्र २,२३,१२७ एकड़ था, जिसका विवरण आगे सारणी १. में दिया गया है।

काजू के फलों की गिरी कई तरह से ऊपर के छिलके से अलग की जाती है। छिलका उतारने के लिये भूनना, छिलका उतारना, छीलना इत्यादि विधियों का प्रयोग होता है। भूनने से इसका छिलका भंगुर हो जाता है, जिससे फल से गिरी निकालने में सुविधा होती है। इसके साथ साथ एक विशेष प्रकार की सुगंध भी आ जाती है। भूनने के बाद छिलका उतारा जाता है। कुल पैदावार का तीन चौथाई भाग संयुक्त राज्य, अमरीका, को भेजा जाता है। इसके अतिरिक्त इंग्लैंड, कैनाडा तथा अन्य देशों को भी भेजा जाता है।

सारणी १.

क्रमांक	राज्य	काजू की खेती (एकड़)
१.	मद्रास	१,३५,०३९
२.	केरल	८२,९२५
३.	बंबई	४,५०८
४.	कुर्ग	१५५
५.	मैसूर	५००
	कुल योग	२,२३,१२७

नारियल — यह उष्णदेशीय और उपोष्णदेशीय भागों में समुद्र के किनारे अधिक पैदा होता है। यह उष्णदेशीय भाग में होनेवाले, खजूर से मिलते जुलते वृक्षों में सबसे उपयोगी है। इस पेड़ के विभिन्न भागों से कई प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। इसी कारण यह आर्थिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है। इसके फल से गरी (copra), नारियल का तेल, नारियल की खली और नारियल की छाल, जो विभिन्न कामों में आती है, मिलती हैं। पूर्ण विकसित पेड़ों के तने मकान, बैलगाड़ी आदि के निर्माण में प्रयोग किए जाते हैं। इसकी पत्तियों से छप्पर बनाए जाते हैं। इसके पुष्प विन्यास से एक विशेष प्रकार का रस निकाला जाता है, जिसे ताड़ी कहते हैं। इसके रस से गुड़, शक्कर, सिरका और अन्य प्रकार के किण्वित पेय बनाए जाते हैं। नारियल के फल की छाल जलावन और कोयला बनाने के काम आती है। इस पेड़ की औसत आयु ८० वर्ष होती है और एक माह के अंतर पर यह बराबर फल देता रहता है। इन्हीं सब गुणों के कारण प्राचीन ग्रंथों में इसको कल्पवृक्ष कहा गया है।

संसार में इसके वृक्ष कितने क्षेत्रफल में फैले हुए हैं, इसका पूर्ण अनुमान नहीं है, लेकिन ऐसा कहा जाता है कि लगभग ८० लाख एकड़ भूमि में इसकी खेती होती है। नारियल पैदा करनेवाले संसार के प्रधान देशों में फिलीपीन, इंडोनीशिया, भारत, लंका और ब्रिटेन के दक्षिणी द्वीपसमूह हैं। नारियल की उपज के अनुमानित क्षेत्र और पैदावार सारणी २ में दिए गए हैं।

इसकी खेती के लिये बलुई, दोमट, हलकी बलुई, दोमट और नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टियाँ, जो नदियों के डेल्टा और घाटियों में पाई जाती हैं, उपयुक्त होती हैं। यह लाल दोमट, कम क्षारीय और काली मिट्टी पर भी उगाया जा सकता है, यदि उसमें प्रचुर मात्रा में बालू या छर्रा मिला हो।

इसके लिये कम से कम ३० इंच वर्षा की, जो सालभर लगभग बराबर मात्रा में होती रहे, आवश्यकता होती है। उद्यानों में लगाने के लिये पौधे पहले नर्सरी में उगाए जाते हैं। अच्छी भाँति पके फलों को तोड़कर, उनको १ या २ महीनों के लिये सूखने को रख दिया जाता है, जिससे पानी की मात्रा कम हो जाए, किंतु हिलाने पर मालूम पड़े। अच्छी तरह से तैयार की हुई क्यारियों में इसके पौधे

मी इंच की दूरी पर लगाए जाते हैं। नर्सरी के पौधे प्रायः मार्च या अगस्त—सितंबर में लगाए जाते हैं। ९–१० महीनों में इसके पौधे स्थानों में लगाने योग्य हो जाते हैं। पेड़ों के बीच की दूरी लगभग २४ फुट रखी जाती है। पौधों को लगाने के ९, १० साल बाद, उनमें फल आने लगते हैं।

संसार में नारियल के क्षेत्र सारणी २.

क्रमांक	देश	क्षेत्र (लाख एकड़ में)	पैदावार (लाख फल)
१.	फिलिपीन	२४	३,९,९७०
२.	भारत	१५	३४,५००
३.	इंडोनेशिया	१५	३२,०००
४.	लंका	११	१८,७७०
५.	ब्रिटेन के दक्षिणी द्वीप समूह	६	७,५००
६.	मलाया	६	८,५००
७.	अन्य देश	७	९ ०००
	योग	८४	१,५०,२४०

इसका पुष्पविन्यास पुगुपर्ण (spatle) होता है, जो बहुशाखिक स्थूलमंजरी को घेरे रहता है। शाखाओं में फूल लगते हैं, जो एकलिंगी होते हैं, किंतु एक ही स्थूलमंजरी पर होते हैं। इनमें पूर्ण रूप से परपरागण होता है। निषेचन (fertilization) के पश्चात् मादा फूल फलकर तब काष्ठफल में परिवर्तित हो जाता है। फल एक बीजवाला होता है। परिस्तर (pericarp) रेशेदार होता है, जिसके नीचे मध्यस्तर होता है, जो अत्यंत कठोर एवं काले रंग का कोष्ठ (cell) होता है। इसमें ऊपर की ओर तीन आँखें होती हैं, जिनपर झिल्लीदार परत होती है। इसी में से अंकुरित बीज का प्रांकुर (plumule) बाहर आता है। इसका भ्रूणकोष खाने के काम आता है। इसकी मोटाई ½ इंच से १ इंच तक होती है। यह परत धीरे धीरे फल के पकने के साथ कड़ी होती जाती है। पके हुए फलों के भीतर का पानी बहुत कम हो जाता है (देखें नारियल)।

इसके फल लगभग ८ महीनों में पकते हैं। ६० से लेकर ८० फल प्रति पेड़ प्रति वर्ष पैदा होते हैं। नारियल का उपयोग प्रधानतः खाने, तेल निकालने, साबुन एवं मार्गरीन बनाने आदि, में होता है। इसमें लगभग ५० प्रति शत तेल होता है। [सं० सिं०]

मेसॉन (Meson) ऐसे नाभिकीय कणों को कहते हैं जिनका द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान से अधिक, परंतु प्रोटॉन के द्रव्यमान से कम होता है। इस प्रकार के कई कण ज्ञात हैं, जो इलेक्ट्रॉन से भारी हैं, परतु प्रोटान से हलके हैं।

सर्वप्रथम जापानी भौतिकविद युकावा (Yukawa) ने सैद्धांतिक आधार पर १९३५ ई० में मेसॉन के अस्तित्व का प्रतिपादन किया। उन्होंने नाभिकीय बलों को समझाने के लिये एक कण की कल्पना की, जिसका न्यूट्रॉनों और प्रोटॉनों के बीच विनिमय होता रहता है। सैद्धांतिक विवेचन द्वारा उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि इस कण का द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान का लगभग २५० गुना होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह निष्कर्ष निकाला गया कि यह कण अस्थायी होना चाहिए और इसके क्षय से इलेक्ट्रॉन उत्पन्न होने चाहिए। जिस समय युकावा ने अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया, कोई ऐसा कण प्रयोगों द्वारा ज्ञात नहीं था। इसके दो वर्ष बाद सन् १९३७ में ऐंडर्सन (Anderson) और नेडरमायर (Neddermeyer) ने कॉस्मिक किरणों (cosmic rays) के अध्ययन के दौरान एक ऐसे ही कण को खोज निकाला, जिसका द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान का २१२ गुना था तथा वह कण अस्थायी भी था। उस कण का नाम मेसॉन रख दिया गया और ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि ये ही युकावा के कण हैं, जो नाभिकीय बल उत्पन्न करते हैं।

इन कणों के विस्तृत अध्ययन से यह पाया गया कि इन कणों की नाभिकाणुओं (nucleons) के साथ परस्परक्रिया (interaction) बहुत कम होती है। अतएव नाभिकीय बंधन ऊर्जा इन कणों के कारण नहीं हो सकती। तब अन्य कणों की खोज की जाने लगी और एक ऐसे कण का पता लगा जो पहले प्राप्त कण से कुछ अधिक भारी था। इसका द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन की अपेक्षा २६५ गुना था। इस कण को पाइ-मेसॉन (π-meson) कहा गया और हलके कण का नाम म्यू-मेसॉन (μ—meson) रखा गया।

मेसॉनों का प्रयोगात्मक आविष्कार निम्न प्रकार से हुआ था : कॉस्मिक किरणों के अध्ययन के लिये फोटो प्लेटें गुब्बारे में बाँधकर ऊपरी वायुमंडल में भेजी जाती हैं। कॉस्मिक किरणों में पाए जानेवाले कण इन प्लेटों पर अपना प्रभाव डालते हैं। डेवलप करने पर इन प्लेटों में विभिन्न प्रकार के कणों की मार्गरेखाएँ (tracks) दिखाई पड़ती हैं। इन मार्गरेखाओं की मोटाई, लंबाई इत्यादि के अध्ययन से इन कणों का द्रव्यमान ज्ञात किया जा सकता है। इन्हीं में से कुछ मार्गरेखाएँ ऐसी थीं जिनके संगत कणों के द्रव्यमान मध्याणु के द्रव्यमान के बराबर थे। इनमें से अधिकांश कण मार्ग में ही क्षय हो जाते थे और क्षय में जो कण उत्पन्न होते थे उनके भी मार्ग आगे दिखाई पड़ते थे। इससे इन मेसानों की क्षयपद्धति (decay scheme) का भी पता चलता है।

पाई—मेसॉन — प्राथमिक कॉस्मिक किरणों में पाए जानेवाले, उच्च ऊर्जावाले प्रोटॉन, अथवा ऐल्फा कण, जब ऊपरी वायुमंडल में नाभिकों से टकराते हैं तब पाइ—मेसॉन उत्पन्न होते हैं।

आजकल प्रयोगशाला में π-मेसॉन अति उच्च ऊर्जावाले त्वरक यंत्रों के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। जब उच्च ऊर्जा तक त्वरित नाभिकीय कण, जैसे प्रोटॉन अथवा ऐल्फा कण, किसी नाभिक से टकराते हैं, तो π-मेसॉन उत्पन्न होते हैं। अधिक ऊर्जावाले इलेक्ट्रॉन किसी पदार्थ से टकरा कर जब गामा किरणें उत्पन्न करते हैं, तो ये गामा किरणें भी नाभिकाणुओं से परस्पर क्रिया करके π-मेसॉन उत्पन्न करती हैं।

π-मेसॉन ऋण आवेशित, अनावेशित, अथवा धन आवेशित होते हैं। धन और ऋण आवेशित पाइ-मेसॉन (π^+ और π^-) इलेक्ट्रॉन से २७३ गुना भारी होते हैं। इनके द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान m_e की इकाई में लिखे जाते हैं। इस प्रकार आवेशित

पाइ-मेसॉन का द्रव्यमान m_{π^+} या m_{π^-} हो, तो

$$m_{\pi^{\pm}} = २७५\, m_e$$

अनावेशित π^0-मेसॉन (π^0-meson) का द्रव्यमान २६५ m_e के बराबर होता है।

तीनों प्रकार के पाइ-मेसॉन अस्थायी होते हैं और इनका अति शीघ्र क्षय (decay) हो जाता है। आवेशित पाइ-मेसॉन के क्षय से म्यू-मेसॉन और न्यूट्रिनो उत्पन्न होते हैं। इनका क्षय निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :

$$\pi^{\pm} \longrightarrow \mu^{\pm} + \upsilon$$

(पाइ-मेसॉन) (म्यू-मेसॉन) (न्यूट्रिनो)
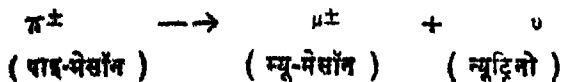
आवेशित पाइ-मेसॉन की आयु लगभग $१०^{-८}$ सेकंड है। अनावेशित पाइ (π^0) मेसॉन का क्षय अति शीघ्र होता है। इसकी आयु $१०^{-१४}$ सेकंड के लगभग होती है। इसके क्षय से दो गामा किरणें (फोटोन) उत्पन्न होती हैं।

ऋण आवेशित पाइ (π^-) मेसॉन का नाभिक में अवशोषण भी होता है। धन आवेशित (π^+) मेसॉन और धन आवेशित नाभिक में परस्पर विकर्षण होता है। अतः वे नाभिक में अवशोषित नहीं हो पाते।

तीनों ही प्रकार के पाइ-मेसॉन का चक्रण (spin) शून्य, और इनकी जातीयता (parity) ऋण ($-$) है।

π–मेसॉन के नाभिकाणु की रचना — आरंभ में ऐसा माना जाता था कि न्यूट्रॉन और प्रोटॉन मौलिक कण हैं और इनकी रचना एकरूप (homogeneous) है, परंतु इस मान्यता के अनुसार इनके चुंबकीय आघूर्ण (magnetic moment) की सैद्धांतिक व्याख्या नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिये, न्यूट्रॉन अनावेशित होता है, फिर भी उसका चुंबकीय आघूर्ण -१.९१ इकाई है। अब ऐसा विचार किया जाता है कि नाभिकाणु की रचना क्लिष्ट है। नाभिकाणु के केंद्रीय भाग में एक क्रोड़ (core) के चारों ओर एक, या अधिक पाइ-मेसॉन घूमते रहते हैं। केंद्रीय क्रोड़ और बाह्य पाइ-मेसॉन के आवेश इस प्रकार समाजित रहते हैं कि संपूर्ण तंत्र (system) का औसत आवेश नाभिकाणु के आवेश के बराबर हो। उदाहरण के लिये, न्यूट्रॉन में केंद्रीय धनात्मक क्रोड़ के चारों ओर, ऋण आवेशित पाइ-मेसॉन घूमते हुए माने जाते हैं। न्यूट्रॉन का ऋणात्मक चुंबकीय आघूर्ण इन्हीं पाइ-मेसॉनों के कारण होता है।

π-मेसॉन का नाभिकीय बल — नाभिक के भीतर न्यूट्रॉन और प्रोटॉन संभवतः अपने आवेश और चक्रण का आदान प्रदान करते हैं। इस विनिमय के कारण एक प्रकार के बल की उत्पत्ति होती है, जिसे विनिमय बल (exchange force) कहते हैं। इस विनिमय बल के कारण नाभिकाणुओं में परस्पर आकर्षण होता है। न्यूट्रॉन और प्रोटॉन के बीच आवेश के विनिमय को युकावा ने मेसॉनों के आधार पर समझाया।

नाभिक के भीतर एक प्रोटॉन और एक न्यूट्रॉन की कल्पना कीजिए, जिनके बीच आवेश का विनिमय होता है। न्यूट्रॉन एक ऋणात्मक π–मेसॉन उत्सर्जित करता है, जिससे वह प्रोटॉन बन जाता है। यह मेसॉन दूसरे प्रोटॉन में अवशोषित हो जाता है और वह न्यूट्रॉन बन जाता है :

$$n+p \rightarrow p'+\pi^-+p \rightarrow p'+n'$$
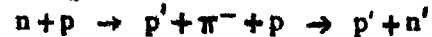
इस समीकरण में न्यूट्रॉन n का क्षय होकर प्रोटॉन p' बनता है और π^- मेसॉन उत्सर्जित होता है। यह मेसॉन पहले से उपस्थित प्रोटॉन p में अवशोषित हो जाता है, जिससे न्यूट्रॉन n' बनता है। इस प्रकार पहले जो नाभिकाणु न्यूट्रॉन था, वह अब प्रोटॉन हो गया है और पहले जो नाभिकाणु प्रोटॉन था, वह अब न्यूट्रॉन बन गया है, अर्थात् न्यूट्रॉन और प्रोटॉन में आवेश का विनिमय हो जाता है।

आवेश विनिमय धन आवेशित π^+-मेसॉन के द्वारा भी हो सकता है। तब

$$n+p \rightarrow n+\pi^++n' \rightarrow p'+n'$$

अर्थात् प्रोटान में से धन आवेशित π^+ मेसॉन उत्सर्जित होता है और वह न्यूट्रॉन में अवशोषित हो जाता है। इस प्रकार भी प्रोटॉन से न्यूट्रॉन में और न्यूट्रॉन से प्रोटॉन में परिवर्तन हो जाता है।

म्यू-मेसॉन (μ–Meson) — म्यू-मेसॉन सदैव पाइ मेसॉन के क्षय से उत्पन्न होते हैं। कॉस्मिक किरणों में जो म्यू-मेसॉन पाए जाते हैं वे भी कॉस्मिक किरणों में उपस्थित पाइ-मेसॉनों के क्षय से ही उत्पन्न होते हैं। वायुमंडल में अधिक ऊँचाई पर पाइ-मेसॉन उत्पन्न होते हैं पृथ्वी के समीप आते आते उनका क्षय हो जाता है, जिससे म्यू-मेसॉन उत्पन्न होते हैं। इसलिये पृथ्वी की सतह के समीप की कॉस्मिक किरणों में म्यू–मेसॉन ही पाए जाते हैं। प्रयोगशाला में म्यू मेसॉन को उत्पन्न करने के लिये पहले बताई विधि से पाइ-मेसॉन उत्पन्न किए जाते हैं और फिर उनके क्षय से म्यू-मेसॉन प्राप्त होते हैं।

अभी तक ऋण आवेशित (μ^-) और धनावेशित (μ^+) म्यू मेसॉन ही ज्ञात हैं। अनावेशित म्यू-मेसॉन का अभी तक पता नहीं चला है। शायद इसका अस्तित्व नहीं है। ऋण आवेशित और धन आवेशित दोनों ही प्रकार के म्यू-मेसॉनों का द्रव्यमान २१२ m_e होता है। म्यू-मेसॉन भी अस्थायी हैं और इनकी आयु २०×१०^{-६} सेकंड है। एक म्यू-मेसॉन के क्षय से एक इलेक्ट्रॉन और दो न्यूट्रिनो उत्पन्न होते हैं। इस क्रिया को समीकरण के रूप में निम्न प्रकार से लिख सकते हैं।

$$\mu^+ \rightarrow e^{\pm} + \upsilon + \upsilon$$

म्यू-मेसॉन इलेक्ट्रॉन न्यूट्रिनो
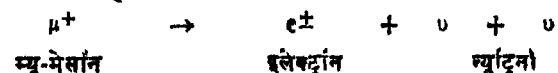
म्यू-मेसॉन का चक्रण (spin) $\frac{1}{2}$ इकाई है और इसकी जातीयता ऋण ($-$) है। म्यू-मेसॉन और नाभिकाणुओं में परस्पर क्रिया बहुत क्षीण होती है।

अन्य मेसॉन — आजकल पाइ-मेसॉन और म्यू-मेसॉन के अतिरिक्त अन्य कई नाभिकीय कण ज्ञात हैं, जिनके द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन के द्रव्यमान के मध्य में हैं। इन सबके द्रव्यमान पाइ-मेसॉन के द्रव्यमान से अधिक, परंतु प्रोटॉन के द्रव्यमान से कम हैं। इन सबकी आयु अत्यंत कम होती है। इस प्रकार के मेसॉन निम्नलिखित हैं :

(क) टाउ-मेसॉन (τ – meson) — धन-आवेशित टाउ (τ^+) और ऋण आवेशित टाउ (τ^-) मेसॉनों के बारे में प्रयोगात्मक प्रमाण उपलब्ध हैं, परंतु अनावेशित टाउ (τ) को प्रयोगों में अभी नहीं देखा गया है। इसके क्षय से तीन पाइ-मेसॉन उत्पन्न

होते हैं। इनकी आयु लगभग 5×10^{-11} सेकंड होती है। इनका द्रव्यमान लगभग १७४ m_e होता है।

(ख) कप्पा मेसॉन (κ–meson) — ये धन आवेशित (κ^+), ऋण आवेशित (κ^-) और दो प्रकार के अनावेशित (κ_1, κ_2) होते हैं। इनका द्रव्यमान ९६० m_e होता है।

(ग) ईटा मेसॉन (η–meson) — यह अनावेशित होता है। इसका द्रव्यमान १,०९६ m_e होता है।

(घ) रो-मेसॉन (ρ– meson) — ये धन आवेशित (ρ^+), ऋण आवेशित (ρ^-) और अनावेशित (ρ°) हो सकते हैं। इनका द्रव्यमान १,५०० m_e होता है।

(ङ) ओमेगा-मेसॉन (ω–meson) — यह अनावेशित होता है।

ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि इनके अतिरिक्त अन्य मेसॉन भी हो सकते हैं, परंतु उनके बारे मे यहाँ विवेचन करना संभव नहीं है।

म्यू-मेसॉनिक परमाणु (μ–mesonic atom) — ऋण आवेशित (π^-) मेसॉन के विघटन से एक ऋण आवेशित म्यू-मेसॉन उत्पन्न होता है और वह इलेक्ट्रॉनों से टकराकर मंदित (slow) हो जाता है। म्यू-मेसॉन की नाभिकाणुओं से परस्पर क्रिया बहुत क्षीण होती है। इसके अतिरिक्त म्यू-मेसॉन और इलेक्ट्रॉन के चक्रण और आवेश बराबर होते हैं। अतः यह ऋण मेसॉन नाभिक के चतुर्दिक् एक नियत कक्षा मे घूमने लगता है। नाभिक और उसके चतुर्दिक् घूमता हुआ यह मेसॉन एक परमाणु सदृश है, जिसे मेसॉनिक परमाणु कहते हैं। जिस प्रकार एक इलेक्ट्रॉन नाभिक के चतुर्दिक् विभिन्न कक्षाओं में घूम सकता है और प्रत्येक कक्षा के संगत उसकी भिन्न-भिन्न ऊर्जाएँ होती हैं, उसी प्रकार म्यू-मेसॉन भी नाभिक के चारों ओर विभिन्न ऊर्जास्तरों में घूम सकता है। चूँकि इलेक्ट्रॉन की अपेक्षा म्यू-मेसॉन लगभग २०० गुना अधिक भारी होता है, अतएव इसकी कक्षाओं का अर्धव्यास इलेक्ट्रॉन की संगत कक्षाओं के अर्धव्यास की अपेक्षा लगभग २०० गुना कम होता है। नाभिक के निकटतम वाली कक्षा में, जिसे k–कक्षा भी कहते हैं, मेसॉन नाभिक के इतना समीप होता है कि यदि नाभिक बड़ा हो तो यह वास्तव मे आधे समय तक नाभिक के भीतर ही रहता है।

जिस समय म्यू-मेसॉन मंदित होकर किसी नाभिक के चतुर्दिक् एक कक्षा में घूमना प्रारंभ करता है, तो उस कक्षा मे मेसॉन नाभिक तंत्र (system) की ऊर्जा बहुत अधिक होती है, अर्थात् यह मेसॉनिक परमाणु उत्तेजित अवस्था मे होता है। किसी नाभिक के चतुर्दिक् मेसॉन की जो अन्य कक्षाएँ हो सकती हैं, वे सब रिक्त होती हैं। अतः मेसॉन बाह्यतम कक्षा से क्रमशः भीतरी कक्षाओं की ओर आता है। इन संक्रमणों (transitions) में जो ऊर्जा स्वतंत्र होती है, वह एक्स-किरणों अथवा गामा-किरणों के रूप में प्रकट होती है।

जब मेसॉन सबसे भीतरी (k–कक्षा) कक्षा में चला जाता है, तब वह अधिक समय तक नाभिक के भीतर ही रहता है। इस कारण वह किसी प्रोट्रॉन में अवशोषित हो सकता है। यह क्रिया निम्न समीकरण से व्यक्त की जा सकती है :

$$\mu^- + p \rightarrow n + \nu$$

यहाँ प्रयुक्त संकेत क्रमशः मेसॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और न्यूट्रिनों को व्यक्त करते हैं। यदि म्यू-मेसॉन अवशोषित न हो, तो इलेक्ट्रॉन में क्षय हो जाता है। [ध० कि० शु०]

मेसोपोटामियाँ देखें 'इराक'

मेस्त्रोविच इवा इस युगोस्लाव शिल्पकार का जन्म स्लावोनिया के ब्रपोल्जे मे हुआ (१८८३)। उसके पिता भेड़ चराते थे, लेकिन काष्ठ खुदाई की शिक्षा उसने पिता से ही ली। आयु के १३वें वर्ष से स्प्लिट के संगमरमर के पत्थर की खुदाई करनेवाले के पास तीन वर्ष रहकर उसका ज्ञान भी प्राप्त किया। उन्होंने वियेना अकादमी में प्रवेश किया तथा शिल्पी हेल्मर के पास १९०४ तक शिक्षा लेते रहे। लंदन, विएना, म्यूनिख, वेनिस और पैरिस में आयोजित आस्ट्रियन प्रदर्शनी के लिये इनकी शिल्पाकृतियाँ चुनी गई थीं। पैरिस में रोदाँ की नजर उसकी कृतियों पर पड़ी। वह पहले से ही राष्ट्रीय कला आंदोलन मे विश्वास रखता था। रोम में आयोजित अंतर-राष्ट्रीय प्रदर्शनी मे भाग लेनेवाले शिल्पी सेग्राडिक, दुजान पेनिक, चित्रकार रॉकी, वास्तुशिल्पी प्लेक्रनिक आदि साथियों के साथ वह आंदोलन का आवेगपूर्ण नेतृत्व करने लगा।

इनकी शिल्पाकृतियो मे धर्मकथाओं के प्रधान पात्र ही रहे। ब्रिटिश कला गेलरी में इनकी कृतियाँ हैं। [भा० स०]

मेहता, सर फिरोजशाह मेहरवांजी (१८४५–१९१५) का जन्म बंबई के एक धनी पारसी कुल में हुआ था जिसके व्यापार की शाखाएँ देश विदेश में फैली हुई थीं। ये बी० ए० तथा एम० ए० की परीक्षाओं में प्रतिष्ठापूर्वक उत्तीर्ण हुए। इनकी असाधारण बुद्धिमत्ता देखकर इन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंग्लैंड भेजा गया। वहाँ पर न्यायवेत्ताओं की सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ये स्वदेश लौट आए। इग्लैंड में ये लंदन भारतीय सभा तथा 'ईस्ट इंडिया ऐसोसिएशन' के संपर्क में आए। यहीं से इनके राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन का शुभारंभ हुआ। न्यायवेत्ता के कार्य में इन्होंने अपूर्व ख्याति उपलब्ध की परंतु इन्होंने अपने न्यायसाधन के लिये न्याय की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया। तीन बार ये बबई कारपोरेशन के सभापति चुने गए। उस समय कारपोरेशन की दशा शोचनीय थी। उसकी उन्नति के लिय मेहता जी ने हार्दिक प्रयत्न किया। इसलिये ये बंबई कारपोरेशन के बिना छत्रधारी राजा कहलाने लगे। बबई सरकार ने कारपोरेशन के संगठन के लिये एक बिल प्रस्तुत किया जो अहितकर था। अत. बबई की जनता ने उसका विरोध किया। इसे परिवर्तित करने के लिये बंबई के गवर्नर ने इस मसविदे को तैलंग और मेहता के पास भेज दिया। इस युगल मूर्ति ने सरकार तथा प्रजा दोनों के हित का ध्यान रखते हुए इस बिल को बड़ी सुंदरता से परिवर्तित किया। इन्होंने स्वतंत्र विचारों को प्रगट करने के लिये बंबई क्रानिकल नाम का दैनिक पत्र प्रकाशित करवाया। धीरे धीरे इनके कार्यक्षेत्र का विस्तार होता गया तथा मेहता जी बंबई प्रांतीय सभा के सदस्य बने और वहाँ पर उनकी प्रतिभा चमकने लगी। बंबई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन के यह सभापति रहे। भारत सरकार तथा प्रांतीय सरकार को महत्वपूर्ण प्रश्नों पर यह सभा सत्परामर्श देती रही। १८८६ में आप बंबई लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए। उन्होंने बजट, पुलिस संबंधी बिल आदि अनेक विषयों पर

सरकार के स्वर में स्वर नहीं मिलाया और सरकार का विरोध किया। १९०१ में मराठी और गुजराती भाषाओं को बी० ए० और एम० ए० के पाठ्यक्रम में लाकर आपने उपयोगी और महत्वपूर्ण कार्य किया। असामान्य योग्यता के कारण वह बंबई विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी नियुक्त हुए और उन्हें डाक्टर आव लॉ की पदवी दी गई। राष्ट्रीय सभा से उनका संबंध उसके प्रारंभ काल से ही रहा और उन्होंने उसकी भी सेवा बड़ी लगन से की। मेहताजी उच्च कोटि के देशभक्त तथा श्रेष्ठ भारतीय थे। वे एक जन्मसिद्ध वक्ता थे। [शु० ते०]

मेहराब (डाट) साधारणतया अरवत् संधियाँ रखते हुए किसी भवन-निर्माण-सामग्री के प्राय फन्नीनुमा खंडों का ऐसा योजन जो उन खंडों से बड़े किसी अंतराल को पाटने के काम आता है, मेहराब कहलाता है। मेहराब का निचला बहुधा (किंतु सदैव नहीं) किसी वक्र रेखा का अनुसरण करता है। प्रयोग के अनुसार यह नाम किसी अंतराल को पाटनेवाली, किसी ऐसी संरचना के लिये भी दिया जाने लगा है, जो खंडों की नहीं, अपितु किसी समांग सामग्री की बनी हो, किंतु उसका तलचा वक्र हो, जैसे कंक्रीट की डाट, प्रबलित कंक्रीट की डाट, लोहे की डाट आदि।

डाट का सिद्धांत बहुत पुराने समय से मनुष्य को ज्ञात था। यद्यपि इस संबंध में कोई ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है, फिर भी अनुमान है कि नव-प्रस्तर काल में जब मनुष्य ने किसी छेद, गड्ढे, या अंतराल पर एक साथ दो पत्थर डाले होंगे, और वे नीचे न जाकर ऊपर ही पट गए होंगे, तभी उसने डाट के सिद्धांत की खोज कर ली होगी। फिर तो उसने दो दो पत्थरों की ऐसी तमाम तिकोनी डाटें बनाई होंगी जिनके अवशेष आज भी भूमध्यसागर के निकटस्थ क्षेत्रों में बिखरे हुए मिलते हैं।

एक अन्य अनुमान के अनुसार डाट की खोज सर्वप्रथम दजला-फरात की घाटी में हुई, जहाँ ईसा से ४,००० वर्ष पूर्व डाटों का विकास होने के चिह्न मिलते हैं। दिदेरह में बने एक तहखाने में ३,६०० ई० पू० की बनी तीन मेहराबें मिली हैं। वास्तविक डाट का विकास भी अति प्राचीन टोड़ादार मेहराब से ही हुआ प्रतीत होता है, जो भारत के प्रागैतिहासिक काल के निवासी नदीतट की चट्टानों से आगे बढ़ा बढ़ाकर शहतीर या शिलाखंड रखते हुए, और अंत में घटे हुए अंतराल को एक ही खंड से पाटकर, बनाया करते थे। कश्मीर और कुल्लू में इनके नमूने आज भी पुलों में देखे जा सकते हैं। मंदिरों में तो बहुत बाद तक यही पद्धति अपनाई जाती रही। दजला-फरात की उर्वर घाटी में सुमेरियों के पास ईंट ही एक मात्र निर्माण सामग्री उपलब्ध थी। शायद कभी टोड़ादार डाट बनाते हुए ही कोई सुमेरिया अकस्मात् ईंटों को घुमा बैठा, जिससे वे खड़ी हो गई और डाट का छल्ला सा बन गया। उसे यह देखकर विस्मय हुआ होगा कि डाट का छल्ला अपने स्थान पर रुका रहता है। यही वास्तविक डाट का आरंभ समझा जा सकता है।

मिस्रवालों ने पूरब के अपने पड़ोसियों से सीखकर, इस कला का उपयोगितावादी अपने प्रयोजनों के लिये व्यापक प्रयोग किया। लगभग सभी नालियाँ उन्होंने डाटों से ही पाटीं। किंतु असीरियावालों ने डाट का उपयोग स्मारकीय तोरणों और द्वारों में किया। इटली में इन्हें कलात्मक रूप दिया गया। बाद में रोमनों ने अपनी स्मारकीय संरचनाओं में मेहराबों को प्रमुख स्थान दिया। प्राचीनतम रोमन पुल मार्टोरैल (स्पेन) में २१९ ई० पू० का बना हुआ है। इसकी बीच की मेहराब १२१ फुट की थी। रोमन मेहराबें अर्धवृत्ताकार होती थीं और बीच में एक डाटपत्थर (key stone) होता था। ये मेहराबें मुसलमानी निर्माणकला, तथा बाद में मध्यकालीन यूरोप में प्रयुक्त, नोकदार मेहराब से भिन्न थीं।

भारत में तीसरी शती ई० पू० की एक पुरानी मेहराबदार डाट लोमश ऋषि के आजीविका आश्रम में उपलब्ध है। सातवीं शती ई०पू०
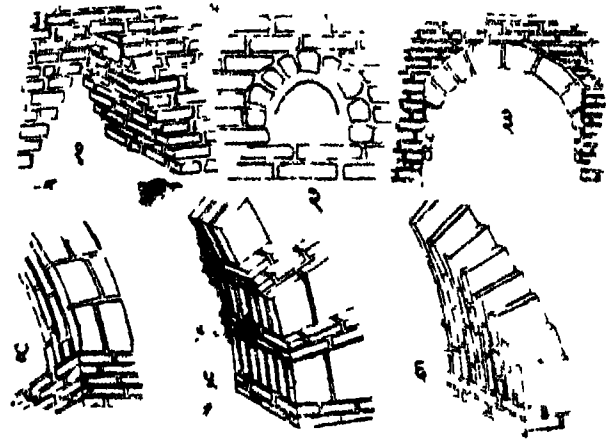
चित्र १. कतिपय पुरानी मेहराबें

१. टोड़ादार डाट; २., ३.भीतरगाँव (कानपुर) के मंदिर में ५वीं शती ई० की बनी मेहराबें; ४. ईरान की एक डाट (२५० ई०) तथा ५. और ६. बुद्ध गया में ७वीं शती ई० की बनी डाट।

की डाटदार मेहराबें अनेक स्थानों में मिलती हैं। किंतु पुलों में डाटों का प्रयोग मुसलमानों के जमाने से ही हुआ। मुसलमानी डाटें प्राय: नोकदार ही हुआ करती थीं।

रोमीय और मुसलमानी संस्कृतियों के साथ साथ मेहराब का महत्व बढ़ा और इसका प्रयोग भी व्यापक हुआ। १९वीं शती तक सभ्य संसार में पाटने की यही प्रमुख प्रणाली समझी जाती थी। इसका प्रयोग बाद में लोहे और कंक्रीट के पदार्पण के साथ घटने लगा। अब मेहराबों का प्रयोग गौण और केवल आलंकारिक ही रह गया है।' (देखें, डाटदार पुल)।

मेहराबों की आकृतियाँ — समय समय पर वास्तुकीय प्रवृत्ति और व्यक्तिगत रुचि के अनुसार विविध प्रकार की मेहराब बनती रही हैं। इनका नामकरण प्राय: इनके निचले के वक्र के आधार पर (जैसे परवलयिक, बेजवी, अंडाकार, बादामी अथवा अर्धवृत्ताकार), या वक्र के केंद्रों की संख्या के आधार पर (जैसे द्विकेंद्रीय त्रिकेंद्रीय, चतुष्केंद्रीय आदि) होता रहा है। कुछ नाम शैली के आधार पर भी हैं, जैसे गॉथिक, रोमी आदि। जहाँ मजबूती की आवश्यकता मुख्य होती है, वहाँ प्राय: अर्धवृत्ताकार, या विभिन्न ऊँचाइयों वाली, बादामी डाटें ही प्रयुक्त होती हैं।

कुछ डाटों के नाम किसी स्थानविशेष से संबंधित है, जैसे

वेनिसी डाट, फ्लोरेंसी डाट। कुछ के नाम आकार के आधार पर हैं, जैसे भिखारी डाट, कोण डाट, पेड़ीदार डाट, पैरदार डाट, समबाहु डाट, चपटी डाट, तीखी डाट, या नाल डाट आदि। यदि डाट किसी सरदल आदि की सहायता के लिये लगाई गई है, तो वह सहायक डाट कहलाती है। निर्माणकौशल के आधार पर भी नाम रखे गए हैं, जैसे सुगढ़ डाट, जिसमें सभी ईंटें अच्छी तरह गढ़कर लगाई जाएँ; अधगढ़ डाट, जिसमें ईंटें मोटे तौर पर ही गढ़ी हों; और अनगढ़ डाट, जिसमें ईंटें बिना गढ़ी ही लगाई जाएँ और संधियाँ भीतर की ओर सँकरी और बाहर की ओर चौड़ी हों।

मेहराब के अंग — मेहराब का तलांश प्रायः निचल्ला, अंतश्चाप, या मेहराबी सिकम कहलाता है। ऊपर की सतह को बहिःश्चाप कहते हैं। विभिन्न फन्नीनुमा खंड डाटपत्थर, या डाटईंट कहलाते हैं, और शीर्षस्थ या मध्य का खंड चाबीपत्थर कहलाता है। सबसे नीचे वाले डाट के दोनों सिरे, जहाँ से डाट उठती है, उठान रेखा, और वहाँ लगनेवाले खंड उठानपत्थर, या डाटाधार कहे जाते हैं। उठान से लेकर चाबी तक का भाग पुट्ठा, या कूल्हा कहलाता है। किसी कक्ष के चारों ओर से उठनेवाली डाटदार छत सदाव की छत कहलाती है, किंतु यदि छत का समविभ गोल है, तो वह गुंबद कहलाती है (देखें
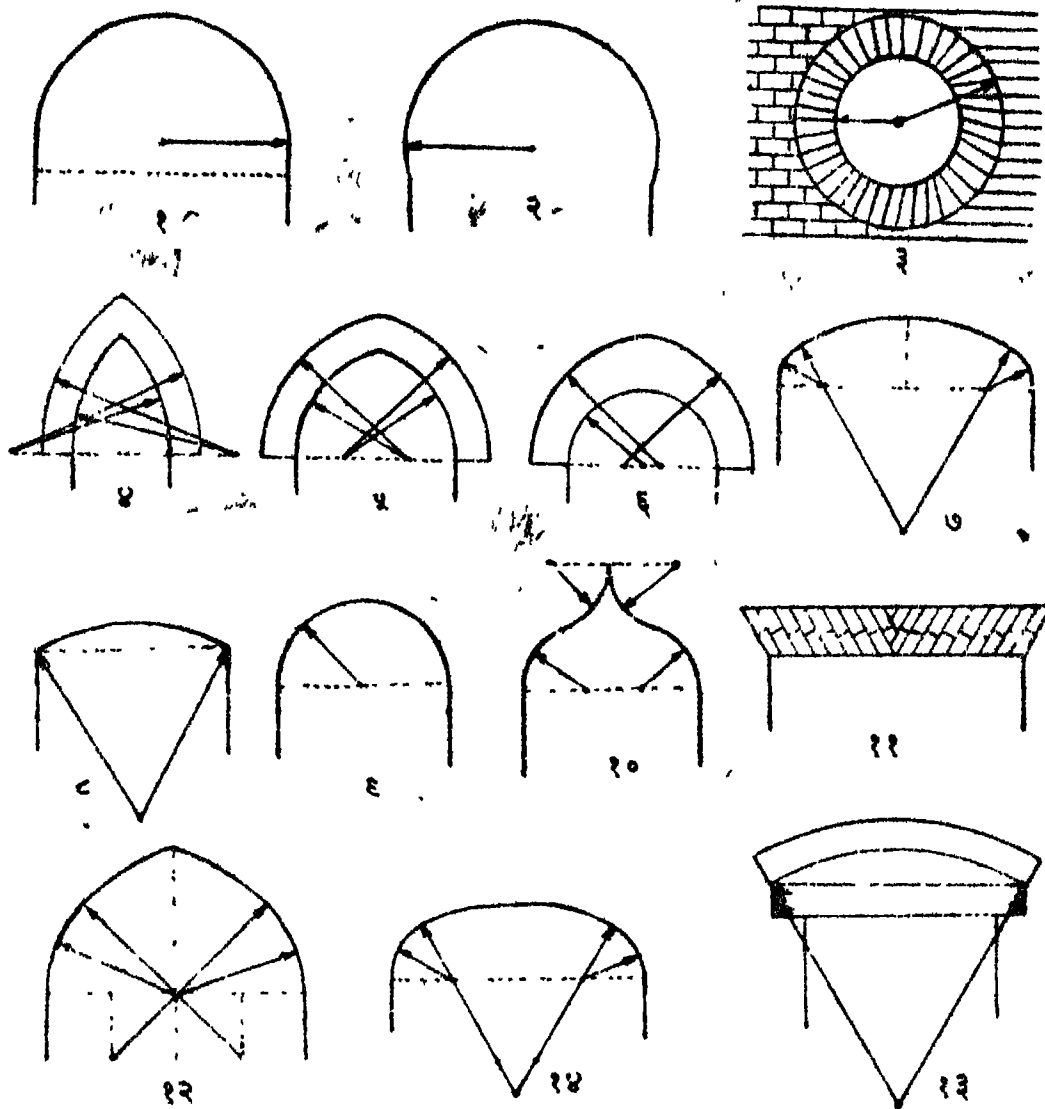
चित्र २. मेहराबों की विविध आकृतियाँ

१. पैरदार, २. नाल, ३. गोल, ४. तीखी तथा ५. बैठी मेहराबें; ६. फ्लोरेंसी डाट और ७. दीर्घवृत्ताकार मेहराब; ८. कमानी या बादामी, ९. अर्धवृत्ताकार या अद्धे की, १०. ओगी, ११. फ्रांसीसी, १२. त्रिकेंद्रीय, १३. पंचकेंद्रीय तथा १४. सहायक डाटें।

'भुजेर्स')। किसी पुल, या बरामदे आदि, में अनेक डाटें हों, तो वह डाटपंक्ति कहलाती है। डाट या डाटपंक्ति के सिरों के आलंब अंत्याधार, या पीलपाए और डाटपंक्ति के मध्यवर्ती आलंब पाए कहलाते हैं। डाट का सर्वोच्च बिंदु शिखर या शीर्ष, कहलाता है।

मेहराब के सिद्धांत — फनीदार खंडों से डाट का निर्माण होता है, इसलिये नीचे की ओर को सक्रिय प्रत्येक खंड का भार उसके दोनों ओर के खंडों को बाहर की ओर ढकेलता है। फलतः डाट के नीचेवाले सिरों में फैलने की प्रवृत्ति रहती है। इसे ठेल कहते हैं। अर्धवृत्ताकार डाट के सिरे पूर्णतया ऊर्ध्वाधर रहते हैं, अतः उसमें ठेल शून्य होती है। बेंड़ी, या दीर्घवृत्ताकार डाट में भी ठेल बहुत कम होती है, किंतु जैसे जैसे पाट के अनुपात में डाट की ऊँचाई कम होती है, वैसे ही वैसे उसकी ठेल बढ़ती जाती है। डाट को स्थायी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके पीलपाये, या अंत्याधार (जिनपर डाट की ठेल पड़ती है) सारी ठेल रोकने के लिये पर्याप्त सुदृढ़ हों। जिन दीवारों पर डाट लगी होती है, उनमें कभी कभी पुश्ते बना दिए जाते हैं, या वे अधिक मोटी कर दी जाया करती हैं। कभी कभी ठेल रोकने के लिये उपयुक्त अंतर पर तान छड़ें लगा दी जाती हैं।

डाट के प्रत्येक खंड पर आनेवाले भार और उसकी क्षैतिज ठेल के परिणामी बल की स्थिति डाट छल्ले के अनेक स्थानों पर निकाल ली जाती हैं। परिणामी ठेल की रेखा रैखिक डाट कहलाती है। यह रैखिक डाट डाटछल्ले में सभी जगह मध्य तृतीयांश में ही रहनी चाहिए, ताकि छल्ले में कहीं भी तनाव न उत्पन्न हो। अंत्याधार पर डाट की ठेल और अंत्याधार के भार का परिणामी बल निकालकर देखना चाहिए कि इस परिणामी बल की रेखा कहीं भी अंत्याधार की क्षैतिज काट के मध्य तृतीयांश से बाहर तो नहीं जाती, ताकि अंत्याधार में कहीं तनाव न उत्पन्न हो।

अभिकल्पन – डाट के विभिन्न भागों की नापें अनेक अनुभवाश्रित सूत्रों, या व्यवहार संहिताओं के आधार पर नियत की जाती है, किंतु डाट के अभिकल्पन में उसकी सभी नापों की जाँच करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह देखना चाहिए कि प्रत्येक नाप सभी प्रकार सुरक्षापूर्ण है या नहीं। महत्वपूर्ण संरचनाओं में ये नाप जबतक भलीभाँति परीक्षण से उपयुक्त न सिद्ध हों, निर्भर योग्य नहीं होतीं। परीक्षण के लिये ग्राफीय विधि सबसे सरल है, किंतु यह गणना द्वारा भी हो सकता है।

परीक्षण के लिये सुविधानुसार आधी डाट कई खंडों में बाँट ली जाती है। प्रत्येक खंड पर आनेवाला भार उसके निजी भार सहित, $भ_1$, $भ_2$, $भ_3$, $भ_4$, आदि अलग अलग निकालकर जोड़ लिया जाता है, जो आधी डाट का भार भी होता है। किसी बिंदु, जैसे शीर्ष पर इन सभी भारों के घूर्ण निकालकर, समीकरण द्वारा 'भा' की क्रियारेखा की स्थिति ज्ञात कर ली जाती है। शीर्ष पर ठेल, ठ क्षैतिज होगी। डाट के उठान के मध्य बिंदु पर ठ और भा के आघूर्ण निकालकर समीकरण द्वारा ठ का मान निकाल लिया जाता है। ठ और भा की क्रिया रेखाओं के मिलन बिंदु को उठान के मध्य बिंदु से मिलानेवाली रेखा ही परिणामी बल 'प' की क्रिया रेखा होगी, और ठ और भा दोनों का मान ज्ञात होने पर, गणना द्वारा, या रेखाचित्र से, बलों का चतुर्भुज बनाकर परिणामी बल प का मान ज्ञात किया जा सकता है। डाट छल्ले की मोटाई शीर्ष पर ठ के, और उठान पर प के अनुरूप

चित्र ३ डाट का परीक्षण

होनी चाहिए — इतनी कि यदि ये मध्य तृतीयांश किनारे पर भी पड़ें, तो इनसे उत्पन्न अधिकतम संपीडन प्रतिबल, अर्थात् औसत संपीडन प्रतिबल का दूना, उस स्थान पर लगी सामग्री की सुरक्षित संपीडन सामर्थ्य के अंतर्गत हो।

यह देखना भी आवश्यक है कि रैखिक डाट सर्वत्र छल्ले के मध्य तृतीयांश के भीतर ही रहे। इसके लिये पहले ठ की क्रिया रेखा शीर्ष पर छल्ले के मध्य तृतीयांश के एक सिरे, (मान लीजिए ऊपरी सिरे) पर से गुजरती हुई कल्पित कर लें। फिर गणना द्वारा या रेखाचित्र से, बलों का चतुर्भुज बनाकर ठ और $भ_1$ के परिणामी बल $प_1$ की दिशा और मान ज्ञात कर लें। इसके बाद बारी बारी से आगे बढ़कर $प_1$ और $भ_2$ का परिणामी बल $प_2$, $प_2$ और $भ_3$ का परिणामी बल $प_3$ आदि मालूम करते हुए अंत में प तक पहुँचें। $प_1$, $प_2$, $प_3$……प तक सब की क्रिया रेखाएँ मिलने से रैखिक डाट बनेगी। यह सभी जगह छल्ले के मध्य तृतीयांश के भीतर ही होनी चाहिए।

अब यही क्रिया फिर से दुहराएँ, किंतु इस बार ठ की क्रिया रेखा शीर्ष पर छल्ले के मध्य तृतीयांश के निचले सिरे पर से गुजरती हुई कल्पित करें। इस प्रकार जो दूसरी रैखिक डाट बनेगी वह भी सभी जगह छल्ले के मध्य तृतीयांश के भीतर ही पड़नी चाहिए। तात्पर्य यह है कि दोनों सीमांतक दशाओं में रैखिक डाट छल्ले के मध्य तृतीयांश में रहे, तब तो डाट सुरक्षित है, नहीं तो जहाँ यही रैखिक डाट, अर्थात् परिणामी बल की क्रियारेखा, मध्य तृतीयांश के बाहर पड़ेगी, वहीं संपीडन प्रतिबल सीमा से अधिक होगा और उस काट में दूसरी ओर तनाव उत्पन्न होगा, जो अभीष्ट नहीं है। ऐसी दशा में डाट असुरक्षित है।

किसी भी जगह डाट छल्ले का काट-क्षेत्रफल भी इतना होना चाहिए

कि वहाँ पर परिणामी बल से उत्पन्न अधिकतम संपीडक प्रतिबल, वहाँ लगी सामग्री की सुरक्षित सामर्थ्य से, अधिक न हो।

कुछ अति प्रचलित, अनुभवाश्रित परिपाटियाँ — पाट के अनुपात में ऊँचाई जितनी ही अधिक हो उतना ही अच्छा। ऊँचाई और पाट का अनुपात १/४ से कम होने पर ताप और संकुचन के प्रभाव तेजी से बढ़ने लगते हैं और नमन आघूर्ण तथा ठेल भी बहुत अधिक हो जाते हैं। यह अनुपात १/१० से कम तो होना ही न चाहिए। अत्यधिक किफायती अभिकल्पन के लिये यह अनुपात १/४ और १/३ के बीच में होना चाहिए। डाट छल्ले और अंत्याधारों में न्यूनतम सामग्री लगाने के लिये यह १/५ और १/४ के बीच होना चाहिए। बादामी, या कमानी डाट देखने में शानदार लगती है।

डाट की ऊँचाई और पायों की ऊँचाई मिलाकर पाट से अधिक हो, तो अंत्याधारों, पायों, और पाखा-दीवारों में अत्यधिक सामग्री लगती है। बड़े पुलों में यह ऊँचाई पाट की आधी से दो तिहाई के बीच में हो, तो अच्छा रहता है।

शीर्ष पर डाट-छल्ले की मोटाई म = १/२४ पाट + १·१ फुट। बादामी डाट के लिये म = ग √ज, जहाँ ज वक्र की त्रिज्या है और ग एक गुणांक, जिसका मान ईंट-चिनाई की अकेले पाट की डाट के लिये ०·४ और एकाधिक पाटों के लिये ०·४५ होता है। पत्थर की डाटों के लिये ये मान क्रमश. ०·३ और ०·३५ हैं। रैंकिन सूत्र के अनुसार म = √०·१२ज; इसमें ग का मान ०·३५ निकलता है।

कंक्रीट. प्रबलित कंक्रीट और लोहे की डाटें — सादी कंक्रीट की डाटों के कुछ प्राचीन अवशेष मिलते हैं, किंतु इनका प्रचलन न लोकप्रिय है और न कभी लोकप्रिय रहा ही प्रतीत होता है। उत्कृष्ट सामग्रियों और वैज्ञानिक विधियों के वर्तमान युग में इनके निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता। इतना कहा जा सकता है कि यदि ये डाटें कुछ समय टिकी रह सकी हैं, तो रैखिक डाट के ही सिद्धांत पर। प्रबलित कंक्रीट की और लोहे की डाटों में यह सिद्धांत लागू नहीं होता, क्योंकि इनमें तनाव ले सकने की भी क्षमता रहती है। प्रबलित कंक्रीट में तनाव लेने के लिये उपयुक्त मात्रा में इस्पात डाला जाता है। रैखिक डाट का सिद्धांत केवल इसलिये दृष्टिगत रखा जाता है कि रचना किफायती हो। लोहे की डाट में भी निचले और उपरले भागों में जहाँ जितना प्रबलित दबाव, या तनाव, आने की संभावना होती है, उसी के अनुरूप इस्पात खंड लगाए जाते हैं। प्रबलित कंक्रीट, और विशेषकर पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट, के इस क्षेत्र में आ जाने से लोहे की डाटें भी अब प्रायः नहीं बनतीं। लखनऊ में गोमती नदी पर लोहे की डाट का पुल, और पास ही प्रबलित कंक्रीट का तदनुरूप पुल, दर्शनीय है। इनका अभिकल्पन जटिल होता है। प्रतिबलों का अनुमान लगाने के लिये दुकीली डाट, या तिकीली डाट, की कल्पना की जाती है, अर्थात् यह मान लिया जाता है कि डाट दो, या तीन कीलियों द्वारा जुड़े हुए खंडों की बनी है। [वि० प्र० गु०]

मेहरौली पुरानी दिल्ली से लगभग दस मील दक्षिण दिल्ली का ही एक भाग है जो इतिहास, पुरातत्व की इमारतों एवं उनके वर्तमान अवशेषों के लिये प्रसिद्ध है। मेहरौली का नामकरण 'मिहिरावलि' अथवा नक्षत्रों की पंक्ति से लिया जाता है। कहा जाता है कि ग्रहों, उपग्रहों और नक्षत्रों संबंधी मंदिरों की इस भीड़ भाड़ के कारण इस नगर का नाम मिहिरावलि अथवा नक्षत्रों की पंक्ति पड़ गया। कुतुब क्षेत्र, जो मेहरौली का ही अंश है, पहले लालकोट के नाम से जाना जाता था जिसका निर्माण तोमर राजा अनंगपाल ने करवाया था। तोमर राजपूतों ने इसी जगह दिल्ली की स्थापना की थी। लालकोट के भग्नावशेष अब भी वर्तमान हैं। १२ वीं शती में लालकोट का विस्तार दिल्ली के अंतिम हिंदू राजा पृथ्वीराज चौहान ने किया। (ये इतिहास में राय पिथौरा के नाम से भी जाने जाते हैं।) अब यह स्थान किला–ए–राय पिथौरा के नाम से प्रसिद्ध है और इसे दिल्ली का प्रथम ऐतिहासिक शहर माना जाता है। सन् ११९३ में इसपर कुतुब-उद्दीन ऐबक का आधिपत्य हुआ और किला–ए–राय पिथौरा दिल्ली सुलतान की प्रथम राजधानी हुआ। कुतुब-उद्दीन ऐबक ने राजपूतों के ऊपर अपनी इस निर्णायक विजय के फलस्वरूप एक भव्य मस्जिद का निर्माण करवाया जो कुवत-उल इस्लाम के नाम से जानी जाती है। मस्जिद पर उल्लिखित अरबी भाषा के एक लेख से पता चलता है कि इसके निर्माण की सामग्री जुटाने के लिये २७ मंदिरों को तोड़वाया गया था। इस मस्जिद में लगे पत्थरों एवं स्तंभों से यह बात सहज ही विदित हो जाती है। ऐबक ने सन् ११९९ में जगत् विख्यात कुतुब मीनार का बनवाना आरंभ किया जो इसके उत्तराधिकारी एवं दामाद इल्तुतमिश के राज्यकाल में पूर्ण हुआ। इस मीनार की आधुनिक ऊँचाई २३४ फुट है और यह अपनी स्थापत्य शैली के चमत्कारपूर्ण निर्माण के लिये दुनिया भर में अनूठी है। इल्तुतमिश ने ऐबक के बनवाए कुवत-उल इस्लाम का भी विस्तार किया।

इस मस्जिद के प्रांगण में विश्वविख्यात २२ फुट ऊँचा लौह-स्तंभ खड़ा है। इस पर अंकित ब्राह्मी लिपि के एक लेख से इसका निर्माण प्रसिद्ध गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में माना जाता है एवं यह 'विष्णुध्वज' के नाम से जाना जाता है। यहाँ यह कब और किस प्रकार लाया गया यह अब तक विदित नहीं हो सका है।

यहाँ की अन्य प्रमुख इमारतों में अलाउद्दीन खलजी का बनवाया अलई दरवाजा एवं अधूरी अलई मीनार तथा इल्तुतमिश का मकबरा उल्लेखनीय हैं।

मेहरौली की कुछ अन्य ऐतिहासिक इमारतें ये हैं—१. अलाउद्दीन खलजी का मकबरा एवं मदरसा; २. इमाम जामन का मकबरा; ३. आदम खाँ का मकबरा ४. दरगाह कुतुब साहब; ५. जाफर महल।

इनके अतिरिक्त भी यहाँ विभिन्न काल की अनेक गौण ऐतिहासिक इमारतें एवं खंडहर वर्तमान हैं। [शां० प्र० रो०]

मैंगनीज (Manganese) आवर्त सारणी के सप्तम संक्रमण समूह का प्रथम तत्व है। १९२५ ई० तक इस समूह में केवल यही तत्व ज्ञात था। इसका केवल एक स्थिर समस्थानिक (द्रव्यमान संख्या ५५) प्राप्य है। इसके अतिरिक्त चार अन्य अस्थिर समस्थानिक (द्रव्यमान संख्या ५१, ५२, ५४ और ५६) भी निर्मित हुए हैं। बहुत काल तक मैंगनीज के अयस्क लौह के अयस्क समझे जाते थे। १७७४ ई० में शीले ने मैंगनीज अयस्क पायरोलुसाइट, मैंऔ$_2$ (MnO_2), और लौह अयस्क मैगनेटाइट, लौ$_3$ औ$_4$ (Fe_3O_4), से विभिन्नता स्थापित की। उसी वर्ष गान (Gahn) ने अशुद्ध

मैंगनीज धातु भी तैयार की। तत्पश्चात् मैंगनीज लौह से भिन्न धातु माना गया। मैंगनीज नाम लैटिन के मैगनीज (magnes) शब्द पर आधारित है।

मैंगनीज प्रकृति में अत्यंत वितरित है और लौह, कैल्सियम तथा मैग्नीशियम के कार्बोनेट और सिलिकेट के साथ सदैव कुछ मात्रा में मिलता है। पायरोलुसाइट इसका मुख्य अयस्क है। यह अयस्क प्राचीन काल से काच उद्योग में काम आता है, क्योंकि इसके द्वारा काच का हल्का हरा रंग (लौह अपद्रव्य के कारण) दूर करते हैं। पायरोलुसाइट का मुख्य स्रोत भारत है। इसके अतिरिक्त यह सोवियत संघ, दक्षिण अफ्रीका, घाना और ब्राज़िल में विशेषकर पाया जाता है।

निर्माण — मैंगनीज धातु को अनेक अपचयन क्रियाओं द्वारा तैयार करते हैं। मैंगनीज डाइ ऑक्साइड को कार्बन द्वारा अपचयित कर धातु तैयार कर सकते हैं। कार्बन के स्थान पर ऐल्युमिनियम का उपयोग करने से विशुद्ध धातु प्राप्त होती है। अधिकांश विधियों में विशुद्ध धातु के स्थान पर मैंगनीज लौह की मिश्रधातु बनाई जाती है, क्योंकि इस मिश्रधातु को सीधे इस्पात तथा अन्य धातु उद्योगों में काम में ला सकते हैं। मैंगनीज तथा लौह के ऑक्साइड मिश्रण का कार्बन द्वारा अपचयन करने से मिश्रधातु प्राप्त हो जाती है।

गुणधर्म — विशुद्ध मैंगनीज हलकी लालिमा लिए श्वेत रंग की धातु है। यह लौह से कुछ नम्र है, परंतु कार्बन की सूक्ष्म मात्रा से मिलकर अत्यंत कठोर हो जाता है। इसके कुछ गुणधर्म निम्नांकित हैं :

संकेत मैं (M), परमाणु संख्या २५, परमाणु भार ५४·९४, गलनांक १२४५° सें०, क्वथनांक २१५०° सें०, घनत्व ७·२ ग्राम प्रति घन सेंमी०, परमाणु व्यास २·५ ऐंग्स्ट्राम (A°), विद्युत् प्रतिरोधकता १८५ माइक्रोओम सेंमी० तथा आयनीकरण विभव ७·४३ इवों।

मैंगनीज वायु में मलीन हो जाता है। यह सक्रिय तत्व है और जल का मंद गति से विच्छेदन कर हाइड्रोजन मुक्त करता है। अम्ल विलयनों से इसकी शीघ्र क्रिया द्वारा मैंगनस लवण (Mn^{++} salts) बनते हैं और हाइड्रोजन गैस स्वतंत्र होती है। अधिकतर अधातुएँ मैंगनीज से क्रिया कर यौगिक बनाती हैं, जैसे मैंगनीज सल्फाइड, मैं गं (MnS), मैंगनीज क्लोराइड, मैंक्लो ($MnCl_2$), मैंगनीज कार्बाइड मैं$_3$का (Mn_3C), मैंगनीज सिलिकाइड मैंसि ($MnSi$) और मैं$_2$सि (Mn_2Si), मैंगनीज नाइट्राइड मैं$_5$ना$_3$ (Mn_5N_3) आदि।

यौगिक — मैंगनीज के २ से ७ तक की संयोजकता के यौगिक ज्ञात हैं। २ संयोजकता के यौगिकों को मैंगनस (manganous) कहते हैं। ये मैंगनस ऑक्साइड मैंऔ (MnO) के व्युत्पन्न हैं। मैंगनस ऑक्साइड उच्च ऑक्साइडों के हाइड्रोजन द्वारा अपचयन से प्राप्त हो सकता है। मैंगनस हाइड्रॉक्साइड मैं (औ हा)$_2$ [$Mn(OH)_2$] और कार्बोनेट मैंकाऔ$_3$ ($MnCO_3$) जल में अवक्षेप बनाते हैं, परंतु अमोनियम लवण में विलेय हैं। इनका वायु में ऑक्सीकरण हो जाता है। मैंगनीज क्लोराइड मैंक्लो ($MnCl_2$), मैंगनीज ब्रोमाइड मैंब्रो$_2$ ($MnBr_2$), मैंगनीज आयोडाइड मैंआ (MnI_2), मैंगनीज सल्फेट मैंगंऔ$_4$ ($MnSO_4$) और मैंगनीज नाइट्रेट मैं (ना औ$_3$)$_2$ [$Mn(NO_3)_2$] विलेय लवण हैं, जो हलके गुलाबी रंग के विलयन बनाते हैं और इनका ऑक्सीकरण नहीं होता। मैंगनस लवण सक्रिय अपचायक नहीं हैं।

मैंगनिक यौगिक मैंगनिक ऑक्साइड, मैं$_2$ औ$_3$ (Mn_2O_3), (३ संयोजकता) के व्युत्पन्न हैं। मैंगनिक आयन मैं$^{+++}$ (Mn^{+++}) का विलयन अस्थिर होता है। बहुधा यह जल में संकीर्ण रूप में रहता है, जैसे मैंगनिक क्लोराइड मैंक्लो$_6$ ($MnCl_6^{--}$)। मैंगनिक सल्फेट मैं$_2$ (गं औ$_4$)$_3$ [$(Mn_2SO_4)_3$] एक अस्थिर हरे रंग का लवण है, जो जल में बैंगनी रंग का विलयन बनाता है। पोटैशियम सल्फेट के साथ यह पोटैशियम मैंगनीज ऐलम, (पो मैंगंऔ$_4$)$_2$. १२हा$_2$औ [$KMn(SO_4)_2 \cdot 12H_2O$] बनाता है।

मैंगनीज डाइऑक्साइड, मैं औ$_2$ (MnO_2), (४ संयोजकता) सबसे महत्वपूर्ण यौगिक है। यह पायरोलुसाइट अयस्क में पाया जाता है। इसके व्युत्पन्न कुछ लवण ज्ञात हैं, परंतु वे अत्यंत अस्थिर गुण के हैं। उनके संकीर्ण लवण कुछ अधिक स्थिर होते हैं, जैसे पो$_2$ मैं फ्लो$_6$ (K_2MnF_6) आदि।

मैंगनीज़ का ५ संयोजकता का एक अत्यंत अस्थिर यौगिक बनाया गया है। यह केवल विलयित अवस्था में ज्ञात है और नीले रंग का है।

मैंगनीज़ के ६ संयोजकता के यौगिक मैंगनेट कहलाते हैं। यह मैंगनिक अम्ल हा$_2$ मैं औ$_4$ (H_2MnO_4) के व्युत्पन्न हैं। यदि मैंगनीज़ डाइऑक्साइड को वायु में क्षार के साथ संगलित किया जाय तो मैंगनेट का निर्माण होगा।

२ मैं औ$_2$ + ४ पो औ हा + औ$_2$ = २ पो$_2$ मैं औ$_4$ + २ हा$_2$ औ

$$(2MnO_2 + 4KOH + O_2 = 2K_2MnO_4 + 2H_2O)$$

मैंगनिक अम्ल, हा$_2$ मैं औ$_4$ (H_2MnO_4), अत्यंत अस्थिर पदार्थ है और शीघ्र विघटित हो जाता है। मैंगनेट हरे रंग के पदार्थ हैं और इनमें ऑक्सीकरण का गुण प्रधान है। यदि इन्हें तनु विलयित अवस्था में रखा जाय, तो ये परमैंगनेट और मैंगनीज़ डाइऑक्साइड में परिणत हो जाते हैं।

३ पो$_2$ मैं औ$_4$ + २ हा$_2$ औ = २ पो मैं औ$_4$ + मैं औ$_2$ + ४ पोऔहा

$$(3K_2MnO_4 + 2H_2O = 2KMnO_4 + MnO_2 + 4KOH)$$

डाइ मैंगनीज़ हेप्टाऑक्साइड, मैं$_2$ औ$_7$ (Mn_2O_7), अत्यंत अस्थिर पदार्थ है और शीघ्र विस्फोट द्वारा विघटित हो जाता है। परमैंगानिक अम्ल, हा मैं औ$_4$ ($HMnO_4$), और परमैंगनेट मैंगनीज के ७ संयोजकता के यौगिक हैं। परमैंगनिक अम्ल केवल जल विलयित अवस्था में ही ज्ञात है।

परमैंगनेट अम्ल या लवण के विलयन का रंग गहरा बैंगनी होता है। पोटैशियम परमैंगनेट अत्यंत उपयोगी लवण है और पोटैशियम मैंगनेट के लवण के विलयन में क्लोरीन गैस प्रवाहित करने से बन जाता है। यह वैश्लेषिक रसायन में अनेक प्रक्रियाओं में काम आता है, जैसे

फेरस [आ$^{++}$(Fe^{++})] आक्ज़ैलिक अम्ल [का$_2$ हा$_2$ औ$_4$ ($C_2H_2O_4$)] आदि के मिश्रवन में।

उपयोग — इस्पात उद्योग में मैंगनीज़ का बहुत महत्व है। इस्पात से ऑक्सीजन तथा सल्फेट की अशुद्धियाँ दूर करने के लिये यह अति आवश्यक है। मैंगनीज़ मिश्रित इस्पात अत्यंत कठोर और संक्षारण (corrosion) प्रतिरोधी होते हैं। इनका रेल की लाइन, बड़ी मशीनें, तिजोरियाँ, जलयानों के नोदक (propellers) आदि बनाने में बहुत उपयोग होता है।

मैंगनीज़ डाइऑक्साइड सूखे सेलों (cells) में काम आता है। मैंगनीज़ के यौगिक, विशेषकर पोटैशियम परमैंगनेट [पो मैं औ$_4$ (K Mn O_4)] कृमिनाशक ओषधि रूप में तथा रासायनिक प्रयोगों में काम आता है। [र० चं० क०]

मैंगनीज़ अयस्क (Manganese Ore) मैंगनीज़ प्रकृति में धात्विक अवस्था (metallic state) में नहीं, अपितु ऑक्साइड, कार्बोनेट (carbonate) तथा सिलिकेट (silicate) के रूप में मिलता है। यद्यपि पृथ्वी के मुख्य अवयव तत्वों में इसका १५वाँ स्थान है तथापि पृथ्वी की पपंटी की रचना में इसका अंश ०·१० % से भी कुछ कम है। मैंगनीज़ के अयस्कों और उनके विशिष्ट गुणों का विवरण निम्नलिखित तालिका में दिया जा रहा है :

अयस्कों के नाम	पाइरोलुसाइट	सिलोमिलेन	मैंगनाइट	रोडोक्रोसाइट	रोडोनाइट
रासायनिक सूत्र	मैं औ$_2$	मैंऔ$_2$हा$_2$औ	मैं$_2$औ$_3$ हा$_2$ औ	मैं का औ$_3$	मैं सि औ
प्रतिशत मात्रा	६३		६२	४८	४२
स्फाट समुदाय	ऑर्थोरॉम्बिक	अस्फाटीय	ऑर्थोरॉम्बिक	हेक्सागोनल	ट्राइक्लिनिक
रंग	काला	काला	काला, भूरा	लाल	लाल
चूर्ण का रंग	,,	,,	काला, गुलाबी	सफेद	सफेद
चमक	धात्विक	अर्धधात्विक	अर्धधात्विक	काचोपम	काचोपम
विदलन (टूट)	असम	असम	असम	असम	असम, शंखाभ
कठोरता	२–२·५	५–६	४	३·५-४·५	५·५-६·४
आपेक्षिक घनत्व	४·८	३·७ – ४·७	४·२-४·४	३·५	३·५

मैंगनीज़ अयस्क के उपयोग — मैंगनीज़ के प्रारंभिक आर्थिक उपयोगों में लोह अयस्क प्रगलन (iron ore smelting) तथा काच के कार्य मुख्य थे। पिछली शताब्दी के अंतिम भाग में इस्पात उद्योग के विकास तथा उसमें नवीन कार्यपद्धतियों के संचालन के कारण मैंगनीज़ अयस्क की माँग बढ़ गई है और इधर कुछ वर्षों से उत्पादन ६० लाख टन से भी अधिक होने लगा है।

मैंगनीज़ अयस्क इस्पात उत्पादन में, या तो प्रत्यक्ष मिश्रधातु निक्षेप अथवा फेरो-मैंगनीज़ (Ferro-manganese) के रूप में, प्रयुक्त किया जाता है। इसका कार्य या तो विऑक्सीकरण अथवा गंधकीकरण क्रियाएँ करना है। इसकी खपत कुल इस्पात उत्पादन का लगभग १·२५% है। संपूर्ण उत्पादित मैंगनीज़ अयस्क का ९०% इस्पात उद्योग मे प्रयुक्त होता है।

यह अयस्क कुछ विशेष मिश्रधातुओं के उत्पादन के लिये भी बड़े स्तर पर प्रयुक्त किया जाता है।

इसके अधात्विक उपयोग मात्रा की दृष्टि से कुछ कम महत्व के हैं। यह मुख्य रूप से सूखी बैटरी (dry batteries) के निर्माण मे, काच बनाने में, मृत्तिका शिल्प (ceramics) तथा रासायनिक उद्योगों में प्रयुक्त होता है।

मैंगनीज़ की अंतरराष्ट्रीय माँग में वृद्धि और भारतीय उद्योग — कोयले के अतिरिक्त मैंगनीज़ अयस्क ही भारत का मुख्य खनिज है। सारे देश में अभी तक केवल अच्छी जाति के अयस्क का खनन होता था और विदेशों को हाथो से चुना हुआ, उच्च कोटि का अयस्क निर्यात किया जाता था, यद्यपि मैंगनीज़ अयस्क का कुछ भाग भारत में भी कुछ इस्पात उत्पादकों द्वारा उपभोग में लाया जाता था। इस वरणात्मक खनन के परिणामस्वरूप निम्न कोटि का अयस्क विशाल राशि में पृथ्वी की गर्त में पड़ा है। आधुनिक विधियों से इस अयस्क को भी वाणिज्य स्तर पर खनित किया जा सकता है।

गत शताब्दी के अर्धभाग तक सभी कार्यों के लिये मैंगनीज़ अयस्क की माँग अत्यंत सीमित थी, किंतु सन् १८५६ में बेसेमर इस्पात विधि के प्रथम बार प्रकाशित होने के पश्चात् विश्व का इस्पात उत्पादन अनवरत वृद्धि पर है; यहाँ तक कि सन् १९५३ में कुल इस्पात का उत्पादन २,५०० लाख टन से भी अधिक हो गया, जो पचास वर्ष पूर्व के उत्पादन से पचास गुना अधिक है।

इस्पात उद्योग में वृहत् उन्नति और विकास होने के साथ साथ मैंगनीज़ उत्पादन में भी वृद्धि हुई जिससे मैंगनीज़ की अतिरिक्त माँग की पूर्ति की जा सके। परिणामस्वरूप संपूर्ण विश्व का मैंगनीज़ उत्पादन, जो सन् १८९२ में ४,००,००० टन से भी कम था, १०० लाख टन तक पहुँच गया और सन् १९५२ में १० % अतिरिक्त वृद्धि हुई। भारत, जो प्रथम विश्वयुद्ध तक मैंगनीज़ के उत्पादन में रूस के अत्यंत समीप ही दूसरे स्थान पर था, रूस के अंतरराष्ट्रीय व्यापार से पृथक् हो जाने के कारण प्रथम हो गया है। यद्यपि समय समय पर पश्चिमी और दक्षिणी अफ्रीका तथा ब्राज़िल से उसे चुनौती मिलती रही है।

६० वर्ष से भी अधिक हुए जब भारत में मैंगनीज़ अयस्क का खनन प्रारंभ हुआ। उस समय से अब तक भारतीय मैंगनीज़ उत्पादन तथा उद्योग का विकास मुख्यतः विश्व इस्पात उत्पादन पर निर्भर रहा। इसकी माँग में विविधता का एकमात्र कारण इस्पात उत्पादन

में उच्चावचन (fluctuation) ही रहा। सन् १९५० से १९५१ तक मैंगनीज़ की माँग में विशाल स्तर पर वृद्धि हुई तथा अधिक मूल्य प्राप्त होने के कारण मैंगनीज़ उत्पादन चोटी पर पहुँच गया। भारत में १९५१ ई० में १८,६४,००० टन मैंगनीज़ का उत्पादन हुआ।

भारतीय निक्षेपों में प्राप्त होनेवाले मैंगनीज के खनिज निम्न प्रकार हैं :

(१) ब्राउनाइट (Braunite) — ३ मैं$_2$ औ$_3$. मैंसि औ$_3$ ($3 Mn_2 O_3 . Mn Si O_3$)।

(२) साइलोमिलेन (Psilomelane) — यह मैंगनीज़ का कोलॉइड रूप समझा जाता है, जिसमें मैंगनीज़ ४५ से ६०% तक हो सकता है। अवशोषित जल तथा सोडियम, पोटैशियम बेरियम के ऑक्साइड भी इससे मिले रहते हैं।

पाइरोलुसाइट (Pyrolusite)— यह मैंगनीज का डाइऑक्साइड है, जिसमें सामान्यत: जल भी अल्प मात्रा में रहता है।

अनेक स्थानों पर मैंगनीज अयस्क के निक्षेपों का खनन कार्य हुआ किंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान मध्य प्रदेश है। सर लेविस फरमर के अनुसार भारतीय निक्षेपों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(१) आर्कियन शिलाओं (Archaeon rocks) के साहचर्य (association) में प्राप्त होनेवाले निक्षेप — इन निक्षेपों में गोंडाइट (gondite) भी संमिलित है। इन निक्षेपों से सर्वाधिक मात्रा में अयस्क प्राप्त हुआ है। ये निक्षेप बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बंबई तथा मैसूर में पाए जाते हैं। विशेषकर जिनमें गोंडाइट संमिलित है, वे निक्षेप बालाघाट, भंडारा, छिंदवाड़ा और झबुआ (मध्य प्रदेश), नागपुर (बंबई), नारूकोट (गुजरात) तथा गंगपुर (उड़ीसा) में स्थित हैं।

(२) कोडूराइट (Kodurite) के साहचर्य में प्राप्त निक्षेप — ये निक्षेप पूर्वी घाट के समीप आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम जिले में तथा उड़ीसा के गंजम एवं कोरापुट में मिलते हैं, किंतु ये निक्षेप कम महत्व के हैं।

(३) लैटराइट गुणों (Laterite character) की सतही समृद्धियाँ (surface enrichments) — ये निक्षेप किसी भी स्थान में पाए जा सकते हैं, जहाँ पर उपर्युक्त निक्षेप मिलते हों। इस प्रकार के निक्षेपों से अयस्क, बिहार के सिंहभूम उड़ीसा के क्योंझर, बोनाई तथा बालंगीर-पटना, मैसूर के उत्तर कर्नाटक, बेलगाँव, बल्लारी, चित्रदुर्ग, चिक्कमगलूर, और शिमोगा जिलों में प्राप्त होते हैं।

मैंगनीज अयस्क के मुख्य उत्पादक मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा आंध्र (विशाखपत्तनम) हैं। कुल उत्पादन का ५०% से भी अधिक भाग मध्यप्रदेश से प्राप्त होता है। भारत में मैंगनीज अयस्क की अनुमानित मात्रा १,७५० लाख टन है, जिसमें लगभग १,५०० लाख टन केवल मध्य प्रदेश में ही विद्यमान है।

मध्यप्रदेश के निक्षेप लंबे विस्तार में हैं तथा कहीं कहीं तो उनका विस्तार अनुदैर्ध्य दिशा (strike) के अनुप्रस्थ कई मीलों तक सीमित है। सामान्य चौड़ाई लगभग १०० फुट है, जो अनेक स्थानों में समनत वलन (isoclinal fold) होने के कारण पर्याप्त बढ़ गई है। भंडारा और बालाघाट जिलों के निक्षेपों में प्राय: ८०० फुट की गहराई तक लगभग १० करोड़ टन मैंगनीज खनिज संचित है। इसमें प्राय: आधी खनिज राशि ऐसे उत्तम वर्ग की होगी जिसमें मैंगनीज धातु का अंश ४५ प्रति शत से अधिक है।

भारत में मैंगनीज़ खनन का विकास — भारत में सन् १८९१-९२ में विशाखपटनम के समीप मैंगनीज का खनन प्रारंभ हुआ। सन् १९०५ में उत्पादन ६१,००० टन था, जो १९०६ ई० में बढ़कर ११०,००० टन से भी अधिक हो गया।

सन् १८९९ में डब्लू० एच० क्लार्क (W. H. Clark) तथा हार्वे डोड (Harvey Dodd) के पूर्वेक्षण ने मध्य प्रदेश के विस्तृत निक्षेपों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया तथा इस नवीन क्षेत्र में भी उत्पादन द्रुत गति से बढ़ने लगा। मैंगनीज का उत्पादन सन् १९०५ में १,५१,००० टन था तथा १९०६ में ३,५२,००० टन तक पहुँच गया।

सन् १९०६ तक खनन कार्य सांडूर, सिंहभूम, पंचमहल तथा मैसूर में उन्नति पर था। इस प्रकार इस समय तक भारत के लगभग सभी मुख्य निक्षेपों से उत्पादन प्रारंभ हो गया था, और कुल उत्पादन ५,७९,००० टन तक पहुँच गया था जब कि कुल विश्व का उत्पादन १४,४५,००० टन था।

इसके पश्चात् सन् १९४७ तक मैंगनीज् अयस्क के उत्पादन में अनेक उच्चावचन आए। इस समय उत्पादन ४,५१,००० टन था, जो १९५१ ई० में १२,६२,३०० टन हो गया। १९५८ ई० के प्राप्त अर्धवार्षिक आँकड़ों के आधार पर खनित मैंगनीज अयस्क की अनुमानित मात्रा २६,००,००० टन वार्षिक होगी जो प्रदर्शित करता है कि मैंगनीज का खनन उद्योग अनवरत विकास की ओर अग्रसर है।

भारत में मैंगनीज-धातु-उद्योग का विकास और उसका भविष्य — भारत में मैंगनीज अयस्क को संकेंद्रित (concentrate) करने के लिये प्रथम आधुनिक सयंत्र सन् १९५४ में सी० पी० मैंगनीज़ ओर कं० लि० द्वारा उसकी खान डोंगरी बुजुर्ग में स्थापित किया गया था। इस संयंत्र में स्थूल-माध्यम-पृथक्करण विधि (heavy media separation method) का प्रयोग होता है तथा ५ इंच से ½ इंच आकार तक के ७५ टन अयस्क को प्रति घंटे उपचारित करता है। एक संयंत्र इसी कंपनी द्वारा किसी अन्य क्षेत्र में सिलिकामय विमुक्त अयस्क (siliceous float ore) के उपचार के लिये स्थापित करने की संभावना है। भारत में इस समय फेरो-मैंगनीज के चार संयंत्र हैं, जो बिहार में जमशेदपुर, उड़ीसा में जोदा, आंध्र प्रदेश में गारीविडी और डांडेली में हैं। इनके अतिरिक्त अन्य नवीन संयंत्रों के प्रतिष्ठापन के संबंध में भारत सरकार प्रयास कर रही है, जिनमें से कुछ का निर्माण कार्य पर्याप्त उन्नत अवस्था में है।

मैंगनीज अयस्क के वर्तमान भंडारों के अतिरिक्त, भविष्य में कुछ नवीन भंडार प्राप्त होने की संभावना है और वह भी विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ निक्षेप साधारण मिट्टी द्वारा आच्छादित हैं। इन क्षेत्रों में भू-भौतिक अन्वेषण द्वारा सफल होने की अधिक संभावना है। [वि० सा० दु०]

मैंचेस्टर (Manchester) स्थिति : ५३° २९′ उ० अ० तथा २° १४′ प० दे० । यह लंदन से १८९ मील उत्तर-पूर्व तथा लिवरपूल से ३१ मील पूर्व में ४२·६ वर्ग मील में बसा हुआ इंग्लैंड का ही नहीं बल्कि संसार का एक प्रसिद्ध नगर है। उत्तर के कुछ भागों को छोड़ कर इस नगर की अधिकतर जमीन मैदानी है। यह नगर स्वयं में ही एक जिला तथा संसद क्षेत्र है। इस नगर की मुख्य नदियाँ इरवेल, मेडलोक, इठक तथा टिब हैं। अंतिम नदी मैनचेस्टर को सैलफोर्ड से अलग करती है परंतु कई स्थानों पर पुलों द्वारा सैलफोर्ड से जुड़ी है। मैंचेस्टर सूती उद्योग का संसार में सबसे बड़ा केंद्र है और इसी कारण से यह ससार का प्रसिद्ध नगर हो गया है। अधिकतर कातने बुनने तथा रँगने की मिलें नगर के आस पास के गाँवों मे बनी हुई हैं। स्वयं नगर व्यापार एवं मालगोदामों का केंद्र है। प्रथम महायुद्ध के बाद इस नगर में कृत्रिम रेशम उद्योग भी उन्नति कर गया है। इस नगर के अन्य मुख्य उद्योग इंजीनियरिंग के समान, भारी मशीन, कताई एवं बुनाई की मशीनें, रेल के इंजन एवं मोटरें, वायुयान, बिजली का सामान, रसायनक एवं रँगने का सामान, तैयार कपड़े, बुनाई का सामान, हैट, रबर तथा कागज उद्योग हैं। मैंचेस्टर एक सुगम बंदरगाह भी है, जहाँ से कपड़े, तेल, लकड़ी तथा अनाज आदि अनेक वस्तुओं का आयात निर्यात होता है। इस नगर की उन्नति का एक मुख्य कारण लैंकाशिर का कोयला क्षेत्र भी है। इंग्लैंड का यह प्रसिद्ध नगर औद्योगिक, व्यापारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अपना स्थान रखता है। यह नगर शिक्षा का भी केंद्र है। विक्टोरिया विश्वविद्यालय के अतिरिक्त इस नगर में अनेक शिक्षाकेंद्र हैं जिनमें तकनीकी एवं साधारण शिक्षा प्रदान की जाती है। नगर में अनेक ग्रंथालय भी हैं जिनसे विद्यार्थी तथा साधारण जनता दोनों ही लाभ उठाते हैं। [शां० ला० का०]

मैंसफील्ड, कैथरीन कैथलीन मैंसफ़ील्ड बोशँप का कैथरीन मैंसफील्ड उपनाम था। इस प्रसिद्ध अंग्रेजी कहानी-लेखिका का जन्म वेलिंग्टन में १४ अगस्त, १८८८ को हुआ। उसका विवाह जार्ज ब्राउडेन के साथ १९०९ में हुआ और १९१८ में उसके साथ तलाक हो गया। १९१८ में जॉन मिडिल्टन मरे के साथ उसका पुनर्विवाह हुआ। फोंतेनब्लो मे ९ जनवरी, १९२३ को कैथरीन की मृत्यु हुई। उसकी शिक्षा वेलिंग्टन और लंदन में हुई। लंदन में वह १९०३ मे गई और वहीं संगीत की भी शिक्षा ग्रहण की। १९०६ में वह न्यूज़ीलैंड लौटी और १९०८ तक रही। फिर इंग्लैंड लौट आई। जीवन के अंतिम दिनों में वह यक्ष्मापीड़ित हो गई थी और स्थान स्थान पर वह इस रोग का उपचार खोजती घूमी। अपनी कला में वह और भी अधिक संयम, ऊँचे स्तर के बंधन लगाती गई। यद्यपि उसकी सभी कहानियों मे न्यूज़ीलैंड का वर्णन नहीं है, तथापि उन कहानियों का अंग्रेजी साहित्य में बहुत महत्व है, जो उसके न्यूज़ीलैंड में बिताए गए बचपन के बारे मे हैं, यथा 'ऐट दि बे' (खाड़ी के किनारे)। कैथरीन की कहानियाँ सूक्ष्म मानवी संवेदनाओं के चित्रण और उसकी व्यापक सहानुभूति के लिये तथा भावस्पर्शी शिल्प के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। कैथरीन की दूसरी विशेषता यह है कि लेखिका होने के लिये वह किसी विशेष दृष्टिकोण के बंधन से बँधी नहीं है, उसमे अति भावुकता नहीं है। परंतु बड़ी सहजता स्पष्टवादिता और यथार्थता भी है।

कैथरीन की प्रमुख कृतियाँ हैं—कथासंग्रह: 'इन ए जर्मन पेंशन' (जर्मन धर्मशाला में, १९११); प्रिल्यूड (प्रारंभिक, १९१८); 'जे ने पार्ले पा फ्रांसे' (मैं फ्रेंच नहीं बोल सकती; १९१९) दि गार्डन पार्टी' (उद्यानगोष्ठी, १९२२); 'दि डव्ज नेस्ट' (कबूतरी का घोंसला, १९२३); समथिंग चाइल्डिश (कुछ बचपना, १९२४); दि एलो, (१९३०); स्टोरीज (कहानियाँ, १९३०); कलेक्टेड स्टोरीज (एकत्रित कथाएँ, १९४५)। पद्य : पोयम्स (कविताएँ) जे० मिडिल्टन मरे द्वारा संपादित (१९२३); विविध: जर्नल ऑव के० एम० (के० एम० की डायरी, १९२७); लेटर्स ऑव के० एम० (के० एम० के पत्र, १९२८); नावेल्स एंड नावेलिस्ट्स (उपन्यास और उपन्यासकार, १९३०); दि स्क्रैपबुक ऑव के० एम० (के० एम० का बहीखाता, १९३९), लेटर्स ऑव के० एम० टु जॉन मिडिल्टन मरे (के० एम० के जॉन मिडिल्टन मरे को पत्र, १९५१)। एस० बर्कमन ने कैथेरीन मैंसफील्ड पर एक आलोचनात्मक ग्रंथ भी लिखा है। [प्र० मा०]

मैंसार (मांसार) फ्रांस्वा (सन् १५९८-१६६६) इस फ्रेंच वास्तुशिल्पी का कला के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योग रहा है। राजभवन में काम करनेवाले बढ़ई के परिवार में पैरिस में इसका जन्म हुआ था। राजशिल्पी जर्मेन गौल्यियन ने इसे वास्तुकला की शिक्षा दी। उसने कई चर्चों तथा भवनों का निर्माण अपनी मौलिक शैली के अनुसार किया। भवनों के नित्य नए अभिकल्प (डिज़ाइन्स) बनाने मे उसकी रुचि हमेशा ही रही। उसके द्वारा तैयार किए गए भवनों में जमीन पर जितनी जगह मिलती, उतनी ही जगह ऊपर की सतह पर मिलती थी। इससे मैंसार के भवन काफी लोकप्रिय रहे। आधुनिक फ्रेंच गैरेट या ऐटिक चेंबर को इसका ही नाम दिया गया है। उसके बनाए भवन तथा उस शैली पर बने भवन फ्रांस में सब तरफ फैले हुए हैं। पैरिस में लूव्र भवन का डिज़ाइन तैयार करने का कार्य राजनेता कोल्बार ने उसे ही दिया। किंतु उसकी आकृतियों में जिस रद्दोबदल का प्रस्ताव कोल्बार ने रखा, उसे अपमानजनक महसूस कर मैंसार ने इस कार्य को छोड़ दिया। [भा० स०]

मैंसार (मांसार) आर्दुआँ (सन् १६४६-१७०८)। राज चित्रकार रैफेल आर्दुआँ के घर पैरिस में इस वास्तुशिल्पी का जन्म हुआ। फ्रांस्वा मांसार इसके दूर के रिश्तेदार थे। अपने कला-पथ-दर्शक लिबेराल ब्राट के साथ मिल जुलकर उसने होटेल दी वेंदोम का निर्माण किया। इससे राजा १४वें लुई का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने इसे मादाम दे मोंतेस्पा के भवन के अभिकल्पन के काम पर नियुक्त किया। राजाश्रय से उसका व्यक्तित्व और भी निखरा। इस काल के पूर्व वह सान जर्मेन का निर्माण कर चुका था। उसे बार बार राजा से संमान और सहायता प्राप्त होती रही। वार्साई के राजप्रासाद का नए नमूने का नक्शा बनाने का कार्य भी उसे राजा की ओर से ही सौंपा गया। अपने कार्य में जब वह जो जाता था तो बहुत आनंदित हो उठता था। उसका काम करने का वेग अत्यधिक था तथा वह दूसरों को भी बातों से प्रभावित कर काम में जुटा देता था। सन् १६८५ में 'पॉंत रॉयल' की नींव डाली गई और सन् १६८८ मे वह ट्रायनोन के काम में डूबा रहा। वास्तुशिल्प कार्य

में उसने कोई ऐसा विभाग नहीं छोड़ा जिसमें उसने अपने कौशल की चमक न दिखाई हो। सन् १६९१ में उसने इमनेबाढ़ि के गुंबद का भी कार्य पूरा कर लिया। उसकी सृजन शक्ति काफी आश्चर्यजनक थी। उसने विशाल भवनों के साथ साथ इन्हीं वर्षों में कई साधारण भवनों का निर्माण किया। 'ल्युनेविल व' और 'सागोना' के विशाल भवनों का निर्माण भी उसी के हाथ संपन्न हुआ। [भा० स०]

मैकऐडैम, जान लाउडन (McAdam, John Loudon, १७५६-१८३६ ई०) स्कॉटलैंड के इंजीनियर थे, जिनके नाम पर सड़क निर्माण की एक महत्वपूर्ण विधि 'मैकैडेमाइज़िंग' का नाम पड़ा। इनका जन्म स्कॉटलैंड के एयर (Ayr) नगर में २१ सितंबर, १७५६ ई० को हुआ। सन् १७७० में ये अपने सौदागर चाचा के साथ काम करने अमरीका गए, जहाँ से सन् १७८३ में बहुत धनवान् होकर पुन: एयर लौट आए।

उस समय ग्रेट ब्रिटेन की सड़कों की दशा बहुत बुरी थी। मैकऐडैम ने, जो अपने जिले की सड़कों के लिये जिम्मेदार थे, उनके सुधार पर विचार किया। उन्होंने अपने ही व्यय से सड़क बनाने की विधियों के परीक्षण आरंभ किए। सन् १७९८ में वे फैलमथ (Falmouth) चले गए, जहाँ उन्हें सड़क निर्माण की एक सरकारी नौकरी भी मिल गई। इन्होंने अपने परीक्षणों से यह परिणाम निकाला कि अच्छी पक्की सड़क के लिये यह परम आवश्यक है कि सड़क के नीचे और ऊपरी सतह, दोनों ही स्थानों पर, जल की निकासी का पूरा प्रबंध हो। उसका ऊपरी स्तर पत्थर के तोड़े हुए छोटे छोटे टुकड़ों से बनाया जाय, जिन्हें सड़क की गोलाई के अनुसार चुनकर लगाया जाए और फिर पानी के साथ सड़क की कुटाई की जाए। इस विधि से बनी सड़कों को अबबद्ध मैकेडेम कहा जाता है। भारत में भी सब सड़कें प्रारंभ में इसी विधि से बनाई जाती हैं। जहाँ पत्थर महँगा होता है वहाँ स्थानीय कंकड़ का उपयोग किया जाता है। कूटने के लिये अब दुरमुसों के स्थान पर मशीन से चलनेवाले बेलनों का उपयोग होता है। सन् १८१५ ई० में ये ब्रिस्टल की सड़कों के मुख्य अधीक्षक बने और सन् १८२७ में समस्त ग्रेट ब्रिटेन की सड़कों के निर्माण और मरम्मत के संबंध में उन्होंने दो पुस्तकें भी लिखीं। [ब० मो० ला०]

मैकडॉनल, आर्थर एंथोनी (१८५४-१९३०) आर्थर एंथोनी मैकडॉनल प्रसिद्ध अंग्रेज संस्कृतवेत्ता थे, जिनका जन्म ११ मई, १८५४ को इंग्लैंड के एक सामान्य परिवार में हुआ था। इन्होंने गटिंगम (जर्मनी) तथा कॉर्पस क्रिस्टी कालेज, ऑक्सफोर्ड में अध्ययन किया था। ये प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् सर मोनियर विलियम्स के शिष्य थे। सन् १८८० से १९०० तक मैकडॉनल ऑक्सफोर्ड में जर्मन भाषा के टेलर अध्यापक के रूप में काम करते रहे।

बाद में ये वहीं संस्कृत के उप प्राध्यापक (डिपुटी प्रोफेसर) हो गए। सन् १९२२ में ये कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'तुलनात्मक धर्म' (कंपेरेटिव रिलीजन) के 'स्टेफैनो स निर्मलेंदु घोष' व्याख्याता के रूप में नियुक्त किए गए।

मैकडॉनल का प्रधान क्षेत्र वैदिक साहित्य था, यद्यपि इन्होंने संस्कृत साहित्य की अन्य शाखाओं से संबद्ध लेखादि भी प्रकाशित किए हैं। वैदिक अनुक्रमणी पर इनका कार्य प्रसिद्ध है। इन्होंने सन् १८८६ में 'सर्वानुक्रमणी' तथा षड्गुरुशिष्य की टीका सहित 'अनुवाकानुक्रमणी' का वैज्ञानिक संपादन प्रकाशित कराया। सन् १९०० में इनकी अन्य कृति 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर) प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने वैदिक संस्कृत तथा शास्त्रीय संस्कृत के साहित्य का सम्यक् परिचय दिया है। १९०४ में इन्होंने, 'बृहद्देवता' का वैज्ञानिक संपादन एवं आंग्ल अनुवाद दो भागों में प्रकाशित कराया। इसके बाद मैकडॉनल ने पाणिनीय संस्कृत एवं वैदिक संस्कृत पर अलग अलग व्याकरण लिखे। 'वैदिक ग्रामर' को दो संस्करणों में प्रकाशित कराया गया, एक बृहत् संस्करण, दूसरा विद्यार्थी संस्करण। मैकडॉनल ने ऋग्वेद के 'वैदिक सूक्तों का एक संग्रह भी संपादित किया, जो 'वैदिक रीडर' के नाम से प्रसिद्ध है। [मो० शं० व्या०]

मैकबेथ स्कॉटलैंड के प्राचीन इतिहास पर आधारित शेक्सपीयर का एक प्रसिद्ध दुःखांत नाटक जो कदाचित् सन् १६०६ में लिखा गया था और सर्वप्रथम सन् १६२३ ई० में प्रकाशित हुआ।

नाटक के प्रारंभ में स्कॉटलैंड के राजा डंकन के सेनापति मैकबेथ और बैंको विद्रोहियों को सफलतापूर्वक हराकर लौट रहे हैं। मार्ग में अकस्मात् उनकी भेंट तीन विचेज़ अर्थात् डाकिनियों से होती है जो भविष्यवाणी करती है कि मैकबेथ काडर का थेन और तदुपरांत स्कॉटलैंड का राजा होगा तथा बैंको के पुत्र स्कॉटलैंड पर राज्य करेंगे। इसके बाद मैकबेथ को काडर के थेन बनाए जाने का समाचार मिलता है। तत्पश्चात् महत्वाकांक्षा के वशीभूत तथा अपनी पत्नी लेडी मैकबेथ द्वारा प्रेरित होकर मैकबेथ सोते हुए डंकन की हत्या करता है, जब वह अतिथि बनकर उसके यहाँ ठहरा था। डंकन के पुत्र मालकम और डोनालबेन देश छोड़कर भाग जाते हैं और डाकिनियों की भविष्यवाणी को निष्फल करने के लिये मैकबेथ बैंको की हत्या करवाता है किंतु बैंको का पुत्र फ्लीयेन्स बचकर भाग जाता है।

मैकबेथ पुन: डाकिनियों से मिलता है जो उसको फाइफ के थेन मैकडफ़ से सतर्क रहने के लिये कहती हैं तथा भविष्यवाणी करती है कि स्त्री के गर्भ से उत्पन्न कोई व्यक्ति मैकबेथ का वध नहीं कर पाएगा एवं मैकबेथ की पराजय तभी होगी जब बरनम वन चलकर डनसिनेन तक आ जाएगा। यह समाचार पाकर कि मैकडफ इंग्लैंड में जाकर मालकम से मिल गया है और दोनों सेना एकत्र कर रहे हैं, मैकबेथ मैकडफ के महल पर आक्रमण करके उसकी पत्नी तथा बच्चों की हत्या करता है। अपराध की भावना लेडी मैकबेथ के लिये असह्य हो जाती है और वह मर जाती है। मालकम और मैकडफ की सेना डनसीनेन की ओर बढ़ती है और रास्ते में प्रत्येक सिपाही बरनम वन से वृक्षों की शाखाएँ तोड़कर अपने को छिपाने के लिये हाथ में लेकर अग्रसर होता है। अंत में मैकडफ मैकबेथ की हत्या करता है। मैकडफ का जन्म स्वाभाविक रीति से नहीं हुआ था अपितु वह माता का उदर चीरकर निकाला गया था। मैकबेथ की मृत्यु के उपरांत मालकम स्कॉटलैंड का राजा घोषित किया जाता है।

नाटक में मैकबेथ और लेडी मैकबेथ का चरित्रचित्रण अत्यंत

सफलतापूर्वक किया गया है। अलौकिक वातावरण के कारण यह नाटक अत्यंत चमत्कारपूर्ण बन गया है। [रा० च० हि०]

मैकलाउरिन, कोलिन (Maclaurin Colin, १६९८ से १७४६ ई०) अंग्रेज गणितज्ञ थे। इनकी शिक्षा ग्लैसगो विश्वविद्यालय में हुई थी। शिक्षा के उपरांत १७१७ ई० में ये ऐबरडीन में और फिर १७२५ ई० में एडिनबरा विश्वविद्यालय में गणित के प्रोफेसर नियुक्त हुए। १७१९ ई० में इनकी ज्यॉमिट्रिया ऑर्गैनिका (Geometria Organica) प्रकाशित हुई, जिसमें शांकव जनन की एक नवीन एवं विलक्षण विधि और तथाकथित 'क्रेमर के असत्याभास' की चर्चा थी। १७२० ई० में प्रकाशित इनके शोधपत्र 'दे लिनेआरुम जेओमेत्रिकारुम प्रोप्रिएताटिबुस' (De Linearum geometricarum proprietatibus) में दो प्रमेयों का वर्णन है और उनके द्वारा द्वितीय एवं तृतीय घातों के वक्रों का अध्ययन किया गया है। प्रवाहक-कलन पर लिखित इनकी पुस्तिका में सर्वप्रथम महत्तम और लघुतम बिंदुओं में से उनकी पहचान की ठीक विधि दी गई है और 'गुणक बिंदुओं के सिद्धांत' में इनके उपयोग की व्याख्या की गई। पविक वक्रों पर भी सर्वप्रथम इन्होंने ही लिखा और चलन कलन के प्रसिद्ध मैकलाउरिन नियम का शोध किया। १४ जून, १७४६ ई० को एडिनबरा में इनकी मृत्यु हो गई। [रा० कु०]

मैकांग नदी दक्षिण पूर्वी एशिया की एक सबसे बड़ी नदी है। इसकी लंबाई २८०० मील है। यह तिब्बत की पहाड़ियों से निकलती है और थाईलैंड एवं बर्मा की अंतरराष्ट्रीय सीमा रेखा बनाती हुई बहती है। दक्षिणी भाग में यह नदी कंबोडिया, लाओ चीन में होती हुई विशाल डेल्टा बनाकर दक्षिणी चीन सागर में विलुप्त हो जाती है। पहाड़ी भाग में कई कैनियन (canyon) तथा जलप्रपात पाए जाते हैं, जो जलयात्रा के लिये बाधक हैं। मैदानी भाग में समुद्र से ३६० मील तक इसमें जलयात्रा की जा सकती है। इस नदी का संबंध टॉनले सैप (ग्रेट लेक) झील से है, जो बाढ़ के समय में इसे बाढ़ से बचाती है। इस नदी के डेल्टाई क्षेत्र में दुनिया की उपज का अधिकांश धान पैदा किया जाता है। [वी० ना० श०]

मैकार्टने, जॉर्ज लॉर्ड (१७३७ ई०–१८०६ ई०) मैकार्टने का जन्म आयरलैंड में हुआ। ट्रिनिटी कालेज डब्लिन में उसने शिक्षा पाई। १७६४ में उसने रूस से व्यापारिक संधि की जिससे वह फाक्स और बर्क का प्रियपात्र बना। १७६९ से १७७२ तक वह आयरलैंड संबंधी विभाग में मुख्य सचिव रहा। १७७५ से १७७९ तक वह कैरिब्बी द्वीपसमूह का गवर्नर रहा। १७८१ में वह फोर्ट सेंट जार्ज का गवर्नर नियुक्त हुआ।

मद्रास पहुँचकर मैकार्टने ने सेनापति आयरकूट की योजना के विरुद्ध डचों से मद्रास, कालीकट, नेगापटम तथा त्रिंकोमाली छीन लिया। पोर्टोनोवो के युद्ध के पश्चात् उसने हैदरअली तथा पेशवा से संधिवार्ता चलाई। उसके मतानुसार सेना को सैन्येतर शासन के नियंत्रण में रहना चाहिए। फलतः आयरकूट ने आलोचना करते हुए उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करके वारेन हेस्टिंग्ज से उसकी निंदा की। उसने स्वतंत्र अधिकार की माँग की, अन्यथा पदत्याग की धमकी दी। मैकार्टने की नियुक्ति से सशंक वारेन हेस्टिंग्ज ने मद्रास सरकार तथा सेनापति के मध्य सैद्धांतिक संघर्ष को प्रोत्साहित किया। इससे मद्रास तथा बंगाल की सरकारों में भी मतभेद हो गया।

आयरकूट की मृत्यु के पश्चात् जेनरल स्टुअर्ट ने भी मैकार्टने के मत का तिरस्कार किया। फिर तो मैकार्टने ने कुडलोर के युद्ध में उसपर कुप्रबंध का आरोप लगाते हुए उसे बंदी बनाकर इंग्लैंड भेज दिया तथा टीपू के साथ संधि कर ली, जिसकी कर्नाटक के नवाब ने निंदा की।

कर्नाटक के मामले तथा टीपू के साथ संधि को लेकर मैकार्टने का वारेन हेस्टिंग्ज के साथ मतभेद हो गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा वारेन हेस्टिंग्ज के मत का समर्थन होने की सूचना पाकर मैकार्टने ने १७८५ में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उसी समय उसके अन्य कार्यों से प्रसन्न होकर ब्रिटिश सरकार ने उसे गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त करना चाहा थी जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। इंग्लैंड वापस पहुँचने पर डाइरेक्टरों ने उसे १६०० पौंड मूल्य की पट्टिका भेंट की। १७८६ में स्टुअर्ट के साथ द्वंद्व युद्ध में वह घायल हुआ। १७८८ में वह आयरलैंड की उच्चवर्गीय सभा का सदस्य बना। १७९३ में राजदूत बनकर चीन गया। १७९५ में इटली भेजा गया। १७९७ से १७९८ तक केप ऑव गुड होप का गवर्नर रहा। तदनंतर बोर्ड ऑव कंट्रोल का अध्यक्ष बनाए जाने का प्रस्ताव उसने ठुकरा दिया। उसके पत्रों तथा ग्रंथों का विशेष ऐतिहासिक महत्व है।

[ही० ला० गु०]

मैकॉले, टॉमस बैबिंगटन, लॉर्ड (१८००–१८५९ ई०) अंग्रेज उदार राजनीतिज्ञ, साहित्यिक, इतिहासकार। जन्म, २५ अक्टूबर १८००, रोथले टेंपिल (लेस्टरशिर) में हुआ। पिता, जकारी मैकॉले, व्यापारी था। शिक्षा कैंब्रिज के पास एक प्राइवेट स्कूल में, फिर एक सुयोग्य पादरी के घर, तदनंतर ट्रिनिटी कालेज कैंब्रिज में हुई। १८२६ में वकालत शुरू की। इसी समय अपने विद्वत्ता और विचारपूर्ण लेखों द्वारा लंदन के शिष्ट तथा विज्ञ मंडल में पैठ पा गया।

१८३० में लॉर्ड लैंसडाउन के सौजन्य से पार्लिमेंट में स्थान मिला। १८३२ के रिफार्म बिल के अवसर पर की हुई इसकी प्रभावशाली वक्तृताओं ने तत्कालीन राजनीतिज्ञों की अग्रिम पंक्ति में इसे स्थान दिया। १८३३ से १८५६ तक, कुछ समय छोड़कर, इसने लीड्स तथा एडिनबर्ग का पार्लिमेंट में क्रमशः प्रतिनिधित्व किया। १८५७ में यह हाउस ऑव लॉर्ड्स का सदस्य बनाया गया। पार्लिमेंट में कुछ समय तक इसने ईस्ट इंडिया कंपनी संबंधी बोर्ड ऑव कंट्रोल के सचिव, तब पेमास्टर जनरल और तदनंतर सैक्रेटरी ऑव दी फोर्सेज के पद पर काम किया।

१८३४ से १८३८ तक मैकॉले भारत की सुप्रीम काउंसिल में लॉ मेंबर तथा लॉ कमिशन का प्रधान रहा। प्रसिद्ध दंडविधान ग्रंथ 'दी इंडियन पीनल कोड' की पांडुलिपि इसी ने तैयार की थी। अंग्रेजी को भारत की सरकारी भाषा तथा शिक्षा का माध्यम और यूरोपीय साहित्य, दर्शन तथा विज्ञान को भारतीय शिक्षा का लक्ष्य बनाने में इसका बड़ा हाथ था।

साहित्य के क्षेत्र में भी मैकॉले ने महत्वपूर्ण काम किया। इसने अनेक ऐतिहासिक और राजनीतिक निबंध तथा कविताएँ लिखी हैं। इसके क्लाइव, हेस्टिंग्स, मिराबो, मैकियावली के लेख तथा 'लेज ऑव एंशेंट रोम' तथा 'आरमैडा' की कविताएँ अब तक बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। इसकी प्रमुख कृति 'हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड' है, जो इसने बड़े परिश्रम और खोज के साथ लिखी थी और जो अधूरी होते हुए भी एक अनुपम ग्रंथ है।

मैकॉले बड़ा विद्वान्, मेधावी और वाक्चतुर था। इसके विचार उदार, बुद्धि प्रखर, स्मरणशक्ति विलक्षण और चरित्र उज्वल था। २८ दिसंबर, १८५९ को इसका देहांत हो गया।

सं० ग्रं० — लाइफ ऐंड लेटर्स ऑव मैकॉले : जी० ओ० ट्रैवेलियन। [वि० श० च०]

मैकडॉनल्ड, जेम्स रैम्ज़े इंग्लैंड का राजनीतिज्ञ, मजदूर दल का नेता और चार बार प्रधान मंत्री। जन्म १२ अक्टूबर, १८६६ ई० को हुआ। गरीबी के कारण उसने मजदूर, अध्यापक और क्लार्क के रूप में काम किया। समाजवाद के सिद्धांतों से प्रभावित हुआ। १८९४ में वह स्वतंत्र मजदूर दल का सदस्य बना और अगले वर्ष साउथैम्प्टन से पार्लमेंट की सदस्यता प्राप्त करने में असफल रहा। इस बीच पत्रकारिता उसकी आय का साधन थी। रात्रि कक्षाओं में अध्ययन द्वारा विभिन्न विषयों का परिचय भी वह इस काल में प्राप्त करता रहा। १८९६ मे संभ्रांत और धनी परिवार की कन्या मार्गरेट इथेल ग्लैड्स्टन के साथ विवाह होने से उसकी आर्थिक स्थिति सुधरी और सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी। १९०० में मजदूर प्रतिनिधित्व समिति की स्थापना होने पर मैकडॉनल्ड उसका मंत्री नियुक्त हुआ और १९१२ तक इस पद पर रहा। १९०१ से १९०४ तक वह सेंट्रल फिंसबरी से लंदन काउंटी कौंसिल का सदस्य रहा और १९०६ से १९०९ तक स्वतंत्र मजदूर दल का अध्यक्ष। १९०६ में मजदूर प्रतिनिधित्व समिति मजदूर दल में परिवर्तित हो गई। दल की ओर से इसी वर्ष मैकडॉनल्ड लिस्टर से पार्लमेंट का सदस्य निर्वाचित हुआ। मैकडॉनल्ड ने पार्लमेंट में अपनी योग्यता और कार्यक्षमता का परिचय दिया। १९११ के चुनाव में भी वह सफल रहा। दल के सदस्यों ने उसी को पार्लमेंट में दल का नेता निर्वाचित किया। १८९७ से १९१० तक उसने अपनी पत्नी के साथ कैनाडा, संयुक्त राष्ट्र अमरीका, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया और भारत की यात्राएँ कीं तथा विश्व राजनीति की जानकारी प्राप्त की। १९११ में पत्नी की असामयिक मृत्यु से उसको गहरा मानसिक आघात पहुँचा। १९११ से १९२४ तक वह दल का कोषाध्यक्ष रहा। देश और विदेश के विवादग्रस्त मामलों में वह शांतिवादी नीति का समर्थक था। १९११ से १९१३ के वर्षों में मजदूरों की हड़तालों से उत्पन्न परिस्थिति में उसने शांतिमय उपायों को बरतने का परामर्श दिया। प्रथम विश्व महायुद्ध में जर्मनी के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने का उसने हार्दिक समर्थन नहीं किया और दस करोड़ पौंड के युद्धऋण के सरकारी प्रस्ताव का उसने विरोध किया। युद्ध के प्रश्न पर सहयोगियों से मतभेद के कारण १९१४ में वह दल के नेता के पद से हट गया। युद्धविरोधी शांतिवादियों का उसने साथ दिया। १९१८ के निर्वाचन में अपने ही क्षेत्र से वह १४,००० मतों से हार गया। १९२२ के निर्वाचन में वह सफल रहा और पार्लमेंट में दल का नेता चुना गया। १९२३ के चुनाव में मजदूर दल को सफलता मिली और मैकडॉनल्ड के नेतृत्व में पहली बार जनवरी, १९२४ में मजदूर दल ने शासनभार सँभाला। प्रधानमंत्री के पद के अतिरिक्त परराष्ट्र विभाग भी मैकडॉनल्ड ने अपने हाथ में रखा। यह मंत्रिमंडल दस मास तक ही रहा। मजदूर दल की रूस संबंधी नीति का देश में बहुत विरोध हुआ। नए निर्वाचन में बाल्डविन के नेतृत्व मे अनुदार दल पाँच वर्षों तक सत्तारूढ़ रहा। इस बीच मैकडॉनल्ड पार्लमेंट में विरोधी पक्ष का नेता रहा। १९२९ के चुनाव के पश्चात् मैकडॉनल्ड के नेतृत्व में दूसरी बार मजदूर दल का मंत्रिमंडल बना। विभिन्न राज्यों में शस्त्रों की होड़ कम करने के संबंध में मैकडॉनल्ड ने अमरीका जाकर वाशिंगटन में राष्ट्रपति हूवर से भेंट की और स्वदेश लौटकर प्रमुख राष्ट्रों का जनवरी, १९३० में लंदन में संमेलन किया, ब्रिटेन, अमरीका और जापान के बीच नौ शक्ति के संबंध में समझौता कराया पर निरंतर बढ़ती हुई बेरोजगारी से उत्पन्न आर्थिक संकट के निवारण के प्रश्न पर दल में मतभेद के कारण अगस्त, १९३१ में मंत्रिमंडल भंग हो गया। मैकडॉनल्ड के ही नेतृत्व में नया संयुक्त दलीय मंत्रिमंडल बना। अक्टूबर के चुनाव में मजदूर दल को केवल ५२ स्थान पार्लमेंट में मिले पर मंत्रिमंडल संयुक्त दलीय ही रहा और पाँच वर्षों तक मैकडॉनल्ड ही प्रधान मंत्री रहा। उसने १९३१ में भारतीय गोलमेज संमेलन को लंदन में आरंभ किया और ब्रिटेन के स्वराज्यप्राप्त उपनिवेशों के संबंध का वेस्टमिंस्टर का कानून पारित कराया। उसने १९३२ में भारत की विधान सभाओं के संबंध में विवादग्रस्त सांप्रदायिक निर्णय किया, निःशस्त्रीकरण संमेलन में जनेवा में भाग लिया और विश्वव्यापी आर्थिक संकट पर विचार करने के निमित्त लोज़ान में आयोजित संमेलन की अध्यक्षता की। १९२३ में लंदन में आयोजित विश्व आर्थिक संमेलन की भी उसने अध्यक्षता की। इन संमेलनों की असफलता, जर्मनी के शस्त्रीकरण से भावी युद्ध की संभावना और दुर्बल स्वास्थ्य के कारण मैकडॉनल्ड मई, १९३५ में प्रधान मंत्री के पद से हट गया। अगले दो वर्षों तक वह बाल्डविन के संयुक्त मंत्रिमंडल में कौंसिल का लॉर्ड प्रेसीडेंट रहा। स्वास्थ्यलाभ और विश्राम के लिये दक्षिणी अमरीका जाते हुए ऐटलांटिक सागर मे जहाज में ९ नवंबर, १९३७ को उसकी मृत्यु हुई। मैकडॉनल्ड ने कई पुस्तकें भी लिखीं। सोशलिज़्म ऐंड सोसाइटी (१९०५), सोशलिज़्म ऐंड गवर्नमेंट (१९०९), द अवेकनिंग ऑव इंडिया (१९११) और द सोशल अनरेस्ट (१९१३) उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं। [त्रि० पं०]

मैकफर्सन, सर जॉन आपका जन्म सन् १७४५ ई० में हुआ। आपकी शिक्षा एबरडीन के किंग्स कालेज तथा एडिनबर्ग के विश्वविद्यालय में हुई थी। सन् १७६७ मे आप ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी में भारत आए परंतु शीघ्र ही आपको अर्काट के नवाब का प्रतिनिधि बनकर इंग्लैंड जाना पड़ा। सन् १७७० ई० में आप कंपनी के लेखक के रूप में आए। १७७७ में आपको कंपनी की नौकरी से हटा दिया गया, परंतु जब आपने डाइरेक्टरों से अपील की तो आपको पुनः नौकरी मिल गई। सन् १७८१ से १७८५ और पुनः १७८६ से १७८७ ई० में आप बंगाल की सुप्रीम कौंसिल के सदस्य रहे। सन् १७८५–१७८६ ई० में आपने गवर्नर-जनरल का कार्यभार

सँभाला। सैनिकों को बकाया तनख्वाह देकर आपने सैनिक विद्रोह रोका। जब महादजी सिंधिया ने सम्राट् की ओर से ४,०००००० पौंड की बकाया रकम माँगी तो आपने युद्ध की धमकी दे उसे शांत किया। पेशवा दरबार में आपने अंग्रेज राजदूत मैलट को भेजा। १७९६ से १८०२ तक आप पार्लमेंट के सदस्य रहे। आप लंबे कद के तथा प्रिय व्यवहारवाले व्यक्ति थे। आप अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। १२ जनवरी, १८२१ ई० को आपकी मृत्यु हो गई।

[जि० ना० वा०]

मैकमाहौं, सर आर्थर हेनरी सर आर्थर हेनरी एक अंग्रेज सैनिक अफसर तथा प्रशासक था। इसका जन्म २८ नवंबर, सन् १८६२ को हुआ तथा २९ दिसंबर, सन् १९४९ को लंदन में मृत्यु हो गई। हेलीबरी तथा सैंडहर्स्ट के रॉयल सैनिक कॉलेज मे शिक्षा पाकर मैकमाहौं सेना में प्रविष्ट हुआ। सन् १८९० में इसने भारत सरकार के राजनीतिक विभाग में पदार्पण किया और कई मिशनों में राजनीतिक एजेंट के रूप मे काम करता रहा। सन् १९०१ में सर हेनरी मैकमाहौं बलूचिस्तान का मालगुजारी तथा न्याय संबंधी कमिश्नर बना दिया गया। इसकी अध्यक्षता मे सीस्तान मिशन फारस को भेजा गया जहाँ इसने इंग्लैंड और रूस के मध्य सीमा संबंधी प्रश्न को अंतिम रूप से सुलझाया। सन् १९११ में वह भारत सरकार का परराष्ट्र सचिव बना दिया गया और प्रथम महायुद्ध के प्रारंभ होने तक इस पद पर काम करता रहा। सन् १९१३-१४ में इंग्लैंड, तिब्बत और चीन के बीच सीमा निर्धारण के संबंध में सर हेनरी सर्वोच्च ब्रिटिश अधिकारी था। इसके द्वारा निर्धारित सीमांत रेखा को मैकमाहौं लाइन की संज्ञा दी जाती है। सन् १९१४ में मिस्र में नियुक्त होनेवाला वह पहला ब्रिटिश हाई कमिश्नर था। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर सन् १९१९ में वह पेरिस संमेलन में अंग्रेजों का मुख्य प्रतिनिधि भी था।

[मि० चं० पा०]

मैक्समूलर, फ्रीडरिख मैक्सिमिलियन (१८२३–१९००) प्रसिद्ध जर्मन संस्कृतवेत्ता एवं भाषाशास्त्री मैक्समूलर का जन्म जर्मनी के देसो (Dessau) नगर में ६ दिसबर, १८२३ को हुआ था। इनके पिता प्रसिद्ध जर्मन कवि विल्हेम मूलर (१७९४–१८२७) थे, जिन्हें जर्मन मुक्तक प्रगीतों की विशिष्ट शैली 'फिल–हेलेनिक' प्रगीतों के कारण काफी ख्याति मिली थी। मैक्समूलर के चार वर्ष के होने पर उनके पिता का देहांत हो गया। इन्होंने १८४१ में लाइपसिग विश्वविद्यालय से मैट्रिक पास किया।

सन् १८४६ में वे इंग्लैंड पहुँचे जहाँ बुन्सेन तथा प्रो० एच० एच० विल्सन ने इन्हें 'ऋग्वेद' के संपादन कार्य में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। सन् १८४८ में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस में ऋग्वेद का मुद्रण आरंभ होने के कारण इन्हें आक्सफोर्ड को ही अपना निवासस्थान बनाना पड़ा। सन् १८५० में वे वहीं आधुनिक भाषाओं के टेलर प्राध्यापक नियुक्त किए गए और बाद में क्राइस्ट चर्च (कालेज) के मान्य सदस्य (फेलो) तथा आल सोल्स (कालेज) के सदस्य (फेलो) हो गए। इस बीच इनके कई लेख प्रकाशित हुए, जो बाद में 'चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप' शीर्षक से संग्रह रूप मे प्रकाशित हुए हैं। सन् १८५९ में इनकी पुस्तक 'हिस्ट्री आव एंशेंट संस्कृत लिटरेचर' प्रकाशित हुई।

मैक्समूलर का प्रधान लक्ष्य आक्सफोर्ड में संस्कृत विभाग का संस्कृत आचार्य बनना था, किंतु सन् १८६० में उक्त स्थान के रिक्त होने पर मैक्समूलर का चुनाव सिर्फ इसलिये न हो पाया कि वे विदेशी थे और उनका संबंध 'लिबरल' दल के लोगों से था। उस स्थान पर मैक्समूलर को न लिया जाकर सर मोनियर—विलियम्स की नियुक्ति की गई। इस घटना से मैक्समूलर को काफी धक्का पहुँचा। किंतु सन् १८६८ में इसकी पूर्ति हो गई और वे वहीं तुलनात्मक भाषाशास्त्र के आचार्य बन गए।

मैक्समूलर ने सन् १८६१ तथा १८६३ में रायल इंस्टीट्यूशन के समक्ष भाषाविज्ञान संबंधी कई व्याख्यान दिए जो 'लेक्चर्स आन सायंस ऑव लैंग्वेज' के नाम से प्रकाशित हुए। यद्यपि इन व्याख्यानों के निष्कर्ष तथा तर्क पद्धति का ह्विटनी जैसे भाषाशास्त्रियों ने काफी विरोध किया, तथापि मैक्समूलर के इन व्याख्यानों का भाषावैज्ञानिक प्रगति के इतिहास मे अत्यधिक महत्व है। मैक्समूलर ने भाषाविज्ञान को 'भौतिक विज्ञान' की कोटि में माना है, जबकि यह वस्तुतः ऐतिहासिक या सामाजिक विज्ञान की एक विधा है। मैक्समूलर ने भाषाशास्त्री के लिये संस्कृत के अध्ययन की आवश्यकता को इतना महत्व दिया है कि उनके शब्दों में संस्कृत-ज्ञान-शून्य तुलनात्मक भाषाशास्त्री उस ज्योतिषी के समान है जो गणित नहीं जानता। मैक्समूलर ने यूरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया। इस कार्य में प्रिचार्ड, विनिंग, बाप तथा एडोल्फ पिक्टेट की गवेषणाओं से उन्हें पर्याप्त सहायता मिली। मैक्समूलर का एक अन्य प्रिय विषय धर्मविज्ञान पुराण-कथा-विज्ञान है। इस अध्ययन ने उन्हें तुलनात्मक धर्म की ओर भी प्रेरित किया। सन् १८७३ में उन्होंने 'इंट्रोडक्शन टु दि जिनियस ऑव रेलिजन्स' प्रकाशित की। इसी वर्ष इस विषय से संबंधित व्याख्यान देने के लिये वे वैस्ट मिनिस्टर एबे में आमंत्रित किए गए। बाद में सन् १८८८ से १८९२ तक इस विषय पर उनकी अन्य पुस्तक चार भागों में प्रकाशित हुई, जो गिफर्ड लेक्चर्स के रूप में दिए गए भाषण हैं। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य ५१ जिल्दों में 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' (पूर्व के धार्मिक—पवित्र—ग्रंथ) का संपादन है। यह कार्य सन् १८७५ में आरंभ किया गया था, तथा तीन जिल्दों के अतिरिक्त समग्र कार्य मैक्समूलर के जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुका था। मैक्समूलर ने 'भारतीय दर्शन' पर भी रचनाएँ की हैं। अंतिम दिनों वे बौद्धदर्शन में अधिक रुचि रखने लगे थे, तथा जापान में मिले अनेक बौद्ध दार्शनिक ग्रंथों की गवेषणा में दत्तचित्त थे।

मैक्समूलर का संबंध अनेक यूरोपीय तथा एशियाई संस्थाओं से था। वे बोडलियन लाइब्रेरी के क्यूरेटर तथा यूनिवर्सिटी प्रेस के डेली-गेट थे। उनका देहांत २८ अक्टूबर, १९०० ई० को आक्सफोर्ड में हुआ। मैक्समूलर की फुटकल रचनाओं का संग्रह सर्वप्रथम १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

[मो० शं० व्या०]

मैक्सवेल जेम्स क्लार्क ब्रिटेन के महान् भौतिक विज्ञानी थे। आपका जन्म एडिनबर्ग में १३ नवंबर सन् १८३१ को हुआ था। आपने एडिनबर्ग विश्वविद्यालय तथा कैंब्रिज में शिक्षा पाई। सन् १८५६ से १८६० तक आप ऐबर्डीन के मार्शल कालेज में प्राकृतिक दर्शन (Natural-philosophy) के प्रोफेसर रहे। सन् १८६० से ६८ तक आप लंदन के किंग कालेज में भौतिकी और खगोलमिति के प्रोफेसर रहे। १८६८ ई०

में आपने अवकाश ग्रहण किया, किंतु १८७१ में आपको पुनः कैंब्रिज में प्रायोगिक भौतिकी विभाग के अध्यक्ष का भार सौंपा गया। आपके निर्देशन में इन्हीं दिनों सुविख्यात कैवेंडिश प्रयोगशाला की रूपरेखा निर्धारित की गई। आपकी मृत्यु सन् १८७९ में हुई।

अनुसंधान कार्य—१८ वर्ष की अवस्था में ही आपने निजबर्ग की रॉयल सोसायटी के समक्ष प्रत्यास्थता (elasticity) वाले ठोस पिंडों के संतुलन पर अपना निबंध प्रस्तुत किया था। इसी के आधार पर आपने श्यानतावाले (viscous) द्रव पर स्पर्शरेखीय प्रतिबल (tangential stress) के प्रभाव से क्षण मात्र के लिये उत्पन्न होनेवाले दुहरे अपवर्तन की खोज की। सन् १८५९ में आपने शनि के वलय के स्थायित्व पर एक गवेषणापूर्ण निबंध प्रस्तुत किया। गैस के गतिज सिद्धांत (Kinetic Theory) पर महत्वपूर्ण शोधकार्य करके, गैस के अणुओं के वेग के विस्तरण के लिये आपने सूत्र प्राप्त किया, जो 'मैक्सवेल के नियम' के नाम से जाना जाता है। मैक्सवेल ने विशेष महत्व के अनुसंधान विद्युत् के क्षेत्र में किए। गणित के समीकरणों द्वारा आपने दिखाया कि सभी विद्युत् और चुंबकीय क्रियाएँ भौतिक माध्यम के प्रतिबल तथा उसकी गति द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। इन्होंने यह भी बतलाया कि विद्युच्चुंबकीय तरंगें तथा प्रकाशतरंगें एक से ही माध्यम में बनती हैं, अत: इनका वेग ही उस निष्पत्ति के बराबर होना चाहिए जो विद्युत् परिमाण की विद्युच्चुंबकीय इकाई तथा उसकी स्थित विद्युत् इकाई के बीच वर्तमान है। निस्संदेह प्रयोग की कसौटी पर मैक्सवेल का यह निष्कर्ष पूर्णतया खरा उतरा। [मं० प्र० स०]

मैग्ना कार्टा (१२१५ ई०) मैगना कार्टा अथवा महान्-परिपत्र १५ जून, १२१५ ई० को, टेम्स नदी के किनारे स्थित रनीमीड स्थान पर राजा जॉन ने इंग्लैंड के सामंतों को प्रदान किया था। हैलम के शब्दों में, यह कालांतर में इंग्लिश स्वातंत्र्य का प्रधान आधार बना, यद्यपि इसके रचयिता, जनस्वातंत्र्य उद्देश्य से अनुप्रेरित नहीं थे। वे अपने अधिकारों के प्रतिपादन में लगे थे। सामंत (बैरन), जो इसकी रचना में संलग्न थे, स्वभावत: अपनी स्थिति को सुरक्षित कर रहे थे। उन्हें दूसरे वर्गों के स्वार्थों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। अत: चार्टर, राजा तथा बैरन के बीच एक प्रसंविदा था, जो सामंतवादी प्रथा पर आधारित था। चार्टर की दो तिहाई धाराएँ सामंतों के कष्टों की सूची थीं। किंतु रचयिताओं ने परिपत्र के द्वारा अपनी माँगों के अतिरिक्त, सभी वर्गों को संतुष्ट करने के लिये प्रशासकीय सुधारों को भी सन्निहित किया था। चार्टर की उपयोगिता समाप्त हो जाने के उपरांत भी, इसकी धाराएँ संभाल की दृष्टि से अधिक समय तक देखी गई। चार्टर की महत्ता इस तथ्य में निहित है कि प्रत्येक पीढ़ी ने इसकी वैधानिक व्याख्या कर इस सिद्धांत पर जोर दिया कि राजा को कानून का संमान अनिवार्यत: करना चाहिए। यह सामंतों तथा साधारण जनता दोनों के लिये वैधानिकता का प्रतीक बना तथा ब्रिटिश वैधानिक अधिनियमन का श्रीगणेश भी यहीं से हुआ माना जाता है।

चार्टर, राजा जॉन द्वारा बैरनों पर अधिक वर्षों से लादे गए अन्यायपूर्ण करों तथा अत्याचारों का परिणाम था। पोप से संघर्ष ले लेने के उपरांत, जॉन ने, पादरियों के साथ भी अत्याचारपूर्ण व्यवहार उसी मात्रा में रखा। वस्तुत: राजा ने समस्त जनता के प्रति एक नृशंसता की नीति अपनाई। फलत: राष्ट्रीय विद्रोह की भावना जाग्रत होने लगी। बैरन विद्रोह के प्रथम लक्षण १२१२ ई० में परिलक्षित हुए किंतु वास्तविक अशांति उस समय फैली जब आर्कबिशप स्टेफन के नेतृत्व में बैरनों ने लंदन में सेंट पाल की गोष्ठी में अपने कष्टों पर विचार किया तथा हेनरी प्रथम द्वारा स्वीकृत चार्टर के आधार पर, अपनी माँगें रखीं। १२१४ ई० में फ्रांस ने जॉन को परास्त कर शांति के लिये बाध्य किया। इंग्लैंड वापस आने पर, बैरनों के एक संघ ने अपनी माँगों की एक सूची उसके सामने रखी। जॉन ने प्रस्ताव को स्थगित करने के लिये झूठा वादा किया और इस बीच में युद्ध की तैयारी प्रारंभ की। विदेशों से किराए के सैनिक मँगाए तथा चर्च को अपनी ओर मिलाने की कोशिश की। किंतु बैरन शक्तिशाली हो चले थे। बैरनों के विद्रोह को साधारण जनता से अधिक सहायता मिली, क्योंकि जॉन की विदेशी युद्ध तथा आंतरिक दमननीति ने आंतरिक स्थिति को असह्य बना दिया था। शक्ति से सामना करने में असमर्थ पाकर जॉन चार्टर पर हस्ताक्षर करने को बाध्य हो गया।

चार्टर ६३ धाराओं का था। अधिकांश धाराएँ राजा के विशेषाधिकारों के विरुद्ध सामंतों के अधिकारों का समर्थन करती थीं। चार्टर की मुख्य धाराएँ निम्नांकित हैं :—(१) चर्च व्यवस्था तथा स्वतंत्र चुनाव (२) राजा तथा सामंतों के संबंध (३) साधारण वैधानिक व्यवस्था (४) असामी के अधिकार (५) नगर, वाणिज्य तथा व्यापारियों के अधिकार (६) स्वायत्तशासन के दोषों का निराकरण (७) न्याय तथा विधि व्यवस्था में सुधार (८) कानून व्यवस्था (९) चार्टर का प्रतिपादन तथा व्यवहार्य बनाना, आदि।

इस व्यापक परिपत्र की चार धाराएँ सदैव के लिये वैधानिक महत्व की सिद्ध हुई। १२वीं धारा ने घोषित किया कि किसी भी प्रकार की सेवा अथवा सहायता बिना राज्य की साधारण परिषद् की स्वीकृति के नहीं ली जायगी। १४वीं धारा ने साधारण परिषद् की रचना बताई। इस विधान सभा में आर्क बिशप, बिशप, अर्ल तथा बड़े बड़े बैरन पृथक् पृथक् आज्ञापत्रों से आमंत्रित होंगे तथा प्रमुख कृषक जिलाधीश के द्वारा सूचित किए जायँगे। ३९वीं धारा ने दैहिक स्वातंत्र्य की चर्चा करते हुए कहा कि किसी भी स्वतंत्र नागरिक को राज्य के नियमों अथवा वैधानिक निर्णय के प्रतिकूल किसी भी दशा में बंदी, संपत्तिरहित, गैरकानूनी या निष्कासित नहीं घोषित किया जायगा। ४०वीं धारा ने यह घोषणा की कि प्रत्येक व्यक्ति के नैयायिक अधिकारों पर किसी भी प्रकार का आघात नहीं होगा। कालांतर में जनस्वातंत्र्य, जूरी के द्वारा न्यायप्रशासन, कानून की दृष्टि में सबके समानाधिकार तथा कानून की राज्य में सर्वश्रेष्ठता इत्यादि इसी चार्टर की प्रशाखाएँ सिद्ध हुई। चार्टर में किसी नवीनता का समावेश नहीं किया गया था। इसने केवल जॉन द्वारा अतिक्रमित रीतियों एवं प्रथाओं की पुनरावृत्ति की।

हस्ताक्षर के उपरांत चार्टर की प्रतियाँ प्रत्येक सामंत एवं पादरी के प्रदेश में वर्ष में दो बार उच्च स्वर में सार्वजनिक घोषणा के लिये भेजी गई। जॉन ने यद्यपि हस्ताक्षर किए, तथापि कार्यान्वित करने में आपत्ति प्रगट की। उसने पोप से प्रार्थना की तथा एक विशेष पोपादेश

के द्वारा चार्टर को अवैध सिद्ध कराया। किराए के सैनिक एकत्रित कर बैरनों के विरुद्ध युद्ध घोषित किया। एक वर्ष तक गृहयुद्ध चला और १२१६ ई० में जॉन की मृत्यु हो जाने से यह युद्ध बंद हुआ। उसकी मृत्यु पर, चार्टर की अंतर्कालीन धाराओं को निकाल कर, चार्टर को पुनर्घोषित किया गया। १२२५ ई० में कुछ परिवर्तन के उपरांत चार्टर की फिर घोषणा हुई। एडवर्ड षष्ठ तक प्रत्येक माध्यमिक युग के शासक ने चार्टर को वैध बताया। [मि० शं० मि०]

मैग्नीशियम (Magnesium) एक धात्विक तत्व है। इसके यौगिक प्रचुर मात्रा मे इधर उधर फैले हुए हैं, परंतु यह शुद्ध धातु के रूप मे प्रकृति मे नही मिलता। १६९५ ई० में नेहमया ग्रियू (Nehemiah Grew) ने एप्सम के एक खनिज स्रोत से एक विशेष लवण उपलब्ध किया, जिसे एप्सम लवण का नाम दिया गया। बाद में यह मैग्नीशियम सल्फेट सिद्ध हुआ। मैग्नीशियम और कैल्सियम के यौगिकों के गुणधर्म आपस में बहुत मिलते हैं। हॉफमैन ने १७२२ ई० में प्रथम बार इस भेद को स्पष्ट किया। सन् १८०८ में डेवी ने क्लोराइड के विद्युत् अपघटन से धात्विक मैग्नीशियम तैयार किया। इन्होंने श्वेत तप्त मैग्नीशिया को पोटैशियम के वाष्प में अवकृत करके भी इस धातु को तैयार किया था। सन् १८३० में बुसी ने पोटैशियम और अजलीय मैग्नीशियम क्लोराइड के मिश्रण को बहुत अधिक ताप पर गरम कर अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध मैग्नीशियम तैयार किया। १८३३ ई० में डाक्टर फैराडे ने प्रथम बार वोल्टीय सेल की सहायता से गले हुए मैग्नीशियम क्लोराइड का विद्युत् अपघटन कर शुद्ध मैग्नीशियम तैयार किया।

भूपर्पटी का २·१ प्रति शत इस धातु से बना है। इसके लवण कार्बोनेट, ऑक्साइड और क्लोराइड के रूप में मिलते हैं। सिलिकेट खनिजों में भी यह काफी मात्रा में मिलता है, परंतु ये खनिज अधिक उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि इनसे मैग्नीशियम धातु को निकालने में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

समुद्र के जल में इसका क्लोराइड मिलता है। मैग्नेसाइट इसका सबसे प्रसिद्ध ठोस अयस्क है। यह संसार के लगभग प्रत्येक भाग में मिलता है, जैसे ऑस्ट्रेलिया, रूस, ग्रीस, चेकोस्लोवाकिया, उत्तरी अमरीका। डोलोमाइट यू० के०, ऑस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी इत्यादि में मिलता है और कार्नेलाइट जर्मनी के स्टासफर्ट लवण स्तर में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

नीचे लिखे प्रमुख खनिजों के अतिरिक्त मैग्नीशियम के कुछ अन्य खनिजों के सूत्र इस प्रकार हैं :

(१) कार्नेलाइट, मै$_{ग}$क्लो$_{२}$. पोक्लो. ६हा$_{२}$औ [$MgCl_2$ KCl. $6H_2O$]; (२) शोएनाइट, मै$_{ग}$ गंऔ$_{४}$. पो$_{२}$गं.औ$_{४}$. ६हा$_{२}$औ [$MgSO_4$. K_2SO_4. $6H_2O$]; (३) पोलिहेलाइट, मै$_{ग}$ गं औ$_{४}$. २ कै गं औ$_{४}$. पो$_{२}$ ग औ$_{४}$. २हा$_{२}$ औ [$MgSO_4$. $2CaSO_4$. K_2SO_4. $2H_2O$]; (४) कैसराइट, मै$_{ग}$गंऔ$_{४}$. हा$_{२}$ औ [$MgSO_4$ H_2O]; (५) एप्सोमाइट, मै$_{ग}$ गं औ$_{४}$. ७ हा$_{२}$औ [$MgSO_4$ $7H_2O$]; (६) केनाइट, मै$_{ग}$गंऔ$_{४}$. पोक्लो. ३ हा$_{२}$औ. [$MgSO_4$. KCl. $3H_2O$]; (७) लॅगबेनाइट, २मै$_{ग}$ गंऔ$_{४}$. पो$_{२}$ गं औ$_{४}$ [$2MgSO_4$ K_2SO_4]।

भारत में मैग्नीशियम काफी मात्रा में पाया जाता है। सलेम की खड़िया मिट्टी की पहाड़ियों में मैग्नेसाइट मिलता है। यहाँ का मैग्नेसाइट खनिज ९९·९९ प्रति शत शुद्ध है।

मैग्नीशियम के प्रमुख खनिज

नाम	सूत्र	मैग्नीशियम का प्रति शत
मैग्नेसाइट	मै$_{ग}$ का औ$_{3}$ ($MgCO_3$)	२८·७
डोलोमाइट	मै$_{ग}$ का औ$_{३}$. कै का औ$_{३}$ ($MgCO_3$ $CaCO_3$)	१३·८
ब्रुसाइट	मै. औ. हा$_{२}$ औ ($MgO.H_2O$)	४१·६
सर्पेंटाइन	३ मै$_{ग}$ औ ·२ सि औ$_{२}$. २ हा$_{२}$ औ ($3MgO.\cdot 2SiO_2.2H_2O$)	२५·९
ओलिवीन	(मै$_{ग}$, लो) सि औ$_{४}$ [$(Mg, Fe) SiO_4$]	२८·४
टैल्क	३मै$_{ग}$ औ. ४ सि औ$_{२}$. हा$_{२}$ औ ($3MgO.4SiO_2.H_2O$)	२०·७-२१·९

निष्कर्षण और उत्पादन — मैग्नीशियम के उत्पादन के लिये १९४७ ई० में दो मुख्य विधियों का उपयोग होता था : (१) विद्युत् अपघटनी विधि और (२) ऊष्मीय विधि। पहली विधि अधिक प्रचलित थी। जर्मनी में, जहाँ मैग्नीशियम उद्योग का सर्वप्रथम विकास हुआ, पहली विधि को ही अपनाया गया। गले हुए मैग्नीशियम क्लोराइड का विद्युत् अपघटन कर इस धातु को तैयार किया जाता था। अमरीका में भी ८५ प्रति शत मैग्नीशियम इसी विधि से प्राप्त किया जाता था। अमरीका में १९४७ ई० में समुद्र के पानी का विद्युत् अपघटन कर इस धातु को तैयार करने की नई विधि का आविष्कार हुआ। विद्युत् अपघटन विधि की मुख्य प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं :

विद्युत् अपघटन विधि — समुद्र के जल को, जिसमें ०·१३ प्रति शत मैग्नीशियम होता है, बड़े बड़े टैंकों में चूने के पानी के साथ मिलाया जाता है। कैल्सियम का समुद्र के मैग्नीशियम से विनिमय हो जाता है और यह अविलेय मैग्नीशियम हाइड्रोक्साइड के रूप में नीचे बैठ जाता है। इसे फिल्टर कर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ अभिक्रिया करने देते हैं, जिससे यह मैग्नीशियम क्लोराइड बन जाता है। अब इसे निर्जल करते हैं, जो बहुत आवश्यक है। इसके क्रिस्टल को साधारणतया गरम करने पर केवल ४ अणु पानी निकल जाता है। जल का शेष दो अणु कठिनाई उपस्थित करता है। अतः निर्जल मैग्नीशियम क्लोराइड प्राप्त करने के लिये इसको १५०° सें० पर शुष्क हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में गरम करना पड़ता है।

आधुनिक विधि में विद्युत् अपघटन का कुंड इस्पात का बना ६ फुट गहरा, ५ फुट चौड़ा और ११ फुट लंबा होता है। एक बार में १० टन विद्युत् अपघट्य, पो क्लो ५०%, मै$_{ग}$ क्लो$_{२}$ १५%, सो क्लो ३५% (KCl 50%, $MgCl_2$ 15%, NaCl 35%), इसमें लिया जा सकता है। यह कुंड और इसका भीतरी भाग कैथोड का कार्य

करता है। ८ इंच व्यास और ६ फुट लंबा ग्रैफाइट धनाग्र कुंड में ऊपर से लटकाया जाता है। ७१०° सें० पर विद्युत् अपघटन होता है। इस क्रिया के दौरान में मैग्नीशियम ऋणाग्र पर बूँद बूँद होकर इकट्ठा होता है और फिर ये सब बूँदें मिलकर ऊपर उठ जाती हैं। इस प्रकार ९९.९ प्रति शत शुद्ध धातु तैयार होती है।

ऊष्मीय विधियाँ, या ताप ऑक्सीकरण विधि — विद्युत् अपघटन विधि में खर्चा अधिक पड़ता है। अत: आजकल इस स्थान पर ऊष्मा अवकरण विधि का उपयोग होने लगा है। मैग्नीशियम ऑक्साइड को कार्बन, या अन्य अच्छे अवकारकों, के साथ ऊँचे ताप पर गरम कर मैग्नीशियम को आसवन क्रिया द्वारा द्रव, या ठोस अवस्था में संघनित कर लेते हैं। इसी सिद्धांत पर कैनाडा में १९४१ ई० में पिजिओन फेरोसिलिकन विधि अपनाई गई। इसमें फेरोसिलिकन और चूर्णमय डोलोमाइट को लाल ताप पर गरम करके शुद्ध मैग्नीशियम तैयार किया जाता है।

ऑस्ट्रिया में १९२८ ई० में कार्बोथर्मिक विधि का आविष्कार हुआ। इसमें मैग्नीशियम ऑक्साइड को कार्बन के साथ २,०००° सें० से अधिक ताप पर गरम करते हैं। मैग्नीशियम और कार्बन मोनो ऑक्साइड के वाष्पों को अभिक्रिया कक्ष से बाहर निकलते ही एक दम ठंढा कर लिया जाता है। ताप गिर कर २००° सें० हो जाता है और मैग्नीशियम वाष्प ठोस रूप धारण कर लेता है। हाइड्रोजन के स्थान पर अब कहीं कहीं प्राकृतिक गैस का भी उपयोग होने लगा है।

गुणधर्म — मैग्नीशियम धातु का रंग चाँदी के समान सफेद है। इसका स्थान तत्वों के आवर्ती वर्गीकरण के द्वितीय समूह में है तथा कैल्सियम, यशद और बेरीलियम से संबंधित है। इसकी संयोजकता दो है। यह मैग्नीशियम आयन, $मै_{ग}^{++}$ (Mg^{++}), बनाता है। साधारण ताप पर शुष्क हवा का धातु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, परंतु गरम करने पर मैग्नीशियम बड़ी चमक और सफेद रंग की रोशनी के साथ हवा में जलने लगता है। रात में इस रोशनी की सहायता से फोटो उतारा जा सकता है।

मैग्नीशियम बहुत अच्छा ऑक्सीकारक है और लगभग सब अम्लों के साथ अभिक्रिया कर हाइड्रोजन पृथक् कर देता है। यह इतना प्रबल धनात्मक है कि लगभग सभी लवणों में से यह धातुओं को बाहर निकाल देता है।

$$मै_{ग} + सी\ (ना\ औ_{3})_{2} = मै_{ग}\ (ना\ औ_{3})_{2} + सी$$

$$[\ Mg + Pb\ (NO_3)_2 = Mg\ (NO_3)_2 + Pb\ ]$$

कार्बन-डाइ-ऑक्साइड में इसका तार जलता रहता है।

$$२मै_{ग} + का\ औ_{2} = २मै_{ग}\ औ + का\ [2Mg + CO_2 = 2\ MgO + C]$$
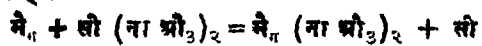
पानी की भाप में गरम करने पर यह जल उठता है, परंतु क्षारों का इसपर प्रभाव नहीं पड़ता।

मैग्नीशियम का परमाणु भार २४.३२ और परमाणु क्रमांक १२ है। इसका गलनांक ६५०° सें० तथा क्वथनांक १,१२०° सें० है। यह काफी दृढ़ धातु है। इसके तार या फीते बनाए जा सकते हैं।

इसके यौगिकों में से निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :

मैग्नीशियम ऑक्साइड — मैग्नीशियम कार्बोनेट को तपाकर इसे बनाते हैं। यह श्वेत चूर्ण है। भट्ठियों के अस्तर के काम आता है।

मैग्नीशियम हाइड्रॉक्साइड — मैग्नीशियम लवण में चूने का पानी मिलाने से सफेद अवक्षेप के रूप में यह मिलता है। इसे दवाइयों में रेचक के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

मैग्नीशियम कार्बोनेट - प्रकृति में मैग्नेसाइट और कैल्सियम कार्बोनेट के साथ डोलोमाइट में भी पाया जाता है। मैग्नीशियम लवण के विलयन में यदि कार्बन डाइ-ऑक्साइड संतृप्त सोडियम कार्बोनेट के विलयन को छोड़ा जाए, तो मैग्नीशियम कार्बोनेट का अवक्षेप मिलता है। यह रबर और स्याही के उद्योग तथा अंगराग और दवाइयों में काम आता है।

मैग्नीशियम क्लोराइड — मैग्नीशिय हाइड्रॉक्साइड पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की अभिक्रिया से, या कार्नेलाइट से इसे प्राप्त किया जा सकता है। निर्जल क्लोराइड प्राप्त करने के लिये, इसे शुष्क हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में गरम करते हैं।

इसका उपयोग अधिकतर ऑक्सिक्लोराइड, सीमेंट, कपड़ा उद्योग और मैग्नीशियम धातु के उत्पादन में होता है।

मैग्नीशियम सल्फेट — एप्सम लवण के नाम से यह बिकता है। ओलिवाइन को सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ, या मैग्नीशियम हाइड्रॉक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड और हवा की अभिक्रिया से प्राप्त करते हैं। सीमेंट का यह एक अवयव है। चमड़ा और वस्त्र उद्योग, दवाइयों तथा खाद के लिये इसका उपयोग होता है।

अभिव्यक्तिकरण — मैग्नीशियम लवण के विलयन में सोडियम हाइड्रॉक्साइड डालने से मैग्नीशियम हाइड्रॉक्साइड का अवक्षेप मिलता है, जो सोडियम हाइड्रॉक्साइड की अधिक मात्रा में विलेय नहीं है, परंतु अमोनियम क्लोराइड के संतृप्त विलयन में विलेय है।

सं० ग्रं० — थॉर्प : डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री, फोर्थ एडीशन; सत्यप्रकाश : अकार्बनिक रसायन। [भ० ला० गु०]

मैग्नेसाइट (Magnesite) मैग्नीशियम कार्बोनेट है। क्षारीय तापरोधक खनिजों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह खनिज सफेद होता है और इसका आपेक्षिक घनत्व २.९–३.१ है। मैग्नेसाइट के निक्षेप प्रधानत: मद्रास राज्य के सेलम, मैसूर के मैसूर तथा उत्तरप्रदेश के अल्मोड़ा जिले में स्थित हैं। कुछ लघु निक्षेप कुर्ग, राजस्थान तथा बिहार में भी प्राप्त हुए हैं। सेलम तथा मैसूर के निक्षेपों में अनुमानत: १०० फुट की गहराई तक प्राय: १० करोड़ टन खनिज विद्यमान है। अल्मोड़ा के निक्षेप भी पर्याप्त विस्तृत हैं, किंतु इन निक्षेपों के संबंध में अनेक बातों का अभी ज्ञान नहीं हो सका है। सलेम का मैग्नसाइट निक्षेप उच्च कोटि का होता है। यातायात के साधनों के अभाव के कारण इसपर कोई विशेष कार्य न किया जा सकेगा, किंतु भविष्य में ये पर्याप्त लाभदायक सिद्ध होंगे, इसमें भी कोई संदेह नहीं। सन् १९५७ में मैग्नेसाइट का उत्पादन ८८,८८५ टन था, जिसका मूल्य १७,६९,००० रुपया हुआ। इसमें से लगभग अर्धांश विदेशों को निर्यात किया गया तथा शेष भाग भारत में ही ऊष्मा प्रतिरोधक ईंटों के निर्माण, इस्पात और विद्युत् भट्ठियों में अस्तर देने में और सीमेंट बनाने में प्रयुक्त हुआ। इसके लवणों का व्यवहार ओषधियों, कागज और लुगदी के निर्माण, उनके धोने और पेंट बनाने में होता है। [म० ना० मे०]

मैडागैस्कर या मलागासी गरातंत्र; स्थिति : १२° से २६° द० अ० तथा ४३° से ५१° पू० दे० । दक्षिणी अफ्रीका के मोजैंबीक के पूर्व में २५० मील चौड़े मोजैंबीक चैनल द्वारा मुख्य भूमि से अलग किया गया, हिंद महासागर का सबसे बड़ा तथा विश्व का चौथा सबसे बड़ा द्वीप है। इसका सागरतट लगभग ३,००० मील लंबा है। यह अधिक से अधिक ९८० मील लंबा तथा २७६ से ३६० मील तक चौड़ा है। इसका कुल क्षेत्रफल २,२८,७०७ वर्ग मील

है। यह मुख्यतया एक पठार के रूप में है, जिसकी सबसे अधिक ऊँचाई पूर्व की ओर (९,००० फुट) है। इसका पूर्वी तट सीधा है, जहाँ प्रवालों के कारण अनूप बन गए हैं। यहाँ का ऊबड़ खाबड़ धरातल रेलों एवं सड़कों की उन्नति में बाधक है, किंतु यहाँ हवाई यातायात का प्रबंध है। यहाँ की राजधानी टानानारीव है, जिसके उत्तर पश्चिम में ऐलाओट्रा (Alaotra), यहाँ की सबसे बड़ी झील, स्थित है। पूर्वी भाग मे लगभग १०० इंच तथा दक्षिण पश्चिमी भाग में केवल १० इंच वार्षिक वर्षा होती है। राजधानी में लगभग ५५ इंच तक वर्षा होती है। जाड़े ठंडे एवं शुष्क तथा गरमियाँ गरम एवं नम रहती हैं। मध्य पठारी भाग में कभी कभी तुषार तथा ओले भी पड़ते हैं। यहाँ की राजकीय भाषाएँ फ्रांसीसी तथा मलागासी हैं। यहाँ के निवासी भाषा एवं संस्कृति के आधार पर बहुत कुछ पॉलिनीशियन तथा मलेशियनों से मिलते हैं। कृषि में धान, आलू, गन्ना, कैसावा, मक्का तथा कॉफी का उत्पादन होता है। पशुपालन भी यहाँ के लोगों का प्रमुख उद्योग है। यहाँ से कॉफी, नारियल लौंग, वैनीला (vanilla), काली मिर्च, दालचीनी, तंबाकू तथा चीनी का निर्यात किया जाता है। ग्रैफाइट धातु के अलावा अभ्रक फॉस्फोरस, सोना तथा बहुमूल्य पत्थर भी पाए जाते हैं। रेशमी तथा सूती कपड़ा बनाना यहाँ का प्रमुख उद्योग है। धातु कर्म, ईट बनाना तथा चीनी, चावल, टैपियोका, वैनिला एवं साबुन का संसाधन (processing) किया जाता है। १४ वर्ष की उम्र तक के बच्चों के लिये शिक्षा अनिवार्य है। यहाँ की जनसंख्या ५६,५७,६०१ (१९६२) है। यह छह प्रांतों में बँटा है। यहाँ के प्रमुख नगर टानानारीव (जनसंख्या २,४७,९१७), मेजंगा, टामाटाव, रानोहाइरा, फोर्ट डाफिन, टुलियर, मानाजारी, डीगो, सुआरेज आदि हैं। सन् १,५०० में एक पुर्तगाली, डीगो डिएज, ने इसकी खोज की थी। पुर्तगाल लौटने पर वहाँ के राजा ने इसका नाम सोगाडिसो रखा। बाद मे गलत उच्चारण से इसका नाम मैडागैस्कर हो गया। सन् १८९६ से यह फ्रांस के अधिकार में था। सन् १९५९ में फ्रांस संघ का यह एक सदस्य राज्य बना एवं २६ जून, १९६० ई० को संघ के अंतर्गत एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। [रा० ना० मा०]

मैत्रक गुप्त वंश के अवनति काल में उदय होनेवाले इस वंश ने सौराष्ट्र पर लगभग ३०० वर्षों तक शासन किया। काठियावाड़ के भावनगर राज्य के वर्तमान वल नामक स्थान में ही मैत्रकों की राजधानी वलभी स्थित थी।

मैत्रक नाम की उत्पत्ति निर्धारित करना कठिन है। मैत्रकों को विदेशी (ईरानी अथवा हूण) मानने का कोई आधार नहीं है। मित्र और मिहिर दोनों ही सूय के लिये प्रयुक्त होते हैं, किंतु संस्कृत साहित्य में मैत्रक का सूर्योपासक के अर्थ मे प्रयोग नहीं मिलता। इसी मैत्रक का मैत्रेयक से समीकरण करके उन्हें गुप्त नरेशों का चारण कहना अथवा गुप्तों की अधीनता मानते रहने के कारण उनके गुप्तों के मित्र होने का सुझाव कल्पना पर आधारित है। ह्वेनसांग के अनुसार ये क्षत्रिय थे। बौद्ध ग्रंथ आर्य मंजुश्री मूलकल्प और जैन शत्रुंजय माहात्म्य में इन्हें यादव वंशीय कहा गया है। किंतु इस आधार पर मथुरा के समीप राज्य करनेवाले मित्र नामांत राजाओं से उन्हें संबंधित करना युक्तिसंगत नहीं है।

मैत्रक वंश का इतिहास भटार्क से शुरू होता है जिसका समय ४६५ और ४७५ ई० के बीच रखा जा सकता है। भटार्क और उसके पुत्र धरसेन के लिये सेनापति उपाधि ही प्रयुक्त होती है किंतु उनके परवर्ती शासक अपने को महाराज अथवा महासामंत महाराज कहते हैं। इस वंश का सर्वप्रथम अभिलेख ५०२ ई० का धरसेन के अनुज द्रोणसिंह के समय का है। इस वंश के यद्यपि अनेक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं तथापि उनसे इतिहास की घटनाओं का विवरण नहीं मिलता। द्रोणसिंह को महाराज का पद और उपाधि उसके अधिपति से ही प्राप्त हुई थी। द्रोणसिंह का अनुज ध्रुवसेन अधिपति के प्रति अपनी स्वामिभक्ति अपने को परम भट्टारक पदानुध्यात कहकर दिखलाता है। उसका अनुज गुहसेन अपने को महाराज कहते हुए भी इस विशेषण का प्रयोग नहीं करता। गुहसेन के पुत्र धरसेन द्वितीय ने एक अभिलेख में अपने हस्ताक्षर मे महाधिराज की उपाधि अपनाई है। इन परिवर्तनों से विदित होता है कि किस प्रकार अपने अधिपति की नाम मात्र की अधीनता की स्वीकारोक्ति को त्यागकर मैत्रक वंश के शासक स्वतंत्र हुए।

ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी के अंत की ओर गुहसेन के पौत्र शीलादित्य प्रथम धर्मादित्य के समय इस वंश का राज्य पश्चिमी मालवा तक फैल गया था। ह्वेनसांग ने इस नरेश के गुणों, प्रशासनिक योजनाओं और बौद्ध धर्म की सेवाओं की सराहना की है। शीलादित्य के बाद उसका अनुज खरग्रह और उसके बाद खरग्रह का पुत्र धरसेन तृतीय सिंहासन पर बैठे। धरसेन तृतीय के समय मैत्रकों के राज्य में उत्तरी गुजरात भी संमिलित था। धरसेन के अनुज ध्रुवसेन द्वितीय बालादित्य का ही उल्लेख ह्वेनसांग ने ध्रुवपटु अथवा ध्रुवभट्ट के नाम से किया है। ह्वेनसांग के अनुसार वह

हर्ष का दामाद था और हर्ष के द्वारा बुलाई गई प्रयाग की सभा और संभवत: कन्नौज की सभा में भी उपस्थित था। भड़ौच के गुर्जरों के अभिलेखों में उल्लेख मिलता है कि दद्द द्वितीय ने श्रीहर्षदेव के द्वारा अभिभूत वलभीपति को संत्राण देकर यश प्राप्त किया। वलभी के इस शासक का क्या नाम था और हर्ष के साथ उसका संघर्ष क्यों हुआ, आदि का निश्चय करना कठिन है। किंतु इतना स्पष्ट है कि यह घटना अकेली नहीं थी। संभवत: इसका हर्ष और पुलकेशिन् द्वितीय के साम्राज्यवादी संघर्ष से संबंध था।

ध्रुवसेन के पुत्र धरसेन चतुर्थ ने वंश के इतिहास में सर्वप्रथम सम्राट् पद की सूचक परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर और चक्रवर्ती उपाधियाँ धारण कीं। उसके दो दानपत्र भरुकच्छ (भड़ौच) में स्थित उसके विजय स्कंधावार से दिए गए थे और गुर्जरों के राज्य पर उसकी अस्थायी सफलता के सूचक हैं। प्रसिद्ध कवि भट्टि धरसेन के ही दरबार में था।

धरसेन के बाद मैत्रक वंश में आंतरिक अव्यवस्था दिखलाई पड़ती है। सिंहासन शीलादित्य प्रथम के पौत्रों को मिल गया किंतु यहाँ भी सर्वप्रथम ध्रुवसेन तृतीय और उसके बाद उसका ज्येष्ठ भ्राता खरग्रह द्वितीय धर्मादित्य शासक बने। शीलादित्य तृतीय के सिंहासन पर बैठने के साथ मैत्रकों की शक्ति फिर बढ़ी। उसने गुर्जरों से भरुकच्छ को छीना किंतु संभवत: पश्चिमी चालुक्यों के हस्तक्षेप करने के कारण विजित प्रदेश पर उसका अधिकार बना न रह सका। शीलादित्य तृतीय के बाद इस वंश के चार और शासक हुए जो सभी शीलादित्य नाम से अभिहित हुए और जो पिता पुत्र के रूप में संबंधित थे।

७२५–७३५ ई० का अरब आक्रमण संभवत: शीलादित्य पंचम के समय हुआ। अरब अंत में लाट के चालुक्य और मालव के प्रतिहार नरेशों से पराजित हुए। इस अवसर पर भड़ोच के गुर्जर नरेश जयभट चतुर्थ ने वलभी नरेश को सहायता दी थी। शीलादित्य पंचम और उसके अनुवर्ती शासकों के दानपत्र खेटक और अन्य स्थानों से दिए गए हैं, वलभी से नहीं। इससे इस आक्रमण के कारण वलभी नगर के नष्ट हो जाने की संभावना लगती है, किंतु इससे मैत्रकों का राज्य नहीं नष्ट हुआ। इसके बाद भी वे लगभग ५० वर्षों तक राज्य करते रहे। फिर भी मैत्रक शांति से नहीं रह सके। काठियावाड़ के दक्षिणी पश्चिमी भाग पर सैंधवों का राज्य स्थापित हुआ। चालुक्यों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के अभियानों के कारण मैत्रकों का राज्य सुरक्षित नहीं रहा। मैत्रक वंश के अंतिम नरेश शीलादित्य सप्तम का अधिकार ७६६–६७ ई० तक प्रमाणित होता है। संभवत: प्रतिहारों ने इस राज्य का अंत कर कई सामंत वंशों को यहाँ स्थापित किया। ७८३ ई० में सौराष्ट्र पर शासन करनेवाला वराह अथवा जयवराह संभवत: इन्हीं में से किसी एक वंश का था।

मैत्रकों के समय में वलभी का महत्व ऊँचा था। व्यापार का केंद्र होने के साथ ही उसका सांस्कृतिक महत्व भी था। इत्सिंग ने प्रमुख शिक्षाकेंद्र के रूप में उसका उल्लेख किया है। कथासरित्सागर से भी इसकी पुष्टि होती है।

सं० ग्रं० — के० जी० वीरजी : एंशेंट हिस्ट्री ऑव सौराष्ट्र; एच० डी० सांकलिया : आर्क्यालोजी ऑव गुजरात; एम० आर० राय : मैत्रकाज ऑव वलभी (इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, चतुर्थ खंड)।

[ल० गो०]

मैत्रायण प्रसिद्ध ऋषि जिनके नाम पर यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा प्रचलित है।

[रा० द्वि०]

मैत्रायणी उपनिषद् यह सामवेदीय शाखा की एक संन्यास मार्गी उपनिषद् है। ऐक्ष्वाकु बृहद्रथ ने विरक्त हो अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर वन में घोर तपस्या करने के पश्चात् परम तेजस्वी शाकायन्य से आत्मज्ञान की जिज्ञासा की, जिसपर उन्होंने बतलाया कि ब्रह्मविद्या उन्हें भगवान् मैत्रेय से मिली थी और ऊर्ध्वरेता बालखिल्यों को प्रदान कर प्रजापति ने इसे सर्वप्रथम प्रवर्तित किया।

इस उपनिषद् में शाकायन्य ने कई प्रकार से ब्रह्म का निरूपण करके अंतिम रूप से स्थिर किया है कि उसके सभी वर्णन 'द्वैभी भाव विज्ञान' के अंतर्गत हैं। उसका सच्चा स्वरूप 'अद्वैतीभाव विज्ञान' है जो अद्वैत कार्य कारण निर्मुक्त, निर्वचन, अनौपम्य, और निरूपाख्य है। संसार में सबसे बढ़कर जानने और खोजने का तत्व यही है और संन्यास लेकर वन में मन को निर्विषय कर उसे यहीं प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्य शरीर शकट की तरह अचेतन है। अनंत, अक्षय, स्थिर, शाश्वत और अतींद्रिय ब्रह्म अपनी महिमा से उसे चेतनामय करके प्रेरित करता है। प्रत्येक पुरुष में वर्तमान चिद्रूपी, आत्मा उसी का अंश है। अपनी अनंत महिमा में ब्रह्म को अकेलेपन की अनुभूति होने से उसने अनेक प्रकार की प्रजा बनाकर उनमें पंचधा प्राण रूपी वायु और वैश्वानर अग्नि के रूप में प्रवेश किया। यह देहरथ, कर्मेंद्रियाँ अश्व, ज्ञानेंद्रियाँ रश्मियाँ और मन नियंता है। प्रकृति रूपी प्रतोद ही इस देह रूपी रथचक्र को निरंतर घुमा रहा है।

पाँच तन्मात्राओं और पाँच महाभूतों के संयोग से निर्मित देह की आत्मा भूतात्मा कहलाती है। अग्नि से अभिभूत अय पिंड को कर्मिक जिस तरह नाना रूप दे देता है उसी तरह सित असित कर्मों से अभिभूत एवं रागद्वेषादि राजस तामस गुणों से विमोहित भूतात्मा चौरासी लाख योनियों की सद् असद्, ऊँची नीची गतियों में नाना प्रकार के चक्कर काटती है। उसका सच्चा स्वरूप अकर्ता, अदृश्य और अग्राह्य है परंतु आत्मस्थ होते हुए भी इस भगवान् को प्रकृति के गुणों का पर्दा पड़े रहने के कारण भूतात्मा देख नहीं पाती।

आत्मा शरीर का एक अतिथि है जो इसे छोड़कर यहीं सायुज्य-लाभ कर सकती है। मनुष्य का प्राक्तन कर्म नदी की ऊर्मियों की तरह शरीर आत्मा का प्रवर्तक और समुद्रवेला की तरह मृत्यु का पुनरागमन दुर्निवार्य है। इंद्रियों के शब्द स्पर्शादि विषय अनर्थकारी हैं और उनमें आसक्ति के कारण मनुष्य परम पद को भूल जाता है। मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। आश्रमविहित तपस्या से सत्व-शुद्धि करके मन की वृत्तियों का क्षय करने, उसे विषयों से खींचकर और समस्त कामनाओं तथा संकल्पों का परित्याग कर आत्मा में लय कर देने से जो 'अमनीभाव' अर्थात् निर्विषयत्व की विलक्षण अवस्था होती है वह मोक्ष स्वरूप है। इससे शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते, और वर्णनातीत बुद्धिग्राह्य सुख प्राप्त होता है।

प्राणरूप से अंतरात्मा और आदित्य रूप से बाह्यात्मा को पोषण करनेवाली आत्मा के मूर्त और अमूर्त दो रूप हैं। मूर्त असत्य और अमूर्त सत्य है। वही शब्दब्रह्म है और ॐ की मात्राओं में त्रिधा व्याकृत है। उसमें समस्त सृष्टि ओतप्रोत है। अस्तु, आदित्य रूप से ॐ की अथवा प्रणवरूपी उद्गीथ ब्रह्म के 'भर्ग' की ध्यानोपासना, प्रणवपूर्वक गायत्री मंत्र के साथ, आत्मसिद्धि का साधन है। [चं० त्रि०]

मैत्रावरुण यह वशिष्ठ का दूसरा नाम है, तथापि कहीं कहीं इनको वशिष्ठ का बड़ा भाई माना गया है। कभी कभी अगस्त्य को भी यह नाम दिया जाता है और वशिष्ठ को मैत्रावारुणि कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में मैत्रावरुण का जन्म पुलस्त्य के मानस से बतलाया गया है और पद्मपुराण के अनुसार होता में से एक का नाम मैत्रावरुण है। दूसरे दो अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत हैं और ब्रह्मा, उद्गाता, होता एवं अध्वर्यु में से प्रत्येक के तीन तीन परिवार माने गए हैं।

ब्रह्मक्षेत्र में निवास करनेवाले सात महर्षियों ने बृहस्पति, भरद्वाज तथा प्रद्युम्न के साथ मंत्रों और ब्राह्मणों का संकलन किया था। मैत्रावरुण इन सातों में प्रमुख हैं और छह के नाम वशिष्ठ, शक्ति, इंद्र, प्रमति, भरद्वसु तथा कुंडिन हैं। [रा० द्वि०]

मैत्रेयी याज्ञवल्क्य की विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी कनिष्ठा पत्नी जिससे इनकी ज्येष्ठा पत्नी कात्यायनी अथवा कल्याणी बड़ी ईर्ष्या रखती थी। कारण यह था कि अपने गुणों के कारण इसे पति का स्नेह अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त था। आध्यात्मिक विषयों पर याज्ञवल्क्य के साथ इनके अनेक संवादों का उल्लेख प्राप्त होता है। (बृह० उप०, २-४-१-२; ४-५-१-१५)। पति के संन्यास लेने पर इन्होंने पति से अत्यधिक ज्ञान का भाग माँगा और अंत में पति से आत्मज्ञान प्राप्त करने के अनंतर, अपनी सारी संपत्ति सौत को देकर यह उनके साथ वन को चली गईं। आश्वलायन गृह्यसूत्र के ब्रह्मयज्ञांगतर्पण में मैत्रेयी का नाम सुलभा के साथ आया है। [रा० द्वि०]

मैथिअस ग्रनेवाल्ड (१४७०।८०–१५२८) ग्रनेवाल्ड विश्वविख्यात व्यक्तिचित्रकार (पोर्ट्रेट पेंटर) ड्यूरर जर्मनी का समकालीन चित्रकार। वह आर्च बिशप-एलेक्टर ऑव मेंज़ के दरबार का चित्रकार था पर उसके बारे में बहुत कम ज्ञात हो सका है। वह शायद जोबू वर्ग में उत्पन्न हुआ था। उसके बनाए चित्र भी बहुत कम मिलते हैं। उसके दो ही चित्र चर्चित हैं—म्यूनिख में प्राप्त 'मॅकिंग ऑव क्राइस्ट' तथा इस्न्हीम के चर्च के लिये बनाया गया चित्र। इन चित्रों से लगता है कि वह रिनेसाँ कला का परिचय पा चुका था क्योंकि उसके चित्रों में पर्सपेक्टिव तथा स्पेस डिविजन का ज्ञान यथेष्ट मिलता है। [रा० चं० शु०]

मैथिली भाषा और साहित्य मैथिली मुख्यतया उत्तर-पूर्व बिहार की भाषा है। भारत के सात जिलों में (दरभंगा, मुजफ्फरपुर, मुंगेर, भागलपुर, सहरसा, पूर्णियाँ और पटना) और नेपाल के पाँच जिलों में (रौताहत, सरलाही, सप्तरी, मोहतरी और मोरंग) यह बोली जाती है। इसका क्षेत्र लगभग ३०,००० वर्गमील में व्याप्त है और इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग दो करोड़ है। यहाँ का सांस्कृतिक केंद्र दरभंगा है।

बँगला, असमिया और उड़िया के साथ साथ इसकी उत्पत्ति मागधी प्राकृत से हुई है। कुछ अंशों में यह बँगला और कुछ अंशों में हिंदी से मिलती जुलती है।

मैथिली लिपि—अन्य स्वतंत्र साहित्यिक भाषाओं की तरह मैथिली की अपनी प्राचीन लिपि है जिसे तिर्हुता या मिथिलाक्षर कहते हैं (यह लिपि प्राचीन मागधी लिपि से निकली है)। इसका विकास नवीं शताब्दी ई० में पूर्ण हो गया था। आजकल छपी हुई पुस्तकों में अधिकांश देवनागरी का ही प्रयोग होने लगा है।

मैथिली साहित्य का विभाजन — मैथिली के साहित्य को तीन कालों में विभक्त किया जाता है — आदिकाल (१०००–१६००), मध्यकाल (१६००–१८६०) और आधुनिक काल (१८६० से...)। प्रथम काल में गीतिकाव्य, द्वितीय में नाटक और तृतीय में गद्य की प्रधानता रही है।

आदि काल (१०००–१६०० ई०) मैथिली का सबसे प्राचीन साहित्य बौद्ध तांत्रिकों के अपभ्रंश दोहों और भाषागीतों में पाया जाता है। इनकी भाषा मिथिला के पूर्वीय भाग की बोली का प्राचीन रूप है तथापि बँगला, उड़िया और असमिया भी अपना आदि–साहित्य इन्हीं को मानती हैं। इसके बाद दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग मिथिला में कर्णाट राजाओं का उदय हुआ। उन्होंने मैथिल संगीत की परंपरा स्थापित की जिसके कारण कर्णाटवंश के हरसिंह देव का काल स्वर्णयुग (लगभग १३२४ ई०) कहलाया। उनके समकालीन *ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णन–रत्नाकर' नामक एक महान् गद्यकाव्य* मिलता है। इसमें विभिन्न विषयों पर कवियों के उपयोगार्थ उपमाओं और वर्णनों को सजाकर रखा गया है। (हाल ही में उन्हीं का 'धूर्त-समागम' नामक नाटक और मैथिली गीत भी उपलब्ध हुए हैं)।

ज्योतिरीश्वर के उपरांत विद्यापति ठाकुर का युग आता है (१३५०–१४५०)। इस युग में मिथिला में ओइनिवार वंश का राज्य था। बंगाल में जयदेव ने जिस कृष्णप्रेम के संगीत की परंपरा चलाई, उसी में मैथिल कोकिल विद्यापति ने हजारों पदों में अपना सुर मिलाया और उसी के साथ मैथिली काव्यधारा की, विशेषत: गीतिकाव्य की एक अनोखी परंपरा चल पड़ी जिसने तीन शताब्दियों तक पूर्वीय भारत में मैथिली का सिक्का जमा दिया।

विद्यापति की प्रसिद्धि बंगाल में, उड़ीसा में और असम में खूब हुई। इन देशों में विद्यापति को वैष्णव माना गया और उनके अनुकरण में अनेक कवियों ने मैथिली में पदावलियाँ रचीं। इस साहित्य की परंपरा आधुनिक काल तक चली आई है। २०वीं शताब्दी में विश्वकवि रवींद्र ने 'भानुसिंहेर पदावली' के नाम से कई सुंदर ब्रजबुली पद लिखे।

विद्यापति की परंपरा मिथिला में भी चली। न केवल इनके राधाकृष्ण संबंधी शृंगारिक गीत, किंतु शक्ति और शिव विषयक कविताओं का भी (जिन्हें क्रमश: गोसाउनिक गीत और नचारी कहते हैं) लोग अभ्यास करने लगे। विद्यापति के समकालीन कवियों में अमृतकर, चंद्रकला, भानु, दशावधान, विष्णुपुरी, कवि शेखर यशोधर, चतुर्भुज और भीषम कवि उल्लेखनीय हैं। विद्यापति के परवर्ती कवियों में, महाराज कंसनारायण (लगभग १५२७ ई०) के दरबार

में रहनेवाले कवियों का नाम लिया जाता है। इनमें सबसे प्रसिद्ध लोकप्रिय कवि गोविंद हुए। ये गोविंददास से भिन्न थे और इनकी पदावली 'कंसनारायण पदावली' में मिलती है। विद्यापति परंपरा के परकालीन कवियों में महिनाथ ठाकुर, लोचन झा, गोविंददास झा, रामदास झा, उमापति उपाध्याय, भानुनाथ झा, हर्षनाथ झा और चंदा झा के नाम गिनाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नेपाल में तीन कवि प्रसिद्ध हुए जिन्होंने विद्यापति के शिव और शक्ति विषयक पदों का विशेष अनुकरण किया। उनके नाम हैं सिंह नरसिंह, भूपतींद्र मल्ल और जगत्प्रकाश मल्ल।

मध्य काल—(१६००–१८६० ई०) मध्यकाल में मुसलमानों के आक्रमणों के कारण मिथिला में कई वर्षों तक अराजकता रही। ओइनिवार वंश के नष्ट होने के बाद मिथिला के विद्वान् कवि और संगीतज्ञ अधिकतर नेपाल के राजदरबारों में संरक्षण के लिये चले गए। वहाँ के मल्ल राजाओं को काव्य और नाटक का बड़ा शौक था। इसलिये मध्ययुगीन मैथिली साहित्य का एक बड़ा अंश नेपाल में ही लिखा गया।

नेपाल में रचित साहित्य में नाट्यसाहित्य मुख्य था। पहले संस्कृत के नाटकों में मैथिली गानों का संनिवेश करना प्रारंभ हुआ। क्रमशः उनमें संस्कृत और प्राकृत का व्यवहार कम होने लगा और मैथिली में ही संपूर्ण नाटक लिखे जाने लगे। अंत में संस्कृत नाटक की भी रूपरेखा छोड़ दी गई और एक अभिनव गीतिनाट्य की परंपरा स्थापित हुई। इनमें संगीत की प्रधानता रहती थी। अधिकांश कथानक संकेत में ही व्यक्त होता था और गद्य का व्यवहार नहीं होता था। राजसभाओं में ही ये नाटक अभिनीत होते थे। रंगमंच खुला रहता था और अभिनय दिन में होता था। कथानक नवीन नहीं हुआ करते थे—बहुधा पुराने पौराणिक आख्यान या नाटक को ही फिर से गीतिनाट्य का रूप देकर अथवा केवल संशोधन करके ही उपस्थित कर देते थे।

नेपाली नाटककारों की कार्यभूमि मुख्यतः तीन स्थानों में रही—भातगाँव, काठमांडू और पाटन। भातगाँव में सबसे अधिक नाटक लिखे गए और अभिनीत हुए। मुख्य नाटककार पाँच हुए—जगज्ज्योतिर्मल्ल, जगत्प्रकाश मल्ल, जितामित्र मल्ल, भूपतींद्र मल्ल और रणजित मल्ल। इनमे सबसे अधिक नाटक रणजित मल्ल ने लिखे। इनके बनाए १७ नाटकों का पता अब तक लगा है। काठमांडू में सबसे प्रसिद्ध नाटककार वंशमणि झा हुए। पाटन में सबसे बड़े कवि और नाटककार सिद्धनरसिंह देव (१६२०–१६५७) हुए।

नेपाली नाटकों की परंपरा १७६८ ईसवी में नष्ट हो गई जब महाराज पृथ्वीनारायण शाह ने वहाँ के मल्ल राजाओं को हराकर गुरखों का राज्य स्थापित किया।

मध्यकाल—२ (१६००–१६६० ई०) मैथिली नाटक (मिथिला में) — नेपाल के राजदरबारों के गीतिनाट्यों की परंपरा के समान ही मिथिला में एक दूसरे प्रकार की नाट्य परंपरा बन रही थी जिसको कीर्तनिया नाटक कहते हैं।

कीर्तनिया नाटक का आरंभ प्रायः शिव या कृष्ण के चरित्र का कीर्तन करने से हुआ। परंतु वे धार्मिक नाटक नहीं होते थे। कीर्तनिया का अभिनय रात को होता था तथा इसका अपना विशेष संगीत हुआ करता था जिसे नादी कहते हैं।

कीर्तनिया नाटकों के आरंभ में भी केवल मैथिली गानों को संस्कृत नाटकों में रखा जाता था। ये गान संस्कृत श्लोकों या वाक्यों का अर्थमात्र ललित भाषा में स्पष्ट करते थे। हाँ, कभी कभी स्वतंत्र गान का भी उपयोग होता था। क्रमशः लगभग संपूर्ण नाटक मैथिली गानमय होने लगा।

कीर्तनिया नाटककारों को तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—१३५०–१७०० तक, १७००–१६०० तक, और १६००–१६५० तक।

पहले काल में विद्यापति का गोरक्षविजय, गोविंद कवि का नलचरितनाट, रामदास का आनंदविजय, देवानंद का उषाहरण, उमापति का पारिजातहरण और रमापति का रुक्मणी परिणय गिने जा सकते हैं। इसमें सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध उमापति उपाध्याय (१८ वीं शताब्दी) हुए।

दूसरे काल के मुख्य नाटककार हैं — लाल कवि, नंदीपति, गोकुलानंद, जयानद कान्हाराम, रत्नपाणि, भानुनाथ और हर्षनाथ। इनमें लाल कवि का गौरी स्वयंवर और हर्षनाथ का उषाहरण तथा माधवानंद अधिक प्रसिद्ध और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

तीसरे काल के लेखक विश्वनाथ झा, 'बालाजी,' चंदा झा, और राजपंडित बलदेव मिश्र हैं। इनके नाटकों में प्राचीन कवियों के गानों और पदों की ही पुनरुक्ति अधिक है, नाटकीय संघर्ष का नितांत अभाव है।

मध्यकाल-३ (१६००–१६६० ई०) मैथिली नाटक (असम में) सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में मैथिली नाटक का एक रूप असम मे भी विकसित हुआ, सुखन जिसे अंकिया-नाट कहते हैं। यह उपर्युक्त दोनों नाटकों की परंपराओं से भिन्न प्रकार का हुआ। इसमें लगभग संपूर्ण नाटक गद्यमय ही होता था। सूत्रधार पूरे नाटक में अभिनय करता था। अभिनय से अधिक वर्णनचमत्कार या पाठ की ओर ध्यान था। इन नाटकों का उद्देश्य मनोविनोद मात्र नहीं था, वरन् वैष्णव धर्म का प्रचार करना था। अधिकतर ये नाटक कृष्ण की वात्सल्यमय लीलाओं का वर्णन करते थे। इनमें एक से अधिक अंक नहीं होते थे।

अंकिया नाटककारों मे शंकरदेव (१४४६–१५५८), माधव देव और गोपाल देव के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमे सबसे प्रसिद्ध शंकर देव हुए। इनका रुक्मणीहरण नाटक असम में सबसे अधिक लोकप्रिय है।

मध्यकाल—४ (१६००–१८६०): गद्य साहित्य—इस काल के प्राचीन दानपत्र एवं पत्रों से मैथिली गद्य के स्वरूप का विकास जाना जा सकता है। इनसे उस समय के दास प्रथा संबंधी विषयों का पूर्ण ज्ञान होता है।

विद्यापति परंपरा के अतिरिक्त जो गीतिकाव्यकार हुए उनमें भजन कवि, लाल कवि, कर्ण श्याम प्रभृति मुख्य हैं। पद्य का एक नया विकास लंबे काव्य, महाकाव्य, चरित और सम्मर के रूप में हुआ

इनके लेखकों में कृष्णजन्म कर्ता मनबोध, नंदापति रतिपति और चक्रपाणि उल्लेखनीय हैं।

तीसरी धारा काव्यकर्ताओं की वह हुई जिसमें संतों ने (विशेष कर वैष्णव संतों ने) गीत लिखे। इनमे सबसे प्रसिद्ध साहब रामदास हुए। इनकी पदावली का रचनाकाल १७४६ ई० है।

आधुनिक काल (१८६०-१६६४) सन् १८६० ई० में मिथिला में आधुनिक जीवन का सूत्रपात हुआ। सिपाही विद्रोह से जो अराजकता छा गई थी वह दूर हुई। पश्चिमी शिक्षा का प्रचार होने लगा, रेल और तार का व्यवहार आरंभ हुआ, स्वायत्त शासन की सुविधा हुई तथा मुद्रणालयों की स्थापना होने लगी। इसी समय कतिपय साहित्यिक एवं सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई जो नव जागृति के कार्य को पूर्ण करने में संलग्न हुई। फलस्वरूप लोगों की अभिरुचि प्राचीन साहित्य के अन्वेषण और अध्ययन की ओर गई और नवीन युग के अनुरूप साहित्य की नींव पड़ी।

नवयुग के निर्माण में कवीश्वर चंदा झा (मृत्यु १६०७ ई०) का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। इनके महाकाव्य 'रामायण' की रचना से मैथिली भाषा का गौरव ऊँचा हुआ।

आधुनिक युग गद्य का युग है। मैथिली समाचारपत्रों ने गद्य के विकास में महत्वपूर्ण सहायता दी। इसीलिये मैथिलहितसाधन, मिथिलामोद, मिथिलामिहिर और मिथिला के नाम मैथिली गद्य के इतिहास में अमर हैं। मैथिली लेखशैली की वैज्ञानिक पद्धति का निर्णय म० म० डॉ० श्री उमेश मिश्र, रमानाथ झा और वैयाकरणों के द्वारा (विशेषत: दीनबंधु झा द्वारा) हो जाने से आधुनिक गद्य का रूप परिपक्व हो गया है।

उपन्यास और कहानी आधुनिक युग की प्रमुख देन है। इन क्षेत्रों में पहले अनुवाद अधिक हुए, जिनमे परमेश्वर झा के सामंतिनी आख्यान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आरंभ में रासबिहारीलाल दास, अनार्दन झा, भोला झा और पुण्यानंद झा की कृतियाँ प्रसिद्ध हुईं। इधर आकर हरिमोहन झा ने 'कन्यादान' और 'द्विरागमन' में मैथिली उपन्यास को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। व्यंग्य, चामत्कारिक भाषा और सजीव चित्रण इनकी विशेषताएँ हैं। 'सरोज यात्री', 'व्यास', झा प्रभृति गत दशक के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। इन्होंने सामाजिक जीवन के निकटतम पहलुओं को दिखलाने की चेष्टा की है।

गल्पलेखकों में 'विद्यासिंधु', 'सरोज', 'किरण', 'भुवन' आदि उल्लेखनीय कलाकार हैं (हरिमोहन झा हास्य रस की अत्यंत हृदयग्राही कहानियाँ लिखते हैं)। गंगानंद सिंह, नगेंद्रकुमार, मनमोहन, उमानाथ झा और उपेंद्रनाथ झा हमारे उच्च श्रेणी के कहानीकार हैं। रमाकर, शेखर, यात्री, और अमर कल्पनाशील कहानियाँ लिखते हैं।

निबंध के स्वरूप आदि में देशोन्नति की भावना व्याप्त है। गंगानंद सिंह, भुवन जी, उमेश मिश्र प्रभृति गंभीर लेख लिखते हैं। भाषा और साहित्य पर लिखनेवालों में दीनबंधु झा, डॉ० सुभद्र झा, गंगापति सिंह, नरेंद्रनाथ दास प्रभृति अग्रगण्य हैं। दार्शनिक गद्य क्षेमधारी सिंह, डॉ० सर गंगानाथ झा आदि ने लिखा है।

आधुनिक मैथिली काव्य की दो मुख्य धाराएँ हैं, एक प्राचीनतावादी और दूसरी नवीनतावादी। प्राचीनतावादी कवि महाकाव्य, खंडकाव्य, परंपरागत गीतिकाव्य, मुक्तक काव्य आदि लिखते हैं। इनमें मुख्य कवि चंदा झा, रघुनंदनदास, लालदास, बदरीनाथ झा, दत्तबंधु, गणनाथ झा, सीताराम झा, ऋद्धिनाथ झा, और जीवन झा हैं। *नवीन धारा में देशभक्ति का काव्य, आधुनिक गीतिकाव्य, वर्णनात्मक और हास्यात्मक काव्य गिनाए जा सकते हैं। इनमें मधुप और राघवाचार्य, भुवन, सुमन, मोहन और यात्री, एवं अमर तथा हरिमोहन झा उल्लेखनीय हैं।*

नाटक की पुरानी परंपराएँ समाप्त हो गई हैं और जीवन झा ने प्रचुर आधुनिक तत्व का समावेश कर नवीन नाटक की नींव डाली है। आनंद झा और ईशनाथ झा के नाटकों का स्थान आधुनिक काल में महत्वपूर्ण है। इधर एकांकी नाटकों का विशेष प्रचार हुआ है। इनके लेखकों में तंत्रनाथ झा और हरिमोहन झा के नाम प्रमुख हैं।

[ज० का० मि०]

मैथिलीशरण गुप्त जन्म चिरगाँव, झाँसी में संवत् १६४३ में। (मृत्यु २०२१ सं०) पिता सेठ रामचरण थे। छोटे भाई सियारामशरण गुप्त थे। तीन और भाई थे, जो व्यापार में लगे रहे। पिता कविताप्रेमी और भगवद्भक्त थे; उन्हीं से यह उत्तराधिकार गुप्त जी को मिला। शिक्षा दीक्षा घर पर ही हुई।

गुप्त जी की प्रारंभिक रचनाएँ कलकत्ता के पत्र 'जातीय' में प्रकाशित हुई। बाद में आपकी कविताएँ नियमित रूप से 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं और 'सरस्वती' के संपादक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, का बहुत प्रभाव आपकी भाषा और रचनाशैली पर पड़ा।

आपके मौलिक काव्य ग्रंथों में 'जयद्रथ वध' 'भारत भारती', पंचवटी', 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'नहुष' 'मंगल घट', 'जय भारत', आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। अनुवादों मे 'विरहिणी व्रजांगना', 'मेघनाद वध', 'पलासी का युद्ध', 'स्वप्न वासवदत्ता', आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। गुप्त जी के 'साकेत' पर हिंदी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। गुप्त जी को प्रयाग विश्वविद्यालय ने डॉक्टर की सम्मानित उपाधि प्रदान की। वे राज्यसभा के सदस्य थे और असंख्य हिंदीप्रेमियों ने उन्हें राष्ट्र कवि की उपाधि से विभूषित किया।

गुप्त जी के काव्य के दो प्रेरणास्रोत हैं: देशभक्ति और भगवद्भक्ति। 'भारत भारती' का राष्ट्रीय गाथाओं मे प्रमुख स्थान है। प्राचीन गाथाओं को आपने सरस प्रेरणा से अभिनव रूप प्रदान किया। आपके काव्य में सहज माधुरी और विशदता के गुण प्रधान हैं।

गुप्त जी भारतेंदु के समान हिंदी कविता के इतिहास में एक नए युग के प्रवर्तक हैं। इस युग को द्विवेदी युग की संज्ञा दी गई है। द्विवेदी युग में खड़ी बोली साहित्य की भाषा बनी और हिंदी कविता ने अभिनव रूप धारण किया। रीतिकाल की परंपरा को दृढ़तापूर्वक त्याग कर वह आधुनिक जीवन के समीप आ गई।

मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में सहज मिठास और सादगी है। आपकी अनुभूतियाँ जनजीवन का स्पर्श कर द्रवित होती हैं। आपके अनेक सद्वचन हिंदी पाठकों की स्मृति में घर बना चुके हैं। आपकी

महावीरप्रसाद द्विवेदी (देखें पृष्ठ २१०–११)

मैथिलीशरण गुप्त (देखें पृष्ठ ४१६–१७)

भारत के कुछ राज्य
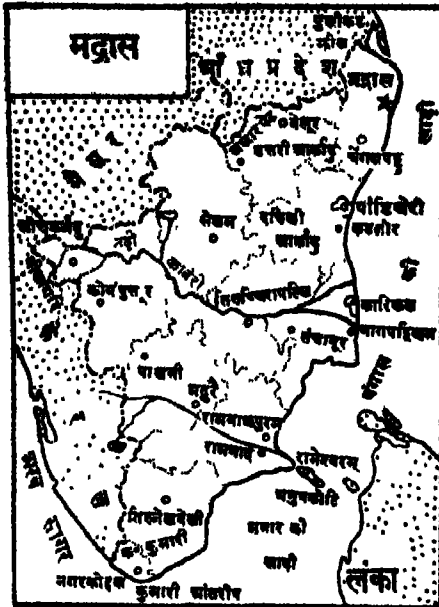
(देखें पृष्ठ १३२)
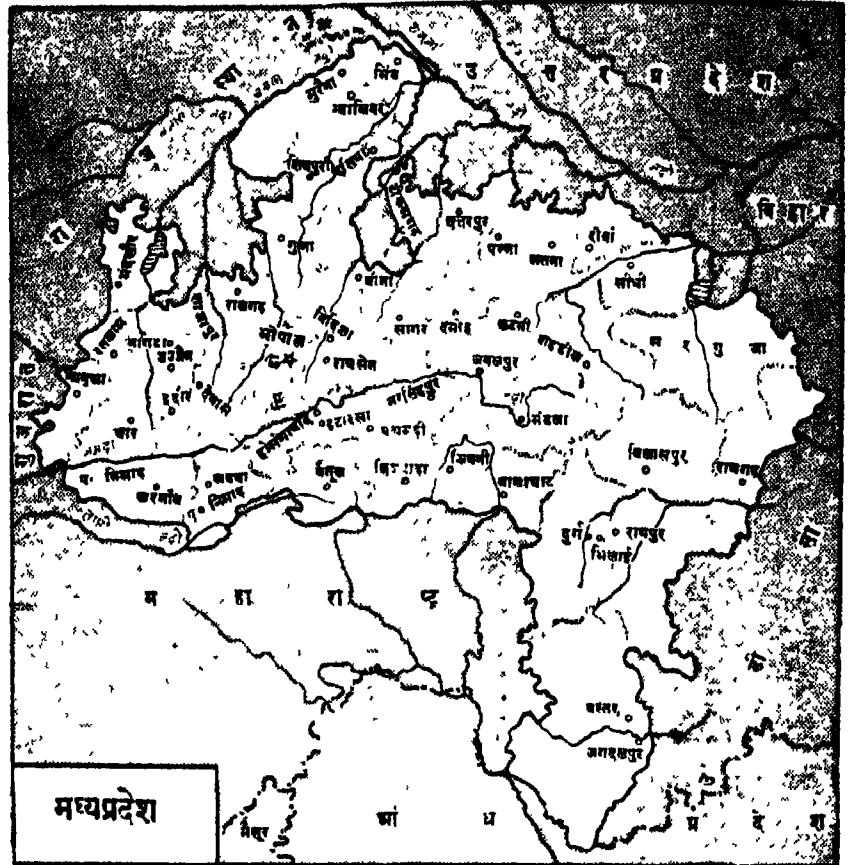
(देखें पृष्ठ १३७)
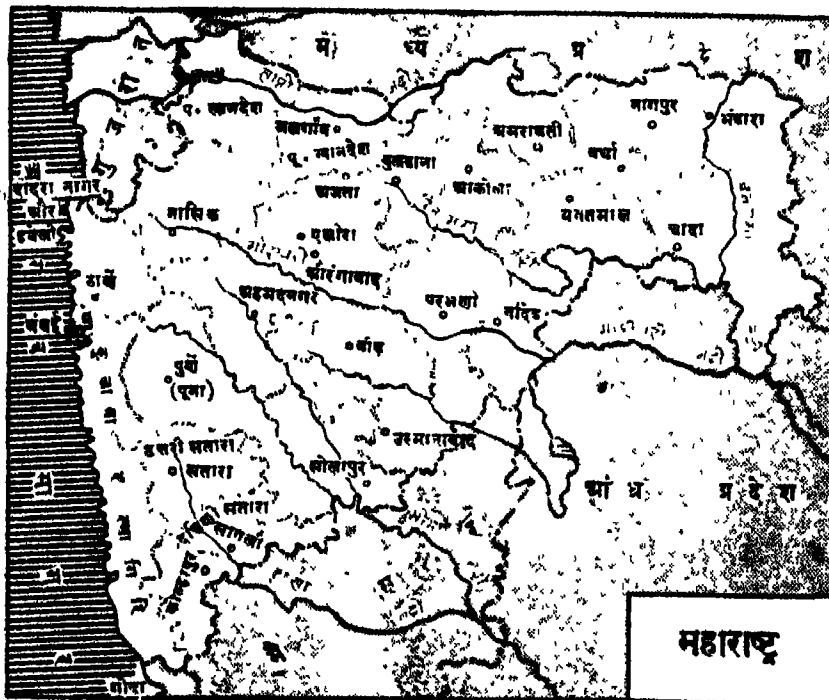
(देखें पृष्ठ २०७)
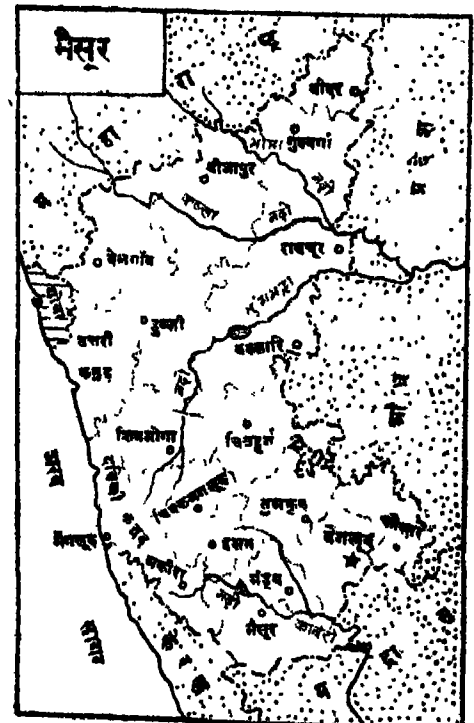
(देखें पृष्ठ ४१९)

पुष्ट राष्ट्रीय विचारधारा ने हमारे स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास को बल दिया। गुप्त जी अपनी सरलता, निश्छलता, सहज देशप्रेम और वैष्णव वृत्तियों के कारण राष्ट्रीय जीवन के साहित्यिक प्रतीक बन गए थे। [प्र० म० गु०]

मैनपुरी १. जिला, स्थिति : २७° १८' उ० अ० तथा ७९° ४' पू० दे०। यह भारत में उत्तर प्रदेश राज्य का एक जिला है। इसके उत्तर-पूर्व में फर्रुखाबाद, दक्षिण-पूर्व में इटावा, दक्षिण-पश्चिम में आगरा तथा उत्तर-पश्चिम में एटा जिले स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल १,६८० वर्ग मील तथा जनसंख्या ११,८०,८६४ (१९६१) है। यह एक मैदानी भाग है। इसकी दक्षिणी सीमा पर यमुना नदी बहती है। अन्य नदियों में सिरसा, सेंगर, अरिंद, इसान तथा काली नदियाँ हैं। ऊसर भूमि भी बड़े परिमाण में पाई जाती है। मिट्टी जलोढ़ है। यहाँ की जलवायु दोआब जैसी ही है। वर्षा का वार्षिक औसत लगभग ३१ इंच है। यहाँ पर ग्रामों के कुंज तथा बबूलों की अधिकता है। कृषि में गेहूँ, ज्वार, जौ, बाजरा, चना, तथा कपास की कृषि की जाती है। गंगा की दो प्रमुख सहायक नदियों से इसकी सिंचाई होती है। शिकोहाबाद, सिरसागंज, मैनपुरी, करहल तथा भोगाँव प्रमुख नगर हैं। शिकोहाबाद में काच का काम तथा कपास ओटने का काम होता है।

२. नगर, स्थिति : २७° १४' उ० अ० तथा ७९° ३' पू० दे०। मैनपुरी जिले के मध्य में, इसान नदी के दक्षिण में यह नगर स्थित है। यह जिले के शासन का प्रमुख केंद्र है। यहाँ से पक्की सड़कें आगरा, इटावा, एटा तथा फतेहगढ़ को जाती हैं। इसमें आगरा मार्ग के उत्तर में स्थित मुहम्मदगंज तथा दक्षिण में स्थित मैनपुरी कस्बे संमिलित हैं। यहाँ राजा का एक किला है। नगर के मध्य से ग्रैंड ट्रंक मार्ग जाता है, जिसके दोनों ओर बाजार स्थित हैं। यहाँ अनाज की मंडी है। कपास ओटने का कार्य भी यहाँ अधिक होता है। इसकी जनसंख्या ३३,६१० (१९६१) है। [र० च० दु०]

मैना (Myna) शाखाशायी गण के स्टर्नीडी (Sturnidae) कुल का पक्षी है, जो कत्थई, भूरा, सिलेटी, या चितला होता है। यह पहाड़ी मैनाओं से भिन्न पक्षी है, जो जंगलों की अपेक्षा बस्ती के बागों और जलाशयों के किनारे रहना अधिक पसंद करता है। यह सर्व-

देसी मैना
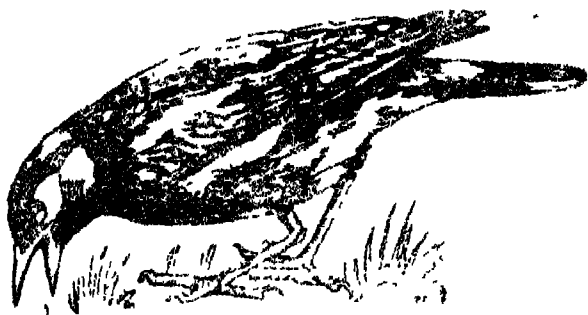
भक्षी पक्षी है, जो कद में फाखता के बराबर होता है। कुछ मैना पक्षी अपनी मीठी बोली के लिये प्रसिद्ध हैं। निम्नलिखित पाँच मैना बहुत प्रसिद्ध हैं :

१ तेलियर, या स्टार्लिंग (Starling) — इसे अपनी मीठी बोली के कारण अंग्रेजी साहित्य में वही स्थान प्राप्त है, जो हमारे यहाँ पहाड़ी मैना को है।

२. किलहँटा, या देसी मैना (Common myna) — बस्ती भाग में रहनेवाला यह बहुत प्रसिद्ध पक्षी है।

३ चही, या हरिया मैना (Bank Myna) — यह जलाशयों और गाय बैलों के आस पास रहनेवाला पक्षी है।

४ अबलखा मैना — काली और सफेद पोशाकवाला पक्षी है।

५ पवई (Black-head Myna) — यह बहुत मीठी बोली बोलनेवाला पक्षी है।

पहाड़ी मैना, सारिका (The Grackle) — यह शाखाशायी गण के ग्रेकुलिडी (Graculidae) कुल का प्रसिद्ध पक्षी है, जो अपनी मीठी बोली के कारण शौकीनों द्वारा पिंजड़ों में पाला जाता है। अंग्रेजी साहित्य में स्टार्लिंग को जो स्थान प्राप्त है, वही इस मैना को हमारे साहित्य में मिला है।

यह गिरोह में रहनेवाला पक्षी है, जो हमारा देश छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाता। इसकी कई जातियाँ भारत में पाई जाती हैं, जिनमें थोड़ा ही भेद रहता है।

इसका सारा शरीर चमकीला काला रहता है, जिसमें बैंगनी और हरी झलक रहती है। डैने पर एक सफेद चित्ता रहता है और आँखों के पीछे से गुद्दी तक फीते की तरह पीली खाल बढ़ी रहती है।

इसका मुख्य भोजन तो फल फूल और कीड़े मकोड़े हैं, लेकिन यह फूलों का रस भी खूब पीती है। मादा फरवरी से मई के बीच में दो-तीन ताजछौंह हरे रंग के अंडे देती है। [सु० सि०]

मैनिटोबा १. प्रांत, स्थिति : ४९° से ६०° उ० अ० तथा ९५° से १०२° प० दे०। यह कैनाडा के तीन प्रेयरी प्रांतों में एक है। यह दक्षिणी कैनाडा के बीच में एवं उत्तरी अमरीका महाद्वीप के ठीक मध्य में स्थित है। सन् १८७० में यह कैनाडा का एक प्रांत बना। इसका क्षेत्रफल २,५१,००० वर्ग मील है, जिसमें से २६,२२५ वर्ग मील झीलों के अंतर्गत है। यहाँ की तीन झीलें प्रमुख हैं : विनीपेग, मैनिटोबा और विनीपेगोसिस। इस राज्य के पश्चिम में अल्बर्टा, उत्तर में उत्तरी प्रांत, उत्तर-पूर्व में हडसन की खाड़ी, पूर्व में ऑन्टेरियो और दक्षिण में संयुक्त राज्य का उत्तरी डैकोटा राज्य स्थित है। राज्य की जलवायु महाद्वीपीय है। वर्षा का वार्षिक औसत २५ इंच है, वर्षा का अधिकांश गरमी में प्राप्त होता है। नवंबर से मार्च तक भूमि प्राय: हिमाच्छादित रहती है।

दक्षिणी मैनिटोबा में गेहूँ, जौ, जई और आलू पैदा किया जाता है। उत्तरी भाग में खनिज पदार्थ निकाले जाते हैं, जिनमें ताँबा, सोना, जस्ता और चाँदी प्रमुख हैं। राज्य का ४५% भाग जंगलों से ढँका है, जिनसे उपयोगी लकड़ी प्राप्त होती है। लोहा एवं इस्पात

बनाना और पेट्रोलियम निकालना तथा साफ करना, यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। राज्य की जनसंख्या ९,२१,६८६ (१९६१) है। विनिपेग की जनसंख्या २,६५,४२९ (१९६१) है तथा यह प्रमुख शहर एवं राजधानी है।

२. झील, यह कैनाडा के मैनिटोबा राज्य में स्थित है। झील की औसत ऊँचाई समुद्र की सतह से ८१० फुट, औसत गहराई १२ फुट और क्षेत्रफल १,८१७ वर्ग मील है। इसका पानी लिटिल स्केचवान् नदी द्वारा विनिपेग झील में बहता है। [प्रे० शं० ति०]

मैमथ (Mammoth) का वैज्ञानिक नाम मैमुथस प्राइमिजीनियस (Mammuthus primigenius) है। यह साइबीरिया के टुंड्रा प्रदेश में बर्फ में दबे एक हाथी का नाम है, जो अब लुप्त (extinct) हो चुका है, परन्तु बर्फ के कारण जिसका संपूर्ण मृत शरीर आज भी सुरक्षित मिला है। अनुमान लगाया जाता है कि फ्रांस में यह जंतु हिम युग के अंत तक और साइबीरिया में संभवत: और आगे तक जीवित रहा होगा। मैमथ शब्द की उत्पत्ति साइबीरियाई (रूसी) भाषा के 'मैमंतु' शब्द से मानी जाती है, जिसका अभिप्राय भूमि के नीचे रहनेवाले जंतु से होता है। चूँकि इस हाथी का शरीर सदैव जमे हुए बर्फीले कीचड़ के नीचे ही पाया गया है, अत: उस देश के किसान मैमथ को एक प्रकार का बृहत् छछूँदर ही समझते थे।

फ्रांस की गुफाओं में पूर्व प्रस्तरयुगीन (Palaeolithic) शिकारी मानव ने उपर्युक्त हाथी के बहुत से चित्र बनाकर छोड़े हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यह जंतु पहले यूरोप (और संभवत: भारत और उत्तरी अमरीका, जहाँ उससे मिलते जुलते हाथियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं) में रहा करता था और हिम युग के समाप्त होने और बर्फों के पिघलने पर भोजन की खोज में उत्तर की ओर बढ़ा और वहाँ की दलदली भूमि में अपने भारी शरीर के कारण धँस गया तथा दलदल के साथ जम गया।

आकार में मैमथ वर्तमान हाथियों के ही बराबर होते थे, परंतु कई

मैमथ
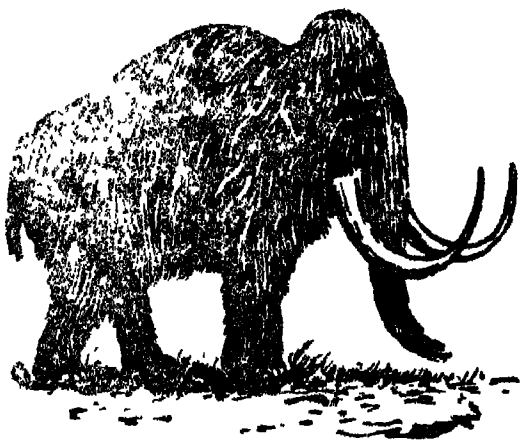
गुणों में उनसे भिन्न थे। उदाहरणार्थ वर्तमान हाथियों के प्रतिकूल मैमथ का शरीर भूरे और काले तथा कई स्थानों पर जमीन तक लंबे बालों से ढँका था, खोपड़ी छोटी और ऊँची, कान छोटे तथा मैमथ दंत (tusk) अत्यधिक (१४ फुट तक) लंबे (यद्यपि कमजोर) थे। मैमथ दंत की एक विशेषता यह भी थी कि वे सर्पिल (spiral) थे। मैमथ दंत इतनी अच्छी दशा में सुरक्षित हैं कि अब भी उद्योग में उनका उपयोग है और मध्यकालीन समय में तो साइबेरिया और चीन के बीच इनका अच्छा व्यापार भी था। सच तो यह है कि बर्फ में दबे रहने के कारण मैमथों का सारा शरीर ही इतनी अच्छी दशा में सुरक्षित मिला है कि न केवल उनका मांस खाने योग्य पाया गया वरन् उनके मुँह और आमाशय में पड़ा उस समय का भोजन भी अभी तक सुरक्षित मिला है। [कृ० चं० श्री०]

मैराकाइबो १. नगर, स्थिति : १०° ४७' उ० अ० तथा ७१° ५६' प० दे०। यह वेनिज़ीला का एक प्रमुख नगर एवं बंदरगाह है तथा सूलिया राज्य की राजधानी है। यह मैराकाइबो झील और वेनिज़्वीला की खाड़ी को मिलानेवाली धारा के पश्चिमी तट पर स्थित है। यह वेनिज़्वीला का दूसरा सबसे बड़ा शहर है एवं देश के पेट्रोलियम उद्योग का प्रमुख वितरण केंद्र है। समीपवर्ती क्षेत्र में खनिज तेल के विकास के साथ ही इस नगर का महत्व दिनोंदिन बढ़ रहा है। जलयान उद्योग, चमड़ा, अनाज और रस्सी का सामान बनाना यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। प्रमुख निर्यात खनिज तेल, कहवा और चमड़े का सामान हैं। नगर शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र है। सूलिया विश्वविद्यालय यहीं स्थित है। यहाँ की जनसंख्या ४,२१,८८६ (१९६१) है।

२. झील, यह वेनिज़्वीला के उत्तर पश्चिम भाग में स्थित है और एक सँकरे मार्ग द्वारा वेनिज़्वीला की खाड़ी से संयुक्त है। लंबाई (उत्तर दक्षिण) १०० मील और चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) ७५ मील है। किनारे पर उष्ण मरुभूमि है, जिसके पीछे ऊँचे पहाड़ हैं। समीपवर्ती क्षेत्र खनिज तेल के लिये विश्व के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में एक है। झील की औसत गहराई २० फुट है। यह बड़े जहाजों के लिये भी नाव्य है। सबसे महत्वपूर्ण बंदरगाह मैराकाइबो है। [प्रे० शं० ति०]

मैराता कार्लो (१६२५-१७१३) रोमन चित्र शैली के प्रसिद्ध इतालीय चित्रकार, जन्म कैमरानो में १६२५ ई० में हुआ। रोम में ही कलाशिक्षा ग्रहण की। रैफेल के चित्रों का वह परम प्रशंसक रहा। उसके चित्रों को सुधारने का कार्य इसे ही सौंपा गया था। चित्रकार काराक्की की शैली से प्रभावित होकर रैफेल की चित्रण पद्धति से समन्वय कर इसने अपनी निजी चित्र शैली का निर्माण किया। प्रचलित अनेक चित्र शैलियों के चित्रकारों ने इस शैली का विरोध किया। रोम के छह प्रसिद्ध पापों द्वारा इसे हमेशा ही सहायता मिली। यह पोप तथा राजा चौदहवें लुई से बार बार संमान पाता रहा।

[भा० स०]

मैराथन दौड़ २६ मील ३८५ गज या ४२,१९५ मीटर दूरी तय करनेवाली दौड़ है। यह दौड़ पक्की सड़कों पर दौड़ी जाती है, पर खिलाड़ियों के मैदान में भी यह दौड़ हो सकती है। किंतु शर्त यह है कि पथ में घास न हो। प्रत्येक प्रतियोगी को दौड़ में संमिलित होने के लिये शारीरिक योग्यता का डाक्टरी प्रमाणपत्र देना पड़ता है। दौड़ के समय प्रतियोगियों को उनके द्वारा तय की गई और तय की जानेवाली दूरियाँ मीटर और मील में बतलाई जाती हैं। १५ किलोमीटर, या

१० मील दौड़ने के उपरांत प्रतियोगियों को दौड़ के प्रबंधक की ओर से जलपान दिया जाता है। पूर्व सूचना होने पर प्रतियोगी की रुचि के अनुसार जलपान देने का भी प्रबंध रहता है। १५ किलोमीटर दौड़ने के पश्चात् प्रत्येक पाँच किलोमीटर पर जलपान देने का प्रबंध रहता है। प्रतियोगी अपने सुविधानुसार वस्त्र एवं जूते धारण करता है।

पिस्तौल की आवाज पर प्रतियोगिता आरंभ होती है। प्रतियोगियों को कुछ आगे झुककर लंबे डग से दूरी पूरी करनी चाहिए। इस दौड़ की देख रेख करने के लिये समय लेखक, चिकित्साधिकारी प्राप्त प्रबंधक को मार्ग में सहयोग प्रदान करने वाले व्यक्ति, दौड़ प्रारंभ करानेवाला तथा फैसले का समय रखनेवाला समयनिर्णायक आदि लोग रहते हैं।

ईसा से ४९० वर्ष पूर्व मैराथन से ऐथेंस तक (२२ मील, १४७० गज) विजय की सूचना लेकर आनेवाले यूनानी धावक, फाइडिप्पीडीज (Pheidippides) की सफलता के उपलक्ष्य में यह प्रतियोगिता प्रति वर्ष की जाती है। १८९६ ई० की ओलिंपिक प्रतियोगिता में पहली बार इस दौड़ का प्रबंध किया गया था। [भा० सि० गौ०]

मैलेसन्, कर्नल जी० बी० आपका जन्म ८ मई सन् १८२५ ई० को लंदन में हुआ था। आपकी शिक्षा विन्चेस्टर तथा विंचेस्टर कालेज में हुई। आपको ११ जून सन् १८४२ ई० में जनरल आर्कलैंड की कृपा से सेना में कमीशन मिल गया। शीघ्र ही आप २८ सितंबर को लेफ्टिनेंट बने। फिर आपकी नियुक्ति कमिसेरियट विभाग में हुई। बर्मा के दूसरे युद्ध में आपने भाग लिया। २९ मार्च सन् १८५६ में आप असिस्टेंट मिलिटरी ऑडिटर जनरल बने तथा सिपाही विद्रोह के काल में आप मिलिटरी एकाउंट्स से संबंधित रहे। आपने सन् १८५७ ई० में सिपाही विद्रोह पर एक पुस्तक लिखी जिसपर किसी लेखक का नाम नहीं था। इसे 'लाल पत्रिका' के नाम से पुकारा गया। आपने लार्ड डलहौजी की नीति को ही दोषी ठहराया तथा अवध के अपहरण की तीव्र आलोचना की। १६ अक्टूबर सन् १८६१ ई० में आप कैप्टन बने तथा १८ फरवरी १८६३ को मेजर। ११ जून १८६८ में आप लेफ्टिनेंट कर्नल तथा ११ जून १८७३ में कर्नल नियुक्त हुए। सन् १८६६ ई० में आप बंगाल के सैनिटरी कमिश्नर तथा सन् १८६८ में कंट्रोलर ऑव मिलिटरी फाइनेंस बने। सन् १८६९ में लार्ड मेयो ने आपको मैसूर के कुमार महाराज के संरक्षक का पद दिया। आप इस पद पर १ अप्रैल सन् १८७७ ई० तक रहे। ३१ मई सन् १८७२ ई० में आपको सी० एस० आई० की उपाधि से विभूषित किया गया। १ मार्च सन् १८९८ ई० में आपकी मृत्यु हो गई। पदोन्मुक्त होते ही आपने अपने को साहित्य सेवा में लगा दिया तथा भारत के सैनिक इतिहास पर आप विशेष रूप से लिखते रहे। आपने मध्य एशिया में रूस की प्रगति की ओर विशेष रूप से लोगों का ध्यान आकर्षित किया। [जि० ना० वा०]

मैल्कम, सर जॉन् आप एक कुशल योद्धा, कूटनीतिज्ञ तथा नीतिमान प्रशासक थे। आपका जन्म स्काटलैंड में सन् १७६९ ई० में हुआ। १२ वर्ष की अवस्था से ही आप सेना में प्रविष्ट हुए थे। आपने फारसी भाषा और इतिहास का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। प्रारंभ में एक फारसी दुभाषिये का कामकर आप मद्रास के कमांडर-इन-चीफ के सैनिक सचिव बने। सन् १७९८ में आपको निजाम राज्य स्थित दूत के सहायक का पद मिला। वहाँ आपने फ्रांसीसी सैनिकों को सेवामुक्त करने का दुस्तर कार्य सपादित किया। लार्ड वेलजली ने तब इन्हें अपना राजनीतिक सहायक नियुक्त किया तथा साथ ही निजाम राज्य की अंग्रेजी सेना का प्रधान भी। श्रीरंगपट्टन के पतन में आपने जनरल हैरिस तथा आर्थर वेलजली का बड़ा साथ दिया। मैसूर विभाजन में आपने सर टामस मनरो के साथ काम कर बड़ी ख्याति पाई। शीघ्र ही राजदूत की हैसियत से आपने दौलत राव सिंधिया के साथ संधि की। आपको तीन बार फारस भेजा गया, पर आंशिक सफलता तीसरी बार ही मिली। फारस से लौटकर आपने फारस का इतिहास पूरा किया। आक्सफर्ड विश्वविद्यालय ने आपको डाक्टर ऑव सिविल लाज की उपाधि से सम्मानित किया। लार्ड हेस्टिंग्स ने आपको मध्यभारत में शांति स्थापित करने को भेजा। आपने होलकर को महीदपुर में हराकर विद्रोही पेशवा से आत्मसमर्पण करवाया। शीघ्र ही आपने पिंडारियों आदि का दमन किया। अपने गुणों के कारण आप बड़े लोकप्रिय हो गए। सन् १८२७ ई० में आप तीन साल के लिये बंबई के गवरनर बनाए गए। इस तरह आपने भारत में कुल ४७ वर्ष कार्य किया और स्वदेश लौटने के तीन वर्ष बाद आपकी सन् १८३३ इसवी में मृत्यु हो गई। [जि० ना० वा०]

मैसूर १. राज्य, स्थिति : ११° ३५' से १८° २८' उ० अ० तथा ७४° १०' से ७८° ३५' पू० दे०। यह दक्षिणी भारत का एक राज्य है, जिसका पुनर्गठन सन् १९५६ में भाषा के आधार पर किया गया था। इसके परिणामस्वरूप कन्नड़ भाषी क्षेत्रों को इसमें मिला दिया गया है। इसका क्षेत्रफल ७४,२१० वर्ग मील है। इसके उत्तर में महाराष्ट्र, पूर्व में आंध्र प्रदेश, दक्षिण में केरल और मद्रास एवं पश्चिम में गोआ एवं अरब सागर हैं।

धरातल एवं प्राकृतिक बनावट — मैसूर राज्य का धरातल ऊँचा नीचा एवं पठारी है। समुद्रतल से ऊँचाई लगभग २,००० फुट है। प्राकृतिक बनावट के आधार पर इस दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) पश्चिम का तटीय मैदान और (२) दक्षिणी दकन प्रदेश। तटीय मैदान मालाबार तट का उत्तरी भाग है, जिसकी चौड़ाई बहुत कम है। इसके पश्चिम में सह्याद्रि पर्वत की पहाड़ियाँ हैं, जिनसे छोटी छोटी द्रुतगामिनी नदियाँ निकलकर अरबसागर में विलीन हो जाती हैं। तट के किनारे समुद्र की लहरों के बाँध भी दृष्टिगत होते हैं। पूर्वी भाग उच्च पहाड़ों एवं पठारी प्रदेश है। मैसूर के मध्य में, उत्तर से दक्षिण, पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ हैं। इसके पूर्व में प्राचीन चट्टानों से निर्मित दकन का भाग है। उत्तर-पूर्व में कृष्णा, तुंगभद्रा एवं भीमा नदियों का समतल उच्च मैदान है।

जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति — यहाँ का ताप साधारणतया ऊँचा रहता है। औसत ताप २७° सें० है। तापांतर आंतरिक भाग में अधिक रहता है। वर्षा पश्चिमी घाट के पश्चिम में अधिक (३७५ सेंमी० से अधिक) एवं पूर्व के वृष्टिछाया प्रदेश में कम (५० सेंमी० से भी कम) होती है। अधिकांशतः वर्षा दक्षिण-पूर्वी मानसून से होती है। यहाँ की प्राकृतिक वनस्पति सदाबहार के जंगल है, जिनसे सागौन, चंदन, रोजवुड आदि की लकड़ी प्राप्त होती है। वनाच्छादित क्षेत्र १२,००० वर्ग मील है, जो संपूर्ण क्षेत्र का १७ प्रति शत है।

कृषि — ५३·५ प्रति शत क्षेत्र में खेती होती है तथा ७१·२% जनसंख्या कृषि कार्य में लगी हुई है। मुख्य उपजें धान, ज्वार, गेहूँ, बाजरा, मूँगफली, कपास आदि हैं। बागाती खेती में कहवा, चाय तथा रबर का उत्पादन होता है। पशुपालन भी महत्वपूर्ण है। मैसूर राज्य में लगभग १० लाख रुपये के मूल्य की मछलियाँ प्रति वर्ष पकड़ी जाती हैं। तुंगभद्रा एवं घाटप्रभा आदि १४ बहुउद्देशीय सिंचाई योजनाएँ चली आ रही हैं।

खनिज पदार्थ — सोना हट्टी एवं कोलार श्रेणियों में, बेंगलूर एवं चिक्कमगलूर में ऐस्बेस्टस तथा लोहा और मैंगनीज, ताँबा, बाक्साइट, गंधक आदि, अन्य क्षेत्रों में मिलते हैं। कोयला एवं खनिज तेल का अभाव है, जिसकी पूर्ति जल विद्युत् से की जा रही है। यह अधिकांशतः शरावती, भद्रा एवं तुंगभद्रा जलविद्युत् योजनाओं से प्राप्त होती है।

उद्योग — रेशमी वस्त्र, चमड़े, आभूषण, टोकरी, रस्सी, चंदन, हाथीदाँत की वस्तुएँ आदि के कुटीर उद्योग तथा वस्त्र उद्योग बेंगलूर मैसूर, बल्लारि आदि में, लोहे एवं इस्पात का उद्योग भद्रावती में, सीमेंट शाहाबाद एवं भद्रावती में, दियासलाई शिवमोगा में, ऊनी एवं रेशमी वस्त्र बेंगलूर एवं मैसूर में, कागज भद्रावती में तथा टेलीफोन, हवाई जहाज आदि, के उद्योग बेंगलूर में हैं।

यातायात — सड़कों की लंबाई ४३,६०० किमी० एवं रेलमार्ग की लंबाई २,६८४ किमी० है। बेंगलूर बड़ा जंक्शन है तथा वायु यातायात का भी केंद्र है। मंगलूर तथा कारवार आदि प्रमुख बंदरगाह हैं।

जनसंख्या — इसकी जनसंख्या २,३५,८६,७७२ (१९६१) है। जनसंख्या का घनत्व मैदान की ओर अधिक है। ७ प्रति शत जनसंख्या ग्रामीण है। एवं १,००० में २५४ ही शिक्षित हैं। बेंगलूर, मैसूर, कोलार, हुब्ली, धारवाड़, मंगलूर, बेलगाँव आदि मुख्य नगर हैं। बेंगलूर राज्य की राजधानी है।

दर्शनीय स्थान — जोग प्रपात, बेंगलूर में लाल बाग, रमन अनुसंधानशाला आदि, कावेरी प्रपात, श्री रंगपटनम में रंगनाथ स्वामी का मंदिर, मैसूर में वृंदावन बाग तथा अन्य कई स्थानों के मंदिर दर्शनीय हैं।

२. नगर : स्थिति १२° १९' उ० अ० एवं ७६° ३८' पू० दे०। मैसूर राज्य का एक प्रसिद्ध नगर है, इसकी जनसंख्या २,५३,८६५ (१९६१) है। मैसूर राज्य में इस नगर का जनसंख्या के दृष्टि से द्वितीय स्थान है। यह मैसूर जिले का शासनकेंद्र एवं दक्षिणी रेलमार्ग का प्रमुख स्टेशन है। नगर अति सुंदर एवं स्वच्छ है, जिसमें रंग बिरंगे पुष्पों से युक्त बाग बगीचों की भरमार है। चामुंडी पहाड़ी पर स्थित होने के कारण प्राकृतिक छटा का आवास बना हुआ है। भूतपूर्व महाराजा का महल, विशाल चिड़ियाघर, नगर के समीप ही कृष्णराजसागर बाँध, वृंदावन वाटिका, चामुंडी की पहाड़ी तथा सोमनाथपुर का मंदिर आदि दर्शनीय स्थान हैं। इन्हीं आकर्षणों के कारण इसे पर्यटकों का स्वर्ग कहते हैं। यहाँ पर सूती एवं रेशमी कपड़े, चंदन का साबुन, बटन, बेंत एवं अन्य कलात्मक वस्तुएँ भी तैयार की जाती हैं। यहाँ प्रसिद्ध मैसूर विश्वविद्यालय भी है।

[सु० चं० श०]

मैसूर (इतिहास) — मैसूर का प्रामाणिक इतिहास भारत पर सिकंदर के आक्रमण (३२७ ई० पू०) के बाद से प्राप्त होता है। उस तूफान के पश्चात् ही मैसूर के उत्तरी भाग पर सातवाहन वंश का अधिकार हुआ था, और यह अधिकार द्वितीय शती ईसवी तक चला। मैसूर के ये राजा सातकर्णी कहलाते थे। इसके बाद उत्तर पश्चिमी क्षेत्र पर कदंब वंश का और उत्तर पूर्वी भाग पर पल्लवों का शासन हुआ। कदंबों की राजधानी बनवासी में तथा पल्लवों की कांची में थी। इसी बीच उत्तर से इक्ष्वाकु वंश के दो गंग राजाओं ददिग तथा माधव ने मैसूर के अन्य भागों पर अधिकार कर लिया (दूसरी शती के अंत में)। इस गंग वंश के सातवें राजा दुर्विनीत ने पल्लवों से कुछ अंश छीनकर अपने अधिकार में कर लिए। आठवें शासक श्रीपुरुष ने पल्लवों को हराकर 'परमनदि' की उपाधि धारण की, जो गंग वंश के परवर्ती शासकों की भी उपाधि कायम रही।

उत्तर पश्चिमी क्षेत्र पर पाँचवीं शती में चालुक्यों ने आक्रमण किया। छठी शती में चालुक्य नरेश पुलिकेशिन ने पल्लवों से वातापि (बादामी) छीन लिया और वहाँ राजधानी स्थापित की। आठवीं शती के अंत में राष्ट्रकूट वंश के ध्रुव या धारावर्ष नामक राजा ने पल्लव नरेश से कर वसूल किया और गंग वंश के राजा को भी कैद कर लिया। बाद में गंग राजा मुक्त कर दिया गया। राचमल (लगभग ८२० ई०) के बाद गंग वंश का प्रभाव पुनः बढ़ने लगा। सन् १००४ में चोलनरेश राजेंद्र चोल ने गंगों को हराकर दक्षिण तथा पूर्वी हिस्से पर अपना अधिकार कर लिया।

मैसूर के शेष भाग याने उत्तर तथा पश्चिमी क्षेत्र पर पश्चिमी चालुक्यों का अधिकार रहा। इनमें विक्रमादित्य बहुत प्रसिद्ध था, जिसने १०७६ से ११२६ तक शासन किया। ११५५ में चालुक्यों का स्थान कलचुरियों ने ले लिया। इनकी सत्ता ११८३ तक ही कायम रही।

गंग वंश की समाप्ति पर पोयसल या होयसाल वंश का अधिकार स्थापित हो गया। ये अपने को यादव या चंद्रवंशी कहते थे। इनमें बिट्टिदेव अधिक प्रसिद्ध था जिसने ११०४ से ११४१ तक शासन किया। १११६ में तलकाद पर कब्जा करने के बाद इसने मैसूर से चोलों को निकाल बाहर किया। सन् १३४३ में इस वंश का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

सन् १३३६ में तुंगभद्रा के पास विजयनगर नामक एक हिंदू राज्य उभरा। इसके संस्थापक हरिहर तथा बुक्क थे। इसके आठ राजाओं ने १४७९ तक राज्य किया। इसके बाद नरसिंग नामक सेनापति ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसकी मृत्यु के बाद उसके तीन पुत्रों, नरसिंह, कृष्णराय तथा अच्युतराय, ने बारी बारी से राजसत्ता सँभाली। सन् १५६५ में बीजापुर, गोलकुंडा आदि मुसलिम राज्यों के सम्मिलित आक्रमण से तालीकोटा की लड़ाई में विजयनगर राज्य का अंत हो गया।

१८वीं शती में मैसूर पर मुसलमान शासक हैदरअली की पताका फहराई। सन् १७८२ में उसकी मृत्यु के बाद १७९९ तक उसका पुत्र टीपू सुल्तान शासक रहा। इन दोनों ने अंग्रेजों से अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। श्रीरंगपट्टम् के युद्ध में टीपू सुल्तान की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् मैसूर के भाग्यनिर्णय का अधिकार अंग्रेजों ने अपने

हाथ में ले लिया। किंतु राजनीतिक स्थिति निरंतर उलझी हुई बनी रही, इसलिये १८३१ में हिंदू राजा को गद्दी से उतारकर वहाँ अंग्रेज कमिश्नर नियुक्त हुआ। १८८१ में हिंदू राजा चामराजेंद्र गद्दी पर बैठे। १८९४ मे कलकत्ते में इनका देहावसान हो गया। महारानी के संरक्षण में उनके बड़े पुत्र राजा बने और १९०२ मे शासन संबंधी पूरे अधिकार उन्हें सौंप दिए गए। भारत के स्वतंत्र होने पर मैसूर नाम का एक पृथक् राज्य बना दिया गया जिसमें आस पास के भी कुछ क्षेत्र संमिलित कर दिए गए।

मैसोलिनो दा पेनिकेल (१३८३-१४४१) फ्लोरेंस के समीप पेनिकेल दी वाल्देसा में इस कलाकार का जन्म हुआ। फिनो इनके पिता थे। शुरू में ही वह पुनर्जागरण के पूर्वकाल के श्रेष्ठ चित्रकार माने जाने लगे। घात प्रभाव, प्रकाश और छायानुसार सुसंवादी रंगों की रचना, अभिनय और मुखाकृति के भावों से अनुमान किया जाता है कि इन्होंने ट्रेसेरिस्ट से शिक्षा ग्रहण की थी। कुइर्वाल्टिग, कारमाइन, सान क्लेमेंते के चर्चों की दीवारों पर इनकी कृतियाँ अंकित हुईं। रोम तथा फ्लोरेंटिन नगरों में और नेपुल्स के म्यूजियम में इनकी कृतियाँ सुरक्षित हैं। इनकी कला सत्यान्वेषण के कारण जिओत्ति की कला परंपरा से निसर्गवादी कला आंदोलन तक प्रगति करती रही। इनका मेधावी शिष्य चित्रकार मासासिओ अपनी कला में इनसे भी आगे निकल गया। इनकी कुछ कृतियों में मासासिओ के चित्रों का प्रभाव है। [मा० स०]

मोंताग्ना बार्तोलोमियो (Montagna Bartolomeo) इतालीय चित्रकार जो वेसेंजा अन्नाय के चित्रकार रूप में विख्यात है। इसका जन्म १४५० मे हुआ। वेनिस में जिओवेनी बेलीनी (Giovanni Bellini) तथा वितोरे कारपेच्चो (Vitore Carpaccio) के सान्निध्य मे अध्ययन किया। विसेंजा मे इसने एक चित्रकला के स्कूल की स्थापना की जिसने बड़े बड़े चित्रकारों को जन्म दिया। इसके प्रमुख चित्र हैं—ईसा और मरियम तथा मरियम संतों के साथ। इसकी मृत्यु १५२३ मे हुई। (गु० त्रि०)

मोंताने, जुआन मार्तिनेज (सन् १५८०-१६४९) इस स्पेनिश शिल्पकार का जन्म ग्रेनाडा विभाग के अलकाला-ला-रियल में हुआ। उसने पाब्लो दे रोकस से शिक्षा ग्रहण की। सुवर्ण मूर्तियों के भीतर की काष्ठ की कृतियाँ उसने ही बनाईं। उसके यथार्थवादी शिल्प का नमूना 'क्रूसिफिक्शन' सेविलि कैथीड्रल मे अब भी है। सान जान द बातिस्त, सान इग्नाश्यूस, सर फ्रांस बोर्ग्या आदि की मूर्तियाँ चर्चों मे तथा सेविलि युनिवर्सिटी मे हैं। कल्पना की अपेक्षा यथार्थ सादृश्य पर विश्वास कर निर्दोष शिल्पांकन के कारण उसकी कला लोकप्रिय हुई। उसकी मूर्तियों की अनुकृति करनेवाले काफी शिष्य उसके पास थे। कोई शिष्य मौलिकता के साथ आगे नहीं बढ़ सका। [मा० स०]

मोंतेकोर्विनो जिओवानी पिकोलि, (१२४७-१३२८ ई०) आपने इटली के मोंतेकोर्विना (Montecorvino) नामक स्थान मे एक उच्च कुल में जन्म लिया था। फ्रांसिस्की धर्मसंघ में प्रवेश कर आपने फारस तथा आरमीनिया में धर्मप्रचार का कार्य किया और बाद में आप चीन चले गए। वहाँ कई हजार नेस्तोरियन ईसाइयों को तथा कम से कम ५००० गैर ईसाइयों को रोमन काथलिक चर्च में संमिलित कर लिया। अंत में आप चीन के बिशप बने और वहाँ ३४ वर्ष तक काम करने के बाद आपकी मृत्यु हुई। [का० बु०]

मोकामा स्थिति : २५° २५' उ० अ० तथा ८५° ५३' पू० दे०। भारत में बिहार राज्य के पटना जिले में, गंगा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित एक नगर है, जो कलकत्ता से २८३ मील उत्तर-पूर्व तथा पटना से ५१ मील पूर्व, दक्षिण-पूर्व दिशा मे है। यह रेलमार्गों का एक प्रसिद्ध केंद्र है। मोकामा प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है, जहाँ धान, चना, गेहूँ, तिलहन, मक्का, चीनी और ज्वार बाजरा का व्यापार होता है। यहाँ गंगा नदी पर एक पुल भी बनाया गया है जिसके द्वारा यह सड़क एवं रेलमार्गों द्वारा प्रदेश एवं देश के अन्य भागों से संबद्ध है। मोकामा का प्रशासन नोटीफाइड एरिया कमेटी द्वारा होता है। इस नगर की जनसंख्या ३५,७४३ (१९६१) है। [रा० प्र० सि०]

मोक्ष भारतीय दर्शन में नश्वरता को दुःख का कारण माना गया है। संसार आवागमन, जन्म मरण और नश्वरता का केंद्र है। इस अविद्याकृत प्रपंच से मुक्ति पाना ही मोक्ष है। प्राय. सभी दार्शनिक प्रणालियों ने संसार के दुःख मय स्वभाव को स्वीकार किया है और इससे मुक्त होने के लिये कर्ममार्ग या ज्ञानमार्ग का रास्ता अपनाया है। मोक्ष इस तरह के जीवन की अंतिम परिणति है। इसे पारमार्थिक मूल्य मानकर जीवन के परम उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया गया है। मोक्ष को वस्तुसत्य के रूप मे स्वीकार करना कठिन है। फलत: सभी प्रणालियों मे मोक्ष की कल्पना प्राय. आत्मवादी है। अततोगत्वा यह एक वैयक्तिक अनुभूति ही सिद्ध हो पाता है। यद्यपि विभिन्न प्रणालियों ने अपनी अपनी ज्ञानमीमांसा के अनुसार मोक्ष की अलग अलग कल्पना की है, तथापि अज्ञान, दु:ख और मृत्यु से मुक्ति को सभी ने मोक्ष की स्थिति माना है। मोक्ष के भी दो रूप मिलते हैं। एक व्यक्ति अपने इसी जीवन में अज्ञान, मृत्यु, भय एवं दु:ख से मुक्त हो सकता है। इसे 'जीवनमुक्ति' कहेंगे। किंतु कुछ प्रणालियाँ, जिनमे न्याय वैशेषिक एवं विशिष्टाद्वैत उल्लेखनीय हैं, जीवनमुक्ति की संभावना को अस्वीकार करते हैं। दूसरे रूप को 'विदेहमुक्ति' कहते हैं। जिसके सुख दुःख के भावों का विनाश हो गया हो, वह देह त्यागने के बाद आवागमन के चक्र से सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है। उसे विदेहमुक्त कहेंगे। मोक्ष की यह परिकल्पित स्थिति प्राय. सभी प्रणालियों ने स्वीकार की है। मोक्ष की स्थिति प्राप्त करने के लिये मुमुक्षु को कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता है और निग्रहवादी मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। उपनिषदों में आनंद की स्थिति को ही मोक्ष की स्थिति कहा गया है, क्योंकि आनंद मे सारे द्वंद्वों का विलय हो जाता है। यह अद्वैतानुभूति की स्थिति है। इसी जीवन में इसे अनुभव किया जा सकता है। वेदांत में मुमुक्षु को श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन, ये तीन प्रकार की मानसिक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इस प्रक्रिया मे नानात्व, का, जो अविद्याकृत है, विनाश होता है, और आत्मा, जो ब्रह्मस्वरूप है, उसका साक्षात्कार होता है। मुमुक्षु 'तत्वमसि' से 'अहंब्रह्मास्मि' की ओर बढ़ता है। यहाँ आत्मसाक्षात्कार को ही मोक्ष माना गया है। वेदांत में यह स्थिति जीवनमुक्ति की स्थिति है। मृत्यूपरांत वह ब्रह्म में

विलीन हो जाता है। ईश्वरवाद में ईश्वर का सान्निध्य ही मोक्ष है। अन्य दूसरे वादों में संसार से मुक्ति ही मोक्ष है। लोकायत में मोक्ष को अस्वीकार किया गया है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण की कल्पना मोक्ष के समानांतर ही की गई है। 'निर्वाण' का अर्थ है, बुझ जाना। अर्थ में इसे चित्तनिरोध की स्थिति स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन में भी बंधन का कारण अविद्या को माना गया है। यह बंधन ज्ञान के माध्यम से ही काटा जा सकता है। किंतु इस तरह का ज्ञान कठोर अनुशासन का पालन करने पर ही उपलब्ध हो सकेगा। इसके लिये अष्टांगिक मार्ग की व्यवस्था की गई है। वे इस प्रकार हैं : सम्यग् दृष्टि, सम्यग् संकल्प, सम्यग् वचन, सम्यग् कर्म, सम्यग् जीविका, सम्यग् प्रयत्न, सम्यग् स्मृति और सम्यग् समाधि। इनमें से प्रथम दो ज्ञान, मध्य के तीन शील एवं अंतिम तीन समाधि के अंतर्गत आते हैं। इस मार्ग का अनुसरण करने पर तृष्णा का निरोध होता है, तृष्णा के निरोध से संग्रह-प्रवृत्ति का निरोध होता है, फिर भव का निरोध होता है और जन्म का निरोध होता है। इस प्रकार स्कंधों का सर्वकालिक लोप हो जाता है। इस प्रकार की मुक्ति जीवन में भी संभव है, किंतु मृत्यूपरांत निर्वाण का क्या स्वरूप होगा, इसे निषेधात्मक रूप से बतलाया गया है। एक प्रकार से वह शून्य के समान है। जैन दर्शन में जीव और अजीव का संबंध कर्म के माध्यम से स्थापित होता है। कर्म के माध्यम से जीव का अजीव या जड़ से बँध जाना ही बंधन है। इस प्रक्रिया को आस्रव शब्द से व्यक्त करते है। आस्रव का निरोध होने पर ही जीव अजीव से मुक्त हो सकता है। इसके लिये त्रिविध संयम की व्यवस्था की गई है। सम्यग् दर्शन (श्रद्धा), सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र का पालन करते हुए मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन 'त्रिरत्नों' के पालन से आस्रव निरुद्ध होता है। मुक्त होने के क्रम में दो स्थितियाँ आती हैं। पहले नवीन कर्मों का प्रवाह निरुद्ध होता है, इसे 'संवर' कहते हैं। दूसरी अवस्था में पूर्व जन्मों के संचित कर्मों का भी विनाश हो जाता है। इसे 'निर्जरा' कहते हैं। इसके बाद की ही स्थिति मोक्ष कहलाती है। यह जीवनमुक्ति की स्थिति है, लेकिन विदेहमुक्ति के बाद जैन किसी ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। फिर भी यह स्पष्ट रूप से पारमार्थिक स्वरूप माना गया है। विदेहमुक्ति की अवस्था में 'केवल ज्ञान' की उपलब्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में आत्मा सर्वांगीण संपूर्ण होती है। अनंत ज्ञान, अनंत शांति एवं अनंत ऐश्वर्य उसे सहज ही प्राप्त हो जाते है।

न्याय वैशेषिक मोक्ष की कल्पना भिन्न प्रकार से करते है। वे मोक्ष की स्थिति को आनंदमय नहीं मानते। क्योंकि दुःख और सुख दोनों आत्मा के विशेष गुण हैं, इसलिये दोनों सत्य हैं। न्याय वैशेषिक अभाव को भी एक पदार्थ मानते हैं। इसीलिये दुःख के अभाव का अर्थ आनंद का होना, नहीं है। मुक्ति का अर्थ है 'अपवर्ग', दुःख सुख दोनों से परे होना। ये दोनों आत्मा के मूलभूत गुण नहीं हैं। इसलिये मोक्ष की स्थिति में आत्मा दोनों से मुक्त हो जाती है। दुःख से मुक्ति पाने के पहले हमें सुख की आशा ही छोड़ देनी चाहिए। क्योंकि दुःख अंत तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता, लेकिन हम उसका अतिक्रमण कर सकते हैं। यह अवस्था सुख दुःख के परे होने से प्राप्त होती है। ऐसा व्यक्ति देहत्याग के पश्चात् विदेहमुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में आत्मा अपने विशेष गुणों से परे हो जाता है। एक तरह से वह संवेदनहीन और इच्छाशून्य हो जाता है। उसमें पुनः चैतन्य प्रविष्ट होगा ही नहीं। जीवनमुक्ति इस संप्रदाय में अस्वीकार की गई है। फिर वह अच्छे कर्मों का संपादन करते हुए, 'दिव्य विभूति' पद को प्राप्त कर सकता है। किंतु आत्मा के विशेष गुण बने रहेंगे। इसमें भी योग, ध्यान और क्रमिक अभ्यास के कठोर संयमों का पालन करना पड़ता है।

सांख्य योग में 'कैवल्य' को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। यह मोक्ष के समान ही है। यह जिससे मुक्त होता है, उसे प्रकृति और जो मुक्त होता है, उसे पुरुष माना गया है। पुरुष स्वरूप से ही असंग है। कैवल्य उसका स्वभाव है। प्रकृति के संसर्ग में आने पर वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। वह अहंबुद्धि के आ जाने पर संसार को सत्य मान लेता है। संसार के प्रति अनासक्ति भाव उत्पन्न करने के लिये मुमुक्षु को कठोर तप, नियम एवं संयम का पालन करना पड़ता है। इस कठोर साधना के आठ अंग है, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इस साधना के माध्यम से वह अहंभाव से मुक्त होता है। यहाँ मुक्त होने का अर्थ किसी अन्य सत्ता, ईश्वर या ब्रह्म से संयोग नहीं है, बल्कि मोक्ष यहाँ वियोग की स्थिति है। प्रवृत्ति से मुक्त होकर, परमशांति का मनन करता हुआ पुरुष अपनी असफलता को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में साधक जीवन-मुक्त हो जाता है। प्रकृति से अपनी भिन्नता को समझते हुए वह राग द्वेष इत्यादि से प्रभावित नहीं होगा। देह त्यागने के बाद वह विदेह मुक्त हो जाएगा। सांख्य ईश्वर में विश्वास नहीं करता, लेकिन योग ईश्वर प्रणिधान या भक्ति को भी मोक्ष का साधन मानता है। किंतु यह श्रद्धालु अथवा अज्ञानियों के लिये स्वीकृत किया गया है, जो कठोर योगांगों का अभ्यास करने में अक्षम हैं।

पूर्वमीमांसा में कर्म को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसलिये जीवन में दुःख से मुक्ति और सुख की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला धार्मिक कर्म करे। ये धार्मिक कर्म, यज्ञ, दान, इत्यादि करने से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। एक तरह से मोक्ष का इससे कोई संबंध नहीं है।

अद्वैत वेदांत में मोक्ष की कल्पना उपनिषदों के आधार पर की गई है। वेदांत में कर्म अथवा भक्ति को प्रधानता न देकर ज्ञान को प्रधानता दी गई है। यद्यपि मुमुक्षु को कुछ निश्चित अनुशासनों का पालन करना पड़ता है, तथापि वे मूलतः मानसिक हैं। साधन चतुष्टय के पश्चात् त्रिविध संयम, जिन्हें श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहते हैं, का पालन करना पड़ता है। इसके अनंतर अद्वैतवादी शिक्षा पर ध्यान एकाग्र किया जाता है। आत्मा को ब्रह्मस्वरूप माना गया है। 'अहम्भाव', जो अविद्याकृत है, उसे ब्रह्म से अलग करता है। वस्तुतः वह अपने नित्यमुक्त रूप को कभी नहीं त्यागता। 'तत्त्वमसि' वाक्य से उसे 'अहम् ब्रह्मास्मि' का ज्ञान होता है। यही मोक्ष है। तब आत्मा सत्, चित्, आनंद से पूर्ण हो जाता है। विदेहमुक्ति में वह आनंदमय ब्रह्म में विलीन हो जाता है। आचार्य शंकर इस सिद्धांत के प्रधान व्याख्याता हैं।

विशिष्टाद्वैत में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधान माना गया है। भक्ति के माध्यम से नारायण का सान्निध्य प्राप्त होता है।

नारायण के संरक्षण में ही पूर्णमुक्ति और आनंद की प्राप्ति होती है। यह सान्निध्य दो साधनों से प्राप्त किया जा सकता है। क्रमशः इसे भक्ति और प्रपत्ति कहते हैं। प्रपत्ति का अर्थ है ईश्वर की कृपा पर पूर्ण विश्वास करके आत्मसमर्पण करना। इससे सहज ही मोक्षलाभ होता है। रामानुज ने भक्ति के अंतर्गत कर्मयोग एवं ज्ञानयोग को भी गौण महत्व दिया है। भक्तियोग में ईश्वर का निरंतर चिंतन अनिवार्य बतलाया गया है। इस चिंतन का रूप प्रेममय भी हो सकता है। किंतु इसके माध्यम से मुमुक्षु ईश्वर की ओर उन्मुख होता है, उसे ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति नहीं होती। इसीलिये रामानुज जीवन्मुक्ति को नहीं मानते। वह तो विदेहमुक्ति के बाद नारायण के लोक में ही संभव है। प्रपत्ति और भक्ति के माध्यम से ही ईश्वरकृपा के फलस्वरूप मुक्ति संभव है। मध्वाचार्य भी मोक्ष के लिये भक्ति को साधन मानते हैं। इसी भक्ति के कारण जीव को ईश्वर का प्रसाद प्राप्त होता है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। [कि॰ ना॰ रा॰]

मोग्गल्लान (सं॰ मौद्गल्यायन) ये भगवान् बुद्ध के समकालीन शिष्य थे। उनके पांडित्य का परिचय इतने से ही मिल जाता है कि स्वयं भगवान् बुद्ध कभी कभी अपने उपदेश को स्वयं पूरा न कर अपने प्रिय मौद्गल्यायन अथवा सारिपुत्र या आनंद को उसे पूरा करने का आदेश दे देते थे और पश्चात् वे उक्त शिष्यों द्वारा दिए गए उपदेश का अनुमोदन कर देते थे। इस प्रकार सुत्त पिटक के अनेक सूत्रों में मोग्गल्लान का उपदेश पाया जाता है। विनय पिटक, महावग्ग के आदि में मोग्गल्लान के संन्यास का वर्णन पाया जाता है जो श्रमणों की साधनाओं को समझने के लिये बड़ा उपयोगी है। सन् १८५१ ई॰ में जब साँची के स्तूपों में दूसरी बार खुदाई हुई थी, वहाँ के एक छोटे स्तूप में मोग्गल्लान और उनके साथी सारिपुत्र के भस्मावशेष प्राप्त हुए थे। ये भस्मावशेष लंका पहुँच गए थे, जो अब वहाँ से लाकर पुनः साँची की उसी प्राचीन पहाड़ी पर प्रतिष्ठित कर दिए गए हैं।

दूसरे मोग्गल्लान वैयाकरण थे। उनका बनाया हुआ पालि व्याकरण, कच्चान व्याकरण के पश्चात् निर्मित हुआ है, किंतु उसकी अपेक्षा अधिक सर्वांगपूर्ण है। इसी कारण इसका प्रचार भी अधिक पाया जाता है। इस व्याकरण में ८१७ सूत्र हैं, जिनपर वृत्ति भी स्वयं कर्ता की लिखी हुई मानी जाती है और उस वृत्ति पर एक पंचिका नामक व्याख्या भी उन्हीं की बनाई हुई कही जाती है। इस व्याकरण में सूत्रपाठ के अतिरिक्त धातुपाठ, गणपाठ उणादिपाठ आदि का भी समावेश पाया जाता है। इस व्याकरण के अंत में निम्न गाथा निबद्ध पाई जाती है :

सुत्त-धातु-गणो-एवादि
नामलिंगानुसासनं।
यस्स तिट्ठति जिव्हग्गे।
सो ब्याकरणकेसरी।

इस गाथा के अनुसार सूत्रपाठ के अतिरिक्त उक्त धातुपाठ आदि प्रकरण भी मूल व्याकरणकार मोग्गल्लानकृत प्रतीत होते हैं और कर्ता को व्याकरणकेसरी की उपाधि भी दी गई है। इसी व्याकरण के आधार से हिंदी में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा पालि महाव्याकरण (प्रका॰ महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४०) की रचना हुई है। मोग्गल्लान व्याकरण की वृत्ति के अंत में व्याकरणकार ने अपना कुछ परिचय दिया है जिसके अनुसार मोग्गल्लान महाथेर अनुराधपुर के थूपाराम नामक विहार में निवास करते थे और उन्होंने अपने व्याकरण की रचना पराक्रमबाहु के राज्यकाल में की थी। लंका के इतिहास में पराक्रमबाहु प्रथम का समय ई॰ सन् ११५३-११८६ तक पाया जाता है। इस काल में वहाँ पालि साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई। अतएव यही काल उक्त पालि व्याकरण की रचना का माना जाता है।

मोग्गल्लानकृत अभिधानप्पदीपिका नामक पालिकोश भी पाया जाता है। (सपा॰ मुनि जिनविजय, प्रका॰ गुजरात पुरातत्व मंदिर, अहमदाबाद, वि॰ सं॰ १९८०)। इस पालिकोश की रचना संस्कृत के अमरकोश की रीति से हुई है और उसमें पालि के पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। इसमें स्वर्गकांड, भूकांड और सामान्य कांड ऐसे तीन विभाग हैं। कोशकार ने अपना निवासस्थान पुलत्थिपुर का जेतवन विहार बतलाया है तथा गंधवंस में उन्हें नव मोग्गल्लान कहा गया है। इससे कोशकार मोग्गल्लान, वैयाकरण मोग्गल्लान से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। यद्यपि इसकी रचना भी उक्त पराक्रमबाहु प्रथम के ही शासनकाल (११५३-११८६) में हुई मानी जाती है। इस कोश पर १४ वीं शती में रचित एक टीका भी मिलती है। (दे॰ राइस डेविड्स बुद्धिस्ट इंडिया; जगदीश काश्यप पालि महाव्याकरण; भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास)। [ही॰ ला॰ जै॰]

मोजा उद्योग का अंग्रेजी पर्यायवाची होज़री (Hosiery) है। होज़री शब्द होज़ (hose) से बना है, जिसका अर्थ साधारणतया मोजा होता है। मोजों का निर्माण तथा मोजों का व्यवसाय होज़री के अंतर्गत आता है। इस उद्योग को बुनाई उद्योग (Knitting Industry) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें बुनाई से ही सामान तैयार होते हैं।

बुनाई कला -- बहुत प्राचीन काल के लोग इस कला से अनभिज्ञ थे, किंतु सौदागरों ने [illegible] मुकुटों में हाथ द्वारा बुनी कलंगी पहनते देखा था। ५ वीं शताब्दी में यह कला मिस्र देश में फलीफूली [illegible] अरब वालों की देन थी। [illegible] यह कला धीरे धीरे पश्चिमी देशों की ओर बढ़ी। [illegible] इस कला में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। प्रारंभ में [illegible] द्वारा सलाई और कोशिया हुक (crochet hook) [illegible] वस्त्र तैयार होते थे। यह कार्य आज भी अनेक घरों की महिलाओं द्वारा सलाइयों और कोशिये द्वारा किया जाता है, बहुत सी अनाथ महिलाएँ इस कार्य से अपनी जीविका चलाती हैं और करोड़ों रुपए का माल इस विधि से बुना जाता है। इसे हाथ बुनाई कहते हैं। अब बुनाई की मशीनें भी बनी हैं और उनसे मोजे, बनियाइन, जाँघिया आदि बनते हैं। ऐसा वस्त्र लचीला होता है, खींचने से बढ़ जाता है और छोड़ देने से पूर्वावस्था में आ जाता है।

बुनाई की पहली मशीन नॉटिंघमशिर के काल्वर्टन नगर में रेवरेंड विलियम ली द्वारा १५८८ ई॰ में बनी थी। इसको 'हैंड स्टॉकिंग फ्रेम'

नाम दिया गया था। ली ही बुनाई कला के जन्मदाता माने जाते हैं। आज भी इस कला को सिखाने के लिये उडवरों के निकट, ली के जन्म-स्थान में, इनकी स्मृति में एक विद्यालय विद्यमान है। इस मशीन पर काम करनेवाले को 'फ्रेमवर्क निटर्स' (Framework knitters) कहते हैं।

सन् १६६३ के चार्टर (घोषणापत्र) के आधार पर 'फ्रेमवर्क निटर्स कंपनी' नामक संस्था स्थापित हुई। इस कला का विकास प्रधानतया ग्रेट ब्रिटेन में हुआ, जहाँ इसकी अच्छी मशीनें आज बनती हैं और बाहर भेजी जाती हैं।

बुनाई संपन्न करने का प्रमुख साधन सूइयाँ हैं। इन्हें बुनाई मशीन की सूइयाँ कहते हैं। साधारण सीने की सूइयों से ये आकृति और गुणों में भिन्न होती हैं। बुनाई मशीन की ये सूइयाँ ही बुनाई उद्योग की कुंजी हैं। साधारणतया बुनाई मशीनों में दो प्रकार की सूइयाँ प्रयुक्त होती हैं। प्रारंभिक सूई का आविष्कार १५८९ ई० में रेवरेंड ली द्वारा हुआ था, जो हैंड स्टॉकिंग फ्रेम में प्रयुक्त हुई थी। इस सूई को 'स्प्रिंग बिअर्ड' सूई कहते हैं। दूसरी सूई, लैच सूई, का आविष्कार १८४९ ई० में मैथ्यू टाउनसेंड द्वारा हुआ था। दोनों सूइयों की आकृति यहाँ दी हुई है।

स्प्रिंग बिअर्ड सूई एक ही तार से बनी होती है। अतः यह सस्ती पड़ती है। इस सूई की पिंडली (shank) पर्याप्त लंबी होती है। इसके एक छोर पर समकोण मुड़ा बट (butt) होता है और दूसरे छोर पर एक लचीला हुक होता है। इसी हुक को बिअर्ड कहते हैं। यह सूई अधिक बारीक गेज (gauge) में बनाई जा सकती है,

चित्र १. स्प्रिंग बिअर्ड सूई

चित्र २ लैच सूई
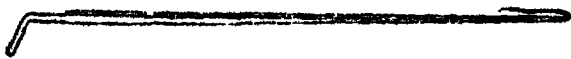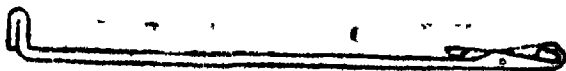
अतः बारीक बुनाई के लिये अधिक उपयुक्त होती है। लैच सूई की पिंडली में निचले किनारे पर समकोण मुड़ा हुआ बट होता है और सूई के बीच में सूराख होता है। इस सूराख के कारण सूई कमजोर हो जाती है और बहुत बारीक नहीं बनाई जा सकती। विशेषज्ञों का मत है कि स्प्रिंग बिअर्ड सूई में कुछ तकनीकी कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण मशीन की चाल अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती और इससे उत्पादन क्षमता में वृद्धि नहीं होती। मशीन की चाल बढ़ाने और उत्पादन क्षमता की वृद्धि के सब प्रयास अभी तक सफल नहीं हुए हैं और इस सूई को मशीन को स्वचालित (automatic) नहीं बनाया जा सका है।

लैच सूई के आविष्कार से बुनाई में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। यद्यपि सूई का निर्माण कुछ कठिन होता है और खर्च कुछ अधिक पड़ता है, तथापि उत्पादन क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। पीछे से इस सूई में बहुत सुधार हुए हैं। इस सुधार के फलस्वरूप एक इंच में अधिक से अधिक २७ सूइयाँ प्रयुक्त हो सकती हैं। ऐसी सूई की मोटाई ०·०२ इंच से अधिक नहीं होती। इसमें आरी (saw) स्थान की मोटाई कम से कम ०·००७ इंच अवश्य होनी चाहिए है। इस सूई मे अलग अलग तीन भाग होते हैं। इन तीनों को जोड़कर एक बनाया जाता है। लैच सूई भी स्प्रिंग बिअर्ड सूई की भाँति हर स्थिति और प्रत्येक कोण पर रखकर प्रयुक्त की जा सकती है, यद्यपि इसके लिये कुछ आवश्यक साधन अवश्य जोड़े जाते हैं, जो लैचों को ठीक समय पर बंद होने से बचाए रखते हैं। दुहरे हुकों की लैच सूइयाँ काम में लाई जाती हैं। हुकदार सरकों (sliders) की सहायता से बरफी (rib), पाश (loop) अथवा बेलबूटे (purl) और सुजनीवाले कपड़ों का निर्माण किया जाता है।

जानकार लोगों का कहना है कि विलियम ली को हैंड फ्रेम के संबंध में अधूरा ज्ञान था। इन्होंने पाशों के पकड़नेवाली बिअर्ड सूई तथा पाश बनानेवाले सिंकरों (sinkers) और उतार फेंकनेवाले सिंकरों का प्रयोग तो किया, पर ये यांत्रिक साधनों में कठिनता उत्पन्न करते थे। इन्होंने एक घूमनेवाला प्रेसर (दबानेवाला पुरजा) प्रयुक्त किया, जो सूई के बिअर्ड को, जब पाश बदलता था, बंद करता था। उनकी यह व्यवस्था बुनाई मशीनों में अपरिवर्तित बनी रही, यद्यपि सूइयाँ, सिंकर आदि पुरजे कैम की सहायता से बाधा उत्पन्न करते थे। इससे मशीनों की चाल नहीं बढ़ी। १८५७ ई० में आर्थर पेजेट (Arthur Paget) एक ही भाग की घूमनेवाली, स्वचालित दंड सूई को थोड़ा हेर फेर के साथ काम में लाया। इससे तकनीकी कठिनाइयाँ बनी ही रहीं। कुछ वर्षों के बाद १८६४ ई० में विलियम कॉटन (William Cotton) ने इसकी सारी त्रुटियाँ दूर कर एक पेटेंट लिया (पेटेंट नंबर ३१२३-१८६४)। यह कॉटन पेटेंट या कॉटन पद्धति के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ली द्वारा बनाई मशीन में बहुत समय तक केवल सादा कपड़ा, या मोजा ही बनता था। १७५५ ई० में स्ट्रट (Strutt) ने इस बुनाई मशीन में परिवर्तन किया, जिससे मोजा उद्योग में बरफी (rib) बुनाई का कपड़ा बुनना संभव हो सका। इस मशीन को १८७४ ई० में किडीर (Kiddir) द्वारा अधिक विकसित किया गया। लैच सूई के आविष्कार के बाद ही इसका विकास पूर्ण रूप से हुआ। अब मोजे के स्थान में इस मशीन में नाना प्रकार के वस्त्रों का निर्माण होने लगा। आज लगभग ५,००० किस्म की पोशाकें बुनाई मशीन से बनती हैं। ताना बुनाई के सिद्धांत पर बना कपड़ा पहले पहल १७५५ ई० में बना था। कुछ परिवर्तनों के साथ इस पेटेंट मशीन पर शक्ति द्वारा मशीन चलाकर कपड़े बने थे।

पादरी विलियम ली ने संसार के समक्ष जिस हस्तचालित फ्रेम को निर्मित करके प्रस्तुत किया, उसकी बेडौल रचना, जटिल कारीगरी एवं न्यून उत्पादन क्षमता से सपाट वस्त्र निर्माताओं को संतोष नहीं हुआ। यंत्रनिर्माताओं का ध्यान पादरी ली द्वारा प्रस्तुत यंत्र में विद्यमान त्रुटियों की ओर तुरंत गया और इन महापुरुषों ने इन त्रुटियों पर विजय पाने के लिये कठोर परिश्रम किया। इस कार्य में विलियम कॉटन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अतः सन् १८६४ ई० में उपर्युक्त सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त हुई। इस विजय

का सेहरा विलियम कॉटन को प्राप्त हुआ। इन्होंने यंत्र में आगे और संभावित सुधार किया और 'कॉटन्स पेटेंट निटिंग मशीन' के नाम से राजकीय अधिकारपत्र प्राप्त किया। संवयन उद्योग ने पादरी विलियम ली द्वारा प्रस्तुत हस्तचालित फ्रेम को तथा इसके समकालीन अन्य संवयन यंत्रों को त्यागकर, पेटेंट संवयन यंत्रों को ही अपनाया।

कुंचित अर्थात् स्प्रिंग बियर्ड सूई द्वारा संवयन — कुंचित सूई (देखें चित्र १.), चाहे वह किसी भी संवयन यंत्र में प्रयोग की गई हो, सिंकर (sinker) तथा पीडनचक्र (pressure wheel) के साथ निश्चित एवं आवश्यक संबंधों को स्थापित कर संवयन करती है। यंत्र में सूई प्रत्येक कोण पर स्थित रह कर कार्य कर सकती है। सर्वोत्तम ढंग ९०° के कोण पर प्रयोग का होता है। सूइयाँ सामूहिक अथवा स्वतंत्र और स्थिर अथवा गतिमान हो सकती हैं, किंतु प्रत्येक दशा में उनका संबंध पाश (लूप) निर्मित करने में सहयोग प्रदान करनेवाले मुख्य पुरजों (सिंकर एवं पीडन चक्र) के साथ अवश्य रहता है।

संवयन क्रिया में लैच सूई का प्रयोग — लैच सूई अपनी लंबाई में साधारण रीति से चलकर पाशों के बुनने की क्षमता रखती है। इस सूई से संवयन की तीन रीतियाँ प्रचलित हैं। सूई को ०° से १८०° तक किसी भी कोण पर रखकर प्रयोग किया जा सकता है, किंतु ९०° पर प्रयोग करने से उत्तम फल प्राप्त किए जा सकते हैं। तीन प्रचलित संवयन रीतियों में से प्रथम रीति में निमज्जकरहित सूई से पाश बुना जाता है। दूसरी पद्धति में नियंत्रक सिंकर (holding down sinker) का सूई के साथ प्रयोग किया जाता है। तीसरी रीति में कुंचित सूई के साथ प्रयोग किए जाने वाले सिंकर के समान कार्य करने वाले सिंकर प्रयोग किए जाते हैं।

आधुनिक समय में दूसरी पद्धति सर्वाधिक अपनाई जा रही है। इस पद्धति में पाश नियंत्रक (web holder) सिंकर काम में लाए जाते हैं। इस दशा में वस्त्र पर बिना खिंचाव के भी संवयन संभव है। इस प्रकार की मशीनों पर कार्य प्रारंभ करते समय अलग से, सूइयों के मुख में कपड़ा पहनाने की आवश्यकता नहीं होती, जैसा कि सिंकररहित यंत्रों में करना अत्यावश्यक होता है। इन यंत्रों में सूइयों के अंकुश (hook) में धागा देकर यंत्र को चालू कर देने मात्र से संवयन क्रिया प्रारंभ हो जाती है। चित्र २. में लैच सूई अपने मुख्य मुख्य भागों सहित प्रदर्शित की गई है।

संपाश वस्त्र उद्योग का प्रारंभ और विकास ग्रेट ब्रिटेन ने ही किया। वर्तमान काल में ग्रेट ब्रिटेन के संवयन यंत्र देखकर आश्चर्य चकित होना पड़ता है। इस कला का प्रचार इस समय लगभग सभी छोटे बड़े देशों में है। भारत में मोजा आदि बुनने का एक कारखाना १८७२ ई० में लुधियाना में स्थापित हुआ था। इस समय लुधियाना इस कला का केंद्र बना हुआ है। यहाँ संवयन यंत्र बनाने के कई बड़े बड़े कारखाने हैं। पर हमारा देश अन्य देशों की अपेक्षा इस संबंध में बहुत पीछे है। [ना० रा० पां०]

मोजी स्थिति : ३३° ५२' उ० अ० तथा १३१° १०' पू० दे०। जापान के क्यूशू द्वीप के उत्तरी किनारे पर स्थित एक अति प्रसिद्ध नगर एवं बंदरगाह है। जलवायु आर्द्र है। सबसे ठंडे माह का ताप ४° सें० तथा सबसे गरम माह का ताप २५° सें० रहता है। वार्षिक वर्षा का औसत ६० से ८० इंच है। यहाँ के मछली उद्योग से भी अधिक महत्वपूर्ण उद्योग जलयान निर्माण है। रेलों का भी यह प्रमुख केंद्र है। स्टील कंपनी, कोयले की प्राप्ति एवं उत्तम स्थिति के कारण बंदरगाह अधिक उन्नति कर गया है। इसकी जनसंख्या १, २४, ३११ (१९५०) है। [प्रे० शं० ति०]

मोजैंबीक स्थिति : १०° ४०' द० अ० से २६° ५२' द० अ० तथा ३०° पू० दे० से ४१° पू० दे०। यह अफ्रीका में पुर्तगाली उपनिवेश है, जिसके पूर्व में हिंदमहासागर, उत्तर में टैंगैन्यिका, न्यासालैंड एवं उत्तरी रोडीजिया, पश्चिम में दक्षिणी रोडीजिया और ट्रैंसवाल तथा दक्षिण में दक्षिणी अफ्रीका संघ स्थित हैं। इसका *क्षेत्रफल ३,०२,२५० वर्ग मील एवं जनसंख्या ६५,९२,९९४* (१९६०) है। इस क्षेत्र को चार प्रांतों एवं जिलों में बाँटा गया है। इसकी समुद्र तट रेखा १,७०० मील लंबी है। इसका अधिकांश भाग निचला समतल मैदान है। पश्चिमी भाग में ८००–२,००० फुट की ऊँचाईवाले पठार हैं। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर बृहद् भ्रंश घाटी के उत्तर में पर्वतीय भाग है। नामूली पर्वत ८,८५८ फुट ऊँचा है। मोजैंबीक में जंबीजी, साबी, लिंपोपो एवं कोमाती नदियाँ बहती हैं। इस प्रदेश की मुख्य फसलें गन्ना पटसन, नारियल, चाय, तंबाकू, मूँगफली एवं खट्टे फल हैं। कपास, धान, मक्का, सोयाबीन, ज्वार एव बाजरा महत्वपूर्ण फसलें हैं। खनिजों में कोयला, सोना, अभ्रक, बॉक्साइट तथा कोरंडम उल्लेखनीय हैं। यहाँ के मूल निवासी बंटू जाति के हैं। अन्य जातियों में यूरोपीय, भारतीय तथा अन्य एशियाई जातियाँ मुख्य हैं। शिक्षा की कमी है। उच्च अध्ययन के लिए लोगों को पुर्तगाल जाना पड़ता है, क्योंकि यहाँ कोई विश्वविद्यालय नहीं है। कपास साफ करना, तेल पेरना, तंबाकू की वस्तुएँ-सिगरेट आदि बनाना, चमड़े की वस्तुएँ बनाना तथा साबुन, चीनी एवं सीमेंट निर्माण यहाँ के लोगों का मुख्य उद्योग धंधा है। यहाँ से निर्यात की जानेवाली प्रधान वस्तुएँ कपास, गरी एवं चीनी हैं। मोजैंबीक की राजधानी लोरेंसू मरकेश है। लोरेंसू मरकेश, बेरा, मोजैंबिक एवं नकाला यहाँ के प्रसिद्ध बंदरगाह हैं।

२. नगर स्थिति : १५° ४' द० अ० एवं ४०° ११' पू० दे०। उत्तर-पूर्वी मोजैंबीक के न्यासा प्रांत में एक व्यावसायिक नगर एवं बंदरगाह है। यह एक छोटे से प्रवाल द्वीप पर, समुद्र तट से तीन मील की दूरी पर, मोजुरिल की खाड़ी के मुहाने पर बसा हुआ है। वर्षा ऋतु (नवंबर से मार्च तक) में विषम ज्वर (मलेरिया) का प्रकोप रहता है। इस बंदरगाह में जलयानों को ठहरने की पर्याप्त सुविधाएँ हैं। यहाँ से मक्का, कपास, सीसल, कहवा, मोम एवं अभ्रक का निर्यात होता है। यहाँ की जनसंख्या १,८३,७९८ (१९६०) है। सन् १४९८ में वास्को डि गामा द्वारा खोज किए जाने पर १५०८ ई० में पुर्तगाली यहाँ आकर बसे। १८९७ ई० तक यह तत्कालीन पुर्तगाली ईस्ट अफ्रीका की राजधानी रहा। गिरजाघर, किला, आश्रम एवं राज्यपाल के भवन के कारण यह नगर आकर्षण का एक केंद्र है। [रा० प्र० सिं०]

मोज़ेइक (चित्तल संपूर्ति) किसी अजैविक पदार्थ के छोटे-छोटे टुकड़े सघन जमा कर, किसी सतह को सजाने की कला मोज़ेइक या चित्तल संपूर्ति कहलाती है। इस प्रकार सजी हुई सतह के लिये भी मोज़ेइक शब्द का प्रयोग होने लगा है। अजैविक पदार्थ में प्राय: पत्थर, कांच, सीपी, या टाइल का प्रयोग होता है। हवाई सर्वेक्षण में किसी क्षेत्र के अनेक छोटे-छोटे भागों के फोटो लेकर, उन्हें परस्पर मिला कर रखने की तकनीक भी मोज़ेइक कहलाती है।

मेसोपोटामिया में लगभग ४,००० वर्ष ईसा पूर्व बने विशाल प्रांगण एवं स्तंभों के अवशेषों से सिद्ध होता है कि उस प्राचीन काल में भी यह कला वहाँ विद्यमान थी। इन निर्माण में सभी बड़ी सतहों पर लाल, काले और सफेद टुकड़ों से युक्त, अत्यंत अलंकृत आवरण चढ़ाया हुआ था। लगभग ३० शती ईसा पूर्व यह कला वास्तुकृतियों में व्यापक प्रवेश पा चुकी थी। किंतु २६ शती ई० पू० के बाद भी इस कला के विशेष प्रचलित रहने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। हाँ, फर्नीचर पर मणियां और कांच आदि जमा कर पच्चीकारी अवश्य की जाती थी।

सिंधु-घाटी सभ्यता में चित्तल संपूर्ति के सादे नमूने मिलते हैं, जिनमें प्राय: सीपी का उपयोग होता था। एजियन संस्कृति में पच्चीकारी का भी बहुत कम प्रचलन था, किंतु उसमें चित्तल संपूर्ति के कुछ उत्कृष्ट प्रयोग अवश्य मिलते हैं, जिनमें विविध वस्तुओं के संयोग से दृश्यावलियां तैयार की हुई थीं।

यूनानी और रोमीय सभ्यता में और भी मामूली प्रयोग हुए। पानी के बहाव से घिसे हुए गोलाश्म जमा कर क्रीट में भांति भांति की आकृतियाँ बनाई जाती थीं। बाद में उत्तर कांस्य-युग में, अर्थात् १,६००–१,००० ई० पू० में इस प्रकार के फर्श यूनान में भी बने। रिनेसांकालीन धूपछाहीं रंगसाज़ी ने चित्तल संपूर्ति का उपयोग बहुत कुछ सीमित कर दिया और वेनिस तथा रोम के कारखानों का कार्यक्षेत्र उन्हीं नगरों तक ही रह गया। १९वीं शती में फिर इस ओर रुचि बढ़ी और धार्मिक प्रोत्साहन पा जाने पर रूस, फ्रांस और इंग्लैंड में भी इसके कारखाने स्थापित हुए।

आधुनिक चित्तल संपूर्ति प्राय. सादी, या सफेद, या रंग मिली हुई सीमेंट में सफेद, काली, या अन्य किसी रंग की संगमर्मर की बजरी मिला कर बनाई जाती है। कई रंगों की बजरी मिला कर भी डाली जाती है। बजरी के दाने $\frac{1}{16}$ इंच से लेकर $\frac{3}{4}$ इंच तक के, एक माप, या अनेक मापों के मिला कर डाले जा सकते हैं। चित्तल टाइलें भी विविध रंगों और कई मापों की मिलती हैं। फर्श में पहले निबल मिश्रण की कंक्रीट की तह प्राय: तीन इंच मोटी डाली जाती है, जिसे आधार कहते हैं। इस पर सीमेंट के सबल मसाले से टाइलें जड़ दी जाती हैं। यदि पूर्व-निर्मित टाइलें न लगा कर स्थान पर ही चित्तल फर्श डालना हो, तो आधार पर एक से डेढ़ इंच तक मोटी सबल मिश्रण की कंक्रीट डाली जाती है, जिसकी सतह खुरदरी रखी जाती है। इस पर यथानिर्दिष्ट, $\frac{1}{4}$ इंच से $\frac{1}{2}$ इंच तक मोटी तह संगमर्मर की बजरी से युक्त सीमेंट डाली जाती है। दूसरे दिन कार्बोरंडम की बट्टियों से सतह घिस दी जाती है और उसमें उसी रंग की सीमेंट रगड़ दी जाती है ताकि यदि कोई गड्ढे रह गए हों, या कोई दाना उखड़ गया हो, तो वह जगह भी भर जाय। फिर हफ्ते, दस दिन तक तरी रखने के बाद पुन: घिसाई करके पॉलिश कर दी जाती है।

[वि० प्र० गु०]

मोटरगाड़ी आधुनिक मोटरगाड़ी को हम २०वीं शती का चमत्कार कह सकते हैं। पिछली शती के अंतिम दो एक वर्षों में लोग इस प्रकार के अश्वरहित यान को कभी कभी बड़े शहरों की सड़कों पर चलते देख कर आश्चर्य चकित हो जाते थे। उस समय यह आकृति में भद्दी, बहुत भारी तथा बड़ी शोर करनेवाली होती थी और व्यवहार में उसकी क्रिया अनिश्चित थी। अब यह गाड़ी इतनी परिष्कृत हो चुकी है कि यह देखने में बड़ी सुंदर, हलकी, शांतिपूर्वक तेजी से चलनेवाली, सबसे सुखदायक तथा भरोसे के योग्य और सबसे सस्ती गाड़ी समझी जाती है। चार सवारी की आधुनिक मोटरगाड़ी डाक रेलगाड़ी की रफ्तार से, लगभग छ: पैसे प्रति मील खर्च से कई हजार मील की यात्रा बिना किसी बाधा के कर सकती है।
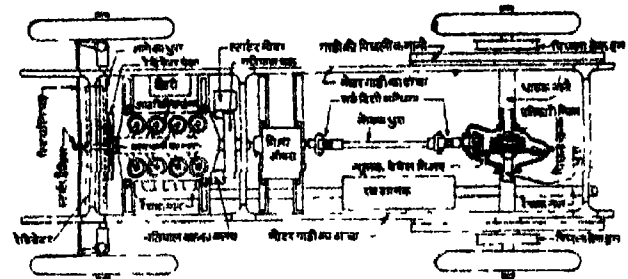
आधुनिक मोटर गाड़ी का आयोजनात्मक रेखाचित्र

चित्र १.

मोटरगाड़ी में विशेषता यह है कि केवल दो आदमियों के बैठने भर की जगह में इंजन आदि समस्त उपकरणों को बड़ी सुंदरता से समायोजित कर दिया गया है। यह सब कार्य डाक्टर एन० ए० ऑटो द्वारा १८७६ ई० में गैस इंजन के आविष्कार और उसके आठ वर्ष बाद गोटलीब डाइलर (Gottlib Daimler) द्वारा पेट्रोल इंजन के आविष्कार के कारण ही संभव हो सका।

चित्र १. और २. में दो प्रकार की आधुनिक मोटरगाड़ियों की आयोजनात्मक रेखाकृतियाँ दिखाई गई हैं। चित्र ३. में हाथ और पैर से नियंत्रण करनेवाले उपकरणों की योजना दिखाई गई है, जिनसे विदित होता है कि किस प्रकार थोड़ी सी जगह में उन्हें लगाया गया है। इनके विभिन्न अंगों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

इंजन — मोटरगाड़ियों के इंजन पेट्रोल की प्रज्वलनोत्पादित ऊर्जा से चलने के कारण बहुत ही ठोस बनावट के स्वयं-पूर्ण-शक्ति-उत्पादक यंत्र होते हैं। चित्र ४. में पेट्रोल इंजन की सांकेतिक बनावट दिखाई गई है। इसका सिलिंडर प्राय: ढलवाँ लोहे का बनता है और कई निर्माता ऐलुमिनियम मिश्रित इस्पात का बनाते हैं, जिसका एक सिरा बंद होता है और भीतरी व्यास एक समान तथा कांच जैसी चिकनी बनावट का होता है। पिस्टन भी बाहर से एक समान व्यास का, सिलिंडर के भीतर सही माता हुआ होता है। पिस्टन के ऊपरी बंद सिरे के निकट, प्रत्यास्थतागुणयुक्त लोहे के दो, या तीन वलय डाल दिये जाते

है, जिससे पिस्टन के नीचे की तरफ चलते समय, प्रज्वलन कक्ष में आंशिक निर्वात हो जाने से, प्रवेश वाल्व के खुला होने पर, विस्फोटक

विरोधी पिस्टनों युक्त आठ सिलिण्डर तथा अधिचक्री गिअर बॉक्स वाली मोटर गाड़ी का आयोजनात्मक रेखाचित्र

चित्र २.

गैस प्रविष्ट हो सके। पिस्टन के भीतर की तरफ एक पिन द्वारा संयोजक दंड का छोटा सिरा संबद्ध कर दिया जाता है और बड़ा सिरा क्रैंक पिन के द्वारा मुख्य धुरे से संबद्ध कर दिया जाता है। पिस्टन पर लगे हुए वलयों को उसके खाँचों में घिस कर ऐसा सही बिठाया जाता है कि पिस्टन अपने सिलिंडर मे चलते समय बिलकुल गैसाभेद्य हो जाते हैं। इंजन मे जितने सिलिंडर होते हैं, उतने ही क्रैंक प्रधान धुरे पर बनाए जाते हैं और उनकी आपेक्षिक कोणीय स्थिति उनकी संख्या के अनुसार १८०°, अथवा १२०°, के अंतर पर हुआ करती है। इंजन का प्रधान धुरा, क्रैंक प्रकोष्ठ के दोनों सिरो पर लगे उपयुक्त प्रकार के बेयरिंगों पर आधारित रहता है। छः से अधिक सिलिंडर वाले इंजनों

आरेख १८ मोटरगाड़ी में हाथ और पैर से नियंत्रण करने वाले उपकरण

चित्र ३.

के धुरे के बीच में एक बेयरिंग लगा दिया जाता है। धुरे के भीतरी सिरे के बाहर की तरफ एक गतिपाल चक्र लगाया जाता है, जिसका उद्देश्य इंजन द्वारा शक्ति-स्ट्रोक में उत्पादित फालतू ऊर्जा को अपने में संगृहीत कर तथा अनुत्पादक स्ट्रोकों के समय वापस देकर, धुरे की परिभ्रामक गति को एक समान बनाए रखना होता है। गतिपाल चक्र के पीछे की तरफ गिअर बक्स होता है, जिसके माध्यम से गाड़ी के पिछले पहियों को शक्ति प्रेषित की जाती है।

पेट्रोल के बारीक कण हवा से मिश्रित होकर गैसीय ईंधन के रूप मे कार्बुरेटर से निकलकर, प्रवेश वाल्व के खुलने पर, प्रज्वलन कक्ष में जाते हैं, जहाँ संपीडित होने पर बिजली की एक चिनगारी द्वारा विस्फोटित होकर, दाब उत्पन्न करते हैं। इससे पिस्टन नीचे जाता है। फिर पिस्टन के वापस ऊपर आने के समय तक जली हुई, गैसें, निष्कासन वाल्व खुल जाने के कारण बाहर निकल जाती हैं। अत. प्रत्येक सिलिंडर के साथ इन क्रियाओं के लिये प्रवेश और निष्कासन के दो वाल्व लगाए जाते हैं आधुनिक गाड़ियों के 'ऑटो' इंजन चतुष्स्ट्रोकों के सिद्धांत पर चलते हैं, अर्थात् इनके सिलिंडरों में ईंधन गैस का विस्फोटन, क्रैंक धुरे के प्रति दो चक्करों मे, अर्थात् पिस्टन के दो ऊपर और दो नीचेवाले, चार स्ट्रोकों में, केवल एक ही बार

पेट्रोल इंजन की भीतरी बनावट

चित्र ४.

होता है। टैपेट और कैमों द्वारा यांत्रिक रीति से, इनका प्रवेशवाल्व ठीक समय पर खुलकर कार्बुरेटर और प्रज्वलन कक्ष को संबंधित कर देता है और कक्ष में गैस भरते ही एकदम बंद हो जाता है। इसी प्रकार निष्कासन वाल्व भी जली गैसों को निष्कासित करने के लिये उचित समय पर खुलता और बंद होता रहता है। इन चारों स्ट्रोकों का क्रम, वाल्वों की स्थिति और सिलिंडर में होनेवाली क्रियाएँ निम्न सारणी में बताई गई हैं (देखें अंतर्दहन इंजन)।

स्ट्रोक सं०	नाम	पिस्टन के चलने की दिशा	प्रवेश वाल्व	निष्कासन वाल्व	सिलिंडर में होनेवाली क्रियाएँ
१.	चूषण	नीचे को	खुला	बंद	पिस्टन द्वारा होनेवाले निर्वात के कारण कार्बुरेटर से गैसीय ईंधन चूसा जाकर, सिलिंडर में भर जाता है।
२.	संपीडन	ऊपर को	बंद	बंद	सिलिंडर में भरा ईंधन पिस्टन द्वारा सकुचित होकर, गरम भी हो जाता है; फिर संकुचन के अंत मे बिजली की चिनगारी छुटती है, जिससे ईंधन विस्फोट के साथ प्रज्वलित होता है।
३.	प्रज्वलन (शक्ति-स्ट्रोक)	नीचे को	बंद	बंद	प्रज्वलन चालू रहने के कारण सिलिंडर में दाब उत्पन्न होती है, जिससे पिस्टन नीचे की तरफ ढकेला जाता है।
४.	निष्कासन	ऊपर को	बंद	खुला	इस समय, पूर्व जली गैसें बाहर ढकेल दी जाती हैं।

प्रज्वलन कक्ष — मोटरगाड़ियों के इंजनों में तीन प्रकार से प्रज्वलन कक्ष बनाए जाते हैं : एक तो टी (T) आकार का, जैसा कि चित्र ४. में दिखाया गया है। इसमे प्रवेश और निष्कासन के वाल्व एक दूसरे के सामने, सिलिंडर के दोनों तरफ लगाए जाते हैं। यह प्रकार अब लोकप्रिय नहीं रहा। दूसरा प्रकार उलटे एल (˥) के समान होता है (देखें चित्र ५)। इसमें दोनों वाल्व सिलिंडर के एक ही तरफ लगाए जाते हैं। तीसरे प्रकार का कक्ष, शीर्षोपरिवाल्वयुक्त, होता है, जो चित्र ६. में दिखाया गया है और जिसमे दोनों वाल्व सिलिंडर के माथे पर लगे हैं। यह प्रकार अपनी श्रेष्ठता के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय है।
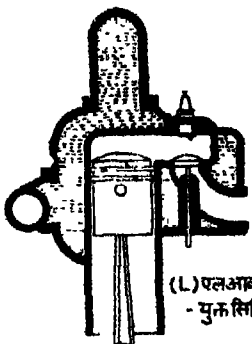
चित्र ५

गैसों का संपीडन — इंजन के सुदक्षता पूर्वक काम कर सकने के लिये गैसों के संपीडन का प्रश्न सर्वाधिक महत्व का है। साधारणतया, संपीडन जितना ही उच्च कोटि का होगा, इंजन की कार्यदक्षता उतनी ही बढ़ेगी, लेकिन इसकी भी एक सीमा है, जो ईंधन तेल के प्रज्वलन ताप, अथवा विस्फोटन ताप, पर निर्भर करती है। उच्च कोटि के संपीडन से गैसें इतनी अधिक गरम हो जाती हैं कि उनमें स्थानीय तापदीप्ति उत्पन्न होने लगती है। पर्यटनोपयोगी मोटरगाड़ियों के इंजनों के लिये ७० से ८० पाउंड प्रति वर्ग इंच तक का संपीडन अच्छा समझा जाता है। यदि संपीडन के समय उत्पन्न होनेवाली अतिरिक्त ऊष्मा के संवहन का बहुत उत्तम प्रबंध पानी की जैकटों और हवा द्वारा कर दिया जाए, तो यह दाब १२० पाउंड तक भी बढ़ाई जा सकती है। बहुत तेज दौड़नेवाली गाड़ियों में इसे १६० पाउंड तक रखा जा सकता है।

सिलिंडरों की संख्या — इंजन में जितने ही ज्यादा सिलिंडर होंगे उसके क्रैंक धुरे पर मरोड़ बल उतना ही सम पड़ेगा, अत: ऐसी हालत मे उच्च संपीडन-अनुपात रखा जा सकता है। उच्च संपीडन का लाभ कम ईंधन खर्च में अधिक शक्ति प्राप्त करना है, लेकिन गाड़ी को मंद गति से चलाते समय यदि संपीडन-अनुपात ऊँचा रखा जाए, तो इंजन के शक्ति उत्पादन में लचीलापन नहीं रहने पाता और उसके क्रैंक धुरे तथा बेयरिंगों पर अधिक जोर पड़ता है। साथ ही वाल्व और प्लगों के बहुत गरम होकर जल जाने का भी डर रहता है। सिलिंडर उनके शीर्ष सहित प्राय: एक ही साँचे में ढाले जाते हैं। इनमे असुविधा यही रहती है कि इनमें जमा हुआ कार्बन का मैला साफ करने के लिये पूरे सिलिंडर समूह को उतारना आवश्यक हो जाता है। आजकल मोटरगाड़ी निर्माता इंजन का सिलिंडर भाग और उनका शीर्ष भाग अलग अलग ढालते हैं, फिर उन दोनों भागों को आपस में स्टड और नटों द्वारा जोड़ देते हैं। इनका मैला साफ
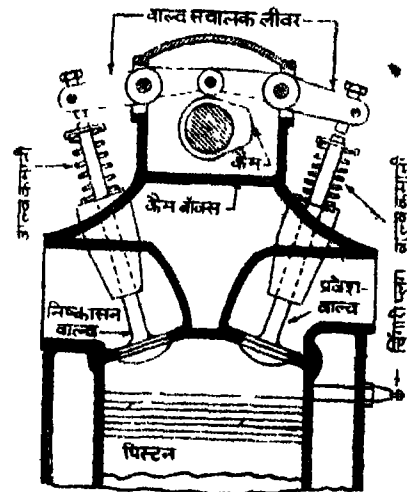
शीर्षोपरि वाल्व युक्त सिलिण्डर

चित्र ६.

करने के लिये केवल शीर्ष भाग को ही उतारना काफी होता है। इसी मे प्रज्वलन कक्ष होता है, जिसमें मैला जमा हुआ करता है। इनका निर्माण भी सस्ते में हो जाता है और इनमें शीर्षोपरिवाल्व भी सुविधापूर्वक लगाए जा सकते हैं।

आरंभ में एक सिलिंडरयुक्त इंजन से ही मोटर चलाई जाती थी, लेकिन अब तो आवश्यकतानुसार २, ४, ६, ८ अथवा १२ सिलिंडर तक लगाए जाते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

पिस्टन और पिस्टन के वलय — आरंभ में पिस्टन ढलवाँ लोहे के बनाए जाते थे, लेकिन अब इस्पात मिश्रित ऐलुमिनियम धातु के बनते हैं। ऐसा करने से इनकी गरमी जल्दी शांत हो जाती है। दूसरे, इनमें अधिक प्रसार भी नहीं होता, जिससे ये बहुत गरम होकर सिलिंडरों में जाम (jam) नहीं होने पाते। साथ ही हलकी धातु के बने होने के

कारण, इन्हें चलाने में इंजन की शक्ति का अपव्यय भी नहीं होता। इनकी दृढ़ता बढ़ाने के लिये, इनकी छत और बेलनाकार घेरे के बीच में, भीतर की तरफ, पर्शुकाएँ बना दी जाती हैं। पिस्टनों को भी आजकल दो भागों में बनाते हैं। छत ऐलुमिनियम की और घेरा ढलवें लोहे का बनाकर, उन्हें चूड़ियों द्वारा संयुक्त कर देते हैं।

चित्र ७. में दिखाया गया है कि पिस्टन की बाहरी दीवारों में, ऊपर के सिरे के निकट खाँचे बनाकर, उनमें ढलवाँ लोहे, अथवा किसी उत्तम कोटि के प्रत्यास्थ लोहे के वलय डाल दिए जाते हैं। ढलवाँ लोहे के वलयों को प्रत्यास्थता देने के लिये उन्हे खरादते समय उनका बाहरी व्यास (सिलिंडर का व्यास $\times$ १.०२७ और उसमे ग्राइंडिंग का अवधान, सिलिंडर का व्यास $\times$ ०·००८ जोड़ कर) सिलिंडर के व्यास का १·०३५ बना देते है। फिर उसकी परिधि में से एक स्थान पर ४५° के कोण पर मुंह चीर कर, अथवा चढ़वाँ जोड़ के अनुसार काट कर, उसकी परिधि में से इतना लंबा टुकड़ा कम कर देते हैं कि सिलिंडर मे पिस्टन के बैठने पर, ग्राइंड करने के बाद, उस वलय का मुंह दब कर, उसमें सिलिंडर के व्यास का ०·००४ अंतराल रह जाए।
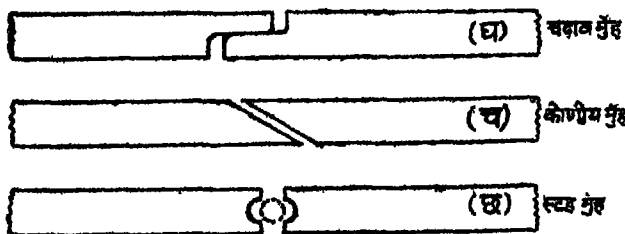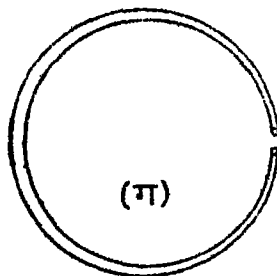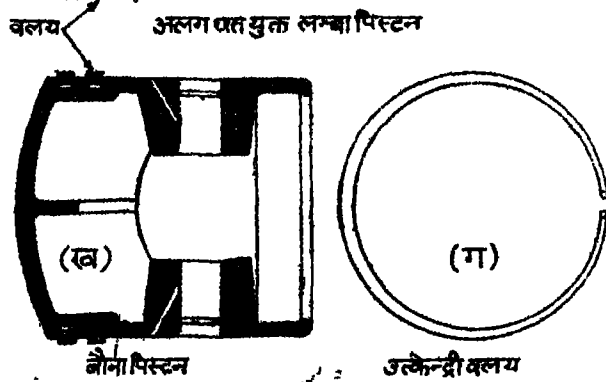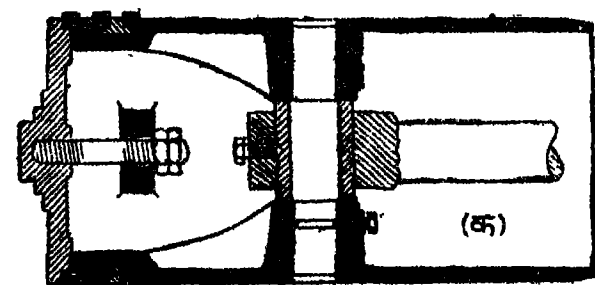
चित्र ७

इस प्रकार कुल मिलाकर परिधि मे से सिलिंडर का व्यास $\times$ ०·०८५ (अथवा ०·०९) टुकड़ा काटकर कम कर दिया जाता है। वलय अपने पिस्टन के खाँचे में भी ऐसे सही चलते हुए बैठाए जाते कि काम करते समय बिना जाम हुए काम देते रहें। वलय खाँचे मे इतने ढीले भी नही होने चाहिए कि उनमे से गैस चूकर पार हो जाए। कुल मिलाकर पिस्टन और सिलिंडर का संपर्कतल गैसाभेद्य बना रहना चाहिए।

क्रैंक, संयोजक दंड और उसके छोटे तथा बड़े सिरे के बेयरिंग — संयोजक दंड को पिस्टन से संबंधित करने के लिये (चित्र ८) उसके छोटे सिरे में एक "गजेन पिन" लगाई जाती है, जिसका बेयरिंग, पिस्टन मे ही, फौस्फर ब्रॉज की बुश के रूप मे लगाया जाता है।
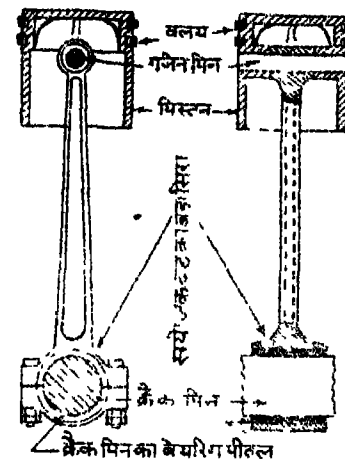
संयोजक दंड और पिस्टन के दो दृश्य

चित्र ८.

बड़े सिरे को क्रैंक पिन से संबंधित करने के लिये उसे दो अर्धकों में बनाया जाता है। उसका बेयरिंग सफेद धातु का बनाया जाता है। दोनो अर्धको को बोल्ट और नटो द्वारा मिला कर कस दिया जाता है। मोटरगाड़ियो के लिये पिस्टन की छोटी स्ट्रोक का होना अच्छा समझा जाता है, अत. इनका क्रैंक भी कम लंबाई का बनाया जाता है, जिससे संयोजक दंड की कोणीयता का प्रभाव भी पिस्टन और सिलिंडर पर कम हो जाता है। यह तेज चाल के लिये लाभकारी होता है, लेकिन अधिक शक्ति उत्पादन के लिये लंबा स्ट्रोक ही लाभदायक होता है। इससे बेयरिंगो पर विकृति कम पड़ती है, जिससे घर्षणी हानियाँ भी कम होती हैं। बड़े क्रैंक के कारण होनेवाली कोणीयता का कुप्रभाव कम करने के लिये संयोजक दंड को क्रैंक से कम से कम चार गुणा लंबा बनाना चाहिए और सिलिंडरों का व्यास कम करना चाहिए।

डिसेक्स अर्थात् खसका सिलिंडर — जब सिलिंडर और क्रैंक धुरे की मध्य रेखा एक सीध में होती है, तब संयोजक दंड की कोणीय स्थिति आने पर, पिस्टन और सिलिंडर की दीवारों पर जो पार्श्व दबाव उत्पन्न होता है, वह विस्फोटक स्ट्रोक के समय इतना बढ़ जाता है कि उसके कारण सिलिंडर और पिस्टन बहुत जल्दी घिसकर दीर्घवृत्ताकार हो जाते हैं। इससे उनमे से गैस चूने लगती है और इंजन की

शक्ति कम हो जाती है। अतः पिस्टन के वलयों को बार बार बदलना और कई बेर तो सिलिंडर का पुनः छिद्रण करवा कर नया पिस्टन भी लगाना आवश्यक हो जाता है। इस दोष के निराकरण के लिये, सिलिंडर को धुरे की मध्य रेखा से कुछ खसका कर स्थापित किया जाता है। ऐसा करने से विस्फोटन के समय संयोजक दंड की कोणीयता घट जाती है। यद्यपि संकुचन और निष्कासन के समय यह बहुत
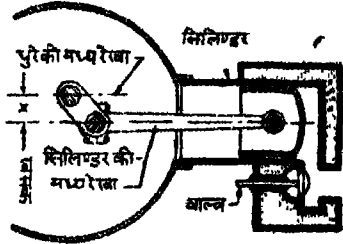
चित्र ९.

बढ़ जाती है, पर उक्त दोनों, ऊपर आनेवाले स्ट्रोकों के शक्ति-उत्पादक न होने के कारण कोई हानि नहीं होती। इस प्रकार के सिलिंडर की रेखाकृति चित्र ९. में दिखाई गई है।

वाल्व — शक्ति उत्पादनार्थ सिलिंडरों में विस्फोटक गैस के प्रवेश तथा निष्कासन पर नियंत्रण वाल्वों द्वारा ही हुआ करता है। प्रज्वलन कक्ष के निकट वाल्व लगाने के स्थान और उन्हें चलाने की यंत्रावली के प्रकार का भी इंजन की कार्यदक्षता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पेट्रोल इंजनों में प्रायः पॉपेट जाति के वाल्व ही लगाए जाते हैं। उलटे एल नुमा (L) शीर्ष में, तो यह बराबर बराबर लगाए जाते हैं (देखें चित्र ५.) लेकिन टी नुमा (T) शीर्ष में एक दूसरे की विरोधी दिशा में
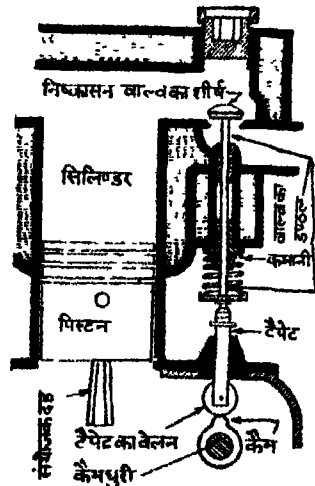
चित्र १०.

लगाए जाते हैं (देखें चित्र ४.) इन दोनों ही अभिकल्पनाओं में वाल्वों को चलाने का प्रबंध कैमों द्वारा होता है, जिनकी योजना चित्र १०. में दिखाई गई है। अंतर केवल यही होता है कि एल (L) आकार के शीर्ष मे प्रवेश और निष्कासन के वाल्व एक ही कैम धुरी से चलाए जाते हैं, और टी (T) आकार के शीर्ष में दोनों वाल्वों के लिये अलग अलग कैम धुरियाँ होती हैं। इन धुरियों को घुमाने के लिये इन्हें प्रधान धुरे से किरों (दंत चक्रों) द्वारा इस प्रकार संबंधित किया जाता है कि कैमधुरी की चाल (चक्कर प्रति मिनट) प्रधान धुरे की चाल से आधी होती है। चित्र ६. में दिखाए गए शीर्षोपरि वाल्वों को खोलने और बंद करने का प्रबंध दोलक भुजाओं द्वारा होता है, जो उनके बीच में लगी एक ही कैम धुरी द्वारा संचालित हुआ करती है। साधारणतया वाल्व किसी टैपेट आदि द्वारा ढकेलकर खोल दिए जाते हैं, लेकिन उन्हें बंद करने का काम एक मजबूत वेष्ठनदार कमानी द्वारा किया जाता है।

प्रधान धुरा और गतिपाल चक्र — प्रधान धुरे की बनावट सिलिंडरों की संख्या पर निर्भर करती है, क्योंकि उसमें उन्हीं के अनुसार क्रैंक बनाए जाते हैं। उसे एक ही ठोस टुकड़े से काटकर भी बनाया जाता है और कई टुकड़ों को जोड़कर भी। धुरे के बेयरिंग ऐसे आकार और प्रकार के बनाए जाते हैं जो उसपर आनेवाली विकृतियों और झटकों को सह सकें। आजकल इन्हें गोल अथवा बेलनयुक्त ही बनाने का रिवाज है। धुरे के पिछले सिरे पर लगाया जानेवाला गतिपालचक्र, एक सिलिंडर वाले इंजन में काफी बड़ा और भारी होता है और चार अथवा उससे अधिक सिलिंडरों वाले इंजनों में अपेक्षाकृत छोटा और हलका होता है, क्योंकि इनको शक्ति-उत्पादक स्ट्रोकें धुरे के एक चक्कर के समविभागों पर क्रमशः होती रहती हैं, जिससे धुरे की चाल एक सी तथा संतुलित रहती है।

चार सिलिंडरयुक्त इंजन — साधारण शक्तिसम्पन्न घरेलू उपयोग की गाड़ियों के लिये चार सिलिंडरयुक्त इंजन ही अच्छे समझे जाते हैं। इनमें धुरे के प्रत्येक चक्कर पर दो दो शक्ति उत्पादक स्ट्रोकें हुआ करते हैं, अतः उनकी चाल सदैव संतुलित और स्थिर रहती है। इनके धुरों पर बने चार क्रैंकों में से एक और चार का जोड़ा एक तरफ और दो और तीन का जोड़ा उसकी विरोधी दिशा में, १८०° के अंतर पर, रहता है। लेकिन यह चारों क्रैंक रहते एक ही समतल मे हैं (देखें चित्र ११.)। यदि हम इंजन के सामने, रेडियेटर के पास खड़े होकर सिलिंडरों को देखें, तो इनके विस्फोटक स्ट्रोकों का क्रम एक, दो, चार और तीन होगा। कई गाड़ियों मे यह क्रम एक, तीन, चार और दो भी रखा जाता है।

छह सिलिंडरयुक्त इंजन — इस प्रकार के इंजनों मे सबसे बड़ा गुण यह है कि इनके क्रैंकधुरों पर घूर्णी-प्रायास सदैव एक समान रहता है, लगभग वैसा ही जैसा कि वाष्प टरबाइनों, अथवा बिजली की मोटर, के धुरों पर हुआ करता है। अतः मध्यम शक्तियुक्त मोटर गाड़ियों में छह सिलिंडरयुक्त इंजन ही लगाए जाते हैं। इसपर दो, दो क्रैंकों के युग्मों की मध्य रेखा दूसरे युग्मों से १२०° के अंतर पर रखी जाती है (देखें चित्र १२.)। अतः इनके सिलिंडरों मे शक्ति का स्पंदन एक दूसरे पर इस प्रकार से अंशाच्छादित रहता है कि जब पिस्टनों के एक युग्म के नीचे जाने के कारण उनकी शक्ति का ह्रास होता है, तब दूसरे सिलिंडर युग्म में शक्ति का स्पंदन आरंभ हो जाता है। इनके सिलिंडरों का विस्फोटन क्रम इस प्रकार होता है : एक, चार, दो, छः, तीन तथा पाँच। इस युक्ति से इंजन में शक्ति का संतुलन ऐसी सुंदरता से होता है कि पूरे यंत्र में अवांछित कंपन उत्पन्न होने ही नहीं पाते।

आठ सिलिंडरयुक्त इंजन — इस प्रकार के इंजन बड़ी शक्तिवाली गाड़ियों में लगाए जाते हैं, जिनमें चार चार सिलिंडरों के दो

जत्थे बनाकर, प्रत्येक जत्थे के सिलिंडरों की मध्य रेखा को दूसरे जत्थे के सिलिंडरों की मध्य रेखा से ४५° अथवा ६०° के कोण पर झुका
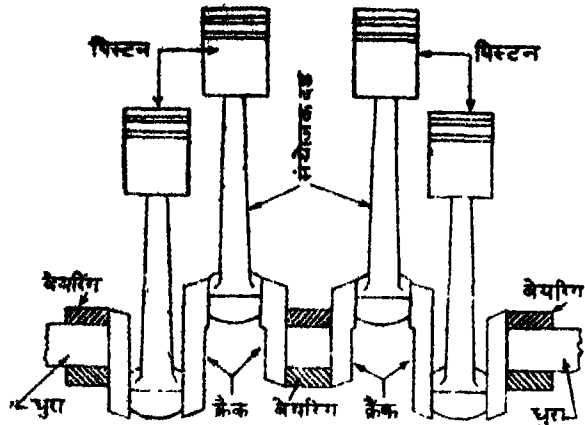
चार सिलिण्डर वाले इंजन की क्रैंक योजना

चित्र ११

कर लगाते हैं, जिससे कि दोनों जत्थों के सिलिंडर आपस में मिलकर एक ही क्रैंक धुरे को चला सकें। ऐसा करने से इंजन यंत्र की लंबाई, चार सिलिंडर इंजन की अपेक्षा, बहुत ही स्वल्प सी बढ़ने पाती है और चौडाई वही रहती है। यदि इंजन के सामने खड़े होकर दाहिने
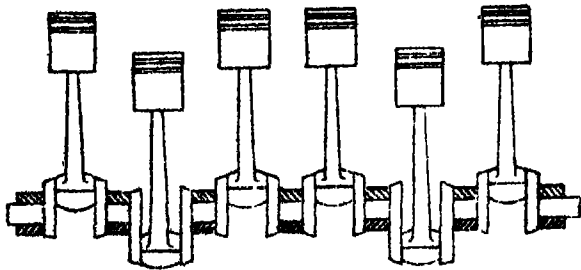
छ सिलिण्डर वाले इंजन की क्रैंक योजना

चित्र १२

और बाएँ जत्थों के सिलिंडरों की गिनती करें तथा उन्हें "द" और "ब" अक्षरों से व्यक्त करे, यथा द१ और ब१ इत्यादि, तो सिलिंडरों का विस्फोटन क्रम इस प्रकार होगा, ब६, द१, ब२, द३, ब१, द६, ब३ और द२।

बारह सिलिंडरों का इंजन — इस प्रकार का इंजन कभी कभी बहुत ही शक्तिशाली गाड़ियों में लगाया जाता है। इसके सिलिंडरों को भी दो जत्थों में बाँटकर वी (V) रूप में लगाते हैं।

अश्वशक्ति — उत्पादित अश्वशक्ति की गणना में इंजन की रफ्तार, सिलिंडरों का व्यास और स्ट्रोक ही प्रधान घटक होते हैं। व्यापारी लोग केवल सिलिंडरों के व्यास के आधार पर ही निरीक्षण मूलक विधि से गणना कर लेते हैं। धुरे के घूमने की रफ्तार ६५० से २,००० चक्कर प्रति मिनट तक हो सकती है, लेकिन उक्त चरम रफ्तार पर बहुत ही कम इंजन पहुँचने पाते हैं। प्रायः मोटर निर्माता, इंजन के साथ गति नियामक लगाकर उसकी रफ्तार को ६५० और ८५० के भीतर ही सीमित रखते हैं। यदि चाहें तो इससे ऊँची रफ्तार, गति नियामक यंत्र को हाथ से निष्क्रिय कर, प्राप्त की जा सकती है। बहुधा सिलिंडरों का स्ट्रोक और व्यास लगभग बराबर ही रखे जाते हैं। डब्लू. जे. लाइन्हाम ने मोटर गाड़ियों की ब्रेक अश्वशक्ति जानने की विधि निम्न प्रकार बताई है :

यदि स्ट्रोक और व्यास को स (S) और व (D) अक्षरों द्वारा व्यक्त करें और यदि व (D) = स (S) हो, तो १,५०० चक्कर प्रति मिनट पर इंजन की ब्रेक अश्वशक्ति = $\frac{व^3}{१०}\left[\frac{D^3}{10}\right]$ प्रति सिलिंडर होगी। यदि रफ्तार ७५० मान ली जाए, तो उपर्युक्त सूत्र का हर २० और १,००० पर १५ होगा। किसी अन्य रफ्तार के लिये उक्त सूत्र का हर जानने के लिये १५,००० को चक्करों की संख्या प्रति मिनट से भाग दे देना चाहिए। यदि पिस्टन का व्यास और स्ट्रोक बराबर न हों, तो अंश व² स (D^2 S) होगा।

कार्बुरेटर — पेट्रोल इंजनों में शक्ति उत्पादनार्थ विस्फोटक मिश्रण तैयार करने का काम कार्बुरेटर यंत्र द्वारा होता है। यह यंत्र चूषण
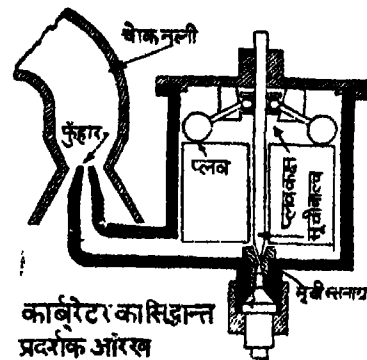
चित्र १३

स्ट्रोक के समय जब कि प्रवेश वाल्व खुला होता है, पेट्रोल की टंकी में से बारीक भीसी के रूप मे पेट्रोल की एक फुहार खींचता है और साथ ही अपने साथ लगे हवावाल्व मे से उचित मात्रा में हवा खींच कर, उसे पेट्रोल के कणो में मिश्रित कर, सिलिंडर में खिच जाने देता है। चित्र १३. में इसकी बनावट सरल कर दिखाई गई है। पेट्रोल की प्रधान टंकी मे से तेल पहले इस यंत्र के प्लवकक्ष मे जमा हो जाता है, जिसमें लगी प्लावक गेंदें पेट्रोल की मात्रा को एक निश्चित तल तक रखती हैं। इंजन चाहे कितना ही तेल खर्च करता रहे, प्लवकक्ष में सूचीवाल्व के द्वारा वह एक सी ही ऊँचाई तक भरा रहता है। पिस्टन द्वारा चूषित होने पर प्लवकक्ष में से तेल खिच कर एक दूसरे मार्ग से फुहार के स्तनाग्र मे जाता है, जिसको चारो तरफ से घेरे हुए एक द्विशंक्वाकार नली और लगी रहती है, जिसे चोक नली कहते हैं। इसी के नीचे के सिरे में से, हवावाल्व के खुलने पर, हवा खिंच कर आ जाती है। हवा के प्रवाह से स्तनाग्र के पास कुछ निर्वात भी हो जाता है, जिसके प्रभाव से पेट्रोल खिंच कर फुहार के रूप में निकलता है। वहाँ हवा से मिश्रित होने पर, विस्फोटक मिश्रण बनकर, सिलिंडर में निर्वात के कारण खिंच कर भर जाता है।

आधुनिक गाड़ियों में कार्बुरेटर तीन प्रकार के होते हैं : एक तो वे जिनमें चोक नली के नीचे के मुँह में से हवा जोर के साथ प्रविष्ट

होने पर स्तनाग्र के पास आंशिक निर्वात हो जाता है, जिसके कारण पेट्रोल की फुहार उठती है। वहाँ एक वाल्व द्वारा हवा की मात्रा

चित्र १४.

पर नियंत्रण कर, वहाँ होनेवाले निर्वात को मात्रा स्थिर कर दी जाती है। दूसरे वे जिनमें निर्वात की मात्रा पर नियंत्रण न कर पेट्रोल की मात्रा पर नियंत्रण किया जाता है। तीसरे प्रकार के यंत्र में पेट्रोल और हवा दोनों पर ही नियंत्रण यांत्रिक रीति से किया जाता है।

इस यंत्र की अभिकल्पना करते समय ध्यान रखा जाता है कि तेज रफ्तार के समय इंजन पर भार कम होने के कारण विस्फोटक मिश्रण को अवश्य कमजोर बना दिया जाए। अतः चाहे तो यह काम हवा की मात्रा को बढ़ाकर किया जाए अथवा तेल की मात्रा को कम कर। जब इंजन को अधिक भार वहन करना होता है, तब उसकी रफ्तार कम हो जाती है। अतः उस समय फुहार के स्तनाग्र के निकट का निर्वातन भी कमजोर हो जाता है। इस कारण उस समय ईंधन कम खिंचने पाता है और हवा ज्यादा। अतः यंत्र मे कुछ ऐसी प्रयुक्ति लगाई जाती है कि उस समय या तो फुहार का आकार बढ़ जाता है, अथवा हवा का प्रवेश मार्ग स्वतः ही छोटा हो जाता है, जिससे विस्फोटक मिश्रण पुनः बलवान् हो जाता है। ध्यान रखने की बात है कि मिश्रण का बलवान्, अथवा निर्बल होना कार्बुरेटर के ताप, वायुमंडल की दाब, तथा उसकी आर्द्रता आदि अनेक बातों पर निर्भर करता है। चाहे कितना भी अच्छा कार्बुरेटर हो, विस्फोटक मिश्रण का लगभग २५% भाग तो बिना शक्ति उत्पादन किए सिलिंडर के निष्कासन मार्गों मे से निकलकर बरबाद हो ही जाता है।

कार्बुरेटर का ताप — पेट्रोल जैसे हलके तेल को भी उद्वाष्पित करने के लिये गरमी की आवश्यकता होती है, अतः कार्बुरेटर को गरम रखने के लिये उसे सिलिंडरों अथवा उनके निष्कासन नलों, के निकट लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त कई गाड़ियों की चोक नली में एक तप्त कटिबंध का प्रबंध किया जाता है, जिसमें कि गैस के प्रवेश नल के एक खंड को निष्कासन नल द्वारा चारों तरफ से घेर देते हैं।

कार्बुरेटर में पेट्रोल पहुँचने का प्रबंध — यह तीन प्रकार से किया जाता है। प्रथम विधि में चित्र १४ क. में दिखाए अनुसार पेट्रोल की टंकी को, जितना भी हो सके, इतनी ऊँची स्थिति में लगाते हैं कि जिससे पेट्रोल गुरुत्वाकर्षण के कारण सरलता से बहकर कार्बुरेटर में आ जाए। आजकल गाड़ियों के फर्श बहुत नीचे बनाये जाते हैं। इस कारण पेट्रोल को बहकर आने के लिये शीर्ष नहीं मिलता। अतः जब पेट्रोल की टंकी नीची और कार्बुरेटर ऊँचा रहता है तब चित्र १४ ख. के अनुसार, डैशबोर्ड पर एक छोटा सा हाथ पंप लगाकर, तीन से पाँच पाउंड प्रति वर्ग इंच की दाब से पेट्रोल को ऊँचा चढ़ाया जाता है। तीसरा तरीका इन दोनों के सिद्धांतों के मिश्रण के आधार पर है (देखें चित्र १४. ग)। इसमे एक छोटी सी टंकी डैशबोर्ड पर लगा दी जाती है, जिसमें प्रधान टंकी से तेल चूषण द्वारा आकर भर जाता है। इस छोटी टंकी के ऊपरी भाग को प्रेरण नलिका से

विद्युतीय प्रज्वालन प्रणाली का तार विन्यास और मैग्निटो

चित्र १५

एक पतली नली द्वारा संबंधित करने से, जब इंजन चलता है तब चूषण स्ट्रोक के समय निर्वात के कारण, बड़ी टंकी का तेल खिंचकर छोटी टंकी में भर जाता है। फिर वहाँ से कार्बुरेटर में प्लवों के द्वारा नियंत्रित होकर भरता रहता है।

विस्फोटक मिश्रण का प्रज्वलन — यह कार्य सभी मोटरगाडियों में बिजली की चिनगारियों द्वारा किया जाता है, जिनका उत्पादन मैग्नेटो यंत्र अथवा बैटरी द्वारा होता है। मैग्नेटो यंत्र एक छोटे डायनामो के समान होता है, जो बिजली की धारा उत्पन्न करने के अतिरिक्त, साथ में लगे अन्य पुर्जों की सहायता से ठीक समय पर, प्रत्येक सिलिंडर मे चिनगारी छोड़कर प्रज्वलन करवाता रहता है।

प्रज्वालक कुण्डली का तार विन्यास

चित्र १६.

मैग्नेटो के साथ घूमती हुई एक स्वचालित स्विच लगा होता है, जिसे धारावितरक कहते हैं। चार सिलिंडर युक्त इंजन के क्रैंक धुरे के एक चक्कर में दो विस्फोट एक साथ हुआ करते हैं, अतः उसी समय के बीच

मैगनेटो के आर्मेचर के एक चक्कर मे विद्युत् धारा की भी दो हिलोरें उठा करती हैं। इसलिये आर्मेचर भी उतने ही चक्कर लगाता है जितना कि इंजन का कैंक धुरा (देखें चित्र १५.)।

मैगनेटो के कार्य — जब मैगनेटो का आर्मेचर घूमता है, तब पहले उसकी प्राथमिक लपेटन में निम्न विभव की धारा पैदा होती है, जो दोलन भुजा में से होकर संस्पर्श विच्छेदक में जाकर, वहाँ लगे दो प्लैटिनम बिंदुओं का आपस मे संस्पर्श रहने के कारण, उसकी स्थिर भुजा में से होकर मैगनेटो में वापस लौट आती है। इस प्रकार उस निम्न विभव की धारा का एक परिपथ पूरा हो जाता है। जब संस्पर्श विच्छेदक के वलय से उसका परिभ्रामी कैम टकराता है, तब दोलन भुजा पर लगे प्लैटिनम बिंदु एक दूसरे से अलग हो जाते
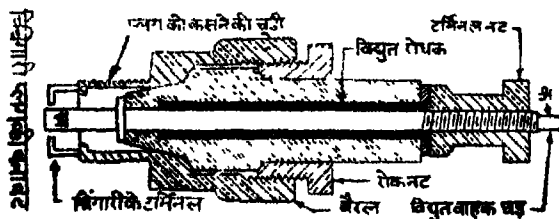
चित्र १७.

हैं, उस समय प्राथमिक लपेटन से निकली धारा संधारित्र में इकट्ठी होकर उलटी दिशा में प्रवाहित होने लगती है, जिससे द्वितीयक लपेटन में उच्च विभव का विद्युनावेश होकर सर्पिल वलय में एकत्र हो जाता है और वहाँ से कार्बन बुरुश में से होकर घूमते हुए वितरक में जाता है। फिर आवेश वहाँ से चिनगारी प्लगों में बारी बारी से जाकर चिनगारी उत्पन्न करता है, और आगे जाकर इसका भू संयोजन हो जाता है। जब संस्पर्श विच्छेदक से कैम हट जाता है, तब दोलन भुजा पर लगे प्लैटिनम बिंदु फिर आपस में मिलकर प्राथमिक परिपथ को पूर्ण कर देते हैं।

बैटरी द्वारा चिनगारी — मैगनेटो का आविष्कार होने के पहले उच्च विभव की चिनगारी प्राप्त करने के लिये सचायक बैटरियों का उपयोग किया जाता था। इनसे प्राप्त विद्युत् धारा को एक तीव्रकारक कुंडली में से प्रवाहित कर, घूर्णी कैम द्वारा चलनेवाले धारा-विच्छेदक से उच्च विभव युक्त कर चिनगारी प्लगों को दिया जाता था। इस युक्ति का तार विन्यास चित्र १६. मे दिखाया गया है। पुराने समय में तो इन बैटरियों को समय समय पर चार्ज करवाना होता था, लेकिन अब ये बैटरियाँ प्रकाश के लिये विद्युत् उत्पन्न करनेवाले डायनेमो से स्वयं ही चार्ज होती रहती हैं। जिन गाड़ियों मे ऐसा प्रबंध है, वहाँ मैगनेटो नहीं लगाया जाता।
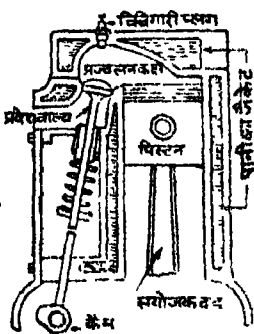
चित्र १८.

चिनगारी प्लग — प्रत्येक सिलिंडर में लगाए जानेवाले चिनगारी प्लगों की बनावट चित्र १७. में दिखाई गई है। उच्च विभव के एक तार का एक छोर 'क' मे आकर उसके अत्यंत निकट अर्थात् १/३२ इंच
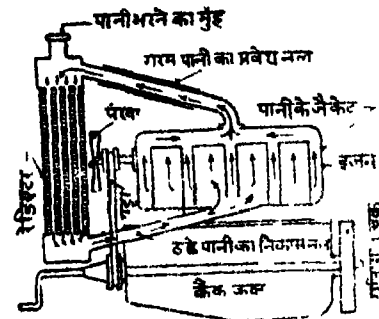
चित्र १९.

के फासले से लगे चिनगारी टर्मिनलों में प्रवेश करते समय चिनगारी छोड़ती है। इस फासले को चिनगारी अंतराल भी कहते हैं, फिर इसमें से शेष धारा भूयोजित हो जाती है।

सिलिंडरों को ठंढा रखने का प्रबंध — पेट्रोल के इंजनों में संपीडन के समय गैसों का ताप लगभग ५००° सें० और ज्वलन के समय का ताप लगभग १५००° सें० हो जाता है। यदि सिलिंडरों को ठंढा रखने का प्रबंध न किया जाए, तो संपीडन स्ट्रोक पूरे होने और चिनगारी छूटने के पहले ही गैसों मे विस्फोट होंगे, स्नेहक तेलों के जल जाने, और पिस्टन आदि के प्रसारित होकर सिलिंडर में जाम हो जाने का डर रहता है। अतः अंतर्दहन इंजनों के सिलिंडरों को ठंढा रखने का कोई प्रभावकारी प्रबंध करना आवश्यक होता है। यह काम दो प्रकार से किया जाता है, एक तो हवा के द्वारा और दूसरे पानी के द्वारा। मोटर साइकिलों के छोटे इंजनों के सिलिंडरों पर बाहर की तरफ पतली पतली बहुत सी पंखुड़ियाँ ढाल दी जाती हैं। मोटर साइकिल के दौड़ते समय, उन पंखुड़ियों से हवा के टकराने पर उनकी गरमी, हवा के साथ ही लुप्त हो जाती है। हवाईजहाज के इंजनों में भी ऐसा ही किया जाता है।
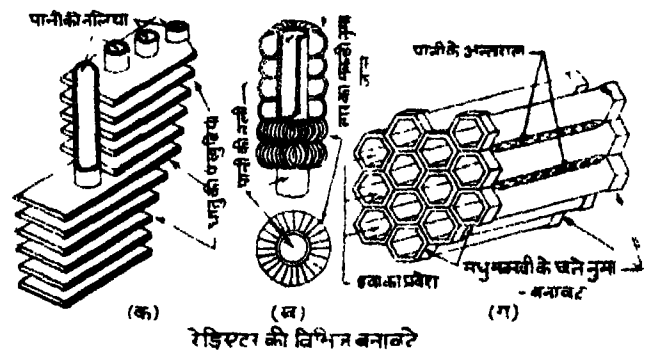
चित्र २०.

आधुनिक मोटरकारों मे जल के माध्यम से संनयन प्रणाली द्वारा गरमी शांत की जाती है। चित्र १८. मे दिखाया गया है कि सिलिंडर और वाल्व प्रकोष्ठों के चारों तरफ तथा ज्वलन कक्ष के ऊपर की तरफ

पानी के परिवहन के निमित्त जैकेट बना दिए गए हैं। चित्र १९. के अनुसार समस्त सिलिंडरों के जैकटों के पानी को ऊपर की तरफ एक सर्वनिष्ठ मार्ग से मिलाकर, इस मार्ग में से एक नल रेडिएटर के ऊपरी छोर से लगाया गया है और रेडिएटर के नीचे के छोर से एक नल सिलिंडरों के जैकटों के निचले सर्वनिष्ठ मार्ग से संबंधित कर दिया जाता है। अंतर्वहन के कारण जैकटों का पानी गरम हो जाने पर ऊपरी नल से रेडिएटर में प्रविष्ट होता है। मोटर के दौड़ते समय सामने से आने वाली हवा द्वारा तथा गाड़ी के खड़े रहते समय, अथवा मंद रफ्तार से चलते समय भीतर लगे पंखे से आनेवाली हवा द्वारा, रेडिएटर की बारीक नलियों, या झिरियों में घूमनेवाला पानी ठंढा होकर नीचे के नल में उतरकर सिलिंडर के जैकटों में लौट जाता है। इस प्रकार सिलिंडरों के जैकटों में गरम हुआ पानी रेडिएटर में ठंढा होकर बराबर सिलिंडरों में चक्कर लगाकर उन्हें ठंढा रखता है। रेडिएटर की नलियों और झिरियों की बनावट चित्र २०. में तीन प्रकार से दिखाई गई है। संवयन प्रणाली द्वारा पानी को परिभ्रमण करवाने के लिये अत्यंत आवश्यक है कि इंजन के मध्य धरातल से रेडिएटर काफी ऊँचा रहे जिससे गरम पानी अपने न्यून घनत्व के कारण स्वत: ही उसमें ऊपर चढ़ सके। कई अभिकल्पनाओं में जब ऐसा होना संभव नहीं होता तब पानी के मार्ग में एक छोटा सा अपकेंद्री पंप लगा दिया जाता है जिससे पानी को बलात् परिभ्रमण करवाया जा सके। इस प्रकार का पंप चित्र २१. में दिखाया गया है। यह पंप
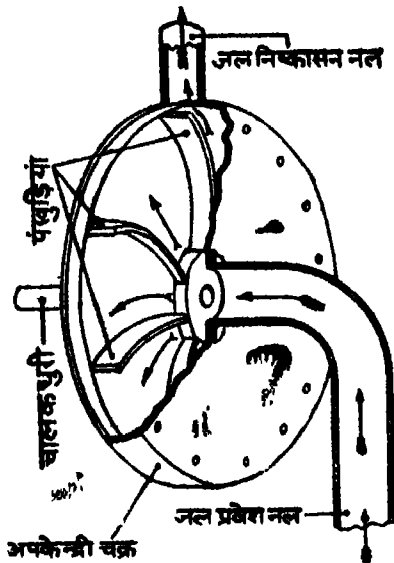
चित्र २१.

बहुत ही कार्यक्षम होता है जिससे इंजन शीतलक प्रणाली का पानी काफी ठंढा रहता है। लेकिन ठंडे देशों में एक सीमा से नीचे ताप का पानी भी हानिकारक होता है, अत: इस पंप के साथ ही, रेडियेटर को गरम पानी ले जाने वाले मार्ग में एक तापस्थायी लगा दिया जाता है। चित्र २२. में दिखाए गए इस उपकरण के भीतर एक विशेष धातु की कुंडली, एक धुरी पर लगा दी जाती है। किसी एक नियत ताप के बाद यह कुंडली प्रसारित होती है जिस कारण उससे संबंधित प्लेट वाल्व खुल जाता है, और पानी अधिक ठंढा होने पर, कुंडली के सिकुड़ने से वाल्व बंद हो जाता है। इस वाल्व के खुलते ही पंप चालू हो जाता है। अत: इस प्रयुक्ति की सहायता से पानी का ताप एक सीमा के भीतर रहता है।

शक्ति प्रेषण — इंजन से उत्पन्न होनेवाली शक्ति को सड़क पर चलनेवाले पहियों तक प्रेषित करने के लिये क्रमश: चार
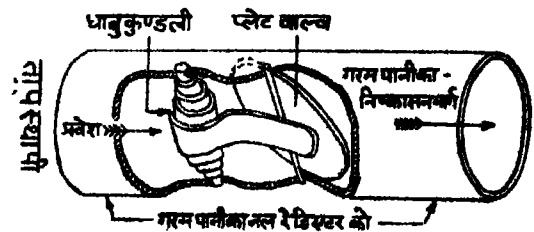
चित्र २२.

साधन मुख्य होते हैं। इस यंत्रावली में सबसे पहले क्लच के माध्यम से गिअर बॉक्स में शक्ति प्रेषित होती है। क्लच के ही द्वारा इंजन और शक्ति प्रेषण यंत्रावली का संबंध जोड़ा, या तोड़ा जाता है। मोटर गाड़ी को चालू करते समय कुछ मिनटों तक केवल इंजन को ही खाली चलने देना आवश्यक होता है, इसी प्रकार गिअर बॉक्स की चाल बदलते समय भी प्रेषण यंत्रावली से इंजन का संबंध विच्छेद करना होता है। यह काम गतिपाल-चक्र से क्लच को छुड़ाने से होता है। दूसरा आवश्यक साधन गिअर बॉक्स है, जिसके द्वारा गाड़ी की चाल मंद, तेज अथवा पलटी जा सकती है। इसके बाद तीसरा साधन नोदक धुरा है जिसके दोनों सिरों पर सर्वदिक् संधियाँ लगी होती हैं, जिनसे एक तरफ तो गिअर बॉक्स और दूसरी तरफ पिछले पहियों की चालक धुरी का संबंध मिलाया जाता है। चौथा अंतिम साधन पिछले पहियों की चालक धुरी है जिसके बीच में लगा प्रतिकारी गिअर पहले तो नोदक धुरे द्वारा प्राप्त इंजन की चाल को परिष्कृत कर उसे दोनों पहियों की तरफ समकोण में मोड़ देता है, दूसरे मोटर गाड़ी के घुमाव मार्ग पर चलते समय दोनों पहियों की चाल में आवश्यक समायोजन कर देता है। उपर्युक्त सब साधनों के स्थान चित्र १. और २. में दिखाए गए हैं।

क्लच — एक प्रकार का फंदा है, जो इंजन के घूमते हुए गतिपाल चक्र में फँसकर गाड़ी को शक्ति प्रेषण करनेवाले साधनों को चलाता है। सबसे सरल प्रकार का कोन क्लच होता है जिसकी बनावट चित्र २३. मे दिखाई गई है। इसमें गतिपाल चक्र को बीच में से शंक्वाकार खोखला कर उसमें उसी शंक्वाकार नाप के किनारे की एक थाली बैठा देते हैं, जो अपनी धुरी पर लगी एक कमानी के दबाव के कारण गतिपाल चक्र के खोखले में आकर बैठ जाती है और दबाव के कारण उसके किनारों पर घर्षण होने से गतिपाल चक्र के साथ ही घूमकर गिअर बक्स की धुरी आदि को चलाती। क्लच का पादफलक दबाने से कमानी के दबकर छोटी होने पर वह थाली ढीली पड़कर गतिपाल चक्र को छोड़ देती है जिससे इंजन आजादी से अकेला घूमता रहता है।

दूसरे प्रकार का क्लच डिस्क क्लच कहलाता है (देखें चित्र २४.)। इसमें काँसे और इस्पात की एकांतर डिस्कें जब तक कमानी के जोर से गतिपाल चक्र पर घर्षणयुक्त दबाव डालती हैं, तब तक गिअर बॉक्स का धुरा भी घूमता रहता है, और जहाँ पादफलक को दबाने से

कमानी संकुचित हो जाती है, वे डिस्कें ढीली पड़कर गतिपाल चक्र
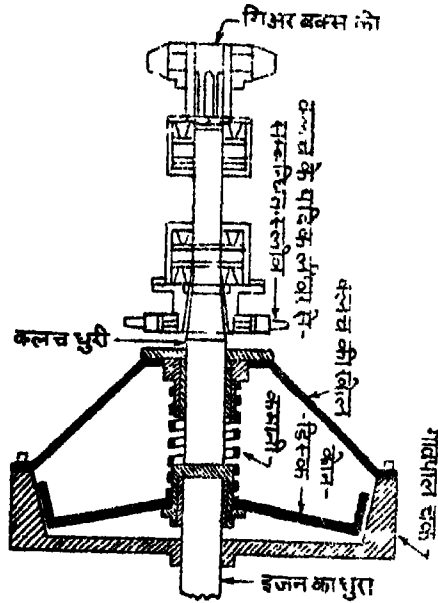
चित्र २३.

को ढीला छोड़ देती है जिससे कि वह इंजन के साथ घूमता रहता है।

गिअर बॉक्स — अंतर्दहन इंजनों की यह विशेषता होती है कि वे जितनी ही अधिक तेजी से चलते हैं, उतनी ही अधिक शक्ति का उत्पादन होता है। मान लीजिए कि कोई इंजन अपनी साधारण रफ्तार पर चल रहा है और गिअर बॉक्स ४ से १ के अनुपात में है,
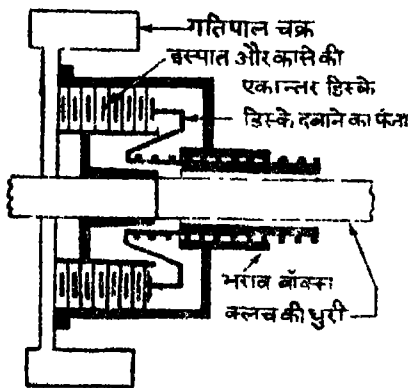
डिस्कक्लच का सिद्धान्त

चित्र २४.

तो गाड़ी को एक निश्चित मात्रा में शक्ति प्राप्त होती रहेगी जिससे वह समतल सड़क पर एक निश्चित रफ्तार से दौड़ेगी। अब यदि उस गाड़ी को एकाएक किसी ऊँचाई पर चढ़ना पड़े, तो इंजन पर अधिक भार पड़ने से वह धीरे चलने लगेगा जिस कारण कम शक्ति का उत्पादन होगा और फलतः गाड़ी भी मंद पड़ जाएगी। अतः गाड़ी की शक्ति को बनाए रखने के लिये यदि गिअर बॉक्स का अनुपात ६ से १ कर दिया जाए, तो गाड़ी के पहिए तो पहले की अपेक्षा धीमी रफ्तार पर चलेंगे लेकिन इंजन अपनी पहली रफ्तार पर ही चलकर उतनी ही शक्ति का उत्पादन करता रहेगा। गिअर बॉक्स को लगाने का उद्देश्य गाड़ी की चाल को यांत्रिक रीति से इस प्रकार बदल देना है कि जिससे इंजन अपने पूरे सामर्थ्यानुसार शक्ति उत्पादन भी करता रहे और उसपर जोर भी न पड़े। दूसरे समतल मार्गों पर भी आवश्यकतानुसार उसे मंद और तेज किया जा सकता है।

चार चाल युक्त गिअर बॉक्स का सिद्धांत — चित्र २५. में दिखाए गए गिअर बॉक्स की तरह के गिअर बॉक्स अधिकतर गाडियों में लगाए जाते हैं। इसमें तीन धुरियाँ होती हैं। क्लच धुरी की सीध में ही गिअर बॉक्स की पनालीदार धुरी होती है, लेकिन एक दूसरे से स्वतंत्र रहती हैं। इसी पनाली धुरी से नोदक धुरी संबंधित रहती है। बॉक्स में क्लच धुरी और पनाली धुरी पर लगे किर्रों (दंतचक्रों) द्वारा संबंधित
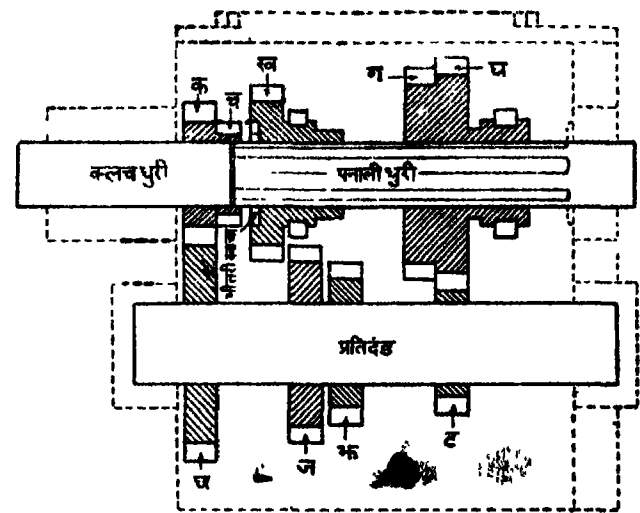
चार चाल युक्त गिअर बॉक्स

चित्र २५.

एक तीसरी स्वतंत्र धुरी भी होती है जिसे प्रतिदंड कहते हैं। क चिह्नित किर्रा क्लच धुरी पर पक्का कसा रहता है और पनाली धुरी पर ख, ग और घ चिह्नित किर्रे इस प्रकार लगे रहते हैं कि उसके साथ घूमते तो हैं ही, लेकिन धुरी की लंबाई की दिशा में आगे पीछे भी पनालियों के भीतर सरकाए जा सकते हैं। प्रति दंड पर छ, ज झ और ट चिह्नित किर्रे एक ही स्थान पर पक्के कसे रहते हैं। किर्रे क और छ निरंतर एक दूसरे से जुटे रहते हैं, जिस कारण क्लच धुरी के साथ साथ ही प्रतिदंड भी घूमता रहता है। किर्रे ख, ग और घ कुत्ता क्लच च के चिमटे द्वारा लिवर की स्थिति के अनुसार पनालियों में आगे पीछे सरकाए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ गिअर के लिवर को निम्न गिअर पर सरकाने से किर्रा घ, किर्रा ट से जुट जाता है। ऐसा करने से नोदक धुरी, जो पनाली धुरी से जुड़ी रहती है, घूमने का अनुपात किर्रे घ और ट के दाँतो की संख्या के अनुपातानुसार हो जाता है। गिअर बॉक्स की दूसरी रफ्तार प्राप्त करने के लिये किर्रे ग को सरकाकर किर्रे झ से जोड़ देते हैं। तीसरी रफ्तार प्राप्त करने के लिये किर्रे ख को ज से जोड़ देते हैं। चौथी सर्वोच्च रफ्तार प्राप्त करने के लिये कुत्ता क्लच च द्वारा क्लच धुरी और पनाली धुरी को आपस में

पक्का कर देते हैं। यह काम क्लच च को किर्रे ख के भीतर बने खाँचों में घुसा देने से होता है। इस समय पनाली धुरी का क्लच धुरी द्वारा प्रत्यक्ष रीति से परिचालन होता है।

अधिचक्री गिअर बॉक्स — कुछ आधुनिकतम अमरीकन गाड़ियों में एक भिन्न प्रकार के गिअर बॉक्स का उपयोग होता है, जिसे स्वपरिवर्तक, अथवा पूर्व निर्वाचित गिअर भी कहते हैं। इसमें विभिन्न चाल देनेवाले किर्रे पहले से ही आपस में जुटे रहते हैं। इनके क्लच द्वारा, जिसे गिअर बॉक्स का ब्रेक भी कहते हैं, प्रत्येक जत्थे पर दाब पड़ते ही वह जत्था अपने आप काम करने लगता है और शेष जत्थे निष्क्रिय हो जाते हैं। चित्र २७. में इस प्रकार के गिअर बॉक्स लगे दिखाए गए हैं। चित्र २६. में एक पूरे गिअर बाक्स की काट दिखाई गई है, जो अधिचक्री सिद्धात पर काम करता है। इस दंत चक्रावली को सूर्य ग्रह गिअर भी कहते हैं, क्योंकि इसके किर्रे उसी प्रकार से घूमते हैं, जैसे कि सूर्य के चारो तरफ ग्रह घूमा करते हैं। चित्र २७. मे इनका विन्यास दिखाया गया है। बीच में लगी चालक धुरी को, इंजन द्वारा घुमाए जाने पर बाहर का वलयाकार दंतचक्र और भीतर के सभी किर्रे घूमते हैं, केवल ग्रह दंतचक्र वाहक फ्रेम नहीं घूमता। जब किसी विशेष गिअर को चालू करना होता है, तब इसके बाहरी वलयाकार दंतचक्र पर क्लच अथवा ब्रेक लगा देते हैं जिससे वह तो स्थिर हो जाता है और भीतर का ग्रह दतचक्र वाहक फ्रेम घूमने लगता है जिससे नोदक धुरी को चाल मिल जाती

चित्र २६
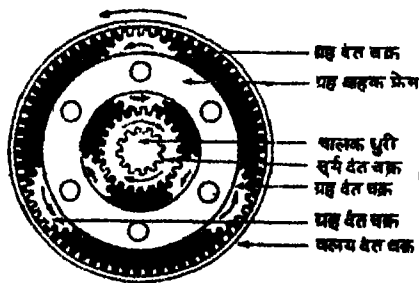
चित्र २७.

है। चित्र २८. में किर्रों के घूमने की दिशा बाणों द्वारा प्रदर्शित की गई है। जिन आधुनिक गाड़ियों में इस प्रकार के गिअर बॉक्स लगाए जाते हैं, उनमें यांत्रिक ब्रेक के बदले द्रव चालित ब्रेक लगाए जाते हैं जिनकी क्रिया तात्क्षणिक और बलवान् होती है, युद्धोपयोगी टैंकों में भी इनका उपयोग किया जाता है।

नोदक धुरी आगे की तरफ से तो गिअर बॉक्स की प्रधान धुरी से और पीछे की तरफ पिछले पहियों की चालक धुरी के व्यासांतरी गिअर बॉक्स से सर्वदिक् संधियों द्वारा जुड़ी रहती है। सड़क की
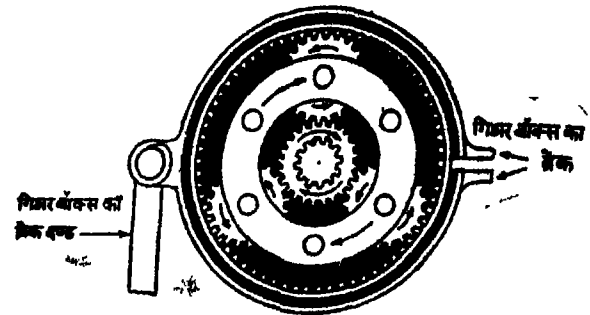
चित्र २८.

ऊँचाई निचाई के कारण गिअर बॉक्स और चालक धुरे के गिअर बॉक्स के सरेखण में जो त्रुटि आ जाती है, वह सर्वदिक् संधियों की लचीली बनावट के कारण दूर हो जाती है।

व्यासांतरी (प्रतिकारी) गिअर बॉक्स — यह पिछले चालक धुरे के बीच लगा होता है। शक्ति प्रेषण यंत्रावली मे यह बड़ी ही महत्व की चीज है, क्योंकि गाड़ी जब किसी घुमाव पर घूमती है, उस समय गोलाई की त्रिज्या के अंतर के कारण घुमाव की तरफ वाला पहिया कम और बाहर वाला ज्यादा चलता है। उस समय व्यासांतरी गिअर द्वारा उसका समायोजन हो जाता है। चित्र २६.

चित्र २६.
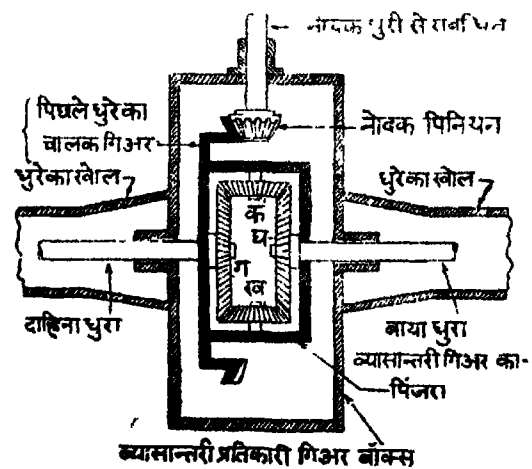
में व्यासातरी (प्रतिकारी) गिअर बॉक्स के क, ख, ग, और घ चिह्नित चार पिनियन दिखाए गए हैं। इनमें से क और ख तो पिंजरे में जड़ी हुई धुरियों पर घूमते हैं और ग एवं घ पहियों को घुमानेवाले आड़े धुरों पर लगे रहते हैं। चित्र २६. को देखने से पता चलेगा कि पहियों का पिछला धुरा दाएँ और बाएँ दो भागों में बँटा हुआ है। जब गाड़ी सीधी सड़क पर चलती है, तब तो ये धुरे नोदक पिनियन और चालक गिअर द्वारा प्राप्त शक्ति से ग और घ की चाल से चलते हैं, इस समय क और ख पिनियन इनमें रहनेवाले अंतराल के कारण स्थिर रहते हैं। जब घुमाव आता है, तब उसके तिरछेपन के कारण

अंतराल खतम हो जाता है, उस समय क और ख पिनियन ग और घ बीवल किरों को चलाते हैं। अतः सड़क के दोनों पिछले पहियों के घूमने की चाल का अंतर क और ख के साथ जुटे हुए ग और घ के दंतानुपात के अनुसार होता है।

चित्र ३०.
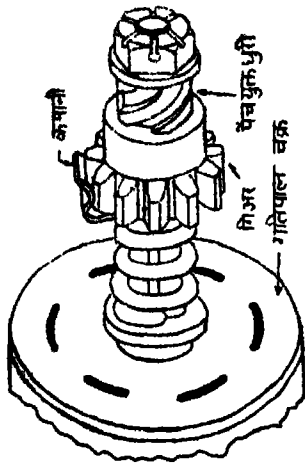
स्वप्रवर्तक (selfstarter) मोटर — मोटर गाड़ी के आविष्कार के प्रारंभिक काल मे उसके इंजन का प्रवर्तन, रेडियेटर के सामने, नीचे की तरफ लगे हैंडिल को हाथ से घुमाकर किया जाता था, जो बड़ा ही परीश्रमसाध्य कार्य था। आधुनिक मोटरगाड़ियों मे बैटरी से चलनेवाली एक छोटी सी मोटर लगा दी जाती है, जिसकी स्विच को दबाते ही उसकी धुरी पर लगा एक किर्री, जो एक कमानी द्वारा अटकाया रहता है, धुरी पर बनी चौकोर चूड़ियों के कारण आगे सरककर तथा एक सर्पिल कमानी को दबाकर गतिपाल चक्र में एक क्लच को उलझा देता है, जिससे उस मोटर की ताकत से गति-

चित्र ३१.
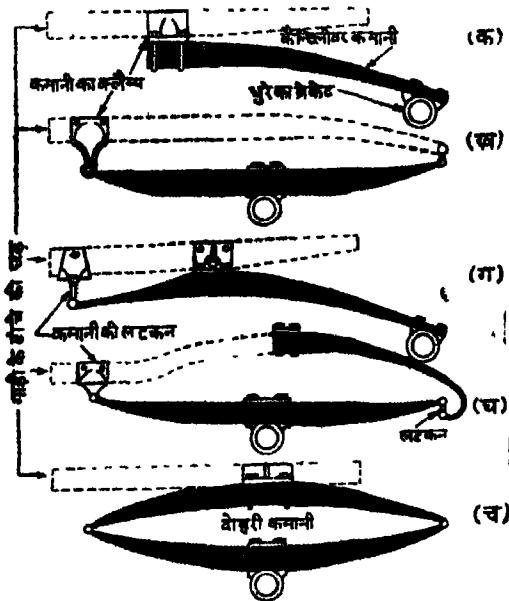
पाल चक्र लगभग एक आध मिनिट तक चलकर इंजन को चालू कर देता है। फिर इंजन के जोर पकड़ने पर वह क्लच स्वयं ही गतिपाल चक्र से हटकर मोटर को बंद कर देता है। चित्र ३०. में इस युक्ति का एक भाग दिखाया गया है।

भारवाहक कमानियाँ — इस प्रकार की कमानियों का प्रत्येक वाहन में बहुत अधिक महत्व रहता है, क्योंकि सड़क की ऊँचाई निचाई के कारण पड़नेवाले झटकों को अपने में अवशोषित कर यह कमानी यात्रा को सुखद बना देती है। वाहन का समस्त बोझा ढाँचे पर लगी कमानियों के माध्यम से पहियों पर आ जाता है। मोटर गाड़ियों में प्रायः पत्तीदार कमानियों का ही अधिक उपयोग होता है। विभिन्न अभिकल्पना की गाड़ियों के ढाँचों मे, परिस्थिति के अनुसार कमानियों को भिन्न भिन्न प्रकार से लगाया जाता है। चित्र ३१. में उन्हें लगाने के पाँच तरीके दिखाए गए हैं।

स्टियरिंग यंत्रावली — मोटरगाड़ी के संचालन में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। चित्र ३२. मे इसका साधारण विन्यास
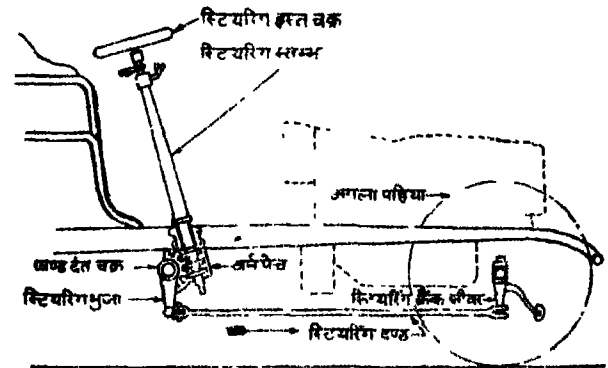
चित्र ३२.

दिखाया गया है। इस यंत्र मे एक स्तंभ के शीर्ष पर एक हस्तचक्र लगा है जिसे दाएं बाएं घुमाने से स्तंभ के भीतर की छड़ घूमती है। इस छड़ के निचले सिरे पर वर्म की चूड़ियाँ बनी हैं जिनके कारण उनसे जुड़ा हुआ एक खंड-दंत-चक्र २–३ दाँत ऊपर, अथवा नीचे की तरफ वर्म की चाल के अनुसार घूम जाता है। इस खंड-दंत-चक्र से लगी स्टियरिंग भुजा भी आगे, अथवा पीछे सरक कर स्टियरिंग दंड को खींचती, या ढकेलती है, जिससे आगे के पहियों का धुरा तिरछा होकर गाड़ी को घुमा देता है। चित्र ३३. मे स्टियरिंग
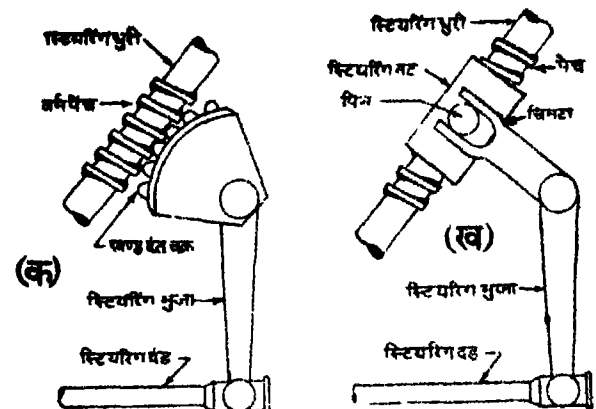
चित्र ३३.

छड़ की चूड़ियों को अलग से दिखाया गया है। आकृति क में तो वर्म की ही चूड़ियाँ है जिनसे ऊपर बताए अनुसार खंड-दंत-चक्र ही चलता है, लेकिन आकृति ख मे छड़ पर चौकोर चूड़ियाँ बनी हैं जिनके घूमने से एक बड़ा नट ऊपर नीचे सरकता है, जिसमें लगी पिन से अटक कर

एक चिमटा त्रिज्यीय दिशा में सरककर उसके नीचे लगी भुजा द्वारा स्टियरिंग दंड को आगे पीछे सरकाता है।

ब्रेक — प्रत्येक स्वचल यान में उत्तम प्रकार के ब्रेकों का होना अत्यंत आवश्यक होता है, जिनकी सहायता से उसे समय पर रोका जा सके। मोटर गाड़ियों में कई प्रकार के ब्रेक लगाए जाते हैं, जिनमें हस्त, अथवा पैर चालित ब्रेक तो अवश्य ही होते हैं। इन ब्रेकों में, ब्रेक के गुटके पहियों पर लगे ड्रमों को बाहर की तरफ से जकड़ कर घर्षण द्वारा गत्यवरोध करते है। दूसरे प्रकार के ब्रेक वे होते हैं, जिनमें पहियों के ड्रमो के भीतर लगे वृत्त खंडीय गुटके किसी कैम के घूमने से फैलकर, ड्रम की भीतरी दीवारों से चिपट कर घर्षण के द्वारा पहियों की गति का रोधन करते हैं। चित्र ३४. में पिछले पहियों पर
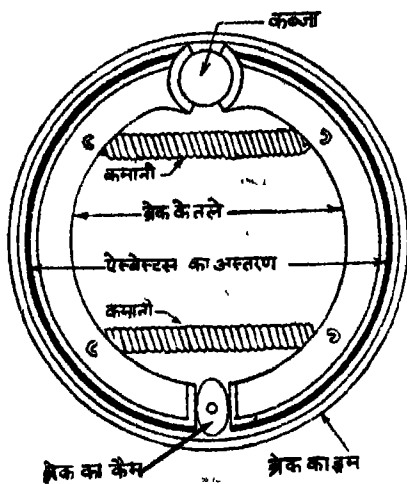
चित्र ३४.

लगनेवाले भीतरी ब्रेक की बनावट दिखाई गई है। यह भी हाथ अथवा पैर चालित लीवर के बल से चलता है। चित्र ३५. मे आगे के पहियों पर लगनेवाले ब्रेक की बनावट दिखाई गई है, क्योंकि गाड़ी
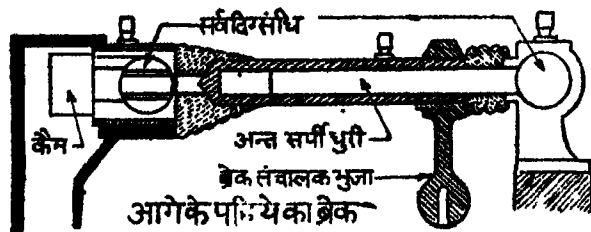
चित्र ३५.

के घूमते समय आगे का धुरा टेढ़ा तिरछा होता रहता है, अतः सर्वदिक् संधियों द्वारा इसकी बनावट लचीली बनाई जाती। आधुनिक मोटर गाड़ियों मे द्रवचालित ब्रकों का भी उपयोग होता है, जो बहुत ही शक्तिशाली होते हैं (देखें ब्रेक)।

प्रकाश — आधुनिक मोटर गाड़ियों मे प्रकाश पर भी बड़ा ध्यान दिया जाता है, जो रात की सफर के लिये बड़ा आवश्यक है। विभिन्न लैंपों के लिये तारों का विन्यास दो प्रकार से किया जाता है। एक ध्रुवी और दो ध्रुवी विन्यास क्रमशः चित्र ३६. और ३७. मे दिखाया गया है। प्रकाश के लिये विद्युत् शक्ति एक डायनामो द्वारा प्राप्त की
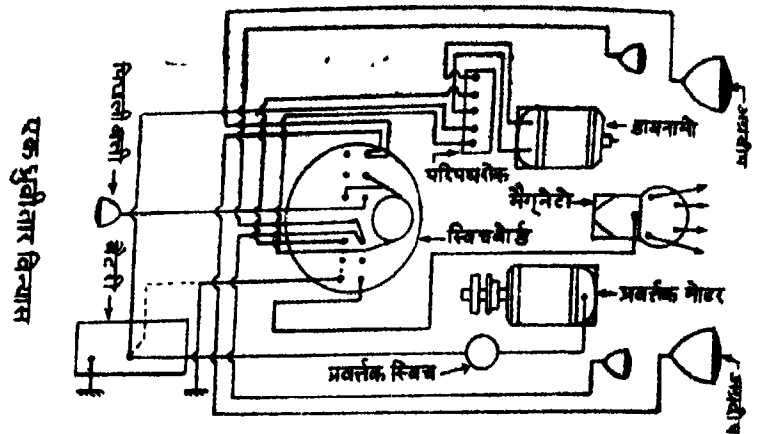
चित्र ३६.

जाती है जिसे चलाने के लिये सीधे इंजन, अथवा उससे चार्ज होनेवाली बैटरियों से शक्ति ली जाती है।

अग्रदीप (Headlight) — प्रकाश विन्यास मे अग्रदीपों से ही मार्ग देखने में सहायता मिलती है। इसके परवलयिक परावर्तकों में दो बल्ब लगाए जाते हैं। चित्र ३८. के अनुसार एक क बल्ब तो परावर्तक के केंद्र पर होता है, जिससे प्रकाश की समातर किरणें बहुत दूर तक जाती हैं। लेकिन आबादी के क्षेत्र में सामने से आनेवाले जन समूह और वाहनों को चौंध से बचाने के लिये इसका उपयोग अवांछनीय समझा जाता है। ऐसे अवसरों पर प्रकाश को सीधा न
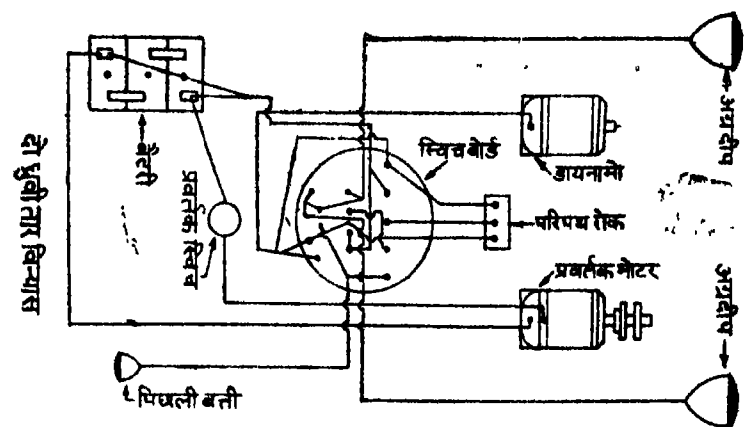
चित्र ३७.

जाने देकर उसे नीचे की तरफ मोड़ देते हैं जिसे डिमर प्रकाश कहते हैं। इससे केवल नीचे की ओर सड़क पर ही प्रकाश रहता है। इस काम के लिये एक दूसरा बल्ब ख केंद्र से कुछ ऊपर उठाकर लगाया जाता है जिस कारण उसी परावर्तक से प्रकाश की किरणें तिरछी होकर सड़क की तरफ झुक जाती हैं। एक बल्ब को बुझाकर दूसरा जलाने के लिये केवल स्विच को सरकाना मात्र ही काफी होता है।

नियंत्रक उपकरण — मोटर चालक के सामने रहनेवाले पट पर जिसे डैशबोर्ड भी कहते हैं अनेक प्रकार के प्रमापी-उपकरण और स्विच आदि, चालक की निगाह और हाथ की पहुंच के भीतर लगे रहते हैं।

चित्र ३९. में ऑस्टिन १६ नामक मोटर गाड़ी का डैशबोर्ड दिखाया
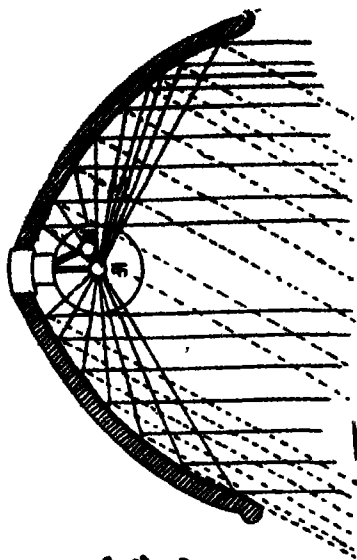
चित्र ३८.

गया है, इनमें से पेट्रोलगेज और चाल प्रमापी गेजों का कार्य सिद्धांत नीचे संक्षेप में दिया जा रहा है :

पेट्रोल गेज — चित्र ४०. में दिखाया गया है कि पेट्रोल की टंकी मे, उसकी सतह पर एक प्लव तैरता रहता है, इसके लीवर के दूसरी
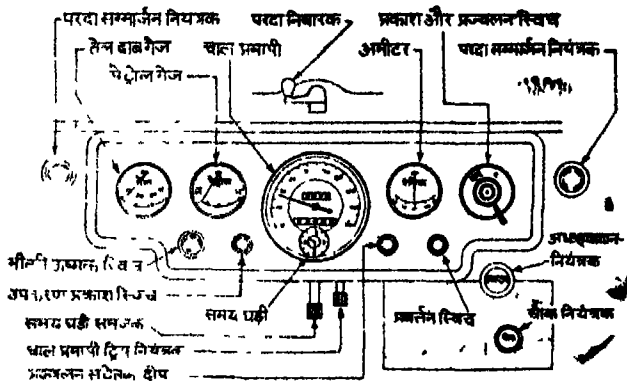
ऑस्टिन १६ का उपकरणपट

चित्र ३९.

तरफ तर्जनी अंगुली के समान एक गतिमान् संस्पर्शक एक कुंडलीय प्रतिरोधक पर, पेट्रोल के तेल के कम ज्यादा होने के अनुसार सरकता
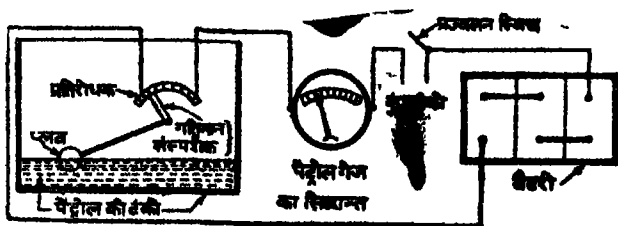
चित्र ४०.

है। संस्पर्शक की स्थिति प्रतिरोधक के जिन बिंदुओं पर होती है उसी के अनुसार हलकी, या तेज विद्युत् धारा बैटरी से प्रवाहित होकर धारामापक से माप ली जाती है। इस धारामापक में विद्युत् धारा की मापों के बदले पेट्रोल की मात्रा की माप लिखी रहती है।

चालदर्शी गेज — इस गेज की रचना चित्र ४१. मे दिखाई गई है। गिअर बॉक्स की एक धुरी पर एक वर्म गिअर लगा होता है और उसी से जुड़ा एक छोटा वर्म घुमता है, जिसके एक सिरे को लचीली धुरी द्वारा चालदर्शी गेज के भीतर सरकनेवाले रैकनुमा स्पिंडल से संबंधित कर देते हैं। इस रैक के नीचे एक खंड दंत चक्र और उससे संबंधित एक सुई लगी रहती है। इस रैकनुमा स्पिंडल के दूसरे सिरे पर अपकेंद्री गति नियामक यंत्र लगा रहता है। जब मोटर तेज चलती है, तब यह स्पिंडल भी उसकी तेजी के अनुपात से घूमता है।
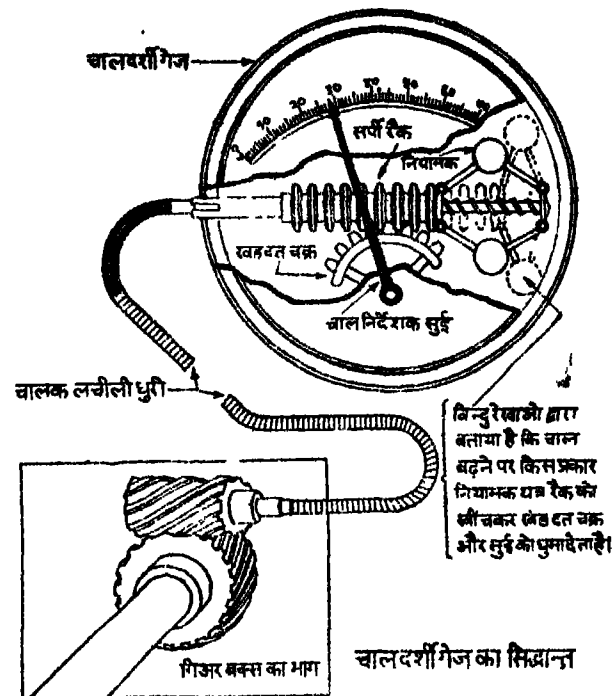
चित्र ४१

जैसे जैसे मोटर की चाल तेज होती है तक नियामक यंत्र की गेंदें भी तदनुसार अपकेंद्री बल से बाहर को प्रक्षिप्त होती हैं, जिस कारण उनसे संबंधित रैक स्पिंडल भी दाहिनी तरफ सरकता है। स्पिंडल के सरकने से उससे जुड़ा हुआ दंतचक्र भी उसी के अनुसार घूमकर सुई को घुमा देता है।

सं० ग्रं० — डब्लू० जे० लाइन्हम : मिकेनिकल इंजीनियरिंग; मोटरिंग मैन्युअल : ओडहैम प्रेस, लंदन, एडवर्ड टी० ब्राउन . मोटरिंग फार ओनर ड्राइवर, : कासल ऐंड कंपनी, लंदन; ऑस्टिन १६ मैन्युअल; न्यू कार : फोर्ड कंपनी, कैनाडा लिमिटेड। [ओं० ना० श०]

मोटरगाड़ी चालन जब कोई व्यक्ति नई गाड़ी खरीद कर चलाता है तब उसकी यही देखने की इच्छा रहती है वह गाड़ी अधिक से अधिक कितनी रफ्तार पकड़ती है। लेकिन ऐसा करना खतरे से खाली नहीं होता। आरंभिक प्रथम १,००० मील की यात्रा में उसे २० मील प्रति घंटा से अधिक चलाना ही नहीं चाहिए। वैसे तो

कारखानों में निर्माण के बाद प्रत्येक मोटर गाड़ी के इंजन को ठीये पर बैठा कर और चलाकर भली भांति जांच लिया जाता है, लेकिन यह अल्पकालिक ही होता है। अतः गाड़ी मे लगाने के बाद भी प्रारंभ में कुछ समय तक उसे धीरे चलाने से उसके सब बेयरिंग और पुर्जे रवाँ हो जाते हैं। ऐसा न करने से कई बार, इंजन के सिलिंडर, बेयरिंग और शक्ति प्रेषण यंत्र बहुत गरम होने से जल और ऐंठ कर इतने खराब हो सकते हैं कि उनकी मरम्मत करना असंभव हो जाय। इस समय उनमें खूब तेल भी दिया जाना चाहिए। सिलिंडरों में बहुत अधिक तेल देने से यही हानि होती है कि वह फालतू तेल जलकर, सिलिंडरों में कार्बन के रूप में जम जाता है, जिसे प्रथम १,००० मील की यात्रा के बाद ही साफ करना आवश्यक हो जाता है। फिर बाद में ३,००० मील की यात्रा के बाद साफ करना आवश्यक हो जाता है। गाड़ी की सुरक्षा के लिये उपर्युक्त सावधानी बरतनी ही चाहिए।

संचालन विधि — सफल मोटर ड्राइवर बनने के लिये उसके नियंत्रक उपकरणों का उपयोग और बाजार की भीड़ भाड़ में से, बिना टकराए गाड़ी चलाना ही काफी नहीं होता। प्रथम योग्यता तो एक आध घंटे मे ही प्राप्त की जा सकती है। एक दक्ष ड्राइवर की यही पहचान है कि वह सब प्रकार के मार्गों पर औसत उच्चतम रफ्तार से, अपनी और जनता की सुरक्षा का पूर्णतया ध्यान रखते हुए गाड़ी को चलाते हुए उसे इस प्रकार से सँभाले कि उसमे घिसाई, टूट फूट और पेट्रोल आदि का खर्चा न्यूनतम हो। यह गुण निरंतर अभ्यास से ही प्राप्त होता है।

ड्राइवर को अपनी गाड़ी की चौड़ाई का सही ज्ञान होना आवश्यक है जिससे वह गाड़ी को बिना किसी चीज से टकराए न्यूनतम स्थान मे से निकाल कर ले जा सके। उसे अपनी गाड़ी और दूसरे वाहनों की रफ्तार की सही अटकल लगाने की योग्यता होनी चाहिए। गाड़ी को चालू करते समय नियंत्रक उपकरणों का संचालन इस प्रकार करना चाहिए कि उनकी क्रिया पूर्णतया व्यवस्थित हो। ड्राइवर की निगाह आगे के रास्ते पर लगभग १०० गज की दूरी तक फैली रहनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उसका हाथ, बिना मार्ग से दृष्टि हटाए, सही नियंत्रक उपकरण पर पड़ना चाहिए। नए ड्राइवरों के साथ दुर्घटनाएँ प्रायः इसलिये होती हैं कि वे उपकरणों को देखकर पकड़ने के लिये अपनी दृष्टि मार्ग से हटा लेते हैं। यह योग्यता कई सौ मील की यात्रा कर चुकने के बाद ही प्राप्त होती है। ड्राइवरों को पैर से चलाए जानेवाले उपकरणों की स्थिति का भी सही ज्ञान होना आवश्यक है। प्रायः गाड़ी को एक दम रोकने की इच्छा से पैरचालित ब्रेक दबाने के प्रयास मे नौसिखियों का पैर भूल से फिसल कर त्वरित्र फलक पर पड़ता है, जिससे भारी दुर्घटना हो जाती है। कई ड्राइवर भीड़ भाड़ की जगह पर पैरचालित ब्रेक का ही अधिक उपयोग किया करते हैं, लेकिन उन्हें बगली में लगे हाथ ब्रेक का भी उपयोग करना चाहिए। कई बार आठ दस फुट की दूरी में ही गाड़ी रोकनी पड़ती है। ऐसी स्थिति मे अंदाजा न रहने पर यदि ड्राइवर हाथ ब्रेक को टटोलता ही रह जाए तो दुर्घटना होना निश्चित है।

ड्राइवर के लिये राजमार्गीय नियमों का जानना भी आवश्यक है। याद रखना चाहिए कि सड़क की बाईं तरफ का भाग अपनी गाड़ी और दाहिनी तरफ का भाग सामने से आनेवाले वाहनों के लिये निश्चित है। अपनी ही दिशा मे आगे चलनेवाले वाहनों का अभिलंघन करने के लिये उन्हें अपनी बाईं तरफ छोड़कर उनकी दाहिनी तरफ से

चित्र १.

निकल जाना चाहिए। किसी घोड़ा, या बैलगाड़ी के चालक, अथवा पुलिस के सिपाही के कहने पर ड्राइवर को मोटर एकदम रोकनी चाहिए, संभव है कि घोड़ा, या बैल चालक के वश मे न हो; या चलने में असमर्थ हो। चौराहों पर खड़े सिपाहियों के संकेतों (देखें चित्र १) का तत्क्षण पालन करना चाहिए।
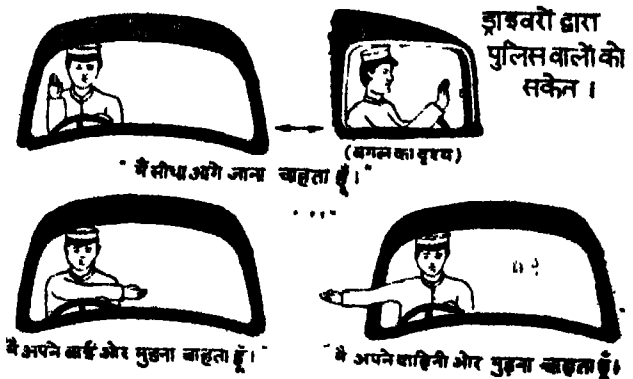
चित्र २.

साथ ही ड्राइवरों को चाहिए कि वे स्वयं किधर को जाना चाहते हैं, यह बात इशारे से पुलिसवालों को भी बता दें (देखें चित्र २)

अपने आस पास चलनेवाले अन्य ड्राइवरों को भी बता दें कि वे रुकना चाहते हैं अथवा किधर को मुड़ना चाहते हैं (देखें चित्र ३.)। आधुनिक राजमार्गों के चौराहों आदि पर यातायात के नियंत्रण के लिये सिपाही तैनात न कर बिजली के स्वचालित संकेत भी लगा दिए जाते हैं, अतः इन्हें भी समझकर तदनुसार कार्य करना चाहिए (देखें चित्र ४.)।

गाड़ी के इंजन को चालू करना — विभिन्न कारखानों की बनी गाड़ियों की रचना में भिन्नता रहने के कारण उनको चालू करने की विधि में भी कुछ भिन्नता होती है। विशेष कर शरद् ऋतु मे कई गाड़ियाँ चालू होते समय कठिनाई उत्पन्न कर देती हैं, अतः पहले से ही उनके नियंत्रक उपकरणों का समंजन उचित प्रकार से कर लेना चाहिए। उदाहरणतः, गाड़ी मे स्वप्रवर्तक यंत्र लगा हो अथवा न लगा हो, प्रत्येक गाड़ी के उपरोधी (throttle) और ज्वालक लीवर को पहले से ही सही समंजित कर रखना चाहिए। यदि गाड़ी मे परिवर्तनशील ज्वालक युक्ति लगी हो, जिससे बिजली की चिनगारी पहले से अथवा विलंबित कर छोड़ी जा सकती हो, तो गाड़ी को चालू करते समय उसे कुछ विलंबित कर देना चाहिए। यदि चिनगारी पहले से छोड़ दी जायगी, तो संपीडित गैस समय से पहले ही जल उठेगी जिससे इंजन की गजेनपिन आदि पर बहुत जोर पड़ेगा। चालू करते ही गिअर बॉक्स के लीवर को तटस्थ स्थिति मे रखना चाहिए और

दूसरे ड्राइवरों को सूचना संकेत।

चित्र ३.

बगली के हाथ ब्रेक को बँधा हुआ (देखिए चित्र ५.) फिर पेट्रोल को खोलकर ज्वालक स्विच लगा देनी चाहिए, जिससे कि उसका भी परिपथ पूरा हो जाए। यदि आवश्यक हो तो कार्बुरेटर को हलके से ठकठका देना चाहिए, जिससे उसके प्रकोष्ठ में पेट्रोल भर जाए। अब यदि स्वप्रवर्तक (self-starter) यंत्र लगा हो, तो उसे चालू कर देना चाहिए, अन्यथा केवल हाथ से घुमाने का ही प्रबंध हो, तो पहले उसके हैंडिल को पूरे दो चक्कर घुमाना चाहिए, जिससे एक सिलिंडर में तो पेट्रोल की गैस संपीडित होकर भर जाए, जो ज्वालन के लिये तैयारी होगी, और दूसरे सिलिंडर में चूषण क्रिया होगी। फिर जब हैंडिल नीचे की तरफ हो, तब उसे एकदम झटके के साथ ऊपर की तरफ घुमाना चाहिए, इस प्रकार ज्वालन होकर इंजन चल पड़ेगा। ज्योंही इंजन चल पड़े बिजली की चिनगारी को अगाऊ कर देना चाहिए। खाली इंजन के कुछ मिनट तक चलने के बाद, जब उसके प्रत्येक भाग में गरमी आ जाए तभी उसपर गाड़ी के प्रेषण यंत्र का बोझा डालना चाहिए। यदि रेडिएटर के साथ जल परिवाहक शटर भी लगा हो, तो सर्दियों में उसे भी एक दो मिनट तक बंद रखना चाहिए, जिससे जैकेट के पानी में हलकी सी उष्णता आ जाए।

चित्र ४.

खड़ी गाड़ी को चालू करना — उपर्युक्त क्रियाओं द्वारा जब इंजन भली भाँति चलने लगे तब क्लच के फलक को दो चार सेकंड तक दबाकर गाड़ी के प्रेषण यंत्र को निम्न गिअर में लगाना चाहिए। इस समय बगली का ब्रेक लगा रहना चाहिए और एक पैर को त्वरित्र फलक पर रखकर क्लच को धीरे से लगा देना चाहिए। फिर इंजन के त्वरा पकड़ते ही ब्रेक को छुड़ा देना चाहिए। इस प्रकार गाड़ी धीमी रफ्तार से आगे बढ़ने लगेगी। कई आधुनिक गाड़ियों में उसके चालू होने के तुरंत बाद ही दूसरा गिअर लगा दिया जाता है।

गिअर बदलना — निम्न गिअर से दूसरे गिअर पर बदली करने के लिये क्लच फलक को थोड़ा ही दबाना चाहिए, पूरा नहीं। इस समय त्वरित्र फलक को आजाद छोड़ देना चाहिए, गिअर लीवर को एक क्षण के लिये तटस्थ स्थिति में रखकर उसे ऊँची स्थिति मे सरका देना चाहिए। इसके बाद क्लच को धीरे से लगा देना चाहिए। फिर त्वरित्र फलक को दबा देना चाहिए, जिससे इंजन पहले जितने ही

गिअर लीवर की विभिन्न स्थितियां

चित्र ५.

चक्कर लगाने लगे। गाड़ी को और अधिक ऊँचे गिअर पर लगाने के लिये उसे उचित रफ्तार पर चलने देते हुए उपर्युक्त सभी प्रक्रियाएँ

ठहरानी चाहिए। इसमें अंतर केवल यही होगा कि गिअर लीवर को तटस्थ स्थिति में कुछ अधिक क्षणों तक रखना होता है। गिअर को ऊँची अथवा नीची स्थिति में बदलते समय उक्त तटस्थता की अवधि प्रत्येक गाड़ी के लिये भिन्न हुआ करती है। एक बार जब गाड़ी ऊँचे गिअर पर लगा दी जाए तब उसकी रफ्तार में कमी बेशी उपरोधी द्वारा की जाती है।

गाड़ी को धीमे करना और रोकना — जैसा पहले बताया गया है कि यदि ड्राइवर, अपनी निगाह मार्ग पर गाड़ी से लगभग १०० गज आगे तक फैलाए रखे, तो सामने से आनेवालों से बचने, भोंपू बजाने, मोड़ पर घूमने, या चढ़ाई पर चढ़ने के लिये गिअर बदलने अथवा चाल को धीमी करने आदि के लिये काफी समय मिल जाता है, और गाड़ी को दोनों ब्रेक लगाकर झटके से रोकने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यदि गाड़ी को कहीं ठहराना अभीष्ट हो, तो पहले उपरोधी (throttle) को बंद कर देना और त्वरित्र फलक से पैर हटा लेना चाहिए, लेकिन क्लच को लगे रहने देना चाहिए। इस प्रकार गाड़ी की सहज गति के कारण जब इंजन शक्तिरहित होकर खाली चलेगा तो वह एक प्रकार के ब्रेक का काम करेगा, जिससे गाड़ी स्वत: ही धीमी पड़ती जाएगी। फिर अंत मे क्लच को भी छुड़ाकर हाथ अथवा पैर का ब्रेक यथा अवसर लगा देना चाहिए। गाड़ी के ठहरते ही गिअर लीवर को तटस्थ कर देना चाहिए और हाथ ब्रेक बाँध देना चाहिए। यदि गाड़ी को किसी ढाल पर खड़ा करना पड़े, तो बाईं तरफ के अगले या पिछले पहिए को कब पत्थर से अटका देना चाहिए, इस प्रकार गाड़ी लुढ़केगी भी नहीं और ब्रेक पर भी अधिक जोर नहीं देना होगा।

गाड़ी को ठहराने के संबंध में दो बातें याद रखनी चाहिए : (१) गाड़ी को सड़क के मोड़ या कोने पर कभी नहीं खड़ा करना चाहिए। ऐसा करने से अन्य आने जानेवाली गाड़ियों से टक्कर हो सकती है। (२) किसी गली या सीधी चौड़ी सड़क पर भी गाड़ी को किसी दूसरी खड़ी हुई गाड़ी के मुँह के सामने नहीं खड़ा करना चाहिए। ऐसा करना सबको असुविधाजनक होता है।

चढ़ाई के मार्ग पर चलना — ड्राइवर लोग प्राय: यह गलती किया करते है कि चढ़ाई पर चढ़ते समय जब गाड़ी मंद पड़ने लगती है, तब बहुत देर बाद गिअर बदलने का प्रयत्न करते हैं। वैसे तो आधुनिक गाड़ियों की क्रियात्मकता मे काफी लचीलापन होता है और छोटी तथा हलकी चढ़ाइयाँ तो वे वैसे ही उच्च गिअर पर अनायास पार कर सकती हैं, लेकिन उच्च गिअर पर अधिक ऊँची चढ़ाई चढ़ने से इंजन और शक्ति प्रेषण यंत्रों पर अनुचित जोर पड़ता है। सही तरीका तो यह है कि ज्यों ही चढ़ाई आरंभ होनेवाली हो, आवश्यक निम्न गिअर पर प्रेषण यन्त्र को डाल दिया जाए, जिससे गाड़ी अपने मे कुछ अधिक शक्ति संचित कर ले और यह चढ़ाई पर काम आए।

मोड़ पर घूमना — सड़क की मोड़ों पर आगे का रास्ता नहीं दिखाई देने के कारण वहाँ खतरे की संभावना रहती है। अत: अच्छा तरीका यही है कि किसी भी तेज मोड़ अथवा साधारण घुमाव के आने के १०० या १५० गज पहले से ही गाड़ी की रफ्तार क्रमश: कुछ मंद कर दी जानी चाहिए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर गाड़ी को सरलता से जल्दी ही रोका जा सके और घुमाते समय

चित्र ६.

स्टियरिंग पर अधिक जोर न पड़े। यहाँ पर गाड़ी को सड़क के मध्य से जरा सा बाएँ कर लिया जाए, क्योंकि मध्य के निकट से, रास्ते के कोने से आगे का भाग कुछ अधिक दूरी तक देखा जा सकता है। इस प्रकार स्टियरिंग चक्र धीरे धीरे घुमाने से मोड़ आने पर स्वत: ही गाड़ी बाईं तरफ सही चली जाती है।

भीड़ भाड़ में गाड़ी चलाते समय बहुत ही सावधानी की आवश्यकता होती है। हमारे आसपास चलनेवाले व्यक्ति क्या करना चाहते हैं, इस बात का सही अंदाजा लगाना सदैव संभव नहीं होता। अत: ऐसे स्थलों में धीमी रफ्तार से चलना और हमेशा चौकन्ना रहना तथा भोंपू आदि स्पष्ट बजाना चाहिए। आगे चलते हुए दो वाहनों के बीच में से होकर आगे निकलने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। धीमे चलनेवाले वाहनों का अभिलंघन केवल उसी समय करना चाहिए जब सामने से कोई दूसरा वाहन न आ रहा हो। किसी मोड़ पर घूमते समय तो ऐसा कभी भी नहीं करना चाहिए। किसी खड़े हुए वाहन का लंघन करने के पहले सदैव भोंपू बजाना चाहिए।

राज नियम — प्रत्येक मोटर ड्राइवर को राजपथ पर गाड़ी चलाते समय, यदि वह अपनी कुशल चाहता है तो, जनहित को दृष्टि में रखते हुए कुछ नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है, जिनका यहाँ संकेत मात्र किया जाता है :

(१) मोटर गाड़ी की अश्वशक्ति के हिसाब से वार्षिक अथवा त्रैमासिक शुल्क लेकर लाइसेंस दिया जाता है, जिसे मोटर चालक को गाड़ी चलाते समय सदैव अपने पास रखना और पुलिसवालों के माँगने पर उसे दिखाना चाहिए।

(२) प्रत्येक गाड़ी के आगे और पीछे, आयताकार आकृति का नंबर प्लेट लगा रहना चाहिए, जिसकी जमीन काली या सफेद और अक्षर निर्धारित नाप के तथा सफेद या काले रंग में लिखे होने चाहिए।

(३) प्रत्येक गाड़ी पर दो सफेद लैंप आगे की तरफ इस प्रकार लगे होने चाहिए कि आनेवाली गाड़ी की चौड़ाई का अनुमान दूर से ही हो जाए। एक छोटा सफेद लैंप पीछे की तरफ नंबर प्लेट को प्रकाशित करते हुए लगा रहना चाहिए और साथ ही एक लाल बत्ती भी होनी चाहिए। पिछला लैंप सूर्यास्त के आधे घंटे बाद अवश्य जला देना चाहिए तथा सूर्योदय के आधे घंटे पहले तक जलता रहना चाहिए। आगे के अग्रदीप सूर्यास्त के एक घंटे बाद जला देने चाहिए और सूर्योदय के एक घंटे पहले बुझा देने चाहिए।

चाल प्रतिबंध — आबादी की निकटवर्ती सड़कों पर मोटर गाड़ियाँ २० मील प्रति घंटा से अधिक तेज नहीं चलानी चाहिए। आबादी के क्षेत्रों में १० मील प्रति घंटा से तेज न चलाने का प्राय: नियम होता है। इस प्रकार की सूचनाएँ सड़कों के सहारे लगे सूचनापटों पर लिख दी जाती हैं। चाल नियंत्रण और अन्य प्रकार की चेतावनियाँ तथा अन्य भी कई प्रकार की सूचनाएँ प्राय: यथास्थान लगाई जाती हैं, जिन्हें समझकर गाड़ी चलाना आवश्यक है (देखें चित्र ६.)। गाड़ी को सदैव सावधानी पूर्वक इतनी रफ्तार से चलाना चाहिए कि किसी प्रकार की दुर्घटना न हो।

५ दुर्घटना होने पर, चाहे कोई मोटर चालक किसी दुर्घटना से प्रत्यक्षतया संबंधित हो, या न हो, उसे एकदम ठहर जाना चाहिए। यदि पुलिसवाले उससे कोई पूछताछ करें, तो उसका सच्चाई से उत्तर देकर, अपना नाम और पता भी दे देना चाहिए। स्वयं से दुर्घटना हो जाने पर, यदि वहाँ पुलिसवाले न भी हों तब भी ठहरकर दुर्घटना का पूर्ण विवरण लिखकर तथा दो गवाहों के बयान भी लिखकर, उनके नाम और पते सहित हस्ताक्षर भी ले लेने चाहिए। गाड़ियों की टक्कर हो जाने पर उस स्थान को नापकर अपनी गाड़ी की सही स्थिति तथा अन्य संबंधित गाड़ियों की स्थिति अंकित कर उनकी रफ्तार भी लिख लेनी चाहिए। दुर्घटना में यदि कोई व्यक्ति घायल हो गया हो, तो उस स्थल पर मौजूद सभी ड्राइवरों का कर्तव्य है कि वे उस घायल की प्राथमिक चिकित्सा कर निकटस्थ अस्पताल में पहुँचा दें, तथा पुलिस को भी आवश्यक सूचना दे दें। यदि गाड़ी का बीमा करवाया हुआ हो, तो उक्त सब सूचनाएँ बीमा कंपनी को भी भेज देनी चाहिए।

६. गाड़ी ठहराना — यात्रियों की सुविधा के लिये राजमार्ग और गलियों में भी गाड़ी कुछ देर ठहराई जा सकती है, यदि वहाँ ठहराने से यातायात को बाधा न पहुँचे। ऐसे समय में गाड़ी के इंजन को बंद कर ब्रेक लगा देने चाहिए। लेकिन याद रहे कि आम रास्तों पर गाड़ियाँ अधिक देर तक नहीं रोकी जा सकतीं। बड़े शहरों में, खास खास जगहों पर गाड़ी ठहराने के पड़ाव बनाए जाते हैं। यहाँ चाहे जितनी भी देर गाड़ी रोकी जा सकती है। जहाँ ऐसा स्थान निकट हो गाड़ी को वहीं रोकना चाहिए।

सं० ग्रं० — भारतीय राजमार्ग सुरक्षा नियम संग्रह : परिवहन मंत्रालय, भारत सरकार; मोटरिंग फॉर दी ओनर ड्राइवर, कैसल ऐंड कंपनी, लंदन; मोटरिंग मैन्युअल : ओल्डहैम प्रेस, लदन; ऑस्टिन १६ मैन्युअल ऐंड न्यू कार, फोर्ड कंपनी, (कैनेडा) लिमिटेड।

[ओं० प्र० श०]

मोटरवाहन (वाणिज्य में) वाणिज्योपयोगी मोटरवाहन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं : एक तो माल परिवहन के लिये और दूसरे यात्री परिवहन के लिये। छोटे यात्री मोटरवाहनों को टैक्सी और बड़ों को बस कहते हैं। चित्र में यात्रियों के लिये उपयोगी तथा माल ढोने के लिये, विभिन्न प्रकार के चुने हुए वाहनों की १२ रेखाकृतियाँ दिखाई गई हैं, जिनका आधुनिक यातायात में प्राय उपयोग हुआ करता है। इन सब में डीज़ल इंजन की शक्ति से ही काम लिया जाता है।

इस शताब्दी के आरंभ में मोटरगाड़ियाँ केवल धनवानों के घरेलू उपयोग की ही वस्तु थीं। फिर प्रथम विश्वयुद्ध में सैनिक कार्यों में भी इनका खूब उपयोग हुआ। बहुत महँगी तथा छोटी होने के कारण साधारण जनता किराया देकर भी इनका उपयोग नहीं कर सकती थी, साथ ही उनमें सफर करना भी सुविधाजनक नहीं। या सैनिक युद्ध के बाद सेनाविभाग ने मोटरगाड़ियों को बहुत सस्ते दामों पर जनता को बेच दिया, अत: व्यापारी लोगों ने उन मोटरगाड़ियों में आवश्यक परिवर्तन कर, उनका उपयोग तो किया, लेकिन फिर भी वे यात्रियों के लिये सुखदायक और विश्वसनीय न हो सकीं। सन् १९२० के लगभग वायवीय टायर लगाकर मोटरगाड़ी को १४ से २० यात्रियों को ले जाने योग्य तथा कुछ सुविधाजनक बनाया गया। फिर मोटरगाड़ी बनानेवाले कारखानेदारों ने उनमें जहाँ तहाँ अनेक सुधार कर सुखदायक वाहन बनाना आरंभ किया। आज तो दुनिया में लाखों मोटरवाहन रेलवे स्टेशनों से दूरी पर स्थित गाँवों और कस्बों से यात्रियों को रेलवे स्टेशन तक लाते और ले जाते हैं। यही नहीं, वे एक कस्बे से दूसरे तक भी, जहाँ कि रेल की पहुँच नहीं होती, यात्रियों को सुविधापूर्वक पहुँचा देते हैं। जब मोटर के यातायात के लिये उत्तम प्रकार की सड़कें बनने लगीं, तब मोटर गाड़ियों की रफ्तार भी बढ़ा दी गई यात्रीवाहनों की रफ्तार अधिक तेज करने से सड़क के घुमावों पर उनके उलट जाने का डर रहता है, अत. गाड़ियों की अभिकल्पना ऐसी की गई है कि इनकी चौड़ाई में उनके पहियों का टेका (आधार) बढ़ जाए और वाहन का समग्र गुरुत्व केंद्र नीचा हो जाए। यात्रियों के बैठने के आसन अधिक सुखदायक, और उनका असबाब रखने के स्थान सुरक्षित, बना दिए गए। अब अधिक संख्या में यात्रियों को ले जा सकने के कारण रेल की तुलना में यात्राव्यय भी कम हो गया है विभिन्न देशों की सरकारों ने भी कानून बनाकर मोटर यातायात पर अपना नियंत्रण रखना आरंभ किया और मोटर मालिकों से लाइसेंस आदि के रूप में कई प्रकार के कर वसूल कर, सड़कों की व्यवस्था को और भी ठीक कर दिया है। आरंभ में तो रेलवे स्टेशन से ५-१० मील दूर स्थित कस्बों को मोटर से आना जाना ही उचित समझा जाता था और १००-१५० मील की दूरी मोटर बस से तय करना संभव नहीं था, पर सन् १९३० के बाद जब मोटरगाड़ी के यंत्रनिर्माण में काफी उन्नति हो गई और भरोसे के योग्य अच्छी मोटरें बनने लगीं, तब मोटर यातायात का काम बड़े पैमाने पर करने के लिये बड़ी बड़ी कंपनियाँ बनने लगीं। लेकिन उनकी योजना के अनुसार पेट्रोल इंजनों से लंबे सफर बहुत मँहगे पड़ते थे और उनसे भारी माल ढोना भी अशक्य था अत. मोटर गाड़ियों में डीज़ल इंजन का उपयोग किया जाने लगा। एक सुधार और किया गया, वह यह कि पेट्रोल इंजन वाली गाड़ी में इंजन के ठीक पीछे ही चालक का आसन लगाया जाने लगा, डीज़ल

घरेलू गाड़ियों में अब भी होता है। ऐसा करने से मोटर के ढांचे का लगभग आधा भाग अप्रयोजनीय काम में लग जाता है। डीज़ल इंजनों की रचना इस प्रकार से की गई कि उनके बगल में ही चालक का आसन लगाया जाना संभव हो गया और उसके पीछे की समस्त जगह यात्रियों के बैठने तथा माल भरने के लिये काम आने लगी, जिससे उनकी उपार्जन क्षमता बढ़ गई है। इस प्रकार की व्यवस्था से कंपनियों द्वारा बनाई और चलाई जानेवाली मोटरें २०० मील के लगभग, लंबे दौरे करने लगीं। मोटर से यात्रा करने में यह भी सुविधा है कि वह यात्री को उसके घर के कस्बे, या शहर से, चढ़ाकर गतव्य स्थान के बहुत ही निकट तक पहुँचा देती है, जब कि रेल यातायात से ऐसा होना संभव नहीं। रेल के लिये तो इस्पात की मजबूत तथा स्थिर सड़क ही चाहिए, लेकिन मोटर तो साधारण कंकरीली और मिट्टी की सड़क पर भी चल सकती है और विशेष प्रकार की मोटरगाड़ियाँ तो ऊबड़ खाबड़, जंगल, दलदल, रेगिस्तान और बर्फीली जमीन पर भी चल सकती हैं। उपर्युक्त प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हो जाने से कई स्थानों पर तो रेलवे और मोटर यातायात कंपनियों में प्रतिस्पर्धा चालू हो गई है।

मोटर बसों के सस्ते किराए और सुविधाओं को देखते हुए यात्री रेलमार्ग उपलब्ध होते हुए भी १००-२०० मील की दूरी मोटर से ही जाना पसंद करने लगे हैं। दूसरा आकर्षण यह रहा कि साधारणतया किसी एक दिशा को दिन भर में नियत समय पर कुल चार पाँच रेलगाड़ियाँ ही जा सकती हैं, और वह भी अन्य गाड़ियों को पारण, अथवा तेज गाड़ियों को प्राथमिकता, देने के लिये ठहरती जाती हैं, जिससे यात्री उकता जाते हैं, लेकिन मोटरों में यह असुविधा नहीं है। गाड़ी में सवार होने के स्टेशनों पर भी गाड़ी के लिये बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ती है, लेकिन बड़े शहरों के प्रधान डिपो में और बड़े कस्बों मे आधा आधा, या एक एक घंटे बाद भी, गतव्य स्थान को पहुँचानेवाली मोटर मिल ही जाती है। इस प्रकार रेलवे की आमदनी घटने लगी।

कई देशों की रेलवे ने, जो कि तद्देशीय सरकारों के पूर्ण अथवा अर्ध नियंत्रण में थी, अपनी सरकारों पर दबाव डाला कि वे यातायात कंपनियों को हतोत्साह करें, लेकिन जनता का निरंतर प्रश्रय पाते रहने के कारण मोटर कंपनियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। अत: रेलवेवालों ने भी अपने यात्रियों को अधिक सुविधाएँ प्रदान करना आरंभ किया तथा उनकी सरकारों ने भी यह निगाह रखी कि जिन दो शहरों, या कस्बों, को रेल और मोटर दोनों ही जाती हैं, उनके किरायों में बहुत अधिक अंतर न हो। इधर रेलवे ने भी अपने प्रधान प्रधान स्टेशनों से १०-१५ मील दूरी पर स्थित प्रधान कस्बों और महत्वपूर्ण दर्शनीय स्थानों तक अपनी मोटर बसें रेलगाड़ी के मेल के समय पर चलाना प्रारंभ कर दिया है, अथवा यह काम किसी विश्वसनीय मोटर कंपनी को ठेके पर दे दिया है। राज्य की सरकारों ने भी अपने अपने राज्यों में अब राजकीय रोडवेज की स्थापना कर दी है। यह संस्थाएँ पूर्णतया राज्य के नियंत्रण में रहकर, सुव्यवस्थापूर्वक काम कर रही हैं।

माल यातायात — यात्री यातायात की अपेक्षा माल यातायात की अपनी अलग जटिल समस्याएँ हैं। यात्रियों की अपेक्षा माल में ज्यादा वजन केंद्रित रूप में होता है और माल भी अनेक प्रकार तथा आयाम के होते हैं, जिसे ढोने के लिये इंजन के अधिक शक्तिशाली

व्यापारिक मोटरवाहन

(१)- १५ यात्रियों की टैक्सी। (२)- ३० यात्रियों की बस। (३)- ६४ यात्रियों की दोमंजिली शहरी बस। (४)- रोड़ा, पत्थर आदि ढोनेवाला पलट् ट्रक। (५)- छोटा दोपहिया माल ट्रक। (६)- बड़ा चौपहिया माल ट्रक। (७)- लम्बे लट्ठे आदि ढोनेवाला चौपहिया ट्रक। (८)- तरल पदार्थ ढोनेवाला चौपहिया ट्रक। (९)- हवाई अड्डे की पेट्रोलवाहक गाड़ी। (१०)- ग्राम्य ट्रैक्टर। (११)- दलदल और रेगिस्तानी माल वाहक। (१२)- बर्फीले प्रदेश का यात्रीवाहक।
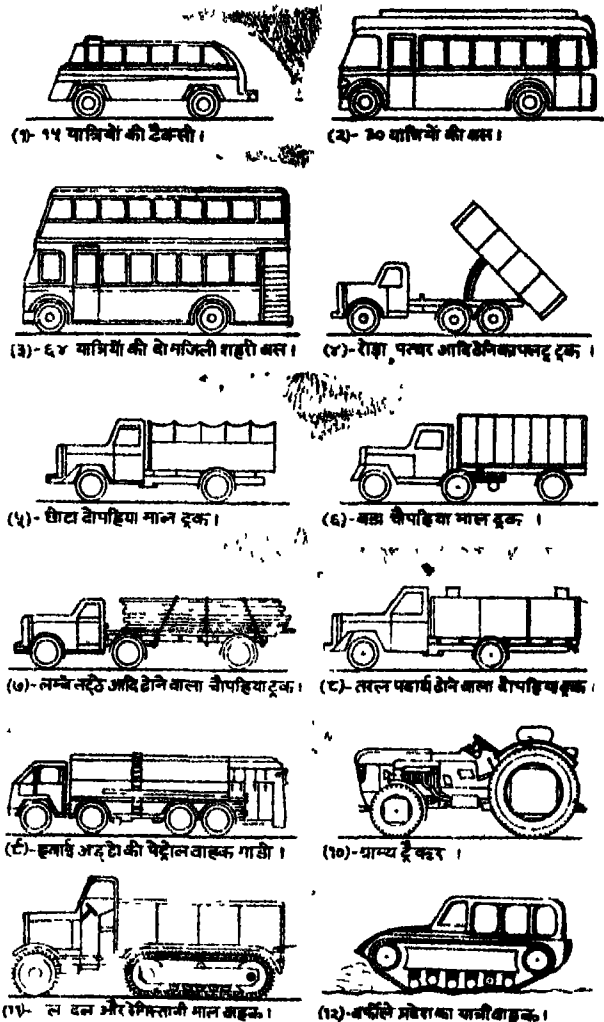
होने के अतिरिक्त वाहन के ढाँचे की बनावट भी माल के अनुकूल ही होनी चाहिए। पेट्रोल इंजनों से माल ढोना बड़ा खर्चीला होता है, और वे इतने शक्तिशाली भी नहीं होते कि वाहन को आवश्यक कर्षण बल मिल सके। अत. रेल द्वारा माल भेजना अधिक सस्ता पड़ता है। रेल द्वारा तो एक रेलवे से दूसरी रेलवे के क्षेत्र में उसी एक डिब्बे को हस्तांतरित कर देते हैं। यदि रेलवे का संबंध एक समान ही गेज से जुड़ा हो, तो, महाद्वीप के एक सिरे से दूसरे सिरे तक माल भेजा जा सकता है। मोटरगाड़ियों में डीज़ल इंजन के उपयोग से शक्ति की समस्या तो हल हो गई है, लेकिन उनके द्वारा अंतरप्रांतीय परिवहन अब भी बड़ी कठिनता से, साधारण समतल भूमि में ही, हो पाता है। इधर देहातों में स्थित एक कारखाने से रेलवे स्टेशन तक माल ले जाना, अथवा रेलवे स्टेशन से मंडियों में स्थित गोदामों में पहुँचाना और बार बार सामान को उतारना और लादना भी कम खर्चीला काम नहीं है। अत. इन सब खर्चों का हिसाब लगाकर और उसमें ईंधन तेल की कीमत, चालक का वेतन तथा गाड़ी का ह्रासमूल्य जोड़कर

निश्चय किया जाता है कि कौन सी विधि सस्ती पड़ेगी। यात्रा के बीच बीच में रेल का उपयोग होने पर उसका भाड़ा भी जोड़ना पड़ता है। कई बड़ी बड़ी व्यापारिक कंपनियाँ, तो अपना निजी मोटरवाहन भी रखती हैं, जिससे उनका विज्ञापन भी हो जाता है तथा माल उपयोगकर्ता, अथवा दुकानदार के गोदामों में सीधा पहुँच जाता है। साधारण छोटी कंपनियाँ ऐसा नहीं कर सकतीं। डीज़ल तेल पेट्रोल की अपेक्षा सस्ता होते हुए भी उसका इंजन बहुत भारी तथा कीमती होता है, अतः गाड़ी का ह्रास मूल्य बढ़ जाता है। दो मील से कम दूरी में और बार बार ठहराते हुए चलना बहुत मँहगा पड़ता है। अतः वहाँ जानवरों से चालित गाड़ी सस्ती पड़ सकती है। दूध, फल, सब्जी, भोज्य पदार्थ आदि छोटी मोटरों से उपयोगकर्ताओं के घरों पर बाँटे जा सकते हैं। भारी माल बहुत दूरी पर स्थित मंडियों में पहुँचाने के लिये बड़े कारखानेदार प्रायः ऐसा प्रबंध करते हैं कि उनकी गाड़ी प्रातःकाल ही माल लेकर जाए और १००–१५० मील का चक्कर लगाकर सायंकाल तक वापस लौट आए। दूध, फल, मछली, आदि खाद्य पदार्थ रेल के स्टेशन पर रेलगाड़ी की प्रतीक्षा मे बहुत देर तक नही रखे जा सकते, अतः उन्हे तुरंत ही मोटर से भेजना लाभदायक होता है।

सं० ग्रं० — दि हिस्ट्री ऐंड डेवलपमेंट ऑव रोड ट्रासपोर्ट, पिटमैन; कॉमर्शल मोटर रोड ट्रांस्पोर्ट, पिटमैन; रामस्वरूप तिवारी : रेल्वेज़ इन मॉडर्न इंडिया, न्यू बुक कंपनी, बंबई; वेस्टर्न फेडरल रिपब्लिक जरमनी के ऐसोसिएशन ऑव डीज़ल इंजन मैन्युफैक्चरर्स द्वारा प्राप्त व्यापारिक सूचीपत्र आदि। [ओं० ना० श०]

मोटरसाइकिल अंतर्दहन इंजन द्वारा चालित दो पहियेवाली साइकिल है। आज मोटरसाइकिल यातायात का एक प्रमुख साधन है। सामान्य बाइसिकिल मे चालक को शारीरिक श्रम द्वारा पैडल चलाकर, चालक शक्ति प्राप्त करनी होती है, पर मोटरसाइकिल में यह शक्ति अंतर्दहन इंजन से प्राप्त होती है। चालक को शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता। शारीरिक श्रम द्वारा उत्पन्न चालक शक्ति सीमित होती है और एक निश्चित दर से बहुत समय तक उत्पन्न नहीं हो सकती। शारीरिक श्रम को कम करने और द्रुत परिवहन के उद्देश्य से ही मोटरसाइकिल का विकास हुआ है।

१८८४ ई० में पहली मोटर ट्राइसिकिल एडवर्ड बटलर नामक एक अंग्रेज द्वारा बनी थी। १८८५ ई० में जर्मनी के गॉटलिएट डीमलर के (Gottliet Daembler) द्वारा पहली मोटरसाइकिल बनी थी। १८९६ ई० तक ग्रेटब्रिटेन में मोटरसाइकिल लोकप्रिय नही रही। १८९७ ई० में लंदन मे केवल आठ मोटरसाइकिलें बनी थीं। १९०३ ई० तक इनकी संख्या ५० हो गई थी। उसके बाद से मोटर साइकिल की लोकप्रियता बढ़ने लगी और साथ साथ उनकी सख्या में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। आजकल मोटरसाइकिलें यूरोप, अमरीका, जापान आदि अनेक महाप्रदेशों तथा देशों में बनती हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में भी मोटर साइकिलें बनने लगी हैं।

पहले पहल बाइसिकलों में इंजन जोड़कर मोटर साइकिलें बनीं। उस समय इंजन का स्थान निश्चित नहीं था। पर शीघ्र ही मालूम हो गया कि इंजन का सर्वोत्कृष्ट स्थान फ्रेम का मध्य भाग है, क्योंकि मध्य में रहने से गुरुत्व का केंद्र नीचे होता है, जिसके कारण नियंत्रण की सुविधा रहती है और स्टियरिंग (steering) के स्थायित्व में वृद्धि हो जाती है। आजकल इंजन युगल नली झूले में, फ्रेम मे पट्ट और काबले (bolts) से, जुड़ा रहता है। मोटरसाइकिल का फ्रेम इस्पात नलों से, झलाई (वेल्डिंग) या पीतल की टँकाई (ब्रेज़िंग) द्वारा, बनाया जाता है।

अधिकांश मोटरसाइकिलों में एक सिलिंडर वाला इंजन होता है। कुछ बड़ी तथा अधिक शक्तिशाली मोटरसाइकिलो मे दो या चार सिलिंडर वाले इजन भी होते हैं। एक सिलिंडर वाले इंजन दो स्ट्रोक, या चार स्ट्रोक प्रतिरूप के हो सकते हैं। ये इंजन २५० घन सेंमी० (c. c.) धारिता के होते हैं। आधुनिक काल में मोटर इंजनों की शक्ति का मूल्यांकन अश्व शक्ति से नहीं किया जाता, अपितु यह घन सेंटीमोटर (c. c.) में धारिता से प्रदर्शित किया जाता है। सामान्य मोटरसाइकिलो के इंजन की धारिता, २५० घन सेंमी और शक्तिशाली इंजनों की धारिता १,००० घन सेंमी० तक हो सकती है। इन इजनों में ईंधन के रूप मे पेट्रोल का व्यवहार होता है। ये इंजन वायु अनुकूलित होते हैं।

कुछ अंतर्दहन इंजन चार स्ट्रोक ओटो चक्र (Otto cycle) के सिद्धांत पर कार्य करते हैं। ऐसे इंजन मे दहन स्थिर आयतन में होता है। यहाँ वायु की अधिकता नही होती। इस अंतर्दहन क्रिया में स्फुलिंग ज्वालन और ओटो चक्र की विशेषता होती है। पेट्रोल और वायु को संपीडन के पूर्व मिश्रित किया जाता है। विस्थापन और निर्बाधिता (clearance) आयतन के योग को निर्बाधिता आयतन से भाग देने पर अंतर्दहन इंजन का संपीडन अनुपात ज्ञात होता है। शक्तिशाली इजन का सपीडन अनुपात ऊँचा होता है। मोटरसाइकिल के अंतर्दहन इंजन में वाष्पशील द्रव प्रयुक्त करने पर संपीडन अनुपात ४ : १ से लेकर १२ : १ तक होता है। यह सपीडन अनुपात ईंधन के प्रस्फोटन (detonation) पर निर्भर करता है। यह संपीडन दबाव प्रति वर्ग इंच २०० पाउंड तक हो सकता है। मोटर साइकिल मे कार्बुरेटर, गैस मिश्रण कपाट (valve) तथा ईंधन अंतःक्षेपक होते हैं। इंजन में दहन का दबाव सामान्य संपीडन दबाव का साढ़े तीन गुना से पाँच गुना अधिक होता है। पिस्टन की गति अधिक होने पर मोटरसाइकिल तेज चलती है। यहाँ कम पेट्रोल से अधिक शक्ति प्राप्त होती है। मोटर साइकिल के निर्माण का लागत खर्च भी कम पड़ता है। पर मोटर-साइकिल मे कंपन अत्यधिक होता है। इससे चालक शीघ्र थक जाता है। मोटरकार में अधिक सिलिंडर वाला इजन जोड़कर कंपन दोष दूर किया जाता है, पर मोटरसाइकिल मे ऐसा करने से भार बढ़ जाता है और पेट्रोल अधिक खर्च होता है। अतः दो सिलिंडर से अधिक सिलिंडर वाला इजन मोटरसाइकिल मे साधारणतया प्रयुक्त नहीं होता। साइकल के पिछले पहिये मे पट्टक, चेन और दतचक्र जोड़े जाते हैं। इंजन की दहन गैसें प्रधानतया कार्बन डाइऑक्साइड और कार्बन मोनोऑक्साइड होती हैं। ये गैसे इजन के पीछे, पिछले पहिये के समीप स्थित, निकास नली से बाहर निकलती हैं। मोटरसाइकिल के चक्कों के ऊपर रबर टायर और ट्यूब लगे रहते हैं। इससे चलने में द्रुतता आती है। मोटरसाइकिल में चालमापी भी लगा रहता है। चलाते समय नियन्त्रण के लिये अगले पहिये के ऊपर हैंडल लगा रहता है।

मोटरसाइकिल की सीट आरामदेह होती है। इसमें गद्दी, स्प्रिंग और दुशाख (forks) होने से झटका कम लगता है। इसका पाद-

फलक ऐसा होता है कि पैर उसपर आराम से रखा जा सके। इसका चक्राधार लंबा होता, जिससे पैर में मरोड़ कम होता है। आज कल मोटरसाइकिल के पार्श्व में एक यान भी जोड़ा जा सकता है, जिससे मोटर साइकिल पर दो आदमी आराम से बैठ सकें। साधारणतया यह एक गैलन पेट्रोल से ५० से ६० मील तक चल सकती है। मोटरसाइकिल की चाल प्रति घंटा १८० मील तक पाई गई है। जर्मनी के विलहेल्म हर्टे्स ने १९५० ई० में उपर्युक्त चाल प्राप्त की थी। आजकल मोटरसाइकिल की दौड़, १००, १२५, या २०० मील तक की, अनेक देशों में होती है।

मोटरसाइकिल के उपयोग से अनेक लाभ हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनों ने मोटरसाइकिल द्वारा सेना एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी थी। युद्ध में प्रयुक्त होनेवाली मोटरसाइकिलें मुड़नेवाली होती हैं, जिन्हें हवाई जहाज द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। नगर की पुलिस के पास, लंबी सड़कों की पैट्रोल पुलिस के पास, तथा मिलिटरी पुलिस के पास शीघ्रगमनागमन के लिये मोटरसाइकिलें रहती हैं। सामान्य लोगों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में मोटरसाइकिल का आज अधिकाधिक व्यवहार किया जा रहा है।

[भ० सिं०]

मोड़, सड़कों के सड़कों की दिशा या ढाल में परिवर्तन लाने के लिये, विशेषकर जिन सड़कों पर तेज गाड़ियाँ चलने की संभावना हो, भली भाँति आकल्पित मोड़ आवश्यक होते हैं। मूलतः मोड़ दो प्रकार के होते हैं : क्षैतिज मोड़ (वृत्तीय और संक्रामी) तथा ऊर्ध्वाधर मोड़।

क्षैतिज मोड़ - किसी मुख्य मार्ग पर तेज चलनेवाली गाड़ी के लिये क्षैतिज दिशा में एकदम परिवर्तन लाना असंभव है, जबतक कि वह बिलकुल रुक न जाए। किंतु यदि सड़क में उपयुक्त क्षैतिज मोड़ दिया जाय, तो दिशा परिवर्तन क्रमशः और सुविधा के साथ, रोकने की आवश्यकता का अनुभव किए बिना ही, किया जा सकता है। सड़क जिस चाल के लिये बनी है और उसकी सतह जिस प्रकार की है, इनके ऊपर ही क्षैतिज मोड़ों के अभिकल्पन निर्भर हैं। विभिन्न चालों के लिये न्यूनतम त्रिज्याएँ निम्नलिखित हैं :

आकल्पित चाल	५०, ४०, ३०, २० मील प्रति घंटा
मोड़ की न्यूनतम त्रिज्या	८००? ५००, ३००, १५० फुटों में
मोड़ पर अतिरिक्त चौड़ाई	२, ३, ३, ४ फुटों में

क्षैतिज मोड़ों में उपयुक्त उठान भी देनी चाहिए (देखिए उठान)। मोड़ पर गोले की चौड़ाई भी, जैसा ऊपर की तालिका में दिखाया है, बढ़ा देनी चाहिए। सभी मोड़ अधिकतम व्यवहार्य त्रिज्या वाले होने चाहिए।

संक्रामी मोड़ — सड़क के सीधे भाग पर तेजी से चलती हुई कोई गाड़ी जब भी मोड़ में प्रवेश करती है, तब अपकेंद्री बल की आकस्मिक क्रिया के कारण यात्रियों को कुछ असुविधा की अनुभूति होती है।

संक्रामी मोड़ द्वारा सीधे भाग और वृत्तीय मोड़ के बीच सरल परिवर्तन सुनिश्चित हो जाता है, जिससे सड़क के प्रयोक्ताओं को दिशा परिवर्तन में असुविधा की अनुभूति नहीं होती। मुख्य सड़कों में संक्रामी मोड़ का सामान्य रूप सर्पिल होता है।

ऊर्ध्वाधर मोड़ — सड़क की लंबाई में जहाँ कहीं भी ढाल बदलती है, ढालों के कटान पर उपयुक्त ऊर्ध्वाधर मोड़ देकर गोलाई कर देनी चाहिए। इन मोड़ों से ढाल में परिवर्तन सुगम हो जाता है, जिससे तेज चलनेवाली गाड़ी में यात्रियों को असुविधा की अनुभूति नहीं होती और सड़क का आगे दूर तक का मार्ग दिखाई देता रहता है। ऊर्ध्वाधर मोड़ों के आकल्पन में आकल्पित चाल, आगे कितनी दूर तक दिखाई देना आवश्यक है और कटान पर की ढाल, इन तीन बातों पर विचार किया जाता है। खड़े मोड़ आकृति में प्रायः परवलयिक होते हैं। जब ढालों के कटान पर चोटी बनती है, तब मोड़ उत्तल और जब कटान पर घाटी बनती है, तब वे अवतल होते हैं।

जहाँ दृष्टि दूरी पर्याप्त न हो, मोड़ के दोनों ओर पहुँच-मार्गों पर अग्रिम यातायात संकेत लगा देने चाहिए, और सड़क की मध्य रेखा उचित रीति से चिह्नित कर देनी चाहिए, ताकि गाड़ियाँ सड़क के अपने ही किनारे पर रहें।

सं० ग्रं० — एच० क्रिस्वेल : हाई वे स्पाइरल्स, सुपर एलिवेशन ऐंड वर्टिकल कर्व्ज; एच० सी० इव्ंज : हाई वे कर्व्ज।

[ज० मि० ग्रे०]

मोतियाबिंद वृद्धावस्था मे होनेवाला आँखों का रोग है, जो प्राय. ५० या इससे अधिक आयुवाले व्यक्तियों को होता है। यह रोग वृद्धों में अंधता का विशेष कारण है। भारत में यूरोप या अमरीका की अपेक्षा मोतियाबिंद बहुत होता है। कदाचित् तीव्र धूप और प्रचंड उष्णता, जो उष्ण कटिबंध प्रदेशों की विशेषता है, इस रोग के कारण हैं। किसी विशिष्ट कारण का अभी तक पता नहीं चला है। यूरोप निवासियों में, जिनको सेना में या अन्यत्र किसी स्थिति में भारत में रहना पड़ता है, मोतियाबिंद भारतीयों की अपेक्षा अधिक होता है। अतएव यही माना जाता है कि कड़ी धूप की चमक इस रोग का विशेष कारण है। आहार में किसी प्रकार की न्यूनता मोतियाबिंद बनने में सहायक कारण मानी जाती है। यह न्यूनता किस प्रकार की है तथा किस विशिष्ट अवयव में होती है, यह अभी तक नहीं मालूम हुआ है। हमारे देश के कृषक लोग, जिनमे यह रोग सबसे अधिक पाया जाता है, उत्तम संतुलित आहार से वंचित रहते हैं। भारतीय कृषकों का आहार केवल उनका जीवन बनाए रखता है, किंतु स्वास्थ्यवर्धक अवयवों से रहित होता है। ऐसा भोजन कृषकों में मोतियाबिंद की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दे तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। असंतुलित भोजन के साथ अन्य कारण मिलकर मोतियाबिंद उत्पन्न कर देते हैं। संभव है हारमोनों का कुछ विकार भी मोतियाबिंद उत्पन्न करने में सहायता करता हो।

प्रायः ५० वर्ष की आयु में यह रोग अधिक होता है, किंतु इससे पूर्वावस्था के रोगी भी बहुत संख्या में मिलते हैं। इस रोग में नेत्र के लेंस (lens) पर का संपुट (capsule) अपारदर्शी हो जाता है, जिससे उसके द्वारा प्रकाश किरण पार नहीं जा पाती। इस कारण दृष्टिपटल पर बिंब नहीं बनता।

रोगी अपनी दृष्टि के शनैः शनैः घटने की शिकायत लेकर डाक्टर के पास आता है। किसी रोगी को दिन में कम दिखाई देता है, किसी को रात्रि में। अधिकतर रोगियों को मंद प्रकाश में, जैसे संध्या

समय, सूर्यास्त के पश्चात्, अधिक दिखाई देता है। किसी किसी रोगी को एक नेत्र में द्विदृष्टि (दोहरा दिखाई पड़ना) होती है। प्रारंभिक लक्षण ठीक जीर्ण समलवाय के समान होते हैं, किंतु दोनों में अंतर यह है कि मोतियाबिंद का शल्यकर्म कर लेंस को निकाल देने पर रोगी को प्रदृष्टि आ जाती है, किंतु समलवाय से दृष्टिनाड़ी के तंतुओं की पुष्टि (optic atrophy) हो जाती है और रोगी की दृष्टि सदा के लिये जाती रहती है।

आजकल इस रोग का सफल शल्यकर्म कर रोगी की दृष्टि को पूर्ववत् किया जा सकता है और बहुत बड़ी संख्या मे सफल शल्यकर्म किए जाते हैं। सरकार ने इन शल्यकर्मों के लिये विशेष प्रबंध किया है। इसपर भी ऐसे व्यक्तियों की बहुत बड़ी संख्या है जो गरीबी के कारण अथवा भय से अपने गाँवों में ही रह जाते हैं और शल्यकर्म के लिये अस्पतालों मे नहीं जाते।

किंतु अब भी सतिया लोग कितने नेत्रों को नष्ट करते हैं। वे नोकवाली शलाका को नेत्र में डालकर लेंस को अपने स्थान से हटा देते हैं। लेंस पीछे या नीचे की ओर काचाभ (vitreous) द्रव में गिर पड़ता है। ये लोग संक्रमण तथा शुचिता की आवश्यकता से अनभिज्ञ होते हैं। इस कारण लेंस के वहीं पड़े रहने से अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे नेत्र नष्ट हो जाता है और व्यक्ति अंधा हो जाता है। वृद्धावस्था में अंधता का यह भी एक मुख्य कारण है। सतियों का यह कर्म कानून द्वारा वर्जित होना चाहिए।

लक्षण और चिह्न — रोगी अपनी दृष्टि को शनैः शनैः घटती हुई बतलाता है। दृष्टि के पूर्णतया लुप्त हो जाने में अथवा मोतियाबिंद के पक जाने में छह मास से लेकर दो वर्ष तक का समय लग सकता है। कुछ रोगियों को दिन मे अधिक दिखाई देता है और कुछ को सूर्यास्त के पश्चात्। यह इसपर निर्भर करता है कि लेंस मे अपारदर्शिता कहाँ से प्रारंभ हुई है, केंद्र से या परिधि पर से। पहली दशा मे सूर्यास्त के पश्चात् अधिक दिखाई देगा, जब नेत्र के तारे (pupil) के विस्तार से प्रकाशकिरणें परिधि के पास के भागों में प्रविष्ट हो सकेंगी। दूसरी दशा में प्रकाशकिरणें नेत्र में लेंस के मध्यभाग मे होकर जाएँगी। इस कारण दिन में दिखाई पड़ेगा।

प्रारंभ मे जब तक मोतियाबिंद पकता नहीं, तबतक परितारिका (iris) की छाया दिखाई देगी। इसका कारण संपुट के पीछे स्थित लेंस का अभी तक स्वच्छ रहना है, वह पका नही है। बाहर से टार्च से तारे पर प्रकाश डालने से परितारिका की छाया उसके पीछे ताल पर देखी जा सकती है। रोगी को एक की जगह दो या तीन वस्तुएँ दिखाई दे सकती हैं। इसका कारण लेंस की उत्तलता में असमानता का आ जाना है, जिसके कारण भिन्न व्यासों से किरण के परावर्तन मे भिन्नता आ जाती है। नेत्रदर्शक द्वारा (opthalscope) नेत्र के आभ्यंतर की परीक्षा कर, अपक्व मोतियाबिंद की सदा परीक्षा कर लेनी चाहिए। केवल नेत्र के धूसर प्रतिवर्तन (greyish reflex) पर निर्भर न करना चाहिए। वृद्धावस्था में यह प्रतिवर्तन लेंस वस्तु के अपवर्तनांक के बढ़ जाने के कारण सदा उपस्थित रहता है। धूसर प्रतिवर्तन पर निर्भर करने से, जीर्ण समलवायु को मोतियाबिंद समझकर, रोगी को शल्यकर्म के लिये रुकने को कह दिया जाता है। यह इतनी बड़ी भूल है कि इसके परिणामस्वरूप रोगी की दृष्टि का संपूर्ण नाश हो जाता है।

मोतियाबिंद के प्रकार — मोतियाबिंद के प्रकार निम्नलिखित हैं :

(१) जन्मजात — यह जन्म ही से होता है। इसका कारण वृद्धिकाल मे विटामिन ए की न्यूनता माना जाता है। ऐसे शिशुओं के दाँतों का इनैमल भी पूर्णतया नहीं बनता।

(२) चोट लगने से उत्पन्न — छुरे या तीव्र धारवाले अस्त्रों से चोट लगने पर लेंस अपारदर्शी हो जाता है। यह बालकों में बहुत होता है। ऐसा मोतियाबिंद केवल एक नेत्र में होता है। औद्योगिक क्षेत्रों मे यह मोतियाबिंद अधिक पाया जाता है।

(३) किरणजन्य — मोतियाबिंद ताप की अधिकता, पराबैंगनी तथा इंफ्रारेड किरणों, गहन ऐक्स किरण अथवा रेडियम के उपयोग से उत्पन्न हो जाता है।

(४) ग्रंथिविकारों से उत्पन्न हुआ मोतियाबिंद — सबसे साधारण मधुमेहजन्य मोतियाबिंद है, जिसका कारण अग्न्याशय की लैंगरहैंस की द्वीपिकाओं की पूर्ण क्रिया का न होना है। इसी प्रकार अवटुग्रंथि (thyroid), परावटुग्रंथि तथा पीयूष (pituitary) ग्रंथियों की विकृत क्रियाओं के परिणामस्वरूप भी मोतियाबिंद हो सकता है।

(५) उपद्रवयुक्त मोतियाबिंद — सामान्यतया इसके निम्नलिखित कारण होते हैं :

(क) नेत्र के अर्बुद; (ख) दृष्टिदोष — अत्यधिक वृद्धिकारी (highly progressive) समीपदृष्टि; (ग) रेटिना का पृथक् होना (detachment of retina); (घ) साइक्लाइटिस, आइरिडोसाइक्लाइटिस और कोराइडाइटिस; (च) प्राथमिक रेटिना का ह्रास (primary retinal degeneration); (छ) कोरॉइड तथा रेटिना का शोथ (chroidio-retinitis) तथा (ज) नेत्र के भेदक आघात, जिसमें शल्य भीतर रहे या निकल जाय।

(६) जराजन्य मोतियाबिंद (senile cataract) — यह सबसे अधिक होनेवाला प्रकार है। अन्य प्रकारों की अपेक्षा यह मोतियाबिंद विशिष्ट प्रकार का है, जो वृद्धावस्था में अंधता का मुख्य कारण होता है। इसकी सफल चिकित्सा होती है।

(७) पश्चात् या अनुवारी मोतियाबिंद — यह बाह्य संपुट निष्कासन (extracapsular extraction) का परिणाम होता है।

चिकित्सा — कोई ऐसी ओषधि नहीं है जिससे मोतियाबिंद गल जाय या जिससे रुक सके, यद्यपि बहुत सी ओषधियाँ इसके लिये बाजार में बिकती हैं। सक्कसमेरीटाइमा साइनेरिया एक विख्यात ओषधि है, जो मोतियाबिंद के लिये प्रयुक्त की जाती है, किंतु इसका कोई फल नहीं है। विटामिन सी की बड़ी बड़ी दैनिक मात्राएँ, १००० मिलिग्राम तक, प्रयोग की गई हैं, किंतु परिणाम बिलकुल अनिश्चित रहा है।

सबसे उत्तम और निश्चित चिकित्सा शल्यकर्म है, जिसके द्वारा पक्व अथवा अपक्व मोतियाबिंद निकाला जा सकता है। यदि रोगी की दृष्टि इतनी क्षीण हो गई है कि वह अपना व्यवसाय करने में असमर्थ हो गया है तथा चलना फिरना भी कठिन है, तो शल्यकर्म

ही अत्युत्तम उपाय है। शल्यकर्म दो प्रकार से होता है, एक बाह्य-संपुटी (*extra-capsular*) और दूसरा अंतःसंपुटी (*intra-capsular*)। दूसरी विधि से रोगी को उत्तम दृष्टि आती है।

शल्यकर्म पूर्व क्रिया — नेत्रश्लेष्मा की अणुपरीक्षा, मूत्रपरीक्षा और ऐल्बुमेन के लिये (शकर सामान्य परीक्षा), (विशेषकर रक्तदाब के लिये तथा खाँसी), या अन्य फुफ्फुसीय रोगों के लिये, और नेत्रों की प्रकाश प्रतीति तथा प्रकाश प्रक्षेपण (light perception and projection) परीक्षा करना आवश्यक है।

नेत्र की जाँच — नासाश्रविका (nasolacrimal) मार्ग का खुला होना आवश्यक है। नेत्रांतर दाब की जाँच अवश्य कर लेनी चाहिए।

शल्यकर्म से २४ घंटे पूर्व नेत्र का प्रक्षालन करके पेनिसिलीन *विलयन* २,५०० मात्रक प्रति सी० सी० की शक्ति के विलयन की दो बूँद प्रति दो दो घंटे पर डालनी चाहिए और शल्यकर्म के प्रातःकाल लवण विलयन से धोकर एक प्रति शत मर्क्यूरोक्रोम लगाना उचित है। शल्यकर्म से एक या दो घंटे पूर्व रोगी के नेत्र में ऐनीथेन का एक प्रति शत वाला विलयन प्रति ५-१० मिनट पर तीन बार डाला जाता है। प्रोकेन २ प्रति शत के १.५ सी० सी० और ऐड्रिनेलिन हाइड्रोक्लोराइड १ १००० के ५ बूँद के इंजेक्शन से मोक्षिकी नाड़ी का अवरोध कर दिया जाता है। तत्पश्चात् रोगी को शल्यकर्मशाला में ले जाकर शल्यक्रिया की मेज पर लिटा दिया जाता है।

शल्यकर्म — सर्जन (surgeon) पूर्णतया शुद्ध होकर तथा मास्क पहनकर रोगी के सिर की ओर खड़ा होता है और प्रथम सहायक दाहिनी या बाईं ओर। दूसरा सहायक प्रकाश दिखाता है। नेत्र गोलक के पीछे की ओर प्रोकेन और ऐड्रिनेलिन का एक इंजेक्शन दिया जाता है। लवण विलयन से एक बार फिर नेत्र का प्रक्षालन किया जाता है। नेत्र वर्त्म को काले तागे के टाँके से स्थिर कर, नेत्रस्पेक्यूलम लगा दिया जाता है। अब रोगी को नीचे देखने को कहा जाता है और ऊर्ध्वदंडिका (superior rectus) को पकड़कर, उसमें पीले रंग का तागा पिरोकर उसको भी स्थिर कर देते हैं। कॉर्निया-स्क्लीरा का टाँका स्टालार्ड (stallard) विधि से सहज में लगा दिया जाता है।

अब श्लेष्मलकला (conjunctiva) को पकड़कर, नेत्र गोलक को स्थिर कर, ग्रेफी वेधस पत्र से कॉर्निया का छेदन किया जाता है। वेधसपत्र की नोक को कॉर्निया की परिधि पर, स्क्लीरा के संगम के पास, दाहिने नेत्र में ६ बजे की स्थिति और बाएँ नेत्र में ३ बजे की स्थिति से प्रविष्ट कर, सीधा जाकर दूसरी ओर की ३ या ६ बजे की स्थिति पर भेदकर, वहाँ से ऊपर को काटते हुए चले जाते हैं। कुछ सर्जन १२ बजे की स्थिति तक काटते हैं और वहाँ से किरेटोम कॉर्निया की कैंची से छेदन को बढ़ाते हैं। जब छेदन पूर्ण हो जाता है, तो आयरिस संदंश से आयरिस को पकड़कर, छोटा सा भाग बाहर की ओर को काट दिया जाता है। अब केवल लेंस को निकालना रह जाता है, जिसकी निम्नलिखित दो विधियाँ हैं :

अंतःसंपुटी विधि (Intra-capsular Method)— इस विधि में संपुटी संदंश को बंद कर, छेदन द्वारा भीतर प्रविष्ट कर, तारे (*pupil*) के क्षेत्र में पहुँचकर, वहाँ संदंश को तनिक खोलकर, उससे संपुट को नेत्र के किनारे के पास पकड़कर, धीरे से उखाड़कर, बाहर खींच लिया जाता है। ताल निष्कासक (lens expresser) से कुछ सहायता ली जाती है।

बाह्य संपुटी विधि (Extra-capsular Method) — इस विधि में एक किरेटोम को प्रविष्ट कर, संपुट को छिन्न कर दिया जाता है और लेंस का केंद्रक (nucleus) निकल आता है। तब नेत्राभ्यंतर को *लवण विलयन* से धो दिया जाता है।

अब शल्यकर्म पूरा हो गया। कॉर्निया और स्क्लीरा का टाँका बाँध दिया जाता है। आयरिस को आयरिस रिपॉज़िटर से ठीक ठीक बैठा दिया जाता है। ऊर्ध्वदंडिका में से टाँका निकाल दिया जाता है। ५०,००० मात्रक पेनिसिलीन का श्लेष्मलकला के नीचे इंजेक्शन देकर, ऐसेरीन एक प्रति शत तथा ऐट्रोपीन एक प्रति शत की बूँदें डालकर और ऐक्रोमाइसीन का मरहम लगाकर, पक्ष्मों को बंद करके दोनों नेत्रों पर रुई रखकर, द्विनेत्री पट्टी बाँध दी जाती है। रोगी २४ मिनट तक शय्या पर सीधा सोता है। उसके पश्चात् दूसरे पार्श्व पर करवट ले सकता है। तीसरे दिन पट्टी खोलकर फिर से ऐट्रोपीन की बूँदें डालकर, ऐक्रोमाइसीन का मरहम लगाकर, एक नेत्र पर पट्टी बाँधी जाती है। आठवें दिन टाँके काट दिए जाते हैं। तीन सप्ताह में लाली जाती रहती है। एक मास के पश्चात् चश्मा लगाया जा सकता है। [स० पा० गु०]

मोतीझरा (Enteric fever) तीव्र ज्वर है, जो कुछ सप्ताह तक बना रहता है तथा सालमोनिला टाइफोसा (Salmonella Typhosa) नामक जीवाणु द्वारा उत्पन्न होता है। रोग के प्रमुख लक्षणों में ज्वर, सिर पीड़ा, दुर्बलता, प्लीहा की (Spleeno megaly) तथा त्वचा पर दानों का उभड़ना है। मोती के झरने से सादृश्य के कारण यह मोतीझरा ज्वर कहलाया है। टाइफस ज्वर से चिकित्सकों ने मोतीझरा की पृथक् पहचान और वर्गीकरण किया, क्योंकि दोनों रोगों में लक्षण तथा रोगहेतु पृथक् हैं। अब इस वर्ग का सामूहिक नाम मोतीझरा है, क्योंकि इस समूह में पृथक् पृथक् जीवाणु होते हैं।

सालमोनिला टाइफोसा मनुष्य के शरीर में परजीवी है तथा रोगी के मूत्र तथा मल में बाहर आता है। कभी कभी रोगमुक्त होने पर भी उस व्यक्ति में जीवाणु रहता है तथा उसके मूत्र तथा मुख्यतः मल द्वारा बराबर बाहर निकलता रहता है, जिससे ऐसे व्यक्ति रोग संचारण में बहुत खतरनाक होते हैं तथा ऐसे व्यक्ति रोगवाहक कहे जाते हैं। महामारी (epidemic) के निरोध में इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि भोजन तथा पेय पदार्थ में जीवाणु संक्रमण न हो।

रोगी के मल, मूत्र, जूठे बरतन, ग्वालों के बरतन तथा रसोई में रोगवाहक न होने की परीक्षा, तथा नदी, तालाब, कूप और जल संभरण प्रणाली, जल भंडार में संचयन आदि पर नियंत्रण तथा संदूषण से बचाव, शौचालय में मल मूत्र की समुचित निपटान तथा मलवाहन व्यवस्था, रोगनाशी ओषधियों का प्रयोग, मक्खियों का नाश करना, तथा टी. ए. बी. का टीका लगाना आदि, इस रोग से बचने के प्रमुख साधन हैं। इस रोग का उद्भवन काल १०-१२ दिन है। रोगलक्षण भाँति भाँति के होते हैं, पर मुख्यतः सिर पीड़ा, भूख न लगना, सुस्ती, धीरे धीरे ज्वर बढ़ना,

संनिपात आदि है। त्वचा पर मोती के समान दाने निकलना भी लक्षणों में है।

रोगलक्षण तथा रक्तपरीक्षा, मुख्यतः विडाल टेस्ट (Widal test) विशेष सीरम परीक्षा द्वारा रोग का निदान होता है। रोग का पुनरावर्तन भी प्रायः होता है। रोग में कई समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे आँतों के व्रण से रक्तस्राव, आँत के व्रण में छेद हो जाना तथा पेट की झिल्ली में शोथ हो जाना, निमोनिया, मस्तिष्क प्रदाह आदि।

आधुनिक चिकित्सा में, उचित परिचर्या, उचित मात्रा में तरल पोषक आहार, रोगलक्षणों की चिकित्सा तथा रोग की विशेष ओषधि क्लोरोमाइसिटिन का प्रयोग है। [उ० श० प्र०]

मोतीलाल नेहरू का जन्म १८६१ ई० की ६ मई को आगरे में हुआ। वे अपने पिता की अंतिम संतान थे और पिता की मृत्यु के तीन चार मास बाद उनका जन्म हुआ था। उनका लालन पालन उनके बड़े भाई नंदलाल नेहरू ने किया। १२ वर्ष की उम्र तक उन्हें घर पर ही अरबी और फारसी पढ़ाई गई। कानपुर से 'एंट्रेंस' पास करने के बाद उच्च शिक्षा के लिये वे इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज में भरती हुए। परीक्षा के समय बी० ए० का परचा बिगड़ जाने से वे ग्रेजुएट होने से रह गए।

'हाइकोर्ट-वकील-परीक्षा' में वे सर्वप्रथम घोषित किए गए और उन्हें स्वर्णपदक मिला। तीन वर्ष तक उन्होंने कानपुर में नवशिक्षार्थी (अप्रेंटिस) के रूप में कार्य किया और फिर बड़े भाई की मृत्यु हो जाने पर वे कानपुर से इलाहाबाद लौट आए। पाँच वर्ष में इलाहाबाद के बड़े वकीलों में उनकी गणना होने लगी।

मोतीलाल जी का पहला विवाह लगभग २० वर्ष की उम्र में लाहौर की एक कश्मीरी कन्या से हुआ। एक वर्ष बाद प्रसवकाल में ही उनकी पत्नी और उससे उत्पन्न संतान का निधन हो गया। २२ वर्ष की उम्र में उनका दूसरा विवाह लाहौर के ही एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार की पंद्रह वर्षीया कन्या स्वरूपरानी के साथ संपन्न हुआ।

स्वरूपरानी से हुई पहली संतान की मृत्यु के बाद जवाहरलाल नेहरू का जन्म हुआ। सन् १९०० में विजयलक्ष्मी का और तदनंतर छोटी पुत्री कृष्णा का जन्म हुआ।

बीसवीं सदी के प्रथम दशक ने मोतीलाल जी के जीवन में एक बहुत बड़ा मोड़ ला दिया। वे देश की पुकार सुनकर चुप न रह सके और सक्रिय राजनीति में कूद पड़े।

सन् १९०७ में इलाहाबाद में आयोजित प्रांतीय राजनीतिक परिषद् के अध्यक्ष मोतीलाल जी चुने गए। सन् १९०८ में वे पहली बार संयुक्त प्रांत व्यवस्थापिका सभा के सदस्य हुए। सन् १९०९ में वे कांग्रेस महासमिति के सदस्य बनाए गए। सन् १९१६ में श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा स्थापित होम रूल लीग की ओर उनका झुकाव हुआ और फरवरी, १९१९ में उन्होंने इलाहाबाद से 'इंडिपेंडेंट' नामक एक अंग्रेजी दैनिक का प्रकाशन प्रारंभ किया।

१९१९ में कांग्रेस द्वारा नियुक्त पंजाब हत्याकांड जाँच समिति के सदस्य के रूप में उन्होंने जो प्रशंसनीय कार्य किया उसके फलस्वरूप वे उसी वर्ष कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन के अध्यक्ष मनोनीत हुए। सन् १९२० के असहयोग आंदोलन में वे अपने पुत्र जवाहरलाल के साथ ही गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें छह महीने की सजा हुई।

१९२३ में उन्होंने स्वराज्य पार्टी का निर्माण किया जिसके अध्यक्ष देशबंधु चित्तरंजन दास हुए और वे स्वयं उसके मंत्री बने।

आम चुनाव के बाद वे केंद्रीय असेंबली में स्वराज्य पार्टी के नेता बने। सन् १९२४ में असेंबली के अधिवेशनों में स्वराज्य दल ने मोतीलाल जी के नेतृत्व में जो काम किया वह अपनी ऐतिहासिक विशेषता रखता है।

फरवरी, सन् १९२८ में साइमन कमीशन के भारत आने पर कांग्रेस तथा देश के विभिन्न राजनीतिक दलों और जनता ने उसका घोर विरोध और बहिष्कार किया। कमीशन के इस बायकट के साथ कांग्रेस के प्रस्तावानुसार जो सर्वदल सम्मेलन संगठित हुआ, उसने भारत में उत्तरदायी शासन को आधार मान एक संविधान का मसौदा तैयार करने के लिये एक कमेटी का निर्माण किया। मोतीलाल जी इसके अध्यक्ष चुने गए। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में जो औपनिवेशिक स्वराज्य का लक्ष्य रखा उससे कुछ कांग्रेसवादियों में गंभीर मतभेद हो गया और इसका विरोध किया गया। विरोध करनेवालों में जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस प्रमुख थे। इन दोनों का कहना था कि कांग्रेस का अंतिम लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं वरन् पूर्ण स्वतंत्रता होना चाहिए।

सन् १९२८ के अंत में हुए कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष मोतीलाल जी थे। कांग्रेस का अगला अधिवेशन १९२९ में लाहौर में हुआ, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल जी निर्वाचित किए गए।

इसके बाद गांधी जी ने सन् १९३० का सत्याग्रह छेड़ दिया। इस सत्याग्रह के कार्यक्रम का संचालन, गांधी जी तथा देश के अन्य नेताओं के सिवा प्रधान रूप से पिता पुत्र मोतीलाल और जवाहरलाल ने ही किया। सत्याग्रह के इस आंदोलन में पहले जवाहरलाल जी गिरफ्तार हुए, उसके बाद मोतीलाल जी। इतना ही नहीं, मोतीलाल जी की पत्नी स्वरूपरानी, जवाहरलाल जी की धर्मपत्नी कमला नेहरू, उनकी दोनों पुत्रियाँ विजयलक्ष्मी और कृष्णा, उनके दामाद श्री रणजीत पंडित प्राय. सभी नाते रिश्तेदारों ने स्वतंत्रता के इस यज्ञ में अपनी अपनी आहुतियाँ डालीं। नेहरू परिवार के इस देशप्रेम का श्रेय परिवार के मुखिया मोतीलाल जी को ही था।

मोतीलाल जी जेल में बीमार पड़ गए। अतः उन्हें रिहा कर दिया गया। रिहा होने के बाद भी उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। ६ फरवरी, सन् १९३१ को उनका निधन हो गया।

गांधी जी के शब्दों में 'मोतीलाल जी की मृत्यु हर देशभक्त के लिये ईर्ष्यास्पद होनी चाहिए, क्योंकि देश पर उन्होंने अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया और अंत समय तक देश का ही ध्यान करते रहे।' [गो० दा०]

मोतीहारी स्थिति २६° ४०' उ० अ० तथा ८४° ५५' पू० दे०। यह भारत में बिहार राज्य के चंपारन जिले में एक नगर है। मुजफ्फरपुर

नगर से ८० किमी० दूर पूर्वोत्तर रेलवे के किनारे स्थित चंपारन जिले के शासन का यह प्रमुख केंद्र है। यहाँ पर दरी बनाना, तेल पेरना एवं जाल बनाने के काम होते हैं। नेपाल की सीमा के पास स्थित होने के कारण व्यापार के लिये इसका काफी महत्व है। इसकी जनसंख्या ३२,६२० (१९६१) है। [सु० चं० श०]

मोदिग्लियानी अमेदियो इस इटालियन चित्रकार का जन्म एक यहूदी खेतिहर परिवार में सन् १८८४ में लेगहोर्न में हुआ। सन् १९०६ में वह पेरिस आया और आर्ट स्कूल में प्रविष्ट हो गया पर आर्ट स्कूल में जाने की अपेक्षा वह रेखांकन, चित्रण तथा पत्थरों के शिल्प बनाने का उद्योग अपने स्टूडियो में ही बैठकर करने लगा। उसने देहाती कला और अफ्रिकन प्राचीन मूर्तियों की प्रेरणा से शिल्पकला में अपनी मौलिकता दिखाई।

पेरिस की जिंदगी की अव्यवस्था से वह टूटता ही गया और मन की निराशा को मदिरा में डुबाने लगा। मौंतमार्त्रे और मौंतपारनासी के चित्रकार कवि, विक्रेता, नौकर और महिलाओं को जबरन माडेल बनाकर वह एक ही बैठक में चित्र पूरा कर लेता था। बदामी गहरी आँखें लंबी नाक और ऊँची गर्दन पर रखी अंडाकार मुखाकृति की विशेषताएँ रखते हुए उसने व्यक्तिचित्र बनाए। पोलैंड के कवि जोबावस्की ने उसे अंत तक सँभालने मे सहयोग दिया। आज उसके चित्र काफी महँगे हैं। पेरिस तथा न्यूयार्क की कला गैलरियों में उसकी कुछ कृतियाँ हैं। [भा० स०]

मोने, क्लोद (१८४०-१९२६) सर्वश्रेष्ठ फ्रांसीसी इंप्रेशनिस्ट चित्रकार। सन् १८७४ में फ्रांस की राजकीय ललित कला अकादमी से तिरस्कृत नए चित्रकारों ने मिल जुलकर अपने चित्रों की एक प्रदर्शनी की। इनमें क्लोद मोने भी एक अग्रगण्य कलाकार था। प्रदर्शनी में उसका एक दृश्यचित्र था 'इंप्रेशन सन्राइज' (सूर्योदय का आभास)। यह प्रदर्शनी पुराने कलामर्मज्ञों को बड़ी बेढंगी लगी और इसके खिलाफ उन्होंने अखबारों मे कटु आलोचनाएँ प्रकाशित करवाईं। एक आलोचक ने, जो क्लोद मोने के चित्र 'इंप्रेशन सन्राइज' से काफी भड़का था, इन नए कलाकारों को 'इंप्रेशनिस्ट्स' कहकर अपनी आलोचना में इनकी खिल्ली उड़ाई। तब से इन नए कलाकारों द्वारा प्रतिपादित कला का नाम ही पड़ गया 'इंप्रेशनिज्म'।

क्लोद मोने इंप्रेशनिस्ट चित्रकला का प्रमुख प्रतिनिधि कलाकार माना जाता है। बाल्यकाल मे ही वह ग्राहकों, सहपाठियों, अध्यापकों तथा राह चलते लोगों का चेहरा बनाने लग गया था। इनमें से कुछ तो उसके चित्रों को साधारण दाम देकर खरीदने भी लग गए थे। इससे बालक मोने तथा उसके माता पिता को भी प्रेरणा मिली। १९ वर्ष की अवस्था में वह पेरिस के कलासंग्रहालय 'लूव्र' में जाकर चित्र बनाने लगा। तत्पश्चात् कला की अग्रगण्य संस्था स्विस अकादमी में भी उसने प्रवेश प्राप्त किया। यहीं उसकी मुलाकात एक अत्यंत जागरूक कलाकार पिस्सारो से हुई। पिस्सारो ने ही उसको कला के नए विचारों से परिचित कराया जिनके आधार पर आगे चलकर 'इंप्रेशनिज्म' नामक चित्रकला विकसित हुई।

मोने की चित्रकला की सबसे प्रमुख विशेषता है चित्रों में रंगों का संमिश्रण। वह दृश्यस्थल पर जाकर अपने चित्र बनाता था। उसका विश्वास था कि जब तक सूर्य के प्रकाश में पूरी तरह खुली जगह में चित्र न बनाया जाय, रंगों की शोभा चित्र में पकड़ी नहीं जा सकती। सूर्य के खुले प्रकाश में ही प्रकृति की सभी वस्तुएँ अपने वास्तविक रंगों में प्रगट होती हैं। सूर्य के प्रकाश के द्वारा प्रकृति एक सुंदर आवरण धारण करती है और इसे ही चित्रित कर पाना सफल कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए। इस दृष्टि से मोने के चित्र सचमुच अत्यंत रोचक तथा प्रभावकारी हैं। उसके चित्रों में न तो विषयवस्तु महत्वपूर्ण है, न उनका रूप या आकार, केवल शुद्ध रंगों का चयन उभरकर एक मनोहारी दृश्य उपस्थित करता है। ऐसे चित्रों में 'इंप्रेशन सन राइज', 'ब्रिज ऐट आर्गेंत्वील', 'रेड कप्स', 'रुआँ कथीड्रल', 'बेसिन ऐट आर्गेंत्वील' तथा 'टेरेस ऐट द सी साइड' उल्लेखनीय हैं। [रा० चं० शु०]

मोमजामा या लिनोलियम (Linoleum) कठोर तलवाला लचीला पदार्थ होता है, जो फर्श के ढँकने में प्रयुक्त होता है। इसे गाढ़े कपड़े, या टाट के ऊपर सुघट्य पदार्थ को दबाकर अथवा संपीडित कर, चिकने स्तर के रूप में तैयार किया जाता है। कपड़े के तल पर ऐसा कठोर आवरण चढ़ा मोमजामा लचीला होता है। इसमें प्रयुक्त होनेवाला सुघट्य पदार्थ अलसी के तेल और रेज़िन (प्राकृतिक या संश्लिष्ट) को पिघलाकर, भली भाँति मिलाकर, बनाया जाता है। उसमे वर्णक, खनिज पदार्थ एवं पूरक भी मिलाए जाते हैं। वर्णकों के कारण मोमजामे का कठोर तल कई रंगों का बनाया जा सकता है। गाढ़े कपड़े के स्थान मे नमदावाला, या बिटुमिनी कागज भी प्रयुक्त हो सकता है। आजकल फर्श के ढँकने के लिये जो मोमजामा बनता है, उसमे कागज के गत्ते का अधिकाधिक व्यवहार हो रहा है। अलसी के तेल के बने पदार्थों के स्थान में आज संश्लिष्ट रेज़िन का उपयोग बढ़ता जा रहा है। ऐसे लिनोलियम फर्श को चित्ताकर्षक डिज़ाइनों मे चमकाते हैं और टिकाऊ फर्श को ढँकने के लिये अधिकाधिक व्यवहार मे आ रहे हैं। इन्हें हम वास्तविक लिनोलियम नहीं कह सकते, क्योंकि वास्तविक लिनोलियम में अलसी के तेल का रहना आवश्यक है। अलसी के तेल के रहने के कारण ही इसका नाम लिनोलियम पड़ा था। लिनोलियम का आविष्कार १८६० ई० में फ्रेडरिक वाल्टन नामक वैज्ञानिक द्वारा हुआ था और यह नाम उन्हीं का दिया हुआ है। आजकल कुछ ऐसे पदार्थ भी मोमजामा कहलाते हैं जिनके निर्माण में अलसी का तेल प्रयुक्त नहीं होता।

प्रारंभ में मोमजामे का उत्पादन एक रंग में ही होता था, पर इस शताब्दी के प्रारंभ से उपयुक्त वर्णकों और जटिल परिष्कृत रीतियों से इसका उत्पादन अनेक रंगों और डिज़ाइनों में होने लगा है। आजकल एक विशेष प्रकार का मोमजामा भी बनता है, जिसे 'छपाईवाला' मोमजामा कहते हैं। इसमें पतले किस्म के मोमजामे के ऊपर बहुरंगीय प्रतिरूप में नम्य तैल लेप से ऊपरी तल पर छपाई की हुई होती है। छपाई के उपरांत मोमजामे के ऊपरी तल पर नाइट्रोसेल्यूलोज से, या अन्य प्रलाक्षारस से, अथवा मोम से पॉलिश की हुई होती है।

मोमजामे के उत्पादन में सुघट्य पदार्थ का निर्माण विशेष महत्व रखता है। इसमें सामान्यतः अलसी का तेल और एक, या अधिक रेज़िन प्रयुक्त होते हैं। ऐसे बने पदार्थ को लिनोलियम सीमेंट

कहते हैं। इसका निर्माण दो क्रमों में होता है। एक क्रम में ऑक्सीकरण, या अन्य रीति, से अलसी का तेल तैयार किया जाता है। दूसरे क्रम में अलसी के तेल को रेज़िन, या खनिज पदार्थ, या पूरक के साथ मशीनों में भली भाँति मिश्रित किया जाता है। मिश्रित करने का काम मशीनों में होता है। यहाँ वर्णक भी मिलाया जा सकता है। तेल को पिघले हुए रेज़िन के साथ मिलाकर गरम करते हैं; फिर उसमें १० से २० प्रति शत तक कठोर रेज़िन मिलाते हैं। इससे जो उत्पाद प्राप्त होता है, उसे लिनोक्सियम सीमेंट कहते हैं। इसे अब परिपक्व होने के लिये कई सप्ताह तक निश्चित ताप पर छोड़ रखते हैं। उपर्युक्त सीमेंट की ३५ से ४० प्रति शत मात्रा में रबर, कॉर्क धूल, लकड़ी की धूल (३५ से ४५ प्रति शत तक और वर्णक (१५ से २५ प्रति शत तक) मिलाकर महीन पीसते हैं। ऐसे प्राप्त लेप को गाढ़े कपड़ों, टाट, या गत्ते पर चिकनी चादर के रूप में चढ़ाकर, संपीडक कलेंडर, या द्रवचालित, दाबक से दबाते हैं। उसे फिर ५०° से ७०° सें० ताप पर भट्ठे में सुखाते हैं। सूख जाने पर तल कठोर हो जाता है। सूखने के स्तर का निर्धारण जल अवशोषण की मात्रा से मालूम करते हैं। सामान्यतः मोमजामा कई वर्षों तक काम देता है। इसमें प्रयुक्त सीमेंट के अम्लीय गुण के कारण सोडा या अन्य क्षारीय पदार्थों से बार बार धोने से यह अपेक्षाकृत शीघ्र खराब हो जाता है। अधिक समय तक चलाने के लिये मोमजामे को केवल पानी से धोना चाहिए और सूखने के उपरांत मोम की पॉलिश लगा देनी चाहिए। कॉर्क लिनोलियम में कॉर्क रहता है। यह ध्वनि को मंद कर देता है। अधिकांशतः गिरजाघरों में ही इसका उपयोग होता है।

[अ० सि०]

मोमिन मुहम्मद मोमिन खाँ का वंश कश्मीरी था पर वे दिल्ली में आ बसे थे। उस समय शाह आलम बादशाह थे और इनके पितामह शाही हकीमों में नियत हो गए। अंग्रेजी राज्य में पेंशन मिलने लगी, जो मोमिन को भी मिलती थी। इनका जन्म दिल्ली में सन् १८०० ई० मे हुआ। फारसी अरबी की शिक्षा ग्रहण कर हकीमी और नजूम में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। छोटेपन ही से यह कविता करने लगे। तारीख कहने में यह बड़े निपुण थे। अपनी मृत्यु की तारीख इन्होंने कही थी—दस्तो बाजू बशिकस्त। इससे सन् १८५२ ई० निकलता है और इसी वर्ष यह कोठे से गिरकर मर गए। इनमें अहंकार की मात्रा अधिक थी, इसी से जब राजा कपूरथला ने इन्हें तीन सौ रुपए मासिक पर अपने यहाँ बुलाया तब यह केवल इस कारण वहाँ नहीं गए कि उतना ही वेतन एक गवैए को भी मिलता था। मोमिन बड़े सुंदर, प्रेमी, मनमौजी तथा शौकीन प्रकृति के थे। सुंदर वस्त्रों तथा सुगंध से प्रेम था। इनकी कविता में इनकी इस प्रकृति तथा सौंदर्य का प्रभाव लक्षित होता है। उसमें तत्सामयिक दिल्ली का रंग तथा विशेषताएँ भी हैं अर्थात् उसमें अत्यंत सरल, रंगीन शेर भी हैं और क्लिष्ट उलझे हुए भी। इनकी गजलें भी लोकप्रिय हुईं। इन्होंने बहुत से अच्छे वासोख्त भी लिखे हैं। वासोख्त लंबी कविता होती है जिसमें प्रेमी अपने प्रेमिका की निंदा और शिकायत बड़े कठोर शब्दों में करता है।

[र० ज०]

मोर (Peacock, Pavo cristatus) भारत का राष्ट्रीय पक्षी है। बहुत सोच विचार के बाद भारतीय वन्यपशु-संरक्षण-परिषद् की संस्तुति पर भारत सरकार द्वारा १९६२ ई० में इसे भारत का राष्ट्रीय पक्षी घोषित किया गया था। यह संमान मोर के गौरव के अनुकूल ही है। भारतीय मुकुटों पर मोरपखों का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है—(मोरमुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल)। मोर कार्तिकेय का वाहन माना गया है। सुंदरता के कारण पालतू पक्षी के रूप में घरों में इसका पालन पोषण होता है। मोर संपूर्ण भारत, श्रीलंका और बरमा में पाया जाता है। राजस्थान, हरियाना और ब्रज में इसके झुंड के झुंड नजर आते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि भूमध्यसागर के देशों से ईसा के पूर्व यह भारत में आया।

भारतीय मोर की आँखें भूरी, चोंच सींग के रंग की और पाँव स्लेटी भूरे होते हैं। मोर के पैर बड़े कुरूप होते हैं। नर मोर के सिर पर छोटे, हरे नीले, चमकीले रोएँ होते हैं। गरदन चमकीली सुंदर, गहरी नीली होती है। ऊपर का हिस्सा स्लेटी हरा होता है। दुम का ऊपरी हिस्सा भूरे रंग का तथा सीना और निचले सभी हिस्से चमकीले हरे रंग के होते हैं। दुम के पर लंबे और बड़े सुंदर होते हैं जिनके सिरे पर गोलाई होती है और रंग गाढ़ा नीला होता है। गले मे एक अर्धचंद्र की आकृति का चिह्न बना हुआ होता है जो देखने मे आँख सा लगता है। आसाम में बिलकुल सफेद मोर भी पाए जाते हैं। जापान मे नीले रंग के मोर होते हैं। बरमा का जावाक मोर (Pavo muticus) एक दूसरी जाति का होता है। इसकी गर्दन और वक्ष सुनहरे हरित वर्ण के होते हैं। कांगो के मोर ऐफ्रो पैवो काजेनिसिस (Afro pavo congensis) जाति के हैं और सामान्य मोरों से कुछ भिन्न होते हैं।

मोर का नाच जगत्प्रसिद्ध है। कत्थक नृत्य में इसी नाम का एक विशेष नाच होता है। आकाश के काले काले बादलों को देखकर और उनका गर्जन सुनकर मोर अपनी पूँछ को उठाकर, गोलाकार फैलाकर आनंद से नाचने लगता है। इसकी सुंदरता से मोहित होकर ही मुगल बादशाहो के 'तख्त ताऊस' पर मोर का चित्र बना हुआ था, जिसमें बहुमूल्य हीरे जवाहरात जड़े थे। मोर सर्प का परम शत्रु है। इसकी बोली सुनकर साँप भाग खड़ा होता है। अप्रैल से अक्टूबर तक मोरनी एक बार में तीन से लेकर पाँच तक अंडे देती है और फिर उनसे बच्चे उत्पन्न होते हैं। मोर ३,००० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह कीड़े मकोड़े और अनाज खाता है। मोर का माँस किसी समय बहुमूल्य समझा जाता था।

[फू० स० व०]

मोर, सर टॉमस टॉमस मोर का जन्म १४७८ में चीपसाइड नामक स्थान मे हुआ। उनके पिता सर जॉन मोर एक न्यायाधीश थे। मोर की शिक्षा आक्सफोर्ड तथा लंदन मे हुई। टॉमस अपने विषय में पारंगत हो गए और कानून के अध्यापक नियुक्त हुए। इसके बाद वे साहित्य में दिलचस्पी लेने लगे। वे उस युग के महान् लेखक तथा हॉलैंड के मानवतावादी विद्वान् इरास्मस के संपर्क में आए। चार साल तक वे ध्यान धारणा में लगे रहे और यह पादरी बनने की बात भी सोचते रहे। १५०३ तक वे पादरी बनने का विचार त्याग चुके थे। वे सार्वजनिक जीवन मे प्रविष्ट हुए और संसद् सदस्य बन गए। संसद् मे प्रस्तुत आर्थिक माँग मे कटौती कराने के कारण टॉमस मोर को सार्वजनिक जीवन से अलग होना पड़ा। १५०५ में

जेन के साथ इनका विवाह हुआ किंतु १५११ में जेन मर गई। तब टॉमस ने एलिस नामक एक विधवा से विवाह कर लिया जो उनसे सात वर्ष बड़ी थी। अब वह वकालत करने लगे जिसमें उनकी आमदनी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई।

१५१५ में टॉमस मोर एक व्यापारिक कार्य में फ्लैंडर्स भेजे गए और इन्हीं दिनों उन्होंने युटोपिया (कहीं नहीं) नामक अपनी पुस्तक का खाका प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में एक आदर्श समाज व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया गया था, जहाँ सबकी शिक्षा होगी, पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता होगी, कानून मानवीय होंगे, अस्पताल, सफाई और सब तरह की सामाजिक, सामूहिक सुविधाएँ होंगी।

सन् १५२९ में टॉमस इंग्लैंड के चांसलर बन गए। जब राजा हेनरी ने अरागन की कैथराइन से विवाहविच्छेद करना चाहा, तो उन्होंने विवाहविच्छेद के विरुद्ध राय दी और १५३२ में पद त्याग दिया। १५३४ में वे ऐसी शपथ लेने के लिये तैयार नहीं हुए जिससे पोप के प्रति उनका आनुगत्य समाप्त होता। इसपर उन्हें टावर कारागार में डाल दिया गया। २५ जून को फिशर को मृत्युदंड दिया गया। इसके बाद टॉमस मोर पर मुकदमा चला और वह दोषी पाए गए। १५३५ की ७ जुलाई को उन्हें मृत्युदंड दिया गया, जिसे उन्होंने शहीद की भाँति बड़े साहस से ग्रहण किया। सारे यूरोप में इसपर तहलका मच गया और इरास्मस ने उनके विषय में एक लेख लिखा।

सं० ग्रं० — वन हुंड्रेड ग्रेट लाइव्ज—दी होम लायब्रेरी क्लब।

[म० गु०]

मोर, हेनरी (१६१४-१६८७) अंग्रेज दार्शनिक, जो प्लेटो के मतावलंबी दार्शनिकों से बड़ा प्रभावित था। मुख्यतः इसका आकर्षण नव प्लेटोवाद की ओर था। उसका परिचय कई विद्वानों से था। कई विकसितमस्तिष्क युवक युवतियाँ उसके मत से आकर्षित थीं। इनमें लेडी कॉनवे सबसे प्रसिद्ध हैं, जो मोर के अतिरिक्त पेन से भी सुपरिचित थीं। लेडी कॉनवे के एकांत आवास रगले में मोर ने अपनी कई रचनाओं का सृजन किया, जिनमें लेडी कॉनवे की धार्मिक भावनाओं का प्रभाव है। लेडी कॉनवे बाद में हेलमांट और प्रेटरेक्स क्वेकर्स (Quakers) से प्रभावित हुई, जिससे रगले हृदय के रहस्यपक्ष का केंद्र बन गया। मोर के चिंतन को इससे काफी धक्का लगा।

मोर तत्कालीन कैंब्रिज के रहस्यवादी एवं ईश्वरवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों में ही हुई। रचनाओं में 'डिवाइन डाइलाग्स' सर्वाधिक प्रसिद्ध है जिसमें उसके धर्म दर्शन संबंधी विचार हैं। नव प्लेटोवाद की रहस्यवादी अतिवादिता उसकी रचनाओं में खुलकर प्रकट हुई, जो अपने विकसित रूप में उसकी गहन कल्पना के दीर्घाकाश में विलीन हो गई।

[श्री० स०]

मोरलैंड, विलियम हैरिसन (१८६८-१९३८) का जन्म आयरलैंड में हुआ, और शिक्षा कैंब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में हुई। १८८९ में उसने लॉ की डिग्री प्राप्त की। इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वह भारत आया, और उसकी नियुक्ति उत्तर प्रदेश में (जिसे उस समय उत्तर पश्चिमी सूबा कहा जाता था) सहायक बंदोबस्त अधिकारी के पद पर हुई। अगले २५ वर्ष मोरलैंड ने उत्तर प्रदेश में काटे, और १२ वर्ष पर्यंत वह भूमि लेखा तथा कृषि का निदेशक रहा। उसे कृषिसुधार तथा शासन सुधार में विशेष दिलचस्पी थी। ४६ वर्ष की आयु में उसने सिविल सर्विस से अवकाश ग्रहण कर लिया। दो वर्ष तक मध्यभारत की एक रियासत में परामर्शदाता के पद पर रहा। १९१६ में वह इंग्लैंड लौट गया और अपने जीवन का शेष काल इतिहास के अध्ययन में बिताया।

मध्यकालीन भारत की कृषिव्यवस्था और आर्थिक जीवन के अध्ययन में मोरलैंड का विशेष स्थान है। मोरलैंड की रचनाओं में 'इंडिया ऐट दी डेथ ऑफ अकबर', 'फ्रॉम अकबर टु औरंगजेब', तथा 'द एग्रेरियन सिस्टम ऑव मुस्लिम इंडिया' प्रमुख हैं। [स० चं०]

मोरवी १. भारत के स्वतंत्र होने से पहले यह देशी राज्य, पूर्वी कठियावाड़ सबएजेंसी के अधिकार में, था। इसका क्षेत्रफल ८२२ वर्ग मील था। यहाँ के शासक (पदवी ठाकुर) जडेजा राजपूत थे और अपने को कच्छ के राव का वंशज मानते थे। फरवरी १५, १९४८ ई० में यह सौराष्ट्र में मिला दिया गया। अब यह क्षेत्र गुजरात राज्य में है।

२ नगर, स्थिति : २२° ४९' उ० अ० और ७०° ५३' पू० दे०। जनसंख्या ५०,१९२ (१९६१) है। मच्छु नदी के तट पर, राजकोट से ३७ मील उत्तर में, कच्छ खाड़ी के लगभग ४० मील पूरब में मध्य सौराष्ट्र जिले का नगर है। राजकोट से रेल और सड़क द्वारा जुड़ा है। यहाँ गुजरात विश्वविद्यालय से संबद्ध एक टेक्निकल इंस्टिट्यूट है, जिसकी स्थापना १९५१ ई० में हुई थी।

मोरॉको (मोरक्को) अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी सिरे पर स्थित एक स्वतंत्र राष्ट्र है। १९१२ से १९५६ ई० तक यह फ्रांसीसी तथा स्पेनी मोरॉको एवं टैंजियर नामक तीन भागों में विभक्त था, किंतु सन् १९५६ में यह पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गया। यहाँ के निवासी इसे ऐल मघ्रिब ऐल अक्सा (El Moghreb El Aksa) नाम से जानते हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग २,१९,०२७ वर्ग मील है। इससे स्पेन नौ मील चौड़े जिब्राल्टर जलडमरूमध्य द्वारा अलग है। इसके उत्तर में भूमध्यसागर, पश्चिम में ऐटलैंटिक महासागर, दक्षिण में सहारा तथा दक्षिण पूर्व में ऐल्जिरिया स्थित है। प्राकृतिक तौर पर इसे चार भागों में बाँटा जा सकता है :

१. भूमध्यसागर तटीय प्रदेश — इसका अधिकांश पर्वतीय है, जिसमें नदियों के तेज बहाव के कारण गहरी घाटियाँ बन गई हैं।

२. पश्चिमी मोरॉको का पठारी एवं मैदानी भाग — यह ऐटलैंटिक महासागर से लेकर ऐटलस पर्वत तक फैला है। फेज और मराकेश यहीं पर स्थित हैं। तटीय मैदान काली मिट्टीयुक्त उपजाऊ प्रदेश है। इसके बाद स्टेप्स का क्षेत्र आता है।

३. ऐटलस एवं अन्य पहाड़ी भाग — यह पर्वत दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व को फैला है। इसकी तीन श्रेणियाँ हैं। संपूर्ण उत्तरी अफ्रीका की सबसे ऊँची चोटियाँ यहीं पर स्थित हैं।

४. सहारा का भाग — यह देश के दक्षिण में स्थित है। कहीं कहीं सिंचाई का प्रबंध कर, शुष्क भागों को मरूद्यानों में बदल दिया गया है।

ऐटलस पर्वत तथा उत्तरी समुद्री किनारे पर स्थित पहाड़ी क्षेत्र के मध्य एक उपजाऊ मैदानी भाग स्थित है। यह पिछड़ा, जंगली, किंतु सुंदर देश है। ऐटलस पर्वत के पश्चिम की जलवायु आनंददायक है। यहाँ साल भर सागर से ठंडी हवाएँ चला करती हैं। पर्वत की पूर्वी ढाल की जलवायु जाड़ों में और भी अधिक ठंडी हो जाती है। मैदान तथा दक्षिणी भाग की जलवायु गरमियों में असह्य हो जाती है। औसत ताप गरमियों में २७° सें० तथा जाड़ों मे ७° सें० रहता है। उत्तरी भाग में औसत वर्षा २७ इंच तथा सहारा की सीमा पर पाँच इंच या इससे भी कम होती है। चोटियों पर बरफ जमी रहती है।

यहाँ भूमध्यसागरीय वनस्पति पाई जाती है, जिसमें बाज, देवदार, जुनिपर, ताड़ एवं खजूर के पेड प्रमुख हैं। गेहूँ, जौ, फलियाँ, तिलहन, की कृषि होती है, तथा नीबू, संतरा, जैतून, बादाम आदि फल उगाए जाते हैं। स्टेप्स भाग में ऐल्फा घास मिलती है। खनिजों में यह देश धनी है, प्रमुख खनिज फॉस्फेट, कोबाल्ट, मोलिब्डेनम, जस्ता, लोहा, मैंगनीज, ऐंथ्रे साइट, तेल तथा सीसा है।

यहाँ की जनसंख्या १,१६,२६,२३२ (१९६०) है। प्रमुख धर्म इस्लाम है। गाँव के लोग कृषक या चरवाहे हैं। चरवाहे घास की गोल झोपड़ियों में तथा ऊन के बने तंबुओं में भी रहते हैं। सागर के किनारे मछली का शिकार किया जाता है। सफी नगर मत्स्य उद्योग का केंद्र है। यहा के आदिवासी लकड़ी, चमड़ा तथा रेशे से सामान तैयार करते हैं। शहरो मे सीमेंट, आटा, अन्य खाद्य सामग्री, शराब, रासायनिक खादें, ऊनी कपडे, जूते आदि उद्योग हैं। शिक्षा की उन्नति कम हुई है, केवल कुछ मस्जिदों में पढ़ाई होती है। यहाँ की राजधानी राबात है। अन्य प्रमुख नगर कैसाब्लैंका (जनसंख्या ९,६१,०००), मराकेश, फेज, औज्दा आदि हैं। कामकाज की भाषा अरबी है, किंतु फ्रांसीसी एवं स्पेनी भाषा का प्रयोग भी होता है। [रा० प्र० सि०]

मोरियु, गस्ताव (१८२६-९८) फ्रांसीसी चित्रकार और अध्यापक। मोरियु महत्वपूर्ण चित्रकला शिक्षक के रूप मे प्रसिद्ध है और उसका नाम ऐतिहासिक महत्व का हो गया है। आधुनिक चित्रकला के दो अत्यंत जोरदार आंदोलन 'फाविज्म' (जंगलवाद) तथा 'सुरियलिज्म' (अति यथार्थवाद) मोरियु के शिष्यों द्वारा ही चलाए गए। इनमें रुओ, मतीस्स, मार्के तथा जी पूमाय प्रमुख हैं। वह 'इकोल द नेशनल बूआ आर्ट' नामक संस्था में चित्रकला का अध्यापक था। उसके शिक्षण की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि अपने छात्रों पर उसने अपनी मान्यताएँ लादने का कभी प्रयास नहीं किया। छात्रों को उन्हीं के बनाए मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान की। यही कारण है कि उसके शिष्य अपनी मौलिकता के साथ उभर सके।

वैसे चित्रकार के रूप मे मोरियु का महत्व कम नहीं है। वह पहला आधुनिक चित्रकार है जिसकी कला में निश्चित रूप से सुरि-यलिस्ट कला का प्राथमिक रूप दृष्टिगोचर होता है। फैंटेसी की दृष्टि से उसके चित्र दर्शनीय हैं। तकनीक पर भी उसको कमाल हासिल था। उसके चित्रों में ऐतिहासिक तथा धार्मिक कथाओं के आधार पर बड़ी रोचक 'फैंटेसीज' मिलती हैं। फ्रांस में उसके चित्रों का एक संपूर्ण संग्रहालय ही है जिसका बाद मे रुओ संरक्षक नियुक्त हुआ। [रा० च० शु०]

मोरेत्तो, इल (अलेसांद्रो बोंविसीनो) वेनिस का चित्रकार। १४९८ में वह ब्रल्पाइन के एक छोटे से गाँव मे उत्पन्न हुआ था। चित्रकला में बाल्यकाल से ही स्वाभाविक रुचि थी। बड़ा होने पर वेनिस आकर उसने प्रसिद्ध कलाकार तिशाँ की शिष्यता ग्रहण की। बाद में वह रेफील की कला की ओर आकृष्ट हुआ। मोरेत्तो ने उन सभी कलाकारों की कृतियो का अध्ययन किया जो उसे प्रभावित करते थे और जो भी उनकी कला मे उसे भाता था उसे वह अपनी कला में प्रयुक्त करता था। अधिकतर उसने धार्मिक चित्र बनाए हैं। उसके चित्रो में क्रियात्मकता (ऐक्शन) के स्थान पर भव्यता और कोमलता प्रधान थी। उसका अपना संपूर्ण जीवन पवित्रता तथा धार्मिकता के साथ व्यतीत हुआ था। वह विश्वास करता था कि चित्र बनाने की मूल प्रेरणा उसे ईश्वर से मिलती है। उसने बड़ी साधना तथा लगन के साथ अपनी कला को एक निखरा रूप प्रदान किया। 'सेंट जुस्तीना ऐंड डोनर' उसका अति प्रसिद्ध चित्र है। [रा० च० शु०]

मोलकाज (Moluccas) द्वीपसमूह, यह द्वीपों का एक समूह है, जो पूर्वी हिंदेशिया मे, सेलेबीज तथा न्यूगिनी के मध्य मे ३२,३०० वर्ग मील पर फैला हुआ है। इसके अंतर्गत हेलमाहारा, सीराम, बुरू, अंबोइना, तेरनाट, अरु द्वीप तथा काइ द्वीप संमिलित हैं। ये सभी ज्वालामुखी तथा अन्य शुष्क उजाड़ पर्वतमालाओं द्वारा भरे पड़े हैं। कहीं कहीं चौड़े समतल मैदान हैं, जो अत्यंत उपजाऊ हैं। मैदानों में सभी तरह की उष्ण कटिबंधी वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं। यहाँ से गरी, गरम मसाले तथा कड़ी लकड़ियों का निर्यात होता है। जनसंख्या ७,८९,५३४ (१९६१) है। [वि० रा० सि०]

मोलस्का (Mollusca) या चूर्ण प्रावार नरम शरीरवाले, खंडरहित, प्राथमिक रूप से द्विपार्श्वीय समितवाले प्राणी हैं। इनका शरीर प्रायः अपने अंग द्वारा बनाए चूने के कवच के अंदर बंद रहता है। साथ ही साथ, इनकी देहभित्ति बढ़कर एक लपेट बनाती है, जिसे प्रावार (Mantle) कहते हैं। इनके शरीर के निचले भाग मे एक मांसल अंग होता है, जिसे पाद कहते हैं। इनका डिंभक ऐनेलिडा (Annelida) के ट्रोकोफोर (trochophore) लार्वा से मिलता है।

प्रारंभ में मोलस्का के साथ विभिन्न रूपों के अनेक प्राणी संबद्ध थे। इनमे ब्रैकियोपोडा (Brachiopoda), ट्यूनीकाटा (Tunicata) और सिरीपेडिया (Cirripedia) तक थे। जे० वी० टॉमसन (J. Vaughan Thompson) ने परिवर्धन के अध्ययन के आधार पर, इनमें से सबसे पहले सिरीपेडिया को अलग किया और यह बतलाया कि सिरीपेडिया क्रस्टेशिया (Crustacea) हैं। परिवर्धन के अध्ययन के पश्चात् यह पता चला कि ट्यूनीकाटा पृष्ठवंशी प्राणियों के संबंधी हैं, इसलिये इन्हें भी मोलस्का से पृथक् कर दिया गया। ब्रैकियोपोडा एक अरसे तक मोलस्का के साथ रहे, इसलिये कि इनका शरीर भी कवच के अंदर बंद रहता है और यह लैमेलीब्रैंकिएटा (Lamellibranchiata) से बाह्य रूप में मिलते जुलते हैं।

एच. मिल्ने एडवर्ड (H. Milne Edwards) ने ब्रैकियोपोडा को भी मोलस्का से पृथक् कर दिया, जिससे यह समूह अपने आधुनिक रूप में निखर आया।

विशेष रूप से मोलस्का जलचर हैं, परंतु एक ही जाति के प्राणियों में भी रहन सहन के विभिन्न प्रकार के साधन पाए जाते हैं। अधिकांशत: ये समुद्री प्राणी हैं। कुछ गैस्ट्रोपोडा (Gastropoda) तथा इनके साथी स्थल पर भी रहते हैं। जल में रहनेवाले मोलस्का में कुछ तल पर चलते फिरते हैं अथवा तल से जुड़े रहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो लहरों के विपरीत आसानी से तैर सकते हैं। इनके अलावा कुछ जल की सतह पर रहते हैं और लहरों के साथ यहाँ वहाँ बहते रहते हैं। स्थल पर रहनेवाले मोलस्का १५,००० फुट की ऊँचाई तक और समुद्र में रहनेवाले २,८०० फैदम की गहराई तक पाए गए हैं। मोलस्का स्वतंत्र रूप से रहनेवाले प्राणी हैं, जो रेंगकर अथवा बिलों में रहकर जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ ऐसे हैं जो वयस्क जीवन में गतिहीन हो जाते हैं, अथवा वातावरण के किसी स्थान से जुड़ जाते हैं और वहीं सारा जीवन व्यतीत कर डालते हैं। गैस्ट्रोपोडा और लैमलीब्रैंकिएटा दोनों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। कुछ सहभोजी (commensal) होते हैं और ऐसिडियन तथा ऐकाइनोडर्म के साथ रहते हैं।

मोलस्का द्विपार्श्वसममित (bilaterally symmetrical) प्राणी हैं यद्यपि इनके कुछ अंग असममित होते हैं। शरीर नरम और खंडरहित होता है। आदर्श प्राणी के प्रमुख अंग हैं : अग्र सर, प्रतिपृष्ठीय पाद और पृष्ठीय आंतराग पिंडक (visceral mass)। इनका शरीर देहभित्ति के एक मांसल प्रावार से ढँका रहता है। प्रावार ही शरीर की रक्षा करनेवाले कवच को स्रवित करता है। कवच एक टुकड़े का बना होता है (जैसे शंख), या दो टुकड़ों का (जैसे सीपी), या आठ टुकड़ों का (जैसे काइटन)। स्कैफोपोडा (Scaphopoda) तथा पेलेसिपोडा (Pelecypoda) को छोड़कर सभी मोलस्काओं में सिर पूर्णतया विकसित रहता है। उसपर आँखें या स्पर्शांग आदि स्पष्ट होते हैं। शरीर के प्रतिपृष्ठीय भाग में एक मांसल अंग रहता है, जिसे पाद कहते हैं। भिन्न भिन्न श्रेणी के मोलस्का में पाद के भिन्न भिन्न रूप इसलिये होते हैं, क्योंकि उनमें यह भिन्न भिन्न कार्य करता है। किसी में यह रेंगने का कार्य करता है, किसी में खोदने का कार्य करता है, तो किसी में तैरने के काम आता है। सेफैलोपोडा (Cephalopoda) मे पाद शरीर के अग्र भाग में सिर के चारों ओर स्थित होता है और आठ, या दस भुजाएँ बनाता है।

पाचन नलिका पूर्ण होती है तथा प्राय: यू (U) आकार की, अथवा कुंतलित होती है। मुँह में एक चिपटी पट्टी होती है। इसपर छोटे छोटे नुकीले दाँतो की अनुप्रस्थ पंक्तियाँ होती हैं। यह पट्टी भोजन को रगड़ रगड़कर काटने में काम आती है। इसे रेतीजिह्वा, या रेडुला (Radula) कहते हैं। सीपी इत्यादि पेलेसिपोडा (Pelecypoda) में रेतीजिह्वा नहीं होती। मलद्वार, प्रावार गुहा में खुलता है। पाचनांगों के साथ एक पाचक ग्रंथि भी होती है, जिसे 'यकृत' कहते हैं। किन्हीं किन्हीं में लार ग्रंथियाँ भी होती हैं।

रुधिरवाहिनी तंत्र पूर्णतया विकसित होता है। इनमें एक पृष्ठीय हृदय होता है, जो हृदयावरण से घिरा रहता है। हृदय में एक, या दो अलिंद होते हैं और एक निलय। प्राय: एक अग्र महाधमनी और अन्य रक्तनलिकाएँ होती हैं। श्वसन कार्य गिल, अथवा टैनिडिया, द्वारा होता है। किसी किसी में प्रावारगुहा एक फुप्फुस कोष (pulmonary sac) बनाती है, जिसके द्वारा श्वसन पूर्ण होता है। प्रावार तथा बाह्यचर्म द्वारा भी ऑक्सीजन अंदर जाती है और कार्बन डाइ आक्साइड बाहर निकलता है।

मलोत्सर्ग के लिये विशेष अंग वृक्क (kidney), या वृक्कग्रंथि (nephridia) होती है। वृक्क एक, अथवा एक या दो जोड़े होते हैं। ये हृदयावरणीय गुहा तथा शिराओं से संबंधित होते हैं। वास्तव मे मोलस्का में सीलोम (coelom) बहुत कम हो गया और केवल हृदयावरणीय गुहा, वृक्कग्रंथि तथा जननपिंड के अंदर पाया जाता है।

तंत्रिका तंत्र भी इनमे विशेष रूप से विकसित है। पृष्ठीय अमस्तिष्कीय गुच्छिकाएँ और प्रतिपृष्ठीय अधोग्रासनली गुच्छिकाएँ (sule oesophageal ganglia) होती हैं। ये दोनों एक दूसरे से तंत्रिकाओं द्वारा जुड़ी रहती हैं। इस तरह ये ग्रसिका के चारों ओर अँगूठा के रूप में पाई जाती हैं। इन गुच्छिकाओं से तंत्रिकाएँ निकलती है, जो शरीर के भिन्न भिन्न अंगों को जाती हैं। मोलस्का में ज्ञानेंद्रिया भली भाँति विकसित होती है। स्पर्श, गंध और स्वाद आदि का इन्हें अच्छा ज्ञान होता है। शरीर संतुलन के लिये विशेष जटिल अंग होते हैं, जिन्हें संतुलन पुटी (Statocyst) कहते हैं। कुछ मोलस्काओं मे प्रकाश से प्रभावित होनेवाले नेत्रबिंदु और कुछ मे पूर्ण विकसित नेत्र होते हैं। इनके एक समूह में ऐसी आँखे पाई जातीं हैं जिनकी रचना बिलकुल पृष्ठवंशी प्राणियों के नेत्रो की तरह होती है।

मोलस्का मे अलैंगिक जनन नहीं होता। कुछ तो इनमें उभयलिंगी होते हैं और कुछ निश्चित रूप से पूर्वपुंपक्व (protandric) होते हैं। इनमें जननपिंड पहले अंडाणु बनाता है और बाद में शुक्राणु। अधिकतर मोलस्काओ मे नर एवं मादा पृथक् पृथक् होते हैं। किसी मे दो मुख्य जननपिंड होते हैं, किसी मे एक। जननपिंड से नलिकाएँ निकलती हैं, जिनसे होकर लिंगकोश (अंडाणु अथवा शुक्राणु) बाहर जाते हैं। प्राय: संसेचन बाहर होता है, पर कुछ मोलस्काओं में संसेचन शरीर के अंदर होता है।

अधिकतर मोलस्का अंडे देते हैं। भिन्न भिन्न मोलस्काओं में अंडों की संख्या भिन्न भिन्न होती है। समुद्र मे रहनेवाले मोलस्का अधिक संख्या में अंडे देते हैं, इसलिये उनके अंडे समुद्री लहरों के सहारे यहाँ वहाँ बहा करते हैं। कुछ मोलस्का निश्चित पदार्थों में अंडे देते हैं। कुछ अंडों को फीते के रूप में एक साथ चिपका देते हैं। इनमें अंडों की संख्या बहुत कम होती है। ऑस्ट्रिया (Ostrea) नामक मोलस्का की मादा ६,००,००,००० अंडे देती है और काइटन (Chiton) की मादा २,००,०००। सेनिया (Cenia) नामक मोलस्का की मादा केवल ४ से लेकर १२ अंडे तक देती है। कुछ मोलस्का जरायुज (viviparous) होते हैं, जैसे सुबूलाइना (Subulina)।

मोलस्का के अंडों का विभाजन इस प्रकार होता है कि नई बननेवाली कोशिकाओं का भविष्य प्रारंभ से ही निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार के भेदन को परिमित (determinate cleavage)

कहते हैं। सेफैलोपोडा नामक मोलस्का में विभाजन का ढंग पहले से भिन्न होता है। इसे चक्रिकाभ विदलन (discoidal cleavage)
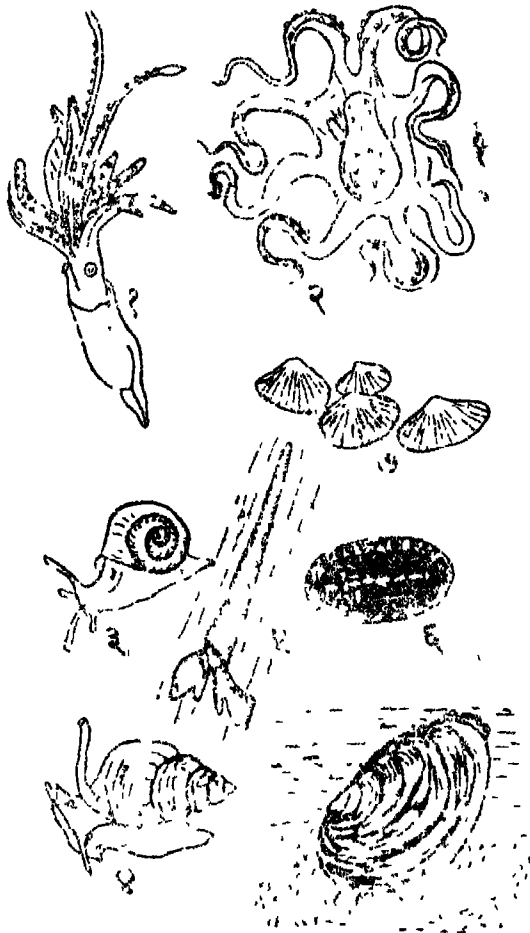
विविध मूर्ण प्रावार (मोलस्का)

१. स्क्विड (Squid); २. अष्टभुज (Octopus); ३. घोंघा (Snail); ४. शंख (Conch); ५. डेंटेलियम (Dentalium); ६. काइटन (Chiton); ७. पेक्टिन (Pectin) तथा ८. मस्ल (Mussel)

कहते हैं। विभाजन के फलस्वरूप लार्वा बनता है, जिसे वेलीजर लार्वा (Velliger larva) कहते हैं। यह ऐनीलिडा के ट्रोकोफोर लार्वा की भाँति स्वतंत्र रूप से तैरनेवाला होता है। रूपांतरित होकर यह साधारण रूप धारण कर लेता है।

मोलस्का विभिन्न रूपों और आवर्तोंवाले प्राणी हैं, जो धीरे धीरे रेंगते हैं। ये विभिन्न विस्तार के होते है। कुछ एक मिलीमीटर से भी छोटे होते हैं और कुछ १० इंच तक लंबे होते हैं। बहुत से काइटन आधे से आठ इंच तक के होते हैं। स्कैफोपोडा एक इंच से कम होते हैं यद्यपि कुछ छह इंच तक के होते हैं। कुछ सीपियों के कवच आधे इंच से लेकर साढ़े चार फुट तक लंबे होते हैं। कुछ का भार बहुत होता है। ट्राईडैक्नाडेरेसा का वजन ५५० पाउंड होता है। आर्कीट्यूथिस नामक वृहत् स्क्विड का शरीर २० फुट और स्पर्शांग ३५ फुट लंबा होता है।

कतिपय मोलस्काओं का आर्थिक महत्व भी है। बहुत से ऐसे मोलस्का हैं जिनकी गणना भोज्य जंतुओं में है। सीपी (clams); शुक्ति (oysters) तथा स्क्विड (squids) इनमें प्रमुख हैं। स्वच्छ जल मे रहनेवाली कुछ सीपियों के कवच से बटन आदि बनाए जाते हैं। कुछ सीपियों की जाति ऐसी होती है जिनमें मोती बनते हैं। इसी कारण ये अधिक संख्या में पाली जाती हैं। कौड़ी भी एक प्रकार के मोलस्का का कवच है। इसका प्रयोग पुराने समय में पैसों की भाँति होता था। मजदूरी में श्रमिकों को कौड़ियाँ दी जाती थीं और इनसे बाजारों में वस्तुएँ खरीदी जा सकती थीं। कुछ घोंघे (snails) ऐसे हैं, जो रोग फैलानेवाले कीड़ों को एक प्राणी से दूसरे तक ले जाते हैं। भेड़ों में यकृत विगलन (liver rot) का रोग फैलानेवाले कृमि को स्लग ही फैलाते हैं। कुछ स्लग (slugs) और घोंघे पौधों को खाते हैं। टेरीडो (Teredo) नामक मोलस्का ऐसा है, जो जहाज की लकड़ी में सूराख कर उसमे रहता है।

मोलस्का बहुत दिनों तक बिना भोजन के रह सकते हैं। ठंढ का प्रभाव उनपर गर्मी से कम पड़ता है, किंतु प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि हेलिक्स (Helix) १२०° सें० तक की गर्मी में जीवित रहता है। कुछ छोटे छोटे गैस्ट्रोपोडा हैं, जो गरम पानी के कुंडों में रहते हैं। इन कुंडों का ताप ४२° सें० होता है। मोलस्का के लार्वा ३१° सें० और —३° सें० पर नष्ट हो जाते हैं।

मोलस्का की आयु प्राय. कम होती है। समुद्र में रहनेवाले स्ट्रेप्टोन्यूरा (Streptoneura) प्राणियों की आयु अधिक होती है। एक प्रयोग में लिटोराइना लिटोरा नामक मोलस्का २० वर्षों तक जीवित रहा। स्वच्छ जल में रहनेवाले मोलस्का आठ वर्षों तक जीवित रहते हैं। पृथ्वी पर रहनेवाले स्लग की आयु प्राय: दो वर्षों की होती है, यद्यपि हेलिक्स पोमैटिया (Helix pomatia) छह वर्ष तक जीवित रहता है। बाकी सब प्राय. एक वर्ष तक जीवित रहते हैं।

मोलस्का में सुरक्षा के लिये अनुकूलन (protective adaptation) के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। सतह पर उतरानेवाले प्राणी प्राय: पारदर्शी, रंगविहीन, या हलके नीले रंग के होते हैं। कुछ कवचविहीन मोलस्का होते हैं, जो बिल्कुल वातावरण का रंग अपना लेते हैं। हरी वनस्पति के बीच रहनेवाला मोलस्का, हरमिया डेंड्रोटाइका, हरे रंग का होता है। ग्रिफिथ्सिया दूसरा मोलस्का है, जो लाल शैवाल (algae) के बीच रहता है, इसलिये लाल रंग का होता है।

अब तक मोलस्काओं की लगभग ४५,००० जीवित जातियों की गणना की जा चुकी है। इनमे गैस्ट्रोपोडा सबसे अधिक संख्या में पाए जाते हैं। मोलस्का के फॉसिल पुराजीवी महाकल्प (Palaeozoic) के बाद हर स्तर पर मिलते हैं। लगभग ४०,०००, फॉसिल स्पीसीज, (fossil species) का तो पता लग चुका है।

मोलस्का समुदाय को पाँच वर्गों मे विभाजित किया गया है। ये इस प्रकार हैं : (१) ऐंफीन्यूरा (Amphineura); (२) स्कैफोपोडा (Scaphopoda); (३) गैस्ट्रोपोडा (Gastropoda); (४) पेलेसीपोडा (Pelecypoda) और (५) सेफैलोपोडा (Cephalopoda)।

ऐंफीन्यूरा उन मोलस्काओं का समूह है जिनका शरीर द्विपार्श्वीय एवं लंबा होता है। मुँह तथा मलद्वार शरीर के दो सिरों पर

होते हैं। इसके प्रावार में अनेक कंटिकाएँ (spicules) होती हैं जो उपचर्म (cuticle) में धँसी रहती हैं। काइटन (chiton) इसके उदाहरण हैं। इनका कवच आठ हिस्सों का बना होता है। ये समुद्र में रहनेवाले प्राणी हैं। ये समुद्र मे लगभग सभी गहराइयों तक में पाए जाते हैं। यह पुराना समूह है, जो ऑर्डोविशन (Ordovician) कल्प से पाया जाता है।

स्कैफोपोडा द्विपार्श्वीय सममितिवाले समुद्र में रहनेवाले मोलस्का हैं, जिनका शरीर तथा कवच अग्र-पश्च (antero posterior) धुरी में लंबा होता है। ये लगभग बेलनाकार होते हैं और प्रावार की एक पूर्ण नली द्वारा घिरे रहते हैं। इनका सिर अविकसित होता है, आँखें नहीं होती हैं, पाद बेलनाकार और खोदने के लिये बना होता है। ये सब समुद्री प्राणी हैं, जो उथले जल से लेकर १५,००० फुट की गहराई तक पाए जाते हैं। ये कीचड़, या बालू मे गड़े रहते हैं और शरीर का पिछला भाग सतह से निकला रहता है। इनके २०० जीवित स्पीशीज तथा ३०० फॉसिल स्पीशीज की गणना हो चुकी है। डेंटेलियम (Dentelium) इस समूह का एक विख्यात प्राणी है।

गैस्ट्रोपोडा असममिति व्यवस्थावाले मोलस्का हैं, जिनका शरीर एक ही टुकड़े के बने कवच द्वारा सुरक्षित रहता है। यह कवच साधारणतः सर्पिल आकृति में कुंडलीकृत होता है। इनका पाद लंबा तथा प्रतिपृष्ठीय होता है। इन प्राणियों का सिर पूर्ण विकसित होता है। वास्तव में ये द्विपार्श्वीय प्राणी होते हैं, परंतु वयस्क होते होते इनका शरीर १८०° घूम जाता है, जिससे यह असममित हो जाते हैं। इस समूह के कुछ प्राणी ताजे जल मे, कुछ समुद्र में और कुछ पृथ्वी पर रहते हैं। स्थल पर रहनेवालों मे घोघा एवं स्लग, समुद्री जतुओं में व्हेल्क (whelk), वारिघोंघ (periwinckle) तथा शंख हैं और अलवण जल में रहनेवाले अनेक घोंघें हैं।

पेलेसीपोडा भीतरी और बाहरी सममितिवाले मोलस्का हैं, जिनमे सिर का भाग पूर्णतया विकसित नही होता। इनका प्रावार दाएँ और बाएँ दो भागों मे विभाजित रहता है। प्रत्येक भाग कवच का एक टुकड़ा स्रवित करता है। इस तरह शरीर दो टुकड़ों के बने कवच द्वारा सुरक्षित रहता है। पाद प्रतिपृष्ठीय होता है और खोदने के कार्य के लिये बना होता है। मुख के दोनों ओर एक जोड़ा स्पर्शक (palps) होता है। मस्ल (mussel) और शुक्ति आदि इसी श्रेणी के जतु हैं, जो समुद्री तथा अलवण जलों मे पाए जाते हैं। आर्थिक दृष्टि से इस श्रेणी के जतु बहुत महत्वपूर्ण हैं।

सेफैलोपोडा (Cephalopoda) पूर्ण सममितिवाले मोलस्का हैं, जिनमें पाद अग्र भाग की ओर होता है और यह पूर्ण विकसित सिर के चारो ओर स्थित संतुलन पुटी में विभाजित हो जाता है। पाद का पश्च भाग एक थैली का रूप धारण कर लेता है, जो प्रावारगुहा से बाहर निकलता प्रतीत होता है। इनमें कवच होता है और नही भी होता, किंतु जब यह रहता है तब प्रायः अंदर रहता है। केवल नौटिलाई मे बाहरी कवच होता है, यह सबसे अधिक विकसित समुद्री मोलस्का है। यह मनुष्य तथा मछलियों का प्रिय भोजन है। अष्टपाद (octopus), नॉटिलस (nautilus) और स्क्विड (squid) इस श्रेणी के उदाहरण हैं। [स० मा० प्र०]

मोलाराम (१७४०-१८३३)। मई १६५८ में जब दाराशिकोह का पुत्र सुलेमान शिकोह औरंगजेब के भय से भागकर गढ़वाल गया तब उसके साथ सुप्रसिद्ध कवि और चित्रकार मोलाराम के पिता भी आए थे। मोलाराम ने हिंदी पद्य मे 'गढ़वाल राजवंश का इतिहास' लिखा था। अपने चित्रों के साथ भी उन्होने कविताएँ रची। वे संतों, नाथों और सिद्धों से बहुत प्रभावित थे। उनके लिखे 'मन्मथ पंथ' ग्रंथ से यही सिद्ध होता है। मोलाराम के सात हस्तलिखित काव्य ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। [गो० चा०]

मोलिब्डेनम (Molybdenum) आवर्त सारणी के छठे संक्रमण समूह (transition group) का तत्व है। इसके सात स्थिर समस्थानिक पाए जाते हैं, जिनकी द्रव्यमान संख्या ९२, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८ और १०० है। इनके अतिरिक्त द्रव्यमान संख्या ९३, ९९, १०१ और १०५ के अस्थिर समस्थानिक कृत्रिम विधि से निर्मित हुए हैं। इसके अयस्क मोलिब्डेनाइट को बहुत काल तक भूल से ग्रैफाइट समझा गया। सन् १७७८ में शीले ने इस अयस्क से मोलिब्डिक अम्ल बनाया। सन् १७८२ में येल्म (Hyelm) ने मोलिब्डेनम ऑक्साइड का कार्बन द्वारा अपचयन कर मोलिब्डेनम धातु तैयार की।

मोलिब्डेनम स्वतंत्र अवस्था में नहीं मिलता। मोलिब्डेनाइट मोसं$_2$ (MoS_2) एवं वुल्फेनाइट सीमोऔ$_4$ ($PbMoO_4$) इसके मुख्य अयस्क हैं। सयुक्त राज्य अमरीका इसका मुख्य स्रोत है। चिली, दक्षिणी अमरीका और नार्वे मे भी इसके अयस्क प्राप्य हैं।

निर्माण — मोलिब्डेनाइट अयस्क को तेल प्लवन (oil floatation) विधि द्वारा सांद्रित करते हैं। अयस्क को वायु मे भून (roast) कर, अथवा सोडियम कार्बोनेट के साथ संगलित कर, मोलिब्डेनम ऑक्साइड मोऔ$_3$ (MoO_3) बनाते हैं। प्राप्त मोलिब्डेनम ऑक्साइड का हाइड्रोजन अथवा कार्बन द्वारा अपचयन कर चूर्ण धातु तैयार की जाती है। चूर्ण को दबाकर दंड बनाए जाते हैं। दडों को हाइड्रोजन के वातावरण मे रखकर, इनमें प्रत्यावर्ती धारा प्रवाहित करने पर इनका ताप बढ़ता है, जिससे सघन घातवर्ध्य (malleable) गुणवाली धातु बन जाती है।

गुण धर्म — चूर्ण मोलिब्डेनम मटमैले रंग का होता है, परंतु सघन धातु चमकदार श्वेत रग लिए रहती है। यद्यपि यह कठोर धातु है, तथापि इसपर पालिश की जा सकती है। इसका संकेत मो (Mo), परमाणु संख्या ४२, परमाणु भार ९५·९४, गलनांक २,६००° सें०, क्वथनांक ४,८००° सें०, घनत्व (density) १०·२ ग्राम प्रति घन सेंमी०, परमाणु व्यास २·८ ऐंग्स्ट्राम (A°), विद्युत् प्रतिरोधकता ५·१७ माइक्रोओह्म सेंमी० तथा आयनन विभव ७·१३ इवों है।

सामान्य ताप पर मोलिब्डेनम पर वायुमंडल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रक्त तप्त ताप (red hot temperature) पर इसका शीघ्र ऑक्सीकरण होकर ऑक्साइड बन जाता है। फ्लोरीन से साधारण ताप पर तथा क्लोरीन और ब्रोमीन से उच्च ताप पर यह क्रिया करता है। यह तनु नाइट्रिक अम्ल या अम्लराज मे शीघ्र घुलता है, परंतु सांद्र हाइड्रोक्लोरिक, हाइड्रोफ्लोरिक अथवा सल्फ्यूरिक अम्ल से

शिथिल गति से क्रिया होती है। संगलित क्षार और नाइट्रेट के मिश्रण में यह शीघ्र घुल जाता है।

यौगिक — मोलिब्डेनम के २, ३, ४, ५ और ६ संयोजकता के यौगिक ज्ञात हैं, परंतु ६ संयोजकता के सबसे स्थिर यौगिक बनते हैं। मोलिब्डेनम ट्राइऑक्साइड सबसे स्थिर ऑक्साइड है, जिसके द्वारा अनेक सरल एवं संकीर्ण मोलिब्डिक अम्ल और मोलिब्डेट बनाए गए हैं। उदाहरणार्थ अमोनियम मोलिब्डेट, (ना हा$_{४}$)$_{२}$मोऔ$_{४}$ [$(NH_4)_2MoO_4$] सरल तथा ३ (ना हा$_{४}$)$_{२}$ औ.७मोऔ$_{३}$. ४ हा$_{२}$औ [$3(NH_4)_2O.7MoO_3.4H_2O$] जटिल दोनों रूपों में मिलता है। मोलिब्डेनम के दो अन्य ऑक्साइड मो$_{२}$ औ$_{५}$ (Mo_2O_5), मो औ$_{२}$ (MoO_2) ज्ञात हैं। मोलिब्डेनम के दो सल्फाइड, मो गं$_{३}$ (MoS_3) और मोगं$_{२}$ (MoS_2) ज्ञात हैं। डाइसल्फाइड प्राकृतिक अवस्था में मोलिब्डेनाइट अयस्क से मिलता है। मोलिब्डेनम क्लोरीन के साथ चार यौगिक मो क्लो$_{२}$ ($MoCl_2$), मो क्लो$_{३}$ ($MoCl_3$), मोक्लो$_{४}$ ($MoCl_4$) और मोक्लो$_{५}$ ($MoCl_5$) तथा फ्लोरीन के साथ मो फ्लो$_{६}$ (MoF_6) बनाता है। इनके अतिरिक्त ऑक्सीहैलाइड भी बनाए गए हैं।

मोलिब्डिक अम्ल, हा$_{२}$मोऔ$_{४}$ (H_2MoO_4), अथवा मोलिब्डेट के आम्लिक विलयन को किसी अपचायक पदार्थ द्वारा अपचयित किया जाय, जैसे सल्फर डाइऑक्साइड, गं औ$_{२}$ (SO_2), हाइड्रोजन सल्फाइड, हा$_{२}$गं (H_2S), ग्लूकोज, यशद, हाइड्रैज़ीन आदि, तो विलयन का रंग गहरा नीला हो जाता है। इसको मोलिब्डेनम ब्लू कहते हैं।

मोलिब्डेनम का यह परीक्षण सुग्राही माना जाता है। ऐसा अनुमान है कि इसमें मोलिब्डेनम की अनेक संयोजकता अवस्था के यौगिक रहते हैं।

उपयोग — मोलिब्डेनम का मुख्य उपयोग इस्पात उद्योग में है। तोप, ढाल, मोटी चादरों आदि के इस्पात में मोलिब्डेनम मिला रहता है, क्योंकि इसकी न्यून मात्रा भी इस्पात को शक्ति और कठोरता प्रदान करती है। कुछ अधिक मात्रा में मिलाने पर इस्पात अपनी कठोरता को उच्च ताप पर भी स्थिर रखता है। चुंबक इस्पात और अम्ल प्रतिरोधी मिश्रधातुओं में मोलिब्डेनम का महत्वपूर्ण स्थान है। विशुद्ध मोलिब्डेनम बिजली के बल्बों के तंतु और रेडियो वाल्वों के आधार में उपयोगी है। टंग्स्टन के साथ थोड़ी मात्रा में मिलाने पर बिजली के अच्छे तापदीप्त तंतु (incandescent filaments) बनते हैं।

मोलिब्डेनम यौगिक, विशेष कर सीस मोलिब्डेट वर्णक के रूप में, काम आता है। इसके अनेक लवण, जैसे अमोनियम मोलिब्डेट, सोडियम मोलिब्डेट आदि, प्रयोगशाला के आवश्यक अभिकर्मक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। चमड़े के रँगने, लोह और इस्पात के इनैमल करने और कपड़ा रँगने में मोलिब्डेनम के अनेक यौगिक काम आते हैं। [र० चं० क०]

मोलिब्डेनाइट (Molybdenite) धात्विकी चमकवाला खनिज है, जो कागज पर अपना निशान बना देता है। यह काले रंग का होता है, पर इसके चूर्ण का रंग कुछ हरापन लिए रहता है। इस खनिज की परत लचीली होती है तथा पृथक भी की जा सकती है। इसकी कठोरता १.५, आपेक्षिक घनत्व ४.७ तथा सूत्र मोगं$_{२}$ (MoS_2) है। इस खनिज से मोलिब्डेनम धातु प्राप्त होती है। युद्धकाल में इस धातु की माँग बहुत अधिक होती है। मोलिब्डेनम की सहायता से विशेष प्रकार का इस्पात तैयार किया जाता है, जो लचीला, शक्तिशाली तथा पैना होता है। मोलिब्डेनम युक्त इस्पात का उपयोग भिन्न भिन्न प्रकार के यंत्र तथा उपकरण बनाने में किया जाता है। विद्युत् और एक्स किरण यंत्रों में भी इस इस्पात का उपयोग होता है।

मोलिब्डेनाइट, ग्रैनाइट और पैग्मेटाइट में, तथा चारियों और पुनर्निविष्ट निक्षेपों में मिलता है। भारत में यह खनिज बिहार, असम, आंध्र प्रदेश और राजस्थान में मिला है। मोलिब्डेनाइट के विश्व के सब से बड़े निक्षेप संयुक्त राज्य, अमरीका, के कॉलोरेडो राज्य में हैं। [म० ना० मे०]

मोलैंड जार्ज (१७६३–१८०४) लंदन का चित्रकार। उसके पिता और पितामह दोनों चित्रकार थे। उसकी माँ ने भी रायल अकादमी में अपने चित्र प्रदर्शित किए थे। सात वर्ष की अवस्था में ही वह रेखाचित्र बनाने लग गया था। १५ वर्ष की अवस्था में ही उसने अपने दो रंग चित्र अकादमी में प्रदर्शित किए। पिता के साथ सख्त नियमित जीवन व्यतीत कर वह ऊब गया था और एकाएक उसने स्वच्छंद जीवन की ओर पग बढ़ाया। वह जल्दी ही कर्ज में लद गया और ४१ वर्ष की अवस्था में ही एक सेठ के कठघरे में (जहाँ कर्जदार लोग बंद किए जाते थे) उसकी जान निकल गई।

मोलैंड ने अधिकतर देहातों के दृश्यचित्र बनाए हैं जैसे घोड़ागाड़ी, झोपड़े, खेत, इत्यादि। इस तरह के अनेक चित्र उसने बनाए। स्त्रियों और बच्चों के चित्र बनाने में उसका मन सबसे अधिक लगता था। एक ग्रामीण सईस का अस्तबल 'द इंटीरियर ऑव द स्टेबल' उसका बहुप्रशंसित चित्र है। [रा० चं० शु०]

मोलोक यहूदियों के आसपास बसनेवाली कानानाइट, फैनिसियन और अमोनाइट जातियों का एक देवता। वह अधोलोक का राजा (इब्रानी में मेलेक, उर्दू में मालिक) माना जाता था। महाविपत्ति के समय लोग उसकी वेदी पर बच्चों को जलाकर बलिदान चढ़ाते थे। मूसा की संहिता में यहूदियों के लिये इस प्रथा का सुस्पष्ट निषेध है। इसके बावजूद सुलेमान ने अपनी गैर यहूदी पत्नियों का मन रखने के लिये जैतून पर्वत पर मोलोक के आदर में वेदियाँ बनवाई थीं (दे० १ राजा, ११,७)। राजा आहाज ने मोलोक को अपने पुत्र का बलिदान दिया था (२ राजा, १६)। परवर्ती शताब्दियों में भी हिन्नोम घाटी में तोफेत नामक स्थान पर मोलोक की वेदी का उल्लेख है। बाइबिल के अनेक स्थलों पर नबियों ने मोलोक की पूजा की घोर निंदा की है।

सं० ग्रं० — देवो (Devaux), ऐंशेंट इसराएल, लंदन, १९६१। [आ० बे०]

मोसादिग, मोहम्मद मोसादिग मोहम्मद का जन्म १८८० ई० के लगभग तेहरान में हुआ था। वे ईरान के भूतपूर्व राजस्व मंत्री हिदायत के पुत्र थे। मोसादिग ने सर्वप्रथम खुरासान प्रांत में राजस्व अधिकर्ता के पद पर कार्य किया। मोहम्मद अली शाह के साथ कटु संबंध हो जाने के कारण उनको स्वदेश छोड़ने को बाध्य होना पड़ा। पैरिस और स्विट्जरलैंड मे अध्ययन करने के पश्चात् जब वे ईरान वापस आए, तो कुछ काल के लिये उनको न्याय मंत्री (१९२०), राजस्व मंत्री (१९२१) और विदेश मंत्री (१९२२) बनाया गया। किंतु शाह रजा खाँ पहेलवी से मतभेद होने के कारण उनको अपना सार्वजनिक जीवन समाप्त करना पड़ा। सन् १९४४ में राजनीतिक क्षेत्र मे पुन. प्रवेश करने पर मोसादिग को मजलिस का सदस्य बनाया गया। १५ मार्च, १९५१ को तेल राष्ट्रीयकरण कानून पारित होते ही, मोसादिग ईरान के प्रधान मंत्री चुने गए। सन् १९५३ तक शाह पहेलवी के साथ उनके संबध बहुत खराब हो चुके थे। नवंबर १९५३ मे मोसादिग पर मुकदमा चलाया गया और राजद्रोह के अपराध मे उनको कैद की सजा दी गई जिसकी अवधि १९५६ में समाप्त हुई। [ला० सि०]

मोसुल नगर, स्थिति ३६° २९′ उ० अ० तथा ४३° ६′ पू० दे०। यह नगर इराक मे दजला नदी के किनारे, बगदाद से २२० मील उत्तर-पश्चिम, टेपेग्वारा नगर से १५ मील दक्षिण की ओर स्थित है। इसका पृष्ठ प्रदेश अत्यत उपजाऊ है, जिसमें अनेक प्रकार का खाद्यान्न, रसदार मीठे फलोंवाले उद्यान तथा सुदर चरागाह हैं। प्राचीन काल में यह नगर उत्तम प्रकार के पतले सूती कपड़ों के लिये प्रसिद्ध था, जो मसलिन के नाम से जाना जाता था। अब यहाँ धातु के बरतन बनाए जाते हैं। पास में ही अनेक पेट्रोलियम तेल के स्रोत हैं। इसकी जनसंख्या १,७९,६४६ (१९६३) है। [वि० रा० सि०]

मोहनमंत्र वह मंत्र है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को या समुदाय को मोहित किया जाता है। इसके द्वारा मनुष्य की मानसिक क्रियाओं पर प्रभाव डालकर उसको वश में किया जाता है। राज्याभिषेक के समय राजा को एक मणि, जो पर्ण वृक्ष की बनाई जाती थी, मोहनमंत्र से अभिमंत्रित करके पहिनाई जाती थी। इससे जो भी राजा के सामने जाता था वह मोहित और प्रभावित हो जाता था। युद्ध के समय मोहनमत्र का प्रयोग शत्रु की सेना पर किया जाता था। रणदुंदुभी पर मोहनमत्र किया जाता था जिससे उसको सुननेवाले विपक्ष के सैनिक मोहित और भयभीत हो जाते थे। किसी व्यक्ति-विशेष पर मोहनमत्र करने के लिये भी उसी प्रकार पुतला बनाया जाता था जैसे वशीकरण मत्र मे किया जाता है। साँप को मोहनमत्र द्वारा निष्क्रिय किया जाता है। [म० ला० श०]

मोहनलाल विष्णु पंड्या इनका जन्म सवत् १९०७ विक्रमी में हुआ था। भारतेंदु कालीन हिंदी सेवियों में इनका प्रमुख स्थान है। उन्होंने आजीवन हिंदी साहित्य के उन्नयन और तत्संबंधी ऐतिहासिक गवेषणाओं मे योगदान किया। जब कविराजा श्यामलदास ने अपनी 'पृथ्वीराज चरित्र' नामक पुस्तक में अनेक प्रमाणों के द्वारा पृथ्वीराज रासो को जाली ठहराया तब उसके खंडन में इन्होंने 'रासो संरक्षा' नामक पुस्तक लिखी। इनका कहना था कि रासो में दिए गए संवत् ऐतिहासिक संवतों से जो ९०-९१ वर्ष पीछे पड़ते हैं उसका कोई विशेष कारण रहा होगा। इसके प्रमाण में इन्होंने रासो का यह दोहा उद्धृत किया—

एकादस सै पंचदस विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

'विक्रम साक अनंद' की व्याख्या करते हुए इन्होंने 'अनंद' का अर्थ 'नंद रहित' किया और बताया कि नंद ९ हुए थे और 'अ' का अर्थ शून्य हुआ। अत ९० वर्ष रहित विक्रम संवत् को रासो में स्थान दिया गया है। यद्यपि उनके इस प्रकार के समाधान के लिये कोई पुष्ट कारण नहीं मिल सका, फिर भी यह व्याख्या चर्चा का विषय हुई अवश्य। रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये इन्होंने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' मे कुछ लेख भी लिखे थे। अपने इन्हीं लेखों के कारण ये नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाले 'पृथ्वीराज रासो' के प्रधान संपादक मनोनीत हुए। रासो का बाईस खंडों मे इन्होंने संपादन किया है। रासो के संपादन में बाबू श्यामसुंदर दास और कृष्णदास इनके सहायक थे। सभा के द्वारा ये अच्छे इतिहासज्ञ और विद्वान् के रूप मे ख्यात हो गए थे। इसके अतिरिक्त ये अच्छे पत्रकार भी थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित 'हरिश्चंद्र चद्रिका' नामक पत्रिका का प्रकाशन जब रुकने जा रहा था तब आपने उसे अपने योग्य हाथों में लेकर सँभाला। अपने सपादन काल में इन्होंने उसका नाम 'मोहन चंद्रिका' रख दिया था। इनका देहावसान संवत् १९६९ वि० (४ सितंबर, १९१२) में मथुरा मे हुआ था। [ला० त्रि० प्र०]

मोहिनी चाक्षुष मन्वंतर में हुए नारायण के त्रयोदश अवतार रूप मे प्रकट मोहिनी नामक अतीव सुंदरी अप्सरा जिन्होंने समुद्रमंथन से प्राप्त अमृत तो देवताओं को पिलाकर अमर कर दिया और असुरों को रूप से मोहित कर उससे वंचित किया था। शिव की प्रार्थना करने पर इसी रूप मे भगवान् नारायण ने उन्हें दर्शन दिया था जिसे देखकर वे मुग्धतावश उनके पीछे पीछे दौड़ते रहे और उनका वीर्य स्खलन हो गया। (भाग० पु० १-३, १७; तथा ८, ८, ४१ से ४३)। [च० भा० पा०]

मौंज़्ह्‌, गास्पार (Monge, Gaspard, १७४६ ई०–१८१८ ई०) फ्रांसीसी गणितज्ञ थे। इनका जन्म १० मई, १७४६ ई० को बोन के एक निम्नवर्गीय परिवार मे हुआ था। एक कर्नल की कृपा से ड्राइंग एवं निरीक्षण की शिक्षा देनेवाले एक स्कूल मे इन्हें प्रवेश मिल गया। किलेबदी के नक्शो के लिये अंकगणितीय विधियो द्वारा की गई लंबी गणनाओं से उकताकर, इन्होंने इस कार्य के लिये एक संक्षिप्त ज्यामितीय विधि का आविष्कार कर वर्णनात्मक ज्यामिति का श्रीगणेश किया। तदुपरात इन्होंने इसपर अनेक शोधपत्र लिखे, वैश्लेषिक ज्यामिति मे रेखा के समीकरण का विधिवत् प्रयोग किया, द्विघातीय पृष्ठों पर महत्वपूर्ण अनुसधान किए, और पृष्ठों के सिद्धांत तथा आंशिक अवकल समीकरण के अनुकलन के मध्य प्रच्छन्न संबंध का आविष्कार किया। इनके अतिरिक्त मौंज़्ह्‌ ने वक्रतीय वक्रो के अवकल किए, वक्रता के सामान्य सिद्धांत की रचना

की ओर इसका प्रयोग दीर्घवृत्तज के अध्ययन में किया। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'स्तातिक्स' (Statics), १७८६ ई०, 'आप्लिकास्यों द लालजेब्र आ ला जेओमेत्रि' (Applications de l'algebre a la geometrie), १८०५ ई० तथा 'आप्लिकास्यों द लानालीज आला जेओमेत्रि' (Application de l' analyse a la geometrie) हैं। २८ जुलाई १८१८ ई० को पैरिस में इनकी मृत्यु हो गई।

सं० ग्रं — बी० ब्रेसों : नोटिस इस्तोरिक्स स्यूर गास्पार मौंज़।
[रा० कु०]

मौखरि मौखरि वंश अत्यंत प्राचीन है। पाणिनि को यह नाम ज्ञात था। कुछ मौर्यकालीन मौखरि मुद्राएँ भी गया से मिली हैं। तीसरी शताब्दी में राजस्थान के कोटा प्रदेश में मौखरि राज्य था। किंतु सबसे अधिक प्रसिद्धि उत्तर प्रदेशीय मौखरि वंश ने प्राप्त की है। इसके अभिलेखों में मुखरवंश केकयराज अश्वपति की संतान के रूप में वर्णित है। ये आरंभ में गुप्त साम्राज्य के सामंत रहे होंगे। किंतु सन् ५५० के लगभग जब गुप्त साम्राज्य की समाप्ति हुई तो इस वंश ने उत्तर भारत में अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया। उत्तरकालीन गुप्त भी इसी लक्ष्य से प्रेरित थे। इसी कारण लगभग ५० वर्ष तक इन दोनों वंशों में संघर्ष चलता रहा।

मौखरि 'महाराजाधिराज' ईशान वर्मा का संवत् ६११ (सन् ५५४ ई०) का एक अभिलेख हरहा से मिला है जिससे ज्ञात होता है कि उसने आंध्रों, शूलिकों और गौड़ो को पराजित किया। आंध्रराज संभवत: विष्णुकुंडी माधव वर्मा प्रथम हो। कहा जाता है, इसने ११ अश्वमेध और एक हजार अग्निष्टोम यज्ञ किए थे। शूलिक उड़ीसा के शुल्की हो सकते हैं, यद्यपि यह अनुमान अत्यंत अनिश्चित है। गौड़ों से गौडदेश के तत्कालीन राजा अभिप्रेत हैं। इन सब पर विजय ईशानवर्मा की बढती शक्ति का द्योतक है। किंतु ईशानवर्मा को सर्वत्र ही शायद विजय प्राप्त न हुई हो। कुछ इतिहासलेखकों का मत है कि उसे उत्तरकालीन गुप्त कुमारगुप्त से हार खानी पडी।

कृष्णगुप्त के पुत्र दामोदर गुप्त की मौखरियों से युद्ध में मृत्यु हुई। किंतु उससे आगे के राजा महासेन गुप्त ने पर्याप्त समय तक मौखरियों से मोर्चा लिया। कामरूप आदि पर भी महासेन गुप्त ने विजय प्राप्त की। पर वह भी ईशानवर्मा के पुत्र शर्ववर्मा से हारा। देव बरुणार्क अभिलेख से मगध पर मौखरियों की सत्ता सिद्ध है। असीरगढ से शर्ववर्मन् की एक मुद्रा मिली है जिससे कुछ विद्वानों ने असीरगढ को मौखरि राज्य के अंतर्गत माना है। किंतु मुद्राएँ तो हर कहीं पहुँच सकती हैं। पर मौखरि अधिकार का प्रमाव इससे कहीं अधिक पुष्ट है। इस मंडल में प्रदत्त शर्ववर्मा के एक दानपत्र का प्रतिहार सम्राट् नागभट द्वितीय ने कालांतर में अनुमोदन किया। शर्ववर्मा ने अपने सिक्के भी प्रचलित किए जो कई स्थानों से मिले हैं। अनुमान है कि उसके राज्य में समग्र उत्तर प्रदेश, मगध का अधिक भाग, मध्यप्रदेश का कुछ हिस्सा और कुछ अन्य भूभाग भी थे।

शर्ववर्मा के पुत्र अवंतिवर्मा के विषय में हमे कुछ विशेष जानकारी नहीं है। किंतु उसके समय मगध आदि पर मौखरियों का अधिकार बना रहा। बाण का गुरु भर्वु संभवत: अवंतिवर्मन् द्वारा प्रतिष्ठित हुआ था। मुद्राराक्षस आदि का लेखक विशाखदत्त भी शायद उसके दरबार में रहा हो।

छठी शताब्दी के अंत में राजनीतिक स्थिति बदली। गौड़ शशांक ने मगध के बहुत से हिस्से और प्राय: समग्र गौड (वर्तमान बंगाल) प्रदेश पर अधिकार कर लिया। मालवे में महासेन गुप्त की मृत्यु के बाद राज्याधिकार देवगुप्त के हाथ में आया। उसने शशांक से मैत्री कर मौखरि वंश को विच्छिन्न करने का प्रयत्न किया।

मौखरियों ने इस भयावह संकट को दूर करने के लिये थानेश्वर के पुष्यभूति वंश की सहायता ली। अवंतिवर्मन् के पुत्र ग्रहवर्मा का प्रभाकर वर्धन की पुत्री और हर्ष की बहन राज्यश्री से विवाह हुआ। उत्तर भारत इस तरह दो दलों में विभक्त हो गया जिसमें एक ओर मालव और गौड और दूसरी ओर मौखरि और पुष्यभूति वंशी थे। दोनों पक्ष युद्ध की तैयारी करते रहे। सन् ६०६ में प्रभाकर वर्धन जब अकस्मात् ज्वरग्रस्त होकर मर गया तो शत्रुओं ने ठीक अवसर देखकर कन्नौज पर आक्रमण किया। ग्रहवर्मा मारा गया। राज्यश्री बंदिनी हुई। हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन ने देवगुप्त को हराया; पर वह स्वयं शशांक के हाथों धोखे से मरा। राज्यश्री यथा तथा भाग निकली। हर्ष यदि ठीक समय पर उसके उद्धार के लिये न पहुँचता तो वह चिता में जल मरती।

कन्नौज के मौखरि राज्य की ग्रहवर्मा में समाप्ति हुई। मौखरि मन्त्रियो ने हर्ष को कन्नौज का सिंहासन दिया, और हर्ष ने भी राज्यश्री के अधिकार को ध्यान में रखकर उसकी मन्त्रणा से राजकार्य का संचालन किया। यत्र तत्र मौखरि वंश इसके बाद भी प्रभावशाली रहा। किंतु उसकी स्वतंत्र सत्ता सन् ६०६ के बाद न रही।

सं० ग्रं० — पायर्स (Pires) : दि मौखरीज़। [ब० श०]

मौनवाद ईसाई धर्म की एक रहस्यवादी प्रवृत्ति, जिसमें आंतरिक शांति' को ईश्वर के अनुभव का माध्यम माना गया था। वस्तुत., यह प्रवृत्ति अपने ढंग की अकेली न थी। ईसाई धर्म के इतिहास से पता चलता है कि वह मानव के आत्मिक विकास का ही उद्देश्य लेकर नहीं, वरन् धार्मिक राज्य की स्थापना के निमित्त भी मैदान में उतरा था। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए, रोम के धर्माधिकारियों ने, प्रारंभ से ही, मानवीय बुद्धि और आचरण को धार्मिक नियमों के अधीन रखने का प्रयत्न किया। यह असंभव की कल्पना थी, खास तौर से जबकि प्रधानतया बौद्धिक यूनानी दर्शन का विकास हो चुका था। रोम और यूनान के बीच राजनीतिक संबंध भी थे। फलत., रोम का धर्म संघ एक ओर अपनी राजनीतिक सत्ता एवं दंड नीति के द्वारा यूरोप की जनता को अपने अनुशासन में रखने का प्रयत्न करता रहा और दूसरी ओर, उन्नतिशील विज्ञान और दर्शन उस अनुशासन की अबौद्धिकता की ओर संकेत करते रहे। संघ की सीमाओं में ही धर्म की बौद्धिक व्याख्याएँ विकसित होती रहीं और अंध विश्वासों के विरुद्ध धीमी आवाजें बराबर सुनाई देती रहीं।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में यूरोप के धार्मिक इतिहास में एक उथल पुथल मच गई। यहाँ तक कि पुराने कैथलिक धर्म के समर्थकों और विरोधियों में भेद कर पाना कठिन हो जाता है।

१५२१ ई० में मार्टिन लूथर के 'विरोध' (प्रोटेस्ट) के बाद, सुधारवादी प्रवृत्ति पूर्ण रूप से जाग उठी। विरोध और सुधार के स्वरों में अंतर कम हो गया और यूरोपीय धर्म जगत् में नवजागरण की लहर दौड़ गई।

इस जागरण काल में, लूथर के अनुयायी फ़िलिप स्पेनर ने १६७५ ई० में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसका शीर्षक था 'प्रभु को प्रसन्न करने के लिये इजील के धर्मसंघ में सुधार करने की हार्दिक इच्छा'। स्पेनर का उद्देश्य ग्रंथ विश्वास और आचार्य दोनों से हटकर, अनुभव और भावना पर बल देना था। उसका मत पवित्रतावाद (पायटिज्म) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी समय, स्पेन के एक धर्मशास्त्री माइकेल द मॉलीनॉस (१६४०-९७) ने, जो कैथलिक मतानुयायी था, अपनी 'आध्यात्मिक पथप्रदर्शिका' (गाइडा स्पिरिचुएल) नामक पुस्तक प्रकाशित की। उसने भी धर्म की आनुभविक व्याख्या की। रहस्यवादी प्रवृत्ति मध्यकाल से ही पनप रही थी। संत टामस एक्वीनस (१२१७-७४) ने अपनी 'सुम्मा थियोलोजिया' में मानसिक भावन (कंटेंप्लेशन) को 'नित्य सत्य का सरल रूप' स्वीकार किया था। अन्य रहस्यवादी संतों ने भी बाह्याचार की अपेक्षा सुस्थिर, शांत क्षणों के अनुभव पर बल दिया था।

सोलहवीं शताब्दी में स्पेन के नारी संत टेरेजा (१५१५-८२) ने मानसिक शांति, अथवा मौनावस्था की विशेष रूप से व्याख्या की थी। उसने बताया था कि यह निष्क्रियता नहीं, 'व्यस्त विश्राम' की अवस्था है, जिसमें आत्मा अपनी उच्छृंखल वासनाओं को त्याग कर उसी प्रकार ईश्वरोन्मुख हो जाती है, जैसे सीपी सागर का जल पीने के लिये अपना मुँह खोल देती है। संत टेरेजा के इस विचार में मौन का अर्थ कायिक नहीं, वह आंतरिक मौन है, जिसमे भक्त दीन दुनिया से मुँह मोड़कर, प्रभु की भावना मे खो जाता है। टेरेजा ने इस मौन में मन की ग्राहक अवस्था (पैसिव स्टेट) को आवश्यक माना था, तभी तो उसने सीपी की भाँति मुँह खोलकर सागर का जल लेने की बात की थी।

मॉलीनॉस ने संत टेरेजा के मौन को और स्पष्ट करने की चेष्टा की। उसने धारणा (मेडीटेशन) और भावन (कंटेंप्लेशन) मे अंतर करते हुए बताया कि पहली अवस्था बौद्धिक है। मन इसमे सक्रिय रूप से ईसाई विश्वासो मे उलझा रहता है। भावन की अवस्था में वह प्रभु के प्रेम मे डूब जाता है। उसे ईश्वर का अपरोक्षानुभव अथवा साक्षात्कार होता है। वह ईश्वर से संबद्ध हो जाता है। मॉलीनॉस के अनुसार, मौन की अवस्था में सभी प्रयोजनों, इच्छाओं, विचारों और संकल्पों का अभाव हो जाता है। यह सांसारिक वस्तुओं से पूर्ण विराग की अवस्था है।

अपने विचारों के लिये, मॉलीनॉस को १६८५ ई० में 'होली इंक्वीजिशन' के सामने जाना पड़ा। उसे आजीवन कारावास भुगतना पड़ा। वहीं १६९७ में उसकी मृत्यु हुई। किंतु, मौनवादी आंदोलन का अंत न हुआ। मॉलीनॉस के विचारो ने फ्रांस की मैडम गुयाँ (१६४८-१७१७) को प्रभावित किया। वह एक धनी परिवार की सुशिक्षित महिला थी, जो वैवाहिक जीवन सुखमय न होने से धर्म की ओर मुड़ गई थी। उसने मौन के निषेधात्मक पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। अपने अनुयायी फ़ेनेलॉन (१६५१-१७१५) को उसने एक पत्र में बताया था कि उद्बोधन के क्षण से उसे अपनी मौन प्रार्थनाओं में कभी किसी आकार, विचार या बिंब की चेतना नहीं हुई। इस तत्व का संकेत मॉलीनॉस की 'पथ प्रदर्शिका' में भी था। उसने लिखा था कि ईश्वर का ज्ञान स्वीकारोक्तियों से अधिक निषेधों से होता है। फ़ेनेलॉन ने अपने उपदेशों में मौनवाद के निषेधात्मक पक्ष को ही स्पष्ट किया।

मैडम गुयाँ से प्रभाव मे आने के पूर्व वह कैथलिक संघ की ओर से नियुक्त 'अंतःकरण का निदेशक' (डाइरेक्टर ऑव कांशेंस) था। किंतु १६९९ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'संतों की सूक्तियाँ' (मैक्सिम्स ऑव सेंट्स) में उसने 'शुद्ध मानसिक भावन' के लिये लिखा कि 'यह एक निषेधात्मक अवस्था है। इसमें किसी इंद्रियसंवेद्य वस्तु का बिंब, कोई नामाख्य विचार नहीं रहता। यह सत्ता के शुद्ध बौद्धिक एवं सूक्ष्म विचार की स्थिति है।' यूरोपीय अध्येताओं के विचार से फ़ेनेलॉन के हाथ मे पड़कर यह मत भारतीय बौद्ध मत की भाँति शून्यवादी हो गया था।

इस प्रकार, यह मत मौन की उपलब्धि के लिये, दो मानसिक प्रवृत्तियो का अभ्यास आवश्यक समझता है—ग्राहकता (पैसिविटी) तथा उदासीनता (डिसइंटरेस्टेडनेस्)। किंतु, इन सबसे अधिक महत्व उस क्षण का है, जिसमे संत टेरेजा या मैडम गुयाँ को बोध हुआ था। यह एक विरला क्षण है, जिसमे आत्मा ईश्वर के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर देती है। आत्मा का यह समर्पण बार बार नहीं होता। इसलिये मौनवादी इसे 'एकहि कर्म' (द वन ऐक्ट) कहते हैं। इस कर्म के बाद मौन की अवस्था स्वाभाविक हो जाती है।

सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियो मे मौनवाद स्पेन और फ्रांस के धार्मिक जागरण की एक सबल प्रवृत्ति समझा जाता रहा। किंतु इस प्रकार की सभी प्रवृत्तियों का उद्देश्य धार्मिक अनुशासन कम करना तथा मनुष्य की बौद्धिक स्वतंत्रता की रक्षा करना था। इसलिये इन उद्देश्यों की पूर्ति के साथ साथ धार्मिक आंदोलन की विविध प्रवृत्तियों का भी लोप होता गया।

सं० ग्रं० — समुचित अध्ययन के लिये, 'द कैंब्रिज मॉडर्न हिस्ट्री', भाग ५, अध्याय ४ तथा जेम्स हेस्टिंग्ज की 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलीजन ऐंड एथिक्स' में 'क्वायटिज्म' पर लेख। [शि० ग्र०]

मौनव्रत मल मूत्र का त्याग करते समय, मैथुन, स्नान, भोजन और दातौन करते समय तथा संध्या आदि कर्म और पूजा करते समय मौन धारण करने का उपदेश है। मौन को सर्वार्थ साधक कहा है। जैन मुनियों के संबंध मे कहा है कि वे मौन धारण करके कर्मों का क्षय करते हैं और रूखे सूखे भोजन का सेवन करते हैं—इन वीर मुनियों को सम्यग्दृष्टि कहा है। योगों मे मौन को सर्वश्रेष्ठ बताया है। [ब० चं० जै०]

म्यूनिक नगर स्थिति: ४८° १०' उ० अ० तथा ११° ३४' पू० दे०। यह पश्चिमी जर्मनी का दूसरा सबसे बड़ा नगर है। इसका स्थान हैमबर्ग के बाद आता है। म्यूनिक नगर बवेरिया के मैदान के मध्य में

स्थित बवेरिया प्रांत का मुख्य नगर है। साधुओं का निवासनगर होने के कारण इसका नाम म्यूनिक रखा गया। यह नगर इटली के ब्रेनर दर्रे से लगभग १०० मील दूर है जिससे ऐल्प्स पर्वत की शुभ्र बर्फीली चोटियाँ दिखाई देती हैं। यहाँ के प्राचीन भग्नावशेष, महल एवं जर्मन संग्रहालय दर्शनीय हैं। यहीं पर म्यूनिक विश्वविद्यालय है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर अनेक शिक्षण संस्थाएँ हैं, जहाँ कला, विज्ञान, राजनीति, तकनीकी एवं कानून की शिक्षा दी जाती है। यहाँ पर शीशा, मदिरा, छोटे यंत्रों तथा गिरजाघर के घंटे बनाने के अनेक संस्थान हैं। मदिरा यहाँ का मुख्य निर्यात है। इसकी जनसंख्या ११, ०६,२६८ (१९६१) है। [वि० रा० सि०]

म्योर, जान १९वीं शताब्दी के ब्रिटिश प्रशासनाधिकारियों में जान म्योर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह उन चुने हुए व्यक्तियों में थे जिन्होंने अपनी लेखनी द्वारा प्राचीन संस्कृत साहित्य का पाश्चात्य जगत् में दिग्दर्शन कराया। ५ फरवरी, १८१० को ग्लास्गो में विलियम म्योर के पुत्र जान का जन्म हुआ था। ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी मिलने पर पहले यह हेलेबरी कालेज में प्रशिक्षण पाते रहे और १८२९ में भारत आये। सर्वप्रथम इनकी नियुक्ति आजमगढ़ के आयुक्त पद पर हुई। इनका झुकाव आरंभ से ही संस्कृत भाषा और साहित्य की ओर था, अतः १८०४ में यह वाराणसी में विक्टोरिया अथवा क्वीन्स कालेज के कुलपति नियुक्त हुए। इस पद पर आसीन होने पर जान म्योर की प्रतिभा चमकी। १८५५ में आक्सफोर्ड के विश्वविद्यालय ने इनको 'डाक्टर आफ सिविल ला की उपाधि प्रदान की। जर्मनी के बान विश्वविद्यालय ने भी इन्हें 'डाक्टर आफ फिलासफी' की डिग्री से सुशोभित किया। १८६२ में जान म्योर एडिनबरो विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा भाषाविज्ञान के प्रोफेसर बने। इनकी विशेष रुचि वैदिक साहित्य की ओर थी और इन्होंने पाँच भागों में उन संस्कृत ग्रंथों को संपादित किया जिनका संबंध भारतीय इतिहास के मूल स्रोत से था। इसके अतिरिक्त उन्होंने वैदिक अध्ययन, सांस्कृतिक परंपराओं तथा धार्मिक विचारधाराओं पर भी 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' इंगलैंड तथा बंगाल के रायल एशियाटिक जर्नल, में बहुत से निबंध प्रकाशित किये। ७ मार्च १८८२ को ७३ वर्ष की उम्र में इनका देहांत हो गया। [बै० पु०]

म्यूरिल्लो बार्तोलोमी एस्तबान (१६१७-१६८२) स्पेनी चित्रकार। उसने इटालियन स्कूल के एक सामान्य कलाकार जॉन दि कैस्तिल्लो से पेंटिंग की शिक्षा प्राप्त की। सेविल के पब्लिक फेयर के लिए कुछ बेढंगे चित्रण के बलबूते पर ही उसे अपनी रोजी कमाने के लिए बाध्य होना पड़ा। बाद में वह मैड्रिड चला गया, जहाँ सुप्रसिद्ध वेला जेकज से उसका संपर्क हुआ और रोम के अन्य कलाकारों से भी परिचय हुआ। रोम की रॉयल गैलरी में उसका प्रवेश हो गया और वहाँ इटली और फ्लांडर्स के बड़े बड़े कलाकारों की चीजें हृदयंगम करने और अध्ययन करने का उसे मौका मिला। अगले दो वर्षों तक रिबेरा, वांडीक और वेलाजकेजा की अनुकृति पर उसने कितने ही चित्र बनाए और शनैः शनैः इस दिशा में उसके प्रयत्न तत्कालीन रोम सम्राट् के संमुख भी आए।

रोम में बने रहने का ही उससे आग्रह किया गया। लेकिन उसने अपनी जन्मभूमि लौटने को ही महत्व दिया। सेविल में सान फ्रांसिस्को कान्वेंट में उसने अपनी सेवाएँ अर्पित कर दीं और बहुत बड़े बड़े ग्यारह भित्तिचित्रों का निर्माण किया।

१६४८ में म्यूरिल्लो का विवाह एक बड़े ही धनिक परिवार की लड़की से हुआ। उसका घर बहुप्रवृत्ति के कलाकारों से भर गया। उन्हीं दिनों अपने प्रसिद्ध चित्र 'मिस्र में पलायन' का उसने निर्माण किया। डौन जान फेडरिगो के आदेश पर 'सान लियोनार्दो' और 'सान इजिदोरो' दो पोर्ट्रेट चित्र भी उसने निर्मित किए। उसके काम करने की पद्धति, रंगरेखांकन, चित्रणसंयोजन और प्रकाशछाया, धुंध या रंगों के फैलाने के तौर तरीके, सबसे बड़ी बात कि अनवरत श्रम एवं साधना से उसकी कार्यचातुरी और हाथ की सफाई चरम कोटि पर पहुँच गई।

१६५८ में म्यूरिल्लो के हाथों एक बहुत बड़ा कार्य संपन्न हुआ जिसकी इटलीवासियों ने कभी कल्पना तक न की थी। एक 'पब्लिक एकेडेमी ऑफ आर्ट' की उसने स्थापना की और वह उसका अध्यक्ष नियुक्त हुआ। मनारा के आदेश से सान फोर्ज की बुर्जी के लिये उसने ११ चित्र तैयार किए। इसके अतिरिक्त और भी कितनी ही स्फुट कलाकृतियाँ निर्मित कीं जिनमें उसकी बहुमुखी प्रतिभा का आभास मिला। इस बुर्जी का काम समाप्त होते ही अपनी पहली कान्वेंट के लिये उसे फिर अठारह चित्र बनाने पड़े। अनेक बड़ी बड़ी पोर्ट्रेट पेंटिंग चित्रित करने में भी उसने सफलता प्राप्त की। सेविल की आगस्टस कान्वेंट के लिये 'दि ग्लोरियस डॉक्टर' के अनेक दृष्टांत चित्रों के लिये उसे काफी परिश्रम करना पड़ा। सेंट कैथराइन का एक बड़ा चित्र बनाते हुए वह ऊपर से गिर पड़ा और उसे गंभीर चोट आई। फिर वह उठ न सका और ३ अप्रैल, १६८२ को उसकी मृत्यु हो गई।

स्पेन में ही नहीं, वरन् विश्व भर में उसने ख्याति अर्जित की। उसकी कला के विषय दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—पहले पौराणिक और धार्मिक चित्र और दूसरे सर्वसामान्य जीवन, जैसे गली में खेलते कूदते बच्चों आदि के चित्र हैं। उसकी कलाकृतियों के अध्ययन के लिये अब भी लोग सेविल जाते हैं। मेड्रिड की प्राडो म्यूजियम में उसके ४५ चित्र और लंदन की नेशनल गैलरी में 'पवित्र परिवार' (Holy family) का दिग्दर्शन करानेवाले उसके अनेक भव्यतम चित्र सुरक्षित हैं। [श० रा० गु०]

म्यूनियर कांस्टेंटिन (१८३१-१९०५) इस बेल्जियन शिल्पकार और चित्रकार का जन्म ब्रुसेल्स के समीप देहात में हुआ। उसने अपनी कला के लिये जनसाधारण के विषय ही चित्रित किए। 'खान मजदूर' 'पुल का चौकीदार' और 'घास काटनेवाले' आदि विषय की शिल्पाकृतियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं। उसने 'बास पद्धति' से चित्रावली बनाई जिसे वह श्रमिकों का स्मारक कहता रहा। 'दी साले सान रोक' आदि अनेक चित्र बनाए तथा खान मजदूर और कारखानों के मजदूर वर्गों के संघर्ष पर चित्रावली चित्रित की। [भा० स०]

यकृत शरीर की सबसे बड़ी ग्रंथि है, जो पित्त (Bile) का निर्माण करती है। पित्त, यकृती वाहिनी उपतंत्र (Hepatic duct system) तथा पित्तवाहिनी (Bile duct) द्वारा ग्रहणी (Duodenum), तथा पित्ताशय (Gall bladder) में चला जाता है। पाचन क्षेत्र

में अवशोषित आंत्ररस के चयापचय (metabolism) का यह मुख्य स्थान है।

स्वाभाविक लक्षण एवं स्थिति — यह लालपन लिए भूरे रंग का बड़ा मृदु, सुभुरर्य एवं रक्त से भरा अंग है। मृदु होने से अन्य अंगों के दाब चिह्न इस पर पड़ते हैं, फिर भी यह अपना आकार बनाए रखता है। यह श्वासोच्छ्वास के साथ हिलता रहता है। यकृत के दो खंड होते हैं, इनमें दक्षिण खंड बड़ा होता है। यकृत पेरिटोनियम (peritoneum) गुहा के बाहर रहता है। यकृत उदरगुहा में सबसे ऊपर डायाफ्राम (diaphragm) के ठीक नीचे, विशेष रूप से दाहिनी ओर रहते हुए, बाईं ओर चला जाता है। स्वाभाविक अवस्था में पर्शुकाओं (ribs) के नीचे इसे स्पर्श नहीं किया जा सकता।

आकार — यह पाँच तलवाले नुकीले पिरामिड के आकार का है। इसका एक चौड़ा तल दक्षिण में तथा नुकीला भाग वाम ओर रहता है। अन्य चार तल ऊर्ध्व, अध., पूर्व तथा पश्च कहलाते हैं। इसका अध: तल चारों ओर पतले किनारे से घिरा रहता है तथा उदरगुहा के अन्य अंग इस तल से संबद्ध रहते हैं।

माप एवं भार — इसकी दक्षिण-वाम लंबाई १७·५ सेंमी०, अध. ऊँचाई १६ सेंमी० तथा पूर्व-पश्च चौड़ाई १५ सेंमी० होती है। इसका भार शरीर के भार का १/५० भाग के लगभग, प्राय. १,५०० ग्राम से २,००० ग्राम तक होता है। शरीर के भार से इसके भार का अनुपात स्त्री पुरुषों में एक ही होता है, परंतु वय के अनुसार बदलता है। बालकों में इसका भार शरीर के भार का १/२० भाग होता है।

पृष्ठ भाग (Surface) — दक्षिण पृष्ठ उत्तल और चौकोर होता है। यह डायाफ्रॉम से संबद्ध रहता है, जो इसे दक्षिण फुप्फुसावरण और छह निचली पर्शुकाओं से विलग करता है।

ऊर्ध्व पृष्ठ (Superior surface) — यह दोनों ओर उत्तल तथा मध्य में अवतल होता है। यह डायाफ्रॉम द्वारा दोनों फुप्फुस, फुप्फुसावरण तथा हृदय और हृदयावरण से विलग हो जाता है।

अग्र पृष्ठ (Anterior surface) — यह त्रिभुजाकार होता है। त्रिभुज का आधार दाहिने होता है। इसके सामने उदरीय ऋजु पेशियाँ (Rectus abdominus), उनका आवरण उदर सीवनी (Linea alba) तथा हँसियाकार स्नायु (Falci form-ligament) रहते हैं।

अध. पृष्ठ (Inferior surface) — यह उत्तलावतल होता है। यह (१) दक्षिण वृक्क, (२) दक्षिण उपवृक्क, (३) बृहदांत्र दक्षिण वक्र (Right flexure), (४) पक्वाशय का द्वितीय भाग, (५) पित्ताशय तथा (६) आमाशय से संबद्ध रहता है। ये अंग प्राय: इसपर अपना खात सा बना लेते हैं।

निर्वाहिका यकृत् (Portal hepatics) — यह अनुप्रस्थ दिशा में ५ सेंमी० लंबा खात है। यह यकृत के अध तल पर रहता है। इसके दोनों ओष्ठ पर लघु वपा सलग्न रहता है। इसमें से यकृत् धमनी, निर्वाहिका शिरा (portal vein) एवं नाड़ियाँ यकृत् मे प्रवेश करती हैं तथा संयुक्त यकृत् वाहिनी और लसिका वाहिनियाँ बाहर निकलती हैं।

पश्च पृष्ठ (Psurface osterior) — यह सामने वक्र बनाते हुए रहता है। दाहिने डायाफ्राम द्वारा दक्षिण पर्शुकाओं, दक्षिण फुप्फुस और उसके फुप्फुसावरण (pleura) से विलग किया जाता

मनुष्य का यकृत्

क. वाम पार्श्व खंड, ख. स्पिजीलियन (Spigelian) खंड, ग. दक्षिण पार्श्व खंड, घ. दक्षिण मध्य खंड, ङ. पित्ताशय, छ. दक्षिण पार्श्व तथा ज. वाम मध्य खंड।

है तथा दक्षिण अधिवृक्क (supra renal) से संबद्ध रखता है। अध महाशिरा (inferior venacava) इसमें लंबी खात बनाते हुए जाती है। इस खात के वाम भाग में दक्षिण यकृत् खंड का एक और खंड है, जिसे पुच्छिल (caudate) खंड कहते हैं, जो महाधमनी (aorta) के वक्षीय भाग से डायाफ्राम द्वारा विलग किया जाता है। पुच्छिल खंड वाम खंड से एक विदर द्वारा अलग किया जाता है, जिसमें शिरा स्नायु (ligamentum venosum) रहता है। इस स्नायु विदर के वाम और वाम खंड के पश्चिम पृष्ठ पर ग्रसिका (oesophagus) खात रहता है।

पेरिटोनियम के द्विगुणित पर्त इसके स्नायु (ligament) बनाते हैं। ये स्नायु हैं : (१) चक्रीय (coronary), (२) हँसियाकार (falciform), (३) गोल (teres), (४) सिरा, (५) वाम एवं दक्षिण त्रिकोण (triangular) स्नायु तथा (६) लघुवपा (lesser omentum)।

पुच्छिल खंड — यह वाम ओर शिरा स्नायु के विदार, दक्षिण ओर अध: महाशिरा विदार से सीमित रहता है। इसके दक्षिण भाग को, जो अध: महाशिरा विदार और निर्वाहिका यकृत के मध्य से होता हुआ दक्षिण खंड से जुड़ा रहता है, पुच्छिल प्रवर्ध (Caudate process) कहते हैं। इसके वाम ओर पुच्छिल खंड का नुकीला भाग अंकुरक प्रवर्ध (Papillary process) कहलाता है।

चतुरस्र खंड — यकृत अध.पृष्ठ पर दिखाई देता है। इसके वाम ओर तत्र स्नायु विदर तथा दक्षिण ओर पित्ताशय खात रहता है।

यकृत स्नायुओं, उदरीय अन्त. दाब, रक्त वाहिनियों तथा वायुमंडलीय दाब के कारण अपने स्थान पर स्थित रहता है।

रक्तवाहिनियाँ एवं नाड़ियाँ — १. यकृत धमनी उदरगुहा (coeliac) धमनी की शाखा है।

निर्वाहिका शिरा — पाचन तंत्र से पाचित अन्नरसयुक्त रक्त लाती है।

यकृत शिराएँ (Hepatic veins) — रक्त को अध: महाशिराएँ से जाती है।

लसिकावाहिनियाँ — ये यकृत शिराओं और निर्वाहिका शिरा के साथ जाती हैं। यकृत की अनुकंपी (sympathetic) तथा परानुकंपी (parasympathetic) तंत्रिकाएँ सीलक जाल तथा वेगस तंत्रिका से आती हैं। [ल० वि० गु०]

यकृत और पित्ताशय के रोग यकृत शरीर में स्थित, सबसे बड़ी ग्रंथि है। इसका अधिकांश उदरीय कोटर के ऊपरी दाएँ भाग में स्थित है। इसका भार ३-४ पाउंड (१.२ से १.४ किलोग्राम) के लगभग होता है। यकृत दो प्रमुख पालियों (lobes), दाहिने और बाएँ, में विभक्त है। ये पालियाँ अनेक पालियों में बँटी हुई हैं। योजी ऊतक (connective tissue) से समूचा यकृत घिरा हुआ है।

पित्ताशय नाशपाती के आकार की, ३-४ इंच लंबी और एक इंच, या इससे कुछ चौड़ी, थैली होती है। यह यकृत की सतह के नीचे होती है और उससे ऐरियोला (areola) ऊतकों द्वारा जुड़ी होती है।

फिजिऑलोजी — यकृत-पालिकाएँ (lobules), जो यकृत् की शारीरीय (anatomical) इकाइयाँ हैं, यकृत-कोशिकाओं के बाह्य विकिरणकारी स्तंभों से बनी होती हैं। इसमें छोटी नलिकाओं (यकृती वाहिकाओं, निर्वाहिका शिरा और यकृतधमनी) के तीन पृथक् समूह होते हैं, जो केंद्रीय शिरा के चारों ओर व्यवस्थित होते हैं।

कार्य — यकृत शरीर के अत्यंत महत्वपूर्ण अंगों में से है। यकृत की कोशिकाएँ आकार में सूक्ष्मदर्शी से ही देखी जा सकने योग्य हैं, परंतु ये बहुत कार्य करती है। एक कोशिका इतना कार्य करती है कि इसकी तुलना एक कारखाने से (क्योंकि यह अनेक रासायनिक यौगिक बनाती है), एक गोदाम से (ग्लाइकोजन, लोहा और विटैमिन को संचित रखने के कारण), अपशिष्ट निपटान संयंत्र से (पित्तवर्णक, यूरिया और विविध विषहरण उत्पादों को उत्सर्जित करने के कारण) और शक्ति संयंत्र से (क्योंकि इसके अपचय से पर्याप्त ऊष्मा उत्पन्न होती है) की जा सकती है।

पित्ताशय उस पित्त को सांद्र और संचित करता है, जो उसमे यकृतवाहिनी और पित्ताशय वाहिनी द्वारा प्रविष्ट होता है। जब उदर और आँतों में पाचन होता रहता है, तब पित्ताशय संकुचित होता है, जिससे सांद्रित पित्तग्रहणी (duodenum) में निष्कासित हो जाता है।

यकृत के रोग

पीलिया (Jaundice) — रक्त में पित्तारुण (bilirubin) के आधिक्य से यह रोग होता है, जो नेत्र श्लेष्मला (conjunctiva) और त्वचा के पीलेपन से प्रकट होता है। पीलिया सर्वप्रथम नेत्रश्लेष्मला में और फिर क्रमश: चेहरे, गर्दन, शरीर और अंगों में प्रकट होता है। मोटे तौर पर तीन शीर्षकों में इसका वर्गीकरण किया जा सकता है : (१) अवरोधक (obstructive), (२) विषाक्त (toxic) और संक्रामक (जिसे अब यकृत्-कोशिकीय (hepato-cellular) कहते हैं) तथा (३) हीमोलिटिक (haemolytic)।

खुजली बहुधा होती है, जो त्वचा की संवेदी तंत्रिकाओं (sesitive nerves) में पित्त के घटकों से होनेवाली उत्तेजना (irritation) से होती है। पित्त लवण धारण (retention) के कारण रोग की प्रारंभिक अवस्था में नाड़ी मंद पड़ जाती है। भोजन में अनिच्छा, भार में कमी, पेशियों मे दुर्बलता की शिकायत होती है। पित्त के कारण वृहदांत्र की पीड़ा के आक्रमण अनेक रूप में होते हैं। उदाहरणार्थ, ऊपरी चतुर्थांश में दाईं और दबाव या, अराब का विकीर्ण (diffuse) संवेदन, या लाक्षणिक (typical) उदर पीड़ा हो सकती है, या पेट में मरोड़ और उदरीय भित्ति में स्पर्शासह्यता (tenderness) हो सकती है। हल्का, या तेज ज्वर हो सकता है, जिसका कारण होता है यकृत् कोशिकाओं का परिगलन (necrosis), या स्वत:लयन (autolysis) और पित्त सारणियों मे आनुषंगिक संक्रमण। यकृत में संश्लिष्ट होनेवाले विटामिन के (K) की कमी से कभी कभी श्लेष्मझिल्लियों (mucus membranes) से, खासतौर से नाक और मसूड़ों से, रक्तस्राव (haemorrhage) हो सकता है और उनमें परप्यूरा की दशा उत्पन्न हो सकती है।

यकृत परिगलन (Necrosis) — इस रोग के प्रधान लक्षण, यकृत कोशिकाओं का तीव्र परिगलन और यकृत् की कोशिकाओं के स्वत:लयन, के कारण यकृत की आकृति का सिकुड़ना तथा पीलिया, ज्वर और समूर्च्छा से प्राय: जीवन का अंत होता है। तीव्र और उपतीव्र यकृतपरिगलन यकृत की कोशिकाओं के तीव्र विषाक्तन से होते हैं। यकृत की कोशिकाओं के कोशिकांतर किण्व (intercellular ferments) मुक्त होते हैं और स्वत:लयन उत्पन्न करते हैं। पीलिया की पहली अवस्था में ज्वर की बेचैनी, वमन, कब्जियत और पेशियों में पीड़ा होती है। दूसरी अवस्था में यकृत की खराबी के कारण आकस्मिक तंद्रालुता, शिरोवेदना, दीप्तिभीति (photophobia), बेचैनी, संज्ञाहीनता (delirium) और उन्मादजन्य लाक्षणिक रोना चीखना प्रारंभ होता है। पेशियों के स्फुरण (twitching) और ऐंठन से रोगी उग्र हो उठता है। अंतत: संमूर्च्छा और उद्दोल श्वसन होता है तथा मलमूत्र का संयम छूट जाता है।

यकृत का सूत्रण रोग (Cirrhosis) — यकृत का सूत्रण रोग यकृत की वह अवस्था है जिसमें नये रेशेदार ऊतकों के विकास से यकृत कठोर होने लगता है। इसके दो प्रधान कारण हो सकते हैं, जिनसे अधिकांश, या सभी यकृत सूत्रणरोग की व्याख्या हो जाती है : (१) वाइरस, रोगाणु संक्रमण या विषाक्त पदार्थों से यकृत कोशिकाओं का सीधे क्षतिग्रस्त (direct damage) होना तथा (२) आहार दोष, जैसे प्रोटीन की कमी और ऐल्कोहॉल के आधिक्य से यकृत कोशिकाओं के पोषाहार मे अप्रत्यक्ष बाधा, जिससे वे धीरे धीरे अपभ्रष्ट (degenerate) होकर मर जाती हैं। बढ़े हुए कठोर यकृत, प्लीहा की अपवृद्धि, या अल्प पीलिया से रोग का निदान करना संभव हो जाता है।

यकृत का कैंसर — इसकी वृद्धि निम्नलिखित क्रम से होती है :

(अ) प्राथमिक वृद्धि — यकृत के कैंसर की प्राथमिक वृद्धि यकृत कोशिकाओं, और कभी कभी पित्तवाहिनी कोशिकाओं, में होती है। यकृत कोशिकाओं में होनेवाले कैंसर को हेपैटोमा और पित्तवाहिनी कोशिका में होनेवाले कैंसर को कोलैंगियोम कहते हैं। ये दोनों प्रायः सूत्रणरोगग्रस्त यकृत में होते हैं। सूत्रण रोग से ग्रस्त रोगियों के लगभग ७ प्रति शत में प्राथमिक कैंसर पाया जाता है।

(ब) द्वितीयक वृद्धि — कैंसर के कारण यकृत कोशिकाएँ यकृत से दूर अंतःसंचरित (infiltrated) हो जाती हैं और इनसे वक्ष, उदर, बृहदान्त्र और गर्भाशय का कैंसर हो सकता है। यकृत् असामान्य रूप से बढ़कर कठोर हो जाता है। ५० प्रति शत रोगियों में पीड़ा, प्रगामी तथा स्थायी पीलिया और जलोदर (ascites) विद्यमान रहता है। शरीर क्षीणता और भार की कमी होने लगती है। रोगी की मृत्यु अवश्य होती है।

यकृत का प्रदाह (Inflammation) — यकृतशोथ (Hepatitis) उन सभी संलक्षणों (syndromes) के लिये लागू हो सकता है, जो यकृत की कोशिकाओं के क्षतिग्रस्त होने से होते हों। क्षतिग्रस्त होने के कारण रासायनिक, भौतिक, तथा जैवाणुक और प्रोटोज़ोआ, या विषाणु हो सकते हैं। यकृत शोथ में केवल यकृत के अपकर्षी परिवर्तन ही नहीं आते, जो उपर्युक्त कारकों के कारण होते हैं, अपितु उसमें अभिक्रियात्मक (reaction) और क्षतिपूर्ति वाले प्रतिकार्य भी आते हैं। सब रोगियों में ज्वर और पीलिया सामान्य रूप से पाया जाता है।

आजकल यह मान लिया जाता है कि यकृत शोथ का परिवर्तित लक्षण पीलिया है। यकृत शोथ के अंतर्गत जो अनेक विक्षोभ (upsets) आते हैं, उनमें संक्रामी यकृत शोथ का उल्लेख करना आवश्यक है। यकृत् शोथ के अधिकांश रोगियों को पीलिया (icterus) नहीं होता। लाक्षणिक रूपरेखा प्राय. तीन शीर्षकों में प्रस्तुत की जाती है : (१) प्राथमिक अवस्था, (२) स्पष्ट अवस्था, या पीलिया का काल तथा (३) उपशमन (convalescence) काल। यह रोग ज्वर और अन्य लक्षणों के साथ अचानक आक्रांत कर देता है।

पित्ताशय का प्रदाह — यह स्ट्रेप्टोकॉकस (Streptococcus) ई कोली (E. Coli), या बी. टाइफोसस (B. Typhosus) जीवों की संक्रमण क्रिया के फलस्वरूप होता है। लगभग ४० वर्ष की अवस्थावाली मोटी स्त्रियाँ ही अधिकांश इस रोग का शिकार होती हैं। पर सभी उम्र के पुरुषों में यह रोग हो सकता है। साधारणतः रोगी नाभिप्रदेश (umblicus) मे पीड़ा की शिकायत करता है, जो फैलकर दक्षिण अधोपार्श्विक प्रदेश (hypochondriac region) तक चली जाती है। मतली, वमन और ज्वर की अनुभूति होती है। नाड़ीस्पंद सामान्यतः बढ़ जाता है। यदि उपर्युक्त प्रदेश मे हलका दबाव डाला जाय और रोगी से लंबी साँस खिंचवाई जाय, तो पित्ताशय स्पर्शपरीक्षक उँगलियों तक उतर आएगा और प्रदाह होने पर रोगी को इतना दर्द होगा कि वह साँस तोड़ देगा।

अश्मरी या पथरी (Gall-stones) — अधेड़ स्त्रियों के पित्ताशय और पित्तीय मार्ग में अश्मरी हो जाती है। यह अनेक प्रकार की होती है। रोगी क्रमशः अग्निमांद्य (dyspepsia) और उदरवायु (flatulence) की शिकायत करने लगता है। वह कुछ विशेष खाद्य, खासकर वसीय पदार्थों, को खाने में असमर्थता प्रकट करता है, इसे खाने पर उसे मतली, भारीपन और अधिजठर (epigastrium) में पीड़ा होती है। प्रायः अधःपर्शुक वेदना (subcostal pain) का नियतकालिक आक्रमण होता है, जो कंधों तक फैल सकता है। पित्तीय बृहदान्त्र में पत्थर को बाहर निकालने के प्रयास में होनेवाली पीड़ा सबसे कष्टप्रद होती है। यह अतिशय यंत्रणादायक पीड़ा प्रायः आधी रात को अकस्मात् प्रारंभ होती है और कुछ समय रहकर एकाएक बंद भी हो जाती है (देखें अश्मरी)।

पित्ताशय और पित्तवाहिनी का कैंसर — यह रोग बहुत विरल होता है। पुरुषों की अपेक्षा ५० वर्ष की अधेड़ स्त्रियों में इसकी संभावना तिगुनी रहती है। ७५ प्रति शत रोगियों में पथरी रहती है। बढ़ती हुई दुर्बलता, भोजन में अरुचि और भार में कमी पर रक्तक्षीणता के अभाव के साथ पित्ताशय के रोग की बारंबारता के उदाहरण मिलते हैं। उदर के ऊपरी, दाएँ, अर्धभाग में स्थायी पीड़ा, जो दहिने अंसफलक क्षेत्र (scapular region) की ओर बहुधा फैलती जाती है, बनी रहती है। उदरवायु, मतली, वमन, आदि सामान्य लक्षण हैं। रोगी की मृत्यु प्रायः हो जाती है।

यकृत और पित्ताशय के रोगों की रोकथाम और उपचार निम्नलिखित हैं :

रोकथाम — रोकथाम का प्रधान साधन वैयक्तिक वृत्त (personol hygiene) पर ध्यान और सामान्य सफाई है। जठरांत्र शोथ (gastroenteritis) तथा अनिदानित (undiagnosed) ज्वर के रोगियों के संपर्क में आनेवालों, तथा महामारी काल में सभी के लिये, आहार और सफाई की सावधानियों का पालन परमावश्यक है। गामाग्लोबिन (gamma globin) का उपयोग कुछ सुरक्षा प्रदान करता है। पहले से ही प्रोटीन और पोषाहारों का पर्याप्त मात्रा में ग्रहण रोग की भयंकरता को कम करने में महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

रुग्णावस्था में रोगी को सदा लिटाए रखना चाहिए। कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीनयुक्त आहार रोगी को प्रारंभ से ही स्वच्छंदता से खिलाना चाहिए। आहार में वसा कम रहनी चाहिए। यकृत रोगों के उपचार में ऐमिनो अम्ल तथा विटामिनों का मौखिक, या पेशी आभ्यंतर द्वारा, सेवन रोग को कम करता है।

उपचार — (क) चिकित्सा : यकृत रोगों में रक्तस्राव प्रवृत्ति के लिये विटामिन सी और के, पित्तीय पूतिदोषरोधी (antiseptic) के रूप में हेक्सामिन, तथा पित्तीय पथ के संप्रवाह के लिये मैग सल्फ और सोडा सल्फ प्रयुक्त करते हैं। प्रतिरोध शक्ति के कम हो जाने के कारण यकृत् को सुधारने के लिये ऐंटिबायोटिक ओषधियों का व्यवहार करते हैं।

(ख) शल्यचिकित्सा — यकृत् के रोगों में उपर्युक्त चिकित्सा का महत्व नगण्य है। पित्ताशय के रोगों में उपर्युक्त चिकित्सा के असफल रहने पर, या औषधि के प्रभावहीन सिद्ध होने पर, शल्य

चिकित्सा का उपयोग करते हैं जैसे पथरी में होता है।

[गो० ना० च० तथा वि० पा०]

यज्ञ (ईसाई दृष्टि से) बाइबिल के पूर्वविधान (ओल्ड टेस्टामेंट) में बहुसंख्यक यज्ञों का उल्लेख है। नबियों ने यहूदियों को बारंबार समझाया है कि यज्ञ का वास्तविक अर्थ है—ईश्वर के प्रति मनुष्य के आत्मसमर्पण का प्रतीक। इस भीतरी धार्मिक मनोवृत्ति के अभाव में यज्ञ निष्प्राण कर्मकांड रह जाता है।

ईसा ने सुस्पष्ट शब्दों में शिक्षा दी है कि पूर्वविधान के यज्ञों की सार्थकता समाप्त हो गई है क्योंकि वह क्रूस पर आत्मोत्सर्ग द्वारा मनुष्य जाति के सब पापों का प्रायश्चित्त कर, मुक्ति के नवीन विधान का अनुष्ठान करनेवाले थे। संत पाल ने भी कहा है कि ईसा पास्का का मेमना है जो हमें पाप की दासता से मुक्त कर देता है (दे० पुनरुत्थान)।

अंतिम भोजन में ईसा ने यूखारिस्ट का संस्कार निश्चित कर क्रूस के बलिदान से इसका संबंध स्पष्ट कर दिया था। ईसा ने कहा था—'यह मेरा शरीर है जो तुम्हारे लिये दिया जाता है। यह कटोरा मेरे रक्त का नूतन विधान है, यह तुम्हारे लिये अर्पित किया जा रहा है।' (दे० यूखारिस्ट)। अत: रोमन काथलिक चर्च की शिक्षा है कि यूखारिस्ट का अनुष्ठान ईसा के क्रूस मरण का स्मरणोत्सव है। इस अनुष्ठान में जब अंतिम भोजन के समय उच्चरित ईसा के शब्द दुहराए जाते हैं, तब ईसा बलि के रूप में वेदी पर विद्यमान हो जाते हैं और इस प्रकार यूखारिस्ट की धर्मक्रिया यज्ञ का रूप धारण कर लेती है। इस यज्ञ का सबसे प्रचलित नाम 'मिस्सा' अथवा 'होली मास' (Holy mass) है। प्रोटेस्टैंट धर्म के अनुसार यूखारिस्ट के अनुष्ठान को यज्ञ नहीं कहा जा सकता।

सं० ग्रं०—जे० ए० यंगमैन : दि सैक्रिफाइस ऑव दि चर्च, लंदन, १९५६। [का० बु०]

यज्ञ 'सुयज्ञ' नामक विष्णु के अवतारों में सातवाँ जो रुचि तथा आकूति का पुत्र और दक्षिणा का पति था। स्वायंभुव मनु ने इसे अपने मन्वंतर का इंद्र बनाया था। रुद्र द्वारा शिरच्छेद होने पर अश्विनीकुमारों तथा इंद्र ने शल्यचिकित्सा कर इसे ठीक किया था।

यति वेदकालीन यज्ञविरोधी मानवकुल (ऋ० ८। ३। ९) जो इंद्र का कोपभाजन बनकर नष्ट हो गया। केवल तीन व्यक्ति इंद्र की कृपा से बचे जिनको उन्होंने क्रमश: ब्रह्म, क्षात्र और वैश्य विद्या की शिक्षा दी थी।

यति नामक नहुष के ज्येष्ठ पुत्र का उल्लेख भी मिलता है जो अपने अनुज को राज्य सौंप स्वयं तपश्चर्या करने वन चला गया था।

यथापूर्व स्थापन (Postliminium) पोस्टलीमीनियम शब्द पोस्ट (बाहर) और लाइमन (दहलीज) से मिलकर बना है। प्राचीन काल में, जब कोई रोम निवासी किसी विदेशी राज्य में बंदी बना लिया जाता था, उसके वहाँ से छूटने और रोम साम्राज्य की सीमा में पुन: प्रवेश करने पर, यथापूर्व स्थापन द्वारा, उसको फिर वही अधिकार प्राप्त हो जाते थे जो पहले मिले हुए थे। रोमन विधि का यह सिद्धांत इस परिकल्पना पर आधारित था, मानो वह मनुष्य कभी बंदी बनाया ही न गया हो।

वर्तमान अंतरराष्ट्रीय विधि और जनपदीय विधि में, यथापूर्व स्थापन इस तथ्य का द्योतक है कि कोई प्रदेश, व्यक्ति और संपत्ति, युद्ध के समय शत्रु के अधिकार में आने के पश्चात्, युद्धकालीन समय में ही या उसकी समाप्ति पर, फिर अपनी मूल सत्ता (original sovereign) को पुन: मिल गए हैं। अगर कोई प्रदेश शांति संधि द्वारा समर्पित (ceded) कर दिया गया है, अथवा युद्ध में जीते जाने के पश्चात् अनुबद्ध (annexed) कर लिया गया है, तब, अगर कुछ समय पश्चात् यह प्रदेश फिर अपने पहले राज्य के पास वापस आ जाता है, तो यथापूर्व स्थापन का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार यथापूर्व स्थापन का अधिकार केवल युद्ध की अवस्था में ही उत्पन्न होता है।

इस अस्थायी सैनिक परिभोग (military occupation) के बीच यदि शत्रु देश कोई ऐसा काम करता है जो न्यायानुकूल है, तो यथापूर्व स्थापन के अधिकार का उपयोग संभव नहीं है, उदाहरणार्थ यदि वह कोई साधारण कर लगावे, अथवा किसी दंडनीय व्यक्ति को दंड दे। फिर भी यह अवस्था केवल उस समय तक लागू है जब तक कि वह प्रदेश उस परिभोगी के अधिकार में है। परंतु यदि परिभोगी कोई ऐसा काम करता है, जो अंतरराष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल है, तो यथापूर्व स्थापन की दृष्टि से ऐसे कार्य को वास्तव में प्रभावहीन हो माना जाता है, उदाहरणार्थ, यदि परिभोगी राज्य की अचल संपत्ति को बेच दे।

सं० ग्रं० — १. हाल, डब्लू० ई० : ए ट्रीटाइज ऑन इंटरनेशनल ला, १९२४। २. ओपेनहेम, एल० : इंटरनेशनल ला, ए ट्रीटाइज, दूसरा खंड, (सातवाँ संस्करण) (धारा २७१-२८४)।

[जे० एन० स०]

यदु नहुष के पुत्र ययाति के दो पुत्र यदु तथा तुर्वसु हुए। अपने जीवनकाल में ही ययाति ने पुत्रों को राज्य बाँट दिया और ज्येष्ठ पुत्र यदु पूर्वोत्तर भाग के राजा हुए। यदु के पाँच पुत्र हुए जिनके विवरण कूर्म, मत्स्य, लिंग, वायु तथा हरिवंश पुराणों में मिलते हैं। भागवत में पाँच के स्थान पर इनके चार ही पुत्र लिखे हैं। विष्णु, गरुड़ तथा कूर्म पुराणों में इनके पुत्रों में रघु का नाम भी दिया है जो सूर्यवंशी रघु से सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि यदु के ही नाम से यदुवंश का प्रादुर्भाव हुआ।

ययाति ने अपने पुत्रों से अपना बुढ़ापा देकर उनके यौवन प्राप्त करने का प्रस्ताव किया तो यदु ने इस आज्ञा का पालन नहीं किया। इसपर पिता ने इन्हें शाप देकर राजवंश से परिभ्रष्ट कर दिया और ये क्रौंचक नामक दुर्गम स्थान में राक्षस होकर रहने लगे। इन्हीं के वंश में हैहय हुए। पद्मपुराण में यदु को ययाति के पाँच पुत्रों में से कनिष्ठ माना है। यदु की सगी माता देवयानी और सौतेली माता शर्मिष्ठा थीं।

अग्निपुराणानुसार उपरिचर वसु नामक राजा की पत्नी गिरिका के गर्भ से यदु का जन्म हुआ था और इनके सात भाई थे। तदनुसार इस यदु ने पन्नगराज की पाँच कन्याओं से विवाह किया।

यदु का उल्लेख ऋग्वेद में भी कई बार आया है। इसके अनुसार

महर्षि कण्व ने एक बार यदु से दस्युदमनकारी अग्नि के साथ आने की प्रार्थना की थी और दूसरी बार इंद्र ने यदु की रक्षा उनके शत्रुओं से की। यदु के भाई तुर्वसु का नाम ऋग्वेद में तुर्वा दिया है और उसमें इन दोनों को दासजातीय राजा कहा गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में यदु को राजर्षि माना है। यदु के पुत्रों के संबंध में बहुत मतभेद है और पद्मपुराण के भूमिखंड में इनकी संख्या दी गई है जिनमें भोज और भीम हैं। [रा० द्वि०]

यम (Pluto) सौर मंडल का नवाँ तथा अंतिम ग्रह है। इसकी कक्षा सौरमंडल के छोर पर है। इसकी सूर्य से माध्य दूरी पृथ्वी से सूर्य की माध्य दूरी की ३९.४६ गुनी है। इसकी उत्केंद्रता ०.२४६ तथा इसकी कक्षा का क्रांतिवृत्त से १७° १९' झुकाव है। इसका नाक्षत्र काल २४७.७ वर्ष तथा रवियुतिकाल १.००४ वर्ष है। इसकी बहुत सी बातो का ठीक ज्ञान नहीं हुआ है, तो भी अनुमान है कि इसका माध्य व्यास पृथ्वी के व्यास का .४६ है तथा इसकी द्रव्यमात्रा पृथ्वी की द्रव्यमात्रा की १±.२३ है। इस प्रकार इसका घनत्व पृथ्वी के घनत्व का लगभग १० गुना होगा। इसमें न तो वायुमंडल है, न इसका कोई चंद्रमा है।

वरुण की गतियों में अनियमितता के कारण इसकी कक्षा के बाह्यवर्ती एक ग्रह की संभावना हुई। उसे खोजने के लिये लावेल तथा पिकरिंग ने कठिन गणना द्वारा उसकी स्थिति की भविष्यवाणी की। किंतु उस भविष्यवाणी से कई वर्ष पीछे क्लाइड टॉंबो (Clyde Tombaugh) ने १९३० ई० में इसका पता लगाया। इसकी लघु आकृति तथा कक्षा की विशेषता के कारण यह संभावना व्यक्त की गई है कि यह कभी वरुण का उपग्रह था जो उसके आकर्षण से मुक्त होकर स्वतंत्र ग्रह बन गया है। [मु० ला० श०]

यमद्वितीया व्रतविशेष जिसका प्रचलित नाम 'भाईदूज' है। इसे यमप्रिया द्वितीया और भ्रातृद्वितीया भी कहते हैं। इसका अनुष्ठान कार्तिक शुक्ल द्वितीया को किया जाता है।

पुराणों के अनुसार यम की भगिनी यमी अथवा यमुना ने सबसे पहले इस व्रत का अनुष्ठान किया था जिसका उद्देश्य यम को प्रसन्न करना था (स्कंद २.४.११)। इसमे यम, चित्रगुप्त आदि की पूजा भी कुछ लोग करते हैं। व्रतराज ग्रंथ में इस व्रत का अनुष्ठान विस्तार के साथ वर्णित है।

इस दिन भगिनी के हाथ का बनाया हुआ भोजन ही भाई को खाना चाहिए तथा भगिनी को वस्त्रादि दान करना चाहिए। इस अवसर पर भगिनी भ्राता को निमंत्रित कर उसके साथ उसे यमादि की पूजा करनी चाहिए। व्रतगत मंत्रों से प्रतीत होता है कि भाई के चिरायुष्य की कामना करना ही इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। यमी के अनुष्ठान से प्रसन्न होकर यम ने उसे यह वरदान दिया था कि जो कार्तिक शुक्ल द्वितीया को बहन के हाथ का बना भोजन करेगा वह सदा सुखी रहेगा (स्कंद०, २-४-११) दे० यमी। [रा० शं० भ०]

यमन स्थिति : १५° ०' उ० अ० तथा ४४° ०' पू० दे०। यह अरब प्रायद्वीप के दक्षिण पश्चिमी कोने पर स्थित एक स्वतंत्र राष्ट्र है। इसके केवल तीन ओर अंकित सीमा है तथा पूर्व की ओर सीमा निर्धारित नहीं है। पश्चिमी सीमा पर ३०० मील की लंबाई में लाल सागर फैला है। इसका क्षेत्रफल ७५,००० वर्ग मील है। यह एक पहाड़ी देश है। इसके उत्तर-पूर्व में रब-एल-खाली मरुस्थल है। यहाँ ४,००० से ९,००० फुट ऊँचे उपजाऊ पठार भी हैं। यहाँ कई वादियाँ (नदियाँ) बहती हैं, जिनमें उत्तर में वादी नजरान तथा दक्षिण में रब-एल-खाली तथा हैद्रामात (Hadramawt) बहती हैं। यहाँ जनवरी का ताप १४° सें० तथा सबसे गरम जून मास का ताप २३° सें० रहता है। सुदूर दक्षिण-पश्चिम मानसूनी प्रदेश में ३२ इंच तक वर्षा होती है। उच्च प्रदेशों पर १६ इंच वर्षा होती है। यहाँ धूल के तूफान अधिक चला करते हैं। वनस्पति में बबूल, खजूर तथा फलों के पेड़ प्रमुख हैं। यद्यपि यहाँ शुष्क वन अधिक मिलते हैं, फिर भी ऐल्पाइन गुलाब, बालसम (गुल मेंहदी) तथा तुलसी के पौधे पठारों तथा वादियों के किनारे मिलते हैं। जीवजंतुओं में बैबून, हरिण (gazelle), तेंदुए, पहाड़ी खरगोश आदि प्रमुख हैं। पक्षियों में गिद्ध, सारस, बगुला, तोता, हॉर्नबिल, चटखोरा आदि मिलते हैं। यहाँ की अनुमानित जनसंख्या ५०,००,००० (१९६२) थी। यहाँ की राजधानी सॉन ऐ (Son'a) है, जिसकी जनसंख्या २५,००० (१९५०) थी। अन्य प्रमुख नगर ताइज (Ta'izz), अल-हुदैदाह (al Hudaydah), बैत अल-फकीह (Bayt al Faqih) हैं। अरबी यहाँ की प्रमुख भाषा है। यहाँ का धर्म इस्लाम है। केवल ५% भूमि पर कृषि की जाती है। उच्च प्रदेश प्रमुख कृषिस्थल हैं। शुष्क कृषि में कॉफी का स्थान अति प्राचीन काल से प्रमुख है। काट (Qat) की पैदावार तेजी से कॉफी का स्थान ले रही है। फलों मे सेब, खुबानी, केला, कई प्रकार के अंगूर, नीबू, आड़ू, नारंगी तथा कई प्रकार के तरबूज अधिक उगाए जाते हैं। बादाम तथा अन्य काष्ठफल भी उगते हैं। जौ, जई, मक्का, ज्वार, बाजरा, धान, तिल तथा सोरघम का खाद्यान्नों में प्रमुख स्थान है। पठारों तथा समुद्री तटों पर गेहूँ भी उगाया जाता है। खनिजों में नमक तथा चूने के पत्थर का स्थान प्रमुख है।

यहाँ नए नए उद्योगों की स्थापना की जा रही है तथा कपड़ा बनाने, सीमेंट बनाने एवं विद्युत् निर्माण के कारखानों की स्थापना पर विचार किया जा रहा है। यमन में हाथ से बने कपड़े, आभूषण, जूते आदि बनाए जाते हैं। समुद्र के किनारे तथा पठारों पर रहनेवाले लोग फूस, मिट्टी तथा पत्थर के बने झोपड़ों में रहते हैं, धनी लोग बड़े बड़े मकानों मे रहते हैं। जनसख्या का केवल ५% भाग शिक्षित है। समुद्र के किनारे के लोग मछली मारते तथा मोती निकालने का काम करते हैं। यातायात की उन्नति नहीं हो पाई है। [र० च० दु०]

यमी सूर्य की कन्या जिसकी माता का नाम संज्ञा था। इसके सगे भाई यम अथवा यमराज हैं। यम तथा यमी एक साथ जुड़वाँ जनमे थे और यमी का दूसरा नाम यमुना भी है। इन भाई बहन की कथा विष्णु (३-२-४) एवं मार्कंडेय (७४-४) पुराणों में सविस्तार वर्णित है। ऋग्वेदानुसार विवस्वान् के आश्वद्वय यम तथा यमी सरण्यु के गर्भ से हुए थे (१०।१४)। विवस्वान की कन्या यमी ने इंद्र के आदेश से शक्तिपुत्र पराशर के कल्याणार्थ दासराज के घर सत्यवती नाम से जन्म लिया (शिवपुराण)। इनकी कथा कूर्मपुराण में भी पाई जाती है।

यम द्वितीया के संबंध में एक दंतकथा है कि इसी दिन यम अपनी बहन यमी के यहाँ अतिथि होकर गए तो उन्होंने अपने भाई को एक विशेष पकवान (अवध में 'फरा') बनाकर खिलाया। यमराज इसे खाकर अपनी बहन पर परम प्रसन्न हुए और चलते समय उनसे वरदान माँगने को कहा। यमुना ने अंत में यही वर माँगा कि जो भाई बहन यमद्वितीया के दिन मेरे तट पर स्नान कर यही पकवान बनाकर खाएँ वे यमराज की यातना से मुक्त रहें। दे० 'यम द्वितीया।' [रा० द्वि०]

यमुना — दे० यमी।

यमुना नदी का उद्‌गम उत्तर प्रदेश राज्य के उत्तर काशी जिले में विशाल बंदरपूँछ पर्वत (समुद्रतल से ऊँचाई : २०,७३१ फुट) से आठ मील पश्चिम से होता है। यह नदी यमुनोत्तरी नामक पवित्र तीर्थस्थल से होती हुई, मध्य एवं बाह्य हिमालय पर्वत श्रेणियों में ८० मील लंबा मार्ग तय करने के उपरांत फैज़ाबाद नामक स्थान पर मैदानी क्षेत्र में उतरती है। टौंस, गिरि, असन (पर्वतीय भाग में), चंबल, सेंगर, सिंद, बेतवा एवं केन (मैदानी भाग में) इसकी मुख्य सहायक नदियाँ हैं। यमुना नदी प्रारंभ में दक्षिण-पश्चिम, तत्पश्चात् दक्षिण और अंत में दक्षिण-पूर्व प्रवाहित होकर हिंदुओं के पवित्र तीर्थस्थल प्रयाग (इलाहाबाद) मे गंगा नदी से मिलती है। यह नदी पहले हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश और फिर पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के बीच सीमा निर्धारित करती है और गंगा यमुना दोआब की पश्चिमी सीमा बनाती है। फैज़ाबाद स्थान पर इस नदी से पश्चिमी एवं पूर्वी यमुना नहरें तथा दिल्ली से १० मील दक्षिण ओखला पर (पश्चिमी तट से) आगरा नहर निकाली गई है। नदीतट पर स्थित महत्वपूर्ण नगर दिल्ली, वृंदावन, मथुरा, आगरा, इटावा, कालपी एवं हमीरपुर हैं। नदी की कुल लंबाई लगभग ८६० मील तथा इसके जल-प्रवाह-क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग १,१८,००० वर्ग मील है। [रा० ना० मा०]

ययाति नहुष के पुत्र प्रसिद्ध चंद्रवंशी राजा जिनके दो स्त्रियाँ थीं। शर्मिष्ठा के तीन और देवयानी के दो पुत्र हुए। ययाति ने अपनी वृद्धावस्था अपने पुत्रों को देकर उनका यौवन प्राप्त करना चाहा, पर पुरु को छोड़कर और कोई पुत्र इसपर सहमत नहीं हुआ। पुत्रों में पुरु सबसे छोटा था, पर पिता ने इसी को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और स्वयं एक सहस्र वर्ष तक युवा रहकर शारीरिक सुख भोगते रहे। तदनंतर पुरु को बुलाकर ययाति ने कहा—'इतने दिनों विषय सुख भोगने पर भी मुझे तृप्ति नहीं हुई। तुम अपना यौवन लो, मैं अब वाणप्रस्थ आश्रम में रहकर तपस्या करूँगा।' फिर घोर तपस्या करके ययाति स्वर्ग पहुँचे, परंतु थोड़े ही दिनों बाद इंद्र के शाप से स्वर्गभ्रष्ट हो गए (महा०, आदि०, ८१-८८)। अंतरिक्ष पथ से पृथ्वी को लौटते समय इन्हें अपने दौहित्र, अष्टक, शिवि आदि मिले और इनकी विपत्ति देखकर सभी ने अपने अपने पुण्यफल के बल से इन्हें फिर स्वर्ग लौटा दिया। इन लोगों की सहायता से ही ययाति को अंत में मुक्ति प्राप्त हुई। [रा० द्वि०]

यवतमाल १. जिला, यह भारत के महाराष्ट्र राज्य का जिला है जो बरार संभाग में स्थित है। जिले का क्षेत्रफल ५, २४५ वर्ग मील और कुल जनसंख्या १०,९८,४७० (१९६१) है। यह जिला कपास का प्रमुख उत्पादक है, पर इसकी उच्च भूमि कम उपजाऊ है। पेनगंगा द्वारा जिले के अधिकांश जल का निष्कासन होता है। जिले में दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व में बृहत् सुरक्षित वन है, जिसमें शिकार योग्य जानवर पर्याप्त हैं। जंगली भाग में गोंड एवं कालाम (Kalam) नामक आदिवासी निवास करते हैं। यहाँ की वार्षिक वर्षा का औसत ४१ इंच है। उच्च भूमि की जलवायु ठंढी है। पिसगाँव में वर्धा नदी के समीप कोयले के निक्षेप हैं।

२. नगर, स्थिति २०° २०' उ० अ० तथा ७८° १५' पू० दे०। यह नगर उपर्युक्त जिले का प्रशासनिक एवं व्यापारिक केंद्र है। नगर समुद्रतल से १,४०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। कपास ओटना और रुई को दबाकर गाँठ बनाना, नगर का प्रमुख उद्योग है। [अ० ना० मे०]

यशयाह (लगभग ७६०-७०१ ई० पू०) बाइबिल के पूर्वार्ध के मुख्य नबियों में सबसे महान्। वह राजधानी येरुसलेम के एक प्रभावशाली परिवार के थे। उन्होंने येरुसलेम में ही अपना सारा जीवन बिताया। एक परवर्ती अप्रामाणिक परंपरा के अनुसार आरे से उनका शरीर आरपार काटकर उनको मार डाला गया था।

यशयाह येरुसलेम के मंदिर की पवित्रता तथा ईश्वर की पूजा के औचित्य की चिंता किया करते थे। ईश्वर के आदेश से उन्होंने यहूदियों के उत्तरी राज्य इसराइल तथा दक्षिणी राज्य यूदा, दोनों के विनाश की घोषणा की। दोनों राज्य बाद में क्रमशः नष्ट किए गए—७२२ ई० पू० में असीरियों द्वारा और ५८६ ई० पू० में बाबीलोनियों द्वारा। यशयाह ने इस विनाश को ईश्वर पर यहूदियों के अविश्वास का दंड माना है। यहूदी लोग विदेशी राष्ट्रों के साथ राजनीतिक संधियों पर भरोसा रखते थे, किंतु यशयाह उनसे कहा करते थे कि ईश्वर पर ही भरोसा रखना चाहिए।

बाइबिल के पूर्वार्ध में जो यशयाह नामक ग्रंथ सम्मिलित है इसके प्रथम ३९ अध्याय प्रामाणिक हैं। शेष अध्याय यशयाह की शिष्य-परंपरा के एक नबी द्वारा लिखे गए हैं जो ५५० ई० पू० के लगभग बाबुल में प्रवासी यहूदियों के बीच रहते थे। इस अंश में दुःख भोगने वाले ईश्वरदास (दे० अध्याय ५३) का जो चित्रण किया गया है, वह ईसा का प्रतीक माना जाता है।

सं० ग्रं०—किस्सेन (kissane), इसाइयास, डब्लिन, १९५२। [का० बु०]

यशवंतराव होलकर तुकोजी होलकर का अवैध पुत्र यशवंतराव उद्दंड होते हुए भी बड़ा साहसी तथा दक्ष सेनानायक था। तुकोजी की मृत्यु पर (१७९७) उत्तराधिकार के प्रश्न पर दौलतराव शिंदे के हस्तक्षेप तथा तज्जनित युद्ध में यशवंतराव के ज्येष्ठ भ्राता मल्हरराव के वध (१७९७) के कारण, प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो यशवंतराव ने शिंदे के राज्य में निरंतर लूट-मार आरंभ कर दी। अहिल्याबाई का संचित कोष हाथ आ जाने से (१८००) उसकी शक्ति और भी बढ़ गई। १८०२ में उसने पेशवा तथा शिंदे को सम्मिलित सेना को पूर्णतया पराजित किया; जिससे पेशवा ने बसई भागकर अंग्रेजों से संधि की (३१ दिसंबर, १८०२)। फलस्वरूप आंग्ल-मराठा-युद्ध

छिड़ गया। शिंदे से वैमनस्य के कारण मराठासंघ छोड़ने में यशवंतराव ने बड़ी गलती की; कारण कि भोंसले तथा शिंदे की पराजय के बाद, होलकर को अकेले अंग्रेजों से युद्ध करना पड़ा। पहले तो यशवंतराव ने मॉनसन पर विजय पाई, (१८०४), किंतु, फर्रुखाबाद (नवम्बर १७) तथा डीग (दिसंबर १३) में उसकी पराजय हुई। निदान उसे अंग्रेजों से संधि स्थापित करनी पड़ी (२४ दिसंबर, १८०५) अंत में, पूर्ण विक्षिप्तावस्था में, तीस वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई (२८ अक्टूबर, १८११)।

सं० ग्रं० — जी० एस० सरदेसाई : दि न्यू हिस्ट्री ऑव दि मराठाज्। [रा० ना०]

यशोदा (१) भागवत पुराण के अनुसार द्रोण वसु की पत्नी धरा का अवतार, नंद गोप की पत्नी जिन्होंने कृष्ण को पाला था (भाग०, १०. ३ ६)। कृष्ण के ही जन्म के दिन यशोदा के गर्भ से एक कन्या हुई थी जिसे वसुदेव उठा ले गए और उसके स्थान पर नवजात कृष्ण को रख गए थे।

(२) हविष्मत् की मानसकन्या 'सुस्वधा' जो विश्वमहत् की रानी और दिलीप खट्वांग की माता थी। [रा० द्वि०]

यशोधर्मन् — छठी शती ई० के द्वितीय चरण में मालवा प्रांत के स्थानीय शासक के रूप से आगे बढ़कर यशोधर्मन् पूरे उत्तरी भारत पर छा गया। उसका उदय उल्कापात की भाँति तीव्र गति से हुआ था और उसी की भाँति बिना अधिक स्पष्ट प्रभाव छोड़े वह इतिहास से लुप्त हो गया।

उसकी उत्पत्ति और प्रारंभिक इतिहास के विषय में कुछ नहीं ज्ञात है। उसके एक अभिलेख में उसे औलिकर वंश का कहा गया है। इस वंश के लोग पाँचवीं शताब्दी के मध्य में गुप्त साम्राज्य के सामंत के रूप में मालवा पर शासन कर रहे थे। किंतु उसके बाद लगभग सौ वर्षों के लिये इस वंश की कोई सूचना नहीं मिलती। गुप्तों की शक्ति क्षीण हो चली थी। वाकाटकों और हूणों के आक्रमण के कारण मालवा की राजनीतिक दशा अस्थिर थी। ऐसे में यशोधर्मन् जैसे महत्वाकांक्षी और योग्य व्यक्ति के लिये अपना प्रभाव बढ़ाना सरल था।

यशोधर्मन् के विषय में हमारा ज्ञान मंदसोर से प्राप्त उसके दो अभिलेखों तक ही सीमित है। एक अभिलेख में कहा गया है कि उसका प्रभुत्व लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेंद्र पर्वत (गंजाम जिला) तक और हिमालय से पश्चिमी सागर तक फैला था। यह विवरण परंपरागत दिग्विजय का है। इन प्रशस्तियों में अतिशयोक्ति का अंश अवश्य होगा किंतु इस प्रकार के दावे नितांत निराधार नहीं कहे जा सकते। अभिलेख में यह भी कहा गया है कि उसका अधिकार उन प्रदेशों पर भी था जो गुप्त राजाओं और हूणों के भी अधिकार में नहीं थे। उसके प्रांतपाल अभयदत्त के अधिकार में विंध्य और पारियात्र के बीच का प्रदेश था जो अरब सागर तक फैला था। इस विस्तृत साम्राज्य की विजय के संबंध में उसने किन किन राजवंशों को पराजित किया, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। अभिलेख में उसके द्वारा पराजित शत्रुओं में केवल मिहिरकुल का ही नाम दिया गया है।

गुप्त नरेश बालादित्य ने भी मिहिरकुल को पराजित किया था। इस घटना के साथ यशोधर्मन् के कृत्यों को कालक्रम में रखना कठिन है। यशोधर्मन् और बालादित्य की विजयें एक ही घटना है, अथवा यशोधर्मन् ने बालादित्य के सामंत के रूप में ही मिहिरकुल को पराजित कर बाद में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित की, या मिहिरकुल दो स्थानों पर पराजित हुआ—पश्चिम में यशोधर्मन् और पूर्व में बालादित्य के द्वारा या वह पहले यशोधर्मन् और उसके बाद बालादित्य के हाथों पराजित हुआ आदि संभावनाओं में से किसी एक को निश्चयात्मक बतलाना संभव नहीं। युवान् च्वाङ् के अनुसार बालादित्य के हाथों पराजित होने पर भी मिहिरकुल ने अपना सिर झुकाना नहीं स्वीकार किया और कश्मीर में जाकर अपना अधिकार स्थापित किया। यदि इससे मंदसोर अभिलेख में मिहिरकुल के वर्णन की समानता देखी जाय तो कहा जा सकता है कि मिहिरकुल की द्वितीय पराजय यशोधर्मन् के ही हाथों हुई थी।

शक्तिशाली हूणों और गुप्तों को पराजित करना यशोधर्मन् की प्रमुख उपलब्धियाँ थीं। उसे ये विजयें ५३२ ई० के समीप प्राप्त हुई थीं। उसका उत्कर्ष काल ५२८ ई० के बाद था। किंतु उसकी विजयें स्थायी नहीं रह सकीं। ५४३ ई० में हमें यशोधर्मन् के प्रभुत्व का कोई प्रभाव शेष नहीं मिलता। फिर भी उसका यह महत्व अवश्य था कि उसने अपने उदाहरण से अन्य सामंतों को उत्साहित किया जिनकी बढ़ती शक्ति और तज्जनित संघर्ष के फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

यशोधर्मन् का दूसरा नाम विष्णुवर्धन था। उसने राजाधिराज-परमेश्वर और सम्राट् की उपाधि धारण की थी। वह शिव का भक्त था। अभिलेख में उसके अच्छे शासन और उसके सद्गुणों के कई उल्लेख हैं। उसकी तुलना मनु, भरत, अलर्क और मांधाता से की गई है। प्रशंसात्मक अतिशयोक्ति की संभावना के बाद भी ऐसा प्रतीत होता है कि अपने समय में ही उसे विशेष गौरव प्राप्त हुआ था।

[ल० गो०]

यशोवर्मन् १. इसका राज्यकाल ७०० से ७४० ई० के बीच में रखा जा सकता है। यह भी संभावना है कि उसे राज्याधिकार इससे पहले ही ६९० ई० के लगभग मिला हो। यशोवर्मन् के वंश और उसके प्रारंभिक जीवन के विषय में कुछ निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। केवल वर्मन् नामांत के आधार पर उसे मौखरि वंश से संबंधित नहीं किया जा सकता। जैन ग्रंथ बप्प भट्ट सूरिचरित और प्रभावक चरित में उसे चंद्रगुप्त मौर्य का वंशज कहा गया है किंतु यह संदिग्ध है। उसका नालंदा अभिलेख इस विषय पर मौन है। गउडवहो में उसे चंद्रवंशी क्षत्रिय कहा गया है।

गउडवहो में यशोवर्मन् की विजययात्रा का वर्णन है। सर्वप्रथम इसके बाद वंग के नरेश ने उसकी अधीनता स्वीकार की। दक्षिणी पठार के एक नरेश को अधीन बनाता हुआ, मलय पर्वत को पार कर वह समुद्रतट तक पहुँचा। उसने पारसीकों को पराजित किया और पश्चिमी घाट के दुर्गम प्रदेशों से भी कर वसूल किया। नर्मदा नदी पहुँचकर, समुद्र तट के समीप से वह मरु देश पहुँचा। तत्पश्चात् श्रीकंठ (थानेश्वर) और कुरुक्षेत्र होते हुए वह अयोध्या गया। मंदर पर्वत पर रहनेवालों को अधीन बनाता हुआ वह हिमालय पहुँचा और अपनी राजधानी कन्नौज लौटा।

इस विवरण में परंपरागत दिग्विजय का अनुसरण दिखलाई पड़ता है। पराजित राजाओं का नाम न देने के कारण वर्णन संदिग्ध लगता है। यदि मगध के पराजित नरेश को ही गौड का नरेश स्वीकार कर लिया जाय तो भी इस मुख्य घटना को ग्रंथ में जो स्थान दिया गया है वह अत्यल्प है। किंतु उस युग की राजनीतिक परिस्थिति में ऐसी विजयों को असंभव कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। अन्य प्रमाणों से विभिन्न दिशाओं में यशोवर्मन् की कुछ विजयों का संकेत और समर्थन प्राप्त होता है। नालंदा के अभिलेख में भी उसकी प्रभुता का उल्लेख है। अभिलेख का प्राप्तिस्थान मगध पर उसके अधिकार का प्रमाण है। चालुक्य अभिलेखों में सकलोत्तरापथनाथ के रूप में संभवत: उसी का निर्देश है और उसी ने चालुक्य युवराज विजयादित्य को बंदी बनाया था। अरबों का कन्नौज पर आक्रमण संभवत: उसी के कारण विफल हुआ। कश्मीर के ललितादित्य से भी आरंभ में उसके संबंध मैत्रीपूर्ण थे और संभवत: दोनों ने अरब और तिब्बत के विरुद्ध चीन की सहायता चाही हो किंतु शीघ्र ही ललितादित्य और यशोवर्मन् की महत्वाकांक्षाओं के फलस्वरूप दीर्घकालीन संघर्ष हुआ। संधि के प्रयत्न असफल हुए और यशोवर्मन् पराजित हुआ। संभवत: युद्ध में यशोवर्मन् की मृत्यु नहीं हुई थी, फिर भी इतिहास के लिये उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

यशोवर्मन् ने भवभूति और वाक्पतिराज जैसे प्रसिद्ध कवियों को आश्रय दिया था। वह स्वयं कवि था। उसे सुभाषित ग्रंथों के कुछ पद्यों और रामाभ्युदय नाटक का रचयिता कहा जाता है। उसने मगध में अपने नाम से नगर बसाया था। उसका यश गउडवहो और राजतरंगिणी के अतिरिक्त जैन ग्रंथ प्रभावक चरित, प्रबंधकोष और बप्पभट्ट चरित एवं उसके नालंदा के अभिलेख में परिलक्षित होता है।

कश्मीर में यशोवर्मा के नाम के सिक्के प्राप्त होते हैं। इस यशोवर्मा के संबंध में विद्वानों ने अटकलबाजियाँ लगाई थीं। कुछ ने उसे कन्नौज का यशोवर्मन् ही माना है। किंतु अब इसमें संदेह नहीं रह गया है कि यशोवर्मा कश्मीर के उत्पलवंशीय नरेश शङ्करवर्मन का ही दूसरा नाम था।

सं० ग्रं०–आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑव कन्नौज; एन० बी० उत्तीकर : गउडवहो।

२ मध्यकालीन चंदेल वंश के हर्ष का पुत्र यशोवर्मन् लक्षवर्मन् के नाम से भी प्रसिद्ध है। उसका राज्यकाल दसवीं शताब्दी का द्वितीय चरण था। प्रतिहारों की प्रभुता को बिना छोड़े ही उसने स्वतंत्र शासक की भाँति कार्य किया। चंदेलों के गौरव का वास्तविक आरंभ उसी ने किया और उन्हें उत्तरी भारत की प्रमुख शक्तियों में से एक के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

उसका सबसे उल्लेखनीय कार्य कालंजर की विजय थी। कालंजर पर अधिकार के लिए प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों में संघर्ष चल रहा था। यशोवर्मन् ने इसे संभवत: राष्ट्रकूटों के मित्र कलचुरि लोगों से अपने अधिपति प्रतिहारों के लिये छीना हो किंतु उसपर अपना ही अधिकार स्थापित किया हो। धंग के खजुराहो अभिलेख में गौड, खश, कोशल, कश्मीर, मिथिला, मालव, चेदि, कुरु और गुर्जरों के विरुद्ध उसकी सफलता का उल्लेख है। उल्लेख की आलंकारिक भाषा के कारण इन विजयों की ऐतिहासिकता में कुछ संदेह होता है। खजुराहो अभिलेख में उल्लेख है कि अपने अभियानों में उसने यमुना और गंगा को केलिसर बना लिया था। देवपाल, जिससे उसे एक बहुमूल्य विष्णु-प्रतिमा प्राप्त हुई थी, संभवत: उसका प्रतिहार वंशी अधिपति ही था। कुछ प्रदेश प्रतिहारों के अधीन होने के कारण उसपर यशोवर्मन् का आक्रमण प्रतिहारों के विरुद्ध रहा होगा। उसने गौड़ पर भी आक्रमण किया। इसी प्रसंग में उसने मिथिला पर विजय प्राप्त की जो इस समय संभवत: एक स्वतंत्र छोटा राज्य बन गया था। उसने कलचुरी नरेश को भी पराजित किया और अपने राज्य की दक्षिणी सीमा को चेदि राज्य की सीमा तक पहुँचा दिया। उसने दक्षिण कोशल को भी पराजित किया था। इसी प्रकार उसने अपने राज्य की सीमा मालवा तक पहुँचाई और परमारों की शक्ति को आगे बढ़ने से रोका।

यशोवर्मन् ने एक तड़ाग बनवाया था। विष्णु की प्रतिमा के लिये जो मंदिर उसने बनवाया था वह खजुराहो का चतुर्भुज मंदिर हो है। विष्णु के साथ ही उसने शिव और सूर्य के प्रति भी आदर व्यक्त किया है।

चंदेल वंश में एक द्वितीय यशोवर्मन् भी हुआ। वह मदनवर्मन् का पुत्र और परमर्दिदेव का पिता था। मदनवर्मन् और परमर्दिदेव के राज्यकाल के बीच (११३३–११६५ ई०) उसने कुछ समय तक राज्य किया। उसका शासनकाल महत्वपूर्ण नहीं है।

परमार वंश में नर वर्मन् के बाद उसका पुत्र यशोवर्मन् ११३३ ई० में सिंहासन पर बैठा। उससे पूर्व ही गुजरात के चौलुक्यों के साथ संघर्ष के फलस्वरूप परमारों की शक्ति को गहरी क्षति पहुँची थी। यशोवर्मन् में उन गुणों का अभाव था जो ऐसी स्थिति में अपेक्षित होते हैं। इसी कारण परमारों की शक्ति का और भी अधिक ह्रास हुआ।

मालवा चौलुक्य साम्राज्य में मिला लिया गया। संभवत: बाद में यशोवर्मन् को सामंत के रूप में मालवा के किसी भाग पर राज्य करने का अधिकार मिल गया था।

३. पूर्वमध्यकाल में यशोवर्मन् नाम के शासक कुछ दूसरे राजवंशों में भी हुए थे। गुहिलों में शक्तिवर्मन् के पाँचवें पुत्र कीर्तिवर्मन् का भी नाम यशोवर्मन् था। कल्याण के उत्तरकालीन चालुक्य नरेश तैल द्वितीय के द्वितीय पुत्र दशवर्मन् का भी नाम यशोवर्मन् था। अपने पिता के राज्यकाल में वह प्रांतपाल था। संभवत: उसकी मृत्यु अपने ज्येष्ठ भाई सत्याश्रय के राज्यकाल ही में हो गई थी। सत्याश्रय की मृत्यु के बाद सिंहासन दशवर्मन् या यशोवर्मन् के ही पुत्रों को प्राप्त हुआ।

यशोवर्मन् नाम भारत के बाहर भी प्रसिद्ध हुआ। प्राचीन कंबुज (कंबोडिया) में यशोवर्मन् नाम के दो नरेश हुए हैं। सिंहासन पर बैठने से पूर्व यशोवर्मन् प्रथम का नाम यशोवर्धन था। उसका राज्यकाल ८८९ से ९०२ ई० तक था। उसने कंबुज के गौरव को बढ़ाया।

यशोवर्मन् की अनेक विजयों का अभिलेखों में उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि उसने एक समुद्री बेड़ा बाहर भेजा। उसने पराजित दूरों को फिर से अधिकार दिया और उनकी पुत्रियों से विवाह

किया। किंतु स्पष्ट विवरण के अभाव में इन उल्लेखों का अधिक महत्व नहीं है। उसने साम्राज्य की सीमाओं में कोई विस्तार नहीं किया किंतु उसे वैसा ही बनाए रखा। उसके राज्य की उत्तरी सीमा चीन तक पहुँच गई थी। पूर्व में चंपा से पश्चिम में मेनम और साल्वीन नदियों के बीच के पर्वतों तक और दक्षिण में समुद्र तक इसका राज्य फैला था।

उसने यशोधर गिरि (फ़ाम बाखेन) पर एक नई राजधानी बसाई जो पहले कंबुपुरी और बाद में यशोधरपुर के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें अंकोर थोम का बहुत बड़ा भाग संमिलित था। यह स्थान कंबुज की शक्ति और संस्कृति के स्वर्णिम दिनों का साक्षी रहा है। यशोवर्मन् को इस अंकोर संस्कृति की स्थापना का उचित श्रेय मिलना चाहिए। यशोवर्मन् के बहुसख्यक लेखों में इस नई संस्कृति की झलक मिलती है। इन लेखों की भाषा उत्कृष्ट काव्यात्मक संस्कृत है। इनसे ज्ञात होता है कि संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों का समुचित अध्ययन होता था। विद्वानों को प्रश्रय देने के साथ ही यशोवर्मन् स्वयं उच्चकोटि का विद्वान् था। उसने वामशिव नाम के विद्वान् से विविध काव्यों और शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। एक अभिलेख मे उसकी तुलना पाणिनि से की गई है और महाभाष्य पर रची उसकी एक टीका का उल्लेख है। उसके धार्मिक विचार उदार थे। स्वयं शैव होते हुए भी उसने वैष्णव और बौद्ध धर्मों का समान आदर किया। विभिन्न सप्रदायों के लिये उसने पृथक् आश्रम बनवाए और उनके लिये उचित व्यवस्था भी की। कला के क्षेत्र की उन्नति आश्रमों के अतिरिक्त तड़ागों और मंदिरों के निर्माण से सिद्ध होती है। उसने राजधानी के उत्तर में एक तड़ाग के बीच एक विहार निर्मित करा कर उसमें अपने पूर्वजों की मूर्तियाँ स्थापित कीं।

यशोवर्मन् द्वितीय १२वीं शताब्दी के मध्य में हुआ था। उसके समय में भरतराहु संवृद्धि नामके व्यक्ति के विद्रोह ने भीषण रूप लिया किंतु श्रींद्रकुमार ने जो जयवर्मन् सप्तम का पुत्र था उसे दबा दिया। राज्य की शक्ति फिर भी इतनी संगठित थी कि यशोवर्मन् ने श्रींद्रकुमार के नेतृत्व में चंपा पर आक्रमण के लिये सेना भेजी। इस अभियान को प्रारंभ में तो सफलता मिली किंतु श्रींद्रकुमार को विफल होकर लौटना पड़ा। यशोवर्मन् का दूसरा अभियान श्रींद्रकुमार के पिता जयवर्मन् के अधीन हुआ। किंतु इसी बीच ११६५ ई० में त्रिभुवनादित्य नाम के व्यक्ति ने विद्रोह कर यशोवर्मन् का वध किया और सिंहासन पर अधिकार कर लिया। [ल० गो०]

यहूदी जाति 'यहूदी' का मौलिक अर्थ है—येरुसलेम के आसपास के यूदा नामक प्रदेशों का निवासी। यह प्रदेश याकूब के पुत्र यूदा के वंश को मिला था (बाइबिल में 'यहूदा' के निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं—याकूब का पुत्र यहूदा, उनका वंश, उनका प्रदेश, कई अन्य व्यक्तियों के नाम)।

यूदा प्रदेश के निवासी प्राचीन इज़रायल के मुख्य ऐतिहासिक प्रतिनिधि बन गए थे, इस कारण समस्त इज़रायली जाति के लिये यहूदी शब्द का प्रयोग होने लगा। इस जाति का मूल पुरुष अब्राहम था, अतः वे इब्रानी भी कहलाते हैं। याकूब का दूसरा नाम था इज़रायल, इस कारण 'इब्रानी' और 'यहूदी' के अतिरिक्त उन्हें इज़रायली भी कहा जाता है। दे० इज़रायल और यूदावाद।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी आव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६२। [आ० बे०]

यहूदी धर्म और दर्शन बाइबिल के पूर्वार्ध में जिस धर्म और दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वह निम्नलिखित मौलिक सिद्धांतों पर आधारित है।

(१) एक ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर को छोड़कर और कोई देवता नहीं है। ईश्वर इज़रायल तथा अन्य देशों पर शासन करता है और वह इतिहास तथा पृथ्वी की सब घटनाओं का सूत्रधार है। वह पवित्र है और अपने भक्तों से यह माँग करता है कि पाप से बचकर पवित्र जीवन बिताएँ। ईश्वर एक न्यायी एव निष्पक्ष न्यायकर्ता है जो कुकर्मियों को दंड और भले लोगों को इनाम देता है। वह दयालु भी है और पश्चात्ताप करने पर पापियों को क्षमा प्रदान करता है, इस कारण उसे पिता की संज्ञा भी दी जा सकती है। ईश्वर उस जाति की रक्षा करता है जो उसकी सहायता माँगती है। यहूदियों ने उस एक ही ईश्वर के अनेक नाम रखे थे, अर्थात् एलोहीम, याहवे और अदोनाई। बाइबिल के पूर्वार्ध से यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ईश्वर इस जीवन में ही अथवा परलोक मे भी पापियो को दंड और अच्छे लोगों को इनाम देता है।

(२) इतिहास में ईश्वर ने अपने को अब्राहम तथा उसके महान् वंशजों पर प्रकट किया है। उसने उनको सिखलाया है कि वह स्वर्ग, पृथ्वी तथा सभी चीजों का सृष्टिकर्ता है। सृष्टि ईश्वर का कोई रूपातर नहीं है क्योंकि ईश्वर की सत्ता सृष्टि से सर्वथा भिन्न है, इस लोकोत्तर ईश्वर ने अपनी इच्छाशक्ति द्वारा सभी चीजो की सृष्टि की है। यहूदी लोग सृष्टिकर्ता और सृष्टि इन दोनों को सर्वथा भिन्न समझते थे।

(३) समस्त मानव जाति की मुक्ति हेतु अपना विधान प्रकट करने के लिये ईश्वर ने यहूदी जाति को चुन लिया है। यह जाति अब्राहम से प्रारंभ हुई थी (दे० अब्राहम) और मूसा के समय ईश्वर तथा यहूदी जाति के बीच का व्यवस्थान संपन्न हुआ था।

(४) मसीह का भावी आगमन यहूदी जाति के ऐतिहासिक विकास की पराकाष्ठा होगी। मसीह समस्त पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करेंगे और मसीह के द्वारा ईश्वर यहूदी जाति के प्रति अपनी प्रतिज्ञाएं पूरी करेगा। किंतु बाइबिल के पूर्वार्ध में इसका कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नही मिलता कि मसीह कब और कहाँ प्रकट होने वाले हैं।

मूसा संहिता यहूदियों के आचरण तथा उनके कर्मकांड का मापदंड था किंतु उनके इतिहास में ऐसा समय भी आया जब वे मूसा-संहिता के नियमों की उपेक्षा करने लगे। ईश्वर तथा उसके नियमों के प्रति यहूदियों के इस विश्वासघात के कारण उनको बाबिल के निर्वासन का दंड भोगना पड़ा। उस समय भी बहुत से यहूदी प्रार्थना, उपवास तथा परोपकार द्वारा अपनी सच्ची ईश्वरभक्ति प्रमाणित करते थे।

यहूदी धर्म की उपासना येरुसलेम के महामंदिर में केंद्रीभूत थी। उस मंदिर की सेवा तथा प्रशासन के लिये याजकों का श्रेणीबद्ध संगठन किया गया था। येरुसलेम के मंदिर में ईश्वर विशेष रूप से

विद्यमान है, यह यहूदियों का दृढ़ विश्वास था और वे सब के सब उस मंदिर की तीर्थयात्रा करना चाहते थे ताकि वे ईश्वर के सामने उपस्थित होकर उसके प्रति अपना हृदय प्रकट कर सकें। मंदिर के धार्मिक अनुष्ठान तथा त्योहारों के अवसर पर उसमें आयोजित समारोह भक्त यहूदियों को आनंदित किया करते थे। छठी शताब्दी ई० पू० के निर्वासन के बाद विभिन्न स्थानीय समाधरों मे भी ईश्वर की उपासना की जाने लगी।

प्रारंभ से ही कुछ यहूदियों (और बाद में मुसलमानों ने) बाइबिल के पूर्वार्ध में प्रतिपादित धर्म तथा दर्शन की व्याख्या अपने ढंग से की है (दे० इब्रानी भाषा और साहित्य, इजरायल, इजरायल का इतिहास)। ईसाइयों का विश्वास है कि ईसा ही बाइबिल मे प्रतिज्ञात मसीह है (दे० ईसा मसीह) किंतु ईसा के समय में बहुत से यहूदियों ने ईसा को अस्वीकार कर दिया। आजकल भी यहूदी धर्मावलबी सच्चे मसीह की राह देख रहे हैं। संत पॉल के अनुसार (दे० रोमियों के नाम उनका पत्र, अध्याय ६, ११) यहूदी जाति किसी समय ईसा को मसीह के रूप में स्वीकार करेगी।

सं० ग्रं०—आई० एपस्टाइन : जुदाइज्म, पेंग्वीन १९५९। आर० फयेत : इंट्रोडक्शन टु द बाइबिल (पेरिस १९५९)।

[आ० बे०]

यांग्सीक्यांग चीन की एक प्रमुख नदी है, जो सीकांग के पहाडी क्षेत्र से निकलकर, दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व दिशा की ओर बहती हुई, पूर्वी चीन सागर में गिरती है। यह सर्वप्रथम कुछ दूर उच्च पहाड़ी क्षेत्र में बहने के पश्चात् लाल बेसिन में प्रवेश करती है, जहाँ धरातल अत्यंत कटा फटा एवं कुछ असमतल है। यहाँ मिनक्यांग, चुंगक्यांग, सुइनिंग और क्याओलिंगक्यांग सहायक नदियाँ उत्तर से आकर मिलती हैं। ये सभी नाव्य हैं तथा उपजाऊ घाटियाँ बनाती हैं। लाल बेसिन को पार कर यांग्सीक्यांग एक गहरी घाटी में बहती हुई समतल भूभाग में प्रवेश करती है। यहाँ कई झीलें मिलती हैं, जिनमें से तीन मिट्टी भर जाने से महत्वपूर्ण थालों का रूप ले चुकी हैं। दो थालों को तो नदी ने दो दो भागों में बाँट दिया है। तीसरा काफी नीचा है, जहाँ कभी कभी बाढ़ आ जाती है। नदी घाटी का यह भाग काफी उपजाऊ है। यहाँ उत्तर से हेन और दक्षिण से सियाग नामक सहायक नदियाँ इसमें आकर मिलती हैं, जो नाव्य हैं। बड़े समुद्री जहाज यांग्सीक्याग द्वारा हैंकाऊ तथा बड़ी नावें और स्टीमर आइशाग तक आ जा सकते हैं। तत्पश्चात् यांग्सीक्यांग क्यांगसू प्रांत में डेल्टा बनाती है, जहाँ का भूभाग कुछ पहाड़ियों को छोड़कर लगभग समतल है। डेल्टा की संपूर्ण समतल भूमि बहुत उपजाऊ है।

यांग्सी घाटी के विभिन्न भागों मे धान, गेहूँ, जौ, कपास, चाय, ज्वार-बाजरा, मक्का, गन्ना, तंबाकू, अफीम, तिलहन, मटर, बीन, फल और शाक भाजियाँ आदि उपजते हैं। रेशम का भी यहाँ उत्पादन होता है। अत: कृषि एवं यातायात की सुलभता के कारण संपूर्ण यांग्सी-घाटी में जनसंख्या बहुत घनी हो गई है। [रा० स० ख०]

याकूब बाइबिल मे इस नाम के अनेक व्यक्तियों का वर्णन है। उनमें से निम्न व्यक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) कुलपति याकूब, उनका दूसरा नाम इसरायल था। अपने पिता इसाक इसहाक के पहलौठे पुत्र के अधिकार प्राप्त करने के लिये इन्होंने अपने भाई एसौ के साथ छल कपट किया था (उत्पत्ति ग्रंथ, अ० २७)। उन्होंने अपनी दो पत्नियों और दो दासियों से बारह पुत्र उत्पन्न किए थे, जो इसराएली जाति के बारह वंशों के प्रवर्तक हैं। याकूब का देहात मिस्र देश में हुआ था (उत्पत्ति ग्रंथ, ५०,३)। बाइबिल के कुछ स्थलों में यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि उनमें याकूब की चरचा है अथवा इसराएली जाति की।

(२) जेबेदी के पुत्र और योहन के भाई। यह अपने भाई की तरह ईसा के बारह पट्ट शिष्यों में से थे और सन् ४२ ई० में शहीद बन गए (ऐक्टस ऑव दि एपोसल्स, अध्याय १२)।

(३) आलफेयुस के पुत्र और ईसा के रिश्तेदार एवं पट्ट शिष्य; इनके दो पत्र बाइबिल के उत्तरार्ध में संमिलित हैं।

सं० ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क १९६३। [आ० बे०]

याचिका (पेटिशन), अर्जीदावा अथवा वादपत्र वह प्रपत्र है जिसके द्वारा वादी विवादग्रस्त मामले को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करता है। वाद का सूत्रपात अर्जीदावा द्वारा होता है। अर्जीदावे के तीन प्रमुख अंग हैं—(१) शीर्षक, (२) मध्य भाग तथा (३) अनुतोष। शीर्षक में क्रमानुसार न्यायालय का नाम, वादसंख्या एवम् सन्, तथा वादी एवं प्रतिवादी का नाम, पता आदि विवरण होता है। मध्य भाग में वाद संबंधी मुख्य तथ्यों का संक्षिप्त एवं यथार्थ वर्णन होना चाहिए। विधि तथा साक्ष्य का प्रतिपादन अवांछनीय है। वाद हेतु, मूल्यांकन तथा क्षेत्राधिकार संबंधी तथ्यों का उल्लेख अनिवार्य है। अनुतोष का अर्थ उस सहायता से है जो वादी न्यायालय से चाहता है। (व्यवहार प्रक्रिया संहिता, आरडर ६)। [श्री० प्र०]

याज्ञवल्क्य वैदिक साहित्य में याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा के द्रष्टा हैं। इस संहिता के ४० अध्यायों में पद्यात्मक मंत्र और गद्यात्मक यजु: भाग का संग्रह है। इसके प्रतिपाद्य विषय ये हैं—दर्शपौर्णमास इष्टि (१–२ अ०); अग्न्याधान (३ अ०); सोमयज्ञ (४–८ अ०); वाजपेय (९ अ०); राजसूय (९–१० अ०); अग्निचयन (११–१८ अ०); सौत्रामणी (१९–२१ अ०); अश्वमेध (२२–२९, आदित्य के साथ अश्व का तादात्म्य), पुरुषमेध (३०–३१ अ०); सर्वमेध (३२–३३ अ०); शिवसंकल्प उपनिषद् (३४ अ०); पितृयज्ञ (३५ अ०); प्रवर्ग्य यज्ञ या धर्मयज्ञ (३६–३९ अ०); ईशोपनिषत् (४० अ०)। इस प्रकार यज्ञीय कर्मकांड का संपूर्ण विषय यजुर्वेद के अंतर्गत आता है। किंतु याज्ञवल्क्य का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य शतपथ ब्राह्मण की रचना है। इस ग्रंथ में १०० अध्याय हैं जो १४ कांडों मे बँटे हैं। पहले दो कांडों मे दर्श और पौर्णमास इष्टियों का वर्णन है। कांड ३, ४, ५ में पशुबंध और सोमयज्ञों का वर्णन है। कांड ६, ७, ८, ९ का संबंध अग्निचयन से है। इन ९ कांडों के ६० अध्याय किसी समय षष्टिपथ के नाम से प्रसिद्ध थे। दशम कांड अग्निरहस्य कहलाता है जिसमें अग्निचयन वाले ४ अध्यायों का रहस्य निरूपण है। कांड ६ से १० तक में शांडिल्य को विशेष रूप से प्रमाण माना गया है। ग्यारहवें कांड का नाम संग्रह है जिसमें पूर्वनिर्दिष्ट कर्मकांड

का संग्रह है। कांड १२, १३, १४ परिशिष्ट कहलाते हैं और उनमें फुटकर विषय हैं। अंतिम चौदहवें कांड में वे अनेक अध्यात्म विषय हैं जिनके केंद्र मे ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य का महान् व्यक्तित्व प्रतिष्ठित है। उससे ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य अपने युग के दार्शनिकों में सबसे तेजस्वी थे। मिथिला के राजा जनक उनको अपना गुरु मानते थे। वहाँ जो ब्रह्मविद्या की परिषत् बुलाई गई जिसमें कुरु, पांचाल देश के विद्वान् भी संमिलित हुए उसमे याज्ञवल्क्य का स्थान सर्वोपरि रहा। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य का यह सिद्धांत प्रतिपादित है कि ब्रह्म ही सर्वोपरि तत्व है और अमृतत्व उस अक्षर ब्रह्म का स्वरूप है। इस विद्या का उपदेश याज्ञवल्क्य ने अपनी मैत्रेयी नामक प्रज्ञाशालिनी पत्नी को दिया था। शरीर त्यागने पर आत्मा की गति की व्याख्या याज्ञवल्क्य ने जनक से की। यह भी बृहदारण्यकोपनिषद् का विषय है। जनक के उस बहुदक्षिण यज्ञ में एक सहस्र गौओं की दक्षिणा नियत थी जो ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य ने प्राप्त की। शांतिपर्व के मोक्षधर्म पर्व में याज्ञवल्क्य और जनक (इनका नाम दैवराति है) का अव्यय अक्षर ब्रह्मतत्व के विषय में एक महत्वपूर्ण संवाद सुरक्षित है (अ० २९८–३०६, पूना संस्करण)। उसमें नित्य अभयात्मक गुह्य अक्षरतत्व या वेदप्रतिपाद्य ब्रह्मतत्व का अत्यंत स्पष्ट और सुंदर विवेचन है। उसके अंत में याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्, क्षेत्रज्ञ को जानकर तुम इस ज्ञान की उपासना करोगे तो तुम भी ऋषि हो जाओगे। कर्मपरक यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ है (ज्ञान विशिष्टं न तथाहि यज्ञा:, ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञै:, शांति० ३०६।१०५)।

याज्ञवल्क्य के गुरु आचार्य वैशंपायन थे जिनसे वैदिक विषय में उनका भारी मतभेद हो गया था। भागवत और विष्णु पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना की थी और सूर्यत्रयी विद्या एवं प्रणवात्मक अक्षर तत्व इन दोनों की एकता यही उनके दर्शन का मूल सूत्र था। विराट् विश्व में जो सहस्रात्मक सूर्य है उसी महान् आदित्य की एक कला या अक्षर प्रणव रूप से मानव के केंद्र की सत्तात्मक गतिशक्ति है। याज्ञवल्क्य का यह अध्यात्म दर्शन अति महत्वपूर्ण है। एक व्यक्तित्व का याजुष यज्ञ सदा विराट् यज्ञ के साथ मिला रहता है। इससे मानव भी अमृत का ही एक अंश है। यही याज्ञवल्क्य का अयातयाम अर्थात् कभी बासी न पड़नेवाला ज्ञान है। भागवत के अनुसार याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाओं को जन्म दिया, जो वाजसनेय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुईं। वे ही उनके शिष्यों द्वारा काण्व, माध्यंदिनीय आदि शाखाओं के रूप में प्रसिद्ध हुईं (भा० १२।६।७३–७४)। *याज्ञवल्क्य ब्राह्मणकालीन प्राचीन* आचार्य थे जो वैशंपायन, शाकटायन आदि की परंपरा में हुए और कात्यायन ने एक वार्तिक में उन ऋषियों को तुल्यकाल या समकालीन कहा है। (सूत्र ४।३।१०५ पर वार्तिक)। एक दृष्टि से याज्ञवल्क्य स्मृति प्रसिद्ध है। इस स्मृति मे १००३ श्लोक हैं। इसपर विश्वरूप कृत बालक्रीड़ा (८००–८२५), अपरार्क कृत याज्ञवल्कीय धर्मशास्त्र निबंध (१२वीं शती) और विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा (१०७०–११००) टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। काणे का मत है कि इसकी रचना लगभग विक्रम पूर्व पहली शती से लेकर तीसरी शती के बीच मे हुई। स्मृति के अंत:साक्ष्य इसमें प्रमाण है। इस स्मृति का संबंध शुक्ल यजुर्वेद की परंपरा से ही था। जैसे मानव धर्मशास्त्र की रचना प्राचीन धर्मसूत्र युग की सामग्री से हुई, ऐसे ही याज्ञवल्क्य स्मृति में भी प्राचीन सामग्री का उपयोग करते हुए नई सामग्री को भी स्थान दिया गया। कौटिल्य अर्थशास्त्र की सामग्री से भी याज्ञवल्क्य के अर्थशास्त्र का विशेष साम्य पाया जाता है। इसमे तीन कांड हैं आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। इसकी विषय-निरूपण-पद्धति अत्यंत सुग्रथित है। इसपर विरचित मिताक्षरा टीका हिंदू धर्मशास्त्र के विषय में भारतीय न्यायालयों में प्रमाण मानी जाती रही है। [वा० श० अ०]

यामुनाचार्य रामानुज के पहले विशिष्टाद्वैत वेदांत के सुप्रसिद्ध आचार्य जिन्हें आलवंदार भी कहते हैं। एक परंपरा के अनुसार ये रामानुज के गुरु भी थे। इनका काल ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए। इन्होंने वैष्णव आगमों को वेदों के समान प्रामाणिक माना। 'आगम-प्रामाण्य', 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थसंग्रह' 'चतु:श्लोकी' और 'स्तोत्ररत्न' इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। (देखिए 'रामानुज और उनका संप्रदाय')। [रा० चं० पा०]

याम्योत्तर वृत्त (Transit Circle, or Meridian Circle) वेधशाला के अनिवार्य उपकरणों में से एक उपकरण है। इसकी सहायता से खगोलीय पिंड के खगोलीय याम्योत्तर को पार करने के ठीक समय का निर्धारण कर, पिंड का यथार्थ विषुवांश (right ascension) ज्ञात किया जा सकता है। यह याम्योत्तर (transit instrument) का उन्नत रूप है और किसी खगोलीय पिंड की क्रांति (declination) निर्धारित करने में भी उपयोगी है।

इसमें प्रधानत: अपवर्तक दूरदर्शी होता है, जो क्षैतिज अक्ष के समकोण पर दृढ़ता से स्थित होता है। अक्ष पूर्व और पश्चिम दिशा का ठीक ठीक संकेत करता है, जिससे दूरदर्शी, अक्ष पर घूर्णन करते समय, सदा ही याम्योत्तर के समतल में रहता है। यथार्थ मापन के लिये अभिदृश्यक काच (object glass) के नाभीय समतल पर विषम संख्यक तारों की एक अंशांकित झंझरी (grill) होती है, जिसका केंद्रीय तार याम्योत्तर में स्थित होना है।

याम्योत्तर वृत्त और याम्योत्तर यंत्रों में अंतर यह है कि इस वृत्त में दूरदर्शी के दोनों ओर सूक्ष्म अंशांकित मंडलक, जिनके समतल अक्ष लंबकोण में होते हैं, क्षैतिज अक्ष से आबद्ध होते हैं। इन मंडलकों से खगोलीय विषुवत् रेखा के किसी कोण पर देखे गए बिंब की क्रांति निर्धारित की जा सकती है। [आ० स०]

यिरासेक, अलोइस (Yirasek–Alois) – – (१८५१-१९३०) चेक भाषा और इतिहास के अध्यापक थे। उनकी मुख्य कृतियाँ (उपन्यास, कहानियाँ और नाटक) मुख्यत: ऐतिहासिक प्रसंगों पर हैं। हुसिन् युग और आंदोलन विषयक उपन्यास 'हमारे विरुद्ध संसार', 'काले युग के दौरान में' मध्ययुग के प्रगतिशील तत्वों पर प्रकाश डाल रहे हैं। अन्य कृतियाँ, जैसे 'सीमारक्षक लोग', 'सभी के विरुद्ध' आदि उपन्यासों में चेक विदेशी अत्याचार के विरुद्ध लड़ते दिखाई देते हैं। यिरासेक का महत्व इस बात में है कि उन्होंने ऐतिहासिक यथार्थवादी उपन्यास लिखने का आरंभ किया। उनकी कृतियों में चेक जनता की प्रशंसा की जाती है।

अन्य कृतियाँ : फ़० ल० बेक (उपन्यास), हमारे यहाँ (उपन्यास), दर्शन इतिहास (कहानियाँ), लालटेन (नाटक), यन जिजका (नाटक), यन हुस (नाटक) आदि। [प्रो० स्मे०]

यीस्ट साधारण व्यक्ति को यीस्ट से उस वस्तु का बोध होता है जिसे पावरोटी बनानेवाले गूँधे आटे में डालकर, उसे उठने और स्पजी बनाने के लिये छोड़ देते हैं। ऐसे स्पजी आटे से ही स्पंजी पावरोटी बनती है। ऐसे यीस्ट साधारणतया टिकिये के रूप में बाजारों मे बिकते हैं। ऐसे यीस्ट में बड़े सूक्ष्म एककोशिक पादप रहते हैं। ये ही वास्तविक यीस्ट, या सैकैरोमाइसीज (saccharomyces), हैं। यीस्ट वस्तुत: एक वर्ग का पादप है। यह कवको (fungus) से समानता रखता है।

यीस्ट वायु में सर्वत्र प्रचुरता से पाया जाता है। यह उष्णता, आर्द्रता और आहार के अभाव मे भी जीवित रह सकता है और इसकी कार्यशीलता बनी रहती है। पर १००° सें० पर आर्द्र ऊष्मा से यह नष्ट हो जाता है। यह किण्वन उत्पन्न करता है। इसी से इसका व्यवहार पावरोटी, सुरा या बीअर आदि बनाने में हजारों वर्षों से चला आ रहा है, यद्यपि ऐसा होने के कारण का पता पहले पहल कगनार्ड डेलातूर (१७७१-१८५७ ई०) ने ही लगाया था। उन्होंने ही सिद्ध किया था कि यीस्ट सजीव पादप है, जो मुकुलन (budding) प्रक्रिया से बढ़ता है। कार्बनिक पदार्थों, विशेषत. स्टार्च और शर्कराओं मे, यीस्ट से किण्वन होता है। यीस्ट कोशिकाओं की वृद्धि के साथ साथ उनसे एंज़ाइम बनते हैं। ये एंज़ाइम डायास्टेस, इनवर्टेस (invertase) और ज़ाइमेस (zymase) हैं। डायास्टेस स्टार्च को विघटित करता, इनवर्टेस ईक्षुशर्करा को ग्लूकोस और फ्रुक्टोस में परिणत करता और ज़ाइमेस ग्लूकोस और फ्रक्टोस शर्कराओं को ऐल्कोहॉल और कार्बन डाइऑक्साइड मे परिणत करता है। ये सब प्रक्रियाएँ उपयुक्त अवस्था (उपयुक्त आर्द्रता और ताप) में सपन्न होती हैं। किण्वन का उपयुक्त ताप २५°-३०° सें० है।

व्यापार का यीस्ट दो प्रकार का होता है, एक शुष्क और दूसरा संपीडित। यीस्ट को मकई के आटे या स्टार्च के साथ मिलाकर टिकिया बनाई जाती है और तब उसे सुखाया जाता है। यही शुष्क यीस्ट है। इस रूप में यीस्ट निष्क्रिय या प्रसुप्त रहता है और बहुत काल तक सुरक्षित रखा जा सकता है। उपयुक्त पदार्थों के साथ मिलाने से यह सक्रिय हो जाता है और तब इससे काम लिया जाता है। संपीडित यीस्ट में पर्याप्त स्टार्च और आर्द्रता रहती है। इससे किण्वन अल्प समय में होता है। यह यीस्ट अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। सुरक्षित रखने के लिये किसी ठंडे स्थान में रखना आवश्यक होता है। कुछ व्यक्ति अपने काम के लिये स्वय अपना यीस्ट तैयार करते है। इसके लिये अनाज के दानो, विशेषत: जौ के दानो को पानी में भिगाकर रखते हैं। इससे दाने अंकुरने लगते हैं। अकुरने के बाद उसमें लैक्टिक अम्ल बनानेवाला बैक्टीरिया मिलाकर, अम्लीय बनाते हैं। अम्लीय बनाने का उद्देश्य उसे सड़ने से रोकना होता है। इस प्रकार से प्राप्त पदार्थ यीस्ट के आहार का काम देता है। अब इसमे यीस्ट बीज डालकर किण्वन के लिये छोड़ देते हैं। ताप स्थिर रखते हैं। इससे किण्वन जल्द संपन्न होता है। अब उसे फिल्टर प्रेस में छानकर अलग रखते हैं। उसमे स्टार्च मिलाकर, दबाकर बड़ी बड़ी टिकिया बनाते हैं। इसके काटने से छोटी छोटी टिकियाँ प्राप्त होती हैं। अब स्टार्च के स्थान मे मकई के आटे का व्यवहार होने लगा है।

पावरोटी, नाना प्रकार की मदिरा, ब्राडी, ह्विस्की, रम, बीअर आदि के बनाने मे यीस्ट का व्यवहार होता है। ओषधियों में इसका व्यवहार प्राचीन काल से होता आ रहा है। कोष्ठबद्धता, चर्मरोग, जठरांत्र रोगों मे यीस्ट के लाभकारी सिद्ध होने का दावा किया जाता है। [सा० जा०]

युआन मेइ (१७१६ ई०-१७९८ ई०) चीन के कवि, साहित्यिक, आलोचक एव निबंधकार। ये अपने साहित्यिक उपनाम सुई युआन के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। ये चिएन तांग (आधुनिक हांग चाओ) के निवासी थे। १७३६ ई० में ये चिंग शिह की उपाधि के लिये हान लिन एकेडेमी में भरती किए गए। मचू भाषा की परीक्षा में असफल होने के कारण इन्हें एकेडेमी से मुक्त कर दिया गया। इसके पश्चात् ये १७४२ ई० से १७४८ तक कियांग सु प्रांत के विभिन्न चार जिलों मे मजिस्ट्रेट रहे।

सन् १७४९ में उन्होंने सरकारी नौकरी से अवसर ग्रहण किया। और नानकिंग के निकट अपने नवीन प्राप्त किए बगीचे सुइ युआन मे प्रतिष्ठा के साथ रह अपना ध्यान साहित्य एवं गहन अध्ययन पर केंद्रित किया। लेखक के रूप में उनका जीवन अत्यंत सफल था। जनता उनकी रचनाओं का समादर करती थी। उनकी रचनाएँ केवल चीन मे ही प्रख्यात नही रहीं, उन्होंने कुछ कोरियाई विद्वानों का भी ध्यान आकृष्ट किया। अपने जीवन के अंतिम भाग में उन्होंने विस्तृत रूप से चीन के दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व के प्रांतों में यात्राएँ कीं।

युआन नई साहित्यिक आलोचना के संस्थापक एवं नेता थे। काव्य में उस सदाचारवाद एवं नियम निष्ठावाद का विरोध करते हुए, जिसकी उस युग में सत्ता स्थापित थी, युआन ने काव्य में प्रकृतिवाद एवं अध्यात्मवाद (सिंग लिंग) की वकालत की। नैतिक उद्देश्य एवं लेखक के स्वरूप की अवहेलना करते हुए काव्य मे भावनाओं की सीधी अभिव्यक्ति ही उनके अध्यात्मवाद का तात्पर्य था। अतएव महान् काव्य मौलिक रूप से कवि की अपनी भावना, प्रतिभा, एवं व्यक्तित्व पर आधारित होता है। यदि कोई किसी क्षण प्रसन्नता एवं प्रेरणा की तीव्रता अनुभव करता है तो उसे उसकी अभिव्यक्ति सीधे तौर से करनी चाहिए, चाहे नैतिक दृष्टि से उसका मूल्यांकन कुछ भी किया जा सकता हो। उनकी दृष्टि में अनुभूति ही सर्जनात्मक साहित्य के लिये प्रधान तत्व है। विधा सापेक्षतत्व एवं नैतिकता अप्रमुख तत्व है क्योंकि ये भावनाओं की सीधी अभिव्यक्ति के लिये बाधक हैं।

दूसरे विषयों के प्रति भी उनकी दृष्टि उदारतापूर्ण थी। उन्होंने चीन के अभिजात ज्ञान, परंपरा एव इतिहास की सत्ता के प्रति आलोचनात्मक विचारों का प्रदर्शन किया। उन्होंने इस विचार का समर्थन किया कि स्त्रियों को शिक्षा की सुविधा देनी चाहिए और

उन्हें साहित्यिक कार्यक्रमों में भाग लेना चाहिए। अपने ऊपर की गई रूढ़िवादी विद्वानों की कटु आलोचनाओं एवं तीव्र धमकियों की अवहेलना करते हुए उन्होंने अनेक नारियों को अपनी शिष्याओं के रूप में स्वीकार किया, उन्हें कविता लिखने के लिये प्रोत्साहित किया और उनकी रचनाएँ प्रकाशित कीं। उनमें से कुछ प्रसिद्ध कवयित्रियाँ हुईं।

उनके सबसे अधिक पूर्ण संग्रह में करीब करीब १५० स्तवक हैं जिनमें कविताएँ, निबंध एवं स्वतंत्र रचनाएँ संमिलित हैं। पाकशाला पर उनके मनोरंजक व्याख्यान चीन में विस्तृत रूप से पढ़े जाते है और पश्चिम की अनेक भाषाओं में इनके अनुवाद भी हो चुके हैं।

सं० ग्रं० — सियाओ स्वांग ग्रो फांग शिह् वेन चि या कलेक्टेड पोएम्स् ऐंड राइटिंग्स ऑव दि लिटिल स्वांग हिल लाइब्रेरी, सु यु पियाओ एडीशन, (शंघाई १९३६); युग्रान मेइ, एटीथ सेन्चुरी चाइनीज पोएट वाई अपर वैली, (लंदन, १९५६)। [चा० यु० हु०]

युक्रेन पूर्वी यूरोप में सोवियत रूस का एक गणतंत्र है, जिसका क्षेत्रफल २,३१,९९० वर्ग मील तथा जनसंख्या ४४१ लाख (१९६३) है। इसके उत्तर में दलदल तथा वन पाए जाते हैं। नीपर, नीस्टर, दक्षिणी बूग आदि यहाँ की प्रमुख नदियाँ हैं। यहाँ का जलवायु महाद्वीपीय है। जाड़े की ऋतु ठढी रहती है। जनवरी का औसत ताप किएव में –६° सें० तथा ओडेसा में –३° सें० होता है तथा जुलाई का १८° सें० एवं २२·६° सें० रहता है। किएव का वार्षिक वर्षा का औसत २१ इंच है। यूक्रेन में सात विश्वविद्यालय हैं। किएव यहाँ की राजधानी है। लोहा, कोयला, मैंगनीज, जिप्सम तथा पेट्रोल प्रमुख खनिज हैं। गेहूँ, चुकंदर, सूर्यमुखी का बीज, कपास, फ्लैक्स, तंबाकू, सोयाबीन तथा सब्जियाँ प्रमुख कृष्य पदार्थ हैं। रसायनक एवं यंत्र उत्पादन का विकास यहाँ विशेष हुआ है। सीमेंट, कागज, चीनी, सूती वस्त्र एवं उर्वरक अन्य महत्वपूर्ण उद्योग हैं। [रा० प्र० सिं०]

युग काल के अंगविशेष के रूप मे युग शब्द का प्रयोग ऋग्वेद से ही मिलता है (दश युगे, ऋग्० १। १५८। ६)। इस युग का परिमाण अस्पष्ट है। ज्योतिष-स्मृति-पुराणादि में युग के परिमाण, युगधर्म आदि की सुविशद चर्चा मिलती है।

वेदांग ज्योतिष में युग का विवरण है (१, ५ श्लोक)। यह युग पचसंवत्सरात्मक है। कौटिल्य ने भी इस पचवत्सरात्मक युग का उल्लेख किया है। महाभारत में भी यह युग स्मृत हुआ है। पर यह युग पारिभाषिक है, अर्थात् शास्त्रकारों ने शास्त्रीय व्यवहारसिद्धि के लिये इस युग की कल्पना की है।

मुख्य लौकिक युग सत्य (=कृत), त्रेता, द्वापर और कलि नाम से चतुर्धा विभक्त है। इस युग के आधार पर ही मन्वंतर और कल्प की गणना की जाती है। इस गणना के अनुसार सत्य आदि चार युग संध्या (युगारंभ के पहले का काल) और संध्यांश (युगात के बाद का काल) के साथ १२००० वर्ष परिमित होते हैं। चार युगों का मान (४०००+३०००+२०००+१०००=) १०००० वर्ष है; संध्या का (४००+३००+२००+१००=) १००० वर्ष; तथा संध्यांश का भी १००० वर्ष है।

युगों का यह परिमाण 'दिव्य' है। दिव्य वर्ष=३६० मनुष्य वर्ष है; अतः १२०००×३६०=४३२०००० वर्ष चतुर्युग का मानुष परिमाण हुआ। तदनुसार सत्ययुग=१७२८०००; त्रेता=१२९६-०००; द्वापर=८६४०००; कलि=४३२००० वर्ष है। ऐसा १००० चतुर्युग (चतुर्युग को युग भी कहा जाता है) से एक कल्प याने ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा का रात्रिपरिमाण भी इतना ही है। इस गणना के अनुसार ब्रह्मा की आयु १०० वर्ष है। ७१ दिव्ययुगों से एक मन्वंतर होता है।

यह वस्तुत. महायुग है। अन्य अवांतर युग भी है।

युगधर्म का विस्तार के साथ प्रतिपादन इतिहास पुराणों में बहुत्र मिलता है (दे० मत्स्यपु० १४२-१४४ अ०; गरुड़ १। २२३ अ०; वनपर्व १४९ अ०)। किस काल मे युग (चतुर्युग) संबंधी पूर्वोक्त धारणा प्रवृत्त हुई थी, इस संबंध मे गवेषकों का अनुमान है कि खोष्टीय चौथी शती में यह विवरण अपने पूर्ण रूप में प्रसिद्ध हो गया था। वस्तुत: ईसा पूर्व प्रथम शती में भी यह काल माना जाए तो कोई दोष प्रतीत नही होता।

विद्वानों ने कलियुगारंभ के विषय में विशिष्ट विचार किया है। कुछ के विचार से महाभारतयुद्ध से इसका आरभ होता है, कुछ के अनुसार कृष्ण के निधन से तथा एकाध के मत से द्रौपदी की मृत्युतिथि से कलि का आरंभ माना जा सकता है। अत. महाभारत युद्ध का कोई सर्वसंमत काल निश्चत नही है, अत. इस विषय मे अतिम निर्णय कर सकना अभी सभव नहीं है। [रा० श० अ०]

युद्ध अपराध (War crimes) सैनिकों अथवा अन्यान्य व्यक्तियों के प्रतिकूल (Hostile) या लगभग उसी तरह के काम, जिनके लिये पकड़े जाने पर शत्रुओं के द्वारा वे दडित किए जा सकते हैं, युद्ध अपराध कहे जाते हैं। अंतरराष्ट्रीय कानून के विरुद्ध किए गए काम, जो अभियुक्त के अपने देश के कानून के प्रतिकूल हैं, युद्ध अपराध में अतर्निहित होते हैं; यथा, व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से की गई लूट या हत्या, शत्रु राष्ट्र की ओर से या उसके आदेश से किए गए अपराध।

युद्ध अपराध के प्रकार—अपराधों के प्रकार में भिन्नता के कारण युद्ध अपराध चार श्रेणी में विभक्त किए जा सकते हैं :

(१) सशस्त्र सेना के सदस्यों द्वारा, युद्ध के मान्य नियमों का उल्लघन;

(२) ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जो शत्रु की सेना के सदस्य नहीं हों, सशस्त्र विद्रोह;

(३) जासूसी तथा युद्ध संबंधी विश्वासघात;

(४) लूटपाट के काम।

युद्ध के मान्य नियमों का उल्लंघन—(१) विषैले या अन्यान्य कारणो से वर्जित अस्त्र शस्त्र का तथा गैस का प्रयोग।

(२) रोग अथवा आघात से पीड़ित सैनिकों किंवा निहत्थे शरणार्थियों की हत्या या उन्हे घायल करना।

(३) छलघात (Assassination) करना या छलघाती (Assassin) की नियुक्ति करना।

(४) विश्वासघात की भावना से शरण देने के लिये निवेदन या उसी नियत से रोगी किंवा घायल होने का बहाना करना।

(५) युद्धबंदियों, घायलों अथवा रोगियों के साथ दुष्टाचरण (Ill kreatment) एवं उनके निजी धन का अपहरण।

(६) शत्रु पक्ष के निर्दोष असैनिक व्यक्तियों को मारना तथा घायल करना एवं उनकी निजी संपत्ति का अपहरण अथवा विनाश करना।

(७) विजित देशों के लोगों को सेना की स्थिति अथवा उनके बचाव के विषय में वार्ता देने को बाध्य करना।

(८) युद्धक्षेत्र में मृत सैनिकों के प्रति अशोभन आचरण एवं उनके शरीर से उनके निजी द्रव्य या अन्यान्य कीमती वस्तुओं या अस्त्र शस्त्र का अपहरण।

(९) अजायबघर, अस्पताल, गिर्जा, स्कूल इत्यादि की संपत्ति को नष्ट या आत्मसात् करना।

(१०) अरक्षित, खुले (open) शहरों पर आक्रमण, घेरा (siege) तथा गोलाबारी। अरक्षित स्थानों पर समुद्री जहाजों के द्वारा गोलाबारी करना। असैनिक आबादी (civil population) को आतंकित करने के अभिप्राय से उसपर हवाई गोलाबारी करना।

(११) बचाव करनेवाले शहर में अवस्थित ऐतिहासिक स्तूपों, अस्पतालों एवं धर्म, कला, विज्ञान तथा दातव्य उद्देश्यों के लिये मकानों पर, विशिष्ट संकेत रहने के बावजूद, गोली वर्षा करना।

(१२) शत्रुपक्ष के जहाजों पर, उनके द्वारा पताका नत कर आत्मसमर्पण का संकेत पाने पर भी, आक्रमण करना तथा उन्हें डुबोना एवं शत्रु के जहाजरानी (cargo) पर निरीक्षण (visit) की माँग किए बिना आक्रमण करना।

(१३) अस्पतालों जहाजों पर आक्रमण करना या उन्हें बंदी बनाना।

(१४) युद्ध के दौरान में शत्रुपक्ष की वर्दी का व्यवहार करना।

(१५) युद्धविराम (Truce) के पताका-वाहकों पर आक्रमण करना।

(१६) संधि की शर्तों का उल्लंघन।

उच्चाधिकारियों का आदेश—ऐसा बचाव मान्य नहीं होता कि युद्धरत सरकार किंवा उसके किसी कमांडर के आदेश से किसी ने कोई अपराध किया। कभी कभी ऐसी द्विधा उत्पन्न होती है कि एक ओर जहाँ सैनिक अपने कमांडर की आज्ञा पालन करने को बाध्य है, दूसरी ओर उस आज्ञा का पालन युद्ध के नियम के प्रतिकूल होने के कारण अपराध है। यह भी संभव हो सकता है कि युद्ध के दौरान में उसे सामरिक दृष्टि से उक्त आज्ञा की अमान्यता समझ में न आए और वह अपने कमांडर की आज्ञा का पालन करे। युद्ध के नियम बहुधा विवादास्पद होते हैं। यह भी संभव है कि कोई आदेश अन्यथा अमान्य होने पर भी प्रतिशोध [reprisal] के रूप में मान्य हो जाय। ऐसी स्थिति में ऐसे काम को युद्ध-अपराध में प्राय: नहीं लिया जाता। तथापि मुख्य सिद्धांत यह है कि सैनिक अपने कमांडर की वैधानिक (Legal) आज्ञा ही मानने को बाध्य है। अत: यदि युद्ध के मान्य नियमों के प्रतिकूल वह अपने उच्चधिकारी की आज्ञा का पालन करता है तो उसके दायित्व से वह मुक्त नहीं हो सकता। उक्त दायित्व को आदेश देनेवाले कमांडर तक ही सीमित करना वस्तुत: राज्य के प्रमुख पर उस दायित्व को सौंपना होगा। पर अंतरराष्ट्रीय एवं देशज (Municipal), कानून की दोनों ही दृष्टियों से ऐसा करना विवादास्पद है।

अंतरराष्ट्रीय सैनिक न्यायालय (International Military Tribunal) ने अपने चार्टर (सन् १९४५ ई०) में उच्चाधिकारी का आदेश पूर्णत: स्वीकार नहीं किया। ८ वें अनुच्छेद में इसने कहा है—'अभियुक्त ने अपनी सरकार अथवा अपने उच्चाधिकारी की आज्ञा से कोई काम किया, यह बचाव उसे उस दायित्व से मुक्त नहीं कर सकता। किंतु न्यायालय के विचार में यदि न्याय की ऐसी माँग है तो दंड की कठोरता को कम करने में उक्त बचाव पर विचार किया जा सकता है।' नूरेमबर्ग (जर्मनी) के न्यायालय ने नात्सी अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत किए गए बचाव—'उच्चाधिकारी के आदेश का पालन'—को अस्वीकार करते हुए कहा कि जान बूझकर किए गए अमानुषिक अपराध, यथा गैसचेंबर में बंद कर यहूदियों का निर्मूलन (Extermination), असैनिक जनसमाज की निर्मम हत्या, आदि के लिये उक्त बचाव पर दंड की कठोरता कम करने के निमित्त भी विचार नहीं किया जा सकता। दिसंबर, १९४६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक मत से इस सिद्धांत को मान्यता दी।

अधीनस्थ अधिकारियों के लिये कमांडर का उत्तरदायित्व—विजित देश के निवासियों (civil population) अथवा युद्धबंदियों के प्रति यदि सैनिक या निम्नकोटि के सैनिक अधिकारी अत्याचार करें तो कमांडर के उत्तरदायित्व का प्रश्न उठता है। यदि कमांडर के स्पष्ट आदेश से ऐसा काम हो या इसे रोकने दबाने के लिये उसने चेष्टा नहीं की तो उसके विरुद्ध एक प्रबल प्रकल्पना उठेगी कि उसने उक्त अत्याचार की स्वीकृति दी या उसे प्रोत्साहित किया। अत: वह अपने अधीनस्थ सैनिकों के अमान्य काम के लिये दायी होगा। इसी सिद्धांत पर सन् १९४६ ई० में अमरीकी मिलिटरी कमीशन ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान में फिलीपिन में जापानी सैनिकों द्वारा की गई ज्यादती के लिये जापानी कमांडर यामाशीटा को प्राणदंड दिया, यद्यपि उसने अपने बचाव में कहा कि यातायात विच्छिन्न होने के कारण वह अपने सैनिकों पर नियंत्रण नहीं रख सका।

यदि विजित देश के निवासी विजेताओं से लोहा लें तो उनकी स्थिति (status) सैनिक जैसी नहीं मानी जायगी। पर अंतरराष्ट्रीय विधान की परंपरा के अनुसार शत्रु पक्ष को यह अधिकार है कि उन्हें 'युद्ध अपराधी' के रूप में दंड दे।

अंतरराष्ट्रीय विधान किसी पक्ष द्वारा जासूसी (espionage) एवं राजद्रोह (treason) को व्यवहार में लाने को मान्यता देता है; पर प्रतिपक्ष को अधिकार है कि इन्हें अवैधानिक घोषित करे। यथा, दूसरे महायुद्ध के दौरान में जर्मनी के नात्सी शासकों ने ब्रिटिश नागरिक एमरी को ब्रिटेन के विरुद्ध आकाशवाणी के माध्यम से प्रचार कार्य में नियुक्त किया। पश्चात् ब्रिटिश सेना द्वारा जर्मनी पर अधिकार होने पर एमरी को अंग्रेजी न्यायालय ने प्राणदंड दिया।

सं० ग्रं० — ओपेनहेम, एल० : इंटरनेशनल लॉ, खंड २, १९५८; हिस्ट्री ऑव दी यूनाइटेड नेशंस वार क्राइम्स कमीशन, १९४८ (१६९-२७२); जैक्सन : दी केस अगेन्स्ट दी नात्सी वार क्रिमिनल्स, १९४६;

आर्टिकिल ६ ऑव दी चार्टर ऑव दी फार ईस्टर्न मिलिटरी ट्रिब्यूनल; आर्टिकिल २ (बी) ऑव लॉ नं० १० ऑव दी एलाइड कंट्रोल, काउंसिल फॉर जर्मनी रिलेटिंग टु दि ट्रायल ऑव वार क्रिमिनल्स ।

[न० कु०]

युद्धकालिक भूम्यधिकार (Belligerent occupation) शत्रु प्रदेश पर अधिकार या कब्जा उस समय माना जाता है, जब कोई युद्धमान राज्य उक्त प्रदेश पर आक्रमण करके वहाँ पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है, भले ही ऐसा अधिकार या आधिपत्य अल्पकालीन ही हो। अत. अधिकार या कब्जा केवल आक्रमण से सर्वथा भिन्न होता है। कारण, कब्जे में दखलकारी राज्य किसी प्रकार की शासनव्यवस्था स्थापित करता है, जब कि आक्रमण मे इस प्रकार विजित प्रदेश पर किसी प्रकार की शासनव्यवस्था नही स्थापित की जाती। युद्धमान राज्य की सेनाएँ किसी प्रकार का शासन स्थापित करने का प्रयत्न किए बिना ही शत्रु प्रदेश पर धावा बोल सकती हैं; निरीक्षण के उद्देश्य से वहाँ के आंतरिक अंचल के किसी स्थान पर शीघ्रता से जा सकती हैं, किसी पुल अथवा शस्त्रागार या रसद आदि को नष्ट कर सकती हैं और अपना उद्देश्य पूरा होने पर शीघ्र ही वहाँ से हट भी सकती हैं।

यदि कोई युद्धमान राज्य संपूर्ण शत्रु प्रदेश पर अथवा उसके किसी एकाध भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता है, तो यह माना जायगा कि उसने युद्ध के परम महत्वपूर्ण उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर ली। सैनिक कारखाई के लिये वह शत्रु प्रदेश के साधनों का उपयोग तो कर ही सकता है, इसके अतिरिक्त वह तत्काल के लिये शत्रु प्रदेश को अपनी सैनिक सफलता के न्यास के रूप में भी रख सकता है। इस प्रकार वह शत्रु को शांति की अपनी शर्तें स्वीकार कराने के लिये विवश कर सकता है।

प्राचीन काल मे कोई युद्धमान राज्य यदि शत्रु प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता था तो ऐसा माना जाता था कि उक्त क्षेत्र हर प्रकार से उसकी राजकीय संपत्ति है और इस कारण उसके साथ तथा उसके निवासियो के साथ मनमाना व्यवहार करने का अधिकार उसे प्राप्त है। वह शत्रु प्रदेश को विनष्ट कर सकता था, उसकी सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत संपत्ति का स्वायत्तीकरण कर सकता था, उसके निवासियों की हत्या कर डाल सकता था या उन्हें गिरफ्तार कर सकता था। वह शत्रु प्रदेश को किसी अन्य तीसरे राज्य को भी अर्पित कर दे सकता था। परंतु १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस स्थिति मे क्रमश: परिवर्तन होने लगा और केवल सैनिक आधिपत्य एवं शत्रु प्रदेश पर वास्तविक आधिपत्य के बीच अंतर पूर्णतया स्पष्ट हो गया। १९वीं शताब्दी के अंत तक आधिपत्य या अधिकार संबंधी नियमों का अत्यधिक विकास हो गया और यह बात स्वीकार कर ली गई कि शत्रुप्रदेश पर विजेता को संप्रभुता का कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता, वरन् अल्पकाल के लिये उसे सैनिक आधिपत्य मात्र प्राप्त होता है।

आधिपत्य की समाप्ति — आधिपत्य स्थापित करनेवाला राज्य जब अधीन प्रदेश से स्वयं हट जाता है अथवा जब वह वहाँ से बाहर खदेड़ दिया जाता है, तो आधिपत्य या कब्जा समाप्त हो जाता है।

आधिपत्य स्थापक के सामान्य अधिकार और कर्तव्य — कब्जा करनेवाला देश विजित प्रदेश पर शासन का अस्थायी अधिकार प्राप्त कर लेता है; परंतु जब तक युद्ध चलता रहता है, तब तक वह न तो उसका अनुबंधन कर सकता है और न उसे स्वतंत्र राज्य का रूप दे सकता है तथा न राजनीतिक उद्देश्य से उसे दो प्रशासनिक भागों में विभक्त ही कर सकता है। अपनी सेना की सुरक्षा के लिये और युद्ध के उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे प्राय. अबाध सत्ता प्राप्त है, परंतु अधीन प्रदेश पर उसकी संप्रभुता न होने के कारण उसे वहाँ के कानूनो मे परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है। उक्त प्रदेश मे जो कानून लागू हो और शासन के जो नियम प्रचलित हों, उन्ही के अनुसार उसे उक्त प्रदेश का शासन प्रबंध चलाना चाहिए। सार्वजनिक शांति और सुरक्षा का उसे समुचित प्रबंध करना चाहिए, जनता की व्यक्तिगत संपत्ति और उसके जीवन का, जनता के धार्मिक विश्वासों का और उसकी स्वतंत्रता का उसे आदर करना चाहिए।

आधिपत्य स्थापक राज्य का अधीन प्रदेश पर सैन्य आधिपत्य होता है, अतः वहाँ के निवासी सामरिक विधान याने फौजी कानून के अंतर्गत रहते हैं और उन्हे उसके आदेशो का पालन करना होता है। वह उनसे किसी भी वस्तु की माँग कर सकता है, किसी भी प्रकार की सेवा देने के लिये उन्हे विवश कर सकता है, जैसे, पुलो और मकानों आदि की मरम्मत कराना। परंतु 'हेग' के नियमों के अनुसार उसे इन नागरिकों को इस बात के लिये विवश करने का निषेध है कि वे अपनी वैध सरकार के विरुद्ध सैनिक कारखाई में सम्मिलित हों अथवा अपने राज्य की सेना के संबंध मे या उसके सुरक्षा साधनों के संबंध मे कोई सूचना प्रदान करे।

'सैनिक कारखाई में सम्मिलित होने' का अर्थ कुछ विवादास्पद हो सकता है और युद्धमान राज्यो ने अपने प्रचलन द्वारा 'सैनिक कारखाई' और 'सैनिक तैयारी' के बीच कुछ भेद स्थापित कर रखा है। यह भेद अस्पष्ट है और इसका दुरुपयोग संभव है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय, हालैंड पर आधिपत्य स्थापित करनेवाले जर्मन अधिकारियो ने ऐसा प्रकट किया कि वे युद्धमान राज्यो के आधिपत्य संबंधी नियमों का पालन करेंगे। समुद्रतटवर्ती सुरक्षा पंक्ति और युद्धपोतों आदि के निर्माण के उद्देश्य से उन्होंने इस भेद का उपयोग किया। परंतु अब सन् १९४९ के जेनेवा के नागरिक अनुबंध ने इस संबंध मे पर्याप्त रूप से स्थिति स्पष्ट कर दी है।

१९४९ का जेनेवा अनुबंध — इस अनुबंध के अनुसार दखलकारी राज्य अधीन राज्य के निवासियो को अपनी सेना मे भरती होने के लिये विवश नही कर सकता। अनुबंध मे विस्तार से बताया गया है कि आधिपत्य स्थापक राज्य विजित प्रदेश के निवासियो से किस किस प्रकार का काम ले सकता है। १८ वर्ष से कम उम्र के किसी व्यक्ति को काम करने के लिये वह विवश नहीं कर सकता और विजित प्रदेश के १८ वर्ष से अधिक उम्रवाले निवासियों से भी वह ऐसे ही काम ले सकता है, जो या तो आधिपत्य स्थापक राज्य की सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये या विजित प्रदेश की जनता के भोजन, निवास, वस्त्र, यातायात, परिवहन या स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं (धारा ५१)। विजित प्रदेश से बाहर किसी अन्य क्षेत्र मे काम करने के लिये उन्हे आदेश नहीं दिया जाना चाहिए।

उन्हें उपयुक्त मजदूरी देनी चाहिए और ऐसा काम दिया जाना चाहिए जो उनकी शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता तथा योग्यता के अनुरूप हो।

अनुबंध ने आधिपत्य स्थापक सत्ता का यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह विजित प्रदेश की जनता को भोजन और दवादारू संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करे। जनता की व्यक्तिगत संपत्ति तथा राज्य की अथवा सार्वजनिक अधिकारियो की चल तथा अचल संपत्ति नष्ट करने का स्पष्ट निषेध कर दिया गया है। हाँ, सैनिक कारर्वाई के लिये यदि कभी ऐसा करना अनिवार्य हो, तो उसके लिये छूट रखी गई है। [ल० ना० ट०]

युधामन्यु पांचालनरेश जो महाभारत मे पाडवो की ओर से लड़े थे। इनके भाई का नाम उत्तमौजा था और दोनो ही परम पराक्रमी एव धनुर्धर थे। कहते हैं, इनका वास्तविक नाम कुछ और ही था पर अपने शत्रुओं से क्रोधातुर होकर युद्ध करने से इनका यह नाम प्रसिद्ध हो गया। [रा० द्वि०]

युधिष्ठिर पाडवों मे ज्येष्ठ जो धर्म के पुत्र माने जाते हैं। यद्यपि द्रोणाचार्य से इन्होने सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी, तथापि ये योद्धा ही नही, अच्छे विचारक, दार्शनिक, धर्मभीरु और तत्वज्ञानी थे। हस्तिनापुर की गद्दी के लिये धृतराष्ट्र ने इन्हे ही युवराज बनाया और प्राय. इसी कारण कौरवो ने पाडवो का विरोध प्रारभ कर दिया। महाभारत में केवल एक बार थोड़ा सा झूठ इनसे कहलाया जा सका जिसके कारण हिमालय यात्रा मे इनकी छोटी उँगली गल गई थी। वनवास से लौटने पर इद्रप्रस्थ मे इनके शासन की तुलना रामराज्य से की जा सकती है। राजसूय यज्ञ करने के कारण इनकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई थी, यद्यपि जुए के दुर्गुण ने इनकी आपत्तियाँ ही नहीं बढाई बल्कि इनकी कीर्ति में कलंक भी लगा दिया है। [रा० द्वि०]

युनाइटेड किंगडम ऑव ग्रेट ब्रिटेन ऐंड नार्थ आयरलैंड लगभग ५०° से ६०° उ० अ० तथा ८° प० दे० से २° पू० दे० के मध्य स्थित है। इसमे मुख्यत: इग्लैंड, स्काटलैंड, अल्स्टर (आयरलैंड का उत्तरी भाग), मैन द्वीप, वाइट द्वीप तथा इग्लिश चैनेल के द्वीप समिलित हैं। इसका क्षेत्रफल ६५,००० वर्ग मील है। (देखें स्कॉटलैंड, इंग्लैंड, आयरलैंड)। [रा० स० ख०]

युनैन चीन का दक्षिण पश्चिमी प्रात है। इसका क्षेत्रफल ४,३६,२०० वर्ग किमी० एवं जनसंख्या १,९१,००,००० (१९५७) है। इस प्रदेश के पश्चिम और उत्तर पश्चिम मे ऊँची पर्वतश्रेणियाँ तथा याग्त्सीक्याग मीकांग और सैल्विन नदियो की गहरी, तग घाटियाँ (gorges) हैं। कुछ पर्वत चोटियाँ १६,००० फुट से भी अधिक ऊँची हैं। यहाँ ग्रीष्म ऋतु अप्रैल से अगस्त तक तथा वर्षा ऋतु अगस्त से मार्च तक रहती है। कुनमिग मे दिसंबर का ताप ८° सें० तथा जुलाई का २१° सें० है। वर्षा का औसत ४०-४२ इंच है। धान यहाँ की मुख्य फसल हैं। इसके अतिरिक्त मक्का, जौ, गेहूँ, तिलहन एव पोस्ता अन्य महत्वपूर्ण पैदावार हैं। भेड़ और बकरियाँ भी पाली जाती हैं।

टीन, कोयला, लोहा, ताँबा, सोना, ऐंटीमनी और टगस्टन खनिज यहाँ प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ निजी क्षेत्र में यत्र, कृषियंत्र, वस्त्र, रबर, सीमेंट आदि के कारखाने स्थापित किए गए हैं। बर्मा सड़क, यहाँ की राजधानी कुनमिग से लाशिओ (Lashio) तक जाती है। [रा० प्र० सि०]

युफ्रेटीज (Euphrates) (फरात) नदी इराक मे बहनेवाली यह नदी दक्षिण पश्चिमी एशिया की सबसे बड़ी (१,७०० मील लबी) नदी है जो पूर्वी टर्की मे आरमीनिया के उच्च स्थलो से निकलकर कुरना के समीप दजला नदी मे मिलती हुई आगे बढ़कर फारस की खाडी मे विलीन हो जाती है, नदी को घाटी तीन भागों मे विभाजित है: (१) ऊपरी घाटी, समसत (Samsat) तक, (२) मध्य घाटी समसत से हिट तक और (३) निचली घाटी, हिट से सगम स्थल तक। लघु एशिया के पठार से निकलकर नदी सिरिया के पठार मे प्रवेश करती है, जहाँ पर बाएँ ओर मे बालिख एव खाबूर नदियाँ आकर मिलती हैं। फरात नदी की चौड़ाई दजला से अधिक है। यह मद गति से प्रवाहित होती है। निचले भाग के छिछले होने के कारण नौकारोहण के दृष्टिकोण से इसकी उपयोगिता कम हो गई है। हिट तक नावें पहुँच जाती है परतु स्टीमर उससे नीचे तक ही पहुँच पाते हैं। [सु० च० श०]

युवराज भारतीय भाषाओं और पाश्चात्य भाषाओं मे इस शब्द का प्रयोग होता है। यह प्राचीन शब्द है। भाषायी दृष्टि से इस शब्द का अर्थ राजा का पुत्र किया जा सकता है। भाषाओं में इस शब्द का अर्थ प्रथम या समान के स्थान पर आसीन व्यक्ति के रूप मे किया जाता था। क्रमश. इस शब्द का उपयोग राजा या सम्राट् के पुत्र या पुत्रियो के लिये किया जाने लगा है और राजघराने से संबधित निकट कुटुबियो के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है। इग्लैंड के भावी उत्तराधिकारी को प्रिंस ऑव वेल्स की उपाधि दी जाती है। इग्लैंड मे बडे बडे रईसो और नवाबों को भी प्रिंस की उपाधि दी जाती थी। जर्मनी मे भी सम्राट् के कुटुंबियो को 'प्रिंस' की उपाधि दी जाती थी और कभी कभी जर्मन साम्राज्य के अंदर राज्य करनेवाले कुछ राजाओ को भी यह पदवी दी जाती थी। यूरोप के कई देशो मे प्रिंस की उपाधि ऐसे व्यक्तियों को दी जाती थी जो राजघराने से सबधित नहीं थे। अत प्रिंस या युवराज एक प्राचीन प्रथा का द्योतक है। जब संसार मे राज्यशासन की कला का अर्थ केवल राजतत्र शासन पद्धति थी, तब इस प्रथा का उत्कर्ष हुआ और युवराजों की तथा प्रिंस की महिमा होती रही।

पाश्चात्य देशो में, विशेषकर इग्लैंड मे, युवराज की शिक्षा दीक्षा का बहुत अच्छा प्रबध रखा जाता था, क्योंकि वह देश का भावी राजा था। उसका सम्मान और प्रतिष्ठा उच्च कोटि की होती थी। इग्लैंड में युवराज के विवाह आदि वैयक्तिक विषयो पर भी क्राउन का नियत्रण रहता है। एडवर्ड अष्टम के विवाह को क्राउन ने अमान्य कर दिया और उसके उत्तराधिकार का अधिकार छीन लिया। प्राचीन भारत मे भी युवराज की शिक्षा को बहुत महत्व दिया गया था। प्राचीन हिंदू कल्पना थी कि राजा मे देवत्व है। परंतु फिर भी युवराज की शिक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता था। राजपुत्रो की शिक्षा के लिये विशेष प्रबध होता था, यद्यपि उनके सामान्य विद्यार्थियों के साथ साथ तक्षशिला आदि प्रख्यात शिक्षा केंद्रों मे शिक्षा प्राप्त

करने के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रारंभिक काल में राजपुत्रों के पाठ्यक्रम में वेद, तत्वज्ञान आदि विषय भी संलग्न थे। परंतु धीरे धीरे वार्ता और राजनीति ही अध्ययन के मुख्य विषय बन गए। राजकार्य, शस्त्रविद्या, युद्धकौशल आदि का उन्हें केवल पुस्तकी ज्ञान ही नहीं दिया जाता था किंतु प्रत्यक्ष रूप से इन विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वयस्कता प्राप्त करने पर राजकुमारों का युवराज पद पर अभिषेक होता था।

ब्रिटिश शासनकाल में ५६२ देशी राज्य भारत में थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इन राज्यों का विलयन हो गया है। परंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व युवराजों और राजकुमारों की उचित शिक्षा के लिये कई राजकुमार विद्यालयों की स्थापना भारतीय सरकार के द्वारा तथा देशी नरेशों के अनुदान से की गई थी जिनमें अजमेर तथा रायपुर के राजकुमारों के लिये स्थापित किए हुए विद्यालय प्रसिद्ध थे। प्रजातंत्र की प्रगति के साथ यह पुराना वैभव समाप्त हो रहा है। नवीन युग की पुकार के साथ राजा और युवराज अपनी पुरानी परंपरा और वैभव को त्यागने के लिये बाध्य हो रहे हैं। [शु० ते०]

यूइची मध्य एशिया तथा पश्चिम चीन के विस्तृत क्षेत्र में जिन खूँखार जातियों ने एक दूसरे को हराकर राजनीतिक उथल पुथल कर दी थी उनमें यूइची उल्लेखनीय हैं। ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी में इसके हिउंग नु तथा वु सुन के साथ संघर्ष का विवरण चीनी स्रोतों में मिलता है। वहाँ के कई ग्रंथों में यूइची के अन्य जातियों के साथ संघर्ष तथा अपने निवासस्थान को छोड़ पश्चिमी क्षेत्र की ओर बढ़ने और राज्य स्थापित करने का उल्लेख है। इनसे मूलतया यह प्रतीत होता है कि लगभग ईसा पूर्व १७६ में हिउंग नु के शासक माओ तुन ने चीन सम्राट् को एक संदेश भेजा कि उसने यूइची को हटाकर तुन् हुआंग तथा कि लिएन के बीच के क्षेत्र में खदेड़ दिया है। यूइची पश्चिम की ओर बढ़ते हुए साइवंग (शकों) के क्षेत्र में पहुँचे और उनको वहाँ से हटा दिया। बाद में यूइची जाति को वुसन के आक्रमण के कारण उस क्षेत्र को स्वयं छोड़ना पड़ा। उसके बाद वे याहिया की ओर बढ़े। ई० पू० १२६ में चीनी राजदूत चांग किएन ने यूइची की जाति को अक्षु नदी के उत्तर में पाया। यूइची की मुख्य शाखा ने आगे चलकर पुन: शकों को हराया और कपिश पर अधिकार कर लिया। इसी समय से यूइची जाति का ऐतिहासिक संबंध भारत से भी प्रारंभ होता है। कहा जाता है, यूइची जाति पाँच कबीलों में बँट गई और उनमें कुइ शुआंग अथवा कुषान-कुषाण जाति के कियुल कथफिस कजुल कैडफिसिज ने अन्य चार जातियों को हटाकर अपनी शक्ति संगठित की, काबुल की ओर बढ़ा और यूनानियों का अंत कर वहाँ का शासक बन बैठा।

इसके विपक्ष में कुछ विद्वान् यूइची तथा कुषाण वंश में कोई संबंध नहीं पाते। उनका कथन है कि कुषाण वास्तव में शक जाति के ही एक अंग थे और यूइची ने जब शकों को हराया तो इसी वंश के कुछ प्रमुख सरदार यूइची में मिल गए। बाद के चीनी इतिहासकारों ने इन दोनों जातियों की पृथकता नहीं समझी। कुषाणों के अतिरिक्त चार और जातियों (यवगुओं) ने यूइची आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। वास्तव में यूइची का हिउंगनु तथा वु सुन नामक उन जातियों के साथ संघर्ष तथा एक का दूसरे के प्रति रक्तपिपासु होना कुजुल कैडफसिज की अपने 'सत्यधर्म प्रवर्तक' उपाधि ग्रहण करने के साथ उचित प्रतीत नहीं होता। हूणों सहित मध्य एशिया ये सब जातियाँ अपनी बर्बरता के लिये प्राचीन इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इनके विपक्ष में शक कुषाणों की धार्मिक प्रवृत्तियों तथा सहनशीलता का परिचय लेखों तथा सिक्कों से होता है। प्रसिद्ध कुषाण सम्राट् कनिष्क छोटी यूइची जाति का था और उसने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया तथा पाटलिपुत्र तक पहुँचा। यद्यपि इस शासक का साम्राज्य उत्तरी भारत में वाराणसी तक अवश्य फैला था, तथापि उसके यूइची होने में संदेह है।

सं० ग्रं० — मानशेन हेल्केन — 'दि यूची प्राब्लम—री-एकज़ामिंड, जे० ओ० ए० १६४५; स्टेन कनो—'कार्पस इंस्क्रप्शनम इंडिकेरम भाग २; पुरी बी० एन०—इंडिया अंडर दि कुषाणज। [बै० पु०]

यूकेलिप्टस (Eucalyptus) मिर्टेसी (Myrtaceae) कुल का एक बहुत ऊँचा वृक्ष है। इसकी लगभग ६०० जातियाँ हैं, जो अधिकांशत: ऑस्ट्रेलिया और टैस्मानिया में पाई जाती हैं। यूकेलिप्टस रेगनेंस (Eucalyptus regnans) इनमें सबसे ऊँची जाति है, जिसके वृक्ष ३२२ फुट तक ऊँचे होते हैं। उपयोगिता के कारण यूकेलिप्टस अब अमरीका, यूरोप, अफ्रीका एवं भारत में बहुतायत से उगाया जा रहा है। बीज नरम, उपजाऊ भूमि में सिंचाई करके बो दिया जाता है। कुछ वर्ष बाद छोटे छोटे पौधों को सावधानी से निकालकर, जंगलों में लगा दिया जाता है। ऐसे समय जड़ों की पूरी देखभाल करनी पड़ती है, अन्यथा थोड़ी असावधानी से ही उनकी जड़ें नष्ट हो जाती हैं। इसके कारण पौधे सूख जाते हैं। दक्षिण भारत में नीलगिरि पर्वत पर यूकेलिप्टस ग्लोबूलस (Eucalyptus globulus) जातिवाला वृक्ष बाहर से मँगाकर लगाया गया है। इस स्थान पर यह बहुत अच्छा उगता है और काफी ऊँचे ऊँचे वृक्ष के जंगल तैयार हो गए हैं। ऊँचे वृक्ष से अच्छे प्रकार की इमारती लकड़ी प्राप्त होती है, जो जहाज बनाने, इमारती खंभे, अथवा सस्ते फर्नीचर के बनाने में काम आती है। इसकी पत्तियों से एक शीघ्र उड़नेवाला तेल, यूकेलिप्टस तेल, निकाला जाता है, जो गले, नाक, गुर्दे तथा पेट की बीमारियों, या सर्दी जुकाम में ओषधि के रूप में प्रयुक्त होता है। इस वृक्ष से एक प्रकार का गोंद भी प्राप्त होता है। पेड़ की छाल कागज बनाने और चमड़ा कमाने के काम में आती है। [रा० श्या० अ०]

यूक्लिड (Euclid) ग्रीक गणितज्ञ थे, जो ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व हुए थे। ऐसा कहा जाता है कि प्लेटो (Plato) के शिष्यों से ही एथेंस में इन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की थी। यह टोलेमी प्रथम (Ptolemy I) के, जिसने ईसा से ३०६ वर्ष पूर्व से २८३ वर्ष पूर्व तक राज्य किया था, समकालीन थे। यूक्लिड ने ऐलेक्ज़ैंड्रिया में एक पाठशाला स्थापित की थी। इसके अतिरिक्त यूक्लिड के विषय में कुछ पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें गलती से मेगारा (Megara) का यूक्लिड समझते थे, जो प्लैटो (Plato) का समकालीन था, परंतु यह उनका भ्रम था, जिसको एक लेखक ने १५७२ ई० में दूर किया। यूक्लिड का सबसे बड़ा ग्रंथ उसका एलीमेंट्स (Elements) है, जो १३ भागों में है। इससे पहले भी बहुत

से गणितज्ञों ने ज्यामितियाँ लिखी थीं, परंतु उन सब के बाद जो ज्यामिति यूक्लिड ने लिखी उसकी बराबरी आज तक कोई नहीं कर सका है, और न संसार में आजतक कोई ऐसी पुस्तक लिखी गई जिसने किसी विज्ञान के क्षेत्र में बिना बदले हुए लगभग २,००० वर्षों तक अपना प्रभुत्व जमाए रखा हो और जो मूल रूप में १६वीं शताब्दी के अंत तक पढ़ाई जाती रही हो। यूक्लिड ने नई उपपत्तियाँ दीं। उपपत्तियों के क्रम भी बदल दिए, जिससे पुरानी उपपत्तियाँ सब बेकार हो गई। यह मानना ही पड़ेगा कि पुस्तक की अधिकल्पना उसकी अपनी थी। उसने उस समय तक के सभी अनुसंधानों को अपनी पुस्तक में दे दिया था। उसने सभी तथ्यों को बड़े तार्किक ढंग से ऐसे क्रम में लिखा कि प्रत्येक नया प्रमेय उसके पहले प्रमेयों के तथ्यों पर आधारित था। ऐसा करते करते यूक्लिड ऐसे तथ्यों पर पहुँचे जिनके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने ऐसे तथ्यों को स्वयंसिद्ध कहा। ऐसे स्वयंसिद्धों की संख्या कहीं छह, या कहीं बारह है। अंतिम स्वयंसिद्ध इस प्रकार है। यदि एक रेखा दो रेखाओं को काटे और एक ओर अंत:कोणों का योग दो समकोण से कम हो, तो दोनों रेखाएँ बढ़ाए जाने पर उसी ओर मिलेंगी जिस ओर के अंत:कोणों का योग दो समकोण से कम है। बहुत दिनों तक तो इस स्वयंसिद्ध के विषय में किसी को आलोचना करने का साहस नहीं हुआ, परंतु लोग इसको स्वयंसिद्ध मानने में आपत्ति करते रहे। यहाँ तक कि बहुत लोग इसका प्रमाण ढूँढने में लगे रहे, जिसके आधार पर बहुत अन्वेषण हुए। १९वीं शताब्दी में ही लोग इस निष्कर्ष पर पहुँच पाए कि उपर्युक्त स्वयंसिद्ध सत्य नहीं है, जिससे उन्होंने अयूक्लिडीय ज्यामिति का आविष्कार किया।

१९वीं शताब्दी में बहुत लोगों ने ज्यामितियाँ लिखीं, परंतु कोई ऐसी नहीं लिखी गई जो यूक्लिड ज्यामिति से अच्छी हो। लेखक केवल रूप ही बदल पाए।

यूक्लिड ने अन्य ग्रंथ भी लिखे हैं, जिनमें कुछ मिले हैं और कुछ नहीं। जो ग्रंथ मिले हैं, वे निम्नलिखित हैं;

(१) डाटा (Data) — इसमें ९४ प्रमेय हैं, जो इस बात से संबंध रखते हैं कि यदि किसी आकृति के कुछ अवयव ज्ञात हों, तो अन्य कैसे निकाले जाएँ।

(२) भाग (Division) — यह पुस्तक मूल रूप में तो नहीं मिली परंतु पैरिस मे इसका अरबी भाषा मे रूपातर मिला। इसका संपादन १८५१ ई० में यूरोपीय भाषाओं मे हुआ। इस पुस्तक में किसी आकृति को बराबर भागों, या किसी नियत अनुपात में बाँटने के संबंध में बहुत से प्रमेय दिए हैं।

(३) ऑप्टिक्स (Optics) — इस नाम की पुस्तक ग्रीक मे ही विद्यमान है।

(४) फेनॉमिना (Phaenomena) — इस ग्रंथ में गोले की ज्यामिति की व्याख्या की है, जो ज्योतिष से संबंध रखती है।

(५) गान विद्या पर भी एक पुस्तक लिखी कही जाती है, परंतु यह यूक्लिड की लिखी नही मालूम पड़ती। अन्य ग्रंथ, जिनका पता नहीं चला है, निम्नलिखित हैं :

(१) नौसिखियों को भ्रांतियों से आगाह करने के संबंध में एक ग्रंथ।

(२) पोरिज़्म; तीन खंडों में।

(३) शाकंव, चार भागों मे।

(४) तलपथ (Surface Loci), चार भागों में।

यूक्लिड के एलिमेंट्स का बहुत सी भाषाओं में अनुवाद किया गया है। इसका सबसे पहले लैटिन और अरबी में अनुवाद हुआ, जिसका १५७० ई० मे अंग्रेजी में अनुवाद हुआ।

१७९८ ई० में इस गणितज्ञ की स्मृति में यूक्लिड नाम का शहर बसाया गया, जो अमरीका के ओहायो प्रांत मे है। [कृ० ला० श०]

यूखारिस्ट ईसा ने अपने दु:खभोग और मृत्यु के ठीक पहले अपने पट्टशिष्यों के साथ भोजन किया था। यह घटना 'अंतिम भोज' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी अवसर पर परमप्रसाद संस्कार का नाम यूखारिस्ट (अर्थात् धन्यवाद) रखा गया क्योंकि ईसा ने उस समय यहूदी पास्का पर्व (दे० पुनरुत्थान) की रीति के अनुसार ईश्वर को धन्यवाद की प्रार्थना अर्पित की थी। संत लूकस के सुसमाचार में परमप्रसाद संस्कार की स्थापना का वर्णन इस प्रकार है—तब उन्होंने रोटी ली और धन्यवाद की प्रार्थना करने के बाद उसे तोड़ा और यह कहते हुए शिष्यों को दिया : 'यह मेरा शरीर है जो तुम्हारे लिये दिया जा रहा है, यह मेरी स्मृति मे किया करो।' भोजन के बाद उन्होंने वैसा ही किया और कहा : 'यह कटोरा मेरे रक्त का नूतन विधान है, यह तुम्हारे लिये अर्पित किया जा रहा है।' इस प्रकार ईसा ने रोटी तथा कटोरे की अंगूरी (wine) को अपने शरीर तथा रक्त में बदलकर अपने शिष्यों को प्रसाद के रूप मे दिया था और उस कृत्य को अपनी स्मृति में दुहराने का आदेश दिया था। प्रभु के इस आदेश के पालन ने प्रारंभ ही से ईसाइयों की मुख्य तथा केंद्रीय धर्मक्रिया का रूप धारण कर लिया। अंतिम भोज के समय ईसा ने जो किया था, उसे पुरोहित इस धर्मक्रिया मे दोहराते हैं। वह ईसा के क्रूस-मरण द्वारा प्रदत्त मुक्ति के लिये ईश्वर को धन्यवाद की एक लंबी प्रार्थना अर्पित करते हैं और रोटी तथा कटोरा हाथ में लेकर ईसा के शब्द दोहराते हैं। और अंत में यह विश्वासियों को प्रसाद के रूप में दिया जाता है (दे० यज्ञ)।

अधिकांश ईसाइयों का विश्वास है कि ईसा ने अंतिम भोज के समय अपने शिष्यों को सचमुच मे अपना शरीर तथा रक्त, रोटी तथा अंगूरी के रूप में दे दिया था और जब विधिवत् अभिषिक्त पुरोहित धर्मक्रिया मे ईसा के उपर्युक्त शब्द दोहराते हैं तब ईसा सचमुच परमप्रसाद मे विद्यमान हो जाते हैं। इस विश्वास को रियल प्रेजेंस अर्थात् वास्तविक उपस्थिति कहते हैं।

ईसा के उपस्थित हो जाने की प्रक्रिया के विषय मे सर्वप्रचलित धारणा यह है कि रोटी का तत्वपरिवर्तन होता है, रोटी का रूप रंग पूर्ववत् रहते हुए भी इसका तत्व बदल जाता है और मनुष्यत्व एवं ईश्वरत्व से समन्वित ईसा का पूर्ण व्यक्तित्व विद्यमान हो जाता है। १२ वीं शताब्दी ई० मे ही ईसाई धर्मपंडितों ने पहले पहल ट्रैंससबस्टैंशिएशन (तत्वपरिवर्तन) शब्द का प्रयोग किया था और सन् १२१५ ई० मे रोमन काथलिक चर्च ने तत्वपरिवर्तन को धर्म-सिद्धांत के रूप में घोषित किया था।

प्रोटेस्टैंट धर्मपंडित यूखारिस्ट में ईसा की उपस्थिति के विषय में

एकमत नहीं हैं। लूथर और उनके अधिकांश अनुयायी मानते हैं कि रोटी में तत्वपरिवर्तन नहीं होता किंतु रोटी के साथ साथ ईसा भी वास्तव में विद्यमान हैं, इस मत को कॉसबस्टैंशिएशन (सह-तत्व-वाद) कहते हैं। ज्विग्ली (Zwingly) की धारणा थी कि यूखारिस्ट में ईसा की उपस्थिति प्रतीकात्मक मात्र है। कैलविन सिखलाते थे कि यूखारिस्ट में अनुष्ठान के समय विश्वासीगण आध्यात्मिक रूप में स्वर्ग में विद्यमान ईसा से संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार ईसाई संप्रदायों में यूखारिस्ट संबंधी मतों की विभिन्नता ईसाई एकता के आंदोलन के लिये एक जटिल समस्या उपस्थित करती है।

सं० ग्रं० — जे० ए० यंगमैन। दि यूखारिस्टिक प्रेयर, लंदन, १९५६। [का० बु०]

यूगेंडा स्थिति : ४° ३० उ० अ० से १° द० अ० तथा ३०° से ३५° पू० दे०। पूर्वी मध्य-अफ्रीका का एक विपुवत् रेखीय देश है, जो पूर्णतः अंतर्वर्ती है। इसके उत्तर में सूडान, पश्चिम में कांगो (लिओपोल्डविल) पूर्व में केन्या, दक्षिण-पश्चिम में रुआंडा, एवं दक्षिण में टैंगैन्यीका देश तथा विक्टोरिया झील स्थित हैं। इसका कुल क्षेत्रफल ९३,९८१ वर्ग मील है, जिसका १३,६८९ वर्ग मील भाग जलग्रस्त एवं दलदली है।

प्राकृतिक स्वरूप — देश का अधिकांश भूभाग पठारी है, जो समुद्रतल से लगभग ४,००० फुट ऊँचा है। पश्चिमी सीमा पर रुवंजोरी पर्वत स्थित है, जिसका उच्चतम शिखर समुद्रतल से १६,७९१ फुट ऊँचा है, जबकि पूर्वी सीमा पर स्थित ऐलगन पर्वत की अधिकतम ऊँचाई १४,१७८ फुट है। देश के मध्य में क्योगा एवं दक्षिण में विक्टोरिया झीलें स्थित हैं।

जलवायु — समुद्रतल से अधिक ऊँचाई पर स्थित इस देश का ताप अन्य विपुवत्रेखीय प्रदेशों की तुलना में न्यून है। औसत वार्षिक ताप उत्तर में १५° सें० एवं दक्षिण में २२° सें० है। वार्षिक तापांतर साधारण है। औसत वार्षिक वर्षा की मात्रा उत्तर में ३५ इंच एवं दक्षिण में ५९ इंच तक है।

प्राकृतिक वनस्पति एवं जीवजंतु — पश्चिम के उच्च प्रदेश में लंबी घास तथा वनों की प्रचुरता है। उत्तर के शुष्कतर क्षेत्र में छोटी घास ही अधिक मिलती है। देश के दक्षिणी भाग में प्राकृतिक वनस्पति साफ करके भूमि को कृषियोग्य बना लिया गया है, जिसमें केले की उपज मुख्य है। कहीं कहीं हाथी घास उगती है, जिसकी ऊँचाई १० फुट तक हो जाती है।

पशुओं में हाथी, दरियाई घोड़ा भैसा, बंदर इत्यादि अधिक हैं। कुछ भागों में शेर, जिराफ तथा गैंडे भी मिलते हैं।

कृषि — कृषि में कपास, कहवा, गन्ना, तंबाकू तथा चाय की उपज महत्वपूर्ण है। अन्य फसलों में केला, मक्का और बाजरा उल्लेखनीय हैं।

उद्योग — खनिज तांबा उत्खनन तथा कपास एवं कहवा संबंधी उद्योग प्रमुख हैं। अन्य उद्योग धंधों के अंतर्गत वस्त्रनिर्माण, सीमेंट, मदिरा, चीनी, लकड़ी चीरने तथा साबुन निर्माण का काम होता है।

जनसंख्या एवं नगर — कुल जनसंख्या ६५,३६,६१६ (१९५९) है। जनसंख्या का औसत घनत्व ८६ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। यहाँ के
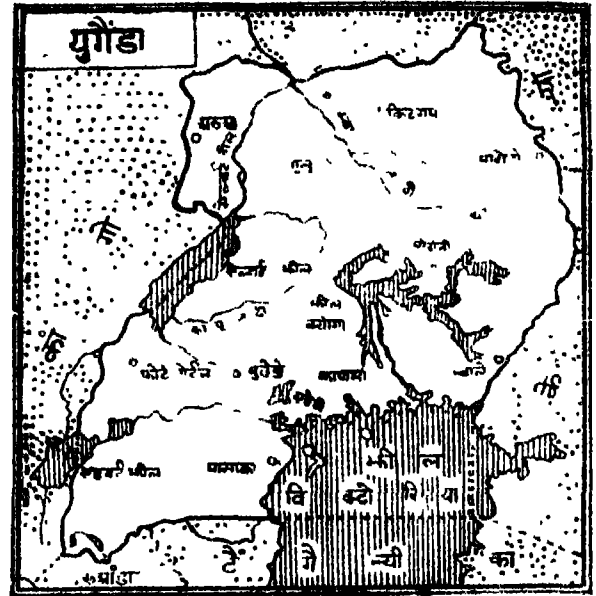
आदिवासी मुख्यतः बंतू उपजाति के हैं। अंग्रेजी राजभाषा है और किसवाहिली (Kiswahili) स्थानीय भाषाओं में प्रमुख है। कंपाला देश की राजधानी एवं प्रमुख व्यापारिक केंद्र है (जनसंख्या १९६३ में अनुमानित : ५०,०००)। जिंजा, मबाले, कबाले तथा एंटीबे अन्य प्रमुख नगर हैं। [रा० ना० मा०]

यूगोस्लाविया स्थिति : ४०° ५१′ से ४६° ५३′ उ० अ० तथा १३° २३′ से २३° २′ पू० दे०। यह ऐड्रिऐटिक सागर के किनारे, बाल्कन प्रायद्वीप के पश्चिम में स्थित, मध्य यूरोप का एक साम्यवादी देश है। इसका क्षेत्रफल ९९,१८१ वर्ग मील है। उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व इसकी अधिकतम लंबाई लगभग ५७५ मील और पूर्व से पश्चिम अधिकतम चौड़ाई लगभग ४०० मील है। इसका समुद्रतट लगभग १,००० मील लंबा तथा हजारों टापुओं से युक्त है। समुद्र की सतह से यहाँ की अधिकतम ऊँचाई ९,३९५ फुट है।

यूगोस्लाविया को तीन मुख्य भौगोलिक प्रदेशों में बाँटा गया है : (क) समुद्रतटीय मैदान, जो ऐड्रिऐटिक सागर के किनारे एक सँकरी पट्टी में विस्तृत है। इसी से लगा हुआ लंबा, सँकरा, समुद्री किनारा है, जिसके समांतर सैकड़ों निम्न टापू स्थित हैं; (ख) पर्वतीय प्रदेश, जो समुद्रतटीय मैदान के पीछे स्थित है। यह अत्यंत ऊबड़ खाबड़ है और देश के आर पार उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व तक फैला है तथा (ग) आंतरिक डैन्यूब घाटी, जो देश का अत्यंत उपजाऊ एवं अधिक जनसंख्यावाला भाग है।

यहाँ अनेक पर्वतश्रेणियाँ हैं, जिनमें डिनैरिक ऐल्प्स, जूलियन ऐल्प्स, करावंकेन ऐल्प्स तथा बलकिट मुख्य हैं। नदियों में डैन्यूब, सावा, मोरावा, द्रावा, वरदार, नरेतवा, ड्राइना तथा तीजा प्रमुख हैं। यूगोस्लाविया में कई झीलें भी हैं।

ऐड्रिऐटिक तट की जलवायु सम है। वर्षा अधिकतर बसंत ऋतु में होती है। दक्षिणी भाग की औसत वार्षिक वर्षा लगभग ६५ इंच है। डैन्यूब घाटी की जलवायु वर्ष भर नम रहती है। गरमी में गरम तथा तर और जाड़े में ठंढी एवं बर्फीली जलवायु रहती है। पर्वतीय प्रदेश की जलवायु शुष्क रहती है। यहाँ सीसा, बौक्साइट, कच्चा ऐलुमिनियम, ताँबा, पारा, जस्ता, क्रोमियम, लोहा, कोयला, सोना, मैंगनीज आदि के खनिज मिलते हैं। यहाँ का १/३ भूभाग जगलों से ढंका है।

पहाड़ी क्षेत्रों में रहनेवाले गड़रिये तथा अन्य लोग जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धांत को मानते हैं परंतु अनुशासन के लिये अपने सरदार के आदेशों का पालन करना अपना धर्म समझते हैं। इनके समाज में पुरुषों का स्थान स्त्रियों से अधिक ऊँचा है। ये लोग बड़े चतुर और परिश्रमी होते हैं। मैदानों के रहनेवाले लोग इनके ठीक विपरीत होते हैं। ये शांतिप्रिय एवं स्त्रियों को सम्मानित पद देनेवाले होते हैं और खेतों अथवा कारखानों में अधिक परिश्रम करते हैं।

यूगोस्लाविया में मुख्यत: तीन भाषाएँ प्रचलित हैं: (क) सेब्रोक्रोटियन (ख) स्लोवेनिन तथा (ग) मैसीडोनियन। इसमें सर्बिया एवं बल्गेरिया दोनों स्थानों के तत्व मिलते हैं। ये सभी भाषाएँ एक दूसरे से समानता रखती हैं परंतु प्रत्येक भाषा की अपनी विशिष्टता है।

कृषि में गेहूँ, जई, जौ, मक्का, तंबाकू, चुकंदर, पटुआ, सन, आलू, चारा आदि यहाँ की प्रमुख उपजें हैं। यहाँ भेड़, बकरियाँ, सूअर अधिक पाले जाते हैं। यहाँ के भारी उद्योग अधिकतर देश के पश्चिमी भागों में केंद्रित हैं। लोहा तथा इस्पात, लकड़ी के सामान, सूती वस्त्र, ऊनी कालीन, चमड़े, लकड़ी तथा धातु की वस्तुएँ, शराब, चीनी आदि बनाने के उद्योग प्रमुख हैं।

मुख्य नगरों को रेलों द्वारा जोड़ा गया है। कुछ अच्छी सड़कों का भी निर्माण हुआ है, जैसे बेलग्रेड—जाग्रेब सड़क। देश के वीरान भागों के यातायात के लिये हवाई जहाजों का उपयोग किया जाता है। यहाँ छोटे बड़े कई आकाशवाणी केंद्र, टेलीफोन, टेलीग्राफ एवं डाक की सेवाएँ चालू हैं। बेलग्रेड यहाँ का सबसे महत्वपूर्ण नगर एवं राजधानी है। इसके अतिरिक्त रियेका (फ्यूम), सारायेवो, ल्यूब्लियाना, नोवीसाद, स्कापिये, स्प्लिट, जाग्रेब आदि यहाँ के अन्य प्रमुख नगर हैं।

यूगोस्लाविया में शिक्षा एक समस्या है। अनेक भाषाएँ होने के कारण सभी जगह एक सी सुविधा प्रदान करना कठिन है। यहाँ भूगोल, इतिहास और विज्ञान की शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता है। यहाँ की कला पर यहाँ की उलझी हुई जातीय तथा धार्मिक पृष्ठभूमि की छाप मिलती है। लोगों में सभी प्रकार के कला कौशल के लिये अच्छा रुझान है। यहाँ अत्यधिक कुशल कारीगर, बुनकर, लकड़हारे, पत्थर तराश, एवं धातु के कारीगर मिलते हैं।

[रा० स० ख०]

यूजेन (सवाय का) (१६६३-१७३६) आस्ट्रिया के फील्ड मार्शल और महान् राजनीतिज्ञ यूजेन का जन्म ८ अक्टूबर, १६६३ को पेरिस में हुआ। वह सवाय के यूजेन मॉरिस का पाँचवाँ लड़का था। फ्रांस के राज्य दरबार में अपनी माता के विरोध के कारण उसने आस्ट्रिया की सेना में नौकरी कर ली। १६८३ में वियना के घेरे और तुर्क विरोधी अभियान में उसको बहुत ख्याति मिली। आस्ट्रिया की सेना के सेनापति के रूप में १६९७ में उसने तुर्कों को बुरी तरह पराजित किया। १७०१ और १७०२ में इटली के अभियान के बाद स्पेन के उत्तराधिकार युद्ध में उसने मित्र सेनाओं का संयुक्त सेनापतित्व किया। ३ अगस्त, १७०४ को तुरिन युद्ध में उसकी सैन्य शक्ति का अद्भुत परिचय मिला। १७१६ और १७१७ के तुर्क विरोधी अभियान में भी उसे बहुत बड़ी सफलता मिली। बाद में अपनी प्रतिभा के बल पर ही वह सम्राट् चार्ल्स षष्ठ का राजनीतिक सलाहकार बना।

यूजेन एक महान् योद्धा और उच्च कोटि का सैनिक अभियान संचालक था। वह कला का संरक्षक और विद्वानों का मित्र था। २१ अप्रैल, १७३६ को अविवाहित अवस्था में उसकी मृत्यु वियना में हुई।

[स० वि०]

यूटोपिया (Utopia) काल्पनिक आदर्श समाज। व्युत्पत्ति के अनुसार यूटोपिया ग्रीक 'यो' (ou=नहीं) तथा 'टोपोज' (topos=स्थान) से बना है, अत: यह पद ऐसे आदर्श समाज का निर्देश करता है जो कहीं नहीं है। अंग्रेजी में इस शब्द के प्रचलन का श्रेय टॉमस मोर (१४७८-१५३५) को दिया जाता है, जिसने अपने आदर्श समाज की कल्पना में प्रस्तुत, १५१६ में प्रकाशित, ग्रंथ का नाम 'यूटोपिया' रखा। अव्यावहारिकता का भाव होने के कारण इस शब्द का कभी कभी अवज्ञा के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, परंतु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यूटोपिया की कल्पना सामाजिक विचारकों एवं सुधारकों के लिये महत्वपूर्ण प्रेरक तत्व रही है। यूटोपियावादी चिंतन में तथा समाजवैज्ञानिक चिंतन में उचित ही भेद किया जाता है, क्योंकि यूटोपियावादी चिंतन एक प्रकार से सामाजिक आदर्शों का मूल्यांकन है, वस्तुस्थिति की व्याख्या नहीं। इस प्रकार के चिंतन में विचारक कभी काल्पनिक आदर्श समाज का साकार चित्र प्रस्तुत करते हुए आदर्श समाज की या सामाजिक एकता की अपनी धारणा का विश्लेषण करता है, और कभी सामाजिक आदर्शों के तार्किक विश्लेषण के द्वारा अपने आदर्श समाज को व्यक्त करता है। परंतु सामाजिक वस्तुस्थिति से यूटोपियावादी चिंतन का घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि यूटोपिया की कल्पना सामाजिक विषमताओं के प्रति विचारक की प्रतिक्रिया ही है। प्लेटो का 'रिपब्लिक' आसानी से पहला यूटोपिया कहा जा सकता है। एथेंस के सामाजिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टता तथा अवसरवादिता, सुकरात की कानूनी निर्मम हत्या, आदि कुछ ऐसे तथ्य थे जिन्होंने प्लेटो को एक ऐसे समाज की कल्पना के लिये प्रेरित किया जहाँ न्याय की व्यवस्था हो। इसी प्रकार मोर का 'यूटोपिया' सामंतवादी इंग्लैंड में नए औद्योगिक समाज के जन्म के समय व्याप्त आर्थिक विषमता, बेकारी तथा कठोर दंडव्यवस्था की प्रतिक्रिया था। (दे० मोर, टामस)। टोमासो कैंपनेला का 'सिविटास सोली' (१६२३) बेकन का 'न्यू एटलांटिस' (१६२७) तथा हेरिंग्टन का 'ओशियाना' (१६५६) १७ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध यूटोपिया ग्रंथ हैं। १८वीं तथा १९वीं शताब्दियों के प्रमुख यूटोपिया-

वादी रोबर्ट ओवेन (१७७१-१८५८), सेंट साइमन (१७६०-१८२५) तथा चार्ल्स फूरियर (१७७२-१८३७) माने जाते हैं। ये सभी विचारक उद्योग तथा विज्ञान पर आधारित समाजवादी समाज की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। आधुनिकतम यूटोपिया की कल्पना हमें गांधी के 'सर्वोदय' तथा विनोबा के 'स्वराज्य शास्त्र' (१९५७) से मिलती है, जिसमें सभ्यता को आर्थिक स्वार्थ के स्थान पर कौटुंबिकता पर आधारित करने की चेष्टा की गई है।

यूदस इसकारियोत ईसा का विश्वासघाती पट्टशिष्य; बाइबिल में १२ पट्टशिष्यों की जो सूचियाँ मिलती हैं, उनमें उसका नाम सदा अंतिम स्थान पर दिया जाता है। यूदस को आशा थी कि ईसा एक पार्थिव मसीह के रूप में प्रकट होंगे। यह देखकर कि ईसा केवल आध्यात्मिक मूल्यों को महत्व देते हैं, यूदस का विश्वास धीरे धीरे ईसा पर से उठ गया। वह बाहरी तौर पर ईसा का शिष्य बना रहता था क्योंकि दान के रूप में ईसा को मिलनेवाले धन की थैली उसके पास थी जिसमें से वह चोरी किया करता था। आर्थिक लाभ के लोभ में पड़कर वह ईसा की गिरफ्तारी में सहायक बना, उसके लिये उसे चाँदी के तीस सिक्के मिले। यूदस ने ईसा को गिरफ्तार करनेवालों से कहा—जिसका मैं चुंबन करूँगा वह है ईसा, उसे पकड़ लेना और सावधानी से ले जाना। तब उसने गेतसेमनी की बारी में अपने गुरु का चुंबन करके उनके साथ विश्वासघात किया। बाद में यह देखकर कि ईसा को क्रूस दंड मिला है पश्चात्तापी यूदस ने याजकों के पास जाकर उन्हें चाँदी के तीस सिक्के लौटाना चाहा। जब याजकों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया तब यूदस उन सिक्कों को मंदिर में पटककर चला गया और उसने फाँसी लगा ली (संत मत्ती का सुसमाचार, अध्याय २६-२७)।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [का० बे०]

यूदावाद बाबिल के निर्वासन से लौटकर इजरायली जाति मुख्य रूप से येरुसलेम तथा उसके आसपास के यूदा नामक प्रदेश में बस गई था, इस कारण इजरायलियों के इस समय के धार्मिक एवं सामाजिक संगठन को यूदावाद (यूदाइज्म) कहते हैं।

उस समय येरुसलेम का मंदिर यहूदी धर्म का केंद्र बना और यहूदियों मसीह के आगमन की आशा बनी रहती थी। निर्वासन के पूर्व से ही तथा निर्वासन के समय में भी यशयाह, जेरेमिया, यहेजकेल और दानिएल नामक नबी इस यूदावाद की नींव डाल रहे थे। वे यहूदियों को याहवे के विशुद्ध एकेश्वरवादी धर्म का उपदेश दिया करते थे और सिखलाते थे कि निर्वासन के बाद जो यहूदी फिलिस्तीन लौटेंगे वे नए जोश से ईश्वर के नियमों पर चलेंगे और मसीह का राज्य तैयार करेंगे।

निर्वासन के बाद एज्रा, नेहेमिया, आग्गे, जाकारिया और मलाकिया इस धार्मिक नवजागरण के नेता बने। ५३७ ई० पू० में बाबिल से जो पहला काफ़िला येरुसलेम लौटा, उसमें यूदावंश के ४०,००० लोग थे, उन्होंने मंदिर तथा प्राचीर का जीर्णोद्धार किया। बाद में और काफिले लौटे। यूदा के वे इजरायली अपने को ईश्वर की प्रजा समझने लगे। बहुत से यहूदी, जो बाबिल में धनी बन गए थे, वहीं रह गए किंतु बाबिल तथा अन्य देशों के प्रवासी यहूदियों का वास्तविक केंद्र येरुसलेम ही बना और यूदा के यहूदी अपनी जाति के नेता माने जाने लगे।

किसी भी प्रकार की मूर्तिपूजा का तीव्र विरोध तथा अन्य धर्मों के साथ समन्वय से घृणा यूदावाद की मुख्य विशेषता है। उस समय यहूदियों का कोई राजा नहीं था और प्रधान याजक धार्मिक समुदाय पर शासन करते थे। वास्तव में याह्वे (ईश्वर) यहूदियों का राजा था और बाइबिल में संगृहीत मूसा संहिता समस्त जाति के धार्मिक एवं नागरिक जीवन का संविधान बन गई। गैर यहूदी इस शर्त पर इस समुदाय के सदस्य बन सकते थे कि वे याह्वे का धर्म तथा मूसा की संहिता स्वीकार करें। ऐसा माना जाता था कि मसीह के आने पर समस्त मानव जाति उनके राज्य में संमिलित हो जायगी, किंतु यूदावाद स्वयं संकीर्ण ही रहा।

यूदावाद अंतियोकुस चतुर्थ (१७५-१६४ ई० पू०) तक शांतिपूर्वक बना रहा किंतु इस राजा ने उसपर यूनानी संस्कृति लादने का प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप मक्काबियों के नेतृत्व में यहूदियों ने उनका विरोध किया था (दे० इजरायल का इतिहास)।

सं० ग्रं० — आई० एपस्टाइन : जूदाइज्म, पेंग्विन, १९५९। [का० बु०]

यूनानी चिकित्सा विज्ञान यूनानी शब्द संस्कृत यवनानी का रूपांतर मात्र है, जो स्वयं यवन शब्द से व्युत्पन्न है। पाणिनि के समय में 'यवनानी' शब्द यवन की स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था। पीछे यह शब्द यवनों की लिपि और यवनों की भाषा के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। प्राचीन काल में ग्रीस देश को यूनान कहते थे और वहाँ के तथा सीरिया के रहनेवालों को यूनानी। संस्कृत ग्रंथों से पता लगता है कि प्राचीन काल में विदेशियों और विधर्मियों को यवन कहते थे। यह शब्द उस समय से प्रचलित है, जब इस्लाम धर्म और मुसलमानों का संसार में कहीं नामोनिशान भी नहीं था। आज यूनानी चिकित्सापद्धति मुसलमानों के हाथ में है। इसके ग्रंथ अरबी, फारसी और अब उर्दू में भी मिलते हैं। प्राचीन यूनानी ग्रंथ ग्रीक और लैटिन भाषाओं में थे। उन्हीं का अनुवाद अरबों ने अपनी भाषा में किया था। अरबों को चिकित्सा का ज्ञान यूनान से ही प्राप्त हुआ था और उसकी प्रतिष्ठा, प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सूचित करने के लिये उन्होंने चिकित्सापद्धति के साथ यूनानी शब्द जोड़ दिया था। अरब वाले इस पद्धति को ही आज अपनी पद्धति मानते हैं। यूनानी पद्धति का आविर्भाव यूनान में हुआ था, जिसकी वृद्धि में अनेक यूनानी दार्शनिकों का, जैसे अस्कलीप्यूस (Ascelepus), बुकरात (Hippocrates), पिथैगोरैस (Pythagoras), अफ्लातून (Plato), अरस्तु (Aristotle) और पीछे इस्कंदरिया के हेरोफिलस (Herophilus), एरासिस्ट्राटस (Erasistratus) और अंत में जालीनूस (Galenus) का सहयोग प्राप्त हुआ था।

कालांतर में यूनानी विद्या का ह्रास होना शुरू हुआ। यूनानी विद्या को रोमनवालों ने ग्रहण कर लिया, पर वे उसका विकास कुछ नहीं कर सके। इस बीच इस्लाम धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। मुसलमान

शासकों ने यूनान के ज्ञानकोश को अरबी ढाँचे में ढाल लिया और उसकी अन्य देशों के ज्ञान विज्ञान एवं विद्याओं से तुलना की। इससे अनेक देशों के ज्ञानभंडार का अरबी भाषा में संग्रह हो गया।

अब अरबी विद्वान् प्रतिलिपि एवं अनुवाद कार्य से विरत होने के उपरांत, ज्ञान विज्ञान के पूर्ण अधिकारी बन गए तथा उनके पास एक ज्ञानकोश संचित हो गया। तब आधिकारिक रूप से इन्होंने इन प्राचीन सिद्धांतों एवं समस्याओं का परिशीलन, विवेचन, मीमांसा और अन्वेषण आरंभ किया और उनके प्रत्येक अंगोपांग में विकास किया। दूसरे शब्दों में यूनानी वैद्यक, अरबी वैद्यक का परिधान धारण करने लगा। अरबी विकास मूल ज्ञानकोश के साथ ऐसा हिल मिल गया कि उसे पृथक् करना दुष्कर एवं दुरूह हो गया।

अरबों के शासन के शांतिकाल में जो वैद्यक ग्रंथ प्रणीत किए गए, वे इतने उच्च कोटि के सिद्ध हुए कि सभी पाश्चात्य और पूर्व देशों के विद्वानों ने ऐसे ग्रंथों को पाठ्य ग्रंथ के रूप में स्वीकृत कर लिया।

यूनान में वैद्यक ज्ञान का प्रसार मिस्र और फीनिशिया द्वारा हुआ। आयुर्वेद का बहुत सा ज्ञान भारत से बौद्ध भिक्षुओं द्वारा, अथवा सीरिया और बैबिलोनिया होकर, मिस्र गया, मिस्र से यूनान गया, अथवा ईरान होकर यूनान गया और वहाँ से अरब और अन्य पश्चात्य देशों में फैला। आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक विज्ञान का आधार भारतीय आयुर्वेद ही है और ऐलोपैथी का मूल मंत्र भारत से ही गया। वस्तुतः आधुनिक ऐलोपैथी में यूनानी और आयुर्वेदीय चिकित्सापद्धति दोनों ही मिले हुए हैं। भारत की चिकित्सापद्धति प्राचीन काल में अधिक समृद्ध और उन्नत थी। चीनी चिकित्सा पद्धति पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव पड़ा देखा जाता है।

यूनानी वैद्यक के आधारभूत सिद्धांत, अरकान अरबआ और अरबलात अरबआ आदि, आर्यवैद्यक में बहुत पहले से स्थिर हो चुके थे और इन्हें चतुर्महाभूत, या पंचमहाभूत और चतुर्दोष, या त्रिदोष आदि नामों से जानते थे। उक्त काल में ही बुकरात, डाइओसकॉरिडोज (Dioscorides) और जालीनूस आदि के ग्रंथों में अनेक भारतीय द्रव्यों तथा सिद्धांतों का ग्रहण हो चुका था। मुबशिशर इब्नफातिक ने मुख्तारुल हुकम में लिखा है 'जब सिकंदर ने दारा पर विजय पाई, तो उसने ईरानियों के समस्त ग्रंथ नष्ट कर दिये, केवल ज्योतिष, दर्शन और वैद्यक के ग्रंथ छोड़ दिए, जिनका उसके आदेश से यूनानीय भाषांतर किया गया।' संभवतः भारत से भी इसी प्रकार वैद्यक विद्या के कोश यूनानियों के हाथ आए हों।

सिकंदर के आक्रमण ने यूनानियों तथा भारतीयों के बीच संबंध पैदा कर दिया था। इस मेलजोल का अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि यूनानियों ने भारतीयों से विविध ज्ञान विज्ञान सीखे। बाद में भी यह संबंध ईरान, सीरिया और इस्कंदरिया से बना रहा। डा० हॉर्न्ले (Hornle) तथा डा० न्यूबर्ग (Neuberg) ने लिखा है कि टीजियेस (Ctesias) और मेगास्थीनीज (Megasthenes) नामक दो यूनानी हकीम ईसवी सन से ४ शती पूर्व ज्ञान की खोज में भारत आए थे। यही कारण है कि उत्तरकालीन यूनानी ग्रंथों में अगणपूरण की भारतीय विधियों का उल्लेख मिलता है। यूनानियों से यूनानी भाषा के ग्रंथों द्वारा यूरोप, एशिया और अफ्रीका की अनेक जातियों ने इस विद्या को सीखा और उसका प्रचलन हर स्थान पर हो गया था।

यूनानी-रूमी-संस्कृति के ह्रास के पश्चात् ज्ञान और विद्या के साथ वैद्यक की धरोहर भी मुसलमानों के हाथ में आई जिन्होंने इसे बलख, बोखारा, तुर्किस्तान, चीन और भारत से लेकर अंदलुस (स्पेन) तक फैलाया। इस्लाम के प्रारंभिक काल में, यद्यपि इसके अभिभावक मुसलमान अवश्य थे, तथापि यह अन्य जातियों के हाथ में रही। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक यूनानी चिकित्सा पद्धति का ईसाई, यहूद, तारापूजक, ईरानी, कुल्दानी (Kelts), मिस्री और सुर्यानी आदि विभिन्न भाषाभाषी जातियाँ जाननेवाली थी। जब इन ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हो गया तब मुसलमानों ने इस विद्या को सीखना आरंभ किया, तब अनेक विश्वविख्यात, हकीमों जैसे राजी और शेख, का प्रादुर्भाव हुआ।

यूनानी चिकित्सा के आधारभूत सिद्धांत निम्नलिखित हैं :

इल्मेतिब (वैद्यक) शास्त्र वह शास्त्र है जिससे मानवशरीर की स्वस्थ तथा अस्वस्थ अवस्थाओं का ज्ञान होता है और यह शास्त्र बताता है कि स्वास्थ्य की रक्षा कैसे की जा सकती है तथा रोगावस्था में रोग का निवारण कैसे हो सकता है। मनुष्य का स्वास्थ्य उन तत्वों की प्राकृतिक और अप्राकृतिक स्थिति पर निर्भर करता है जिनसे मानव शरीर बना है। इन तत्वों को यूनानी चिकित्सक उमूर मुकव्वेमा, या अज्जाइ मुकव्वेमा, कहते हैं। मनुष्य का अस्तित्व इन्हीं तत्वों पर निर्भर है। जब तक ये तत्व अपनी प्राकृतिक अवस्था में रहते हैं, तब तक मानव शरीर अपना कार्य नियमित रूप से करता है। इसी का नाम स्वास्थ्य है। इन मूल तत्वों पर ही मानव प्रकृति की उत्पत्ति निर्भर करती है, यदि इन तत्वों में एक भी न रहे, तो मानव शरीर की स्थिति असंभव हो जायगी।

उमूर तबीइय्या को ही आयुर्वेद में दोष-धातुमल-विज्ञान और ऐलोपैथी में फिज़ियॉलोजी कहते हैं। उमूर तबीइय्या में सात तत्वों का समावेश है : १. अरकान (चतुर्महाभूत); २. मिजाज, या गुण प्रकृति; ३ अखलात, या चतुर्दोष (मानव शरीर के समस्त द्रव उपादान); ४. आजा, या धातु तथा अंग प्रत्यंग एवं स्रोत; ५. अरवाह, या ओज एवं वायु; ६. कुवा, या बल और ७. अफ्आल (शरीरक्रिया या कर्म)। ये ही शरीर के मूल घटक, या उपादान हैं, जिनसे मनुष्य बना है। इल्म मनाफ़ेउल् आजा (क्रिया शारीर ग्रंथों) में इन्हीं पदार्थों का निरूपण हुआ करता है।

यूनानियों ने शरीर के संघटनकारी समस्त पदार्थों को दो प्रधान भागों, द्रव्यभूत और अद्रव्यभूत, में बाँटा है। अद्रव्यभूत घटक द्रव्य नहीं है। यह द्रव्यभूत घटकों के आश्रय से रहनेवाला उनका गुणधर्म है। इन्हें छोड़ देने पर द्रव्यभूत घटक केवल चार ठहरते हैं, जिनमें अरकान द्रव्यभूत घटकों के भी निर्मायक मूलभूत तत्व हैं। इसे छोड़ देने पर केवल तीन द्रव्यभूत घटक, अखलात, आजा और अरवाह रह जाते हैं।

यूनानियों ने शरीर के समस्त संघटनकारी तत्वों का स्वरूप की दृष्टि से तीन वर्गों में बाँटा है. १. वायु रूप समस्त घटक,

अरवाह; २. द्रव रूप समस्त घटक, अख्लात और ३. ठोस रूप समस्त घटक, आज़ा।

शैखुर्रईस ने यूनानी वैद्यक के समस्त प्रतिपाद्य विषयों और उनके अंग प्रत्यंगों का अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ, अल कानून के प्रारंभिक अध्यायों में विशद विवरण दिया है। इस ग्रंथ में यह भी बताया गया है कि हकीम को किन किन विषयों को कितना जानना आवश्यक है तथा किन विषयों में प्रत्यक्ष, अनुभव एवं परीक्षण अपेक्षित है। शेख महोदय कुल्लियात कानून की दूसरी फसल मौजूआत तिब (चिकित्सा के प्रतिपाद्य) में फर्माते हैं :

'चूंकि यूनानी वैद्यक शास्त्र स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य (सेहत एवं ज़वाले सेहत) की दृष्टि से मानव शरीर का निरूपण करता है और प्रत्येक वस्तु का ज्ञान उसी समय पूर्णतया प्राप्त हो सकता है जबकि उस वस्तु के कारण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय, बशर्ते कि उस वस्तु के कारण हों, इसलिये यह आवश्यक है कि यूनानी वैद्यक शास्त्र में स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य (रोग) के हेतु, उनके कारण ज्ञात किए जायें। चूंकि स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य तथा उनके निदान कारण कभी व्यक्त एवं प्रकट होते हैं और कभी अव्यक्त एवं अप्रकट, जो ज्ञानेंद्रियों से ज्ञात नहीं किए जा सकते प्रत्युत उनके ज्ञान के लिये उपद्रव एवं लक्षण के पथप्रदर्शन की अपेक्षा हुआ करती है, इसलिये यह भी अनिवार्य हो गया कि यूनानी वैद्यक शास्त्र मे स्वास्थ्यावस्था एव अस्वास्थ्यावस्था (रोगावस्था) में होनेवाले उन उपद्रवों एवं लक्षणो का उल्लेख किया जाय जिनसे हम स्वास्थ्य एवं अस्वास्थ्य अर्थात् रोग के पहचानने में समर्थ हो जाते है।'

उलूम हकीकिया (जाति तथा धर्म निरपेक्ष) में ऐसा कहा है कि किसी वस्तु का ज्ञान उसके निदान कारणो से प्राप्त होता है। यदि उसके निदान कारण न हों, तो उसके निजी लक्षणों के ज्ञान मे कुछ सीमा तक उसका पता लग जाता है।

यूनानी ग्रंथों में अस्बाब (हैतुकी) के चार भेद बताए गए हैं। ये हैं : अस्बाब माद्दिया, अस्बाब फाएलिया, अस्बाब सूरिया और अस्बाब तमामिया, या गाइया। अस्बाब माद्दिया (समवायिकारण) से स्वास्थ्य एवं रोग अधिष्ठित होते हैं। इसके भी दो उपभेद है : १. सन्निकृष्ट (मौज़ूअ करीब) और विप्रकृष्ट (मौज़ूअ बईद)। सन्निकृष्ट निदान अग प्रत्यंग, ओज एवं वायु है और विप्रकृष्ट निदान चतुर्दोष (अख्लात) और चतुर्महाभूत (अरकान) है। अस्बाब फाएलिया वे कारण हैं, जो मानव शरीर के भीतर परिवर्तन करते हैं, या उनकी रक्षा करते हैं। अस्बाब सूरिया के तीन उपभेद हैं : १ प्रकृति (मिज़ाजात), २ बल (कुवा) और ३. संगठन (तराकीब)। प्रकृति, बल और संगठन के यथावत् रहने से बाह्य स्वास्थ्य पाया जाता है। इन तीनों में से किसी एक के विकृत होने से रोग होता है। अस्बाब तमामिया शरीर क्रियाएँ (अफ़आल) हैं।

सुतरां यूनानी वैद्यक में निम्न विषयों का प्रतिपादन किया जाता है : महाभूत (अरकान), प्रकृति (मिज़ाजात), दोष (अख्लात), अभिश्रावयव (आज़ाए बसीता, मुफरदा), संमिश्रावयव (आज़ाए मुरक्कबा), प्राण और ओज (अरवाह), बल (कुवाए तबइय्या, हैवानिया व नफ्सानिया, शरीर क्रिया वा कर्म (अफ्आल), स्वास्थ्य एवं अस्वास्थ्य और तन्मध्यवर्ती हालात (हालात सालसा), अस्वस्थारुष्ट, या शारीरिक अवस्था में और अधोलिखित निदान कारण खाद्य, पेय, वायु, जल, देश तथा स्थान, संशोधन, स्तंभन, व्यवसाय, स्वभाव, कायिक एवं मानसिक कार्य, अकार्य, विभिन्न वायु, लिंगभेद, शरीर पर आनेवाले अन्य बाह्य विषय (उमूर ग़रीब), स्वास्थ्य संरक्षण, प्रत्येक व्याधि के निवारणार्थ खाद्य एवं पेय की विधि, चेष्टा अचेष्टा (हरकात व सकनात) का अनुमान, औषधसेवन, हस्तकर्म एवं शल्यकर्म से लाभ उठाना। इनमें कुछ तो ऐसे है जिन्हे हकीम को बिना तर्क के मान लेना चाहिए और कुछ ऐसे हैं जिन्हे तर्क और युक्ति से सिद्ध करना होता है।

वैद्यक शास्त्र में कुछ विषय अन्य शास्त्रों से ग्रहण किए गए हैं। ऐसे विषयों का स्वरूप तर्क एवं युक्ति के बिना स्वीकार कर लेना वैद्य के लिये अनिवार्य है। अंग प्रत्यग और उनके कर्म (अफआल) तो ज्ञानेंद्रियों और शवच्छेदन एव शल्यकर्म (तशरीह) से ज्ञात किए जाते हैं।

शेख कहते हैं, जिन विषयों का जानना और जिनको वैद्यक में तर्क एवं युक्ति से सिद्ध करना आवश्यक है, वे रोग, उनके निदान कारण (अस्बाब जुज़्इय्या) और उनके लक्षण हैं तथा यह कि व्याधिका निवारण किस प्रकार किया जाय एवं स्वास्थ्य संरक्षण किस प्रकार हो सकता है। ये विषय ऐसे हैं कि उनमे से जिनका अस्तित्व स्पष्ट एव निश्चित न हो, उनको समय और प्रमाण — वर्णनासह तर्क एवं युक्ति — से विस्तारपूर्वक सिद्ध करना आवश्यक है।

शेख के विवरण से हमे जहाँ यूनानी वैद्यक के समस्त प्रतिपाद्यों एवं सिद्धांतों का संक्षेप मे ज्ञान हो जाता है, वहाँ इस विषय का भी ज्ञान होता है कि इन प्राचीन विद्वानों के पास प्रत्यक्ष ज्ञानार्थ उस प्रारंभिक एवं सरल युग में जो जो उपकरण उपलब्ध थे, उनसे अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य भर काम लेने मे इन औद्योगिकों (जफाकशों) ने कोई बात उठा नही रखी है।

कतिपय सिद्धांतों का बदलना और विभिन्न अन्वेषक का विभिन्न काल में विभिन्न निष्कर्ष पर पहुँचना, एक अबाध नियम है। पाश्चात्य वैज्ञानिक विषयों के संबंध में भी ऐसा सदा ही होता आ रहा है। जो बात एक समय अकाट्य सत्य समझी जाती थी, वह नए साधनों, उपकरणों और खोजों से अनेक बार असत्य प्रमाणित हुई है। प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद भी भूयोदर्शन करनेवालों से भूल होना संभव है, तो इस नियम से प्राचीन विद्वान् भी नहीं बच सकते हैं। अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रकृति के नियमों का अध्ययन एवं निरीक्षण उन्होंने किया। प्रत्यक्ष प्रयोग या अनुभव के बाद कुछ निष्कर्ष स्थिर किए, उनमे से कुछ पीछे के प्रयोगो और अनुभवों से मिथ्या सिद्ध हुए। इससे हम उन प्राचीन विद्वानों को दोष नहीं दे सकते। शैखुर्रईस के अनुसार व्याधि का प्रतिकार हेतुव्याधिविपरीत (बिज्जिद) द्वारा ही किया जाता है। इसे एलाज विज्जिद कहते हैं। यही मूलभूत सिद्धात अन्य चिकित्सा प्रणालियों के भी हैं। [द० सि०]

यूनियन पब्लिक सर्विस कमिशन (केंद्रीय लोकसेवा आयोग) शासन के सामान्य कार्यकारी अधिकार को राजनीतिक दबावों से स्वतंत्र रखने के लिये, भारतीय संविधान में कतिपय अभिरक्षणों का विधान है। यह 'आयोग' उसी अभिरक्षक कोटि की एक संस्था है।

इसके संस्थापन का प्रारंभ उन दिनों हुआ जब १९१९ में तत्कालीन अंग्रेजी शासकों ने भारत के लिये स्वायत्त शासन की आवश्यकता स्वीकार की। ५ मार्च, १९१९ के भारतीय वैधानिक सुधार विषयक प्रथम प्रेषणपत्र में कहा गया :

'अधिकतर राज्यों में, जहाँ स्वायत्त शासन की स्थापना हो चुकी है, इस बात की आवश्यकता अनुभूत की जाती है कि सार्वजनिक सेवाओं को राजनीतिक प्रभावों से सुरक्षित रखना चाहिए, और उसके हेतु एक ऐसा स्थायी कार्यालय स्थापित किया गया है जो विविध सेवाओं का नियंत्रण करता है। हम लोग इस समय भारत में ऐसे सार्वजनिक सेवा आयोग की स्थापना के लिये उद्यत नहीं हैं, परंतु हम देख रहे हैं कि ये सेवाएँ, क्रम से, अधिकाधिक मंत्रियों के नियंत्रण में आती जाएँगी, जिसके कारण यह उचित है कि इस प्रकार की संस्था का आरंभ किया जाय'।

१९१९ के भारतीय शासन विधान मे इस भावना की व्यावहारिक अभिव्यक्ति मिलती है। उसमें एक सार्वजनिक सेवा आयोग की स्थापना का विधान था 'जिसकी सेवाओं के लिये पदाधिकारियों की भर्ती, भारत की सार्वजनिक सेवाओं का नियंत्रण तथा ऐसे अन्य कर्त्तव्य होंगे जिनका निर्देश सपरिषद भारत सचिव करेंगे'। परंतु उस आयोग की स्थापना तत्काल नहीं हुई। १९२३ मे, लॉर्ड ली के नेतृत्व मे, एक 'रॉयल कमिशन' नियुक्त हुआ, जिसको भारत की उच्च सेवाओं के ऊपर विचार एवं विवरण प्रस्तुत करना था। उस कमिशन ने, अपने २७ मार्च, १९२४ के विवरण मे, तत्काल उस लोक सेवा आयोग की स्थापना की आवश्यकता पर विशेष बल दिया, जिसका १९१९ के विधान मे संकेत किया गया था। उसका प्रस्ताव था कि उक्त आयोग के निम्नलिखित चार मुख्य कार्य होंगे :

(१) सार्वजनिक सेवाओं के लिये कर्मचारियों की भर्ती।

(२) सेवाओं में प्रविष्ट होनेवाले व्यक्तियों की योग्यताओं का विधान तथा उचित मान स्थिर करना;

(३) सेवाओं के अधिकारों की सुरक्षा करना तथा नियंत्रण एवं अनुशासन की व्यवस्था करना, जो लगभग न्यायविधान की कोटि का कार्य है।

(४) सामान्य रूप से सेवा संबधी समस्याओं पर परामर्श एवं अनुमति देना।

उस लोकसेवा आयोग की स्थापना १९२६ के अक्टूबर मास में हुई। एक नियमावली बनाई गई जिसमें इस बात का विधान था कि अखिल भारत की प्रथम और द्वितीय श्रेणियों की सेवाओं के, उन प्रतियोगिता परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों के निर्धारण जिनके द्वारा कर्मचारियों का निर्वाचन हो, उक्त सेवाओं के लिये पदोन्नति, अनुशासनीय कार्य, वेतन, भत्ते, पेंशन, प्रॉविडेंट फंड एवं पारिवारिक पेंशन विषय आदि मामलों मे सरकार उससे परामर्श ले। किसी किसी वर्ग विशेष या सभी सेवाओं के नियमाधार तथा छुट्टी आदि के नियमों के प्रश्नों पर भी सरकार उक्त आयोग से परामर्श करेगी।

उक्त नियमावली में आयोग के लिये जो नियम निर्दिष्ट किए गए थे उनका सुधार तथा स्थायीकरण उस 'श्वेतपत्र' के द्वारा हुआ जिसमें वैधानिक सुधारों के लिये ऐसे प्रस्ताव थे जिनके अनुसार प्रत्येक सूबे के लिये भी आयोगों की स्थापना करने का विधान था। उन सभी प्रतियोगिता परीक्षाओं की व्यवस्था करना जिनके द्वारा पदाधिकारियों का चुनाव हो, केंद्रीय तथा सूबे के आयोगों का कर्तव्य बतलाया गया। सरकार को आयोगों से इसका भी परामर्श करना था कि सेवाओं के लिये, किस प्रकार चुनाव के द्वारा नियुक्ति हो, पदोन्नति कैसे की जाय, एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानांतरण कैसे किए जायँ, आदि।

उक्त श्वेतपत्र में यह प्रस्ताव भी किया गया था कि सरकार को आयोगो से निम्न विषयों पर भी परामर्श लेना चाहिए :

(क) अनुशासनीय कार्य;

(ख) यदि किसी पदाधिकारी के विरुद्ध कोई अभियोग चलाया गया हो तो उसके रक्षाविषयक व्यय की सरकार द्वारा पूर्ति।

(ग) समय समय के अधिनियमों के अनुसार उठे हुए अन्य प्रश्न।

१९३५ के भारतीय विधान के परिच्छेद २६६ में, उपर्युक्त प्रस्तावों को स्थायी रूप दिया गया। इसमें लोक सेवा आयोगों के कर्त्तव्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया। यह कहा जा सकता है कि उक्त विधान के द्वारा ही आयोगों की अंतिम एवं स्थायी रूप से रचना की गई थी। आज के केंद्रीय अथवा राज्यो के आयोग का संगठन, रूप एवं आधार, सब उसी पर अवलंबित हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३१५ से ३२३ तक में इसका विवरण है कि आयोगो का कैसे संगठन हो, आयोगों की स्वतंत्रता के हेतु क्या क्या अभिरक्षण हो, और इनके कार्य क्या क्या हैं।

उनका संक्षिप्त वर्णन यह है :

नियम ३१५ के अनुसार एक केंद्रीय लोकसेवा आयोग भारत के लिये और प्रत्येक राज्य का अथवा दो या अधिक राज्यों का एक एक लोकसेवा आयोग होगा। नियम ३१६ के अनुसार, राष्ट्रपति द्वारा केंद्रीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति होगी। सदस्यों में से आधे ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिन्होंने न्यूनतम दस वर्षों तक सरकारी पदाधिकारिता की हो।

सदस्यों की नियुक्ति छह वर्षों के लिये होगी, परंतु ६५ वर्ष की अवस्था होते ही वे अवधि के पूर्व भी पद से अलग हो जाएँगे। किसी सदस्य की पुनर्नियुक्ति नहीं होगी। परंतु भूतपूर्व सदस्य आयोग का अध्यक्ष नियुक्त हो सकता है। अध्यक्ष अथवा सदस्य, अपने पदों से अलग होने पर, फिर केंद्रीय अथवा राज्य सरकारों के किसी पदाधिकार के लिये अधिकारी नहीं होंगे। अध्यक्ष अथवा सदस्यों को अवधिकाल के अभ्यंतर अनाचार के आधार पर, केवल राष्ट्रपति पदों से अलग कर सकते हैं जिसके लिये उन्हें सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) से परामर्श कर लेना चाहिए।

अनुच्छेद ३२० में केंद्रीय सार्वजनिक सेवा आयोग के कर्त्तव्यों का निर्देश है। सारतः वे हैं—भारत सरकार के पदों की नियुक्तियों के अर्थ प्रतियोगिता परीक्षाओं का सचालन, नियुक्तियों के लिये पात्र अभ्यर्थियों को समालाप (इंटरव्यू) के लिये चुनना; सरकार को उन सभी विषयों पर परामर्श देना जिनका संबंध पदनियुक्तियों के अर्थ भर्ती करने से हो अथवा उन सिद्धांतों से हो जिनके अनुसार नियुक्ति, पदोन्नति, पदांतरण किया जाता है; अनुशासनीय कार्यों से

हो, अभ्यर्थियों की युक्तता से हो; पदाधिकारियों की उन व्ययपूर्तियों से हो जो उन्होंने आत्मरक्षार्थ उन अभियोगों में किए हों जो उनके पद संबंधी कर्तव्यपालन से उठे हों, तथा उस राशि के निर्धारण से हो जो पदाधिकारियों को क्षतिपूर्ति के विचार से, कर्तव्यपालन के अभ्यंतर क्षत होने के कारण विशेष पेंशन के रूप में दिया जाना चाहिए। संविधान के ३२१वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति आयोग को, संमति तथा परामर्श के लिये, कुछ अर्धसरकारी नियुक्तियों के विषय भी दे सकते हैं। इस कोटि में दिल्ली म्युनिसिपल कॉरपोरेशन नगर निकाय—के उच्च पद तथा ऐसे अन्य पद संमिलित हैं।

जिन पदों की नियुक्तियाँ स्पष्ट रूप से राष्ट्रपति द्वारा की जाने की हैं, जैसे उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, परराष्ट्र के लिये राजदूत, हाई कमिश्नर आदि, वे उक्त आयोग के कार्यक्षेत्र के बाहर रखे गए हैं। श्रेणी ३ और ४ के अंतर्गत के पद भी इसके कार्यक्षेत्र में नहीं हैं।

प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के पदों की नियुक्तियाँ सामान्यतः इस आयोग के द्वारा ही की जाने की हैं जिन्हें राजपत्रित पद (गजेटेड पोस्ट) कहा जाता है। परंतु ऐसे पदों में से भी उनकी नियुक्तियाँ आयोग के परामर्श के बिना सरकार कर सकती है, जो गोप्य कोटि की हैं अथवा जिनके लिये सरकार के समक्ष विशेष आधार हैं।

श्रेणी १ और २ के पदाधिकारियों के विरुद्ध गंभीर अनुशासनीय कार्यवाही, जैसे पदच्युत करना, पदावनति करना, वेतनवृद्धि के क्रम को रोक देना, आयोग की अनुमति बिना नहीं की जा सकती। उक्त श्रेणी के पेंशन प्राप्त अधिकारी की पेंशन भी आयोग की अनुमति के बिना नहीं रोकी जा सकती। लोकसेवा आयोग के कार्यों तथा कर्तव्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आयोग का मुख्य कार्य केंद्रीय सेवाओं के लिये योग्य व्यक्तियों को भर्ती करना है, जिसके लिये वह प्रतियोगिता परीक्षाओं का संचालन करता है, अभ्यर्थियों का इंटरव्यू करता है और विभिन्न क्षेत्रों के लिये विशेष योग्यता एवं क्षमता की जाँच करता है।

इसके द्वारा प्रमुखतः निम्नलिखित प्रतियोगिता परीक्षाएँ संचालित होती हैं।

(१) आई० ए० एस० तथा एलाइड सेवा परीक्षा (भारतीय प्रशासन सेवा तथा संलग्न सेवा परीक्षा);

(२) संयुक्त (कंबाइंड) इंजीनियरिंग सेवा परीक्षा;

(३) राष्ट्रीय रक्षा विद्यालय, भारतीय सैनिक विद्यालय, सैनिक सेवाओं के लिये दीक्षार्थियों के प्रशिक्षण तथा वायुसेना विद्यालय में प्रविष्ट करने के लिये परीक्षाएँ;

(४) आशुलिपिकारों एवं टंकणकारियों की परीक्षाएँ;

(५) सहायक श्रेणी की परीक्षा तथा

(६) गणक श्रेणी की परीक्षा।

उपर्युक्त परीक्षाओं में आई० ए० एस०—अखिल भारतीय प्रशासन सेवा परीक्षा का विशेष स्थान है, जिसके द्वारा देश के उच्च प्रशासकीय पदों तथा राजपदों के लिये विभिन्न विश्वविद्यालयों के स्नातकों से नवनीत जैसे योग्यतम व्यक्तियों को चुना जाता है। उक्त परीक्षा से लगी हुई इंटरव्यू पद्धति है। लिखित तथा इंटरव्यू दोनों ही का मानदंड बहुत ऊँचा रखा जाता है। इस परीक्षा के लिये वय की अवधि २१ से २४ वर्ष और निम्नतम शिक्षा योग्यता स्नातक होना है।

उपर्युक्त परीक्षाओं के अतिरिक्त सैकड़ों ऐसे पद हैं जिनके लिये केवल इंटरव्यू का प्रयोग किया जाता है। ये ऐसे पद हैं जिनके लिये विशेष प्रकार की योग्यता एवं क्षमता की अपेक्षा होती है, जिसका अनुमान लिखित परीक्षाओं से नहीं किया जा सकता है।

आयोग को वर्ष में लगभग ८०००० आवेदनपत्रों पर कार्य करना पड़ता है और १०००० से १४००० अभ्यर्थियों का इंटरव्यू करना पड़ता है। ४००० से ६००० विभिन्न सरकारी पदों के लिये उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव होता है।

अध्यक्ष के अतिरिक्त आयोग में सात सदस्य होते हैं। चुनाव के कार्यों के लिये विभिन्न क्षेत्रों और विभागों से आयोग विशेषज्ञों को बुलाता है और उनसे अनुमति लेता है। कभी कभी विश्वविद्यालयों तथा अन्य विशेष संस्थाओं का सहयोग भी लिया जाता है।

केंद्रीय लोकसेवा आयोग का ऊपर जो ऐतिहासिक विकास, संगठन, तथा कार्याधिकारों का विवरण दिया गया है उससे दो प्रमुख विषय सामने आते हैं। पहला यह है कि भारतीय क्षेत्र के लिये, जिसमें संघीय प्रदेश भी संमिलित है, अधिकारियों का जो चुनाव होता है, उसमें योग्यता और क्षमता के अतिरिक्त अन्य किसी विचार का प्रभाव नहीं आने पाता। इससे सरकार की प्रजातंत्रीय पद्धति के इस आधारभूत सिद्धांत को कि सभी योग्य नागरिक राजकीय सेवा का अवसर प्राप्त कर सकते हैं, कार्य रूप देने में सुविधा एवं सुगमता मिलती है। इसके होने से नियुक्तियों से विशेष विचार अथवा पक्षपात आदि के दूषणों का निराकरण हो जाता है। इसकी संभावना नहीं रह जाती कि किसी को कोई उच्च पदाधिकार पारितोषिक रूप में अथवा प्रतिफल के रूप में प्रदान कर सके।

दूसरा विषय यह है कि इस आयोग से सभी उच्च पदाधिकारियों को अपने कर्तव्यपालन में सुरक्षा एवं स्थिरता की भावना का लाभ होता है। उन्हें न किसी राजनीतिक दल का, न किसी श्रेष्ठाधिकारी का भय होता है। नियुक्तिकाल से अवकाश के समय पर्यंत वे निर्भयता से अपने कर्तव्यपालन में लगे रह सकते हैं। आयोग उनके नैतिक बल का प्रेरक और प्रतीक है।

यही नहीं, आयोग प्रजातंत्रीय शासन पद्धति का अडिग नैतिक आधार है। उसके सभी सत्यों और न्यायों का यह जैसे स्रोत है वैसे व्यावहारिक साधन भी है। इसके द्वारा प्रजातंत्र को समत्व एवं न्यायकारिता की विशिष्टता मिलती है, जो उसको स्वेच्छाचारी राजतंत्र से श्रेष्ठ प्रमाणित करता है।

लोकसेवा आयोग विधानतः परामर्शदाता मात्र है, परंतु व्यवहार में सरकार इसके निर्णयों को सदा स्वीकार करती है। जब किसी विशेष कारण से सरकार आयोग की किसी संस्तुति को अस्वीकार करती है, तो उसके लिये संविधान के अनुच्छेद ३२३ के अनुसार, उसको संसद् के सामने समाधान करना पड़ता है। इस प्रकार 'आयोग' सरकार को असत् एवं न्यायविहीन स्वेच्छाचारिता से मुक्त रखने का एक प्रबल साधन है। प्रजातंत्रीय शासन के कौशल का यह अचल स्तंभ ही नहीं अपितु अनिवार्य अंग है। [रा० प्र० पां०]

यूनुस एमरा (सन् १२४९–१३२१ ई०) तुर्की का एक प्रसिद्ध सूफी कवि। इसका जन्म तुर्की में सारीकुवे नामक कस्बे में हुआ था, जो एसकी शहर के पास स्थित है। अपने आरंभिक जीवनकाल में वह साधारण किसान था और खेती बारी करता था किंतु उसे 'तसव्वुफ़' (सूफी भावना) से प्रेम हो गया तथा तुर्की के प्रसिद्ध सूफी हाजी बेक्ताश और तापतूक एमरा के सत्संग से वह पक्का सूफी बन गया। एशियाई कोचक, शाम, आज़र बाईजान आदि के यात्राकाल में उसकी भेंट मौलाना जलालुद्दीन रूमी से भी हुई, जो मौलवी परंपरा का प्रवर्तक था। वह हज्ज की इच्छा से मक्का भी गया। यूनुस एमरा तुर्की के हर स्तर के लोगों में प्रिय है। इस पर भी उसके जीवनवृत्त संबंधी बहुत सी बातों का अनुसंधान होना अभी बाकी है। तुर्की प्रजातंत्र में लगभग १० कब्रें ऐसी हैं जो यूनुस एमरा से संबद्ध कही जाती हैं पर अभी तक निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इनमे कौन वस्तुत: उसकी है, यद्यपि कुछ तुर्क अन्वेषकों का कहना है कि उसकी वास्तविक कब्र उसी स्थान पर है जहाँ वह पैदा हुआ था।

यूनुस एमरा का परिगणन तुर्की भाषा के उच्च कोटि के कवियों में होता है। नई खोजों ने प्रमाणित कर दिया है कि उसने नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त की थी। उसके शैरों से भी स्पष्ट पता चलता है कि वह न केवल कुरा, हदीस, तफसीर (व्याख्या) तथा फिलसफा (तत्वज्ञान) का विद्वान् और अरबी तथा तुर्की का पंडित था प्रत्युत यूनानी विद्याओं तथा गुणों का भी ज्ञाता था। उसी प्रभाव से उसने एक मसनवी 'रिसालतुन्नुस्हिय.' और बहुत सी गजलें अरबी तथा फारसी वजनों अर्थात् छंदों मे लिखी हैं और अपनी कविता में अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। यों उसके दीवान का विशेषांक लोकगीतों के बहरे हिजाई पर आधारित है जो ईरानी प्रभाव के कारण तुर्की काव्यक्षेत्र से एक बड़ी सीमा तक उठ गई थी। बहरे हिजाई के साथ ही साथ उसने अपनी कविता में भाषा भी बोलचाल की ही प्रयुक्त की है। इस प्रकार उसका कौशल हर दृष्टि से जनसाधारण का रहा है और शुद्ध तुर्की कौशल है। तुर्की में यूनुस एमरा ही के शेरों के कारण जनसाधारण की भाषा के प्रयोग तथा हिजाई बाहर में कविता लिखने की प्रथा चल पड़ी और उन विभिन्न परंपराओं के सूफियों तथा प्रसिद्ध कवियों ने, जो बाद की शतियों में एशियाई कोचक में पैदा हुए, यूनुस एमरा ही की शैली पर लोककविताएँ कीं, जिसमें वे जनसाधारण पर अपना प्रभाव डाल सकें।

सं० ग्रं० — ए हिस्ट्री ऑव ऑटोमन पोएट्री—गिब कृत; यूनुस एमरा–ए, गोलपेनार्ब (इस्तंबोल, १९५४)। [न० अ० अ०]

यूरिया (Urea) या कार्बेमाइड, नाहा$_2$.काम्रो नाहा$_2$ (NH_2-$CO.NH_2$), नामक यौगिक का आविष्कार १७७३ ई० में रूएल (Rouelle) ने किया। यूरिया स्तनधारियों, पक्षियों और कुछ सरीसृपों के मूत्र में पाया जाता है। मनुष्य के मूत्र से लगभग ३० ग्राम यूरिया प्रति दिन निकलता है। वलर (Wohler) द्वारा इसका अमोनियम साइआनेट के तापन से संश्लेषण कार्बनिक रसायन के इतिहास में युगप्रवर्तक घटना थी।

निर्माण — प्राविधिक रूप में इसे पोटैशियम साइनेट और अमोनियम सल्फेट के तापन से बनाया जाता है

(नाहा$_4$)$_2$गंग्रो$_4$ + २पोकानाग्रो ——→

नाहा$_2$काम्रोनाहा$_2$ + पो$_2$गंग्रो$_4$

$$[(NH_4)_2SO_4 + 2KCNO \longrightarrow NH_2CONH_2 + K_2SO_4]$$

व्यापारिक मात्रा मे इसका निर्माण द्रवीकृत कार्बन डाइऑक्साइड और अमोनिया को उच्च दाब की स्थिति में तापित करके किया जाता है।

काम्रो$_2$ + २नाहा$_3$ —(२००° सें०; १,५००–३,००० प्रति वर्ग इंच)→

नाहा$_2$. काम्रोम्रोनाहा$_4$ ——→ नाहा$_2$काम्रोनाहा$_2$ + हा$_2$ म्रो

$$[CO_2 + 2NH_3 \xrightarrow[1500-3000 \text{ per sq inch}]{200^\circ C.} NH_2.COONH_4 \longrightarrow NH_2CONH_2 + H_2O]$$
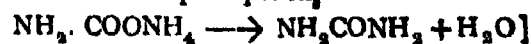
उत्प्रेरक के रूप में, थोरियम ऑक्साइड की उपस्थिति में, यह अभिक्रिया सामान्य दाब और ५००° सें० ताप पर होती है।

११०°–११५° सें० ताप पर साइऐनेमाइड, या कैल्सियम साइऐनेमाइड, पर सल्फ्यूरिक, नाइट्रिक या फास्फोरिक अम्ल की उपस्थिति में पानी की क्रिया से पर्याप्त मात्रा मे यूरिया प्राप्त होता है :

नाहा$_2$काना + हा$_2$म्रो —(०·५ भाग हा$_2$गंम्रो$_4$; ११०–११५ (दाब))→ काम्रो (नाहा$_2$)$_2$ (८०%)

$$[NH_2CN + H_2O \xrightarrow[110-115 \text{ (pressure)}]{0\cdot5 \text{ parts } H_2SO_4} CO(NH_2)_2 (80\%)]$$

कैनाकाना + हा$_2$म्रो —(१०% हा$_2$गंम्रो$_4$; ५०° सें० पर)→ काम्रो(नाहा$_2$)$_2$ + कैगंम्रो$_4$

$$[CaNCN + H_2O \xrightarrow[\text{at } 50^\circ C.]{10\% H_2SO_4} CO(NH_2)_2 + CaSO_4]$$
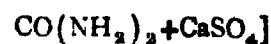
यूरिया को अमोनिया तथा फासजीन (phosgene), या एथिल कार्बोनेट, या एथिल कार्बेमेट (ethyl carbamate) द्वारा तैयार किया जा सकता है तथा एकमात्र अमोनियम कार्बोनेट के तापन से भी प्राप्त किया जा सकता है।

यह रंगहीन, चतुष्कोणीय प्रिज्म के रूप में क्रिस्टलित होता है और १३२·७° सें० पर पिघलता है। यह ऐल्कोहॉल और पानी दोनों में विलेय है और चखने पर जीभ में तरावट उत्पन्न करता है।

यौगिक — दुर्बल क्षार होने के कारण यूरिया नाइट्रिक और ऑक्सेलिक अम्लों के साथ लवण बनाता है :

(ना हा$_2$)$_2$काम्रो + हानाम्रो$_3$ → (नाहा$_2$)$_2$. काम्रोहानाम्रो$_3$

$$[(NH_2)_2CO + HNO_3 \longrightarrow (NH_2)_2CO.HNO_3]$$

(नाहा₂)₂ कार्बो + (कार्बो ओहा)₂ ⟶
(नाहा₂)₂ कार्बो, (कार्बो ओहा)₂

$[(NH_2)_2CO + (COOH)_2 \longrightarrow (NH_2)_2CO.(COOH)_2]$
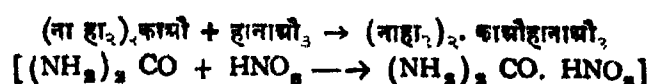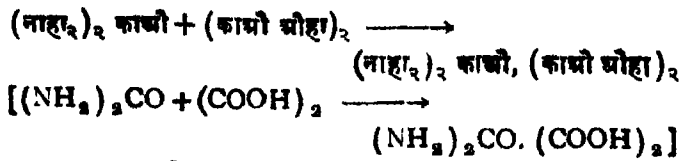
सधूम सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ यह सल्फैमिक अम्ल (sulphamic acid) बनाता है :

कार्बो(नाहा₂)₂+हा₂गं ओ₄+गंओ₃ ⟶ २ नाहा₂. गंओ₃. हा+कार्बो₂

$[CO(NH_2)_2 + H_2SO_4 + SO_3 \longrightarrow 2NH_2.SO_3.H + CO_2]$
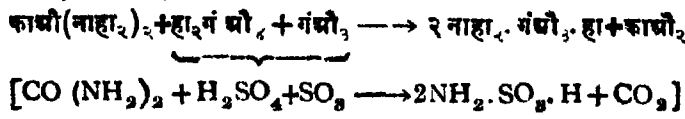
पारद के साथ यह निम्नलिखित यौगिक बनाता है :

नाहा. पाओहा — ओका — नाहा. पाना ओ₃

$\begin{bmatrix} NH.HgOH \\ | \\ OC \\ | \\ NH.HgNO_3 \end{bmatrix}$
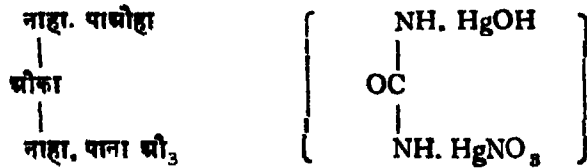
तनु अम्ल, या क्षार के साथ तापन करने, या यूरिएस (urease) से, जो सोयाबीन एंजाइम है, बिना तापन के यूरिया कार्बन डाइऑक्साइड और अमोनिया में जल अपघटित (hydrolysed) हो जाता है।

(नाहा₂)₂कार्बो + हा₂ओ ⟶ २ नाहा₃ + कार्बो₂

$[(NH_2)_2CO + H_2O \longrightarrow 2NH_3 + CO_2]$
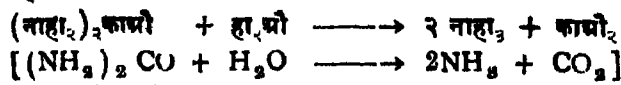
ऐसिड क्लोराइडों और यूरिया की अभिक्रिया से यूरीड (ureides) बनते हैं :

(नाहा₂)₂ कार्बो + काहा₃ कार्बो क्लो ⟶
काहा₃ कार्बो नाहा.कार्बो. नाहा₂ + हाक्लो
ऐसिटिल यूरिया

$[(NH_2)_2CO + CH_3.COCl \longrightarrow CH_3CO.NH.CONH_2 + HCl$

(नाहा₂)₂कार्बो + (कार्बो क्लो | कार्बो क्लो) ⟶ (नाहा-ओका | ओका | नाहा-ओका) + २ हाक्लो
ऑक्सेलिल यूरिया

$\left[(NH_2)_2CO + \begin{matrix} COCl \\ | \\ COCl \end{matrix} \longrightarrow \begin{matrix} NH\text{-}OC \\ | \\ OC \\ | \\ NH\text{-}OC \end{matrix} + 2HCl\right]$
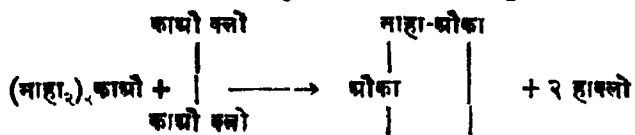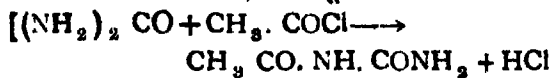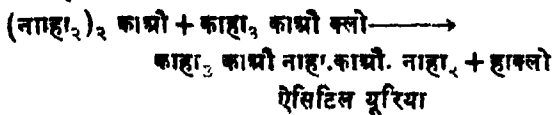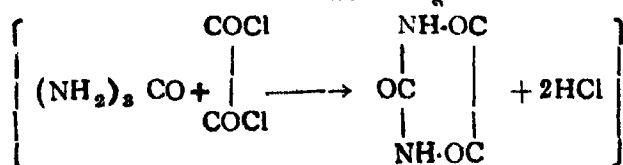
चक्रीय यूराइड मिलते हैं जबकि द्विक्षारकी (dibasic) अम्ल, या उनके एस्टर यूरिया के साथ क्रिया करते हैं, उदाहरणार्थ यूरिया और ऑक्सेलिक अम्ल की क्रिया से ऑक्सेलिल यूरिया बनता है और यूरिया तथा मेलोनिक एस्टर की क्रिया से बारबिट्यूरिक अम्ल बनता है।

(नाहा₂)₂ कार्बो + काहा₂ (कार्बो ओका₂ हा₅ | कार्बो ओका₂ हा₅) ⟶ (नाहा-ओका | कार्बो | नाहा.ओका) काहा₂ + २का₂हा₅ओहा

मेलोनिक एस्टर — बारबिट्यूरिक अम्ल

$\left[(NH_2)_2CO + CH_2\begin{matrix} COOC_2H_5 \\ | \\ COOC_2H_5 \end{matrix} \longrightarrow CO\begin{matrix} NH\text{-}OC \\ \\ NH\text{-}OC \end{matrix}CH_2 + 2C_2H_5OH\right]$
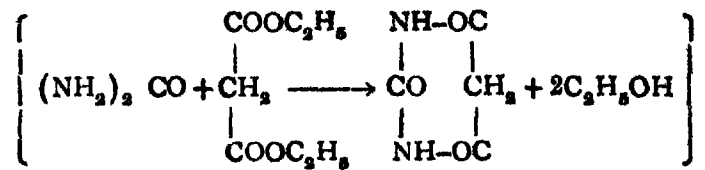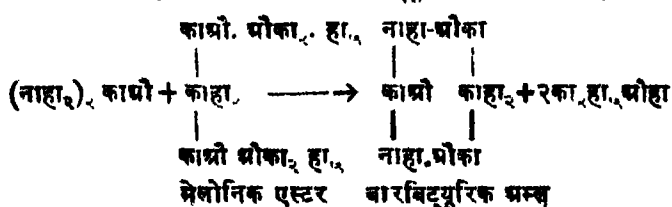
नाइट्रस अम्ल यूरिया को नाइट्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड और पानी में विघटित कर देता है। सोडियम हाइपोब्रोमाइट और हाइपोक्लोराइट यूरिया को विघटित करके सोडियम ब्रोमाइड और क्लोराइड बनाते हैं। यूरिया के परिमाणात्मक आकलन में इस अभिक्रिया का उपयोग किया जाता है।

यूरिया को कम ताप पर गरम करने से बाइयुरेट और तीव्र तापन से सायनिक और सायनयूरिक अम्ल मिलते हैं।

२ नाहा₂.कार्बो. नाहा₂ —(१५०° सें०, −नाहा₃)⟶ नाहा₂ कार्बो — नाहा.कार्बो — नाहा₂

$[2NH_2.CO.NH_2 \xrightarrow[-NH_3]{150^\circ C.} NH_2CO\text{-}NH.CO\text{-}NH_2]$

(नाहा₂)₂ कार्बो —(तीव्र तापन)⟶ नाहा₃ + हाका नाओ

$[(NH_2)_2CO \xrightarrow{\text{strong heating}} NH_3 + HCNO]$

३ हाका. नाओ —(बहुलकीकरण)⟶ (हाका. नाओ)₃

$[3HC.NO \xrightarrow{\text{polymerisation}} (HC.NO)_3]$
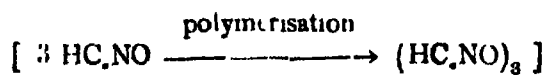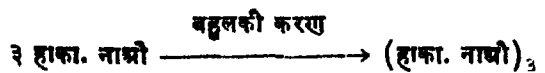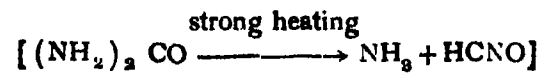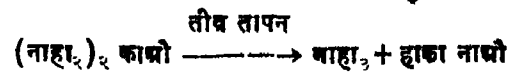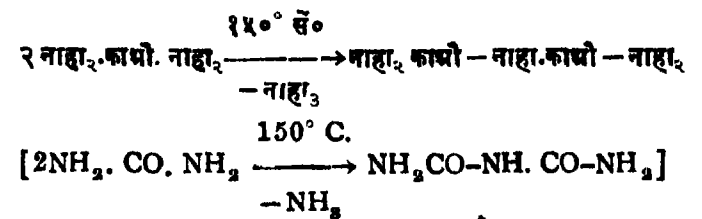
यूरिया अनेक ऐलिफेटिक आणविक यौगिक बनाता है, जो प्रायः नॉनस्टॉइकायोमेट्रिक (nonstoichiometric) होते हैं, यद्यपि सक्सिनिक, ऐडिपिक अम्ल के साथ इसके स्टॉइकायोमेट्रिक आणविक यौगिक भी ज्ञात हैं। इनमें से कुछ विलयन में भी स्थिर हैं।

उपयोग — उर्वरक के रूप में इसका उपयोग व्यापक है। इसमें नाइट्रोजन की प्राप्यता ४७ % है। रबर के पौधों के लिये इसका उपयोग अमोनियम लवणों और सोडियम नाइट्रेट की अपेक्षा अधिक फलदायक है। चिकित्सा में मूत्रल (diuretic) के रूप में इसका उपयोग किया जाता है। अनेक शमक (sedatives) और निद्राकारियों (hypnotics) में, जैसे वेरोनल, प्रोपोनल, डाइऐल्यूमिनल, ऐडेलाइन और ब्रोमिनल यूरिया से निर्मित होते हैं। उद्योग में यूरिया फॉर्मेल्डिहाइड रेज़िन (यूरिया और फ़ार्मेल्डिहाइड का संघनन उत्पाद) के निर्माण के लिये यूरिया का उपयोग होता है। आसंजक (adhesives) के रूप में शिकनरोक (crease resistant) वस्त्रों के निर्माण में और वार्निशों तथा लैकरों (lacquers) के अवयवों के बनाने में इन रेज़िनों का उपयोग होता है। यूरिया का उपयोग तेल और वसा रसायन में होता है, क्योंकि यह वसीय अम्लों के साथ यूरिया संकर (complex) बनाता है। [मो० उ० क़ा०]

यूरेनस (Uranus) सूर्य से दूर सातवाँ ग्रह है। 'आविष्कार' किए गए ग्रहों में यह पहला है। जिन ग्रहों को लोग प्राचीन काल से

जानते चले आ रहे थे उनके 'आविष्कार' की आवश्यकता ही नहीं थी। सर विलियम हर्शेल (Sir William Herschell) ने १७८१ ई० में इसका अन्वेषण किया। इसके अस्तित्व की संभावना पहले से नहीं थी, अतः इसका आविष्कार आकस्मिक है।

इंग्लैंड के नरेश, जार्ज तृतीय, के आदर में हर्शेल ने इसका नाम जॉर्जियम साइडस (Georgium sidus) रखा, किंतु यूरोप के अन्य देशों में यह नाम स्वीकृत नहीं हुआ। अलबत्ता कुछ दिनों तक इसका हर्शेल नाम ही प्रचलित रहा। पर बाद मे अन्य ग्रहों के समान इसके लिये पौराणिक नाम यूरेनस दुनिया भर में स्वीकार किया गया।

दूरदर्शी के बिना दर्शनीय, पाँच ग्रहों के जैसे परंपरागत भारतीय नाम हैं वैसा यूरेनस का कोई नाम नही है। कुछ लोगों ने अरुण नाम सुझाया है।

यूरेनस एक विशाल ग्रह है, जिसका व्यास लगभग २९,३०० मील और सूर्य से दूरी १७८ करोड़ मील है। यह ४ मील प्रति सेकंड वेग से ८४ वर्षों मे सूर्य की एक परिक्रमा करता है। इसका घूर्णनकाल ११ घंटों से कुछ कम है। इसके पाँच उपग्रह ज्ञात हैं। [र० स०]

यूरेनियम (Uranium) आवर्त सारणी की एक अंतर्वर्ती श्रेणी, ऐक्टिनाइड श्रेणी (actinide series), का तृतीय तत्व है। इस श्रेणी मे आंतरिक इलेक्ट्रॉनीय परिकक्षा (५ परिकक्षा) के इलेक्ट्रॉन स्थान लेते हैं। प्रकृति में पाए गए तत्वों में यह सबसे गुरु तत्व है। कुछ समय पहले तक इस तत्व को छठे अंतर्वर्ती समूह का अंतिम तत्व माना जाता था। यूरेनियम के समस्थानिक और इनकी अर्धजीवन अवधियाँ निम्नांकित हैं :

समस्थानिक	अर्धजीवन अवधि	मुक्त कण	स्रोत
यूरेनियम२३८	$४·५१ \times १०^{९}$ वर्ष	ऐल्फा कण	प्राकृतिक
यूरेनियम२३५	$७·०७ \times १०^{८}$ वर्ष	ऐल्फा कण	प्राकृतिक
यूरेनियम२३४	$२·३५ \times १०^{५}$ वर्ष	ऐल्फा कण	प्राकृतिक
यूरेनियम२३९	२३ मिनट	बीटा कण	कृत्रिम
यूरेनियम२३७	६·८ दिन	बीटा कण	कृत्रिम
यूरेनियम२३३	$१·६२ \times १०^{५}$ वर्ष	ऐल्फा कण	कृत्रिम
यूरेनियम२३२	७० वर्ष	ऐल्फा कण	कृत्रिम
यूरेनियम२३१	४·२ दिन	के इलेक्ट्रॉन ग्रहण	कृत्रिम
यूरेनियम२३०	२०·८ दिन	ऐल्फा कण	कृत्रिम
यूरेनियम२२९	५८ मिनट	के इलेक्ट्रॉन ग्रहण	कृत्रिम
यूरेनियम२२८	९·३ मिनट	ऐल्फा कण	कृत्रिम

प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त यूरेनियम में २३८ समस्थानिक ९९·२८ प्रति शत, २३५ समस्थानिक ०·७१ प्रति शत और २३४ समस्थानिक ०·००६ उपस्थित रहते हैं।

इतिहास — यूरेनियम तत्व की खोज १७८९ ई० में क्लाप्रोट (Klaproth) द्वारा पिचब्लेंड नामक अयस्क से हुई। उसने नए तत्व का नाम कुछ वर्ष पहले ज्ञात यूरेनस ग्रह के आधार पर यूरेनियम रखा। इस खोज के ५२ वर्ष पश्चात् पेलीगाट ने १८४१ ई० में यह प्रदर्शित किया कि क्लाप्रोट द्वारा खोजा गया पदार्थ यूरेनियम तत्व न होकर यूरेनियम ऑक्साइड था। पेलीगाट ने यूरेनियम टेट्राक्लोराइड के पोटैसियम (K) द्वारा अपचयन से यूरेनियम धातु तैयार की।

१८९६ ई० में हेनरी बेक्वरेल ने यूरेनियम में रेडियो ऐक्टिवता की खोज की। उसके अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि यह गुण यूरेनियम के सब यौगिकों में तथा कुछ अन्य अयस्को मे भी वर्तमान है। इन निरीक्षणों के फलस्वरूप ही पिचब्लेंड अयस्क से रेडियम की ऐतिहासिक खोज संभव हो सकी थी।

उपस्थिति — यूरेनियम पृथ्वी की संपूर्ण ऊपरी सतह पर फैला है। ऐसा अनुमान है कि पृथ्वी की पपड़ी मे यूरेनियम की मात्रा लगभग $१०^{१४}$ टन है। इस प्रकार इसकी मात्रा लगभग १ ग्राम शैल में ४×१०^{-६} होगी। इसकी मात्रा अम्लीय शैल (जैसे ग्रैनाइट) में अधिक और क्षारीय शैल (जैसे बेसाल्ट) में कम रहती है। समुद्री जल में भी यूरेनियम उपस्थित है, यद्यपि समुद्री जल में इसकी मात्रा शैल मे उपस्थित मात्रा का $\frac{१}{२०००}$ वाँ भाग है। इतने विस्तार से फैले होने के पश्चात् भी इसके केवल दो मुख्य अयस्क ज्ञात हैं, एक पिचब्लेंड और दूसरा कॉर्नोटाइट। पिचब्लेंड गहरे नीले काले रंग का अयस्क है, जिसमे यूरेनियम ऑक्साइड, $यू_{३} औ_{८}$ (U_3O_8), उपस्थित रहता है। कॉर्नोटाइट मुख्यत. पोटैसियम और यूरेनियम का जटिल वैनेडेट, $पो_{२}यू_{२}वै_{२}औ_{१२}.३ हा_{२}औ$ ($K_2U_2V_2O_{12}, 3H_2O$) ज्ञात होता है। पिचब्लेंड अयस्क के मुख्य निक्षेप कांगो, अफ्रीका तथा कैनाडा में हैं। इनके अतिरिक्त चेकोस्लोवाकिया, ऑस्ट्रेलिया अमरीका, पूर्वी अफ्रीका, इंग्लैंड मे भी यह अयस्क मिलता है। कॉर्नोटाइट अमरीका तथा ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारत के बिहार प्रदेश में यूरेनियम के अयस्को की खोज हुई है।

यूरेनियम अयस्क पर अम्ल द्वारा अभिक्रिया करने से यूरेनियम घुल जाता है। तत्पश्चात् सोडियम कार्बोनेट तथा अन्य यौगिकों की अभिक्रिया से अशुद्धियाँ दूर की जाती है। अंत में यूरेनियम ऑक्साइड, $यू_{३} औ_{८}$ (U_3O_8) बनता है। ऑक्साइड का कार्बन द्वारा भट्ठी में अपचयन हो सकता है। इस प्रकार प्राप्त धातु में अशुद्धियाँ रह जाती हैं। विशुद्ध यूरेनियम कैल्सियम धातु द्वारा यूरेनियम फ्लोराइड के अपचयन से प्राप्त होता है।

गुणधर्म — यूरेनियम चमकदार श्वेत रंग की धातु है। इसका संकेत यू (U), परमाणु संख्या ९२, परमाणु भार २३८·०३, गलनांक १,१३०° सें०, क्वथनांक अनुमानित ३,५००° सें०, घनत्व १९·०५ ग्राम प्रति घन सेंमी०, विद्युत् प्रतिरोधकता $३२·७६ \times १०^{६}$ ओह्म् सेंमी० तथा क्रिस्टल संरचना त्रिदिक पार्श्व, कमरे के ताप पर।

यूरेनियम सक्रिय तत्व है। चूर्ण अवस्था में यह स्वतः वायु में जल सकता है। इसके द्वारा जल का विघटन होकर हाइड्रोजन मुक्त होता है। यह ऑक्सीजन से १७०° सें०, क्लोरीन से १८०° सें०, ब्रोमीन से २१०° सें०, आयोडीन से २६०° सें० और हाइड्रोजन से २५०° सें० पर क्रिया कर यौगिक बनाता है। इनके अतिरिक्त यूरेनियम नाइट्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनोऑक्साइड एवं अनेक गैसों से अभिक्रिया करता है। अम्लों से क्रिया कर यूरेनियम के त्रिसंयोजक एवं चतुस्संयोजक यौगिक बनते हैं तथा हाइड्रोजन मुक्त होती है।

यूरेनियम की ५ संयोजकताएँ हैं। इसकी मुख्य संयोजकताएँ ४ और ६ हैं। यूरेनियम के लवण बड़ी सरलता से जटिल आयन बनाते हैं।

यौगिक — इसके निम्नलिखित यौगिक हैं :

यूरेनियम ऑक्साइड — यूरेनियम के पाँच ऑक्साइड ज्ञात हैं।

यदि किसी यूरेनियम ऑक्साइड का ७००° सें० ताप पर वायु में दहन किया जाय तो यू$_3$ औ$_8$ (U_3O_8) बनता है। यूरेनिल नाइट्रेट के ३००° सें० पर ऊष्मा विघटन से यू औ$_3$ (UO_3) का निर्माण होगा। यू औ$_3$ (UO_3) के अनेक क्रिस्टलीय रूपांतरण (crystal modifications) हैं। यदि ५००° सें० ताप पर यू औ$_3$ (UO_3) का हाइड्रोजन द्वारा अपचयन किया जाय, तो यू औ$_2$ (UO_2) बन जायगा। यूरेनियम के समस्त ऑक्साइड नाइट्रिक अम्ल में घुलकर यूरेनिल नाइट्रेट बनाते हैं।

यूरेनियम हाइड्राइड — यूरेनियम धातु हाइड्रोजन से लगभग २५०° सें० ताप पर क्रिया कर यूरेनियम हाइड्राइड, यू हा$_3$ (UH_3), बनाता है। अधिक ताप पर इस हाइड्राइड का विघटन हो जाता है। यूरेनियम हाइड्राइड के उच्च ताप पर विघटन से चूर्ण यूरेनियम प्राप्त होता है। इस कारण इस हाइड्राइड द्वारा क्रियाशील यूरेनियम चूर्ण बनाया जाता है।

यूरेनियम कार्बाइड — यूरेनियम के दो कार्बाइड ज्ञात हैं। ये कार्बन और द्रव यूरेनियम की अभिक्रिया द्वारा बनाए जाते हैं। कार्बन मोनोऑक्साइड और यूरेनियम धातु की उच्च ताप पर अभिक्रिया द्वारा भी यह बन सकते हैं।

यूरेनियम नाइट्राइड — नाइट्रोजन के साथ प्रतिक्रिया कर यूरेनियम अनेक यौगिक बनाता है, जिनमे सबसे सरल यूरेनियम मोनोनाइट्राइड, यू ना (UN) है।

यूरेनियम हैलाइड — यूरेनियम अनेक हैलाइड बनाता है। इसके सात फ्लोराइड, चार क्लोराइड, दो ब्रोमाइड और दो आयोडाइड ज्ञात हैं।

यूरेनियम के अन्य हैलाइड यौगिक तत्वों की अभिक्रिया, अथवा हाइड्राइड पर हैलोजन अम्ल की क्रिया, द्वारा बनाए जा सकते हैं।

उपयोग — नाभिक ऊर्जा युग के पहले यूरेनियम के अधिक उपयोग न थे। इसका उपयोग कुछ विशेष प्रकार के तंतुओं में होता था। इसके लवण रेशम को रँगने का कार्य करते हैं। सोडियम डाइयूरेनेट का उपयोग पोर्सलीन के बरतनों को रँगने मे हुआ है।

परमाणु ऊर्जा प्रयोगों के कारण यूरेनियम अत्यधिक उपयोगी तत्व हो गया है। इसका उपयोग नाभिक शृंखला प्रतिक्रिया मे हुआ है। इस क्रिया में २३५ भार संख्या वाला समस्थानिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। अनियंत्रित अवस्था में इस क्रिया द्वारा भयंकर विस्फोट हो सकता है, जैसा कि परमाणु बमों में हुआ है, परंतु नियंत्रित रूप में यह परमाणु रिऐक्टर (atomic reactor) चलाने के काम आता है। कुछ रिऐक्टरों में साधारण यूरेनियम (जिसमें २३५ समस्थानिक ०·७१ प्रति शत हो) उपयोग में लाया जाता है, परंतु अनेक रिऐक्टरों में समृद्ध यूरेनियम (enriched uranium) काम मे लाते हैं। इसमे २३५ समस्थानिक का प्रति शत बढ़ा देते हैं। इन क्रियाओं में यूरेनियम नाभिक के न्यूट्रॉन का आक्रमण द्वारा विखंडन (fission) हो जाता है और न्यूट्रॉन भी मुक्त होते हैं, जिनसे शृंखला चलती है।

${}_{९२}$यूरेनियम^{२३५} + न्यूट्रॉन → विखंडित पदार्थ + न्यूट्रॉन + ऊर्जा

साथ में उपस्थित यूरेनियम २३८ समस्थानिक पर न्यूट्रॉन प्रतिक्रिया द्वारा एक नया तत्व प्लूटोनियम, प्लू (Pu), बनता है, जिसमे यूरेनियम २३५ वाले खंडनीय गुण वर्तमान हैं।

${}_{९२}$यूरेनियम^{२३८} + न्यूट्रॉन → ${}_{९२}$यूरेनियम^{२३९} → नेपच्यूनियम^{२३९}
↓
${}_{९४}$प्लूटोनियम^{२३९}

इस प्रकार २३८ समस्थानिक भी ऊर्जाशील पदार्थ मे परिवर्तित हो सकता है।

अब यह भी ज्ञात है कि अति उच्च ताप पर तीव्र न्यूट्रॉनों के आक्रमण द्वारा यूरेनियम २३८ समस्थानिक का भी खंडन हो सकता है। इस क्रिया का उपयोग आजकल अनेक कथित तापनाभिकीय (thermonuclear) बमों में हुआ है। [र० च० क०]

यूरेनियमोत्तर तत्व (Transuranic elements, या परायूरेनियम तत्व) आवर्त सारणी (Periodic table) को देखने से ज्ञात होगा कि प्रकृति मे पाए जानेवाले तत्वों मे यूरेनियम सबसे भारी है और इसकी परमाणु संख्या ९२ है, परंतु कुछ ऐसे मनुष्यनिर्मित तत्व भी हैं जिनकी परमाणु संख्या ९२ से अधिक है। इन तत्वों को हम यूरेनियमोत्तर तत्व, या परायूरेनियम तत्व, कहते हैं। अभी तक परमाणु संख्या १०३ तक के तत्व निर्मित हो चुके हैं। ये सारे तत्व अस्थिर तथा रेडियोऐक्टिव गुण के हैं। इनकी खोज तत्वांतरण (transmutation) क्रियाओं द्वारा हुई और ये यूरेनियम तत्व से निर्मित किए गए। रासायनिक गुणों में इनमें बहुत समानता है, जिससे इन्हें एक्टिनाइड (actinide) श्रेणी में रखा जाता है। इनके नाम तथा सबसे स्थिर समस्थानिकों के भार पृष्ठ ४६१ पर सारणी में दिए हैं।

यूरेनियमोत्तर तत्वों में प्लूटोनियम का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका आरंभ में ही उपयोग परमाणु बम मे हो चुका था और १९५० ई० से पूर्व ही इसका उत्पादन भी अधिक मात्रा मे हो चुका था। इससे उच्च परमाणु संख्या वाले तत्व अधिक अस्थिर होते जाते हैं, जिससे इनका उत्पादन तथा अध्ययन कठिन है। अंतिम तत्वों के समस्थानिक इतने अस्थिर हैं कि उनके रासायनिक प्रयोग संभव नहीं हो सके। १०३ परमाणु संख्या तक के तत्वों के रासायनिक गुण विरल मृदाओं (rare earths), या लैंथेनाइड (Lanthanide) तत्वों से मिलते जुलते हैं। यदि भविष्य में

१०४, या इससे अधिक परमाणु संख्या के तत्वों का निर्माण संभव हो सका, तो उनके गुण इनसे भिन्न होंगे। वे क्रमशः चौथे, पाँचवें, छठे आदि समूहों के तत्वों के समान होंगे।

यूरेनियमोत्तर तत्व

नाम	संकेत	परमाणु संख्या	समस्थानिक भार
नेप्चूनियम	Np	९३	२३७
प्लूटोनियम	Pu	९४	२४४
ऐमेरिशियम	Am	९५	२४३
क्यूरियम	Cm	९६	२४५
बर्कीलियम	Bk	९७	२४७
कैलिफोर्नियम	Cf	९८	२५१
आइंस्टीनियम	Es	९९	२५४
फर्मियम	Fm	१००	२५६
मेंडलीवियम	Md	१०१	२५६
नोबेलियम	No	१०२	२५४
लारेंसियम	Lw	१०३	२५७

नेप्चूनियम (Np) — ९३ परमाणु संख्यावाले इस तत्व की खोज १९४० ई० में अमरीका के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के मैकमिलन और एबिल्सन द्वारा की गई। यूरेनियम पर न्यूट्रॉन की नाभिक प्रतिक्रिया द्वारा इस तत्व का निर्माण किया गया। रासायनिक प्रयोगों द्वारा इसकी उपस्थिति की पुष्टि हुई थी।

$$_{९२}\text{यूरेनियम}^{२३८} + {}_{०}\text{न्यूट्रॉन}^{१} \rightarrow {}_{९२}\text{यूरेनियम}^{२३९}$$
$$[\ {}_{92}U^{238} + {}_{0}n^{1} \rightarrow {}_{92}U^{239}\ ]$$

$$_{९२}\text{यूरेनियम}^{२३९} \rightarrow {}_{९३}\text{नेप्चूनियम}^{२३९} + {}_{-१}\text{इलेक्ट्रान}^{०}$$
$$[\ {}_{92}U^{239} \rightarrow {}_{93}Np^{239} + {}_{-1}e^{0}\ ]$$
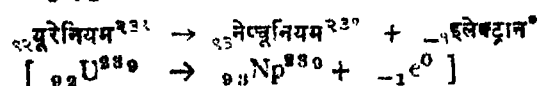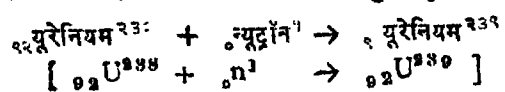
प्राप्त नेप्चूनियम समस्थानिक का अर्ध-जीवनकाल (half life period) २·३ दिन है। नेप्चून ग्रह के आधार पर इसका नाम नेप्चूनियम रखा गया। १९४२ ई० में इसके दूसरे समस्थानिक २३७ की खोज हुई, जिसका अर्ध जीवनकाल $२·२ \times १०^{६}$ वर्ष है। यह समस्थानिक अन्य यूरेनियमोत्तर तत्वों की अपेक्षा कम घातक है। नेप्चूनियम के ११ समस्थानिक ज्ञात हैं, जिनकी भार संख्याएँ २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४० और २४१ हैं। इसके रासायनिक गुण यूरेनियम से मिलते जुलते हैं।

प्लूटोनियम (Pu) — १९४० ई० में अमरीका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सीबोर्ग तथा अन्य साथियों ने इस तत्व की खोज की। यूरेनियम २३८ समस्थानिक पर ड्यूट्रान कणों की बौछार से बने नेप्चूनियम २३८ द्वारा इलेक्ट्रॉन मुक्त करने पर प्लूटोनियम २३८ का निर्माण हुआ। प्लूटो ग्रह के आधार पर इसका नाम प्लूटोनियम रखा गया। १९४१ ई० में प्लूटोनियम २३९ की खोज हुई। यह समस्थानिक यूरेनियम पर मंद न्यूट्रॉन की प्रक्रिया द्वारा बनाया गया और नाभिकीय अनुसंधानों में अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। यूरेनियम नाभिक रिऐक्टर में इसका निर्माण सरलता से हो जाता है। इसी कारण इसके रासायनिक गुणों की भली प्रकार जाँच हो सकी है। इसके अनेक यौगिक भी बनाए गए हैं। यूरेनियम के अनेक अयस्कों में प्लूटोनियम अत्यंत सूक्ष्म मात्रा में मिला है। यह यूरेनियम पर प्राकृतिक स्रोतों से उत्पन्न न्यूट्रॉनों की प्रक्रिया द्वारा बनता रहता है।

प्लूटोनियम२३९ यूरेनियम२३५ की भाँति खंडित हो सकता है और नाभिक रिऐक्टरों में ईंधन की भाँति प्रयुक्त हुआ है। इसके १५ समस्थानिक अभी तक ज्ञात हैं, जिनकी भार संख्या २३२ से २४६ है। इसमें २४४ भार वाला समस्थानिक सबसे स्थिर है और उसकी अर्ध जीवनावधि $७·६ \times १०^{७}$ वर्ष है।

ऐमेरिशियम (Am) — इस तत्व की खोज १९४४ ई० में हुई। प्लूटोनियम२३९ पर न्यूट्रॉन की बौछार द्वारा बने प्लूटोनियम २४१ नाभिक द्वारा बीटा कण मुक्त करने पर इसका निर्माण होता है।

प्लूटोनियम२३९ + न्यूट्रॉन → प्लूटोनियम२४०
प्लूटोनियम२४० + न्यूट्रॉन → प्लूटोनियम२४१
प्लूटोनियम२४१ → ऐमेरिशियम२४१ + बीटा कण
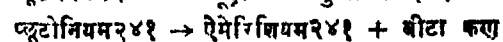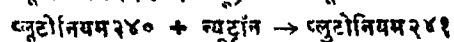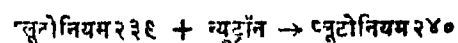
ऐमेरिशियम के १० समस्थानिक प्राप्त हैं जिनमें Am२४३ का अर्ध जीवनकाल सब से दीर्घ (८००० वर्ष) है। रासायनिक प्रयोगों से ज्ञात है कि इसके ३ संयोजकता वाले यौगिक सर्वाधिक स्थायी हैं।

क्यूरियम (Cm) — इस तत्व की खोज १९४४ ई० में ऐमेरिशियम से पहले हुई। इसका निर्माण प्लूटोनियम२३९ पर ऐल्फा कण की बौछार द्वारा किया गया।

प्लूटोनियम२३९ + ऐल्फा कण → क्यूरियम२४२ + न्यूट्रॉन

प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्रीमती मेडम क्यूरी की स्मृति में इसका नाम क्यूरियम रखा गया। इस तत्व के १३ समस्थानिक ज्ञात हैं, जिनमें २४५ भार का समस्थानिक सबसे स्थिर है (अर्ध जीवन अवधि ११,००० वर्ष)।

बर्कीलियम (Bk) — १९४९ ई० में इस तत्व का निर्माण ऐमेरिशियम२४१ पर ऐल्फा कण की बौछार द्वारा किया गया। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के नगर बर्कले के आधार पर इसका नाम बर्कीलियम रखा गया। इसके ८ समस्थानिकों में २४७ भार का समस्थानिक सबसे स्थिर है (अर्ध जीवन अवधि ७,००० वर्ष)।

कैलिफोर्नियम (Cf) — १९५० ई० में क्यूरियम परमाणुओं पर ऐल्फा कणों की अभिक्रिया द्वारा यह तत्व निर्मित किया गया। अमरीका के कैलिफोर्निया प्रदेश के आधार पर इसे कैलिफोर्नियम नाम मिला। कैलिफोर्नियम के ११ समस्थानिक ज्ञात हैं, जिनमें २५१ भार का समस्थानिक सबसे स्थिर है (अर्धजीवन अवधि ७०० वर्ष)।

आइंस्टीनियम (Es) — प्रशांत महासागर में १९५२ ई० में

परमाणु विस्फोट के खंड में इस तत्व की सर्वप्रथम खोज हुई थी। १६५४ ई० के लगभग एक ही समय में अमरीका के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय तथा आर्गान राष्ट्रीय प्रयोगशाला और स्वीडन की स्टॉकहोम प्रयोगशाला में इस तत्व का निर्माण हुआ। यूरेनियम२३८ पर नाइट्रोजन नाभिक की बौछार द्वारा इसे सर्वप्रथम बनाया गया था। विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन के सम्मान में इस तत्व का नाम आइंस्टीनियम रखा गया। अभी तक इसके दस समस्थानिक ज्ञात हैं जिनमें सबसे स्थिर समस्थानिक Es २५४ की अर्ध-जीवनावधि २८० दिन है।

फर्मियम (Fm) — यूरेनियम पर तीव्र ऑक्सिजन आयनों की क्रिया द्वारा इसका निर्माण किया गया था। १६५२ ई० के प्रशांत सागर के विस्फोट में इसके कण भी पाए गए थे। इसके सात समस्थानिक ज्ञात हैं, जिनमें २५६ भार का समस्थानिक सबसे स्थायी है।

मेंडलीवियम (Md) — सर्वप्रथम १६५५ ई० में इस तत्व का निर्माण हुआ। आइंस्टीनियम पर ऐल्फा कण के आक्रमण द्वारा इसका निर्माण संभव हुआ। प्रसिद्ध रूसी रसायनज्ञ मेंडलीव की स्मृति में इसका नाम मेंडलीवियम रखा गया। यह अत्यंत अस्थायी परमाणु है।

नोबेलियम (No) — १६५७ ई० में स्वीडन के नोबेल संस्थान में क्यूरियम२४४ नाभिक पर कार्बन आयन के आक्रमण द्वारा इसका सर्वप्रथम निर्माण हुआ। नोबेल पुरस्कार के संस्थापक नोबेल के सम्मान मे इसका नाम नोबेलियम रखा गया।

लारेंशियम (Lw) — १६६२ ई० मे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय की लारेंस प्रयोगशाला में इस तत्व के निर्माण की घोषणा हुई। ऐसा अनुमान है कि २५७ भार के कुछ परमाणु इन प्रयोगों द्वारा बने थे। इस तत्व का नाम लारेंशियम प्रस्तावित किया गया है।

[र० च० क०]

यूरैल पर्वत स्थिति : ५६° उ० अ० तथा ६०° पू० दे०। यह पर्वत शृंखला उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में कैस्पियन सागर तक फैली हुई है, और यूरोप को एशिया महाद्वीप से अलग करती है। इस पर्वत शृंखला का उत्थान कई युगों में हुआ है। शृंखलाओं का विस्तार उत्तर से पश्चिम तथा उत्तर से पूर्व की ओर है और सर्वाधिक ऊँचाई दक्षिणी भाग में पाई जाती है। इस पर्वत की संयुक्त बनावट इसकी भौमिकी दशाओं से स्पष्ट परिलक्षित होती है। यूरैल पर्वत शृंखला को तीन भागों में बाँटा जाता है :

(क) उत्तरी यूरैल पर्वतश्रेणी, कारा की खाड़ी से प्रारंभ होकर दक्षिण-पश्चिम मे ६४° उ० अ० तक फैली है। इसमें कई स्पष्ट शृंखलाएँ पाई जाती हैं। यह पर्वतक्षेत्र दक्षिण-पूर्व की ओर चट्टानी, ऊबड़ खाबड़ तथा अधिक ढालुवाँ है तथा यूरोपीय रूस के दलदलों की ओर कम ढालू है। इसकी सर्वोच्च चोटियाँ सर्द युवेस ३,७१५ फुट तथा पाईयेर ४, ७६४ फुट ऊँची हैं। मुख्य शृंखला के पश्चिमी भाग में परतदार चट्टानें पाई जाती हैं। दक्षिणी भाग में यूरैल की सर्वोच्च चोटियाँ सबलिया ५,४०२, फुट तथा मुराई चक्ल, ५, ५४५ फुट हैं। पर्वतीय ढालों पर घने जंगल पाए जाते हैं। दक्षिणी भाग में १४०० फुट की ऊँचाई तक वनस्पति पाई जाती है लेकिन उत्तरी भाग में आर्कटिक वृत्त के पास पर्वत के पाद प्रदेश तक ही वनस्पति सीमित है। ६५° उ० अ० के लगभग वनीय वनस्पति लुप्त हो जाती है। ६४° उ० अ० से ६१° उ० अ० के मध्य एक पठारी क्षेत्र है, जहाँ जल विभाजक उत्तर-पश्चिमी दिशा में फैला है। यहाँ विस्तृत, सम तथा दलदली घाटियाँ हैं। चोटियों की औसत ऊँचाई ३,००० फुट है। ६२° ४३' उ० अ० पर स्थित यु'ग तुम्प शिखर ४,१७० फुट ऊँचा है। इस क्षेत्र में बस्तियों का अभाव है।

(ख) मध्य यूरैल की चौड़ाई लगभग ८० मील है। यहाँ लोहे, ताँबे और सोने की खानें हैं। मध्य यूरैल की सीमा उत्तर में डेनेजकिन कामेन (४,६०८ फुट) तथा दक्षिण में टाराटाश (२,८०० फुट) से निर्धारित होती है। निम्न पठारी भाग से साइबेरिया के लिये सड़क जाती है। जलविभाजक १२४५ फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। मध्य यूरैल घने जंगलों से आच्छादित है। घाटियों में तथा निम्न ढालों पर उपजाऊ मिट्टी एवं घनी ग्रामीण बस्ती पाई जाती है।

(ग) दक्षिणी यूरैल उत्तर-पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम मे विस्तृत तीन समांतर शृंखलाओं में विभक्त है। मुख्य यूरैल पर्वत की शृंखला २,२०० फुट से २,८०० फुट ऊँची है। मंद ढालों पर अधिकतर जंगल हैं तथा निम्न भागों में चरागाह पाए जाते हैं। दक्षिण की ओर लगभग १,५०० फुट ऊँचा पठारी क्षेत्र है जिसमें नदियों की गहरी घाटियाँ पाई जाती हैं। यह क्षेत्र वोल्गा तक फैला है यूरैल पर्वत एक मोड़दार पर्वत है जिसमें तृतीय युग की चट्टानें अधिक हैं। इस शृंखला के अधिकतर भाग में ग्रेनाइट, डाइओराइट, पेरिडोटाइट, नाइस तथा अन्य परतदार चट्टानें पाई जाती हैं। यह पश्चिम में सिल्यूरियन, डिवोनी कार्बोनी परमियन तथा ट्रियासिक कल्प की परतों द्वारा ढँका हुआ है। इसमें कई समांतर मोड़ पाए जाते हैं। [बे० दु०]

यूरोप (Europe) एक महाद्वीप है जो संसार के सात महाद्वीपों मे विस्तार के विचार से छठा है किंतु भौतिक उपलब्धियों के विचार से यह अमरीका को छोड़कर अन्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। पश्चिमी यूरोप और उसके निकटवर्ती द्वीपसमूहों ने ही पश्चिमी सभ्यता के मूल तत्वों और अर्थ व्यवस्था निर्माण को विकसित किया है। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी ध्रुव के अन्वेषक साहसिक यात्री यूरोप से ही आए। उन्होंने एशिया और अफ्रीका की सीमांकन रेखाओं को वास्तविक रूप दिया एवं सभी महाद्वीपों की आंतरिक ज्ञानोपलब्धियों को और आगे बढ़ाया। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के भूभागों में उपनिवेशों की स्थापना यूरोप द्वारा हुई जहाँ लाखों लोग यूरोप से आकर बसे। २०वीं शताब्दी के प्रथम अर्ध भाग में ही दो विश्वयुद्धों के परिणाम यूरोप को भोगने पड़े हैं।

'यूरोप' नाम एशिया वासियों की देन है। यूरोप एशिया की उस दिशा में पड़ता है जिस दिशा में एशिया की केवल संध्या होती है। 'इरेब' (Erab) का अर्थ होता है संध्या, या सूर्यास्त। 'इरेब' से यूरोप शब्द बन गया।

संसार के सबसे बड़े भूभाग का पश्चिमोत्तर भाग यूरोप कहलाता है, शेष भाग में एशिया और अफ्रीका दो महाद्वीप, ग्रेट ब्रिटेन जैसे हजारों समीपी द्वीपसमूह तथा आइसलैंड और स्पिट्जबर्गेन के समान

बहुत से दूरस्थ द्वीपसमूह हैं। यूरोप की दक्षिणी सीमा पर क्रम से भूमध्य सागर, काला सागर और काकेशश पर्वत, उत्तर-पश्चिमी सीमा पर उत्तरी ऐटलैंटिक महासागर, पूर्वी सीमा पर यूरैल पर्वत, यूरैल नदी तथा कैस्पियन सागर हैं। इसका क्षेत्रफल ३६,००,००० वर्ग मील है। दक्षिणी यूनान से उत्तरी नॉर्वे तक मुख्य भूमि का विस्तार २,४०० मील है। दक्षिण-पूर्वी पुर्तगाल से दक्षिणी यूरैल-पर्वत तक की दूरी ३,१०० मील है।

भूमि स्वरूप — यूरोप अपने छोटे से आकार में ही भूमि स्वरूपों की शृंखला सँजोए हुए है। ऐसे मैदान जो समुद्रतल से भी नीचे तथा बाँधों से सुरक्षित हैं से लेकर उच्च शृंगधारी पर्वत तक यूरोप में विद्यमान हैं। समय समय पर पर्वत की श्रेणियाँ उठीं, ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों तोड़फोड़ करनेवाली प्राकृतिक शक्तियों द्वारा उन श्रेणियों की ऊँचाई घटती गई, यहाँ तक कि उन श्रेणियों का स्वरूप घिसे हुए चपटे ठूँठ (Stumps) की तरह रह गया। ऐसी ही एक श्रेणी कैलेडोनिऐन पर्वतमाला थी जिसका अवशेष स्कैंडिनेविया और स्कॉटलैंड की उच्च भूमि के रूप में पाया जाता है। इन पर्वतों के शिखरतलों की सामान्य समतलता से पता चलता है कि उन शिखरों को लंबे समय तक टूट-फूट (weathering) क्रिया का सामना करते हुए रहना पड़ा है। मैदान-प्राय (peneplane) के रूप में अवतरित होने के पश्चात् इसका उत्थान (Uplift) हुआ। इस उत्थान के बाद पुन: तीव्र क्षरण हुआ जिससे स्कैंडिनेविया की भूमि वृद्धावस्था एवं युवावस्था का विचित्र मिश्रण है।

द्वितीय पर्वतमाला के अवशेष ब्रिटैनी से कारपेथिऐंस के पश्चिमी सिरे तक छितराए हुए दिखाई पड़ते हैं। यह पर्वतमाला हरसीनियन (Hercynian) के नाम से जानी जाती है। फ्रांस का मध्यवर्ती गिरिपिंड (massif) सबसे ऊँचा है जहाँ सेवेन (Cevennes) ५,००० फुट तक ऊँचा है। कैलिडोनिऐन उच्च भूमि ऊसर के रूप में परिवर्तित है। इसके साथ ही दूसरी ओर हरसीनियन गिरिपिंड प्राय. जंगल से ढँके हैं और उनके शिखरों पर कृषि की जाती है। हरसीनियन गिरिपिंड यद्यपि सुनसान और अनुपजाऊ क्षेत्र में फैले हुए हैं तथापि अपनी ऊँचाई के कारण वे आश्चर्यजनक रूप में आबाद हैं।

ऐल्प्स पर्वत अपने से पुराने कैलिडोनिऐन और हरसीनियन अवशेषों से विपरीत है। हिमालय और ऐंडीज (Andes) के साथ और सौंदर्य आकर्षण में श्रेणीबद्ध होते हुए ऐल्प्स यूरोप का सर्वोच्च पर्वत है। रचना के अनुसार ऐल्प्स की शाखाएँ नए मोड़दार पर्वत हैं। ऐल्प्स की चट्टानों की बनावट सर्वाधिक जटिल है।

कुछ क्षेत्रों में यूरोपीय पर्वत तीव्रता से समुद्रसतह के अंदर तक गए हैं, दूसरे क्षेत्रों में वे विस्तृत नीची भूमि से घिरे हैं। इनमें से वह यूरोपीय मैदान सर्वाधिक विचारणीय है जो पेनाइंस से यूरैल्स तक निचले देशों जैसे जर्मनी, पोलैंड और रूस के आर पार फैला हुआ है। यह मैदान तब तक धीरे धीरे चौड़ाई में बढ़ता गया है जब तक इसने उस संपूर्ण क्षेत्र पर जो श्वेत और काले सागर के बीच विस्तृत है, अधिकार नहीं कर लिया। हॉलैंड के समुद्रतल से भी नीचे धरातलों से लेकर बॉल्टिक पहाड़ियों के ऊबड़ खाबड़ टीलों से परिपूर्ण भूमि स्वरूप एक बार में देखे जा सकनेवाले स्थलों तक धरातलीय उच्चावच विविध प्रकार के हैं। सामान्यत: उनकी एकरूपता ठीक उस प्रकार की है जैसी सीढ़ीदार मकान की छतों वाले घरों में पाई जाती है, जबकि वे अनेक विविधताओं को ढँके रहते हैं। मैदान के कुछ भाग अभी भी निर्माण अवस्था में ही हैं और कुछ बहुत पहले से ही निमिलावस्था में हैं। बॉल्टिक शील्ड एवं रूसी समतल उच्चभूमि (Russian platform) विस्तृत मैदान हैं, बॉल्टिक शील्ड हिमाघात और प्रतिघातों द्वारा घिस गया है। उत्तरी यूरोपीय मैदान भी हिमनदन (glaciation) द्वारा प्रभावित हुए हैं। हॉलैंड मुख्यत: राइन का डेल्टा है और प्राय: कीचड़ के कणों द्वारा बना है। जहाँ पर्वत नीची भूमि के दक्षिणी किनारे टेढ़ी मेढ़ी कटान में अवरोधक है, वहाँ लोयस से ढँकी अनेक खाड़ियाँ हैं। ये खाड़ियाँ उत्तम खेती करने योग्य हैं। लोंबार्डी का मैदान पहले समुद्र का ही एक भाग था, किंतु ऐड्रिऐटिक सागर की ओर पर यह मैदान ऐसा बढ़ता चला गया कि जो स्थान रोमन-काल में किनारे पर था वह अब किनारे से २० मील दूर पड़ गया है। इसी प्रकार के भराव से हंगरी का बेसिन भी बना है, जो पहले एक झील के रूप में था। दक्षिणी स्पेन में भी इसी प्रकार नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से बने मैदान देखने को मिलते हैं। इस महाद्वीप के मानव भूगोल में यूरोप की नीची भूमियों का प्रत्यक्ष महत्व है क्योंकि यह उन मैदानों में से एक है जिसपर जनसंख्या का अधिकांश जीवन निर्भर है।

यूरोप की रचना के इतिहास में हिमयुग का प्रभाव सुदूर प्रदेशों तक है। १० लाख वर्ष पहले स्कैंडिनेविया, रूस का अधिकांश, उत्तरी जर्मनी की निचली भूमि और ब्रिटेन का वह भाग जो उत्तरी सागर को घेरे है, बर्फ से ढँका हुआ था। छोटी छोटी एवं अलग अलग हिमटोपियाँ (Ice-caps) ऐल्प्स एवं उत्तर-पश्चिमी ब्रिटेन पर केंद्रों से विकेंद्रित हुईं। हिमयुग के चिह्न स्पष्टता से आज भी दृष्टिगोचर होते हैं।

समुद्रतट — यूरोप का २०,००० मील लंबा समुद्रतट उपसागरों, खाड़ियों और नदियों के मुहानों का तट है। द्वीपों और प्रायद्वीपों के कारण ऐटलैंटिक महासागर, उत्तरी ध्रुव सागर और भूमध्यसागर में बैरेंट्स, कारा, बॉल्टिक, ऐड्रिऐटिक, उत्तरी सागर, टिरीनिऐन (Tyrrhenian), इजिऐन (Aegean) और काला सागर बन गए हैं।

नदियाँ एवं झीलें — यूरोप की नदियों का उपयोग जल विद्युत् बनाने, सिंचाई और यातायात के साधन के रूप में होता है। यूरोप की सबसे लंबी (२,२९० मील) और वेगवती नदी वोल्गा है, जो रूस में प्रवाहित होती है। यूरोप की अन्य मुख्य नदियों में राइन, डेन्यूब, सीन, डोन, नीपर, विश्चुला, ओडर, एल्ब, और टेम्स हैं। यूरोप के खारे जल की सबसे बड़ी झील कैस्पिऐन सागर है और मीठे जल की झील लडोगा है जिसका क्षेत्रफल ७,१०० वर्ग मील है। ऐल्प्स पर्वत की जेनेवा (Geneva), कॉन्सटैंस (Constance), कोमो आदि अन्य झीलें सुंदरता के लिये प्रसिद्ध हैं।

खनिज पदार्थ — संसार का २५ प्रति शत कोयला, ३६ प्रति शत लोहा और बॉक्साइट (खनिज ऐल्यूमिनियम) का भंडार यूरोप महाद्वीप में है। परंतु इन खनिजों का वितरण संपूर्ण महाद्वीप में एक सा नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम, नीदरलैंड्स,

पोलैंड, और रूस-डोनेट्स बेसिन - कोयले के प्रमुख क्षेत्र हैं। स्पेन, इटली, नार्वे, स्वीडन, ग्रीस में कोयला लगभग नहीं के बराबर है। ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, स्वीडन और रूस प्रमुख लौह उत्पादक क्षेत्र हैं तथा हंगरी, यूगोस्लाविया, दक्षिणी फ्रांस और ग्रीस में बॉक्साइट का विशाल भंडार है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यूरोप महाद्वीप में पेट्रोल पर्याप्त नहीं है। रूस का कैस्पियन सागर का क्षेत्र और रूमेनिया का पोएस्टी क्षेत्र पेट्रोल का प्रमुख भंडार है। ताँबा, जस्ता, सीसा, एवं पारा महाद्वीप के अन्य प्रमुख खनिज पदार्थ हैं।

वनस्पति और जीव जंतु — यूरोप में लगभग सर्वत्र फल फूल के पौधे और वृक्ष पाए जाते हैं। वनों को साफ कर कृषि योग्य भूमि बना ली गई और शहर विकसित कर लिए गए हैं। स्पेनी मेसेटा तथा दक्षिणी रूस के क्षेत्रों में स्टेप्स की घास और मरुस्थलीय वनस्पति पाई जाती है। उत्तरी ध्रुव महासागर के तटीय प्रदेशों और पर्वत के उच्च शिखरों पर ग्रीष्मकालीन ताप की न्यूनता से वनों की उत्पत्ति असंभव है। इन स्थानों पर, या तो वनस्पति का पूर्ण अभाव है, या टुंड्रा जैसी वनस्पति पाई जाती है।

यूरोप के उत्तरी हिम भागों में रेनडियर (Reindeer) पाए जाते हैं तथा शीत प्रदेशीय समूर धारी पशुओं में लिंक्स (Lynx), मार्टेन (Marten), एर्मिन और बिज्जू (Badger) पाए जाते हैं। ऐल्प्स पर्वत प्रदेश में अजमृग (Chamois) पाया जाता है। इनके अतिरिक्त भालू, बाइजेंट (Wisent), ऊदबिलाव, बारहसिंगा, हिममूस, भेड़िया, सीवेट, लोमड़ी, ध्रुवीय बिल्ली, गिलहरी, खरगोश, छछूँदर, और साही महाद्वीप के प्रमुख जंतु हैं। पक्षियों में सारिका, चटक, स्नो बंटिंग, गोरैया, जंगली कबूतर, कैनेरी, बाज, चील, उल्लू, कौवा, तथा सारस और मछलियों में काड, हेक, पोलेक, फ्लाउंडर, सार्डिन, स्टर्जन, टना और इनके अतिरिक्त नाना प्रकार के समुद्री जीव जंतु हैं।

जलवायु — यूरोप की स्थिति मध्य अक्षांशों के बीच तथा महासागर के पूर्वी किनारे पर है। इसकी समुद्री तटीय रेखा कटी-फटी है। यूरोप के जलवायु पर इसका गंभीर प्रभाव है। उत्तरी ऐटलैंटिक महासागरीय गरम धारा पश्चिमोत्तर यूरोप के किनारों को गरम रखती है। तथा जाड़े की ऋतु में ताप को हिमांकबिंदु तक पहुँचने से दूर रखती है। आइसलैंड, ब्रिटिश द्वीप समूह, पश्चिमी नॉर्वे और फ्रांस पछुआ हवाओं के कारण कुछ गरम रहते हैं। लंदन का औसत ताप जनवरी में लगभग ३° सें० और जुलाई में लगभग १७° सें० रहता है। भूमध्य सागरीय प्रदेशों में जाड़े के दिनों में वर्षा होती और गरमी के दिनों में शुष्कता रहती है। मध्य यूरोप से पूर्ववर्ती भागों में ऐटलैंटिक महासागर का प्रभाव बहुत कम रहता है। जाड़े का मौसम मध्य यूरोप में लंबा होता है, ठंढ अधिक पड़ती है और गरमी का मौसम छोटा तथा अधिक गरम होता है। मॉस्को में जनवरी का औसत ताप—१०.५° सें० और जुलाई में १८° सें० रहता है। यूरोप के अधिकांश क्षेत्र २०-४० इंच के वर्षा के क्षेत्र में पड़ते हैं। अधिक वर्षा के क्षेत्र समुद्रतटीय क्षेत्र हैं। कैस्पिऐन सागर के समीपवर्ती रेगिस्तानी प्रदेशों में वार्षिक वर्षा का वितरण १० इंच से कम ही रहता है।

निवासी — जनसंख्या के घनत्व की दृष्टि से यूरोप महाद्वीप संसार का सबसे घना महाद्वीप है। यहाँ की कुल जनसंख्या लगभग ५६,२५,००,००० है और जनसंख्या का घनत्व १४१ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम और नीदरलैंड्स में औसत जनसंख्या का घनत्व ५०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। यहाँ के निवासी मुख्यत: नॉर्डिक, पूर्वी बॉल्टिक, ऐल्प्स प्रदेशीय, डिनारिक (Dinaric) और भूमध्यसागरीय हैं। यूरोप में लगभग ६० प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें से अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, डच, डेनिश, रूसी, इतावली आदि प्रमुख हैं।

कृषि — औद्योगीकरण के बावजूद यूरोप में कृषि का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से ही यूरोप के निवासी कृषि से ही जीविकोपार्जन करते आए हैं। ऐसा अनुमान है कि गेहूँ और जौ ३,००० वर्ष ई० पू० दक्षिण, पश्चिमी एशिया से यूरोप में लाए गए थे। राई उत्पादन विशेष महत्व रखता है। पूर्वोत्तर राइन क्षेत्र में इसका प्रमुख क्षेत्र है। अधिकांश यूरोपवासी कृषि और पशुपालन से जीविकोपार्जन करते हैं। यहाँ के कृषकों के पास भूमि कम होती है परिणामस्वरूप गहरी खेती की जाती है। इस कारण उत्पादन क्षमता अधिक होती है। यूरोप में गेहूँ, राई, आलू और चुकंदर का उत्पादन किसी भी महाद्वीप से अधिक होता है। जई, जौ और मक्का की भी खेती अधिक होती है। अंगूर, जैतून और रसवाले फलों का उत्पादन दक्षिणी यूरोप में विशेष रूप से होता है। फ्रांस मे अंगूर का उत्पादन सबसे अधिक होता है। पश्चिमोत्तर यूरोप में लोग खाद्यान्नों के साथ साथ पशुपालन, फलों की खेती और तरकारी की खेती करते हैं। यूरोप की लगभग आधी जनसंख्या कृषि पर पूर्णतया जीवन यापन करती है। उत्पादन का अधिकांश यूरोप में ही समाप्त हो जाता है। साधारणतया यूरोप संपूर्ण विश्व का ४/५ भाग राई, आलू, चुकंदर, सन, जैतून का तेल एवं अंगूर पैदा करता है और १/२ भाग दूध, गेहूँ, जई और जौ पैदा करता है।

मत्स्य उद्योग — मत्स्य-उद्योग-प्रधान देशों मे रूस, नॉर्वे, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, स्पेन, फ्रांस और आइसलैंड का प्रमुख स्थान है। उत्तरी सागर का क्षेत्र मत्स्य उद्योग में केवल महाद्वीप के किनारे तक ही सीमित रहता है। नॉर्वे और अन्य देश दक्षिण में ऐटलैंटिक महासागर तक मछली मारने का काम करते हैं।

भ्रमण उद्योग — इस उद्योग से यूरोप के कई देशों को काफी आर्थिक लाभ होता है। दृश्य, जलवायु, संस्कृति और इतिहास की विभिन्नताएँ लोगों को आकर्षित करती हैं।

अन्य उद्योग — यूरोप संसार का सबसे बड़ा औद्योगिक महाद्वीप और कला कौशल का प्रमुख क्षेत्र है। सूती और ऊनी कपड़ों के उद्योग में ग्रेट ब्रिटेन सबसे आगे है। फ्रांस की प्रसिद्ध शराबें संसार के कोने कोने में पी जाती हैं। पश्चिमी जर्मनी का रुर (Ruhr) क्षेत्र लौह इस्पात का प्रमुख केंद्र है। स्विट्सरलैंड की सुंदर घड़ियाँ सर्वप्रसिद्ध हैं। मशीनों के उत्पादन में रूस अग्रिम है। स्वीडन, बेल्जियम, नीदरलैंड्स, इटली और चेकोस्लोवाकिया अन्य उद्योग-प्रधान देश हैं। उत्तरी अमरीका की अपेक्षा यूरोप खनिज पदार्थों में निर्धन है, तथापि खनिज पदार्थों का सबसे बड़ा उपभोक्ता है। यूरोप के औद्योगीकरण में इसके पूर्वविकास का महत्व है। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति १८वीं शताब्दी में आरंभ हुई।

२०वीं शती के युद्धों के फलस्वरूप बहुत से प्रौद्योगिक स्थानों के विदेशी बाजार बंद हो गए। इसी बीच संयुक्त राज्य अमरीका ने युद्धसामग्री के निर्यात में वृद्धि की और विश्व व्यापार में स्पर्धा पैदा की। उद्योग और व्यापार के पुनरुत्थान मे संसार के अन्य कृषि प्रधान देशों में उद्योगीकरण की योजनाओं और परिणामों ने और बाधा पहुँचाई। उद्योग प्रधान पश्चिमी यूरोप और कृषि प्रधान पूर्वी यूरोप के राजनीतिक संघर्षों ने पुनरुत्थान मे काफी बाधा डाली।

शक्ति के साधन — यूरोप के अधिकांश देश शक्ति के क्षेत्र में अच्छी तरह संतुलित हैं। जिन देशों में कोयले की कमी है उन देशों में विद्युत् शक्ति से कमी पूरी की जाती है। यूरोप मे जलविद्युत् शक्ति का प्रयोग किसी भी महाद्वीप के जल विद्युत् शक्ति के प्रयोग से अधिक विस्तृत रूप में होता है। इटली, रूस, नॉर्वे, स्वीडन और फ्रांस संसार के प्रमुख जलशक्तिवाले देश हैं। अणु शक्ति से चालित प्रथम विद्युत् संस्थान रूस में १९५४ ई० तथा ग्रेट ब्रिटेन में १९५६ ई० में स्थापित हुआ।

आवागमन के साधन — यूरोप महाद्वीप के अधिकांश पर्वतीय प्रदेशों में पर्वतों के कारण सड़कों और रेल की पटरियों का निर्माण कठिन और खर्चीला हो गया है। फिर भी यूरोप के अधिक देशों मे सर्वोत्तम यातायात के साधन हैं। यूरोपीय वायुयानों का क्षेत्र संपूर्ण विश्व में फैला हुआ है। पूरे महाद्वीप में तेज चलनेवाली गाड़ियाँ हैं। ऐल्प्स पर्वत प्रदेश में विश्व की सबसे लंबे रेलमार्ग की सुरंग है। यूरोप में जर्मनी की सुंदर सड़कों से लेकर जलमार्गों, देहाती कच्ची सड़कों और गलियों तक के आवागमन के साधन उपलब्ध हैं। यूरोप में समुद्री यातायात का महत्वपूर्ण स्थान है। बड़ी बड़ी नावों, जहाजों द्वारा नदियों और नहरों से महाद्वीप के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आया जाता है। यूरोप में समाचारपत्रों की संख्या एवं खपत किसी भी दूसरे महाद्वीप से अधिक है। इसके अतिरिक्त रेडियो और टेलीविजन का प्रचलन भी बहुत व्यापक है।

पुस्तकालयों, कलाभवनों और अजायबघरों की दृष्टि से यूरोप संसार मे सर्वप्रथम स्थान रखता है। कला, साहित्य तथा वास्तु एवं स्थापत्य कला के क्षेत्र मे यूरोप का योगदान विज्ञान एवं उद्योग से कम नहीं रहा है। वहाँ के कलाकारों एवं संगीतज्ञों की प्रसिद्धि संपूर्ण विश्व में पाई जाती है। यूरोप के दार्शनिकों का प्रभाव संसार के सभी देशों के सामाजिक और राजनीतिक विचारों पर पड़ा है। [शां० ला० का०]

यूसुफ (जोसेफ) इब्रानी मे इसका अर्थ है प्रवर्धित। यह बाइबिल के पूर्वार्ध में ८ और उत्तरार्ध मे ३ व्यक्तियों का नाम है। इनमें से ये तीन अधिक प्रसिद्ध हैं—

(१) कुलपति तथा यूसुफ वंश के प्रवर्तक। उनके स्वप्न; दास के रूप में अपने भाइयों द्वारा उनका बेचा जाना; मिस्र मे उनका कारावास और बाद में राज्यपाल के रूप में उनकी नियुक्ति; अंत मे अपने भाइयों से पुनर्मिलन, यह सब उत्पत्ति नामक बाइबिल के प्रथम ग्रंथ में वर्णित है।

(२) मरियम के पति तथा कानूनी दृष्टि से ईसा के पिता। संत मत्ती (अध्याय १, १६-२५) तथा संत ल्यूक (अ० १ और २) दोनों अपने सुसमाचार में ईसा के जन्म तथा शैशव के वर्णन के अंतर्गत यूसुफ का उल्लेख करते हैं।

(३) अरीमथेया का यूसुफ। ईसा का एक धनी शिष्य, जिसने अपनी कब्र में ईसा को दफनाया था।

सं० ग्रं० — एनसाइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [का० बे०]

येनिसे नदी एशियाई रूस में सायान पर्वत से निकलकर साइबेरिया के मैदानी भाग के मध्य दक्षिण-उत्तर दिशा को बहती हुई आर्कटिक महासागर की एक सँकरी खाड़ी में गिरती है। पूर्व से आकर मिलनेवाली सहायक नदियों सहित इसकी जलप्रवाह-प्रणाली द्रुमाकृतिक (deuditric) है। यह वर्ष के सात आठ महीने जमी रहती है और बसंत ऋतु में बर्फ से मुक्त होती है। परंतु इसका मुहाना उस समय भी हिमाच्छादित रहता है। फलत: जल मैदानों में फैल जाता है जिससे दलदल बन जाते हैं। येनिसे लकड़ी के यातायात में बहुत सहयोग देती है। इसकी कुल लंबाई २,८०० मील है।

[रा० स० ख०]

येलो सी (पीत सागर) प्रशांत महासागर का एकभाग है। यह सागर चीन के महाद्वीपीय निधाय पर मुख्य भूमि एवं कोरिया प्रायद्वीप के मध्य स्थित है। उत्तर में इसकी तीन खाड़ियाँ एवं चिहली की खाड़ी, ल्याव तुंग की खाड़ी एवं कोरिया की खाड़ी इसके ही खंड हैं। दक्षिण में यह सागर यांगत्सीजियाग के मुहाने तक विस्तृत है। इसमे मिलनेवाली नदियों में ह्वांग हो, हूतो, ल्याव, यालू आदि मुख्य हैं। इस सागर का नामकरण इसके जल के रंग के कारण हुआ है। चीन के उत्तरी मैदान की पीतवर्ण मिट्टी का मुख्यत. ह्वांगहो द्वारा इस सागर में लाया जाना इसके रंग का कारण माना जाता है। सागर की गहराई लगभग ६०० फुट तक है। इसकी तूफान से सुरक्षित खाड़ियों में प्राकृतिक पत्तनों की उन्नति हुई है जिनमे टिंटसिन एवं पोर्ट आर्थर उल्लेखनीय हैं। [के० ना० सिं०]

योकोहामा स्थिति : ३५° २५' उ० अ० तथा १३९° ३६' पू० दे०। जापान के पूर्वी तट पर स्थित नगर है। यह टोकियो के निकट में पड़ता है। सन् १९२३ के भूकंप में यह पूर्णतया नष्ट हो गया था परंतु जापानियों ने परिश्रम करके इसे फिर विकसित कर लिया है। अब यहाँ पर अनेक विशाल भवन तथा जहाजों के ठहरने के लिये अच्छे अच्छे स्थान बन गए हैं। योकोहामा शीतोष्ण अथवा चीन तुल्य जलवायु के प्रदेश में आता है। यह देश का सबसे बड़ा बंदरगाह होने के साथ ही साथ एक उन्नतिशील प्रौद्योगिक नगर भी है। जापान का अधिकतर विदेशी व्यापार यहीं से होता है। यह टोकियो का भी बंदरगाह है। इस बंदरगाह से होकर देश में बने हुए परिष्कृत माल का निर्यात तथा बाहर से कच्चे माल एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं का आयात होता है। [रा० स० ख०]

योग योग शब्द भारत मे तो सर्वत्र प्रचलित है ही, बौद्ध धर्म के साथ चीन, जापान, तिब्बत, दक्षिण पूर्व एशिया और लंका मे भी फैल गया है और इस समय तो सारे सभ्य जगत् में लोग इससे परिचित हैं। ऐसी अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि इसका वाच्यार्थ स्पष्ट होगा और

इसकी परिभाषा सुनिश्चित होगी। परंतु ऐसा नहीं है। भगवद्गीता प्रतिष्ठित ग्रंथ माना जाता है। उसमें योग शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है, कभी अकेले और कभी सविशेषण, जैसे बुद्धियोग, संन्यासयोग, कर्मयोग। वेदोत्तर काल में भक्तियोग और हठयोग नाम भी प्रचलित हो गए हैं। महात्मा गांधी ने अनासक्ति योग का व्यवहार किया है। पातञ्जल योगदर्शन में क्रियायोग शब्द देखने में आता है। पाशुपत योग और माहेश्वर योग जैसे शब्दों का भी चर्चा मिलता है। इन सब स्थलों में योग शब्द के जो अर्थ हैं वह एक दूसरे के विरोधी हैं परंतु इतने विभिन्न प्रयोगों को देखने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि योग की परिभाषा करना कितना कठिन काम है। परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्त हो, योग शब्द के वाच्यार्थ का ऐसा लक्षण बतला सके जो प्रत्येक प्रसंग के लिये उपयुक्त हो और योग के सिवाय किसी अन्य वस्तु के लिये उपयुक्त न हो।

गीता में श्रीकृष्ण ने एक स्थल पर कहा है 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्मों में कुशलता को योग कहते हैं। स्पष्ट है कि यह वाक्य योग की परिभाषा नहीं है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि जीवात्मा और परमात्मा के मिल जाने को योग कहते हैं। इस बात को स्वीकार करने में यह बड़ी आपत्ति खड़ी होती है कि बौद्धमतावलंबी भी, जो परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, योग शब्द का व्यवहार करते और योग का समर्थन करते हैं। यही बात सांख्यवादियों के लिये भी कही जा सकती है जो ईश्वर की सत्ता को असिद्ध मानते हैं। पतञ्जलि ने योगदर्शन में, जो इस विषय का आधार और प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है, यह परिभाषा दी है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, चित्त की वृत्तियों के निरोध = पूर्णतया रुक जाने का नाम योग है। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं चित्तवृत्तियों के निरोध की अवस्था का नाम योग है या इस अवस्था को लाने के उपाय को योग कहते हैं।

परंतु इस परिभाषा पर कई विद्वानों को आपत्ति है। उनका कहना है कि चित्तवृत्तियों को क्षीण किया जा सकता है, उनका निरोध नहीं हो सकता। वृत्तियों के प्रवाह का ही नाम चित्त है। पूर्ण निरोध का अर्थ होगा चित्त के अस्तित्व का पूर्ण लोप, चित्ताश्रय समस्त स्मृतियों और संस्कारों का निःशेष हो जाना।। यदि ऐसा हो जाय तो फिर समाधि से उठना संभव नहीं होगा क्योंकि उस अवस्था के सहारे के लिये कोई भी संस्कार बचा नहीं होगा, प्रारब्ध दग्ध हो गया होगा। निरोध यदि संभव हो तो श्रीकृष्ण के इस वाक्य का क्या अर्थ होगा : योगस्थः कुरु कर्माणि, योग में स्थित होकर कर्म करो ? निरुद्धावस्था में कर्म हो नहीं सकता और उस अवस्था में कोई संस्कार नहीं पड़ सकते, स्मृतियाँ नहीं बन सकतीं, जो समाधि से उठने के बाद कर्म करने में सहायक हों।

संक्षेप में आशय यह है कि योग के शास्त्रीय स्वरूप, उसके दार्शनिक आधार, को सम्यक् रूप से समझना बहुत सरल नहीं है। संसार को मिथ्या माननेवाला अद्वैतवादी भी निदिध्यासन के नाम से उसका समर्थन करता है। अनीश्वरवादी सांख्य विद्वान् भी उसका अनुमोदन करता है। बौद्ध ही नहीं, मुस्लिम सूफी और ईसाई मिस्टिक भी किसी न किसी प्रकार अपने संप्रदाय की मान्यताओं और दार्शनिक सिद्धांतों के साथ उसका सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं।

इन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में किस प्रकार ऐसा समन्वय हो सकता है कि ऐसा धरातल मिल सके जिसपर योग की भित्ति खड़ी की जा सके, यह बड़ा रोचक प्रश्न है परंतु इसके विवेचन के लिये बहुत समय चाहिए। यहाँ उस प्रक्रिया पर थोड़ा सा विचार कर लेना आवश्यक है जिसकी रूपरेखा हमको पतंजलि के सूत्रों में मिलती है। थोड़े बहुत शब्दभेद से यह प्रक्रिया उन सभी समुदायों को मान्य है जो योग के अभ्यास का समर्थन करते हैं।

पतंजलि को कपिलोक्त सांख्यदर्शन ही अभिमत है। थोड़े में, इस दर्शन के अनुसार इस जगत् में असंख्य पुरुष हैं और एक प्रधान या मूल प्रकृति। पुरुष चित् है, प्रधान अचित्। पुरुष नित्य है और अपरिवर्तनशील, प्रधान भी नित्य है परंतु परिवर्तनशील। दोनों एक दूसरे से सदा पृथक् हैं, परंतु एक प्रकार से एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति में परिवर्तन होने लगते हैं। वह क्षुब्ध हो उठती है। पहले उसमें से महत् या बुद्धि की उत्पत्ति होती है, फिर अहंकार की, फिर मन की। अहंकार से ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों तथा पाँच तन्मात्राओं अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध की, अंत में इन पाँचों से आकाश, वायु, तेज, अप और क्षिति नाम के महाभूतों की। इन सबके संयोग-वियोग से इस विश्व का खेल हो रहा है। संक्षेप में, यही सृष्टि का क्रम है। प्रकृति में परिवर्तन भले ही हो परंतु पुरुष ज्यों का त्यों रहता है। फिर भी एक बात होती है। जैसे श्वेत स्फटिक के सामने रंग बिरंगे फूलों को लाने से उसपर उनका रंगीन प्रतिबिंब पड़ता है, इसी प्रकार पुरुष पर प्राकृतिक विकृतियों के प्रतिबिंब पड़ते हैं। क्रमशः वह बुद्धि से लेकर क्षिति तक से रंजित प्रतीत होता है, अपने को प्रकृति के इन विकारों से संबद्ध मानने लगता है। मान अपने को धनी, निर्धन, बलवान्, दुर्बल, कुटुंबी, सुखी, दुःखी, आदि मान रहा है। अपने शुद्ध रूप से दूर जा पड़ा है। यह उसका भ्रम, अविद्या है। प्रधान से बने हुए इन पदार्थों ने उसके रूप को ढँक रखा है, उसके ऊपर कई तह खोल पड़ गई है। यदि वह इन खोलों, इन आवरणों को दूर फेंक दे तो उसका छुटकारा हो जायगा। जिस क्रम से बँधा है, उसके उलटे क्रम से बंधन टूटेंगे। पहले महाभूतों से ऊपर उठना होगा। अंत में प्रधान की ओर से मुँह फेरना होगा। यह बंधन वास्तविक नहीं है, परंतु बहुत ही दृढ़ प्रतीत होते हैं। जिस उपाय से बंधनों को तोड़कर पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो सके उस उपाय का नाम योग है। सांख्य के आचार्यों का कहना है : यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः परमपुरुषार्थः—जैसे भी हो सके पुरुष और प्रधान के इस कृत्रिम संयोग का उच्छेद करना परम पुरुषार्थ है।

योग का यही दार्शनिक धरातल है। अविद्या के दूर होने पर जो अवस्था होती है उसका वर्णन विभिन्न आचार्यों और विचारकों ने विभिन्न ढंग से किया है। अपने अपने विचार के अनुसार उन्होंने उसको पृथक् नाम भी दिए हैं। कोई उसे कैवल्य कहता है, कोई मोक्ष, कोई निर्वाण। ऊपर पहुँचकर जिसको जैसा अनुभव हो वह उसे उस प्रकार कहे। वस्तुतः वह अवस्था ऐसी है 'यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह'—जहाँ मन और वाणी की पहुँच नहीं है। थोड़े से शब्दों में एक और बात का भी चर्चा कर देना आवश्यक है। असंख्य पुरुषों के साथ पतंजलि ने 'पुरुष विशेष' नाम से ईश्वर

की सत्ता को भी माना है। सांख्य के आचार्य ऐसा नहीं मानते। वस्तुतः मानने की आवश्यकता भी नहीं है। यदि योगदर्शन में से वह थोड़े से सूत्र निकाल दिए जायें जिनमें ईश्वर का चर्चा है तो भी ग्रंथ के मूल रूप में कोई अंतर नहीं पड़ता। योग की साधना की दृष्टि से ईश्वर को मानने, न मानने का विशेष महत्व नहीं है। ईश्वर की सत्ता को माननेवाले और न माननेवाले, दोनों योग में समान रूप से अधिकार रखते हैं।

विद्या और अविद्या, बंधन और उससे छुटकारा, सुख और दुःख सब चित्त में हैं। अतः जो कोई अपने स्वरूप में स्थिति पाने का इच्छुक है उसको अपने चित्त को उन वस्तुओं से हटाने का प्रयत्न करना होगा, जो हठात् प्रधान और उसके विकारों की ओर खींचती हैं और सुख दुःख की अनुभूति उत्पन्न करती हैं। इस तरह चित्त को हटाने तथा चित्त के ऐसी वस्तुओं से हट जाने का नाम वैराग्य है। यह योग की पहली सीढ़ी है। पूर्ण वैराग्य एकदम नहीं हुआ करता। ज्यों ज्यों व्यक्ति योग की साधना में प्रवृत्त होता है त्यों त्यों वैराग्य भी बढ़ता है और ज्यों ज्यों वैराग्य बढ़ता है त्यों त्यों साधना में प्रवृत्ति बढ़ती है। जैसा पतंजलि ने कहा है : 'दृष्ट और आनुश्रविक' दोनों प्रकार के विषयों में विरक्ति, गांधी जी के शब्दों में अनासक्ति, होनी चाहिए। स्वर्ग आदि, जिनका ज्ञान हमको अनुश्रुति अर्थात् महात्माओं के वचनों और धर्मग्रंथों से होता है, आनुश्रविक कहलाते हैं। योग की साधना को अभ्यास कहते हैं। इधर कई सौ वर्षों से साधुओं में इस अर्थ में भजन शब्द भी चल पड़ा है।

चित्त जब तक इंद्रियों के विषयों की ओर बढ़ता रहेगा, चंचल रहेगा। इंद्रियाँ उसका एक के बाद दूसरी भोग्य वस्तु से संपर्क कराती रहेंगी। कितनों से वियोग भी कराती रहेंगी। काम, क्रोध, लोभ, आदि के उद्दीप्त होने के सैकड़ों अवसर आते रहेंगे। सुख दुःख की निरंतर अनुभूति होती रहेगी। इस प्रकार प्रधान और उसके विकारों के साथ जो बंधन अनेक जन्मों से चले आ रहे हैं वे दृढ़ से दृढ़तर होते चले जाएँगे। अतः चित्त को इंद्रियों के विषयों से खींचकर अंतर्मुख करना होगा। इसके अनेक उपाय बताए गए हैं जिनके ब्योरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। साधारण मनुष्य के चित्त की अवस्था क्षिप्त कहलाती है। वह एक विषय से दूसरे विषय की ओर फेंका फिरता है। जब उसको प्रयत्न करके किसी एक विषय पर लाया जाता है तब भी वह जल्दी से विषयांतर की ओर चला जाता है। इस अवस्था को विक्षिप्त कहते हैं। दीर्घ प्रयत्न के बाद साधक उसे किसी एक विषय पर देर तक रख सकता है। इस अवस्था का नाम एकाग्र है। चित्त को वशीभूत करना बहुत कठिन काम है। श्रीकृष्ण ने, इसे 'प्रमाथि बलवत्'—मस्त हाथी के समान बलवान्—बताया है।

चित्त को वश में करने में एक चीज से सहायता मिलती है। यह साधारण अनुभव की बात है कि जब तक शरीर चंचल रहता है, चित्त चंचल रहता है और चित्त की चंचलता शरीर को चंचल बनाए रहती है। शरीर की चंचलता नाड़ीसंस्थान की चंचलता पर निर्भर करती है। जब तक नाड़ीसंस्थान संक्षुब्ध रहेगा, शरीर पर इंद्रिय ग्राह्य विषयों के आघात होते रहेंगे। उन आघातों का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ेगा जिसके फलस्वरूप चित्त और शरीर दोनों में ही चंचलता बनी रहेगी। चित्त को निश्चल बनाने के लिये योगी वैसा ही उपाय करता है जैसा कभी कभी युद्ध में करना पड़ता है। किसी प्रबल शत्रु से लड़ने में यदि उसके मित्रों को परास्त किया जा सके तो सफलता की संभावना बढ़ जाती है। योगी चित्त पर अधिकार पाने के लिये शरीर, और उसमें भी मुख्यतः नाड़ीसंस्थान, को वश में करने का प्रयत्न करता है। शरीर भौतिक है, नाड़ियाँ भी भौतिक हैं। इसलिये इनसे निपटना सहज है। जिस प्रक्रिया से यह बात सिद्ध होती है उसके दो अंग हैं : आसन और प्राणायाम। आसन से शरीर निश्चल बनता है। बहुत से आसनों का अभ्यास तो स्वास्थ्य की दृष्टि से किया जाता है। पतंजलि ने इतना ही कहा है : स्थिर सुखमासनम् : जिसपर देर तक बिना कष्ट के बैठा जा सके वही आसन श्रेष्ठ है। यह सही है कि आसनसिद्धि के लिये स्वास्थ्य संबंधी कुछ नियमों का पालन आवश्यक है। जैसा श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

> युक्ताहार विहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥

खाने, पीने, सोने, जागने, सभी का नियंत्रण करना होता है। प्राणायाम शब्द के संबंध में बहुत भ्रम फैला हुआ है। इस भ्रम का कारण यह है कि आज लोग 'प्राण' शब्द के अर्थ को प्रायः भूल गए हैं। बहुत से ऐसे लोग भी, जो अपने को योगी कहते हैं, इस शब्द के संबंध में भूल करते हैं। योगी को इस बात का प्रयत्न करना होता है कि वह अपने प्राण को सुषुम्ना में ले जाय। सुषुम्ना वह नाड़ी है जो मेरुदंड की नली में स्थित है और मस्तिष्क के नीचे तक पहुँचती है। यह कोई गुप्त चीज नहीं है। आँख से देखी जा सकती है। करीब करीब कनिष्ठा उँगली के बराबर मोटी होती है, ठोस है, इसमें कोई छेद नहीं है। प्राण का अर्थ साँस या हवा करनेवालों को इस बात का पता नहीं है कि इस नाड़ी में हवा के घुसने के लिये और ऊपर चढ़ने के लिये कोई मार्ग नहीं है। प्राण को हवा का समानार्थक मानकर ही ऐसी बातें कही जाती हैं कि अमुक महात्मा ने अपनी साँस को ब्रह्मांड में चढ़ा लिया। साँस पर नियंत्रण रखने से नाड़ीसंस्थान को स्थिर करने में निश्चय ही सहायता मिलती है, परंतु योगी का मुख्य उद्देश्य प्राण का नियंत्रण है, साँस का नहीं। प्राण वह शक्ति है जो नाड़ीसंस्थान में संचार करती है। शरीर के सभी अवयवों को और सभी धातुओं को प्राण से ही जीवन और सक्रियता मिलती है। जब शरीर के स्थिर होने से और प्राणायाम की क्रिया से, प्राण सुषुम्ना की ओर प्रवृत्त होता है तो उसका प्रवाह नीचे की नाड़ियों में से खिंच जाता है। अतः ये नाड़ियाँ बाहर के आघातों की ओर से एक प्रकार से शून्यवत् हो जाती हैं।

प्राणायाम का अभ्यास करना और प्राणायाम में सफलता पा जाना दो अलग अलग बातें हैं। परंतु वैराग्य और तीव्र संवेग के बल से सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ज्यों ज्यों अभ्यास दृढ़ होता है, त्यों त्यों साधक के आत्मविश्वास में वृद्धि होती है। एक और बात होती है। वह जितना ही अपने चित्त को इंद्रियों और

उनके विषयों से दूर खींचता है उतना ही उसकी ऐंद्रिय शक्ति भी बढ़ती है अर्थात् इंद्रियों की विषयों के भोग की शक्ति भी बढ़ती है। इसीलिये प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का नाम लिया जाता है। प्रत्याहार का अर्थ है इंद्रियों को उनके विषयों से खींचना। वैराग्य के प्रसंग में यह उपदेश दिया जा चुका है परंतु प्राणायाम तक पहुँचकर इसको विशेष रूप से दुहराने की आवश्यकता है। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के ही समुच्चय का नाम हठयोग है। खेद की बात है कि कुछ अभ्यासी यहीं रुक जाते हैं।

जो लोग आगे बढ़ते हैं उनके मार्ग को तीन विभागों में बाँटा जाता है: धारणा, ध्यान और समाधि। इन तीनों को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् करना असंभव है। धारणा पुष्ट होकर ध्यान का रूप धारण करती है और उन्नत ध्यान ही समाधि कहलाता है। पतंजलि ने तीनों को संमिलित रूप से 'संयम' कहा है। धारणा वह उपाय है जिससे चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। यहाँ उपाय शब्द का एकवचन में प्रयोग हुआ है परंतु वस्तुतः इस काम के अनेक उपाय हैं। इनमें से कुछ का चर्चा उपनिषदों में आया है। वैदिक वाङ्मय में विद्या शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी मंत्र के जप, किसी देव, देवी या महात्मा के विग्रह या सूर्य, अग्नि, दीपशिखा आदि को शरीर के किसी स्थानविशेष जैसे हृदय, मूर्धा, तिल अर्थात् दोनों आँखों के बीच के बिंदु, इनमें से किसी जगह कल्पना में स्थिर करना, इस प्रकार के जो भी उपाय किए जायँ वे सभी धारणा के अंतर्गत हैं। जैसा कि कुछ उपायों को बतलाने के बाद पतंजलि ने यह लिख दिया है 'यथाभिमत ध्यानाद्वा—जो वस्तु अपने को अच्छी लगे उसपर ही चित्त को एकाग्र करने से काम चल सकता है। किसी पुराण में ऐसी कथा आई है कि अपने गुरु की आज्ञा से किसी अशिक्षित व्यक्ति ने अपनी भैंस के माध्यम से चित्त को एकाग्र करके समाधि प्राप्त की थी।

धारणा की सबसे उत्तम पद्धति वह है जिसे पुराने शब्दों में 'नादानुसंधान' कहते हैं। कबीर और उनके परवर्ती संतों ने इसे 'सुरत शब्द योग' की संज्ञा दी है। जिस प्रकार चंचल मृग वीणा के स्वरों से मुग्ध होकर चौकड़ी भरना भूल जाता है, उसी प्रकार साधक का चित्त नाद के प्रभाव से चंचलता छोड़कर स्थिर हो जाता है। वह नाद कौन सा है जिसमें चित्त की वृत्तियों को लय करने का प्रयास किया जाता है और यह प्रयास कैसे किया जाता है, ये बातें तो गुरुमुख से ही जानी जाती हैं। अंतर्नाद के सूक्ष्मतम रूप को प्रणव, ओंकार, कहते हैं। यह मानना कि प्रणव अ उ म् को मिलाकर बना लिया गया है भूल है। प्रणव वस्तुतः अनुच्चार्य है। उसका अनुभव किया जा सकता है, वाणी में व्यंजना नहीं, नादबिंदूपनिषद् के शब्दों में :

> ब्रह्म प्रणव संधानं, नादो ज्योतिर्मयः शिव.।
> स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥

प्रणव के अनुसंधान से, ज्योतिर्मय और कल्याणकारी नाद उदित होता है। फिर आत्मा स्वयं उसी प्रकार प्रकट होता है, जैसे कि बादल के हटने पर चंद्रमा प्रकट होता है। आदि शब्द ओंकार को परमात्मा का प्रतीक कहा जाता है। योगियों में सर्वत्र ही इसकी महिमा गाई गई है। बाइबिल के उस खंड में, जिसे सेंट जान्स गास्पेल कहते हैं, पहला ही वाक्य इस प्रकार है, 'आरंभ में शब्द था। वह शब्द परमात्मा के साथ था। वह शब्द परमात्मा था।' सूफी संत कहते हैं 'क़ैद दर बंदे जिस्म दरमानी, न सुनवी सौते पाके रहमानी' दुःख की बात है कि तू शरीर के बंधन में पड़ा रहता है और पवित्र दिव्य नाद को नहीं सुनता।

चित्त की एकाग्रता ज्यों ज्यों बढ़ती है त्यों त्यों साधक को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। मनुष्य अपनी इंद्रियों की शक्ति से परिचित नहीं है। उनसे न तो काम लेता है और न लेना चाहता है। यह बात सुनने में आश्चर्य की प्रतीत होती है, पर सच है। मान लीजिए, हमारी चक्षु या श्रोत्र इंद्रिय की शक्ति आज से कई गुना बढ़ जाय। तब न जाने ऐसी कितनी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होने लगेंगी जिनको देखकर हम काँप उठेंगे। एक दूसरे के भीतर की रासायनिक क्रिया यदि एक बार देख पड़ जाय तो अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति की ओर से घृणा हो जायगी। हमारे परम मित्र पास की कोठरी में बैठे हमारे संबंध में क्या कहते हैं, यदि यह बात सुनने में आ जाय तो जीना दूभर हो जाय। हम कुछ वासनाओं के पुतले हैं। अपनी इंद्रियों से वहीं तक काम लेते हैं जहाँ तक वासनाओं की तृप्ति हो। इसलिये इंद्रियों की शक्ति प्रसुप्त रहती है परंतु जब योगाभ्यास के द्वारा वासनाओं का न्यूनाधिक शमन होता है तब इंद्रियाँ निर्बाध रूप से काम कर सकती हैं और हमको जगत् के स्वरूप के वास्तविक रूप का कुछ परिचय दिलाती हैं। इस विश्व में स्पर्श, रूप, रस और गंध का अपार भंडार भरा पड़ा है जिसकी सत्ता का हमको अनुभव नहीं है। अंतर्मुख होने पर बिना हमारे प्रयास के ही इंद्रियाँ इस भंडार का द्वार हमारे सामने खोल देती हैं। सुषुम्ना में नाड़ियों की कई ग्रंथियाँ हैं, जिनमें कई जगहों से आई हुई नाड़ियाँ मिलती हैं। इन स्थानों को चक्र कहते हैं। इनमें से विशेष रूप से छह चक्रों का चर्चा योग के ग्रंथों में आता है। सबसे नीचे मूलाधार है जो प्रायः उस जगह पर है जहाँ सुषुम्ना का आरंभ होता है। और सबसे ऊपर आज्ञा चक्र है जो तिल के स्थान पर है। इसे तृतीय नेत्र भी कहते हैं। थोड़ा और ऊपर चलकर सुषुम्ना मस्तिष्क के नाड़िसंस्थान से मिल जाती है। मस्तिष्क के उस सबसे ऊपर के स्थान पर जिसे शरीर विज्ञान में सेरेब्रम कहते हैं, सहस्रारचक्र है। जैसा कि एक महात्मा ने कहा है :

> मूलमंत्र करबंद विचारी सात चक्र नव छोधे नारी ॥

योगी के प्रारंभिक अनुभवों में से कुछ की ओर ऊपर संकेत किया गया है। ऐसे कुछ अनुभवों का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी किया गया है। वहाँ उन्होंने कहा है कि अनल, अनिल, सूर्य, चंद्र खद्योत, धूम, 'स्फुलिंग, तारे' अभिव्यक्तिकरानि योगे हैं = यह सब योग में अभिव्यक्त करानेवाले चिह्न हैं अर्थात् इनके द्वारा योगी को यह विश्वास हो सकता है कि मैं ठीक मार्ग पर चल रहा हूँ। इसके ऊपर समाधि तक पहुँचते पहुँचते योगी को जो अनुभव होते हैं उनका वर्णन करना असंभव है। कारण यह है कि उनका वर्णन करने के लिये साधारण मनुष्य को साधारण भाषा में कोई प्रतीक या शब्द नहीं मिलता। अच्छे योगियों ने उनके वर्णन के संबंध में कहा है कि यह काम वैसा ही है जैसे गूँगा गुड़ खाय। पूर्णांग मनुष्य भी किसी वस्तु के स्वाद का शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता, फिर गूँगा बेचारा तो असमर्थ है ही। गुड़ के स्वाद का कुछ परिचय फलों के स्वाद से या किसी अन्य

मीठी चीज के सादृश्य के आधार पर दिया भी जा सकता है, पर वैसा अनुभव हमको साधारणतः होता ही नही, वह तो सचमुच वाणी के परे है।

समाधि की सर्वोच्च भूमिका के कुछ नीचे तक अस्मिता रह जाती है। अपनी पृथक् सत्ता अहम् अस्मि = मैं हूँ = यह प्रतीति रहती है। अहम् अस्मि = मैं हूँ, मैं हूँ की संतान अर्थात् निरंतर इस भावना के कारण वहाँ तक काल की सत्ता है। इसके बाद झीनी अविद्या मात्र रह जाती है। उसके क्षय होने की अवस्था का नाम असंप्रज्ञात समाधि है जिसमें अविद्या का भी क्षय हो जाता है और प्रधान से कल्पित संबध का विच्छेद हो जाता है। यह योग की पराकाष्ठा है। इसके आगे फिर शास्त्रार्थ का द्वार खुल जाता है। सांख्य के आचार्य कहते हैं कि जो योगी पुरुष यहाँ तक पहुँचा, उसके लिये फिर तो प्रकृति का खेल बद हो जाता है। दूसरे लोगों के लिये जारी रहता है। वह इस बात को यों समझाते हैं। किसी जगह नृत्य हो रहा है। कई व्यक्ति उसे देख रहे हैं। एक व्यक्ति उनमे ऐसा भी है जिसको उस नृत्य में कोई अभिरुचि नही है। वह नर्तकी की ओर से आँख फेर लेता है। उसके लिये नृत्य नही के बराबर है। दूसरे के लिये वह रोचक है। उन्होंने कहा है कि उस अजा के साथ अर्थात् नित्या के साथ अज एकोऽनुशेते = एक अज शयन करता है और जहात्येनाम् भुक्तभोगाम् तथान्यः—उसके भोग से तृप्त होकर दूसरा त्याग देता है।

अद्वैत वेदात के आचार्य सांख्यसंमत पुरुषों की अनेकता को स्वीकार नहीं करते। उनके अतिरिक्त और भी कई दार्शनिक संप्रदाय हैं जिनके अपने अलग अलग सिद्धांत हैं। पहले कहा जा चुका है कि इस शास्त्रार्थ मे यहा पड़ने की आवश्यकता नही है। जहाँ तक योग के व्यावहारिक रूप की बात है उसमें किसी को विरोध नहीं है। वेदांत के आचार्य भी निदिध्यासन की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं और वेदांत दर्शन मे व्यास ने भी असकृदभ्यासात् और आसीनः संभवात् जैसे सूत्रों में इसका समर्थन किया है। इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है।

साधारणतः योग को अष्टांग कहा जाता है परंतु यहाँ अब तक आसन से लेकर समाधि तक छह अंगों का ही उल्लेख किया गया है। शेष दो अंगों को इसलिये नही छोड़ा कि वे अनावश्यक हैं वरन् इसलिए कि वह योगी ही नही प्रत्युत मनुष्य मात्र के लिए परम उपयोगी हैं। उनमें प्रथम स्थान यम का है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को यम कहते हैं। इनके संबध में कहा गया है कि यह देश, काल, समय से अनवच्छिन्न और सार्वभौम महाव्रत हैं अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के साथ इनका पालन करना चाहिए। दूसरा अंग नियम कहलाता है। शौच, संतोष, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को नियम कहते हैं। जो लोग ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करते उनके लिये ईश्वर पर निष्ठा रखने का कोई अर्थ नही है। परंतु वह लोग भी प्रायः किसी न किसी ऐसे व्यक्ति पर श्रद्धा रखते हैं जो उनके लिये ईश्वर तुल्य है। बौद्ध को बुद्धदेव के प्रति जो निष्ठा है वह उससे कम नहीं है जो किसी भी ईश्वरवादी को ईश्वर पर होती होगी। एक और बात है। किसी को ईश्वर पर श्रद्धा हो या न हो, योग मार्ग के उपदेष्टा गुरु पर तो अवश्य श्रद्धा होनी ही चाहिए। योगाभ्यासी के लिये गुरु का स्थान किसी भी दृष्टि से ईश्वर से कम नहीं। ईश्वर हो या न हो परंतु गुरु के होने पर तो कोई संदेह हो ही नहीं सकता। एक साधक चरणदास जी की शिष्या सहजोबाई ने कहा है :

गुरुचरनन पर तन-मन वारूँ, गुरु न तजूँ हरि को तज डारूँ।

आज कल यह बात सुनने में आती है कि परम पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिये ज्ञान पर्याप्त है। योग की आवश्यकता नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं, वह ज्ञान शब्द के अर्थ पर गंभीरता से विचार नहीं करते। ज्ञान दो प्रकार का होता है—तज्ज्ञान और तद्विषयक ज्ञान। दोनों मे अतर है। कोई व्यक्ति अपना सारा जीवन रसायन आदि शास्त्रों के अध्ययन में बिताकर शक्कर के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकता है। शक्कर के अणु में किन किन रासायनिक तत्वों के कितने कितने परमाणु होते हैं? शक्कर कैसे बनाई जाती है? उसपर कौन कौन सी रासायनिक क्रिया और प्रतिक्रियाएँ होती हैं? इत्यादि। यह सब शक्कर विषयक ज्ञान है। यह भी उपयोगी हो सकता है परंतु शक्कर का वास्तविक ज्ञान तो उसी समय होता है जब एक चुटकी शक्कर मुँह मे रखी जाती है। यह शक्कर का तत्वज्ञान है। शास्त्रों के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान है और उसके प्रकाश मे तद्विषयक ज्ञान भी पूरी तरह समझ मे आ सकता है। इसीलिये उपनिषद् के अनुसार जब यम ने नचिकेता को अध्यात्म ज्ञान का उपदेश दिया तो उसके साथ मे योगविधिं च कृत्स्नम् की भी दीक्षा दी, नहीं तो नचिकेता का बोध अधूरा ही रह जाता। जो लोग भक्ति आदि की साधना रूप से प्रशंसा करते हैं उनको भी यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यदि उनके मार्ग में चित्त को एकाग्र करने का कोई उपाय है तो वह वस्तुतः योग की धारणा अंग के अंतर्गत है। यह उनकी मर्जी है कि सनातन योग शब्द को छोड़ कर नये शब्दों का व्यवहार करते हैं।

योग के अभ्यास से उस प्रकार की शक्तियों का उदय होता है जिनको विभूति या सिद्धि कहते हैं। यदि पर्याप्त समय तक अभ्यास करने के बाद भी किसी मनुष्य में ऐसी असाधारण शक्तियों का आगम नही हुआ तो यह मानना चाहिए कि वह ठीक मार्ग पर नहीं चल रहा है। परंतु सिद्धियों मे कोई जादू की बात नहीं है। इंद्रियो की शक्ति बहुत अधिक है परंतु साधारणतः हमको उसका ज्ञान नहीं होता और न हम उससे काम लेते हैं। अभ्यासी को उस शक्ति का परिचय मिलता है, उसको जगत् के स्वरूप के संबंध में ऐसे अनुभव होते हैं जो दूसरों को प्राप्त नही हैं। दूर की या छिपी हुई वस्तु को देख लेना, व्यवहित बातों को सुन लेना इत्यादि इंद्रियो की सहज शक्ति की सीमा के भीतर की बातें हैं परंतु साधारण मनुष्य के लिये यह आश्चर्य का विषय है, इनको सिद्धि कहा जायगा। इसी प्रकार मनुष्य मे और भी बहुत सी शक्तियाँ हैं जो साधारण अवस्था मे प्रसुप्त रहती हैं। योग के अभ्यास से जाग उठती हैं। अच्छे योगी को उनके लिये कोई प्रयास भी नहीं करना पड़ता। यदि हम किसी सड़क पर कहीं जा रहे हों तो अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए भी अनायास ही दाहिने बाएँ उपस्थित विषयों को देख लेंगे। सच तो यह है कि जो कोई इन विषयों को देखने के लिये रुकेगा वह गन्तव्य स्थान तक पहुँचेगा ही नहीं और बीच में ही रह जायगा। इसीलिये कहा गया है कि जो कोई सिद्धियों के लिये प्रयत्न करता है वह अपने को समाधि से वंचित करता है। पतंजलि ने कहा है :

ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धयः

अर्थात् ये विभूतियाँ समाधि में बाधक हैं परंतु समाधि से उठने की अवस्था में सिद्धि कहलाती हैं। [सं०]

योगवासिष्ठ — संस्कृत भाषा में एक पद्यात्मक आध्यात्मिक अद्वैत मत प्रतिपादक ग्रंथ। यह महारामायण, आर्ष रामायण, वाशिष्ठ रामायण, ज्ञानवासिष्ठ और वासिष्ठ आदि नामों से भी ज्ञात है। इस ग्रंथ में ३२००० श्लोक कहे जाते हैं पर प्राप्त संस्करण में, जो निर्णय सागर प्रेस बंबई से सन् १९१८ मे प्रकाशित हुआ था, केवल २७६८७ श्लोक ही मिलते हैं। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भारत और विदेशों के अनेक संग्रहालयों में मिलती हैं। अक्षर गणना के हिसाब से शायद ३२००० श्लोक ही हों। अभी कुछ वर्ष हुए गौरीशंकर गोयनका-समर्पित-निधि द्वारा काशी से 'अच्युत ग्रंथ माला' में हिंदी अनुवाद सहित संपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ था। अंग्रेजी भाषा में इसका अभी तक कोई अच्छा अनुवाद नहीं छपा। एक अशुद्ध अंग्रेजी अनुवाद सन् १८३१ में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। हिंदी अनुवाद सहित इस ग्रंथ का एक संस्करण प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित होकर 'योगवासिष्ठ और उसके सिद्धांत' नाम से प्रकाशित हो चुका है। संपूर्ण योगवासिष्ठ से अधिक प्रचलित, अनूदित और प्रकाशित उसका एक संक्षिप्त रूप 'लघु योगवासिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है। इसे नवी खिष्टीय शताब्दी में कश्मीर के कवि और पंडित अभिनंद गौड़ ने बनाया था। लघु योग वासिष्ठ का फारसी अनुवाद दारा शिकोह ने कराया था। उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ कई संग्रहालयों में मिलती हैं।

योगवासिष्ठ कब लिखा गया होगा और किसने लिखा होगा, यह विषय अनिश्चित है। भारतीय परंपरा के अनुसार यह ग्रंथ रामायण के लेखक आदिकवि वाल्मीकि की कृति है और यह बात ग्रंथ के आदि में कही भी गई है। इसलिये इसका लेखनकाल भी वाल्मीकि का काल होना चाहिए। पर इस मत को मानने में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। हो सकता है कि वाल्मीकि-कृत कोई ऐसा प्राचीन ग्रंथ मौजूद रहा हो जिसमें वसिष्ठ के दार्शनिक सिद्धांतों का वर्णन हो। लेकिन जिस रूप में योगवासिष्ठ ग्रंथ हमारे सामने उपस्थित है उस रूप में न यह बहुत प्राचीन ही है और न वाल्मीकि ऋषि की कृति है। हमारे विचार से यह महाकवि कालिदास के पीछे और भर्तृहरि के पूर्व समय का ग्रंथ है।

योगवासिष्ठ एक अद्भुत और महान् आध्यात्मिक ग्रंथ है जिसमें ज्ञान और साधना दोनों का विवेचन है। योगवासिष्ठ में ही कहा गया है कि इस शास्त्र के बार बार पढ़ने से और इसमें प्रतिपादित सिद्धांत व्यवहार में लाने से मनुष्य में महान् गुणोंवाली नागरिकता का उदय होता है। इस ग्रंथ के श्रवण से बुद्धि में परम ज्ञान का उदय होता है और जीवन्मुक्ति का अनुभव होने लगता है। भारत के आधुनिक काल के प्रसिद्ध ज्ञानी संत स्वामी रामतीर्थ ने तो यहाँ तक कहा है — "भारत की सर्वोत्तम पुस्तकों में से एक—और मेरे मतानुसार संसार की सभी पुस्तकों से अद्भुततम पुस्तक—योगवासिष्ठ है। यह असंभव है कि कोई इस ग्रंथ का अध्ययन कर ले और उसको ब्रह्मभावना न हो और वह सबके साथ एकता का अनुभव न करे' (In the woods of God Realization, vol VII, page 65, 5th edition, 1932)

एक समय योगवासिष्ठ का इतना महत्व हो गया था कि बहुत से प्राचीन लेखकों ने उसमें से मनचाहे श्लोकों के संकलन करके उनको उपनिषदों के नामों से प्रकाशित कर दिया था; महोपनिषद् नामक उपनिषद् इसी प्रकार का एक संकलन है।

योगवासिष्ठ के प्रधान दार्शनिक सिद्धांत अद्वैतवाद, अजातवाद, पुरुषार्थवाद, जीवन्मुक्तिवाद और विचारवाद हैं। [भी० ला० आ०]

योगेश्वरी योगेश्वरी का अर्थ दुर्गा होता है, योगीजन इसकी उपासना करते हैं। योगेश्वरी देवी का वर्णन मत्स्य पुराण मे मिलता है। दुष्टों के संहार के लिये अत्यंत तीक्ष्ण खड्ग उसके हाथ में रहता है और रुद्राक्ष की माला वह धारण करती है। लंबी उसकी जिह्वा है, तीक्ष्ण दाढ़ है, भयंकर मुख है, केश उसके ऊपर को उठे हुए हैं। कंठ मे वह नरकपाल और अस्थियों की माला पहनती है। उसके वाम हस्त में रक्त और मास से भरा हुआ खप्पर है और दक्षिण हस्त में वह बर्छी धारण किए है। उसके तीन नेत्र हैं। उसका उदर अंदर को घुसा हुआ है। [ज० च० जै०]

योनिरोग (Vaginal Diseases) ईसा मसीह से ६०० वर्ष पूर्व महर्षि चरक एवं सुश्रुत ने अपनी संहिताओं मे योनिरोगों को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए, अलग अध्याय मे ही इनका वर्णन किया है, यद्यपि योनि शब्द से उन्होने दो अर्थ ग्रहण किए हैं। प्रथम अर्थ मे योनि से वह मार्ग समझा जाता है जो भग से गर्भाशय की ग्रीवा तक होता है, जिसे आंग्ल भाषा मे वैजिना (Vagina) कहते हैं। द्वितीय अर्थ मे योनि से समस्त प्रजननांगो को समझा जाता है।

योनि की अंत सीमा गर्भाशय की ग्रीवा (cervix uteri) तथा बहिः सीमा योनि का अग्रद्वार है, जो भग (vulva) में खुलता है। योनि की पूर्वसीमा मूत्राशय, मूत्रनलिका तथा योनिपथ को विभक्त करनेवाली पेशीयुक्त दीवार है। इस प्रकार यह एक गोल नलिका है, जिसकी लबाई ३·५ इंच से ४ इंच तथा परिधि लगभग ४ इंच है। इसकी पूर्व-पश्चिम दीवार सदा एक दूसरे से सटी रहती है। इसको चारों ओर से आच्छादित करनेवाली पेशियाँ मृदु एवं सुनम्य होती हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर (जैसे प्रसव के समय) पर्याप्त विस्तरित हो जाती हैं। योनि के बहिर्द्वार पर छिद्रित आच्छादन होता है, जिसे योनिच्छद (Hymen vaginae) कहते हैं। इसके छिद्र से प्रति मास रजस्राव के समय रज बाहर निकलता है तथा प्रथम संभोग के समय यह विदीर्ण हो जाता है।

योनिरोगों का वर्णन करते समय उन्हें निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) जन्मजात (Congenital), (२) संक्रामी (Infective), (३) अभिघातज (Traumatic), (४) शल्यज (Foreign body) तथा (५) अर्बुद (Neoplasm)।

जन्मजात व्याधियाँ

(१) योनिपथ का अभाव — यदि योनि पथ के अभाव के साथ ही साथ संपूर्ण जननांगों का भी अभाव है, तो इस स्थिति में कोई

चिकित्सा नहीं की जा सकती, परंतु यदि केवल योनि पथ का ही अभाव, या कुनिर्माण, हुआ है, तो शल्यचिकित्सा द्वारा कृत्रिम योनिपथ बनाया जा सकता है।

(२) विभाजित योनि — भ्रूण अवस्था में वृद्धि के समय जननांग दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। एक पर्दा योनिपथ को तथा दूसरा गर्भाशय को दो भागों में विभक्त करता है, परंतु प्राय. यह पर्दा जन्म-के समय से पहले ही स्वत: बिलुप्त हो जाता है। कभी कभी यह जन्मोपरांत भी बना रहता है। उस समय यह योनिपथ को उसकी लंबाई में, दो भागों में विभक्त कर देता है। यह अवस्था शल्यचिकित्सा-साध्य है।

(३) योनिपथ का संकीर्ण होना — योनिपथ की परिधि कम होती है। यों तो इसमे अन्य कोई कष्ट नहीं होता है, केवल संभोग के समय अत्यधिक वेदना का अनुभव होता है। इसकी चिकित्सा योनि विस्फारकों (dilators) के द्वारा शनै. शनै. योनि मार्ग को विस्फारित करना है।

(४) योनिच्छद (hymen vaginae) का छिद्रयुक्त न होना — साधारण स्थिति मे योनिच्छद छिद्रयुक्त होता है तथा मासिक रज:स्राव बाहर आता रहता है, परंतु यदि यह छिद्र उपस्थित न हो, तो प्रति मास होनेवाले स्राव का रक्त बाहर नही आ सकेगा तथा अंदर ही रज जमा होता रहेगा। योनिपथ के पूर्ण भर जाने पर यह रक्त गर्भाशय, डिंबवाहिनी और अंत में उदर गुहा मे इकट्ठा होना प्रारंभ कर देता है। उदर मे भगसंधि के ऊपर गाँठ जैसा फूल जाता है। यह गाँठ मासिक स्राव के समय बढ़ती है तथा रक्त जमने पर घट जाती है। योनिच्छद भी बाहर उभरा एवं फूला रहता है। इन रोगों को रक्तयोनि, रक्त-गर्भाशय एवं रक्त-डिंबवाहिनी कहते हैं। धन + के आकार का छेद बनाकर, उसे शनै: शनै विस्फारित करना होता है।

संक्रामी व्याधियाँ

(१) ट्रिकोमोनोस योनिशोथ — यह एक प्रकार का फंगस है, जो योनि के श्लेष्मल स्तर मे संक्रमण करता है। यह शोथ किसी समय किसी भी अवस्था मे हो सकता है। इसमे योनिकंडु, सिर दर्द, बेचैनी तथा दाह होता है। योनि में शोथ के लाल चकत्ते हो जाते हैं तथा पीला स्राव होता है। संखिया, वायोफार्म, फ्लोरक्विन आदि की गोलियों को योनि में धारण करने से लाभ होता है तथा सल्फा और ऐंटिबायोटिक गोलियों को भी योनि में धारण किया जाता है।

(२) योनि का थ्रश (thrush) — यह रोग बालिकाओं में अधिक होता है। यह मायकोटिक प्रकार का फंगस उपसर्ग है। योनिपथ में एक सफेद पर्त सी जम जाती है, जिसे हटाने पर दाने दिखाई देते हैं। इस कवक का नाम कैंडिडा अल्बीकेंस है। इस व्याधि में दाह, वेदना, कंडु तथा स्राव होता है। मायकोस्टेटिन सपॉजिटरी से लाभ होता है।

इसी प्रकार हीमोफीलस वैजाइनैल के उपसर्ग से भी योनिशोथ होता है। इसमें टेरामाइसीन से लाभ होता है।

(३) सपूय योनिशोथ — गॉनोकॉकस, स्टैफिलो और स्ट्रेप्टोकॉकस जीवाणुओं के कारण योनिशोथ होता है। इसमें कंडु, दाह, तथा वेदना होती है और पूयस्राव होता है। सल्फा तथा ऐंटिबायोटिक ओषधियों से तुरंत लाभ होता है।

(४) जराजन्य योनिशोथ — रजोनिवृत्ति के पश्चात् एस्ट्रोजेन की कमी से तथा योनि श्लेष्मलकला में रक्त की कमी से, व्रण उत्पन्न होते हैं तथा उपसर्ग के लिये योनि सुग्राही हो जाती है। एस्ट्रोजेन के प्रयोग से लाभ होता है।

(५) मृदु शेंकर (व्रण) — यह डूक्रे के जीवाणु का उपसर्ग है। यह रतिज रोग है। योनि में रक्त के दाने होते हैं तथा लसिकपर्वों मे शोथ उत्पन्न होता है। सल्फा तथा ऐंटिबायोटिक ओषधियों से लाभ होता है।

(६) कठोर शेंकर (व्रण) — यह रतिज उपसर्ग स्फाइरोकीटा पैलेडा से होता है। इसे सिफलिस कहते हैं। प्राय: लघुभगोष्ठ तथा कभी कभी योनि में एक दाना दिखाई देता है, जो काफी बड़ा होता है तथा फिर व्रण में बदल जाता है। इसकी चिकित्सा आर्सेनिक एवं पेनिसिलीन से की जाती है।

अभिघातज व्याधियाँ

(१) कभी कभी गिरने से, या कुप्रसव के कारण, योनिपथ विदीर्ण हो जाता है, अत: सिलाई करने से तथा व्रण-रोपण चिकित्सा से लाभ होता है।

(२) युरेथ्रोसील तथा सिस्टोसील — योनिपथ की पूर्वी दीवार प्रसव के सतत आघातों से, या जन्मजात कमजोर होने से, ढीली हो जाती है। यह दीवार मूत्रनलिका को, या मूत्राशय को लेकर योनि में लटकने लगती है तथा खाँसने आदि में योनि में उभार अधिक होता है। कभी कभी रोगवृद्धि होने पर मूत्राशय में रुकावट तथा कष्ट होने लगता है। इसकी शल्य कर्म से चिकित्सा की जाती है।

(३) रेक्टोसील — योनिपथ की पश्चिमी दीवार प्रसव के आघातों से ढीली होकर मूत्राशय को साथ लेकर योनि में लटकने लगती है। इसकी शल्यकर्म द्वारा चिकित्सा की जाती है।

(४) मूत्राशय-योनि नाड़ीव्रण (Fistula) — मूत्राशय का निचला हिस्सा प्रसव के समय आघात से, अथवा दुर्दम्य अर्बुद से विदीर्ण हो जाता है और मूत्र हर समय योनिपथ से टपकता रहता है। निदान के लिये कैथेटर से मूत्राशय में कोई रंग डाल दिया जाता है तथा नाड़ीव्रण के बाह्य मुख से इसे निकलता देखा जा सकता है। शल्यचिकित्सा द्वारा यह रोग साध्य है।

शल्यज विधियाँ

विधिविरुद्ध गर्भपात से, या बालिकाओं के खेलते समय, अन्य कारणों से योनिपथ में बाह्य वस्तु (शल्य) रह जाने के कारण, वेदना, ज्वर, स्राव आदि होने लगते हैं। इसकी चिकित्सा शल्यनिर्हरण और व्रणरोपण है।

अर्बुद

(१) फाइब्रोमायोमाटा — यह पेशी और तांतवी धातु का सुदम्य अर्बुद है, जो योनि में उभार सा बनाता है तथा मैथुन में कष्ट देता है, परंतु साधारणत: वेदना नहीं होती। इसकी चिकित्सा शल्यकर्म द्वारा होती है।

(२) कार्सिनोमा — गर्भाशय, या गर्भाशय ग्रीवा के कार्सिनोमा के बाद यह गौण रूप में होता है। छोटे छोटे दुर्दम अर्बुद होते हैं। संभोग, या योनिप्रक्षालन के बाद स्राव होता है, पूयजन्य स्राव, असहनीय वेदना तथा मलाशय, मूत्राशय की दीवार, नष्ट होने पर योनि से मलमूत्र का त्याग होता है। इसकी चिकित्सा में संपूर्ण जननांगों को शल्यकर्म द्वारा निकाल देना पड़ता है। तथा रेडियम, एवं गंभीर एक्सकिरणें दी जाती हैं।

(३) कोरियन इपिथीलियोमा — यह अर्बुद बहुत कम होता है। हिमेटोमा की भाँति यह बैंगनी (purple) रंग का दुर्दम अर्बुद है। इसमें गर्भिणी परीक्षण आस्यात्मक होता है। रेडियम तथा गंभीर एक्सकिरण द्वारा चिकित्सा की जाती है। योनि में यदा कदा कैंसर की तरह सार्कोमा भी होता है।

(४) योनि पुटी (cyst) — साधारणतया योनि में कोई ग्रंथि, या लसपर्व नहीं होता है, फिर भी कहीं लघु रूप पुटी में रहते हैं, जिनसे पुटी बनती है, जिनमें पानी भरा रहता है। वुल्फियन डक्ट के अवशिष्टों से भी पुटी बनती है। यह वेदनारहित उभार है तथा शल्यकर्म द्वारा निकाल दिया जाता है।

[प्रे० ति० तथा ल० वि० गु०]

योहन, बपतिस्ता संत पुरोहित जकारिया और एलिजाबेथ के पुत्र, योहन ईसा के अग्रदूत हैं। छठी शताब्दी से चली आई परंपरा के अनुसार उनका जन्म आइन करीम में (येरुसलेम से तीन मील दूर पश्चिम की ओर) हुआ था। उन्होंने पापक्षमा की प्राप्ति के लिये जनसाधारण को पश्चात्ताप का बपतिस्मा (धर्मस्नान) ग्रहण करने का उपदेश दिया और निकट भविष्य में मसीह के आगमन की घोषणा की। ईसा ने योहन के पास जाकर उनसे बपतिस्मा ग्रहण किया। उस समय हेरोद अंतिपास ने अपने भाई की पत्नी हेरोदियस के साथ विवाह किया, इसी कारण योहन खुल्लमखुल्ला हेरोद को धिक्कारने लगे। तब हेरोद ने उनको कैद में डलवाया और बाद में हेरोदियस के अनुरोध से उनका सिर कटवाया।

सन् १९४७ में मृतसागर के निकट कुमरान नामक स्थान में कुछ अत्यंत प्राचीन पोथियाँ मिलीं, जिनसे एस्सीन (Essene) संप्रदाय के विषय में नई जानकारी प्राप्त हुई। संत योहन की विचारधारा तथा साधना उस संप्रदाय के धार्मिक वातावरण से साम्य रखती है किंतु इस सादृश्य का कारण यह है कि दोनों की धार्मिक पृष्ठभूमि में समान रूप से बाइबिल का पूर्वार्ध है। संत योहन उस संप्रदाय के सदस्य थे, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

सं० ग्रं० — एंसाइक्लोपीडिया डिक्शनरी ऑव दि बाइबिल, न्यूयार्क, १९६३। [का० बे०]